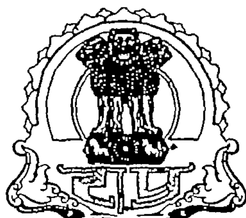
श्रीः

महामहिम राष्ट्रपति श्री डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी महाभाग–के मान्य सचिव द्वारा प्राप्त 'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' मानवाश्रम दुर्गापुरा (जयपुर) का 'प्रधानसंरक्षतानुगत–प्रमाणपत्र' अत्यन्त सम्मान से यहाँ उद्धृत होरहा है —



भारत के राष्ट्रपति

डा० राजेन्द्र प्रसाद

राजस्थान-वैदिक तत्त्वशोध संस्थान-जयपुर

का

प्रधान संरक्षक

बनने की स्वीकृति प्रदान करते हैं

मिलिटरी सेक्रेटरी ऑफिस	भारत के राष्ट्रपति के आदेशानुसार
राष्ट्रपति भवन	
नई दिल्ली	(मुनाफ सिंह) मेजर जनरल
दिनांक ३० अगस्त १९५८	मिलिटरी सेक्रेटरी टु दि प्रेसिडेन्ट

श्रीः

प्रकाशितग्रन्थसूची —

१–गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता– 'बहिरङ्गपरीक्षा' नामक प्रथमखण्ड १५)

२– " –'आत्मपरीक्षा' नामक द्वितीयखण्ड* २०)

३– " –'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा नामक तृतीयखण्ड* २०)

४– " –'कर्म्मयोगपरीक्षा' नामक चतुर्थखण्ड* ४०)

५– " –'ज्ञानयोग'-तथा भक्तियोगपरीक्षा-नामक (पूर्वखण्ड) पञ्चम तथा षष्ठखण्ड २०)

६– " –'भक्तियोगपरीक्षा' (उत्तरखण्ड) नामक सप्तमखण्ड २०)

७– " –'बुद्धियोगपरीक्षा'-नामक अष्टमखण्ड २०)

८–ईशोपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य प्रथमखण्ड १५)

९-ईशोपनिषत्-हिन्दी विज्ञानभाष्य द्वितीयखण्ड १५)

१०–उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका- प्रथमखण्ड २०)

११–उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका– द्वितीयखण्ड १५)

१२–उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका- तृतीयखण्ड १५)

१३–श्राद्धविज्ञानग्रन्थानुगत 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड २०)

१४–श्राद्धविज्ञानग्रन्थानुगत-'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीयखण्ड १५)

१५–संस्कृति, और सभ्यता-शब्दों का चिरन्तर इतिवृत्त, एवं भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा २५)

१६–'भारतीय हिन्दू-मानव और उस की भावुकता' नामक खण्डचतुष्टयात्मक ग्रन्थ का 'विश्वस्वरूपमीमांसा' नामक प्रथमखण्ड १५)

१७-'वेदस्य सर्वविद्या-निधानत्वम्' (संस्कृतनिबन्ध)* १॥)

---

*-चिह्नाङ्कित ग्रन्थ प्रेस में हैं जो आगामि-वर्ष में प्रकाशित होजायँगे।

श्रीः

महामहिम राष्ट्रपति श्री डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी महाभाग—के मान्य सचिव द्वारा प्राप्त 'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' मानवाश्रम दुर्गापुरा (जयपुर) का 'प्रधानसंरक्षतानुगत—प्रमाणपत्र' अत्यन्त सम्मान से यहाँ उद्धृत होरहा है —



भारत के राष्ट्रपति

डा० राजेन्द्र प्रसाद

राजस्थान-वैदिक तत्त्वशोध संस्थान-जयपुर

का

प्रधान संरक्षक

धारण करने की स्वीकृति प्रदान करते हैं

मिलिटरी सेक्रेटरी ऑफिस

राष्ट्रपति भवन

नई दिल्ली

दिनांक ३० अगस्त १९५८

भारत के राष्ट्रपति के आदेशानुसार

यदुनाथसिंह

(यदुनाथ सिंह) मेजर जनरल

मिलिटरी सेक्रेटरी टू दि प्रेसिडेन्ट

प्रकाशितग्रन्थसूची —

१–गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता– 'बहिरङ्गपरीक्षा' नामक प्रथमखण्ड १५)

२– " –'आत्मपरीक्षा' नामक द्वितीयखण्ड* २०)

३– " –'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा' नामक तृतीयखण्ड* २०)

४– " –'कर्म्मयोगपरीक्षा' नामक चतुर्थखण्ड* २०)

५– " –'ज्ञानयोग'-तथा भक्तियोगपरीक्षा-नामक (पूर्वखण्ड) पञ्चम तथा षष्ठखण्ड २०)

६– " –'भक्तियोगपरीक्षा' (उत्तरखण्ड) नामक सप्तमखण्ड २०)

७– " –'बुद्धियोगपरीक्षा'-नामक अष्टमखण्ड २०)

८–ईशोपनिषत् हिन्दी विज्ञानभाष्य प्रथमखण्ड १५)

९–ईशोपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य द्वितीयखण्ड १५)

१०–उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका– प्रथमखण्ड २०)

११–उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका– द्वितीयखण्ड १५)

१२–उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका- तृतीयखण्ड १५)

१३–श्राद्धविज्ञानग्रन्थानुगत- 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड २०)

१४–श्राद्धविज्ञानग्रन्थानुगत 'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीयखण्ड १५)

१५–संस्कृति, और सभ्यता-शब्दों का चिरन्तर इतिवृत्त, एवं भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा २५)

१६–'भारतीय हिन्दू-मानव, और उस की भावुकता' नामक खण्डचतुष्टयात्मक ग्रन्थ का विश्वस्वरूपमीमांसा' नामक प्रथमखण्ड १५)

१७–'वेदस्य सर्वविद्या निधानत्वम्' (संस्कृतनिबन्ध)* १॥)

---

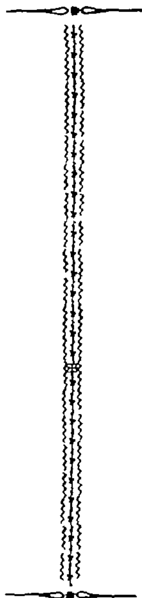
*–चिह्नाङ्कित ग्रन्थ प्रेस में हैं जो अग्रिम–वर्ष–में प्रकाशित होजायँगे।

शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्य–प्रथमकाण्डानुगत–

द्वितीयखण्ड के सम्बन्ध में

युगधर्म्मनिबन्धन - किञ्चिदिव - आवेदन

(शतपथभाष्य–द्वितीयखण्ड की प्रस्तावना)



मोतीलालशर्म्मोपाह्वोऽयं कश्चिदपि मुरारकशर्म्मा
भारद्वाजो मानवः, वेदवीथी–पथिकः
मानवाश्रमवेदविज्ञानशोधन–गोता

प्राप्तिस्थान—
व्यवस्थापक—'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान—जयपुर'
दुर्गापुरा (जयपुर—राजस्थान)

---

*—राष्ट्रपतिभवन के टेपरेकार्डों के आधार पर प्रकाशित एवं महामहिम श्रीराष्ट्रपति महाभाग के प्रास्ताविक से समन्वित ।

श्री

शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्य–प्रथमकाण्डानुगत

द्वितीयखण्ड के सम्बन्ध में

किञ्चिद्‌ब-आवेदन

*　　*　　*

विक्रम सं० २०१५ की आश्विनशुक्ल–दशमी (विजयदशमी) बुधवासर (तदनुसार ता० अगस्त) की पावनतिथि में 'शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्यान्तर्गत-प्रथमकाण्डानुगत-प्रथमखण्ड' संस्थान की ओर से प्रकाशित हुआ था जिसमें 'प्रथमकाण्ड के आरम्भ के केवल एक ही (प्रथम १) अध्याय का विज्ञानभाष्य' समाविष्ट था। प्रथमकाण्डानुगत-प्रथम-अध्यायात्मक-तत् प्रथमखण्ड में जिन प्रमुख–याज्ञिक कर्म्मों का पद्धति-पुरस्सर-सोपपत्तिक समावेश हुआ है, सन्दर्भसङ्गति की दृष्टि से सिंहावलोकनन्यायेन 'द्वितीय-खण्ड' की प्रस्तुत प्रस्तावना में भी उनका संस्मरण कर लेना अप्रासङ्गिक न माना जायगा।

प्रथमकाण्डानुगत–प्रथमाध्यायात्मक–प्रथमखण्ड में प्रतिपादित प्रमुख–कर्म्मों की, तथा स्मारक–विषयों की सिंहावलोकनन्यायानुगता स्मृति

*　　*　　*

	प्रधान कर्म्माणि	क्रमानुगता पृष्ठसंख्या	स्मारकविषयसंख्या
१	व्रतोपायनकर्म्म	११७	२१३
२	प्रणयनकर्म्म	१५४	१३७
३	अपांप्रणयनकर्म्म	१७०	२८५
४	परिस्तरण तथा पात्रासादनकर्म्म	२०१	२६३
५	वाक्संयमनकर्म्म	२४३	४०
६	पात्रप्रतपनकर्म्म	२४६	११२३
७	शकट से हविर्ग्रहण एवं तत्सादनकर्म्म	३५४	८६३
८	प्रोक्षणकर्म्म	४२२	३१८
९	रोक्षारासम्पादनात्मककर्म्म	४५२	१४१९
	प्रधानकर्म्मसंख्या—९—(नव)—	भाष्यपृष्ठसंख्या–संकलन ६१०	स्मारकविषयसंख्या–संकलन ४५९१

अथा परा–यया तदक्षरमधिगम्यते, यत्–यत्–अद्रेश्यम्–अग्राह्यम् अगोत्रम्–अवर्णम् अचक्षुःश्रोत्रम्-तत्–अपाणिपादम्–नित्यम्–विभुम्–सर्व्वगतम्–सुसूक्ष्मम् तदव्ययम्–तद्भूत-योनिम्–परिपश्यन्ति–धीरा'।

—मुण्डकोपनिषत् १।१।३-४-५ ६ कं०।

एक प्रासङ्गिक विशेष–तथ्य की ओर प्रज्ञाशील पाठकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही हमने उक्त मुण्डक–वचन–मात्र उद्धृत करना आवश्यक माना है। विदितवेदितव्य–काम–तप–मय–मूर्ति आप्त-महर्षियोंनें 'मानव' के अभ्युदय, तथा निःश्रेयस्–संसाधन के लिए ही पराविद्या अपराविद्या नाम की उन दो महत्त्वपूर्ण विद्याओं का अन्वेषण किया है, जिन के द्वारा 'मानव अपने अतुल्यवर्ती 'मानवस्वरूप' को अभ्युदय, तथा निःश्रेयस्–रूपा सिद्धि और संसिद्धि, से सर्वात्मना समन्वित कर लेने में समर्थ–सफल–प्रमाणित होता आरहा था सुख, एवं शान्ति-पूर्वक आज से तीन सहस्र—वर्ष पूर्व की आर्षनिष्ठानुगता कालसीमा के पावन–प्राङ्गण में।

'मानव सुखी रहे' और 'मानव शान्त रहे' इन दो विभिन्नार्थक वाक्यों के गर्भ में ही मानव के सुख तथा शान्ति का सम्पूर्ण चिरन्तर इतिवृत्त मुगुम्फ–रूपेण सन्छन्दस्क प्रमाणित होरहा है। मानव का अर्द्ध –अङ्ग केवल सुख की ही 'इच्छा' करता रहता है प्रतिक्षण, तो मानव का अर्द्ध –अङ्ग केवल शान्ति की ही कामना किया करता है अजस्ररूपेण। यद्यपि इन अर्द्ध'-अर्द्ध –अङ्ग–भावों से सहसा दाम्पत्यमूला स्त्री–पुम्भावना की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित होजाता है जो कि आकर्षण प्रकृतिसिद्ध ही माना जायगा। तथापि वस्तुतत्त्व के स्वरूप–समन्वय के लिए हमें यहाँ दाम्पत्यपथानुबन्धी–विभिन्न दो अर्द्ध'–अर्द्ध –अङ्गों को यत्किञ्चित्–समय के लिए निरपेक्ष मानकर केवल एक ही मानव और ही मानवी के अनुबन्ध से अर्द्धा अद्वयी की मीमांसा में प्रवृत्त होना पड़ेगा।

मानव हो, अथवा मानवी अर्थात् पुरुष हो, अथवा स्त्री दोनों के प्रकृतिसिद्ध स्वरूप में (प्रत्येक में) दो दो विभिन्न अर्द्ध–अर्द्ध अङ्ग–भाव–समन्वित हैं। अर्थात् दो विभिन्न अर्द्ध –अर्द्ध –अङ्गों के समन्वितरूप का ही नाम तो 'मानव है एवं तथाविध उभयात्मकरूप का ही नाम 'मानवी' है। प्रथम–अर्द्ध–अङ्ग का पारिभाषिक–साङ्केतिक–नाम है–'पुरुष' एवं द्वितीय–अर्द्ध अङ्ग का साङ्केतिक नाम है प्रकृति। पुरुष और प्रकृति के द्वन्द्वात्मक मौलिकरूप का ही नाम है 'पुरुष, अर्थात् 'मानव'। एवं प्रकृति तथा पुरुषात्मक–द्वन्द्वभाव का ही का ही नाम है–'स्त्री, अर्थात्– मानवी। और इस समानधर्म्मानुबन्धी समतुलित-साम्य के आधार पर ही मानव, तथा मानवी के सम्बन्ध में सह धर्म्मं चरताम्' लक्षण सुप्रसिद्ध साप्त–पदीन–सख्यभाव (मैत्री–भाव) का समन्वय हुआ है, जिस–मैत्री–धर्म्म का स्वरूप समानशीलव्यसननिबन्ध ही माना गया है *। इस समतुलित साम्य के आधार पर ही हमें यह भी स्वीकार कर लेना पड़ेगा कि,

*–समानशीलव्यसनेषु मैत्री

—सुप्रसिद्धा-सूक्तिः

वस्तुभावनिबन्धन–'अतत्त्व' अपने सहजसिद्ध दिक्कालाद्यवच्छिन्न–नानाभाव से तथाविध–नानाभावापन्न सापेक्ष–ज्ञान का स्वरूप-संग्राहक बन रहा है। रस-बल-निबन्धना इस सहज-स्वरूप स्थिति के आधार पर यह कह दिया जा सकता एवं मान लिया जा सकता है निर्भ्रान्तरूपेणैव कि, अव्ययभावापन्न–एकत्वानुगत निरपेक्षज्ञान अपने–'एकं ज्ञानम्,–निरपेक्षं ज्ञानम्'-निर्वचन से जहाँ निष्कैवल्य-एकत्वनिबन्धन 'ज्ञान' शब्द से समन्वित है, वहाँ नानाभावापन्न–अनेकत्वानुगत–सापेक्षज्ञान– 'विविधं ज्ञानं–सापेक्षं–ज्ञानम्' निर्वचन से–'विज्ञान' अभिधा का अधिकारी बना हुआ है। और यों एक ही ज्ञानतत्त्व मूलभूत रस, तथा बल नामक 'आभू'–और 'अभ्व' नामक विभिन्न दो अनुबन्धों से क्रमशः अमृत–मर्त्य–भावों में विभक्त होता हुआ 'ज्ञान', और 'विज्ञान' इन दो महिमामय–स्वरूपों में परिणत होरहा है, जिन इन दोनों विभिन्न भित्तियों के आधार–पर ही उपनिषदुपवर्णिता सुप्रसिद्धा–'परा-अपरा' नाम की अक्षर–क्षर-निबन्धना रस-विद्या-बलविद्या–द्वयी समन्वित हुई है। यही निरपेक्षज्ञानात्मक–ज्ञान एवं सापेक्षज्ञानात्मक-विज्ञान इन दो पारिभाषिक शब्दों का मौलिक, एवं संक्षिप्ततम चिरन्तन–इतिवृत्त है जिस का विशद यथोपवर्णन पूर्वप्रकाशित–शतपथब्राह्मण–प्रथमखण्ड के 'पारिभाषिक–प्रकरण' में किया जा चुका है। 'विज्ञान' शब्द के प्रति विशेषरूप से आकर्षित–मना बने रहने वाले वर्त्तमानयुग के भूतविज्ञानवादी भारतीय–बन्धुओं को 'भारतीय–पारिभाषिक– विज्ञान' के तात्त्विक–यथोपवर्णनात्मक समन्वय के लिए प्रथमखण्डानुगत तत्पारिभाषिक प्रकरण पर ही दृक्पात का अनुग्रह करना चाहिए।

प्रकृत में इस प्रासङ्गिकी–चर्चा से केवल यही निवेदनीय है कि निरपेक्ष–ज्ञानात्मक एकत्व धर्मावच्छिन्न–ज्ञान से अपना सर्वथा विभिन्न स्वरूप–रखने वाली लोकात्मिका विश्व–विद्या ही नानाभावापन्ना–'विज्ञानविद्या' है, और इसी का नाम है–उपनिषत् के शब्दों में–'अपराविद्या' एवं यही लोक में प्रसिद्ध है–'वेदविद्या' नाम से, जिस की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है ज्ञानात्मिका–पराविद्या। निरपेक्षज्ञानानुबन्धिनी–एकत्वानुयोगिनी-अनेकत्वप्रतियोगिनी–विश्वातीत–ब्रह्म–विद्यात्मिका–'पराविद्या' ही 'अक्षरविद्या' है। एवं सापेक्षज्ञानानुबन्धिनी-अनेकत्वानुयोगिनी-एकत्वप्रतियोगिनी–विश्वात्मक-लोक–विद्यात्मिका–'अपराविद्या' ही 'क्षरविद्या' है। उभयविद्या के परिज्ञान के अनन्तर मानव के बुद्ध्यनुगत प्रज्ञाकोश के लिए अन्य कुछ भी तो 'ज्ञातव्य' रूपेण शेष नहीं रह जाता*। निम्नलिखिता उपनिषच्छ्रुति निरपेक्ष-सापेक्ष-ज्ञान विज्ञान-निबन्धना इन्हीं दोनों विद्याओं का संक्षेप से नामस्मरण करा रही है—

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ–'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' ? इति। तस्मै स होवाच–"द्वे विद्ये वेदितव्ये"–इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति–'परा'–चैव–'अपरा' च। तत्र–अपरा–ऋग्वेदः, यजुर्वेदः, सामवेदः अथर्ववेदः शिक्षा–कल्पो–व्याकरणं–निरुक्तं छन्दो–ज्योतिषम्" इति।

---

* ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥
—गीतायाम्

तथाविध वैषम्य का मूलाधार है–'न्यूनत्त्व'। मानव, और मानवी, दोनों में ही यद्यपि साम्यमूलक पुरुष–प्रकृति–भाव समानरूपेण समन्वित हैं। किन्तु ये दोनों ही साम्य दोनों ही संस्थाओं में एकांशत 'न्यून ही बने हुए हैं। मानव का पुरुषभाव पूर्ण है, तो प्रकृतिभाव अपूर्ण, किंवा न्यून है। एवमेव मानवी का प्रकृतिभाव पूर्ण है, तो पुरुषभाव अपूर्ण, किंवा न्यून है। पूर्णता जहाँ समत्वानुयोगिनी–विषमत्वप्रतियोगिनी है, वहाँ अपूर्णता विषमत्वानुयोगिनी–समत्वप्रतियोगिनी है। पुरुषतत्त्व रसानुबन्ध से पूर्ण बनता हुआ जहाँ 'सममावापन्न है वहाँ प्रकृतितत्त्व बलानुबन्ध से अपूर्ण बनता हुआ 'विषमभावापन्न है। समत्वानुयोगिक पुरुष यदि आधार, और प्रकृति–यदि आधेया है, तो विषमा प्रकृति के साम्राज्यस्थान विश्व में, एवं–तत्–प्रजा में भी समत्वमूला शान्ति प्रवाहित रहती है। ठीक इस के विपरीत यदि विषमत्वानुयोगिनी प्रकृति आधार, और पुरुष आधेय बन जाता है, तो समत्वमूला शान्ति का सर्वथैव उच्छेद होजाता है। और सम्भवतः क्यों निश्चयेन इसी आधार पर महाभाग यक्ष के अमुक महत्त्वपूर्ण प्रश्न के समाधान में समुपस्थित 'स्त्रीपुंसयो' र्वाद्धि गोऽहं विनष्टम्' इस प्रकृतिसिद्ध समाधान को पुराणपुरुष भगवान् बादरायण ने अपने ऐतिह्यग्रन्थ में प्रथम प्रदान किया है।

पुरुष, और प्रकृति से अनुप्राणित रस–बल–निबन्धन साम्य–वैषम्य का यह चिरन्तन इतिवृत्त तो स्वतन्त्र–निबन्ध–सापेक्ष ही माना जायगा *। प्रकृत में लक्ष्यीभूत वक्तव्य से अनुप्राणित सन्दर्भ की सङ्गति के लिए यही स्पष्टीकरण पर्य्याप्त मान लिया जायगा कि, मानव का पुरुषभाग जहाँ पूर्ण है, वहाँ प्रकृतिभाग अपूर्ण है। अतएव मानव प्रकृतित –अपूर्ण–अकृत्स्न, किन्तु पुरुषतः पूर्ण कृत्स्न है। ठीक इस के विपरीत मानवी का प्रकृतिभाग जहाँ पूर्ण है, वहाँ पुरुषभाग अपूर्ण है। अतएव मानवी पुरुषत अपूर्णा–अकृत्स्ना, किन्तु प्रकृतितः पूर्णा–कृत्स्ना है। मानव अपनी प्रकृतिनिबन्धना अपूर्णता की पूर्त्ति के लिए ही उस 'मानवी के साथ सप्तपदीन की सहज इच्छा रखता है जो अपनी पूर्ण प्रकृति के समर्पण से प्रकृत्या अपूर्ण बने हुए इस मानव के विस्रस्त–प्राकृत–भाव को परिपूर्ण कर दे। एवमेव मानवी भी अपनी पुरुष–निबन्धना अपूर्णता की पूर्त्ति के लिए ही उस 'मानव' के प्रति समर्पित होजाना चाहती है जो अपने पूर्ण पुरुषभाव के प्रत्यर्पण से पुरुषत्वेन अपूर्ण बनी हुई इस मानवी के विस्रस्त–पौरुष–भाव को परिपूर्ण करदे। और यों दोनों दोनों की न्यूनता के क्षति–पूरकात्मक सम्बल प्रमाणित होते हुए उस एकत्वनिबन्धना परिपूर्णता को अन्वर्थ बनाते हुए इत्थंभूत दाम्पत्य से प्रजातन्तुवितानात्मिका विश्वस्वरूप–पर्य्यादा की महती थाती को ही अक्षुण्ण बनाए रहें। 'न्यूनाद्धि प्रजाः प्रजायन्ते'–'सोऽयमाकाशः पत्न्यापूर्य्यते' इत्यादि श्रुति–वचन इसी तथाकथिता रहस्यपूर्णा याज्ञिकी स्थिति का स्पष्टीकरण कर रहे हैं, जिस याज्ञिकी स्थिति के स्वरूप–प्रसङ्ग से ही तत्तत्सम्बद्ध–प्रकृति–पुरुष–समन्वयात्मक–अध्यात्मयज्ञ (मानव–मानवी के दाम्पत्यरूप यज्ञ) के अङ्ग–प्रत्यङ्गभावों का संस्मरण होपड़ा है।

मानव का पुरुषभाव 'आत्मा है तो प्रकृतिभाव इस का 'शरीर है जिस का निष्कर्ष यही है कि, आत्मा और शरीर, इन दोनों की समन्वितावस्था का ही नाम तो मानव है, एवं तदात्मक ही मानवी का

*–सप्तचतुष्टयात्मक–सामयिक–उद्बोधनात्मक–निबन्धान्तर्गत–क्रमप्राप्त–तृतीयखण्डरूप–'प्रकृतिपुरुष–स्वरूपमीमांसा नामक स्वतन्त्र निबन्ध में इस तत्त्व का विशदरूपेण स्पष्टीकरण–प्रयास हुआ है।

भावापन्न सर्ग की मानव तथा मानवी-रूपा दोनों विभूतियों का स्थान सर्वात्मना समधरातल पर ही व्यवस्थित है। और इसी साम्य के आधार पर यदि यह भी कह दिया जाय, तो अत्युक्ति न होगी कि, प्रकृति-पुरुष-सम्मन्वयात्मक साम्य की दृष्टि से सर्ग की ये दोनों ही विभूतियां 'समानाधिकार' उपाधि से समन्वित भी मानी जासकती हैं, किंवा मानी जानी चाहिएँ।

समानाधिकार के तथाभूत-व्यामोहन से व्यामुग्ध भावुक मानव इस दिशा में आज कुछ ऐसी ही कल्पनाओं में मनोऽभिमोर बनते हुए 'स्त्रीसमानाधिकार' के उद्घोष से पार्थिव आकाश को विकम्पित करने लग पड़े हैं, और व्यक्त होने लगी है उन की भावुक-भाषा के द्वारा इत्थंभूता मैत्रीवाक् कि, "यदि मानवी को भी शिक्षा-वातावरण-आदि के सम्बन्ध में मानव के अनुरूप ही सुविधाएँ दी जासकेंगी तो निश्चयेन मानवी किसी भी क्षेत्र के उत्तरदायित्व में मानव से पराङ्मुख किंवा ही पराभूत प्रमाणित नहीं होगी। अपितु उभय-स्पर्द्धा में मानवी ही मानव की योग्यता के क्षेत्र का अतिक्रमण कर लेगी अतएव······ ·· ·······
इत्यादि इत्यादि।

बलप्रयोग-पूर्वक नारी-सुलभ सौम्य-भावों का अभिभव कर मानवी के शरीर, और-बुद्धि-दोनों को भी कर्कश बनाया जासकता है जैसे कि अमुक प्रयोगों के कारण मानवसुलभ आग्नेय भाव भी मानव के अभिभूत होजाते हैं उस का सुदृढ-पौरुष-धर्म्म भी कोमलता में परिणत होजाया करता है। और यों प्रकृतिसिद्ध-चिरन्तन-अभ्यास से मानव को मानवी-कोटि पर, एवं मानवी को मानव-कोटि पर ला खड़ा किया जासकता है। किन्तु इत्थंभूत बलप्रयोग मानव, और मानवी दोनों के ही प्रकृतिसिद्ध स्वरूपों के विपरीत जाता हुआ अन्ततोगत्वा उस भावी 'प्रजननधर्म्म' को ही दोषाक्रान्त प्रमाणित कर देता है, जिस प्रकृति-सिद्ध-अग्नि-सोम-निबन्धन-यज्ञात्मक-वैज्ञानिक-प्रजनन के आधार पर राष्ट्रीय ही मानव और मानवी-वर्ग सहसा पुष्पित-पल्लवित होते रहते हैं। अतएव आवश्यक है कि, कल्पपूर्णिका दुराग्रहात्मिका समानाधिकार-व्यामोहनमूला-युगधर्म्मानुगता-भावुकता से आत्मपरित्राण करते हुए ही, भारतीय-आर्षदृष्टि के माध्यम से ही 'सह धर्म्मं चरताम्' मूला समानाधिकार-व्यवस्था का अनुगमन करें, और इसी दृष्टि के माध्यम से आज के कल्पनिक-समाधिकाररूप उस विघातक व्यामोहन के प्रति राष्ट्रीय-प्रजा को जागरूक करें जिस व्यामोहन के कारण हमारा राष्ट्रीय-प्रजनन विगत तीन सहस्र-वर्षों से उत्तरोत्तर पतनोन्मुख ही प्रमाणित होता आया है।

अवश्य ही अग्नि-यज्ञात्मक पुरुष-भाव और अर्द्ध-यज्ञात्मक-ही प्रकृति-भाव के तारतम्य से तत्त्वतः मानव और मानवी के स्वरूप में सर्वथैव साम्य है। जो धर्मचतुष्टयीरूपा अग्नित्रयी मानव में है वही धर्मचतुष्टयी-रूपा अग्नित्रयी मानवी में भी है। और इसी साम्य के आधार पर दोनों की व्यावहारिकी समता-भ्रान्ति भी सम्भावित है। किन्तु जब सूक्ष्मदृष्टि से वस्तुतत्त्व का अन्वेषण किया जाता है तो इस साम्य की सीमा में ही हमें उस 'वैषम्य' का भी साक्षात्कार होजाता है जिसने इन दोनों उभ-भावों को भी विषमभाव में परिणत कर रक्खा है। एवं निश्चयेन तत्स्वानुगत किंवा साम्य के आधार पर प्रतिष्ठित यह वैषम्य ही उस प्रजातन्तुवितान की मूल-प्रतिष्ठा बना हुआ है जिस तन्तुवितान-परम्परा के द्वारा ही (मानव-मानवी के दाम्पत्य से) सम्पूर्ण इदमात्मक-भौतिक विश्व का स्वरूप 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' का स्वरूप-रक्षक बना हुआ है।

बुद्धि–रूप 'पुरुष' भाग अपूर्ण है । और यों दोनों ही अन्योऽन्याश्रयन्यायानुबन्धेन एक दूसरे के सम्बन्ध की अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षा रख रहे हैं। बिना इस उभयात्मक आश्रय-आश्रयी-भाव के न तो मानव ही सुख-शान्ति का अनुगामी बन सकता एवं न मानवी ही सुख-शान्ति की अनुगामिनी बन सकती ।

मानव से मानवी चाहती है शान्ति, और मानव मानवी से चाहता है सुख । शान्ति अविकम्पित स्थिर-आनन्द से सम्बद्ध मानी गई है एवं सुख विकम्पित-अस्थिर-आनन्द से सम्बद्ध माना गया है । शान्ति का क्षेत्र है आत्मानुगता बुद्धि, एवं सुख का क्षेत्र है मनोऽनुगत शरीर । मानव प्रधानरूपेण आत्मबुद्धि-समष्टिरूप पुरुषभाव का प्रातिस्विकरूपेण दायाद-भोक्ता है तो मानवी प्रधानरूपेण मनःशरीर-समष्टिरूप प्रकृतिभाव की प्रातिस्विकरूपेण दायाद्भोक्त्री है। मानव की आत्मबुद्ध्यनुगता शान्ति से उपकृत होती है मानवी एवं मानवी के मनःशरीरानुगत सुख से उपकृत होता है मानव । बिना शान्ति के सुख का कोई मूल्य नहीं तो बिना सुख के शान्ति का मार्ग सर्वथा अवरुद्ध । अतएव संसिद्ध है कि-मानव, और मानवी की सुख-शान्ति दोनों के दाम्पत्यमूलक—'गृहस्थधर्म्म' पर ही अवलम्बित है, और इसी प्रकृतिसिद्ध तथ्य के आधार पर भारतीय-पत्नीपद के सम्बन्ध में हमें दो शब्द अपने वेदप्रेमी पाठकों के समक्ष उपस्थित करने हैं ।

समृद्धानन्द शान्तानन्द-भेद से आनन्द के महिमामय दो विवर्त्त सुप्रसिद्ध हैं । जिस आनन्द में सहज-स्थिति का विकम्पन है, वही समृद्धानन्द है एवं यह इतरभूत पदार्थ से ही सम्बद्ध माना गया है । एक शान्त-सरोवर में बलपूर्वक-प्रक्षिप्त लोष्ठ-पाषाण कुछ समय के लिए जैसे वीची-तरङ्ग-रूप विकम्पन उत्पन्न कर देते हैं, तथैव लोक-वैभवरूप लोष्ठ-पाषाणादि के आगमन से मानस-प्रज्ञा का अमुक अवधि के लिए विकम्पन होसकता है एवं इसी विकम्पनावस्था का नाम है-समृद्धानन्द, जिसका भौतिक-विश्वानुबन्धी-बाह्य परिग्रहों के संस्कारात्मक-आगमन-से ही सम्बन्ध माना गया है । यही है—विश्वसुख लोकसुख, जिसका प्रधान सम्बन्ध माना गया है मानव-मानवी के प्रकृतिपर्वों के साथ अर्थात् मनःशरीर-पर्वों के साथ । अर्थात् मानसिक शारीरिक-लोकानन्द का ही नाम है-समृद्धानन्द, एवं इसी की पारिभाषिकी अभिधा है-'सुख' । क्योंकि मानवी में सहजरूपेणैव मन-शरीररूप प्राकृतपर्व ही अभिव्यक्त रहते हैं, अतएव मानवी स्वभावतः समृद्धानन्दात्मक-मन शरीर-निबन्ध-लोकसुख की ही सतत इच्छा किया करती है ।

दूसरा विवर्त्त है शान्तानन्द का । यह स्वाश्रित आनन्द माना गया है । एवं सहजरूपेण स्व की स्वरूपस्थिति ही इस शान्तानन्द की परिभाषा है जिसे बुद्ध्यनुगत-आत्मानन्द किंवा आत्मनिबन्धन-नैष्ठिक आनन्द भी कहा जासकता है । मनोऽनुगत-शारीरिक-सुख को कहा जायगा पुष्टि शरीरानुगत मानसिक सुख को कहा जायगा तुष्टि । एवं दोनों की समन्वितावस्था को माना जायगा समृद्धानन्दात्मक-सुख । एवमेव आत्मानुगत नैष्ठिक आनन्द को कहा जायगा तृप्ति एवं बुद्ध्यनुगत आत्मानन्द को कहा जायगा शान्ति तथा दोनों की समन्वितावस्था को माना जायगा 'शान्तानन्दात्मिका' शान्ति । यों दो आनन्द-विवर्त्तों के पर्व चतुष्टयी के अनुबन्ध से शान्ति तृप्ति-तुष्टि-पुष्टि-रूपेण चार अवान्तर-महिमा-विवर्त्त-सम्पन्न होजायँगे जिन इन चारों में से शान्ति-तृप्ति-रूप शान्तानन्द की पारिभाषिकी संज्ञा है— निःश्रेयस एवं तुष्टि-पुष्टि-रूप-समृद्धानन्द की संज्ञा है 'अभ्युदय । निःश्रेयस् के क्षेत्र हैं आत्मबुद्धिपर्व एवं अभ्युदय के क्षेत्र हैं-मन-शरीर

मौलिक स्वरूप है । आत्मा 'लोकातीत' किन्तु 'लोकी' तत्त्व है एवं शरीर 'लोक' है । पार्थिव जगत् की प्रकृति माता धरित्री ही मानी गई है । अतएव प्रकृति-रूप-लोकात्मक-शरीर को हम 'पार्थिव' ही कहेंगे, जिस में आलोमभ्य' आनखाग्रेभ्य -अपार्थिव-अलौकिक-आत्मा प्रतिष्ठित माना गया है । आत्मा ही वह 'पुरुष' भाव है, जो प्रकृतिरूप-लोकात्मक शरीर का सर्वस्व माना गया है । आत्मा और पार्थिव शरीर, इन दोनों के मध्य में दोनों के क्रमिक-सहयोगी माने गए हैं विज्ञानभाव और प्रज्ञानभाव, जो दोनों भाव दर्शन-जगत् में क्रमशः बुद्धि, और मन नाम से प्रसिद्ध हैं । वैदिक-विज्ञान की सामान्य-परिभाषाओं से भी परिचित वद-र्मी भी जानते ही हैं कि, मानवीय मन का उपादान' सोममय वह चन्द्रमा है, जिसे पृथिवी का उपग्रह माना गया है । अतएव चान्द्र-मन का पार्थिव-शरीर के प्रति सहज आकर्षण प्रकृत्यैव सिद्ध होरहा है । एवमेव चिदात्मा की गर्भभूमिरूप पारमेष्ठ्य महद् -ब्रह्म का उपग्रह माना गया है वह सूर्य, जो बुद्धि का प्रभव है । अतएव महद्ब्रह्मावच्छिन्न आत्मा के प्रति सौरी-बुद्धि का सहज आकर्षण स्वतः ही प्रमाणित होरहा है । और यों सूर्य्यात्मिका बुद्धि मानव के आत्मरूप पुरुषपर्व की किंवा अमृत -ब्रह्म की सहचारिणी बनी हुई है, तो चन्द्ररूप मन पार्थिवशरीररूप प्रकृतिपर्व का किंवा मर्त्य ब्रह्म का सहचारी बना हुआ है । इस साहचर्य्य का निष्कर्ष यही निकलता है कि–मानवीय पुरुषभागरूप अर्द्धाङ्ग की व्याप्ति आत्मा, और बुद्धि नामक दो अवान्तर पर्वों से अनुप्राणित है एवं मानवीय प्रकृतिभागरूप अर्द्धाङ्ग की व्याप्ति मन और शरीर नामक दो अवान्तर पर्वों से समन्विता है । फलतः अमृत – ब्रह्म–मर्त्यात्मक किंवा पुरुष–प्रकृति–समन्वयात्मक द्विपर्वा मानव का आत्मा बुद्धि मन', शरीर-भेदों से पर्वचतुष्टयात्मकत्व प्रमाणित होजाता है, एवं ठीक यही पर्वचतुष्टयात्मिका स्थिति मानवी की है । दोनों के समन्वितरूप दाम्पत्य * से निदानभावानुबन्धेन अष्टाक्षर-गायत्रीछन्द की संख्या–सम्पत् की सहजरूपेणैव गतार्थता प्रमाणित होरही है, एवं इस दृष्टिकोण से भी– 'गायत्री वा इदं सर्वम्' इस अनुगम वचन की अन्वर्थता सिद्ध होरही है ।

मानव और मानवी दुग्धी और शान्त रहें इसी प्रसङ्ग से अब मानव, और मानवी की तथाकथिता स्वरूप–मीमांसा प्रक्रान्त होरही है जिस के माध्यम से अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, पुरुष-और प्रकृति–भाव समन्वयात्मक मानव का पुरुषरूप अर्द्धाङ्ग भी आत्म–बुद्धि–भेदेन द्विपर्वा है एवं मानव का प्रकृतिरूप अर्द्धाङ्ग भी मनः–शरीर–भेदेन द्विपर्वा है । तथैव मानवी के दोनों अमृत –मर्त्य –ब्रह्म भी इसी पर्वव्यवस्था से समतुलित हैं । यों दोनों के आठों पर्वों के समन्वय से अनुगता दाम्पत्यव्यवस्था अष्टाक्षर-गायत्री–छन्द से समतुलिता प्रमाणित होरही है । और यों अक्षरव्यवस्था तथा पर्वव्यवस्था यद्यपि मानव और मानवी के स्वरूपों में पारस्परिकी कोई विभिन्नता प्रतीत नहीं होरही तदपि मानवसंस्थानुगत पुरुषाङ्ग के प्राधान्य से एवं मानवी–संस्थानुगत–प्रकृत्यङ्ग के प्राधान्य से अनुप्राणित सुसूक्ष्म भेद दोनों के स्वस्वरूपों का आत्यन्तिकरूपेण विभाजक बना हुआ है जिस विभाजन का निष्कर्षार्थ यही है कि मानव के चारों पर्वों में आत्म–बुद्धि -रूप 'पुरुष' भाग अभिव्यक्त है पूर्णरूपेण एवं मन –शरीर रूप–'प्रकृति' भाग अपूर्ण है । एवमेव मानवी के चारों पर्वों में मन'–शरीर–रूप–प्रकृतिभाग अभिव्यक्त है पूर्णरूपेण एवं आत्म–

* देखिए–प्रस्तुत द्वितीयखण्ड का 'पत्नीसंनहनकर्म्मोपपत्तिः' नामक प्रकरण (पृष्ठ सं० १७९ से पृष्ठ सं १ २६ पर्य्यन्त) ।

बुद्धि–रूप 'पुरुष' भाग अपूर्ण है । और यों दोनों ही अन्योऽन्याश्रयन्यायानुबन्धेन एक दूसरे के सम्बल की अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षा रख रहे हैं । बिना इस उभयात्मक आश्रय–आश्रयी–भाव के न तो मानव ही सुख–शान्ति का अनुगामी बन सकता, एवं न मानवी ही सुख–शान्ति की अनुगामिनी बन सकती ।

मानव से मानवी चाहती है शान्ति, और मानव मानवी से चाहता है सुख । शान्ति अविकम्पित स्थिर–आनन्द से सम्बद्ध मानी गई है एवं सुख विकम्पित–अस्थिर–आनन्द से सम्बद्ध माना गया है । शान्ति का क्षेत्र है आत्मानुगता बुद्धि, एवं सुख का क्षेत्र है मनोऽनुगत शरीर । मानव प्रधानरूपेण आत्मबुद्धि–समष्टिरूप पुरुषभाव का प्रातिस्विकरूपेण दायाद–भोक्ता है, तो मानवी प्रधानरूपेण मनःशरीर–समष्टिरूप प्रकृतिभाव की प्रातिस्विकरूपेण दायादभोक्त्री है । मानव की आ मबुद्धयनुगता शान्ति से उपकृत होती है मानवी एवं मानवी के मनःशरीरानुगत सुख से उपकृत होता है मानव । बिना शान्ति के सुख का कोई मूल्य नहीं, तो बिना सुख के शान्ति का मार्ग सर्वथा अवरुद्ध । अतएव संसिद्ध है कि–मानव, और मानवी की सुख–शान्ति दोनों के दाम्पत्यमूलक—'गृहस्थधर्म्म' पर ही अवलम्बित है, और इसी प्रकृतिसिद्ध तथ्य के आधार पर भारतीय–पत्नशब्द के सम्बन्ध में हमें दो शब्द अपने वेदप्रेमी पाठकों के समक्ष उपस्थित करने हैं ।

समृद्धानन्द, शान्तानन्द–भेद से आनन्द के महिमामय दो विवर्त्त सुप्रसिद्ध हैं । जिस आनन्द में सहज–स्थिति का विकम्पन है, वही समृद्धानन्द है एवं यह इतरभूत पदार्थ से ही सम्बद्ध माना गया है । एक शान्त–सरोवर में बलपूर्वक–प्रक्षिप्त लोष्ठ-पाषाण कुछ समय के लिए जैसे वीची-तरङ्ग-रूप विकम्पन उत्पन्न कर देते हैं, तथैव लोक–वैभवरूप लोष्ठ-पाषाणादि के आगमन से मानस-प्रज्ञा का अमुक अवधि के लिए विकम्पन होपड़ता है एवं इसी विकम्पनावस्था का नाम है–समृद्धानन्द, जिसका भौतिक-विश्वानुबन्धी-बाह्य परिग्रहों के संस्कारात्मक-आगमन-से ही सम्बन्ध माना गया है । यही है—विश्वसुख लोकसुख जिसका प्रधान सम्बन्ध माना गया है मानव-मानवी के प्रकृतिपर्वों के साथ अर्थात् मनःशरीर-पर्वों के साथ । अर्थात् मानसिक शारीरिक-लोकानन्द का ही नाम है–समृद्धानन्द, एवं इसी की पारिभाषिकी अभिधा है-'सुख' । क्योंकि मानवी में सहजरूपेणैव मन शरीररूप प्राकृतपर्व ही अभिव्यक्त रहते हैं अतएव मानवी स्वभावतः समृद्धानन्दात्मक-मन शरीर-निबन्ध-लोकसुख की ही सतत इच्छा किया करती है ।

दूसरा विवर्त्त है शान्तानन्द का । यह स्वाश्रित आनन्द माना गया है । एवं सहजरूपेण स्व की स्वरूपस्थिति ही इस शान्तानन्द की परिभाषा है, जिसे बुद्धयनुगत आत्मानन्द, किंवा आत्मनिबन्धन-बौद्धिक आनन्द भी कहा जासकता है । मनोऽनुगत–शारीरिक-सुख को कहा जायगा पुष्टि शरीरानुगत मानसिक सुख को कहा जायगा तुष्टि । एवं दोनों की समन्वितावस्था को माना जायगा समृद्धानन्दात्मक-सुख । एवमेव आत्मानुगत बौद्धिक आनन्द को कहा जायगा तृप्ति, एवं बुद्धयनुगत आत्मानन्द को कहा जायगा शान्ति तथा दोनों की समन्वितावस्था को माना जायगा शान्तानन्दात्मिका 'शान्ति । यों दो आनन्दविवर्त्तों के पर्व-चतुष्टयी के अनुबन्ध से शान्ति तृप्ति–तुष्टि-पुष्टि-रूपेण चार अवान्तर-महिमा-विवर्त्त-सम्पन्न होजायेंगे जिन इन चारों में से शान्ति-तृप्ति-रूप शान्तानन्द की पारिभाषिकी संज्ञा है— निःश्रेयस, एवं तुष्टि-पुष्टि-रूप समृद्धानन्द की संज्ञा है 'अभ्युदय । निःश्रेयस् के क्षेत्र हैं आत्मबुद्धिपर्व एवं अभ्युदय के क्षेत्र हैं-मन शरीर

मौलिक स्वरूप है । आत्मा 'लोकातीत' किन्तु 'लोकी' सत्य है एवं शरीर 'लोक' है । पार्थिव जगत् की प्रकृति माता धरित्री ही मानी गई है । अतएव प्रकृति-रूप-लोकात्मक-शरीर को हम 'पार्थिव' ही कहेंगे, जिस में आलोमभ्य' आनखाग्रेभ्य अपार्थिव अलौकिक-आत्मा प्रतिष्ठित माना गया है । आत्मा ही वह 'पुरुष' भाव है, जो प्रकृतिरूप–लोकात्मक शरीर का सर्वस्व माना गया है । आत्मा और पार्थिव शरीर, इन दोनों के मध्य में दोनों के क्रमिक-सहयोगी माने गए हैं विज्ञानभाव और प्रज्ञानभाव जो दोनों भाव दर्शन–जगत् में क्रमशः बुद्धि, और मन नाम से प्रसिद्ध हैं । वैदिक–विज्ञान की सामान्य–परिभाषाओं से भी परिचित महानुभाव भी जानते ही हैं कि, मानवीय मन का उपादान' सोममय वह चन्द्रमा है, जिसे पृथिवी का उपग्रह माना गया है । अतएव चान्द्र–मन का पार्थिव–शरीर के प्रति सहज आकर्षण प्रकृत्येव सम्सिद्ध होरहा है । एवमेव चिदात्मा की गर्भभूमिरूप पारमेष्ठ्य महद् ब्रह्म का उपग्रह माना गया है वह सूर्य्य, जो बुद्धि का प्रभव है । अतएव महद्ब्रह्मावच्छिन्न आत्मा के प्रति सौरी–बुद्धि का सहज आकर्षण स्वतः ही प्रमाणित होरहा है । और यों सूर्य्यात्मिका बुद्धि मानव के आत्मरूप पुरुषपर्व की, किंवा अमृत –ब्रह्म की सहचारिणी बनी हुई है तो चन्द्ररूप मन पार्थिवशरीररूप प्रकृतिपर्व का किंवा मर्त्य ब्रह्म का सहचारी बना हुआ है । इस साहचर्य्य का निष्कर्षार्थ यही निकलता है कि–मानवीय पुरुषभागरूप अर्द्धाङ्ग की व्याप्ति आत्मा और बुद्धि नामक दो अवान्तर पर्वों से अनुप्राणित है एवं मानवीय प्रकृतिभागरूप अर्द्धाङ्ग की व्याप्ति मन और शरीर नामक दो अवान्तर पर्वों से समन्विता है । फलतः अमृत – ब्रह्म–द्वयात्मक किंवा पुरुष–प्रकृति–समन्वयात्मक द्विपर्वा मानव का आत्मा बुद्धि मन शरीर भेदों से पर्वचतुष्टयात्मकत्व प्रमाणित होजाता है, एवं ठीक यही पर्वचतुष्टयात्मिका स्थिति मानवी की है । दोनों के समन्वितरूप दाम्पत्य * से नियतमात्रानुबन्धेन अष्टाक्षर–गायत्रीछन्द की संस्था–सम्पत् की सहजरूपेणैव गतार्थता प्रमाणित होरही है, एवं इस दृष्टिकोण से भी–'गायत्री वा इदं सर्वम्' इस अनुगम वचन की अन्वर्थता संसिद्ध होरही है ।

मानव और मानवी बुद्धी और शान्त रहें इसी प्रसङ्ग से अब मानव और मानवी की यथाश्रुता स्वरूप–मीमांसा प्रक्रान्त होरही है जिस के माध्यम से अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, पुरुष–और प्रकृति–भाव समन्वयात्मक मानव का पुरुषरूप अर्द्धाङ्ग भी आत्म–बुद्धि–भेदेन द्विपर्वा है एवं मानव का प्रकृतिरूप अर्द्धाङ्ग भी मनः–शरीर–भेदेन द्विपर्वा है । तथैव मानवी के दोनों अमृत –मर्त्य –ब्रह्म भी इसी पर्वव्यवस्था से समतुलित हैं । या दोनों के आठों पर्वों के समन्वय से अनुगता दाम्पत्यव्यवस्था अष्टाक्षर–गायत्री–छन्द से समतुलिता प्रमाणित होरही है । और यों अङ्गव्यवस्था तथा पर्वव्यवस्था यद्यपि मानव और मानवी के स्वरूपों में पारस्परिकी कोई विभिन्नता प्रतीत नहीं होरही तदपि मानवसंस्थानुगत पुरुषाङ्ग के प्राधान्य से एवं मानवी–संस्थानुगत–प्रकृत्यङ्ग के प्राधान्य से अनुप्राणित सुसूक्ष्म भेद दोनों के स्वरूपों का आत्यन्तिकरूपेण विभाजक बना हुआ है जिस विभाजन का निष्कर्षार्थ यही है कि मानव के चारों पर्वों में आत्म–बुद्धि –रूप पुरुष भाग अभिव्यक्त है पूर्णरूपेण एवं मन –शरीर रूप–'प्रकृति' भाग 'अपूर्ण' है । एवमेव मानवी के चारों पर्वों में मन –शरीर–रूप–प्रकृतिभाग अभिव्यक्त है पूर्णरूपेण एवं आत्म–

*–देखिए–प्रस्तुत द्वितीयखण्ड का 'पत्नीसन्नहनकर्म्मोपपत्तिः' नामक प्रकरण (पृष्ठ सं० ९५९ से पृष्ठ सं १ २६ पर्य्यन्त) ।

इस नवीन दृष्टिकोणानुबन्ध में अब आत्मपर्व के साथ तो लोकातीत-ब्रह्म से अनुप्राणित निःश्रेयस का, और तद्रूप शान्तानन्द का सम्बन्ध माना जायगा, एवं शेषभूता बुद्धि-मनः-शरीर पर्वत्रयी के साथ लोकब्रह्म से अनुप्राणित अभ्युदय का, और तद्रूप समृद्धानन्द का सम्बन्ध माना जायगा, एवं तदाधारेणैव अब यह सिद्धान्त पर मान लिया जायगा कि मानव-मानवी का आत्मपर्व दिग्देशकालातीत बनता हुआ निःश्रेयस्-पथानुगामी है, तो शेषभूता बुद्धि-मनः-शरीर-पर्वत्रयी दिग्देशकालात्मिका प्रमाणित होती हुई अभ्युदय-पथानुगामिनी है।

तथाकथित नवीन दृष्टिकोण का आधार है प्राकृतिकी-लोकस्थिति जिसका भी दो शब्दों में संस्मरण कर ही लेना चाहिए। लोकब्रह्मात्मक-समृद्धानन्दघन-विश्वात्मा से अभिन्न भूत-भौतिक-विश्व की अभिव्यक्ति के तीन ही प्रमुख पर्व माने गए हैं, जो क्रमशः 'सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी' रूपेण सर्वसाधारण के लिए भी प्रत्यक्ष हैं। कालसाक्षी सूर्य्य काल से अभिन्न है और यही अवलोकन-साधन-भूत लोक है। अतएव यह 'लोकसाक्षी' नाम से भी उपश्रुत है। दूसरा चन्द्रपर्व ही दिक् का साक्षी बनता हुआ दिग्भाव से अभिन्न है। एवं तीसरा पृथिवीपर्व ही देश का साक्षी बनता हुआ देशभाव से अभिन्न है। इत्थं त्रैलोक्यमण्डलावच्छिन्न लोकब्रह्म की सीमा में सूर्य्यात्मक-कालभाव चन्द्रमात्मक दिग्भाव एवं पृथिव्यात्मक देशभाव, क्रमेण तीन अवान्तर-विवर्त्त प्रतिष्ठित हैं। इस त्रयी से ही तदभिन्न लोकब्रह्म को हमने 'दिग्देश-कालावच्छिन्नब्रह्म' कहा है, जिसका फलितार्थ निकलता है—'चन्द्रमा पृथिवी-सूर्य्यावच्छिन्न-व्यक्त-विश्वब्रह्म।

शेष रह जाता है लोकातीत, अतएव दिग्देशकालातीत अर्थात् पृथिवी-चन्द्रमा-सूर्य्यात्मक व्यक्त विश्व से अतीत परात्परब्रह्म जिसे दिग्देशकालातीतत्वेनैव अविज्ञेयब्रह्म भी कहा गया है।

मानव-मानवी में समानरूपेण अभिव्याप्त लोकातीत ब्रह्मभाव ही 'आत्मा' है, जो दिग्देशकालातीत है। कालात्मक सूर्य्य का प्रवर्ग्यरूप ही मानव-मानवी में कालात्मक-बुद्धिपर्व है। दिगात्मक चन्द्रमा का प्रवर्ग्यरूप ही दिगात्मक-मनःपर्व है। एवं देशात्मिका पृथिवी का प्रवर्ग्यरूप ही देशात्मक-शरीरपर्व है। इन तीनों पर्वों की समन्वितावस्था ही मानव-मानवी का दिग्देशकालात्मक-लोकानुबन्धी-परिच्छिन्न-स्वरूप है। और यही है उस 'अपराविद्यात्मिका' 'वेदविद्या' का स्वरूप-निष्कर्ष जिसकी काण्डत्रयी के प्रथम-पर्वरूप-'ब्राह्मणभाग' की व्याख्या ही 'शतपथब्राह्मणभाष्य' के रूप से क्रमशः (खण्डशः) प्रस्तुत होरही है गतवर्षों से।

आर्य * भारतराष्ट्र में किस मन्दभाग्यपूर्ण क्षण से इत्थंभूता भयावहा सर्वनाशकारिणी भ्रान्ति उपक्रान्त होगई कि,—'मानव का एकमात्र लक्ष्य आत्मानुबन्धी-निःश्रेयस्-साधन ही है। दिग्देशकाला-नुबन्धी-व्यक्त-विश्व सर्वथैव मिथ्या है। इस का परित्याग कर मानव को केवल निःश्रेयस्-पथानु-धर्म्मा ही बना रहना चाहिए', के-कालानुबन्धी तत्कालीकृत इतिहास के स्वरूप-विश्लेषण का यहाँ अवसर नहीं है। यहाँ तो इसी ऐतिहासिक तथ्य की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है कि, विगत तीन सहस्र-वर्षों से भारतराष्ट्र ज्ञात-अज्ञात-अनेक दारुण-पाशों की दृढ़तमा-बन्धन-परम्पराओं से आलोमाग्र-

* ऋषिप्रदिष्ट ज्ञान-विज्ञानात्मक-पथ का अनुगामी।

पर्व । निःश्रेयस्-रूप शान्तानन्द ही 'पारलौकिक-शान्तानन्द' है एवं अभ्युदयरूप-समृद्धानन्द ही-ऐह लौकिक-समृद्धानन्द है । और यों दोनों दोनों के पूरक ही प्रमाणित होरहे हैं ।

इसी आधार पर उस वर्णाश्रमधर्म की अभिव्यक्ति हुई है, जिसे भारतीय दार्शनिकोंने—'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः-स धर्मः' इत्यादिरूपेण उभयसंसाधक माना है । इदंभूत उभयसंसाधक महान् मानवधर्म (वर्णाश्रमधर्म) का आधारस्तम्भ माना गया है वह—'गृहस्थाश्रम', जिसकी आधारभित्ति है चतुष्पर्वा मानव, और तथाविधैव-मानवी का दाम्पत्ययज्ञ । इसी यज्ञ के आधार पर मानव का वह गृहस्थाश्रम प्रतिष्ठित है, जिसके माध्यम से ही अभ्युदय का भजन करते हुए मानव-मानवी अग्रभावी वानप्रस्थादि इतर आश्रमों से निःश्रेयस्-साधन में भी सर्वात्मना सफल होजाते हैं । इसी प्रकृतिसिद्ध तथ्य के आधार पर अब हम अपने पाठकों का ध्यान उन दोनों विद्याओं की ओर पुनः आकर्षित कर रहे हैं जिनका पराविद्या-अपराविद्या रूपेण मुण्डकश्रुति के द्वारा पूर्व में संस्मरण किया जाचुका है ।

शब्दशास्त्रने ब्रह्म के दो प्रमुख-महिमा-विवर्त माने हैं जिनका भी प्रसङ्ग-चिया अत्र संस्मरण कर लेना अप्रासङ्गिक नहीं माना जायगा । वे दोनों विवर्त क्रमशः लोकातीतब्रह्म, एवं लोकब्रह्म नामों से अनुगत माने जासकते हैं, जो दर्शनभाषा में वहाँ क्रमशः निर्गुणब्रह्म-सगुणब्रह्म नामों से, एवं विज्ञानभाषा में परात्पर, पुरुष-नामों से व्यवहृत हुए हैं । दिक् देश, और काल की परिधियों से अतीत, निरवधीत-निरपेक्ष ब्रह्मविवर्त ही लोकातीत-परात्पर-ब्रह्म है । एवं दिक्-देश-कालात्मक-सर्वात्मक-सर्वधर्मोपपन्न-ब्रह्मविवर्त ही पुरुषब्रह्म है । दिक्कालाद्यनवच्छिन्न-लोकातीत-ब्रह्म ही * शान्तानन्द की प्रतिष्ठाभूमि है, एवं दिक्कालाद्यवच्छिन्न-लोकात्मक-ब्रह्म ही समृद्धानन्द की प्रतिष्ठाभूमि है । इसका तात्पर्य यही हुआ कि शान्तानन्दात्मक-निःश्रेयस् का आधार है *लोकातीतब्रह्मविवर्त* एवं *समृद्धानन्दात्मक-अभ्युदय का आधार है लोकात्मक ब्रह्मविवर्त* ।

लोकातीत ब्रह्मविवर्त की लोकनिबन्धना उपनिषत्-मानी गई है—'अहं ब्रह्मास्मि' यह, जिसका अर्थ होता है—'विशुद्ध-निष्कैवल्य-आत्मा' एवं जिसे माना गया है-दिक्-देश-काल-त्रयी से अतीत। सैषा स्थितिः । स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया । निवेदन किया गया है कि-मानव, और मानवी दोनों में प्रत्येक में आत्मादि-शरीरान्त चार चार पर्व हैं । इनमें प्रथम-सर्वाधारभूत-अपवर्गात्मक-आत्मपर्व के साथ बुद्धिपर्व को भी अनुगत मान लिया है एक कारणविशेष के आधार पर, जिसका नवप्रस्थानात्मिका-गीताभूमिका के 'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक खण्डमध्यम में विस्तारसे स्पष्टीकरण किया गया है । प्रकृत में यही वक्तव्य है कि, बुद्धि' नामक पर्व वस्तुतः दिग्देश-कालानुगत लोकब्रह्म की सीमासे ही प्रधानरूपेण समन्वय रखता है । और इस दृष्टि से आत्मा-बुद्धि तथा मनः-शरीर-रूपेण चारों पर्वों का विभाजन न कर आत्मा को स्वतन्त्र-विभागानुगामी माना जायगा एवं शेष तीनों-बुद्धि-मन-शरीर-नामक पर्वों का एक लोकात्मक स्वतन्त्र विभाग माना जायगा ।

---

* दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येक-मानाय नमः 'शान्ताय' तेजसे ।
—भर्तृहरिः

सम्बन्ध नहीं है, जबकि दुर्भाग्यवश उसी लोकातीता पराविद्या को, एवं तदभिन्नघन लोकातीत निरपेक्ष–निर्विशेष ब्रह्म को विश्वसमृद्धि के अन्यतमशत्रु साम्प्रदायिकोंनें मानव के लिए एकमात्र परमपुरुषार्थ घोषित करते हुए उसे ही निःश्रेयस्–संसाधक मान रक्खा है। एवं इसी मावुकतापूर्णा मान्यता से आवेशाविष्टा बनी हुई भारतीय प्रजा विगत तीन सहस्र वर्षों से विश्वातीत–निर्विशेषब्रह्म की घोषणामात्र से आत्मविस्मृता बनती हुई वस्तुस्थिति से अनुप्राणित निःश्रेयस् (आत्मानुगता शान्ति, और बुद्ध्यनुगता तृप्ति), तथा अभ्युदय (मनोऽनुगता तुष्टि और शरीरानुगता पुष्टि), दोनों ही पुरुषार्थों से सर्वथा ही वञ्चित ही होती चली आरही है।

तथाविधा आत्मवञ्चना का ही यह घोरघोरतम दुष्परिणाम हुआ है कि, सगुण विश्वेश्वरब्रह्म के ज्ञान विज्ञानात्मक–रहस्यों का प्रतिपादक उपनिषच्छास्त्र तद्भाष्यभूत व्याससूत्र, एवं तत्पारिभाषिकी सूची-रूप गीताशास्त्र, इन तीनों शास्त्रों की समष्टिरूपा सुप्रसिद्धा– प्रस्थानत्रयी' भी तदावेशाविष्टों की महती कृपा से अपनी पारिभाषिकी ज्ञानविज्ञानात्मिका समन्वय–पद्धति से पराङ्मुख ही प्रमाणित होगई है विगत अवधि से। फलतः प्रस्थानत्रयी आज केवल साम्प्रदायिक–ग्रन्थमात्ररूपेणैव अवशिष्टा रह गई है। तभी तो तथोक्ता अवधि में अपने अपने वैय्यक्तिक–मनोऽनुगत–मान्यतानुबन्धी–मतवादों–सम्प्रदायवादों के समर्थन–प्रमाणन के लिए सभी मतवाद–प्रवर्त्तकोंनें 'प्रस्थानत्रयी का आश्रय ग्रहण करते हुए इसे उसप्रकार स्व–स्व–मतवादों की पोषाणिरमिका ही प्रमाणित करने का अपन्यतम–प्रयत्न किया है मानो ज्ञानविज्ञानात्मिका यह प्रस्थानत्रयी केवल काल्पनिक–मतवादों के पोषण के लिए ही प्रवृत्त हुई हो।

उक्त निदर्शन से वक्तव्यांश केवल यही है कि, उपनिषत् जैसा वैज्ञानिक–शास्त्र समधर्मोपपन्न ब्रह्म के वैज्ञानिक–स्वरूप का विश्लेषक 'वेदान्तसूत्र' जैसा सूत्रग्रन्थ, एवं समस्त उपनिषदों की रहस्यपूर्णा ज्ञानविज्ञानात्मिका विद्याओं की, परिभाषाओं की महत्त्वपूर्ण 'सूची रूप श्रीमद्भगवद्गीता जैसा लोकोत्तरशास्त्र, ये सभी ज्ञान–विज्ञान–निधियों भी आज तथाविधा मतवादाभिनिवेशपरम्पराओं की प्रतिच्छाया से अपनी मौलिकता से सर्वथा ही अन्यतमुख प्रमाणित होचुकी है। यही कारण है कि उपनिषत् और गीता जैसे तत्त्वप्रधान एवं आचारप्रधान शास्त्रों के विद्यमान रहते भी भारतराष्ट्र विगत तीन सहस्रवर्षों की अवधि से उत्तरोत्तर निःश्रेयस् तथा अभ्युदय–पथों से वञ्चित रहता हुआ आततायी गं के द्वारा पराभूत ही होता आरहा है, जिस दुर्धर्षभूता पराभूति से अद्यावधि भी भारतराष्ट्र का परित्राण नहीं होसका है। सचमुच ही जिज्ञासात्मक दुर्धर्षभूत महान् प्रश्न प्रत्येक आस्तिक भारतीय मानव के लिए अनतिप्रश्नात्मक एक 'असमाधेय–प्रश्न ही प्रमाणित होरहा है कि, जिस नैष्ठिक–राष्ट्र (भारतराष्ट्र) के प्रज्ञाकोश में मन्त्रब्राह्मणात्मक–वेदशास्त्र जैसा रहस्यपूर्ण शास्त्र विद्यमान हो जिस राष्ट्र के मानस-प्राङ्गण में औपनिषद्-ज्ञानप्रवाह प्रवाहित हो, एवं सर्वोपरि जिस राष्ट्र की आस्था–श्रद्धा–समन्विता बुद्धि में गीताशास्त्र जैसा आचारशास्त्र प्रतिष्ठित हो, वह राष्ट्र कैसे, और क्यों परतन्त्र बन गया!, इन लोकोत्तर ज्ञान–विज्ञान–विभूतियों की विद्यमानता में भी कैसे और क्यों यह राष्ट्र आत्मदृष्ट्या अशान्त, बुद्धिदृष्ट्या अतृप्त, मनोदृष्ट्या असन्तुष्ट, तथा शरीरदृष्ट्या अपुष्ट बना रह गया!, और कैसे तथा क्यों यह भारतराष्ट्र अपने दायादच्छिद्र निःश्रेयस्–तथा अभ्युदय नामक दोनों ही पुरुषार्थों से वञ्चित होता आरहा है!।

हम समझते हैं, पूर्व निर्दिष्ट मतवादात्मक–सम्प्रदायवाद से अनुप्राणिता ज्ञानविज्ञानात्मिका–परिभाषाओं की विलुप्ति, ज्ञानविज्ञानात्मक आचारधर्म्म का परित्याग, एवं तत्स्थाने च काल्पनिकी मतवादा-

आनन्दासाम्य आबद्ध बना रहता हुआ प्रकृतिसिद्ध शरीर-मनो-बुद्धि-सम्मत-देश-दिक्-कालानुबन्धी-लोक-समृद्धिभावों की ओर से न केवल तटस्थ-निरपेक्ष ही, अपितु-काल्पनिक-आत्माभिनिवेश से आविष्ट होता हुआ विद्रोही ही बनता चला आरहा है इन लोक-समृद्धिपरम्पराओं के प्रति ।

विश्वातीत-निर्द्धर्मक-लोकातीत-परात्परब्रह्मरूप निर्विशेष 'आत्मभाव' का तो वस्तुगत्या मानव के निःश्रेयस से भी सम्पर्क नहीं है । अपितु षाड्गुण्यवर्त्ती मानव-मानवी का प्रथम-पर्वरूप आत्मभाव ही इन दोनों के लिए निःश्रेयस् का प्रवर्त्तक माना गया है, जो आत्मभाव विश्वसीमानुगत बनता हुआ 'विश्वात्मा' नाम से ही प्रसिद्ध है । अतएव जगन्मिथ्यात्ववादी-निर्विशेष-वादियों का तो निःश्रेयस से भी कोई सम्पर्क नहीं रह जाता । अपितु निर्विशेष की उपलब्धि के मिथ्यादम्भ से इनकी स्थिति तो-'इतो भ्रष्टस्ततोऽपि भ्रष्टः' न्याय की ही चरितार्थ करने वाली प्रमाणित होरही है और वैसा सा ही क्या निश्चयेन वैसा ही भविष्य होरहा है विगत तीन सहस्र वर्षों की अवधि से निर्विशेषाभिनिविष्टा जगन्मिथ्यात्ववादिनी भारतीय प्रजा के सम्बन्ध में ।

जगन्मिथ्यात्ववादभ्रान्तिमूला निर्विशेषात्माभिनिवेशाविष्टा तथाकथिता आत्मधारणाने ही इस ओर की लोकसमृद्धि-परम्पराओं से जहाँ भारतीय-मानव को पराङ्मुख प्रमाणित किया वहाँ काल्पनिक आत्माभिनिवेश ने इसे निःश्रेयस पथ से भी सर्वात्मना वञ्चित ही प्रमाणित कर दिया-तयोक्ता सुदीर्घ प्रक्रान्ता अवधि में । यों निःश्रेयससाधक आत्मौपनिषद ज्ञानपथ के साथ साथ अभ्युदयसंसाधक (बुद्धि-मन-शरीरौपयिक) विज्ञानपथ से भी भारतीय मानव सर्वात्मना पराङ्मुख ही प्रमाणित होगया । पारिशेष्यात् रह गया इसके प्रज्ञाकोश में काल्पनिक शून्यवादात्मक-क्षणवादात्मक-स्वलक्षणनिरूपण-दुर्लभ-दुर्लभ-मात्र जिस हतभाग्या सर्वनाश कारिणी मतवादाश्रिता मानुकता को ही आज पुनः बड़े अभिनिवेश के साथ हमारा आज का सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र भारत काल्पनिक-मानवता के व्यामोहन से व्यामुग्ध होता हुआ अपना रहा है जिससे बड़ा सांस्कृतिक अधः-पतन इसका और कुछ भी तो नहीं हो सकता ।

लोकसमृद्ध्यनुगता-दिग्देशकालानुबन्धिनी-अभ्युदयपथसंश्रविता विज्ञानधारा की विलुप्ति ही तथोक्त सांस्कृतिक अधःपतन का एकमात्र प्रमुख कारण है, जिस पतनगर्त्त को निःशेष प्रमाणित करने के लिए अविलम्ब अपराविद्या के तत्त्वान्वेषण के आधार पर भारतीय मनीषि-वर्ग को उस आर्षविज्ञानपरम्परा की पुनः अभिव्यक्ति करनी ही पड़ेगी जिस अभ्युदयसाधक विज्ञानकाण्ड की आधारभूमि निःश्रेयस्-संसाधक-ज्ञानकाण्ड बना हुआ है । और इस पावन-उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए राष्ट्र के मनीषिवर्ग को सर्वप्रथम-अपराविद्या के प्रधान एवं प्रथम-प्रज्ञासूत्र 'विधि' नामक 'ब्राह्मण' भाग की वैज्ञानिकी-परिभाषाओं के पारिभाषिक-तत्त्वान्वेषण में ही प्रवृत्त होना पड़ेगा जिन परिभाषाओं के स्वरूप-समन्वय के बिना केवल प्रकृति-प्रत्यय-धातु-उपसर्ग-निपातादि के बल पर कदापि विलुप्तप्राया विस्मृतप्राया विज्ञानधारा की पुनः अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है ।

मुण्डकोपनिषत् ने पराविद्या, अपराविद्या नाम की जिन दो विद्याओं का उद्देश किया है, उनमें लोकातीता पराविद्या का न तो मानव के अभ्युदय से ही सम्बन्ध है एवं न निःश्रेयस् से ही । क्योंकि दिग्देशकालातीता पराविद्या का न तो ज्ञान से ही सम्बन्ध है न कर्म्म से ही सम्बन्ध है । शब्दातीता उस विद्या का मानव के लोकजीवन की तापेक्षा ज्ञानधारा तथा सापेक्षा कर्म्मधारा से किसी भी प्रकार का व्याज

संन्यास ने, एवं ऐसे संन्यास के कर्णधार संन्यासियोंनें ही तथ्यात्मक उस महान् कारण को जन्म दिया है जिस संस्मरणीय कारणानुबन्ध से ही भारतराष्ट्र का रहस्याश्रमानुबन्धी–विधिभागात्मक ब्राह्मणग्रन्थनिबन्धन समस्त कर्म्मसौन्दर्य्य, एवं तद्रूपा आचारनिष्ठा सर्वथैव अभिभूत होगई है जिस आचाराभिभूति से ही भारतराष्ट्र का सांस्कृतिक–गौरव स्मृतिगर्भ में विलीन हुआ है।

आचारात्मक–जीवनीय रसानुबन्धी–सृष्टिसौन्दर्य्य का वैज्ञानिक–स्वरूप विश्लेषक विधिरूप ब्राह्मण भाग एवं ब्राह्मणभागोक्त वैज्ञानिक–पारिभाषिक–तथ्यों का इतिहास–पुरस्सर उपबृंहण करने वाला आर्ष्य–तत्त्वरूप–'पुराणशास्त्र', ये दो ही विभाग भारतीय विज्ञानकाण्ड के तत्त्वात्मक, एवं आचारानुगत ऐतिहासिक–प्रकर्षों के प्रमुख आधारस्तम्भ थे जिनका उपोक्त कल्पित संन्यास ने, तदनुप्राणिता केवला उपनिषद्भक्ति ने, एवं तभिबन्धना ज्ञानैककल्पना ने विगत तीन सहस्रवर्षों से सर्वात्मना अभिभव ही कर लिया, जिस अभिभव के कारण ही सामान्य प्रजा की कौन कहे, भारतीय–विद्वान भी ब्राह्मणग्रन्थों एवं पुराणों के प्रति सर्वथा उदासीन ही बन गए।

और निःसन्देह यही वह घोरघोरतमा मयावहा भ्रान्ति है, जिस ने वेद के ज्ञानविज्ञान–सम्मत पारिभाषिक–अन्तस्तत्त्व का संस्पर्श होने ही नहीं दिया। सचमुच ब्राह्मणग्रन्थों की ज्ञानविज्ञानात्मिका–परिभाषाओं के विस्पष्टतम स्वरूप पर दृक्पात–मात्र–करने से ही सहसा हमें वेदार्थ के सम्बन्ध में सहजरूपेणैव वैसी दृष्टि उपलब्ध होजाती है जो क्रमसिद्ध–आनुपूर्वी से अनुप्राणित अध्ययन से सभी प्रकार की भ्रान्तियों का आमूल चूड उत्पाटन ही कर डालती है। इस में तो कोई सन्देह नहीं कि ब्राह्मणग्रन्थों की रहस्यात्मिका परिभाषाएँ स्वयं में ही एक जटिल–समस्या है। और कोई भी बुद्धिवादी प्रकृति–प्रत्यय–धातूपसर्ग–निपातादि–मात्र के बल पर स्वप्न में भी इन परिभाषाओं के सन्निकट नहीं पहुँच सकता। यही नहीं, पारिभाषिक–तथ्यों से शून्य रह जाने वाले व्यक्ति के लिए तो 'ब्राह्मणसाहित्य' उसी प्रकार केवल–'अभूताख्यान' (कल्पित–कथानक) मात्र ही बने रह जाते हैं, जैसा कि 'पुराणशास्त्र' के अष्टविध–आख्यानों में एक विभाग–निदानभाषानुबन्धी–'असदाख्यान' का माना गया है। वस्तुस्थिति वास्तव में ऐसी ही कुछ है।

"यज्ञ देवताओं से रूठ कर पृथिवी पर आगया। देवताओं के डर से यह काला हरिण बन गया। देवताओंने उस का चर्म्म उखाड़ लिया, जो कि चर्म्म तीनों वेद थे' — 'इन्द्र ने वृत्रासुर पर वज्र का प्रहार किया–वह पानी में छुप गया–उस से दर्भ उत्पन्न हुए' 'देवता और असुरों में युद्ध होपड़ा। भूपिण्ड पर स्वस्वाधिकार स्थापित करने के लिए। दोनों लड़ते हुओं के मध्य में में गायत्री खड़ी होगई। गायत्री पृथिवी ही तो थी। इयं ह्येव तदन्तरा तस्थौ' इत्यादि रूपेण उपवर्णित वेदशास्त्र के इदमर्थभूत आख्यान एकबार तो मानवप्रज्ञा को सर्वात्मना विमूढित ही बना देते हैं। जबतक इन्द्र–वृत्र–मृग–यज्ञ–त्रयीवेद–दर्भ गायत्री–पृथिवी–आदि शब्दों के पारिभाषिक–वैज्ञानिक–अर्थों के साथ हमारी–प्रज्ञा समन्वित नहीं होजाती तबतक हम ब्राह्मणों की इस आख्यान भाषामात्र के माध्यम से एकाक्षर का भी समन्वय नहीं कर सकते, नहीं ही कर सकते। अपितु बिना पारिभाषिक बोध के तो हम स्वल्पकाल में ही थक कर ब्राह्मणग्रन्थों के स्वाध्याय से विरत ही होपड़ते हैं। पुराणशास्त्र के स्वाध्याय की उपरति का भी यही कारण है जिस से कि विद्वानोंने ब्राह्मणग्रन्थों के स्वाध्याय से विराम–ग्रहण कर लिया है। और यों पारिभाषिक तथ्यों से पराङ्मुख बने रह जाने के कारण ही विगत अनेक शताब्दियों से सर्वसामान्य की कौन

भिनिविष्ट-व्याख्याताओं का अन्धानुकरण ही तथोक्त अनतिप्रश्नात्मक-प्रश्न का प्रमुख कारण मान लिया जायगा, जिस इस एक प्रमुख कारण के सहयोगी अन्यान्य कारणों का अत्र स्पष्टीकरणावसर नहीं है। इसी सम्बन्ध में एक विशेष तथ्यात्मक कारण का संस्मरण कर लेना भी अप्रासङ्गिक नहीं माना जायगा।

'ज्ञान' शब्दानुप्राणिता परिभाषा से असंस्पृष्ट साम्प्रदायिक मस्तिष्क ने उपनिषदों के 'ज्ञान' शब्द का इत्थंभूत समन्वय कर डाला कि,–"उपनिषद्ग्रन्थ उस निरपेक्ष-निर्विशेष-निधर्मक-लोकातीत-दिग्देश-कालातीत-महाज्ञान की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं जो निरपेक्ष-निर्विशेष-महाज्ञानात्मक-'ज्ञान ही अमृतस्वरूप-निःश्रेयस की प्राप्ति का अन्यतम साधन है। ज्ञानशब्द-निबन्धना इसी महती भ्रान्ति ने लोकातीत-महाज्ञान का वह महान् व्यामोहन उत्पन्न कर डाला जिससे व्यामुग्धा भारतीय-आस्तिक प्रजा आचारात्मक-कर्त्तव्यधर्म्म से सर्वथा पराङ्मुख बन गई, जिस पराङ्मुखता के आधार पर ही-'कर्त्तौ वेदान्तिनः सर्वे' यह आभाणक प्रक्रान्त होपड़ा है।

ज्ञानाभिनिवेश का इससे बड़ा और क्या प्रमाण होगा कि निर्विशेष-ब्रह्मात्मवादी-जगन्मिथ्यात्वाभिमानी व्याख्याताओं की दृष्टि में मन्त्रब्राह्मणात्मक सम्पूर्ण वेदशास्त्र का सर्वान्त का केवल 'उपनिषद्' भाग ही प्रधान बना रहा, और उसी पर उन व्याख्याताओं की व्याख्या-टीका-टिप्पणी-आदि परम्पराएँ उत्तरोत्तर पुष्पित पल्लवित होती रहीं। शेषभूत ऋक्-यजु-साम-अथर्व-वेदभिन्ना संहिताचतुष्टयी, कर्म्म-प्रधान विधिभाग तो प्रायः असंस्पृष्ट ही प्रमाणित होते रहे जब कि बिना इन पूर्व-वेदभागों के पारिभाषिक-ज्ञान-विज्ञानात्मक-समन्वय के उपनिषत् के एकाक्षर का भी वास्तविक (ज्ञानविज्ञानात्मक) समन्वय असम्भव है, जैसा कि स्वपदत्रयानुगता उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका एवं ईशोपनिषद्विज्ञानादि-भाष्यों में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है। तथ्यात्मक कारण के संस्मरण प्रसङ्ग से ही हमें प्रकृत में इत्थंभूत अप्रिय सत्य की पारम्परानुगति करनी पड़ रही है।

मन्त्रब्राह्मणात्मक-वेदशास्त्र का 'विधि' भागरूप 'ब्राह्मणभाग' ही तथ्यात्मक उस संस्मरणीय कारण का मूलाधार है जिसकी ओर विशेषरूप से हमें अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। मन्त्रात्मक संहितावेद शास्त्र्यवेद है जिसकी विभागभूमि तत्त्वमीमांसा से ही अनुप्राणिता है। दूसरा ब्राह्मणात्मक भाग कर्त्तव्यवेद है जिसका प्रमुखरूपेण आचारनिष्ठा से ही सम्बन्ध है। कर्म्म उपासना ज्ञान तीनों ही कर्त्तव्यार्थ हैं मानव के अभ्युदय-निःश्रेयस्-संसाधन के लिए, जिनका क्रमशः गृहस्थानुबन्धी-कर्त्तव्य, वान-प्रस्थानुबन्धी-कर्त्तव्य-एवं संन्यासानुबन्धी-कर्त्तव्य रूपेण त्रिधा वर्गीकरण हुआ है। ज्ञान-विज्ञानात्मक-शिक्षणकाल से अनुप्राणिता प्रथमा पञ्चविंशति से अनुप्राणित प्रथम-ब्रह्मचर्य्याश्रम के अनन्तर प्रकान्तिका द्वितीया-पञ्चविंशति में मानव का गृहस्थानुबन्धी-कर्म्म' नामक प्रथम कर्त्तव्य प्रधानरूपेण अनुष्ठित होता है और जो आधारभूत-दाम्पत्यमूलक-यही वह कर्म्माश्रम है जिसका प्रधानरूपेण ब्राह्मण के 'विधि' भाग से ही सम्बन्ध माना गया है। बिना इस प्रथम कर्त्तव्य की संसिद्धि के मानव के उत्तरोत्तरभूत दोनों कर्त्तव्य (उपासना और ज्ञान) कथमपि समन्वित नहीं होसकते। अतएव गृहस्थधर्म्म की उपेक्षा कर युवावस्था में किंवा बाल्यावस्था में ही काल्पनिक वैराग्य की घोषणा कर कपड़े रँग लेना और अपने आपको 'वीतराग-ब्रह्मनिष्ठ-परहंस-परिव्राजकाचार्य्य-संन्यासी-घोषित कर देना कुछ भी तो अर्थ नहीं रखता। एवमुक्त इत्थंभूत संन्यास से बड़ी आत्मप्रतारणा मानव के लिए और कुछ भी तो नहीं है। ऐसे

कित्, पुराणकथाप्रतिपादक महाभाग सूत ने दिया है वह भी एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है, जिस उत्तर का अभिव्यञ्जनरूप है—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ॥
—पुराणेषु

वचनात्पर्य—यही है कि भगवान् चतुर्मुख ब्रह्माने सम्पूर्ण शास्त्रों से पहिले 'पुराण-शास्त्र' का ही स्मरण किया है। अर्थात् उनके मुखपङ्कज से सर्वप्रथम 'पुराणशास्त्र' ही अभिव्यक्त हुआ है। पुराणशास्त्र की प्राथमिकी अभिव्यक्ति के अनन्तर ही ब्रह्मा की मुखचतुष्टयी से वेदशास्त्र का विनिगमन हुआ है।

वेद, और पुराण के स्रष्टा चतुर्मुख ब्रह्मा माने गए हैं,—पुराणशास्त्र की मान्यता के अनुसार, जो कि मान्यता वैदिक-सम्प्रदाय से सर्वथा अभिन्न बनी हुई है। ब्रह्माने पहिले पुराण बनाए, अनन्तर वेद' यही उक्त पुराणवचन का फलितार्थ है, जिस पर सम्भवतः कोई भी वेदभक्त विद्वान् सहसा इस लिए आस्था नहीं करेगा कि उस वेदभक्त की मान्यता में 'वेद' ही ब्रह्मा की प्रथमा कृति है एवं वेदशास्त्र पुराणों से कहीं प्राचीनतम शास्त्र है। वेदभक्तों की इयमूता मान्यता का भी समादर ही किया जायगा महाभाग सूत के द्वारा उपनिबद्ध अष्टादश-पुराणों तथा अष्टादश-उपपुराणों की दृष्टि से भी, एवं पुराणपुरुष भगवान् व्यासदेव के द्वारा संकलिता 'पुराणसंहिता' की अपेक्षा से भी, जो कि व्यासदेव के द्वारा संकलिता 'पुराणसंहिता' अन्यान्य वेदशाखा—संहिताओं की भाँति भारतीय-आर्यप्रजा के दुर्भाग्य से आज अनुपलब्धा है। क्योंकि संकलिता-पुराणसंहिता, एवं तदाधारेण उपनिबद्ध अष्टादशपुराणोपपुराणों का संकलन, तथा निर्म्माण अवश्य ही शब्दात्मक वेदशास्त्र के अनन्तर ही हुआ है। और इसी स्थूलदृष्टि से वेदों का पूर्वभावित्व, तथा पुराणों का उत्तर-भावित्व भी मान्य मान लिया जासकता है। किन्तु ! ··· ।

'किन्तु' का प्रयोग इसलिए करना पड़ रहा है कि, पुराणशास्त्र ने जिस 'पुराण' का भगवान् ब्रह्मा के मुख से वेदों से भी पहिले उद्गम बतलाया है उस 'पुराण' का सृष्टिरहस्य के प्रतिपादक सङ्केतमापामम-परम्परासिद्ध—ज्ञानविज्ञानात्मक उन चिरन्तन—आख्यानोपाख्यानों के साथ ही सम्बन्ध है, जिन का स्वयं वेद-शास्त्र 'एतद्ध सौपर्णमाख्यानमाख्यानविद् आचक्षते' इत्यादिरूप से बड़े गौरव से संस्मरण करता आरहा है। आख्यानविदों की परम्परा में अनादिकाल से चले आने वाले इन सृष्टीविवृत्तों—आख्यानोपाख्यानों—को मूलसूत्र मानकर ही शब्दात्मक—वेदशास्त्र का आविर्भाव हुआ है ऋषिप्रज्ञा के द्वारा। इसी वस्तुतथ्य के आधार पर असंदिग्धरूपेण यह मान लिया जासकता है कि—'पुरा नवं भवति—इति—पुराणम्' (जो आरम्भ में नवीन था वही 'पुरा—नव' रूपेण 'पुराणम्' कहलाया) इत्यादि निर्वचन से अनुप्राणित परम्परा आख्यानोपाख्यानरूपेण भ्रूणोपभृ्त, वेदशास्त्र, एवं पुराणसंहिता, तथा अष्टादशपुराणों का मूलाधार-स्तम्भरूप 'पुराण' सचमुच ही तो वेदशास्त्र से भी पूर्व ही विनिर्गत है भगवान् ब्रह्मा के मुखपङ्कज से।

इदमत्रावधेयं विशेषरूपेण। लोकप्रवृत्तियों में हम देखते हैं कि जो भी लोकविद्वान् अपने चिरन्तन-अध्यवसाय—श्रम—परिश्रम से जिस विषय में जो भी नवीन अन्वेषण किंवा नवीन आविष्कार करता है, उस के

करते, भारतीय मेधावी विद्वान् भी 'ब्राह्मण', और 'पुराण' साहित्य के अध्ययनाध्यापन से पराङ्मुख ही बनते चले आरहे हैं।

ब्राह्मण, और पुराण दोनों की निरूपणीया-शैली में अद्भुत साम्य का अनुगमन प्रतीत होरहा है। दोनों की निरूपणीया-शैली 'आख्यानोपाख्यानान्विता-इतिवृत्तशैली'–(इतिहासशैली) से समन्विता है, जैसाकि– एतद्ध सौपर्णामाख्यानमाख्यानविद आचक्षते' (शतपथब्राह्मणे) इत्यादि से स्पष्ट-समरूपेण प्रमाणित है। एवं पुराणशास्त्र की आख्यानशैली से अनुगतता तो सुप्रसिद्ध ही है, जैसाकि निम्न लिखित सुप्रसिद्ध पुराणवचन से ही स्पष्ट है—

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।
पुराणसंहितां चक्रे भगवान् बादरायणः॥
—पुराणेषु

'पुराणसंहिता चक्रे' वाक्य से अनुगत 'संहिता' शब्द एक विशेष-तथ्य की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है सुप्रसिद्ध है कि, भगवान् वेदव्यासने सुप्रसिद्ध बदरिकाश्रम में तपःपूर्वक समाविष्ट बनते हुए-ऋक्-यजुः-साम-अथर्व-नाम की चार तो 'वेदसंहिताओं' का संकलन किया एवं पाँचवी-'पुराणसंहिता' का संकलन किया जिस के आधार पर तच्छिष्य महाभाग सूत-के द्वारा अष्टादश-पुराणों, एवं अष्टादश-उपपुराणों का संकलन हुआ जो पुराणसाहित्य बादरायण की मूलकृति से अनुप्राणित होते हुए 'व्यासकृति' रूपेणैव प्रसिद्ध हुए उसी प्रकार, जैसे कि भगवान् बादरायण की शब्दरचना से अनुप्राणित भी महाभारतान्तर्गत 'गीताशास्त्र' भगवान्-वासुदेव श्रीकृष्ण की मूलकृति से अनुगत होता हुआ 'भगवद्-गीता' नाम से ही प्रसिद्ध होरहा है।

'वेदसंहिताओं के संकलन से जहाँ सत्यवती सुत-'वेदव्यास' नाम से प्रसिद्ध हुए, वहाँ 'पुराण संहिता के संकलन से ये ही भगवान् बादरायण-'पुराणपुरुष' नाम से भी लोक में प्रसिद्ध हुए।

संकलन क्या अर्थ ? प्रश्न का समाधान भी सर्वथा अनुभावापन्न है। तत्त्वात्मक-अपौरुषेय-मन्त्रब्राह्मणात्मक-वेद के द्रष्टा महर्षियों के द्वारा बुद्धिपूर्विका वाक्य-रचना-पूर्वक-सम्पन्न-शब्दात्मक-मन्त्र-ब्राह्मणभाग शाखाभेद से तत्-तत्-ऋषिवंश-परम्पराओं में प्रकीर्णकरूपेण विभक्त होरहा था। एवमेव पुरा-णगाथाएँ भी भिन्न भिन्न ऋषिवंशों में विभक्त होरहीं थीं। भगवान् बादरायणने अपनी लोकोत्तर प्रतिभा के बल पर प्रचण्ड तपश्चर्या के द्वारा उस शब्दात्मिका वेदराशि का एवं पुराणगाथाराशि का संकलन किया। एवं इस 'संकलन' से ही शाखायुक्त-वेदमन्त्रों का संकलितरूप 'वेदसंहिता' नाम से एवं पौराणिक-तथ्यों का शब्दगाथात्मक संकलन-'पुराणसंहिता' नाम से लोक में प्रसिद्ध हुआ। और भी-भाव से पौष ख्यात-वर्णपूर्व भगवान् बादरायण ने भारतीय-संस्कृति की अजस्रता-ज्ञानज्योति को इस संकलनरूप तैला-हुति से पुनः प्रज्वलित किया जिस के लिए भारतीय प्रजा यावच्चन्द्रदिवाकरौ इस महापुरुष के प्रति श्रद्धा-ञ्जलियाँ ही अर्पित करती रहेगी।

एक मार्मिक, किन्तु महत्त्व पूर्ण प्रश्न। भगवान् बादरायण ने पहिले-पुराणसंहिता का संकलन किया अथवा तो पहिले वेदसंहिताओं का ?, इस महत्त्व पूर्ण प्रश्न का जो उत्तर पुराणरहस्य-

निष्कर्ष है कि ब्राह्मणग्रन्थों के पारिभाषिक आख्यानोपाख्यानों, तथा पुराणों के आख्यानोपाख्यानों का तत्त्वात्मक—पारिभाषिक—समन्वयभाव जबतक नहीं प्राप्त कर लिया जाता, तबतक न तो मूलसंहिताओं के मन्त्रों से अनुप्राणित विज्ञान—स्तुति—इतिहास—रूपा ज्ञातव्यत्रयी का ही समन्वय सम्भव, एवं न विधि—आरण्यक—उपनिषत्—द्वारा प्रतिपादिता कर्म्म—उपास्ति—ज्ञान—त्रयी—रूपा कर्तव्यत्रयी का ही स्वरूप—समन्वय सम्भव। तात्पर्य—ब्राह्मणग्रन्थों के और पुराणशास्त्र के पारिभाषिक—रहस्यात्मक—नैगमिक—समन्वय के बिना शेषभूत ज्ञातव्य—कर्तव्य—भावापन्न वेदशास्त्र का, एवं तदनु स्वयं ब्राह्मणग्रन्थों एवं पुराणों का भी एकाक्षर भी तो गतार्थ नहीं बन सकता कदापि नहीं बन सकता।

ब्राह्मणग्रन्थों की रहस्यपूर्णा परिभाषाओं के स्वरूप-विश्लेषक 'गाथा' निगद'-कुल्म्या निविन् आदि नामक अवश्य ही स्वतन्त्र पारिभाषिक—ग्रन्थ—रहे होंगे जिनके कि—मूल ब्राह्मणग्रन्थों में यत्र तत्र उपलब्ध हो रहे हैं। एवमेव भगवान् व्यासदेव के द्वारा सङ्कलिता—'पुराणसंहिता' में पुराणशास्त्र के सृष्टि—प्रतिसृष्टि—वंश—वंशानुचरित—गाथा—कल्पशुद्धि—सिद्धान्त—संहिता—डामर—जामल—तन्त्र—ज्योतिष्चक्र—(खगोल) भुवनकोश (भूगोल) दुगार्गल—आख्यान—उपाख्यान—आयती—आयतन नामक सुप्रसिद्ध पुराणोक्त अठारह तात्त्विक विषयों की परिभाषाओं का भी अवश्यमेव स्पष्टीकरण हुआ होगा। किन्तु दुर्भाग्यवश वैदिकी—परिभाषाओं के विश्लेषक गाथा—कुल्म्या निगद्—आदि—ग्रन्थों की भाँति पुराणपरिभाषाओं का विश्लेषक 'पुराणसंहिता' नामक ग्रन्थ भी आज अनुपलब्ध है। अतएव ब्राह्मणसाहित्य और पुराणसाहित्य दोनों ही महत्त्वपूर्ण साहित्य अनेक शताब्दियों से अपने अत्यन्त—रहस्यपूर्ण—पारिभाषिक—वैज्ञानिक—परम्परासिद्ध तात्त्विक—अर्थसमन्वय से पराङ्मुख ही प्रमाणित होते आ रहे हैं जिस इस पराङ्मुखता का ही यह भीषण परिणाम है कि—भारतीय—विद्वत्समाज अनेक शताब्दियों से ब्राह्मणों एवं पुराणों के तात्त्विक—अध्ययनाध्यापन से अधिकांश में तटस्थ बनता हुआ साम्प्रदायिक—मनोऽनुगता—काल्पनिक—व्याख्याग्रन्थों को ही 'प्रमुखशास्त्र' मान बैठने की महती भ्रान्ति करता हुआ अपने वेद—पुराण—सिद्ध—गरिमामहिमामय—सांस्कृतिक—महान् कोश की तत्त्वमीमांसा से, तथा तदनुगता आचारनिष्ठा से विगत तीन सहस्राब्दियों से वञ्चित ही होता आ रहा है और यही भारतराष्ट्र के आत्मिक—बौद्धिक—मानसिक तथा शारीरिक—पारतन्त्र्य का प्रमुख कारण है जो भयावह घोरघोरतम कारण दुर्भाग्यवश आज तो काल्पनिकी 'धर्म्मनिरपेक्षता' के द्वारा और भी अधिक भयावह प्रमाणित होगया है।

सैषा स्थितिः। साम्प्रतं स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया। प्रत्यक्ष में पारिभाषिक—तत्त्वबोध का कोई अनुसूत्र हमें उपलब्ध नहीं होरहा। ऐसी विषमा—अवस्था में ब्राह्मणों, और पुराणों के आख्यानोपाख्यानों से सम्बद्ध रखने वाली रहस्यपूर्णा—ज्ञानविज्ञानात्मिका परिभाषाओं के स्वरूपबोध का क्या उपाय? जब यह महान् प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित होता है तो वेदग्रन्थिविमोचनपटु—परिभाषातत्त्वाविष्कारक—आचार्य्यचरण श्रद्धेय पूज्य ओझाजी महाराज का यही 'उद्बोधनसूत्र' दृष्टि के सम्मुख अभिव्यक्त होपड़ता है कि, "वेद की पारिभाषिकी गहनाटवी में प्रवेश करने के लिए हमें—'आर्य्यसर्वस्व' रूप महान् आलोक को ही माध्यम बनाना पड़ेगा" *। आर्य्यजाति का सांस्कृतिक महान् गौरव जिस पुराणशास्त्र में बोधगम्या

* विगत तीन सहस्राब्दियों के अनन्तर अपनी आयु के चालीस वर्षों के गुहानिहित अजस्र—तपोमय महान् सत्र से विलुप्तप्राया वैज्ञानिकी परिभाषाओं के आविष्कारक वेदसमुद्र पूज्यचरण आचार्य्यप्रवर (पू० श्रद्धेय श्रीमधुसूदनजी महाराज मैथिल) ने पुराणों को—'आर्य्यसर्वस्व' अभिधा से ही समन्वित किया है।

उस अन्वेषण किंवा आविष्कार की लोकसाधारण में स्वत ही एक 'कहानी' बन जाया करती है, जिस का सुसंस्कृतरूप है– कथा । लोकसंस्कृत में जो 'कथा' कहलाई है, छन्दोऽम्यस्ता नाम की वेदभाषा में वही 'गाथा' नाम से प्रसिद्ध है । वैदिकी गाथा, लौकिकी कथा, एवं सामान्यजनानुबन्धिनी 'कहानी' तीनों अभिन्नार्थक मान लिए जासकते हैं, क्योंकि तीनों का आविर्भावात्मक मूलधरातल अविकारेण में समतुलित ही है । राजस्थान का प्रमुख वर्गविशेष प्रमुख-विशेष-वाद्यों से समन्वित– सारङ्गी समतुलित–वाद्ययन्त्र के आधार पर राजस्थान के लोकेतिवृत्तों के द्वारा ग्रामीण जनता का मनोऽनुरञ्जन किया करता है, जो आज के स्वतन्त्र भारत के स्वतन्त्र–सत्ताधीशों की दृष्टि में भारत की 'लोकसंस्कृति' का आसन ग्रहण किए हुए हैं । तथाकथित चारणवृन्द ध्रुव–प्रह्लाद–मीरा–आदि के ऐतिहासिक चरित्रों का–सत्यवचनसंरक्षक–महाभाग तेजाजी के पावनचरित्र का, अपने उदारदान से असमर्थों के प्रति–आत्मसमर्पण में सुप्रसिद्ध धर्मभी डूँगजी–जवाँहरजी, एवमेव अन्यान्य भी लोकप्रसिद्ध चरित्रों का तद्वाद्ययन्त्र के द्वारा श्रोतृवर्ग का अनुरञ्जन करते रहते हैं । गा-गा-कर सुनाए जाने वाले इत्थंभूत ऐतिहासिक चरित्र भी एकप्रकार की–'लौकिकी-गाथाएँ' ही मानी जायँगी । स्वयं–वैदिकयुग में भी सुप्रसिद्ध–शास्त्रीय वाद्ययन्त्र–'वीणा' के माध्यम से प्रमुख यज्ञ–कर्म–विशेषों में इसप्रकार की सच्चिचरित्रात्मिका इतिवृत्तरूपा यशोगाथाओं के गान का समावेश था जैसाकि–'वीणागाथिनो गायन्ति' इत्यादि से स्पष्ट है । सुप्रसिद्ध 'राजसूय' यज्ञ में तो राजसूययज्ञानुष्ठानकर्त्ता के राजमन्दिर में प्रतिष्ठित दो श्रेष्ठतम वीणावादक गायकों के द्वारा एकवर्ष पर्य्यन्त यथाविधि यशोगाथाओं का विधान हुआ है । निवेदन–निष्कर्ष यही है कि गाथारूप–कथा–कहानी की परम्परा अनादि है और इन गाथा-कथा-कहानीरूप अनादि उन चरित्रों आख्यानोपाख्यानों का नाम ही है 'पुराण' जिनके आधार पर ही शास्त्रीय, एवं लौकिक, सभी प्रकार के तथ्य समय-समय पर आविर्भूत-तिरोभूत होते रहते हैं । अतएव इत्थंभूत चिरन्तन 'पुराण' को अवश्यमेव 'प्रथमशास्त्र' माना जासकता है । और एकमात्र इसी सहज तथ्य के आधार पर 'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्' इत्यादि पूर्वोक्त वचन समन्वित हुआ है । जिसप्रकार भगवान् बादरायण ने तत्तद् ऋषिवंशों में प्रतिष्ठित प्रकीर्णभावापन्न वेदों के संकलन से 'वेदसंहिता' का स्वरूप–समन्वित किया था तथैव लोकप्रसिद्ध–वेदशास्त्रमूलक–परम्परया श्रुतोपश्रुत गाथा'–'कथा' रूप सांस्कृतिकात्मक मूलसूत्रों का भी संकलन किया और वही संकलन 'पुराणसंहिता' नाम से प्रसिद्ध हुआ जिस के आधार पर महाभाग सूतने अष्टादश–पुराणोपपुराणों का विस्तार किया ।

'पुराण प्रसक्त' वेद, और पुराण से अनुमानित पौर्वापर्य्य का दिग्दर्शन कराना पड़ा जिससे प्रकृत में यही निवेदनीय है कि आख्यानोपाख्यानरूपा गाथा कथाओं के रूप में परम्परया व्यवस्थित सृष्टिविज्ञानेति-वृत्तात्मक–वेदतोऽपि पूर्वभावी जिस पुराण के आधार पर ऋषिप्रज्ञा के द्वारा वेदमन्त्र उपनिबद्ध हुए हैं, उन वेदमन्त्रों के व्याख्याभूत 'विधि' नामक वेद के ब्राह्मणभाग में (शतपथ ऐतरेय-तैत्तिरीय-गोपथ जैमिनी-शाङ्खायन आदि सुप्रसिद्ध ब्राह्मणग्रन्थों में) वेदपूर्वभावी गाथाकथात्मक पुराण की आख्यानो-पाख्यानप्रधाना पारिभाषिकी शैली का ही अनुगमन हुआ है । अर्थात् मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के ब्राह्मणा-नुगत 'विधि' भाग में प्रमुखरूपेण ऋषियोंने वेदाधारभूत पुराण की आख्यानोपाख्यानशैली को ही प्रधानता दी है । और आगे चलकर व्यासकृता वेदोत्तरभाविनी व्यासकृता पुराणसंहिता में तथा तदनुगत पुराणोप-पुराणों में भी इसी आख्यानोपाख्यानशैली का विस्तार से उपबृंहण हुआ है । इस साम्य का यही

निष्कर्ष है कि, ब्राह्मणग्रन्थों के पारिभाषिक आख्यानोपाख्यानों, तथा पुराणों के आख्यानोपाख्यानों का तत्त्वात्मक-पारिभाषिक-समन्वयबोध जबतक नहीं प्राप्त कर लिया जाता तबतक न तो मूलसंहिताओं के मन्त्रों से अनुप्राणित विज्ञान-स्तुति-इतिहास-रूपा शास्त्रत्रयी का ही समन्वय सम्भव, एवं न विधि-आरण्यक-उपनिषत्-द्वारा प्रतिपादिता कर्म्म-उपास्ति-ज्ञान-त्रयी-रूपा कर्त्तव्यत्रयी का ही स्वरूप-समन्वय सम्भव। तात्पर्य्य-ब्राह्मणग्रन्थों के, और पुराणशास्त्र के पारिभाषिक-रहस्यात्मक-नैगमिक-समन्वय के बिना शेषभूत ज्ञातव्य-कर्त्तव्य-भावापन्न वेदशास्त्र का, एवं तदनु स्वयं ब्राह्मणग्रन्थों, एवं पुराणों का भी एकाक्षर भी तो गतार्थ नहीं बन सकता कदापि नहीं बन सकता।

ब्राह्मणग्रन्थों की रहस्यपूर्ण परिभाषाओं के स्वरूप-विश्लेषक 'गाथा निगद-कुन्त्या निविद् आदि नामक अवश्य ही स्वतन्त्र पारिभाषिक-ग्रन्थ-रहे होंगे, जिनके कि-मूल ब्राह्मणग्रन्थों में यत्र तत्र उपलब्ध हो रहे हैं। एवमेव भगवान् व्यासदेव के द्वारा संकलिता-'पुराणसंहिता' में पुराणशास्त्र के सृष्टि-प्रतिसृष्टि-वंश-वंशानुचरित-गाथा-कल्पशुद्धि-सिद्धान्त-संहिता-डामर-यामल-तन्त्र-ज्योतिश्चक्र-(खगोल) भुवनकोश (भूगोल) वृगार्गल-आख्यान-उपाख्यान-आयती-आयतन नामक सुप्रसिद्ध पुराणोक्त अठारह तात्त्विक विषयों की परिभाषाओं का भी अवश्यमेव स्पष्टीकरण हुआ होगा। किन्तु दुर्भाग्यवश वैदिकी-परिभाषाओं के विश्लेषक गाथा-कुन्त्या निगद-आदि-ग्रन्थों की भाँति पुराणपरिभाषाओं का विश्लेषक 'पुराणसंहिता' नामक ग्रन्थ भी आज अनुपलब्ध है। अतएव ब्राह्मणसाहित्य और पुराणसाहित्य, दोनों ही महत्त्वपूर्ण साहित्य अनेक शताब्दियों से अपने अत्यन्त-रहस्यपूर्ण-पारिभाषिक-वैज्ञानिक-परम्परासिद्ध तात्त्विक-अर्थसमन्वय से पराङ्मुख ही प्रमाणित होते आरहे हैं जिस इस पराङ्मुखता का ही यह भीषण परिणाम है कि—भारतीय-विद्वत्समाज अनेक शताब्दियों से ब्राह्मणों एवं पुराणों के तात्त्विक-अध्ययनाध्यापन से अधिकांश में तटस्थ बनता हुआ साम्प्रदायिक-मनोऽनुगता-काल्पनिक-व्याख्याग्रन्थों को ही 'प्रमुख-शास्त्र' मान बैठने की महती भ्रान्ति करता हुआ अपने वेद-पुराण-सिद्ध-गरिमामहिमामय-सांस्कृतिक-महान् कोश की तत्त्वमीमांसा से, तथा तदनुगता आचारनिष्ठा से विगत तीन सहस्राब्दियों से वञ्चित ही होता आरहा है और यही भारतराष्ट्र के आत्मिक-बौद्धिक-मानसिक, तथा शारीरिक-पारतन्त्र्य का प्रमुख कारण है, जो भयावह घोरघोरतम कारण दुर्भाग्यवश आज तो काल्पनिकी 'धर्म्मनिरपेक्षता' के द्वारा और भी अधिक भयावह प्रमाणित होगया है।

सैषा स्थितिः। साम्प्रतं स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया। प्रत्यक्ष में पारिभाषिक-तत्त्वबोध का कोई स्रुक्सूत्र हमें उपलब्ध नहीं होरहा। ऐसी विषमा-अवस्था में ब्राह्मणों, और पुराणों के आख्यानोपाख्यानों से सम्बन्ध रखने वाली रहस्यपूर्णा-ज्ञानविज्ञानात्मिका परिभाषाओं के स्वरूपबोध का क्या उपाय ?, जब यह महान् प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित होता है तो वेदग्रन्थिविमोचनपटु-परिभाषातत्त्वाविष्कारक-आचार्य्यचरण मद्गुरुचरण पूज्य श्रीओझाजी महामहाराज का यही 'उद्बोधनसूत्र' दृष्टि के सम्मुख अभिव्यक्त होपड़ता है कि, "वेद की पारिभाषिकी गहनाटवी में प्रवेश करने के लिए हमें-'आर्य्यसर्वस्व' रूप महान् आलोक को ही माध्यम बनाना पड़ेगा" *। आर्य्यजाति का सांस्कृतिक-महान् गौरव जिस पुराणशास्त्र में बोधगम्या

---

* विगत तीन सहस्राब्दियों के अनन्तर अपनी आयु के चालीस वर्षों के गुहानिहित अखण्ड-तपोमय महान् सत्र से विलुप्तप्राया वैज्ञानिकी परिभाषाओं के आविष्कारक वेदसमुद्र पूज्यचरण आचार्य्यप्रवर (पू० मद्गुरुचरण श्रीमधुसूदनजी महाराज मैथिल) ने पुराणों को—'आर्य्यसर्वस्व' अभिधा से ही समन्वित किया है।

उस कल्पनेन, किसी आविष्कार को लोकसाधारण में रख दी एक 'कहानी' बन जाया करती है, जिस का सुसंस्कृतरूप है- कथा । लोकभाषा में जो 'कथा' कहलाई है, वह ऽस्मत्ता नाम की वेदशास्त्र में भी 'गाथा' नाम से प्रसिद्ध है। वैदिकी गाथा, लौकिकी कथा, एवं सामान्यजनानुवर्तिनी 'कहानी' तीनों समानार्थक मान लिए जासकते हैं, क्योंकि तीनों का आविर्भावात्मक मूलधरातल अर्थकोश से समन्वित है। राजस्थान का प्रमुख वर्गविशेष प्रमुख विशेष-जाति से समन्वित- सारङ्गी वाद्यविशेष-वाद्यन्त्र के आधार पर राजस्थान के लोकविश्रुतों के द्वारा ग्रामीण जनता का मनोऽनुरञ्जन किया करता है, जो आज के स्वतन्त्र भारत के स्वतन्त्र-सत्ताधीशों की दृष्टि में भारत की 'लोकसंस्कृति' का आसन ग्रहण किए हुए है। तत्कालीन बालस्वरूप ध्रुव-प्रह्लाद-मीरा-आदि के ऐतिहासिक चरित्रों का-गवयगमनगोरख-महाभाग लेखकों के पावनचरित्र का, अपने उदाहरण से भक्तजनों के प्रति-आत्मसमर्पण में सुप्रसिद्ध सर्वश्री हरिगढ़ी-नागौरादि, एवमेव अन्यान्य भी लोकप्रसिद्ध चरित्रों का वाद्ययन्त्र के द्वारा श्रोतृवर्ग का मनोरञ्जन करते रहते हैं। जन-कर सुनाए जाने वाले इत्थंभूत ऐतिहासिक चरित्र भी एकप्रकार की-'लौकिकी-गाथाएँ' ही मानी जाएंगी। स्वयं-वैदिकयुग में भी सुप्रसिद्ध-शास्त्रीय वाद्ययन्त्र-'वीणा' के माध्यम से प्रमुख यज्ञ-कर्म-विशेषों में इसप्रकार की सृष्टिपरिणामिश्र इतिवृत्तरूपा यशोगाथाओं के गान का समावेश था, जैसाकि-'वीणागाथिनो गायन्ति' इत्यादि से स्पष्ट है। सुप्रसिद्ध 'राजसूय' यज्ञ में तो यजमानसमानुष्ठानकर्ता के राजभवन में प्रतिष्ठित दो श्रेष्ठतम वीणावादक ब्राह्मणों के द्वारा एकवर्ष पर्यन्त तथाविधा यशोगाथाओं का विधान हुआ है। निवेदन निष्कर्ष यही है कि गाथारूप-कथा-कहानी की परम्परा अनादि है और इन गाथा-कथा-कहानीरूप अनादि उन चरित्रों आख्यानोपाख्यानों का नाम ही है 'पुराण', जिनके आधार पर ही शास्त्रीय, एवं लौकिक, सभी प्रकार के तथ्य समय-समय पर आविर्भूत-तिरोभूत होते रहते हैं। अतएव इत्थंभूत चिरन्तन 'पुराण' को अवश्यमेव 'प्रथमशास्त्र' माना जासकता है। और एकमात्र इसी सहज तथ्य के आधार पर 'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्' इत्यादि पूर्वोक्त वचन समन्वित हुआ है। जिसप्रकार भगवान् बादरायण ने यत्र-तत्र श्रुतियों में प्रतिष्ठित प्रकीर्णमात्राओं की के संकलन से 'वेदसंहिता' का स्वरूप-समन्वित किया था तथैव लोकप्रसिद्ध-वेदशास्त्रमूलक-आख्यान भूतोपभूत 'गाथा'-'कथा' रूप सार्वीतिहासात्मक मूलसूत्रों का भी संकलन किया और यही संकलन 'पुराणसंहिता' नाम से प्रसिद्ध हुआ जिस के आधार पर महाभाग सूतने अष्टादश-पुराणोपपुराणों का विस्तार किया।

'पुराण प्रस्ताव' वेद और पुराण से अनुमानित पौर्वापर्य का दिग्दर्शन कराना पड़ा, जिसके प्रसङ्ग में यही निवेदनीय है कि आख्यानोपाख्यानरूपा गाथा कथाओं के रूप में परम्परया व्यवस्थित सृष्टिविज्ञानेतिहासात्मक-वेदतोऽपि पूर्वभावी जिस पुराण के आधार पर ऋषिप्रज्ञा के द्वारा वेदमन्त्र उपनिबद्ध हुए हैं उन वेदमन्त्रों के व्याख्याभूत 'विधि' नामक वेद के ब्राह्मणभाग में (शतपथ-ऐतरेय-तैत्तिरीय-गोपथ-जैमिनी-शाङ्खायन आदि सुप्रसिद्ध ब्राह्मणग्रन्थों में) वेदपूर्वभावी गाथाकथात्मक पुराण की आख्यानोपाख्यानप्रधाना पारिभाषिकी शैली का ही अनुगमन हुआ है। अर्थात् मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के ब्राह्मणानुगत 'विधि' भाग में प्रमुखरूपेण ऋषियोंने वेदाधारभूत पुराण की आख्यानोपाख्यानशैली को ही अपनाया ही है। और आगे चलकर व्यासकृष्णा वेदोत्तरभाविनी व्यासकृता पुराणसंहिता में तथा तदनुगत पुराणोपपुराणों में भी इसी आख्यानोपाख्यानशैली का विस्तार से उपबृंहण हुआ है। इस ग्रन्थ का यही

निष्कर्ष है कि, ब्राह्मणग्रन्थों के पारिभाषिक आख्यानोपाख्यानों, तथा पुराणों के आख्यानोपाख्यानों का तत्त्वात्मक—पारिभाषिक—समन्वयबोध जबतक नहीं प्राप्त कर लिया जाता, तबतक न तो मूलसंहिताओं के मन्त्रों से अनुमापित विज्ञान-स्तुति-इतिहास रूपा ज्ञातव्यत्रयी का ही समन्वय सम्भव, एवं न विधि-आरण्यक-उपनिषत्-द्वारा प्रतिपादिता कर्म्म-उपासित-ज्ञान-त्रयी-रूपा कर्तव्यत्रयी का ही स्वरूप-समन्वय सम्भव। तात्पर्य्य-ब्राह्मणग्रन्थों के, और पुराणशास्त्र के पारिभाषिक-रहस्यात्मक-नैगमिक-समन्वय के विना शेषभूत ज्ञातव्य-कर्तव्य-भावापन्न वेदशास्त्र का, एवं तदनु स्वयं ब्राह्मणग्रन्थों, एवं पुराणों का भी एकाक्षर भी तो गताथ नहीं बन सकता कदापि नहीं बन सकता।

ब्राह्मणग्रन्थों की रहस्यपूर्णा परिभाषाओं के स्वरूप-विश्लेषक 'गाथा' निगद -कुल्व्या' निविद् आदि नामक अवश्य ही स्वतन्त्र पारिभाषिक-ग्रन्थ-रहे होंगे, जिनके कि-मूल ब्राह्मणग्रन्थों में यत्र तत्र उपलब्ध हो रहे हैं। एवमेव भगवान् व्यासदेव के द्वारा संकलिता-'पुराणसंहिता' में पुराणशास्त्र के सृष्टि-प्रतिसृष्टि-वंश-वंशानुचरित-गाथा-कल्पशुद्धि-सिद्धान्त-सहिता-डामर-जामल-तन्त्र-ज्योतिश्चक्र-(खगोल) भुवनकोश (भूगोल) दृगागल-आख्यान-उपाख्यान-आयती-आयतन नामक सुप्रसिद्ध पुराणोक्त अठारह तात्त्विक विषयों की परिभाषाओं का भी अवश्यमेव स्पष्टीकरण हुआ होगा। किन्तु दुर्भाग्यवश वैदिकी-परिभाषाओं के विश्लेषक गाथा-कुल्व्या-निगद्-आदि-ग्रन्थों की भाँति पुराणपरिभाषाओं का विश्लेषक 'पुराणसंहिता नामक ग्रन्थ भी आज अनुपलब्ध है। अतएव ब्राह्मणसाहित्य और पुराणसाहित्य, दोनों ही महत्त्वपूर्ण साहित्य अनेक शताब्दियों से अपने अत्यन्त-रहस्यपूर्ण-पारिभाषिक-वैज्ञानिक-परम्परासिद्ध तात्त्विक-अर्थसमन्वय से पराङ्मुख ही प्रमाणित होते आरहे हैं, जिस इस पराङ्मुखता का ही यह भीषण परिणाम है कि—भारतीय-विद्वत्समाज अनेक शताब्दियों से ब्राह्मणों एवं पुराणों के तात्त्विक-अध्ययनाध्यापन से अधिकांश में तटस्थ बनता हुआ साम्प्रदायिक-मनोऽनुगता-काल्पनिक-व्याख्याग्रन्थों को ही 'प्रमुख-शास्त्र' मान बैठने की महती भ्रान्ति करता हुआ अपने वेद-पुराण-सिद्ध-गरिमामहिमामय-सांस्कृतिक-महान् कोश की तत्त्वमीमांसा से, तथा तदनुगता आचारनिष्ठा से विगत तीन सहस्राब्दियों से वञ्चित ही होता आरहा है और यही भारतराष्ट्र के आत्मिक-बौद्धिक-मानसिक, तथा शारीरिक-पारतन्त्र्य का प्रमुख कारण है, जो भयावह घोरघोरतम कारण दुर्भाग्यवश आज तो काल्पनिकी 'धर्म्मनिरपेक्षता' के द्वारा और भी अधिक भयावह प्रमाणित होगया है।

सैषा स्थितिः। साम्प्रत स्थितस्य गतिरिचन्तनीया। प्रत्यक्ष में पारिभाषिक-तत्त्वबोध का कोई स्त्रसूत्र हमे उपलब्ध नहीं होरहा। ऐसी विषमा-अवस्था में ब्राह्मणों और पुराणों के आख्यानोपाख्यानों से सम्बन्ध रखने वाली रहस्यपूर्णा-ज्ञानविज्ञानात्मिका परिभाषाओं के स्वरूपबोध का क्या उपाय? जब यह महान् प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित होता है तो वेदग्रन्थिविमन्थनपटु-परिभाषातत्त्वाविष्कारक-आचार्य्यचरण श्रद्धेय पूज्य ओझाजी महामहाराज का यही 'उद्बोधनसूत्र' दृष्टि के सम्मुख अभिव्यक्त होपड़ता है कि, "वेद की पारिभाषिकी गहनाटवी में प्रवेश करने के लिए हमें-'आर्य्यसर्वस्व' रूप महान् आलोक को ही माध्यम बनाना पड़ेगा *। आर्य्यजाति का सांस्कृतिक-महान् गौरव जिस पुराणशास्त्र में बोधगम्या

---

* विगत तीन सहस्राब्दियों के अनन्तर अपनी आयु के चालीस वर्षों के गुहानिहित ब्रह्म-तपोमय महान् सत्र से सिद्धरूपाया वैज्ञानिकी परिभाषाओं के आविष्कारक वेदसमुद्र पूज्यचरण आचार्य्यप्रवर (पू० श्रद्धेय श्रीमधुसूदनजी महाराज मैथिल) ने पुराणों को—'आर्य्यसर्वस्व' अभिधा से ही समन्वित किया है।

उस अन्वेषण, किंवा आविष्कार को लोकसाधारण में स्वतः ही एक 'कहानी' बन जाया करती है, जिस का सुसंस्कृतरूप है– कथा। लोकसंस्कृत में जो 'कथा' कहलाई है, छन्दोऽभ्यस्ता नाम की वेदभाषा में वही 'गाथा' नाम से प्रसिद्ध है। वैदिकी गाथा, लौकिकी कथा, एवं सामान्यजनानुबन्धिनी 'कहानी' तीनों अभिन्नार्थक मान लिए जासकते हैं, क्योंकि तीनों का आविर्भावात्मक मूलधरातल अधिकांश में समतुलित ही है। राजस्थान का अमुक वर्गविशेष अमुक-विशेष-तारों से समन्वित- सारङ्गी समतुलित–वाद्ययन्त्र के आधार पर राजस्थान के लोकेतिहासों के द्वारा ग्रामीण जनता का मनोऽनुरञ्जन किया करता है, जो आज के स्वतन्त्र भारत के स्वतन्त्र–सत्ताधीशों की दृष्टि में भारत की लोकसंस्कृति का आसन ग्रहण किए हुए हैं। तथाकथित पाद्धत्रून्द ध्रुव–प्रह्लाद–मीरा–आदि के ऐतिहासिक चरित्रों का–सत्यवचनसंरक्षक–महाभाग तेजाजी के पावनचरित्र का, अपने उदारदान से असमर्थों के प्रति–आत्मसमर्पण में सुप्रसिद्ध धर्मभी डूंगजी–जवाहरजी, एवमेव अन्यान्य भी लोकप्रसिद्ध चरित्रों का स्वाद्ययन्त्र के द्वारा भोक्तृवर्ग का अनुरञ्जन करते रहते हैं। गा-गा-कर सुनाए जाने वाले इत्यंभूत ऐतिहासिक चरित्र भी एकप्रकार की–'लौकिकी गाथाएँ' ही मानी जायेंगी। स्वयं–वैदिकयुग में भी सुप्रसिद्ध–शास्त्रीय–वाद्ययन्त्र–'वीणा' के माध्यम से अमुक यज्ञ–कर्म–विशेषों में इसप्रकार की साक्षिचरित्रात्मिका इतिवृत्तरूपा यशोगाथाओं के गान का समावेश था जैसाकि–'वीणागाथिनो गायन्ति' इत्यादि से स्पष्ट है। सुप्रसिद्ध 'राजसूय' यज्ञ में तो यजस्वयज्ञानुष्ठानकर्त्ता के राजमन्दिर में प्रतिष्ठित दो श्रेष्ठतम वीणावादक ब्राह्मणों के द्वारा एकवर्ष पर्य्यन्त तथाविधा यशोगाथाओं का विधान हुआ है। निवेदन-निष्कर्ष यही है कि गाथारूप–कथा–कहानी की परम्परा अनादि है और इन गाथा-कथा-कहानीरूप अनादि उन चरित्रों-आख्यानोपाख्यानों का नाम ही है पुराण, जिनके आधार पर ही शास्त्रीय, एवं लौकिक, सभी प्रकार के तथ्य समय-समय पर आविर्भूत-तिरोभूत होते रहते हैं। अतएव इत्थंभूत चिरन्तन 'पुराण' को अवश्यमेव 'प्रथमशास्त्र' माना जासकता है। और एकमात्र इसी सहज तथ्य के आधार पर 'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्' इत्यादि पूर्वोक्त वचन समन्वित हुआ है। जिसप्रकार भगवान् बादरायण ने तत्तद् ऋषिवंशों में प्रतिष्ठित प्रकीर्णभावापन्न वेदों के संकलन से वेदसंहिता का स्वरूप–समन्वित किया था तथैव लोकप्रसिद्ध–वेदशास्त्रमूलक–परम्परया प्रतिष्ठित 'गाथा'–कथा' रूप साक्षीतिहासात्मक मूलसूत्रों का भी संकलन किया और वही संकलन 'पुराणसंहिता' नाम से प्रसिद्ध हुआ जिस के आधार पर महाभाग सूतने अष्टादश–पुराणोपपुराणों का विस्तार किया।

'पुराण प्रस्थान' वेद और पुराण के अनुमापित पौर्वापर्य्य का दिग्दर्शन कराना पड़ा जिससे प्रकृत में यही निवेदनीय है कि आख्यानोपाख्यानरूपा गाथा कथाओं के रूप में परम्परया व्यवस्थित साक्षिविज्ञानेति-हासात्मक–वेदतोऽपि पूर्वभावी जिस पुराण के आधार पर ऋषिप्रज्ञा के द्वारा वेदमन्त्र उपनिबद्ध हुए हैं उन वेदमन्त्रों के व्याख्याभूत 'विधि' नामक वेद के ब्राह्मणभाग में (शतपथ-ऐतरेय-तैत्तिरीय-गोपथ जैमिनी-शाङ्खायन आदि सुप्रसिद्ध ब्राह्मणग्रन्थों में) वेदपूर्वभावी गाथाकथात्मक पुराण की आख्यानो-पाख्यानप्रधाना पारिभाषिकी शैली का ही अनुगमन हुआ है। अर्थात् मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के ब्राह्मणानुगत 'विधि' भाग में प्रमुखरूपेण ऋषियोंने वेदाधारभूत पुराण की आख्यानोपाख्यानशैली को ही प्रधानता दी है। और आगे चलकर व्यासकृता वेदोत्तरभाविनी व्यासकृता पुराणसंहिता में तथा तदनुगत पुराणोप पुराणों में भी इसी आख्यानोपाख्यानशैली का विस्तार से उपबृंहण हुआ है। इस साम्य का यही

निष्कर्ष है कि ब्राह्मणग्रन्थों के पारिभाषिक आख्यानोपाख्यानों, तथा पुराणों के आख्यानोपाख्यानों का तत्त्वात्मक–पारिभाषिक–समन्वयबोध जबतक नहीं प्राप्त कर लिया जाता, तबतक न तो मूलसंहिताओं के मन्त्रों से अनुप्राणित विज्ञान-स्तुति-इतिहास रूपा शास्त्रत्रयी का ही समन्वय सम्भव, एवं न विधि–आरण्यक–उपनिषत्–द्वारा प्रतिपादिता कर्म्म–उपास्ति–ज्ञान–त्रयी–रूपा कर्त्तव्यत्रयी का ही स्वरूप–समन्वय सम्भव। तात्पर्य्य–ब्राह्मणग्रन्थों के और पुराणशास्त्र के पारिभाषिक–रहस्यात्मक–नैगमिक–समन्वय के बिना शेषभूत ज्ञातव्य–कर्त्तव्य–भावापन्न वेदशास्त्र का, एवं तदनु स्वयं ब्राह्मणग्रन्थों, एवं पुराणों का भी एकाक्षर भी तो गतार्थ नहीं बन सकता कदापि नहीं बन सकता।

ब्राह्मणग्रन्थों की रहस्यपूर्णा परिभाषाओं के स्वरूप-विश्लेषक 'गाथा' 'निगद'-कुल्व्या निवित्-आदि नामक अवश्य ही स्वतन्त्र पारिभाषिक–ग्रन्थ–रहे होंगे, जिनके कि–मूल ब्राह्मणग्रन्थों में यत्र तत्र उपलब्ध हो रहे हैं। एवमेव भगवान् व्यासदेव के द्वारा संकलिता–'पुराणसंहिता' में पुराणशास्त्र के सृष्टि–प्रतिसृष्टि–वंश–वंशानुचरित–गाथा–कल्पशुद्धि–सिद्धान्त–संहिता–डामर–आगम–तन्त्र–ज्योतिश्चक्र–(खगोल) भुवनकोश (भूगोल) दुर्गागोल–आख्यान–उपाख्यान–आयती–आयतन नामक सुप्रसिद्ध पुराणोक्त अठारह तात्त्विक विषयों की परिभाषाओं का भी अवश्यमेव स्पष्टीकरण हुआ होगा। किन्तु दुर्भाग्यवश वैदिकी-परिभाषाओं के विश्लेषक गाथा-कुल्व्या निगद्–आदि–ग्रन्थों की भाँति पुराणपरिभाषाओं का विश्लेषक 'पुराणसंहिता' नामक ग्रन्थ भी आज अनुपलब्ध है। अतएव ब्राह्मणसाहित्य और पुराणसाहित्य, दोनों ही महत्त्वपूर्ण साहित्य अनेक शताब्दियों से अपने अत्यन्त–रहस्यपूर्ण–पारिभाषिक–वैज्ञानिक-परम्परासिद्ध तात्त्विक–अर्थसमन्वय से पराङ्मुख ही प्रमाणित होते आरहे हैं जिस इस पराङ्मुखता का ही यह भीषण परिणाम है कि—भारतीय–विद्वत्समाज अनेक शताब्दियों से ब्राह्मणों एवं पुराणों के तात्त्विक–अध्ययनाध्यापन से अधिकांश में तटस्थ बनता हुआ साम्प्रदायिक–मनोऽनुगता–काल्पनिक-व्याख्याग्रन्थों को ही 'प्रमुख-शास्त्र' मान बैठने की महती भ्रान्ति करता हुआ अपने वेद–पुराण–सिद्ध–गरिमामहिमामय-सांस्कृतिक-महान् कोश की तत्त्वमीमांसा से, तथा तदनुगता आचारनिष्ठा से विगत तीन सहस्राब्दियों से वञ्चित ही होता आरहा है और यही भारतराष्ट्र के धार्मिक–बौद्धिक–मानसिक, तथा शारीरिक-पारतन्त्र्य का प्रमुख कारण है, जो भयावह घोरघोरतम कारण दुर्भाग्यवश आज तो काल्पनिकी 'धर्म्मनिरपेक्षता' के द्वारा और भी अधिक भयावह प्रमाणित होगया है।

सैषा स्थितिः। साम्प्रतं स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया। प्रत्यक्ष में पारिभाषिक–तत्त्वबोध का कोई सूत्र हमें उपलब्ध नहीं होरहा। ऐसी विषमा–अवस्था में ब्राह्मणों, और पुराणों के आख्यानोपाख्यानों से सम्बन्ध रखने वाली रहस्यपूर्णा–ज्ञानविज्ञानात्मिका परिभाषाओं के स्वरूपबोध का क्या उपाय ?, जब यह महान् प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित होता है सो वेदग्रन्थिविभञ्जनपटु–परिभाषातत्त्वाविष्कारक–आचार्य्यचरण श्रद्धेय पूज्य ओझाजी महामहाराज का यही 'उद्बोधनसूत्र' दृष्टि के सम्मुख अभिव्यक्त होपड़ता है कि, "वेद की पारिभाषिकी गहनाटवी में प्रवेश करने के लिए हमें–'आर्य्यसर्वस्व' रूप महान् आलोक को ही माध्यम बनाना पड़ेगा" *। आर्य्यजाति का सांस्कृतिक-महान् गौरव जिस पुराणशास्त्र में बोधगम्या

* विगत तीन सहस्राब्दियों के अनन्तर अपनी आयु के चालीस वर्षों के गुहानिहित अखण्ड-तपोमय महान् तप से विलुप्तप्राया वैज्ञानिकी परिभाषाओं के आविष्कारक वेदसमुद्र पूज्यचरण आचार्य्यप्रवर (पू० श्रद्धेय श्रीमधुसूदनजी महाराज मैथिल) ने पुराणों को—'आर्य्यसर्वस्व' अभिधा से ही समन्वित किया है।

ब्राह्मणभाषा में संकलित हुआ है, वह पुराणशास्त्र पूज्य आचार्य्यचरण की दृष्टि में "शास्त्रों का सर्वस्व ही बना हुआ है। एवं अध्यापनकाल में पुनः पुनः आप पुराणस्वाध्याय पर ही विशेष बल देते रहते थे।

'उद्बोधनसूत्र' कोई नवीनतम सूत्र नहीं है। स्वयं मान्य विद्वान् भी शास्त्रचर्चा-प्रसङ्गावसरों पर साभिमान अनुदिन-"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् की प्रमुख-घोषणा करते सुने गए हैं। किन्तु जहाँतक 'पुराणशास्त्र' के अध्ययनाध्यापन का सम्बन्ध है, वहाँतक तो विद्वानों की यह प्रमुख-घोषणा सर्वथा-वाक्यमात्रा ही बनी हुई है। विगत शताब्दियों में तत्-तत्-सत्ताधीश-विशेषों के अनुरञ्जन के लिए विनिर्मित काव्य-नाटक-चम्पु-प्रशस्ति-कविता आदि से कल्पालोकित मनोऽनुगत काल्पनिक-साम्राज्य में विचरण करते रहने को ही विद्वत्ता की परम सीमा मान बैठने वाले हमारे देश के तथाकथित मूर्द्धन्य विद्वानों की दृष्टि में पुराणशास्त्र तो एक सर्वथा उपेक्षणीय शास्त्र ही बना हुआ है। यही नहीं, पुराणकथानुगति से अनुप्राणित + पुराणपाठक तो इनके लिए सर्वथा " आलप्यालम्। अलमति पल्लवितेन-आपातरमणीय-कर्णकटु-प्रसङ्गेन।

हमारी तो अपनी ऐसी आत्मनिष्ठा है कि, पुराणशास्त्र के पारिभाषिक-स्वाध्याय के बिना ब्राह्मणसाहित्य का पारिभाषिक-तत्त्वार्थबोध सर्वथा ही असम्भव है, एवं ब्राह्मणभाग की परिभाषाओं के बिना उस ओर की मन्त्रसंहिताओं का तथा इस ओर के आरण्यकोपनिषद् भाग का तत्त्वात्मक-पारिभाषिक-समन्वय भी असम्भव ही है। यों परम्परया वेदार्थसमन्वय में प्रथम पुराणशास्त्र तदनन्तर वेद का ही ब्राह्मणभाग ये दो ही प्रमुख आधारस्तम्भ बने हुए हैं जिन दोनों को ही अपनी स्वाध्याय-परम्परा से पराङ्मुख कर देने वाले देश के मूर्द्धन्य विद्वान् भी राष्ट्र के मौलिक साहित्य-वेदशास्त्र के ज्ञानविज्ञानात्मक-अभ्युदय-निःश्रेयस्-संसाधक-महतोमहीयान् उत्कर्ष से एकान्ततः वञ्चित ही बने रह गए हैं।

क्या पुराणोक्त आख्यान-उपाख्यानों से सम्बन्ध रखने वाले विचित्रतम प्रत्यक्षदृष्ट्या-असम्भवतम प्रतीत होने वाले कथोपकथनों से अनुप्राणिता परिभाषाओं का पुराणवाचनमात्र से समन्वय होजायगा ? यही वह जटिलतम प्रश्न है जिसे हमने उपयोगितावादानुबन्धी-बुद्धिवादात्मक महान् बुद्धिव्यामोहन से आज उस सीमापर्य्यन्त भयानक प्रश्न बना लिया है जिसका दूँढे से भी कोई समाधान हमें उपलब्ध नहीं होरहा।

इसी तथाकथित प्रश्न से सम्बन्ध रखने वाली एक रहस्यपूर्ण समाधान-परम्परा का भगवान् वेदपुरुष के स्वयं के मुख से ही निम्नलिखित संस्मरण कर लेना प्रासङ्गिक मान रहे हैं कि—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाच, उतत्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये-उशती सुवासा ॥
—ऋक्संहिता १०।७१।४।

मन्त्रतात्पर्य स्पष्टतम है जिसका निष्कर्ष यही है कि कुछ एक अध्ययनशील महाभाग तो इस भाँति को चमत्कृत कर रहे हैं कि, मन्त्रार्थ पर दृष्टि रखते हुए भी वो इस दृष्टि से वञ्चित ही बने रह जाते हैं।

+—शास्त्रैर्विहीनारच-पुराणपाठकाः

कितने एक महानुभाव सुनते हुए भी वाग्देवी के स्वरूप-श्रवण से पराङ्मुख ही प्रमाणित होते रहते हैं। और कुछ एक वैसे भी आत्मनिष्ठ सहज आर्यमानव श्रेष्ठ है, जिनके लिए स्वय वाग्देवी अपने बाह्य-आभ्यन्तर-सम्पूर्ण-स्वरूप को स्वतः ही उसी प्रकार अभिव्यक्त कर देती है जैसे कि पतिपरायणा सहधर्म्मचारिणी गृहिणी अपने पति के लिए सर्वथा अभिव्यक्ता बनी रहती है।

परिभाषाओं का स्वरूपबोध क्या देखने-सुनने-मात्र से सम्भव है?, प्रश्न का तथाकथित भीत समाधान से अतिरिक्त और क्या समाधान होगा ?। अहर्निश वेद-पुराण-के अक्षरों पर दृष्टिपात किए रहने मात्र से, किंवा अहर्निश पुण्यपाठ-श्रवणमात्र से कदापि तबतक इस शास्त्र के पारिभाषिक-तथ्यों की अभिव्यक्ति सम्भव ही नहीं है जबतक कि हम अपने वैय्यक्तिक-बुद्धिवाद के माध्यम से, सहजभाषा में बुद्धि प्रतिमा-मेधा-लगन-के बलातिमान से इस ओर प्रवृत्त रहते हैं। अवश्य ही बुद्धिवादात्मिका मेधा हमें वाचाल बना देगी तर्कपटु प्रमाणित कर देगी, लोकसमाज में हमें धुरन्धर विद्वान् भी प्रमाणित करा देगी। किन्तु इन सब आडम्बरों के सफल होजाने पर भी बुद्धिवादात्मक दावानल से सर्वात्मना भुलस जाने वाला श्रद्धारस सर्वथैव अभिभूत होजायगा जिसके बिना स्वयं की परितृप्ति-तुष्टि कदापि सम्भव नहीं है। श्रद्धाविहीन ऐसे शुष्कतम-बुद्धिवादात्मक-पाण्डित्य-का ही नाम है- व्यक्तित्वविमोहन जिसका प्रमुख आधारस्तम्भ मानी गई है—'दिग्देशकाल नियन्त्रणा-लोकैषणा लोकख्याति जिसका सीधासा अर्थ यही है कि, "हम अपने आप में भले ही करुण चीत्कार ही करते रहें अपनी रिक्तता के कारण, किन्तु लोक-समाज में हमारा अमुक स्थान प्रतिष्ठित होजाय।

विशेषणागर्भिता हृदयभूता सर्वनाशकारिणी लोकैषणा से ही हमारे बौद्धिक क्षेत्र में अभिमानात्मक वह बुद्धिवाद अभिव्यक्त होपड़ता है, जिसके कारण हमारी बुद्धि दिग्देशकालातीत-अनन्त-आत्मा से अनुप्राणित स्वात्मबोध से पृथक रहती हुई दिग्देशकालनिबन्धन-सामयिक-तात्कालिक-उपसिमूलक-'उपयोगितावाद' की घोरघोरतमा मन्त्रणा से पीड़ित होजाती है जिस उपयोगितावादात्मक-कारणतावाद से ही हमारी बुद्धि स्वस्वरूप से विमुखा बनती हुई 'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासा' रूप महान् अनुग्रह से सर्वथैव वञ्चित रह जाती है।

और हम अब पूर्व के अमुक तथ्यों को गौण-मानते हुए इसी तथ्य पर आते हैं कि, अमुक सीमा-पर्य्यन्त पुराणसाहित्य, तथा ब्राह्मणसाहित्य की परिभाषाओं से अपरिचित रह जाने का प्रमुख कारण दिग्देश-कालानुबन्धी-कारणतावाद के आकर्षण से अनुप्राणित बुद्धिवादात्मक स्वस्वरूप का व्यामोहनात्मक वह अतिमान ही है, जिसके कारण राष्ट्र की प्रचण्ड-मेधाएँ भी वेदशास्त्र की ज्ञान-विज्ञानात्मिका परिभाषाओं के सम्पर्क से पराङ्मुख बनी रह गई। वयं वेदज्ञाः - वयं पुराणाचार्य्याः -'वयं शास्त्रमर्म्मज्ञाः' रूप व्यक्तित्वविमोहन ने ही राष्ट्र की मूढ न्या भी प्रज्ञाओं को तत्त्वार्थ के सम्पर्क में नहीं आने दिया। क्योंकि सभी की अपनी अपनी स्वतन्त्र-व्यक्तित्वमूला मान्यताएँ हैं। अपनी मान्यता बना कर उसके आधार पर मान्य विद्वान् वेदार्थ समन्वय में प्रवृत्त होते हैं। सहजभाषानुसार-हमने वेदार्थों के ऋतुभावापन्न समन्वय की उपेक्षा कर उसके द्वारा अपनी मान्यताओं का समर्थनान्वेषण आरम्भ कर दिया। और यों सहज ऋषि की ऋतम्भरा से सहजरूपेणैव स्वतः एव विनिर्गता वेदवाणी को हमने बुद्धिवादात्मक दिग्देशकाल के उस पलड़े पर तौल डाला, जिस लौकिकी तराजू में बुद्धिवाद के द्वारा लोकानुबन्धी-भूत-भौतिक-दिग्देशकालात्मक-पदार्थों

का ही तुलन हुआ करता है। इसी महती भ्रान्ति से वेद का अनुभवात्मक पारिभाषिक अर्थ हम से उत्तरोत्तर विदूर ही होता गया। और इसी भ्रान्तिपरम्परा के कारण उस दूरत्व ने कालान्तर में इस महान् शास्त्र को 'दिग्देशकालानुबन्धिनी-उपयोगिता-कारणता' के माध्यम से सर्वथा उपेक्षणीय ही प्रमाणित कर दिया। जैसा कि कुछ ही समय पूर्व राजस्थान के ही एक उच्चपद पर समासीन (स्वयं किसी युग के भाष्य-संस्कृतिभक्त) एक महानुभाव ने प्रस्तुत वैदिक-साहित्य के-परोरजा-स्वयम्भू-इन्द्र-वरुण-आदि पारिभाषिक-तथ्यों को कर्णाकर्णिपरम्परया सुन कर अपने हृदयभूत महान्! उद्गार प्रकट किए थे, कि-"आज के युग में इन तथ्यों का क्या उपयोग?, वर्त्तमान के जनजीवन में इनकी क्या उपयोगिता"।

बुद्धिवादात्मक तथाकथित व्यक्तित्वविमोहन ही एकमात्र वह महान् प्रतिबन्धक है, जिसके अनुबन्ध से हम वेदाक्षरों को देखते हुए भी नहीं देखते, सुनते हुए भी नहीं सुनते। अपितु अन्यथा देख सुन कर भी हम तद्वस्तुतथ्य से पराङ्मुख ही बने रह जाते हैं। जब कि बुद्धिवादात्मक-अतिमानात्मक-विमोहन से असंस्पृष्ट रहने वाले ऋजुप्रज्ञ सहज मानवों के लिए वे ही वेदाक्षर स्वयं ही अपना पारिभाषिक-तथ्य अभिव्यक्त कर दिया करते हैं, एवं 'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्' इत्यादि पूर्वमन्त्र के द्वारा इसी तथ्य का स्पष्टीकरण हुआ है।

लोकैषणानुगत-यशोनामख्याति-लालसा से समाप्लुत-दिग्देशकालानुबन्धी-उपयोगितामूलक-कारणतावाद के प्रति प्रतिक्षण आकर्षित-बुद्धिवादात्मक व्यक्तित्व-विमोहन का परित्याग ही वेद-पुराणादि आर्षशास्त्रों के गुहानिहित-रहस्यात्मक-पारिभाषिक-ज्ञानविज्ञानभावों के बोध का एकमात्र कारण है, जिसका निष्कर्षार्थ यही है-'निष्कारणानुप्राणिता शास्त्र-स्वाध्यायानुगति'। क्या तथ्य, किंवा क्या तात्पर्य है इस निष्कारणता का जिसे हम अत्र स्वाध्यायनिष्ठा में अन्यतम कारण मान रहे हैं? प्रश्न का शतपथब्राह्मण के पूर्व प्रकाशित प्रथम-खण्ड-की भूमिका में—'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदो ध्येयो ज्ञेयश्च' रूप महान् सूत्र की मीमांसा करते हुए विशद समाधान किया जा चुका है। अतएव अत्र तद्विश्लेषण अनावश्यक है। सन्दर्भसङ्गतिमात्र के लिए अत्र इस सम्बन्ध में यही स्पष्टीकरण पर्याप्त होगा कि—

मानव का बुद्धिसहकृत प्रज्ञान मन जब दिग्देशकालानुबन्धी किसी व्यक्त-कारण की कामना में तल्लीन होजाता है तो बुद्धि, और मन की चिन्तन-मनन-शक्तियां विकीर्ण होजाती हैं। सहजभाषा में बुद्धि का चिन्तनधर्म्म एवं मन का मननधर्म्म दोनों स्वाध्याय में अनन्य न रह कर कारणरूप फल के प्रति विमुक्त होजाते हैं। एकतानता का उच्छेद होजाता है, एवं तद्वशीभूत स्वाध्याय से अनुगत वह पारिभाषिक तथ्य परोक्ष ही बना रह जाता है चिन्तन-मनन की एकतानता के अभाव में। निष्कारणबुद्धि से ही मानव में ऐकान्तिकी गुहानिहितवृत्ति का उदय होता है। और इसंभूता गुहानिहितवृत्ति क्योंकि समाज-लोक-बाह्य भावों में स्वभावरूपेणैव उदासीनवत् बने रहने वाले ब्रह्मचर्यादि नैष्ठिक-ब्राह्मण से ही समन्वित मानी गई है। अतएव सर्वथैव निष्कारणभावानुगत-ब्राह्मण एवं सर्वभी राजन्यबन्धु (क्षत्रिय) तथा सजातवनवराज वैश्यमहाभाग वेदस्वाध्यायाधिकारी इन तीनों वैवर्णिकों में से तथाभूता निष्कारणता में सर्वात्मना केवल 'गुहानिहित' ब्राह्मण ही बन सकता है। क्योंकि क्षत्रिय अपने 'सौर्य्यमारुतिकधर्म्म' से तथा वैश्यबन्धु अपने 'पार्थिवधर्म्म' से दिग्देशकालानुबन्धी-कारणता-समन्वित-लोकव्यवहारजीवन से सर्वथैव निष्कारण

प्रमाणित नहीं होसकता। अतएव श्रुतिप्रज्ञाने एकमात्र गुहानिहित ब्राह्मण के लिए ही निष्कारणत्वानुबन्धी प्रचण्डतम आदेश विहित माना है, जैसाकि 'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गः' इत्यादि पूर्वोक्त आर्षवचन से स्पष्ट है।

क्योंकि 'ब्राह्मणमानव ही मनोऽनुग 'काम एवं शरीरानुगत 'अर्थ' इन दोनों प्राकृत-दिग्देश-कालानुबन्धी-बाह्य-पर्वों से सम्बन्ध रखने वाली लोक-समाजानुगता कारणताओं के प्रति (अपने आत्मबुद्धि-निबन्धन आभ्यन्तरधर्म्म से) सन्तत-निरपेक्ष बना रहता हुआ मानसिक तथा शारीरिक-उत्पीडनरूपा-ऐहलौकिकी क्लेशपरम्परा का साभिनन्दन समादर करता हुआ गुहानिहितत्वत्या स्वाध्यायनिष्ठा में निष्कारण-बुद्ध्या सतत्रूपेण प्रतिष्ठित बना रह सकता है, और यही ब्राह्मण की स्वरूप-परिभाषा मानी है पुराणपुरुष भगवान् बादरायण ने *। जो ब्राह्मण मनःशरीरानुबन्धी लोकानुगत समाज-सापेक्ष-लोकैषणाप्रवर्द्धक-अपने 'बाह्य व्यक्तित्व' को विस्मृत कर दिग्देशकालातीत अनन्तब्रह्म की अनन्तनिष्ठा के माध्यम से गुहनिहितत्वत्या अपरामर्ष्यसत्रवत् स्वाध्यायनिष्ठ नहीं बना रहसकता, कदापि वह 'ब्राह्मणत्व' को अन्वय नहीं बना सकता। एवं ऐसे ब्राह्मणस्वरूप ब्राह्मणबन्धु से कदापि निष्कारणबुद्ध्या स्वाध्याय-प्रक्रान्ति सुरक्षित नहीं रह सकती। अपितु ऐसा लोक-समाज-लिप्त ब्राह्मण तो राजन्यबन्धु-वैश्यबन्धु-महानुभावों की श्रेणि में आता हुआ बुद्धिवादात्मक उस व्यक्तित्वविमोहन का ही सत्पात्र ! बना रह जाता है, जिस बुद्धिवादात्मक-विमोहन की प्रत्येक मान्यता 'कारणता' को गर्भ में प्रविष्ठित करके ही प्रवृत्त हुआ करती है, और जो कारणता लक्ष्य से परापरावता प्रमाणित होती हुई 'अकरणता' पर ही परिसमाप्त होती रहती है मानव के दिग्देशकालानुबन्धी मनःशरीरानुगत-कामार्थप्रधान-प्राकृत-जीवन की क्षणिक-मृत्यु के साथ साथ ही।

निरतिशय परिताप के साथ हमें इस नम्र सत्य का आज स्पष्टीकरण करना ही पड़ रहा है कि, विगत-मुक्त-प्रक्रान्त-अनेक शताब्दियों से भारतराष्ट्र की ब्राह्मणप्रजा भी इतर वर्णों की भाँति दिग्देशकालानुगता-कारणता की अभिवन्दना 'उपयोगिता' की, एवं तदनुभाविता-सामयिकी-'सम्मति' की चर्व्वणा से चर्व्वितान्तः करण-बनी रहती हुई बुद्धिवादात्मक-मनःशरीरानुगत कामार्थमय-उस व्यक्तित्वविमोहन की अनुगामिनी ही प्रमाणित होती आरही है जिस विमोहन ने ही उन शताब्दियों में इस 'भूसुरश्रेष्ठ' को वेद पुराणादि-आर्ष-ज्ञानविज्ञानात्मक-गुहानिहित-पारिमार्थिक-तथ्य के साथ अन्तर्य्याम-सम्बन्ध नहीं स्थापित करने दिया। अपितु ठीक इस के विरीत विगत शताब्दियों में इस विद्वान् भी मेधावी भी, शब्दशास्त्रपारङ्गत भी ब्राह्मण ने-दिग्देशकालानुबन्धी-सत्ता-समाज-लोक-सापेक्ष-तात्कालिक-शार्मों के आकर्षणों से आकर्षितमना बनते हुए उसी प्रकार उन परभावों के तात्कालिक-समर्थन-अनुरञ्जन-प्रचार-प्रसार-आदि भावभावों में ही अपने को समर्पित कर दिया, जैसे कि आज भी राष्ट्र के तथाकथित कतिपय सांस्कृतिक-विद्वान् वर्त्तमान स्वातन्त्र-समाजतन्त्र के तात्कालिक-अनुरञ्जन के लिए शब्दानुकरण-साहस्यमात्र से अपने प्रचण्ड तर्क-से समन्वित बुद्धिवाद के बल पर आज की मातथामा तात्कालिकी मान्यताओं को भी वेदादि शास्त्रों के द्वारा प्रमाणित करते

---

*-ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं न कामार्थाय जायते।
इह क्लेशाय, तपसे, प्रेत्यत्वनुपमं सुखम्॥
—महाभारते शान्तिपर्वणि ३२१ अध्याये

हुए अपनी लोकव्याप्ति-मूला 'उन्नति' के पथ में लोल्लाय समारूढ़ हैं, इति नु-अश्रमरणम् ! अश्रमरणम् !! महती विडम्बना !!!

उक्त अप्रामाणिक, नहिं नहिं सर्वथैव न केवल प्रासङ्गिक ही, अपितु वेदस्वाध्याय-परायणों के अनिवार्य्य-रूपेण आवश्यकतम ही तथोक्त सन्दर्भ के आधार पर राष्ट्र के श्रद्धेय भूसुरवृन्द से प्रणतिपुरस्सर हमें दो शब्दों में यही नम्र आवेदन कर देना है कि, वही-वेदशास्त्र है, वही पुराणशास्त्र है, और आर्षप्रज्ञानुप्राणिता वही है आप की प्रज्ञा। केवल व्यक्तित्वविमोहनरूप महान् प्रतिबन्धक-के कारण ही ब्राह्मणप्रज्ञा वेद-पुराण के ज्ञान-विज्ञानात्मक-पारिभाषिक-समन्वय से पराङ्मुखवत् प्रमाणित होरही है। जबतक विद्वान् ब्राह्मणों का व्यक्तित्व-सम्बन्धी-उपयोगितावादात्मक-मनःशरीरनिबन्धन-तथाभूत बुद्धिवादात्मक व्यक्तित्वविमोहन स्मृतिगर्भ में विलीन नहीं होजाता, जबतक लोक-समाजानुबन्धी-बाह्य-भावों से उपरतमना अपने आप को उदासीनवत् बन् बनाते हुए ऐकान्तिकी-गुहानिहितवृत्त्या से अपनी जीवनपद्धति को समन्वित नहीं कर लिया जाता, तबतक अन्यान्य प्रधान-स्वरूपों से भी वेदपुराणशास्त्र की ज्ञानविज्ञानात्मिका परिभाषाओं की अभिव्यक्ति का तो अनुग्रह कदापि प्राप्त नहीं होसकता। और वैसी अवस्था, किंवा दुरवस्था में न तो ब्राह्मणप्रज्ञा तत्त्वानुगता ही बन सकती, न आर्षनिष्ठानुगत आचार से ही समन्वित। रही बात लोकव्याप्ति की, सो तो लोकव्याप्तियों का वैसा सहज उत्कर्ष है जो मानवेतर पशु-पक्षी-आदि प्राकृत-प्राणी भी अमुक सीमाओं से उपलब्ध कर ही लिया करते हैं।

हम समझ रहे हैं कि तथाविध स्पष्टीकरण विद्वान्-ब्राह्मणों के लिए न केवल कर्णकटु ही बन रहा होगा अपितु वे अपने मनोराज्य में हम पर अभिनिरूढ़ आतुरता ही बन रहे होंगे। किन्तु व्यक्तित्वविमोहनरूप *अभिमान के स्वरूप-विश्लेषण का समन्वय बिना तथाविध स्पष्टीकरण के सम्भव ही नहीं है।* बुद्धिवादात्मक-व्यक्तित्वविमोहनरूप काल्पनिक व्यक्तित्व की जबतक निष्ठापूर्वक जलाञ्जलि समर्पित नहीं कर दी जाती तबतक ब्राह्मणप्रज्ञा में समष्ट्यमूला उस 'ऋतम्भरा' की अभिव्यक्ति सम्भव ही नहीं है जिस 'ऋतम्भरा' के बिना मानव धरातल पर वेद का तत्त्वार्थ सहजरूपेणैव स्वतः ही अभिव्यक्त नहीं होसकता। स्वयं वेदमहर्षि ने वेदार्थ-समन्वय की योग्यता के स्वरूप-विश्लेषण के लिए एक ऐसे ही 'उद्बोधनसत्र' का स्पष्टीकरण किया है जिसे *यहाँ उद्धृत कर देना अप्रासङ्गिक नहीं माना जायगा।*

विज्ञान-परम्पराओं की रहस्यभेदिका निरतिशयरूपेण दुरधिगम्या सुप्रसिद्धतमा ऋग्वेदसंहिता का 'अस्यवामीय' नामक 'सूक्त विद्वज्जगत् में सुप्रसिद्धतम है। जिस केवल ५२ (बावन) मन्त्रात्मक स्वल्पकाय सूक्त में-अग्न्याग्निरूपा-त्रासपक्षितविद्या-सप्ताहोरात्ररूपा सम्वत्सरचक्रविद्या सप्ततन्तु-वितानात्मिका प्रजातन्तुवितानविद्या रसगर्भानुगता गोतत्त्वविद्या रोदसी-क्रन्दसी-संयती-रूपा त्रैलोक्य त्रैलोकीविद्या-सप्तप्राणात्मिका सप्तर्षिविद्या सुपर्णविद्या यज्ञविद्या वाग्विद्या वृष्टिविद्या आदि आदि भेदेन अनेक रहस्यपूर्ण उन सृष्टिविद्याओं का सूत्ररूपेण संकलन हुआ है जिन में से एक एक ही विद्या में बड़े से बड़े प्रज्ञाशील मेधावी विद्वान् के भी शिरोविकम्पन की क्षमता विद्यमान है। अत्यन्त रहस्यपूर्ण एवंविधा गम्भीरतमा अनेक सृष्टिविद्याओं को अपनी सूक्ष्ममयी संक्षिप्ततमा आर्षवाणी में केवल ५२ मन्त्रों के माध्यम से स्पष्टीकरण कर देने वाले मन्त्रसमष्टिरूप अस्यवामीयसूक्त के द्रष्टा महामहर्षि दीर्घतमा महाभाग का व्यक्तित्व कैसा और कितना महतोमहीयान् रहा होगा ?, मनन के संस्मरण का भी माध्यम अभिमान को अभि

कार नहीं है । सर्वरहस्यवित् तथाविध दीर्घतमा नामक वैसे महामहर्षि अपने व्यक्तित्व की स्वरूप-मीमांसा के लिए जब प्रवृत्त होते हैं, तो हमारी स्वल्पप्रज्ञा सर्वथैव विमूढ़ा बनी रह जाती है । उन्हीं के मुखपङ्कज से विनिःसृता परमोद्‌बोधनप्रदात्री निम्नलिखिता आर्षवाणी को सुन कर सचमुच ही हम तो अपना सभी कुछ भूल जाते हैं कि—

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मन, न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांसि, अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥
—ऋक्संहिता १।१६४।६। (अस्यवामीयसूक्ते)

मन्त्रव्याख्यान का अत्र अवसर नहीं है । केवल मन्त्र के पूर्वार्द्ध की ओर ही हमें अपना ध्यान आकर्षित कर लेना है, जिसका भूतभाषापन्न यही अक्षरार्थ है कि—"मैं स्वयं इस तथ्य के सम्बन्ध में मीमांसा करने में क्योंकि असमर्थ हूँ—अज्ञ हूँ, अतएव समर्थ सुविज्ञेय-क्रान्तदर्शी विद्वानों से ही इस सम्बन्ध में केवल अपने बोध के लिए मैं यह पूँछ रहा हूँ, क्योंकि मैं स्वयं नहीं जानता उस तथ्य को कि—किसने इन ६ रजोरूप लोकों को अपने ऊपर स्थापित कर रक्खा है, समतुलित कर रक्खा है" ।

वो महर्षि दीर्घतमा आगे चलकर स्वयं इसी अपने अस्यवामीयसूक्त में—'तिस्रो मातृ स्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति' (ऋक्सं० १।१६४।१ ।) इत्यादि मन्त्र के द्वारा 'रोदसी—क्रन्दसी-संयती—रूपा-त्रैलोक्यत्रिलोकीविधा' का स्वरूपोद्‌घाटन करते हुए 'ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति' रूपेण 'अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्' इस असमाधेय प्रश्न का स्वयं ही समाधान कर रहे हैं, उन्होंने—क्यों, और किस लिए—'अचिकित्वान्—न विद्वान्' कह दिया !, यह महान् प्रश्न है, जिसके गर्भ में ही महर्षि का वह उद्‌बोधनसूत्र पिनद्ध है, जिसका पूर्व में यशोगान किया जा चुका है ।

प्रधान—लक्ष्य—रूप महान् सृष्टिविज्ञान के स्वरूप—विश्लेषण—प्रसङ्ग से उसी के द्वारा सङ्केतविधि से ऋषिवाणी अन्यान्य प्रासङ्गिक उद्‌बोधन भी प्रदान करती रहती है और यही गम्भीरार्थगर्भिता अनेकलक्ष्य-संवाहिका ऋषिवाणी की गरिमा—महिमामयी—महती विशेषता मानी गई है लोक—सामान्या वाणी के समतुलन में । महर्षि दीर्घतमा इसी सङ्केतशैली के आधार पर षड्लोकविज्ञान-प्रसङ्ग के साथ ही 'अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र' इत्यादि रूप से वेदानुगत—सृष्टिविज्ञान से अनुगता सफलता के महान् आधारस्तम्भ व्यक्तित्वविमोहनापहरणात्मक—महतोमहीयान् उद्‌बोधन-तथ्य का भी स्पष्टीकरण कर रहे हैं, जिसका सङ्केतरूपेण यही निष्कर्षार्थ है कि वेदपुराणादि आर्षशास्त्र के स्वाध्याय में प्रविष्ट व्यक्ति को अपने मन शरीरनिबन्धन प्रकृत्यनुगत लोक—समाजानुबन्धी बाह्य—व्यक्तित्व को एकान्ततः विस्मृत ही कर देना चाहिए । दूसरे शब्दों में-इस सनातनसाहित्य के पारिभाषिक तथ्यों के साथ आमन्त्रणघात् करने के लिए अपने व्यक्तित्व—दम्भ को सर्वथैव विस्मृत कर देना चाहिए ।

व्यक्तित्वविमोहनात्मक-व्यक्तित्व की विस्मृति को क्यों आवश्यक समझा ऋषि ने !, प्रश्न का उत्तर पूर्व के सन्दर्भ से ही यद्यपि गतार्थ है । तथापि स्पष्टीकरणदृष्ट्या लोकभाषा में भी तत्सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन कर दिया जाता है । वास्तविक-व्यक्तित्व एवं व्यक्तित्वविमोहनात्मक-व्यक्तित्व-भेद से व्यक्तित्व

को हम समझने के लिए दो मार्गों में विभक्त मान सकते हैं। मानवीय आत्मा उस परमात्मा से अभिन्न माना गया है जिसे दिग्देशकालातीत अनन्तब्रह्म कहा गया है। वही मानवीय आत्मा का आत्मनिष्कन्धन स्वस्वरूप है और आत्मनिष्कन्धन दिग्देशकालातीत सनातन-शाश्वत-ऐसा अलौकिक व्यक्तित्व ही मानव का वास्तविक-व्यक्तित्व है, जिसका लोकममतानुबन्धी-पारिवारय-वीरता, किंवा तत्सानिष्कन्धन-उन्मनस्क आदि आदि के साथ यत्किंचित् भी सम्पर्क नहीं है। अपितु समदर्शनाधारमूत आत्मसाम्यमूलक ऐसा महान् व्यक्तित्व ही मानव का वह व्यापक व्यक्तित्व है, जिस व्यक्तित्व पर प्रतिष्ठित रहता हुआ मानव व्यक्ति-समाज-राष्ट्र-आदि आदि परिच्छिन्नभावों से निकल कर सर्वभूतहितरति का ही अनुगामी बन जाता है और ऐसा मानवभेद ही 'अलौकिक-मानव' माना गया है, एवं इसी को "ऋषिमानव" कहा गया है, जिसका वास्तविक महान् व्यक्तित्व महतोमहीयान् दिग्देशकालातीत अनन्तब्रह्म से समतुलित होता हुआ एक प्रकार से 'व्यक्तित्व' की परिधि से सर्वथैव असंस्पृष्ट है।

दूसरा व्यक्तित्व है-दिग्देशकालानुबन्धी-सोपाधिक-पराश्रित-व्यक्तित्व। जबतक मानव आत्मसाम्य के आधार पर प्रतिष्ठित होता हुआ विषमदर्शनात्मक सोपाधिक-लोक-समाज-सत्तादि से अनुप्राणित पराश्रित व्यक्तित्व का उत्तरदायित्व की दृष्टि से स्वस्वरूपेण निर्वाहमात्र करता रहता है तबतक तो यह आगन्तुक व्यक्तित्व भी मानव के लिए इष्टजनक लौकिक समादरणीय व्यक्तित्व ही बनता रहता है। किन्तु आत्मसाम्यरूप समदर्शनात्मक-निरुपाधिक-वास्तविक-व्यक्तित्व की उपेक्षा कर यही मानव जब केवल दिग्देशकाल का ही प्रात बन जाता है तो यही आगन्तुक व्यक्तित्व इष्ट नामक-समादरणीय-लौकिक-व्यक्तित्व के स्थान में-'अनिष्टपरम्परासंवर्द्धक-समाज-राष्ट्र-स्वरूपविध्वंसक'-ही बन जाता है और इसी दूसरे दिग्देशकालानुबन्धी तात्कालिक व्यक्तित्व का नाम है 'व्यक्तित्वविमोहनात्मक-व्यक्तित्व'

कालसाक्षी सूर्य्य मानव के बुद्धितन्त्र का प्रवर्त्तक है, दिक्साक्षी चन्द्रमा मानव के मनस्तन्त्र का प्रभु है, एवं देशसाक्षी भूपिण्ड मानव के पाञ्चभौतिक शरीर का आर म्भण (उपादानकारण) है। यों कालात्मक सूर्य्य, दिगात्मक चन्द्रमा, एवं देशात्मक भूपिण्ड, इन तीनों प्राकृतिक-पर्वों से ही मानव के बुद्धि-मनः-शरीर-रूप तीनों प्राकृत-पर्वों का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। और यही है मानव के दिग्देशकालानुबन्धी-लौकिक-प्रकृतिसिद्ध-व्यक्तित्व के चिरन्तन इतिवृत्त का संक्षिप्ततम इतिवृत्त।

यदि दिग्देशकालानुबन्धी-बुद्धिमन-शरीरात्मक-लौकिक-व्यक्तित्व दिग्देशकालातीत आत्मनिष्कन्धन वास्तविक-व्यक्तित्व को आधार बनाए रहता है तो पूर्वकथनानुसार स्वर्यभूत आत्मनिष्ठ मानव को दिग्देशकालानुबन्धी-तात्कालिक-लोकैषणानुगत-सामयिक-प्रलोभन प्रभावित नहीं कर पाते। और ऐसी अवस्था में आत्मनिष्ठ मानव का यह लौकिक व्यक्तित्व भी कदापि इसके स्वरूपविमोहन का कारण नहीं बन सकता। अतएव ऐसा अलौकिक मानव लोकव्यक्तित्व का भी सर्वात्मना आत्मनिष्ठा से ही निर्वाह कर लेजाता है दिग्देशकालानुबन्धी-उत्पीडनी की उपेक्षा ही करता हुआ।

ठीक इसके विपरीत यही मानव दुर्भाग्यवश यदि अपने दिग्देशकालातीत आत्मनिष्कन्धन-स्वभाव से अभिन्न वास्तविक-व्यक्तित्व को विस्मृत कर अपने मानवीय-स्वरूप को दिग्देशकालिक-आत्माभिव्यक्तित्वमूलक-

मानवेतर पशु–पक्षी–आदि की भाँति केवल बुद्धि–मन'–शरीर–तन्त्रत्रयी पर ही परिसमाप्त मान बैठने की भयावह भूल कर बैठता है क्षणिकवादयों की भाँति, तो निश्चयेन थोड़े ही समय में इस का समस्त उच्छिन्न होजाता है। और केवल बुद्धिवादात्मक–मनोराज्य के बल पर काल्पनिक शारीरिक–भूतसाम्य की अहर्निश घोषणा करता हुआ भी यह प्राकृत मानव उत्तरोत्तर–प्रकृत्यनुबन्धिनी उस भयावहा विषमता का ही पथिक बनता जाता है जिस की पर्य्यवसानभूमि–'समूलस्तु विनश्यति' ही मानी गई है। बौद्धिक दम्भ से अहोरात्र अतिमानाक्रान्त, मानसिक मान से सतत काल्पनीकृत, एवं शारीरिक मद से निरन्तर अशु–चिमावापन्न ऐसा दिग्देशकालविमूढ मानव ही कालान्तर में अपने दिग्देशकालानुबन्धी–लौकिक–व्यक्तित्व से भी पराङ्मुख बन जाया करता है। ऐसी अवस्था, किंवा मानवस्वरूपविघातिनी ऐसी घोरघोरतमा दुर्दशा–वस्था से समलङ्कृत ये मानवमहाभाग ही व्यक्तित्वविमोहनात्मक उस काल्पनिक–व्यक्तित्व के महापात्र माने गए हैं जिस का यह पदप्रतिप्रतिष्ठात्मक काल्पनिक व्यक्तित्व किसी भी क्षण गन्धर्वनगरलीलावत् देखते ही देखते सदा के लिए समृति के गर्भ में विलीन होजाया करता है, और तब इन के बुद्धिवादात्मक दम्भ के क्षेत्र में क्षणिक–दुःख–शून्य–भावनिबन्धन–अनात्मवादात्मक जड़वाद के अतिरिक्त और कुछ भी तो शेष नहीं रह जाता।

प्रसङ्गतः निर्दिष्ट वास्तविक–व्यक्तित्व, एवं व्यक्तित्वविमोहनात्मक–व्यक्तित्व, भेदेन द्विधा–विभक्त व्यक्तित्व में ये भारतीय–ऋषिदृष्टि में आत्मसाम्यमूलक–वास्तविक–व्यक्तित्व ही मानव का वह 'व्यक्तित्व' है, जिस के गर्भ में उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व गर्भीभूत है जैसे कि दिग्देशकालातीत ब्रह्म के महिमामण्डल में सम्पूर्ण चराचर विश्वप्रपञ्च गर्भीभूत है। ऐसे अलौकिक व्यक्तित्व के मुख से ही तो–'मा कश्चित्–दुःखभाग्भवेत्'–'सर्वे सन्तु निरामयाः'–'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' जैसे आत्मसाम्यसूत्र विनिर्गत होसकते हैं। और यही है भारतीय–व्यक्तिमूलक वह आत्मसाम्य, जिस के स्वरूपबोध से वञ्चित आज के समाजवादी भारतीय–समाज–व्यवस्था पर व्यक्तित्वाभिमान का घृणित आरोप लगाते हुए लज्जा से यत्किञ्चित् भी तो अवनत नहीं होजाते।

जिस सम–भावापन्न–समानाधिकारमूलक साम्य का, किंवा समाजवाद का आज के बुद्धिवादी यशोगान करते नहीं अघाते, वह तो वास्तव में व्यक्तित्वविमोहनात्मक–काल्पनिक–व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखने वाला प्रकृतिनिबन्धन जैसा घोरघोरतम विषमवाद, किंवा वैषम्य है जिस के क्षेत्र में विश्व–राष्ट्र–समाज की कथा तो दूर रही, अपने परिवार के कुलवृद्धों का भी समादार सम्भव नहीं है—केवल स्वकामार्थ–भोगवृत्ति से अनुप्राणित तत्सहायक–स्वार्थसंसाधक कतिपय तथाविध ही व्यक्तिविशेषों के अतिरिक्त। स्वयं, स्वापत्य, और तत्कामार्थभोगसंसाधक–चाटुकार–गतानुगतिक–परिगणित–व्यक्तिविशेष अलमतिपल्लवितेन। यही उन समाजनिष्ठों का सम्पूर्ण समाज, किंवा राष्ट्र, किंवा सम्पूर्ण विश्व है, जिस के दिग्देशकालानुबन्धी तात्कालिक–स्वार्थ–संसाधन के लिए ही ये पुरुषपुङ्गव परिवारकुलवृद्ध–समाज–राष्ट्र–आदि आदि सभी के साथ क्षणमात्र में प्रचण्डतम विश्वासघात करते हुए भी विलम्ब नहीं करते।

और अत्यन्त ही कारुणिक हृदय से आज हमें इस नग्न सत्य का अनुगमन करना पड़ रहा है कि, आज का स्वतन्त्र भारत आत्मसाम्यमूला ब्रह्मविद्या धर्मनिष्ठा से अपने आपको पराङ्मुख प्रमाणित करता हुआ दिग्देशकालानुबन्धी–व्यक्तित्वविमोहनात्मक–उस व्यक्तित्व की ओर ही अन्धरूपेण अनुधावन

को हम समझने के लिए दो मार्गों में विभक्त मान सकते हैं। मानवीय आत्मा उस परमात्मा से अभिन्न माना गया है जिसे दिग्देशकालातीत अनन्तमहान् कहा गया है। यही मानवीय आत्मा का आत्मनिष्ठन स्वस्वरूप है, और आत्मनिष्ठन दिग्देशकालातीत सनातन–शाश्वत–ऐसा अलौकिक व्यक्तित्व ही मानव का वास्तविक-व्यक्तित्व है, जिसका लोकमर्यादानुबन्धी–पाण्डित्य–वीरता, किंवा सत्तानिबन्धन–उच्चपद आदि आदि के साथ यत्किञ्चित् भी सम्पर्क नहीं है। अपितु समदर्शनाधारभूत आत्मसाम्यमूलक ऐसा महान् व्यक्तित्व ही मानव का वह व्यापक व्यक्तित्व है, जिस व्यक्तित्व पर प्रतिष्ठित रहता हुआ मानव व्यक्ति–समाज–राष्ट्र आदि आदि परिच्छिन्नभावों से निकल कर सर्वभूतहितरति का ही अनुगामी बन जाता है और ऐसा मानवश्रेष्ठ ही 'अलौकिक–मानव' माना गया है, एवं इसी को "ऋषिमानव" कहा गया है, जिसका वास्तविक महान् व्यक्तित्व महतोमहीयान् दिग्देशकालातीत अनन्तमहान् से समतुलित होता हुआ एक प्रकार से 'व्यक्तित्व' की परिधि से सर्वथैव असंस्पृष्ट है।

दूसरा व्यक्तित्व है–दिग्देशकालानुबन्धी–सोपाधिक–पराश्रित–व्यक्तित्व। जबतक मानव आत्मसाम्य के आधार पर प्रतिष्ठित होता हुआ विषमवर्गात्मक सोपाधिक–लोक–समाज–राष्ट्रादि से अनुप्राणित पराश्रित व्यक्तित्व का उत्तरदायित्व की दृष्टि से तटस्थरूपेण निर्वाहमात्र करता रहता है तबतक तो यह आगन्तुक व्यक्तित्व भी मानव के लिए इष्टजनक लौकिक समादरणीय व्यक्तित्व ही बनता रहता है। किन्तु आत्मसाम्यरूप समदर्शनात्मक–निरुपाधिक–वास्तविक–व्यक्तित्व की उपेक्षा कर यही मानव जब केवल दिग्देशकाल का ही दास बन जाता है, तो यही आगन्तुक व्यक्तित्व इष्ट नामक–समादरणीय–लौकिक–व्यक्तित्व के स्थान में–'अनिष्टपरम्परासमर्थक–समाज–राष्ट्र–स्वरूपविध्वंसक'–ही बन जाता है और इसी दूसरे दिग्देशकालानुबन्धी तात्कालिक व्यक्तित्व का नाम है 'व्यक्तित्वविमोहनात्मक–व्यक्तित्व'

कालसाक्षी सूर्य्य मानव के बुद्धितन्त्र का प्रवर्त्तक है, दिक्साक्षी चन्द्रमा मानव के मनस्तन्त्र का प्रभु है, एवं देशसाक्षी भूपिण्ड मानव के पाञ्चभौतिक शरीर का आरम्भक (उपादानकारण) है। यों कालात्मक सूर्य्य, दिगात्मक चन्द्रमा, एवं देशात्मक भूपिण्ड, इन तीनों प्राकृतिक–पर्वों से ही मानव के बुद्धि–मनः–शरीर–रूप तीनों प्राकृत–पर्वों का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। और यही है मानव के दिग्देशकालानुबन्धी–लौकिक–प्रकृतिसिद्ध–व्यक्तित्व के चिरन्तन इतिवृत्त का संक्षिप्ततम इतिवृत्त।

यदि दिग्देशकालानुबन्धी–बुद्धिमनःशरीरात्मक–लौकिक–व्यक्तित्व दिग्देशकालातीत आत्मनिष्ठन वास्तविक–व्यक्तित्व को आधार बनाए रहता है तो पूर्वकथनानुसार इत्थंभूत आत्मनिष्ठ मानव को दिग्देशकालानुबन्धी–तात्कालिक–लोकैषणानुगत–सामयिक–प्रलोभन प्रभावित नहीं कर पाते। और ऐसी अवस्था में आत्मनिष्ठ मानव का यह लौकिक व्यक्तित्व भी कदापि इसके स्वरूपविमोहन का कारण नहीं बन सकता। अतएव ऐसा अलौकिक मानव लोकव्यक्तित्व का भी सर्वात्मना आत्मनिष्ठा से ही निर्वाह कर लेजाता है दिग्देशकालानुबन्धी-आपत्तियों की उपेक्षा ही करता हुआ।

ठीक इसके विपरीत यही मानव दुर्भाग्यवश यदि अपने दिग्देशकालातीत आत्मनिष्ठन-समभाव से अभिन्न वास्तविक–व्यक्तित्व को विस्मृत कर अपने मानवीय–स्वरूप को दिग्देशकालिक–आत्माभिव्यक्तिशून्य-

और पुराण, दोनों का पारिभाषिक–स्वाध्याय उस प्रत्येक द्विजाति के लिए अनिवार्य ही माना जायगा, जो निगमागमपुराणसम्मता भारतीय–प्राच्यसंस्कृति के ज्ञानविज्ञानात्मक अभ्युदय निःश्रेयस्-संसाधक उदर्क से अपने राष्ट्र को समन्वित करने की कामना रखता है। इन दोनों महान् स्तम्भों के पारिभाषिक–समन्वय के बिना भारतीय–आर्य–संस्कृति का मौलिक स्वरूप कदापि समन्वित नहीं होसकता।

जैसाकि प्रथमखण्डानुगता प्रस्तावना में निवेदन किया जाचुका है ब्राह्मणग्रन्थों में 'शतपथब्राह्मण' नामक ब्राह्मणग्रन्थ का अनेक कारणों से प्रमुख स्थान है। अन्यान्य ब्राह्मणग्रन्थों की अपेक्षा इस ब्राह्मणग्रन्थ की भाषा भी 'भारती' नाम से प्रसिद्धा प्रचलिता संस्कृतभाषा से अधिकांश में समतुलिता है, अतएव विशेषरूपेण बोधगम्या है। एतदतिरिक्त अपने युग के दुर्द्धर्ष वैज्ञानिक भगवान् याज्ञवल्क्य के महान् मेधावी शिष्य मधुभवा के द्वारा संकलित किंवा स्वयं याज्ञवल्क्य के द्वारा ही दृष्ट यह शतपथब्राह्मण वैज्ञानिकी-सर्व-परिभाषाओं का समन्वयात्मक–जैसा अपूर्व एवं पूर्ण ब्राह्मणग्रन्थ है, जिसमें शतपथेतर ब्राह्मणों से अनुगता वैज्ञानिकी परिभाषाओं का भी भगवान् याज्ञवल्क्य ने सूत्ररूप से संग्रह कर लिया है। इन्हीं सब कारणों से यह ब्राह्मणग्रन्थ सौ (१) अध्यायों के विस्तारपथ का अनुवर्त्ती बनता हुआ 'शतपथ' नाम से प्रसिद्ध होरहा है। स्वयं भगवान् बादरायण ने भगवान् याज्ञवल्क्य के मुख से 'शतपथब्राह्मण' की तथोक्ता अपूर्वता का निम्न लिखित शब्दों में यशोगान किया है—

याज्ञवल्क्य उवाच—अव्यक्तस्य पर यत्तत् पृष्टस्तेऽहं नराधिप। ॥
पर गुह्यमिम प्रश्न शृणुष्वावहितो नृप। ॥१॥
यथार्षेणेह विधिना चरताऽवनतेनह ॥
मयाऽऽदित्यादवाप्तानि यजूंषि मिथिलाधिप। ॥२॥
महता तपसा देवस्तपिष्णु सेवितो मया ॥
प्रीतेन चाहं विभुना सूर्य्येणोक्तस्तदानघ। ॥३॥
वर वृणीष्व विप्रर्षे। यदिष्टं ते सुदुर्लभम् ॥
तत्ते दास्यामि प्रीतात्मा मत्प्रसादो हि दुर्लभः ॥४॥
ततः प्रणम्य शिरसा मयोक्तस्तपतां वरः ॥
यजूंषि नोपयुक्तानि क्षिप्रमिच्छामि वेदितुम् ॥५॥
ततो मां भगवानाह वितरिष्यामि ते द्विज। ॥
सरस्वती' इह 'वाग्' भूत्वा शरीरं ते प्रवेक्ष्यति ॥६॥
ततो मामाह भगवानास्यं स्व विवृतं कुरु। ॥
विवृत च ततो मेऽस्यं प्रविष्टा च सरस्वती ॥७॥
ततो विदह्यमानोऽहं प्रविष्टोऽम्भस्तदानघ। ॥
अविज्ञातादमर्षाच्च भास्करस्य महात्मनः ॥८॥

करता आरहा है, जिस अनुधावन से आज भारतराष्ट्र का आत्ममूलक-वास्तविक-व्यक्तित्वनिबन्धन-अभ्युदय-निःश्रेयस्-सम्बन्धेय पराङ्मुख बन गए हैं। व्यक्तिवाद की स्वयंभूता अनर्थकारिणी प्रवृत्ति तो उन प्रतीच्यदेशों में भी नहीं है, जिन में कभी भी दिग्देशकालातीत-आत्मब्रह्म के व्यवस्थित समन्वय का प्रभाव नहीं हुआ। उन का व्यक्तित्व भी 'स्वराष्ट्र' के प्रति तो अधिकांश में मनोबुद्धिशरीरापेक्ष की भावना से ही सम-लङ्कृत सुना गया है, जबकि आत्मामाम्य के जन्मदाता इस पावन भारतराष्ट्र की मानवप्रजा आज अधिकांश में जघन्यतम व्यक्ति-स्वविमोहनात्मक-व्यक्तित्व से अनुप्राणित वैय्यक्तिक-स्वार्थमोग के समतुलन में राष्ट्र की सामार्थसमरथा के साथ विश्वासघात कर डालने में भी लज्जा का अनुभव नहीं कर रही, इससे अधिक भारतराष्ट्र का नैतिक, तथा सांस्कृतिक अधःपतन और क्या होगा ?।

दिग्देशकालानुबन्धिनी सीमा में प्रतिष्ठित मानव का व्यक्तित्व ही विमुग्धभावापन्न बना करता है, और ऐसा विमुग्ध व्यक्तित्व ही दिग्देशकालानुबन्धिनी उस सामयिकी व्यवस्था के प्रति तल्लीन बना रहता है, जिसके माध्यम से ही युगधर्मनिबन्धन स्वार्थों की पूर्ति सम्भव मानी गई है। यही वैय्यक्तिक-स्वार्थ भारतीय उस वेदपुराणशास्त्र की सीमा में भी गत अनेक शताब्दियों से प्रविष्ट होता आरहा है जिसके आकर्षण से ही शास्त्रीय-सिद्धान्त भी दिग्देशकालानुबन्धी सामयिकी की परिवर्तनशीला तात्कालिकी मान्यताओं के अनुपात से तद्युग के व्यवस्थावादी-दिग्देशकालविमूढ-बुद्धिवादी विद्वानों के द्वारा यथेच्छ परिवर्त्तित होते आरहे हैं जिस युगधर्मनिबन्धना परिवर्त्तनपरम्परा से ही सम्प्रदायवाद-परम्पराओं से एकान्तत असंस्पृष्ट भी, विशुद्ध-ज्ञान विज्ञानात्मक भी वेदशास्त्र आज इतर साम्प्रदायिक-मतवादात्मक-मानसिक-शब्दजाल की भाँति केवल 'साम्प्रदायिकग्रन्थ' ही प्रमाणित होगया है। और यों दिग्देशकालानुबन्धी-व्यक्ति-स्वविमोहनात्मक-काल्पनिक-व्यक्तित्व के व्यवस्थानुबन्धी आकर्षण के दुष्परिणाम-स्वरूप ही भारतीय विद्वत् प्रजा विगत अनेक शताब्दियों से वेदपुराण-शास्त्र ही तथापि-ब्राह्मण तथा पुराण के व्याख्यानों की ज्ञानविज्ञानात्मिका परिभाषाओं की तत्त्वमूला संवित् से वञ्चित ही बनती चली आरही है।

महर्षि दीर्घतमा के उद्बोधक-सूत्रानुसार आज भी भारतीय ब्राह्मणप्रजा यदि अपने आपको-व्यक्तित्व-विमोहनात्मक काल्पनिक-व्यक्तित्व का परित्याग कर दिग्देशकालातीत-अनन्त-समब्रह्ममूलक-वास्तविक-व्यक्तित्व के माध्यम से गुहानिहितसत्या एकान्तनिष्ठा से वेदपुराणस्वाध्याय में अपने आपको प्रवृत्त करदेती है तो निश्चयेन स्वत ही इस के शुद्धभावापन्न निष्कारणात्मक-धीश्र-धरातल पर वेदार्थ का पारिभाषिक बोध स्वत ही आविर्भूत होसकता है और इस पथ के अतिरिक्त वेदपुराणशास्त्र के पारिभाषिक-तथ्य-समन्वय के लिए- 'नान्यः-पन्था विद्यते अयनाय'। *यही उस सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण प्रश्न का तात्त्विक-समन्वय-निष्कर्ष है जिस प्रश्न के* द्वारा वेद-पुराणानुगत व्याख्यानोपाख्यानों की परिभाषाएँ आज विद्वानों के लिए भी जटिलतमा समस्या प्रमाणित होरही हैं इत्यलमतिविस्तरेण-वेदपुराणनिबन्धन-पारिभाषिक-बोधानुगत-तात्त्विक-महत्त्वपूर्ण-प्रश्न-समाधान-प्रसङ्गेन।

उक्त सन्दर्भ के माध्यम से अब निवेदनीय प्रमुख लक्ष्य यही है कि, मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के- 'विधि' नामक ब्राह्मणभाग की व्याख्यानोपाख्यानानुगता पारिभाषिकी शब्दावली के तथ्यार्थ-समन्वय के बिना एवं पुराणशास्त्र की तथाविधा परिभाषाओं के समन्वय के बिना वेदशास्त्र का ज्ञानविज्ञानात्मक तात्त्विक समन्वय भी असम्भव है एवं आचारात्मिका धर्मव्यवस्था का भी समन्वय असम्भव है। अतएव ब्राह्मण,

और पुराण, दोनों का पारिभाषिक–स्वाध्याय उस प्रत्येक द्विजाति के लिए अनिवार्य ही माना जायगा, जो निगमागमपुराणसम्मता भारतीय–प्राच्यसंस्कृति के ज्ञानविज्ञानात्मक अभ्युदय निःश्रेयस्-संसाधक उदर्क से अपने राष्ट्र को समन्वित करने की कामना रखता है। इन दोनों महान् स्तम्भों के पारिभाषिक–समन्वय के बिना भारतीय–आर्ष–संस्कृति का मौलिक स्वरूप कदापि समन्वित नहीं होसकता।

जैसाकि प्रथमखण्डानुगता प्रस्तावना में निवेदन किया जाचुका है, ब्राह्मणग्रन्थों में 'शतपथब्राह्मण' नामक ब्राह्मणग्रन्थ का अनेक कारणों से प्रमुख स्थान है। अन्यान्य ब्राह्मणग्रन्थों की अपेक्षा इस ब्राह्मणग्रन्थ की भाषा भी 'भारती' नाम से प्रसिद्धा प्रचलिता संस्कृतभाषा से अधिकांश में समतुलिता है, अतएव विशेषरूपेण बोधगम्या है। एतदतिरिक्त अपने युग के दुर्द्धर्ष वैज्ञानिक भगवान् याज्ञवल्क्य के महान् मेधावी शिष्य मधुमथा के द्वारा संकलित किंवा स्वयं याज्ञवल्क्य के द्वारा ही दृष्ट यह शतपथब्राह्मण वैज्ञानिकी–सर्वपरिभाषाओं का समन्वयात्मक–जैसा अपूर्व, एवं पूर्ण ब्राह्मणग्रन्थ है, जिसमें शतपथेतर ब्राह्मणों से अनुगता वैज्ञानिकी परिभाषाओं का भी भगवान् याज्ञवल्क्य ने सूत्ररूप से संग्रह कर लिया है। इन्हीं सब कारणों से यह ब्राह्मणग्रन्थ सौ (१००) अध्यायों के विस्तारपथ का अनुवर्त्ती बनता हुआ 'शतपथ' नाम से प्रसिद्ध होरहा है। स्वयं भगवान् बादरायण ने भगवान् याज्ञवल्क्य के मुख से 'शतपथब्राह्मण' की सर्वोत्कृष्ट अपूर्वता का निम्नलिखित शब्दों में यशोगान किया है—

याज्ञवल्क्य उवाच—अव्यक्तस्थ परं यत्तत् पृष्टस्तेऽहं नराधिप ! ॥
परं गुह्यमिमं प्रश्नं शृणुष्वावहितो नृप ! ॥१॥
यथार्षेणेह विधिना चरताऽवनतेन ह ॥
मयाऽऽदित्यादवाप्तानि यजूंषि मिथिलाधिप ! ॥२॥
महता तपसा देवस्तपिष्णुः सेवितो मया ॥
प्रीतेन चाह विभुना सूर्य्येणोक्तस्तदानघ ! ॥३॥
वरं वृणीष्व विप्रर्षे ! यदिष्टं ते सुदुर्लभम् ॥
तत्ते दास्यामि प्रीतात्मा मत्प्रसादो हि दुर्लभः ॥४॥
ततः प्रणम्य शिरसा मयोक्तस्तपतां वरः ॥
यजूंषि नोपयुक्तानि क्षिप्रमिच्छामि वेदितुम् ॥५॥
ततो मां भगवानाह वितरिष्यामि ते द्विज ! ॥
सरस्वतीह 'वाग्' भूत्वा शरीरं ते प्रवेक्ष्यति ॥६॥
ततो मामाह भगवानास्यं स्वं विवृतं कुरु ! ॥
विवृतं च ततो मेऽऽस्यं प्रविष्टा च सरस्वती ॥७॥
ततो विदह्यमानोऽहं प्रविष्टोऽम्भस्तदानघ ! ॥
अविज्ञातादमर्षाच्च भास्करस्य महात्मनः ॥८॥

ततो विद्यमान मामुवाच भगवान् रविः ॥
मुहूर्त्त सहतां दाहस्ततः शीती भविष्यति ॥९॥
शीतीभूत च मां दृष्ट्वा भगवानाह भास्करः ॥
प्रतिष्ठास्यति ते वेदः सखिल सोत्तरो द्विज ! ॥१०॥
"कृत्स्न शतपथं चैव प्रणेरयसि द्विजर्षभ ! ॥
तस्यान्ते चापुनर्भावे बुद्धिस्तव भविष्यति ॥११॥
प्राप्स्यसे च यदिष्ट तत्सांख्ययोगेप्सितं पदम् ॥"
एतावदुक्त्वा भगवानस्तमेवाभ्यवर्त्तत ॥१२॥
ततोऽनुव्याहृत श्रुत्वा गते देवे विभावसौ ॥
गृहमागत्य संहृष्टोऽचिन्तयन्—वै सरस्वतीम् ॥१३॥
ततः प्रवृत्तातिशुभा स्वरव्यञ्जनभूषिता ॥
ओंकारमादितः कृत्वा मम देवी सरस्वती ॥१४॥
ततोऽहमर्घ्यं विधिवत् सरस्वत्यै न्यवेदयं– ॥
तपतां च वरिष्ठाय निषण्णस्तत्परायणः ॥१५॥
"ततः शतपथं कृत्स्नं सरहस्यं ससंग्रहम् ॥
चक्रे सपरिशेषं च हर्षेण परमेण ह ॥१६॥"
बीजमेतत्पुरस्कृत्य देवीं चैव सरस्वतीम् ॥
सूर्य्यस्य चानुभावेन प्रवृत्तोऽहं नराधिप ! ॥१७॥
कर्त्तुं शतपथं वेदमपूर्वं च कृतं मया ॥
यथाभिलषितं मार्गं तथा तच्चोपपादितम् ॥१८॥

—महाभारत शा० मो० ३१८ अ० ।

अपनी तथाविधा कृत्स्ना–विशेषताओं के अनुबन्ध से ही हमने शतपथब्राह्मण के ही पारिभाषिक–समन्वय को प्रमुखता प्रदान की है इतर ब्राह्मणग्रन्थों के समतुलन में। मौलिक-परिभाषाओं के चिरन्तनेतिहास समन्वय के बिना ब्राह्मणग्रन्थोक्त यज्ञार्थ तथा पुरुषार्थ-रूप किसी भी गौण–प्रधान–कर्म की तात्विकरहस्य–समन्वयात्मिका व्यवस्था व्यवस्थित नहीं होसकती। और तत्तत्समन्वयसम्बन्धशालिनी ज्ञानविज्ञानात्मिका वे परिभाषाएँ भारतराष्ट्र के पारतन्त्र्यात्मक निग्रह से शताब्दियों से अभिभूतमात्रा ही बनती चली आरहीं हैं। यही तो महती कठिनता है, जिसके समन्वय के लिए हमें प्रत्येक पारिभाषिक–शब्द के पारिभाषिक-ज्ञानविज्ञान सम्मत चिरन्तन-इतिहास का अनिवार्य्यरूपेण उपक्रम करना ही पड़ता है एवं उससे सम्बन्ध रखने वाली पारिभाषिकी पुरश्चि, तथा इतिहास–विश्लेषणात्मक-विस्तार, दोनों ऐसे माध्यमों का भी अनुगमन करना

ही पड़ता है जिनके अनुबन्ध से ही 'शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्य' का पृष्ठात्मक–लिपिरूप–कलेवर अनुमानतः बीससहस्रपृष्ठों में सम्पन्न हुआ है। परिभाषाओं के प्राथमिक–स्पष्टीकरणानुबन्ध से चतुर्दशकाण्डात्मक–शतपथ के केवल प्रथमकाण्ड का ही भाष्य अनुमानतः तीन सहस्रपृष्ठों में लिपिबद्ध हुआ है, जबकि–आगे के काण्ड यथासम्भव सहस्र–सहस्र–पृष्ठानुगति के ही अनुगामी बने हुए हैं। आज से बीस वर्ष पूर्व लिपिबद्ध किया हुआ यह विस्तृत शतपथभाष्य प्रकाशनावसरों पर पुनः संशोधन–की तो अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षा रख ही रहा है। और इसी दृष्टि से प्रकाशनवेला से पूर्व पुनः प्रकाशन–सम्बद्धीभूत भाग का आद्यन्त पुनः प्रतिलिपिकरण अनिवार्य्य बन जाता है। इत्यमूत महत्त्वपूर्ण–पारिभाषिक आर्षग्रन्थ को दिग्देशकालानुबन्धिनी तात्कालिकी क्षणभङ्गुरशान्तिमात्र के लिए झटिति एकवेलया यथेच्छरूपेण प्रकाशित कर देना तो आत्महनन ही माना जायगा। बहुत सम्भव है, हम अपनी शारीरिक–जर्जरितावस्था के अनुबन्ध से इस भौतिक जीवन में सम्पूर्ण शतपथ का प्रकाशन यथाविधि न कर सकें। किन्तु जितना अंश प्रकाशित होगा उसकी परिभाषाओं के माध्यम से यह तो आस्थापूर्वक उद्घोष किया ही जासकेगा कि, भविष्य में इस साहित्य के पारिभाषिक–मन्थन के लिए सन्नद्धीभूत महानुभावों के लिए यह प्रकाशितभाग अवश्यमेव अंशतः तो सहयोगी ही प्रमाणित होगा। एकमात्र इसी बुद्धि के आधार पर यथाशक्ति शतपथब्राह्मणभाष्य का प्रकाशन खण्डशः प्रक्रान्त हुआ है गतवर्ष से–'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर' के द्वारा। गतवर्ष प्रथमकाण्डानुगत जो प्रथमखण्ड प्रकाशित हुआ था, उसके प्रमुख विषयों का प्रास्ताविक के उपक्रम से ही सिंहावलोकनन्यायेन संस्मरण किया जा चुका है (देखिए पृ० सं० ७)। ठीक एक वर्ष के अनन्तर प्रकाशित होने वाले प्रथम काण्डानुगत–द्वितीयखण्ड के प्रस्तुत प्रकाशन से अनुप्राणित प्रमुख विषयों का भी अब सन्दर्भसङ्गति के लिए नामस्मरण कर लिया जाता है।

प्रथमकाण्डानुगत–प्रस्तुत–द्वितीय–खण्ड में (प्रथमकाण्डानुगत–पूर्वप्रकाशित–प्रथमखण्ड के विषयों से आगे क्रमप्राप्त) जिन–प्रमुख याज्ञिक–विषयों का पारिभाषिक–समन्वय हुआ है, उनका निम्नलिखितरूपेण क्रमविभाजन हुआ है।

प्रथमकाण्डानुगत–द्वितीय–तृतीय–चतुर्थ–पञ्चमाध्यायात्मक–द्वितीयखण्ड में प्रतिपादित प्रमुख–कर्म्मों की तथा–स्मारकविषयों की तालिका

• • •

	प्रधानकर्म्माणि	कर्मानुगता पृष्ठसंख्या	स्मारकविषयसंख्या
१०	उपवेषसम्पादनम्, अग्नौ कपालोपधानेन हविष्परिपाकश्च	६११	६२२
११	पिष्टेनोद्धमिमितेन–पुरोडाशसम्पादनम्	६६१	५१९
१२	पात्रीनिर्णेजनम्–पुरोडाशमीमांसया–समन्वितम्	७०४	९११
१३	वेदिकरणम्–स्तम्बयजुर्हरणं, भूविशोधनञ्च	७६८	६६९
१४	वेदिपरिग्रहः	८४४	१ ८६
१५	द्रव्यसंस्कारः	९५९	७७९
१६	आज्यग्रहणम्	१ ६७	९८९
१७	इष्ट्यानुगत –कर्म्मसंग्रहः	१०७७	६६९
१८	सामिधेन्यनुवचनम्	१११५	१७६९
१९	पूर्वाघारेतिकर्तव्यता	१११७	४२६
२	उत्तराघारेतिकर्तव्यता	११५७	
२१	प्रवरणकर्म्मेतिकर्तव्यता	११६७	२९२
२२	स्रुगादापनम्–आश्रावणा–प्रत्याश्रावणञ्च	१४ ५	८
२३	प्रयाजानुष्ठानम्	१४७५	६
	प्रधानकर्म्मसंख्या–१४	भाष्यपृष्ठसंख्या–११६२	स्मारकविषयसंख्यासंकलन–८५६१

प्रथमकाण्डानुगत पूर्वप्रकाशित प्रथमखण्ड, तथा प्रस्तुत द्वितीयखण्ड के संकलनात्मक अठारहसौ-पृष्ठात्मक विज्ञानभाष्य में आरम्भ के 'अग्न्युपाधानकर्म्म' से आरम्भ कर प्रस्तुत खण्ड के अन्तिम २१ वें प्रयाजब्राह्मण पर्य्यन्त जिन स्मारक-विषयों का परिभाषारूपेण समावेश हुआ है, उन के आधार पर ही स्थालीपुलाकन्यायेन शतपथविज्ञानभाष्य की पारिभाषिकी उपयोगिकता का मूल्याङ्कन सम्भव बन सकता है। प्रथमखण्ड में अनुमानतः ४५ परिभाषाओं का तथा प्रस्तुत द्वितीयखण्ड में अनुमानतः ८५ परिभाषाओं का, सम्भूय ११० (तेरहसहस्र) पारिभाषिक तथ्यों का सस्मरण कराने वाले प्रथमकाण्डानुगत प्रकाशित दोनों खण्डों की तथाकथिता परिभाषाओं के संस्मरणाधार पर निश्चयेन उन अनेक ज्ञानविज्ञानात्मक-सृष्टिविद्यानिबन्धन तथ्यों का सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो दिग्दर्शन हो ही जाता है, जिस पारिभाषिक दिग्दर्शन के बिना रहस्यपूर्ण ब्राह्मणग्रन्थों के रहस्यात्मक-पारिभाषिक-सृष्टिविज्ञ सर्वथा परोक्ष ही बने रहते हैं।

जैसाकि-प्रास्ताविक के उपक्रम में ही निवेदन किया जाचुका है वर्त्तमानयुग के मानवों की प्रज्ञा दिग्देशकालानुबन्धिनी तात्कालिकी उपयोगिता एवं तन्निबन्धना कारणता के आधार पर ही किसी लक्ष्य की ओर प्रवृत्त हुआ करती है, जिस कारणता का ब्राह्मणेन निष्कारणो षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च रूपेण यद्यपि सर्वथा निराकरण किया जाचुका है। तथापि तथाविधा सामयिकी उपयोगिता के पक्षपाती अमुक श्रेणिविशेष के अनुगामी पाठकों की तुष्टि के लिए 'युगानुगता उस उपयोगिता' का भी दिग्दर्शन आवश्यक होजाता है जिस के बिना इत्थंभूत शास्त्रावलोकन-स्वाध्याय-चिन्तन-मनन-आचरणादि में तथाविध विशेष वर्ग की प्रवृत्ति नहीं हुआ करती। इस आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए ही प्रथमकाण्ड के प्रास्ताविक में स्वयं-वेदाचार्यों के आधार पर ही वेदशास्त्र की दशकालकवनकत्वानुबन्धिनी सामयिकी उपयोगिता का भी स्पष्टीकरण कर दिया गया है। यह सब कुछ होने पर भी आज के युग का महान् तर्क-'समय नहीं है' रूपेण दिग्-देशकालाक्रान्त मानव-विशेषों को सतत उत्पीड़ित ही करता रहता है। और 'आज के अर्थप्रधानयुग में किसे इतना समय है, जो ऐसे बड़े बड़े ग्रन्थों को पढ सके ... आदि आदि' इत्थंभूत काल्पनिक-नितान्त भावुकतापूर्ण तर्क के माध्यम से जो महानुभाव इस दिशा में 'बहुविस्तृत' की घोषणा कर क्रमिक-स्वाध्याय से तटस्थ बन जाते हैं उन के परितोष के लिए प्रतिपादित प्रमुख कर्म्मों से अनुप्राणित कुछ एक पारिभाषाओं का स्थालीपुलाकन्याय-समतुलनदृष्ट्या अत्र प्रास्ताविक में भी दिग्दर्शन करा देना प्रासङ्गिक ही बन जाता है।

प्रस्तुत 'द्वितीयखण्ड' में क्रमप्राप्त 'उपवेषसम्पादनम्, अग्नौ कपालोपधानेन हवि-परिपाकम्' नामक ११ वें कर्म्म से आरम्भ कर 'प्रयाजब्राह्मण' नामक २१ वें कर्म्म-पर्य्यन्त कुल १४ विषयों का स्वरूप-दिग्दर्शन-प्रयास हुआ है जिन में से अत्र उदाहरणविधि से कुछ एक पारिभाषिक-तथ्यों का ही दिग्दर्शन पर्य्याप्त मान लिया जायगा। वही विषय-क्रमानुगति के अनुबन्ध से क्रमशः अत्यन्त संक्षेप से पाठकों के अत्र समक्ष उपस्थित होरहा है।

—— * ——

शतपथभाष्य-द्वितीयखण्डानुगत-१४ प्रमुख-कर्म्मों के प्रसङ्ग से अनुप्राणित-कतिपय

"पारिभाषिक-उदाहरण"

---

(१०)-उपवेषसम्पादन-हवि.पाराकात्मक-कर्म्म-प्रसङ्गतः-समन्विता-प्रासङ्गिकी

'तप'-शब्द-निबन्धना-परिभाषा

१

त्याग, तपस्या बलिदान, ये तीनों शब्द कुछ समय से लोकसामान्य में प्रसिद्धि-पथ के अनुगामी बने हुए हैं जिन इन तीनों लोकप्रसिद्ध शब्दों में से मध्य के-'तपस्या' शब्द से अनुप्राणित-'तपः' शब्द का ही-'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' इस श्रुतिवचन के पारिभाषिक-समन्वय के आधार पर स्वरूप-विश्लेषण-प्रयास हुआ है पृष्ठसंख्या १४५ से १५८ पर्य्यन्त। 'त्याग-तपस्या-बलिदानत्रयी से अनुप्राणित 'तप' का अर्थ माना जारहा है-'शारीरिक-श्रममात्र', और इसी भौतिक-श्रम पर 'तप' शब्द का उपराम कर दिया जाता है । उधर दार्शनिक-दृष्टि के अनुसार 'तप' उस अलौकिक लोकोत्तर-औपासनिक-ध्यानादि से अनुगत सूक्ष्मतम-प्राणव्यापार-मात्र है जिस के अनुगामी को-'तपस्वी' कहा जाता है, एवं जिस की तपश्चर्य्या में मानसिक-क्लेश के साथ साथ पञ्चाग्नितपनमूलक शारीरिक-उत्पीडनादि भी समन्वित हैं। यों उस ओर की दार्शनिकी तपश्चर्य्या ने तथा इस ओर की देशाभिमानानुगता तपस्या ने 'तपः' शब्द के उस पारिभाषिक तथ्य को सर्वथैव अभिभूत कर लिया है जिस अभिभूति से न तो उस 'तपश्चर्य्या' का ही कोई वास्तविक-तथ्य-समन्वय सम्भव एवं नैव आज की 'तपस्या' का ही कोई अर्थ। प्रथमकर्म्म (१)-प्रसङ्गत 'तपः' शब्द के उसी पारिभाषिक तथ्य का दिग्दर्शन कराते हुए प्रकृतिसिद्ध उन तीन महान् तपोभावों की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया गया है, जो तपस्त्रयी क्रमशः ब्रह्मतप-वैष्णवतप-रौद्रतप नाम से प्रसिद्ध है।

पञ्चमहाभूतात्मक महीमहीधरमय ब्रह्माण्ड की स्वरूपसंस्थिति जिन प्राकृतिक-नित्याक्षरदेवदेवताओं के आधार पर अवलम्बित है वे क्रमशः ब्रह्मा विष्णु, रुद्र (महादेव) नामों से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों देवताओं की त्याग-बलिदानानुगता तपश्चर्या के सह समन्वय से ही पञ्चपुरुषीय-भावापन्न-अवस्था से स्वरूप

पद्मासनस्थ विश्व की, एवं तद्गर्भीभूता प्रजा की स्वरूप-व्यवस्थिति आनुपूर्व्या से व्यवस्थित है। तीनों ही तपस्वी हैं, किन्तु तीनों के तपोभावों का स्वरूप सर्वथा पृथक् पृथक् है। ब्रह्मा का तप 'सन्तापात्मक' है, विष्णु का तप 'ऐश्वर्य्यात्मक' है, एवं रुद्र का तप दाहात्मक है। सन्तापात्मक ब्रह्मतप ज्ञानप्रधान है, ऐश्वर्य्यात्मक तप श्रेष्ठतम-कर्म्मरूप * यज्ञप्रधान है, एवं रुद्र का तप भूतप्रधान, किंवा अर्थ-प्रधान है। ज्ञान-क्रिया-अर्थ-नाम से सुप्रसिद्ध शक्तित्रयी की अधिष्ठात्री ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र-नाम की सुप्रसिद्ध देवतात्रयी से अनुगत तपस्त्रयी का नाम ही 'तपश्चर्य्या' है, और तदभिनन्दन तपोभाव ही 'तप' शब्द का वह चिरन्तन-इतिवृत्त है, जिस के गर्भ में ही इन तीनों तपोभावों का 'वसुधानकोश' रूपेण समन्वय होरहा है।

बड़े डिब्बे में छोटा डिब्बा, छोटे डिब्बे में इस से भी छोटा डिब्बा इसी उत्तरोत्तर-सम्बन्ध का पारिभाषिक नाम है 'वसुधानकोशसम्बन्ध'। ज्ञानशक्ति-प्रधान ब्रह्म-तप सर्वाधार-सर्वप्रतिष्ठारूप वह महतो-महीयान् तप है, जिस के आधार पर ही आगे के वैष्णव, तथा रौद्रतप स्वस्वरूपेण प्रतिष्ठित रहा करते हैं। 'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'-'यस्य ज्ञानमयं तपः' इत्यादि श्रुतिवचन इसी ज्ञानमय-ब्रह्मतप का यशोगान कर रहे हैं जिस के तपन-सन्तपन-रूप सन्ताप-धर्म्म से ही सृष्टिस्वरूप की अभिव्यक्ति मानी है गोपथब्राह्मण ने अपने उपक्रम में ही- 'तस्य तप्तस्य-सन्तप्तस्य ललाटे स्वेदोऽजायत' इत्यादि रूपेण। लोक में-प्राकृतिवादद्दृष्ट्या सन्ताप शब्द का अर्थ 'शोक-परिताप' आदि होपड़ा है। किन्तु तत्त्वपरिभाषादृष्ट्या 'सन्ताप' शब्द का अर्थ है-वैसा-आत्यन्तिक-प्रचण्ड संघर्ष जिस का उत्तर परिणाम अवश्य ही शान्ति' है। इसी सन्तपनात्मक प्रचण्ड-संघर्ष का-'संक्लिश्य अप्सु प्राविश्यम्' इ त्यादिरूपेण अभिनय किया जाता है। सुसूक्ष्म-प्रचण्डतम ज्ञानात्मक आभ्यन्तर संघर्ष का ही ज्ञानात्मक अतएव सुसूक्ष्मतम आभ्यन्तर प्रचण्ड-संघर्ष का ही नाम सन्ताप है, जिस इस स्वायम्भुव ज्ञानात्मक-सन्तापधर्म्मा-प्रथम-तपोभाव का उत्तर-परिणाम है शान्तिरूप आपोमय-पारमेष्ठ्य-मण्डल का आविर्भाव जिस इस स्नेहरूपा शान्तिजलधारा-अम्भोधारा-से स्वयम्भू-ब्रह्मा पुलकित-आनन्दित होपड़ते हैं, और आनन्दमयी यही सन्तापात्मिका तपोमयी वारिधारा आगे चलकर सम्पूर्ण संसृष्टिरूपा-सृष्टि की जननी बनती है। यही ज्ञानात्मक-सन्तापधर्म्मा-सर्वप्रतिष्ठारूप वह 'तप' है, जिस को आधार बनाए बिना आगे के दोनों तप सर्वथा यातयाम ही बन जाया करते हैं।

स्वयम्भू-ब्रह्मा के ज्ञान सन्तपनात्मक-परिपक्वज्ञानात्मक- आदितप से जो वारिधारा स्वतः अप्तरूपेण व्याप्त आप्त-परिव्याप्त होगई, वही इस शान्तिरूप-व्याप्तिधर्म्म से 'आपोलोक' कहलाया जो-'परमेष्ठी' नाम से प्रसिद्ध है एवं जिस का अधिष्ठाता-देव 'विष्णु' कहलाया है। सन्तापधर्म्मा-ज्ञानीय तप से समुद्भूत वैष्णव-परमेष्ठी-लोक का अप्तधर्म्मा 'वारि' रूप 'आपः' तत्त्व अपने स्नेह, तथा तेजोगुण से उभयधर्म्मात्मक बन रहा है। स्नेहगुणक वही अप्तत्त्व 'भृगु' कहलाया है एवं तेजोगुणक वही अप्तत्त्व 'अङ्गिरा' कहलाया है। यों सन्तापात्मक-स्वायम्भुव ज्ञानीय तप से आविर्भूत वैष्णव आप -तत्त्व का भृग्वङ्गिरोमयत्व प्रमाणित हो-जाता है +। स्नेहगुणक-मार्गवतत्त्व ही दाह्यगुणक-सोमतत्त्व है एवं तेजोगुणक आङ्गिरसतत्त्व ही दाहकगुणक अग्नितत्त्व है।

---

*-यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म्म (शतपथे)।

+-आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसोऽनुगा' ॥
—गोपथब्राह्मणे

मार्गव सोम, तथा आङ्गिरस अग्नि, इन दोनों दाह्य-दाहक-तत्त्वों के रासायनिक-सम्मिश्रण से आविर्भूत उभयात्मक-अपूर्वभावात्मक तत्त्व का नाम ही विद्धकर्म्मात्मक 'यज्ञ', है, जैसाकि 'अग्नौ सोमाहुति यज्ञः' लक्षण से स्पष्ट है।

पारमेष्ठ्य-विष्णु-अक्षर से अनुगत, स्वायम्भुव ब्रह्म-तप के आधार पर प्रतिष्ठित-भार्गवाङ्गिरस् अग्नीषोमात्मक प्रकृतिसिद्ध दार्शभूत प्रथमयज्ञ से ही उस ऐश्वर्य की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है जिसका वीर-ब्रह्माण्ड में व्यक्त विश्वरूप से आज हम साक्षात्कार कर रहे हैं। विश्वात्मक-व्यक्त-ऐश्वर्य्य पारमेष्ठ्य उस विष्णुदेवता के तप का ही महत्त्व है, जो वैष्णव-आपोमय-तप भृगु, और अङ्गिरा के सम्मिश्रणात्मक-अग्नीषोमात्मक-भाव से अनुप्राणित है। इसी मध्यस्थ-वैष्णव-याज्ञिक तप का ब्राह्मणश्रुति ने-'भृगूणा मङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' रूपेण संस्मरण किया है। यही यज्ञकर्म्मात्मक-'कर्म्मशक्तिप्रधान' वह पारमेष्ठ्य तप है, जिसके द्वारा ही समस्त ब्रह्माण्ड की अभिव्यक्तिरूप व्यक्त-'ऐश्वर्य्य' का वितान हुआ है। अतएव इस कर्म्मशक्ति' घन-भार्गवाङ्गिरस-पारमेष्ठ्य-वैष्णवतप को अवश्य ही-ऐश्वर्य्याधिष्ठाता मान लिया जासकता है माना ही गया है।

स्वायम्भुव-ज्ञानमय-ऋताधारात्मक ब्रह्मतप के आधार पर आपोमय-पारमेष्ठ्य ऐश्वर्य्यात्मक-वैष्णव-तप की अभिव्यक्ति हुई। तदनन्तर क्या हुआ? प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। आपोमय-परमेष्ठी-विष्णु के ऐश्वर्य्यात्मक तप से सद्गर्भ में बीजरूप से जिस हिरण्मयाण्ड का स्वरूप-निर्म्माण हुआ अग्नि की चिति-उपचिति-के द्वारा यही हिरण्मयाण्ड सौरसम्वत्सरब्रह्माण्ड की वेला कहलाई, एवं तत् केन्द्रवर्त्ती-ताप प्रकाश-युक्त (अग्नि इन्द्र-समन्वित) उस प्रचण्डतम भास्वत्-पिण्ड की अभिव्यक्ति होपड़ी, जोकि ज्योतिर्म्मय पिण्डाण्ड आज अस्मदादि सर्व-साधारण की भाषा में 'त्रयीमय-त्रिगुणमूर्त्ति भगवान् सूर्य्यनारायण' नाम से प्रसिद्ध है जिस इस सावित्राग्निमय (प्रचण्डतेजोमय) सूर्य्य का ही व्यक्त विश्व में एकाकी असपत्न-साम्राज्य है। यही महर्षि श्वेताश्वतर की भाषा में उग्रमूर्त्ति एकाकी वे रुद्र भगवान् हैं जिन्हें उपासकवर्ग उभयतो नमस्कार से तुष्ट-शान्त करते रहते हैं।
एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः से उपवर्णित यह सौर उग्ररुद्र अपने प्रचण्डतम आदानधर्म्म से आदित्य नाम से, रुद्रभावों को द्रुत करने के कारण 'रुद्र' नाम से प्रसिद्ध होते हुए रोदसीब्रह्माण्ड के भाग्यविधाता ही बने हुए हैं। ऐसे प्रचण्डाग्निमूर्त्ति इस सौररुद्र को पारमेष्ठ्यदेवता अमृत-सोमाहुति से उपशान्त करते हुए इन्हें-'शिव' स्वरूप में परिणत करते रहते हैं-विश्वैश्वर्य्यसंरक्षणकामनयैव। विशुद्ध अग्न्यात्मक अतएव-दाहक-यही रूप-घोरघोरतम 'रुद्र' है, एवं सोमात्मक यही शान्ततमरूप अघोररूप 'शिव' है। यों रुद्र ही रुद्र और शिव नामक द्विविध-महिमा भावों में परिणत होरहे हैं एवं यही बात कुछ समझने जैसी है।

घोर-उग्र-रुद्र-का स्वरूप-निर्वचन-करते हुए श्रुति ने कहा है— सोऽरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्र-त्वम्' जिस निर्वचन का निष्कर्ष यही है कि रुद्र का प्रातिस्विकधर्म-यह प्रचण्ड 'दाह' ही है जिसका उदर्क-रोदनकर्म्म ही माना गया है। रोदनधर्म्मात्मक-रुद्र की दाहकता ही विश्वैश्वर्य्य की अन्यतमा विघातिनी मानी गई है। अर्थात् जहाँ जिस क्षेत्र में विशुद्ध-निष्केवल्य-दाहकधर्म्मा-रुद्र का ही प्राधान्य होजाता है वहाँ रोदन-शोक-परिताप-ऐश्वर्य्य-विनाश के अतिरिक्त और कुछ भी तो शेष नहीं बचता। रुद्र किस अवस्था में रोदनरूप नाशधर्म्म के प्रवर्त्तक बनते हैं? प्रश्न का उत्तर है-वैष्णव-भार्गवाङ्गिरस-ऐश्वर्य्योपेत-पारमेष्ठ्य तपोभाव से पृथक् रहने वाले निष्केवल्य-रुद्र। यदि रुद्र के साथ पारमेष्ठ्य-ऐश्वर्य्यप्रवर्त्तक-यज्ञात्मक-कर्म्म समन्वित होजाता है तो वे ही रुद्र अपनी दाहकता का परित्याग करते हुए 'शिवस्वरूप' में परिणत होजाते

हैं और वैष्णवतपोयुक्त सौर रुद्र यों रुद्रत्व से शिवत्व में परिणत होते हुए ऐश्वर्य्यविनाश–विरोध–के स्थान में ऐश्वर्य्य–संग्रह–संरक्षण–में ही प्रवृत्त होजाते हैं। और यही सौररुद्रानुगत–तपोभाव का दाहात्मक वह चिरन्तन इतिवृत्त है, जिसके प्रसङ्ग से ही यहां शिवस्वरूप का प्रसङ्ग भी समुपस्थित होपड़ा है।

उक्त सन्दर्भ के आधार पर हमें अब इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, संयती नाम की ब्राह्मी–त्रिलोकी के अधिष्ठाता अव्यक्तमूर्त्ति ज्ञानप्रधान–स्वयम्भू ब्रह्मा, क्रन्दसी नामकी वैष्णवी–त्रिलोकी के अधिष्ठाता व्यक्ताव्यक्तमूर्त्ति कर्म्मप्रधान–परमेष्ठी–विष्णु, एवं रोदसी नाम की सौरी–(ऐन्द्री)–त्रिलोकी के अधिष्ठाता व्यक्तमूर्त्ति–अर्थप्रधान–भूतप्रधान–रुद्र, इन तीनों अक्षरदेवताओं की क्रमानुगता ज्ञान–क्रिया–अर्थ–नाम की तीनों शक्तियों से अनुगत सन्ताप–ऐश्वर्य्य–दाह–भावनिबन्धन–त्रिविध–तपोभाव ही– तप शब्द का संकलनात्मक–वह–चिरन्तन–इतिवृत्त है, जिस का अथर्वसंहिता में क्रमशः विस्तार से स्वरूप–स्पष्टीकरण हुआ है *। सन्तापात्मक तप ब्राह्मतप है एवं यह ज्ञानप्रधान तप है। ऐश्वर्य्यार्थक तप वैष्णवतप है एवं यह कर्म्मप्रधान तप है। तथा दाहात्मक तप सौर–रौद्र–तप है, एवं यह अर्थप्रधान तप है। इस प्रकार तपोभाव सर्वथा विभिन्न तीन सृष्टिधाराओं में विभक्तरूपेण व्यवस्थित होरहा है।

ज्ञानात्मक–ब्राह्म तप को आधार बनाए बिना कर्म्मात्मक वैष्णवतप सर्वथा निरर्थक है एवं वैष्णवतप को आधार बनाए बिना अर्थात्मक रौद्रतप सर्वथा व्यर्थ है। इसी तथ्य के आधार पर पर हमें इस निष्कर्ष पर भी स्वतः ही पहुँच जाना पड़ता है कि ज्ञानात्मक तप के आधार पर प्रतिष्ठित कर्म्मात्मक तप ही अर्थात्मक तप की स्वरूप–प्रतिष्ठा है। ज्ञानशक्ति से समन्वित–सन्तापार्थक स्वायम्भुव–ब्राह्मतप का संग्राहक 'तप' शब्द, क्रियाशक्ति से समन्वित–ऐश्वर्य्यार्थक–पारमेष्ठ्य वैष्णवतप का संग्राहक 'तप' शब्द, एवं अर्थशक्ति से समन्वित–दाहक–सौर–रौद्रतप का संग्राहक 'तप' शब्द, तीनों स्वरूपतः–आकारतः–अभिन्न–प्रतीत–होते हुए भी अपने धातु–प्रकृति–प्रत्ययानुबन्ध से सर्वथा विभिन्न हैं और इस विभिन्नता का श्रेय है शब्दशास्त्र के द्रष्टा शब्दविज्ञानसाक्षात्कर्त्ता भगवान्–पाणिनि की एतदनुबन्धिनी सुप्रसिद्धा उस धातुत्रयी को जिस में–'सन्ताप'–'ऐश्वर्य्य'–'दाह' अर्थों के संग्राहक विभिन्न तीन धातुओं का ही संग्रह हुआ है 'तप सन्तापे'–'तप ऐश्वर्य्ये'–तप दाहे' रूपेण। सन्तापार्थक तप से अनुगत 'तपः' शब्द स्वायम्भुव–ज्ञानप्रधान ब्राह्म तप का ही संग्राहक है तो ऐश्वर्य्यार्थक तप धातु से समन्वित 'तप' शब्द पारमेष्ठ्य–क्रियाप्रधान–वैष्णवतप का ही संग्राहक है एवं दाहार्थक तपधातु से निष्पन्न 'तप' शब्द सौर–अर्थप्रधान–रौद्रतप का ही अनुग्राहक है, और यही तपः शब्द की वह संक्षिप्ततमा पारिभाषिकी विभक्ता रूपरेखा है जिस के समन्वय के बिना केवलभावेन गृहीत 'तप' 'तपस्या' 'तपश्चर्य्या', आदि लोकानुबन्धों से अर्थ के स्थान में उसीप्रकार अनर्थ ही सम्भावित बन जाता है जैसेकि ब्राह्मतप एवं–वैष्णवतप से आत्यन्तिकरूपेण पराङ्मुख, निरपेक्ष भावका 'तपस्यानुगत तप' शब्द अर्थ के स्थान में अनर्थ का ही जनक बनता आरहा है।

कथमिति चेत् ?, श्रूयताम् ! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम् ! ! तथोक्त त्रिविध देवानुगत–त्रिविध–तपोभाव 'त्रिःसत्या वै देवाः' इत्यादि पारिभाषिक–अनुगम सिद्धान्त के अनुसार आधिदैविक–अध्यात्म–अधिभूत

---

*–देखिए 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' नामक निबन्धान्तर्गत आथर्वण–कालसूक्त का समन्वय–प्रकरण।

भेदेन तीन संस्थाओं के साथ समन्वित हो रहे हैं जिन में से प्रकृत में मानवसंस्थानुगामिनी अध्यात्मसंस्था की दृष्टि से ही तत्प्रासङ्गिक प्रश्न का समाधान-प्रयास-समीचीन होगा। मानव के अध्यात्म में आत्मसमन्वित, अतएव समभावापन्ना-समत्व-योगान्विता-'सत्त्वबुद्धि' स्वायम्भुव-ब्राह्मतप की अभिव्यक्ति का क्षेत्र माना गया है। इत्थंभूता बुद्धि से समन्वित बुद्धि से नियन्त्रित अतएव-सहजरूपेणैव सत्त्वगुणान्वित 'सर्वेन्द्रिय' नामक 'प्रज्ञानमन ही पारमेष्ठ्य-वैष्णव-तप का अभिव्यक्ति-क्षेत्र माना गया है। और ऐसे प्रज्ञानमन से अनुगता 'सुरुचि से समन्वित 'शरीर ही सौर-रौद्र-तप की अभिव्यक्ति का क्षेत्र माना गया है जो रौद्र-दाहात्मक-शारीरक-तप-पूर्व-कथनानुसार पारमेष्ठ्य-ऐश्वर्य्यात्मक तपोभाव से समन्वित होता हुआ 'शिवरूप' में ही परिणत रहता है।

तदित्थं बुद्धितन्त्रानुवर्ती सन्तापात्मक ज्ञानशक्ति से समन्वित ब्राह्मतप, मनस्तन्त्रानुवर्ती-ऐश्वर्य्यात्मक-क्रियाशक्ति से समन्वित-वैष्णवतप, एवं शरीरतन्त्रानुवर्ती-शिवभावात्मक-अर्थशक्ति से समन्वित शैवतप, इन तीनों तपों की 'एकत्र समन्वयमूर्ति मानवश्रेष्ठ के इस समन्वयात्मक तपोऽनुष्ठान से निश्चयेन ऐहिक, तथा आमुष्मिक सभी पुरुषार्थ अन्वर्थ प्रमाणित होते रहते हैं क्या होते रहते थे उन पुरातन-आर्षयुगों में जिनमें ज्ञानात्मक ब्राह्मतप ही सर्वप्रधान था तदाधार पर कर्म्मात्मक वैष्णवतप प्रतिष्ठित था और तदाधार पर प्रतिष्ठित दाहात्मक तप को भी शिवभाव में ही परिणत होजाना पड़ता था। और आज ....?

और आज ! इस प्रासङ्गिक प्रश्न का भी समन्वय कर लीजिए। ब्राह्मतपोरूपा ज्ञानचर्य्या आज सर्वथैव अभिभूता प्रमाणित होचुकी है किंवा बलपूर्वक ज्ञानोपासना को उपेक्षा की कोटि में ला खड़ा किया है। मनोऽनुगता मन्त्रात्मिका-कर्म्मपद्धति का स्थान भी दिग्देशकालानुगत-सामयिक-यथेच्छ-काल्पनिक-कर्म्मों ने आत्यन्तिकरूपेण अपहृत कर लिया है और शेष रह गया है शरीरानुबन्धी वह दाहात्मक तप जिसे आज की भाषा में— श्रम' कहा जासकता है। अवश्य ही उस 'श्रम का 'पाणि रूपेण भगवान् वेदव्यास ने मुक्तकण्ठ से यशोगान ही किया है, जिस श्रमरूप-पाणितमन्वित-शारीरिक-तप को मनोबुद्धि-निबन्धन परिश्रमाश्रमभाव शिवभाव में परिणत किए रहते हैं। किन्तु ज्ञानरूप आश्रम एवं यज्ञरूप मानसिक परिश्रम से वञ्चित केवल शरीरतपोरूप श्रम तो विशुद्धा वैसी रुद्रविभूति ही मानी गई है जिसका परिणाम-'सोऽरोदीत' के अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं है। भगवान् करें ! भारतीय मानव अपनी इस केवल श्रमात्मिका-तपोवृत्ति के तथाविध भीषण-परिणाम को लक्ष्य बनाते एवं तत्परित्राण के लिए श्रुति-स्मृति-पुराणादि आर्षशास्त्रसिद्ध यज्ञ मख-ऐश्वर्य्यसंस्थापक मानसिक-परिश्रमानुबन्धी पारमेष्ठ्य तप को एवं तत्प्रतिष्ठारूप-बुद्ध्यनुगत-आश्रमानुबन्धी-स्वायम्भुव तप को अपने शारीरिक-श्रमरूप तप की प्रतिष्ठा बनाता हुआ अभ्युदय-निःश्रेयस् का भोक्ता प्रमाणित हो, इसी मङ्गलकामना के साथ 'इसर्वे-कर्म्म (१) से सम्बद्ध 'तप शब्द का संक्षिप्त-विश्लेषण-इतिवृत्त उपरत होरहा है।

१० (१)

* * * * *

श्री

(११)–पिष्टेनोदकमिश्रेतन-पुरोडाशसम्पादनात्मक-कर्म्मप्रसङ्गतः-समन्विता–प्रासङ्गिकी

'वषट्कार'-शब्द-निबन्धना-परिभाषा

२

वैदिक सृष्टिविज्ञान के गरिमा–महिमामय–प्राङ्गण में 'वौषट्-पट्'–'वौषट्'–'वाक् पट्' आदि विभिन्न–भावों से अनुप्राणित सुप्रसिद्ध–'वषट्कार' शब्द का भी एक विशेष ही महत्त्व सुप्रतिष्ठित है। वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि–'वषट्कारात्मिका वाक्साहस्री विद्या' के आधार पर ही वैदिक-विज्ञान का गणित-सिद्धान्तात्मक–ज्योतिष्पक्ष-निबन्धन (खगोलीय) समन्वय सुव्यवस्थित एवं प्रतिष्ठित है। जिसप्रकार वर्त्तमान भौतिक–विज्ञान के क्षेत्र में गणितानुगत–भावों का 'मील' नामक परिमाण–विशेष के आधार पर समन्वय किया जाता है तथैव भारतीय–वैदिक–विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले सापेक्ष–दूरत्व–आदि का व्यवस्थापनसूत्र वषट्कारात्मक वह साहस्री–भाव ही है, जिसके पारिभाषिक सहस्र-भागात्मक–गोतत्त्व–के माध्यम से ही तद्व्यवस्थाओं का नियमन हुआ है ऋषिप्रज्ञा के द्वारा। अतएव मानना पड़ेगा कि, वषट्कारानुगता, किंवा वषट्कारात्मिका वाक्-साहस्री–विद्या के पारिभाषिक–समन्वय के बिना वेदानुगत किसी भी सृष्टि–विज्ञान का अन्तर्निहित् भी समन्वय सम्भव नहीं है। प्रस्तुत ११ वें कर्म्म में प्रसङ्गत वाक्साहस्री-विद्या से अनुगत उस महत्त्वपूर्ण 'वषट्कार' शब्द के ही पारिभाषिक–तथ्य का स्पष्टीकरण–प्रयास हुआ है, जिसका अत्र दो शब्दों में संस्मरणमात्र कर लिया जाता है उदाहरणविधया।

स्वरूप–पिण्डात्मक प्रत्येक भौतिक–वस्तुपिण्ड पञ्चमहाभूतात्मक है। अर्थात् गुण-अणु-रेणु भूत नामक पूर्वस्थ इन चार वर्गों के क्रमिक–पञ्चीकरण से अन्तत स्थूलरूप में परिणत अतएव 'महाभूत' इस पारिभाषिक नाम से समन्वित आकाश-वायु-तेज जल-भूत्-इन पञ्च-पञ्चीकृत भावों के अन्तर्य्यामक एकत्र समन्वय से ही प्रत्येक वस्तुपिण्ड का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। पाँचों ही पञ्चीकृत हैं। अतएव पञ्चीकृत पाँचों से क्रमश पाँच जातियों के ही वस्तुपिण्डों की अभिव्यक्ति हुई है इस पाञ्चभौतिक–महा–विश्व में जिसकी प्रकृति इस पञ्चभावानुबन्ध से ही 'पञ्चपर्वा' नाम से प्रसिद्ध हुई है जैसाकि–'पञ्चपर्वामधीमः' इत्यादि श्वेताश्वतरवचन से प्रमाणित है।

पञ्चमहाभूतात्मक पञ्चीकृत पाँचों भौतिक–पिण्डों में एक एक महाभूत तो प्रधान है एवं शेष चार चार महाभूत गौण हैं। अतएव–'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः' के अनुसार पञ्चात्मक भी प्रत्येक भूतपिण्ड प्रसिद्ध होता है उस प्रधानभूत-विशेष भूत के नाम से ही जो सत्तस्था भी पञ्चीकरणप्रक्रिया की आधारभूमि बना रहता है। एव इस दृष्टि से आकाशपिण्ड-वायुपिण्ड-तेज पिण्ड–जलपिण्ड–भूतपिण्ड–प्रधानत्वेन

पाँच महाभूतात्मक वस्तुपिण्ड अभिव्यक्त होरहे हैं इस पाञ्च्भौतिक (पञ्चापयम) विश्व में, वे पाँचों पिण्ड क्रमशः स्वयम्भूपिण्ड (आकाशात्मा), परमेष्ठीपिण्ड (वाय्वात्मा) सूर्य्यपिण्ड (तेजोमय) चन्द्रपिण्ड (जलीयपिण्ड(१)), एवं भूपिण्ड (मृत्पिण्ड) इन नामों से वैदिक-सृष्टिविज्ञान में सुप्रसिद्ध हैं। पाँचों ही पिण्ड (प्रत्येक) पञ्चीकरण के सम्बन्ध से यद्यपि पञ्चात्मक हैं। तथापि प्रधानत्वेन पाँचों आकाशादि प्रधान अभिधाओं से ही समन्वित होरहे हैं।

उक्त पाँचों महाभूतों में सर्वादिभूत 'आकाशभूत' ही वह मौलिक भूत है जिसके यज्ञानुगत-ग्रन्थिबन्धन से ही शेष वाय्वादि चारों महाभूत अभिव्यक्त हुए हैं। आकाशभूत का उत्तर परिणाम वायुभूत है, तदुत्तर परिणाम तेजोभूत है, तदुत्तर उदर्क जलभूत है और सर्वान्त का परिणाम मृद्भूत है। अतएव मानना पड़ेगा कि-पाँचों ही भूत आकाशभूत से अभिन्न बनते हुए आकाशात्मा ही हैं, आकाशमय ही हैं। और यह आकाशतत्त्व अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण है वैदिक-सृष्टिविज्ञान का, जिसके स्वरूप-समन्वय के आधार पर ही वैदिक-भूतभौतिक-विज्ञान सुसमन्वित है (२)।

तत्त्वात्मक निरुक्तरूप-जिस अपौरुषेयवेद का पूर्वप्रकाशित शतपथ-प्रथमखण्ड के कृष्णमृगचर्म्मप्रकरण में विस्तार से स्वरूप-विश्लेषण-किया गया है (देखिए प्रथमवर्षखण्डानुगत प्रथमखण्ड-पृष्ठ सं० ४१५ से ५११ पर्य्यन्त) उस सृष्टिमूलभूता व्यापिका त्रयीविद्या का सुप्रसिद्ध 'यजु' वेदात्मक-'यजुर्वेद' ही आकाश का स्वरूप-परिचायक है। गतिप्रवर्त्तक प्राणभाग ही 'यत्' है, एवं स्थितिप्रवर्त्तक वाग्भाग ही 'जू' है, और इत्थंभूत-गति-स्थिति-रूप प्राण-वाग्-भावों की समन्वितावस्था ही 'यजु' है जिसे परोक्षप्रिय महर्षि-'यजु' कहा करते हैं जो कि त्रयीरूप यजुः ऋक्सामरूप वयोनाध से छन्दित रहता हुआ 'छन्दोवेद' नाम से प्रसिद्ध है

स्पष्ट है कि, प्राणानुगत वाग्भाव ही 'जू' है और इसीका लोकव्यावहारिक नाम है-'आकाश'। (१) वाग्रूप आकाश में कम्पन उत्पन्न कर देने वाला प्राणरूप यत् भाग ही 'इन्द्र' नामक मघवेन्द्र है। अतएव वाग्रूपा आकाशात्मिका 'वाक्' को श्रुति ने इन्द्रपत्नी माना है (४)। इन्द्रात्मक-यत्-प्राण से अनु-

---

(१)-तरणिकिरणसङ्गात्-एष पानीय-पिण्डः।
दिनकरदिशि चन्द्रचन्द्रिकाभिश्चकास्ते ॥
—सिद्धान्ततत्त्वविवेक

(२) यह स्मरणीय है कि वर्त्तमान भूतविज्ञान की दृष्टि में आकाश नामक कोई तत्त्व नहीं है। प्रकाशित निबन्धों में यत्र तत्र इस भ्रान्ति का निराकरण कर दिया गया है।

(३)- खुराकाशे सरस्वत्यां पिशाच्यां पवने स्त्रियाम् (कोशवचन)

(४)—वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥
—तैत्तिरीयब्राह्मण

प्रहीता इन्द्र-पत्नीरूपा 'जू' रूपा वाक् ही वह आकाशतत्त्व है जिसकी मत्यबलानुगता चिति-संचिति से ही उत्तर की भूतचतुष्यी अभिव्यक्त हुई है जैसाकि तैत्तिरीयोपनिषत् की सृष्टिविद्या में विस्तार से निरूपित है। वहाँ बतलाया गया है कि आत्मा से आकाश सम्भूत है, इससे वायु वायु से तेज तेज से जल, एवं जल से भूत् नामक अन्तिम महाभूत अभिव्यक्त हुआ है *। प्रश्न यही है कि तैत्तिरीयश्रुति का 'आत्मा' कौन है?। प्रश्न का समाधान है—सृष्टिसाक्षी यह मनःप्राण-प्रधान सृष्ट्युन्मुख विश्वात्मा, जिसकी अधिष्ठानभूमि मुक्तिसाक्षी आनन्द विज्ञान-प्रधान-मुक्त्युन्मुख वह विश्वातीतात्मा ही बना हुआ है, जिसका उपनिषदोंने—नेति-नेति रूपेण यशोगान किया है। आनन्दघन विज्ञानमनोमय-मुक्तिसाक्षी अव्ययात्मा की साक्षी में प्रतिष्ठित मनोऽनुगत प्राण तत्त्व ही वह विश्वात्मा है, जिसका तैत्तिरीय-उपनिषत् में—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूतः' इत्यादिरूपेण संस्मरण हुआ है। आनन्द-विज्ञान-गर्भित-मन से अनुगत सत्-रूप-ऋषिप्रकृतिक-'एकर्षि' नामक अप्राणात्मक 'अव्ययप्राण' ही तैत्तिरीय का वह पारिभाषिक आत्मा है, जिससे जूरूप-आकाश नामक 'वाग्' भाव ही सर्वप्रथम अभिव्यक्त होता है। और यों अब 'वाक्' रूप आकाश के समन्वय से आनन्दविज्ञानगर्भित-मनोऽनुगत प्राणरूप आत्मा की स्वरूप-व्याप्ति वागाकाश पर्य्यन्त होजाती है। अतएव बृहदारण्यकश्रुतिने सृष्टिसाक्षी आत्मा का अन्ततोगत्वा—'स वा एष आत्मा वाङ्मय प्राणमयो-मनोमयः' यही लक्षण मान लिया है, जिसका अर्थ है— आनन्दघन-विज्ञानगर्भित मन-प्राण-वाङ्मय-सृष्टिसाक्षी तत्त्वविशेष' जिसका स्वयं तैत्तिरीयने भी पञ्चकोशविद्या' के माध्यम से विस्तार से यशोगान किया है।

उपर्युक्त प्रासङ्गिकी पञ्चभूतसृष्टि के माध्यम से अब हमें स्वतः एव इस तथ्य पर पहुँच जाना पड़ा कि, पञ्चमहाभूतात्मक-विश्व का मूलभूत—'आकाश' नामक यह महाभूत ही है, जो—'जू' रूप—ऋषिप्रकृतिक, 'वाक्' तत्त्व ही है। वाग्रूप यह आकाश ही क्योंकि बलग्रन्थि के उत्तरोत्तरभावी क्रमिक संघात से शेष चारों भूतों में परिणत हुआ है अतएव पाँचों ही भूतों को किंवा पूर्वोक्त स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्र-भू-नामक पाँचों ही भूतभौतिक स्पृश्यपिण्डों को 'वाङ्मयपिण्ड' मान लिया जासकता है। यही आकाशात्मिका मनः-प्राणगर्भिता-वाक् की सर्वभूतव्याप्ति का संक्षिप्ततम निदर्शन है जिस के आधार पर ही 'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता—'अथो वागेवेदं सर्वम्' इत्यादि निगम व्यवस्थित हुए हैं। यही आकाशिका विश्वव्याप्ता सर्वरूपिणी सर्वात्मिका वाग्देवी उस प्रस्तुत 'वषट्कार' शब्द के चिरन्तन-इतिवृत्त की आधारभूमि बनी हुई है जिस के माध्यम से ही हमें अब तन्निबन्धना वाक्सृष्टी का दो शब्दों में स्मरणमात्र कर लेना है।

'वाक्' शब्द का रहस्यात्मक अर्थ है 'मन-प्राण-गर्भित तत्त्वविशेष'। अर्थात् उस तत्त्व का ही नाम 'वाक्' है, जिस के गर्भ में मन, और प्राण प्रतिष्ठित हैं। तभी तो बृहदारण्यकोक्त मन प्राणवाङ्मय-लक्षण अन्वर्थ प्रमाणित होता है। किस आधार पर, कैसे वाक्' का अर्थ मनःप्राणगर्भिततत्त्व' होगया? प्रश्न का समाधान वैदिक-विज्ञानानुगता अक्षरवर्णनिबन्धना अनन्त रहस्यपूर्णा उस 'संकेतविद्या'

---

*—तस्माद्वा-एतस्मादात्मन आकाश सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी (भूत्)।

—तैत्तिरीयोपनिषत्

पर ही अवलम्बित है, जिस के समन्वयाधार पर ही वैदिक-पारिभाषिक-शब्दों का तत्त्वार्थ समन्वित होता है। श्रुतिविधानुसार 'मन' का सङ्केतात्मक नाम है-'अ' कार और प्राण का साङ्केतिक नाम है 'उ' कार। वास्तविक-सहज स्थिति है-मन प्राण वाक्' यह। किन्तु सृष्टिधारा में सम्भवतः गतिशील प्राण ही प्रथम स्थान ग्रहण कर लेता है। प्राण के गमन से ही सहाधारभूत मन को भी सृष्टिकर्म में समन्वित होना पड़ता है, जैसाकि दैनिक अनुभवों से स्पष्ट है। हमारा शान्त मन कर्म्म की ओर प्रवृत्त नहीं होना चाहता। किन्तु सवितृप्राण की प्रबल प्रेरणा से जब हमारा 'प्राण' बलपूर्वक अनिच्छन्नपि कर्म्म में प्रवृत्त होपड़ता है, तो हमारा अनिच्छा-भावानुकम्पी मन भी मन न करता हुआ भी अन्ततोगत्वा तत्कर्म्म में प्रवृत्त हो ही पड़ता है। इसी आधार श्रुति प्रज्ञाने- "चरैवेति-चरैवेति" रूपेण प्राणव्यापार के प्राथम्य को ही कर्म्मसिद्धि का प्रमुख द्वार माना है।

अतएव स्पष्ट है कि-'मनः-प्राण-वाक्' रूप सहज भी क्रम सृष्टिकर्म्मानुगति में प्राण को प्रथम स्थान देता हुआ-'प्राण-मन-वाक्' इस रूप में परिणत होजाता है, जिसका सङ्केताक्षरनिरूपण यही निष्कर्ष निकलता है कि-'अ' (मन)-उ-(प्राण)-वाक् के स्थान में 'उ-(प्राण) 'अ' (मन) वाक् यह क्रम सम्पन्न होजाता है। उकार को 'व्' कार यथादेश होजाता है। 'उ-अ-अच्' के स्थान में 'व्-अ-अच्' स्थिति होजाती है और दीर्घत्वेन 'वाच्' रूपेण-'वाक्' शब्द निष्पन्न होजाता है जिस का स्पष्टतम यही रहस्यार्थ निकलता है कि, जो तत्त्वविशेष स्वस्वरूपाभिव्याप्ति-प्रसार-के लिए उ और अ-रूप प्राण तथा मन की सतत याचना करता है अपेक्षा करता है प्राणमनोगर्भित वैसा तत्त्वविशेष ही 'उ-अ-अच्' इस सङ्केताक्षरविधा से 'वाक्' रूप में परिणत होरहा है। ऐसा है यह-'वाक्तत्त्व', और इत्यम्भूत मनःप्राणगर्भित-पाञ्चभौतिक-वाक्तत्त्व से कृतस्न पाञ्चभौतिक-भव-स्थूरयपिण्डों का ही है यह वाङ्मय-चिरन्तन-इतिवृत्त-निष्कर्ष जिसे आधार बना कर ही अब "वाक्" निरूपण 'वषट्कार' शब्द का समन्वय अन्वेषणीय है।

पञ्चमहाभूतात्मक-पञ्चपर्वा-महाविश्व के पाँचों ही विश्वपर्व वाङ्मय हैं यह पूर्व-निवेदन से स्पष्ट होजाता है। वस्तुपिण्ड का साङ्केतिक नाम है-'स्थूरयपिण्ड' जिस वाङ्मय-वामचक्र-भूतभौतिक पिण्ड का केवल स्पर्श ही सम्भव है। अतएव भूतपिण्ड का हम स्पर्शमात्र ही कर सकते हैं, देख नहीं सकते उसे। तो फिर किसे देखते हैं ?, इस रहस्यपूर्ण प्रश्न का उत्तरप्रदान करने वाली दुरधिगम्या विद्या का ही नाम है-'वाक्साहस्रीविद्या' जिस का अस्पष्ट पारिभाषिकी भाषा में ही श्रुतिने निम्नलिखित मन्त्र से संस्मरण किया है—

सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत् ।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद्ब्रह्मविष्ठितं तावती वाक् ॥
—ऋक्सं०

वाक् को हमने प्राण तथा मन से समन्वित बतलाया है। मनस्तत्त्व वाङ्मय पिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहता है एवं तदनुगत गतिशील-अथामन्धकार प्राणतत्त्व वस्तुकेन्द्र में उक्थरूप से अपनी मूलप्रतिष्ठा सुरक्षित रखता हुआ अर्करूप से पहिले तो वाङ्मय-स्थूरयभावनिष्पन्न वस्तुपिण्ड में व्याप्त होता है। अनन्तर इस वस्तुपिण्ड (स्थूरयपिण्ड) को केन्द्र बनाता हुआ यही अर्कात्मक प्राण बहुत दूर पर्य्यन्त अपना एक स्वतन्त्र-मण्डल-बनता है जो मण्डल संख्यानुगति से एकसहस्र-संख्यात्मक माना गए हैं।

यही महिमामण्डल प्राणप्रधान मनोवाग्गर्भित वह साहस्री-मण्डल है, जिस का हम मण्डलों के तारतम्य से साक्षात्कार तो कर सकते हैं, किन्तु जिस का प्राणमनःप्रधानत्वेन हस्तादि से संस्पर्श कदापि सम्भव नहीं है। यही सूर्य, और दृश्य का वह आत्यन्तिक-पार्थक्य है, जिसका स्वरूपबोध-वाङ्मय-वषट्कारविज्ञान के स्वरूप-समन्वय पर ही अवलम्बित है।

सूर्यपिण्ड भी मनःप्राणवाङ्मय है, एवं दृश्यमण्डल भी मनःप्राण-वाङ्मय ही है। अन्तर दोनों में केवल यही है कि सूर्यपिण्ड जहाँ प्राण-मनो-गर्भिता वाक् को प्रधान बना रहा है वहाँ दृश्यमण्डल मनो-वाक्-गर्भित प्राण को प्रमुखता प्रदान कर रहा है। वाक्प्रधान वस्तुपिण्ड पिण्ड है, एवं प्राणप्रधान वस्तुमण्डल 'मण्डल' है। स्पर्श पिण्ड का ही सम्भव है तो दर्शन मण्डल का ही होता है।

मण्डलानुगत-अर्थात्मक प्राण की अवयवात्मिका व्याप्ति की पारिभाषिकी संज्ञा है-'स्तोम' (राशि-स्तूप-ढेर-समूह)। मनोवाग्गर्भित-प्राणतत्त्व ही स्वाभाविक-गतिधर्म्म से 'गौ' है, जो वाक्-रूप मनोवाक्प्राणमय-गौतत्त्व अभिप्लव-पृष्ठ्य-रूपेण दो स्तोममार्गों में परिणत रहता है। रश्मिभावात्मिका प्राणसमष्टि ही अभिप्लवस्तोम है एवं मण्डलभावात्मिका प्राणसमष्टि ही पृष्ठ्यस्तोम है, जिन दोनों रहस्यपूर्ण-प्राणविध-स्तोमों का तत्प्रकरण-भाष्य में विस्तार से स्पष्टीकरण कर दिया गया है। केन्द्र से महिपरिधि पर्य्यन्त वस्तुपिण्डाधारत्वेन उत्तरोत्तर बृहन्मण्डलों में परिणत होने वाले प्राणमण्डल ही 'पृष्ठ्यस्तोम' कहलाए हैं, एवं केन्द्र से महिपरिधि पर्य्यन्त रश्मिरूपेण-सूर्यप्रमुख-वितायमान-प्राणसमूह ही 'अभिप्लवस्तोम' नाम से व्यवहृत हुए हैं, जिन इन दोनों के स्वरूप-समन्वय के बिना वैदिकी-सृष्टिविद्या का समन्वय स्वप्न में भी सम्भव नहीं है।

हाँ, तो मनोवाक्-गर्भित-प्राण-रूप गौतत्त्व मण्डलसाहस्री के अनुबन्ध से सहस्र-संख्या में विभक्त रहता है जिन इन सहस्र-वाङ्मय-प्राणों की त्रिंशत् त्रिंशत् (३ -१) प्राणराशि से जो एक स्वरूप अभिव्यक्त होता है—उसीका पारिभाषिक नाम है-'अहर्गण'। फलतः १ प्राणात्मक गौतत्त्वों के ३ १०-के अनुपात से (९ ९ गौतत्त्वों के) ३३ (तैंतीस) अहर्गण होजाते हैं शेष रह जाते हैं—दश गौप्राण, यही 'चतुस्त्रिंशः प्रजापतिः' रूप चौंतीसवाँ-'सर्वप्रजापति' नामक पारिभाषिक-वाङ्मय-प्रजापतिदेवता है। ३३ अहर्गणों में से आरम्भ के तीन अहर्गण वस्तुपिण्ड में भुक्त हैं। अतएव वस्तुमण्डल में ३ ही अहर्गण शेष रह जाते हैं जिनका अयुग्मरूपेण जो तत्त्वात्मक समन्वय होता है उसीका नाम है-'वषट्कार'। वस्तुपिण्डभुक्त-तीन अहर्गणों में वस्तुमण्डलयुक्त ३ अहर्गणों में से ९ अहर्गणों के समावेश से जो वाक्प्राणमय-एक स्वतन्त्र स्तोम का स्वरूप सम्पन्न होता है उसी का नाम है—'त्रिवृत्स्तोम' (अर्थात् ९ अहर्गणों की समष्टिरूप स्तोम)। इसमें अयुग्मरूपेणैव आगे के ६ अहर्गणों के समावेश से—'पञ्चदशस्तोम' का, और ६ के समावेश से-'त्रिणवस्तोम' का एवं और शेषभूत अन्त के ६ अहर्गणों के समावेश से-'त्रयस्त्रिंशस्तोम' का स्वरूप-सम्पन्न होता है। इन ३३ सों अहर्गणों का केन्द्रभूत एक सप्तदशम-अहर्गण-पृथक् और मान लिया गया है जो 'उद्गीथप्रजापति' का स्वरूप समर्पक बनता है। इसप्रकार त्रिवृत्-(९)-पञ्चदश (१५)-सप्तदश (१७)-एकविंश (२१)-त्रिणव-(२७)-त्रयस्त्रिंश (३३)-रूपेण वाङ्मय प्राण के किंवा प्राणमयी-महिमा-रूपा सुसूक्ष्मा वाक् के ६ (छह) विभिन्न स्तोम होजाते हैं। एक ही मूलवाक्तत्त्व का स्तोमानुबन्धी यह षड्धा-विभाजन है। यही वाक् का षट्कार है, और यही वाक्षट्काररूप 'वषट्कार' शब्द का संक्षिप्ततम-निरुक्तनिर्वचन है।

वाक् के परंकाररूप वषट्कार का ही नाम है 'वाक्साहस्री-मण्डल' जिसके गर्भ में वेदसाहस्री-लोकसाहस्री-वाक्साहस्री-नाम की तीन व्यष्टिरूपा अवान्तर-साहस्रियाँ प्रतिष्ठित मानी गई हैं जिस इस साहस्री-त्रयी की आधारभूमि है हृदयाक्षरत्रयी। वस्तुपिण्ड के केन्द्र में मनोगर्भित जिस 'प्राण' तत्त्व की उक्त रूपेण पूर्व में प्रतिष्ठा बतलाई गई है वह हृदयस्थ प्राण हृदय में प्रतिष्ठित रहता हुआ स्वयं भी 'हृ-द-यम्' रूपेण त्र्यक्षरात्मक-अक्षरप्राण ही है। जिसका 'हृ' नामक एकाक्षर आहरणधर्म्मा विष्णु है यही आगतिधर्म्मा प्राण है। 'द' नामक एकाक्षर खण्डनधर्म्मा-'इन्द्र' है यही गतिधर्म्मा प्राण है। एवं 'यम्' नामक एकाक्षर नियमनधर्म्मा ब्रह्मा है, और यही गतिसमुच्चयधर्म्मा स्थितिरूप-प्रतिष्ठाप्राण है। इसप्रकार तीन अक्षरों की समन्वितावस्थारूप त्र्यक्षरमूर्त्ति-हृदयस्थ प्राण के आधार पर ही मनोवाग्गर्भिता वाक्साहस्री के तीन महिमा-विवर्त्त निष्पन्न होजाते हैं मनः-प्राण-वाक् की गौण-प्रधानदृष्टि के कारण, जिसका निष्कर्ष यही है कि—

मनोवाग्गर्भिता प्राणप्रधाना साहस्री का ही नाम वैष्णवीसाहस्री है यही 'लोकसाहस्री' है, जिसका 'हृ' अक्षरात्मक विष्णु' नामक अक्षर से ही प्रधान सम्बन्ध है। मन-प्राणगर्भिता वाक्प्रधाना साहस्री का ही नाम 'ऐन्द्रीसाहस्री' है यही 'वाक्साहस्री' है जिसका 'द' अक्षरात्मक 'इन्द्र' नामक अक्षर के साथ ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। एवं प्राण-वाग्-गर्भिता-मन-प्रधाना साहस्री का नाम ही ब्राह्मीसाहस्री है यही 'वेदसाहस्री' है, जिसका 'यम्' अक्षरात्मक 'ब्रह्मा' नामक अक्षर के साथ ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। इसप्रकार ब्रह्माक्षररूप प्रतिष्ठातत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित इन्द्र-विष्णु-की गत्यागतिधर्मावच्छिन्न प्रभूमूला पारस्परिकी प्रतिस्पर्द्धा से होने वाले ब्राह्म-वैष्णव-ऐन्द्र-प्राणों के त्रीरयरूप-सर्वात्मक कर्म्मवितान से एक ही वाक्साहस्री के उक्त गौण-प्रधान-क्रम से तीन साहस्रियाँ अभिव्यक्त होजाती हैं जिन इन तीन साहस्रियों के प्रचारपार्थेन-ऊर्ध्व-अध-तिर्य्यक्-सर्वतोभावी वितान से एकविधापि साहस्री आरम्भ में त्रिसाहस्रीरूप में परिणत होती हुई 'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' रूपेण अर्सख्य-अपरिमित-साहस्री-वितानभावों में विभक्त होजाती है जिनकी प्रधानमूला साहस्री-त्रयी का ऋषि ने निम्नलिखितरूपेण संस्मरण किया है—

> उभा जिग्यथुर्नपराजयेथे, न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः।
> इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्॥ (ऋक्संहितायाम्)
>
> किं तद् सहस्रमिति ?
>
> इमे लोकाः (लोकसाहस्री वैष्णवी)
>
> इमे-वेदाः (वेदसाहस्री-ब्राह्मी)
>
> अथो-वाक्-इति ब्रूयात् (वाक्साहस्री-ऐन्द्री)
>
> —ऐतरेय-आरण्यके

उक्त साहस्री-त्रयी में मन-प्राणगर्भिता वाक्प्रधाना ऐन्द्री-साहस्री का ही क्योंकि वाङ्मय वषट्कार से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। अतएव यज्ञकर्म्म में एकमात्र-इन्द्राक्षरदेवता के लिए ही- इन्द्राय वौषट् रूपेण वषट्कार रूपेण आहुति का विधान हुआ है। वैसे तो सभी प्राणदेवताओं की आधारभूमि वाङ्मय वषट्कार ही बना हुआ है जैसाकि—"देवपात्रं वा एष-वषट्कारः" निगम से स्पष्ट है। ऐसा है यह वषट्कार, जिसके आधार

पर ही मण्डलात्मक–'वैश्वरूप्य' का वितान हुआ है, जिस वैश्वरूप्य के माध्यम से ही पाँचों विश्वपुरों में परस्पर वसुधानकोशात्मक–३३ सुप्रसिद्ध दहरोत्तरसम्बन्ध प्रतिष्ठित है, जिसके आधार पर ही पाँचों पुरों में पञ्चपुर-स्वरूप-संरक्षिका वह यज्ञप्रक्रिया प्रक्रान्ता है, जिसका 'अहिता-संयोग' 'प्रयुता संयोग' इस परिभाषाद्वयी के माध्यम से ही श्रुति ने स्वरूप–विश्लेषण किया है।

विश्वस्वरूपसंस्थान के माध्यम से वस्तुस्थिति का समन्वय कीजिए। आकाशमूर्त–प्रधान–स्वयम्भू–नामक प्रथमपिण्ड पहिला स्वयम्पिण्डात्मक–पहिला वाङ्मय पिण्ड है। इसीके अनुरूप स्वरूप–रखने वाले क्रमशः वायु–तेज–जल–भूम्–नामक भूतप्रधान चारों स्वयम्पिण्डात्मक वाङ्मयपिण्ड क्रमशः परमेष्ठी–सूर्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड नामक चार वाङ्मय पिण्ड हैं। यह अविस्मरणीय है कि–यह क्रम दृष्टिमूला–सृष्टिविद्या से ही सम्बन्ध रखता है। यदि सृष्टिमूला सृष्टिविद्या के क्रम से विचार किया जायगा तो–'चन्द्रमा सर्वान्त में प्रतिष्ठित माना जायगा। क्योंकि ग्रहोपग्रहभावनिर्वचना–दर्शपूर्णमासयज्ञानुबन्धिनी सुप्रसिद्धा 'प्रतिपदनु–परविद्या' से अनुगता क्रमसिद्धा व्यवस्था के अनुसार स्वयम्भू का उपग्रह सूर्य्य है, सूर्य्य का उपग्रह भूपिण्ड है, एवं भूपिण्ड का उपग्रह अत्रिप्राणनिर्वचन चन्द्रमा है। सर्वान्तमावात्मिका इस अवसानादिमका स्थिति के कारण ही चान्द्रसाम–'निधनसाम' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

उक्त क्रमसिद्ध आकाशात्मा–स्वयम्भू–पिण्ड वाय्वात्मा परमेष्ठी–पिण्ड तेजोमयात्मा सूर्य्य–पिण्ड मृन्मय भूपिण्ड एवं जलीय चन्द्रपिण्ड, इन पाँचों–वाङ्मय–महाभूतात्मक–विश्वपिण्डों के साथ (प्रत्येक के साथ) उस वाङ्मय–वषट्कारमण्डल का सम्बन्ध है जो 'वैश्वरूप्य' नाम से प्रसिद्ध है। पाँचों के अपने अपने महिमामण्डलात्मक–पाँच–वैश्वरूप्य हैं, एवं प्रत्येक में यथाश्रयिता साहस्री-त्रयी का स्व–स्व–पिण्डपुर–अवस्थानानुपात से ही उपभोग होरहा है। इन वाङ्मय–महिमामण्डलों के अनुपात से ही पाँचों विश्वपुरों का वसुधानकोशात्मक–दहरोत्तरसम्बन्ध माना गया है जिसका निष्कर्षार्थ यही है कि, स्वयम्भू नामक आकाशात्मा–प्रथम–वाङ्मय पिण्ड के महिमामण्डलात्मक–वाक्साहस्रीमण्डलरूप वैश्वरूप्य के गर्भ में समहिममण्डल शेष चारों विश्वपर्व बुद्बुद्वत् प्रतिष्ठित हैं। एवमेव परमेष्ठी के महिमा–मण्डल में शेष तीनों, सूर्य्य के महिमा–मण्डल में शेष दोनों एवं भूपिण्ड के महिमा–मण्डल में समहिम–चन्द्रमा गर्भीभूत है। और यही वषट्कारशब्द–निर्वचना उस पारिमाषिकी वाक्साहस्री–विद्या का संस्मरण–निष्कर्ष है, जिस से अनुप्राणित त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश–आदि स्तोमों के परिमाण-माध्यम से ही विश्वपर्वों के गणितसिद्ध–सामीप्य–और विदूरत्व का वैज्ञानिक व्यवस्थापन हुआ है।

उदाहरणार्थ–'सूर्य्य पृथिवी से कितनी दूर है ?, प्रश्न का उत्तर जहाँ आज का भूतविज्ञान अमुक करोड़ मीलों में देता है वहाँ वैदिक–सृष्टिविज्ञान में इस प्रश्न का उत्तर होगा–'एकविंशो वा इत–आदित्यः। अर्थात् भूपिण्ड से सूर्य्य पार्थिव–वषट्कारमण्डल के २१वें अहर्गण पर बृहतीछन्द के केन्द्र में प्रतिष्ठित है इत्यलमति–विस्तरेण 'वषटकारशब्द' निर्वचन–पारिमाषिक–प्रासङ्गिक–निदर्शनेन।

११ (२)

• • • • •

श्री

१२-पुरोडाशमीमांसानुगत-पात्रीनिर्णेजन-कर्म्म प्रसङ्गत.
"प्रासङ्गिकी विविध-वैज्ञानिकी-चर्चाएँ"

एवं

'तन्निबन्धना-विविध-परिभाषाएँ'

३

पात्रीनिर्णेजनात्मक-कर्म्मप्रात १२ में कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता के प्रसङ्ग में भगवान्-याज्ञवल्क्य के द्वारा जिन प्रासङ्गिक-पारिभाषिक-वैज्ञानिक-तथ्यों का स्पष्टीकरण हुआ है, उन में से चतुर्विध-अग्निस्वरूप-विज्ञान, आप्त्यात्रयी-स्वरूप-विज्ञान पत्न्यालम्भनविज्ञान पञ्चप्राणात्मक-पशुस्वरूपविज्ञान अहिंसा-हिंसा-स्वरूपविज्ञान, आदि कतिपय विषय विशेष महत्त्व रख रहे हैं, जिनमें पत्न्यालम्भन पशु-हिंसा-अहिंसा-गुणता विषय भी तो आज के दिग्देशकालानुरूप से निश्चयेन विशेषतः ही ध्यान रखने वाली मानी जायगी । अतः उदाहरणरूपेण अत्यन्त संक्षेप से ही इन प्रमुख विषयों का उदाहरण-स्मरण करा देना पर्य्याप्त होगा ।

(क)-अग्निविज्ञान-निबन्धन-पारिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन—

अपने पारिभाषिक-अनुगम-अर्थ से अनुप्राणित-'चतुर्धा विहितो ह वा अग्रे-अग्निरास' इत्यादि श्रुतिवचन से अनुप्राणित चतुर्धा विभक्त 'अग्नि' के चतुर्विध-महिमामय विवर्तों का वेदशास्त्र में अनेकधा स्पष्टीकरण हुआ है । वस्तुस्थिति तो इस दशा में कुछ ऐसी है कि, 'अग्निविद्या' का विस्तारात्मक उपबृंहण ही सम्पूर्ण वेदशास्त्र का निष्कर्षार्थ है । जिस अपौरुषेय-तत्त्वात्मक-स्वायम्भुव-ब्रह्मनिःश्वसित वेद को विश्व का कारण माना जाता है वह वेदतत्त्व भी 'ब्रह्माग्नि' नामक अग्निविशेष ही है जोकि ऋक्संहितान्तर्गत सुप्रसिद्ध अस्यवामीय-सूक्त में-'वामपलित' नामसे उपवर्णित है । ब्रह्माग्निरूप स्वायम्भुव-वामपलित-नामक ब्रह्माग्नि के आधार पर ही इसी के आरम्भणधर्म्म से (उपादानधर्म्म से) जो भृग्वग्नि-अभिव्यक्त होता है उसी का नाम सुप्रसिद्ध वह-'आप्त्याग्नि' है जिस का महाभारत में एक आख्यानविशेष के द्वारा 'अग्निभ्रातर' रूप से समन्वय हुआ है । 'अग्निभ्रातर' रूप इस द्वितीय 'आप्त्याग्नि' नामक 'भृग्वाग्नि' का नाम ही आपोमय-परमेष्ठी-लोक है जोकि विश्व का क्रमप्राप्त द्वितीय पर्व माना गया है ।

आगे चलकर इस भृग्वग्निरूप आप्त्याग्नि के गर्भ में पुनः एक अपूर्व सत्याग्नि का केन्द्ररूपेण वपन होता है जिसके लिए 'कं स्विद्गर्भं दध्र आपः' कहा गया है एवं जिसका-'तासु बीजमवासृजत्' रूपेण मनु भगवान्ने स्मरण किया है । इस तृतीय-सत्याग्नि की चिति के अन्तिम परिणामरूप घनीभावधर्म्म से जिस

अग्निमय-नवीनं ब्रह्माण्ड की स्वरूपाभिव्यक्ति होती है, उसी का नाम है-'सौरब्रह्माण्ड', जिसे हम-'रोदसी-त्रिलोकी' कहा करते हैं। यही क्रमप्राप्त-तृतीय-विश्वसंस्थान है, जिसका अग्निमयत्व भी स्फुट है ही।

और आगे चलिए। सौरब्रह्माण्डाग्नि ही कालान्तर में अपने सर्वत्सरधर्म्म से सम्वत्सररूप में परिणत होजाता है। और यही सम्वत्सरप्रजापति अपने ब्रह्मौदनात्मक प्रातिस्विक-विश्व से जहाँ स्वस्वरूप का संरक्षण करता है वहाँ विस्रंसनधर्म्मा प्रवर्ग्यभाग से अपने स्वरूप से पृथक् होता हुआ स्वानुगत पृथिव्यादि उपग्रहों का स्वरूप-निर्म्माता बनता है। यही प्रजापति का सहज विस्रंसनधर्म्म है। सौर-देवमण्डल से प्रवर्ग्यरूपेण अपक्रान्त इसी चतुर्थ अग्नि से भूपिण्ड का स्वरूप-निर्माण होता है। यही पारिभाषिक-पार्थिव-वह मृग्याग्नि है, ज्योतिर्म्मयाभिभूति से ही जो 'कृष्णमृग' नामक पारिभाषिक-नाम से व्यवहृत हुआ है। और यों विश्व के क्रमप्राप्त-चतुर्थ भूपिण्ड का भी अग्निमयत्व ही प्रमाणित होजाता है। शेष रह जाता है पञ्चम-पर्वात्मक-आपोमय-सौम्य-चन्द्रमा, जिसका आपोमय-परमेष्ठीवत् भृग्वग्नि में ही अन्तर्भाव है।

इसप्रकार त्रिविध-मातापत्न-पारमेष्ठ्य-चान्द्ररूप भृगुधर्म्मा सुब्रह्मण्याग्नि स्वायम्भुव-ब्रह्माग्नि, सौर-सावित्राग्नि पार्थिव-गायत्राग्नि (मृगाग्नि) क्रमेणापि अग्नि के चातुर्विध्य का समन्वय किया जासकता है एवं यही चातुर्विध्य की एकविधा है। ऐसे अगणित-चातुर्विध्य हैं अग्निमहिमा के, जिनमें से तत्कर्म में कतिपय-परिगणित-अग्निमहिमा-विवर्तों का ही स्पष्टीकरण प्रयास हुआ है जिन अनेकों विवर्तों में से यज्ञानुबन्ध से प्रमुखरूपेण जिन चार अग्नि-भावों का तदग्निविज्ञान-प्रसङ्गत दिगदर्शन कराया गया है, वे चारों पारिभाषिक-अग्नि क्रमश -१-रसाग्नि, २-आर्त्तवाग्नि ३-छन्दस्याग्नि ४-सावित्राग्नि इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

दधि-घृत-मधु-रस त्रयात्मक-सौम्य-त्रैलोक्य-में व्याप्त 'रसतम्' नामक अग्निविशेष ही 'रसाग्नि' है, जिस के माध्यम से ही पार्थिव गायत्र-सम्पत्ति का संग्रह हुआ करता है। उत्तरदिक्स्थ-वायव्य-'भृग्वग्नि'-विशेष ही दूसरा 'आर्त्तवाग्नि' है जिससे ऋतुओं का स्वरूप-निर्म्माण हुआ करता है। वस्तुस्वरूप को आकारमात्र प्रदान करने वाला वयोनाधात्मक आयतनरूप अग्निविशेष ही क्रमप्राप्त तीसरा-'छन्दस्याग्नि' है। एवं सृष्टि का तृतीय-पर्वात्मक-सौर ब्रह्माण्ड-स्वरूप-संरक्षक-ब्रह्मौदनात्मक-अग्निविशेष ही क्रमप्राप्त चतुर्थ 'सावित्राग्नि' है। यज्ञकर्म्म-निबन्धन (सृष्टिस्वरूप-सम्पादक-कर्म्मनिबन्धन) इन चारों अग्नियों के पारिभाषिक-समन्वय के द्वारा ही यज्ञकर्मों का तात्त्विक-समन्वय सम्भव है और यही 'अग्निविज्ञान-निबन्धना' प्रासङ्गिकी-उदाहरणविधि का संक्षिप्त-स्वरूप-दिग्दर्शन है।

— -*— —

ख)—आप्त्यात्रयी स्वरूप-विज्ञान—

आप्त्या-त्रयी से सम्बन्ध रखने वाले रहस्यपूर्ण विज्ञान का उस सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक-आख्यान से ही सम्बन्ध है जिस में त्वष्टा के पुत्र अतएव 'त्वाष्ट्र' इस उपनाम से प्रसिद्ध तीन मस्तक वाले एवं ६ आंखों वाले 'विश्वरूप' नामक प्रबल असुर के वध का स्वरूपोपवृंहण हुआ है। आप्त्या के सहयोग से ही देवेन्द्र इस अद्भुत असुर को मारने में समर्थ होते हैं। पुराणशास्त्र में जो ऐसे ऐसे अद्भुत अद्भुत चरित्र पदे पदे समाश्रित हैं हीं, जिन का पारिभाषिक समन्वय न करने के कारण ही हम पुराण जैसे आर्म्यसर्वस्वशास्त्र' को

निरी गप्प मानते हुए-'अशातमस्त्वसूपर्वं गन्तु ततो निन्दां प्रयुज्यते' को अक्षरशः चरितार्थ करते ही रहते हैं। किन्तु उस समय सहसा हमारी प्रज्ञा स्तब्ध होजाती है, जब कि स्वयं वेदशास्त्र में भी हम अन्यत्र-ऐसे ही विलक्षण आख्यानों को समन्वित देखते हैं।

"एकता-द्विता-त्रिता-नामके आप्त्या-ब्राह्मणों के साथ क्षत्रियश्रेष्ठ इन्द्र इतस्ततः उसी प्रकार विचरने लगे जैसेकि ब्राह्मणपुरोधा मूर्द्धाभिषिक्त राजा के साथ उसे सामयिक-परामर्श देते हुए विचरते रहते हैं। आगे चल कर आप्त्या-ब्राह्मणों के सहयोग से ही इन्द्र ने त्रिशीर्ष-षडक्ष-विश्वरूप असुर को मारडाला" इस आख्यान का आप्त्याग्नि कौन है ? षडक्ष-त्रिशीर्ष-विश्वरूप-असुर कौन है ?, 'आप्त्याग्निविज्ञान' के द्वारा इन्हीं प्रश्नों का विस्तार से वैज्ञानिक-समन्वय हुआ है-चतुर्विध-अग्निविज्ञान के अनन्तर।

पार्थिव-सम्वत्सर-यज्ञ से अनुगत, पार्थिव-स्तोम्यत्रैलोक्यानुबन्धी-सुप्रसिद्ध त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-नामक (९-१५-२१-नामक) तीन स्तोमों के भेद से तीन पार्थिव-लोक व्यवस्थित माने गए हैं, जिन की समष्टि ही-'पार्थिवी-स्तोम्या-त्रिलोकी' कहलाई है। इस पार्थिवी त्रिलोकी के पृथिवीरूप त्रिवृत्स्तोम में 'भूपति' नामक पार्थिव-ध्रुवाग्निरूप-(घनाग्निरूप) अग्नि प्रतिष्ठित है, यही प्रातःसवनाधिष्ठाता-अष्टविध-वसुगणोपेत-शवसोनपात्-'एकता' नामक आप्त्याग्नि है। पार्थिवी त्रिलोकी के अन्तरिक्षरूप पञ्चदशस्तोम में-'भुवनपति' नामक आन्तरिक्ष्य-धर्त्राग्निरूप (तरलाग्निरूप) वायु प्रतिष्ठित है यही माध्यन्दिनसवनाधिष्ठाता-एकादशविध-रुद्रगणोपेत शवसोनपात्-'द्विता' नामक आप्त्याग्नि है। पार्थिवी त्रिलोकी के ही द्युलोकरूप एकविंशस्तोम में 'भूतानांपति' नामक दिव्य-धरुणाग्निरूप (विरलाग्निरूप) आदित्य प्रतिष्ठित है। यही सायंसवनाधिष्ठाता द्वादश-आदित्यगणोपेत शवसोपानत्-'त्रिता' नामक-आप्त्याग्नि है। इसप्रकार भूकेन्द्र से पृथिवी के २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त अपनी-ध्रुव-धर्त्र-धरुण-(घन-तरल-विरल किंवा वाष्प) नामकी सुप्रसिद्धा तीन अवस्थाओं से उत्तरोत्तर सूक्ष्मभाव में परिणत होकर त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-रूपेण अपने तीन स्वरूप-लोकसंस्थान बनाने वाला पार्थिव-त्रिविध अग्नि ही पार्थिव-आपोमय-अर्णवसमुद्र से सर्वथा परिव्याप्त रहता हुआ* 'एकता-द्विता-त्रिता' नामक 'आप्त्याग्नि' नाम से प्रसिद्ध होरहा है और यही अग्नित्र्याख्य' रूपा आप्त्याग्नि-त्रयी का संक्षिप्त-स्वरूप-दिग्दर्शन है जिन इन तीनों आप्त्या-अग्नियों का ही अन्यत्र एक अन्य दृष्टिकोण के भेद से- 'त्रयः केशिनः' रूप से उपवर्णन हुआ है।

उक्त तीनों आप्त्याग्नियों के सहयोग से ही रोदसी-त्रैलोक्यानुगत द्युलोक के अधिष्ठाता-'मघवा' नामक देवेन्द्र के द्वारा त्रिशीर्ष-षडक्ष-त्वाष्ट्र-विश्वरूप-का दमन होता है। 'अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तम्'-'अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि सर्वं जनयिष्यामि सर्वमाप्स्यामि-यदिदं किञ्च' इत्यादि वचनों के अनुसार अप्तत्त्व ही याज्ञिकी-योषावृषाग्निभ-रयिप्राणमूला-दाम्पत्यसृष्टि का मूलाधार माना गया है जैसाकि-'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इत्यादिमूला छान्दोग्योपनिषदुपवर्णिता सुप्रसिद्धा पञ्चाग्निविद्या से भी प्रमाणित है। सृष्टि के उपादानकारणात्मक पारमेष्ठ्य इस आप्तत्त्व का ही नाम है वह-'सुब्रह्म' जिस के गर्भ में 'ब्रह्म (वाङ्मयात्मक त्रयीवेद) प्रतिष्ठित माना गया है। ब्रह्म और सुब्रह्म के समन्वय से ही विश्व एवं विश्वप्रजा की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है। इस एक भी एकाकार भी-ब्रह्मगर्भित-सुब्रह्मरूप अप्तत्त्व से फिर नानारूपात्मक पदार्थ कैसे उत्पन्न होजाते हैं ? प्रश्न की समाधानभूमि है वह-'त्वष्टा' नामक प्राणविशेष जिस के समन्वय से ब्रह्म-गर्भित-सुब्रह्मरूप-आपोमय शुक्र हस्तपाद-चक्षु-उरः-कण्ठ-मस्तिष्क-आदि

*- 'समुद्रमभितः पिन्वमानम्''-(मन्त्रसंहितायाम्)।

प्राग् रूपेण विभिन्न आकारभावों में परिणत होजाता है, जैसाकि–'त्वष्टा वै रेत सिक्तं विकिरोति' श्रुति से स्पष्ट है।

जिसप्रकार हरित–नील–पीत–रक्त–धूम्र–नीललोहित–आदि नानाविध–वर्णात्मक रूपों के प्रवर्तक–सौर–मघवा–नामक–देवेन्द्र हैं +, एवमेव–त्रिकोण–षट्कोण–अष्टकोण–सम–विषम–तिर्य्यक् आदि आदि भेदभिन्न–आकारात्मक–रूपों का प्रवर्तक त्वष्टाप्राण ही माना गया है –। शुक्र–सहचारी–आप्यभावानुगत इस त्वष्टाप्राण को ही 'त्वष्टा नामक असुर माना गया है। क्योंकि आग्नेय–ज्योतिर्म्मय प्राण जैसे–'देव'देवता' नाम से प्रसिद्ध है एवमेव आप्यप्राण ही 'असुर नाम से व्यवहृत हुआ है। आकाररूपाधिष्ठाता–आपोमय–आप्यप्राणप्रधान–आपोमय–शुक्ररूप–सुब्रह्म–उत्तसे संश्लिष्ट–यह 'त्वष्टा' नामक असुरप्राण ही सुब्रह्मरूपेण–आप्यतत्त्व- से अभिन्न बनता हुआ तद्रूप ही बन रहा है और यही 'त्वाष्ट्र–विश्वरूप' नामक वह असुर है जिसके कारण ही तमोगुणप्रधाना–कामच्छन्द–भावनिबन्धना–भूतभौतिकी–मर्त्या–भूतसृष्टि का उद्गम हुआ है, जिस मर्त्यसृष्टि से ही मूर्त्त –व्यक्त–विश्व का स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है। और यही आप्य–त्वाष्ट्र–असुर की–विश्वरूपता का संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन है।

विश्वरूप–आपोमय प्राणात्मक–त्वाष्ट्र–असुर–मय –विश्व का प्रभव बनता हुआ–'विश्वरूप है तभी तो–'सर्वमापोमयं जगत् सिद्धान्त अन्वर्थ बनता है। इस विश्वरूप–आप्यप्राणात्मक–त्वाष्ट्र–असुर का जो 'मूल' होगा वही इसका 'मस्तक माना जायगा। क्योंकि–'शिरोमूला सृष्टिविद्या' की अपेक्षा उत्पत्ति में शिरो भाग को ही मूल माना गया है। आपोमय–सुब्रह्म का मूलप्रवर्त्तक है वह 'वाक् तत्त्व, जिसे हमने 'यत्' नामक 'प्राण से समन्वित–'जू रूप आकाश कहा है पूर्व के निदर्शनों में (देखिए प्रस्तावना–पृष्ठसं० ४६)। ऋक्सामावच्छिन्ना–यजुर्वाक् ही आपोरूप में परिणत हुई है, जैसाकि–'सोऽपोऽसृजत–वाच एव लोकात्, वागेव साऽसृज्यत' इत्यादि शतपथी श्रुति से स्पष्ट प्रमाणित है। वह–अनादिनिधना–स्वायम्भुवी–'भू रूपा–सत्यात्मिका वाक् ही (जिस की कि गौणिक–उपनिषत्–स्वरूपव्याख्या 'अग्नि –ब्रह्माग्नि–ही मानी गई है ✱) आपोमय उस पारमेष्ठ्य–मण्डलरूप में परिणत हुई है जिस सुब्रह्ममूर्त्ति आपोमय–परमेष्ठी के त्वाष्ट्र–विश्वरूप–प्राण से ही मैथुनीसृष्टि का आकार–विभाजन हुआ है।

विश्वरूप–त्वाष्ट्र–(आपोमय शुक्ररूप–सुब्रह्म) की मूलभूता वाक् ही तो इसका शीर्ष भाग माना जायगा। यह शीर्ष निश्चयेन त्रिपर्वा है किंवा तीन शीर्ष–भावों को मिलाकर एक शीर्ष भाव है, जैसाकि वाक् शब्द के निर्वचन प्रसङ्ग में पूर्व के निदर्शन में स्पष्ट किया जाचुका है (देखिए पृ संख्या ४८)। मनः प्राण–से अविनाभूता वाक् सचमुच ही तो त्रिशद्भावापन्ना है। और ये ही उस त्वाष्ट्र–विश्वरूप के तीन मस्तक हैं। विश्वप्रजा षड्भावविकारों से समन्वित होकर ही स्वस्वरूप से अभिव्यक्त होती है। ये ही

+ रूपं रूपं मघवा बोभवीति।

– त्वष्टा रूपाणि पिंशति।

✱ "तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्"

—शतपथब्राह्मणे

षड्भावविकार अस्ति-जायते विपरिणमते-वर्द्धते अपक्षीयते-नश्यति-नामों से सुप्रसिद्ध हैं। त्रिशीर्ष-त्वाष्ट्र-विश्वरूप-की भूतभौतिकी-वैकारिकी-वामभूमदा-मर्त्यभाव-निबन्धना-विश्वसृष्टि की विश्वस्वरूप-निर्माता त्वाष्ट्र इन ६ दृष्टियों से ही देखता है, किंवा ६ विभागों में विभक्त होकर ही भूतभौतिक-सर्ग-देखा जाता है। इसी नैदानिक-भाव के आधार पर त्वाष्ट्र को- षडक्ष (६ आँखों वाला) मान लिया गया है।

एकता-आप्त्याग्नि से मानव के भूतात्मा के वैश्वानर भाग का निर्माण होता है, द्विता आप्त्याग्नि के सहयोग से मानव के भूतात्मा के तैजस भाग की स्वरूपाभिव्यक्ति होती है, एवं त्रिता-आप्त्याग्नि से मानवीय भूतात्मा के- प्राज्ञ' भाग की अभिव्यक्ति होती है। निष्कर्षतः पार्थिवी भौतिकी सौम्या-त्रिलोकी के अधिष्ठाता-ग्रावहीनपात्-त्रिवर्षीय-ध्रुव-धत्र-धरुण-भावापन्न-अय-क्रिया-ज्ञान-प्रधान-अग्नि-वायु-आदित्य-नामक भूपति-भुवनपति-भूतानांपति-नाम्ना उपवर्णित एकता-द्विता-त्रिता-नामक आप्त्याग्नियों से ही मानवीय-व्यात्मक-भूतात्मा के अर्थ क्रिया-ज्ञान-प्रधान वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-नामक तीन पर्वों का स्वरूप-सम्पादन होता है। व्यात्मक इत्थंभूत-भूतात्मा के ऊपर-प्रज्ञानमन का स्थान है, जो कि 'विज्ञानात्मा' (बुद्धि) नामक सौर-इन्द्र-मघवेन्द्र से नित्य-सम्परिष्वक्त माना गया है जैसाकि-'स वा एष प्रज्ञानात्मा (मनः)-विज्ञानात्मना सम्परिष्वक्तः' इत्यादि वचन से स्पष्ट है। मानव का अमार्त्यभोगसाधनरूप शरीर आपोमय त्वाष्ट्र-असुरमात्र है जिस अमायभोगासक्ति में समाप्लुत मानवीय भूतात्मा पाशपाश से आबद्ध बना रहता है। आसक्तिरूप-इस पाशबन्धन का विमोक ही त्रिशीर्ष-षडक्ष-विश्वरूप-असुर का पराभव है, जो कि प्रज्ञानसम्परिष्वक्त-विज्ञानेन्द्र के द्वारा ही सम्भव है। कब सम्भव है? प्रश्न का उत्तर स्वयं भूतात्मा का ज्ञान-क्रिया-अर्थ-मय-पौरुष ही माना जायगा। बिना इस पौरुषरूप-अध्यवसाय के केवल-प्रज्ञानविज्ञानेन्द्र (मनोबुद्धि) कदापि इस आसुरबल को अभिभूत नहीं कर सकते। अलमतिविस्तरेण। प्रस्तुत आख्यान के द्वारा इसी तथ्य का स्वतन्त्र-पारिभाषिक-शब्दों में स्पष्टीकरण करते हुए ही श्रुति ने कहा है कि-'एकता-द्विता त्रिता-नामके आप्त्यों के सहयोग से ही इन्द्र ने त्रिशीर्ष-षडक्ष-त्वाष्ट्र-विश्वरूप का दमन कर दिया'। अध्यात्मरूप-इस आख्यान का अधिदैवत-तथा अधिभूत-के साथ भी यथानुरूप-समन्वय द्रष्टव्य है और यही तात्त्विक-'आप्त्यविज्ञान -सम्बन्धी संक्षिप्ततम-स्वरूप-दिग्दर्शन है।

(ग)-पश्वालम्भनविज्ञान-निर्वचन-पारिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन—

प्रकृतिसिद्ध-अग्नीषोमीय-आधिदैविक-नित्ययज्ञ की स्वरूपसिद्धि का अन्यतम-साधनद्रव्य माना गया है-पशु। बिना पशु के प्रकृतियज्ञ का कोई भी यज्ञ सुसम्पन्न-नहीं -नहीं होसकता। यज्ञकर्म्म की इत्थंभूता स्वरूपसिद्धि के लिए ही सौरसम्वत्सर-प्रजापति से अभिन्न-पार्थिव-सौम्यत्रैलोक्य में व्याप्त-द्यावापृथिव्य-मध्यम-प्रजापति के द्वारा द्यावापृथिव्य पञ्चविध-पशुओं का स्वरूप-निर्माण हुआ है जैसाकि-'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः' इत्यादि मनुवचन से भी स्पष्ट है। प्रकृत में दर्शपूर्णमासेष्टि नामक यज्ञकर्म्म की हविर्द्रव्यता प्रधानता है जिसमें आहुतिद्रव्य माना गया है तण्डुलों का-पिष्टद्रव्य, जिसकी पारिभाषिकी संज्ञा है-'पुरोडाश'। इसी सम्बन्ध में श्रुति ने यह प्रश्न उठाया है कि जबकि बिना पशु के कोई का भी यज्ञकर्म्म सम्भव नहीं और दर्शपूर्णमास में केवल पुरोडाशद्रव्य ही आहुति के लिए नियत है तो फिर इस इष्टि को यज्ञ कैसे मान

लिया गया ? । इस प्रश्न के समाधान के लिए ही श्रुति ने प्रासङ्गिक उस-'पश्वालम्भन-विज्ञान का स्वरूप-विश्लेषण किया है, जिसका सत्त्वदृष्ट्या निरतिशय ही महत्त्व माना जायगा इसलिए कि—

वर्त्तमानयुग के कतिपय-वेदमर्मज्ञों की युगधर्मनिबन्धना-दिग्देशकालानुबन्धिनी-परानुरञ्जनानुगता-निरतिशया 'उदारदृष्टि' ? में पश्वालम्भन का अर्थ भी केवल 'पशुस्पर्श' ही है, एवं 'पशुयागात्मक-पशुमेध' का अर्थ भी अध्यात्मवादमात्र-विमोहनात्मक-काल्पनिक प्राणविनियोगमात्र ही है। प्रकृत श्रौत पश्वालम्भन विज्ञान से अनुगत निम्नलिखित श्रौतसन्दर्भ से सर्वात्मना यह प्रमाणित होजाता है कि पश्वालम्भन का किसी काल्पनिक-स्पर्श-काल्पनिक-प्राण-आदि से सम्बन्ध न होकर विशुद्ध 'पशुवध' से ही सम्बन्ध है एवं तत्-प्राप्स्यर्थ वैधयज्ञ की स्वरूप-सिद्धि के लिए पशु का अमुक-प्रक्रिया-विशेष से प्राणवियोग ही किया जाता है—

"यदा पिष्टानि अथ लोमानि भवन्ति । यदाप आनयति-त्वग्भवति । यदा संयौति अथ मांसं भवति । सन्तत इव हि स तर्हि भवति । सन्ततमिव हि मांसम् । यदा शृत-अथ-अस्थि भवति । दारुण-इव हि स तर्हि भवति । दारुणमित्यस्थि । अथ यदुद्वासयिष्यन् अभिघारयति, तं मज्जान-दधाति । एषा-उ-सा सम्पत्-(पुरोडाशानुगता-पशुसम्पत्), यदाहु-पाङ्क्त-पशुः-इति" ।

—शतपथे १।२।३।८।

सुप्रसिद्ध चयनयज्ञ में जिन इष्टकाओं (ईंटों) का निर्माण होता है उनमें एकवर्ष पूर्व ही (उपासम्भरणात्मक-यज्ञकर्म-विशेष के साथ ही) पञ्चपशुओं का आलम्भन कर उन्हें भूमिसात् कर दिया जाता है। एक सम्वत्सर के अनन्तर उस मिट्टी से ईंटे बनाई जाती हैं-अग्निचिती के प्राय। तदनुबन्धी पश्वालम्भन के सम्बन्ध में वर्त्तमान-युगानुबन्धिनी काल्पनिकी-करुणा के प्रतिनिधि किसी न काल्पनिक-तर्क के माध्यम से अपना यह पक्ष उठाया कि "हिरण्य (सुवर्ण) भी तो अमृतप्राणात्मक (सौर-प्राणात्मक) है। यदि पञ्चपशुओं के आलम्भन से यह अमृतप्राण ही यज्ञ में अभीष्ट है तो फिर निरपराध पशुओं को छोड़ते हुए हिरण्मय-पशु (सोने के पशु) ही क्यों नहीं यज्ञ में ले लिए जाते' । इस सुनारवाद का आमूलचूड़ उत्पाटन करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य को आक्रोश की भाषा में यही उत्तर देना पड़ा कि-"जो व्यक्ति (अपने दिग्देशकालविमोहन से) यज्ञकर्मों की तथ्यपूर्णा-विज्ञानसम्मता-चिरन्तन-पद्धतियों से एकान्ततः अपरिचित हैं साथ ही जो प्रकृतिसिद्ध नित्ययज्ञकर्मों के माध्यम-(मौलिक-विज्ञान) से असंस्पृष्ट हैं उन पद्धतिज्ञानशून्य-विज्ञानवञ्चित-प्राकृत मानव की दृष्टि में ही हिरण्मयी-इष्टकाएँ-अमृतमयी-अमृतप्राणात्मिका-होसकती हैं। किन्तु जो पद्धतिरहस्य के परिज्ञाता हैं यज्ञविज्ञान के वेत्ता हैं उनसे तो यही आशा की जायगी कि वे चयनयज्ञ में पाँचों पशुओं का ही आलम्भन करेंगे * ।

---

*-हिरण्मयानि-उ-ह-एके कुर्वन्ति 'अमृतेष्टका' इति वदन्त । ता ह ता 'अनृतेष्टका' । न हि तानि पशुशीर्षाणि । मृण्मयानि-उ-हैके कुर्वन्ति-'उत्सन्ना

षड्भावविकार अस्ति-जायते-विपरिणमते-वर्द्धते अपक्षीयते-नश्यति-नामों से सुप्रसिद्ध हैं। त्रिशीर्ष-त्वाष्ट्र-विश्वरूप-की भूतभौतिकी-वैकारिकी-षामचक्रात्मा-वर्यभाव निबन्धना-विश्वसृष्टि को विश्वस्वरूप-निर्माता त्वाष्ट्र इन ६ दृष्टियों से ही देखता है, किंवा ६ विभागों में विभक्त होकर ही भूतभौतिक-सर्ग-देखा जाता है। इसी नैदानिक-भाव के आधार पर त्वाष्ट्र को- षडक्ष (६ आँखों वाला) मान लिया गया है।

एकता-आप्त्याग्नि से मानव के भूतात्मा के वैश्वानर भाग का निर्माण होता है, द्वित आप्त्याग्नि के सहयोग से मानव के भूतात्मा के तैजस भाग की स्वरूपाभिव्यक्ति होती है, एवं त्रित-आप्त्याग्नि से मानवीय भूतात्मा के-'प्राज्ञ' भाग की अभिव्यक्ति होती है। निष्कर्षतः पार्थिवी-भौतिकी स्तौम्या-त्रिलोकी के अधिष्ठाता-शक्तीनपात्-त्रिवृणीव-ध्रुव-धत्र-धरुण-भावापन्न-अर्थ क्रिया-ज्ञान-प्रधान-अग्नि-वायु-आदित्य-नामक भूपति-भुवनपति-भूतानांपति-नाम्ना उपवर्णित एकता-द्वित-त्रित-नामक आप्त्याग्नियों से ही मानवीय-व्यात्मक-भूतात्मा के अर्थ क्रिया-ज्ञान-प्रधान वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-नामक तीन पर्वों का स्वरूप-सम्पादन होता है। व्यात्मक इत्थंभूत-भूतात्मा के ऊपर-प्रज्ञानमन का स्थान है, जो कि 'विज्ञानात्मा' (बुद्धि) नामक सौर-इन्द्र-मघवेन्द्र से नित्य-सम्परिष्वक्त माना गया है जैसाकि-'स वा एष प्रज्ञानात्मा (मनः)-विज्ञानात्मना सम्परिष्वक्तः' इत्यादि वचन से स्पष्ट है। मानव का आमार्थभोगसाधनरूप शरीर आपोमय त्वाष्ट्र-असुरमात्र है जिस आमायभोगासक्ति में समाप्लुत मानवीय भूतात्मा वारुणपाश से आबद्ध बना रहता है। आसक्तिरूप-इस पाशबन्धन का विमोक ही त्रिशीर्ष-षडक्ष-विश्वरूप-असुर का पराभव है जो कि प्रज्ञानसम्परिष्वक्त-विज्ञानेन्द्र के द्वारा ही सम्भव है। कब सम्भव है?, प्रश्न का उत्तर स्वयं भूतात्मा का ज्ञान-क्रिया-अर्थ-मय-पौरुष ही माना जायगा। बिना इस पौरुषरूप-अध्यवसाय के केवल-प्रज्ञानविज्ञानेन्द्र (मनोबुद्धि) बल कदापि इस आसुरबल को अभिभूत नहीं कर सकते। अक्रमतिपश्लावितेन। प्रस्तुत आख्यान के द्वारा इसी तथ्य का अत्यन्त-पारिभाषिक-शब्दों में स्वीकरण करते हुए ही श्रुति ने कहा है कि-'एकता-द्वित त्रित-नामके आप्त्याओं के सहयोग से ही इन्द्र ने त्रिशीर्ष-षडक्ष-त्वाष्ट्र-विश्वरूप का दमन कर दिया'। अध्यात्मक्त्-इस आख्यान का अधिदैवत-तथा अधिभूत-के साथ भी यथानुरूप-समन्वय द्रष्टव्य है और यही प्रासङ्गिक-'आप्त्यविज्ञान'-अनुबन्धी संक्षिप्ततम-स्वरूप-दिग्दर्शन है।

(ग)-पश्वालम्भनविज्ञान-निबन्धन-पारिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन—

प्रकृतिसिद्ध-आग्नेयसौम्य-आधिदैविक-नित्ययज्ञ की स्वरूपसिद्धि का अन्यतम-साधनद्रव्य माना गया है-पशु। बिना पशु के प्रकृतिजगत् का कोई भी यज्ञ सुसम्पन्न-नहीं -नहीं होसकता। यज्ञकर्म की इत्थंभूता स्वरूपसिद्धि के लिए ही सौरसम्वत्सर-प्रजापति से अभिन्न-पार्थिव-स्तौम्यत्रैलोक्य में व्याप्त-द्यावापृथिव्य-मध्यम-प्रजापति के द्वारा द्यावापृथिव्य पञ्चविध-पशुओं का स्वरूप-निर्माण हुआ है, जैसाकि-'यज्ञार्थं पशवः सृष्टा' इत्यादि मनुवचन से भी स्पष्ट है। प्रकृत में दर्शपूर्णमासेष्टि नामक यज्ञकर्म की इतिकर्तव्यता प्रक्रान्ता है जिसमें आहुतिद्रव्य माना गया है तण्डुलों का-पिष्टद्रव्य, जिसकी पारिभाषिकी संज्ञा है-'पुरोडाश'। इसी सम्बन्ध में श्रुति ने यह प्रश्न उठाया है कि जबकि बिना पशु के, कोई सा भी यज्ञकर्म सम्भव नहीं, और दर्शपूर्णमास में केवल पुरोडाशद्रव्य ही आहुति के लिए नियत है तो फिर इस इष्टि को यज्ञ कैसे मान

मध्यस्थ बनाए केवल प्राण की स्वरूप-व्याख्या ही सम्भव नहीं है। क्योंकि प्राणी-रूपा मूलाभिव्यक्ति से असंसृष्ट-विशुद्ध प्राण तो रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-तन्मात्राओं से अतीत बनता हुआ अपने अधामच्छद-धर्म्म से भौतिक विश्व की सीमा से सर्वथा ही बहिर्भूत तत्व है, जिसका कि-'असद्वेइदमग्र आसीत्-किंतदसदासीत्?-ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्। के ते ऋषयः?, प्राणा वा ऋषयः' (शतपथे ६।१।१।१) इत्यादिरूपेण यशोगान हुआ है। निष्कर्षतः-भूतानुगति के बिना केवल प्राण-प्राण का उद्घोष न केवल निरर्थक ही है, अपितु भूतशून्या (यज्ञकर्म्मशून्या) केवल प्राणकल्पना से तो मानव का आध्यात्मिक-प्राण कालान्तर में सर्वथा रिक्त ही बन जाता है, और उस अवस्था में तो सत्ताभिन्न भी भौतिक-यज्ञकर्म्म-इस कल्पनावादी के लिए असत् ही (अभावात्मक ही) बना रह जाता है *। तभी तो श्रुतिने-'प्राणो-पह्वेन कल्पताम्' इस सात्विक-आदेश के द्वारा अध्यात्मिक-प्राण के साथ आधिभौतिक-यज्ञकर्म्म का अनुगमन अनिवार्य्य माना है।

मानते हैं-मेघ-किंवा मेद्-'प्राण' की भी संज्ञा है। किंवा प्रमुखरूपेण प्राण की ही संज्ञा है। तदा किम्?। प्राण किस का नाम नहीं?। जितने भी नाम सुने जाते हैं, सभी पहिले 'प्राण' ही तो हैं। अग्नि वायु-विद्युत् वृष्टि-स्तनयित्नु-आदि-आदि सब शब्द प्राणों के ही स्वरूप-संग्राहक हैं तो क्या एतद्रूप भूत-भौतिक-सर्ग्गो का अभाव प्रमाणित होगया एतावता ही?। पुरुष-अश्व-गौ-अवि-अज-नामक सुप्रसिद्ध नामपञ्चक भी प्राणपञ्चक से ही अनुप्राणित है। द्यावापृथिव्य वैश्वानरप्राण-का ही नाम-'पुरुषप्राण' है मनोवाग्गर्भित-ज्योतिर्म्मय-प्राण का ही नाम गौप्राण है, प्रतिफलित-सौरप्राण का ही नाम 'अश्वप्राण' है हरितवर्ण-प्रवत्त क-आन्तरिक्ष्य-प्राण का ही नाम 'अविःप्राण' है एवं पार्थिवरूपाशानुगत गायत्रप्राण ही 'अजप्राण' है। तो क्या एतन्नामक-प्राणियों का अभाव मान लिया जायगा?। नेति होवाच।

जिस प्राण की जिस प्राणी में प्रधानरूपेण अभिव्यक्ति रहती है वह प्राणी उस-प्राण के नाम से ही व्यवहृत होने लगा है। और यों पञ्चविध द्यावापृथिव्य-पुरुष-अश्वादि पाँचों प्राणों से प्रमुखरूपेण तत्सारमा प्राणी भी पुरुष-अश्वादि नामों से ही व्यवहृत होपड़े हैं। 'कूर्म्म' शब्द को ही लीजिए। आदित्यप्राण विशेष का ही नाम 'कूर्म्म' (कछुआ) है। क्योंकि अमुक-जलीय-प्राणी-विशेष में इस कूर्म्मप्राण की ही प्रधानरूपेण अभिव्यक्ति रहती है। अतएव यह प्राणी भी 'कूर्म्म' नाम से न केवल प्रसिद्ध ही होगया है अपितु चयनयज्ञानुगता प्राणचितियों के क्रम में अपेक्षित-प्राणात्मक-कूर्म्म की चिति के लिए 'अथ कूर्म्ममुप दधाति' रूपेण कूर्म्मप्राणी (कच्छुप) का ही ग्रहण किया जाता है। केवल नीरूप-अप्राण-कूर्म्म-प्राण-मात्र के नामोद्घोष से तत्तक यज्ञकर्म्म की सिद्धि कदापि सम्भव नहीं है जबतक कि भूतशरीरी कूर्म्म का संग्रह नहीं कर लिया जाता।

---

*-असन्नेव स भवति-असद् ब्रह्मे ति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मे ति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥
—उपनिषद्

आगे चलकर ऐतिहासिक-तथ्य का स्मरण कराते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि "भौम-मानवप्रजापति से आरम्भ कर सायकायन-श्यापर्ण-नामक सुप्रसिद्ध याज्ञिक पर्य्यन्त तो पाँचों पशुओं का ही नियमत' आलम्भन होता रहा यजनयज्ञ में। आगे चलकर हमारे समय में (आज से पाँच सहस्र-वर्ष पूर्व-कलियुगारम्भतः किञ्चिदिव पूर्व याज्ञवल्क्य के समय में) केवल प्राजापत्य, तथा वायव्य, नामक दो अज-पशुओं का ही आलम्भन शेष रह गया जिसकी अगली ब्राह्मणों में वैज्ञानिकी-उपपत्ति बतलाई जाती है- "प्राजापत्यं चरफा आलभन्ते'-इत्यादिरूपेण। स्वयं-प्रक्रान्त कर्म्मानुगत-ब्राह्मणसन्दर्भ की समाप्ति से अनुगत यह स्पष्टीकरण भी 'पश्वालम्भन के उक्त तथ्यार्थ का ही समर्थन कर रहा है कि- 'पुरुष-अश्व-गौ-अवि-अज-नामक-पाँचों के मेध्यरूप-पवित्र-भाग की उत्क्रान्ति से ही क्यों कि किंपुरुष-गौर-गवय-उष्ट्र-नामक पाँच उत्क्रान्तमेधा-मेधशून्य-पशुओं की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है। अतएव कदापि इनको अशनपथानुगामी नहीं बनाना चाहिए- "तस्मादेतेषां पशूनां नाशितव्यम्। अपक्रान्तमेधा ह्येते पशव।

पश्वालम्भन प्रयुक्त हिंसादोष से क्या यज्ञकर्म्म हिंसामय नहीं बन जाता?, जबकि इस यज्ञकर्म्म का पारिभाषिक एक नाम माना गया है- 'अध्वर', जिसका अर्थ है- अहिंसा-कर्म?। और फिर पशु भी तो विश्व के वैसे प्राणी हैं जिनको स्वस्वार्थसिद्धि के लिए मारना क्या मानवधर्म्म कहा जासकता है?, इत्यादि के आपातरमणीय-नितान्त भावुकतापूर्ण प्रश्नों के समाधान के लिए ही हमें प्रक्रान्त कर्म्म में-'पश्वालम्भनविज्ञान' का स्वरूप-विश्लेषण-प्रयास करना पड़ा है जिसके द्वारा आस्थापूर्वक यह कहा जासकता है कि, तद्विज्ञान-समन्वय के अनन्तर काल्पनिक-करुणावरुणालय-अध्यात्मवादियों की आपातरमणीया सभी कल्पनाएँ समाहित होजायँगी इसी निवेदन के साथ यह कर्णकटु निदर्शन अग्रैव उपरत किया जारहा है।

(घ) पञ्चप्राणात्मक-पशुस्वरूपविज्ञानं-निबन्धन-परिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन-

बुद्धिवादाभिनिविष्ट-विशुद्ध-अध्यात्मवादी-भावुक-मानव अपनी आध्यात्मिकी प्राणकल्पना के आवेश में यह भूल जाता है कि, 'प्राण की स्वरूपाभिव्यक्तित्व के क्षेत्र का ही नाम 'प्राणी' है। और यों प्राण तथा प्राणी में कोई अन्तर नहीं है। वस्तुस्थिति तो वास्तव में ऐसी है कि बिना प्राणी की

या ऽएते पशव यद्वै किञ्च-उत्सन्नमियं तस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा। तदत्रैते पशवो गतास्तत सम्भरामः' इति। न तथा कुर्यात्। यो वाऽएतेषामावृतं (पद्धतिं), ब्राह्मण (विज्ञानं) च न विद्यात् तस्यैतऽउत्सन्नाः स्युः। स एतानेव पञ्चपशूनालभेत-यावदस्य वश स्यात्। तान् हैतान् प्रजापतिः प्रथम आलेभे, श्यापर्णः सायकायनोऽन्तिमः। अथ ह स्मैतानेवान्तरेण-आलभन्ते। अथैतर्हीमौ द्वावेवालम्भेते प्राजापत्यश्च, वायव्यश्च। तयोरतो ब्राह्मण (विज्ञानं) उच्यते।

—शतपथब्राह्मणे ६।२।१।३८-३८-३९

प्राकृत-प्राणी स्वतः ही स्व-स्व-प्राकृतिक क्षेत्रों में शिक्षापटु बन जाते हैं। प्रकृति के अतिरिक्त मानव में 'और भी कुछ' अभिव्यक्त है, जो मानवेतरों में अभिव्यक्त नहीं है। वह 'और कुछ' ही 'पुरुष' कहलाया है। इसी पुरुष का नाम है 'अव्ययात्मरूप-प्रकृत्यतीत-अतएव दिग्देशकालातीत-वह शाश्वत सनातन-धर्म्म *, जिसने मानव को इतर प्राणिवर्ग से पृथक् कर रखा है, और इसी आधार पर मानव को इतर प्राणियों के समतुलन में 'विशेष' माना गया है ×।

विशेषभावापन्न-शाश्वतधर्म्मरूप-दिग्देशकालातीत-आत्मपुरुष और सामान्य भावापन्ना-परिवर्त्तन शीला-दिग्देशकालानुगता 'शरीरप्रकृति' इन दोनों के समन्वितरूप का ही नाम मानव है। और ऐसा मानव अपने दिग्देशकालातीत-आत्मपुरुषरूप-शाश्वतधर्म्म से ही दिग्देशकालावच्छिन्ना प्रकृति को नियन्त्रित रखता है। इस नियन्त्रण से नियन्त्रिता विश्वप्रकृति कदापि उच्छृङ्खला नहीं बन पाती। यदि मानव अपने पुरुषार्थरूप आत्मपुरुषात्मक-शाश्वतधर्म्म के प्रति निरपेक्ष बनता हुआ केवल प्रकृतिवादी किंवा दूसरे शब्दों में दिग्देशकालानुगत-केवल-वस्तु मानवादी-प्राकृत-मानव ही बना रहा जाता है, तो उस अवस्था, किंवा आत्यन्तिक-पतन-रूपा दुरवस्था में धर्म्म के परित्यायक-लक्षण ही शाश्वतधर्म्म का स्थान अपहृत कर बैठते हैं, जैसेकि धर्म्म का परित्यायक प्रतीकरूप मात्र-'अहिंसा' भाव भी आज भ्रान्तिवश धर्म्म ही नहीं, अपितु 'परमधर्म्म' बन बैठा है। और दुर्भाग्य तो यह है कि बड़े बड़े सांस्कृतिक-विद्वान् भी इसी 'परमधर्म्म' के यशोगान में आत्मलीन बनते हुए 'गतानुगतिकन्याय' को ही अक्षरशः चरितार्थ करते आरहे हैं। आज का सम्पूर्ण भारतराष्ट्र इसी प्रतीकधर्म्म के प्रवाह में सर्वात्मनैव स्वरूप-विस्मृत होता आरहा है, किंवा होगया है, जिससे बढ़ा सांस्कृतिक पतन इसका और क्या होगा!।

प्रतीकात्मक-धर्म्म के स्वरूप-व्याख्याता धर्म्मशास्त्र ने (स्मृतिशास्त्र ने +) प्रतीकधर्म्म को लक्षणात्मक धर्म्म ही माना है जैसाकि आगे के-वचनों से स्पष्ट है—

---

* ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाममृतस्याव्ययस्य च।
"शाश्वतस्य च धर्म्मस्य"—सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
—गीतायाम्

×—आहार-निद्रा-भय-मैथुनानि-सामान्यमेतत्-पशुभिर्नराणाम्।
धर्म्मो हि तेषामधिको विशेषः, धर्म्मेण हीना पशुभिः समानाः॥
—नीतिसूक्ति

+—श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेय, धर्म्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये, ताभ्यां धर्म्मो हि निर्बभौ॥
—मनुः २।१०।

क्योंकि प्राणी ही प्राण का स्वरूप-संग्राहक बना करता है, किंवा भूत ही प्राण के अन्न-र्यामात्मक सम्यग्धानुग्रह का कारण बनता है। जिस इस तथ्य को विस्मृत कर विगत शताब्दियों से हमारे शिक्षितसमाज में काल्पनिक-अध्यात्मवाद के व्यामोहनरूप महान् मद से ग्रस्त होते हुए भूतानुगत धर्म-कर्मनिबन्धन उस सम्पूर्ण–लौकिक–अभ्युदय-से अपने आपको और अपने साथ साथ ही सम्पूर्ण राष्ट्र को उस सीमापर्य्यन्त पराङ्मुख ही प्रमाणित कर लिया है जिससे भूतानुबन्धी-समस्त-आचारात्मक-कर्मसौन्दर्य्य तो होगया है विलुप्त, एवं तत्सम्बन्ध में शेष रह गई हैं आधारशून्या कल्पनाप्रसूता वैसी शून्य–शून्य कल्पनाएँ *मात्र, जिनसे कालान्तर में मानवीय मन सर्वथा रिक्त ही बन जाया करता है, और दुर्भाग्यवश कर्मशून्या* इत्थंभूता रिक्तता ही इन काल्पनिकों की दृष्टि में उसी प्रकार 'शान्ति' बन बैठती है, जैसेकि एक मेधावी–प्रज्ञाशील–प्रत्युत्पन्नमति–भी बालक अयोग्य–अभिभावकों के निःसीम शासन से अपने स्वाभाविक–उद्गमों से सर्वथा शिथिल बनता हुआ जब तूष्णीरूप जड़भाव में आजाता है, तो तदभिभावक ऐसे विकृत–बालक को 'योग्य'–'सयाना' कहने, मान बैठने की भयावहा भ्रान्ति करने लग पड़ते हैं।

अलमतिपल्लवितेन। प्रस्तुत विज्ञान प्रसङ्ग में–प्राण, और प्राणी के रहस्यात्मक उस वैज्ञानिक स्वरूप का ही स्वरूप–विश्लेषण–प्रयास हुआ है जिस विश्लेषण की प्रमुख–आधारभूमि पाङ्क्त (पञ्चावयव) यज्ञ से अनुगत-द्यावापृथिव्य-पाँच प्राणपशुओं का स्वरूप-समन्वय ही माना गया है, एवं इन्हीं पञ्चविध-प्राणपशुओं के माध्यम से पञ्चविध प्राणी-पशुओं का स्वरूप-समन्वय प्रयास हुआ है, और यही प्रक्रान्त-परिच्छेद का पारिभाषिक-संक्षिप्त-निदर्शन है।

(छ)–अहिंसा–हिंसा स्वरूप–विज्ञान–निबन्धन–पारिभाषिक–स्वरूप–दिग्दर्शन–

जिसप्रकार आज के भाषाविद्-बुधने शब्दार्थनिर्वचनानुगता पारिभाषिकी निष्कर्ष-मर्य्यादा का उल्लंघन करते हुए त्याग–तपस्या–बलिदान–नैतिकता–समानता–मानवता–मानवधर्म्म–आदि आदि शब्दों का दिग्देशकालधर्म्माभिमर्ष से आकर्षितमना बनते हुए यथेच्छ काल्पनिक-अर्थ मान लिया है तथैव उसी काल्पनिकता से आज 'हिंसा–अहिंसा' शब्द भी समन्वित होरहे हैं। यही कारण है कि जिन्हें शास्त्रपरिभाषा में 'धर्म्मलक्षण' (धर्म्म के परिचयात्मक बाह्य चिन्ह) कहा गया है वे आज स्वयं ही 'धर्म्म' का स्थान ग्रहण कर बैठे हैं जिसके आधार पर ही–'अहिंसा परमो धर्म्मः' आदि वाक्यों पर ही आज धर्म्मस्वरूप का पर्य्यवसान समझा जाने लगा है जबकि तत्त्वतः वस्तुस्थिति कुछ और ही है।

धर्म्म को जब प्राकृत-प्रकृतिसिद्ध–मान लिया जाता है तभी इसप्रकार की भ्रान्तियों को प्रवेशावसर मिला करता है। आज के प्रकृतिवादी मानव का ऐसा ही कुछ महान् व्यामोहन है कि 'मानव को प्रकृति के अनुसार ही चलना चाहिए'। बात सुनने में भी प्रिय है और बुद्धिवादरप्रथा मान्य भी। किन्तु मानव का स्वरूप केवल प्रकृति ही होता तबतो उक्त 'बात' का सर्वाङ्गीण समादर सम्भव था–मानवेतर उन पशु–पक्षी-आदि इतर प्राकृतिक-प्राणियों की भाँति जिनका जन्म से इति पर्य्यन्त का (जन्मतः मृत्युपर्य्यन्त का) समस्त जीवनवृत्त सर्वात्मना प्रकृतिपरवश ही बना रहता है। अतएव वे जिन्हें प्रकृत्या परिपूर्ण माना गया है जबकि मानव केवल प्रकृति की दृष्टि से अपूर्ण ही माना गया है। अतएव तत्स्वरूपानुगता पूर्णता के सम्पादन के लिए तो मानव के लिए स्वतन्त्ररूप से 'शिक्षाव्यवस्था' ही करनी पड़ती है जबकि मानवेतर

प्राकृत प्राणी स्वतः ही स्व-स्व-प्राकृतिक क्षेत्रों में शिक्षापट्ट बन जाते हैं। प्रकृति के अतिरिक्त मानव में 'और भी कुछ अभिव्यक्त है, जो मानवेतरों में अभिव्यक्त नहीं है। वह 'और कुछ' ही 'पुरुष' कहलाया है। इसी पुरुष का नाम है 'अव्ययात्मरूप-प्रकृत्यतीत-अतएव दिग्देशकालातीत-यह शाश्वत सनातन-धर्म्म *, जिसने मानव को इतर प्राणिवर्ग से पृथक् कर रखा है, और इसी आधार पर मानव को इतर प्राणियों के समतुलन में विशेष माना गया है ×।

विशेषभावापन्न-शाश्वतधर्म्मरूप-दिग्देशकालातीत-आत्मपुरुष और सामान्य भावापन्ना-परिवर्त्तनशीला-दिग्देशकालानुगता 'शरीरप्रकृति' इन दोनों के समन्वितरूप का ही नाम मानव है। और ऐसा मानव अपने दिग्देशकालातीत-आत्मपुरुषरूप-शाश्वतधर्म्म से ही दिग्देशकालात्मिका प्रकृति को नियन्त्रित रखता है। इस नियन्त्रण से नियन्त्रिता विश्वप्रकृति कदापि उच्छृङ्खला नहीं बन पाती। यदि मानव अपने पुरुषार्थरूप आत्मपुरुषात्मक-शाश्वतधर्म्म के प्रति निरपेक्ष बनता हुआ केवल प्रकृतिवादी किंवा दूसरे शब्दों में दिग्देशकालानुगत-केवल-बद्ध मानवादी-प्राकृत-मानव ही बना रह जाता है, तो उस अवस्था, किंवा आत्यन्तिक-पतन-रूपा दुरवस्था में धर्म्म के परिचायक-लक्षण ही शाश्वतधर्म्म का स्थान अपहृत कर बैठते हैं, जैसेकि धर्म्म का परिचायक प्रतीकरूप बाह्य-'अहिंसा' भाव भी आज भ्रान्तिवश धर्म्म ही नहीं, अपितु 'परमधर्म्म' बन बैठा है। और दुर्भाग्य तो यह है कि, बड़े बड़े सांस्कृतिक-विद्वान् भी इसी 'परमधर्म्म' के यशोगान में आत्मलीन बनते हुए 'गतानुगतिकन्याय' को ही अक्षरशः चरितार्थ करते जारहे हैं। आज का सम्पूर्ण भारतराष्ट्र इसी प्रतीकधर्म्म के प्रवाह में सर्वात्मनैव स्वरूप-विस्मृत होता जारहा है, किंवा होगया है जिससे बड़ा सांस्कृतिक पतन इसका और क्या होगा ?।

प्रतीकात्मक-धर्म्म के स्वरूप-व्याख्याता धर्म्मशास्त्र ने (स्मृतिशास्त्र ने +) प्रतीकधर्म्म को लक्षणात्मक धर्म्म ही माना है जैसाकि आगे के-वचनों से स्पष्ट है—

---

* ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
"शाश्वतस्य च धर्म्मस्य"—सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

—गीतायाम्

×—आहार-निद्रा-भय-मैथुनानि-सामान्यमेतत्-पशुभिर्नराणाम्।
धर्म्मो हि तेषामधिको विशेषः, धर्म्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

—नीतिसूक्ति

+—श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेय, धर्म्मशास्त्रं तु वै स्मृति।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये, ताभ्यां धर्म्मो हि निर्बभौ।

—मनुः २।१०।

धृति -क्षमा-दमो-ऽस्तेयं-शौच-मिन्द्रियनिग्रहः ।
धी विद्या-सत्य-मक्रोधो दशकं धर्म्मलक्षणम् ॥
—मनुः ६।६२।

अहिंसा-सत्यमस्तेयं-शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एत सामासिकं धर्म्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनु ॥
—मनु १०।६ ।

धृति-क्षमा-दम-अस्तेय-शौच -इन्द्रियनिग्रह-धी-विद्या-सत्य-अक्रोध इस दशक को राजर्षि ने धर्म्म का लक्षण, अर्थात् 'प्रतीक' माना है जिसका तात्पर्य्य यही निकलता है कि, जो मानवश्रेष्ठ अव्ययपुरुषनिबन्धन शाश्वतधर्म्म पर निष्ठा-पूर्वक आरूढ रहता है, ऐसे धर्म्मशील मानवश्रेष्ठ के अव्यय आत्मपुरुष के अनुग्रह से अनुगत प्रकृतिरूप बुद्धि-मन-इन्द्रिय-शरीर आदि वर्ग धृति-क्षमा-आदि लक्षणों से स्वतः ही समन्वित रहते हैं। बड़े से बड़े सांसारिक-कष्ट को सह जाना ही धृतिगुण है। शक्ति की विद्यमानता में भी अपराधी को दण्ड न देना ही क्षमागुण है। मात्रात्मक-वीर्य्य की अभिव्यक्ति में भी मनस्तत्त्व का संयम कर लेना दमोगुण है। परद्रव्य के प्रति सदैव तटस्थता रखना 'अस्तेयगुण' है। स्नान-शुद्धि-आदि का अनुगमन ही 'शौचगुण' है। ऐन्द्रियक विषयों के पुरोऽवस्थित रहने पर भी उनके प्रति तटस्थ बने रहना 'इन्द्रियनिग्रहगुण' है। तात्त्विक संवित्-भाव ही 'धीगुण' है। सच्छास्त्रानुशीलन-जनित-संस्कार ही 'विद्यागुण' है। यथाभूत विषयों का स्वीकरण ही 'सत्यगुण' है। एवं क्रोधनिमित्तोपस्थिति पर भी क्रोध न करना 'अक्रोधगुण' है। आगे चल कर राजर्षिने सामासिकधर्म्मरूपेण 'अहिंसा' का भी धर्म्म-लक्षणों में समावेश कर लिया है। एवमेव-दया-करुणा-आदि आदि अन्यान्य भी कतिपय ऐसे मानवीय-सद्गुण हैं जिनका धर्म्मलक्षण-गणना में संग्रह कर लिया जासकता है।

'दशकं धर्म्मलक्षणम्' वाक्य ही स्वाक्षरेण यह प्रमाणित कर रहा है कि-धृति-क्षमा-दम-दया-करुणा-अहिंसा-शौच-आदि स्वयं धर्म्म नहीं हैं, अपितु ये तो धर्म्म के लक्षण हैं अर्थात् धर्म्म के प्रतीकमात्र हैं जिन के पूरक इन्हीं के विरुद्ध भाव बने रहते हैं। और देशकाल-पात्र-द्रव्य-श्रद्धा आदि परिस्थिति-जनित-साधन-परिग्रहों के तारतम्य से अनुपातिता अपेक्षा के अनुबन्ध से धर्म्मलक्षण ही परिवर्त होजाते हैं-अधर्म्मरूप में एवं धर्म्मलक्षणों के प्रतिद्वन्द्वी-भाव परिणत होजाते हैं धर्म्मरूप में जिन का उदाहरण शास्त्रों में विस्तार से उपवर्णन हुआ है। अमुक परिस्थिति में जो अहिंसा धर्म्म (धर्म्मलक्षण) है वही अमुक परिस्थिति में सर्वथा अधर्म्म बन जाती है। दया का धर्म्मत्व परिस्थिति विशेष में सर्वथैव अधर्म्मरूप में परिणत होजाता है। अतएव परमवैज्ञानिक-भगवान् याज्ञवल्क्य को प्रतीकात्मक-लक्षणात्मक-परिवर्त न शील-प्राकृतधर्म्म का यही स्वरूप-लक्षण करना पड़ा कि—

देशे काले उपायेन द्रव्यं श्रद्धा-समन्वितम् ।
प्राप्ते प्रदीयते यत् तत्सकलं धर्म्मलक्षणम् ॥
—याज्ञवल्क्यस्मृति १।६।

दूसरी दृष्टि से इन यथाकथित प्रतीक-धर्म्मों का समन्वय भी कीजिए। "दया धर्म्म का अङ्ग अवश्य बन सकती है, किन्तु दया स्वयं कभी अङ्गीरूपेण धर्म्म का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती"।

एवमेव 'अहिंसा' को धर्म्म का अङ्ग माना जासकता है, किन्तु कदापि 'अहिंसा' को 'अङ्गी'-रूप 'परमधर्म्म' नहीं माना जासकता। दूसरे शब्दों में धर्म्म अवश्य ही सत्य-दया-अहिंसा-नामों से अभिनीत होसकता है किन्तु कदापि सत्य-दया-अहिंसा-आदि को ही 'धर्म्म' नहीं कहा जासकता। क्योंकि विशेष परिस्थितियों में मिथ्याभाषण दण्डप्रहार-हिंसा-आदि भी धर्म्म के प्रतीक बनते देखे गए हैं। सत्य, और अनृत का, दया और दण्ड का, अहिंसा-और हिंसा का स्वरूप-विपर्य्यय ही धर्म्माधर्म्म का निर्णायक बना करता है। अतएव लक्षणात्मक-धर्म्म को शास्त्र ने 'सापेक्षधर्म्म' ही माना है, जिस में देश-काल-पात्र-द्रव्यादि के तारतम्य से परिवर्त्तन होता रहता है। धर्म्मलक्षणात्मक इत्थंभूत-प्राकृत धर्म्म का नियन्ता है धर्म्मरूप-अप्राकृत वह शाश्वतधर्म्म, जिस की सनातनता अक्षुण्णा मानी गई है, और जो दुर्भाग्यवश प्रकृतिव्यामोहननिबन्धन अनात्मवादात्मक-प्रकृतिवादरूप-बुद्धिवाद से आज मानवीय प्रज्ञाक्षेत्र से सर्वथैव 'निरपेक्ष' बन गया है। अतएव प्राकृतधर्म्मने, किंवा धर्म्म के लक्षणोंने ही आज भ्रान्तिवश 'धर्म्म' का स्वर्णसिंहासन अपहृत कर लिया है। एवं आत्मधर्म्मरूप अव्ययपुरुषधर्म्म से पराङ्मुख, प्रकृतिधर्म्मवादी-ऐसे ही मानवता-प्रेमी इत्थंभूत-सामयिक-तात्कालिक-धर्म्म को ही 'नैतिकता' 'मानवता' 'मानवधर्म्म' आदि विविध-उपाधियों से समलङ्कृत करते हुए इतस्ततः दंद्रम्यमाण हैं। इत्थंभूत-काल्पनिक धर्म्म में, अर्थात् मतवाद में आसक्त-व्यासक्त बने रहने वालों की भावुकता-पूर्णा दृष्टि में ही 'अहिंसा' का काल्पनिक घोष प्रधान बना हुआ है, जिस अहिंसा का शास्त्रीया पारिभाषिकी उस-'अहिंसा' से मनाक्-किञ्चित् भी तो सम्पर्क नहीं है, जिस शास्त्रीया 'अहिंसा' की पूरिका 'हिंसा' * ही मानी गई है। कथमिति चेत्? प्रश्न के वैज्ञानिक-समाधान के लिए ही तो प्रक्रान्त-कर्म्मानुगत हिंसा-अहिंसा का वैज्ञानिक-स्पष्टीकरण-प्रयास हुआ है, और यही प्रक्रान्त कर्म्म के अन्तिम विज्ञानोदाहरण का संक्षिप्त-स्वरूप-दिग्दर्शन है।

१२—(३)

• • • • •

*—या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे।
'अहिंसा'-मेव तां विद्याद्वेदाद्धर्म्मो हि निर्बभौ॥
—मनु ५।४४

श्री

(१३)–वेदिकाकरणानुगत–स्तम्बयजुर्हरणकर्म्म–प्रसङ्गतः

'निदान'-शब्द-निबन्धना--परिभाषा

४

क्रमप्राप्त यथानामान्वित तेरहवें कर्म्मप्रकरण में अनेक पारिभाषिक-तथ्यों के अतिरिक्त 'निदान शब्दानुबन्धी'–जिस तथ्य का स्वरूप-विश्लेषण हुआ है, उसका भी आगमोक्त तथा पुराणोक्त पारिभाषिक-आख्यानोपाख्यानों के तत्त्वार्थ-समन्वय में अन्यतम ही स्थान माना जायगा। यही नहीं, निदानानुगत-विज्ञान के सम्बन्ध में यह कह देना भी अतिशयोक्ति नहीं मानी जायगी कि, निदानविद्यानुगत-प्रतीकात्मक-सङ्केतों के समन्वय के बिना न तो वेदशास्त्र की आख्यानभाषा का ही समन्वय सम्भव एवं न आगम तथा पुराण–शास्त्र के रहस्य का ही समन्वय-सम्भव। उसी महत्त्वपूर्ण निदानविद्या के सम्बन्ध में अत्र प्रस्तावनार्थ उदाहरणरूपेण किञ्चिद् निवेदन कर दिया जाता है।

'अतत् को तत् समझ लेना' ही निदानशब्द का निष्कर्षार्थ है जिसे संस्कृतभाषा में–'आरोप' कहा गया है। जो अमुक वस्तु नहीं है किन्तु उसमें अमुक वस्तु का आरोप कर लिया जाता है इस आरोप-विधि का नाम ही निदानविधि है, एवं लोकव्यवहार में प्रायः सर्वथैव लौकिक–निदानभावों के द्वारा व्यवहार की व्यवस्था देखी सुनी जाती है। उदाहरण के लिए–सहोदर भ्राता में दक्षिणभुजा का आरोप लोकप्रसिद्ध है। दक्षिणहस्तानुगत–कर्म्मकौशलरूप सादृश्य ही इस निदानारोप का आधार है। शोक का नैदानिक-आरोप कृष्णवस्त्र में इसलिए कर लिया जाता है कि शोक संविग्न मानव का मन ज्ञानज्योति से अभिभूत हो जाता है, जिस अभिभूति का स्वरूप अनिरुक्त कृष्ण–भाव से अनुगत माना गया है *। कीर्ति का नैदानिकरूप श्वेतच्छत्र माना गया है। शान्ति–समृद्धि का निदान हरित दूर्वा माना गया है। अन्ततश्च अशान्ति का निदान–'रक्तवस्त्र' माना गया है। स्टेशनों की हरि झण्डी का शान्ति सूचकत्व एवं लालझण्डी का विघ्न-सूचकत्व प्रसिद्ध ही है।

निगम (वेद) आगम तथा पुराणशास्त्र–त्रयी के यच्चयावत् 'असदाख्यान' (कल्पित कथानक) उसी निदानभाव के आधार पर प्रतिष्ठित हैं जिनका साङ्केतिक-रहस्यात्मक-पारिभाषिक-समन्वय न कर सकने के कारण ही आज भारतीय-संस्कृति का गौरवपूर्ण आख्यानप्रकरण सर्वसाधारण की कौन कहे, बड़े बड़े

---

* विश्वातीत-अव्यय-तत्त्व अनुपाख्यतम है घनतिमिर एवं आँखें मीचने से प्रतीयमान-अन्धकार अनिरुक्ततम है, एवं कृष्णवर्ण (काला रंग) निरुक्ततम है। इसप्रकार तमोभाव तीन विवर्त्तभावों में परिणत माना गया है।

विद्वानों के लिए भी मतिविभ्रम का ही कारण बना हुआ है। एवमेव भारतीय-यह समस्त-उपासनाकाण्ड भी इसी निदानविद्या के अभिभव से आज भावुक मानवों की दृष्टि में आपातरमणीया भ्रान्त आलोचना का ही क्षेत्र बना हुआ है, जिसके परिणाम-स्वरूप ही कर्म्म-उपासना-ज्ञान-त्रयी-से अनुगता मध्यस्था उपासना आज सर्वथैव अपने पारिभाषिक-तत्त्व से स्मृतिगर्भ में विलीन होगई है +। यों एकप्रकार से सम्पूर्ण आर्षशास्त्र निदानविद्यात्मिका सङ्केतविद्या की विस्मृति से आज के युग के लिए, विशेषत प्रतीच्य-मतविज्ञान-सम्पर्क-जनिता भारतीया नवशिक्षिता प्रज्ञा के लिए 'उपहास' की ही क्रीडास्थली बना रह गया है।

जैसाकि, पूर्व के बारहवें संस्मरण प्रसङ्ग में निवेदन किया गया है, प्राण और प्राणी, दोनों शब्द भारतीय-विज्ञानकाण्ड में अभिप्रार्थ के ही संग्राहक बने हुए हैं—(देखिए-पृष्ठ सं ५८ से ६ पर्य्यन्त), जिस अभिप्रायकता का निष्कर्ष यही निकलता है कि, वस्तुस्वरूप की स्थिति-परिस्थिति-के अनुपात-तारतम्य से कहीं अमुक शब्द 'प्राण' का ग्राहक बन जाता है, तो वही शब्द 'प्राणी' का अनुग्राहक बन जाता है। इस विपर्य्यय का आधारभूत तथ्य ही 'आरोप' लक्षण वह निदानभाव है जिसका एक लौकिक उदाहरण 'दक्षिणभुजा' से अनुगत 'सहोदरभ्राता' भी बना हुआ है। जिस आरोपात्मक-सम्बन्ध-विशेष से लोक-व्यवहार में दो सहोदर भ्राता परस्पर एक दूसरे की दक्षिणभुजा कहलाते हैं वह सम्बन्ध-विशेष ही-निदानमात्र' है। पञ्चाङ्गुलि से युक्त-पाणि-भाव से समन्वित दक्षिणहस्तानुगत-अध्यवसायात्मक-कर्म्मकौशल रूप महान् श्रम ही मानव के लोकजीवन की सफलता का प्रमुख आधारस्तम्भ माना गया है। सहोदर भ्राता परस्पर एक दूसरे के उसी प्रकार कर्म्मसहयोगी बने रहते हैं जैसेकि उनकी दक्षिणभुजा एवं दक्षिणहस्त। इसी सादृश्य से सहोदर भ्राताओं में आहार्य्यारोपविधा से दक्षिणभुजा, किंवा दक्षिणहस्त का आरोप होगया है, और यही 'निदान' का एक लौकिक उदाहरण बना हुआ है।

कहीं प्राणी से तदभिन्न तदाधारभूत प्राण का ग्रहण होजाता है इसी निदान के माध्यम से, जिसके उदाहरण भगवान् गणपति के वाहन मूषकराज बने हुए हैं। मूषक पार्थिव-ध्रुव-प्रतिष्ठा-प्राण का नाम है, जिसकी पारिभाषिकी संज्ञा ब्राह्मणग्रन्थों ने 'रस' मानी है। पार्थिव-घनतम-रसात्मक-प्रतिष्ठाप्राण ही वह 'मूषकप्राण' है जो भूपिण्ड से अनुगत एकोनपञ्चाशत् (४९) मरुद्गणों के मूलप्रवर्त्तक अतएव-'गणपति' नाम से प्रसिद्ध पार्थिव-प्राण की भी प्रतिष्ठा बना हुआ है। इसप्रकार समस्ता पार्थिवी विभूति ही प्रतिष्ठारूप-पार्थिव-गणपतिप्राण की भी प्रतिष्ठा क्योंकि भूकेन्द्राभिमुख-अन्तर्गर्भित-घनतम-रसात्मक-मूषकप्राण ही बना हुआ है। अतएव इस रसात्मक-मूषकप्राण को अवश्य ही पार्थिव-गणपतिप्राण का 'वाहन' मान लिया जासकता है। सुप्रसिद्ध मूषक नामक प्राणी (चूहे) में क्योंकि पार्थिव-रसात्मक-मूषकप्राण विशेषरूप से प्रधानरूप से अभिव्यक्त रहता है, अतएव यह प्राणी भी तत्प्राण के नाम से (मूषक नाम से) ही प्रसिद्ध होगया है जैसे कि कूर्म्मप्राणप्रधान अमुक प्राणी (कछुवा) भी 'कूर्म्म' नाम से लोक में प्रसिद्ध है जिससे अनुप्राणिता याज्ञिकी चिति का पूर्व में संस्मरण किया ही जाचुका है (देखिए पृ सं० ५९)। दृष्टि मूषकप्राणी पर है एवं मनोयोग तत्प्रतिष्ठात्मक-मूषकप्राण पर है। यही औपासनिक-निदानभाव है जिसे सर्वथा तत्त्वानुगत ही माना जायगा।

+ उपासना-निबन्धन-निदानभाव का व्याख्यात्मक 'भक्तियोगपरीक्षा' नामक बृहन्निबन्ध में ही सविस्तर प्रतिपादन देखना चाहिए।

प्राण, और प्राणी से अनुगता आरोपमूला तत्त्वात्मिका तथाभूता निदानविद्या के आधार ही यज्ञकर्म्मों में प्राकृतिक-प्राणों से कृतरूप भूत-भौतिक प्राणयान्-पार्थिव-सम्भारों-पदार्थों-परिग्रहों का सम्भार करते हुए 'आखुकरीष (चूहे के बिल की मिट्टी) का संग्रह भी अनिवार्य्य-माना गया है, जिसका सुविशद वैज्ञानिक-समन्वय तत्प्रकरण में ही द्रष्टव्य है। श्रुति * के अनुसार मूषक ही पार्थिवरस के परिज्ञाता हैं। तो क्या मानव पार्थिवरस का परिज्ञाता नहीं है ?, इस प्रश्न का समाधान रसात्मक वह मूषक-प्राण ही है जिसका सजातीयाकर्षण-सिद्धान्तानुसार मूषकप्राण के साथ ही प्रधान सम्बन्ध अभिव्यक्त होरहा है। वह रसात्मक मूषकप्राण तत्प्राणाकृतात्मा मूषकप्राणी के द्वारा संकलित मृद्भाग में ही क्योंकि उपलब्ध होता है। अतएव श्रुति ने यज्ञकर्म्म में उसका संग्रह अनिवार्य्य माना है।

पार्थिव गणपतिप्राण के विचलन से ही पार्थिवप्रजा विकम्पित होती है। यों विघ्नहर्त्ता गणपतिदेव विघ्नकर्त्ता भी बन जाया करते हैं। इनके इस विकम्पनात्मक विचलनधर्म्म का सर्वप्रथम तद्वाहनरूप-पार्थिव रसात्मक-मूषकप्राण पर ही प्रभाव होता है। अतएव सर्वप्रथम तत्प्राणाकृतात्मा मूषक (चूहे) ही मरने लगते हैं और यही 'महामारी' 'जनपदविध्वंसिनी' (प्लेग आदि-नाम्ना प्रसिद्ध व्याधियों) की उपक्रमभूमि मानी गई है। इसप्रकार मूषकप्राणी अनेक दृष्टिकोणों से गणपति के वाहनरूप मूषकप्राण का वैज्ञानिक-माध्यम बना हुआ है जिस इस अत्यन्त रहस्यपूर्ण-सृष्टिविज्ञाननिबन्धन-प्राणात्मक तथ्य के समन्वय न करने के कारण ही हमारी आजप्रजा भारतीय-उपासनाक्रम के महत्त्वपूर्ण अङ्गों का भाव उपहास करने-लग पड़ती है, और कहने लग पड़ती है कि – 'गणेशजी इतने मोटे और उनका वाहन छोटासा चूहा'—इति नु अश्रवणम् ! अश्रवणमेव !!

यह सर्वथा अविस्मरणीय है कि, 'निदान' के माध्यम से अनुप्राणित आख्यानोपाख्यानों का केवल एक ही विभाग है जबकि तद्व्यतिरिक्त सब प्रकार के आख्यानोपाख्यान तत्त्वात्मना तत् के तद्भाव से ही समन्वित हुए हैं। आठ प्रकार के आख्यानों में से आठवाँ 'असदाख्यान' नामक एक विभाग ही आरोपात्मक-निदानभाव से समन्वित है जिसके अमुक महान्-लक्ष्य की सिद्धि के लिए ही ऋषिप्रज्ञा की ओर से नक्षत्रमण्डल-पर्वतमें गिरियों-नदनदी-रूपेण विभिन्न वर्गीकरण हुआ है। अर्थात् कुछ एक आख्यान तो निदानविधि से नक्षत्रों के आधार पर उपकल्पित हैं कुछ एक पर्वतों के माध्यम से एवं कुछ एक नद-नदियों के माध्यम से समन्वित हुए हैं जिन इन सभी वैज्ञानिक-रहस्यों का यत्र तत्र प्रसङ्गवशात् समन्वय-प्रयास हुआ है।

'असदाख्यान' का लौकिक अर्थ-निष्कर्ष है— मिथ्या कथाएँ' अर्थात्-'गढ़ी हुई कहानियाँ' जिन इन कथा-गाथा-रूपा कहानियों के माध्यम से ही ऋषिप्रज्ञा ने सर्वात्मना अनेक तात्त्विक-रहस्यों से भारतीय-प्रजा को सुपरिचित करा दिया है। आज की सभ्य-भाषा (इंगलिश) में जिसे—

* आखुकरीषं सम्भरति। आखवो ह वा अस्यै पृथिव्यै रस विदुः। तस्मात्तेऽधोऽधः इमां पृथिवीं चरन्तः पीविष्ठाः। अस्यै हि रसं विदुः। तत्-अस्याऽएवैनमेतत् रसेन समर्द्धयति। तस्मादाखुकरीषं सम्भरति।

— शतपथब्रा० २।१।१।७

'माइथालोजी' कहा जाता है, यही तात्पर्य 'असदाख्यान' का है। यदि 'माइथा' को अनुकरण—आदरय से—'मिथ्या मान लिया जाता है, तो-शनायक 'लॉजी' के सम्बन्ध से 'माइथालोजी' का निष्कर्षार्थ भी 'मिथ्याज्ञान –'झूँठी कहानियाँ' ही प्रमाणित होजाता है जिसका बालोपलालनात्मक-शिक्षणक्रम की दृष्टि से अत्यन्त ही उपयोग माना गया है, जिस इत्यभूता उपयोगिता का क्षेत्र केवल एक प्रकार का ही आख्यान विभाग है, जबकि एतद्रिक्त सत-विभाग तो सर्वथा तद्भावापन्न—वास्तविकी—ही आख्यान माने गए हैं। अतएव जो महानुभाव वैदिक—पौराणिक—समस्त आख्यानोपाख्यानों को एकदेशतया 'माइथालोजी' मान बैठते हैं उनकी तथाभूता मान्यता प्रौढिवादमात्र के अतिरिक्त और कुछ भी तो महत्त्व नहीं रखती, इत्यलमति-पल्लवितेन—प्रासङ्गिक—नैदानिक—भावानुबन्धेन।

अमूर्त के साथ मूर्त के द्वारा अमूर्त का सम्बन्ध स्थापन ही औपासनिक-निदानभाव का निष्कर्षार्थ है *। गणपति का अमुक विचित्र आकार क्यों ?, गणपति ऐसे विशाल, और उनका वाहन मूषक नामक एक स्वल्पकाय-प्राणी कैसे?, भगवान् विष्णु के हाथ में शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-क्यों ?, महाकाली के हाथ में सुरापात्र—कर्त्री खड्ग-आदि क्यों ?, इत्यादि अगणित-कुतूहलपूर्ण-इस क्यों ? और कैसे ?, की परम्परा को उपशान्त करने वाली निदानविद्या के तात्त्विक-स्वरूप-का ही उदाहरण-विधि से उपक्रम हुआ है, और यही निदानानुगत-प्रासङ्गिक-तथ्य का संक्षिप्ततम—स्वरूप-दिग्दर्शन है, जिस इस-निदानभावानुबन्धी-शिक्षण-औपासनात्मक-तथ्य का ही भगवान् भर्तृहरि के द्वारा निम्न लिखित शब्दों में संस्मरण हुआ है —

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः ।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥

(१३)—४

* * * *

---

*—अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं-ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

प्राण, और प्राणी से अनुगता आरोपमूला तत्त्वात्मिका तथाभूता निदानविधा के आधार ही यज्ञकर्मों में प्राकृतिक-प्राणों से तद्रूप भूत-भौतिक-प्राणवान्-पार्थिव-सम्भारों-पदार्थों-परिग्रहों का सम्भार करते हुए 'आखुकरीष (चूहे के बिल की मिट्टी) का संग्रह भी अनिवार्य्य माना गया है, जिसका सुविशद वैज्ञानिक-समन्वय तत्प्रकरण में ही द्रष्टव्य है। श्रुति * के अनुसार मूषक ही पार्थिवरस के परिज्ञाता हैं। तो क्या मानव पार्थिवरस का परिज्ञाता नहीं है ?, इस प्रश्न का समाधान रसात्मक यह मूषक-मात्र ही है जिसका सजातीयाकर्षण-सिद्धान्तानुसार मूषकप्राण के साथ ही प्रधान सम्बन्ध अभिव्यक्त होरहा है। यह रसात्मक मूषकप्राण तत्प्राणकृतात्मा मूषकप्राणी के द्वारा संकलित मृद्भाग में ही क्योंकि उपलब्ध होता है। अतएव श्रुति ने यज्ञकर्म्म में उसका संग्रह अनिवार्य्य माना है।

पार्थिव गणपतिप्राण के विचलन से ही पार्थिवप्रजा विकम्पित होती है। यों विघ्नहर्ता गणपतिदेव विघ्नकर्त्ता भी बन जाया करते हैं। इनके इस विकम्पनात्मक विचलनधर्म्म का सर्वप्रथम तद्वाहनरूप-पार्थिव रसात्मक-मूषकप्राण पर ही प्रभाव होता है। अतएव सर्वप्रथम तत्प्राणकृतात्मा मूषक (चूहे) ही मरने लगते हैं और यही 'महामारी जनपदविध्वंसिनी' (प्लेग आदि-सांक्रामिकी व्याधियाँ) की उपक्रमभूमि मानी गई है। इसप्रकार मूषकप्राणी अनेक दृष्टिकोणों से गणपति के वाहनरूप मूषकप्राण का नैदानिक-माध्यम बना हुआ है जिस इस अत्यन्त रहस्यपूर्ण-सृष्टिविज्ञाननिबन्धन-प्राणात्मक तथ्य के समन्वय न करने के कारण ही हमारी बालप्रज्ञा भारतीय-उपासनाप्रपञ्च के महत्त्वपूर्ण अङ्गों का आज उपहास करने-लग पड़ती है और कहने लग पड़ती है कि – गणेशजी इतने मोटे और उनका वाहन छोटासा चूहा'-इति नु अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यमेव !!

यह सर्वथा अविस्मरणीय है कि, 'निदान के माध्यम से अनुप्राणित आख्यानोपाख्यानों का केवल एक ही विभाग है, जबकि तदतिरिक्त सात प्रकार के आख्यानोपाख्यान सर्वात्मना छन्द् के तद्भाव से ही समन्वित हुए हैं। आठ प्रकार के आख्यानों में से आठवाँ 'असदाख्यान' नामक एक विभाग ही आरोपात्मक-निदानभाव से समन्वित है जिसके अमुक महान्-लक्ष्य की सिद्धि के लिए ही श्रुतिप्रज्ञा की ओर से नक्षत्रमण्डल-पर्वतमर्यादाओं-नदनदी-क्रमेण त्रिधा वर्गीकरण हुआ है। अर्थात् कुछ एक आख्यान तो निदानविधि से नक्षत्रों के आधार पर उपक्रमित हैं कुछ एक पर्वतों के माध्यम से एवं कुछ एक नद-नदियों के माध्यम से समन्वित हुए हैं जिन इन सभी नैदानिक-रहस्यों का यत्र तत्र प्रकरणत्वेन समन्वय-प्रयास हुआ है।

'असदाख्यान' का लौकिक अर्थ-निष्कर्ष है—'मिथ्या कथाएँ' अर्थात्–'गढ़ी हुई कहानियाँ' जिन इन कथा–गाथा–रूपा कहानियों' के माध्यम से ही श्रुतिप्रज्ञा ने सर्वथैव अव्यक्त अनेक तात्त्विक-रहस्यों से भारतीय-प्रजा को सुपरिचित करा दिया है। आज की सन्ध्या-भाषा (? गल्पिका) में सम्भवतः जिसे—

*-आखुकरीषं सम्भरति। आखवो ह वा अस्यै पृथिव्यै रसं विदुः। तस्मात्तेऽधोऽधः इमां पृथिवीं चरन्तः पीविष्ठाः। अस्यै हि रसं विदुः। तत्-अस्याऽएवैनमेतत् रसेन समर्द्धयति। तस्मादाखुकरीषं सम्भरति।

—शतपथब्रा० २।१।१।७

के ज्ञानविज्ञानात्मक–सृष्टिविज्ञान-निर्वचन-वह महत्त्वपूर्ण गौरव सर्वथैव अभिभूत होगया है जिस अभिभूति के कारण ही आज की नवशिक्षित भारतीय–प्रजा के लिए वेदशास्त्र उस पुरातन सभ्यता का सूचक एक वैसा ग्रामीणभाषामय शास्त्र ही बना रह गया है, जिस युग के सभ्य मानव को इन नवीन-भारतीय–वेदबन्धुओं के दीक्षागुरु, किंवा सर्वस्वगुरु पाश्चमी-विद्वानों के द्वारा ठोक–पीट कर यही मिथ्वला दिया गया है कि—

"उस युग में वर्णों के लिखने पढने के साधन नहीं थे, अतएव केवल सुन-सुना कर ही मानव अपने वाक्यों को कण्ठस्थ कर लिया करते थे। अग्निताप से जब उन्हें शान्ति मिला, तो व अग्नि की स्तुति करने लग पड़े। इसी प्रकार–ज्यों ज्यों उन्हें प्रकृति के अग्नि–वायु–प्रकाश–जल आदि की उपयोगिता का आभास होने लगा त्यों त्यों ही वे अपनी उस युग का भाषा में उन उन उपयोगी–पदार्थों का स्तुत्यात्मक–चाटुकारिता पूर्ण-वर्णन–करने लग पड़े और वह वर्णनसमह ही उनका वेद कहलाया जो सचमुच उस युग की सभ्यता का ही परिचायक ग्रन्थ है।

आज के सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-भारत में प्रकाशित होने वाली-अमुक पत्र-पत्रिकाओं में भी वेदशास्त्र के सम्बन्ध में पश्चिमी–विद्वानों की ओर से दायादरूपेण मिलने वाली तथाविधा भ्रान्त-धारणाओं को ही उपहास के रूप में निकलते जब हम सुनते हैं, तो क्षणमात्र के लिए के लिए हमें स्तब्ध अवाक् ही बने रह जाना पड़ता है *। किन्तु इस में न तो पत्र–पत्रिकाओं को ही दोष दिया जासकता, नैव तदनुगामिनी आज की उन नवीन-प्रजाओं को ही कुछ कहा सुना जासकता जिन्हें अपने समस्त जीवन में भारतीय–मूलसंस्कृति के ज्ञानविज्ञानात्मक–परिचयसूत्र कभी किसी की ओर से भी उपलब्ध हुए ही नहीं। ठीक इसके विपरीत जिन्हें अपने शिक्षणकाल में प्रतीच्य-विद्वानों की तथाकथिता धारणाएँ ही दायादरूपेण (विरासत में) उपलब्ध हुईं जिन का नग्नचित्रण पूर्व में किया ही जाचुका है। इधर प्राच्यविचारानुगामी–भारतीय विद्वान् अपनी अपौरुषेयता की भ्रान्ति से ऐतिहासिक–तथ्यों से शून्य रहते हुए जहाँ इस दिशा में तटस्थ बने रहे विगत तीन सहस्र–वर्षों से वहाँ पारिभाषिक-शब्दों की परम्परा से असंस्पृष्ट रह जाने के कारण इन भारतीय-विद्वानों की ओर से वेदशास्त्रानुबन्धी-ज्ञानविज्ञानात्मक उन–सृष्टिरहस्यों के सम्बन्ध में भी किञ्चिदपि प्रकाश नहीं डाला गया तदवधि में, जिन वैदिक–वैज्ञानिक-तथ्यों के सम्मुख सभी युगों की प्रज्ञाओं का हठात्–प्रणतभावेन अवनतशिरस्क बन ही जाना पड़ता है।

यों एकमात्र भारतीय–विद्वानों की साम्प्रदायिक–मनोवृत्ति से अनुगता मतवादाभिनिवेशवृत्ति के कारण आविर्भूत होसकने वाले वेदापौरुषेयत्व की भ्रान्ति से ही वेदशास्त्र के विज्ञान-स्तुति इतिहास-नामक तीनों ज्ञातव्य-स्तम्भ एवं कर्म–उपासना–ज्ञान–नामक तीनों कर्त्तव्यस्तम्भ दोनों ही विभूति-स्तम्भ अपने ज्ञानविज्ञानात्मक–पारिभाषिक–तथ्यों से सर्वथैव उस सीमा-पर्यन्त- पराङ्मुख ही (अत्यन्त ही विदूर) बन गए,

---

*–स्वतन्त्र भारत की राजधानी देहली से प्रकाशित होने वाली, सुधारक-जगत् के लिए महान् आकर्षण का विषय 'सरिता' में वेदशास्त्र के सम्बन्ध में ऐसी ही धारणाएँ प्रकाशित होती रहती हैं।

श्री

(१४)—वेदपरिगृहकर्म्म—प्रसङ्गत'—आख्यानोपाख्यानादि—निबन्धना विविधा-वैज्ञानिकी-पारिभाषाएँ

५

—•—

(क)—देवासुरदायविभागानुबन्धी-आख्यान का सस्मरण —

वेदसंहितानुगता अत्यन्त रहस्यपूर्णा विज्ञानभाषा स्तुतिभाषा एवं इतिहासभाषा-रूपेण त्रिधा विभक्ता पारिभाषिकी भाषाओं से अनुप्राणित विज्ञान—स्तुति—इतिहास-नामक सुप्रसिद्ध त्रिविध आलम्बन-विषयों में से सर्वान्त के इतिहासभाषानुगत ऐतिहासिक तथ्य के सम्बन्ध में भारतवर्ष की सभी श्रेणियों के पुरातन—नूतन—वेदभक्त (सनातनधर्म्मावलम्बी विद्वान्, एवं आर्य्यसमाजी महाशय) समवेत गजनिमीलिका—न्यायानुगमों ही देखे सुने जाते हैं, जिस इस गजनिमीलिका का एकमात्र हेतु है—वेदों का अपौरुषेयत्व-निबन्धन ईश्वरकृतत्व। "ईश्वरकृत अपौरुषेय वेदशास्त्र के सम्बन्ध में मानवचरित्रात्मक-ऐतिहासिक तथ्यों का समन्वय कैसे सम्भव है" इस तर्काभास को अग्रणी बनाकर, -जमदग्निर्भरद्वाज(ः)परशुरामः इत्यादि कतिपय स्थलों के 'भारभाराहान' शब्दों को धातु के अनुगमन से अनुगत मानते हुए सनातनधर्म्मावलम्बी विद्वान् भी अपनी काल्पनिकी अपौरुषेयता की भ्रान्ति में मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के महत्त्वपूर्ण आलम्बन-विषयों में से उस अन्त के- इतिहास' नामक आलम्ब विषय की ओर से एकान्ततः उदासीन ही बनते आरहे हैं निगत तीन सहस्र-वर्षों से, जिस उदासीनता के दुष्परिणाम-स्वरूप ही भारतवर्ष की सनातन-संस्कृति के आधार पर सुप्रतिष्ठिता-दिग्देशकालानुबन्धिनी -सर्वमूर्द्धन्या—भारतीय—सभ्यता की मौलिकता का चिरन्तन वह इतिवृत्त सर्वथा ही स्मृतिगर्भ में विलीन होगया है जिस के विस्मरण से सभ्यतानुबन्धी गौरव के साथ साथ ही भारतराष्ट्र सांस्कृतिक—गौरव के यथार्थ—समन्वय से सर्वथैव पराङ्मुख बन गया है।

अवश्य ही वर्त्तमान युग के मनीषी प्रतीच्य—विद्वानोंनें वेदशास्त्र में उपवर्णित इतिवृत्त—सम्बन्धी अन्वेषण की ओर दृक्पात करते हुए वेद—युगानुगता सभ्यता के सम्बन्ध में अपनी अमुक ऐतिहासिकी धारणाएँ अभिव्यक्त की हैं। जिसकसवर्यावधि से सुप्ता भारतीय—प्रज्ञा के उद्बोधन की दृष्टि से पश्चिमी—जगत् का तथाभूत प्रयत्न अभिनन्दनीय भी माना जासकता है। किन्तु प्रतीच्य-विद्वानों के इत्यंभूत प्रयास से एक ओर जहाँ भारतीय—अर्वाचीन—विद्वत्-प्रज्ञा को संप्राप्त उद्बोधन मिला है, वहाँ साथ साथ ही वैसी-भ्रान्तिपरम्पराएँ भी इसी उद्बोधन के साथ मिल गई हैं जिन के कारण मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र

सम्पुटित मानव अपने स्वरूपानुगत–आत्मचैतन्य से उत्तरोत्तर विवञ्चित होता हुआ स्वयमपि एक जड़ भूतपिण्ड रूप में परिणत होजाने के लिए ही मानो कटिबद्ध बनता जारहा है।

अध्यात्मवादी का सबसे बड़ा व्यामोहन है– स्वशरीर के किसी केन्द्रात्मक–शून्य प्रदेश-विशेष में ही उपकल्पित इन्द्रियातीत–अलौकिक–काल्पनिक–मनोराज्य में ही ईश्वरीय–आधिदैविक–जगत् के तत्त्वों–पदार्थों को अपनी कल्पना से ही आध्यात्मिक–प्राण का रूप दे दे कर सबकुछ अपने इस काल्पनिक–अध्यात्मप्राण में ही परिसमाप्त मानते रहना'। ऐसे अध्यात्मवादी ही अपने शून्यजगत् में ही सूर्य्य–चन्द्रमा–अग्नि–पवन–गङ्गा–यमुना–आदि की कल्पना में आत्मविभोर नहीं, अपितु मनोविभोर बने रहते हैं– 'मन लड्डू तो फीके क्यों' को चरितार्थ करते हुए। इन्हीं की भाषा है–'मन चङ्गा, तो कठौटी में गङ्गा'। इन की दृष्टि में न तो आधिभौतिक–प्रत्यक्ष–अभ्युदयसाधक–विश्वसौन्दर्य्य का ही कोई महत्त्व, एवं न इस भौतिक-जगत् के प्रवर्त्तक नित्यसिद्ध–आधिदैविक ईश्वरीय-जगत् का ही कोई महत्त्व। अपितु सबकुछ वे,अपने काल्पनिक–अध्यात्म में ही, कल्पना के ही द्वारा काल्पनिक–भावों को ही ढूँढ ढूँढ कर अपनी कल्पना में ही तुष्ट होते रहते हैं।

हृदयभूत–काल्पनिक–अद्वैतवादात्मक–अध्यात्मवादने ही विशेषरूपेण मानव का सर्वप्रथम *अधिदैवत से विच्छेद कराया है तत्सहैव अभिभूत-निबन्धना आचारनिष्ठा से भी। काल्पनिकी अध्यात्मभावना* के रसिक मानव उस महतोमहीयान्–ईश्वरीय–अधिदैवत-विश्व का अपने अणोरणीयान्–अध्यात्म में निमग्न मानते हुए-'न त्वहं तेषु ते मयि' इस तथ्य को सर्वथा ही तो भूल जाते हैं। वह (आधिदैविक) अंशी बनता हुआ जहाँ व्यापक है, निरवच्छिन्न है वहाँ यह (अध्यात्म, और अधिभूत) 'अंशो नानात्वात् *' (व्याससूत्र) के अनुसार तदंश बनता हुआ व्याप्य है सावच्छिन्न है। उस–व्यापक–अधिदैवित–ईश्वरीय–जगत् के यत्किञ्चिदंशरूप एकांश में ही जो व्याप्यधर्मा अध्यात्म–और अभिभूत–प्रतिष्ठित–है भला उन्हीं के गर्भ में वह व्यापक कैसे सर्वात्मना प्रविष्ट होजायगा ?। 'वे मुझ में हैं–किन्तु मैं उन में नहीं हूँ' का यही तो स्वारस्य है। सचमुच इस से बड़ी आत्मवञ्चना हृदयभूत अध्यात्मविमूढ़ इस मानव की और क्या होगी कि, वह आधिदैवकी–पारमेष्ठ्य–गाङ्ग यावातरभूता-पुण्य सलिला–माता-भगवती–भागीरथी की सर्वव्यापता सलिलधारा में व्याप्यमानान्वित–अपने रक्तपलम–भौतिक शरीर को निमज्जित कर देने जैसे महत्–पुण्यकर्म्म से वञ्चित रहता हुआ उस व्यापक तत्त्व को अपने शरीररूप काल्पनिक अध्यात्म में मान बैठने की महती भ्रान्ति करने लग पड़ता है। और यों इस प्रत्यक्ष देवानुग्रह से यह आत्मविमूढ़ उसीप्रकार वञ्चित ही तो बना रह जाता है जैसे कि विशुद्ध भूतवादी–ऑक्सिजन–हाइड्रोजन की मान्यतामात्र से अनुमापित कीटाणुओं की चर्व्वणा से ही चर्व्वितान्तःकरण बना रहता हुआ गङ्गा के उस आधिदैविक–अभिमानी–दिव्य–स्वरूप के अनुग्रह से विहीन ही रह जाता है, जो अनुग्रह एक श्रद्धालु मादृश–ग्रामीण भी श्रद्धामात्र के अनुग्रह से अनायासेनैव प्राप्त कर अपना जीवन धन्य–कृतकृत्य-प्रमाणित कर लिया करता है।

निवेदन–निष्कर्ष यही है कि, केवल अध्यात्मवाद के व्यामोहनने तथा केवल भूतासक्तिने ही भारतीय–मानव को दैवत–आत्मिक–भौतिक–समन्वयात्मक,– तत्, समन्वयात् –सिद्धान्तमूलक –ज्ञान विज्ञानात्मक–पारिभाषिक उस तथ्य से वञ्चित ही कर दिया है, जिसके दुष्परिणाम-स्वरूप ही वेदार्थ के सम्बन्ध में तथाकथितरूपेण नाना जैसे प्रवाद उपक्रान्त होपड़े हैं जिन से वेदपुरुष का गौरव उत्तरोत्तर अभिभूत ही

जिस चिरकाल से ही आज प्रतीच्य-जगत् भी अपनी-कल्पना के आधार पर वैदिक-दृष्टियों के साथ यथेच्छ क्रीडाकौतुक करता हुआ नहीं थका रहा, तो तदनुसरणात्मक पथ के अन्धानुगामी, प्रत्यक्ष-प्रमाणमूला स्वस्वरूप-विमोहिनी-सर्वनाशकारिणी भावुकता के अनुगामी आज के नवशिक्षित-भारतीय वेदभक्त भी प्रतीच्या विचारधारा का ही अहर्निश यशोगान करते हुए 'कुतस्तत्र प्रतीकारो रक्षको यत्र भक्षकः' को ही अक्षरशः चरितार्थ करते हुए इतस्ततः दन्द्रम्यमाण हैं-सर्वतन्त्र-स्वतन्त्ररूपेणैवेति महद् हास्यदम् ।

इधर कुछ समय से अमुक परिगणित वेदभक्त अवश्य ही वेदशास्त्र की तथाकथिता-अवमानना से दुःखी हुए हैं, जिस दुःख की निवृत्ति के लिए ही इन्होंने तो शब्दानुकरण के माध्यम से वर्त्तमान-प्रतीच्य-भौतिक विज्ञानों तथा आविष्कारों के साथ वैदिक-सिद्धान्तों का असम्बद्ध-समन्वय करना आरम्भ कर दिया है-वेदशास्त्र के गौरव स्थापन के व्यामोहन से । तो एक दूसरा वर्ग वैसा भी है जो वैदिक-तथ्यों की विशुद्ध अध्यात्मपरक व्याख्या में ही तल्लीन रहता हुआ किसी वैसे अज्ञात अध्यात्म प्राण की कल्पना में ही विभोर बना हुआ है, जिस का लोक-समाज-निबन्धना-भूतभौतिकी यात्रा-तदनुबन्धिनी-अभ्युदय-प्रवृत्ति से कुछ भी तो सम्बन्ध नहीं माना जासकता । इसप्रकार एक वर्ग वेदशास्त्र को विशुद्ध भौतिक-विज्ञानशास्त्र प्रमाणित करने के लिए आतुर है शब्दानुकरण-माध्यम से जोड़-तोड़ बैठाता हुआ तो दूसरा वर्ग प्राण' व्यामोहन-निबन्धन-काल्पनिक अध्यात्मजगत् में विचरण करता हुआ वेदशास्त्र के सम्पूर्ण-विज्ञान-स्तुति-इतिहास-कर्म-उपास्ति-ज्ञान-वैभवों को एकमात्र लोकातीत अध्यात्म पर ही परिसमाप्त कर देने के लिए आकुल-व्याकुल बना हुआ आर्षनिष्ठा-सम्मत उस समस्त आचारसौन्दर्य को एकान्ततः निष्प्राण ही प्रमाणित कर देना चाहता है जिस आचारसौन्दर्य को भारतवर्ष आज तीन सहस्रवर्षों से उत्तरोत्तर विस्मृत ही करता आरहा है ।

कहना न होगा कि-वर्त्तमान-भूतविज्ञान के साथ वेदशास्त्र का समतुलनात्मक-व्यामोहन-प्रकार जैसे वेदशास्त्र के पारिभाषिक-ज्ञानविज्ञानात्मक-प्रातिस्विक-समन्वय-स्वभाव के गौरव को अभिभूत ही कर रहा है तथैव 'अध्यात्ममात्र-विमोहनानुगत केवल आध्यात्मिक-समन्वय भी वेदशास्त्र के वास्तविक-समन्वय-से असंपृक्त ही प्रमाणित होरहा है । और यों दोनों जन तथाकथित-वेदभक्तों के तथाभूत दोनों ही वेदार्थ-समन्वयात्मक-प्रकार वेदशास्त्र के निःश्रेयसानुगत-अभ्युदय-साधक महान् उद्देश्य से सर्वथैव विपरीत धर्मों का ही अनुसरण करते हुए वेद के महतो महीयान् वास्तविक-गौरव के विरोधी ही प्रमाणित होरहे हैं ।

तथाविधा भ्रान्ति-परम्पराओं का एकमात्र प्रमुख कारण है-आधिदैविक ईश्वरीय-विश्व की आत्यन्तिक-विस्मृति, जिस आधिदैविक-ईश्वरीय-विश्व के आधार पर ही ज्ञानविज्ञानात्मिका-सृष्टिविद्या का प्रमुख सम्बन्ध माना गया है । एक वर्ग अधिभूत में आसक्त होता हुआ आधिदैविक से विमुख होरहा है तो दूसरा वर्ग अध्यात्म में आसक्त होता हुआ अधिदैवत से पराङ्मुख बना हुआ है जबकि वस्तुस्थिति की पूर्णता अधिदैवत-अध्यात्म अधिभूत इन तीनों के समन्वय पर ही अवलम्बित है ।

भूतवादी का सबसे बड़ा व्यामोहन है- 'प्रत्यक्षदृष्ट भूत भौतिक-पार्थिव-पदार्थों को ही मानव के लिए सर्वस्व मान बैठना" । इस की दृष्टि में अधिदैवत (ईश्वरीय-प्राकृतिक-जगत्) एवं जीवात्मा-नुबन्धी-अध्यात्मजगत् सबकुछ भौतिक ही भौतिक हैं । अर्थात् सब कुछ इन भूत-भौतिक-पिण्डों में ही है । इन से अतिरिक्त न कोई अधिदैवत है एवं न कोई अध्यात्म । इसी दृष्टि के आधार पर भूतो-पतिरक्त-भूतविज्ञान उत्तरोत्तर पुष्पित पल्लवित होता आरहा है जिस की प्रभावमा सहया के भावरणपुटों-सम्पुटों से

थियों के मूलोत्पाटन में उसी समय पर्य्याप्त बन सकती थी-यदि उसी युग में किसी महापुरुष के द्वारा ज्ञान–विज्ञानात्मिका–परिभाषाओं के स्वरूप–विश्लेषण के द्वारा तत्–श्रद्धा को अभिव्यक्त कर दिया जाता, तो। किन्तु दुर्भाग्यवश स्थिति उस समय ठीक विपरीत दिशा का ही अनुगमन करती गई तत्कालीन वर्गभेदों से अनुप्राणिता पारस्परिकी उस अहमहमिका के द्वारा जिसके द्वारा सभी वर्ग उन तथाकथित सुसभ्य ! उदार ! अतिथियों ! के सहयोग से अपना अधिक से अधिक स्वार्थसाधन करने का ही इच्छुक बन चले थे।

तथाविध उपयुक्त वातावरण में ही उस प्रतीच्य–शिक्षा का सूत्रपात हुआ, जिस के पाठ्यग्रन्थों के द्वारा भारतीय पुरातनशास्त्रों की, मान्यताओं की, सभ्यता की तथा आदर्शों की वैसी आलोचना ही की गई, जिसका निष्कर्ष पूर्व की पङ्क्तियों में व्यक्त किया जाचुका है। उन सब अन्तर्गत आलोचनाओं में से प्रकृत में हम एक आलोचना की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे एक विशेष तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए, और उस आलोचना का सम्बन्ध माना जायगा—'भारतदेश के मौलिक स्वरूप के सम्बन्ध में'।

प्रतीच्यशिक्षा के अशतः भी सम्पर्क में आजाने वाले भारतराष्ट्र के बड़े से भी बड़े राष्ट्रभक्त–देशभक्त–अद्यतन–भारतीय–मानव से अब भी यह प्रश्न किया जायगा कि, "क्या भारतवर्ष आर्य्यों का आदिदेश है ? , तो तत्काल क्षणमात्र विलम्ब किए वह यही उत्तर देगा कि – 'नहीं–भारत तो अनार्य्यों का आदिदेश है। वे ही यहाँ के आदिवासी किंवा मूलनिवासी हैं। आर्य्य तो मध्यएशिया से शनैः शनैः बढ़ते बढ़ते इस देश में आपहुँचे, और अनार्य्यों को युद्ध में परास्त कर वे यहाँ के अधि–पति बन बैठे*'। दूसरों की कौन कहे सुप्रसिद्ध देशभक्त, और भारतीय–धर्म के अनन्यसेवी×स्वर्गीय

---

*–प्रतीच्य–विद्वानों की अभिनिवेशमूला इत्थंभूता धारणा उनके द्वारा निर्धारित भारतीय–पाठ्य–ग्रन्थों में इस रूप से अभिव्यक्त हुई है कि– 'आर्य्यों का मूलनिवास किंवा आदिनिवास मध्यएशिया ही था। मध्यएशिया से ही आर्य्यलोग भारत में आए थे। अतएव वहाँ समुद्र का भी स्वरूप ज्ञात नहीं था उस युग में। क्योंकि मध्यएशिया में कोई समुद्र नहीं है। हाँ नदियाँ बहुत सी हैं। एवं नदियों के लिए आर्य्यों के इस पुरातन ऋग्वेदग्रन्थ में 'सिन्धु' शब्द प्रयुक्त हुआ है जो। वैदिक-वाङ्मय अधिक से अधिक २५ ०–३००० सहस्र वर्षों से अधिक (पुराना नहीं माना जासकता' इत्यादि।

×–सर्वथैव प्रौढ़वादात्मिका उक्ता धारणा के विपरीत भारतराष्ट्र की स्वतन्त्रता के महान् द्रष्टा स्वर्गीय श्री बालगङ्गाधर तिलक महाभाग ने अपने सुप्रसिद्ध 'ओरियन' तथा 'दृआर्कटिक होम इन् द वेदाज' नामक लोकप्रसिद्ध निबन्धों के माध्यम से एक अन्य ही तथ्य उपस्थित किया, जिस तथ्य का श्रीतिलक के मतानुसार उत्तरध्रुवानुगत अमुक–भूप्रदेश से ही सम्बन्ध था जिसे 'पामीर' कहा जासकता है। श्रीतिलक की धारणा के अनुसार आर्य्यों का आदिदेश वही उत्तर प्रदेश था न कि प्रतीच्य–विद्वानों की मान्यता से अनुप्राणित–मध्य–एशियाप्रान्त। 'उत्तरप्रदेशात्मक पामीर से ही आर्य्य भारत में आए'–इसभी तिलक महाभाग के इस मान्य तथ्य का हम मान्यता' के अनुबन्ध से ही समादर करेंगे। क्योंकि आस्था-पूर्णा-निष्ठा की दृष्टि से तो श्रीतिलक की मान्यता भी प्रतीच्या–भावना से सर्वथैव विमुक्त नहीं मानी जासकती, जबकि तिलक भी आर्य्यों का बाहिर से भारत में आगमन तो मान ही बैठे। वस्तुस्थिति वास्तव में कुछ और ही है जिसके समन्वय से असम्पृक्त रह जाने के कारण ही इसप्रकार की मान्यताएँ मानवीय–मन को अभिभूत कर लिया करती हैं जैसाकि पाठक तद्भाष्य–सन्दर्भ में देखेंगे।

भगवद्वचनानि चतुर्विधेऽनुयोगे प्रविभक्तानि, स चेत्थम्-
(१)-चरणकरणानुयोग,,(२)-धर्मकथानुयोगः, (३)-गणितानुयोग,, (४)-द्रव्यानुयोगश्च ।

युज्यते=संबध्यते भगवदुक्तार्थेन सहेति योगः = गणधरकथनरूपः, अनु = अनुकूलो योगोऽनुयोग । भगवद्वचनानुरूपा गणधरोक्तिरित्यर्थः । (१)

(१) अथ चरणकरणानुयोग —

(१) चर्यते = गम्यते = प्राप्यते भवोदधेः पर कूल चतुर्दशगुणस्थाना-

भगवान् के वचनों में ये पैंतीस अतिशय अर्थात् गुण होते हैं । प्राचीन आचार्यों ने भी कहा है —'सक्कारवयं' इत्यादि ३५ ।

(वाणी के पैंतीस गुण पहले कह चुके हैं अत यहाँ इनका अर्थ कहने की आवश्यकता नहीं ।

भगवान् के वचन चार अनुयोगों में विभक्त हैं । चार अनुयोग ये हैं —

१ चरणकरणानुयोग, २ धर्मकथानुयोग, ३ गणितानुयोग, और ४ द्रव्यानुयोग ।

भगवानके वचनों के अनुकूल गणधरों का व्याख्यान अनुयोग कहलाता है ।

(१) चरणकरणानुयोग—

जिसके द्वारा भव-सागर का किनारा अर्थात् चौदहवाँ गुणस्थान प्राप्त किया जाय

ભગવાનના વચનોમાં આ પ્રમાણે પાંત્રીશ અતિશય અર્થાત્—ગુણ હોય છે પ્રાચીન આચાર્યોએ પણ કહ્યું છે – "सक्कारवय" ઇત્યાદિ ૩૫ (પાંત્રીશ વાણીના ગુણો પહેલા કહી ગયા છીએ જેથી અહિં એનો અર્થ કહેવાની આવશ્યકતા નથી.)

ભગવાનના વચન ચાર અનુયોગોમાં વહેંચાયેલા છે ચાર અનુયોગ આ છે—
(૧) ચરણકરણાનુયોગ. (૨) ધર્મકથાનુયોગ, (૩) ગણિતાનુયોગ અને (૪) દ્રવ્યાનુયોગ.

ભગવાન-દ્વારા પ્રરૂપિત અર્થની સાથે ગણધરોના વચનનો યોગ હોય તે અનુયોગ કહેવાય છે, તાત્પર્ય એ છે કે—ભગવાનના વચનોને અનુકૂળ ગણધરોએ કરેલું વ્યાખ્યાન તે અનુયોગ કહેવાય છે

(૧) ચરણકરણાનુયોગ—

જેનાથી ભવસાગરનો કિનારો અર્થાત્ ચૌદમું ગુણસ્થાન પ્રાપ્ત કરી શકાય, તેને અર્થાત્ મૂલગુણને 'ચરણ' કહે છે, અથવા વ્રત આદિ ચરણ કહેવાય છે તે સિત્તેર (૭૦) છે. કહ્યું પણ છે—

यस्यास्त्ररूपमनेनेति चरण = मूलगुणरूपम् । यद्वा चरण=व्रतादि, तच्च सप्तति-संख्यकम्, उक्तञ्च—

"वय५ समणधम्म१० सजम१७, वेयावच्च१० च बंभगुत्तीओ ९ ।/
णाणाइतिय३ तव१२ कोहनिग्गहाई४ चरणमेयं ॥ १ ॥" इति ।

क्रियते चरणस्य पुष्टिरनेनेति करणम् = उत्तरगुणरूपम् । यद्वा करणं=पिण्डविशुद्ध्यादि, एतदपि सप्ततिसंख्यकम्, उक्तञ्च—

उसे अर्थात् मूलगुणको 'चरण' कहते हैं । अथवा व्रत आदि 'चरण' कहलाते हैं । वे ७० सत्तर हैं । कहा भी है —

पांच महाव्रत, दश श्रमणधर्म, सत्रह संयम, दश वैयावृत्य, नौ ब्रह्मचर्य की गुप्तियां, रत्नत्रय – (सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र), बारह प्रकारका तप, चार क्रोधादि-विजय—(क्रोधविजय, मायाविजय, मानविजय, लोभविजय), यह ७० सत्तर प्रकारका 'चरण' कहलाता है ।

चरण की पुष्टि करने वाला 'करण' कहलाता है । करण का अभिप्राय है— उत्तर गुण । अथवा पिण्डविशुद्धि आदिको करण कहते हैं । इसके भी सत्तर ७० भेद हैं । कहा भी है —

પાંચ મહાવ્રત, દસ શ્રમણધર્મ, સત્તર સંયમ, દશ વૈયાવૃત્ય, નવ બ્રહ્મચર્યની ગુપ્તિઓ, રત્નત્રય-(સમ્યગ્જ્ઞાન, દર્શન અને ચારિત્ર) બાર પ્રકારનો તપ, ચાર ક્રોધાદિવિજય,-(ક્રોધવિજય, માનવિજય, માયાવિજય, લોભવિજય) આ પ્રમાણે સિત્તેર (૭૦) પ્રકારના ચરણ કહેવાય છે ॥ ૧ ॥

ચરણની પુષ્ટિ કરવા વાળા કરણ કહેવાય છે કરણનો અભિપ્રાય છે-ઉત્તર ગુણ, અથવા પિંડવિશુદ્ધિ આદિને કરણ કહે છે, તેના પણ સિત્તેર ભેદ છે કહ્યું પણ છે —

"पिंडविसोही४ समिई५, भावण१२ पडिमा१२ य इंदियनिरोहो५ ।
पडिलेहण२५ गुत्तीओ३, अभिग्गहा४ चेव करण तु ॥ १ ॥" इति ।
तयोरनुयोगश्चरणकरणानुयोग' (१)।

धर्मकथानुयोगादयश्चरणकरणयोर्भव्यजीवान् प्रवर्त्तयन्तीति तेषां चरणकरणाङ्गतया प्राधान्यमेतस्यानुयोगस्य, अत एवास्य प्राथम्यम् । उक्तञ्च—

आत्मन् ! जानीहि पूर्वं चरणकरणयोराश्रये यन्महत्त्वं,
मोहं दूरीकरोति प्रकटयति परं निश्चयात्मस्वरूपम् ।

"चार पिण्डविशुद्धि, पाच समितियां, बारह भावना, बारह पडिमा, पाच इन्द्रियनिरोध, पचीस प्रतिलेखना, तीन गुप्तियां, चार अभिग्रह, यह सत्तर ७० प्रकारका करण कहलाता है ।

इस तरह चरण और करण के अनुयोग को, अर्थात् भगवान् की वाणी के अनुकूल व्याख्यान को चरणकरणानुयोग कहते हैं । तात्पर्य यह है कि—जिस शास्त्र में चारित्र सम्बन्धी निरूपण है, वह चरणकरणानुयोग समझना चाहिए ।

धर्मकथानुयोग आदि शेष तीन अनुयोग भव्यजीवों को चरण और करण में प्रवृत्त करते हैं, अत वे इसी अनुयोग के अङ्ग हैं। इस प्रकार चारों अनुयोगो में चरणकरणानुयोग ही प्रधान है । प्रधान होने के कारण ही इस की गणना सर्वप्रथम की गई है। कहा भी है—

हे आत्मन् ! चरण और करण में जो महत्त्व है, उसे पहले समझ ले । वह मोह को निवारण करता है, आत्मा के निश्चय अर्थात् वास्तविक स्वरूप को प्रकट करता है, यह सब

"ચાર પિંડવિશુદ્ધિ, પ્રાચ સમિતિઓ, બાર ભાવના, બાર પડિમા, પાચ ઇન્દ્રિય નિરોધ, પચીશ પ્રતિલેખના, ત્રણ ગુપ્તિઓ, ચાર અભિગ્રહ, આ સર્વ કરણ કહેવાય છે" ॥ ૧ ॥

આ પ્રમાણે ચરણ અને કરણના અનુયોગને અર્થાત્ ભગવાનની વાણીને અનુકૂલ વ્યાખ્યાનને ચરણકરણાનુયોગ કહે છે તાત્પર્ય એ છે કે—જે શાસ્ત્રમા ચારિત્રસમ્બન્ધી નિરૂપણ છે તે ચરણકરણાનુયોગ સમજવું જોઇએ

ધર્મકથાનુયોગ આદિ બાકીના ત્રણ અનુયોગ ભવ્ય જીવોને ચરણ અને કરણમાં પ્રવૃત્ત કરે છે; તેટલા માટે તે પણ એ અનુયોગનું અંગ છે આ પ્રકારે ચારેય અનુયોગોમા ચરણકરણાનુયોગ પ્રધાન—મુખ્ય છે

મુખ્ય હોવાના કારણે જ તેની ગણના સૌથી પ્રથમ કરી છે કહ્યું પણ છે —

"હે આત્મન્ ! ચરણ અને કરણમાં જે મહત્ત્વ છે, તેને પ્રથમ સમજી લે, તે

आधारोऽयं गुणानामपनयति मदाऽनादिमिथ्यात्वदोषं,
हेतुर्योऽयं विशुद्धेर्दमयति नितरामिन्द्रियाणि द्रुतं यः ॥ १ ॥
सम्यग्ज्ञानस्य दाता शिवसुखजनकः कर्मधूलेश्च हर्ता,
कर्त्ता विद्योतनस्याऽऽत्मनि सकलगुणस्याऽद्वितीयः प्रकाशः ।
आत्मन्नेवात्मनीनश्चरणकरणयोराश्रयः काऽत्र शङ्का ?,
शङ्कारो नैष लोकः परिणतिविरसः किं सुखाशां करोषि ? ॥ २ ॥

(२) अथ धर्मकथानुयोगः—

भवजलनिधौ निपतन्तं भव्यजातं धारयति-तरिरिव तारयति शुभस्थानं प्रापयतीति धर्मः, तस्य कथा भगवद्देशनालक्षणो वाक्यप्रबन्धः धर्मकथा । अहिंसादिप्ररूपणा वा धर्मकथा । अथवा श्रुतचारित्रलक्षणधर्मप्रधानकथा-धर्मकथा । यद्वा

गुणों का आधार है, और अनादिकालीन मिथ्यात्व दोष को दूर करता है, विशुद्धि का कारण है और इन्द्रियों को शीघ्र ही दमन करने वाला है ॥ १ ॥

सम्यग्ज्ञान का दाता है, मोक्षसुख उत्पन्न करने वाला है, कर्मरूपी धूलको दूर करने वाला है, आत्मामें उद्योत—प्रकाश करने वाला है और समस्त गुणों का अद्वितीय प्रकाशक है, हे आत्मन् ! चरण और करण का आश्रय लाभकारी है, इस विषयमें शंका को स्थान ही कहां है ? अर्थात् निश्चितरूपसे ही वह कल्याण करने वाला है, यह लोक (संसार) तो परिणाम में एकदम नीरस है, तू इस से सुख की अभिलाषा क्यों करता है ॥ २ ॥

(२) धर्मकथानुयोग

संसाररूपी सागरमें डूबते हुए भव्य जीवों को धारण करनेवाला—नौका के समान

મોહનું નિવારણ કરે છે, આત્માના નિશ્ચય અર્થાત્ વાસ્તવિક સ્વરૂપને પ્રગટ કરે છે, તે સર્વ ગુણોનો આધાર અને અનાદિ કાલના મિથ્યાત્વ દોષને દૂર કરે છે, વિશુદ્ધિનું કારણ અને ઇન્દ્રિયોના શીઘ્ર દમન માટે તે સહાયક છે ॥ ૧ ॥

સમ્યગ્જ્ઞાન દેનાર છે અને મોક્ષસુખ ઉત્પન્ન કરવાવાળું છે કર્મરૂપી ધૂળને દૂર કરવાવાળું છે આત્મામાં ઉદ્યોત—પ્રકાશ કરવા વાળું છે અને સમસ્ત ગુણોનો અદ્વિતીય પ્રકાશક છે હે આત્મન્ ! ચરણ અને કરણનો આશ્રય કલ્યાણકારી છે, આ વિષયમાં શંકાને સ્થાન જ ક્યાં છે ? અર્થાત્ નિશ્ચિત રૂપથી જ તે કલ્યાણ કરવા વાળું છે, આ લોક (સંસાર) તો પરિણામે એકદમ નીરસ—રસરહિત છે, તું તેમાં સુખની અભિલાષા શા માટે કરે છે ? ॥ ૨ ॥

(૨) ધર્મકથાનુયોગ

સંસારરૂપી સાગરમાં ડુબતા ભવ્ય જીવોને ધારણ કરવાવાળી, વહાણ પ્રમાણે

शुभाशुभकर्मविपाकोपदर्शनं धर्मकथा। किञ्च – तिर्थङ्करचक्रवर्त्यादिचारित्रवर्णनं धर्मकथा। तस्या अनुयोगः धर्मकथानुयोगः।

धर्मकथा चतुर्विधा—(१)—आक्षेपणी-(२)—विक्षेपणी- (३)-संवेदनी-(४)—निर्वेदनीभेदात्।

आक्षेपण्यादिधर्मकथाभिराक्षिप्ताः विक्षिप्ताः संवेदिता निर्वेदिताः सन्तो भव्यप्राणिनश्चारित्रं प्राप्नुवन्ति।

किनारे लगादेने वाला, अर्थात् शुभस्थानमें पहुचा देनेवाला धर्म कहलाता है। उस धर्म की कथा अर्थात् भगवान की देशना जिसमें पाई जाय उसे धर्मकथा कहते हैं। अथवा अहिंसा आदि की प्ररूपणा धर्मकथा कहलाती है। अथवा श्रुत और चारित्र की प्रधानता वाली कथा को धर्मकथा कहते हैं। अथवा शुभ और अशुभ कर्मफल को प्रकाश करना धर्मकथा है। या तीर्थङ्कर चक्रवर्ती आदि महापुरुषों का चरित्र वर्णन करना धर्मकथा है। उसके अनुयोग—व्याख्यान को धर्मकथानुयोग कहते हैं।

धर्मकथा चार प्रकार की है —(१) आक्षेपणी (२) विक्षेपणी (३) संवेदनी और (४) निर्वेदनी।

आक्षेपणी आदि धर्मकथाओं से आक्षिप्त संवेदित और निर्वेदित (विरक्त) हुए भव्य जीव चारित्र प्राप्त करते हैं।

કિનારે લઈ જનારી, અર્થાત્ શુભ સ્થાનમા પહોંચાડી દેવા વાળી વસ્તુને ધર્મ કહેવામાં આવે છે તે ધર્મની કથા અર્થાત્ ભગવાનનો ઉપદેશ જેમાં જોવામાં આવે છે તેને ધર્મકથા કહે છે અથવા અહિંસા આદિની પ્રરૂપણા તે ધર્મકથા કહેવાય છે અથવા તો શ્રુત અને ચારિત્રની પ્રધાનતાવાળી કથાને ધર્મકથા કહે છે, અથવા શુભ અને અશુભ કર્મ–ફલને પ્રગટ કરવુ તે ધર્મકથા છે અથવા તીર્થંકર, ચક્રવર્તી આદિ મહાપુરૂષોના ચરિત્રનુ વર્ણન કરવુ તે ધર્મકથા છે તેના અનુયોગ–વ્યાખ્યાનને ધર્મકથાનુયોગ કહે છે

ધર્મકથા ચાર પ્રકારની છે. (૧) આક્ષેપણી (૨) વિક્ષેપણી (૩) સંવેદની અને (૪) નિર્વેદની.

આક્ષેપણી આદિ ધર્મકથાઓથી આક્ષિપ્ત, વિક્ષિપ્ત, સંવેદિત અને નિર્વેદિત (વિરક્ત) થયેલા ભવ્ય જીવ ચારિત્ર પ્રાપ્ત કરે છે.

(१) आक्षेपणी—

आक्षिप्यते=मोहं निराकृत्य चारित्रं प्रति समाकृष्यते श्रोताऽनयेति-आक्षेपणी, उक्तञ्च—

"स्थाप्यते सत्पथे श्रोता, यया साऽऽक्षेपणी कथा।
यथेषुकारं कमला,-वती धर्मे व्यतिष्ठिपद् ॥ १ ॥"

बाल्यावस्थतनयद्वयसमन्वितः सपत्नीको भृगुपुरोहितः सर्वस्वं परिहाय दीक्षार्थं सदनान्निर्ययौ। तदीयं सकलं वस्तु परिगृहीतं पत्येति विदित्वा कमलावती राज्ञी वैराग्यमुपगता स्वपतिमिषुकारं नृपतिं प्रत्यबोधयत्। 'राजन्! किं वान्ताशिवद्

(१) आक्षपणी

जिस कथा के द्वारा श्रोता मोह से छूटकर चारित्र के प्रति आकर्षित होते हैं, वह आक्षपणी धर्मकथा कहलाती है, कहा भी है—

" जिस के द्वारा श्रोता सन्मार्ग में स्थापित किये जाते हैं, उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं। जैसे कमलावतीने इषुकार को धर्म में स्थिर किया ॥ १ ॥ "

छोटी उम्र वाले अपने दो बालकों के साथ पत्नीसहित भृगु पुरोहित सर्वस्व त्याग कर दीक्षा ग्रहण करने के लिये अपने घर से निकला। उस पुरोहित का समस्त धन मेरे पति (राजा) ने ले लिया है, ऐसा जान करके रानी कमलावती को वैराग्य हो गया और उसने अपने पति राजा इषुकार को समझाया—" महाराज! जिस धनका भृगु पुरोहित ने

(१) આક્ષેપણી—

જે કથાદ્વારા શ્રોતા મોહથી છૂટી જઈને ચારિત્ર તરફ આકર્ષિત થાય છે તે આક્ષેપણી ધર્મકથા કહેવાય છે કહ્યું પણ છે—

" જેનાથી શ્રોતાને સન્માર્ગમાં સ્થાપિત કરી શકાય છે તેને આક્ષેપણી કથા કહે છે, જેવી રીતે કમલાવતીએ ઇષુકારને ધર્મમાં સ્થિર કર્યો. ॥ ૧ ॥

નાની ઉમરવાળા પોતાના બે બાળકોની સાથે તથા પત્ની સહિત ભૃગુ પુરોહિત સર્વસ્વ ત્યાગ કરીને દીક્ષા ગ્રહણ કરવા માટે પોતાના ઘેરથી નીકળ્યા, તે પુરોહિતનું તમામ ધન મારા પતિ (રાજા) એ લઈ લીધું છે એવું જાણીને રાણી કમલાવતીને વૈરાગ્ય ઉત્પન્ન થઈ ગયો અને તેણે પોતાના પતિ રાજા ઇષુકારને સમજાવ્યા—

भोगमाशंससे ?' इत्यादि । अथ कमलावतीवचनश्रवणक्षणसजातमतिबोध इषुकारः कमलावती च दीक्षार्थं सैव निष्क्रान्ती ।

(२) विक्षेपणी—

विक्षिप्यते=सम्यग्वादगुणोत्कर्षप्रदर्शनेन मिथ्यावादादपसार्यते श्रोताऽनयेति विक्षेपणी । उक्तञ्च—

"सम्यग्वादप्रकर्षेण, मिथ्यावादस्य खण्डनम् ।
यया विक्षेपणी सैव, यथा केशी प्रदेशिनम्" ॥ २ ॥

मिथ्यावादादपसारयामासेति शेषः ।

वमन कर दिया, वह धन भोगोगे ? आप वमन का सेवन करने वालों की तरह भोग की लालसा क्यों करते हैं ?" इत्यादि । इषुकार को कमलावती के वचन सुनते ही वैराग्य हो आया और राजा तथा रानी दोनों साथ-साथ दीक्षा ग्रहण कर ली ॥ १ ॥

(२) विक्षेपणी

सम्यग्वाद अर्थात् अनेकान्तवाद या सिद्धान्त के गुणों का दिग्दर्शन कराकर श्रोताओं को मिथ्यावाद अर्थात् एकान्तवाद से हटाने वाली कथा विक्षेपणी कहलाती है। कहा भी है —

"મહારાજ ! જે ધનને ભૃગુ પુરોહિતે વમન કરી નાખ્યુ છે તે ધનને આપ ભોગવશો ? આપ વમનનું સેવન કરવાવાળાની પેઠે ભોગની લાલસા શા માટે કરો છો ?" ઇત્યાદિ

રાજા ઇષુકાર પોતે કમલાવતીના વચન સાંભળતાં જ વૈરાગ્ય પામ્યા અને રાજા તથા રાણી બન્ને સાથે-સાથે દીક્ષા ગ્રહણ કરી. ॥ ૧ ॥

(૨) વિક્ષેપણી

સમ્યગ્વાદ અર્થાત્ અનેકાન્તવાદ, અથવા સત્યસિદ્ધાંતના ગુણોનું દિગ્દર્શન કરાવીને શ્રોતાઓને મિથ્યાવાદ અર્થાત્ એકાન્તવાદથી દૂર કરાવનારી કથા તે વિક્ષેપણી કથા કહેવાય છે કહ્યુ પણ છેઃ—

केशिश्रमणत करुणारसपरिपूर्णमास्तिकतावादमाकर्ण्य प्रदेशी नाम भूपालो नास्तिकवावाद परित्यज्य द्वादशव्रतधारी श्रावको भूत्वा मृत्वा च प्रथमकल्पे सूर्याभनामा देवो बभूव ।

(३) सवेदनी—

सवेद्यते = ससारासारताप्रदर्शनेन मोक्षाभिलाष उत्पाद्यतेऽनयेति सवेदनी । उक्तश्च—

"यस्या. श्रवणमात्रेण, मुक्तिवाञ्छा प्रजायते ।
सवेदनी यथा मल्ली, षड् नृपान् प्रत्यबोधयत् ॥३॥"

"सम्यग्वाद का उत्कर्ष दिखला कर मिथ्यावाद अर्थात् मिथ्यामान्यता का खण्डन करने वाली विक्षेपणी कथा है। जैसे—केशी श्रमणने प्रदेशी राजा को मिथ्यावाद से हटाया था" ॥ २ ॥

श्री केशी श्रमण के श्रीमुखसे करुणा—रस से परिपूर्ण आस्तिकवाद सुन कर प्रदेशी नामक राजा नास्तिकवाद त्याग कर बारह व्रतधारी श्रावक हो कर मरकर प्रथम सौधर्म कल्पमें सूर्याभ नामक देव हुआ ।

(३) सवेदनी

जो धर्मकथा ससार की असारता प्रदर्शित करके भव्य जीवों में मोक्षकी अभिलाषा जागृत करती है, वह सवेदनी धर्मकथा है । कहा भी है—

"સમ્યગ્વાદનો ઉત્કર્ષ બતાવીને મિથ્યાવાદ અર્થાત્ મિથ્યા માન્યતાનું ખંડન કરવાવાળી વિક્ષેપણી કથા છે જેવી રીતે કેશી શ્રમણે પ્રદેશી રાજાને મિથ્યાવાદથી મુક્ત કર્યા હતા. ॥ ૨ ॥"

શ્રી કેશી શ્રમણના શ્રીમુખથી કરૂણારસથી પરિપૂર્ણ આસ્તિકવાદ સાંભળીને પ્રદેશી નામના રાજાએ નાસ્તિકવાદ ત્યાગ કર્યો, બાર વ્રતધારી શ્રાવક થઈને મરીને પ્રથમ સૌધર્મકલ્પમાં સૂર્યાભ નામના દેવ થયા.

(૩) સવેદની

જે કથા સસારની અસારતા બતાવીને ભવ્યજીવોમા મોક્ષની અભિલાષા જાગ્રત કરે છે, તે સંવેદની ધર્મકથા છે કહ્યું પણ છેઃ—

भोगमाशंससे ?' इत्यादि। अथ कमलावतीवचनश्रवणक्षणसंजातप्रतिबोध इषुकारः कमलावती च दीक्षार्थं सहैव निष्क्रान्तौ।

(२) विक्षेपणी—

विक्षिप्यते=सम्यग्वादगुणोत्कर्षप्रदर्शनेन मिथ्यावादादपसार्यते श्रोताऽनयेति विक्षेपणी। उक्तञ्च—

"सम्यग्वादप्रकर्षेण, मिथ्यावादस्य खण्डनम्।
यया विक्षेपणी सैव, यथा केशी प्रदेशिनम्" ॥ २ ॥

मिथ्यावादादपसारयामासेति शेषः।

वमन कर दिया, वह धन भोगोगे? आप वमन का सेवन करने वालों की तरह भोग की लालसा क्यों करते हैं?" इत्यादि। इषुकार को कमलावती के वचन सुनते ही वैराग्य हो आया और राजा तथा रानी दोनों साथ-साथ दीक्षा ग्रहण कर ली ॥ १ ॥

(२) विक्षेपणी

सम्यग्वाद अर्थात् अनेकान्तवाद या सिद्धान्त के गुणों का दिग्दर्शन कराकर श्रोताओं को मिथ्यावाद अर्थात् एकान्तवाद से हटाने वाली कथा विक्षेपणी कहलाती है। कहा भी है —

"મહારાજ! જે ધનને ભૃગુ પુરોહિતે વમન કરી નાખ્યું છે તે ધનને આપ ભોગવશો? આપ વમનનું સેવન કરવાવાળાની પેઠે ભોગની લાલસા શા માટે કરો છો?" ઇત્યાદિ

રાજા ઇષુકાર પોતે કમલાવતીના વચન સાંભળતાં જ વૈરાગ્ય પામ્યા અને રાજા તથા રાણી બન્ને સાથે-સાથે દીક્ષા ગ્રહણ કરી. ॥ ૧ ॥

(૨) વિક્ષેપણી

સમ્યગ્વાદ અર્થાત્ અનેકાન્તવાદ, અથવા સત્યસિદ્ધાંતના ગુણોનું દિગ્દર્શન કરાવીને શ્રોતાઓને મિથ્યાવાદ અર્થાત્ એકાન્તવાદથી દૂર કરાવનારી કથા તે વિક્ષેપણી કથા કહેવાય છે કહ્યુ પણ છે—

कमलकोमलकान्ताकारः शालिभद्रकुमार' श्रीमहावीरतीर्थङ्करकथितधर्मदेशना-श्रवणसमनन्तर त्वरया वैराग्यमुपगतश्चारित्र प्राप । उक्तञ्च—

"भवस्य सर्वं क्षणभङ्गुर सुख,
विदन्ति ये धर्मकथानुरागिणः ।
विहाय ते भोगमनन्तदु ग्वदं,
चरन्ति चारित्रवने विरागिणः" ॥ ४ ॥

उत्तराध्ययनसूत्रस्यैकोनत्रिंशेऽध्ययने धर्मकथाफलमाह—
"धम्मकहाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । धम्मकहाए ण जीवे निज्जरं जणयइ । धम्मकहाए णं पवयण पभावेइ । पवयणपभावणेणं जीवे आगमेसस्स भद्दत्ताए कम्म निबंधइ । "

कमल के समान कोमल और कान्तिमान आकृति वाला शालिभद्र कुमार श्री महावीर भगवान् को धर्मदेशना सुनते ही वैराग्य को प्राप्त हुआ, और उसने चारित्र धारण कर लिया । कहा भी है —

" धर्मकथा में अनुराग रखने वाले जो पुरुष ससार के सुख क्षणभङ्गुर समझ लेते हैं, वे अनन्त दु ख देने वाले भोगका त्याग करके, विरागी हो कर चारित्ररूपी बगीचे में विहार करते हैं " ॥ १ ॥

उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्ययन में धर्मकथा का फल बतलाया गया है । वह इस भांति है —

કમલના જેવા કોમલ અને કાન્તિમાન આકૃતિવાળા શાલિભદ્રકુમાર શ્રી મહાવીર ભગવાનની ધર્મદેશના સાભળતા જ વૈરાગ્યને પ્રાપ્ત થયા અને ચારિત્ર ધારણ કર્યું કહ્યું પણ છે —

"ધર્મકથામા પ્રીતિ રાખવાવાળા જે પુરૂષ સસારના સુખને ક્ષણભગુર સમજી લે છે તે અનન્ત દુ ખ આપવાવાળા ભોગનો ત્યાગ કરીને વૈરાગ્ય ધારણ કરી ચારિત્રરૂપી બગીચામા વિહાર કરે છે ॥ ૧ ॥"

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના ઓગણત્રીસમાં અધ્યયનમાં ધર્મકથાનું ફલ બતાવ્યુ છે, તે આ પ્રમાણે છેઃ—

मल्लीकुमारी षड् भूमिपालान् स्वस्मिन्ननुरक्तान् विज्ञाय, तेभ्यः संसारासारतां प्रदर्श्य मोक्षाभिलाषं जनयामास ।

(४) निर्वेदनी—

निर्वेद्यते=विषयभोगेभ्यो विरज्यते श्रोताऽनयेति निर्वेदनी, उक्तञ्च—
" यदाऽऽकर्णनमात्रेण, वैराग्यमुपजायते ।
निर्वेदनी यथा शालि,-भद्रो वीरेण बोधितः " ॥ ४ ॥

" जिस कथा को श्रवण करने मात्र से ही मोक्ष की आकाङ्क्षा उत्पन्न होती है, वह संवेदनी धर्मकथा है । जैसे—मल्ली नामक राजकन्याने छह राजाओं को बोध दिया " ॥३॥

छह राजा मेरे उपर अनुरक्त हैं, यह जानकर मल्लीकुमारीने उन्हें संसारकी निःसारता समझाई और उन में मुक्ति की अभिलाषा उत्पन्न कर दी । मल्ली कुमारी का यह उपदेश संवेदनी धर्मकथा है ॥ ३ ॥

(४) निर्वेदनी

जो कथा श्रोताओं को विषयभोगसे विरक्त बनाती है, वह निर्वेदनी धर्मकथा कहलाती है । कहा भी है —

" जिसका श्रवण करते ही वैराग्य उत्पन्न होता है, वह निर्वेदनी धर्मकथा है । जैसे भगवान् महावीरने शालिभद्र को प्रतिबोध दिया " ॥ ४ ॥

" જે કથા સાંભળવામાત્રથી જ મોક્ષની ઇચ્છા ઉત્પન્ન થાય છે તે સંવેદની ધર્મકથા છે જેવી રીતે મલ્લી નામની રાજકન્યાએ છ રાજાઓને બોધ આપ્યો.' ॥૩॥"

છ રાજા મારા ઉપર આસક્ત-પ્રેમવાળા છે એવું જાણીને મલ્લી કુમારીએ તેઓને સંસારની નિઃસારતા સમજાવી અને તેઓમાં મુક્તિની અભિલાષા ઉત્પન્ન કરી, મલ્લીકુમારીનો તે ઉપદેશ સંવેદની ધર્મકથા છે

(૪) નિર્વેદની

જે કથા શ્રોતાઓને વિષય ભોગથી વિરક્ત બનાવે છે તે નિર્વેદની કહેવાય છે કહ્યું પણ છે—

" જેનું શ્રવણ કરતાં જ વૈરાગ્ય ઉત્પન્ન થાય છે, તે નિર્વેદની ધર્મકથા છે જેવી રીતે ભગવાન મહાવીરે શાલિભદ્રને પ્રતિબોધ આપ્યો. ॥ ૪ ॥"

सम्यक्त्त्वमुपस्थापयन्, कर्मकोटिं क्षपयति। उत्कृष्टरसायनपरिणाममसौ लभेत चेत्, त्रैलोक्यपवित्रं तीर्थङ्करनामगोत्रं समुपार्जयति।

अपि चासौ स्वतःप्रकाशस्वभावस्यापि जिनशासनस्य मिथ्यात्वादि-तिमिरावृतदेशकालादिषु यथोचितप्रचारलक्षणाराधनतः प्रभावकपदं बिभर्ति। उक्तञ्च—

" पावयणी धम्मकही, वाई लद्धीसरो तवस्सी य।
विज्जासिद्धो य कवी, अट्ठेव पभावगा भणिया ॥ १ "

और सम्यक्त्व की उपस्थापना करता हुआ कर्मकोटि को खपाता है। कदाचित् परिणाम में उत्कृष्ट रसायन आ जाय तो वह त्रिलोक में पवित्र तीर्थङ्कर गोत्र का भी उपार्जन करता है।

जिन भगवान का शासन स्वत उज्ज्वल है, तथापि जिस देशविशेष और काल विशेष में मिथ्यात्व का अन्धकार फैल जाता है, वहां भगवान के शासन का प्रचाररूप आराधन करके धर्मकथाकार प्रभावक पद प्राप्त करता है। कहा भी है —

"प्रभावक आठ प्रकार के हैं — (१) प्रावचनिक, (२) धर्मकथी, (३) वादी, (४) लब्धियों का स्वामी, (५) तपस्वी, (६) विद्यावान्–रोहिणी प्रज्ञप्ति आदि विद्या के धारक, (७) सिद्ध–वचनसिद्धि आदि सिद्धियों वाला, (८) कवि"।

તે ધર્મકથા કહેનાર અનેક-અનેક ભવ્ય જીવોને દીક્ષિત કરે છે અને સંસાર રૂપી કુવામાં પડવાવાળા પ્રાણીઓને રક્ષણ કરવાનુ આશ્વાસન દેવાવાળા જિનશાસનનો મહિમા વધારતા થકા સમસ્ત જગતને જિનશાસનમા પ્રીતિવાળા બનાવી મિથ્યાત્વ નિવારણ અને સમ્યકત્વની સ્થાપના કરી કર્મકોટીને ખપાવે છે કદાચિત્ પરિણામમા ઉત્કૃષ્ટ રસાયન આવી જાય તો ત્રિલોકમાં પવિત્ર તીર્થંકર ગોત્રની પણ પ્રાપ્તિ કરે છે

જિન ભગવાનનુ શાસન પોતે ઉજ્જ્વલ છે તો પણ જે દેશવિશેષ અને કાલ-વિશેષમાં મિથ્યાત્વનો અંધકાર ફેલાઈ જાય છે, ત્યાં ભગવાનના શાસનપ્રચારરૂપ આરાધન કરીને ધર્મકથાકાર "પ્રભાવક"નુ પદ પ્રાપ્ત કરે છે કહ્યુ પણ છે:-

"પ્રભાવક આઠ પ્રકારના છે (૧) પ્રાવચનિક, (૨) ધર્મકથાકાર (૩) વાદી, (૪) લબ્ધિઓનો ધણી, (૫) તપસ્વી, (૬) વિદ્યાવાન્–રોહિણી–પ્રજ્ઞપ્તિ આદિ વિદ્યાના ધારક, (૭) સિદ્ધ–વચનસિદ્ધિઆદિસિદ્ધિઓવાળા, (૮) કવિ" ॥ ૧ ॥

आक्षेपण्यादिचतुर्विधधर्मकथासचारोद्भावितानन्दधारातरङ्गसमुल्लसितस्वान्त-भूतमन्यमावितात्मा धर्मकथी जन्मजरामरणादिभीषणपीनपाठीनमीनमकर-गणसङ्क्रमणप्रियवियोगाप्रियसयोगवडवानलाकुलितापारससारसागरात् स्वयं तरति, परानपि तारयति ।

स च प्रभूतभव्यान् प्रव्राजयन् भवकूपपतत्प्राणप्राणसमाश्वासनजिनशासन-महिमानमुपबृंहयन् समस्तमेव जगत् जिनशासनरसिकं कुर्वन् , मिथ्यात्वमुत्थापयन्,

"भगवन् ! धर्मकथा से जीव को क्या लाभ होता है ? उत्तर–धर्मकथा से जीव को निर्वाण की प्राप्ति होती है । धर्मकथा से जीव प्रवचन की प्रभावना करता है । प्रवचन की प्रभावना से आगे के लिये भद्र (शुभ) कर्मों का बन्ध करता है" ॥ ४ ॥

आक्षेपणी आदि चार प्रकार की धर्मकथा से उत्पन्न होने वाली आनन्द की धाराओं की तरङ्गों से जिन का अन्त करण उल्लास को प्राप्त हुआ है, ऐसे अनेक भावितात्मा भव्य धर्मकथा करने वाले पुरुष जन्म जरा और मरण रूपी भयानक और विशाल मगरमच्छों से व्याप्त, एव इष्ट–वियोग और अनिष्ट–सयोग रूपी वडवानल से आकुल–व्याप्त अपार ससार सागर से स्वयं भी पार होते हैं और दूसरों को भी पार करते हैं ।

यह धर्मकथाकार अनेकानेक भव्य जीवों को दीक्षित करता हुआ, संसाररूपी कूप में पडनेवाले प्राणियों को त्राण करने का आश्वासन देने वाले जिनशासन की महिमा बढाता हुआ समस्त जगत् को जिनशासन का रसिक–अनुरागी बनाता हुआ मिथ्यात्व की उत्थापना

"ભગવન્ ! ધર્મકથાથી જીવને શું લાભ થાય છે ?

ઉત્તર—ધર્મકથાથી જીવને નિર્જરાની પ્રાપ્તિ થાય છે, ધર્મકથાથી જીવ પ્રવચનની પ્રભાવના કરે છે, પ્રવચનની પ્રભાવનાથી આગળ શુભ કર્મોનો બંધ કરે છે"

આક્ષેપણી આદિ ચાર પ્રકારની ધર્મકથાથી ઉત્પન્ન થનાર આનન્દની ધારાઓના તરંગોથી જેનું અંતઃકરણ ઉલ્લાસને પ્રાપ્ત થયું છે, એવા અનેક ભાવિતાત્મા ભવ્ય–ધર્મકથા કરવાવાળા પુરૂષ જન્મ, જરા અને મરણરૂપી ભયાનક અને વિશાલ મગર મચ્છોથી વ્યાપ્ત એ પ્રમાણે ઇષ્ટ–વિયોગ અને અનિષ્ટ–સંયોગરૂપી વડવાનલથી વ્યાકુલિત અપાર સંસારસાગરથી પોતે પણ પાર ઉતરે છે, અને બીજાને પણ પાર ઉતારે છે

विणा सिद्धंजणं भूमि,–णिहाण णेव लब्भइ ।
सुयचारित्तधम्मेण, विणा णो णाणमप्पणो ॥ ३ ॥
अप्पणाणं विणा णेव, तत्तातत्तविणिच्छओ ।
त विणा णेव भव्वाण, जायएऽमियभावणा ॥ ४ ॥
विसुद्धज्झाणसंपत्ती, णतराऽमियभावण ।
विणा विसुद्धझाण णो, खवगस्सेणिरप्पई ॥ ५ ॥
अन्नोवाएण केणावि,–खवगस्सेणिणा विणा ।
वितीयपाओ सुक्कस्स, झाणस्स नहि लब्भई ॥ ६ ॥

छाया—

श्रुतचारित्रधर्मेण, विना नो ज्ञानमात्मन ॥ ३ ॥
आत्मज्ञानं विना नैव, तत्त्वाऽतत्त्वविनिश्चय ।
त विना नैव भव्यानां, जायतेऽमृतभावना ॥ ४ ॥
विशुद्धध्यानसंप्राप्ति, – र्नान्तराऽमृतभावनाम् ।
विना विशुद्धध्यान नो, क्षपकश्रेणिराप्यते ॥ ५ ॥
अन्योपायेन केनापि, क्षपकश्रेणिना विना ।
द्वितीयपाद' शुक्लस्य, ध्यानस्य नहि लभ्यते ॥ ६ ॥

सिद्धअञ्जन के अभाव में पृथ्वी के भीतर का खजाना नहीं प्राप्त किया जा सकता, इसी प्रकार श्रुत चारित्र के विना आत्मा को सम्यग्ज्ञान नहीं होता ॥ ३ ॥

आत्मज्ञान के अभाव में तत्त्व–अतत्त्व का निश्चय नहीं हो सकता, और तत्त्व अतत्त्व का निश्चय हुए विना भव्य जीवों को अमृतभावना नहीं हो सकती ॥ ४ ॥

अमृतभावना के अभाव में विशुद्ध ध्यान की प्राप्ति नहीं होती, और विशुद्ध ध्यान के विना क्षपकश्रेणी पर आरोहण नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

क्षपक श्रेणी के सिवाय किसी अन्य उपाय से शुक्ल–ध्यान का एकत्ववितर्क अविचार नामक दूसरा पाया नहीं प्राप्त किया जा सकता ॥ ६ ॥

सिद्धाञ्जन विना पृथ्वीनी अंदरनो खजानो प्राप्त करी शकातो नथी. एवी ज रीते श्रुत–चारित्र विना आत्मज्ञान थतुं नथी. ॥ ३ ॥

આત્મજ્ઞાનના અભાવથી તત્ત્વ–અતત્ત્વનો નિશ્ચય થઈ શકતો નથી, અને તત્ત્વ–અતત્ત્વનો નિશ્ચય કર્યા વિના ભવ્ય જીવોને અમૃતભાવના થતી નથી ॥ ૪ ॥

અમૃતભાવનાના અભાવથી વિશુદ્ધ ધ્યાનની પ્રાપ્તિ થતી નથી, અને વિશુદ્ધ

अथ धर्ममहिमोच्यते—

"जम्मंतरेवि सुलहा, पिउभाउसुयाइया ।
परतु सुयचारित्त,–धम्मो णो सुलहो भुवि ॥ १ ॥
बारसगावणे धम्म, णिच्छयव्ववहारिणो ।
लहते सजया भव्वा, भत्तिपण्णेण नन्नहा ॥ २ ॥

संस्कृतच्छाया—

जन्मान्तरेऽपि सुलभा, – पितृ-भ्रातृ-सुतादयः ।
परन्तु श्रुतचारित्र, – धर्मो न सुलभो भुवि ॥ १ ॥
द्वादशाङ्गापणे धर्मं, निश्चयव्यवहारिण ।
लभन्ते संयता भव्या,–भक्तिपण्येन नान्यथा ॥ २ ॥

तथा–विना सिद्धाञ्जनं भूमि,–निधानं नैव लभ्यते

धर्म–महिमा —

"पिता, भ्राता और पुत्र आदि तो जन्मान्तर में—आगामी भव में—भी सुलभ हैं किन्तु ससार में श्रुत–चारित्र धर्म सुलभ नहीं है" ॥ १ ॥

"द्वादशाङ्गीरूपी दुकान में निश्चयनय और व्यवहारनय को जानने वाले सयमी पुरुष भक्तिरूपी मूल्य चुकाकर धर्म प्राप्त कर सकते हैं, ऐसे किये विना धर्म की प्राप्ति नही हो सकती" ॥ २ ॥

धर्मभहिमा—

"पिता भाई अने पुत्र वगेरे तो आवता भवमां—हवे पछीना भवमां पण सुलभ छे, परन्तु ससारमां श्रुत–चारित्र धर्म सुलभ नथी" ॥ १ ॥

"द्वादशांगीरूपी दुकानमां निश्चयनय अने व्यवहारनयने जाणवावाळा सयमी पुरुष भक्तिरूपी मूल्य आपीने धर्म प्राप्त करी शके छे एम कर्या विना धर्मनी प्राप्ति थती नथी." ॥ २ ॥

अथ गणितानुयोग.—

गणित = सख्यान तस्यानुयोगो–गणितानुयोग —

जीवाऽजीवादिषड्द्रव्यतत्पर्यायपरिगणनं गणितानुयोगसाध्यम् ।
तेन जिनोक्तपदार्थाना यथावस्थित परिगणनात् सम्यक्त्वशुद्धिस्ततश्चारित्रशुद्धि ।

पूर्वानुपूर्व्यादीना भङ्गजालादीना च परिगणनया चित्तस्थैर्यम्, ततश्च कषायानलप्रशमनम्, तेन चारित्रनैर्मल्यम् ।

अपि च गणितानुयोगेन भगवत केवलज्ञानादिगुणपर्यायाणामानन्त्यमावेदयति । सख्यानमतिक्रान्ताना तेपा सख्यातुमशक्यता सख्याज्ञानं विना नैव

(३) गणितानुयोग—

गणित अर्थात् सख्याका अनुयोग गणितानुयोग कहलाता है ।

जीव, पुद्गल आदि छह द्रव्यों की गणना करने के लिए, तथा द्रव्यों की पर्यायों की गिन्ती करने के लिए गणितानुयोग की आवश्यकता होती है । गणितानुयोगसे जिन भगवान् द्वारा उपदिष्ट पदार्थों की ठीक–ठीक गणना होने से सम्यक्त्व की शुद्धि होती है, और सम्यक्त्व की शुद्धि से चारित्र की शुद्धि होती है ।

पूर्वानुपूर्वी पश्चानुपूर्वी तथा अनानुपूर्वी आदि से, तथा भङ्ग—जालों की गणना करनेसे चित्तमें स्थिरता आती है, और चित्तकी स्थिरता से कषायरूपी अग्नि शान्त होती है और उससे चारित्र निर्मल होता है ।

गणितानुयोग ही भगवान के केवलज्ञान आदि गुण एव पर्यायोंकी अनन्तता को प्रगट करता है, 'संख्यातीत गुणों एव पर्यायों की सख्या का ज्ञान मुश्किल है' यह बात

(3) ગણિતાનુયોગ—

ગણિત અર્થાત્ સખ્યાનો અનુયોગ તે ગણિતાનુયોગ કહેવાય છે જીવ પુદ્ગલ આદિ છ દ્રવ્યોની ગણના કરવા માટે, તથા દ્રવ્યોના પર્યાયોની ગણતરી કરવા માટે ગણિતાનુયોગની આવશ્યકતા હોય છે, ગણિતાનુયોગથી જિન ભગવાન દ્વારા કહેલા પદાર્થોની ઠીક ઠીક ગણના થઈ શકતી હોવાથી સમ્યકત્વની શુદ્ધિ થાય છે, અને સમ્યકત્વની શુદ્ધિથી ચારિત્રની શુદ્ધિ થાય છે

પૂર્વાનુપૂર્વી પશ્ચાનુપૂર્વી તથા અનાનુપૂર્વી આદિથી, અને ભગજાળોની ગણના કરવાથી ચિત્તમા સ્થિરતા આવે છે, અને ચિત્તની સ્થિરતાથી કષાયરૂપી અગ્નિ શાત થાય છે અને તેથી ચારિત્ર નિર્મલ થાય છે

सुक्कज्झाणस्स पायं च, त्रितीयं पप्प सजमी ।
केवलण्णाणलाहेण, केवलित्ति णिगज्जई ॥ ७ ॥
अवत्था णहि सेलेसी, केवलण्णाणमतरा ।
भवई समणिंदस्स, सव्वकम्मक्खओ तओ ॥ ८ ॥
सव्वकम्मक्खए सिद्धी,-तओ सिद्धो हि सासओ ।
मोक्खट्ठी सुयचारित्त, - धम्मं तम्हा समायरे ॥ ९ ॥

छाया—

शुक्लध्यानस्य पाद च, द्वितीयं प्राप्य सयमी ।
केवलज्ञानलाभेन, केवलीति निगद्यते ॥ ७ ॥
अवस्था नहि शैलेशी, केवलज्ञानमन्तरा ।
भवति श्रमणेन्द्रस्य, सर्वकर्मक्षयस्तत ॥ ८ ॥
सर्वकर्मक्षये सिद्धि, - र्धर्मं तस्मात्समाचरेत् ।
मोक्षार्थी श्रुतचारित्र,-धर्मं तस्मात्समाचरेत् ॥ ९ ॥

सयमी पुरुष शुक्ल ध्यान का दूसरा पाया प्राप्त करके, केवल ज्ञान प्राप्त करता है और केवली कहलाता है । ॥ ७ ॥

केवल ज्ञान के विना शैलेशी अवस्था प्राप्त नहीं होती । शैलेशी अवस्था जब प्राप्ति हो जाती है तो मुनिराज समस्त कर्मों का क्षय कर डालता है ॥ ८ ॥

समस्त कर्मों का क्षय होने पर सिद्धि प्राप्त होती है । सिद्धि लाभ होने पर शाश्वत सिद्ध होजाता है, अत मोक्षार्थी पुरुष को श्रुत—चारित्ररूप धर्म का आचरण करना चाहिये ॥९॥

ध्यान विना क्षपकश्रेणी उपर आरोहण थई शकतु नथी. ॥ ५ ॥

क्षपकश्रेणी विना बीजा कोई उपायथी शुक्ल ध्यानने। एकत्व—वितर्क—अविचार नामक बीजे पाये। प्राप्त करी शकते। नथी ॥ ६ ॥

सयमी पुरुष शुक्ल ध्यानने। बीजे पाये। प्राप्त करीने केवलज्ञान प्राप्त करे छे, अने केवली कहेवाय छे ॥ ७ ॥

केवलज्ञान विना शैलेशी अवस्था प्राप्त थती नथी, शैलेशी अवस्था ज्यारे प्राप्त थई जाय छे, त्यारे मुनिराज सकल कर्मोने। क्षय करी नाखे छे ॥ ८ ॥

सकल कर्मोने। क्षय थया पछी सिद्धि प्राप्त थाय छे, सिद्धि लाभ थया पछी शाश्वत सिद्ध थाय छे, ए माटे मुक्षार्थी पुरुषोए श्रुत—चारित्ररूप धर्मनु आचरण करवु जोइए ॥ ९ ॥

(१) तत्र मासविचार

पौष-चैत्र-ज्येष्ठा-षाढ-मासान् विहाय शेषा मासा' प्रशस्ताः ।

विशेषतो मासफलमाह-

(१) श्रावणे-शुभम् । (७) माघे-ज्ञानवृद्धि ।
(२) भाद्रपदे-शिष्याल्पता । (८) फाल्गुने-सुख-सौभाग्य-यशोवृद्धि ।
(३) आश्विने-सुखम् । (९) चैत्रे-अल्पसुखम् ।
(४) कार्तिके-विद्यावृद्धि । (१०) वैशाखे-रत्नत्रयलाभ ।
(५) मार्गशीर्षे-शुभम् । (११) ज्येष्ठे-सामान्यम्, तत्रान्यबलसत्त्वे शुभम् ।
(६) पौषे-विद्यावृद्ध्यभाव । (१२) आषाढे-गुरुबन्धुना सह प्रेमाल्पता ।

(१) मास-विचार

पौष, चैत्र, ज्येष्ठ और आषाढ मास को छोडकर शेष महीनों में दीक्षा देना प्रशस्त है।

विशेष मास-विचार

(१) श्रावण – शुभ । (७) माघ – ज्ञान की वृद्धि
(२) भाद्रपद – शिष्यों कमी। (८) फाल्गुन-सुख-सौभाग्य और यश की वृद्धि
(३) आश्विन – सुख । (९) चैत्र – अल्प सुख
(४) कार्तिक – विद्यावृद्धि । (१०) वैशाख – रत्नत्रय का लाभ
(५) मार्गशीर्ष – शुभ । (११) ज्येष्ठ – साधारण, यह मास दूसरे नक्षत्र आदि का बल हो तो शुभ है ।
(६) पौष-विद्यावृद्धि का अभाव। (१२) आषाढ-गुरुभाइयों के साथ प्रेम की कमी ।

(१) માસ-વિચાર—

પોષ, ચૈત્ર, જેઠ અને આષાઢ માસને ત્યજીને બાકીના બીજા મહિનાઓ દીક્ષા આપવા માટે ઉત્તમ છે

વિશેષ માસ-વિચાર—

(૧) શ્રાવણ—શુભ. (૭) માઘ-જ્ઞાનની વૃદ્ધિ
(૨) ભાદ્રપદ—શિષ્યોની કમી (૮) ફાલ્ગુન—સુખ સૌભાગ્ય અને યશની વૃદ્ધિ
(૩) આસો—સુખ. (૯) ચૈત્ર-અલ્પ સુખ.
(૪) કાર્તિક—વિદ્યાવૃદ્ધિ. (૧૦) વૈશાખ—રત્નત્રયનો લાભ.
(૫) માર્ગશીષ—શુભ. (૧૧) જેઠ-સાધારણ, આમાસમા બીજા નક્ષત્ર વગેરેનુ બલ હોય તો શુભ છે
(૬) પોષ-વિદ્યાવૃદ્ધિનો અભાવ (૧૨) અષાઢ-ગુરૂભાઇઓની સાથે પ્રેમની કમી.

विज्ञातुं शक्यते, तद्धि गणितानुयोगगम्यम् । भगवद्गुणानुस्मरणेन भगवतः स्तुतिः सम्पद्यते, तया च दर्शनशुद्धिस्ततश्चारित्रशुद्धि ।

प्रव्रज्याप्रदानादयोऽपि शोभनतिथिनक्षत्रादियुक्तसमय एव विधेया इति तादृशसमयावबोधकतया गणितानुयोगस्यापि चरणप्राप्तिं प्रति साधनता सिद्धयति। तथा चास्यापि फलं चारित्ररक्षणमेव ।

अथ प्रसङ्गाज्ज्योतिष्कविषयं किञ्चित्प्रदर्श्यते—
तत्र पूर्वं प्रव्रज्याप्रदानसमयो निर्णीयते—

भी संख्या का ज्ञान किये विना जानी नहीं जा सकती है । भगवान के गुणों का बारंबार स्मरण करने से भगवान की स्तुति होती है, उससे दर्शन–शुद्धि होती है, दर्शन–शुद्धि के होने से चारित्र की शुद्धि होती है ॥

शुभ तिथि तथा शुभ नक्षत्र से युक्त समय में ही दीक्षा आदि देना चाहिए, इस प्रकार के समय का बोध कराने वाला होने से गणितानुयोग भी चारित्रकी प्राप्ति का कारण है, ऐसा सिद्ध होता है, उससे गणितानुयोग का फल भी चारित्र की रक्षा करना ही है ।

यहां प्रसङ्ग होनेसे कुछ ज्योतिष का विषय दिखलाया जाता है—

दीक्षादानसमयका निर्णय—

ગણિતાનુયોગ જ ભગવાનના કેવલજ્ઞાન આદિ એ ગુણો એ પ્રમાણે પર્યાયોની અનંતતા પ્રગટ કરે છે 'સંખ્યાતીત ગુણો અને પર્યાયોની સંખ્યા જાણવી અશક્ય છે' તે વાત પણ સંખ્યાનું જ્ઞાન કર્યા વિના જાણી શકાતી નથી, તે ગણિતાનુયોગ દ્વારા જાણી શકાય છે ભગવાનના ગુણોનું વારંવાર સ્મરણ કરવાથી ભગવાનની સ્તુતિ થાય છે, અને તેથી દર્શન–શુદ્ધિ થઈ શકે છે, અને દર્શન વિશુદ્ધ થવાથી ચારિત્રની શુદ્ધિ થાય છે

શુભ તિથિ તથા શુભ નક્ષત્રથી યુક્ત સમયમા જ દીક્ષા આદિ આપવી જોઈએ, આ પ્રકારના સમયનુ જ્ઞાન કરાવવાવાળો હોવાથી ગણિતાનુયોગ પણ ચારિત્રની પ્રાપ્તિનુ કારણ છે એમ સિદ્ધ થાય છે તેથી ગણિતાયોગનુ ફલ પણ ચારિત્રની રક્ષા કરવી એજ છે અહીં પ્રસંગથી થોડો જ્યોતિષનો વિષય બતાવવામા આવે છે—

દીક્ષા આપવાના સમયનો નિર્ણય—

नव तिथयश्च वर्जनीया'—

(१) शुक्ला चतुर्दशी (२) अमावास्या (३) यस्यां तिथौ रविसक्रमण, सा। (४) द्वितीया, (५) चतुर्थी, (६) षष्ठी, (७) अष्टमी, (८) नवमी, (९) द्वादशी।

(४) वार-विचारः—

रवि – चन्द्र – बुध – गुरु – वारा' प्रशस्ता'

(५) नक्षत्र-विचार —

दीक्षायां त्रयोदश नक्षत्राणि प्रशस्तानि- (१) अश्विनी, (२) रोहिणी, (३) मृगशिर, (४) पुष्यम्, (५) उत्तरफाल्गुनी, (६) हस्त (७) अनुराधा, (८) ज्येष्ठा, (९) उत्तराषाढा, (१०) अभिजिन्, (११) श्रवणम्, (१२) उत्तरभाद्रपदा, (१३) रेवती।

नौ तिथियां त्याज्य हैं—

(१)—शुक्ला चतुर्दशी, (२)—अमावास्या, (३)—जिस तिथि म सूर्य—सक्रमण हो वह, (४)—द्वितीया (५)—चतुर्थी (६)—षष्ठी (७)—अष्टमी (८)—नवमी (९)—द्वादशी।

(४) वार-विचार—

रवि, सोम, बुध, गुरु, और शनिवार प्रशस्त हैं।

(५) नक्षत्र-विचार—

दीक्षा के विषय में तेरह १३ नक्षत्र प्रशस्त हैं। (१)—अश्विनी, (२)—रोहिणी, (३)—मृगशीष, (४)—पुष्य (५)—उत्तराफाल्गुनी (६)—हस्त, (७)—अनुराधा, (८)—ज्येष्ठा, (९)—उत्तराषाढा, (१०)—अभिजित्, (११)—श्रवण, (१२)—उत्तराभाद्रपद, (१३)—रेवती।

નવ તિથિઓ ત્યાજ્ય છે—

(૧) શુક્લ ચતુર્દશી, (૨) અમાવાસ્યા (૩) જે તિથિમા સૂર્ય-સક્રમણ થાય તે, (૪) દ્વિતીયા, (૫) ચતુર્થી, (૬) ષષ્ઠી, (૭) અષ્ટમી (૮) નવમી (૯) દ્વાદશી

(૪) વાર વિચાર—

રવિ, સોમ, બુધ, ગુરૂ અને શનિવાર ઉત્તમ છે

(૫) નક્ષત્ર-વિચાર—

દીક્ષાના વિષયમા તેર નક્ષત્ર ઉત્તમ છે— (૧) અશ્વિની, (૨) રોહિણી, (૩) મૃગશીષ, (૪) પુષ્ય, (૫) ઉત્તરાફાલ્ગુની, (૬) હસ્ત, (૭) અનુરાધા (૮) જ્યેષ્ઠા (૯) ઉત્તરાષાઢા, (૧૦) અભિજિત (૧૧) શ્રવણ (૧૨) ઉત્તરભાદ્રપદ, (૧૩) રેવતી

(२) पक्ष-विचार'—

कृष्णपक्षे-प्रतिपद आरभ्य पञ्चमीं यावत्तिथय शुभा । षष्ठीत' समारभ्य दशमीं यावत्तिथयो मध्यमा' । एकादशीत आरभ्यामावास्यां यावदशुभा, ।

शुक्लपक्षे तु प्रतिपत्तिथित' पञ्चमी पर्यन्तमशुभा । षष्ठीतो दशमां यावन्मध्यमाः। एकादशीत समारभ्य पूर्णिमान्तास्तिथय शुभा ।

(४) तिथि-विचारः—

दीक्षायां प्रतिपद् (१), तृतीया (३), पञ्चमी (५), सप्तमी (७), एकादशी (११), त्रयोदशी (१३) च प्रशस्ता ।

---

(२) पक्ष-विचार—

कृष्ण पक्ष में प्रतिपदा स लेकर पञ्चमी पर्यन्त तिथियाँ शुभ हैं। षष्ठी से लेकर दशमी तक की तिथियां मध्यम हैं, और एकादशीसे लेकर अमावास्या तक अशुभ तिथिया हैं।

शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा से लगाकर पञ्चमी तक अशुम हैं, षष्ठी से दशमी तक मध्यम हैं और एकादशी से पूर्णिमा तक की तिथिया शुभ हैं ।

(३) तिथि-विचार—

दीक्षा के विषयमें प्रतिपदा, तृतीया, पञ्चमी, सप्तमी, एकादशी और त्रयोदशी प्रशस्त हैं ।

---

(२) પક્ષ-વિચાર—

કૃષ્ણ પક્ષમા પડવેથી પાંચમ સુધીની તિથિઓ અશુભ છે છઠ્ઠથી લઈને દશમ સુધીની તિથિઓ મધ્યમ છે, અને એકાદશી-અગીયારસથી લઈને અમાવાસ્યા સુધીની તિથિઓ અશુભ છે

શુક્લ પક્ષમા-પડવેથી લઈને પાચમ સુધીની તિથિઓ અશુભ છે છઠ્ઠથી દશમી સુધી મધ્યમ છે, અને એકાદશીથી પુનમ સુધીની તિથિઓ શુભ છે

(૩) તિથિ-વિચાર—

દીક્ષાના વિષયમા પડવે, ત્રીજ, પાચમ, સાતમ, એકાદશી અને તેરસ, આ તિથિઓ ઉત્તમ છે

(७) ग्रहभिन्नम्-यत्र त्रयो ग्रहास्तिष्ठन्ति तादृशं नक्षत्रम् ।

(६) योग-विचार'—

योगास्तु नाम्नैव शुभाशुभफला', यथा-विष्कम्भादिषु दैनिकयोगेषु प्रीत्यादय शुभफलाः, विष्कम्भादयोऽशुभफला' । आनन्दादिषु सांयोगिकेषुवारनक्षत्र-संयोगजनितेषु योगेषु आनन्दादयः शुभा', कालदण्डादयोऽशुभा' ।

(७) अथ करण-विचार –

करणानि एकादश सन्तिः यथा-(१) ववम् , (२) बालवम् , (३) कौलवम् ,

---

(७) ग्रह-भिन्नजिस में तीन ग्रह हों ऐसा नक्षत्र ।

(६) योग-विचार—

योगों के नामसे ही शुभ अशुभ फल प्रतीत हो जाता है । जैसे—विष्कम्भ, आदि दैनिक योगो में से प्रीति आदि योग शुभफल वाले, और विष्कम्भ आदि योग अशुभ फल वाले हैं । आनन्द आदि सायोगिक (वार नक्षत्र के सयोग से बनने वाले) योगो में से आनन्द आदि योग शुभफलदाता हैं, और कालदण्ड आदि अशुभफलदायक हैं ।

(७) करण-विचार

करण ११ ग्यारह होते हैं, जैसे—(१) बव, (२) बालव, (३) कौलव,

---

(७) ગ્રહભિન્ન-જેમા ત્રણ ગ્રહો હોય, એવું નક્ષત્ર.

(૬) યોગ-વિચાર—

યોગોના નામથી જ શુભ-અશુભ ફળની પ્રતીતિ થઈ જાય છે જેમકે -વિષ્કભ આદિ દૈનિક યોગોમાથી પ્રીતિ આદિ શુભ ફળવાળા છે, અને વિષ્કભ આદિ યોગ તે અશુભ ફળ આપનારા છે આનન્દ આદિક સાયોગિક (વાર-નક્ષત્રના સયોગથી બનવાવાળા) યોગોમા આનન્દ આદિ યોગ શુભ ફળ દેનારા છે, અને કાળદડ આદિ અશુભ ફળ આપનારા છે

(૭) કરણ-વિચાર—

કરણ અગિઆર હોય છે (૧) બવ (૨) બાલવ (૩) કૌલવ (૪) સ્રીવિલોચન

नक्षत्रेषु सप्त दोषाः सन्ति, यथा-

(१) संध्यागतम्-यत्र नक्षत्रे सूर्योऽनन्तरं स्थास्यति तादृशं नक्षत्रम्। यथा हस्ते रविर्वर्तते चेत् तदा दैनिकं चित्रानक्षत्रं संध्यागतं बोध्यम्।

(२) रविगतम्- यत्र रविस्तिष्ठति तादृशं दैनिकं नक्षत्रं रविगतं बोध्यम्।

(३) दुर्गतम्-यत्रोन्मार्गगामी-वक्री ग्रहो भवति, तादृशं नक्षत्रम्।

(४) सग्रहम्-यत्र क्रूरो ग्रहस्तिष्ठति, तादृशं नक्षत्रम्।

(५) विलम्बितम्-सूर्येण परिभुज्य मुक्तं नक्षत्रम्।

(६) राहुगतम्-यत्र चन्द्र-सूर्योपरागः संजातस्तादृशं नक्षत्रम्। ईदृशे नक्षत्रे षण्मासान् यावत् प्रव्रज्या न देया।

नक्षत्रों में सात दोष

(१) सन्ध्यागत-जिस नक्षत्र में सूर्य आगे आने वाला है वह नक्षत्र। जैसे-अगर हस्त नक्षत्र में सूर्य हो तो दैनिक चित्रा नक्षत्र सन्ध्यागत कहलाता है।

(२) रविगत-जिस नक्षत्र में रवि हो, वह दैनिक नक्षत्र रविगत जानना चाहिए।

(३) दुर्गत-जिस में उन्मार्गगामी-वक्र ग्रह हो वह नक्षत्र दुर्गत कहलाता है।

(४) सग्रह-जिस नक्षत्र में क्रूर ग्रह हो।

(५) विलम्बित-सूर्य-द्वारा भोग कर छोड़ा हुआ नक्षत्र।

(६) राहुगत-जिस नक्षत्र में चन्द्र-ग्रहण या सूर्य-ग्रहण हुआ हो। ऐसे नक्षत्र में छह मास तक दीक्षा देना वर्जनीय है।

નક્ષત્રમા સાત દોષ—

(૧) સંધ્યાગત—જે નક્ષત્રમા સૂર્ય આગળ આવવાવાળો છે તે નક્ષત્ર, જેવી રીતે કે હસ્ત નક્ષત્રમાં સૂર્ય હોય તો દૈનિક ચિત્રા નક્ષત્ર સંધ્યાગત કહેવાય છે

(૨) રવિગત—જે નક્ષત્રમાં રવિ હોય તે દૈનિક નક્ષત્ર રવિગત જાણવુ જોઇએ

(૩) દુર્ગત—જેમાં ઉન્માર્ગગામી—વક્ર-ગ્રહ હોય તે નક્ષત્ર દુર્ગત કહેવાય છે

(૪) સગ્રહ—જે નક્ષત્રમાં ક્રૂર ગ્રહ હોય

(૫) વિલમ્બિત—સૂર્યદ્વારા ભોગવીને છૂટુ કરાયેલુ નક્ષત્ર

(૬) રાહુગત—જે નક્ષત્રમાં ચન્દ્રગ્રહણ અથવા સૂર્યગ્રહણ થયુ હોય. એવા નક્ષત્રમાં છ માસ સુધી દીક્ષા આપવી વર્જનીય છે

कइ करणा स्थिरा पण्णत्ता?, गोयमा सत्त करणा चरा, चत्तारि करणा थिरा पण्णत्ता।" इत्यादि।

तत्र दिवाशब्देन तिथेः पूर्वार्द्धभागः, रात्रिशब्देन तिथेरुत्तरार्द्धभागो गम्यते।

एकादशसु करणेसु बवम्, बालवम्, कौलवम्, वणिजम्, एतानि चत्वारि शुभफलानि।

विष्टिकरणस्य नामान्तरं भद्रा। इयं दीक्षादौ वर्जनीया। उक्तञ्च-

"यदि भद्राकृतं कार्यं, प्रमादेनापि सिद्ध्यति।

गया है। वहां कहा है —

"हे भदन्त! इन ग्यारह करणों में कितने करण चर और कितने करण स्थिर कहे गये हैं?, हे गौतम! सात करण चर और चार करण स्थिर कहे गये हैं।" इत्यादि।

यहां दिन शब्द का अर्थ है—तिथिका पूर्वार्ध भाग और रात्रि शब्द का अर्थ है—तिथि का उत्तरार्ध भाग।

इन ग्यारह करणों में से बव, बालव, कौलव, और वणिज, ये चार करण शुभ फल दायक है।

विष्टि करण का दूसरा नाम भद्रा है। दीक्षा आदि कार्यों में यह वर्जनीय है। कहा भी है —

રૂપથી કરેલુ છે, ત્યા કહ્યુ છે —

"હે ભદન્ત! આ અગ્યાર કરણોમાં કેટલા કરણ ચર અને કેટલા કરણ સ્થિર કહેવામા આવ્યા છે?, હે ગૌતમ! સાત કરણ ચર અને ચાર કરણ સ્થિર કહેવામા આવ્યા છે" ઇત્યાદિ

આ સ્થળે દિન શબ્દનો અર્થ છે કે-તિથિનો પૂર્વાર્ધ ભાગ, અને રાત્રી શબ્દનો અર્થ છે કે-તિથિનો ઉત્તરાર્ધ ભાગ

એ અગિયાર કરણોમાથી બવ, બાલવ, કૌલવ અને વણિજ, આ ચાર કરણ શુભફલદાયક છે

વિષ્ટિકરણનુ બીજુ નામ ભદ્રા છે દીક્ષા આદિ કાર્યોમા તે ભદ્રા ત્યજવા યોગ્ય છે કહ્યુ પણ છે—

(४) स्त्रीविलोचनम्, इदं तैतिलमिति, केचिदाहुः, (५) गरादि, इदं गरमित्याहुरन्ये, (६) वणिजम्, (७) विष्टिः, (८) शकुनिः, (९) चतुष्पदं, (१०) नागम्, (११) किंस्तुघ्नम्, इति।

अत्र बवादिविष्ट्यन्तानि सप्त करणानि चराणि, शकुन्यादीनि चत्वारि स्थिराणि वेदितव्यानि।

बवादिविष्ट्यन्तानां सप्तानां कस्यांश्चिदकस्यां तिथौ नियमतः स्थित्यभावात्तानि सप्त चराणि, शकुन्यादीनां कृष्णपक्षीयचतुर्दश्यमावस्याशुक्लप्रतिपत्तिथिषु नियतस्थित्या तानि चत्वारि स्थिराणि प्रोच्यन्ते। स्पष्टं चेदं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ सप्तमवक्षस्कारे। उक्तञ्च तत्र-"एएसिणं भंते! एक्कारसण्हं करणाणं कइ करणा चरा?

(४) स्त्रीविलोचन (कोई कोई इसे 'तैतिल' भी कहते हैं), (५) गरादि ('गर' नाम भी है), (६) वणिज, (७) विष्टि, (८) शकुनि, (९) चतुष्पद, (१०) नाग, (११) किंस्तुघ्न।

इन ग्यारह करणों में बव से लेकर विष्टि तक सात करण चर हैं, और अन्त के शकुनि आदि चार स्थिर हैं।

बव से लेकर विष्टि तक सात करण किसी एक तिथि में नियम से नहीं रहते इस कारण ये चर कहलाते हैं, शकुनि आदि अन्तिम चार करण कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी, अमावास्या तथा शुक्लपक्ष की प्रतिपदा तिथि में नियम से होते हैं, अत एव ये स्थिर कहलाते हैं। इस विषय का जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के सातवें वक्षस्कार में स्पष्ट रूप से विवेचन किया

(કોઈ કોઈ એને 'તૈતિલ' પણ કહે છે), (૫) ગરાદિ (તેનુ 'ગર' નામ પણ છે) (૬) વણિજ (૭) વિષ્ટિ (૮) શકુનિ (૯) ચતુષ્પદ (૧૦) નાગ (૧૧) કિંસ્તુઘ્ન

આ અગિયાર કરણોમાં બવથી લઈને વિષ્ટિ સુધી સાત કરણ ચર છે; અને છેલ્લા શકુનિ આદિ-ચાર સ્થિર છે.

બવથી લઈને વિષ્ટિ સુધીના સાત કરણ કોઈ એક તિથિમા નિયમિત રહેતા નથી તે કારણથી તેને ચર કહે છે, શકુનિ આદિ છેલ્લા ચાર, કૃષ્ણ પક્ષની ચૌદસ, અમાવાસ્યા તથા શુકલ પક્ષની પ્રતિપદા-પડવો તિથિમા નિયમિત રહે છે એટલે તે સ્થિર કહેવાય છે આ વિષયનુ વિવેચન જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિના સાતમા વક્ષસ્કારમાં સ્પષ્ટ

शकुनि–चतुष्पद–नाग–किंस्तुघ्ननामानि करणानि तु कृष्णचतुर्दश्यमावास्या शुक्लप्रतिपद्योगभावित्वात्त्याज्यानि । अवशिष्टे द्वे करणे स्त्रीविलोचनगरादिसञ्ज्ञके सामान्ये, इति साम्प्रदायिकाः ।

यच्चु गणिविद्याप्रकीर्णककृतश्चतुष्पद नाग चेति द्वे करणे निष्क्रमणे प्रशसन्ति, यथा—" नागे चउप्पए यावि, सेहनिक्खमण करे " इति ।

तन्न समीचीनम् , निष्क्रमणेऽमावास्याया प्रतिषिद्धत्वेन नियमतस्तद्योगभाविनोस्तयो॰ प्राशस्त्याऽसभवात् ।

शकुनि, चतुष्पद, नाग और किंस्तुघ्न नामक करण कृष्ण पक्षकी चतुर्दशी, अमावास्या, शुक्लपक्षकी प्रतिपदा क योगसे भावित होने क कारण त्याज्य हो जाते हैं । शेष दो करण स्त्रीविलोचन और गरादि नामक साधारण हैं । परम्परा को जानने वालों का यह मत है ।

गणिविद्याप्रकीर्णककारने दीक्षा के विषय में चतुष्पद और नाग नामक दो करण प्रशस्त माने हैं, उन्हों ने कहा है कि–"नागे चउप्पए यावि सेहनिक्खमण करे" अर्थात् नाग और चतुष्पद नक्षत्र म निष्क्रमण करना चाहिये, अर्थात् शिष्यको दीक्षा देना चाहिए, उनका यह कथन समीचीन नहीं है, कारण यह है कि निष्क्रमण में अमावास्या निषिद्ध मानी गइ है, इसीलिये अमावास्या के योग से भावित उक्त दोनों करणों का प्रशस्त होना असम्भव है ।

શકુનિ, ચતુષ્પદ, નાગ અને કિંસ્તુઘ્ન નામના કરણ કૃષ્ણ પક્ષની ચૌદશ, અમાવાસ્યા, શુકલ પક્ષના પડવાના યોગથી ભાવિત હોવાથી ત્યાજ્ય બની જાય છે બાકી બે કરણ સ્ત્રીવિલોચન અને ગરાદિ નામના સાધારણ છે પરમ્પરા જાણવા વાળાનો આ પ્રમાણે મત છે

ગણિવિદ્યાપ્રકીર્ણકકારે દીક્ષાના વિષયમા ચતુષ્પદ અને નાગ નામના બે કરણોને ઉત્તમ માન્યા છે તેણે કહ્યુ છે કે–"नागे चउप्पए यावि सेहनिक्खमण करे" નાગ અને ચતુષ્પદ નક્ષત્રમા નિષ્ક્રમણ કરવુ જોઈએ, અર્થાત્ શિષ્યને દીક્ષા આપવી જોઈએ તેમનુ આ કથન બરાબર નથી, કારણ એ છે કે–નિષ્ક્રમણમા–દીક્ષામા–અમાવાસ્યા નિષિદ્ધ માની છે, એટલા માટે અમાવાસ્યાના યોગથી ભાવિત ઉપર કહેલા બન્ને કરણો ઉત્તમ હોય તે વાત અસભવ છે

मासे तु षोडशे मासे, समूलं तद्विनश्यति ॥ १ ॥" इति।

शुक्लपक्षे भद्रा चतुर्थ्यामेकादश्यां च तिथिपरार्द्धभागस्थायिनी, अष्टम्यां पूर्णिमायां च तिथिपूर्वार्द्धभागस्थायिनी भवति, कृष्णपक्षे तु सा तृतीयायां दशम्यां च तिथिपरार्द्धभागस्थायिनी, सप्तम्यां चतुर्दश्यां च तिथिपूर्वार्द्धभागस्थायिनी भवति।

तत्र तिथिपश्चार्द्धभागस्थायिनी भद्रा दिवसं व्याप्नोति, तथा तिथिपूर्वार्द्धभागस्थायिनी रात्रिं व्याप्नोति चेत्तदा न दोषावहा।

भद्रायास्त्रिंशद्घटिकामानेन पश्चिम घटिकात्रयं पुच्छमित्यभिधीयते। तद् भद्रापुच्छं शुभम्।

"भद्रा करण में किया हुआ कार्य प्रथम तो सिद्ध ही नहीं होता, कदाचित् सिद्ध भी होजाय तो सोलहवाँ महीना आने पर उसका समूल विनाश हो जाता है" ॥१॥

भद्रा शुक्लपक्ष में चौथ तथा एकादशी तिथि के उत्तरार्ध में रहती है, और अष्टमी तथा पूर्णिमा के दिन तिथि के पूर्वार्ध में रहती है।

कृष्णपक्ष में तृतीया और दशमी के दिन तिथि के उत्तरार्ध में और सप्तमी एवं चतुर्दशी को तिथि के पूर्वार्ध में रहती है।

तिथि के उत्तरार्ध में रहने वाली भद्रा दिनको व्याप्त करती हो और पूर्वार्धभाग में रहने वाली रात्रिको व्याप्त करती हो तो कोई दोष नहीं है।

तीस घडीकी भद्रा की अन्तिम तीन घडियाँ पूछ कहलाती हैं। भद्राकी यह पूछ शुभ है।

"ભદ્રા કરણમા કરેલુ કામ પ્રથમ તો સિદ્ધ થતુ નથી, કદાચિત્ સિદ્ધ પણ થાય તો સોળમો મહિનો આવતા તેનો સમૂળ વિનાશ થાય છે" ॥ ૧ ॥

ભદ્રા શુકલ પક્ષમા ચોથ તથા એકાદશી તિથિના ઉત્તરાર્ધમાં રહે છે, અને આઠમ તથા પૂનમના દિવસે તિથિના પૂર્વાર્ધમા રહે છે

કૃષ્ણપક્ષમાં ત્રીજ અને દશમીના દિન તિથિના ઉત્તરાર્ધમા અને સાતમ તથા ચૌદશના દિન તિથિના પૂર્વાર્ધમા રહે છે

તિથિના ઉત્તરાર્ધમા રહેવાવાળી ભદ્રા દિવસને વ્યાપ્ત કરતી હોય, અને પૂર્વાર્ધ ભાગમા રહેવાવાળી રાત્રીને વ્યાપ્ત કરતી હોય તો કોઈ દોષ નથી.

ત્રીશ ઘડીની ભદ્રાની છેલ્લી ત્રણ ઘડીઓ પૂછ કહેવાય છે; અને ભદ્રાની તે પૂછ શુભ છે

चन्द्रतो लग्नतश्च सप्तमे स्थाने रविकुजभार्गवास्त्याज्या, तत्र त्रयाणा सगमे दीक्षणीय प्रतिपाती भवति। एषु त्रिषु द्वावन्यतमो वा तत्र तिष्ठति चेत्तदा कुशील क्रोधादिवशगश्च भवति। यदि सप्तम स्थान रिक्त, चन्द्रश्च ग्रहान्तरवर्जितस्तदा दीक्षा शुभा। यदि चन्द्रस्य गुरु-बुधयोरन्यतरेण सगमस्तर्हि शुभम्।

(१०) अथ त्वरितकर्तव्यदीक्षासमयनिरूपणम्।

(क) सिद्धच्छायालग्नम्।

चन्द्रमासे तथा लग्न से सातवें स्थान पर सूर्य, कुज (मङ्गल) भार्गव, (शुक्र) हों तो त्याज्य हैं। अगर इन तीनों का सङ्गम हो तो दीक्षा लेन वाला प्रतिपाती (पडिवाइ) हो जाता है। अगर इन तीनों म से दो अथवा कोई भी एक वहा हो तो दीक्षा लेने वाला कुशील और क्रोध आदि दुर्गुणों का धारक होता है। अगर चन्द्र दूसरे ग्रहों से वर्जित हो तो दीक्षा शुभ समझनी चाहिए। अगर गुरु और बुध में से किसी एक के साथ चन्द्रमाका सङ्गम हो तो शुभ है।

(१०) तुरन्त दीक्षा देनेका समय—

(क) सिद्धच्छाया—लग्न—

त्रीजा, छठा, नवमा अने अगिआरमा स्थानमा स्थित शुक्र निर्बल होय छे, तेथी करी शुक्र अस्त होय तो पण दीक्षा ग्रहण करवी ते उत्तम मानवामा आव्यु छे एवो कोई आचार्यनो मत छे

चद्रमाथी तथा लग्नथी सातमा स्थानमा सूर्य, मगल शुक्र होय तो त्याज्य छे अथवा ए त्रणेयनो सगम होय तो दीक्षा लेनार प्रतिपाती (पडिवाई) थई जाय छे, अथवा ए त्रणमाथी बे अथवा कोई पण एक त्या होय तो दीक्षा लेवावाळो कुशील अने क्रोध आदि दुर्गुणोनो धारण करनार बने छे, अथवा चन्द्र तथा लग्नथी सातमु स्थान खाली होय अथवा चद्रमा बीजा ग्रहोथी वर्जित होय तो दीक्षा शुभ समजवी जोईए, अथवा गुरु अने बुधमाथी कोई पण एकनी साथे चद्रनो सगम होय तो शुभ छे

(१०) तुरंत दीक्षा आपवानो समय—

(क) सिद्धछायालग्न—

अथ लग्नविचार.–

निष्क्रमणे मिथुन–सिंह–कन्या–वृश्चिक–धनु–मकर–कुम्भ–मीनानि लग्नानि शुभानि। अन्यानि चत्वारि वर्जनीयानि।

(९) ग्रहविचार –

दीक्षालग्ने शनैश्चरं मध्यमबलं, गुरु बलीयांसं, शुक्रं बलहीनं विधाय दीक्षा देया। द्वितीये, पञ्चमे, षष्ठे, सप्तमे, एकादशे स्थाने शनिर्मध्यमबली भवति। त्रिकोणे केन्द्रे एकादशे च स्थानेऽवस्थितो गुरुर्बलीयान् भवति। तृतीय, षष्ठे, नवमे, द्वादशे च स्थाने स्थितः शुक्रो बलहीनो भवति, अत एव शुक्रास्तेऽपि दीक्षा प्राशस्तेति संप्रदायविद ।

(८) लग्न–विचार—

दीक्षा अङ्गीकार करने में–मिथुन, सिंह, कन्या, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ और मीन, लग्न शुभ हैं। शेष चार वर्जनीय हैं।

(९)ग्रह–विचार—

दीक्षालग्न में शनैश्चर मध्यम बल वाला, गुरु बलशाली और शुक्र बलहीन हो तो दीक्षा देनी चाहिए। दूसरे पाचवें, छठे, सातवें और ग्यारहवें स्थान में शनि मध्यम बल वाला होता है। त्रिकोण में केन्द्र में और ग्यारवें स्थान में रहा हुआ गुरु (बृहस्पति) बलशाली समझा जाता है। तीसरे, छठे, नौवें और ग्यारहवें स्थान में स्थित शुक्र निर्बल होता है। अत एव शुक्र का अस्त होने पर भी दीक्षा ग्रहण करना प्रशस्त माना गया है, ऐसा कई आचार्यों का कथन है।

(८) લગ્ન–વિચાર—

દીક્ષા અંગીકાર કરવામા મિથુન, સિંહ, કન્યા, વૃશ્ચિક, ધનુ, મકર, કુંભ અને મીન–લગ્ન શુભ છે બાકીના ચાર ત્યાજ્ય છે

(૯) ગ્રહ–વિચાર—

દીક્ષાલગ્નમા શનૈશ્વર મધ્યમ બળવાળો ગુરૂ બલશાળી અને શુક્ર બલહીન હોય તો દીક્ષા આપવી જોઈએ, બીજા, પાચમા, છઠ્ઠા, સાતમા અને અગિયારમા સ્થાનમા શનિ મધ્યમ બળવાળો હોય છે, ત્રિકોણમા કેન્દ્રમા અને અગિયારમા સ્થાનમાં રહેલો ગુરૂ (બૃહસ્પતિ) બળશાલી સમજવામા આવે છે

नक्षत्राणि तिथिर्वारा-स्ताराश्चन्द्रचल ग्रहा ।
दुष्टान्यपि शुभ भाव, भजन्ते सिद्धछायया ॥ १ ॥

न तिथिर्न च नक्षत्र, न वारा न च चन्द्रमा ।
ग्रहा नोपग्रहाश्चैव, छायालग्न प्रशस्यते ॥ २ ॥

न योगिनी न विष्टिश्च, न शूल न च चन्द्रमा ।
एषा वज्रमयी सिद्धि,-रभेद्या त्रिदशैरपि ॥ ३ ॥

"सिद्धच्छाया लग्न हो तो दूषित तिथि नक्षत्र, वार, तारा, चन्द्र तथा दूषित ग्रह भी शुभफलदायक हो जाते हैं, अर्थात् सिद्धच्छायालग्न की विद्यमानता में नक्षत्र आदि का दोश नहीं गना जाता हैं ॥ १ ॥

एक मात्र छाया लग्न ही उत्तम है, उसकी समानता न तिथि कर सकती है, न नक्षत्र कर सकता है न वार कर सकता है, न चन्द्रमा, न ग्रह कर सकने हैं और न उपग्रह ही कर सकते हैं ॥ २ ॥

योगिनी उसके सामन कुछ नहीं है, विष्टि (भद्रा) कोई चीज नहीं है, शूल और चन्द्रमा भी उस की विद्यमानता में कुछ भी नहीं बिगाड सकता । सिद्धच्छाया लग्न एक ऐसी वज्रमयी सिद्धि है, जिसे देवता भी नहीं भेद सकते ॥ ३ ॥

"સિદ્ધછાયાલગ્ન હોય તો દૂષિત નક્ષત્ર, તિથિ, વાર, તારા, ચદ્ર તથા દૂષિત ગ્રહ પણ શુભ થઇ જાય છે, અર્થાત્ સિદ્ધછાયાલગ્નની હાજરીમા નક્ષત્ર આદિનો દોષ માનવામા આવતો નથી. ॥ ૧ ॥"

એક માત્ર છાયાલગ્ન જ ઉત્તમ છે તેનો મુકાબલો તિથિ, નક્ષત્ર, વાર, ચદ્રમા ગ્રહ અને ઉપગ્રહ કોઇ પણ કરી શકતા નથી. ॥ ૨ ॥

યોગિનીનુ તેના સામે બળ નથી વિષ્ટિનુ પણ બળ નથી, શૂળ અને ચન્દ્ર પણ છાયાલગ્નની હાજરીમા કોઈ પ્રકારે કાઇ પણ બગાડી શકતા નથી સિદ્ધ છાયાલગ્ન એક એવી વજ્રમયી સિદ્ધિ છે જેને દેવતા પણ ભેદી શકતા નથી ॥૩॥"

शुभतिथिवारनक्षत्रलग्नादीनामभावे त्वरितकर्त्तव्येषु कार्येषु सिद्धच्छायालग्न मुपादेयम् ।यदि समतलभूमौ स्वशरीरच्छाया चन्द्र-शुक्र-शनि-वासरेषु सार्द्धाऽष्टपद-प्रमाणा, भौमे नवपदप्रमाणा, बुधेऽष्टपदप्रमाणा, रवावेकादशपदप्रमाणा, गुरौ सप्त-पदप्रमाणा भवेत्तदा सा सिद्धच्छायाख्य लग्नं प्रोच्यते। तत्र दीक्षादिशुभकार्यं विधेयम् । अस्मिन् सिद्धच्छायालग्ने समाप्ते तिथिवारनक्षत्रभद्रालग्नादिचिन्तनमनाव श्यकम् । उक्तञ्च-

---

शुभ तिथि, वार, नक्षत्र और लग्न आदि के अभाव में तुरन्त करने योग्य कार्यों में सिद्धच्छायालग्न ही उपादेय है।

समतल भूमि पर अपने शरीर की छाया सोमवार, शुक्रवार, और शनिवार, के दिन साढे आठ पैर बराबर हो, मङ्गलवार को नौ पैर बराबर हो, बुधवार को आठ पद प्रमाण हो, रविवार को ग्यारह पद प्रमाण हो, और गुरुवार को सात पैर छाया हो तो उसे सिद्धच्छाया लग्न कहते हैं, उस में दीक्षा आदि शुभ कार्य किये जा सकते हैं। यह सिद्धच्छायालग्न प्राप्त हो तो तिथि, वार, नक्षत्र, भद्रा और लग्न आदि का विचार करने की आवश्यकता नहीं है। कहा भी है —

શુભ તિથિ, વાર, નક્ષત્ર અને લગ્ન આદિના અભાવમા તુરત કરવા યોગ્ય કાર્યોમા સિદ્ધછાયાલગ્ન જ ગ્રહણ કરવા યોગ્ય છે

સમતલ ભૂમિ ઉપર પોતાના શરીરની છાયા, સોમવાર શુક્રવાર અને શનિવારના દિવસે સાડા આઠ પગ પ્રમાણ હોય, મગળવારના દિવસે નવ પગ પ્રમાણ હોય, બુધવારે આઠ પગ પ્રમાણ, રવિવારે અગિઆર પગ, ગુરૂવારે સાત પગલા છાયા હોય તો તેને સિદ્ધ છાયાલગ્ન કહે છે આ લગ્નમા દીક્ષા આદિ શુભ કાર્ય કરી શકાય છે આ સિદ્ધછાયાલગ્ન પ્રાપ્ત હોય તો તિથિ, વાર, નક્ષત્ર, ભદ્રા અને લગ્ન આદિનો વિચાર કરવાની આવશ્યકતા નથી. કહ્યુ પણ છે—

नलवन्नितान्तमातुर' सन् निस्तरङ्गमहोदधिकल्पं शान्तरसार्णव द्रव्यक्षेत्रकालभावविदं निर्ग्रन्थप्रवचनमर्मज्ञ गुरु दीक्षादानार्थं प्रार्थयते तदा तस्मै तदानीमेव प्रव्रज्याप्रदान शुभम्, नहि तत्र तिथिवारनक्षत्रादीनां विचारापेक्षा ।

(११) अथ केशलुञ्चनम्—

दीक्षाग्रहणानन्तर यदा कदापि केशलुञ्चनं कर्तुमिच्छेत्तदा शनिमङ्गल दिवसौ त्याज्यौ, कृत्तिका, विशाखा, मघा, भरणी, एतानि चत्वारि नक्षत्राणि च वर्जनीयानि ।

आत्मरक्षा का अन्य उपाय न देखकर एकमात्र दीक्षा को ही शरण समझने वाला तीव्र वैराग्य की प्रभा से चमकता हुआ मोक्षाभिलाषी शिष्य, रोम-रोम में जिस के आग लगी हो ऐसे पुरुष की भाँति अत्यन्त आतुर होकर तरङ्गरहित समुद्र के समान, शान्त रस के सागर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के ज्ञाता और निर्ग्रन्थ प्रवचन के मर्मज्ञ गुरुसे दीक्षा देने के लिये प्रार्थना करे तो उसको उसी समय दीक्षा दे देना शुभ है, ऐसे प्रसग पर तिथि, वार, नक्षत्र आदि के विचार की आवश्यकता नहीं है ।

(११) केशलोच—

दीक्षा धारण करने के पश्चात् केशलोच करने में शनिवार और मगल वार त्याज्य है, तथा कृत्तिका, विशाखा मघा, और भरणी, ये चार नक्षत्र वर्जनीय हैं ।

થઈ ગયુ છે એવા પુરૂષની જેમ, આત્મરક્ષાનો અન્ય કોઈ ઉપાય નહિ દેખવાથી એક માત્ર દીક્ષાને જ શરણુ-આશ્રય સમજવાવાળા, તીવ્ર વૈરાગ્યની પ્રભા-તેજથી ચમકતો મોક્ષાભિલાષી શિષ્ય રોમ-રોમમા જેને અગ્નિ લાગી છે, એવા પુરૂષની જેમ અત્યન્ત આતુર બનીને તરગરહિત સમુદ્ર પ્રમાણે શાન્ત રસના સાગર, દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાલ અને ભાવના જાણુનાર અને નિર્ગ્રંથ પ્રવચનના મર્મજ્ઞ ગુરૂથી દીક્ષા દેવા માટે પ્રાર્થના કરે, તો તેને તેજ વખતે દીક્ષા આપવી શુભ છે એવા પ્રસંગે તિથિ, વાર, નક્ષત્ર આદિનો વિચાર કરવાની જરૂર નથી

(૧૧) કેશલોચ

દીક્ષા ધારણુ કર્યા પછી કેશલોચ કરવામા શનિવાર અને મગળવાર ત્યાજ્ય છે તથા કૃત્તિકા, વિશાખા, મઘા, અને ભરણી, આ ચાર નક્ષત્ર ત્યજવા યોગ્ય છે.

(ख) शङ्कुच्छायालग्नम्—

द्वादशाङ्गुलपरिमितशङ्कोश्छाया रवि–सोम–भौम–बुध–गुरु–शुक्र–शनि–वासरेषु क्रमेण विंशति–षोडश–पञ्चदश–चतुर्दश–त्रयोदश–द्वादश–द्वादशाङ्गुलपरिमिता, तथा शनिवासरे द्वादशाङ्गुलप्रमाणा चेत्तर्हि सा शङ्कुच्छायाख्यं लग्नं प्रोच्यते। तत्र दीक्षादि कार्यं शुभम्।

(ग) अत्युत्कण्ठितयोग्यशिष्यार्थं दीक्षासमयः—

विषयाटवीदावदहनज्वालामालाकलितस्वान्तोऽनन्तजन्मजरामरणादिभयोद्विग्नि' समन्ततः प्रज्वलिते सद्मनि सुप्तमिवादीप्तसंसारान्तः सरन्तमात्मन रक्षितुमुपाया न्तरमनवलोक्य प्रव्रज्यामात्रशरणदर्शी तीव्रवैराग्यप्रभाभासमान प्रतिरोमोज्ज्वलिता-

(ख) शङ्कुच्छायालग्न—

बारह अङ्गुल लम्बी कीली की परछाई अगर रविवार को बीस अंगुल, सोमवार को सोलह अंगुल, मंगलवार को पन्द्रह अंगुल, बुधवार को चौदह अंगुल, गुरुवार को तेरह अंगुल, शुक्रवार को बारह अंगुल, तथा शनिवार को भी बारह अंगुल हो उसे शङ्कुच्छाया लग्न कहते हैं। इस लग्न में दीक्षा आदि कार्य शुभ हैं।

(ग) तीव्र उत्कण्ठा वाले दीक्षार्थी का दीक्षासमय—

विषयवासना की विषय अटवी में व्याप्त दावानल की विकट ज्वालाओं से जिसका अन्तःकरण झुलस गया है, और जो अनन्त जन्म जरा मरण आदि के भय से उद्विग्न है, चारों ओर से मकान में आग लग जाने पर जिस का सर्वस्व भस्म हो गया है ऐसे पुरुष की भांति

(ख) શંકુછાયાલગ્ન—

બાર આંગળ લાંબી ખીલીનો પડછાયો રવિવારે વીશ આંગળ, સોમવારે સોળ આંગળ, મંગળવારે પંદર આંગળ, બુધવારે ચૌદ આંગળ, ગુરૂવારે તેર આંગળ, શુક્રવારે બાર આંગળ, તથા શનિવારે પણ બાર આંગળ હોય તો તેને શંકુછાયા લગ્ન કહે છે તે લગ્નમાં દીક્ષા આદિ કાર્ય શુભ છે

(ग) તીવ્ર ઉત્કંઠાવાલા દીક્ષાર્થીનો સમય—

વિષયવાસનાની વિષમ અટવી (વન)મા વ્યાપ્ત દાવાનલની વિકટ જ્વાલાઓથી જેનુ અંતઃકરણ બળી ગયુ છે, અને જે અનન્ત જન્મ, જરા, મરણ વગેરેના ભયથી ચિંતાતુર છે, ચારે બાજુથી મકાનમાં આગ લાગવાથી જેનુ સર્વસ્વ ભસ્મ

(१३) अथ नूतनपात्रव्यापृति —

गोचर्यादिनिमित्त नूतनपात्रव्यापृतिश्च, मृगशिर पुष्याश्विनीहस्तानुराधा-चित्रारेवतीषु, सोमगुरुवासरयोश्च शुभदा ।

(१४) आचार्यादिपदप्रदानसमय —

आचार्यादिपदप्रदाने-श्रवण, ज्येष्ठा, पुष्यम्, अभिजित्, हस्त, अश्विनी, रोहिणी, उत्तरात्रय, मृगशिर, अनुराधा, रेवती, एतानि नक्षत्राणि शुभानि शोभनतिथिवारादयोऽपि द्रष्टव्या ।

अथ (४) द्रव्यानुयोग —

द्रवति=गच्छति प्राप्नोति मुञ्चति वा तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यम् । अथवा-

---

(१३) नूतन पात्र का प्रयोग

गोचरी आदि के लिए नवीन पात्र का उपयोग मृगशिर, पुष्य, अश्विनी, हस्त, अनुराधा, चित्रा और रेवती नक्षत्रों में, तथा सोमवार और गुरुवार के दिन करना शुभ है ।

(१४) आचार्य आदि पदवीदान का समय

आचार्य आदि पदवी देने में श्रवण, ज्येष्ठा, पुष्य, अभिजित्, अश्विनी, रोहिणी, उत्तरात्रय, (उत्तराषाढा उत्तराभाद्रपदा उत्तराफाल्गुनी) मृगशिर, अनुराधा और रेवती, ये नक्षत्र शुभ हैं । इस प्रसङ्ग पर शुभ तिथि और शुभ वार आदि भी देखना चाहिए ।

(४) द्रव्यानुयोग—

आगे की पर्याय प्राप्त करने वाला और पूर्व पर्यायों का त्याग करने वाला द्रव्य

---

(१३) नवा पात्रनो उपयोग

गोचरी आदि माटे नवा पात्रनो उपयोग मृगशीर्ष, पुष्य, अश्विनी, हस्त, अनुराधा, चित्रा, अने रेवती नक्षत्रोमा, तथा सोमवार अने गुरुवारना दिवसे करवो ते शुभ छे

(१४) आचार्य आदि पदवीदाननो समय—

आचार्य आदि पदवी आपवामा श्रवण, ज्येष्ठ, पुष्य, अभिजीत, हस्त. अश्विनी रोहिणी, उत्तरात्रय (उत्तरा-षाढा, उत्तरा-भाद्रपद उत्तरा-फाल्गुनी) मृगशिर, अनुराधा अने रेवती, आ नक्षत्रो शुभ छे आ प्रसंग उपर शुभ तिथि अने शुभ वार वगेरे पण जोवुं जोइए

(४) द्रव्यानुयोग—

आगळनी पर्याय प्राप्त करनारा अने प्रथमनी पर्यायनो त्याग करवावाळाने

(१२) अथ नवदीक्षितस्य प्रथमगोचरीविचार'—

प्रथमगोचरीविषये तीक्ष्णोग्रमिश्रनक्षत्राणि शनिमङ्गलदिवसौ च वर्जयेत् ।

आर्द्रा, अश्लेषा, ज्येष्ठा, मूलम्, एतानि चत्वारि तीक्ष्णनक्षत्राणि । भरणी, पूर्वात्रय, मघा, एतानि पञ्चोग्रनक्षाणि । कृत्तिका, विशाखा, इमे द्वे मिश्रनक्षत्रे ।

रिक्ताऽमावास्याक्षयतिथयस्त्याज्याः । शनिमङ्गलवारयोगे रिक्ताऽपि प्रशस्ता विज्ञेया ।

---

(१२) नव दीक्षित की प्रथम गोचरी—

पहली वार गोचरी के विषय में तीक्ष्ण उग्र और मिश्र नक्षत्र एव शनि तथा मङ्गल वार त्याज्य हैं ।

आर्द्रा, अश्लेषा, ज्येष्ठा और मूल, ये चार नक्षत्र तीक्ष्ण हैं । भरणी, पूर्वात्रय—(पूर्वाषाढा पूर्वभाद्रपदा और पूर्वाफाल्गुनी) और मघा, ये पाँच उग्र नक्षत्र हैं । कृत्तिका और विशाखा, ये दो नक्षत्र मिश्र कहलाते हैं ।

रिक्ता तिथि, अमावास्या और क्षय तिथि त्याज्य है, हाँ यदि शनि और मगल वार का योग हो तो रिक्ता तिथि भी प्रशस्त है ।

---

(१२) नवदीक्षितनी प्रथम गोचरी—

पहेलीवार गोचरीना विषयमा तीक्ष्ण, उग्र अने मिश्र नक्षत्र तथा शनि अने मगळवार त्याज्य छे

आर्द्रा, अश्लेषा, ज्येष्ठा, अने मूल, आ चार नक्षत्र तीक्ष्ण छे, भरणी, त्रणे पूर्वा (पूर्वाषाढा, पूर्वाभाद्रपद, अने पूर्वाफाल्गुनी) अने मघा ओ पाच नक्षत्र उग्र नक्षत्र छे कृत्तिका अने विशाखा, आ बे नक्षत्र मिश्र कहेवाय छे

रिक्ता तिथि, अमावास्या अने क्षय तिथि त्याज्य छे, परन्तु जो शनि अने मगळवारनो योग होय तो रिक्ता तिथि पण उत्तम छे

दय' सामान्यगुणा' सन्ति। एव गतिहेतुत्व धर्मे, स्थितिहेतुत्वमधर्मे, अवकाश दानहेतुत्वमाकाशे, वर्त्तनहेतुत्वं काले, रूपादिमत्त्व पुद्गले विशेषगुणा' सन्तीति द्रव्यलक्षणसमन्वयः।

कश्चित्तु 'सद् द्रव्यलक्षणम्' इति सूत्रयित्वा 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्' इति सूत्रेण सच्छब्दविवरण कुर्वन् द्रव्यसामान्यलक्षणमुक्त्वा विशेष-विज्ञानजननाय विशेषलक्षणमवोचत्-'गुणपर्यायवद्द्रव्यम्' इति। तदपि मकृत-

---

अस्तित्व (जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कभी विनाश न हो) वस्तुत्व-द्रव्यत्व (जिस शक्ति के निमित्त से पर्याय सदैव बदलती रहे) और प्रमेयत्व-ज्ञेयत्व (जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य किसी न किसी के ज्ञान का विषय हो) आदि सामान्य गुण हैं। इसीप्रकार धर्मास्तिकाय में गतिहेतुत्व (गतिकारणता) अधर्मास्तिकाय में स्थितिहेतुत्व (स्थितिकारणता) आकाश में अवकाशदानहेतुत्व (अवकाशदायिता) काल में वर्तनाहेतुत्व, (नवपुराण-कारणता) आदि, और पुद्गल में रूपादिमत्त्व विशेष गुण हैं। अत इन सब में द्रव्य के लक्षण की सगति होजाती है।

किसी आचार्यने 'सद् द्रव्यलक्षणम्' ऐसा सूत्र रचकर 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्त सत्' अर्थात् जिस में उत्पाद विनाश और ध्रौव्य युगपत् पाये जायँ, वह सत् है, इस सूत्र के द्वारा सत् की व्याख्या करते हुए सामान्य द्रव्य का स्वरूप बतला कर विशेष बोध

અસ્તિત્વ (જે શક્તિના નિમિત્તથી દ્રવ્યનો ક્યારેય પણ નાશ ન હોય.) વસ્તુત્વ દ્રવ્યત્વ (જે શક્તિના નિમિત્તથી પર્યાય હંમેશાં બદલતી રહે) અને પ્રમેયત્વ-જ્ઞેયત્વ (જે શક્તિના નિમિત્તથી દ્રવ્ય કોઈ ન કોઈ જ્ઞાનનો વિષય હોય) આદિ સામાન્ય ગુણ છે એ પ્રમાણે ધર્માસ્તિકાયમા ગતિહેતુત્વ (ગતિકારણતા) અધર્માસ્તિકાયમાં સ્થિતિહેતુત્વ (સ્થિતિકારણતા) આકાશમા અવકાશદાનહેતુત્વ (અવકાશદાયિત્વ) કાલમાં વર્તનાહેતુત્વ (નવપુરાણકારણતા) આદિ, અને પુદ્ગલમાં રૂપાદિમત્ત્વ વિશેષ ગુણ છે તેથી એ સર્વમા દ્રવ્યના લક્ષણની સગતિ થઇ જાય છે

કોઈ આચાર્યે "સદ્ દ્રવ્યલક્ષણમ્" એવું સૂત્ર રચીને 'ઉત્પાદ વ્યય ધ્રૌવ્યયુક્તં સત્' અર્થાત્ જેમા ઉત્પાદ, વિનાશ અને ધ્રૌવ્ય એક કાળે જેવામા આવે તે "સત્" છે આ સૂત્ર દ્વારા સતની વ્યાખ્યા કરતા થકા સામાન્ય દ્રવ્યનુ સ્વરૂપ બતાવીને

द्रूयते = प्राप्यते मुच्यते वा तैस्तैः पर्यायैरिति द्रव्यम्। द्रव्यस्य - अनुयोगः द्रव्यानुयोगः।

द्रव्यानुयोगो हि द्रव्याणां यथावस्थितस्वरूपावबोधने समीचीनयुक्तिं प्रदर्शयति। तथा दर्शनस्य नैर्मल्यम्। ततश्च सम्यक् चारित्रं सम्पद्यते। तथा चायमपि चरणकरणानुयोगं पोषयतीति बोध्यम्।

द्रव्यलक्षणम्—

अथ किं तावद् द्रव्यम्? उच्यते- "गुणाश्रयो द्रव्यम्"। यथा जीवे ज्ञानदर्शनचारित्रसुखोपयोगादयो विशेषगुणाः, अस्तित्व-द्रव्यत्व-ज्ञेयता

कहलाता है। अथवा जो पर्यायों के द्वारा प्राप्त हो, अथवा पर्यायों से मुक्त हो उसे द्रव्य कहते हैं। ऐसे द्रव्य के अनुयोग को द्रव्यानुयोग कहते हैं।

द्रव्यानुयोग द्रव्यों का यथार्थ स्वरूप समझाने के लिए समीचीन मार्ग प्रदर्शित करता है। उस से सम्यग्दर्शन निर्मल होता है, और सम्यग्दर्शन की निर्मलता से सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होती है। इस प्रकार यह अनुयोग भी चरणकरणानुयोग का पोषक है।

द्रव्य का लक्षण—

द्रव्य किसे कहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है—जो गुणों का आधार हो वह द्रव्य है, जैसे जीव में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख और उपयोग आदि विशेष गुण हैं।

દ્રવ્ય કહે છે, અથવા જે પર્યાયો દ્વારા પ્રાપ્ત હોય અથવા પર્યાયોથી મુક્ત હોય તેને દ્રવ્ય કહે છે એવા દ્રવ્યના અનુયોગને દ્રવ્યાનુયોગ કહે છે

દ્રવ્યાનુયોગ દ્રવ્યોના યથાર્થ સ્વરૂપને સમજાવવા માટે બરાબર સાચો માર્ગ પ્રદર્શિત કરે છે, તેથી સમ્યગ્દર્શન નિર્મલ થાય છે, અને સમ્યગ્દર્શનની નિર્મલતાથી સમ્યક્ ચારિત્રની પ્રાપ્તિ થાય છે એ પ્રમાણે આ અનુયોગ પણ ચરણકરણાનુયોગનો પોષક છે

દ્રવ્યનું લક્ષણ—

દ્રવ્ય કોને કહે છે? એ પ્રશ્નનો ઉત્તર આ પ્રમાણે છે—જે ગુણોનો આધાર હોય તે દ્રવ્ય છે, જે પ્રમાણે જીવમા જ્ઞાન, દર્શન, ચારિત્ર સુખ અને ઉપયોગ આદિ વિશેષ ગુણ છે

सुखवीर्यादय., पुद्गलस्य वर्णगन्धरसस्पर्शादयो गुणा'। 'मात्र'-शब्दोपादनं पर्यायेऽतिप्रसङ्गवारणाय।

द्रव्यस्वरूपविचारेण 'गुणसमुदायो द्रव्य'-मिति प्रतीयते, यथा मूलस्कन्धशाखाप्रशाखादीनां समुदायो वृक्ष', तथैवास्तित्व-परिणामित्व-वस्तुत्व - ज्ञेयत्व - प्रमेयत्व - प्रदेशवत्त्वादिसामान्यगुणानां चेतनत्व-गतिहेतुत्व-स्थितिहेतुत्वा - ऽवकाशदानहेतुत्व - वर्तनाहेतुत्व - वर्ण - गन्ध - रस - स्पर्श-

---

लक्षण है, जैसे-जीव के गुण-ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य आदि हैं, तथा पुद्गल के गुण वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श आदि हैं। ऊपर जो 'मात्र' (सिर्फ) शब्द का प्रयोग किया गया है, वह पर्याय में अतिप्रसङ्ग निवारण करने के लिए है। अर्थात् गुण केवल द्रव्य में होते हैं, पर्याय में नहीं होते।

द्रव्य के स्वरूप पर विचार करने से प्रतीत होता है कि गुणोंका समुदाय ही द्रव्य है। जैसे मूल, स्कन्ध, शाखा और प्रशाखा आदि का समूह ही वृक्ष है, उसी प्रकार अस्तित्व, परिणामित्व, वस्तुत्व, ज्ञेयत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशवत्त्व आदि सामान्य गुणों का, तथा चेतना, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवकाशदानहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व, वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शवत्त्व आदि विशेष गुणों का समूह ही द्रव्य है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि-विभिन्न द्रव्यों के

રહેવુ તે ગુણનુ લક્ષણ છે જેવી રીતે જીવના ગુણ-જ્ઞાન, દર્શન, સુખ અને વીર્ય આદિ છે તથા પુદ્ગલના ગુણ-વર્ણ, ગન્ધ, રસ અને સ્પર્શ આદિ છે ઉપર જે 'માત્ર' શબ્દનો પ્રયોગ કર્યો છે તે પર્યાયમા અતિપ્રસગ નિવારણ કરવા માટે છે, અર્થાત્ ગુણ કેવલ દ્રવ્યમાં હોય છે, પર્યાયમા હોય નહિ

દ્રવ્યના સ્વરૂપ પર વિચાર કરવાથી જણાય છે કે ગુણોનો સમુદાય જ દ્રવ્ય છે જે રીતે-મૂલ, સ્કન્ધ, શાખા અને પ્રશાખા આદિનો સમૂહ તે વૃક્ષ છે એ પ્રમાણે અસ્તિત્વ, પરિણામિત્વ વસ્તુત્વ, જ્ઞેયત્વ, પ્રમેયત્વ, પ્રદેશવત્ત્વ આદિ સામાન્ય ગુણોનો, તથા ચેતના ગતિહેતુત્વ, સ્થિતિહેતુત્વ, અવકાશદાનહેતુત્વ, વર્તનાહેતુત્વ, વર્ણ, રસ, ગન્ધ, સ્પર્શવત્ત્વ આદિ વિશેષ ગુણોનો સમૂહ તે દ્રવ્ય છે અહિ એ યાદ

लक्षणे समाविष्टमेवेति गुरुतरलक्षणं नावश्यकमिति ज्ञेयम् ।

परमार्थतस्तु पर्याया न गुणतो भिन्ना कार्यकारणयोरभेदात् । यथा कटककुण्डलादीनि कनकतो न भिन्नानि, घटशरावादीनि मृदो नातिरिक्तानि, तथा गुणजन्मनां पर्यायाणां न भेदो गुणेभ्य इति द्रव्यलक्षणे पर्यायशब्दनिवेशो नावश्यक इत्यवसेयम् ।

गुणलक्षणम्—

द्रव्यस्याऽऽश्रयाश्रयिभावेन नित्यसहवर्तिनो धर्मा गुणा, ते द्रव्यस्य शक्तिविशेषा । द्रव्यमात्राश्रित गुणस्य लक्षणम् । यथा जीवस्य ज्ञानदर्शन-

---

कराने के लिये विशेष लक्षण यह बतलाया है–'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्' यह लक्षण भी प्रकृत लक्षण 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' में समाविष्ट है, इस लिये उनका बडा लक्षण करने की आवश्यकता नहीं है ।

वास्तव में तो पर्याय, गुण से भिन्न नहीं है, क्योंकि कार्य और कारण में भेद नहीं होता । जैसे—कटक, कुण्डल आदि पर्याय सुवर्ण से भिन्न नहीं है, अत गुणों से उत्पन्न होने वाले गुणों से भिन्न नहीं हैं । ऐसी अवस्था में द्रव्य के लक्षण में पर्याय शब्द डालना आवश्यक नहीं है ।

गुण का लक्षण—

द्रव्य के आश्रय आश्रयी रूपसे अथवा कथञ्चित् तादात्म्यरूपसे नित्य सहवर्ती धर्म, 'गुण' कहलाते हैं । 'गुण' द्रव्य की शक्तिविशेष है । सिर्फ द्रव्याश्रित होना गुण का

વિશેષ બોધ કરાવવા માટે વિશેષ લક્ષણ એ બતાવ્યુ છે કે –"गुणपर्यायवद् द्रव्यम्" આ લક્ષણ પણ પ્રકૃત (ચાલુ) લક્ષણ (गुणाश्रयो द्रव्यम्) મા સમાવિષ્ટ છે તેથી વિશેષ લક્ષણ કરવાની આવશ્યકતા નથી

વાસ્તવમા તો પર્યાય, ગુણથી ભિન્ન નથી, કારણ કે કાર્ય અને કારણમા ભેદ નથી, જેવી રીતે કડા અને કુડલ આદિ પર્યાય સુવર્ણથી ભિન્ન નથી ઘટ અને શકોર આદિ પર્યાય મૃત્તિકા-માટીથી ભિન્ન નથી, કારણ કે ગુણોથી ઉત્પન્ન થવા વાળા પર્યાય, ગુણોથી ભિન્ન નથી, એવી અવસ્થામા દ્રવ્યના લક્ષણમા પર્યાય શબ્દ નાખવો તે જરૂરી નથી

ગુણના લક્ષણ—

દ્રવ્યના આશ્રય-આશ્રયી-રૂપથી અથવા કથચિત્ તાદાત્મ્યરૂપથી નિત્ય સહવર્તી ધર્મ ગુણ કહેવાય છે ગુણ એ દ્રવ્યની શક્તિવિશેષ છે માત્ર દ્રવ્યાશ્રિત

क्रमेण द्वादशाङ्गतत्त्व विज्ञाय ज्ञानधारा मवर्द्धयति। तत्र तस्य बालसयमिनो ज्ञान प्रतिक्षण विलक्षणतामापद्यमानमपूर्वमपूर्वं जायमान ज्ञान पर्यायशब्दवाच्यतां भजति। एव दर्शनचारित्रादीनामपि पर्याया ज्ञातव्या। जीवस्य मानुषत्वबाल्या-दयोऽपि पर्याया। पुद्गलस्य तु एकगुणकालत्वादयो पर्याया ज्ञेयाः। एव च द्रव्यगुणाश्रितत्व पर्यायस्य लक्षणमिति निश्चीयते। तथा चोक्तमुत्तराध्ययने-(अ २८)

पहले-पहल आवश्यक मात्र का अध्ययन करता है, फिर समिति और गुप्ति का ज्ञान सम्पादन करता है। तदनन्तर क्रम से द्वादशाङ्ग का तत्त्व जान कर ज्ञान की धारा में वृद्धि करता है, उस बाल मुनि का ज्ञान क्षण-क्षण म विलक्षण होकर नवीन-नवीन रूपों म उत्पन्न होता हुआ 'पर्याय' शब्द द्वारा कहा जाता है। इसी प्रकार दर्शन और चारित्र आदि गुणों के पर्याय भी समझ लेना चाहिए। मनुष्यता, बालकपन आदि जीव के पर्याय हैं और एक-गुण-कालपन आदि पुद्गल के, वर्ण-गुण के पर्याय हैं। इस प्रकार यह निश्चित होता है कि पर्याय द्रव्य और गुण दोनों में ही रहता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

"गुणों का जो आश्रय हो उसे द्रव्य कहते हैं, गुण एक मात्र द्रव्य में ही रहते हैं। पर्यायों का लक्षण उभयाश्रित होना है, अर्थात् पर्याय, द्रव्य और गुण दोनों में ही पाये जाते हैं"।

શ્રમણોની સેવા કરતા થકા પ્રથમ આવશ્યક માત્રનુ અધ્યયન કરે છે, પછી સમિતિ અને ગુપ્તિનુ જ્ઞાન સપાદન કરે છે, ત્યાર પછી ક્રમથી દ્વાદશાંગનુ તત્ત્વ જાણી જ્ઞાનની ધારામા વૃદ્ધિ કરે છે, તે બાલમુનિનુ જ્ઞાન ક્ષણ-ક્ષણમા વિલક્ષણ-તરેહવાર બની નવીન રૂપોમા ઉત્પન્ન થાય છે તેને 'પર્યાય' શબ્દથી ઓળખવામાં આવે છે, એ પ્રમાણે દર્શન અને ચારિત્ર આદિ ગુણોના પર્યાય પણ સમજી લેવા જોઇએ. મનુષ્યતા, બાલકપણું આદિ જીવના પર્યાય છે, અને એકગુણકાળાપણુ આદિ પુદ્ગલના વર્ણગુણનો પર્યાય છે આ પ્રમાણે આ નિશ્ચિત થાય છે કે-પર્યાય, દ્રવ્ય અને ગુણ એ બન્નેમા રહે છે ઉત્તરાધ્યયનસૂત્રમા કહ્યુ છે—

"ગુણોનો જે આશ્રય હોય, તેને દ્રવ્ય કહે છે, ગુણ એક માત્ર દ્રવ્યમા જ રહે છે, અને પર્યાયોનુ લક્ષણ ઉભયાશ્રિત હોય છે, અર્થાત્ પર્યાય, દ્રવ્ય અને ગુણ બન્નેમાં જોવામા આવે છે"

वस्त्वादिविशेषगुणानां च समुदायो द्रव्यम्। एवं 'द्रव्यपर्यायस्वरूपमपी'-त्यनुपदमेव वक्ष्यते।

पर्यायलक्षणम्—

परियन्ति=उत्पादविनाशौ प्राप्नुवन्ति न सर्वदा तिष्ठन्तीति पर्यायाः। यद्वा-परि=सर्वथा अयन्ते=गच्छन्ति द्रव्यगुणौ समाश्रयन्तीति पर्याया।

द्रव्यस्योत्पादविनाशशालिनो धर्माः पर्यायाः। पर्याया हि द्रव्यं गुणं चाश्रित्य वर्तन्ते। कालभेदादेकमेव ज्ञानं जीवस्यान्यदन्यद्रूपं दधत् पर्यायशब्द-वाच्यं भवति, यथा कश्चिदष्टवर्षीयो विनयी प्रमादविकथावर्जितो बालमुनि-र्गुरुचरणसरोजं सेवमानः पूर्वमावश्यकमाप्रमधीत्य समितिगुप्तिज्ञानं संपादयति,

---

विशेष गुणों का समूह नहीं बन सकता है। ऐसे द्रव्य और पर्याय के विषय में भी समझना चाहिए, यह अभी आगे बतायेंगे।

पर्याय का लक्षण—

जिनके निरन्तर उत्पाद और व्यय होता है, जो सदैव स्थिर नहीं रहते उन्हें पर्याय कहते हैं। अथवा द्रव्य और गुण का आश्रय लेने वाले पर्याय कहलाते हैं।

द्रव्य के उत्पाद और विनाश-शील धर्म पर्याय कहलाते हैं। पर्याय, द्रव्य में भी रहते हैं और गुण में भी रहते हैं। जीवका एक ही ज्ञानगुण काल के भेदसे भिन्न-भिन्न रूप धारण करता हुआ पर्याय कहलाता है। जैसे एक आठ वर्ष का विनयी प्रमाद और विकथा से दूर रहने वाला बाल मुनि अपने गुरु के चरण कमलों की सेवा करता हुआ

સમજવું જોઇએ કે વિભિન્ન દ્રવ્યોના વિશેષ ગુણોનો સમૂહ બની શકતો નથી. એવી રીતે દ્રવ્ય અને પર્યાયના વિષયમાં પણ સમજવું જોઇએ. વિશેષ આગળ બતાવીશું

પર્યાયનું લક્ષણ—

જેની અંદર હમેશાં ઉત્પાદ અને વ્યય થયા કરે છે અને જે હમેશા-સદાકાળ સ્થિર રહેતું નથી તેને પર્યાય કહે છે, અથવા દ્રવ્ય અને ગુણનો આશ્રય લેનાર તેને પર્યાય કહેવામાં આવે છે

દ્રવ્યનો ઉત્પાદ અને વિનાશ-શીલ ધર્મ તે પર્યાય કહેવાય છે પર્યાય, દ્રવ્યમાં પણ રહે છે અને ગુણમાં પણ રહે છે જીવનો એકજ જ્ઞાનગુણ કાલના ભેદથી ભિન્ન ભિન્ન રૂપ ધારણ કરીને પર્યાય કહેવાય છે જેવી રીતે કે એક આઠ વર્ષના વિનયવંત, પ્રમાદ અને વિકથાથી દૂર રહેવાવાળા બાલમુનિ પોતાના ગુરૂના ચરણ

द्रव्यविभागः—

द्रव्यं षड्विधम्–धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवभेदात् । उक्तञ्च श्रीभगवतीसूत्रे—

"कइ णं भंते ! दव्वा पण्णत्ता ?, गोयमा ! छ दव्वा पण्णत्ता, तं जहा–धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, जीवत्थिकाए, अद्धासमये" ॥

उत्तराध्ययनसूत्रेऽपि–(अ. २८)

"धम्मो अहम्मो आगास, कालो पुग्गल जंतवो ।
एस लोगोत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥ ७ ॥

द्रव्य के भेद—

द्रव्य छह प्रकार का है—(१) धर्म (२) अधर्म (३) आकाश (४) काल (५) पुद्गल और (६) जीव । श्री भगवतीसूत्र में कहा है –

"भगवान् ! द्रव्य कितने कहे गये हैं ?, गौतम ! छह द्रव्य कहे गये हैं, वे इस प्रकार–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और अद्धा–समय" ।

उत्तराध्ययनसूत्र में भी कहा है—

"धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, और जीव को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी जिन भगवान् ने लोकसंज्ञा दी है ॥ ७ ॥

દ્રવ્યના ભેદ—

દ્રવ્યના છ પ્રકાર છે–(૧) ધર્મ (૨) અધર્મ (૩) આકાશ (૪) કાલ (૫) પુદ્ગલ અને (૬) જીવ. શ્રી ભગવતી સૂત્રમા પણ કહ્યું છે–

"ભગવાન ! દ્રવ્ય કેટલાં કહ્યાં છે ? ગૌતમ ! છ દ્રવ્ય કહેલા છે તે આ પ્રમાણે–ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય આકાશાસ્તિકાય, પુદ્ગલાસ્તિકાય, જીવાસ્તિકાય અને અદ્ધા–સમય,"

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રમાં પણ કહ્યું છે–

"ધર્મ અધર્મ, આકાશ, કાલ, પુદ્ગલ અને જીવને સર્વજ્ઞ સર્વદર્શી જિન ભગવાને લોકસંજ્ઞા આપી છે" ॥ ૭ ॥

"गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु, दुहओ अस्सिया भवे ॥ ६ ॥" इति ।

छाया—

"गुणानामाश्रयो द्रव्यम्, एकद्रव्याश्रिता गुणाः
लक्षणं पर्यवाणां तु, उभयोराश्रिता भवेयुः" ॥ ६ ॥ इति ।

द्रव्यलक्षणे पर्यायानुक्त्या कार्यकारणयोरभेदविवक्षया पर्यायाणां गुणेषु समावेश इति भगवदभिप्रायो गम्यते । "एकद्रव्याश्रिता गुणाः" इति, एकं=केवलं द्रव्यमाश्रित्य गुणा वर्तन्त इत्यर्थः । अनेन गुणलक्षणमुक्तम् । 'पर्यवाणां लक्षणं तु उभयोराश्रिता भवेयुः' इत्यन्वयः । पर्यवः, पर्ययः, पर्याय, इति समानार्थकाः । उभयोः=द्रव्यगुणयोराश्रिताः पर्यायाः, इति पर्यायलक्षणं बोध्यमित्यर्थः । पर्यायास्तु द्रव्यं गुणं चोभयमाश्रित्य वर्तन्त इति भावः ।

द्रव्य के लक्षण में 'पर्याय' पद का समावेश न करने के कारण भगवान् का अभिप्राय यह है कि—कार्य कारण के अभेदसे गुण में ही पर्याय का समावेश हो जाता है। 'एगदव्वस्सिया गुणा' इस वाक्य का अर्थ यह है कि—गुण केवल द्रव्य में ही होते हैं। इस कथनद्वारा गुण का लक्षण भी कह दिया गया है।

पर्याय का लक्षण उभयाश्रित होना है, दोनो में अर्थात् द्रव्य में भी और गुण में भी पर्याय रहते हैं। पर्यव, पर्यय और पर्याय ये सभी समानार्थक हैं।

દ્રવ્યના લક્ષણમાં 'પર્યાય' પદનો સમાવેશ નહિ કરવાથી ભગવાનનો અભિપ્રાય એ છે કે–કાર્ય કારણના અભેદથી ગુણમાં જ પર્યાયનો સમાવેશ થઈ જાય છે 'एगदव्वस्सिया गुणा' આ વાક્યનો અર્થ એ છે કે—ગુણ કેવલ દ્રવ્યમાં જ હોય છે આ કથનદ્વારા ગુણનું લક્ષણ પણ કહી આપ્યું છે

પર્યાયનું લક્ષણ ઉભયાશ્રિત હોય છે, બન્નેમાં અર્થાત્ દ્રવ્યમાં અને ગુણમાં પણ પર્યાય રહે છે પર્યવ, પર્યય અને પર્યાય શબ્દ સમાન અર્થવાળા છે

द्रव्यविभागः—

द्रव्यं षड्विधम्-धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवभेदात् । उक्तञ्च श्रीभगवतीसूत्रे—

"कइ णं भंते ! दव्वा पण्णत्ता ?, गोयमा ! छ दव्वा पण्णत्ता, तं जहा-धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, जीवत्थिकाए, अद्धासमये" ॥

उत्तराध्ययनसूत्रेऽपि-(अ. २८)

"धम्मो अहम्मो आगास, कालो पुग्गल जंतवो ।
एस लोगोत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥ ७ ॥

द्रव्य के भेद—

द्रव्य छह प्रकार का है—(१) धर्म (२) अधर्म (३) आकाश (४) काल (५) पुद्गल और (६) जीव । श्री भगवतीसूत्र में कहा है –

"भगवान् ! द्रव्य कितने कहे गये हैं ?, गौतम ! छह द्रव्य कहे गये हैं, वे इस प्रकार—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और अद्धा–समय" ।

उत्तराध्ययनसूत्र में भी कहा है—

"धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, और जीव को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी जिन भगवान् ने लोकसंज्ञा दी है ॥ ७ ॥

દ્રવ્યના ભેદ—

દ્રવ્યના ૭ પ્રકાર છે–(૧) ધર્મ (૨) અધર્મ (૩) આકાશ (૪) કાલ (૫) પુદ્ગલ અને (૬) જીવ. શ્રી ભગવતી સૂત્રમા પણ કહ્યું છે–

" ભગવાન ! દ્રવ્ય કેટલા કહ્યાં છે ? ગૌતમ ! છ દ્રવ્ય કહેલા છે તે આ પ્રમાણે–ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય આકાશાસ્તિકાય, પુદ્ગલાસ્તિકાય, જીવાસ્તિકાય અને અદ્ધા–સમય,"

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રમાં પણ કહ્યું છે–

"ધર્મ અધર્મ, આકાશ, કાલ, પુદ્ગલ અને જીવને સર્વજ્ઞ સર્વદર્શી જિન ભગવાને લોકસંજ્ઞા આપી છે" ॥ ૭ ॥

"गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु, दुहओ अस्सिया भवे ॥ ६ ॥" इति ।

छाया—

"गुणानामाश्रयो द्रव्यम् , एकद्रव्याश्रिता गुणाः
लक्षणं पर्यवाणां तु, उभयोराश्रिता भवेयुः" ॥ ६ ॥ इति ।

द्रव्यलक्षणे पर्यायानुक्त्या कार्यकारणयोरभेदविवक्षया पर्यायाणां गुणेषु समावेश इति भगवदभिप्रायो गम्यते । "एकद्रव्याश्रिता गुणाः" इति, एकं=केवलं द्रव्यमाश्रित्य गुणा वर्तन्त इत्यर्थः । अनेन गुणलक्षणमुक्तम् । 'पर्यवाणां लक्षणं तु उभयोराश्रिता भवेयुः' इत्यन्वयः । पर्यवाः, पर्ययाः, पर्यायाः, इति समानार्थकाः । उभयोः=द्रव्यगुणयोराश्रिताः पर्यायाः, इति पर्यायलक्षणं बोध्यमित्यर्थः । पर्यायास्तु द्रव्यं गुणं चोभयमाश्रित्य वर्तन्त इति भावः ।

द्रव्य के लक्षण में 'पर्याय' पद का समावेश न करने के कारण भगवान् का अभिप्राय यह है कि—कार्य कारण के अभेदसे गुण में ही पर्याय का समावेश हो जाता है । 'एगदव्वस्सिया गुणा' इस वाक्य का अर्थ यह है कि—गुण केवल द्रव्य में ही होते हैं । इस कथनद्वारा गुण का लक्षण भी कह दिया गया है ।

पर्याय का लक्षण उभयाश्रित होना है, दोनों में अर्थात् द्रव्य में भी और गुण में भी पर्याय रहते हैं । पर्यव, पर्यय और पर्याय ये सभी समानार्थक हैं ।

દ્રવ્યના લક્ષણમાં 'પર્યાય' પદનો સમાવેશ નહિ કરવાથી ભગવાનનો અભિપ્રાય એ છે કે-કાર્ય કારણના અભેદથી ગુણમાં જ પર્યાયનો સમાવેશ થઈ જાય છે 'एगदव्वस्सिया गुणा' આ વાક્યનો અર્થ એ છે કે —ગુણ કેવલ દ્રવ્યમાં જ હોય છે આ કથનદ્વારા ગુણનું લક્ષણ પણ કહી આપ્યું છે.

પર્યાયનું લક્ષણ ઉભયાશ્રિત હોય છે, બન્નેમાં અર્થાત્ દ્રવ્યમાં અને ગુણમાં પણ પર્યાય રહે છે પર્યવ, પર્યય અને પર્યાય શબ્દ સમાન અર્થવાળા છે

द्रव्यविभाग—

द्रव्यं षड्विधम्-धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवभेदात्। उक्तञ्च श्रीभगवतीसूत्रे—

"कइ ण भंते! दव्वा पण्णत्ता?, गोयमा! छ दव्वा पण्णत्ता, तं जहा-धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, जीवत्थिकाए, अद्धासमये" ॥

उत्तराध्ययनसूत्रेऽपि-(अ २८)

"धम्मो अहम्मो आगास, कालो पुग्गल जंतवो।
एस लोगोत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥ ७ ॥

द्रव्य के भेद—

द्रव्य छह प्रकार का है—(१) धर्म (२) अधर्म (३) आकाश (४) काल (५) पुद्गल और (६) जीव। श्री भगवतीसूत्र में कहा है—

"भगवान्! द्रव्य कितने कहे गये हैं?, गौतम! छह द्रव्य कहे गये हैं, वे इस प्रकार—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और अद्धा-समय"।

उत्तराध्ययनसूत्र में भी कहा है—

"धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, और जीव को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी जिन भगवान् ने लोकसंज्ञा दी है ॥ ७ ॥

દ્રવ્યના ભેદ—

દ્રવ્યના છ પ્રકાર છે-(૧) ધર્મ (૨) અધર્મ (૩) આકાશ (૪) કાલ (૫) પુદ્ગલ અને (૬) જીવ. શ્રી ભગવતી સૂત્રમા પણ કહ્યું છે—

"ભગવાન! દ્રવ્ય કેટલા કહ્યાં છે? ગૌતમ! છ દ્રવ્ય કહેલા છે તે આ પ્રમાણે-ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય આકાશાસ્તિકાય, પુદ્ગલાસ્તિકાય, જીવાસ્તિકાય અને અદ્ધા-સમય,"

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રમાં પણ કહ્યું છે—

"ધર્મ અધર્મ, આકાશ, કાલ, પુદ્ગલ અને જીવને સર્વજ્ઞ સર્વદર્શી જિન ભગવાને લોકસંજ્ઞા આપી છે" ॥ ૭ ॥

धम्मो अहम्मो आगास, दव्व इक्किक्कमाहियं ।
अणंताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गल जतवो ॥ ८ ॥"

अत्र कालमात्र विहाय धर्मादयोऽस्तिकाया उच्यन्ते । 'अस्ती' ति तिङन्त-प्रतिरूपकमव्यय प्रदेशवाचकम् । प्रदेशः स्वस्थानादनपायि निर्विभाग खण्डम् । इद निर्विभाग खण्ड यदा पुद्गलस्य गलनस्वभावाचदीयस्कन्धदेशाभ्यामवयुत्य=पृथग्भूत्वा वर्त्तते तदा परमाणुनाम्ना व्यवह्रियते । यावदपृथग्भूत्वा वर्त्तते तावत्तदेव निर्विभाग खण्डं प्रदेश इत्युच्यते । अनेनैवाशयेन पुद्गलास्तिकायस्य चत्वारो भेदा भगवता कथिताः-स्कन्धः, देश , प्रदेश', परमाणुश्चेति । कायः=

धर्म, अधर्म और आकाश, ये तीन द्रव्य एक एक है, काल, पुद्गल, जीव, अनन्त अनन्त द्रव्य हैं" ॥ ८ ॥

काल को छोड कर शेष पाच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं । 'अस्ति' यह तिङन्तरूप प्रतीत होने वाला एक अव्यय है और प्रदेश का वाचक है । जो अपने स्थान से च्युत न होने वाला, अर्थात् जो द्रव्य के साथ ही जुडा हुआ निर्विभाग-जिस का फिर विभाग न हो सके वह खण्ड, प्रदेश कहलाता है । पुद्गल गलनस्वभाव वाला है अत एव जब वह निर्विभाग खण्ड पुद्गल के स्कन्ध या देश से बिछुड कर अलग हो जाता है तब वही खण्ड परमाणु कहलाता है । जब वही परमाणु पुद्गल के स्कन्ध या देश में फिर मिल जाता है तब

धर्म अधर्म अने आकाश आ त्रणु द्रव्य એક-એક છે, કાલ, પુદ્ગલ અને જીવ અનન્ત-અનન્ત દ્રવ્ય છે " ॥ ૮ ॥

કાલ સિવાયના બાકીના પાચ દ્રવ્ય અસ્તિકાય કહેવાય છે 'અસ્તિ' એ તિઙન્ત રૂપ જણાતુ એક અવ્યય છે, અને પ્રદેશનુ વાચક છે જે પોતાના સ્થાનથી ચ્યુત નહિ થવા વાળા, અર્થાત્ દ્રવ્યની સાથે જ જોડાઈ રહેલા નિર્વિભાગ-જેનો ફરી ભાગ ન થઈ શકે તે ખડ, પ્રદેશ કહેવાય છે પુદ્ગલ ગલનસ્વભાવ વાળા છે, તે કારણે જ્યારે તે નિર્વિભાગ ખડ પુદ્ગલના સ્કધ અથવા દેશથી છુટા થઈ જાય છે, ત્યારે તે ખડ પરમાણુ કહેવાય છે જ્યારે તે પરમાણુ પુદ્ગલના સ્કધ અથવા દેશમા ફરીને મળી જાય છે ત્યારે તે પરમાણુના બદલે ફરી પ્રદેશ કહેવાય , છે

समूहः। अस्ति=प्रदेशानां काय =समूहो यत्र यस्य वा स अस्तिकायः, प्रदेशसमूहवान, धर्मश्चासावस्तिकायश्चेति धर्मास्तिकाय'। एव च धर्मास्तिकाय', अधर्मास्तिकायः, आकाशास्तिकाय', पुद्गलास्तिकाय', जीवास्तिकाय', इति नामानि सन्ति तेषाम्। कालस्तु प्रदेशाभावादस्तिकायो न भवतीत्यत' काल॰ कालास्तिकाय शब्देन न व्यवह्रियते।

धर्मास्तिकायलक्षणम्—

स्वभावतो गतिपरिणामिना जीवपुद्गलानां गतिं प्रति सहकारि कारण धर्मास्तिकाय'। जीवा पुद्गलाश्च स्वभावतो गच्छन्ति, तत्रोपादानकारणस्वरूपास्ते

वह परमाणु के बदले फिर प्रदेश कहलाने लगता है, इसी अभिप्राय से भगवान् ने पुद्गलास्तिकाय के चार भेद बतलाये हैं (१) स्कन्ध (२) देश (३) प्रदेश और (४) परमाणु।

काय का अर्थ है समूह। जिसमें या जिसके प्रदेशों का समूह है वह अस्तिकाय कहलाता है। अस्तिकाय अर्थात् प्रदेशों का समूहवाला। धर्मरूप अस्तिकाय धर्मास्तिकाय समझना चाहिए। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय, ये अस्तिकायों के नाम हैं। कालद्रव्य प्रदेशों का समूहरूप न होने के कारण अस्तिकाय नहीं है अत. काल 'कालअस्तिकाय' नहीं कहलाता है।

धर्मास्तिकायका लक्षण—

स्वाभाव से या प्रयोग से गतिक्रियामें परिणत हुए जीव और पुद्गलों की गति में जो सहकारी कारण हो उसे धर्मास्तिकाय कहते हैं। जीवों और पुद्गलों का गमन करना स्वमाव ही है।

આ અભિપ્રાયે ભગવાને પુદ્ગલાસ્તિકાયના ચાર ભેદ બતાવ્યા છે (૧) સ્કંધ, (૨) દેશ, (૩) પ્રદેશ અને (૪) પરમાણુ.

કાયનો અર્થ છે—સમૂહ, જેમાં અથવા જેનાં પ્રદેશોના સમૂહ હોય તે અસ્તિકાય કહેવાય છે, અસ્તિકાય અર્થાત્ પ્રદેશોના સમૂહ વાળા, ધર્મરૂપ અસ્તિકાય ધર્માસ્તિકાય સમજવો જોઇએ. એજ પ્રમાણે અધર્માસ્તિકાય, આકાશાસ્તિકાય, પુદ્ગલાસ્તિકાય અને જીવાસ્તિકાય, એ અસ્તિકાયોના નામ છે

કાલદ્રવ્ય-પ્રદેશોના સમૂહરૂપ નહિ હોવાથી અસ્તિકાય નથી તેથી કાલ એ 'કાલાસ્તિકાય' કહેવાય નહિ.

ધર્માસ્તિકાયનુ લક્ષણ—

સ્વભાવથી અથવા પ્રયોગથી ગતિક્રિયામા પરિણત થયેલા જીવો અને પુદ્ગલોની ગતિમાં જે સહકારી કારણ હોય, તેને ધર્માસ્તિકાય કહે છે જીવો અને

गतिं प्रति, पुनस्तस्यामेव गति-क्रियायां धर्मास्तिकायः सहायरूप निमित्तकारणं भवति।

(१) यथा सरित्समुद्राद्यवगाहनशीलानां मत्स्यानां स्वत एव जिगमिषा गतिश्च जायते, तत्र तेषां गमनं प्रति सहायरूप निमित्तकारणं वारि। स्वयं तिष्ठतां तु मत्स्यानां न तत् प्रेरकं गमनाय।

(२) यथा वा मृत्परिणामभूतस्य घटस्य दण्डो निमित्तकारणम्।

(३) यथा वा स्वत एवावगाहमानस्य द्रव्यस्यावगाहनं प्रति गगनम्, न पुनरवगाहमानं द्रव्यं बलादवगाहयति तत्।

इस गमनक्रिया में उपादान कारण वह स्वयं ही होते हैं, धर्मास्तिकाय सहायकमात्र होने से निमित्त कारण है।

(१) जैसे—नदी अथवा समुद्रमें अवगाहन करनेवाले मच्छों में गमन करने की इच्छा स्वयं ही उत्पन्न होती है और स्वयं ही वे गति करते हैं, जल उन की गति में सहायक रूप निमित्त कारण होता है। हाँ, मच्छ अगर ठहरे तो जल उन्हें गमन करने के लिये प्रेरित नहीं करता।

(२) अथवा जैसे—मृत्तिका से बनने वाले घड़े में डंडा निमित्त कारण होता है।

(३) अथवा जैसे—स्वयं ही अवगाहन करने वाले द्रव्य की अवगाहना में आकाश निमित्त कारण होता है।

પુદ્ગલોનો ગમન કરવું તે સ્વભાવ જ છે, એ ગમન-ક્રિયામાં ઉપાદાન કારણ તે પોતે જ હોય છે; ધર્માસ્તિકાય સહાયકમાત્ર હોવાથી તે નિમિત્ત કારણ છે

(૧) જેવી રીતે નદી અથવા સમુદ્રમાં અવગાહન કરવાવાળા મચ્છોમાં ગમન કરવાની પોતાની જ ઇચ્છા ઉત્પન્ન થાય છે, અને પોતે જ તે ગતિ કરે છે, પરન્તુ જલ તેની ગતિમાં સહાયરૂપ નિમિત્ત કારણ થાય છે પરન્તુ મચ્છ ને સ્થિર રહેવાની ઇચ્છા કરે તો જલ તેને ગમન કરવા માટે પ્રેરણા કરતું નથી.

(૨) અથવા જેવી રીતે-માટીથી તૈયાર થતા ઘડામાં ડંડો અને ચાક નિમિત્ત કારણ હોય છે

(૩) અથવા જેવી રીતે-પોતે જ અવગાહન કરનારા દ્રવ્યના અવગાહનમાં આકાશ નિમિત્ત કારણ હોય છે

(४) यथा वा-जलवृष्टौ सत्यां स्वयमेव कृषिकर्मारम्भं कुर्वतां कृषीवलानां कृषिकर्मारम्भं प्रति वृष्टिः सहकारि कारणं भवति।

(५) अपरोऽपि शास्त्रीयो दृष्टान्तो दृष्टिपथमवतरति, यथा-'सिद्धस्वरूपोऽहम्, अनन्तसुखभाजनोऽहम्' इत्यादिभावनया व्यवहारनयेन शुद्धसिद्धस्वरूपध्यानकर्तॄणां, निश्चयनयेन निर्विकल्पध्यानपरिणामिनां स्वयं तदुपादानकारणस्वरूपाणां भव्यानां स्वयमेव जायमानां सिद्धगतिं प्रति प्रेरणारहितो निष्क्रियो मूर्तिरहितोऽपि सिद्धभगवान् सहायकः सन् सहकारि कारणं भवति, तद्वदमूर्तो निष्क्रियः प्रेरणारहितश्च धर्मास्तिकायो जीवानां पुद्गलानां च गतिरूपे परिणामे सहायकः सन्निमित्तकारणं भवति।

(४) अथवा जैसे—जल की वर्षा होने पर स्वयं ही कृषिकार्य आरम्भ करने वाले किसानों के कृषिकार्य के आरम्भमें वृष्टि सहकारी कारण होती है।

(५) एक शास्त्रीय दृष्टान्त और भी दृष्टिगोचर होता है—मैं सिद्धस्वरूप हूँ, मैं अनन्त सुख का भाजन हूँ'। इस प्रकार की भावनापूर्वक व्यवहार नय से शुद्ध सिद्ध परमात्मा का ध्यान करने वालों को, और निश्चय नय से निर्विकल्प ध्यान में परिणत होने वालों को जो सिद्धगति की प्राप्ति होती है उस में उपादान कारण स्वयं ध्यान करने वाला भव्यात्मा है, और प्रेरणारहित, निष्क्रिय, तथा अमूर्तिक होते हुए भी सिद्ध भगवान उसमें सहायक होने से निमित्त कारण हो जाते हैं। इसी प्रकार अमूर्तिक निष्क्रिय और प्रेरणारहित धर्मास्तिकाय भी जीव और पुद्गलों के गतिरूप परिणाम में सहायक होता हुआ निमित्त कारण होता है।

(४) અથવા જેવી રીતે પાણી વરસવાથી ખેડુત પોતે જ ખેતીના કામનો આરંભ કરે છે, ખેતીનો આરંભ કરવાવાળા ખેડુતોના ખેતી કાર્યના આરમ્ભમાં વૃષ્ટિ (વરસાદ) સહકારી કારણ હોય છે

(૫) એક શાસ્ત્રીય દૃષ્ટાંત બીજુ પણ દૃષ્ટિગોચર થાય છે —

"હું સિદ્ધ સ્વરૂપ છું હું અનન્ત સુખનું ભાજન-પાત્ર છું" આ પ્રકારની ભાવનાપૂર્વક, વ્યવહાર નયથી શુદ્ધ સિદ્ધ ભગવાન-પરમાત્માનું ધ્યાન કરવાવાળા અને નિશ્ચયનયથી નિર્વિકલ્પ ધ્યાનમાં પરિણત થવા વાળાને જે સિદ્ધ-ગતિ પ્રાપ્ત થાય છે તેમાં ઉપાદાન કારણ ધ્યાન કરવાવાળા પોતે ભવ્યાત્મા છે, અને પ્રેરણારહિત નિષ્ક્રિય તથા અમૂર્તિક હોવા છતાં પણ સિદ્ધ ભગવાન તેમાં સહાયક હોવાથી નિમિત્ત કારણ થઈ જાય છે

એ પ્રમાણે અમૂર્તિક, નિષ્ક્રિય અને પ્રેરણારહિત ધર્માસ્તિકાય પણ જીવ અને પુદ્ગલોના ગતિરૂપ પરિણામમાં સહાયક હોવાથી નિમિત્ત કારણ છે

ननु धर्मास्तिकायस्य दण्डादिवन्निमित्तकारणता नोपपद्यते, सव्यापारं हि कारणं भवति, निर्व्यापारस्य कारणत्वे युक्त्यभावादिति चेन्न,

धर्मास्तिकायस्य हि स्वाभाविकव्यापारसत्त्वात् कारणत्व मुपपाद्म्। उक्तं च धर्मास्तिकायलक्षणं भगवता—

" गइलक्खणो उ धम्मो " इति,

' गतिलक्षणस्तु धर्म ' इति च्छाया। (उत्तराध्ययनसूत्रे २८ अ) गतिकार्यानुमेयो धर्मास्तिकाय इति भाव ।

शङ्का—धर्मास्तिकाय डंडा आदि के समान निमित्त कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह व्यापार नहीं करता, कार्य की उत्पत्ति में व्यापार करने वाला ही कारण होता है। कार्य की उत्पत्ति में व्यापार न करने पर भी अगर किसी को कारण मान लिया जाय तो चाहे जो वस्तु चाहे जिस कार्य म कारण हो जायगी। ऐसी दशा में नियत कार्य—कारण भाव का अभाव हो जायगा।

समाधान—यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ हेतु असिद्ध है। गतिरूप कार्य में धर्मास्तिकाय व्यापाररहित नहीं है, किन्तु धर्मास्तिकायका स्वाभाविक व्यापार विद्यमान होने के कारण उसे कारण मानना युक्तिसङ्गत है। भगवान् ने धर्मास्तिकायका लक्षण इस प्रकार बतलाया है—

"गइलक्खणो उ धम्मो" धर्मास्तिकाय गति लक्षण वाला है। (उत्तराध्ययनसूत्र अ० २८) अर्थात् गतिरूप कार्य से धर्मास्तिकायका अनुमान होता है।

शंका—धर्मास्तिकाय दंड आदि प्रमाणे निमित्त कारण थई शकतु नथी, केमके ते व्यापार करतु नथी, कार्यनी उत्पत्तिमा व्यापार करनार ज कारण होय छे कार्यनी उत्पत्तिमां व्यापार नहि करवा छता य जो कोईने कारण मानवामा आवशे तो गमे ते वस्तु गमे ते कार्यमां कारण थई जशे. एवा दशामा नियत कार्य कारण भावनो अभाव थई जशे

समाधान—आ शंका ठीक नथी, कारण के अहि हेतु असिद्ध छे गतिरूप कार्यमा धर्मास्तिकाय व्यापाररहित नथी, धर्मास्तिकायनो स्वाभाविक व्यापार विद्यमान होवाथी तेने कारण मानवु ते युक्तिसंगत छे भगवाने धर्मास्तिकायनु लक्षण आ प्रमाणे बताव्यु छे—

" गइलक्खणो उ धम्मो " धर्मास्तिकाय गतिलक्षणवाळु छे (उत्तराध्ययन सूत्र अ० २८) अर्थात् गतिरूप कार्यथी धर्मास्तिकायनु अनुमान थाय छे

अस्य-(१) अरूपित्वम्, (२) अचेतनत्वम्, (३) अक्रियत्वम्, (४) गतिसहायकत्व चेति गुणा । (१) स्कन्ध., (२) देश, (३) प्रदेश, (४) अगुरुलघुत्व चेति पर्यायाः । अथ द्रव्यक्षेत्रकालभावगुणभेदेन पञ्चधा ज्ञायते, यथा-द्रव्यत एको धर्मास्तिकाय, क्षेत्रतो लोकप्रमाण, कालत आद्यन्तरहित, भावतो रूपरहित - वर्णगन्धरसस्पर्शवर्जित इति । गुणतश्चलनगुण ।

अधर्मास्तिकायस्वरूपम्—

स्वभावत स्थितिपरिणतानां जीवपुद्गलानां स्थितिं प्रति सहकारि कारणत्वम-धर्मास्तिकायस्य लक्षणम् ।

---

(१) अरूपित्व, (२) अचेतनत्व (३) अक्रियत्व (४) गतिसहायकत्व, ये धर्मास्तिकाय के गुण हैं । (१) स्कध (२) देश (३) प्रदेश और (४) अगुरुलघुत्व, ये उसके पर्याय हैं । धर्मास्तिकाय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण, इस तरह पाच भेदो से जाना जाता है । जैसे-द्रव्य से धर्मास्तिकाय एक है, क्षेत्रसे लोकप्रमाण है, कालसे आदि-अन्तरहित है, भावसे रूपादिरहित है-रूप रस, गन्ध, स्पर्श उस में नहीं है, और गुण से चलन-गुण वाला है ।

अधर्मास्तिकायका स्वरूप—

स्वभाव से स्थितिरूप परिणत हुए जीव और पुद्गलोंकी स्थिति में सहकारी होना अधर्मास्तिकायका लक्षण है ।

---

(१) अरूपित्व (२) अचेतनत्व (३) अक्रियत्व (४) गतिसहायकत्व એ સર્વ ધર્માસ્તિકાયના ગુણો છે (૧) સ્કધ (૨) દેશ (૩) પ્રદેશ અને (૪) અગુરુલઘુત્વ, એ તેના પર્યાય છે ધર્માસ્તિકાય-દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાલ, ભાવ અને ગુણ, એ પાચ ભેદોથી જાણી શકાય છે જેવી રીતે-દ્રવ્યથી ધર્માસ્તિકાય એક છે, ક્ષેત્રથી લોકપ્રમાણ છે, કાલથી આદિ-અન્ત રહિત છે, ભાવથી રૂપાદિરહિત છે—રૂપ-રસ-ગધ-સ્પર્શ તેમા નથી, અને ગુણથી ચલન-ગુણવાળા છે

અધર્માસ્તિકાયનું સ્વરૂપ—

સ્વભાવથી સ્થિતિરૂપ પરિણત થયેલા જીવો અને પુદ્ગલોની સ્થિતિમા સહકારી થવું તે અધર્માસ્તિકાયનું લક્ષણ છે

जीवा पुद्गलाश्च स्वभावतः स्वयं तिष्ठन्ति, तत्रोपादानकारणस्वरूपास्ते स्थितिं प्रति, पुनस्तस्यामेव स्थितिक्रियायामधर्मास्तिकाय सहायरूपं निमित्तकारणं भवति।

(१) यथा—स्वयं तिष्ठतां पथिकानां स्थितौ छाया सहकारि कारणं भवति। अतिष्ठतस्तु स्थातुं न पुनः सा प्रेरयति।

(२) यथा वा स्वयं तिष्ठतो देवदत्तस्य स्थितिं प्रति पृथिवी सहकारि कारणं भवति। अतिष्ठन्तं तु देवदत्तं न पृथिवी स्थापयति।

(३) यथा-समितिगुप्तिधारिणो रत्नत्रयाराधिनः समरसकन्दाः समाहितमतयो महात्मानो निश्चयनयेन निजात्मस्वरूपं चिन्तयन्तः क्षपकश्रेणिं समारूढाः समुत्पन्न-

---

जीव और पुद्गल जब स्वभाव से ही स्थित होते हैं, अपनी स्थिति में उपादान कारण तो स्वयं वही हैं, पर अधर्मास्तिकाय उस में सहायक होता है, अतः वह निमित्त कारण है।

(१) जैसे—स्वयं ठहरने वाले पथिकों की स्थिति में छाया सहकारी कारण होती है। अगर कोई न ठहरे तो वह ठहरने की प्रेरणा नहीं करती।

(२) अथवा जैसे—स्वयं ठहरने वाले देवदत्त की स्थिति में पृथिवी सहकारी कारण है। मगर देवदत्त को न ठहरना हो तो पृथ्वी जबर्दस्ती नहीं ठहराती।

(३) अथवा जैसे—समिति गुप्तिके धारक, रत्नत्रय की आराधना करने वाले, समभाव के रस में निमग्न समाधियुक्त मति वाले महात्मा निश्चय नय से आत्मस्वरूपका चिन्तन करते

જીવ અને પુદ્ગલ જ્યારે સ્વભાવથી જ સ્થિત થાય છે તો પોતાની સ્થિતિમા ઉપાદાન કારણ તો પોતે જ છે, પરન્તુ અધર્માસ્તિકાય તેમાં સહાયક થાય છે, તેથી તે નિમિત્ત કારણ છે

(૧) જેવી રીતે—પોતે ઉભા રહેવા વાળા મુસાફરોની સ્થિતિમા છાયા સહકારી કારણ હોય છે અગર કોઇ ઉભા ન રહે તો તે ઉભા રહેવાની પ્રેરણા નથી કરતી

(૨) અથવા—જેવી રીતે પોતે જ ઉભા ન રહેવા વાળા દેવદત્તની સ્થિતિમા પૃથ્વી સહકારી કારણ છે, પરન્તુ જો દેવદત્તને ઉભા ન રહેવુ હોય તો પૃથ્વી દેવદત્તને બળજબરીથી ઉભો રાખી શકતી નથી

(૩) અથવા—જેવી રીતે સમિતિ—ગુપ્તિના ધારક, રત્નત્રયની આરાધના કરવા વાળા, સમભાવના રસમાં નિમગ્ન, સમાધિયુક્ત મતિવાળા મહાત્મા નિશ્ચયનયથી

केवलज्ञान-केवलदर्शनभृत सन्त सकलकर्मक्षय कृत्वा, शरीरमौदारिकमिह परित्यज्य, सिद्धिगतिनामधेय स्थान गतास्तिष्ठन्ति, तेषा निश्चयनयेन स्वत' स्थिति परिणताना तत्र साद्यपर्यवसितां स्थितिं प्रति तत्स्थान सहकारि कारण भवति। न तु तत् स्थानं तानवस्थातु प्रेरयति।

(४) यथा व्यवहारनयेन सिद्धभक्त्या स्वय समुत्पन्नसविकल्पध्यानावस्थिताना महात्मनां सविकल्पध्याने स्थितिं प्रति, निष्क्रियो मूर्त्तिरहित' प्रेरणारहितोऽपि सिद्धभगवान् सहाय सन् सहकारि कारण भवति। न त्वसौ तान् तद्ध्याने स्थातु प्रेरयति।

हुए क्षपकश्रेणी पर आरूढ हो कर उत्पन्न केवलज्ञान और केवलदर्शन को धारण करने वाले हो कर समस्त कर्मों का क्षय करके औदारिक शरीर को यहीं त्याग कर सिद्धिगति नामक स्थान को प्राप्त हो कर स्थिर हो जाते हैं। निश्चयनय से स्वय स्थिति म परिणत हुए उन सिद्ध जीवों की सादि-अनन्त स्थिति में वह स्थान सहकारी कारण होता है, किन्तु वह स्थान उन्हें ठहरने के लिए प्रेरित नहीं करता।

(४) अथवा जैसे-व्यवहारनय से सिद्ध भगवान की भक्तिसे स्वय उत्पन्न हुए सविकल्प ध्यान में अवस्थित महात्मा पुरुषों की सविकल्प म जो स्थिति है, उस में अक्रिय अमूर्तिक और प्रेरणारहित भी सिद्ध भगवान् सहायक होने से निमित्त कारण होते हैं, किन्तु वे उन्हें ध्यान में स्थित होने की प्रेरणा नहीं करते।

આત્મસ્વરૂપનુ ચિંતન કરતા થકા ક્ષપકશ્રેણી પર આરૂઢ થઇને ઉત્પન્ન કેવલજ્ઞાન અને કેવલદર્શનને ધારણ કરવા વાળા થઇને સમસ્ત કર્મોનો ક્ષય કરીને ઔદારિક શરીરનો અહિં જ ત્યાગ કરીને સિદ્ધિગતિ નામના સ્થાનને પ્રાપ્ત થઈ સ્થિર થઈ જાય છે નિશ્ચયનયથી સ્વય સ્થિતિમા પરિણત થયેલા તે સિદ્ધ જીવોની સાદિ અનત સ્થિતિમા તે સ્થાન સહકારી કારણ હોય છે, પરતુ તે સ્થાન તેને થોભવા માટે પ્રેરણા નથી કરતુ

(૪) અથવા-જેવી રીતે વ્યવહારનયથી સિદ્ધ ભગવાનની ભક્તિથી સ્વય ઉત્પન્ન થયેલા સવિકલ્પ ધ્યાનમા અવસ્થિત મહાત્મા પુરૂષોની સવિકલ્પ ધ્યાનમા જે સ્થિતિ છે, તેમાં નિષ્ક્રિય અમૂર્તિક અને પ્રેરણારહિત સિદ્ધ ભગવાન સહાયક હોવાથી નિમિત્ત કારણ હોય છે, પણ સિદ્ધ ભગવાન તેને ધ્યાનમા સ્થિત થવાની પ્રેરણા કરતા નથી

इदमेवाभिप्रेत्य भगवताऽभिहितम्—

" अहम्मो ठाणलक्खणो " इति (उत्तरा. अ २८)

' अधर्मः स्थानलक्षण ' इति छाया। लक्ष्यते=दृश्यते परिचीयत अनेनेति लक्षण=परिचायक ज्ञापकम्। स्थानं=स्थितिरेव लक्षण=ज्ञापक यस्याऽसाविति स्थानलक्षण । स्थितिकार्यानुमेयोऽधर्मास्तिकाय इत्याशयः।

अधर्मास्तिकायस्य–(१) अरूपित्वम् , (२) अचेतनत्वम् , (३) अक्रियत्वम् , (४) स्थितिसहायकत्वमिति गुणा ।

(१) स्कन्ध , (२) देश , (३) प्रदेश , (४) अगुरुलघुत्वं चेति पर्याया ।

इसी अभिप्राय से भगवान न कहा—"अहम्मो ठाणलक्खणो" अधर्मास्तिकाय स्थिति लक्षण वाला है। (उत्तरा० अ० २८) जिस के द्वारा कोई वस्तु लखी जाय (देखी जाय) या जो, वस्तु का परिचायक (परिचय कराने वाला) हो वह लक्षण कहलाता है। स्थान अर्थात् स्थिति ही जिस का लक्षण है, अर्थात् स्थितिरूप कार्य से जिस का अनुमान होता है उसे अधर्मास्तिकाय कहते हैं।

अधर्मास्तिकाय के गुण–(१) अरूपित्व (२) अचेतनत्व (३) अक्रियत्व और स्थितिसहायकत्व हैं। (१) स्कन्ध (२) देश (३) प्रदेश, और (४) अगुरुलघुत्व, अधर्मास्तिकाय क पर्याय हैं।

એ અભિપ્રાયથી ભગવાને કહ્યુ છે કે—" अहम्मो ठाणलक्खणो " અધર્માસ્તિકાય સ્થિતિ લક્ષણ વાળા છે (ઉત્તરાધ્યયન અ. ૨૮)

જેના દ્વારા કોઈ વસ્તુ લખી શકાય (દેખી શકાય) અથવા જે વસ્તુનો પરિચય કરાવનાર હોય તે લક્ષણ કહેવાય છે સ્થાન અર્થાત્ સ્થિતિ જ જેનુ લક્ષણ છે અર્થાત્ સ્થિતિરૂપ કાર્યથી જેનુ અનુમાન થાય છે, તેને અધર્માસ્તિકાય કહે છે

અધર્માકાયના ગુણ–(૧) અરૂપિત્વ (૨) અચેતનત્વ (૩) અક્રિયત્વ અને (૪) સ્થિતિસહાયકત્વ છે

(૧) સ્કધ, (૨) દેશ, (૩) પ્રદેશ, અને (૪) અગુરૂલઘુત્વ, એ અધર્માસ્તિકાયના પર્યાય છે

अथ द्रव्यक्षेत्रकालभावगुणभेदेन पञ्चधा ज्ञायते, यथा—अधर्मास्तिकायो द्रव्यत एकः, क्षेत्रतो लोकप्रमाणः, कालत आद्यन्तरहितः, भावतो रूपरहितः–वर्ण–गन्ध–रस–स्पर्शवर्जित इति, गुणतः स्थितिगुणः ।

ननु धर्माधर्मशब्दाभ्यां पुण्यपापरूपौ शुभाशुभफलदौ धर्माधर्मौ कथं नात्र गृह्येते ? इति चेत्, उच्यते–नयोर्गुणत्वेन द्रव्यप्रकरणे समावेशासम्भवात् । किञ्च तौ धर्माधर्मौ पुण्यपापरूपौ पुद्गलत्वेनाभिमतौ पुद्गलद्रव्यान्तर्भूतौ, ततस्तयोर्न धर्माधर्मास्तिकायमध्ये समावेशः ।

अधर्मास्तिकाय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण के भेदसे पांच प्रकार से जाना जाता है । जैसे—अधर्मास्तिकाय द्रव्य से एक है, क्षेत्र से लोकप्रमाण है, काल से आदि अन्त रहित है, भावसे अरूपी अर्थात् रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श से रहित है, और गुण से स्थितिगुण वाला है ।

शङ्का—धर्म शब्द से शुभ फल देने वाले पुण्य का और अधर्म शब्द से अशुभ फल देने वाले पाप का ग्रहण क्यों नहीं किया गया ?

समाधान—पुण्य और पाप, द्रव्य नहीं, गुण हैं, इसी लिये इनका द्रव्यके प्रकरण में समावेश नहीं हो सकता । अथवा पुण्य–पाप रूप धर्म और अधर्म पुद्गल हैं, अतः उनका समावेश पुद्गल में ही हो जाता है । धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय में उन्हें गर्भित नहीं किया जा सकता ।

અધર્માસ્તિકાય દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાલ ભાવ અને ગુણના ભેદથી પાંચ પ્રકારે જાણી શકાય છે જેમકે—અધર્માસ્તિકાય દ્રવ્યથી એક છે, ક્ષેત્રથી લોકપ્રમાણ છે, કાલથી આદિ–અન્ત રહિત છે, ભાવથી અરૂપી અર્થાત્ રૂપ, રસ ગંધ અને સ્પર્શથી રહિત છે, અને ગુણથી સ્થિતિગુણવાળા છે

શંકા—ધર્મ શબ્દથી શુભ ફલ આપવા વાળા પુણ્ય અને અધર્મ શબ્દથી અશુભ ફલ આપવા વાળા પાપનું ગ્રહણ શા માટે કરવામાં આવતું નથી ?

સમાધાન—પુણ્ય અને પાપ, દ્રવ્ય નથી, ગુણ છે એટલા માટે દ્રવ્યના પ્રકરણમાં તેનો સમાવેશ થઈ શકતો નથી અથવા પુણ્ય–પાપરૂપ ધર્મ અને અધર્મ પુદ્ગલરૂપ છે, તેથી તેનો સમાવેશ પુદ્ગલમાં જ થઈ જાય છે ધર્માસ્તિકાય અને અધર્માસ્તિકાયમાં તેને ગર્ભિત નથી કરી શકતા.

अथाकाशस्वरूपम्–

आ–समन्तात् काशते=अवगाहदानेन प्रतिभासते इत्याकाशम्, यद्वा आकाशन्ते=दीप्यन्ते धर्माधर्मकालपुद्गलजीवाः स्वस्वरूपेण यत्र तत्।

धर्माधर्मादिसर्वद्रव्याणामाधारतयाऽवकाशं ददातीत्यवकाशदायित्वं लक्षणमाकाशास्तिकायस्य। अत्रावकाशदायित्वं व्यवहारनयेनौपचारिकम्। अस्तिकायशब्दः प्राग् व्याख्यातः। उक्तं चोत्तराध्ययनसूत्रे (२८ अध्ययने)—

" भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणम्।" इति।

आकाशका स्वरूप–

'आकाश' शब्द में 'आ' और 'काश' दो हिस्से हैं। 'आ' का अर्थ है–सभी ओर से–सर्वत्र, और 'काश' का अर्थ है–प्रकाशित होने वाला। तात्पर्य यह है कि अपने अवगाहदाननामक गुणसे सर्वत्र प्रभासित होता है, वह आकाश है। अथवा जहाँ धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव अपने–अपने स्वरूप से प्रकाशित होते हैं, उसे आकाश कहते हैं।

धर्म, अधर्म, आदि समस्त द्रव्यों का आधार होकर जो उन्हें आश्रय देता है, वही आकाश है। अवकाश देने वाला ही आकाश कहलाता है। यहाँ 'अवकाश देना' आकाश का जो लक्षण बतलाया गया है, वह व्यवहारनयसे उपचरित कथन है। 'अस्तिकाय' शब्द की व्याख्या पहले ही की जा चुकी है। उत्तराध्ययन सूत्र (अ० २८) में कहा है —
"भायणं सव्वदव्वाणं नहं ओगाहलक्खणं" इति।

આકાશનું સ્વરૂપ—

'આકાશ' શબ્દમાં 'આ' અને 'કાશ' બે ભાગ છે 'આ'નો અર્થ છે–ચારેય તરફથી–સર્વત્ર, અને 'કાશ'નો અર્થ છે પ્રકાશિત થવા વાળા, તાત્પર્ય એ છે કે–પોતાના અવગાહદાન (અવકાશ આપવો) નામના ગુણથી જે સર્વત્ર પ્રતિભાસિત હોય છે તે આકાશ છે, અથવા જ્યાં ધર્મ, અધર્મ, કાલ, પુદ્ગલ અને જીવ પોતપોતાના સ્વરૂપથી પ્રકાશિત હોય છે–પ્રતીત થાય છે તેને આકાશ કહે છે

ધર્મ, અધર્મ આદિ તમામ દ્રવ્યોનો આધાર બની જે તેને આશ્રય આપે છે તે આકાશ છે અવકાશ આપનાર જ આકાશ કહેવાય છે અવકાશ આપવો તે આકાશનું લક્ષણ બતાવવામાં આવ્યું છે, તે વ્યવહારનયથી ઉપચારરૂપ કથન છે 'અસ્તિકાય' શબ્દની વ્યાખ્યા પ્રથમ જ કહી દીધી છે, ઉત્તરાધ્યયન સૂત્ર (અ.૨૮)માં કહ્યું છે કે– "भायणं सव्वदव्वाणं नहं ओगाहलक्खणं" ઇતિ.

'भाजनं सर्वद्रव्याणां, नमोऽवगाहलक्षणम्'। इति च्छाया।

सर्वद्रव्याणां भाजनम् = आधारः, इति हेतुगर्भविशेषणम्। यतः सर्व द्रव्याणां भाजनम्, अतः अवगाहलक्षण नभ इति भाव'।

धर्माधर्मकालानामन्तः समावेशेन जीवपुद्गलानामौपचारिकसयोगविभागाभ्यां चावगाह। अवगाह्य तत्तद्देशरूपोपाधिभेदादवगाहस्य नानात्वेन सयोगविभागा उपपद्यन्ते।

अवगाहोऽवकाश', स एव लक्षण=ज्ञापकं यस्य तद् अवगाहलक्षण नभः= आकाश कथ्यते, इत्यर्थ। अवगाहदानकार्यानुमेयमाकाशमित्याशय।

धर्माधर्मादिद्रव्याणामाधारान्यथाऽनुपपत्तेराकाशमस्तीति निःशङ्क विश्व-

'आकाश' सब द्रव्यों का आधार है। सारांश यह है कि आकाश सब द्रव्यों का आधार होनेसे अवगाह-लक्षण वाला है।

'धर्मास्तिकाय' 'अधर्मास्तिकाय' और काल का आकाश में ही समावेश होने से जीव और पुद्गलों के औपचारिक सयोग और विभाग के द्वारा अवगाह होता है। अवगाह होने पर देश के भेद से अवगाह भी भिन्न हो जाता है और सयोग तथा विभाग उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य यह है कि—अवगाह या अवकाश ही जिस का लक्षण है, अर्थात् अवगाह से जिस का अनुमान होता है वह द्रव्य आकाश है।

आकाश न होता तो धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों की स्थिति कहां होती? अर्थात् उनका कोई आधार ही नहीं रहता, अत एव आकाश का अस्तित्व, किसी प्रकार की शङ्का किये

આકાશ સર્વદ્રવ્યોનો આધાર છે સારાશ એ છે કે આકાશ સવ દ્રવ્યોનો આધાર હોવાથી અવગાહન લક્ષણવાળુ છે

ધર્માસ્તિકાય અધર્માસ્તિકાય અને કાલનો આકાશમા સમાવેશ હોવાથી જીવ અને પુદ્ગલોનો ઔપચારિક સંયોગ અને વિભાગ દ્વારા અવગાહ થાય છે, અવગાહ થવાથી દેશના ભેદથી અવગાહ પણ ભિન્ન થઈ જાય છે, અને સંયોગ તથા વિભાગ ઉત્પન્ન થાય છે

તાત્પર્ય એ છે કે-અવગાહ અથવા અવકાશ જ જેનુ લક્ષણ છે, અર્થાત અવગાહથી જેનુ અનુમાન થાય છે તે દ્રવ્ય આકાશ છે અથવા આકાશ ન હોય તો ધર્મ, અધર્મ આદિ દ્રવ્યોની સ્થિતિ કયા હોય? અર્થાત્ તેનો કોઈ આધાર જ

सनीयम्, इत्यपि भगवता बोधितम्। आकाशसिद्ध्यर्थं 'भायणं सव्वदव्वाणं'- इति, 'ओगाहलक्खण' इति च विशेषणद्वयमुपात्तम्।

आकाशं द्विविधम्-लोकालोकभेदात्, उक्तं च स्थानाङ्गसूत्रे—

"दुविहे आगासे पन्नत्ते, तञ्जहा-लोगागासे चेव अलोगागासे चेव" इति। द्विविध आकाश प्रज्ञप्तस्तद्यथा-लोकाकाशश्चैव अलोकाकाशश्चैव, इति च्छाया। धर्मादिसर्वद्रव्याणामाधारभूतमसंख्यातप्रदेशात्मकमाकाशखण्ड लोकाकाशम्। तद्भिन्नमनन्तप्रदेशात्मकमलोकाकाशम्।

ननु धर्माधर्मद्रव्यस्वीकारे प्रयोजन न किमपि पश्यामः, जीव-पुद्गलानां गतिस्थितिकार्ययो सहायरूप कारण त्वाकाशमेव स्यात्?।

विना विश्वास करने योग्य है, यह भी भगवान् ने उक्त कथन से ध्वनित कर दिया है। आकाश की सिद्धि के लिये 'भायणं सव्वदव्वाण' और 'ओगाहलक्खण' ये दो विशेषण लगाये गये हैं।

आकाश दो प्रकार का है-लोकाकाश, और अलोकाकाश। स्थानाङ्गसूत्र में कहा है- "दुविहे आगासे पन्नत्ते तं जहा-लोगागासे चेव अलोगागासे चेव"

धर्म आदि सब द्रव्यों का आधार और असंख्यातप्रदेशरूप आकाशखण्ड, लोकाकाश कहलाता है। लोकाकाश से भिन्न अनन्तप्रदेशी अलोकाकाश है।

शङ्का-जब कि आकाश ही जीव और पुद्गलों की गति एवं स्थिति में सहायक कारण हो सकता है तो फिर धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय द्रव्यों को स्वीकार करने का कोई

ન રહેત, એટલા માટે આકાશના અસ્તિત્વ, કોઈ જાતની પણ શંકા કર્યા વગર વિશ્વાસ કરવા યોગ્ય છે; એ પણ ભગવાને ઉક્ત કથનથી ધ્વનિત કર્યું છે આકાશની સિદ્ધિ માટે 'भायण सव्वदव्वाण' અને 'ओगाहलक्खण' આ બે વિશેષણ લગાવેલા છે

આકાશ બે પ્રકારના છે (૧) લોકાકાશ અને (૨) અલોકાકાશ સ્થાનાંગ સૂત્રમાં કહ્યું છે -"दुविहे आगासे पन्नत्ते, तञ्जहा-लोगागासे चेव अलोगागासे चेव"

ધર્મ આદિ તમામ દ્રવ્યોના આધાર અને અસંખ્યાતપ્રદેશરૂપ આકાશખંડ તે લોકાકાશ કહેવાય છે લોકાકાશથી ભિન્ન અનન્તપ્રદેશી અલોકાકાશ છે

શંકા-જો કે આકાશ જ જીવ અને પુદ્ગલોની ગતિ અને સ્થિતિમાં સહાયક કારણ થઈ શકે છે તો પછી ધર્માસ્તિકાય અને અધર્માસ્તિકાય દ્રવ્યોનો સ્વીકાર

अत्रोच्यत-धर्मश्चाधर्मश्चेति द्रव्यद्वयमवश्यमङ्गीकरणीयम्, अन्यथा दोषबाहुल्यप्रसङ्गात्।

(१) आकाशस्य गतिहेतुत्वस्वीकारे जीवपुद्गलानामलोकाकाशगमनापत्तिः।

(२) अलोकाकाशस्यापि जीवपुद्गलपूर्णत्वे लोकत्वमभग, तथा चालोकाकाशस्य नामाऽपि वन्ध्यापुत्रवदेव स्यात्।

(३) भगवत्समरूपिताऽऽकाशद्वैविध्यव्यवस्थाऽपि न सिद्ध्येत्।

प्रयोजन दिखाई नहीं देता।

समाधान-धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य अवश्य स्वीकार करना चाहिये। उन्हें स्वीकार न करने से बहुतसे दोष आते हैं। वे इस प्रकार-

(१) आकाश को ही गति का कारण मान लिया जाय तो जीवों और पुद्गलों का अलोकाकाश में भी गमन मानना पडेगा, क्योंकि अलोकाकाश भी तो आखिर आकाश ही है।

(२) अलोकाकाश अगर जीवों और पुद्गलों से व्याप्त मान लिया जाय तो वह अलोकाकाश न रहकर लोकाकाश ही हो जायगा। ऐसी स्थिति में अलोकाकाश तो वन्ध्यापुत्र के समान हो जायगा, अर्थात अलोकाकाश का अस्तित्व नहीं रहगा।

(३) भगवान् ने दो प्रकार का आकाश बतलाया है, वह व्यवस्था भङ्ग हो जायगी।

કરવાનુ કોઈ પણ પ્રયોજન જોવામા આવતુ નથી

સમાધાન-ધર્મદ્રવ્ય અને અધર્મદ્રવ્યનો અવશ્ય સ્વીકાર કરવો જોઇએ, તેનો સ્વીકાર નહિ કરવાથી બહુ જ દોષ આવે છે, તે આ પ્રમાણે-

(૧) આકાશને જ ગતિનુ કારણ માની લેવામા આવે તો જીવો અને પુદ્ગલોનુ અલોકાકાશમા પણ ગમન માનવું પડશે, કેમકે અલોકાકાશ પણ છેવટે તો આકાશ જ છે

(૨) અથવા અલોકાકાશ જીવો અને પુદ્ગલોથી વ્યાપ્ત માની લેશો તો તે અલોકાકાશ નહિ રહેતાં લોકાકાશજ થઈ જશે, એવી સ્થિતિમા અલોકાકાશ તો વધ્યા પુત્રના સમાન થઈ જશે, અર્થાત્ અલોકાકાશનુ અસ્તિત્વ જ રહેશે નહિ

(૩) ભગવાને બે પ્રકારના આકાશ બતાવ્યા છે, તે વ્યવસ્થા ભગ થઈ જશે.

(४) अपिच-सिद्धभगवान् ऊर्ध्वं गत्वा लोकाग्रेऽवस्थित इति मर्यादाऽपि खपुष्पायमाणैव स्यात्।

(५) भवन्मते गतिकारणीभूतस्याकाशस्योर्ध्वदेशे विद्यमानत्वात्तस्य (सिद्धस्य) गतेरवरोधाभावो भवेत्।

धर्माधर्मद्रव्ययोराकाशत पृथक् स्वीकारे तु लोकाकाशत उर्ध्वमलोकाकाशस्य सत्त्वेन तत्र गतिहेतोर्धर्मस्याभावान्न गतिर्भवति। स्थितिहेतोरधर्मद्रव्यस्य लोकान्तर्वर्तित्वेन लोकमध्य एवोपरिभागे गतिहेतोर्धर्मद्रव्यस्य साहाय्येन गत्वा तत्रैवाधर्मद्रव्यसाहाय्येन तिष्ठति। एवं च लोकाग्रे भगवानवस्थितो जाते

(४) सिद्ध भगवान् उपर जाकर लोक के अग्र भाग म स्थित हो जाते हैं, यह आगम की मर्यादा भी आकाशपुष्प के समान हो जायगी।

(५) आप के मत के अनुसार गतिका कारण आकाश है और वह उर्ध्व देश में लोकाकाश के अग्रभाग से भी आगे विद्यमान है, अत सिद्धों की गति में रुकावट नहीं होगी।

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य को आकाश से भिन्न मान लेने से लोकाकाश से उपर अलोकाकाश म गति का कारण धर्मद्रव्य नहीं है, अत लोकाकाश स आगे गति भी नहीं होती, तथा स्थिति का कारण अधर्मद्रव्य लोक के अ तर्गत ही है, अत धर्मद्रव्य की सहायतासे सिद्ध जीव, लोक के अन्त तक पहुँच कर अधर्म की सहायता से वहीं अर्थात् लोकाकाशके

(૪) સિદ્ધ ભગવાન ઉપર જઈને લોકના અગ્રભાગમા સ્થિત થાય છે, તે આગમની મર્યાદા પણ આકાશ-પુષ્પના સમાન થઈ જશે.

(૫) આપના મત પ્રમાણે ગતિનુ કારણ આકાશ છે અને તે ઉર્ધ્વ-ઉપરના દેશમાં લોકાકાશના અગ્રભાગથી પણ આગળ વિદ્યમાન-હૈયાત છે, તેથી સિદ્ધોની ગતિમા રૂકાવટ-રોકાણ નહિ થાય.

ધમ દ્રવ્ય અને અધર્મદ્રવ્યને આકાશથી ભિન્ન માની લેવાથી લોકાકાશથી ઉપર અલોકાકાશમા ગતિનું કારણ ધર્મદ્રવ્ય નથી, તેથી લોકાકાશથી આગળ ગતિ પણ થતી નથી, તથા સ્થિતિનુ કારણ અધર્મદ્રવ્ય લોકના અન્તર્ગતજ (અદરજ) છે, તેથી ધર્મદ્રવ્યની સહાયતાથી સિદ્ધ લોકના અ ત સુધી પહોચીને અધર્મદ્રવ્યની

तुम्बीवदिति मर्यादा सुतरामुपपद्यते । उक्तं चौपपातिकसूत्रे-

"कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया ।
कहिं बोंदि चइत्ता ण, कत्थ गंतूण सिज्झइ ॥ १ ॥
अलोगे पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया ।
इह बोंदि चइत्ता ण, तत्थ गंतूण सिज्झइ ॥२॥" इति ।

छाया—

"कुत्र प्रतिहता सिद्धा, कुत्र सिद्धा प्रतिष्ठिता ।
कुत्र बोन्दि (शरीर) त्यक्त्वा, कुत्र गत्वा सिद्ध्यति ॥१॥
अलोके प्रतिहता सिद्धा, लोकाग्रे च प्रतिष्ठिता ।
इह बोंदिं (शरीर) त्यक्त्वा, तत्र गत्वा सिद्ध्यति ॥ २ ॥ इति

अन्तर्गत ही ठहर जाता है। इस प्रकार जल के अग्रभाग पर ठहरे हुए तुंबे के समान सिद्ध भगवान् लोकाकाश के अग्रभाग पर स्थित है, यह मर्यादा स्वत सिद्ध हो जाती है।

औपपातिकसूत्र में कहा है—

'सिद्ध भगवान् कहाँ रुकजाते हैं ? कहाँ स्थित होते हैं ? । कहाँ शरीर का त्याग करके कहाँ जाकर सिद्ध होते हैं ? ॥१॥

सिद्ध भगवान अलोक में रुक जाते हैं, लोकके अग्रभाग में स्थित होते हैं। यहाँ शरीर का त्याग करके वहाँ जाकर सिद्ध हो जाते हैं ॥२॥"

સહાયતાથી ત્યાં જ અર્થાત્ લોકાકાશના અંદરજ રોકાઈ જાય છે તાત્પર્ય એ છે કે જલના અગ્રભાગ ઉપર સ્થિત રહેલા તુંબડાની પેઠે સિદ્ધ ભગવાન લોકાકાશના અગ્રભાગ ઉપર સ્થિત છે આ મર્યાદા સ્વત સિદ્ધ થઈ જાય છે ઔપપાતિક સૂત્રમાં પણ કહ્યું છે—

" સિદ્ધ ભગવાન ક્યાં રોકાઈ જાય છે ? ક્યાં સ્થિત થાય છે ? ક્યાં શરીરનો ત્યાગ કરીને, ક્યાં જઇને સિદ્ધ થાય છે ? ॥ ૧ ॥

સિદ્ધ ભગવાન અલોકમાં રોકાઈ જાય છે, લોકના અગ્રભાગમાં સ્થિત થાય છે, અહિં શરીરનો ત્યાગ કરીને ત્યાં જઇને સિદ્ધ થઈ જાય છે. ॥ ૨ ॥ "

नन्वेव धर्माधर्मद्रव्ये एव समाद्रियेताम्, किमाकाशद्रव्यावलम्बनेन, आकाश कार्यावगाहसाहाय्यं धर्माधर्मद्रव्याभ्यामेव सपद्येत ?, इति चेत्, उच्यते-सिद्धान्ते तयोर्जीवादिगतिस्थितिसाधकत्वेन सिद्धान्तितत्वादवकाश दातु तौ न प्रभवत । अन्यसाध्यं कार्यमन्यो न साधयति, अन्यथाऽतिप्रसंगात् । लोकेऽपि चक्षुस्साध्य दर्शनकार्यं न श्रोत्रं साधयति ।

ननु केवलज्ञानस्य योऽनन्ततमो भागस्तत्प्रमाणमेव नभोद्रव्यम्, तस्य चानन्ततमभागपरिमित लोकाकाशम्, एतादृशेऽल्पतमरूपे लोकाकाशे लोकाकाश-

---

शङ्का—यदि ऐसा हो तो धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य ही स्वीकार करलेने चाहिये, फिर आकाश की क्या आवश्यकता है ? आकाश का कार्य अवगाह देना है सो वह कार्य धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य से ही सम्पन्न हो जायगा ।

समाधान—आगम में धर्मद्रव्य और अधमद्रव्य को गति और स्थिति म ही सहायक बतलाया है, इस लिए वह अवकाश देन में समर्थ नहीं है, और का कार्य कोई और नहीं कर सकता । अगर ऐसा होने लगे तो सर्वत्र गडबड हो जायगा । लोक म चक्षुका देखना कार्य कान नहीं कर सकता ।

शङ्का—केवल ज्ञान का जो अनन्तवाँ भाग है उसी के बराबर आकाशद्रव्य है, और आकाश-द्रव्य का भी अनन्तवाँ भाग लोकाकाश है तो इतन छोटे से लोकाकाश में समस्त लोकव्यापी और असख्यात प्रदेशवाले धर्मद्रव्य का, अधर्मद्रव्य का, अनन्तानन्त जीवों का

શંકા—જો એ પ્રમાણે છે તો ધર્મદ્રવ્ય અને અધર્મદ્રવ્યનો સ્વીકાર કરી લેવો જોઇએ, ફરીને આકાશની શુ આવશ્યકતા છે? આકાશનુ કામ અવગાહ-અવકાશ આપવો તે છે, તે કાર્ય ધમદ્રવ્ય અને અધર્મ દ્રવ્યથી જ સપન્ન થઈ જશે

સમાધાન—આગમમા ધર્મદ્રવ્ય અને અધમદ્રવ્યને ગતિ અને સ્થિતિમા સહાયક બતાવ્યા છે, એટલા માટે તે અવકાશ આપવામાં સમથ નથી બીજાનુ કાર્ય કોઇ બીજો નહિ કરી શકે, જો એમ થવા લાગશે તો સર્વત્ર ગડબડ થઈ જશે જગતમા નેત્રથી જોવાનુ કાય કાન કરી શકતા નથી

શંકા—કેવલજ્ઞાનનો જે અનતમો ભાગ છે તેના બરાબર આકાશદ્રવ્ય છે, અને આકાશદ્રવ્યનો પણ અનતમો ભાગ લોકાકાશ છે, તો એવડા નાના સરખા લોકાકાશમા સમસ્ત લોકવ્યાપી અને અસખ્યાત પ્રદેશવાળા ધર્મદ્રવ્યનો, અધર્મ

व्यापिनो प्रत्येकमसंख्यातप्रदेशात्मकयोर्धर्माधर्मास्तिकाययोरनन्तजीवानां तेभ्योऽप्यनन्तगुणपुद्गलानां च कथं समावेशः, एकस्य लोकाकाशस्य सर्वद्रव्यावकाशदानासमत्वात्?, इति चेदुच्यते—

लोकाकाशस्यावकाशशक्तिर्हि महीयसी विलक्षणा चिन्तयितुमशक्या च, अत एव भगवता—"भायणं सव्वदव्वाणं नहं ओगाहलक्खणं" इत्युक्तम्।

नभसोऽवकाशशक्तिं केवलालोकेनावलोक्य सर्वद्रव्याणामाधारत्वं भगवता प्रतिबोधितम्। महीयसी नभसोऽवकाशशक्तिः, सुकरोऽत्र सर्वद्रव्याणां समावेश इति तदाशयः।

यथा—बतासानामधेयं मधुरद्रव्यं दुग्धपरिपूरितेऽपि भाजने निहितं सत्

और उन से भी अनन्तगुने पुद्गलोंका समावेश किस प्रकार हो सकता है? एक लोकाकाश समस्त द्रव्यों को अवगाह दे सके, यह असम्भव है।

समाधान—लोकाकाश को अवकाश देने की शक्ति महान् है, विलक्षण है, और अचिन्त्य है, इसीलिये तो भगवान् ने कहा है—"भायण सव्वदव्वाण नहं ओगाहलक्खण" अवगाहलक्षण वाला आकाश सब द्रव्यों का आधार है।

भगवान् ने अपने केवलज्ञान में आकाश की अवगाहदानशक्ति को देखकर उसे सब द्रव्यों का आधार निरूपण किया है। भगवान के कथन का अभिप्राय यही है कि आकाश की अवगाहनाशक्ति बहुत बडी है, उस में सब द्रव्यों का समावेश सरलता से हो जाता है।

जैसे—दूध से परिपूर्ण पात्र में बतासे डाल दिये जायँ तो वे उसी में समाविष्ट हो

દ્રવ્યનો, અનન્તાનન્ત જીવોનો અને તેનાથી પણ અનન્તગણુ પુદ્ગલોનો સમાવેશ કેવી રીતે થઈ શકે? એક લોકાકાશ સમસ્ત દ્રવ્યોનો અવગાહ—અવકાશ આપી શકે, એ અસંભવ છે

સમાધાન—લોકાકાશનો અવકાશ આપવાની શક્તિ મહાન છે, વિલક્ષણ છે અને અચિન્ત્ય છે એટલા માટે ભગવાને કહ્યુ છે—"भायण सव्वदव्वाण नहं ओगाहलक्खण" અવગાહલક્ષણવાળા આકાશ સર્વ દ્રવ્યોનો આધાર છે ભગવાને પોતાના કેવલ જ્ઞાનમા આકાશની અવગાહદાન—અવકાશ આપનારી—શક્તિ જોઈને તેને 'સર્વ દ્રવ્યનો આધાર છે' એમ નિરૂપણ કર્યુ છે ભગવાનના વચનનો અભિપ્રાય એ છે કે—આકાશની અવગાહનશક્તિ બહુ જ મોટી છે, અને તેમા સર્વ દ્રવ્યોનો સમાવેશ સરલતાથી થઈ જાય છે

જેવી રીતે દૂધના પરિપૂર્ણ પાત્રમા પતાસા નાખવામા આવે તો તે તેમા

तस्मिन् समाविशन्ति। यथा वा भित्तौ शङ्को' समावेशस्तथैवानन्तद्रव्याणां लोकाकाशे समावेश इति बोध्यम्।

नन्वलोकाकाशस्य कथं सिद्धिः, नासौ हि द्रव्याणामाधारः, नाप्यवकाशदायित्वं तस्य?, इति चेत्, उच्यते-गतिस्थितिकारणयोधर्माधर्मयोरभावादेव तत्र विद्यमानापि द्रव्याधारताशक्तिरवकाशदानशक्तिश्च नाभिव्यक्ता भवति। तदस्वीकारे तु जीवद्दलानां कर्मनिगडविमुक्तसिद्धानां चोर्ध्वगतिविरामो न स्यात्, भगवत्प्रतिबोधितलोकालोकव्यवस्थाऽपि न तिष्ठेत्, एवं चागमयुक्तिप्रमाणाभ्यामलोकाकाशं सिद्धम्।

जाते हैं, अथवा जैसे दीवाल में कील का समावेश हो जाता है उसी प्रकार लोकाकाश में अनन्त द्रव्यों का समावेश हो जाता है।

शङ्का- अलोकाकाश की सिद्धि कैसे होती है? न तो वह द्रव्यों का आधार है, न अवकाशदानरूप लक्षण ही उस में घटित होता है?

समाधान—गति और स्थिति के कारण धर्म और अधर्मद्रव्य का अभाव होने के कारण ही अलोकाकाशकी द्रव्याधारता की शक्ति और अवकाशदानशक्ति प्रकट नहीं होती है। अगर अलोकाकाश न माना जाय तो जीवों और पुद्गलों की, तथा धर्मरूपी वेडी से मुक्त हुए सिद्ध जीवों की गति का अन्त हो न होगा, और भगवान् की कही हुई लोक अलोक की व्यवस्था भी कायम नहीं रहेगी। इस प्रकार आगम और युक्ति प्रमाणों से अलोकाकाश की सिद्धि होती है।

(દૂધમાં) સમાવિષ્ટ-ઓતપ્રોત થઈ જાય છે, અથવા જેવી રીતે દીવાલમા કીલ-ખીલીનો સમાવેશ થઈ જાય છે, તે પ્રમાણે લોકાકાશમા અનન્ત દ્રવ્યોનો સમાવેશ થઈ જાય છે

શંકા—અલોકાકાશની સિદ્ધિ કેવી રીતે થઈ શકે? તે દ્રવ્યોનો આધાર નથી અને અવકાશદાનરૂપ લક્ષણ તેનામાં ઘટી શકતુ નથી

સમાધાન—ગતિ અને સ્થિતિના કારણ ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્યનો અભાવ હોવાના કારણે જ અલોકાકાશની દ્રવ્યાધારતાની શક્તિ અને અવકાશદાન-શક્તિ પ્રગટ થતી નથી. અથવા અલોકાકાશ માનવામા નહિ આવે તો જીવો અને પુદ્ગલોની, તથા કર્મરૂપી બેડીથી મુક્ત થયેલા સિદ્ધ જીવોની ગતિનો ક્યાય અન્ત-છેડો જ નહિ આવે અને ભગવાને કહેલી લોક-અલોકની વ્યવસ્થા પણ કાયમ નહિ રહે. એ પ્રમાણે આગમ અને યુક્તિ પ્રમાણોથી અલોકાકાશની સિદ્ધિ થાય છે,

अन्यसकलद्रव्यापेक्षया महत्परिमाणमाकाशस्य, अनन्तप्रदेशित्वात्। तेनाकाश महास्कन्धरूपम्।

आकाशास्तिकायस्य (१)-अरूपित्वम्, (२)-अचेतनत्वम्, (३)-अक्रियत्वम्, (४)-अवगाहदायित्व चेति गुणा। (१)-स्कन्ध, (२)-देश, (३)-प्रदेश, (४)-अगुरुलघुत्व चेति पर्याया।

अथ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-गुण-भेदन पञ्चधा ज्ञायते, यथा-द्रव्यत एक आकाशास्तिकाय, क्षेत्रतो लोकालोकप्रमाण, कालत आद्यन्तरहित, भावतो रूपरहित -वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शवर्जित इति। गुणतोऽवकाशदायी।

आकाश का प्रमाण अन्य सब द्रव्यों की अपेक्षा बडा है, क्योंकि वह अनन्तप्रदेशी है, अत आकाश महास्कन्धरूप है।

(१) अरूपित्व, (२) अचेतनत्व, (३) अक्रियत्व, (४) अवगाहदायित्व, ये आकाशास्तिकाय के गुण हैं। (१) स्कन्ध (२) देश (३) प्रदेश तथा (४) अगुरुलघुत्व, उसके पर्याय हैं।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुणके भेदसे आकाश द्रव्य पाँच प्रकार से जाना जाता है। जैसे द्रव्य से आकाशास्तिकाय एक है, क्षेत्र से लोकालोकप्रमाण है, काल से आदि-अन्त रहित है-भावसे अरूपी है, उस में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नहीं पाये जाते। गुणसे अवकाश देने वाला है।

આકાશનુ પરિમાણ બીજા સર્વ દ્રવ્યોની અપેક્ષાએ મોટુ છે, કેમકે તે અનન્તપ્રદેશી છે એટલે કે આકાશ મહાસ્કધરૂપ છે

(૧) અરૂપિત્વ (૨) અચેતનત્વ (૩) અક્રિયત્વ (૪) અવગાહદાયિત્વ, એ આકાશાસ્તિકાયના ગુણ છે, અને (૧) સ્કધ, (૨) દેશ, (૩) પ્રદેશ, તથા અગુરુ લઘુત્વ, તેના પર્યાય છે

દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાલ, ભાવ અને ગુણના ભેદથી આકાશ દ્રવ્ય પાંચ પ્રકારથી જાણી શકાય છે જેમકે—દ્રવ્યથી આકાશાસ્તિકાય એક છે, ક્ષેત્રથી લોકાલોકપ્રમાણ છે, કાલથી આદિ-અન્તરહિત છે, ભાવથી અરૂપી છે-તેમા વર્ણ, ગધ, રસ અને સ્પર્શ નથી, ગુણથી અવકાશ આપવાવાળુ છે

कालनिरूपणम्—

तत्र कालशब्दस्य व्युत्पत्तिः—

कल्यते=परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति कालः। करणे घञ्। 'मासिकोऽयं बालः, वार्षिकोऽयं बाल, वासन्तिकमिदं पुष्पम्' इत्यादिरूपेण वस्तूनां परिच्छेदो=निर्णय कालमाश्रित्य भवति।

अथवा स्वभावत परिणमद्भिः पदार्थजातैः, कल्यते=गम्यते=प्राप्यते निमित्तत्वेनाऽसौ, इति काल। सकलवस्तुपरिणतिहेतु काल इत्यग्रे वक्ष्यते।

कालनिरूपण—

काल शब्द की व्युत्पत्ति—

जिस के द्वारा वस्तु कली जाय अर्थात् जानी जाय वह काल है। यहाँ करणमें 'घञ्' प्रत्यय हुआ है। यह बालक मासिक (एक मासका) है, यह बालक वार्षिक (वर्ष भरका) है, यह फूल वासन्तिक (वसन्तऋतुसम्बन्धी है, इस रूपमें वस्तुओं का ज्ञान काल के द्वारा ही होता है।

अथवा स्वभावसे परिणत होने वाले पदार्थ समूहों द्वारा निमित्त रूपमें जो प्राप्त किया जाय वह काल कहलाता है। 'काल, समस्त वस्तुओं के परिणमन का हेतु है यह बात आगे बतलाई जायगी।

કાલનિરૂપણ—

કાલ શબ્દની વ્યુત્પત્તિ—

જેના દ્વારા વસ્તુ જાણી શકાય તે કાલ છે અહિં કરણમાં 'ઘઞ્' પ્રત્યય થયો છે "આ બાલક માસિક-એક માસનો છે, આ બાલક વાર્ષિક-એક વર્ષનો છે, આ ફૂલ વાસંતિક-વસંતઋતુસંબંધી છે" એ રૂપમાં વસ્તુઓનુ જ્ઞાન કાલ દ્વારા જ થાય છે

અથવા સ્વભાવથી પરિણત થવાવાળા પદાર્થસમૂહો દ્વારા નિમિત્તરૂપમાં જે પ્રાપ્ત કરી શકાય તે કાલ કહેવાય છે "કાલ સમસ્ત વસ્તુઓના પરિણમનનુ કારણ છે" એ આગળ બતાવવામા આવશે.

कालस्य सिद्धिः—

'पदार्थाः सन्ति, अथवा पदार्था वर्तन्ते' इति व्यवहारो वर्तनामूलः। "अनुदात्तेतश्च हलादेः"-रिति पाणिनिसूत्रेण वृतधातोर्युच्प्रत्ययः। वर्तनशीला वर्तना। उत्पत्ति, अप्रच्युति, विद्यमानताख्या वृत्तिः=क्रिया वर्तना। इय वर्तना सर्वेषु भावेषु विद्यते। वर्तना=पदार्थाना परिणामविशेषः। पदार्थाना वर्तना-रूप कार्यं नोपपद्यते विना केनचिन्निमित्तकारणेन, तस्माद् वर्तनारूपकार्योत्पत्तौ यन्निमित्त धर्मद्रव्यमिव गतौ, स एव काल इत्युच्यते।

काल की सिद्धि—

'पदार्थ है, या पदार्थ वर्त रहे हैं' इस प्रकार के व्यवहार का कारण वर्तना है। 'अनुदात्तेतश्च हलादे' पाणिनि के इस सूत्र से 'वृतु' धातु से 'युच्' प्रत्यय हुआ है। वर्तनशील हो उसे वर्तना कहते हैं। उत्पत्ति, अप्रच्युति, और विद्यमानतारूप वृत्ति अर्थात् क्रिया वर्तना कहलाती है। यह वर्तना सभी पदार्थों में विद्यमान है। वह पदार्थों का विशेष परिणाम है। पदार्थों का वर्तनारूप कार्य किसी निमित्त कारण विना नहीं हो सकता अत वर्तनारूप कार्यकी उत्पत्ति में जो निमित्त कारण है, वही काल-द्रव्य है, जैसे गति का निमित्त कारण धर्म द्रव्य है।

કાલની સિદ્ધિ—

'પદાર્થ છે અથવા પદાર્થ વર્ત્ત રહેલ છે' એ પ્રકારના વ્યવહારનુ કારણ વર્ત્તના છે 'अनुदात्तेतश्च हलादे' પાણિનિના આ સૂત્રથી 'वृतु' ધાતુથી 'युच्' પ્રત્યય થયો છે જે વર્તનશીલ હોય તેને વર્ત્તના કહે છે ઉત્પત્તિ, અપ્રચ્યુતિ, અને વિદ્યમાનતારૂપ વૃત્તિ, અર્થાત્ ક્રિયા વર્તના કહેવાય છે વર્તના સર્વ પદાર્થોમા વિદ્યમાન છે તે, પદાર્થોનુ વિશેષ પરિણામ છે પદાર્થોનુ વર્તનારૂપ કાર્ય કોઈ નિમિત્ત કારણ વિના થઈ શકતું નથી તેથી વર્તનારૂપ કાર્યની ઉત્પત્તિમા જે નિમિત્ત કારણ છે તે કાલ દ્રવ્ય છે જેવી રીતે ગતિનુ નિમિત્ત કારણ ધર્મ-દ્રવ્ય છે

तस्मात्सर्वेषा परिणामानां नियामक निमित्तकारण काल इति सिद्धम् । यथा कर्त्तरी वस्त्रकृन्तने निमित्तकारण तथा द्रव्याणां पर्याये निमित्तकारण काल. ।

क्रिया=द्रव्यपरिणाम । तस्या अपि नियामक निमित्तकारण कालः । यथा-'आकाशदेशे-अङ्गुलिरस्ति, आसीत्, भविष्यति च' इत्यय व्यवहार काल मवलम्ब्य सपद्यते, कालस्यासत्त्वे त्वतीत एव वर्तमानोऽनागतश्च स्यात्, क्रिया-नियामकाभावात्, एवमतीतादिविभागाभावे व्यवहारोच्छेदापत्ति., तस्मात् "अस्ति कालः यमाश्रित्यातीतादिव्यवहारा सुस्पष्ट प्रसिध्यन्ति" इति, मन्तव्यम् ।

नयापन, पुरानापन, और प्रनष्टरूप परिणमन एक साथ नहीं होते हैं, अत एव समस्त परिणामों का नियामक निमित्त कारण काल ही सिद्ध होता है। जैसे कैंची वस्त्र काटने में निमित्त कारण होती है, उसी प्रकार द्रव्यों के परिणमन में काल निमित्त कारण होता है ।

क्रिया द्रव्य का परिणामविशेष है । उसका निमित्त कारण भी काल ही है । जैसे 'आकाश में अगुली है, थी और होगी' इस प्रकार का व्यवहार काल के आश्रित है। काल की सत्ता न मानी जाय तो अतीत ही वर्तमान और अनागत (भविष्य) हो जायगा, क्योंकि क्रिया का कोई नियामक नहीं है। इस प्रकार अतीत आदि कालों का विभाग न रहने से व्यवहार का लोप हो जायगा, अत "काल अवश्य है, जिस के सहारे अतीत आदि के व्यवहार स्पष्ट रूप से सिद्ध होते हैं" ऐसा मानना ही समुचित है ।

કારણુ કાલ જ સિદ્ધ થાય છે જેમકે કાતર, વસ્ત્રને કાપવામા નિમિત્ત કારણુ થાય છે, તે પ્રમાણે દ્રવ્યોના પરિણુમનમાં કાલ નિમિત્ત કારણુ થાય છે

ક્રિયા એ દ્રવ્યનુ પરિણામ વિશેષ છે તેનુ નિમિત્ત કારણુ પણુ કાલ જ છે જેમ 'આકાશમાં આગળી છે, હતી અને હશે' આ પ્રકારનો વ્યવહાર કાલને આશ્રિત છે કાલની સત્તા ન માનવામાં આવે તો અતીત-ભૂતકાળ જ વર્તમાન અને ભવિષ્ય કાળ થઈ જશે, કેમકે ક્રિયાનો નિયામક કોઈ નથી, આ પ્રમાણે અતીત ભૂતકાળ આદિ કાળોનો વિભાગ નહિ રહેવાથી વ્યવહારનો લોપ થઈ જશે એટલા માટે "કાલ અવશ્ય છે, જેની સહાયતાથી ભૂતકાળ આદિનો વ્યવહાર સ્પષ્ટરૂપથી સિદ્ધ થાય છે" એમ માનવુ તે જ યોગ્ય છે

प्रतिदिवसमुभयकालिकसकलवस्त्रपात्रादिप्रतिलेखन, प्रत्यहोरात्रमुभयकालिक-मावश्यक, चतुष्कालिक स्वाध्यायकरण मुनीनां कर्तव्यतया भगवतोपदिष्ट, तच्च कालस्यासत्त्वे तद्विभागज्ञानाभावेन यथाकालमनुष्ठातुमशक्य मुनिभिरिति शास्त्रानर्थक्यमापद्येत ।

भिक्षार्थमकालवर्जनपूर्वककालानुरोधेन निष्क्रमप्रतिक्रमकर्तव्यता भगवत्प्ररूपिता गृहीतप्रव्रज्यानां भिक्षूणां नष्टप्राया स्यात् ।

प्रतिदिन दोनों वक्त समस्त वस्त्र पात्र आदि का प्रतिलेखन करना, प्रत्येक दिन और रात्रि के अन्त में आवश्यक करना, चौकालीन स्वाध्याय करना भगवान्ने मुनियों का कर्तव्य बतलाया है। अगर कालद्रव्य की सत्ता न मानी जाय तो दिन रात आदि के भेद का पता ही नहीं चलेगा और समय पर उक्त सब कार्य नहीं किये जा सकेंगे। एसी अवस्था में शास्त्रों का यह उपदेश निरर्थक हो जायगा ।

"अकाल का त्याग कर के समुचित समय पर मुनियों को भिक्षा के लिए जाना और आना चाहिए" भगवान् ने मुनियों का यह कतव्य बतलाया है, कालद्रव्य न मानने पर यह सब कर्तव्य, और उनका उपदेश भी नष्टप्राय हो जायगा ।

પ્રતિદિન બન્ને વખત સમસ્ત—તમામ વસ્ત્ર, પાત્ર આદિનુ પ્રતિલેખન કરવું, પ્રત્યેક દિવસ અને રાત્રિના અન્તમા આવશ્યક કરવું, ચૌકાલીન—ચારેય કાલ સ્વાધ્યાય કરવો તે ભગવાને મુનિઓનુ કર્તવ્ય બતાવ્યુ છે અગર કાલદ્રવ્યની સત્તા નહિ માને। તો દિવસ રાત વગેરે ભેદને। પત્તો મળશે નહિ, અને સમય પર આગળ કહેલાં સર્વ કાર્યો કરી શકાશે નહિ, એવી અવસ્થામા શાસ્ત્રોને। એ ઉપદેશ નિરર્થક થઈ જશે

" અકાલને। ત્યાગ કરીને યોગ્ય સમય પર મુનિઓએ ભિક્ષાને માટે જવું—આવવું જોઇએ" ભગવાને મુનિઓનુ એ કતવ્ય કહ્યું છે કાલદ્રવ્યને નહિ માનવામા આવે તો આ સર્વ કર્તવ્ય અને તેમને। ઉપદેશ પણ નષ્ટપ્રાય થઈ જશે

किञ्च—ग्रीष्मादिषु सयतानामतापनादयो धर्मा भगवदुक्ता' कालसत्त्व एवोपपद्यन्ते। अन्यथा ग्रीष्मादिऋतुज्ञानाभावात् भगवदुपदिष्टक्रियाहानि प्रसज्येत।

एव च वर्तना, परिणामः, क्रियाश्च द्रव्यस्वभावाः कालमाश्रित्य भवन्तीति निरूपितम्।

परापरव्यतिकरज्ञानमपि कालेनैव सपद्यते। विप्रकृष्टः कनिष्ठपर्यायो मुनिः क्षेत्रेण परोऽपि कालेनापरः, सनिकृष्टो ज्येष्ठपर्यायो मुनिः क्षेत्रेणापरोऽपि

इसके अतिरिक्त ग्रीष्म आदि ऋतुओं में साधुओं के लिये भगवान्ने आतापना आदि धर्मोंका उपदेश दिया है, काल के होने पर ही यह उपदेश घन सकता है। काल के अभाव में ग्रीष्म ऋतु का ही ज्ञान नहीं होगा और भगवान् द्वारा उपदिष्ट क्रिया की हानि हो जायगी।

यहां तक यह बतलाया जा चुका कि वर्तना, परिणाम और क्रिया, जो कि द्रव्य के स्वभाव हैं, काल के सहारे ही होते हैं।

परत्व और अपरत्व का मिला-जुला सा ज्ञान भी काल द्वारा ही होता है। दूरवर्ती छोटीदीक्षापर्यायवाला मुनि दूर होने के कारण क्षेत्र से पर होने पर भी (दीक्षा में छोटा होने के कारण) काल से अपर कहलाता है। समीपवर्ती है, मगर ज्येष्ठदीक्षापर्यायवाला मुनि क्षेत्र से अपर होने पर भी काल से पर कहलाता है। यहाँ 'पर' भी 'अपर' हो गया है और 'अपर' भी 'पर' बना गया है।

તે સિવાય ગ્રીષ્મ આદિ ઋતુઓમા સાધુઓ માટે ભગવાને આતાપના આદિ ધર્મોનો ઉપદેશ આપ્યો છે, કાલ દ્રવ્યને માનવામાં આવે તો જ, અથવા કાલ દ્રવ્ય હોય તો જ એ ઉપદેશ ઘટી શકે છે કાલના અભાવમા ગ્રીષ્મ ઋતુનુ જ્ઞાન થશે નહિ, અને ભગવાને કહેલી ક્રિયાની હાનિ થઇ જશે.

અહિ સુધી બતાવી ચૂકયા કે વર્ત્તના, પરિણામ અને ક્રિયા, જે કે દ્રવ્યનો સ્વભાવ છે, કાલની સહાયતાથી જ થાય છે

પરત્વ અને અપરત્વનુ મિલા-જુલા જેવુ જ્ઞાન પણ કાલદ્વારા જ થાય છે દૂરવર્તી, નાની દીક્ષા-પર્યાયવાળા મુનિ દૂર હોવાના કારણે ક્ષેત્રથી પર હોવા છતાય પણ (દીક્ષામા નાના હોવાના કારણે) કાલથી અપર કહેવાય છે, સમીપવર્તી' છે પણ જ્યેષ્ઠ-મોટીદીક્ષાપર્યાયવાળા મુનિ ક્ષેત્રથી અપર હોવા છતાય કાળથી પર કહેવાય છે અહિ 'પર' પણ 'અપર' થઈ ગયો છે અને 'અપર' પણ 'પર' બની ગયો છે

काष्ठेन पर इत्युच्यते। अत्र परस्यापरत्वम्; अपरस्य परत्वमिति परापरव्यतिकरः× कारणं विना न समवति, यदत्र कारण स एव काल ।

यौगपद्यायौगपद्यप्रत्ययेनापि कालद्रव्यस्यास्तित्व सिध्यति। 'आभ्यां युगपदधीतो दृष्टिवाद ' 'एभिस्तु मुनिभिरयुगपत् पठिता द्वादशाङ्गी ' इति वाक्यतोऽध्ययनगतयौगपद्यायौगपद्यप्रतीतौ कालमन्तरेणान्यन्निमित्त नोपलभ्यते, यच्च निमित्त स काल' ।

× 'परस्परविषयगमन व्यतिकर '।

पर और अपरका यह व्यतिकर+ कारण के बिना समव नही है, अत एव इस व्यतिकर में जो कारण है, बस वही काल है।

यौगपद्य (एक साथ) और अयौगपद्य (आगे-पीछे) का जो ज्ञान होता है उस से भी कालद्रव्य का अस्तित्व सिद्ध होता है। "इन दोनों मुनियोंने एक साथ दृष्टिवाद का अध्ययन किया" और "इन मुनियोंने बारह अङ्ग एक साथ नहीं पढे-आगे पीछे पढे हैं,"-इस वाक्य से यौगपद्य और अयौगपद्य का-एक साथ का और आगे पीछे का-जो ज्ञान होता है उसमें काल के अस्तित्व के सिवाय और कोई कारण नहीं पाया जाता। जो कारण है वही काल है।

+ 'परस्परविषयगमन व्यतिकर ', अर्थात एक का विषय दूसरे में चला जाना व्यतिकर कहलाता है, जैसे-पर का अपर हो जाना और अपर का पर हो जाना।

પર અને અપરના એ વ્યતિકર* કારણ વિના સભવ નથી, તેથી એ વ્યતિકરમા જે કારણ છે, બસ તેજ કાળ છે

યૌગપદ્ય-એક સાથે અને અયૌગપદ્ય-આગળ-પાછળનુ જે જ્ઞાન થાય છે, તેમા પણ કાલદ્રવ્યનુ અસ્તિત્વ સિદ્ધ થાય છે "એ બન્ને મુનિઓએ એક સાથે દૃષ્ટિવાદનુ અધ્યયન કર્યુ" અને "એ મુનિઓએ બાર અગોનુ એક સાથે અધ્યયન કર્યુ નથી-આગળ-પાછળ અધ્યયન કર્યુ છે" આ વાકયથી યૌગપદ્ય અને અયૌગપદ્યનુ-એક સાથેનુ અને આગળ-પાછળનુ જે જ્ઞાન થાય છે તેમા કાલ વિના બીજુ કોઈ કારણ દેખાતુ નથી જે કારણ છે તે જ કાળ છે

+परस्परविषयगगन व्यतिकर" અર્થાત્-એકનો વિષય બીજામા ચાલ્યો જાય તે વ્યતિકર કહેવાય છે જેવી રીતે-પરનુ અપર થઈ જવુ અને અપરનુ પર થઈ જવુ

—चिरक्षिप्रमत्ययोऽपि कालमासाद्यैव जागर्ति। यथा-'अनेन महात्मना चिरं तपश्चरितम्, गजसुकुमालेन क्षिप्रमात्मकल्याणं कृतम्' इत्यादिवाक्येस्तपश्चरणकल्याणसाधनादीनां विलम्बाविलम्बप्रतीतिः कालाभावे सति नोपपद्येत।

ह्यः श्वोऽद्य परश्व'-इत्यादयः कालाभिधायिनः शब्दाः कालरूपमर्थं गमयन्ति। सर्वज्ञेन भगवतोच्चारितत्वादिमे शब्दा यथार्थवस्तुबोधकाः रूपशब्दवत्, असमस्तपदत्वात्, शुद्धैकपदत्वाच्च प्रसिद्धं सद्भूतमर्थमावेदयन्ति, कालशब्दादयः।

वर्तनाहेतुत्वा ऽस्तित्व-ज्ञेयत्वादिगुणाश्रयतया, अतीतानागतवर्तमानादिपर्या

जल्दी और देर का ज्ञान भी काल के कारण ही होता है, जैसे—"इस महात्मा ने चिरकाल तक तप किया, गजसुकुमाल मुनिने शीघ्र ही आत्मकल्याण कर लिया।" इत्यादि वाक्यों से तपश्चरण और कल्याण-साधन आदि में विलम्ब और अविलम्ब का ज्ञान काल के अभाव में नहीं हो सकता।

'कल, आज, परसों' इत्यादि कालवाचक शब्द भी कालनामक पदार्थ को प्रकट करते हैं। सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा उच्चारण किये हुए ये काल आदि शब्द वास्तविक वस्तु के बोधक हैं, क्योंकि यह समासरहित पद है और शुद्ध एक पद है। जो पद समासरहित और शुद्ध एक पद होते हैं वे वास्तविक पदार्थ के ही बोधक होते हैं, जैसे रूप आदि।

वर्तनाहेतुत्व, अस्तित्व, ज्ञेयत्व, आदि गुणों का आधार होने से, तथा अतीत, अनागत (भविष्यत्) और वर्तमान आदि पर्यायों का आश्रय होने से काल का

જલ્દી-તુરત અને ઢીલનુ-જ્ઞાન પણ કાલના કારણથી જ થાય છે જેમ-"આ મહાત્માએ લાંબા સમય સુધી તપ કર્યું, ગજસુકુમાલ મુનિએ તુરતમાં આત્મકલ્યાણ કરી લીધું" ઇત્યાદિ વાક્યોથી તપશ્ચરણ અને કલ્યાણસાધન વગેરેમાં વિલમ્બ અને અવિલમ્બનું જ્ઞાન કાલના અભાવમાં થઈ શકશે નહિ.

'ગઈ કાલ, આવતી કાલ, આજ, પરમ દિવસે,' ઇત્યાદિ કાલવાચક શબ્દ પણ કાલ નામના દ્રવ્યને પ્રગટ કરે છે, સર્વજ્ઞ ભગવાન દ્વારા કહેવામાં આવેલા એ કાલ આદિ શબ્દ વાસ્તવિક વસ્તુના બોધક છે, કેમકે એ સમાસરહિત પદ છે અને શુદ્ધ એક પદ છે જે પદ સમાસરહિત અને શુદ્ધ એક પદ હોય છે, તે વાસ્તવિક પદાર્થના જ બોધક હોય છે જેમ રૂપ આદિ

વર્તનાહેતુત્વ, અસ્તિત્વ, જ્ઞેયત્વ આદિ ગુણોનો આધાર હોવાથી, તથા ભૂતકાલ, ભવિષ્યકાલ અને વર્તમાનકાલ આદિ પર્યાયોનો આશ્રય હોવાથી, કાલનું દ્રવ્યપણું

याश्रयतया च तस्य द्रव्यत्वं सिद्धयति, तस्मात् 'पष्ठं द्रव्य कालः' इति युक्त्योपपत्त्या च सिद्धम् ।

आगमोऽप्यत्र प्रमाणमिति चक्षुरुद्धाट्य पश्य—

"कइ ण भंते ! दव्वा पण्णत्ता ?, गोयमा छ दव्वा पण्णत्ता, त जहा-धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, जीवत्थिकाए, अद्धासमए, " इति ।

कति खलु भदन्त ! द्रव्याणि प्रज्ञप्तानि ?, गौतम ! षड् द्रव्याणि प्रज्ञप्तानि, तानि यथा-धर्मास्तिकाय', अधर्मास्तिकाय , आकाशास्तिकाय , पुद्गलास्तिकाय , जीवास्तिकाय , अद्धासमय । इति च्छाया ।

'कइविहा णं भंते ! सव्वदव्वा पण्णत्ता ?, गोयमा ! छव्विहा सव्वदव्वा पण्णत्ता, तंजहा-धम्मत्थिकाए, जाव अद्धासमए' इति। (भगवती श० २५, उ० ४)

द्रव्यपन सिद्ध होता है, अतएव युक्ति तथा उपपत्ति से कालनामक छठा द्रव्य सिद्ध हुआ ।

आंख खोल कर देखो, इस विषय में आगम-प्रमाण भी विद्यमान है—

"कइ ण भंते ! दव्वा पण्णत्ता ! गोयमा ! छ दव्वा पण्णत्ता, तंजहा धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, जीवत्थिकाए, अद्धासमए ।"

સિદ્ધ થાય છે એટલા કારણથી યુક્તિ તથા ઉપપત્તિ (પુરાવા-પ્રમાણ)થી કાલ નામનું છઠ્ઠું દ્રવ્ય સિદ્ધ થાય છે

આંખ ઉઘાડીને જુઓ, આ વિષયમાં આગમ-પ્રમાણ પણ વિદ્યમાન છે—

"कइ ण भंते ! दव्वा पण्णत्ता ?, गोयमा ! छ दव्वा पण्णत्ता, तंजहा धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, जीवत्थिकाए, अद्धासमए" ।

અર્થાત્-'ભગવન્' દ્રવ્ય કેટલાં છે? ગૌતમ! દ્રવ્ય છ છે-ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય, આકાશાસ્તિકાય, પુદ્ગલાસ્તિકાય, જીવાસ્તિકાય અને અદ્ધાસમય અર્થાત્ કાલ.

તથા—"कइविहा ण भंते ! सव्वदव्वा पण्णत्ता ?, गोयमा ! छव्विहा सव्वदव्वा पण्णत्ता, तजहा—धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, जाव अद्धासमए ।"

कतिविधानि खलु भदन्त! सर्वद्रव्याणि प्रज्ञप्तानि ?, गौतम! षड्विधानि सर्वद्रव्याणि प्रज्ञप्तानि, तानि यथा-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, यावत्-अद्धासमय, इति च्छाया।

"धम्मो अधम्मो आगास, दव्वं इक्किक्कमाहियं।
अणंताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गल जंतवो" ॥८॥ (उत्त० अ० २८)
धर्मोऽधर्मः आकाश', द्रव्यमेकैकमाख्यातम्
अनन्तानि च द्रव्याणि, कालः पुद्गला जन्तव । इति च्छाया।

कालस्य स्वरूपम्—

अर्धतृतीयद्वीपव्यापी, निर्विभागोऽनाद्यपर्यवसितः,
एकोवर्तमान समय कालपदार्थ । एकत्वादेवास्तिकायो नायम्।

अर्थात्–'भगवन्! सब द्रव्य कितने हैं?' 'गौतम! सब द्रव्य छह हैं–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय यावत् अद्धा–समय' (भगवतीसूत्र श २५ उ ४)

उत्तराध्ययन सूत्र (अ २८) में भी कहा है – 'धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक एक कहे गये हैं। काल, पुद्गल और जीव अनन्त–अनन्त हैं" इति।

काल का स्वरूप—

समयक्षेत्रव्यापी, निर्विभाग, आद्यन्तरहित, एकप्रदेशरूप वर्तमान समय को 'काल' कहते हैं। यह एक होने के कारण अस्तिकाय नहीं है।

અર્થાત્–'ભગવન્! સર્વ દ્રવ્ય કેટલા છે? ગૌતમ! સર્વ દ્રવ્ય છ છે–ધર્માસ્તિકાય અધર્માસ્તિકાય યાવત્ અદ્ધાસમય' (ભગવતી શ ૨૫ ઉ ૪) ઉત્તરાધ્યયનસૂત્ર (અ. ૨૮) મા પણ કહ્યુ છે–ધર્મ, અધર્મ, અને આકાશ દ્રવ્ય એક એક કહ્યુ છે, કાલ, પુદ્ગલ અને જીવ અનન્ત–અનન્ત છે

કાલનુ સ્વરૂપ—

સમયક્ષેત્ર (અઢીદ્વીપ) વ્યાપી, નિર્વિભાગ (જેનો ભાગ ન પડે તેવુ), આદ્યન્ત–રહિત, એકપ્રદેશરૂપ વર્તમાન સમયને કાલ કહે છે, આ એક હોવાના કારણથી 'અસ્તિકાય' નથી

सूर्यचन्द्रादिज्योतिष्काणां गतिमाश्रित्य कालविभागो भवति, गतिश्च मनुष्यलोकाभ्यन्तर एव तेषाम्। दिवसरात्रिमुहूर्तपक्षमासऋत्वयनवर्षयुगादीनां विभाग सूर्यादिगत्यैव लोके भवति। एवमतीतवर्तमानादयो विभागा। यस्तु सङ्ख्यातुमशक्य उपमानमात्रावगम्य काल॰ सोऽसंख्येय, यथा–पल्योपम, सागरोपम इत्यादि। असङ्ख्येयादिकालज्ञानमपि भगवता मनुष्यलोकप्रसिद्धोपमानप्रदर्शनेन प्ररूपितम्।

सूर्य चन्द्र आदि ज्योतिष्कों की गति का आश्रयण कर काल का विभाग होता है। सूर्य चन्द्र आदि ज्योतिष्कों की गति मनुष्यलोक के अन्दर में ही होती है। दिन, रात, मुहूर्त, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग आदि का विभाग सूर्य आदि की गति से ही लोक में होता है। इसी प्रकार अतीत, वर्तमान आदिका विभाग भी समझना चाहिये। जिसकी संख्या नहीं हो सकती, जो उपमान मात्र से गम्य है, वह काल असंख्येय है, जैसे—पल्योपम, सागरोपम, इत्यादि। असंख्येय आदि काल का ज्ञान भी मनुष्यलोकप्रसिद्ध उपमान का प्रदर्शन करके भगवान ने प्ररूपित किया है, समय आवलिका आदि सूक्ष्म काल तो सूर्यादि ज्योतिष्कों की गति से नहीं जाना जाता है, क्यों कि वह अति सूक्ष्म है। इस लिये कालका व्यवहार समयक्षेत्र के भीतर ही होता है। समयक्षेत्र के बाहर जीवों के आयुष्य आदि की गणना मनुष्यक्षेत्रप्रसिद्ध प्रमाण से ही होती है।

સૂર્ય ચન્દ્ર આદિ જ્યોતિષ્કોની ગતિના આશ્રયથી કાલનો વિભાગ થાય છે, સૂર્ય ચન્દ્ર આદિ જ્યોતિષ્કોની ગતિ મનુષ્ય લોકમાં જ હોય છે દિન, રાત, મુહૂર્ત, પક્ષ, માસ, ઋતુ, અયન, વર્ષ, યુગ આદિના વિભાગ સૂર્ય આદિની ગતિથી જ લોકમાં થાય છે આ પ્રકારે અતીત (ભૂતકાળ) વર્તમાન આદિના વિભાગ પણ સમજવા જોઈએ જેની ગણતરી ન થઈ શકે, જે ઉપમાન માત્રથી ગમ્ય (સમજી શકાય તેવું) છે, તે કાલ અસંખ્યેય છે, જેમકે—પલ્યોપમ, સાગરોપમ, ઈત્યાદિ. અસંખ્યેય આદિ કાળનું જ્ઞાન પણ ભગવાને મનુષ્યલોકપ્રસિદ્ધ ઉપમાનનું પ્રદર્શન કરી પ્રરૂપિત કર્યું છે સમય, આવલિકા આદિ સૂક્ષ્મ કાલ તો સૂર્યાદિ જ્યોતિષ્કોની ગતિથી પણ જાણી શકાતું નથી, કેમકે તે અતિ સૂક્ષ્મ છે આથી કાલનો વ્યવહાર સમયક્ષેત્ર–અઢી દ્વીપના અંદર જ થાય છે, સમયક્ષેત્રથી બહાર જીવોની આયુષ્ય આદિની ગણના થાય છે તે મનુષ્યક્ષેત્રપ્રસિદ્ધ પ્રમાણથી જ થાય છે, એમ સમજી લેવું

समयावलिकादिसूक्ष्मकालस्तु सूर्यादिज्योतिष्काणां गत्या नावगम्य, अतिसूक्ष्मत्वात्। तस्मात् कालव्यवहारोऽर्धतृतीयद्वीप एव। अर्द्धतृतीयद्वीपाद्बहि जीवानामायुष्कादिगणना तु मनुष्यक्षेत्रप्रसिद्धप्रमाणेनैव भवतीति ज्ञेयम्।

एकोऽपि कालोऽतीतानागतपर्यायभेदैरनन्तः, अत एव भगवता-"अणताणि य दव्वाणि कालो पुग्गल जतवो" इत्युपदिष्टम्। वर्तमानसमयस्य तु पर्यायत्वेऽपि नानन्त्यम्, एकरूपत्वात्।

निश्चयनयेन तु "लोकव्यापी कालः" इत्यवसीयते, अत एव भगवता-"धम्मो अधम्मो आगास कालो पुग्गल जतवो। एस लोगोत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं"। इत्यभिहितम्। धर्मोऽधर्म आकाश काल पुद्गला जन्तव। एष लोक इति प्रज्ञप्त, जिनवरदर्शिभि। इति च्छाया।

काल यद्यपि एक ही है, तो भी वह भूत-भविष्यत्पर्याय भेद से अनन्त है, इसीलिये भगवानने कहा है-'अणंताणि य द्रव्याणि कालो पुग्गल जंतवो' इति।-काल, पुद्गल और जीव, ये सभी अनन्त हैं। वर्तमान समय पर्यायसहित होते हुए भी अनन्त नहीं है, क्योंकि वह एक ही है।

निश्चयनय से तो काल लोकव्यापी माना जाता है, अतएव भगवानने कहा है-

"धम्मो अधम्मो आगास, कालो पुग्गल जतवो।
एस लोगोत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं" ॥ १ ॥

જો કે કાલ એક જ છે તો પણ ભૂત ભવિષ્યના ભેદથી અનન્ત છે, તેથી ભગવાને કહ્યુ છે-'अणंताणि य दव्वाणि कालो पुग्गल जतवो' इति, કાલ પુદ્ગલ અને જીવ એ દ્રવ્યો અનન્ત છે વર્તમાન સમય પર્યાયસહિત હોવા છતા પણ અનન્ત નથી કેમકે તે એક જ છે

નિશ્ચયનયથી તો કાલ લોકવ્યાપી માનવામા આવે છે આથી ભગવાને કહ્યુ છે કે-
"धम्मो अधम्मो आगासं कालो पुग्गल जतवो।
एस लोगोत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं"॥

વરદર્શી-લોકાલોકને જોવાવાળા જિન ભગવાને 'ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય, આકાશાસ્તિકાય, કાલ, પુદ્ગલાસ્તિકાય અને જીવાસ્તિકાય, એજ લોક છે' એમ કહ્યું છે

एष सामान्यरूपेण प्रसिद्धो लोकः—अनन्तरोक्तद्रव्यषट्कसमुदायरूप इति भावः।

कालस्य—(१)-अरूपित्वम्, (२)-अचेतनत्वम्, (३)-अक्रियत्वम्, (४)-वर्त्तनाहेतुत्व चेति गुणाः। (१)-अतीतत्वम्, अनागतत्वम्, (२)-वर्त्तमानत्व, (३)-अगुरुलघुत्व चेति पर्यायाः।

अथ द्रव्यक्षेत्रकालभावगुणभेदेन पञ्चधा ज्ञायते। यथा—द्रव्यत-एकः काल क्षेत्रत-अर्द्धतृतीयद्वीपप्रमाण, कालत-आद्यन्तरहित, भावत-अरूपी-वर्णगन्धरसस्पर्शवर्जित इति, गुणत-वर्तनालक्षण, इति।

वरदर्शी—लोकालोक को देखनेवाले जिन भगवानने धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय, इन सबको अर्थात् इनके समुदाय को लोक कहा है।

उपरिनिर्दिष्ट छ द्रव्यों के समुदाय को भगवानने सामान्यतया लोक कहा है।

काल के—अरूपित्व, अचेतनत्व, अक्रियत्व, वर्तनाहेतुत्व, ये चार गुण हैं। अतीतत्व, अनागतत्व, वर्तमानत्व, अगुरुलघुत्व, ये चार पर्याय हैं।

यह काल—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण के भेद से पाच प्रकार से जाना जाता है। जैसे—द्रव्य से काल एक है, क्षेत्र से समयक्षेत्रप्रमाणवाला, काल से आद्यन्तरहित, भाव से अरूपी, अर्थात् -वर्ण—गन्ध—रस—स्पर्श—रहित, और गुण से वर्तनालक्षणवाला है।

ઉપર દર્શાવેલા છ દ્રવ્યોના સમુદાયને ભગવાને સામાન્ય રીતે લોક કહેલ છે

કાળના—અરૂપિત્વ, અચેતનત્વ, અક્રિયત્વ અને વર્તનાહેતુત્વ, એ ચાર ગુણ છે અને, અતીતત્વ, અનાગતતત્વ, વર્તમાનત્વ, તથા અગુરુલઘુત્વ એ ચાર પર્યાય છે

આ કાળ—દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ, ભાવ અને ગુણના ભેદથી પાચ પ્રકારે જણાય છે, જેમકે—દ્રવ્યથી કાળ એક, ક્ષેત્રથી અઢીદ્વીપ પ્રમાણ, કાલથી આદ્યન્તરહિત, ભાવથી અરૂપી—વર્ણ—ગન્ધ—રસ—સ્પર્શ—રહિત છે, અને ગુણથી વર્તનાલક્ષણવાળો છે

समयावलिकादिसूक्ष्मकालस्तु सूर्यादिज्योतिष्काणां गत्या नावगम्य, अतिसूक्ष्मत्वात्। तस्मात् कालव्यवहारोऽर्धतृतीयद्वीप एव। अर्धतृतीयद्वीपबाह्ये जीवानामायुष्कादिगणना तु मनुष्यक्षेत्रप्रसिद्धप्रमाणेनैव भवतीति ज्ञेयम्।

एकोऽपि कालोऽतीतानागतपर्यायभेदैरनन्तः, अत एव भगवता—"अणंताणि य दव्वाणि कालो पुग्गल जंतवो" इत्युपदिष्टम्। वर्तमानसमयस्य तु पर्यायत्वेऽपि नानन्त्यम्, एकरूपत्वात्।

निश्चयनयेन तु "लोकव्यापी काल" इत्यवसीयते, अत एव भगवता—"धम्मो अधम्मो आगासं कालो पुग्गल जंतवो। एस लोगोत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं"। इत्यभिहितम्। धर्मोऽधर्म आकाशं कालः पुद्गला जन्तवः। एष लोक इति प्रज्ञप्तः, जिनैर्वरदर्शिभिः। इति च्छाया।

काल यद्यपि एक ही है, तो भी वह भूत-भविष्यत्पर्याय भेद से अनन्त है, इसीलिये भगवानने कहा है—'अणंताणि य दव्वाणि कालो पुग्गल जंतवो' इति।—काल, पुद्गल और जीव, ये सभी अनन्त हैं। वर्तमान समय पर्यायसहित होते हुए भी अनन्त नहीं है, क्योंकि वह एक ही है।

निश्चयनय से तो काल लोकव्यापी माना जाता है, अतएव भगवानने कहा है—

"धम्मो अधम्मो आगास, कालो पुग्गल जंतवो।
एस लोगोत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं" ॥ १ ॥

જો કે કાલ એક જ છે તો પણ ભૂત ભવિષ્યના ભેદથી અનન્ત છે, તેથી ભગવાને કહ્યું છે—'अणंताणि य दव्वाणि कालो पुग्गल जंतवो' इति, કાલ પુદ્ગલ અને જીવ એ દ્રવ્યો અનન્ત છે વર્તમાન સમય પર્યાયસહિત હોવા છતાં પણ અનન્ત નથી કેમકે તે એક જ છે

નિશ્ચયનયથી તો કાલ લોકવ્યાપી માનવામાં આવે છે આથી ભગવાને કહ્યું છે કે—
"धम्मो अधम्मो आगासं कालो पुग्गल जंतवो।
एस लोगोत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं" ॥

વરદર્શી—લોકાલોકને જોવાવાળા જિન ભગવાને 'ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય, આકાશાસ્તિકાય, કાલ, પુદ્ગલાસ્તિકાય અને જીવાસ્તિકાય, એજ લોક છે' એમ કહ્યું છે

एष सामान्यरूपेण प्रसिद्धो लोक'—अनन्तरोक्तद्रव्यषट्कसमुदायरूप इति भाव ।

कालस्य—(१)-अरूपित्वम् , (२)-अचेतनत्वम् , (३)-अक्रियत्वम् , (४)-वर्त्तनाहेतुत्वं चेति गुणा. । (१)-अतीतत्वम् , अनागतत्वम् , (२)-वर्त्तमानत्वं, (३)-अगुरुलघुत्व चेति पर्याया' ।

अथ द्रव्यक्षेत्रकालभावगुणभेदेन पञ्चधा ज्ञायते । यथा—द्रव्यत -एक. काल क्षेत्रत —अर्द्धतृतीयद्वीपप्रमाण , कालत.—आद्यन्तरहित , भावत —अरूपी—वर्णगन्धरसस्पर्शवर्जित इति, गुणत —वर्तनालक्षण , इति ।

वरदर्शी—लोकालोक को देखनेवाले जिन भगवानने धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय, इन सबको अर्थात् इनके समुदाय को लोक कहा है ।

उपरिनिर्दिष्ट छ द्रव्यों के समुदाय को भगवानने सामान्यतया लोक कहा है ।

काल के—अरूपित्व, अचेतनत्व, अक्रियत्व, वर्त्तनाहेतुत्व, ये चार गुण हैं । अतीतत्व, अनागतत्व, वर्तमानत्व, अगुरुलघुत्व, ये चार पर्याय हैं ।

यह काल—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण के भेद से पांच प्रकार से जाना जाता है । जैसे—द्रव्य से काल एक है, क्षेत्र से समयक्षेत्रप्रमाणवाला, काल से आद्यन्तरहित, भाव से अरूपी, अर्थात् -वर्ण—गन्ध—रस—स्पर्श—रहित, और गुण से वर्तनालक्षणवाला है ।

ઉપર દર્શાવેલા છ દ્રવ્યોના સમુદાયને ભગવાને સામાન્ય રીતે લોક કહેલ છે

કાળના—અરૂપિત્વ, અચેતનત્વ, અક્રિયત્વ અને વર્તનાહેતુત્વ, એ ચાર ગુણ છે અને, અતીતત્વ, અનાગતતત્વ, વર્તમાનત્વ, તથા અગુરુલઘુત્વ એ ચાર પર્યાય છે

આ કાળ—દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ, ભાવ અને ગુણના ભેદથી પાચ પ્રકારે જણાય છે, જેમકે-દ્રવ્યથી કાળ એક, ક્ષેત્રથી અઢીદ્વીપ પ્રમાણ, કાલથી આદ્યન્તરહિત, ભાવથી અરૂપી-વર્ણ—ગન્ધ—રસ—સ્પર્શ—રહિત છે, અને ગુણથી વર્તનાલક્ષણવાળો છે

समयावलिकादिसूक्ष्मकालस्तु सूर्यादिज्योतिष्काणां गत्या नावगम्य', अतिसूक्ष्मत्वात्। तस्मात् कालव्यवहारोऽर्धतृतीयद्वीप एव। अर्द्धतृतीयद्वीपाद्वहि र्जीवानामायुष्कादिगणना तु मनुष्यक्षेत्रप्रसिद्धप्रमाणेनैव भवतीति ज्ञेयम्।

एकोऽपि कालोऽतीतानागतपर्यायभेदैरनन्तः, अत एव भगवता—"अणंताणि य दव्वाणि कालो पुग्गल जंतवो" इत्युपदिष्टम्। वर्तमानसमयस्य तु पर्यायत्वेऽपि नानन्त्यम्, एकरूपत्वात्।

निश्चयनयेन तु "लोकव्यापी कालः" इत्यवसीयते, अत एव भगवता—"धम्मो अधम्मो आगासं कालो पुग्गल जंतवो। एस लोगोत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं"। इत्यभिहितम्। धर्मोऽधर्म आकाशं कालः पुद्गला जन्तवः। एष लोक इति प्रज्ञप्तः, जिनैर्वरदर्शिभिः। इति च्छाया।

काल यद्यपि एक ही है, तो भी वह भूत—भविष्यत्पर्याय भेद से अनन्त है, इसीलिये भगवानने कहा है—'अणंताणि य दव्वाणि कालो पुग्गल जंतवो' इति।— काल, पुद्गल और जीव, ये सभी अनन्त हैं। वर्तमान समय पर्यायसहित होते हुए भी अनन्त नहीं है, क्योंकि वह एक ही है।

निश्चयनय से तो काल लोकव्यापी माना जाता है अतएव भगवानने कहा है—

"धम्मो अधम्मो आगास, कालो पुग्गल जंतवो।
एस लोगोत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं" ॥ १ ॥

જો કે કાલ એક જ છે તો પણ ભૂત ભવિષ્યના ભેદથી અનન્ત છે, તેથી ભગવાને કહ્યું છે—'अणंताणि य दव्वाणि कालो पुग्गल जंतवो' इति, કાલ પુદ્ગલ અને જીવ એ દ્રવ્યો અનન્ત છે વર્તમાન સમય પર્યાયસહિત હોવા છતાં પણ અનન્ત નથી કેમકે તે એક જ છે

નિશ્ચયનયથી તો કાલ લોકવ્યાપી માનવામાં આવે છે આથી ભગવાને કહ્યું છે કે—
"धम्मो अधम्मो आगास कालो पुग्गल जंतवो।
एस लोगोत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं" ॥

વરદર્શી—લોકાલોકને જોવાવાળા જિન ભગવાને 'ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય, આકાશાસ્તિકાય, કાલ, પુદ્ગલાસ્તિકાય અને જીવાસ્તિકાય, એજ લોક છે' એમ કહ્યું છે

पुद्गललक्षणम्—

रूपवत्त्वं पुद्गलानां लक्षणम्, अत्र रूपं मूर्तत्ववर्णादिकम्। यद्यपि परमाणुप्रभृतयः सूक्ष्माः पुद्गलास्तेषां गुणाश्चातीन्द्रियतया नेन्द्रियैर्गृह्यन्ते तथापि बादरस्कन्धरूपे परिणामविशेषे तेषामेवेन्द्रियग्राह्यतया रूपवत्त्वं प्रतीयते।

अतीन्द्रिये परमाणुप्रभृतिपुद्गलेऽतीन्द्रिये धर्मास्तिकायादौ चैतावान् विशेषः- धर्मास्तिकायादीनामिन्द्रियविषयत्वाभावादतीन्द्रियत्वमरूपित्वं च, परमाणुप्रभृतिपुद्गलानां त्वतीन्द्रियत्वेऽपि रूपित्वमिति।

पुद्गल का लक्षण—

पुद्गलोंका लक्षण 'रूपवत्त्व' है। जिस में रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श पाया जाय अर्थात् जो मूर्तिक हो, वह पुद्गल है। यद्यपि परमाणु आदि पुद्गल बहुत सूक्ष्म हैं, और अतीन्द्रिय होने के कारण उनके गुण इन्द्रियों द्वारा नहीं ग्रहण किये जाते, तथापि जब उन पुद्गलों का बादर स्कन्ध के रूपमें परिणमन होता है तब वे इन्द्रियोंद्वारा ग्राह्य हो जाते हैं और उनका रूपवत्त्व प्रतीत होने लगता है।

परमाणु आदि अतीन्द्रिय पुद्गलों में और धर्मास्तिकाय आदि अतीन्द्रिय द्रव्यों में इतना अन्तर है कि-धर्मास्तिकाय आदि अरूपी द्रव्य कभी इन्द्रियों के विषय नहीं होते, अत वे अतीन्द्रिय और अरूपी हैं, किन्तु परमाणु आदि पुद्गल अतीन्द्रिय होने पर भी रूपी हैं।

પુદ્ગલનુ લક્ષણ—

પુદ્ગલોનુ લક્ષણ રૂપવત્ત્વ છે; જેમા રૂપ, રસ, ગંધ અને સ્પર્શ જોવામા આવે અર્થાત્ જે મૂર્તિમાન હોય તે પુદ્ગલ છે જો કે પરમાણુ આદિ પુદ્ગલ બહુ જ સૂક્ષ્મ છે અને અતીન્દ્રિય હોવાના કારણે તેના ગુણ ઇન્દ્રિયો દ્વારા ગ્રહણ કરી શકાતા નથી; તો પણ જ્યારે તે પુદ્ગલોનું બાદર સ્કંધના રૂપમા પરિણમન થાય છે, ત્યારે તે ઇન્દ્રિયો દ્વારા ગ્રહણ થઈ જાય છે, અને તેનુ રૂપવત્ત્વ પ્રતીત થવા લાગે છે

પરમાણુ આદિ અતીન્દ્રિય પુદ્ગલોમા અને ધર્માસ્તિકાય વગેરે અતીન્દ્રિય દ્રવ્યોમાં એટલુ અંતર-ફેરફાર છે કે-ધર્માસ્તિકાય આદિ અરૂપી દ્રવ્ય ક્યારેય પણ ઇન્દ્રિયોનો વિષય થતા નથી, તેથી તે અતીન્દ્રિય અને અરૂપી છે, પરન્તુ પરમાણુ આદિ પુદ્ગલ અતીન્દ્રિય હોવા છતાય રૂપી છે

अथ पुद्‌गलास्तिकायः ।

तत्र-पुद्‌गलशब्दार्थः ।

पूर्यते=सहन्यते-परस्परं संयुज्य सघीभूय नूतनघनघटावदेकीभवति, गलति च=विच्छिन्नमुक्तावलीमणिवत् विकीर्णो भवति-इति पुद्गलः । पूरण-गलन-धर्म इत्यर्थः । पुद्‌गलश्चासावस्तिकायश्चेति पुद्गलास्तिकायः ।

पुद्गलास्तिकायस्य घटादिकार्यान्यथानुपपत्तेः प्रत्यक्षदर्शनाच्च सत्ता सिद्धैव ।

पुद्गलास्तिकाय—

'पुद्गल' शब्द का अर्थ—

आपस में मिलकर इकट्ठे होकर नवीन घटघटादि के रूप में जो एकमेक हो जाते हैं, और जो गल जाते हैं अर्थात् टूटी हुई मोतियों की माला की भांति बिखर जाते हैं, वे पुद्‌गल कहलाते हैं । तात्पर्य यह है कि—जिसमें पूरण और गलन धर्म हो वह पुद्‌गल है, पुद्‌गलरूप अस्तिकाय 'पुद्‌गलास्तिकाय' कहलाता है ।

अगर 'पुद्‌गलास्तिकाय' न होता तो घट आदि कार्य नहीं बन सकते थे। इस कारण, तथा प्रत्यक्ष दिखाई देने के कारण भी पुद्‌गलास्तिकाय की सत्ता भलीभांति सिद्ध है ।

પુદ્ગલાસ્તિકાય—

પુદ્ગલ શબ્દનો અર્થ—

પરસ્પર મળીને એકત્ર થઈને નવીન ઘન-ઘટાદિના રૂપમાં જે એક-મેક થઈ જાય છે, અને જે ગળી જાય છે અર્થાત્ તુટી ગએલી મોતીઓની માળા પ્રમાણે વિંખાઈ જાય છે, તે પુદ્ગલ કહેવાય છે તાત્પર્ય એ છે કે-જેમા પૂરણ અને ગલન ધર્મ હોય તે પુદ્ગલ છે, પુદ્ગલરૂપ અસ્તિકાય તે પુદ્ગલાસ્તિકાય કહેવાય છે

અગર પુદ્ગલાસ્તિકાય ન હોત તો ઘટ આદિ કાર્ય બની શકત નહિ આ કારણથી, તથા પ્રત્યક્ષ દેખી શકાય છે તે કારણથી પણ પુદ્ગલાસ્તિકાયની સત્તા રૂડી રીતે સિદ્ધ છે

गाहते। द्व्यणुकस्कन्धश्च तस्यैकस्मिन् प्रदेशे, द्वयोश्च प्रदेशयोरवगाहते। तथा त्र्यणुकस्कन्धो लोकाकाशस्यैकस्मिन् प्रदेशे, द्वयोः प्रदेशयोस्त्रिषु प्रदेशेषु चावगाहते। एवं चतुरणुकादीनां संख्यातप्रदेशाऽसंख्यातप्रदेशानन्तप्रदेशानां स्कन्धानामवगाहनं लोकाकाशस्यैकप्रदेशमारभ्य संख्याताऽसंख्यातप्रदेशपर्यन्तेषु भवति।

नन्वेकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽल्पीयसि कथमनन्तप्रदेशिनः स्कन्धाः स्थानं लभन्ते, न हि कलशे सिन्धोः समावेशं पश्यामः ?

अवगाहना होती है। द्व्यणुक अर्थात् दो परमाणु वाला स्कन्ध लोकाकाश के एक प्रदेश में या दो प्रदेशों में अवगाहन करता है। इसी प्रकार तीन परमाणुओं वाला स्कन्ध लोकाकाश के एक प्रदेश में, दो प्रदेशों में अथवा तीन प्रदेशों में अवगाहन करता है। इसी भांति चतुरणुक (चार अणुओं वाले) आदि स्कन्धों की अवगाहना, तथा संख्यातप्रदेशी, असंख्यातप्रदेशी और अनन्तप्रदेशी तक के स्कन्धों की अवगाहना लोकाकाश के एक प्रदेश से लेकर संख्यात तथा असंख्यात प्रदेशों में होती है।

शंका—आकाश के एक छोटे से प्रदेश में अनन्तप्रदेशी स्कन्ध का समावेश किस प्रकार हो सकता है, गागर में सागर का समावेश होना तो कहीं दिखाई नहीं देता।

અવગાહના હોય છે દ્વયણુક અર્થાત્ બે પરમાણુવાળા સ્કંધ લોકાકાશના એક પ્રદેશમાં અથવા બે પ્રદેશોમાં અવગાહન કરે છે એ પ્રમાણે ત્રણ અણુઓવાળા સ્કંધ લોકાકાશના એક પ્રદેશમાં, બે પ્રદેશોમા અથવા ત્રણ પ્રદેશોમા અવગાહન કરે છે એ પ્રમાણે જ ચાર અણુઓવાળા આદિ સ્કંધોની અવગાહના, તથા સંખ્યાતપ્રદેશી, અસંખ્યાતપ્રદેશી અને અનન્તપ્રદેશી સુધીના સ્કંધોની અવગાહના લોકાકાશના એક પ્રદેશથી લઇને સંખ્યાત તથા અસંખ્યાત પ્રદેશોમા હોય છે

શંકા—આકાશના એક નાના પ્રદેશમાં અનન્ત પ્રદેશી સ્કંધનો સમાવેશ કેવી રીતે થઈ શકે, ગાગરમાં સાગરનો સમાવેશ થયેલો કોઈ ઠેકાણે દેખાતો નથી ?

पुद्गलानां प्रदेशसङ्ख्या—

परमाणुमारभ्याचित्तमहास्कन्धपर्यन्ता पुद्गला विविधपरिणामा भवन्ति। तेषां प्रदेशाः सङ्ख्याता असङ्ख्याता अनन्ताश्च यथासंभवं भवन्ति। तत्र–सङ्ख्यातपरमाणुसंयोगसंजातः स्कन्धः सङ्ख्यातप्रदेशी, असङ्ख्यातपरमाणुघटितः स्कन्धोऽसङ्ख्यातप्रदेशी, अनन्तपरमाणुसंहतिसमुद्भूतश्च स्कन्धोऽनन्तप्रदेशी भवति। परमाणोस्तु निरंशत्वान्नास्ति प्रदेश इति।

पुद्गलानां क्षेत्रस्थितिः—

परमाणौ विभागाभावादेकस्मिन्नेव प्रदेशे लोकाकाशस्य परमाणुरव

पुद्गलों की प्रदेशसंख्या—

परमाणु से लेकर अचित्त महास्कन्ध तक सब पुद्गल विविध परिणमन वाले होते हैं। उनके प्रदेश यथासम्भव सख्यात असख्यात अथवा अनन्त होते हैं। संख्यात परमाणुओं के सयोग से बना हुआ स्कन्ध संख्यातप्रदेशी कहलाता है। असख्यात परमाणुओं से बना हुआ स्कन्ध असंख्यातप्रदेशी और अनन्त परमाणुओं से निष्पन्न स्कन्ध अनन्त प्रदेशी कहलाता है। परमाणु निरंश होता है—उसके अनेक भाग नहीं हो सकते, अत एव वह अप्रदेशी है।

पुद्गलों की क्षेत्रस्थिति—

परमाणु के विभाग न होने के कारण लोकाकाश के एक ही प्रदेश में उसकी

પુદ્ગલોની પ્રદેશસંખ્યા—

પરમાણુથી લઈને અચિત્ત મહાસ્કંધ સુધી સર્વ પુદ્ગલ વિવિધ પરિણમનવાળા હોય છે તેના પ્રદેશ યથાસંભવ સંખ્યાત, અસંખ્યાત અથવા અનન્ત હોય છે સંખ્યાત પરમાણુઓના સંયોગથી બનેલા સ્કંધ સંખ્યાતપ્રદેશી કહેવાય છે, અસંખ્યાત પરમાણુઓથી બનેલા સ્કંધ અસંખ્યાતપ્રદેશી અને અનન્ત પરમાણુઓથી નિષ્પન્ન સ્કંધ અનન્ત-પ્રદેશી કહેવાય છે પરમાણુ નિરંશ હોય છે, તેના અનેક ભાગ થઈ શકતા નથી તેથી તે અપ્રદેશી છે

પુદ્ગલોની ક્ષેત્રસ્થિતિ—

પરમાણુમાં વિભાગ નહિ હોવાના કારણે લોકાકાશના એક જ પ્રદેશમાં તેની

यथा वा एकप्रदीपप्रभायामनेकप्रदीपप्रभासमावेशः। यथा वा एककर्षपरिमितपारदे शतकर्षपरिमितसुवर्णसमावेशो भवति ।

अनन्तप्रदेशिरूपोऽचित्तमहास्कन्ध केवलिसमुद्घातवत् सकललोकव्यापी भवति। स च विस्रसागत्या प्रथमसमयेऽसंख्यातयोजनविस्तरेण दण्डाकारेण परिणमति। द्वितीयसमये कपाटरूपेण, तृतीयसमये मन्थानरूपेण, चतुर्थसमये प्रतरमापूर्य सकललोकं व्याप्नोति, पञ्चमसमये प्रतरं संहरति, षष्ठसमये मन्थानं भनक्ति, सप्तमसमये कपाटं च, अष्टमसमये दण्डाकारं संहृत्य खण्डशः प्रविकीर्णो भवति।

अथवा-एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपकों का प्रकाश समा जाता है ।

अथवा एक कर्ष-मासा (मापविशेष) परिमित पारे में सौ कर्ष परिमित सोने का समावेश हो जाता है ।

अनन्तप्रदेशी अचित महास्कन्ध केवलिसमुद्घात के समान समस्तलोक-व्यापी होता है । वह स्वाभाविक गति से, प्रथम समय म असंख्यातयोजनविस्तृत दण्ड के आकार में परिणत होता है । दूसरे समय में वह कपाट के रूप में परिणत होता है, और तीसरे समय में मथान के रूप में हो जाता है, चौथे समय म प्रतर पूर्ण करके सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो जाता है । फिर पांचवें समय में प्रतर को सिकोड़ता है, छठे समय में मथान को, सातवें समय में कपाट को, और आठवें समय में दण्डाकार को यह सिकोड़ता है । इसके अनन्तर वह खण्ड खण्ड होकर बिखर जाता है ।

અથવા—એક દીપકના પ્રકાશમાં અનેક દીપકોના પ્રકાશ સમાઈ જાય છે અથવા એક કર્ષ (માપવિશેષ) પરિમિત પારામા એકસો કર્ષ પરિમિત સોનાનો સમાવેશ થઈ જાય છે

અનન્તપ્રદેશી અચિત્ત મહાસ્કંધ, કેવલિસમુદ્‌ઘાતની સમાન સમસ્તલોક વ્યાપી હોય છે, તે સ્વાભાવિક ગતિથી, પ્રથમ સમયમા અસંખ્યાતયોજનવિસ્તૃત દંડના આકારમા પરિણત થાય છે બીજા સમયમાં તે કપાટના રૂપમા પરિણત થાય છે, અને ત્રીજા સમયમા મથાન (દહી વલોવવાનો રવૈયો)ના રૂપમા થાય છે, ચોથા સમયમાં પ્રતર પૂર્ણ કરીને લોકમા વ્યાપ્ત થઈ જાય છે ફરી પાચમા સમયમા પ્રતરને સંકોચે છે, છઠ્ઠા સમયમાં મથાનને, સાતમા સમયમાં કપાટને અને આઠમા સમયમા દંડાકારને એ સંકોડે છે, ત્યાર પછી તે ખંડ-ખંડ થઈને વિખેરાઈ જાય છે

अत्र ब्रूमः—पुद्गलस्य परिणमनशक्तिरेव तादृशी यत परमसूक्ष्मस्तादृशः परिणामो जायते, येनानन्तप्रदेशिन स्कन्धाः प्रदेशमेक नभस प्रविशन्ति। अथवा गगनस्य तादृशी विचित्राऽवगाहदानशक्तिर्यतोऽनन्तप्रदेशिनां स्कंधानां तस्यैकस्मिन् प्रदेशे समावेशः सिध्यति। यथा अतिघनीभूतलोहगोलकावगाहनाभिरवकाशे किलाकाशदेशे भस्त्रानिलसमुद्भूता पावकावयवा समाविशन्ति। यदि रन्ध्ररहिताऽयोगोलक शीतलीकर्तुं वारि निक्षिप्यते, तदा तदयोगोलकपरिपूरितनिरन्तराकाशदेशे तस्मिन्नेव वारिकणा अव्याहत प्रविशन्ति।

समाधान—पुद्गल में परिणमनशक्ति ही ऐसी है, जिससे उसका अत्यन्त सूक्ष्म परिणमन होता है। इसी कारण अनन्तप्रदेशी स्कन्ध भी आकाश के एक प्रदेश में समा जाते हैं। अथवा आकाश में ऐसी कुछ विचित्र अवकाशदान करने की शक्ति है कि उसके कारण अनन्तप्रदेशी स्कन्धों का भी आकाश के एक ही प्रदेश में समावेश हो जाता है। जैसे—अत्यन्त सघन लोहे के गोले के अवगाहन से निरवकाश आकाश-प्रदेश में धौंकनी की वायु से वृद्धि पाये हुए अग्नि के अवयव प्रवेश कर जाते हैं। तात्पर्य यह है कि—लोहे का गोला बहुत ठोस होता है, वह आकाश के जिन प्रदेशों में मौजूद है, वहां जगह दिखाई नहीं देती, फिर भी धौंकनी की वायु की प्रेरणासे उन्हीं आकाश प्रदेशों में अग्नि का प्रवेश हो जाता है, तत्पश्चात् छिद्ररहित उस लोहे के गोले को ठंडा करने के लिये उस पर पानी डाला जाय तो जिन आकाश प्रदेशों में लोहे का गोला और पावक—अग्नि है, उन्हीं में जल के कण भी बेरोकटोक प्रवेश कर जाते हैं।

સમાધાન—પુદ્ગલોમા પરિણમનશક્તિ જ એવી છે જેથી તેનુ અત્યન્ત સૂક્ષ્મ પરિણમન હોય છે એ કારણે અનન્તપ્રદેશી સ્કંધ પણ આકાશના એક પ્રદેશમાં સમાઈ જાય છે અથવા આકાશમા એવી કોઈ વિચિત્ર અવકાશદાન કરવાની શક્તિ છે કે—તે કારણથી અનન્તપ્રદેશી સ્કંધોનો પણ આકાશના એક જ પ્રદેશમા સમાવેશ થઈ જાય છે જેમકે—અત્યન્ત સઘન લોઢાના ગોળાના અવગાહનથી નિરવકાશ આકાશ પ્રદેશમાં ધમણના વાયુથી વૃદ્ધિ પામેલા અગ્નિના અવયવો પ્રવેશ કરી જાય છે તાત્પર્ય એ છે કે-લોઢાનો ગોળો બહુ જ ઠોસ (પોલાણ વિનાનો) હોય છે, તે આકાશના જે પ્રદેશોમાં મોજુદ છે, ત્યાં જગ્યા દેખાતી નથી. તો પણ ધમણના વાયુની પ્રેરણાથી તે આકાશ પ્રદેશોમાં અગ્નિનો પ્રવેશ કરી જાય છે તે પછી છિદ્રરહિત તે લોઢાના ગોળાને ઠંડો કરવા માટે તેના ઉપર પાણી નાખવામાં આવે તો જે આકાશ-પ્રદેશોમાં લોઢાનો ગોળો અને અગ્નિ છે, તેમાં પાણીનાં ટીપા પણ રોક-ટોક (અટકાવ્યા) વિના પ્રવેશ કરી જાય છે

पुद्गलाना विशेषगुणाः—

वर्णगन्धरसस्पर्शा पुद्गलाना विशेषगुणा' सहभाविन परिणामाः। शब्द – बन्ध – सौक्ष्म्य – स्थौल्य – संस्थान – भेद–तम–श्छाया–ऽऽतपो–द्योतादिभि॰ पर्यायैः पुद्गला लक्ष्यन्ते-ज्ञायन्ते, इत्याशयेन भगवता पुद्गलानां लक्षणतया शब्दादय प्रोक्ता' । तथाहि—

"सद्दधयार उज्जोओ, पभा छायाऽऽतवुत्ति वा

वण्णरसगंधफासा, पुग्गलाण तु लक्खण ॥१॥" (उत्त० अ० २८)

पुद्गलों के विशेष गुण—

वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श पुद्गलों के विशेष (असाधारण) गुण हैं—सहभावी परिणाम हैं। शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान (आकार), भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत आदि पर्यायों के द्वारा पुद्गल लखा जाता है—जाना जाता है। इस आशय से भगवान् ने शब्द आदि को पुद्गलों का लक्षण कहा है, वह इस प्रकार— "सद्दधयार उज्जोओ, पभा–छाया–ऽऽतवुत्ति वा, वण्णरसगंधफासा, पुग्गलाण तु लक्खण" शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, रस, गन्ध, और स्पर्श, ये सब पुद्गलों के लक्षण हैं। गाथा म 'छायाऽऽतवुत्ति' यहाँ 'इति' शब्द आदि के अर्थ में है। इस आदि शब्द से वर्ण आदि का ग्रहण हो सकता था फिर भी उन्हें अलग कहने का कारण यह है कि—वे नित्य सहभावी गुण हैं।

પુદ્ગલના વિશેષ ગુણ—

વર્ણ, ગધ, રસ અને સ્પર્શ પુદ્ગલોના વિશેષ (અસાધારણ) ગુણ છે—સહભાવી પરિણામ છે શબ્દ, બધ, સૂક્ષ્મતા, સ્થૂલતા, સસ્થાન (આકાર) ભેદ, તમ, છાયા, આતપ, ઉદ્યોત આદિ પર્યાયોથી લખી શકાય છે—જાણી શકાય છે તે આશયથી ભગવાને શબ્દ આદિ પુદ્ગલોનું લક્ષણ કહ્યુ છે, તે આ પ્રમાણે છે— "सद्दधयार उज्जोओ, पभा–छाया–ऽऽतवुत्ति वा, वण्णरसगंधफासा, पुग्गलाण तु लक्खण" શબ્દ, અંધકાર, ઉદ્યોત પ્રભા, છાયા, આતપ, વર્ણ, રસ, ગધ અને સ્પર્શ, એ પુદ્ગલોનું લક્ષણ છે ગાથામા–'छायाऽऽतवुत्ति' અહિ 'इति' શબ્દ આદિના અર્થમાં છે, એ પ્રમાણે 'आदि' શબ્દથી વર્ણ વગેરેનુ ગ્રહણ થઈ શકે છે તો પણ તેને અલગ કહેવાનુ કારણ એ છે કે તે નિત્ય સહભાવી ગુણ છે

पुद्गलानामुपकार'—

शरीरवाङ्मनःप्राणाद्यः पुद्गलपरिणामा गमनाऽऽदान-वचन-चिन्तन-प्राणनादिभावेन जीवानुपकुर्वन्ति, अतः शरीराद्याकारेण पुद्गला जीवानामुपकार कुर्वन्ति। तत्र शरीरं पञ्चविधम्, औदारिकं, वैक्रियम्, आहारकं, तैजसं, कार्मणं चेति।

अथ जीवानां ये सुखदु:खजीवितमरणरूपाः परिणामा भवन्ति तत्र सुखादिरूपेण जीवपरिणामे निमित्त पुद्गला इति सिद्धं जीवोपकारित्वं पुद्गलानाम्।

पुद्गलों का उपकार—

शरीर, वचन, मन और प्राण आदि पुद्गलों के परिणामविशेष—गमन, आदान, वचन, चिन्तन और प्राणन (सांस लेना) आदिरूप से जीवों का उपकार करते हैं अत शरीर आदि के रूप में पुद्गल ही जीवों का उपकार करते हैं। इनमें शरीर पांच प्रकार का है—(१) औदारिक (२) वैक्रिय (३) आहारक (४) तैजस और (५) कार्मण।

प्राणियों में सुख दु:ख जीवन और मरण रूप जो परिणाम होते हैं, उन सब परिणामों में पुद्गल कारण है, अत: यह सिद्ध हुआ कि पुद्गल जीवों का उपकार करते हैं।

પુદ્ગલોનો ઉપકાર—

શરીર, વચન, મન અને પ્રાણ આદિ પુદ્ગલોના પરિણામવિશેષ—ગમન, આદાન, વચન, ચિંતન અને પ્રાણન (શ્વાસ લેવો) આદિ રૂપથી જીવોનો ઉપકાર કરે છે, એટલે શરીર આદિના રૂપમાં પુદ્ગલ જ જીવોનો ઉપકાર કરે છે, તેમાં શરીર પાંચ પ્રકારના છે—(૧) ઔદારિક, (૨) વૈક્રિય, (૩) આહારક, (૪) તૈજસ અને (૫) કામણ.

પ્રાણીઓમાં સુખ, દુઃખ, જીવન અને મરણરૂપ જે પરિણમન થાય છે, તે સર્વ પરિણામોમાં પુદ્ગલ કારણરૂપ છે તેથી એ સિદ્ધ થાય છે કે પુદ્ગલ જીવોનો ઉપકાર કરે છે

परमाणुस्वरूपम्—

तत्र परमाणुश्च सकलविभागान्तवर्ती निरंश' परस्परासयुक्त', सूक्ष्मत्वादिन्द्रियव्यापारातीत , एकैकवर्ण-गन्ध-रस-द्विस्पर्शयुक्त', द्व्यणुकस्कन्धाद्यचित्तमहास्कन्धपर्यन्तानां स्थूल-सूक्ष्म-स्कन्धकार्याणां कारणरूपो नित्यश्चेति ।

उक्तञ्च भगवता भगवतीसूत्रे-(श २० उ० ५)—

परमाणु का स्वरूप—

परमाणु, पुद्गल का अन्तिम विभाग है। वह निरश है। परस्पर असयुक्त है। सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रियों की उसमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्शोसे युक्त है। द्व्यणुक स्कन्धसे लेकर अन्तिम महास्कन्ध पर्यन्त स्थूल एव सूक्ष्म स्कधरूप कार्य का कारण है और नित्य है। भगवानने भगवतीसूत्र (श २०, उ० ५) में कहा है—

प्रश्न-भगवन्! परमाणु पुद्गल कितने वर्णवाला, कितने गंध वाला, कितने रसवाला, और कितने स्पर्शवाला कहा गया है ?।

उत्तर-गौतम! एक वर्णवाला, एक गध वाला, एक रसवाला और दो स्पर्शवाला कहा गया है।

एक वर्णवाला होता है तो कदाचित् काला, कदाचित् नीला, कदाचित् लाल,

---

પરમાણુ સ્વરૂપ—

પરમાણુ, એ પુદ્ગલનો અતિમ વિભાગ છે તે નિરશ (અશરહિત) છે પરસ્પર અસયુક્ત છે સૂક્ષ્મ હોવાના કારણે ઇન્દ્રિયોની પ્રવૃત્તિ તેમા થઈ શકતી નથી એક વર્ણ, એક ગધ, એક રસ અને બે સ્પર્શથી યુક્ત છે દ્વયણુક સ્કધથી લઈને અચિત્ત મહાસ્કધ પર્યન્ત સ્થૂલ અને સૂક્ષ્મસ્કધરૂપ કાર્યનુ કારણ છે, અને નિત્ય છે ભગવાને ભગવતી સૂત્ર (શ ૨૦ ઉ ૫)મા કહ્યુ છે:—

પ્રશ્ન-"ભગવન્! પરમાણુ પુદ્ગલ કેટલા વર્ણવાળુ, કેટલા ગધવાળુ, કેટલા રસવાળુ, અને કેટલા સ્પર્શવાળુ કહ્યુ છે?

ઉત્તર-ગૌતમ! એક વર્ણવાળુ, એક ગધવાળુ, એક રસવાળુ, અને બે સ્પર્શવાળુ કહ્યુ છે"

"એક વર્ણવાળુ હોય છે તો કદાચિત્ કાળુ, કદાચિત નીલુ, કદાચિત્ લાલ, કદાચિત્ પીળુ અને કદાચિત્ શ્વેત હોય છે એક ગંધવાળુ હોય છે તો કદાચિત્

शब्दोऽन्धकार उद्योत प्रभा छाया आतप इति वा । वर्णरसगन्धस्पर्शा॰ पुद्गलाना तु लक्षणम् । इति च्छाया ।

"छायाऽऽतपुचि" इत्यत्र 'इति' शब्द आद्यर्थकः । तेनैव वर्णादीनां ग्रहणेऽपि पुनरुपादान नित्यसहभावित्वबोधनार्थम् ।

तत्र वर्णः पञ्चधा, कृष्ण–नील–लोहित–पीत–शुक्ल–भेदात् । गन्धो द्विविधः–सुरभिरसुरभिश्च । रसः पञ्चविधः–तिक्त–कटु–कषाया ऽम्ल–मधुर–भेदात् । स्पर्शोऽष्टधा–कठिन–मृदु–गुरु–लघु–शीतो–ष्ण स्निग्ध–रूक्ष–भेदात् । संस्थान पञ्चविधम्–वृत्त–त्र्यस्र–चतुरस्र–ऽऽयत–परिमण्डल–भेदात् ।

पुद्गलविभागः–

पुद्गल सक्षेपतो द्विविध –परमाणु–स्कधभेदात् ।

वर्ण पांच प्रकार का है–काला, नीला, लाल, पीला, और सफेद । सुगन्ध दुर्गन्ध के भेद से गन्ध दो प्रकार का है । रस के पाच भेद हैं—तीखा, कडुआ, कपैला, खट्टा, और मीठा । स्पर्श के आठ भेद हैं—कठिन, कोमल, भारी, हल्का, शीत, उष्ण, चिकना, और रूखा । संस्थान पांच प्रकार का है—वृत्त (गोल), त्र्यस्र (तिकोना), चतुरस्र (चौकोर), आयत (लम्बा) और परिमण्डल–(गोल–मटोल)

पुद्गल के भेद—

सक्षेप से पुद्गल के दो भेद हैं–परमाणु और स्कन्ध ।

વર્ણ પાંચ પ્રકારના છે–કાળો, લીલો, લાલ, પીળો અને ધોળો. સુગંધ અને દુર્ગંધના ભેદથી ગંધ બે પ્રકારના છે રસના પાંચ ભેદ છે–તીખો, કડવો, કષાયેલો, ખાટો અને મીઠો, સ્પર્શના આઠ ભેદ છે–કઠણ, કોમલ, ભારી, હલકો, શીત, ઉષ્ણ, ચિકણો અને રૂક્ષ. સંસ્થાન પાંચ પ્રકારનાં છે–વૃત્ત-ગોળ, ત્રિકોણ, ચતુષ્કોણ, લાંબુ અને ગોળમટોળ

પુદ્ગલોના ભેદ

સંક્ષેપથી પુદ્ગલના બે ભેદ છે–(૧) પરમાણુ અને (૨) સ્કંધ.

असौ शस्त्रादिना लतादिवदच्छेद्य , सूच्यादिना चर्मवदभेद्य , अग्निना काष्ठवददाह्य', हस्तादिना वस्त्रपात्रवदग्राह्यश्च । उक्तञ्च भगवता भगवतीसूत्रे (श०-२० उ० ५)—

"दव्वपरमाणू ण भंते। कइविहे पण्णत्ते?, गोयमा! चउव्विहे पण्णत्ते, तजहा-अच्छेज्जे, अभेज्जे, अडज्झे, अगेज्झे।" इति। द्रव्यपरमाणु खलु भदन्त! कतिविध' प्रज्ञप्त ?, गौतम! चतुर्विध• प्रज्ञप्त , तद्यथा-अच्छेद्य , अभेद्य., अदाह्य , अग्राह्य । इति च्छाया।

यद्यपि परमाणु पुद्गलत्वान्मूर्त्तस्तथाऽप्यसौ खण्डश कर्त्तुमशक्य', आकाशप्रदेशवत्परमाणो पुद्गलपरमजघन्यांशरूपत्वात्, सर्वपरिमाणेभ्योऽपकृष्ट परिमाण परमाणोरेव तस्मात्सोऽखण्ड एव।

परमाणु, शस्त्र के द्वारा लता आदि की भाँति छेदा नहीं जा सकता, चमडे की तरह सुई आदि से भेदा नहीं जा सकता, काष्ठ के समान अग्नि आदि से जल नहीं सकता और वस्त्र पात्र आदि पदार्थों की तरह हाथ आदिसे पकडा नहीं जा सकता। भगवान्‌ने भगवतीसूत्र (श २०, उ० ५) में कहा है—

प्रश्न-भगवन् ! द्रव्य परमाणु कितने प्रकार का कहा गया है ?

उत्तर-गौतम ! चार प्रकारका कहा गया है-अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य और अग्राह्य।

परमाणु, पुद्गल होने के कारण मूर्तिक है, फिर भी उस के खण्ड नहीं किये जा सकते। जैसे आकाश का एक प्रदेश जघन्य अंशरूप है और उसका परिमाण सभी

પરમાણુ, શસ્ત્ર દ્વારા લતા આદિના પ્રમાણે છેદી શકાતું નથી, ચામડાની જેમ સોય વગેરેથી વીંધી શકાતું નથી, કાષ્ઠની જેમ અગ્નિ આદિથી બાળી શકાતું નથી, અને વસ્ત્ર પાત્ર આદિ પદાર્થોની જેમ હાથ વગેરેથી પકડી શકાતું નથી.

ભગવાને ભગવતીસૂત્ર-(શ. ૨૦-ઉ ૫) મા કહ્યું છે —

પ્રશ્ન-"ભગવન્! દ્રવ્ય પરમાણુ કેટલા પ્રકારનું કહ્યુ છે?

ઉત્તર-ગૌતમ! ચાર પ્રકારનુ કહ્યુ છે-"અછેદ્ય, અભેદ્ય, અદાહ્ય અને અગ્રાહ્ય." (છેદી શકાય નહિ, ભેદી શકાય નહિ, બળી શકે નહિ, અને ગ્રહણ થઈ શકે નહિ)

પરમાણુ, પુદ્ગલ હોવાના કારણે મૂર્તિક છે તો પણ તેના ખંડ-ભાગ થઈ શકતા નથી જેમકે-આકાશનો એક પ્રદેશ જઘન્ય અંશરૂપ છે, અને તેનુ પરિમાણ

"परमाणुपोग्गले णं भंते ! कतिवन्ने, कतिगंधे, कतिरसे, कतिफासे पन्नत्ते?, गोयमा ! एगवन्ने, एगगंधे, एगरसे, दुप्फासे पन्नत्ते, तंजहा-जइ एगवन्ने-सिय कालए, सिय नीलए, सिय लोहिए, सिय हालिद्दे, सिय सुक्किल्ले। जइ एगगंधे-सिय सुब्भिगंधे, सिय दुब्भिगंधे। जइ एगरसे-सिय तित्ते सिय कडुए सिय कसाए, सिय अंबिले, सिय महुरे। जइ दुप्फासे-सिय सीए य निद्धे य १, सिय सीए य लुक्खे य २, सिय उसिणे य निद्धे य ३, सिय उसिणे य लुक्खे य ४" इति।

परमाणुपुद्गलः भदन्त ! कतिवर्णः, कतिगन्धः, कतिरसः, कतिस्पर्शः प्रज्ञप्तः? गौतम ! एकवर्णः, एकगन्धः, एकरसः, द्विस्पर्शः प्रज्ञप्तः। तद्यथा-यदि एकवर्णः -स्यात् कालकः, स्यात् नीलकः, स्यात् लोहितः, स्यात् हारिद्रः, स्यात् शुक्लः। यदि एकगन्धः-स्यात् सुरभिगन्धः, स्यात् दुरभिगन्धः, यदि एकरसः स्यात्तिक्तः स्यात् कटुकः, स्यात् कषायः, स्यात् अम्लः, स्यात् मधुरः। यदि द्विस्पर्शः-स्यात् शीतश्च स्निग्धश्च १, स्यात् शीतश्च रूक्षश्च २, स्यात् उष्णश्च स्निग्धश्च ३, स्यात् उष्णश्च रूक्षश्च ४,। इति च्छाया,

---

कदाचित् पीला, और कदाचित् शुक्ल होता है। एक गन्धवाला होता है तो कदाचित् सुरभिगन्धवाला, कदाचित् दुरभिगन्धवाला होता है। यदि एक रसवाला होता है तो कदाचित् तिक्त, कदाचित् कटुक, कदाचित् कषायला, कदाचित् खट्टा, और कदाचित् मीठा होता है। यदि दो स्पर्शवाला होता है तो कदाचित् शीत और स्निग्ध (चिकना) १, कदाचित् शीत और रूक्ष २, कदाचित् उष्ण और स्निग्ध ३, तथा कदाचित् उष्ण और रूक्ष होता है ४।

સુરભિગંધ (સારી ગંધ) વાળુ અને કદાચિત્ દુરભિગંધવાળુ હોય છે જો એક રસવાળુ હોય છે તો કદાચિત્ તીખુ, કદાચિત્ કડવુ, કદાચિત્ કષાયલુ, કદાચિત્ ખાટું અને કદાચિત્ મધુર-મીઠું-હોય છે જો બે સ્પર્શવાળુ હોય છે તો કદાચિત્ શીત અને સ્નિગ્ધ-(ચિકણુ) ૧, કદાચિત્ શીત અને રૂક્ષ ૨, કદાચિત્ ઉષ્ણ અને સ્નિગ્ધ ૩, તથા કદાચિત્ ઉષ્ણ અને રૂક્ષ હોય છે ૪"

यद्यपि धर्माधर्माकाशजीवा अपि पुद्गलवत्स्कन्धरूपास्तथापि स्कन्धरूपपुद्गलादय विशेष'–तेषाम्–धर्मादीनां चतुर्णा प्रदेशा स्वस्वस्कन्धान्न खण्डश• पृथग् भवितुमर्हन्ति, तेषाममूर्त्तत्वात्। पुद्गलप्रदेशास्तु खण्डश• पृथग् भवन्ति, तेषां मूर्त्तत्वात्, आश्लेषविश्लेषाभ्या मूर्त्तवस्तुनि संमिलन–पृथग्भाव–शक्ते सर्वानुभवगोचरत्वात्, अत स्कन्धपुद्गलाना स्थूल' सूक्ष्मो वा भागोऽवयव-उच्यते। अवयौति–पृथग्भवतीत्यवयवशब्दव्युत्पत्त्या विभाज्य एवांशोऽवयवशब्दार्थ-स्तस्मात्पुद्गलप्रदेश एवावयव इत्युच्यते।

यद्यपि धर्म–द्रव्य अधर्म–द्रव्य आकाश और जीव भी पुद्गलके समान स्कधरूप हैं, फिर भी स्कधरूप पुद्गल से इनमें यह भिन्नता है–धर्म आदि चार द्रव्योंके प्रदेश अपने २ स्कन्धसे कभी अलग नहीं हो सकते, क्योंकि धर्म आदि चार द्रव्य अमूर्त हैं। पुद्गल द्रव्य के प्रदेश खण्ड२ होकर अलग हो जाते है, क्योंकि पुद्गल मूर्त है। आश्लेष और विश्लेष के द्वारा मूर्त वस्तु में मिलने और बिछुडने की शक्ति है, यह बात सभी के अनुभव से सिद्ध है, अत स्कन्ध–पुद्गलों का स्थूल या सूक्ष्म भाग अवयव कहलाता है, 'अवयौति' इति–अवयवः अर्थात् जो पृथक् हो सके उसे अवयव कहते हैं, इस व्युत्पत्ति के अनुसार विभक्त हो सकने योग्य अश को ही अवयव कहा जा सकता है, अत पुद्गल का प्रदेश ही अवयव कहलाता है।

જો કે ધર્મ–દ્રવ્ય, અધર્મ–દ્રવ્ય, આકાશ અને જીવ પણ પુદ્ગલના સમાન સ્કધરૂપ છે, તો પણ સ્કધરૂપ પુદ્ગલથી તેમાં એ ભિન્નતા છે–ધર્મ આદિ ચાર દ્રવ્યોના પ્રદેશ પોત–પોતાના સ્કધથી ક્યારેય પણ અલગ થઈ શકતા નથી કેમકે ધમ આદિ ચાર દ્રવ્યો અમૂર્ત છે પુદ્ગલ દ્રવ્યના પ્રદેશ ખડ ખડ થઈને અલગ થઈ જાય છે, કેમકે પુદ્ગલ મૂર્ત છે આશ્લેષ (મળવું) અને વિશ્લેષ (જુદા થવું) દ્વારા મૂત વસ્તુમા મળવું અને છૂટા થવું તે શક્તિ છે, આ વાત સર્વને અનુભવથી સિદ્ધ છે એટલા કારણથી સ્કધ પુદ્ગલોનું સ્થૂલ અથવા સૂક્ષ્મ અવયવ કહેવાય છે 'અવયૌતિ' ઇતિ–અવયવ અર્થાત્ પૃથક્ થઈ શકે તેને અવયવ કહે છે, એ વ્યુત્પત્તિ પ્રમાણે વિભક્ત થવા યોગ્ય અશને જ અવયવ કહે છે આ કારણથી પુદ્ગલ દ્રવ્યનો પ્રદેશ જ અવયવ કહેવાય છે

स च प्रत्यक्षदृश्यैरनेकविधैर्बादरपरिणामरूपैः स्कन्धैरनुमीयते। उक्तञ्च-

"कारणमेव तदंतं, सुहुमो णिच्चो य होइ परमाणू।
एगरसगंधवण्णो, दुफ्फासो कज्जलिंगो य ॥१॥ इति

छाया—कारणमेव तदन्त्य, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एकरसगन्धवर्णो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥१॥" इति।

स्कन्धस्वरूप तद्भेदाश्च—

परस्परसमिलितबद्धपरमाणुसमुदायः स्कन्धः। स्कन्धान्तवर्ती निरंशोऽवयवः प्रदेश इत्युच्यते।

परिमाणोंसे हीनतम है, इसी प्रकार परमाणु भी जघन्य अंशरूप है—उसके अंश नहीं हो सकते, वह अखण्ड है।

प्रत्यक्ष से दिखाई देनेवाले अनेक प्रकार के बादररूप परिणत स्कन्धों से परमाणु का अनुमान होता है। कहा भी है—

"परमाणु कारणरूप है, अन्तिम अंशरूप है, सूक्ष्म है और नित्य है। एक रसवाला, एक गंधवाला, एक वर्णवाला और दो स्पर्शवाला होता है। स्कंधरूप कार्य देखने से उसका अनुमान होता है।"

स्कन्ध का स्वरूप और भेद—

परस्पर मिले हुए—आपसमें बद्ध—परमाणु का समूह स्कंध कहलाता है। स्कंधमें रहा हुआ निरंश अवयव प्रदेश कहलाता है।

सर्व परिमाणोथी हीनतम छे, ए प्रमाणे परमाणु पण जघन्य अंशरूप छे, तेना अंश-विभाग थई शकता नथी, ते अखंड छे

प्रत्यक्षथी जोवामां आवता अनेक प्रकारना बादररूप परिणत स्कंधोथी परमाणुनुं अनुमान थाय छे कह्युं पण छे—

"परमाणु कारणरूप छे, अन्तिम अंशरूप छे, सूक्ष्म छे अने नित्य छे, एक रसवाळु छे, एक गंधवाळु, एक वर्णवाळु अने बे स्पर्शवाळु होय छे स्कंधरूप कार्यना देखावथी तेनुं अनुमान थाय छे

स्कंधनुं स्वरूप अने भेद—

परस्पर मळेला—अंदर अंदर बद्ध-परमाणुओनो समूह ते स्कंध कहेवाय छे स्कंधमां रहेलो निरंश अवयव ते प्रदेश कहेवाय छे

स्कन्धस्य परमाणोश्च सयोगे सति त्रिप्रदेशी स्कन्धो भवति। सख्यात-परमाणूनां सघातात् सख्यातप्रदेशी स्कन्ध', असख्यातपरमाणूनां सयोगाद् असख्यातप्रदेशी स्कन्ध', अनन्तपरमाणूनां सघाताज्जातोऽनन्तप्रदेशी स्कन्ध., अनन्तप्रदेशिनां स्कन्धानां योगे त्वनन्तानन्तप्रदेशी स्कन्धो जायते। सख्यात-प्रदेश्यादिषु स्कन्धेषु सयोगपरिणाम पूर्वोक्तरीत्या भावनीय ।

द्व्यणुकादिक्रमेणानन्तानन्तप्रदेशिपर्यन्ता ये स्कन्धा सयोगपरिणाम-जास्तेभ्य परमाणु पृथग् भवति चेत्तदेकपरमाणुन्यून स्कन्धो जायते। एवं द्वित्रिचतु'पञ्चादिपरमाणुपृथग्भावक्रमेण न्यूनान्न्यूनो द्विप्रदेशी स्कन्ध' समुत्पद्यते।

और एक परमाणु का सयोग होने पर त्रिप्रदेशी स्कन्ध बनता है, सख्यात परमाणुओं के सघात से सख्यातप्रदेशी स्कन्ध बनता है और असख्यात परमाणुओं के सयोग से असख्यातप्रदेशी स्कन्ध बनता है। अनन्त परमाणुओं के मिलने से अनन्तप्रदेशी स्कन्ध बनता है, अनन्तप्रदेशी स्कन्धों का सयोग होने पर अनन्तानन्तप्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होता है। सख्यातप्रदेशी आदि स्कन्धों म सयोगरूप परिणमन पूर्वोक्तप्रकार से समझ लेना चाहिए।

द्व्यणुक आदि के क्रम से अनन्तानन्तप्रदेशी पर्यन्त जो स्कन्ध सयोगपरिणाम से बने हैं, उन में से अगर एक परमाणु अलग हो जाता है तो वह एक परमाणुहीन स्कन्ध रह जाता है। इसी प्रकार दो तीन चार पाच आदि परमाणुओं के अलग होने पर अन्त में द्विप्रदेशी स्कन्ध ही बचता है।

અને એક પરમાણુનો સંયોગ થવાથી ત્રિપ્રદેશી સ્કંધ બને છે, સંખ્યાત પરમાણુઓના સંઘાતથી (મળવાથી) સંખ્યાતપ્રદેશી સ્કંધ બને છે અને અસંખ્યાત પરમાણુઓના સંયોગથી અસંખ્યાતપ્રદેશી સ્કંધ બને છે અનન્ત પરમાણુઓના સંયોગથી અનન્ત પ્રદેશી સ્કંધ ઉત્પન્ન થાય છે અનન્તપ્રદેશી સ્કંધોનો સંયોગ થાય તો અનન્તાનન્ત પ્રદેશી સ્કંધ ઉત્પન્ન થાય છે સંખ્યાતપ્રદેશી આદિ સ્કંધોમાં સંયોગરૂપ પરિણમન પૂર્વના પ્રકારથી સમજી લેવું જોઇએ

દ્વયણુક આદિના ક્રમથી અનન્તાનન્તપ્રદેશી પર્યન્ત જે સ્કંધ છે, તે સંયોગ પરિણમનથી બન્યા છે તેમાંથી જો એક પરમાણુ અલગ થઈ જાય તો તે એક પરમાણુહીન સ્કંધ રહી જાય છે એ પ્રમાણે બે, ત્રણ, ચાર, પાંચ આદિ પરમાણુઓ અલગ થઈ જાય તો અન્તમાં દ્વિપ્રદેશી સ્કંધ જ બચે છે

संघाताद्, भेदात्, संघातभेदाभ्यां च द्विप्रदेशिप्रभृतयः स्कन्धाः समुत्पद्यन्ते। उक्तञ्च भगवता स्थानाङ्गसूत्रे—

"दोहिं ठाणेहिं पोग्गला साहण्णंति, तंजहा-सयं वा पोग्गला साहन्नंति, परेण वा पोग्गला साहन्नंति। सयं वा पोग्गला भिज्जंति परेण वा पोग्गला भिज्जंति" इति।

छाया—"द्वाभ्यां स्थानाभ्यां पुद्गलाः संहन्यन्ते। तद्यथा-स्वयं वा पुद्गलाः संहन्यन्ते, परेण वा पुद्गलाः संहन्यन्ते। स्वयं वा पुद्गला भिद्यन्ते, परेण वा पुद्गला भिद्यन्ते। इति।

'स्वयंवे'-ति स्वभावतो वा अभ्रादिष्विव संहन्यन्ते=सम्बध्यन्ते। (कर्मणः कर्तृत्वविवक्षायां प्रयोगोऽयम्) परेण वा=अन्येन वा पुरुषादिना संहन्यन्ते=संहता क्रियन्ते। (कर्मणि वाच्ये प्रयोगोऽयम्)। एवं भिद्यन्ते=विकीर्यन्ते।

द्वयोः परमाण्वोः संघाताद् द्विप्रदेशी स्कन्धः समुद्भवति। द्विप्रदेशिन

संघात (मिलने) से, भेद (बिछुड़ने) से तथा संघातभेदसे द्विप्रदेशी आदि स्कन्ध उत्पन्न होते हैं।

भगवानने स्थानाङ्गसूत्रमें कहा है—

"दो स्थानों से पुद्गल आपस में मिलते हैं, वह इस प्रकार—या तो पुद्गल स्वयं बादल आदि की तरह मिल जाते हैं, या दूसरे पुरुष आदि के द्वारा मिलाये जाते हैं, इसी प्रकार पुद्गल स्वयं अलग हो जाते हैं, या दूसरे के द्वारा अलग किये जाते हैं।

दो परमाणुओं के संघात से द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है, द्विप्रदेशी स्कन्ध

સંઘાત (મેળાપ)થી ભેદ (જુદા પડવા)થી તથા સંઘાત-ભેદથી દ્વિપ્રદેશી વિગેરે સ્કંધ ઉત્પન્ન થાય છે ભગવાને સ્થાનાઙ્ગસૂત્ર માં કહ્યું છે—

"બે સ્થાનોથી પુદ્ગલ પરસ્પર મળે છે તે આ પ્રમાણે-પુદ્ગલ પોતે જ વાદળ આદિ પ્રમાણે મળી જાય છે, અથવા બીજા પુરુષ આદિના દ્વારા મેળવાય છે એ પ્રમાણે પુદ્ગલ પોતે જ અલગ થઈ જાય છે, અથવા તો બીજાના દ્વારા અલગ કરી શકાય છે

બે પરમાણુઓના સંઘાતથી (મળવાથી) દ્વિપ્રદેશી સ્કંધ બને છે દ્વિપ્રદેશી સ્કંધ

जघन्यगुणस्निग्धयोर्द्वयो', जघन्यगुणस्निग्धानां वा बहूना परमाणुनां परस्पर बन्धो न भवति । तथा जघन्यगुणरूक्षयो', जघन्यगुणरूक्षाणा वा परस्परं बन्धो न भवति। जघन्योऽपकृष्टतम , गुणशब्दोऽत्र संख्यार्थक' । यथा एक-गुणं, द्विगुणमित्यादिपदम्-एकसंख्यकद्विसंख्यकाद्यर्थबोधकम् । स्नेहादिगुणानां प्रकर्षापकर्षौ लोकप्रसिद्धौ । यथा-पानीयादजादुग्ध स्निग्धम् , अजादुग्धाद् गव्यं दुग्धम् , ततश्च महिषीदुग्धमित्युत्तरोत्तर स्नेहप्रकर्ष ।

एषामेव पूर्वं पूर्वं स्नेहापकर्ष. । तथा चैकगुणस्निग्धस्यैकगुणस्निग्धेन, द्वयोर्बहूना परमाणूनां परस्पर बन्धो न भवति। एकगुणरूक्षस्यैकगुणरूक्षेण च

जघन्यगुण स्निग्ध दो परमाणुओं का, अथवा बहुत परमाणुओं का परस्परमें बन्ध नहीं होता । इसी प्रकार जघन्यगुण रूक्ष दो या बहुत परमाणुओं का भी परस्पर में बन्ध नहीं होता । जघन्य का अर्थ यहाँ हीनतम समझना चाहिए। गुणशब्द यहां सख्या (डिगरी) का वाचक है, जैसे-एकगुना, दोगुना आदि पद एकसख्यक द्विसख्यक आदि अर्थ के वाचक हैं। स्निग्धता (चिकनाइ) आदि गुणों की अधिकता और न्यूनता लोक में प्रसिद्ध है । जैसे पानी की अपेक्षा बकरी का दूध चिकना होता है । बकरी के दूधसे गौ का दूध अधिक चिकना होता है, और गौ के दूध की अपेक्षा भैंस का दूध अधिक चिकना होता है । इस प्रकार पानी आदिमें उत्तरोत्तर चिकनपन की अधिकता है । इन्ही पानी आदि म पहलेर वालों म चिकनेपनकी न्यूनता है। इस प्रकार एक गुण स्निग्ध का, एक गुण स्निग्ध के साथ, दो या अधिक परमाणुओं का

જઘન્ય ગુણ સ્નિગ્ધ બે પરમાણુઓનો અથવા બહુ પરમાણુઓનો પરસ્પર બધ થતો નથી, જઘન્યનો અર્થ અહિ હીનતમ સમજવો જોઇએ ગુણ શબ્દ અહિ સખ્યા (ડિગ્રી) નો વાચક છે જેવી રીતે એક ગણુ બે ગણુ આદિ પદ એક સખ્યક, દ્વિસખ્યક આદિ અર્થનુ વાચક છે સ્નિગ્ધતા (ચિકણાપણુ) આદિ ગુણોની અધિકતા અને ન્યૂનતા લોકમા પ્રસિદ્ધ છે જેમ પાણીની અપેક્ષાએ બકરીનુ દૂધ ચિકણુ હોય છે બકરીના દૂધથી ગાયનુ દૂધ અને ગાયના દૂધની અપેક્ષાએ ભેસનુ દૂધ વધારે સ્નિગ્ધ (ચિકણુ) હોય છે એ પ્રમાણે પાણી આદિમા ઉત્તરોત્તર ચિકણાપણાની અધિકતા છે

એ પાણી આદિમા પહેલા-પહેલાનામા ચિકણાપણાની ન્યૂનતા છે એ પ્રમાણે એક ગુણ સ્નિગ્ધનો, એક ગુણ સ્નિગ્ધની સાથે, તથા બે અથવા અધિક પરમાણુઓનો

स्कन्धाद् बहिर्गतस्य परमाणोरन्येन परमाणुना संयोगे द्व्यणुकस्कन्ध उत्पद्यते। एवं संयोग-विभागाभ्यामपि विविधाः स्कन्धा भवन्ति।

परमाणूनां बन्धस्य कारणम्—

परमाणुद्वयस्य परमाणूनां वा परस्परानुप्रवेशो न भवति, छिद्राभावात्, किन्तु तयोस्तेषां वा विस्रसागत्या परस्परं संयोगे सति स्निग्धरूक्षत्वगुणसद्भावे परस्परं बन्धो भवति। ऐक्यपरिमाणो बन्धः। तत्राऽयं विशेषः—

स्कंध से अलग हुआ परमाणु जब दूसरे परमाणु के साथ मिलता है तो दोनों के मेलसे नवीन द्व्यणुक उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार संयोग और विभाग के द्वारा भाँति-भाँति के स्कन्ध उत्पन्न होते ही रहते हैं।

परमाणुओं के बन्ध का कारण

दो या अधिक परमाणु एक दूसरे में प्रवेश नहीं कर सकते, क्योंकि परमाणुओं में छिद्र नहीं होता, अलबत्त स्वाभाविक गति से दो या दो से अधिक परमाणुओं का परस्पर में संयोग होने पर उन में विद्यमान स्निग्धता और रूक्षता गुण के कारण उन का आपस में बन्ध हो जाता है। एकतारूप परिणमन को बन्ध कहते हैं। बंध के सम्बन्ध में इतना विशेष समझना चाहिए—

સ્કંધથી અલગ થયેલા પરમાણુ જ્યારે બીજા પરમાણુની સાથે મળે છે, તો બંનેના મળવાથી નવીન દ્વયણુક ઉત્પન્ન થાય છે એ પ્રમાણે સંયોગ અને વિભાગ દ્વારા તરેહ-તરેહના સ્કંધ ઉત્પન્ન થયા કરે છે

પરમાણુઓના બંધનુ કારણ—

બે અથવા અધિક પરમાણુ એક બીજામાં પ્રવેશ કરી શકતા નથી, કેમકે પરમાણુઓમા છિદ્ર નથી. અલબત્ત સ્વાભાવિક ગતિથી બે અથવા બેથી અધિક પરમાણુઓનો પરસ્પર સંયોગ થવાથી તેમા વિદ્યમાન સ્નિગ્ધતા અને રૂક્ષતાના ગુણના કારણે તેનો આપસમા બંધ થઈ જાય છે એકતારૂપ પરિણમનને બંધ કહે છે બંધના સંબંધમાં એટલુ વિશેષ સમજવુ જોઈએ કે —

एव द्विगुणत. समारभ्य यावत् सख्यातासख्यातानन्तगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्य द्विगुणत समारभ्य यावत् सख्यातासख्यातानन्तगुणस्निग्धेन सर्वेण समगुणेन पुद्गलेन परस्पर बन्धो न भवति। तथा द्विगुणादिरूक्षस्य द्विगुणादिरूक्षेण सर्वेण समगुणेन यावदनन्तगुणरूक्षेण पुद्गलेन सह परस्पर बन्धो न भवति। यथा तुल्यवलगुणमल्लयोरुभयोर्मध्ये परस्पर कोऽपि कश्चिदभिहन्तु न प्रभवति।

इत्थ च तुल्यसख्यके स्निग्धत्वे सति स्निग्धस्य स्निग्धेन सह बन्धो न भवति, तुल्यसख्यके रूक्षत्वे सति रूक्षस्य रूक्षेण सह बन्धो न भवतीति सारांश।

अथ जघन्यस्निग्धस्य कीदृशेन स्निग्धेन सह परस्पर बन्धो भवति?

इसी प्रकार द्विगुण से लेकर सख्यात असख्यात और अनन्तगुण स्निग्ध पुद्गलका द्विगुण से लेकर सख्यात असख्यात और अनन्तगुण स्निग्धतावाले समगुण पुद्गल के साथ आपस में बन्ध नहीं होता। तथा द्विगुण आदि रूक्ष समगुणवाले किसी भी पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता है। जैसे—समान बलवाले दो मल्लों में से कोई किसी को पराजित नहीं कर सकता।

इस प्रकार समान स्निग्धता होने पर स्निग्ध पुद्गलका स्निग्ध पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता है और समान रूक्षता होने पर रूक्षका रूक्षके साथ भी बन्ध नहीं होता है।

शका—जघन्य स्निग्ध का किस प्रकार के स्निग्ध पुद्गल के साथ परस्पर बन्ध होता है?।

એ પ્રમાણે દ્વિગુણથી લઈને સખ્યાત, અસખ્યાત અને અનતગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલનો દ્વિગુણથી લઈને સખ્યાત, અસખ્યાત, અને અનતગુણ સ્નિગ્ધતાવાળા સમગુણ પુદ્ગલની સાથે આપસમા બધ થતો નથી તથા દ્વિગુણ આદિ રૂક્ષ પુદ્ગલનો દ્વિગુણ આદિ રૂક્ષ સમગુણવાળા કોઈ પણ પુદ્ગલની સાથે બધ થતો નથી. જેમ સમાન બળવાળા બે મલ્લોમાથી કોઈ કોઈને પરાજિત કરી શકતા નથી

એ પ્રમાણે સમાન સ્નિગ્ધતા હોવા છતાય, સ્નિગ્ધ પુદ્ગલનો સ્નિગ્ધ પુદ્ગલની સાથે બધ થતો નથી, અને સમાન રૂક્ષ હોવા છતાય રૂક્ષનો રૂક્ષની સાથે પણ બધ થતો નથી.

શકા—જઘન્ય સ્નિગ્ધ પુદ્ગલનો ક્યા પ્રકારના સ્નિગ્ધ પુદ્ગલની સાથે પરસ્પર બધ થાય છે?

द्वयोर्बहूना वा परमाणूनां परस्पर बन्धो न भवतीति फलितम् ।

ननु परमाणूना सत्यपि सयोगे बन्धकारणीभूतस्निग्धत्वरूक्षत्वयोश्च सद्भावे कथ न जायते परस्परमेकत्वपरिणतिलक्षणो बन्धः ? इति ।

परमाणोस्तादृशपरिणमनशक्तेरभावात् । परिणामशक्तयश्च द्रव्याणां विविधरूपाः क्षेत्रकालाद्यनुरोधेन प्रयोगविस्रसापेक्षा' प्रभवन्ति । जघन्यगुणत्वेन दौर्बल्यादेव स्नेहो रूक्षो वा कश्चिद् पुद्गल परिणामयितु न समर्थः । यथा-तुल्यदुर्बलगुणमल्लयोरुभयोर्मध्ये परस्पर कोऽपि कश्चिदभिहन्तु न प्रभवति, तस्माज्जघन्यगुणानां परस्परं बन्धो न भवतीति सिद्धम् ।

परस्पर बन्ध नहीं होता, और एक गुण रूक्षका एक गुण रूक्ष के साथ दो या अधिक परमाणुओं का परस्पर बन्ध नहीं होता, यह सिद्ध हुआ ।

शका—परमाणुओं का सयोग मौजूद होने पर भी, और बन्ध के कारणभूत स्निग्धत्व तथा रूक्षत्व के विद्यमान होने पर भी बन्ध—एकतारूप परिणमन क्यों नहीं होता ?

समाधान—परमाणु में इस प्रकार के परिणमन की शक्ति का अभाव है । द्रव्यों की परिणमन शक्तियाँ क्षेत्र और काल के अनुरोध से प्रयत्न तथा स्वभाव की अपेक्षा रखती हुई नाना प्रकार की होती हैं । जघन्य गुणवाला होने के कारण निर्बल होने से स्निग्ध या रूक्ष परमाणु किसी पुद्गल को परिणत करने में समर्थ नहीं होता, जैसे समान दुर्बलतावाले दो मल्लों में से कोई किसी को पराजित नहीं कर सकता । अत एव यह सिद्ध हुआ कि जघन्य गुणवालों का परस्पर में बन्ध नहीं होता ।

પરસ્પર બંધ થતો નથી, અને એકગુણ રૂક્ષનો એકગુણ રૂક્ષની સાથે બે અથવા અધિક પરમાણુઓનો પરસ્પર બંધ થતો નથી

શંકા—પરમાણુઓનો સંયોગ મોજૂદ હોવા છતાંય પણ, અને બંધના કારણભૂત સ્નિગ્ધત્વ (ચિકણાપણું) તથા રૂક્ષત્વ (લુખાપણું) વિદ્યમાન હોવા છતાંય બંધ-એકતારૂપ પરિણમન કેમ થતું નથી ?

સમાધાન—પરમાણુમાં એ પ્રકારની પરિણમનની શક્તિનો અભાવ છે, દ્રવ્યની પરિણમન શક્તિઓ ક્ષેત્ર અને કાલના અનુરોધથી, પ્રયત્ન તથા સ્વભાવની અપેક્ષા રાખતી થકી નાના પ્રકારની થાય છે જઘન્ય ગુણવાળા હોવાના કારણે, નિર્બલ હોવાથી સ્નેહ અથવા રૂક્ષ પરમાણુ કોઈ પુદ્ગલને પરિણત કરવામાં સમર્થ થતું નથી જેવી રીતે સમાન દુર્બળતાવાળા બે મલ્લોમાંથી કોઈ કોઈને પરાજિત કરી શકતા નથી. એટલા કારણથી સિદ્ધ થયું કે-જઘન્ય ગુણવાળાઓનો પરસ્પર બંધ થતો નથી.

एवमुक्तयुक्त्या द्विगुणादिस्निग्धस्य स्वस्वापेक्षयैकाधिकगुणस्निग्धेन सह बन्धो न भवति। द्विगुणस्निग्धस्यैकाधिकस्त्रिगुणस्निग्ध त्रिगुणस्निग्धस्य चतुर्गुणस्निग्ध एकाधिक, इति हेतोर्द्विगुणस्निग्धस्य त्रिगुणस्निग्धेन सह बन्धो न भवति। इत्थ च स्निग्धपुद्गलस्यैकाधिकगुणस्निग्धपुद्गलेन सह बन्धो न भवतीति सार ।

द्विगुणादिस्निग्धस्य द्व्यधिकादिगुणस्निग्धेन बन्धो भवति। यथा द्विगुणस्निग्धस्य द्व्यधिकश्चतुर्गुणस्निग्ध । त्र्यधिक पञ्चगुणस्निग्ध, चतुरधिक

पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार द्विगुण आदि स्निग्ध का अपनी अपनी अपेक्षा से एक गुण अधिक स्निग्ध के साथ बन्ध नहीं होता। द्विगुण स्निग्ध से एक अधिक का अर्थ है—त्रिगुण स्निग्ध, त्रिगुण स्निग्ध से एक अधिक चतुगुण स्निग्ध समझना चाहिये। इस रीति से अनन्त गुण स्निग्ध भी अपने से एक गुण हीन स्निग्ध की अपेक्षा एक गुण अधिक स्निग्ध है। अत द्विगुण स्निग्ध का त्रिगुण स्निग्ध के साथ बन्ध नहीं होता। साराश यह है कि—स्निग्ध पुद्गल का एक गुण अधिक पुद्गल के साथ बध नहीं होता।

द्विगुण स्निग्ध आदि का दो गुण अधिक अथात चार गुण स्निग्ध के साथ बध हो जाता है, जैसे दो गुण स्निग्ध से दो गुण अधिक स्निग्ध का

પૂર્વોકત યુક્તિ પ્રમાણે દ્વિગુણ આદિ સ્નિગ્ધનો પોત-પોતાની અપેક્ષાથી એક ગુણ અધિક સ્નિગ્ધ સાથે બંધ થતો નથી. દ્વિગુણ સ્નિગ્ધથી એક અધિકનો અર્થ છે-ત્રિગુણ સ્નિગ્ધ, અને ત્રિગુણ સ્નિગ્ધથી એક અધિક ચતુર્ગુણ સ્નિગ્ધ સમજવો જોઇએ એ પ્રમાણે અનન્ત ગુણ સ્નિગ્ધ પણ, પોતાનાથી એક ગુણ હીન સ્નિગ્ધની અપેક્ષાથી એક ગુણ અધિક સ્નિગ્ધ છે તેથી દ્વિગુણ સ્નિગ્ધનો ત્રિગુણ સ્નિગ્ધની સાથે બંધ થતો નથી સારાશ એ છે કે-સ્નિગ્ધ પુદ્ગલનો એક ગુણ અધિક સ્નિગ્ધ પુદ્ગલની સાથે બંધ થતો નથી

દ્વિગુણ સ્નિગ્ધ આદિનો બે ગુણ અધિક અર્થાત્ ચાર ગુણ સ્નિગ્ધની સાથે બંધ થઈ જાય છે જેમ-બે ગુણ સ્નિગ્ધથી બે ગુણ અધિક સ્નિગ્ધનો અર્થ ચાર

अत्रोच्यते—जघन्यस्निग्धस्य द्वयधिकत्र्यधिकादिना स्निग्धेन बन्धो भवति, यथा एकगुणस्निग्धस्य परमाणुपुद्गलस्य त्रिगुणस्निग्धेन परमाणुपुद्गलेन सह संयोगे सति बन्धो भवति। एवं एकगुणस्निग्धस्य चतुर्गुणपञ्चगुणयावत्संख्यातासंख्यातानन्तगुण स्निग्धेन सह बन्ध ।

एकगुणस्निग्धस्यैकाधिकगुणस्निग्धेन (द्विगुणस्निग्धेन) तु न बन्ध', द्वयधिकादिगुणस्निग्धेन च स्निग्धपुद्गलस्य बन्धविधानात्। एकाधिकगुण स्निग्धस्य पुद्गलस्य प्रतिविशिष्टपरिणमनशक्तेरभावात्। एकगुणस्निग्धस्यैकाधिको द्विगुणस्निग्ध ।

समाधान—जघन्य स्निग्ध पुद्गल का दो गुण (डिगरी) या तीन गुण अधिक स्निग्धतावाले पुद्गल के साथ बन्ध होता है। जैसे एक गुण स्निग्धतावाले परमाणु का तीन गुण स्निग्धता वाले परमाणु के साथ संयोग होने पर बन्ध हो जाता है। इसी प्रकार एक गुण (एक अंश) स्निग्धका चार, पांच, यहाँ तक कि संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त गुण स्निग्ध के साथ बन्ध होता है।

एक गुण स्निग्धका एक अधिक गुण स्निग्ध अर्थात् द्विगुण स्निग्ध के साथ बन्ध नहीं होता, क्योंकि दो गुण अधिक स्निग्धका स्निग्ध पुद्गल के साथ बन्ध बतलाया गया है। एक गुण अधिक स्निग्ध पुद्गल में विशेष प्रकार के परिणमन की शक्ति नहीं है। एक गुण स्निग्धतावाले की अपेक्षा एक गुण अधिक स्निग्ध जहाँ कहा जाय वहाँ दो गुण स्निग्धतावाला पुद्गल समझ लेना चाहिये।

સમાધાન—જઘન્ય સ્નિગ્ધ પુદ્ગલના બે ગુણ (ડિગ્રી) અથવા ત્રણ ગુણ અધિક સ્નિગ્ધતાવાળા પુદ્ગલની સાથે બંધ થાય છે જેમકે—એક ગુણ (ડિગ્રી) સ્નિગ્ધતાવાળા પરમાણુનો ત્રણ ગુણ (ડિગ્રી) સ્નિગ્ધતાવાળા પરમાણુની સાથે સંયોગ થઈ જાય તો બંધ થઈ જાય છે તેવી રીતે એક ગુણ (ડિગ્રી) (અંશ) સ્નિગ્ધતાના ચાર, પાંચ, ત્યાં સુધી કે સંખ્યાત અસંખ્યાત એ પ્રમાણે અનંત ગુણ સ્નિગ્ધની સાથે બંધ થાય છે

એક ગુણ સ્નિગ્ધતાનો એક અધિક ગુણ સ્નિગ્ધ અર્થાત્ દ્વિગુણ સ્નિગ્ધની સાથે બંધ થતો નથી, કેમકે બે ગુણ અધિક સ્નિગ્ધના સ્નિગ્ધ પુદ્ગલની સાથે બંધ બતાવ્યો છે, એક ગુણ અધિક સ્નિગ્ધ પુદ્ગલમા વિશેષ પ્રકારનાં પરિણમનની શક્તિ નથી એક ગુણ (ડિગ્રી) સ્નિગ્ધતાવાળાની અપેક્ષા એક ગુણ (ડિગ્રી) અધિક સ્નિગ્ધ જ્યા કહેવાય ત્યાં બે ગુણ (ડિગ્રી) સ્નિગ્ધતાવાળા પુદ્ગલ સમજી લેવા જોઈએ

जघन्यगुण (एकगुण) स्निग्धस्य अजघन्यगुण (द्विगुणाद्यनन्तगुणपर्यन्त)-स्निग्धस्य वा स्वस्वापेक्षयैकाधिकगुणरूक्षेण, पुन स्वस्वापेक्षया द्व्यधिक त्र्यधिक-चतुरधिकादि-गुणरूक्षेणापि वन्धो भवति। उक्तञ्च भगवता प्रज्ञापनासूत्रे-(१३)-त्रयोदशे परिणामपदे-"बंधणपरिणामे ण भंते! कइविहे पण्णत्ते?, गोयमा! दुविहे पण्णत्ते, तजहा-णिद्धबंधणपरिणामे य लुक्खबंधणपरिणामे य।"

समणिद्धयाए बन्धो, न होइ समलुक्खयाएवि ण होइ।
वेमायणिद्धलुक्ख-त्तणेण बंधो उ खंधाण ॥१॥

छाया—बन्धनपरिणामो भदन्त! कतिविध' प्रज्ञप्त?, गौतम! द्विविध• प्रज्ञप्तस्तद्यथा-स्निग्धवन्धनपरिणामश्च, रूक्षवन्धनपरिणामश्च।
समस्निग्धताया वन्धो न भवति, समरूक्षतायामपि न भवति।
विमात्रस्निग्धरूक्षत्वेन, बन्धस्तु स्कन्धानाम् ॥ १ ॥

नहीं होता। जघन्य गुण (एकगुण) स्निग्ध का अथवा अजघन्य गुण (दो से लगाकर अनन्त गुण तक) स्निग्ध का, अपने से एक गुण अधिक रूक्ष के साथ बंध होता है। और अपने अपने से दो अधिक तीन अधिक, चार अधिक आदि रूक्ष पुद्गल के साथ भी बन्ध होता है। भगवान् ने प्रज्ञापना सूत्र के १३ वें परिणाम पदमें कहा है—

प्रश्न—"भगवान्! बन्ध परिणाम कितने प्रकार का कहा गया है?

उत्तर—गौतम! दो प्रकार का कहा गया है—(१) स्निग्धबन्धनपरिणाम और (२) रूक्षबंधनपरिणाम।

समान स्निग्धता या समान रूक्षता होने पर बन्ध नहीं होता है, किन्तु विमात्र—अर्थात् अधिक का हीनके साथ, और हीनका अधिक के साथ, चाहे वे स्निग्ध हो या रूक्ष हो बन्ध हो जाता है ॥ १ ॥

નથી. જઘન્ય ગુણ (એક ગુણ) સ્નિગ્ધનો અથવા અજઘન્ય, (બેથી લઈને અનન્ત ગુણ સુધી) સ્નિગ્ધનો પોતાનાથી એક ગુણ અધિક રૂક્ષની સાથે બંધ થાય છે અને પોતપોતાથી બે અધિક, ત્રણ અધિક ચાર અધિક આદિ રૂક્ષ પુદ્ગલની સાથે પણ બંધ થાય છે, ભગવાને પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના ૧૩મા પરિણામ પદમા કહેલુ છે—

પ્રશ્ન—"ભગવન્! બન્ધન-પરિણામ કેટલા પ્રકારનાં કહ્યા છે?

ઉત્તર—ગૌતમ! બે પ્રકારના કહેલા છે-(૧) સ્નિગ્ધબંધનપરિણામ અને (૧) રૂક્ષબંધનપરિણામ"

સમાન સ્નિગ્ધતા અથવા સમાન રૂક્ષતા હોય તો બંધ થતો નથી પરન્તુ વિમાત્ર અર્થાત્ અધિકનો હીનની સાથે અને હીનનો અધિકની સાથે, ભલે તે સ્નિગ્ધ હોય કે રૂક્ષ હોય, બંધ થઈ જાય છે ॥ ૧ ॥

षड्गुणस्निग्ध', इत्यादि। त्रिगुणस्निग्धस्य द्व्यधिक पञ्चगुणस्निग्ध, त्र्यधिक षड्गुणस्निग्धः, चतुरधिक सप्तगुणस्निग्ध, इत्यादि। चतुर्गुणस्निग्धस्य द्व्यधिक षड्गुणस्निग्ध., त्र्यधिक सप्तगुणस्निग्ध चतुरधिक– अष्टगुणस्निग्ध। एवं पञ्चगुणस्निग्धादिसंख्यातासंख्यातानन्तगुणस्निग्धपर्यन्तस्य द्व्यधिकादिगुणस्निग्धेन सह बन्धो भावनीय।

एव जघन्यगुणरूक्षस्य, अजघन्यगुणरूक्षस्य च बन्धव्यवस्था बोध्या।

विसदृशपुद्गलबन्ध —

अथ विसदृशपुद्गलयोर्बन्धे कीदृशी व्यवस्था?

उच्यते–जघन्यगुणस्निग्धस्य, जघन्यगुणरूक्षेण सह बन्धो न भवति।

अर्थ चार गुण स्निग्ध, तीन गुण अधिक का अर्थ पाच गुण स्निग्ध, चार गुण अधिक का अर्थ छह गुण स्निग्ध, इत्यादि समझना चाहिए। चतुर्गुण स्निग्ध से द्व्यधिक–षड्गुण स्निग्ध, त्र्यधिक–सप्तगुण स्निग्ध, चतुरधिक–अष्टगुण स्निग्ध समझना चाहिए। इस प्रकार पञ्चगुण स्निग्ध आदि से संख्यात, असंख्यात अनन्त गुण स्निग्ध का दो गुण अधिक स्निग्ध के साथ बन्ध होता है। इस प्रकार जघन्य गुण रूक्ष का अजघन्य गुण रूक्ष के साथ बन्ध की व्यवस्था जाननी चाहिए।

विसदृश पुद्गलों का बन्ध—

प्रश्न—विसदृश अर्थात् परस्पर विरोधी पुद्गलों के बन्ध की क्या व्यवस्था है?

उत्तर—जघन्य गुण स्निग्ध का जघन्य गुण वाले रूक्ष पुद्गलके साथ बन्ध

ગુણ સ્નિગ્ધ, ત્રણ ગુણ અધિકનો અર્થ પાંચ ગુણ સ્નિગ્ધ, ચાર ગુણ અધિકનો અર્થ છ ગુણ સ્નિગ્ધ, એ પ્રમાણે સમજવું જોઈએ. ચતુર્ગુણ સ્નિગ્ધથી દ્વ્યધિક ષડ્ગુણ સ્નિગ્ધ, ત્ર્યધિક સપ્તગુણ સ્નિગ્ધ ચતુરધિક અષ્ટગુણ સ્નિગ્ધ સમજવું જોઈએ, એ પ્રમાણે પાંચ ગુણ સ્નિગ્ધ આદિથી સંખ્યાત, અસંખ્યાત અનન્તગુણ સ્નિગ્ધના બે ગુણ અધિક સ્નિગ્ધની સાથે બંધ થાય છે એ પ્રમાણે જઘન્ય ગુણ રૂક્ષની અજઘન્ય ગુણ રૂક્ષની સાથે બંધની વ્યવસ્થા જાણવી જોઈએ

વિસદૃશ પુદ્ગલોનો બંધ—

પ્રશ્ન–વિસદૃશ અર્થાત્ પરસ્પરવિરોધી પુદ્ગલોના બંધની શું વ્યવસ્થા છે?

ઉત્તર–જઘન્ય ગુણ સ્નિગ્ધનો જઘન્ય ગુણવાળા પુદ્ગલની સામે બંધ થતો

॥ परमाणुबन्धव्यवस्थाकोष्ठकम् ॥

जघन्यगुण-(एकगुण)-स्निग्ध-रूक्षयोर्बन्धव्यवस्था ।

स्निग्धरूक्षसख्या	सदृशानाम्		विसदृशानाम्
	स्निग्धस्य + स्निग्धेन सह	रूक्षस्य + रूक्षेण सह	स्निग्धस्य + रूक्षेण सह
जघन्यस्य (एकगुणस्य) जघन्येन (एकगुणेन) सह	बन्धाभाव	बन्धाभाव	बन्धाभाव
जघन्यस्य (एकगुणेन) + एकाधिकेन (द्विगुणेन) सह	बन्धाभाव	बन्धो भवति	बन्धो भवति
जघन्यस्य (एकगुणस्य) + द्व्यधिकादिगुणेन-(त्रिगुण-चतुर्गुणत समारभ्य यावद् अनन्तगुणेन) सह	बन्धो भवति	बन्धो भवति	बन्धो भवति

अजघन्यगुण-(द्विगुणादि)-स्निग्धरूक्षयोर्बन्धव्यवस्था

स्निग्धरूक्ष—सख्या	सदृशानाम्		विसदृशानाम्
	स्निग्धस्य + स्निग्धेन सह	रूक्षस्य + रूक्षेण सह	स्निग्धस्य + रूक्षेण सह
द्विगुणस्य + द्विगुणेन सह	बन्धाभाव	बन्धाभाव	बन्धो भवति
द्विगुणस्य + एकाधिकेन (त्रिगुणेन) सह	बन्धाभाव	बन्धाभाव	बन्धो भवति
द्विगुणस्य + द्व्यधिकादिगुणेन (चतुर्गुणपञ्चगुणतः समारम्य यावद् अनन्तगुणेन) सह	बन्धो भवति	बन्धो भवति	बन्धो भवति

एवम् अजघन्यगुण-(त्रिगुणचतुर्गुणत समारम्यानन्तगुणपर्यन्त)-स्निग्धरूक्षयोः समगुणेन, एकाधिकगुणेन, द्व्यधिकादिगुणेन च सह बन्धव्यवस्था भावनीया ॥

णिद्धस्स णिद्धेण दुयाहिएण,
लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहिएण ।
णिद्धस्स लुक्खेण उवेइ बन्धो,
जहण्णवज्जो विसमो समो वा ॥२॥
(प्रज्ञा० पद–१३)

छाया—स्निग्धस्य स्निग्धेन द्विकाधिकेन,
रूक्षस्य रूक्षेण द्विकाधिकेन ।
स्निग्धस्य रूक्षेण उपैति बन्धो,
जघन्यवर्जो विषमः समो वा ॥२॥" इति,
विसदृशस्य बन्धमाह–"णिद्धस्स लुक्खेण" इत्यादि ।

स्निग्धस्य रूक्षेण सह बन्ध उपैति=उपगतो भवति, जायत इत्यर्थः । यदि परमाणुर्जघन्यवर्जो विषमो समो वा भवेत् । ॥२॥

परमाणूनां बन्धव्यवस्थाकोष्ठकमग्रेऽवलोकनीयम् ।

दो गुण अधिक स्निग्ध के साथ स्निग्ध का बंध होता है । और दो गुण अधिक रूक्ष के साथ रूक्षका बन्ध होता है। अब विसदृश बन्धको कहते हैं—"णिद्धस्स लुक्खेण" इत्यादि। जघन्य गुणवाले परमाणु को छोडकर फिर चाहे वह विषम हो या सम हो स्निग्ध का रूक्ष के साथ बन्ध होता है ।

परमाणुओं की बन्धव्यवस्था का कोष्ठक पृष्ट १२१ देख लेवें ।

બે ગુણ અધિક સ્નિગ્ધ સાથે સ્નિગ્ધનો બંધ થાય છે અને બે ગુણ અધિક રૂક્ષની સાથે રૂક્ષનો બન્ધ થાય છે હવે વિસદૃશ બન્ધ કહે છે–"णिद्धस्स लुक्खेण" ઈત્યાદિ જઘન્ય ગુણવાળા પરમાણુને છોડીને બીજા ગમે તે વિષમ હોય અથવા સમ હોય તે સ્નિગ્ધનો રૂક્ષની સાથે બંધ થાય છે

પરમાણુઓની બંધવ્યવસ્થાનું કોષ્ઠક પેજ ૧૨૧માં જોઈ લેવું

इन्द्रियपंचकम्५, मनोवाक्कायबलत्रयम्३, श्वासोच्छ्वासरूप १, आयुश्चेति१ । एते दश प्राणा संसारिणां यथासंभव भवन्ति । नारकतिर्यगादय संसारिणो द्रव्यप्राणैरपि प्राणिन । व्यपगतसमस्तकर्मसम्बन्धा' सिद्धास्तु केवलभावप्राणैरेव प्राणिन सन्ति । भावप्राणाश्चतुर्विधा –अनन्तज्ञानम् १, अनन्तवीर्यम् २, अनन्त–सुखम् ३, अनाद्यनन्तस्थितिश्च४ । तत्रानन्तज्ञानात् क्षायोपशमिकपञ्चेन्द्रियाणि, अनन्तवीर्यरूपभावप्राणस्यानन्तांशेन मनोवाक्कायबलत्रयम् , अनन्तसुखाच्च–श्वासोच्छ्वासरूप' प्राण समुद्भवति, तथा अनाद्यनन्तस्थितिरूप–भावप्राणत. सादि–सान्तरूप आयुःप्राणो जायते । एव द्रव्यप्राणानां कारण भावप्राणा इत्यवधेयम् ।

दशभेद हैं–पाच इन्द्रियाँ५, तीन बल–मनोबल, वचनबल और कायबल३, श्वासोच्छ्वास १ तथा आयु १, ये दश द्रव्यप्राण यथासम्भव संसारी जीवों के होते हैं । नारकी, तिर्यंच आदि ससारी जीवों में भी द्रव्यप्राण पाये जाते हैं, किन्तु सब प्रकार के कर्म–सबध से रहित सिद्धो में सिर्फ भावप्राण ही होते हैं । सिद्ध जीव भावप्राणों के कारण ही प्राणी कहलाते हैं ।

भाव प्राणके चार भेद हैं–अनन्तज्ञान१, अनन्तवीर्य२, अनन्तसुख३, और अनादिअनन्तस्थिति४ । क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली पांच इन्द्रियाँ अनन्त ज्ञान का विकार (वैभाविक परिणमन) है, मन, वचन और काय–बल, अनन्तवीर्यरूप भावप्राणका विकार है, श्वासोच्छ्वास अनन्तसुखरूप भावप्राणका विकार है, और सादिसान्त आयुरूप द्रव्यप्राण अनादि–अनन्तस्थितिरूप भावप्राणका विकार है । इस प्रकार भावप्राण द्रव्यप्राणों के कारण हैं ।

દસ ભેદ છે—પાંચ ઇન્દ્રિયો૫, ત્રણ બળ અર્થાત્ મનોબલ, વચનબલ અને કાયબલ૩, શ્વાસોચ્છ્વાસ૧, તથા આયુ૧, આ દસ દ્રવ્યપ્રાણ સાધારણ રીતે સંસારી જીવોને હોય છે નારકી તિર્યચ આદિ સંસારી જીવોમાં પણ દ્રવ્યપ્રાણ દેખાય છે, પરન્તુ સર્વ પ્રકારના કર્મ–સંબંધથી રહિત સિદ્ધોમાં માત્ર ભાવપ્રાણ જ હોય છે, સિદ્ધ જીવ ભાવપ્રાણોના કારણથી જ પ્રાણી કહેવાય છે

ભાવપ્રાણના ચાર ભેદ છે—અનન્તજ્ઞાન, અનન્તવીર્ય, અનન્ત સુખ અને અનાદિ-અનન્ત સ્થિતિ, ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થવા વાળી પાંચ ઇન્દ્રિયો અનન્ત જ્ઞાનનો વિકાર (વૈભાવિક પરિણમન) છે, મન, વચન અને કાયબલ, અનન્ત વીર્યરૂપ ભાવ પ્રાણનો વિકાર છે, શ્વાસોચ્છ્વાસ તે અનન્તસુખરૂપ ભાવપ્રાણનો વિકાર છે, અને સાદિ–સાન્ત આયુરૂપ દ્રવ્યપ્રાણ, અનાદિ અનન્ત સ્થિતિરૂપ ભાવપ્રાણનો વિકાર છે એ પ્રમાણે ભાવપ્રાણ, દ્રવ્યપ્રાણોના કારણ છે

अथ जीवास्तिकाय —

जीवशब्दार्थः—

जीवति प्राणान् धारयतीति जीवः। न च सिद्धानां प्राणसम्बन्धाभावादजीवत्वापत्तिरिति वाच्यम्, 'प्राणान् धारयती'-त्यत्र प्राणसामान्यविवक्षया पञ्चेन्द्रियप्रभृतिदशविधद्रव्यप्राणानामसत्त्वेऽपि सिद्धाना भावप्राणसद्भावेन जीवत्वसिद्धेरव्याहतत्वात्। प्रतिविशिष्टप्राणसम्बन्धे सति जीवनाज्जीवशब्दः प्रवर्तते।

प्राणा द्विविधाः'—द्रव्यप्राणाः, भावप्राणाश्च। तत्र द्रव्यप्राणा दशविधाः

जीवास्तिकाय—

जीवशब्दका अर्थ—

जो जीता है अर्थात् प्राणों को धारण करता है, वह जीव कहलाता है। 'सिद्धो में प्राणों का अभाव होने से वे अजीव हो जायेंगे' यह कहना ठीक नहीं है। 'जो प्राणों को धारण करता है' इस कथन में प्राण—सामान्य की विवक्षा की गई है। सिद्धों में यद्यपि पांच—इन्द्रिय आदि दस प्रकार के द्रव्यप्राण नहीं हैं, तथापि भाव—प्राण पाये जाते हैं, और इन भाव—प्राणों के कारण सिद्ध भगवान् का जीवपन सिद्ध हो जाता है। विशिष्ट प्रकार के प्राणों का सम्बन्ध होने पर जीने वाले को जीव कहते हैं।

प्राण दो प्रकार के हैं—(१) द्रव्यप्राण और (२)—भावप्राण। द्रव्यप्राणों के

જીવાસ્તિકાય—

જીવ શબ્દનો અર્થ—

જે જીવે છે અર્થાત્ પ્રાણોને ધારણ કરે છે, તે જીવ કહેવાય છે 'સિદ્ધોમા પ્રાણોનો અભાવ હોવાથી તે અજીવ થઇ જશે,' એમ કહેવુ તે ઠીક નથી. 'જે પ્રાણોને ધારણ કરે છે' એમ કહેવામા પ્રાણ—સામાન્યની વિવક્ષા કહી છે સિદ્ધોમાં જો કે પાચ ઇન્દ્રિયો આદિ દસ પ્રકારના દ્રવ્ય—પ્રાણ નથી, તો પણ ભાવ—પ્રાણ હોય છે, અને તે ભાવ—પ્રાણોના કારણે સિદ્ધ ભગવાનનુ જીવપણુ સિદ્ધ થાય છે વિશિષ્ટ પ્રકારના પ્રાણોનો સબધ હોવાના કારણે જીવવા વાળાને જીવ કહે છે

પ્રાણ બે પ્રકારના છે—(૧) દ્રવ્ય—પ્રાણ અને (૨) ભાવ—પ્રાણ, દ્રવ્ય પ્રાણોના

भवन्ति, अत एवात्मपर्यायवर्ती भाव पञ्चविधो भवति—(१) औपशमिक., (२) क्षायिकः, (३) क्षायोपशमिकः, (४) औदयिक', (५) पारिणामिकश्चेति ।

(१) औपशमिकभाव —

(१) मोहनीयकर्मणो भस्मावच्छन्नवह्निवदनुद्रेकावस्था, प्रदेशतोऽप्युदयाभावश्च उपशम । उद्रेकरूपेण प्रदेशरूपेण च द्विविधस्याप्युदयस्य यथाशक्ति निरोध । इत्थम्भूतश्चोपशमः सर्वोपशम उच्यते । उपशमेन निर्वृत्त औपशमिक – क्रोधादिकषायोदयाभावरूपोपशमस्य फलरूपो जीवस्य परमशान्तावस्थालक्षण-परिणामविशेष । स चात्मन शुद्धिविशेष । यथा–कतकचूर्णप्रक्षेपेण पङ्कादि–

पांच प्रकारका है–(१)–औपशमिक, (२)–क्षायिक, (३)–क्षायोपशमिक, (४)–औदयिक और (५)–पारिणामिक ।

(१) औपशमिक भाव—

राख से ढँकी हुई अग्नि के समान मोहनीय कर्म की अनुद्रेक अवस्था, एव प्रदेश की अपेक्षा भी उदय न होना उपशम कहलाता है । अर्थात् उद्रेकरूप से, तथा प्रदेशरूप से–दोनों प्रकार के उदय का यथाशक्ति रुकना उपशम है । इस प्रकार का उपशम सर्वोपशम कहलाता है । जो उपशम से हो उसे औपशमिक कहते हैं। अर्थात क्रोध आदि कषायों के उदयाभावरूप उपशम का फलरूप जीव, उसका परमशान्त अवस्थारूप परिणाम औपशमिक कहलाता है । यह आत्मा की एक प्रकार की शुद्धि है । जैसे कि–कतकचूर्ण (निर्मलीफल का चूरा) तथा फिटकडी आदि का चूरा डालने से जलका

પ્રકારના છે (૧) ઓપશમિક (૨) ક્ષાયિક (૩) ક્ષાયોપશમિક (૪) ઔદયિક અને (૫) પારિણામિક

(૧) ઓપશમિક ભાવ—

રાખથી ઢંકેલા અગ્નિ સમાન મોહનીય કમની અનુદ્રેક અવસ્થા, એવ પ્રદેશની અપેક્ષા પણ ઉદય ન હોય તે ઉપશમ કહેવાય છે અર્થાત્ ઉદ્રેકરૂપથી તથા પ્રદેશરૂપથી–બન્ને પ્રકારના ઉદયનુ યથાશક્તિ રોકાવુ તે ઉપશમ છે આ પ્રકારનો ઉપશમ સર્વોપશમ કહેવાય છે જે ઉપશમથી હોય તેને ઔપશમિક કહે છે અર્થાત્ ક્રોધ આદિ કષાયોના ઉદયાભાવરૂપ ઉપશમના ફલરૂપ જીવ, તેના પરમ શાન્ત અવસ્થારૂપ પરિણામ ઔપશમિક કહેવાય છે

એ આત્માની એક પ્રકારની શુદ્ધિ છે; જેમકે કતકચૂર્ણ (નિર્મલીફલનુ ચૂર્ણ) તથા

अथ जीवस्य स्वरूपम्—

औपशमिकादिभाववान्, असङ्ख्यातप्रदेशी, परिणामी, लोकाकाशव्यापी प्रदीपवत् संकोचविकासशील, व्यक्तिरूपेणानन्तोऽखण्ड, क्रियाशीलः, प्रदेश-समुदायरूपो, नित्यो, रूपरहितोऽवस्थितोऽमूर्त. सन्नपि संसारावस्थायां मूर्त इव प्रतीयमान, ऊर्ध्वगतिशील आत्मा जीव'।

अथ भावस्तद्भेदाश्च—

' अथौपशमिकादिभाववान् जीव ' इत्युक्तम्, तत्र कस्तावद्भाव. ? श्रूयताम्-आत्मपर्यायाणामवस्थैव भावा । आत्मपर्यायाश्चावस्थाभेदेन विविधरूपा

जीव का स्वरूप—

औपशमिक आदि भावोंवाला, असंख्यातप्रदेशी, परिणामी, प्रदीपप्रभाके समान सकोच-विकास स्वभाव वाला, व्यक्तिरूप से अनंतसंख्यक, क्रियाशील, प्रदेशसमुदायरूप, नित्य, अरूपी, अवस्थित, अमूर्त होने पर भी ससारी अवस्था में मूर्त जैसा प्रतीत होने वाला, ऊर्ध्वगमनस्वभाववाला आत्मा जीव कहलाता है।

भाव और भाव के भेद—

प्रश्न—जीव का स्वरूप बतलाते हुए उसे औपशमिक आदि भावो वाला कहा है सो भाव क्या वस्तु है ?

उत्तर—सुनिये, आत्मा के पर्यायो की अवस्था ही भाव कहलाती है। आत्मा के पर्याय, अवस्थाओं के भेद से नाना प्रकार के होते हैं, अत आत्मपर्यायवर्ती भाव

જીવનુ સ્વરૂપ

ઔપશમિક આદિ ભાવો વાળા, અસખ્યાતપ્રદેશી, પરિણામી. પ્રદીપપ્રભાના સમાન સંકોચ-વિકાસ સ્વભાવવાળા, વ્યક્તિરૂપથી અનતસખ્યક, ક્રિયાશીલ, પ્રદેશ સમુદાયરૂપ, નિત્ય, અરૂપી, અવસ્થિત, અમૂર્ત હોવા છતાંય સસારી અવસ્થામા મૂર્ત જેવા દેખાવાવાળા, ઉર્ધ્વગમન સ્વભાવવાળા આત્મા જીવ કહેવાય છે

ભાવ અને ભાવના ભેદ—

પ્રશ્ન—જીવનુ સ્વરૂપ બતાવતા થકા તેને ઔપશમિક આદિ ભાવોવાળા કહેલ છે; તે ભાવ શુ વસ્તુ છે ?

ઉત્તર—સાભળો, આત્માના પર્યાયોની અવસ્થા જ ભાવ કહેવાય છે આત્માની પર્યાય, અવસ્થાઓના ભેદથી નાના પ્રકારના હોય છે, તેથી આત્મપર્યાયવર્તી ભાવ પાંચ

(३) क्षायोपशमिक-भाव:—

(३) मिथ्यात्वमोहनीयादिकर्मणामुदीर्णस्यांशस्य नाश:-क्षय:, अनुदीर्ण-स्यांशस्य विपाकोन्मुखत्वाभाव -उपशम, यत्र एतद्द्वय स क्षयोपशम:, स एव क्षायोपशमिक । अस्य भावस्य 'मिश्र ' इति नामान्तरम् । ईषद्विध्यातावच्छन्नवह्निवद् । यद् उदयावलिकाप्रविष्ट कर्म, तत् क्षीणम् , ततोऽवशिष्ट कर्म, उद्रेक-क्षयोभयरहितावस्थम् , इमामुभयीमवस्थामवलम्ब्य क्षायोपशमिको भाव: प्रजायते ।

(४) औदयिकभाव:—

(४) कर्मविपाकाविर्भाव उदय । तेन निर्वृत्तो भाव औदयिक । स

---

(३) क्षायोपशमिक भाव—

मिथ्यात्वमोहनीय आदि कर्मों के उदीर्ण (उदय में आये हुए) अंश का नाश होना क्षय है । और अनुदीर्ण अंश का फल देने में उन्मुख न होना उपशम है । इन्हीं दोनों अवस्थाओं को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं । इस भाव का दूसरा नाम 'मिश्रभाव' भी है । थोडी२ बुझी हुई और ढकी हुई अग्नि के समान जो कर्म उदयावलिका में आचुके हैं उनका क्षय होना, तथा शेष कर्मों का उद्रेक और क्षय-दोनों अवस्थाओं से रहित होना, इन दोनों के आधार पर क्षायोपशमिक भाव उत्पन्न होता है ।

(४) औदयिक भाव—

कर्म का विपाक (फल) देना उदय कहलाता है । उदय से होनेवाला

---

(૩) ક્ષાયોપશમિક ભાવ—

મિથ્યાત્વ મોહનીય આદિ કર્મોના ઉદીર્ણ (ઉદયમા આવેલા) અંશનો નાશ થવો તે ક્ષય છે, અને અનુદીર્ણ અંશનુ ફલ દેવામા ઉન્મુખ-તે તરફ નહિ થવુ તે ઉપશમ છે, એ બન્ને અવસ્થાઓને ક્ષાયોપશમિક ભાવ કહે છે આ ભાવનુ બીજુ નામ 'મિશ્રભાવ' પણ છે થોડી થોડી ઠરી થયેલી અને ઢાંકેલી અગ્નિ પ્રમાણે જે કર્મ ઉદયાવલિમા આવી ચૂકયા છે તેનો ક્ષય થવો, તથા શેષ કર્મોનો ઉદ્રેક અને ક્ષય, બન્ને અવસ્થાઓથી રહિત થવુ, આ બન્નેના આધાર ઉપર ક્ષયોપશમિક ભાવ ઉત્પન્ન થાય છે

(૪) ઔદયિક ભાવ—

કર્મનો વિપાક (ફલ) ભગવુ તે ઉદય કહેવાય છે ઉદયથી ઉત્પન્ન થવાવાળો ભાવ તે ઔદયિક છે ઔદયિક ભાવ આત્માની મલિનતા રૂપ છે જેમકે કીચડ-

मलनिचयस्याधोदेशे निपाते सति जलस्य स्वच्छता। मोहनीयकर्मण उपशमाद् यद् दर्शनं श्रद्धानरूपं, चरणं वा विरतिरूपं जायते तदौपशमिकशब्देनोच्यते।

(२) क्षायिकभाव —

(२) सकलकर्मणामत्यन्तोच्छेदः क्षयः, क्षयेण निर्वृत्तः क्षायिकः-अप्रतिपाति-ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणो जीवस्य परिणतिविशेषः। स चात्मनः परमविशुद्धिः। यथा-सर्वथा निःशेषपङ्कादिमलव्यपगमे जलस्य परमस्वच्छता।

कीचड आदि मैल नीचे बैठ जाता है, और जल स्वच्छ हो जाता है। मोहनीय कर्म के उपशम से श्रद्धानरूप जो दर्शन उत्पन्न होता है, या विरतिरूप जो चारित्र उत्पन्न होता है वह औपशमिक सम्यग्दर्शन और औपशमिक चारित्र कहलाता है।

(२) क्षायिक भाव—

कर्म का अत्यन्त उच्छेद हो जाना क्षय कहलाता है। क्षय से होने वाला भाव क्षायिक भाव है। अर्थात् एक बार उत्पन्न हो कर फिर नष्ट न होने वाले ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप जीव के परिणाम को क्षायिक भाव कहते हैं। क्षायिक अवस्था जीव की परम विशुद्धि है, जैसे-पूर्ण रूप से समस्त कीचड आदि मैल के हट जाने पर जल की परम स्वच्छता होती है।

ફટકડી આદિનું ચૂર્ણ નાખવાથી કચરો અને મેલ નીચે બેસી જાય છે, અને જલ સ્વચ્છ થાય છે મોહનીય કર્મના ઉપશમથી શ્રદ્ધારૂપ જે દર્શન ઉત્પન્ન થાય છે અથવા વિરતિરૂપ જે ચારિત્ર ઉત્પન્ન થાય છે, તે ઔપશમિક સમ્યગ્દર્શન અને ઔપશમિક ચારિત્ર કહેવાય છે

(૨) ક્ષાયિક ભાવ—

કર્મનો અત્યન્ત ઉચ્છેદ થઈ જવો તે ક્ષય કહેવાય છે ક્ષયથી થવાવાળો ભાવ ક્ષાયિક ભાવ છે અર્થાત્ એકવાર ઉત્પન્ન થઈને ફરી નાશ નહિ થવાવાળા જ્ઞાન, દર્શન અને ચારિત્રરૂપ જીવના પરિણામને ક્ષાયિક ભાવ કહે છે ક્ષાયિક અવસ્થા જીવની પરમ વિશુદ્ધિ છે જેમ-પૂર્ણરૂપથી સમસ્ત કીચડ-કાદવ આદિ મેલના દૂર થવાથી જલની પરમ સ્વચ્છતા થાય છે

यामनिर्वृत्तो जीवो निर्वृत्त स्यात्। एव चादिमत्त्वप्रसंग। कथमसन् आकाश-कुसुमकल्प आत्माऽऽयत्यां संभवे ?-दिति युक्तिविरोधश्च।

न हि परिणामेन विना कश्चिद्भावो भवतीति भावानां मध्ये परिणामस्यैव प्राधान्यम्। आत्मन स्वाभाविक स्वरूपपरिणमनमेव पारिणामिको भाव उच्यते। यश्चात्मन सत्तया स्वयमेव परिणामो भवति, स एव पारिणामिको भाव। उक्तञ्च-

"य कर्त्ता कर्मभेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य च।
ससर्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मा नान्यलक्षण ॥ १ ॥"

अष्टविधकर्मणा कर्ता, कर्मफलभोक्ता, चतुर्गतिभ्रमणकर्ता, कर्मक्षयकरणेन मोक्षगन्ता य', स एवात्मा, अन्यरूपो नेत्यर्थ।

प्रकार जीवको सादि (आदिवाला) मानना पडेगा, परन्तु ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि-जो आत्मा भूतकालमें नहीं था तो आकाशपुष्पके समान भविष्यत् कालमें उसका होना कैसे संभव हो सकता है ?। इस प्रकार युक्तिसे भी विरोध आता है।

विना परिणाम के कोई भाव नहीं हो सकता अत भावोंमें परिणामकी प्रधानता है। आत्मा का स्वाभाविक परिणमन ही 'पारिणामिक' भाव कहलाता है, अर्थात् आत्मा का जो अनादिपरिणमनसत्ता का कारण है उसे पारिणामिक भाव समझना चाहिए। कहा भी है -

"जो कर्म के भेदों का कर्ता है, जो कर्मफल का भोक्ता है। संसारभ्रमण करने वाला है, निर्वृति (मोक्ष) प्राप्त करने वाला है वही आत्मा है, आत्मा का अन्य लक्षण नहीं है ॥१॥

માનવામા આવે તો 'પૂર્વકાળમા જીવ નહિ હતો તે હવે થયો છે' આ પ્રકારે જીવને સાદિ (આદિવાળો) માનવો પડશે, પરંતુ એમ થઈ શકે નહિ, કારણ કે-જે જીવ ભૂતકાળમા નહી હતો ત્યારે તેનુ આકાશપુષ્પની સમાન ભવિષ્યત્ કાળમા થવુ કેમ સભવે ? એમ યુક્તિથી પણ વિરોધ આવે છે

વગર પરિણામે કોઈ પણ ભાવ નથી થઈ શકતો, એટલા માટે ભાવોમા પરિણામની પ્રધાનતા છે આત્માનુ સ્વાભાવિક પરિણમન જ પારિણામિક ભાવ કહેવાય છે અર્થાત્ આત્માની અનાદિપરિણમનસત્તાનુ જે કારણ છે, તેને પારિણામિક ભાવ સમજવુ જોઇએ કહ્યુ પણ છે—

"જે કર્મના ભેદોનો કર્તા છે, જે કર્મના ફળનો ભોક્તા છે; સસારભ્રમણ કરવાવાળો છે, નિર્વૃતિ (મોક્ષ) પ્રાપ્ત કરવા વાળો છે તે આત્મા છે આત્માનુ બીજુ લક્ષણ નથી" ॥૧॥

चात्मनो मालिन्यम्, यथा पङ्कसंगाज्जलस्य मालिन्य। तथा–नरकगत्यादिनाम कर्मणो विपाकाविर्भावान्नरकगत्याद्यारव्य औदयिको भावः। कषायमोहनीयकर्मणो विपाकाविर्भावाच 'क्रोधी,–मानी'–त्यादिरौदयिको भाव'। एव सर्वत्रौदयिको भाव. समालोचनीय'।

(५) परिणामिक–भाव'—

(५) परिणमनं–सर्वथा–अपरित्यक्तपूर्वावस्थस्य रूपान्तरेण भवन–परिणामः, स एव पारिमाणिकः। अत्र स्वार्थे ठक् प्रत्यय, न तु निर्वृत्त्यर्थे, जीवस्यादिमत्त्वापत्ते'। यदि 'परिणामेन निर्वृत्त' इत्यर्थे पारिणामिको जीव इति मन्यते, तदा प्रागवस्था–

भाव औदयिक है। भाव आत्मा का मालिन्यरूप है, जैसे कि कीचड के ससर्ग से जल में मलिनता आ जाती है। नरकगतिनामकर्म आदि के उदय से नरक गति आदि औदयिक भाव कहलाते हैं। कषायमोहनीय कर्म के उदय से क्रोध, मान आदि औदयिक भाव होते हैं। इसी प्रकार सभी जगह औदयिक भाव का विचार कर लेना चाहिये।

(५) पारिणामिक भाव—

पूर्व अवस्था का सर्वथा त्याग न कर के रूपांतर में होना परिणाम है, और वही पारिणामिक कहलाता है। यहा स्वार्थमें ठक् प्रत्यय हुआ है, न कि निर्वृत्ति अर्थ में, निर्वृत्ति अर्थ में प्रत्यय होनेसे जीवका आदिमान् होनेका प्रसङ्ग आजाता है। यदि–"परिणामेन निर्वृत्त पारिणामिक –जीव" अर्थात् परिणामसे होनेवाला पारिणामिक–जीव कहलाता है, ऐसी व्युत्पत्ति मानली जाय तो 'किसी पूर्व कालमें जीव नहीं था वह अब हुआ है' इस

કાદવના સસર્ગથી જળમા મલિનતા આવી જાય છે નરકગતિ નામ–કર્મ આદિના ઉદયથી નરકગતિ આદિ ઔદયિક ભાવ કહેવાય છે કષાય–મોહનીય કર્મના ઉદયથી ક્રોધ, માન આદિ તે ઔદયિક ભાવ છે આ પ્રમાણે તમામ સ્થળે ઔદયિક ભાવનો વિચાર કરી લેવો.

(૫) પારિણામિક ભાવ—

પૂર્વ અવસ્થાનો સર્વથા ત્યાગ નહિ કરતા રૂપાતર થવુ તે પરિણામ છે, અને પરિણામ તેજ પારિણામિક કહેવાય છે અહી સ્વાર્થમા ઠક્ પ્રત્યય થયો છે પરન્તુ નિર્વૃત્તિ અર્થમા નથી થયો નિર્વૃત્તિ અર્થમાં પ્રત્યય થવાથી જીવનો આદિમાન્ (આદિવાળો) થવાનો પ્રસગ આવી જાય છે જો–"परिणामेन निर्वृत्तः परिणामिकः– जीव" અર્થાત્ 'પરિણામથી થવાવાળો પારિણામિક જીવ કહેવાય છે' આવી વ્યુત્પત્તિ

इति। यदा जीव. केवलिसमुद्घातावस्था प्राप्नोति, तदा समस्तलोकाकाशमेक-जीवस्याधारक्षेत्रं भवति। सकलजीवराश्यपेक्षया तु जीवानामाधारक्षेत्र सपूर्णमेव लोकाकाशम्।

लोकाकाशस्याऽसख्यातभागे जीवस्य स्थितिरित्यत्राऽऽगमवचन यथा—

"सट्ठाणेण लोयस्स असखेज्जइभागे"

स्वस्थानेन लोकस्यासख्येयभागे। (प्रज्ञा० २ पद जीवस्थानाधिकारे)

ननु परिमाणस्य न्यूनाधिकत्वे किं कारणम्? उच्यते—जीवस्यानादिकालतो-ऽनन्तानन्ताणुप्रचयरूपेण कार्मण-शरीरेण सम्बन्धादेकस्यैव जीवस्य परिमाण

जीव का आधारक्षेत्र लोकाकाश के असख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोकतक हो सकता है। जब जीव केवलिसमुद्घात करता है उस समय वही एक जीव सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हो जाता है। समस्त जीवराशि की अपेक्षासे सम्पूर्ण लोकाकाश जीवों का आधारक्षेत्र है।

जीव का अवगाह लोकाकाश के असंख्यातवें भाग में होता है, इस विषय में आगम का प्रमाण इस प्रकार है—

"सट्ठाणेण लोयस्स असखेज्जइभागे" (प्रज्ञापना २ पद जीवस्थानाधिकार) स्वस्थान की अपेक्षा लोक के असख्यातवें भाग म (जीव की स्थिति है)।

शङ्का—जीवों के परिमाण की न्यूनाधिकता का क्या कारण है?

समाधान—अनन्तानन्त परमाणुओं के प्रचयरूप कार्मण शरीर क साथ

જ્યારે જીવ કેવલિસમુદ્ઘાત કરે છે, તે સમય તે એક જીવ સપૂર્ણ લોકાકાશમા વ્યાપ્ત થઈ જાય છે સમસ્ત જીવરાશિની અપેક્ષાથી સપૂર્ણ લોકાકાશ જીવોનુ આધારક્ષેત્ર છે

જીવનો અવગાહ લોકાકાશના અસખ્યાતમા ભાગમા હોય છે આ વિષયમા આગમનુ પ્રમાણુ આ પ્રમાણે છે—

"सट्ठाणेण लोयस्स असखेज्जइभागे" સ્વસ્થાનની અપેક્ષા લોકના અસખ્યાતમા ભાગમાં (જીવની સ્થિતિ છે) प्रज्ञापना, २ पद जीवस्थानाधिकार)

શકા—જીવોના પરિણામની ન્યૂનાધિકતાનુ શુ કારણુ છે?

સમાધાન—અનતાનત પરમાણુઓના પ્રચય (સમૂહ) રૂપ કાર્મણુ શરીર

जीवस्य स्थितिक्षेत्रम्—

लोकाकाशस्याऽसंख्यातभागतः समारभ्य, समस्तलोकाकाशे जीवोऽवगाहते। जीवप्रदेशानां प्रदीपवत् संकोचविस्तारस्वभावत्वात्। आत्मनः परिमाणं न गगनवन्महत्, नापि परमाणुवदणु, किन्तु मध्यमम्।

यद्यपि प्रदेशसंख्यापेक्षया समानमेव सर्वेषामात्मनां स्वस्वपरिमाणम्, तथापि दैर्घ्य-विस्तारादि सर्वेषां विसदृशमेव। अतः प्रत्येकजीवस्याऽऽधारक्षेत्रं जघन्यतो लोकाकाशस्याऽसंख्यातभागतः समारभ्य समग्रभागपर्यन्तं भवितुम-

---

जीव का स्थितिक्षेत्र—

लोकाकाश के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोकाकाश में जीव का अवगाहन हो सकता है। कारण यह है कि—जीव के प्रदेश दीपक की प्रभा के समान संकोच-विस्तार स्वभाव वाले हैं, अर्थात् कभी सिकुड जाते हैं और कभी फैल जाते हैं। आत्मा का परिमाण न तो आकाश के समान महान् (सर्वव्यापी) है और न परमाणु के बराबर ही है किन्तु आत्मा मध्यम परिमाण वाला है।

प्रदेशों की संख्या की अपेक्षा समस्त आत्माओं का परिमाण बराबर है, अर्थात् सब आत्मा लोकाकाश के बराबर असंख्यातप्रदेश वाले हैं किन्तु प्राप्त शरीर के अनुसार उनके विस्तार में (परिमाण में) अन्तर पड जाता है, अतः प्रत्येक

જીવનું સ્થિતિક્ષેત્ર—

લોકાકાશના અસંખ્યાતમા ભાગથી લઈને સંપૂર્ણ લોકાકાશમાં જીવનું અવગાહન થઈ શકે છે કારણ એ છે કે—જીવના પ્રદેશ દીપકની પ્રભાની સમાન સંકોચ-વિસ્તાર સ્વભાવવાળા છે, અર્થાત્ કોઈ વખત સંકુચાઈ જાય છે અને કોઈ વખત ફેલાઈ જાય છે આત્માનું પરિમાણ આકાશપ્રમાણે મહાન નથી અને પરમાણુના બરાબર પણ નથી પરન્તુ આત્મા મધ્યમ પરિમાણ વાળો છે

પ્રદેશોની સંખ્યાની અપેક્ષાએ સમસ્ત આત્માનું પરિમાણ બરાબર છે અર્થાત્ સર્વ આત્મા લોકાકાશના બરાબર અસંખ્યાત પ્રદેશવાળા છે, પરંતુ પ્રાપ્ત શરીરના અનુસાર તેના વિસ્તારમાં (પરિમાણમાં) અંતર પડી જાય છે તેટલા કારણથી પ્રત્યેક જીવનો આધાર-ક્ષેત્ર લોકાકાશના અસંખ્યાતમા ભાગથી લઈને સંપૂર્ણ લોક સુધી થઈ શકે છે.

हृताकाशे चावस्थित प्रकाशपुञ्जरूप प्रदीप स्वाश्रयमात्रावभासी क्वचित् सङ्कुचित क्वचित् वितवश्च भवति । अत शरीरपरिमाणानुसार परिमाण दधान आत्मा मूर्त इव विज्ञायते । उक्तश्च राजप्रश्नीयसूत्रे—

"पएसी ! जहाणामए-कूडागारसाला सिया जाव गमीरा, अह ण केई पुरिसे जोइ व दीव व" इत्यारभ्य "एवामेव पएसी ! जीवेवि ज जारिसय पुव्वकम्मनिबद्ध बोंदिं णिव्वत्तेइ त असखेज्जेहिं जीवपएसेहिं सचित्त करेइ-खुड्डियं वा महालिय वा" इति पर्यन्तम् । सू० ८४ ॥ इति ॥

प्रदेशिन तद् यथानामकम्-कूटागारशाला स्यात् यावद् गम्भीरा अथ खलु कोऽपि पुरुप ज्योतिर्वा दीप वा (इत्यारभ्य) एवमेव प्रदेशिन ! जीवोऽपि या यादृशिका पूर्वकर्मनिबद्धा बोंदिं निर्वर्त्तयति तामसख्येयैर्जीवप्रदेशै सचित्ता करोति क्षुद्रिकां वा महालया वा ।" इति च्छाया ।

महल में और खुल आकाश में रक्खा हुआ प्रकाश का पुञ्जरूप दीपक अपनी जगह पर माळ्म होता हुआ कहीं सकुचित होता है और कहीं विस्तृत होता है । इसी प्रकार शरीर के परिमाण के अनुसार परिमाणवाला आत्मा मूर्त जैसा माळ्म होता है । राजप्रश्नीय सूत्र में कहा है —

"हे प्रदेशी राजा ! जैसे कोई कूटागार शाला हो और वह (यावत्) गमीर हो और कोइ पुरुप जोत या दीपक उस म रक्खे तो वह उसे पूर्णरूप से प्रकाशित करता है, इसी प्रकार हे प्रदेशी ! आत्मा अपने पूर्वोपार्जित कर्मों के अनुसार जैसा शरीर पाता है, उसे असख्यात आत्मप्रदेशों से सजीव बना देता है, चाहे वह शरीर बडा हो चाहे क्षुल्ल (छोटा) हो" ।

જેવી રીતે ઘરમાં, મહેલમા અને ખુલ્લા આકાશમા રાખેલો પ્રકાશ-પુજરૂપ દીપક, પોતાની જગ્યાએ દેખાતો થકો કોઈ જગ્યાએ સકુચિત હોય છે અને કોઇ જગ્યાએ વિસ્તૃત હોય છે એ પ્રમાણે શરીરના પરિમાણ અનુસાર પરિમાણ વાળો આત્મા મૂર્ત જેવો દેખાય છે राजप्रश्नीय सूत्रमा કહ્યુ છે —

"હે પરદેશી રાજા ! જેમ કોઈ કૂટાગાર શાળા હોય તે (યાવત્) ગભીર હોય અને કોઇ પુરુષ જ્યોત અથવા દીપક તેમા રાખે તો તે એને પૂર્ણરૂપથી પ્રકાશિત કરે છે, એ પ્રમાણે હે પરદેશી ! આત્મા પોતાના પૂર્વોપાર્જિત કર્મો પ્રમાણે જેવુ શરીર પ્રાપ્ત કરે છે, તેને અસખ્યાત આત્મપ્રદેશોથી સજીવ બનાવી દે છે, તે શરીર ગમે તો મોટુ હોય અથવા નાનુ હોય"

बहूनां वा जीवानां परिमाण विविधं जायते। कार्मण–शरीर हि सर्वदाऽनेक-रूपेणावतिष्ठते। तत्सम्बन्धादौदारिकाद्यपि शरीर तदनुसारि न्यूनाधिक-परिमाणभाग् भवति।

जीवस्य मूर्तवद् ह्रासवृद्धि —

वस्तुतो रूपरहितोऽपि जीव शरीरसम्बन्धान्न्यूनाधिकपरिमाणं दधन्मूर्त इवापचयोपचयौ प्राप्नोति। स हि स्वभावत प्रदीपवन्निमित्तमासाद्य संकोचविकाशशीलः स्वाश्रयमात्रेऽवभासते। यथा–कलशे प्रासादप्रदेशे निरा-

अनादि काल से जीव का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के कारण एक ही जीव का अनेक कालों में, और अनेक जीवों का एक ही काल में भिन्न२ प्रकार का परिमाण होता है। कार्मण शरीर सदा विभिन्न रूपों म परिणमन करता रहता है। उसके संयोग से औदारिक आदि शरीर भी कार्मण शरीर के अनुसार न्यूनाधिकपरिमाणवाले होते हैं।

जीव की ह्रास–वृद्धि—

जीव वास्तव में अरूपी है, फिर भी शरीर के साथ सम्बन्ध होने के कारण वह छोटे–मोटे परिमाग को धारण करता है, अत उस में मूर्त पदार्थ की भाँति अपचय (ह्रास) और उपचय (वृद्धि) होता है। स्वभाव से सङ्कोच विकासवाला जीव निमित्त पाकर दीपक की तरह अपने आश्रय (शरीर) में प्रतिभासित होता है। जैसे घट में,

સાથે અનાદિ કાલથી જીવનો સંબંધ છે; એ સંબંધના કારણે એકજ જીવના અનેક કાલોમા, અને અનેક જીવોના એકજ કાલમા ભિન્ન ભિન્ન પ્રકારનું પરિમાણ થાય છે કાર્મણ શરીર સદાય વિભિન્ન રૂપોમાં પરિણમન કરી રહે છે, તેના સંયોગથી ઔદારિક આદિ શરીર પણ કાર્મણ શરીર પ્રમાણે ન્યૂનાધિક પરિમાણવાળા હોય છે

જીવની હ્રાસ વૃદ્ધિ—

જીવ વાસ્તવમા અરૂપી છે, તો પણ શરીરની સાથે સંબંધ હોવાના કારણે તે નાના–મોટા પરિમાણને ધારણ કરે છે, તે કારણથી તેમા મૂર્ત્ત પદાર્થની જેમ અપચય (હ્રાસ) અને ઉપચય (વૃદ્ધિ) થાય છે સ્વભાવથી સંકોચ–વિકાસવાળો જીવ નિમિત્ત પ્રાપ્ત કરી દીપકની પ્રમાણે પોતાના આશ્રય (શરીર)માં પ્રતિભાસિત થાય છે–(દેખાય છે)

कर्मणामत्यन्तोच्छेदे सति कर्मसङ्गाभावात् कर्मबन्धनोच्छेदाच नास्त्येवोर्ध्वगति-प्रतिबन्धक तदा स्वस्वभावानुसारेणोर्ध्वगमनावसर सिद्धानामुपतिष्ठते ।

जीवस्य लक्षणम्—

उपयोगवत्त्व जीवस्य लक्षणम् । उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेद प्रति व्यापार्यते जीवोऽनेनेत्युपयोग करणे घञ् । बोधरूपो व्यापार उपयोग । ज्ञान, सवेदन, प्रत्यय , इति नामान्तराणि ।

सामान्यविशेषरूपबोधद्वयदर्शनान्निश्चयो भवति-विद्यते खलु जीव', यस्येमौ सामान्यविशेषावबोधौ, न च तादृश कश्चिदस्ति जीवो, यस्य साका-

कर्मों का ससर्ग नहीं रहता, कर्मबन्धन का उच्छेद होने से ऊर्ध्वगति का कोई प्रतिबन्धक नहीं रहता, तब सिद्ध जीवों को ऊर्ध्व गमन का अवसर प्राप्त होता है ।

जीव का लक्षण—

जीव का लक्षण उपयोग है । जो जीव को वस्तु के बोध में व्यापृत करता है उपयुक्त बनाता है उसे उपयोग कहते हैं । तात्पर्य यह है कि—बोधरूप व्यापार उपयोग कहलाता है । ज्ञान सवेदन, प्रत्यय, ये उपयोग क पर्यायवाची शब्द हैं ।

सामान्य बोध (दर्शन) और विशेष बोध (ज्ञान) अनुभवसिद्ध है । इन दोनों बोधों से यह निश्चय होता है कि जीव अवश्य है, जिस म यह सामान्य और विशेष बोध पाया जाता है । ऐसा कोई जीव नहीं है जिस म सामान्य-बोध (निराकार

જાય છે, અને કર્મોનો સસર્ગ રહેતો નથી, ત્યારે કર્મબધનનો ક્ષય થવાથી ઉર્ધ્વગતિ થવામા કોઈ પ્રતિબધક (અતરાય કરનાર) રહેતુ નથી, ત્યારે સિદ્ધ જીવોને ઉર્ધ્વ ગમન કરવાનો અવસર પ્રાપ્ત થાય છે

જીવનુ લક્ષણ—

જીવનુ લક્ષણ ઉપયોગ છે, તે જીવને વસ્તુના બોધમા વ્યાપૃત-વ્યાપારયુક્ત કરે છે તાત્પર્ય એ છે કે-બોધરૂપ વ્યાપાર ઉપયોગ કહેવાય છે જ્ઞાન, સવેદન, પ્રત્યય, આ સવ ઉપયોગના પર્યાયવાચી શબ્દો છે,

સામાન્ય બોધ (દર્શન) અને વિશેષ બોધ (જ્ઞાન) અનુભવ સિદ્ધ છે એ બન્ને બોધોથી એમ નિશ્ચય થાય છે કે-જીવ અવશ્ય છે, જેમા આ સામાન્ય તથા વિશેષ બોધ જોવામાં આવે છે એવો કોઈ જીવ નથી કે જેમા સામાન્ય બોધ

जीवस्य-ऊर्ध्वगति —

सकलकर्मणा क्षये सति सपदि जीवो मुक्त सन्नूर्ध्वं गच्छति, न च 'जीवस्यामूर्तत्वाद् गतेरसमव' इति वाच्यम्, स्वभावत एव पुद्गलद्रव्यवद् जीवस्य गतिशीलत्वात्।

इयान् विशेष' पुद्गलेभ्य –पुद्गलाः स्वभावादधोगतिशीला', जीवास्तु स्वभावादूर्ध्वगतिशीला। प्रतिबन्धकद्रव्यसद्भावाद् ऊर्ध्वगमनस्वभावा जीवा अधस्तिर्यग् वा गच्छन्ति, गन्तुमक्षमा वा भवन्ति। तच्च तद्गतिप्रतिबन्धक कर्मैव। यदा सकल-

जीव की ऊर्ध्वगति—

सकल कर्मों का क्षय होने पर तत्काल मुक्त हुआ जीव ऊपर की ओर गमन करता है। 'जीव अमूर्त है और इस कारण वह गति नहीं कर सकता' ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्यों कि पुद्गल-द्रव्य के समान जीव स्वभाव से ही गतिशील है।

गति के विषय में जीव और पुद्गल में इतना भेद है–पुद्गल अधोगतिशील हैं और जीव ऊर्ध्वगतिशील हैं, अर्थात् पुद्गलों का स्वभाव नीचे जाने का है और जीव का स्वभाव ऊपर की ओर जाने का है मगर रुकावट डालने वाले द्रव्यों के निमित्त से ऊर्ध्वगतिशील जीव भी नीचे की ओर अथवा तिरछा गमन करता है। या कभी गमन करने में असमर्थ हो जाता है। जीव की स्वाभाविक गति का प्रतिबन्धक (रुकावट डालने वाला) कर्म ही है। जब समस्त कर्मों का अत्यन्त उच्छेद हो जाता है और

જીવની ઉર્ધ્વ ગતિ—

સકલ કર્મોનો ક્ષય થયા પછી તત્કાલ મુક્ત થયેલો જીવ ઉપર તરફ ગમન કરે છે 'જીવ અમૂર્ત છે, અને એ કારણથી તે ગતિ કરી શકતો નથી'—એમ કહેવુ તે ઠીક નથી, કેમકે પુદ્ગલની પ્રમાણે જીવ સ્વભાવથી જ ગતિશીલ છે

ગતિના વિષયમા જીવ અને પુદ્ગલમા એટલો ભેદ છે –પુદ્ગલ અધોગતિશીલ છે, અને જીવ ઉર્ધ્વગતિશીલ છે અર્થાત્ પુદ્ગલોનો સ્વભાવ નીચે જવાનો છે, અને જીવનો સ્વભાવ ઉપર તરફ જવાનો છે પરતુ તેમા અતરાય નાંખવાવાળા દ્રવ્યોના નિમિત્તથી ઉર્ધ્વગતિશીલ જીવ પણ નીચે તરફ અથવા તિછો ગમન કરે છે અથવા કોઈ વખત ગમન કરવામા અસમર્થ થઈ જાય છે જીવની સ્વાભાવિક ગતિનો પ્રતિબંધ (અટકાયત) કરનાર કર્મ જ છે જ્યારે સકલ કર્મોનો અત્યન્ત ક્ષય થઈ

तिरोहितो भवति। तथा पृथिवीकायादिजीवानामुपयोगाश' स्फुरत्येव सर्वदा। यदि लोकव्यापिन' पुद्गला• सत्रीभूयापि कर्मवर्गणारूपेण सर्वतोभावेन ज्ञानं तिरोदध्युस्तर्हि निर्जीवतापत्तिरात्मनो दुर्वारा स्यात्। तस्मात् पृथिव्यादिजीवेषु बोधाश स्वभावतोऽनावृतस्तिष्ठत्येवेति सिद्धम्। उक्त चागमे—

"सव्वजीवाण पि य णं अक्खरस्स अणतभागो निच्चुग्घाडिओ। जइ पुण सोऽवि आवरिज्जा तो ण जीवो अजीवत्तं पाविज्जा"

"सुट्ठुवि मेहसमुदए, होइ पभा चंद–सूराण" इति।

छाया—सर्वजीवानामपि च खलु अक्षरस्यानन्तभागो नित्योद्घाटित'। यदि पुन सोऽपि आव्रियेत तर्हि खलु जीवः अजीवत्व प्राप्नुयात्। "सुष्ठ्वपि मेघसमुदये, भवति प्रभा चन्द्रसूरयो" इति।

तिरोहित नहीं हो सकता, इसी प्रकार पृथिवीकाय आदि एकेन्द्रिय जीवों के उपयोग का अश सदा स्फुरायमान रहता ही है। अगर लोकव्यापी पुद्गल इकट्ठे हो कर्मवर्गणा-रूप परिणत हो कर ज्ञान को पूरी तरह आच्छादित कर डाले तो जीव अजीव बन जाय, मगर ऐसा होना असम्भव है, अत एव यह सिद्ध है कि–पृथिवीकाय आदि एक इन्द्रिय वाले जीवों में भी ज्ञान का किंचित् अ श स्वभाव से अनावृत (आवरण रहित) रहता है। आगम में भी कहा है—"सव्वजीवाण पि य णं अक्खरस्स अणतभागो निच्चुग्घाडिओ, जइ पुण सोवि आवरिज्जा तो ण जीवो अजीवत्त-पाविज्जा" "सुट्ठुवि मेहसमुदए होइ पभा चदसूराण"

પ્રકાશ ક્યારેય પૂર્ણ પણે તિરોહિત–આચ્છાદિત થતો નથી એ પ્રમાણે પૃથિવીકાય આદિ એકેન્દ્રિય જીવોના "ઉપયોગ" અંશ પણ સદા સ્ફુરાયમાન રહે છે અગર લોકવ્યાપી પુદ્ગલ એકઠા થઈને કર્મવર્ગણારૂપ પરિણત થઈને જ્ઞાનને પૂરી તરેહથી આચ્છાદિત કરી નાખે (ઢાંકી દે) તો જીવ અજીવ બની જાય, પણ એમ બનવુ અસભવિત છે એટલા કારણથી એ સિદ્ધ છે કે–પૃથિવીકાય આદિ એક ઇન્દ્રિયવાળા જીવોમા પણ જ્ઞાનનો કિંચિત્ અંશ સ્વભાવથી અનાવૃત–આવરણરહિત રહે છે આગમમા પણ કહ્યું છે—"सव्वजीवाण पि य ण अक्खरस्स अणतभागो निच्चुग्घाडिओ। जइ पुण सोवि आवरिज्जा तो ण जीवो अजीवत्त पाविज्जा" "सुट्ठुवि मेहसमुदए होइ पभा चदसूराण"

रानाकारोपयोगौ न स्त.। अत एवोक्त भगवता–"जीवो उवओगलक्खणो" इति।

लक्ष्यते–ज्ञायतेऽनेनेति लक्षणम्। उपयोगो लक्षण यस्य स उपयोगलक्षणः। ज्ञानावगम्यो जीव इत्यर्थः।

पृथिवीकायादिसर्वससारिजीवानां बोधस्यानन्ततमो भाग' सर्वदा प्रकाशमानोऽनावृतस्तिष्ठत्येव। नहि सकललोकान्तवर्तिन पुद्गला कर्मरूपतया परिणता अपि कस्यापि जीवस्य सर्वतोभावेन ज्ञानमावरीतु प्रभवन्ति। यथा–अतिनिविडघनघटाऽऽच्छादितस्यापि सूर्यस्य प्रकाशलेश प्रकाशत एव, नच सर्वथा

उपयोग) और विशेष बोध (साकार उपयोग) विद्यमान न हो, इसी कारण भगवान्‌ने कहा है–"जीवो उवओगलक्खणो" जीव उपयोग लक्षण वाला है।

जिस के द्वारा वस्तु लखी जाय–जानी जाय वह लक्षण कहलाता है। उपयोग जिस का लक्षण हो उसे उपयोगलक्षण कहते हैं। तात्पर्य यह है कि–ज्ञान लक्षण के द्वारा जीव मालूम होता है।

पृथिवीकाय आदि समस्त ससारी जीवों के ज्ञान का अनन्तवा भाग सदैव प्रकाशमान और आवरणरहित बना रहता है। सम्पूर्ण लोकाकाश के पुद्गल कदाचित् कर्मरूप में परिणत हो जाएँ तो भी वह किसी एक जीव के ज्ञान को पूर्णरूप से आवृत नहीं कर सकते। सूर्य चाहे कितनी ही सघन घनघटा से आच्छादित क्यों न हो जाए, उसका थोडा बहुत प्रकाश बना ही रहता है, प्रकाश कभी पूरी तरह

(નિરાકાર ઉપયોગ) અને વિશેષ બોધ (સાકાર ઉપયોગ) વિદ્યમાન ન હોય, એ કારણથી ભગવાને કહ્યુ છે કે—"जीवो उवओगलक्खणो" જીવ ઉપયોગ લક્ષણવાળો છે

જેના દ્વારા વસ્તુ લખી શકાય–જાણી શકાય–તે લક્ષણ કહેવાય છે ઉપયોગ જેનું લક્ષણ હોય, તેને "ઉપયોગલક્ષણ" કહે છે તાત્પર્ય એ છે કે–જ્ઞાનલક્ષણ દ્વારા જીવ માલૂમ પડે છે

પૃથિવીકાય આદિ તમામ સસારી જીવોના જ્ઞાનનો અનતમો ભાગ હમેશા પ્રકાશમાન અને આવરણરહિત બની રહે છે સપૂર્ણ લોકાકાશના પુદ્ગલો કદાચ કર્મરૂપમા પરિણત થઈ જાય તો પણ તે કોઈ એક જીવના જ્ઞાનને પૂર્ણરૂપથી આવૃત કરી (ઢાંકી) શકે નહિ સૂર્ય ગમે તેટલી ઘનઘટા–(મેઘાડબર)મા આચ્છાદિત થઈ જાય તો પણ સૂર્યનો થોડો–ઘણો પ્રકાશ તો બની જ રહે છે,

प्राप्य, केवलज्ञानसंज्ञां प्राप्नोति ।

जीवा द्विविधा -सिद्धा असिद्धाश्च। तत्र निर्धूताशेषकर्माण सिद्धा, असिद्धा ससारिण । द्रव्यभावबन्ध ससार । कर्माष्टकसम्बन्धो द्रव्यबन्ध, रागद्वेषादिपरिणामसम्बन्धो भावबन्ध । द्विविधबन्धरूप ससारोऽस्ति येषां ते ससारिण । ससारिणो द्विविधा त्रसस्थावरभेदात्। तत्र पृथिव्यम्बुवनस्पतय स्थावरा । तेजोवायूदाराखसा । तेजोवायू गत्यैव त्रसौ, न तु लब्ध्या । तत्रोदाराश्चतुर्विधा -द्वि-त्रि-चतु -पञ्चेन्द्रियभेदात्। तत्र पञ्चेन्द्रिया पुनर्द्विविधा समनस्का अमनस्काश्च ।

को जानने योग्य विशुद्धता प्राप्त करके केवल ज्ञान सज्ञा को पाता है ।

जीव दो प्रकार के हैं —सिद्ध जीव और असिद्ध जीव। सकल कर्मों से रहित जीव सिद्ध कहलाते हैं, और ससारी जीव असिद्ध कहलाते हैं। द्रव्यबध और भावबध को संसार कहते है। आठ कर्मोका सम्बध द्रव्यबन्ध है, और राग द्वेष आदि परिणामों का सम्बन्ध होना भावबन्ध है। यह दो प्रकार का बधरूप ससार जिन के हो वे ससारी जीव कहलाते हैं। ससारी जीव त्रस और स्थावर के भेदसे दो प्रकार के हैं। पृथ्वी जल और वनस्पति, ये स्थावर हैं, तेज वायु और उदार जीव त्रस हैं। इन में तेज और वायु गतित्रस हैं लब्धि से स्थावर हैं।

उदार के चार भेद है-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। पञ्चेन्द्रिय जीवों के सज्ञी और असज्ञी, ये दो भेद हैं।

ક્ષય થવાથી સમસ્ત જ્ઞેય પદાર્થોને જાણવા યોગ્ય વિશુદ્ધતા પ્રાપ્ત કરીને કેવલજ્ઞાન સંજ્ઞા પામે છે

જીવ બે પ્રકારના છે.—સિદ્ધ જીવ અને અસિદ્ધ જીવ, સકલ કર્મોથી રહિત જીવ સિદ્ધ કહેવાય છે, અને સંસારી જીવ અસિદ્ધ કહેવાય છે દ્રવ્યબંધ અને ભાવબંધને સંસાર કહે છે આઠ કર્મોનો સંબંધ તે દ્રવ્યબંધ છે, અને રાગ-દ્વેષ આદિ પરિણામોનો સંબંધ થાય તે ભાવબંધ છે એ બે પ્રકારના બંધરૂપ સંસાર જેને હોય છે તે સંસારી જીવ કહેવાય છે સંસારી જીવ ત્રસ અને સ્થાવરના ભેદથી બે પ્રકારના છે પૃથ્વી, પાણી, અને વનસ્પતિ આ ત્રણ સ્થાવર છે, તેજ, વાયુ, ઉદાર જીવ ત્રસ છે તેમા તેજ અને વાયુ ગતિત્રસ છે, લબ્ધિથી સ્થાવર છે ઉદારના ચાર ભેદ છે દ્વીન્દ્રિય, ત્રીન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય અને પંચેન્દ્રિય. પંચેન્દ્રિય જીવોના સંજ્ઞી અસંજ્ઞી, એ બે ભેદ છે

तस्माद् यश्च यावानुपयोगांशः सर्वसंसारिजीवेषु यथासमयं स्वभावतोऽनावृतो वर्तते, तत्र सर्वतो जघन्य उपयोगांशः प्रथमसमये स्वल्पपर्याप्तानां सूक्ष्मनिगोदानामेव भवति। ततः परं स एवोपयोगांशः अवशिष्टैकेन्द्रिय-द्वि-त्रि-चतु-पञ्चेन्द्रियभेदाद् भिद्यमानः संभिन्नस्रोतस्त्वादिलब्धिसमूहेन च लब्धिनिमित्तकरणशरीरेन्द्रियवाङ्मनांसि समाश्रित्य प्रवर्धमानो विविधक्षायोपशमकृतवैचित्र्यवतामवग्रहादीनां भेदेन ततोऽप्यधिकतरं वर्धमानः सकलघातिकर्मक्षयं कृत्वा, सकलज्ञेयग्राहिकां परां विशुद्धिं

"सर्व जीवों के अक्षर का अनन्तवा भाग ज्ञान सदैव उघाडा (निरावरण) बना रहता है, अगर वह भी ढक जाय तो जीव अजीव हो जाय।"

"मेघों का खूब समुदाय होने पर भी चन्द्रमा और सूर्य की प्रभा तो बनी ही रहती है।"

उपयोग का जो सर्व जघन्य अंश समस्त संसारी जीवोंमें सर्वदा अनावृत बना रहता है, वह जघन्य अंश उत्पत्ति के प्रथम समय में वर्तमान अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीवों में भी होता है। तत्पश्चात् वही उपयोग का अंश एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय के भेद से भिन्न होता हुआ संभिन्नस्रोतस्त्व आदि लब्धियों के समूह से लब्धि, निमित्त, करण, शरीर, इन्द्रिय वचन और मन का आश्रय लेकर बढता जाता है। यहाँ तक कि विविध प्रकार के क्षयोपशम की विचित्रता वाले जीवों के अवग्रह आदि के भेद से और उस से भी अधिक बढकर समस्त घाती कर्मों का क्षय होने पर समस्त ज्ञेय पदार्थों

"સર્વ જીવોને અક્ષરનો અનંતમો ભાગ જ્ઞાન સદૈવ ઉઘાડું (નિરાવરણ) રહે છે અગર તે પણ જો ઢંકાઈ જાય તો જીવ અજીવ થઈ જાય"

"મેઘનો ખુબ સમુદાય હોય તો પણ ચંદ્ર અને સૂર્યની પ્રભા બની રહે છે"

ઉપયોગનો જે સર્વ જઘન્ય અંશ તમામ સંસારી જીવોમાં સર્વદા અનાવૃત (ઉઘાડો) બની રહે છે તે સર્વ જઘન્ય અંશ ઉત્પત્તિના પ્રથમ સમયમાં વર્તમાન, અપર્યાપ્ત સૂક્ષ્મ નિગોદના જીવોમાં પણ હોય છે તે પછી તે ઉપયોગનો અંશ એકેન્દ્રિય દ્વીન્દ્રિય ત્રીન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય અને પંચેન્દ્રિયના ભેદથી ભિન્ન થઈને, સંભિન્નસ્રોતસ્ત્વ આદિ લબ્ધિઓના સમૂહથી, લબ્ધિ, નિમિત્ત, કરણ શરીર, ઇન્દ્રિય, વચન અને મનનો આશ્રય લઈને વધતો જાય છે, અહીં સુધી કે વિવિધ પ્રકારના ક્ષયોપશમની વિચિત્રતાવાળા જીવોને અવગ્રહ આદિ ભેદથી અને તેનાથી પણ અધિક વધીને સમસ્ત ઘાતી કર્મોના

अथ षड्द्रव्यविचार'—

षट्सु द्रव्येषु वियद् द्रव्य क्षेत्रम्, इतरे धर्मादय पञ्च क्षेत्रवर्तित्वात् क्षेत्रिण । देवकुरूत्तरकुरुक्षेत्रवर्तियौगलिकैककेशस्य खण्डश करणे पर्यन्ततो यस्य खण्डस्य पुन खण्डो न भवितुमर्हति, तादृशखण्डपरिमाण यावदाकाशक्षेत्र व्याप्नोति, तावति भागे वियतोऽसख्यातप्रदेशा , धर्मास्तिकायस्यासख्यातप्रदेशा , अधर्मास्तिकायस्य चा सख्यातप्रदेशा , असख्याता निगोदाना गोलकाश्च तिष्ठन्ति ।

सूच्यग्रभागपरिमिते निगोदखण्डेऽप्यसंख्याता श्रेणय सन्ति । तत्र प्रत्येकश्रेण्यामसख्याता प्रतरा , प्रतरे च प्रत्येकमसख्याता गोलका , गोलके

षड्द्रव्यविचार—

छह द्रव्यों म से आकाश द्रव्य, क्षेत्र है, और शेष धर्म आदि पाच द्रव्य क्षेत्रवर्ती होने के कारण क्षेत्री हैं। देव कुरु और उत्तरकुरु क्षेत्रों के जुगलियाके एक केश के ऐसे टुकडे किये जाएँ कि फिर उनका दूसरा टुकडा न हो सके। इन में से एक टुकडा जितन आकाश क्षेत्र को व्याप्त करता है उतने भाग म आकाश के असंख्यात प्रदेश होते हैं। उसी में धर्मास्तिकाय के असख्यात प्रदेश हैं, अधर्मास्तिकाय के असख्यात प्रदेश हैं, और निगोद के असख्यात गोलक विद्यमान है।

सुई की नोक बराबर निगोद के खण्ड में भी असख्यात श्रेणियां विद्यमान हैं। एक २ श्रेणी में असंख्यात-असख्यात प्रतर हैं, एक २ प्रतर में असख्यात२ गोलक हैं,

षड्द्रव्य विचार—

छ द्रव्योमा आकाश द्रव्य क्षेत्र छे, अने बाकीना धर्म आदि पाचद्रव्यो क्षेत्रवर्ती होवाथी क्षेत्र छे, देवकुरु अने उत्तरकुरु क्षेत्रोना जुगलियाना एक केश-वाळना एवा टुकडा करवामा आवे के फरीने तेनो बीजो टुकडो थई शके नहि, तेमाथी एक टुकडो जेटला आकाशक्षेत्रने व्याप्त करे छे तेटला भागमां आकाशना असख्यात प्रदेश कहेवाय छे तेमा धर्मास्तिकायना असख्यात प्रदेश छे, अधर्मास्तिकायना असख्यात प्रदेश छे, अने निगोदना असख्यात गोलक विद्यमान छे

सोयनी अणी बरोबर निगोदना खडमा पण असख्यात श्रेणीओ विद्यमान छे एक एक श्रेणीमा असख्यात-असख्यात-प्रतर छे एक एक प्रतरमा

जीवास्तिकायस्य (१)–अनन्तज्ञानम्, (२)–अनन्तदर्शनम् (३)–अनन्तसुखम्, (४)–अनन्तवीर्यं चेति गुणाः। (१)–अव्याबाधवत्त्वम्, (२)–अनवगाहत्त्वम्, (३)–अमूर्तिकत्वम् (४)–अगुरुलघुवत्त्व चेति पर्यायाः।

अथ द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव–गुण–भेदेन पञ्चधा ज्ञायते–(१)–द्रव्यतः–अनन्ता जीवाः, (२)–क्षेत्रतो लोकप्रमाणाः, (३)–कालत आद्यन्तरहिताः, (४)–भावतः अरूपिणः–वर्णगन्धरसस्पर्शवर्जिता इति, (५)–गुणतश्चेतनालक्षणा इति।

। इति जीवास्तिकायः सम्पूर्णः–

जीवास्तिकाय के गुण ये हैं– (१) अनन्त ज्ञान (२) अनन्त दर्शन (३) अनन्त सुख और (४) अनन्त वीर्य।

(१) अव्याबाधवत्व (२) अनवगाहनावत्व (३) अमूर्तिकत्व और (४) अगुरुलघुत्व, ये जीव की पर्याय हैं।

द्रव्य क्षेत्र काल भाव और गुण के भेद से पाच प्रकार से जीवास्तिकाय का ज्ञान होता है। (१) द्रव्य से–जीव अनन्त हैं, (२) क्षेत्र से–लोकप्रमाण हैं (३) काल से–आदि–अन्त रहित हैं (४) भाव से–अरूपी हैं–रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श से रहित हैं (५) गुण से–चेतनालक्षण हैं।

। इति जीवास्तिकाय।

જીવાસ્તિકાયના ગુણ આ છે–(૧) અનંતજ્ઞાન, (૨) અનંત દર્શન (૩) અનંત સુખ અને (૪) અનંત વીર્ય

(૧) અવ્યાબાધવત્ત્વ (૨) અનવગાહનાવત્ત્વ (૩) અમૂર્તિકત્વ અને (૪) અગુરૂલઘુત્વ, એ જીવની પર્યાય છે

દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાલ, ભાવ અને ગુણના ભેદથી પાંચ પ્રકારે જીવાસ્તિકાયનું જ્ઞાન થાય છે (૧) દ્રવ્યથી–જીવ અનંત છે (૨) ક્ષેત્રથી–લોકપ્રમાણ (૩) કાલથી–આદિ અન્ત રહિત છે (૪) ભાવથી–અરૂપી છે–રૂપ–રસ–ગંધ અને સ્પર્શથી રહિત છે (૫) ગુણથી–ચેતનાલક્ષણ છે

ઇતિ જીવાસ્તિકાય–

परमाणूनां द्वौ भेदौ स्त-वद्धा अबद्धाश्च। तत्र बद्धा स्कन्धरूपा'। अबद्धा परस्परासयुक्ता । स्कन्धाना पुनर्द्वौ भेदौ-जीवसहिता , जीवरहिताश्च। तत्र घट-पटादिरूपा अजीवस्कन्धा॰ ।

अथ जीवस्कन्ध-विचार' प्रस्तूयते—

द्वयो परमाण्वो सयोगे द्विप्रदेशी स्कन्ध । त्रयाणा परमाणूनां सयोगे त्रिप्रदेशी स्कन्ध । एवमसंख्यातानां परमाणूना सयोगादसंख्यातप्रदेशी स्कन्धो जायते। एतावत्पर्यन्ता स्कन्धा जीवाना ग्राह्या न भवन्ति ।

परमाणु दो प्रकार के हैं- बद्ध और अबद्ध । स्कन्धरूप परमाणु बद्ध कहलाते हैं, और आपस में असयुक्त परमाणु अबद्ध कहलाते हैं ।

स्कन्ध के भी दो भेद हैं-जीवसहित और जीवरहित, इन में घट पट आदि स्कन्ध अजीवस्कन्ध कहलाते हैं ।

अब जीवस्कन्ध का विचार करते हैं—

दो परमाणुओं का सयोग होने पर द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है, और तीन परमाणुओं के सयोगसे त्रिप्रदेशी स्कन्ध । इसी प्रकार असख्यात परमाणुओं के सयोग से असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होता है। यहाँ तक के स्कन्ध जीवों द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते ।

પરમાણુ બે પ્રકારના છે—(૧) બદ્ધ અને (૨) અબદ્ધ સ્કધરૂપ પરમાણુ બદ્ધ કહેવાય છે, અને આપસમા અસયુક્ત પરમાણુ અબદ્ધ કહેવાય છે

સ્કધના પણ બે ભેદ છે—જીવસહિત અને જીવરહિત. તેમા ઘટ પટ આદિ સ્કધ અજીવસ્કધ કહેવાય છે

હવે જીવસ્કધનો વિચાર કરવામા આવે છે—

બે પરમાણુઓનો સચોગ થવાથી દ્વિપ્રદેશી સ્કધ બને છે, અને ત્રણ પરમાણુ ઓના સચોગથી ત્રિપ્રદેશી સ્કધ બને છે, એ પ્રમાણે અસખ્યાત પરમાણુઓના સચોગથી અસખ્યાતપ્રદેશી સ્કધ ઉત્પન્ન થાય છે અહિ સુધીના સ્કધ, જીવો દ્વારા ગ્રહણ કરી શકાતા નથી.

ष प्रत्येकमसङ्ख्यातानि निगोदशरीराणि सन्ति। तत्र च प्रत्येकशरीरेऽनन्ता निगोदजीवाः सन्ति।

अथ कियन्तोऽनन्ता जीवास्तत्र सन्ति ?–उच्यते–अतीतकालोऽनन्तः, तथा भविष्यत्कालोऽप्यनन्तः, वर्तमानकाल एकसमयमात्रः, कालत्रयस्यापि यावन्तः समया सन्ति, ते पुनरनन्तेन गुणिता यावन्तो भवेयुस्ततोऽप्यनन्त-गुणाधिका एकस्मिन् निगोदे निगोदिका जीवा सन्ति।

तत्रैकजीवस्यासङ्ख्याता प्रदेशा सन्ति। एकैकप्रदेशेऽनन्ता कर्मवर्गणाः संलग्नाः। तत्रैकस्यां वर्गणायामनन्ता परमाणुपुद्गला सन्ति।

एक २ गोलक में असंख्यात २ निगोदशरीर हैं, और एक २ निगोदशरीर में अनन्त २ निगोदजीव हैं।

शङ्का–अनन्त के अनन्त भेद होते हैं, ऐसी स्थिति में एक निगोदशरीर में कितने अनन्त जीव होते हैं ?

समाधान–अतीत काल के अनन्त समय हैं, भविष्य कालके भी अनन्त समय हैं, और वर्तमान काल एक समय मात्र है। इन तीनों कालों के जितने समय हैं उनका अनन्त से गुणाकार कर देने पर जितने समय हों उन से भी अनन्त गुण अधिक निगोदजीव एक निगोदशरीर में होते हैं।

एक जीव के असंख्यात प्रदेश होते हैं। एक२ प्रदेश में अनन्त २ कर्म-वर्गणाएँ लगी हुई हैं, और एक २ वर्गणा में अनन्त२ पुद्गलपरमाणु हैं

અસંખ્યાત ગોલક છે એક એક ગોલકમાં અસંખ્યાત નિગોદ શરીર છે, અને એક એક નિગોદ શરીરમાં અનંત અનંત નિગોદ જીવ છે

શંકા—અનંતના અનંત ભેદ હોય છે, એવી સ્થિતિમાં એક નિગોદ શરીરમાં કેટલા અનંત જીવ હોય છે ?

સમાધાન—અતીતકાલ (ભૂતકાલ)ના અનન્ત સમય છે ભવિષ્યકાલના પણ અનંત સમય છે, અને વર્તમાન કાલ એકસમયમાત્ર છે, એ ત્રણે કાલોમાં જે સમય છે, તેનો અનંતથી ગુણાકાર કરવાથી જે ગુણાકાર (રાશિ) થાય તેટલા સમયથી પણ અનંત ગુણા અધિક નિગોદ જીવ એક નિગોદ–શરીરમાં હોય છે

એક જીવના અસંખ્યાત પ્રદેશ થાય છે એક–એક પ્રદેશમાં અનંત–અનંત કર્મવર્ગણાઓ લાગી છે, અને એક–એક વર્ગણામાં અનંત અનંત પુદ્ગલપરમાણુ છે

वर्गणागतानन्तपुद्गलपरमाणुघटितस्कन्धा जीवानां ग्राह्या भवन्ति।

रागद्वेषरूपाशुद्धप्रवृत्त्याऽऽत्मन प्रतिप्रदेशमनन्तानन्तकर्मवर्गणा अयोगोलकवह्निवल्लोलीभूता' सन्ति, अत एवानन्तज्ञानादयो गुणा जीवस्य तिरोहिता भवन्ति। एवं च जीवापेक्षयाऽनन्तगुणाधिका पुद्गला ज्ञातव्याः। ते च पुद्गला रूपिणोऽचेतना सक्रिया पूरणगलनस्वभावा वेदितव्याः।

पड्द्रव्येषु सक्रिय-निष्क्रियविचार'—

पड्द्रव्येषु निश्चयनयेन सर्वाणि द्रव्याणि सक्रियाणि। व्यवहारनयतो धर्माधर्माकाशकालाख्यानि चत्वारि द्रव्याणि क्रियारहितानि। जीवपुद्गलौ सक्रियौ

परमाणुओं से बने हुए स्कन्ध जीवों द्वारा ग्रहण करने योग्य होते हैं।

राग और द्वेषरूप अशुद्ध प्रवृत्ति के कारण आत्मा के एक एक प्रदेश में अनन्तानन्त कर्मवर्गणाएँ इस प्रकार एकमेक हो रही हैं, जैसे लोहे का गोला और अग्नि एकमेक हो जाते हैं, इसी कारण जीव के अनन्त ज्ञान आदि गुण ढँक जाते हैं। इस प्रकार जीवों की अपेक्षा पुद्गल अनन्त गुणा अधिक जानना चाहिए। ये पुद्गल—रूपी, अचेतन, सक्रिय, और पूरणगलनस्वभाववाले हैं।

छह द्रव्यों में सक्रिय-निष्क्रियका विचार—

निश्चय नय से छहों द्रव्य सक्रिय हैं, किन्तु व्यवहारनयसे धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाश और काल नामक चार द्रव्य क्रिया रहित हैं, जीव और पुद्गल द्रव्य सक्रिय

અનન્ત પુદ્ગલ પરમાણુઓથી બનેલા સ્કધ જીવો દ્વારા ગ્રહણ કરવા યોગ્ય હોય છે

રાગ અને દ્વેષ રૂપ અશુદ્ધ પ્રવૃત્તિના કારણે આત્માના એક-એક પ્રદેશમા અનંતાનત કર્મવર્ગણાઓ એ પ્રમાણે એકમેક થઈ રહી છે કે—જેમ લોઢાનો ગોળો અને અગ્નિ એકમેક થઈ જાય છે, એ કારણથી જીવના અનત જ્ઞાન આદિ ગુણ ઢકાઈ જાય છે એ પ્રમાણે જીવોની અપેક્ષા પુદ્ગલ અનતગુણા અધિક જાણવા જોઈએ. તે પુદ્ગલ, રૂપી, અચેતન સક્રિય અને પૂરણગલનસ્વભાવવાળા છે

છ દ્રવ્યોમા સક્રિય નિષ્ક્રિયનો વિચાર—

નિશ્ચયનય પ્રમાણે છ દ્રવ્યો સક્રિય છે, પરતુ વ્યવહારનયથી ધર્માસ્તિકાય અધર્માસ્તિકાય આકાશ અને કાલ નામના ચાર દ્રવ્યો ક્રિયારહિત છે, જીવ અને

अथ कीदृशा स्कन्धा जीवानां ग्राह्या भवन्ती ?–उच्यते–अभव्यराशिश्चतु सप्ततितम, तद्गतजीवापेक्षयाऽनन्तगुणाधिकाः परमाणवो यदि संघीभवन्ति तदौदारिकशरीरग्राह्यवर्गणा भवति। औदारिकवर्गणापेक्षयाऽनन्तगुणाधिका वैक्रियशरीरग्राह्यवर्गणा। ततोऽनन्तगुणाधिकाऽऽहारकवर्गणा। आहारकवर्गणापेक्षयाऽनन्तगुणाधिका तैजसशरीरग्राह्यवर्गणा। ततोऽनन्तगुणाधिका एकभाषाग्राह्यवर्गणा। एकभाषाग्राह्यवर्गणापेक्षयाऽनन्तगुणाधिका एकश्वासोच्छ्वास वर्गणा। ततोऽनन्तगुणाधिका एकमनसो वर्गणा। तदपेक्षयाऽनन्तगुणाधिका कार्मण वर्गणा भवति। ततोऽनन्तगुणाधिकाः पुद्गलपरमाणुस्कन्धा ज्ञेया। कार्मण

किस प्रकार के स्कन्ध जीवों द्वारा ग्राह्य होते हैं ? यह बतलाते हैं –अभव्य राशि चौहत्तरवीं है। इस अभव्य राशि के जीवों की अपेक्षा अनन्त गुणा अधिक परमाणु यदि इकट्ठे हों तो औदारिकशरीरग्राह्य वर्गणा होती है। औदारिकवर्गणाकी अपेक्षा अनन्तगुणी अधिक वैक्रियशरीरग्राह्य वर्गणा होती है, और इस से भी अनन्त गुणी अधिक आहारकवर्गणा होती है। आहारकवर्गणा से अनन्तगुणी अधिक तैजसशरीरग्राह्य वर्गणा होती है, और उस से भी अनन्तगुणी अधिक एकभाषाग्राह्य वर्गणा होती है। एकभाषावर्गणा से भी अनन्तगुणी अधिक एक श्वासोच्छ्वासवर्गणा होती है, और उस से अनन्तगुणी अधिक एकमनोवर्गणा होती है, मनोवर्गणा से भी अनन्तगुणी अधिक कार्मणवर्गणा होती है। उस से भी अनन्त गुणा अधिक पुद्गल परमाणु के स्कन्ध समझने चाहिए। इस प्रकार कार्मणवर्गणा के अनन्त पुद्गल

કયા પ્રકારના સ્કંધ જીવોદ્વારા ગ્રહણ કરી શકાય છે ? તે બતાવે છે–અભવ્ય રાશિ ચુમોતેર (૭૪) વી છે એ અભવ્ય રાશિના જીવોની અપેક્ષા અનંત ગુણ અધિક પરમાણુ જો એકઠા થાય તો ઔદારિક શરીર ગ્રહણ કરી શકે તેવી વર્ગણા હોય છે, ઔદારિક વર્ગણાની અપેક્ષા અનંત ગુણ અધિક વૈક્રિયશરીરગ્રાહ્ય વર્ગણા હોય છે, અને તેનાથી પણ અનંત ગુણી અધિક એક આહારકવર્ગણા હોય છે આહારકવર્ગણાથી અનન્ત ગુણી અધિક તેજસશરીરગ્રાહ્ય વર્ગણા હોય, તેનાથી પણ અનન્ત ગુણી અધિક એક ભાષાગ્રાહ્ય વર્ગણા હોય છે અને તેનાથી અનંતગુણી અધિક એક શ્વાસોચ્છ્વાસવર્ગણા હોય છે, અને તેનાથી અનન્તગુણી અધિક એક મનોવર્ગણા હોય છે મનોવર્ગણાથી પણ અનન્તગુણી અધિક કાર્મણવર્ગણા હોય છે તેનાથી પણ અનન્ત ગુણી અધિક પુદ્ગલપરમાણુના સ્કંધ સમજવા જોઇએ એ પ્રમાણે કાર્મણવર્ગણાના

वर्गणागतानन्तपुद्गलपरमाणुघटितस्कन्धा जीवानां ग्राह्या भवन्ति।

रागद्वेषरूपाशुद्धप्रवृत्त्याऽऽत्मन प्रतिप्रदेशमनन्तानन्तकर्मवर्गणा अयोगोलकवद्विवल्लोलीभूता सन्ति, अत एवानन्तज्ञानादयो गुणा जीवस्य तिरोहिता भवन्ति। एवं च जीवोपेक्षयाऽनन्तगुणाधिका पुद्गला ज्ञातव्याः। ते च पुद्गला रूपिणोऽचेतना सक्रिया' पूरणगलनस्वभावा वेदितव्याः।

षड्द्रव्येषु सक्रिय-निष्क्रियविचार —

षड्द्रव्येषु निश्चयनयेन सर्वाणि द्रव्याणि सक्रियाणि। व्यवहारनयतो धर्माधर्माकाशकालाख्यानि चत्वारि द्रव्याणि क्रियारहितानि। जीवपुद्गलौ सक्रियौ

परमाणुओं से बने हुए स्कन्ध जीवों द्वारा ग्रहण करने योग्य होते हैं।

राग और द्वेषरूप अशुद्ध प्रवृत्ति के कारण आत्मा के एक एक प्रदेश में अनन्तानन्त कर्मवर्गणाएँ इस प्रकार एकमेक हो रही हैं, जैसे लोहे का गोला और अग्नि एकमेक हो जाते हैं, इसी कारण जीव के अनन्त ज्ञान आदि गुण ढँक जाते हैं। इस प्रकार जीवों की अपेक्षा पुद्गल अनन्त गुणा अधिक जानने चाहिए। ये पुद्गल—रूपी, अचेतन, सक्रिय, और पूरणगलनस्वभाववाले हैं।

छह द्रव्यों में सक्रिय-निष्क्रियका विचार—

निश्चय नय से छहों द्रव्य सक्रिय हैं, किन्तु व्यवहारनयसे धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाश और काल नामक चार द्रव्य क्रिया रहित हैं, जीव और पुद्गल द्रव्य सक्रिय

અનન્ત પુદ્ગલ પરમાણુઓથી બનેલા સ્કધ જીવો દ્વારા ગ્રહણ કરવા યોગ્ય હોય છે

રાગ અને દ્વેષ રૂપ અશુદ્ધ પ્રવૃત્તિના કારણે આત્માના એક-એક પ્રદેશમાં અનંતાનત કર્મવર્ગણાઓ એ પ્રમાણે એકમેક થઈ રહી છે કે-જેમ લોઢાનો ગોળો અને અગ્નિ એકમેક થઈ જાય છે, એ કારણથી જીવના અનત જ્ઞાન આદિ ગુણ ઢંકાઈ જાય છે એ પ્રમાણે જીવોની અપેક્ષા પુદ્ગલ અનતગુણા અધિક જાણવા જોઈએ. તે પુદ્ગલ, રૂપી, અચેતન સક્રિય અને પૂરણગલનસ્વભાવવાળા છે

૭ દ્રવ્યોમા સક્રિય નિષ્ક્રિયનો વિચાર—

નિશ્ચયનય પ્રમાણે ૭ દ્રવ્યો સક્રિય છે, પરતુ વ્યવહારનયથી ધર્માસ્તિકાય અધર્માસ્તિકાય આકાશ અને કાલ નામના ચાર દ્રવ્યો ક્રિયારહિત છે, જીવ અને

स्तः। निश्चयनयाद् धर्मास्तिकायो गतिपरितानां जीवपुद्गलानां गतिं प्रति सहायदानरूपां क्रियाम्, अधर्मास्तिकायः स्थितिपरिणतजीवपुद्गलानां स्थितिं प्रति सहायदानरूपां क्रियां करोति। तथैवाकाशोऽवकाशदानरूपा क्रियां, कालश्च वर्तनारूपक्रियां जीवाजीवेषु विधत्ते। तथैव निश्चयन जीव स्वस्वरूपरमणरूपां क्रिया करोति। यदि निश्चयनयेन शुभाशुभरूपविभावदशारमणात्मिका क्रियां कुर्यात्तदाऽऽस्मा कदाप्यविचलपदं नाप्नुयात्, अत स्वस्वरूपपरिणतिरूपामेव क्रियां करोति। निश्चयनयेन पुद्गलोऽप्यनादिकालत' स्वपूरणगलनरूपा क्रियां समाचरति। तस्माद् निश्चयनयेन सर्वाणि द्रव्याणि सक्रियाणीति ज्ञातव्यम्।

है। निश्चयनय से धर्मास्तिकाय, गतिपरिणत जीवों और पुद्गलों की गति में सहायकता देने की क्रिया करता है, और अधर्मास्तिकाय स्थितिपरिणत जीवों एव पुद्गलोंकी स्थिति में सहायता देनेकी क्रिया करता है। इसी प्रकार आकाश—अवगाहदानरूप क्रिया करता है, और काल वर्तना आदि में सहायता पहुँचाता है। जीव निश्चयनय से निजस्वरूप—रमणरूप क्रिया करता है। अगर निश्चय नय से जीव शुभ और अशुभ रूप विभावदशा में रमण करने की क्रिया करे तो उसे अविचल पद की कदापि प्राप्ति नहीं हो सकती, अत एव जीव अपने स्वभाव में परिणतिरूप क्रिया ही करता है। निश्चय नय की अपेक्षा पुद्गल भी अनादि काल से पूरण गलन रूप क्रिया कर रहा है। इस प्रकार निश्चय नय से सभी द्रव्य सक्रिय हैं।

પુદ્ગલ દ્રવ્ય સક્રિય છે નિશ્ચયનયથી ધર્માસ્તિકાય, ગતિમા પરિણત જીવો અને પુદ્ગલોની ગતિમા સહાયતા કરવાની ક્રિયા કરે છે, અને અધર્માસ્તિકાય, સ્થિતિમા પરિણત જીવો અને પુદ્ગલોની સ્થિતિમા સહાયતા દેવાની ક્રિયા કરે છે એ પ્રમાણે આકાશ, અવગાહદાનરૂપ ક્રિયા કરે છે, અને કાલ વર્ત્તના આદિમા સહાયતા પહોંચાડે છે, જીવ નિશ્ચયનયથી નિજસ્વરૂપ—રમણરૂપ ક્રિયા કરે છે અગર નિશ્ચયનયથી જીવ શુભ અને અશુભરૂપ વિભાવદશામાં રમણ કરવાની ક્રિયા કરે તો તેને અવિચલ પદની પ્રાપ્તિ કદાપિ પણ થઈ શકે નહિ, એટલા કારણથી જીવ પોતાના સ્વભાવમાં પરિણતિરૂપ ક્રિયા જ કરે છે, નિશ્ચયનયની અપેક્ષા એ પુદ્ગલ પણ અનાદિ કાલથી પૂરણ—ગલનરૂપ ક્રિયા કરે છે, એ પ્રમાણે નિશ્ચયનયથી સવ દ્રવ્યો સક્રિય છે

अधुना व्यवहारनयमाश्रित्योच्यते—

व्यवहारतो धर्माधर्माकाशकाला निष्क्रिया, जीव-पुद्गलाश्च सक्रिया। व्यवहारनयतो जीवो रागद्वेषरूपाशुद्धपरिणत्या प्रतिसमयमनन्तपुद्गलपरमाणुस्कन्धाऽऽदानक्रियां करोति। परमाणुपुद्गला अपि कर्मवर्गणारूपेण जीवस्य सर्वस्मिन् प्रदेशे सलग्ना भवन्ति, अतस्ते सश्लेषक्रियां पूरणगलनादिक्रियां च कुर्वन्ति, तस्माद् व्यवहारनयतो जीव-पुद्गलावेव सक्रियो।

षड्द्रव्यविषये कर्तृत्वाकर्तृत्वनिरूपणम्—

निश्चयनयेन षड् द्रव्याणि स्वस्वरूपकर्तृणि, तस्मात्तेषां कर्तृत्वमुपपद्यते।

अब व्यवहार नय की अपेक्षा से कथन किया जाता है—व्यवहारनय से धर्म अधर्म आकाश और काल क्रियारहित हैं, तथा जीव और पुद्गल सक्रिय हैं। व्यवहार नय से जीव राग-द्वेषरूप अशुभ परिणति के द्वारा प्रति समय अनन्त पुद्गल परमाणुओं के स्कन्धों को ग्रहण करने की क्रिया करता है। परमाणु पुद्गल भी कर्मवर्गणारूप में परिणत हो कर जीव के समस्त प्रदेशों में बद्ध होते हैं, अत वह बन्धनरूप क्रिया करते हैं, और पूरण गलन आदि क्रिया भी करते हैं, इस प्रकार व्यवहार नय से जीव और पुद्गल ही सक्रिय हैं।

छह द्रव्यों का कर्तापन और अकर्तापन—

निश्चय नय से छहों द्रव्य अपने २ स्वरूप के कर्ता हैं, अत सभी द्रव्यों में

હવે વ્યવહારનયની અપેક્ષાએ કહેવાય છે—વ્યવહારનયથી ધર્મ અધર્મ આકાશ અને કાલ ક્રિયારહિત છે, તથા જીવ અને પુદ્ગલ સક્રિય છે વ્યવહારનયથી જીવ રાગ-દ્વેષરૂપ અશુભપરિણુતિદ્વારા પ્રતિસમય અનન્ત પુદ્ગલ પરમાણુઓના સ્કન્ધોને ગ્રહણ કરવાની ક્રિયા કરે છે પરમાણુ પુદ્ગલ પણ કર્મવર્ગણારૂપમા પરિણુત થઈને જીવના સમસ્ત પ્રદેશોમા બદ્ધ થઈ જાય છે (સર્વ પ્રદેશોને ચોટી જાય છે) તેટલા કારણથી તે બન્ધનરૂપ ક્રિયા કરે છે, અને પૂરણ-ગલન આદિ ક્રિયા પણ કરે છે એ પ્રમાણે વ્યવહારનયથી જીવ અને પુદ્ગલ જ સક્રિય છે

દ્રવ્યોનુ કર્તાપણુ અને અકર્તાપણુ—

નિશ્ચયનયથી છ દ્રવ્યો, પોતપોતાના સ્વરૂપમા કર્તા છે તેથી સવ દ્રવ્યોમા

व्यवहारनयेन जीवस्य कर्तृत्वं, धर्मादिद्रव्यपञ्चकस्याकर्तृत्वमिति ।

व्यवहारनय —

व्यवहारनयः षड्विधः—शुद्धाशुद्धशुभाशुभोपचरितानुपचरितभेदात् । तत्र-

(१) शुद्धव्यवहारनयः ।

यदि जीवः कर्ममलरूपाशुद्धतां व्यपनीयाऽनन्तज्ञानादिगुणरूपशुद्धतामुपार्जयति तर्हि प्रथमशुद्धव्यवहारनयेन जीवस्य कर्तृत्वं भवति । तथाहि-शुद्धव्यवहारनयेन जीवो यदा शुद्धस्वरूपार्जनाय प्रयतते, तदा प्रथमगुणस्थाने

कर्तापन सिद्ध होता है । व्यवहारनयसे जीव कर्ता है और शेष धर्म आदि पाच द्रव्य अकर्ता हैं ।

व्यवहारनय—

व्यवहार नय छह प्रकार का है—(१) शुद्ध व्यवहारनय, (२) अशुद्ध व्यवहारनय, (३) शुभ व्यवहारनय, (४) अशुभ व्यवहारनय, (५) उपचरित व्यवहारनय और (६) अनुपचरित व्यवहारनय ।

(१) शुद्ध व्यवहारनय—

अगर जीव कर्ममलरूप अशुद्धता को हटाकर अनन्तज्ञानादिगुणरूप शुद्धता का उपार्जन करता है तो शुद्ध व्यवहारनय से जीव में कर्तृत्व होता है । वह इस प्रकार शुद्ध व्यवहार नय से जीव जब अपना शुद्ध स्वरूप प्राप्त करने के लिए

કર્તાપણું સિદ્ધ થાય છે વ્યવહારનયથી જીવ કર્તા છે અને બાકીના ધર્માદિ પાંચ દ્રવ્યો અકર્તા છે

વ્યવહારનય—

વ્યવહારનય છ પ્રકાર છે (૧) શુદ્ધ વ્યવહારનય (૨) અશુદ્ધ વ્યવહારનય, શુભ વ્યવહારનય, (૪) અશુભવ્યવહારનય, (૫) ઉપચરિત વ્યવહારનય, (૬) અનુપચરિત વ્યવહારનય

(૧) શુધ્ધ વ્યવહારનય—

જીવ કર્મમલરૂપ અશુદ્ધતાને હઠાવીને અનંતજ્ઞાનાદિગુણરૂપ શુદ્ધતાને ઉપાર્જન કરે છે તો શુદ્ધ વ્યવહારનય પ્રમાણે જીવમાં કર્તૃત્વ-કર્ત્તાપણું હોય છે તે આ પ્રમાણે-શુદ્ધ વ્યવહારનયથી જીવ પોતાના શુદ્ધ સ્વરૂપને પ્રાપ્ત કરવા માટે પ્રયત્ન

ऽनन्तानुबन्धिकपायचतुष्टय क्षपयित्वा चतुर्थं गुणस्थान समासाद्य सम्यक्त्वगुण लभते। अप्रत्याख्येयकषायचतुष्टयक्षयेण देशविरतिरूप पञ्चम गुणस्थान प्राप्नोति। प्रत्याख्येयकषायचतुष्टयक्षयेण जीवस्य षष्टसप्तमगुणस्थानयो सर्वविरतिरूपयोरुपलब्धिर्भवति। यद्यष्टमगुणस्थानं लभ्यते तदा तत्र श्रेणिद्वय समारभ्यते, उपशमश्रेणि क्षपकश्रेणिश्च। तत्रोपशमश्रेण्याऽष्टमगुणस्थानादेकादशगुणस्थान यावदध्यारोहति। क्षपकश्रेण्या त्वष्टमादारभ्य दशम यावत् समारुह्यैकादश विहाय द्वादश गुणस्थान समारोहति। जीवस्तत्र रागद्वेषरूपमोहनीय

प्रयत्न करता है तब प्रथम गुणस्थान म अनन्तानुबधी चार कषायोंका क्षय करके चतुर्थ गुणस्थान प्राप्त करता है और सम्यक्त्व गुण पा लेता है। चार अप्रत्याख्यानावरण कषायों का क्षय करके देशविरतिरूप पाचवाँ गुणस्थान प्राप्त करता है, और प्रत्याख्यानावरण कषाय-चतुष्टय के क्षय स जीव को सर्वविरतिरूप छठे और सातवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है। जीव को यदि आठवा गुणस्थान प्राप्त होता है तो वहाँ स दो श्रेणियाँ आरम्भ होती है और जीव उन म से किसी एक श्रेणी पर आरूढ होता है। दो श्रेणियाँ हैं-उपशमश्रेणी, और क्षपकश्रेणी। उपशमश्रेणीवाला जीव ग्यारहवें गुणस्थान तक चढ सकता है। क्षपकश्रेणीवाला जीव आठवें से दशवें गुणस्थान तक पहुँचकर ग्यारहवें को छोड कर सीधा बारहवे गुणस्थान पर आरूढ हो जाता है। जीव दशवें गुणस्थान के अन्त म रागद्वेषरूप मोहनीय कर्म का समूल नाश करके,

કરે છે, ત્યારે પ્રથમ ગુણસ્થાનમાં અનન્તાનુબંધી ચાર કષાયોનો ક્ષય કરીને ચતુર્થ (ચોથું) ગુણસ્થાન પ્રાપ્ત કરે છે, અને સમ્યકત્વ ગુણ પામી જાય છે ચાર અપ્રત્યાખ્યાનાવરણ કષાયોનો ક્ષય કરીને દેશવિરતિરૂપ પાંચમું ગુણસ્થાન પ્રાપ્ત કરે છે, અને પ્રત્યાખ્યાનાવરણ કષાય-ચતુષ્ટયના ક્ષયથી જીવને સર્વવિરતિરૂપ છઠ્ઠું અને સાતમા ગુણસ્થાનની પ્રાપ્તિ થાય છે જીવને જો આઠમું ગુણસ્થાન પ્રાપ્ત થાય છે તો ત્યાંથી બે શ્રેણીઓનો આરંભ થાય છે, અને જીવ એ બેમાંથી કોઇ એક શ્રેણી પર આરૂઢ થાય છે બે શ્રેણી આ પ્રમાણે છે-(૧) ઉપશમશ્રેણી (૨) ક્ષપકશ્રેણી ઉપશમશ્રેણીવાળો જીવ અગિઆરમા ગુણસ્થાન સુધી ચઢી શકે છે, ક્ષપકશ્રેણીવાળો જીવ આઠમાથી દસમા ગુણસ્થાન સુધી પહોચીને અગિઆરમા ગુણસ્થાકને છોડીને સીધો બારમા ગુણસ્થાન પર આરૂઢ થઈ જાય છે જીવ દસમા ગુણસ્થાનના અંતમાં

कर्म समूलमुन्मूल्य घातिकर्माणि क्षपयित्वा त्रयोदश गुणस्थानमारोहति। त्रयोदशे गुणस्थाने निर्मलकेवलज्ञान प्राप्नोति। तदनन्तरं पञ्चलघ्वक्षरोच्चारणकालस्थितिकं चतुर्दशगुणस्थान समाप्य निःशेषकर्मनिचय क्षपयित्वाऽसौ शिवपदं समाप्नोति।

। इति जीवस्य शुद्धस्वरूपनिरूपक' शुद्धव्यवहारनय ।

(२) अशुद्धव्यवहारनयः—

अशुद्धव्यवहारनयेन रागद्वेषमिथ्यात्वादयोऽनादिकालत शत्रुरूपेण जीवे सलग्ना सन्ति, तस्माज्जीवस्याशुद्धत्व ज्ञेयम् । अशुद्धत्वेन च प्रतिसमय-

---

और बारहवें गुणस्थान में शेष तीन घाति कर्मों का क्षय करके तेरहवें गुणस्थान म पहुचता है। इस गुणस्थान म (बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में) जीव को निर्मल केवलज्ञान प्राप्त होता है । तेरहवें गुणस्थान के बाद पांच हृस्व स्वर (अ, इ, उ, ऋ, ऌ) उच्चारण करने में जितना समय लगता है उतने समय तक चौदहवें गुणस्थान में ठहरकर समस्त कर्मों का क्षयकर के मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

जीवके शुद्ध स्वरूप को ग्रहण करने वाला यह शुद्ध व्यवहारनय है ।

(२) अशुद्ध व्यवहारनय—

अशुद्ध व्यवहारनय से राग-द्वेष और मिथ्यात्व आदि अनादि काल से शत्रुकी तरह जीव के साथ लगे हुए हैं, इसी कारण जीव में अशुद्धता है । इस अशुद्धता के

રાગ-દ્વેષરૂપ મોહનીય કર્મનો સમૂળગો નાશ કરીને અને બારમા ગુણસ્થાનમા શેષ ત્રણ ઘાતીકર્મોનો ક્ષય કરીને તેરમા ગુણસ્થાનમા પહોચે છે એ ગુણસ્થાનમાં (બારમા ગુણસ્થાનના અતિમ સમયમા) જીવને નિર્મલ કેવલજ્ઞાન પ્રાપ્ત થાય છે તેરમા ગુણસ્થાન પછી પાચ હ્રસ્વ સ્વર-(અ-ઇ-ઉ-ઋ-ઌ) ઉચ્ચારણ કરતાં જેટલો સમય લાગે છે, તેટલો સમય ચૌદમા ગુણસ્થાનમા થોભીને સમસ્ત કર્મોનો ક્ષય કરીને મોક્ષ પ્રાપ્ત કરી લે છે

જીવના શુદ્ધ સ્વરૂપને ગ્રહણ કરવા વાળો આ શુદ્ધ વ્યવહાર નય છે

(૨) અશુદ્ધ વ્યવહારનય—

અશુદ્ધ વ્યવહારનયથી રાગ-દ્વેષ અને મિથ્યાત્વ આદિ અનાદિ-કાલથી શત્રુની માફક જીવની સાથે લાગ્યા છે, એ કારણથી જીવમા અશુદ્ધતા છે એ અશુદ્ધતાના

मनन्तानन्तकर्मवर्गणा सत्तारूपेणावगुण्ठिता भवन्ति । एवं चाशुद्धव्यवहारनयेन जीवस्य कर्तृत्व सिध्यति ।

(३) शुभव्यवहारनय'—

शुभव्यवहारनयेनात्मा शुभपरिणामतो दानशीलतपोभावविनयभक्तिवैयावृत्त्य, श्रमणनिर्ग्रन्थानां प्रासुकमेषणीयमशनपानखाद्यस्वाद्यवस्त्रकम्बलप्रतिग्रहपादप्रोञ्छन-प्रातिहार्यपीठफलकशय्यासस्तारकौषधभैषज्यप्रतिलाभरूप सुपात्रदान, म्रियमाण–जीवरक्षणरूपमभयदान, हीनदीननि सत्त्वजीवानां साहाय्य, साधर्मिकवात्सल्यं, परहित-चिन्तारूपा मैत्रीं, परदु'खनिवारणेच्छारूपा करुणां, नि स्वार्थपरोपकारादिकां च

कारण प्रतिसमय अनन्तानन्त कर्मवर्गणाएँ सत्तारूप से बद्ध होती रहती है। इस प्रकार अशुद्ध व्यवहारनय से जीव को कर्ता समझना चाहिए ।

(३) शुभ व्यवहारनय—

शुभ व्यवहारनय से आत्मा शुभपरिणामद्वारा दान, शील, तप, भाव, विनय, भक्ति, वैयावृत्य रूप शुभक्रिया करता है, श्रमण निर्ग्रथों को प्रासुक एषणीय–अशन पान खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, कम्बल, पात्र, पादप्रोञ्छन, पडिहारी पीठ, फलक, शय्या, सस्तारक, औषध, भेषज्र का सुपात्रदान देता है । मरते हुए जीव की रक्षारूप अभयदान देता है, हीन दीन और निर्बल जीवों की सहायता करता है । साधर्मी के प्रति वात्सल्य प्रकट करता है, परहितचिन्तनरूप मैत्री भावना, दूसरों का दु खनिवारणरूप करुणा

કારણે પ્રતિસમય અનન્તાનન્ત કર્મ વર્ગણાઓ સત્તારૂપથી બદ્ધ થતી રહી છે આ પ્રમાણે અશુદ્ધ વ્યવહારનયથી જીવને કર્તા સમજવો જોઈએ.

(૩) શુભ વ્યવહારનય—

શુભ વ્યવહારનયથી આત્મા દાન, શીલ, તપ, ભાવ, વિનય, ભક્તિ વૈયાવૃત્ય રૂપ શુભ ક્રિયા કરે છે શ્રમણનિર્ગ્રન્થોને પ્રાસુક એષણીય–અશન, પાન, ખાદ્ય, સ્વાદ્ય, વસ્ત્ર, કમ્બલ, પાત્ર, પાદપ્રોંછન, પડિહારી–પીઠ, ફલક, શય્યા, સસ્તારક, ઔષધ, ભેષજનુ સુપાત્ર દાન આપે છે, મરતા જીવની રક્ષારૂપ અભયદાન આપે છે, હીન દીન અને નિર્બલ જીવોની સહાયતા કરે છે, સાધર્મીના ઉપર વાત્સલ્ય પ્રગટ કરે છે, પરહિતચિન્તનરૂપ મૈત્રીભાવના, બીજાના દુ ખનિવારણરૂપ કરૂણા તથા નિઃસ્વાર્થ

शुभक्रियां करोति, तेन शुभव्यवहारनयेन जीवस्य कर्तृत्वं जायते ।

(४) अशुभव्यवहारनयः—

अशुभव्यवहारनयेन जीवो हास्य–भय–शोक–रत्य–रति–निद्रा–प्राणातिपात मृषावादा–ऽदत्तादान–मैथुन–परिग्रह–क्रोध–मान–माया–लोभ–राग–द्वेषादिषु प्रवर्तते । विषयसुखारम्भादिरूपामशुभक्रिया च करोति तेनाऽशुभव्यवहारनयतो जीवस्य कर्तृत्वं सिध्यति ।

(५) उपचरितव्यवहारनय —

उपचरितव्यवहारनयेन जीवो निजमजरामरत्वमनन्तज्ञानदर्शनमव्याबाध-

तथा निःस्वार्थ परोपकार आदिरूप शुभक्रिया करता है, अतः शुभ व्यवहारनय से जीव का कर्तापन सिद्ध होता है ।

(४) अशुभ व्यवहारनय—

अशुभ व्यवहारनय से जीव हास्य, भय, शोक, रति, अरति, निद्रा, प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, आदि अशुभ कार्यों एवं भावों में प्रवृत्त होता है, तथा विषयसुख एवं आरम्भ आदि रूप अशुभ क्रिया करता है, अतः अशुभव्यवहारनय से जीव कर्ता सिद्ध होता है ।

(५) उपचरित व्यवहारनय–

उपचरित व्यवहार नय से जीव अपने अजरता अमरता तथा अनन्त ज्ञान

પરોપકાર આદિરૂપ શુભ ક્રિયા કરે છે, તે કારણથી શુભ વ્યવહારનયથી જીવનું કર્તાપણું સિદ્ધ થાય છે

(૪) અશુભ વ્યવહારનય—

અશુભ વ્યવહારનયથી જીવ હાસ્ય, ભય, શોક, રતિ, અરતિ, નિદ્રા, પ્રાણાતિપાત, મૃષાવાદ, અદત્તાદાન, મૈથુન, પરિગ્રહ, ક્રોધ, માન, માયા, લોભ, રાગ દ્વેષ આદિ અશુભ કાર્યો એવં ભાવોમા પ્રવૃત્ત થાય છે, વિષયસુખ એવં આરંભ આદિરૂપ અશુભ ક્રિયા કરે છે તેથી અશુભ વ્યવહારનયથી જીવ કર્તા સિદ્ધ થાય છે

(૫) ઉપચરિત વ્યવહારનય—

ઉપચરિત વ્યવહારનયથી જીવ પોતાના અજર અમર તથા અનંતજ્ઞાન, દર્શન

सुखादिरूप शुद्धस्वरूप विस्मृत्य पौद्गलिकविभावपरिणामेऽनन्तदु'खजनकेऽनन्ता नन्दमनुभवति, मोहवशेन बाह्यवस्तुषु ममत्वभाव कुरुते। यथा-"इद मम गृहम्, इमे मम पुत्रा., इमा मम दारा, इमे मम परिवारा, इद मम सर्वं धनजनादिकम्"। इत्थ विषरूप विषय पीयूष मन्यमानो विपर्यस्तानो क्षणमात्रसुखजनकान् बहु-कालदु'खदान् काममोगान् भुञ्जानो विषयमृगतृष्णा पुन पुनर्धावमानो दीर्घाध्व-ससारे क्षणमपि विश्रान्ति न लमते। ममेति कुर्वन्नय जीव पुत्रदारादीना सुखेन सुख, दु'खेन दु खं मन्यमानस्तदर्थं व्यर्थमेव शोकमनुभवति, तदर्थे प्राणनाशमपि कर्तु समुद्यतो भवति। अनात्मीयमपि स्वीय मन्यमानो नानाविधपापकार्यकरणेन

दर्शक तथा अव्याबाधसुखस्वरूप शुद्ध स्वरूप को भूल कर पौद्गलिक विभाव परिणाम में जो अनन्त दु खों का जनक है अनन्त आनन्द मानता है। मोह के वशीभूत हो कर बाह्य वस्तुओं में ममत्व धारण करता है जैसे- "यह मेरा घर है, ये मेरे पुत्र हैं, यह मेरी पत्नी है, ये मेरे कुटुम्बी है, ये सब धन-जन आदि मेरे हैं"। इस प्रकार के विषरूप विषयों को अमृत मानता हुआ, विषयों में तन्मय हो कर, क्षण भर सुख देने वाले और दीर्घकाल तक दु ख देने वाले काम-भोगों को भोगता हुआ, विषयों की मृगतृष्णा की तरफ वारंवार दौडता हुआ इस दीर्घमार्गवाले ससार में क्षण भर भी विश्राम नहीं पाता है। मेरे मेरे करता हुआ यह जीव, पुत्र और पत्नी वगैरह के सुख में सुख और दु ख में दु ख मानता हुआ व्यर्थ ही उन के लिये शोक करता है, यहाँ तक की उन के लिए प्राणों का नाश तक करने को उद्यत हो जाता है। यह

તથા અવ્યાબાધ સુખરૂપ શુદ્ધ સ્વરૂપને ભૂલી જઇને પૌદ્ગલિક વિભાવ પરિણામમા કે જે અનત દુ'ખોનો જનક (ઉત્પન્ન કરનાર) છે તેમા અનત આનદ માને છે, મોહને વશ થઇને બહારની વસ્તુઓમા મમત્વ ધારણ કરે છે, જેમકે-"આ ઘર મારૂ છે, આ મારા પુત્ર છે, આ મારી સ્ત્રી છે, આ મારૂ કુટુબ છે, આ સર્વ ધન-જન વગેરે મારૂ છે" એ પ્રમાણે વિષરૂપ-વિષયોને અમૃતરૂપ માનીને, વિષયોમાં તન્મય થઈને ક્ષણમાત્ર સુખ આપવાવાળા અને લાંબા કાલ સુધી દુ ખ આપવાવાળા ભોગોને ભોગવતો થકો વિષયોની મૃગતૃષ્ણા તરફ વારવાર દોડતો થકો આ લાબા માગવાળા સસારમા ક્ષણ માત્ર પણ વિશ્રામ પામતો નથી. મારા-મારા કરતો આ જીવ, પુત્ર અને પત્ની વગેરેના સુખમા સુખ અને દુઃખમાં-દુ ખ માનતો થકો તેના માટે નકામો શોક કરે છે—ત્યા સુધી કે તેના માટે પ્રાણોનો નાશ કરવા તૈયાર થઈ જાય છે આ જીવ પરને પોતાનુ સમજીને નાના પ્રકારના

त्मानमुद्धर्तुं न शक्नोति। अविज्ञाय च स्वकृतकर्मभारं दुरन्तसंसारमहागर्तपतनं च मुहुर्मुहुस्तादृशान्येव कर्माणि कुर्वन्ति संसारिणः। एवमात्मनोऽत्यन्तभिन्नं शरीरमेव स्वस्वरूपं मत्वा तत्पुष्टिरक्षणाद्यर्थं क्रियमाणया क्रियया जीवस्यानुपचरित-व्यवहारनयेन कर्तृत्वं सिध्यति। उक्तरीत्या षड्विधव्यवहारनयेन जीवस्य कर्तृत्वं विज्ञेयम्।

जीवस्वरूप सदृशाऽसदृशविचारः—

ननु-सर्वेषां जीवानां स्वरूपं लक्षणं च सदृशमेव, तर्हि संसारिणो दुःखिनः, सिद्धास्तु सुखिन इति कथम्? उच्यते—निश्चयनयेन तु सर्वे जीवाः

में असमर्थ बन जाता है, मगर संसारी जीव अपने किये कर्मों के भार को न समझ कर, तथा संसाररूपी महागर्त के पतन को न जानकर फिर-फिर वैसे ही कर्म करने लगते हैं। इस प्रकार आत्मा से भिन्न शरीर को ही अपना स्वरूप समझ कर उसके पोषण और रक्षणके लिए की जानेवाली क्रियासे जीव अनुपचरित व्यवहारनयकी अपेक्षा कर्ता सिद्ध होता है। इस तरह पूर्वोक्त प्रकार से छह तरह के व्यवहारनय से जीवको कर्ता समझना चाहिए।

जीवके स्वरूप में सदृश-विसदृश विचार—

प्रश्न—अगर सब जीवोंका स्वरूप और लक्षण समान ही है तो संसारी जीव दुःखी और सिद्ध सुखी क्यों हैं।

उत्तर—निश्चय नयसे सभी जीव सिद्धोंके समान ही हैं। उन में से जो जीव

સંસારી જીવ પોતાનાં કરેલા કર્મોના ભારને સમજતો નથી, તથા સંસારરૂપી મહાગર્તમાં પડ્યો છે તે તેને જાણતો નથી તેથી ફરી-ફરી તેવાં કર્મો કરવા લાગે છે. એ પ્રમાણે આત્માથી ભિન્ન શરીરને જ પોતાનું સ્વરૂપ સમજીને તેના પોષણ તથા રક્ષણ માટે કરવામાં આવતી ક્રિયાથી જીવ અનુપચરિત વ્યવહાર નયની અપેક્ષાએ કર્તા સિદ્ધ થાય છે એ પ્રમાણે પૂર્વે કહેલા પ્રકારથી છ પ્રકારના વ્યવહારનયથી જીવને કર્તા સમજવો જોઈએ.

જીવના સ્વરૂપમાં સદશ-વિસદશ વિચાર—

પ્રશ્ન—અગર સર્વ જીવોનું સ્વરૂપ અને લક્ષણ સમાનજ છે તો પછી સંસારી જીવ દુઃખી અને સિદ્ધ જીવ સુખી કેમ છે?

ઉત્તર—નિશ્ચયનયથી સર્વ જીવો સિદ્ધોની સમાન છે તેમાંથી જે જીવ તમામ

सुखादिरूपं शुद्धस्वरूप विस्मृत्य पौद्गलिकविभावपरिणामेऽनन्तदुःखजनकेऽनन्ता नन्दमनुभवति, मोहवशेन बाह्यवस्तुषु ममत्वभाव कुरुते। यथा–"इदं मम गृहम्, इमे मम पुत्राः, इमा मम दारा', इमे मम परिवाग, इदं मम सर्वं धनजनादिकम्"। इत्थ विपरूपं विषयं पीयूषं मन्यमानो विषयकतानो क्षणमात्रसुखजनकान् बहु-कालदुःखदान् कामभोगान् भुञ्जानो विषयमृगतृष्णा पुनः पुनर्धावमानो दीर्घाध्व-संसारे क्षणमपि विश्रान्ति न लभते। ममेति कुर्वन्नय जीवः पुत्रदारादीनां सुखेन सुखं, दु खेन दु ख मन्यमानस्तदर्थं व्यर्थमेव शोकमनुभवति, तदर्थं प्राणनाशमपि कर्तुं समुद्यतो भवति। अनात्मीयमपि स्वीय मन्यमानो नानाविधपापकार्यकरणेन

दर्शक तथा अव्याबाधसुखरूप शुद्ध स्वरूप को भूल कर पौद्गलिक विभाव परिणाम में जो अनन्त दु खों का जनक है अनन्त आनन्द मानता है। मोह के वशीभूत हो कर बाह्य वस्तुओं में ममत्व धारण करता है जैसे– "यह मेरा घर है, ये मेरे पुत्र हैं, यह मेरी पत्नी है, ये मेरे कुटुम्बी हैं, ये सब धन–जन आदि मेरे हैं"। इस प्रकार के विषरूप विषयों को अमृत मानता हुआ, विषयों में तन्मय हो कर, क्षण भर सुख देने वाले और दीर्घकाल तक दु ख देने वाले काम–भोगों को भोगता हुआ, विषयों की मृगतृष्णा की तरफ वारंवार दौडता हुआ इस दीर्घमार्गवाले संसार में क्षण भर भी विश्राम नहीं पाता है। मेरे मेरे करता हुआ यह जीव, पुत्र और पत्नी वगैरह के सुख में सुख और दु ख में दुःख मानता हुआ व्यर्थ ही उन के लिये शोक करता है, यहाँ तक की उन के लिए प्राणों का नाश तक करने को उद्यत हो जाता है। यह

તથા અવ્યાબાધ સુખરૂપ શુદ્ધ સ્વરૂપને ભૂલી જઇને પૌદ્ગલિક વિભાવ પરિણામમા કે જે અનત દુ ખોનો જનક (ઉત્પન્ન કરનાર) છે તેમા અનત આનદ માને છે, મોહને વશ થઇને બહારની વસ્તુઓમા મમત્વ ધારણ કરે છે, જેમકે–"આ ઘર મારૂ છે, આ મારા પુત્ર છે, આ મારી સ્ત્રી છે, આ મારૂ કુટુબ છે, આ સર્વ ધન–જન વગેરે મારૂ છે" એ પ્રમાણે વિષરૂપ–વિષયોને અમૃતરૂપ માનીને, વિષયોમાં તન્મય થઈને ક્ષણમાત્ર સુખ આપવાવાળા અને લાંબા કાલ સુધી દુ ખ આપવાવાળા ભોગોને ભોગવતો થકો, વિષયોની મૃગતૃષ્ણા તરફ વારવાર દોડતો થકો આ લાબા માગવાળા સસારમા ક્ષણ માત્ર પણ વિશ્રામ પામતો નથી. મારા–મારા કરતો આ જીવ, પુત્ર અને પત્ની વગેરેના સુખમા સુખ અને દુઃખમાં–દુ ખ માનતો થકો તેના માટે નકામો શોક કરે છે—ત્યા સુધી કે તેના માટે પ્રાણોનો નાશ કરવા તૈયાર થઈ જાય છે આ જીવ પરને પોતાનુ સમજીને નાના પ્રકારનાં

रमानमुद्धर्तुं न शक्नोति। अविज्ञाय च स्वकृतकर्मभारं दुरन्तसंसारमहागर्तपतनं च मुहुर्मुहुस्तादृशान्येव कर्माणि कुर्वन्ति संसारिणः। एवमात्मनोऽत्यन्तभिन्नं शरीरमेव स्वस्वरूपं मत्वा तत्पुष्टिरक्षणाद्यर्थं क्रियमाणया क्रियया जीवस्यानुपचरितव्यवहारनयेन कर्तृत्वं सिध्यति। उक्तरीत्या षड्विधव्यवहारनयेन जीवस्य कर्तृत्वं विज्ञेयम्।

जीवस्वरूपं सदृशाऽसदृशविचारः—

ननु-सर्वेषां जीवानां स्वरूपं लक्षणं च सदृशमेव, तर्हि संसारिणो दुःखिनः, सिद्धास्तु सुखिन इति कथम्? उच्यते—निश्चयनयेन तु सर्वे जीवाः

में असमर्थ बन जाता है, मगर संसारी जीव अपने किये कर्मों के भार को न समझ कर, तथा संसाररूपी महागर्त के पतन को न जानकर फिर-फिर वैसे ही कर्म करने लगते हैं। इस प्रकार आत्मा से भिन्न शरीर को ही अपना स्वरूप समझ कर उसके पोषण और रक्षणके लिए की जानेवाली क्रियासे जीव अनुपचरित व्यवहारनयकी अपेक्षा कर्ता सिद्ध होता है। इस तरह पूर्वोक्त प्रकार से छह तरह के व्यवहारनय से जीवको कर्ता समझना चाहिए।

जीवके स्वरूप में सदृश-विसदृश विचार—

प्रश्न—अगर सब जीवोंका स्वरूप और लक्षण समान ही है तो संसारी जीव दुःखी और सिद्ध सुखी क्यों हैं।

उत्तर—निश्चय नयसे सभी जीव सिद्धोंके समान ही हैं। उन में से जो जीव

સંસારી જીવ પોતાનાં કરેલા કર્મોના ભારને સમજતો નથી, તથા સંસારરૂપી મહાગર્તમાં પડ્યો છે તે તેને જાણતો નથી તેથી ફરી-ફરી તેવા કર્મો કરવા લાગે છે. એ પ્રમાણે આત્માથી ભિન્ન શરીરને જ પોતાનું સ્વરૂપ સમજીને તેના પોષણ તથા રક્ષણ માટે કરવામા આવતી ક્રિયાથી જીવ અનુપચરિત વ્યવહાર નયની અપેક્ષાએ કર્તા સિદ્ધ થાય છે એ પ્રમાણે પૂર્વે કહેલા પ્રકારથી છ પ્રકારના વ્યવહારનયથી જીવને કર્તા સમજવો જોઈએ.

જીવના સ્વરૂપમા સદૃશ-વિસદૃશ વિચાર—

પ્રશ્ન—અગર સવ જીવોનું સ્વરૂપ અને લક્ષણ સમાનજ છે તો પછી સંસારી જીવ દુઃખી અને સિદ્ધ જીવ સુખી કેમ છે?

ઉત્તર—નિશ્ચયનયથી સર્વ જીવો સિદ્ધોની સમાન છે તેમાથી જે જીવ તમામ

सिद्धसदृशा एव, तत्र ये सकल कर्म क्षपयन्ति ते सर्वे जीवा सिद्धा भवन्ति, तस्मात् सर्वेषामेकैव सत्ता विद्यते। यदि सर्वे सिद्धसदृशास्तर्हि कथमभव्यजीवैः सिद्धगतिमार्गिर्न भूयते ? इति श्रूयताम्—

अभव्यजीवानामनाधनन्तचिक्कणकर्मसम्बन्धात्, परावर्तस्वभावाभावाच्च कर्मक्षपणशक्तिर्नास्ति, भव्याना तु तादृशचिक्कणकर्माभावात्, परावर्तस्वभावसद्भावाच्च देवगुरुधर्मसामग्रीसत्त्वे ज्ञानादिरत्नत्रयसमाराधनेन, गुणश्रेणिसमारोहणेन च सिद्धपद लब्धु शक्यम्।

समस्त कर्मोंका क्षय कर डालते हैं वे सब सिद्ध कहलाते हैं। उनका असली स्वरूप प्रकट हो जाता है। ससारी जीव कर्म के अधीन होने क कारण दु खी होते हैं। इस प्रकार यद्यपि प्रत्येक जीव की सत्ता पृथक्-पृथक् है, तथापि उन में स्वरूप की समानता है।

प्रश्न-यदि समस्त जीव सिद्धों के समान हैं तो अभव्य जीव सिद्धिगति क्यों प्राप्त नहीं करते ?

उत्तर-सुनिये, अभव्य जीवों में अनादि अनन्त चिकने कर्मों के सम्बन्ध से और अपरिवर्तनशील स्वभाव के कारण कर्मों का क्षय करने की शक्ति नहीं है। भव्य जीवों के वैसे चिकने कर्मों के न होने से, और परावर्त स्वभाव से, देव गुरु और धर्मरूप सामग्रीके मिलने पर ज्ञानादिरत्नत्रय की आराधना करने से, तथा गुणश्रेणी पर आरोहण करने से उनको सिद्धपद प्राप्त करना शक्य है।

કર્મોનો ક્ષય કરી નાખે છે, તે સર્વે સિદ્ધ કહેવાય છે તેનુ અસલી સ્વરૂપ પ્રગટ થઈ જાય છે સસારી જીવ કર્મને આધીન હોવાના કારણે દુખી હોય છે એ પ્રમાણે જો કે પ્રત્યેક જીવની સત્તા પૃથક્-પૃથક્-જુદી જુદી છે, તો પણ તેનામાં સ્વરૂપની સમાનતા છે

પ્રશ્ન—જો સર્વ જીવ સિદ્ધોની સમાન છે તો અભવ્ય જીવ સિદ્ધગતિને કેમ પ્રાપ્ત કરી શકતા નથી ?

ઉત્તર—સાભળો, અભવ્ય જીવોમા અનાદિ-અનત ચિકણા કર્મોનો સબધ હોવાથી અને અપરિવર્તનશીલ સ્વભાવના કારણે કર્મોનો ક્ષય કરવાની શક્તિ નથી, ભવ્ય જીવોને તેવા ચીકણા કર્મ ન હોવાથી અને પરાવર્ત-સ્વભાવથી દેવ, ગુરુ અને ધર્મરૂપ સામગ્રીના મળવા પર, જ્ઞાનાદિ રત્નત્રયની આરાધના કરવાથી, તથા ગુણશ્રેણી પર આરોહણ કરવાથી તેઓને સિદ્ધપદ પ્રાપ્ત કરવુ શક્ય છે

मूलम्—

सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं, (सू० १)

(छाया)

श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम् (सू० १)

टीका—

'सुयं मे' इत्यादि । आयुष्मन् ! हे चिरजीविन् ! जम्बू ! 'आयुष्म' न्निति पदं शिष्यस्य जम्बूस्वामिनं कोमलवचनामन्त्रणं विनीतताख्यापनार्थम् । किञ्च–तस्याशेषश्रुतज्ञानोपदेश–श्रवण–ग्रहण – धारण – रत्नत्रयाराधन – मोक्षसाधन-योग्यताप्राप्त्यर्थमेवद्वचनम् । विनाऽऽयुषा श्रुतश्रवणादिमोक्षपर्यन्तसिद्धिर्न कस्यचित्स भवतीति भावः । एतद्वचनप्रभावादेव जम्बूस्वामी मोक्षपदं तस्मिन्नेव जन्मनि प्राप ।

मूलार्थ–'सुयं मे' इत्यादि, हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है । उन भगवान्ने ऐसा कहा है (सू० १)

टीकार्थ–हे आयुष्मन् ! अर्थात् हे चिरजीवी जम्बू !, 'आयुष्मन्' पद अपने शिष्य जम्बू स्वामीका कोमल वचनरूप सम्बोधन है, और विनीतता प्रकट करने के लिए है । अथवा–उनके समस्त श्रुतज्ञान, उपदेश का श्रवण, ग्रहण धारण, रत्नत्रयका आराधन, तथा मोक्षसाधन की योग्यता की प्राप्ति के लिए इस पद का प्रयोग किया गया है । आयुके अभाव में श्रुतश्रवण से लेकर मोक्ष तक किसीकी भी सिद्धि नहीं हो सकती । इसी वचन के प्रभाव से जम्बू स्वामीने उसी भव में मोक्ष प्राप्त किया था ।

'सुयं मे' ઈત્યાદિ

મૂલાર્થ—હે આયુષ્મન્ ! મેં સાંભળ્યું છે,–તે ભગવાને આવું કહ્યું છે (સૂ-૧)

ટીકાર્થ—હે આયુષ્મન્ અર્થાત્ હે ચિરજીવી જમ્બૂ !, 'આયુષ્મન્' પદ પોતાના શિષ્ય જમ્બૂ સ્વામીનું કોમલ-વચનરૂપ સંબોધન છે, અને વિનીતપણું પ્રગટ કરવા માટે છે અથવા તેમના સમસ્ત શ્રુતજ્ઞાન, ઉપદેશનું શ્રવણ, ગ્રહણ, ધારણ, રત્નત્રયનું આરાધન તથા મોક્ષસાધનની યોગ્યતાની પ્રાપ્તિ માટે આ પદનો પ્રયોગ કરવામાં આવ્યો છે, આયુના અભાવમાં શ્રુતના શ્રવણથી લઇને મોક્ષ સુધી કોઈ પણ સિદ્ધિ થઈ શકતી નથી આ વચનના પ્રભાવથી જમ્બૂ સ્વામીએ એ ભવમાં મોક્ષ પ્રાપ્ત કર્યો હતો

सिद्धसदृशा एव, तत्र ये सकल कर्म क्षपयन्ति ते सर्वे जीवा सिद्धा भवति, तस्मात् सर्वेषामेकैव सत्ता विद्यते। यदि सर्वे सिद्धसदृशास्तर्हि कथमभव्यजीवै सिद्धगतिमाग्भिर्न भूयते ? इति श्रूयताम्—

अभव्यजीवानामनाद्यनन्तचिक्कणकर्मसम्बन्धात्, परावर्तस्वभावाभावाच्च कर्मक्षपणशक्तिर्नास्ति, भव्यानां तु तादृशचिक्कणकर्माभावात्, परावर्तस्वभावसद्भावाच्च देवगुरुधर्मसामग्रीसत्त्वे ज्ञानादिरत्नत्रयसमाराधनेन, गुणश्रेणिसमारोहणेन च सिद्धपदं लब्धुं शक्यम्।

समस्त कर्मोंका क्षय कर डालते हैं वे सब सिद्ध कहलाते हैं। उनका असली स्वरूप प्रकट हो जाता है। ससारी जीव कर्म के अधीन होने के कारण दुखी होते हैं। इस प्रकार यद्यपि प्रत्येक जीव की सत्ता पृथक्-पृथक् है, तथापि उन में स्वरूप की समानता है।

प्रश्न—यदि समस्त जीव सिद्धों के समान है तो अभव्य जीव सिद्धिगति क्यों प्राप्त नहीं करते ?

उत्तर—सुनिये, अभव्य जीवों में अनादि अनन्त चिकने कर्मों के सम्बन्ध से और अपरिवर्तनशील स्वभाव के कारण कर्मों का क्षय करने की शक्ति नहीं है। भव्य जीवों के वैसे चिकने कर्मों के न होने से, और परावर्त स्वभाव से, देव गुरु और धर्मरूप सामग्रीके मिलन पर ज्ञानादिरत्नत्रय की आराधना करने से, तथा गुणश्रेणी पर आरोहण करने से उनको सिद्धपद प्राप्त करना शक्य है।

કર્મોનો ક્ષય કરી નાખે છે, તે સર્વે સિદ્ધ કહેવાય છે તેનુ અસલી સ્વરૂપ પ્રગટ થઈ જાય છે સસારી જીવ કર્મને આધીન હોવાના કારણે દુખી હોય છે એ પ્રમાણે જો કે પ્રત્યેક જીવની સત્તા પૃથક્-પૃથક્-જુદી જુદી છે, તો પણ તેનામા સ્વરૂપની સમાનતા છે

પ્રશ્ન—જો સર્વ જીવ સિદ્ધોની સમાન છે તો અભવ્ય જીવ સિદ્ધગતિને કેમ પ્રાપ્ત કરી શકતા નથી ?

ઉત્તર—સાભળો, અભવ્ય જીવોમા અનાદિ-અનત ચિકણા કર્મોનો સબધ હોવાથી અને અપરિવર્તનશીલ સ્વભાવના કારણે કર્મોનો ક્ષય કરવાની શક્તિ નથી, ભવ્ય જીવોને તેવા ચીકણા કર્મ ન હોવાથી અને પરાવર્ત-સ્વભાવથી દેવ, ગુરુ અને ધર્મરૂપ સામગ્રીના મળવા પર, જ્ઞાનાદિ રત્નત્રયની આરાધના કરવાથી, તથા ગુણ શ્રેણી પર આરોહણ કરવાથી તેઓને સિદ્ધપદ પ્રાપ્ત કરવુ શક્ય છે

मूलम्—

सुय मे आउस तेण भगवया एवमक्खाय, (सू० १)

(छाया)

श्रुत मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम् (सू० १)

टीका—

'सुय मे' इत्यादि । आयुष्मन् ! हे चिरजीविन् ! जम्बू ! 'आयुष्म' न्निति पदं शिष्यस्य जम्बूस्वामिनः कोमलवचनामन्त्रणं विनीतताख्यापनार्थम् । किञ्च–तस्याशेषश्रुतज्ञानोपदेश–श्रवण–ग्रहण – धारण – रत्नत्रयाराधन – मोक्षसाधन योग्यताप्राप्त्यर्थमेतद्वचनम् । विनाऽऽयुषा श्रुतश्रवणादिमोक्षपर्यन्तसिद्धिर्न कस्यचित्स भवतीति भावः । एतद्वचनप्रभावादेव जम्बूस्वामी मोक्षपदं तस्मिन्नेव जन्मनि प्राप ।

मूलार्थ–'सुय मे' इत्यादि, हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है। उन भगवान्ने ऐसा कहा है (सू० १)

टीकार्थ–हे आयुष्मन् ! अर्थात् हे चिरजीवी जम्बू !, 'आयुष्मन्' पद अपने शिष्य जम्बू स्वामीका कोमल वचनरूप सम्बोधन है, और विनीतता प्रकट करने के लिए है। अथवा–उनके समस्त श्रुतज्ञान, उपदेश का श्रवण, ग्रहण धारण, रत्नत्रयका आराधन, तथा मोक्षसाधन की योग्यता की प्राप्ति के लिए इस पद का प्रयोग किया गया है। आयुके अभाव में श्रुतश्रवण से लेकर मोक्ष तक किसीकी भी सिद्धि नहीं हो सकती। इसी वचन के प्रभाव से जम्बू स्वामीने उसी भव में मोक्ष प्राप्त किया था।

'सुय मे' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—હે આયુષ્મન્! મે સાંભળ્યુ છે,–તે ભગવાને આવુ કહ્યુ છે (સૂ–૧)

ટીકાર્થ—હે આયુષ્મન્ અર્થાત્ હે ચિરજીવી જમ્બૂ!, 'આયુષ્મન્' પદ પોતાના શિષ્ય જમ્બૂ સ્વામીનુ કોમલ–વચનરૂપ સબોધન છે, અને વિનીતપણુ પ્રગટ કરવા માટે છે અથવા તેમના સમસ્ત શ્રુતજ્ઞાન, ઉપદેશનુ શ્રવણ, ગ્રહણ, ધારણ, રત્નત્રયનુ આરાધન તથા મોક્ષસાધનની યોગ્યતાની પ્રાપ્તિ માટે આ પદનો પ્રયોગ કરવામાં આવ્યો છે, આયુના અભાવમાં શ્રુતના શ્રવણથી લઈને મોક્ષ સુધી કોઈ પણ સિદ્ધિ થઈ શકતી નથી આ વચનના પ્રભાવથી જમ્બૂ સ્વામીએ એ ભવમાં મોક્ષ પ્રાપ્ત કર્યો હતો

श्रुत=श्रवणविषयीकृत, मया=साक्षाद् भगवन्मुखात्, न तु परम्परया, यतो गणधराणामनन्तरागमो भवति। 'मया श्रुत'-मित्यनेन गुरुकुले निवसता मयेत्यर्थ सुतरा लभ्यते। गुरुकुलनिवास विना हि गुरुचरणसरोजस्पर्शपूर्वकाभिवादन, तन्मुखारविन्दविनि मृतवचनश्रवण च नोपपद्यते।

भगवया -भगः=(१) - ज्ञान=सर्वार्थविषयकम्, (२) - माहात्म्यम्=अनुपममहनीयमहिमसपन्नत्वम्, (३)-यश =विविधानुकूलप्रतिकूलपरीषहोपसर्गसहनसमुद्भूता कीर्ति, यद्वा-जगद्रक्षणभावनासमुत्था कीर्ति, (४)-वैराग्यम्=सर्वथा काम-

---

मैंने भगवान् के मुखसे साक्षात सुना है—परम्परा से नहीं, क्यों कि गणधरो का आगम अनन्तरागम होता है। 'मैंने सुना' इस वाक्य का 'मैंने गुरुकुल में निवास करते हुए सुना' यह अर्थ स्वत सिद्ध है। गुरुकुल में निवास किये विना गुरु के चरण-कमलोंका स्पर्श करके अभिवादन तथा उनके मुखारविन्द से निकलने वाले वचनों का श्रवण नहीं हो सकता।

'भगवान्' शब्द में जो 'भग' शब्द है उसके अनेक अर्थ होते हैं। वे इस प्रकार है—(१) सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाला ज्ञान (२) महात्म्य अर्थात् अनुपम और महान् महिमा, (३) यश अर्थात् नाना प्रकार के अनुकूल और प्रतिकूल परीषहों और उपसर्गों को सहन करने से फैली हुई कीर्ति, अथवा जगत् की रक्षा (उद्धार) करने की भावना से उत्पन्न हुई कीर्ति, (४) वैराग्य अर्थात् कामभोग की

મે ભગવાનના મુખથી સાક્ષાત્ સાંભળ્યુ છે—પરમ્પરાથી નહિ, કેમકે ગણધરોનાં આગમ અનન્તરાગમ-હોય છે 'મે સાંભળ્યુ' એ ગુરૂકુલમા નિવાસ કરતા થકા સાંભળ્યુ' આ અથ સ્વત સિદ્ધ છે ગુરૂકુલમા નિવાસ કર્યા વિના ગુરુના ચરણકમલોનો સ્પર્શ કરીને અભિવાદન નમસ્કાર તથા તેના મુખાર વિંદથી નિકલવાવાળા વચનો શ્રવણ થઈ શકતા નથી.

'ભગવાન' શબ્દમા જે 'ભગ શબ્દ છે, તેના અનેક અથ થાય છે તે આ પ્રમાણે—

(૧) સમ્પૂર્ણ પદાર્થોને જાણવાવાળુ જ્ઞાન, (૨) માહાત્મ્ય અર્થાત્ અનુપમ અને મહાન્ મહિમાથી યુક્ત હોવું, (૩) યશ-અર્થાત્ નાના પ્રકારના અનુકૂલ અને પ્રતિકૂલ પરીષહો અને ઉપસર્ગોને સહન કરવાથી ફેલાતી કીર્તિ, અથવા જગતની રક્ષા (ઉદ્ધાર) કરવાની ભાવનાથી ઉત્પન્ન થયેલી કીર્તિ, (૪) વૈરાગ્ય-

भोगाभिलापराहित्यम्, यद्वा-क्रोधादिकषायनिग्रहलक्षणम्, (५)-मुक्तिः=सकल-कर्मक्षयलक्षणो मोक्ष, (६)-रूपम्=सकलहृदयहारिसौन्दर्यम्, (७)-वीर्यम्=अन्त-रायान्तजन्यमनन्तसामर्थ्यम्, (८)-श्री'=घातिककर्मपटलविघटनजनितज्ञानदर्शन सुखवीर्यरूपानन्तचतुष्टयलक्ष्मी. । (९)-धर्म -अपवर्गद्वारकपाटोद्घाटनसाधन-श्रुतचारित्रलक्षण (१०)-ऐश्वर्यम्=लोकत्रयाधिपत्यम्, चास्यास्तीति भगवान्, तेन भगवता=ज्ञानादियुक्तेन, तेन तीर्थङ्करेण, वक्ष्यमाणार्थस्य तीर्थङ्करभाषितत्वात् च्छब्देनात्र तीर्थङ्करपरामर्श' । उक्तञ्च—

तनिक भी अभिलाषा न होना, अथवा क्रोध आदि कषायोंका निग्रह करना, (५) मुक्ति समस्त कर्मोंका क्षय रूप मोक्ष, (६) रूप-सब का हृदय हरलेनेवाला अनुपम सौन्दर्य (७) वीर्य-अन्तराय कर्मके क्षय से उत्पन्न अनन्तशक्ति, (८) श्री-घाति कर्मों के क्षय से उत्पन्न अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यरूप अनन्तचतुष्टय लक्ष्मी (९) धर्म-मोक्षरूपी द्वार के किवाड उघाडने का साधन श्रुतचारित्ररूप धर्म, (१०) ऐश्वर्य-तीन लोक का आधिपत्य । ये दश गुण जिस में विद्यमान हों उसे 'भगवान्' कहते हैं । ऐसे भगवान्ने कहा है । आगे कहा जाने वाला तत्व तीर्थंकरभाषित है, अत एव 'तत्' शब्द से यहाँ भगवान् तीर्थंकर समझना चाहिए । कहाभी है—

અર્થાત્ કામભોગની જરા પણ અભિલાષા નથવી, અ થવી ક્રોધ કષાયોનો નિગ્રહ કરવો, (૫) મુક્તિ-સમસ્ત કર્મોના ક્ષયરૂપ મોક્ષ (૬) રૂપ-સર્વના હૃદયને હરી લેવાવાળુ અનુપમ સૌન્દર્ય, (૭) વીર્ય-અન્તરાય કર્મના ક્ષયથી ઉત્પન્ન અનન્ત શક્તિ (૮) શ્રી-ઘાતિ કર્મોના ક્ષયથી ઉત્પન્ન અનત જ્ઞાન, દર્શન, સુખ અને વીર્યરૂપ અનતચતુષ્ટયલક્ષ્મી (૯) ધર્મ-મોક્ષરૂપી દ્વારના કમાડ ઉઘાડવાનુ સાધન શ્રુત-ચારિત્રરૂપ ધર્મ (૧૦) ઐશ્વર્ય-ત્રણ લોકનુ અધિપતિપણુ આ દસ ગુણ જેમાં હોય તેને ભગવાન કહે છે એવા ભગવાને કહ્યુ છે

આગળ કહેવાશે તે તત્ત્વ તીર્થંકરભાષિત છે, એટલા માટે 'તત્' શબ્દથી તીર્થંકર ભગવાનનો અર્થ અહિં સમજવો જોઇએ. કહ્યુ પણ છે—

" अत्थ भासइ अरिहा, सुत्त गथति गणहरा णिउणा " इत्यादि ।

अर्थं भापतेऽर्हन् सूत्र ग्रथ्नन्ति गणधरा निपुणा , इति च्छाया ।

भगवत्तीर्थङ्करोपदिष्टमर्थरूपमागममुपादाय मेधाविनो गणधरा मूलरूपमागमं निबध्नन्तीत्यर्थ' ।

एव=वक्ष्यमणरीत्या आख्यात=कथितं द्वादशविधपरिपत्सु ।

भगवत्तीर्थङ्करकथितार्थजातमेव वानुसृत्य वक्ष्यमाण वाक्यमनुवदिष्यामीति वाक्यार्थ । आगमोक्तार्थस्य काल्पनिकत्वाभावाद् द्रव्यार्थिकनयेनार्थरूपोऽयमागमोऽनादिरिति भाव. ।

एषा परपरा=परिपाटी चरीवर्ति मर्वेषा गणधराणां, यद् विनीतै स्वस्वान्तेवासिभिर्मोक्षमार्गे सविनयं पृष्टा गणधरा "सुय मे" इतिवाक्य प्रथम वदन्ति । उक्तञ्च—

"अर्हन्त भगवन्त अर्थका निरूपण करते हैं । और गणधर उसे भली-भाँति सूत्र रूप में गूथते हैं । अर्थात् भगवान् तीर्थंकर के द्वारा उपदिष्ट अर्थरूप आगम के आधार पर कुशल गणधर मूलरूप आगमकी रचना करते हैं ।"

उन भगवानने बारह प्रकारकी परिषद् में इस प्रकार कहा है जो आगे इस सूत्र में निरूपण किया जायगा । आगमोक्त अर्थ काल्पनिक नहीं होता, अत द्रव्यार्थिकनय से अर्थरूप यह आगम अनादि है ।

सभी गणधरों की यह परम्परा-परिपाटी है कि-अपने २ विनीत शिष्यों द्वारा विनयपूर्वक मोक्षमार्ग पूछे जाने पर गणधर महाराज पहले-पहल 'सुयं मे' यह वाक्य बोलते हैं । कहा भी है—

"अर्हन्त भगवंत अर्थनुं निरूपण करे छे, अने गणधर तेने रुडी रीते सूत्र रूपमा गुंथे छे, अर्थात् भगवान तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट-उपदेशेला अर्थरूप आगमना आधार पर कुशळ गणधर मूलरूप आगमनी रचना करे छे"

ते भगवाने बार प्रकारनी परिषद्-सभामा आ प्रमाणे कह्युं छे जे, आगळ आ सूत्रमा निरूपण करवामा आवशे. आगमोक्त-आगममां कहेलो अर्थ काल्पनिक नथी, तेथी द्रव्यार्थिक नयथी अर्थरूप आ आगम अनादि छे.

सर्व गणधरोनी ए परपरा-परिपाटी छे केः-पोत-पोताना विनीत शिष्यो द्वारा विनयपूर्वक मोक्षमार्ग पूछवाथी गणधर महाराज प्रथम 'सुय मे' आ वाक्य बोले छे कह्यु पण छे—

(द्रुतविलम्बित छन्दः)

"निपुणशिष्यगणैर्विनयान्वितै,-
विमलभावयुतैः परिसेवितैः ।
गणधरैरखिलै' प्रथम वच ,
खलु 'सुय म' इति प्रतिभापितम्" ॥१॥ इति ।

भगवता यदाख्यात तदाह—'इहमेगेसिं' इत्यादि ।

मूलम्

इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ, तंजहा-पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहोदिसाओ वा आगओ अहमंसि । अण्णयरीओ वा दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि ॥ सू० २ ॥

"विनय से युक्त निपुण शिष्यों द्वारा सेवित, तथा निर्मल भावों वाले सब गणधरों द्वारा अपने२ शिष्यों के प्रति सर्व प्रथम 'सुय मे' यह वाक्य कहा गया है ॥ १ ॥

भगवानने जो कहा वह कहते हैं—'इहमेगेसिं' इत्यादि ।

मूलार्थ—किन्हीं २ (जीवों) को संज्ञा नहीं होती कि–मैं पूर्व दिशा से आया हूँ, या मैं दक्षिण दिशा से आया हूँ, या मैं पश्चिम दिशा से आया हूँ, अथवा मैं उत्तर दिशा से आया हूँ । अथवा मैं उर्ध्व दिशा से आया हूँ, या अधोदिशासे मैं आया हूँ, अथवा मैं दूसरी किसी दिशा या अनुदिशा (विदिशा) से आया हूँ । ॥ २ ॥

"विनयथी युक्त निपुण शिष्योथी सेवित तथा निर्मल भावोवाळा सर्व गणधरो द्वारा पोतपोताना शिष्यो प्रति सर्व प्रथम 'सुय मे' ओ वाक्य कहेवामां आव्युं छे" ॥ १ ॥

मूलार्थ–'इहमेगेसिं' ईत्यादि कोई–कोई (जीवो)ने संज्ञा नथी होती के हुं पूर्व दिशामांथी आव्यो छुं, अथवा हुं दक्षिण दिशामांथी आव्यो छुं, अथवा हुं पश्चिम दिशामांथी आव्यो छुं, अथवा हुं उत्तर दिशामांथी आव्यो छुं, अथवा हुं उर्ध्व दिशामांथी आव्यो छुं, अथवा हुं अधो दिशामांथी आव्यो छुं, अथवा हुं अन्य–बीजी कोई दिशामांथी अथवा अनुदशा (विदिशा)मांथी आव्यो छुं ॥२॥

छाया—

इह एकेषां नो संज्ञा भवति, तद्यथा-पूर्वस्या वा दिशाया आगतो-ऽहमस्मि, दक्षिणस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, पश्चिमाया वा दिशाया आगतोऽहमस्मि। उत्तरस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि। ऊर्ध्वाया वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, अधोदिशाया वा आगतोऽहमस्मि, अन्यतरस्या वा दिशाया अनुदिशाया वा आगतोऽहमस्मि।

'इहमेगेसिं' इति इह-चतुर्गतिसमरणरूपे संसारे एकेषां ज्ञानावरणीयकर्मो-दयवतां संज्ञिनां जीवानां संज्ञा-स्मृतिरूपो मतिविशेषः नो भवति-न जायते।

अन्यं प्रतिषेधवाचकं शब्दं विहाय 'नो' शब्दोपादानं विशिष्टसंज्ञा-प्रतिषेधबोधनार्थम्। 'नो' शब्दः सर्वनिषेधवाची, देशनिषेधवाची च। उक्तञ्च—

"प्रतिषेधयति समस्तं, प्रसक्तमर्थं जगति नो-शब्दः।
स पुनस्तदवयवो वा, तस्मादर्थान्तरं वा स्यात्॥ १॥"

'नो' शब्दः-प्रसंगादागतमर्थं संपूर्णं प्रतिषेधयति, स चार्थः प्रसक्तावयवो वा स्यात् तस्मादन्यो वाऽर्थः स्यात् तमपि प्रतिषेधयतीत्यर्थः।

टीकार्थ—चार गति में भ्रमण करनेरूप संसार में ज्ञानावरण कर्म के उदय वाले कितनेक सन्नी जीवों को संज्ञा अर्थात् स्मृति नहीं होती।

निषेधवाचक दूसरे शब्द को छोड कर यहाँ 'नो' शब्द का प्रयोग किया गया है सो विशिष्ट संज्ञा का अभाव सूचित करने के लिए समझना चाहिए। 'नो' शब्द सर्वनिषेधवाचक भी है और देशनिषेधवाचक भी है। कहा भी है—

"'नो' शब्द प्रसंग में आये हुए सम्पूर्ण अर्थ का निषेध करता है। यह अर्थ चाहे उन का एक अवयव हो या उस से भिन्न अर्थान्तर हो—उस का भी निषेध करता है" ॥१॥

ટીકાર્થ—ચાર ગતિમાં ભ્રમણ કરવા રૂપ સંસારમાં જ્ઞાનાવરણ કર્મના ઉદય વાળા કેટલાક સંજ્ઞી જીવોને સંજ્ઞા અર્થાત્ સ્મૃતિ નથી રહેતી. નિષેધક-વાચક અન્ય શબ્દો ત્યજીને અહિં 'નો' શબ્દનો પ્રયોગ કર્યો છે તે વિશિષ્ટ સંજ્ઞાનો અભાવ સૂચવવા માટે સમજવો જોઈએ 'નો' શબ્દ સર્વનિષેધવાચક પણ છે અને દેશનિષેધવાચક પણ છે કહ્યું પણ છે—

"'નો' શબ્દ પ્રસંગમાં આવેલા સંપૂર્ણ અર્થનો નિષેધ કરે છે, તે અર્થ ગમે તે તેનું એક અવયવ હોય અથવા તેનાથી ભિન્ન અર્થાન્તર હોય તેનો પણ નિષેધ કરી દે છે" ॥ १ ॥

यया सञ्ज्ञयाऽऽत्मनो गत्यागत्यादिक जीवो जानाति तस्या एव प्रतिषेधो विवक्षित' ।

अथ सञ्ज्ञाभेदा —

सञ्ज्ञा च जीवानां बहुविधा । तत्र-दशविधा भगवतीसूत्रे (शतक-७, उद्देश ८) प्रोक्ता—

"कइ ण भते ! सन्नाओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! दस सन्नाओ पन्नत्ताओ, तजहा-(१) आहारसन्ना, (२) भयसन्ना, (३) मेहुणसन्ना, (४) परिग्गहसन्ना, (५) कोहसन्ना, (६) माणसन्ना, (७) मायासन्ना, (८) लोभसन्ना, (९) लोगसन्ना, (१०) ओहसन्ना" इति।

जिस सञ्ज्ञा के द्वारा आत्मा की गति और आगति जीव जानता है, यहाँ उसीका निषेध समझना चाहिए।

सञ्ज्ञा के भेद-

जीवों की सञ्ज्ञा अनेक प्रकार की होती है । भगवतीसूत्र (श० ६, उ० ८, में दश प्रकार की संज्ञा कही गई है, वह इस प्रकार है;—

प्रश्न—भगवान् ! संज्ञाएँ कितनी कही गई हैं।

उत्तर—गौतम ! दश सञ्ज्ञाएँ कही गई हैं । वे इस प्रकार हैं— (१) आहार–सञ्ज्ञा, (२) भय–सञ्ज्ञा, (३) मैथुन–सञ्ज्ञा, (४) परिग्रह–सञ्ज्ञा, (५) क्रोध-सञ्ज्ञा (६) मान–सञ्ज्ञा, (७) माया–सञ्ज्ञा, (८) लोभ–सञ्ज्ञा, (९) लोक–सञ्ज्ञा और (१०) ओघ–सञ्ज्ञा।

જે સજ્ઞા દ્વારા આત્માની ગતિ અને આગતિ જીવ જાણે છે અહિં એનો નિષેધ સમજવો જોઈએ

સજ્ઞાના ભેદ—

જીવોની સજ્ઞા અનેક પ્રકારની હોય છે ભગવતી સૂત્ર (શ. ૬ ઉ ૮)માં દસ પ્રકારની સજ્ઞાઓ કહેવામા આવી છે તે આ પ્રમાણે છે:—

પ્રશ્ન—ભગવાન ! સજ્ઞાઓ કેટલી કહી છે ?

ઉત્તર-ગૌતમ ! દસ સજ્ઞાઓ કહી છે તે આ પ્રમાણે છે:—

(૧) આહાર–સજ્ઞા (૨) ભય–સજ્ઞા (૩) મૈથુન–સજ્ઞા, (૪) પરિગ્રહ–સજ્ઞા (૫) ક્રોધ–સજ્ઞા (૬) માન–સજ્ઞા (૭) માયા–સજ્ઞા (૮) લોભ–સજ્ઞા (૯) લોક–સજ્ઞા અને (૧૦) ઓઘ–સજ્ઞા

अथवा—सञ्ज्ञानं सञ्ज्ञा-चेतना, सा चाशातवेदनीयमोहनीयकर्मोदयजन्य-विकारयुक्ता आहारादिसञ्ज्ञादित्वेन व्यपदिश्यते। सा द्विधा-अनुभवनसञ्ज्ञा, ज्ञानसञ्ज्ञा च। तत्रानुभवनसञ्ज्ञा षोडशविधा। तत्र भगवतीसूत्रोक्तदशविधसञ्ज्ञा उपादायाधिका षट् सञ्ज्ञा समिलिता षोडश भवन्ति। तत्र (१) सुखसञ्ज्ञा, (२) दुःखसञ्ज्ञा, (३) मोहसंज्ञा, (४) विचिकित्सासञ्ज्ञा, (५) शोकसञ्ज्ञा, (६) धर्मसञ्ज्ञा चेति षट् अधिका विज्ञेयाः।

(१) आहारसञ्ज्ञा—

(१) क्षुद्वेदनीयोदयात् कवलाद्याहारार्थं तथाविधपुद्गलोपादानक्रिया सम्यग् ज्ञायतेऽनयेत्याहारसञ्ज्ञा। यद्वा—क्षुद्वेदनीयोदयसमुद्भव आहाराभि-

---

अथवा—सञ्ज्ञानं—सञ्ज्ञा—चेतना, अर्थात् सञ्ज्ञा चेतना को कहते हैं। यह जब असातावेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय से जनित विकारों से युक्त होती है तब वह आहार आदि सञ्ज्ञा कहलाने लगती है। वह दो प्रकार की है—(१) अनुभवनसञ्ज्ञा और (२) ज्ञानसञ्ज्ञा। इन में से अनुभवनसञ्ज्ञा सोलह प्रकार की है। भगवतीसूत्रोक्त दश सञ्ज्ञाओं में छह सञ्ज्ञाएँ मिला देने से सोलह हो जाती हैं। छह सञ्ज्ञाएँ ये हैं—(१) सुखसञ्ज्ञा, (२) दुःखसंज्ञा, (३) मोहसञ्ज्ञा, (४) विचिकित्सासञ्ज्ञा, (५) शोकसञ्ज्ञा, और (६) धर्मसञ्ज्ञा।

(१) आहारसञ्ज्ञा

क्षुधावेदनीय के उदय से कवलाहार आदि के लिए योग्य पुद्गलों को ग्रहण करने की क्रिया जिस द्वारा सम्यक् प्रकार से जानी जाय वह आहारसञ्ज्ञा कहलाती है।

અથવા—સંજ્ઞાન એટલે સંજ્ઞા, તે ચેતના, અર્થાત્ ચેતનાને સંજ્ઞા કહે છે તે જ્યારે અસાતાવેદનીય અને મોહનીય કર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન વિકારો યુક્ત હોય છે, ત્યારે તે આહાર આદિ સંજ્ઞા કહેવાય છે તે બે પ્રકારની છે—(૧) અનુભવનસંજ્ઞા અને (૨) જ્ઞાનસંજ્ઞા તેમા અનુભવનસંજ્ઞા સોળ પ્રકારની છે, ભગવતીસૂત્રોક્ત દસ સંજ્ઞાઓમા છ મેળવી દેવાથી સોળ થાય છે, છ સંજ્ઞાઓ આ છે—(૧) સુખસંજ્ઞા, (૨) દુઃખસંજ્ઞા, (૩) મોહસંજ્ઞા, (૪) વિચિકિત્સાસંજ્ઞા, (૫) શોકસંજ્ઞા અને (૬) ધર્મસંજ્ઞા

(૧) આહારસંજ્ઞા—

ક્ષુધા (ભૂખ) વેદનીયના ઉદયથી કવલાહાર આદિ માટે યોગ્ય પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરવાની ક્રિયા જેના વડે સમ્યક્ પ્રકારથી જાણી શકાય, તે આહારસંજ્ઞા કહેવાય છે

लापरूप आत्मन परिणामविशेष । अभिलापश्चात्र-'मदर्थमीदृश वस्तु पुष्टिकर, यदीदं लभ्यते तदा मम हित भविष्यती'-त्येवं विचारानुबद्ध स्वपुष्टितुष्टिकारणीभूतप्रतिनियतवस्तुप्राप्त्यर्थमात्मन परिणाम । रिक्तोदरत्वाद् भोजनीयवस्तुश्रवण-दर्शन-सचिन्तनैश्चाहारसज्ञा जायते। आहारादय सज्ञाः एकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियपर्यन्ताना सर्वजीवानामासंसार भवन्ति। जलाद्याहारोपजीवनात् वनस्पत्यादीनामाहारसज्ञा विज्ञायते ।

अथवा क्षुधावेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाली आहार की अभिलापारूप आत्मा की परिणति आहारसज्ञा कहलाती है। यहां अभिलाषा शब्द से 'इस प्रकार की वस्तु मेरे लिए पुष्टिकर है, यह वस्तु मिले तो मेरा हित होगा' ऐसे विचार से युक्त अपनी पुष्टि और सन्तोष के कारणभूत पदार्थ की प्राप्ति के लिए होने वाला आत्मा का परिणाम ग्रहण करना चाहिए। खाली पेट होने पर भोग्य वस्तु के श्रवण दर्शन और चिन्तन से आहारसज्ञा उत्पन्न होती है। आहार आदि सज्ञाएं एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रियपर्यन्त सभी जीवों को होती हैं, जब तक ससार का अन्त नहीं होता तब तक बनी रहती हैं। जल आदि आहार पर जीवित रहने के कारण वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीवों में भी आहारसज्ञा का अस्तित्व प्रतीत होता है।

અથવા ક્ષુધાવેદનીય કર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન થવા વાળી આહારની અભિલાષા-રૂચિ-ઈચ્છા રૂપ આત્માની પરિણતિ તે આહારસંજ્ઞા કહેવાય છે, અહિં અભિલાષા શબ્દથી 'આ પ્રકારની વસ્તુ મારા માટે પુષ્ટિ કરનારી છે, આ વસ્તુ મળે તો મારૂં હિત થશે' એવા વિચારથી યુક્ત પોતાની પુષ્ટિ અને સંતોષના કારણભૂત પદાર્થની પ્રાપ્તિ માટે વિચાર કરનાર આત્માનું પરિણામ, ગ્રહણ કરવું જોઈએ, ખાલી પેટ હોવાના કારણે ભોજ્ય (ભોજન કરવા યોગ્ય) વસ્તુના શ્રવણ, દર્શન અને ચિન્તનથી આહારસંજ્ઞા ઉત્પન્ન થાય છે આહાર આદિ સંજ્ઞાઓ એકેન્દ્રિયથી આરંભીને પંચેન્દ્રિય સુધીના સર્વ જીવોને હોય છે, અને જ્યાં સુધી સંસારનો અંત થતો નથી ત્યાં સુધી તે સંજ્ઞાઓ રહે છે જલ વગેરેના આહાર પર જીવિત રહેવાના કારણે વનસ્પતિ આદિ એકેન્દ્રિય જીવોમાં પણ આહારસંજ્ઞાનું અસ્તિત્વ દેખાય છે

(२) भयसञ्ज्ञा–

(२) सनिमित्तमनिमित्त वा भयमोहनीयोदयाद् भयोद्भ्रान्तस्य मोहनीयान्तर्गतनोकपायरूपा नयनवदनविकृतरोमाञ्चाविर्भावादिक्रियालक्षणा स्वात्मन परिणतिर्भयसञ्ज्ञा। हीनवलत्वेन, भयवार्ताश्रवणभीषणदर्शनादिजनितवुद्धया, इहलोकादिभयजनकार्थपर्यालोचनेन वा भयसञ्ज्ञा जायते। हस्तस्पर्शादिभीत्या स्वावयवसंकोचनादिना लज्जालुवल्ल्यादीना भयसञ्ज्ञा विज्ञायते।

(३) मैथुनसञ्ज्ञा–

(३) पुरुषवेदोदयान्मैथुनार्थे वनितालोकनप्रसन्नवदनसस्तम्भितगात्र-

(२) भयसञ्ज्ञा—

किसी कारण से या विना ही कारण भयमोहनीय कर्म के उदय से भयभीत पुरुषकी मोहके अन्तर्गत नोकपायरूप, नेत्रों में और मुख में विकार होना, रोमाञ्च होना आदि क्रियाए जिसका लक्षण है, ऐसी आत्मा की परिणति भयसञ्ज्ञा कहलाती है, दुर्बलता से, भय उत्पन्न करने वाली यात सुनने से, भयङ्कर वस्तु के देखने से, तथा इहलोक आदि में भयजनक वस्तुका विचार करने से भयसञ्ज्ञा उत्पन्न होती है। लज्जवन्ती आदि वनस्पतियाँ हाथ के स्पर्श के भय से अपने अवयवों को सिकोड लेती हैं, अत उन में भयसञ्ज्ञा की विद्यमानता प्रतीत होती है।

(३) मैथुनसञ्ज्ञा–

पुरुषवेद-मोहनीय कर्म के उदय से मैथुन के लिए स्त्री को देखना, प्रसन्नवदन

(२) ભય સંજ્ઞા—

કોઈ કારણથી અથવા વિના કારણે ભય થવો, મોહનીય કર્મના ઉદયથી ભયભીત પુરુષની મોહને અતર્ગત નોકપાયરૂપ, નેત્રોમા અને ચહેરામા વિકાર થવો, રોમાંચ થવું (રૂવાડા ઉભા થવાં) વગેરે ક્રિયાઓ જેનુ લક્ષણ છે, એવી આત્માની પરિણતિ તે ભયસંજ્ઞા કહેવાય છે દુર્બલતાથી, ભય ઉત્પન્ન કરાવનારી વાત સાભળવાથી, ભયકર વસ્તુ દેખવાથી, તથા આ લોક વગેરેમાં ભયજનક વસ્તુનો વિચાર કરવાથી ભયસંજ્ઞા ઉત્પન્ન થાય છે લજ્જાવતી (લજામણી) આદિ વનસ્પતિઓ હાથનો સ્પર્શ થવાથી ભય લાગ્યો હોય તેમ પોતાના અવયવોને સંકોચે છે તેથી તેમા ભયસંજ્ઞાની વિદ્યમાનતા દેખાય છે

(૩) મૈથુન સંજ્ઞા—

પુરુષવેદ—મોહનીકર્મના ઉદયથી મૈથુન માટે સ્રી તરફ જોવું હસતુ મુખ

शैथिल्योरुकम्पनादिक्रियारूपा आत्मनः परिणतिर्मैथुनसंज्ञा। रुधिरमांसोपचयेन, स्त्रीकथाश्रवणादिजनितमत्या, मैथुनचिन्तनेन च मैथुनसंज्ञा जायते। कुरुबकादिवनस्पतीनां कमनीयकामिनीभुजलतावगूहन–चरणाघात–कटाक्षविक्षेपादिभ्यः प्रसूनपल्लवादिप्रसवदर्शनान्मैथुनसंज्ञा विज्ञायते।

(४) परिग्रहसंज्ञा—

(४) लोभमोहनीयोदयाद् धर्मसाधनव्यतिरिक्त–सचित्ताऽचित्तमिश्र-वस्तूपादानादिमूर्छारूपा आत्मनः परिणतिः परिग्रहसंज्ञा। सचित्तादिवस्तु

होना, शरीर का स्तम्भित हो जाना, तथा उस में शिथिलता पैदा होना उरु (घुटनेके नीचेका भाग) आदि का कांपना आदि क्रियारूप आत्मा की परिणति को मैथुनसंज्ञा कहते हैं। रक्त और मांस की अधिकता से, स्त्रीकथा आदि के श्रवण से उत्पन्न हुई बुद्धि से, और मैथुन का विचार करने से मैथुनसंज्ञा उत्पन्न होती है। कुरुबक आदि वनस्पतियों में सुन्दरी कामिनी की भुजाओं के आलिङ्गन से, चरणाघात से, तथा कटाक्षपात आदि से फूल, पत्ता आदि उत्पन्न होते हैं, अतः वनस्पति में मैथुनसंज्ञा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

(४) परिग्रहसंज्ञा—

लोभमोहनीय के उदय से धर्म के उपकरणों के अतिरिक्त दूसरे सचित्त अचित्त और मिश्र पदार्थों के ग्रहण आदि मूर्च्छारूप आत्मा की परिणति परिग्रहसंज्ञा कहलाती है।

थवु, शरीरनु स्तंभित थई जवु, तथा तेमां शिथिलता उत्पन्न थवी, जांग वगेरेनु कंपवु आदि क्रियारूप आत्मानी परिणतिने मैथुनसंज्ञा कहे छे रक्त (लोही) अने मांसनी अधिकताथी, स्त्रीकथा वगेरे सांभळवाथी उत्पन्न थयेली बुद्धिथी, अने मैथुननो विचार करवाथी मैथुनसंज्ञा उत्पन्न थाय छे कुरबक (एक जातनु वृक्ष) आदि वनस्पतिमां सुंदरी कामिनीना हाथना आलिंगन थता, चरणाघातथी तथा कटाक्षपात आदिथी फुल, पत्ता आदि उत्पन्न थाय छे, आ कारणथी वनस्पतिमा मैथुनसंज्ञानु अस्तित्व सिद्ध थाय छे

(४) परिग्रह संज्ञा—

लोभमोहनीयना उदयथी धर्मना उपकरणो सिवाय बीजा सचित्त, अचित्त अने मिश्र पदार्थोनु ग्रहण करवु वगेरे मूर्छारूप आत्मानी परिणति ते [illegible] ज्ञा

परिग्रहदर्शनेन, परिग्रहचिन्तनेन, परिग्रहसग्रहेण च परिग्रहसज्ञा जायते। विल्वादिवनस्पतीना स्वपत्रै पुष्पफलाच्छादनदर्शनात् परिग्रहसज्ञा विज्ञायते।

(५) क्रोधसज्ञा-

(५) क्रोधमोहनीयोदयाद् जीवस्य जात्यादिमदजनिता कर्तव्याकर्तव्यविवेकापहारिका स्वपराप्रीतिरूपप्रज्वलनात्मिका विभावपरिणति' क्रोधसज्ञा।

(६) मानसज्ञा-

(६) मानमोहनीयोदयाद् अहकाररूपा आत्मनो विभावपरिणतिर्मानसज्ञा। देवगुरुधर्मादीना महतामनादरणादिना मानसज्ञा विज्ञायते।

सचित्त आदि वस्तुओ का परिग्रह देखने से, परिग्रह का विचार करने से, और परिग्रहका सग्रह करने से परिग्रहसज्ञा उत्पन्न होती है। विल्व (वेल) आदि वनस्पतियॉ अपन पत्तो से फूल फल वगेरह को ढँक लेती हैं, इस से उनमें परिग्रहसज्ञा का होना प्रतीत होता है।

(५) क्रोधसज्ञा-

क्रोधमोहनीय के उदय से जीव में जातिमद आदि से उत्पन्न, तथा कर्तव्य अकर्तव्य का विवेक नष्ट कर देने वाली स्वपर की अप्रीतिरूप, तथा जलनरूप आत्मा की विभावपरिणति क्रोधसज्ञा कहलाती है।

(६) मानसंज्ञा—

मानमोहनीय के उदय से अहकाररूप आत्मा की विभावपरिणति मानसज्ञा कहलाती है। देव गुरु धर्म आदि बडोंका अनादर आदि करने से मानसज्ञा मालूम होती है।

કહેવાય છે સચિત્ત આદિ વસ્તુઓનો પરિગ્રહ દેખાવાથી, પરિગ્રહનો વિચાર કરવાથી અને પરિગ્રહનો સગ્રહ કરવાથી પરિગ્રહસજ્ઞા ઉત્પન્ન થાય છે બિલ્વ (બીલી) આદિ વનસ્પતિઓ પોતાના પાદડાથી ફુલ-ફલ વગેરેને ઢાકી દે છે, તેથી વનસ્પતિમા પરિગ્રહસજ્ઞા દેખાય છે

(૫) ક્રોધસજ્ઞા—

ક્રોધમોહનીય કર્મના ઉદયથી, જીવને જાતિમદ વગેરેથી ઉત્પન્ન, તથા કર્તવ્ય અકર્તવ્યનો વિવેક નાશ કરવાવાળી સ્વ-પરની અપ્રીતિરૂપ તથા જલનરૂપ આત્માની વિભાવપરિણતિ તે ક્રોધસજ્ઞા કહેવાય છે

(૬) માનસજ્ઞા—

માનમોહનીય કર્મના ઉદયથી અહકારરૂપ આત્માની વિભાવપરિણતિ માનસજ્ઞા કહેવાય છે દેવ, ગુરૂ, ધર્મ આદિ મોટાઓનો અનાદર વગેરે કરવાથી માનસજ્ઞા માલુમ પડે છે

शैथिल्योरुकम्पनादिक्रियारूपा आत्मनः परिणतिर्मैथुनसंज्ञा। रुधिरमांसोपचयेन, स्त्रीकथाश्रवणादिजनितमत्या, मैथुनचिन्तनेन च मैथुनसंज्ञा जायते। कुरव-कादिवनस्पतीनां कमनीयकामिनीभुजलतावगूहन-चरणाघात-कटाक्षविक्षेपादिभ्यः प्रसूनपल्लवादिप्रसवदर्शनान्मैथुनसंज्ञा विज्ञायते।

(४) परिग्रहसंज्ञा—

(४) लोभमोहनीयोदयाद् धर्मसाधनव्यतिरिक्त-सचित्ताऽचित्तमिश्र-वस्तूपादानादिमूर्च्छारूपा आत्मनः परिणतिः परिग्रहसंज्ञा। सचित्तादिवस्तु-

होना, शरीर का स्तम्भित हो जाना, तथा उस में शिथिलता पैदा होना उरु (घुटनोंके नीचेका भाग) आदि का कांपना आदि क्रियारूप आत्मा की परिणति को मैथुनसंज्ञा कहते हैं। रक्त और मांस की अधिकता से, स्त्रीकथा आदि के श्रवण से उत्पन्न हुई बुद्धि से, और मैथुन का विचार करने से मैथुनसंज्ञा उत्पन्न होती है। कुरुवक आदि वनस्पतियों में सुन्दरी कामिनी की भुजाओं के आलिङ्गन से, चरणाघात से, तथा कटाक्षपात आदि से फूल, पत्ता आदि उत्पन्न होते हैं, अतः वनस्पति में मैथुनसंज्ञा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

(४) परिग्रहसंज्ञा—

लोभमोहनीय के उदय से धर्म के उपकरणों के अतिरिक्त दूसरे सचित्त अचित्त और मिश्र पदार्थों के ग्रहण आदि मूर्च्छारूप आत्मा की परिणति परिग्रहसंज्ञा कहलाती है।

थवु, शरीरनु स्तंभित थई जवु, तथा तेमा शिथिलता उत्पन्न थवी, जांघ वगेरेनु कंपवु आदि क्रियारूप आत्मानी परिणतिने मैथुनसंज्ञा कहे छे रक्त (लोही) अने मांसनी अधिकताथी, स्त्रीकथा वगेरे सांभळवाथी उत्पन्न थयेली बुद्धिथी, अने मैथुननो विचार करवाथी मैथुनसंज्ञा उत्पन्न थाय छे कुरबक (एक जातनु वृक्ष) आदि वनस्पतिमां सुंदरी कामिनीना हाथना आलिंगन थता, चरणाघातथी तथा कटाक्षपात आदिथी फुल, पत्ता आदि उत्पन्न थाय छे, आ कारणथी वनस्पतिमा मैथुनसंज्ञानु अस्तित्व सिद्ध थाय छे

(४) परिग्रह संज्ञा—

लोभमोहनीयना उदयथी धर्मना उपकरणो सिवाय बीजा सचित्त, अचित्त अने मिश्र पदार्थोनु ग्रहण करवु वगेरे मूर्छारूप आत्मानी परिणति ते परिग्रहसंज्ञा

रूपा आत्मनो विभावपरिणतिर्लोकसज्ञा। यथा-"अपुत्रस्य गतिर्नास्ती"-त्यादि।

(१०) ओघसंज्ञा-

(१०) ज्ञानावरणीयाल्पक्षयोपशमसमुद्भूता, अव्यक्तोपयोगरूपा जीवस्य परिणतिः ओघसज्ञा। सा लतादीनां मतानारोहणादिना ज्ञायते।

(११) सुखसंज्ञा—

(११) ससारिणां सातवेदनीयोदयात् सकलेन्द्रियाणामनुकूलतया ज्ञायमाना आत्मन परिणति' सुखसज्ञा।

तर्करूप आत्मा की विभावपरिणति लोकसज्ञा कहलाती है, यथा-"निपूते को सद्गति नहीं मिलती" आदि।

(१०) ओघसंज्ञा-

ज्ञानावरणीय कर्म के अल्प क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली तथा अव्यक्त (अप्रकट) उपयोगरूप जीव का विभावपरिणमन ओघसज्ञा कहलाती है। लता वगैरह का मडप पर चढने आदि से उसका ज्ञान होता है

(११) सुखसज्ञा-

संसारी जीवोंको सातावेदनीय के उदय से सब इन्द्रियों के अनुकूल प्रतीत होने वाली आत्मा की एक विशिष्ट परिणतिको सुखसज्ञा कहते हैं।

તર્કરૂપ આત્માની વિભાવપરિણતિ લોકસંજ્ઞા કહેવાય છે જેમ-"અપુત્રિયાને સદ્ગતિ મળતી નથી"

(૧૦) ઓઘસંજ્ઞા—

જ્ઞાનાવરણીય કર્મના અલ્પ ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થનારી અને અપ્રગટ ઉપયોગ રૂપ જીવનું વિભાવપરિણમન તે ઓઘસંજ્ઞા કહેવાય છે, વેલા વગેરેનું મંડપ ઉપર ચઢવું વગેરેથી તેનું જ્ઞાન થાય છે

(૧૧) સુખસંજ્ઞા—

સંસારી જીવોને સાતાવેદનીયના ઉદયથી સર્વ ઇન્દ્રિયોમાં અનુકૂલતાનું ભાન કરાવનારી આત્માની એક વિશિષ્ટ પરિણતિને સુખસંજ્ઞા કહે છે

(७) मायासंज्ञा—

(७) मायामोहनीयोदयात् कपटलक्षणा प्रवृत्तिर्जीवस्य विभावपरिणतिर्मायासंज्ञा। परवञ्चनेच्छया व्यामोहोत्पादकमनोवाकायव्यापारेण सा विज्ञायते।

(८) लोभसंज्ञा—

(८) लोभमोहनीयोदयेन सचित्तादिवस्तुगृद्धिरूपा जीवस्य विभाव परिणतिर्लोभसंज्ञा। आरम्भपरिग्रहादिप्रवृत्त्या लोभसंज्ञा विज्ञायते।

(९) लोकसंज्ञा—

(९) ज्ञानावरणीयक्षयोपशमेन मोहनीयकर्मोदयेन च कुबुद्धिजनितवर्क

(७) मायासंज्ञा—

मायामोहनीय के उदय से जीव को कपटरूप विभावपरिणति मायासंज्ञा कहलाती है। दूसरे को ठगने की इच्छा से मोहजनक मन, वचन और काय के व्यापार से उस की प्रतीति होती है।

(८) लोभसंज्ञा—

लोभमोहनीय के उदय से सचित्त आदि वस्तुओं में आसक्तिरूप जीवकी विभावपरिणति लोभसंज्ञा कहलाती है। आरम्भ परिग्रह आदि की प्रवृत्ति से लोभसंज्ञा का पता चलता है।

(९) लोकसंज्ञा—

ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से और मोहनीय कर्म के उदय से कुबुद्धिजनित

(૭) માયાસંજ્ઞા—

માયામોહનીય કર્મના ઉદયથી જીવની કપટરૂપ વિભાવપરિણતિ માયા-સંજ્ઞા કહેવાય છે બીજાને ઠગવાની ઇચ્છાથી, મોહજનક મન, વચન અને કાયાના વ્યાપારથી તેની પ્રતીતિ થાય છે

(૮) લોભસંજ્ઞા—

લોભમોહનીય કર્મના ઉદયથી સચિત્ત આદિ વસ્તુઓમાં આસક્તિરૂપ જીવની વિભાવપરિણતિ તે લોભસંજ્ઞા કહેવાય છે આરંભ-પરિગ્રહ આદિની પ્રવૃત્તિથી લોભ સંજ્ઞાનો પત્તો લાગે છે

(૯) લોકસંજ્ઞા—

જ્ઞાનાવરણીય કર્મના ક્ષયોપશમથી અને મોહનીયકર્મના ઉદયથી કુબુદ્ધિજનિત

र्विचिकित्सासञ्ज्ञा । यथा दानादिधर्मस्य फलं प्रति संशयः । सा द्विधा-देशतः, सर्वतश्च । 'द्वात्रिंशतिपरिषहसहनब्रह्मचर्यकेशोल्लुञ्चनादिक्लेशसहनस्य फलं भविष्यति न वे'-तिरूपा देशतः । 'परलोकादि सत्यं न वे'-तिरूपा, सर्वज्ञप्ररूपितजीवादितत्त्वं यथार्थं न वे'-त्यादिरूपा वा सर्वतः ।

(१५) शोकसञ्ज्ञा—

(१५) मोहनीयकर्मोदयादिष्टवियोगजनिता विप्रलाप-वैमनस्यरूपा आत्मनः परिणतिः शोकसञ्ज्ञा । सा चाक्रन्दनादिना ज्ञायते ।

(१६) धर्मसञ्ज्ञा—

(१६) मोहनीयक्षयोपशमेन सर्वविरति-देशविरतिलक्षणा कर्मक्षयजनक-

संज्ञा कहलाती है। जैसे—दान धर्म आदि के फल में संदेह होना। यह संज्ञा दो प्रकार की है—देश से और सर्व से। 'बाइस परीषहों के सहने का, ब्रह्मचर्य पालन का, केशलोच आदि क्लेश सहन का फल मिलेगा या नहीं?' इस प्रकार का संशय होना देशतः विचिकित्सासंज्ञा है। 'वास्तव में परलोक है या नहीं, सर्वज्ञ के द्वारा प्ररूपित जीव आदि तत्त्व यथार्थ हैं या नहीं?' इस प्रकार का संशय सर्वतः विचिकित्सासंज्ञा है।

(१५) शोकसंज्ञा—

मोहनीय कर्म के उदय से इष्टवियोग से उत्पन्न होनेवाली विलाप और विमनस्कतारूप आत्मा की परिणति शोकसंज्ञा कहलाती है।

(१६) धर्मसंज्ञा—

मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से कर्मक्षयजनक सर्वविरति, तथा देशविरति

વિચિકિત્સા સંજ્ઞા કહેવાય છે જેમકે-દાન ધર્મ આદિના ફલમાં સંદેહ થવો. આ સંજ્ઞા બે પ્રકારની હોય છે—(૧) દેશથી, (૨) સર્વથી, 'બાવીશ પરિષહોનું સહન કરવું તે, બ્રહ્મચર્ય પાલન કરવું તે, કેશનું લોચન કરવું વગેરે ક્લેશ સહન કરવાનું ફલ મળશે કે નહિ?' આ પ્રકારનો સંશય તે દેશથકી વિચિકિત્સાસંજ્ઞા છે 'વાસ્તવમાં પરલોક છે કે નહિ, સર્વજ્ઞદ્વારા પ્રરૂપિત જીવ આદિ તત્વો યથાર્થ છે કે નહિ' આ પ્રકારનો સંશય તે સર્વથકી વિચિકિત્સાસંજ્ઞા છે

(૧૫) શોકસંજ્ઞા—

મોહનીય કર્મના ઉદયને લીધે, ઇષ્ટવિયોગથી ઉત્પન્ન થવા વાલી, વિલાપ અને વિમનસ્કતા (વ્યાકુલ ચિત્ત) રૂપ આત્માની પરિણતિ શોકસંજ્ઞા કહેવાય છે

(૧૬) ધર્મસંજ્ઞા—

મોહનીયકર્મના ક્ષયોપશમથી કર્મક્ષયજનક સર્વવિરતિ તથા દેશવિરતિરૂપ

(१२) दुःखसंज्ञा—

(१२) संसारिणामसातवेदनीयोदयात् सकलेन्द्रियाणां प्रतिकूलतया ज्ञायमाना विविधतापानुभवरूपा जीवस्य परिणतिर्दुःखसंज्ञा ।

(१३) मोहसंज्ञा—

(१३) मोहनीयकर्मोदयाद् मिथ्यादर्शनरूपा ज्ञानादिगुणरोधकसकलपापस्थानहेतुरात्मनो विभावपरिणतिर्मोहसंज्ञा । कुदेवकुगुरुकुधर्मादौ प्रवृत्त्या मोहसंज्ञा विज्ञायते ।

(१४) विचिकित्सासंज्ञा—

(१४) मोहनीयोदयाद् ज्ञानावरणीयोदयाच्च संशयरूपा जीवस्य परिणति-

---

(१२) दुःखसंज्ञा—

संसारी जीवों को असातावेदनीय के उदय से सब इन्द्रियों के प्रतिकूल प्रतीत होने वाली, विविध प्रकार के संतापों का अनुभवरूप जीव की परिणति दुःखसंज्ञा कहलाती है ।

(१३) मोहसंज्ञा—

मोहनीय कर्म के उदय से मिथ्यादर्शनरूप, तथा ज्ञानादि गुणों का निषेध करने वाली, समस्त पापस्थानकों का कारणरूप आत्मा की विभावपरिणति मोहसंज्ञा है । कुदेव कुगुरु और कुधर्म आदि में प्रवृत्ति होने से मोहसंज्ञा का ज्ञान होता है ।

(१४) विचिकित्सासंज्ञा—

मोहनीय और ज्ञानावरण कर्म के उदय से संशयरूप आत्मा का परिणमन विचिकित्सा

---

(१२) दुःखसंज्ञा—

સંસારી જીવોને અસાતાવેદનીયના ઉદયથી સર્વ ઇન્દ્રિયોમાં પ્રતિકૂળતાનું ભાન કરાવવા વાળી, વિવિધ પ્રકારના સંતાપોના અનુભવરૂપ જીવની પરિણતિ તે દુઃખસંજ્ઞા કહેવાય છે

(૧૩) મોહસંજ્ઞા—

મોહનીય કર્મના ઉદયથી મિથ્યાદર્શનરૂપ, તથા જ્ઞાનાદિ ગુણોનો નિરોધ કરવાવાળી, સમસ્ત પાપસ્થાનના કારણરૂપ આત્માની વિભાવપરિણતિ તે મોહસંજ્ઞા છે કુદેવ, કુગુરુ અને કુધર્મ આદિમાં પ્રવૃત્તિ હોવાના કારણે મોહસંજ્ઞાનું જ્ઞાન થાય છે

(૧૪) વિચિકિત્સાસંજ્ઞા—

મોહનીય અને જ્ઞાનાવરણીય કર્મના ઉદયથી સંશયરૂપ આત્માનું પરિણમન તે

(२) श्रुतज्ञानम्–

श्रुत=श्रुतिः श्रवणं ज्ञानविशेषः। तच्च कीदृशम् ? उच्यते–शब्दस्य श्रवणेन, भाषणादिना वा यज्ज्ञानमुत्पद्यते तदेव श्रुतम्।

अत्र श्रुतशब्देन ज्ञानं गृह्यते, ज्ञानप्रभेदप्रकरणान्त:पातित्वात्। न तु श्रूयते इति व्युत्पत्त्या शब्दार्थकः श्रुतशब्दः। लब्धिरूपे मतिज्ञाने सति पश्चात्-श्रुतज्ञान-मुत्पद्यते, न तु मतिज्ञानाभावे, अतो मतिज्ञानं कारणं श्रुतज्ञानस्य।

ननु मतिज्ञानमेव श्रुतज्ञानं संपद्यते, यथा–मृत्तिकैव घटः, तन्तुरेव पटः,

(२) श्रुतज्ञान—

श्रुति या श्रवण (सुनना), यह एक प्रकार का ज्ञान कहलाता है। शब्द के श्रवण से या भाषण आदि से वाच्य–वाचकभाव सम्बन्ध के अनुसार जो पदार्थ का ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

यहाँ 'श्रुत' शब्द से ज्ञान का ग्रहण किया जाता है, क्यों कि वह ज्ञान के प्रभेदों के अन्तर्गत है, किन्तु 'श्रूयते' इस व्युत्पत्ति से शब्दार्थक श्रुत–शब्द नहीं है। लब्धिरूप मतिज्ञान के होने पर बादमें श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है, मतिज्ञान के अभाव में नहीं होता, अत एव मतिज्ञान श्रुतज्ञान का कारण है।

शङ्का—मतिज्ञान ही श्रुतज्ञानरूप में परिणत हो जाता है, जैसे मिट्टी घटरूप में पलट जाती है, और तन्तु पट (वस्त्र) रूप में बदल जाते हैं, ऐसी स्थिति में भगवान्ने श्रुतज्ञान का पृथक् ग्रहण किस प्रयोजन से किया है ?

(२) श्रुतज्ञान—

श्रुति अथवा श्रवण–સાંભળવારૂપ એક પ્રકારનું જ્ઞાન તે શ્રુત–જ્ઞાન કહેવાય છે શ્રુત–જ્ઞાન કેવું હોય છે ? શબ્દના સાંભળવાથી અથવા ભાષણ આદિથી, વાચ્ય–વાચક ભાવ સંબંધ પ્રમાણે જે પદાર્થનું જ્ઞાન થાય છે, તેને શ્રુતજ્ઞાન કહે છે

અહિં શ્રુત–શબ્દથી જ્ઞાન ગ્રહણ કરી શકાય છે કેમકે તે જ્ઞાનના પ્રભેદોની અંદર છે, પરંતુ 'શ્રૂયતે' આ વ્યુત્પત્તિથી શબ્દાર્થક શ્રુત–શબ્દ નથી. લબ્ધિરૂપ મતિજ્ઞાન થયા પછી શ્રુતજ્ઞાન ઉત્પન્ન થાય છે, મતિજ્ઞાનના અભાવમાં થતું નથી તે કારણથી મતિજ્ઞાન તે શ્રુતજ્ઞાનનું કારણ છે

શંકા—મતિજ્ઞાન જ શ્રુતજ્ઞાનરૂપમાં પરિણત થઈ જાય છે, જેમકે માટી ઘટ રૂપમાં ફરી જાય છે અને તન્તુ વસ્ત્રરૂપમાં બની જાય છે એવી સ્થિતિમાં ભગવાને શ્રુતજ્ઞાનનું જુદું ગ્રહણ શું પ્રયોજનથી કર્યું ?

सर्वविरतिदेशविरतिरूपाऽऽत्मनः स्वभावपरिणतिः धर्मसंज्ञा। सा जीवरक्षणादिव्यापारेण ज्ञायते।

ज्ञानसंज्ञाभेदाः—

ज्ञानसंज्ञा तु मतिश्रुतादिभेदात् पञ्चधा—(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञानं, चेति।

(१) मतिज्ञानम्—

मननं मतिरवबोधः। मतिश्चासौ ज्ञानं च मतिज्ञानम्। अत्र ज्ञानशब्दः सामान्यज्ञानवाचकः। इन्द्रिय-नोइन्द्रियजन्यं ज्ञानं मतिज्ञानविशेषः, अतः सामान्य-विशेषयोर्ज्ञानयोः सामानाधिकरण्यम्।

रूप आत्मा की स्वभावपरिणति को धर्मसंज्ञा कहते हैं। जीवरक्षा आदि व्यापारों से उसका ज्ञान होता है।

ज्ञानसंज्ञा के भेद

मति, श्रुत आदिके भेद से ज्ञानसंज्ञा पाच प्रकार की है। वह इस प्रकार—(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्ययज्ञान, और (५) केवलज्ञान।

(१) मतिज्ञान

मनन करना मति है, अर्थात् बोध। मतिरूप ज्ञान मतिज्ञान कहलाता है। यहाँ ज्ञान शब्द सामान्य ज्ञान का वाचक है। 'इन्द्रिय और मनसे होनेवाला ज्ञान मति है'। ऐसा अर्थ करने से सामान्य और विशेष ज्ञानों में समानाधिकरणता हो जाती है।

આત્માની સ્વભાવપરિણતિને ધર્મસંજ્ઞા કહે છે જીવરક્ષા આદિ વ્યાપારોથી તેનુ જ્ઞાન થાય છે

જ્ઞાનસંજ્ઞાના ભેદ—

મતિ, શ્રુત આદિ ભેદ વડે–કરી જ્ઞાનસંજ્ઞા પાચ પ્રકારની કહી છે તે આ પ્રમાણે છે–(૧) મતિજ્ઞાન, (૨) શ્રુતજ્ઞાન, (૩) અવધિજ્ઞાન, (૪) મનઃપર્યયજ્ઞાન, અને (૫) કેવલજ્ઞાન

(૧) મતિજ્ઞાન—

મનન કરવુ તે મતિ છે અર્થાત્ બોધ છે, મતિરૂપ જ્ઞાન તે મતિજ્ઞાન કહેવાય છે અહિ જ્ઞાન શબ્દ સામાન્ય જ્ઞાનનો વાચક છે 'ઇન્દ્રિય અને મનથી ઉત્પન્ન જ્ઞાન તે મતિ છે' એવો અર્થ કરવાથી સામાન્ય અને વિશેષ જ્ઞાનોમાં સમાનાધિકરણતા (સમાનપણુ) થઈ જાય છે.

तस्मिन् पक्षे-श्रुतस्यआप्तवचनस्य ज्ञान, श्रुतज्ञानमिति षष्ठीतत्पुरुष । आप्तो=रागादि-रहित' सर्वज्ञस्तस्य वचनम्-आप्तवचनम् । तदर्थाध्यवसायरूप ज्ञान श्रुतज्ञानमिति । अध्यवसायो निर्णयः । श्रुतज्ञान मति शब्दस्य निमित्तकारणतया शब्देऽपि श्रुतव्यपदेशो भवति । ज्ञानभेदव्यवस्थाया तु श्रुतशब्द. श्रवणार्थवाचीत्यवधेयम् ।

(३) अवधिज्ञानम्-

अवशब्दोऽधःशब्दार्थ', अव=अध विस्तृत वस्तु धीयते-ज्ञायतेऽनेनेत्यवधि. । अवधिश्चासौ तज्ज्ञान चेति विग्रह । विस्तृतविषयक ज्ञानमवधि-

---

वचन का भी ग्रहण होता है । उस पक्ष में श्रुत का अर्थात् आप्तवचन का ज्ञान श्रुतज्ञान है, ऐसा षष्ठीतत्पुरुष समास होगा । आप्त अर्थात् रागादिसे रहित सर्वज्ञ, उनका वचन आप्तवचन कहलाता है । अध्यवसाय अर्थात् निश्चय । ऐसा अध्यवसायरूप अर्थात् पदार्थ का निश्चयात्मक ज्ञान श्रुतज्ञान होता है । शब्द, श्रुतज्ञान में निमित्त कारण है, इस लिये शब्द भी त कहलाता है किन्तु ज्ञान-भेदकी व्यवस्था में श्रुत-शब्द श्रवण अर्थ का वाचक है ।

(३) अवधिज्ञान—

'अव का अर्थ है 'अध' अर्थात् नीचे । तात्पर्य यह है कि जो ज्ञान अधोदिशा की वस्तु को विस्तार से जानता है वह अवधिज्ञान कहलाता है । अवधिरूप ज्ञान अवधिज्ञान है, अर्थात् विस्तृतविषयक ज्ञान । जैसे-अनुत्तरोपपातिक देव अवधिज्ञान

આપ્તવચનનુ ગ્રહણ થઇ શકે છે તે પક્ષમા શ્રુતનુ અર્થાત્ આપ્તવચનનુ જ્ઞાન તે શ્રુતજ્ઞાન છે એ પ્રમાણે ષષ્ઠીતત્પુરૂષ સમાસ થશે. આપ્ત અર્થાત્ રાગાદિથી રહિત, સર્વજ્ઞ, તેનુ વચન તે આપ્તવચન કહેવાય છે અધ્યવસાય અર્થાત્ નિશ્ચય, એવા અધ્યવસાયરૂપ અર્થાત્ પદાર્થનુ નિશ્ચયાત્મક જ્ઞાન તે શ્રુતજ્ઞાન કહેવાય છે શબ્દ, શ્રુતજ્ઞાનમા કારણ છે, એટલા માટે શબ્દ પણ શ્રુત કહેવાય છે, પરતુ જ્ઞાન-ભેદની વ્યવસ્થામાં શ્રુત-શબ્દ સાંભળવુ એ અર્થનો વાચક છે

(૩) અવધિજ્ઞાન—

'અવ'નો અર્થ છે 'અધઃ' અર્થાત્ નીચે, તાત્પર્ય એ છે કે-જે જ્ઞાન અધો દિશાની વસ્તુઓને વિસ્તારથી જાણે છે, તે અવધિજ્ઞાન કહેવાય છે અવધિરૂપ જ્ઞાન અવધિજ્ઞાન છે, અર્થાત્ વિસ્તૃતવિષયક જ્ઞાન. જેમકે:-અનુત્તરોપપાતિક દેવ અવધિ

तर्हि श्रुतज्ञानस्य पृथगुपादानं भगवता किमर्थं कृतम्? उच्यते—दृष्टान्तद्वयमिदं विषमम्, यथा घटप्रादुर्भावे पिण्डाकारा मृत्तिका प्रणश्यति, पटोत्पत्तौ सत्यां तन्तुपुञ्जश्च, तथा श्रुतज्ञाने समुत्पन्ने मतिज्ञानं न प्रणश्यति, उक्तञ्च भगवता—

'जत्थ मई तत्थ सुयं, जत्थ सुयं तत्थ मई' (नन्दी)

छाया—यत्र मतिस्तत्र श्रुतं, यत्र श्रुतं तत्र मतिः।

श्रुतस्य सद्भावे मतेर्विद्यमानता भगवताऽभिहिता, तस्मादपेक्षाकारणमेव मतिज्ञानं श्रुतज्ञानस्येति मन्तव्यम्, तथा च-मतिज्ञानपूर्वकमिन्द्रियमनोजन्यमाप्तवचनानुसारि ज्ञानं श्रुतज्ञानमिति निष्कर्षः। इति।

'श्रूयते यत् तच्छ्रुत'-मितिव्युत्पत्त्या श्रुतशब्देनाप्तवचनमपि श्रूयते

समाधान-ये दोनों दृष्टान्त विषम हैं, जैसे-घट प्रकट होने पर पिण्डाकार मिट्टी मिट जाती है, और जैसे पटकी उत्पत्ति होने पर तन्तुओं का पुञ्ज नष्ट हो जाता है, उस प्रकार श्रुतज्ञान उत्पन्न होने पर मतिज्ञान नष्ट नहीं होता। भगवानने कहा है—

"जहाँ मतिज्ञान है वहाँ श्रुतज्ञान है, जहाँ श्रुतज्ञान है वहाँ मतिज्ञान है।" श्रुतज्ञान के सद्भाव में मतिज्ञान का अस्तित्व भगवानने बतलाया है, अत एव मतिज्ञान श्रुतज्ञान का अपेक्षाकारण ही है, ऐसा मानना चाहिए। तात्पर्य यह निकलता है कि—मतिज्ञानपूर्वक इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होने वाला, तथा आप्तवाक्यका अनुसरण करने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है।

'जो सुनाजाय वह श्रुत है' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'श्रुत' शब्द से आप्त

સમાધાન-એ બંને દૃષ્ટાંત વિષમ છે, જેમકે ઘટ પ્રગટ થતાં પિંડાકાર માટી મટી જાય છે, જેમ વસ્ત્રની ઉત્પત્તિ થતાં તંતુઓનો જથ્થો નાશ પામે છે, તે પ્રમાણે શ્રુતજ્ઞાન ઉત્પન્ન થતા મતિજ્ઞાન નાશ પામતુ નથી. ભગવાને કહ્યુ છે કે—

"જ્યાં મતિજ્ઞાન છે ત્યાં શ્રુતજ્ઞાન છે, જ્યા શ્રુતજ્ઞાન છે ત્યાં મતિજ્ઞાન છે" શ્રુતજ્ઞાનના સદ્ભાવમાં મતિજ્ઞાનનુ અસ્તિત્વ ભગવાને બતાવ્યુ છે એ કારણથી મતિજ્ઞાન, શ્રુતજ્ઞાનનુ અપેક્ષાકારણ જ છે એમ માનવુ જોઈએ, તો તાત્પર્ય એ નીકળ્યુ કે મતિજ્ઞાનપૂર્વક, ઇન્દ્રિય અને મનથી ઉત્પન્ન થવાવાળુ, તથા આપ્તવાક્યનુ અનુસરણ કરવાવાળુ જ્ઞાન તે શ્રુતજ્ઞાન છે

'જે સાંભળવામાં આવી શકે તે શ્રુત છે' આ વ્યુત્પત્તિ પ્રમાણે 'શ્રુત' શબ્દથી

(४) मन पर्ययज्ञानम्-

पर्ययन-सर्वतः परिच्छेदनम्-अववोधन पर्यय.। मनसः पययो मनः-पर्यय', मनोविपयकः, स चासौ ज्ञान च मनःपर्ययज्ञानम् । यद्वा मन'पर्ययस्य ज्ञान मन'पर्ययज्ञानम् ।

मनो द्विविधं द्रव्यभावभेदात् । तत्र द्रव्यमनो मनोवर्गणा. । सञ्ज्ञिना मनोवर्गणा गृहीता' सत्यो मन्यमानाश्चिन्त्यमाना भावमनोऽभिधीयते ।

तत्रेह भावमन परिगृह्यते । भावमनस. पर्ययाश्च परेषां सार्धतृतीयद्वीपा-भ्यन्तरवर्तिसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाणा चिन्त्यमानविपयाध्यवसायरूपाः । यथा-अन्यः

(४) मन पर्ययज्ञान—

पर्यय अर्थात् जानना, मन को सर्वथा जानना मन पर्ययज्ञान है, अर्थात् मनोविपयक, सम्पूर्ण ज्ञान मन पर्ययज्ञान कहलाता है। अथवा—मन पर्यय (मनके पर्यवों) का ज्ञान मन पर्ययज्ञान कहलता है ।

मन दो प्रकार का है—द्रव्य-मन और भाव-मन । मनोवर्गणाओं को द्रव्यमन कहते हैं । सञ्ज्ञी जीव द्वारा ग्रहण की हुई मनोवर्गणाएँ जब चिन्तन की जाती हैं वे भावमन कहलाती हैं ।

मन पर्यय ज्ञान के प्रकरण में भावमन ही लिया जाता है । अढाई द्वीप के अन्तर्गत सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों के द्वारा चिन्तन किये जाने वाले, विपयाध्यवसायरूप पर्यायों को मन पर्यय ज्ञान जानता है । जैसे—कोइ दूसरा जीव ऐसा विचार करे—आत्मा कैसा

(४) मन पर्यय ज्ञान—

पर्यय अर्थात् जाणवुं, मनने जाणवु ते मन पर्यय ज्ञान छे अर्थात्-मन विषयकनुं सपूर्ण ज्ञान मन-पर्यय कहेवाय छे अथवा मन पर्ययनु ज्ञान ते मन-पर्ययज्ञान कहेवाय छे

मन बे प्रकारना छे-(१) द्रव्यमन अने (२) भावमन. मनोवर्गणाओने द्रव्य मन कहे छे, अने सञ्ज्ञी जीव द्वारा ग्रहण कराएली मनोवर्गणाओनु ज्यारे चितन करवामा आवे छे तेने भावमन कहे छे

मन-पर्यय ज्ञानना प्रकरणमा भावमन ज लेवामा आवे छे अढी द्वीपना सञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय जीवो द्वारा चिन्तन करवामा आवता विषयाध्यवसायरूप पर्यायोने मनःपर्यय ज्ञान जाणे छे जेम के-कोई बीजो जीव एवो विचार करे-आत्मा केवो

ज्ञानम् । यथा–अनुत्तरोपपातिका देवा अवधिज्ञानबलेन भगवन्तमापृच्छय जीवादि-तत्त्वस्वरूपं निर्धारयन्ति ।

यद्वा–'अवधिना ज्ञानम्' इति तृतीयासमासः । अवधिर्मर्यादा 'रूपिद्रव्याण्येव विषयीकरोति नेतराणी'–त्येवंस्वरूपा, तथा चायमर्थः–अरूपिद्रव्यपरिहारेण रूपिद्रव्यमात्रविषयकं ज्ञानमवधिज्ञानमिति ।

यद्वा–अधोऽधोऽधिकं पश्यति येन तदवधिज्ञानम् । तच्च चतुर्गतिवर्तिनां जीवानामिन्द्रियमनोनिरपेक्षं प्रतिविशिष्टक्षयोपशमनिमित्तकं रूपिद्रव्यसाक्षात्कार-जनकं भवति । एतस्य ज्ञानस्य देव–मनुष्य–तिर्यङ्–नारका अधिकारिणः ।

के बल से भगवान् से प्रश्न पूछ कर जीवादितत्त्वों का स्वरूप निश्चित कर लेते हैं ।

अथवा–अवधि के साथ जो ज्ञान हो वह अवधिज्ञान कहलाता है । अवधिका अर्थ है मर्यादा । अवधिज्ञान, रूपी द्रव्यों को ही जानता है, अरूपी को नहीं, यह व्यवस्था ही यहाँ मर्यादा समझनी चाहिए । तात्पर्य यह हुआ कि–अरूपी द्रव्यों को छोड़कर केवल रूपी द्रव्यों को जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है ।

अथवा–जिस ज्ञान के द्वारा नीचे नीचे अधिक जाना जाय वह अवधिज्ञान है । यह ज्ञान चारों गतियों के जीवों को हो सकता है । यह, सिर्फ रूपी पदार्थों को साक्षात् जानता है, और विशिष्ट क्षयोपशम से उत्पन्न होता है । देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकी, सभी इस ज्ञान के अधिकारी हैं, अर्थात् यह चारों को हो सकता है ।

જ્ઞાનના બળથી ભગવાનને પ્રશ્ન પૂછીને જીવાદિ તત્ત્વોનો નિશ્ચય કરી લે છે અથવા–અવધિની સાથે જે જ્ઞાન થાય છે તે અવધિજ્ઞાન કહેવાય છે અવધિનો અર્થ છે મર્યાદા અવધિજ્ઞાન, રૂપી દ્રવ્યોને જ જાણે છે, અરૂપી દ્રવ્યોને જાણતું નથી, આ વ્યવસ્થા જ અહિં મર્યાદા સમજવી જોઇએ. તાત્પર્ય એ થયું કે અરૂપી–દ્રવ્યોને છોડીને કેવળ રૂપી દ્રવ્યોને જાણવાવાળું જ્ઞાન તે અવધિજ્ઞાન કહેવાય છે અથવા જે જ્ઞાન દ્વારા નીચે–નીચે વિશેષ જાણવામાં આવે, તે અવધિજ્ઞાન છે તે જ્ઞાન ચાર ગતિઓના જીવોને થઇ શકે છે, માત્ર રૂપી પદાર્થોને સાક્ષાત્ જાણે છે, અને વિશિષ્ટ ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થાય છે, દેવ, મનુષ્ય, તિર્યંચ અને નારકી, આ સર્વ તે જ્ઞાનના અધિકારી છે, અર્થાત્ એ ચારેયને અવધિજ્ઞાન થઈ શકે છે

तथा मनःपर्ययज्ञानी यस्यचिद् भावस्य मन सर्वतोभावेन प्रत्यक्षीकृत्यानुमानेन बाह्य विषयमवबुध्यते-' इद वस्त्वनेन चिन्त्यते ' इति । बाह्यपदार्थचिन्तनसमये हि बाह्यपदार्थाकारसदृशाकार मनो भवति ।

इदं मनःपर्ययज्ञान रूपिविषयत्व-क्षायोपशमिकत्व-प्रत्यक्षत्वादिसाम्येऽप्यवधिज्ञानाद् भिन्न, स्वाम्यादिभेदात् । तथाहि-अवधिज्ञानमविरतसम्यग्दृष्टेरपि भवति, तद् द्रव्यतोऽशेषरूपिद्रव्यविषय, क्षेत्रतो लोकविषयम् , कालतोऽतीतानागतासख्यातोत्सर्पिण्यवसर्पिणीविषयम्, भावत' सकलरूपिद्रव्येषु प्रतिद्रव्यमसख्यातपर्यायविषयम् ।

मन पर्ययज्ञान तु प्रमादरहितस्याऽऽमर्पाद्यन्यतमलब्धिधारिणः सयतस्य भवति । द्रव्यत'-सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियमनोद्रव्यविषय, क्षेत्रत'-समयक्षेत्रमात्रविषयम्

मन पर्ययज्ञान अवधिज्ञान की तरह रूपी पदार्थों को विषय करता है, क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, कि तु अवधिज्ञान से भिन्न है, क्यों कि स्वामी आदि के भेद से दोनों में भेद है, वह इस प्रकार—अवधिज्ञान अविरतसम्यग्दृष्टि को भी होता है, वह द्रव्यत समस्त रूपी द्रव्यों को जानता है, क्षेत्र से समस्त लोक को जानता है, काल से असख्यात भूत और भावी उत्सर्पिणी एव अवसर्पिणी को विषय करता है, भाव से समस्त रूपी द्रव्यों में से प्रत्येक द्रव्य की असख्यात पर्यायों को जानता है ।

मन पर्ययज्ञान अप्रमत्त सयत को तथा आमर्ष आदि किसी लब्धि के धारक को ही होता है । वह द्रव्य से संज्ञी पञ्चेन्द्रिय के मनोद्रव्य को, क्षेत्र से समयक्षेत्रमात्र को

મન પર્યયજ્ઞાન, અવધિજ્ઞાન પ્રમાણે રૂપી પદાર્થોને વિષય કરે છે—જાણે છે મન.પર્યયજ્ઞાન ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થાય છે, પરતુ અવધિજ્ઞાનથી તે ભિન્ન છે, કેમકે સ્વામી આદિના ભેદથી તે બન્નેમા ભેદ છે તે આ પ્રમાણે-અવધિજ્ઞાન અવિરત સમ્યગ્દૃષ્ટિને પણ થાય છે તે દ્રવ્યથકી સર્વ રૂપી જીવોને જાણે છે, ક્ષેત્રથકી સમસ્ત લોકને જાણે છે, કાલથકી અસખ્યાત ભૂત અને ભાવી ઉત્સર્પિણી અવસર્પિણીને જાણી શકે છે, ભાવથી સમસ્ત રૂપી દ્રવ્યોમાથી પ્રત્યેક દ્રવ્યની અસખ્યાત પર્યાયોને જાણે છે

મન.પર્યયજ્ઞાન અપ્રમત્ત સયતને (મુનિને) તથા આમર્ષ આદિ કોઇ લબ્ધિના ધારકને જ થાય છે તે દ્રવ્યથી સજ્ઞી પચેન્દ્રિયના મનોદ્રવ્યને, ક્ષેત્રથકી સમયક્ષેત્ર

कश्चिदेव चिन्तयेत्-'आत्मा कीदृश'? अरूपी, चेतनास्वमात्र, कर्मणां कर्ता, तत्फलभोक्ता चेत्यादयो ये ज्ञानविशेषरूपास्तस्यात्मन परिणामास्तेषां यद् ज्ञान तन्मनःपर्ययज्ञानम् ।

मन पर्ययज्ञानी च मन'पर्ययानेव प्रत्यक्षीकरोति न तु बाह्य वस्तु । न च- 'मन पर्ययज्ञानिना बाह्य वस्तु न ज्ञायते' इति वाच्यम्, अनुमानतस्तस्य बाह्यवस्तु-ज्ञानसद्भावात् । यथा-विशिष्टक्षायोपशमिकमतिमाशाली प्रेक्षावान् मज्ञान्व कस्यचिदाकारेङ्गितादिकं विलोक्य तदीयमनोगत भावं सामर्थ्यं चानुमानतो विजानाति ।

है ? अरूपी, चेतनास्वरूप, कर्मों का कर्ता, कर्मफलभोक्ता, इत्यादि आत्मा के जो ज्ञान विशेषरूप परिणाम हैं, उन्हें जानना मन पर्ययज्ञान है । मन पर्ययज्ञानी जीव, मन के पर्यायों को ही प्रत्यक्ष करता है, बाह्य वस्तु को नहीं । परन्तु यह कहना ठीक नहीं है कि-मन पर्ययज्ञानी बाह्य वस्तुओं को जानता ही नहीं है। मन पर्ययज्ञानी को अनुमान से बाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है। जैसे-विशिष्टक्षयोपशम-जन्य प्रतिमा वाला बुद्धिमान् पुरुष किसी के इशारे या चेष्टा को देखकर उसके मनका भाव और उसका सामर्थ्य अनुमान से जान लेता है, इसी प्रकार मनःपर्ययज्ञानी दूसरे के भावरूप मन को पूर्णतया प्रत्यक्ष करके अनुमान से बाह्य वस्तु को जान लेता है कि-'इसने अमुक वस्तु का विचार किया है'। बाह्य पदार्थों का विचार करते समय उसी पदार्थ के आकार का मन हो जाता है ।

છે ? અરૂપી, ચેતના-સ્વરૂપ, કર્મોનો કર્તા, કર્મફલભોક્તા, ઇત્યાદિ આત્માના જ્ઞાન વિશેષરૂપ જે પરિણામ છે, તેને જાણવા તે મન પર્યય જ્ઞાન છે

મન.પર્યય જ્ઞાની જીવ મનના પર્યાયોને જ પ્રત્યક્ષ કરે છે બહારની વસ્તુઓને નહિ પરંતુ એમ કહેવું ઠીક નથી કે-મન પર્યયજ્ઞાની બહારની વસ્તુઓને જાણતા જ નથી મન પર્યયજ્ઞાનીઓને અનુમાનથી બહારની વસ્તુઓનુ જ્ઞાન હોય છે જેમકે — વિશિષ્ટક્ષયોપશમજન્ય પ્રતિભાવાળા બુદ્ધિમાન પુરૂષ કોઈના ઇશારાથી અથવા ચેષ્ટાને જોઈને તેના મનનો ભાવ અને તેનુ સામર્થ્ય અનુમાનથી જાણી લે છે, એ પ્રમાણે મન.પર્યયજ્ઞાની બીજાના ભાવરૂપ મનને પૂર્ણ રૂપમા પ્રત્યક્ષ કરીને અનુમાનથી બહારની વસ્તુઓને જાણી લે છે કે:—"તેણે અમુક વસ્તુનો વિચાર કર્યો છે" બહારના પદાર્થોનો વિચાર કરવાના સમયે તેજ પદાર્થના આકારરૂપ મન થઈ જાય છે

मतिज्ञान चानेकविधम् , ईहादिभेदात् । उक्तञ्च भगवता—

"ईहा अपोह वीमसा, मग्गणा य गवेसणा ।

सन्ना सई मई पन्ना, सव्व आभिणिबोहियं" ॥ (नन्दी मतिज्ञानगाथा २७)

छाया–ईहा, अपोह विमर्श मार्गणा च गवेषणा ।

सज्ञा स्मृतिः मति प्रज्ञा सर्वम् आभिनिबोधिकम् ॥

'आभिणिबोहिय' इत्यनेन त्रिकालविषयकं मतिज्ञानमुच्यते तथा-चोक्त भगवता-"पंचविह णाण पण्णत्त । तंजहा-(१) आभिणिबोहियणाणं, (२) सुयणाणं, (३) ओहिणाण (४) मणपज्जवणाण (५) केवलणाणं । इति (नन्दी, १)

(१) ईहा—

ईहाऽपोहादयो मतिज्ञानप्रभेदाः । तत्र–ईहनम्–ईहा । नामजात्यादि-

यहाँ मतिज्ञान का ही प्रसङ्ग है । मतिज्ञान, ईहा आदि के भेद से अनेक प्रकार का है । भगवान्ने कहा है —

"ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, सज्ञा, स्मृति, मति और प्रज्ञा, यह सब आभिनिबोधिक ज्ञान (मतिज्ञान) है" (नन्दीसूत्र मतिज्ञान गाथा २७)

आभिनिबोधिक ज्ञान का अर्थ है–त्रिकालविषयक मतिज्ञान । भगवान्ने कहा है – "ज्ञान पांच प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार–(१) आभिनिबोधिकज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मन पर्ययज्ञान और (५) केवलज्ञान" (नन्दी–सू० १)

(१) ईहा–

इहा अपोह आदि मतिज्ञान के भेद हैं । नाम और जाति आदि की विशेष

મતિજ્ઞાનનો જ પ્રસગ છે, મતિજ્ઞાન ઈહા આદિ ભેદોથી અનેક પ્રકારનુ છે ભગવાને કહ્યુ છે કે –ઈહા, અપોહ, વિમર્શ, માર્ગણા, ગવેષણા, સજ્ઞા, સ્મૃતિ, મતિ, અને પ્રજ્ઞા, એ સર્વ આભિનિબોધક જ્ઞાન–મતિજ્ઞાન છે (નદીસૂત્ર મતિજ્ઞાનગાથા ૨૭) આભિનિબોધિક જ્ઞાનનો અર્થ છે–ત્રિકાલવિષયક મતિજ્ઞાન, ભગવાને કહ્યુ છે કે – "જ્ઞાન પાંચ પ્રકારનુ છે, તે આ પ્રમાણે (૧) આભિનિબોધિકજ્ઞાન (૨) શ્રુતજ્ઞાન, (૩) અવધિજ્ઞાન (૪) મન પર્યયજ્ઞાન અને–કેવલજ્ઞાન (નન્દી સૂ૦૧)

(૧) ઈહા—

ઈહા તથા અપોહ વગેરે મતિજ્ઞાનના ભેદ છે નામ અને જાતિ આદિની વિશેષ

कालतोऽतीतानागतपल्योपमासंख्यातभागविषयम् , भावतो मनोद्रव्यगतानन्तपर्याय विषयकम् ।

(५) केवलज्ञानम् —

केवलम्—एकमसहायं ज्ञानावरणीयकर्मात्यन्तक्षयसमुद्भूतम्—अतीताना गतवर्तमानयथावस्थितसकलद्रव्यगुणपर्ययविषयकमप्रतिपाति ज्ञानं केवलज्ञानम् । अत्र ग्रन्थविस्तरभिया विरमाम ।

ज्ञानप्रसङ्गेन मत्यादिभेदपञ्चकं प्रदर्शितं, प्रकृते तु मतिज्ञानस्यैवाधिकारः ।

(अढाई द्वीप को), काल से पल्योपम के असंख्यातवें भाग—भूत—भविष्यत् कालको और भाव से मनोद्रव्य की अनन्त पर्यायों को विषय करता है ।

(५) केवलज्ञान—

केवलज्ञान, केवल अर्थात् एक ही है । उस के साथ दूसरा ज्ञान नहीं होता । वह असहाय है अर्थात् इन्द्रिय मन आदि किसी की सहायता की उसे अपेक्षा नहीं है । वह ज्ञानावरण कर्म के आत्यन्तिक क्षय से उत्पन्न होता है । अतीत, अनागत, वर्तमान काल के समस्त द्रव्यों गुणों और पर्यायों को यथार्थरूप में जानता है, अप्रतिपाती है, अर्थात् एकबार उत्पन्न हो कर कभी नष्ट नहीं होता । ऐसा ज्ञान केवलज्ञान कहलाता है । ग्रंथविस्तार के भय से अधिक विस्तार नहीं करते ।

ज्ञान का प्रकरण होने से मतिज्ञान आदि पाच भेद बतलाये जा चुके हैं ।

માત્રને (અઢી દ્વીપને) કાલથી પલ્યોપમના અસંખ્યાતમા ભાગે ભૂત-ભવિષ્ય કાલને અને ભાવથી મનોદ્રવ્યની અનંત પર્યાયોને જાણે છે

(૫) કેવલજ્ઞાન—

કેવલજ્ઞાન, કેવલ અર્થાત્ એકજ છે તેની સાથે બીજુ જ્ઞાન થતુ નથી, તે અસહાય છે, અર્થાત્ ઇન્દ્રિય, મન આદિ કોઈની પણ સહાયતાની તેને અપેક્ષા નથી. અને તે કેવલજ્ઞાન જ્ઞાનાવરણીય કર્મના આત્યંતિક ક્ષયથી ઉત્પન્ન થાય છે કેવલજ્ઞાન ભૂતકાલ, ભવિષ્યકાલ અને વર્તમાન કાલના સમસ્ત દ્રવ્યો, ગુણો અને પર્યાયોને યથાર્થરૂપથી જાણે છે તે અપ્રતિપાતી છે, અર્થાત્ એક વાર ઉત્પન્ન થઈને ફરી કોઈ પણ વખત નાશ પામતુ નથી, એવુ જે જ્ઞાન તે કેવલજ્ઞાન કહેવાય છે ગ્રંથવિસ્તારના ભયથી અધિક વિસ્તાર અહિં કરતા નથી

જ્ઞાનનુ પ્રકરણ હોવાથી મતિજ્ઞાન આદિ પાંચ ભેદો બતાવ્યા ~ અહિં

सामान्यज्ञानोत्तर काले विशेपनिश्चयार्थं विचारणाया प्रवृत्तायां तदनु गुणदोषविचारणाजनितो निश्चय', यथा-'किमयं कमलनालस्पर्श., आहोस्विद् भुजङ्गमस्पर्श' ?' इति विचारणायां 'मृणालस्यैवाय स्पर्श', अत्यन्तशीतादिगुणवत्त्वा-दित्यस्यैवाय'-मिति निश्चयोऽन्य भुजङ्गमस्पर्शमपनुदति, तस्मादय निश्चयोऽपोहोऽ-पनोदश्चेति निगद्यते ।

(३) मीमांसा—

मीमांसा-मातुमिच्छा, मातुं-जीवादिस्वरूप ज्ञातुमिच्छा ।

(४) मार्गणा—

जीवादिपदार्थस्य यथावस्थितस्वरूपान्वेपण मार्गणा ।

सामा य ज्ञान के पश्चात् विशेप का निश्चय करने के लिए विचारणा प्रवृत्त होने पर पश्चात् गुण-दोप की विचारणा से उत्पन्न निश्चय अपोह कहलाता है । यथा-'यह कमलनालका स्पर्श है या सर्प का स्पर्श है ?' इस प्रकार की विचारणा होने पर "यह कमलनाल का ही स्पर्श है, क्यों कि इस में अत्यन्त शीतलता है" इस प्रकार का निश्चय होना, और यह निश्चय अन्य का अर्थात् सर्प के स्पर्श का निराकरण करदेता है, अत एव यह निश्चय अपोह, अपाय और अपनोद भी कहलाता है ।

(३) विमर्श-

जीव आदि के स्वरूप को जानने की इच्छा विमर्श है ।

(४) मार्गणा-

जीव आदि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का अन्वेपण करना मागणा है ।

સામાન્ય જ્ઞાન થયા પછી વિશેષનો નિશ્ચય કરવા માટે વિચારણા થતા પછી તેના ગુણ-દોષની વિચારણાથી ઉત્પન્ન નિશ્ચય તેને અપોહ કહે છે, જેમ-'આ કમલના નાળનો સ્પર્શ છે કે સર્પનો સ્પર્શ છે?' આ પ્રકારની વિચારણા થયા પછી નક્કી કરવામા આવે કે "આ સ્પર્શ કમલના નાળનો જ છે, કેમકે તેમા અત્યન્ત શીતલતા છે" એ પ્રકારનો નિશ્ચય થાય છે અને એ નિશ્ચય બીજાનો અર્થાત્ સર્પના સ્પર્શનો નિરાકરણ કરી દે છે તેથી કરી આ નિશ્ચય તે અપોહ અપાય અને અપનોદ પણ કહેવાય છે

(૩) વિમર્શ—

જીવ આદિના સ્વરૂપને જાણવાની ઇચ્છા તે વિમર્શ છે

(૪) માર્ગણા—

જીવ આદિ પદાર્થોના યથાર્થ સ્વરૂપનુ અન્વેષણ કરવુ તે માર્ગણા છે

विशेषकल्पनारहितसामान्यज्ञानोत्तर विशेषनिश्चयार्थं विचारणा-ईहा। यथा-स्पर्शनेन्द्रियेण स्पर्शसामान्ये ज्ञाते सति, 'तदनु कीदृशोऽयं स्पर्शः ?, कस्यायं स्पर्शः ?, किमयं कमलनालस्पर्शः उताहो भुजङ्गमस्पर्शः? इति गाढान्धकारे चक्षुष्मतोऽपि विचारणा प्रवर्तते।

(२) अपोहः—

अपोहनम्-अपोहः निश्चयः। कोऽयमपोहः ? उच्यते-मतिज्ञानस्यावग्रहादि-भेदचतुष्टये तृतीयभेदो योऽपायः स एवापोहशब्देनोच्यते। अवग्रहादिभेद-चतुष्टयं च नन्दीसूत्रे भगवतैव प्रदर्शितमस्ति।

कल्पना से रहित सामान्यज्ञान के पश्चात् होने वाली विचारणा ईहा कहलाती है। जैसे-स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा स्पर्शका सामान्य ज्ञान होने के पश्चात् गाढ अन्धकार होने पर चक्षुवाले को भी यह विचारणा होती है कि यह स्पर्श कैसा है ? किसका यह स्पर्श है ? यह कमल के नाल का स्पर्श है या सर्प का स्पर्श है ?, इस प्रकार की विचारणा को ईहा कहते हैं।१।

(२) अपोह-

अपोह का अर्थ है-निश्चय। अपोह क्या है ? कहते हैं-मतिज्ञान के अवग्रह आदि चार भेदों में तीसरा भेद जो अपाय है उसी को यहाँ 'अपोह' शब्द द्वारा कहा है। अवग्रह आदि चार भेद नन्दीसूत्र में भगवान्‌ने कहे हैं।

કલ્પનાથી રહિત, સામાન્ય જ્ઞાનની પછી થવા વાળી વિચારણાને ઈહા કહે છે, જેમકે-સ્પર્શનેન્દ્રિયના દ્વારા સ્પર્શનું સામાન્ય જ્ઞાન થયા પછી ગાઢ અંધકાર થાય ત્યારે નેત્રવાળાને પણ એ વિચાર થાય છે કે-આ સ્પર્શ કેવો છે ? આ કોનો સ્પર્શ છે? કયો છે શેનો સ્પર્શ છે ?, આ કમલના નાળનો સ્પર્શ છે કે સર્પનો સ્પર્શ છે ?, આ પ્રકારની વિચારણા તેને ઈહા કહે છે

(૨) અપોહ—

અપોહનો અર્થ છે નિશ્ચય, અપોહ એ શું છે ? કહે છે કે-મતિજ્ઞાનના અવગ્રહ આદિ ચાર ભેદો પૈકીનો ત્રીજો ભેદ જે અપાય છે, તેને અહિં 'અપોહ' શબ્દથી કહેલ છે અવગ્રહ આદિ ચાર ભેદ નન્દીસૂત્રમાં ભગવાને કહેલા છે

चेल्लणा देवी हेमन्ते भगवत्समवसरणत प्रत्यागच्छन्ती मार्गे महारण्ये स्वप्रतिज्ञाऽविन जिनकल्पिन कमपि मुनिं ध्यानावस्थमालोक्य भक्त्या तद्दर्शनवन्दनादिकं विधाय स्वप्रासादमागता रात्रौ सुप्ता । निद्रावस्थायां तस्याः पाणिरावरणवस्त्राद् बहिर्भूत शीतेन शिथिलीचभूव । अथाऽसौ जागरिता जडीभूत स्वहस्त विलोक्य शीतादिपरिषहपरिगत महारण्यस्थ मुनिं स्मृतवती "कथमहो असौ मुनिरिदानीं बहिर्महावने शीतपरिभूतो भविष्यति"। इति कर्मणा महानिर्जरा महापर्यवसान चकार ।

चेल्लना देवी हेमत ऋतु में भगवान् के समवसरणसे लौटती हुई, मार्ग में महा–अरण्य में, अपनी प्रतिज्ञा पालने वाले किन्हीं जिनकल्पी मुनि को ध्यान में स्थित देखकर, भक्तिपूर्वक उन का दर्शन वदन आदि कर के अपने महल में आई और रात्रि में सो गई । निद्रावस्था म उस का हाथ ओढने के वस्त्र से बाहर निकल गया और ठंड के कारण ठर गया । रानी की नींद खुल गई । उसने अपने हाथ को जडीभूत देख कर शीत परिषहों से आक्रान्त, महा–अरण्यवासी मुनिका स्मरण किया । कहने लगी–अहो! महावन में, नगर क बाहर वह मुनि इस समय शीत से कैसा कष्ट पा रहे होंगे ?, ऐसा सोच कर उसने कर्म की महानिर्जरा की ।

ચેલના દેવી હેમન્ત ઋતુમા ભગવાનના સમવસરણમાથી પાછી ફરે ત્યારે માર્ગમા મહાવનમા, પોતાની પ્રતિજ્ઞા પાલનારા, કોઈ એક જિનકલ્પી મુનિને ધ્યાનમા સ્થિત જોઈને, ભક્તિપૂર્વક તેના દર્શન, વદન વગેરે કરીને પોતાના મહેલમા આવી અને રાત્રીએ સુઈ ગઈ નિદ્રાવસ્થામા તેનો એક હાથ ઓઢવાના વસ્ત્રમાથી બહાર રહી ગયો, અને ઠડી હોવાના કારણે તે હાથ ઠરી ગયો, રાણીની નિદ્રા ઉડી ગઇ, ત્યારે તેણે પોતાના હાથને ઠરી જવાથી જડ જેવો જોઇને શીત આદિ પરીષહોથી આક્રાન્ત, મહા–વનવાસી મુનિ સાભરી આવ્યા, અને કહેવા લાગી કે–અહો! મહાવનમા નગર બહાર તે મુનિ આ સમયમા શીતથી કેવું કષ્ટ પામતા હશે ?, એવો વિચાર કરીને કર્મની મહાનિર્જરા કરી.

(५) गवेषणा–

मार्गणानन्तरमनुपलभ्यस्य जीवादिपदार्थस्य सर्वत' परिभावन–निर्णयाभिमुखविचारपरायणता गवेषणा ।

(६) संज्ञा—

इन्द्रियजन्यज्ञानविषयीभूतस्यार्थस्य पुनर्दर्शनेन "स एवाय"–मिति जायमानं ज्ञानं संज्ञा । यथा–"स एवायमाहारकलब्धिमान् महात्मा, यो मया कानने दृष्ट" ।

(७) स्मृति–

अनुभूतार्थविषयकं ज्ञानं स्मृतिः । इदं ज्ञानमतीतविषयकं भवति । अत्रोदाहरणं यथा—

---

(५) गवेषणा—

मार्गणा के पश्चात् उपलब्ध न होने वाला जीवादि पदार्थों का पूरी तरह विचार करना अर्थात् निर्णय के अभिमुख विचारपरायणता गवेषणा है ।

(६) संज्ञा–

इन्द्रियजन्य ज्ञानके विषयभूत पदार्थ का पुन दर्शन होने पर 'यह वही है' इस प्रकार से उत्पन्न होने वाला ज्ञान संज्ञा कहलाता है । जैसे–"यह वही आहारकलब्धि वाले महात्मा हैं जिन्हें मैंने वनमें देखा था" ।

(७) स्मृति—

पहले अनुभव किये हुए पदार्थ को विषय करनेवाला ज्ञान स्मृति कहलाता है । स्मृतिज्ञान अतीतविषयक ही होता है । यहाँ एक उदाहरण है, जैसे—

---

(५) ગવેષણા—

માર્ગણાની પછી ઉપલબ્ધ નહિ થવા વાળા જીવાદિ પદાર્થોનો પૂરી રીતે વિચાર કરવો અર્થાત્ નિર્ણયને અભિમુખ-વિચાર પરાયણતાને ગવેષણા કહે છે

(૬) સંજ્ઞા—

ઇન્દ્રિયજન્ય જ્ઞાનના વિષયભૂત પદાર્થોનું ફરી દર્શન થતા "આ તેજ છે" એ પ્રકારે ઉત્પન્ન થવા વાળુ જ્ઞાન તે સંજ્ઞા કહેવાય છે જેમ–"આ તેજ આહારક-લબ્ધિવાળા મહાત્મા છે જેને મે વનમા જોયા હતા"

(૭) સ્મૃતિ—

પ્રથમ અનુભવ કરેલા પદાર્થનો વિષય કરનારૂ જ્ઞાન સ્મૃતિ કહેવાય છે સ્મૃતિ-જ્ઞાન અતીત વિષયનુ જ, (વીતી ગયેલા પ્રસંગનુ જ) હોય છે અહી એક ઉદાહરણ,

सा सञ्ज्ञा किंस्वरूपा, या न भवत्येकेषाम्? इत्याकाङ्क्षायामाह-" तजहा " इति। सा यथा—

" पुरत्थिमाओ वा दिसाओ " इत्यारभ्य-"अहोदिसाओ वा आगओ अहमसि " इत्यन्तेनेदमुक्तं भवति-वर्तमानजन्मनः प्राक् कस्यां दिशि ममावस्थानमासीदिति स्वगत्यागत्यवधिविशिष्टपूर्वादिषड्दिशाज्ञानं नास्ति संज्ञिनामपि कियतांचित्। यथा-मदिरामदघूर्णितनयनो मूर्छितः पथि पतितः स्वजनादिना समुत्थाप्य गृहमानीयते। अथ मूर्छापगमेऽप्यसौ न जानाति-क्वाहं पतितः?, कथमुत्थापितः?, केन कया रीत्याऽत्र समानीतोऽस्मी?-ति। तद्वद् विशिष्टसंज्ञाया

वह सञ्ज्ञा किस प्रकारकी है जो किन्हीं २ जीवों को नहीं होती? । इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर कहा गया है-तजहा-अर्थात् वह इस प्रकार-

'पुरत्थिमाओवा वा दिशाओ' से लेकर 'अहोदिशाओवा आगओ अहमसि' तक का आशय यह है कि-इस वर्तमान जन्म से पहले मैं कहाँ रहता था?, इस प्रकारका अपनी गति-आगति से युक्त छह दिशाओं का ज्ञान कितनेक सञ्ज्ञी जीवोंको भी नहीं होता। जैसे-मदिरा के मद से छका हुआ, मूर्छित और रास्ते में पड़ा हुआ पुरुष स्वजन आदि के द्वारा उठाकर घर लाया जाता है, किन्तु मूर्च्छा हट जाने पर भी उसे ज्ञान नहीं होता कि-मैं कहाँ गिरा था?, किस प्रकार उठाया गया?, कौन किस प्रकार मुझे यहाँ लाया?, इसी प्रकार विशिष्ट सञ्ज्ञा के अभाव के कारण जीव

તે સંજ્ઞા કેવા પ્રકારની છે, જે કોઈ-કોઈ જીવોને નથી હોતી?, આ પ્રમાણે જીજ્ઞાસા-થવાથી કહ્યુ છે કે-'તજહા' અર્થાત્ તે આ પ્રકારે—

" पुरत्थिमाओवा दिसाओ " થી લઈને " अहोदिसाओ वा आगओ अहमसि," સુધીનો આશય એ છે કે-આ વર્તમાન જન્મથી પહેલા હુ ક્યા રહેતો હતો, આ પ્રકારનુ પોતાની ગતિ-આગતિથી યુક્ત છ દિશાઓનુ જ્ઞાન કેટલાક સંજ્ઞી જીવોને પણ નથી થતુ જેમ મદિરાના કેફથી છકેલા મૂર્છિત-બેભાન રસ્તામાં પડેલા પુરૂષને સ્વજનદ્વારા ઉઠાવીને પોતાના ઘેર લાવવામા આવે છે, પરંતુ મૂર્છા ઉતરી ગયા પછી પણ તેને જ્ઞાન થતુ નથી કે-હુ ક્યા પડી ગયો હતો? કેવી રીતે મને ઉઠાવ્યો? કોણ કેવી રીતે મને અહિં લાવ્યા?, આ પ્રકારની વિશિષ્ટ સંજ્ઞાના

(८) मतिः—

वर्तमानविषयकं ज्ञानं मतिः । यथा—'मुनिः सयमार्थं भिक्षामटति' ।

(९) प्रज्ञा—

विशिष्टक्षयोपशमजन्यं प्रभूतपदार्थवर्ति यथावस्थितस्वरूपनिर्णयात्मकं ज्ञानं प्रज्ञा ।

आभिनिबोधिकस्वरूपस्य मतिज्ञानस्य प्रभेदा उक्ताः ।

"इहैकेषां नो संज्ञा भवती"—त्यत्र संज्ञाशब्देन मतिज्ञानान्तर्गतं स्मृतिरूपं विशिष्टं ज्ञानं भगवता नोशब्दनिर्देशेन प्रतिषेधितम्, न तु सर्वविधसंज्ञारूपं सामान्य ज्ञानम् ।

---

(८) मति—

वर्तमानविषयक ज्ञान मति कहलाता है। जैसे—'मुनि सयम पालने के अर्थ भिक्षाके लिए भ्रमण करता है।'

(९) प्रज्ञा—

विशिष्ट क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला और प्रभूत पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का निर्णयात्मक ज्ञान प्रज्ञा है।

आभिनिबोधिकरूप मतिज्ञान के प्रभेद कहे गये।

'कितनेक जीवोंको संज्ञा नहीं होती' यहाँ संज्ञा शब्द से मतिज्ञान के अन्तर्गत स्मृतिरूप विशिष्ट ज्ञान का भगवान्ने 'नो' शब्द का निर्देश करके निषेध किया है, किन्तु सब प्रकार की संज्ञारूप सामान्य ज्ञानका निषेध नहीं किया है।

---

(८) મતિ—

વર્તમાન વિષયનું જ્ઞાન તે મતિ કહેવાય છે, જેમ 'મુનિ સયમ પાલન-માટે ભિક્ષા લેવા ભ્રમણ કરે છે'

(૯) પ્રજ્ઞા—

વિશિષ્ટ ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થનાર પ્રભૂત પદાર્થોના યથાર્થ સ્વરૂપનું નિર્ણયાત્મક જ્ઞાન તે પ્રજ્ઞા છે

આભિનિબોધિકરૂપ મતિજ્ઞાનના પ્રભેદ કહેવાયા

'કેટલાક જીવોને સંજ્ઞા નથી થતી' અહિ સંજ્ઞા શબ્દથી મતિજ્ઞાનના અન્તર્ગત સ્મૃતિરૂપ વિશિષ્ટ જ્ઞાનનો ભગવાને 'નો' શબ્દનો નિર્દેશ કરીને નિષેધ કર્યો છે પરંતુ સર્વ પ્રકારની સંજ્ઞારૂપ સામાન્ય જ્ઞાનનો નિષેધ કર્યો નથી

पूर्वा, दक्षिणा, पश्चिमा, उत्तरा चेति चतस्रो दिशः, ऐशानी आग्नेयी, नैर्ऋती, वायवी चेति चतस्रो विदिशः, आसामष्टानामन्तराला अष्टावन्तरदिशः, मिलित्वा षोडश। अधऊर्ध्वम्, अधश्चेति द्वे इति, तयोर्योगेऽष्टादश। द्रव्यदिगेव प्रज्ञापकदिक्शब्देनाप्युच्यते।

तथा-संमूर्छिममनुष्याः, गर्भजकर्मभूमिमनुष्याः, गर्भजाकर्मभूमिमनुष्याः, षट्पञ्चाशदन्तरद्वीपमनुष्याः, इति चतुर्विधा मनुष्याः, द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदेन चतुर्विधास्तिर्यञ्चः,

पृथिव्यप्तेजोवायुकायभेदाच्चतुर्विधाः स्थावराः। अग्रबीज-मूलबीज-पर्वबीज-स्कन्धबीज-भेदाच्चतुर्विधा वनस्पतयः। इति मिलित्वा षोडश। नरकगति-

---

पश्चिम, दक्षिण और उत्तर चार दिशाएँ हैं। ईशान, आग्नेय नैर्ऋत्य, वायव्य, ये चार विदिशाएँ हैं। इन आठों के बीच में आठ अवान्तर दिशाएँ हैं। ये सब मिलकर सोलह होती हैं। इन में ऊर्ध्वदिशा और अधोदिशा शामिल कर देने से अठारह द्रव्य-दिशाएँ होती हैं। द्रव्यदिशाको ही प्रज्ञापकदिशा भी कहते हैं।

तथा—सम्मूर्छिम मनुष्य, गर्भज-कर्मभूमिज मनुष्य, गर्भज-अकर्मभूमिज मनुष्य, छप्पन अन्तरद्वीपों के मनुष्य, ये चार प्रकार के मनुष्य। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रिय के भेद से चार प्रकार के तिर्यञ्च। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय के भेद से चार प्रकार के स्थावर, और अग्रबीज, मूलबीज, पर्वबीज, तथा

દક્ષિણ અને ઉત્તર આ ચાર દિશાઓ છે અગ્નિ, ઈશાન, નૈઋત્ય, અને વાયવ્ય, આ ચાર વિદિશાઓ છે, આ આઠની વચ્ચમા આઠ અવાન્તર દિશાઓ છે આ સર્વ મળીને સોળ દિશાઓ થાય છે તેમ ઉર્ધ્વદિશા અને અધોદિશા શામિલ કરવાથી અઢાર દ્રવ્ય દિશાઓ થાય છે, દ્રવ્યદિશાને પ્રજ્ઞાપકદિશા પણ કહે છે તથા—સમ્મૂર્છિમ મનુષ્ય, ગર્ભજ કર્મભૂમિજ મનુષ્ય, ગર્ભજ-અકર્મભૂમિજ મનુષ્ય, છપ્પન અન્તરદ્વીપોના મનુષ્ય, આ ચાર પ્રકારના મનુષ્ય, દ્વીન્દ્રિય, ત્રીન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય અને પંચેન્દ્રિયના ભેદથી ચાર પ્રકારના તિર્યંચ, પૃથ્વીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય અને વાયુકાયના ભેદથી ચાર પ્રકારના સ્થાવર, અને અગ્રબીજ, મૂલબીજ, પર્વબીજ

अमावाज्जीवः पूर्वमव न जानाति ।

"अण्णयरीओ वा दिसाओ" इति। यावत्यो दिश सन्ति तत्र कस्याश्चिदेकस्या दिश समागतोऽस्मीति स्वागमनावधिदिश सामान्यरूपेणापि न जानन्ति कतिचन सञ्जिनं, सर्वदिग्ज्ञानाभावेनान्यतरदिग्ज्ञानासमवादिति भाव ।

"अणुदिसाओ वा" इति। ईशानादय' कोणरूपा विदिशोऽनुदिशः। तासां मध्ये कस्याश्चिदेकस्या अनुदिश समागतोऽस्मीति सामान्यरुपेण, तथेशान्या आग्नेय्या इत्यादि विशेषरूपेण च स्वागत्यवधिभूताया अनुदिशो ज्ञानं न भवतीत्यमिमाय ।

अथ दिश कति सन्ति ? उच्यते—संक्षेपतो द्रव्य-भाव-भेदेन दिशा द्विविधा।

अपना पूर्व मव नहीं जानता ।

'अण्णयरीओ वा दिसाओ' अर्थात् जितनी दिशाएं हैं, उनमें किसी भी एक दिशा से मैं आया हूँ, इस प्रकार अपने आगमन की दिशा को सामान्यरूप से भी कितनेक सञ्ज्ञी नहीं जानते हैं। क्यों कि सभी दिशाओं के ज्ञानके अभाव में किसी एक दिशा का ज्ञान होना असम्भव ही है। 'अणुदिसाओ वा' ईशान वगैरह कोणरूप विदिशाओं को अनुदिशा कहते हैं। उनमें से सामान्यरूप से किसी भी एक दिशा से मैं आया हूँ, या विशेषरूप से ईशान, आग्नेय आदि विदिशा से मैं आया हूँ, ऐसा ज्ञान नहीं होता।

प्रश्न-दिशाएँ कितनी हैं ?

उत्तर-संक्षेप से दिशा के दो भेद हैं-द्रव्य-दिशा, और भाव-दिशा। पूर्व,

અભાવથી જીવ પોતાના પૂર્વભવને જાણતો નથી.

'अण्णयरीओ वा दिसाओ' અર્થાત્ જેટલી દિશાઓ છે, તેમાંથી કોઈ પણ એક દિશાથી હું આવ્યો છું આ પ્રમાણે પોતાના આગમનની દિશાને સામાન્ય રૂપથી પણ કેટલાક સંજ્ઞી જાણતા નથી કેમકે સર્વ દિશાઓના જ્ઞાનના અભાવથી કોઈ એક દિશાનું જ્ઞાન થવું તે અસંભવ છે 'अणुदिसाओ वा' ઈશાન વગેરે કોણ રૂપ વિદિશાઓને અનુદિશા કહે છે તેમાંથી સામાન્યરૂપે કોઈ પણ એક દિશાથી હું આવ્યો છું, અથવા વિશેષરૂપથી ઈશાન આગ્નેય આદિ વિદિશાઓથી હું આવ્યો છું એવું જ્ઞાન થતું નથી

પ્રશ્ન—દિશાઓ કેટલી છે ?

ઉત્તર—સંક્ષેપથી દિશાના બે ભેદ છે—દ્રવ્યદિશા અને ભાવદિશા. પૂર્વ, પશ્ચિમ,

द्रव्यदिग्विषयकं ज्ञानं न भवत्येकेषामिति विवक्षया-"इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ" इत्युक्तं भगवता। भावदिशाविषयकं च ज्ञानं न भवत्येकेषामिति वक्ष्यतेऽनन्तरसूत्र एव-" एवमेगेसिं णो णाय भवइ " इत्यादिना। ॥ सू. २ ॥

भावदिशाविषयकं च ज्ञानं भवति सञ्ज्ञिनां कियतांचिदित्याह-'एवमेगेसिं' इत्यादि।

मूलम्।

एवमेगेसिं णो णायं भवइ-अत्थि मे आया ओववाइए, नत्थि मे आया ओववाइए, के अहं आसी, के वा इओ चुए इह पेच्चा भविस्सामि ॥ सू ३ ॥

(छाया)

एवमेकेषां नो ज्ञातं भवति-अस्ति मे आत्मा औपपातिकः, नास्ति मे आत्मा औपपातिकः, कोऽहमासम्, को वा इतश्च्युत इह प्रेत्य भविष्यामि ?॥ सू० ३ ॥

कितनेक जीवों को द्रव्यदिशासम्बन्धी ज्ञान नहीं होता, इस अपेक्षा से भगवानने कहा है कि-' इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ '। भावदिशाविषयक ज्ञान कितनेको नहीं होता है, यह बात ' एवमेगेसिं णो णाय भवइ ' इत्यादि अगले सूत्र में कही जायगी ॥ सू० २ ॥

कितनेक सञ्ज्ञी जीवोंको भावदिशाविषयक ज्ञान नहीं होता यह कहते हैं-'एवमेगेसिं' इत्यादि।

मूलार्थ-किन्हीं जीवोंको यह ज्ञान नहीं होता कि-मेरा आत्मा उत्पत्तिशील है या मेरा आत्मा उत्पत्तिशील नहीं है। मैं पहले कौन था और यहाँ से मरकर परलोक में कौन होऊँगा ? ॥ सू०३ ॥

કેટલાક જીવોને દ્રવ્યદિશાસંબંધી જ્ઞાન નથી થતું એ અપેક્ષાથી ભગવાને કહ્યું છે કે-'इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ' ભાવદિશા વિષયનું જ્ઞાન કેટલાક જીવોને નથી. એ વાત 'एवमेगेसिं णो णाय भवइ' ઇત્યાદિ આગલા સૂત્રમાં કહીશું ॥ સૂ० ૨ ॥

કેટલાક સંજ્ઞી જીવોને ભાવદિશાવિષયનું જ્ઞાન નથી તે કહે છે—'एवमेगेसिं' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—કોઇ કોઈ જીવોને એ જ્ઞાન નથી કે મારો આત્મા ઉત્પત્તિશીલ છે, મારો આત્મા ઉત્પત્તિશીલ નથી, હું પ્રથમ કોણ હતો અને અહિંથી મૃત્યુબાદ પરભવમાં હું કોણ થઈશ ? (હું ક્યા જઈશ ?) (સૂ. ૩)

देवगतिश्चेति द्वे। सर्वयोगेऽष्टादश भावदिशः सन्ति।

अथ दिशां विदिशां च प्रवृत्तिः कुत स्थानाद्भवति ? उच्यते—

तिर्यग्लोकस्य मध्यभागे रत्नप्रभा भूमि, तदुपरि मध्यभागे मेरुपर्वताभ्यन्तरे द्वौ लघुतरौ प्रतरौ स्त। तदुपरि गोस्तनाकाराश्चत्वारश्चत्वारः प्रदेशाः सन्ति। ईदृशाष्टप्रदेशी चतुष्कोणो रुचकनामा भागोऽस्ति। तत एव दिशां विदिशां च प्रवृत्तिर्भवति। उक्तञ्च—

" तिर्यग्लोकस्य मध्ये यो, रुचकोऽष्टप्रदेशक ।
दिशामनुदिशां चैव, प्रवृत्तिर्जायते तत " ॥१॥

स्कन्धबीज के भेद से चार प्रकार की वनस्पति, ये सब मिलकर सोलह होते हैं। तथा नरकगति और देवगति मिलकर अठारह प्रकार की भाव-दिशाएँ हैं।

प्रश्न—दिशाओं और विदिशाओंकी प्रवृत्ति किस स्थान से होती है ?

उत्तर—तिर्यग्लोक के मध्यभाग में रत्नप्रभा भूमि है। उसके उपर मध्यभाग में मेरु पर्वत के अन्दर दो छोटे प्रतर हैं। उनके उपर गाय के स्तन के आकारवाले चार चार प्रदेश हैं। ऐसा अष्टप्रदेशी चौकोना रुचक नामक भाग है। वहां से दिशाओं और विदिशाओं की प्रवृत्ति होती है। कहा भी है—

" तिर्छे लोक के मध्य में आठ प्रदेशवाला रुचक भाग है। उसी से सब दिशाओं और अनुदिशाओं की प्रवृत्ति होती है ॥ १ ॥ "

તથા સ્કંધબીજના ભેદથી ચાર પ્રકારની વનસ્પતિ, આ સર્વ મળીને સોળ થાય છે, તથા નરકગતિ અને દેવગતિ મળીને અઢાર પ્રકારની ભાવ-દિશાઓ છે

પ્રશ્ન—દિશાઓ અને વિદિશાઓની પ્રવૃત્તિ કયા સ્થાનથી હોય છે ?

ઉત્તર-તિર્યગ્લોકના મધ્ય ભાગમાં રત્નપ્રભા ભૂમિ છે, તેના ઉપર મધ્ય ભાગમા મેરૂ પર્વતની અંદર નાના બે પ્રતર છે, તેના ઉપર ગાયના સ્તનના આકાર વાળા ચાર-ચાર પ્રદેશ છે એવો આઠપ્રદેશી ચાર ખુણાવાળો રૂચક નામનો ભાગ છે, તેનાથી દિશાઓ અને વિદિશાઓની પ્રવૃત્તિ થાય છે કહ્યું પણ છે—

"તિર્છા લોકના મધ્યમા આઠ પ્રદેશવાળો રૂચક ભાગ છે, ત્યાથી સર્વ દિશાઓ અને અનુદિશાઓની પ્રવૃત્તિ થાય છે" ॥ ૧ ॥

"दोण्ह उववाए पण्णत्ते तंजहा-देवाणं चेव णेरइयाण चेव" इति। (स्थानाङ्ग० २ स्था० ३ उ०)

द्वयोरुपपातः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-देवानां चैव नैरयिकाणां चैव। इति च्छाया।

उपपातादागत औपपातिकः। देवभवाद् नरकभवाद्वा ममायमात्मा समागतोऽस्तीत्यर्थः। नास्ति मे आत्मा औपपातिक इति, अत्र-नञर्थस्यौपपातिकेऽन्वयः। ममात्मा-अनौपपातिकोऽस्तीत्यर्थः। समूर्छनभवाद् गर्भभवाद् वा ममात्मा समागतोऽस्तीति भावः। इममर्थं स्पष्टीकर्तुमाह-कोऽहमासम्? इति।

अत्र प्रसङ्गवशेन जन्मतत्प्रभेदाश्च निरूप्यन्ते—

"दो प्रकार के जीवों के उपपातजन्म कहा गया है। वह इस प्रकार-देवों के और नारकों के।" (स्था० २, उ ३)

उपपात से उत्पन्न होनेवाला औपपातिक कहलाता है। तात्पर्य यह हुआ कि-मेरा आत्मा देवभव या नरकभव से आया है? इस प्रकार का ज्ञान नहीं होता।

'णत्थि मे आया उववाइए' यहां निषेध का औपपातिक के साथ अन्वय है अर्थात् मेरा आत्मा औपपातिक नहीं है, ऐसा अर्थ समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि-मेरा आत्मा गर्भभव से या समूर्छनभव से आया है। इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए कहा गया है-मैं कौन था?

प्रसङ्ग पाकर यहाँ जन्म और जन्मों के भेदों का निरूपण करते हैं--

---

'બે પ્રકારના જીવોને ઉપપાત જન્મ કહેલો છે તે આ પ્રમાણે-(૧) દેવોને અને (૨) નારકીઓને. (સ્થા ૨ ઉ ૩)

ઉપપાતથી ઉત્પન્ન થવા વાળા તે ઔપપાતિક કહેવાય છે, તાત્પર્ય એ થયું કે -મારો આત્મા દેવભવ અથવા નરકભવથી આવ્યો છે? આ પ્રકારનું જ્ઞાન થતું નથી

"णत्थि मे आया उववाइए" અહિં નિષેધનો ઔપપાતિકની સાથે અન્વય છે અર્થાત્-મારો આત્મા ઔપપાતિક નથી. એવો અર્થ સમજવો જોઇએ તાત્પર્ય એ છે કે-મારો આત્મા ગર્ભભવથી અથવા સંમૂછનભવથી આવ્યો છે? આ અર્થની સ્પષ્ટતા કરવાને માટે કહેલ છે, કે-"હું કોણ હતો?"

પ્રસંગ પ્રાપ્ત થવાથી અહિં જન્મ અને જન્મના ભેદોનુ નિરૂપણ કરે છે—

टीका।

'एवमेगेसिं' इति, एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण एकेषां संज्ञिनां केषां चित् ज्ञात-ज्ञानम् आत्मनि विषये वर्तमानातीतानागतजन्मविषयकं नो भवति=नो समुत्पद्यते।

किंस्वरूपं ज्ञानं नोत्पद्यते तेषाम्? इति दर्शयति-अस्ति मे आत्मा औपपातिक इत्यादि। औपपातिक इति। उपपतनम्-उपपात, प्रादुर्भावः= चतुर्गतिषु जन्मतो जन्मान्तरे संक्रमणम्। उपपाते भव-औपपातिकः। मे मम आत्मा-औपपातिको जन्मान्तरसंक्रान्तोऽस्तीति। तथा-नास्ति मे आत्मा औपपातिक इति, ममात्मा वर्तमानजन्मनि कर्मक्षयसंभवात् भाविजन्मान्तर-सम्बन्धरहितोऽस्तीति। इदं ज्ञानद्वयं वर्तमानजन्मविषयकम्।

यद्वा-उपपात-गर्भसंमूर्छनलक्षणजन्मद्वयविलक्षणो जन्मविशेषः। स च देवनारकाणां भवति। उक्तञ्च—

टीकार्थ—आगे कहे अनुसार कितनेक संज्ञी जीवोंको अपने विषय में वर्तमान अतीत और अनागत जन्म सम्बन्धी ज्ञान नहीं होता। उन्हें किस प्रकार का ज्ञान नहीं होता? इस विषय में कहा गया कि—मेरा आत्मा औपपातिक है या नहीं? अर्थात् चार गतियों में, एक जन्म से दूसरे जन्म में गमन करता है या वर्तमान जन्म में कर्मों का क्षय होने से भावी जन्म के सम्बन्ध से रहित है?, ये दोनों ज्ञान वर्तमान जन्मसम्बन्धी है।

अथवा—उपपातका अर्थ है—गर्भजन्म और समूर्छनजन्म से विलक्षण एक तीसरे प्रकार का जन्म। यह देवों और नारकों का होता है। कहा भी है—

ટીકાર્થ—આગળ કહેવા પ્રમાણે કેટલાક સંજ્ઞી જીવોને પોતાના વિષયમાં વર્તમાન, ભૂતકાલ, અને ભવિષ્યકાલના જન્મ સંબંધી જ્ઞાન હોતું નથી તેને ક્યા પ્રકારનું જ્ઞાન નથી હોતું તે વિષયમાં કહે છે કે—મારો આત્મા ઔપપાતિક છે કે નહિ? અર્થાત્ ચાર ગતિઓમાં એક જન્મથી બીજા જન્મમાં ગમન કરે છે, અથવા વર્તમાન જન્મમાં કર્મોનો ક્ષય થવાથી ભાવી જન્મના સંબંધથી રહિત છે? તે બન્ને જ્ઞાન વર્તમાનજન્મસંબંધી છે

અથવા ઉપપાતનો અર્થ છે—ગર્ભજન્મ અને સંમૂર્છન જન્મથી વિલક્ષણ એક ત્રીજા પ્રકારનો જન્મ છે, તે દેવો અને નારકીજીવોને થાય છે કહ્યું છે કે:—

आध्यात्मिकपुद्गलनिमित्तक जन्म, यथा – जीवितश्वशृगालादीनां शरीरेषु जायमाना॰ कीटादयस्तदीयशरीरान्तर्गतपुद्गलान् स्वशरीरतया परिणमयन्तो जायन्ते। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पति-द्वित्रिचतुरिन्द्रिय-गर्भजव्यतिरिक्त-पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां समूर्छनजन्म भवति।

(२) गर्भजन्म–

उत्पत्तिस्थानावस्थितानामागन्तुकशुक्रशोणितपुद्गलाना स्वशरीररूपेण परिणतिकरण मातृभुक्ताहाररसपरिपुष्टिमापेक्ष च गर्भजन्म। जरायुजानामण्डजाना पोतजानां च गर्भजन्म भवति, जरायुर्गर्भवेष्टनचर्म, तत्र जाता जरायुजा॰।

जीवित कुत्ते और शृगाल आदि के शरीरों में उत्पन्न होने वाले कीडे आदि उनके शरीरके अन्तर्गत पुद्गलों को अपने शरीररूप में परिणत करते हैं, वह आध्यात्मिक पुद्गलनिमित्तक [illegible] ता है, पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्री[illegible] के सिवाय पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों और मनुष्यों का जन्म [illegible]

(२) गर्भजन्म–

[illegible] स्थित आगन्तुक रज–वीर्य के पुद्गलों को अपने शरीररूप में परिणत क[illegible], और माता द्वारा भोगे हुए आहार के रस से पोषण की अपेक्षा रखनेवाला गर्भजन्म होता है। जरायुज, अण्डज और पोतज जीवों का जन्म गर्भज होता है, गर्भ को लपेट रखनेवाली चमडे की थैली जरायु कहलाती है, उसमें उत्पन्न होने वाले

જીવતા કુતરા અને શિયાળ આદિના શરીરોમા ઉત્પન્ન થવા વાળા કીડા આદિ તેના શરીરની અન્દરના પુદ્ગલોને પોતાના શરીરરૂપમા પરિણત કરે છે તે આધ્યાત્મિક પુદ્ગલનિમિત્તક જન્મ છે પૃથ્વીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય, વાયુકાય, વનસ્પતિકાય, દ્વીન્દ્રિય, ત્રીન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય અને ગર્ભજ સિવાય, પંચેન્દ્રિય, તિર્યંચો અને મનુષ્યોનો જન્મ સમૂર્છન હોય છે

(૨) ગર્ભજન્મ–

ઉત્પત્તિસ્થાનમાં સ્થિત, આગન્તુક રજ–વીર્યના પુદ્ગલોને પોતાના શરીર રૂપમા પરિણત કરવુ, અને માતાએ કરેલા આહારના રસથી પોષણની અપેક્ષા રાખવા વાળા તે ગર્ભજન્મ કહેવાય છે જરાયુજ, અંડજ અને પોતજ જીવોનુ જન્મ ગર્ભજ હોય છે ગર્ભને લપેટી રાખનારી ચામડાની થેલી જરાયુ કહેવાય છે તેમા ઉત્પન્ન થવા વાળા જીવ જરાયુજ કહેવાય છે મનુષ્ય, ગાય, ભેંસ, બકરી.

पूर्वभवसम्बन्धि – स्थूलशरीरपरित्यागानन्तरमन्तरालगत्या तैजस कार्मणशरीरमात्रेण सहागतस्य जीवस्य नवीनभवयोग्यस्थूलशरीरार्थं प्रथमं योग्यपुद्‌गलाना ग्रहणं जन्म । तच्च त्रिविधं–सम्मूर्छन–गर्भो–पपातभेदात् ।

(१) संमूर्छनजन्म–

मातापित्रो सम्बन्ध विनैवोत्पत्तिस्थानावस्थितानामौदारिकपुद्‌गलानां बाह्यानामाध्यात्मिकानां वा स्वशरीररूपेण जीवकर्तृक परिणतिकरण सम्मूर्छनम् । बाह्यपुद्‌गलनिमित्तक जन्म, यथा–काष्ठत्वक्‌पक्वफलादिषूत्पद्यमाना कीटादयो जन्तव काष्ठफलवर्तिनो बाह्यपुद्‌गलान् स्वशरीररूपेण परिणमयन्त उत्पद्यन्ते ।

पूर्वभवसम्बन्धी स्थूल शरीर का त्याग करने के अनन्तर विग्रहगतिसे तैजस और कार्मण शरीर के साथ आया हुआ जीव नवीन भव के योग्य स्थूल शरीर के लिए सर्व प्रथम योग्य पुद्‌गलों को ग्रहण करता है, यही जन्म कहलाता है ।

जन्म तीन प्रकारका है–सम्मूर्छन, गर्भ, और उपपात ।

(१) संमूर्छनजन्म—

माता–पिता के सम्बन्ध विना ही, उत्पत्तिस्थान में रहे हुए बाह्य या आध्यात्मिक औदारिक पुद्‌गलोंका अपने शरीररूप से जीव द्वारा परिणत कर लेना समूर्छन जन्म कहलाता है । काठ, त्वचा और पके फल आदि में उत्पन्न होने वाले कीडे वगैरह जन्तु काठ या फल आदि के बाह्य पुद्‌गलों को अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते हैं । यह बाह्य पुद्‌गलनिमित्तक जन्म है,

---

પૂર્વભવસંબંધી સ્થૂલ શરીરનો ત્યાગ કરીને પછી વિગ્રહગતિથી તૈજસ અને કાર્મણ શરીરની સાથે આવેલો જીવ નવા ભવને યોગ્ય સ્થૂલ શરીર માટે સર્વપ્રથમ યોગ્ય પુદ્‌ગલોને ગ્રહણ કરે છે, તે જન્મ કહેવાય છે જન્મ ત્રણ પ્રકારના છે–(૧) સંમૂર્છન (૨) ગર્ભ, અને (૩) ઉપપાત

(૧) સંમૂર્છનજન્મ–

માતા–પિતાના સંબંધ વિના જ, ઉત્પત્તિસ્થાનમાં રહેલા બહારના અથવા આધ્યાત્મિક ઔદારિક પુદ્‌ગલોને, પોતાના શરીરરૂપથી જીવદ્વારા પરિણત કરી લેવું તે સંમૂર્છન જન્મ કહેવાય છે કાષ્ઠ ત્વચા (છાલ) અને ફળ આદિમાં ઉત્પન્ન થવા વાળા કીડા વગેરે જન્તુ કાષ્ઠ અથવા ફળ આદિમાં બહારના પુદ્‌ગલોને પોતાના શરીરના રૂપમાં પરિણત કરી લે છે તે બહારના પુદ્‌ગલ નિમિત્તક જન્મ

उपपातजन्म—

उपपातक्षेत्रमाप्तिमात्रनिमित्तस्थानस्थितवैक्रियपुद्गलानां प्रथमं स्वशरीररूपेण परिणतिकरणम् उपपातजन्म। यथा – देवानां नारकाणां च। तत्र देवसमुद्भावो यथा–प्रच्छदपटस्योपरिष्टाद् देवदूष्यस्याधस्तात् उभयोरन्तरालवर्तमानपुद्गलान् वैक्रियशरीरतया गृह्णन् देव उत्पद्यते। नारकोत्पत्तिर्यथा–नरकस्थितातिसङ्कटमुख-कुम्भीषु स्थितान् वैक्रियशरीरपुद्गलान् वैक्रियशरीरतया गृह्णन् नारक उत्पद्यते।

तथा—" अहं कः–चतुर्गतिषु प्राग्जन्मनि नारको वा तिर्यग् वा नरो

उपपातजन्म—

उपपातक्षेत्र में प्राप्तिमात्र निमित्त जिस में है ऐसे उपपत्तिस्थान में स्थित वैक्रिय पुद्गलों का पहले–पहल अपने शरीररूप में परिणत करना उपपात–जन्म कहलाता है, देव और नारकों को यह जन्म होता है। देव की उत्पत्ति इस प्रकार होती है–प्रच्छद पटके ऊपर और देवदूष्य वस्त्रके नीचे अर्थात् दोनों के बीचमें वर्तमान पुद्गलों को वैक्रियशरीररूप ग्रहण करता हुआ देव उत्पन्न होता है। नारकों की उत्पत्ति इस प्रकार होती है–नरकवर्ती अत्यन्त संकुट (सकड़े) मुखवाली कुंभियों में स्थित वैक्रिय शरीरके पुद्गलों को वैक्रियशरीर के रूप में ग्रहण करता हुआ नारकी जीव उत्पन्न होता है।

तथा—" मैं कौन था ? चार गतियों में से पूर्वभव में मैं नारक था, तिर्यञ्च था,

(૩) ઉપપાતજન્મ—

ઉપપાત ક્ષેત્રમા પ્રાપ્તિમાત્ર જેમા નિમિત્ત છે એવા ઉત્પત્તિસ્થાનમા સ્થિત વૈક્રિય પુદ્ગલોને પહેલા–પહેલા પોતાના શરીરરૂપમા પરિણત કરવુ તે ઉપપાતજન્મ કહેવાય છે દેવ અને નારકીજીવોનો આ જન્મ હોય છે

દેવની ઉત્પત્તિ આ પ્રમાણે થાય છે —પ્રચ્છદપટ–ઉત્તરીય વસ્ત્રના ઉપર અને દેવદૂષ્ય વસ્ત્રની નીચે, એટલે કે બન્નેની વચ્ચમા વર્તમાન પુદ્ગલોને વૈક્રિયશરીરના રૂપમા ગ્રહણ કરતા થકા દેવ ઉત્પન્ન થાય છે નારકીઓની ઉત્પત્તિ આ પ્રમાણે છે કે —નરકવર્તી અત્યન્ત સાંકડા મુખવાળી કુંભિઓમા સ્થિત વૈક્રિય શરીરના પુદ્ગલોને વૈક્રિય શરીરના રૂપમા ગ્રહણ કરતા થકા નારકી જીવ ઉત્પન્ન થાય છે

તથા–"હુ કોણ હતો ? ચાર ગતિઓમાથી પૂર્વભવમાં હુ નારકી હતો, તિર્યંચ

सम – मनुष्य – गो –महिष्य–जा–ऽविका ऽश्व – खरो – ष्ट्र – मृग–चमर–वराह–गवय–सिंह–व्याघ्र–र्क्ष–द्वीपि–श्व–शृगाल–मार्जारादयो जरायुजा । सर्प–गोधा–कृकलास–गृहगोधिका–(पल्ली)–मत्स्य–कूर्म–नक्र–शिशुमारादय, पक्षिषु यथा–लोमपक्षाः, हंस–चाष–शुक–गृध्र–श्येन–पारावत–काक–मयूर–मद्गु–बकादयश्चा–ण्डजाः । पोता–ऽजाता इति पोतजा शुद्धप्रसवा, न तु जरायुजवच्चर्मा–दिवेष्टिता इति यावत्, यथा – शल्लक–हस्ति–श्वाविल्लापक–शश–शारिका–नकुल–मूषिकादय, पक्षिषु च चर्मपक्षाः, जलूका–वल्गुलि–भारण्डपक्षि–विरालादयश्च–पोतजा' ।

जीव जरायुज कहलाते हैं। मनुष्य, गौ, भैंस, बकरी, मेष, घोडा, गधा, ऊंट, मृग, चमर शूकर, रोझ, सिंह, बाघ, रीछ, द्वीपि, कुत्ता, सियार, बिलाव आदि जरायुज हैं। सर्प, गोहेरा, कृकलास, छिपकली, मच्छ, कछुवा, नक्र, शिशुमार आदि, तथा पक्षियों में लोमपक्षी, हंस, चाष, शुक, गृध्र, बाज, कबूतर, कौवा, मोर, मद्गु (एक जातका पक्षी), बगुला आदि अण्डज हैं। जो जरायुज की भाँति चमडे से लिपटे हुए उत्पन्न न हों, वे पोतज कहलाते हैं, जैसे—सेही, हाथी, श्वाविल्लापक, शशक, शारिका, नकुल, मूषिक आदि। पक्षियों में चर्मपक्षी, जलूका (जोंक), वल्गुली, भारण्डपक्षी विराल आदि पोतज हैं।

બેટા, ઘોડા, ગધેડા, ઊંટ, મૃગલા, ચમર (હિમાલયમા થતી એક ગાય વિશેષ) ભૂંડ, રોઝ, સિંહ, વાઘ, રીછ, છીપલા, કુતરા, શિયાળ, બિલાડા, વગેરે જરાયુજ છે, સર્પ ઘોયરા, કાચુસલા, કેડગરોડી, મચ્છ, કાચબા, નક્ર (મગર) શિશુમાર (એક પ્રકારનું જલચર પ્રાણી) આદિ તથા પક્ષિઓમા લોમપક્ષી, હંસ, ચાષ (એક જાતનું લીલી પાખોવાળું કાબરના જેવુ પખી) શુક–(પોપટ), ગીધ, બાજ, કબૂતર, કાગડો, મોર, મદ્ગુ (એક પક્ષી) બગલા વગેરે અંડજ છે જે જરાયુજ પ્રમાણે ચામડીથી વિંટાએલા ઉત્પન્ન ન થાય તે પોતજ કહેવાય છે જેમકે–સેહી–(સાહુડી) હાથી, શ્વાવિલ્લાપક, શશક, શારિકા, નકુલ–નોળીઓ, મૂષિક–ઉંદર વગેરે પક્ષીઓમા ચર્મપક્ષ–(રૂવાડા વગરના ચામડાની પાખોવાળા) જલૂકા (જળો) વલ્ગુલી (વડવાગળ) ભારંડ–પક્ષી, વિરાલ આદિ પોતજ છે

सोचा, तजहा-पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमसि, जाव अण्णयरीओ दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमसि, एवमेगेसिं णाय भवइ-अत्थि मे आया ओववाइए, जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा सचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ जो आगओ अणुसचरइ सोऽहं ॥ सू० ४ ॥

(छाया)

अथ यत् पुनर्जानीयात्-सहसंमत्या, परव्याकरणेन, अन्येषामन्तिके वा श्रुत्वा, तद्यथा-पूर्वस्या दिशाया आगतोऽहमस्मि यावत् अन्यतरस्या दिशाया अनुदिशाया वा आगतोऽहमस्मि। एवमेकेषां ज्ञात भवति-अस्ति मे आत्मा औपपातिक., योऽस्या दिशाया अनुदिशाया वा अनुसचरति, सर्वस्या दिशाया सर्वस्या अनुदिशाया य आगत अनुसचरति सोऽहम् ॥ सू० ४ ॥

'से ज पुण' इति। 'से' इत्यव्ययं मागधभाषायामथशब्दार्थकम्। 'अथ' इति, अनेन 'नो सन्ना भवइ' इति द्रव्यदिग्ज्ञानाभाव 'नो णाय भवइ' इति भावदिग्ज्ञानाभावं च प्रदर्श्य तज्ज्ञानमारम्भ इति द्योत्यते।

से आया हूँ (यावत्) अन्यतर दिशा से अथवा विदिशा से मैं आया हूँ। इस प्रकार कितनेक जीवों को ज्ञान होता है कि-मेरा आत्मा औपपातिक (जन्म लेने वाला) है, जो इस दिशा से अथवा अनुदिशा से सचार करता है, सभी दिशाओं से, सभी अनुदिशाओं से आया हुआ जो आत्मा भ्रमण करता है, वह मैं हूँ। (सू० ४)

टीकार्थ-मागधी भाषा में 'से' अव्यय 'अथ' शब्द के अर्थ में है। यहाँ 'अथ' शब्द से यह प्रकट किया गया है कि-पहले के सूत्रमें 'नो सन्ना भवइ' इत्यादि कहकर द्रव्यदिशा के ज्ञानका निषेध करके, और 'नो णाय भवइ इत्यादि कह कर भावदिशासम्बन्धी ज्ञान का निषेध करके अब इस ज्ञान की उत्पत्ति का प्रकार प्रदर्शित करते हैं-

---

પૂર્વ દિશાથી આવ્યો છુ, યાવત્ બીજી દિશાઓથી અથવા વિદિશાઓથી હુ આવ્યો છુ, આ પ્રમાણે કેટલાક જીવોને જ્ઞાન થાય છે કે-મારો આત્મા ઔપપાતિક (જન્મ લેવાવાળો) છે; જે આ દિશાથી અથવા અનુદિશાથી સચાર કરે છે સર્વ દિશાઓથી, સર્વ અનુદિશાઓથી, આવેલો જે આત્મા ભ્રમણ કરે છે તે હુ છુ (સૂ ૪)

ટીકાર્થ—માગધી ભાષામા 'સે' અવ્યય 'અથ,' શબ્દના અર્થમા છે અહિ 'અથ' શબ્દથી એ પ્રગટ કર્યુ છે કે-પ્રથમના સૂત્રોમા 'नो सन्ना भवइ' ઇત્યાદિ કહીને દ્રવ્યદિશાના જ્ઞાનનો નિષેધ કરીને અને 'नो णाय भवइ-ઇત્યાદિ કહીને ભાવદિશાસબધી જ્ઞાનનો નિષેધ કરીને હવે તે જ્ઞાનની ઉત્પત્તિનો પ્રકાર પ્રદર્શિત કરે છે—

वा देवो वा आसम् ?," इति पूर्वजन्मस्मृतिरूपं ज्ञानं, तथा-"इतः=अस्माल्लोकाद् च्युतः=वियुक्तः प्रेत्य=जन्मान्तरे इह चतुर्गतिरूपे संसारे को भविष्यामि ? चतुर्गतिषु कीदृशीं गतिं प्राप्स्यामि" इत्यागामिजन्मविषयकं निश्चयात्मकं ज्ञानं च न भवतीत्यर्थः । भावदिशाविषयकमपि ज्ञानं नास्ति कियतांचित् संज्ञिनाम्, असंज्ञिनां तु जीवानां नास्त्येव दिशाज्ञानमिति का वार्ता तेषामिति भावः ॥ सू० ३ ॥

संसारिणां स्वगत्यागतिज्ञानं न भवतीत्युक्तम्, सम्प्रति तज्ज्ञानं यथा भवति तत् प्रदर्शयितुमाह—' से जं पुण ' इत्यादि ।

मूलम् ।

से जं पुण जाणेज्जा, सहसम्मइयाए, परवागरणेणं अण्णेसिं अंतिए वा

मनुष्य था या देव था ?," इस प्रकार की पूर्व जन्म की स्मृति, और "इस भव से च्युत होकर अगले जन्म में चार गतियों में से कौन गति पाऊँगा ?," इस प्रकार का आगामी जन्म सम्बन्धी निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता । कितने ही संज्ञियों को भी भावदिशा-विषयक ज्ञान नहीं होता । असंज्ञी जीवों को तो दिशा का ज्ञान होता ही नहीं ॥ सू० ३ ॥

संसारी जीवों को अपनी गति और आगति का ज्ञान नहीं होता, यह बतलाया जा चुका, अब यह कथन किया जाता है कि—यह ज्ञान किस प्रकार हो सकता है ?—

—'से ज पुण ' इत्यादि ।

मूलार्थ—सहसम्मति से (परोपदेश के विना ही सहज ज्ञानसे) पर की वागरणा (स्पष्टीकरण) से, दूसरों के समीप से सुनकर जाने कि मैं पूर्व दिशा

હતો, મનુષ્ય હતો અથવા દેવ હતો ?" આ પ્રમાણે આગલા જન્મની સ્મૃતિ અને "આ ભવથી નીકળીને આગલા હવેના જન્મમાં ચાર ગતિમાંથી હું કઇ ગતિમાં જઇશ અથવા હું કઇ ગતિ પામીશ ?" આ પ્રમાણે આગામી—હવે પછી થવાવાળા જન્મ સંબંધી નિશ્ચયાત્મક જ્ઞાન થતું નથી, કેટલાક સંજ્ઞીઓને (સંજ્ઞીજીવોને) પણ ભાવદિશા-વિષયનું જ્ઞાન થતું નથી અસંજ્ઞી જીવોને દિશાઓ સંબંધીનું જ્ઞાન થતું જ નથી ॥૩॥

સંસારી જીવોને પોતાની ગતિ અને આગતિ વિષેનું જ્ઞાન નથી થતું, તે બતાવી ગયા છીએ હવે તે કહેવામાં આવે છે કે—તે જ્ઞાન કેવી રીતે થઈ શકે છે ?—
' से ज पुण ' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—સહસમતિથી, (બીજાના ઉપદેશ વિના પણ સહજ જ્ઞાનથી), બીજાની વાગ્રણાથી (સ્પષ્ટીકરણથી), બીજાની પાસેથી સાંભળીને જાણે કે હું

सुग्रीवनगरे बलभद्रनामा नृप आसीत् । तस्याग्रमहिषी मृगानाम्नी बभूव । बलभद्रनृपस्य तस्यां पुत्रो जात । स च मातापितृभ्यां बलश्री-नाम लब्धोऽपि लोके मृगापुत्र इति नाम्ना प्रसिद्धो बभूव । अथ मातापित्रो परमप्रिय कृतयौवराज्याभिषेको मुदितचित्तो मृगापुत्र॰ प्रासादे दोगुन्दुगदेववत् प्रमदाभि॰ सह क्रीडतिस्म ।

स चैत्र विलसन् मणिरत्नराजितकुट्टिमतले सर्वोपरिवर्तिनि प्रासाददेशे समुपविष्ट॰ सकुतूहल चतुष्क-त्रिक-चत्वर-मार्गान् विलोकमान॰ पथि शीलाढ्य गुणसागर तपोनियमसयमधर सयतमनिमिषदृशाऽद्राक्षीत् । तमवलोक्य शुभाध्य-

सुग्रीव नगर में बलभद्र नामक राजा था । उसकी पटरानी का नाम मृगा था इस मृगारानी से बलभद्र को पुत्र की प्राप्ति हुई । माता-पिताने उसका नाम बलश्री रक्खा, किन्तु वह लोक में मृगापुत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ, वह माता-पिता का परम प्रिय था । उसका युवराज पद पर अभिषेक किया गया । वह प्रसन्न-चित्त होकर दोगुन्दुग (विलासी एक देवकी जाति) देव के समान अपने महलमें क्रीडा करता था ।

एक वार मृगापुत्र मणियों और रत्नों से सुशोभित फर्शवाले महल के सब से ऊपर के मंजिल पर बैठा था । वह कौतूहल के साथ नगर के चौपड त्रिक तथा चत्वर मार्गों का अवलोकन कर रहा था । तब उसे मार्ग में शील से विभूषित गुणों के सागर तप, नियम और सयम धारण करने वाले एक मुनि दृष्टिगोचर हुए । उसने टकटकी लगाकर

સુગ્રીવ નગરમા બલભદ્ર નામનો રાજા હતો તેની પટરાણીનુ નામ-મૃગા હતુ, તે મૃગા રાણી થકી બલભદ્રને પુત્રની પ્રાપ્તિ થઈ, માતા-પિતાએ તેનું નામ બલશ્રી રાખ્યુ, પરતુ તે લોકને વિષે મૃગાપુત્ર નામથી પ્રસિદ્ધ થયો. તે માતા-પિતાને પરમપ્રિય હતો, તેનો યુવરાજ પદ પર અભિષેક કર્યો. પછી તે પ્રસન્નચિત્ત થઈને દોગુન્દુગ (વિલાસી એક દેવની જાતિ) દેવ સમાન પોતાના મહેલમાં ક્રીડા કરતો હતો.

એક વાર મૃગાપુત્ર મણિઓ અને રત્નોથી-સુશોભિત ફર્શ-સુંદર તળિયાવાળો મહેલનો સૌથી ઉપરનો ખડ હતો, તેના ઉપર બેઠો હતો. તે કુતુહલપૂર્વક નગરના ચોપડ ત્રિક તથા ચત્વર માર્ગોનું અવલોકન કરી રહ્યો હતો. તે વખતે એ માર્ગમા શીલથી વિભૂષિત, ગુણોના સાગર, તપ, નિયમ, સયમ ધારણ કરવાવાળા એક મુનિ દૃષ્ટિગોચર

टीका—

यत्=यदि पुनर्जानीयात् स्वस्वगत्यागत्यादिकं कश्चित्, तत् त्रिविधेन कारणेन, तदाह-सहसंमत्येत्यादि। आत्मना सह वर्तते या सम्यग्मतिः, सा सहसमतिः, परोपदेशमन्तरेण समुत्पन्ना जातिस्मरणावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानरूपा, तया सहसमत्या। तत्र जातिस्मरणवान्नियमतः सङ्ख्यातभवान् जानाति, अवधिज्ञानी संख्यातभवानसङ्ख्यातभवान् वेत्ति, तथैव मनःपर्ययज्ञानी च। केवलज्ञानी तु नियमतोऽनन्तान् भवान् विजानाति। जातिस्मरणज्ञानवानवान्तरे यद्यसज्ञिभवं न कुर्यात्, तर्हि स्वकीयसज्ञिपञ्चेन्द्रियभवस्योत्कृष्टतो नवशतभवान् विज्ञातुं शक्नुयात्। जातिस्मरणेन स्वकीयपूर्वभव विज्ञातुर्दृष्टान्तः प्रदर्श्यते—

अगर कोई अपनी-अपनी गति और आगति को जाने तो तीन प्रकार के कारण से जान सकता है, उसी को कहते हैं—सहसम्मति आदि से, आत्मा के साथ रहने वाली सम्यग्मति कहलाती है, अर्थात् परोपदेश के बिना ही उत्पन्न होनेवाली जातिस्मरण अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान रूप मति सहसम्मति कहलाती है, उनमें जाति स्मरणवाला नियम से संख्यात भवोंको जानता है, अवधिज्ञानी संख्यात या असंख्यात भवों को जानता है, इसी प्रकार मनःपर्ययज्ञानी भी जानता है, किन्तु केवलज्ञानी नियम से अनन्त भवों को जानता है। जातिस्मरण-ज्ञानवाला बीच में यदि असज्ञी का भव न करे तो अपने सज्ञी-पञ्चेन्द्रिय के उत्कृष्ट नौ सौ भवों को जान सकता है। जातिस्मरण से अपना पूर्वभव जानने वाले का दृष्टान्त प्रदर्शित किया जाता है—

અથવા કોઈ પોતપોતાની ગતિ અને આગતિને જાણે તો ત્રણ પ્રકારના કારણથી જાણી શકે છે, તેને કહે છે-સહસમતિ આદિથી, આત્માની સાથે રહેવા વાળી સમ્યગ્ મતિ-બુદ્ધિ અર્થાત્ પરોપદેશ વિનાજ ઉત્પન્ન થવા વાળી જાતિસ્મરણ, અવધિ, મનઃપર્યય, અને કેવલ-જ્ઞાનરૂપ મતિ તે સહસમતિ કહેવાય છે જાતિ સ્મરણ વાળા નિયમથી સંખ્યાત ભવોને જાણે છે અવધિજ્ઞાની સંખ્યાત અથવા અસંખ્યાત ભાવોને જાણે છે એ પ્રમાણે મનઃપર્યયજ્ઞાની પણ જાણે છે પરંતુ કેવલજ્ઞાની નિયમથી અનન્ત ભવોને જાણે છે જાતિસ્મરણ જ્ઞાનવાળા જીવ વચમાં જો અસંજ્ઞીનો ભવ ન કરે તો પોતાના સંજ્ઞી પંચેન્દ્રિયના ઉત્કૃષ્ટ નવસો (૯૦૦) ભવોને જાણી શકે છે જાતિસ્મરણથી પોતાના પૂર્વભવને જાણનારાનું દ્રષ્ટાંત બતાવે છે—

साक्षात्कारेण सम्बोध्य कथनम्, तीर्थङ्करप्रवचनरूप आगमो वा, तेन।
परव्याकरणोदाहरण यथा—साक्षात् भगवतो देशनया मेघकुमारादयो जातिस्मरण माप्तवन्त।

तया—अन्येषामन्तिके वा श्रुत्वेति, अन्येषां समीपे, श्रुत्वा स्वगत्या-गत्यादिबोधकतद्वचनश्रवणेन। तृतीयोदाहरण यथा—षड् मित्रभूपाश्छद्मस्थावस्थस्य मल्लीनाथभगवत समीपे तद्वचनेन जातिस्मरणमवापु।

अथात्मनि विषये यादृश गत्यागत्यादिज्ञान भवति, तदेव दर्शयति—तद्यथा-इत्यादि 'पूर्वस्या दिशाया आगतोऽहमस्मि यावद् अन्यतरस्या दिशाया अनुदिशाया वा आगतोऽहमस्मी'त्यनेन स्वगमनावधि-द्रव्यदिशाज्ञानं, तथा-

परव्याकरणका उदाहरण जैसे—साक्षात भगवान् की देशना से मेघकुमार आदिने जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त किया था।

तथा—दूसरों से सुनकर भी गति अगति का ज्ञान होता है। तात्पर्य यह है कि—अपनी गति एव आगति समझाने वाले दूसरे के वचनों से भी जातिस्मरण हो जाता है। जैसे—छह मित्र-राजाओंने छद्मस्थ-अवस्था वाले भगवान् मल्लिनाथ के वचनों से जातिस्मरण प्राप्त किया था।

आत्मा के विषय में गति-आगति आदि का ज्ञान जिस प्रकार होता है, उस दिखलाते हैं—'मैं पूर्व दिशा से आया हूँ (यावत) अन्यतर दिशा से अथवा अनुदिशा से मैं आया हूँ' इस कथन से अपने गमन तक की द्रव्य-दिशा का ज्ञान सूचित किया है। तथा 'मेरा आत्मा औपपातिक' है यहाँ से लेकर 'भ्रमण करता है,

પરવ્યાકરણનુ ઉદાહરણ, જેમકે—સાક્ષાત્ ભગવાનની દેશનાથી મેઘકુમાર આદિએ જાતિસ્મરણ જ્ઞાન પ્રાપ્ત કર્યુ હતુ

તથા-બીજા પાસેથી સાભળીને પણ ગતિ-આગતિનુ જ્ઞાન થાય છે કે—પોતાની ગતિ અને આગતિ સમજાવવાવાળા બીજાના વચનોથી પણ જાતિસ્મરણ જ્ઞાન થઈ જાય છે જેમ-છ મિત્ર-રાજાઓએ છદ્મસ્થ-અવસ્થા વાળા ભગવાન મલ્લિનાથના વચનોથી જાતિ સ્મરણ પ્રાપ્ત કર્યું હતુ

આત્માના વિષયમા ગતિ-આગતિનુ જ્ઞાન જે પ્રમાણે હોય છે તેને દેખાડે છે—'હુ પૂર્વ દિશાથી આવ્યો છુ, (યાવત્) અન્યતર દિશાથી અથવા અનુદિશાથી હુ આવ્યો છુ' આ કથનથી પોતાના ગમન સુધીની દ્રવ્યદિશાનુ જ્ઞાન સૂચિત કર્યું છે,

पसादेन मृगापुत्रो मूर्छामवाप्य जातिस्मरणं प्राप। 'पूर्वजन्मनि प्रव्रज्यां गृहीत्वा पञ्चमहाव्रतपालनेन स्वर्गसुखं लब्ध्वाऽहमिह राजकुले सञ्जातः' इति। अनेन जातिस्मरणेन पुनरात्मकल्याणाय प्रयतते स्म।

अवधिज्ञानिना मल्लीनाथेन भगवता संसारावस्थायां पूर्वजन्मवृत्तान्तोऽवलोकितः। मनःपर्यय-केवलज्ञानयोस्तु दृष्टान्तौ सुप्रतीतौ।

तथा—परव्याकरणेन-परस्तीर्थङ्करस्तस्य व्याकरणं यथावस्थितार्थस्य-

---

उनकी ओर देखा। उन्हें देख कर मृगापुत्र को मूर्छा आ गई और जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त हो गया। उससे मालूम हुआ कि—'पूर्व जन्म में दीक्षा धारण करके, पाँच महाव्रतों का पालन करके, पश्चात् स्वर्ग के सुख भोगकर मैं इस राजकुल में उत्पन्न हुआ हूँ।' इस जातिस्मरण से वह फिर आत्मकल्याण में प्रवृत्त हो गया।

अवधिज्ञानी भगवान् मल्लीनाथने संसार-अवस्था में अपना पूर्व जन्म का वृत्तान्त देख लिया था। मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान के दृष्टान्त तो प्रसिद्ध ही हैं।

तथा—परके व्याकरण से भी गति-आगति का ज्ञान होता है। पर का अर्थ है—तीर्थंकर। उनका व्याकरण अर्थात् पदार्थ का स्वरूप यथार्थरूप से जानकर समझाकर कहना, अथवा परव्याकरण का अर्थ तीर्थंकर का प्रवचनरूप आगम समझना चाहिए।

थया, ते वखते मृगापुत्र एक नजरथी तेमनी सामे जोयुं, अने तेने जोईने मृगापुत्रने मूर्छा आवी गई अने जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न थयुं, तेनाथी मालूम पडयुं के—"हुं पूर्व जन्ममां दीक्षा धारण करीने, पांच महाव्रतोनुं पालन करी, पछी स्वर्गना सुखो भोगवीने आ राजकुलमां उत्पन्न थयो छुं" आ प्रमाणे जातिस्मरण थवाथी ते फरीने आत्मकल्याणमां प्रवृत्त थई गयो.

અવધિજ્ઞાની મલ્લીનાથ ભગવાને સંસાર-અવસ્થામાં પોતાના પૂર્વ જન્મનો વૃત્તાન્ત જોઈ લીધો હતો. મનઃપર્યયજ્ઞાન અને કેવલજ્ઞાનના દ્રષ્ટાંત તો પ્રસિદ્ધ જ છે

તથા-પરના વ્યાકરણથી પણ ગતિ-આગતિનું જ્ઞાન થાય છે પરનો અર્થ છે-તીર્થંકર, તેનું વ્યાકરણ-અર્થાત્ પદાર્થનું સ્વરૂપ યથાર્થરૂપથી જાણી-સમજીને કહેવું, અથવા પરવ્યાકરણનો અર્થ-તીર્થંકરના પ્રવચનરૂપ આગમ સમજવું જોઈએ.

साक्षात्कारेण सम्बोध्य कथनम् , तीर्थङ्करप्रवचनरूप आगमो वा, तेन। परव्याकरणोदाहरणं यथा—साक्षात् भगवतो देशनया मेघकुमाराद्यो जातिस्मरण प्राप्तवन्त ।

तथा—अन्येषामन्तिके वा श्रुत्वेति, अन्येषां समीपे, श्रुत्वा स्वगत्या-गत्यादिबोधकतद्वचनश्रवणेन। तृतीयोदाहरण यथा—षड् मित्रभूपाश्छद्मस्थावस्थस्य मल्लीनाथभगवत समीपे तद्वचनेन जातिस्मरणमवापु ।

अथात्मनि विषये यादृश गत्यागत्यादिज्ञानं भवति, तदेव दर्शयति- तद्यथा-इत्यादि 'पूर्वस्या दिशाया आगतोऽहमस्मि यावद् अन्यतरस्या दिशाया अनुदिशाया वा आगतोऽहमस्मी'त्यनेन स्वगमनावधि-द्रव्यदिशाज्ञानं, तथा-

परव्याकरणका उदाहरण जैसे—साक्षात भगवान् की देशना स मेघकुमार आदिने जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त किया था।

तथा—दूसरों से सुनकर भी गति आगति का ज्ञान होता है। तात्पर्य यह है कि—अपनी गति एव आगति समझाने वाले दूसरे के वचनों से भी जातिस्मरण हो जाता है। जैसे—छह मित्र—राजाओंने छद्मस्थ—अवस्था वाले भगवान् मल्लिनाथ के वचनों से जातिस्मरण प्राप्त किया था।

आत्मा के विषय में गति—आगति आदि का ज्ञान जिस प्रकार होता है, उसे दिखलाते हैं—'मैं पूर्व दिशा से आया हूँ (यावत) अन्यतर दिशा से अथवा अनुदिशा से मैं आया हूँ' इस कथन से अपने गमन तक की द्रव्य—दिशा का ज्ञान सूचित किया है। तथा 'मेरा आत्मा औपपातिक' है यहाँ से लेकर 'भ्रमण करता है,

પરવ્યાકરણનું ઉદાહરણ, જેમકે—સાક્ષાત્ ભગવાનની દેશનાથી મેઘકુમાર આદિએ જાતિસ્મરણ જ્ઞાન પ્રાપ્ત કર્યું હતું

તથા-બીજા પાસેથી સાંભળીને પણ ગતિ—આગતિનું જ્ઞાન થાય છે કે - પોતાની ગતિ અને આગતિ સમજાવવાવાળા બીજાના વચનોથી પણ જાતિસ્મરણ જ્ઞાન થઈ જાય છે જેમ—છ મિત્ર—રાજાઓએ છદ્મસ્થ—અવસ્થા વાળા ભગવાન મલ્લિનાથના વચનોથી જાતિ સ્મરણ પ્રાપ્ત કર્યું હતુ

આત્માના વિષયમાં ગતિ—આગતિનું જ્ઞાન જે પ્રમાણે હોય છે તેને દેખાડે છે-'હું પૂર્વ દિશાથી આવ્યો છું, (યાવત્) અન્યતર દિશાથી અથવા અનુદિશાથી હું આવ્યો છું' આ કથનથી પોતાના ગમન સુધીની દ્રવ્યદિશાનું જ્ઞાન સૂચિત કર્યું છે,

'अस्ति मे आत्मा औपपातिकः' इत्यारभ्य 'अनुसचरति सोऽहम्' इत्यन्तेन द्रव्य-भावोभयदिशाज्ञानं भगवता प्रदर्शितम् ।

सोऽहमस्मी'त्येनेनेदमावेदितं भवति । त्रिविधान्यतमेन कारणेन ज्ञानं प्राप्तो जीवः स्वात्मस्वरूपमेवं विजानाति-यदयमात्मा सकलकर्मक्षयावधि चतुर्गति-भ्रमणकर्ता पुनरपि कस्याञ्चिदेकस्या दिशायामनुदिशायां वा गमिष्यति नास्त्यस्य गतिविरामस्तावदिति । एवमयमात्मा सर्वस्या दिशाया अनुदिशाया आगतःपुनरपि स्वकर्मवशगः सन् सर्वस्यां दिशायामनुदिशायां वा परिभ्रमिष्यति । न कदाचिदस्य विश्रान्तिलेशोऽपि तादृशोऽहमस्मीति ॥ सू० ४ ॥

यह मैं हूँ' यहाँ तक द्रव्यदिशा और भावदिशा, दोनों का ज्ञान भगवान्ने प्रदर्शित किया है।

'वही मैं हूँ' इस कथन से यह प्रकट होता है कि—तीन में से किसी एक कारण के द्वारा ज्ञान को प्राप्त जीव इस रूप में अपना आत्मस्वरूप जानता है, कि—यह आत्मा जब तक समस्त कर्मों का क्षय नहीं कर देता तब तक चारों गतियों में भ्रमण करता है और फिर किसी एक दिशा में या अनुदिशामें गमन करेगा परन्तु कर्मों का क्षय जब तक न हो तब तक उसकी गति का अन्त नहीं आता है। इस प्रकार यह आत्मा सब दिशाओं से और अनुदिशाओं से आया है और कर्मों के अधीन हो कर फिर सब दिशाओं अथवा विदिशाओं में परिभ्रमण करेगा, इसे लेशमात्र भी कभी विश्राम नहीं मिल सकता, ऐसा मैं हूँ ॥ सू० ४ ॥

તથા-'મારો આત્મા ઔપપાતિક છે ત્યાંથી લઇને 'ભ્રમણ કરે છે' તે હું છું, ત્યા સુધી દ્રવ્યદિશા અને ભાવદિશા, એ બન્નેનું જ્ઞાન ભગવાને પ્રદર્શિત કર્યું છે "તે હું છું" આ કથનથી એમ પ્રગટ થાય છે કે એ ત્રણમાંથી કોઈ કારણ દ્વારા જ્ઞાનને પામેલો જીવ આ રૂપમાં પોતાના આત્મસ્વરૂપને જાણે છે કે આ આત્મા જ્યા સુધી સમસ્ત કર્મોનો ક્ષય કરતો નથી, ત્યા સુધી ચારેય ગતિઓમા ભ્રમણ કરતો રહે છે, અને ફરી કોઈ દિશાોમા અથવા તો અનુદિશામા ગમન કરશે. પરંતુ જ્યા સુધી કર્મોનો ક્ષય નહિ હોય ત્યા સુધી તેની ગતિનો અંત આવતો નથી. એ પ્રમાણે આ આત્મા સર્વ દિશાઓથી અને અનુદિશાઓથી આવ્યો છે અને કર્મોને આધીન થઈને ફરીથી સવ દિશાઓ અથવા વિદિશાઓમા પરિભ્રમણ કરશે તેને લેશમાત્ર પણ વિશ્રામ મળી શકતો નથી એવો હું છું, (સૂ૦ ૪)

आत्मवादिप्रकरणम्—

यस्तु द्रव्यदिशु भावदिशु चात्मनो गत्यागती अवगत्य स्वमात्मानमेव विजानाति-'अयमात्मा असिद्धगतिप्राप्तिचतुर्गतिषु घूर्णमानो जन्मान्तरसक्रान्तस्त्रिकालवर्ती शरीराद् भिन्नो नित्यपरिणामी ज्ञानसम्यक्त्वचारित्रसुखवीर्यादिगुणवानिति, स एवात्मवादीत्याह—'से आयावादी' इत्यादि।

मूलम्—

से आयावादी, लोगावादी, कम्मावादी, किरियावादी ॥ सू० ५ ॥

छाया—

स आत्मवादी, लोकवादी कर्मवादी, क्रियावादी ॥ सू० ५ ॥

आत्मवादिप्रकरण—

जो जीव द्रव्य दिशाओं में और भावदिशाओं में आत्मा का गमन—आगमन जान कर अपनी आत्मा के विषय में इस प्रकार जानता है कि—यह आत्मा सिद्धगति की प्राप्तिरहित चार गतियों में भ्रमण करता हुआ एक जन्म से दूसरे जन्म को ग्रहण करता है, त्रिकालवर्ती है शरीर से भिन्न है, नित्यपरिणामी है, और सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, सुख, वीर्य आदि गुणों वाला है, वही आत्मवादी है। अब इसी विषय का निरूपण किया जाता है —'से आयावादी' इत्यादि।

मूलार्थ—'से आयावादी' इति। वही आत्मवादी है, लोकवादी है, कर्मवादी है, क्रीयावादी है (सू० ५)

આત્મવાદીપ્રકરણ

જે જીવ દ્રવ્યદિશાઓમાં અને ભાવદિશાઓમા આત્માનુ જવુ—આવવુ જાણીને પોતાના આત્માના વિષયમા એ પ્રમાણે જાણે છે કે—આ આત્મા સિદ્ધગતિની પ્રાપ્તિ વિના બીજી ચાર ગતિઓમા ભ્રમણ કરતો કરતો એક જન્મથી બીજો જન્મ ગ્રહણ કરે છે, ત્રિકાલવર્તી છે શરીરથી ભિન્ન છે, નિત્યપરિણામી છે અને સમ્યકત્વ, જ્ઞાન, ચારિત્ર, સુખ, વીર્ય આદિ ગુણો વાળો છે, તે આત્મવાદી છે હવે આ વિષયનુ નિરૂપણ કરવામા આવે છે—'से आयावादी' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—'से अयावादी' ઇતિ તે આત્મવાદી છે, લોકવાદી છે, કર્મવાદી છે અને ક્રિયાવાદી છે (સૂ. ૫)

टीका—

'से आयावादी' इति। स=इत्थमात्मानं ज्ञाता, आत्मवादी=आत्मानं वदितुं शीलमस्येति विग्रहे कर्तरि णिनि, आत्मस्वरूपकथनस्वभाववान्। अय भाव–आत्मस्वरूप वक्तारो जगति बहव सन्ति, परन्तु स एवात्मवादी वेदितव्यो, य पूर्वोक्तरीतिमनुसृत्यात्मानं विजानातीति।

आत्मस्वरूपपरिचय विना बन्धस्वरूप ज्ञातुमशक्यम्। तद् विना न रोचते कस्मैचिदात्मोत्कर्षकरणम्, तद्रुचिमन्तरेण च कस्यचिन्मोक्षोपाय-भूतनिश्चयव्यवहारलक्षणज्ञानक्रिययो प्रवृत्तिर्न स्यात्, तस्मादात्मज्ञानप्रसङ्गेन किञ्चिदुच्यते—

टीकार्थ—जो इस (पूर्वोक्त) प्रकार से आत्मा को जानता है वही आत्मवादी है, अर्थात् आत्मा के स्वरूप को कहने वाला है। तात्पर्य यह है कि—आत्मा का स्वरूप कहने वाले संसार में बहुत हैं किन्तु वास्तव में सच्चा आत्मवादी वही है जो पूर्वोक्त प्रकार से आत्मा का ज्ञाता है।

आत्मा का स्वरूप समझे बिना बन्ध का स्वरूप अशक्य है। उसके अभाव में किसीको आत्मा का उत्कर्ष करना रुचिकर नहीं होता, और इस रुचि के अभाव में किसीको निश्चय–व्यवहाररूप ज्ञान और क्रिया में–जो मोक्ष के कारण हैं–प्रवृत्ति नहीं होती, अत आत्मज्ञान का प्रसङ्ग होने से यहाँ कुछ विवेचन किया जाता है—

ટીકાર્થ—જે આ (પૂર્વોક્ત) પ્રકારથી આત્માને જાણે છે, તે આત્મવાદી છે, અર્થાત્–આત્માના સ્વરૂપને કહેવા વાળા છે, તાત્પર્ય એ છે કે–આત્માનુ સ્વરૂપ કહેવા વાળા સસારમા ઘણા છે પરતુ વાસ્તવમા સાચા આત્મવાદી તે છે કે જે પૂર્વોક્ત પ્રકારથી આત્માના જ્ઞાતા છે, અર્થાત્ પૂર્વોક્ત પ્રકારે આત્માને જાણે છે

આત્માના સ્વરૂપને સમજ્યા વિના બધનુ સ્વરૂપ સમજવુ અશક્ય છે, તેના અભાવમા કોઈને આત્મા ઉત્કર્ષ કરવુ રૂચિકર થતુ નથી અને તે રૂચિના અભાવમાં કોઈને નિશ્ચય–વ્યવહારરૂપ જ્ઞાન અને ક્રિયામા જે મોક્ષનુ કારણ છે તેમાં પ્રવૃત્તિ થતી નથી તે કારણથી આત્મજ્ઞાનનો પ્રસગ હોવાથી અહિં થોડુ વિવેચન કરવામાં આવે છે—

आत्मशब्दार्थ —

अतति-नित्य जानातीति आत्मा । 'अत सातत्यगमने' इत्यत्रात-धातोर्गत्यर्थकत्वाद्, गत्यर्थानां च ज्ञानार्थकतया स्वीकारादयमर्थो लभ्यते । सिद्धससारिभेदेन द्विविधस्यापि जीवस्य सर्वदाऽवबोधसद्भावादात्मन कस्याचिदवस्थायामुपयोगवियोगो न जायते । कदाचिदप्यवबोधाभावे च जीवत्वमेव व्याहन्येत । अत एव-'जीवो उवओगलक्खणो' इत्युक्तम् (उत्तरा २८ अ १० श्लो)

यद्वा-अतति-सतत गच्छति, निरन्तर प्राप्नोति स्वकीयान् पर्यायानिति-आत्मा।

आत्मशब्द का अर्थ-

'अतति'-इति-आत्मा 'अर्थात् जो नित्य जानता रहता है वह आत्मा कहलाता है । 'अत' धातु सतत गमन करने के अर्थ में है और गमनार्थक सभी धातु ज्ञानार्थक होते हैं, अत उपर्युक्त अर्थ किया गया है । क्या सिद्ध और क्या ससारी, दोनों ही प्रकार के जीवों में सर्वदा ज्ञान विद्यमान रहता है, और किसी भी अवस्था में उपयोगका वियोग नहीं होता । किसी समय ज्ञान का अभाव हो जाय तो जीव में जीवत्व ही नहीं रहे । इसी कारण उत्तराध्ययन सूत्र (अ २८ श्लो १०) में कहा है -"जीवो उवओगलक्खणो" जीव उपयोग लक्षण वाला है ।

अथवा—अतति अर्थात् जो अपने पर्यायों को सतत प्राप्त होता रहता है वह आत्मा है ।

આત્મા શબ્દનો અર્થ—

'अतति' इति आत्मा અર્થાત્ જે જાણતો રહે છે, તે આત્મા કહેવાય છે 'अत' ધાતુ સતત ગમન કરવાના અર્થમા છે અને ગમનાર્થક સર્વ ધાતુ જ્ઞાનાર્થક પણ હોય છે (ગમન કરવુ એવા અર્થવાળા તમામ ધાતુ જ્ઞાન અર્થવાળા પણ હોય છે) એ કારણથી ઉપર કહેલો અર્થ કર્યો છે તો શુ સિદ્ધ અને સસારી બન્ને પ્રકારના જીવોમા હમેશા જ્ઞાન વિદ્યમાન રહે છે અને કોઈ પણ અવસ્થામા ઉપયોગનો વિયોગ થતો નથી કોઈ સમય જ્ઞાનનો અભાવ થઈ જાય તો જીવમા જીવત્વ જ ન રહે. એ કારણથી ઉત્તરાધ્યયન સૂત્ર (અ ૨૮ શ્લો. ૧૦) મા કહ્યુ છે કેઃ—"जीवो उवओगलक्खणो" "જીવ ઉપયોગ લક્ષણવાળો છે"

અથવા—अतति અર્થાત્ જે પોતાના પર્યાયોને સતત પ્રાપ્ત થતો રહે છે, તે આત્મા છે

टीका—

'से आयावादी' इति। सः=ऽयमात्मानं ज्ञाता, आत्मवादी= आत्मानं वदितुं शीलमस्येति विग्रहे कर्तरि णिनि, आत्मस्वरूपकथनस्वभाववान्। अयं भावः—आत्मस्वरूपं वक्तारो जगति बहवः सन्ति, परन्तु स एवात्मवादी वेदितव्यो, यः पूर्वोक्तरीतिमनुसृत्यात्मानं विजानातीति।

आत्मस्वरूपपरिचयं विना बन्धस्वरूपं ज्ञातुमशक्यम्। तद् विना न रोचते कस्मैचिदात्मोत्कर्षकरणम्, तद्रुचिमन्तरेण च कस्यचिन्मोक्षोपाय-भूतनिश्चयव्यवहारलक्षणज्ञानक्रिययोः प्रवृत्तिर्न स्यात्, तस्मादत्रात्मज्ञानप्रसङ्गेन किञ्चिदुच्यते—

टीकार्थ—जो इस (पूर्वोक्त) प्रकार से आत्मा को जानता है वही आत्मवादी है, अर्थात् आत्मा के स्वरूप को कहने वाला है। तात्पर्य यह है कि—आत्मा का स्वरूप कहने वाले संसार में बहुत हैं किन्तु वास्तव में सच्चा आत्मवादी वही है जो पूर्वोक्त प्रकार से आत्मा का ज्ञाता है।

आत्मा का स्वरूप समझे विना बन्ध का स्वरूप अशक्य है। उसके अभाव में किसीको आत्मा का उत्कर्ष करना रुचिकर नहीं होता, और इस रुचि के अभाव में किसीकी निश्चय-व्यवहाररूप ज्ञान और क्रिया में—जो मोक्ष के कारण हैं—प्रवृत्ति नहीं होती, अतः आत्मज्ञान का प्रसङ्ग होने से यहाँ कुछ विवेचन किया जाता है—

ટીકાર્થ—જે આ (પૂર્વોક્ત) પ્રકારથી આત્માને જાણે છે, તે આત્મવાદી છે, અર્થાત્—આત્માના સ્વરૂપને કહેવા વાળા છે, તાત્પર્ય એ છે કે—આત્માનું સ્વરૂપ કહેવા વાળા સંસારમાં ઘણા છે પરંતુ વાસ્તવમાં સાચા આત્મવાદી તે છે કે જે પૂર્વોક્ત પ્રકારથી આત્માના જ્ઞાતા છે, અર્થાત્ પૂર્વોક્ત પ્રકારે આત્માને જાણે છે

આત્માના સ્વરૂપને સમજ્યા વિના બંધનું સ્વરૂપ સમજવું અશક્ય છે, તેના અભાવમાં કોઈને આત્મા ઉત્કર્ષ કરવું રૂચિકર થતું નથી અને તે રૂચિના અભાવમાં કોઈને નિશ્ચય-વ્યવહારરૂપ જ્ઞાન અને ક્રિયામાં જે મોક્ષનું કારણ છે તેમાં પ્રવૃત્તિ થતી નથી તે કારણથી આત્મજ્ઞાનનો પ્રસંગ હોવાથી અહિં થોડું વિવેચન કરવામાં આવે છે—

आत्मनोऽस्तित्वसिद्धि —

तावत् प्रत्यक्षप्रमाणत एवात्मन सिद्धिरुच्यते—(१) किमयमात्मा—अस्ति नास्ति वेति सशयादिविज्ञान स्वस्वात्मनि स्वसवेदनप्रत्यक्षेण सिद्धम् , स एवात्मा, संशयादिज्ञानस्यैव तदनन्यत्वेनात्मरूपत्वात् ।

(२) तथा—आत्मानमाश्रित्यैव सुखदु.खादय स्वस्वशरीर एव प्रत्यक्षेण सवेद्यन्ते ।

(३) यद्वा—कृतवानहं, करोम्यहं, करिष्याम्यहम् , इत्यादिप्रकारेण योऽयम्—अहम्प्रत्यय , एतस्मादपि प्रत्यक्ष एवायमात्मा । कथमसत्यात्मनि—

आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि—

सव प्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण से ही आत्मा की सिद्धि कहते हैं –

(१) आत्मा है या नही है, इस प्रकार का संशय आदि ज्ञान अपनी अपनी आत्मा में स्वसवेदन प्रत्यक्ष से सिद्ध है । यही ज्ञान आत्मा है, अर्थात् सशय आदि ज्ञान आत्मासे अभिन्न होने के कारण आत्मस्वरूप ही है ।

(२) आत्मा को आश्रित करके ही दु ख–सुख आदि अपने२ शरीर में प्रत्यक्ष से जाने जाते हैं ।

(३) अथवा–मैं कर चुका, मै करता हूँ, मै करूँगा, इत्यादि रूप से जो अहम्प्रत्यय होता है उससे भी आत्मा का प्रत्यक्ष होता है । आत्मा न होता तो आत्मा के विषय में अहम्प्रत्यय (मैं का ज्ञान) किस प्रकार हो सकता था ? आत्मरूप विषय के

આત્માના અસ્તિત્વની સિદ્ધિ—

સૌથી પ્રથમ પ્રત્યક્ષ પ્રમાણથી જ આત્માની સિદ્ધિ કહે છે —(૧) આત્મા છે કે નહિ, આ પ્રકારનુ સશય આદિ જ્ઞાન પોત પોતાના આત્મામા સ્વસવેદન પ્રત્યક્ષથી સિદ્ધ છે, તે જ્ઞાન આત્મા છે અર્થાત્ સશય આદિ જ્ઞાન આત્માથી અભિન્ન હોવાના કારણે આત્મસ્વરૂપ જ છે

(૨) આત્માના આશ્રિતપણાથી જ દુ ખ–સુખ આદિ પોત–પોતાના શરીરમા પ્રત્યક્ષ જાણવામાં આવે છે

(૩) અથવા–હુ કરી ચૂક્યો, હુ કરૂ છુ હુ કરીશ, ઇત્યાદિરૂપથી જે અહંપ્રત્યય થાય છે, તેથી પણ આત્માનું પ્રત્યક્ષપણુ થાય છે આત્મા ન હોય તો આત્માના વિષયમા અહંપ્રત્યય (હુ પણાનુ જ્ઞાન) કેવી રીતે થઈ શકે ? આત્મરૂપ

नन्वेवं गगनादीनामपि सततं स्वपर्यायप्राप्त्या तत्रात्मशब्दप्रयोगो दुर्वार', कदापि पर्यायाभावे त्वपरिणामित्वेन तेषां वस्तुत्वमेव न स्यादिति चेन्नैवम्, सततस्वपर्यायप्राप्तिकर्तृत्वमिति व्युत्पत्तिनिमित्तमात्रमात्मशब्दस्य, न तु तत् प्रवृत्तिनिमित्तम्। प्रवृत्तिनिमित्तं चास्योपयोग एवेति गगनादिषु नात्मशब्दः प्रवर्तते।

यद्वा—सततं गच्छतीत्ययमर्थोऽपि न विरुध्यते संसारदशायां कर्मवशेन नानागतिषु सततगमनात्, मुक्तावस्थायामपि भूतकालिकसततगमनसद्भावात्।

शङ्का—आकाश आदि भी अपने अपने पर्यायों को निरन्तर प्राप्त होते रहते हैं तो उनके लिये भी आत्मा शब्द का प्रयोग करना अनिवार्य होगा। किसी समय उन में पर्याय का अभाव हो तो वे अपरिणामी ठहरेंगे और तब उन में वस्तुत्व ही नहीं रहेगा।

समाधान—ऐसा मत कहिए। निरन्तर अपने पर्यायों को प्राप्त करना तो आत्मा शब्द का व्युत्पत्तिनिमित्त मात्र है, वह प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है, प्रवृत्तिनिमित्त तो उपयोग ही है, अत आकाश आदि में आत्मा शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता।

अथवा 'निरन्तर गमन करता है' इस अर्थ का भी विरोध नहीं है, क्यों कि संसार-अवस्था में कर्म के अधीन होकर आत्मा नाना गतियों में सदैव गमन करता रहता है, मुक्त अवस्था में भी भूतकालीन सतत गमन विद्यमान है।

શંકા—આકાશ આદિ પણ પોત પોતાના પર્યાયોને નિરંતર પ્રાપ્ત થતા રહે છે, તો તેને માટે પણ આત્મા શબ્દનો પ્રયોગ કરવો અનિવાર્ય થશે. કોઈ સમય તેનામા પર્યાયનો અભાવ હોય તો તે અપરિણામી ઠરશે ત્યારે તેનામા વસ્તુત્વ પણ નહિ રહે.

સમાધાન—એ પ્રમાણે ન કહો. નિરન્તર પોતાના પર્યાયોને પ્રાપ્ત કરવુ તે તો આત્મ શબ્દની વ્યુત્પત્તિનિમિત્ત માત્ર છે, પરંતુ તે પ્રવૃત્તિનિમિત્ત નથી; પ્રવૃત્તિનિમિત્ત તો ઉપયોગ જ છે, તેથી આકાશ આદિમા આત્મ શબ્દનો પ્રયોગ થઈ શકતો નથી.

અથવા—નિરન્તર ગમન કરે છે, આ અર્થનો પણ વિરોધ નથી કેમકે—સંસાર અવસ્થામાં કર્મના આધીન બનીને આત્મા અનેક ગતિઓમા હમેશાં ગમન કરતો રહે છે મુક્ત-અવસ્થામાં પણ ભૂતકાલીન સતત ગમન વિદ્યમાન છે

न च देहोऽत्र गुणीति वाच्यम्, देहस्य मूर्तत्वाद् जडत्वाच ज्ञानस्य चामूर्तत्वाद् बोधरूपत्वाच । अहं नाहं वेतिगदतो 'माता मे वन्ध्या' इत्यादिवत् स्ववचनव्याघात ।

(४) यद्वा-आत्मा गुणी प्रत्यक्ष एव, स्मृति-जिज्ञासा-चिकीर्षा-जिगमिषा-संशयादिज्ञानविशेषाणां तद्गुणानां स्वात्मनि स्वसंवेदनप्रत्यक्ष-सिद्धत्वात्, इह यस्य गुणा' प्रत्यक्षा स प्रत्यक्षो दृष्टः, यथा घट', प्रत्यक्षगुणश्चात्मा, तस्मात् प्रत्यक्ष' । यथा घटोऽपि गुणी रूपादिगुणप्रत्यक्षत्वादेव प्रत्यक्ष', तथा विज्ञानादिगुणप्रत्यक्षत्वादात्मापीति ।

यहाँ यह कहना ठीक नहीं है कि-'देह गुणी है', क्यों कि देह मूर्त है और जड है जब कि ज्ञान अमूर्त है और चेतनरूप है । मूर्त गुणी का अमूर्त गुण नहीं हो सकता और न जड का गुण चेतना हो सकता है । इस कारण 'मैं हूँ या नहीं' इस प्रकार कहने वाले को 'मेरी माता वन्ध्या है' ऐसा कहने वाले के समान स्ववचनबाधा दोष आता है ।

(४) अथवा आत्मा गुणी प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है, क्योंकि स्मृति, जिज्ञासा, करने की इच्छा, गमन की इच्छा, संशय आदि ज्ञान-जो आत्मा के गुण हैं-अपनी आत्मा में प्रत्यक्ष से सिद्ध हैं, जिस पदार्थ के गुण प्रत्यक्ष से प्रतीत होते हैं वह पदार्थ भी प्रत्यक्ष माना जाता है, जैसे घट, आत्माके गुण भी प्रत्यक्ष से प्रतीत होते हैं इस कारण आत्मा प्रत्यक्ष है । घट के रूप आदि गुणों का प्रत्यक्ष होने से ही गुणी घट का प्रत्यक्ष होना देखा जाता है, इसी प्रकार विज्ञान आदि गुणों का प्रत्यक्ष होने से आत्मा भी प्रत्यक्ष है ।

અહી 'દેહ ગુણી છે' એમ કહેવુ તે ઠીક નથી, કારણ કે દેહ મૂર્ત છે અને જડ છે જ્યારે જ્ઞાન અમૂર્ત છે અને ચેતનરૂપ છે મૂર્ત ગુણીનો અમૂર્ત ગુણ હોઇ શકે નહિ. અને જડનો ગુણ ચેતન થઈ શકે નહિ. આ કારણથી "હુ છુ કે નહિ" એ પ્રમાણે કહેવાવાળાને "મારી માતા વંધ્યા છે" એ પ્રમાણે કહેનારના જેવો સ્વવચનબાધા નામનો દોષ આવે છે

(૪) અથવા-આત્મા ગુણી પ્રત્યક્ષથી જ સિદ્ધ છે, કેમકે-સ્મૃતિ, જીજ્ઞાસા, કરવાની ઇચ્છા, ગમનની ઇચ્છા, સંશય આદિજ્ઞાન વગેરે જે આત્માના ગુણ છે તે પોતાના આત્મામા પ્રત્યક્ષથી સિદ્ધ છે જે પદાર્થનો ગુણ પ્રત્યક્ષથી પ્રતીત થાય છે તે પદાર્થ પણ પ્રત્યક્ષ માનવામા આવે છે જેમ-ઘટ, આત્માનો ગુણ પ્રત્યક્ષથી પ્રતીત થાય છે તે કારણથી આત્મા પ્રત્યક્ષ છે ઘટના રૂપ આદિ ગુણો પ્રત્યક્ષ હોવાથી જ ગુણી ઘટનું પ્રત્યક્ષ હોવુ જોવામા આવે છે તે પ્રમાણે વિજ્ઞાન આદિ ગુણો પ્રત્યક્ષ હોવાથી આત્મા પણ પ્રત્યક્ષ છે

अहमिति ज्ञानम् आत्मविषयकं जायते। आत्मरूपविषयाभावे विषयिणोऽनुत्थानप्रसङ्गात्। न च देह एवास्य ज्ञानस्य विषय इति वाच्यम्। जीवरहितेऽपि देहे तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्। अस्मिन्नहम्प्रत्यये आत्मविषयके सति तु किमहमस्मि नास्मीति संशयो नोपपद्यते, अहम्प्रत्ययविषयस्यात्मनः सद्भावादहमस्मीति निश्चय एव संभवति। आत्मास्तित्वसंशये तु कस्यायमहम्प्रत्ययः स्यात्?, निर्मूलत्वेन तदनुत्थानप्रसङ्गात्। यदि संशयी जीव एव नास्ति, तर्हि अस्ति नास्तीति संशयः कस्य भवतु। संशयो हि विज्ञानाख्यो गुण एव, न च गुणिनमन्तरेण गुणः सिध्यति।

अभाव में विषयी अर्थात् ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। शरीर ही इस ज्ञान का विषय है-अर्थात् 'अहम्' (मैं) का अर्थ आत्मा नहीं वरन् शरीर है, ऐसा कहना उचित नहीं, क्यों कि-ऐसा होता तो मृत शरीर में भी अहम्प्रत्यय होने लगता। आत्मा को विषय करनेवाले इस अहम्प्रत्यय की विद्यमानता में 'मैं हूं या नहीं हूं', इस प्रकार का संशय ही नहीं होता है, अहम्प्रत्यय के विषयभूत आत्मा का सद्भाव होने से 'मै हूं' इस प्रकार का निश्चय ही हो सकता है। आत्मा के अस्तित्व के विषय में संशय किया जाय तो प्रश्न उपस्थित होता है कि यह अहम्प्रत्यय किसे होता है। विना कारण के ही तो उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि संशय करने वाला जीव ही नहीं है तो 'है या नहीं" इस प्रकार का संशय करता कौन है? संशय एक प्रकार का ज्ञान-गुण है और गुण, गुणी के अभाव में नहीं हो सकता।

વિષયના અભાવમા વિષયી અર્થાત્ જ્ઞાનની ઉત્પત્તિ નથી થઈ શકતી શરીર જ આ જ્ઞાનનો વિષય છે, અર્થાત્ 'અહમ્,' (હું) નો અર્થ આત્મા નથી બલ્કે શરીર છે, એમ કહેવુ તે ઉચિત નથી, કેમકે જો એમ હોય તો મૃત શરીરમા અહમ્પ્રત્યય થઈ શકશે. આત્માને વિષય કરવા વાળો આ-અહમ્પ્રત્યયની વિદ્યમાનતામા "હું છુ કે નથી" આ પ્રકારનો સંશય જ થતો નથી અહમ્પ્રત્યયના વિષયભૂત આત્માનો સદ્ભાવ હોવાથી "હું છુ" આ પ્રકારનો નિશ્ચય જ થઈ શકે છે આત્માના અસ્તિત્વના વિષયમાં સંશય કરવામા આવે તો પ્રશ્ન ઉપસ્થિત થાય છે કે આ અહમ્પ્રત્યય કોને થાય છે? કારણ વિના તો તેની ઉત્પત્તિ થઈ શકતી નથી જો સંશય કરવા વાળો જીવ નથી તો "હું છુ કે નહિ' એ પ્રકારનો સંશય કરનાર કોણ છે? સંશય એક પ્રકારનો જ્ઞાન-ગુણ છે, અને ગુણ ગુણીના અભાવમા થઈ શકતો નથી

रूपादिगुणमात्रस्यैव प्रत्यक्षत्वात्। अन्यस्मिन् ज्ञातेऽन्यज्ज्ञात न भवति, यथा घटे ज्ञाते पटो न ज्ञायते। गुणा कदापि द्रव्याद् भिन्नतया सत्तां न लभन्ते, एवं द्रव्यमपि गुणेभ्यो भिन्नतया न सत्ता लभते। अय गुणः, अय गुणीति नाममात्रतो भेदसत्त्वेऽपि न तत्त्वतो भेद'। यथा-अग्निर्गुणी स्वकीयादुष्णत्वगुणादत्यन्तभिन्न. स्याचर्हि दाहकार्यं कर्तुमसौ न शक्नुयात्।

तथा-यद्यात्मा ज्ञानगुणादत्यन्तभिन्नो भवेत् तदा तस्य जडत्वापत्तिः स्यात्। तस्माद् द्रव्यगुणयोर्भेदो न कदाचिदासीत्, नाप्यस्ति, न च भविष्यतीति सिद्धम्।

तुष्यतु दुर्जनन्यायेन तव मते गुणेभ्य भिन्नत्वाङ्गीकारेऽप्यात्मा प्रत्यक्षो भा

अन्य का ज्ञान होने से अन्य का बोध नहीं हो जाता। जैसे-घट के जाननेसे पट मालूम नहीं होता। गुण द्रव्य से भिन्न कदापि नहीं रह सकते, और द्रव्य भी गुणों से भिन्न कदापि नहीं रह सकता। 'यह गुण है, यह गुणी है' इस प्रकारका भेद नाममात्रका है, वास्तव में गुण-गुणी में भेद नही है। अगर अग्नि गुणी अपने उष्णतागुण से अत्यन्त भिन्न होता तो वह दाह-कार्य (जलाने का कार्य) करने में असमर्थ होता।

दूसरी वात यह है कि-आत्मा यदि अपने ज्ञानगुण से भिन्न होता तो आत्मा में जडता आ जाती। अत एव द्रव्य और गुण का भेद न कभी था, न है, और न होगा।

दुर्जनसन्तोषन्याय से, तुम्हारे मत के अनुसार कदाचित् यह मान लिया जाय कि आत्मा गुणों से भिन्न है और इस कारण आत्मा का प्रत्यक्ष भले ही न हो

ઘટ ક્યારેય પ્રત્યક્ષ નથી થતો અન્યનુ જ્ઞાન થવાથી અન્યનો બોધ થતો નથી, જેમકે ઘટના જ્ઞાનથી પટ માલૂમ થતો નથી (પટનુ જ્ઞાન થતુ નથી) ગુણ, દ્રવ્યથી ભિન્ન કદાપિ રહી શકતો નથી 'આ ગુણ છે અને આ ગુણી છે' એ પ્રકારનો ભેદ નામમાત્રનો છે વાસ્તવિક રીતે ગુણ-ગુણીમા ભેદ નથી અગર અગ્નિ ગુણી પોતાના ઉષ્ણતાગુણથી અત્યન્ત ભિન્ન થઈ જાય તો તે દાહકાર્ય (બાળવાનુ કાય) કરવામા અસમર્થ થઈ જાય છે

બીજી વાત એ છે કે-આત્મા જો પોતાના જ્ઞાનગુણથી ભિન્ન હોય તો આત્મામાં જડતા આવી જાય એટલા માટે દ્રવ્ય અને ગુણનો ભેદ કોઇ પણ વખતે હતો નહિ, છે નહિ અને થશે પણ નહિ

દુર્જનસંતોષ ન્યાયથી તમારા મત પ્રમાણે કદાચિત્ એમ માની લઈએ કે આત્મા ગુણોથી ભિન્ન છે, અને તે કારણે આત્મા પ્રત્યક્ષ ભલે ન થાય તો પણ

न चाऽनैकान्तिकोऽयं हेतु, यस्मादाकाशगुणः शब्द' प्रत्यक्षोऽस्ति, न पुनराकाशमिति वाच्यम्, शब्दस्याकाशगुणत्वाभावात्। शब्दो हि पुद्गलगुण' ऐन्द्रियकत्वाद् रूपादिवदिति।

अस्तु, गुणाः प्रत्यक्षा', गुणिनस्तु प्रत्यक्षत्वे किं मानम्? उच्यते—गुणेभ्योऽनन्यो गुणीति ज्ञानादिगुणानां प्रत्यक्षत्वादेवात्माऽपि गुणी प्रत्यक्षेण ज्ञायते। यदि गुणेभ्योऽन्यो गुणी स्यात्, तदा घटादयोपि गुणिन प्रत्यक्षा न भवेयु,

शङ्का—आप का दिया हुआ हेतु अनैकान्तिक है, क्यों कि आकाश के गुण शब्द का तो प्रत्यक्ष होता है किन्तु आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता।

समाधान—ऐसा न कहिए, क्यों कि शब्द आकाश का गुण नहीं है। शब्द पुद्गल का गुण है, क्यों कि वह इन्द्रिय (श्रोत्रेन्द्रिय) का विषय है, जो इन्द्रिय का विषय होता है वह पौद्गलिक ही होता है, जैसे—रूप आदि

शङ्का—गुणों को प्रत्यक्ष मान लें किन्तु गुणी के प्रत्यक्ष होने में क्या प्रमाण है?

समाधान—गुण और गुणी का कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध है—गुणी, गुणों से अभिन्न होता है अत एव गुणों का प्रत्यक्ष होने से आत्मा गुणी भी प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है। अगर गुणी, गुणों से भिन्न होता तो गुणी घट आदिका भी प्रत्यक्ष न होता, क्योंकि सिर्फ रूपादि गुणों से भिन्न घट का कभी प्रत्यक्ष नहीं होता।

શંકા—આપે જે હેતુ કહિ બતાવ્યો છે તે અનૈકાન્તિક છે, કેમકે આકાશનો ગુણ શબ્દ તે તો પ્રત્યક્ષ થાય છે, પરતુ આકાશ પ્રત્યક્ષ થતુ નથી

સમાધાન—એ પ્રમાણે ન કહો, કેમકે શબ્દ તે આકાશનો ગુણ નથી પણ શબ્દ તે પુદ્ગલનો ગુણ છે કેમકે તે ઇન્દ્રિય (શ્રોત્રેન્દ્રિય)નો વિષય છે જે ઇન્દ્રિયનો વિષય હોય છે તે પૌદ્ગલિક જ હોય છે, જેમ-રૂપ આદિ

શંકા—ગુણોને પ્રત્યક્ષ માની લઇએ. પરતુ ગુણીના પ્રત્યક્ષપણામાં શું પ્રમાણ છે?

સમાધાન—ગુણ અને ગુણીનો કથંચિત્ તાદાત્મ્ય સબધ છે-ગુણી, ગુણોથી અભિન્ન હોય છે, એટલે ગુણોના પ્રત્યક્ષપણાથી આત્મા ગુણી પણ પ્રત્યક્ષ પ્રતીત થાય છે અગર જો ગુણી, ગુણોથી ભિન્ન હોત તો ગુણી ઘટ આદિ પણ પ્રત્યક્ષ થઈ શકત નહિ. કેમકે માત્ર રૂપાદિ ગુણોજ પ્રત્યક્ષ હોય છે, રૂપાદિ ગુણોથી ભિન્ન

तस्माद् ज्ञानादिगुणानामनुरूपो यो रूपरहितोऽचाक्षुपश्च गुणी स देहाद् भिन्न आत्माऽस्तीति विज्ञेयः ।

न च ज्ञानादयो गुणा न देहसम्बन्धिन इत्यनुमानं प्रत्यक्षबाधितम्, ज्ञानादिगुणानां देह एव प्रत्यक्षेण ज्ञानसद्भावादिति वाच्यम्, अस्य प्रत्यक्षस्यानुमानबाधितत्वात्। शरीरेन्द्रियभिन्नं ज्ञानादिगुणवत्त्वमनुमानेन सिध्यति। तथाहि—शरीरेन्द्रियभिन्नो ज्ञानादिगुणवान्, तदुपरमेऽपि तदुपलब्धार्थानुस्मरणात्। यो हि यदुपरमेऽपि यदुपलब्धमर्थमनुस्मरति, स तस्मादन्यो दृष्टः, यथा–पञ्चवातायनोपलब्धार्थानुस्मर्ता देवदत्तः, इत्यादि। केनचित् कारणेन दृष्टिशक्तिविघातेऽपि पूर्वदृष्टपदार्थानुस्मरणं भवतीत्यतो देहेन्द्रियादिभिन्न आत्मा गुणी सिध्यति।

ज्ञानादि गुण देहसम्बन्धी नहीं हैं, यह अनुमान, प्रत्यक्ष से बाधित है, क्यों कि–प्रत्यक्षप्रमाण से वे देह में ही प्रतीत होते हैं, यह कथन ठीक नहीं है, क्यों कि यह प्रत्यक्ष ही अनुमान से बाधित है। अनुमान से यह सिद्ध है कि–ज्ञान आदि गुणों का आधार शरीर और इन्द्रियों से कोई भिन्न पदार्थ (आत्मा) ही है। अनुमान इस प्रकार है–ज्ञानादि गुणों का आधार शरीर और इन्द्रियों से भिन्न है, क्यों कि उनके नष्ट हो जाने पर भी उनके द्वारा जाने हुए पदार्थ का स्मरण होता है। जिसके नष्ट हो जाने पर भी, जिसके द्वारा जाने हुए पदार्थ का जो स्मरण करता है वह उस से भिन्न होता है। जैसे–पांच खिड़कियों द्वारा जाने हुए पदार्थों को स्मरण करने वाला देवदत्त है, उसको किसी कारण से देखने की शक्ति नष्ट हो जाने पर भी पहले देखे हुए पदार्थ का स्मरण होता है। इस से भलीभाँति सिद्ध है कि–देह और इन्द्रिय आदि से भिन्न आत्मा ही गुणी है।

જ્ઞાનાદિ ગુણ દેહસંબંધી નથી, કારણ કે તે અનુમાન પ્રત્યક્ષથી બાધિત છે, કેમકે પ્રત્યક્ષ પ્રમાણથી તે દેહમાં જ પ્રતીત થાય છે; તે કથન ઠીક નથી. કેમકે તે પ્રત્યક્ષ અનુમાનથી બાધિત છે અનુમાનથી એ સિદ્ધ છે કે જ્ઞાન આદિ ગુણોનો આધાર શરીર અને ઇન્દ્રિયોથી કોઈ ભિન્ન પદાર્થ (આત્મા) જ છે અનુમાન આ પ્રમાણે છે—જ્ઞાનાદિ ગુણોનો આધાર શરીર અને ઇન્દ્રિયોથી ભિન્ન છે, કેમકે તેના નષ્ટ થવા છતાય તેના દ્વારા જાણેલા પદાર્થનું સ્મરણ હોય છે જેના નષ્ટ થયા પછી પણ, જેના દ્વારા જાણેલો પદાર્થ તેનું જે સ્મરણ કરે છે તે તેનાથી ભિન્ન હોય છે જેમ પાંચ બારીઓ દ્વારા જોવા વાળા પદાર્થોનું સ્મરણ કરવા વાળો દેવદત્ત છે તેને કોઈ કારણથી દેખવાની શક્તિ નષ્ટ થઇ જવા છતાય પ્રથમ દેખેલા પદાર્થોનું

भवतु, अस्तित्वं च तस्य निर्बाधमेव। ज्ञानादिगुणा सन्ति यस्य स गुणिरूप आत्मा कथमपलप्येत।

ननु देह एव ज्ञानादिगुणा उपलभ्यन्ते तदाश्रयतया देह एव रूपादीनां घट इव गुणी सिध्यति, न त्वात्मा। प्रयोगश्चैवम्–देहगुणा एव ज्ञानादय', तत्रैवोपलभ्यमानत्वात्, गौरकृशस्थूलतादिवदिति चेन्न, ज्ञानादयो गुणा न देह–सम्बन्धिनः, अमूर्तत्वात्, अचाक्षुषत्वाद् वा, गगनवत्। द्रव्यविरहितो गुणो न भवति।

तथापि उसके अस्तित्व में कोई बाधा नही आती। जिस के ज्ञानादि गुण मौजुद हैं उस गुणीरूप आत्मा का अपलाप किस प्रकार किया जा सकता है?।

शङ्का—देह में ही ज्ञानादि गुण पाये जाते हैं, अत इन गुणों का आधार गुणी देह ही है, जैसे–रूपादि गुणों का आधार घट है। आत्मा ज्ञानादि गुणों का आश्रयभूत गुणी नहीं है। अनुमान इस प्रकार है—ज्ञान आदि देह के गुण हैं, क्यों कि वे देह में ही उपलब्ध होते, जैसे–गौरपन, दुबलापन और स्थूलता आदि।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं, ज्ञान आदि गुण देह के नहीं हैं, क्यों कि वे अमूर्त हैं और अचाक्षुष (जो आंखसे नहीं दीखता) हैं, जो अमूर्त और अचाक्षुष होते हैं वे देहके गुण नहीं होते, जैसे आकाश।

गुण, द्रव्य के बिना रह नहीं सकते अत ज्ञान आदि गुणोंका आधारभूत कोई द्रव्य अवश्य होना चाहिए। ज्ञानादि गुणोंके अनुरूप जो अरूपी एव अचाक्षुष गुणी हैं वह देह से भिन्न आत्मा ही है।

આત્માના અસ્તિત્વમા કોઈ પ્રકારની હરકત આવતી નથી જેના જ્ઞાનાદિ ગુણ હૈયાત છે તે ગુણીરૂપ આત્માનો અપલાપ–(છતી વસ્તુને નથી એમ કહેવુ તે) કેમ કરવામા આવે?

શંકા—દેહમાં જ જ્ઞાનાદિ ગુણ દેખાય છે, તે કારણથી એ ગુણોનો–આધાર ગુણી દેહ જ છે, જેમ રૂપાદિ ગુણોનો આધાર ઘટ છે આત્મા જ્ઞાનાદિ ગુણોનો આશ્રયભૂત ગુણી નથી અનુમાન આ પ્રમાણે છે–જ્ઞાન આદિ દેહના ગુણ છે, કેમકે તે દેહમાં જ ઉપલબ્ધ જણાય છે, જેમકે ગોરાપણુ, દુબલાપણુ અને સ્થૂળતા––જાડાપણુ વગેરે.

સમાધાન—એ પ્રમાણે કહેવુ તે યોગ્ય નથી, જ્ઞાન આદિ ગુણ તે દેહના ગુણ નથી, કેમકે તે અમૂર્ત છે, અને અચાક્ષુષ છે (જે નેત્રથી દેખાતા નથી) જે અમૂર્ત અને અચાક્ષુષ હોય છે તે દેહના ગુણ થઈ શકતા નથી, જેમ આકાશ. ગુણ, દ્રવ્ય વિના રહી શકતા નથી, તે કારણથી જ્ઞાન આદિ ગુણોના આધારભૂત કોઈ દ્રવ્ય હોવુ જોઇએ. એટલા માટે જ્ઞાનાદિ ગુણોને અનુરૂપ જે અરૂપી અને અચાક્ષુષ ગુણી છે, તે દેહથી ભિન્ન આત્મા જ છે.

तस्माद् ज्ञानादिगुणानामनुरूपो यो रूपरहितोऽचाक्षुषश्च गुणी स देहाद् भिन्न आत्माऽस्तीति विज्ञेय ।

न च ज्ञानादयो गुणा न देहसम्बन्धिन इत्यनुमानं प्रत्यक्षबाधितम्, ज्ञानादिगुणाना देह एव प्रत्यक्षेण ज्ञानसद्भावादिति वाच्यम्, अस्य प्रत्यक्षस्यानुमानबाधितत्वात्। शरीरेन्द्रियभिन्न ज्ञानादिगुणवत्त्वमनुमानेन सिध्यति। तथाहि—शरीरेन्द्रियभिन्नो ज्ञानादिगुणवान्, तदुपरमेऽपि तदुपलब्धार्थानुस्मरणात्। यो हि यदुपरमेऽपि यदुपलब्धमर्थमनुस्मरति, स तस्मादन्यो दृष्टः, यथा—पञ्चवातायनोपलब्धार्थानुस्मर्ता देवदत्तः, इत्यादि। केनचित् कारणेन दृष्टिशक्तिविघातेऽपि पूर्वदृष्टपदार्थानुस्मरणं भवतीत्यतो देहेन्द्रियादिभिन्न आत्मा गुणी सिध्यति।

ज्ञानादि गुण देहसम्बन्धी नहीं हैं, यह अनुमान, प्रत्यक्ष से बाधित है, क्यों कि–प्रत्यक्षप्रमाण से व देह में ही प्रतीत होते हैं, यह कथन ठीक नहीं है, क्यों कि यह प्रत्यक्ष ही अनुमान से बाधित है। अनुमान से यह सिद्ध है कि–ज्ञान आदि गुणों का आधार शरीर और इन्द्रियों से कोई भिन्न पदार्थ (आत्मा) ही है। अनुमान इस प्रकार है–ज्ञानादि गुणों का आधार शरीर और इन्द्रियों से भिन्न है, क्यों कि उनके नष्ट हो जाने पर भी उनके द्वारा जाने हुए पदार्थ का स्मरण होता है। जिसके नष्ट हो जाने पर भी, जिसके द्वारा जाने हुए पदार्थ का जो स्मरण करता है वह उस से भिन्न होता है। जैसे–पांच खिड़कियों द्वारा जाने हुए पदार्थों को स्मरण करने वाला देवदत्त है, उसको किसी कारण से देखने की शक्ति नष्ट हो जाने पर भी पहले देखे हुए पदार्थ का स्मरण होता है। इस से भलीभाँति सिद्ध है कि–देह और इन्द्रिय आदि से भिन्न आत्मा ही गुणी है।

જ્ઞાનાદિ ગુણ દેહસબંધી નથી, કારણ કે તે અનુમાન પ્રત્યક્ષથી બાધિત છે, કેમકે પ્રત્યક્ષ પ્રમાણથી તે દેહમાં જ પ્રતીત થાય છે, તે કથન ઠીક નથી. કેમકે તે પ્રત્યક્ષ અનુમાનથી બાધિત છે અનુમાનથી એ સિદ્ધ છે કે જ્ઞાન આદિ ગુણોના આધાર શરીર અને ઇન્દ્રિયોથી કોઈ ભિન્ન પદાર્થ (આત્મા) જ છે અનુમાન આ પ્રમાણે છે—જ્ઞાનાદિ ગુણોનો આધાર શરીર અને ઇન્દ્રિયોથી ભિન્ન છે, કેમકે તેના નષ્ટ થવા છતાંય તેના દ્વારા જાણેલા પદાર્થનું સ્મરણ હોય છે જેના નષ્ટ થયા પછી પણ, જેના દ્વારા જાણેલો પદાર્થ તેનું જે સ્મરણ કરે છે તે તેનાથી ભિન્ન હોય છે જેમ પાંચ ખડકીઓ દ્વારા જોવા વાળા પદાર્થોનું સ્મરણ કરવા વાળો દેવદત્ત છે તેને કોઈ કારણથી દેખવાની શક્તિ નષ્ટ થઇ જવા છતાંય પ્રથમ દેખેલા પદાર્થોનું

(३) इन्द्रियं साधिष्ठातृकं, करणत्वात् , यथा चक्रचीवरमृत्सूत्रदण्डादय. अस्ति हि चक्रचीवरादीनामधिष्ठाता कुलाल । यच्च निरधिष्ठातृकं तत् करणमपि न भवति, यथा—आकाशम् , यश्चेन्द्रियाणामधिष्ठाता स आत्मेति ।

(४) यद्वा—इन्द्रियविषयाणामादाता समस्ति, इन्द्रियविषया शब्दादय आदातृसहिता आदानादेयभावसद्भावात् , संदंशकलोहवत् । यथा लोके संदंशकलोहानामयस्कार आदाताऽस्ति । इन्द्रियविषयाणा चादानादेयभावो विद्यते, अतस्तेषामप्यादाताऽस्तीत्यनुमीयते । यत्र तु आदाता नास्ति, तत्रादानादेयभावोऽपि न विद्यते, यथा—आकाशे ।

(३) इन्द्रियाँ किसी सधिष्ठाता से युक्त हैं क्यों कि—व करण हैं, जैसे चक्र, चीवर, मृत्तिका, सूत और दण्ड आदि । चक्र, चीवर आदि का अधिष्ठाता कुम्हार है, जिस का कोई अधिष्ठाता नहीं होता वह करण भी नहीं होता, जैसे —आकाश । इन्द्रियों का जो अधिष्ठाता है, वही आत्मा है ।

(४) अथवा इन्द्रियों के विषय शब्द आदि आदातायुक्त (ग्रहण करने वाले से युक्त) हैं, क्यों कि उन में आदान आदेयभाव मौजूद है, जैसे संडासी और लोहे में, तात्पर्य यह है कि—लोक में संडासी और लोहे में आदान (लेना) आदेयभाव (जो लिया जाय) प्रसिद्ध है और उन का आदाता लुहार है, इसी प्रकार इन्द्रियां तथा विषयों का भी आदान–आदेयभाव है, अत उनका भी कोई आदाता होना चाहिए । जहाँ आदाता नहीं होता वहाँ आदान—आदेयभाव भी नहीं होता, जैसे—आकाश में ।

(૩) ઈન્દ્રિયો કોઈ પણ અધિષ્ઠાતાથી યુક્ત છે, કેમકે તે કરણ છે જેમકે ચક્ર, ચીવર, મૃત્તિકા, સૂત અને દંડ આદિ ચક્ર, ચીવર વગેરેનો અધિષ્ઠાતા કુંભાર છે, જેનો કોઈ અધિષ્ઠાતા હોય નહિ, તે કરણ પણ હોય નહિ, જેમકે—આકાશ. ઇન્દ્રિયોનો જે અધિષ્ઠાતા છે, તે આત્મા છે

(૪) અથવા—ઇન્દ્રિયોના વિષય શબ્દ આદિ આદાનયુક્ત–(ગ્રહણ કરવાવાળા–યુક્ત) છે, કેમકે તેમાં આદાન–આદેય ભાવ મોજુદ છે જેમ સાણસી અને લોઢમા. તાત્પર્ય એ છે કે લોકમા સાણસી અને લોઢમા આદાન–આદેય ભાવ પ્રસિદ્ધ છે અને તેના આદાતા લુહાર છે, આ પ્રમાણે ઇન્દ્રિયો તથા વિષયોનો પણ આદાન–આદેય ભાવ છે તેથી તેનો પણ કોઈ આદાતા હોવો જોઈએ જ્યાં આદાતા નથી, ત્યા આદાન–આદેય ભાવ પણ હોય નહિ, જેમ આકાશમા

(५) यद्वा-देहादिकं विद्यमानभोक्तृकम्, भोग्यत्वात्, यथा-अन्नवस्त्रादिकम्। अन्नवस्त्रादीनां भोक्ता मनुष्योऽस्ति। यस्य च भोक्ता नास्ति तद् भोग्यमपि न भवति, यथा खरविषाणम्, भोग्यं च शरीरादिकं, तस्माद् विद्यमानभोक्तृकम्।

(६) यद्वा-अस्ति देहादिकं सस्वामिकं, संघातरूपत्वात्, मूर्तिमत्त्वात्, ऐन्द्रियत्वात्, चाक्षुषत्वात्, यथा-गृहादिकम्। गृहादीनां स्वामिनः देवदत्तादयः सन्ति। यत् पुनरस्वामिकं तत् संघातरूपं न भवति, मूर्तिमन्न भवति, ऐन्द्रियं न भवति, चाक्षुषं च न भवति, यथा-गगनकुसुमम्। देहादिकं चास्ति संघातादिरूपम्, तस्माद् विद्यमानस्वामिकम्। यश्च देहादीनां स्वामी स चात्मेति।

(५) अथवा-देह आदि का भोक्ता कोई अवश्य है, क्यों कि वे भोग्य हैं, जो भोग्य होते हैं उन का भोक्ता भी होता है, जैसे-अन्न, वस्त्र आदि का। अन्न-वस्त्र आदिका भोक्ता मनुष्य है। जिसका भोक्ता नहीं होता वह भोग्य भी नहीं होता, जैसे गधे का सींग। शरीर आदि भोग्य हैं अतः उनका भोक्ता अवश्य है।

(६) अथवा-देह आदि का कोई स्वामी है, क्यों कि वे संघातरूप हैं, मूर्तिमान् हैं, इन्द्रियों के विषय हैं और चाक्षुष हैं, घर आदि के समान। घर आदि के स्वामी देवदत्त आदि हैं। जिसका कोई स्वामी नहीं होता वह संघातरूप नहीं होता, मूर्तिमान् नहीं होता, इन्द्रिय का विषय नहीं होता, और चाक्षुष (आंख से दीखने वाला) भी नहीं होता, जैसे-आकाशपुष्प। देह आदि संघातरूप हैं, अतः उन का स्वामी अवश्य है। देह आदि का जो स्वामी है वही आत्मा है।

(५) અથવા-દેહ આદિનો ભોક્તા કોઈ અવશ્ય છે, કેમકે તે ભોગ્ય છે, જે ભોગ્ય હોય છે, તેનો ભોકતા પણ હોય છે જેમકે અન્ન, વસ્ત્ર આદિનો. અન્ન-વસ્ત્ર આદિનો ભોકતા મનુષ્ય છે જેનો ભોકતા નથી તે ભોગ્ય પણ નથી, જેમ ગધેડાના શીંગ. શરીર આદિ ભોગ્ય છે, તેથી તેનો ભોકતા અવશ્ય છે

(૬) અથવા દેહ આદિનો કોઇ સ્વામી છે, કેમકે-તે સંઘાતરૂપ છે, મૂર્તિમાન છે, ઈન્દ્રિયોનો વિષય છે અને ચાક્ષુષ છે, ઘર આદિ પ્રમાણે ઘર આદિનો સ્વામી દેવદત્ત આદિ છે જેનો કોઈ સ્વામી નથી તે સંઘાતરૂપ પણ નથી, અને તે મૂર્તિમાન પણ હોય નહિ, ઇન્દ્રિયોનો વિષય પણ હોય નહિ અને ચાક્ષુષ (નેત્રથી જોઈ શકાય તેવો) પણ હોય નહિ, જેમકે આકાશપુષ્પ. દેહ આદિ સંઘાતરૂપ છે, તેથી તેનો સ્વામી અવશ્ય છે, દેહ આદિનો સ્વામી છે, તે આત્મા છે

(३) इन्द्रियं साधिष्ठातृक, करणत्वात् , यथा चक्रचीवरमृत्सूत्रदण्डादय, अस्ति हि चक्रचीवरादीनामधिष्ठाता कुलाल । यच्च निरधिष्ठातृकं तत् करणमपि न भवति, यथा—आकाशम् , यश्चेन्द्रियाणामधिष्ठाता स आत्मेति ।

(४) यद्वा—इन्द्रियविषयाणामादाता सम्भवति, इन्द्रियविषया शब्दादय आदातृसहिता आदानादेयभावसद्भावात् , संदंशकलोहवत् । यथा लोके संदंशकलोहानामयस्कार आदाताऽस्ति । इन्द्रियविषयाणां चादानादेयभावो विद्यते, अतस्तेषामप्यादाताऽस्तीत्यनुमीयते । यत्र तु आदाता नास्ति, तत्रादानादेयभावोऽपि न विद्यते, यथा—आकाशे ।

---

(३) इन्द्रियाँ किसी अधिष्ठाता से युक्त हैं क्यों कि—वे करण हैं, जैसे चक्र, चीवर, मृत्तिका, सूत और दण्ड आदि । चक्र, चीवर आदि का अधिष्ठाता कुम्हार है, जिस का कोई अधिष्ठाता नहीं होता वह करण भी नहीं होता, जैसे—आकाश । इन्द्रियों का जो अधिष्ठाता है, वही आत्मा है ।

(४) अथवा इन्द्रियों के विषय शब्द आदि आदातायुक्त (ग्रहण करने वाले से युक्त) हैं, क्यों कि उन में आदान आदेयभाव मौजूद है, जैसे संडासी और लोहे में, तात्पर्य यह है कि—लोक में संडासी और लोहे में आदान (लेना) आदेयभाव (जो लिया जाय) प्रसिद्ध है और उन का आदाता लुहार है, इसी प्रकार इन्द्रियाँ तथा विषयों का भी आदान-आदेयभाव है, अतः उनका भी कोई आदाता होना चाहिए । जहाँ आदाता नहीं होता वहाँ आदान—आदेयभाव भी नहीं होता, जैसे—आकाश में ।

---

(૩) ઈન્દ્રિયો કોઈ પણ અધિષ્ઠાતાથી યુક્ત છે, કેમકે તે કરણ છે જેમકે ચક્ર, ચીવર, મૃત્તિકા, સૂત અને દંડ આદિ ચક્ર, ચીવર વગેરેનો અધિષ્ઠાતા કુંભાર છે, જેનો કોઈ અધિષ્ઠાતા હોય નહિ, તે કરણ પણ હોય નહિ, જેમકે—આકાશ. ઇન્દ્રિયોનો જે અધિષ્ઠાતા છે, તે આત્મા છે

(૪) અથવા-ઇન્દ્રિયોના વિષય શબ્દ આદિ આદાનયુક્ત-(ગ્રહણ કરવાવાળા-યુક્ત) છે, કેમકે તેમાં આદાન—આદેય ભાવ મોજુદ છે જેમ સાણુસી અને લોહમા. તાત્પર્ય એ છે કે લોકમા સાણુસી અને લોહમા આદાન—આદેય ભાવ પ્રસિદ્ધ છે અને તેના આદાતા લુહાર છે; આ પ્રમાણે ઇન્દ્રિયો તથા વિષયોનો પણ આદાન-આદેય ભાવ છે તેથી તેનો પણ કોઈ આદાતા હોવો જોઈએ જ્યાં આદાતા નથી, ત્યા આદાન—આદેય ભાવ પણ હોય નહિ, જેમ આકાશમા

पुद्गलसंघातोपगूढत्वात् , सशरीरत्वाच्च कथचिन्मूर्तत्वादिधर्मयुक्त एवास्तीति ।

(७) यद्वा–' जीव ' इति पद सार्थक, व्युत्पत्तिमत्त्वे सति असमासपदत्वाद् एकपदत्वाद् घटादिपदवत् । घटादिपद व्युत्पत्तिमत् असमासपदमेकपदं लोके दृष्टम् , तथा च जीवपद, तस्मात् सार्थकम् । यत्तु सार्थक नास्ति तद् व्युत्पत्तिमत् असमासपदमेकपद च नास्ति, यथा–खरविषाणादिक, डित्थादिकं च पदम् । जीवपद च न तथा, तस्मात् सार्थकम् ।

यद् व्युत्पत्तिमन्न भवति तदेकपदमपि सद् न सार्थकम्, यथा डित्थादिपदम् , इति हेतोरनैकान्तिकत्वापत्तिस्तद्वारणाय व्युत्पत्तिमत्त्वविशेषणमुपात्तम् ।

हुए हैं, इस लिए कोइ दोष नही आता । ससारी आत्मा आठ कर्मों के समूह से युक्त होने के कारण तथा सशरीर होने के कारण मूर्तत्व आदि धर्मों से युक्त ही है ।

(७) अथवा—' जीव ' पद का वाच्य अवश्य है, क्यों कि यह पद व्युत्पत्ति वाला होते हुए समासरहित है, एक पद है, घट आदि पदों के समान । घट वगैरह पद व्युत्पत्तिवाले, असमासपद, एक पद लोक में देखे जाते हैं अत उनके वाच्य भी अवश्य हैं । ' जीव ' पद भी ऐसा ही है, अत वह भी सार्थक है । जो पद सार्थक नही होता वह व्युत्पत्तिवाला असमासपद, एक पद भी नही होता, जैसे—' खरविषाण ' पद, अथवा ' डित्थ ' पद, जीव पद ऐसा नहीं है, अत वह सार्थक है ।

जो व्युत्पत्ति वाला नही होता वह एक पद होते हुए भी सार्थक नही होता, जैसे ' डित्थ ' आदि पद । इस हेतु में अनैकान्तिकता निवारण करने के लिए ' व्युत्पत्ति

છીએ, એટલા માટે કોઇ દોષ આવતો નથી, સસારી આત્મા આઠ કર્મોના સમૂહથી યુક્ત હોવાના કારણે તથા સશરીર હોવાના કારણે મૂર્તત્વ આદિ ધર્મોથી યુક્તજ છે

(૭) અથવા 'જીવ' પદનો વાચ્ય અવશ્ય છે, કારણ કે આ પદ વ્યુત્પત્તિવાળુ હોવા છતાંય સમાસરહિત છે, એક પદ છે, ઘટ આદિ પદોના સમાન 'ઘટ' એ વ્યુત્પત્તિવાળુ અસમાસ પદ એક પદ લોકમા જોવામા આવે છે, તે કારણથી તેનુ વાચ્ય પણ અવશ્ય છે 'જીવ' પદ, પણ એવુ જ છે, તેથી તે પણ સાર્થક છે જે પદ સાર્થક નથી થતુ તે વ્યુત્પતિવાળા અસમાસ પદ એક પદ પણ થતુ નથી જેમકે ખરવિષાણ (ગધેડાના શીગ) પદ, અથવા 'ડિત્થ' પદ જીવ-પદ એવુ નથી તેથી તે સાર્થક છે

જે વ્યુત્પતિવાળુ થતુ નથી તે એક પદ હોવા છતાય પણ સાર્થક નથી થતુ, જેમ 'ડિત્થ' આદિ પદ.

આ હેતુમાં અનૈકાન્તિકતા નિવારણ કરવા માટે, ' વ્યુત્પત્તિવાળુ ' વિશેષણ

न च—आदिमत्प्रतिनियताकारत्वादिहेतुभिः शरीरादीनां कर्त्रादय एव सिध्यन्ति, न तु प्रस्तुत आत्मेति वाच्यम्। अन्यस्येश्वरादेर्युक्त्यसहत्वेन कर्तृत्वाद्यसम्भवाद् देहादीनां कर्ता, अधिष्ठाता, आदाता, भोक्ता, स्वामी चायमात्मैवेति निश्चयात्।

ननु—घटादीनां कर्त्रादिरूपाः कुलालादयो मूर्तिमन्तः संघातरूपा अनित्यादिस्वभावाश्च दृष्टा, इत्यतो जीवोऽप्येतादृश एव सिध्यति, एतद्विपरीतश्चास्माकं साधनीय, इत्येवं साध्यविरुद्धसाधकतया हेतूनां विरुद्धत्वापत्तिरिति चेन्मैवम्, संसारिणमात्मानं साधयितुं प्रवृत्तानामस्माकमेतद्दोषासम्भवात्। संसारी चात्माऽष्टविधकर्म

पूर्वोक्त—'आदिमान होते हुए नियत आकार वाले होने से' इत्यादि हेतुओं से शरीर आदि के कर्ता आदि ही सिद्ध होते हैं, प्रस्तुत आत्मा सिद्ध नहीं होता, ऐसा नहीं कहना चाहिये क्यों कि—आत्मा से भिन्न ईश्वर आदिका कर्तापन युक्तिसङ्गत नहीं ठहरता, अतः देह आदिका कर्ता, अधिष्ठाता, आदाता, भोक्ता और स्वामी आत्मा ही है ऐसा निश्चय हो जाता है।

शङ्का—घट आदि के कर्ता कुमार वगैरह मूर्तिक, संघातरूप और अनित्य आदि स्वभाव वाले देखे जाते हैं, अतः जीव भी ऐसा ही सिद्ध होता है, मगर आपको इस से विपरीत धर्मोंवाला आत्मा सिद्ध करने के कारण पूर्वोक्त हेतुओं में विरुद्ध दोष आता है।

समाधान—ऐसा मत कहो। हम संसारी आत्मा सिद्ध करने के लिए उद्यत

પૂર્વોક્ત-'આદિમાન હોવા છતાંય નિયત આકારવાળા હોવાથી' ઇત્યાદિ હેતુઓથી શરીર આદિના કર્તા આદિ જ સિદ્ધ હોય છે પ્રસ્તુત આત્મા સિદ્ધ થતો નથી એમ નહિ કહેવું જોઈએ, કેમકે આત્માથી ભિન્ન ઈશ્વર આદિનું કર્તાપણું યુક્તિ સંગત થતું નથી, તેથી દેહ આદિનો કર્તા, અધિષ્ઠાતા, આદાતા, ભોક્તા અને સ્વામી આત્મા જ છે એમ નિશ્ચય થઈ જાય છે

શંકા-ઘટ આદિના કર્તા કુંભાર વગેરે મૂર્તિક, સંઘાતરૂપ અને અનિત્ય આદિ સ્વભાવવાળા જોવામાં આવે છે, તેથી જીવ પણ એવો જ સિદ્ધ થાય છે પરંતુ તમને તેનાથી વિપરીત ધર્મોવાળો આત્મા સિદ્ધ કરવો છે, એવી સ્થિતિમાં સાધ્યથી વિરુદ્ધ સિદ્ધ કરવાના કારણે પૂર્વોક્ત હેતુઓમાં વિરુદ્ધતા દોષ આવે છે

સમાધાન-એ પ્રમાણે ન કહો, અમે સંસારી આત્મા સિદ્ધ કરવા માટે તૈયાર થયા

भिन्नता प्रतीयते। प्रकृतेऽपि प्राणी, भूत', जीव, सत्त्व, इत्यादयो जीवशब्दस्य पर्याया', शरीर वपु', कायो, देह, गात्रमित्यादयस्तु शरीरशब्दपर्याया 'अय जीवस्तस्मान्न हन्तव्य' इत्यनेनापि देहस्थितस्य प्राणिन एव हिंसा निषिध्यते।

आप्तागमस्तु समस्त एवात्मान बोधयति, आत्मतत्त्वस्यैव सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रार्थं तस्य प्रवृत्तत्वात्। तथापि कानिचिदागमवचनानि प्रमाणतया प्रदर्शयाम'-

'से आयावादी' इति प्रस्तुतमेव वचनं तावद् गृहाण। 'से ज पुण

शब्द अलग हैं, इस लिए घटका अर्थ और आकाश का अर्थ अलग-अलग है। इसी प्रकार जीव के पर्यायवाचक प्राणी, भूत, जीव, सत्त्व आदि शब्द अलग हैं और देह के पर्यायवाचक शरीर, वपु, काय, गात्र आदि भिन्न हैं, अत इन दोनों का अर्थ भी अलग होना चाहिए। 'यह जीव है अत हनन करने योग्य नहीं है' इस वाक्य द्वारा देह में स्थित प्राणी की ही हिंसा का निषेध किया जाता है।

आगम से आत्मा की सिद्धि-

आप्त पुरुष द्वारा प्रणीत सम्पूर्ण आगम आत्मा का बोधक है। आत्मतत्व के सम्यग् द र्शन, ज्ञान, और चारित्र के लिए ही आगम की प्रवृत्ति होती है फिर भी आगम के कतिपय वाक्य प्रमाणरूप में प्रदर्शित करते है —

सब स पहले-'से आयावादी', इस प्रस्तुत वाक्य को ही लीजिए

પ્રમાણે જીવના પર્યાયવાચક-પ્રાણી, ભૂત, જીવ સત્ત્વ આદિ શબ્દ અલગ છે અને દેહના પર્યાયવાચક-શરીર, વપુ, કાય, ગાત્ર આદિ ભિન્ન છે તે માટે એ બન્નેનો અર્થ પણ અલગ થવો જોઈએ. "આ જીવ છે તેથી હનન કરવા યોગ્ય નથી" આ વાક્ય દ્વારા દેહમા રહેલા પ્રાણીની જ હિંસાનો નિષેધ કરવામા આવ્યો છે

આગમથી આત્માની સિધ્ધિ—

આપ્ત પુરુષ દ્વારા પ્રણીત સંપૂર્ણ આગમ આત્માનું બોધક છે આત્મતત્વના સમ્યગ્દર્શન, જ્ઞાન અને ચારિત્ર માટે જ આગમની પ્રવૃત્તિ હોય છે તો પણ આગમના કેટલાક વાકય પ્રમાણરૂપમા પ્રદર્શિત કરે છે—

સૌથી પ્રથમ 'से आयावादी' આ પ્રસ્તુત-ચાલુ વાક્યને જ લઈએ 'से ज पुण

यथैकपदं नास्ति किन्तु सामासिकम्, तदपि व्युत्पत्तिमत्त्वे सत्यपि सार्थकं नास्ति, यथा खरविषाणादिकमिति। तत्रानैकान्तिकत्वापत्तिदोषस्तत्परिहारार्थमेकपदत्वमिति।

ननु देह एव जीवपदस्यार्थोऽस्तु कथं पुनरात्मा विज्ञायेत। देहरूपेऽर्थे जीवशब्दप्रयोगोऽपि दृष्टः, यथा-'अयं जीवः, तस्मान्न हन्तव्य' इति। अतो देह एव जीवशब्दार्थतया प्रतीतव्य, इति चेन्न, पर्यायशब्दभेदाद् देहजीवशब्दयोरर्थो भिन्न एवेति बोधनात्, यथा घटाकाशयोः, तत्र-घटकुम्भकलशादयो घटशब्दस्य पर्यायाः, आकाशनभोव्योमादयस्त्वाकाशशब्दपर्याया, अतस्तयोरर्थे

वाला' विशेषण लगाया है। तथा जो एक पद नहीं है किन्तु समासयुक्त पद है वह व्युत्पत्तिवाला होते हुए भी सार्थक नहीं होता। जैसे खरविषाण आदि पद। इस में अनैकान्तिकता हटाने के लिए 'एकपद'का प्रयोग किया गया है।

शङ्का—जीव पदका अर्थ देह ही क्यों न मान लिया जाय? आत्मा अर्थ कैसे समझा जाय? देह के अर्थ में जीव शब्दका प्रयोग देखा भी जाता है, जैसे 'यह जीव है, अतः हनन करने योग्य नहीं है'। इस लिए जीव शब्द का अर्थ शरीर ही लेना चाहिए।

समाधान—देहके और जीव के पर्यायवाची शब्द अलग अलग हैं, अतः दोनों का अर्थ अलग-अलग ही मानना चाहिए। जैसे घटके पर्यायवाची कुम्भ, कलश आदि शब्द अलग हैं, और आकाश के पर्यायवाची शब्द नभ, व्योम, गगन आदि

આપ્યુ છે તથા જે એક પદ નથી પરંતુ સમાસયુક્ત પદ છે તે વ્યુત્પત્તિવાળુ હોવા છતાંય સાર્થક થતુ નથી જેમ ખરવિષાણ આદિ પદ, તેમા અનૈકાન્તિકતા હટાવવા માટે-'એક પદ'નો પ્રયોગ કરેલો છે.

શંકા—'જીવ' પદનો અર્થ દેહ શા માટે માનવામાં નથી આવતો? આત્મા અર્થ કેમ સમજાય છે? દેહના અર્થમા જીવ શબ્દનો પ્રયોગ જોવામા પણ આવે છે જેમ-'આ જીવ છે, તેથી હણવા યોગ્ય નથી' એટલા માટે જીવ શબ્દનો અર્થ શરીર જ લેવો જોઈએ

સમાધાન—દેહ અને જીવના પર્યાયવાચી શબ્દ જુદા જુદા છે તેથી બન્નેનો બોધ જુદો-જુદો માનવો જોઈએ. જેમ ઘટના પર્યાયવાચી કુંભ, કલશ આદિ શબ્દ અલગ છે, અને આકાશના પર્યાયવાચી શબ્દ-નભ, વ્યોમ, ગગન આદિ શબ્દ અલગ છે એ કારણથી ઘટનો અર્થ અને આકાશનો અર્થ અલગ છે એ

चेतना चात्मद्रव्याद्यात्मगतान्यसुखादिगुणतश्चानपायिनो । तामेवाश्रित्य ज्ञानदर्शनादिविविधोपयोगानां भिन्नभिन्नसमयवर्तिना त्रैकालिक प्रवाहो भवति । तस्याश्चेतनाया॰ कार्यरूप॰ पर्यायप्रवाह॰ स्वरूपेणोपयोग एव ।

उपयोगात्मकपर्यायप्रवाह इव सुखदु खवेदनात्मकपर्यायप्रवाहस्तथा प्रवृत्त्यात्मकपर्यायप्रवाहाद्योऽनन्तपर्यायप्रवाहा सह-युगपत् प्रवर्तन्ते । अतश्चेतनागुण इवात्मनि आनन्दवीर्यप्रभृत्येकैकगुणस्वीकरणीयतयाऽनन्तगुणा॰ सिध्यन्ति ।

आत्मनि चेतनाऽऽनन्दवीर्यादिगुणानां भिन्नभिन्ना विविधपर्याया एकस्मिन् समये समुपलभ्यन्ते परन्त्वेकस्य चेतनागुणस्य विविधाउपयोगपर्याया

के द्वारा आत्मा नाना प्रकार के उपयोगों के रूप में परिणत होता है किन्तु चेतना, आत्मद्रव्य के रूप म, तथा आत्मा म रहने वाले सुख आदि गुणों के रूप में सदा विद्यमान रहती है—कभी नष्ट नहीं होती, उस के आधार पर ज्ञान दर्शन आदि भिन्न भिन्न समयों में होने वाले अनेक उपयोगों का प्रवाह बहता है । उस चेतना का कार्यरूप पर्याय—प्रवाह स्वरूपसे उपयोग ही है ।

उपयोगात्मक पर्याय—प्रवाह के समान सुख—दु खसंवेदनरूप पर्याय का प्रवाह है, तथा प्रवृत्त्यात्मक पर्यायप्रवाह आदि अनन्त पर्याय—प्रवाह एक साथ जारी रहते हैं, अत चेतनागुण के समान आमा में आनन्द, वीर्य आदि एक एक गुण स्वीकार करने योग्य होने से अनन्त गुण सिद्ध होते हैं ।

आत्मा में चेतना सुख वीर्य आदि गुणों की भिन्न२ विविध पर्यायें एक ही समय में उपलब्ध होती हैं, किन्तु एक ही समय में अकेले चेतनागुण की विविध

તથા આત્મામા રહેવવાળા સુખ આદિ ગુણોના રૂપમા હમેશા વિદ્યમાન રહે છે કોઇ વખત પણ નાશ પામતી નથી તેના આધાર પર જ્ઞાન, દર્શન આદિ ભિન્ન ભિન્ન સમયોમા થવાવાળા અનેક ઉપયોગોનો પ્રવાહ વહેતો રહે છે તે ચેતનાના કાર્યરૂપ પર્યાયપ્રવાહ સ્વરૂપથી ઉપયોગ જ છે

ઉપયોગાત્મક પર્યાય—પ્રવાહના સમાન સુખ—દુઃખસ વેદનરૂપ પર્યાયનો પ્રવાહ છે તથા પ્રવૃત્ત્યાત્મક પર્યાય—પ્રવાહ આદિ અનત પર્યાયપ્રવાહ એક સાથે જારી રહે છે તેથી ચેતનાગુણ સમાન આત્મામાં આનદ વીર્ય આદિ એક—એક ગુણ સ્વીકાર કરવા યોગ્ય હોવાથી અનત ગુણ સિદ્ધ થાય છે

આ ત્મામા ચેતના, સુખ, વીર્ય, આદિ ગુણોની ભિન્ન—ભિન્ન વિવિધ પર્યાયો એકજ સમયમાં ઉપલબ્ધ થાય છે, પરતુ એકજ સમયમાં એકલા ચેતનાગુણની

जाणेज्जा ' इत्यादि—' सोऽहं ' इत्यन्तं प्रागुव्याख्यात च (आचा० १ अ० १ उ०)। ' अत्थि आया ' (अस्त्यात्मा) इति । ' अत्थि जीवा ' (सन्ति जीवा) इति। 'एगे आया ' (एक आत्मा) (स्था० १ स्था० १ उ०) इति ।

" कइविहा ण भंते ! दव्वा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा- जीवदव्वा य, अजीवदव्वा य " (अनु सू १४१)

इत्यादीन्यनुसन्धेयानि। अन्येऽपि साङ्ख्यादय प्रायश स्वीकुर्वन्त्येव शरीराद्भिन्नतयाऽऽत्मनोऽस्तित्वमिति ।

आत्मनो द्रव्यत्वनिरूपणम्—

अयमात्मा द्रव्यमस्ति, चेतनाद्यनन्तगुणवत्त्वात्, ज्ञानदर्शनलक्षणविविधोपयोगाद्यनन्तपर्यायवत्त्वाच्च । चेतनाद्वारेणात्मा नानारूपोपयोगरूपेण परिणमते।

' से ज पुण जाणेज्जा ' से लेकर ' सोऽहं ' तक पहले व्याख्यान किया जा चुका है। (आचा १ अ १ उ) तथा 'अत्थि आया' 'अत्थि जीवा' 'एगे आया' (स्था १ स्था १ उ) तथा ' कइविहा ण भंते दव्वा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—जीवदव्वा य अजीवदव्वा य, (अनु सू १४१) इत्यादि अनेक आगमवाक्य समझ लेने चाहिए। दूसरे सांख्य वगैरह भी प्राय शरीर से भिन्न आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं।

आत्माका द्रव्यत्वनिरूपण—

आत्मा द्रव्य है, क्यों कि वह चेतना आदि अनन्त गुणों से युक्त है और यह ज्ञानोपयोग तथा दर्शनोपयोग आदि अनन्त पर्यायों वाला भी है। चेतना

जाणेज्जा' थी लईने 'सोऽहं' सुधी पहेला व्याख्यान करी दीधु छे (आचा. १-अ. १-उ) तथा 'अत्थि आया' 'अत्थि जीवा' 'एगे आया' (स्था १ स्था.१ उ) 'कइविहा ण भंते ! दव्वा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—जीवदव्वा य अजीवदव्वा य' (अनु सू. १४१) ईत्यादि अनेक आगम-वाक्य समजी लेवां जोइए बीजा सांख्य शास्त्र वगेरे पण प्राय शरीरथी भिन्न आत्माना अस्तित्वनो स्वीकार करे छे

आत्मानु द्रव्यत्वनिरूपण—

आत्मा द्रव्य छे, केमके ते चेतना आदि अनन्त गुणोथी युक्त छे, अने ते ज्ञानोपयोग तथा दर्शनोपयोग आदि अनन्त पर्यायो वाळो पण छे चेतनाद्वारा आत्मा नाना प्रकारना रूपमा परिणत थाय छे परन्तु चेतना आत्मद्रव्यना रूपमा

चेतना चात्मद्रव्यादात्मगतान्यसुखादिगुणतश्चानपायिनो। तामेवाश्रित्य ज्ञानदर्शनादिविविधोपयोगानां भिन्नभिन्नसमयवर्तिनां त्रैकालिकः प्रवाहो भवति। तस्याश्चेतनाया कार्यरूप पर्यायप्रवाह स्वरूपेणोपयोग एव।

उपयोगात्मकपर्यायप्रवाह इव सुखदु.खवेदनात्मकपर्यायप्रवाहस्तथा प्रवृत्त्यात्मकपर्यायप्रवाहादयोऽनन्तपर्यायप्रवाहा सह-युगपत् प्रवर्तन्ते। अतश्चेतनागुण इवात्मनि आनन्दवीर्यप्रभृत्येकैकगुणस्वीकरणीयतयाऽनन्तगुणा. सिध्यन्ति।

आत्मनि चेतनाऽऽनन्दवीर्यादिगुणाना भिन्नभिन्ना विविधपर्याया एकस्मिन् समये समुपलभ्यन्ते परन्त्वेकस्य चेतनागुणस्य त्रिविधाउपयोगपर्याया

के द्वारा आत्मा नाना प्रकार के उपयोगों के रूप में परिणत होता है किन्तु चेतना, आत्मद्रव्य के रूप में, तथा आत्मा में रहने वाले सुख आदि गुणों के रूप में सदा विद्यमान रहती है—कभी नष्ट नहीं होती, उस के आधार पर ज्ञान दर्शन आदि भिन्न भिन्न समयों में होने वाले अनेक उपयोगों का प्रवाह वहता है। उस चेतना का कार्यरूप पर्याय—प्रवाह स्वरूपसे उपयोग ही है।

उपयोगात्मक पर्याय—प्रवाह के समान सुख—दु खसवेदनरूप पर्याय का प्रवाह है, तथा प्रवृत्त्यात्मक पर्यायप्रवाह आदि अनन्त पर्याय—प्रवाह एक साथ जारी रहते हैं, अत चेतनागुण के समान आत्मा में आनन्द, वीर्य आदि एक एक गुण स्वीकार करने योग्य होने से अनन्त गुण सिद्ध होते हैं।

आत्मा में चेतना सुख वीर्य आदि गुणों की भिन्नर विविध पर्यायें एक ही समय में उपलब्ध होती हैं, किन्तु एक ही समय में अकेले चेतनागुण की विविध

તથા આત્મામા રહેવાવાળા સુખ આદિ ગુણોના રૂપમા હમેશા વિદ્યમાન રહે છે કોઇ વખત પણ નાશ પામતી નથી તેના આધાર પર જ્ઞાન, દર્શન આદિ ભિન્ન ભિન્ન સમયોમા થવાવાળા અનેક ઉપયોગોના પ્રવાહ વહેતો રહે છે તે ચેતનાના કાર્યરૂપ પર્યાયપ્રવાહ સ્વરૂપથી ઉપયોગ જ છે

ઉપયોગાત્મક પર્યાય-પ્રવાહના સમાન સુખ-દુ ખસ વેદનરૂપ પર્યાયનો પ્રવાહ છે તથા પ્રવૃત્ત્યાત્મક પર્યાય-પ્રવાહ આદિ અનત પર્યાયપ્રવાહ એક સાથે જારી રહે છે તેથી ચેતનાગુણ સમાન આત્મામા આનદ વીર્ય આદિ એક-એક ગુણ સ્વીકાર કરવા યોગ્ય હોવાથી અનત ગુણ સિદ્ધ થાય છે

આત્મામા ચેતના, સુખ, વીર્ય, આદિ ગુણોની ભિન્ન-ભિન્ન વિવિધ પર્યાયો એકજ સમયમાં ઉપલબ્ધ થાય છે, પરતુ એકજ સમયમાં એકલા ચેતનાગુણની

एकस्मिन् समये न समुपलभ्यन्ते, तथैकस्यानन्दगुणस्य वा विविधा वेदनपर्याया एकस्मिन् समये नोपलभ्यन्ते ।

प्रत्येकगुणस्यैकस्मिन् समये एक एव पर्याय प्रकटीभवति । यथा-जलावस्थितस्यापि नरस्य शीतोष्णोपयोगौ न युगपद् भवतः । उष्णोपयोगसमये शीतोपयोगो नोपलभ्यते, शीतोपयोगसमये चोष्णोपयोगोपि नैवेति ।

आत्मा नित्य । तस्य चेतनादिगुणा अपि नित्या । परन्तु चेतनाजन्य उपयोगपर्यायो न नित्य, सतु सदैवोत्पादविनाशशालितया व्यक्तिरूपेणानित्य । उपयोगपर्यायप्रवाहस्तु त्रैकालिकतया नित्य इति ।

उपयोगरूप पर्यायें उपलब्ध नहीं होती । उसी प्रकार एक ही समयमें अकेले आनन्दगुणकी भी विविध वेदनरूप पर्यायें उपलब्ध नहीं होती ।

प्रत्येक गुण की एक समय में एक ही पर्याय प्रकट होती है, परन्तु जैसे-जल में स्थित पुरुष के शीत और उष्ण, दोनों उपयोग एक साथ नही होते । उष्णोपयोग के समय शीतोपयोग नही पाया जाता, और शीतोपयोग के समय उष्णोपयोग नही पाया जाता ।

आत्मा नित्य है उसके चेतना आदि गुण भी नित्य हैं, परन्तु चेतना-जन्य उपयोग-पर्याय नित्य नहीं है, वह सदैव उत्पन्न और विनष्ट होती रहती है, अत व्यक्तिरूपसे अनित्य है, उपयोग-पर्याय का प्रवाह त्रिकालवर्ती होनेके कारण नित्य है ।

વિવિધ ઉપયોગરૂપ પર્યાયો ઉપલબ્ધ થતી નથી. એજ પ્રમાણે એક જ સમયમા એકલા આનંદ ગુણની પણ વિવિધ વેદનરૂપ પર્યાયો ઉપલબ્ધ થતી નથી

પ્રત્યેક ગુણની એક સમયમા એકજ પર્યાય પ્રગટ થાય છે, જેમ જલમા ઉભા રહેલા પુરૂષને શીત અને ઉષ્ણ, એ બંને ઉપયોગ એક સાથે થશે નહિ, ઉષ્ણોપયોગના સમયે શીતોપયોગ થશે નહિ અને શીતોપયોગના સમયે ઉષ્ણોપયોગ જણાશે નહી

આત્મા નિત્ય છે, તેના ચેતના આદિ ગુણ પણ નિત્ય છે, પરંતુ ચેતનાજન્ય ઉપયોગ-પર્યાય નિત્ય નથી, તે હંમેશાં ઉત્પન્ન અને નાશ થતી રહે છે, તેથી વ્યક્તિરૂપથી અનિત્ય છે, તો પણ ઉપયોગ-પર્યાયનો પ્રવાહ ત્રિકાલવર્તી હોવાથી નિત્ય છે

अनन्तगुणानामखण्डसमुदाय एव द्रव्यम्, तथाप्यात्मनश्चेतनाऽऽनन्द-चारित्रवीर्यादयो गुणाः परिमिता एव साधारणधियां छद्मस्थानां ज्ञेया भवन्ति, न तु सर्वे गुणाः। इदमत्र कारणम्-विशिष्टज्ञानमन्तरेणात्मनः सर्वे पर्यायप्रवाहा विज्ञातुमशक्या भवन्ति। यो यः पर्यायप्रवाहः साधारणबुद्धया ज्ञातुं शक्यते तत्कारणीभूतानां गुणानां व्यवहारः क्रियते, अतस्ते गुणा व्यवहार्या भवन्ति। यथा-आत्मनश्चेतनाऽऽनन्दचारित्रवीर्यान्यो गुणा व्यवहार्याः सन्ति। शेषास्तु सर्वे केवलिगम्या इति।

त्रैकालिकानामनन्तपर्यायाणामेकैकप्रवाहस्य कारणीभूतकैस्यैकगुणोऽस्ति, तादृशानन्तगुणानां समुदायो द्रव्यम्। एतदपि कथञ्चिद् भेदविवक्षया। अभेद-

अनन्त गुणों का अखण्ड समुदाय ही द्रव्य है फिर भी आत्मा के चेतना सुख, चारित्र, वीर्य आदि गुण साधारणबुद्धि वाले छद्मस्थों के द्वारा परिमित ही जाने जाते हैं, सब गुण नहीं जाने जाते। इस का कारण यह है कि-विशिष्ट ज्ञान के विना आत्मा के समस्त पर्याय-प्रवाहों को जानना अशक्य है। जो जो प्रर्याय-प्रवाह साधारण बुद्धि के द्वारा जाना जा सकता है, उसके कारणभूत गुणों का व्यवहार किया जाता है, अत एव वे गुण व्यवहार्य होते हैं, जैसे-आत्मा के चेतना, सुख, चारित्र, और वीर्य आदि गुण व्यवहार्य होते हैं। शेष सब केवलिगम्य हैं।

तीन काल सम्बन्धी अनन्त पर्यायों के एक-एक प्रवाह का कारण एक-एक गुण है, और ऐसे अनन्त गुणों का समुदाय द्रव्य है। यह कथन क्वचित् भेद-

અનન્ત ગુણોનો અખંડ સમુદાય જ દ્રવ્ય છે, તો પણ આત્માના ચેતના, સુખ ચારિત્ર, વીર્ય આદિ ગુણ સાધારણ બુદ્ધિવાળા છદ્મસ્થોદ્વારા પરિમિત-મર્યાદિત જ જાણવામાં આવે છે, પરંતુ સર્વ ગુણ જાણવામાં આવતા નથી તેનું કારણ એ છે કે-વિશિષ્ટ જ્ઞાન વિના આત્માના સમસ્ત પર્યાય-પ્રવાહોને જાણવા અશક્ય છે જે જે પર્યાય-પ્રવાહ સાધારણ બુદ્ધિવાળા દ્વારા જાણી શકાય છે, તેના કારણભૂત ગુણોનો વ્યવહાર કરવામાં આવે છે, એ કારણથી તે ગુણ વ્યવહાર્ય થાય છે, જેમ આત્માનો ચેતના, સુખ, ચારિત્ર અને વીર્ય આદિ ગુણ વ્યવહાર્ય થાય છે, બાકી સર્વ કેવલિગમ્ય છે

ત્રણ કાલ સંબંધી અનન્ત પર્યાયોના એક-એક પ્રવાહનું કારણ એક-એક ગુણ છે અને એવા અનંત ગુણોનો સમુદાય તે દ્રવ્ય છે આ કથન કથંચિત્

दृष्ट्या तु पर्यायाः स्वस्वकारणीभूतस्य गुणस्य स्वरूपाः, गुणा अपि द्रव्यस्वरूपा इति गुणपर्यायात्मकमेव द्रव्यमित्युच्यते ।

द्रव्येषु सर्वे गुणा एकरूपा न सन्ति । तत्र कतिचन साधारणा अनेकद्रव्यवर्तिनः सर्वद्रव्यवर्तिनश्च । यथा-अस्तित्व-प्रदेशवत्त्व-ज्ञेयत्वादयः सर्वद्रव्यवर्तिनः, निष्क्रियत्वाऽचेतनत्वाऽरूपित्वादयोऽनेकद्रव्यवर्तिनः । कतिचिदसाधारणा गुणा एकद्रव्यमात्रवर्तिनः सन्ति । यथा-आत्मनश्चेतनाऽऽनन्दचारित्रवीर्यादयः । स्वस्वाऽसाधारणगुणानां तज्जन्यपर्यायाणां चापेक्षया प्रत्येकद्रव्यमन्यद्रव्याद् भिन्नमस्तीति बोध्यम् ।

विवक्षा से ही है । अभेद-विवक्षा से तो पर्यायें अपने कारणभूत गुण से अभिन्न हैं और गुण, द्रव्य से अभिन्न हैं, अतः गुणपर्यायरूप ही द्रव्य कहलाता है ।

द्रव्य में सभी गुण एकरूप नहीं हैं । कोई-कोई गुण साधारण हैं, अर्थात् सामान्य रूप से अनेक द्रव्यों में पाये जाते हैं, या समस्त द्रव्यों में पाये जाते हैं । जैसे-अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रदेशवत्त्व, और ज्ञेयत्व, ये गुण समस्त द्रव्यों में पाये जाते हैं ।

निष्क्रियत्व, अचेतनत्व, और अरूपित्व आदि गुण अनेक द्रव्यवर्ती हैं । कोई-कोई गुण असाधारण हैं-सिर्फ एक द्रव्य में रहते हैं, जैसे-आत्मा के चैतन्य, सुख, चारित्र, वीर्य आदि गुण । अपने-अपने असाधारण गुणों और गुणों से उत्पन्न पर्यायों की अपेक्षा प्रत्येक द्रव्य दूसरे द्रव्य से भिन्न है, ऐसा जानना चाहिए ।

ભેદવિવક્ષાથી જ છે અભેદવિવક્ષાથી તો પર્યાયો પોતાના કારણભૂત ગુણથી અભિન્ન છે, અને ગુણ દ્રવ્યથી અભિન્ન છે તેથી ગુણપર્યાયરૂપજ દ્રવ્ય કહેવાય છે

દ્રવ્યમાં સવ ગુણ એકરૂપ નથી, કોઇ કોઈ ગુણ સાધારણ છે, અર્થાત્-સામાન્ય રૂપથી અનેક દ્રવ્યોમાં જોવામા આવે છે અથવા સમસ્ત દ્રવ્યોમા જોવામા આવે છે જેમ-અસ્તિત્વ, વસ્તુત્વ, પ્રદેશવત્ત્વ અને જ્ઞેયત્વ, એ ગુણ સમસ્ત દ્રવ્યોમા જોવામા આવે છે નિષ્ક્રિયત્વ, અચેતનત્વ, અને અરૂપિત્વ આદિ ગુણ અનેક દ્રવ્યવર્તી છે કોઈ કોઇ ગુણ અસાધારણ છે-માત્ર એક દ્રવ્યમાં રહે છે જેવી રીતે આત્માના ચૈતન્ય, સુખ, ચારિત્ર, વીર્ય આદિ ગુણ પોત-પોતાના સાધારણ ગુણો અને ગુણોથી ઉત્પન્ન પર્યાયોની અપેક્ષા પ્રત્યેક દ્રવ્ય બીજા દ્રવ્યથી ભિન્ન છે, એમ સમજવું જોઇએ

आत्मनः स्वरूपम्–

आत्मनः स्वरूप तावदुच्यते–

आत्मा—(१)–जीव' (२)–नित्य' (३)–चेतनावान्, (४)–उपयोगवान्, (५)–परिणामी, (६)–प्रभु', (७)–कर्ता, (८)–साक्षाद्भोक्ता, (९)–स्वशरीर-परिमाण, (१०)–अमूर्त, (११)–प्रतिशरीर भिन्न', (१२)–पौद्गलिककर्मसंयुक्तः, (१३)–ऊर्ध्वगतिशीलश्च ।

तत्राऽऽत्मनो जीवत्वादिस्वरूपं निरूप्यते—

(१) जीवत्वनिरूपणम्—

अयमात्मा निश्चयनयेन सत्ता-चैतन्य-ज्ञानादिरूपैः शुद्धप्राणैः, तथा

आत्मा का स्वरूप–

अब आत्मा का स्वरूप कहते हैं —

आत्मा–(१)–जीव है, (२)–नित्य है, (३)–चेतनावान् है, (४)–उपयोगवान् है, (५)–परिणामी है, (६)–प्रभु है, (७)–कर्ता है, (८)–साक्षात् भोक्ता है, (९)–अपने शरीर के बराबर है, (१०)–अमूर्त है, (११)–प्रत्येक शरीर से भिन्न है, (१२)–पौद्गलिक कर्मों से युक्त है, और (१३)–ऊर्ध्वगमन स्वभाववाला है ।

उन में अब आत्मा के जीवत्वादि स्वरूप का निरूपण करते हैं–

(१) जीवत्व का निरूपण–

आत्मा निश्चयनय से सत्ता चैतन्य और ज्ञान आदिरूप शुद्ध प्राणों से, तथा

આત્માનું સ્વરૂપ—

હવે આત્માનું સ્વરૂપ કહે છે—

આત્મા–(૧) જીવ છે, (૨) નિત્ય છે, (૩) ચેતનાવંત છે, (૪) ઉપયોગવંત છે, (૫) પરિણામી છે, (૬) પ્રભુ છે, (૭) કર્તા છે, (૮) સાક્ષાત્ ભોક્તા છે, (૯) પોતાના શરીર બરાબર છે, (૧૦) અમૂર્ત છે (૧૧) પ્રત્યેક શરીરમાં ભિન્ન ભિન્ન છે (૧૨) પૌદ્ગલિક કર્મોથી યુક્ત છે, અને (૧૩) ઉર્ધ્વગમન સ્વભાવવાળો છે

તેમા આત્માના જીવત્વાદિ સ્વરૂપનું નિરૂપણ કરવામા આવે છે—

(૧) જીવત્વનું નિરૂપણ—

આત્મા નિશ્ચયનયથી સત્તા, ચૈતન્ય અને જ્ઞાન આદિરૂપ શુદ્ધ પ્રાણોથી, તથા

दृष्ट्या तु पर्याया स्वस्वकारणीभूतस्य गुणस्य स्वरूपा, गुणा अपि द्रव्यस्वरूपा इति गुणपर्यायात्मकमेव द्रव्यमित्युच्यते।

द्रव्येषु सर्वे गुणा एकरूपा न सन्ति। तत्र कतिचन साधारणाः अनेकद्रव्यवर्तिनः सर्वद्रव्यवर्तिनश्च। यथा-अस्तित्व-प्रदेशवत्त्व-ज्ञेयत्वादयः सर्वद्रव्यवर्तिनः, निष्क्रियत्वाऽचेतनत्वाऽरूपित्वादयोऽनेकद्रव्यवर्तिनः। कतिचिदसाधारणा गुणा एकद्रव्यमात्रवर्तिनः सन्ति। यथा-आत्मनश्चेतनाऽऽनन्दचारित्रवीर्यादयः। स्वस्वाऽसाधारणगुणानां तज्जन्यपर्यायाणां चापेक्षया प्रत्येकद्रव्यमन्यद्रव्याद् भिन्नमस्तीति बोध्यम्।

विवक्षा से ही है। अभेद-विवक्षा से तो पर्यायें अपने कारणभूत गुण से अभिन्न हैं और गुण, द्रव्य से अभिन्न हैं, अतः गुणपर्यायरूप ही द्रव्य कहलाता है।

द्रव्य में सभी गुण एकरूप नहीं हैं। कोई-कोई गुण साधारण हैं, अर्थात् सामान्य रूप से अनेक द्रव्यों में पाये जाते हैं, या समस्त द्रव्यों में पाये जाते हैं। जैसे-अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रदेशवत्व, और ज्ञेयत्व, ये गुण समस्त द्रव्यों में पाये जाते हैं।

निष्क्रियत्व, अचेतनत्व, और अरूपित्व आदि गुण अनेक द्रव्यवर्ती हैं। कोई-कोई गुण असाधारण हैं-सिर्फ एक द्रव्य में रहते हैं, जैसे-आत्मा के चैतन्य, सुख, चारित्र, वीर्य आदि गुण। अपने-अपने असाधारण गुणों और गुणों से उत्पन्न पर्यायों की अपेक्षा प्रत्येक द्रव्य दूसरे द्रव्य से भिन्न है, ऐसा जानना चाहिए।

ભેદવિવક્ષાથી જ છે અભેદવિવક્ષાથી તો પર્યાયો પોતાના કારણભૂત ગુણથી અભિન્ન છે, અને ગુણ દ્રવ્યથી અભિન્ન છે તેથી ગુણપર્યાયરૂપજ દ્રવ્ય કહેવાય છે

દ્રવ્યમાં સર્વ ગુણ એકરૂપ નથી, કોઇ કોઈ ગુણ સાધારણ છે, અર્થાત્-સામાન્ય રૂપથી અનેક દ્રવ્યોમાં જોવામા આવે છે અથવા સમસ્ત દ્રવ્યોમા જોવામા આવે છે જેમ-અસ્તિત્વ, વસ્તુત્વ, પ્રદેશવત્ત્વ અને જ્ઞેયત્વ, એ ગુણ સમસ્ત દ્રવ્યોમા જોવામા આવે છે નિષ્ક્રિયત્વ, અચેતનત્વ, અને અરૂપિત્વ આદિ ગુણ અનેક દ્રવ્યવર્તી છે કોઈ કોઇ ગુણ અસાધારણ છે-માત્ર એક દ્રવ્યમા રહે છે જેવી રીતે આત્માના ચૈતન્ય, સુખ, ચારિત્ર, વીર્ય આદિ ગુણ. પોત-પોતાના સાધારણ ગુણો અને ગુણોથી ઉત્પન્ન પર્યાયોની અપેક્ષા પ્રત્યેક દ્રવ્ય બીજા દ્રવ્યથી ભિન્ન છે, એમ સમજવું જોઇએ.

दहन-पवन-गगनरूपपञ्चभूतेषु चुल्ल्युपरि मिलितेषु चेतनालक्षण आत्मा कथं नोपलभ्यते ? ।

यद्वा-मृतशरीरे पञ्चभूतसद्भावेऽपि चेतनालक्षण आत्मा नोपलभ्यते । अतोऽयमात्मा जडरूपपाञ्चभौतिकदेहाद् भिन्नो निश्चीयते ।

अपरञ्च-आत्मनो देहरूपत्वस्वीकारे कृतनाशोऽकृताभ्यागमश्चापद्येत । कृतस्य कर्मण फलप्राप्तिं विनैव नाश स्यात्, अकृतस्य कर्मण' फलप्राप्तिश्च । अकर्तुः फलप्राप्तिः, कर्तुश्च नेति द्वयमयुक्तम् । तस्मात्-आत्मा देहाद् भिन्नो जन्मान्तरसङ्क्रान्तोऽपीति निश्चयम् ।

होता है तो चेतनारूप आत्मा क्यों नहीं पैदा हो जाता ?, वहीं पाचों भूतों का संयोग विद्यमान है और उसीसे आत्मा की उत्पत्ति मानते हो ?

अथवा—मृत शरीर में पांचों भूतों का सद्भाव होने पर भी चेतनस्वरूप आत्मा क्यों उपलब्ध नहीं होता ?, इस से निश्चित होता है कि आत्मा जडरूप पाच भूतों से भिन्न है और नित्य है ।

और भी आत्मा को देहरूप स्वीकार करने से कृतनाश और अकृताभ्यागम दोष की प्राप्ति होगी । किए हुए कर्म, फल दिए विना ही नाश हो जायगा, और अकृत कर्म के फल को भोगना पडेगा । कर्म न करने वाला फल भोगे और करने वाला फल से बच जाय, यह दोनों बातें अनुचित है, अत अब यह निश्चय कर लेना चाहिए कि—आत्मा शरीर से भिन्न है और जन्मान्तर में गमन करता है ।

ચેતનારૂપ આત્મા કેમ પેદા થતો નથી?, અહિં પાચ ભૂતોનો સંયોગ વિદ્યમાન છે અને તેમાથી તમે (નાસ્તિકો) આત્માની ઉત્પત્તિ માનો છો ?

અથવા—મૃત્યુ પામેલા શરીરમા પાચ ભૂતોનો સદ્ભાવ હોવા છતાય ચેતનસ્વરૂપ આત્મા કેમ ઉપલબ્ધ થતો નથી?, એ કારણથી નિશ્ચય થાય છે કે—આત્મા જડ સ્વરૂપ પાચભૂતોથી ભિન્ન છે અને નિત્ય છે

અને બીજુ એ પણ છે કે—આત્માને દેહરૂપ સ્વીકાર કરવાથી કૃતનાશ અને અકૃતાભ્યાગમ દોષની પ્રાપ્તિ થશે, કરેલા કર્મ, ફળ આપ્યા વિના જ નાશ થઈ જશે. અને અકૃત—નહિ કરેલા કર્મનુ ફળ ભોગવવુ પડશે. કર્મ નહિ કરવાવાળાને કર્મનુ ફળ ભોગવવુ પડે, અને કર્મ કરનાર ફળ ભોગવવામાથી બચી જાય. આ બન્ને વાત અનુચિત છે એ કારણે એ નિશ્ચય કરી લેવો જોઈએ કે આત્મા શરીરથી ભિન્ન છે, અને જન્માન્તર ગમન કરે છે

व्यवहारनयतो यथासंभवं क्षायोपशमिकैरिन्द्रियादिद्रव्यप्राणैश्च जीवति, जीविष्यति, जीवितवांश्चेत्यतोऽयमात्मा 'जीवः' इत्युच्यते।

"अयमात्मा न देहादन्य, नापि जन्मान्तरसङ्क्रान्त" इति नास्तिकमतं निराकर्तुमुक्तम्-'अयमात्मा जीव' इति। पूर्वभवसंस्कारं विना कथमिह प्रसूत एव बालो मातु' स्तन्यपाने प्रवर्तते। प्रवृत्ति प्रति स्वकृतिसाध्यत्वस्येष्टसाधनताज्ञानस्य च कारणतया बालस्य तज्ज्ञानजनकपूर्वभवीयसंस्कारोऽस्तीति विज्ञायते। तस्मादात्मनः पूर्वभवसम्बन्धोऽवधार्यते। तेन च देहभिन्नत्वमपि ज्ञायते।

अयमात्मा यदि पाञ्चभौतिकदेहरूपः स्यात्, तर्हि मृन्मयभाण्ड-सलिल-

---

व्यवहारनय से यथासंभव क्षयोपशम-जन्य इन्द्रियादि द्रव्यप्राणों से जीवित है, जीवित रहेगा और जीवित था, इस कारण आत्मा 'जीव' कहलाता है।

"आत्मा शरीर से भिन्न नहीं है और न एक जन्म से दूसरे जन्म में जाता है" नास्तिकों के इस मत का निराकरण करने के लिए कहा गया है कि-"आत्मा जीव है"। पूर्वभव के संस्कार के बिना इस भव में तत्काल जन्मा हुआ शिशु माता के स्तन-पान में कैसे प्रवृत्त हो सकता है?, शिशु की इस प्रवृत्ति से सिद्ध होता है कि उस में पूर्व भव का संस्कार विद्यमान है। इस से निश्चित हो जाता है कि-आत्मा पूर्व भव में भी था, और इस कारण वह शरीर से भिन्न भी मालूम होता है।

पांच भूतों से बना हुआ शरीर ही यदि आत्मा है तो मिट्टी का पात्र, पानी, पावक-(अग्नि), पवन और आकाश रूप पांचों भूतों का चूल्हे के ऊपर जब संयोग

વ્યવહારનયથી યથાસંભવ ક્ષયોપશમજન્ય ઇન્દ્રિયાદિ દ્રવ્યપ્રાણોથી જીવિત છે, જીવિત રહેશે અને જીવિત હતો, તેથી આત્મા 'જીવ' કહેવાય છે "**આત્મા શરીરથી ભિન્ન નથી, અને એક જન્મથી બીજા જન્મમા જતો નથી**" નાસ્તિકોનો એ પ્રમાણે જે મત છે, તેનુ નિરાકરણ કરવા માટે કહ્યુ છે કે "**આત્મા જીવ છે**" પૂર્વ ભવના સસ્કાર વિના આ ભવમા તત્કાલ જન્મ પામેલુ બાળક માતાના સ્તનપાનમા (ધાવવામાં) પ્રવૃત્તિ કેવી રીતે કરી શકે છે?, બાળકની આ પ્રવૃત્તિથી સિદ્ધ થાય છે કે-તેનામાં પૂર્વ ભવના સસ્કાર વિદ્યમાન છે આ કારણથી નિશ્ચય થાય છે કે આત્મા પૂર્વભવમા પણ હતો, અને તે કારણથી આત્મા શરીરથી ભિન્ન માલૂમ પડે છે

પાંચ ભૂતોથી બનેલુ શરીર જ જો આત્મા છે તો માટીનુ પાત્ર, પાણી, અગ્નિ, આકાશ, પવન વગેરે પાચ ભૂતોનો ચુલા ઉપર જ્યારે સયોગ થાય છે, તો તે વખતે

यथा-जातिस्मरणशक्त्या मृगापुत्रवत् सयमी पूर्वभव स्मरति, व्याध्यादिकारणेन नष्टदृष्टि पूर्वानुभूत रक्तपीतादिवर्णं, नष्टश्रवणश्च शब्द स्मरति। यथा गेहगवाक्षै पूर्वदृष्टस्य पूर्वश्रुतस्यान्यत्रानुस्मर्ता देवदत्त ।

(२) नित्यत्वनिरूपणम्—

अयमात्मा नित्यत्वादमूर्त इति विज्ञायते। अमूर्तत्वाच्च देहादन्य इति निश्चीयते। तथाहि-आत्माऽनुत्पत्तो सत्यामविनाशी, तथा सर्वकालावस्थायी। तथा—आत्मा क्षणापेक्षयापि न निरन्वयनाशवान्, वस्तुत्वे सति उत्पत्तेरभावात्,

ज्ञान से मृगापुत्र को पूर्व भव का स्मरण हुआ था। कोई-कोई सयमी अपने पूर्वभव का स्मरण करता है। रोग आदि किसी कारण से जिस की दृष्टि नष्ट हो गई है, वह पुरुष पहले अनुभव किए हुए लाल पीले आदि रगों को स्मरण करता है, और जिसके कान नष्ट हो गये हैं वह शब्द का स्मरण करता है। किसी घर की खिडकियों के द्वारा पहले देखे हुए पदार्थों का या सुने हुए शब्दों का देवदत्त को अन्यत्र स्मरण होता है, अत एव देवदत्त खिडकियों से भिन्न है। उसी प्रकार आत्मा, इन्द्रियों से भिन्न है।

(२) आत्माकी नित्यता—

आत्मा नित्य होने के कारण अमूर्त प्रतीत होता है और अमूर्त होने के कारण देह से भिन्न है। वह इस प्रकार—आत्मा उत्पत्तिरहित और अविनाशी है, तथा सर्वकाल में स्थायी है, तथा आत्मा क्षण की अपेक्षा भी निरन्वय (समूल) नाशवान् नहीं है, क्यों कि वस्तु होने पर भी उस की उत्पत्ति नहीं होती, जैसे आकाश।

જ્ઞાનથી મૃગાપુત્રને પૂર્વભવનું સ્મરણ થયું હતું કોઇ કોઇ સયમીને પોતાના પૂર્વ ભવનું સ્મરણ થાય છે રોગ આદિ કોઈ કારણથી જેની દૃષ્ટિ (નેત્રથી જોવાની શક્તિ) નાશ પામી ગઇ છે તે પુરૂષ પ્રથમ અનુભવેલા લાલ, પીળા આદિ રગોનું સ્મરણ કરે છે અને જેના કાન નષ્ટ થઇ ગયા હોય-(સાભળવાની શકિત નાશ પામી હોય) તે શબ્દનું સ્મરણ કરે છે કોઇ ઘરની ખડકીઓ દ્વારા પ્રથમ જોયેલા પદાર્થોનું અથવા તો સાંભળેલા શબ્દનું દેવદત્તને અન્યત્ર-બીજા સ્થળે સ્મરણ થાય છે એ કારણથી દેવદત્ત ખડકીઓથી ભિન્ન છે તે પ્રમાણે આત્મા ઇન્દ્રિયોથી ભિન્ન છે

(૨) આત્માની નિત્યતા—

આત્મા નિત્ય હોવાના કારણે અમૂર્ત્ત જણાય છે અને અમૂર્ત્ત હોવાના કારણે, દેહથી ભિન્ન છે તે આ પ્રમાણે-આત્મા ઉત્પત્તિરહિત અને અવિનાશી છે, તથા સર્વ કાલમા સ્થાયી છે, અને ક્ષણની અપેક્ષા પણ નિરન્વય (સમૂળ) નાશવાન્ નથી,

आत्मा देहे कदाचित्तिष्ठति, कदाचिन्न तिष्ठति, अत तस्याभावस्तत्र नियतो नास्ति। तस्माद् देहादन्य इति मन्तव्यम्। एवमनुमानप्रयोग:—

आत्मा–देहादन्य, तद्भावेऽपि तत्र तस्यानियमेनाभावात्, उपाश्रयगतसाधु-श्रावकवत्। ननु देहे जीवस्य गमनागमने न दृश्यते, तथा च जीवस्य देहे सदा सद्भावसत्त्वेनाभावरूपो हेतुरप्रसिद्ध इति चेन्न, मृतशरीरे तस्यादर्शनात्।

यद्वा—आत्मा देहेन्द्रियभिन्न तद्विगमेऽपि तदुपलब्धार्थानुस्मरणात्।

आत्मा शरीर में कभी रहता है, कभी नहीं रहता, अत उसका अभाव वहाँ नियत नहीं है। अत एव मानना चाहिए कि—आत्मा देह से भिन्न है। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिए —

आत्मा शरीर से भिन्न है, क्यों कि देह के होने पर भी आत्मा वहाँ नियम से नहीं रहता, उपाश्रय में स्थित साधु श्रावक के समान।

शंका—शरीर में जीव का गमन और आगमन दिखाई नहीं देता अत वह देह में सदैव विद्यमान रहता है। ऐसी अवस्था में आप का यह अभाव सिद्ध करने वाला हेतु असिद्ध है।

समाधान—ऐसा कहना समीचीन नहीं है, क्यों कि मृत शरीर में आत्मा मालूम नहीं होता।

अथवा—आत्मा देह और इन्द्रियों से भिन्न है, क्यों कि उनके नष्ट हो जाने पर भी उनके द्वारा जाने हुए पदार्थ का स्मरण होता है। जैसे जातिस्मरण

આત્મા શરીરમા કોઈ વખત રહે છે, કોઈ વખત નથી રહેતો તેથી તેનો અભાવ ત્યા ચોક્કસ રૂપથી નથી. તેથી માનવુ જોઇએ કે–આત્મા દેહથી ભિન્ન છે અનુમાનનો પ્રયોગ આ પ્રમાણે કરવો જોઇએ.—

આત્મા શરીરથી ભિન્ન છે, કેમકે દેહ હોવા છતાય આત્મા ત્યા નિયમથી રહેતો નથી, ઉપાશ્રયમાં રહેલા સાધુ શ્રાવક પ્રમાણે

શંકા—શરીરમાં જીવનુ ગમન–જવુ, અને આગમન–આવવુ તે નજરે જોવામા આવતુ નથી, તેથી તે દેહમાં સદૈવ વિધમાન રહે છે એવી અવસ્થામા આપનો એ અભાવ સિદ્ધ કરવાનો હેતુ અસિદ્ધ છે એમ કહેવુ તે બરાબર નથી, કેમકે મૃત શરીરમાં આત્મા માલૂમ પડતો નથી.

અથવા–આત્મા દેહ અને ઇન્દ્રિયોથી ભિન્ન છે, કારણ કે–તેનો નાશ થયા પછી પણ તેના દ્વારા જાણવામાં આવેલા પદાર્થનુ સ્મરણ થાય છે જેમ જાતિસ્મરણ

त्वामूर्चत्वयोरात्मन्येकान्ततोऽनङ्गीकारात् ।

यद्वा-आत्मा नित्य' ससारात्, त्रिकालविषयकक्रियापर्यालोचकत्वात्, 'स एप' इति मत्यभिज्ञावत्त्वात् । अनेन हेतुत्रयेण क्षणिकवादो निरस्त' ।

यत्तु–आत्मा-एकान्तनित्य 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि' इत्यादिवचनमामाण्यात्, 'स एप अक्षयोऽज'' इत्यादिश्रुतिमामाण्याच्च, इति, तन्न युक्तम्, आत्मन एकस्वभावत्वे संसरणादिव्यवहारोच्छेदापत्ति स्यात् तस्मात् कथञ्चिन्नित्य कथञ्चिदनित्य इति

में व्यभिचार की आशङ्का नही करना, क्यों कि आत्मा में नित्यत्व और अमूर्तत्व एकान्त रूप से नही माना गया है ।

अथवा—आत्मा नित्य है, क्यों कि वह एक गति से दूसरी गति में जाता है, क्यों कि वह त्रिकालविषयक क्रियाका आलोचक है, और वह प्रत्यभिज्ञान (यह वही है इस प्रकार का जोडरूप ज्ञान) वाला है । इन तीन हेतुओं से क्षणिकवादका निराकरण हो गया ।

'नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि' इत्यादि वचन से और 'स एप अक्षयोऽज'' इत्यादि श्रुति के प्रमाण से आत्मा एकान्त नित्य सिद्ध होता है । ऐसा कहना भी युक्त नही है, क्यों कि आत्मा को एकात नित्य स्वभाव वाला मानन स ससरण (एक जन्म स दूसर जन्म म जाना) आदि व्यवहारों का नाश हो जायगा । अत एव कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य आत्मा स्वीकार करना चाहिए ।

વ્યભિચારની આશકા કરવી નહિ કારણ કે આત્મામા નિત્યત્વ અને અમૂર્તત્વ એકાન્તરૂપથી માનવામા આવ્યુ નથી.

અથવા—આત્મા નિત્ય છે, કારણ કે તે એક ગતિથી બીજી ગતિમાં જાય છે, કારણ કે-તે ત્રિકાળવિષયક ક્રિયાનો આલોચક (વિચાર કરનાર) છે, અને તે પ્રત્યભિજ્ઞાન ('આ તેજ છે' એ પ્રકારનુ જોડરૂપ જ્ઞાન) વાળો છે આ ત્રણ હેતુઓ વડે કરી ક્ષણિકવાદનુ નિરાકરણ થઈ ગયુ છે

"नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि" ઇત્યાદિ વચનથી અને 'स एप अक्षयोऽज' ઇત્યાદિ શ્રુતિના પ્રમાણથી આત્મા એકાન્ત નિત્ય સિદ્ધ થાય છે એમ કહેવુ તે પણ યુક્ત નથી, કારણ કે આત્માને એકાન્ત નિત્ય સ્વભાવ વાળો માનવાથી સસરણ (એક જન્મથી બીજા જન્મમા જવુ તે) આદિ વ્યવહારોનો નાશ થઇ જશે, એ કારણથી કથંચિત્ નિત્ય અને કથંચિત અનિત્ય આત્મા છે એ પ્રમાણે સ્વીકાર કરવો જોઇએ.

यथा गगनम्। अनुत्पत्तौ सत्यामविनाशित्वेन, तथा सर्वकालावस्थायित्वेन, तथा क्षणापेक्षयाऽपि निरन्वयनाशाभाववत्त्वेन चात्मनो नित्यत्वं सिध्यति। देहात्मवादिना परिमितकालावस्थायित्वमात्मनो मन्यते, तथा क्षणिकवादिनापि निरन्वयक्षणिकपरिणामप्रवाहस्य नित्यत्वं स्वीक्रियते। तौ चैवंविधनित्यत्वसाधनेन निराकृतौ। शशशृङ्गादावपि जन्माभावसत्त्वेन हेतौ साध्यव्याप्तिर्न स्यादतो वस्तुत्वे सतीत्युक्तम्।

न चामूर्त्तत्वस्य परमाणौ व्यभिचार आशङ्कनीय, आर्हतमते नित्य-

उत्पत्तिरहित और अविनाशी होने के कारण, तथा सर्वकाल में विद्यमान रहने के कारण और क्षण की अपेक्षा भी समूल नाशवान् न होने के कारण आत्मा की नित्यता सिद्ध होती है। देह को ही आत्मा मानने वाला कहता है कि—आत्मा परिमित काल तक ठहरता है। तथा क्षणिकवादी भी निरन्वय क्षणिक परिणाम—प्रवाह को नित्य मानता है। इस प्रकार आत्मा की नित्यता सिद्ध करके इन दोनों के मत का निराकरण किया गया है। प्रस्तुत हेतु में 'वस्तु होते हुए भी' यह विशेषण इस लिये लगाया है कि शश—विषाण आदि से व्यभिचार (हेतु हो और साध्य न हो) न हो, क्यों कि उत्पत्ति का अभाव तो उन में भी है किन्तु वस्तुत्व उन में नहीं है।

अमूर्तत्व, परमाणु में नहीं है और वहाँ नित्यत्व हेतु है, इस लिये परमाणु

કેમકે વસ્તુ છતાંય તેની ઉત્પત્તિ નથી હોતી, જેમકે આકાશ ઉત્પત્તિરહિત અને અવિનાશી હોવાના કારણે, તથા સર્વકાલમા વિદ્યમાન રહેવાના કારણે, અને ક્ષણની અપેક્ષાએ પણ સમૂળગો નાશવાન નહિ હોવાના કારણે આત્માની નિત્યતા સિદ્ધ થાય છે દેહને જ આત્મા માનવાવાળા કહે છે કે—આત્મા પરિમિત કાલ સુધી રહે છે, તથા ક્ષણિકવાદી પણ નિરન્વય ક્ષણિક—પરિણામપ્રવાહને નિત્ય માને છે આ પ્રમાણે આત્માની નિત્યતા સિદ્ધ કરીને એ બન્ને (દેહવાદી અને ક્ષણિકવાદી)ના મતનુ નિરાકરણ કર્યું છે પ્રસ્તુત હેતુમાં "વસ્તુ હોવા છતાંય પણ" એ વિશેષણ એ કારણથી આપ્યુ છે કે—શશ—વિષાણ—(સસલાના શિંગડાં) આદિથી વ્યભિચાર (હેતુ હોય અને સાધ્ય ન હોય) ન થાય, કારણ કે ઉત્પત્તિનો અભાવ તો તેમા પણ છે, પરંતુ વસ્તુત્વ તેમાં નથી.

અમૂર્તત્વ, પરમાણુમાં નથી, અને ત્યાં નિત્યત્વ હેતુ છે, એ કારણથી પરમાણુમા

यद्वा-आत्मा नित्य' स्वकारणविभागाभावाद् आकाशवत्। आकाशस्य कारणाभावादेव कारणविभागो नास्ति। यस्तु न नित्य, स न स्वकारणविभागाभाववान्, यथा पट'। दृश्यते हि पटस्तन्तूनां विभागो भवतीति।

किञ्च-आत्मा नित्य कारणविनाशाभावाद् आकाशवदेव। कारणाभावादेव हि कारणस्य विनाशाभाव., यथा गगनमेव। यो न नित्य., स न कारणविनाशाभाववान् अर्थात् कारणविनाशवानेव, यथा पटः। दृश्यते हि पटकारणीभूतस्य तन्तोर्विनाशो भवतीति। अयं चात्मा स्वकारणाभावेन कारणविनाशाभाववान्, तस्मान्नित्य इति। नित्यत्वादयममूर्त, अमूर्तत्वाच्च शरीराद् भिन्न इति निश्चीयते।

अथवा—आत्मा नित्य है, क्यों कि उस के कारणों का विभाग नहीं है, जैसे आकाश। आकाश के कारणों का अभाव है, इसी कारण उसके कारणों का विभाग भी नहीं है। जो नित्य नही है, वह अपने कारणो के विभाग का अभाव वाला भी नहीं होता जैसे–पट। पट से तन्तुओं का विभाग होता दिखाई देता है।

और भी–आत्मा नित्य है, क्यों कि उसके कारणों के विनाश का अभाव है, जैसे–आकाश। कारणों का अभाव होने से ही कारणों के विनाश का अभाव है जैसे आकाश। जो नित्य नहीं होता वह कारण–विनाशाभाव वाला भी नही होता, जैसे पट, देखा जाता है कि–पट के कारणभूत तन्तुओं का नाश हो जाता है। आत्मा के जनक कारणों का अभाव है अत यह कारणों के विनाशका अभाव वाला है, अर्थात् आत्मा के कारण ही नहीं हैं तो उसके कारणों का अभाव क्या होगा '

અથવા—આત્મા નિત્ય છે, કેમકે તેના કારણોનો વિભાગ નથી, જેમ આકાશ. આકાશને કારણોનો અભાવ છે તેથી જ તેના કારણોનો વિભાગ પણ નથી. જે નિત્ય નથી તે પોતાના કારણોના વિભાગના અભાવવાળો પણ નહિ થાય, જેમ પટ પટથી તતુઓનો વિભાગ થતો જોવામા આવે છે

ફરી પણ-આત્મા નિત્ય છે કારણ કે તેના કારણોના વિનાશનો અભાવ છે, જેમ આકાશ. કારણોનો અભાવ હોવાથી જ કારણોના વિનાશનો અભાવ છે જેમ આકાશ જે નિત્ય નથી તે કારણવિનાશઅભાવવાળુ પણ નથી, જેમ પટ જોવામાં આવે છે કે-પટના કારણભૂત તતુઓનો નાશ થાય છે પણ આત્માના જનક કારણોનો અભાવ છે, તેથી તે કારણોના વિનાશનો અભાવવાળો છે, અર્થાત આત્માને

स्वीकर्तव्यम्। द्रव्यार्थिकनयेन नित्यः, पर्यायार्थिकनयेन–अनित्य इति। एवमनङ्गीकारे हि 'संसारा'–दित्याद्युक्तहेतूनामसंगतिः स्यात्। अपरञ्च एकस्वभावत्वस्वीकारे स्वभावान्तरानापत्त्या वर्तमानकालिकभावातिरिक्तं भावान्तरं न लब्धुमर्हेत्। एवमनित्यत्वामूर्तत्वयोरपि स्याद्वाद आलम्बनीयः, अन्यथा व्यवहारोच्छेद प्रसङ्गः स्यात्, एकान्तामूर्तस्य, तथैकान्ततो देहभिन्नस्य घातविघातादिप्रसङ्गाभावे सति हिंसादिनिवृत्तिदेशनादिपरकचरणकरणादिबोधकसकलशास्त्रानर्थक्यं, तथाऽऽत्मनः संसारगर्तादनुद्धारश्च स्यात्।

आत्मा द्रव्यार्थिकनय से नित्य है और पर्यायार्थिकनय से अनित्य है। ऐसा स्वीकार न करने पर 'संसरण करने से' इत्यादि पूर्वोक्त हेतु असङ्गत हो जायेंगे। एक स्वभाव वाला आत्मा स्वीकार किया जाय तो उस में दूसरे स्वभाव की उत्पत्ति नहीं होगी, और वर्तमानकालीन भाव के अतिरिक्त दूसरा भाव कभी प्राप्त नहीं होगा। इसी प्रकार अनित्यत्व और अमूर्तत्व के विषय में भी स्याद्वादका ही आश्रय लेना चाहिए, अन्यथा व्यवहार के अभाव का प्रसङ्ग आएगा। आत्मा को एकान्त अमूर्त मानने से, तथा देह से एकान्त भिन्न मानने से उस का घात होना असंभव है, और इस दिशा में हिंसा आदि से निवृत्त होने का उपदेश देने वाले चरण–करण आदि के बोधक सब शास्त्र व्यर्थ हो जाएँगे। इस के अतिरिक्त आत्मा का संसाररूपी खड्डे से कभी उद्धार भी नहीं होगा।

આત્મા દ્રવ્યાર્થિક નયથી નિત્ય છે, અને પર્યાયાર્થિક નયથી અનિત્ય છે એ પ્રમાણે સ્વીકાર નહિ કરવાથી 'સંસરણ કરવાથી' ઈત્યાદિ પૂર્વોક્ત હેતુ અસંગત થઈ જશે એક સ્વભાવવાળો આત્મા સ્વીકાર કરવામાં આવશે તો તેમાં બીજા સ્વભાવની ઉત્પત્તિ નહિ થાય, અને વર્તમાનકાલીન ભાવ વિના બીજો ભાવ કોઈ પણ વખત પ્રાપ્ત નહિ થાય, એ પ્રમાણે અનિત્યત્વ અમૂર્તત્વના વિષયમાં પણ સ્યાદ્વાદનો જ આશ્રય લેવો જોઈએ અન્યથા વ્યવહારના અભાવનો પ્રસંગ આવશે. આત્માને એકાન્ત અમૂર્ત માનવાથી તથા દેહથી એકાન્ત ભિન્ન માનવાથી તેનો ઘાત થવો અસંભવ છે, અને એ દશામાં હિંસા આદિથી નિવૃત્ત થવાનો ઉપદેશ દેવાવાળા ચરણ–કરણ આદિના બોધક તમામ શાસ્ત્રો વ્યર્થ થઈ જશે તે સિવાય આત્માનો સંસારરૂપી ખાડાથી કોઈ વખત પણ ઉદ્ધાર નહિ થાય

समालम्बने तु सुखदुःखादयः सर्वे आत्मनोऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावतयाऽन्यथात्वरूपपरिणामासम्भवान्नोपपद्येरन्, नारकत्वादिभावो यस्य यादृशो विद्यते, तदन्यरूपता नास्य संपद्येत।

भावतोऽप्रसन्नस्यात्मनः पूर्वरूपापरित्यागे सति पुनः प्रसन्नरूपताया असम्भवः स्यात्। दृश्यते पुनरप्रसन्नस्य कदाचित् प्रसन्नताऽपि, सा नोपपद्येत। तस्मादेकान्तवादः परित्यज्यानेकान्तवादः समालम्बनीयः।

(३) चेतनावत्त्वनिरूपणम्—

अयमात्मा निश्चयनयेन शुद्धचेतनासहितः, व्यवहारनयेन च कर्मादि

स्वीकार करने पर आत्मा अप्रच्युत, अनुत्पन्न और स्थिर एकरूप तथा एक स्वभाव वाला होने के कारण, और उसमें रूपान्तर होना असम्भव होने से सुख दुःखादि नहीं होंगे, अतः विभिन्न अवस्थाएँ भी नहीं हो सकेंगी, फिर जो आत्मा नारकत्वादि जिस रूप में है वह सर्वदा उसी रूप में रहेगी—एक भव से दूसरे भव में नहीं जा सकेगी। जो आत्मा अप्रसन्न है, मगर अप्रसन्न का भी कभी प्रसन्न होना दिखाई देता है, फिर ऐसा न हो सकेगा। अत एव एकान्तवाद का त्याग करके अनेकान्तवाद का आश्रय लेना चाहिए।

(३) चेतनावत्त्व—

यह आत्मा निश्चयनय से शुद्ध चेतना से युक्त है और व्यवहारनय से

સ્વીકાર કરવાથી આત્મા અપ્રચ્યુત, અનુત્પન્ન અને સ્થિર એકરૂપ તથા એક સ્વભાવ વાળા હોવાના કારણે તેમા રૂપાન્તર થવું અસંભવિત હોવાથી સુખ-દુઃખાદિ નહિ હોય. તે કારણથી વિભિન્ન અવસ્થાઓ પણ થઈ શકશે નહિ ફરી જે આત્મા નારકત્વાદિ જે રૂપમાં છે, તે સર્વદા તે રૂપમા જ રહેશે. એટલે એક ભવમાંથી બીજા ભવમા જઈ શકશે નહિ. વળી જે આત્મા અપ્રસન્ન છે તે પોતાના પૂર્વરૂપનો પરિત્યાગ ન કરે તો તેને ફરી પ્રસન્નતામા આવવું તે અસંભવ છે, પરન્તુ અપ્રસન્ન પણ કોઇ વખત પ્રસન્ન હોય એમ દેખાય છે; ફરી એમ નહિ થઈ શકશે. એ કારણથી એકાન્તવાદનો ત્યાગ કરીને અનેકાન્તવાદનો આશ્રય લેવો જોઈએ.

(૩) ચેતનાવત્ત્વ—

આ આત્મા નિશ્ચયનયથી શુદ્ધ ચેતનાથી યુક્ત છે અને વ્યવહારનયથી 'આત્માને

परन्त्वेकान्तनित्यत्वे, एकस्यात्मनो नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवगतिपरिणामा नोपपद्येरन्। एकान्तक्षणिकत्वेऽपि स्वाध्यायाध्ययनध्यानादिपरिश्रमस्याभिज्ञानं नोपपद्येत। तस्मादात्मा कथञ्चिन्नित्यः, कथञ्चिदनित्यः, इत्यवश्यं स्वीकरणीयम्।

यत्तु–"द्रव्यक्षेत्रकालभावैरेकान्तेनैव नित्य, अविचलितस्वभाव आत्मे"–ति वदन्ति तत्सर्वमयुक्तम्। तथा सति सुखदुःखसंसारमोक्षाणामनुपपत्तिरापद्येत। तत्र हि आह्लादानुभवरूपं क्षणं सुखं, तापानुभवरूपं दुःखम्, तिर्यङ्मनुष्यनारकदेवभवसंसरणरूपः संसारः, अष्टविधकर्मबन्धवियोगो मोक्षः। एकान्तवाद

इस लिए आत्मा नित्य है। आत्मा नित्य होने के कारण अमूर्त है, और अमूर्त होने के कारण शरीर से भिन्न है।

किन्तु आत्मा को एकान्त नित्य मानने पर एक ही आत्मा नरक तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगतिरूप नाना पर्यायों को प्राप्त नहीं होगा। और एकान्त क्षणिक मानने पर भी स्वाध्याय, अध्ययन, ध्यान आदि का परिश्रम वृथा हो जायगा, और प्रत्यभिज्ञान का अभाव हो जायगा। अत एव आत्मा कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है, ऐसा अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

जो लोग द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से आत्मा को एकान्त नित्य अविचल स्वभाव वाला मानते हैं, वह सब अयुक्त है। ऐसा मानने से सुख, दुःख, संसार और मोक्ष नहीं बन सकते। आह्लाद का अनुभव करनारूप क्षण सुख कहलाता है। संताप का अनुभव करना दुःख है। तिर्यञ्च, मनुष्य, नारक और देव भव में आना संसार है। आठ प्रकार के कर्मबन्ध का वियोग होना मोक्ष है। एकान्तवाद

કારણ જ નથી તો પછી તેના કારણોનો અભાવ શું થશે? એ કારણથી આત્મા નિત્ય છે આત્મા નિત્ય હોવાના કારણે અમૂર્ત છે અને અમૂર્ત હોવાના કારણે શરીરથી ભિન્ન છે

પરંતુ આત્માને એકાન્ત નિત્ય માનવાથી એક જ આત્મા નરક, તિર્યંચ, મનુષ્ય અને દેવગતિરૂપ નાના પર્યાયોને પ્રાપ્ત નહિ થાય, અને એકાન્ત ક્ષણિક માનવાથી પણ સ્વાધ્યાય, અધ્યયન, ધ્યાન આદિનો પરિશ્રમ વૃથા થઈ જશે, અને પ્રત્યભિજ્ઞાનનો અભાવ થઈ જશે, એ કારણથી આત્મા કથંચિત્ નિત્ય અને કથંચિત્ અનિત્ય છે એ પ્રમાણે જરૂર સ્વીકારવું જોઈએ.

જે માણસો દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાલ અને ભાવથી આત્માને એકાન્ત નિત્ય, અવિચલ સ્વભાવ વાળો માને છે, તે સર્વ અયુક્ત છે એ પ્રમાણે માનવાથી સુખ, દુઃખ સંસાર અને મોક્ષ બની શકશે નહિ આહ્લાદનો અનુભવ કરવારૂપ ક્ષણ સુખ કહેવાય છે સંતાપનો અનુભવ કરવો તે દુઃખ છે તિર્યંચ, મનુષ્ય, નારકી અને દેવભવમાં જવું તે સંસાર છે આઠ પ્રકારના કર્મ બંધનો વિયોગ થવો તે મોક્ષ છે એકાન્તવાદ

अयमात्मा ज्ञानदर्शनोपयोगाभ्यां न भिन्न इति बोधयितुमुपयोगवानिति, इदं च ज्ञानात्मनोरेकान्तभेद इति नैयायिकमतं निराकर्तुमुक्तम्। सर्वज्ञसिद्धान्ते तु द्रव्य वस्तुतो गुणपर्यायेभ्यो न भिन्नम्, अत. कथञ्चिद्भेदविवक्षयाऽऽश्रयिभाव परिकल्प्य-उपयोगवानिति निगदितम्।

उपयोगो द्विधा-ज्ञानदर्शनभेदात्। सविकल्प उपयोग एव ज्ञानोपयोग',। निर्विकल्प उपयोगो दर्शनोपयोग'। तत्र ज्ञानोपयोगोऽष्टविध.-मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलानि पञ्च सम्यग्ज्ञानानि, मति-श्रुत-विभग-भेदेन त्रीण्यज्ञानानि चेति। अज्ञानान्यपि ज्ञानरूपतया ज्ञानवर्गे निक्षिप्तानि। अत्रैकमेव केवलज्ञानं क्षायिकं सर्वा-

'आत्मा ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग से भिन्न नहीं है' यह बतलाने के लिए उसे उपयोगवान कहा है। 'ज्ञान और आत्मा का एकान्त भेद है' ऐसा नैयायिकों का मत है। इस मत का निराकरण करने के लिए यह कथन किया गया है। सर्वज्ञ के सिद्धान्त में द्रव्य वास्तव में गुण और पर्यायों से भिन्न नहीं है, अत कथञ्चित् भेद की विवक्षा करके आधाराधेय भाव की कल्पना से उपयोगवान् कहा है।

उपयोग के दो भेद हैं—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। सविकल्प उपयोग को ज्ञानोपयोग कहते हैं और निर्विकल्प उपयोग दर्शनोपयोग कहलाता है। इनमें से ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है-(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मन पर्ययज्ञान, (५) केवलज्ञान, (६) कुमतिज्ञान, (७) कुश्रुतज्ञान और (८) विभङ्गज्ञान, अन्तके तीन अज्ञान कहलाते हैं। ये विपरीतज्ञानरूप होने के कारण इन्हें ज्ञान की कोटि में रक्खा है। इनमें

આત્મા જ્ઞાનોપયોગ અને દર્શનોપયોગથી ભિન્ન નથી, એ બતાવવા માટે જ તેને ઉપયોગવાન્ કહ્યો છે 'જ્ઞાન અને આત્માનો એકાન્ત ભેદ છે' એવો નૈયાયિકોનો મત છે, એ મતનું નિરાકરણ કરવા માટે એ કથન કરવામા આવ્યુ છે સર્વજ્ઞના સિદ્ધાન્તમા દ્રવ્ય એ વાસ્તવમા ગુણ અને પર્યાયોથી ભિન્ન નથી, તેથી કથંચિત્ ભેદની વિવક્ષા કરીને આધારાધેય ભાવની કલ્પનાથી ઉપયોગવાન્ કહ્યો છે

ઉપયોગના બે ભેદ છે-(૧) જ્ઞાનોપયોગ અને (૨) દર્શનોપયોગ, સવિકલ્પ ઉપયોગને જ્ઞાનોપયોગ કહે છે, અને નિર્વિકલ્પ ઉપયોગ તે દર્શનોપયોગ કહેવાય છે તેમા જ્ઞાનોપયોગ આઠ પ્રકારનો છે (૧) મતિજ્ઞાન, (૨) શ્રુતજ્ઞાન, (૩) અવધિજ્ઞાન, (૪) મન પર્યયજ્ઞાન, (૫) કેવલજ્ઞાન, તથા (૬) કુમતિજ્ઞાન, (૭) કુશ્રુતજ્ઞાન અને (૮) વિભગજ્ઞાન તેમા છેવટના ત્રણ અજ્ઞાન કહેવાય છે પરંતુ વિપરીતજ્ઞાનરૂપ હોવાના કારણે તેને જ્ઞાનની કોટિમા રાખ્યા છે એમા એક

पीडयन्त्यात्मानमिति ज्ञानरूपाशुद्धचेतनया सहितश्चेतनावानित्युच्यते। चेतनावानिति कथञ्चिदुच्यते; आत्मा वस्तुतश्चेतनास्वरूप एवास्ति। आत्मनो गुणश्चेतनेति सर्वेषां मतं, तदभिप्रायेण चेतनावानित्युक्तम्। चेतना द्विविधा-शुद्धा, अशुद्धा चेति। ज्ञानचेतनैव शुद्धचेतना। कर्मचेतना, तथा कर्मफलचेतना चाशुद्धचेतनोच्यते।

(४) उपयोगवत्त्वनिरूपणम्—

अयमात्मा निश्चयनयेन केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपाभ्यां शुद्धोपयोगाभ्यां सहितो व्यवहारनयेन मतिज्ञानाद्युपयोगयुक्तश्चेत्यतोऽयमुपयोगवानित्युच्यते।

'आत्मा को कर्म पीडित करते हैं' इस प्रकार के ज्ञानरूप अशुद्ध चेतना से युक्त है, अत एव आत्मा चेतनावान् कहलाता है। आत्मा को किसी अपेक्षा से ही चेतनावान् कहते हैं, वास्तव में तो आत्मा चेतनारूप ही है। 'चेतना आत्मा का गुण है' ऐसा सबका मत है, इसी अभिप्राय से उसे चेतनावान् कह दिया है। चेतना दो प्रकार की है—शुद्ध चेतना और अशुद्ध चेतना। ज्ञान चेतना ही शुद्ध है। कर्मचेतना और कर्म-फलचेतना अशुद्ध चेतना है।

(४) उपयोगवत्त्व–

यह आत्मा निश्चयनय से केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप शुद्ध उपयोगों से युक्त है। व्यवहारनय से मतिज्ञान आदि उपयोगों से युक्त है, अत एव आत्मा उपयोगवान् कहलाता है।

કર્મો પીડિત કરે છે' એ પ્રકારના જ્ઞાનરૂપ અશુદ્ધ ચેતનાથી યુક્ત છે એટલા માટે આત્મા ચેતનવાન્ કહેવાય છે આત્માને કોઈ અપેક્ષાથી જ ચેતનવાન્ કહે છે, વાસ્તવમાં તો આત્મા ચેતનારૂપ જ છે 'ચેતના આત્માનો ગુણ છે' એ પ્રમાણે સર્વનો મત છે એ અભિપ્રાયથી તેને ચેતનાવાન્ કહી દીધો છે ચેતના બે પ્રકારની છે (૧) શુદ્ધ-ચેતના અને (૨) અશુદ્ધ-ચેતના જ્ઞાનચેતના જ શુદ્ધ છે, કર્મચેતના અને કર્મફલચેતના તે અશુદ્ધ-ચેતના છે

(૪) ઉપયોગવત્વ—

આ આત્મા નિશ્ચયનયથી કેવલજ્ઞાન અને કેવલદર્શનરૂપ શુદ્ધ ઉપયોગોથી યુક્ત છે વ્યવહારનયથી મતિજ્ઞાન આદિ ઉપયોગોથી યુક્ત છે એ કારણે આત્મા ઉપયોગવાન્ કહેવાય છે

अयमात्मा ज्ञानदर्शनोपयोगाभ्या न भिन्न इति बोधयितुमुपयोगवानिति, इदं च ज्ञानात्मनोरेकान्तभेद इति नैयायिकमत निराकर्तुमुक्तम्। सर्वज्ञ-सिद्धान्ते तु द्रव्य वस्तुतो गुणपर्यायेभ्यो न भिन्नम्, अत कथञ्चिद्भेद-विवक्षयाऽऽश्रयिभाव परिकल्प्य-उपयोगवानिति निगदितम्।

उपयोगो द्विधा-ज्ञानदर्शनभेदात्। सविकल्प उपयोग एव ज्ञानोपयोग',। निर्विकल्प उपयोगो दर्शनोपयोग । तत्र ज्ञानोपयोगोऽष्टविध -मतिश्रुतावधिमन'पर्यय-केवलानि पञ्च सम्यग्ज्ञानानि, मति-श्रुत-विभग-भेदेन त्रीण्यज्ञानानि चेति। अज्ञानान्यपि ज्ञानरूपतया ज्ञानवर्गे निक्षिप्तानि। अत्रैकमेव केवलज्ञान क्षायिक सर्वा-

'आत्मा ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग से भिन्न नहीं है' यह बतलाने के लिए उसे उपयोगवान् कहा है। 'ज्ञान और आत्मा का एकान्त भेद है' ऐसा नैयायिकों का मत है। इस मत का निराकरण करने के लिए यह कथन किया गया है। सर्वज्ञ के सिद्धान्त में द्रव्य वास्तव में गुण और पर्यायों से भिन्न नहीं है, अत कथञ्चित् भेद की विवक्षा करके आधाराधेय भाव की कल्पना से उपयोगवान् कहा है।

उपयोग के दो भेद हैं—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। सविकल्प उपयोग को ज्ञानोपयोग कहते हैं और निर्विकल्प उपयोग दर्शनोपयोग कहलाता है। इनमें से ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है-(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मन पर्ययज्ञान, (५) केवलज्ञान, (६) कुमतिज्ञान, (७) कुश्रुतज्ञान और (८) विभङ्गज्ञान, अन्तके तीन अज्ञान कहलाते हैं। ये विपरीतज्ञानरूप होने के कारण इन्हें ज्ञान की कोटि में रक्खा है। इनमें

આત્મા જ્ઞાનોપયોગ અને દર્શનોપયોગથી ભિન્ન નથી, એ બતાવવા માટે જ તેને ઉપયોગવાન્ કહ્યો છે 'જ્ઞાન અને આત્માનો એકાન્ત ભેદ છે' એવો નૈયાયિકોનો મત છે, એ મતનું નિરાકરણ કરવા માટે એ કથન કરવામા આવ્યુ છે સર્વજ્ઞના સિદ્ધાન્તમા દ્રવ્ય એ વાસ્તવમા ગુણ અને પર્યાયોથી ભિન્ન નથી, તેથી કથચિત્ ભેદની વિવક્ષા કરીને આધારાધેય ભાવની કલ્પનાથી ઉપયોગવાન્ કહ્યો છે

ઉપયોગના બે ભેદ છે-(૧) જ્ઞાનોપયોગ અને (૨) દર્શનોપયોગ, સવિકલ્પ ઉપયોગને જ્ઞાનોપયોગ કહે છે, અને નિર્વિકલ્પ ઉપયોગ તે દર્શનોપયોગ કહેવાય છે તેમા જ્ઞાનોપયોગ આઠ પ્રકારનો છે (૧) મતિજ્ઞાન, (૨) શ્રુતજ્ઞાન, (૩) અવધિજ્ઞાન, (૪) મન.પર્યયજ્ઞાન, (૫) કેવલજ્ઞાન, તથા (૬) કુમતિજ્ઞાન, (૭) કુશ્રુતજ્ઞાન અને (૮) વિભગજ્ઞાન તેમા છેવટના ત્રણ અજ્ઞાન કહેવાય છે પરતુ વિપરીતજ્ઞાનરૂપ હોવાના કારણે તેને જ્ઞાનની કોટિમા રાખ્યા છે એમા એક

वरणरहितं सर्वत शुद्धमस्ति। अन्यानि मतिज्ञानादिकानि चत्वारि ज्ञानानि क्षायोपशमिकानि देशत आवरणरहितानि देशत शुद्धानि। त्रीण्यज्ञानान्यशुद्धानि। दर्शनोपयोगस्य चत्वारो भेदा:- (१) चक्षुर्दर्शनम्, (२) अचक्षुर्दर्शनम्, (३) अवधिदर्शनम्, (४) केवलदर्शनं च। तत्रैकं केवलदर्शनं क्षायिकं सर्वतोऽनावरणं सर्वत: शुद्धं च। चक्षुर्दर्शनादीनि त्रीणि क्षायोपशमिकानि देशतोऽनावरणानि देशत शुद्धानि च सन्ति।

'ज्ञानादिगुणत सर्वथा भिन्न आत्मे' ति नैयायिकाद्यभिमत तु न युक्तम्, ज्ञानादिगुणसम्बन्धात् प्राक् कदाचिद् ज्ञानादिगुणहीनोऽप्यासीदिति तस्य मतं

एक मात्र केवलज्ञान क्षायिक है, सम्पूर्ण आवरण से रहित और पूर्ण शुद्ध है। शेष मतिज्ञान आदि चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं, देशत आवरणरहित हैं और देशत शुद्ध हैं। तीनों कुज्ञान अशुद्ध हैं।

दर्शनोपयोग के चार भेद हैं—(१) चक्षुर्दर्शन, (२) अचक्षुर्दर्शन, (३) अवधिदर्शन और (४) केवलदर्शन। इनमें से अकेला केवलदर्शन क्षायिक है, पूर्ण रूप से आवरणरहित है और पूर्णरूप से शुद्ध है। चक्षुर्दर्शन आदि तीन क्षायोपशमिक हैं, देशत निरावरण हैं, और देशत शुद्ध हैं।

'आत्मा ज्ञानादि गुणों से सर्वथा भिन्न है' ऐसा नैयायिक आदि का मत युक्त नहीं है, क्यों कि ज्ञानादि गुणों का सम्बन्ध होने से पहले किसी समय आत्मा को ज्ञानादि गुणों से रहित भी मानना पड़ेगा और इस प्रकार उन के मत में आत्मा जड़

માત્ર કેવલજ્ઞાન ક્ષાયિક છે, સંપૂર્ણ આવરણથી રહિત અને પૂર્ણ શુદ્ધ છે બાકીના મતિજ્ઞાન આદિ ચાર જ્ઞાન ક્ષાયોપશમિક છે, દેશ થકી આવરણરહિત છે અને દેશ થકી શુદ્ધ છે, ત્રણ કુજ્ઞાન અશુદ્ધ છે

દર્શનોપયોગના ચાર ભેદ છે–(૧) ચક્ષુદર્શન, (૨) અચક્ષુદર્શન (૩) અવધિદર્શન અને (૪) કેવલદર્શન. તેમાથી એક કેવલદર્શન ક્ષાયિક છે પૂર્ણરૂપથી આવરણ રહિત છે, અને પૂર્ણરૂપથી શુદ્ધ છે ચક્ષુદર્શન આદિ ત્રણ ક્ષાયોપશમિક છે, દેશ થકી નિરાવરણ છે અને દેશ થકી શુદ્ધ છે

"આત્મા જ્ઞાનાદિ ગુણોથી સર્વથા ભિન્ન છે" એવો નૈયાયિક આદિનો મત યુક્ત નથી-ઉચિત નથી, કારણ કે જ્ઞાનાદિ ગુણોનો સંબંધ થયા પહેલાં કોઈ સમય આત્માને જ્ઞાનાદિ ગુણોથી રહિત પણ માનવો પડશે, અને એ પ્રમાણે તેના મતમાં

जडरूपत्वापत्तिः। आत्मनि ज्ञानस्य नित्यानादिसम्बन्धस्वीकारेऽपि पदार्थद्वय कल्पनाया पुनस्तत्सम्बन्धरूपसमवायस्य कल्पनाया महद् गौरवम्, तस्माद् गुणगुणिनोर्वस्तुतस्तादात्म्यस्वीकार एवौचित्यमर्हति। यदि गुणगुणिनोरभेद एव समवायोऽपीत्युच्येत तर्हि नास्ति काऽपि क्षतिः। उक्तञ्च—

" गुणपर्ययतादात्म्य,-विशिष्टं द्रव्यमुच्यते।
उत्पत्तिव्ययनैयत्य,-पर्यायास्तस्य शाश्वता ॥ १ ॥ " इति।

(५) परिणामित्वनिरूपणम्—

अयमात्मा परिणामी। प्रतिसमयमपरापरपर्यायेषु गमनं परिणामः,

हो जायगा। आत्मा में ज्ञान का नित्य-अनादि सम्बन्ध स्वीकार किया जाय तो दो पदार्थ मानने पड़ेंगे, और उन दोनों अर्थात् आत्मा और ज्ञान को सम्बद्ध करने के लिए तीसरा समवाय सम्बन्ध मानना होगा, यह बड़ा गौरव होगा। अत एव गुण और गुणीका वास्तव में तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार करना ही उचित है। अगर गुण और गुणी के अभेद को ही समवाय सम्बन्ध कहते हो तो उसे स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है। कहा भी है —

" जो गुण और पर्याय के तादात्म्य से युक्त हो वह द्रव्य कहलाता है। उस द्रव्य की पर्यायें सदा उत्पत्ति और विनाशवाली हैं, और वे अनादिप्रवाहरूप हैं " ॥ १ ॥

(५) आत्मा का परिणामीपन—

आत्मा परिणामी है। प्रत्येक समय एक पर्याय को छोडकर दूसरा पर्याय

આત્મા જડ થઈ જશે આત્માને વિષે જ્ઞાનનો નિત્ય-અનાદિ સબંધ સ્વીકાર કરવામા આવે તો બે પદાર્થ માનવા પડશે, અને તે બન્ને અર્થાત આત્મા અને જ્ઞાન તે બન્ને ને સમ્બદ્ધ કરવા માટે ત્રીજો કોઈ સમવાય સબંધ માનવો પડશે એ ભારે ગૌરવ થશે. તે કારણથી ગુણ અને ગુણીનો વાસ્તવમા તાદાત્મ્ય સબંધ સ્વીકાર કરવો એજ ઉચિત છે અથવા ગુણ-ગુણીના અભેદને જ સમવાય સબંધ કહો તો તેનો સ્વીકાર કરવામા કોઈ પ્રકારે હાનિ નથી કહ્યુ પણ છે —

' જે ગુણ અને પર્યાયના તાદાત્મ્યથી યુક્ત હોય તે દ્રવ્ય કહેવાય છે તે દ્રવ્યની પર્યાયો સદાય ઉત્પત્તિ અને વિનાશ વાળી છે, અને તે અનાદિપ્રવાહરૂપ છે " ॥૧॥

(૫) આત્માનુ પરિણામીપણુ —

આત્મા પરિણામી છે પ્રત્યેક સમય એક પર્યાયને છોડી બીજો પર્યાય ધારણ કરવો તે પરિણામ કહેવાય છે તે પરિણામ જેમા હોય તે પરિણામી કહેવાય છે

सोऽस्यास्तीति परिणामी । अनेन 'आत्मा कूटस्थनित्यः' इति मतं निराकृतम् । 'आत्मा कूटस्थनित्य' इति स्वीकारे पूर्वदशायां यथाविध आत्मा, तथाविध एव ज्ञानोत्पत्तिसमयेऽपि भवेत्, तदा पूर्वमविज्ञातात्मा कथं पदार्थविज्ञाता स्यात्, प्रतिनियतस्वरूपस्याप्रच्युतिरूपता कौटस्थ्यमिति स्वीकारात् । यदि तदा पदार्थविज्ञातृत्वं स्वीक्रियते तदा पूर्वमविज्ञातुर्विज्ञातृरूपत्वे परिणामापत्त्या तन्मते कौटस्थ्यभङ्ग । तस्मादात्मनः परिणामित्वमवश्यं स्वीकरणीयम् ।

(६) प्रभुत्वनिरूपणम्—

अयमात्मा निश्चयनयेन मोक्षतत्कारणरूपशुद्धपरिणामार्थं परिणमन-

धारण करना परिणाम कहलाता है । यह परिणाम जिस में हो वह परिणामी । इस विशेषण से आत्मा की कूटस्थनित्यता का निराकरण किया गया है । आत्मा कूटस्थ नित्य है, ऐसा स्वीकार करने पर आत्मा जैसा पहले अज्ञाता था वैसा ही ज्ञान की उत्पत्ति के समय भी रहेगा । ऐसी दशा में आत्मा पहले अज्ञाता था तो बाद में पदार्थों का ज्ञाता कैसे होगा ?, क्यों कि आप के मत के अनुसार प्रतिनियत स्वरूप से च्युत न होना— वैसा का तैसा ही बना रहना—कूटस्थता है । अगर बाद में आत्मा को पदार्थों का ज्ञाता स्वीकार करते हो तो पहले जो अज्ञाता था, उस का ज्ञाता के रूप में परिणमन हो गया अत कूटस्थनित्यता नष्ट हो गई । अत एव आत्मा को परिणामी अवश्य मानना चाहिए । आत्मा कूटस्थ नित्य नहीं वरन् परिणामी नित्य है ।

(६) आत्मा का प्रभुत्व—

निश्चयनय से आत्मा मोक्ष और मोक्ष के कारणरूप शुद्ध परिणामों के लिए

આ વિશેષણથી આત્માની કૂટસ્થનિત્યતાનું નિરાકરણ કર્યું છે "આત્મા કૂટસ્થ નિત્ય છે" એવો સ્વીકાર કરવાથી આત્મા જેવો પહેલાં હતો તેવો જ જ્ઞાનની ઉત્પત્તિના સમયમાં પણ રહેશે, એવી દશામાં આત્મા પહેલા અજ્ઞાતા હતો તો પછી પદાર્થોનો જ્ઞાતા કેવી રીતે થશે ?, કેમકે—આપના મત પ્રમાણે પ્રતિનિયત સ્વરૂપથી ચ્યુત નહિ થતાં જેવો છે તેવો જ બની રહે તે કૂટસ્થતા છે અગર તો પછીથી આત્માને પદાર્થોનો જ્ઞાતા સ્વીકાર કરો છો તો પ્રથમ જે અજ્ઞાતા હતો તેનું જ્ઞાતાના રૂપમાં પરિણમન થઈ ગયું, તેથી કૂટસ્થરૂપ નિત્યતા નાશ પામી ગઈ, આ કારણથી આત્માને પરિણામી અવશ્ય માનવો જોઈએ આત્મા કૂટસ્થ નિત્ય નથી પરંતુ પરિણામી નિત્ય છે

(૬) આત્માનું પ્રભુત્વ—

નિશ્ચય નય પ્રમાણે આત્મા મોક્ષ અને મોક્ષના કારણરૂપ [illegible] માટે

सामर्थ्यात्, तथा व्यवहारनयतः ससारतत्कारणरूपाशुद्धपरिणामार्थं परिणमन-शक्तिमत्त्वाच्च प्रभुरित्युच्यते।

अयमात्मा मोक्षमार्गोपदेशकतया, रत्नत्रयेण मोक्षसाधकतया, सर्वज्ञत्वप्राप्ति-शक्तिमत्तया च प्रभुरित्युच्यते। "सर्वज्ञो नास्ति कश्चि"-दिति नास्तिकमत निराकर्तुं सर्वज्ञतयाऽप्यात्मनः प्रभुत्वमस्तीति सवेद्यते। यथा-अभ्रपटलमलाच्छन्न रविचन्द्र-ज्योति, सुवर्णं रजतं वा क्रमशो नैर्मल्यं प्राप्नुवत्, सर्वथाऽभ्रपटलमलादि-व्यपगमे सर्वतो भावेनापि शुद्धि प्राप्नोति, तथा रागद्वेषादिभिरशुद्ध आत्मा क्रमशः शुद्धि लभमान पूर्णशुद्धिमपि प्राप्नोति स एवात्मा 'सर्वज्ञ' इत्युच्यते।

परिणमन-सामर्थ्यवाला है, तथा व्यवहार नय से ससार और ससार के कारणरूप अशुद्ध परिणामो के लिए परिणत होने की शक्ति से युक्त है। इस कारण आत्मा प्रभु कहलाता है।

यह आत्मा मोक्षमार्ग का उपदेश देने की, रत्नत्रय के द्वारा मोक्षसाधन की और सर्वज्ञताप्राप्ति की शक्ति से युक्त होने के कारण प्रभु है, 'कोई सर्वज्ञ नहीं है' ऐसे नास्तिकमत का निराकरण करने के लिए सर्वज्ञरूप में भी आत्मा का प्रभुत्व सूचित किया गया है। जैसे-मेघपटल तथा मल से आच्छादित सूर्य, चन्द्रमा की ज्योति, सुवर्ण या चादी, क्रम से निर्मल होते-होते, अभ्रपटल या मल के सर्वथा हट जाने पर पूर्णरूप से शुद्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार रागद्वेष आदि से अशुद्ध आत्मा धीरे-धीरे शुद्ध होता हुआ पूर्ण शुद्धता प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार पूर्ण शुद्ध आत्मा ही सर्वज्ञ कहलाता है।

માટે પરિણમન-સામર્થ્ય વાળો છે તથા વ્યવહાર નયથી સસાર અને સસારના કારણરૂપ અશુદ્ધ પરિણામો માટે પરિણત થવાની શક્તિથી યુક્ત છે આ કારણથી આત્મા પ્રભુ કહેવાય છે

આ આત્મા મોક્ષમાર્ગનો ઉપદેશ દેવાની, રત્નત્રયના દ્વારા મોક્ષસાધનની અને સર્વજ્ઞતાપ્રાપ્તિની શક્તિથી યુક્ત હોવાના કારણે પ્રભુ છે "કોઈ સર્વજ્ઞ નથી" એવો જે નાસ્તિકમત છે તેનુ નિરાકરણ કરવા માટે સર્વજ્ઞરૂપમા પણ આત્માનુ પ્રભુત્વ સૂચિત કર્યું છે જેમ-મેઘસમૂહ તથા મળથી આચ્છાદિત સૂર્ય, ચદ્રમાની જ્યોતિ, સુવર્ણ અથવા ચાંદી વગેરે ક્રમથી નિર્મલ થતા થતા મેઘસમૂહ અથવા મળના ખસી જવાથી પૂર્ણ શુદ્ધ રૂપમા આવી જાય છે-શુદ્ધ થઈ જાય છે, તે પ્રમાણે રાગ-દ્વેષ આદિથી અશુદ્ધ આત્મા ધીરે ધીરે શુદ્ધ થઈને પૂર્ણ શુદ્ધતા પ્રાપ્ત કરી લે છે એ પ્રમાણે પૂર્ણ શુદ્ધ આત્મા જ સર્વજ્ઞ કહેવાય છે

सोऽस्यास्तीति परिणामी। अनेन 'आत्मा कूटस्थनित्यः' इति मतं निराकृतम्। 'आत्मा कूटस्थनित्य' इति स्वीकारे पूर्वदशायां यथाविध आत्मा, तथाविध एव ज्ञानोत्पत्तिसमयेऽपि भवेत्, तदा पूर्वमविज्ञातात्मा कथं पदार्थविज्ञाता स्यात्, प्रतिनियतस्वरूपस्याप्रच्युतिरूपता कौटस्थ्यमिति स्वीकारात्। यदि तदा पदार्थविज्ञातृत्वं स्वीक्रियते तदा पूर्वमविज्ञातुर्विज्ञातृरूपत्वे परिणामापत्त्या तन्मते कौटस्थ्यभङ्गः। तस्मादात्मनः परिणामित्वमवश्यं स्वीकरणीयम्।

(६) मशुत्वनिरूपणम्—

अयमात्मा निश्चयनयेन मोक्षतत्कारणरूपशुद्धपरिणामार्थे परिणमन-

धारण करना परिणाम कहलाता है। यह परिणाम जिस में हो वह परिणामी। इस विशेषण से आत्मा की कूटस्थनित्यता का निराकरण किया गया है। आत्मा कूटस्थ नित्य है, ऐसा स्वीकार करने पर आत्मा जैसा पहले अज्ञाता था वैसा ही ज्ञान की उत्पत्ति के समय भी रहेगा। ऐसी दशा में आत्मा पहले अज्ञाता था तो बाद में पदार्थों का ज्ञाता कैसे होगा?, क्यों कि आप के मत के अनुसार प्रतिनियत स्वरूप से च्युत न होना— जैसा का तैसा ही बना रहना—कूटस्थता है। अगर बाद में आत्मा को पदार्थों का ज्ञाता स्वीकार करते हो तो पहले जो अज्ञाता था, उस का ज्ञाता के रूप में परिणमन हो गया अत कूटस्थनित्यता नष्ट हो गई। अत एव आत्मा को परिणामी अवश्य मानना चाहिए। आत्मा कूटस्थ नित्य नहीं वरन् परिणामी नित्य है।

(६) आत्मा का मशुत्व—

निश्चयनय से आत्मा मोक्ष और मोक्ष के कारणरूप शुद्ध परिणामों के लिए

આ વિશેષણથી આત્માની કૂટસ્થનિત્યતાનું નિરાકરણ કર્યું છે "આત્મા કૂટસ્થ નિત્ય છે" એવો સ્વીકાર કરવાથી આત્મા જેવો પહેલાં હતો તેવો જ જ્ઞાનની ઉત્પત્તિના સમયમાં પણ રહેશે, એવી દશામાં આત્મા પહેલાં અજ્ઞાતા હતો તો પછી પદાર્થોનો જ્ઞાતા કેવી રીતે થશે?, કેમકે-આપના મત પ્રમાણે પ્રતિનિયત સ્વરૂપથી ચ્યુત નહિ થતાં જેવો છે તેવો જ બની રહે તે કૂટસ્થતા છે અગર તો પછીથી આત્માને પદાર્થોનો જ્ઞાતા સ્વીકાર કરો છો તો પ્રથમ જે અજ્ઞાતા હતો તેનું જ્ઞાતાના રૂપમાં પરિણમન થઈ ગયું, તેથી કૂટસ્થરૂપ નિત્યતા નાશ પામી ગઈ, આ કારણથી આત્માને પરિણામી અવશ્ય માનવો જોઈએ આત્મા કૂટસ્થ નિત્ય નથી પરંતુ પરિણામી નિત્ય છે

(૬) આત્માનું મશુત્વ—

નિશ્ચય નય પ્રમાણે આત્મા મોક્ષ અને મોક્ષના કારણરૂપ શુ

औदारिकादिशरीरस्य कर्त्ताऽस्ति, आदिमत्प्रतिनियताकारित्वात्, कुम्भस्य यथा कुलाल'। यत्पुनरकर्तृकं तदादिमत्प्रतिनियताकारमपि न भवति, यथाऽभ्रविकारः। यश्च शरीरस्य कर्त्ता स आत्मा, इत्येवमात्मन' कर्तृत्व सिध्यति। अत्रादिमत्त्वविशेषण मेर्वादीनुपादाय हेतोरनैकान्तिकत्ववारणाय।

यद्वा-आत्मा कर्त्ता, स्वकर्मफलभोक्तृत्वात् वणिक्कृपीवलादिवत्। आत्मा स्वकृतकर्मफलभोक्ता तस्मात् कर्ता, यथा वणिक्कृपीवलादयोऽकृतकर्मण. फल न प्राप्नुवन्ति।

इस औदारिकादि शरीर का कोई कर्ता है, क्यों कि औदारिकादि शरीर आदिमान् और प्रतिनियत आकारवाला है, जैसे-घडेका कर्ता कुमार। जो वस्तु विना कर्ता की होती है वह आदिमान् और नियत आकार वाली नहीं होती, जैसे-बादल का विकार। जो शरीर का कर्ता है, वह आत्मा है। इस प्रकर आत्मा का कर्तृत्व सिद्ध होता है। यहाँ ' आदिमत् ' विशेषण से मेरु आदि से होने वाले अनेकातिन्क दोषका निवारण किया गया है, क्यों कि वे आदिमान् नहीं है।

अथवा आत्मा कर्ता है, क्यों कि वह अपने कर्मों का भोक्ता है, जैसे वणिक् या किसान। आत्मा अपने कर्मों के फलका भोक्ता है इस कारण कर्ता है। जैसे-वणिक् या किसान आदि विना किये कर्म का फल नहीं भोगते, इसी प्रकार आत्मा विना किये कर्म का फल नहीं भोगता।

આ ઔદારિકાદિ શરીરનો કોઇ કર્તા છે, કારણ કે ઔદારિકાદિ શરીર, આદિમાન્ અને પ્રતિનિયત આકાર વાળુ છે, જેમ ઘડાનો કર્તા કુભાર જે વસ્તુ કર્તા વિનાની હોય છે, તે આદિમાન્ અને નિયત આકાર વાળી હોય નહિ, જેમ વાદળનો વિકાર જે શરીરનો કર્તા છે તે આત્મા છે એ પ્રકારે આત્માનુ કર્તૃત્વ સિદ્ધ થાય છે અહી 'આદિમત્' વિશેષણથી મેરુ આદિથી થવા વાળા અનેકાન્તિક દોષનુ નિવારણ કર્યું છે, કારણ કે તે 'આદિમાન્' નથી

અથવા—આત્મા કર્તા છે, કારણ કે-તે પોતાના કર્મોનો ભોક્તા છે જેમ વણિક અથવા ખેડુત આત્મા પોતાનાં કર્મોના ફલનો ભોક્તા છે, તે કારણથી કર્તા છે, જેમ વણિક અથવા ખેડુત આદિ, કર્મ કર્યા વિના કર્મનુ ફળ ભોગવતા નથી. તે પ્રમાણે આત્મા કર્મ કર્યા વિના તેનુ ફળ ભોગવતો નથી.

किञ्च-आत्मा स्वस्य हितं कर्तुमन्यं नापेक्षते; स्वयमेव स्वहितसाधने क्षमः, अत एवात्मनः प्रभुत्वं सिध्यति, तस्मात् स्वहितमिच्छुना मोक्षप्राप्तिकारणी-भूते तपःसंयमाराधने प्रवर्तितव्यम् ।

(७) कर्तृत्वनिरूपणम्—

अयमात्मा-अदृष्टादिकर्मकरणात्, निश्चयनयेन शुद्धभावकर्तृत्वात्, व्यवहार नयतो द्रव्यभावकर्मणां नोकर्मबाह्यशरीरादीनां कर्तृत्वाच्च, कर्तेत्युच्यते । आत्मै-कान्तरूपेणाऽकर्तेति सांख्यमतमपाकर्तुमुक्तम्-' आत्मा कर्ते'ति ।

दूसरी बात यह है कि-आत्मा अपना कल्याण करने में अन्य की अपेक्षा नहीं रखता। वह स्वकीय कल्याण-साधन में स्वयं समर्थ है। इसी से आत्मा का प्रभुत्व सिद्ध होता है। अतः आत्महित के अभिलाषी पुरुष को मोक्षकारणभूत तप और संयम की आराधना में प्रवृत्त होना चाहिए।

(७) आत्माका कर्तृत्व-

यह आत्मा अदृष्ट आदि कर्म करने से, निश्चयनय की अपेक्षा शुद्ध भावों का कर्ता होने से, तथा व्यवहारनय से द्रव्यकर्म, भावकर्म तथा नोकर्म-बाह्यशरीर आदिका कर्ता होने से कर्ता कहलाता है,

' आत्मा एकान्तरूप से अकर्ता है ' सांख्य के इस मत का निराकरण करने के लिए आत्मा को कर्ता विशेषण लगाया है।

બીજી વાત એ છે કે-આત્મા પોતાનું કલ્યાણ કરવામાં બીજાની અપેક્ષા રાખતો નથી, તે પોતાના કલ્યાણસાધનમાં પોતે જ સમર્થ છે તે કારણથી આત્માનું પ્રભુત્વ સિદ્ધ થાય છે એ કારણથી આત્મહિતના અભિલાષી પુરૂષોએ મોક્ષના કારણભૂત તપ અને સંયમની આરાધનામાં પ્રવૃત્ત થવું જોઈએ.

(૬) આત્માનું કર્તૃત્વ—

આ આત્મા અદૃષ્ટ આદિ કર્મો કરવાથી, નિશ્ચયનયની અપેક્ષાએ શુદ્ધ ભાવોનો કર્તા હોવાથી તથા વ્યવહારનયથી દ્રવ્યકર્મ, ભાવકર્મ તથા નોકર્મ-બાહ્યશરીર આદિનો કર્તા હોવાથી કર્તા કહેવાય છે

" આત્મા એકાન્તરૂપથી અકર્તા છે " સાંખ્યના આ મતનું નિરાકરણ કરવા માટે આત્માને કર્તા વિશેષણ આપ્યું છે

अकर्तृत्वाच्च तस्य सांसारिकविषयसुखानामभोक्तृत्वं च सिध्यति। प्रकृते हि कर्तृशब्देनादृष्टादिजनककर्मण एव कर्तृत्वं विवक्षितम्, तेन मुक्तात्मनि नातिप्रसङ्गः। तथा च यः सांसारिकसुखदुःखाद्यनुभविता स एव तत्कारणीभूतकर्मणः कर्ता, अकर्तुर्भोक्तृत्वानुपपत्तेः।

(८) भोक्तृत्वसिद्धिः-

अयमेवात्मा मोहोदयेन शुद्धमात्मस्वभावं विस्मृत्य परवस्तुनि मोहितः सन् रागद्वेषं करोति, रागद्वेषवशोऽहर्निशं नवनवविषयसंग्रहार्थं प्रयतमान-स्तद्वियोगे सति चिन्ताव्याकुलितचेता आर्त्तरौद्रध्यानमुपगतः स्वात्मनि कर्मरजः

विषयसुख आदि के जनक कर्मों के कर्ता नहीं हैं, इस कारण वे अकर्ता हैं। और अकर्ता होने के कारण वे सांसारिक विषयसुखों के भोक्ता भी नहीं हैं। यहाँ 'कर्ता' शब्द से अदृष्ट आदि के जनक कर्मों का कर्ता ही विवक्षित है, अतः मुक्त आत्मा में अति-प्रसङ्ग नहीं आता, अतएव सिद्ध हुआ कि जो सांसारिक सुख-दुःख आदि का भोक्ता होता है, वही उन के कारणभूत कर्म का कर्ता भी होता है। जो कर्ता नहीं है वह भोक्ता भी नहीं है।

(८) आत्मा का भोक्तृत्व

आत्मा मोह के उदय से शुद्ध आत्मस्वरूप को भूलकर पर-पदार्थों में मोहित होता हुआ राग-द्वेष करता है। राग-द्वेष के वश हो कर रात-दिन नवीन नवीन विषयों का संग्रह करने के लिए प्रयत्नशील होता हुआ, और उनका वियोग होने पर चिन्ता से व्याकुलचित हो कर आर्तध्यान और रौद्रध्यान को प्राप्त होता है, और इस

સંસારના વિષય-સુખ વગેરેને ઉત્પન્ન કરનાર કર્મોનો કર્તા નથી એ કારણથી તે આત્મા અકર્તા છે, અને અકર્તા હોવાના કારણે તે સંસારના વિષયસુખોના ભોકતા પણ નથી અહિં 'કર્તા' શબ્દથી અદૃષ્ટ આદિના જનક કર્મોનો કર્તા જ વિવક્ષિત છે તેથી મુક્ત આત્મામાં અતિપ્રસંગ આવતો નથી. એ કારણથી એમ સિદ્ધ થયું કે જે સંસારના સુખ-દુ:ખ વગેરેનો ભોકતા છે, તે એના કારણભૂત કર્મોનો કર્તા પણ હોય છે, જે કર્તા નથી તે ભોકતા પણ નથી.

(૮) આત્માનું ભોકતૃત્વ—

આત્મા મોહના ઉદયથી શુદ્ધ આત્મસ્વરૂપને ભૂલી જઈને પર-પદાર્થોમાં મોહિત થઈને રાગ-દ્વેષ કરે છે, રાગ-દ્વેષને વશ થઈને રાત્રી અને દિવસ નવા-નવા વિષયોને સંગ્રહ કરવા માટે પ્રયત્નશીલ રહેતો થકો, અને તેનો વિયોગ થતાં ચિન્તાથી વ્યાકુલ-ચિત્ત થઈને આર્તધ્યાન અને રૌદ્રધ્યાન ને પ્રાપ્ત થાય છે, અને તે કારણથી પોતાના

यद्वा—आत्मा सुकृतदुष्कृतकर्मणामकर्ता न भवति, सुकृतदुष्कृतकर्मफलरूपसुखदुःखानुभवात्। अकर्तुरात्मनः सुखदुःखानुभवो न युज्यते, तथा सति अतिप्रसङ्गात्। मुक्तानामपि सांसारिकसुखदुःखानुभवापत्तेः, अकर्तृत्वाऽविशेषात्।

अनुभवितृत्वेन भोक्तृत्वसिद्धिः, भोक्तृत्वेन च कर्तृत्वसिद्धिः। यद्ययमात्मा कर्ता न भवेत्तदाऽनुभविताऽपि न भवेत्। न चानुभवितुः कर्तृत्वस्वीकारे मुक्तस्यापि कर्तृत्वप्रसङ्गः, इति वाच्यम्, मुक्तात्मनः साक्षिरूपेणानुभवसत्त्वेऽपि द्रव्यभावकर्मरहितत्वादेव सांसारिकविषयसुखादिजनककर्मकर्तृत्वासम्भवेनाकर्तृत्वात्,

अथवा—आत्मा सुकृत और दुष्कृतरूप कर्मों का अकर्ता नहीं है, क्यों कि वह अपने सुकृत और दुष्कृत कर्मों के फलस्वरूप सुख–दुःख का अनुभव करता है। आत्मा अकर्ता होता तो उसे सुख–दुःख का अनुभव नहीं होना चाहिए था। कर्ता न होने पर भी फल का भोक्ता मानने से गड़बड़ी मच जायगी। फिर तो मुक्त जीवों को भी सांसारिक सुख और दुःख भोगना पड़ेगा, क्यों कि वे भी अकर्ता हैं।

आत्मा अनुभव करने वाला होने के कारण भोक्ता सिद्ध होता है और भोक्ता होने के कारण कर्ता सिद्ध होता है। आत्मा कर्ता न होता तो अनुभविता (अनुभव करनेवाला) भी न होता। 'अनुभव करनेवाले को कर्ता मानने पर मुक्तात्मा को भी कर्तापन का प्रसङ्ग आयगा' ऐसा कहना उचित नहीं है, क्यों कि मुक्तात्माओं को साक्षीरूपसे अनुभव होने पर भी, द्रव्य–भाव कर्मों से रहित होने के कारण वे सांसारिक

અથવા આત્મા સુકૃત અને દુષ્કૃત-રૂપ કર્મોના અકર્તા નથી, કારણ કે તે પોતાના સુકૃત અને દુષ્કૃત રૂપ કર્મોના ફલસ્વરૂપ સુખ–દુઃખનો અનુભવ કરે છે આત્મા અકર્તા હોત તો તેને સુખ–દુઃખનો અનુભવ નહિ થવો જોઈએ. કર્તા ન હોવા છતાંય પણ ફલનો ભોક્તા હોવાથી ગડબડ થઈ જશે ફરી તો મુક્ત જીવોને પણ સંસારનું સુખ અને દુઃખ ભોગવવું પડશે, કારણ કે તે પણ અકર્તા છે

આત્મા અનુભવ કરવા વાળો હોવાથી ભોક્તા સિદ્ધ થાય છે, અને ભોક્તા હોવાના કારણે કર્તા સિદ્ધ થાય છે આત્મા કર્તા ન હોય તો અનુભવિતા (અનુભવ કરવા વાળો) ન હોય. 'અનુભવ કરવા વાળાને કર્તા માનવાથી મુક્તાત્માને પણ કર્તાપણાનો પ્રસંગ આવશે,' એમ કહેવું તે ઉચિત નથી કારણ કે મુક્તાત્માઓને સાક્ષીરૂપ અનુભવથી હોવા છતાંય દ્રવ્ય, ભાવ કર્મોથી રહિત હોવાના કારણે તે

प्रतिविम्बोदयासमवात्। स्फटिकदर्पणादावपि परिणामेनैव प्रतिबिम्बोदय-समर्थनात्। तादृशपरिणामाङ्गीकारे च जीवस्य कर्तृत्व, स्वत एव भोक्तृत्व च सिद्धम्।

(९) आत्मन. स्वशरीरपरिमाणत्वम्-

अयमात्मा स्वशरीरपरिमाण'। निश्चयनयेन लोकाकाशपरिमाणोऽ-संख्यातप्रदेशी च। व्यवहारनयत शरीरनामकर्मोदयाज्जातेन सूक्ष्मशरीरेण स्थूलशरीरेण वा समानपरिमाणो भवति, तस्मादय स्वशरीरपरिमाण इत्युच्यते।

नहीं पड सकता। स्फटिक तथा दर्पण आदि में जो प्रतिविम्ब पडता है सो परिणामी होने के कारण ही पडता है। स्फटिक आदि एकान्त अपरिणामी होते तो उन में किसी भी वस्तु का प्रतिविम्ब नहीं पड सकता था। इस प्रकार का परिणाम स्वीकार कर लेने पर जीव में कर्तापन सिद्ध हो जायगा और फिर भोक्तापन भी स्वत सिद्ध हो जायगा।

(९) आत्माका शरीरपरिमाण—

आत्मा प्राप्त शरीर के बराबर है, अर्थात् शरीर का जो परिमाण है। वही आत्मा का भी परिमाण है। आत्मा निश्चयनय से लोकाकाश के बराबर असख्यात प्रदेशी है। व्यवहारनय से शरीरनामकर्म के उदय से प्राप्त हुए सूक्ष्म या स्थूल शरीर का जो परिमाण है उसी परिमाणवाला आत्मा है, अत एव आत्मा शरीर परिमाण कहलाता है।

તથા દર્પણ આદિમાં જે પ્રતિબિમ્બ પડે છે, તે પરિણામી હોવાના કારણે પડે છે સ્ફટિક આદિ જો એકાન્ત અપરિણામી હોત તો તેમા કોઈ પણ વસ્તુનુ પ્રતિબિબ પડી શકત નહી આ પ્રમાણે પરિણામ સ્વીકાર કરી લેવાથી જીવમા કર્તાપણુ સિધ્ધ થઈ જશે, અને ભોકતાપણુ પણ સ્વત. સિધ્ધ થઈ જશે

(૯) આત્માનુ શરીરપ્રમાણ—

આત્મા પ્રાપ્ત શરીરની બરાબર છે, અર્થાત્ શરીરનુ જે પરિમાણ છે તે આત્માનું પણ પરિમાણ છે આત્મા નિશ્ચયનયથી લોકાકાશની બરાબર અસખ્યાતપ્રદેશી છે વ્યવહારનયથી શરીર-નામકર્મના ઉદયથી પ્રાપ્ત થએલ સૂક્ષ્મ અથવા સ્થૂલ શરીરનુ જે પરિમાણ છે તે પરિમાણ વાળો આત્મા છે એટલા માટે આત્મા શરીરપરિમાણ કહેવાય છે

सम्पादत्ते। यथा कोऽप्यज्ञानी व्याधिनिदानभूतमपथ्यमश्नन्नवाञ्छितमपि ज्वरादिकं स्वयमुत्पादयति, तथाऽयमात्मा कर्मबन्धनमवाञ्छन्नप्यार्तरौद्रध्यानवशेन कर्मबन्धनं प्राप्नोति। यथा कर्मबन्धनं स्वयमेवादत्ते, तथा तत्फलमपि बाह्य किञ्चिन्निमित्तमपेक्ष्य स्वयमेवोपभुङ्क्ते। एवं चात्मनो भोक्तृत्वं सिध्यति। भोक्तृत्वाच्च कर्तृत्वमपि तस्य निर्बाधम्।

सांख्यसिद्धान्ते प्रकृतेः कर्तृत्वं, न तु जीवस्य, भोक्तृत्वं चापि जीवस्योपचरितमेव। दर्पणाकारायां बुद्धौ सङ्क्रान्तानां सुखदुःखादीनां स्वात्मनि

कारण अपनी आत्मा में कर्म-रज इकट्ठी कर लेता है। जैसे अज्ञानी मनुष्य रोग के कारणभूत अपथ्य का सेवन करता हुआ न चाहते हुए भी ज्वर आदि को उत्पन्न कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा कर्मबंधन की इच्छा न कर के भी आर्त-रौद्रध्यान के अधीन होकर कर्मबंध को प्राप्त होता है। जैसे कर्मबन्ध को आत्मा स्वयं ग्रहण करता है, उसी प्रकार किसी बाह्य निमित्त की अपेक्षा से उसका फल भी स्वयं ही भोगता है। इसी प्रकार आत्मा में भोक्तापन सिद्ध होता है, और भोक्ता होने से उस में कर्तापन भी बिना किसी बाधा के सिद्ध हो जाता है।

सांख्यमत से प्रकृति कर्ता है, जीव नहीं, और भोक्तापन जीव में उपचार से है। दर्पणाकार बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने वाले सुख-दुःख आदि का आत्मा में प्रतिबिम्ब

આત્માને વિષે કર્મ-રજ (કર્મના રજકણો) એકઠી કરી લે છે, જેમ અજ્ઞાની મનુષ્ય રોગના કારણભૂત અપથ્યનું (રોગ ઉત્પન્ન કરે તેવું) સેવન કરીને, પોતે ઇચ્છતો નથી તો પણ જ્વર (તાવ) આદિને ઉત્પન્ન કરી લે છે તે પ્રમાણે આત્મા કર્મબંધનની ઇચ્છા નહિ કરવા છતાંય પણ આર્ત-રૌદ્ર ધ્યાનને આધીન થઈને કર્મ બંધનને પ્રાપ્ત થાય છે જેવી રીતે કર્મબંધનને આત્મા પોતે જ ગ્રહણ કરે છે, તે પ્રમાણે કોઈ બાહ્ય નિમિત્તની અપેક્ષાથી તેનું ફલ પણ પોતે જ ભોગવે છે એ પ્રમાણે આત્મામાં ભોક્તાપણું સિદ્ધ થાય છે અને ભોક્તા હોવાથી તેમાં કોઈ પ્રકારની બાધા વિના કર્તાપણું પણ સિદ્ધ થઈ જાય છે

સાંખ્યમત પ્રમાણે પ્રકૃતિ કર્તા છે, જીવ કર્તા નથી ભોક્તાપણું તે પણ જીવમાં ઉપચારથી છે દર્પણાકાર બુદ્ધિમાં પ્રતિબિમ્બિત (પ્રતિબિંબરૂપે) થવાવાળા (દેખાવવાવાળા) સુખ-દુઃખ આદિનું પ્રતિબિંબ આત્મામાં પડી શકતું નથી. સ્ફટિક

प्रतिबिम्बोदयासम्भवात्। स्फटिकदर्पणादावपि परिणामेनैव प्रतिबिम्बोदय-समर्थनात्। तादृशपरिणामाङ्गीकारे च जीवस्य कर्तृत्वं, स्वत एव भोक्तृत्वं च सिद्धम्।

(९) आत्मनः स्वशरीरपरिमाणत्वम्-

अयमात्मा स्वशरीरपरिमाणः। निश्चयनयेन लोकाकाशपरिमाणोऽ-सङ्ख्यातप्रदेशी च। व्यवहारनयतः शरीरनामकर्मोदयाज्जातेन सूक्ष्मशरीरेण स्थूलशरीरेण वा समानपरिमाणो भवति, तस्मादयं स्वशरीरपरिमाण इत्युच्यते।

नहीं पड सकता। स्फटिक तथा दर्पण आदि में जो प्रतिबिम्ब पडता है सो परिणामी होने के कारण ही पडता है। स्फटिक आदि एकान्त अपरिणामी होते तो उन में किसी भी वस्तु का प्रतिबिम्ब नहीं पड सकता था। इस प्रकार का परिणाम स्वीकार कर लेने पर जीव में कर्तापन सिद्ध हो जायगा और फिर भोक्तापन भी स्वतः सिद्ध हो जायगा।

(९) आत्माका शरीरपरिमाण—

आत्मा प्राप्त शरीर के बराबर है, अर्थात् शरीर का जो परिमाण है। वही आत्मा का भी परिमाण है। आत्मा निश्चयनय से लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेशी है। व्यवहारनय से शरीरनामकर्म के उदय से प्राप्त हुए सूक्ष्म या स्थूल शरीर का जो परिमाण है उसी परिमाणवाला आत्मा है, अत एव आत्मा शरीर परिमाण कहलाता है।

તથા દર્પણ આદિમાં જે પ્રતિબિમ્બ પડે છે, તે પરિણામી હોવાના કારણે પડે છે સ્ફટિક આદિ જો એકાન્ત અપરિણામી હોત તો તેમાં કોઈ પણ વસ્તુનું પ્રતિબિંબ પડી શકત નહી આ પ્રમાણે પરિણામ સ્વીકાર કરી લેવાથી જીવમાં કર્તાપણુ સિદ્ધ થઈ જશે, અને ભોક્તાપણુ પણ સ્વતઃ સિદ્ધ થઈ જશે

(૯) આત્માનું શરીરપ્રમાણ—

આત્મા પ્રાપ્ત શરીરની બરાબર છે અર્થાત્ શરીરનું જે પરિમાણ છે તે આત્માનું પણ પરિમાણ છે આત્મા નિશ્ચયનયથી લોકાકાશની બરાબર અસંખ્યાતપ્રદેશી છે વ્યવહારનયથી શરીર-નામકર્મના ઉદયથી પ્રાપ્ત થએલ સૂક્ષ્મ અથવા સ્થૂલ શરીરનું જે પરિમાણ છે તે પરિમાણ વાળો આત્મા છે એટલા માટે આત્મા શરીરપરિમાણ કહેવાય છે

समुपादत्ते। यथा कोऽप्यज्ञानी व्याधिनिदानभूतमपथ्यमश्नन्अनाञ्छितमपि ज्वरादिकं स्वयमुत्पादयति, तथाऽयमात्मा कर्मबन्धनमवाञ्छन्नप्यार्तरौद्रध्यानवशेन कर्मबन्धनं प्राप्नोति। यथा कर्मबन्धन स्वयमेवादत्ते, तथा तत्फलमपि बाह्य किञ्चिन्निमित्त-मपेक्ष्य स्वयमेवोपभुङ्क्ते। एव चात्मनो भोक्तृत्व सिध्यति। भोक्तृत्वाच्च कर्तृ-त्वमपि तस्य निर्बाधम्।

सांख्यसिद्धान्ते प्रकृते कर्तृत्व, न तु जीवस्य, भोक्तृत्व चापि जीवस्योपचरितमेव। दर्पणाकारायां बुद्धौ सक्रान्ताना सुखदुःखादीना स्वात्मनि

कारण अपनी आत्मा में कर्म-रज इकट्ठी कर लेता है। जैसे अज्ञानी मनुष्य रोग के कारणभूत अपथ्य का सेवन करता हुआ न चाहते हुए भी ज्वर आदि को उत्पन्न कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा कर्मबन्धन की इच्छा न करके भी आर्त-रौद्रध्यान के अधीन होकर कर्मबन्ध को प्राप्त होता है। जैसे कर्मबन्ध को आत्मा स्वय ग्रहण करता है, उसी प्रकार किसी बाह्य निमित्त की अपेक्षा से उसका फल भी स्वय ही भोगता है। इसी प्रकार आत्मा में भोक्तापन सिद्ध होता है, और भोक्ता होने से उस में कर्तापन भी बिना किसी बाधा के सिद्ध हो जाता है।

सांख्यमत से प्रकृति कर्ता है, जीव नहीं, और भोक्तापन जीव में उपचार से है। दर्पणाकार बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने वाले सुख-दुःख आदि का आत्मा में प्रतिबिम्ब

આત્માને વિષે કર્મ-રજ (કર્મના રજકણો) એકઠી કરી લે છે, જેમ અજ્ઞાની મનુષ્ય રોગના કારણભૂત અપથ્યનુ (રોગ ઉત્પન્ન કરે તેવુ) સેવન કરીને, પોતે ઇચ્છતો નથી તો પણ જ્વર (તાવ) આદિને ઉત્પન્ન કરી લે છે તે પ્રમાણે આત્મા કર્મબધનની ઇચ્છા નહિ કરવા છતાંય પણ આર્ત્ત-રૌદ્ર ધ્યાનને આધીન થઇને કર્મ બધનને પ્રાપ્ત થાય છે જેવી રીતે કર્મબધનને આત્મા પોતે જ ગ્રહણ કરે છે, તે પ્રમાણે કોઈ બાહ્ય નિમિત્તની અપેક્ષાથી તેનું ફલ પણ પોતે જ ભોગવે છે એ પ્રમાણે આત્મામાં ભોક્તાપણુ સિદ્ધ થાય છે અને ભોક્તા હોવાથી તેમાં કોઈ પ્રકારની બાધા વિના કર્તાપણુ પણ સિદ્ધ થઈ જાય છે

સાંખ્યમત પ્રમાણે પ્રકૃતિ કર્તા છે, જીવ કર્તા નથી ભોક્તાપણુ તે પણ જીવમાં ઉપચારથી છે દર્પણાકાર બુદ્ધિમાં પ્રતિબિમ્બિત (પ્રતિબિબરૂપે) થવાવાળા (દેખાવવાવાળા) સુખ-દુઃખ આદિનુ પ્રતિબિબ આત્મામાં પડી સ્ફટિક

समुपादत्ते। यथा कोऽप्यज्ञानी व्याधिनिदानभूतमपथ्यमभनुअगाञ्छितमपि ज्वरादिकं स्वयमुत्पादयति, तथाऽयमात्मा कर्मबन्धनमवाञ्छन्नप्यार्तरौद्रध्यानवशेन कर्मबन्धनं माप्नोति। यथा कर्मबन्धनं स्वयमेवादत्ते, तथा तत्फलमपि बाह्य किञ्चिन्निमित्तमपेक्ष्य स्वयमेवोपभुङ्क्ते। एवं चात्मनो भोक्तृत्वं सिध्यति। भोक्तृत्वाच्च कर्तृत्वमपि तस्य निर्बाधम्।

साङ्ख्यसिद्धान्ते प्रकृते' कर्तृत्वं, न तु जीवस्य, भोक्तृत्वं चापि जीवस्योपचरितमेव। दर्पणाकाराया बुद्धौ सक्रान्ताना सुखदु'खादीना स्वात्मनि

कारण अपनी आत्मा में कर्म–रज इकट्ठी कर लेता है। जैसे अज्ञानी मनुष्य रोग के कारणभूत अपथ्य का सेवन करता हुआ न चाहते हुए भी ज्वर आदि को उत्पन्न कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा कर्मबंधन की इच्छा न कर के भी आर्त–रौद्रध्यान के अधीन होकर कर्मबंध को प्राप्त होता है। जैसे कर्मबन्ध को आत्मा स्वयं ग्रहण करता है, उसी प्रकार किसी बाह्य निमित्त की अपेक्षा से उसका फल भी स्वयं ही भोगता है। इसी प्रकार आत्मा में भोक्तापन सिद्ध होता है, और भोक्ता होने से उस में कर्तापन भी बिना किसी बाधा के सिद्ध हो जाता है।

सांख्यमत से प्रकृति कर्ता है, जीव नहीं, और भोक्तापन जीव में उपचार से है। दर्पणाकार बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने वाले सुख–दुःख आदि का आत्मा में प्रतिबिम्ब

આત્માને વિષે કર્મ–રજ (કર્મના રજકણો) એકઠી કરી લે છે, જેમ અજ્ઞાની મનુષ્ય રોગના કારણભૂત અપથ્યનું (રોગ ઉત્પન્ન કરે તેવું) સેવન કરીને, પોતે ઇચ્છતો નથી તો પણ જ્વર (તાવ) આદિને ઉત્પન્ન કરી લે છે તે પ્રમાણે આત્મા કર્મબંધનની ઇચ્છા નહિ કરવા છતાંય પણ આર્ત–રૌદ્ર ધ્યાનને આધીન થઇને કર્મબંધનને પ્રાપ્ત થાય છે જેવી રીતે કર્મબંધનને આત્મા પોતે જ ગ્રહણ કરે છે, તે પ્રમાણે કોઈ બાહ્ય નિમિત્તની અપેક્ષાથી તેનું ફલ પણ પોતે જ ભોગવે છે એ પ્રમાણે આત્મામાં ભોક્તાપણું સિદ્ધ થાય છે અને ભોક્તા હોવાથી તેમાં કોઈ પ્રકારની બાધા વિના કર્તાપણું પણ સિદ્ધ થઈ જાય છે

સાંખ્યમત પ્રમાણે પ્રકૃતિ કર્તા છે, જીવ કર્તા નથી ભોક્તાપણું તે પણ જીવમાં ઉપચારથી છે દર્પણાકાર બુદ્ધિમાં પ્રતિબિમ્બિત (પ્રતિબિંબરૂપે) થવાવાળા (દેખાવવાવાળા) સુખ–દુઃખ આદિનું પ્રતિબિંબ આત્મામાં પડી શકતું નથી, સ્ફટિક

सर्वव्यापित्व, तत् कादाचित्कमिति न तेन व्यभिचार ।

आत्मा श्यामाकतण्डुलमात्रो न भवति, अङ्गुष्ठपर्वमात्रो वा न भवति, तावन्मात्रस्योपात्तशरीरव्यापित्वात्, तिले तैलवत् त्वक्पर्यन्तशरीरव्यापित्वेन चोपलभ्यमानगुणत्वात्, तस्मादुपात्तशरीरे त्वक्पर्यन्तशरीरव्यापीति सिद्धम् ।

(१०) अमूर्तत्वनिरूपणम्—

आत्मा अमूर्त , इन्द्रियैरग्राह्यत्वात्, खड्गादिभिरच्छेद्यत्वात्, शूलादिभिरभेद्यत्वात्, रूपरहितत्वात्, अनाद्यमूर्तपरिणामत्वात्, नित्यत्वात् ।

कादाचित्क (कभी-कभी होनेवाला) है, उस से व्यभिचार नही आता ।

आत्मा श्यामाक धान्यकण बराबर नहीं है, न अगूठे के पर्व (पोर) के बराबर ही है, इतना सा आत्मा एक साथ समस्त शरीर में व्यापक नहीं हो सकता, मगर आत्मा के गुण तो सपूर्ण शरीर में उपलब्ध होते हैं, जैसे तिलों में तेल सर्वत्र पाया जाता है, अत एव सिद्ध हुआ कि आत्मा प्राप्त शरीर में त्वचापर्यन्त यापी है ।

(१०) आत्मा का अमूर्तत्व–

आत्मा अमूर्त है, क्यों कि वह इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जाता, वह खड्ग आदि से छेदा नहीं जा सकता, शूल आदि से भेदा नहीं जा सकता, वह अरूपी है, अनादि काल से अमूर्त परिणामवाला है और वह नित्य है ।

(કદાચિત થવાવાળુ) છે, તેમા વ્યભિચાર આવતો નથી.

આત્મા શ્યામાક ધાન્યના કણુ બરાબર નથી, તેમજ અગૂઠાના પર્વ (પોર) બરાબર પણુ નથી એટલે આત્મા એક સાથે સમસ્ત શરીરમાં વ્યાપક થઇ શકતો નથી, પરન્તુ આત્માના ગુણુ તો સપૂર્ણ શરીરમા ઉપલબ્ધ થાય છે, જેમ તલમાં તેલ સર્વત્ર હોય છે એ કારણુથી એ સિદ્ધ થયુ કે આત્મા આ પ્રાપ્ત શરીરમાં ત્વચા-ચામડી સુધી વ્યાપી રહેલો છે

(૧૦) આત્માનુ અમૂર્ત્તત્વ

આત્મા અમૂર્ત્ત છે કારણુ કે તે ઇન્દ્રિયો દ્વારા ગ્રહણુ કરી શકાતો નથી, ખડગ (તલવાર) આદિથી છેદી શકાતો નથી, શૂલ આદિથી ભેદી શકાતો નથી, અરૂપી છે, અનાદિ કાલથી અમૂર્ત્ત પરિણુામવાળો છે અને તે નિત્ય છે

गुणानामसद्भाव इति सर्वैः स्वीकारात्। शरीरे तद्गुणसत्त्वे हेतोर्नासिद्धता, इत्थं च देहाद् बहिर्देशेऽपि आत्माऽस्तीति वाद परित्यज्य स्वदेह एवात्माऽस्तीति मन्तव्यम्।

यद्वा—आत्मा व्यापको न भवति चेतनत्वात्, यत्तु व्यापक तन्न चेतनम्, यथा गगनम्। चेतनं चात्मा, तस्मान्न व्यापक'। इत्थमव्यापकत्वे सिद्धे तस्य तत्रैवोपलभ्यमानगुणत्वे कायप्रमाणताऽपि सिद्धा। यत् पुनरष्टसमयसाध्य-केवलिसमुद्घातावस्थायामार्हतानामपि चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकव्यापित्वेनात्मनः

रिक्त देश में बुद्धि आदि गुणों का सद्भाव नहीं है, ऐसा सभी ने स्वीकार किया है। शरीर में आत्मा के गुणों का अस्तित्व है ही, अत एव हेतु असिद्ध नहीं है। इस प्रकार शरीर से बाहर आत्मा का अस्तित्व मानना छोड कर स्वदेह में ही अस्तित्व मानना चाहिए.

अथवा—आत्मा व्यापक नहीं है, क्यों कि वह चेतन है। जो व्यापक होता है वह चेतन नहीं होता, जैसे आकाश। आत्मा चेतन है, अत व्यापक नहीं है।

इस से आत्मा की अव्यापकता सिद्ध हो जाने पर पूर्वोक्त हेतु से (क्यों कि शरीर में ही उस के गुण पाये जाते हैं, इस हेतु से) आत्मा की शरीरप्रमाणता भी सिद्ध हो जाती है। आठ समय में सम्पन्न होने वाले केवलिसमुद्घात की अवस्था में चौदहराजू लोक में आत्मा का व्याप्त हो जाना जो यहाँ माना है, वह

નહિ કારણ કે દેહથી અતિરિક્ત (દેહ સિવાય) દેશમાં બુદ્ધિ આદિ ગુણોનો સદ્ભાવ નથી. એ પ્રમાણે સૌએ સ્વીકારેલ છે શરીરમાં આત્માના ગુણોનુ અસ્તિત્વ છે જ, એ કારણથી હેતુ અસિદ્ધ નથી આ પ્રમાણે શરીરની બહાર આત્માનું અસ્તિત્વ માનવું ત્યજીને પોતાના દેહમાં જ અસ્તિત્વ માનવુ જોઈએ.

અથવા—આત્મા વ્યાપક નથી, કારણ કે તે ચેતન છે. જે વ્યાપક હોય છે તે ચેતન હોય નહિ, જેમ આકાશ. આત્મા ચેતન છે તે કારણથી વ્યાપક નથી.

આ હેતુથી આત્માની અવ્યાપકતા સિદ્ધ થવાથી પૂર્વોક્ત હેતુથી (કેમકે શરીરમાં જ તેના ગુણ જોવામાં આવે છે એ હેતુથી) આત્માની શરીરપ્રમાણતા પણ સિદ્ધ થઇ જાય છે આઠ સમયમાં સંપન્ન થવા વાળા કેવલિસમુદ્ઘાતની અવસ્થામાં ચૌદ રાજૂલોકમાં આત્માનુ વ્યાપ્ત થઈ જવાનું અહિં જે માન્યુ તે કદાચિત

इयं च पुत्तलिका न किञ्चिदिच्छति, पुनरयं बाल' सकलेन्द्रियैर्विषयमुपभुज्य सुखीभवितुमिच्छति। यदि कोऽपि खड्गमुत्थाप्येमावभिधावेत् तदा पुत्तलिका पूर्ववदेवावस्थिता भविष्यति, बालस्तु खड्गाभिघातजनितदुःखादुद्विज्य पलायिष्यते। असौ बाल कमपि बुभुक्षितं बालमुपकरिष्यति भोजनीयवस्तुप्रदानेन, कमपि चान्यं बालं चपेटादिप्रहारेण क्रन्दयिष्यति। पुत्तलिका तु हितमहितं वाऽपि किञ्चिन्नैव कर्तुं प्रभविष्यति। यदि मिष्टाशनाय बाल आहूतो भवेत् तदानीं सत्वरमागतो बालो भोक्तुं प्रवर्तेत, तज्जन्यसुखानुभवोऽपि तस्य जायेत। पुत्तलिका तु नागमिष्यति न किंचिद् भोक्ष्यते, का वार्ता सुखानुभवस्य ?।

यह पुतली कुछ भी इच्छा नहीं करती मगर बालक सभी इन्द्रियों के विषयों का भोग करके सुखी होने की इच्छा करता है। अगर कोई तलवार उठाकर इन्हें मारने दौडे तो पुतली ज्यों की त्यों खडी रहेगी मगर बालक तलवार के आघात के दुःख से उद्विग्न हो कर या आघात की आशङ्का से भाग जायगा। वह बालक किसी भूखे बालक को भोजन देकर उसका उपकार भी करेगा और किसी बालक को थप्पड आदि मारकर रुलाएगा, मगर पुतली किसीका हित या अहित करने में समर्थ नहीं है। अगर बालक को मिठाई खाने के लिए बुलाया जाय तो उसी समय आकर वह मिठाई पर टूट पडेगा और उसे मिठाई खाने के सुख का अनुभव भी होगा। पुतली न मिठाई के लिए आएगी न खाएगी, सुख का अनुभव करने की तो बात ही अलग रही। अत एव यह निश्चय होता है कि बालक में जीव का लक्षण ज्ञान

આ પુતળી કાંઈ પણ ઈચ્છા કરતી નથી પરંતુ બાળક સર્વ ઇન્દ્રિયોના વિષયોનો ભોગ કરીને સુખી થવાની ઇચ્છા કરે છે અથવા કોઈ તલવાર ઉઠાવીને તેને મારવા દોડે તો પુતલી તો જેમ છે તેમ ત્યાં ઉભી રહેશે. પરંતુ બાલક તલવાર મારવાના દુઃખથી ઉદ્વિગ્ન-ચિંતાતુર બનીને અથવા તો મારવાની આશંકાથી ભાગી જશે.

એ બાળક કોઈ ભૂખ્યા બાળકને ભોજન આપીને તેનો ઉપકાર પણ કરશે અને કોઇ બાળકને થપડ આદિ મારીને તેને રોવરાવશે, પરંતુ પુતલી કોઈનું હિત કે અથવા અહિત કરવા સમર્થ નથી અથવા બાળકને મિઠાઈ ખાવા માટે બોલાવવામાં આવે તો તેજ સમયે આવીને મિઠાઇ પર તૂટી પડશે અને તેને મિઠાઈ ખાવાનો સુખનો અનુભવ પણ થશે. પુતલી મિઠાઇ માટે આવશે નહી. અને ખાશે પણ નહી. તો સુખના અનુભવની તો વાત જ જુદી રહી. એ કારણથી નિશ્ચય થાય છે કે

अनेन-"आत्मा नातीन्द्रियो नापि जडाद् भिन्नः" इति नास्तिकमतं निरस्तम्।

नन्वमूर्तोऽयमात्मा नेत्रादिभिरिन्द्रियैस्तु न विज्ञेयस्तर्हि कथमिमं जनो जानीयात्-'अस्त्ययमात्मे'-ति।

श्रूयताम्-कस्यचित् समक्षमष्टवर्षीयो बालस्तिष्ठति; तत्समानाकृति-र्मृन्मयी पुत्तलिकाऽपि तिष्ठति। तत्रासौ द्रष्टा पश्यति-इयं पुत्तलिका चक्षुर्घ्राण-कर्णयुक्ताऽपि द्रष्टुं घ्रातुं श्रोतुं वा न शक्नोति, पुनरयं बालश्चक्षुर्भ्यां पश्यति, पुष्पमाघ्राति, कस्यचिद्भाषितं शृणोति च।

इस कथन से नास्तिक के इस मत का निराकरण हो गया कि-'आत्मा न अतीन्द्रिय है और न जड से भिन्न है'।

शङ्का—आत्मा अमूर्त है, नेत्र आदि इन्द्रियों से जाना नहीं जा सकता तो मनुष्य कैसे समझे कि आत्मा का अस्तित्व है'।

समाधान—सुनिये। मान लीजिए किसी के सामने आठ वर्ष का बालक खडा है, उसी के समान आकृतिवाली मिट्टी की एक पुतली भी रक्खी है। दोनों को देखने वाला देखता है कि-यह पुतली नेत्र, नाक और कान से युक्त तो है किन्तु देखने में सूंघने में और सुनने में समर्थ नहीं है, और यह बालक आंखों से देखता है, फूल सूंघता है, और किसी का भाषण सुनता है।

આ કથનથી નાસ્તિકના એ મતનું નિરાકરણ થઈ ગયું કે "આત્મા અતીન્દ્રિય નથી, અને જડથી ભિન્ન નથી"

શંકા—આત્મા અમૂર્ત છે, નેત્ર આદિ ઇન્દ્રિયોથી જાણી શકાતો નથી; તો પછી માણસો કેવી રીતે સમજી શકશે કે આત્માનું અસ્તિત્વ છે

સમાધાન—સાંભળો ! માની લો કે કોઈ (માણસ)ના સામે એક આઠ વર્ષનો બાળક ઉભો છે તેની બાજુમાં તેના જેવી સમાન આકૃતિવાળી માટીની એક પુતળી પણ રાખી છે આ બન્નેને જોવાવાળાં જુવે છે કે—આ પુતળી નેત્ર, નાક, કાનથી યુક્ત તો છે; પરન્તુ જોવામાં, સુંઘવામાં અને સાંભળવામાં સમર્થ નથી અને આ બાળક નેત્રથી જુવે છે, ફૂલ સૂંઘે છે અને કોઇનું ભાષણ સાંભળે છે

इयं च पुत्तलिका न किञ्चिदिच्छति, पुनश्च बालः पञ्चेन्द्रियविषयसुखमनुभूय सुखीभवितुमिच्छति। यदि कोऽपि खड्गमुत्थाप्यैनमभिधावेत् तदा पुत्तलिका पूर्ववदेवावस्थिता भविष्यति, बालस्तु खड्गाभिघातभयादुद्वि-पलायिष्यते। असौ बालः कमपि बुभुक्षितं बालमुपकरिष्यति भोजनादिप्रदानेन, कमपि चान्यं बालं चपेटादिप्रहारैः क्रन्दयिष्यति। पुत्तलिका हितमहितं वाऽपि किञ्चिन्नैव कर्तुं प्रभविष्यति। यदि मिष्टाशनाय बाल आहूतो भवेत् तदानीं सत्वरमागतो बालो भोक्तुं प्रवर्तेत तज्जन्यसुखानुभवोऽपि तस्य जायेत। पुत्तलिका तु नागमिष्यति न किञ्चिद् भोक्ष्यते का वार्ता सुखानुभवस्य?

यह पुतली कुछ भी इच्छा नहीं करती मगर बालक पाँचों इन्द्रियों के विषयों का भोग करके सुखी होने की इच्छा करता है। अगर कोई तलवार उठाकर इन्हें मारने दौड़े तो पुतली ज्यों की त्यों खड़ी रहेगी मगर बालक तलवार के आघात के डर से उद्विग्न होकर या आफत की आशङ्का से भाग जायगा। यह बालक किसी भूखे बालक को भोजन देकर उसका उपकार भी करेगा और किसी बालक को थप्पड़ आदि मारकर रुलाएगा, मगर पुतली किसीका हित या अहित करने में समर्थ नहीं है। अगर बालक को मिठाई खाने के लिए बुलाया जाय तो उसी समय आकर मिठाई पर टूट पड़ेगा और उसे मिठाई खाने के सुख का अनुभव भी होगा। पुतली न मिठाई के लिए आएगी न खाएगी, सुख का अनुभव करने की तो बात ही क्या रही। अत एव यह निश्चय होता है कि बालक में [illegible]

આ પુતળી કાંઇ પણ ઇચ્છા કરતી નથી. પરંતુ બાળક સર્વ ઇન્દ્રિયે વિષયોનો ભોગ કરીને સુખી થવાની ઇચ્છા કરે છે અથવા કોઈ તલવાર ઉગામીને તેને મારવા દોડે તો પુતળી તો જેમ છે તેમ ત્યાં ઉભી રહેશે પરંતુ બાળક તલવાર મારવાના દુઃખથી ઉદ્વિગ્ન-ચિંતાતુર બનીને અથવા તો મારવાની આશંકાથી ભાગી જશે.

એ બાળક કોઈ ભૂખ્યા બાળકને ભોજન આપીને તેનો ઉપકાર પણ કરશે અને કોઇ બાળકને થપડ આદિ મારીને તેને રોવરાવશે, પરંતુ પુતળી કોઈનું હિત કે અથવા અહિત કરવા સમર્થ નથી. અથવા બાળકને મિઠાઈ ખાવા માટે બોલાવવામાં આવે તો તેજ સમયે આવીને મિઠાઈ પર તૂટી પડશે અને તેને મિઠાઈ ખાવાનો સુખનો અનુભવ પણ થશે. પુતળી મિઠાઈ માટે આવશે નહી અને ખાશે પણ નહી. તો સુખના અનુભવની તે વાત જ ક્યાં રહી. એ કારણથી નિશ્ચય થાય છે કે

तथा चायं निश्चयः—बाले जीवलक्षणस्य ज्ञानस्य सद्भावाद् बालशरीरे जीवोऽस्तीति। एवमन्यत्रापि सजीवशरीरे जीवस्य सत्ता निश्चेतुं शक्यते। वस्तुतोऽयमात्मैव कर्ता भोक्ता नानाविधशुभाशुभपरिणतिकर्ता चेति। अयमात्मा संसारावस्थायां स्वज्ञानवशेन दुःखमर्जयति। उक्तञ्च—

"संसारे पर्यटन् जन्तु,—र्बहुयोनिसमाकुले,
शारीरं मानसं दुःख, माप्नोति घत दारुणम् ॥१॥
आर्तध्यानरतो मूढो, न करोत्यात्मनो हितम्,
तेनासौ सुमहत् क्लेशं, परत्रेह च गच्छति" ॥२॥

विद्यमान है, इस लिए उस में जीव है। इसी प्रकार अन्यत्र भी सजीव शरीर में जीव की सत्ता का निश्चय किया जा सकता है। वास्तव में यही आत्मा कर्ता, भोक्ता और नाना प्रकार की शुभ और अशुभ परिणतियों का कर्ता है। आत्मा संसार—अवस्था में अपने अज्ञान के आधीन हो कर दुःख उपार्जन करता है, कहा भी है —

"नाना प्रकार की योनियों से युक्त इस संसार में भ्रमण करता हुआ जीव अनेक और भयानक शारीरिक एवं मानसिक दुःख प्राप्त करता है ॥ १ ॥

आर्तध्यान और रौद्रध्यान में लीन रहने वाला मूढ जीव आत्मा का हित नहीं करता। इसी कारण वह इस लोक और पर लोक में महान् क्लेश पाता है" ॥२॥

બાલકમાં જીવનું લક્ષણ—જે જ્ઞાન તે વિદ્યમાન છે, તે કારણથી તેમા જીવ છે એ પ્રમાણે અન્યત્ર પણ સજીવ શરીરમાં જીવની સત્તાનો નિશ્ચય કરી શકાય છે વાસ્તવમા આ આત્મા કર્તા, ભોક્તા અને નાના પ્રકારની શુભ અને અશુભ પરિણતિઓનો કર્તા છે આત્મા સંસાર અવસ્થામાં પોતાના અજ્ઞાનને આધીન થઈને દુઃખ ઉપાર્જન કરે છે કહ્યુ પણ છે કે —

"નાના પ્રકારની યોનિયોથી યુક્ત આ સંસારમા ભ્રમણ કરતો થકો જીવ અનેક ભયાનક શારીરિક અને માનસિક દુઃખ પ્રાપ્ત કરે છે ॥૧॥

આર્ત્તધ્યાન અને રૌદ્રધ્યાનમાં લીન રહેવા વાળો મૂઢ જીવ આત્માનું હિત કરતો નથી. આ કારણથી તે આ લોક અને પરલોકમાં મહાન્ ક્લેશ પામે છે ॥૨॥

(११) आत्मन. प्रतिशरीर भिन्नत्वम्—

आत्मा-प्रतिशरीर भिन्न । एकस्यैवात्मन प्रतिशरीरसत्त्वे तु जन्ममरणवन्ध-मोक्षव्यवस्था नोपपद्येरन् । अन्यो जात', अन्यो मृतः । अन्यो बद्ध', अन्यस्तु मुक्त इति व्यवस्था कथमुपपद्येत, तस्मात् प्रतिशरीरं भिन्न इति सिद्धम् । तथा चानन्ता आत्मान इति मन्तव्यम् । अनेनाऽद्वैतवादो निराकृत. ।

(१२) आत्मन पौद्गलिककर्मसयुक्तत्वम्—

अयमात्मा—पौद्गलिककर्मसयुक्त । निश्चयनयेन कर्मरहितोऽपि व्यवहार-नयतोऽनादिकालत. पौद्गलिककर्मसबद्धोऽस्ति, तस्मादयं पौद्गलिककर्मसंयुक्त इति कथ्यते ।

---

(११) आत्मा का प्रतिशरीरभिन्नत्व—

आत्मा अलग-अलग शरीरों में अलग-अलग है। समस्त शरीरों में एक ही आत्मा का अस्तित्व माना जाय तो जन्म, मरण, बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। अर्थात् कोई जनमा, कोई मरा, कोई बद्ध हुआ और कोई मुक्त हुआ, ऐसी व्यवस्था कैसे बन सकेगी ! अत आत्मा प्रत्येक शरीर में अलग ही सिद्ध होता है। आत्माएँ अनन्त हैं, ऐसा मानना चाहिए। इस से अद्वैतवाद का निराकरण हो गया ।

(१२) आत्मा का पौद्गलिक कर्मसंयोग—

यह आत्मा पौद्गलिक कर्मों से सयुक्त है। निश्चयनय से कर्मरहित होने पर भी व्यवहारनयकी अपेक्षा अनादिकाल से पौद्गलिक कर्मों के साथ आत्मा

---

(૧૧) આત્માનુ પ્રતિશરીરભિન્નત્વ

આત્મા જુદા-જુદા શરીરોમાં જુદો-જુદો છે સમસ્ત શરીરોમાં એક જ આત્માનુ અસ્તિત્વ માનવામાં આવે તો જન્મ, મરણ બધ અને મોક્ષની વ્યવસ્થા થઈ શકશે નહી અર્થાત્, કોઇનુ જન્મ, કોઈનુ મરણ, કોઈ બદ્ધ થાય અને કોઈ મુકત થાય એવી વ્યવસ્થા કેવી રીતે બની શકશે ? આ કારણથી 'આત્મા પ્રત્યેક શરીરમા અલગ છે' એમ સિધ્ધ થાય છે આત્મા અનત છે એમ માનવુ જોઈએ, આથી અદ્વૈતવાદનુ નિરાકરણ થઈ ગયુ

(૧૨) આત્માનો પૌદ્ગલિક કર્મસયોગ

આ આત્મા પૌદ્ગલિક કર્મોથી સયુકત (કર્મો સાથે જોડાએલો) છે નિશ્ચય નયથી કર્મરહિત હોવા છતાય પણ વ્યવહારનયની અપેક્ષા અનાદિકાલથી પૌદ્ગલિક

आत्मनो मिथ्यात्वेन सहानादि' सम्बन्ध'। अनादिमिथ्यात्वजनित-विभावपरिणामरूपरागद्वेषपरिणत्याऽऽत्मा सततप्तायोगोल्क इव सलिलं सर्वतोभावेन ज्ञानावरणीयादिकर्मदलं समाकृष्य स्वस्मिन् संयोजयति। ततोऽसौ वह्निनाऽयोगोलक इव, नीरेण क्षीरमिव तेन कर्मदलेनैक्यमावं माप्य मूर्त इव भवति, अत एव निश्चयनयेनाऽमूर्तोऽपि व्यवहारनयेनात्मा मूर्त इत्युच्यते। कर्मसम्बन्धोऽयमात्मनो व्यवहारनयत एव।

का संयोग है। अत एव उसे पौद्गलिक कर्मों से संयुक्त कहते हैं। मिथ्यात्व के साथ आत्मा का अनादि सम्बन्ध है। अनादिकालीनमिथ्यात्वजनित विभाव-परिणतिरूप राग-द्वेष से आत्मा अपने समस्त प्रदेशों से ज्ञानावरण आदि के कर्मदलिकों को उसी प्रकार ग्रहण करता है, जैसे खूब तपा हुआ लोहे का गोला जल को ग्रहण करता है। अत जैसे अग्नि और लोहगोलक एकमेक से हो जाते हैं, और दूध-पानी एक-मेक होया हुआ प्रतीत होता है, इसी प्रकार कर्मदलिकों के साथ आत्मा एकमेक होकर मूर्त-सा हो जाता है। इस प्रकार निश्चयनय से अमूर्त होने पर भी व्यवहारनय से आत्मा मूर्त है। आत्मा और कर्म का यह सम्बन्ध व्यवहारनय से ही समझना चाहिए।

કર્મોની સાથે આત્માનો સંયોગ છે એ કારણથી તેને પૌદ્ગલિક કર્મોથી સંયુક્ત કહે છે

મિથ્યાત્વની સાથે આત્માનો અનાદિ સંબંધ છે અનાદિકાલીન મિથ્યાત્વથી ઉત્પન્ન વિભાવ-પરિણતિરૂપ રાગ-દ્વેષથી આત્મા પોતાના સમસ્ત પ્રદેશોથી જ્ઞાનાવરણ આદિના કર્મદળોને એવી રીતે ગ્રહણ કરે છે કે જેવી રીતે ખૂબ તપેલો લોઢાનો ગોળો જળનું ગ્રહણ કરે છે એટલે કે જેમ અગ્નિ અને લોઢાનો ગોળો એકમેક થઇ જાય છે, અને દૂધ-પાણી એકમેક થયેલા પ્રતીત થાય છે તે પ્રમાણે કર્મ દલિકોની સાથે આત્મા એક-મેક થઇને મૂર્ત જેવો થઇ જાય છે આ પ્રમાણે નિશ્ચયનયથી અમૂર્ત હોવા છતાંય પણ વ્યવહારનયથી આત્મા મૂર્ત છે આત્મા અને કર્મનો આ સંબંધ વ્યવહારનયથી જ સમજવો જોઇએ

कर्मबन्धापेक्षयाऽऽत्मना सह पुद्गलस्यैक्यरूपः सम्बन्धः, परन्तु लक्षणापेक्षया द्वयोर्भिन्नता प्रतीयते। तस्मादात्मन एकान्तेनाऽमूर्तत्वं नास्ति। इदमत्र तत्त्वम्-बन्धस्तु वस्तुतः पुद्गलस्य पुद्गलेन सह भवति, यथा पृथक् पृथक् पुद्गला रूक्षस्निग्धगुणाभ्यां परस्परं बन्धं प्राप्नुवन्ति तद्वत्-आत्मना सह पूर्वबद्धैः कर्मपुद्गलैः सह नूतनकर्मपुद्गला निबध्यन्ते। आत्मनोऽसंख्यातप्रदेशेष्वेषां कर्मपुद्गलानामवगाहनं भवति। आत्मन एकैकप्रदेशेऽनन्तकर्मपुद्गलास्तिष्ठन्ति। आत्मप्रदेशानां कर्मपुद्गलानां चैकक्षेत्रेऽवगाहनरूप एव बन्धः। ईदृशोऽयं बन्धो नास्ति।

कर्मबन्ध की अपेक्षा आत्मा के साथ पुद्गल का एकत्व-रूप-सम्बन्ध है किन्तु लक्षणों से दोनों भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, इस लिए आत्मा में एकान्त अमूर्तता नहीं है। तात्पर्य यह है कि-वास्तव में पुद्गलका बन्ध तो पुद्गल के साथ ही होता है, जैसे पृथक् पृथक् पुद्गल रूक्षता और स्निग्धता गुणों के कारण परस्पर बद्ध हो जाते हैं, इस प्रकार आत्मा के साथ पहले से बँधे हुए कर्मपुद्गल के साथ नवीन कर्मपुद्गलों का बन्ध होता है, इन पुद्गलों की अवगाहना आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में होती है। आत्मा के एक-एक प्रदेश में अनन्त पुद्गल रहते हैं। आत्मप्रदेशों का और कर्म-पुद्गलों का बन्ध एकक्षेत्रावगाहन रूप ही है, जैसे एक पुद्गल दूसरे पुद्गल के साथ स्निग्धता और रूक्षता गुण के कारण मिल कर स्कन्ध बन जाता है वैसा आत्मा और पुद्गल का बन्ध नहीं होता। कर्म-

કર્મ બંધની અપેક્ષા આત્માની સાથે પુદ્ગલનો એકત્વરૂપ સંબંધ છે, પરન્તુ લક્ષણોથી બન્ને ભિન્ન ભિન્ન પ્રતીત થાય છે એ કારણથી એકાન્ત મૂર્તતા નથી. તાત્પર્ય એ છે કે —વાસ્તવમાં પુદ્ગલનો બંધ તો પુદ્ગલની સાથે જ થાય છે પૃથક્-પૃથક્ પુદ્ગલ રૂક્ષતા અને સ્નિગ્ધતા ગુણોના કારણે પરસ્પર બદ્ધ થઈ જાય છે એ પ્રમાણે આત્માની સાથે પ્રથમથી બદ્ધ થયેલા (આત્માને પ્રથમ ચોંટેલા) કર્મપુદ્ગલોની સાથે નવીન કર્મપુદ્ગલોનો બંધ થાય છે તે પુદ્ગલોની અવગાહના આત્માના અસંખ્યાત પ્રદેશોમાં થાય છે આત્માના એક એક પ્રદેશમાં અનન્ત પુદ્ગલ રહે છે આત્માના પ્રદેશો અને કર્મપુદ્ગલોનો બંધ એકક્ષેત્રાવગાહનરૂપ જ છે જેવી રીતે એક પુદ્ગલ બીજા પુદ્ગલની સાથે સ્નિગ્ધતા અને રૂક્ષતા ગુણના કારણે મળીને સ્કંધ બની જાય છે, તેવી રીતે આત્મા અને પુદ્ગલનો બંધ થતો નથી. કર્મપુદ્ગલોની અવગાહના આત્માની સાથે આ પ્રકારે અનાદિકાલથી ચાલી આવે છે

— यथा–पुद्गलस्य पुद्गलेन सह स्निग्धरूक्षगुणसद्भावे सति स्कन्धभावरूपो बन्धो भवति। कर्मपुद्गलानामवगाहनाऽऽत्मना सहेत्थमनादिकालतः प्रवृत्ता, यद्–एकपिण्डरूपं कार्मणशरीरमेव सञ्जायते। तच्च शरीरमात्मन' प्रदेशमेकमपि न मुञ्चति। आत्मन सर्वप्रदेशमभिव्याप्य तिले तैलमिव कार्मणशरीर तिष्ठति, किन्तु–अक्षर–स्यानन्तसमो भागो वर्तत एव, मेघपटलाच्छादितसूर्यरश्मिवत्। इद कार्मण शरीर तैजस चेति द्वयं शरीरमतिसूक्ष्मं सदाऽऽत्मना सह वर्तते। यत्र सूक्ष्मशरीरे स्थूलशरीरे चाऽयमात्मा गच्छति तत्प्रमाणो भवन् सङ्कुचितो विस्तृतो वा भवति। तदानीमिदं द्वयं शरीरमपि सूक्ष्मस्थूलशरीरानुसारेण सङ्कुचितं विस्तृत वा भवति।

यथा—अकृत्रिमपर्वतादौ स्कन्धरचना विद्यमानैव, तथापि तस्मात्

पुद्गलों की अवगाहना आत्मा के साथ इस प्रकार अनादिकाल से चली आती है कि एक पिण्डरूप कार्मण शरीर ही उत्पन्न होता है। यह कार्मण शरीर आत्मा के एक भी प्रदेशको नहीं छोड़ता। आत्मा के समस्त प्रदेशों को व्याप्त करके, तिल में तेल की तरह कार्मण शरीर रहता है, किन्तु ज्ञान का अनन्तवाँ भाग बादलों से आच्छादित सूर्य की प्रभा के समान खुला रहता ही है।

यह कार्मण शरीर और तैजस शरीर अत्यन्त सूक्ष्म है और आत्मा के साथ सदैव रहते हैं। जिस सूक्ष्म या स्थूल शरीर में आत्मा जाता है उसी शरीरप्रमाण संकुचित या विस्तृत हो जाता है, और उस समय ये दोनों शरीर भी सूक्ष्म अथवा स्थूल शरीर के अनुसार संकुचित अथवा विस्तृत हो जाते हैं।

जैसे अकृत्रिम पर्वत आदि में स्कन्ध की रचना तो ज्यों की त्यों विद्यमान रहती है

કે એકપિંડરૂપ કાર્મણ શરીર જ ઉત્પન્ન થાય છે તે કાર્મણ શરીર આત્માના એક પણ પ્રદેશને છોડતો નથી આત્માના તમામ પ્રદેશોને વ્યાપ્ત (વ્યાપ્ય તરફ પ્રસરેલ) કરીને તલમાં તેલ રહે છે તે પ્રમાણે કાર્મણ શરીર રહે છે

પરંતુ જ્ઞાનનો અનંતમો ભાગ, વાદળાઓથી ઢંકાએલી સૂર્યની પ્રભા પ્રમાણે ખુલ્લો રહે જ છે? તે કાર્મણ શરીર અને તૈજસ શરીર અત્યન્ત સૂક્ષ્મ છે. અને આત્માની સાથે તે હમેશાં રહે છે જે સૂક્ષ્મ કે સ્થૂલ શરીરમાં આત્મા જાય છે તે શરીર પ્રમાણે સંકુચિત અથવા વિસ્તૃત થઈ જાય છે અને તે સમય આ બન્ને શરીર પણ સૂક્ષ્મ અથવા સ્થૂલ શરીરના અનુસારે સંકુચિત અથવા વિસ્તૃત થઈ જાય છે.

જેવી રીતે અકૃત્રિમ પર્વત આદિના સ્કંધની રચના તો જેવી છે તેવી જ

स्कन्धात् पुरातना पुद्गला क्षरन्ति नूतनास्तु तत्रागत्य मिलन्ति, तथाऽनयो-स्तैजस-कार्मण-शरीरयो स्वरूप न कदाचिद् विनश्यति, परन्तु तत्रत्या॰ पुरातना कर्मपुद्गलाः स्वस्वफलप्रदानपुरस्सर स्वात्रस्थितिसमयं समाप्यापगच्छन्ति, नूतना' पुन कर्मपुद्गला आत्मप्रदेशेषु मिलित्वा सबद्धा भवन्ति। एवमात्मप्रदेशै सहानादिकालत प्रवाहरूपोऽय समायात॰ कर्मणा सम्बन्ध॰।

अय च कर्मसम्बन्धस्तदैव विनङ्क्ष्यति, यदाऽयमात्मा मुक्ति लभेत। आभ्यां तैजसकार्मणशरीराभ्यां वियोग एव मुक्तिरुच्यते। यद्यनादिकालत कार्मण-शरीर ससारिणो न स्यात् तदा कदाचिदपि नवीनकार्मणवर्गणाभिर्बन्धो न भवेत्। कार्मणशरीराभावादेव सिद्धाना कार्मणवर्गणापरिपूर्णेऽपि सिद्धक्षेत्रे कर्मबन्धो न भवति।

फिर भी उस स्कन्ध से पुराने पुद्गल खिरते रहते हैं और नवीन पुद्गल आकर उसमें मिल जाते हैं, इसी प्रकार तैजस और कार्मण शरीर का स्वरूप कभी नष्ट नहीं होता, किन्तु उसमें के पुराने कर्म-पुद्गल अपना-अपना फल देकर, अपनी स्थिति का काल समाप्त करके हट जाते हैं और नवीन पुद्गल आत्मप्रदेशों में मिलकर बद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मप्रदेशों के साथ कर्मों का सम्बन्ध अनादिकाल से प्रवाहरूप में चला आता है।

यह कर्म-सम्बन्ध उसी समय नष्ट होगा, जब आत्मा मुक्त हो जायगा। तैजस और कार्मण शरीर से सर्वथा वियोग हो जाना ही आत्मा की मुक्ति है। संसारी जीव के साथ अनादि काल से कार्मण शरीर का सम्बन्ध न होता तो नवीन कर्मवर्गणाओं का सम्बन्ध कभी न होता। यद्यपि सिद्धक्षेत्र कार्मणवर्गणा से भरा हुआ है, फिर भी सिद्धों में कार्मण शरीर न होने से उन्हें कर्मबन्ध नहीं होता।

વિદ્યમાન રહે છે, તો પણ તે સ્કધમાથી પુરાણા પુદ્ગલ ખરતા રહે છે અને નવીન પુદ્ગલ આવીને તેમા મળી જાય છે એ પ્રમાણે તેજસ અને કાર્મણ શરીરનુ સ્વરૂપ કોઈ વખત પણ નાશ થતુ નથી, પરતુ તેમા પુરાણા કર્મપુદ્ગલ પોત-પોતાનુ ફળ આપીને પોતાની સ્થિતિનો સમય સમાપ્ત કરીને હઠી જાય છે, અને નવીન પુદ્ગલ આત્મપ્રદેશોમાં મળીને બદ્ધ થઈ જાય છે આ પ્રમાણે આત્મપ્રદેશોની સાથે કર્મોનો સબધ અનાદિ કાળથી પ્રવાહરૂપમા ચાલ્યો આવે છે

આ કર્મ-સબધ તે સમયે નાશ થશે કે જ્યારે આત્મા મુક્ત થઈ જશે તૈજસ અને કાર્મણ શરીરનો સર્વથા વિયોગ થઈ જવો તેજ આત્માની મુક્તિ છે. સસારી જીવની સાથે અનાદિ કાલથી કાર્મણ શરીરનો સબધ જો ન હોત તો નવીન કર્મવર્ગણાઓનો સબધ પણ કોઇ વખત નહી થતે, જો કે સિદ્ધક્ષેત્ર

(१३) आत्मन ऊर्ध्वगतिस्वभावत्वम्–

अयमात्मा–ऊर्ध्वगतिशील., अगुरुलघुत्वात्। यद्येवं तर्हि कथमधो गच्छति ?। अलाबुर्यथा स्वभावत ऊर्ध्वगमनशीलोपि मृल्लेपाज्जलेऽधो गच्छति, तदपगमादूर्ध्व-माजलान्तात् गच्छति, एवमात्मापि कर्मलेपादधो गच्छति तदपगमादूर्ध्वमालो-कान्ताद् गच्छति। यथा वा-एरण्डबीजमपि स घनमुक्त सदूर्ध्वं गच्छति।

(१३) आत्माका ऊर्ध्वगतिस्वभाव—

यह आत्मा ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला है, क्यों कि वह अगुरुलघु है। प्रश्न किया जा सकता है कि अगर ऐसी बात है तो आत्मा अधोगमन क्यों करता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे पानी में ऊपर की ओर गमन करने का तूंबेका स्वभाव है, फिर भी मिट्टी का लेप कर देन से वह अधोगमन करता है और लेप हट जाने पर जल की सतह तक ऊपर की ओर उठता है। इसी प्रकार आत्मा कर्मलेप के कारण नीचे जाता है और कर्मलेप हट जाने से लोक के अग्रभाग तक उपर की ओर जाता है। अथवा जैसे–एरण्ड का बीज बन्धन से मुक्त होकर उपर जाता है उसी प्रकार आत्मा भी कर्मबन्धन का नाश होने पर उपर जाता है।

કાર્મણવર્ગણાઓથી ભરેલો છે, તો પણ સિદ્ધોમાં કાર્મણ શરીર નહિ હોવાથી તેને કર્મબંધ થતો નથી.

(૧૩) આત્માનો ઊર્ધ્વગતિસ્વભાવ—

આ આત્મા ઊર્ધ્વ-ગતિ-ગમન-સ્વભાવ વાળો છે, કારણ કે તે અગુરૂ-લઘુ છે તો પ્રશ્ન કરી શકાય છે કે અગર જો એ પ્રમાણે છે તો આત્મા અધોગમન કેમ કરે છે? આ પ્રશ્નનો ઉત્તર એ છે કે-તુંબડાનો સ્વભાવ જેમ પાણીમાં ઉપરની તરફ આવવાનો છે તો પણ તેને માટીનો લેપ કરી દેવાથી તે પાણીમાં નીચે જાય છે અને માટીનો લેપ દૂર થતા જલની સપાટી સુધી ઉપરના ભાગમાં આવે છે એ પ્રમાણે આત્મા કર્મલેપના કારણે નીચે જાય છે, અને કર્મલેપ દૂર થવાથી લોકના અગ્રભાગ સુધી ઉપરના ભાગમા જાય છે અથવા જેવી રીતે એરંડાનું બીજ બંધનથી મુક્ત થતાં ઉપર જાય છે તે પ્રમાણે આત્મા પણ કર્મબંધન નાશ થતાં ઉપર જાય છે

लोकवादिप्रकरणम्-

यः पुनरेवरूपमात्मानं सर्वथा विज्ञायात्मस्वरूपनिरूपणपरः स एव वस्तुतो लोकवादीत्याह-'लोकवादी' इति। लोक्यते सर्वज्ञैरिति लोकः-षड्जीवनिकायरूपः। अत्र लोकशब्देन षड्जीवनिकायो गृह्यते, भगवताऽऽत्मज्ञानमेव पुरस्कृत्य लोकवादिमतिबोधनात्। यः षड्जीवनिकायरूपं लोकं विजानाति स एव लोकवादी=लोकस्वरूपकथनस्वभाववान्, न तु षड्जीवनिकायानभिज्ञ इत्यर्थः।

षड्जीवनिकायरक्षणेनैवात्मस्वरूपं प्रकटीभवति। तत्र षड्जीव-

लोकवादिप्रकरण—

जो इस प्रकार आत्मा के स्वरूप को जान कर आत्मा के निरूपण में तत्पर होता है वही वास्तव में लोकवादी है।

सर्वज्ञों द्वारा जो लोका जाय—अवलोकन किया जाय वह लोक है, अर्थात् षड्जीवनिकाय को लोक कहते हैं। 'लोक' शब्द से यहाँ षड्जीवनिकाय का ही ग्रहण किया गया है, क्यों कि भगवान् ने आत्मज्ञान को ही आगे रखकर लोकवादी का कथन किया है। जो षड्जीवनिकायरूप लोक को जानता है वही लोकवादी है, अर्थात् लोक के स्वरूप का कथन करने वाला है, किन्तु षड्जीवनिकाय से अनभिज्ञ नहीं।

षड्जीवनिकाय की रक्षा करने से ही आत्मा का स्वरूप प्रकट होता है। षड्जीव-

લોકવાદીપ્રકરણ

જે આ પ્રમાણે આત્માના સ્વરૂપને જાણી કરીને આત્માના નિરૂપણમાં તત્પર થાય છે તે વાસ્તવિક રીતે લોકવાદી છે

સર્વજ્ઞો દ્વારા જે લોકાવાય-અવલોકન કરાય,-અર્થાત્ સર્વજ્ઞો જેને જોઈ શકે છે તે લોક છે અર્થાત્ ષડ્જીવનિકાયને લોક કહે છે 'લોક' શબ્દથી ષડ્જીવનિકાયનું જ ગ્રહણ કર્યું છે, કારણ કે ભગવાને આત્મજ્ઞાનને જ આગળ રાખીને લોકવાદીનું કથન કર્યું છે જે ષડ્જીવનિકાયરૂપ લોકને જાણે છે, તે લોકવાદી છે, અર્થાત્ લોકના સ્વરૂપનું કથન કરવા વાળા છે ષડ્જીવનિકાયથી અનભિજ્ઞ હોય તે નહિ.

ષડ્જીવનિકાયની રક્ષા કરવાથી જ આત્માનું સ્વરૂપ પ્રગટ થાય છે ષડ્

निकायज्ञान विना तद्रक्षण न सम्भवति। अतः षड्जीवनिकायस्वरूप निरूप्यते—

जीवास्तावत् सक्षेपतो द्विविधाः-सिद्धा असिद्धाश्चेति। तत्र मुक्तिं प्राप्ता सिद्धाः, ससारिणोऽसिद्धाः। ससारिणः पुनर्द्विविधा —त्रस-स्थावरभेदात्। तत्र पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय• स्थावरा। त्रसाश्चतुर्विधाः – द्वीन्द्रिय – त्रीन्द्रिय – चतुरिन्द्रिय – पञ्चेन्द्रियभेदात्। तत्रेन्द्रियाणि पञ्च श्रोत्र–चक्षु–घ्राण–रसन–स्पर्शनाख्यानि। पृथिवीकायोऽप्कायस्तेजस्कायो वायुकायो वनस्पतिकायश्चेति पञ्चविधा जीवा एकेन्द्रियाः। कृम्यादयो द्वीन्द्रियाः,। पिपीलिकादयस्त्रीन्द्रियाः, भ्रमरादयश्चतुरिन्द्रियाः। मनुष्यादयःपञ्चेन्द्रियाः।

निकाय की रक्षा उसके ज्ञान के अभाव में नहीं हो सकती, अत षड्जीवनिकाय के स्वरूप का निरूपण किया जाता है—

सक्षेप में जीवों के दो भेद हैं—सिद्ध जीव और असिद्ध जीव। मुक्त जीव सिद्ध कहलाते हैं और ससारी जीव असिद्ध कहलाते हैं। संसारी जीव भी दो प्रकार के हैं–त्रस और स्थावर। पृथिवीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, और वनस्पतिकाय स्थावर हैं। त्रस जीव चार प्रकार के हैं–द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय,चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। श्रोत्र, चक्षु, घ्राण (नाक), रसना और स्पर्शन, ये पांच इन्द्रियाँ हैं। पृथिवीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय, ये पांच स्थावर जीव एकेन्द्रिय हैं। कृमि आदि द्वीन्द्रिय हैं। पिपीलिका (चिउंटी) आदि त्रीन्द्रिय हैं। भौंरा आदि चौइन्द्रिय हैं। मनुष्य आदि पञ्चेन्द्रिय हैं।

જીવનિકાયની રક્ષા તેના જ્ઞાનના અભાવમાં થઈ શકતી નથી, તે કારણથી ષટ્ જીવનિકાયના સ્વરૂપનુ નિરૂપણ કરવામા આવે છે —

સંક્ષેપમા જીવના બે ભેદ છે–(૧) સિદ્ધજીવ અને (૨) અસિદ્ધજીવ મુક્તજીવ તે સિદ્ધ કહેવાય છે અને અસિદ્ધ તે સસારી જીવ કહેવાય છે સસારી જીવ પણ બે પ્રકારના છે (૧) ત્રસ અને (૨) સ્થાવર. પૃથિવીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય, વાયુકાય, અને વનસ્પતિકાય તે સ્થાવર છે ત્રસ જીવ ચાર પ્રકારના છે દ્વીન્દ્રિય, ત્રીન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય અને પંચેન્દ્રિય. શ્રોત્ર (કાન) ચક્ષુ (નેત્ર), ઘ્રાણ (નાક), રસના (જીભ), અને સ્પર્શન (ચામડી), આ પાંચ ઇંદ્રિયો છે પૃથિવીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય, વાયુકાય અને વનસ્પતિકાય, આ પાચ સ્થાવરજીવ એકેન્દ્રિય છે, કૃમિ આદિ દ્વીન્દ્રિય છે કીડી આદિ ત્રીન્દ્રિય છે, ભમરા વગેરે ચોઇન્દ્રિય

अत्र पञ्च स्थावरा एकस्त्रसश्चेति मिलित्वा षड्जीवनिकाया भवन्ति एषां प्रत्येक भेदान् प्रदर्शयामः-

(१) पृथिवीकायभेदाः-

पृथिवीकायस्तावदुच्यते-पृथिव्येव कायो यस्य स पृथिवीकायः। पृथिवीकायादय पञ्च स्थावरनामकर्मोदयात् समुत्पन्नास्तस्मादिमे स्थावरा इति कथ्यन्ते। पृथिवीकायोऽनेकविधः, शुद्धपृथिवीशर्करा-वालुकादिभेदात्। तत्र शर्करादिभेदरहिता मृत्तिकारूपा, तथा गोमयकचवरादिरहिता वा पृथिवी-

---

पांच स्थावर और एक त्रस मिलकर षड्जीवनिकाय हैं। इन सबके भेद दिखलाते हैं—

(१) पृथिवीकाय के भेद—

पृथिवी ही जिस का शरीर हो, वह पृथ्वीकाय कहलाता है। पृथ्वीकाय आदि पांचों स्थावरनाकर्म के उदय से उत्पन्न होने के कारण स्थावर कहलाते हैं। पृथिवीकाय अनेक प्रकार का हैं—शुद्ध पृथिवी, शर्करा, वालु आदि। उनमें शर्करा आदि भेदों से रहित मृत्तिकारूप, तथा गोबर या कचरा आदि से रहित पृथिवी शुद्धपृथिवी कहलाती है। पत्थर के छोटे-छोटे खण्डों से मिली हुई मृत्तिका शर्करा पृथिवी है।

છે, મનુષ્ય આદિ પંચેન્દ્રિય છે

પાંચ સ્થાવર અને એક ત્રસ મળીને ષડ્જીવનિકાય છે એ તમામના ભેદો બતાવે છે:—

(૧) પૃથિવીકાયના ભેદ—

પૃથિવી જેનુ શરીર હોય, તે પૃથિવીકાય કહેવાય છે પૃથ્વીકાય આદિ પાંચેય સ્થાવરનામકર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન હોવાના કારણે સ્થાવર કહેવાય છે પૃથ્વીકાય અનેક પ્રકારે છે, શુદ્ધપૃથ્વી, શર્કરા, વાલુ (રેતી) આદિ તેમાં શર્કરા આદિ ભેદોથી રહિત મૃત્તિકારૂપ, અને છાણ અગર કચરા આદિથી રહિત પૃથ્વી શુદ્ધપૃથ્વી કહેવાય છે પથ્થરના નાના-નાના કકડાઓથી મળેલી માટી તે શર્કરા પૃથિવી છે વાલુ (રેતી)

शुद्धपृथिवी। अश्मलघुखण्डमिश्रिता मृत्तिका-शर्करापृथिवी। वालुकाव्यतिमिश्रा मृत्तिका-वालुकापृथिवी। एवं बहुविधाः पृथिवीकायाः, तथाहि-

उपल-शिला-लवणोषर-लोह-त्रपु-ताम्र-सीसक-रजत-सुवर्ण-हरिताल-हिङ्गुलक-मनःशिला-सस्यकाञ्जन-प्रवाल-अभ्रकपटल-अभ्रवालुका-गोमेद-रुचकाङ्क-स्फटिक-लोहिताक्ष-मरकत-मसारगल्ल-भुजगेन्द्रनील-गोपीचन्दन-गैरिक-हंसगर्भ-पुलक-सौगन्धिक-चन्द्रकान्त-सूर्यकान्त-वैडूर्य-जलकान्तादयः सर्वे बादरपृथिवीकायभेदाः। एते च शुद्धपृथिव्यादयः स्वखनिस्थिता एव चेतनावन्तः। गोमय-कचवरादिरूपशस्त्रोपहता रविवह्नितापरूपशस्त्रोपहताश्च गतचेतना भवन्ति।

बालू मिली मृत्तिका बालुका पृथिवी कहलाती है। इस प्रकार पृथिवीकाय के अनेक भेद हैं, वे इस प्रकार —

पत्थर, शिला, नमक, ऊषर, लोहा, रांगा, तांबा, शीशा, चांदी, सोना, हड़ताल, हिंगलू, मैनसिल, सस्यकांजन, मूंगा, अभ्रक अभ्रवालुका गोमेद, रुचक, अङ्क, स्फटिक, लोहिताक्ष, मरकत, मसारगल्ल, भुजग, इन्द्रनील, गोपीचन्दन, गेरू, हंसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक, चन्द्रकान्त सूर्यकान्त, वैडूर्य, जलकान्त, आदि बादर पृथिवीकाय के भेद हैं। वे शुद्ध पृथिवी आदि जब अपनी खान में स्थित होते हैं तभी सचेतन होते हैं। गोबर, कचरा आदि शस्त्रों से उपहत होकर या सूर्य की धूप और अग्नि के तापरूप शस्त्र से अचेतन हो जाते हैं।

भળેલી માટી વાલુકાપૃથિવી કહેવાય છે એ પ્રમાણે પૃથિવી કાયના અનેક ભેદ છે

પત્થર, શિલા, મીઠું, ઉખર-ખારો, લોઢું, રાંગો, (કલઈ), ત્રાંબુ, સીસું, ચાંદી, સોનું, હડતાલ, હિંગલો, મનશિલ, સુરમો, મૂગા-પરવાળાં, અભ્રક, અભ્રવાલુકા, ગોમેદ, રૂચક, અંક, સ્ફટિક, લોહિતાક્ષ, મરકત, મસારગલ્લ, ભુજગ, ઇન્દ્રનીલ, ગોપીચન્દન, ગેરૂ, હંસગર્ભ, પુલક, સૌગંધિક, ચંદ્રકાન્ત, સૂર્યકાન્ત, વૈડૂર્ય, જલકાન્ત આદિ બાદરપૃથિવીકાયના ભેદ છે (આ ખર બાદર પૃથ્વીકાય છે) એ શુદ્ધ પૃથિવી આદિ જ્યારે પોતાની ખાણમાં સ્થિત હોય છે, ત્યારે તે સચેતન હોય છે. છાણ-કચરો આદિ શસ્ત્રોથી ઉપહત (હણાએલા) થઈને, અથવા તો સૂર્ય અને અગ્નિના તાપરૂપ શસ્ત્રથી અચેતન થઈ જાય છે

उक्तबादरपृथिवीकायानां यत्रैको जीवस्तत्र नियमतोऽसंख्याता पृथिवीकाया जीवा सन्ति। स्थानमप्येषां पृथिवी-पाताल-भवन-नरक-प्रस्तर-विमानादिकं ज्ञेयम्। सूक्ष्मपृथिवीकायजीवास्तु सर्वलोकव्यापिनः। उभयेषां भेदप्रभेदाः सर्वज्ञप्रणीतादागमादवगन्तव्याः।

(२) अप्कायभेदाः—

अप्कायाऽनेकविधः-अवश्याय-मिहिका-करक-हरतनु-शुद्ध-शीतो-ष्ण-क्षारा-ऽम्ल-लवण-क्षीरोदक-घृतोदकादिभेदात्। एको यत्राप्कायस्तत्रासंख्याता अप्कायाः सन्ति। बादराप्कायानां समुद्र-ह्रद-नदी-वापी-कूपादिः स्थानम्। सूक्ष्माप्कायस्तु सर्वलोकव्यापकः। अस्यापि भेदप्रभेदा आगमतो विज्ञेयाः।

उक्त बादर पृथिवीकाय आदि का जहाँ एक जीव है वहाँ नियम से असंख्यात पृथिवीकाय के जीव हैं। पृथिवी पाताल, भवन, नरक-प्रस्तर, विमान आदि इनके स्थान हैं। सूक्ष्म पृथिवीकाय के जीव समस्त लोक में व्याप्त हैं। दोनों के भेद-प्रभेद सर्वज्ञोक्त आगम से समझ लेने चाहिए।

(२) अप्काय के भेद—

अप्काय अनेक प्रकार का है—ओस, मिहिका, ओले, हरतनु, शुद्धजल, शीतजल, उष्णजल, क्षार, अम्ल लवणजल (खारा पानी) क्षीरोदक, और घृतोदक आदि। जहाँ एक अप्काय है वहाँ असंख्यात अपकाय हैं। बादर अप्-कायका स्थान समुद्र, तलाव, नदी, बावडी, कूप आदि हैं, और सूक्ष्म अप्काय समस्त लोक में व्याप्त है। इसके भी भेद-प्रभेद आगम से समझना चाहिए।

ઉપર કહેલા બાદર પૃથિવીકાય આદિનો જ્યા એક જીવ છે ત્યા નિયમથી અસંખ્યાત પૃથિવીકાય જીવ છે પૃથિવી, પાતાલ, ભવન, નરક-પ્રસ્તર, વિમાન આદિ તેના સ્થાન છે સૂક્ષ્મ પૃથિવી કાયના જીવ સમસ્ત લોકમા વ્યાપ્ત છે એ બનેના ભેદ-પ્રભેદ સર્વજ્ઞોના આગમથી સમજી લેવા જોઈએ

(૨) અપ્કાયના ભેદ—

અપ્કાયના અનેક પ્રકાર છે—ઓસ, મિહિકા (નિહાર), ઓળો, હરતનુ-(પૃથ્વીને ભેદીને તૃણના અગ્રભાગ વગેરે ઉપર રહેનારૂ પાણી) શુદ્ધ જલ (અતરિક્ષથી પડેલુ અથવા નદીનુ પાણી) શીતલજલ, ઉષ્ણજલ (સ્વભાવથી ગરમ પાણીના કુંડોનુ પાણી), ખાટુ જલ, ખારૂ જલ, ક્ષીરોદક અને ઘૃતોદક આદિ, (લવણ, વારૂણ, ક્ષીર, ઈક્ષુરસ અને પુષ્કરવર સમુદ્રના પાણી) જ્યા એક અપ્કાય છે, ત્યાં અસખ્યાત અપ્કાય છે બાદર અપ્કાયના સ્થાન સમુદ્ર, તળાવ, નદી, વાવડી, કૂવા આદિ છે, અને સૂક્ષ્મ અપ્કાય સમસ્ત લોકમાં વ્યાપ્ત છે તેના ભેદ-પ્રભેદ પણ આગમથી સમજવા જોઈએ.

(३) तेजस्कायभेदाः—

तेजस्कायोऽनेकविधः—अङ्गारार्चिरलातशुद्धाग्न्यादिभेदात्। इमे तेजस्काया जीवा बादराः। यत्रैकस्तेजस्कायस्तत्राऽसंख्यातास्तेजस्काया सन्ति। तेषां स्थानं सार्धतृतीयद्वीपरूपसमयक्षेत्रमेव, न ततो बहिः। सूक्ष्मास्तु सर्वलोकव्यापिनः। एषां भेद-प्रभेदा पूर्ववद् विज्ञेया

(४) वायुकायभेदाः—

वायुकायः पौरस्त्य-पाश्चात्याद्युत्कलिमण्डलिकादिभेदादनेकविधः। बादर वायुकायानां स्थानं घनवात-तनुवात-तद्वलयाधोलोकपातालभवनादिकम्। सूक्ष्मा वायुकाया सर्वलोकव्यापिनः। एषां भेदप्रभेदाः पूर्ववद् वेदितव्याः।

(३) तेजस्काय के भेद—

तेजस्काय अनेक प्रकार का है, जैसे—अंगार, ज्वाला, अलात, शुद्ध-अग्नि आदि। जहाँ एक बादर तेजस्काय का जीव होता है वहाँ असंख्यात तेजस्काय होते हैं। इन का स्थान अढाईद्वीपरूप समय क्षेत्र ही है, उस से बाहर ये नहीं होते। सूक्ष्म तेजस्काय के जीव लोकव्यापी हैं। इन के भी भेद-प्रभेद आगम से समझने चाहिए।

(४) वायुकाय के भेद—

वायु के भी पूर्वी और पश्चिमी आदि के भेद से और उत्कलिक मण्डलिक आदि के भेद से अनेक प्रकार हैं। घनवात, तनुवात, वलय, अधोलोक और पाताल, भवन आदि बादर वायुकाय के स्थान हैं। सूक्ष्म वायुकाय सर्वलोकव्यापी है।

(૩) તેજસ્કાયના ભેદ—

તેજસ્કાય અનેક પ્રકારના છે, જેમ કે અંગાર, જ્વાલા, અલાત, શુદ્ધ અગ્નિ, આદિ, જ્યા એક બાદર તેજસ્કાયનો જીવ હોય છે ત્યા અસંખ્યાત તેજસ્કાય હોય છે તેનુ સ્થાન અઢીદ્વીપરૂપ સમયક્ષેત્ર જ છે, તેનાથી બહાર તે નથી સૂક્ષ્મ તેજસ્કાયના જીવ લોકવ્યાપી છે તેના પણ ભેદ-પ્રભેદ આગમથી જાણી લેવા જોઈએ.

(૪) વાયુકાયના ભેદ—

વાયુકાય પણ પૂર્વ અને પશ્ચિમ આદિના ભેદથી, અને ઉત્કલિક (જેમ સમુદ્રમા કલ્લોલો) મંડલિક, (મૂળમાંથી જે ગોળ ફરતો વાતો હોય તે વાયુ) આદિ ભેદથી અનેક પ્રકારનો છે, ઘનવાત, તનુવાત, વલય, અધોલોક, અને પાતાલ, ભવન આદિ બાદર વાયુકાયના સ્થાન છે, અને સૂક્ષ્મ વાયુકાય સર્વલોકવ્યાપી છે.

इमौ तेजस्काय-वायुकायौ गतिस्वभावतया त्रसावपि निगद्येते।

(५) वनस्पतिकायभेदाः—

वनस्पतिकायोऽनेकविध -शैवाल-पनक-हरिद्रा-ऽऽर्द्रक-मूलका-लूक-सूरण-पलाण्डु-लशुन-कन्दादिभेदात्। इमे वनस्पतिकाया साधारणा उच्यन्ते। वृक्षगुच्छगुल्मलतादय प्रत्येकशरीरा उच्यन्ते। साधारणवनस्पतिकायस्यैकस्मिन्

इनके भेद-प्रभेद पूर्ववत् आगम से जानने चाहिए। तेजस्काय और वायुकाय गतिशील होने के कारण त्रस भी कहे जाते हैं।

(५) वनस्पतिकाय के भेद-

वनस्पतिकाय अनेक प्रकार का है। जैसे-शैवाल, पनक, हरिद्रा, (हल्दी), आर्द्रक (अदरख) मूलक, अद्दक (आलू), सूरण, प्याज, लहसुन, और कन्द आदि। ये वनस्पतियाँ साधारण कहलाती हैं। तथा वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता आदि प्रत्येकशरीर कहलाती हैं। साधारण वनस्पतिकाय के एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं। इनका

તેના ભેદ-પ્રભેદ પૂર્વ પ્રમાણે આગમથી સમજી લેવા જોઈએ. તેજસ્કાય અને વાયુકાય ગતિશીલ હોવાના કારણે ત્રસ પણ કહેવામા આવે છે

(૫) વનસ્પતિકાયના ભેદ—

વનસ્પતિ કાય અનેક પ્રકારે છે, જેમકે-શૈવાલ, પનક, હરિદ્રા, આદુ, મૂલક, આલૂ, સુરણ, ડુંગળી, લસણ અને કન્દ આદિ આ વનસ્પતિઓ સાધારણ કહેવાય છે, (જેમા અનત જીવો હોય તેને સાધારણ કહે છે) તથા વૃક્ષ, (ભગવતી સૂત્રમા વૃક્ષોના ત્રણ ભેદો પાડેલા છે (૧) શૃગબેર (આદુ)ની પેઠે અનત જીવોવાળા ઝાડો, (૨) આબાની માફક અસખ્ય જીવોવાળા ઝાડો, (૩) અને તાડ-તમાલ વગેરે પ્રમાણે સખ્યાત જીવોવાળા ઝાડો) ગુચ્છ, ગુલ્મ (નવમાલિકા જાઈ વગેરે) લતા આદિ પ્રત્યેક શરીર કહેવાય છે સાધારણ વનસ્પતિ કાયના એક શરીરમા અનન્ત જીવ હોય છે તેનુ સ્થાન ઘનોદધિ આદિ છે સૂક્ષ્મ વનસ્પતિકાય સર્વ લોકવ્યાપી છે.

(३) तेजस्कायभेदाः—

तेजस्कायोऽनेकविधः—अङ्गारार्चिरलातशुद्धाग्न्यादिभेदात्। इमे तेजस्काया जीवा बादराः। यत्रैकस्तेजस्कायस्तत्राऽसंख्याताः तेजस्कायाः सन्ति। तेषां स्थानं सार्धतृतीयद्वीपरूपसमयक्षेत्रमेव, न ततो बहिः। सूक्ष्मास्तु सर्वलोकव्यापिनः। एषां भेद-प्रभेदाः पूर्ववद् विज्ञेयाः

(४) वायुकायभेदाः—

वायुकायः पौरस्त्य-पाश्चात्याद्युत्कलिमण्डलिकादिभेदादनेकविधः। बादरवायुकायानां स्थानं घनवात-तनुवात-तद्वलयाधोलोकपातालभवनादिकम्। सूक्ष्मा वायुकायाः सर्वलोकव्यापिनः। एषां भेदप्रभेदाः पूर्ववद् वेदितव्याः।

(३) तेजस्काय के भेद—

तेजस्काय अनेक प्रकार का है, जैसे—अंगार, ज्वाला, अलात, शुद्ध-अग्नि आदि। जहाँ एक बादर तेजस्काय का जीव होता है वहाँ असंख्यात तेजस्काय होते हैं। इन का स्थान अढाईद्वीपरूप समय क्षेत्र ही है, उस से बाहर ये नहीं होते। सूक्ष्म तेजस्काय के जीव लोकव्यापी हैं। इन के भी भेद-प्रभेद आगम से समझने चाहिए।

(४) वायुकाय के भेद—

वायु के भी पूर्वी और पश्चिमी आदि के भेद से और उत्कलिक मण्डलिक आदि के भेद से अनेक प्रकार हैं। घनवात, तनुवात, वलय, अधोलोक और पाताल, भवन आदि बादर वायुकाय के स्थान हैं। सूक्ष्म वायुकाय सर्वलोकव्यापी है।

(૩) તેજસ્કાયના ભેદ—

તેજસ્કાય અનેક પ્રકારના છે, જેમ કે અંગાર, જ્વાલા, અલાત, શુદ્ધ અગ્નિ, આદિ, જ્યાં એક બાદર તેજસ્કાયનો જીવ હોય છે ત્યાં અસંખ્યાત તેજસ્કાય હોય છે તેનું સ્થાન અઢીદ્વીપરૂપ સમયક્ષેત્ર જ છે, તેનાથી બહાર તે નથી સૂક્ષ્મ તેજસ્કાયના જીવ લોકવ્યાપી છે તેના પણ ભેદ-પ્રભેદ આગમથી જાણી લેવા જોઈએ.

(૪) વાયુકાયના ભેદ—

વાયુકાય પણ પૂર્વ અને પશ્ચિમ આદિના ભેદથી, અને ઉત્કલિક (જેમ સમુદ્રમાં કલ્લોલો) મંડલિક, (મૂળમાંથી જે ગોળ ફરતો વાતો હોય તે વાયુ) આદિ ભેદથી અનેક પ્રકારનો છે, ઘનવાત, તનુવાત, વલય, અધોલોક, અને પાતાલ, ભવન આદિ બાદર વાયુકાયના સ્થાન છે, અને સૂક્ષ્મ વાયુકાય સર્વલોકવ્યાપી છે.

इमौ तेजस्काय-वायुकायौ गतिस्वभावतया त्रसावपि निगद्येते।

(५) वनस्पतिकायभेदा —

वनस्पतिकायोऽनेकविध – शैवाल – पनक – हरिद्रा – ऽऽर्द्रक-मूलका – लूक-सूरण-पलाण्डु-लशुन-कन्दादिभेदात्। इमे वनस्पतिकाया साधारणा उच्यन्ते। वृक्षगुच्छगुल्मलतादय प्रत्येकशरीरा उच्यन्ते। साधारणवनस्पतिकायस्यैकस्मिन्

इनके भेद-प्रभेद पूर्ववत् आगम से जानने चाहिए। तेजस्काय और वायुकाय गतिशील होने के कारण त्रस भी कहे जाते हैं।

(५) वनस्पतिकाय के भेद-

वनस्पतिकाय अनेक प्रकार का है। जैसे-शैवाल, पनक, हरिद्रा, (हल्दी), आर्द्रक (अदरख) मूलक, अलूक (आलू), सूरण, प्याज, लहसुन, और कन्द आदि। ये वनस्पतियाँ साधारण कहलाती हैं। तथा वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता आदि प्रत्येकशरीर कहलाती हैं। साधारण वनस्पतिकाय के एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं। इनका

તેના ભેદ-પ્રભેદ પૂર્વ પ્રમાણે આગમથી સમજી લેવા જોઈએ. તેજસ્કાય અને વાયુકાય ગતિશીલ હોવાના કારણે ત્રસ પણ કહેવામા આવે છે

(૫) વનસ્પતિકાયના ભેદ—

વનસ્પતિ કાય અનેક પ્રકારે છે, જેમકે-શૈવાલ, પનક, હરિદ્રા, આદુ, મૂલક, આલૂ, સૂરણ, ડુગળી, લસણ અને કન્દ આદિ આ વનસ્પતિઓ સાધારણ કહેવાય છે, (જેમા અનત જીવો હોય તેને સાધારણ કહે છે) તથા વૃક્ષ, (ભગવતી સૂત્રમા વૃક્ષોના ત્રણ ભેદો પાડેલા છે (૧) શૃગબેર (આદુ)ની પેઠે અનત જીવોવાળા ઝાડો, (૨) આબાની માફક અસખ્ય જીવોવાળા ઝાડો, (૩) અને તાડ-તમાલ વગેરે પ્રમાણે સખ્યાત જીવોવાળા ઝાડો) ગુચ્છ, ગુલ્મ (નવમાલિકા જાઈ વગેરે) લતા આદિ પ્રત્યેક શરીર કહેવાય છે સાધારણ વનસ્પતિ કાયના એક શરીરમા અનન્ત જીવ હોય છે તેનું સ્થાન વનોદધિ આદિ છે સૂક્ષ્મ વનસ્પતિકાય સર્વ લોકવ્યાપી છે.

शरीरेऽनन्ता जीवाः सन्ति। एषां स्थान घनोदध्यादि। सूक्ष्मास्तु वनस्पतिकाया सर्वलोकव्यापिनः। एषां भेदप्रभेदाश्च शास्त्रतोऽवसेयाः। एते पञ्च स्थावराः स्पर्शन रूपैकेन्द्रियाः।

पञ्च जीवनिकाया उक्ता, इदानीं षष्ठत्रसाधिकारः कथ्यते—

(६) त्रसकायभेदाः—

त्रसत्व द्विविध, क्रियातो लब्धितश्च। तत्र क्रिया=कर्म-चलनं-देशान्तर-प्राप्ति। अत क्रिययैव तेजस्कायो वायुकायश्च त्रसो भवति। लब्ध्या तूभौ स्थावरौ। द्वीन्द्रियादयस्तु क्रियया लब्ध्यापि त्रसा भवन्ति। लब्धिर्हि त्रसनामकर्मोदय, देशान्तरप्राप्तिलक्षणा क्रियाऽपि द्वीन्द्रियादीनाम्। स्थावरनामकर्मोदयरूपया

स्थान घनोदधि आदि है। सूक्ष्म वनस्पतिकाय सर्वलोकव्यापी है। इनके भेद-प्रभेद शास्त्र से समझ लेने चाहिए। इन पांच स्थावरों को एकमात्र स्पर्शनइन्द्रिय होती है।

पांच जीवनिकायों का कथन किया जा चुका है। अब छठे त्रसकाय का प्ररूपण किया जाता है—

(६) त्रसकाय—

त्रसपन दो प्रकार का है—क्रिया से और लब्धि से। कार्य करना, चलना, एक जगह से दूसरी जगह जाना क्रिया है। इस क्रिया से ही तेजस्काय और वायुकाय त्रस कहलाते हैं। लब्धिकी अपेक्षा ये दोनों स्थावर ही हैं। द्वीन्द्रिय आदि, क्रिया से भी त्रस हैं और लब्धि से भी। यहाँ त्रसनामकर्म का उदय लब्धि है, और देशान्तर में

તેના ભેદ-પ્રભેદ શાસ્ત્રથી સમજી લેવા જોઈએ. આ પાંચ સ્થાવરોને એક માત્ર સ્પર્શન ઇન્દ્રિય હોય છે

આ પાંચ જીવનિકાયોનું કથન કરી ચૂક્યા છીએ હવે છઠ્ઠા ત્રસ કાયનું પ્રરૂપણ કરવામાં આવે છે—

(૬) ત્રસકાય—

ત્રસપણુ બે પ્રકારનુ છે-ક્રિયાથી અને લબ્ધિથી. કાર્ય કરવું, ચાલવુ, એક જગ્યાથી બીજી જગ્યાએ જવુ તે ક્રિયા છે આ ક્રિયાથી જ તેજસ્કાય અને વાયુકાય ત્રસ કહેવાય છે, લબ્ધિની અપેક્ષાએ આ બન્ને સ્થાવર જ છે દ્વીન્દ્રિય આદિ ક્રિયાથી પણ ત્રસ છે અને લબ્ધિથી પણ ત્રસ છે અહિં ત્રસનામકર્મનો ઉદય તે લબ્ધિ છે, અને દેશાન્તરમાં ગમન કરવુ તે ક્રિયા છે દ્વીન્દ્રિય આદિમાં એ બન્ને જોવામાં

लब्ध्या पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय सर्वे स्थावरा एव। एव च त्रस पड्विध तेजस्काय-वायुकाय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिय-भेदात्। तत्र तेजस्कायो वायुकायश्च प्रागुक्त।

द्वीन्द्रियादिषु चतुर्विधेषु त्रसजीवेषु द्वीन्द्रियास्तावदुच्यन्ते—

(१) द्वीन्द्रिय —

शरीरकाष्ठादिजा —कृमय, फलादिजा -नीलकुप्रभृतय, गोमयादिजा —गन्डोलकादय, जलजा —शङ्खशुक्तिशम्बूकजलौकाप्रभृतयो द्वीन्द्रिया।

गमन करना क्रिया है, द्वीन्द्रिय आदि में ये दोनों पाई जाती हैं। स्थावरनामकर्मोदयरूप लब्धि की अपेक्षा पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, और वनस्पति, ये सब स्थावर हैं। इस प्रकार त्रसजीव छह प्रकार के हैं—तेजस्काय, वायुकाय, द्वीन्दिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रिय। इन में से तेजस्काय और वायुकाय का वर्णन पहले किया जा चुका है।

द्वीन्द्रिय आदि चार प्रकार के त्रसजीवों में से प्रथम द्वीन्द्रिय का स्वरूप बतलाते हैं—

(१) द्वीन्द्रिय-

शरीर और काठ आदि में उत्पन्न होने वाली कृमि, फल आदि में उत्पन्न होने वाले नीलगु वगैरह, गोबर में उत्पन्न होने वाले गिंडोला वगैरह, जल में पैदा होने वाले शङ्ख, सीप, जोंक आदि द्वीन्द्रिय जीव हैं। इन के स्पर्शन और रसना, ये दो

આવે છે સ્થાવરનામકર્મોદય લબ્ધિની અપેક્ષા-પૃથ્વી, અપ્, તેજ, વાયુ, વનસ્પતિ, આ સર્વ સ્થાવર છે આ પ્રમાણે ત્રસ જીવ છ પ્રકારના છે—તેજસ્કાય, વાયુકાય, દ્વીન્દ્રિય, ત્રીન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય અને પંચેન્દ્રિય. આમાથી તેજસ્કાય અને વાયુકાયનુ વર્ણન પહેલાં કરવામા આવ્યુ છે

દ્વીન્દ્રિય આદિ ચાર પ્રકારના ત્રસ જીવોમાથી દ્વીન્દ્રિય આદિનુ સ્વરૂપ બતાવે છે

(૧) દ્વીન્દ્રિય—

શરીર અને કાષ્ઠ આદિમા ઉત્પન્ન થવા વાળા કૃમિ, ફળ આદિમા ઉત્પન્ન થવા વાળા નીલગુ વગેરે. છાણમા ઉત્પન્ન થવા વાળા ગિંડોલા વગેરે જલમાં ઉત્પન્ન થવા વાળા શખ, શીપ, જળો વગેરે દ્વીન્દ્રિય જીવ છે તેને સ્પર્શન અને

शरीरेऽनन्ता जीवा सन्ति। एषां स्थान घनोदध्यादि। सूक्ष्मास्तु वनस्पतिकाया सर्वलोकव्यापिन। एषां भेदप्रभेदाश्च शास्त्रतोऽवसेया'। एते पञ्च स्थावरा स्पर्शन स्पैकेन्द्रियाः।

पञ्च जीवनिकाया उक्ता, इदानीं षष्ठत्रसाधिकारः कथ्यते—

(६) त्रसकायभेदाः—

त्रसत्वं द्विविध, क्रियातो लब्धितश्च। तत्र क्रिया=कर्म–चलनं–देशान्तर–प्राप्ति। अत क्रिययैव तेजस्कायो वायुकायश्च त्रसो भवति। लब्ध्या तूभौ स्थावरौ। द्वीन्द्रियादयस्तु क्रियया लब्ध्यापि त्रसा भवन्ति। लब्धिर्हि त्रसनामकर्मोदयः, देशान्तरप्राप्तिलक्षणा क्रियाऽपि द्वीन्द्रियादीनाम्। स्थावरनामकर्मोदयरूपया

स्थान घनोदधि आदि है। सूक्ष्म वनस्पतिकाय सर्वलोकव्यापी है। इनके भेद–प्रभेद शास्त्र से समझ लेने चाहिए। इन पाँच स्थावरों को एकमात्र स्पर्शनइन्द्रिय होती है।

पाँच जीवनिकायों का कथन किया जा चुका है। अब छठे त्रसकाय का प्ररूपण किया जाता है—

(६) त्रसकाय—

त्रसपन दो प्रकार का है—क्रिया से और लब्धि से। कार्य करना, चलना, एक जगह से दूसरी जगह जाना क्रिया है। इस क्रिया से ही तेजस्काय और वायुकाय त्रस कहलाते हैं। लब्धिकी अपेक्षा ये दोनों स्थावर ही हैं। द्वीन्द्रिय आदि, क्रिया से भी त्रस हैं और लब्धि से भी। यहाँ त्रसनामकर्म का उदय लब्धि है, और देशान्तर में

તેના ભેદ–પ્રભેદ શાસ્ત્રથી સમજી લેવા જોઈએ. આ પાંચ સ્થાવરોને એક માત્ર સ્પર્શન ઈન્દ્રિય હોય છે

આ પાંચ જીવનિકાયોનું કથન કરી ચૂક્યા છીએ હવે છઠ્ઠા ત્રસ કાયનુ પ્રરૂપણ કરવામા આવે છે—

(૬) ત્રસકાય—

ત્રસપણુ બે પ્રકારનુ છે–ક્રિયાથી અને લબ્ધિથી કાર્ય કરવું, ચાલવુ, એક જગ્યાથી બીજી જગ્યાએ જવુ તે ક્રિયા છે આ ક્રિયાથી જ તેજસ્કાય અને વાયુકાય ત્રસ કહેવાય છે, લબ્ધિની અપેક્ષાએ આ બન્ને સ્થાવર જ છે દ્વીન્દ્રિય આદિ ક્રિયાથી પણ ત્રસ છે અને લબ્ધિથી પણ ત્રસ છે અહિં ત્રસનામકર્મનો ઉદય તે લબ્ધિ છે, અને દેશાન્તરમાં ગમન કરવુ તે ક્રિયા છે દ્વીન્દ્રિય આદિમાં એ બન્ને જોવામાં

(४) पञ्चेन्द्रियजीवा —

पञ्चेन्द्रियजीवाश्चतुर्धा—नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-देव-भेदात्, नारका. सप्त विधा., सप्तनरकेषु समुद्भवनात्। रत्न(१)-शर्करा(२)-वालुका(३)-पङ्क(४)-धूम (५)-तमो(६)-महातमो(७)-नाम्न्य सप्त पृथिव्यस्तत्र सप्त नरकभूमय', तत्र ये निवसन्ति ते नारका सप्तविधा इति। नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवानां स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु -श्रोत्राणि पञ्चेन्द्रियाणि भवन्ति।

पञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्चो द्विविधा - गर्भज-सम्मूर्छिमभेदात्। तत्र-गर्भजा' पञ्चधा-जलचर-स्थलचर-खेचरो-र परिसर्प-भुजपरिसर्पभेदात्। सम्मूर्छिमा अपि

(४) पञ्चेन्द्रियजीव-

पञ्चेन्द्रिय जीव चार प्रकार के हैं—(१) नारक, (२) तिर्यञ्च, (३) मनुष्य, और (४) देव।

नारक सात प्रकार के हैं, क्यों कि सात नरकों में उनकी उत्पत्ति होती है। (१) रत्नप्रभा (२) शर्कराप्रभा (३) बालुकाप्रभा, (४) पङ्कप्रभा, (५) धूमप्रभा, (६) तम प्रभा और (७) तमस्तम प्रभा नामक सात पृथिवी हैं। वहाँ सात नरकभूमियाँ हैं। इन भूमियों में निवास करने वाले नारकी भी सात प्रकार के कहलाते हैं। नारक, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च, मनुष्य और देवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, और श्रोत्र, ये पाच इन्द्रियाँ होती हैं।

पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च दो प्रकार के हैं—गर्भज और सम्मूर्छिम। इन में गर्भज के पाच भेद हैं-(१) जलचर, (२) स्थलचर, (३) खेचर, (४) उर परिसर्प और (५) भुजपरिसर्प।

(४) પંચેન્દ્રિય—

પાંચ ઇન્દ્રિયો વાળા જીવ ચાર પ્રકારના છે-(૧) નારકી, (૨) તિર્યંચ, (૩) મનુષ્ય, અને (૪) દેવ. નારકીના સાત પ્રકાર છે, કારણ કે સાત નરકોમા તેની ઉત્પત્તિ હોય છે (૧) રત્નપ્રભા, (૨) શર્કરાપ્રભા, (૩) વાલુકાપ્રભા, (૪) પંકપ્રભા, (૫) ધૂમપ્રભા, (૬) તમ.પ્રભા અને (૭) તમસ્તમ -પ્રભા નામની સાત પૃથિવી છે ત્યા સાત નરકભૂમિઓ છે તે નરકભૂમિઓમા નિવાસ કરવા વાળા નારકી પણ સાત પ્રકારના કહેવાય છે નારકી, પંચેન્દ્રિય-તિર્યંચ, મનુષ્ય, અને દેવોને સ્પર્શન, રસના ઘ્રાણ, ચક્ષુ અને શ્રોત્ર, આ પાચ ઇન્દ્રિયો હોય છે

પંચેન્દ્રિય તિર્યંચ બે પ્રકારના છે-(૧) ગર્ભજ, (૨) સમૂર્છિમ તેમા ગર્ભજના પાંચ ભેદ છે-(૧) જલચર, (૨) સ્થલચર, (૩) ખેચર, (૪) ઉર પરિસર્પ, અને

इमे स्पर्शन-रसनोभयेन्द्रिया द्वीन्द्रिया जीवा असंख्याता'।

(२) त्रीन्द्रिया'—

त्रीन्द्रिया पिपीलिकादयः-पिपीलिका-रोहिणिका-कुन्थु-यूक-लिक्ष-मत्कुण मत्कोटक-शुलशुल-गोपदिका-खर्जूरा-कर्णशूलादय प्रसिद्धा । इमे स्पर्शन-रसन-घ्राणेन्द्रियाः । त्रीन्द्रिया असंख्याताः ।

(३) चतुरिन्द्रियाः—

चतुरिन्द्रिया भ्रमरादय -भ्रमर-चटर-मक्षिका-दंश-मशक-वृश्चिक-कीट-कसारी-पतङ्गादय प्रसिद्धा । इमे स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु-रिन्द्रिया । चतुरिन्द्रिया अपि असंख्याता ।

इन्द्रियाँ होती हैं। द्वीन्द्रिय जीव असंख्यात हैं।

(२) त्रीन्द्रिय—

पिपीलिका (कीडी), रोहिणिका, कुन्थुवा, जूं, लीख, खटमल, मकोडा, शुलशुल, गोपदिका, खजूरा, कर्णशूल, आदि त्रीन्द्रिय जीव प्रसिद्ध हैं। इनके स्पर्शन रसना और घ्राण, ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं। त्रीन्द्रिय जीव असंख्यात हैं।

(३) चतुरिन्द्रिय—

भ्रमर, चटर, मक्खी, डांस, मच्छर, विच्छू, कीट, पतङ्ग, कसारी, आदि चौइन्द्रिय जीव प्रसिद्ध हैं। इनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, और चक्षु, ये चार इन्द्रियाँ होती हैं। ये जीव असंख्यात हैं।

રસના એ બે ઇન્દ્રિયો વાળા જીવો અસંખ્યાત છે

(૨) ત્રીન્દ્રિય—

કીડી, રોહિણિકા, કંથુવા, જુ, લીખ, માકડ, મકોડા, શુલશુલ, ગોપદિકા, કાનખજૂરા, કર્ણશૂલ આદિ ત્રીન્દ્રિય જીવ પ્રસિદ્ધ છે તેને સ્પર્શન, રસના, અને ઘ્રાણ આ ત્રણ ઇન્દ્રિયો હોય છે ત્રીન્દ્રિય જીવ અસંખ્યાત છે

(૩) ચતુરિન્દ્રિય—

ભમરા, ચટર, માખી, ડાંસ, મચ્છર, વીછી, કીટ, પતંગ, કંસારી આદિ ચાર ઇન્દ્રિયવાળા જીવ પ્રસિદ્ધ છે તેમને સ્પર્શન રસના ઘ્રાણ અને નેત્ર આ ચાર ઇન્દ્રિયો હોય છે એ જીવ અસંખ્યાત છે

भरतानि, पञ्चैरवतानि, पञ्च महाविदेहाः। तत्र पञ्चसु महाविदेहेषु पञ्च देव-कुरुक्षेत्राणि पञ्चोत्तरकुरुक्षेत्राणि अन्तर्गतानि; तानि विहाय पञ्च महाविदेहा कर्मभूमयो भवन्ति। एषु पञ्चदशसु क्षेत्रेषु जाता एव ज्ञानावरणीयादिसकल-कर्मतस्करेभ्यः संसारमहारण्ये परिमुक्ता मोक्षधामाभिधावन्ति। एतत्पञ्चदश-व्यतिरिक्तेषु क्षेत्रेषु जन्म प्राप्ता' पुनः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणमोक्षमार्गं लब्धुं न प्रभवन्ति।

अहो भव्यप्राणिन'! स्वनि' यसाय शीघ्र प्रयतन्ताम्, अनन्तकालतः षड्जीवनिकायानां भवस्थिति-कायस्थितिषु-अनन्तजन्म-जरा-मरणाद्यनन्तदुःखमनु-भूय पूर्वपुण्योदयेन दुर्लभमिदं मनुष्यजन्म कर्मभूमौ लब्धम्। देशविरति-सर्वविरति-

महाविदेहों में पांच देवकुरु और पांच उत्तरकुरु क्षेत्र भी अन्तर्गत हैं, उन्हें छोड़कर पांच महाविदेह कर्मभूमि हैं। इन पन्द्रह कर्मभूमियों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य ही ज्ञानावरणीय आदि समस्त कर्मरूपी चोरों से संसाररूपी महा अरण्यों में छूटकर मोक्षधाम जाते हैं। इन पन्द्रह क्षेत्रों से भिन्न क्षेत्रों में जन्म लेने वाले, सम्यग्, दर्शन, ज्ञान, चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते।

अहो भव्य जीवो! अपने श्रेय (कल्याण) के लिए शीघ्र प्रयत्न करो। अनादि काल से षड्जीवनिकाय की भवस्थिति और कायस्थिति में अनन्त जन्म, जरा, मरण आदि का दुःख भोगकर पूर्वपुण्य के उदय से कर्मभूमि में दुर्लभ मनुष्य भव मिला है। देशविरति और सर्वविरतिके रूप सुधा से परिपूर्ण मनुष्यायु रूप कटोरको

પાંચ મહાવિદેહોમાં પાંચ દેવકુરૂ, અને ઉત્તરકુરૂ ક્ષેત્ર પણ અન્તર્ગત છે તેને છોડીને પાંચ મહાવિદેહ કર્મભૂમિ છે આ પંદર કર્મભૂમિમાં ઉત્પન્ન થવા વાળા મનુષ્ય જ જ્ઞાનાવરણીય આદિ તમામ કર્મરૂપી ચોરોથી સંસારરૂપી મહા-અરણ્યમાંથી છુટીને મોક્ષધામ જાય છે આ પંદર ક્ષેત્રોથી ભિન્ન ક્ષેત્રોમાં જન્મ લેવાવાળા સમ્યગ્દર્શન, જ્ઞાન, ચારિત્ર સ્વરૂપ મોક્ષમાર્ગને પ્રાપ્ત કરવા સમર્થ થતા નથી

અહો ભવ્ય જીવો! પોતાના કલ્યાણ માટે શીઘ્ર-જલદી પ્રયત્ન કરો! અનાદિ કાળથી ષડ્જીવનિકાયની ભવસ્થિતિ અને કાયસ્થિતિમાં અનન્ત જન્મ, જરા, મરણ આદિનું દુઃખ ભોગવીને પૂર્વપુણ્યના ઉદયથી કર્મભૂમિમાં દુર્લભ મનુષ્ય ભવ મળ્યો છે દેશવિરતિ અને સર્વવિરતિરૂપ અમૃતથી પરિપૂર્ણ મનુષ્યાયુરૂપ આ

पञ्चधा–जलचर(१)–स्थलचर(२)–खेचरो(३)–र परिसर्प(४)–भुजपरिसर्पभेदात्। तत्र जलचरा मत्स्यमकरादय, स्थलचरा गोमहिष्यादय, खेचराः मयूरादय', उर परिसर्पा' सर्पादय, भुजपरिसर्पा गोधादय।

मनुष्या द्विविधा'—कर्मभूमिजाः, अकर्मभूमिजा'। यत्र जाता मनुष्या सिध्यन्ति; बुध्यन्ते, परिनिर्वान्ति; सर्वदुःखानामन्त कुर्वन्ति सा कर्मभूमि'। अत्रैव ससारान्तप्राप्तिकारकस्य रत्नत्रयरूपमोक्षमार्गस्य विज्ञातार कर्तार उपदेष्टारश्च भगवन्तस्तीर्थङ्करा अवतरन्ति। ते च स्वयं ससारार्णव तरन्ति, परान् भव्यानपि तारयन्ति। अर्धतृतीयद्वीपाभ्यन्तरे कर्मभूमय पञ्चदशक्षेत्ररूपा भवन्ति–पञ्च

संमूर्छिम के भी पांच भेद हैं—(१) जलचर, (२) स्थलचर, (३) खेचर, (४) उर–परिसर्प और (५) भुजपरिसर्प। मच्छ, मकर, आदि जल के जीव जलचर कहलाते हैं। गाय, भैंस आदि स्थलचर कहलाते हैं। मयूर आदि खेचर कहलाते हैं। सर्प आदि उर परिसर्प, और गुहेरा (गोह) आदि भुजपरिसर्प कहलाते हैं।

मनुष्य दो प्रकार के हैं–कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज। जहाँ उत्पन्न होकर जीव सिद्ध बुद्ध होते हैं, निर्वाण प्राप्त करते हैं और सब दुःखों का अन्त करते हैं, उसे कर्मभूमि कहते हैं। संसार का अन्त करने वाले, रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग के ज्ञाता, कर्ता और उपदेशक तीर्थङ्कर भगवान कर्मभूमि में ही उत्पन्न होते हैं। वे स्वयं संसार समुद्र तरते हैं और दूसरे भव्य जीवों को भी तारते हैं। अढाई द्वीप में पन्द्रह कर्म–भूमियाँ हैं–पांच भरत क्षेत्र में, पांच ऐरवत क्षेत्र में, और पांच महाविदेह में। पांच

(५) ભુજપરિસર્પ મચ્છ, મકર (મગર) આદિ જલના જીવ જલચર કહેવાય છે ગાય, ભેંસ આદિ સ્થલચર કહેવાય છે મયૂર (મોર) આદિ ખેચર કહેવાય છે સર્પ આદિ ઉરપરિસર્પ, અને ઘોયરા આદિ ભુજપરિસર્પ છે

મનુષ્ય બે પ્રકારના છે—(૧) કર્મભૂમિજ, (૨) અકર્મભૂમિજ, જ્યા ઉત્પન્ન થઇને જીવ સિદ્ધ બુદ્ધ હોય છે, નિર્વાણ પ્રાપ્ત કરે છે, અને સર્વ દુઃખોનો અત કરે છે તેને કર્મભૂમિ કહે છે સસારનો અત કરવાવાળા, રત્નત્રયરૂપ મોક્ષમાર્ગના જ્ઞાતા કર્તા, અને ઉપદેશક તીર્થંકર ભગવાન્ કર્મભૂમિમાં જ ઉત્પન્ન થાય છે તે સ્વય સસાર સમુદ્રને તરે છે અને બીજા ભવ્ય જીવોને પણ તારે છે અઢી દ્વીપમાં પદર કર્મભૂમિઓ છે–પાંચ ભરતક્ષેત્રમા, પાંચ ઐરવત ક્ષેત્રમાં, અને

मरतानि, पञ्चैरवतानि, पञ्च महाविदेहा' । तत्र पञ्चसु महाविदेहेषु पञ्च देव-कुरुक्षेत्राणि पञ्चोत्तरकुरुक्षेत्राणि अन्तर्गतानि; तानि विहाय पञ्च महाविदेश कर्मभूमयो भवन्ति । एषु पञ्चदशसु क्षेत्रेषु जाता एव ज्ञानावरणीयादिसकल-कर्मतस्करेभ्य' ससारमहारण्ये परिमुक्ता मोक्षधामाभिधावन्ति । एतत्पञ्चदश-व्यतिरिक्तेषु क्षेत्रेषु जन्म प्राप्ताः पुन. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणमोक्षमार्ग लब्धुं न प्रभवन्ति ।

अहो भव्यप्राणिनः ! स्वनिः श्रेयसाय शीघ्र प्रयतन्ताम्, अनन्तकालत' षड्जीवनिकायाना भवस्थिति-कायस्थितिषु-अनन्तजन्म-जरा-मरणाद्यनन्तदुःखमनु-भूय पूर्वपुण्योदयेन दुर्लभमिद मनुष्यजन्म कर्मभूमौ लब्धम् । देशविरति-सर्वविरति-

महाविदेहों में पाच देवकुरु और पांच उत्तरकुरु क्षेत्र भी अन्तर्गत हैं, उन्हें छोड़कर पांच महाविदेह कर्मभूमि हैं । इन पन्द्रह कर्मभूमियों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य ही ज्ञानावरणीय आदि समस्त कर्मरूपी चोरों से ससाररूपी महा अरण्यो में छूटकर मोक्षधाम जाते हैं । इन पन्द्रह क्षेत्रों से भिन्न क्षेत्रों में जन्म लेने वाले, सम्यग्, दर्शन, ज्ञान, चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते ।

अहो भव्य जीवो ! अपने श्रेय (कल्याण) के लिए शीघ्र प्रयत्न करो । अनादि काल से षड्जीवनिकाय की भवस्थिति और कायस्थिति में अनन्त जन्म, जरा, मरण आदि का दु:ख भोगकर पूर्वपुण्य के उदय से कर्मभूमि में दुर्लभ मनुष्य भव मिला है । देशविरति और सर्वविरतिके रूप सुधा से परिपूर्ण मनुष्यायु रूप कटोरेको

પાચ મહાવિદેહોમાં પાંચ દેવકુરૂ, અને ઉત્તરકુરૂ ક્ષેત્ર પણ અન્તર્ગત છે તેને છોડીને પાચ મહાવિદેહ કર્મભૂમિ છે આ પદર કર્મભૂમિમા ઉત્પન્ન થવા વાળા મનુષ્ય જ જ્ઞાનાવરણીય આદિ તમામ કર્મરૂપી ચોરોથી સંસારરૂપી મહા-અરણ્યમાથી છુટીને મોક્ષધામ જાય છે આ પદર ક્ષેત્રોથી ભિન્ન ક્ષેત્રોમા જન્મ લેવાવાળા સમ્યગ્દર્શન, જ્ઞાન, ચારિત્ર સ્વરૂપ મોક્ષમાર્ગને પ્રાપ્ત કરવા સમર્થ થતા નથી.

અહો ભવ્ય જીવો ! પોતાના કલ્યાણ માટે શીઘ્ર-જલદી પ્રયત્ન કરો ! અનાદિ કાળથી ષડ્જીવનિકાયની ભવસ્થિતિ અને કાયસ્થિતિમા અનન્ત જન્મ, જરા, મરણ આદિનુ દુ ખ ભોગવીને પૂર્વપુણ્યના ઉદયથી કર્મભૂમિમાં દુર્લભ મનુષ્ય ભવ મળ્યો છે દેશવિરતિ અને સર્વવિરતિરૂપ અમૃતથી પરિપૂર્ણ મનુષ્યાયુરૂપ આ

पर्वतस्य, पूर्व पश्चिमान्तभागद्वयाद् मकाकारे द्वे द्वे दंष्ट्रे निःसृते स्त'। अष्टासु दंष्ट्रास्वूर्ध्वभागे सप्त सप्तान्तरद्वीपा. सन्ति। एव पट्पञ्चाशदन्तरद्वीपा भवन्ति। अन्तरद्वीपजा अप्यकर्मभूमिजा। तत्रोभयेपा मनुष्याणामुच्चारादिषु समूर्छिमा मनुष्या उभयविधासु भूमिपु जायन्ते।

तत्र गर्भजा मनुष्या एकोत्तरशतम् (१०१), पर्याप्तापर्याप्तभेदाद् द्व्यधिकशतद्वयम् (२०२), समूर्छिममनुष्या अपर्याप्तमात्रतया-एकोत्तरशतमेव (१०१), सर्वेषु समिलितेपु त्र्युत्तरशतत्रय (३०३) मनुष्याणा भेदा' भवन्ति।

देवनिकाय'-

देवाश्चतुर्विधा'-भवनपति१-व्यन्तर२-ज्योतिष्क३-वैमानिक४-भेदात्।

निकली हैं। इन आठ दाढों पर सात-सात अन्तरद्वीप हैं। इस प्रकार छप्पन अन्तरद्वीप हैं। अन्तरद्वीपज (अन्तरद्वीप में उत्पन्न हुए) जीव भी अकर्मभूमिज (अकर्मभूमि में उत्पन्न हुए) कहलाते हैं। इन दोनों प्रकार के मनुष्यों के मल आदि में, दोनों भूमियों में समूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं।

गर्भज मनुष्य एक सौ एक (१०१) प्रकार के हैं। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त भेद करने से दो सौ दो (२०२) भेद होते हैं। समूर्च्छिम मनुष्य अपर्याप्त ही होते हैं, अत उनके एक सौ एक (१०१) भेद मिला देने से मनुष्यों के कुल भेद तीन सौ तीन (३०३) हो जाते हैं।

देवनिकाय-

देव चार प्रकार के हैं-(१)भवनपति, (२) व्यन्तर, (३) ज्योतिष्क और (४) वैमानिक।

આ આઠ દાઢો પર સાત-સાત અન્તરદ્વીપ છે આ પ્રમાણે છપ્પન અન્તરદ્વીપ છે અન્તરદ્વીપજ (અન્તરદ્વીપમા ઉત્પન્ન થનારા) જીવ પણ અકર્મભૂમિજ (અકર્મભૂમિમા ઉત્પન્ન થનારા) કહેવાય છે આ બન્ને પ્રકારના મનુષ્યોના મળ આદિમા એ બન્ને ભૂમિઓમા સમૂર્છિમ મનુષ્ય ઉત્પન્ન થાય છે

ગર્ભજ મનુષ્ય એકસો એક (૧૦૧) પ્રકારના છે તેના પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્ત ભેદ કરવાથી બસો બે (૨૦૨) ભેદ થાય છે સમૂર્છિમ મનુષ્ય અપર્યાપ્ત જ હોય છે તે કારણથી તેના એકસો એક (૧૦૧) ભેદ તેમા મેળવવાથી મનુષ્યોના કુલ ત્રણસો ત્રણ (૩૦૩) ભેદ થાય છે

દેવનિકાય—

દેવ ચાર પ્રકારના છે—(૧) ભવનપતિ, (૨) વ્યન્તર, (૩) જ્યોતિષ્ક અને (૪) વૈમાનિક

पीयूषपूर्णमेतन्मनुष्यायुःकटोरकं मृत्युरपहर्तुं पुरोऽवतिष्ठते। तदत्र विरतिसुधास्वाद-सुखवञ्चिता भवन्तो मा भवन्तु।

अकर्मभूमयः कथ्यन्ते—

पञ्च हैमवतानि, पञ्च हरिवर्षाणि, पञ्च रम्यकवर्षाणि, पञ्चैरण्यवतवर्षाणि, पञ्च देवकुरवः पञ्चोत्तरकुरवः, इति त्रिंशत्, षट्पञ्चाशदन्तरद्वीपाः। अन्तरद्वीपा अपि युगलक्षेत्रत्वादकर्मभूमयो भवन्ति। एताः सर्वा अकर्मभूमयः, तीर्थङ्करजन्मादिरहितत्वात्।

जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रमर्यादाकारकहिमवत्पर्वतस्य पूर्वपश्चिमान्तभागद्वयात् वक्राकारे द्वे द्वे दंष्ट्रे निःसृते स्तः। एवम् ऐरवतक्षेत्रमर्यादाकारकशिखरि-

छीनने के लिए मृत्यु सामने खड़ा है, अत आप विरतिरूपी सुधा के आस्वाद के सुख से वञ्चित मत रहो।

अकर्मभूमिका कथन—

पांच हैमवत, पांच हरिवर्ष, पांच रम्यकवर्ष, पांच ऐरण्यवत, पांच देवकुरु और पांच उत्तरकुरु, ये तीस, और छप्पन अन्तर द्वीप, ये सब अकर्मभूमि हैं। अन्तरद्वीप भी युगलियाक्षेत्र होने के कारण अकर्मभूमि ही हैं। इन में कभी भी तीर्थंकर का जन्म आदि नहीं होता।

जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्र की मर्यादा करने वाले हिमवत्पर्वत के पूर्वभाग और पश्चिमभाग से वक्र आकार की दो-दो दाढाएँ निकली हैं। इसी प्रकार ऐरवत क्षेत्र की मर्यादा करने वाले शिखरिपर्वत के पूर्व और पश्चिम भागों से दो दो वक्राकार दाढाएँ

કટોરાને છીનવી લેવા માટે મૃત્યુ સામેજ ઉભેલો છે એ કારણથી તમે વિરતિરૂપી અમૃતના સ્વાદના સુખથી વંચિત રહેશો નહિ

અકર્મભૂમિનું કથન—

પાંચ હેમવત, પાંચ હરિવર્ષ, પાંચ રમ્યક વર્ષ, પાંચ ઐરણ્યવત, પાંચ દેવકુરૂ, અને પાંચ ઉત્તરકુરૂ, આ ત્રીસ, અને છપ્પન અન્તરદ્વીપ, આ સર્વ અકર્મ ભૂમિ છે અંતર દ્વીપ પણ જુગળીયા ક્ષેત્ર હોવાના કારણે અકર્મભૂમિ જ છે, તેમાં કોઇ પણ સમયે તીર્થંકરનો જન્મ આદિ થતો નથી

જમ્બૂદ્વીપમાં ભરત ક્ષેત્રની મર્યાદા કરવાવાળા હિમવત પર્વતના પૂર્વભાગ અને પશ્ચિમ ભાગથી વક્ર આકારની બે-બે દાઢો નીકળી છે એ પ્રકારે ઐરવત ક્ષેત્રની મર્યાદા કરવાવાળા શિખરી પર્વતના પૂર્વ અને પશ્ચિમ ભાગોથી બે-બે વક્રાકાર દાઢો નિકળી છે

तत्र बहवोऽसुरकुमारा आवासेषु, तथा कदाचिद् भवनेषु च निवसन्ति। तथा नागकुमारादयः सर्वे प्रायशो भवनेष्वेव प्रतिवसन्ति। रत्नप्रभापृथ्वीपिण्डादूर्ध्वमधश्चैकैकसहस्रयोजनं विहायैकलक्षाष्टसप्ततिसहस्रयोजनानि तु रत्नप्रभातोऽधस्तान्नवतिसहस्रयोजनपरिमाणभाग एव भवन्ति, तत्र भवनानि दक्षिणार्धाधिपतीनां चमरेन्द्रादीनाम्, उत्तरार्धाधिपतीनां बलीन्द्रादीनाम्। महामण्डपसदावासा, भवनानि नगरसदृशानि भवन्ति, परन्तु तानि भवनानि बहिर्वृत्तानि, अभ्यन्तरे समचतुष्कोणानि, तलभागे तु पुष्करकर्णिकावद् भवन्ति। अम्बाद्याः परमाधार्मिका अपि असुरकुमारजातीयाः पञ्चदश सन्ति-१अम्बा२म्बरीष-

वहीं बहुत से असुरकुमार आवासों में और कभी-कभी भवनों में निवास करते हैं। नागकुमार सब प्राय भवनों में ही रहते हैं। रत्नप्रभा पृथ्वी के पिण्ड से ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन छोडकर एक लाख अठहत्तर हजार योजन परिमाण में मध्य भाग में सभी जगह असुरकुमार देवों के आवास हैं, किन्तु भवन रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे नब्बे हजार योजन परिमित भाग में ही हैं। वहाँ दक्षिणार्धाधिपति चमरेन्द्र आदि के और उत्तरार्धाधिपति बलीन्द्र आदि के भवन हैं। महामण्डप के समान आवास हैं। नगर के समान भवन हैं, किन्तु वे बाहर गोलाकार और भीतर समचतुष्कोण हैं। उनका तलभाग कमल की कर्णिका के समान होता है। अम्ब आदि पन्द्रह परमाधार्मिक भी असुरकुमार जाति के हैं। उनके नाम-(१) अम्ब, (२) अम्बरीष, (३) श्याम, (४) शबल,

त्या घणा असुर कुमारो, आवासोमां अने कोई कोई वखत भवनोमां निवास करे छे नागकुमार सर्व प्राय भवनोमाज निवास करे छे रत्नप्रभा पृथ्वीना पिंडथी उपर अने नीचे एक-एक हजार योजन छोडीने, एक लाख अठ्योतेर हजार योजन परिमाणमा मध्यभागमा सव जग्याओ असुरकुमार देवोना आवास छे परन्तु भवन, रत्नप्रभा पृथ्वीनी नीचे (९००००) नेवुं हजार योजन परिमित भागमां ज छे त्या दक्षिणार्धाधिपति चमरेन्द्र आदिना अने उत्तरार्धाधिपति बलीन्द्र आदिना भवन छे महामंडपनी समान आवास छे नगरना समान भवन छे परंतु ते भवनो बहारथी गोळाकार अने अंदरथी समचतुष्कोण छे तेनो तळीआनो भाग कमलनी कर्णिकासमान होय छे अम्ब आदि पंदर परमाधार्मिक पण असुरकुमार जातिना छे तेओना नाम जेमके-(१) अम्ब, (२) अम्बरीष, (३) श्याम, (४)

(१) भवनपतिदेवभेदाः—

तत्र भवनपतयो दशविधाः—(१) असुरकुमाराः, (२) नागकुमाराः, (३) सुवर्णकुमाराः, (४) विद्युत्कुमाराः, (५) अग्निकुमाराः, (६) द्वीपकुमाराः, (७) उदधिकुमाराः, (८) दिशाकुमाराः, (९) वायुकुमाराः, (१०) स्तनितकुमाराश्च। कुमारा इव सुकुमारा मनोहरा मृदुमधुरललितगतयः कुमारवदभिव्यक्तरागाः केलिविलोलितचेतसः कुमारवदुद्धतरूपवेषभाषाभरणप्रहरणावरणयानवाहनाश्चेत्यतः 'कुमाराः' इत्युच्यन्ते। जम्बूद्वीपे सुमेरुपर्वतस्याधस्ताद्दक्षिणोत्तरभागयोस्तिर्यग् भागेऽनेककोटिकोटिलक्षयोजनं यावद् भवनपतयो निवसन्ति।

(१) भवनपतिदेव—

भवनपति देव दश प्रकार के हैं—(१) असुरकुमार, (२) नागकुमार, (३) सुवर्णकुमार, (४) विद्युत्कुमार, (५) अग्निकुमार, (६) द्वीपकुमार, (७) उदधिकुमार, (८) दिशाकुमार, (९) वायुकुमार और (१०) स्तनितकुमार।

कुमार के समान सुकुमार, मनोहर, मृदु, मधुर, ललित गतिवाले, कुमार के समान राग व्यक्त करने वाले, क्रीडा में चित्त लगाने वाले, कुमार के समान ही उद्धत रूप, वेष, भाषा, आभूषण, आयुध, यान, वाहन आदि धारण करने वाले होने से ये देव, कुमार कहलाते हैं। जम्बू द्वीप में सुमेरु पर्वत के नीचे दक्षिण भाग और उत्तर भाग के तिरछे भाग में अनेक कोटा-कोटी लाख योजन तक भवनपति देव निवास करते हैं।

(૧) ભવનપતિદેવ—

ભવનપતિ દેવ દસ પ્રકારના છે—(૧) અસુરકુમાર, (૨) નાગકુમાર, (૩) સુવર્ણ કુમાર, (૪) વિદ્યુત્કુમાર, (૫) અગ્નિકુમાર, (૬) દ્વીપકુમાર, (૭) ઉદધિકુમાર, (૮) દિશાકુમાર (૯) વાયુકુમાર, અને (૧૦) સ્તનિતકુમાર

કુમાર પ્રમાણે, સુકુમાર, મનોહર, મૃદુ, મધુર, લલિતગતિવાળા, કુમારના સમાન રાગ વ્યક્ત કરવા વાળા, ક્રીડામાં ચિત્ત લગાવવા વાળા, કુમારના પ્રમાણે ઉદ્ધત-રૂપ, વેષ, ભાષા આભૂષણ, આયુધ, યાન, વાહન આદિ ધારણ કરવા વાળા હોવાથી તે દેવ, કુમાર કહેવાય છે જમ્બૂદ્વીપમા સુમેરુ પર્વતની નીચે દક્ષિણભાગ અને ઉત્તર ભાગના તિર્છા ભાગમા અનેક કોડા-કોડી લાખ યોજન સુધી ભવનપતિ દેવ નિવાસ કરે છે

व्यन्तरा' षोडशविधा – १ पिशाच–२ भूत–३ यक्ष–४ राक्षस –५ किंनर ६ किंपुरुष ७महोरग–८गन्धर्वा–९ मज्ञप्तिक–१०पञ्चप्रज्ञप्तिक–११ऋषिवादिक१२भूत-वादिक – १३ क्रन्दित – १४ महाक्रन्दित१५कूष्माण्ड–१६पतंग भेदात् । (स्था स्था. २ उ ३)

जृम्भका अपि व्यन्तरदेवा दश सन्ति। यथा–(१) अन्नजृम्भका' (२) पानजृम्भका', (३) वस्त्रजृम्भका', (४) लयनजृम्भका , (५) शयनजृम्भका', (६) पुष्पजृम्भका , (७) फलजृम्भका', (८) पुष्पफलजृम्भका', (९) विद्याजम्भका , (१०) अव्यक्तजृम्भका. ।

(६) ज्योतिष्कदेवा –

ज्योतींषि-प्रभापुञ्जस्वरूपाणि समुज्ज्वलानि विमानानि, तत्र भवाः

व्यन्तर देव सोलह हैं–(१) पिशाच, (२) भूत, (३) यक्ष, (४) राक्षस, (५) किन्नर, (६) किंपुरुष, (७) महोरग, (८) गन्धर्व, (९) अप्रज्ञप्तिक, (१०) पञ्चप्रज्ञप्तिक, (११) ऋषिवादिक, (१२) भूतवादिक, (१३) क्रन्दित, (१४) महाक्रन्दित, (१५) कूष्माण्ड, और (१६) पतङ्ग (स्था स्था २ उ ३)

जृम्भक व्यन्तर देव भी दश प्रकार के हैं। जैसे—

(१) अन्नजृमक, (२) पानजृमक, (३) वस्त्रजृमक, (४) लयनजृमक, (५) शयनजृंभक, (६) पुष्पजृंमक, (७) फलजृमक, (८) पुष्पफलजृमक, (९) विद्याजृमक और (१०) अव्यक्त-जृंमक।

(३) ज्योतिष्क देव

प्रभा के पुञ्ज के समान अत्यन्त उज्ज्वल विमानों में उत्पन्न होने वाले

વ્યન્તર દેવ સોળ છે (૧) પિશાચ, (૨) ભૂત (૩) યક્ષ, (૪) રાક્ષસ (૫) કિન્નર, (૬) કિંપુરૂષ, (૭) મહોરગ, (૮) ગંધર્વ, (૯) અપ્રજ્ઞપ્તિક, (૧૦) પંચપ્રજ્ઞપ્તિક, (૧૧) ઋષિવાદિક, (૧૨) ભૂતવાદિક, (૧૩) ક્રન્દિત, (૧૪) મહાક્રન્દિત, (૧૫) કૂષ્માંડ અને (૧૬) પતંગ, (સ્થા સ્થા ૨ ઉ ૩)

જૃંભક વ્યન્તર દેવ પણ દસ પ્રકારના છે, જેમ–(૧) અન્નજૃંભક, (૨) પાન જૃંભક, (૩) વસ્ત્રજૃંભક, (૪) લયનજૃંભક, (૫) શયનજૃંભક, (૬) પુષ્પ જૃંભક, (૭) ફલજૃંભક (૮) પુષ્પફલજૃંભક, (૯) વિદ્યાજૃંભક, અને (૧૦) અવ્યક્તજૃંભક

(૩) જ્યોતિષ્કદેવો—

પ્રભાના પુંજ સમાન અત્યંત ઉજ્જ્વલ વિમાનોમાં ઉત્પન્ન થવા વાળા દેવ

३श्याम४शबल५रुद्र६वैरुद्र७काल८महाकाल९असिपत्र१०धनुः११कुम्भ१२वालुक१३वैतरणी१४खरस्वर१५महाघोष-भेदात् ।

(२) व्यन्तरदेवाः—

रत्नप्रभाकाण्डस्य सहस्रयोजनपरिमाणयुक्तस्याधस्तादेकशतयोजनमूर्ध्वं च तथैकशतयोजनं विहायाष्टशतयोजनपरिमाणयुक्तरत्नप्रभाकाण्डे व्यन्तरदेवाना मसंख्यातानि नगराणि सन्ति । तथैव भवनानि तेषामावासाश्च सन्ति । तत्र बालवत् स्वेच्छया शक्रादिदेवेन्द्राज्ञया वा चक्रवर्त्यादिपुरुषाज्ञया वा प्रायेणा नियतगतिप्रचारा भवन्ति । मनुष्यानपि केचिद् भृत्यवदुपचरन्ति । विविधेषु च शैलकन्दरान्तरवनविवरादिषु प्रतिवसन्ति; अतो व्यन्तरा इत्युच्यन्ते ।

(५) रुद्र, (६) वैरुद्र, (७) काल, (८) महाकाल, (९) असिपत्र, (१०) धनुष, (११) कुम्भ, (१२) वालुक, (१३) वैतरणी, (१४) खरस्वर, (१५) महाघोष ।

(२) व्यन्तर देव–

एक हजार योजन परिमाण वाले रत्नप्रभाकाण्ड के नीचे और एक सौ योजन ऊपर तथा एक सौ योजन छोड़कर आठ सौ योजन परिमाण युक्त रत्नप्रभाकाण्ड में व्यन्तर देवों के असंख्यात नगर हैं। उसी प्रकार भवन और उनके आवास हैं। बालकों के समान अपनी इच्छासे, शक्र आदि देवों की आज्ञा से, या चक्रवर्ती आदि की आज्ञासे प्राय अनियतगति वाले होते हैं । ये देव किन्हीं–किन्हीं मनुष्यों की दास के समान सेवा करते हैं । ये विविध प्रकार के पर्वतों की गुफाओं में और वनविवर आदि में निवास करते हैं अत इन्हें व्यन्तर कहते हैं ।

શબલ, (૫) રુદ્ર, (૬) વૈરુદ્ર, (૭) કાલ, (૮) મહાકાલ, (૯) અસિપત્ર, (૧૦) ધનુષ, (૧૧) કુંભ, (૧૨) વાલુક, (૧૩) વૈતરણી, (૧૪) ખરસ્વર, (૧૫) મહાઘોષ.

(૨) વ્યન્તરદેવ—

એક હજાર યોજન પરિમાણુવાળા રત્નપ્રભાકાંડની નીચે અને એકસો યોજન ઉપર તથા એકસો યોજન છોડીને આઠસો યોજન પરિમાણયુક્ત રત્નપ્રભાકાંડમા વ્યંતર દેવોના અસંખ્યાત નગર છે તે પ્રમાણે ભવન અને તેના આવાસો છે બાળકોની જેમ પોતાની ઇચ્છાથી, ઇંદ્ર આદિ દેવોની આજ્ઞાથી. અથવા ચક્રવર્તી આદિની આજ્ઞાથી પ્રાય અનિયત ગતિવાળા હોય છે આ દેવ કોઇ કોઇ મનુષ્યની દાસની સમાન સેવા કરે છે તે વિવિધ પ્રકારના પર્વતોની ગુફાઓમાં અને વન–ગુફાઓ આદિમાં નિવાસ કરે છે

वैमानिकदेवाना द्वौ भेदौ-कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च। कल्प'=आचारः स चेहेन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशादिव्यवहाररूपस्तमुपगता' कल्पोपपन्ना'= सौधर्मादि-देवलोकनिवासिनो वैमानिका देवा । यद्वा-कल्पेषु सौधर्मादिषु उपपन्नाः सौधर्मादि-देवलोकोत्पन्ना वैमानिकदेवा' कल्पोपपन्नाः। यद्वा-कल्पेन=नियमेन इन्द्रसामा-निकादिस्वामिसेवकादिभावरूपमर्यादयोपपन्ना'=युक्ता'=कल्पोपपन्नाः।

१इन्द्र- २सामानिक - ३त्रायस्त्रिंश - ४ लोकपाल- ५ पारिषद्या-६ नीका-७त्मरक्षका-८ऽऽभियोगिक-९प्रकीर्णा', किल्बिषिकाश्च१० स्वस्वमर्यादापालकतया कल्पोपपन्ना इत्युच्यन्ते। तत्रेन्द्राः - सामानिकादिदेवानामधिपतयः। इन्द्रसमाना -सामानिकाः। मन्त्रिपुरोहितस्थानीयास्त्रायस्त्रिंशा । सीमारक्षका

वैमानिक देव दो प्रकार के हैं-कल्पोपपन्न और कल्पातीत। कल्प का अर्थ है-आचार। यहां इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि का व्यवहार कल्प माना गया है, और यह कल्प जिन में पाया जाय वे कल्पोपपन्न कहलाते हैं। सौधर्म आदि देवलोकों मे निवास करने वाले वैमानिक देव कल्पोपपन्न हैं। अथवा कल्प से अर्थात् नियम से अर्थात् इन्द्र, सामानिक आदि, या स्वामी-सेवक आदिभावरूप मर्यादा से युक्त देव कल्पोपपन कहलाते हैं।

इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, लोकपाल, पारिषद, आनीक आत्मरक्षक, आभियोग्य, प्रकीर्णक और किल्विषिक, ये दश अपनी-अपनी मर्यादा का पालन करते हुए कल्पोपपन्न कहलाते है।

सामानिक आदि देवों के अधिपति इन्द्र कहलाते हैं। इन्द्र के समान

વૈમાનિક દેવ બે પ્રકારના છે-(૧) કલ્પોપપન્ન અને (૨) કલ્પાતીત કલ્પનો અર્થ છે-આચાર અહિં ઈન્દ્ર, સામાનિક, ત્રાયસ્ત્રિંશ આદિનો વ્યવહાર કલ્પ માન્યો છે, અને આ કલ્પ જેનામાં જોવામાં આવે છે તે કલ્પોપપન્ન કહેવાય છે સૌધર્મ આદિ દેવલોકોમાં નિવાસ કરવાવાળા વૈમાનિક દેવ કલ્પોપપન્ન છે અથવા કલ્પથી અર્થાત, નિયમથી અર્થાત્ ઈન્દ્ર સામાનિક આદિ, અથવા સ્વામી-સેવક આદિ ભાવરૂપ મર્યાદાથી યુક્ત દેવ કલ્પોપપન્ન કહેવાય છે

ઈન્દ્ર, સામાનિક, ત્રાયસ્ત્રિંશ, લોકપાલ, પારિષદ, આનીક, આત્મરક્ષક, આભિયોગ્ય, પ્રકીર્ણક અને કિલ્વિષિક, પોત-પોતાની મર્યાદાનુ પાલન કરતા થકા કલ્પોપપન્ન કહેવાય છે

સામાનિક આદિ દેવોના અધિપતિ ઈન્દ્ર કહેવાય છે ઈન્દ્રના સમાન સામાનિક

ज्योतिष्का। ज्योतिष्कदेवास्तिर्यग्लोके ज्योतिःप्रकाशं कुर्वन्ति। ज्योतिष्कदेवाः पञ्चविधा –(१) चन्द्र–(२) सूर्य–(३) ग्रह–(४) नक्षत्र–(५) तारा–भेदात्। इमे पञ्च समयक्षेत्रान्तर्वर्तिनश्चरस्वभावा सन्ति। अपरे पञ्च चन्द्रादयः समयक्षेत्राद् बहिः स्थिरा एव तिष्ठन्ति।

(४) वैमानिकदेवाः—

ऊर्ध्वलोके विमानेषु वसन्तीति वैमानिकाः। यद्वा–विशेषेण मानयन्ति= विशंति यत्र विशिष्टसुकृतिन इति विमानानि, तत्र भवा वैमानिका। यद्वा–वि= विशिष्ट मान=ज्ञानं यत्र, समदर्शितया, अन्यदेवापेक्षया च हेयोपादेयज्ञान-विशिष्टा भवन्ति यत्र तानि विमानानि, तत्र भवा वैमानिकाः।

देव ज्योतिष्क कहलाते हैं। ज्योतिष्क देव मध्यम लोक में प्रकाश करते हैं। ज्योतिष्क देव पांच प्रकार के हैं—

१ चन्द्र, २ सूर्य, ३ ग्रह, ४ नक्षत्र, और ५ तारागण। ये पांचों समयक्षेत्र (अढाई द्वीप) में चलते हैं और समयक्षेत्र से बाहर स्थिर स्वभाव वाले हैं।

(४) वैमानिक देव–

ऊर्ध्व लोक में विमानों में वास करने वाले वैमानिक कहलाते हैं। अथवा जहां विशिष्ट पुण्यात्मा प्रवेश करते हैं उन्हे विमान कहते हैं, और विमानों में वास करने वाले वैमानिक कहलाते हैं। अथवा समदर्शी होने के कारण जहां विशिष्ट ज्ञान हो, या अन्य देवों की अपेक्षा जहा हेय उपादेय का विशिष्ट ज्ञान हो, वे विमान हैं और उन में होने वाले वैमानिक हैं।

જ્યોતિષ્ક કહેવાય છે. જ્યોતિષ્ક દેવ મધ્ય લોકમા પ્રકાશ કરે છે જ્યોતિષ્ક દેવ પાચ પ્રકારના છે (૧) ચન્દ્ર, (૨) સૂર્ય, (૩) ગ્રહ, (૪) નક્ષત્ર અને (૫) તારાગણ આ પાચ સમયક્ષેત્ર (અઢીદ્વીપ)માં ચાલે છે અને સમયક્ષેત્રની બહાર સ્થિર સ્વભાવવાળા છે

(૪) વૈમાનિક દેવ–

ઉર્ધ્વ લોકમા વિમાનોમાં વાસ કરવા વાળા વૈમાનિક કહેવાય છે, અથવા જ્યાં વિશિષ્ટ પુણ્યાત્મા પ્રવેશ કરે છે તેને વિમાન કહે છે અને વિમાનોમાં વાસ કરવા વાળા વૈમાનિક કહેવાય છે, અથવા–સમદર્શી હોવાના કારણે જ્યાં વિશિષ્ટ જ્ઞાન હોય, અથવા અન્ય દેવોની અપેક્ષાએ, જ્યા હેય–ઉપાદેયનુ વિશિષ્ટ જ્ઞાન હોય તે વિમાન છે, અને તેમાં થવા વાળા વૈમાનિક છે

कल्पस्य समानदेशे ऐशान॰ कल्प । ऐशानस्योपरि सनत्कुमारः कल्प' । सनत्कुमारस्योपरि माहेन्द्र कल्प॰ । एवमुपर्युपरि सर्वे कल्पाः सन्ति ।

तत्रज्योतिष्कलोकादूर्ध्वम सख्यातयोजनकोटिकोटिपुमार्गमारुह्य रूपलक्षितदक्षिणभागे गगनप्रदेशे सौधर्मकल्पस्तथैशानकल्पश्चाऽस्ति । सौधर्मकल्प पूर्व पश्चिमदीर्घ , उत्तरदक्षिणविस्तीर्णोऽर्धचन्द्राकार सूर्यवद्भास्वर , आयामविष्कम्भाभ्यां परिक्षेपतश्चाऽसख्येययोजनकोटिकोटय , सर्वरत्नमय लोकान्तविस्तारोऽस्ति । तत्र मध्यमागे सर्वरत्नमयाशोक–सप्तपर्ण–चम्पका–ऽऽम्र – सौधर्मावतसकसुशोभित' शक्रावास । तत्र सुधर्मा नाम शक्रस्य देवेन्द्रस्य सभा तस्मिन् कल्पेऽस्तीति सौधर्म कल्प ।

के ऊपर सनत्कुमार कल्प है । सनत्कुमार के ऊपर माहेन्द्र कल्प है । इसीप्रकार ऊपर–ऊपर सभी कल्प समझने चाहिए ।

ज्योतिष्क मण्डल से ऊपर असंख्यात कोडाकोडी योजन ऊपर जाकर मेरु से उपलक्षित दक्षिण भाग में आकाश–प्रदेश में सौधर्मकल्प और ऐशान कल्प हैं । सौधर्मकल्प पूर्व पश्चिम में लम्बा, उत्तर–दक्षिण में विस्तीर्ण और अर्धचन्द्र के आकार का है । सूर्य के समान चमकदार, लम्बाई, चौडाई और परिधि से असख्यात कोडाकोडी योजन, सर्वरत्नमय और लोक के अन्ततक विस्तृत है । उसके मध्य भाग में सर्वरत्नमय अशोक, सप्तवर्ण, चम्पक, आम्र, एव सौधर्मावतसक से शोभित शक्र का आवास है । शक्र देवेन्द्र की सुधर्मानामक सभा जिस कल्प में हो, वह सौधर्मकल्प कहलाता है ।

ઐશાનના ઉપર સનત્કુમાર કલ્પ છે, સનત્કુમારના ઉપર માહેન્દ્ર કલ્પ છે એ પ્રમાણે ઉપર ઉપર તમામ કલ્પ સમજવા જોઈએ.

જ્યોતિષ્કમંડળની ઉપર, અસખ્યાત કોડા–કોડી યોજન ઉપર જઈને મેરુથી ઉપલક્ષિત દક્ષિણ ભાગમા આકાશ–પ્રદેશમાં સૌધર્મ કલ્પ અને ઐશાન કલ્પ છે સૌધર્મ કલ્પ પૂર્વ પશ્ચિમમા લાબો, ઉત્તર–દક્ષિણમા વિસ્તીર્ણ અને અર્ધચન્દ્રાકાર છે સૂર્યના સમાન ચમકદાર લબાઈ, ચોડાઈ અને પરિધિથી અસખ્યાત કોડાકોડી યોજન, સર્વરત્નમય છે, અને લોકના અત સુધી વિસ્તૃત છે તેના મધ્ય ભાગમા સર્વ રત્નમય અશોક, સપ્તપર્ણ, ચમ્પક, આમ્ર, એવ સૌધર્માવતસથી શોભિત ઇંદ્રનો આવાસ છે શક્ર દેવેન્દ્રની સુધર્મા નામની સભા જે કલ્પમાં હોય, તે સૌધર્મ કલ્પ કહેવાય છે

लोकपालाः । मित्रस्थानीयाः पारिषद्याः । सैनिकाः सेनाधिपतिरूपाश्च-आनीकाः । इन्द्रशरीररक्षाकारका आत्मरक्षकाः । दासस्थानीयाः सेवका आभियोग्याः । नागरिक-पौरजनसमानाः प्रकीर्णकाः । अन्त्यजसमानाः किल्विषिकाः । सौधर्मादि-द्वादशकल्पेषु दशविधा इन्द्रसामानिकादयो देवाः भवन्ति । व्यन्तरज्योतिष्कदेवेषु त्रायस्त्रिंशा लोकपालाश्च न भवन्ति ।

कल्पोपपन्नदेवानां निवासस्थानानि द्वादश सन्ति-१सौधर्म-२ऐशान-३सनत्कुमार-४माहेन्द्र-५ब्रह्मलोक-६लान्तक-७महाशुक्र ८सहस्रारा-९ऽऽनत १०प्राणता ११ऽऽरणा-१२ऽच्युताः । इमे द्वादश देवलोकाः कल्पविमानानि । तत्र सौधर्मस्य

सामानिक होते हैं । मन्त्री और पुरोहित जसे त्रायस्त्रिंश देव हैं । सीमा की रक्षा करने वाले लोकपाल हैं । मित्र के समान पारिषद हैं । सैनिक और सेनाधिपतिरूप आनीक हैं । इन्द्र के शरीर की रक्षा करने वाले आत्मरक्षक कहलाते हैं । नागरिक-पौरजनके समान प्रकीर्णक देव हैं । दास के समान देव आभियोगिक कहलाते हैं, और अन्त्यजों के समान किल्विषिक हैं । ये इन्द्र सामानिक आदि दशप्रकारके देव सौधर्म आदि सभी कल्पों में होते हैं । व्यंतरों और ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते ।

कल्पोपपन्न देवो के निवसस्थान बारह हैं—

१ सौधर्म, २ ऐशान, ३ सनत्कुमार, ४ माहेन्द्र, ५ ब्रह्मलोक, ६ लान्तक, ७ महाशुक्र, ८ सहस्रार, ९ आनत, १० प्राणत, ११ आरण, १२ अच्युत । ये बारह देवलोक कल्पविमान हैं । सौधर्म कल्प की बराबरी पर ऐशान कल्प है । ऐशान

હોય છે મંત્રી અને પુરોહિત જેવા ત્રાયસ્ત્રિંશ દેવ છે સીમાની રક્ષા કરનારા તે લોકપાલ છે મિત્રની સમાન પારિષદ છે, સૈનિક અને સેનાધિપતિરૂપ આનીક છે ઈન્દ્રના શરીરની રક્ષા કરવાવાળા આત્મરક્ષક કહેવાય છે નાગરિક-પૌરજનની સમાન પ્રકીર્ણક દેવ છે દાસના સમાન સેવક દેવ આભિયોગિક કહેવાય છે, અન્ત્યજોની સમાન કિલ્વિષિક છે આ ઈન્દ્ર, સામાનિક આદિ દેવ સૌધર્મ આદિ સર્વ કલ્પોમાં હોય છે વ્યંતરો અને જ્યોતિષ્ક દેવોમાં ત્રાયસ્ત્રિંશ અને લોકપાલ હોતા નથી.

કલ્પોપપન્ન દેવોના નિવાસસ્થાન બાર છે (૧) સૌધર્મ, (૨) ઐશાન (૩) સનત્કુમાર (૪) માહેન્દ્ર (૫) બ્રહ્મલોક (૬) લાન્તક, (૭) મહાશુક્ર, (૮) સહસ્રાર, (૯) આનત, (૧૦) પ્રાણત, (૧૧) આરણ, (૧૨) અચ્યુત

આ બાર દેવલોક કલ્પ વિમાન છે સૌધર્મ કલ્પની બરાબરી પર ઐશાન કલ્પ છે

द्वादशकल्पनिवासिनामिन्द्राणां नामानि यथा-सौधर्मकल्पस्य शक्रः १, ऐशानस्येशानः २, सनत्कुमारस्य सनत्कुमारः ३, माहेन्द्रस्य महेन्द्रः ४, ब्रह्मलोकस्य ब्रह्मेन्द्रः ५, लान्तकस्य-लन्तकः ६, महाशुक्रस्य महाशुक्रः ७, सहस्रारस्य सहस्रारः ८, आनत-प्राणतयोः कल्पयोः एक-एव प्राणतनामा सुरपतिः ९, आरणाच्युतयोरपि तथैवैकोऽच्युतनामा देवराजोऽस्ति १० ।

एषु नव लोकांतिकाः-सारस्वता१ ऽऽदित्य२-वह्नि३-वरुण४-गर्दतोय५-तुषिता६-ऽव्याबाधा७-ऽऽग्नेय८-रिष्ट९-नामानः सन्ति । ब्रह्मलोके लोकान्तिका निवसन्ति । ईशानकोणे सारस्वताः१, पूर्वस्यामादित्याः२, आग्नेयकोणे वह्नयः३, दक्षिणस्यां वरुणा.४, नैऋत्ये गर्दतोयाः५, पश्चिमायां तुषिताः६, वायव्यकोणे-ऽव्याबाधा ७, उत्तरस्याम् अग्गिच्चा (आग्नेयाः)८, मध्ये रिष्टाः ९ निवसन्ति ।

बारह कल्पवासी इन्द्रों के नाम इस प्रकार हैं-सौधर्म कल्प का शक्र १, ऐशान का ईशान २, सनत्कुमार का सनत्कुमार ३, माहेन्द्र का महेन्द्र ४, ब्रह्मलोकका ब्रह्मेन्द्र ५, लान्तक का लन्तक ६, महाशुक्र का महाशुक्र ७, सहस्रार का सहस्रार ८ और आनत-प्राणत कल्पों का एक प्राणतनामक इन्द्र है ९ । आरण और अच्युत कल्पों का अच्युत नामक एक ही इन्द्र है १० ।

इन में नौ लोकान्तिक देव हैं-(१) सारस्वत, (२) आदित्य, (३) वह्नि, (४) वरुण, (५) गर्दतोय, (६) तुषित, (७) अव्याबाध, (८) आग्नेय और, (९) रिष्ट । ये लोकान्तिक देव ब्रह्मलोक में निवास करते हैं । ईशान कोण में सारस्वत, पूर्व में आदित्य, आग्नेय कोण में वह्नि, दक्षिण में वरुण, नैऋत्य में गर्दतोय, पश्चिम में तुषित, वायव्य में अव्याबाध, उत्तर में अग्गिच्चा (आग्नेय) और मध्य में रिष्ट निवास करते हैं ।

બાર કલ્પવાસી ઇન્દ્રોનાં નામો આ પ્રમાણે છે-સૌધર્મકલ્પના શક્ર; (૧) ઐશાનના ઈશાન (૨) સનત્કુમારના સનત્કુમાર (૩) માહેન્દ્રના મહેન્દ્ર, (૪) બ્રહ્મલોકના બ્રહ્મેન્દ્ર, (૫) લાન્તકના લન્તક, (૬) મહાશુક્રના મહાશુક્ર,(૭) સહસ્રારના સહસ્રાર અને આનત-પ્રાણત કલ્પોના એક પ્રાણત નામના ઇન્દ્ર છે, આરણ અને અચ્યુત કલ્પોના અચ્યુત નામના એક ઇન્દ્ર છે (૧૦) તેમાં નવ લોકાન્તિક દેવ છે—(૧) સારસ્વત, (૨) આદિત્ય, (૩) વહ્નિ, (૪) વરુણ, (૫) ગર્દતોય, (૬) તુષિત, (૭) અવ્યાબાધ, (૮) આગ્નેય, અને (૯) રિષ્ટ. આ લોકાન્તિક દેવ બ્રહ્મલોકમાં નિવાસ કરે છે ઈશાનકોણમાં સારસ્વત, પૂર્વમા આદિત્ય, આગ્નેયકોણમાં વહ્નિ, દક્ષિણમાં વરુણ, નૈઋત્યમાં ગર્દતોય પશ્ચિમમાં તુષિત,વાયવ્યમાં અવ્યાબાધ,ઉત્તરમાં અગ્ગિચ્ચા(આગ્નેય)અને મધ્યમાં રિષ્ટ નિવાસ કરે છે

तथैशानकल्पोऽप्यर्धचन्द्राकारोऽस्ति। उभौ मिलितौ पूर्णचन्द्राकारेणा वस्थितौ स्तः ततोऽसंख्यातयोजनकोटिकोटिपूपरि समानप्रदेशे सनत्कुमार-माहेन्द्रौ कल्पौ वर्तेते। अर्धचन्द्राकार इव सनत्कुमारस्तथैव माहेन्द्रोऽपि। उभौ मिलित्वा पूर्णचन्द्रसदृशाकारेण स्तः। ततोऽसंख्यातयोजनकोटिकोट्युपरि ब्रह्मलोकः पूर्णचन्द्राकारोऽस्ति। एवमेव लान्तक-महाशुक्र-सहस्रारास्तावत्ताव-द्योजनोर्ध्वमुपर्युपरि प्रत्येकं पूर्णचन्द्राकाराः सन्ति ततोऽप्यसंख्यातयोजनकोटि-कोट्युपरि समानगगनप्रदेशे आनत-प्राणतलोकौ प्रत्येकमर्धचन्द्राकारौ स्तः। उभौ मिलित्वा पूर्णचन्द्राकारेण भवतः। ततोऽप्यसंख्यातयोजनकोटि कोट्युपरि-आरणाच्युतलोकौ प्रत्येकमर्धचन्द्राकारौ स्तः। उभौ मिलित्वा पूर्णचन्द्राकारं भजतः।

ऐशानकल्प भी अर्धचन्द्राकार है। दोनों कल्प मिलकर पूर्ण चन्द्रमा के समान हैं। इन से असंख्यात कोडाकोडी योजन ऊपर समान देश में सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प हैं। सनत्कुमार कल्प अर्धचन्द्राकार है और माहेन्द्र कल्प भी इसी प्रकार का है। दोनों मिलकर पूर्णचन्द्रमा के सदृश आकार वाले हैं। इन से असंख्यात कोडाकोडी योजन ऊपर ब्रह्मलोक पूर्णचन्द्राकार है। इसी प्रकार लान्तक, महाशुक्र, और सहस्रार उतने-उतने योजन ऊपर-ऊपर प्रत्येक पूर्णचन्द्रमा के समान अवस्थित हैं। उन से असंख्यात कोडाकोडी योजन ऊपर आकाश प्रदेश में आनत और प्राणत बराबरी पर प्रत्येक अर्धचन्द्राकार है। ये दोनों मिलकर पूर्णचन्द्रके आकार के हो जाते हैं। उन से असंख्यात कोडाकोडी योजन ऊपर आरण और अच्युत लोक प्रत्येक अर्धचन्द्राकार है। ये दोनों मिलकर पूर्णचन्द्र के आकार के जैसे हो जाते हैं।

ઐશાન કલ્પ પણ અર્ધચન્દ્રાકાર છે બન્ને કલ્પો મળીને પૂર્ણ ચન્દ્રમાની સમાન છે તેનાથી અસંખ્યાત કોડા-કોડી યોજન ઉપર સમાન દેશમાં સનત્કુમાર અને માહેન્દ્ર કલ્પ છે સનત્કુમાર કલ્પ અર્ધચન્દ્રાકાર છે અને માહેન્દ્ર કલ્પ પણ એ પ્રકારનો છે બન્ને મળીને પૂર્ણચન્દ્રમાની બરાબર આકારવાળા છે તેનાથી અસંખ્યાત કોડા-કોડી યોજન ઉપર બ્રહ્મલોક પૂર્ણચન્દ્રાકાર છે એ પ્રમાણે લાન્તક, મહાશુક્ર અને સહસ્રાર તેટલા-તેટલા યોજન ઉપર-ઉપર પ્રત્યેક, પૂર્ણચન્દ્રમાસમાન અવસ્થિત છે તેથી અસંખ્યાત કોડા-કોડી યોજન ઉપર આકાશપ્રદેશમાં આનત અને પ્રાણત બરાબરી પર પ્રત્યેક અર્ધચન્દ્રાકાર છે એ બન્ને કલ્પો મળીને પૂર્ણ ચન્દ્રમાના આકારના થઈ જાય છે. તેથી અસંખ્યાત કોડા-કોડી યોજન ઉપર આરણ અને અચ્યુત લોક પ્રત્યેક અર્ધચન્દ્રાકાર છે એ બન્ને મળીને પણ પૂર્ણચન્દ્રાકાર જેવાં થઈ જાય છે

नवग्रैवेयकनामानि यथा - १ भद्र - २ सुभद्र - ३ सुजात - ४ सुमानस - ५ सुदर्शन-६ प्रियदर्शना-७ऽमोघ-८सुप्रतिभद्र-९यशोधराणि ।

पञ्चानुत्तरविमानानि यथा-१ विजय-२वैजयन्त-३जयन्ता-४ऽपराजित-५ सर्वार्थसिद्धाख्यानि । अविद्यमानमुत्तर-मुत्कृष्ट विमानादि येभ्यस्तान्यनुत्तराणि । तानि च विमानानि-अनुत्तरविमानानि ।

तीर्थङ्करादीनां समवसरणादौ कल्पोपपन्नदेवा गमनागमन कुर्वन्ति । कल्पातीतदेवास्तु स्वस्थानादन्यत्र न गच्छन्ति ।

प जीवनिकायभेद-सङ्कलनम्

षड्जीवनिकायानां त्रिषष्ट्युत्तरपञ्चशतानि (५६३) भेदा । तथाहि-पृथिव्यप्तेजोवायुकायानां प्रत्येक बादर-सूक्ष्म-भेदाद् द्वैविध्येऽष्टधा । तेषां

नौ ग्रैवेयकों के नाम-(१) भद्र, (२) सुभद्र, (३) सुजात, (४) सुमानस, (५) सुदर्शन, (६) प्रियदर्शन, (७) अमोघ, (८) सुप्रतिभद्र, और (९) यशोधर हैं ।

पाच अनुत्तर विमान-(१) विजय, (२) वैजयन्त, (३) जयन्त, (४) अपराजित और (५) सर्वार्थसिद्ध । जिन से ऊपर अर्थात् उत्कृष्ट और कोई विमान नहीं वे अनुत्तर विमान कहलाते हैं । तीर्थंकर आदि के समवसरण आदि में कल्पोपपन्न देव गमनागमन करते हैं । कल्पातीत देव अपने स्थान से अन्य जगह नही जाते ।

षड्जीवनिकाय के भेदों का संकलन-

षड्जीवनिकायों के कुल पाचसो त्रेसठ (५६३) भेद हैं । वे इस प्रकार हैं-पृथिवी, अप्, तेज, और वायुकाय के बादर और सूक्ष्म के भेद से आठ भेद हुए ।

નવગ્રૈવેયકના નામ— (૧) ભદ્ર, (૨) સુભદ્ર, (૩) સુજાત, (૪) સુમાનસ, (૫) સુદર્શન, (૬) પ્રિયદર્શન, (૭) અમોઘ, (૮) સુપ્રતિભદ્ર અને (૯) યશોધર છે

પાંચ અનુત્તર વિમાન-(૧) વિજય, (૨) વૈજયન્ત, (૩) જયન્ત, (૪) અપરાજિત અને (૫) સર્વાર્થસિદ્ધ જેનાથી ઉત્તર અર્થાત્ ઉત્કૃષ્ટ કોઈ વિમાન ન હોય તે અનુત્તર વિમાન કહેવાય છે તીર્થંકર આદિના સમવસરણ આદિમાં કલ્પોપપન્ન દેવ ગમનાગમન કરે છે કલ્પાતીત દેવ પોતાના સ્થાનથી અન્ય જગ્યાએ જતા નથી.

ષડ્જીવનિકાયના ભેદોનો યોગ

ષડ્જીવનિકાયોના કુલ પાંચસો ત્રેસઠ (૫૬૩) ભેદ છે તે આ પ્રકારે છે—પૃથ્વી, અપ, તેજ અને વાયુકાય, તેના બાદર અને સૂક્ષ્મના ભેદથી આઠ ભેદ થયા.

कल्पातीताः—

कल्पमतीताः—अतिक्रान्ताः कल्पातीताः। सौधर्मादिद्वादशकल्पबहिर्भूताः स्वामिसेवकाद्याचारवर्जिताः, स्वातन्त्र्यादहमिन्द्रनाम्ना प्रसिद्धाः, भद्रादिनवग्रैवेयक-विमान–विजयादिपञ्चानुत्तरविमानाधिवासिनो देवाः कल्पातीताः।

सौधर्मादिद्वादशकल्पतश्चोर्ध्वमसंख्यातयोजनकोटिकोटिमुपरि नवग्रैवेयकानि विमानान्युपर्युपरि सन्ति। पुरुषाकारलोकस्य ग्रीवास्थानीयतया विमानानि ग्रैवेयकान्युच्यन्ते। तद्वासिनो देवा अपि ग्रैवेयका उच्यन्ते। सर्वोपरितनग्रैवेयकविमानादूर्ध्वमसंख्यातयोजनकोटिकोट्युपरि पञ्चानुत्तरविमानानि सन्ति। तत्रैकं मध्यभागे, चतुर्दिक्षु चत्वारि। अनुत्तरविमानवासिनो देवा अनुत्तरा उच्यन्ते।

कल्पातीत—

जो देव कल्प से परे हैं वे कल्पातीत कहलाते हैं, अर्थात् सौधर्म आदि कल्पों से बाहर, स्वामी, सेवक आदि मर्यादा से रहित—स्वतंत्र होने के कारण अहमिन्द्र नाम से प्रसिद्ध भद्र आदि नौ ग्रैवेयकों में तथा विजय आदि पांच अनुत्तर विमानों में निवास करने वाले देव कल्पातीत कहलाते हैं।

सौधर्म आदि बारह कल्पों से ऊपर असंख्यात कोडाकोडी योजन जाकर नौ ग्रैवेयक विमान एक दूसरे के ऊपर अवस्थित हैं। पुरुषाकार लोक की ग्रीवा के स्थान पर जो विमान हैं, वे ग्रैवेयक विमान कहलाते हैं। सब से ऊपर के ग्रैवेयक विमान से ऊपर असंख्यात कोडाकोडी योजन जाकर पांच अनुत्तर विमान हैं। उन में से एक मध्य भाग में है और चार चारों दिशाओं में हैं। अनुत्तरविमानवासी देव अनुत्तर कहलाते हैं।

કલ્પાતીત—

જે દેવો કલ્પથી બહાર છે તે કલ્પાતીત કહેવાય છે અર્થાત્ સૌધર્મ આદિ કલ્પોથી બહાર સ્વામી–સેવક આદિ મર્યાદાથી રહિત, સ્વતંત્ર હોવાના કારણે અહમિન્દ્ર નામથી પ્રસિદ્ધ છે ભદ્ર આદિ નવગ્રૈવેયકમાં, તથા વિજય આદિ પાંચ અનુત્તર વિમાનોમાં નિવાસ કરવા વાળા દેવ તે કલ્પાતીત કહેવાય છે

સૌધર્મ આદિ બાર કલ્પોથી ઉપર અસંખ્યાત કોડા–કોડી યોજન જઈને નવ ગ્રૈવેયક વિમાન એક બીજાની ઉપર અવસ્થિત છે પુરૂષાકાર લોકની ગ્રીવા (ડોક) ના સ્થાન પર જે વિમાન છે તે ગ્રૈવેયક વિમાન કહેવાય છે

સૌથી ઉપરના ગ્રૈવેયક વિમાન ઉપર અસંખ્યાત કોડા–કોડી યોજન જઈને પાંચ અનુત્તર વિમાન છે તેમાંથી એક મધ્ય ભાગમાં છે, ચાર ચારેય દિશાઓમાં છે અનુત્તરવિમાનવાસી દેવ અનુત્તર કહેવાય છે

रत्नप्रभादय' सप्त नरकभूमय । तत्र भवा नारका' सप्तविधाः, तेषां पर्याप्तापर्याप्तभेदेन द्वैविध्ये चतुर्दश भेदाः

मनुष्याणा त्र्युत्तरशतत्रय (३०३) भेदा' पूर्वमेव तत्प्रकरणे सुस्पष्ट कथिताः।

देवानामष्टनवत्युत्तरशत (१९८) भेदाः। तत्र भवनपतीनां दश भेदाः असुरकुमारादय.। परमाधार्मिका' पञ्चदश। एव (२५)पञ्चविंशतिर्भेदाः। व्यन्तराणां षड्विंशतिर्भेदा । तत्र पिशाचादयः षोडश, अन्नजृम्भकादयो दश (२६)। ज्योतिष्कानां दश भेदा । तत्र चन्द्रादय' पञ्च। तेषा पञ्चानां चर-स्थिरभेदेन द्वैविध्ये दश भेदा' (१०) सन्ति। वैमानिकानामष्टत्रिंशद् भेदा'। तत्र सुधर्मादयो द्वादश, सारस्वतादयो नव, किल्विषिकास्त्रयः, ग्रैवेयका'-भद्रादयो

रत्नप्रभा आदि सात नरकभूमियों में सात प्रकार के नारकी हैं। उनके पर्याप्त, अपर्याप्त भेद करने से चौदह भेद होते हैं।

मनुष्यों के तीनसौ तीन (३०३) भेद पहले स्पष्ट कहे जा चुके हैं।

देवों के एकसौ अट्ठानवे (१९८) भेद हैं। वे इस प्रकार–भवनपतियों के असुर कुमार आदि दस, परमाधार्मिक पन्द्रह, सब पच्चीस (२५) भेद हुए। व्यन्तरों के छव्वीस भेद हैं–सोलह पिशाच आदि और दस अन्नजृम्भक आदि (२६)। चन्द्रमा आदि पांच के चर और अचर भेद होने से ज्योतिष्क देवों के दश (१०) भेद हैं। वैमानिकों के अडतीस भेद हैं–सुधर्म आदि बारह, सारस्वत आदि नौ, किल्विषिक आदि तीन, भद्र आदि ग्रैवेयक नौ, विजय आदि पाच अनुत्तर विमान (३८)। इन सब का योग करने से

રત્નપ્રભા આદિ સાત નરકભૂમિઓમાં સાત પ્રકારના નારકી છે તેના પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્ત ભેદ કરવાથી ચૌદ ભેદ થાય છે

મનુષ્યોના ત્રણસોત્રણ (૩૦૩) ભેદ પ્રથમ સ્પષ્ટ કહી ચૂક્યા છીએ દેવોના એકસો અઠાણુ (૧૯૮) ભેદ છે ભવનપતિયોના અસુરકુમાર આદિ દસ, પરમાધામી ૫ દર, સર્વ પચીસ ભેદ થયા વ્યન્તરોના છવીસ ભેદ છે–સોળ પિશાચ આદિ, અને દસ અન્નજૃભક– આદિ. ચ દ્રમા આદિ પાંચના ચર અને અચર ભેદ હોવાથી જ્યોતિષ્ક દેવોના દશ (૧૦) ભેદ છે વમાનિક દેવોના આડત્રીસ(૩૮) ભેદ છે–સુધર્મ આદિ બાર, સારસ્વત આદિ નવ, કિલ્વિષિક આદિ ત્રણ, ભદ્ર આદિ ગ્રૈવેયક નવ, વિજય આદિ પાચ અનુત્તર વિમાન, આ સર્વને એક

पर्याप्तापर्याप्तभेदाद् द्वैविध्ये षोडश (१६) भेदाः। वनस्पतिकायस्य सूक्ष्म-साधारणप्रत्येकभेदात् त्रैविध्यम्, त्रिविधस्य वनस्पतिकायस्य पर्याप्तापर्याप्त-भेदेन प्रत्येक द्वैविध्ये तस्य षड् भेदाः, इत्थं (२२) द्वाविंशतिर्भेदाः स्थावर-पञ्चकस्यैकेन्द्रियजीवस्य भवन्ति।

द्वीन्द्रिय–त्रीन्द्रिय–चतुरिन्द्रियाणां पर्याप्तापर्याप्तभेदेन प्रत्येकं द्वैविध्ये षड् भेदाः। सर्वसङ्कलनयाऽष्टाविंशति (२८) भेदाः।

तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाः–जलचर-स्थलचर-खेचरो–रःपरिसर्पभुजपरिसर्प–भेदात्–पञ्चविधाः। तेषां पञ्चानां सञ्ज्यसञ्ज्ञिभेदेन द्वैविध्ये दश भेदाः। तेषां पर्याप्ता-पर्याप्तभेदेन विंशति(२०)र्भेदाः। पूर्वोक्ताष्टाविंशतिसंकलनतोऽष्टचत्वारिंशद् (४८) भेदास्तिरश्चाम्।

इन आठों के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से सोलह भेद होते हैं। वनस्पतिकाय–सूक्ष्म, साधारण और प्रत्येक के भेद से-तीन प्रकार का है। इन तीनों के पर्याप्त और अपर्याप्त भेद करने से छह भेद हुए। इस प्रकार पांच एकेन्द्रिय स्थावर जीवों के बाईस (२२)भेद हैं।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय के पर्याप्त अपर्याप्त भेद से छह भेद। सबको जोड़ देने पर अट्ठाईस (२८) भेद हुए।

तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय–जलचर, स्थलचर, खेचर, उर परिसर्प और भुजपरिसर्प के भेद से पांच प्रकार के हैं। पांचों के सञ्ज्ञी, असञ्ज्ञी के भेद से दश हुए, इन के पर्याप्त, अपर्याप्त भेद करने से बीस (२०) भेद हुए। इन बीस में पूर्वोक्त अट्ठाईस और मिलाने से तिर्यञ्चों के अड़तालीस (४८) भेद होते हैं।

તે આઠના પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્તના ભેદથી સોળ ભેદ થાય છે વનસ્પતિકાય સૂક્ષ્મ, સાધારણ અને પ્રત્યેકના ભેદથી ત્રણ પ્રકારના છે એ ત્રણેના પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્ત ભેદ કરવાથી છ ભેદ થયા આ પ્રમાણે પાંચ એકેન્દ્રિય સ્થાવર જીવોના બાવીસ ભેદ છે

બેઇન્દ્રિય, ત્રણ-ઇન્દ્રિય અને ચોઇન્દ્રિયના પર્યાપ્ત અપર્યાપ્તના ભેદથી છ ભેદ થયા તે સર્વને એક કરવાથી અઠાવીસ (૨૮) ભેદ થયા

તિર્યંચ પંચેન્દ્રિય-જલચર, સ્થલચર, ખેચર, ઉરઃપરિસર્પ અને ભુજપરિસર્પના ભેદથી પાંચ પ્રકારના છે તે પાંચના સંજ્ઞી અને અસંજ્ઞીના ભેદથી દસ થયા, તેના પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્ત ભેદ કરવાથી વીસ (૨૦) ભેદ થયા, તે વીસમાં પૂર્વોક્ત અઠાવીસ મેળવવાથી તિર્યંચોના અડતાલીસ (૪૮) ભેદ થાય છે

(९) पृथिवीकाया असख्याता ।	(१०) अप्काया असख्याताः ।
(११) तेजस्काया असख्याता. ।	(१२) वायुकाया असख्याता ।
१३) प्रत्येक-वनस्पतिकाया असख्याता ।	(१४) तदपेक्षया सिद्धजीवा अनन्ताः ।
(१५) तेभ्योऽपि कन्दमूलादिरूपा बादरनिगोदजीवा अनन्तगुणा. ।	(१६) सूक्ष्मनिगोदजीवा. सर्वतोऽनन्तगुणा. ।

कर्मवादिप्रकरणम्–

य' पुनरेव षड्जीवनिकायस्वरूपनिरूपणपरः स एव लोकवादी वस्तुत' कर्मवादीत्याह–'कर्मवादी' इति । कर्म–ज्ञानावरणीयादि, तद् वदितुं शीलमस्येति कर्मवादी–कर्मस्वरूपकथनशील । षड्जीवनिकायतत्त्वज्ञ खलु लोकवादी ज्ञाना

(९) पृथ्वीकाय असख्यात ।	(१०) अप्काय असख्यात ।
(११) तेजस्काय असख्यात ।	(१२) वायुकाय असख्यात ।
(१३) प्रत्येकवनस्पतिकाय असख्यात ।	(१४) इस से सिद्ध जीव अनन्त ।
(१५) बादरनिगोदजीव कन्दमूल आदि सिद्धों से भी अनन्तगुणा ।	(१६) सूक्ष्म निगोदजीव सब से अनन्त गुणा ।

कर्मवादिप्रकरण—

जो इस प्रकार षड्जीवनिकाय का स्वरूप निरूपण करने वाला है, वही लोकवादी वास्तव में कर्तवादी है। ज्ञानावरण आदि कर्मों का कथन करना जिस का स्वभाव हो, वह कर्मवादी है। षड्जीवनिकाय का तत्त्व समझने वाला लोकवादी ज्ञानावरण

(૯) પૃથ્વીકાય અસખ્યાત છે	(૧૦) અપ્કાય અસખ્યાત છે
(૧૧) તેજસ્કાય અસખ્યાત છે	(૧૨) વાયુકાય અસખ્યાત છે
(૧૩) પ્રત્યેકવનસ્પતિકાય અસખ્યાત છે	(૧૪) તેનાથી સિદ્ધજીવ અનન્ત છે
(૧૫) બાદર નિગોદ જીવ કન્દમૂળ આદિ સિદ્ધોથી પણ અનન્ત છે	(૧૬) સૂક્ષ્મ નિગોદ જીવ સૌથી અનન્તગણા છે

કર્મવાદીપ્રકરણ—

જે આ પ્રમાણે ષડ્જીવનિકાયના સ્વરૂપનું નિરૂપણ કરવાવાળા છે તે લોકવાદી વાસ્તવિક રીતે કર્મવાદી છે જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મોનુ કથન કરવુ તે જેનો સ્વભાવ હોય, તે કર્મવાદી છે ષડ્જીવનિકાયના તત્ત્વને સમજવાવાળા લોકવાદી જ્ઞાનાવરણ

नव, विजयादयः पञ्चानुत्तरविमानाः (३८)। सर्वेषां सङ्कलनेन (९९) नव नवतिर्भेदाः। तेषां पर्याप्तापर्याप्तभेदेन द्वैविध्ये सत्यष्टनवत्युत्तरशत (१९८) भेदाः देवानां भवन्ति। इत्थं सकलभेदसंकलनया षड्जीवनिकायानां त्रिषष्ट्युत्तर-पञ्चशतानि (५६३) भेदाः सन्ति।

जीवानां सङ्ख्या—

जीवा अनन्ताः सन्ति। तथाहि—

(१) संज्ञिनो मनुष्याः सङ्ख्याताः। (२) असञ्ज्ञिनो मनुष्या असङ्ख्याताः
(३) नारकिणोऽप्यसङ्ख्याताः। (४) देवाः सङ्ख्याताः।
(५) तिर्यञ्चः पञ्चेन्द्रिया असङ्ख्याताः। (६) द्वीन्द्रिया असङ्ख्याताः।
(७) त्रीन्द्रिया असंख्याताः। (८) चतुरिन्द्रिया असङ्ख्याताः।

निन्यानवे (९९) भेद होते हैं, और इन के पर्याप्त अपर्याप्त के भेद से एकसौ अट्ठानवे (१९८) भेद देवों के हैं। इस प्रकार सब भेदों का जोड करने से पांचसौ त्रेसठ (५६३) षड्जीवनिकाय के भेद होते हैं।

जीवों की सङ्ख्या—

जीव अनन्त हैं। वे इस प्रकार—

(१) सञ्ज्ञी मनुष्य सङ्ख्यात। (२) असञ्ज्ञी मनुष्य असङ्ख्यात।
(३) नारकी असंख्यात। (४) देव असंख्यात।
(५) तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय असंख्यात। (६) द्वीन्द्रिय असङ्ख्यात।
(७) त्रीन्द्रिय असंख्यात। (८) चतुरिन्द्रिय असङ्ख्यात।

કરવાથી નવાણુ (૯૯) ભેદ થાય છે અને તેના પર્યાપ્ત અપર્યાપ્ત ભેદ કરવાથી એકસો અઠાણુ (૧૯૮) ભેદ દેવોના છે આ પ્રમાણે ઉપર કહેલા સર્વ ભેદોને એકઠા કરવાથી પાંચસો ત્રેસઠ (૫૬૩) ષટ્જીવનિકાયના ભેદ થાય છે

જીવોની સંખ્યા—

જીવ અનન્ત છે, તે આ પ્રકારે છેઃ—

(૧) સંજ્ઞી મનુષ્ય સંખ્યાત છે (૨) અસંજ્ઞી મનુષ્ય અસંખ્યાત છે
(૩) નારકી અસંખ્યાત છે (૪) દેવ અસંખ્યાત છે
(૫) તિર્યંચ પંચેન્દ્રિય અસંખ્યાત છે (૬) દ્વિન્દ્રિય અસંખ્યાત છે
(૭) ત્રીન્દ્રિય અસંખ્યાત છે (૮) ચતુરિન્દ્રિય અસંખ્યાત છે

दिहेतुभिर्निरन्तरमयमात्मा रागद्वेषपरिणत्या स्वस्मिन् सकलप्रदेशेषु कर्मवर्गणा-रूप पुद्गल समाकर्षन् क्षीरनीरन्यायेन तादात्म्यसमापन्न करोति तदत्र कर्मोच्यते ।

(२) कर्मण सिद्धि'—

आत्मत्वधर्मेण सर्वेषामात्मनामेकरूपत्वेऽपि देवनारकमनुष्यतिर्यगादि रूप सुखि दुःखि–सधन–निर्धन–सुरूप–कुरूप–सबला–ऽबल–नीरोग सरोगादिरूप वा यद् वैचित्र्य तन्न निर्हेतुक भवितुमर्हति, सदा भवाऽभावदोषप्रसगात् । निर्हेतुकत्वे देवनारकादिभव शाश्वतिक. स्यात्, तथा देवनारकादिभवा

रागद्वेषरूप परिणामों से अपने समस्त आत्मप्रदेशों में कर्मवर्गणा क पुद्गलों को खींचता है और क्षीर–नीर की तरह तद्रूप बना लेता है उन्हीं को कर्म कहते हैं ।

(२) कर्मकी सिद्धि—

सब आत्माओं में आत्मत्व समान होन पर भी कोइ देव है, कोइ नारक कोइ मनुष्य है, कोई तिर्यञ्च, कोइ सुखी है, कोई दु'खी, कोइ सधन, कोइ निर्धन, कोइ सुरूप, कोइ कुरूप, कोइ सबल, कोई निर्बल, कोइ रोगी है, कोइ नीरोगी है, यह सब विचित्रता निष्कारण नहीं हो सकती, अगर इसका कोई कारण न होता तो या तो यह विचित्रता होती ही नहीं, अगर होती भी तो सदैव के लिए होती । निष्कारण ही देवगति या नरकगति होती तो वह नित्य होती । तथा देव नरक आदि भवका

निरतर रागद्वेषरूप परिणामोथी पोताना समस्त आत्मप्रदेशोमां कर्मवर्गणाना पुद्गलोने खेचे छे, अने क्षीर–नीर प्रमाणे तद्रूप बनावी ले छे, तेने कर्म कहे छे

(२) कर्मनी सिद्धि—

सर्व आत्माओमा आत्मत्व समान होवा छताय पण कोई देव छे, कोई नारकी, कोई मनुष्य छे, कोई तिर्यंच, कोई सुखी छे, कोई दु खी छे कोई धनवान् छे, कोई निर्धन छे, कोई स्वरूपवान छे, कोई कुरूप छे, कोई सबल छे, कोई निर्बल छे कोई रोगी छे, कोई निरोगी छे आ सर्व विचित्रता कोई कारण विना होई शके नही तेनु कोई कारण न होय तो आवी विचित्रता पण होय नही. अने होय तो पछी ते हमेशां माटे रही शकते. कोई पण कारण विना देवगति अथवा नरकगति होय तो ते नित्य होय, तथा देव अने नारक आदि भवनो अभाव पण नित्य होत ए प्रमाणे

वरणीयाद्यष्टविधकर्मैव नरकादिचतुर्गतिभ्रमणकारणतया विजानाति। ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धादेव हि जीवाश्चतुर्विधासु गतिषु परिभ्रमन्त, सम्यग्ज्ञानचारित्रप्राप्तिमन्तरेण संसारदावाग्निपतितमात्मानं समुद्धर्तुं न प्रभवन्ति। एवं कर्मबन्धवेदी भव्यः कर्मवादी बोद्धव्य इत्यर्थः।

(१) कर्मस्वरूपम्—

अत्र कर्मप्रसङ्गेन तत्स्वरूपं निरूप्यते—

जीवेन मिथ्यात्वादिहेतुभिः क्रियते यत्, तत् कर्म। यथा तप्तायोगोलकः सलिले निक्षिप्तः सन् सर्वतः सलिलमाकर्षति तथाऽनादिमिथ्यात्वा-

---

आदि आठ कर्मों को ही नरक आदि चार गतियों में भ्रमण का कारण जानता है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के बन्ध के कारण ही जीव चार गतियों में परिभ्रमण करते हुए सम्यग्ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति के विना संसाररूपी दावानल में पड़े हुए आत्मा का उद्धार करने में समर्थ नहीं होते। इस प्रकार कर्मबन्ध के वेत्ता (जाननेवाले) भव्यजीव कर्मवादी कहलाते हैं।

(१) कर्मका स्वरूप—

कर्म का प्रसङ्ग होने से उसके स्वरूप का निरूपण करते है —

जीव के द्वारा मिथ्यात्व आदि कारणों से जो कियाजाय वह कर्म हैं। जैसे-तपा हुआ लोहे का गोला जल में डाल दिया जाय तो वह सभी तरफ से जल को खींचता है, उसी प्रकार अनादिकालीन मिथ्यात्व आदि कारणों से आत्मा निरन्तर

આદિ આઠ કર્મોને જ નરક આદિ ચાર ગતિઓમા ભ્રમણનુ કારણ જાણે છે જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મોના બંધના કારણથીજ જીવ ચાર ગતિઓમા પરિભ્રમણ કરતો થકો સમ્યગ્જ્ઞાન અને ચારિત્રની પ્રાપ્તિ વિના સંસારરૂપી દાવાનલમા પડેલા આત્માનો ઉદ્ધાર કરવામાં સમર્થ થતો નથી. આ પ્રકારે કર્મબંધને જાણનાર ભવ્યજીવ કર્મવાદી કહેવાય છે

(૧) કર્મનું સ્વરૂપ—

કર્મનો પ્રસંગ હોવાથી તેના સ્વરૂપનુ નિરૂપણ કરે છે —

જીવદ્વારા મિથ્યાત્વઆદિ કારણોથી જે કરવામાં આવે તે કર્મ છે જેવી રીતે અગ્નિથી તપાવેલા લોઢાનો ગોળો પાણીમાં નાખવામાં આવે તો તે ચારેય તરફથી પાણીને ખેંચે છે, તે પ્રમાણે અનાદિકાલીન મિથ્યાત્વ આદિ કારણોથી આત્મા

एतत् कर्म पुद्गलस्वरूप, नामूर्तमस्ति, अमूर्तत्वे हि कर्मणः सकाशादात्मनामनुग्रहोपघातासंभवात् , गगनादिवत् । उक्तञ्च—

" तुल्यप्रतापोद्यमसाहसानां,
केचिल्लभन्ते निजकार्यसिद्धिम् ।
परे न तां मित्र ! निगद्यतां मे,
कर्मास्ति हित्वा यदि कोऽपि हेतुः ? ॥१॥"

अपरञ्च—

" निषध्य मासान्नव गर्भमध्ये,
बहुप्रकारैः कललादिभावैः ।
उद्धर्त्य निष्काशयते सवित्र्याः,
को गर्भतः कर्म विहाय पूर्वम् ? " इति ।

यह कर्म, पुद्गलस्वरूप है, अमूर्त नहीं। अगर कर्म अमूर्त माना जाय तो उस से आत्मा का अनुग्रह और उपघात होना असंभव है, जैसे आकाश से नहीं होता। कहा भी है —

" समान प्रताप, उद्यम और साहस वालों में से कोई कोई अपना कार्य सिद्ध करलेते हैं और दूसरे नहीं करपाते। मित्र ! कर्म के सिवाय इस का और कोई कारण हो तो कहो ' अर्थात् कर्म ही इस का एकमात्र कारण है " ॥ १ ॥

और भी कहा है -

" गर्भ में नौ महीने तक कलल आदि अनेक रूपों में बढाकर माता के गर्भ से पूर्वकर्म के सिवाय और कौन बाहर निकालता है ' " ॥ १ ॥

એ કર્મ, પુદ્ગલસ્વરૂપ છે, અમૂર્ત નથી અથવા કર્મને અમૂર્ત માનવામાં આવે તો તેનાથી આત્માનો અનુગ્રહ અને ઉપઘાત થવો અસંભવ છે, જેમ આકાશથી થતો નથી કહ્યુ પણ છે —

"સમાન પરાક્રમ, ઉદ્યમ, અને સાહસવાળી વ્યક્તિઓમા કોઈ-કોઈ પોતાનું કાર્ય સિદ્ધ કરી લે છે; અને કોઈ કોઈ નથી કરી શકતી મિત્ર! આ બાબતમાં કર્મ વિના બીજુ કોઈ કારણ હોય તો કહો ? અર્થાત્ કર્મ જ એનું એક માત્ર કારણ છે" ॥૧॥

બીજુ પણ કહ્યુ છે—"ગર્ભમા નવ માસ સુધી કલલ (ગર્ભનુ પ્રથમ સ્વરૂપ) આદિ અનેક રૂપોમાં વૃદ્ધિ પામીને માતાના ગર્ભમાથી પૂર્વકર્મ સિવાય બીજુ કોણ બહાર કાઢે છે ? " ॥૧॥

भावोऽपि शाश्वतिकः स्यात्, एवं यः सुखी, तस्य सर्वदा सुखमेव स्यात्, यश्च दुःखी, तस्य सर्वदा दुःखमेव स्यात्—सर्वदा सुखाभावस्तस्य स्यात्।

अत एव—"नित्यं सत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात्" इत्याहुः। सहेतुकत्वस्वीकारे च य एवास्य हेतुः स एवास्माकं कर्मेति। उक्तञ्च—

"आत्मत्वेन विशिष्टस्य, वैचित्र्यं तस्य यद्वशात्।
नरादिरूपं तच्चित्रमदृष्टं कर्मसंज्ञितम्" ॥ १ ॥

अभाव ही शाश्वतिक होता। इसी प्रकार जो सुखी है वह सदा के लिए सुखी होता। जो दुःखी है उसे सदैव दुःख ही होता—उस के लिए सदैव सुख का अभाव होता। इसी लिए कहा गया है कि—"जो वस्तु किसी कारणकी अपेक्षा नहीं रखती वह, या तो आकाश की भाँति सदैव विद्यमान रहती अथवा खरविषाण की तरह कदापि नहीं होती।" अगर इस विचित्रता का जो कारण है उसी कारण को हम कर्म कहते हैं। कहा भी है—

"आत्मत्व की समानता होने पर भी जिस कारण से मनुष्यादिरूप विचित्रता होती है वही अदृष्ट है। उसी को कर्म कहते हैं, वह नाना प्रकार का है ॥ १ ॥"

જે સુખી છે તે હમેશાં માટે સુખીજ હોત. અને જે દુઃખી છે તે હમેશા દુઃખીજ રહેત, તેને હમેશા માટે સુખનો અભાવ રહેત એ કારણથી કહ્યુ છે કે—"જે વસ્તુ કોઈ કારણની અપેક્ષા રાખતી નથી તે આકાશ પ્રમાણે સદૈવ વિદ્યમાન રહે છે, અથવા ખર-વિષાણ (ગધેડાના શિંગડા)ની પ્રમાણે કદાપિ હોય નહી" અગર આ વિચિત્રતાનું કોઈ કારણ માનવામાં આવે તો તે કારણને અમે કર્મ કહીએ છીએ, કહ્યું છે—

"આત્મત્વ-(આત્માપણા)ની સમાનતા હોવા છતા પણ જે કારણથી મનુષ્યાદિરૂપ વિચિત્રતા હોય છે-દેખાય છે તે અદૃષ્ટ છે તેને કર્મ કહે છે અને તે નાના પ્રકારના છે-અર્થાત્ ઘણા પ્રકારના છે." ॥ ૧ ॥

ननु अभ्रादिवत् कर्मपुद्गलाना विचित्रपरिणतिस्वीकारे बाह्यमिद शरीरमेव सुखदु'खादिनानारूपतया विचित्रपरिणाम करोतीत्येव मन्यतां, किं पुनस्तद्वैचित्र्यहेतुभूतस्य कर्मण' परिकल्पनया, स्वभावात एव सर्वस्यापि पुद्गलपरिणामवैचित्र्यस्य सिद्धत्वादिति चेत्, अवधेहि—

अभ्रादेरिव शरीरस्य सुखदुःखादिविचित्रपरिणामाङ्गीकारे यदि परितोषमेपि, तर्हि कर्मापि ननु तनुरेव, सेय कर्मतनुरतनुते विचित्रपरिणाममित्यवधेहि। जीवेन सहातिसश्लिष्टत्वादतीन्द्रियत्वाच्चाभ्यन्तर सूक्ष्म च कार्मण शरीरम्, औदारिक तु बाह्य स्थूलमित्येतावानेव द्वयोः शरीरयोर्विशेषो दृश्यते।

शका—अभ्र—मेघ आदि के समान कर्मपुद्गलों का विचित्र परिणमन स्वीकार करते हो तो यह क्यों नहीं मान लेते कि बाह्य शरीर ही सुख—दु ख आदि नाना रूपों में विचित्र परिणमन करता है, कर्म को इस विचित्रता का कारण मानने से क्या लाभ है ?, पुद्गलों की सारी विचित्रता स्वभाव से ही सिद्ध है।

समाधान—अभ्र आदि के समान शरीर का ही सुख—दु ख आदि विचित्र परिणमन अङ्गीकार करने में आप को सन्तोष मिलता है तो कर्म भी तो शरीर ही है, और वही कर्मशरीर विचित्र परिणमन करता है, ऐसा समझ लीजिए। जीव के साथ घनिष्ठ सम्बध होने के कारण और अतीन्द्रिय होने के कारण कर्मशरीर आभ्यन्तर और सूक्ष्म कहलाता है, तथा औदारिक शरीर बाह्य और स्थूल है। बस इतना ही दोनों शरीरों में अन्तर है।

शंका—અભ્ર (મેઘ) આદિના સમાન કર્મપુદ્ગલોનુ વિચિત્ર પરિણમન સ્વીકાર કરો છો તો પછી, 'બાહ્ય શરીર જ સુખ—દુ ખ આદિ નાના રૂપોમાં વિચિત્ર પરિણમન કરે છે' એમ શા માટે માનતા નથી ? કર્મને એ વિચિત્રતાનુ કારણ માનવાથી શું લાભ છે ?, પુદ્ગલોની પરિણમનની તમામ વિચિત્રતા સ્વભાવથીજ સિદ્ધ છે

સમાધાન—મેઘ આદિના સમાન શરીરનુ પણ સુખ દુઃખ આદિ વિચિત્ર પરિણમન અગીકાર કરવામા આપને સતોષ મળે છે તો કર્મ તે શરીરજ છે, અને તે કર્મ—શરીર વિચિત્ર પરિણમન કરે છે, એ પ્રમાણે સમજી લ્યો. જીવની સાથે ઘનિષ્ઠ સબધ હોવાના કારણે અને અતીન્દ્રિય હોવાના કારણે કર્મ—શરીર આભ્યતર અને સૂક્ષ્મ કહેવાય છે, તથા ઔદારિક શરીર બાહ્ય અને—સ્થૂલ છે એટલુ જ એ બે શરીરોમાં અન્તર છે

ननु यथा कर्म विनाऽपि विचित्रा अभ्रादिविकारा दृश्यन्ते तथा संसारिणां सुखदुःखादिभावेन वैचित्र्यं यदि विनाऽपि कर्म भवेत्, तर्हि का हानिः ? इति चेत्, उच्यते—

अभ्रविकारा गन्धर्वनगरशक्रधनुरादयो गृहप्राकारवृक्षरक्तनीलपीतादि भावेन वैचित्र्यं बिभ्रति तत्र विस्रसापरिणतेन्द्रधनुरादिपुद्गलपरिणामवैचित्र्यं दृश्यते, तदपेक्षया विशिष्टं परिणामवैचित्र्यं प्रायेण चित्रन्यस्तानां चित्रकरादि शिल्पिपरिगृहीतानां लेप्यकाष्ठकर्मानुगतपुद्गलानामुपलभ्यते, तर्हि जीवपरि गृहीतानामान्तरकर्मपुद्गलानां सुखदुःखादिनानारूपतया कथं न विशिष्टतरं परिणामवैचित्र्यं संभवेत् ? ।

शङ्का—जैसे कर्म के विना भी भाँति-भाँतिके मेघ आदि के विकार देखे जाते हैं, उसी प्रकार कर्म के अभाव में भी संसारी जीवों में सुख—दुःख आदि की विचित्रता हो तो क्या हानि है ? ।

समाधान—मेघविकार—गन्धर्वनगर, इन्द्रधनुष आदि, गृह, प्राकार, वृक्ष, रक्त, नील, पीत, आदि रूप में विचित्रता धारण करते हैं वहाँ स्वभाव से परिणत इन्द्रधनुष आदि, पुद्गल के परिणामों की विचित्रता देखी जाती है, लेकिन चित्रकार आदि किसी शिल्पी के द्वारा गृहीत चित्र में अङ्कित, लेप्य काष्ठ आदि पुद्गलों में उस से भी अधिक विशिष्टता दिखाई देती है तो फिर जीवद्वारा ग्रहण किये हुए आन्तरिक कर्मपुद्गलों की सुख—दुःख आदि नाना रूपों में परिणमन की विशिष्टतर विचित्रता क्यों न होगी ? ।

શંકા—જેવી રીતે કર્મ વિના પણ ભાત-ભાતના મેઘ આદિના વિકારો જોવામાં આવે છે, તે પ્રમાણે કર્મના અભાવમા પણ સંસારી જીવોમાં સુખ—દુઃખ આદિની વિચિત્રતા હોય છે એમ માનવામાં શું હાનિ છે ?

સમાધાન—મેઘવિકાર—ગંધર્વનગર, ઈન્દ્રધનુષ આદિ, ગૃહ, પ્રાકાર, વૃક્ષ, રક્ત નીલ, પીત આદિ રૂપમાં વિચિત્રતા ધારણ કરે છે ત્યાં સ્વભાવથી પરિણત ઈન્દ્રધનુષ આદિ પુદ્ગલના પરિણામોની વિચિત્રતા જોવામા આવે છે પરન્તુ ચિત્રકાર આદિ કોઈ શિલ્પીદ્વારા ગૃહીત ચિત્રમાં અંકિત, લેપ્ય, કાષ્ઠ આદિ પુદ્ગલો માં તેનાથી પણ અધિક વિશિષ્ટતા જોવામા આવે છે તો પછી જીવદ્વારા ગ્રહણ કરેલા આન્તરિક કર્મપુદ્ગલોની સુખ—દુઃખ આદિ નાના (જુદા—જુદા) રૂપોમા પરિણમનની વિશિષ્ટતર વિચિત્રતા કેમ ન હોય ?

शरीरान्तरग्रहण च निष्कारण न सभवति। तस्मात्। स्थूलशरीकारणभूत सूक्ष्म-कार्मणशरीरमस्तीत्यवश्यमङ्गीकर्तव्यम्।

ननु कर्मरहित शुद्धजीवो नानाविधशरीरादीना कर्ताऽस्तु, तथेश्वर., स्वभावो यदृच्छा वा विविधशरीरादिकं करोतीत्येव मन्यते, किं कर्मकल्पनेन? अत्रोच्यते—

अय जीवेश्वरादिरकर्मा न शरीरसुखदु खादीना कर्ता, उपकरणाभावात्, दण्डाद्युपकरणरहितकुम्भकारवत्। कर्म विनाऽन्यदुपकरण शरीराद्यारम्भक जीवेश्वरादीनां न सभवति, *गर्भाद्यवस्थास्वन्योपकरणासंभवात्*, कर्म विना शुक्रशोणितादिग्रहणस्याप्यनुपपत्ते।

ससार मिट जायगा, मगर ससार का मिटना दिखाई नही देता, और विना कारण के शरीर का ग्रहण नही हो सकता, अत एव स्थूल शरीर का कारण सूक्ष्म कार्मणशरीर का अस्तित्व अङ्गीकार करना चाहिए।

शका—कर्मरहित शुद्ध जीव को नाना प्रकार के शरीरों का कर्ता मान लिया जाय, या ईश्वर, स्वभाव अथवा यदृच्छा को कर्ता स्वीकार कर लिया जाय, कर्म की कल्पना से क्या लाभ है?।

समाधान—कर्मरहित जीव या ईश्वर आदि, शरीर, सुख—दु ख आदि का कर्ता नही है, क्यों कि उसके पास उपकरण नही है, दण्ड आदि उपकरणों से रहित कुमार के समान। कर्म के सिवाय, शरीर आदि रचने में ईश्वर आदि को और कोई भी उपकरण नही हो सकता। कर्म के अतिरिक्त और कोई उपकरण न होन के कारण गर्भ आदि अवस्थाओ में शुक्र शोणित आदिका ग्रहण भी नही हो सकता।

પરન્તુ સસાર બધ થયો તેવું જોવામા આવતું નથી. અને કારણ વિના શરીરનુ ગ્રહણ હોઈ શકે નહીં એ કારણથી સ્થૂલ શરીરનુ કારણ સૂક્ષ્મ-કાર્મણ શરીરના અસ્તિત્વનો અગીકાર કરવો જોઈએ.

શકા—કર્મરહિત શુદ્ધ જીવને નાના પ્રકારના શરીરોના કર્તા માની લઈએ, અથવા ઈશ્વર સ્વભાવ યા યદૃચ્છાને કર્તા માની લઈએ તો પછી કર્મની કલ્પના કરવાથી શુ લાભ?।

સમાધાન—કર્મરહિત જીવ અથવા તો ઈશ્વર આદિ, શરીર, સુખ, દુ ખના કર્તા નથી કારણ કે તેની પાસે ઉપકરણ—(મુખ્ય સાધન) નથી, દડ આદિ પ્રધાન સાધનો વિનાનો જેમ કુભાર, તે પ્રમાણે, કર્મ વિના શરીર આદિ રચવામાં ઈશ્વર વગેરેને બીજુ કોઈ પણ ઉપકરણ હોઈ શકે નહિ કર્મના વિના બીજુ કોઈ પ્રધાન સાધન નહિ હોવાને કારણે ગર્ભ આદિ અવસ્થાઓમા શુક્ર શોણિત વગેરેનુ ગ્રહણ પણ થઈ શકે નહી

ननु बाह्यशरीरस्य स्थूलत्वात् प्रत्यक्षदृष्टत्वाच्चाभ्रादिसादृश्येन बाह्यशरीरस्यैव सुखदुःखादिविचित्रपरिणामोऽस्तु किं पुनरप्रत्यक्षभूतस्य कर्मरूपातीन्द्रियशरीरस्य कल्पनेन, कार्मणशरीरानङ्गीकारे यदि कोऽपि दोष आपतति, ततोऽर्थापत्तेरेव कर्मवैचित्र्यमङ्गीकरिष्याम ? इति। अत्रोच्यते—

मरणसमये प्रत्यक्षदृष्टबाह्यस्थूलशरीराद् विमुक्तस्य जीवस्य भवान्तरीयबाह्यस्थूलशरीरग्रहणे कारणभूतं सूक्ष्मं कार्मणशरीरं विनाऽग्रिमदेहग्रहणाभावरूपो दोषः समापद्यते, ततश्च देहान्तरग्रहणानुपपत्तेर्मरणानन्तरं सर्वस्यापि जीवस्य शरीराभावात् संसारोच्छेदः स्यात्। न च दृश्यते संसारसमुच्छेदः।

शङ्का—बाह्य शरीर स्थूल है और प्रत्यक्ष दिखाई देता है, अत एव बाह्य शरीर के साथ ही अभ्र आदि की समानता है, ऐसी स्थिति में बाह्य शरीर का ही सुख दुःख आदिरूप परिणमन मानना चाहिए। कभी प्रत्यक्ष दिखाई न देने वाले कर्मरूप अतीन्द्रिय शरीर की कल्पना करने का कष्ट क्यों उठाते हैं ? हाँ !, कर्मणशरीर को स्वीकार न करने से अगर कोई दोष आया तो फिर अर्थापत्ति प्रमाण से ही कर्म की विचित्रता स्वीकार कर लेंगे ?।

समाधान—मृत्यु के समय प्रत्यक्ष दीखने वाले बाह्य स्थूल शरीर को ग्रहण करने का कारणभूत सूक्ष्म शरीर न हो तो जीव आगामी शरीर को ग्रहण ही नहीं कर सकेगा। सूक्ष्म शरीर न मानने से यह दोष आता है। जीव अगर अगले शरीर को ग्रहण न करे तो मृत्यु के पश्चात् अशरीर होने के कारण सभी जीव मुक्त हो जाएँगे, और

શંકા—બાહ્ય શરીર સ્થૂલ છે અને પ્રત્યક્ષ દેખાય છે, એ કારણથી બાહ્ય શરીરની સાથેજ મેઘ આદિની સમાનતા છે એવી સ્થિતિમા બાહ્ય શરીરનુજ સુખ–દુ ખ આદિ રૂપ પરિણમન માની લેવું જોઈએ. કોઈ વખત પ્રત્યક્ષ નહિ દેખાતા એવા કર્મરૂપ અતીન્દ્રિય શરીરની કલ્પના કરવાનુ કષ્ટ શા માટે ઉઠાવો છો ? હા ! કાર્મણ શરીરનો સ્વીકાર નહિ કરવાથી જો કોઈ દોષ આવશે તો પછી અર્થાપત્તિ પ્રમાણથીજ કર્મની વિચિત્રતા સ્વીકારી લઈશુ

સમાધાન—મૃત્યુના સમયે પ્રત્યક્ષ દેખાતા બાહ્ય સ્થૂલ શરીરથી જીવ અલગ થઈ જાય છે. આગલા ભવમાં બાહ્ય સ્થૂલ શરીરને ગ્રહણ કરવાના કારણભૂત સૂક્ષ્મ શરીર નહિ હોય તો જીવ આગામી શરીરને ગ્રહણજ કરી શકશે નહિ. સૂક્ષ્મ શરીર નહિ માનવાથી આ દોષ આવે છે જીવ જો મૃત્યુ પછી બીજા શરીરને ગ્રહણ ન કરે તો મૃત્યુ પછી અશરીર હોવાને કારણે સવ જીવો મુક્ત થઇ જશે અને સંસાર બંધ થઇ જશે.

तच्छरीरारम्भेऽपि तुल्यता प्रश्नस्य। सोऽप्यकर्मा निजशरीरं नारभते निरुपकरणत्वात्। यदि तच्छरीरकर्ताऽन्य' कोऽपि, तर्हि सोऽपि शरीरवान् अशरीरो वा? इत्थ चानवस्था। अनिष्ट च सर्वमेतत्। तस्मान्नेश्वरो देहादीनां कर्ता, किन्तु कर्मसहितो जीव एव स्वकीय देहादिकं करोति।

किञ्च-ईश्वरस्य देहादिकरण निष्प्रयोजनमिति तदोन्मत्ततुल्यता स्यात्। सप्रयोजनकर्तृत्वे तु तस्यानीश्वरत्वप्रसङ्गः। किञ्चानादिशुद्धस्य तस्येश्वरस्य देहादिकरणेच्छा नोपपद्यते, इच्छाया रागरूपत्वात्।

नहीं हो सकता। अगर सशरीर है तो उसका शरीर बनाने वाला कोई तीसरा ईश्वर मानना पड़ेगा। वह तीसरा ईश्वर भी अशरीर है या सशरीर है?, इत्यादि विकल्प फिर उपस्थित होनेके कारण अनवस्था दोष आता है।

यह सब अभीष्ट नहीं है। अत देह आदिका कर्ता ईश्वर नहीं हो सकता, वरन् कर्मसहित जीव ही अपने शरीर आदि का कर्ता है।

दूसरी बात यह है कि ईश्वर, विना किसी प्रयोजन के ही अगर शरीर आदि की रचना करता है तो वह उन्मत्त के समान होगा। अगर उसका कोई प्रयोजन है तो वह ईश्वर नहीं रहेगा।

एक बात और-अनादि काल से शुद्ध ईश्वर की देह आदि रचने में इच्छा ही नहीं हो सकती, क्यों कि इच्छा एक प्रकार का राग है और रागी ईश्वर नहीं हो सकता।

હોવાના કારણે શરીરકર્તા થઈ શકતો નથી. અગર સશરીર છે તો તેનુ શરીર બનાવવાવાળો કોઈ ત્રીજો ઈશ્વર માનવો પડશે તે ત્રીજા ઈશ્વર પણ સશરીર છે અથવા સશરીર છે?, ઈત્યાદિ વિકલ્પ ફરીને ઉપસ્થિત હોવાના કારણે અનવસ્થા દોષ આવે છે, તે સર્વ અભીષ્ટ નથી, તે કારણથી દેહ આદિના કર્તા ઈશ્વર થઈ શકતા નથી. પરન્તુ કર્મસહિત જીવજ પોતાના શરીર આદિનો કર્તા છે

બીજી વાત એ છે કે-ઈશ્વર કોઈ પ્રયોજન વિના જો શરીર આદિની રચના કરે છે તો તે ઉન્મત્તની સમાન ગણાશે. અથવા તો તેને કોઈ પ્રયોજન છે, તો તે ઈશ્વર નહીં રહે. એક બીજી વાત એ છે કે-અનાદિ કાળથી શુદ્ધ ઈશ્વરની, દેહ આદિ રચનામા ઈચ્છાજ રહેતી નથી, કારણ કે ઈચ્છા એક પ્રકારનો રાગ છે, અને રાગી ઈશ્વર થઈ શકતા નથી

यद्वा—अकर्मा शरीरादिकं नारभते, निश्चेष्टत्वात्, अमूर्तत्वात्, आकाशवत्। तथा—एकत्वात् एकपरमाणुवत्।

यदि शरीरवानीश्वरः करोति विविधशरीरादिकमित्युच्यते तदाऽनवस्थादोषः समापद्यते। तथाहि—शरीरस्येश्वरस्य जगद्वैचित्र्यकर्तृत्वस्वीकारे स्वशरीरकर्तृत्वमकर्मणस्तस्येश्वरस्य न सम्भवति, निरुपकरणत्वात्, दण्डादिरहितकुम्भकारवत्। अथान्यः कोऽपीश्वरस्तदीयशरीरकरणाय प्रवर्तते तत' सोऽपि शरीरवान् अशरीरो वा? यद्यशरीरस्तर्हि नासौ शरीरकर्ता निरुपकरणत्वात्। शरीरवांश्चेत्–तर्हि

अथवा—जो कर्मरहित है वह शरीर आदि का उत्पादक नहीं हो सकता, क्यों कि वह चेष्टारहित है, अथवा अमूर्त है। जो चेष्टाहीन या अमूर्त होता है वह शरीर आदि का जनक नहीं होता, जैसे आकाश। तथा वह एक होने के कारण भी शरीर आदिका जनक नहीं हो सकता, जैसे एक परमाणु।

कदाचित् यह कहा जाय कि सशरीर ईश्वर विविध शरीर आदिका कर्ता है तो अनवस्था दोष आता है। वह इस प्रकार-जब सशरीर ईश्वर जगत् की विचित्रता का कारण है तो वह विना शरीर के अपना शरीर भी नहीं बना सकेगा, क्यों कि वह उपकरणहीन है, दण्डआदि से रहित कुमार के समान। अब यह कहा जाय कि कोई दूसरा ईश्वर, पहले ईश्वर का शरीर बनाने के लिए प्रवृत्त होता है तो उसके विषय में भी वही प्रश्न उपस्थित होता है कि—वह सशरीर है अथवा अशरीर है?, अगर वह अशरीर है तो उपकरणहीन होने के कारण शरीर का कर्ता

અથવા—જે કર્મરહિત છે તે શરીર આદિના ઉત્પાદક થઈ શકે નહિ, કારણ કે તે ચેષ્ટારહિત છે અથવા અમૂર્ત છે જે ચેષ્ટાહીન અથવા અમૂર્ત હોય છે, તે શરીર આદિના ઉત્પન્ન કરનાર હોય નહિ. જેવી રીતે—આકાશ, તથા તે એક હોવાના કારણે પણ શરીર આદિના ઉત્પન્ન કરનાર હોય નહિ જેવી રીતે એક પરમાણુ.

કદાચિત્ એમ કહેવામાં આવે કે—સશરીર ઇશ્વર વિવિધ શરીર આદિના કર્તા છે તો અનવસ્થા દોષ આવે છે તે આ પ્રમાણે કે —જ્યારે સશરીર ઇશ્વર જગતની વિચિત્રતાનુ કારણ છે તો તે, શરીર વિના પોતાનુ શરીર પણ બનાવી શકશે નહી, કારણ કે તે ઉપકરણહીન છે, જેમ દંડ આદિથી રહિત કુંભાર. હવે જો એમ કહેવામાં આવે કે કોઈ બીજો ઇશ્વર પ્રથમના ઇશ્વરનુ શરીર બનાવવામા પ્રવૃત્ત થાય છે, તો તે વિષયમાં પણ એ પ્રશ્ન ઉભો થાય છે કે—તે સશરીર છે અથવા અશરીર છે? અગર જો અશરીર છે તો ઉપકરણહીન

मूर्तस्य शरीरादिकार्यस्यानुरूप कारण मूर्तमेव सम्भवति, यथा मृत्पिण्डो घटस्य।

अकारणतारूपः स्वभाव ? इति चेत्, एव सति शरीरादिकमकारण मेवोत्पद्यते, इत्ययमर्थ. स्यात्, तथा सति कारणाभावस्य समानत्वादेकस्मिन्नेव समये सकलशरीरोत्पत्तिप्रसग ।

यदि स्वभावो वस्तुधर्म इत्युच्यते, तथापि यदि विज्ञानादिवदात्मनो धर्मस्तर्हि नासौ स्वभाव शरीरकारण भवितुमर्हति, अमूर्तत्वात्, आकाशवदित्युक्त प्रागेव। यदि स स्वभावो मूर्तवस्तुधर्मस्तर्हि सिद्धसाधनम्, कर्मापि पुद्गलरूपमेवेति वय ब्रूम'। तस्मात् कर्मैव जगद्वैचित्र्यकारणमिति सिद्धम्।

जैसे घट का कारण मिट्टी का पिण्ड है।

अगर कोइ भी कारण न होना ही स्वभाव है तो इसका अर्थ यह हुआ कि शरीर आदि निष्कारण ही उत्पन्न हो जाते हैं। अगर निष्कारण ही शरीर की उत्पत्ति होती है तो फिर ससार के समस्त शरीर एक साथ क्यों नहीं हो जाते ?।

स्वभाव किसी वस्तु का धर्म है, यह कहना भी युक्तिसगत नहीं है। अगर वह ज्ञान आदि के समान आत्मा का धर्म हैं तो आकाश की तरह अमूर्त होने के कारण शरीर का कर्ता नही हो सकता, यह पहले ही कहा जा चुका है। स्वभाव अगर किसी मूर्त वस्तु का धर्म है तो यह हमें भी इष्ट है, क्यों कि हमारे कथनानुसार कर्म भी पुद्गल का क्रमभावी धर्म है, अत एव यह सिद्ध हुआ कि कर्म ही जगत् की विचित्रता का कारण है।

મૂર્ત શરીરનુ અનુરૂપ કારણ મૂર્ત જ હોવુ જોઇએ, જેમ ઘટનુ કારણ માટીનો પિંડ છે

અથવા કોઈ જ કારણ ન હોય એવો જ સ્વભાવ છે તો તેનો અર્થ એ થયો કે શરીર આદિ નિષ્કારણજ ઉત્પન્ન થઈ જાય છે, અને નિષ્કારણ જ શરીરની ઉત્પત્તિ થાય છે તો પછી સસારના સમસ્ત શરીર એક સાથે કેમ થઈ નથી જતા?

'સ્વભાવ કોઈ વસ્તુનો ધર્મ છે' એ પ્રમાણે કહેવુ તે પણ યુક્તિસગત નથી અથવા તો તે જ્ઞાન આદિના સમાન આત્માનો ધર્મ છે તો આકાશની માફક અમૂર્ત હોવાના કારણે શરીરના કર્તા થઈ શકશે નહી, આ હકીકત પ્રથમથીજ કહી આપી છે સ્વભાવ એ કોઈ મૂર્ત વસ્તુનો ધમ છે, તો તે વાત અમારે પણ માન્ય છે, કારણ કે અમારા કહેવા પ્રમાણે કર્મ પણ પુદ્ગલરૂપજ છે, એ માટે એમ સિદ્ધ થયુ કે કર્મ જ જગતની વિચિત્રાનુ કારણ છે

नापि स्वभावो देहादीना कर्ता भवितुमर्हति। स स्वभावः किं वस्तु विशेषो वा? अकारणता वा? वस्तुधर्मो वा?, तत्र न तावद् वस्तुविशेषः, तस्य वस्तुविशेषरूपत्वे प्रमाणाभावात्। प्रमाणरहितस्यापि वस्तुत्वस्वीकारे कर्मापि कथ नाङ्गीकरोषि?, त्वन्मते कर्मणोऽपि प्रमाणरहितत्वात्।

किञ्च-वस्तुविशेषरूप स स्वभावो मूर्त्तो वा स्यादमूर्त्तो वा?, यदि मूर्तस्तर्हि स्वभाव इति नामान्तरेण कर्मैव सिध्यति। यदि पुनरमूर्तस्तर्हि नासौ स्वभावो देहादीनां कर्ता भवितुमर्हति, अमूर्तत्वात् निरुपकरणत्वाच्च, गगनवत्।

स्वभाव भी देह आदि का कर्ता नहीं हो सकता। आखिर स्वभाव का अर्थ क्या है? स्वभाव कोई वस्तु है? अथवा कोई भी कारण न होना स्वभाव है? या किसी वस्तु का धर्म है?। स्वभाव कोई वस्तु तो है नहीं, क्यों कि उसे वस्तु मानने में कोई प्रमाण नहीं है। प्रमाण के अभावमें भी स्वभाव को वस्तु मान लिया जाय तो कर्म मानने में क्या आपत्ति है? तुम्हारे मत के अनुसार कर्म मानने में भी कोई प्रमाण नहीं है।

स्वभाव अगर कोई वस्तु है तो वह मूर्त है या अमूर्त?, अगर मूर्त है तो स्वभाव और कर्म एक ही वस्तु है। आप कर्म को ही स्वभाव-शब्द से कहते हैं तो कह लीजिये। स्वभाव को अमूर्त मानते हैं तो वह देह आदिका कर्ता नहीं हो सकता, क्यों कि वह अमूर्त है और उपकरणरहित है, जैसे आकाश। मूर्त शरीर का अनुरूप कारण मूर्त ही होना चाहिए,

સ્વભાવ પણ દેહ આદિનો કર્તા થઈ શકતો નથી છેવટ સ્વભાવનો અર્થ શું છે? સ્વભાવ કોઈ વસ્તુ છે? અથવા કોઈપણ કારણ નહીં હોવું તે સ્વભાવ છે? અથવા કોઈ વસ્તુનો ધર્મ છે? સ્વભાવ કોઇ વસ્તુ તો છે નહીં, કારણ કે તેને વસ્તુ માનવામાં કોઈ પ્રમાણ નથી, પ્રમાણના અભાવમાં પણ સ્વભાવને વસ્તુ માની લેવામાં આવે તો કર્મ માનવામાં શું આપત્તિ છે? તમારા મત પ્રમાણે કર્મ માનવામાં પણ કોઈ પ્રમાણ નથી

સ્વભાવ અગર કોઈ પણ વસ્તુ છે તો તે મૂર્ત છે અથવા અમૂર્ત છે? જો મૂર્ત છે તો સ્વભાવ અને કર્મ એકજ વસ્તુ છે, તમે કર્મનેજ સ્વભાવ-શબ્દથી કહો છો. તો ખુશીથી કહો. જો સ્વભાવને અમૂર્ત માનશો તો તે દેહ આદિનો કર્તા થઈ શકશે નહીં કારણ કે તે અમૂર્ત છે અને ઉપકરણ (પ્રધાન સાધનો) રહિત છે જેવી રીતે આકાશ.

नाप्येकस्यैव कर्मणो मूर्तत्वममूर्तत्व च युज्यते, विरुद्धत्वादिति चेत्? उच्यते—

अत्र कारणशब्देनोपादानकारण परिगृह्यते; न तु निमित्तकारणम्, सुखदु.खादीनां निमित्तकारणमेव कर्म, यथाऽन्नपानादयो विपादया वा सुखदुःखादीना निमित्तकारणमस्ति। उपदानकारण तु तेपामात्मैव सुखदुःखादीनामात्मधर्मत्वादिति नास्ति दोपलेशोऽपि।

(४) जीवकर्मणोः सम्बन्ध।

ननु कर्म मूर्तमस्तीत्युक्त परन्तु मूर्तस्य कर्मणोऽमूर्तेन जीवेन सह कथ सयोगलक्षण' सम्बन्धः? इति चेन्मैवम्, यथा मूर्तस्य घटस्यामूर्तेन गगनेन सयोगलक्षण सम्बन्धस्तथाऽत्रापि जीवकर्मणो सम्बन्धोऽस्तीति। उक्तञ्च—

सकती। और एक ही कर्म मूर्त भी हो और अमूर्त भी हो, यह कैसे हो सकता है?, ये दोनों धम विरोधी हैं, एक जगह नही रह सकते।

समाधान—यहाँ कारण-शब्द से उपादान कारण ग्रहण किया गया है, निमित्त कारण नही। कर्म सुख-दु ख के प्रति निमित्त कारण ही है, जैसे अन्न, पान, विप आदि सुख-दु ख के निमित्त कारण हैं। सुख दु ख का उपादान कारण तो आत्मा ही है, क्यों कि ये आत्मा के धम है, अत यहां दोप का लेश भी नही है।

(४) जीव और कर्म का सबन्ध—

शङ्का—आपने कर्म को मूर्त सिद्ध किया, मगर मूर्त कर्म का अमूर्त जीव के साथ सम्बध किस प्रकार हो सकता है?।

समाधान—ऐसा न कहिए। जैसे मूर्त घट का अमूर्त आकाश के साथ सयोग-सम्बन्ध है, उसी प्रकार जीव और कर्म का भी सम्बन्ध है। कहा भी है —

કર્મ મૂર્ત પણ હોય અને અમૂર્ત પણ હોય, એ કેવી રીતે હોઈ શકે? આ બન્ને ધર્મ વિરોધી છે તેથી એક જગ્યાએ રહી શકતા નથી

સમાધાન—અહિં કારણ-શબ્દથી ઉપાદાન કારણ ગ્રહણ કરવામા આવે છે, નિમિત્ત કારણ નહિ. કર્મ, સુખ-દુ ખ થવામાં નિમિત્ત કારણજ છે, જેવી રીતે અન્ન, પાન, વિષ આદિ સુખ-દુ ખના નિમિત્ત કારણ છે, પરન્તુ સુખ-દુઃખનુ ઉપાદાન કારણ તો આત્માજ છે, કારણ કે તે આત્માનો ધર્મ છે તેથી તેમા લેશ પણ દોષ નથી.

(૪) જીવ અને કર્મનો સમ્બન્ધ—

શંકા—આપે કર્મને 'મૂર્ત છે' એમ સિદ્ધ કર્યું તો પછી મૂર્ત કર્મનો અમૂર્ત જીવની સાથે સમ્બન્ધ કેવી રીતે હોઈ શકે છે?

સમાધાન—આ પ્રમાણે નહિ કહો? જેમ મૂર્ત ઘટનો અમૂર્ત આકાશની સાથે સયોગસમ્બન્ધ છે, તે પ્રમાણે જીવ અને કર્મનો પણ સમ્બન્ધ છે કહ્યુ પણ છે—

(३) कर्मणो मूर्तत्वम्-

नन्वतीन्द्रियस्य कार्मणशरीरस्य मूर्तत्वे किं मानम्? अत्रोच्यते—

शरीरादिकार्यदर्शनात्तत्कारणभूत कर्म सिध्यति चेत् तर्हि कार्यानुरूपमेव कारण भवितुमर्हतीति शरीरादिकार्याणां मूर्तत्वात्तत्कारणं कर्मापि मूर्तमेव। यथा मूर्तस्य घटादिकार्यस्य कारणं परमाणुपुद्गलास्ते मूर्ता एव सन्ति। यच्च पुनरमूर्तं कार्यं तस्य कारणमपि-अमूर्तम्, यथा ज्ञानस्यात्मेति।

ननु सुखदुःखादयोऽपि कर्मणः कार्यं तर्हि तेषाममूर्तत्वात् कर्मणोऽमूर्तत्वमपि प्राप्नोति, नहि मूर्तादमूर्तोत्पत्तिः संभवति, यथा पुद्गलाद् ज्ञानपर्यायः,

(३) कर्म का मूर्तपन-

शङ्का—अतीन्द्रिय कार्मण शरीर के मूर्त होने में क्या प्रमाण है?

समाधान—शरीर आदि कार्यों के देखने से उनके कारणभूत कर्म की सिद्धि होती है, और कारण, कार्य के अनुरूप ही होता है, अत एव जब शरीर आदि कार्य मूर्त हैं तो उन का कारण कर्म भी मूर्त ही होना चाहिए। जैसे मूर्त घट आदि कार्यों के कारणभूत पुद्गल परमाणु भी मूर्त ही हैं, जो कार्य अमूर्त होता है, उसका कारण भी अमूर्त ही होता है, जैसे ज्ञान का कारण आत्मा।

शङ्का—सुख और दुःख आदि का कारण भी कर्म है, और सुख दुःख आदि अमूर्त हैं, अत उन का कारण कर्म अमूर्त भी होना चाहिए। मूर्त से अमूर्त की उत्पत्ति नहीं हो सकती, जैसे पुद्गल से ज्ञानपर्याय की उत्पत्ति नहीं हो

(૩) કર્મનું મૂર્તપણું—

શંકા—અતીન્દ્રિય કાર્મણ શરીરમાં મૂર્તપણું હોવામાં શું પ્રમાણ છે?

સમાધાન-શરીર આદિ કાર્યોના દેખવાથી તેના કારણભૂત કર્મની સિદ્ધિ થાય છે, અને કારણ, કાર્યના અનુરૂપજ હોય છે એ કારણથી જ્યારે શરીર આદિ કાર્ય મૂર્ત છે, તો તેનું કારણ કર્મ પણ મૂર્તજ હોવું જોઈએ. જેવી રીતે મૂર્ત ઘટ આદિ કાર્યોના કારણભૂત પુદ્‌ગલપરમાણુ પણ મૂર્ત છે જે કાર્ય અમૂર્ત હોય છે તેનું કારણ પણ અમૂર્ત જ હોય છે, જેમકે જ્ઞાનનું કારણ આત્મા

શંકા—સુખ અને દુઃખ આદિનું કારણ કર્મ છે, અને સુખ દુઃખ આદિ અમૂત છે, તેથી તેનું કારણ કર્મ પણ અમૂતજ હોવું જોઈએ. મૂર્તથી અમૂર્તની ઉત્પત્તિ થઈ શકતી નથી, જેવી રીતે પુદ્‌ગલથી જ્ઞાનપર્યાયની ઉત્પત્તિ થઈ શકતી નથી, અને એકજ

तयोरप्यमूर्तेन जीवेन कथं सम्बन्धः ?, यदि कथञ्चित् सम्बन्धस्तर्हि कर्मणोऽपि जीवेन सह सम्बन्धः कुतो न स्यात्। यद्यमूर्तौ धर्माधर्मौ तर्हि बाह्येन स्थूलशरीरेण मूर्तेन सह तयोः कथं सम्बन्धः ? तवमते मूर्तामूर्तयोः सम्बन्धासम्भवात्। यद्यमूर्तयोरपि धर्माधर्मयोर्बाह्यशरीरेण मूर्तेन सह सम्बन्धोऽङ्गीक्रियते तर्हि जीवेन सह कर्मणः सम्बन्धे कथं दोषः ?।

नन्वमूर्तस्य जीवस्य मूर्तेन कर्मणा कथं सुखदुःखाद्यनुग्रहोपघातौ स्याताम्, न ह्यमूर्तस्याकाशस्य मूर्तैःस्रक्चन्दनाग्निज्वालादिभिरनुग्रहोपघातौ जायेते ?।

अगर वे मूर्त हैं तो अमूर्त जीव के साथ उनका सम्बन्ध कैसे हुआ ?, अगर किसी प्रकार उनका सम्बन्ध हो गया तो कर्म का सम्बन्ध क्यों नही हो सकता ?। अगर धर्म अधर्म अमूर्त हैं तो बाह्य स्थूल और मूर्त शरीर के साथ उनका सम्बन्ध कैसे हो गया ?, आपके मत से मूर्त और अमूर्त का तो सम्बन्ध हो नहीं सकता। अगर अमूर्त धर्म अधर्म का मूर्त शरीर के साथ सम्बन्ध होना स्वीकार करते हो तो जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध मानने में क्या दोष है ?।

शङ्का—अमूर्त जीव का मूर्त कर्म के द्वारा सुख दु ख आदिरूप अनुग्रह और उपघात कैसे हो सकता है, मूर्त माला, चन्दन, अग्नि, ज्वाला आदि से अमूर्त आकाश का अनुग्रह और उपघात नहीं होता ?

અથવા કોઈ પ્રકારે તેનો સમ્બન્ધ થઈ ગયો તો કર્મનો સમ્બન્ધ શા માટે નહિ થઈ શકે? અગર ધર્મ અધર્મ અમૂર્ત છે તો બાહ્ય સ્થૂલ અને મૂર્ત શરીરની સાથે તેનો સમ્બન્ધ કેવી રીતે થઈ ગયો? આપના મત પ્રમાણે તો મૂર્ત અને અમૂર્તનો સમ્બન્ધ-જ કોઈ શકે નહી. પરન્તુ જો અમૂર્ત ધમ-અધર્મનો મૂર્ત શરીરની સાથે સમ્બન્ધ થવો તે સ્વીકાર કરતા હો તો જીવની સાથે કર્મનો સમ્બન્ધ માનવામાં દોષ શું છે?

શંકા-અમૂર્ત જીવનો, મૂર્ત કર્મદ્વારા સુખ-દુ ખ આદિરૂપ અનુગ્રહ અને ઉપઘાત કઈ રીતે થઈ શકે? મૂર્ત માળા ચન્દન, અગ્નિ, જ્વાળા આદિથી અમૂર્ત આકાશનો અનુગ્રહ અને ઉપઘાત થઈ શકતો નથી.

" यथा ह्यरूपमाकाशं, रूपिद्रव्यादिभाजनम् ।
तथा ह्यरूप आत्मापि, रूपिकर्मादिभाजनम् ॥१॥ "

यथा वा – अमूर्तयाऽऽकुञ्चनादिक्रियया सह मूर्तद्रव्यस्याङ्गुल्यादेः सम्बन्धस्तथाऽपि जीवकर्मणोः सम्बन्ध इति बोध्यम् ।

यद्वा–यथा बाह्यशरीरमिदं जीवेन सह सम्बद्धं प्रत्यक्षदृष्टमेवास्ति, एवं भवान्तरं गच्छता जीवेन सह कार्मणशरीरं सम्बद्धमेवेति ।

यदि बाह्यशरीरस्य जीवेन सह सम्बन्धे धर्माधर्मयोः कारणताऽस्तीत्युच्यते तर्हि तावपि धर्माधर्मौ मूर्तौ स्याताममूर्तौ वा ?। यदि मूर्तौ तर्हि

" जैसे अरूपी आकाश रूपी द्रव्य आदि का आधार है, उसी प्रकार अरूपी आत्मा कर्मों का आधार है " ॥ १ ॥

अथवा जैसे–आकुञ्चन (सिकोड़ना) आदि अमूर्त क्रिया के साथ अंगुली आदि मूर्त द्रव्य का सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार यहां जीव और कर्म का सम्बन्ध समझ लेना चाहिए ।

अथवा जैसे बाह्य शरीरका जीव के साथ सम्बन्ध है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है, उसी प्रकार भवान्तर में जाते जीव के साथ कार्मण शरीर का सम्बन्ध है ।

अगर कहा जाय कि जीव के साथ बाह्य शरीर का सम्बन्ध होने में धर्म और अधर्म कारण है तो प्रश्न खडा होता है कि–धर्म अधर्म मूर्त हैं या अमूर्त है ?

" જેવી રીતે અરૂપી આકાશ, રૂપી દ્રવ્ય આદિનો આધાર છે તે પ્રમાણે અરૂપી આત્મા, રૂપી કર્મોનો આધાર છે " ॥૧॥

અથવા–જેવી રીતે–સંકોચવું આદિ અમૂર્ત ક્રિયાની સાથે આંગળી આદિ મૂર્ત દ્રવ્યનો સમ્બન્ધ હોય છે તે પ્રમાણે જીવ અને કર્મનો સમ્બન્ધ સમજી લેવો જોઈએ

અથવા જેવી રીતે આ બાહ્ય શરીર જીવની સાથે સંબદ્ધ છે તે પ્રત્યક્ષથી સિદ્ધ છે તે પ્રમાણે ભાવાન્તરમાં જતા જીવની સાથે કાર્મણ શરીરનો સંબંધ છે

અથવા તો એમ કહેવામાં આવે કે જીવની સાથે બાહ્ય શરીરનો સમ્બન્ધ હોવામાં ધર્મ અને અધર્મ કારણ છે તો પ્રશ્ન ઉઠે થાય છે કે–ધર્મ અધર્મ મૂર્ત છે કે અમૂર્ત છે ? જો તે મૂર્ત છે એમ કહો તો અમૂર્ત જીવની સાથે તેનો સંબંધ કેવી રીતે થયો ?

(५) कर्मणोऽनादित्वम्—

अनादि' कर्मण प्रवाह । शरीरकर्मणो परस्पर कार्यकारण भावात्, वीजाङ्कुरवत् । यथा वीजादङ्कुरो जायते, अङ्कुरादपि क्रमेण वीजमुपजायते । एव शरीरात् कर्म जायते कर्मतस्तु शरीरमित्येव पुन पुनरपि परस्परमनादिकालत' कार्यकारणभावसद्भावोऽस्ति । इह ययो परस्पर कार्यकारणभावस्तयोरनादि प्रवाहो दृश्यते यथा वीजाङ्कुरयो, यथा वा कुक्कुटाण्डयोः, तथा शरीरकर्मणो-रनादिप्रवाह इति ।

(५) कर्मों का अनादिपन–

कर्मों की परम्परा अनादिकालीन है, क्यों कि शरीर और कर्म का परस्पर कार्य–कारणभाव है, जैसे बीज और अकुर का । तात्पर्य है कि जैसे बीज से अकुर उत्पन्न होता है, और अकुर से क्रमश बीज की उत्पत्ति होती है, इसी प्रकार शरीर से कर्म और कर्म से शरीर उत्पन्न होता है । यह पारस्परिक कार्यकारणभाव अनादि काल से चला आता है । जिन दो पदार्थों में परस्पर कार्य–कारणभाव होता है उनका प्रवाह अनादिकालीन देखा जाता है, जैसे पूर्वोक्त बीज और अकुर का, अथवा मुर्गी और अण्डे का । इस प्रकार शरीर और कर्म का प्रवाह अनादिकालीन है ।

(५) કર્મોનું અનાદિપણું—

કર્મોની પરપરા અનાદિકાલીન છે કારણ કે–શરીર અને કર્મોનો પરસ્પર કાર્ય કારણભાવ છે, જેવી રીતે બીજ અને અકુરનો તાત્પર્ય એ છે કે–જેવી રીતે બીજથી અકુર ઉત્પન્ન થાય છે, અને અકુરથી ક્રમશ (ક્રમે–ક્રમે) બીજની ઉત્પત્તિ થાય છે તે પ્રમાણે શરીરથી કર્મ અને કર્મથી શરીર ઉત્પન્ન થાય છે આ પરસ્પરનો કાર્ય–કારણ ભાવ અનાદિ કાલથી ચાલ્યો આવે છે જે બે પદાર્થોમા પરસ્પર કાર્ય–કારણભાવ હોય છે તેનો પ્રવાહ અનાદિકાલીન જોવામાં આવે છે જેવી રીતે પૂર્વ કહેલ બીજ અને અકુરનો, અથવા મરઘી અને ઇંડાનો, એ પ્રમાણે શરીર અને કર્મનો પ્રવાહ અનાદિકાલીન છે

शृणु–यथामदिरापानैर्विषपिपीलिकादिभिर्भक्षितैरमूर्तानामपिधृतिस्मृति–मेधादीनामात्मगुणानामुपघातो जायते, "मेधा पिपीलिका हन्ति" इत्यादिवचनात्, तथा पयःशर्कराघृतादिभिश्चानुग्रहः क्रियते तथैवामूर्तस्यात्मनो मूर्तेन कर्मणाऽनुग्रहोपघातौ जायेते। इदं च जीवस्यामूर्तत्वमङ्गीकृत्य समाहितम्, न ह्येकान्तरूपेणाऽमूर्त एवात्मा किन्तु वह्न्ययोगोलकवत् क्षीरनीरवच्च कार्मणशरीराभेदरूपतां प्राप्तः कथञ्चिन्मूर्तोऽपीति। तस्य मूर्तेन कर्मणाऽनुग्रहोपघातौ भवत एव। आकाशस्य तु तौ न भवतः, तस्यैकान्तरूपेणामूर्तत्वादचेतनत्वाच्च।

समाधान–सुनिये जैसे–मदिरा का पान करने से, विषभक्षण से और कीड़ी आदि के खाये जाने से अमूर्त धैर्य, स्मृति और बुद्धि आदि आत्मिक गुणों का उपघात होता है, "मेधा पिपीलिका हन्ति" इत्यादि वचन से, तथा दूध, शक्कर और घृत आदि से अनुग्रह होता है, उसी प्रकार अमूर्त आत्मा का मूर्त कर्म द्वारा अनुग्रह और उपघात होता है। जीव को अमूर्त अङ्गीकार करके यह समाधान किया है, किन्तु जीव एकान्तरूप से अमूर्त नहीं है। क्षीर–नीर की तरह अथवा अग्नि और लोहे के गोले की तरह आत्मा कार्मणशरीर से कथञ्चित् अभिन्न है, अत एव मूर्त भी है। कर्मलिप्त आत्मा मूर्त होने के कारण मूर्त कर्मों से उसका अनुग्रह और उपघात होता ही है। हाँ! आकाश का अनुग्रह और उपघात नहीं होता, क्यों कि वह एकान्ततः अमूर्त और अचेतन है।

સમાધાન–સાંભળો! જેમ મદિરાનું પાન કરવાથી, વિષભક્ષણથી, અથવા કીડી આદિ પેટમાં ખાઈ જવામાં આવવાથી અમૂર્ત ધૈર્ય, અને બુદ્ધિ આદિ આધ્યાત્મિક ગુણોનો ઉપઘાત થાય છે 'મેધાં પિપીલિકા હન્તિ' ઇત્યાદિ વચનોથી, તથા દૂધ, સાકર અને ઘી આદિથી અનુગ્રહ થાય છે, તે પ્રમાણે અમૂર્ત આત્માનો મૂર્ત કર્મ અનુગ્રહ અને ઉપઘાત થાય છે

જીવને અમૂર્ત અંગીકાર કરીને આ સમાધાન કર્યું છે, પરન્તુ જીવ એકાન્તથી અમૂર્ત નથી ક્ષીર–નીરની પ્રમાણે અથવા અગ્નિ અને લોઢાના ગોળાની માફક આત્મા કાર્મણશરીરથી કથંચિત્ અભિન્ન છે આ કારણથી મૂર્ત પણ છે કર્મલિપ્ત આત્મા મૂર્ત હોવાના કારણે મૂર્ત કર્મોથી તેનો અનુગ્રહ અને ઉપઘાત થાય જ છે હા! આકાશનો અનુગ્રહ અને ઉપઘાત થતો નથી, કારણ કે તે એકાન્તથી અમૂર્ત અને અચેતન છે

अथ सर्वप्रमातॄणां यदप्रत्यक्षं तन्नास्तीत्यपि न सम्भवति। यतः सर्वमतीन्द्रियं वस्तु सर्वप्रमातॄणां प्रत्यक्षं न भवति, तादृशज्ञानशक्तेरभावात्। अस्माभिस्तु समस्तभावावभासनभास्करः सर्वज्ञः स्वीक्रियते।

विचाराऽक्षमत्वमपि न युक्तं, कर्कश(दुर्धर्ष)तर्कैस्तर्क्यमाणस्य कर्मणः सद्भावसम्भवात्।

साधकाभावादपि नादृष्टाभावः, पूर्वोक्तागमानुमानयोस्तत्साधकयोः सत्त्वात्। यथा च-शुभः पुण्यस्य, अशुभः पापस्येत्यागमः। शुभयोगः पुण्यस्य, अशुभयोगः पापस्य कारणमित्यर्थः।

अगर कहा जाय कि एक-दो के अप्रत्यक्ष होने से किसीका अभाव नहीं होता वरन् जो वस्तु सभी के अप्रत्यक्ष है, उसका अभाव होता है। यह कथन भी ठीक नहीं है, क्यों कि सब अतीन्द्रिय वस्तुएँ सब प्रमाताओं क प्रत्यक्ष नहीं होती, इसका कारण विशिष्ट ज्ञानशक्ति का अभाव है। मगर हम लोग तो समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने में सूर्य के समान सर्वज्ञ स्वीकार करते हैं।

अदृष्ट, विचार को सहन नहीं करता अर्थात् विचारने के योग्य नही है, यह कथन भी युक्त नहीं, कठोर तर्कों द्वारा विचार करने से कर्म का अस्तित्व सिद्ध हो ही जाता है।

साधक प्रमाणों का अभाव होने से कर्म का अभाव बतलाना भी ठीक नही, क्यों कि पूर्वोक्त आगम और अनुमान प्रमाण उसका सद्भाव सिद्ध करते हैं। 'शुभ पुण्यस्य अशुभ पापस्य' यह आगमप्रमाण है। अर्थात् शुभयोग पुण्य का और अशुभ योग पाप का कारण होता है।

અથવા કહેશો કે એક-બેના અપ્રત્યક્ષ હોવાથી કોઈને અભાવ થતો નથી. પરન્તુ જે વસ્તુ સર્વને અપ્રત્યક્ષ છે તેનો અભાવ હોય છે એમ કહેવું તે પણ ઠીક નથી, કારણ કે સર્વ અતીન્દ્રિય વસ્તુઓ પ્રમાતાઓને પ્રત્યક્ષ થતી નથી તેનું કારણ વિશિષ્ટ જ્ઞાનશક્તિનો અભાવ છે અથવા અમે તો સમસ્ત પદાર્થોને પ્રકાશિત કરવામાં સૂર્યના સમાન સર્વજ્ઞનો સ્વીકાર કરીએ છીએ.

અદૃષ્ટ, વિચારને સહન કરતા નથી અર્થાત્ વિચારવા યોગ્ય નથી, એમ કહેવું તે પણ યુક્ત નથી, કઠિન તર્કો દ્વારા વિચાર કરવાથી કર્મનું અસ્તિત્વ સિદ્ધ થઈ જ જાય છે

સાધક પ્રમાણોનો અભાવ હોવાથી કર્મોનો અભાવ બતાવવો તે પણ ઠીક નથી, કારણ કે પૂર્વોક્ત આગમ અને અનુમાન પ્રમાણ તેનો સદ્ભાવ (અસ્તિત્વ-હોવાપણું) સિદ્ધ કરે છે શુભઃ પુણ્યસ્ય અશુભઃ પાપસ્ય એ આગમપ્રમાણ છે, અર્થાત્ શુભ યોગ પુણ્યનું અશુભ યોગ પાપનું કારણ હોય છે

(६) अकर्मवादिमतनिराकरणम्—

य पुनरदृष्टं कर्म नास्तीति मन्यते स च नास्तिकः प्रष्टव्यः-अयम् दृष्टाभावः किम् अप्रत्यक्षत्वात्, विचारासहत्वात्, साधकाभावाद् वा मन्यसे?

अप्रत्यक्षत्वाभावादृष्टाभावः सिध्यति, यतस्तत्र यदप्रत्यक्ष तन्नास्तीति स्वीकारे त्वदीयपितामहादेरप्यभाव स्यात्, तस्य त्वज्जन्मत पूर्वमेवातीतत्वेन तवाप्रत्यक्षत्वात्। तथा च भवन्मते पितामहादेरतीतकालिकसत्ताया अभावेन भवतोऽपि सत्ता कथमुपपद्येत?।

---

(६) अकर्मवादी के मत का निराकरण—

जो नास्तिक यह मानता है कि-अदृष्ट कर्म का सद्भाव नहीं है, उससे पूछना चाहिए कि-तुम अदृष्ट के अभाव को क्यों मानते हो? प्रत्यक्ष न होने से, विचार को सहन न करने से अर्थात् विचारके योग्य नहीं होने से, या साधक प्रमाणों का अभाव होने से अदृष्ट का अभाव कहते हो?

प्रत्यक्ष न होने मात्र से अदृष्ट का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। जो तुम्हें प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता वह होता ही नहीं है, ऐसा मान लिया जाय तो तुम्हारे पितामह आदि का भी अभाव हो जायगा। वह तुम्हारे जन्म से पहले ही गुजर चुके हैं, अत तुम्हें प्रत्यक्ष दिखाई नहीं दे सकते। ऐसी अवस्था में तुम्हारे पितामह आदि की भूतकालीन सत्ता का अभाव होजाने के कारण तुम्हारी सत्ता भी खतरे में पड़ जायगी।

---

(६) અકર્મવાદીના મતનુ નિરાકરણુ—

જે નાસ્તિક એવુ માને છે કે-અદૃષ્ટ કર્મનો સદ્ભાવ (અસ્તિત્વ) નથી, તેમને પૂછવુ જોઈએ કે-તમે અદૃષ્ટનો અભાવ શા માટે માનો છો? પ્રત્યક્ષ નહી હોવાથી, વિચારને સહન નહી કરવાથી અર્થાત્-વિચારવાયોગ્ય નહિ હોવાથી, અથવા સાધક પ્રમાણોનો અભાવ હોવાથી અદૃષ્ટનો અભાવ કહો છો?

પ્રત્યક્ષ નહી હોવા માત્રથી અદૃષ્ટનો અભાવ સિદ્ધ થઈ શકતો નથી, જે વસ્તુ તમને પ્રત્યક્ષ જોવામા ન આવે તે વસ્તુ હોયજ નહી, એ પ્રમાણે જો માની લેશો તો તમારા પિતામહ (બાપનો બાપ) આદિનો અભાવ થઈ જશે, કારણ કે તે તમારા જન્મતા પહેલાજ ગુજરી ગયા છે તેથી તમને તે પ્રત્યક્ષ જોવામાં આવતા નથી, એવી અવસ્થામાં તમારા પિતામહ આદિની ભૂતકાલીન સત્તાનો અભાવ થઈ જવાથી તમારી સત્તા પણ ખતરામા (ભયમાં) પડી જશે.

नीरवत् सम्बन्धो बन्धः। यद्वा-बध्यते=अस्वातन्त्र्यमापद्यते आत्मा येन, सबन्ध'। ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मपुद्गलानामवस्थानं हि जीवस्याऽनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यरूपसामर्थ्यप्रतिबन्धकतया स्वातन्त्र्यविघातकं भवति।

यद्यपि निश्चयनयेन रागद्वेषरहितोऽयमात्मा, तथाप्यसौ व्यवहारनयेन रागद्वेषरूपभावकर्मणां ज्ञानावरणीयादिद्रव्यकर्मणां च कर्ता भवति। आत्मसम्बद्धशरीरावगाहनक्षेत्रावस्थितकर्मवर्गणायोग्यपुद्गलस्कन्धाः स्वकीयोपादानकारणशक्त्यैव कर्मरूपामवस्थां प्राप्नुवन्ति। ते च कर्मपुद्गला आत्मप्रदेशैः सह परस्परमेकक्षेत्रावगाहरूपं बन्धं क्षीरनीरवत् प्राप्नोति। यथा समुड्डीयमानानि रजांसि

और पानी की तरह सम्बन्ध हो जाना बन्ध है। आत्मा-जीव जिस के द्वारा बाँधा जाय=पराधीन किया जाय, वह बन्ध है। ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों की स्थिति, जीव के अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यरूप सामर्थ्य में बाधक होने के कारण स्वतन्त्रता का घात करने वाली है।

यद्यपि निश्चयनय से आत्मा राग-द्वेष से रहित है, किन्तु व्यवहारनय से राग-द्वेषरूप भावकर्मों का, तथा ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्मों का कर्ता है। जिस आकाशक्षेत्र में आत्मा से सबद्ध शरीर है, इसी आकाशक्षेत्र में स्थित कर्मवर्गणा के योग्य पुद्गलस्कन्ध, अपनी उपादानकारण-शक्ति से ही कर्मरूप अवस्था को प्राप्त करते हैं। ये कर्मपुद्गल आत्मप्रदेशों के साथ परस्पर एकक्षेत्रावगाहरूप बन्ध को क्षीर-नीर की नाईं प्राप्त होते हैं। जैसे-उड़ती हुई रज, तेल से चिकने घड़े आदि पर चिपक जाती है,

---

પાણીની પ્રમાણે સમ્બન્ધ થઈ જવો તે બંધ છે આત્મા-જીવ જેના દ્વારા બંધાઈ જાય-પરાધીન થઈ જાય. તે બંધ છે જ્ઞાનાવરણ આદિ આઠ કર્મોની સ્થિતિ, જીવના અનન્ત જ્ઞાન, દર્શન સુખ અને વીર્યરૂપ સામર્થ્યમાં બાધક હોવાના કારણે સ્વતત્રતાનો ઘાત કરવા વાળી છે

જો કે નિશ્ચયનયથી આત્મા રાગ-દ્વેષથી રહિત છે, પરન્તુ વ્યવહારનયથી રાગ-દ્વેષરૂપ ભાવકર્મોનો, તથા જ્ઞાનાવરણ આદિ દ્રવ્યકર્મોનો કર્તા છે જે આકાશક્ષેત્રમાં આત્માથી સબદ્ધ શરીર છે, તે આકાશક્ષેત્રમાં સ્થિત (રહેલા) કર્મ-વર્ગણાના યોગ્ય પુદ્‌ગલસ્કંધ, પોતાની ઉપાદાન કારણ-શક્તિથી જ કર્મરૂપ અવસ્થા પ્રાપ્ત કરે છે, તે કર્મપુદ્‌ગલ આત્મપ્રદેશોની સાથે પરસ્પર એકક્ષેત્રાવગાહરૂપ બંધને ક્ષીર-નીરના ન્યાય પ્રમાણે પ્રાપ્ત થાય છે; જેવી રીતે ઉડતી રજ તેલના ચિકણા ઘડા આદિને

कार्यविशेषेण कारणस्यानुमानं भवति यथा कार्यविशेषः सकारणकः, कार्यत्वात्, कुम्भवत्। उक्तञ्च—

" तुल्याकृत्योश्च यमयो,-र्दृश्यते महदन्तरम्।

चारित्र-वीर्य-विज्ञान,-वराग्या-रोग्य-सपदाम् " ॥१॥ इति।

अदृष्टरूपकारणमन्तरेणेदं महदन्तरं न संभवति, तस्मादवश्यं स्वीकरणीयं कर्म।

(७) बन्धस्वरूपनिरूपणम्—

अत्र बन्धशब्देन भावबन्धो गृह्यते, न तु निगडादिबन्धरूपो द्रव्यबन्धः। बन्धनं बन्धः। कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलस्कन्धानामात्मप्रदेशानां च परस्परं क्षीर-

---

कार्यविशेष से कारण का अनुमान होता है। जैसे—इस कार्य का कोई कारण है, क्यों कि कार्य है, जैसे—घट, कहा भी है—

"समान आकृति वाले यमल (जोड़ली सन्तान) में चारित्र, वीर्य, विज्ञान, वैराग्य, और सम्पत्ति का महान् अन्तर दिखाई देता है" ॥ १ ॥

अदृष्टरूप कारण के विना यह महान् अन्तर नहीं हो सकता, अत एव कर्म अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

(७) बन्ध के स्वरूपका निरूपण—

बन्ध—शब्द से यहाँ भावबन्ध का ग्रहण करना चाहिए। बेडी आदि द्रव्यबन्धका नहीं। कर्मवर्गणा के योग्य पुद्गलस्कन्धों का और आत्मप्रदेशों का आपस में दूध

કાર્ય-વિશેષથી કારણનું અનુમાન થાય છે જેવી રીતે આ કાર્યનું કોઈ કારણ છે, કારણ કે કાર્ય છે, જેવી રીતે ઘટ કહ્યું પણ છે—

'સમાન આકૃતિ વાળાં યમલ-જોડલાં સંતાનમાં ચારિત્ર, વીર્ય, વિજ્ઞાન, વૈરાગ્ય, આરોગ્ય અને સમ્પત્તિનું મહાન અંતર જોવામાં આવે છે" ॥૧॥

અદૃષ્ટરૂપ કારણ વિના આ મહાન અન્તર હોઈ શકે નહિ, એ કારણથી કર્મનો અવશ્ય સ્વીકાર કરી લેવો જોઈએ.

(૭) બંધસ્વરૂપનું નિરૂપણ—

બંધ-શબ્દથી અહિં ભાવ-બંધનું ગ્રહણ કરવું જોઈએ, બેડી આદિ દ્રવ્યબંધનું નહિ, કર્મવર્ગણાને યોગ્ય પુદ્ગલસ્કંધોનો અને આત્મ-પ્રદેશોનો પરસ્પર દૂધ અને

वीर्यगुणपरिणामात्मिका शुभाशुभक्रियां भवति। इय क्रिया चात्मन. प्रदेशानां परिस्पन्द , कम्पन, व्यापारो, योग इति चोच्यते। इयमेव मनोवाक्काययोग इति च कथ्यते। इयमात्मनो ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मसम्बन्धरूपे बन्धे हेतुश्च।

आत्मन शुभाशुभक्रियाया सत्यामात्मसलग्नानादिकार्मणशरीरेणात्माऽनन्तानन्तप्रदेशिस्कन्धरूपाश्चतु स्पर्शान् कर्मयोग्यपुद्गलानादाय कार्मणशरीरतया परिणमयति। आत्मसलग्न यदनादि कार्मणशरीर, तद्धि आत्मैक्यात् कर्म योग्यपुद्गलानां ग्रहणे स्वाधीनकरणे स्वस्मिन्नेकत्वपरिणामकरणे च समर्थं भवति। अनादिकार्मणशरीरसम्बन्धादेव ससारी जीवो मूर्तोऽस्ति। मूर्तत्वादेव च तस्य पौद्गलिककर्मसम्बन्धो भवति।

वीर्यगुण के परिणमनरूप शुभा शुभ क्रिया होती है। इस क्रिया को आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्दन, कम्पन, व्यापार या योग कहते हैं। यही मन, वचन और काय का योग कहलाता है। यही क्रिया ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के बंध का कारण है।

आत्मा की जब शुभ या अशुभ क्रिया होती है तो आत्मा के साथ पहले से बंधे हुए कार्मणशरीर के द्वारा आत्मा, अनन्तानन्तप्रदेशी—स्कन्धरूप, चौस्पर्शी कर्मयोग्य पुद्गलों को ग्रहण कर के कार्मणशरीर के रूप में परिणत करता है। आत्मा से सम्बद्ध अनादिकालीन कार्मणशरीर आत्मा के साथ एकमेक होने के कारण कर्मयोग्य पुद्गलों को ग्रहण करने में, अपने अधीन करने में और अपने साथ एकमेक करलेने में समर्थ होता है। अनादिकालीन कार्मण-शरीर के सम्बन्ध से ही ससारी जीव मूर्त है, और मूर्त होने के कारण ही उसका पौद्गलिक कर्मों के साथ सम्बन्ध होता है।

વીર્યગુણના પરિણમનરૂપ શુભાશુભ ક્રિયા થાય છે તે ક્રિયાને આત્માના પ્રદેશોનુ પરિસ્પન્દન, કમ્પન, વ્યાપાર અથવા યોગ કહે છે આજ મન વચન અને કાયાનો યોગ કહેવાય છે આ ક્રિયા જ્ઞાનાવરણુ આદિ આઠ કર્મોના બધનુ કારણુ છે

આત્માની જ્યારે શુભ અથવા અશુભ ક્રિયા થાય છે તો આત્માની સાથે પહેલાથી બાધેલા કાર્મણુશરીરદ્વારા આત્મા અનતાનન્તપ્રદેશી—સ્કધરૂપ, ચૌસ્પર્શી કર્મયોગ્ય પુદ્ગલોને ગ્રહણુ કરીને કાર્મણુશરીરના રૂપમાં પરિણુત કરે છે આત્માથી સબદ્ધ અનાદિકાલીન કાર્મણુશરીર આત્માની સાથે એકમેક હોવાના કારણે કર્મયોગ્ય પુદ્ગલોને ગ્રહણુ કરવામા, પોતાના આધીન કરવામાં અને પોતાની સાથે એકમેક કરી લેવામાં સમર્થ થાય છે અનાદિકાલીન કાર્મણુશરીરના સબધથી જ સસારી જીવ મૂર્ત હોવાના કારણે જ તેનો પૌદ્ગલિક કર્મોની સાથે સમ્બન્ધ થાય છે

तैलस्निग्धे घटादौ संश्लिष्टानि भवन्ति, तथा रागद्वेषरूपतैलस्निग्धमलिनात्मप्रदेशेषु कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलाः स्वकीयोपादानशक्त्या ज्ञानावरणीयादिकर्मरूपामवस्था प्राप्य संश्लिष्टा भवन्ति।

परमाणुरूपा द्विप्रदेशिप्रभृतिस्कन्धरूपाश्च पुद्गला औदारिक–वैक्रिया––ऽऽहारक–तैजस–भाषा–श्वासोच्छ्वास–मनः–कार्मण–भेदादष्टविधाः। तत्र कर्मवर्गणापुद्गला अपि समस्तलोकं व्याप्य वर्तन्ते, यत्र संसारिणां शरीराणि सन्ति, तत्रापि तद्बहिश्चापि सर्वत्र ते वर्तन्ते, तत्र कर्मयोग्यपुद्गला आत्मना परिगृहीताः कर्मरूपेण परिणता भवन्ति।

रागद्वेषपरिणतस्याऽऽश्रीकृतस्यात्मनो मनोवाक्कायरूपकरणसाहाय्येन

उसीप्रकार राग–द्वेषरूपी तेल से चिकने मलिन आत्मप्रदेशों में, कर्मवर्गणा के योग्य पुद्गल, अपनी–अपनी उपादानशक्ति से ज्ञानावरण आदि कर्म–रूप अवस्था को प्राप्त कर के चिपक जाते हैं।

परमाणुरूप और द्विप्रदेशी वगैरह स्कन्धरूप पुद्गल औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन और कार्मण के भेद से आठ प्रकार के होते हैं। इन में से कार्मणवर्गणा के पुद्गल भी सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। जहां संसारी जीवों के शरीर हैं, वहां भी हैं, और बाहर भी सर्वत्र हैं। ये कर्मयोग्य पुद्गल आत्माद्वारा जब ग्रहण किये जाते हैं तब कर्मरूप में परिणत हो जाते हैं।

राग–द्वेषरूप परिणति से युक्त आत्मा का, मन, वचन, काय, की सहायता से

ચોંટી જાય છે, તે પ્રમાણે રાગ–દ્વેષ રૂપી તેલથી ચિકણા અને મલિન આત્મપ્રદેશોમાં કર્મવર્ગણાયોગ્ય પુદ્ગલ પોત–પોતાની ઉપાદાનશક્તિથી જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મ–રૂપ અવસ્થા પ્રાપ્ત કરીને ચોંટી જાય છે

પરમાણુરૂપ અને દ્વિ–પ્રદેશી વગેરે સ્કંધરૂપ પુદ્ગલ ઔદારિક, વૈક્રિય, આહારક તૈજસ, ભાષા, શ્વાસોચ્છ્વાસ, મન અને કાર્મણના ભેદથી આઠ પ્રકારના હોય છે તેમાંથી કાર્મણવર્ગણાના પુદ્ગલ પણ સંપૂર્ણ લોકમાં વ્યાપ્ત છે જ્યાં સંસારી જીવોનાં શરીર છે ત્યાં પણ છે અને બહાર સર્વત્ર પણ છે તે કર્મયોગ્ય પુદ્ગલ આત્માદ્વારા જ્યારે ગ્રહણ કરવામાં આવે છે ત્યારે તે કર્મરૂપમાં પરિણત થઈ જાય છે

રાગ–દ્વેષરૂપ પરિણતિયુક્ત આત્માની મન, વચન અને કાયાની સહાયતાથી

रागादिरूपतैलाभ्यक्तस्यात्मन कार्मणशरीरपरिणामो नवीनकर्मग्रहणे योग्यतां सपादयति । आत्मशरीरयोरैक्ये सति सम्यग्ज्ञानाभावरूपानाभोगवीर्यत॰ कर्मबन्धो भवति । इत्थ कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलाना ज्ञानावरणीयादिकर्मतया परिणताना सकषायस्यात्मन' सकलप्रदेशेषु लोलीभावो बन्ध इति बोध्यम् ।

(८) बन्धकारणनिरूपणम्–

बन्धस्य पञ्च साधारणकारणानि मिथ्यात्वाऽविरति प्रमाद-कषाय–योग-भेदात् ।

तत्रातत्त्वे तत्त्वाध्यवसायरूपो विपरीतावबोधो मोहकर्मोदयजनित आत्म-परिणामो मिथ्यात्वम् । यद्वा–कुदेव–कुगुरु–कुधर्मेष्वभिरुचिरूपमतत्त्वार्थश्रद्धान

उसी प्रकार राग–द्वेषरूपी तेल से युक्त आत्मा का कार्मणशरीररूप परिणाम नवीन कर्मों को ग्रहण करने में योग्य हो जाता है । आत्मा और शरीर के एकमेक होने पर सम्यग्ज्ञान के अभावरूप अनाभोग वीर्य से कर्मबध होता है । इस प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मरूप में परिणत कार्मणवर्गणाओं के योग्य पुद्गलों का कषाययुक्त-आत्मा के समस्त प्रदेशों में एकमेक हो जाना बन्ध है ।

(९) बन्धके कारण–

बन्ध के साधारण कारण पाच हैं–(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय, और (५) योग ।

अतत्त्व को तत्त्व समझनेरूप मोहनीयकर्मजन्य विपरीतज्ञानरूप आत्मपरिणाम को मिथ्यात्व कहते हैं, अथवा कुदेव, कुगुरु और कुधर्म में रुचिरूप अतत्त्व का

परिणाम नवीन कर्मो ग्रहण करवामा योग्य थई जाय छे आत्मा अने शरीरना એકમેક થવાથી સમ્યગ્જ્ઞાનના અભાવરૂપ અનાભોગ વીર્યથી કર્મબંધ થાય છે

એ પ્રમાણે જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મરૂપમા પરિણત કાર્મણવર્ગણાના યોગ્ય પુદ્ગલોનુ કષાયયુક્ત આત્માના સમસ્ત પ્રદેશોમા એકમેક થઈ જવુ તે બંધ છે

(૯) બંધનુ કારણ—

બંધના સાધારણ કારણો પાચ છે —(૧) મિથ્યાત્વ, (૨) અવિરતિ, (૩) પ્રમાદ, (૪) કષાય અને (૫) યોગ

અતત્ત્વને તત્ત્વ સમજવા રૂપ મોહનીયકર્મજન્ય, વિપરીતજ્ઞાનરૂપ આત્મ પરિણામને મિથ્યાત્વ કહે છે અથવા કુદેવ કુગુરુ, અને કુધર્મમાં રૂચિરૂપ અતત્ત્વની

यथा दीपक ऊष्मगुणयोगाद् वर्तिद्वारा तैलमादाय ज्वालारूपेण परिणमयति तथा रागद्वेषोष्मगुणसम्बन्धात् मनोवागादियोगवर्त्याऽऽत्मदीपः कर्मयोग्यपुद्गलस्कन्धतैलमादाय कर्मज्वालारूपेण परिणतं करोति। मनोवागादिरूपकरणसंयोगादात्मनो वीर्यपरिणामो भवति, अतो मनोवागादिव्यापारो योगशब्देनोच्यते। यथा मृन्मयघटस्याग्निसंयोगाद् रक्तत्वादिपरिणतिर्घटस्यैव भवति तथा मनोवागादिसंयोगात् शुभाशुभक्रियारूपा वीर्यपरिणतिरात्मन एव भवति, न तु पुद्गलरूपमनोवागादेः।

यथा च तैलाभ्यक्ते शरीरे जलार्द्रे वस्त्रे वा धूलिराश्लिष्टा भवति, तथा

जैसे-दीपक उष्मागुण के कारण बत्तीद्वारा तैल ग्रहण कर के ज्वाला के रूप में परिणत करता है, उसी प्रकार राग-द्वेष रूप उष्मागुणके सम्बन्ध से मन, वचन आदि योगों की बत्ती द्वारा आत्मरूपी दीपक कर्मयोग्यपुद्गलस्कन्धरूप तैल को ग्रहण कर के कर्मरूप ज्वाला में परिणत कर लेता है। मन, वचन और कायरूप करण के द्वारा आत्मा का वीर्यरूप परिणमन होता है। इसीलिए मन, वचन, आदि का व्यापार योग कहलाता है। जैसे -अग्नि के संयोग से मिट्टी के घड़े की ललाई आदिरूप परिणति होती है, और वह घड़े की ही कहलाती है, उसीप्रकार मन, वचन आदि के संयोग से शुभा-शुभक्रियारूप वीर्य की परिणति आत्मा की ही होती है, पुद्गलरूप मन, वचन आदि की नहीं।

जैसे तेल से लिप्त शरीर पर या भीगे हुए वस्त्र पर धूल लग जाती है,

---

જેવી રીતે દીપક ઉષ્માગુણના કારણે બત્તીદ્વારા તેલને ગ્રહણ કરીને જ્વાળાના રૂપમા પરિણત કરે છે તે પ્રમાણે રાગ-દ્વેષરૂપ ઉષ્માગુણના સમ્બન્ધથી મન વચન આદિ યોગોની બત્તી દ્વારા આત્મારૂપી દીપક કર્મયોગ્ય-પુદ્ગલસ્કંધરૂપ તેલને ગ્રહણ કરીને કર્મરૂપ જ્વાલામાં પરિણત કરી લે છે મન, વચન અને કાયારૂપ કરણદ્વારા આત્માનુ વીર્યરૂપ પરિણમન થાય છે; એ કારણથી મન, વચન આદિનો વ્યાપાર યોગ કહેવાય છે જેવી રીતે અગ્નિના સંયોગથી માટીના ઘડાની જ લાલી (રતાશપણુ) રૂપ પરિણતિ થાય છે, અને તે ઘડાની જ કહેવાય છે તે પ્રમાણે મન, વચન આદિના સંયોગથી શુભા-શુભક્રિયારૂપ વીર્યની પરિણતિ આત્માની જ થાય છે પુદ્ગલરૂપ મન, વચન આદિની નહિ.

જેવી રીતે તેલથી લિપ્ત શરીર પર, અથવા ભિંજાએલા વસ્ત્ર પર ધૂળ લાગી જાય છે તે પ્રમાણે રાગ-દ્વેષરૂપી તેલથી યુક્ત આત્માના કાર્મણશરીરરૂપ

एषु पञ्चसु कारणेसु कषाय' प्रधानम्। स च क्रोधमानमायालोम-भेदाच्चतुर्विध'। चतुर्विधोऽप्यय कषायो रागद्वेषान्तर्गत एवास्ति। उक्तञ्च—

"दोहिं ठाणेहिं पावकम्मा बधति, तजहा रागेण य, दोसेण य। रागे दुविहे पण्णत्ते, तजहा-माया य लोभे य। दोसे दुविहे पण्णत्ते, तजहा-कोहे य माणे य" (स्था० स्थान २ उ०)

बन्धश्चतुर्विध -प्रकृति-स्थित्य-नुभाव-प्रदेशभेदात्। उक्तञ्च—

"चउव्विहे बधे पण्णत्ते, तजहा-पगइबधे१, ठिइबधे२, अणुभावबंधे३, पएसबधे४।" (समवायाङ्ग समवाय४)

इन पांच कारणों में कषाय प्रधान है। क्रोध, मान, माया और लोभ के भेदसे वह चार प्रकार का है। कषाय के ये चारों भेद राग और द्वेष में ही अन्तर्गत हो जाते हैं। कहा भी है—

"दो स्थानों से पाप कर्मों का बन्ध होता है। वह इस प्रकार-राग से और द्वेष से। राग दो प्रकार का है-माया और लोभ। द्वेष भी दो प्रकार का है-क्रोध और मान"। (स्था० स्थान २ उ २)

बन्ध चार प्रकार का है-(१) प्रकृति-बन्ध, (२) स्थिति बन्ध, (३) अनुभाव-बन्ध, और (४) प्रदेश-बन्ध। कहा भी है—

"बन्ध चार प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार-(१) प्रकृतिबन्ध, (२) स्थितिबन्ध, (३) अनुभावबन्ध, (४) प्रदेशबन्ध"। (सम स ४)

આ પાચ કારણોમાં કષાય પ્રધાન છે- મુખ્ય છે ક્રોધ, માન, માયા અને લોભના ભેદથી તે ચાર પ્રકારના છે કષાયના તે ચારે ય ભેદ રાગ-અને દ્વેષમા સમાઈ જાય છે કહ્યું છે કે -

"બે સ્થાનોથી પાપકર્મોનો બધ થાય છે તે આ પ્રમાણે છે-રાગથી અને દ્વેષથી રાગ બે પ્રકારનો છે-માયા અને લોભ દ્વેષ પણ બે પ્રકારનો છે-ક્રોધ અને માન" (સ્થા સ્થાન ૨-ઉ ૨)

બધ ચાર પ્રકારના છે-(૧) પ્રકૃતિબધ, (૨) સ્થિતિબધ, (૩) અનુભાવબધ (૪) પ્રદેશબધ. કહ્યું પણ છે-

' બધ ચાર પ્રકારના છે (૧) પ્રકૃતિબધ, (૨) સ્થિતિબધ, (૩) અનુભાવબધ, (૪) પ્રદેશબધ," (સમ૦ સ. ૪)

मिथ्यात्वम् १। सावद्ययोगेषु प्रवृत्तिरविरतिः२। सदुपयोगाभावः प्रमादः, मोक्षमार्गे प्रति शैथिल्यं वा प्रमादः ३। कष्यते=पुनःपुनर्जन्ममरणादिक्लेशोऽनुभूयते येन स कषायः, मोहनीयकर्मोदयजनित आत्मपरिणतिविशेषः, यद्वा—कष्यते यत्र शारीरिकमानसिकदुःखैः, स कषः—संसारः, तस्य आयः—प्राप्तिकारणं कषायः= क्रोधादिः ४। युज्यते—आत्माऽनेनेति योगः=मनोवाक्कायव्यापाररूपः ५। उक्तञ्च—

"पंच आसवदारा पण्णत्ता, तंजहा—मिच्छत्तं १, अविरई २, पमाया ३, कसाया ४, जोगा ५"। (समवा० समवाय ५) 'आसवदारा' इति—आस्रवो बन्धकारणम्।

श्रद्धान मिथ्यात्व कहलाता है १। सावद्य योगों में प्रवृत्ति करना अविरति है २। सम्यक् उपयोग (यतना) का अभाव प्रमाद कहलाता है, या मोक्षमर्ग के विषय में शिथिलता होना प्रमाद है ३। जिस के द्वारा आत्मा कषा जाय अर्थात् बारबार जन्म-मरण का क्लेश भोगा जाय उसे कषाय कहते हैं। कषाय, मोहकर्म से उत्पन्न आत्मा की एक परिणति है। अथवा जहाँ शारीरिक एवं मानसिक दुःखों से जीव कषा जाय (युक्त हो) उसे कष अर्थात् संसार कहते हैं और उस कष (संसार) की आय प्राप्ति जिस से हो वह कषाय कहलाता है ४। जिस से आत्मा व्याप्त हो, ऐसा मन, वचन और काय का व्यापार योग कहलाता है ५। कहा है—

"पंच आसवदारा पण्णत्ता, तं जहा—मिच्छत्तं, अविरई, पमाया, कसाया, जोगा"। (समवायाङ्ग, समवाय ५) यहाँ 'आसवदारा' का अर्थ है—आस्रव के द्वार अर्थात् बन्धके कारण।

શ્રદ્ધા તેને મિથ્યાત્વ કહે છે (૧) સાવદ્ય યોગોમાં પ્રવૃત્તિ કરવી તે અવિરતિ છે (૨) સમ્યક્ ઉપયોગનો અભાવ તે પ્રમાદ કહેવાય છે, અથવા મોક્ષમાર્ગના વિષયમાં શિથિલતા થવી તે પ્રમાદ છે (૩) જેના દ્વારા આત્મા કષાય અર્થાત્ વારંવાર જન્મ મરણનો ક્લેશ ભોગવવાય તેને કષાય કહે છે કષાય, મોહ કર્મથી ઉત્પન્ન આત્માની એક પરિણતિ છે અથવા—જ્યાં શારીરિક અને માનસિક દુઃખોથી જીવ કષાય અર્થાત્ પીડાય તેને કષ અર્થાત્ સંસાર કહે છે, અને તે સંસારની આય-પ્રાપ્તિ જેનાથી હોય તે કષાય કહેવાય છે (૪) જેનાથી આત્મા વ્યાપ્ત હોય એવા મન, વચન અને કાયાના વ્યાપાર તે યોગ કહેવાય છે (૫), કહ્યું છે કે —

"પંચ આસવદારા પણ્ણત્તા તંજહા—મિચ્છત્ત, અવિરઈ, પમાયા, કસાયા જોગા" (સમવાયાંગ, સમવાય ૫,) અહિં "આસવદારા" નો અર્થ એ છે કે—આસ્રવના દ્વાર, અર્થાત્ બંધના કારણ

ज्ञानावरणीय कर्म, जीवस्य ज्ञानगुणमावृणोति१। दर्शनावरणीयं कर्म दर्शनगुणम्२। वेदनीयकर्म जीवस्याव्याबाधगुण सरुणद्धि३। मोहनीयकर्म जीवस्याविरतिं तत्त्वानभिरुचिं च जनयति४। आयुष्यकर्म जीवस्यामरत्वं प्रतिहन्ति५। नामकर्म जीवस्याऽमूर्तत्व प्रतिबध्नाति६। गोत्रकर्म तस्यागुरुलघुगुण व्याहन्ति७। अन्तरायकर्म जीवस्यानन्तवीर्यगुण रुणद्धि८।

यथा-गवादिभक्षिततृणादयो दुग्धरूपेण परिणता भवन्ति, माधुर्यस्वभाव' सहैव जायते, स चैतावत्कालपर्यन्तस्थायीति स्थितिसमयमर्यादाऽपि जायते माधुर्ये तीव्रमन्दभावादिविशेषोऽपि भवति, तस्य दुग्धस्य पौद्गलिक-

---

(१) ज्ञानावरणीय कर्म जीव के ज्ञानगुणको रोकता है, (२) दर्शनावरणीयकर्म दर्शनगुणको। (३) वेदनीयकर्म जीव के अव्याबाधगुण को रोकता है और (४) मोहनीय कर्म जीव में अविरति और तत्त्व के प्रति अरुचि उत्पन्न करता है। (५) आयुकर्म जीव की अमरता को रोकता है और (६) नामकर्म जीव के अमूर्तत्व गुण को रोकता है। (७) गोत्रकर्म अगुरु-लघुत्व गुण को नष्ट करता है और (८) अन्तरायकर्म जीव के अनन्त वीर्य का घात करता है।

जैसे गायद्वारा खाये हुए तृण आदि दूध रूप में परिणत होते हैं, और उन में मधुरता का स्वभाव भी साथ ही उत्पन्न हो जाता है। उस में अमुक कालपर्यन्त ठहरने की स्थिति-मर्यादा भी उत्पन्न हो जाती है, और मधुरता में तीव्रता या मन्दता की विशेषता भी आजाती है। उस दूध का पौद्गलिक परिणाम भी साथ ही उत्पन्न होता है।

---

(૧) જ્ઞાનાવરણીય કર્મ જીવના જ્ઞાન-ગુણને ઢાંકી દે છે; (૨) દર્શનાવરણીય કર્મ દર્શનગુણને ઢાંકે છે (૩) વેદનીય કર્મ જીવના અવ્યાબાધ ગુણને, રોકી દે છે (૪) મોહનીય કર્મ જીવમા અવિરતિ અને તત્ત્વપ્રતિ અરૂચી ઉત્પન્ન કરાવે છે (૫) આયુ કર્મ જીવની અમરતાને રોકે છે (૬) નામ-કર્મ જીવના અમૂર્તત્વ ગુણને રોકે છે (૭) ગોત્ર-કર્મ અગુરૂલઘુત્વ ગુણનો નાશ કરે છે અને (૮) અંતરાય કર્મ જીવના અનંતવીર્યનો ઘાત કરે છે

જેવી રીતે ગાયે ખાધેલું ઘાસ આદિ દૂધ રૂપમાં પરિણત થાય છે અને તેમાં મધુરતાનો સ્વભાવ પણ સાથે જ ઉત્પન્ન થાય છે તેમાં અમુકકાલપર્યન્ત સ્થિર રહેવાની સ્થિતિ-મર્યાદા પણ ઉત્પન્ન થઈ જાય છે અને મધુરતામા તીવ્રતા અથવા મંદતાની વિશેષતા પણ આવી જાય છે તે દૂધનું પૌદ્ગલિક પરિણામ પણ સાથે જ

तत्र प्रकृतिः-स्वभावः। आत्मपरिगृहीतकर्मपुद्गलाना तच्छक्तिरूपेण परिणमनम्। यथा निम्बस्य तिक्तत्वम्, गुडस्य मधुरत्वम्। प्रकृतिर्द्विविधा-मूलप्रकृतिः, उत्तरप्रकृतिश्च। मूलरूप कर्मण स्वभावो मूलप्रकृतिः। मूलप्रकृतिरष्टधा-ज्ञानावरणीय१ - दर्शनावरणीय२ - वेदनीय३ - मोहनीया४-ऽऽयुष्य५-नाम६-गोत्रा७-न्तराय८-भेदात्। उक्तश्च—

"अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ, तजहा-णाणावरणिज्ज१, दसणावरणिज्ज२, वेयणिज्ज३ मोहणिज्ज४, आउय५, नाम६, गोय७, अतराइय८"। (प्रज्ञापना० पद-२१ उ. १ सू २८८)

प्रकृति अर्थात् स्वभाव। आत्मा के द्वारा ग्रहण किए हुए कर्मपुद्गलों में अमुक-अमुक प्रकार की शक्ति (स्वभाव) उत्पन्न हो जाना प्रकृतिबन्ध है। जैसे—नीम में कटुकता और गुड में मधुरता होती है।

प्रकृति दो प्रकार की है—मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृति। कर्म का मूल स्वभाव मूलप्रकृति कहलाती है। मूलप्रकृति के आठ भेद हैं-(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र, और (८) अन्तराय। कहा भी है—

"आठ कर्मप्रकृतिया हैं, वे इस प्रकार—(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयुष्य, (६) नाम, (७) गोत्र, (८) अन्तराय।" (प्रज्ञा पद २१ उ १ सू. २८८)

પ્રકૃતિ અર્થાત્ સ્વભાવ,-આત્માદ્વારા ગ્રહણ કરેલા કર્મપુદ્ગલોમાં અમુક-અમુક પ્રકારની શક્તિ (સ્વભાવ)નુ ઉત્પન્ન થઈ જવું તે પ્રકૃતિબધ છે જેવી રીતે લીબડામાં કડવાશ અને ગોળમાં મધુરતા હોય છે

પ્રકૃતિ બે પ્રકારની છે- (૧) મૂલપ્રકૃતિ અને (૨) ઉત્તરપ્રકૃતિ કર્મના મૂલ સ્વભાવ તે મૂલપ્રકૃતિ કહેવાય છે તે મૂલ પ્રકૃતિના આઠ ભેદ છે- (૧) જ્ઞાનાવરણીય, (૨) દર્શનાવરણીય, (૩) વેદનીય, (૪) મોહનીય, (૫) આયુ (૬) નામ, (૭) ગોત્ર અને (૮) અતરાય. કહ્યું છે કે -

"આઠ કર્મપ્રકૃતિઓ છે, તે આ પ્રમાણે-જ્ઞાનાવરણીય, દર્શનાવરણીય, વેદનીય, મોહનીય, આયુષ્ય, નામ, ગોત્ર, અતરાય" (પ્રજ્ઞા પદ ૨૧ ઉ ૧ સૂ. ૨૮૮)

यथा वा–वातहारद्रिव्यनिर्मितो मोदकः प्रकृत्या वात हरति, पित्तोपशमकद्रव्यनिर्मितो मोदकः प्रकृत्या पित्तं नाशयति, कफापहारकद्रव्यनिर्मितः कफं हरति। इत्येव मोदकस्य नानाविधा प्रकृतिः। तस्यैव मोदकस्य स्थितिस्तु कस्यचिदेकदिनव्यापिनी, अपरस्य दिनद्वयस्थायिनी, अन्यस्य कस्यचिन्मासादिकाल व्याप्य स्थितिर्भवति, तत पर तत्तन्मोदकस्य विनाशात्। एव मोदकस्यानुभावो मधुरकटुकषायादिरूपः। रसस्तीव्रमन्दभावेन कस्यचिन्मोदकस्यैकगुणः, कस्यचिद् द्विगुणः, कस्यचित् त्रिगुणो भवति। प्रदेशोऽपि मोदकस्य कस्यचिदेककर्षमितः, कस्यचिद् द्विकर्षपरिमितः, कस्यचित्त्रिकर्षपरिमितो भवति।

अथवा जैसे–वातहारक द्रव्यों से बना मोदक स्वभाव से वात का नाश करता है, पित्तका नाश करने वाले द्रव्यों से बना मोदक पित्तका नाश करता है, कफहारी द्रव्यों से बना मोदक कफको दूर करता है, इस प्रकार मोदक की प्रकृति नाना प्रकार की है। कोइ मोदक एकदिन तक ही ठहर सकता है, कोई दो दिन तक और कोई महीने भरतक ठहर सकता है, उसके पश्चात् मोदक में यह शक्ति नहीं रहती है। इसी प्रकार किसी मोदक का मधुर या कटुक रस तीव्र होता है किसी का मन्द होता है, किसी मोदक में एकगुण रस होता है, किसी में द्विगुण और किसी में तीन गुणा, किसी मोदक का प्रदेशसमूह एक कर्ष परिमित होता है, किसीका दो कर्ष परिमित होता है, और किसीका तीन कर्ष परिमित होता है।

અથવા–જેમ વાયુનાશક દ્રવ્યોથી બનેલા લાડુ સ્વભાવથી વાયુનો નાશ કરે છે, પિત્તને શાન્ત કરવા વાળા દ્રવ્યોથી બનેલા લાડુ પિતનો નાશ કરે છે કફ નાશ કરનારા દ્રવ્યોથી બનેલા લાડુ કફને દૂર કરે છે, એ પ્રમાણે લાડુની પ્રકૃતિ જુદા–જુદા પ્રકારની છે કોઈ લાડુ એક દિવસ સુધી રહી શકે છે, કોઈ બે દિવસ અને કોઈ મહિના સુધી રહી શકે છે તે પછી લાડુમાં તે પ્રથમના જેવી શક્તિ રહેતી નથી. એ પ્રમાણે કોઈ લાડુનો મધુર અથવા કટુક રસ તીવ્ર હોય છે કોઈનો મંદ હોય છે, કોઈ લાડુમા એક ગુણ રસ હોય છે, કોઈમા દ્વિગુણ અને કોઈમા ત્રણ ગુણ રસ હોય છે કોઈ લાડુના પ્રદેશસમૂહ એક કર્ષ (બે તોલા) પરિમિત હોય છે કોઈના બે કર્ષ (ચાર તોલા) પરિમિત હોય છે, અને કોઈના ત્રણ કર્ષ (૭ તોલા) પરિમતિ હોય છે

परिणामश्चापि सहैव प्रादुर्भवति तथा जीवेन परिगृहीतानां कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलानां कर्मरूपेण परिणमने चतुर्विधा अंशा सहैव भवन्ति। त एतांशाः बन्धभेदाः प्रकृत्यादयः सन्ति।

कणिकागुडघृतकटुकादिद्रव्याणामौषधमोदकरूपेण परिणमने सहैवानेकाकारपरिणामो भवति। यथा मोदको हि कश्चिद् वातपित्तहरणशील', कश्चिद् बुद्धिवर्धनः, कश्चित् समोहकारी, कश्चिन्मारक', इत्यनेकाकारेण परिणमते जीवसंयोगात्, तथा कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलानामात्मसम्बन्धात्कर्मरूपेण परिणामे कश्चित्कर्मपुद्गल' ज्ञानमावृणोति, कश्चिद्दर्शनमावृणोति; अपरः सुखदु खानुभवं जनयतीत्यादि योजनीयम्।

इस प्रकार जीव द्वारा ग्रहण किए हुए कर्मवर्गणा के योग्यपुद्गलोंका कर्मरूप परिणमन होने पर चार प्रकार के अंश उन में साथ ही उत्पन्न होते हैं। वही अंश बन्ध के प्रकृति आदि भेद कहलाते हैं।

आटा, गुड, घी और कटुक आदि द्रव्यों से बने हुए लड्डू में एक साथ अनेक प्रकार के परिणमन होते हैं। कोई लड्डू वात-पित्त का नाशक होता है, कोई बुद्धिवर्धक होता है, कोई सम्मोहजनक होता है, और कोई घातक होता है, इस प्रकार जीव के संयोग से लड्डू अनेक आकारों में परिणत होता है। इसी प्रकार कर्मवर्गणा-योग्य पुद्गलों का आत्मा के निमित्त से कर्मरूप परिणमन होने पर कोई कर्म, ज्ञान को आच्छादित करता है, कोई दर्शनको कोई कर्म, सुख-दुःख का अनुभव कराता है। इत्यादि सब घटा लेना चाहिए।

ઉત્પન્ન થાય છે એ પ્રમાણે જીવદ્વારા ગ્રહણ કરેલા કર્મવર્ગણાયોગ્ય પુદ્ગલોનું કર્મરૂપ પરિણમન થવાની સાથે ચાર પ્રકારના અંશ તેમાં સાથે જ ઉત્પન્ન થાય છે તે અંશ, બંધના પ્રકૃતિ આદિ ભેદ કહેવાય છે

લોટ, ગોળ, ઘી અને કટુક આદિ દ્રવ્યો નાંખીને બનાવેલા લાડુમાં એક સાથે અનેક પ્રકારનું પરિણમન થાય છે, કોઈ લાડુ વાત-પિત્તનો નાશ કરનાર હોય છે કોઈ બુદ્ધિપૂર્વક હોય છે કોઈ સંમોહ ઉત્પન્ન કરનાર હોય છે અને કોઈ ઘાતક હોય છે એ પ્રમાણે જીવના સંયોગથી લાડુ અનેક આકારોમાં પરિણત થાય છે તે પ્રમાણે કર્મવર્ગણાયોગ્ય પુદ્ગલોનું આત્માના નિમિત્તથી કર્મરૂપ પરિણમન થાય ત્યારે કોઈ કર્મ જ્ઞાનને આચ્છાદિત કરે છે કોઈ દર્શનને, કોઈ કર્મ સુખ-દુઃખનો અનુભવ કરાવે છે એ પ્રમાણે સર્વ બાબતમાં ઘટાવી લેવું જોઈએ

(२) दर्शनस्य (सामान्यबोधस्य) आवरक कर्म दर्शनावरणीयम् ।
(३) सुखदु खानुभवजनकं कर्म वेदनीयम् ।
(४) मदिरावन्मोहजनक कर्म मोहनीयम् ।
(५) भवधारणकारण कर्म आयुष्कम् ।
(६) विशिष्टगतिजात्यादिमाप्तिकारण कर्म नाम ।
(७) उत्कर्षापकर्षप्राप्तिकारणं कर्म गोत्रम् ।
(८) दानलाभादिविघातक कर्म अन्तराय ।

मूलरूप कर्मणः स्वभावोऽष्टविध इति मूलप्रकृतिरष्टविधा संक्षेपतः कथिता । अष्टाना मूलप्रकृतीना प्रत्येकमवान्तरभेद एवोत्तरप्रकृति । सा च

---

(२) दर्शन अर्थात् सामान्य बोधको आच्छादित करने वाला कर्म दर्शनावरण है ।

(३) सुख–दु खका वेदन कराने वाला कर्म वेदनीय कहलाता है ।

(४) मदिरा के समान मोह उत्पन्न करने वाला कर्म मोहनीय कहलाता है ।

(५) भवधारणा का कारण कर्म आयुष्क कहलाता है ।

(६) विशेष प्रकार की गति, जाति आदि की प्राप्ति का कारण नामकर्म है ।

(७) उत्कर्ष और अपकर्ष की प्राप्ति का कारण गोत्रकर्म कहलाता है ।

(८) दान लाभ आदि में विघ्न डालने वाला अन्तराय कर्म कहलाता है ।

कर्म का मूल स्वभाव आठ प्रकार का ही है, अत आठ प्रकृतियों का सक्षिप्त कथन किया गया है, इन आठ प्रकृतियों के अवान्तर भेदों को उत्तर–प्रकृति कहते हैं ।

---

(२) दर्शन अर्थात् सामान्य बोधने जे आच्छादित करवावाणु कर्म ते दर्शनावरण छे
(३) सुख–दुःखनु वेदन करावनावाणु कर्म ते वेदनीयकर्म कहेवाय छे
(४) मदिराना समान मोह उत्पन्न करावनावाणु कर्म ते मोहनीय कहेवाय छे
(५) भव–धारण करवानु जे कारण कर्म ते आयुष्य कहेवाय छे
(६) विशेष प्रकारनी गति–जाति आदिनी प्राप्तिनु कारण ते नामकर्म कहेवाय छे
(७) उत्कर्ष अने अपकर्षनी प्राप्तिनु कारण ते गोत्रकर्म कहेवाय छे
(८) दान–लाभ आदिमां विघ्न नाखवावाणु ते अन्तराय कर्म कहेवाय छे

कर्मनो मूळ स्वभाव आठ प्रकारनो छे तेथी आठ प्रकृतिओनु सक्षिप्तमा कथन कर्युं छे ए आठ प्रकृतिओना अवातर भेदोने उत्तरप्रकृति कहे छे जिज्ञासु पुरुषोने

एवं कर्मणोऽपि कस्यचिद् ज्ञानावरणस्वभावा प्रकृति, अपरस्य दर्शनावरणरूपा, कस्यचित् सम्यग्दर्शनादिविघातस्वभावा।

कर्मणः स्थितिश्च कस्यचित् त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीरूपा, अपरस्य कस्यचित् कर्मण सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीरूपेत्यादि। रसस्तु कस्यचित् कर्मणस्तीव्रः, कस्यचित्तीव्रतरः, कस्यचित्तीव्रतम, कस्यचिन्मन्दः, कस्यचिन्मन्दतर इत्यादि बोध्यम्।

(१) प्रकृतिबन्ध –

॥ अष्टविध-मूलप्रकृतिबन्ध-लक्षणम्–

(१) ज्ञानस्य (विशेषबोधस्य) आवरकं कर्म ज्ञानावरणीयम्।

इसी प्रकार किसी कर्म की ज्ञानको आच्छादित करने की प्रकृति है, किसीका दर्शन को ढँकने की है, किसी की सुख–दुःख का अनुभव कराने की प्रकृति है, और किसी की सम्यग्दर्शन का घात करने की है। किसी कर्म की तीस कोडाकोडी सागरोपमकी स्थिति है, किसी की सत्तर (७०) कोडाकोडी सागरोपम की है।

इसी प्रकार किसी कर्म का रस तीव्र है, किसी का तीव्रतर है, किसी का तीव्रतम है। किसी का रस मन्द है, किसी का मन्दतर है। इत्यादि समझ लेना चाहिए।

(१) प्रकृतिबन्ध

(१) ज्ञान अर्थात् विशेष धर्मों के बोधको आच्छादित करने वाला कर्म ज्ञानावरण कहलाता है।

આ પ્રમાણે કોઈ કર્મની જ્ઞાનને આચ્છાદિત કરવાની પ્રકૃતિ છે, કોઈની દર્શનને ઢાંકી દેવાની છે, કોઈની સુખ–દુઃખનો અનુભવ કરાવવાની પ્રકૃતિ છે, અને કોઈની સમ્યગ્દર્શનનો ઘાત કરવાની પ્રકૃતિ છે

કોઈ કર્મની ત્રીશ કોડાકોડી સાગરોપમની સ્થિતિ છે કોઈની સીત્તેર (૭૦) કોડાકોડી સાગરોપમની છે

આ પ્રમાણે કોઈ કર્મનો રસ તીવ્ર છે કોઈનો તીવ્રતર છે, અને કોઈનો તીવ્રતમ છે કોઈનો રસ મંદ છે, કોઈનો મંદતર છે ઇત્યાદિ સમજી લેવું જોઈએ

(૧) પ્રકૃતિબંધ

(૧) જ્ઞાન અર્થાત્ વિશેષ ધર્મોના બોધને જે આચ્છાદિત કરવાવાળું કર્મ તે જ્ઞાનાવરણીય કહેવાય છે

(२) दर्शनस्य (सामान्यबोधस्य) आवरक कर्म दर्शनावरणीयम् ।
(३) सुखदु'खानुभवजनकं कर्म वेदनीयम् ।
(४) मदिरावन्मोहजनक कर्म मोहनीयम् ।
(५) भवधारणकारण कर्म आयुष्कम् ।
(६) विशिष्टगतिजात्यादिप्राप्तिकारण कर्म नाम ।
(७) उत्कर्षापकर्षप्राप्तिकारण कर्म गोत्रम् ।
(८) दानलाभादिविघातक कर्म अन्तराय ।

मूलरूप कर्मण• स्वभावोऽष्टविध इति मूलप्रकृतिरष्टविधा सक्षेपत' कथिता। अष्टाना मूलप्रकृतीना प्रत्येकमवान्तरभेद एवोत्तरप्रकृति । सा च

---

(२) दर्शन अर्थात् सामान्य बोधको आच्छादित करने वाला कर्म दर्शनावरण है ।

(३) सुख–दु खका वेदन कराने वाला कर्म वेदनीय कहलाता है ।

(४) मदिरा के समान मोह उत्पन्न करने वाला कर्म मोहनीय कहलाता है ।

(५) भवधारणा का कारण कर्म आयुष्क कहलाता है ।

(६) विशेष प्रकार की गति, जाति आदि की प्राप्ति का कारण नामकर्म है ।

(७) उत्कर्ष और अपकर्ष की प्राप्ति का कारण गोत्रकर्म कहलाता है ।

(८) दान लाभ आदि में विघ्न डालने वाला अतराय कर्म कहलाता है ।

कर्म का मूल स्वभाव आठ प्रकार का ही है, अत आठ प्रकृतियों का सक्षिप्त कथन किया गया है, इन आठ प्रकृतियों के अवान्तर भेदों को उत्तर–प्रकृति कहते हैं ।

---

(२) દર્શન અર્થાત્ સામાન્ય બોધને જે આચ્છાદિત કરવાવાળુ કર્મ તે દર્શનાવરણ છે
(૩) સુખ–દુ ખનુ વેદન કરાવવાવાળુ કર્મ તે વેદનીયકર્મ કહેવાય છે
(૪) મદિરાના સમાન મોહ ઉત્પન્ન કરાવવાવાળુ કર્મ તે મોહનીય કહેવાય છે
(૫) ભવ–ધારણ કરવાનુ જે કારણ કર્મ તે આયુષ્ય કહેવાય છે
(૬) વિશેષ પ્રકારની ગતિ–જાતિ આદિની પ્રાપ્તિનુ કારણ તે નામકર્મ કહેવાય છે
(૭) ઉત્કર્ષ અને અપકર્ષની પ્રાપ્તિનુ કારણ તે ગોત્રકર્મ કહેવાય છે
(૮) દાન–લાભ આદિમાં વિઘ્ન નાખવાવાળુ તે અન્તરાય કર્મ કહેવાય છે

કર્મનો મૂળ સ્વભાવ આઠ પ્રકારનો છે તેથી આઠ પ્રકૃતિઓનુ સ ક્ષિપ્તમા કથન કર્યું છે એ આઠ પ્રકૃતિઓના અવાતર ભેદોને ઉત્તરપ્રકૃતિ કહે છે જીજ્ઞાસુ પુરૂષોને

एव कर्मणोऽपि कस्यचिद् ज्ञानावरणस्वभावा प्रकृति, अपरस्य दर्शनावरणरूपा, कस्यचित् सम्यग्दर्शनादिविघातस्वभावा।

कर्मणः स्थितिश्च कस्यचित् त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीरूपा, अपरस्य कस्यचित् कर्मण सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीरूपेत्यादि। रसस्तु कस्यचित् कर्मणस्तीव्रः, कस्यचित्तीव्रतरः, कस्यचित्तीव्रतम, कस्यचिन्मन्दः, कस्यचिन्मन्दतर इत्यादि बोध्यम्।

(१) प्रकृतिबन्ध –

॥ अष्टविध-मूलप्रकृतिबन्ध-लक्षणम्–

(१) ज्ञानस्य (विशेषबोधस्य) आवरक कर्म ज्ञानावरणीयम्।

इसी प्रकार किसी कर्म की ज्ञानको आच्छादित करने की प्रकृति है, किसीका दर्शन को ढँकने की है, किसी की सुख–दुःख का अनुभव कराने की प्रकृति है, और किसी की सम्यग्दर्शन का घात करने की है। किसी कर्म की तीस कोडाकोडी सागरोपमकी स्थिति है, किसी की सत्तर (७०) कोडाकोडी सागरोपम की है।

इसी प्रकार किसी कर्म का रस तीव्र है, किसी का तीव्रतर है, किसी का तीव्रतम है। किसी का रस मन्द है, किसी का मन्दतर है। इत्यादि समझ लेना चाहिए।

(१) प्रकृतिबन्ध

(१) ज्ञान अर्थात् विशेष धर्मों के बोधको आच्छादित करने वाला कर्म ज्ञानावरण कहलाता है।

આ પ્રમાણે કોઈ કર્મની જ્ઞાનને આચ્છાદિત કરવાની પ્રકૃતિ છે, કોઈની દર્શનને ઢાંકી દેવાની છે, કોઈની સુખ–દુઃખનો અનુભવ કરાવવાની પ્રકૃતિ છે, અને કોઈની સમ્યગ્દર્શનનો ઘાત કરવાની પ્રકૃતિ છે

કોઈ કર્મની ત્રીશ કોડાકોડી સાગરોપમની સ્થિતિ છે કોઈની સીત્તેર (૭૦) કોડાકોડી સાગરોપમની છે

આ પ્રમાણે કોઈ કર્મનો રસ તીવ્ર છે કોઈનો તીવ્રતર છે, અને કોઈનો તીવ્રતમ છે કોઈનો રસ મંદ છે, કોઈનો મંદતર છે ઇત્યાદિ સમજી લેવુ જોઈએ.

(૧) પ્રકૃતિબંધ

(૧) જ્ઞાન અર્થાત્ વિશેષ ધર્મોના બોધને જે આચ્છાદિત કરવાવાળુ કર્મ તે જ્ઞાનાવરણીય કહેવાય છે

जघन्य-स्थितिरष्टमुहूर्तप्रमाणा । ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-मोहनीया-ऽऽयुष्या-ऽन्तरायकर्मणां जघन्यस्थितिरन्तर्मुहूर्तप्रमाणा ।

ज्ञानावरणीय – दर्शनावरणीय – वेदनीयाऽ – न्तरायकर्मणामुत्कृष्टस्थितिः त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य', मोहनीयकर्मण सप्ततिसागरोपमकोटीकोट्य' स्थितिरुत्कृष्टा । नाम–गोत्र–कर्मणोर्विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यः स्थितिरुत्कृष्टा । आयुष्यकर्मणस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणा स्थितिरुत्कृष्टा । मध्यमा स्थितिस्त्व-सख्यातप्रकारा, कषायपरिणामतारतम्येन तस्या असख्यातभेदात् ।

आठ मुहूर्त की है, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, आयु और अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तमुहूर्त की है ।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, और अन्तराय कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडा–कोडी सागरोपम की मोहनीय कर्म की सत्तर कोडा–कोडी सागरोपम की, नाम और गोत्र कर्म की वीस कोडा–कोडी सागरोपम की है । आयुष्य कर्म की तेतीस सागरोपम की है । मध्यम स्थिति असख्यात प्रकार की है, कषायरूप परिणामों की हीनता और अधिकता के कारण उसके असख्य प्रकार होते हैं ।

स्थितिबन्धका कोष्टक टीका के अनुसार पृष्ट ३३६ से समझ लेना चाहिए ।

આઠ મુહૂર્તની છે જ્ઞાનાવરણીય, દર્શનાવરણીય, મોહનીય, આયુ અને અન્તરાય કર્મની જઘન્ય સ્થિતિ અન્તમુહૂર્તની છે

જ્ઞાનાવરણીય, દર્શનાવરણીય, વેદનીય, અને અન્તરાય કર્મોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ ત્રીશ કોડા–કોડી સાગરોપમની, મોહનીય કર્મની સીતેર (૭૦) કોડા–કોડી સાગરોપમની, નામ અને ગોત્ર કર્મની વીશ કોડા–કોડી સાગરોપમની, આયુષ્ય કર્મની તેત્રીસ સાગરોપમની છે મધ્યમ સ્થિતિ અસખ્યાત પ્રકારની છે કષાયરૂપ પરિણામોની હીનતા અને અધિકતાના કારણે તેના અસખ્ય પ્રકાર થાય છે

સ્થિતિબધનુ કોષ્ઠક ટીકાના અનુસાર પૃષ્ઠ ૩૩૬થી સમજી લેવુ જોઈએ

विस्तरतो जिज्ञासूना बोधाय शास्त्रे निर्दिष्टा। ज्ञानावरणीयादिमूलप्रकृती नामष्टानामवान्तरभेदा यथाक्रमम्–(१) पञ्च, (२) नव, (३) द्वौ, (४) अष्टाविंशतिः, (५) चत्वारः, (६) द्विचत्वारिंशत्, (७) द्वौ, (८) पञ्च सन्ति। एतत्सर्वमागमतोऽव वगन्तव्यम्।

(२) स्थितिबन्ध –

आत्मसलग्नानां कर्मपुद्गलानां यया जघन्यमध्यमोत्कृष्टकालमर्यादयाऽऽत्मप्रदेशेष्ववस्थानं सा कालमर्यादा स्थितिबन्धः। किञ्च–अध्यसायविशेषगृहीतस्य कर्मदलिकस्य स्थितिकालनियमनं स्थितिबन्ध।

वेदनीयकर्मणो जघन्यस्थितिर्द्वादशमुहूर्तप्रमाणा। नाम–गोत्रकर्मणो-

---

विस्तार से जिज्ञासु पुरुषों की जानकारी के लिए शास्त्र में वर्णन किया गया है। ज्ञानावरणीय आदि मूल प्रकृतियों के अवान्तर भेदों की संख्या क्रम से पाच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, बयालीस, दो और पांच है। इन सबको आगम से समझ लेना चाहिए।

(२) स्थितिबन्ध

आत्मा के साथ लगे हुए कर्मपुद्गल जिस जघन्य मध्यम या उत्कृष्ट कालमर्यादा से आत्मप्रदेशों में स्थिर हैं, उस कालमर्यादाको स्थितिबन्ध कहते हैं। अथवा यों कहिए कि–अध्यवसायविशेष द्वारा ग्रहण किए हुए कर्मदलियों के आत्मा में ठहरने के कालसम्बन्धी नियमन को स्थितिबन्ध कहते हैं।

वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त की, तथा नाम और गोत्रकर्म की

જાણવા માટે શાસ્ત્રમા વિસ્તારથી વર્ણનકરવામા આવ્યુ છે જ્ઞાનાવરણીય આદિ મૂલ પ્રકૃતિના અવાન્તર ભેદોની સખ્યા ક્રમથી–પાચ, નૌ, બે, અઠાવીસ, ચાર, બેતાલીસ, બે, અને પાંચ છે, આ સર્વને આગમથી સમજી લેવુ જોઈએ.

(૨) સ્થિતિબન્ધ

આત્માની સાથે લાગેલા કર્મપુદ્ગલ જે જઘન્ય, મધ્યમ, અને ઉત્કૃષ્ટ કાલ મર્યાદાથી આત્મપ્રદેશોમાં સ્થિતિ છે, તે કાલમર્યાદાને સ્થિતિબન્ધ કહે છે અથવા એમ કહીએ કે–અધ્યવસાયવિશેષદ્વારા ગ્રહણ કરેલા કર્મદલિકોને આત્મામાં ટકી શકવાના કાલસબધી નિયમનને સ્થિતિબન્ધ કહે છે

વેદનીય કર્મની જઘન્ય સ્થિતિ બાર મુહૂર્તની, તથા નામ અને ગોત્ર કર્મની

र्मणा नाम	उत्कृष्टा स्थिति॰	जघन्या स्थितिः	उत्कृष्टः अबाधा-काल	जघन्य' अबाधा काल	उत्कृष्टः बाधाकालः (कर्मनिषेक॰)	जघन्यः बाधाकाल' (कर्मनिषेकः)
(६) नाम र्मण	२० विंशति सागरोपम-कोटीकोटय'	अष्टौ मूहूर्चा'	२००० द्विसहस्र-वर्षाणि	,,	२००० द्विसहस्रवर्षोन-विंशतिसाग-रोपमकोटी कोटयः	अन्तर्मुहुर्त्त-न्यूनाः सप्त मुहूर्त्ताः
(७) गोत्र-र्मणः	,,	,,	,,	,,	,,	,,
(८) युष्य-र्मणः	पूर्वकोटि त्रि-भागाधिका-नि ३३ त्रय-स्त्रिंशत्साग-रोपमाणि ।	अन्त र्मुहूर्त'	पूर्वकोटि-त्रिभागः	,,	पूर्वकोटि-त्रिभागोन-त्रयस्त्रिंशत्-सागरोपमाणि	अन्तर्मुहूर्त-न्यूनोऽन्त-र्मुहूर्तः

पूर्वकोटित्रिभाग'-३३ लक्षाणि, ३३ सहस्राणि; ३ शतानि, ३३ पूर्वाणि, २३ लक्षाणि, ५२ सहस्रकोटिवर्षाणि। अन्तर्मुहूर्त्तस्यासख्यभेदाः सन्ति, तेनान्त-र्मुहूर्तरूपाया जघन्यस्थितेरन्तर्मुहूर्त एवाबाधाकालः, तयाऽन्तर्मुहूर्तन्यूनोऽन्तर्मुहूर्तश्च बाधाकाल इति विज्ञेयम् ।

स्थितिबन्ध-कोष्टकम् ।

कर्मणां नाम	उत्कृष्टा स्थितिः	जघन्या स्थितिः	उत्कृष्टः अबाधा काल	जघन्यः अबाधा काल.	उत्कृष्टः बाधाकालः (कर्मनिषेक)	जघन्य बाधाकालः (कर्मनिषेक)
(१) ज्ञाना-वरणीय-कर्मण	३० त्रिंशत्साग-रोपमकोटी-कोटयः	अन्तर्मुहूर्तः	३००० त्रिसहस्र-वर्षाणि	अन्तर्मुहूर्तः	३००० त्रिसहस्रवर्षोन-त्रिंशत्साग-रोपमकोटी-कोटयः	अन्तर्मुहूर्त-न्यूनोऽन्त-र्मुहूर्त
(२) दर्शना-वरणीय-कर्मणः	,,	,,	,,	,,	,,	,,
(३) वेदनीय कर्मणः	,,	द्वादश १२ मुहूर्ता	,,	,,	,,	अन्तर्मुहूर्त न्यूना एकादश ११ मुहूर्ताः
(४) अन्तराय कर्मण	,,	अन्तर्मुहूर्तः	,,	,,	,,	अन्तर्मुहूर्त-न्यूनोऽन्त-र्मुहूर्तः
(५) मोहनीय कर्मण	७० सप्ततिसाग-रोपमकोटी-कोटयः	,,	७००० सप्तसहस्र-वर्षाणि	,,	सप्तसहस्र वर्षोनसप्तति सागरोपम कोटीकोटयः।	,,

कर्मण' फलप्रदानशक्तिरूपोऽयमनुभावो यत्कर्मनिष्ठस्तत्कर्मस्वभावानुसार फल प्रयच्छति, न त्वन्यकर्मस्वभावानुसारम्। यथा-ज्ञानावरणीयकर्मणोऽनुभाव-स्तत्कर्मस्वभावानुरूप ज्ञानावरणमेव तीव्रं मन्द वा फल समुत्पादयति, न तु दर्शनावरणीय-वेदनीयादि-कर्मप्रकृत्यनुसार दर्शनावरण सुखदुःखानुभवादिरूप फलम्। एव दर्शनावरणीयकर्मणोऽनुभावस्तीव्रमन्दादिरूपेण दर्शनावरणमेव फलं ददाति, न तु ज्ञानावरणादिरूपमन्यकर्मप्रकृत्यनुसारम्।

अनुभावबन्धस्य चायं कर्मप्रकृत्यनुरूपेणैव फलदाननियमोऽपि ज्ञाना-

---

कर्म का फलदान-शक्तिरूप अनुभाव जिस कर्म में रहता है वह कर्म अपने स्वभाव के अनुसार ही फल देता है-दूसरे कर्म के स्वभाव के अनुसार नहीं। जैसे ज्ञानावरणीय कर्म का अनुभाव ज्ञानावरणीय के स्वभाव के अनुसार ही होता है अर्थात् वह तीव्र या मन्द रूप में ज्ञान का आच्छादन ही करता है। उस से दर्शनावरणीय या वेदनीय कर्म की प्रकृति के अनुसार दर्शन का आवरण अथवा सुख-दु ख का वेदन नहीं होता। इसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म का अनुभाव तीव्र या मन्द रूप में दर्शन का आवरण करना ही है, ज्ञान का आवरण करना या अन्य कर्मप्रकृति के अनुसार फल देना नहीं।

अनुभावबन्ध का अपनी कर्मप्रकृति के अनुसार फल देने का यह नियम ज्ञानावरणीय आदि आठ मूलप्रकृतियों में ही लागू होता है, उत्तरप्रकृतियों के लिए

કર્મના ફલદાનશક્તિરૂપ અનુભાવ જે કર્મમાં રહે છે, તે કર્મ પોતાના સ્વભાવ પ્રમાણેજ ફલ આપે છે, બીજા કર્મના સ્વભાવ પ્રમાણે નહિ જેવી રીતે કે-જ્ઞાનાવરણીય કર્મના અનુભાવ જ્ઞાનાવરણીયના સ્વભાવના પ્રમાણેજ હોય છે, અર્થાત્-તે તીવ્ર અથવા મંદરૂપમાં જ્ઞાનનું જ આચ્છાદન કરે છે, તેનાથી દર્શનાવરણીય અથવા વેદનીય કર્મની પ્રકૃતિ અનુસાર દર્શનનું આવરણ અથવા સુખ-દુખનું વેદન થતું નથી એ પ્રમાણે દર્શનાવરણીય કર્મનો અનુભાવ તીવ્ર અથવા મંદરૂપમાં દર્શનનું આવરણ કરવું તેજ છે, પરન્તુ જ્ઞાનનું આવરણ કરવું અથવા અન્ય કર્મપ્રકૃતિ અનુસાર ફળ આપવું તે નથી

અનુભાવ બંધનો પોતાની કર્મપ્રકૃતિના અનુસાર ફળ આપવાનો આ નિયમ જ્ઞાનાવરણીય આદિ આઠ મૂલપ્રકૃતિઓમાંજ લાગુ થાય છે, પરન્તુ ઉત્તર પ્રકૃતિઓ માટે

(३) अनुभावबन्धः ।

कर्मपुद्गलानामेव शुभोऽशुभो वा घात्यघाती वा यो रसो विपाकः सोऽनुभावबन्ध । कर्मणा विशिष्टो विविधो वा पाको विपाकः । कर्मबन्धस्य फल विपाकस्तस्योदयोऽनुभाव इति बोध्यम् । किञ्च-कर्मणां विविधफलदानशक्ति र्विपाकः सोऽनुभावः ।

बन्धकारणस्य कषायपरिणामस्य तीव्रमन्दभावानुसारेण प्रत्येककर्मणि तीव्रमन्दफलदानशक्तिः प्रादुर्भवति । इदं च फलोत्पादनसामर्थ्यम्-अनुभवः, तत्तत्फलानुभवन चेति ।

(३) अनुभावबन्ध—

कर्मपुद्गलों का शुभ या अशुभ अथवा घाती या अघाती रूप जो रस है वही अनुभाव कहलाता है । गृहीत कर्मपुद्गलों में यह रस उत्पन्न हो जाना अनुभाव या अनुभाग बन्ध है । कर्मों का विशिष्ट या विविध प्रकार का पाक विपाक कहलाता है । तात्पर्य यह है कि—कर्म का फल विपाक है, और उसका उदय अनुभाव कहा जाता है । अथवा कर्मों की भाँति-भाँतिकी फल देने की शक्ति को विपाक कहते हैं, और वही अनुभाव है, और तत्तत्फल का अनुभव भी अनुभाव है ।

बन्ध के कारण कषायरूप परिणाम की तीव्रता और मन्दता के अनुसार प्रत्येक कर्म में तीव्र या मन्द फल देने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है, इस फल को उत्पन्न करने का सामर्थ्य अनुभाव है ।

(3) અનુભાવબંધ—

કર્મપુદ્ગલોનો શુભ અથવા અશુભ, અથવા-ઘાતી કે અઘાતીરૂપ જે રસ છે તે અનુભાવ કહેવાય છે ગૃહીત કર્મપુદ્ગલોમાં એ રસનુ ઉત્પન્ન થવુ તે અનુભાવ, અથવા અનુભાગ બંધ છે કર્મોના વિશિષ્ટ અથવા વિવિધ પ્રકારનો પાક તે વિપાક કહેવાય છે તાત્પર્ય એ છે કે:-કર્મનુ ફલ તે વિપાક છે, અને તેનો ઉદય તે અનુભાવ કહેવાય છે અથવા કર્મોની તરેહ-તરેહની ફળ દેવાની શક્તિ તેને વિપાક કહે છે અને તેજ અનુભાવ છે અને તે તે ફળનો અનુભવ પણ અનુભાવ છે *

બંધનાં કારણ કષાયરૂપ પરિણામની તીવ્રતા અને મન્દતાના પ્રમાણે પ્રત્યેક કર્મોમાં તીવ્ર અથવા મંદ ફલ દેવાની શક્તિ ઉત્પન્ન થઈ જાય છે, તે ફળને ઉત્પન્ન કરવાનુ સામર્થ્ય તે અનુભાવ છે

* "अणुभागे, अणुभावे, विवागे, रसे-त्ति एगट्ठा" अनुभागोऽनुभावो, विपाको रस, इत्येकार्थका । અનુભાગ, અનુભાવ, વિપાક અને રસ એ બધા એકાર્થક છે

दर्शनमोहरूपेण, एवं यथा नारकायुष्य तिर्यगायुष्यरूपेण न परिणमति तथा तदा युष्यमपि न पुनरन्यायुष्यरूपेण।

एतत्सर्वं प्रकृतिबन्धविषये परिवर्तनं यथा भवति तथाऽध्यवसाय-सामर्थ्यात् स्थितिरसयोरपि परिवर्तनं भवति। तीव्रादिर्मन्दादिभावेन परिणमति, मन्दादिरपि तीव्रादिभावेन परिणमति। एवमुत्कृष्टा स्थितिर्जघन्यरूपेण परिणमति, जघन्या चोत्कृष्टरूपेण।

अनुभावानुसारं तीव्रं मन्दं वा यस्य कर्मणः फलमनुभूतं भवति चेत् तदा तत्कर्मप्रदेशा आत्मप्रदेशेभ्योऽपगता भवन्ति, न पुनस्ते कर्मपुद्गलाः संलग्ना भवन्ति।

बदलता, और चारित्रमोहनीय दर्शनमोहनीय के रूप में नहीं पलटता। उसी प्रकार नरकायु कभी तिर्यंचायु के रूप में नहीं पलटती और तिर्यंचायु किसी अन्य आयुके रूप में नहीं बदलती।

यह सब परिवर्तन जैसे प्रकृतिबन्ध के विषय में होता है उसी प्रकार अध्यवसाय की शक्ति से स्थिति और रस में भी होता है। कभी तीव्र रस, मंद रस के रूप में बदल जाता है, और कभी मन्द रस, तीव्र रस के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार उत्कृष्ट स्थिति जघन्यरूप में और जघन्य स्थिति उत्कृष्टरूप में बदल जाती है।

अनुभाव के अनुसार जिस कर्म का तीव्र या मन्द फल भोग लिया जाता है, उस कर्म के प्रदेश आत्मप्रदेशों से हट जाते हैं—फिर वे आत्मा के साथ नहीं लगे रहते हैं।

રૂપમા બદલાતી નથી, અને ચારિત્રમોહનીય દર્શનમોહનીયના રૂપમાં બદલાતી નથી એ પ્રમાણે નરકાયુ કોઈવખત પણ તિર્યંચ આયુના રૂપમા પલટાતું નથી, અને તીર્યંચાયુ બીજા કોઈ આયુના રૂપમા પલટાતુ નથી

આ તમામ પરિવર્તન જેવી રીતે પ્રકૃતિબંધના વિષયમા થાય છે, તે પ્રમાણે અધ્યવસાયની શક્તિથી સ્થિતિ અને રસમા પણ થાય છે—ક્યારેક તીવ્રરસ, મંદરસના રૂપમાં બદલાઈ જાય છે, અને ક્યારેક મંદરસ, તીવ્રરસના રૂપમા પરિવર્તિત થઈ જાય છે એ પ્રમાણે ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ જઘન્ય રૂપમા અને જઘન્ય સ્થિતિ ઉત્કૃષ્ટ રૂપમા બદલાઈ જાય છે

અનુભાવપ્રમાણે કોઈ કર્મનું તીવ્ર અથવા મંદ ફલ ભોગવી લેવાય તો તે કર્મના પ્રદેશ આત્મપ્રદેશોથી હટી જાય છે—પછી તે આત્માની સાથે લાગેલા રહેતા નથી

वरणीयाद्यष्टविधमूलप्रकृतिष्वेव प्रवर्तते, नतूत्तरप्रकृतिषु। कस्यापि मूलप्रकृतिरूपकर्मणः यस्य काचिदुत्तरप्रकृतिस्तदीयेतरोत्तरप्रकृतिरूपेण विपरिणता भवति, कर्मपुद्गलस्य तादृशपरिणमनसामर्थ्यात्। तत्र प्राक्तनोत्तरप्रकृतिगतानुभावः परिवर्तितोत्तरप्रकृतिस्वभावानुरूपं तीव्रं मन्दं वा फलं प्रदत्ते।

यथा-मतिज्ञानावरणीयं यदा श्रुतज्ञानावरणीयादिसजातीयोत्तरप्रकृतिरूपं प्राप्नोति तदा मतिज्ञानावरणीयानुभावोऽपि श्रुतज्ञानावरणीयादिस्वभावानुरूपमेव श्रुतज्ञानादीनामावरणं विधत्ते।

उत्तरप्रकृतिषु कतिचित् सजातीया अपि प्रकृतयो नान्यरूपेण परिणता भवन्ति। यथा-दर्शनमोहश्चारित्रमोहरूपेण न परिणमति; तथा चारित्रमोहोऽपि न

यह नियम नहीं है। किसी भी मूलप्रकृति की कोई उत्तरप्रकृति उसी मूलप्रकृति की किसी दूसरी उत्तरप्रकृति के रूप में भी परिणत हो सकती है, क्या कि कर्मपुद्गल में इस प्रकार के परिणमन की शक्ति विद्यमान है। वहाँ पहले वाली उत्तरप्रकृति में रहा हुआ अनुभाव बदली हुई उत्तरप्रकृति के स्वभाव के अनुसार तीव्र या मन्द फल देता है।

जैसे—मतिज्ञानावरणीय जब श्रुतज्ञानावरणीयसजातीय उत्तरप्रकृति के रूप में पलटता है तब मतिज्ञानावरणीय का अनुभाव भी श्रुतज्ञानावरणीय के स्वभाव के अनुसार श्रुतज्ञान का आवरण करता है।

उत्तरप्रकृतियों में कुछ ऐसी भी प्रकृतियाँ हैं जो सजातीय होते हुए भी अन्यरूप में पलटती नहीं हैं, जैसे—दर्शनमोहनीय, कभी चारित्रमोहनीय के रूप में नहीं

આ નિયમ નથી. કોઈ પણ મૂલપ્રકૃતિની કોઈ ઉત્તરપ્રકૃતિ તે મૂલપ્રકૃતિની કોઈ બીજી ઉત્તર પ્રકૃતિના રૂપમા પણ પરિણત થઈ શકે છે, કારણકે કર્મપુદ્ગલમા એ પ્રમાણે પરિણમનની શક્તિ વિદ્યમાન છે ત્યાં પ્રથમ વાળી ઉત્તરપ્રકૃતિમા રહેલો અનુભાવ બદલી ગયેલી ઉત્તર પ્રકૃતિના સ્વભાવ અનુસાર તીવ્ર અથવા મંદ ફલ આપે છે

જેમ—મતિજ્ઞાનાવરણીય જ્યારે શ્રુતજ્ઞાનાવરણીય-સજાતીય ઉત્તર પ્રકૃતિના રૂપમા પલટાય છે, ત્યારે મતિજ્ઞાનાવરણીયનો અનુભાવ પણ શ્રુતજ્ઞાનાવરણીયના સ્વભાવ પ્રમાણે શ્રુતજ્ઞાનનું આવરણ કરે છે

ઉત્તરપ્રકૃતિઓમા કેટલીક એવી પણ પ્રકૃતિઓ છે કે જે સજાતીય હોવા છતાંય પણ અન્યરૂપમાં પલટતી નથી જેવી રીતે-દર્શનમોહનીય કોઈ વખત ચારિત્રમોહનીયના

(१) ज्ञानावरणीयादिकर्मणा कारणीभूता', (२) सर्वदिक्ष्ववस्थिता', (३) तीव्रमन्दादिभेदाद् मनोवाक्कायक्रियाविशेषसंयोगात् कर्मवर्गणायोग्याः पुद्गला सर्वात्मप्रदेशेषु बद्धा भवन्ति। (४) औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-भाषा-श्वासोच्छ्वास-मनोवर्गणाऽपेक्षयाऽपि सूक्ष्मपरिणतिरूपा एव कर्मवर्गणा-योग्या बद्धा भवन्ति, न तु बादरा। (५) तत्रापि त एव पुद्गला बद्धा भवन्ति, ये खलु यत्राकाशे जीवोऽवगाढस्तत्रैव वर्तमाना, न तु तद्बहिः क्षेत्रवर्तिन।

(६) तथाविधा अपि पुद्गला'स्थिता एव बद्धा भवन्ति, न तु गतिपरिणताः, प्रचलितस्वभावत्वेन बन्धानर्हत्वात्। (७) असंख्यातप्रदेशिनो जीवस्यैकैकः

---

(१) ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के कारणभूत, (२) समस्त दिशाओं में स्थित, (३) तीव्र मन्द आदि के भेद से मन, वचन और काय की क्रियाविशेष के संयोग से कर्मवर्गणा के योग्य पुद्गल समस्त आत्मप्रदेशों में बद्ध हो जाते हैं। (४) औदारिक वैक्रिय, आहारक, तैजस, भाषा, श्वासोच्छ्वास, और मनोवर्गणा की अपेक्षा भी सूक्ष्म परिणतिरूप कर्मवर्गणा के योग्य पुद्गल ही बंधते हैं, बादर नहीं बंधते। (५) उन में भी वही पुद्गल बँधते हैं जो एकक्षेत्रावगाढ हों, अर्थात् जिन आकाशप्रदेशों में जीव है उन्हीं आकाशप्रदेशो में विद्यमान हों, बाहर के क्षेत्र में अवगाहन करने वाले नहीं बँधते। (६) ऐसे पुद्गल भी स्थित ही बँधते हैं चलते-फिरते हुए पुद्गल नहीं बंधते, चलित स्वभाव वाले होने के कारण वे बन्ध के योग्य नहीं हैं, (७) असंख्यातप्रदेशी जीव का

---

(१) જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મોના કારણભૂત, (૨) સમસ્ત દિશાઓમાં સ્થિત, (૩) તીવ્ર, મંદ આદિના ભેદથી મન, વચન અને કાયાની ક્રિયા-વિશેષના સંયોગથી કર્મવર્ગણાના યોગ્ય પુદ્ગલ સમસ્ત આત્મપ્રદેશોમા બદ્ધ થઈ જાય છે, (૪) ઔદારિક, વૈક્રિય, આહારક, તૈજસ, ભાષા, શ્વાસોચ્છ્વાસ, અને મનોવર્ગણાની અપેક્ષાએ પણ સૂક્ષ્મપરિણતિરૂપ કર્મ વર્ગણાના યોગ્ય પુદ્ગલજ બાંધે છે; બાદર બાંધતા નથી, (૫) એમા પણ તે પુદ્ગલ બાંધે છે કે જે એક ક્ષેત્રાવગાઢ હોય, અર્થાત્-જે આકાશપ્રદેશોમાં જીવ છે તેજ આકાશપ્રદેશોમા વિદ્યમાન હોય બહારના ક્ષેત્રમાં અવગાહન કરવાવાળા બંધાતા નથી (૬) એવા પુદ્ગલ પણ જો સ્થિર હોય તો બંધાય છે, પણ ચાલતા ફરતા પુદ્ગલો બંધાતા નથી, કારણ કે ચલિત સ્વભાવવાળા હોવાના કારણે તે બંધને યોગ્ય નથી. (૭) અસંખ્યાત પ્રદેશી જીવને

इदमत्र तत्त्वम्-कर्मणां फलं विविधं भवति। कर्मैव मूलप्रकृतिः। सर्वासां मूलप्रकृतीनां फलविविधत्वं तथाऽन्यथा चेति प्रकारद्वयेन भवति।

येनाध्यवसायप्रकारेण यादृक्स्वभावं कर्म बद्धं, तत् तथा=तेनैव प्रकारेण अन्यथा च=प्रकारान्तरेणापि विपच्यते=तस्य विपाको भवति। स च तीव्र मन्दाद्यवस्थाभेदेन शुभस्तथाऽशुभोऽपि। तत्र कदाचिच्छुभमप्यशुभरसतयाऽनु भूयते कर्म, अशुभं च शुभरसतयेति बोध्यम्।

सकषायजीवेन मनोवागादिद्वारेण क्रियाविशेषस्य कर्ता भिन्नभिन्नस्वभावानां कर्मपुद्गलानां स्वभावानुसारं तत्तत्परिमाणविभागेन सम्बन्धः प्रदेशबन्धः।

तात्पर्य यह है कि कर्मों का फल विविध प्रकार का होता है। कर्म ही मूल प्रकृति है। समस्त मूलप्रकृतियों का फल उसी रूप में या अन्यथा रूप में दो प्रकार से होता है।

जिस प्रकार के अध्यवसाय से जिस स्वभाव वाला कर्म बँधा है वह उसी रूप में या अन्यथा रूप में फल देता है। वह फल तीव्र या मन्द अवस्था—भेद से शुभ भी होता है और अशुभ भी होता है। कभी शुभ भी अशुभ रस के रूप में और कभी अशुभ शुभ रस के रूप में भोगा जाता है।

(४) प्रदेशबन्ध—

मन वचन आदि के द्वारा क्रियाविशेष करने वाले कषाययुक्त जीव के साथ भिन्न—भिन्न स्वभाव वाले कर्मपुद्गलों का स्वभाव के अनुसार अमुक—अमुक परिमाण विभाग के साथ सम्बन्ध होना प्रदेशबन्ध है।

તાત્પર્ય એ છે કે – કર્મોનાં ફલ વિવિધ પ્રકારના હોય છે કર્મજ મૂળપ્રકૃતિ છે તમામ મૂળપ્રકૃતિઓનું ફલ તે રૂપમાં અથવા બીજારૂપમા, એમ બે પ્રકારથી હોય છે

જે પ્રકારના અધ્યવસાયથી જે સ્વભાવવાળા કર્મ બાંધ્યા છે તે એજ રૂપમાં અથવા બીજા રૂપમા ફલ આપે છે તે ફલ તીવ્ર અથવા મંદ અવસ્થા–ભેદથી શુભ પણ હોય છે, અને અશુભ પણ હોય છે, કોઈ વખત શુભ પણ અશુભ રસના રૂપમા અને કોઈ વખત અશુભ તે શુભ રસના રૂપમાં ભોગવવામાં આવે છે

(૪) પ્રદેશબંધ—

મન, વચન આદિ દ્વારા ક્રિયા–વિશેષ કરવા વાળા કષાયયુક્ત જીવની સાથે ભિન્ન ભિન્ન સ્વભાવ વાળા કર્મપુદ્ગલોના સ્વભાવ અનુસાર અમુક—અમુક પરિમાણવિભાગની સાથે સમ્બન્ધ થવો તે પ્રદેશબંધ છે

था स्वभाव ? अथवा (३) स्वभाव कोऽपि वस्तुधर्म ?। इति विकल्पत्रयगत-दोषाणां कथन पूर्वं कृतमासीदतो विरम्यते, तस्मात् पुण्यपापे कर्मणी पौद्गलिके विधेते, इत्यवश्य स्वीकरणीयम् ।

पुण्यपापसद्भावे युक्तीस्तावत् प्रदर्शयाम'—

पुण्यपापे द्वे अपि भिन्ने स्वतन्त्रे स्तः, तत्कार्यभूतयो' सुखदु खयोर्यौगपद्येनानुभवाभावात्, अतोऽनेनैव भिन्नकार्यदर्शनेन तत्कारणभूतयो. पुण्यपापयोर्भिन्नताऽनुमीयते । जीवकर्मणो' परिणामरूपे पुण्यपापे कारणतः कार्यतश्चानुमीयेते ।

दानादिक्रियाणां हिंसादिक्रियाणां च कारणरूपत्वात् तत्कार्यरूपपुण्य

वस्तु का धर्म है ?, इन तीनों विकल्पों में आने वाले दोषों का कथन पहले किया जा चुका है, अत एव यहाँ पुनरुक्ति नहीं की जाती । अत एव पुण्य और पाप को पौद्गलिक कर्म ही स्वीकार करना चाहिए ।

पुण्य और पाप के सद्भाव में युक्तियाँ दिखलाते हैं—

पुण्य और पाप दोनों भिन्न और स्वतन्त्र हैं, क्यों कि उनका फल सुख और दु ख एक साथ नहीं भोगा जाता । कार्य की यह भिन्नता देखने से उनके कारणभूत पुण्य और पाप की भिन्नता का अनुमान होता है । जीव और कर्म के परिणामरूप पुण्य और पाप का अनुमान कारण से और कार्य से होता है ।

दानादि क्रियाए और हिंसा आदि क्रियाएँ कारण हैं, अत एव उनका कार्य

વસ્તુનો ધર્મ છે? આ ત્રણેય વિકલ્પોમાં આવવાવાળા દોષોનું કથન પ્રથમ કહી ચૂકયા છીએ, એટલા કારણથી અહિં પુનરૂક્તિ કરતા નથી એ માટે પુણ્ય અને પાપને પૌદ્ગલિક કર્મજ સ્વીકાર કરવો જોઈએ.

પુણ્ય અને પાપના સદ્ભાવમા યુક્તિઓ બતાવે છે —

પુણ્ય અને પાપ બન્ને જુદા અને સ્વતત્ર છે, કારણ કે તેનું ફળ સુખ અને દુ ખ એક સાથે ભોગવવામાં આવતું નથી. કાર્યની આ ભિન્નતા જોવાથી તેના કારણભૂત પુણ્ય અને પાપની ભિન્નતાનું અનુમાન થાય છે જીવ અને કર્મના પરિણામરૂપ પુણ્ય અને પાપનું અનુમાન કારણથી અને કાર્યથી થાય છે

દાન આદિ ક્રિયાઓ અને હિંસા આદિ ક્રિયાઓ કારણ છે, તે માટે તેનું કાર્ય

प्रदेशोऽनन्तैर्ज्ञानावरणीयकर्मस्कन्धैर्बद्धः। एवमनन्तैर्दर्शनावरणीयादिकर्मस्कन्धैर्बद्धः। (८) तत्र ते स्कन्धा अपि प्रत्येकमनन्तानन्तप्रदेशिनः सन्ति। इति प्रदेशबन्धेऽष्ट हेतवः।

पुण्यपापकर्मनिरूपणम्—

ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधं पौद्गलिकं कर्म प्रत्येकं द्विविधम्-पुण्यपापभेदात्। शुभकर्म-पुण्यम्। अशुभं कर्म-पापम्। ननु विनाऽपि पुण्यपापाभ्यां स्वभावत एव जगद्वैचित्र्यं जायते किं पुनस्तत्कल्पनया? उच्यते-शृणु-स्वभावादेव हि त्रयो विकल्पाः समुत्पद्यन्ते यथा-(१) स्वभावः किं वस्तुरूपः? (२) कारणाभावो

एक-एक प्रदेश अनन्त ज्ञानावरणीय आदि कर्मस्कन्धों के साथ बधता है, उसी प्रकार अनन्तदर्शनावरणीय आदि कर्मस्कन्धों के साथ भी बधता है। (८) कर्म के वे स्कन्ध भी अनन्तानन्तप्रदेशी होते हैं। प्रदेशबन्ध में ये आठ हेतु हैं।

पुण्यकर्म और पापकर्म—

ज्ञानवरणीय आदि प्रत्येक पौद्गलिक कर्म दो-दो प्रकार का है, पुण्यरूप और पापरूप। शुभ कर्म पुण्य और अशुभ पाप कहलाता है।

शङ्का-पुण्य और पाप के बिना ही स्वभाव से जगत् की विचित्रता हो सकती है, फिर पुण्य पाप की कल्पना करने से क्या लाभ है?।

समाधान-स्वभाववाद में तीन विकल्प हो सकते हैं, जैसे स्वभाव कोई वस्तु है?, या कारण का अभाव ही स्वभाव कहलाता है?, अथवा स्वभाव किसी

એક એક પ્રદેશ અનન્ત જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મસ્કંધોની સાથે પણ બંધાય છે એ પ્રમાણે દર્શનાવરણીય આદિ કર્મસ્કંધોની સાથે પણ બંધાય છે (૮) કર્મના તે સ્કંધ પણ અનન્તાનન્તપ્રદેશી હોય છે પ્રદેશ બંધમાં આ આઠ હેતુ છે

પુણ્યકર્મ અને પાપકર્મ—

જ્ઞાનાવરણીય આદિ પ્રત્યેક પૌદ્ગલિક કર્મ બે-બે પ્રકારના છે-(૧) પુણ્યરૂપ અને (૨) પાપરૂપ શુભ કર્મ-પુણ્ય અને અશુભ કર્મ પાપ કહેવાય છે

શંકા—પુણ્ય અને પાપ વિનાજ, સ્વભાવથી જગતની વિચિત્રતા હોઈ શકે છે, તો પછી પુણ્ય પાપની કલ્પના કરવાથી શું લાભ છે?

સમાધાન—સ્વભાવવાદમા ત્રણ વિકલ્પ (તર્ક-વિતર્ક) થઈ શકે છે; જેમકે સ્વભાવ શું કોઈ વસ્તુ છે? અથવા કારણનો અભાવજ સ્વભાવ કહેવાય છે? અથવા સ્વભાવ કોઈ

तत्कारणत्वासिद्धे । तद्वैचित्र्यस्य चादृष्टकर्माख्यहेतु विनाऽभावात् । शुभशरीरादीना पुण्यकार्यत्वात्, अशुभशरीरादीनां पापकार्यत्वाच्च पुण्यपापभेदन तस्य कर्मणो द्वैविध्य सिद्धम् ।

पुण्य पाप चेति द्वे कर्मणी भिन्ने स्वतन्त्ररूपे स्त., इत्यत्रागमोऽपि प्रमाणम् । उक्तश्च स्थानाङ्गसूत्रे—"एगे पुण्णे । एगे पावे" इति । एवमेव समवायाङ्गेऽपि ।

सर्वघातिप्रकृतय'—

(१) केवलज्ञानावरणीयम् । (२) केवलदर्शनावरणीयम् । (३) निद्रा, (४) निद्रानिद्रा, (५) प्रचला, (६) प्रचलाप्रचला, (७) स्त्यानर्द्धि, (८–११) अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयम्, (१२–१५) अप्रत्याख्यानकषायचतुष्टयम्,

यह विचित्रता अदृष्ट कारण—कर्म के विना नहीं हो सकती, शुभ शरीर आदि पुण्य का कार्य है और अशुभ शरीर आदि पाप का कार्य है। अत पुण्य और पाप के भेद से कर्म दो प्रकार का सिद्ध होता है।

पुण्यकर्म और पापकर्म दोनों स्वतन्त्र—भिन्न हैं, इस विषय में आगम भी प्रमाण है। स्थानाङ्ग सूत्र में कहा है—'पुण्य एक है पाप एक है'। इसी प्रकार समवायाङ्गसूत्र में भी कहा है।

सर्वघाती प्रकृतियाँ—

(१) केवलज्ञानावरणीय, (२) केवलदर्शनावरणीय, (३) निद्रा, (४) निद्रानिद्रा, (५) प्रचला, (६) प्रचलाप्रचला, (७) स्त्यानर्द्धि, (८–११) अनन्तानुबन्धी—क्रोध, मान, माया, लोभ, (१२–१५) अप्रत्याख्यानावरण-क्रोध, मान, माया, लोभ, (१६–१९) प्रत्याख्याना

આ વિચિત્રતા અદૃષ્ટ કારણ—કર્મના વિના કોઈ શકે નહિ શુભ શરીર આદિ પુણ્યનુ કાર્ય છે અને અશુભ શરીર આદિ પાપનુ કાર્ય છે તે કારણથી પુણ્ય અને પાપના ભેદથી કર્મ બે પ્રકારના સિદ્ધ થાય છે

પુણ્યકર્મ અને પાપકર્મ બન્ને સ્વતત્ર—ભિન્ન છે આ વિષયમાં આગમ પણ પ્રમાણ છે, સ્થાનાંગ સૂત્રમા કહ્યું છે—"પુણ્ય એક છે, પાપ એક છે" એ જ પ્રમાણે સમવાયાઙ્ગ—સૂત્રમાં પણ કહ્યું છે

સર્વઘાતી પ્રકૃતિઓ—

(૧) કેવલજ્ઞાનાવરણીય, (૨) કેવલદર્શનાવરણીય, (૩) નિદ્રા, (૪) નિદ્રાનિદ્રા (૫) પ્રચલા, (૬) પ્રચલાપ્રચલા, (૭) સ્ત્યાનદ્ધિ, (૮–૧૧) અનન્તાનુબધી—ક્રોધ, માન, માયા, લોભ, (૧૨–૧૫) અપ્રખ્યાનાવરણ—ક્રોધ, માન, માયા, લોભ, (૧૬–૧૯) પ્રત્યાખ્યાનાવરણ

पापात्मको जीवकर्मपरिणामोऽस्ति। यथा–कृष्यादिक्रियाणां शालि–यव–गोधूमा दिक नियमेन फलं भवति। इदमनुमानं कारणतो भवति।

एवं कार्यतोऽपि कारणस्यानुमानं भवति। यथा–अस्ति शरीरादीनां कारणं, तेषां कार्यरूपत्वात्। यथा–घटस्य मृद्दण्डचक्रादिसामग्रीसहितः कुम्भकारः कारणम्।

न च, दृष्ट एव मातापितादिकः शरीरादीनां कारणमस्तु, इति वाच्यम्, दृष्टकारणस्य समानत्वेऽपि सुरूपकुरूपादिभावेन शरीरादीनां वैचित्र्यदर्शनात्तस्य

भी अवश्य होना चाहिए, और वही कार्य जीव और कर्म का परिणामरूप पुण्य और पाप है। जैसे कृषि आदि क्रियाओं का शालि, जौ, गेहुँ आदि फल नियम से होता है। यह कारण से अनुमान है।

इसी प्रकार कार्य से भी कारण का अनुमान होता है, जैसे शरीर आदि का कारण अवश्य है, क्यों कि वह कार्य है, जैसे घटका कारण मिट्टी, दण्ड, चक्र आदि सामग्री से युक्त कुम्भार होता है।

शङ्का–शरीर आदि का कारण प्रत्यक्ष से प्रतीत होने वाले माता–पिता आदि ही मानना चाहिए।

समाधान–दिखाई देने वाले कारण की समानता होने पर भी शरीर में सुरूपता कुरूपता आदि की विचित्रता देखी जाती है, अतः उन्हें कारण नहीं माना जा सकता,

---

પણ અવશ્ય હોવું જોઈએ, અને તે કાર્ય જીવ અને કર્મના પરિણામરૂપ પુણ્ય અને પાપ છેઃ જેવી રીતે ખેતી આદિ ક્રિયાઓમાં શાલિ–ડાંગર, જવ, ઘઉં આદિ ફલ નિયમથી થાય છે આ કારણથી અનુમાન છે

આ પ્રમાણે કાર્યથી પણ કારણનું અનુમાન થાય છે જેમ શરીર આદિનું કારણ જરૂર છેઃ કારણ કે તે કાર્ય છે, જેવી રીતે ઘટનું કારણ માટી, દંડ, ચક્ર–ચાકડો, આદિ સામગ્રીથી યુક્ત કુંભાર હોય છે.

શંકા—શરીર આદિનું કારણ પ્રત્યક્ષથી જણાતા માતા–પિતા આદિ માનવા જોઈએ.

સમાધાનઃ–દેખાવાવાળા કારણની સમાનતા હોવા છતાંય પણ શરીરમાં સુરૂપતા કુરૂપતા આદિની વિચિત્રતા જોવામાં આવે છે, તેથી તેમને કારણ માની શકાશે નહિ

तयोरावृतेति लोकव्यवहारवत् जीवस्य सर्वज्ञानावरण केवलज्ञानावरणीयप्रकृत्या क्रियते, इति व्यपदिश्यते।

मतिज्ञानादिविषयान् अर्थान् न जानाति जीवस्तत्र मतिज्ञानावरणीयादि-प्रकृत्युदय एव मतिज्ञानादिकमावृणोति, न तु केवलज्ञानावरणीयोदयस्तत्र कारणं भवतीति बोध्यम्। एवं केवलदर्शनस्यानन्तभागोऽप्यनावृत एव, तत्रापि मेघदृष्टान्तानुसारेणावरणव्यवहारमादाय केवलदर्शनावरणीयस्य सर्वघातित्वमुपपद्यते। तत्रापि चक्षुर्दर्शनावरणीयादिप्रकृत्युदयादेव जीवश्चक्षुर्दर्शनादिविषयानर्थान् ज्ञातु न शक्नोति, न तु केवलदर्शनावरणीयोदयस्तत्र कारणमिति बोध्यम्।

गई। इसी प्रकार 'केवलज्ञानावरण प्रकृति जीव के समस्त ज्ञानका आवरण करती है' ऐसा कहा जाता है।

जीव मतिज्ञान के विषयभूत पदार्थों को नहीं जानता, इस में मतिज्ञानावरणीय प्रकृति का उदय ही कारण है, वही मतिज्ञान को रोकता है। इस में केवलज्ञानावरणीय का उदय कारण नही है। इसी प्रकार केवलदर्शन का अनन्तवाँ भाग उघाडा रहता है। वहाँ भी मेघ के दृष्टान्त के अनुसार आवरण का व्यवहार समझ कर केवलदर्शनावरणीय को सर्वघाती प्रकृति समझना चाहिए। यहा भी चक्षुर्दर्शन आदि के विषयभूत पदार्थों को जीव चक्षुर्दर्शनावरणीय आदि के उदय से ही नही जानता। वहाँ केवलदर्शनावरणीय कारण नही समझना चाहिए।

તમામ કાંતિ-પ્રકાશ ઢંકાઈ ગઈ એ પ્રમાણે કેવલજ્ઞાનાવરણ પ્રકૃતિ જીવના સમસ્ત જ્ઞાનનું આવરણ કરે છે, એમ કહેવાય છે

જીવ મતિજ્ઞાનના વિષયભૂત પદાર્થોને જાણતો નથી, તેમા મતિજ્ઞાનાવરણીય પ્રકૃતિ-કર્મનો ઉદયજ કારણરૂપ છે તેજ મતિજ્ઞાનને રોકે છે એમાં કેવલજ્ઞાનાવરણીયનો ઉદય કારણ રૂપ નથી. એ પ્રમાણે કેવલદર્શનનો અનન્તમો ભાગ ઉઘાડો રહે છે ત્યાં પણ મેઘના દૃષ્ટાન્ત પ્રમાણે આવરણનો વ્યવહાર સમજી લઈને કેવલદર્શનાવરણીયને સર્વઘાતી પ્રકૃતિ સમજવું જોઈએ, અહીં પણ ચક્ષુદર્શન આદિના વિષયભૂત પદાર્થોને જીવ ચક્ષુદર્શનાવરણીય આદિના ઉદયથી જાણતો નથી, ત્યાં કેવલદર્શનાવરણીય કારણ નહિ સમજવું જોઈએ.

(१६-१९) प्रत्याख्यानकषायचतुष्टयम्, (२०) मिथ्यात्वं च, एता विंशतिः प्रकृतयः सर्वघातिन्यः ।

समस्तावरणक्षयादाविर्भूतं सकलद्रव्यपर्यायग्राहि केवलज्ञानं, तदाच्छादनकृत् केवलज्ञानावरणीयम् । इदं हि केवलज्ञानोपघातेन सर्वमेव द्रव्यपर्यायज्ञानं प्रतिहन्ति, तस्मात् सर्वघातीत्युच्यते ।

ननु-सर्वजीवानां केवलज्ञानस्यानन्तभागोऽनावृत एवावतिष्ठते, तस्याप्यावरणे तु जीवस्याजीवत्वमापद्येत तर्हि कथं केवलज्ञानावरणीयस्य सर्वघातित्वसंभवः ? इति चेत्, उच्यते—

यथा घनीभूतघनपटलेन सूर्यचन्द्रमसोर्बहुतरप्रभासमावरणे सर्वाऽपि प्रभा

वरण, क्रोध, मान, माया, लोभ, (२०) मिथ्यात्व । ये वीस प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं ।

केवलज्ञान समस्त आवरणों के क्षय से प्रकट होने वाला तथा समस्त द्रव्यों और पर्यायों को ग्रहण करने वाला है । इसे आच्छादित करने वाला कर्म केवलज्ञानावरणीय कहलाता है । यह कर्म केवलज्ञान का घात करके समस्त द्रव्य पर्यायों के ज्ञान का घात करता है, अत एव यह सर्वघाती कहलाता है ।

प्रश्न—सब जीवों के केवलज्ञान का अनन्तवाँ भाग प्रकट रहता है, अगर उतना भी प्रकट न रहे तो जीव अजीव हो जायगा । ऐसी स्थिति में केवलज्ञानावरणीय सर्वघाती कैसे हो सकता है ?

समाधान—जैसे अत्यन्त सघन मेघपटल के द्वारा सूर्य या चन्द्रमा की बहुत सी प्रभा छिप जाने के कारण लोक में कहा जाता है कि सूर्य-चन्द्र की सारी प्रभा छिप

-ક્રોધ, માન, માયા, લોભ, (૨૦) મિથ્યાત્વ. આ વીસ પ્રકૃતિઓ સર્વઘાતી છે

કેવલજ્ઞાન સમસ્ત આવરણોના ક્ષયથી પ્રગટ થવાવાળું, તથા સમસ્ત દ્રવ્યો અને પર્યાયોને ગ્રહણ કરવા વાળું છે, તેને આચ્છાદિત કરવાવાળું કર્મ કેવલજ્ઞાનાવરણીય કહેવાય છે એ કર્મ કેવલ જ્ઞાનનો ઘાત કરીને સમસ્ત દ્રવ્ય-પર્યાયોના જ્ઞાનનો ઘાત કરે છે એટલા માટે તે સર્વઘાતી કહેવાય છે

શંકા—સર્વ જીવોને કેવલજ્ઞાનનો અનન્તમો ભાગ પ્રગટ રહે છે પણ જો એટલો પણ પ્રગટ ન રહે તો જીવ અજીવ થઈ જશે આવી સ્થિતિમાં કેવલજ્ઞાનાવરણીય સર્વઘાતી કેવી રીતે થઈ શકે છે?

સમાધાન—જેવી રીતે અત્યન્ત, સઘન મેઘપટલ (ઘનઘોર વાદલ) દ્વારા સૂર્ય અથવા ચન્દ્રમાની ઘણીખરી પ્રભા-કાંતિ ઢંકાઈ જવાથી લોકમાં કહેવાય છે કે સૂર્ય-ચન્દ્રની

तयोरावृतेति लोकव्यवहारवत् जीवस्य सर्वज्ञानावरण केवलज्ञानावरणीयप्रकृत्या क्रियते, इति व्यपदिश्यते।

मतिज्ञानादिविषयान् अर्थान् न जानाति जीवस्तत्र मतिज्ञानावरणीयादिप्रकृत्युदय एव मतिज्ञानादिकमावृणोति, न तु केवलज्ञानावरणीयोदयस्तत्र कारणं भवतीति बोध्यम्। एव केवलदर्शनस्यानन्तभागोऽप्यनावृत एव, तत्रापि मेघदृष्टान्तानुसारेणावरणव्यवहारमादाय केवलदर्शनावरणीयस्य सर्वघातित्वमुपपद्यते। तत्रापि चक्षुर्दर्शनावरणीयादिप्रकृत्युदयादेव जीवश्चक्षुर्दर्शनादिविषयानर्थान ज्ञातु न शक्नोति, न तु केवलदर्शनावरणीयोदयस्तत्र कारणमिति बोध्यम्।

गई। इसी प्रकार 'केवलज्ञानावरण प्रकृति जीव के समस्त ज्ञानका आवरण करती है' ऐसा कहा जाता है।

जीव मतिज्ञान के विषयभूत पदार्थों को नहीं जानता, इस में मतिज्ञानावरणीय प्रकृति का उदय ही कारण है, वही मतिज्ञान को रोकता है। इस में केवलज्ञानावरणीय का उदय कारण नही है। इसी प्रकार केवलदर्शन का अनन्तवाँ भाग उघाडा रहता है। वहाँ भी मेघ के दृष्टान्त के अनुसार आवरण का व्यवहार समझ कर केवलदर्शनावरणीय को सर्वघाती प्रकृति समझना चाहिए। यहा भी चक्षुर्दर्शन आदि के विषयभूत पदार्थों को जीव चक्षुर्दर्शनावरणीय आदि के उदय से ही नही जानता। वहाँ केवलदर्शनावरणीय कारण नही समझना चाहिए।

तमाम क्रांति-प्रकाश ढंकाई गई એ પ્રમાણે કેવલજ્ઞાનાવરણ પ્રકૃતિ જીવના સમસ્ત જ્ઞાનનું આવરણ કરે છે, એમ કહેવાય છે

જીવ મતિજ્ઞાનના વિષયભૂત પદાર્થોને જાણતો નથી, તેમાં મતિજ્ઞાનાવરણીય પ્રકૃતિ-કર્મનો ઉદયજ કારણરૂપ છે તેજ મતિજ્ઞાનને રોકે છે એમાં કેવલજ્ઞાનાવરણીયનો ઉદય કારણ રૂપ નથી. એ પ્રમાણે કેવલદર્શનનો અનન્તમો ભાગ ઉઘાડો રહે છે ત્યાં પણ મેઘના દૃષ્ટાન્ત પ્રમાણે આવરણનો વ્યવહાર સમજી લઈને કેવલદર્શનાવરણીયને સર્વઘાતી પ્રકૃતિ સમજવું જોઈએ, અહીં પણ ચક્ષુર્દર્શન આદિના વિષયભૂત પદાર્થોને જીવ ચક્ષુદર્શનાવરણીય આદિના ઉદયથી જાણતો નથી, ત્યાં કેવલદર્શનાવરણીય કારણ નહિ સમજવું જોઈએ.

ननु केवलज्ञानावरणीयस्य केवलदर्शनावरणीयस्य च क्षये सत्यपि मतिज्ञानादीनां चक्षुर्दर्शनादीनां च विषया ज्ञातुमशक्या स्युः, तेषां केवलज्ञानावरणीय-केवलदर्शनावरणीय-प्रकृत्योर्विषयाभावात्, मतिज्ञानावरणीयादीनां च क्षयाभावाचाभिर्मतिज्ञानादीनां समावृतत्वादिति चेत् ? उच्यते—

केवलज्ञानलाभे शेषावबोधलाभस्य तदन्तर्गतत्वात्। यथा—ग्रामलाभे क्षेत्रलाभो ग्रामलाभान्तर्भूत एव भवति।

निद्रादिपञ्चकमपि सकलपदार्थावबोधं प्रतिहन्तीति सर्वघाति भवति। यदि पुनः स्वापदशायामपि किंचिद् ज्ञानमस्तीति समाम्यते, तर्हि तत्रापि जलधरदृष्टान्तमाश्रित्य समाधेयम्।

शङ्का—केवलज्ञानावरणीय और केवलदर्शनावरणीय का क्षय होने पर भी मतिज्ञान आदि और चक्षुर्दर्शन आदि के विषयभूत पदार्थों का जानना अशक्य होना चाहिए, क्यों कि वे केवलज्ञानावरणीय, और केवलदर्शनावरणीय प्रकृतियों के विषय नहीं हैं, और मतिज्ञानावरणीय आदि प्रकृतियों का क्षय नहीं हुआ है, उन्हीं से मतिज्ञान आदि आवृत होते हैं।

समाधान—केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर शेष ज्ञानों की प्राप्ति उसी में अन्तर्गत हो जाती है। जैसे ग्राम मिलने पर खेत आप ही मिल जाता है।

निद्रा आदि पांच प्रकृतियाँ भी सकल पदार्थों के ज्ञान का घात करती हैं, अत एव सर्वघाती हैं। अगर निद्रा-अवस्था में भी किञ्चित् ज्ञान की संभावना की जा सकती है तो वहाँ भी मेघ का दृष्टान्त लेकर समाधान करना चाहिए।

શંકા—કેવલજ્ઞાનાવરણીય અને કેવલદર્શનાવરણીયનો ક્ષય થવા છતાંય પણ મતિજ્ઞાન આદિ અને ચક્ષુદર્શન આદિના વિષયભૂત પદાર્થોને જાણવું તે અશક્ય હોવું જોઈએ, કારણ કે તે કેવલજ્ઞાનાવરણીય અને કેવલદર્શનાવરણીય પ્રકૃતિઓનો વિષય નથી અને મતિજ્ઞાનાવરણીય આદિ પ્રકૃતિઓનો ક્ષય થયો નથી, તેનાથી મતિજ્ઞાન આદિ આવૃત થાય છે

સમાધાન—કેવલ જ્ઞાનની પ્રાપ્તિ થવાથી શેષ જ્ઞાનોની પ્રાપ્તિ તેમા અન્તર્ગત થઈ જાય છે જેવી રીતે ગામ મળવાથી ખેતર પોતેજ મળી જાય છે

નિદ્રા આદિ પાચ પ્રકૃતિઓ પણ તમામ પદાર્થોના જ્ઞાનનો ઘાત કરે છે, એ માટે તે સર્વઘાતી છે અથવા નિદ્રા અવસ્થામાં પણ કિંચિત્ જ્ઞાનની સંભાવના કરાય છે તો ત્યાં પણ મેઘનું દૃષ્ટાંત લઈને સમાધાન કરી લેવું જોઈએ

अनन्तानुबन्ध्यादयो द्वादश कषायाः प्रत्येकं यथाक्रमं सम्यक्त्वं देशविरति-चारित्रं सर्वविरतिचारित्रं च सर्वमेव घ्नन्ति, तस्मादेते द्वादश कषाया सर्वघातिन इत्युच्यन्ते। तेषां प्रबलोदयेऽपि कुलाचारप्रभृतिकारणवशादशुद्धाहारादिविरमण-दर्शनात् सर्वघातित्वं न सम्भवतीति नाशङ्कनीयम्, नवीनघनघटादृष्टान्ता-श्रयणेन तस्यापि समाधेयत्वात्। मिथ्यात्वं तु सम्यक्त्वं तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सर्वमपि प्रतिहन्ति, तस्मात् सर्वघातीत्युच्यते। यदि मिथ्यात्वस्य प्रबलोदयेऽपि मनुष्यपश्वादिवस्तुविषयकं सम्यक्त्वमस्ति, कथं तर्हि सर्वघातित्वं मिथ्यात्वस्येति समाधीयते, तदाऽत्राप्युक्तजलदावलीदृष्टान्तं शरणीकरणीयं।

अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषाय क्रमश सम्यक्त्व का देशविरति का, और सर्वविरतिका पूर्णरूप से घात करते है, अत ये बारह कषाय भी सर्वघाती कहलाते हैं। यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि—इन कषायों का प्रबल उदय होने पर भी कुलाचार आदि कारणों से अशुद्ध आहार आदि का त्याग देखा जाता है अत एव इन्हें सर्वघाती नहीं कहा जा सकता, क्यों कि नवीन मेघघटाका दृष्टान्त लेकर इस शङ्का का भी समाधान किया जा सकता है।

मिथ्यात्व प्रकृति तो तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व का पूर्णरूप से घात करती ही है, अत वह सर्वघाती है। यदि मिथ्यात्व का प्रबल उदय होने पर भी मनुष्य पशु आदि वस्तुओं सम्बन्धी सम्यक्त्व रहता है तो मिथ्यात्व को सर्वघाती कैसे कहा जा सकता है ? इस शङ्का के समाधान के लिए भी उक्त मेघपटल के ही दृष्टान्त का आश्रय लेना चाहिए।

અનન્તાનુબંધી આદિ બાર કષાય ક્રમશ સમ્યક્ત્વનો દેશવિરતિનો અને સર્વ વિરતિનો પૂર્ણરૂપથી ઘાત કરે છે, તેથી એ બાર કષાય પણ સર્વઘાતી કહેવાય છે એવી શંકા નહિ કરવી જોઇએ કે—એ કષાયોના પ્રબલ ઉદય વખતે પણ કુલાચાર આદિ કારણોથી અશુદ્ધ આહાર આદિનો ત્યાગ જોવામા આવે છે તે માટે તેને સર્વઘાતી કહી શકાશે નહિ, કારણ કે નવીન મેઘ ઘટાનું દ્રષ્ટાંત લઇને આ શંકાનું સમાધાન કરી શકાય છે

મિથ્યાત્વ પ્રકૃતિ તો તત્ત્વાર્થશ્રદ્ધાનરૂપ સમ્યક્ત્વનો પૂર્ણરૂપથી ઘાત કરે છેજ, તેથી તે સર્વઘાતી છે જો મિથ્યાત્વનો પ્રબલ ઉદય હોય તે વખતે પણ—મનુષ્ય, પશુ આદિ વસ્તુઓસંબંધી સમ્યક્ત્વ રહે છે તો મિથ્યાત્વને સર્વઘાતી કેવી રીતે કહી શકશો ? એ શંકાના સમાધાન માટે પણ આગળ કહેલ મેઘપટળનાજ દ્રષ્ટાંતનો આશ્રય લેવો જોઇએ.

देशघातिप्रकृतयः—

अथ देशघातिप्रकृतयः कथ्यन्ते—। (१) मतिज्ञानावरणीयम्, (२) श्रुतज्ञानावरणीयम्, (३) अवधिज्ञानावरणीयम्, (४) मनःपर्ययज्ञानावरणीयम्, एतानि चत्वारि ज्ञानावरणीयानि ४। (१) चक्षुर्दर्शनावरणीयम्, (२) अचक्षुर्दर्शनावरणीयम्, (३) अवधिदर्शनावरणीयम्, इति त्रीणि दर्शनावरणीयानि७। सञ्ज्वलनरूपाः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः कषायाः ११। हास्य–रत्य–रति–भय–शोक–जुगुप्सा–स्त्रीवेद–पुंवेद–नपुंसकवेदभेदतो नवसंख्यका नोकषायाः २०। तथा दान लाभ–भोगो–पभोग–वीर्य५भेदात् पञ्चविंशतिः २५ प्रकृतयो देशघातिन्यः सन्ति।

मतिज्ञानावरणीयादिचतुष्टयी प्रकृतिः केवलज्ञानावरणीयावृतं दैशिकं ज्ञानं हन्ति, तस्माद्देशघातिनीयमुच्यते।

देशघाती प्रकृतियाँ—

अब देशघाती प्रकृतियों का कथन किया जाता है—(१) मतिज्ञानावरणीय, (२) श्रुतज्ञानावरणीय, (३) अवधिज्ञानावरणीय, (४) मनःपर्ययज्ञानावरणीय, ये चार ज्ञानावरणीय४। तथा (१) चक्षुदर्शनावरणीय, (२) अचक्षुर्दर्शनावरणीय, (३) अवधिदर्शनावरणीय, ये तीन दर्शनावरणीय७। तथा सञ्ज्वलन–क्रोध, मान, माया, लोभ, ये चार कषाय ११। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद के भेद से नौ नोकषाय २०। तथा दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय, ये पांच अन्तराय २५। सब मिलकर पच्चीस देशघाती प्रकृतियाँ हैं।

मतिज्ञानावरणीय आदि चार प्रकृतियाँ केवलज्ञानावरणीयद्वारा आवृत एक देश ज्ञानका घात करती हैं, अत एव उन्हें देशघाती प्रकृतियाँ कहते हैं,

દેશઘાતી પ્રકૃતિઓ—

હવે દેશઘાતી પ્રકૃતિઓનું કથન–નિરૂપણ–કરવામાં આવે છે–(૧) મતિજ્ઞાનાવરણીય, (૨) શ્રુતજ્ઞાનાવરણીય, (૩) અવધિજ્ઞાનાવરણીય, (૪) મનઃપર્યયજ્ઞાનાવરણીય, આ ચાર જ્ઞાનાવરણીય છે ૪, તથા (૧) ચક્ષુદર્શનાવરણીય, (૨) અચક્ષુદર્શનાવરણીય, (૩) અવધિદર્શનાવરણીય, આ ત્રણ દર્શનાવરણીય, ૭, તથા સંજ્વલન–ક્રોધ, માન, માયા, લોભ, એ ચાર કષાય, ૧૧, હાસ્ય, રતિ, અરતિ, ભય, શોક, જુગુપ્સા સ્ત્રીવેદ, પુરુષવેદ, નપુંસકવેદના ભેદથી નવ નોકષાય, ૨૦, તથા દાનાન્તરાય, લાભાન્તરાય, ભોગાન્તરાય, ઉપભોગાન્તરાય, અને વીર્યાન્તરાય. આ પાંચ અન્તરાય ૨૫, બધી મળીને પચીસ દેશઘાતી પ્રકૃતિઓ છે

મતિજ્ઞાનાવરણીય આદિ ચાર પ્રકૃતિઓ કેવલજ્ઞાનાવરણીયદ્વારા આવૃત એક દેશ જ્ઞાનનો ઘાત કરે છે, તેટલા માટે તેને દેશઘાતી પ્રકૃતિ કહે છે

मतिज्ञानादिविषयाणामर्थानामवबोधो यन्न भवति, तच्च मतिज्ञानावरणीयादिचतुष्टयप्रकृत्युदयादेव। यत्तु मतिज्ञानाद्यविषयाणामनन्तपदार्थानां ज्ञानं न भवति तत् केवलज्ञानावरणीयप्रकृत्युदयादेव।

चक्षुर्दर्शनावरणीयादित्रयी प्रकृतिः केवलदर्शनावरणीयानावृतं केवलदर्शनैकदेशं ज्ञानं घ्नन्तीति देशघातित्वं सिद्धम्। चक्षुरादिदर्शनविषयभूतानामर्थानां दर्शनं यन्न भवति, तत् चक्षुरादिदर्शनावरणीयप्रकृत्युदयादेव; यच्च तद्विषयभूतान् अनन्तगुणान् न पश्यति, तत् केवलदर्शनावरणीयोदयादेव।

तथा-सज्वलनाश्चत्वारः कषायास्तथा नव नोकषायाश्च लब्धस्य

मतिज्ञान आदि के विषयभूत पदार्थों का जो ज्ञान नहीं होता सो मतिज्ञानावरणीय आदि प्रकृतियों के उदय से ही समझना चाहिए। और जो पदार्थ मतिज्ञान आदि के विषय नहीं हैं, उनके ज्ञानका अभाव केवलज्ञानावरणीय प्रकृति के उदय से होता है।

चक्षुर्दर्शनावरणीय आदि तीन प्रकृतियाँ केवलदर्शनावरणीयद्वारा अनावृत केवलदर्शन के एकदेश ज्ञानका घात करती हैं, अतः वे देशघाती हैं। चक्षुर्दर्शन आदि के विषयभूत पदार्थों का जो ज्ञान नहीं होता सो चक्षुर्दर्शनावरणीय आदि प्रकृतियों के उदय से समझना चाहिए और केवलदर्शन के विषयभूत अनन्त गुणों के ज्ञानका जो अभाव होता है सो केवलदर्शनावरणीय के उदय से ही समझना चाहिए।

चार सञ्ज्वलन कषाय और नौ नोकषाय प्राप्त हुए चारित्र के एक देश का

મતિજ્ઞાન આદિના વિષયભૂત પદાર્થોનું જે જ્ઞાન થતું નથી તે મતિજ્ઞાનાવરણીય આદિ પ્રકૃતિઓના ઉદયથીજ સમજી લેવું જોઇએ. અને જે પદાર્થ મતિજ્ઞાનાદિનો વિષય નથી તેના જ્ઞાનનો અભાવ કેવલજ્ઞાનાવરણીય પ્રકૃતિના ઉદયથી હોય છે

ચક્ષુદર્શનાવરણીય આદિ ત્રણ પ્રકૃતિઓ કેવલદર્શનાવરણીય દ્વારા અનાવૃત કેવલદર્શનના એકદેશ જ્ઞાનનો ઘાત કરે છે એ કારણથી તે દેશઘાતી છે ચક્ષુદર્શન આદિના વિષયભૂત પદાર્થોનું જે જ્ઞાન થતું નથી તે ચક્ષુદર્શનાવરણીય આદિ પ્રકૃતિઓના ઉદયથી સમજવું જોઈએ, અને કેવલદર્શનના વિષયભૂત અનન્ત ગુણોના જ્ઞાનનો જે અભાવ થાય છે તે કેવલદર્શનાવરણીયના ઉદયથીજ સમજવું જોઈએ

ચાર સજ્વલન કષાય અને નવ નોકષાય પ્રાપ્ત થયેલા ચારિત્રના એક દેશનોજ

देशघातिप्रकृतयः—

अथ देशघातिप्रकृतयः कथ्यन्ते—। (१) मतिज्ञानावरणीयम्, (२) श्रुतज्ञानावरणीयम्, (३) अवधिज्ञानावरणीयम्, (४) मनःपर्ययज्ञानावरणीयम्, एतानि चत्वारि ज्ञानावरणीयानि ४। (१) चक्षुर्दर्शनावरणीयम्, (२) अचक्षुर्दर्शनावरणीयम्, (३) अवधिदर्शनावरणीयम्, इति त्रीणि दर्शनावरणीयानि७। सञ्ज्वलनरूपाः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः कषायाः ११। हास्य–रत्य–रति–भय–शोक–जुगुप्सा–स्त्रीवेद–पुंवेद–नपुंसकवेदभेदतो नवसंख्यका नोकषाया २०। तथा दान–लाभ–भोगो–पभोग–वीर्य५भेदात् पञ्चविंशतिः २५ प्रकृतयो देशघातिन्यः सन्ति।

मतिज्ञानावरणीयादिचतुष्टयी प्रकृतिः केवलज्ञानावरणीयावृत्त दैशिक ज्ञानं हन्ति, तस्माद्देशघातिनीयमुच्यते।

देशघाती प्रकृतियाँ—

अब देशघाती प्रकृतियों का कथन किया जाता है—(१) मतिज्ञानावरणीय, (२) श्रुतज्ञानावरणीय, (३) अवधिज्ञानावरणीय, (४) मन पर्ययज्ञानावरणीय, ये चार ज्ञानावरणीय४। तथा (१) चक्षुदर्शनावरणीय, (२) अचक्षुदर्शनावरणीय, (३) अवधिदर्शनावरणीय, ये तीन दर्शनावरणीय७। तथा सञ्ज्वलन—क्रोध, मान, माया, लोभ, ये चार कषाय ११। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद के भेद से नौ नोकषाय २०। तथा दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय, ये पांच अन्तराय २५। सब मिलकर पच्चीस देशघाती प्रकृतियाँ हैं।

मतिज्ञानावरणीय आदि चार प्रकृतियाँ केवलज्ञानावरणीयद्वारा आवृत एक देश ज्ञानका घात करती हैं, अत एव उन्हें देशघाती प्रकृतियाँ कहते हैं,

દેશઘાતી પ્રકૃતિઓ—

હવે દેશઘાતી પ્રકૃતિઓનું કથન—નિરૂપણ—કરવામાં આવે છે—(૧) મતિજ્ઞાનાવરણીય, (૨) શ્રુતજ્ઞાનાવરણીય, (૩) અવધિજ્ઞાનાવરણીય, (૪) મન.પર્યયજ્ઞાનાવરણીય, આ ચાર જ્ઞાનાવરણીય છે ૪, તથા (૧) ચક્ષુર્દર્શનાવરણીય, (૨) અચક્ષુર્દર્શનાવરણીય, (૩) અવધિદર્શનાવરણીય, આ ત્રણ દર્શનાવરણીય, ૭, તથા સંજ્વલન—ક્રોધ, માન, માયા, લોભ, એ ચાર કષાય, ૧૧, હાસ્ય, રતિ, અરતિ, ભય, શોક, જુગુપ્સા સ્ત્રીવેદ, પુરુષવેદ, નપુંસકવેદ ના ભેદથી નવ નોકષાય, ૨૦, તથા દાનાન્તરાય, લાભાન્તરાય, ભોગાન્તરાય, ઉપભોગાન્તરાય, અને વીર્યાન્તરાય. આ પાંચ અન્તરાય ૨૫, બધી મળીને પચ્ચીસ દેશઘાતી પ્રકૃતિઓ છે

મતિજ્ઞાનાવરણીય આદિ ચાર પ્રકૃતિઓ કેવલજ્ઞાનાવરણીયદ્વારા આવૃત એક દેશ જ્ઞાનનો ઘાત કરે છે, તેટલા માટે તેને દેશઘાતી પ્રકૃતિ કહે છે

चारित्रस्य देशमेव घ्नन्ति, तेषां मूलोत्तरगुणातीचारजनकत्वात्। तस्मादेता त्रयोदश प्रकृतयो देशघातिन्य इति बोध्यम्।

तथा-दानान्तरायादिपञ्चान्तरायरूपाः प्रकृतयोऽपि देशघातिन्य एव। दानलाभभोगोपभोगानां चतुर्णां विषयस्तावद् ग्रहणधारणयोग्यान्येव द्रव्याणि सन्ति। तानि च सकलपुद्गलास्तिकायस्यानन्तभागरूपे देशे एव वर्तन्ते, अतो यासां प्रकृतीनामुदयात् पुद्गलास्तिकायदेशवर्तीनि द्रव्याणि दातुं लब्धुं भोक्तुमुपभोक्तुं च न शक्नोति ताः प्रकृतयो दानलाभभोगोपभोगान्तरायरूपास्तावद्देशघातिन्य एव।

यत्तु-समस्तलोकान्तर्गतानि द्रव्याणि दातुं लब्धुं भोक्तुमुपभोक्तुं च न प्रभवति तद्दानान्तरायादिप्रकृत्युदयतो न भवति, किन्तु तेषामेव ग्रहणधारण

ही घात करते हैं, क्यों कि वे मूलगुणों और उत्तरगुणों में अतिचार उत्पन्न करते हैं, इस कारण ये तेरह प्रकृतियाँ देशघाती हैं, ऐसा समझना चाहिए।

अन्तराय कर्म की पांच प्रकृतियां भी देशघाती ही हैं। दान, लाभ, भोग और उपभोग, इन चार के विषय ग्रहण और धारण करने योग्य द्रव्य ही हैं, और ऐसे द्रव्य समस्त पुद्गलअस्तिकाय के अनन्तवें भाग हैं, अतः जिन प्रकृतियों के उदय से पुद्गलास्तिकाय के एकदेशवर्ती द्रव्यों का दान, लाभ, भोग या उपभोग न हो सके वे दानान्तराय आदि प्रकृतियाँ भी देशघाती ही हैं।

समस्त लोक के अन्तर्गत द्रव्यों का दान, लाभ, भोग और उपभोग नहीं हो सकता, सो यह दानान्तराय आदि प्रकृतियों के उदय से नहीं, परन्तु उन द्रव्यों को

घात करे છે કારણ કે તે મૂલગુણો અને ઉત્તરગુણોમાં અતિચાર ઉત્પન્ન કરે છે, આ કારણથી તે તેર પ્રકૃતિઓ દેશઘાતી છે એ પ્રમાણે સમજવું જોઈએ.

અન્તરાય કર્મની પાંચ પ્રકૃતિઓ પણ દેશઘાતીજ છે દાન, લાભ, ભોગ અને ઉપભોગ, એ ચારના વિષય ગ્રહણ અને ધારણ કરવા યોગ્ય દ્રવ્યજ છે, અને એવા દ્રવ્ય સમસ્ત પુદ્ગલાસ્તિકાયના અનન્તમો ભાગ છે, તેથી જે પ્રકૃતિઓના ઉદયથી પુદ્ગલાસ્તિકાયના એકદેશવર્તી દ્રવ્યોનો દાન, લાભ, ભોગ અને ઉપભોગ ન થઈ શકે, તે દાનાન્તરાય આદિ પ્રકૃતિઓ પણ દેશઘાતી છે

સમસ્ત લોકના અન્તર્ગત દ્રવ્યોનો દાન, લાભ, ભોગ અને ઉપભોગ થઈ શકતો નથી, તે આ દાનાન્તરાય આદિ પ્રકૃતિઓના ઉદયથી નહિ, પરન્તુ તે દ્રવ્યોને ગ્રહણ અને

योग्यताया अभावादशक्यानुष्ठानत्वादिति मन्तव्यम् ।

वीर्यान्तरायप्रकृतिरपि सर्वं वीर्यं न हन्तीति देशघातिन्येव । तथाहि-सूक्ष्मनिगोदजीवात् प्रभृति आक्षीणमोहनीयजीवं वीर्यान्तरायस्य क्षयोपशम-विशेषाद् वीर्यं कस्यचिदल्प, कस्यचिद् बहु, कस्यचिद् बहुतर, कस्यचिद् बहुतमं भवति, वीर्यान्तरायकर्मणोऽभ्युदये सूक्ष्मनिगोदस्यापि आहारपरिणमनकर्मदलिक-ग्रहणगत्यन्तरगमनादिक विद्यते । एतच्च वीर्यं विना न संभवति । तस्माद्देशत एव वीर्यं वीर्यान्तरायप्रकृत्या हन्यते, न तु सर्वत. । यदि पुनरियं सर्वघातिनी

ग्रहण और धारण करने की योग्यता न होने के कारण अशक्यानुष्ठान से समझना चाहिए ।

वीर्यान्तराय प्रकृति भी समस्त वीर्य का घात नहीं करती अत देशघाती है । सूक्ष्म निगोदिया जीव से लेकर क्षीणमोह–गुणस्थान पर्यन्त के जीवों में वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से किसी जीव में अल्प वीर्य (शक्ति) होता है, किसी में बहुत वीर्य होता है, किसी में बहुत अधिक वीर्य होता है और किसी में अत्यन्त अधिक वीर्य होता है । वीर्यान्तराय कर्मका उदय होने पर भी सूक्ष्म निगोद का जीव आहार का परिणमन करता है, कर्मदलियों को ग्रहण करता है और दूसरी गति में जाता है। ये सब कार्य वीर्य के विना नहीं हो सकते । इस से यह सिद्ध हुआ कि वीर्यान्तराय कर्म वीर्य को एकदेश से ही घात करता है, सर्वदेश से नहीं । अगर यह प्रकृति सर्वघाती मानी जाय तो जैसे सर्वघाती मिथ्यात्व के उदय में सम्यग्दर्शन लेशमात्र नहीं होता, और

धारणु કરવાની યોગ્યતા નહિ હોવાના કારણે અશક્યાનુષ્ઠાનથી સમજવું જોઇએ

વીર્યાન્તરાય પ્રકૃતિ પણ સમસ્ત વીર્યને ઘાત કરતી નથી, તેથી તે દેશઘાતી છે સૂક્ષ્મનિગોદના જીવથી લઇને ક્ષીણમોહગુણસ્થાન સુધીના જીવોમા વીર્યાન્તરાયના ક્ષયોપ શમથી કોઈ જીવમા અલ્પવીર્ય (થોડી શક્તિ) હોય છે, કોઈ જીવમા બહુ વીર્ય હોય છે, કોઇ જીવમા બહુજ અધિક વીર્ય હોય છે, અને કોઈમા અત્યન્ત અધિક વીર્ય હોય છે વીર્યાન્તરાય કર્મનો ઉદય હોય ત્યારે પણ સૂક્ષ્મ નિગોદના જીવ આહારનુ પરિણમન કરે છે, કર્મ દલિકોને ગ્રહણ કરે છે, અને બીજી ગતિમા જાય છે આ તમામ કાર્ય વીર્ય વિના થઈ શકે નહી, તેથી એ સિદ્ધ થયુ કે – વીર્યાન્તરાય કર્મ વીર્યના એક દેશનોજ ઘાત કરે છે, સર્વદેશનો નહી. અથવા તો આ પ્રકૃતિને સર્વઘાતી માનવામાં આવે તો જેવી રીતે સર્વઘાતી મિથ્યાત્વના ઉદયમા સમ્યગ્દર્શન લેશમાત્ર પણ હોય નહી, અને જેમ

स्यात् तदा सर्वघातिनो मिथ्यात्वस्य कषायद्वादशकस्य चाभ्युदये यथा जघन्यमपि सम्यक्त्व देशसयमः सर्वसयमश्च नोपलभ्यते, तथा वीर्यान्तरायस्योदयेऽपि जघन्यमपि वीर्यगुणं नोपलभ्येत, न चैवं भवति, तस्मात् वीर्यान्तरायप्रकृतिरपि देशघातिनीति सिद्धम् ।

अघातिप्रकृतयः—

अघातिन्यः प्रकृतय पञ्चसप्ततिः सन्ति । तथाहि–प्रत्येक प्रकृतयः पराघातो१–च्छ्वासा२–ऽऽतपो३–द्योता४–ऽगुरुलघु५–तीर्थकर६–निर्माणो७–पघात८-रूपा अष्टौ सन्ति । (१) औदारिकं, (२) वैक्रियम्, (३) आहारकं, (४) तैजस, (५) कार्मण चेति पञ्च शरीराणि ५। त्रीण्युपाङ्गानि३ । षट् संस्थानानि६ । षट् सहन

जैसे बारह कषायों का उदय होने पर देशविरति और सर्वविरति, एक देश से भी नहीं होती उसी प्रकार वीर्यान्तराय कर्म का उदय होने पर लेशमात्र भी वीर्यगुण प्रकट नहीं होने चाहिए, मगर ऐसा नहीं होता, अत यह सिद्ध हुआ कि वीर्यान्तराय प्रकृति भी देशघाती ही है ।

अघाती प्रकृतियाँ—

अघाति प्रकृतियाँ पचहत्तर ७५ हैं, वे इस प्रकार–(१) पराघात, (२) उच्छ्वास, (३) आतप, (४) उद्योत, (५) अगुरुलघु, (६) तीर्थंकर, (७) निर्माण, (८) उपघात, ये आठ प्रत्येक प्रकृतियाँ अघाती हैं८ । औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, और कार्मण शरीर, ये पांच शरीर अघाती प्रकृतियाँ हैं १३ । तीन उपाङ्ग१६, छह संस्थान२२,

બાર કષાયોનો ઉદય થવા સમયે દેશવિરતિ અને સર્વવિરતિ એકદેશથી પણ હોય નહીં, તે પ્રમાણે વીર્યાન્તરાય કર્મનો ઉદય થતા લેશમાત્ર પણ વીર્યગુણ પ્રગટ થવો નહી જોઈએ, પરન્તુ એ પ્રમાણે થતુ નથી, એ કારણથી સિદ્ધ થયું કે–વીર્યાન્તરાય પ્રકૃતિ પણ દેશઘાતીજ છે

અઘાતી પ્રકૃતિઓ—

અઘાતી પ્રકૃતિઓ પંચોતેર (૭૫) છે તે આ પ્રમાણે છે –(૧) પરાઘાત, (૨) ઉચ્છ્વાસ, (૩) આતપ, (૪) ઉદ્યોત, (૫) અગુરૂલઘુ, (૬) તીર્થંકર, (૭) નિર્માણ, (૮) ઉપઘાત, આ આઠ પ્રત્યેક પ્રકૃતિઓ અઘાતી છે (૧) ઔદારિક, (૨) વૈક્રિય, (૩) આહારક, (૪) તૈજસ અને (૫) કાર્મણ શરીર, આ પાંચ શરીર અઘાતી પ્રકૃતિઓ છે; (૧૩) ત્રણ ઉપાંગ, (૧૬) છહ સંસ્થાન, (૨૨) છહ સંહનન, (૨૮) પાંચ જાતિઓ, (૩૩) ચાર ગતિ, ૩૭ બે વિહાયો

नानि६ । पञ्च जातयः५ । चतस्रो गतयः४ । द्वे खगती२ । चतस्रः आनुपूर्व्यः४ । आयूंषि चत्वारि४ । त्रसदशकम्१० । स्थावरदशकम्१० । उच्चैर्गोत्रम्१ । नीचैर्गोत्रम्१ । सातवेदनीयम्१ । असातवेदनीयम्१ । वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाख्याश्चतस्रः प्रकृतयः४ । ७५ ॥

एता प्रकृतयः कमपि ज्ञानादिगुणं न घ्नन्तीत्यघातिन्य उच्यन्ते । इमाः सर्वघातिप्रकृतिभिः सह वेद्यमानाः स्वयमघातिन्योऽपि सर्वघातिफलं प्रदर्शयन्ति । देशघातिप्रकृतिभिः सह पुनर्वेद्यमानाः स्वयमघातिन्योऽपि देशघातिरसं दर्शयन्ति । यथा-स्वयमचौरश्चौरैः सह वर्तमानश्चौर इवावभासते तद्वत् ।

छह संहनन२८, पांच जातियाँ३३, चार गतियाँ३७, दो विहायोगतियाँ३९, चार आनुपूर्वी४३, चार आयु४७, त्रसदशक५७, स्थावरदशक६७, उच्चगोत्र६८, नीचगोत्र६९, सातावेदनीय७०, असातावेदनीय७१, तथा वर्ण, रस, गन्ध, और स्पर्शनामक चार प्रकृतियाँ७५ ।

ये प्रकृतियाँ ज्ञान आदि किसी गुणका घात नहीं करती हैं । इसी लिये ये अघाती कहलाती हैं । जब इनका सर्वघाती प्रकृतियों के साथ वेदन होता है तब ये स्वयं अघाती होते हुए भी सर्वघाती रसको प्रकट करती हैं, और देशघाती प्रकृतियों के साथ इनका वेदन हो तो स्वयं अघाती होने पर भी देशघाती रस को प्रकट करती हैं । जैसे कोई पुरुष चोर न हो किन्तु चोरों के साथ हो तो वह भी चोर जैसा ही प्रतीत होता है । यही हाल इन अघाती प्रकृतियों का है ।

ગતિ, (૩૯) ચાર અનુપૂર્વી, (૪૩) ચાર આયુ, (૪૭) ત્રસદશક, (૫૭) સ્થાવરદશક, (૬૭) ઉચ્ચગોત્ર, (૬૮) નીચગોત્ર, (૬૯) શાતાવેદનીય, (૭૦) અસાતાવેદનીય, (૭૧) તથા વર્ણ રસ, ગંધ, અને સ્પર્શ નામની ચાર પ્રકૃતિઓ (૭૫)

આ પ્રકૃતિઓ જ્ઞાન આદિ કોઈ ગુણનો ઘાત કરતી નથી. એટલા માટે તેને અઘાતી પ્રકૃતિ કહે છે, પરન્તુ સર્વઘાતી પ્રકૃતિઓની સાથે જ્યારે તેનું વેદન થાય છે તો પોતે અઘાતી હોવા છતાંય પણ એ સર્વઘાતીનું ફળ પ્રદર્શિત કરે છે અથવા દેશઘાતી પ્રકૃતિઓની સાથે તેનું વેદન હોય તો પોતે અઘાતી હોવા છતાય પણ દેશઘાતી રસને પ્રગટ કરે છે જેવી રીતે કોઈ પુરુષ ચોર ન હોય પરન્તુ ચોરોની સાથે હોય તો તે પણ ચોર જેવો જ દેખાય છે એ પ્રમાણેજ આ અઘાતી પ્રકૃતિઓ વિષે સમજવું

स्यात् तदा सर्वघातिनो मिथ्यात्वस्य कषायद्वादशकस्य चाभ्युदये यथा जघन्यमपि सम्यक्त्वं देशसंयमः सर्वसंयमश्च नोपलभ्यते, तथा वीर्यान्तरायस्योदयेऽपि जघन्यमपि वीर्यगुणं नोपलभ्येत, न चैवं भवति, तस्माद् वीर्यान्तरायप्रकृतिरपि देशघातिनीति सिद्धम् ।

अघातिप्रकृतयः—

अघातिन्यः प्रकृतयः पञ्चसप्ततिः सन्ति । तथाहि–प्रत्येकप्रकृतयः पराघातो१-च्छ्वासा२-ऽऽतपो३–द्योता४–ऽगुरुलघु५–तीर्थंकर६–निर्माणो७–पघात८-रूपा अष्टौ सन्ति । (१) औदारिकं, (२) वैक्रियम्, (३) आहारकं, (४) तैजसं, (५) कार्मणं चेति पञ्च शरीराणि ५। त्रीण्युपाङ्गानि३ । षट् संस्थानानि६ । षट् संहन-

जैसे बारह कषायों का उदय होने पर देशविरति और सर्वविरति, एक देश से भी नहीं होती उसी प्रकार वीर्यान्तराय कर्म का उदय होने पर लेशमात्र भी वीर्यगुण प्रकट नहीं होने चाहिए, मगर ऐसा नहीं होता, अत यह सिद्ध हुआ कि वीर्यान्तराय प्रकृति भी देशघाती ही है ।

अघाती प्रकृतियां—

अघाति प्रकृतियाँ पचहत्तर ७५ हैं, वे इस प्रकार–(१) पराघात, (२) उच्छ्वास, (३) आतप, (४) उद्योत, (५) अगुरुलघु, (६) तीर्थंकर, (७) निर्माण, (८) उपघात, ये आठ प्रत्येक प्रकृतियां अघाती हैं८ । औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, और कार्मण शरीर, ये पांच शरीर अघाती प्रकृतियाँ हैं १३ । तीन उपाङ्ग१६, छह संस्थान२२,

બાર કષાયોનો ઉદય થવા સમયે દેશવિરતિ અને સર્વવિરતિ એકદેશથી પણ હોય નહીં; તે પ્રમાણે વીર્યાન્તરાય કર્મનો ઉદય થતા લેશમાત્ર પણ વીર્યગુણ પ્રગટ થવો નહી જોઈએ, પરન્તુ એ પ્રમાણે થતુ નથી, એ કારણથી સિદ્ધ થયું કે–વીર્યાન્તરાય પ્રકૃતિ પણ દેશઘાતીજ છે

અઘાતી પ્રકૃતિઓ—

અઘાતી પ્રકૃતિઓ પચોતેર (૭૫) છે તે આ પ્રમાણે છે –(૧) પરાઘાત, (૨) ઉચ્છ્વાસ, (૩) આતપ, (૪) ઉદ્યોત, (૫) અગુરૂલઘુ, (૬) તીર્થંકર, (૭) નિર્માણ, (૮) ઉપઘાત, આ આઠ પ્રત્યેક પ્રકૃતિઓ અઘાતી છે (૧) ઔદારિક, (૨) વૈક્રિય, (૩) આહારક, (૪) તૈજસ અને (૫) કાર્મણ શરીર, આ પાંચ શરીર અઘાતી પ્રકૃતિઓ છે; (૧૩) ત્રણ ઉપાંગ, (૧૬) છ સંસ્થાન, (૨૨) છ સંહનન, (૨૮) પાંચ જાતિઓ, (૩૩) ચાર ગતિ, ૩૭ બે વિહાયો

नानि६ । पञ्च जातयः५ । चतस्रो गतय४ । द्वे खगती२ । चतस्र आनुपूर्व्य४ । आयूंषि चत्वारि४ । त्रसदशकम्१० । स्थावरदशकम्१० । उच्चैर्गोत्रम्१ । नीचैर्गोत्रम्१ । सातवेदनीयम्१ । असातवेदनीयम्१ । वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाख्याश्चतस्रः प्रकृतय४ । ७५ ॥

एता प्रकृतयः कमपि ज्ञानादिगुण न घ्नन्तीत्यघातिन्य उच्यन्ते। इमा सर्वघातिप्रकृतिभि सह वेद्यमाना स्वयमघातिन्योऽपि सर्वघातिफलं प्रदर्शयन्ति । देशघातिप्रकृतिभि सह पुनर्वेद्यमाना स्वयमघातिन्योऽपि देशघातिरसं दर्शयन्ति । यथा-स्वयमचौरश्चौरै सह वर्तमानश्चौर इवावभासते तद्वत् ।

छह संहनन२८, पांच जातियाँ३३, चार गतियाँ३७, दो विहायोगतियाँ३९, चार आनुपूर्वी४३, चार आयु४७, त्रसदशक५७, स्थावरदशक६७, उच्चगोत्र६८, नीचगोत्र६९, सातावेदनीय७०, असातावेदनीय७१, तथा वर्ण, रस, गन्ध, और स्पर्शनामक चार प्रकृतियाँ७५ ।

ये प्रकृतियाँ ज्ञान आदि किसी गुणका घात नहीं करती हैं । इसी लिये ये अघाती कहलाती हैं । जब इनका सर्वघाती प्रकृतियों के साथ वेदन होता है तब ये स्वयं अघाती होते हुए भी सर्वघाती रसको प्रकट करती हैं, और देशघाती प्रकृतियों के साथ इनका वेदन हो तो स्वयं अघाती होने पर भी देशघाती रस को प्रकट करती हैं । जैसे कोई पुरुष चोर न हो किन्तु चोरों के साथ हो तो वह भी चोर जैसा ही प्रतीत होता है । यही हाल इन अघाती प्रकृतियों का है ।

ગતિ, (૩૯) ચાર અનુપૂર્વી, (૪૩) ચાર આયુ, (૪૭) ત્રસદશક, (૫૭) સ્થાવરદશક, (૬૭) ઉચ્ચગોત્ર, (૬૮) નીચગોત્ર, (૬૯) શાતાવેદનીય, (૭૦) અસાતાવેદનીય, (૭૧) તથા વર્ણ રસ, ગંધ, અને સ્પર્શ નામની ચાર પ્રકૃતિઓ (૭૫)

આ પ્રકૃતિઓ જ્ઞાન આદિ કોઈ ગુણનો ઘાત કરતી નથી. એટલા માટે તેને અઘાતી પ્રકૃતિ કહે છે, પરન્તુ સર્વઘાતી પ્રકૃતિઓની સાથે જ્યારે તેનું વેદન થાય છે તો પોતે અઘાતી હોવા છતાય પણ એ સર્વઘાતીનું ફળ પ્રદર્શિત કરે છે અથવા દેશઘાતી પ્રકૃતિઓની સાથે તેનુ વેદન હોય તો પોતે અઘાતી હોવા છતાય પણ દેશઘાતી રસને પ્રગટ કરે છે જેવી રીતે કોઈ પુરુષ ચોર ન હોય પરન્તુ ચોરોની સાથે હોય તો તે પણ ચોર જેવો જ દેખાય છે એ પ્રમાણેજ આ અઘાતી પ્રકૃતિઓ વિષે સમજવું

उत्तरप्रकृतिसंख्या–

ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मणामुत्तरप्रकृतिसंख्या अष्टचत्वारिंशदधिकशतं १४८ भवन्ति । तथाहि—

(१) ज्ञानावरणीयस्य–मति–श्रुता–ऽवधि–मनःपर्यय–केवलज्ञानावरणीय-भेदात् पञ्च ।

(२) दर्शनावरणीयस्य–चक्षुर्दर्शना–ऽचक्षुर्दर्शना–ऽवधिदर्शन–केवलदर्शनावरणीयानि चत्वारि, तथा–निन्द्रा–निद्रानिद्रा–प्रचला–प्रचलाप्रचला–स्त्यानर्द्धिभेदात् पञ्च मिलित्वा नव भवन्ति ।

(३) वेदनीयस्य शाताशातभेदेन द्वौ भेदौ स्त ।

उत्तरप्रकृतियोंकी संख्या—

ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियों की संख्याएँ (मध्यमविवक्षा से) १४८ हैं। वे इस प्रकार—

(१) ज्ञानावरणीय की पांच–(१) मतिज्ञानावरणीय, (२) श्रुतज्ञानावरणीय, (३) अवधिज्ञानावरणीय, (४) मन पर्ययज्ञानावरणीय, (५) केवलज्ञानावरणीय ।

(२) दर्शनावरणीय की नौ–(१) चक्षुर्दर्शनावरणीय, (२) अचक्षुर्दर्शनावरणीय, (३) अवधिदर्शनावरणीय, (४) केवलदर्शनावरणीय, तथा (५) निद्रा, (६) निद्रानिद्रा, (७) प्रचला, (८) प्रचला प्रचला, (९) स्त्यानर्द्धि, ये पांच निद्राएँ मिलकर कुल नौ प्रकृतियाँ हैं।

(३) वेदनीय की दो–सातावेदनीय और असातावेदनीय ।

ઉત્તરપ્રકૃતિઓની સંખ્યા—

જ્ઞાનાવરણીય આદિ આઠ કર્મોની ઉત્તરપ્રકૃતિઓની સંખ્યા (મધ્યમ વિવક્ષાથી) એકસોને અડતાલીસ (૧૪૮) છે તે આ પ્રમાણે—

(૧) જ્ઞાનાવરણીયની પાંચ – (૧) મતિજ્ઞાનાવરણીય, (૨) શ્રુતજ્ઞાનાવરણીય, (૩) અવધિજ્ઞાનાવરણીય, (૪) મનઃપર્યયજ્ઞાનાવરણીય, (૫) કેવલજ્ઞાનાવરણીય.

(૨) દર્શનાવરણીયની નવ છે (૧) ચક્ષુર્દર્શનાવરણીય, (૨) અચક્ષુર્દર્શનાવરણીય, (૩) અવધિદર્શનાવરણીય, (૪) કેવલદર્શનાવરણીય, તથા (૫) નિદ્રા, (૬) નિદ્રા–નિદ્રા (૭) પ્રચલા, (૮) પ્રચલા-પ્રચલા, (૯) સ્ત્યાનર્દ્ધિ, આ પાંચ નિદ્રાઓ મળીને કુલ નવ પ્રકૃતિઓ થાય છે.

(૩) વેદનીયની બે (૧) સાતાવેદનીય અને અસાતાવેદનીય.

(४) मोहनीयस्य-अष्टाविंशतिर्भेदा भवन्ति। तथाहि-सम्यक्त्वमोहनीय-मिथ्यात्वमोहनीय-मिश्रमोहनीय-भेदेन त्रीणि दर्शनमोहनीयानि। पञ्चविंशति चारित्रमोहनीयानि मिलित्वाऽष्टाविंशतिः। चारित्रमोहनीयस्य पञ्चविंशति भेदाः, यथा – कषायमोहनीय१ – नोकषायमोहनीय२–भेदेन चारित्रमोहनीय द्विविधम्। तत्र कषायमोहनीयस्य षोडश भेदा भवन्ति, यथा–अनन्तानुबन्धी क्रोधो मानो, माया, लोभः ४, अनन्तः=संसारो नारक तिर्यग्-मनुष्य-देव-जन्म-जरा-मरण परम्परालक्षण , तदनुबन्धादनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः कषायाः४। तत्र क्रोधः-कृत्याकृत्यविवेकोन्मूलकाऽक्षमारूप आत्मपरिणामः। मानो–गर्वः, माया–शाठ्यम् , लोभो–गृध्नुता। अनन्तानुबन्धि-

---

(४) मोहनीय की अट्ठाईस–सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और मिथ्यात्वमोहनीय, ये तीन दर्शनमोहनीय की, तथा पच्चीस चारित्रमोहनीय की कुल अट्ठाईस प्रकृतियाँ हैं। चारित्रमोहनीय की पच्चीस प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं–चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं–कषायचारित्र मोहनीय, और नोकषायचारित्रमोहनीय। कषायचारित्रमोहनीय के सोलह भेद हैं, जैसे-अनन्तानुबंधी क्रोध मान, माया, लोभ, 1 जो कषाय, नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में जन्म जरा-मरण-रूप अनन्त संसार का अनुबंध करे, वह अनन्तानुबन्धी है। उस के चार भेद हैं–क्रोध, मान, माया और लोभ। कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेक को नष्ट कर देने वाला अक्षमारूप आत्मा का परिणाम क्रोध कहलाता है। गर्वको मान कहते हैं। माया का अर्थ कपट है। गृद्धिभाव (लालच) लोभ कहलाता है। अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क में क्रोध को पर्वत की राजि

---

(૪) મોહનીયકર્મની અઠાવીસ છે (૧) સમ્યક્ત્વમોહનીય, મિશ્રમોહનીય, અને મિથ્યાત્વમોહનીય, આ ત્રણ દર્શનમોહનીયની, તથા પચીસ ચારિત્રમોહનીયની, એ પ્રમાણે કુલ અઠાવીસ પ્રકૃતિઓ છે ચારિત્રમોહનીયની પચીસ પ્રકૃતિઓ આ પ્રમાણે છે – ચારિત્રમોહનીયના બે ભેદ છે (૧) કષાયચારિત્રમોહનીય અને (૨) નોકષાયચારિત્રમોહનીય, કષાયચારિત્રમોહનીયના સોળ ભેદ છે જેમકે–અનન્તાનુબંધી ક્રોધ, માન, માયા, લોભ. જે કષાય નારક, તિર્યંચ, મનુષ્ય, અને દેવગતિમાં જન્મ, જરા, મરણરૂપ અનન્ત સંસારનો અનુબંધ કરે તે અનન્તાનુબંધી છે તેના ચાર ભેદ છે, ક્રોધ, માન, માયા અને લોભ, કર્ત્તવ્ય–અકર્ત્તવ્યનાં વિવેકનો નાશ કરવાવાળા અક્ષમારૂપ આત્માનો પરિણામ તે ક્રોધ કહેવાય છે ગર્વને માન કહે છે માયાનો અર્થ કપટ છે લાલચ તે લોભ કહેવાય છે અનન્તાનુબંધી કષાયચતુષ્કમાં ક્રોધને પર્વતની રાજિનું (પર્વત ફાટવાથી

कषायचतुष्टये क्रोधस्य पर्वतराजिः, मानस्य शैलस्तम्भः, मायायाः-वंशमूलं, लोभस्य-कृमिजरागः, उदाहरणम् ।

एवमप्रत्याख्यानावरणीयकषायाः क्रोधादयश्चत्वारः४ । तत्र प्रत्याख्यानं द्विविधम् – देशविरति–सर्वविरति–भेदात् । प्रत्याख्यानमित्यत्र प्रतिशब्दः । प्रति षेधवाची, प्रतिषेधस्याख्यान=प्रकाशनम्-प्रत्याख्यानम् । 'सर्वान् प्राणिनो न हन्मि यावज्जीवम्' इत्यादि भावत स्वाचार्यादि समीपे प्रकाशनमित्यर्थः । प्रत्याख्यानस्यावरणीयम् प्रत्याख्यानावरणीयम्, न प्रत्याख्यानावरणीयम् = अप्रत्याख्यानावरणीयम् । अत्रोपमार्थो 'नञ्'–शब्दः ।

(पर्वत फटने से उत्पन्न हुई दरार,) का, मान को शैलस्तम्भका, मायाको बांसकी जडका और लोमको किरमिची रंगका उदाहरण दिया गया है ।

इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण के क्रोध आदि चार भेद हैं । प्रत्याख्यान दो प्रकारका है–देशविरति और सर्वविरति । 'प्रत्याख्यान' शब्द में 'प्रति' उपसर्ग निषेध वाचक है, अर्थात् प्रतिषेध का प्रकाश करना प्रत्याख्यान है, अर्थात् "मैं जीवनपर्यन्त किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करूँगा" इत्यादि प्रकार से भावपूर्वक अपने आचार्य आदि के समक्ष प्रकाशित करना प्रत्याख्यान है । प्रत्याख्यान का आवरणीय प्रत्याख्यानावरणीय कहलाता है । जो प्रत्याख्यानावरणीय न हो वह अप्रत्याख्यानावरणीय है । यहाँ 'नञ्' शब्द उपमा के अर्थ में है, अर्थात् जो कषाय प्रत्याख्यानावरणीय के समान हो वह अप्रत्याख्यानावरणीय

ઉત્પન્ન થયેલી ફાટ–ચીર) માનને શૈલસ્તમ્ભનું, માયાને વાંસની જડનું અને લોભને કિરમીચ રંગનું ઉદાહરણ આપ્યું છે

આ પ્રમાણે અપ્રત્યાખ્યાનાવરણના ક્રોધ આદી ચાર ભેદ છે પ્રત્યાખ્યાન બે પ્રકારના છે–દેશવિરતિ અને સર્વવિરતિ 'પ્રત્યાખ્યાન શબ્દમાં 'પ્રતિ' ઉપસર્ગ નિષેધ–વાચક છે અર્થાત્ પ્રતિષેધનો પ્રકાશ કરવો તે પ્રત્યાખ્યાન છે અર્થાત્ "હું જીવન સુધી કોઈ પણ પ્રાણીની હિંસા કરીશ નહી." ઇત્યાદિ પ્રકારે ભાવપૂર્વક પોતાના આચાર્ય આદિના સમક્ષ પ્રકાશિત કરવું તે પ્રત્યાખ્યાન છે પ્રત્યાખ્યાન નો આવરણીય પ્રત્યાખ્યાનાવરણીય કહેવાય છે જે પ્રત્યાખ્યાનાવરણીય ન હોય તે અપ્રત્યાખ્યાનાવરણીય છે અહિં નઞ્' શબ્દ ઉપમાના અર્થમાં છે અર્થાત્—જે કષાય પ્રત્યાખ્યાનાવરણીયની સમાન હોય તે અપ્રત્યાખ્યાનાવરણીય કહેવાય છે અથવા નઞ્' અલ્પ–થોડુ—એવા અર્થ

मत्याख्यानावरणीयवत् = अमत्याख्यानावरणीयम्। यद्वा-अल्पार्थो नञ्, अल्पं प्रत्याख्यानम्=अप्रत्याख्यानम्, तस्यावरणीयमिति। अल्प=देशविरतिरूप प्रत्याख्यानं समावृणोति कषायचतुष्टयम्, तस्मादप्रत्याख्यानावरणीयमित्युच्यते। य कषायः स्वल्पं देशविरतिरूपमावृणोति स सर्वविरतिरूपं प्रत्याख्यानमावृणो. त्येवेति नात्र चित्रम्। यत्कर्मोदयादाविर्भूता' कषायाः केवलं विरतिमात्रमावृण्वन्ति ते त्वप्रत्याख्यानावरणीया' कषायाः।

एवं प्रत्याख्यानावरणीयकषाया' क्रोधादयश्चत्वारः। अत्र प्रत्याख्यान-शब्देन सर्वविरतिर्परिग्रहः। ये पुन. कषाया' सर्वविरतिमेव प्रतिघ्नन्ति, न तु देशविरतिं ते प्रत्याख्यानावरणीया इति।

कहलाता है। अथवा 'नञ्' अल्प-अर्थ में है, अर्थात् अल्प प्रत्याख्यान अप्रत्याख्यान कहलाता है, उसका आवरणीय अप्रत्याख्यानावरणीय है। यह कषायचतुष्टय अल्प अर्थात् देशविरतिरूप प्रत्याख्यान को आवृत करता है, इस कारण यह अप्रत्याख्यानावरणीय कहलाता है। जो कषाय स्वल्प देशविरति को भी नहीं होने देता वह सर्वविरति को न होने दे, इस में आश्चर्य ही क्या है ?। जिस कर्म के उदय से आविर्भूत कषाय केवल विरतिमात्र को रोकते हैं, वे अप्रत्याख्यानावरणीय कहलाते हैं।

इसी प्रकार क्रोध आदि चार प्रत्याख्यानावरणीय हैं। यहां प्रत्याख्यान शब्द से सर्वविरति का ग्रहण किया गया है। जो कषाय, सिर्फ सर्वविरति का ही घात करते हैं, देशविरति का नहीं वे प्रत्याख्यानावरणीय कहलाते हैं।

અલ્પ પ્રત્યાખ્યાન અપ્રત્યાખ્યાન કહેવાય છે તેનું આવરણીય અપ્રત્યાખ્યાનાવરણીય છે આ કષાયચતુષ્ટયં અલ્પ અર્થાત્ દેશવિરતિરૂપ પ્રત્યાખ્યાનને આવૃત કરે છે (ઢાંકી દે છે) એ કારણથી એ અપ્રત્યાખ્યાનાવરણીય કહેવાય છે જે કષાય સ્વલ્પ દેશ-વિરતિને પણ થવા દેતા નથી. તે સર્વવિરતિને નહિ થવા દે એમાં આશ્ચર્ય જ શું છે? જે કર્મના ઉદયથી આવિર્ભૂત (ઉત્પન્ન થયેલા) કષાય કેવલ વિરતિમાત્રને રોકે છે, તે અપ્રત્યાખ્યાનાવરણીય કહેવાય છે

આ પ્રમાણે ક્રોધ આદિ ચાર પ્રત્યાખ્યાનાવરણીય છે, અહિં પ્રત્યાખ્યાન શબ્દથી સર્વવિરતિનું ગ્રહણ કર્યું છે જે કષાય, માત્ર સર્વવિરતિનો ઘાત કરે છે, દેશવિરતિનો નહી, તે પ્રત્યાખ્યાનાવરણીય કહેવાય છે

कषायचतुष्टये क्रोधस्य पर्वतराजिः, मानस्य शैलस्तम्भः, मायाया-वंशमूलं, लोभस्य-कृमिजरागः, उदाहरणम् ।

एवमप्रत्याख्यानावरणीयकषायाः क्रोधादयश्चत्वारः४ । तत्र प्रत्याख्यानं द्विविधम् - देशविरति-सर्वविरति-भेदात् । प्रत्याख्यानमित्यत्र प्रतिशब्दः । प्रतिषेधवाची, प्रतिषेधस्याख्यानं=प्रकाशनम्-प्रत्याख्यानम् । 'सर्वान् प्राणिनो न हन्मि यावज्जीवम्' इत्यादि भावत स्वाचार्यादि समीपे प्रकाशनमित्यर्थः । प्रत्याख्यानस्यावरणीयम् प्रत्याख्यानावरणीयम्, न प्रत्याख्यानावरणीयम् = अप्रत्याख्यानावरणीयम् । अत्रोपमार्थो 'नञ्' - शब्दः ।

(पर्वत फटने से उत्पन्न हुई दरार,) का, मान को शैलस्तंभका, मायाको बांसकी जडका और लोभको किरमिची रंगका उदाहरण दिया गया है ।

इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण के क्रोध आदि चार भेद हैं । प्रत्याख्यान दो प्रकारका है-देशविरति और सर्वविरति । 'प्रत्याख्यान' शब्द में 'प्रति' उपसर्ग निषेध वाचक है, अर्थात् प्रतिषेध का प्रकाश करना प्रत्याख्यान है, अर्थात् "मैं जीवनपर्यन्त किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करूँगा" इत्यादि प्रकार से भावपूर्वक अपने आचार्य आदि के समक्ष प्रकाशित करना प्रत्याख्यान है । प्रत्याख्यान का आवरणीय प्रत्याख्यानावरणीय कहलाता है । जो प्रत्याख्यानावरणीय न हो वह अप्रत्याख्यानावरणीय है । यहाँ 'नञ्' शब्द उपमा के अर्थ में है, अर्थात् जो कषाय प्रत्याख्यानावरणीय के समान हो वह अप्रत्याख्यानावरणीय

ઉત્પન્ન થયેલી ફાટ-ચીર) માનને શૈલસ્તંભનું, માયાને વાંસની જડનું અને લોભને કિરમીચ રંગનું ઉદાહરણ આપ્યું છે

આ પ્રમાણે અપ્રત્યાખ્યાનાવરણના ક્રોધ આદી ચાર ભેદ છે પ્રત્યાખ્યાન બે પ્રકારના છે-દેશવિરતિ અને સર્વવિરતિ 'પ્રત્યાખ્યાન શબ્દમાં 'પ્રતિ' ઉપસર્ગ નિષેધ-વાચક છે અર્થાત્ પ્રતિષેધનો પ્રકાશ કરવો તે પ્રત્યાખ્યાન છે. અર્થાત્ "હું જીવન સુધી કોઈ પણ પ્રાણીની હિંસા કરીશ નહી." ઇત્યાદિ પ્રકારે ભાવપૂર્વક પોતાના આચાર્ય આદિના સમક્ષ પ્રકાશિત કરવું તે પ્રત્યાખ્યાન છે પ્રત્યાખ્યાન નો આવરણીય પ્રત્યાખ્યાનાવરણીય કહેવાય છે જે પ્રત્યાખ્યાનાવરણીય ન હોય તે અપ્રત્યાખ્યાનાવરણીય છે અહિં નઞ્' શબ્દ ઉપમાના અર્થમાં છે અર્થાત્—જે કષાય પ્રત્યાખ્યાનાવરણીયની સમાન હોય તે અપ્રત્યાખ્યાનાવરણીય કહેવાય છે અથવા નઞ્' અલ્પ-થોડું—એવા અર્થમાં છે અર્થાત્

प्रत्याख्यानावरणीयकषायचतुष्टये क्रोधस्य-वालुकाराजिः, मानस्य-काष्ठस्तम्भ, मायाया-गच्छद्‌बलीवर्दमूत्रिका, लोभस्य-खञ्जनरागः।

संज्वलनकषायचतुष्टये क्रोधस्य-सलिलराजि', मानस्य-तृणस्तम्भः, मायाया-रथकारतक्षितकाष्ठसवल्लितत्वक्, लोभस्य-हरिद्राराग इति।

नोकषायमोहनीयस्य नव भेदा सन्ति-हास्य, रति', अरति, शोक', भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुसकवेद इति २५।

(५) आयुष्यकर्म चतुर्विधम्-नारक-तैर्यग्-मानुष-दैवायुर्भेदात्। यस्योदयात् प्रायोग्यप्रकृतिविशेषानुशायीभूत आत्मा नारकादिभावेन जीवति, यस्य च

प्रत्याख्यानावरणीय कषाय की चौकडी के उदाहरण-क्रोध का उदाहरण वालू में खींची हुई लकीर है। मान का उदाहरण काठका खमा है। माया का उदाहरण चलते हुए बैल के मूत्र की टेढ़ी-मेढी लकीर है और लोभ का उदाहरण खंजन-राग है।

संज्वलन कषाय की चौकडी के उदाहरण-क्रोध का उदाहरण जल में बनाई हुई लकीर है। मानका उदाहरण तिनके का स्तम्भ है। माया का उदाहरण बढई द्वारा छीले हुए काठका छिल्का है, और लोभ का उदाहरण हल्दी का रग है।

नोकषाय मोहनीय के नौ भेद हैं-हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुसकवेद २५।

(५) आयुष्य कर्म के चार भेद हैं-नरकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु और देवायु। जिस कर्म के उदय से प्रायोग्यप्रकृतिविशेषानुशायी अर्थात् जिस कर्म के उदय से उस-उस गतियोग्य प्रकृतिविशेष में स्थित आत्मा नारक आदि के रूप में जीता है

પ્રત્યાખ્યાનાવરણીય કષાયની ચોકડીનુ ઉદાહરણ-ક્રોધનુ ઉદાહરણ-રેતીમાં કરેલી લીટી છે માનનુ ઉદાહરણ-કાષ્ઠનો થાભલો છે માયાનુ ઉદાહરણ-ચાલતા બળદીઆના મૂત્રની વાંકી-ચૂંકી લીટી છે, અને લોભનુ ઉદાહરણ-ખંજન-રાગ છે

સંજ્વલન કષાયની ચોકડીના ઉદાહરણ-ક્રોધનું ઉદાહરણ-પાણીમા કરેલી લીટી છે માનનું ઉદાહરણ તણખલાનો થાભલો છે માયાનું ઉદાહરણ બઢઈ દ્વારા (સુતાર દ્વારા) છોલેલા લાકડાની છાલ છે અને લોભનું ઉદાહરણ-હલદરનો રંગ છે

નોકષાયમોહનીયના નવ ભેદ છે-હાસ્ય, રતિ, અરતિ, શોક, ભય, જુગુપ્સા, પુરુષવેદ, સ્ત્રીવેદ, અને નપુંસકવેદ ૨૫

(૫) આયુષ્ય-કર્મના ચાર ભેદ છે-નરકાયુ, તિર્યચાયુ, મનુષ્યાયુ, અને દેવાયુ જે કર્મના પ્રાયોગ્યપ્રકૃતિવિશેષાનુશાયી, અર્થાત્ જે કર્મના ઉદયથી તે-તે ગતિયોગ્ય પ્રકૃતિવિશેષમાં સ્થિત આત્મા નારકી આદિના રૂપમાં જીવે છે, અને જેના ક્ષયથી મરણ

प्रत्याख्यानस्य देशविरतिसर्वविरतिरूपस्य परिणामद्वयस्योत्पत्तेर्विघातकत्वात् प्रत्याख्यानावरणीया उच्यन्ते, न तु विद्यमानस्य प्रत्याख्यानस्य विघातकतयेति तत्त्वम्।

एवं सञ्ज्वलनकषायाः क्रोधादयश्चत्वारः ४। समस्तसावद्ययोगविरतं संयमस्थमपि यतिं दुःसहपरिषहसम्पाते सञ्ज्वलयन्ति=मालिन्यमापादयन्ति – इति सञ्ज्वलनाः। (१६)।

अप्रत्याख्यानावरणीयकषायचतुष्टये दृष्टान्ता उच्यन्ते—क्रोधस्य-तडागभूमिराजिः, मानस्यास्थिस्तम्भ, मायायाः मेषशृङ्ग, लोभस्य कर्दमरागः।

देशविरति और सर्वविरतिरूप प्रत्याख्यान की उत्पत्ति का घातक होने से इसे प्रत्याख्यानावरणीय कहते हैं, पहले से विद्यमान प्रत्याख्यान का घातक होने से नहीं।

इसी प्रकार क्रोध आदि चार सञ्ज्वलन कषाय हैं। सब प्रकार के सावद्य योग से निवृत्त संयम में लीन मुनि को दुःसह परीषह उपस्थित होने पर जलाने वाला अर्थात् मलिनता उत्पन्न करने वाला कषाय सञ्ज्वलन कहलाता है।

अप्रत्याख्यानावरणीयकषायचौकडी के दृष्टान्त बतलाते हैं—क्रोध का दृष्टान्त तडाग-भूमिराजि है, अर्थात् तालाब की भूमि फटने से उत्पन्न होनेवाली दरार के समान यह क्रोध होता है। मान का उदाहरण हड्डीका स्तंभ है। मायाका उदाहरण मेढाका सींग है और लोभ का दृष्टान्त गाडी का ओंगन (गाडी के पैये में दिये हुए तेल का कीटा) है।

દેશવિરતિ અને સર્વવિરતિરૂપ પ્રત્યાખ્યાનની ઉત્પત્તિનું ઘાતક હોવાથી તેને પ્રત્યાખ્યાનાવરણીય કહે છે, પહેલાથી વિદ્યમાન પ્રત્યાખ્યાનનું ઘાતક હોવાથી નહિ.

એ પ્રમાણે ક્રોધ આદિ ચાર સંજ્વલન કષાય છે, સર્વ પ્રકારના સાવદ્ય યોગથી નિવૃત્ત, સંયમમાં લીન મુનિને દુસ્સહ પરીષહ આવી પ્રાપ્ત થતાં જલાવવાવાળા અર્થાત્ મલિનતા ઉત્પન્ન કરવાવાળા કષાય સંજ્વલન કહેવાય છે

અપ્રત્યાખ્યાનાવરણીય-કષાય-ચોકડીનું દૃષ્ટાન્ત બતાવે છે—ક્રોધનું દૃષ્ટાન્ત તલાવની ભૂમિરાજિ છે અર્થાત્ તલાવની ભૂમિ ફાટવાથી ઉત્પન્ન થયેલી ફાટ-ચીરના સમાન એ ક્રોધ હોય છે માનનું ઉદાહરણ હાડકાનો સ્તંભ છે માયાનું ઉદાહરણ ઘેટાનાં સીંગ છે, અને લોભનું દૃષ્ટાન્ત ગાડીની મળી (ગાડીનાં પૈડાંમા અપાયેલા તેલનું કીટું) છે

नाम, (१४) आनुपूर्वीनाम, (१५) अगुरुलघुनाम, (१६) उपघातनाम, (१७) पराघातनाम, (१८) आतपनाम, (१९) उद्योतनाम, (२०) उच्छ्वासनाम, (२१) विहायोगतिनाम, (२२) प्रत्येकशरीरनाम, (२३) साधारणशरीरनाम, (२४) त्रसनाम, (२५) स्थावरनाम, (२६) सुभगनाम, (२७) दुर्भगनाम, (२८) सुस्वरनाम, (२९) दुस्स्वरनाम, (३०) शुभनाम, (३१) अशुभनाम, (३२) सूक्ष्मनाम, (३३) बादरनाम, (३४) पर्याप्तनाम. (३५) अपर्याप्तनाम, (३६) स्थिरनाम, (३७) अस्थिरनाम, (३८) आदेयनाम, (३९) अनादेयनाम, (४०) यशोनाम, (४१) अयशोनाम, (४२) तीर्थङ्करनाम ।

एते मूलभेदाः पिण्डप्रकृतिनाम्नापि कथ्यन्ते । अत्र गत्यादिचतुर्दशपिण्डप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतयः- पञ्चषष्टिः (६५) ।

---

(१५) अगुरुलघुनाम, (१६) उपघातनाम, (१७) पराघातनाम, (१८) आतपनाम, (१९) उद्योतनाम, (२०) उच्छ्वासनाम, (२१) विहायोगतिनाम, (२२) प्रत्येकशरीरनाम, (२३) साधारणशरीरनाम, (२४) त्रसनाम, (२५) स्थावरनाम, (२६) सुभगनाम, (२७) दुर्भगनाम, (२८) सुस्वरनाम, (२९) दुस्वरनाम, (३०) शुभनाम, (३१) अशुभनाम, (३२) सूक्ष्मनाम, (३३) बादरनाम, (३४) पर्याप्तनाम, (३५) अपर्याप्तनाम, (३६) स्थिरनाम, (३७) अस्थिर नाम, (३८) आदेयनाम, (३९) अनादेयनाम, (४०) यश कीर्तिनाम, (४१) अयश कीर्ति नाम, और (४२) तीर्थंकरनाम-कर्म ।

इन बयालीस प्रकृतियों में जिन प्रकृतियों के अवान्तर भेद हैं, उन्हें पिण्ड-प्रकृति कहते हैं । गति आदि चौदह पिण्डप्रकृतियाँ हैं और उनके पैंसठ (६५) भेद होते हैं ।

અગુરૂલઘુનામ, (૧૬) ઉપઘાતનામ,(૧૭)પરાઘાતનામ, (૧૮)આતપનામ, (૧૯)ઉદ્યોતનામ, (૨૦) ઉચ્છ્વાસનામ, (૨૧) વિહાયોગતિનામ, (૨૨) પ્રત્યેકશરીરનામ, (૨૩) સાધારણ શરીરનામ, (૨૪) ત્રસનામ, (૨૫) સ્થાવરનામ, (૨૬) સુભગનામ,(૨૭) દુર્ભગનામ, (૨૮) સુસ્વરનામ, (૨૯) દુ સ્વરનામ, (૩૦) શુભનામ, (૩૧) અશુભનામ, (૩૨) સૂક્ષ્મનામ, (૩૩) બાદરનામ, (૩૪) પર્યાપ્તનામ, (૩૫) અપર્યાપ્તનામ, (૩૬) સ્થિરનામ, (૩૭) અસ્થિરનામ, (૩૮) આદેયનામ, (૩૯) અનાદેયનામ, (૪૦) યશઃકીર્તિનામ, (૪૧) અયશઃકીર્તિનામ, (૪૨) તીર્થંકરનામ-કર્મ

આ બેતાલીસ પ્રકૃતિઓમા જે પ્રકૃતિઓના અવાન્તર ભેદ છે, તેને પિંડપ્રકૃતિ કહે છે ગતિ આદિ ચૌદ પિંડપ્રકૃતિઓ છે અને પાંસઠ (૬૫) તેના ભેદ છે

क्षयान्म्रियत उच्यते, तदायुः। यद्वा-आनीयन्ते शेषप्रकृतय उपभोगाय जीवेन यस्मिन्, तदायुः। यथा-कांस्यादिपात्रे शाल्योदनव्यञ्जनादयो भोक्त्रा भोक्तुमानीयन्ते, तद्वत्।

(६) नमयति=प्रापयति नारकादिसंज्ञां जीवमिति नाम। नामकर्मणस्त्रिनवतिर्भेदाः भवन्ति।

तत्र मूलभेदाः द्विचत्वारिंशत्। तथाहि—

(१) गतिनाम, (२) जातिनाम, (३) शरीरनाम, (४) अङ्गोपाङ्गनाम, (५) निर्माणनाम, (६) बन्धननाम, (७) संघातनाम, (८) संस्थाननाम, (९) संहनननाम, (१०) वर्णनाम, (११) गन्धनाम, (१२) रसनाम, (१३) स्पर्श-

---

और जिस के क्षय से मर जाता है, उसे आयुकर्म कहते हैं। अथवा जिस में जीव भोगने के लिए अन्य प्रकृतियों को लाता है वह आयु है, जैसे कांसे आदि के भाजन में चावल, ओदन, व्यंजन आदि वस्तुएँ भोगने वाला पुरुष लाता है, उसी प्रकार शेष प्रकृतियाँ आयु में भोगी जाती हैं।

(६) नाम-कर्म के तेरानवे (९३) भेद-जो कर्म जीव को नारक आदि संज्ञाओं का पात्र बनाता है, वह नामकर्म कहलाता है। उसके तेरानवे भेद हैं। उन में भी मूल भेद बयालीस हैं, वे इस प्रकार-(१) गतिनाम, (२) जातिनाम, (३) शरीरनाम, (४) अङ्गोपाङ्ग-नाम, (५) निर्माणनाम, (६) बन्धननाम, (७) संघातनाम, (८) संस्थाननाम, (९) संहनननाम (१०) वर्णनाम, (११) गन्धनाम, (१२) रसनाम, (१३) स्पर्शनाम, (१४) आनुपूर्वीनाम,

---

પામે છે, તેને આયુકર્મ કહે છે અથવા જેમા જીવ અન્ય પ્રકૃતિઓને ભોગવવા માટે લાવે છે તે આયુ છે જેમ કે કાંસા આદિના વાસણમા ચોખા, ભાત, વ્યંજન (શાક) આદિ વસ્તુઓ ભોગવવાવાળા પુરૂષ લાવે છે તે પ્રમાણે શેષ-પ્રકૃતિઓ આયુમાં ભોગવાય છે

(૬) નામકર્મના ત્રાણુ (૯૩) ભેદ છે જે કર્મ જીવને નારકી આદિ સંજ્ઞાઓનુ પાત્ર બનાવે છે, તે નામકર્મ કહેવાય છે, તેના ત્રાણુ (૯૩) ભેદ છે તેમાં પણ મૂલ ભેદ બેતાલીસ છે તે આ પ્રમાણે-(૧) ગતિનામ,(૨) જાતિનામ,(૩) શરીરનામ,(૪) અંગોપાંગ નામ,(૫) નિર્માણનામ,(૬) બંધનનામ,(૭) સંઘાતનામ,(૮) સંસ્થાનનામ,(૯) સંહનનનામ,(૧૦) વર્ણનામ,(૧૧)ગંધનામ,(૧૨)રસનામ,(૧૩)સ્પર્શનામ,(૧૪) આનુપૂર્વીનામ,(૧૫)

पृष्टम् , उदर, करौ, पादौ च। वन्दने तु पञ्चाङ्गान्येव प्रशस्तानि– द्वौ चरणौ, द्वौ करौ, शिरश्चेति। तत्र चरणावित्यनेन जानुनी गृह्येते। एतानि पञ्चाङ्गानि भूमावारोप्य वन्दनं पञ्चाङ्गवन्दनम्। अष्टानामङ्गानामेकैकस्योपाङ्गमनेकप्रकारम्, तत्र शिरोङ्गस्योपाङ्गनामानि – यथा – मस्तिष्क – कपाल – कृकाटिका – शङ्ख–ललाट–तालु–कपोल–हनु–चिबुक–दशनौ–ष्ठ–भ्रू–नयन–कर्ण –नासादीनि। तत्र मस्तिष्क शिरोऽङ्गस्यारम्भकोऽवयव ।

ननु मस्तिष्क धातुविशेषो न त्वङ्गं नाप्युपाङ्गम्? इति चेत्, उच्यते–कपालादिवत् शिरोऽङ्गस्यारम्भकत्वान्मस्तिष्कमप्युपाङ्गं शिरसोऽवगन्तव्यम्।

स्थावरपञ्चके तूर'प्रभृतीन्यङ्गानि न सन्ति।

पैरों का अभिप्राय घुटना समझना चाहिए। इन पांचों अङ्गों को भूमि पर टिका कर वन्दना करना पञ्चाङ्गवन्दना है। इन आठों अङ्गों में से प्रत्येक अङ्ग के अनेक उपाङ्ग हैं। उन में से सिरअङ्ग के उपाङ्ग इस प्रकार हैं–मस्तिष्क, कपाल, कृकाटिका, शंख, ललाट, तालु, कपोल, हनु, दाढी, चिबुक (ठोडी) दांत, ओठ भौंह, नेत्र, कान, नाक, आदि। मस्तिष्क, शिररूप अङ्ग का आरम्भक अवयव है।

'मस्तिष्क एक प्रकार की धातु है, अङ्ग नहीं है और न उपाङ्ग ही है' इसका समाधान यह है कि–कपाल आदि के समान सिररूप अङ्गका आरम्भक होने के कारण मस्तिष्क शिर का उपाङ्ग, ही है।

पाच स्थावरों में छाती आदि अङ्ग नहीं होते।

પગનો અભિપ્રાય ઘુટણ સમજવુ જોઇએ. આ પાચ અગોને ભૂમિપર અડાડીને વદના કરવી તે પચાંગ વદના છે આ આઠે અંગોમાંથી પ્રત્યેક અગનાં અનેક ઉપાંગ છે તેમાંથી શિર–અગના ઉપાંગ આ પ્રમાણે છે—મસ્તિષ્ક, કપાલ, કુકાટિકા (ગ્રીવાનો ઉન્નત દેશ) શખ (કણુંસમીપનુ અસ્થિ) લલાટ, તાળુ, ગાલ, દાઢી, ચિબુક (હડપચી વચ્ચેનો છાછર ખાડો) દાત, ઓઠ, ભૌહ, નેત્ર, કાન, નાક આદિ મસ્તિષ્ક શિરરૂપ અગનુ આરભક અવયવ છે

'મસ્તિષ્ક એક પ્રકારની ધાતુ છે, અગ નથી અને પ્રત્યગ પણ નથી' તેનુ સમાધાન એ છે કે–કપાલ આદિ પ્રમાણે શિરરૂપ અગનુ આરભક હોવાના કારણે મસ્તિષ્ક, શિરનુ ઉપાંગજ છે

પાંચ સ્થાવરોમાં છાતી આદિ અગ નથી.

[१] गतिनाम्नः पिण्डप्रकृतेश्चत्वारो भेदाः— नरकगतिनाम, तिर्यग्गतिनाम, मनुष्यगतिनाम, देवगतिनाम च ।

[२] जातिनाम्नो भेदाः पञ्च – एकेन्द्रियजातिनाम, द्वीन्द्रियजातिनाम, त्रीन्द्रियजातिनाम, चतुरिन्द्रियजातिनाम, पञ्चेन्द्रियजातिनाम ।

[३] शरीरनाम पञ्चविधम्—औदारिकशरीरनाम, वैक्रियशरीरनाम, आहारकशरीरनाम, तैजसशरीरनाम, कार्मणशरीरनाम ।

[४] अङ्गान्युपाङ्गानि च यस्य कर्मण उदयाद्भवन्ति, तदङ्गोपाङ्गनामकर्म । तत् त्रिविधम्—औदारिक–वैक्रियका–ऽऽहारक–भेदात् । तत्राङ्गान्यष्टौ–उर, शिर',

---

[१] गतिनामकर्म के चार भेद—नरकगतिनामकर्म, तिर्यंचगतिनामकर्म, मनुष्यगति-नामकर्म और देवगतिनामकर्म ।

[२] जातिनामकर्म के पांच भेद हैं—एकेन्द्रियजातिनाम, द्वीन्द्रियजातिनाम, त्रीन्द्रिय जातिनाम, चतुरिन्द्रियजातिनाम और पञ्चेन्द्रियजातिनाम—कर्म ।

[३] शरीरनामकर्म के पांच भेद हैं—औदारिकशरीरनाम, वैक्रियशरीरनाम; आहारक-शरीरनाम, तैजसशरीरनाम और कार्मणशरीरनाम—कर्म ।

[४] जिस कर्म के उदय से अङ्ग और उपाङ्ग होते हैं वह अङ्गोपाङ्गशरीरनामकर्म, कहलाता है । उसके तीन भेद हैं औदारिक—अङ्गोपाङ्ग, वैक्रिय—अङ्गोपाङ्ग और आहारक अङ्गोपाङ्ग । इन में अङ्ग आठ होते हैं—छाती, सिर, पीठ, पट, दो हाथ और दो पैर । वन्दना करने में पांच अङ्ग प्रशस्त माने जाते हैं—दो पैर, दो हाथ, और सिर । यहाँ

---

(૧) ગતિનામકર્મના ચાર ભેદ—નરકગતિનામકર્મ, તિર્યંચગતિનામકર્મ, મનુષ્યગતિનામકર્મ અને દેવગતિનામ-કર્મ

(૨) જાતિનામકર્મના પાંચ ભેદ છે—એકેન્દ્રિયજાતિનામ, દ્વીન્દ્રિયજાતિનામ, ત્રીન્દ્રિયજાતિનામ, ચતુરિન્દ્રિયજાતિનામ, અને પંચેન્દ્રિયજાતિનામ–કર્મ

(૩) શરીરનામકર્મના પાંચ ભેદ છે—ઔદારિકશરીરનામ, વૈક્રિયશરીરનામ, આહારકશરીરનામ, તૈજસશરીરનામ, અને કાર્મણશરીરનામ-કર્મ

જે કર્મના ઉદયથી અંગ અને ઉપાંગ થાય છે તે અંગોપાંગશરીરનામકર્મ કહેવાય છે તેના ત્રણ ભેદ છે ઔદારિકઅંગોપાંગ, વૈક્રિયઅંગોપાંગ અને આહારક-અંગોપાંગ. તેમાં અંગ આઠ હોય છે- છાતી, શિર, પીઠ, પેટ બે હાથ અને બે પગ વંદના કરવામાં પાંચ અંગ પ્રશસ્ત માન્યા છે બે પગ બે હાથ અને શિર-માથું અહિં

कारणानुरूप हि कार्यं दृष्टम् । सघातविशेषादेव हि विभागेन पुरुषादिशरीरव्यपदेशो भवति । सघातनाम पञ्चधा–औदारिकादिभेदात् ।

[७] बध्यमानेषु शरीरयोग्यपुद्गलेषु यस्य कर्मण उदयात् आकार-विशेषो भवति तत् सस्थाननाम । एतच्च षड्विधम्–(१) समचतुरस्रनाम–(२) न्यग्रोधपरिमण्डलनाम–(३) सादिनाम–(४) कुब्जनाम–(५) वामननाम–(६) हुण्ड-नामभेदात् ।

[८] सहनननाम–अस्थ्नां बन्धविशेष. । तच्च षड्विधम्–(१) वज्रर्षभ-नाराचनाम, (२) अर्धवज्रर्षभनाराचनाम, (३) नाराचनाम, (४) अर्धनाराचनाम, (५) कीलिकानाम, (६) सेवार्तनाम च ।

ही होता है । संघात की भिन्नता के कारण ही शरीरों में स्त्री, पुरुष आदिका भेद-व्यवहार होता है । औदारिक आदि के भेद से सघात भी पांच प्रकार का है ।

[७] बांधे जाते हुए शरीरयोग्य पुद्गलों में जिस कर्म के उदय से आकृति विशेष बनता है उसे सस्थाननामकर्म कहते हैं । सस्थान छह प्रकारका है—

(१) समचतुरस्र-सस्थान, (२) न्यग्रोधपरिमण्डल-सस्थान, (३) सादि-सस्थान, (४) कुब्जक–सस्थान, (५) वामन-सस्थान, (६) हुण्डक-सस्थान ।

[८] अस्थियों के बन्धविशेष को सहनननामकर्म कहते हैं । उसके छह भेद हैं–(१) वज्रर्षभनाराच-सहनन, (२) अर्धवज्रर्षभनाराच सहनन, (३) नाराच-सहनन, (४) अर्धनाराच-सहनन, (५) कीलिका-सहनन और (६) सेवार्त-संहनन ।

કાર્ય, કારણ જેવાંજ હોય છે સઘાતની ભિન્નતાના કારણેજ શરીરોમાં સ્ત્રી, પુરૂષ આદિનો ભેદ–વ્યવહાર હોય છે ઔદારિક આદિના ભેદથી સઘાત પણ પાચ પ્રકારના છે

(૭) બંધાતા શરીરયોગ્ય પુદ્ગલોમા જે કર્મના ઉદયથી આકૃતિવિશેષ બને છે તેને સસ્થાનનામકર્મ કહે છે સસ્થાન છ પ્રકારના છે—(૧) સમચતુરસ્ર–સસ્થાન, (૨) ન્યગ્રોધપરિમડલ–સસ્થાન, (૩) સાદિ–સસ્થાન, (૪) કુબ્જક–સસ્થાન, (૫) વામન–સસ્થાન, (૬) હુડક–સસ્થાન.

(૮) અસ્થિઓના બધવિશેષને સહનનનામકર્મ કહે છે તેના છ ભેદ છે–(૧) વજ્રઋષભનારાચસહનન, (૨) અર્ધવજ્રઋષભનારાચસહનન, (૩) નારાચસહનન, (૪) અર્ધનારાચસહનન, (૫) કીલિકાસહનન અને (૬) સેવાર્તસહનન.

(५) शरीरनामकर्मोदयाद् गृहीतेषु गृह्यमाणेषु या तद्योग्यपुद्गलेष्वात्मप्रदेशस्थितेषु शरीराकारेण परिणामितेष्वपि जतुकाष्ठवत् परस्परमवियोगलक्षणं बन्धननाम। यदीदं न स्यात् ततो वालुकापुरुषवद् विघटितानि शरीराणि स्युः। बन्धननाम पञ्चधा—औदारिकादिभेदात्।

(६) काष्ठपिण्डमृत्पिण्डाय:पिण्डवत् बद्धानामपि पुद्गलानां संघातविशेषजनकं संघातनाम। यदि संघातनामरूपं कर्मभेदो न स्यात्तर्हि पुरुषयोषिद् गवादिरूपनानाशरीरभेदो न स्यात्। संघातविशेषजनकाऽन्यकर्मविशेषाभावात्।

---

[५] शरीरनामकर्म के उदय से ग्रहण किये हुए या ग्रहण किये जाते हुए आत्मप्रदेशों में स्थित और शरीर के आकार परिणत किये हुए शरीर के योग्य पुद्गलों में लाख और लकड़ी के समान परस्पर अवियोग होना बन्धननामकर्म है, अगर बन्धननामकर्म न होता तो बालू से बनाये हुए पुरुष के समान बिखर जाता। औदारिक आदि के भेद से बन्धन के भी पांच भेद हैं।

[६] काष्ठपिंड, मृत्तिकापिंड या लोह के पिंड के समान बद्ध पुद्गलों में भी एक विशेष प्रकार का संघात (घनिष्ठता) उत्पन्न करने वाला कर्म संघातनामकर्म कहलाता है, और संघातनामकर्म न होता तो पुरुष स्त्री गो आदिरूप भेद शरीर में न होता, क्यों कि संघातविशेष उत्पन्न करने वाला अन्य कर्म ही नहीं है। कार्य, कारण जैसा

---

(५) शरीरनामकर्मना उदयथी ग्रहण करेला अथवा ग्रहण करवामां आवता आत्मप्रदेशोमां स्थित अने शरीरना आकारे परिणत करेला शरीरना योग्य पुद्गलोमां लाख अने लाकडीना समान अवियोग होवुं ते बंधननामकर्म छे अथवा बंधननाम कर्म न होत तो रेतीथी बनावेला पुरुषनी समान विखेराई जात. औदारिक आदिना भेदथी बंधनना पण पांच भेद छे

(६) काष्ठपिंड, मृत्तिकापिंड, अथवा लोहाना पिंड समान बद्ध पुद्गलोमां पण एक विशेष प्रकारना संघात (घनिष्ठता) उत्पन्न करवावाळा कर्म ते संघात–नामकर्म कहेवाय छे अथवा संघातनामकर्म न होय तो पुरुष, स्त्री, गाय आदि रूपभेद शरीरमां होय नहि. कारणके संघात–विशेष उत्पन्न करवावाळा अन्य कर्म ज नथी.

(१३) नारकादिगतिं गन्तुरन्तर्गतौ वर्तमानस्य तदभिमुखमानुपूर्व्या [तत्तद्देशक्रमेण] तत्तत्प्रापणसमर्थमानुपूर्वीनाम। गत्यन्तरं गच्छतो जीवस्य यत्कर्मोदयाद्-विग्रहेण तद्गमनानुगुण्यं स्यात्, तदपि-आनुपूर्वीशब्दवाच्यं भवति। यथा-वारिवेगो बलीवर्दादेः, यथा वा नस्योतस्य बलीवर्दस्य नासारज्ज्वां प्रतिबद्धा रज्जुः, तथाऽऽनु-पूर्वीकर्म जीवस्य गत्यन्तरप्रापणार्थं समाकर्षकतयोपग्रहस्वरूपम्।

अन्तर्गतिश्च यावन्मनुष्यो नरकादिवाच्यमुत्पत्तिस्थानं न प्राप्नोति ताव-त्कालिकी गतिः। सा द्विविधा-ऋज्वी, वक्रा च। तत्र यदा ऋज्व्या समय-

---

(१३) नरक आदि गति में जाने वाला जीव-जो कि अन्तर्गति (विग्रहगति) में वर्तमान है, उसको उन नरक आदि गतियों की ओर अभिमुख करके आनुपूर्वी से अर्थात् उस उस स्थान के क्रम से उन २ गतियों में पहुचाने में जो कर्म समर्थ होता है, उस कर्म को आनुपूर्वीकर्म कहते हैं। यद्यपि आनुपूर्वी शब्द का अर्थ उस उस स्थानका क्रम है तथापि-गत्यन्तर में जाते हुए जीव को जिस कर्म के उदय होने पर उस गति में उस उस स्थान के क्रम से जाना होता है, इस लिये उस कर्म को भी आनुपूर्वी कहते हैं। जैसे जलका प्रवाह बैलको अपनी ओर खींच लेता है। अथवा जैसे गाडीवान बैलको नाथ पकड कर अपनी ओर मोड लेता है, उसी प्रकार आनुपूर्वीकर्म-जीवने जिस गतिका कर्म बांधा है उस गति में उसको पहुँचा देता है, इस लिये वह गति में पहुँचाने के लिये सहायक है।

जब तक मनुष्य अपनी मनुष्यगति को छोडकर नरक आदि किसी गति में नहीं पहुँचा है, तब तक की अर्थात् बीचकी गतिको अन्तर्गति-विग्रहगति-कहते हैं। वह दो प्रकार की है-सरल और वक्र। जीव जब एकसमयप्रमाणवाली सरल (सीधी)

---

(૧૩) નરક આદિ ગતિમાં જવાવાળા જીવ જે કે-અન્તર્ગતિ (વિગ્રહગતિ)મા વર્ત્તમાન છે તેને તે નરક આદિ ગતિઓની તરફ અભિમુખ કરીને આનુપૂર્વીથી અર્થાત્ તે તે સ્થાનના ક્રમથી તે તે ગતિઓમા પહોચાડવામા જે કર્મ સમર્થ હોય છે તે કર્મને આનુપૂર્વી કર્મ કહે છે જો કે આનુપૂર્વી શબ્દનો અર્થ તે તે સ્થાનનો ક્રમ, એવો છે તો પણ ગત્યન્તરમા જતે જીવને જે કર્મનો ઉદય થવાથી તે ગતિમા તે તે સ્થાનના ક્રમથી જવું હોય છે, આ લા માટે તે કર્મને આનુપૂર્વી કહે છે જેમ પાણીનો પ્રવાહ બળદીયાને પોતાની તરફ ખેંચી લે છે, અથવા જેમ ગાડીવાળો બળદીયાને તેની નાથ પકડીને પોતાની બાજુ મોડી લે છે તેજ પ્રમાણે આનુપૂર્વીકર્મ-જીવ જે ગતિનું કર્મ બાંધ્યુ છે તે ગતિમા તેને પહોંચાડી દે છે માટે તે ગતિમા પહોચાડવાને માટે સહાયક છે

જ્યાં સુધી મનુષ્ય પોતાની મનુષ્યગતિને મૂકીને નરક આદિ બીજી ગતિમા નથી પહોંચ્યો ત્યાં સુધીની અર્થાત્ વચલી ગતિને અન્તર્ગતિ-વિગ્રહગતિ કહે છે તે બે પ્રકારની હોય છે-સરલ અને વક્ર જીવ જ્યારે એકસમયપ્રમાણવાળી સરલ (સીધી) ગતિથી

(९) औदारिकादिषु शरीरेषु यस्य कर्मण उदयात् कर्कशादिः स्पर्शविशेषो जायते, तद् स्पर्शनाम। स्पर्शनामाष्टधा-कर्कश-मृदु-गुरु-लघु-स्निग्ध-रूक्ष-शीतो-ष्णनामभेदात्।

(१०) रसनाम पञ्चविधम्-तिक्त-कटु-कषाया-ऽम्ल-मधुरभेदात्। लवणो मधुरान्तर्गत इति केचित्।

(११) शरीरविषय सौरभं दुर्गन्धित्वं च यस्य कर्मणो विपाकाभिर्वर्तते, तद् गन्धनाम। गन्धनाम द्विविधम्-सुगन्ध-दुर्गन्धभेदात्।

(१२) यस्योदयाच्छरीरेषु कृष्णादिपञ्चविधवर्णनिष्पत्तिर्भवति तद् वर्णनाम, तत् पञ्चविधम्-कृष्ण-नील-लोहित-पीत-शुक्लभेदात्। सर्वाणि चैतानि स्पर्शनामादीनि वर्णनामान्तानि शरीरवर्तिषु पुद्गलेषु परिणतानि भवन्ति।

---

(९) औदारिक आदि शरीरों में जिस कर्म के उदय से कठोर आदि स्पर्श उत्पन्न होता है उसे स्पर्शनामकर्म कहते हैं। स्पर्शनामकर्म आठ प्रकार का है-कठोर, कोमल, भारी, हल्का, चिकना, रूखा, शीत, और उष्ण।

(१०) रसनामकर्म पांच प्रकार का है-तीखा, कडुवा, कसैला, खट्टा और मीठा। किसी के मत से लवण मधुर रस के अन्तर्गत है।

(११) जिस कर्म के उदय से शरीर में सुगन्ध या दुर्गन्ध उत्पन्न होती है उसे गन्ध नामकर्म कहते हैं। उसके दो भेद हैं-सुगन्धनाम और दुर्गन्धनाम।

(१२) जिस कर्म के उदय से शरीरों में कृष्ण आदि पांच वर्णों की उत्पत्ति होती है, वह वर्णनामकर्म है। इस के पांच भेद हैं-कृष्ण, नील, रक्त, पीत और शुक्ल, स्पर्श से लेकर वर्ण तक ये सब, शरीरवर्ती पुद्गलों में ही परिणत होते हैं।

---

(૯) ઔદારિક આદિ શરીરોમાં જે કર્મના ઉદયથી કઠોર આદિ સ્પર્શ ઉત્પન્ન થાય છે તેને સ્પર્શનામકર્મ કહે છે સ્પર્શનામકર્મના આઠ પ્રકારના છે-કઠોર, કોમલ, ભારી, હલકો, ચિકણો રૂખો, શીત અને ઉષ્ણ

(૧૦) રસનામકર્મ પાંચ પ્રકારે છે—તીખો, કડવો, કસાએલો, ખાટો અને મીઠો. કેટલાકના મતથી લવણ મધુર રસની અન્તર્ગત છે

(૧૧) જે કર્મના ઉદયથી શરીરમાં સુગંધ અથવા દુર્ગંધ ઉત્પન્ન થાય છે તેને ગંધનામકર્મ કહે છે તેના બે ભેદ છે-સુગંધનામ અને દુર્ગંધનામ.

(૧૨) જે કર્મના ઉદયથી શરીરમાં કૃષ્ણ આદિ પાંચ વર્ણોની ઉત્પત્તિ થાય છે તે વર્ણનામકર્મ કહેવાય છે તેના પાંચ ભેદ છે—કાળો, નીલો, રાતો, પીળો અને ધોળો. સ્પર્શથી લઈને વર્ણ સુધી એ બધાય શરીરવર્તી પુદ્ગલોમાંજ પરિણત થાય છે.

(१३) नारकादिगतिं गन्तुरन्तर्गतौ वर्तमानस्य तदभिमुखमानुपूर्व्या [तत्तद्देशक्रमेण] तत्तत्प्रापणसमर्थमानुपूर्वीनाम । गत्यन्तरं गच्छतो जीवस्य यत्कर्मोदयाद्विशयेन तद्गमनानुगुण्यं स्यात्, तदपि-आनुपूर्वीशब्दवाच्यं भवति । यथा-वारिवेगो बलीवर्दादे, यथा वा नस्योतस्य बलीवर्दस्य नासारज्ज्वां प्रतिबद्धा रज्जुः, तथाऽऽनुपूर्वीकर्म जीवस्य गत्यन्तरप्रापणार्थं समाकर्षकतयोपग्रहस्वरूपम् ।

अन्तर्गतिश्च यावन्मनुष्यो नरकादिवाच्यमुत्पत्तिस्थानं न प्राप्नोति तावत्कालिकी गतिः । सा द्विविधा-ऋज्वी, वक्रा च । तत्र यदा ऋज्व्या समय-

(१३) नरक आदि गति में जाने वाला जीव-जो कि अन्तर्गति (विग्रहगति) में वर्तमान है, उसको उन नरक आदि गतियों की ओर अभिमुख करके आनुपूर्वी से अर्थात् उस उस स्थान के क्रम से उन २ गतियों में पहुचाने में जो कर्म समर्थ होता है, उस कर्म को आनुपूर्वीकर्म कहते हैं । यद्यपि आनुपूर्वी शब्द का अर्थ उस उस स्थानका क्रम है तथापि-गत्यन्तर में जाते हुए जीव को जिस कर्म के उदय होने पर उस गति में उस उस स्थान के क्रम से जाना होता है, इस लिये उस कर्म को भी आनुपूर्वी कहते हैं । जैसे जलका प्रवाह बैलको अपनी ओर खींच लेता है । अथवा जैसे गाडीवान बैलको नाथ पकड कर अपनी ओर मोड लेता है, उसी प्रकार आनुपूर्वीकर्म-जीवने जिस गतिका कर्म बाँधा है उस गति में उसको पहुँचा देता है, इस लिये वह गति में पहुँचाने के लिये सहायक है ।

जब तक मनुष्य अपनी मनुष्यगति को छोडकर नरक आदि किसी गति में नहीं पहुँचा है, तब तक की अर्थात् बीचकी गतिको अन्तर्गति-विग्रहगति-कहते हैं। यह दो प्रकार की है-सरल और वक्र । जीव जब एकसमयप्रमाणवाली सरल (सीधी)

(१३) નરક આદિ ગતિમા જવાવાળા જીવ જે કે-અન્તર્ગતિ (વિગ્રહગતિ)મા વર્ત્તમાન છે તેને તે નરક આદિ ગતિઓની તરફ અભિમુખ કરીને આનુપૂર્વીથી અર્થાત્ તે તે સ્થાનના ક્રમથી તે તે ગતિઓમા પહોચાડવામાં જે કર્મ સમર્થ હોય છે તે કર્મને આનુપૂર્વી કર્મ કહે છે જો કે આનુપૂર્વી શબ્દનો અર્થ તે તે સ્થાનનો ક્રમ, એવો છે તો પણ ગત્યન્તરમા જતે જીવને જે કર્મનો ઉદય થવાથી તે ગતિમાં તે તે સ્થાનના ક્રમથી જવું હોય છે, આ કારણ માટે તે કર્મને આનુપૂર્વી કહે છે જેમ પાણીનો પ્રવાહ બળદીયાને પોતાની તરફ ખેંચી લે છે, અથવા જેમ ગાડીવાળો બળદીયાને તેની નાથ પકડીને પોતાની બાજુ મોડી લે છે તેજ પ્રમાણે આનુપૂર્વીકર્મ-જીવ જે ગતિનું કર્મ બાંધ્યુ છે તે ગતિમા તેને પહોંચાડી દે છે માટે તે ગતિમાં પહોચાડવાને માટે સહાયક છે

જ્યાં સુધી મનુષ્ય પોતાની મનુષ્યગતિને મૂકીને નરક આદિ બીજી ગતિમા નથી પહોંચ્યો ત્યાં સુધીની અર્થાત્ વચલી ગતિને અન્તર્ગતિ-વિગ્રહગતિ કહે છે તે બે પ્રકારની હોય છે -સરલ અને વક્ર. જીવ જ્યારે એકસમયપ્રમાણવાળી સરલ (સીધી) ગતિથી

प्रमाणया गच्छति, तदाऽऽयुष्यकर्मणैवोत्पत्तिस्थानं प्राप्नोति । तत्रानुपूर्वीनाम्न' कश्चिदुपयोगो न भवति । वक्रगत्या पुनः प्रवृत्तः कूर्पर- (वक्राकाररथावयव)- लाङ्गल-गोमूत्रिकालक्षणया द्वित्रिचतुःसमयमानया वक्रारम्भकाले पुरस्कृत- मायुरादत्ते, तदैव चानुपूर्वीनामाप्युदेति ।

ननु च यथैव ऋज्व्यां गतौ विनाऽऽनुपूर्वीनामकर्मणा गतिं प्राप्नोति, तद्वद् वक्रगत्यामपि कस्मान्न ? इति चेत्, उच्यते-ऋज्व्यां-पूर्वायुष्कर्मव्यापारेणैव गच्छति, यत्र तत् पूर्वायुष्कर्म क्षीणं, तत्र तस्याध्वयष्टिस्थानीयस्यानुपूर्वीनामकर्मण उदयो भवति ।

गति से जाता है तब आयु कर्म के द्वारा ही उत्पत्तिस्थान को प्राप्त कर लेता है, वहां आनुपूर्वीनामकर्म का कोई उपयोग नहीं होता । जब जीव कूर्पर (रथ का टेढा अवयव) हल या गोमूत्रिका सरीखी और दो तीन या चार समयवाली वक्र गति से जाता है तब मोडके आरम्भ-समय में आगे की आयु ग्रहण करता है, उसी समय आनुपूर्वी कर्मका उदय होता है ।

शङ्का—जैसे सरलगति में आनुपूर्वीकर्म के विना ही गति प्राप्त करता है, उसी प्रकार वक्र गति में भी क्यों नहीं गति करता ? ।

समाधान—सरल गति में पहले के आयुकर्म के व्यापार से ही जीव गति करता है । जहाँ वह आयु क्षीण हो जाती है वहाँ मार्गयष्टि के समान आनुपूर्वीनामकर्म का उदय होता है ।

જાય છે, ત્યારે આયુકર્મદ્વારાજ ઉત્પતિ સ્થાનને પ્રાપ્ત કરી લે છે ત્યાં આનુપૂર્વી નામકર્મનો કોઈ ઉપયોગ થતો નથી જ્યારે જીવ કૂર્પર (રથનો વાંકો એક ભાગ) હલ અથવા ગોમૂત્રિકા સરખી અને બે, ત્રણ અથવા ચાર સમયવાળી વક્રગતિથી જાય છે ત્યારે વળવાના આરંભ સમયમાં આગળની આયુ ગ્રહણ કરે છે તે સમય આનુપૂર્વી કર્મનો ઉદય થાય છે

શંકા—જેમ સરલગતિમાં આનુપૂર્વીકર્મ વિનાજ ગતિ પ્રાપ્ત કરે છે તે પ્રમાણે વક્રગતિમાં ગતિ શા માટે કરતા નથી ?

સમાધાન—સરલગતિમાં પ્રથમના આયુકર્મના વ્યાપારથીજ જીવ ગતિ કરે છે ત્યાં તે આયુ ક્ષીણ થઈ જાય છે ત્યાં માર્ગયષ્ટિ-માર્ગની લાકડી-ના સમાન આનુપૂર્વી નામકર્મનો ઉદય થાય છે

आनुपूर्वीनाम चतुर्विधम्-नरकागत्यानुपूर्वीनाम, तिर्यग्गत्यानुपूर्वीनाम, मनुष्यगत्यानुपूर्वीनाम, देवगत्यानुपूर्वीनाम च ।

(१४) लब्धि-शिक्षर्द्धि-प्रत्ययस्याकाशगमनस्य जनकं नाम विहायोगतिः सामान्य गमनरूपा गतिरपि विहायोगति रित्युच्यते न तु केवलमाकाशगमनरूपेति। सा द्विधा-शुभा-शुभभेदात् । तत्र-हंस गज-वृषादीनां शुभा । उष्ट्रसृगालादीनाम् अशुभा । तत्र-लब्धिर्देवादीनां देवत्वोत्पत्त्यविनाभाविनी। शिक्षया ऋद्धिः, शिक्षर्द्धि, लब्ध्या शिक्षर्द्धया च तपस्विनां, शिक्षर्द्धया प्रवचनमधीयानाना विद्याद्यावर्तनप्रभावाद् या आकाशगमनस्य जनकं विहायोगतिनामकर्म ।

आनुपूर्वीनामकर्म चार प्रकार का है-नरकगत्यानुपूर्वीनाम, तिर्यग्गत्यानुपूर्वीनाम, मनुष्यगत्यानुपूर्वीनाम, और देवगत्यानुपूर्वीनाम ।

(१४) लब्धि एवं शिक्षाऋद्धिकारणक, आकाशगमन उत्पन्न करने वाला कर्म विहायोगतिनामकर्म कहलाता है। यह सामान्य गमनरूप गति भी विहायोगति कहलाती है, नहीं कि मात्र आकाशगमनरूप । इस के दो भेद हैं-शुभ और अशुभ । हंस, गज, वृषभ आदि की गति के समान शुभविहायोगति है और ऊंट सियार आदि की गतिके अनुसार अशुभविहायोगति है । देव के रूप में उत्पन्न होने के साथ ही उत्पन्न होने वाली लब्धि देवों को प्राप्त होती है । शिक्षा से प्राप्त होने वाली ऋद्धि शिक्षा-ऋद्धि कहलाती है। लब्धि एवं शिक्षा-ऋद्धि से तपस्वियों का आकाशगमन होता है । प्रवचन का अध्ययन करने वालों का विद्या आदि के आवर्तन के प्रभाव से या शिक्षाऋद्धि से जो आकाशगमन होता है यह विहायोगति है ।

આનુપૂર્વીનામકર્મ ચાર પ્રકારના છે—નરકગત્યાનુપૂર્વીનામ, તિર્યગ્ગત્યાનુપૂર્વીનામ, મનુષ્યગત્યાનુપૂર્વીનામ, અને દેવગત્યાનુપૂર્વીનામ

(૧૪) લબ્ધિ એવ શિક્ષા-ઋદ્ધિકારણક આકાશગમન ઉત્પન્ન કરવાવાળું કર્મ વિહાયોગતિનામકર્મ કહેવાય છે સામાન્ય ગમનરૂપ ગતિ પણ વિહાયોગતિ કહેવાય છે કેવળ આકાશગમનરૂપ ગતિ નહી તેના બે ભેદ છે-શુભ અને અશુભ હંસ, હાથી, બળદ વીગેરેની ગતિ સમાન શુભવિહાયોગતિ છે અને ઉંટ, શિયાલ વગેરેની ગતિ અનુસાર અશુભવિહાયોગતિ છે દેવના રૂપમાં ઉત્પન્ન હોવાના સાથેજ ઉત્પન્ન થવાવાળી લબ્ધિ દેવોને પ્રાપ્ત થાય છે શિક્ષાથી પ્રાપ્ત થવાવાળી ઋદ્ધિ શિક્ષાઋદ્ધિ કહેવાય છે લબ્ધિ એવ શિક્ષાઋદ્ધિથી તપસ્વિઓ આકાશગમન કરે છે પ્રવચનનું અધ્યયન કરવાવાળાના વિદ્યા આદિના આવર્તનના પ્રભાવથી અથવા શિક્ષાઋદ્ધિથી જે આકાશગમન થાય છે તે વિહાયોગતિ છે

(७) गोत्रकर्म द्विविधम्-उच्चनीचभेदात् । तत्रउच्चगोत्र-देश-जाति-कुल-स्थान-मान-सत्कारै-श्वर्याद्युत्कर्षजनकम् । तद्विपरीतं नीचगोत्रम्—अनार्यदेश-चाण्डालादिजातिदास्य-निर्वर्तकम् ।

(८) अन्तरायकर्म-पञ्चविधम्-दान लाभ भोगो-पभोग-वीर्यान्तरायभेदात् ।

एवं च सर्वसंकलनेनाष्टविधकर्मणामुत्तरप्रकृतिसंख्या अष्टचत्वारिंशदधिकैकशत (१४८) भवन्ति ।

कर्मक्षयविचार —

ज्ञानक्रियाभ्यां कर्मक्षयो भवति । उक्तषड्जीवनिकायाना यथार्थ-

---

(७) गोत्रकर्म दो प्रकार का है—उच्चगोत्र और नीचगोत्र । उच्चगोत्र से देश, जाति, कुल, स्थान, मान, सत्कार, ऐश्वर्य आदि का उत्कर्ष उत्पन्न होता है । नीचगोत्र इस से विपरीत है । इस से अनार्य देश, चाण्डाल आदि जाति और दासता उत्पन्न होती है ।

(८) अन्तराय कर्म के पांच भेद हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, और वीर्यान्तराय ।

इस प्रकार सबका योग करने पर आठों कर्मों की उत्तरप्रकृतियाँ एक सौ अडतालीस (१४८) होती हैं ।

कर्मक्षय का विचार

ज्ञान और क्रिया से कर्मों का क्षय होता है । पूर्वोक्त षड्जीवनिकाय के वास्तविक

---

(૭) ગોત્રકર્મ બે પ્રકારનું છે—ઉચ્ચગોત્ર અને નીચગોત્ર. ઉચ્ચગોત્રથી દેશ, જાતિ, કુલ, સ્થાન, માન, સત્કાર, ઐશ્વર્ય આદિનો ઉત્કર્ષ ઉત્પન્ન થાય છે નીચ ગોત્ર તેનાથી વિપરીત છે તેનાથી અનાર્ય દેશ, ચાંડાલ આદિ જાતિ અને દાસપણું વગેરે ઉત્પન્ન થાય છે.

અન્તરાયકર્મના પાંચ ભેદ છે—દાનાન્તરાય, લાભાન્તરાય, ભોગાન્તરાય, ઉપભોગાન્તરાય અને વીર્યાન્તરાય.

આ પ્રમાણે સર્વનો યોગ કરતાં આઠ કર્મોની ઉત્તરપ્રકૃતિઓ એકસો અડતાલીસ (૧૪૮) થાય છે

કર્મક્ષયનો વિચાર—

જ્ઞાન અને ક્રિયાથી કર્મોનો ક્ષય થાય છે પૂર્વોક્ત ષડ્જીવકાયના વાસ્તવિક

स्वरूपस्य विस्तरेण सक्षेपेण वा अववोधो ज्ञानम्। गुप्तिसमितिसमाराधनपूर्वक शास्त्रविधिना तपःसयमाचरण क्रिया।

अष्टकर्मणां भस्मसात्कारक तपः। तस्यानशनादयो द्वादश भेदाः। सावद्य क्रियाः सम्यक् परित्यज्य निरवद्यक्रियासु प्रवृत्तिः सयम। तस्य पृथिवीकायसंयमादयः सप्तदश भेदाः।

उक्तषड्जीवनिकायस्वरूप सम्यग विज्ञाय संयमपूर्वकतपश्चरणेनाभिनवकर्मप्रवेशाभावः, पूर्वोपचितकर्मपरिक्षयश्च भवति। तत्रैव क्रमः—

अष्टमगुणस्थानादात्मा क्षपकश्रेणिं समारोहति। असौ क्षपको नवमं दशम गुणस्थानं समारुह्य द्वादश गुणस्थानमारोहति। तत्र शुक्लध्यानस्य द्वितीय-

---

स्वरूप का विस्तारपूर्वक या सक्षिप्त बोध—ज्ञान कहलाता है। गुप्ति समिति का आराधन करते हुए शास्त्रोक्त विधि के साथ तप और सयम का आराधन करना क्रिया है।

आठ कर्मों का भस्म करना तप है। तप के अनशन आदि बारह भेद हैं। सावद्य क्रियाओं का सम्यक् प्रकार से परित्याग करके निरवद्य क्रियाओं में प्रवृत्ति करना सयम है। पृथ्वीकायसयम आदि के भेद से वह सत्तरह (१७) प्रकार का है।

उक्त षड्जीवनिकाय का स्वरूप समीचीन प्रकार से जानकर, सयमपूर्वक तप का आचरण करने से नवीन कर्मों का आना रुक जाता है और पहले के सचित कर्मों का क्षय होता है। कर्मक्षय का क्रम यह है—

आत्मा आठवें गुणस्थान से क्षपकश्रेणी पर आरूढ होता है। वह क्षपक आत्मा नौवें दशवें गुणस्थानों पर आरूढ हो कर बारहवें गुणस्थान पर पहुचता है।

સ્વરૂપનો વિસ્તારપૂર્વક અથવા સંક્ષિપ્ત બોધ તે જ્ઞાન કહેવાય છે ગુપ્તિ, સમિતિની આરાધના કરતાં શાસ્ત્રોક્ત વિધિ પ્રમાણે તપ અને સયમનુ આરાધન કરવું તે ક્રિયા છે આઠ કર્મોને બાળી નાંખવા તે તપ છે તપના અનશન આદિ બાર ભેદ છે સાવદ્ય ક્રિયાઓનો સમ્યક્ પ્રકારે પરિત્યાગ કરીને નિરવદ્ય ક્રિયાઓમાં પ્રવૃત્તિ કરવી તે સયમ છે પૃથ્વીકાયસયમ આદિના ભેદથી તે સત્તર (૧૭)પ્રકારનો છે આગળ કહેલા ષડ્જીવનિકાયના સ્વરૂપને સારી રીતે જાણીને સયમપૂર્વક તપનું આચરણ કરવાથી નવીન કર્મોનું આવવું રોકાઈ જાય છે, અને પહેલાના સચિત કર્મોનો ક્ષય થાય છે કર્મક્ષયનો ક્રમ એ છે— આત્મા આઠમાં ગુણસ્થાનથી ક્ષપકશ્રેણીપર આરૂઢ થાય છે આ ક્ષપક આત્મા નવમાં, દસમા ગુણસ્થાનો પર આરૂઢ થઈને બારમા ગુણસ્થાન પર જઈ પહોંચે છે

पादे प्रथम मोहनीय कर्म क्षपयति। तदनु ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीया-न्तराय कर्माणि युगपदेव क्षपयित्वा द्वादशगुणस्थानान्ते त्रयोदशगुणस्थानादौ सर्वद्रव्य पर्यायविषयं पारमैश्वर्यमनन्त केवल ज्ञानदर्शन प्राप्य शुद्धो बुद्धः सर्वज्ञः सर्वदर्शी जिनः केवली भवति। ततः सयोगिकेवली भतनु-शुभ-चतुष्कर्मावशेषः, आयु'-कर्मसस्कारवशाद् भव्यजनबोधनाय भूमण्डले विहरति, विविधं कर्मरजो भव्याना हरति च।

असौ तत्पश्चाद् अयोगिकेवली भूत्वा चतुर्दशगुणस्थाने-आयुष्यकर्मपरिसमाप्तौ सत्या, वेदनीय-नाम-गोत्रकर्माणि क्षपयति। एव मूलप्रकृतिनाम्न्यमष्टविधं ज्ञाना वरणीयादिसकलकर्म क्षीयते।

यहाँ शुक्ल ध्यान के द्वितीय पाये में सर्व प्रथम मोहनीय कर्म का क्षय करता है। तत्पश्चात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों को एक ही साथ क्षय करके बारहवें गुणस्थान के अन्त में और तेरहवें गुणस्थान की आदि में समस्त द्रव्य पर्याय को विषय करने वाला परम ऐश्वर्य को प्राप्त होने योग्य अनन्त केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त करके शुद्ध, बुद्ध, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, जिन और केवली हो जाता है। फिर वह सयोगी केवली चार हल्के अघातिया कर्म शेष रहने पर आयुकर्म के संस्कार वश हो कर भव्य जीवों को बोध देने के लिए भूमण्डल में विहार करते हैं।

तत्पश्चात् अयोगी केवली हो कर चौदहवें गुणस्थान में आयुकर्म की समाप्ति होने पर वेदनीय नाम आयु गोत्र कर्मों का क्षय करते हैं। इस प्रकार मूलप्रकृति कहलाने वाले आठों ही कर्मों का क्षय हो जाता है।

ત્યાં શુક્લ ધ્યાનના બીજા પાયામાં સર્વપ્રથમ મોહનીય કર્મનો ક્ષય કરે છે તે પછી જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ અને અંતરાય કર્મોનો એકી સાથે ક્ષય કરીને, બારમા ગુણ સ્થાનના અંતમાં અને તેરમા ગુણસ્થાનની આદિમાં સમસ્ત દ્રવ્ય-પર્યાયને વિષય કરવાવાળા પરમ ઐશ્વર્યને પ્રાપ્ત થવા યોગ્ય અનન્ત કેવલજ્ઞાન અને કેવલદર્શન પ્રાપ્ત કરીને શુદ્ધ, બુદ્ધ, સર્વજ્ઞ, સર્વદર્શી, જિન અને કેવલી થઈ જાય છે પછી તે સયોગી કેવલી ચાર હલકાં અઘાતિયાં કર્મ બાકી રહેવા પર આયુકર્મના સંસ્કારવશ થઈને ભવ્યજીવોને બોધ આપવા માટે પૃથ્વીમાં વિહાર કરે છે

તે પછી અયોગી કેવલી થઈને ચૌદમાં ગુણસ્થાનમાં આયુકર્મની સમાપ્તિ થયા પછી વેદનીય, નામ અને ગોત્રકર્મનો ક્ષય કરે છે આ પ્રમાણે મૂળપ્રકૃતિ કહેવાતા આઠ કર્મોનો ક્ષય થઈ જાય છે

एवमात्मप्रदेशेभ्य' सकलकर्मणामपगमे सत्यूर्ध्वगमनस्वभावतयाऽऽत्मा साद्यनन्तमपुनरावृत्तिसिद्धिगतिनामधेयं स्थानं प्राप्नोति । ज्ञानक्रियाभ्यामेव सकलकर्मक्षयलक्षणो मोक्षो भवतीति सिद्धम् ।

केचित्तु-सम्यग्ज्ञानं यथार्थविषयकतया बलवत्तरत्वेन मिथ्याज्ञानं निवर्तयति । मिथ्याज्ञाने निवृत्ते सति मिथ्याज्ञानमूला रागादयो न समुत्पद्यन्ते । कारणाभावे कार्यस्यानुत्पादात् । रागाद्यभावे च तत्फलभूता मनोवाक्कायप्रवृत्तिर्न भवति । प्रवृत्त्यभावे च पुण्यपापयोरनुत्पत्तिः । आरब्धकार्ययोश्च

आत्मप्रदेशों से समस्त कर्मों के हटजाने पर ऊर्ध्वगतिशील होने के कारण आत्मा सादि-अनन्त पुनरागमनरहित सिद्धिगतिनामक स्थान को प्राप्त करता है । अत एव सिद्ध हुआ कि ज्ञान और क्रिया से सकल कर्मोका क्षयरूप मोक्ष प्राप्त होता है ।

कुछ लोगों का कथन यह है कि-सम्यग्ज्ञान यथार्थ पदार्थ को विषय करता है, अत वह बलवान् है, और बलवान् होने के कारण मिथ्याज्ञान को दूर करता है। मिथ्याज्ञान जब हट जाता है तो उसके कारण उत्पन्न होने वाले रागादि की उत्पत्ति नहीं होती, क्यों कि कारण के अभाव में काय उत्पन्न नहीं होता । इस प्रकार रागादि का अभाव होने पर उस से होने वाली मन, वचन और काय की प्रवृत्ति रुक जाती है। प्रवृत्ति के रुक जाने से पुण्यकर्म और पापकर्म की उत्पत्ति नहीं होती। जिन का कार्य

આત્મપ્રદેશોથી સમસ્ત કર્મો દૂર થયા પછી ઉર્ધ્વગતિશીલ હોવાના કારણે આત્મા સાદિ-અનન્ત, પુનરાગમનરહિત સિદ્ધિગતિ નામના સ્થાનને પ્રાપ્ત કરે છે એટલે એ સિદ્ધ થયુ કે જ્ઞાન અને ક્રિયાથી સકલ કર્મોના ક્ષયરૂપ મોક્ષને પ્રાપ્ત થાય છે

કેટલાક માણસોનુ કહેવું એ છે કે-સમ્યગ્જ્ઞાન યથાર્થ પદાર્થનો વિષય કરે છે, એ કારણથી તે બળવાન છે. અને બળવાન હોવાના કારણે મિથ્યાજ્ઞાનને દૂર કરે છે મિથ્યાજ્ઞાન જ્યારે દૂર થઈ જાય છે, તો તેના કારણે ઉત્પન્ન થવાવાળા રાગ-આદિની ઉત્પત્તિ થતી નથી; કેમકે કારણના અભાવમા કાર્ય ઉત્પન્ન થતુ નથી. આ પ્રકારે-રાગાદિનો અભાવ થવાથી તેનાથી થવા વાળી મન, વચન અને કાયાની પ્રવૃતિ અટકી જાય છે પ્રવૃતિના અટકાવથી પુણ્યકર્મ અને પાપ કર્મની ઉત્પત્તિ થતી નથી. જેનુ કાર્ય આરભ

पादे प्रथम मोहनीय कर्म क्षपयति। तदनु ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीया-ऽन्तराय कर्माणि युगपदेव क्षपयित्वा द्वादशगुणस्थानान्ते त्रयोदशगुणस्थानादौ सर्वद्रव्य-पर्यायविषयं पारमैश्वर्यमनन्त केवल ज्ञानदर्शन प्राप्य शुद्धो बुद्धः सर्वज्ञः सर्वदर्शी जिनः केवली भवति। ततः सयोगिकेवली प्रतनु-शुभ-चतुष्कर्मावशेषः, आयुः-कर्मसंस्कारवशाद् भव्यजनबोधनाय भूमण्डले विहरति, विविधं कर्मरजो भव्यानां हरति च।

असौ तत्पश्चाद् अयोगिकेवली भूत्वा चतुर्दशगुणस्थाने-आयुष्यकर्मपरिसमाप्तौ सत्यां, वेदनीय-नाम-गोत्रकर्माणि क्षपयति। एव मूलप्रकृतिनाम्यमष्टविधं ज्ञाना-वरणीयादिसकलकर्म क्षीयते।

वहाँ शुक्ल ध्यान के द्वितीय पाये में सर्व प्रथम मोहनीय कर्म का क्षय करता है। तत्पश्चात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों को एक ही साथ क्षय करके बारहवें गुणस्थान के अन्त में और तेरहवें गुणस्थान की आदि में समस्त द्रव्य पर्याय को विषय करने वाला परम ऐश्वर्य को प्राप्त होने योग्य अनन्त केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त करके शुद्ध, बुद्ध, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, जिन और केवली हो जाता है। फिर वह सयोगी केवली चार हल्के अघातिया कर्म शेष रहने पर आयुकर्म के संस्कार वश हो कर भव्य जीवों को बोध देने के लिए भूमण्डल में विहार करते हैं।

तत्पश्चात् अयोगी केवली हो कर चौदहवें गुणस्थान में आयुकर्म की समाप्ति होने पर वेदनीय नाम आयु गोत्र कर्मों का क्षय करते हैं। इस प्रकार मूलप्रकृति कहलाने वाले आठों ही कर्मों का क्षय हो जाता है।

ત્યાં શુક્લ ધ્યાનના બીજા પાયામાં સર્વપ્રથમ મોહનીય કર્મનો ક્ષય કરે છે તે પછી જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ અને અંતરાય કર્મોનો એકી સાથે ક્ષય કરીને, બારમા ગુણ સ્થાનના અંતમાં અને તેરમા ગુણસ્થાનની આદિમાં સમસ્ત દ્રવ્ય-પર્યાયને વિષય કરવાવાળા પરમ ઐશ્વર્યને પ્રાપ્ત થવા યોગ્ય અનન્ત કેવલજ્ઞાન અને કેવલદર્શન પ્રાપ્ત કરીને શુદ્ધ, બુદ્ધ, સર્વજ્ઞ, સર્વદર્શી, જિન અને કેવલી થઈ જાય છે પછી તે સયોગી કેવલી ચાર હલકાં અઘાતિયાં કર્મ બાકી રહેવા પર આયુકર્મના સંસ્કારવશ થઈને ભવ્યજીવોને બોધ આપવા માટે પૃથ્વીમાં વિહાર કરે છે

તે પછી અયોગી કેવલી થઈને ચૌદમાં ગુણસ્થાનમાં આયુકર્મની સમાપ્તિ થયા પછી વેદનીય, નામ અને ગોત્રકર્મનો ક્ષય કરે છે આ પ્રમાણે મૂળપ્રકૃતિ કહેવાતા આઠ કર્મોનો ક્ષય થઈ જાય છે

समाधिवलेनोत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य जनस्य कर्मज्ञानसामर्थ्यात्तदुपभोगार्थमशेपशरीरमुत्पाद्याशेपभोगादेव पूर्वकर्मक्षय , पुनस्तस्य तत्त्वज्ञानिनो मिथ्याज्ञानाभावात्तज्जनितसस्कारस्याप्यभावेन कर्मान्तरानुत्पत्तिश्च । तथा चोपभोगादेव सकलकर्मक्षयस्वीकारेऽपि नास्ति कोऽपि दोपलेश इति ।

न च पुण्यपापकर्मणोर्जन्मान्तरशरीरोत्पादने सहकारि कारण मिथ्याज्ञानजनितसस्कारोऽस्ति, तस्याभावादेव तत्त्वज्ञानिना विद्यमाने अपि कर्मणी न जन्मान्तरशरीराण्युत्पादयत., अतस्तेपां कर्मसत्त्वेऽपि न काऽपि हानिरिति वाच्यम् ।

समाधि के वल से उत्पन्न तत्त्वज्ञान वाले पुरुप के कर्मज्ञान के सामर्थ्य से कर्म का उपभोग करने के लिए अशेप शरीर उत्पन्न करके अशेप भोग से ही पूर्वकर्म का क्षय हो जाता है । उस तत्त्वज्ञानी पुरुप में मिथ्याज्ञान नहीं होता और मिथ्याज्ञान से उत्पन्न होने वाला सस्कार भी नहीं होता । इस कारण नवीन कर्म की उत्पत्ति भी नहीं होती । ऐसी स्थिति में उपभोग से ही समस्त कर्मों का क्षय मान लेने में लेशमात्र भी दोप नहीं है ।

मिथ्याज्ञान से उत्पन्न होने वाला सस्कार जन्मान्तर के शरीर की उत्पत्ति में सहकारी कारण होता है । वह सस्कार तत्त्वज्ञानी में नहीं रहता । उस का अभाव हो जाने पर, पुण्य-पाप कर्म भले ही विद्यमान रहें मगर वे शरीर उत्पन्न नहीं कर सकते । अत एव उन में कर्म का सद्भाव होने पर भी कोइ हानि नहीं होती । यह सब कथन सत्य नहीं है ।

સમાધિના બળથી ઉત્પન્ન તત્ત્વજ્ઞાન વાળા પુરુષના કર્મજ્ઞાનનાં સામર્થ્યથી કર્મનો ઉપભોગ કરવા માટે અશેષ શરીર ઉત્પન્ન કરીને અશેષ ભોગથીજ પૂર્વકર્મનો ક્ષય થઈ જાય છે તે તત્ત્વજ્ઞાની પુરુષમાં મિથ્યાજ્ઞાન નથી અને મિથ્યાજ્ઞાનથી ઉત્પન્ન થવાવાળા સસ્કાર પણ નથી આ કારણથી નવીન કર્મની ઉત્પત્તિ પણ થતી નથી એવી સ્થિતિમાં ઉપભોગથીજ સમસ્ત કર્મોનો ક્ષય માની લેવામાં લેશ માત્ર પણ દોષ નથી

મિથ્યાજ્ઞાનથી ઉત્પન્ન થવાવાળા સસ્કાર જન્માન્તરના શરીરની ઉત્પત્તિમાં સહકારી કારણ થાય છે તે સસ્કાર તત્ત્વજ્ઞાનીમા રહેતા નથી. તેનો અભાવ થઈ જવાથી, પુણ્ય-પાપકર્મ ભલેને વિદ્યમાન રહે. પરન્તુ તે શરીર ઉત્પન્ન કરી શકતાં નથી, એટલા માટે તેમાં કર્મનો સદ્ભાવ હોવા છતાય પણ કોઈ પ્રકારે હાનિ થતી નથી. આ સર્વ કથન સાચાં નથી

पुण्यपापकर्मणोरुपभोगादेव प्रक्षयो भवति; सञ्चितरूपयोस्तु पुण्यपापकर्मणोस्तत्त्वज्ञानादेव प्रक्षयः। एवं कर्मक्षयो भवति। उक्तञ्च—

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि, भस्मसात् कुरुते तथा"। इति। तथा "नाभुक्तं क्षीयते कर्म, कल्पकोटिशतैरपि" इति च।

केचित्तु—सञ्चितकर्मणामपि प्रक्षयो भोगादेव भवतीत्युक्त तत्रानुमानं प्रमाण च प्रदर्शितम्। तथाहि-पूर्वकर्माण्युपभोगादेव क्षीयन्ते, कर्मत्वात्। यत् यत् कर्म तत् तत् उपभोगादेव क्षीयते, यथा-आरब्धशरीर कर्म, तथा चैतत् कर्म, तस्मादुपभोगादेव क्षीयते।

न चोपभोगात् कर्मप्रक्षयस्वीकारे कर्मान्तरस्यावश्यम्भावात् ससारानुच्छेदः इति वाच्यम्,

---

आरम्भ हो चुका है, ऐसे पाप-पुण्य का, उपभोग से क्षय होता है और सञ्चित पुण्य-पाप का, तत्वज्ञान से। इस प्रकार समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है। कहा भी है—

"ज्ञानरूपी अग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर डालती है"। तथा-" करोड़ों सैकड़ों कल्पों में भी कर्म का भोगे विना क्षय नहीं होता"।

किसी का कहना है कि—सचित कर्मों का क्षय भी भोग से ही हो जाता है। इस विषय में अनुमान प्रमाण भी दिया गया है। वह इस प्रकार है--पूर्वसंचित कर्म उपभोग से ही क्षीण होता है, क्यों कि वह कर्म है। जो जो कर्म होता है वह वह उपभोग से ही क्षीण होता है, जैसे आरम्भ शरीरकर्म। सचितकर्म भी कर्म हैं अत वे भी उपभोग से ही क्षीण होते हैं।

उपभोग से कर्मों का क्षय स्वीकार किया जाय तो नवीन कर्मों की उत्पत्ति अवश्य होगी और फलत: जन्म-मरण का कभी नाश नहीं होगा। ऐसी आशङ्का करना उचित नहीं है।

थई चूक्युं छे, एवा पाप-पुण्यनो उपभोगथी क्षय छे, अने सचित पुण्य-पापनो तत्त्वज्ञानथी क्षय थाय छे आ प्रकारे समस्त कर्मोनो क्षय थई जाय छे कह्युं पण छे के-"ज्ञानरूपी अग्नि समस्त कर्मोने बाळी नाखे छे" तथा "करोडो सेकडो कल्पोमां पण कर्म भोगव्या विना क्षय थता नथी"

केटलाक कहे छे के- सचित कर्मोनो क्षय पण भोगथीज थई जाय छे आ विषयमा अनुमान प्रमाण पण आपवामां आव्युं छे ते आ प्रमाणे छे-पूर्वसचितकर्म उपभोगथीज क्षीण थाय छे, कारण के ते कर्म छे, जे जे कर्म होय छे ते ते उपभोगथीज क्षीण थाय छे, जेवी रीते आरब्ध शरीरकर्म संचित कर्म पण कर्म छे, ए कारणथी ते पण उपभोगथी ज क्षीण थाय छे

उपभोगथी कर्मोनो क्षय स्वीकार करवामां आवे तो, नवीन कर्मोनी उत्पत्ति अवश्य थशे अने फलत. जन्म मरणनो क्यारेय नाश नहि थाय, आवी शका करवी ते उचित नथी.

संभवात् पुनः प्रचुरतरपुण्यपापकर्मसद्भावे कथमात्यन्तिकः कर्मक्षयः स्यात् ।

नहि केवलस्य सम्यग्ज्ञानस्य आगामिकर्मानुत्पत्तिसामर्थ्यं विद्यते, किन्तु चारित्रसहितस्यैव सम्यग्ज्ञानस्य सञ्चितकर्मक्षये आगामिकर्मानुत्पत्तौ च सामर्थ्यं संभाव्यते । सम्यग्ज्ञानेन हि मिथ्याज्ञानस्य निवृत्तिः । ततश्च रागद्वेषाद्यभावेन हिंसादिपापक्रियानिवृत्तिरूपचारित्रसहयोगाद् नवीनकर्मानुत्पत्तिर्भवति । तद्वत् सञ्चित-कर्मक्षयोऽपि चारित्रसहकृतसम्यग्ज्ञानादेव भवति । यथौषध ज्ञानमात्रेण नाममात्रेण वा न व्याधिं निवर्तयति, किन्तु तत्सेवनादिक्रियापरिणतस्यैव, तद्वत् चारित्रसहितसम्यग्ज्ञानेनैव कर्मक्षयः ।

होगा, और यह व्यापार नवीन कर्मबन्ध का कारण है, इस लिए फिर बहुत से पुण्यकर्म और पापकर्म सचित हो जाएँगे । ऐसी दशा में आत्यन्तिक कर्मक्षय किस प्रकार होगा ?

अकेला सम्यग्ज्ञान आगामी कर्मों की उत्पत्ति रोकने में समर्थ नहीं है । हाँ, चारित्रसहित सम्यग्ज्ञान संचित कर्मों के क्षय में और आगामी कर्मों की उत्पत्ति रोकने में समर्थ हो सकता है । सम्यग्ज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है । फिर राग-द्वेष आदि का अभाव हो जाने से हिंसादि पाप क्रिया की निवृत्तिरूप चारित्र की सहायता से नवीन कर्मों की उत्पत्ति रुकती है । इसी प्रकार संचित कर्मों का क्षय भी चारित्र से युक्त सम्यग्ज्ञान से ही होता है । जैसे-औषधि ज्ञानमात्र से या नाम लेने मात्रसे व्याधि को दूर नहीं करती किन्तु सेवन करने से ही दूर करती है, उसी प्रकार चारित्रयुक्त सम्यग्ज्ञान से ही कर्मों का क्षय होता है ।

થશે, અને તે વ્યાપાર નવીન કર્મબન્ધનું કારણ છે, એ માટે ફરી ઘણાંજ પુણ્ય-પાપ કર્મ સચિત થઈ જશે એવી દશામાં આત્યન્તિક કર્મક્ષય કેવી રીતે થશે ?

એકલું સમ્યગ્જ્ઞાન આગામી કર્મોની ઉત્પત્તિને રોકવામા સમર્થ નથી. હા ચારિત્રસહિત સમ્યગ્જ્ઞાન સંચિત કર્મોના ક્ષયમાં અને આગામી કર્મોની ઉત્પત્તિ રોકવામાં સમર્થ થઈ શકે છે સમ્યગ્જ્ઞાનથી મિથ્યાજ્ઞાનની નિવૃત્તિ થાય છે પછી રાગ-દ્વેષ વગેરેનો અભાવ થઈ જવાથી હિંસાદિ પાપક્રિયાની નિવૃત્તિરૂપ ચારિત્રની સહાયતાથી નવીન કર્મોની ઉત્પત્તિ અટકે છે એ પ્રમાણે સચિત કર્મોનો ક્ષય પણ ચારિત્રથી યુક્ત સમ્યગ્જ્ઞાનથીજ થાય છે જેવી રીતે ઔષધના જ્ઞાનમાત્રથી અથવા ઔષધનું નામ લેવાથી વ્યાધિ દૂર થતી નથી, પરન્તુ સેવન કરવાથી જ દૂર થ છે તે પ્રમાણે ચારિત્રયુકત સમ્યગ્જ્ઞાનથીજ કર્મોનો ક્ષય થાય છે

जन्यपदार्थस्य नित्यत्वापत्तिः स्यादित्येव महान् दोषः समापद्येत। तथाहि-पुण्यपापरूपकर्मणोः स्वफलानुत्पादनेन तत्सत्तास्वीकारे कार्यरूपयोरपि तयोर्नित्यत्वप्रसङ्ग। किञ्च-भविष्यत्काले पुण्यपापकर्मणोरनुत्पत्तिस्वीकारे तत्त्वज्ञानिनां प्रत्यवायपरिहारार्थं नित्यनैमित्तिकानुष्ठानं कथमुपपद्येत? इति वदन्ति। अत्रोच्यते—

यत्तु-उक्तम्-आरब्धकार्ययोः पुण्यापुण्यकर्मणोरुपभोगात् प्रक्षयः सञ्चितयोश्च तयोः प्रक्षयस्तत्त्वज्ञानादित्यादि, तदपि न सङ्गतम्। तथाहि-उपभोगात् कर्मक्षये तदुपभोगकालेऽभिलापपूर्वकमनोवाक्कायव्यापारस्यापरकर्मकारणस्य

सब से पहले महान् हानि तो यही है कि जन्य पदार्थ (कार्य) भी नित्य हो जायगा। वह इस प्रकार—पुण्य–पाप रूप कर्मों के फल को उत्पन्न न कर के सत्ता स्वीकार की गई है, सो कार्यरूप होने पर भी उन में नित्यता का प्रसङ्ग आता है। दूसरी बात यह है कि—आगामी काल में पुण्य–पाप की उत्पत्ति न स्वीकार करने पर तत्वज्ञानियों के लिए, प्रत्यवाय (दोष) का परिहार करने के लिए नित्य–नैमित्तिक अनुष्ठान करना किस प्रकार संगत होगा। ऐसा इन का कथन है,

इस पर विचार किया जाता है—

कार्यरूप में परिणत पुण्य और पाप कर्मों का उपभोग से क्षय होता है और संचित कर्मों का तत्त्वज्ञान से, इत्यादि कथन भी संगत नहीं है। उपभोग से कर्मों का क्षय मानने पर कर्मों का उपभोग करते समय इच्छापूर्वक मन वचन और कायाका व्यापार

ચોથી પ્રથમ મહાન્ હાનિ તો એજ છે કે જન્ય પદાર્થ (કાર્ય) પણ નિત્ય થઈ જશે તે આ પ્રમાણે-પુણ્યપાપરૂપ કર્મોના ફળને ઉત્પન્ન ન કરતાં નિત્યતાનો સ્વીકાર કરવામાં આવ્યો છે તે કાર્યરૂપ હોવા છતાંય પણ તેમાં નિત્યતાનો પ્રસંગ આવે છે બીજી વાત એ છે કે—આગામી કાળમાં પુણ્યપાપની ઉત્પત્તિ નહિ સ્વીકારવાથી તત્ત્વજ્ઞાનીઓ માટે પ્રત્યવાય (દોષ) નો પરિહાર કરવા માટે નિત્ય–નૈમિત્તિક અનુષ્ઠાન કરવું તે કેવી રીતે સંગત થશે આ પ્રમાણે તેમનું કથન છે

તેના પર વિચાર કરવામાં આવે છે —

કાર્યરૂપમાં પરિણત પુણ્ય અને પાપ કર્મોનો ઉપભોગથી ક્ષય થાય છે અને સંચિત કર્મોનો તત્ત્વજ્ઞાનથી. ઇત્યાદિ કથન પણ સંગત નથી. ઉપભોગથી કર્મોનો ક્ષય માનવાથી, કર્મોનો ઉપભોગ કરવા સમયે ઇચ્છાપૂર્વક મન, વચન અને કાયાનો વ્યાપાર

समत्वात् पुनः प्रचुरतरपुण्यपापकर्मसद्भावे कथमात्यन्तिकः कर्मक्षयः स्यात् ।

नहि केवलस्य सम्यग्ज्ञानस्य आगामिकर्मानुत्पत्तिसामर्थ्यं विद्यते, किन्तु चारित्रसहितस्यैव सम्यग्ज्ञानस्य सञ्चितकर्मक्षये आगामिकर्मानुत्पत्तौ च सामर्थ्यं समाप्यते । सम्यग्ज्ञानेन हि मिथ्याज्ञानस्य निवृत्तिः । ततश्च रागद्वेषाद्यभावेन हिंसादिपापक्रियानिवृत्तिरूपचारित्रसहयोगाद् नवीनकर्मानुत्पत्तिर्भवति । तद्वत् सञ्चित-कर्मक्षयोऽपि चारित्रसहकृतसम्यग्ज्ञानादेव भवति । यथौषध ज्ञानमात्रेण नाममात्रेण वा न व्याधिं निवर्तयति, किन्तु तत्सेवनादिक्रियापरिणत्यैव, तद्वत् चारित्रसहि-तसम्यग्ज्ञानेनैव कर्मक्षयः ।

होगा, और यह व्यापार नवीन कर्मबन्ध का कारण है, इस लिए फिर बहुत से पुण्यकर्म और पापकर्म सञ्चित हो जाएँगे । ऐसी दशा में आत्यन्तिक कर्मक्षय किस प्रकार होगा ?

अकेला सम्यग्ज्ञान आगामी कर्मों की उत्पत्ति रोकने में समर्थ नहीं है । हाँ, चारित्रसहित सम्यग्ज्ञान संचित कर्मों के क्षय में और आगामी कर्मों की उत्पत्ति रोकने में समर्थ हो सकता है । सम्यग्ज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है । फिर राग-द्वेष आदि का अभाव हो जाने से हिंसादि पाप क्रिया की निवृत्तिरूप चारित्र की सहायता से नवीन कर्मों की उत्पत्ति रुकती है । इसी प्रकार संचित कर्मों का क्षय भी चारित्र से युक्त सम्यग्ज्ञान से ही होता है । जैसे-औषधि ज्ञानमात्र से या नाम लेने मात्रसे व्याधि को दूर नहीं करती किन्तु सेवन करने से ही दूर करती है, उसी प्रकार चारित्रयुक्त सम्यग्ज्ञान से ही कर्मों का क्षय होता है ।

थशे, અને તે વ્યાપાર નવીન કર્મબંધનું કારણ છે, એ માટે ફરી ઘણાંજ પુણ્ય-પાપ કર્મ સંચિત થઈ જશે. એવી દશામાં આત્યન્તિક કર્મક્ષય કેવી રીતે થશે?

એકલું સમ્યગ્જ્ઞાન આગામી કર્મોની ઉત્પત્તિને રોકવામાં સમર્થ નથી. હા ચારિત્રસહિત સમ્યગ્જ્ઞાન સંચિત કર્મોના ક્ષયમાં અને આગામી કર્મોની ઉત્પત્તિ રોકવામાં સમર્થ થઈ શકે છે સમ્યગ્જ્ઞાનથી મિથ્યાજ્ઞાનની નિવૃત્તિ થાય છે પછી રાગ-દ્વેષ વગેરેનો અભાવ થઈ જવાથી હિંસાદિ પાપક્રિયાની નિવૃત્તિરૂપ ચારિત્રની સહાયતાથી નવીન કર્મોની ઉત્પત્તિ અટકે છે એ પ્રમાણે સંચિત કર્મોનો ક્ષય પણ ચારિત્રથી યુક્ત સમ્યગ્જ્ઞાનથીજ થાય છે જેવી રીતે ઔષધના જ્ઞાનમાત્રથી અથવા ઔષધનું નામ લેવાથી વ્યાધિ દૂર થતી નથી, પરન્તુ સેવન કરવાથી જ દૂર થાય છે તે પ્રમાણે ચારિત્રયુક્ત સમ્યગ્જ્ઞાનથીજ કર્મોનો ક્ષય થાય છે

वाग्योगः । वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनित काययुक्तात्मप्रदेशगतवीर्यपरिणमनं काययोगः। सा च क्रिया सकलकर्मबन्धस्य कारणम्, अतः कर्मवादी भव्य' क्रियां सकलकर्मकारणस्वरूपतयाऽऽत्मपरिणतिरूपत्वेन च विजानाति, तस्माद् सकलकर्मबन्धकारणमात्मपरिणतिरूपा च क्रियेति वेदिता, क्रियावादी-क्रियास्वरूप-कथनस्वभावो वेदितव्य इत्यर्थः।

क्रिया कर्मणः कारणमिति भगवता भगवतीसूत्रे निगदितम्, तथाहि—

"मंडिअपुत्ता ! जावं च ण से जीवे सया समियं एयइ, वेयइ, चलइ, फंदइ, घट्टइ, खुब्भइ, उदीरइ, तं तं भावं परिणमइ, तावं च णं से जीवे आरभइ सारंभइ समारंभइ, आरंभे वट्टइ सारंभे वट्टइ, समारंभे वट्टइ, आरंभमाणे सारंभमाणे समारंभमाणे आरंभे वट्टमाणे सारंभे वट्टमाणे समारंभे वट्टमाणे बहूणं पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं दुक्खावणयाए, सोयावणयाए, झूरावणयाए, तिप्पावणयाए, परियावणयाए वट्टइ, से तेणट्ठेणं मंडिअपुत्ता ! एवं वुच्चइ—जाव च णं से जीवे सया समियं एयइ जाव परिणमइ, तावं च णं तस्स जीवस्स अंते अंतकिरिया न भवइ" (भगवती श. ३ उ ३)

कहलाता है। वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से जनित, काययुक्त आत्मप्रदेशों में रहे हुए वीर्य का परिणमन काययोग कहलाता है। यह क्रिया सकल कर्मबन्ध का कारण है, इस लिए भव्य पुरुष क्रिया को सब कर्मों का कारण और आत्मा की परिणतिरूप समझता है, अत "क्रिया, समस्त कर्मों का कारण और आत्मा की परिणतिरूप है" इस प्रकार जानने वालेको क्रियावादिक्रिया के स्वरूप का कथन करने वाला समझना चाहिए।

क्रिया, कर्म का कारण है, यह बात भगवान् ने भगवतीसूत्र में कही है, वह इस प्रकार—

ઉત્પન્ન, વચન-યુક્ત આત્મપ્રદેશોમાં રહેલા વીર્યના પરિણમન કાયયોગ કહેવાય છે. આ ક્રિયા સકલ કર્મબંધનું કારણ છે એટલા માટે ભવ્ય પુરૂષ ક્રિયાને સર્વ કર્મોનું કારણ અને આત્માની પરિણતિરૂપ સમજે છે તે કારણથી "ક્રિયા સમસ્ત કર્મોનું કારણ અને આત્માની પરિણતિરૂપ છે" આ પ્રમાણે જાણવાવાળાને ક્રિયાવાદી-ક્રિયાના સ્વરૂપનું કથન કરવા વાળા સમજવા જોઈએ.

ક્રિયા એ કર્મનું કારણ છે, એ વાત ભગવાને ભગવતીસૂત્રમાં કહી છે, તે આ પ્રમાણે છે—

छाया—मण्डितपुत्र ! यावच्च खलु स जीव सदा समित एजते व्यजते चलति स्पन्दते घट्टते क्षुभ्यति उदीरयते त त भाव परिणमति, तावच्च खलु स जीव आरभते सरभते समारभते, आरम्भे वर्तते सरम्भे वर्तते समारम्भे वर्तते, आरभमाण', सरभमाण' समारभमाण । आरम्भे वर्तमान', सरम्भे वर्तमान समारम्भे वर्तमानो वहूना प्राणानां भूतानां जीवाना सत्त्वानां, दु'खापनतया शोचापनतया झूरापनतया तेपापनतया पिट्टापनतया परितापनतया वर्तते तत् तेनार्थेन मण्डितपुत्र ! एवम् उच्यते—यावच्च खलु स जीव' सदा समितं एजते यावत् परिणमति, तावच्च खलु तस्य जीवस्य अन्ते अन्तक्रिया न भवति ।

भावार्थः—

मनोवाक्काययोगसहितस्य जीवस्य सर्वदा क्रियापरिणस्या कम्पन-स्थानान्तरगमन—किंचिच्चलन—सर्वदिग्गमन—पृथिव्यादिक्षोभण—बलात्कारपूर्वकप्रेरणो-त्क्षेपणा—पक्षेपणा—ऽऽकुञ्चन—प्रसारणादिपरिणाम प्राप्तस्य पृथिव्यादिजीवानामुप-द्रवकरणेन वा, विनाशसकल्पनेन वा, परितापनेन वा, मरणलक्षणदुःख-प्रापणया वा, प्रियवियोगादिदु खमापणया वा, शोकमापणया वा, शोकाधिक्यजन्य—

"मन वचन और काययोग से सहित जीव सदा क्रियारूप परिणति से कम्पन, विविध कम्पन, एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन, किंचित् चलना, सब दिशाओं में गमन करना, पृथ्वी आदि को क्षुब्ध करना, बलात्कार से प्रेरित करना, ऊपर उठाना, नीचे करना, सिकोड़ना, फैलाना, इत्यादि परिणामों को प्राप्त होता है । इस परिणाम के कारण जीव को पृथिवीकाय आदि के जीवों को उपद्रव करने से, घातका सकल्प करने से, परिताप पहुँचाने से, मृत्युरूप दु ख पहुँचाने से, इष्टवियोग आदि का कष्ट पहुँचाने से, शोक

મન, વચન અને કાયયોગથી સહિત જીવ સદાય ક્રિયારૂપ પરિણતિથી કંપન, વિવિધ કમ્પન, એક સ્થાનથી બીજા સ્થાનપર ગમન, કિંચિત્ ચાલવું, સર્વ દિશાઓમાં ગમન કરવું, પૃથ્વી આદિને ક્ષુબ્ધ કરવું, બલાત્કારથી પ્રેરિત કરવું, ઉપર ઉઠાવવું, નીચે કરવું, સંકોચવું, ફેલાવું, ઈત્યાદિ પરિણામોને પ્રાપ્ત થાય છે આ પરિણામના કારણે જીવને પૃથ્વીકાય આદિના જીવોને ઉપદ્રવ કરવાથી, ઘાતનો સંકલ્પ કરવાથી, પરિતાપ પહોંચાડવાથી, મૃત્યુરૂપ દુ:ખ પહોંચાડવાથી, શોકની અધિકતાથી થવાવાળી શરીરની

शरीरजीर्णताप्रापणया वा, अश्रुपातादिप्रापणया वा, शरीरपीडोत्पादनया वा, ग्लानिजननेन वा सकलकर्मक्षयात्मिका मुक्तिर्न भवतीत्यर्थः। एवम्भूतस्य जीवस्य चतुर्गतिकदुःखमयसंसारदुस्तरमहारण्यपरिभ्रमणाद् विरामो न संभवतीति भावः।

क्रियाया पञ्चविंशतिर्भेदा इति स्थानाङ्गसूत्रे (स्था २ उ १। स्था ३ उ ३)

कतिभि क्रियाभिः प्राणातिपातः—

प्राणातिपातं कुर्वन् जीवः सप्ताष्टौ वा ज्ञानावरणीयादीनि कर्माणि बध्नाति। सत्यायुर्बन्धे सत्यष्टौ कर्माणि, आयुर्बन्धाभावे सप्त कर्माणि बध्नाति।

तत्र जीवः कतिभि क्रियाभिः प्राणातिपातं निष्पादयति? उच्यते—कदाचित् तिसृभिः क्रियाभिः, कदाचिच्चतसृभिः क्रियाभिः, कदाचित्, पञ्चभि क्रियाभिः।

पहुँचाने से शोक की अधिकता से, होने वाली शरीर की जीर्णता पहुँचाने से, अश्रुपात आदि करवाने से, शरीर में पीडा उत्पन्न करने से, ग्लानि उत्पन्न करने से समस्त कर्मों का क्षयरूप मोक्ष प्राप्त नहीं होता। तात्पर्य यह है कि—इस प्रकार के जीव के चार गति के दुःखों से परिपूर्ण संसाररूपी विकट अटवी में भ्रमण करने का अन्त नहीं आता।"

क्रिया के पच्चीस भेद स्थानाङ्गसूत्र में कहे हैं। (स्था २ उ १, स्था ३ उ ३)

प्राणातिपात कितनी क्रियाओं से होता है?।

प्राणातिपात करता हुआ जीव ज्ञानावरणीय आदि सात या आठ कर्मों का बन्ध करता है। आयु का बन्ध हो तो आठ कर्मों का अन्यथा सात कर्मों का बन्ध करता है।

जीव कितनी क्रियाओं से प्राणातिपात करता है। इस का उत्तर यह है—कदाचित् तीन क्रियाओं से, कदाचित् चार क्रियाओं से, कदाचित् पांच क्रियाओं से।

જીર્ણતા પહોંચાડવાથી, આંસુ પડાવવાથી, શરીરમાં પીડા ઉત્પન્ન કરવાથી, ગ્લાનિ ઉત્પન્ન કરવાથી સમસ્તકર્મોના ક્ષયરૂપ મોક્ષ પ્રાપ્ત થતો નથી તાત્પર્ય એ છે કે— આ પ્રમાણે જીવનો ચારગતિના દુઃખોથી પરિપૂર્ણ સંસારરૂપી વિકટ અટવી(વન)માં ભ્રમણ કરવાનો અંત આવતો નથી.

ક્રિયાના પચીસ ભેદ સ્થાનાંગ સૂત્રમાં કહ્યા છે (સ્થા. ૨–ઉ–૧ સ્થા ૩–૩)

પ્રાણાતિપાત કેટલી ક્રિયાઓથી થાય છે?

પ્રાણાતિપાત કરનાર જીવ જ્ઞાનાવરણીય આદિ સાત અથવા આઠ કર્મોનો બંધ કરે છે આયુનો બંધ હોય તો આઠ કર્મોનો—અન્યથા સાત કર્મોનો બંધ કરે છે

જીવ કેટલી ક્રિયાઓથી પ્રાણાતિપાત કરી શકે છે? તેનો ઉત્તર એ છે કે—કદાચિત્ ત્રણ ક્રિયાઓથી, કદાચિત્ ચાર ક્રિયાઓથી, [illegible] ક્રિયાઓથી.

तत्र-कायिक्याधिकरणिकीमाद्वेषिकीभि' क्रियाभिस्त्रिक्रियो जीव कर्माणि बध्नाति । कायिकीनाम-हस्तपादादिव्यापारणम् । अधिकरणिकी-खड्गतीक्ष्णीकरणादिकम् । प्राद्वेषिकी-'एन मारयामी'-त्यशुभमनःसंप्रधारणमिति ।

प्राणातिपात कर्तुर्जीवस्य चतुष्क्रियता-कायिक्याधिकरणिकीमाद्वेषिकी पारितापनिकीभिश्चतसृभि क्रियाभिर्भवति । तत्र-पारितापनिकीनाम-खड्गादिघातेन पीडाकरणम् । पञ्चक्रियता तदा भवति यदा प्राणातिपातक्रियाऽपि पञ्चमी भवति । प्राणातिपातक्रियानाम-जीवितात् व्यपरोपणम् । उक्तरीत्या ज्ञानावरणी-

---

कायिकी, आधिकरणिकी और प्राद्वेषिकी, इन तीन क्रियाओं वाला होकर जीव कर्मबंध करता है । हाथ-पैर आदि का हिलाना डुलाना वगैरह 'कायिकि' क्रिया है । तलवार को तीक्ष्ण करना वगैरह 'आधिकरणिकी' क्रिया है । 'इसे मारूंगा' इस प्रकार मन में अशुभ विचार करना 'प्राद्वेषिकी' क्रिया है ।

प्राणातिपात करने वाला जीव चार क्रिया वाला होता है-कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी और पारितापनिकी, ये चार क्रियाएँ उसे लगती हैं । तलवार आदिका आघात कर के पीडा पहुँचाना 'पारितापनिकी' क्रिया है । जब प्राणातिपात क्रिया भी जीव कर डालता है तब उसे पांचों क्रियाएँ लगती हैं । किसी प्राणी को जीवन से वियुक्त कर देना 'प्राणातिपातिकी' क्रिया है । इस प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मों के कारणभूत

કાયિકી, આધિકરણિકી અને પ્રાદ્વેષિકી, આ ત્રણ ક્રિયાઓવાળા થઈને જીવ કર્મબંધ કરે છે, હાથ-પગ આદિને હલાવવુ-ફેરવવુ વગેરે કાયિકી ક્રિયા છે તલવાર વગેરેને તીક્ષ્ણ કરવી વિગેરે આધિકરણિકી ક્રિયા છે 'એને મારીશ' આ પ્રકારનો મનમા અશુભ વિચાર કરવો તે પ્રાદ્વેષિકી ક્રિયા છે

પ્રાણાતિપાત કરવાવાળા જીવ ચાર ક્રિયાવાળા હોય છે-કાયિકી, આધિકરણિકી, પ્રાદ્વેષિકી અને પારિતાપનિકી, આ ચાર ક્રિયાઓ તેને લાગે છે તલવાર આદિનો આઘાત કરીને પીડા પહોંચાડવી તે પારિતાપનિકી ક્રિયા છે જ્યારે પ્રાણાતિપાત ક્રિયા પણ જીવ કરી નાંખે છે ત્યારે તેને પાંચ ક્રિયાઓ લાગે છે કોઈ પ્રાણીને જીવનથી વિયુક્ત (જુદા) કરી દેવું તે પ્રાણાતિપાતિકી ક્રિયા છે આ પ્રમાણે જ્ઞાનાવરણીય આદિ

शरीरजीर्णतामापणया वा, अश्रुपातादिप्रापणया वा, शरीरपीडोत्पादनया वा, ग्लानिजननेन वा सकलकर्मक्षयात्मिका मुक्तिर्न भवतीत्यर्थः। एवम्भूतस्य जीवस्य चतुर्गतिकदु खमयससारदुस्तरमहारण्यपरिभ्रमणाद् विरामो न संभवतीति भावः।

क्रियाया पञ्चविंशतिर्भेदा इति स्थानाङ्गसूत्रे (स्था २ उ १। स्था ३ उ ३)

कतिभि' क्रियाभिः प्राणातिपातः—

प्राणातिपातं कुर्वन् जीव' सप्ताष्टौ वा ज्ञानावरणीयादीनि कर्माणि बध्नाति। तथायुर्बन्धे सत्यष्टौ कर्माणि, आयुर्बन्धाभावे सप्त कर्माणि बध्नाति।

तत्र जीवः कतिभि क्रियाभि प्राणातिपातं निष्पादयति? उच्यते— कदाचित् तिसृभिः क्रियाभिः, कदाचिच्चतसृभिः क्रियाभिः, कदाचित्, पञ्चभिः क्रियाभिः।

पहुँचाने से शोक की अधिकता से, होने वाली शरीर की जीर्णता पहुँचाने से, अश्रुपात आदि करवाने से, शरीर में पीड़ा उत्पन्न करने से, ग्लानि उत्पन्न करने से समस्त कर्मों का क्षयरूप मोक्ष प्राप्त नहीं होता। तात्पर्य यह है कि—इस प्रकार के जीव के चार गति के दु खों से परिपूर्ण संसाररूपी विकट अटवी में भ्रमण करने का अन्त नहीं आता।"

क्रिया के पच्चीस भेद स्थानाङ्गसूत्र में कहे हैं। (स्था २ उ १, स्था ३ उ ३)

प्राणातिपात कितनी क्रियाओं से होता है?।

प्राणातिपात करता हुआ जीव ज्ञानावरणीय आदि सात या आठ कर्मों का बन्ध करता हैं। आयु का बन्ध हो तो आठ कर्मों का अन्यथा सात कर्मों का बन्ध करता है।

जीव कितनी क्रियाओं से प्राणातिपात करता है। इस का उत्तर यह है—कदाचित् तीन क्रियाओं से, कदाचित् चार क्रियाओं से, कदाचित् पांच क्रियाओं से।

જીર્ણતા પહોંચાડવાથી, આંસુ પડાવવાથી, શરીરમાં પીડા ઉત્પન્ન કરવાથી, ગ્લાનિ ઉત્પન્ન કરવાથી સમસ્તકર્મોના ક્ષયરૂપ મોક્ષ પ્રાપ્ત થતો નથી તાત્પર્ય એ છે કેઃ— આ પ્રમાણે જીવનો ચારગતિના દુ ખોથી પરિપૂર્ણ સ સારરૂપી વિકટ અટવી (વન)માં ભ્રમણ કરવાનો અ ત આવતો નથી.

ક્રિયાના પચીસ ભેદ સ્થાનાંગ સૂત્રમાં કહ્યા છે (સ્થા ૨-ઉ-૧ સ્થા ૩-૩)

પ્રાણાતિપાત કેટલી ક્રિયાઓથી થાય છે?

પ્રાણાતિપાત કરનાર જીવ જ્ઞાનાવરણીય આદિ સાત અથવા આઠ કર્મોનો બ ધ કરે છે આયુનો બ ધ હોય તો આઠ કર્મોનો—અન્યથા સાત કર્મોનો બ ધ કરે છે

જીવ કેટલી ક્રિયાઓથી પ્રાણાતિપાત કરી શકે છે? તેનો ઉત્તર એ છે કેઃ—કદાચિત્ ત્રણ ક્રિયાઓથી, કદાચિત્ ચાર ક્રિયાઓથી, કદાચિત્ પાંચ ક્રિયાઓથી.

पदे सति तु मृगे तस्य लुब्धकस्य पारितापनिकी, परितापनप्रयोजना क्रिया भवति। घातिते च सति मारणरूपा प्राणातिपातक्रिया।

पूर्वं क्रियया ज्ञानावरणीयादिकं कर्म जन्यते। तत्तत्कर्मफलानुभवनरूपा वेदना च तत्पश्चादेव भवति। उक्तञ्च—

"पुव्वं भंते! किरिया पच्छा वेयणा? पुव्वं वेयणा पच्छा किरिया? मंडिअपुत्ता! पुव्वं किरिया पच्छा वेयणा, णो पुव्वं वेयणा, पच्छा किरिया"। (भग ३ श ३ उ)

छाया-पूर्वं भदन्त! क्रिया पश्चाद् वेदना? पूर्वं वेदना पश्चात् क्रिया? मोमण्डितपुत्र! पूर्वं क्रिया पश्चाद् वेदना, नो पूर्वं वेदना पश्चात् क्रिया॥

कुमूलादौ लोहमुत्क्षिपत क्रिया-

लोहं लोहप्रतापनार्थं कुशूले लोहमयेन संदंशनेनोत्क्षिपन् प्रक्षिपन् वा

प्राद्वेषिकी क्रिया लगती है। मृग के बँध जाने पर शिकारी को पारितापनिकी क्रिया लगती है। मृग का घात करने पर हिंसारूप प्राणातिपातिकी क्रिया होती है।

पहले क्रिया से ज्ञानावरण आदि कर्मों का बंध होता है और उस का फल भोगनारूप वेदना बाद में ही होती है। कहा भी है--

"हे भगवन्! पहले क्रिया और फिर वेदना होती है? अथवा पहले वेदना और पश्चात् क्रिया होती है? हे मण्डितपुत्र! पहले क्रिया, पश्चात् वेदना होती है। पहले वेदना और पश्चात् क्रिया नहीं होती" (भगवती. श ३ उ ३)

कुशूल आदि म लोहा डालने वाले को क्रिया-

तपाने के लिए कुशूल (मूष) में लोह की संडासी से लोहा डालने वाले को

ક્રિયા થાય છે મૃગ ઉપર થવાવાળા દ્વેષથી પ્રાદ્વેષિકી ક્રિયા લાગે છે મૃગના બંધાઈ જવાથી શિકારીને પારિતાપનિકી ક્રિયા લાગે છે મૃગનો ઘાત કરવાથી હિંસારૂપ પ્રાણાતિપાતિકી ક્રિયા થાય છે

પ્રથમ ક્રિયાથી જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મોનો બંધ થાય છે, અને તેનું ફળ ભોગવવા રૂપ વેદના પછીથીજ થાય છે કહ્યું છે કે—

"હે ભગવન્! પહેલાં ક્રિયા અને પછી વેદના થાય છે? કે પહેલા વેદના અને પછીથી ક્રિયા થાય છે? હે મંડિતપુત્ર! પહેલી ક્રિયા, અને પછીથી વેદના થાય છે, પહેલી વેદના અને પછીથી ક્રિયા થતી નથી" (ભગ શ. ૩ ઉ ૩)

મૂષ આદિમા લોઢું નાખનારને ક્રિયા—

તપાવવા માટે મૂષમાં, લોઢાની સાણસીથી લોઢું નાંખવાવાળાને કાયિકીથી લઈને

यादिकर्मणां कारणीभूतस्य प्राणातिपातस्य निष्पत्तिस्त्रिक्रियतया, चतुष्क्रियतया पञ्चक्रियतया वा त्रिधा भवति। एवं चतुर्विंशतिदण्डकेषु विज्ञेयम्।

मृगवधोद्यतस्य क्रिया—

मृगवधोद्यतो लुब्धकः खलु वनपर्वतजलाशयादिषु मृगवधार्थं गत्वा मृगग्रहणाय गर्तादिकं तद्बन्धनार्थं च पाशं रचयति, तदा मृगवधार्थे गमनगर्त-पाशादिकरणात् तस्य कायिक्यादिकाः क्रिया भवन्ति। तत्र गमनधावन-ग्रहणादिना गमनादिकायचेष्टारूपा कायिकी, गर्तपाशादिरूपेणाधिकरणेन निर्वृत्ता क्रिया आधिकरणिकी, यच्च मृगेषु प्रद्वेषस्तेन निर्वृत्ता प्राद्वेषिकी क्रिया भवति।

प्राणातिपात की निष्पत्ति कहीं तीन, चार तथा कहीं पांच क्रियाओं से, ऐसे तीन प्रकार से होती है। चौवीसों दण्डकों में इसी प्रकार समझना चाहिए।

मृगवध में उद्यतका क्रिया—

मृग मारने के लिए उद्यत हुआ शिकारी वन पर्वत और जलाशय आदि में मृगका वध करने के लिए जाकर मृग पकड़ने के लिए खड्डा बनाता है और उसे बांधने के लिए जाल रचता है। उस समय मृगवध के लिए गमन करने से, तथा खड्डा एव पाश तैयार करने से, उसे कायिकी आदि क्रियाएँ लगती हैं। जाना दौड़ना, पकड़ना आदि से कायिकचेष्टारूप कायिकी क्रिया लगती है। खड्डा और जालरूप अधिकरणों के कारण आधिकरणिकी क्रिया होती है, मृग पर होने वाले द्वेष के कारण

કર્મોના કારણભૂત પ્રાણાતિપાતની ઉત્પત્તિ કોઈ સ્થળે ત્રણ, કોઈ ઠેકાણે ચાર તથા કોઈ ઠેકાણે પાંચ ક્રિયાઓથી એવા ત્રણ પ્રકારથી હોય છે ચોવીશેય દંડકોમા આ પ્રમાણે સમજવુ જોઈએ.

મૃગવધમા તૈયાર થનારની ક્રિયા—

મૃગને મારવા માટે તૈયાર થયેલો શિકારી વન, પર્વત અને જલાશય આદિમાં મૃગનો વધ કરવા માટે જઈને મૃગ પકડવા માટે ખાડો બનાવે છે, અને તેને બાંધવા માટે જાલ રચે છે તે સમયે મૃગના વધ માટે ગમન કરવાથી, તથા ખાડો અને પાશ તૈયાર કરવાથી તેને કાયિકી આદિ ક્રિયાઓ લાગે છે જવુ, દોડવુ, પકડવુ આદિથી કાયિક ચેષ્ટારૂપ કાયિકી ક્રિયા લાગે છે ખાડો અને જાલરૂપ અધિકરણોના કારણે આધિકરણિકી

पयति, स्थानत स्थानान्तर नयति, जीविताद् व्यपरोपयति । तत्र कायिक्यादि-प्राणातिपातिकीपर्यन्ताभि पञ्चभि' क्रियाभि' स्पृष्टो भवति ।

वृष्टिज्ञानाय हस्तादिक प्रसारयत' क्रिया—

रात्रौ निविडान्धकारे चक्षुदर्शनाभावे सति वृष्टिं विज्ञातुमाकाशे य' खलु हस्त पाद वा बाहु वा ऊरु वा यावत्काल प्रसारयेत् सकोचयेत् तावत्कालत्व एवासौ कायिक्यादिप्राणातिपातिकीपर्यन्ताभि' पञ्चभि क्रियाभि' स्पृष्टो भवति ।

करता है, पूरी तरह परितापना करता है, एक स्थान से दूसरे स्थान पर लेजाता है, जीवन से च्युत करता है, ऐसा करने में वह कायिकी आदि प्राणातिपातिकी पर्यन्त पाचों क्रियाओं से स्पृष्ट होता है। अर्थात् पांचों ही क्रियाएँ उसे लगती है ।

वृष्टिज्ञान के लिए हाथ आदि फैलाने वाले को क्रियाएँ–

रात्रि के समय घोर अन्धकार में—चक्षुर्दर्शन का अभाव होने पर, वषा जानने के लिए आकाश में जो हाथ, पैर, बाहु, या ऊरु, जब तक पसारता है, सिकोडता है, तब तक ही वह कायिकी आदि प्राणातिपातिकी पर्यन्त पांचक्रियाओं से स्पृष्ट होता है।

પૂરી રીતે પરિતાપના કરે છે, એક સ્થાનથી બીજા સ્થાનમા લઈ જાય છે, જીવનથી ચ્યુત (વિયુક્ત) કરે છે એવી રીતે કરવામાં તે કાયિકી આદિ પ્રાણાતિપાતિકી સુધીની પાંચેય ક્રિયાઓથી સ્પૃષ્ટ થાય છે, અર્થાત્ તેને પાંચેય ક્રિયાઓ લાગે છે

વૃષ્ટિજ્ઞાન માટે હાથ આદિ ફેલાવવા વાળાને ક્રિયાઓ—

રાત્રિનો ઘોર અધકારમાં, ચક્ષુદર્શનનો અભાવ હોવાથી, વરસાદ આવે છે કે નહિ ? એ જાણવા માટે, આકાશમાં જે હાથ, પગ, બાહુ અથવા ઉરૂ જ્યા સુધી પ્રસારે છે, સકોચે છે, ત્યાં સુધી તે કાયિકી આદિ પ્રાણાતિપાતિકીસુધીની પાચ ક્રિયાઓ તેને સ્પર્શે છે

कायिक्यादि–प्राणातिपातिकीपर्यन्ताभिः पञ्चभिः क्रियाभि स्पृष्टो भवति। एवं लोहेन फालपरशुकुठारकुद्दालदात्रादिनिर्माणे लोहकारादीनां पञ्चक्रियास्त्व भवति, अविरतिसद्भावात्। एवं घनोपरि स्थापनेन कुट्टनेन भस्त्रया ध्मापनेन विध्यापनेन प्रज्वालितेन शैत्यकरणार्थं जले तप्तलोहप्रक्षेपेण प्रत्येकतत्तद्व्यापारे पञ्चभिः पञ्चभिः क्रियाभिः स्पृष्टो भवति।

धनुषा विध्यतः क्रिया–

धनुर्धरः शरैर्व्यापादयन् यावत् धनुर्गृह्णाति, धनुः प्रसारयति, कर्णपर्यन्तमाकर्षति, वर्तुलीकरोति, बाणं संयोजयति, ऊर्ध्वं प्रक्षिपति, स्वाभिमुखमागच्छतो हन्ति, अन्योन्यगात्रं संहतीकरोति, मनाक् स्पृशति, समन्ततः परिता-

कायिकी से प्राणातिपातिकी पर्यन्त पांच क्रियाओं का स्पर्श होता है। इसी प्रकार लोहे से फाल, फरसा, कुल्हाडा, कुदाल, दांतला आदि के बनाने में लुहार वगैरह को पांच क्रियाएँ लगती हैं, क्यों कि उस में अविरति मौजूद है। इसी प्रकार घन के ऊपर रखने में, कूटने में, धौंकने में, आग बुझाने में, प्रज्वलित करने में, ठंडा करनेके लिए जल में लोहा डालने में, इस प्रत्येक में पांच २ क्रियाएँ लगती हैं।

धनुष से वेधने में क्रिया–

धनुर्धारी पुरुष बाण से मारता हुआ जब तक धनुष ग्रहण करता है, धनुष फैलाता है, कानपर्यन्त खींचता है, गोल करता है, उस में बाण जोडता है, ऊपर फैंकता है, अपने सामने आते को मारता है, शरीर को सिकोडता है, जरा–सा स्पर्श

પ્રાણાતિપાત સુધીની પાંચ ક્રિયાઓનો સ્પર્શ થાય છે એ પ્રમાણે લોઢાના ફાલ–હળની કોસ, ફરસી, કુવાડા, કોદાલી, દાંતલા આદિ બનાવવામા લુહાર વગેરેને પાંચ ક્રિયાઓ લાગે છે, કારણ કે તેમા અવિરતિ હાજર છે આ પ્રકારે ઘણુને ઉપર રાખવામાં, કૂટવામાં ધોકનીથી ધોકવામાં, અગ્નિ બુઝાવવામાં, પ્રજ્વલિત કરવામાં અને લોહુ ઠડુ કરવા માટે પાણીમાં નાખવામાં આ પ્રત્યેક કાર્યમાં પાંચ ક્રિયાઓ લાગે છે

ધનુષથી વિધવામા ક્રિયા—

ધનુષ ધારણ કરનાર પુરૂષ બાણથી મારતો જ્યાસુધી ધનુષ ગ્રહણ કરે છે, ધનુષ ફેલાવે છે, કાન સુધી ખેંચે છે, ગોળ કરે છે, તેમાં બાણ જોડે છે, ઉપર ફેંકે છે, પોતાના સામે આવનારને મારે છે, શરીરને સંકોચે છે, થોડો એવો સ્પર્શ કરે છે,

इय च प्राणातिपातक्रिया षड्जीवनिकायविषये भवति। यथा-रज्वादौ सर्पादिबुद्धया मारणाध्यवसायोऽपि जीवविषयक एव। तत्र हि-'सर्पोऽय'-मितिबुद्धया मारणाध्यवसायो जायते, तस्मात् रज्जु प्रति सर्पवधभावयुक्तः सर्पवधजन्यया प्राणातिपातक्रियया स्पृष्टो भवति। अजीवविषयको मारणाध्यवसायस्तु नैव सभवति, यथा रज्जु रज्जुत्वेन विज्ञाय न कश्चिद्रज्जुविषये मारणाध्यवसाय करोति तस्मात् षट्सु जीवनिकायेष्वेव प्राणातिपातक्रिया प्रवर्तते, न त्वजीवविषय इति। उक्तञ्च—

"कम्हि ण भंते! जीवाण पाणाइवाएण किरिया कज्जइ?। गोयमा छसु जीवणिकाएसु" इति

यह प्राणातिपात क्रिया षड्जीवनिकाय के विषय में होती है। रस्सी आदि में सांप आदि की भावना से मारने का अध्यवसाय होना भी जीवविषयक ही अध्यवसाय है। वहाँ 'यह सर्प है' इस प्रकार की भावना से मारने का अध्यवसाय होता है, अत एव वहाँ रस्सी में सर्प के वधके भाव से युक्त पुरुष सर्पवधजन्य प्राणातिपात क्रिया से स्पृष्ट होता है। अजीवविषयक मारने का अध्यवसाय तो हो ही नहीं सकता है—रस्सी को रस्सी समझ कर कोई रस्सी में मारने की भावना नहीं करता, अत षड्जीवनिकायों में ही प्राणातिपातिकी क्रिया प्रवृत्त होती है, अजीव में नहीं। कहा भी है—

"भगवन्! किन में जीवों को प्राणातिपातिकी क्रिया होती है? गौतम! छह जीवनिकायों में"।

આ પ્રાણાતિપાત ક્રિયા ષડ્જીવનિકાયના વિષયમાં થાય છે દોરડાં આદિમાં સર્પઆદિની ભાવનાથી મારવાનો અધ્યવસાય થવો તે પણ જીવવિષયજ અધ્યવસાય છે ત્યા 'આ સર્પ છે' આ પ્રકારની ભાવનાથી મારવાનો અધ્યવસાય થાય છે એટલા કારણથી ત્યા રસી-દોરડાંમા-સર્પના વધની ભાવનાયુક્ત પુરૂષ સર્પવધજન્ય પ્રાણાતિપાત ક્રિયાને સ્પર્શે છે અજીવવિષયક મારવાના અધ્યવસાય તો થઈ શકતા નથી-રસીને રસી (દોરડી) સમજીને કોઈ રસી-દોરડામાં મારવાની ભાવના કરતા નથી, તે માટે ષડ્જીવની કાયોમાંજ પ્રાણાતિપાતની ક્રિયા પ્રવૃત્ત હોય છે અજીવમા નહિ. કહ્યું પણ છે—

"ભગવન્! શેમા જીવોને પ્રાણાતિપાતિકી ક્રિયા થાય છે? ગૌતમ! છ જીવનિકાયોમા."

॥ तालमारुह्य तत्फल पातयतः क्रिया ॥

तालवृक्षमारुह्य तत्फल पातयन्नपि तावत्कालत एव पञ्चभिः कायिक्यादि क्रियाभिः स्पृष्टो भवति ।

अष्टादश पापस्थानानि–

(१) प्राणातिपात–

जीवानां प्राणातिपाताध्यवसायेन प्राणातिपातक्रिया भवति । हिंसापरिणामकाल एव प्राणातिपातक्रिया भवति । प्राणातिपातादीनामध्यवसायमात्रादपि ज्ञानावरणीयादि कर्म जन्यते । उक्तञ्च—

" परिणामियं पमाणं णिच्छयमवलंबमाणाणं " इति ।

तालवृक्ष पर चढ कर फल गिरानेवाले को क्रियाएँ—

ताल वृक्ष पर चढ कर उस के फल गिराता हुआ तब तक कायिकी आदि पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होता है ।

अठारह पापस्थान—

(१) प्राणातिपात—

जीवों का प्राणातिपात करने के अध्यवसाय से प्राणातिपातक्रिया होती है । हिंसारूप परिणाम के समय ही प्राणातिपातक्रिया होती है । प्राणातिपात का अध्यवसाय होने मात्र से भी ज्ञानावरण आदि कर्म उत्पन्न होते हैं । कहा भी है—

" परिणामियं पमाणं णिच्छयमवलंबमाणाणं "

अर्थात् प्राणातिपात करने का निश्चय करने वाले का परिणाम ही कर्मबन्ध का कारण है

તાલવૃક્ષપર ચઢીને ફલ પાડનારની ક્રિયાઓ—

તાલવૃક્ષ પર ચઢીને તેના ફળ પાડે છે ત્યાં સુધી કાયિકી આદિ પાંચ ક્રિયાઓનો સ્પર્શ કરે છે

અઢાર પાપસ્થાન—

(૧) પ્રાણાતિપાત—

જીવોના પ્રાણાતિપાત કરવાના અધ્યવસાયથી પ્રાણાતિપાતક્રિયા થાય છે હિંસા રૂપ પરિણામના સમયેજ પ્રાણાતિપાતક્રિયા થાય છે પ્રાણાતિપાતનો અધ્યવસાય થવા માત્રથી પણ જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મ ઉત્પન્ન થાય છે કહ્યું છે કે—

" परिणामिय पमाण णिच्छयमवलंबमाणाण "

અર્થાત્–પ્રાણાતિપાત કરવાનો નિશ્ચય કરવાવાળાનાં પરિણામજ કર્મબંધનું કારણ છે.

गतरूपेषु रूपसहगतेषु स्त्र्यादिषु विषयेषु भवति, न तु सकलवस्तुविषये। उक्तञ्च—

"कम्हि ण भंते ! जीवाण मेहुणेण किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! रूवेसु वा रूवसहगएसु वा दव्वेसु" इति (भग १ श. ६ उ)

(५) परिग्रहः—

परिग्रहः=स्वस्वामिभावेन मूर्च्छा । स च प्राणिनामधिकलोभात् समस्त वस्तुविषये प्रादुर्भवति ।

कृत्याकृत्यविवेकोन्मूलकोऽक्षमारूप आत्मपरिणामः क्रोध. ६ । मानो= गर्व ७। माया=शाठ्यम् ८। लोभो=गृध्नुता ९ ?। राग =प्रीतिरासक्तिर्वा १०।

भी सब वस्तुओं में नहीं होता। चित्र, लप्य, या काष्ठ आदि में अङ्कित किये जाने वाले रूपों में या स्त्री आदि में ही मैथुन का अध्यवसाय होता है। कहा भी है—

"भगवन्! किस विषय में जीव मैथुन क्रिया करते हैं ? गौतम! रूपों में और रूप-युक्त विषयों (स्त्रियों आदि) में। (भग श १, उ ६)

(५) परिग्रह-

"यह वस्तु मेरी है मैं इसका स्वामी हूँ" इस प्रकार की मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं। प्राणियों में लोभ की अधिकता होने के कारण सभी वस्तुओं में मूर्च्छा हो सकती है।

कर्तव्य—अकर्तव्य के विवेक को नष्ट करने वाला अक्षमारूप आत्मा का परिणाम (६) क्रोध कहलाता है। गर्व को (७) मान और कपट को (८) माया कहते हैं।

પણ સર્વ વસ્તુઓમાં નથી. ચિત્ર લેપ્ય અથવા કાષ્ઠ આદિમાં ચિતરવામા આવેલા રૂપોમાં અથવા સ્ત્રી આદિમાંજ મૈથુનનો અધ્યવસાય થાય છે કહ્યું પણ છે :—

"ભગવન્! કયા વિષયમા જીવ મૈથુન ક્રિયા કરે છે?

ગૌતમ! રૂપોમા અને રૂપયુક્ત વિષયો (સ્ત્રિયો આદિ)માં" (ભગ૦૧ શ-૬-ઉ)

(૫) પરિગ્રહ—

"આ વસ્તુ મારી છે-હું તેનો માલિક છુ" આ પ્રકારની મૂર્છાને પરિગ્રહ કહે છે પ્રાણીઓમા લોભની અધિકતા હોવાના કારણે સર્વ વસ્તુઓમાં મૂર્છા હોય છે

કર્તવ્ય-અકર્તવ્યના વિવેકને નાશ કરવાવાળા, અક્ષમારૂપ આત્માનું પરિણામ તે ક્રોધ કહેવાય છે (૬), ગર્વ ને માન (૭), અને કપટને માયા કહે છે (૮), ગૃદ્ધિ તે

(२) मृषावाद'—

सतोऽपलापोऽसतश्च प्ररूपणं मृषावादः । स सर्वद्रव्यपर्यायविशेषये भवति ।

(३) अदत्तादानम्—

अदत्तस्य=देवगुर्वादिभिरननुज्ञातस्यादान=ग्रहणम्=अदत्तादानम् , यद् वस्तु ग्रहीतुं धारयितुं वा शक्यते, तद्वस्तुमात्रविषयकमादानं भवति, न तु तदन्यवस्तु-विषयकम्, उक्तञ्च—

"कम्हि णं भंते ! जीवाणं अदिन्नादाणेण किरिया कज्जइ ? । गोयमा गहणधारणिज्जेसु दव्वेसु" । इति (भग० १ श. ६ उ)

(४) मैथुनम्—

स्त्रीपुंसयोः कर्म–मैथुनम् । मैथुनाध्यवसायोऽपि चित्रलेप्यकाष्ठादिकर्म-

---

(२) मृषावाद–

सत् का अपलाप करना और असत् का प्ररूपण करना मृषावाद है । मृषावाद समस्त द्रव्यों और पर्यायों के विषय में होता है ।

(३) अदत्तादान–

अदत्त अर्थात् देव एवं गुरु आदि द्वारा जिस की आज्ञा प्राप्त न हुई हो उसको ग्रहण करना अदत्तादान है । जो वस्तु ग्रहण की जा सकती है या धारण की जा सकती है उसी वस्तु का आदान हो सकता है, अन्य वस्तु का नहीं । कहा भी है—

"भगवन् ! किस वस्तु में अदत्तादान के द्वारा क्रिया की जाती है ? गौतम ! ग्रहण करने और धारण करने योग्य द्रव्यों में (भग, श १, उ ६)

(४) मैथुन—

मिथुन अर्थात् स्त्री और पुरुष का कार्य मैथुन कहलाता है । मैथुन का अध्यवसाय

મૃષાવાદ–

સત્-ને ખોટું કહેવું અને અસતને સાચું કહી તેનું પ્રરૂપણ કરવું તે મૃષા વાદ–સમસ્ત દ્રવ્યો અને પર્યાયોના વિષયોમાં થાય છે

(૩) અદત્તાદાન–

અદત્ત અર્થાત્ દેવ-ગુરૂ આદિદ્વારા જેની આજ્ઞા મળી ન હોય, તેવી વસ્તુને ગ્રહણ કરવી તે અદત્તાદાન છે જે વસ્તુ ગ્રહણ કરી શકાય છે, અથવા ધારણ કરી શકાય છે તે વસ્તુનું આદાન થઈ શકે છે બીજી વસ્તુનું નહિ. કહ્યું પણ છે —

ભગવન્ ! કઈ વસ્તુમાં અદત્તાદાન દ્વારા ક્રિયા થઈ શકે છે ? ગૌતમ ! ગ્રહણ કરવા અને ધારણકરવા યોગ્ય દ્રવ્યોમાં." (ભગ. શ. ૧ ઉ ૬)

(૪) મૈથુન—

મૈથુન અર્થાત્ સ્ત્રી અને પુરૂષનું કાર્ય મૈથુન કહેવાય છે, મૈથુનના અધ્યવસાય

गतरूपेषु रूपसहगतेषु स्त्र्यादिषु विषयेषु भवति, न तु सकलवस्तुविषये। उक्तञ्च—

"कम्हि ण भंते! जीवाण मेहुणेण किरिया कज्जइ?। गोयमा! रूवेसु वा रूवसहगएसु वा दव्वेसु" इति (भग १ श. ६ उ)

(५) परिग्रहः—

परिग्रहः=स्वस्वामिभावेन मूर्च्छा। स च प्राणिनामधिकलोभात् समस्तवस्तुविषये प्रादुर्भवति।

कृत्याकृत्यविवेकोन्मूलकोऽक्षमारूप आत्मपरिणामः क्रोधः ६। मानो=गर्वः ७। माया=शाठ्यम् ८। लोभो=गृध्नुता ९ ।। राग =प्रीतिरासक्तिर्वा १०।

भी सब वस्तुओं में नहीं होता। चित्र, लेप्य, या काष्ठ आदि में अङ्कित किये जाने वाले रूपों में या स्त्री आदि में ही मैथुन का अध्यवसाय होता है। कहा भी है—

"भगवन्! किस विषय में जीव मैथुन किया करते हैं? गौतम! रूपों में और रूप-युक्त विषयों (स्त्रियों आदि) में। (भग श १, उ ६)

(५) परिग्रह-

"यह वस्तु मेरी है मैं इसका स्वामी हूँ" इस प्रकार की मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं। प्राणियों में लोभ की अधिकता होने के कारण सभी वस्तुओं में मूर्च्छा हो सकती है।

कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेक को नष्ट करने वाला अक्षमारूप आत्मा का परिणाम (६) क्रोध कहलाता है। गर्व को (७) मान और कपट को (८) माया कहते हैं।

પણ સર્વ વસ્તુઓમા નથી. ચિત્ર લેપ્ય અથવા કાષ્ઠ આદિમાં ચિતરવામા આવેલા રૂપોમાં અથવા સ્ત્રી આદિમાજ મૈથુનનો અધ્યવસાય થાય છે કહ્યું પણ છે —

"ભગવન્! કયા વિષયમા જીવ મૈથુન ક્રિયા કરે છે?

ગૌતમ! રૂપોમાં અને રૂપયુક્ત વિષયો (સ્ત્રિયો આદિ)માં" (ભગ૦૧ શ-૬-ઉ)

(૫) પરિગ્રહ—

"આ વસ્તુ મારી છે-હું તેનો માલિક છુ" આ પ્રકારની મૂર્છાને પરિગ્રહ કહે છે પ્રાણીઓમા લોભની અધિકતા હોવાના કારણે સર્વ વસ્તુઓમા મૂર્છા હોય છે

કર્તવ્ય-અકર્તવ્યના વિવેકને નાશ કરવાવાળા, અક્ષમારૂપ આત્માનું પરિણામ તે ક્રોધ કહેવાય છે (૬), ગર્વ ને માન (૭), અને કપટને માયા કહે છે (૮), ગૃદ્ધિ તે

द्वेष=अप्रीतिः ११। कलहो=विरोध १२। अभ्याख्यानम्=असद्दोषारोपणम् १३। पैशुन्य=कर्णान्तिकादौ परोक्षे विद्यमानस्याविद्यमानस्य वा दोषस्योद्घाटनम् १४। परपरिवादः=प्रभूतजनसमक्षं परदोषप्रकाशनम् १५। रत्यरति'=विषयेष्वनुरागो रतिः, धर्मेऽनभिरुचिररतिः, रतिसहिता-अरतिः रत्यरति, इदमेकं पापस्थानम् १६। मायामृषा=मायासहितो मृषावादः, इदमप्येक पापस्थानम् १७। मिथ्यादर्शन-शल्यम्=मिथ्यादर्शनं मिथ्यात्व तदेव शल्यमिव विविधव्यथाजनकत्वात् मिथ्या-

---

गृद्धि-(९) लोभ है, प्रीति या आसक्ति (१०) राग है, और अप्रीति को (११) द्वेष कहते हैं, (१२) कलह अर्थात् विरोध। (१३) अभ्याख्यान अर्थात् किसी को झूठा दोष लगाना। चुगली वगैरह को (१४) पैशुन्य कहते हैं, अर्थात् विद्यमान या अविद्यमान दोष को पीठ पीछे प्रकाशित करना। बहुत से लोगों के समक्ष दूसरे के दोष प्रकाशित करना (१५) परपरिवाद है। विषयों में अनुराग होना रति और धर्म में अनुराग न होना अरति है, रतिसहित अरति को (१६) रत्यरति कहते हैं। यह एक पापस्थानक है। माया से युक्त मृषावाद (१७) मायामृषा कहलाता है, यह भी एक पापस्थानक है। शल्य के समान विविध प्रकार की व्यथाएँ उत्पन्न करने वाला मिथ्यात्व (१८) मिथ्यादर्शनशल्य कहलाता है, अर्थात् कुदेव कुगुरु और कुधर्म को

લોભ છે (૯) પ્રીતિ અથવા આસક્તિ તે રાગ છે (૧૦) અને અપ્રીતિને દ્વેષ કહે છે (૧૧) કલહ અર્થાત્ વિરોધ (૧૨) અભ્યાખ્યાન અર્થાત્ કોઈના પર જુઠો આરોપ મૂકવો તે (૧૩) ચુગલી વગેરેને પૈશુન્ય કહે છે, અર્થાત્ વિદ્યમાન અથવા અવિદ્યમાન દોષોને પાછળથી પ્રકાશિત કરવા (૧૪) ઘણા લોકોના સમક્ષ બીજાના દોષો પ્રકાશિત કરવા તે પરપરિવાદ છે (૧૫) વિષયોમાં અનુરાગ થવો તે રતિ છે, અને ધર્મમાં અનુરાગ નહિ થવો તે અરતિ છે, રતિસહિત અરતિને રત્યરતિ કહે છે આ પણ એક પાપ સ્થાનક છે (૧૬) માયાથી યુક્ત મૃષાવાદ તે માયામૃષા કહેવાય છે તે પણ એક પાપસ્થાનક છે (૧૭) શલ્યની પ્રમાણે વિવિધ પ્રકારની પીડાઓ ઉત્પન્ન કરવાવાળા મિથ્યાત્વ મિથ્યાદર્શનશલ્ય કહેવાય છે અર્થાત્ કુદેવ કુગુરૂ અને કુધર્મને સુદેવ

दर्शनशल्यम्=कुदेव-कुगुरु-कुधर्मेषु सुदेवादिबुद्धि. १८। एतान्यष्टादश पापस्थानानि। एताभि. क्रियाभिर्जीवः कर्म बध्नाति ॥ सू. ५ ॥

॥ इति क्रियावादिप्रकरणम् ॥

क्रिया किलात्मन. परिणाम । तेन क्रियावत्त्व कर्तृत्व चात्मनः सिध्यति। तत्तत्कालिकक्रियासम्बन्धादात्मनस्त्रिकालवर्तित्व च सिध्यतीत्याशयेनाह-"अकरिस्स" इत्यादि।

॥ मूलम् ॥

अकरिस्स चऽहं, कारवेसु चऽहं, करओ यावि समणुन्ने भविस्सामि। एयावति सव्वावति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवति ॥ सू ६ ॥

सुदेव सुगुरु और सुधर्म समझना मिथ्यादर्शनशल्य है। ये अठारह पापस्थानक हैं। इन अठारह प्राणातिपात आदि क्रियाओं से जीव को कर्मों का बन्ध होता है। ॥ सू ५ ॥

॥ इति क्रियावादिप्रकरण ॥

क्रिया आत्मा का एक परिणाम है। उस से आत्मा का क्रियावत्त्व या कर्तृत्व सिद्ध होता है, और अमुक-अमुक-कालीन क्रियाओं के सम्बन्ध से यह भी सिद्ध होता है कि-" आत्मा त्रिकालवर्ती है " यह बात अब बतलाई जाती है-'अकरिस्स चऽहं' इत्यादि।

मूलार्थ—मैंने किया था, मैं कराता हूँ और करने वाले की मैं अनुमोदना करूंगा। यह सब लोक में कर्मसमारम्भ जानने चाहिए। सू ६ ॥

સુગુરૂ અને સુધર્મ સમજવા તે મિથ્યાદર્શનશલ્ય છે (૧૮) આ અઢાર પાપ સ્થાનક છે આ અઢાર પ્રાણુતિપાત આદિ ક્રિયાઓથી જીવને કર્મોનો બંધ થાય છે (સૂ. ૫)

ઇતિ ક્રિયાવાદિપ્રકરણ

ક્રિયા આત્માનું એક પરિણામ છે, તેનાથી આત્માનું ક્રિયાવત્ત્વ અથવા કર્તૃત્વ સિદ્ધ થાય છે, અને અમુક-અમુક-કાલીન ક્રિયાઓના સંબંધથી એ પણ સિદ્ધ થાય છે કે -આત્મા ત્રિકાલવર્ત્તી છે તે વાત હવે બતાવવામાં આવે છે-'અકરિસ્સ ચઽહં' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ —મેં કર્યું, મેં કરાવ્યું અને કરવાવાળાને મેં અનુમોદન આપ્યું આ સર્વ લોકમાં કર્મ-સમારંભ જાણવા જોઇએ (સૂ. ૬)

॥ छाया ॥

अकार्षं चाहं, कारयामि चाहं, कुर्वतश्चापि समनुज्ञो भविष्यामि । एतावन्तः सर्वे लोके कर्मसमारंभाः परिज्ञातव्या भवन्ति ॥सू. ६॥

॥ टीका ॥

'अकार्षं चाहम्' इति । अत्र 'च'-शब्दोपादानेन भूतकालिककारितानुमोदितक्रियाद्वयस्यापि ग्रहणम्, तेन-(१) अहमकार्षम् (२) अहमचीकरम् (३) अहं कुर्वन्तमन्यमन्वमूमुदम्, इति भेदत्रयं भवति । 'कारयामि चाहम्' इति, अत्र 'च'-शब्देन वर्तमानकालिककृतानुमोदितक्रियाद्वयस्यापि ग्रहणम्, । तेन-(१) अहं कारयामि, (२) अहं करोमि, (२) अहमनुमोदयामि, इति भेदत्रयं भवति ।

टीकार्थ-'अकरिस्सं चऽहं' यहाँ जो 'च' का प्रयोग किया है, उस से यह अर्थ समझना चाहिए कि-"मैंने अनुमोदन किया था।" इस प्रकार मैंने किया, करवाया और अनुमोदन किया, तीन भेदों का कथन हुआ है ।

'कारवेसुं चऽहं' यहाँ भी 'च' पद से दो क्रियाओं का ग्रहण होता है, अतः मैं कराता हूँ, मैं करता हूँ, और मैं अनुमोदन करता हूँ, इन तीन भेदों का कथन समझना चाहिए ।

"करओ यावि समणुन्ने भविस्सामि" यहाँ भी 'च' पद से भविष्यकालीन करने और कराने का अर्थ लेना चाहिए, अतः करने वाले का मैं अनुमोदन करूंगा, मैं स्वयं करूंगा और मैं कराऊंगा । ये क्रिया के तीन भेद समझ लेने चाहिए ।

ટીકાર્થ—'अकरिस्सं चऽहं' અહિં જે 'च' નો પ્રયોગ કર્યો છે, તેથી એ અર્થ સમજવો જોઈએ કે—'મેં કરાવ્યું હતું' આ પ્રમાણે 'મેં' કર્યું, કરાવ્યું, અને મેં અનુમોદન આપ્યું, આ ત્રણ ભેદોનું કથન સમજવું જોઈએ

'कारवेसुं चऽहं' અહિં પણ 'च' પદથી બે ક્રિયાઓનું ગ્રહણ થાય છે તેથી 'મેં કર્યું', મેં કરાવ્યું, અને મેં અનુમોદન આપ્યું' આ ત્રણ ભેદોનું કથન સમજવું જોઈએ.

'करओ यावि समणुन्ने भविस्सामि' અહિં પણ 'च' પદથી ભવિષ્યકાલીન કરીશ અને કરાવીશ. તે અર્થ લેવો જોઈએ. એ કારણથી 'કરવાવાળાને હું અનુમોદન કરીશ, હું સ્વયં કરીશ અને હું કરાવીશ' એ ક્રિયાના ત્રણ ભેદ સમજી લેવા જોઈએ.

कुर्वतश्चापि समनुज्ञो भविष्यामि, इति। अत्रापि 'च'-शब्दोपादानेन भविष्यत्कालिककृतकारितमित्याद्वयस्यापि ग्रहणम्। 'समनुज्ञ' इत्यस्य समनुज्ञाता अनुमोदयितेत्यर्थः। तथा च-(१) अहमन्यस्य कुर्वतोऽनुमोदयिता भविष्यामि, (२) स्वयमहं करिष्यामि, (३) अहं कारयिष्यामि, इति भेदत्रयं क्रियायाः भवति। कुर्वतश्चापीत्यत्र 'अपि'-शब्दोपादानेन तासां नवानां क्रियाणां मनोवाक्कायभेदेन सप्तविंशतिर्भङ्गा भवन्ति।

आत्मवाचकमहमिति पदं पुरस्कृत्य 'अकार्षम्' इत्यादिक्रियापदोपादानात् "सर्वा क्रिया आत्मपरिणामरूपा" इति बोधितम्। एतेन "आत्मा निष्क्रियः" इति सांख्याद्यभिमतं निराकृतम्।

'यावि' शब्द में जो 'अपि' पद है, उस से यह समझना चाहिए कि-इन नौ क्रियाओं के मन वचन और कायके भेद से सत्ताईस भेद हो जाते हैं। अर्थात् पूर्वोक्त नौ क्रियाएँ मन से की जाती हैं वचन से की जाती हैं, और काय से भी की जाती हैं, अत उनके सत्ताईस भेद हो जाते हैं।

आत्मा के वाचक अहम् (मैं) पदको प्रधान करके 'अकार्षम्' इत्यादि क्रियापदों का ग्रहण करने से यह सूचित किया गया है कि-ये सब क्रियाएँ आत्मा का ही परिणाम हैं। इस सूचना से आत्माको निष्क्रिय मानने वाले सांख्य आदि मतों का निराकरण हो गया है।

'यावि' शબ્દમાં જે 'अपि' પદ છે તેથી એ સમજવું જોઈએ કે એ નવ ક્રિયાઓના મન, વચન અને કાયાના ભેદથી સત્તાવીશ ભંગ થાય છે અર્થાત્ પૂર્વોક્ત નવ ક્રિયાઓ મનથી કરી શકાય છે વચનથી અને કાયાથી પણ કરી શકાય છે તેથી તેના સત્તાવીશ ભેદ થઈ જાય છે

આત્માનો વાચક 'अहम्' હું-પદને પ્રધાન રાખીને 'अकार्षम्' આદિ ક્રિયા પદોના ગ્રહણ કરવાથી એ સૂચન કરવામાં આવ્યું છે કે-એ સર્વ ક્રિયાઓ આત્માનુંજ પરિણામ છે આ સૂચનથી આત્માને નિષ્ક્રિય માનવાવાળા સાંખ્ય આદિના મતનું નિરાકરણ થઈ ગયું છે

॥ छाया ॥

अकार्षं चाहं, कारयामि चाहं, कुर्वतश्चापि समनुज्ञो भविष्यामि । एतावन्तः सर्वे लोके कर्मसमारंभाः परिज्ञातव्या भवन्ति ॥सू. ६॥

॥ टीका ॥

'अकार्षं चाहम्' इति । अत्र 'च'-शब्दोपादानेन भूतकालिककारितानुमोदितक्रियाद्वयस्यापि ग्रहणम्, तेन-(१) अहमकार्षम् (२) अहमचीकरम् (३) अहं कुर्वन्तमन्यमन्वमूमुदम्, इति भेदत्रय भवति । 'कारयामि चाहम्' इति, अत्र 'च'-शब्देन वर्तमानकालिककृतानुमोदितक्रियाद्वयस्यापि ग्रहणम् , । तेन-(१) अहं कारयामि, (२) अहं करोमि, (२) अहमनुमोदयामि, इति भेदत्रयं भवति ।

टीकार्थ-'अकरिस्सं चऽहं' यहाँ जो 'च' का प्रयोग किया है, उस से यह अर्थ समझना चाहिए कि-"मैंने अनुमोदन किया था।" इस प्रकार मैंने किया, करवाया और अनुमोदन किया, तीन भेदों का कथन हुआ है ।

'कारवेसु चऽहं' यहाँ भी 'च' पद से दो क्रियाओं का ग्रहण होता है, अत मैं कराता हूँ, मैं करता हूँ, और मैं अनुमोदन करता हूँ, इन तीन भेदों का कथन समझना चाहिए ।

"करओ यावि समणुन्ने भविस्सामि" यहाँ भी 'च' पद से भविष्यकालीन करने और कराने का अर्थ लेना चाहिए, अत करने वाले का मैं अनुमोदन करूगा, मैं स्वयं करूगा और मैं कराऊगा । ये क्रिया के तीन भेद समझ लेने चाहिए ।

ટીકાર્થ—'अकरिस्सं चऽहं' અહિં જે 'च' નો પ્રયોગ કર્યો છે, તેથી એ અર્થ સમજવો જોઈએ કે—'મે કરાવ્યુ હતુ' આ પ્રમાણે 'મે' કર્યુ, કરાવ્યુ, અને મે અનુમોદન આપ્યુ, આ ત્રણ ભેદોનુ કથન સમજવુ જોઈએ

'कारवेसु चऽहं' અહિં પણ 'च' પદથી બે ક્રિયાઓનુ ગ્રહણ થાય છે તેથી 'મે કર્યુ', મે કરાવ્યુ, અને મે અનુમોદન આપ્યુ' આ ત્રણ ભેદોનુ કથન સમજવુ જોઈએ.

'करओ यावि समणुन्ने भविस्सामि' અહિં પણ 'च' પદથી ભવિષ્યકાલીન કરીશ અને કરાવીશ. તે અર્થ લેવો જોઈએ. એ કારણથી 'કરવાવાળાને હુ અનુમોદન કરીશ, હુ સ્વય કરીશ અને હુ કરાવીશ' એ ક્રિયાના ત્રણ ભેદ સમજી લેવા જોઈએ.

भविष्यामीति चिन्तानलेन कोटरस्थवह्निना जरद्द्रुम इव संतप्तोऽस्मीति भावः ।

लोके=जिनशासने, सर्वे कर्मसमारंभा'=कर्माणि ज्ञानावरणीयादीनि समारभन्ते =जनयन्ति ये क्रियाविशेषास्ते कर्मसमारंभाः । एतावन्त एव, नातोऽधिका इत्यर्थ, परिज्ञातव्या भवन्ति-परिज्ञाविषयीकृत्य ज्ञेया हेयाश्च भवन्तीत्यर्थः । परिज्ञा हि द्विविधा-ज्ञपरिज्ञा, प्रत्याख्यानपरिज्ञा च । तत्र ज्ञपरिज्ञया सप्तविंशतिभङ्गरूपाः कर्मसमारम्भाः क्रियाविशेषा. विज्ञेया । प्रत्याख्यानपरिज्ञया च सर्वे कर्मसमारम्भाः क्रियाविशेषा' कर्मबन्धहेतवः प्रत्याख्यातव्या इति भावः ॥ सू० ६ ॥

आंधी से जर्जरित हो जाता है । अब मैं दुःखमय ससार से किस प्रकार छुटकारा पाऊँगा ? इस तरह की चिन्तारूपी अग्नि से मैं ऐसा सतप्त हूँ जैसे कोटरस्थ अग्नि से जीर्ण वृक्ष भीतर ही भीतर भस्म हो जाता है ।

"लोक में अर्थात् जिनशासन में इतने ही ज्ञानावरणीय आदि कर्मों को उत्पन्न करने वाले कर्मसमारम्भ हैं, इन से न्यून या अधिक नहीं "। यह परिज्ञा विषय करने योग्य है, अर्थात् परिज्ञा से ही ये सब ज्ञेय और हेय होते हैं । परिज्ञा दो प्रकारकी है– ज्ञ–परिज्ञा और प्रत्याख्यान–परिज्ञा । इन में से सत्ताईस भंग रूप कर्मसमारम्भ (क्रियाविशेष) ज्ञपरिज्ञा से जानना चाहिए, और प्रत्याख्यान–परिज्ञा से कर्म के कारण समस्त कर्मसमारम्भों का त्याग करना चाहिए ॥ सू ६ ॥

વાવાઝોડાથી જર્જરિત થઈ જાય છે 'હવે હું દુઃખમય સંસારથી છુટકારો કેવી રીતે પામીશ ? આ પ્રમાણે ચિન્તારૂપી અગ્નિથી હું એવો સંતપ્ત છુ કે જેમ–કોટરસ્થ (ઝાડની બખોલમાં રહેલું) અગ્નિથી જીર્ણ વૃક્ષ અંદરને અંદરજ ભસ્મ થઈ જાય છે.

લોકમાં અર્થાત્ જિનશાસનમાં જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મોને ઉત્પન્ન કરવાવાળા આટલાંજ કર્મસમારંભ છે, તેનાથી ઓછા કે વધારે નથી. આ પરિજ્ઞા વિષય કરવા યોગ્ય છે, અર્થાત્ પરિજ્ઞાથીજ આ બધાં જ્ઞેય અને હેય થાય છે પરિજ્ઞા બે પ્રકારની છે (૧) જ્ઞ–પરિજ્ઞા અને (૨) પ્રત્યાખ્યાન–પરિજ્ઞા, તેમાંથી સત્તાવીશ ભંગરૂપ કર્મ સમારંભ (ક્રિયા–વિશેષ) જ્ઞ–પરિજ્ઞાથી જાણવું જોઈએ, અને પ્રત્યાખ્યાન–પરિજ્ઞાથી કર્મોનું કારણ સમસ્ત કર્મસમારંભોનો ત્યાગ કરવો જોઈએ. (સૂ૦ ૬)

एकस्य चात्मनस्त्रिकालवर्तितत्क्रियासम्बन्धेन क्षणिकवादोऽपि निरस्तः। किञ्च-आत्मपरिणतिरूपा क्रियां कुर्वन्नात्मा स्वस्य त्रिकालस्थायित्वं मतिज्ञानमात्रेण जानातीति भगवता बोधितम्। तेनात्मनि विषये प्रत्यभिज्ञाऽप्येवं प्रादुर्भवति-

येन मया मृगतृष्णाम्भसा मृगवद् विविधविषयैराकृष्टेन गर्ते मुग्ध मृगवन्मोहगर्ते निपतितेन सुखलिप्सयाऽऽरम्भपरिग्रहरूपसावद्यक्रियापरायणतया वृथायुः क्षपितम्,

स एवाहं संप्रति वातैर्गिरिशिखरद्रुम इव जन्मजरामरणाधिव्याधि विविधदुःखसम्पृक्ततुच्छसुखभोगैर्जर्जरीकृत कथमस्माद् दुःखजालसंसारान्मुक्तो

एक ही आत्माका त्रिकालवर्ती अमुक-अमुक क्रियाओं के साथ सम्बन्ध दिखलानेसे क्षणिकवाद का भी खण्डन किया गया है। भगवान्ने यह भी प्रकट कर दिया है कि-अपनी परिणतिरूप क्रियाएँ करता हुआ आत्मा मतिज्ञान से ही यह जान लेता है कि-यह (आत्मा) त्रिकालवर्ती है। इससे आत्मा के विषयमें इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है—

"जैसे मृगतृष्णा में फँसकर मूढ मृग कष्ट पाता है उसी प्रकार भाँति-भाँति के विषयों से आकृष्ट हो कर मोहरूपी गड्ढे में गिर कर सुख की लालसा से जिसने आरम्भ-परिग्रह-रूप सावद्य क्रियामें उद्यत हो कर वृथा आयु गँवाई वही मैं आज जन्म, जरा, मरण, आधि, व्याधि वगैरह विविध प्रकार के दुःखों से परिपूर्ण और तुच्छ इन्द्रिय-भोगोंद्वारा ऐसा जर्जरित कर दिया गया हूँ, जैसे पर्वत के उपर का पेड

એકજ આત્માનું ત્રિકાલવર્તી અમુક-અમુક ક્રિયાઓની સાથે સંબંધ દેખાડવાથી ક્ષણિકવાદનું પણ ખંડન કરવામા આવ્યું છે ભગવાને એ પણ પ્રગટ કરી દીધું છે કે-પોતાની પરિણતિરૂપ ક્રિયાઓ કરતો આત્મા મતિજ્ઞાનથીજ એ જાણી લે છે કે-તે ત્રિકાલવર્તી છે એ કારણથી આત્માના વિષયમા આ પ્રકારનું પ્રત્યભિજ્ઞાન ઉત્પન્ન થાય છે

જેમ મૃગતૃષ્ણામા ફસાઈને મૂઢ મૃગ કષ્ટ પામે છે તે પ્રમાણે જાત-જાતના વિષયોથી આકૃષ્ટ થઈને-એ ચાઈને મોહરૂપી ખાડામાં પડી જઈને સુખની લાલસાથી જે આરંભ પરિગ્રહરૂપ સાવદ્ય ક્રિયામા ઉદ્યમી થઈને વૃથા આયુ ગુમાવ્યું હતું, તે હું આજે જન્મ-જરા-મરણ-આધિ-વ્યાધિ વગેરે વિવિધ પ્રકારનાં દુઃખોથી પરિપૂર્ણ અને તુચ્છ ઇન્દ્રિયભોગો દ્વારા એવો જર્જરિત કરવામાં આવ્યો છું કે જેમ-પર્વત ઉપરનું ઝાડ

भविष्यामीति चिन्तानलेन कोटरस्थवह्निना जरद्द्रुम इव सतप्तोऽस्मीति भाव. ।

लोके=जिनशासने, सर्वे कर्मसमारंभा'=कर्माणि ज्ञानावरणीयादीनि समारभन्ते =जनयन्ति ये क्रियाविशेषास्ते कर्मसमारंभाः । एतावन्त एव, नातोऽधिका इत्यर्थ, परिज्ञातव्या भवन्ति-परिज्ञाविषयीकृत्य ज्ञेया हेयाश्च भवन्तीत्यर्थ. । परिज्ञा हि द्विविधा-ज्ञपरिज्ञा, प्रत्याख्यानपरिज्ञा च । तत्र ज्ञपरिज्ञया सप्तविंशतिभङ्गरूपा' कर्मसमारम्भा' क्रियाविशेषा विज्ञेया । प्रत्याख्यानपरिज्ञया च सर्वे कर्मसमारम्भा' क्रियाविशेषाः कर्मबन्धहेतव' प्रत्याख्यातव्या इति भाव' ॥ सू० ६ ॥

आंधी से जर्जरित हो जाता है । अब मैं दु खमय ससार से किस प्रकार छुटकारा पाऊँगा ! इस तरह की चिन्तारूपी अग्नि से मैं ऐसा सतप्त हूँ जैसे कोटरस्थ अग्नि से जीर्ण वृक्ष भीतर ही भीतर भस्म हो जाता है ।

"लोक में अर्थात् जिनशासन में इतने ही ज्ञानावरणीय आदि कर्मों को उत्पन्न करने वाले कर्मसमारम्भ हैं, इन से न्यून या अधिक नहीं " । यह परिज्ञा विषय करने योग्य है, अर्थात् परिज्ञा से ही ये सब ज्ञेय और हेय होते हैं । परिज्ञा दो प्रकारकी है– ज्ञ–परिज्ञा और प्रत्याख्यान–परिज्ञा । इन में से सत्ताईस भग रूप कर्मसमारम्भ (क्रियाविशेष) ज्ञपरिज्ञा से जानना चाहिए, और प्रत्याख्यान–परिज्ञा से कर्म के कारण समस्त कर्मसमारम्भों का त्याग करना चाहिए ॥ सू ६ ॥

વાવાઝોડાથી જર્જરિત થઈ જાય છે 'હવે હું દુઃખમય સંસારથી છુટકારો કેવી રીતે પામીશ ? આ પ્રમાણે ચિન્તારૂપી અગ્નિથી હું એવો સંતપ્ત છું કે જેમ–કોટરસ્થ (ઝાડની બખોલમાં રહેલ) અગ્નિથી જીર્ણ વૃક્ષ અંદરને અંદરજ ભસ્મ થઈ જાય છે

લોકમાં અર્થાત્ જિનશાસનમાં જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મોને ઉત્પન્ન કરવાવાળા આટલાંજ કર્મસમારંભ છે, તેનાથી ઓછા કે વધારે નથી આ પરિજ્ઞા વિષય કરવા યોગ્ય છે, અર્થાત્ પરિજ્ઞાથીજ આ બધા જ્ઞેય અને હેય થાય છે પરિજ્ઞા બે પ્રકારની છે (૧) જ્ઞ–પરિજ્ઞા અને (૨) પ્રત્યાખ્યાન–પરિજ્ઞા, તેમાંથી સત્તાવીશ ભંગરૂપ કર્મ સમારંભ (ક્રિયા–વિશેષ) જ્ઞ–પરિજ્ઞાથી જાણવું જોઇએ, અને પ્રત્યાખ્યાન–પરિજ્ઞાથી

॥ मूलम् ॥

अपरिण्णायकम्मा खलु अयं पुरिसे जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ अणुसचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ साहेइ ॥ सू० ७ ॥

छाया—

अपरिज्ञातकर्मा खलु अयं पुरुषः यः इमा दिशा अनुदिशा वा अनुसचरति, सर्वा दिशाः सर्वा अनुदिशाः सहेति ॥ सू० ७ ॥

टीका—

'अपरिण्णायकम्मा' इत्यादि। य इमा दिशा अनुदिशा अनुसचरति-कर्मपरतन्त्र सन्चतुर्गतिकसंसारं प्राप्य दिक्षु विदिक्षु च परिभ्रमति। तथा-सर्वा-दिशा अनुदिशाः सहेति। इह सर्वशब्देन द्रव्यभावोभयविधदिशो ग्रहणम्। द्रव्यभावदिशः सह=ज्ञानावरणीयादिकर्मभिः साकम् एति=गच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः। यत्तच्छब्दयोर्नित्यसाकाङ्क्षतयाऽत्र यच्छब्देन स इति परामृश्यते। सः अयं पुरुषः=जीवः खलु=निश्चयेन अपरिज्ञातकर्मा अस्तीति शेषः। न परिज्ञातं=परिज्ञाविषयी

मूलार्थ—अपरिज्ञातकर्मा यह पुरुष इन दिशाओं और विदिशाओं में परिभ्रमण करता है और सब दिशाओं एवं अनुदिशाओं को प्राप्त होता है ॥ सू, ७ ॥

टीकार्थ—कर्म से परतन्त्र जीव चार गतिरूप संसार को प्राप्त होकर दिशाओं में और विदिशाओं में परिभ्रमण करता है। तथा समस्त दिशाओं और अनुदिशाओं को प्राप्त होता है, अर्थात् द्रव्य—दिशाओं एवं भाव—दिशाओं (ज्ञानावरण आदि कर्मों) के साथ प्राप्त होता है। यह जीव निश्चयपूर्वक अपरिज्ञातकर्मा है। कर्म की कारणभूत क्रियाओं का स्वरूप जिसने न जाना हो वह अपरिज्ञातकर्मा कहलाता है। अथवा जिसने ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों की कारणभूत क्रियाओं का त्याग न किया हो उसे भी

મૂલાર્થ—અપરિજ્ઞાત કર્મા આ પુરૂષ આ દિશાઓ અને વિદિશાઓમાં પરિભ્રમણ કરે છે, અને સર્વ દિશાઓ એવ અનુદિશાઓને પ્રાપ્ત થાય છે (૭)

ટીકાર્થ—કર્મથી પરતંત્ર જીવ ચાર ગતિરૂપ સંસારને પ્રાપ્ત થઈને દિશાઓમાં અને વિદિશાઓમાં પરિભ્રમણ કરે છે, તથા સમસ્ત દિશાઓ અને અનુદિશાઓને પ્રાપ્ત થાય છે. અર્થાત્ દ્રવ્યદિશાઓ અને ભાવદિશાઓની સાથે પ્રાપ્ત થાય છે તે જીવ નિશ્ચયપૂર્વક અપરિજ્ઞાતકર્મા છે; કર્મની કારણભૂત ક્રિયાઓના સ્વરૂપને જે જાણતા નથી તે અપરિજ્ઞાતકર્મા કહેવાય છે અથવા જેણે જ્ઞાનાવરણ આદિ આઠ કર્મોની કારણભૂત ક્રિયાઓનો ત્યાગ ન કર્યો હોય તેને પણ અપરિજ્ઞાતકર્મા કહે છે આશય

छव कर्म=कर्मकारणीभूतक्रियास्वरूप येन, सोऽपरिज्ञातकर्मा। अज्ञातापरित्यक्त-ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मबन्धकारणभूतक्रियास्वरूप इत्यर्थः। यावदय जीवः क्रियास्वरूप न जानाति, नापि यावत् कर्मबन्धनिबन्धनक्रिया परित्यजति, तावद् द्रव्य-भावोभयविधा दिश परिभ्रमतीति भाव. ॥ सू० ७ ॥

उक्तार्थमेव स्पष्टयति-'अणेगरूवाओ' इत्यादि।

॥ मूलम् ॥

अणेगरूवाओ जोणीओ संधेइ, विरूवरूवे फासे पडिसंवेएइ ॥ सू० ८ ॥

छाया—

अनेकरूपा योनीः सधयति, विरूपरूपान् स्पर्शान् प्रतिसंवेदयति ॥ सू० ८॥

॥ टीका ॥

अपरिज्ञातकर्मा जीव अनेकरूपा=विविधा योनी'=प्राणिनामुत्पत्ति स्थानानि, सन्धयति=प्राप्नोति। अयमात्मा पूर्वभव नाशानन्तर शरीरान्तरग्रहणाय

अपरिज्ञातकर्मा कहते हैं। आशय यह है कि—ससारी जीव जबतक कर्मबन्ध की कारणभूत क्रियाओं को ज्ञान नहीं लेता और त्याग नहीं देता, तबतक वह द्रव्यभावरूप दोनों प्रकार की दिशाओं में परिभ्रमण करता रहता है। ॥ सू ७ ॥

इसी अर्थ को और अधिक स्पष्ट करते हैं—'अणेगरूवाओ' इत्यादि।

मूलार्थ—(अपरिज्ञातकर्मा जीव) अनेकरूप योनियों को प्राप्त होता है और नाना प्रकार की यातनाओं को भोगता है ॥ ८ ॥

टीकार्थ—अपरिज्ञातकर्मा जीव विविध प्रकार की योनियों को अर्थात् जीवों के उत्पत्तिस्थानों को प्राप्त करता है। पूर्वभव का अन्त होने के अनन्तर जीव नवीन शरीर

એછે કે—સંસારી જીવ જ્યાં સુધી કર્મબંધની કારણભૂત ક્રિયાઓને જાણી લેતો નથી અને ત્યજી દેતો નથી ત્યાં સુધી તે દ્રવ્ય-ભાવરૂપ બન્ને પ્રકારની દિશાઓમાં પરિભ્રમણ કરતો રહે છે (સૂ૦ ૭)

એ અર્થને ફરી અધિક સ્પષ્ટ કરે છે—"અણેગરૂવાઓ" ઇત્યાદિ

મૂલાર્થઃ—(અપરિજ્ઞાતકર્મા જીવ) અનેકરૂપ યોનિઓને પ્રાપ્ત થાય છે અને નાના પ્રકારની યાતનાઓને ભોગવે છે (૮)

ટીકાર્થ—અપરિજ્ઞાતકર્મા જીવ વિવિધ પ્રકારની યોનિઓને અર્થાત્-જીવોના ઉત્પત્તિસ્થાનોને પ્રાપ્ત કરે છે પૂર્વભવનો અંત થવા અનન્તર જીવ નવીન શરીર ગ્રહણ

शरीरान्तरप्राप्तिस्थाने यान् पुद्गलान् गृह्णाति तान् बाह्यपुद्गलान् कार्मणेन सह तप्ताय पिण्डजलग्रहणवत् मिश्रयति यस्मिन् स्थाने, तत् स्थानं योनि'। प्रादुर्भावमात्रं शरीरिणां जन्म, इति योनि–जन्मनोर्भेदः। सा नवविधा। (१) सचित्ता, (२) अचित्ता, (३) सचित्ताचित्ता, (४) शीता, (५) उष्णा, (६) शीतोष्णा, (७) संवृता, (८) विवृता, (९) संवृतविवृता। उक्तञ्च—

"कइविहाण भंते! जोणी पण्णत्ता? गोयमा! तिविहा जोणी पण्णत्ता, तंजहा–सीया जोणी, उसिणा जोणी, सीओसिणा जोणी। तिविहा जोणी पण्णत्ता, तंजहा–सचित्ता जोणी, अचित्ता जोणी, मीसिया जोणी।

ग्रहण करने के लिए नवीन शरीर की प्राप्ति के स्थान पर जिन बाह्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, उन्हें जिस जगह पर कार्मणशरीर के साथ तपे लोहे के गोले और जल के समान एकमेक करता है, वह स्थान योनि कहलाता है। जीव का प्रादुर्भाव होना जन्म है। यह योनि और जन्म में अन्तर है। जन्म का आधार योनि है, अत योनि और जन्म में आधाराधेयभाव–सम्बन्ध है। योनि के नौ भेद हैं–(१) सचित्त, (२) अचित्त, (३) सचित्ताचित्त, (४) शीत, (५) उष्ण, (६) शीतोष्ण, (७) संवृत, (८) विवृत और (९) संवृत–विवृत। कहा भी है—

"भगवन्! योनि कितने प्रकार की कही गई है? गौतम! तीन प्रकार की योनि कही गई है। वह इस प्रकार–शीतयोनि, उष्णयोनि और शीतोष्णयोनि। तथा तीन प्रकार की योनि कही है। वह इस प्रकार–सचित्तयोनि, अचित्तयोनी और मिश्रयोनि।

ग्रहण करवा माटे नवीन शरीरनी प्राप्तिना स्थान पर जे बाह्य पुद्गलोने ग्रहण करे छे तेने जे जग्या पर कार्मणशरीरनी साथे तपेला लोढाना गोळा अने जलनी समान एकमेक करे छे ते स्थान योनि कहेवाय छे. जीवोनो प्रादुर्भाव थवो ते जन्म छे योनि अने जन्ममां एज अन्तर छे, जन्मनो आधार योनि छे, तेथी योनि अने जन्ममां आधार–आधेय भाव संबंध छे योनिना नव भेद छे–(१) सचित्त (२) अचित्त (३) सचित्ताचित्त (४) शीत (५) उष्ण (६) शीतोष्ण (७) संवृत (८) विवृत अने (९) संवृत–विवृत. कह्युं पण छे—

"भगवन्! योनि केटला प्रकारनी कही छे? गौतम! त्रण प्रकारनी योनि कही छे ते आ प्रमाणे छे—शीतयोनि, उष्णयोनि, अने शीतोष्णयोनि तथा त्रण प्रकारनी योनि कही छे ते आ प्रमाणे छे–सचित्तयोनि, अचित्तयोनि अने मिश्रयोनि. फरी पण त्रण

तिविहा जोणी पण्णत्ता, तंजहा-संवुडा जोणी, वियडा जोणी, संवुडवियडा जोणी"। (प्रज्ञा योनिपद ९)

जीवप्रदेशैरधिष्ठिता योनिः सचित्ता, जीवप्रदेशैरनधिष्ठिता योनिरचित्ता। क्वचिद्देशे जीवप्रदेशैरधिष्ठिता, क्वचिदनधिष्ठिता सा सचित्ताऽचित्ता। यत्र शीतस्पर्शः सा शीता। यत्रोष्णस्पर्शः सा योनिरुष्णा। यत्र क्वचिद्देशे शीतस्पर्शः, क्वचिदुष्णस्पर्शः सा शीतोष्णा। अप्रकटिता संवृता। प्रकटिता विवृता। यत्र क्वचिद्देशे प्रकटिता, क्वचिदप्रकटिता सा संवृतविवृता योनिः।

कस्य जीवस्य का योनिर्भवति?-त्युच्यते-देवनारकाणामचित्ता योनिः। देवानां प्रच्छदपटदेवदूष्यान्तरालं योनिः, तच्च जीवप्रदेशवर्जितम्। नारकाणां तु

फिर भी तीन तरह की योनि कही है। वह इस प्रकार-संवृतयोनि विवृतयोनि और संवृत विवृतयोनि"। (प्रज्ञा योनिपद ९)

जीवप्रदेशों से अधिष्ठित योनि सचित्त कहलाती है और जो जीवप्रदेशों से अधिष्ठित न हो वह अचित्त कहलाती है। जो योनि कहीं जीवप्रदेशों से अधिष्ठित हो और कहीं अधिष्ठित न हो वह मिश्र योनि है। जहाँ शीत स्पर्श हो वह शीतयोनि, जहाँ उष्ण स्पर्श हो वह उष्णयोनि और जिस में कहीं शीत और कहीं उष्ण स्पर्श हो वह शीतोष्णयोनि है। अप्रकट योनि संवृत कहलाती है। प्रकट को विवृत कहते हैं और जो कहीं अप्रकट और कहीं प्रकट हो वह संवृतविवृतयोनि है।

किस जीव की कौन-सी योनि होती है? यह बताते हैं-देव और नारकी जीवों की अचित्त योनि होती है। देवों की योनि प्रच्छदपट और देवदूष्य के बीच में होती है,

---

પ્રકારની યોનિ કહી છે તે આ પ્રમાણે છે —સંવૃતયોનિ, વિવૃતયોનિ અને સંવૃત-વિવૃતયોનિ" (પ્રજ્ઞા યોનિપદ ૯)

જીવપ્રદેશોથી અધિષ્ઠિત યોનિ સચિત્ત કહેવાય છે અને જે જીવપ્રદેશોથી અધિષ્ઠિત ન હોય તે અચિત્ત કહેવાય છે જે યોનિ કોઈ સ્થળે જીવપ્રદેશોથી અધિષ્ઠિત હોય અને કોઈ સ્થળે અધિષ્ઠિત ન હોય તે મિશ્રયોનિ કહેવાય છે જ્યાં શીત સ્પર્શ હોય તે શીતયોનિ, જ્યાં ઉષ્ણસ્પર્શ હોય તે ઉષ્ણયોનિ, અને જેમાં ક્યાંક શીત અને ક્યાંક ઉષ્ણ સ્પર્શ હોય તે શીતોષ્ણ યોનિ છે અપ્રગટ યોનિ સંવૃત કહેવાય છે, અને પ્રકટ યોનિને વિવૃત કહે છે, અને જે ક્યાંક પ્રગટ અને ક્યાંક અપ્રગટ હોય તે સંવૃત-વિવૃત યોનિ છે

ક્યા જીવની કઈ યોનિ છે? તે બતાવે છે—દેવ-નારકી જીવોની અચિત્તયોનિ હોય છે દેવોની યોનિ પ્રચ્છદપટ અને દેવદૂષ્યના વચમાં હોય છે અને તે જીવ

घज्रमयवातायनकल्पा' कुम्भयो योनयः, ता अपि जीवप्रदेशरहिता। ये गर्भजास्तिर्यञ्चो मनुष्यास्तेषां मिश्राससचिताचित्तरूपा योनिः। स्थावरपञ्चकस्य विकलेन्द्रियत्रयस्य अगर्भजपञ्चेन्द्रियतिरश्चां संमूर्छिममनुष्याणां च त्रिविधा सचिचा, अचित्ता, सचित्ताचित्ता च।

गर्भजमनुष्यतिरश्चां देवानां च शीतोष्णा योनिः। तेजस्कायस्य उष्णा। स्थावरचतुष्टयस्य विकलेन्द्रियत्रयस्य अगर्भजपञ्चेन्द्रियतिरश्चां समूर्छिममनुष्याणां नारकाणां च त्रिविधा शीता, उष्णा, शीतोष्णा च योनिः।

नारकाणां देवानामेकेन्द्रियाणां च संवृता योनिः। गर्भजानां पञ्चेन्द्रियतिरश्चां मनुष्याणां च संवृतविवृता योनिः। विकलेन्द्रियत्रयस्य

और वह जीवप्रदेशों से रहित है। नारकों की योनि वज्रमय वातायन के समान कुम्भियाँ हैं। वे भी जीवप्रदेशों से रहित हैं। गर्भज तिर्यंचों और मनुष्यों की मिश्र (सचित्ताचित्त) योनि होती है। पांच स्थावरों की, तीन विकलेन्द्रियों की, अगर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यंचों की तथा संमूर्छिम मनुष्यों की योनि तीनों प्रकार की (सचित्त, अचित्त और मिश्र) होती है।

गर्भज-मनुष्यों, तिर्यंचों और देवों की शीतोष्ण योनि होती है। तेजस्काय की उष्ण योनि है। चार स्थावरों की, तीन विकलेन्द्रियों की, अगर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यंचों की संमूर्छिम मनुष्यों की और नारकों की तीनों प्रकार की (शीत उष्ण और मिश्र) योनि होती है।

नारकों देवों और एकेन्द्रियों की संवृत योनि है। गर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यंचों और मनुष्यों की संवृतविवृत योनि होती है। तीन विकलेन्द्रियों की, अगर्भज पञ्चेन्द्रिय

પ્રદેશોથી રહિત છે નારકીઓની યોનિ વજ્રમય વાતાયન (બારી)ની સમાન કુંભીઓ છે તે પણ જીવપ્રદેશોથી રહિત છે

ગર્ભજ તિર્યંચો અને મનુષ્યોની મિશ્ર (સચિત્તાચિત્ત) યોનિ હોય છે પાંચ સ્થાવરોની, ત્રણ વિકલેન્દ્રિયોની, અગર્ભજ પંચેન્દ્રિય તિર્યંચોની તથા સંમૂર્છિમ મનુષ્યોની યોનિ ત્રણેય પ્રકારની (સચિત્ત, અચિત્ત અને મિશ્ર) હોય છે.

ગર્ભજ મનુષ્યો, તિર્યંચો અને દેવોની શીતોષ્ણ યોનિ હોય છે તેજસ્કાયની ઉષ્ણયોનિ છે ચાર સ્થાવરોની, ત્રણ વિકલેન્દ્રિયોની, અગર્ભજ પંચેન્દ્રિય તિર્યંચોની સંમૂર્છિમ મનુષ્યોની અને નારકોની ત્રણેય પ્રકારની (શીત, ઉષ્ણ અને મિશ્ર) યોનિ હોય છે.

નારકી, દેવો, અને એકેન્દ્રિયોની સંવૃત યોનિ છે ગર્ભજ પંચેન્દ્રિય તિર્યંચો અને મનુષ્યોની સંવૃત-વિવૃત યોનિ હોય છે ત્રણ વિકલેન્દ્રિયોની અગર્ભજ પંચેન્દ્રિય

अगर्भजपञ्चेन्द्रियतिरश्चां समूर्छिममनुष्याणां च विवृता योनिः ।

यद्वा—चतुरशीतिलक्षभेदेनानेकरूपा योनयः सन्ति, तथा हि-पृथिव्यप्तेजोवायूनां प्रत्येकं सप्त सप्त लक्षाणि २८, प्रत्येकवनस्पतीनां दश लक्षाणि ३८, साधारणवनस्पतीनां चतुर्दश लक्षाणि, ५२, विकलेन्द्रियत्रयस्य प्रत्येकं द्वे द्वे लक्षे, इति तेषां षड् लक्षाणि ५८, देव-नारक-पञ्चेन्द्रियतिरश्चां प्रत्येकं चत्वारि लक्षाणीति तेषां द्वादश लक्षाणि ७०, मनुष्याणां चतुर्दश लक्षाणि ८४ । एवं सर्वसंकलने चतुरशीतिलक्षाणि जीवानां योनयो भवन्ति ।

अनेकविधयोनिप्राप्तौ सत्यामपरिज्ञातकर्मा जीवः कर्मफलं यथाऽनुभवति तत् प्रदर्शयति-'विरूपरूपान् प्रतिसंवेदयति' इति, विरूपं=दुःख-

---

तिर्यंचों की और समूर्च्छिम मनुष्यों की विवृतयोनि होती है ।

अथवा—योनियों के चौरासी लाख भेद भी हैं । वे इस प्रकार हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, और वायुकाय, की सात-सात लाख योनियाँ हैं२८, प्रत्येक वनस्पति की दश लाख ३८, साधारण वनस्पति की चौदह लाख ५२, तीन विकलेन्द्रि की प्रत्येक की दो-दो लाख अर्थात् विकलेन्द्रिय की कुल छह लाख५८, देवों नारकों और पञ्चेन्द्रिय तिर्यंचों में प्रत्येक की चार-चार लाख, कुल बारह लाख७०, मनुष्यों की चौदह लाख८४, इस प्रकार कुल चौरासी लाख जीवयोनियाँ हैं ।

अनेक प्रकार की योनियाँ प्राप्त होने पर अपरिज्ञातकर्मा जीव किस प्रकार कर्मफल भोगता है, सो बतलाते हैं—दुःखजनक होने के कारण इन्द्रियों के अनिष्ट विषयों

તિર્યંચોની અને સમ્મૂર્છિમ મનુષ્યોની વિવૃત યોનિ હોય છે

અથવા—યોનિઓના ચોરાસી લાખ ભેદ પણ છે, તે આ પ્રમાણે છે—પૃથ્વીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય, અને વાયુકાયની સાત-સાત લાખ યોનિઓ છે (૨૮), પ્રત્યેક વનસ્પતિની દસલાખ (૩૮), સાધારણ વનસ્પતિની ચૌદલાખ (૫૨), ત્રણ વિકલેન્દ્રિયની પ્રત્યેકની બબે લાખ, અર્થાત્ વિકલેન્દ્રિયની કુલ ૬ લાખ (૫૮), દેવો નારકીઓ, અને પંચેન્દ્રિય તિર્યંચોમાં પ્રત્યેકની ચાર-ચાર લાખ, તમામ મળી બાર લાખ (૭૦), મનુષ્યોની ચૌદ લાખ (૮૪), આ પ્રમાણે કુલ ચોરાસી લાખ જીવયોનિ છે

અનેક પ્રકારની યોનિઓ પ્રાપ્ત થવા છતાંય અપરિજ્ઞાતકર્મા જીવ કેવી રીતે કર્મફલ ભોગવે છે ? તે બતાવે છે—દુઃખ ઉત્પન્ન કરનાર હોવાના કારણે ઇન્દ્રિયોના અનિષ્ટ-

हेतुत्वादशोमनं रूप=स्वरूप येषां ते विरूपरूपाः=अनिष्टाः, तान्, स्पर्शान्=इन्द्रियाणा विषये सह सम्बन्धा स्पर्शाः, तान् प्रतिसंवेदयति=पुनः पुनरनुभवति। अनिष्टविषयसंयोगे पुनः पुनर्दुःखमेव प्राप्नोतीत्यर्थः।

यद्वा—विरूप=विभिन्नरूप विभिन्नात्मकं रूपं=स्वरूपं येषां ते विरूपरूपाः=नानाविधस्वरूपाः, तान् स्पर्शान्=दुःखसंपातान् प्रतिसंवेदयति। लक्षणया कार्यकारणयोरभेदाद्वा स्पर्शजन्या अपि दुःखसंपाताः स्पर्शा इति व्यपदिश्यन्ते। अत्र स्पर्शानित्युपलक्षणं, तेन मानसानामपीष्टवियोगादिजन्यदुःखसंपातानां संग्रहः।

यद्वा—स्पर्शान्=स्पर्शनेन्द्रियवेद्यान् दुःखसंपातान् प्रतिसंवेदयतीत्यर्थः।

को भोगता है। इस प्रकार अनिष्ट विषयों का संयोग होने के कारण वह जीव पुनः-पुनः दुःख ही अनुभव करता है।

अथवा—विरूप अर्थात् भिन्न-भिन्न स्वरूपवाले—नानाप्रकार के दुःखजनक स्पर्शों का संवेदन करता है। लक्षणावृत्ति से, अथवा कार्य-कारण के अभेद की विवक्षा से स्पर्शजन्य दुःख भी स्पर्श ही कहलाते हैं। यहाँ स्पर्श उपलक्षण मात्र है, उस से इष्टवियोग आदि मानसिक दुःखों का भी ग्रहण समझना चाहिए।

अथवा—स्पर्श का अर्थ है—स्पर्शनेन्द्रियविषयभूत दुःख। जीव उन्हें भोगता है। तात्पर्य यह है कि—जीव अपरिज्ञातपापकर्मा होकर निगोद आदि नाना

દુઃખકારક વિષયોને ભોગવે છે, એ પ્રમાણે અનિષ્ઠ વિષયોના સંયોગ હોવાના કારણે તે જીવ ફરી-ફરી દુઃખનોજ અનુભવ કરે છે.

અથવા-વિરૂપ અર્થાત્ ભિન્ન-ભિન્ન સ્વરૂપવાળા નાના પ્રકારના દુઃખજનક, સ્પર્શોનું સંવેદન કરે છે લક્ષણાવૃત્તિથી, અથવા કાર્યકારણના અભેદની વિવક્ષાથી સ્પર્શજન્ય દુઃખ પણ સ્પર્શજ કહેવાય છે અહિં સ્પર્શ ઉપલક્ષણ માત્ર છે, તેમાં ઇષ્ટવિયોગ આદિ માનસિક દુઃખોનું ગ્રહણ પણ સમજી લેવું જોઈએ.

અથવા-સ્પર્શનો અર્થ છે-સ્પર્શનેન્દ્રિયવિષયભૂત દુઃખ, જીવ તેને ભોગવે છે તાત્પર્ય એ છે કે -જીવ અપરિજ્ઞાત-પાપકર્મા થઈને નરક-નિગોદ આદિ અનેક યોનિઓમાં

अपरिज्ञातकर्मतया नरकनिगोदाद्यनेकविधयोनी सम्प्राप्य सर्वे जीवा' विचित्रकर्मोदयात् स्वकर्मफल नानाविध दु खमेवानुभवन्तीति भाव. ॥ ८ ॥

अथ सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामिनं जगाद–'तत्थे'–इत्यादि ।

मूलम्—

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया ॥ सू० ९ ॥

छाया—

तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता ॥ सू० ९ ॥

टीका—

हे जम्बू ! अपरिज्ञातकर्मा जीवो विभावपरिणाम कुर्वन् नानाविधयोनिषु पुन पुनर्दु खमेव लभते । तत्र-अपरिज्ञातकर्मणो जीवस्य कृतकारितानुमोदितादिभेदेनोक्तसप्तविंशतिभङ्गरूपसावद्यक्रियानुष्ठानान्नरकनिगोदादिनानाविधयोनिषु पुन पुनर्दु खानुभवविषये भगवता श्रीमहावीरस्वामिना परिज्ञा

योनियों में उत्पन्न होकर विचित्र कर्मों के उदय से अपने-अपने कर्मों का नानाविध दु खरूप फल अनुभव करते हैं ॥ सू ८ ॥

सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं–'तत्थ खलु ' इत्यादि ।

मूलार्थ–भगवान् ने परिज्ञा का उपदेश दिया है ॥ सू ९ ॥

टीकार्थ– हे जम्बू ! अपरिज्ञातपापकर्मा जीव विभाव परिणाम धारण करता हुआ नाना प्रकार की योनियों में वारवार दु ख पाता है । अपरिज्ञातपापकर्मा जीव के कृत कारित अनुमोदना आदि के भेद से सत्ताईस भंगरूप सावद्यक्रिया के अनुष्ठान से नरक निगोद आदि नाना प्रकार की योनियों में पुन पुन दु खानुभव करने के विषयमें

ઉત્પન્ન થઈને વિચિત્રકર્મોના ઉદયથી પોત-પોતાના કર્મોના અનેક પ્રકારના દુ ખરૂપ ફલનો અનુભવ કરે છે (સૂ૦ ૮)

સુધર્મા સ્વામી જમ્બૂ સ્વામીને કહે છે–' તત્થ ખલુ ' ઈત્યાદિ.

મૂલાર્થ—ભગવાને પરિજ્ઞાનો ઉપદેશ આપ્યો છે (૯)

ટીકાર્થ—હે જમ્બૂ ! અપરિજ્ઞાતપાપકર્મા જીવ વિભાવ પરિણામ ધારણ કરતો થકો નાના પ્રકારની યોનિઓમાં વારવાર દુ ખ પામે છે અપરિજ્ઞાત-પાપકર્મા જીવના કૃત કારિત અને અનુમોદના આદિના ભેદથી સત્તાવીશ ભ ગરૂપ સાવદ્ય ક્રિયાના અનુષ્ઠાનથી નરક-નિગોદ આદિ નાના પ્રકારના યોનિઓમા પુનઃ પુન દુઃખ અનુભવ કરવાના વિષયમાં

खलु मवेदिता। तच्च दुःखकारणकर्मबन्धसमुच्छेदार्थं जीवेन परिज्ञाऽवश्य शरणी करणीयेति भगवता प्रबोधितमिति भाव परिज्ञा=सम्यगवबोध'। परिज्ञा द्विविधा ज्ञ–प्रत्याख्यान–भेदात्। 'सावद्यव्यापारेण कर्मबन्धो भवती'ति ज्ञानं ज्ञ–परिज्ञा। कर्मबन्धकारणस्य सावद्यव्यापारस्य परित्याग प्रत्याख्यान–परिज्ञा। अत्रेदमवगन्तव्यम्–अतीतकाले मनसा वाचा कायेन च मया सावद्य-क्रिया कृता, कारिता, अनुमोदिता च, तथा वर्त्तमानकाले सावद्यक्रिया करोमि, कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यमनुमोदयामि। एव यदि भविष्यत्कालेऽपि सावद्यक्रियां करिष्यामि, कारयिष्यामि करिष्यमाणमन्यमनुमोदयिष्यामि। इत्यमनेकविधसा-वद्यव्यापार कुर्वन् जीवः संसारे परिभ्रमति, नरकनिगोदाद्यनेकविधदुःखयातनां

भगवान महावीर स्वामीने परिज्ञा की प्ररूपणा की है। दुःखों के कारणभूत कर्मों के बन्ध का नाश करने के लिए जीव को परिज्ञा का शरण अवश्य ग्रहण करना चाहिए; ऐसा भगवान् ने कहा है। परिज्ञा का अर्थ है–सम्यग्ज्ञान। परिज्ञा दो प्रकार की है– ज्ञ–परिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा। सावद्य व्यापार से कर्मबन्ध होता है' ऐसा जानना ज्ञ–परिज्ञा है। और कर्म बन्ध के कारण सावद्य व्यापारों का परित्याग कर देना प्रत्याख्यान परिज्ञा है। यहाँ यह समझना चाहिए कि–भूतकाल में मैंने मन, वचन, काय से सावद्य क्रिया की, कराई और उस की अनुमोदना की, तथा वर्तमान काल में सावद्य क्रिया करता हूँ, कराता हूँ और दूसरे करने वाले का अनुमोदन करता हूँ,। इसी प्रकार भविष्यकाल में भी सावद्य क्रिया करूंगा, कराऊंगा, और दूसरे का अनुमोदन करूंगा। इस प्रकार भाँति–भाँति का सावद्य व्यापार करता हुआ जीव संसार में परिभ्रमण करता है और नरक निगोद आदि की

ભગવાન મહાવીર સ્વામીએ પરિજ્ઞાની પ્રરૂપણા કરી છે દુઃખોના કારણભૂત કર્મોના બંધનો નાશ કરવા માટે જીવને પરિજ્ઞાનું શરણ અવશ્ય ગ્રહણ કરવું જોઈએ, એ પ્રમાણે ભગવાને કહ્યું છે પરિજ્ઞાનો અર્થ છે સમ્યગ્જ્ઞાન. પરિજ્ઞા બે પ્રકારની છે– (૧) જ્ઞ–પરિજ્ઞા અને (૨) પ્રત્યાખ્યાન–પરિજ્ઞા 'સાવદ્ય વ્યાપારથી કર્મબંધ થાય છે' આ પ્રકારે સમજવું તે જ્ઞ–પરિજ્ઞા છે, અને કર્મબંધના કારણથી સાવદ્ય વ્યાપારોનો ત્યાગ કરી દેવો તે પ્રત્યાખ્યાન–પરિજ્ઞા છે અહિં આ પ્રમાણે સમજવું જોઈએ કે — ભૂતકાળમાં મેં મન, વચન, કાયાથી સાવદ્ય ક્રિયા કરી છે, કરાવી છે અને તેને અનુમોદન આપ્યું છે તથા વર્તમાન કાળમાં સાવદ્ય ક્રિયા કરૂં છું, કરાવું છું, અને બીજા કરવાવાળાને અનુમોદન આપું છું આ પ્રમાણે ભવિષ્યકાળમાં પણ સાવદ્ય ક્રિયા કરીશ કરાવીશ અને બીજાને અનુમોદન આપીશ. આ પ્રમાણે અનેક તરેહના ભાત–ભાત

चानुमवति । एवं ज्ञपरिज्ञया विज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया सावद्यक्रिया परित्याज्येति भगवता बोधितमिति । इद च ज्ञान सहसम्मत्या (अवधि मन'पर्यय-केवलज्ञानैर्जातिस्मृत्या वा) मतिज्ञानेन वा भवति, तस्मान्निश्चयव्यवहारस्वरूपसयममार्गे प्रवृत्तिरेव जीवस्य हितकारिणी, अनयैव हि परमपद मोक्षो लभ्यते ॥ सू० ९ ॥

ननु यदि दु खफलेषु तेषु क्रियाविशेषेषु किमर्थं प्रवर्त्तते जीव ? इत्याशङ्कायामाह-' इमस्स चेव ' इत्यादि ।

मूलम्—इमस्स चेव जीवियस्स परिवदणमाणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउ ॥ सू० १० ॥

छाया—अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दन-मानन-पूजनाय-जातिमरणमोचनाय दु'खप्रतिघातहेतुम् ॥ सू० १० ॥

अनेक प्रकार की दुस्सह यातनाए भोगता है, इस प्रकार ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से सावद्य क्रिया त्यागने योग्य है । इस प्रकार भगवान्‌ने उपदेश दिया है । यह बोध-अवधि, मन पर्यय, केवलज्ञान और जातिस्मरण से होता है, या, मतिज्ञान से होता है । इस लिये निश्चयव्यवहाररूप सयममार्ग म प्रवृत्ति करना ही जीव के लिए हितकर है और इसी से परमपद-मोक्ष प्राप्त होता है ॥ सू० ९ ॥

अगर सावद्य क्रियाएँ दु ख का कारण हैं तो उन में जीव प्रवृत्ति क्यों करता है ? इस आशंका का समाधान करते हैं-' इमस्स चेव ' इत्यादि ।

मूलार्थ—इस जीवन के लिए, परिवन्दन, मानन और पूजन के लिए, जन्म मरण से मुक्त होने के लिए, दुःख दूर करने के लिए, (जीव पापक्रिया में प्रवृत्त होता है) ॥ सू १० ॥

સાવદ્ય વ્યાપાર કરતો જીવ સસારમા પરિભ્રમણ કરે છે, અને નરક, નિગોદ આદિની અનેક પ્રકારની કઠિન યાતનાઓ ભોગવે છે આ પ્રમાણે જ્ઞ-પરિજ્ઞાથી જાણીને પ્રત્યાખ્યાન-પરિજ્ઞાથી સાવદ્ય ક્રિયા ત્યાગવા યોગ્ય છે, આ પ્રમાણે ભગવાને ઉપદેશ આપ્યો છે

આ બોધ-અવધિ, મન પર્યય, કેવલજ્ઞાન અથવા જાતિસ્મરણથી થાય છે, અથવા તો મતિજ્ઞાનથી થાય છે એ માટે નિશ્ચય-વ્યવહારરૂપ સયમમાર્ગમા પ્રવૃત્તિ કરવી એજ જીવને માટે હિતકર છે, અને એનાથી પરમપદ મોક્ષ થાય છે (સૂ૦ ૯)

જો કે સાવદ્ય ક્રિયાઓ દુ ખનું કારણ છે, તો તેમા જીવ પ્રવૃત્તિ શા માટે કરે છે? એ શકાનું સમાધાન કરે છે—' इमस्स चेव ' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—આ જીવનને માટે, પરિવદન, માનન, અને પૂજન માટે, જ મ મરણથી મુક્ત થવા માટે, દુ ખ દૂર કરવા માટે (જીવ પાપક્રિયામા પ્રવૃત્ત થાય છે) (૧૦)

खलु मयेदिता। तत्त्दुःखकारणकर्मबन्धसमुच्छेदार्थं जीवेन परिज्ञाऽवश्यं शरणी करणीयेति भगवता प्रबोधितमिति भावः परिज्ञा=सम्यगवबोध'। परिज्ञा द्विविधा ज्ञ-प्रत्याख्यान-भेदात्। 'सावद्यव्यापारेण कर्मबन्धो भवती'ति ज्ञानं ज्ञ-परिज्ञा। कर्मबन्धकारणस्य सावद्यव्यापारस्य परित्याग प्रत्याख्यान-परिज्ञा। अत्रेदमवगन्तव्यम्-अतीतकाले मनसा वाचा कायेन च मया सावद्य क्रिया कृता, कारिता, अनुमोदिता च, तथा वर्त्तमानकाले सावद्यक्रियां करोमि, कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यमनुमोदयामि। एव यदि भविष्यत्कालेऽपि सावद्यक्रियां करिष्यामि, कारयिष्यामि करिष्यमाणमन्यमनुमोदयिष्यामि। इत्थमनेकविधसावद्यव्यापार कुर्वन् जीव संसारे परिभ्रमति, नरकनिगोदाद्यनेकविधदुस्सह्यातना

भगवान् महावीर स्वामीने परिज्ञा की प्ररूपणा की है। दुःखों के कारणभूत कर्मों के बन्ध का नाश करने के लिए जीव को परिज्ञा का शरण अवश्य ग्रहण करना चाहिए, ऐसा भगवान् ने कहा है। परिज्ञा का अर्थ है—सम्यग्ज्ञान। परिज्ञा दो प्रकार की है—ज्ञ—परिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा। सावद्य व्यापार से कर्मबन्ध होता है' ऐसा जानना ज्ञ—परिज्ञा है। और कर्म बन्ध के कारण सावद्य व्यापारों का परित्याग कर देना प्रत्याख्यान परिज्ञा है। यहाँ यह समझना चाहिए कि—भूतकाल में मैंने मन, वचन, काय से सावद्य क्रिया की, कराई और उस की अनुमोदना की, तथा वर्तमान काल में सावद्य क्रिया करता हूँ, कराता हूँ और दूसरे करने वाले का अनुमोदन करता हूँ,। इसी प्रकार भविष्यकाल में भी सावद्य क्रिया करूंगा, कराऊंगा, और दूसरे का अनुमोदन करूंगा। इस प्रकार भाँति—भाँति का सावद्य व्यापार करता हुआ जीव संसार में परिभ्रमण करता है और नरक निगोद आदि की

ભગવાન મહાવીર સ્વામીએ પરિજ્ઞાની પ્રરૂપણા કરી છે દુઃખોના કારણભૂત કર્મોના બંધનો નાશ કરવા માટે જીવને પરિજ્ઞાનું શરણ અવશ્ય ગ્રહણ કરવું જોઈએ, એ પ્રમાણે ભગવાને કહ્યું છે પરિજ્ઞાનો અર્થ છે સમ્યગ્જ્ઞાન. પરિજ્ઞા બે પ્રકારની છે— (૧) જ્ઞ-પરિજ્ઞા અને (૨) પ્રત્યાખ્યાન-પરિજ્ઞા 'સાવદ્ય વ્યાપારથી કર્મબંધ થાય છે' આ પ્રકારે સમજવું તે જ્ઞ-પરિજ્ઞા છે, અને કર્મબંધના કારણથી સાવદ્ય વ્યાપારોનો ત્યાગ કરી દેવો તે પ્રત્યાખ્યાન-પરિજ્ઞા છે અહિં આ પ્રમાણે સમજવું જોઈએ કે — ભૂતકાળમાં મેં મન, વચન, કાયાથી સાવદ્ય ક્રિયા કરી છે, કરાવી છે અને તેને અનુમોદન આપ્યું છે તથા વર્તમાન કાળમાં સાવદ્ય ક્રિયા કરૂં છુ, કરાવું છુ, અને બીજા કરવાવાળાને અનુમોદન આપું છુ આ પ્રમાણે ભવિષ્યકાળમાં પણ સાવદ્ય ક્રિયા કરીશ, કરાવીશ અને બીજાને અનુમોદન આપીશ. આ પ્રમાણે અનેક તરેહના ભૂંડા-ભૂંડા

क्रियां करोति । जातिमरणमोचनाय=जातिर्जन्म, तदर्थं भवान्तरसुखप्राप्त्यर्थं झम्पापातादिकं समाचरति । मरणार्थम्=मरणं येषां पित्रादीनां सजातं, तदर्थं पिण्डदानादिक्रियासु प्रवर्त्तते । यद्वा मरण=वधस्तदर्थं, वधं निमित्तीकृत्य वैरनिर्यापनार्थम् । यद्वा-मरणार्थं=मृत्युनिवृत्त्यर्थं मिथ्यात्वबुद्ध्या देवीपूजादौ बलिदानादिकरणम् । मोचनम्=आत्मनः कर्मबन्धापगमस्तदर्थं विपरीतमत्या पञ्चाग्नितापादौ प्राण्युपमर्दनकर्मणि प्रवर्त्तते । तथा दुःखप्रतिघातहेतु=दुःखानां प्रतिघातो=विघातस्तस्य हेतुं क्रियाविशेषं हिंसादिकं करोति, यथा-व्याधि-

---

प्रतिष्ठा वगैरह भी 'पूजन' है, उसके लिए भी मनुष्य प्राणियों का उपमर्दनरूप हिंसा वगैरह सावद्य क्रियाएँ करता है।

जन्म और मरण से छुटकारा पाने के लिए सावद्य क्रियाएँ की जाती हैं। 'जाति'-जन्म के लिए जैसे आगामी भव में सुख प्राप्त करने के उद्देश से जीव झपापात-(अग्नि तथा पानीमें पड़कर अथवा ऊपरसे गिरकर मरना) आदि का आचरण करता है। 'मरण'-पिता आदि का मरण होने पर उनके लिए पिंडदान आदि क्रियाओं में प्रवृत्त होता है। अथवा-मृत्यु को निमित्त बनाकर वैर का प्रतिशोध (बदला) लेने के लिए पाप करता है। अथवा मृत्यु टालने की मिथ्याबुद्धि से देवी वगैरह के लिए बलिदान आदि करता है। तथा 'मोचन' के लिए अर्थात् अपना कर्मबन्ध हटाने के लिए विपरीतमति हो कर पञ्चाग्नितापआदिरूप प्राणि हिंसा में प्रवृत्त होता है। तथा 'दुःखप्रतिघातहेतु' दुःखों को निवारण करने के लिए हिंसा आदि पाप करता है। जैसे रोग मिटाने की बुद्धि से मांस

(મૂર્તિ) આદિની પૂજા-પ્રતિષ્ઠા વગેરે પણ 'પૂજન' છે તેના માટે પણ જીવ, પ્રાણિઓનું ઉપમર્દનરૂપ હિંસા વગેરે સાવદ્ય ક્રિયાઓ કરે છે

જન્મ અને મરણથી છુટવા માટે પણ સાવદ્ય ક્રિયાઓ કરવામા આવે છે જાતિ-જન્મ માટે, જેમ આગામી ભવમા સુખ પ્રાપ્ત કરવાના ઉદેશથી જીવ ઝંપાપાત (અગ્નિ કે પાણીમા પડીને મરવું ઉંચેથી પડતું મૂકવું) આદિનું આચરણ કરે છે 'મરણ પિતા આદિના મરણ પ્રસગે તેના માટે પિંડદાન આદિ ક્રિયાઓમા પ્રવૃત્ત થાય છે, અથવા મૃત્યુ નિવારણ માટે મિથ્યાબુદ્ધિથી દેવી વગેરેને બલિદાન આદિ આપવા તથા 'મોચન' માટે અર્થાત્ પોતાના કર્મબંધને દૂર કરવા માટે વિપરીત મતિથી પચાગ્નિતાપ આદિરૂપ હિંસામા પ્રવૃત્ત થાય છે તથા 'દુઃખપ્રતિઘાતહેતુ'-દુઃખોનું નિવારણ કરવા માટે હિંસાઆદિ પાપ કરે છે જેમ રોગ

टीका—'अस्य' इति-अस्य=प्रत्यक्षमनुभूयमानस्य वारितरङ्गवच्चञ्चलतरस्य, सन्ध्यारागवत्त्वरितभङ्गुरस्य जीवितस्य=जीवनस्य चिरसुखार्थमपरिज्ञातकर्मा जीव कर्मबन्धहेतुभूतेषु क्रियाविशेषेषु प्रवर्त्तते । यथा-जीवनार्थं लावकतित्तिरादिपक्षिणाम्, अजमेषमृगमृगराजादिपशूनां वधरूपघोरकर्मसमाचरणम् । तथा-परिवन्दन-मानन-पूजनाय, तत्र-परिवन्दन=प्रशंसा, तदर्थं, यथा-स्वख्यातिप्राप्त्यर्थं सापराध-निरपराध-प्राणिनां हिंसनम् । माननम्=अभ्युत्थानासनदानादिरूप सत्कार, स्वाज्ञा स्वीकारो वा, तदर्थम्, यथा-माननार्थं परेषां हिंसनादिकरणम् । पूजनम्-रत्नवस्त्रादि पुरस्कार, प्रतिमादीनां पूजाप्रतिष्ठादि च, तदर्थं, प्राण्युपमर्दनरूपहिंसादिसावद्य

टीकार्थ—प्रत्यक्ष अनुभव किये जाने वाले, जलकी तरङ्ग के समान अतिशय चञ्चल, सन्ध्या की लालिमा के समान भङ्गुर-जीवन के चिरकालीन सुख के लिए अपरिज्ञातकर्मा जीव कर्मबन्ध की कारणभूत क्रियाओं में प्रवृत्त होता है । जैसे-जीवित रहने के लिए, लावा, तीतर आदि पक्षियों का और बकरा, मेढा, हिरन एवं सिंह आदि पशुओं का वधरूप घोर पापकर्म का आचरण करना ।

तथा परिवन्दन, मानन और पूजन के लिए जीव पापकर्म करता है । 'परिवन्दन' का अर्थ है प्रशंसा । प्रशंसा के लिए सापराध और निरपराध प्राणियों का घात किया जाता है । उठकर खड़ा होना, आसन देना आदि सत्कार, अथवा अपनी आज्ञा स्वीकार कराना 'मानन' कहलाता है, इस के लिए भी दूसरों की हिंसा की जाती है । रत्नों और वस्त्रों आदि का पुरस्कार 'पूजन' कहलाता है, और प्रतिमा आदि की पूजा-

ટીકાર્થ—પ્રત્યક્ષ અનુભવ કરવામાં આવેલા જલના તરંગોની સમાન અતિશય ચંચલ, સંધ્યાની લાલાશ (રતાપણા)ની સમાન ભંગુર જીવનના લાંબા સમયના સુખ માટે અપરિજ્ઞાતકર્મા જીવ કર્મબંધની કારણભૂત ક્રિયાઓમાં પ્રવૃત્ત થાય છે જેવી રીતે જીવિત રહેવા માટે લાવા તેતર, આદિ પક્ષીઓના અને બકરા, ઘેટા, હરણ એ પ્રમાણે સિંહ આદિ પશુઓના વધરૂપ ઘોર પાપકર્મનું આચરણ કરવું

તથા પરિવંદન માનન અને પૂજન માટે પણ જીવ પાપ કર્મ કરે છે 'પરિવંદન'નો અર્થ છે -પ્રશંસા, પ્રશંસા માટે અપરાધવાળા અને અપરાધ વિનાના પ્રાણીઓનો ઘાત કરવામાં આવે છે ઉઠીને ઉભા થઈ જવું આસન આપવું આદિ સત્કાર અથવા પોતાની આજ્ઞા સ્વીકાર કરાવવી તે 'માનન' કહેવાય છે, તે માટે પણ બીજાની હિંસા કરવામાં આવે છે રત્ન અને વસ્ત્રો આદિનો પુરસ્કાર તે પૂજન કહેવાય છે, અને પ્રતિમા

मूलम्—एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति ॥ सू ११ ॥

छाया—एतावन्तः सर्वे लोके कर्मसमारम्भाः परिज्ञातव्या भवंति ॥सू. ११॥

टीका—'एतावन्त' इति—लोके=जिनशासने कर्मसमारम्भाः=कर्मबन्धहेतवः क्रियाविशेषाः सर्वे एतावन्तः। कृतकारितानुमोदितभेदेन त्रिविधानां कर्मसमारम्भाणां प्रत्येकमतीतवर्तमानानागतत्रयभेदेन नवविधानां पुनर्मनोवाक्कायभेदेन प्रत्येकं त्रैविध्ये सति सप्तविंशतिर्भङ्गा भवन्तीति रीत्या पूर्वकथितसप्तविंशतिभङ्गान्ता, न तु तेभ्योऽधिका इत्यर्थः। एते च कर्मसमारम्भाः परिज्ञातव्या भवन्ति, एतत्परिज्ञानार्थं यत्नो विधेय इत्यर्थः। ज्ञाते सति पुनः पुनरस्यानुस्मरणं करणीयं, न त्वत्र प्रमादः कार्य इति भावः ॥ सू ११ ॥

कर्मसमारम्भपरिज्ञानस्य फलमाह—'जस्सेते' इत्यादि।

मूलार्थ—जिनशासन में इतने कर्मसमारम्भ जानने योग्य हैं ॥ सू ११ ॥

टीकार्थ—जिनशासन में कर्मबन्ध के कारण इतने ही हैं। कृत, कारित, और अनुमोदित के भेद से तीन प्रकार के कर्मसमारम्भोंका अतीत वर्तमान और भविष्य काल के साथ गुणाकार करने पर नौ भेद होते हैं। ये नौ भेद मन, वचन, काय के भेदसे सत्ताइस भङ्गरूप हो जाते हैं। इस प्रकार सत्ताईस तरह के कर्मसमारम्भ जानने चाहिए, इनसे न कम हैं और न अधिक हैं। उन्हें जानने के लिए यत्न करना चाहिए। जान लेने के पश्चात् उनका बार-बार स्मरण करना चाहिए। इस विषय में प्रमाद नहीं करना चाहिए ॥ ११ ॥

कर्मसमारम्भ के ज्ञानका फल बतलाते हैं—'जस्सेते' इत्यादि।

મૂલાર્થ—જિનશાસનમાં આટલા કર્મસમારંભ જાણવા યોગ્ય છે (૧૧)

ટીકાર્થ—જિનશાસનમાં કર્મબંધના કારણ આટલાજ છે કરવું કરાવવું અને અનુમોદન આપવું આ ભેદથી ત્રણ પ્રકારના કર્મસમારંભોને ભૂતકાલ, વર્તમાન અને ભવિષ્ય કાલની સાથે ગુણાકાર કરવાથી નવ ભેદ થાય છે આ નવ ભેદ મન, વચન, કાયાના ભેદથી સત્તાવીસ ભંગરૂપ થઈ જાય છે એ પ્રમાણે સત્તાવીસ તરેહના કર્મસમારંભોને જાણવા જોઈએ. એનાથી ઓછા નથી અને અધિક પણ નથી તેને જાણવા માટે યત્ન કરવો જોઈએ જાણ્યા પછી તેનું વારવાર સ્મરણ કરવું જોઈએ આ વિષયમાં પ્રમાદ નહિ કરવો જોઈએ (૧૧)

કર્મસમારંભના જ્ઞાનનું ફળ બતાવે છે—'જસ્સેતે' ઇત્યાદિ

विध्वंसनबुद्ध्या मांसं भक्षयति, मदिरादिकं पिबति, वनस्पतिमूलत्वक्पत्ररनिर्यासादि शतपाकसहस्रपाकादितैलार्थं वह्निवनस्पत्याद्यारम्भं करोति। अत्र कारितानुमोदित भूतभविष्यत्कालादिभेदेन कर्मसमारम्भरूपा क्रियाविशेषा अन्येऽप्यवगन्तव्याः।

एवमपरिज्ञातकर्मतया संसारिणो जीवा कर्मसमारम्भरूपैः क्रियाविशेषैः संसारे सर्वदिक्षु परिभ्रमन्तो विविधयोनिषु दुःखमेव प्राप्नुवन्तीति विज्ञाय भव्यैः कर्मसमारम्भरूपा सकलसावद्यक्रियाविशेषास्त्याज्या इति भावः ॥ सू० १० ॥

कर्मसमारम्भरूपान् क्रियाविशेषान् अनुस्मारयितुं प्रागुक्तमपि पुनः कथयति– 'एयावंति' इत्यादि।

खाता है, मदिरा आदि का पान करता है, वनस्पति की जड़, छाल, पत्ता, रस वगैरह निकालता है, शतपाक एवं सहस्रपाक आदि तैलों के लिए अग्नि और वनस्पति आदि का आरम्भ करता है। यहाँ कराना और अनुमोदन करना तथा भूत, भविष्य काल आदि के भेद से कर्मसमारम्भरूप अन्य क्रियाएँ भी समझ लेनी चाहिए।

इस प्रकार अपरिज्ञातपापकर्मा होने के कारण संसारी जीव कर्मसमारम्भरूप क्रियाओं द्वारा संसार में समस्त दिशाओं में भ्रमण करते हुए नाना योनियों में दुःख का ही अनुभव करते हैं। ऐसा समझकर भव्य जीवों को पापकर्मजनक सावद्य क्रियाओं का त्याग करना चाहिए ॥ सू० १० ॥

कर्मसमारम्भरूप क्रियाविशेषों का स्मरण कराने के लिए पूर्वोक्त अर्थ को फिर कहते हैं–"एयावंति" इत्यादि।

મગાડવાની બુદ્ધિથી માંસ ખાય છે, મદિરા વગેરેનું પાન કરે છે, વનસ્પતિના મૂળ, છાલ, પાંદડાં રસ વગેરે કાઢે છે શતપાક, સહસ્રપાક આદિ તેલો માટે અગ્નિ અને વનસ્પતિ આદિનો આરંભ કરે છે અહિં કરાવવું અને અનુમોદન આપવું, તથા ભૂત ભવિષ્ય કાલ આદિ ના ભેદથી કર્મસમારંભરૂપ અન્ય ક્રિયાઓ પણ સમજી લેવી જોઈએ.

આ પ્રમાણે અપરિજ્ઞાતપાપકર્મા હોવાના કારણે, સંસારી જીવ કર્મસમારંભરૂપ ક્રિયાઓદ્વારા સંસારમાં, સમસ્ત દિશાઓમાં ભ્રમણ કરતો અનેક યોનિઓમાં દુઃખ નોજ અનુભવ કરે છે આ પ્રમાણે સમજીને ભવ્ય જીવોએ પાપકર્મજનક સાવદ્ય ક્રિયાઓનો ત્યાગ કરવો જોઈએ. (સૂ૦ ૧૦)

કર્મસમારંભરૂપ ક્રિયાવિશેષોનું સ્મરણ કરાવવા માટે પૂર્વોક્ત અર્થને ફરી કહે છે —'एयावंति' ઇત્યાદિ

सकाशान्मया साक्षात् श्रुत तद् ब्रवीमि=कथयामि न तु स्वबुद्धिपरिकल्पितम् । यत' स्वबुद्धया कथने श्रुतज्ञानस्याविनयो भवति, किञ्च—छद्मस्थाना दृष्टयोऽप्यपूर्णा भवन्ति तस्माद् यथाभगवत्प्रतिपादितमेव त्वां ब्रवीमि=उपदिशामीत्यर्थः । अत्र सङ्ग्रहगाथा-

" सुअणाणस्स अविणओ, परिहरणिज्जो सुहाहिलासीहिं ।
छउमत्थाण दिट्ठी, पुण्णा णत्थि चि सूइय इइणा ॥ १ ॥ " इति ।

सावद्यक्रियाया षड्जीवनिकाय प्रति शस्त्रवदुपघातकतया सावद्यक्रिया-स्वरूपबोधकस्य प्रथमाध्ययनस्य शस्त्रपरिज्ञया व्यपदेश । ॥ सू १२ ॥

प्रथमाध्ययनस्य प्रथमोद्देश' सम्पूर्ण. ॥१-१॥

मुनिका विचरना जो तीर्थंकर भगवान् महावीर के सन्निकट मैंने साक्षात् सुना है वही 'ब्रवीमि'=मैं कहता हूँ, अपनी बुद्धिसे कल्पित नहीं कहता । अपनी बुद्धिसे—तीर्थंकरकी वाणी की अपेक्षा न रखते हुए कथन करने से श्रुतज्ञान का अविनय होता है । दूसरी बात यह है कि छद्मस्थ की दृष्टि भी अपूर्ण होती है, अत भगवान् द्वारा प्रतिपादित तत्त्व ही मैं तुम से कहता हूँ । यहाँ यह सङ्ग्रहगाथा है —

" सुख के अभिलाषी भव्यों को श्रुतज्ञान के अविनय का त्याग करना चाहिए छद्मस्थों की दृष्टि पूर्ण नहीं होती, ऐसा यहाँ 'इति' शब्द से सूचित किया गया है " ॥ १ ॥

सावद्य क्रिया षड्जीवनिकाय के लिए शस्त्र के समान घातक है, अत सावद्य क्रियाके स्वरूपके बोधक इस प्रथम अध्ययन का शस्त्रपरिज्ञा नाम हुआ है ॥ सू १२ ॥

प्रथम अध्ययनका प्रथम उद्देश सम्पूर्ण ॥ १-१ ॥

વિચરવું જે તીર્થંકર ભગવાન મહાવીર પાસે મેં સાક્ષાત્ સાંભળ્યું છે, તેજ 'બ્રવીમિ'=હું કહું છું, પોતાની બુદ્ધિથી કલ્પિત કહેતો નથી. પોતાની બુદ્ધિથી—તીર્થંકરની વાણીની અપેક્ષા નહી રાખીને કહીએ તો શ્રુતજ્ઞાનનો અવિનય થાય છે બીજી વાત એ છે કે—છદ્મસ્થની દૃષ્ટિ પણ અપૂર્ણ હોય છે, તે કારણથી ભગવાન દ્વારા પ્રતિપાદન કરાએલું તત્ત્વજ હું તમને કહું છું અહિં આ સંગ્રહગાથા છે—

"સુખના અભિલાષી ભવ્યોએ શ્રુતજ્ઞાનના અવિનયનો ત્યાગ કરવો જોઈએ છદ્મસ્થોની દૃષ્ટિ પૂર્ણ હોય નહી. એ પ્રમાણે 'इति' શબ્દથી સૂચના કરવામાં આવી છે"(૭)

સાવદ્ય ક્રિયા ષડ્જીવનિકાય માટે શસ્ત્ર (હથીઆર) સમાન ઘાતક છે એ કારણથી સાવદ્ય ક્રિયાના સ્વરૂપનો બોધ કરાવનારૂં આ પ્રથમ-અધ્યયન છે, તેનું શસ્ત્રપરિજ્ઞાનામ પડ્યું છે

નામક પ્રથમ અધ્યયનનો પ્રથમ ઉદ્દેશ

સંપૂર્ણ (૧-૧)

मूलम्—जस्सेते लोगंसि कम्मसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे-त्तिबेमि ॥ सू० १२ ॥

छाया—यस्य एते लोके कर्मसमारम्भा परिज्ञाता भवन्ति स खलु मुनि परिज्ञातकर्मा, इति ब्रवीमि ॥ सू० १२ ॥

टीका-'यस्य' इति-लोके यस्य=भव्यजीवस्य एते=प्रागुक्ता कर्मसमारम्भा = ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मण समुत्पादका, सावद्यक्रियाविशेषा इत्यर्थ. परिज्ञाता भवन्ति=' एते हिंसादय सप्तविंशतिभङ्गवन्त' सावद्यक्रियाविशेषा आत्मनः कर्मबन्धे हेतवो भवन्ति ' इत्येवं ज्ञपरिज्ञया ज्ञाता भवन्ति स परिज्ञातकर्मा=ज्ञपरिज्ञया कर्मबन्धनिबन्धनत्वेन विज्ञाय, प्रत्याख्यानपरिज्ञया परित्यक्तसकलसावद्यक्रियाविशेषो निश्चयेन मुनि =सर्वसावद्यक्रियोपरतिमतिज्ञावान् भवतीत्यर्थ ।

इति=आत्मतत्त्वस्वरूपनिरूपण, कर्मबन्धहेतुभूतसकलसावद्यक्रियास्वरूपप्रदर्शन, सावद्यक्रियानिवृत्तिपुरस्सर मुनेर्विहरण चेति यत् तीर्थङ्करस्य भगवतो महावीरस्य

मूलार्थ—लोक में जो कर्मसमारम्भ जान लेता है, वह मुनि निश्चय से परिज्ञातकर्मा है, ऐसा मैं कहता हूँ ॥ सू. १२ ॥

टीकार्थ—लोक में जिस भव्य को पूर्वोक्त कर्मसमारम्भ अर्थात् ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के उत्पादक सावद्यव्यापार ज्ञात हो जाते हैं, अर्थात् जो पूर्वोक्त सत्ताईस भंगों वाले हिंसादिक क्रियाविशेषों को अपने कर्मबन्धों का कारण समझ लेता है, वह परिज्ञात-कर्मा है । जो ज्ञ-परिज्ञा से कर्मबन्ध का कारण समझ कर प्रत्याख्यान परिज्ञा से सम्पूर्ण सावद्य क्रियाओं का त्याग करता है वह निश्चय से परिज्ञातकर्मा मुनि है ।

' त्ति बेमि ' इति=इस प्रकार का आत्मा के स्वरूप का निरूपण, कर्मबन्ध के कारणभूत समस्त सावद्य व्यापारों के स्वरूप का प्रदर्शन, और सावद्य क्रिया की निवृत्तिपूर्वक

મૂલાર્થ—લોકમાં જે કર્મસમારંભને જાણી લે છે, તે મુનિ નિશ્ચયથી પરિજ્ઞાત કર્મા છે એ પ્રમાણે હું કહું છું (સૂ० ૧૨)

ટીકાર્થ—લોકમાં જે ભવ્ય જીવને પૂર્વોક્ત કર્મસમારંભ અર્થાત્ જ્ઞાનાવરણીય આદિ આઠ કર્મોનો ઉત્પાદક સાવદ્ય વ્યાપાર જાણવામાં આવી જાય છે અર્થાત્ જે પૂર્વે કહેલા સતાવીસ ભંગોવાળા હિંસાદિક્રિયાવિશેષોને પોતાના કર્મબંધનું કારણ સમજી લે છે તે પરિજ્ઞાતકર્મા છે જે જ્ઞ-પરિજ્ઞાથી કર્મબંધનું કારણ સમજીને પ્રત્યાખ્યાન-પરિજ્ઞાથી સમ્પૂર્ણ સાવદ્ય ક્રિયાઓનો ત્યાગ કરે છે તે નિશ્ચયથી પરિજ્ઞાતકર્મા મુનિ છે

ત્તિ બેમિ'—ઇતિ=આ પ્રમાણે આત્માના સ્વરૂપનું નિરૂપણ, કર્મબંધના કારણભૂત સમસ્ત સાવદ્ય વ્યાપારોના સ્વરૂપનું પ્રદર્શન, અને સાવદ્ય ક્રિયાની

सकाशान्मया साक्षात् श्रुतं तद् ब्रवीमि=कथयामि न तु स्वबुद्धिपरिकल्पितम् । यतः स्वबुद्ध्या कथने श्रुतज्ञानस्याविनयो भवति, किञ्च–छद्मस्थानां दृष्टयोऽप्यपूर्णा भवन्ति तस्माद् यथाभगवत्प्रतिपादितमेव त्वां ब्रवीमि=उपदिशामीत्यर्थः । अत्र सङ्ग्रहगाथा-

" सुअणाणस्स अविणओ, परिहरणिज्जो सुहाहिलासीहिं ।
छउमत्थाण दिट्ठी, पुण्णा णत्थि त्ति सूइय इइणा ॥ १ ॥ " इति ।

सावद्यक्रियायां षड्जीवनिकायं प्रति शस्त्रवदुपघातकतया सावद्यक्रिया-स्वरूपबोधकस्य प्रथमाध्ययनस्य शस्त्रपरिज्ञया व्यपदेशः । ॥ सू १२ ॥

प्रथमाध्ययनस्य प्रथमोद्देशः सम्पूर्णः ॥ १–१ ॥

मुनिका विचरना जो तीर्थंकर भगवान् महावीर के सन्निकट मैंने साक्षात् सुना है वही 'ब्रवीमि'=मैं कहता हूँ, अपनी बुद्धिसे कल्पित नहीं कहता । अपनी बुद्धिसे–तीर्थंकरकी वाणी की अपेक्षा न रखते हुए कथन करने से श्रुतज्ञान का अविनय होता है । दूसरी बात यह है कि छद्मस्थ की दृष्टि भी अपूर्ण होती है, अतः भगवान् द्वारा प्रतिपादित तत्त्व ही मैं तुम से कहता हूँ । यहाँ यह सङ्ग्रहगाथा है —

" सुख के अभिलाषी भव्यों को श्रुतज्ञान के अविनय का त्याग करना चाहिए छद्मस्थों की दृष्टि पूर्ण नहीं होती, ऐसा यहाँ ' इति ' शब्द से सूचित किया गया है " ॥ १ ॥

सावद्य क्रिया षड्जीवनिकाय के लिए शस्त्र के समान घातक है, अतः सावद्य क्रियाके स्वरूपके बोधक इस प्रथम अध्ययन का शस्त्रपरिज्ञा नाम हुआ है ॥ सू १२ ॥

मथम अध्ययनका मथम उद्देश सम्पूर्ण ॥ १–१ ॥

વિચરવું જે તીર્થંકર ભગવાન મહાવીર પાસે મે સાક્ષાત્ સાભળ્યું છે, તેજ 'ब्रवीमि'=હું કહું છુ, પોતાની બુદ્ધિથી કલ્પિત કહેતો નથી. પોતાની બુદ્ધિથી—તીર્થંકરની વાણીની અપેક્ષા નહી રાખીને કહીએ તો શ્રુતજ્ઞાનનો અવિનય થાય છે બીજી વાત એ છે કે —છદ્મસ્થની દૃષ્ટિ પણ અપૂર્ણ હોય છે, તે કારણથી ભગવાન દ્વારા પ્રતિપાદન કરાએલું તત્વજ હું તમને કહું છુ અહિં આ સગ્રહગાથા છે —

"સુખના અભિલાષી ભવ્યોએ શ્રુતજ્ઞાનના અવિનયનો ત્યાગ કરવો. જોઈએ છદ્મસ્થોની દૃષ્ટિ પૂર્ણ હોય નહી. એ પ્રમાણે 'इति' શબ્દથી સૂચના કરવામાં આવી છે"(૭)

સાવદ્ય ક્રિયા ષડ્જીવનિકાય માટે શસ્ત્ર (હથીઆર) સમાન ઘાતક છે એ કારણથી સાવદ્ય ક્રિયાના સ્વરૂપનો બોધ કરાવનાર આ પ્રથમ–અધ્યયન છે, તેનું શસ્ત્રપરિજ્ઞાનામ પડ્યું છે

નામક પ્રથમ અધ્યયનનો પ્રથમ ઉદ્દેશ
સંપૂર્ણ (૧–૧)

अथ प्रथमाध्ययनस्य

द्वितीयोद्देशः ।

प्रथमोद्देशे सामान्यरूपेणात्मनः स्वरूपं निरूपितम्, तस्यैव विशेषरूपेण बोधनाय द्वितीयोद्देशः प्रारभ्यते, तस्येदमादिसूत्रम्–'अट्टे' इत्यादि ।

तथा–इह 'पूर्वभवस्मृतिरूपं विशिष्टं ज्ञानं न भवति केषांचि'–दिति प्रथमोद्देशे निगदितम्, अथ तत् कथं न भवतीति जिज्ञासायामुच्यते–'अट्टे' इत्यादि ।

प्रथम अध्ययनका

द्वितीय उद्देश ॥

पहले उद्देश में सामान्यरूपसे आत्मा के स्वरूप का निरूपण किया गया है । अब विशेषरूप से आत्मा का स्वरूप समझाने के उद्देश्य से दूसरा उद्देश आरम्भ किया जाता है, उसका यह आदिसूत्र है–'अट्टे' इत्यादि ।

तथा–पहले उद्देशमें बतलाया गया था कि–किन्हीं–किन्हीं जीवों को पूर्व भव का स्मरणरूप विशिष्ट ज्ञान नहीं होता । वह ज्ञान क्यों नहीं होता ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं–'अट्टे' इत्यादि ।

પહેલા અધ્યયનનો – બીજો ઉદ્દેશ.

પહેલા ઉદ્દેશમાં સામાન્યરૂપથી આત્માના સ્વરૂપનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું છે હવે વિશેષરૂપથી આત્માનું સ્વરૂપ સમજાવવાના ઉદ્દેશથી બીજા ઉદ્દેશનો આરંભ કરવામા આવે છે, તેનું આ આદિસૂત્ર છે–'અટ્ટે' ઇત્યાદિ

તથા—પહેલા ઉદ્દેશમાં બતાવવામાં આવ્યું છે કે–કોઈ–કોઈ જીવોને પૂર્વ ભવના સ્મરણરૂપ વિશિષ્ટ–ઉત્તમ અસાધારણ જ્ઞાન થતું નથી. તે જ્ઞાન કેમ થતું નથી ? એવી જીજ્ઞાસા થવાથી કહે છે.–'અટ્ટે' ઇત્યાદિ.

तथा-अयमात्मा परिज्ञातकर्मतया सकलसावद्यक्रियानिवृत्त सन् मुनिर्भवतीत्युपदिष्टम्, अथ य॰ पुनरपरिज्ञातकर्मा स खलु कीदृशो भवतीत्याकाङ्क्षायामाह-' अट्टे ' इत्यादि ।

अट्टे लोए परिजुण्णे दुस्संबोहे अविजाणए, अस्सिं लोए पव्वहिए तत्थ तत्थ पुढो पास, आतुरा अस्सि परितावेंति ॥सू १॥

छाया—

आर्त लोक॰ परिद्यून (परिजीर्ण) दु सम्बोध॰ अविज्ञानक अस्मिन् लोके प्रव्यथिते तत्र तत्र पृथक् पश्य, आतुरा अस्मिन् परितापयन्ति ॥ सू १ ॥

तथा-यह कहा जा चुका है कि आत्मा कर्मों का स्वरूप समझ कर, और समस्त सावद्य व्यापारों से विरत हो कर मुनि हो जाता है, मगर जिसने कर्मों का स्वरूप नहीं समझा है, उस आत्मा की कैसी स्थिति होती है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं-' अट्टे ' इत्यादि ।

मूलार्थ-(कर्मबंध का स्वरूप न समझने वाला) आर्त लोक परिजीर्ण है-असमर्थ है, बोध पाने मे अशक्त है, अज्ञान है, इस लोक में व्यथित है, पृथक्-पृथक् जीवों को देखो । वे आतुर-अज्ञानी-होकर जीवोंको परिताप पहुँचाते हैं ॥ १ ॥

તથા-એ પ્રમાણે કહી ચૂકયા છીએ કે આત્મા કર્મોના સ્વરૂપને સમજીને અને સમસ્ત સાવદ્ય વ્યાપારોથી વિરત (દૂર) થઈને મુનિ થઈ જાય છે, પણ જેઓ કર્મોના સ્વરૂપને સમજ્યા નથી તે આત્માની સ્થિતિ કેવી થાય છે? એવી જીજ્ઞાસા થવાથી કહે છે-' અટ્ટે ' ઇત્યાદિ.

મૂલાર્થ—(કર્મબંધના સ્વરૂપને નહી સમજવાવાળા) આર્ત્તલોક પરિજીર્ણ છે અસમર્થ છે બોધ પામવામા અશક્ત છે અજ્ઞાન છે આ લોકમા દુ ખી છે જુદા-જુદા જીવોને જુઓ તે આતુર-અજ્ઞાની થઇને જીવોને પરિતાપ પહોચાડે છે (૧)

टीका–

लोकः=पृथिव्यादिषड्जीवनिकायः खलु ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मबन्ध हेतुभूतसावद्यक्रियाविशेषस्वरूपानवबोधेन आर्तः=विषयसुखतृष्णाव्याकुलो भवति । अत एव परिद्यूनः=शारीरमानसादिदुःखानलसंतप्तः । यद्वा–परिजीर्णः=क्षायोपशमिक भावाभावेन मोक्षमार्गप्रवृत्तावक्षमः, अत एव–दुःसंबोधः=ब्रह्मदत्तवच्चरणकरण शिक्षां ग्रहीतुमसमर्थः, अत एव अविज्ञानकः=सम्यग्ज्ञानरहितो भवति, अत एव पूर्वभवस्मृतिरूपमपि विशिष्टं ज्ञानं न प्राप्नोतीति भावः । 'पश्य' इति पदेन शिष्येति संबोधनपदस्याध्याहारः—हे शिष्य ! प्रव्यथिते=पूर्वोपार्जितकर्मोदयेन क्षुधा

टीकार्थ–लोक अर्थात् पृथिवीकाय आदि छह प्रकार के जीव, ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्मों के बन्धके कारणभूत सावद्य व्यापारों का स्वरूप न समझकर आर्त होते हैं–विषयसुख की तृष्णा से व्याकुल होते हैं। अतएव वे शारीरिक और मानसिक दुःखों की आग से संतप्त हैं। अथवा क्षायोपशमिक भावों के अभाव के कारण मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति नहीं कर सकते। इसी कारण वे ब्रह्मदत्त की तरह चरण और करण की शिक्षा लेने में भी असमर्थ हैं। ऐसे जीव अविज्ञानक अर्थात् सम्यग्ज्ञान से रहित होते हैं, इसी कारण उन्हें पूर्व भव की स्मृतिरूप विशिष्ट (जातिस्मरण) ज्ञान भी नहीं होता।

'पश्य' (देखो) इस पद के द्वारा शिष्य के संबोधन का अध्याहार किया गया है। हे शिष्य ! पूर्वोपार्जित कर्मों के उदय से भूख, प्यास, त्रास, इष्टवियोग,

ટીકાર્થ—લોક અર્થાત્ પૃથ્વીકાય આદિ છ પ્રકારના જીવસમૂહ જ્ઞાનાવરણ આદિ આઠ પ્રકારના કર્મોના બંધના કારણ સાવદ્ય વ્યાપારોના સ્વરૂપને નહિ સમજીને આર્ત થાય છે વિષય સુખની તૃષ્ણાથી વ્યાકુલ થાય છે તે કારણથી તે શારીરિક અને માનસિક દુઃખોની આગથી સંતપ્ત–ખૂબતપેલા છે અથવા ક્ષાયોપશમિક ભાવોના અભાવના કારણે મોક્ષમાર્ગમાં પ્રવૃત્તિ કરી શકતા નથી એ કારણથી તે બ્રહ્મદત્તની પેઠે ચરણ અને કરણની શિક્ષા લેવામાં પણ અસમર્થ છે, એવા જીવ અવિજ્ઞાનક અર્થાત્ સમ્યગ્જ્ઞાનથી રહિત હોય છે આ કારણથી તેને પૂર્વભવની સ્મૃતિરૂપ વિશિષ્ટ (જાતિસ્મરણ) જ્ઞાન પણ થતું નથી

'પશ્ય' (દેખો–જુવો) આ પદથી 'શિષ્યના સમ્બોધનનું અધ્યાહાર કરવામાં આવ્યું છે; હે શિષ્ય! પૂર્વોપાર્જિત કર્મોના ઉદયથી ભૂખ, તરસ, ત્રાસ, ઇષ્ટવિયોગ,

पिपासा-त्रास प्रियवियोगा-ऽऽधि-व्याधि-परिपीडिते, अस्मिन् लोके तत्र-तत्र=सर्व प्राणिषु पृथक्=प्रत्येक पश्य । आतुरा.=विषयसुखतृष्णाव्याकुला अज्ञानिन. अस्मिन् लोके परितापयन्ति=पृथिव्यादिजीवान् परिपीडयन्ति, इति पश्येत्यर्थ' ।

यद्वा-लोक.-षड्जीवनिकाय', आर्त =परिपीडितः अस्तीति शेष । कुत' कारणाद् आर्त. ? इत्यत आह-' परिजुण्णे ' इति । यत. परिजीर्ण =मोक्ष मार्गप्रवृत्तावक्षमः । कथ परिजीर्ण. ? इत्यत आह-'दुस्सबोहे' इति, यतो दु'सबोध ब्रह्मदत्तवच्चरणकरणशिक्षा ग्रहीतुमसमर्थ । दु सबोध कुतोऽस्ती ?-त्यत आह-यत.-अविज्ञानक =विज्ञानरहित., पूर्वभवार्जितघोरतरहिंसादिदुरितकर्म

मानसिक पीडा, शारीरिक पीडा आदि से पीडित इस लोक में जहाँ पृथक्-पृथक् प्राणियों को देखो । वे विषयसुख के लिए व्याकुल एव ज्ञानहीन हो कर ससार में सताप भोग रहे हैं । वे पृथिवीकाय आदि जीवों को पीडा पहुचाते हैं (यह देखो) ।

अथवा-षड्जीवनिकायरूप यह लोक आर्त्त है-पीडा भुगत रहा है । यह किस कारण से आर्त्त है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि-वह परिजीर्ण अर्थात् मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करने में असमर्थ है । यह परिजीर्ण क्यों है ? इस का समाधान यह है कि-यह दु सबोध है अर्थात् ब्रह्मदत्त की भाँति चरण-करण की शिक्षा ग्रहण करने में अशक्त है । वह दु सबोध क्यों है ? इस का कारण यह है कि-वह ज्ञानहीन है अर्थात् पूर्वभव में उपार्जन किये हुए घोरतर हिंसा आदि पापकर्मोंके वश हो कर एव अत्यन्त

માનસિક પીડા, શારીરિક પીડા, આદિથી પીડિત આ લોકમા જ્યા-ત્યાં જૂદા-જૂદા પ્રાણીઓને જુઓ, તે વિષયસુખ માટે વ્યાકુલ એવ જ્ઞાનહીન થઈને સસારમા સતાપ ભોગવી રહ્યા છે તે પૃથિવીકાય આદિ જીવોને પીડા પહોચાડે છે તે જુઓ.

અથવા ષડ્જીવનિકાયરૂપ આ લોક આર્ત્ત છે-પીડા ભોગવી રહ્યા છે તે શુ કારણથી આર્ત્ત છે? આ પ્રશ્નનો ઉત્તર એ છે કે-તે પરિજીર્ણ અર્થાત્ મોક્ષ માર્ગમા પ્રવૃત્તિ કરવાને અસમર્થ છે તે પરિજીર્ણ શા માટે છે? તેનુ સમાધાન એ છે કે-તે દુ સંબોધ છે, અર્થાત્ બ્રહ્મદત્તની પ્રમાણે ચરણ-કરણની શિક્ષા ગ્રહણ કરવામા અશક્ત છે તે દુ સંબોધ શા માટે છે? તેનું કારણ એ છે કે - તે જ્ઞાનહીન છે અર્થાત્ પૂર્વ ભવમાં ઉપાર્જન કરેલા ઘોરતર હિંસા આદિ પાપકર્મોને વશ થઈને એમ-એ પ્રમાણે

टीका–

लोकः=पृथिव्यादिषड्जीवनिकायः खलु ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मबन्धहेतुभूतसावद्यक्रियाविशेषस्वरूपानवबोधेन आर्तः=विषयसुखतृष्णाव्याकुलो भवति। अत एव परिद्यूनः=शारीरमानसादिदुःखानलसंतप्तः। यद्वा–परिजीर्णः=क्षायोपशमिकभावाभावेन मोक्षमार्गप्रवृत्तावक्षम, अत एव–दु संबोधः=ब्रह्मदत्तवच्चरणकरणशिक्षां ग्रहीतुमसमर्थ, अत एव अविज्ञानकः=सम्यग्ज्ञानरहितो भवति, अत एव पूर्वभवस्मृतिरूपमपि विशिष्ट ज्ञान न भवतीति भावः। 'पश्य' इति पदेन शिष्येति संबोधनपदस्याध्याहारः—हे शिष्य ! मन्यथिते=पूर्वोपार्जितकर्मोदयेन क्षुधा

टीकार्थ–लोक अर्थात् पृथिवीकाय आदि छह प्रकार के जीव, ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्मों के बन्धके कारणभूत सावद्य व्यापारों का स्वरूप न समझकर आर्त होते हैं–विषयसुख की तृष्णा से व्याकुल होते हैं। अतएव वे शारीरिक और मानसिक दुःखों की आग से संतप्त हैं। अथवा क्षायोपशमिक भावों के अभाव के कारण मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति नहीं कर सकते। इसी कारण वे ब्रह्मदत्त की तरह चरण और करण की शिक्षा लेने में भी असमर्थ हैं। ऐसे जीव अविज्ञानक अर्थात् सम्यग्ज्ञान से रहित होते हैं, इसी कारण उन्हें पूर्व भव की स्मृतिरूप विशिष्ट (जातिस्मरण) ज्ञान भी नहीं होता।

'पश्य' (देखो) इस पद के द्वारा शिष्य के संबोधन का अध्याहार किया गया है। हे शिष्य! पूर्वोपार्जित कर्मों के उदय से भूख, प्यास, त्रास, इष्टवियोग,

ટીકાર્થ—લોક અર્થાત્ પૃથ્વીકાય આદિ છ પ્રકારના જીવસમૂહ જ્ઞાનાવરણ આદિ આઠ પ્રકારના કર્મોના બંધના કારણે સાવદ્ય વ્યાપારોના સ્વરૂપને નહિ સમજીને આર્ત થાય છે વિષય સુખની તૃષ્ણાથી વ્યાકુલ થાય છે તે કારણથી તે શારીરિક અને માનસિક દુઃખોની આગથી સંતપ્ત–ખૂબતપેલા છે અથવા ક્ષાયોપશમિક ભાવોના અભાવના કારણે મોક્ષમાર્ગમાં પ્રવૃતિ કરી શકતા નથી. એ કારણથી તે બ્રહ્મદત્તની પેઠે ચરણ અને કરણની શિક્ષા લેવામા પણ અસમર્થ છે, એવા જીવ અવિજ્ઞાનક અર્થાત્ સમ્યગ્જ્ઞાનથી રહિત હોય છે આ કારણથી તેને પૂર્વભવની સ્મૃતિરૂપ વિશિષ્ટ (જાતિસ્મરણ) જ્ઞાન પણ થતુ નથી

'પશ્ય' (દેખો–જુવો) આ પદથી 'શિષ્યના સમ્બોધનનું અધ્યાહાર કરવામાં આવ્યુ છે હે શિષ્ય! પૂર્વોપાર્જિત કર્મોના ઉદયથી ભૂખ, તરસ, ત્રાસ, ઇષ્ટવિયોગ,

मातुराणां हृदय मनागपि न द्रवति; प्रत्युत मृगान् क्षुधितव्याघ्र इव ते पृथिव्यादि-प्राणिगण प्रणिघ्नन्ति, इति समुच्चयति ॥ सू १ ॥

तत्र षड्जीवनिकायरूपे लोके प्राथम्यात् पृथिवीकायस्याधिकारमाह–' संति पाणा ' इत्यादि ।

मूलम्—

संति पाणा पुढो सिया लज्जमाणा पुढो पास। अणगारामो–त्ति एगे पवयमाणा जमिण विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेण पुढविसत्थं समारंभमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ॥ सू २ ॥

छाया—

सन्ति प्राणाः पृथक् श्रिताः लज्जमानाः पृथक् पश्य। अनगाराः स्म इति एके प्रवदमानाः, यदिद विरूपरूपैः शस्त्रैः पृथिवीकर्मसमारम्भेण पृथिवीशस्त्र समारम्भमाणा अन्यान् अनेकरूपान् प्राणान् विहिंसन्ति ॥ २ ॥

मन में दया नहीं आती, प्रत्युत भूखा वाघ जैसे मृगों को मारता है उसी प्रकार विषय-लोलुप लोग उन जीवों की हिंसा करते हैं ॥ सू १ ॥

षड्जीवनिकायरूप लोक में पृथ्वीकाय पहला है, अत पृथ्वीकाय का अधिकार कहते हैं –' संति पाणा ' इत्यादि ।

मूलार्थ-पृथ्वी में अलग–अलग प्राणी हैं। पृथ्वीकाय के आरंभ की निवृत्ति करने वालों (मुनियों) को पृथक् समझो। ' हम अनगार हैं ' इस प्रकार कहनेवाले द्रव्यलिंगी नाना प्रकार के पृथ्वीशस्त्रों से पृथ्वीकर्म का समारम्भ करके पृथ्वीशस्त्र का समारम्भ करते हुए अनेक प्रकार के अन्य प्राणियों की भी हिंसा करते हैं ॥ सू २ ॥

तेना मनमां दया आवती नथी, परन्तु भूख्यो वाघ जेम मृगोने मारे छे, ते प्रमाणे विषय-लोलुप लोक ते जीवोनी हिंसा करे छे (१)

षड्जीवनिकायरूप लोकमा पृथ्वीकाय प्रथम छे, ते कारणथी पृथ्वीकायनो अधिकार कहे छे —' संति पाणा ' ईत्यादि.

मूलार्थ—पृथ्वीमा अलग–अलग प्राणी छे पृथ्वीकायना आरंभनी निवृत्ति करवावाळा (मुनियो)ने जूदा जाणो. परंतु ' अमे अनगार–साधु मुनि छीओ ' आ प्रकारनुं कहेवावाळा द्रव्यलिंगी (वेष धारण करनारा) नाना-प्रकारना शस्त्रोथी पृथ्वी कर्मनो समारंभ करीने पृथ्वीशस्त्रनो आरंभ करता थका अनेक प्रकारना अन्य प्राणीओनी पण हिंसा करे छे (२)

शतः प्रगाढमिथ्यात्वमोहनीयोदयात् प्रगाढमोहाक्रान्त इत्यर्थः। एवं स्वकर्मवशतः परिपीडितमपि नितान्तदयनीयमपि रागद्वेषमोहान्धा' परितापयन्तीत्याह-अस्मिन् लोके' इत्यादि। अस्य व्याख्या पूर्ववत् बोध्या।

'पश्य' इति पदेन भगवता मां संबोध्य यथोपदिष्टं तथा कथयामीति जम्बूस्वामिनं श्रीसुधर्मा स्वामी प्रतिबोधयति।

'प्रव्यथिते' इति विशेषणपदं च स्वस्वकर्मणैव नानाविधवेदना समन्वितानामपि पृथिव्यादिषड्जीवनिकायानां परिपीडने विषयसुखतृष्णाक्रान्ताना

गाढे मिथ्यात्वमोहनीय के उदय से मोहयुक्त है। इस प्रकार अपने कर्मों से पीडित और अत्यन्त दयनीय पृथ्वीकाय आदि जीवों को राग-द्वेष और मोह से अन्धे पुरुष पीडा पहुचाते हैं। 'अस्मिन् लोके'-(इस लोक में) इत्यादि की व्याख्या पहले के समान समझ लेना चाहिए

'पश्य' (देखो) इस पद से श्रीसुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि-मुझे संबोधन करके भगवान् ने जैसा उपदेश दिया है वैसा ही मैं कहता हूँ।

'प्रव्यथिते' पद से यह सूचित किया गया है कि-बेचारे षट्काय के जीव अपने-अपने कर्मों के कारण नाना प्रकार की वेदनाएँ भोग ही रहे हैं, इस पर भी विषय-सुख के लोलुप लोग उन्हें और सताते हैं। उन्हें दुःखी देख कर भी इनके

અત્યન્ત ગાઢ મિથ્યાત્વમોહનીયના ઉદયથી મોહયુક્ત છે એ પ્રકારે પોતાના કર્મોથી પીડિત અને અત્યન્ત દયાપાત્ર પૃથ્વીકાય આદિ જીવોને રાગ-દ્વેષ અને મોહથી અંધ થયેલ પુરૂષ પીડા પહોંચાડે છે 'अस्मिन् लोके' (આ લોકમાં) ઇત્યાદિની વ્યાખ્યા પ્રથમ પ્રમાણે સમજી લેવી જોઈએ

'पश्य' (જુઓ) આ પદથી શ્રી સુધર્મા સ્વામી જમ્બૂસ્વામીને કહે છે કે-મને સંબોધન કરીને ભગવાને જેવો ઉપદેશ આપ્યો છે તેવોજ હું કહું છુ

'प्रव्यथिते' પદથી એ સૂચિત કરવામાં આવે છે કે-બિચારા ષટ્કાયના જીવ પોત-પોતાના કર્મોના કારણે નાના પ્રકારની વેદનાઓ ભોગવીજ રહ્યા છે તે ઉપરાંત પણ વિષય-સુખના લોલુપ માણસો તેને વધારે સતાવે છે તેને દુઃખી જોઈને પણ

आतुराणां हृदय मनागपि न द्रवति, प्रत्युत मृगान् क्षुधितव्याघ्र इव ते पृथिव्यादि-प्राणिगण प्रणिघ्नन्ति, इति समूचयति ॥ सू १ ॥

तत्र षड्जीवनिकायरूपे लोके प्राथम्यात् पृथिवीकायस्याधिकारमाह–' संति पाणा ' इत्यादि ।

मूलम्—

संति पाणा पुढो सिया लज्जमाणा पुढो पास । अणगारामो-त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेण पुढविसत्थं समारंभमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ॥ सू २ ॥

छाया—

सन्ति प्राणाः पृथक् श्रिताः लज्जमानाः पृथक् पश्य । अनगाराः स्म इति एके प्रवदमानाः, यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः पृथिवीकर्मसमारम्भेण पृथिवीशस्त्रं समारम्भमाणा अन्यान् अनेकरूपान् प्राणान् विहिंसन्ति ॥ २ ॥

मन में दया नहीं आती, प्रत्युत भूखा बाघ जैसे मृगों को मारता है उसी प्रकार विषय-लोलुप लोग उन जीवों की हिंसा करते हैं ॥ सू १ ॥

षड्जीवनिकायरूप लोक में पृथ्वीकाय पहला है, अत पृथ्वीकाय का अधिकार कहते हैं–' संति पाणा ' इत्यादि ।

मूलार्थ–पृथ्वी में अलग–अलग प्राणी हैं । पृथ्वीकाय के आरंभ की निवृत्ति करने वालों (मुनियों) को पृथक् समझो । ' हम अनगार हैं ' इस प्रकार कहनेवाले द्रव्यलिंगी नाना प्रकार के पृथ्वीशस्त्रों से पृथ्वीकर्म का समारम्भ करके पृथ्वीशस्त्र का समारम्भ करते हुए अनेक प्रकार के अन्य प्राणियों की भी हिंसा करते हैं ॥ सू २ ॥

तेना मनमां दया आवती नथी, परन्तु भूख्यो वाघ जेम मृगोने मारे छे, ते प्रमाणे विषय-लोलुप लोक ते जीवोनी हिंसा करे छे (१)

षड्जीवनिकायरूप लोकमां पृथ्वीकाय प्रथम छे, ते कारणथी पृथ्वीकायनो अधिकार कहे छे —' संति पाणा ' ईत्यादि

मूलार्थ—पृथ्वीमां अलग–अलग प्राणी छे पृथ्वीकायना आरंभनी निवृत्ति करवावाळा (मुनियो)ने जूदा जाणो. परंतु ' अमे अनगार–साधु मुनि छीए ' आ प्रकारनुं कहेवावाळा द्रव्यलिंगी (वेष धारण करनारा) नाना–प्रकारना शस्त्रोथी पृथ्वी कर्मनो समारंभ करीने पृथ्वीशस्त्रनो आरंभ करता थका अनेक प्रकारना अन्य प्राणीओनी पण हिंसा करे छे (२)

टीका—

प्राणाः=प्राणाः सन्ति येषामित्यर्थेऽच्प्रत्यय, प्राणिन इत्यर्थः । पृथक्=भिन्नभिन्नतया श्रिताः=स्वस्वशरीराधिष्ठिताः सन्ति । यद्वा—श्रिताः-पृथिव्याश्रिताः=अङ्गुलासंख्यातभागप्रमाणस्वशरीरावगाहिनः पृथिव्यामवस्थिताः पृथिवीकायिकाः, प्राणाः=जीवाः, पृथक्=पृथग्भावेन सन्ति, इति पश्य । इदमुक्तं भवति-पृथिव्या एकदेवतारूपत्वं मन्यमाना भ्रान्ताः, वस्तुतस्तु प्रत्येकशरीररूपाणामसंख्यात पृथिवीकायिकजीवानां समुदायः पृथिवी । एवं च पृथिवी सचित्ताऽनेकजीवाधिष्ठिता चेति ।

अथ द्वारप्रदर्शनेन वस्तुस्वरूपं सम्यग् निर्णीयते तस्माद् द्वाराणि

टीकार्थ—प्राण का अर्थ है प्राणी । प्राणी पृथक्-पृथक् आश्रित हैं अर्थात् अलग-अलग प्राणी अपने-अपने शरीर में रहते हैं । अथवा 'श्रित' का अर्थ है-पृथ्वी में आश्रित । अंगुल के असंख्यातवें भाग अवगाहना वाले जीव पृथ्वी-आश्रित हैं, ऐसे पृथ्वीकाय के जीव पृथक्-पृथक् हैं । यह देखो । तात्पर्य यह है कि पृथ्वी को एक ही देवता मानने वाले लोग भ्रम में हैं । वास्तव में पृथ्वी प्रत्येक शरीर वाले असंख्यात पृथ्वीकायिक जीवों का पिंड है । इसी प्रकार पृथ्वी सचित्त है और अनेक जीवों से अधिष्ठित है ।

द्वारों के प्रदर्शन से वस्तु का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है, अतः यहाँ द्वार

ટીકાર્થ—પ્રાણનો અર્થ પ્રાણી છે પ્રાણી પૃથક્-પૃથક્ આશ્રિત છે, અર્થાત અલગ-અલગ પ્રાણી પોત-પોતાના શરીરમાં રહે છે અથવા 'શ્રિત'નો અર્થ છે 'પૃથ્વીમાં આશ્રિત' આંગલના અસંખ્યાતમાં ભાગની અવગાહનાવાળા એ જીવ પૃથ્વી-આશ્રિત છે એવા પૃથ્વીકાયના જીવ જૂદા-જૂદા છે તે જુઓ.

તાત્પર્ય એ છે કે —પૃથ્વીને એકજ દેવતા માનવાવાળા લોક ભ્રમમાં છે વાસ્તવિક રીતે તો પૃથ્વી પ્રત્યેક શરીરવાળા અસંખ્યાત પૃથ્વીકાયિક જીવોનો પિંડ છે આ પ્રમાણે પૃથ્વી સચિત્ત છે, અને અનેક જીવોથી અધિષ્ઠિત છે

દ્વારોના પ્રદર્શનથી વસ્તુનું સ્વરૂપ સ્પષ્ટ થઈ જાય છે; એટલે અહિં દ્વાર બતા

प्रदर्श्यन्ते-(१) लक्षणं, (२) प्ररूपणा, (३) परिमाण, (४) वध', (५) शस्त्रम्, (६) उपभोग', (७) वेदना, (८) निवृत्तिश्चेत्यष्टौ । उक्तञ्च—

"लक्खण १ परूवणा २ खलु, परिमाण ३ वह ४ तहेव सत्थ ५ च।
उवभोग ६ वेयणावि ७ य, निव्वत्ती ८ अट्ठ दाराइं ॥ १ ॥"

(१) लक्षणद्वारम्—

ननु पृथिवी सचेतनाऽस्तीत्यत्र किं प्रमाणम्? उच्यते—अनुमानमेव तावत्प्रथम गृहाण। पृथिवी सचेतना तदधिष्ठितशरीरोपलम्भे', गवाश्वादिवत्।

बतलाये जाते हैं—(१) लक्षण, (२) प्ररूपणा, (३) परिमाण, (४) वध, (५) शास्त्र, (६) उपभोग, (७) वेदना, और (८) निवृत्ति। ये आठ द्वार हैं। कहा भी है—

"लक्खण १ परूवणा २ खलु परिमाणं ३ वह ४ तहेव सत्थ च ५।
उपभोग ६ वेयणावि ७ य, निव्वित्ती ८ अट्ठ दाराइ ॥ १ ॥" इति।

लक्षण, प्ररूपणा, परिणाम, वध, शास्त्र, उपभोग, वेदना और निवृत्ति, ये आठ द्वार कहे गये है। ॥ १ ॥

शङ्का—पृथ्वी सजीव है इस विषयमें क्या प्रमाण है?

समाधान—पहले अनुमान प्रमाण ही लीजिए—पृथ्वी सचेतन है, क्यों कि उसमें चेतना से अधिष्ठित शरीर की उपलब्धि होती है, गाय और अश्व के समान।

બતાવામાં આવે છે કે –(૧) લક્ષણ, (૨) પ્રરૂપણા, (૩) પરિમાણ, (૪) વધ, (૫) શસ્ત્ર, (૬) ઉપભોગ, (૭) વેદના અને (૮) નિવૃત્તિ, આ આઠ દ્વાર છે કહ્યું પણ છે કે —

"लक्खण १ परूवणा २ खलु, परिमाण ३ वह ४ तहेव सत्थ च ५। उवभोग ६ वेयणावि ७ य, निव्वित्ती ८ अट्ठ दाराइ ॥ १ ॥" इति।

"લક્ષણ, પ્રરૂપણા, પરિમાણ, વધ, શસ્ત્ર, ઉપભોગ વેદના અને નિવૃત્તિ. આ આઠ દ્વાર કહ્યા છે" (૧)

(૧) લક્ષણદ્વાર—

શંકા:—પૃથ્વી સજીવ છે, એ વિષયમાં શું પ્રમાણ છે?

સમાધાન:—પ્રથમ અનુમાન પ્રમાણને લઈએ-પૃથ્વી સચેતન છે કારણ કે તેમા ચેતનાથી અધિષ્ઠિત શરીરની ઉપલબ્ધિ થાય છે ગાય અને અશ્વની સમાન,

किञ्च-जीवस्य यानि लक्षणानि तानि पृथिवीकायस्य सन्ति, केवलमस्त्यानर्द्धिनामदर्शनावरणकर्मोदयादुपयोगशक्तिर्ज्ञानदर्शनरूपा नास्ति व्यक्ता इत्यव्यक्तरूपेणोपयोगो वर्त्तते। तथौदारिक-तन्मिश्र-कार्मणशरीरात्मकः काययोगो वृद्धयष्टिवत् तस्यालम्बनाय वर्त्तते। तथा मानसिकचिन्ताविशेषवत्सूक्ष्मा आत्मपरिणामविशेषरूपा अध्यवसायास्तत्र सन्ति। तथा साकारोपयोगान्तर्गतमतिश्रुतरूपमज्ञानद्वय च तत्रास्ति। तथा स्पर्शनेन्द्रियमात्रस्य सद्भावादचक्षुर्दर्शन च। तथा सेवार्त्तसंहननं, चन्द्रमसूर संस्थानं चास्ति। तथा-मिथ्यात्वादिसद्भावादष्टविधकर्मबन्धोऽपि। कृष्णनील-

दूसरी बात यह है कि-जीव के जो लक्षण हैं वे सब पृथ्वी में पाये जाते हैं। हां, पृथ्वीकाय में स्त्यानर्द्धिनामक दर्शनावरण कर्म के उदय से ज्ञान-दर्शनरूप उपयोगशक्ति प्रकटरूप में नहीं है। पृथ्वी में अव्यक्तरूप से उपयोग रहता है।

तथा औदारिक औदारिकमिश्र और कार्मण शरीररूप काययोग वृद्धपुरुष की लकड़ीके समान उस के आलम्बन के लिए विद्यमान है। पृथ्वी में आत्मा के परिणाम मानसिकचिन्तारूप अध्यवसाय भी मौजूद है।

पृथ्वी में साकार-उपयोग के अन्तगत मति और श्रुत-अज्ञान भी पाये जाते हैं। अकेली स्पर्शनेन्द्रिय होने से अचक्षुदर्शन भी है। और सेवार्त संहनन, एवं चन्द्रमसूर संस्थान भी है। मिथ्यात्व आदि कारण विद्यमान होने से आठ प्रकारका कर्मबन्ध होता है। कृष्ण, नील, कापोत और तैजस ये चार लेश्यायें भी पृथ्वीकाय में हैं।

બીજી વાત આ છે કે-જીવના જે લક્ષણ છે તે સર્વ પૃથ્વીમાં જોવામાં આવે છે હા પૃથ્વીકાયમાં સ્ત્યાનર્ધિનામક દર્શનાવરણીય કર્મના ઉદયથી જ્ઞાન-દર્શનરૂપ ઉપયોગશક્તિ પ્રકટ રૂપમાં નથી. પૃથ્વીમા અવ્યક્ત રૂપમાં ઉપયોગ રહે છે

તથા-ઔદારિક ઔદારિકમિશ્ર અને કાર્મણ શરીરરૂપ કાયયોગ વૃદ્ધપુરુષની લાકડી સમાન તેના આલંબન માટે વિદ્યમાન છે. પૃથ્વીમાં આત્માના પરિણામ, માનસિકચિન્તારૂપ અધ્યવસાય પણ મોજુદ છે

પૃથ્વીમાં સાકાર ઉપયોગના અન્તર્ગત મતિ અને શ્રુત અજ્ઞાન પણ જોવામાં આવે છે એકલી સ્પર્શેન્દ્રિય હોવાથી અચક્ષુદર્શન પણ છે અને સેવાર્ત સંહનન, એ પ્રમાણે ચન્દ્ર-મસૂર સંસ્થાન પણ છે

મિથ્યાત્વ આદિ કારણ વિદ્યમાન હોવાથી આઠ પ્રકારનાં કર્મબંધ પણ થાય છે કૃષ્ણ, નીલ, કાપોત, અને તૈજસ. આ ચાર લેશ્યાઓ પણ પૃથ્વીકાયમા છે

कापोततैजसलेश्याचतुष्टय, सूक्ष्मपृथिवीकायस्याद्यलेश्यात्रयम् । तथा-आहारादिसञ्ज्ञा अपि। तथा-वेदनाकषायमारणान्तिकसमुद्घाताऽसञ्ज्ञित्व, नपुंसकवेदः। पर्याप्तिचतुष्टयम्। तथा पृथिवीकायजीवा निरन्तर सततमुच्छ्वसन्ति नि:श्वसन्ति च। एवमुपयोगादिश्वासोच्छ्वासान्तजीवलक्षण समन्वितत्वान्मनुष्यवत्पृथिवीसचित्ताऽस्तीति सिद्धम् ।

ननु-उपयोगादीनि जीवलक्षणानि पृथिवीकायजीवेषु क्वचिन्नोपलभ्यन्ते, तथा सति-असिद्धेनैव उपयोगादिजीवलक्षणेन कथ पृथिव्या सचित्तत्व साध्यते ? ।

उच्यते-पृथिवीकायजीवेषुमासन्तुमुव्यक्तान्युपयोगलक्षणानि, अव्यक्तानि

सूक्ष्म पृथ्वीकाय में आदि की तीन लेश्याएँ हैं। आहार आदि सज्ञाएँ भी उसमें हैं।

पृथ्वी में वेदना कषाय और मारणान्तिक समुद्घात हैं, असज्ञीपन है, नपुसक वेद है और चार पर्याप्तियाँ भी हैं, पृथ्वीकाय के जीव निरन्तर श्वासोच्छ्वास लेते रहते हैं। इस प्रकार उपयोग से लगाकर श्वासोच्छ्वास पर्यन्त जीव के लक्षणों से युक्त होने के कारण पृथ्वी मनुष्य के समान सचित्त है, यह बात सिद्ध हुइ।

शङ्का-जीव के लक्षण उपयोग वगैरह पृथ्वीकाय के जीवों में कहीं भी उपलब्ध नहीं होते। ऐसी स्थिति में वहाँ उपयोग आदि जीव के लक्षणों का होना असिद्ध है। असिद्ध कथन से पृथ्वी की सचित्तता किस प्रकार सिद्ध हो सकती है ?

समाधान-पृथ्वीकाय के जीवों में भलीभाँति व्यक्त उपयोग आदि लक्षण भले

सूक्ष्मपृथ्वीકાયમા આદિની ત્રણ લેશ્યાઓ છે આહાર આદિ સ જ્ઞાઓ પણ તેમા છે

પૃથ્વીમાં વેદના, કષાય અને મારણાન્તિકસમુદ્ઘાત છે અસ જ્ઞીપણું છે નપુસક વેદ છે અને ચાર પર્યાપ્તિઓ પણ છે પૃથ્વીકાયના જીવ નિરતર શ્વાસોચ્છ્વાસ લેતા રહે છે આ પ્રમાણે ઉપયોગથી લઈને શ્વાસોચ્છ્વાસ પર્યંત જીવના લક્ષણોથી યુક્ત હોવાથી પૃથ્વી મનુષ્ય પ્રમાણે સચિત્ત છે તે વાત સિદ્ધ થઈ

શ કા—જીવનું લક્ષણ ઉપયોગ વગેરે પૃથિવીકાયના જીવોમાં કોઈ સ્થળે ઉપ લબ્ધ થતા નથી એવી સ્થિતિમા ત્યા ઉપયોગ આદિ જીવના લક્ષણોનુ હોવુ તે નક્કી નથી. એ અસિદ્ધ કથનથી પૃથ્વીની સચિત્તતા કેવી રીતે સિદ્ધ થઈ શકે છે ?

સમાધાન—પૃથિવીકાયના જીવોમા સારી રીતે (સ્પષ્ટ) વ્યક્ત ઉપયોગ આદિ

किञ्च–जीवस्य यानि लक्षणानि तानि पृथिवीकायस्य सन्ति, केवलमस्यस्त्यानर्द्धिना-मदर्शनावरणकर्मोदयादुपयोगशक्तिर्ज्ञानदर्शनरूपा नास्ति व्यक्ता इत्यव्यक्तरूपेणोपयोगो वर्त्तते।तथौदारिक–तन्मिश्र–कार्मणशरीरात्मक काययोगो वृद्धयष्टिवत् तस्यालम्बनाय वर्त्तते। तथा मानसिकचिन्ताविशेषवत्सूक्ष्मा आत्मपरिणामविशेषरूपा अध्यवसाया स्तत्र सन्ति। तथा साकारोपयोगान्तर्गतमतिश्रुतरूपमज्ञानद्वय च तत्रास्ति। तथा स्पर्शनेन्द्रियमात्रस्य सद्भावादचक्षुर्दर्शन च। तथा सेवार्त्तसहनन, चन्द्रमसूर सस्थान चास्ति। तथा–मिथ्यात्वादिसद्भावादष्टविधकर्मबन्धोऽपि। कृष्णनील

दूसरी बात यह है कि–जीव के जो लक्षण हैं वे सब पृथ्वी में पाये जाते हैं। हां, पृथ्वीकाय में स्त्यानर्द्धिनामक दर्शनावरण कर्म के उदय से ज्ञान–दर्शनरूप उपयोगशक्ति प्रकटरूप में नहीं है। पृथ्वी में अव्यक्तरूप से उपयोग रहता है।

तथा औदारिक औदारिकमिश्र और कार्मण शरीररूप काययोग वृद्धपुरुष की लकडीके समान उस के आलम्बन के लिए विद्यमान है। पृथ्वी में आत्मा के परिणाम मानसिकचिन्ता रूप अध्यवसाय भी मौजूद है।

पृथ्वी में साकार–उपयोग के अन्तगत मति और श्रुत–अज्ञान भी पाये जाते हैं। अकेली स्पर्शनेन्द्रिय होने से अचक्षुदर्शन भी है। और सेवार्त सहनन, एवं चन्द्रमसूर सस्थान भी है। मिथ्यात्व आदि कारण विद्यमान होने से आठ प्रकारका कर्मबन्ध होता है। कृष्ण, नील, कापोत और तैजस ये चार लेश्याएँ भी पृथ्वीकाय में हैं।

બીજી વાત આ છે કે–જીવના જે લક્ષણ છે તે સર્વ પૃથ્વીમાં જોવામાં આવે છે હા પૃથ્વીકાયમાં સ્ત્યાનર્દ્ધિનામક દર્શનાવરણીય કર્મના ઉદયથી જ્ઞાન–દર્શનરૂપ ઉપયોગશક્તિ પ્રકટ રૂપમાં નથી પૃથ્વીમા અવ્યક્ત રૂપમાં ઉપયોગ રહે છે

તથા–ઔદારિક ઔદારિકમિશ્ર અને કાર્મણ શરીરરૂપ કાયયોગ વૃદ્ધપુરૂષની લાકડી સમાન તેના આલબન માટે વિદ્યમાન છે પૃથ્વીમાં આત્માના પરિણામ, માનસિકચિન્તારૂપ અધ્યવસાય પણ મોજુદ છે

પૃથ્વીમાં સાકાર ઉપયોગના અન્તર્ગત મતિ અને શ્રુત અજ્ઞાન પણ જોવામાં આવે છે એકલી સ્પર્શેન્દ્રિય હોવાથી અચક્ષુદર્શન પણ છે અને સેવાર્ત સહનન, એ પ્રમાણે ચન્દ્ર–મસૂર સસ્થાન પણ છે

મિથ્યાત્વ આદિ કારણ વિદ્યમાન હોવાથી આઠ પ્રકારનાં કર્મબધ પણ થાય છે કૃષ્ણ, નીલ, કાપોત, અને તૈજસ આ ચાર લેશ્યાઓ પણ પૃથ્વીકાયમાં છે

एव च मनुष्यवद् व्रणस्थानभरणरूपस्य चेतनालक्षणस्य पृथिवीकायेऽपि सत्त्वात् ।

यद्वा-पृथिवी सजीवा, दैनिकघर्षणोपचयसदर्शनात्, चरणतलवत्, तद्यथा-चरणतल घृष्यते पुष्यति च, तद्वत् पृथिव्यपि मत्यह घृष्यते, उपचीयते च, तस्मात्तस्या सजीवत्वम् ।

अथवा-विद्रुमपाषाणिरूपा पृथिवी सचेतना, काठिन्ये सत्यपि वृद्ध्यादि-दर्शनात्, शरीरस्थितास्थ्यादिवत् । तद्यथा-शरीरस्थितमस्थ्यादिक कमठपृष्ठकठिन सदपि चित्तवदनुभूयमानमुपचय च गच्छद् सदृश्यते । एव विद्रुमशिलाद्यात्मिकाया

इस प्रकार मनुष्य के समान घाव का भरना भी चेतना का एक लक्षण है, और वह पृथ्वी कायमें विद्यमान है ।

अथवा-पृथ्वी सजीव है, क्यों कि उस में प्रतिदिन घिसना और उपचय होना देखा जाता है, पैर के तल की तरह । तात्पर्य यह है कि-जैसे पैर का तलभाग घिसता है और फिर पुष्ट हो जाता है, उसी प्रकार पृथिवी भी प्रतिदिन घिसती है और भरजाती है । अत पृथिवी भी सजीव है ।

अथवा-मूगा, पाषाण आदि रूप पृथ्वी सजीव है, क्यों कि उसमें कठिनता होने पर भी वृद्धि आदि देखी जाती है, जैसे शरीर की हड्डी आदि । तात्पर्य यह है कि जैसे शरीर की हड्डी आदि कछुवे की पीठ की भाँति कठोर होने पर भी सचित्त मालूम होती है और उपचय को प्राप्त होती हुइ दिखाई देती है, इसी प्रकार मूगा-शिला

તે પ્રમાણે મનુષ્યના સમાન ઘાવનુ ભરાઇ જવુ તે પણ એક ચેતનાનું લક્ષણ છે, અને તે પૃથ્વીકાયમાં વિદ્યમાન છે

અથવા—પૃથિવી સજીવ છે, કારણ કે તેમા પ્રતિદિન ઘસાવું અને વધવુ તે જોવામાં આવે છે, પગના તળીઆની પ્રમાણે તાત્પર્ય એ છે કે-જેમ પગના તળીઆનો ભાગ ઘસાય છે અને ફરી પાછા પુષ્ટ થઈ જાય છે તે પ્રમાણે પૃથિવી પણ પ્રતિદિન ઘસાય છે અને ફરી પાછી ભરાઈ જાય છે, તેથી પૃથિવી પણ સજીવ છે

અથવા—મુંગા (પરવાળા) પાષાણ આદિરૂપ પૃથ્વી સજીવ છે કેમકે-તેમા કઠિનતા હોવા છતાય પણ વૃદ્ધિ વગેરે જોવામા આવે છે, જેવી રીતે શરીરના હાડકા આદિ તાત્પર્ય એ છે કે-જેવી રીતે શરીરના હાડકા આદિ કાચબાની પીઠ જેવા કઠોર હોવા છતાય પણ સચિત્ત માલૂમ પડે છે, અને વૃદ્ધિને પ્રાપ્ત થતા હોય તેમ દેખાય છે, તે

तु तत्र सन्त्येव, यथा—कस्यचिन्मनुष्यस्य अत्युत्कटमदिरातिपानजनित-पित्तोदयमूर्छितस्य चेतनाया अव्यक्तत्वेऽपि न तस्याचित्तरूपता विज्ञायते, एवं पृथिवीकायजीवेष्वव्यक्तचेतना समवति ।

न चाव्यक्तचेतनाऽभिव्यञ्जकमुच्छ्वासादिकं मद्यमूर्छितमनुष्यस्य सचित्त-त्वमावेदयति, इह तु न किञ्चिच्चेतनालक्षणं लक्ष्यत इति वाच्यम् ।

यथा मनुष्यशरीरे क्षतस्थान मांसादिरिक्तमपि पश्चात्क्षतादिनिवृत्तौ स्वयं भ्रियते, तथैव खनित खनिभूम्यादिक सजातीयावयवैर्भ्रियमाणं दृश्यते ।

ही न हो, मगर अव्यक्तरूप में तो विद्यमान हैं ही । जैसे कोई मनुष्य खूब नसैली मदिराका डॉटकर पान कर ले और पित्त के प्रकोप से मूर्च्छित हो जाय तो उसकी भी चेतना अव्यक्त हो जाती है, फिर भी उसे अचित्त (अचेतन) नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकार पृथ्वीकाय के जीवों में अव्यक्त चेतना है ।

शङ्का—अव्यक्त चेतना के बोधक उच्छ्वास वगैरह मद्यमूर्च्छित मनुष्य की सचित्तता को प्रकट करते हैं, मगर यहाँ (पृथ्वीमें) तो चेतना का कोई भी लक्षण नहीं दिखाई देता । ऐसी स्थिति में पृथ्वी की सचेतनता किस प्रकार मानी जाय ?

समाधान—जैसे—मनुष्य के शरीर में घाव हो जाता है तो उस स्थान में मांस आदि नहीं रहता । पश्चात् घाव मिट जाने पर वह भर जाता है । इसी प्रकार खोदी हुई खान आदि की भूमि अपने सजातीय अवयवों से भरजाती दिखाई देती है ।

લક્ષણ ભલે ન હોય, પરન્તુ અવ્યક્ત રૂપમાં તો વિદ્યમાન છેજ જેમ કોઈ મનુષ્ય ખૂબ પેટભરીને ઘણા નીસાવાળી મદિરાનું પાન કરી લે અને પિત્તના પ્રકોપથી મૂર્છિત થઈ જાય તો તેની પણ ચેતના અવ્યક્ત થઈ જાય છે, એટલે તેને અચિત્ત કહી શકતા નથી. એ પ્રમાણે પૃથ્વીકાયના જીવોમાં અવ્યક્ત ચેતના છે

શંકા—અવ્યક્ત ચેતનાના બોધક તરીકે ઉચ્છ્વાસ વગેરે મનુષ્યની સચિત્તતાને પ્રગટ કરે છે પરન્તુ અહિં (પૃથ્વીમાં) તો ચેતનાનું કોઈ પણ લક્ષણ જોવામાં આવતું નથી. એવી સ્થિતિમાં પૃથ્વીની સચેતનતા કેવી રીતે માની શકાય ?

સમાધાન—જેવી રીતે મનુષ્યના શરીરમાં ઘાવ-ઉંડો જખમ થઇ જાય છે તો તે સ્થાનમાં માંસ આદિ રહેતુ નથી. પાછળથી ઘાવ રૂઝાઈ જતા તે માંસથી ભરાઈ જાય છે એ પ્રમાણે ખોદેલી ખાણની ભૂમિ પોતાના સજાતીય અવયવોથી ભરાઈ જાય છે

एवं च मनुष्यवद् व्रणस्थानभरणरूपस्य चेतनालक्षणस्य पृथिवीकायेऽपि सत्त्वात् ।

यद्वा-पृथिवी सजीवा, दैनिकघर्षणोपचयसद्दर्शनात्, चरणतलवत्, तद्यथा-चरणतल घृष्यते पुष्यति च, तद्वत् पृथिव्यपि प्रत्यह घृष्यते, उपचीयते च; तस्मात्तस्या· सजीवत्वम् ।

अथवा-विद्रुमपाषाणरूपा पृथिवी सचेतना, काठिन्ये सत्यपि वृद्ध्यादिदर्शनात्, शरीरस्थितास्थ्यादिवत् । तद्यथा-शरीरस्थितमस्थ्यादिकं कमठपृष्ठकठिन सदपि चित्तवदनुभूयमानमुपचय च गच्छत् सदृश्यते । एव विद्रुमशिलाद्यात्मिकाया

इस प्रकार मनुष्य के समान घाव का भरना भी चेतना का एक लक्षण है, और वह पृथ्वी कायमें विद्यमान है ।

अथवा-पृथ्वी सजीव है, क्यों कि उस में प्रतिदिन घिसना और उपचय होना देखा जाता है, पैर के तल की तरह । तात्पर्य यह है कि-जैसे पैर का तलभाग घिसता है और फिर पुष्ट हो जाता है, उसी प्रकार पृथिवी भी प्रतिदिन घिसती है और भरजाती है । अत पृथिवी भी सजीव है ।

अथवा-मूगा, पाषाण आदि रूप पृथ्वी सजीव है, क्यों कि उसमें कठिनता होने पर भी वृद्धि आदि देखी जाती है, जैसे शरीर की हड्डी आदि । तात्पर्य यह है कि जैसे शरीर की हड्डी आदि कछुवे की पीठ की भाँति कठोर होने पर भी सचित्त मालूम होती है और उपचय को प्राप्त होती हुई दिखाई देती है, इसी प्रकार मूंगा-शिला

તે પ્રમાણે મનુષ્યના સમાન ઘાવનુ ભરાઇ જવું તે પણ એક ચેતનાનું લક્ષણ છે, અને તે પૃથ્વીકાયમાં વિદ્યમાન છે

અથવા—પૃથિવી સજીવ છે, કારણ કે તેમા પ્રતિદિન ઘસાવું અને વધવું તે જોવામા આવે છે, પગના તળીઆની પ્રમાણે તાત્પર્ય એ છે કે-જેમ પગના તળીઆનો ભાગ ઘસાય છે અને ફરી પાછા પુષ્ટ થઈ જાય છે તે પ્રમાણે પૃથિવી પણ પ્રતિદિન ઘસાય છે અને ફરી પાછી ભરાઈ જાય છે, તેથી પૃથિવી પણ સજીવ છે

અથવા—મુંગા (પરવાળા) પાષાણ આદિરૂપ પૃથ્વી સજીવ છે કેમકે-તેમા કઠિનતા હોવા છતાંય પણ વૃદ્ધિ વગેરે જોવામા આવે છે, જેવી રીતે શરીરના હાડકાં આદિ તાત્પર્ય એ છે કે-જેવી રીતે શરીરના હાડકા આદિ કાચબાની પીઠ જેવા કઠોર હોવા છતાય પણ સચિત્ત માલૂમ પડે છે, અને વૃદ્ધિને પ્રાપ્ત થતા હોય તેમ દેખાય છે, તે

पृथिव्या काठिन्ये सत्यपि वृद्धयादिकं प्रत्यक्ष दृश्यते तस्मात्तस्याः सचेतनत्वम् ।

अथ च–विद्रुमाद्यात्मिका पृथिवी सचित्ता, छेदादौ तत्सजातीयधातूत्पत्तिदर्शनात्, अर्शोऽङ्कुरवत् । तद्यथा–अर्शसोऽङ्कुरे छिन्नेऽपि पुनस्तत्समान एवाङ्कुरः प्रादुर्भवति, एवं विद्रुमशिलाद्यात्मिकायाः पृथिव्या खन्यादौ छेदेऽपि तत्सजातीय धातुभिस्तद्रिक्तभागः परिपूर्यते, तस्मात् सिद्धं पृथिव्या सचित्तत्वम् ।

किञ्च – यथा सास्नाविषाणाद्यवयवसंघातानां गोमहिष्यादिशरीराणां छिन्न भिन्नो–त्क्षिप्त–स्पृष्ट–दृष्ट–द्रव्यत्वेन जीवशरीरत्वं, तथैव पृथिव्यादीनां प्रत्यक्षदृष्टं

आदिरूप पृथ्वी में, कठिनता होने पर वृद्धि आदि प्रत्यक्ष दिखाई देता है । इस कारण पृथिवी सचित्त है ।

अथवा–मूँगा आदि पृथ्वी सचित्त है, क्यों कि उसका छेदन होने पर वहां उसी की सजातीय धातु उत्पन्न होती है, अर्श (मस्सा) के अंकुर के समान, जैसे अर्श के अंकुर एकवार काट देने पर भी फिर वहाँ उसी जाति के अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार मूगा–शिला आदि रूप पृथिवी का खान आदि में छेदन कर देने पर भी उसी की सजातीय धातुओं से वह खाली स्थान भर जाता है, अत पृथिवी की सचित्तता सिद्ध हुई ।

और भी लीजिए–जैसे सास्ना (गायके गले में लटकने वाली चमडी) सींग आदि अवयवों का समुदायरूप गाय, भैंस आदि के शरीर छिन्न, भिन्न, उत्क्षिप्त, स्पृष्ट, दृष्ट और द्रव्यत्व के कारण जीव के शरीर हैं, इसी प्रकार पृथिवी आदि में प्रत्यक्ष से

પ્રમાણે મૂગા (પરવાળા) શિલા આદિ રૂપ પૃથ્વીમા કઠિનતા હોવા છતાંય પણ વૃદ્ધિ આદિ પ્રત્યક્ષ જોવામા આવે છે, આ કારણથી પૃથ્વી સચિત્ત છે

અથવા—મૂગા (પરવાળા) આદિ પૃથ્વી સચિત્ત છે કેમકે—તેનું છેદન થવાથી ત્યાં તેની સજાતીય ધાતુ, ઉત્પન્ન થાય છે, અર્શ (મસ્સા)ના અંકુર પ્રમાણે, જેમ અર્શના અંકુર એકવાર કાપી નાખવા છતાય પણ ફરીથી ત્યાં તે જાતિના અંકુર ઉત્પન્ન થાય છે, તે પ્રમાણે મૂગા–શિલા આદિરૂપ પૃથ્વિનુ ખાણ આદિમા છેદન કરી દેવા છતાય પણ તેની સજાતીય ધાતુઓથી તે ખાલી સ્થાન ભરાઈ જાય છે, તે કારણથી પૃથ્વીની સચિત્તતા સિદ્ધ થઈ

બીજુ પણ પ્રમાણ લઈએ, જેમ સાસ્ના (ગાયના ગળામાં લટકવાવાળી ચામડી) સીગ આદિ અવયવોના સમુદાયરૂપ–ગાય, ભેસ આદિના શરીર છિન્ન, ભિન્ન, ઉત્ક્ષિપ્ત, સ્પૃષ્ટ, દૃષ્ટ, અને દ્રવ્યત્વના કારણથી જીવનું શરીર છે, તે પ્રમાણે પૃથ્વી આદિમાં પ્રત્યક્ષ

छिन्नत्वादिकमपलपितु न शक्यते, तस्मात्पृथिव्यादीनामपि जीवशरीरत्व सिद्धयति। जीवशरीरत्वेन निरुपितत्वाच्च पृथिव्यादीनामपि करचरणसवायवानामिव कदाचिच्चैतन्यं सिद्धयति, नतु सर्वथा शाश्वतिकनिर्जीवत्व तेषां संभवति, क्वाचिदचित्तत्वमपि शस्त्रोपहतत्वादेव भवति करचरणादिवदिति।

पृथिव्याः सचित्तत्वेऽनेकजीवाधिष्ठितत्वे चागमोऽपि प्रमाणम्। तथाहि—"पुढवी चित्त मतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता, अन्नत्थ सत्थपरिणएण" (दश ४ अ)

पृथिवी चित्तवती=सजीवा-आख्याता=भगवता कथिता अनेकजीवा=

दिखाई देने वाली छिन्नता आदि का अपलाप नहीं किया जा सकता, अत पृथिवी आदि जीव के शरीर हैं, इस प्रकारका निरूपण करने से हाथ पैर की तरह उन में भी किसी समय चैतन्य का अस्तित्व सिद्ध होता है, उनकी सदैव और सर्वथा निर्जीवता सिद्ध नहीं हो सकती। पृथिवी आदि कदाचित् निर्जीव होती है सो उसका कारण शस्त्र का उपघात है। शस्त्र के प्रयोग से जैसे हाथ-पैर आदि अवयव निर्जीव हो जाते हैं उसी प्रकार पृथ्वी भी निर्जीव हो जाती है।

पृथ्वी सचित्त है और अनेक जीवों से अधिष्ठित है, इस विषय में आगमप्रमाण भी है वह इस प्रकार—" पृथ्वी सचित्त कही गई है उसमें अनेक जीव हैं और उन सब की सत्ता पृथक्-पृथक् है,-शस्त्रपरिणत पृथ्वी को छोडकर " (दश ४ अ)

अर्थात्-पृथ्वी सजीव है, ऐसा भगवानने कहा है। उस में अनेक एकेन्द्रिय जीव हैं।

દેખાઈ આવે તેવી છિન્નતા આદિનો અપલાપ (છતી વસ્તુ દેખાય તે ના કહેવી કે નથી દેખાતી) કરી શકાશે નહિ, એ માટે પૃથ્વી આદિ પણ જીવનું શરીર સિદ્ધ થાય છે પૃથ્વી આદિ જીવનાં શરીર છે એ પ્રકારનું નિરૂપણ કરવાથી હાથ-પગની પ્રમાણે તેમાં પણ કોઈ સમય ચૈતન્યનુ અસ્તિત્વ સિદ્ધ થાય છે તેની હમેશાં અને સર્વથા નિર્જીવતા સિદ્ધ થઈ શકતી નથી પૃથ્વી આદિ કદાચિત્ નિર્જીવ હોય છે, તો તેનું કારણ શસ્ત્રનો ઉપઘાત છે (હથિઆરથી કપાવું-ખોદાવું તે છે) શસ્ત્રના પ્રયોગથી જેમ હાથ-પગ અવયવ નિર્જીવ થઈ જાય છે, તે પ્રમાણે પૃથ્વી પણ નિર્જીવ થઈ જાય છે

પૃથ્વી સચિત્ત છે અને અનેક જીવોથી અધિષ્ઠિત છે આ વિષયમા આગમ પ્રમાણ પણ છે તે આ પ્રમાણે —

" પૃથ્વી સચિત્ત કહેવામા આવી છે, તેમા અનેક જીવ છે, અને તે સર્વની સત્તા પૃથક્-પૃથક્ છે, શસ્ત્રપરિણત પૃથ્વીને ત્યજીને " (દશવૈકાલિક, ૪-અ)

અર્થાત્—પૃથ્વી સજીવ છે; એવું ભગવાને કહ્યું છે તેમા અનેક એકેન્દ્રિય જીવ છે

अनेके=बहवो जीवा एकेन्द्रिया यस्यां सा तथोक्ता, पृथक्सत्त्वा=पृथक् पृथग्भूता अङ्गुलासंख्येयभागमात्रशरीरावगाहनामाश्रित्य विभिन्नरूपेण स्थिताः सत्त्वाः= स्पर्शनेन्द्रियवन्तो जीवा यस्या सा तथोक्ता 'आख्याता' इति पूर्वोक्तेन सम्बन्धः।

ननु तर्हि तथाभूतायां सचित्तायां पृथिव्या गमनागमनादिक्रियां कुर्वतां संयतानामहिंसाव्रतस्य संरक्षणं कथं भवति प्रत्युतावश्यकरणीयोच्चार प्रस्रवणादिक्रियया हिंसैव भवति, तस्मादहिंसाव्रतपालनं वन्ध्यापुत्रपालनवद्-असंभवम् ?-इत्यत आह-'अन्नत्थ सत्यपरिणएण' इति, शस्त्रपरिणताया अन्यत्र, शस्त्रपरिणतां पृथिवीं वर्जयित्वाऽन्या पृथिवी सजीवा। शस्यते=हिंस्यते प्राणिगणोऽनेनेति शस्त्रं। यद् यस्य विनाशकारणं तत्तस्य शस्त्रमित्यर्थः। तत् द्विविधं द्रव्यभाव-

---

वे सब जीव अंगुल के असंख्यातवें भागकी शरीर—अवगाहनावाले भिन्न-भिन्न रूप में स्थित हैं। यहाँ सत्त्व का अर्थ एकेन्द्रिय जीव समझना चाहिए।

शङ्का—पृथ्वी अगर सचित्त है तो सचित्त पृथ्वी पर गमन—आगमन आदि क्रिया करने वाले साधुओं का अहिंसाव्रत कैसे स्थिर रह सकता है? प्रत्युत मल—मूत्र आदि का त्याग अनिवार्य है और इस से हिंसा होना भी अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में अहिंसा का पालन करना वन्ध्या—पुत्र का पालन करने के समान असंभव है।

समाधान—शास्त्र में कहा है—'अन्नत्थ सत्यपरिणएणं' अर्थात् शस्त्र परिणत पृथ्वी को छोड़कर दूसरी पृथ्वी सचित्त है। जिस के द्वारा प्राणिगण का हनन हो उसे शस्त्र कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो जिस के विनाश का कारण है, वह उस

તે સવ જીવ અંગુલના અસંખ્યાતમા ભાગની શરીર—અવગાહનાવાળા ભિન્ન-ભિન્ન રૂપમાં સ્થિત છે. અહિં સત્ત્વનો અર્થ એકેન્દ્રિય જીવ સમજવો જોઈએ

શંકા—પૃથિવી અગર સચિત્ત છે તો સચિત્ત પૃથ્વી પર જવા આવવાની ક્રિયા કરવાવાળા સાધુઓનું અહિંસાવ્રત સ્થિર કેવી રીતે રહી શકે છે? ઉલટું મલ-મૂત્ર આદિનો ત્યાગ અનિવાર્ય છે, તેથી હિંસા થવી પણ અનિવાર્ય છે એવી સ્થિતિમા અહિંસાનું પાલન કરવું તે વંધ્યાપુત્રના પાલન કરવા સમાન અસંભવ છે

સમાધાન—શાસ્ત્રમાં કહ્યુ છે કે- 'अन्नत्थ सत्यपरिणएण' અર્થાત્ શસ્ત્ર-પરિણત પૃથ્વીને ત્યજી બીજી પૃથ્વી સચિત્ત છે જેના દ્વારા પ્રાણિગણનું હનન (નાશ) થાય તેને શસ્ત્ર કહે છે તાત્પર્ય એ છે કે-જે જેના વિનાશનું કારણ છે તે તેના માટે શસ્ત્ર છે

भेदात्। तत्र द्रव्यशस्त्रं स्वकायपरकायतदुभयलक्षणम्। तत्र स्वकायशस्त्रं पृथिव्या पृथिव्येव यथा-कृष्णमृत्तिकायाः शुक्लमृत्तिकेत्यादि। परकायशस्त्रं जलाग्निगोमय-चरणशकटचक्रादि। उभयकायशस्त्रं जलादिमिश्रमृत्तिका। एवं च शस्त्रपरिणतायाः पृथिव्या अचित्ततया न तत्रोच्चारप्रस्रवणादिक्रियया मुनीनामहिंसाव्रतक्षतिः।

(२) प्ररूपणाद्वारम्-

पृथिवीजीवा द्विविधाः सूक्ष्मबादरभेदात्। सूक्ष्मनामकर्मोदयात्सूक्ष्माः, बादरनामकर्मोदयाद् बादराः, न तु बदरामलकवदापेक्षिकं सूक्ष्मत्वं बादरत्वं च।

के लिए शस्त्र है। शस्त्र के दो भेद हैं-द्रव्यशस्त्र और भावशस्त्र। स्वकाय, परकाय और उभयकायरूप द्रव्य-शस्त्र है। पृथ्वी का शस्त्र पृथ्वी-स्वकायशस्त्र है जैसे काली मिट्टी का शस्त्र सफेद मिट्टी है। परकायशस्त्र जैसे-जल, अग्नि, गोबर, चरण (पग), शकट (गाडी) का पैया आदि। जल आदि से मिली हुई मृत्तिका उभयकायशस्त्र है। इस प्रकार शस्त्र से परिणत पृथ्वी अचित्त हो जाती है, अत एव उस पर मल-मूत्र आदि त्यागने वाले मुनियों के अहिंसाव्रत में कोई क्षति नहीं पहुँचती।

(२) प्ररूपणा-द्वार-

पृथ्वी के सूक्ष्म और बादर के भेदसे दो प्रकार हैं। सूक्ष्मनामकर्म के उदय से सूक्ष्म और बादरनामकर्म के उदय से बादर होते हैं। यहाँ सूक्ष्मता और बादरता बेर और आंवले की तरह सापेक्ष नहीं समझनी चाहिए।

શસ્ત્રના બે ભેદ છે દ્રવ્યશસ્ત્ર અને ભાવશસ્ત્ર, સ્વકાય, પરકાય અને ઉભયકાયરૂપ દ્રવ્યશસ્ત્ર છે પૃથ્વીનું શસ્ત્ર પૃથ્વી સ્વકાય-શસ્ત્ર છે, જેમ કાલી માટીનું શસ્ત્ર સફેદ માટી છે પરકાય-શસ્ત્ર જેમકે જલ, અગ્નિ, છાણ, પગ, ગાડીનું ચાક આદિ જલ-પાણી આદિથી મળેલી માટી ઉભયકાય-શસ્ત્ર છે આ પ્રમાણે શસ્ત્રથી પરિણત પૃથ્વી અચિત્ત થઈ જાય છે એટલા માટે તેના પર મળ-મૂત્રાદિ ત્યાગ કરવાવાળા મુનિઓના અહિંસાવ્રતમાં કોઈ હાનિ પહોંચતી નથી

(૨) પ્રરૂપણાદ્વાર—

પૃથ્વીકાયના જીવ સૂક્ષ્મ અને બાદરના ભેદથી બે પ્રકારના છે સૂક્ષ્મનામકર્મના ઉદયથી સૂક્ષ્મ અને બાદરનામકર્મના ઉદયથી બાદર થાય છે અહિં સૂક્ષ્મતા અને બાદરતા બોર અને આંબળાની પ્રમાણે સાપેક્ષ સમજવી નહિ જોઈએ.

तत्र सूक्ष्माः द्विविधाः—पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च, ते कज्जलकूपिकावत् सर्वलोकव्यापिनः ।

बादरा अपि द्विधा—पर्याप्तापर्याप्तभेदात् । तत्र बादरा पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च लोकस्यैकदेशे पृथिव्यष्टकाधोऽधःपाताल—भवन—नरकप्रस्तरादौ सन्ति । ते विद्विधाः श्लक्ष्ण—खरभेदात् । तत्र श्लक्ष्णा बादरपृथिवी सप्तधा कृष्ण-नील—लोहित—पीत—शुक्ल—पाण्डु—पनकभेदात् । खरबादरपृथिव्यास्तु चत्वारिंशद् (४०) भेदा', तथाहि—

(१)शुद्धपृथिवी, (२)शर्करापृथिवी, (३)वालुकापृथिवी, (४)उपलः, (५)शिला, (६)लवणः,(७)ऊष (८)अयः, (९)ताम्र , (१०)त्रपुः, (११)सीसकम्, (१२)रूप्यम्, (१३)सुवर्णम्, (१४)वज्रः, (१५)हरितालः (१६)हिङ्गुलकः, (१७)मनःशिला,

---

सूक्ष्म जीव भी दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त । ये जीव काजल की कुप्पी के समान सम्पूर्ण लोक में भरे हुए हैं ।

बादर भी पर्याप्त और अपर्याप्त—दो प्रकार के हैं । ये जीव लोक के एक देश में हैं । इन के दो भेद हैं—श्लक्ष्ण और खर । श्लक्ष्णबादरपृथ्वी के सात भेद हैं—कृष्ण नील लोहित (लाल) पीत शुक्ल पाण्डु और पनक खरबादर पथ्वी के चालीस भेद हैं, वे इस प्रकार—

(१) शुद्ध—पथिवी, (२) शर्करा—पृथिवी, (३) वालुका—पृथिवी, (४) उपल, (५) शिला, (६) लवण—नमक, (७) ऊस—क्षार, (८) लोहा, (९) तांबा, (१०) रांगा, (११) सीसा, (१२) चांदी, (१३) सोना, (१४) वज्र, (१५) हरिताल, (१६) हींगलु,

---

સૂક્ષ્મ જીવ પણ બે પ્રકારના છે પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્ત—જીવ કાજળની કુપ્પીના સમાન સંપૂર્ણ લોકમાં ભરેલા છે

બાદર પણ પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્ત એમ બે પ્રકારના છે એ જીવ લોકના એક દેશમાં છે તેના બે ભેદ છે શ્લક્ષ્ણ અને ખર, શ્લક્ષ્ણ બાદર પૃથ્વીના સાત ભેદ છે કૃષ્ણ, નીલ, લોહિત (લાલ) પીત, શુકલ, પાંડુ અને પનક ખર—બાદર પૃથ્વીના ચાલીસ ભેદ છે—તે આ પ્રમાણે છે —

(૧) શુદ્ધ પૃથિવી; (૨) શર્કરા પૃથિવી, (૩) વાલુકા પૃથિવી, (૪) ઉપલ, (૫) શિલા, (૬) લવણ—નમક, (૭) ઉષ—ક્ષાર, (૮) લોઢા, (૯) ત્રાંબા, (૧૦) રાગા—કલાઈ, (૧૧) સીસા, (૧૨) ચાંદી, (૧૩) સોના, (૧૪) વજ્ર, (૧૫) હરતાલ, (૧૬) હીંગુલ,

(१८) शस्यक -पारद', स्वनामख्यातो रत्नविशेषश्च, (१९) अञ्जन, (२०) प्रवालम्, (२१)अभ्रपटलम्, (२२)अभ्रवालुका (अभ्रकचूर्णम्,) (२३)गोमेदक., (२४)रुचक', (२५)अङ्क, (२६)स्फटिक, (२७)लोहिताक्ष, (२८)मरकत', (२९)मसारगल्ल, (३०)भुजमोचक, (३१)इन्द्रनील', (३२)चन्दनम्।, (३३) गैरिकम्, (३४)हंसगर्भ', (३५)पुलक, (३६)सौगन्धिक, (३७)चन्द्रप्रभः, (३८)वैडूर्यम्, (३९)जलकान्त, (४०)सूर्यकान्त.। एते च शुद्धपृथिव्यादय पृथिवीकायिका स्वाकरादौ सचित्ता भवन्ति।

गोमय-कचवर-सवितृतापादिसंपर्कात्तु गतचेतना अपि भवन्ति। बादरपृथिव्या यत्रैको जीवस्तत्राऽसङ्ख्यातैर्नियमतो भाव्यम्।

एवमप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतिष्वपि विज्ञेयम्। निगोदे तु यत्रैको

---

(१७) मैनसिल, (१८) शस्यक-पारा, अथवा रत्नविशेष, (१९) अञ्जन,(२०) प्रवाल, (२१) अभ्रपटल, (२२) अभ्रवालुका (अभ्रकचूर्ण), (२३) गोमेद,(२४) रुचक,(२५) अंकरत्न,(२६) स्फटिक, (२७) लोहिताक्ष, (२८)मरकत, (२९) मसारगल्ल,(३०) भुजमोचक,(३१) इन्द्रनील, (३२) चंदन, (३३) गेरू, (३४) हंसगर्भ, (३५) पुलक, (३६)सौगंधिक, (३७) चन्द्रप्रभ-चन्द्रकान्त, (३८) वैडूर्य, (३९)जलकान्त, (४०) सूर्यकान्त। ये शुद्ध पृथिवी आदि चालीस जब अपने आकर (खान) में रहते हैं तो सचित्त होते हैं। गोबर कचरा सूरज की धूप आदि के संपर्क से अचेतन हो जाते हैं। जहां बादरपृथ्वीकाय का एक जीव होता है वहाँ असंख्यात जीव नियम से होते हैं।

इसी प्रकार अप्, तेज, वायु, और प्रत्येकवनस्पति में भी समझना चाहिए।

---

(૧૭) મનશીલ, (૧૮) પારો, (૧૯) સુરમો, (૨૪) રૂચક, (૨૫) અંક-રત્ન, (૨૬) સ્ફટિક, (૨૭) લોહિતાક્ષ, (૨૮) મરકત, (૨૯) મસારગલ્લ, (૩૦) ભુજમોચક, (૩૧) ઈન્દ્રનીલ, (૩૨) ચન્દન, (૩૩) ગેરૂ, (૩૪) હંસગર્ભ, (૩૬) પુલક, (૩૬) સૌગંધિક, (૩૬) ચન્દ્રપ્રભ-ચંદ્રકાન્ત, (૩૮) વૈડૂર્ય, (૩૯) જલકાન્ત, (૪૦) સૂર્યકાન્ત. આ શુદ્ધ પૃથ્વી આદિ ચાલીશ જ્યારે પોતાના આકર-ખાણમા રહે છે તો સચિત્ત હોય છે છાણ, કચરા, સૂરજનો તડકો વગેરેના સંપર્કથી તે અચિતન થઈ જાય છે જ્યા બાદર પૃથ્વીકાયનો એક જીવ હોય છે, ત્યા અસંખ્યાત જીવ નિયમથી હોય છે

એ પ્રકારે અપ્, તેજ, વાયુ અને પ્રત્યેકવનસ્પતિમા પણ સમજવું જોઈએ,

निगोदजीवस्तत्र नियमतोऽनन्ताः ।

बादराणां सूक्ष्माणां च पृथिवीकायानामेते वक्ष्यमाणा भेदाः सन्ति, तत्रोभयोः पर्याप्तापर्याप्तभेद प्रागुक्तः, अन्ये भेदा उच्यन्ते-शरीरत्रया-ऽङ्गुला संख्येयभागशरीर-सेवार्तसहनन-मसूरचन्द्रसंस्थान-कषायचतुष्क-संज्ञाचतुष्का-ऽऽद्यलेश्यात्रय-स्पर्शनेन्द्रिय-वेदनाकषायमारणान्तिकसमुद्घाता-ऽसंज्ञित्व-नपुंसक वेद-पर्याप्तिचतुष्टय-मिथ्यादर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽज्ञान-काययोग-साकारानाकारो-पयोगाऽऽहारादिप्रभृतयः । तत्र विशेषस्तु बादरपृथिवीकायानां लेश्या आद्याश्चतस्रः, शेष सर्वे समानम् । असंख्येयाश्च प्रत्येकमुभये ।

निगोद में जहाँ एक जीव होता है वहाँ नियम से अनन्त जीव होते हैं ।

बादर और सूक्ष्म पृथिवीकायों के भेद इस प्रकार हैं-दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त भेद पहले कहे जा चुके हैं । अब अन्य भेद कहते हैं-तीन शरीर, अंगुलका असंख्यातवा भाग शरीर, सेवार्त सहनन, मसूरचन्द्रसंस्थान, चार कषाय, चार संज्ञाएँ, प्रारभ की तीन लेश्याएँ, स्पर्शनेन्द्रिय, वेदना कषाय और मारणान्तिक समुद्घात, असंज्ञीपन, नपुंसकवेद, चार पर्याप्तियाँ, मिथ्यादर्शन, अचक्षुदर्शन तीन अज्ञान, काययोग, साकार तथा अनाकार उपयोग, आहार आदि । इन में विशेषता इतनी ही है कि बादरपृथिवी-काय में पहले की चार लेश्याएँ होती हैं । शेष सब बोल समान हैं । दोनों ही असंख्यात-असंख्यात हैं ।

નિગોદમા જ્યાં એક જીવ હોય છે ત્યા નિયમથી અનન્ત જીવ હોય છે

બાદર અને સૂક્ષ્મ પૃથિવીકાયોના ભેદ આ પ્રમાણે છે—બન્નેના પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્ત બેઉ ભેદ પ્રથમ કહેવામાં આવ્યા છે હવે બીજા ભેદ કહે છે-ત્રણ શરીર, અંગુલના અસંખ્યાતમાં ભાગ શરીર, સેવાર્ત્ત સંહનન, મસૂર-ચન્દ્ર સંસ્થાન, ચાર કષાય, ચાર સંજ્ઞાઓ, પ્રારંભની ત્રણ લેશ્યાઓ, સ્પર્શ ઇન્દ્રિય, વેદના કષાય, અને મારણાન્તિક સમુદ્ઘાત, અસંજ્ઞીપણું, નપુંસકવેદ, ચાર પર્યાપ્તિઓ, મિથ્યાદર્શન, અચક્ષુદર્શન, ત્રણ અજ્ઞાન, કાયયોગ, સાકાર તથા અનાકાર ઉપયોગ, આહાર આદિ. તેમાં વિશેષતા એટલી જ છે કે:-બાદર પૃથિવીકાયમાં પ્રથમની ચાર લેશ્યાઓ હોય છે, બાકી તમામ બોલ સમાન છે બન્ને જ અસંખ્યાત-અસંખ્યાત છે

(३) परिमाणद्वारम्—

बादरपर्याप्ताः पृथिवीकायजीवाः सर्वतः स्तोकाः। तदपेक्षया बादराऽपर्याप्ताः असंख्येयगुणाः। तदपेक्षया सूक्ष्माऽपर्याप्ता असंख्येयगुणाः। तदपेक्षया सूक्ष्मपर्याप्ता असंख्येयगुणाः। यदि जवारीधान्यकणप्रमाणपृथिव्यंशाश्रया जीवा एकैकं बहिर्निर्गत्य पृथक्-पृथक् कपोतमितं कायं कुर्युस्तर्हि तेषां लक्षयोजनप्रमाणजम्बूद्वीपे समावेशोऽपि न संभवति।

ननु जवारीधान्यकणमात्रे पृथिव्यंशे कथमियन्तो जीवास्तिष्ठन्ति ? इति चेत् उच्यते-यथा सहस्रौषधिसम्मिश्रणनिष्पन्नसहस्रपाकतैलस्याल्पीयसि

(३) परिमाणद्वार-

पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय के जीव सब से थोड़े हैं। उन की अपेक्षा बादर अपर्याप्त असंख्यात गुना अधिक है। उन से सूक्ष्म अपर्याप्त असंख्येय गुना है। उन से सूक्ष्म पर्याप्त असंख्यात गुना है। अगर जवार नामक धान्य के कण के बराबर पृथ्वी के अंश में रहने वाले जीव एक-एक करके बाहर निकल जाएँ और वे सब अपना शरीर कबूतर के शरीर के बराबर बनालें तो एक लाख योजन विस्तार वाले जम्बूद्वीप में उनका समावेश नहीं हो सकता।

शङ्का—जवार के एक दाने के बराबर पृथिवी के अंश में इतने अधिक जीव किस प्रकार रह सकते हैं ?

समाधान—जैसे हजार औषधों के सम्मिश्रण से बने हुए सहस्र-पाक तैल के

(૩) પરિમાણદ્વાર-

પર્યાપ્ત બાદર પૃથ્વીકાયના જીવ સૌથી થોડા છે, તેની અપેક્ષા બાદર અપર્યાપ્ત અસંખ્યાત ગણા અધિક છે તેનાથી સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત અસંખ્યાત ગણા છે, તેનાથી સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત અસંખ્યાત ગણા છે અગર જુવાર નામના ધાન્યના કણની બરાબર પૃથ્વીમાં રહેવાવાળા જીવ એક-એક થઈને બહાર નિકળે અને તે સર્વ પોતાનું શરીર કબૂતર-પારેવાના શરીર બરાબર બનાવી લીએ તો એક લાખ યોજનના વિસ્તારવાળા જમ્બૂ દ્વીપમાં તેનો સમાવેશ થઈ શકે નહિ.

શંકા—જુવારના એક દાણાની બરાબર પૃથિવીમાં એટલા અધિક જીવ કેવી રીતે રહી શકે છે?

સમાધાન—જેવી રીતે હજાર ઔષધોના સંમિશ્રણથી બનેલા સહસ્ર-પાક તેલના

सूच्यग्रलग्नबिन्दुमात्रेऽपि सहस्रौषधिसमावेशस्तथैव पृथिवीकायजीवास्तावन्मात्रे पृथिव्यंशे तिष्ठन्तीति। यथा वा सहस्रौषधिसमिश्रणे कृते चूर्णीकृत्य परिपिष्य खसखसकणप्रमाणगुटिका क्रियते, तत्र प्रत्येकगुटिकायां सहस्रौषधिसमावेशो दृश्यते, तद्वज्जवारीधान्यकणमात्रेऽल्पीयसि पृथिव्यंशे पृथिवीकायजीवास्तिष्ठन्तीति नैतद्विभ्रम्।

यदि लोकाकाशस्य प्रत्येकप्रदेशे, एकैक पृथिवीकायजीव स्थाप्यते तदा असंख्याता लोका पूरिता भवेयुः। पृथिवीकायजीवाना परिमाण तावदस्ति, यदि लोका असख्याता भवेयुः, तेपामसख्यातलोकानां यावन्त प्रदेशा भवेयुस्तावन्तः पृथिवीकायजीवाः सन्तीति बोध्यम्।

छोटे से, सुई की नोक पर लगे हुए एक बूद में भी हजार औषधों का समावेश हो जाता है, इसी प्रकार ज्वार के एक दाने के बराबर पृथ्वी के अंश में इतने जीव रहते हैं। अथवा जैसे एक हजार औषधों को मिला दिया जाय और उनका चूर्ण बना लिया जाय, खूब पीसा जाय और उससे खसखस के दाने के बराबर गोली बना ली जाय तो उस प्रत्येक गोली में हजार औषधियों का समावेश जान पड़ता है। इस प्रकार ज्वार बराबर पृथ्वी के अश में अगर इतने जीव रहते हैं तो इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है?

अगर लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में, एक-एक जीव स्थापित किया जाय तो असख्यात लोक भर जाएँ। पृथिवीकाय के जीवों का परिमाण इतना है कि-यदि लोक असख्यात हों और उन असंख्यात लोकों के जितने प्रदेश हों, उतने ही पृथिवीकाय जीव हैं, ऐसा समझ लेना चाहिए।

નાના એવા સોયની અણી પર લાગેલા એક ટીપામાં પણ હજાર ઔષધોનો સમાવેશ થઈ જાય છે એ પ્રમાણે જુવારના એક દાણાની બરાબર પૃથ્વીમાં એટલા જીવ રહે છે અથવા જેવી રીતે-એક હજાર ઔષધોને મેળવવામા આવે અને તેનું ચૂર્ણ બનાવી લેવાય, અને તેને ખૂબ વાટવામાં આવે અને તેમાથી ખસ-ખસના દાણા બરાબર ગોળી બનાવવામા આવે તો પ્રત્યેક ગોળીમાં હજાર ઔષધીઓનો સમાવેશ થયેલો છે, એમ જાણી શકાય છે એ પ્રમાણે જુવાર બરાબર પૃથ્વીમા એટલા જીવ રહે છે તો તેમાં આશ્ચર્યની વાત શું હોઈ શકે?

અથવા લોકાકાશના એક એક પ્રદેશમાં, એક-એક જીવ સ્થાપિત કરવામાં આવે તો અસખ્યાત લોક ભરાઈ જાય. પૃથિવીકાયના જીવોનું પરિમાણ એટલુ છે-જો લોક અસખ્યાત હોય અને તે અસખ્યાત લોકના જેટલા પ્રદેશો હોય એટલા જ પૃથિવીકાય જીવ છે એમ સમજી લેવું જોઈએ.

ये पृथिवीकायहिंसायां लज्जमानास्ते-अनगारा, ये तु तत्र प्रवृत्तास्ते द्रव्यलिङ्गिन', इति बोधयितुमाह-'लज्जमाणा' इत्यादि ।

एके=अन्ये, लज्जमाना'=पृथिवीकायस्यारम्भे परमकरुणया द्रवितहृदयतया सकोचमापद्यमाना पृथक्=केचित् प्रत्यक्षज्ञानिनोऽवधि-मन'पर्यय-केवलिनः, केचिद् परोक्षज्ञानिनो भावितात्मानोऽनगारा' सन्ति, इति, पृथक्-पश्य ।

इमे सूक्ष्मबादरपृथिवीकायारम्भकरणे भीतास्त्रस्ता उद्विग्नास्त्रिकरणत्रियोगै पृथिवीकायारम्भपरित्यागिनो विद्यन्ते तानवलोकयेत्यर्थ ।

एके पुन.=अन्ये तु-'वयमगारा' साधवः स्म.' इति साभिमानं प्रवदमाना. 'वयमेव पृथिवीकायजीवरक्षणपराः महाव्रतधारिणः' इति व्यर्थ

जो पुरुष पथिवीकाय की हिंसा से विरत होते हैं, वेही अनगार हैं। जो उस हिंसा में प्रवृत्त हैं, वे द्रव्यलिंगी हैं। यह बतलाने के लिए कहते हैं-'लज्जमाणा' इत्यादि।

कोई-कोई पुरुष पथिवीकाय के आरम्भ में अत्यन्त करुणाशील होने के कारण, द्रवित हृदय वाले होने से, सकोच-वृत्ति करते हैं, उन में से कोई-कोई प्रत्यक्षज्ञानी अर्थात् अवधिज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी, तथा कोई परोक्षज्ञानी भावितात्मा अनगार हैं, इस प्रकार पृथक्-पृथक्भाव से देखो। अर्थात् उन पुरुषों को देखो जो सूक्ष्म और बादर पृथ्वीकाय का आरम्भ करने में लज्जा करते हैं, त्रस्त होते हैं, और तीनकरण, तीनयोग से पृथिवीकाय के आरम्भ के त्यागी हैं।

और कोई-कोई 'हम साधु हैं। ऐसा अभिमान के साथ कहते हुए 'हम ही पृथिवीकाय की रक्षा में तत्पर हैं और महाव्रतधारी हैं'। इस प्रकार वृथा प्रलाप

જે પુરૂષ પૃથિવીકાયની હિંસાથી વિરત-નિવૃત્ત થાય છે તેજ અણુગાર છે મુનિ છે જે હિંસામાં પ્રવૃત્ત છે તે દ્રવ્યલિંગી છે તે બતાવવા માટે કહે છે—'लज्जमाणा' ઈત્યાદિ.

કોઈ-કોઈ પુરૂષ પૃથિવીકાયના આરભમા અત્યન્ત કરૂણાશીલ હોવાના કારણે દ્રવિત હૃદયવાળા હોવાથી સંકોચ-વૃત્તિ કરે છે તેમાથી કોઈ-કોઈ પ્રત્યક્ષજ્ઞાની અર્થાત્ અવધિજ્ઞાની, મન પર્યયજ્ઞાની અને કેવલજ્ઞાની અને કોઈ પરોક્ષજ્ઞાની ભાવિતાત્મા અણગાર છે પૃથક્=પૃથગ્ભાવથી જુઓ, અર્થાત્ તે પુરૂષોને જુઓ કે જે સૂક્ષ્મ અને બાદર પૃથ્વીકાયનો આરભ કરવામાં લજ્જા કરે છે-શરમાય છે-ત્રાસ પામે છે અને ત્રણ કરણ ત્રણ યોગથી પૃથ્વીકાયના આરભના ત્યાગી છે

અને કોઈ-કોઈ 'અમે સાધુ છીએ' એવા અભિમાનની સાથે કહે છે કે-'અમે પણ પૃથ્વીકાયની રક્ષામા તત્પર છીએ, અને મહાવ્રતધારી છીએ.' આ પ્રમાણે વૃથા-

सूच्यग्रलग्नविन्दुमात्रेऽपि सहस्रौषधिसमावेशस्तथैव पृथिवीकायजीवास्तावन्मात्रे पृथिव्यंशे तिष्ठन्तीति। यथा वा सहस्रौषधिसमिश्रणे कृते चूर्णीकृत्य परिपिष्य खसखसकणप्रमाणगुटिका क्रियते, तत्र प्रत्येकगुटिकायां सहस्रौषधिसमावेशो दृश्यते, तद्वज्जवारीधान्यकणमात्रेऽल्पीयसि पृथिव्यंशे पृथिवीकायजीवास्तिष्ठन्तीति नैतच्चित्रम्।

यदि लोकाकाशस्य प्रत्येकप्रदेशे, एकैकं पृथिवीकायजीवं स्थाप्यते तदा असंख्याता लोकाः पूरिता भवेयुः। पृथिवीकायजीवानां परिमाणं तावदस्ति, यदि लोकाः असंख्याता भवेयुः, तेषामसंख्यातलोकानां यावन्तः प्रदेशाः भवेयुस्तावन्तः पृथिवीकायजीवाः सन्तीति बोध्यम्।

छोटे से, सुई की नोक पर लगे हुए एक बूंद में भी हजार औषधों का समावेश हो जाता है, इसी प्रकार ज्वार के एक दाने के बराबर पृथ्वी के अंश में इतने जीव रहते हैं। अथवा जैसे एक हजार औषधों को मिला दिया जाय और उनका चूर्ण बना लिया जाय, खूब पीसा जाय और उससे खसखस के दाने के बराबर गोली बना ली जाय तो उस प्रत्येक गोली में हजार औषधियों का समावेश जान पड़ता है। इस प्रकार ज्वार बराबर पृथ्वी के अंश में अगर इतने जीव रहते हैं तो इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है ?

अगर लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में, एक-एक जीव स्थापित किया जाय तो असंख्यात लोक भर जाएँ। पृथिवीकाय के जीवों का परिमाण इतना है कि-यदि लोक असंख्यात हों और उन असंख्यात लोकों के जितने प्रदेश हों, उतने ही पृथिवीकाय जीव हैं, ऐसा समझ लेना चाहिए।

નાના એવા સોઈની અણી પર લાગેલા એક ટીપામાં પણ હજાર ઔષધોનો સમાવેશ થઈ જાય છે એ પ્રમાણે જુવારના એક દાણાની બરાબર પૃથ્વીમાં એટલા જીવ રહે છે અથવા જેવી રીતે-એક હજાર ઔષધોને મેળવવામાં આવે અને તેનું ચૂર્ણ બનાવી લેવાય, અને તેને ખૂબ વાટવામાં આવે અને તેમાંથી ખસ-ખસના દાણા બરાબર ગોળી બનાવવામાં આવે તો પ્રત્યેક ગોળીમાં હજાર ઔષધીઓનો સમાવેશ થયેલો છે, એમ જાણી શકાય છે એ પ્રમાણે જુવાર બરાબર પૃથ્વીમા એટલા જીવ રહે છે તો તેમાં આશ્ચર્યની વાત શું હોઈ શકે ?

અથવા લોકાકાશના એક એક પ્રદેશમાં, એક-એક જીવ સ્થાપિત કરવામાં આવે તો અસખ્યાત લોક ભરાઈ જાય. પૃથિવીકાયના જીવોનું પરિમાણ એટલું છે-જો લોક અસખ્યાત હોય અને તે અસખ્યાત લોકના જેટલા પ્રદેશો હોય એટલા જ પૃથિવીકાય જીવ છે એમ સમજી લેવું જોઈએ.

ये पृथिवीकायहिंसायां लज्जमानास्ते-अनगाराः, ये तु तत्र प्रवृत्तास्ते द्रव्यलिङ्गिनः, इति बोधयितुमाह-' लज्जमाणा. ' इत्यादि ।

एके=अन्ये, लज्जमानाः=पृथिवीकायस्यारम्भे परमकरुणया द्रवितहृदयतया सङ्कोचमापद्यमानाः पृथक्=केचित् प्रत्यक्षज्ञानिनोऽवधि-मन.पर्यय-केवलिनः, केचित् परोक्षज्ञानिनो भावितात्मानोऽनगाराः सन्ति, इति, पृथक्-पश्य ।

इमे सूक्ष्मबादरपृथिवीकायारम्भकरणे भीतास्त्रस्ता उद्विग्नास्त्रिकरणत्रियोगैः पृथिवीकायारम्भपरित्यागिनो विद्यन्ते तानवलोकयेत्यर्थः ।

एके पुनः=अन्ये तु-' वयमनगाराः साधवः स्म. ' इति साभिमानं भवदमानाः ' वयमेव पृथिवीकायजीवरक्षणपराः महाव्रतधारिणः ' इति व्यर्थं

जो पुरुष पृथिवीकाय की हिंसा से विरत होते हैं, वेही अनगार हैं । जो उस हिंसा में प्रवृत्त हैं, वे द्रव्यलिंगी हैं । यह बतलाने के लिए कहते हैं-' लज्जमाणा ' इत्यादि ।

कोई-कोई पुरुष पृथिवीकाय के आरम्भ में अत्यन्त करुणाशील होने के कारण, द्रवित हृदय वाले होने से, संकोच-वृत्ति करते हैं, उन में से कोई-कोई प्रत्यक्षज्ञानी अर्थात् अवधिज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी, तथा कोई परोक्षज्ञानी भावितात्मा अनगार हैं, इस प्रकार पृथक्-पृथक्भाव से देखो । अर्थात् उन पुरुषों को देखो जो सूक्ष्म और बादर पृथ्वीकाय का आरम्भ करने में लज्जा करते हैं, त्रस्त होते हैं, और तीनकरण, तीनयोग से पृथिवीकाय के आरम्भ के त्यागी हैं ।

और कोई-कोई ' हम साधु हैं । ऐसा अभिमान के साथ कहते हुए ' हम ही पृथिवीकाय की रक्षा में तत्पर हैं और महाव्रतधारी हैं ' । इस प्रकार वृथा प्रलाप

જે પુરુષ પૃથિવીકાયની હિંસાથી વિરત-નિવૃત્ત થાય છે તેજ અણુગાર છે મુનિ છે જે હિંસામાં પ્રવૃત્ત છે તે દ્રવ્યલિંગી છે તે બતાવવા માટે કહે છે—'લજ્જમાણા' ઇત્યાદિ.

કોઈ-કોઈ પુરુષ પૃથિવીકાયના આરંભમાં અત્યન્ત કરુણાશીલ હોવાના કારણે દ્રવિત હૃદયવાળા હોવાથી સંકોચ-વૃત્તિ કરે છે તેમાંથી કોઈ-કોઈ પ્રત્યક્ષજ્ઞાની અર્થાત્ અવધિજ્ઞાની, મન પર્યયજ્ઞાની અને કેવલજ્ઞાની અને કોઈ પરોક્ષજ્ઞાની ભાવિતાત્મા અણુગાર છે પૃથક્=પૃથક્ભાવથી જુઓ, અર્થાત્ તે પુરુષોને જુઓ કે જે સૂક્ષ્મ અને બાદર પૃથ્વીકાયનો આરંભ કરવામાં લજ્જા કરે છે-શરમાય છે-ત્રાસ પામે છે અને ત્રણ કરણ ત્રણ યોગથી પૃથ્વીકાયના આરંભના ત્યાગી છે

અને કોઈ-કોઈ ' અમે સાધુ છીએ ' એવા અભિમાનની સાથે કહે છે કે-'અમે પણ પૃથ્વીકાયની રક્ષામાં તત્પર છીએ, અને મહાવ્રતધારી છીએ.' આ પ્રમાણે વૃથા-

सूच्यग्रलग्नबिन्दुमात्रेऽपि सहस्रौषधिसमावेशस्तथैव पृथिवीकायजीवास्तावन्मात्रे पृथिव्यंशे तिष्ठन्तीति। यथा वा सहस्रौषधिसमिश्रणे कृते चूर्णीकृत्य परिपिष्य खसखसकणप्रमाणगुटिका क्रियते, तत्र प्रत्येकगुटिकायां सहस्रौषधिसमावेशो दृश्यते, तद्वज्जवारीधान्यकणमात्रेऽल्पीयसि पृथिव्यंशे पृथिवीकायजीवास्तिष्ठन्तीति नैतद्विभ्रम्।

यदि लोकाकाशस्य प्रत्येकप्रदेशे, एकैकः पृथिवीकायजीवः स्थाप्यते तदा असंख्याता लोकाः पूरिता भवेयुः। पृथिवीकायजीवानां परिमाणं तावदस्ति, यदि लोका असंख्याता भवेयुः, तेषामसंख्यातलोकानां यावन्तः प्रदेशा भवेयुस्तावन्तः पृथिवीकायजीवाः सन्तीति बोध्यम्।

छोटे से, सूई की नोंक पर लगे हुए एक बूंद में भी हजार औषधों का समावेश हो जाता है, इसी प्रकार ज्वार के एक दाने के बराबर पृथ्वी के अंश में इतने जीव रहते हैं। अथवा जैसे एक हजार औषधों को मिला दिया जाय और उनका चूर्ण बना लिया जाय, खूब पीसा जाय और उससे खसखस के दाने के बराबर गोली बना ली जाय तो उस प्रत्येक गोली में हजार औषधियों का समावेश जान पड़ता है। इस प्रकार ज्वार बराबर पृथ्वी के अंश में अगर इतने जीव रहते हैं तो इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है?

अगर लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में, एक-एक जीव स्थापित किया जाय तो असंख्यात लोक भर जाएँ। पृथिवीकाय के जीवों का परिमाण इतना है कि-यदि लोक असंख्यात हों और उन असंख्यात लोकों के जितने प्रदेश हों, उतने ही पृथिवीकाय जीव हैं, ऐसा समझ लेना चाहिए।

નાના એવા સોઈની અણી પર લાગેલા એક ટીપામાં પણ હજાર ઔષધોનો સમાવેશ થઈ જાય છે એ પ્રમાણે જુવારના એક દાણાની બરાબર પૃથ્વીમાં એટલા જીવ રહે છે અથવા જેવી રીતે-એક હજાર ઔષધોને મેળવવામા આવે અને તેનું ચૂર્ણ બનાવી લેવાય, અને તેને ખૂબ વાટવામાં આવે અને તેમાથી ખસ-ખસના દાણા બરાબર ગોળી બનાવવામાં આવે તો પ્રત્યેક ગોળીમા હજાર ઔષધીઓનો સમાવેશ થયેલો છે, એમ જાણી શકાય છે એ પ્રમાણે જુવાર બરાબર પૃથ્વીમા એટલા જીવ રહે છે તો તેમાં આશ્ચર્યની વાત શું હોઈ શકે?

અથવા લોકાકાશના એક એક પ્રદેશમા, એક-એક જીવ સ્થાપિત કરવામાં આવે તો અસખ્યાત લોક ભરાઈ જાય. પૃથિવીકાયના જીવોનું પરિમાણ એટલું છે-જો લોક અસખ્યાત હોય અને તે અસખ્યાત લોકના જેટલા પ્રદેશો હોય એટલા જ પૃથિવીકાય જીવ છે. એમ સમજી લેવું જોઈએ.

रूप लोक सर्वमेव विहिंसन्तीत्याह-' पुढवीसत्थं '-इत्यादि ।

पृथिवीशस्त्रम्=पृथिव्युपमर्दक शस्त्रम्, शस्यते=हिंस्यते अनेनेति शस्त्रम्, तद् द्विविधं-द्रव्य-भाव-भेदात् । तत्र द्रव्यशस्त्र=स्वकायपरकायतदुभयरूपम् । भावशस्त्र =दुष्प्रयुक्तमनोवाक्कायलक्षणम् , समारभमाणा =पृथिवीकाय प्रति व्यापारयन्त', अन्यान पृथिवीकायभिन्नान् अनेकरूपान् अप्कायादीन् स्थावरान्, द्वीन्द्रियादीन् त्रसांश्च विहिंसन्ति ।

(६) उपभोगद्वारम्-

जगति खलु बहवो द्रव्यलिङ्गिनो विद्यन्ते, यथा-' वयं पञ्चमहाव्रतधारिण'

की हिंसा करता है, यह बतलाने के लिए कहते हैं-'पुढवीसत्थ ' इत्यादि ।

पृथिवीशस्त्रका अर्थ है-पृथिवीकाय की हिंसा करनेवाला शस्त्र । जिस से हिंसा हो वह शस्त्र कहलाता है । शस्त्र दो प्रकार का है-(१) द्रव्यशस्त्र और (२) भावशस्त्र । स्वकाय, परकाय और उभय-स्वपर-कायरूपसे द्रव्यशस्त्र तीन प्रकार का है । मन वचन और कायका दुष्प्रयोग करना भावशस्त्र है ।

पृथ्वीकाय का आरंभ करनेवाले, पृथिवीकाय से भिन्न अनेक अप्काय आदि स्थावर जीवों की, तथा द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों की भी हिंसा करते हैं ।

(६) उपभोगद्वार-

ससार में बहुत से द्रव्यलिंगी हैं । जैसे-' हम पचमहाव्रतधारी हैं, सब आरंभ

એ બતાવવા માટે કહે છે —' पुढवीसत्थ ' ઈત્યાદિ

પૃથ્વીશસ્ત્રનો અર્થ છે-પૃથ્વીકાયની હિંસા કરવાવાળાં શસ્ત્રો જેનાથી હિંસા થઈ શકે તે શસ્ત્ર કહેવાય છે શસ્ત્ર બે પ્રકારના છે (૧) દ્રવ્ય શસ્ત્ર અને (૨) ભાવ-શસ્ત્ર-સ્વકાય, પરકાય, અને ઉભય-સ્વ-પરકાયરૂપ દ્રવ્યશસ્ત્ર ત્રણ પ્રકારના છે મન, વચન અને કાયના દુષ્પ્રયોગ કરવા તે ભવશાસ્ત્ર છે

પૃથ્વીકાયનો આરંભ કરવાવાળા, પૃથ્વીકાયથી ભિન્ન અનેક અપ્કાય આદિ સ્થાવર જીવોની તથા દ્વીન્દ્રિય આદિ ત્રસ જીવોની પણ હિંસા કરે છે

(૬) ઉપભોગ-દ્વાર-

સસારમાં ઘણાજ દ્રવ્યલિંગી સાધુ છે જેવી રીતે " અમે પચમહાવ્રતધારી

प्रल्पन्तो द्रव्यलिङ्गिनः सन्ति तान् पृथक्=पृथग्भावेन पश्य ।

(४) वधद्वारं, (५) शस्त्रद्वारं च ।

इमे खल्वनगाराभिमानिनो द्रव्यलिङ्गिनो मनागप्यनगारगुणेषु न प्रवर्तन्ते, नापि गृहस्थकृत्यं किञ्चित् परित्यजन्ति, इति दर्शयति—

यद्=यस्मात् विरूपरूपैः=विभिन्नरूपैर्नानाविधैः शस्त्रैः=लोष्टपाषाणादिभिः स्वकायरूपैः, अग्न्यादिभिः=परकायरूपैः हलकुद्दालखनित्रादिभिस्तदुभयरूपैः पृथिवीकर्मसमारम्भेण=पृथिव्याः कर्मसमारम्भः-पृथिवीकर्मसमारम्भः पृथिवीमाश्रित्य ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मबन्धनिबन्धनसावद्यव्यापारः, तेन इमं=पृथिवीकायं विहिंसन्ति । पृथिवीकायहिंसायां प्रवृत्ताः खलु षड्जीवनिकाय

करते हुए द्रव्यलिंगी हैं उन्हें पृथक् देखो ।

(४) वध और (५) शस्त्रद्वार

अपने आप को अनगार समझने वाले ये द्रव्यलिंगी साधु के गुणों में तनिकभी प्रवृत्त नहीं होते, और न गृहस्थों के किसी कार्य का त्याग करते हैं, यह बात बतलाते हैं—

ये द्रव्यलिंगी लोग विभिन्न प्रकार के मिट्टी, पत्थर आदि स्वकाय-शस्त्रों से अग्नि आदि परकाय-शस्त्रों से, हल, कुदाल आदि खोदने के साधनरूप उभयकाय शस्त्रों से पृथिवीकर्मसमारम्भ करते हैं, अर्थात् पृथिवी के निमित्त से ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्मबन्ध का कारण सावद्य व्यापार करते हैं, और उस से पृथिवीकाय की हिंसा करते हैं । पृथिवीकाय की हिंसा में प्रवृत्त होने वाला पुरुष छहों जीवनिकायों

મિથ્યા પ્રલાપ કરનાર દ્રવ્યલિંગી છે તેને જૂદા જૂદા ભાવથી જુઓ.

(૪) વધ અને (૫) શસ્ત્ર દ્વાર—

પોતેજ પોતાને અણગાર-સાધુ સમજવાવાળા એ દ્રવ્યલિંગી, સાધુના ગુણોમાં જરા પણ પ્રવૃત્ત થતા નથી અને ગૃહસ્થોના કોઈ કાર્યનો ત્યાગ કરતા નથી. એ વાત બતાવે છે—

એ દ્રવ્યલિંગી લોક જૂદા-જૂદા પ્રકારની માટી, પથ્થર આદિ સ્વકાય શસ્ત્રોથી અગ્નિ આદિ પરકાય શસ્ત્રોથી હળ, કોદાળી આદિ ખોદવાના સાધનરૂપ ઉભયકાય શસ્ત્રોથી પૃથ્વીકર્મસમારંભ કરે છે અર્થાત્ પૃથ્વીના નિમિત્તથી જ્ઞાનાવરણીય આદિ આઠ પ્રકારના કર્મબંધના કારણ સાવદ્ય વ્યાપાર કરે છે, અને તેથી પૃથ્વીકાયની હિંસા કરે છે પૃથ્વીકાયની હિંસામાં પ્રવૃત્ત થવાવાળા પુરૂષ છજીવનિકાયોની હિં[illegible] છે

चित्त सुहाणुबंध, निव्वाण त जिणिंदेहिं ॥ ४४ ॥ (पञ्चाशक टीका ७ वि)

" जिणभवणाढ जे उद्धरति भत्तीइ सडियपडियाइ ।
ते उद्धरति अप्प, भीमाओ भवसमुद्दाओ ॥ " (धर्मसंग्रहटीका २अधि)

छाया—" जिनभवनकारणविधि —शुध्धा भूमिर्दल च काष्ठादि ।
भृतकानतिसंधान, स्वाशयवृद्धिश्च (ग़ोमनाशयवृद्धि) यतना च ॥
एतस्य फल भणित, इत्याज्ञाकारिणस्तु श्राद्धस्य ।
चित्र सुखानुबंध, निर्वाणान्त जिनेन्द्रैः (भणितम्) ॥ ४४ ॥
जिनभवनानि ये उद्धरन्ति भक्त्या शटितपतितानि ।
ते उद्धरन्त्यात्मान भीमाद् भवसमुद्रात् " इति च ॥

तथैव शास्त्रनिषिद्धे पूजाप्रतिष्ठादिसावद्यकार्ये प्रवृत्त्या द्रव्यलिङ्गिनोऽपि स्वात्मानं मुनिमेव मन्यन्ते । ये पृथिवीशस्त्र प्रयुञ्जाना षड्जीवनिकाय-

---

आराधक श्रावक को भगवान् ने इस का फल इस प्रकार बताया है—"उसको अनेकानेक सुखों का अनुबन्ध होता है और परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है "। (पञ्चाशकटीका ७ वि)

" जो पुरुष जीर्ण जिनभवनों का भक्तिसे उद्धार कराते हैं वे भीम भवसागर से अपनी आत्मा को तारते हैं " । (धर्मसंग्रहटीका २ अधि)

इसी प्रकार शास्त्रनिषिद्ध पूजा प्रतिष्ठा आदि सावद्य कार्यों में प्रवृत्ति करके द्रव्यलिंगी भी अपनने आप को मुनि मानते हैं । आशय है कि—जो लोक पृथिवी-शस्त्र का प्रयोग करके षड्जीवनिकायरूप समस्त लोक की हिंसा करते हैं, और भगवानका नाम लेकर स्वय खोटी प्ररूपणा करते हैं अत वे द्रव्य

ભગવાને તેનું ફલ આ પ્રમાણે બતાવ્યું છે—તેને અનેકાનેક સુખોનો અનુબંધ થાય છે; અને પરમ્પરાથી મોક્ષની પ્રાપ્તિ થાય છે " (पञ्चाशकटीका ७ वि)

" જે પુરૂષ જીર્ણ થયેલું જિનમંદિર, તેનો ભક્તિથી ઉદ્ધાર કરાવે છે તે મહાન ભવસાગરથી પોતાના આત્માને તારે છે " (धर्मसंग्रहटीका २ अधि)

આજ પ્રમાણે શાસ્ત્રનિષિદ્ધ પૂજા, પ્રતિષ્ઠા આદિ સાવદ્ય કાર્યોમાં પ્રવૃત્તિ કરીને દ્રવ્યલિંગી પણ પોતે પોતાને મુનિ માને છે આશય એ છે કે—જે લોક પૃથ્વીશસ્ત્રનો પ્રયોગ કરીને ષડ્જીવનિકાયરૂપ સમસ્ત લોકની હિંસા કરે છે અને ભગવાનનું નામ લઈને પોતે ખોટી પ્રરૂપણા કરે છે માટે તે દ્રવ્યલિંગી છે, સાચા

सर्वारम्भपरित्यागिन' षट्कायरक्षका अनगारा' (साधवः) स्मः' इति वदन्तो दण्डि शाक्यादयः सन्ति। तत्र केचिद्देहशुद्ध्यर्थं मृत्तिकास्नायिनो भवन्ति। केचित्स्वनिवासार्थं गृहादिनिर्माणकरण कुदालखनित्रादिभि पृथिवीकायमुपमर्दयन्ति। केचित् स्वोदर-पूर्त्यर्थं कृष्यादिकर्म कुर्वन्ति। केचिच्च देवकुलाद्यर्थं सावद्यमुपदिशन्ति पार्थिवी-देव-गुर्वादि-प्रतिमानिर्माणे जीर्णोद्धारकरणे च महाभीमभवसमुद्रादात्मनः समुद्धारो भवतीति मन्यन्ते, वदन्ति च—

"जिणभवणकारणविही, सुद्धा भूमी दलं च कट्ठाई। भियगाणइसंधाणं, सासयवुड्ढी य जयणा य ॥९॥ एयस्स फलं भणियं, इय आणाकारिणो उ सड्ढस्स।

और परिग्रह के त्यागी हैं, षट्काय के रक्षक साधु हैं'। इस प्रकार कहने वाले दण्डी शाक्य आदि हैं। इन में कोई-कोई तो शरीर की शुद्धि के लिए मिट्टी से स्नान करते हैं। कोई अपने रहने के लिए मकान आदि बनाने में कुदाल खनित्र (कुस) आदि खोदने के साधनों द्वारा पृथ्वीकाय का उपमर्दन करते हैं। कोई-कोई अपना पेट भरने के उद्देश्य से खेती आदि करते हैं। कोई देवकुल आदि के लिए सावद्य उपदेश देते हैं—देव गुरु आदि की पार्थिव प्रतिमा निर्माण कराने से और जीर्णोद्धार कराने से भवसागर से आत्मा का तरना होता है, ऐसा मानते हैं और कहते हैं कि—

"जिनभवन बनाने की विधि इस प्रकार है—" शुद्ध भूमि, शुद्ध ईंटें, पत्थर, काष्ठ आदि होना, कार्य करने वाले कारीगरों को प्रसन्न रखना, अपने परिणाम उत्तरोत्तर चढते हुए रखकर यतनापूर्वक कार्य कराना" इत्यादि। भगवान की आज्ञाके

છીએ. સર્વ આરંભ અને પરિગ્રહના ત્યાગી છીએ, ષટ્કાયના રક્ષક સાધુ છીએ.' આ પ્રમાણે કહેવાવાળા દંડી શાક્ય આદિ છે તેમાં કોઈ-કોઈ તો શરીરની શુદ્ધિ માટે માટીથી સ્નાન કરે છે કોઈ પોતાને રહેવા માટે મકાન આદિ બનાવવામાં કોદાળી, કોસ આદિ ખોદવાનાં સાધનો દ્વારા પૃથ્વીકાયનું ઉપમર્દન કરે છે, કોઈ-કોઈ પોતાનું પેટ ભરવાના ઉદ્દેશથી ખેતી કરે છે; કોઈ દેવકુળ આદિને માટે સાવદ્ય ઉપદેશ કરે છે—દેવ, ગુરૂ આદિની પાર્થિવ પ્રતિમા નિર્માણ કરાવવામાં અને જીર્ણોદ્ધાર કરાવવામાં ભવસાગરથી આત્મા તરી શકે છે, એવું માને છે અને કહે છે કે —

"જિનમંદિર બનાવવાની વિધિ આ પ્રમાણે છે:—શુદ્ધ ભૂમિ, શુદ્ધ ઇંટો, પથ્થર, કાષ્ઠ આદિ જોઇએ કામ કરવાવાળા કારીગરોને પ્રસન્ન રાખવા, પોતાનાં પરિણામ ઉત્તરોત્તર ચઢતા રાખીને યતનાપૂર્વક કાય કરવું" ઇત્યાદિ.. ભગવાનની આજ્ઞાના આરાધક શ્રાવકને

समारभंते समणुजाणइ । तं से अहियाए, तं से अबोहीए ॥ सू० ३ ॥

छाया—

तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता । अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दन-मानन-पूजनाय, जाति-मरण-मोचनाय दुःखप्रतिघातहेतु, स स्वयमेव पृथिवीशस्त्रं समारभते, अन्यैर्वा पृथिवीशस्त्रं समारम्भयति, अन्यान् वा पृथिवीशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानाति । तत् तस्य अहिताय, तत् तस्य अबोधये ॥ सू० ३ ॥

टीका—

तत्र=पृथिवीकायसमारम्भे भगवता=श्रीमहावीरेण परिज्ञा=सम्यगवबोध' खलु प्रवेदिता=प्रबोधिता । कर्मबन्धसमुच्छेदार्थं जीवेन परिज्ञाऽवश्यं शरणीकरणी येति भगवता प्रबोधितमिति भाव । परिज्ञा द्विविधा, ज्ञ-प्रत्याख्यान-भेदात् । 'सावद्यव्यापार एव कर्मबन्धस्य कारण'-मिति ज्ञानं-ज्ञपरिज्ञा, तद्व्यापारपरित्याग' -प्रत्याख्यानपरिज्ञा ।

वह आरंभ उसके अहित के लिए और उसको अबोधि के लिए है ॥ सू ३ ॥

टीकार्थ—पृथिवीकाय के समारंभ के विषय में भगवान् श्री महावीर स्वामीने सम्यग्बोधरूप परिज्ञा का सदुपदेश दिया है । तात्पर्य यह है कि—कर्मबन्ध को नष्ट करने के लिए जीव को वह परिज्ञा अवश्य ही स्वीकार करनी चाहिए, ऐसा भगवान्ने कहा है । परिज्ञा दो प्रकार की है—ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यानपरिज्ञा । 'सावद्य व्यापार से ही कर्मबन्ध का कारण होता है' ऐसा जानना ज्ञ—परिज्ञा है, और सावद्यव्यापार का त्याग करना प्रत्याख्यान—परिज्ञा है ।

અહિત માટે અને તે તેની અબોધિ માટે છે (૩)

ટીકાર્થ—પૃથ્વીકાયના સમારંભના વિષયમાં ભગવાન શ્રી મહાવીર સ્વામીએ સમ્યગ્બોધરૂપ પરિજ્ઞાનો સદુપદેશ આપ્યો છે તાત્પર્ય એ છે કે-કર્મબંધને નાશ કરવા માટે જીવે તે પરિજ્ઞા અવશ્યજ સ્વીકાર કરવી જોઈએ, એ પ્રમાણે ભગવાને કહ્યું છે પરિજ્ઞા બે પ્રકારની છે જ્ઞપરિજ્ઞા, અને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા, 'સાવદ્ય વ્યાપારજ કર્મબંધનું કારણ થાય છે' એ પ્રમાણે જાણવું તે જ્ઞ-પરિજ્ઞા છે, અને સાવદ્ય વ્યાપારનો ત્યાગ કરવો તે પ્રત્યાખ્યાન-પરિજ્ઞા છે

रूपं लोकं सर्वमेव विहिंसन्ति ते द्रव्यलिङ्गिनो नानगारा इति भावः, उक्तञ्च–

"सावज्जा किरिया जेसिं, सावज्जा देसणा तहा ।
भमंति दीहससारे, ते सव्वे दव्वलिंगिणो ॥ १ इति ॥ सू २ ॥

एवं शाक्यादीनां पृथिवीकायोपमर्दकत्वेन द्रव्यलिङ्गित्वं प्रतिबोधितं भगवतेति जम्बूस्वामिनं सुधर्मा स्वामी कथयति–' तत्थ '–त्यादि ।

॥ मूलम् ॥

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइआ, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाइमरणमोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं, से सयमेव पुढवि सत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा पुढविसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा पुढविसत्थं

लिंगी हैं–सच्चे अनगार नहीं हैं । कहा भी है–

"जिन की क्रिया सावद्य है और जिनका उपदेश सावद्य है, वे दीर्घ संसारमें परिभ्रमण करते हैं । उन सबको द्रव्यलिंगी जानना चाहिए" ॥ सू. २ ॥

इस प्रकार पृथिवीकाय का उपमर्दन करने वाले होने से शाक्य आदि को भगवान् ने द्रव्यलिंगी कहा है । यह बात सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं–' तत्थ खलु ' इत्यादि ।

मूलार्थ—भगवान् ने परिज्ञा का उपदेश दिया है । इसी जीवन के लिए–वन्दना, मान और पूजन के लिए, जन्म और मरण से मुक्त होने के लिए, दुःख का नाश करने के लिए वह स्वयं ही पृथिवीकाय का आरंभ करता है, दूसरों से पृथिवीकायका आरम्भ कराता है, और पृथिवीकायका आरंभ करने वाले दूसरों का अनुमोदन करता है ।

અણગાર–સાધુ નથી. કહ્યું છે કે —

"જેની ક્રિયા સાવદ્ય છે, અને જેનો ઉપદેશ સાવદ્ય છે, તે દીર્ઘ સંસારમાં પરિભ્રમણ કરે છે તે સર્વને દ્રવ્યલિંગી જાણવા જોઇએ" (સૂ૦ ૨)

એ પ્રમાણે પૃથ્વીકાયનું ઉપમર્દન–નાશ કરવાવાળા હોવાથી શાક્ય આદિને ભગવાને દ્રવ્યલિંગી કહ્યા છે આ વાત સુધર્મા સ્વામી જમ્બૂ સ્વામીને કહે છે–'तत्थ' ઇત્યાદિ.

મૂલાર્થ—ભગવાને પરિજ્ઞાનો ઉપદેશ આપ્યો છે, આ જીવનને માટે, વંદના, માન અને પૂજન માટે, જન્મ અને મરણથી મુક્ત હોવાના માટે, દુઃખનો નાશ કરવા માટે તે પોતે જ પૃથ્વીકાયનો આરંભ કરે છે, બીજાથી પૃથિવીકાયનો આરંભ કરાવે છે, અને પૃથ્વીકાયનો આરંભ કરનાર બીજાને અનુમોદન આપે છે તે આરંભ તેના

समारभंते समणुजाणइ । त से अहियाए, त से अबोहीए ॥ सू० ३ ॥

छाया—

तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता । अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दन-मानन-पूजनाय, जाति-मरण-मोचनाय दुःखप्रतिघातहेतु, स स्वयमेव पृथिवीशस्त्र समारभते, अन्यैर्वा पृथिवीशस्त्र समारम्भयति, अन्यान् वा पृथिवीशस्त्र समारभमाणान् समनुजानाति । तत् तस्य अहिताय, तत् तस्य अबोधये ॥ सू० ३ ॥

टीका—

तत्र=पृथिवीकायसमारम्मे भगवता=श्रीमहावीरेण परिज्ञा=सम्यगवबोध' खलु प्रवेदिता=प्रबोधिता । कर्मबन्धसमुच्छेदार्थं जीवेन परिज्ञाऽवश्यं शरणीकरणी येति भगवता प्रबोधितमिति भाव । परिज्ञा द्विविधा, ज्ञ-प्रत्याख्यान-भेदात् । 'सावद्यव्यापार एव कर्मबन्धस्य कारण'-मिति ज्ञानं-ज्ञपरिज्ञा, तद्व्यापारपरित्याग -प्रत्याख्यानपरिज्ञा ।

वह भारम उसके अहित के लिए और उसको अबोधि के लिए है ॥ सू. ३ ॥

टीकार्थ—पृथिवीकाय के समारंभ के विषय में भगवान् श्री महावीर स्वामीने सम्यग्बोधरूप परिज्ञा का सदुपदेश दिया है । तात्पर्य यह है कि—कर्मबन्ध को नष्ट करन के लिए जीव को यह परिज्ञा अवश्य ही स्वीकार करनी चाहिए, ऐसा भगवान्ने कहा है । परिज्ञा दो प्रकार की है—ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यानपरिज्ञा । 'सावद्य व्यापार से ही कर्मबन्ध का कारण होता है' ऐसा जानना ज्ञ—परिज्ञा है, और सावद्यव्यापार का त्याग करना प्रत्याख्यान—परिज्ञा है ।

અહિત માટે અને તે તેની અબોધિ માટે છે (૩)

ટીકાર્થ—પૃથ્વીકાયના સમારભના વિષયમા ભગવાન શ્રી મહાવીર સ્વામીએ સમ્યગ્બોધરૂપ પરિજ્ઞાનો સદુપદેશ આપ્યો છે તાત્પર્ય એ છે કે–કર્મબંધને નાશ કરવા માટે જીવે તે પરિજ્ઞા અવશ્યજ સ્વીકાર કરવી જોઈએ, એ પ્રમાણે ભગવાને કહ્યુ છે પરિજ્ઞા બે પ્રકારની છે જ્ઞપરિજ્ઞા, અને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા, 'સાવદ્ય વ્યાપારજ કર્મબધનું કારણ થાય છે' એ પ્રમાણે જાણવું તે જ્ઞ–પરિજ્ઞા છે, અને સાવદ્ય વ્યાપારનો ત્યાગ કરવો તે પ્રત્યાખ્યાન–પરિજ્ઞા છે

सर्वं लोकं सर्वमेव विहिंसन्ति ते द्रव्यलिङ्गिनो नानगारा इति भावः, उक्तञ्च-

"सावज्जा किरिया जेसिं, सावज्जा देसणा तहा।
भमंति दीहसंसारे, ते सव्वे दव्वलिंगिणो ॥ १ इति ॥ सू. २ ॥

एवं शाक्यादीनां पृथिवीकायोपमर्दकत्वेन द्रव्यलिङ्गित्वं प्रतिबोधितं भगवतेति जम्बूस्वामिनं सुधर्मा स्वामी कथयति-' तत्थे '-त्यादि ।

॥ मूलम् ॥

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाइमरणमोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं, से सयमेव पुढविसत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा पुढविसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा पुढविसत्थं

लिंगी हैं-सच्चे अनगार नहीं हैं। कहा भी है-

"जिन की क्रिया सावद्य है और जिनका उपदेश सावद्य है, वे दीर्घ संसारमें परिभ्रमण करते हैं। उन सबको द्रव्यलिंगी जानना चाहिए" ॥ सू. २ ॥

इस प्रकार पृथिवीकाय का उपमर्दन करने वाले होने से शाक्य आदि को भगवान् ने द्रव्यलिंगी कहा है। यह बात सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं-' तत्थ खलु ' इत्यादि ।

मूलार्थ—भगवान् ने परिज्ञा का उपदेश दिया है। इसी जीवन के लिए-वन्दना, मान और पूजन के लिए, जन्म और मरण से मुक्त होने के लिए, दुःख का नाश करने के लिए वह स्वयं ही पृथिवीकाय का आरंभ करता है, दूसरों से पृथिवीकायका आरम्भ कराता है, और पृथिवीकायका आरंभ करने वाले दूसरों का अनुमोदन करता है।

અણગાર-સાધુ નથી. કહ્યું છે કે —

"જેની ક્રિયા સાવદ્ય છે, અને જેનો ઉપદેશ સાવદ્ય છે, તે દીર્ઘ સંસારમાં પરિભ્રમણ કરે છે તે સર્વને દ્રવ્યલિંગી જાણવા જોઇએ" (સૂ૦ ૨)

એ પ્રમાણે પૃથ્વીકાયનું ઉપમર્દન-નાશ કરવાવાળા હોવાથી શાક્ય આદિને ભગવાને દ્રવ્યલિંગી કહ્યા છે આ વાત સુધર્મા સ્વામી જમ્બૂ સ્વામીને કહે છે-'तत्थ' ઇત્યાદિ.

મૂલાર્થ—ભગવાને પરિજ્ઞાનો ઉપદેશ આપ્યો છે, આ જીવનને માટે, વંદના, માન અને પૂજન માટે, જન્મ અને મરણથી મુક્ત હોવાના માટે, દુઃખનો નાશ કરવા માટે તે પોતે જ પૃથ્વીકાયનો આરંભ કરે છે, બીજાથી પૃથિવીકાયનો આરંભ કરાવે છે, અને પૃથ્વીકાયનો આરંભ કરનાર બીજાને અનુમોદન આપે છે તે આરંભ તેના

करणे, मानन=जनसत्कार, तदर्थं, यथा-कीर्तिस्तम्भादिकरणे पूजनं=वस्त्ररत्नादि-पुरस्कारलाभस्तदर्थं, यथा-शिल्पिनां राजदेवप्रतिमादिरचने । जातिमरणमोचनाय-जाति'=जन्म, तदर्थं भवान्तरसुखप्राप्त्यर्थं देवकुलादिकरणे, मरण=मरण येषा जात तदर्थं मृतपित्रादिस्मरणार्थमित्यर्थः', यथा स्तूपचैत्यादि-करणे, मोचन=मुक्तिस्तदर्थं, यथा-देवभवनप्रतिमादिकरणे । यद्वा जातिमरण-मोचनाय=जन्ममरणविमुक्तये । तथा दु खप्रतिघातहेतु=दु'खविध्वसार्थं, यथा-

---

आदि बनवानेसे प्रशंसा होती है। मानन अर्थात् जनताद्वारा मिलने वाला सत्कार। उस सत्कार के लिए कीर्तिस्तम्भ (मेमोरियल) आदि बनवाकर समारम्भ करते हैं। पूजन का अर्थ है-वस्त्र या रत्न आदि का पुरस्कार पाना। जैसे शिल्पी लोग पुरस्कार पाने के उद्देश्य से राजा या देवता की प्रतिमा बनाते हैं।

जन्म, मरण और मुक्ति के लिए भी पृथिवीकायका समारम्भ किया जाता है। जन्म के लिए जैसे भवान्तर में सुख पाने के लिए देवकुल आदि का निर्माण कराने में और मृत्यु के लिए जैसे मृत पिता आदि का स्मारक (स्तूप-चैत्य) बनवाने में, और मोचन के अर्थात् मुक्ति के लिए देवभवन एव उनकी प्रतिमा बनवाने में, अथवा जन्म-मरण-मोचन का अर्थ है-जन्म और मरणसे मुक्त होना, उस के लिए पृथ्वीकाय का समारम्भ करते हैं।

तथा दु खका नाश करने के लिए भी पृथ्वीकाय का समारम्भ करते हैं, जैसे

આરભ કરે છે માનન અર્થાત્ જનતા દ્વારા મળવાવાળો સત્કાર, તે સત્કાર માટે-કીર્તિસ્તભ (મેમોરિયલ) આદિ બનાવીને સમારભ કરે છે પૂજનનો અર્થ છે-વસ્ત્ર અથવા રત્ન આદિનો પુરસ્કાર પ્રાપ્ત કરવો. તે માટે શિલ્પીલોગ રાજાની કે દેવતાની પ્રતિમા બનાવવામા સમારભ કરે છે

જન્મ મરણ મોચન (મૂકાવવા) માટે પણ પૃથ્વીકાયનો સમારભ કરવામા આવે છે જન્મના માટે જેમ ભવાન્તરમાં સુખ પ્રાપ્ત કરવા માટે દેવકુલ આદિનો નિર્માણ કરાવવામાં, અને મૃત્યુ માટે જેમ મૃત પિતા આદિનું સ્મારક સ્તૂપ-ચૈત્ય બનાવવામા, મોચન અર્થાત મુક્તિને માટે દેવભવન એવ તેની પ્રતિમા બનાવવામાં, અથવા જન્મ-મરણ-મોચનનો અર્થ છે-જન્મ અને મરણથી મુક્ત થવું,તે માટે પૃથ્વીકાયનો સમાર ભ કરેછે

તથા દુ ખનો નાશ કરવા માટે પણ પૃથ્વીકાયનો સમારભ કરે છે, જેમ-ગ્રીષ્મના

जीवः कस्मै प्रयोजनाय पृथिवीकायं प्रति सावद्यव्यापारं करोति ?-त्याह-'इमस्स चेव'-त्यादि । अस्यैव विद्युल्लताविलासवत्क्षणभङ्गुरस्य जीवितस्य जीवनस्यार्थे चिरसुखार्थं, प्रासादसदनादिरचनार्थं, गमना-गमना-वस्थानो-पवेशन-पार्श्वपरिवर्तन-पुत्तलिकाप्रतिमादिकरणो-च्चारप्रस्रवणादिकरणो-पकरणादिग्रहणनिक्षेपणाऽऽलेपन-प्रहरण-भूषण-क्रय-विक्रय-कृषिकरण-भाण्डादिनिर्माणाद्यर्थमित्यर्थः । तथा परिवन्दन-मानन-पूजनाय, परिवन्दन=प्रशंसा, तदर्थं यथा *आश्चर्यगृहादि

जीव किस प्रयोजनके लिये पृथिवीकाय के विषय में सावद्य व्यापार करता है ? सो बतलाते हैं—

बिजली की चमक के समान इस क्षणविनश्वर जीवन के चिरकालीन सुख के उद्देश से महल, मकान आदि का निर्माण कराने के लिए, अथवा गमन, आगमन, अवस्थान (स्थित रहना), उपवेशन (बैठना), पार्श्व-परिवर्तन (पसवाडा बदलना), पुतली बनाना, प्रतिमा बनाना, मल-मूत्र त्यागना, उपकरण आदि ग्रहण करना, रखना, लेपकरना, प्रहरण करना, सजाना, खरीदना, बेचना, खेती करना, तथा बर्तन आदि बनाना, इत्यादि कार्यों के लिए सावद्य व्यापार किया जाता है ।

इस के अतिरिक्त परिवन्दन मानन और पूजन के लिए भी सावद्य व्यापार किया जाता है । परिवन्दन अर्थात् प्रशंसा के लिए, जैसे आश्चर्यगृह (आजायब घर)

જીવ કયા પ્રયોજન માટે પૃથ્વીકાયના વિષયમા સાવદ્ય વ્યાપાર કરે છે ? તે બતાવે છે —

વિજળીના ચમકારની સમાન આ ક્ષણભંગુર જીવનના ચિરકાલીન (લાંબા સમય સુધી) સુખના ઉદ્દેશથી, મહેલ મકાન આદિ બનાવવાને માટે, અથવા ગમન, આગમન, અવસ્થાન, (સ્થિત રહેવું) ઉપવેશન, (બેસવું) પાર્શ્વ-પરિવર્તન, (પડખા-બદલવાં) પુતળી બનાવવી, પ્રતિમા બનાવવી, મલ-મૂત્ર ત્યાગ કરવો, ઉપકરણ આદિનું ગ્રહણ કરવું, રાખવું, લેપ કરવો, પ્રહરણ કરવું, સજાવવું, ખરીદવું, વેચવું, ખેતી કરવી તથા વાસણ બનાવવાં, ઇત્યાદિ કાર્યોને માટે સાવદ્ય વ્યાપાર કરવામાં આવે છે.

તે સિવાય પરિવંદન માન અને પૂજન માટે પણ સાવદ્ય વ્યાપાર કરવામાં આવે છે પરિવન્દન અર્થાત્ પ્રશંસા માટે જેમ આશ્ચર્યગૃહ-(અજાયબ ઘર) આદિ બનાવવામા

---

* आश्चर्यगृहम्-'म्युझियम' 'अजायबघर' इति भाषाप्रसिद्धम् ।

तत्-पृथिवीकायसमारम्भण तस्य=पृथिवीशस्त्र समारममाणस्य अहिताय=अकल्याणाय भवतीति शेष.। तत्-तदेव च पृथिवीकायसमारम्भणमेव च तस्य पृथिवीशस्त्र समारममाणस्य अबोधये=सम्यक्त्वालाभाय, जिनधर्मप्राप्त्यभावाय च भवति । पृथिवीकायसमारम्भण हि कृतकारितानुमोदितभेदेन त्रिविध, तस्यातीतवर्तमानानागतभेदेन प्रत्येक त्रैविध्ये नवधा भवति, नवविधस्यापि पृथिवीकायसमारम्भणस्य मनोवाक्काययोगभेदेन प्रत्येक त्रैविध्ये सप्तविंशतिभेदा भवन्ति। एवविधपृथिवीकायसमारम्भप्रवृत' खलु षट्कायारम्भसपातजन्यघोरतरदुरितार्जनेन दुरन्तसमारदावानलज्वालान्त'पात प्राप्यानन्तनरकनिगोदादिदु'खमनुभवन् न कदाचित्कल्याण शाश्वतसुखप्रद मोक्षमार्ग प्राप्नोतीति भाव ॥३॥

यह पृथिवीकाय का आरभ, आरभ करने वाले के अहित के लिए और अबोधि के लिए होता है । अर्थात् आरभ करने से सम्यक्त्व और जिनधर्म की प्राप्ति नहीं होती है ।

पृथिवीकाय का आरभ–करना, कराना, और अनुमोदन के भेद से तीन प्रकार का है । इन तीनों भेदों के अतीत वर्तमान और अनागत के भेद से तीन–तीन भेद करने पर आरम्भ नौ प्रकार होता है । इन नौ भेदों का मन, वचन, और काय से गुणाकार कर देने पर सत्ताईस भेद हो जाते हैं ।

इस प्रकार के पृथिवीकाय के समारम्भ में प्रवृत्त पुरुष छहों कायों का आरम्भ करता है और अत्यन्त घोर पाप उपार्जन करके दुरन्त ससाररूपी दावानलकी ज्वालाओं में पडकर नरक निगोद आदि के दु ख भोगता हुआ न कभी कल्याण की प्राप्ति करता है और न शाश्वत सुख देनेवाले मोक्षमार्ग को पाता है ॥ ३ ॥

ते पृथ्वीકાયનો આરભ કરવાવાળાના અહિત માટે અને અબોધિને માટે હોય છે અર્થાત્–આરભ કરવાથી સમ્યક્ત્વ અને જિનધર્મની પ્રાપ્તિ થતી નથી

પૃથ્વીકાયનો આરભ–કરવો, કરાવવો અને કરવાવાળાને અનુમોદન આપવો વગેરેના ભેદથી ત્રણ પ્રકારનો છે, એ ત્રણેય ભેદોના ભૂતકાળ, ભવિષ્યકાળ અને વર્ત્તમાનકાળના ભેદથી ત્રણ ત્રણ ભેદ કરવાથી આરભ નવ પ્રકારનો છે એ નવ ભેદોને મન, વચન અને કાયા, આ ત્રણથી ગુણવા વડે કરી સત્તાવીશ ભેદ થઈ જાય છે

આ પ્રમાણે પૃથ્વીકાયના સમારભમાં પ્રવૃત્ત પુરૂષ છ કાયોનો આરભ કરે છે, અને અત્યન્ત ઘોર પાપ ઉપાર્જન કરીને દુરન્તસસારરૂપી દાવાનલની જ્વાલાઓમાં પડીને, નરક–નિગોદ આદિના દુ ખ ભોગવતાં કોઈ વખત પણ કલ્યાણની પ્રાપ્તિ કરી શકતા નથી, અને શાશ્વત સુખ દેવાવાળા મોક્ષમાર્ગને પણ પ્રાપ્ત થતા નથી (૩)

ग्रीष्मतापादिनिवारणार्थं, स्वचक्रपरचक्रभयनिवृत्त्यर्थं च भूमिगृहप्राकारादिरचने।
स =जीवनपरिवन्दनमाननपूजनाद्यर्थं जनः स्वयमेव पृथिवीशस्त्रं समारभते=पृथिव्युपमर्दकं द्रव्यभावशस्त्रं व्यापारयति। अन्यैर्वा पृथिवीशस्त्रं समारम्भयति=उद्योजयति पृथिवीशस्त्रं समारभमाणान् अन्यान् समनुजानाति= अनुमोदयति।

एवमतीतानागताभ्यां, तथा मनोवाक्कायैश्च पृथिवीशस्त्रसमारम्भ-भेदा अवगन्तव्याः।

(७) वेदनाद्वारम्—

पृथिवीशस्त्रं समारभमाणः किं फलं प्राप्नोतीत्याह–'तं से अहियाए' इत्यादि।

ग्रीष्म के ताप से बचने के लिए, अथवा स्वचक्र और परचक्र के भयकी निवृत्ति के लिए, भोंहरा या चहारदीवारी (प्रकोटा) बनवाना। इस प्रकार जीवन परिवन्दन मानन और पूजन आदि के लिए मनुष्य स्वयं ही पृथ्वीशस्त्रका समारम्भ करता है अर्थात् पृथिवी का घात करने वाले द्रव्य और भावशस्त्र का व्यापार करता है और पृथिवीशस्त्र का प्रयोग करने करानेवाले दूसरों का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार अतीत और अनागत से तथा मन, वचन और कायसे पृथिवीशस्त्र के आरम्भ के भेद समझलेने चाहिए.

(७) वेदनाद्वार–

पृथिवीशस्त्र का आरम्भ करनेवाला क्या फल पाता है? सो कहते हैं–'तं से अहियाए' इत्यादि।

तापथी બચવા માટે અથવા સ્વચક્ર અને પરચક્રના ભયની નિવૃત્તિ માટે ભોંયરું અથવા કોટ બનાવવા

આ પ્રમાણે જીવન, પરિવંદન, માનન, અને પૂજન આદિ માટે મનુષ્ય પોતેજ પૃથ્વી–શસ્ત્રનો સમારંભ કરે છે અર્થાત્ પૃથ્વીનો ઘાત કરવાવાળા દ્રવ્ય અને ભાવ શસ્ત્રનો વ્યાપાર કરે છે તથા બીજા પાસે પૃથ્વીશસ્ત્રનો વ્યાપાર કરાવે છે અને પૃથ્વીશસ્ત્રનો પ્રયોગ કરવાવાળા બીજાને અનુમોદન આપે છે

આ પ્રમાણે અતીત અને અનાગત (ભૂત–ભવિષ્ય)થી તથા મન, વચન અને કાયાથી પૃથ્વીશસ્ત્રના આરંભના ભેદોને સમજી લેવા જોઈએ

(૭) વેદનાદ્વાર—

પૃથ્વીશસ્ત્રનો આરંભ કરવાવાળા શું ફળ પામે છે? તે કહે છે–'તં સે અહિયાએ' ઇત્યાદિ.

॥ टीका ॥

य खलु भगवत=तीर्थंकरस्य, अनगाराणाम्=उदीयश्रमणनिर्ग्रन्थानाम्, अन्तिके=समीपे, श्रुत्वा=उपदेश निशम्य, आदानीयम्, उपादेय सर्वसावद्ययोग-परित्यागरूप चारित्र समुत्थाय=अङ्गीकृत्य विहरति, स तत्=पृथिवीकायसमारम्भणम् सबुध्यमान'=अहितावोधिजनकत्वेन विज्ञाता भवतीति ।

स हि एष विचारयति-इह मनुष्यलोके एकेषा=श्रमणनिर्ग्रन्थोपदेशसजात-सम्यगवबोधवैराग्याणामात्मार्थिनामेव ज्ञात=विदित भवति। किं ज्ञात भवती ?-त्याकाङ्क्षायामाह—'एस खलु गथे' इत्यादि ।

एप' पृथिवीशस्त्रसमारम्भ खलु=निश्चयेन ग्रन्थ.=ग्रथ्यते=बध्यतेऽनेनेति ग्रन्थः=अष्टविधकर्मबन्ध । कारणे कार्योपचारात् पृथिवीशस्त्रसमारम्भस्य

टीकार्थ—जो भगवान् तीर्थंकर के या उनके निर्ग्रन्थ श्रमणों के समीप उपदेश सुनकर उपादेय को अर्थात् सर्वसावद्ययोग के त्यागरूप चारित्र को अङ्गीकार करके विचरता है वह पृथ्वीकायके समारम को अहितकर और अबोधिजनक समझता है ।

वह इस प्रकार विचार करता है-इस मनुष्य लोक में श्रमण निर्ग्रन्थों के उपदेश से जिन्हें सम्यग्ज्ञान और वैराग्य हो गया है उन आत्मार्थी पुरुषों को ही ज्ञात होता है। उन्हें क्या ज्ञात होता है ? ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं-'एस खलु गथे.' इत्यादि ।

यह पृथ्वीकाय का समारम्भ निश्चय ही ग्रथ है अर्थात् आठ प्रकार के कर्मोंका बध है। कारण में कार्यका उपचार करके पृथिवीकाय के समारम्भ को यहाँ ग्रन्थ कहा है।

ટીકાર્થ—જે ભગવાન તીર્થંકરની અથવા તેના નિર્ગ્રન્થ શ્રમણોની સમીપ ઉપદેશ સાભળી ઉપાદેયને અર્થાત્ સર્વસાવદ્યયોગના ત્યાગરૂપ ચારિત્રને અગીકાર કરીને વિચરે છે, તે પૃથ્વીકાયના સમારભને અહિતકર અને અબોધિજનક સમજે છે

તે આ પ્રમાણે વિચાર કરે છે કે—આ મનુષ્ય લોકમાં શ્રમણ નિર્ગ્રન્થોના ઉપદેશથી જેને સમ્યગ્જ્ઞાન અને વૈરાગ્ય થઈ ગયો છે તે આત્માર્થી પુરૂષોને જ જાણવામા હોય છે

તે શું જાણવામા હોય છે? એવી શકા થતા કહે છે-'एस खलु गथे' ઇત્યાદિ આ પૃથ્વીકાયનો સમારભ નિશ્ચયજ ગ્રથ છે અર્થાત્ આઠ પ્રકારના કર્મોનો બધ છે કારણમા કાર્યનો ઉપચાર કરીને પૃથ્વીકાયના સમારભને અહિં ગ્રથ કહ્યો છે આશય એ છે કે—

(८) निवृत्तिद्वारम्

येन तु तीर्थकरादीनां समीपे पृथिवीकायजीवस्वरूपं ज्ञातं स एवं विजानातीत्याह–'से तं संबुज्झमाणे' इत्यादि।

॥ मूलम् ॥

से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोचा खलु भगवओ अणगाराणं अंतिए। इहमेगे सिणाय भवइ–एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं, गढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेणं पुढविसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ॥ सू० ४॥

छाया—

स तत् संबुध्यमान आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा खलु भगवतः अनगाराणामन्तिके इहैकेषां ज्ञातं भवति एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरकः, इत्यर्थं गृद्धो लोकः, यदिमं विरूपरूपैः शस्त्रैः पृथिवीकर्मसमारम्भेण पृथिवीशस्त्रं समारभमाणः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणान् विहिनस्ति॥ सू० ४॥

(८) निवृत्तिद्वार–

जिसने तीर्थंकर आदिके समीप में पृथिवीकाय के जीवों का स्वरूप जान लिया है, वह इस प्रकार जानता है—'से त' इत्यादि।

मूलार्थ—जो पुरुष तीर्थंकर भगवान् के अथवा अनगारों के निकट उपदेश सुनकर समझता है और उपादेय (चारित्र) को अङ्गीकार करके विचरता है उसे ज्ञात हो जाता है कि पृथिवीकायका यह आरंभ ग्रंथ है, यह मोह है, यह मार है, यह नरक है। इस में आसक्त पृथ्वीशस्त्र का आरंभ करने वाला लोक तरह–तरह के शास्त्रों से पृथ्वीकायका आरंभ करके अन्य अनेक प्रकार के प्राणीकी हिंसा करता है॥ सू० ४॥

(८) निवृत्तिद्वार

જેણે તીર્થંકર આદિના સમીપમાં પૃથ્વીકાયના જીવોનું સ્વરૂપ જાણી લીધું છે, તે આ પ્રમાણે જાણે છે–'से त' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ–જે પુરુષ તીર્થંકર ભગવાનની અથવા અણગારોની સમીપ ઉપદેશ સાંભળીને સમજે છે, અને ઉપાદેય (ચારિત્ર)ને અંગીકાર કરીને વિચરે છે, તેને માલૂમ પડે છે કે–પૃથ્વીકાયનો આરંભ એ ગ્રંથ છે, એ મોહ છે, એ માર છે, એ નરક છે, એમાં આસક્ત પૃથ્વીશસ્ત્રનો આરંભ કરવાવાળા જાત–જાતના શસ્ત્રથી પૃથ્વીકાયનો આરંભ કરીને અન્ય અનેક પ્રકારના પ્રાણીઓની હિંસા કરે છે (૪)

॥ टीका ॥

यः खलु भगवतः=तीर्थंकरस्य, अनगाराणाम्=तदीयश्रमणनिर्ग्रन्थानाम्, अन्तिके=समीपे, श्रुत्वा=उपदेशं निशम्य, आदानीयम्, उपादेयं सर्वसावद्ययोग-परित्यागरूपं चारित्रं समुत्थाय=अङ्गीकृत्य विहरति, स तत्=पृथिवीकायसमारम्भणम् सम्बुध्यमानः=अहितावोधिजनकत्वेन विज्ञाता भवतीति ।

स हि एवं विचारयति-इह मनुष्यलोके एकेषां=श्रमणनिर्ग्रन्थोपदेशसजात-सम्यग्ज्ञवोधवैराग्याणामात्मार्थिनामेव ज्ञातं=विदितं भवति । किं ज्ञातं भवती ?-त्याकाङ्क्षायामाह—'एस खलु गथे' इत्यादि ।

एष पृथिवीशस्त्रसमारम्भः खलु=निश्चयेन ग्रन्थः=ग्रथ्यते=वध्यतेऽनेनेति ग्रन्थः=अष्टविधकर्मबन्धः । कारणे कार्योपचारात् पृथिवीशस्त्रसमारम्भस्य

टीकार्थ—जो भगवान् तीर्थंकर के या उनके निर्ग्रंथ श्रमणों के समीप उपदेश सुनकर उपादेय को अर्थात् सर्वसावद्ययोग के त्यागरूप चारित्र को अङ्गीकार करके विचरता है वह पृथ्वीकायके समारंभ को अहितकर और अबोधिजनक समझता है ।

वह इस प्रकार विचार करता है-इस मनुष्य लोक में श्रमण निर्ग्रंथों के उपदेश से जिन्हें सम्यग्ज्ञान और वैराग्य हो गया है उन आत्मार्थी पुरुषों को ही ज्ञात होता है। उन्हें क्या ज्ञात होता है ? ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं-'एस खलु गथे.' इत्यादि ।

यह पृथ्वीकाय का समारम्भ निश्चय ही ग्रंथ है अर्थात् आठ प्रकार के कर्मोंका बंध है। कारण में कार्यका उपचार करके पृथिवीकाय के समारम्भ को यहाँ ग्रन्थ कहा है।

ટીકાર્થ—જે ભગવાન તીર્થંકરની અથવા તેના નિર્ગ્રન્થ શ્રમણોની સમીપ ઉપદેશ સાંભળી ઉપાદેયને અર્થાત્ સર્વસાવદ્યયોગના ત્યાગરૂપ ચારિત્રને અંગીકાર કરીને વિચરે છે, તે પૃથ્વીકાયના સમારંભને અહિતકર અને અબોધિજનક સમજે છે

તે આ પ્રમાણે વિચાર કરે છે કે—આ મનુષ્ય લોકમાં શ્રમણ નિર્ગ્રન્થોના ઉપદેશથી જેને સમ્યગ્જ્ઞાન અને વૈરાગ્ય થઈ ગયો છે તે આત્માર્થી પુરૂષોને જ જાણવામા હોય છે

તે શું જાણવામા હોય છે ? એવી શંકા થતા કહે છે—'एस खलु गंथे' ઇત્યાદિ આ પૃથ્વીકાયનો સમારંભ નિશ્ચયજ ગ્રંથ છે અર્થાત્ આઠ પ્રકારના કર્મોનો બંધ છે કારણમા કાર્યનો ઉપચાર કરીને પૃથ્વીકાયના સમારંભને અહિં ગ્રંથ કહ્યો છે આશય એ છે કે—

ग्रन्थरूपत्वम्, एवमग्रेऽपि बोध्यम् । तथा–एष एव पृथिवीसमारम्भः मोहः=विपर्यासः, विपरीतज्ञानरूपः । तथा–एष एव मारः=मरणम् निगोदादिमरणरूप' । तथा–एष खलु नरकः=नारकजीवानां दशविधयातनास्थानम् । इत्यर्थम्=एतदर्थं कर्मबन्ध–मोह –मरण–नरकरूपं घोर दुःखफल प्राप्य पुन' पुनरेतदर्थमेव लोकः=अज्ञानवशवर्ती जीवः गृद्धः=लिप्सुरस्ति । यद्वा गृद्धः=विषयभोगासक्तः लोकः=ससारी जीवः इत्यर्थं =एतदर्थमेव–कर्मबन्धमोहमरणनरकार्यमेव प्रवर्तते ।

यद्यपि–विषयभोगासक्तो लोकः शरीरादिपरिपोषणार्थं परिवन्दनमानन-पूजनार्थं जातिमरणमोचनार्थं दुःखप्रतिघातार्थं च पृथिवीशस्त्रसमारम्भं करोति

आशय यह है कि आरम–ग्रन्थ (बंध) का कारण होने से ग्रन्थ कहा गया है । इसी प्रकार का उपचार आगे के कथन में भी समझ लेना चाहिए ।

यह पृथिवीकायसमारम मोह अर्थात् विपर्यास है–विपरीत ज्ञानरूप है, तथा यही आरम्भ, निगोद आदि मरणरूप है । तथा यही आरभ नरक है अर्थात् नारकी जीवों के लिए दश प्रकार की क्षेत्र वेदनाओं का स्थान है । इस समारंभ के कारण कर्मबंध, मोह, मरण एवं नरकरूप घोर दु:खमय फल प्राप्तकर के भी अज्ञानी लोग बार–बार इसी की इच्छा करते हैं । अथवा ससारी जीव विषयभोगों में आसक्त होता है अर्थात् कर्मबन्ध, मोह, मरण और नरक के लिए ही अज्ञानी जीव प्रवृत्ति करते हैं ।

विषयभोगों में आसक्त जीव यद्यपि शरीर आदि को पुष्ट करने के लिए परिवन्दन, मानन और पूजन के लिए, जन्म मरण से मुक्त होने के लिए, दु ख का

આરભ–ગ્રથ (બધ)નું કારણ હોવાથી ગ્રન્થ કહ્યો છે, આ પ્રમાણેનો ઉપચાર આગળના કથનમાં પણ સમજી લેવો જોઇએ

આ પૃથ્વીકાય–સમારભ મોહ અર્થાત્ વિપર્યાસ છે, વિપરીતજ્ઞાનરૂપ છે, તથા એ આરભ નિગોદ આદિ મરણરૂપ છે તથા એ આરભ નરક છે અર્થાત્ નારકીના જીવો માટે દસ પ્રકારની ક્ષેત્ર વેદનાઓનું સ્થાન છે આ સમારભના કારણે, કર્મબધ, મોહ, મરણ અને નરકરૂપ ઘોર દુ ખમય ફલ પ્રાપ્ત કરીને પણ અજ્ઞાની લોક વારવાર તેની ઇચ્છા કરે છે અથવા સ સારી જીવ વિષયભોગોમાં આસક્ત થાય છે, અર્થાત્ કર્મબધ, મોહ, મરણ અને નરકના માટેજ અજ્ઞાની જીવ તેમાં પ્રવૃત્તિ કરે છે

વિષયભોગોમાં આસક્ત જીવ કદી પણ શરીર આદિને પુષ્ટ કરવા માટે પરિવદન, માનન, અને પૂજનને માટે, જન્મ મરણથી મુક્ત થવા માટે દુ:ખનો નાશ કરવા માટે,

तथापि तत्फल कर्मबन्धमोहमरणनरकरूपमेव लभन्ते, अत पृथिवीकर्मसमारम्भस्य तदेव फलं भवतीति भाव'। इत्यर्थमिति प्रयोगस्तु यथा–अय ससारी लोको जायते मरणायैव, म्रियते च जननायैव, इति, तद्वत्।

लोक पुन पुन' कर्मबन्धाद्यर्थमेव लिप्सुरस्ति, तदर्थमेव प्रवर्त्तते वा, इति प्रतिज्ञाया हेतुमाह–'जमिण' इत्यादि।

यत्=यस्मात्=विरूपरूपै = नानाविधै॰ शास्त्र =स्वकायपरकायतदुभयरूपै पृथिवीकर्मसमारम्भेण=पृथिव्युपमर्दकसावद्यव्यापारकरणेन, यद्वा–पृथिवीकायमुद्दिश्याष्टविधकर्मसमुत्पादकसावद्यव्यापारेण, इम = पृथिवीकाय विहिनस्ति,

---

विनाश करने के लिए, पृथिवीशस्त्र का आरम करता है तथापि इस आरम का फल उसे कर्मबन्ध, मोह, मरण और नरक के रूप में ही मिलता है। अत एव आशय यह है कि–कोई किसी भी अभिलाषा से पृथिवीकायका आरम करे मगर फल तो वही कर्म–बंध आदि ही होगा। (इत्थत्थ) इस का प्रयोग यह बतलाने के लिए किया गया है–यह ससारी जीव उत्पन्न होता है मरने के लिए और मरता है जनमन के लिए, इसी प्रकार यह प्रयोग है।

लोक बारम्बार कर्मबंध आदि के लिए ही अभिलाषी है, अथवा–कर्मबंध के लिए ही प्रवृत्ति करता है। इस प्रतिज्ञा में हेतु कहते हैं–'जमिण' इत्यादि।

जिस कारण से गृद्ध (आसक्त) लोक नाना प्रकार के शस्त्रों से–स्वकाय, परकाय और उभयकायरूप शस्त्रों से–पृथिवीकाय का समारम करके अर्थात् पृथिवीकाय की हिंसा करने वाला सावद्य व्यापार करके, अथवा पृथिवीकाय के निमित्त से आठों कर्म–जनक सावद्य

પૃથ્વીશસ્ત્રનો આરંભ કરે છે તો પણ તે આરંભનું ફળ તેને કર્મબંધ, મોહ, મરણ અને નરકના રૂપમાંજ મળે છે એ માટે આશય એ છે કે–કોઈ કાંઈ પણ અભિલાષાથી પૃથ્વીકાયનો આરંભ કરે પરન્તુ ફળ તો તે કર્મબંધ આદિજ થશે.

'इत्थत्थ' એનો પ્રયોગ એ બતાવવા માટે, કર્યો છે કે આ સંસારી જીવ ઉત્પન્ન થાય છે મરવાને માટે, અને મરે છે તે જન્મ લેવા માટે, આ પ્રમાણે એ પ્રયોગ છે

લોક વારવાર કર્મબંધ આદિ માટેજ અભિલાષી છે અથવા કર્મબંધ માટેજ પ્રવૃત્તિ કરે છે આ પ્રતિજ્ઞામાં હેતુ કહે છે–'जमिण' ઇત્યાદિ

જે કારણથી ગૃદ્ધ-આસકત લોકો નાના પ્રકારના શસ્ત્રોથી-સ્વકાય, પરકાય અને ઉભયકાય રૂપ શસ્ત્રોથી-પૃથ્વીકાયનો સમારંભ કરીને અર્થાત્ પૃથ્વીકાયની હિંસા કરવાવાળા સાવદ્ય વ્યાપાર કરીને અથવા પૃથ્વીકાયના નિમિત્તથી આઠ કર્મોને ઉત્પન્ન કરનાર સાવદ્ય વ્યાપારથી

छिनत्ति, भिनत्ति, प्राणरहितं करोति गृद्धो लोक इत्यादि । तथा पृथिवीशस्त्र=पृथिव्युपमर्दकं शस्त्रं स्वकायपरकायतदुभयरूपं समारभमाणः=व्यापारयन् अन्यान्=अप्कायादीन् अनेकरूपान्=त्रसान् स्थावरांश्च, प्राणान्=प्राणिनो विहिनस्ति । पृथिवीकायहिंसया षड्जीवनिकायरूपं लोकं सर्वमेव प्रणिहन्तीति घोरतरं दुरितं कुर्वन् पुनः पुनः कर्मबन्धादिनरकान्तं प्राप्यापि तदर्थमेव प्रवर्त्तते न पुनर्मोक्षायेति भावः ॥ सू. ४ ॥

ननु पृथिवीकायजीवानां श्रोत्रनेत्रघ्राणरसनेन्द्रियाणि न सन्ति, नापि मनस्तेषां, कथं तर्हि दुःखवेदना सम्भवति ? ततश्च पृथिवीकायसमारम्भिणां

व्यापार से इस पृथिवीकाय का हनन करता है, छेदन करता है, भेदन करता है, उसे प्राणहीन बनाता है। तथा पृथिवीकाय के स्वकाय, परकाय, और उभयकायरूप शस्त्रों का उपयोग करता हुआ अप्काय आदि अनेक त्रस स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है।

तात्पर्य यह है कि–पृथिवीकाय की हिंसा के द्वारा समस्त षड्जीवनिकायरूप लोक की हिंसा करता है। इस प्रकार अत्यन्त घोर पाप करता हुआ वारवार कर्मबंध करता है और यहाँ तक कि नरक को प्राप्त करके भी नरक के लिए ही प्रवृत्ति करता है, मोक्ष के लिए नहीं ॥ सू. ४ ॥

पृथिवीकाय के जीवों में श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसना–इन्द्रिय और मन नहीं है, फिर उन्हें दुःख का अनुभव कैसे हो सकता है ? और ऐसी अवस्था में पृथिवीकाय का आरंभ करनेवालों को कर्मबंध क्यों होता है ? इस शंका का समाधान

આ પૃથ્વીકાયનો ઘાત કરે છે છેદન કરે છે ભેદન કરે છે, તેને પ્રાણહીન બનાવે છે તથા પૃથ્વીકાયના સ્વકાય, પરકાય અને ઉભયકાયરૂપ શસ્ત્રોનો ઉપયોગ કરતા થકા અપ્કાય આદિ અનેક ત્રસ–સ્થાવર પ્રાણીઓની હિંસા કરે છે

તાત્પર્ય એ છે કે–પૃથ્વીકાયની હિંસા દ્વારા સમસ્ત ષડ્જીવનિકાયરૂપ લોકની હિંસા કરે છે આ પ્રમાણે અત્યન્ત ઘોર પાપ કરીને વારવાર કર્મબંધ કરે છે અને ત્યાં સુધી કે નરકને પ્રાપ્ત કરીને પણ નરક માટે જ પ્રવૃત્તિ કરે છે, મોક્ષ માટે કરતા નથી (૪)

પૃથ્વીકાયના જીવોમાં શ્રોત્રેન્દ્રિય, ચક્ષુરિન્દ્રિય, ઘ્રાણેન્દ્રિય, રસના–ઇન્દ્રિય અને મન નથી, તો પછી તેને દુઃખનો અનુભવ કેવી રીતે થઈ શકશે ? અને એવી અવસ્થામાં પૃથ્વીકાયનો આરંભ કરવાવાળાને કર્મબંધ કેમ થઇ શકશે ? આ શંકાનું

कथ कर्मवन्धः ? इति जिज्ञासायामाह—' से वेमि. ' इत्यादि ।

(मूलम)

से वेमि–अप्पेगे अधमब्भे, अप्पेगे अधमच्छे, अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे अप्पेगे गुफमब्भे२, अप्पेगे जंघमब्भे२, अप्पेगे जाणुमब्भे२, अप्पेगे उरुमब्भे२, अप्पेगे कडिमब्भे२, अप्पेगे णाभिमब्भे२, अप्पेगे उयरमब्भे२, अप्पेगे पासमब्भे२, अप्पेगे पिट्ठिमब्भे२, अप्पेगे उरमब्भे२, अप्पेगे हिययमब्भे२, अप्पेगे थणमब्भे२, अप्पेगे खंधमब्भे२, अप्पेगे वाहुमब्भे२, अप्पेगे हत्थमब्भे२, अप्पेगे अगुलिमब्भे२, अप्पेगे णहमब्भे२, अप्पेगे गीवामब्भे२, अप्पेगे हणुयमब्भे२, अप्पेगे होट्ठमब्भे२, अप्पेगे दतमब्भे२, अप्पेगे जीहमब्भे२, अप्पेगे तालुमब्भे२, अप्पेगे गलमब्भे२, अप्पेगे, गडमब्भे२, अप्पेगे कण्णमब्भे२, अप्पेगे णासमब्भे२, अप्पेगे अच्छिमब्भे२, अप्पेगे भमुहमब्भे२, अप्पेगे णिडालमब्भे२, अप्पेगे सीसमब्भे, अप्पेगे संपमारए अप्पेगे उद्दवए ॥ सू ५ ॥

(छाया)

अथ ब्रीवीमि–अप्येकः अन्धमाभिन्द्यात् अप्येकः अन्धमाच्छिन्द्यात् । अप्येकः पादमाभिन्द्यात्, अप्येकः पादमाच्छिन्द्यात् । अप्येकः गुल्फमाभिन्द्यात्२, अप्येक' जङ्घामाभिन्द्यात्२, अप्येक जानु आभिन्द्यात्२, अप्येकः उरु आभिन्द्यात्२, अप्येक कटिमाभिन्द्यात्२, अप्येक नाभिमाभिन्द्यात्२, अप्येक उदरमाभिन्द्यात्२, अप्येक पार्श्वमाभिन्द्यात्२, अप्येक पृष्टिमाभिन्द्यात्२, अप्येक उर आभिन्द्यात्२, अप्येक

करने के लिए सूत्र कहते हैं –'से वेमि ' इत्यादि ।

मूलार्थ–मैं कहता हूँ-कोई अंधे को भेदे, कोई अंधे को छेदे, कोई पैर को भेदे कोई पैर को छेदे, कोई गुल्फ को भेदे छेदे, कोई पिण्डी को भेदे छेदे, कोई घुटने को भेदे, छेदे, कोई जांघ को भेदे छेदे, कोई कमर को भेदे छेदे, कोई नाभि को भेदे छेदे, कोई पेट को भेदे छेदे, कोई, पसवाडे को भेदे छेदे, कोई पीठ को भेदे छेदे, कोई छाती

સમાધાન કરવા માટે સૂત્ર કહે છે–' સે વેમિ ' ઇત્યાદિ.

મૂલાર્થ—હું કહું છુ કોઈ આંધળાને ભેદન કરે, કોઈ આંધળાને છેદન કરે, કોઈ પગને કાપે, કોઈ પગને છેદે કોઈ ગુલ્ફ-(ઘુ ટી)ને ભેદે, છેદે, કોઈ પીંડીને ભેદે, છેદે, કોઈ ઘુ ટણને ભેદે છેદે, કોઈ જાંઘને ભેદે છેદે, કોઈ કમરને ભેદે છેદે કોઈ નાભિ(ડુંટી)ને ભેદે છેદે; કોઈ પેટને ભેદે છેદે, કોઈ પાસળીઓને ભેદે છેદે કોઈ પીઠને ભેદે છેદે, કોઈ-છાતીને ભેદે છેદે કોઈ

छिनत्ति, भिनत्ति, प्राणरहितं करोति गृद्धो लोक इत्यादि । तथा पृथिवीशस्त्र=पृथिव्युपमर्दकं शस्त्रं स्वकायपरकायतदुभयरूपं समारभमाण=व्यापारयन् अन्यान्=अप्कायादीन् अनेकरूपान्=त्रसान् स्थावरांश्च, प्राणान्=प्राणिनो विहिनस्ति । पृथिवीकायहिंसया षड्जीवनिकायरूपं लोकं सर्वमेव प्रणिहन्तीति घोरतरं दुरितं कुर्वन् पुनः पुनः कर्मबन्धादिनरकान्तं प्राप्यापि तदर्थमेव प्रवर्त्तते न पुनर्मोक्षायेति भावः ॥ सू. ४ ॥

ननु पृथिवीकायजीवानां श्रोत्रनेत्रघ्राणरसनेन्द्रियाणि न सन्ति, नापि मनस्तेषां, कथं तर्हि दुःखवेदना समवति ? ततश्च पृथिवीकायसमारम्भिणां

व्यापार से इस पृथिवीकाय का हनन करता है, छेदन करता है, भेदन करता है, उसे प्राणहीन बनाता है। तथा पृथिवीकाय के स्वकाय, परकाय, और उभयकायरूप शस्त्रों का उपयोग करता हुआ अप्काय आदि अनेक त्रस स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है।

तात्पर्य यह है कि–पृथिवीकाय की हिंसा के द्वारा समस्त षड्जीवनिकायरूप लोक की हिंसा करता है। इस प्रकार अत्यन्त घोर पाप करता हुआ वारवार कर्मबंध करता है और यहाँ तक कि नरक को प्राप्त करके भी नरक के लिए ही प्रवृत्ति करता है, मोक्ष के लिए नहीं ॥ सू. ४ ॥

पृथिवीकाय के जीवों में श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसना–इन्द्रिय और मन नहीं है, फिर उन्हें दुःख का अनुभव कैसे हो सकता है? और ऐसी अवस्था में पृथिवीकाय का आरंभ करनेवालों को कर्मबंध क्यों होता है? इस शंका का समाधान

આ પૃથ્વીકાયનો ઘાત કરે છે છેદન કરે છે ભેદન કરે છે, તેને પ્રાણહીન બનાવે છે તથા પૃથ્વીકાયના સ્વકાય, પરકાય અને ઉભયકાયરૂપ શસ્ત્રોનો ઉપયોગ કરતા થકા અપ્કાય આદિ અનેક ત્રસ–સ્થાવર પ્રાણીઓની હિંસા કરે છે

તાત્પર્ય એ છે કે–પૃથ્વીકાયની હિંસા દ્વારા સમસ્ત ષડ્જીવનિકાયરૂપ લોકની હિંસા કરે છે આ પ્રમાણે અત્યન્ત ઘોર પાપ કરીને વારવાર કર્મબંધ કરે છે અને ત્યાં સુધી કે નરકને પ્રાપ્ત કરીને પણ નરક માટે જ પ્રવૃત્તિ કરે છે, મોક્ષ માટે કરતા નથી (૪)

પૃથ્વીકાયના જીવોમાં શ્રોત્રેન્દ્રિય, ચક્ષુરિન્દ્રિય, ઘ્રાણેન્દ્રિય, રસના–ઇન્દ્રિય અને મન નથી, તો પછી તેને દુઃખનો અનુભવ કેવી રીતે થઈ શકશે? અને એવી અવસ્થામાં પૃથ્વીકાયનો આરંભ કરવાવાળાને કર્મબંધ કેમ થઈ શકશે? આ શંકાનુ

॥ टीका ॥

'से बेमि' इत्यादि । अथेति प्रतिवाक्यमारम्भद्योतनाय । ब्रवीमि=पृथिवीकायस्य वेदनाविषये कथयामि । यथा-एक =कश्चित् अन्ध-जन्मान्ध आभिन्द्यात्, तथा एक =अपर' कश्चित् अन्धमपि आछिन्द्यात् ।

अत्र अन्धमित्युपलक्षण, बधिरमूकपङ्गुप्रभृतीनाम् । य' खलु जन्मान्धो जन्मबधिरो जन्ममूको जन्मपङ्गुर्मृगापुत्रवत्कर्चरणाद्यवयवविभागरहित' पूर्वभवार्जिताशुभकर्मोदयात् स्वहितप्राप्त्यहितपरिहाराक्षमोऽतिदयनीयदशामुपगतः ।

एवंविधजन्मान्धादिक कश्चित् कठोरहृन्यो निर्दयतयाऽतिनिशितभल्लादिना भिनत्ति चेत, सुतीक्ष्णपरशुकुठारादिना छिनत्ति चेत्तदाऽसौ स्वाङ्ग भेदनच्छेदनसमयेभेदक छेदक न

टीकार्थ-'अथ' शब्द नया वाक्य आरभ करने को प्रकट करता है-'कहता हूं' अर्थात् पृथिवीकाय की वेदना के विषय में कहता हूँ । जैसे-कोई पुरुष अंधे अर्थात् जन्म से अंधे को भेदे छेदे । यहाँ 'अंध' पद उपलक्षण है, उस से बहिरा, मूगा, लगडा, आदि भी ग्रहण कर लेना चाहिए ।

जो जीव मृगालोढक की तरह जन्मांध है, जन्म से बहिरा है, जन्म से मूगा है, जन्म से लगडा है, हाथ-और आदि विभिन्न अवयवों का जिस के शरीर में भेद नहीं है, और जो पूर्वभव के अशुभ कर्मों के उदय से अपने हित की प्राप्ति तथा अहित के परिहार में असमर्थ है, अत्यन्त दयनीय दशा को प्राप्त है, इस प्रकार के जन्मांध वगैरह को कोई कठोर हृदयवाला पुरुष निर्दय हो कर आवेश के साथ, बहुत तीखे भाले वगैरह से भेदता है, अत्यन्त तीखे फरसी कुठार आदि से छेदता है,

---

ટીકાર્થ-'અથ' શબ્દ નવું વાક્ય આરંભ કરવાનું પ્રગટ કરે છે 'કહું છું' અથાત્ પૃથ્વીકાયની વેદનાના વિષયમાં કહું છું-જેમ કોઈ મનુષ્ય અન્ધ અર્થાત્-જન્મથી આંધને (આંધળો છે તેને) ભેદે છેદે અહિં 'અંધ'પદ તે ઉપલક્ષણ છે, તેનાથી બહેરા મૂગા, લંગડા આદિ પણ ગ્રહણ કરી લેવા જોઈએ

જે જીવ મૃગલોઢાની માફક જન્માંધ છે (જન્મથી આંધળો છે) જન્મથી, બહેરો છે જન્મથીજ મૂંગો છે જન્મથી લંગડો છે હાથ-પગ આદિ વિભિન્ન અવયવોના જેના શરીરમાં ભેદ નથી, અને તે પૂર્વભવના અશુભ કર્મોના ઉદયથી પોતાના હિતની પ્રાપ્તિ તથા અહિતના પરિહારમા અસમર્થ છે, અત્યન્ત દયાપાત્ર-દશાને પ્રાપ્ત છે, આ પ્રકારના જન્માંધ વગેરેને કોઈ કઠોર હૃદયવાળા પુરૂષ નિર્દય થઈને આવેશની સાથે બહુજ તીક્ષ્ણ ભાલા વગેરેથી ભેદે છે (વિંધે છે), અત્યન્ત તીખી ધારવાળી ફરસી, કુઠાર આદિથી

हृदयमाभिन्द्यात्२, अप्येकः स्तनमाभिन्द्यात्२, अप्येकः स्कन्धमाभिन्द्यात्२, अप्येकः बाहुमाभिन्द्यात्२, अप्येकः हस्तमाभिन्द्यात्२, अप्येकः अङ्गुलिमाभिन्द्यात्२, अप्येकः नखमाभिन्द्यात्२, अप्येकः ग्रीवामाभिन्द्यात्२, अप्येकः हनु आभिन्द्यात्२, अप्येकः ओष्ठमाभिन्द्यात्२, अप्येकः दन्तमाभिन्द्यात्२, अप्येकः जिह्वामाभिन्द्यात्२, अप्येकः तालु आभिन्द्यात्२, अप्येकः गलमाभिन्द्यात्२, अप्येकः गण्डमाभिन्द्यात्२, अप्येकः कर्णमाभिन्द्यात्२; अप्येकः नासामाभिन्द्यात्२, अप्येकः अक्षि आभिन्द्यात्२, अप्येकः भ्रुवमाभिन्द्यात्२, अप्येकः ललाटमाभिन्द्यात्२, अप्येकः शीर्षमाभिन्द्यात्२, अप्येकः सम्मारयेत्, अप्येकः उपद्रावयेत् ॥ सू. ५ ॥

को भेदे छेदे, कोई हृदय को भेदे छेदे, कोई स्तन को भेदे छेदे, कोइ कन्धे को भेदे छेदे, कोई बाहु को भेदे छेदे, कोई हाथ को भेदे छेदे, कोइ उंगली को भेदे छेदे, कोई नख को भेदे छेदे, कोइ गर्दन को भेदे छेदे, कोई हनु (डाढी–ठोडी) को भेदे छेदे, कोई होठ को भेदे छेदे, कोई दांत को भेदे छेदे, कोई जीभ को भेदे, छेदे, कोई तालु को भेदे छेदे, कोई गले को भेदे छेदे, कोई गंडस्थल (कनपटी) को भेदे छेदे कोई कान को भेदे छेदे, कोई नाकको भेदे छेदे, कोई आंख को भेदे छेदे, कोई भौंह को भेदे छेदे, कोई ललाट को भेदे छेदे, कोई सिरको भेदे छेदे, कोई मारकर बेहोश कर दे, या कोई मार ही डाले, इस प्रकार इन्द्रियबलहीन होने पर भी उसे वेदना का अनुभव होता ही है ॥ सू. ५ ॥

હૃદયને ભેદે છેદે, કોઈ સ્તનને ભેદે છેદે, કોઈ કાંધને ભેદે છેદે, કોઈ બાહુને ભેદે છેદે, કોઈ હાથને ભેદે છેદે, કોઈ આંગળીને ભેદે છેદે, કોઈ નખને ભેદે-છેદે, કોઈ ગરદનને ભેદે છેદે, કોઈ દાઢીને ભેદે–છેદે, કોઈ હોઠને છેદે-ભેદે, કોઈ દાંતને ભેદે છેદે, કોઈ જીભને ભેદે છેદે, કોઈ તાલુ–(તાળવા) ને ભેદે–છેદે, કોઈ ગળાને ભેદે–છેદે, કોઈ ગંડસ્થલ (લમણા) કાનપટ્ટીને ભેદે–છેદે, કોઈ કાનને ભેદે–છેદે, કોઈ નાકને ભેદે–છેદે, કોઈ આંખને ભેદે–છેદે, કોઈ ભમરને ભેદે–છેદે, કોઈ લલાટને ભેદે–છેદે, કોઈ શિરને ભેદે–છેદે, કોઈ મારીને બેહોશ કરી દે, અથવા કોઈ મારીજ નાંખે, આ પ્રમાણે ઇન્દ્રિયબલહીન હોવા છતા પણ તેને વેદનાનો અનુભવ થાય છે (૫)

॥ टीका ॥

'से बेमि' इत्यादि । अथेति प्रतिवाक्यमारम्भद्योतनाय । ब्रवीमि=पृथिवीकायस्य वेदनाविषये कथयामि । यथा-एकः=कश्चित् अन्ध-जन्मान्ध आभिन्द्यात्, तथा एकः=अपरः कश्चित् अन्धमपि आछिन्द्यात् ।

अत्र अन्धमित्युपलक्षणं, बधिरमूकपङ्गुप्रभृतीनाम् । यः खलु जन्मान्धो जन्मबधिरो जन्ममूको जन्मपङ्गुर्मृगापुत्रवत्करचरणाद्यवयवविभागरहितः पूर्वभवार्जिताशुभकर्मोदयात् स्वहितमाप्त्यहितपरिहाराक्षमोऽतिदयनीयदशामुपगतः ।

एवंविधजन्मान्धादिकं कश्चित् कठोरहृदयो निर्दयतयाऽतिनिशितमल्लादिना भिनत्ति चेत्, सुतीक्ष्णपरशुकुठारादिना छिनत्ति चेत्तदाऽसौ स्वाङ्ग भेदनच्छेदनसमये भेदकं छेदकं न

टीकार्थ-'अथ' शब्द नया वाक्य आरंभ करने को प्रकट करता है-'कहता हूं' अर्थात् पृथिवीकाय की वेदना के विषय में कहता हूँ । जैसे-कोइ पुरुष अंधे अर्थात् जन्म से अंधे को भेदे छेदे । यहाँ 'अंध' पद उपलक्षण है, उस से बहिरा, मूगा, लंगडा, आदि भी ग्रहण कर लेना चाहिए ।

जो जीव मृगालोढक की तरह जन्मांध है, जन्म से बहिरा है, जन्म से मूगा है, जन्म से लंगडा है, हाथ-और आदि विभिन्न अवयवों का जिस के शरीर में भेद नहीं है, और जो पूर्वभव के अशुभ कर्मों के उदय से अपने हित की प्राप्ति तथा अहित के परिहार में असमर्थ है, अत्यन्त दयनीय दशा को प्राप्त है, इस प्रकार के जन्मान्ध वगैरह को कोई कठोर हृदयवाला पुरुष निर्दय हो कर आवेश के साथ, बहुत तीखे भाले वगैरह से भेदता है, अत्यन्त तीखे फरसी कुठार आदि से छेदता है,

---

ટીકાર્થ–'અથ' શબ્દ નવું વાક્ય આરંભ કરવાનું પ્રગટ કરે છે 'કહું છું' અર્થાત્ પૃથ્વીકાયની વેદનાના વિષયમાં કહું છું-જેમ કોઈ મનુષ્ય અન્ધ અર્થાત્-જન્મથી અંધને (આંધળો છે તેને) ભેદે છેદે અહિં 'અંધ'પદ તે ઉપલક્ષણ છે, તેનાથી બહેરા મૂગા, લગડા આદિ પણ ગ્રહણ કરી લેવા જોઈએ.

જે જીવ મૃગલોઢાની માફક જન્માંધ છે (જન્મથી આંધળો છે) જન્મથી, બહેરો છે જન્મથીજ મૂંગો છે જન્મથી લગડો છે હાથ-પગ આદિ વિભિન્ન અવયવોના જેના શરીરમાં ભેદ નથી, અને તે પૂર્વભવના અશુભ કર્મોના ઉદયથી પોતાના હિતની પ્રાપ્તિ તથા અહિતના પરિહારમા અસમર્થ છે, અત્યન્ત દયાપાત્ર-દશાને પ્રાપ્ત છે, આ પ્રકારના જન્માંધ વગેરેને કોઈ કઠોર હૃદયવાળા પુરૂષ નિર્દય થઈને આવેશની સાથે બહુજ તીક્ષ્ણ ભાલા વગેરેથી ભેદે છે (વિંધે છે), અત્યન્ત તીખી ધારવાળી ફરસી, કુઠાર આદિથી

पश्यति न, शृणोति, नाप्युच्चैः क्रन्दति, तावता तस्याऽजीवत्वं वेदनाया अभावो वा निश्चेतुं वक्तुं वा न शक्यते, एवं पृथिवी सचेतना वेदनासहिता चेति निश्चीयते। जात्यन्धबधिरमूकपङ्ग्वादिगुणयुक्तपुरुषवत्, मृगापुत्रवत्, इत्यर्थः ।

यद्वा पञ्चेन्द्रियाणां सुव्यक्तचेतनानां पादगुल्फजङ्घाजानूरुकटि-नाभ्युदरपार्श्वपृष्ठोरोहृदयस्तनस्कन्धबाहुहस्ताङ्गुलिनखग्रीवाहन्वोष्ठदन्तजिह्वाताल्व-गलगण्डकर्णनासाक्षिभ्रूललाटमस्तकादिषु भिद्यमानेषु छिद्यमानेषु वा यथा घोरतर-वेदना जायते तथा प्रगाढमोहाज्ञानवतां स्त्यानर्द्ध्यादिकर्मोदयात् अव्यक्तचेतनानां

भेदन—छेदन के समय, अपने अंग के भेदने—छेदने वाले को न देखता है, न सुनता है, न ऊंची आवाज से चिल्लाता हैं, इतने मात्र से उस में अजीवपना या वेदना का अभाव निश्चित नहीं किया जा सकता, और नहीं कहा जाता। इसी प्रकार पृथिवी सचेतन है और उसे वेदना भी होती है, यह बात निश्चित हो जाती है। अर्थात् जैसे मृगालोढक की तरह बहिरे, मूंगे, लगडे आदि पुरुष को वेदना होती है, उसी प्रकार पृथिवीकाय को भी वेदना होती है।

अथवा स्पष्ट चेतना वाले पञ्चेन्द्रिय जीवों के पैर, गुल्फ, जांघ, जानु, उरू, कमर, नाभि, उदर, पार्श्व, पृष्ठ, उर—छाती, हृदय, स्तन, स्कन्ध, बाहु हाथ, अंगुली, नख, ग्रीवा, दाढी, होठ, दांत, जीभ, तालु, गला, कनपटी, कान नाक आंख, भौंह, ललाट, मस्तक आदि के भिदने—छिदने पर जैसे अत्यन्त घोर वेदना उत्पन्न होती है

છેદે છે, તો ભેદન-છેદનના સમયે પોતાના અંગનું ભેદન-છેદન કરનારને તે દેખતો નથી, સાંભળતો નથી, ઉંચા અવાજથી શોર-બકોર કરી શકતો નથી એટલામાત્રથી તેમાં અજીવપણું અથવા વેદનાનો અભાવ નિશ્ચિત કરી શકાતો નથી, તેમ કહેવાતું પણ નથી. એ પ્રમાણે પૃથ્વી સચેતન છે અને તેને વેદના પણ થાય છે એ વાત નિશ્ચિત થઈ જાય છે અર્થાત્ જેવી રીતે મૃગાલોઢીના પ્રમાણે-બહેરા, મૂંગા, લંગડા આદિ પુરૂષને વેદના થાય છે, તે પ્રમાણે પૃથ્વીકાયને પણ વેદના થાય છે

અથવા-સ્પષ્ટ ચેતનાવાળા જન્માન્ધ આદિ પંચેન્દ્રિય જીવોના પગ, ઘૂંટણ, જાંઘ, જાનુ, ઉરૂ કમર, નાભિ, ઉદર, પાર્શ્વ, પૃષ્ઠ, ઉર-છાતી, હૃદય, સ્તન, સ્કંધ, બાહુ હાથ, આંગળી, નખ, ગ્રીવા દાઢી, હોઠ, દાંત, જીભ, તાળુ, ગળુ, લમણા, કાન, નાક, આંખ, ભમર, લલાટ, મસ્તક આદિના ભેદવા-છેદવાથી જેમ અત્યન્ત ઘોર વેદના ઉત્પન્ન થાય છે, તેમ પ્રગાઢ

पृथिव्यादीनामव्यक्तैव घोरतरवेदना भवतीति भगवता केवलालोकेन साक्षात्कृत्य प्रवेदितम्।

अत्रैवान्यमपि दृष्टान्तमाह-"अप्पेगे संपमारए अप्पेगे उद्दवए" इति। एकः कश्चित् यथा सर्वावयवयुक्तं कञ्चित्प्राणिनं संप्रमारयेत्=तीव्रद्वेषावेशेन शस्त्रादिप्रहारेण चेष्टाराहित्यरूपां मूर्छामापादयेत् तथा एकः कश्चित् मूर्छापन्नं उद्द्रावयेत्=प्राणेभ्यो व्यपरोपयेत्, तस्य मूर्च्छावशेन व्यक्त-वेदनाया अभावेऽपि अव्यक्ता घोरतरवेदना जायत एव, तथा पृथिवीजीवानामव्यक्ता घोरतरवेदना भवत्येव ॥ सू ६ ॥

इत्थं पृथिवीकायस्य जीवत्वं शस्त्राद्याघातेन वेदनां च प्रदर्श्य, अधुना

उसी प्रकार प्रगाढ मोह अज्ञान वाले स्त्यानर्द्धि आदि कर्म के उदय से अप्रकट चेतना वाले पृथ्वीकाय आदि जीवों को अप्रकट किन्तु अत्यन्त दारुण वेदना होती है। यह बात भगवान् ने केवलज्ञान से साक्षात् जानकर प्रकट की है।

इसी विषय में एक दृष्टान्त और कहते हैं-'अप्पेगे' इत्यादि। जैसे-कोई पुरुष, सभी अवयवों से युक्त किसी प्राणी को तीव्र द्वेष के आवेश के वश हो कर शस्त्र आदि का प्रहार कर के चेष्टारहित-मूर्छित कर देता है, तथा कोई उस मूर्छित पुरुष को प्राणहीन करता है तो यद्यपि उस मूर्छित में व्यक्त वेदना नहीं है फिर भी अव्यक्त अत्यन्त घोर वेदना होती ही है, इसी प्रकार पृथिवीकाय में घोर अव्यक्त वेदना होती है ॥ सू. ६॥

इस प्रकार पृथिवीकाय की सचित्तता और शस्त्र आदि के आघात से होने वाली

---

(६६) મોહ અજ્ઞાનવાળા સ્ત્યાનર્દ્ધિ આદિ કર્મના ઉદયથી અપ્રકટ ચેતનાવાળા પૃથ્વી કાય આદિ જીવોને અપ્રકટ પરન્તુ અત્યન્ત દારુણ વેદના થાય છે, આ વાત ભગવાને કેવલ જ્ઞાનથી સાક્ષાત્ જાણીને પ્રકટ કરી છે

આ વિષયમા એક બીજુ દૃષ્ટાન્ત કહે છે-'અપ્પેગે' ઇત્યાદિ, જેમ કોઈ પુરૂષ, સર્વ અવયવોથી યુક્ત કોઈ પ્રાણીને તીવ્ર દ્વેષથી આવેશને વશ થઈ શસ્ત્ર આદિનો પ્રહાર કરીને ચેષ્ટારહિત-મૂર્છિત કરી નાખે છે, તથા કોઈ તે મૂર્છિત પુરૂષને પ્રાણહીન કરે છે તે મૂર્છિતમાં વ્યક્ત વેદના નથી તો પણ અવ્યક્ત (જાણી-જોઈ શકાય નહિ તેવી રીતે) અત્યન્ત ઘોર વેદના થાય છે એ પ્રમાણે પૃથ્વીકાયમા પણ ઘોર વેદના થાય છે ।।૫।।

આ પ્રમાણે પૃથ્વીકાયની સચિત્તતા અને શસ્ત્ર આદિના આઘાતથી થવાવાળી

तत्समारम्भे कर्मबन्धो भवतीत्याह–' एत्थ ' इत्यादि ।

॥ मूलम् ॥

एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति ॥ सू. ६ ॥

॥ छाया ॥

अत्र शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरम्भा अपरिज्ञाता भवन्ति ॥ सू. ६ ॥

॥ टीका ॥

अत्र=पृथिवीकाये शस्त्रं=स्वकायपरकायतदुभयरूपं द्रव्यशस्त्रं, दुष्प्रणिहितमनोवाक्कायरूपं भावशस्त्रं वा समारभमाणस्य=व्यापारयतः इत्येते= प्रागुक्ताः सप्तविंशतिभङ्गरूपाः, आरम्भाः=खननकृष्यादिरूपाः सावद्यव्यापाराः, अपरिज्ञाता भवन्ति=कर्मबन्धहेतुत्वेन परिज्ञाता न भवन्ति, पृथिवीशस्त्रं समारभमाणः खननादिसावद्यव्यापारस्य कर्मबन्धकारणतामविज्ञाय चारित्ररूपं

वेदना प्रदर्शित कर के यह बताते हैं कि–पृथिवीकाय का आरंभ करने में कर्म का बंध होता है–' एत्थ ' इत्यादि ।

मूलार्थ—पृथिवीकाय का आरंभ करने वाले को यह (पूर्वोक्त) आरंभ ज्ञात नहीं होता है ॥ सू. ६ ॥

टीकार्थ—पृथिवीकाय में स्वकाय परकाय और उभयकायरूप द्रव्यशस्त्र का, तथा मन वचन कायका दुष्प्रणिधानरूप भावशस्त्र का व्यापार करने वाले को ज्ञात नहीं होता कि– पूर्वोक्त सत्ताईस प्रकार का खनन एवं कृषि आदिरूप सावद्य व्यापार कर्मबंध के कारण हैं। तात्पर्य यह है कि–जो पुरुष पृथिवीकाय का आरंभ करता है, उसे यह मालूम नहीं होता कि–यह सावद्य व्यापार कर्मबंध का कारण है, यह मालूम न होने के कारण

વેદના બતાવીને હવે એ બતાવે છે કે–પૃથ્વીકાયનો આરંભ કરવામાં કર્મનો બંધ થાય છે–' एत्थ ' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—પૃથ્વીકાયનો આરંભ કરવાવાળાને આ (પૂર્વોક્ત) આરંભ જ્ઞાન હોતું નથી. (૬)

ટીકાર્થ—પૃથ્વીકાયમા સ્વકાય, પરકાય અને ઉભયકાયરૂપ દ્રવ્યશસ્ત્રનો તથા મન, વચન, કાયાનાં દુષ્પ્રણિધાન (ખરાબ ભાવ)રૂપ ભાવશસ્ત્રનો વ્યાપાર કરવાવાળાને ખબર નથી હોતી કે–પૂર્વોક્ત (પૂર્વે કહેલા) સત્તાવીસ પ્રકારના ખનન (ખોદવું) એ પ્રમાણે કૃષિ–ખેતી આદિરૂપ સાવદ્ય–વ્યાપાર કર્મબંધનું કારણ છે તાત્પર્ય એ છે કે–જે પુરૂષ પૃથ્વીકાયનો આરંભ કરે છે, તેને એ માલૂમ નથી કે–આ સાવદ્ય વ્યાપાર કર્મ

मोक्षमार्गतो दूरमपगतो भवतीत्यर्थः ॥ सू० ६ ॥

(८) विशुचिद्वारम्-

पृथिवीकायसमारम्भपरिज्ञाने हि परिज्ञातकर्मा मुनिर्भवतीत्याह-'एत्थ' इत्यादि ।

॥ मूलम् ॥

एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति । तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं पुढविसत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं पुढविसत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा। जस्सेते पुढविकम्मसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे-त्तिबेमि ॥ सू० ७ ॥

॥ इय सत्थपरिण्णाए बीओ उद्देसो समत्तो ॥ १-२ ॥

॥ छाया ॥

अत्र शस्त्रं असमारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाता भवन्ति । तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं पृथिवीशस्त्रं समारभेत, नैवान्यैः पृथिवीशस्त्रं समारम्भयेत्, नैवान्यान् पृथिवीशस्त्रं समारभतः समनुजानीयात्, यस्यैते पृथिवीकर्मसमारम्भाः परिज्ञाता भवन्ति स एव मुनिः परिज्ञातकर्मा, इति ब्रवीमि ॥ सू० ७ ॥

॥ इति शस्त्रपरिज्ञाया द्वितीय उद्देशः समाप्तः ॥ १ । २ ॥

यह चारित्ररूप मोक्षमार्ग से दूर ही रहता है ॥ सू ६ ॥

पृथिवीकाय के समारम्भ का परिज्ञान होने पर ही परिज्ञातकर्मा मुनि होता है, इस बात को कहते हैं-'एत्थ' इत्यादि ।

मूलार्थ- पृथिवीकाय में शस्त्र का आरंभ न करने वाले को यह आरंभ ज्ञात होता है। उन्हें जान कर बुद्धिमान् पुरुष न स्वयं पृथिवीकाय के शस्त्र का आरंभ करे, न दूसरों से पृथ्वीकाय के शस्त्र का आरंभ करावे और न पृथ्वीकाय का आरंभ करने वाले दूसरों की अनुमोदना करे । इन पृथिवीकर्मसमारम्भों को जानने वाला ही मुनि है, वही परिज्ञातकर्मा है, ऐसा मैं कहता हूँ ॥ सू ७ ॥

બંધનું કારણ છે આ માલૂમ નહિ હોવાથી તે ચારિત્રરૂપ મોક્ષમાર્ગથી દૂરજ રહે છે ॥૬॥

પૃથિવીકાયના સમારંભનું પરિજ્ઞાન હોવાથીજ પરિજ્ઞાતકર્મા મુનિ હોય છે, આ વાત બતાવે છે-'एत्थ' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—પૃથ્વીકાયમાં શસ્ત્રનો આરંભ નહિ કરવાવાળાને આ આરંભની ખબર હોય છે તેને જાણીને બુદ્ધિમાન પુરૂષ પોતે પૃથ્વીકાયના શસ્ત્રનો આરંભ કરતા નથી; બીજા પાસે પણ પૃથ્વીકાયના શસ્ત્રનો આરંભ કરાવતા નથી અને પૃથ્વીકાયનો આરંભ કરવાવાળા બીજાને અનુમોદન આપતા નથી. એ પૃથ્વીકર્મ-સમારંભોને જાણવાવાળાજ મુનિ છે, તે પરિજ્ઞાતકર્મા છે; એ પ્રમાણે હું કહું છુ (૭)

तत्समारम्भे कर्मबन्धो भवतीत्याह-'एत्थ' इत्यादि ।

॥ मूलम् ॥

एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति ॥ सू. ६ ॥

॥ छाया ॥

अत्र शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरम्भा अपरिज्ञाता भवन्ति ॥ सू. ६ ॥

॥ टीका ॥

अत्र=पृथिवीकाये शस्त्रं=स्वकायपरकायतदुभयरूपं द्रव्यशस्त्रं, दुष्प्रणिहितमनोवाक्कायरूपं भावशस्त्रं वा समारभमाणस्य=व्यापारयतः इत्येते=प्रागुक्ताः सप्तविंशतिभङ्गरूपाः, आरम्भाः=खननकृष्यादिरूपाः सावद्यव्यापाराः, अपरिज्ञाता भवन्ति=कर्मबन्धहेतुत्वेन परिज्ञाता न भवन्ति, पृथिवीशस्त्रं समारभमाणः खननादिसावद्यव्यापारस्य कर्मबन्धकारणतामविज्ञाय चारित्ररूप

भेदना प्रदर्शित कर के यह बताते हैं कि-पृथिवीकाय का आरभ करने में कर्म का बंध होता है-'एत्थ' इत्यादि ।

मूलार्थ—पृथिवीकाय का आरभ करने वाले को यह (पूर्वोक्त) आरंभ ज्ञात नहीं होता है ॥ सू. ६ ॥

टीकार्थ—पृथिवीकाय में स्वकाय परकाय और उभयकायरूप द्रव्यशस्त्र का, तथा मन वचन कायका दुष्प्रणिधानरूप भावशस्त्र का व्यापार करने वाले को ज्ञात नहीं होता कि-पूर्वोक्त सत्ताईस प्रकार का खनन एवं कृषि आदिरूप सावद्य व्यापार कर्मबंध के कारण हैं। तात्पर्य यह है कि-जो पुरुष पृथिवीकाय का आरभ करता है, उसे यह मालूम नहीं होता कि-यह सावद्य व्यापार कर्मबंध का कारण है, यह मालूम न होने के कारण

વેદના બતાવીને હવે એ બતાવે છે કે-પૃથ્વીકાયનો આરભ કરવામાં કર્મનો બંધ થાય છે-'एत्थ' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—પૃથ્વીકાયનો આરભ કરવાવાળાને આ (પૂર્વોક્ત) આરભ જ્ઞાન હોતું નથી. (૬)

ટીકાર્થ—પૃથ્વીકાયમાં સ્વકાય, પરકાય અને ઉભયકાયરૂપ દ્રવ્યશસ્ત્રનો તથા મન, વચન, કાયાના દુષ્પ્રણિધાન (ખરાબ ભાવ)રૂપ ભાવશસ્ત્રનો વ્યાપાર કરવાવાળાને ખબર નથી હોતી કે-પૂર્વોક્ત (પૂર્વે કહેલા) સત્તાવીસ પ્રકારના ખનન (ખોદવું) એ પ્રમાણે કૃષિ-ખેતી આદિરૂપ સાવદ્ય-વ્યાપાર કર્મબંધનું કારણ છે તાત્પર્ય એ છે કે-જે પુરૂષ પૃથ્વીકાયનો આરભ કરે છે, તેને એ માલૂમ નથી કે-આ સાવદ્ય વ્યાપાર કર્મ

समारभान् विज्ञाय सर्वान् परित्यजेत् ।

एवं यस्य एते पृथिवीकर्मसमारम्भाः पृथिवीविषयाः खननकृष्यादिरूपाः सावद्यक्रियाविशेषाः परिज्ञाता भवन्ति=ज्ञपरिज्ञया कर्मबन्धहेतुत्वेन विज्ञाता, तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञया परित्यक्ता भवन्ति स एव परिज्ञातकर्मा=विदितपरित्यक्त-सकलसावद्यक्रियाविशेषः मुनिर्भवति, न त्वपरो द्रव्यलिङ्गीत्यर्थः । इति ब्रवीमि=यथा भगवता कथितं तथा कथयामीत्यर्थः ॥ सू० ७ ॥

॥ इति शस्त्रपरिज्ञाध्ययने द्वितीय उद्देशः समाप्तः ॥ १-२ ॥

पृथ्वीकायसमारंभ को जानकर सबका त्याग करना चाहिए ।

इस प्रकार जो पुरुष पृथ्वीकायसम्बन्धी खोदना जोतना आदि सावद्य व्यापारों को ज्ञपरिज्ञा से कर्मबंध का कारण समझता है, और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उन का त्याग कर देता है वही परिज्ञातकर्मा और सकल सावद्य क्रियाओं को जानने वाला पुरुष मुनि कहलाता है, सिर्फ द्रव्यलिंगी मुनि नहीं कहलाता । 'त्तिबेमि' भगवान्ने जैसा कहा है वैसा ही मैं कहता हूँ ॥ ७ ॥

आचाराङ्ग-सूत्र की आचारचिन्तामणि-टीका के हिन्दी-अनुवादमें
शस्त्रपरिज्ञानामक प्रथम अध्ययनका द्वितीय उद्देश
समाप्त ॥ १-२ ॥

ભેદથી સત્તાવીસ પ્રકારના પૃથ્વીકાયના સમારંભને જાણી કરીને સર્વનો ત્યાગ કરવો જોઇએ.

આ પ્રમાણે જે પુરૂષ પૃથ્વીકાયસમ્બન્ધી ખોદવું, ખેડવું આદિ સાવદ્ય વ્યાપારોને જ્ઞપરિજ્ઞાથી કર્મબંધનું કારણ સમજે છે, અને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞાથી તેનો ત્યાગ કરી દે છે, તે પરિજ્ઞાતકર્મા અને સકલસાવદ્યક્રિયાઓને જાણવાવાળા પુરૂષ મુનિ કહેવાય છે, માત્ર દ્રવ્યલિંગી મુનિ કહેવાતા નથી ભગવાને જેવું કહ્યું છે, એવું જ હું કહું છુ ॥૭॥

આચારાંગ સૂત્રની આચારચિંતામણિ ટીકાના ગુજરાતી અનુવાદમાં
શસ્ત્રપરિજ્ઞાનામક પ્રથમ અધ્યયનનો બીજો ઉદ્દેશ
સમાપ્ત થયો ॥૧-૨॥

टीका—

अत्र=पृथिवीकाये शस्त्रं=स्वकायपरकायादिकम् असमारभमाणस्य=अव्यापारयत इत्येते=पूर्वोक्ता आरम्भाः=सावद्यक्रियाविशेषाः परिज्ञाता भवन्ति। ज्ञपरिज्ञया सर्वान् पृथिवीकायसमारम्भान् कर्मबन्धहेतुत्वेन अनन्तनरकनिगोदादि दुःखजनकत्वेन च परिज्ञाय चारित्ररूपमोक्षमार्गे प्रवर्तत इति भावः। उपसंहारमाह—

तत्=पृथिवीकायसमारम्भणं परिज्ञाय=बन्धहेतुत्वेनावबुध्य मेधावी=सदसद्विवेकी पृथिवीशस्त्रं द्रव्यभावरूपं स्वयं नैव समारभते अपि च=अन्यैरपि पृथिवीशस्त्रं नैव समारम्भयति, पृथिवीशस्त्रं समारभमाणान् अन्यान् नैव समनुजानाति। एवं मनोवाक्कायभेदेनातीतानागतवर्त्तमानकालभेदेन च पृथिवीकाय

टीकार्थ—पृथिवीकाय में स्वकाय परकाय आदि शस्त्रों का आरंभ न करने वाले को यह पूर्वोक्त सावद्यव्यापाररूप आरंभ ज्ञात होता है। इन आरंभों को जानने वाला अर्थात् ज्ञपरिज्ञा से पृथिवीकायसंबंधी आरंभों को कर्मबंध का कारण तथा अनन्त नरक निगोद के दुःखों का कारण जानकर चारित्ररूप मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होता है। उपसंहार करते हैं—

पृथ्वीकाय के आरंभ को बंधका कारण जानकर बुद्धिमान् सत् असत् का भेद समझने वाला, द्रव्य—भावरूप पृथ्वीशस्त्रका स्वयं व्यापार नहीं करता, दूसरे से व्यापार नहीं कराता और व्यापार करने वाले की अनुमोदना भी नहीं करता। इसी प्रकार मन, वचन, काय के भेद से और अतीत, अनागत, वर्तमान काल के भेद से सत्ताईस प्रकार के

ટીકાર્થ—પૃથ્વીકાયમાં સ્વકાય પરકાય આદિ શસ્ત્રોનો આરંભ નહિ કરવાવાળાને એ પૂર્વોક્ત સાવદ્ય વ્યાપારરૂપ આરંભની ખબર હોય છે, તે આરંભોને જાણવાવાળા અર્થાત્ જ્ઞપરિજ્ઞાથી પૃથ્વીકાયસમ્બન્ધી આરંભોને કર્મબંધનું કારણ, તથા અનન્ત નરક નિગોદના દુઃખોનું કારણ જાણીને ચારિત્રરૂપ મોક્ષમાર્ગમાં પ્રવૃત્ત થાય છે હવે ઉપસંહાર કરે છે—

પૃથ્વીકાયના આરમ્ભને બંધનું કારણ જાણીને બુદ્ધિમાન સત્—અસત્ના ભેદને જાણવા-સમજવાવાળા, દ્રવ્યભાવરૂપ પૃથ્વીશસ્ત્રનો પોતે વ્યાપાર કરતા નથી, બીજા પાસે વ્યાપાર કરાવતા નથી, અને વ્યાપાર કરવાવાળાને અનુમોદન પણ કરતા નથી. આ પ્રમાણે મન, વચન, કાયાના ભેદથી, અને ભૂતકાળ, ભવિષ્યકાળ, વર્તમાનકાળના

समारभान् विज्ञाय सर्वान् परित्यजेत् ।

एष यस्य एते पृथिवीकर्मसमारम्भाः पृथिवीविषयाः खननकृष्यादिरूपा' सावद्यक्रियाविशेषा' परिज्ञाता भवन्ति=ज्ञपरिज्ञया कर्मबन्धहेतुत्वेन विज्ञाता, तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञया परित्यक्ता भवन्ति स एव परिज्ञातकर्मा=विदितपरित्यक्त-सकलसावद्यक्रियाविशेष मुनिर्भवति, न त्वपरो द्रव्यलिङ्गीत्यर्थः । इति ब्रवीमि= यथा भगवता कथित तथा कथयामीत्यर्थ' ॥ सू० ७ ॥

॥ इति शस्त्रपरिज्ञाध्ययने द्वितीय उद्देशः समाप्त' ॥ १-२ ॥

पृथ्वीकायसमारंभ को जानकर उसका त्याग करना चाहिए ।

इस प्रकार जो पुरुष पृथ्वीकायसम्बन्धी खोदना जोतना आदि सावद्य व्यापारो को ज्ञपरिज्ञा से कर्मबंध का कारण समझता है, और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उन का त्याग कर देता है वही परिज्ञातकर्मा और सकल सावद्य क्रियाओं को जानने वाला पुरुष मुनि कहलाता है, सिर्फ द्रव्यलिंगी मुनि नहीं कहलाता । 'त्तिबेमि' भगवान्ने जैसा कहा है वैसा ही मैं कहता हूँ ॥ ७ ॥

आचाराङ्ग-सूत्र की आचारचिन्तामणि-टीका के हिन्दी-अनुवादमें
शस्त्रपरिज्ञानामक प्रथम अध्ययनका द्वितीय उद्देश
समाप्त ॥ १-२ ॥

ભેદથી સત્તાવીસ પ્રકારના પૃથ્વીકાયના સમારંભને જાણી કરીને સર્વનો ત્યાગ કરવો જોઈએ

આ પ્રમાણે જે પુરૂષ પૃથ્વીકાયસમ્બન્ધી ખોદવું, ખેડવું આદિ સાવદ્ય વ્યાપારોને જ્ઞપરિજ્ઞાથી કર્મબંધનું કારણ સમજે છે, અને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞાથી તેનો ત્યાગ કરી દે છે, તે પરિજ્ઞાતકર્મા અને સકલસાવદ્યક્રિયાઓને જાણવાવાળા પુરૂષ મુનિ કહેવાય છે, માત્ર દ્રવ્યલિંગી મુનિ કહેવાતા નથી ભગવાને જેવું કહ્યું છે, એવું જ હું કહું છું ॥૭॥

આચારાગ સૂત્રની આચારચિંતામણિ ટીકાના ગુજરાતી અનુવાદમા
શસ્ત્રપરિજ્ઞાનામક પ્રથમ અધ્યયનનો બીજો ઉદ્દેશ
સમાપ્ત થયો ॥૧-૨॥

टीका—

अत्र=पृथिवीकाये शस्त्रं=स्वकायपरकायादिकम् असमारभमाणस्य=अव्यापारयत इत्येते=पूर्वोक्ता आरम्भाः=सावद्यक्रियाविशेषाः परिज्ञाता भवन्ति। ज्ञपरिज्ञया सर्वान् पृथिवीकायसमारम्भान् कर्मबन्धहेतुत्वेन अनन्तनरकनिगोदादिदुःखजनकत्वेन च परिज्ञाय चारित्ररूपमोक्षमार्गे प्रवर्तत इति भावः। उपसंहारमाह—

तत्=पृथिवीकायसमारम्भणं परिज्ञाय=बन्धहेतुत्वेनावबुध्य मेधावी=सदसद्विवेकी पृथिवीशस्त्रं द्रव्यभावरूप स्वय नैव समारमते अपि च—अन्यैरपि पृथिवीशस्त्रं नैव समारम्भयति, पृथिवीशस्त्र समारभमाणान् अन्यान् नैव समनुजानाति। एव मनोवाक्कायभेदेनातीतानागतवर्तमानकालभेदेन च पृथिवीकाय

टीकार्थ—पृथिवीकाय में स्वकाय परकाय आदि शस्त्रों का आरंभ न करने वाले को यह पूर्वोक्त सावद्यव्यापाररूप आरंभ ज्ञात होता है। इन आरंभों को जानने वाला अर्थात् ज्ञपरिज्ञा से पृथिवीकायसंबंधी आरंभों को कर्मबंध का कारण तथा अनन्त नरक निगोद के दुःखों का कारण जानकर चारित्ररूप मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होता है। उपसंहार करते हैं—

पृथ्वीकाय के आरंभ को बंधका कारण जानकर बुद्धिमान् सत् असत् का भेद समझने वाला, द्रव्य—भावरूप पृथ्वीशस्त्रका स्वयं व्यापार नहीं करता, दूसरे से व्यापार नहीं कराता और व्यापार करने वाले की अनुमोदना भी नहीं करता। इसी प्रकार मन, वचन, काय के भेद से और अतीत, अनागत, वर्तमान काल के भेद से सत्ताईस प्रकार के

ટીકાર્થ—પૃથ્વીકાયમાં સ્વકાય પરકાય આદિ શસ્ત્રોનો આરંભ નહિ કરવાવાળાને એ પૂર્વોક્ત સાવદ્ય વ્યાપારરૂપ આરંભની ખબર હોય છે, તે આરંભોને જાણવાવાળા અર્થાત્ જ્ઞપરિજ્ઞાથી પૃથ્વીકાયસમ્બન્ધી આરંભોને કર્મબંધનું કારણ, તથા અનન્ત નરક નિગોદના દુઃખોનું કારણ જાણીને ચારિત્રરૂપ મોક્ષમાર્ગમાં પ્રવૃત્ત થાય છે હવે ઉપસંહાર કરે છે—

પૃથ્વીકાયના આરમ્ભને બંધનું કારણ જાણીને બુદ્ધિમાન સત્—અસત્‌ના ભેદને જાણવા—સમજવાવાળા, દ્રવ્યભાવરૂપ પૃથ્વીશસ્ત્રનો પોતે વ્યાપાર કરતા નથી, બીજા પાસે વ્યાપાર કરાવતા નથી, અને વ્યાપાર કરવાવાળાને અનુમોદન પણ કરતા નથી. આ પ્રમાણે મન, વચન, કાયાના ભેદથી, અને ભૂતકાળ, ભવિષ્યકાળ, વર્તમાનકાળના

सर्वविरतिरूप पद प्राप्तो मुनि' पृथिवीकायादिसूक्ष्मजीवसमारम्भनिवृत्त्यादि-कर्तव्यतायामल्पीयोऽपि प्रमादजात स्खलन समुपेक्षते चेत् तर्हि पुनस्तत्राधिकतर स्खलन कर्तुं न लज्जते, तथाविधनियमानुसारिणी हि मनोवृत्ति', अत स्वल्पमपि सयमत स्खलन यथा न भवेत् तथा प्रयतितव्यं मुनिभि' ।

अत्र दृष्टान्त• प्रदर्श्यते—

केनचिद् बाल्यावस्थायामन्यस्य कपर्दिकामात्र स्तेयवृत्त्याऽपहृत्य स्वमातुरग्रे निहितम् । माता तदवलोक्य हृष्टा सती तस्मै मधुरं वस्तु ददौ । अथ पुन• पुन स्तेयकर्मणि प्रवृत्त' स्वमातृहस्तात् पारितोषिक प्राप्त क्रमेण

योग्यता दिखलाते हैं—सर्वविरतिरूप पदको प्राप्त मुनि पृथिवीकाय आदि छोटे-छोटे जीवों के आरंभ का त्याग करने में यदि प्रमाद के कारण थोडे से भी स्खलन की उपेक्षा करता है तो फिर और अधिक स्खलन करने में भी सकोच नहीं करता । मनोवृत्ति का ऐसा ही नियम है कि—गिरी सो गिरती ही जाती है अत एव मुनियों को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि, जिस से सयम में तनिक भी स्खलन न हो ।

इस विषय में दृष्टान्त कहते हैं—

किसी बालकने अपनी बाल्यावस्था में एक कौडी चुराकर अपनी माता के पास रख दी । माता उसे देखकर हर्षित हुई और उसने इनाम के तौर पर बालक को मीठी चीज दी । इस के बाद वह बारबार चौरी करने लगा और अपनी माता के हाथ से पारितोषिक प्राप्त करने लगा । धीरे-धीरे वह ताम्रपण (तांबे का सिक्का) कार्षापण

બતાવે છે—સર્વવિરતિરૂપ પદને પામેલા મુનિ પૃથ્વીકાય આદિ નાના-નાના જીવોના આરંભનો ત્યાગ કરવામાં જો પ્રમાદના કારણે થોડા પણ સ્ખલન (ત્રુટી)ની ઉપેક્ષા કરે છે તો ફરીને વધારે સ્ખલન કરવામાં પણ સંકોચ કરતા નથી મનોવૃત્તિનો એવોજ નિયમ છે કે—નીચે પડવા પછી વધારે નીચે પડી જાય છે એ કારણથી મુનિઓએ એવો પ્રયત્ન કરવો જોઈએ કે—જેનાથી સયમમાં થોડું પણ સ્ખલન નહીં હોય.

આ વિષયમાં દૃષ્ટાન્ત કહે છે—

કોઈ બાળકે પોતાની બાલ્યાવસ્થામા એક કોડી ચોરીને પોતાની માતાની પાસે રાખી દીધી, માતા તેને જોઈને રાજી થઈ અને તેને ઈનામ આપવાના ઢંગથી બાળકને મીઠી વસ્તુ આપી ત્યાર પછી તે બાળક વારવાર ચોરી કરવા લાગ્યો. અને પોતાની માતા પાસેથી (માતાના હાથથી) ઈનામ મેળવવા લાગ્યો. ધીરે ધીરે તે તામ્રપણ—ત્રાંબાના

अथ तृतीयोद्देशः ।

द्वितीयोद्देशे पृथिव्याः सचित्तत्वं तत्र पृथक्पृथगनेकपृथिवीकायजीवाश्रितत्वं च समाश्रितम्, तस्य हिंसया कर्मबन्धो भवतीत्युक्तम्, अन्ततश्च पृथिवीकायजीवहिंसानिवृत्त्या मुनिर्भवतीति सिद्धान्तितम् । इदानीमपां सचित्तत्वमनेकाप्कायजीवाश्रितत्वं बोधयता भगवताऽप्कायहिंसया षट्कायजीवहिंसासम्पातात् कर्मबन्धो भवति, तथाऽप्कायहिंसानिवृत्त्या च मुनित्वं लभ्यत इति बोधयितुं तृतीयोद्देशः प्रारभ्यते– 'से बेमि' इत्यादि ।

अप्कायजीवस्वरूपविचारणायां प्रथममनगारस्य योग्यतां दर्शयति–

तीसरा उद्देश

द्वितीय उद्देशक में पृथिवी की सचित्तता सिद्ध की और पृथिवी में पृथक्-पृथक् अनेक पृथिवीकाय के जीवों का रहना सिद्ध किया । यह भी बतलाया जा चुका है कि–उन जीवों की हिंसा करने से कर्म का बंध होता है । अन्त में यह भी प्रमाणित किया है कि–पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा का त्याग करने से मुनि होता है । अब यह बतलाते हैं कि–अप्काय सचित्त है, अनेक अप्काय के जीवों से आश्रित है और अप्काय की हिंसा से षट्काय के जीवों की हिंसा होती है और अप्काय की हिंसा का त्याग करने वाला मुनिपन पाता है । यह सब बतलाने के लिए तीसरा उद्देश आरंभ किया जाता है–'से बेमि' इत्यादि ।

अप्काय के जीवों के स्वरूप का विचार करते हुए सर्व प्रथम अनगार की

त्रीजो उद्देशक—

बीजा उद्देशकमां पृथ्वीनी सचित्तता सिद्ध करी छे अने पृथ्वीमां जुदा-जुदा अनेक पृथ्वीकायना जीवो रहे छे ते सिद्ध कर्युं छे ए पण बताववामां आव्युं छे के ते जीवोनी हिंसा करवाथी कर्मनो बंध थाय छे अन्तमां ए पण प्रमाणित कर्युं के पृथ्वीकायना जीवोनी हिंसानो त्याग करवाथी मुनि थाय छे हवे ते बतावे छे के:-अप्काय सचित्त छे, अनेक अप्कायना जीवोथी आश्रित छे, अने अप्कायनी हिंसाथी षट्कायना जीवोनी हिंसा थाय छे, अने अप्कायनी हिंसानो त्याग करवावाळा मुनिपणाने पामे छे ए सर्व बताववा माटे त्रीजा उद्देशकनो आरंभ करवामां आवे छे –'सेबेमि' इत्यादि

अप्कायना जीवोना स्वरूपनो विचार करता थका सौथी प्रथम अणगारनी योग्यता

सर्वविरतिरूप पदं प्राप्तो मुनिः पृथिवीकायादिसूक्ष्मजीवसमारम्भनिवृत्त्यादिकर्तव्यतायामल्पीयोऽपि प्रमादजातं स्खलनं समुपेक्षते चेत् तर्हि पुनस्तत्राधिकतरं स्खलनं कर्तुं न लज्जते, तथाविधनियमानुसारिणी हि मनोवृत्तिः, अतः स्वल्पमपि संयमतः स्खलनं यथा न भवेत् तथा प्रयतितव्यं मुनिभिः ।

अत्र दृष्टान्तः प्रदर्श्यते—

केनचिद् बाल्यावस्थायामन्यस्य कपर्दिकामात्रं स्तेयवृत्त्याऽपहृत्य स्वमातुरग्रे निक्षिप्तम् । माता तदवलोक्य हृष्टा सती तस्मै मधुरं वस्तु ददौ । अथ पुनः पुनः स्तेयकर्मणि प्रवृत्तः स्वमातृहस्तात् पारितोषिकं प्राप्तः क्रमेण

योग्यता दिखलाते हैं—सर्वविरतिरूप पदको प्राप्त मुनि पृथिवीकाय आदि छोटे-छोटे जीवों के आरंभ का त्याग करने में यदि प्रमाद के कारण थोडे से भी स्खलन की उपेक्षा करता है तो फिर और अधिक स्खलन करने में भी संकोच नहीं करता । मनोवृत्ति का ऐसा ही नियम है कि—गिरी सो गिरती ही जाती है अत एव मुनियों को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि, जिस से संयम में तनिक भी स्खलन न हो ।

इस विषय में दृष्टान्त कहते हैं—

किसी बालकने अपनी बाल्यावस्था में एक कौडी चुराकर अपनी माता के पास रख दी । माता उसे देखकर हर्षित हुई और उसने इनाम के तौर पर बालक को मीठी चीज दी । इस के बाद वह बारबार चौरी करने लगा और अपनी माता के हाथ से पारितोषिक प्राप्त करने लगा । धीरे-धीरे वह ताम्रपण (तांबे का सिक्का) कार्षापण

બતાવે છે—સર્વવિરતિરૂપ પદને પામેલા મુનિ પૃથ્વીકાય આદિ નાના-નાના જીવોના આરંભનો ત્યાગ કરવામાં જો પ્રમાદના કારણે થોડા પણ સ્ખલન (ત્રુટી)ની ઉપેક્ષા કરે છે તો ફરીને વધારે સ્ખલન કરવામાં પણ સંકોચ કરતા નથી. મનોવૃત્તિનો એવોજ નિયમ છે કે—નીચે પડવા પછી વધારે નીચે પડી જાય છે એ કારણથી મુનિઓએ એવો પ્રયત્ન કરવો જોઇએ કે—જેનાથી સંયમમાં થોડું પણ સ્ખલન નહી હોય.

આ વિષયમાં દૃષ્ટાન્ત કહે છે—

કોઈ બાળકે પોતાની બાલ્યાવસ્થામાં એક કોડી ચોરીને પોતાની માતાની પાસે રાખી દીધી, માતા તેને જોઇને રાજી થઈ અને તેને ઈનામ આપવાના ઢંગથી બાળકને મીઠી વસ્તુ આપી. ત્યાર પછી તે બાળક વારંવાર ચોરી કરવા લાગ્યો. અને પોતાની માતા પાસેથી (માતાના હાથથી) ઈનામ મેળવવા લાગ્યો. ધીરે ધીરે તે તામ્રપણ—ત્રાંબાના

ताम्रपण–कार्षापण–रूप्यक – दीनार–रत्न – स्वर्ण–मणि– माणिक्यादिहरणप्रवीणः कस्यचिन्नृपस्य कोशागारं प्रविष्टः । ततः प्रचण्डभुजदण्डकैस्तद्रक्षकैः सचोरोऽपि धृतो राजान्तिकं समानीतः । तदपराधं विज्ञाय क्रोधाविष्टेन राज्ञा समादिष्टम्–अयं चौरः शूले समारोप्यताम्, इति ।

असौ पृष्टश्च राज्ञा–तव काचिदिच्छा वर्तते? चेद् ब्रूहि । चौरेणोक्तम्–राजन्! स्वमातुर्मिलनं प्रार्थये । अथ नृपाज्ञया तज्जननी तत्रागत्य मिलिता । स चौरस्तत्र राज्ञः समक्षमेव सवेगमुत्थाय सत्वरं मातुर्नासिकां दन्तैश्चिच्छेद । ततोऽसौ राज्ञा पृष्टः–त्वया कथमेवं दुश्चरितमाचरितम्? । चौरोऽवदत्–इयमेव मम

(चौअन्नी) रुपया, दीनार (सुवर्ण–मुहर), रत्न, सुवर्ण, मणि, माणिक आदि चुराने में भी प्रवीण हो गया । वह किसी राजा के खजाने में घुसा । खजाने के बलवान् पहरेदारों ने उसे पकड़ लिया और राजा के सामने पेश किया । राजा उसका अपराध सुनकर क्रोधित हुआ, उसने आज्ञा दी–'इस चोर को शूली पर चढा दो' ।

राजाने उस से पूछा–अगर तुम्हारी कोई इच्छा हो तो कहो।

चोरने कहा–' महाराज ! मैं अपनी माता से मिलने की प्रार्थना करता हूँ ।

राजा की आज्ञा से चोर की माता वहाँ आकर मिली । चौरने राजा के सामने ही वेग के साथ उठ कर जल्दी से अपनी माता की नाक दांतो से काटली । यह देखकर राजाने पूछा–अरे! तूने यह दुष्कर्म क्यों किया ?

સિક્કા, ચાર આની, રૂપિઆ, સોના મહોર, રત્ન, સોનું, મણિ, માણેક આદિ ચોરવામાં પણ પ્રવીણ થઈ ગયો. (કેટલાક સમય જતા) તે કોઈ રાજાના ખજાનામાં ઘુસી ગયો. ખજાનાના બલવાન્ પહેરેદારે રક્ષકોએ તેને પકડી લીધો અને રાજાની સામે-હાજર કર્યો રાજા તેનો અપરાધ સાંભળીને ક્રોધાયમાન થયા, અને આજ્ઞા આપી કે એ ચોરને શૂલી પર ચઢાવી દો!

રાજાએ તેને પૂછ્યું કે તારી કાંઈ ઇચ્છા હોય તો કહો.

ચોરે કહ્યુ–' મહારાજ! હું મારી માતાને મળવાની પ્રાર્થના કરૂં છું '

રાજાની આજ્ઞાથી ચોરની માતા ત્યાં આગળ આવી. અને ચોરને મળી, ચોરે રાજાના સામેજ વેગથી એકદમ ઉઠીને જલ્દીથી પોતાની માતાનું નાક પોતાના દાંતથી કાપી લીધું. તે જોઈને રાજાએ પૂછ્યું–અરે! તે આવું દુષ્કર્મ શા માટે કર્યું ?

तद्घोरतरदु.खमदशूलारोपणफलप्रदात्री प्राणापहर्त्री, न तु भवान् । इत्युक्त्वा सर्वं पूर्ववृत्त राज्ञे विज्ञापयामास । तत' स्वकृतस्तेयकर्मणो विपाक शूलारोपेण घोरतरवेदना प्राप्नुवन्मृत । तस्मात् स्वल्पोऽपि दोषो महाऽनर्थाय भवतीति विज्ञायात्मार्थिभिर्मुनिभि. सयमत. स्वल्पमपि स्खलनं यथा न भवेत् तथा वर्तितव्यम् ।

तप'संयमे कदाचिदाकस्मिकस्खलनसपातस्त्वन्य एव, स्खलनोपेक्षणमप्यन्यदेव, यतः स्खलनोपेक्षया पुनरुत्तरोत्तरस्खलनवृद्ध्या साधुत्वमेव नश्यतीति विचिन्त्य जागरूका' साधवो नवनवागन्तुकस्खलनपरंपराविरहिता. पूर्वजातस्खलन-

---

चोर—महाराज ! इसी के कारण मुझे घोर दु ख देने वाली शूली पर चढना पड रहा है, यही मेरे प्राण लेने वाली है, आप नहीं । यह कह कर चोरने अपना सम्पूर्ण पूर्व—वृत्तांत राजा को सुना दिया ।

तत्पश्चात् अपने किये चौर्य कर्म का घोरवेदनारूप फल—शूली पर चढनरूप—को भोगता हुआ वह चोर मर गया ।

अत एव थोडा—सा भी दोष महान् अनर्थ का कारण बन जाता है, ऐसा समझकर आत्मकल्याण के अभिलाषी मुनियों को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि जिस से संयम में तनिक भी स्खलन न हो ।

तप और सयम में कदाचित् अकस्मात् स्खलना की बात दूसरी है किन्तु स्खलना की उपेक्षा करना और बात है, उस का कारण यह है कि स्खलना की उपेक्षा करने से उत्तरोत्तर स्खलना बढती ही चली जाती है, ऐसा विचार करके सदैव सावधान

ચોર કહે—મહારાજ ! એ માતાના કારણે જ મારે ઘોર દુઃખ આપવાવાળી શૂલી ઉપર ચઢવાનું થાય છે, એ મારો પ્રાણ લેવાવાળી છે, આપ નહિ આ પ્રમાણે કહીને ચોરે પોતાની આગળની સંપૂર્ણ હકીકત રાજાને સંભળાવી. તે પછી પોતાનું કરેલ ચોરીનું કર્મનું ઘોરવેદનારૂપ ફલ—શૂલી પર ચઢવાનું, તે ભોગવતો થકો તે ચોર મરણ પામ્યો.

એટલે કે—થોડા પણ દોષ મહાન્ અનર્થનું કારણ બની જાય છે એ પ્રમાણે સમજીને આત્મકલ્યાણના અભિલાષી મુનિઓએ એવો પ્રયત્ન કરવો જોઈએ કે, જેનાથી સંયમમાં થોડુંક પણ સ્ખલન ન થાય

તપ અને સંયમમાં કોઈ વખત અકસ્માત્ સ્ખલનની વાત જૂદી છે પણ સ્ખલનની ઉપેક્ષા કરવી તે બીજી વાત છે તેનું કારણ એ છે કે—સ્ખલનની ઉપેક્ષા કરવાથી ઉત્તરોત્તર સ્ખલન (ભૂલ) વધતું જ જાય છે એવો વિચાર કરીને સદૈવ—હંમેશા સાવધાન રહેવાવાળા

ताम्रपण–कार्षापण–रूप्यक – दीनार–रत्न – स्वर्ण–मणि– माणिक्यादिहरणप्रवीणः कस्यचिन्नृपस्य कोशागार प्रविष्टः । ततः प्रचण्डभुजदण्डैस्तद्रक्षकैः सघोषणं धृतो राजान्तिकं समानीतः । तदपराधं विज्ञाय क्रोधाविष्टेन राज्ञा समादिष्टम्–अयं चौरः शूले समारोप्यताम्, इति ।

असौ पृष्टश्च राज्ञा–तव काचिदिच्छा वर्तते ? चेद् ब्रूहि । चौरेणोक्तम्–राजन् ! स्वमातुर्मिलनं प्रार्थये । अथ नृपाज्ञया तज्जननी तत्रागत्य मिलिता । स चौरस्तत्र राज्ञः समक्षमेव सवेगमुत्थाय सत्वरं मातुर्नासिकां दन्तैश्चिच्छेद । ततोऽसौ राज्ञा पृष्टः–त्वया कथमेवं दुश्चरितमाचरितम् ? । चौरोऽवदत्–इयमेव मम

(चौअन्नी) रुपया, दीनार (सुवर्ण–मुहर), रत्न, सुवर्ण, मणि, माणिक आदि चुराने में भी प्रवीण हो गया । वह किसी राजा के खजाने में घुसा । खजाने के बलवान् पहरेदारों ने उसे पकड़ लिया और राजा के सामने पेश किया । राजा उसका अपराध सुनकर क्रोधित हुआ, उसने आज्ञा दी–' इस चोर को शूली पर चढा दो ' ।

राजाने उस से पूछा–अगर तुम्हारी कोई इच्छा हो तो कहो।

चोरने कहा–' महाराज ! मैं अपनी माता से मिलने की प्रार्थना करता हूँ ।

राजा की आज्ञा से चोर की माता वहाँ आकर मिली । चौरने राजा के सामने ही वेग के साथ उठ कर जल्दी से अपनी माता की नाक दांतों से काटली । यह देखकर राजाने पूछा–अरे ! तूने यह दुष्कर्म क्यों किया ?

सिक्का, चार आनी, रूपिया, सोना महोर, रत्न, सोनु, मणि, माणेक आदि चोरवामां पण प्रवीण थई गयो। (केटलोक समय जता) ते कोई राजाना खजानामां घुसी गयो. खजानाना बलवान् पहेरेदारो रक्षकोए तेने पकडी लीधो अने राजानी सामे हाजर कर्यो राजा तेनो अपराध सांभळीने क्रोधायमान थया, अने आज्ञा आपी के आ चोरने शूली पर चढावी द्यो !

राजाए तेने पूछ्यु के तारी कांई इच्छा होय तो कहो.

चोरे कह्यु–' महाराज ! हुं मारी माताने मळवानी प्रार्थना करुं छु '

राजानी आज्ञाथी चोरनी माता त्यां आगळ आवी. अने चोरने मळी, चोरे राजाना सामेज वेगथी एकदम उठीने जल्दीथी पोतानी मातानु नाक पोताना दांतथी कापी लीधु. ते जोईने राजाए पूछ्यु–अरे ! ते आवुं दुष्कर्म शा माटे कर्यु ?

श्रुव तत् कथयामि । स पृथिवीकायशस्त्रमसमारभमाणः परिज्ञातपृथिवीकर्मसमारम्भो यथा सपूर्णोऽनगारो भवति, अपिच-यथाऽनगारो न भवति, तद् द्वयमपि ब्रवीमि, वक्ष्यति च-'अणगारामोत्ति एगे पवयमाणा' इत्यादि। सावद्यक्रियाया गृहाश्रयत्वाद् गृहपरित्याग एव मुनित्वे प्रधानकारणमिति बोधनाय साध्वादिशब्दं परित्यज्य 'अनगार'-शब्दोपादानम्। कथ सर्वथाऽनगारो भवति ? इत्याकाङ्क्षायामाह—

'उज्जुकडे' इति, ऋजुकृत., अर्जयति क्षान्त्यादिगुणानिति ऋजु। यद्वा-अर्जयति-सकलप्राणिगणहित दयास्वभावमिति ऋजु.। यदिवा-अर्जयति=यथावस्थितात्मस्वरूप प्रापयतीति ऋजु। यद्वा-अर्जयति=प्रापयति शाश्वतिक

प्रकार पूर्ण अनगार होता है, और जिस प्रकार पूर्ण अनगार नहीं होता, ये दोनों बातें मैं कहता हूँ-'अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा' इत्यादि सूत्र में आगे कहा जायगा।

गृह में सावद्यक्रिया अवश्य होती है, अत एव गृह का त्याग करना ही मुनिपन का प्रधान कारण है। यह बात प्रकट करने के लिए साधुवाचक अन्य शब्द छोडकर यहाँ अनगार शब्द का प्रयोग किया है। पूरा अनगार किस प्रकार बनता है, ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं-'उज्जुकडे' इति।

उज्जुकडे का सस्कृत रूप है 'ऋजुकृत'। क्षमा आदि गुणों को उपार्जन करने वाला ऋजु कहलाता है। अथवा समस्त प्राणियों के हितरूप दया को उपार्जन करने वाला ऋजु कहलाता है। अथवा आत्मा को अपने असली स्वरूप पर पहुचाने

અણુવાવાળા પુરૂષ, જે પ્રમાણે પૂર્ણ અણુગાર થાય છે અને જે પ્રમાણે પૂર્ણ અણુગાર નથી થતા, તે બન્ને વાતો હુ કહુ છુ -'अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा' ઇત્યાદિ સૂત્રમાં આગળ કહેવામા આવશે.

ઘરમા સાવદ્યક્રિયા અવશ્ય થાય છે એટલા માટે ઘરનો ત્યાગ કરવો તેજ મુનિપણાનું પ્રધાન કારણ છે એ વાત પ્રગટ કરવા માટે સાધુવાચક અન્ય શબ્દ ત્યજીને અહિં 'अनगार' શબ્દનો પ્રયોગ કર્યો છે પૂરા અણુગાર કેવી રીતે બને છે, એવી ઇચ્છા થવાથી કહે છે—'उज्जुकडे' ઇતિ

'उज्जुकडे'નુ સસ્કૃત રૂપ 'ऋजुकृत' થાય છે ક્ષમા આદિ ગુણોનુ ઉપાર્જન કરવાવાળા ઋજુ (સરલ-સિધા) કહેવાય છે અથવા સમસ્ત પ્રાણીઓના હિતરૂપ દયાને ઉપાર્જન કરવાવાળા ઋજુ કહેવાય છે અથવા આત્માને અસલ સ્વરૂપ સુધી પહોચાડવા

दोषमपनेतुं शक्नुवन्ति । तदेव विशदयन् सुधर्मा स्वामी माह–'से बेमि' इत्यादि ।

द्वितीयोद्देशसमाप्तौ "जस्सेते पुढविकम्मसमारम्भा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मा" इत्युक्तम् । अधुना तु–न च तावतैव सर्वथा मुनिर्भवितुमर्हति। यथा भवति तथा दर्शयितु श्रीसुधर्मा स्वामी माह–' से बेमि ' इत्यादि ।

॥ मूलम् ॥

से बेमि–से जहावि अणगारे उज्जुकडे नियागपडिवण्णे अमायं कुव्वमाणे वियाहिए ॥ सू० १ ॥

॥ छाया ॥

तद् ब्रवीमि स यथापि अनगार ऋजुकृतः नियागप्रतिपन्नः अमायां कुर्वाणो व्याख्यातः ॥ सू० १ ॥

॥ टीका ॥

'से बेमि' इत्यादि । तद् ब्रवीमि यदन्यच्च भगवदन्तिके मया

रहने वाले साधु नयी–नयी होने वाली स्खलना के दोषों से बच सकते हैं । यही बात स्पष्ट करते हुए सुधर्मा स्वामी आगे कहते हैं–'से बेमि' इत्यादि ।

मूलार्थ (भगवान् के मुखारविन्द से जो सुना है,) सो कहता हूँ–ऋजुकृत मोक्षमार्ग में प्राप्त और माया न करने वाला अनगार कहा गया है ॥ सू १ ॥

टीकार्थ—भगवान् के समीप और भी जो सुना है वह कहता हूँ । पृथ्वीकाय के विषय में शस्त्र का आरम न करने वाला पृथ्वीकाय के आरंभ को जानने वाला पुरुष जिस

સાધુ–નવી નવી થવાવાળી સ્ખલના દોષોથી બચી શકે છે, એ વાત સ્પષ્ટ કરીને સુધર્મા સ્વામી આગળ કહે છે–' से बेमि ' ઇત્યાદિ

બીજા ઉદ્દેશકની સમાપ્તિમાં કહ્યું હતું કે –જે પુરૂષ પૃથ્વીકાયના આરંભને જાણીને તેનો ત્યાગ કરી આપે છે, તે મુનિ છે અહિં એ બતાવવામાં આવે છે કે – આટલું કરવા માત્રથી જ કોઈ પૂરી રીતે મુનિ થઇ શકતા નથી, મુનિ થવાને માટે બીજી –જે જે વાતોની (જાણવાની) આવશ્યકતા છે, તેને સુધર્મા સ્વામિ કહે છે–'से बेमि' ઇત્યાદિ.

સૂત્રાર્થ—(ભગવાનના મુખારવિંદથી જે સાંભળ્યુ છે) તે કહું છુ — ઋજુકૃત, મોક્ષમાર્ગમાં પ્રાપ્ત અને માયા નહિ કરવાવાળા અણગાર કહ્યા છે (૧)

ટીકાર્થ—ભગવાનની પાસેથી બીજુ પણ જે સાંભળ્યુ છે, તે કહું છુ — પૃથ્વીકાયના વિષયમાં શસ્ત્રનો આરંભ નહિ કરવાવાળા, પૃથ્વીકાયના આરંભને

तथा नियागप्रतिपन्नः, नि=निश्चयेन यजति=सम्यग्गमनं कुर्वन्ति यत्र स नियाग'=मोक्षमार्गः ज्ञानक्रियालक्षणः । यद्वा-नि=निश्चयेन यजति=ददाति सिद्धिगतिमिति नियागः=क्षान्त्यादिदशविधो यतिधर्मः, तं प्रतिपन्नः=प्राप्तः ।

तथा 'अमायां कुर्वाणः' माया=वीर्याचारसंगोपनं परवञ्चनं वा, न माया अमाया, तां कुर्वाणः अनगारो व्याख्यातः=भगवता कथितः ।

अयं भावः—न केवलं पृथिवीशस्त्रसमारम्भमात्रनिवृत्त्याऽनगारो भवति किन्तु यः खलु पृथिवीशस्त्रसमारम्भनिवृत्त' परिज्ञातसकलसावद्यकर्मा निरव-

अब 'नियागप्रतिपन्न' शब्दका अर्थ करते हैं । 'नि' अर्थात् निश्चय से 'याग' अर्थात् सम्यक् गमन जहाँ किया जाता है उसे 'नियाग' या मोक्षमार्ग कहते है । ज्ञान और क्रिया मोक्ष का मार्ग है ।

अथवा 'नि' अर्थात् निश्चय से 'याग' अर्थात् सिद्धिगति देने वाला क्षमा आदि दश प्रकार का यतिधर्म 'नियाग' कहलाता है, ऐसे नियाग को जो प्राप्त हो चुका हो वह नियागप्रतिपन्न है ।

तथा माया अर्थात् वीर्याचर का गोपन करना या दूसरे को धोखा देना माया है । इस माया का सेवन न करने वाला जो वही अनगार है, ऐसा भगवान् ने कहा है ।

तात्पर्य यह है कि—केवल पृथ्वीशस्त्र के आरंभ का त्याग कर देने मात्र से ही कोई अनगार नहीं हो जाता, वरन् जो पृथ्वीशस्त्र के आरंभ का त्याग कर के सकल

હવે 'नियागप्रतिपन्न' શબ્દનો અર્થ કરે છે 'नि' અર્થાત્ નિશ્ચયથી 'याग' અર્થાત્ સમ્યક્ગમન જ્યાં કરવામાં આવે છે તેને નિયાગ અથવા મોક્ષમાર્ગ કહે છે જ્ઞાન અને ક્રિયા મોક્ષનો માર્ગ છે અથવા 'नि' અર્થાત્ નિશ્ચયથી 'याग' અર્થાત્ સિદ્ધગતિ આપવાવાળો ક્ષમા આદિ દસ પ્રકારનો યતિધર્મ 'नियाग' કહેવાય છે એવા નિયાગને જે પ્રાપ્ત થઈ ચૂક્યા છે, તે नियागप्रतिपन्न છે તથા માયા અર્થાત્ વીર્યાચરનું ગોપન કરવું અથવા બીજાને ધોખો દેવો તે માયા છે તે માયાનું સેવન નહિ કરવાવાળા જે હોય તે અણગાર છે એ પ્રમાણે ભગવાને કહ્યું છે

તાત્પર્ય એ છે કે—કેવલ પૃથ્વીશસ્ત્રના આરંભનો ત્યાગ કરી દેવા માત્રથીજ કોઇ અણગાર થતા નથી ... જે પૃથ્વીશસ્ત્રના આરંભનો ત્યાગ કરીને, સકલ સાવદ્ય કર્મોનો

शिवस्थानमिति — ऋजुः = विषमभावरहितत्वाद् दुष्प्रणिहितमनोवाक्कायनिरोधरूपः संयमः, स कृतः=अनुष्ठितो येन स ऋजुकृतः-मनोवाक्कायजन्यसकलसावद्य क्रियानिवृत्त इत्यर्थः।

यद्वा—संपूर्णसंवरस्वरूपसंयमेन संयमिना मोक्षस्थानगमनार्थं ऋजुगतिः प्राप्यते, तत्र ऋजुगतेः कारणं संयम इति कारणे कार्योपचारात्सप्तदशविध संयमोऽपि ऋजुरित्युच्यते, स कृतः=समाचरितो येनासौ ऋजुकृतः कृतसंपूर्ण संयमानुष्ठान इत्यर्थः।

वाला ऋजु कहलाता है। अथवा आत्मा को शाश्वत मोक्षस्थान पर पहुँचाने वाला ऋजु कहलाता है। अथवा ऋजु का अर्थ है—संयम। मन, वचन, काय के खोटे व्यापार को रोकनारूप संयम है। जिस ने एसा व्यापार रोक दिया है वह ऋजुकृत कहलाता है। अर्थात् जो मन, वचन और काय से होने वाली समस्त सावद्य क्रियाओं से निवृत्त हो गया हो वह 'ऋजुकृत' है।

अथवा—सम्पूर्णसंवररूप संयम के द्वारा संयमी मोक्ष में गमन करने के लिए ऋजुगति प्राप्त करता है। इस ऋजुगति का कारण संयम है। अतः कारण में कार्य का उपचार करने से सत्रह प्रकार का संयम भी 'ऋजु' कहलाता है। उस 'ऋजु' अर्थात् संयम का जिसने आचरण किया हो वह 'ऋजुकृत' कहलाता है। तात्पर्य यह है कि पूर्ण संयम का अनुष्ठान करने वाला ऋजुकृत है।

વાળા ઋજુ કહેવાય છે અથવા આત્માને શાશ્વત મોક્ષસ્થાન પર પહોંચાડવાવાળા ઋજુ કહેવાય છે અથવા ઋજુનો અર્થ છે સંયમ-મન, વચન અને કાયના ખોટા વ્યાપારને રોકવા રૂપ સંયમ છે જેણે એવો વ્યાપાર રોકી આપ્યો છે તે 'ઋજુકૃત' કહેવાય છે અર્થાત્ જે મન, વચન અને કાયાથી થવાવાળી સમસ્ત સાવદ્ય ક્રિયાઓથી નિવૃત્ત થઈ ગયા હોય તે ઋજુકૃત છે

અથવા—સંપૂર્ણસંવરરૂપ સંયમદ્વારા સંયમી મોક્ષમાં ગમન કરવા માટે ઋજુગતિ પ્રાપ્ત કરે છે તે ઋજુગતિનું કારણ સંયમ છે તેથી કારણમાં કાર્યનો ઉપચાર કરવાથી સત્તર (૧૭) પ્રકારનો સંયમ પણ 'ઋજુ' કહેવાય છે તે ઋજુ અર્થાત્ સંયમનું જેણે આચરણ કર્યું છે તે 'ઋજુકૃત' કહેવાય છે તાત્પર્ય એ છે કે પૂર્ણ-સંયમનું અનુષ્ઠાન કરવાવાળા ઋજુકૃત છે.

तथा नियागप्रतिपन्न, नि=निश्चयेन यजति=सम्यग्गमनं कुर्वन्ति यत्र स नियागः=मोक्षमार्गः ज्ञानक्रियालक्षणः। यद्वा-नि=निश्चयेन यजति=ददाति सिद्धिगतिमिति नियागः=क्षान्त्यादिदशविधो यतिधर्मः, तं प्रतिपन्नः=प्राप्तः।

तथा 'अमायां कुर्वाणः' माया=वीर्याचारसंगोपनं परवञ्चनं वा, न माया अमाया, तां कुर्वाणः अनगारो व्याख्यातः=भगवता कथितः।

अयं भावः-न केवलं पृथिवीशस्त्रसमारम्भमात्रनिवृत्त्याऽनगारो भवति किन्तु यः खलु पृथिवीशस्त्रसमारम्भनिवृत्तः परिज्ञातसकलसावद्यकर्मा निरव-

---

अब 'नियागप्रतिपन्न' शब्दका अर्थ करते हैं। 'नि' अर्थात् निश्चय से 'याग' अर्थात् सम्यक् गमन जहाँ किया जाता है उसे 'नियाग' या मोक्षमार्ग कहते हैं। ज्ञान और क्रिया मोक्ष का मार्ग है।

अथवा 'नि' अर्थात् निश्चय से 'याग' अर्थात् सिद्धिगति देने वाला क्षमा आदि दश प्रकार का यतिधर्म 'नियाग' कहलाता है, ऐसे नियाग को जो प्राप्त हो चुका हो वह नियागप्रतिपन्न है।

तथा माया अर्थात् वीर्याचर का गोपन करना या दूसरे को धोखा देना माया है। इस माया का सेवन न करने वाला जो वही अनगार है, ऐसा भगवान् ने कहा है।

तात्पर्य यह है कि-केवल पृथ्वीशस्त्र के आरंभ का त्याग कर देने मात्र से ही कोई अनगार नहीं हो जाता, वरन् जो पृथ्वीशस्त्र के आरंभ का त्याग कर के सकल

હવે 'नियागप्रतिपन्न' શબ્દનો અર્થ કરે છે 'नि' અર્થાત્ નિશ્ચયથી 'याग' અર્થાત્ સમ્યક્ગમન જ્યાં કરવામાં આવે છે તેને નિયાગ અથવા મોક્ષમાર્ગ કહે છે જ્ઞાન અને ક્રિયા મોક્ષનો માર્ગ છે અથવા 'नि' અર્થાત્ નિશ્ચયથી 'याग' અર્થાત્ સિદ્ધગતિ આપવાવાળો ક્ષમા આદિ દસ પ્રકારનો યતિધર્મ 'नियाग' કહેવાય છે એવા નિયાગને જે પ્રાપ્ત થઇ ચૂકયા છે, તે नियागप्रतिपन्न છે તથા માયા અર્થાત્ વીર્યાચરનું ગોપન કરવું અથવા બીજાને ધોખો દેવો તે માયા છે તે માયાનું સેવન નહિ કરવાવાળા જે હોય તે અણગાર છે એ પ્રમાણે ભગવાને કહ્યું છે

તાત્પર્ય એ છે કે-કેવલ પૃથ્વીશસ્ત્રના આરંભનો ત્યાગ કરી દેવા માત્રથીજ કોઇ અણગાર થતા નથી. પરન્તુ જે પૃથ્વીશસ્ત્રના આરંભનો ત્યાગ કરીને, સકલ સાવદ્ય કર્મોનો

शेषसयमानुष्ठानप्रवृत्तः समाश्रितमोक्षमार्ग. कर्पूरखण्डवदन्तर्बहिरेकरूपतया स्ववीर्यसंगोपन-परवञ्चनलक्षणमायाचाररहितो भवति स एव वस्तुतोऽनगारो बोद्धव्य इति ॥ सू० १ ॥

उक्तरूपस्यानगारस्य कर्तव्यमाह—'जाए' इत्यादि ।

॥ मूलम् ॥

जाए सद्धाए निक्खतो तमेव अणुपालिज्जा विजहित्ता विसोत्तियं पुव्वसजोगं ॥ सू० २ ॥

॥ छाया ॥

यया श्रद्धया निष्कान्तस्तामेवानुपालयेत् विस्रोतसिकां पूर्व सयोगम् ॥ २ ॥

॥ टीका ॥

यया श्रद्धया विस्रोतसिका=शङ्कां, सर्वशङ्कां देशशङ्कां चेत्यर्थ ।

सावद्य कार्यों का ज्ञाता होता है और पूर्ण संयम के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो तथा मोक्षमार्ग का आश्रय लेता है । कपूर के टुकड़े की भाँति भीतर—बाहर एकसा उज्ज्वल होने के कारण अपनी शक्ति का गोपन नहीं करता और दूसरों को धोखा नहीं देता अर्थात् मायाचार से रहित होता है, उसी को वास्तव में अनगार समझना चाहिए ॥ सू १ ॥

उक्त प्रकार के अनगार का कर्तव्य बतलाते हैं–'जाए' इत्यादि ।

मूलार्थ—शङ्का काङ्क्षा आदि का त्याग कर के और पूर्वकालीक संयोगों का त्याग कर के जिस श्रद्धा के साथ निकला है, उसी श्रद्धा का निरन्तर पालन करे ॥ सू २ ॥

टीकार्थ—'विस्रोतसिका' का अर्थ है शङ्का, शङ्का दो प्रकार की हैं (१) सर्वशङ्का

જ્ઞાતા—જાણનાર થાય છે અને પૂર્ણ સયમના અનુષ્ઠાનમા પ્રવૃત્ત થાય છે, તથા મોક્ષ માર્ગનો આશ્રય લે છે કપૂરના ટુકડાની માફક અન્દર અને બહાર એકજ પ્રકારે ઉજ્જ્વલ હોવાના કારણે પોતાની શક્તિનું ગોપન કરતો નથી અને બીજાને ઠગો દેતો નથી. અર્થાત્ માયાચારથી રહિત હોય છે, તેને વાસ્તવિક રીતે અણગાર સમજવો જોઈએ (સૂ. ૧)

ઉપર કહ્યા તેવા અણગારનું કર્તવ્ય બતાવે છે –'જાए' ઈત્યાદિ

મૂલાર્થ—શકા, કાંક્ષા વગેરેનો ત્યાગ કરીને અને પૂર્વ કાલના સયોગોનો ત્યાગ કરીને જે શ્રદ્ધાથી નિકળ્યા છે, તે શ્રદ્ધાનું નિરતર પાલન કરવું (સૂ. ૨)

ટીકાર્થ—'વિસ્રોતસિકા'નો અર્થ છે શકા, શકા બે પ્રકારની છે–(૧) સર્વશકા

"किमार्हतो मार्गोऽस्ति न वा" इति सर्वागमविषयका शङ्का सर्वशङ्का, तथा-"किमप्कायादयो जीवाः सन्ति न वा" इति देशशङ्का।

केवलालोकेन विलोक्य भगवता विशिष्य प्रवचने कथितत्वात् अप्कायादयः सन्ति जीवाः, इति पूर्वा कोटिः, चेतनारूपात्मलक्षणस्य सुस्पष्टमनुपलब्धेर्न सन्ति अप्कायादयो जीवा, इत्युत्तरा कोटिः प्रादुर्भवति। पूर्वसंयोगं=मातापित्रादिसम्बन्धं, धनधान्यस्वजनादिसम्बन्धं वा।

इदमुपलक्षणम्-तेन पश्चात्संयोगमपि श्वशुरादिकृतं विहाय=परित्यज्य निष्क्रान्तः=अनगारो जातः, तां श्रद्धाम् अनुपालयेदेव निरतिचारं रक्षेदित्यर्थः।

और (२) देशशङ्का। अर्हन्त भगवान द्वारा प्ररूपित मार्ग वास्तव में मोक्षमार्ग है या नहीं? ऐसी-शङ्का सर्वशङ्का है। अप्काय आदि के जीव हैं या नहीं?' यह देश शङ्का है।

भगवान्ने केवल ज्ञान से देखकर प्रवचन में अप्काय आदि के जीवों का अस्तित्व प्रगट किया है, यह शङ्का की पूर्वकोटि है। आत्मा का चेतनालक्षण स्पष्ट रूप से नहीं पाया जाता, अत एव अप्काय आदि अजीव हैं, यह शङ्का की दूसरी कोटि है।

माता, पिता आदि का संबंध तथा धन, धान्य, स्वजन आदि का संबंध पूर्वसंयोग। कहलाता है। उपलक्षण से सास-ससुर आदि का संबंध पश्चात्संयोग कहलाता है। इन दोनों संयोगों को त्याग कर के जिस श्रद्धा के साथ अनगार हुआ है उसी श्रद्धा का पालन करे अर्थात् उस की निरतिचार रक्षा करे।

અને (૨) દેશશંકા 'અર્હન્ત ભગવાન દ્વારા પ્રરૂપિત માર્ગ વાસ્તવિક રીતે મોક્ષ માર્ગ છે કે નહી?' આ પ્રકારની શંકા તે સર્વશંકા છે અપ્કાય આદિના જીવ છે કે નહી? આ દેશશંકા છે

ભગવાને કેવલજ્ઞાન વડે જોઈને પ્રવચનમા અપ્કાય આદિના જીવોનુ અસ્તિત્વ પ્રગટ કર્યું છે, આ શંકાની પૂર્વકોટિ છે આત્માનું ચેતનાલક્ષણ સ્પષ્ટરૂપથી જોવામાં આવતું નથી તેથી અપ્કાય આદિ અજીવ છે, આ શંકાની બીજી કોટિ છે

માતા-પિતા આદિનો સબંધ તથા ધન, ધાન્ય સ્વજન આદિનો સબંધ પૂર્વ-સંયોગ કહેવાય છે, ઉપલક્ષણથી સાસુ, સાસરા આદિનો સબંધ પશ્ચાત્સંયોગ કહેવાય છે આ બન્ને સંયોગનો ત્યાગ કરીને જે શ્રદ્ધાથી અણગાર થયા છે, તે શ્રદ્ધાનું પાલન કરે, અર્થાત્ તેની નિરતિચાર (વિના અતિચાર) રક્ષા કરે.

शेषसयमानुष्ठानप्रवृत्तः समाश्रितमोक्षमार्गः कर्पूरखण्डवदन्तर्बहिरेकरूपतया स्ववीर्यसंगोपन–परवञ्चनलक्षणमायाचाररहितो भवति स एव वस्तुतोऽनगारो बोद्धव्य इति ॥ सू० १ ॥

उक्तरूपस्यानगारस्य कर्त्तव्यमाह—'जाए' इत्यादि ।

॥ मूलम् ॥

जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिज्जा विजहित्ता विसोत्तियं पुव्वसंजोगं ॥ सू० २ ॥

॥ छाया ॥

यया श्रद्धया निष्क्रान्तस्तामेवानुपालयेत् विस्रोतसिकां पूर्वं संयोगम् ॥ २ ॥

॥ टीका ॥

यया श्रद्धया विस्रोतसिका=शङ्का, सर्वशङ्का देशशङ्का चेत्यर्थः ।

सावद्य कार्यों का ज्ञाता होता है और पूर्ण संयम के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो तथा मोक्षमार्ग का आश्रय लेता है । कपूर के टुकड़े की भाँति भीतर–बाहर एकसा उज्ज्वल होने के कारण अपनी शक्ति का गोपन नहीं करता और दूसरों को धोखा नहीं देता अर्थात् मायाचार से रहित होता है, उसी को वास्तव में अनगार समझना चाहिए ॥ सू. १ ॥

उक्त प्रकार के अनगार का कर्त्तव्य बतलाते हैं–'जाए' इत्यादि ।

मूलार्थ—शङ्का काङ्क्षा आदि का त्याग कर के और पूर्वकालीक संयोगों का त्याग कर के जिस श्रद्धा के साथ निकला है, उसी श्रद्धा का निरन्तर पालन करे ॥ सू. २ ॥

टीकार्थ—'विस्रोतसिका' का अर्थ है शङ्का, शङ्का दो प्रकार की हैं (१) सर्वशङ्का

જ્ઞાતા–જાણનાર થાય છે અને પૂર્ણ સંયમના અનુષ્ઠાનમાં પ્રવૃત્ત થાય છે, તથા મોક્ષ માર્ગનો આશ્રય લે છે કપૂરના ટુકડાની માફક અંદર અને બહાર એકજ પ્રકારે ઉજ્જ્વલ હોવાના કારણે પોતાની શક્તિનું ગોપન કરતો નથી અને બીજાને દગો દેતો નથી. અર્થાત્ માયાચારથી રહિત હોય છે, તેને વાસ્તવિક રીતે અણગાર સમજવો જોઈએ (સૂ ૧)

ઉપર કહ્યા તેવા અણગારનું કર્તવ્ય બતાવે છે –'जाए' ઈત્યાદિ

મૂલાર્થ—શંકા, કાંક્ષા વગેરેનો ત્યાગ કરીને અને પૂર્વ કાલના સંયોગોનો ત્યાગ કરીને જે શ્રદ્ધાથી નિકળ્યા છે, તે શ્રદ્ધાનું નિરંતર પાલન કરવું (સૂ ૨)

ટીકાર્થ—'विस्रोतसिका'નો અર્થ છે શંકા, શંકા બે પ્રકારની છે–(૧) સર્વશંકા

"किमार्हतो मार्गोऽस्ति न वा" इति सर्वागमविषयिका शङ्का सर्वशङ्का, तथा- "किमप्कायादयो जीवाः सन्ति न वा" इति देशशङ्का।

केवलालोकेन विलोक्य भगवता विशिष्य प्रवचने कथितत्वात् अप्कायादयः सन्ति जीवा', इति पूर्वा कोटि', चेतनास्पातमलक्षणस्य सुस्पष्टमनुपलब्धेर्न सन्ति अप्कायादयो जीवा , इत्युत्तरा कोटिः प्रादुर्भवति ।पूर्वसयोगं=मातापित्रादिसम्बन्धं, धनधान्यस्वजनादिसम्बन्ध वा ।

इदमुपलक्षणम्-तेन पश्चात्सयोगमपि श्वशुरादिकृतं विहाय=परित्यज्य निष्क्रान्त'=अनगारो जातः, ता श्रद्धाम् अनुपालयेदेव निरतिचार रक्षेदित्यर्थ'।

और (२) देशशङ्का। अर्हन्त भगवान द्वारा प्ररूपित मार्ग वास्तव में मोक्षमार्ग है या नहीं? ऐसी-शका सर्वशङ्का है। अप्काय आदि के जीव हैं या नहीं?' यह देश शङ्का है।

भगवान्ने केवल ज्ञान से देखकर प्रवचन में अप्काय आदि के जीवों का अस्तित्व प्रगट किया है, यह शङ्का की पूर्वकोटि है। आत्मा का चेतनालक्षण स्पष्ट रूप से नहीं पाया जाता, अत एव अप्काय आदि अजीव हैं, यह शङ्का की दूसरी कोटि है।

माता, पिता आदि का संबध तथा धन, धान्य, स्वजन आदि का सबंध पूर्वसयोग। कहलाता है। उपलक्षण से सास-ससुर आदि का सबंध पश्चात्संयोग कहलाता है। इन दोनों संयोगो को त्याग कर के जिस श्रद्धा के साथ अनगार हुआ है उसी श्रद्धा का पालन करे अर्थात् उस की निरतिचार रक्षा करे।

અને (૨) દેશશકા 'અર્હન્ત ભગવાન દ્વારા પ્રરૂપિત માર્ગ વાસ્તવિક રીતે મોક્ષ માર્ગ છે કે નહી?' આ પ્રકારની શકા તે સર્વશકા છે અપ્કાય આદિના જીવ છે કે નહી? આ દેશશકા છે

ભગવાને કેવલજ્ઞાન વડે જોઈને પ્રવચનમા અપ્કાય આદિના જીવોનુ અસ્તિત્વ પ્રગટ કર્યું છે, આ શકાની પૂર્વકોટિ છે આત્માનુ ચેતનાલક્ષણ સ્પષ્ટરૂપથી જોવામાં આવતુ નથી તેથી અપ્કાય આદિ અજીવ છે, આ શકાની બીજી કોટિ છે

માતા-પિતા આદિનો સબધ તથા ધન, ધાન્ય સ્વજન આદિનો સબધ પૂર્વ સંયોગ કહેવાય છે, ઉપલક્ષણથી સાસુ, સાસરા આદિનો સબધ પશ્ચાતસયોગ કહેવાય છે આ બન્ને સંયોગનો ત્યાગ કરીને જે શ્રદ્ધાથી અણગાર થયા છે, તે શ્રદ્ધાનુ પાલન કરે, અર્થાત્ તેની નિરતિચાર (વિના અતિચાર) રક્ષા કરે.

"किमार्हतो मार्गोऽस्ति न वा" इति सर्वागमविषयका शङ्का सर्वशङ्का, तथा- "किमप्कायादयो जीवाः सन्ति न वा" इति देशशङ्का।

केवलालोकेन विलोक्य भगवता विशिष्य प्रवचने कथितत्वात् अप्कायादयः सन्ति जीवाः, इति पूर्वा कोटिः, चेतनारूपात्मलक्षणस्य सुस्पष्टमनुपलब्धेर्न सन्ति अप्कायादयो जीवाः, इत्युत्तरा कोटिः प्रादुर्भवति। पूर्वसंयोगं=मातापित्रादिसम्बन्धं, धनधान्यस्वजनादिसम्बन्धं वा।

इदमुपलक्षणम्-तेन पश्चात्संयोगमपि श्वशुरादिकृतं विहाय=परित्यज्य निष्क्रान्तः=अनगारो जातः, तां श्रद्धाम् अनुपालयेदेव निरतिचारं रक्षेदित्यर्थः।

और (२) देशशङ्का। अर्हन्त भगवान द्वारा प्ररूपित मार्ग वास्तव में मोक्षमार्ग है या नहीं? ऐसी-शङ्का सर्वशङ्का है। अप्काय आदि के जीव हैं या नहीं?' यह देश शङ्का है।

भगवान्ने केवल ज्ञान से देखकर प्रवचन में अप्काय आदि के जीवों का अस्तित्व प्रगट किया है, यह शङ्का की पूर्वकोटि है। आत्मा का चेतनालक्षण स्पष्ट रूप से नहीं पाया जाता, अत एव अप्काय आदि अजीव हैं, यह शङ्का की दूसरी कोटि है।

माता, पिता आदि का संबंध तथा धन, धान्य, स्वजन आदि का संबंध पूर्वसंयोग। कहलाता है। उपलक्षण से सास-ससुर आदि का संबंध पश्चात्संयोग कहलाता है। इन दोनों संयोगों को त्याग कर के जिस श्रद्धा के साथ अनगार हुआ है उसी श्रद्धा का पालन करे अर्थात् उस की निरतिचार रक्षा करे।

અને (૨) દેશશંકા 'અર્હન્ત ભગવાન દ્વારા પ્રરૂપિત માર્ગ વાસ્તવિક રીતે મોક્ષ માર્ગ છે કે નહી?' આ પ્રકારની શંકા તે સર્વશંકા છે અપ્કાય આદિના જીવ છે કે નહી? આ દેશશંકા છે

ભગવાને કેવલજ્ઞાન વડે જોઈને પ્રવચનમા અપ્કાય આદિના જીવોનું અસ્તિત્વ પ્રગટ કર્યું છે, આ શંકાની પૂર્વકોટિ છે આત્માનું ચેતનાલક્ષણ સ્પષ્ટરૂપથી જોવામાં આવતું નથી તેથી અપ્કાય આદિ અજીવ છે, આ શંકાની બીજી કોટિ છે

માતા-પિતા આદિનો સંબંધ તથા ધન, ધાન્ય સ્વજન આદિનો સંબંધ પૂર્વ સંયોગ કહેવાય છે, ઉપલક્ષણથી સાસુ, સાસરા આદિનો સંબંધ પશ્ચાત્સંયોગ કહેવાય છે આ બન્ને સંયોગનો ત્યાગ કરીને જે શ્રદ્ધાથી અણગાર થયા છે, તે શ્રદ્ધાનું પાલન કરે, અર્થાત્ તેની નિરતિચાર (વિના અતિચાર) રક્ષા કરે.

शेषसंयमानुष्ठानप्रवृत्तः समाश्रितमोक्षमार्गः कर्पूरखण्डवदन्तर्बहिरेकरूपतया स्ववीर्यसंगोपन-परवञ्चनलक्षणमायाचाररहितो भवति स एव वस्तुतोऽनगारो बोद्धव्य इति ॥ सू० १ ॥

उक्तरूपस्यानगारस्य कर्तव्यमाह—'जाए' इत्यादि।

॥ मूलम् ॥

जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिज्जा विजहित्ता विसोत्तियं पुव्वसंजोगं ॥ सू० २ ॥

॥ छाया ॥

यया श्रद्धया निष्क्रान्तस्तामेवानुपालयेत् विस्रोतसिकां पूर्वं संयोगम् ॥ २ ॥

॥ टीका ॥

यया श्रद्धया विस्रोतसिकां=शङ्कां, सर्वशङ्कां देशशङ्कां चेत्यर्थः।

सावद्य कार्यों का ज्ञाता होता है और पूर्ण संयम के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो तथा मोक्षमार्ग का आश्रय लेता है। कपूर के टुकड़े की भाँति भीतर-बाहर एकसा उज्ज्वल होने के कारण अपनी शक्ति का गोपन नहीं करता और दूसरों को धोखा नहीं देता अर्थात् मायाचार से रहित होता है, उसी को वास्तव में अनगार समझना चाहिए ॥ सू. १ ॥

उक्त प्रकार के अनगार का कर्तव्य बतलाते हैं—'जाए' इत्यादि।

मूलार्थ—शङ्का काङ्क्षा आदि का त्याग कर के और पूर्वकालीक संयोगों का त्याग कर के जिस श्रद्धा के साथ निकला है, उसी श्रद्धा का निरन्तर पालन करे ॥ सू. २ ॥

टीकार्थ—'विस्रोतसिका' का अर्थ है शङ्का, शङ्का दो प्रकार की हैं (१) सर्वशङ्का

જ્ઞાતા-જાણનાર થાય છે અને પૂર્ણ સંયમના અનુષ્ઠાનમાં પ્રવૃત્ત થાય છે, તથા મોક્ષ માર્ગનો આશ્રય લે છે કપૂરના ટુકડાની માફક અંદર અને બહાર એકજ પ્રકારે ઉજ્જ્વલ હોવાના કારણે પોતાની શક્તિનું ગોપન કરતો નથી અને બીજાને ઠગો દેતો નથી. અર્થાત્ માયાચારથી રહિત હોય છે, તેને વાસ્તવિક રીતે અણગાર સમજવો જોઈએ. (સૂ ૧)

ઉપર કહ્યા તેવા અણગારનું કર્તવ્ય બતાવે છે -'जाए' ઈત્યાદિ

મૂલાર્થ—શંકા, કાંક્ષા વગેરેનો ત્યાગ કરીને અને પૂર્વ કાલના સંયોગોનો ત્યાગ કરીને જે શ્રદ્ધાથી નિકળ્યા છે, તે શ્રદ્ધાનું નિરંતર પાલન કરવું (સૂ. ૨)

ટીકાર્થ—'विस्रोतसिका'નો અર્થ છે શંકા, શંકા બે પ્રકારની છે-(૧) સર્વશંકા

अस्या लक्षण तु शमसवेगनिर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्यानां प्रादुर्भावः। तत्र वीतरागप्रणीतप्रवचनतत्त्वाभिनिवेशवशेनाऽनन्तानुबन्धिकपायाणामनुदय' शम इत्युच्यते। यद्वा विपयासक्तिनिवृत्ति' शम.।

तथा सवेगः=जिनप्रवचनानुसारेण नरकादिगतिपु ननाविधदुःखावलोकनाद्भयम्, यथा स्वकृतकर्मोदयान्नरकेपु-क्षेत्रजन्यशीतोष्णादिदशविधवेदनासहन, परमाधार्मिकदेवकृत, परस्परोदीरित चेति त्रिविध दुःख, तथा तिर्यक्षु-ताडन-तर्जन-क्षुत्पिपासा-पारवश्य-भारारोपणाद्यनेकविध दु ख, मनुष्येपु-दारिद्र्य-

---

शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य का प्रकट हो जाना श्रद्धा का चिह्न है।

वीतरागद्वारा प्ररूपित प्रवचन के तत्त्व में गाढी प्रीति होने से अनन्तानुबंधी कपायों का (क्रोध, मान, माया, लोभ, का) उदय न होना शम कहलाता है। अथवा विपयों के प्रति आसक्ति छूट जाना 'शम' है।

जिन भगवान् के वचन के अनुसार नरक आदि गतियों में नाना प्रकार के दु खों को जानकर उन से भयभीत होना 'सवेग' है। जैसे-"अपने किये कर्मों के उदय से नरकों में क्षेत्रजन्य शीत-उष्ण (सर्दी-गर्मी) आदि दश प्रकार की वेदना, परमाधामी देवों द्वारा दीजाने वाली वेदना और परस्पर नारकी जीवों द्वारा होने वाली वेदना, नरक में यह तीन तरह की वेदना है। तिर्यंचों में ताडना, तर्जना, भूख, प्यास, पराधीनता, बोझा ढोना आदि अनेक प्रकार की वेदना है। मनुष्यों में दरिद्रता,

---

શમ, સંવેગ, નિર્વેદ, અનુકંપા અને આસ્તિક્ય વગેરે પ્રગટ થઈ જાય તે શ્રદ્ધાનું ચિહ્ન છે

વીતરાગદ્વારા પ્રરૂપિત પ્રવચનના તત્ત્વોમા સજ્જડ પ્રીતિ થવાથી અનન્તાનુબંધી કષાયોનો (ક્રોધ, માન, માયા, લોભનો) ઉદય થાય નહિ તે શમ કહેવાય છે અથવા વિષયો પ્રતિ આસક્તિ છૂટી જાય તે શમ છે

જિન ભગવાનના વચન-અનુસાર નરક આદિ ગતિઓમા નાના પ્રકારના દુ ખોને જાણી ને તેનાથી ભયભીત થવું તે 'સંવેગ' છે જેમકે-"પોતાના કરેલા કર્મોના ઉદયથી નરકોમાં ક્ષેત્રજન્ય શીત-ઉષ્ણ (શર્દી-ગરમી) આદિ દસ પ્રકારની વેદના, પરમાધામી દેવો દ્વારા જે થાય છે તે વેદના, અને પરસ્પર નારકી જીવો દ્વારા થનારી વેદના, નરકમાં આ પ્રમાણે ત્રણ પ્રકારની વેદના છે તિર્યંચોમાં તાડના, તર્જના (મારવું-તરછોડવું) ભૂખ, તરસ, પરાધીનતા, બોજા ઉપાડવા આદિ અનેક પ્રકારની વેદના છે મનુષ્યોમાં દરિદ્રતા, દુર્ભાગ્ય,

ननु का नाम श्रद्धा, यया विनाऽनगारत्वं नोपलभ्यते ? उच्यते—जीवादितत्त्वेषु श्रद्धानं, रुचिः, अभिप्रीतिः, सम्यग्दर्शनं श्रद्धा, 'एतत्तत्त्वमेवमेवे'-त्यवधारणम्, "तमेव सच्चं नीसकं जं जिणेहिं पवेइयं" इति वचनानुस्मरणेन जगदेकबन्धुना वीतरागेण भगवता यथा कथितं तथैवेदं जीवादितत्त्वं सत्यमिति निश्चय इति यावत् ।

यद्वा मिथ्यात्वमोहनीयकर्मण उपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा आत्मनोऽपूर्वा ज्ञानावस्था जायते, आविलसलिलस्य कतककफलचूर्णसंयोगात्स्वच्छतावत् सैव श्रद्धा ।

शङ्का—यह श्रद्धा कौन-सी है जिस के विना साधुपन नहीं रह सकता ?

समाधान—जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धा करना, रुचि होना, अभिप्रीति होना, यह सम्यग्दर्शन—श्रद्धा है । 'यह तत्त्व ऐसा ही है' इस प्रकार पक्का निश्चय करना श्रद्धा है । 'जिन भगवान्ने जो कहा है वही सत्य और संदेह-रहित है' इस वचन के अनुसार यह निश्चय करना कि जगत के अद्वितीय बन्धु वीतराग भगवान् ने जैसा निरूपण किया है उसी प्रकार जीवादितत्त्व सत्य है । यह श्रद्धा का स्वरूप है ।

अथवा—मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उपशम से, क्षयोपशम से अथवा क्षय से आत्मा की एक अपूर्व ज्ञानावस्था उत्पन्न होती है । जैसे-मलिन जल में कतकफल का चूर्ण डालने से जल स्वच्छ हो जाता है । ऐसी स्वच्छ-निर्मल आत्मदशा श्रद्धा कहलाती है ।

શંકા—તે શ્રદ્ધા કેવી છે, કે જેના વિના સાધુપણું રહી શકે નહિ ?

સમાધાન—જીવાદિ તત્ત્વો પર શ્રદ્ધા કરવી, રૂચિ થવી, અભિપ્રીતિ થવી, તે સમ્યગ્દર્શન શ્રદ્ધા છે, "આ તત્ત્વ આવુંજ છે" એ પ્રમાણે પાકો નિશ્ચય કરવો તે શ્રદ્ધા છે "જિન ભગવાને જે કહ્યું છે તે સત્ય અને સંદેહરહિત છે" એ વચન પ્રમાણે એ નિશ્ચય કરવો કે જગતના અનેક બન્ધુ વીતરાગ ભગવાને જેવું નિરૂપણ કર્યું છે, તે પ્રમાણે જીવાદિ તત્ત્વ સત્ય છે આ શ્રદ્ધાનું સ્વરૂપ છે

અથવા—મિથ્યાત્વમોહનીય કર્મના ઉપશમથી, ક્ષયોપશમથી, અથવા ક્ષયથી આત્માની એક અપૂર્વ જ્ઞાનાવસ્થા ઉત્પન્ન થાય છે જેમ મલીન પાણીમાં કતકફળ-નિર્મળીફળનું ચૂર્ણ નાંખવાથી જળ સ્વચ્છ થઈ જાય છે એવી સ્વચ્છ-નિર્મળ આત્મદશા શ્રદ્ધા કહેવાય છે

"संवेगेण भंते ! जीवे किं जणयइ ? संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ । अणुत्तराए धम्मसद्धाए संवेगं हव्वमागच्छइ । अणंताणुबंधिकोहमाणमायालोभे खवेइ । नवं च कम्मं न बंधइ । तप्पच्चइयं च णं मिच्छत्तविसोहिं काऊण दंसणाराहए भवइ । दंसणविसोहीए य णं विसुद्धाए अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेण सिज्झइ । विसोहीए य णं विसुद्धाए तच्चं पुणो भवग्गहणं नाइक्कमइ ॥" (उत्तरा० अ० २९)

छाया—"संवेगेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? संवेगेन अनुत्तरां धर्मश्रद्धां जनयति । अनुत्तरया धर्मश्रद्धया संवेगो हव्यमागच्छति, अनन्तानुबन्धि-क्रोधमान-मायालोभान् क्षपयति, नवं च कर्म न बध्नाति, तत्प्रत्ययिकां च खलु मिथ्यात्वविशोधिं कृत्वा दर्शनाराधको भवति, दर्शनविशोध्या च खलु विशुद्धया अप्येककस्तेनैव भव-ग्रहणेन सिद्ध्यति । विशोध्या च खलु विशुद्धया तृतीय पुनर्भवग्रहणं नातिक्रामति ॥"

सुदेव-सुगुरु-सुधर्मेषु निश्चलानुरागरूपेण संवेगेन उत्कृष्टतमा धर्मश्रद्धां

"भगवान् ! संवेग से जीव को क्या लाभ होता है ?

संवेग से सर्वश्रेष्ठ धर्मश्रद्धा उत्पन्न होती है, और धर्मश्रद्धा से संवेग शीघ्र उत्पन्न हो जाता है । अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का वह क्षय करता है । नवीन कर्मों का बंध नहीं करता, और इन कारणों से मिथ्यात्व की विशुद्धि कर के जीव दर्शन का आराधक होता है । दर्शनविशुद्धता बढजाने से कोई-कोई जीव उसी भव में सिद्ध हो जाता है, अगर कोई उसी भव में मोक्ष न जावे तो तीसरे भव का उल्लंघन नहीं करता, अर्थात् तीसरे भव में वह अवश्य मोक्ष जाता है" । -(उत्तराध्ययन अ २९)

" सुदेव, सुगुरु और सुधर्म में निश्चल अनुरागरूप संवेग से जीव को सर्वोत्कृष्ट

"ભગવન્ સંવેગથી જીવને શું લાભ થાય છે?" સંવેગથી સર્વશ્રેષ્ઠ ધર્મશ્રદ્ધા ઉત્પન્ન થાય છે, અને ધર્મશ્રદ્ધાથી સંવેગ શીઘ્ર ઉત્પન્ન થાય છે અનન્તાનુબંધી ક્રોધ, માન, માયા અને લોભનો તે ક્ષય કરે છે નવીન કર્મોનો બંધ કરતો નથી, અને એ કારણોથી મિથ્યાત્વની વિશુદ્ધિ કરીને જીવ દર્શનનો આરાધક થાય છે દર્શનવિશુદ્ધતા વધી જવાથી કોઈ-કોઈ એ ભવમાં સિદ્ધ થઈ જાય છે; કોઈ એ ભવમાં મોક્ષે ન જાય તો ત્રીજા ભવનું ઉલ્લંઘન કરતા નથી, અર્થાત્ ત્રીજા ભવમાં તે અવશ્ય મોક્ષે જાય છે" (ઉત્તરા૦અ.૨૯)

સુદેવ, સુગુરૂ અને સુધર્મમાં નિશ્ચલ અનુરાગરૂપ સંવેગથી જીવને સર્વોત્કૃષ્ટ

दौर्भाग्य-जन्म-जरा-मरण-रोग-शोक-सन्तापादि, देवेषु-ईर्ष्या-विषाद-परप्रेष्यत्वादिदुःखं जीवा अनुभवन्ति, तस्माद्-'यथा ममेदृशं दुःखं न स्यात् तथा यत्नं करोमि' इत्याकारक आत्मिकपरिणामः संवेगः।

यद्वा-सुदेव-सुगुरु-सुधर्मेषु निश्चलोऽनुरागः संवेगः। उक्तञ्च—

"तथ्ये धर्मे ध्वस्तहिंसाप्रबन्धे, देवे रागद्वेषमोहादिमुक्ते।
साधौ सर्वग्रन्थसन्दर्भहीने, संवेगोऽसौ निश्चलो योऽनुरागः॥ १॥" इति।

आगमोऽप्यत्रार्थे प्रमाणम्—

जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, संताप आदि की वेदना है। देवों में ईर्ष्या, विषाद, आज्ञापालन आदि के दुःख हैं। जीव इन दुःखों का अनुभव करते हैं, अत एव मैं ऐसा प्रयत्न करूँ कि—जिस से मुझे इस प्रकार के दुःख न भुगतने पड़े"। इस प्रकार का आत्मा का परिणाम 'संवेग' कहलाता है।

अथवा सुदेव, सुगुरु और सुधर्म में अचल अनुराग होना 'संवेग' कहलाता है। कहा भी है—

"हिंसा आदि की परम्परा से रहित सच्चे धर्म में, राग द्वेष और मोह आदि से रहित देव में, तथा सब प्रकार के परिग्रह से रहित गुरु—साधु में निश्चल अनुराग होना संवेग है"॥ १॥

इस विषय में आगम प्रमाण भी है—

જન્મ, જરા, મરણ, રોગ, શોક, સન્તાપ આદિની વેદના છે દેવોમાં ઈર્ષ્યા, વિષાદ, (શોક) આજ્ઞાપાલન આદિનાં દુઃખો છે જીવ આ દુઃખોનો અનુભવ કરે છે તે કારણથી હું એવો પ્રયત્ન કરું કે-જેથી મને આ પ્રકારનું દુઃખ ભોગવવું પડે નહિ." આ પ્રકારનું આત્માનું પરિણામ તે સંવેગ કહેવાય છે

અથવા સુદેવ, સુગુરૂ અને સુધર્મમાં અચલ અનુરાગ-પ્રીતિ થવો તે સંવેગ કહેવાય છે કહ્યું પણ છે કે –

"હિંસા આદિની પરમ્પરાથી રહિત સાચા ધર્મમાં, રાગ દ્વેષ અને મોહ આદિથી રહિત દેવમાં, તથા સર્વ પ્રકારના પરિગ્રહથી રહિત ગુરૂ-સાધુમાં નિશ્ચલ અનુરાગ થવો તે સંવેગ છે." ॥ ૧ ॥

આ વિષયમાં આગમ પ્રમાણ પણ છે:-

काममोगाध्यवसाय खलु दुरन्तोऽनन्तदु'खफलदश्च, परलोकेऽप्यतिकटुको नरकादि जन्मफलमद, इत्यतो न किञ्चित्प्रयोजनमनेन काममोगाध्यवसायेन, परित्याज्य एवायमतिप्रयत्नेन' इत्येवरूप आत्मकपरिणामो निर्वेद ।

उक्तं च निर्वेदस्वरूप तत्फल च, तथाहि—

"निव्वेएण मते! जीवे किं जणयइ ? निव्वेएणं दिव्यमाणुसतेरिच्छिएसु काममोगेसु निव्वेय हव्वमागच्छइ। सव्वविसएसु विरज्जइ। सव्वविसएसु विरज्जमाणे आरभपरिच्चाय करेइ। आरमपरिच्चायं करेमाणे संसारमग्गं वोच्छिदइ, सिद्धिमग्गं पडिवन्ने य हवइ।" (उत्तरा० अ २९)

आसक्ति न होना 'निर्वेद' है। 'कामभोगसम्बन्धी अध्यवसाय इस लोक में अत्यन्त दुःख दायक है, और परलोक में भी अत्यन्त कटुक नरक आदिरूप फल देने वाला है, अत एव कामभोगसबधी अध्यवसाय से मुझे क्या लेन-देन है। इसे खूब परिश्रम कर के त्याग ही देना चाहिए'। इस प्रकार का आत्मिक परिणाम 'निर्वेद' कहलाता है। निर्वेद का स्वरूप और फल इस प्रकार कहा गया है—

"भगवन्! निर्वेद से जीव को क्या लाभ होता है? निर्वेद से जीव को देवता मनुष्य और तिर्यंच सबधी काम भोगों में शीघ्र ही विरक्ति उत्पन्न होती है। सब विषयों से जीव विरक्त होकर आरम्भ का परित्याग करता है। आरम्भ का परित्याग करता हुआ संसारमार्ग को त्यागता है और मोक्षमार्ग को अगीकार करता है"।—(उत्तरा अ २९,

---

વિષયોમા આસક્તિ થાય નહિ તે નિર્વેદ છે 'કામભોગસમ્બન્ધી અધ્યવસાય આ લોકમાં અત્યન્ત દુઃખદાયક છે, અને પરલોકમા પણ અત્યન્ત કટુક નરકગતિ આદિ રૂપ ફળ દેવાવાળા છે, એટલા માટે કામભોગસમ્બધી અધ્યવસાયથી મારે શું લેવા દેવા છે તેને ખૂબ પરિશ્રમ કરીને ત્યજી દેવા જોઈએ' આ પ્રકારનું આત્મિક પરિણામ તે નિર્વેદ કહેવાય છે નિર્વેદનું સ્વરૂપ અને ફલ આ પ્રકારે કહ્યુ છે—

"ભગવન્! નિર્વેદથી જીવને શુ લાભ થાય છે?

નિર્વેદથી જીવને દેવતા, મનુષ્ય અને તિર્યંચસમ્બન્ધી કામભોગોમાં શીઘ્રજ વિરક્તિ ઉત્પન્ન થાય છે સવ વિષયોથી જીવ વિરક્ત થઈ જાય છે સર્વ વિષયોથી વિરક્ત થઈને આરભનો પરિત્યાગ કરતો થકો સસારમાગને ત્યજી દે છે અને મોક્ષમાર્ગનો અગીકાર કરે છે" (ઉત્તરા૦ અ૦ ૨૯)

जीवो जनयति । तया च नरकादिभवेषु घोरतरबहुतराशातवेदनामवलोक्य तद्भयान्मोक्षमार्गं शरणीकृत्य मोक्षाभिलापरूप संवेगं शीघ्रं प्राप्नोति । अनन्तानुबन्धिकषायान् क्षपयति, नवीनं कर्म न बध्नाति, तेन मिथ्यात्वं क्षपयित्वा क्षायिकशुद्धसम्यक्त्वं निरतिचारेण पालयति । एवमतिनिर्मलया सम्यक्त्वविशुद्धया कश्चिद्भव्यजीवस्तेनैव भवग्रहणेन सिद्धिं प्राप्नोति । एकः पुनः सम्यक्त्वस्य निर्मलया विशुद्धया तृतीयं पुनर्भवग्रहणं नातिक्रामति । मिथ्यात्वमोहनीयकर्मणो निरवशेषक्षयात् शुद्धक्षायिकसम्यक्त्ववान् भवत्रयमध्ये मोक्षं प्राप्नोत्येवेत्यर्थः ।

तथा निर्वेद –आर्हतवचनाभिनिवेशात्सर्वविषयेषु–अनासक्तिः, ' इह –अस्लोके

श्रद्धा उत्पन्न होती है । उस श्रद्धा से नरक आदि गतियों में घोर और बहु असाता की वेदना देखकर तथा उस वेदना के भय से मोक्षमार्ग का आश्रय लेकर मोक्षाभिलाषा–रूपी संवेग को शीघ्र ही स्वीकार कर लेता है । वह अनन्तानुबंधी कषायों का क्षय करता है और नवीन कर्म के बंध को रोक देता है । मिथ्यात्व का क्षय कर के शुद्ध क्षायिक सम्यक्त्व का निरतिचार पालन करता है । इस प्रकार अत्यन्त निर्मल दर्शनविशुद्धि के कारण कोई–कोई भव्य जीव उसी भव में मुक्त हो जाता है, और कोई–कोई तीसरे भव का उल्लंघन नहीं करता अर्थात् मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से शुद्धक्षायिकसम्यक्त्वी जीव तीन भवों में अवश्य मोक्ष पाता है ।

अर्हन्त भगवान् के प्रवचन में प्रगाढ प्रीति होने के कारण सब इन्द्रिय विषयों में

શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન થાય છે, એ શ્રદ્ધાથી નરક આદિ ગતિઓમાં ઘોર અને બહુજ અસાતાની વેદના જોઈને. તથા એ વેદનાના ભયથી મોક્ષમાર્ગનો આશ્રય લઈને મોક્ષાભિલાષારૂપી સંવેગને શીઘ્રજ સ્વીકાર કરી લે છે તે અનન્તાનુબંધી કષાયોનો ક્ષય કરે છે અને નવીન કર્મના બંધને રોકી દે છે મિથ્યાત્વનો ક્ષય કરીને શુદ્ધ ક્ષાયિક સમ્યકૃત્વનું નિરતિચાર પાલન કરે છે આ પ્રમાણે અત્યન્ત નિર્મલ દર્શનવિશુદ્ધિના કારણે કોઈ–કોઈ ભવ્ય જીવ એજ ભવમાં મુક્ત થઈ જાય છે, અને કોઈ–કોઈ ત્રીજા ભવનું ઉલ્લંઘન કરતા નથી અર્થાત્ મિથ્યાત્વમોહનીય કર્મના સંપૂર્ણ ક્ષયથી શુદ્ધક્ષાયિક-સમ્યકૃત્વી જીવ ત્રણ ભવોમાં અવશ્ય મોક્ષને પ્રાપ્ત કરે છે

અર્હંત ભગવાનના પ્રવચનમાં પ્રગાઢ–સજ્જડ પ્રીતિ હોવાના કારણે સર્વ ઇન્દ્રિયોના

मार्यमाणप्राणिनां प्राणसङ्कटान्मोचन च।

आस्तिक्यम्-जिनप्रणीतागमानुसारेण 'अस्ति जीवादिपदार्थसार्थः' इति मतिर्यस्य स आस्तिकः, तस्य भाव आस्तिक्यम्। 'जिनेन्द्रप्रवचनोपदिष्टा जीवपरलोकादय' सर्वेऽतीन्द्रिया पदार्था सन्ति' इत्येवरूप आत्मपरिणाम'।

एभि' शमसवेगादिभिर्भव्याना श्रद्धाऽवबुध्यते।

। मिथ्यादृष्टेरपि श्रद्धाप्राप्ति.-

श्रद्धा निसर्गादधिगमाद्वा जायते। उक्तञ्च—

"सम्मद्दसणे दुविहे पण्णत्ते तजहा-निसग्गसम्मद्दसणे चेव अधिगम-

सकट से छुडाना-अनुकम्पा है।

'आस्तिक्य'—"जिनप्रणीत आगम के अनुसार जीवादि पदार्थों का अस्तित्व है"। एसी "जिस की मति हो वह 'आस्तिक' है। आस्तिकपन को 'आस्तिक्य' कहते हैं। जिनप्रवचन में उपदिष्ट जीव, परलोक आदि सभी अतीन्द्रिय पदार्थ हैं" इस प्रकार का आत्म-परिणाम 'आस्तिक्य' है।

इन शम सवेग आदि से भव्यों के सम्यक्त्व का पता लगता है।

मिथ्यादृष्टि को श्रद्धाप्राप्ति

निस' (स्वभाव) से अथवा अधिगम (किसी के द्वारा सुनने आदि) से श्रद्धा उत्पन्न होती है। कहा भी है—

"सम्यग्दर्शन दो प्रकार का कहा गया है-निसर्ग-सम्यग्दर्शन और अधिगम-

---

સકટથી છોડાવવા તે અનુકમ્પા છે

આસ્તિક્ય—"જિનપ્રણીત આગમ અનુસાર જીવાદિ પદાર્થોનું અસ્તિત્વ છે" એવી જેની મતિ છે તે આસ્તિક છે આસ્તિકપણાને 'આસ્તિક્ય' કહે છે 'જિન પ્રવચનમાં ઉપદિષ્ટ જીવ, પરલોક આદિ સર્વ અતીન્દ્રિય પદાર્થ છે આ પ્રકારનાં આત્મપરિણામ તે આસ્તિક્ય છે

આ શમ, સવેગ, આદિથી ભવ્યોના સમ્યક્ત્વનો પતો લાગે છે

મિથ્યાદૃષ્ટિને શ્રદ્ધાની પ્રાપ્તિ

નિસર્ગ (સ્વભાવ)થી અથવા અધિગમ (કોઈના દ્વારા સાભળવુ આદિ)થી શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન થાય છે કહ્યુ પણ છે કે-

"સમ્યગ્દર્શન બે પ્રકારનું કહ્યુ છે-નિસગ-સમ્યગ્દર્શન અને (૨) અધિગમ

'कदाऽहं संसारं परित्यजेयम् ?' इत्येवंरूपेण निर्वेदेन दिव्यमानुषतैरश्चेषु काममोगेषु निर्वेदम्=अनासक्तिं जीवः शीघ्रं प्राप्नोति। इममेवार्थं स्पष्टयति-सर्वविषयेषु विरज्यते-'अलमेतैरनर्थहेतुभूतैर्विषयैः' इत्येवरूपं वैराग्यं प्राप्नोति । वैराग्यं प्राप्तश्च सावद्यव्यापारं परित्यजति । तत्परित्यागं कुर्वन् संसारमार्गं=मिथ्यात्वाविरतिप्रभृतिरूपं व्यवच्छिनत्ति, संसारमार्गव्यवच्छेदे च जीवः सिद्धिमार्गं=सम्यग्दर्शनादिरूपं प्राप्नोतीत्यर्थः ।

अनुकम्पा-अनु=अनुकूलं कम्पनं=रक्षणचेष्टाकरणमनुकम्पा=जिनप्रवचनानुसारेणजीवानामुपरि कारुण्यं, प्राणातिपाताकरणं, परदुःखनिवारणं, म्रियमाण

'कब मैं संसार का त्याग करूँ ?' इस प्रकार के निर्वेद से जीव को देव मनुष्य और तिर्यंच संबंधी काम भोगों में अनासक्ति प्राप्त होती है । इसी विषय को स्पष्ट करते हैं कि-जीव सब विषयों से विरक्त हो जाता है, अर्थात् 'इन अनर्थ के कारणभूत विषयों से बस करो!' इस प्रकार का वैराग्य पाता है । वैराग्य पाकर जीव सावद्य व्यापार का त्याग कर देता है । सावद्य व्यापारका त्याग करता हुआ मिथ्यात्व अविरति आदि संसारमार्ग को छोड़ता है और संसारमार्ग का त्याग कर के सम्यग्दर्शन आदिरूप मोक्षमार्ग को प्राप्त कर लेता है ।

'अनु' अर्थात् अनुकूल 'कम्पन' अर्थात् रक्षा करने की चेष्टा करना-अनुकम्पा है । अर्थात् जिन भगवान् के उपदेश के अनुसार जीवों पर करुणाभाव होना, किसी के प्राणों का वियोग न करना, दूसरों का दुःख दूर करना, मरते हुए और मारे जाते हुए प्राणियों को प्राण

'हुं क्यारे संसारनो त्याग करुं ?' आ प्रकारना निर्वेदथी जीवने देव, मनुष्य अने तिर्यंच सम्बन्धी कामभोगोमां अनासक्ति प्राप्त थाय छे, ते विषयने स्पष्ट करे छे के -जीव सर्व विषयोथी विरक्त थई जाय छे अर्थात् आ अनर्थना कारणभूत विषयोथी बस करो ! ' आ प्रकारनो वैराग्य पामे छे वैराग्य पामीने जीव सावद्य व्यापारनो त्याग करी दे छे सावद्य व्यापारनो त्याग करतो थको मिथ्यात्व, अविरति आदि संसारमार्गने छोडे छे, अने संसारमार्गनो त्याग करीने सम्यग्दर्शन आदिरूप मोक्षमार्गने प्राप्त करी ले छे

अनु अर्थात् अनुकूल, कम्पन अर्थात् रक्षा करवानी चेष्टा करवी ते अनुकम्पा छे. अर्थात्-जिन भगवानना उपदेश प्रमाणे जीवो पर करुणाभाव थवो, कोईना प्राणोनो वियोग करवो नहि, बीजाना दुःख दूर करवां, मरतां अने मराता प्राणीओने प्राण-

तथाऽत्रापि अनिवृत्तिकरणरूप परिणामो निसर्ग सम्यक्त्वाकारेण वर्तते पूर्वावस्थामपनुद्यावस्थान्तरप्राप्ति परिणाम, परिणामि जीवद्रव्य तु ध्रुवमेव। परिणामोऽप्यत्र वैस्रसिक एव, अभ्रेन्द्रधनुरादिवदिति परिणाम' स्वभाव इति वाच्यम्।

ननु श्रद्धा निसर्गत कथमुत्पद्यते? उच्यते—कर्मणोऽनादित्वात्पूर्वकर्मोदयेन यद्यदन्यत्कर्म ज्ञानावरणीयादिक स्वेनैव कृत तदपि कार्मणशरीरेण सहैव बध्यते कर्मत्वादिदानींतनकर्मवत्। एवविधपूर्वगृहीतकर्मण फलमुपभुञ्जानस्य भव्यजीवस्य ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावतयाऽनादिमिथ्यादृष्टेरपि तादृशमवस्थिति-

---

भेद नहीं देखा जाता। जैसे परिणमन, अनेक प्रकार का होने पर भी परिणामी—अन्वयि द्रव्य एक होने से उस में सर्वथा भेद नहीं होता। उसी प्रकार यहाँ अनिवृत्तिकरणरूप परिणाम निसर्गसम्यक्त्व के रूप में परिणत हो जाता है—उसकी पूर्व—अवस्था मिटकर नवीन अवस्था उत्पन्न हो जाती है, फिर भी परिणामी—जीवद्रव्य—ज्यों का त्यों ध्रुव बना रहता है। परिणाम भी यहाँ वैस्रसिक (स्वाभाविक) लेना चाहिए, मेघ तथा इन्द्रधनुष की तरह, अत एव परिणाम का अर्थ—स्वभाव है।

शङ्का—श्रद्धा, स्वभाव (निसर्ग) से किस प्रकार उत्पन्न होती है?।

समाधान—अनादि काल से लगे हुए पूर्वकर्मों के उदय से ज्ञानावरणीय आदि जो—जो कर्म जीवने किये हैं, वे सब कार्मण शरीर के साथ ही बँधते हैं, क्योंकि वे कर्म हैं, वर्तमानकालीन कर्मों के समान। इस प्रकार के पहेले ग्रहण किये हुए कर्मों का फल भोगते हुए भव्य जीव ज्ञानदर्शनरूप उपयोगस्वभाववाला होने के कारण

વાળામાં કોઈ સર્વથા ભેદ જોવામા આવતો નથી જેમ-પરિણમન અનેક પ્રકારનાં હોવા છતાંય પણ પરિણામી-અન્વયિદ્રવ્ય એક હોવાથી તેમા સર્વથા ભેદ થતો નથી, તે પ્રમાણે અહિં અનિવૃત્તિકરણરૂપ પરિણામ નિસગ સમ્યક્ત્વના રૂપમા પરિણત થઈ જાય છે-તેની પૂવ અવસ્થા મટીને નવીન અવસ્થા ઉત્પન્ન થઈ જાય છે, પણ પરિણામી-જીવદ્રવ્ય-જેમ છે તેમ ધ્રુવ બની રહે છે પરિણામ પણ અહિં વૈસ્રસિક (સ્વાભાવિક) લેવું જોઈએ, મેઘ તથા ઈન્દ્રધનુષની માફક એ પ્રમાણે પરિણામનો અર્થ સ્વભાવ છે

શંકા—શ્રદ્ધા સ્વભાવ (નિસર્ગ)થી કયા પ્રકારે ઉત્પન્ન થાય છે?

સમાધાન—અનાદિ કાળથી લાગેલા પૂર્વ કર્મોના ઉદયથી જ્ઞાનાવરણીય આદિ જે-જે કર્મ જીવે કર્યા છે, તે સવ કામણ શરીરની સાથેજ બધાય છે, કેમકે તે કમ છે, વર્તમાનકાલીન કર્મોની સમાન. આ પ્રકારના પહેલાં ગ્રહણ કરેલા કર્મોનું ફલ ભોગવતો

सम्मद्दसणे चेय" (स्थानाङ्ग० स्था २ उ. १)

तत्र निसर्ग', परिणाम', स्वभावः, इत्येकार्थकाः।

अपूर्वकरणानन्तर यद् भवत्यनिवृत्तिकरणं तन्निसर्ग इति कथ्यते। निसृज्यते कार्योत्पत्तौ सत्यामिति निसर्गः, कार्ये समुत्पन्ने सति कारणस्य न किञ्चित् प्रयोजन भवति, उत्पन्ने सम्यक्त्वे प्रयोजनाभावादनिवृत्तिकरणं परित्यज्यते। न चात्यन्तं परित्यागस्तस्येष्यते यतस्तदेव कारण तेनाकारेण परिणतम्, यथा–उत्थितोऽपि पुरुषः पुरुष एव, आसीनो शयितो वा पुरुष पुरुष एव, अवस्थामात्रभेदादवस्थावतो भेदः क्वापि न दृश्यते। तत्र–परिणामस्यानेकरूपत्वेऽपि परिणामिनोऽन्वयिद्रव्यस्य न तस्वात् सर्वथा भेदः,

---

सम्यग्दर्शन"। (स्थानांग स्था २ उ १)

निसर्ग, परिणाम, या स्वभाव, ये सब पर्यायवाचक हैं।

अपूर्वकरण के पश्चात् होने वाला अनिवृत्तिकरण 'निसर्ग' कहलाता है। कार्य की उत्पत्ति हो जाने पर जो त्याग दिया जाता है वह 'निसर्ग' है। कार्य की उत्पत्ति हो जाने के बाद कारण का कोई प्रयोजन नहीं रहता, क्यों कि सम्यक्त्व उत्पन्न होने पर प्रयोजन नहीं रहने से अनिवृत्तिकरण त्याग दिया जाता है, मगर उस का अत्यन्त परित्याग नहीं किया जाता क्यों कि वही कारण उस आकार में–कार्यरूप में–परिणत हो जाता है। जैसे–खड़ा हुआ पुरुष–पुरुष ही है। बैठा हुआ या सोया हुआ पुरुष भी पुरुष ही है। अवस्थाओं में भेद होनेमात्र से अवस्थावाले में कहीं सर्वथा

સમ્યગ્દર્શન" (સ્થાનાંગ૦ સ્થા ૨ ઉ ૧)

નિસર્ગ, પરિણામ અથવા તો સ્વભાવ, આ સર્વ પર્યાયવાચક શબ્દો છે અપૂર્વ કરણની પછી થવાવાળા અનિવૃત્તિકરણ નિસર્ગ કહેવાય છે કાર્યની ઉત્પત્તિ થઈ જવા પછી જે ત્યજી દેવામાં આવે છે તે નિસર્ગ છે કાર્યની ઉત્પત્તિ થઈ ગયા પછી કારણનું કોઈ પ્રયોજન રહેતું નથી. કેમકે–સમ્યક્ત્વ ઉત્પન્ન હોવા છતાંય પણ પ્રયોજન નહિ રહેવાથી અનિવૃત્તિકરણ ત્યાગી દેવામાં આવે છે અર્થાત્ પ્રયોજન નહિ રહેવાથી અનિવૃત્તિકરણનો ત્યાગ કરવામાં આવે છે પરન્તુ તેનો અત્યન્ત પરિત્યાગ કરવામાં આવતો નથી; કારણ કે તે કારણ તેવા આકારમાં–કાર્યરૂપમાં–પરિણત થઈ જાય છે જેમ ઉભો રહેલો પુરૂષ, પુરૂષજ છે, બેઠેલો અથવા સુતેલો પુરૂષ પણ પુરૂષજ છે, અવસ્થાઓમાં ભેદ થવા માત્રથી અવસ્થા

जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, स उत्कर्षतो देशोनार्द्धपुद्गलपरावर्त्तं स्थित्वा पुन सम्यक्त्व प्राप्स्यति, स सादिमिथ्यादृष्टिर्भवति।

यथाप्रवृत्तिकरणम्-

एवमुभयविधस्य मिथ्यादृष्टेर्जीवस्य परिणामरूपाध्यवसाय पूर्वं जघन्य-शुभपरिणाममङ्गीकृत्य पर पर शुभपरिणाम परिणामविशेप इत्युच्यते। स एव परिणामविशेषो 'यथाप्रवृत्तिकरण'-मित्युच्यते।

यथाप्रवृत्तिकरण-मित्यस्य शब्दार्थस्त्वेवम्-यथा=येन अनादिसंसिद्ध-प्रकारेण प्रवृत्तिर्यस्य तत् यथाप्रवृत्ति, क्रियते कर्मक्षपणमनेनेति करण=जीवस्य शुभपरिणाम, यथाप्रवृत्ति च तत्करण च यथाप्रवृत्तिकरण कर्मक्षपणकारणस्या

बाद में अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से फिर मिथ्यात्व आ गया किन्तु वह मिथ्यात्व जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट देशोन अर्द्धपुद्गलपरावर्तन तक रहता है वह जीव सादिमिथ्यादृष्टि है।

यथाप्रवृत्तिकरण-

इस प्रकार दोनों प्रकार के मिथ्यादृष्टि जीवों का अध्यवसाय पहले के जघन्य शुभ परिणाम से लेकर उत्तरोत्तर बढते हुए शुभ परिणाम, परिणामविशेष कहलाता है। उसी परिणामविशेष को 'यथाप्रवृत्तिकरण' कहते हैं।

'यथाप्रवृत्तिकरण' का शब्दार्थ इस प्रकार है-'यथा' अर्थात् अनादि कालीनरूप से जिस की प्रवृत्ति हो वह यथाप्रवृत्ति कहलाता है। जिस से कर्मों का क्षय किया जाता है, जीव के उस शुभ परिणाम को 'करण' कहते हैं। यथाप्रवृत्ति-

---

અનન્તાનુબન્ધી કષાયના ઉદયથી ફરીથી મિથ્યાત્વ આવી જાય પણ તે મિથ્યાત્વ જઘન્ય અન્તર્મુહૂર્ત સુધી અને ઉત્કૃષ્ટ દેશોન અર્દ્ધ પુદ્ગલપરાવર્ત્તન સુધી રહે છે તે જીવ સાદિમિથ્યાદૃષ્ટિ છે

યથાપ્રવૃત્તિકરણ—

આ પ્રકારના બન્ને મિથ્યાદૃષ્ટિ જીવોના અધ્યવસાય પહેલાના જઘન્ય શુભ પરિણામથી લઈ ને ઉત્તરોત્તર વધતા શુભ પરિણામ, પરિણામવિશેષ કહેવાય છે તે પરિણામ વિશેષને યથાપ્રવૃત્તિકરણ કહે છે 'યથાપ્રવૃત્તિકરણ'' નો શબ્દાર્થ આ પ્રકારે છે—'યથા' અર્થાત્ અનાદિ કાલીનરૂપથી જેની 'પ્રવૃત્તિ' હોય તે 'યથાપ્રવૃત્તિ કહેવાય છે જેનાથી કર્મોનો ક્ષય કરવામાં આવે છે, જીવના તે શુભ પરિણામને ''કરણ'' કહે છે

परिपाकवशेन शुभपरिणामरूपाऽध्यवसाया भवन्ति, तेषां स्थानानि मन्द-मध्य-तीव्राणि भवन्ति। तत्र जघन्यशुभपरिणामस्य स्थानं विशुद्धं, तस्मादुत्कृष्टस्य विशुद्धतरं, ततोऽप्युत्कृष्टशुभपरिणामस्य विशुद्धतमं स्थानं प्राप्नुवतो जीवस्य वर्धमानशुभपरिणत्या तादृक्परिणामविशेषो जायते, येन तीर्थङ्कराद्युपदेशमन्तरेण स्वत एव जीवस्य कर्मोपशमादिभ्यः श्रद्धोत्पद्यते। तत्राय क्रमः—

श्रद्धाप्राप्तयेऽधिकारी द्विविधो भवति, अनादिमिथ्यादृष्टिः, सादिमिथ्यादृष्टिश्च। यः पूर्वं कदापि सम्यक्त्वं न लब्धवान् सोऽनादिमिथ्यादृष्टिः। यश्च भव्यः पूर्वं सम्यक्त्वं प्राप्य पश्चादनन्तानुबन्धिकषायोदयादुपजातमिथ्यात्वः

अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि होने पर भी अमुक प्रकार की भवस्थिति का परिपाक होने से उसके शुभपरिणामरूप अध्यवसाय उत्पन्न होते हैं। उन अध्यवसायों के स्थान मन्द, मध्यम और तीव्र होते हैं। इन में जघन्य शुभ परिणाम का स्थान विशुद्ध है, उस से उत्कृष्ट विशुद्धतर है। और उससे भी उत्कृष्ट शुभपरिणाम विशुद्धतम है। इन स्थानों को प्राप्त जीव के बढते हुए शुभ परिणामों से एक ऐसा परिणाम उत्पन्न होता है, जिस के द्वारा तीर्थंकर आदि के उपदेश के विना ही स्वयमेव जीव को कर्मों का उपशम आदि होने से श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है।

क्रम इस प्रकार है—

दो प्रकार के जीव श्रद्धा पाने के अधिकारी हैं-(१) अनादिमिथ्यादृष्टि और (२) सादिमिथ्यादृष्टि। जिस जीवने पहले कभी सम्यक्त्व नहीं पाया वह अनादिमिथ्यादृष्टि कहलाता है। जिस भव्य जीवने पहले सम्यक्त्व पाया किन्तु

थतो भव्य જીવ જ્ઞાન-દર્શનરૂપ ઉપયોગસ્વભાવવાળા હોવાના કારણે અનાદિ કાલથી મિથ્યાદષ્ટિ હોવા છતાય પણ અમુક પ્રકારની ભવસ્થિતિનો પરિપાક હોવાથી તેને શુભ પરિણામરૂપ અધ્યવસાય ઉત્પન્ન થાય છે તે અધ્યવસાયોના સ્થાન મંદ, મધ્યમ અને તીવ્ર હોય છે તેમાં જઘન્ય શુભ પરિણામનું સ્થાન વિશુદ્ધ છે, તેનાથી ઉત્કૃષ્ટ વિશુદ્ધતર છે, અને એનાથી પણ ઉત્કૃષ્ટ શુભ પરિણામ વિશુદ્ધતમ છે આ સ્થાનોને પ્રાપ્ત જીવના વધતા ગએલા શુભ પરિણામોમાંથી એક એવું પરિણામ ઉત્પન્ન થાય છે કે જેના દ્વારા તીર્થંકર આદિના ઉપદેશ વિનાજ સ્વયમેવ, જીવને કર્મોનો ઉપશમ આદિ થવાથી શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન થઈ જાય છે.

ક્રમ આ પ્રકારે છે-

બે પ્રકારના જીવ શ્રદ્ધા પ્રાપ્ત કરવાની અધિકારી છે (૧) અનાદિમિથ્યાદષ્ટિ અને (૨) સાદિમિથ્યાદષ્ટિ. જે જીવે પહેલા ક્યારેય સમ્યક્ત્વ પ્રાપ્ત કર્યું નથી તે અનાદિ મિથ્યાદષ્ટિ કહેવાય છે જે ભવ્ય જીવે પહેલા સમ્યક્ત્વ પ્રાપ્ત કર્યું હતું પરન્તુ પછીથી

जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, स उत्कर्षतो देशोनार्द्धपुद्गलपरावर्त्तं स्थित्वा पुन सम्यक्त्व प्राप्स्यति, स सादिमिथ्यादृष्टिर्भवति।

यथाप्रवृत्तिकरणम्—

एवमुभयविधस्य मिथ्यादृष्टेर्जीवस्य परिणामरूपाध्यवसाय पूर्वं जघन्य-शुभपरिणाममङ्गीकृत्य पर. पर' शुभपरिणाम. परिणामविशेष इत्युच्यते। स एव परिणामविशेषो 'यथाप्रवृत्तिकरण'-मित्युच्यते।

यथाप्रवृत्तिकरण-मित्यस्य शब्दार्थस्त्वेवम्-यथा=येन अनादिससिद्ध-प्रकारेण प्रवृत्तिर्यस्य तत् यथाप्रवृत्ति, क्रियते कर्मक्षपणमनेनेति करण=जीवस्य शुभपरिणाम', यथाप्रवृत्ति च तत्करण च यथाप्रवृत्तिकरण कर्मक्षपणकारणस्या

बाद में अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से फिर मिथ्यात्व आ गया किन्तु वह मिथ्यात्व जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट देशोन अर्द्धपुद्गलपरावर्तन तक रहता है वह जीव सादिमिथ्यादृष्टि है।

यथाप्रवृत्तिकरण—

इस प्रकार दोनों प्रकार के मिथ्यादृष्टि जीवों का अध्यवसाय पहले के जघन्य शुभ परिणाम से लेकर उत्तरोत्तर बढ़ते हुए शुभ परिणाम, परिणामविशेष कहलाता है। उसी परिणामविशेष को 'यथाप्रवृत्तिकरण' कहते हैं।

'यथाप्रवृत्तिकरण' का शब्दार्थ इस प्रकार है-'यथा' अर्थात् अनादि-कालीनरूप से जिस की प्रवृत्ति हो वह यथाप्रवृत्ति कहलाता है। जिस से कर्मों का क्षय किया जाता है, जीव के उस शुभ परिणाम को 'करण' कहते हैं। यथाप्रवृत्ति-

---

અનન્તાનુબન્ધી કષાયના ઉદયથી ફરીથી મિથ્યાત્વ આવી ગયુ પણ તે મિથ્યાત્વ જઘન્ય અન્તર્મુહૂર્ત સુધી અને ઉત્કૃષ્ટ દેશોન અર્દ્ધ પુદ્ગલપરાવર્ત્તન સુધી રહે છે તે જીવ સાદિમિથ્યાદૃષ્ટિ છે

યથાપ્રવૃત્તિકરણ—

આ પ્રકારના બન્ને મિથ્યાદૃષ્ટિ જીવોના અધ્યવસાય પહેલાના જઘન્ય શુભ પરિણામથી લઈને ઉત્તરોત્તર વધતા શુભ પરિણામ, પરિણામવિશેષ કહેવાય છે તે પરિણામ વિશેષને યથાપ્રવૃત્તિકરણ કહે છે 'યથાપ્રવૃત્તિકરણ'' નો શબ્દાર્થ આ પ્રકારે છે—'યથા' અર્થાત્ અનાદિ કાલીનરૂપથી જેની 'પ્રવૃત્તિ' હોય તે 'યથાપ્રવૃત્તિ' કહેવાય છે જેનાથી કર્મોનો ક્ષય કરવામાં આવે છે, જીવના તે શુભ પરિણામને ''કરણ'' કહે છે

घ्यवसायमात्रस्य सर्वदैव भावादुदयावलिकाप्रविष्टानां कर्मणां सर्वदैव क्षपणात्।

यथाप्रवृत्तिकरणं भव्यस्याभव्यस्य च भवति। वक्ष्यमाणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरणं च भव्यस्यैव भवति, न त्वभव्यस्य।

मिथ्यात्ववशादनन्तान् पुद्गलपरावर्त्तान् अनन्तदुःखान्यनुभूय कथमपि तादृशभवस्थितिपरिपाकवशाद् गिरिणदीप्रवहद्दुद्धर्षितापवर्षितपाषाणवर्तुला वस्थावदनाभोगनिर्वर्त्तितेन यथाप्रवृत्तिकरणेन विशुद्धपरिणामविशेषरूपेणायुष्य कर्म वर्जयित्वा ज्ञानावरणीयादिकर्माणि सर्वाण्यपि पल्योपमासंख्येयभागन्यूनैक

रूप करण यथाप्रवृत्तिकरण कहलाता है। कर्मक्षय का कारणभूत अध्यवसाय सदैव बना रहता है, क्यों कि उदयावलिका में आए हुए कर्मों का सदा क्षय होता रहता है।

यथाप्रवृत्तिकरण भव्य जीव को भी होता है और अभव्य जीव को भी होता है, किन्तु आगे कहे जाने वाले अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण भव्य जीव को ही होते हैं, अभव्य जीव को नहीं।

मिथ्यात्व के वश होकर अनन्त पुद्गलपरावर्तनों तक अनन्त दुःखों को भोगने के पश्चात् किसी भी तरह उस प्रकार की भवस्थिति का परिपाक होने से पहाड़ी नदी के प्रवाह में बहने वाला, लुढक (गुडक)ने वाला, घिसने वाला पाषाण जैसे गोलमटोल बन जाता है, उसी प्रकार अनजान में ही यथाप्रवृत्तिकरणरूप विशुद्ध परिणाम के कारण आयुकर्म को छोड़कर ज्ञानावरणीय आदि सात कर्म पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम

યથાપ્રવૃત્તિરૂપ કરણ તે 'યથાપ્રવૃત્તિકરણ' કહેવાય છે કર્મક્ષયના કારણભૂત અધ્યવસાય હંમેશાં બની રહે છે, કેમકે—ઉદયાવલિકામાં આવેલા કર્મોનો હંમેશાં ક્ષય થયા કરે છે

યથાપ્રવૃત્તિકરણ ભવ્ય જીવને પણ થાય છે, અને અભવ્ય જીવને પણ થાય છે, પરન્તુ આગળ કહેવામાં આવશે તે અપૂર્વકરણ અને અનિવૃત્તિકરણ ભવ્ય જીવોને જ થાય છે, અભવ્ય જીવોને થતા નથી.

મિથ્યાત્વને વશ થઈને અનન્ત પુદ્ગલપરાવર્ત્તનો સુધી અનન્ત દુઃખોને ભોગવ્યા પછી કોઈ પણ પ્રકારે આ પ્રકારની ભવસ્થિતિનો પરિપાક થવાથી પહાડી નદીના પ્રવાહમાં વહેવાવાળો—ગબડવાવાળો, ઘસાતો જતો પથ્થર જેવી રીતે ગોળ—મટોળ બની જાય છે, એ પ્રમાણે અજાણતાં પણ યથાપ્રવૃત્તિકરણરૂપ વિશુદ્ધ પરિણામના કારણે આયુકર્મને છોડીને બીજા જ્ઞાનાવરણીય આદિ સાત કર્મ પલ્યોપમના અસંખ્યાતમા ભાગ—ઓછા

सागरोपमकोटीकोटीस्थितिकानि करोति। उक्तञ्च—

"अतिमकोडाकोडीए होइ सव्वासिं कम्मपगडीण।
पलियामसखभागे, खीणे सेसे हवइ गंठी ॥ १ ॥"

तत्राय क्रमो विज्ञेय'—ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-वेदनीया-ऽन्तरायकर्म-चतुष्टयस्य त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थिति। नामगोत्रयोर्विंशति सागरोपमकोटीकोटय, मोहनीयस्य सप्ततिसागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थिति। तत्र यथाप्रवृत्तिकरणेन जीव उत्कृष्टां स्थितिं ह्रासयन् तावतीं स्थितिं मापयति, येन समानरूपेण सप्ताना कर्मणां पल्योपमासख्येयभागन्यूनकसागरोपमकोटीकोटीस्थिति-

---

एक कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति में लाये जाते हैं। कहा भी है—

"समस्त कर्म प्रकृतियाँ जब पल्य के असख्यातवें भाग कम कोडाकोडी की स्थितिवाली होती हैं, तब ग्रन्थि होती है" ॥ १ ॥

क्रम इस प्रकार है-ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय, इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस-तीसकोडा-कोडी सागरोपम की है। नाम और गोत्रकी बीस-बीस कोडाकोडी सागरोपम की है, और मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सित्तर (७०) कोडाकोडी सागरोपम की है। यथाप्रवृत्तिकरण के द्वारा जीव इस सारी उत्कृष्ट स्थिति को घटाकर इतनी कम कर डालता है कि सातों कर्मों की स्थिति समानरूप से पल्योपम के असख्यातवें भाग कम एक सागरोपम कोडाकोडी

એક કોડા-કોડી સાગરોપમની સ્થિતિમા લાવવામા આવે છે કહ્યુ પણ છે

"સમસ્ત કર્મપ્રકૃતિઓ જ્યારે પલ્યના અસખ્યાતમા-ભાગ ઓછા-એક કોડા-કોડીની સ્થિતિવાળી હોય છે, ત્યારે ગ્રથિ થાય છે" ॥૧॥

ક્રમ આ પ્રમાણે છે-જ્ઞાનાવરણીય, દર્શનાવરણીય, વેદનીય અને અન્તરાય આ ચાર કર્મોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ ત્રીસ-ત્રીસ કોડા-કોડી સાગરોપમની છે નામ અને ગોત્રની વીસ વીસ કોડા-કોડી સાગરોપમની છે અને મોહનીય કર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ સીતેર (૭૦) કોડા-કોડી સાગરોપમની છે યથાપ્રવૃત્તિકરણદ્વારા જીવ તમામ ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિને ઓછી કરીને-એટલી ઓછી કરી નાખે છે કે-સાતે કર્મોની સ્થિતિ સમાનરૂપથી પલ્યોપમના અસખ્યાતમા ભાગ ઓછા એક સાગરોપમ કોડા-કોડીની બાકી રહી જાય છે એના

रवशिष्टा भवति। अत्रान्तरे च यथाप्रवृत्तिकरणेन कर्मनिर्जरां कुर्वतो जीवस्य यावत् पूर्वकर्मणो निर्जरा न भवति तावत् स्थीयमानं तीव्ररागद्वेषपरिणामरूपं कर्म, ग्रन्थिसादृश्याद् ग्रन्थिरित्युच्यते ॥

यथा काष्ठविशेषस्य अतिकठोरनिविडाविशुष्कघनगूढग्रन्थिर्दुर्भेद्यस्तथा तीव्ररागद्वेषपरिणामरूपः कर्मविशेषोऽपि दुर्भेद्यो भवति तस्माद् ग्रन्थिशब्देन व्यवह्रियते।

अभव्या अपि यथाप्रवृत्तिकरणबलेन कर्म क्षपयित्वाऽनन्तवारमेवग्रन्थिपर्यन्तमागच्छन्ति। कश्चिद् ग्रन्थिस्थानं प्राप्य तस्मादधः पतति। कश्चित्तत्र ग्रन्थिस्थाने स्थितस्तिष्ठति, न तस्मादग्रे प्रवर्तते।

की बाकी रह जाती है। इसी बीच—यथाप्रवृत्तिकरणद्वारा कर्मों की निर्जरा करते हुए जीव के जितने कर्मों की निर्जरा नहीं होती अर्थात् जो कर्म शेष रह जाते हैं, वेतीव्र राग द्वेषपरिणामरूप कर्म, ग्रन्थि के समान होने के कारण ग्रन्थि (गांठ) कहलाती हैं।

जैसे—काठविशेष की अत्यन्त कठिन घनी और एकदम सूखी भीतरी गाठ दुर्भेद्य होती है, उसी प्रकार राग-द्वेषपरिणामरूप कर्मविशेष भी दुर्भेद्य होता है, अत एव वह कर्म, ग्रन्थि कहलाती है।

अभव्य जीव भी यथाप्रवृत्तिकरणद्वारा कर्म का क्षय कर के अनन्त वार ग्रन्थि पर्यन्त आ पहुँचते हैं, कोई-कोई ग्रन्थिस्थान को प्राप्त कर के फिर नीचे गिर जाता है। कोई-कोई ग्रन्थिस्थान पर ही ठहर जाता है, आगे नहीं बढता है।

વચમાં—યથાપ્રવૃત્તિકરણદ્વારા કર્મોની નિર્જરા કરતા થકા જીવનાં જેટલાં કર્મોની નિર્જરા નથી થતી અર્થાત્ જે કર્મ શેષ રહી જાય છે તે તીવ્ર રાગ-દ્વેષપરિણામરૂપ કર્મ, ગ્રંથિના સમાન હોવાના કારણે ગ્રંથિ (ગાંઠ) કહેવાય છે

જેવી રીતે કાષ્ઠ (લાકડા) વિશેષની અત્યન્ત કઠિન, મજબુત અને એકદમ સૂકી અંદરની ગાંઠ દુર્ભેદ્ય હોય છે, એ પ્રમાણે રાગ-દ્વેષપરિણામરૂપ કર્મવિશેષ પણ દુર્ભેદ્ય હોય છે એટલા માટે તે કર્મ, ગ્રંથિ કહેવાય છે

અભવ્ય જીવ પણ યથાપ્રવૃત્તિકરણદ્વારા કર્મનો ક્ષય કરીને અનંતવાર ગ્રંથિ સુધી પહોંચે છે કોઈ કોઈ ગ્રંથિ સ્થાનને પ્રાપ્ત થઈને પાછા નીચે પડી જાય છે. કોઈ-કોઈ ગ્રંથિ સ્થાન ઉપરજ રહી જાય છે આગળ વધી શકતા નથી.

अभव्योऽपि कश्चिद् यथाप्रवृत्तिकरणेन ग्रन्थिपर्यन्तं समागत्य तीर्थङ्करातिशय दर्शनेन लब्धिधारिभावितात्ममहात्मनो महिमावलोकनेन, प्रयोजनान्तरेण वा प्रवर्त्तमानः सूत्रार्थतदुभयश्रवणपठनरूपं श्रुतसामायिकं लभते, न त्वन्यदपूर्वकरणादिकम् ।

॥ अपूर्वकरणम्—

तदनन्तरं कश्चिदेव भव्यजीव आसन्नसिद्धिसुखत्वादुदितप्रचुरदुर्निवारवीर्यप्रसरोऽतिनिशितकुठारेणेव यथाप्रवृत्तिकरणापेक्षया विशुद्धतरेणाभूतपूर्वशुभाध्यवसायविशेषरूपेणापूर्वकरणेन प्रागुक्तं दुर्भेद्यं कर्मग्रन्थिं भिनत्ति ।

कोई अभव्य भी यथाप्रवृत्तिकरणद्वारा ग्रन्थि तक आकर तीर्थंकर भगवान् का अतिशय देखकर, लब्धिधारी भावितात्मा महात्मा की महिमा देखकर, अथवा किसी अन्य प्रयोजन से प्रवृत्ति करता हुआ सूत्र, अर्थ और तदुभय आगम का श्रवण या पठनरूप श्रुतसामायिक को प्राप्त कर लेता है, मगर वह अपूर्वकरण आदि को नहीं पा सकता ।

अपूर्वकरण—

तदनन्तर मोक्षसुख समीप होने के कारण जिस में प्रचुर और दुर्निवार शक्ति उत्पन्न हो गई है ऐसा कोई भव्य जीव ही बहुत तीखे कुल्हाडे के समान यथाप्रवृत्ति-करण की अपेक्षा अधिक विशुद्ध, और पहले कभी भी प्राप्त न होने वाले शुभअध्यवसायरूप अपूर्वकरण के द्वारा उस दुर्भेद्य कर्मग्रन्थि को भेदता है ।

કોઈ અભવ્ય પણ યથાપ્રવૃત્તિકરણદ્વારા ગ્રંથી સુધી આવીને તીર્થંકર ભગવાનના અતિશયને જોઈને, લબ્ધિધારી ભાવિતાત્મા મહાત્માનો મહિમા જોઈને, અથવા કોઈ અન્ય પ્રયોજનથી પ્રવૃત્તિ કરતો થકો, સૂત્ર, અર્થ અને તદુભય આગમના શ્રવણ અથવા પઠનરૂપ શ્રુત-સામાયિકને પ્રાપ્ત કરી લે છે, પરન્તુ તે અપૂર્વકરણ આદિને પ્રાપ્ત કરી શકતો નથી

અપૂર્વકરણ—

ત્યાર પછી મોક્ષસુખ સમીપ હોવાના કારણે જેનામાં મહાન અને કોઈથી નિવારી શકાય નહિ તેવી શક્તિ ઉત્પન્ન થઈ ગઈ છે એવો કોઈ ભવ્ય જીવજ બહુજ તીખા કુહાડા સમાન યથાપ્રવૃતિકરણની અપેક્ષા અધિક વિશુદ્ધ, અને પહેલા કોઈ વખત પણ પ્રાપ્ત નહિ થયેલા શુભ-અધ્યવસાયરૂપ અપૂર્વકરણ દ્વારા એ દુર્ભેદ્ય કર્મગ્રંથિને ભેદે છે

अस्मिन् ग्रन्थिभेदे मन क्षोभपरिश्रमादिविघ्ना भवन्ति। यथा विद्यासाधकस्य विद्याधिष्ठातृदेवताकृतोपसर्गैर्मनःक्षोभो भवति, यथा घोरमहासमरगतसुभटस्य दुर्धर्षबहुतरशत्रुगणपराजयकरणात्परिश्रमो भवति, यथा च महासमुद्रादिभ्यो नौकादितारणे नाविकस्य परिश्रमो भवति तथा प्रचुरदुर्जयकर्मशत्रुसंघातपराजये परिश्रमोऽतिशयेन जायते। वज्राश्मवद्दुर्भेद्योऽयं कर्मग्रन्थिः। अपूर्वकरणवज्रसूच्याश्रयमन्तरेणास्य भेदो दुष्करः।

अपूर्वकरणवज्रसूच्या सकृद् ग्रन्थिभेदे कृते सति लब्धविशुद्धतमभद्रा-

---

ग्रन्थिभेदन करने में मानसिक क्षोभ तथा परिश्रम आदि अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं। जैसे विद्या की साधना करने वाले को विद्या की अधिष्ठात्री देवता के द्वारा किये जाने वाले विघ्नों से मन में क्षोभ होता है, और घनघोर महायुद्ध में गये हुए योद्धा को बहु-सख्यक और दुर्जय शत्रुओं के दल पर विजय प्राप्त करने में परिश्रम करना पड़ता है, अथवा जैसे किसी महासमुद्र से जहाज वगैरह को पार लगाने में नाविक को परिश्रम करना पड़ता है, उसी प्रकार बहुत—से दुर्जय कर्मशत्रुओं के दल को पराजित करने में अत्यन्त परिश्रम करना पड़ता है। यह कर्मग्रन्थि वज्र की तरह बड़ी कठिनाई से भेदी जाती है। अपूर्वकरणरूपी वज्र की सुई का सहारा लिये विना उस का भेदन होना अशक्य है।

अपूर्वकरण की वज्रमय सुई से एक वार कर्मग्रन्थि का भेदन हो जाने पर

ગ્રંથિભેદન કરવામાં માનસિક ક્ષોભ તથા પરિશ્રમ આદિ અનેક વિઘ્ન ઉપસ્થિત થાય છે જેમ વિદ્યાની સાધના કરવાવાળાને વિદ્યાની અધિષ્ઠાત્રી દેવતાદ્વારા થવાવાળા વિઘ્નોથી મનમાં ક્ષોભ થાય છે, અને ઘનઘોર મહાયુદ્ધમાં ગયેલા યોદ્ધાને ઘણીજ સખ્યાવાળા અને દુર્જય શત્રુઓના દળ ઉપર વિજય મેળવવામાં જેમ પરિશ્રમ કરવો પડે છે અથવા—જેવી રીતે કોઈ મહાસમુદ્રમાંથી વહાણ વગેરેને પાર લઈ જવામાં નાવિકોને પરિશ્રમ કરવો પડે છે, એ પ્રમાણે બહુજ દુર્જય કર્મશત્રુઓના દળનો પરાજય કરવામાં અત્યન્ત પરિશ્રમ કરવો પડે છે

આ કર્મગ્રંથિ વજ્રના જેવી મહાકઠિનતાથી ભેદી શકાય છે અપૂર્વકરણ રૂપી વજ્રની સોયની સહાય લીધા વિના તેનું ભેદન થવું અશક્ય છે

અપૂર્વકરણની વજ્રમય સોયથી એકવાર કર્મગ્રંથિનું ભેદન થઈ જવા પછી

सामर्थ्यान्न पुनर्ग्रन्थिबन्धन भवति, यथा जातवेधो मणि कथञ्चिद्रजसा परिपूरितेऽपि रन्ध्रे न पूर्वावस्थां प्राप्नोति, तथैव सम्पृष्टसम्यक्त्वो जीव' कथञ्चित्सम्यक्त्वापगमे पश्चात्तीव्ररागद्वेपपरिणामप्राप्तावपि न पुनर्ग्रन्थिरूपेण कर्म बध्नाति ।

यथा जन्मान्धस्य कथञ्चिच्चक्षुःप्राप्तौ सत्या यथावस्थितपदार्थसार्थाव लोकनेन, यथा च महाव्याधिजनितदुरन्तघोरवेदनासमाक्रान्तस्य तद्व्याध्यपगमे महान् प्रमोदो जायते तथा भव्यस्यानिवृत्तिकरणबलेन वीतरागोपदिष्ट-

---

जीव को श्रद्धा की अत्यन्त विशुद्ध शक्ति प्राप्त हो जाती है, अत एव फिर कभी ग्रंथिबंध नहीं होता। किसी मणि में एक बार छेद कर दिया जाय और कालान्तर में उस में धूल भर जाय तो भी वह छेद पहले की भाँति नहीं होता। इसी प्रकार एकबार सम्यक्त्व प्राप्त कर लेने वाला जीव सम्यक्त्व के नष्ट हो जाने पर भी बाद में तीव्र राग-द्वेषरूप परिणामों की प्राप्ति होने पर भी ग्रंथि के रूप में कर्मों का बंध नहीं करता।

जैसे जन्म से अंधे को किसी उपाय से आंख मिलने पर पदार्थों का असली स्वरूप देखकर अत्यन्त हर्ष होता है, अथवा जैसे किसी महान् रोग से होने वाली घोर वेदना से पीडित पुरुष के रोग हट जाने पर महान् हर्ष होता है, उसी प्रकार भव्य-जीव को अनिवृत्तिकरण-के बल से भगवान् वीतराग द्वारा कथित यथार्थ

જીવને શ્રદ્ધાની અત્યન્ત વિશુદ્ધ શક્તિ પ્રાપ્ત થઇ જાય છે, એટલા માટે ફરી કોઈ વખત ગ્રથિબધ થતો નથી. કોઈ મણિમા એક વખત છિદ્ર-કાણું પાડયા પછી કાલાન્તરમાં તે છિદ્રમા કદાચ ધૂળ ભરાઈ જાય તો પણ તે છેદ પ્રથમ પ્રમાણે થતો નથી. આ પ્રકારે એકવાર સમ્યક્ત્વ પ્રાપ્ત કરી લેવાવાળા જીવ, સમ્યક્ત્વનો નાશ થવા છતા પણ પછીથી તીવ્ર રાગ-દ્વેષ રૂપ પરિણામોની પ્રાપ્તિ થવા છતાંય પણ ગ્રથિના રૂપમાં કર્મોનો બધ કરતા નથી

જેવી રીતે જન્મથી આંધળાને કોઈપણ ઉપાયથી નેત્ર મળી જતાં પદાર્થોના અસલી સ્વરૂપને જોઈને અત્યત હર્ષ થાય છે, અથવા જેમ કોઈ મહાન્ રોગથી થવા વાળી મહાઘોર વેદનાથી પીડિત પુરૂષનો રોગ નિવારણ થઈ જતાં તેને મહાન્ હર્ષ થાય છે એ પ્રમાણે ભવ્ય જીવને અનિવૃત્તિકરણના બળથી, ભગવાન વીતરાગદ્વારા કથિત

यथावस्थितवस्तुतत्त्वाऽभिरुच्या श्रद्धयाऽभूतपूर्वो विषयवैरस्यपुरस्कृत प्रमोदः प्रादुर्भवति ।

॥ अनिवृत्तिकरणम्—

ततश्च ग्रन्थिभेदोत्तरकालमेव ततो विशुद्धतमं शुभाध्यवसायविशेषमनिवृत्तिकरणं प्राप्नोति, येन तावन्न निवर्तते जीव सम्यक्त्व न लभते यावदित्यनिवृत्तिकरणमुच्यते । अनिवृत्तिकरणबलेन जीव सम्यग्दर्शन लभते । तदेव नैसर्गिकी श्रद्धोच्यते ।

ननु प्रागुक्त 'मिथ्यात्वमोहनीयकर्मोपशमादिभ्य श्रद्धा जायते' पुनरुच्यते 'निसर्गादधिगमाद्वा श्रद्धा जायते ' तदसगतम् ।

वस्तुस्वरूप के प्रति रुचिरूप श्रद्धा से विषयवैराग्यपूर्वक एक ऐसा आनन्द उत्पन्न होता है, जिस का पहेले कभी अनुभव नहीं हुआ था ।

अनिवृत्तिकरण—

ग्रंथिभेद के अनन्तर काल में अत्यन्त विशुद्ध परिणाम उत्पन्न होता है । वही अनिवृत्तिकरण कहलाता है । यह परिणाम प्राप्त होने पर जीव सम्यक्त्व प्राप्त किये विना नहीं लौटता, इसी कारण इसे 'अनिवृत्तिकरण' कहते हैं । अनिवृत्तिकरण के द्वारा जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है । उसी को नैसर्गिक श्रद्धा कहते हैं ।

शङ्का—पहले कहा था कि–'मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के उपशम आदि से श्रद्धा उत्पन्न होती है' और बाद में कहते हैं कि–'निसर्ग से, अथवा अधिगम से श्रद्धा उत्पन्न होती है '। यह कथन परस्पर असंगत है ?

યથાર્થવસ્તુસ્વરૂપની રૂચિરૂપ શ્રદ્ધાથી વિષયવૈરાગ્યપૂર્વક એક એવો આનંદ ઉત્પન્ન થાય છે કે–જેનો પહેલા કોઈ વખત અનુભવ થયો નથી

અનિવૃત્તિકરણ—

ગ્રંથિભેદના અનન્તર (તરતના) કાળમા અત્યન્ત વિશુદ્ધ પરિણામ ઉત્પન્ન થાય છે તે 'અનિવૃત્તિકરણ' કહેવાય છે. આ પરિણામ પ્રાપ્ત થયાં પછી જીવ સમ્યક્ત્વ પ્રાપ્ત કર્યા વિના પાછો નથી ફરતો તેથીજ એને અનિવૃત્તિકરણ કહે છે. અનિવૃત્તિકરણ જીવ દ્વારા સમ્યગ્દર્શન પ્રાપ્ત કરે છે તેનેજ નૈસર્ગિક (સ્વાભાવિક) શ્રદ્ધા કહે છે

શંકા—પહેલાં કહ્યું હતું કે–' મિથ્યાત્વમોહનીય કર્મના ઉપશમ આદિથી શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન થાય છે ' અને પછી કહો છો કે–' નિસર્ગ અથવા અધિગમથી શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન થાય છે, એ કથન પરસ્પર અસંગત છે

अत्रोच्यते-स एव क्षयोपशमादिर्निसर्गाधिगमाद्वा जायते, तथा च श्रद्धाया अपि तद्द्वय कारण सिद्ध्यतीति न दोष.।

ननु सम्यक्त्वगुणरहितेनैव जीवेन द्राघीयसी कर्मस्थितिर्ग्रन्थिभेदात्पूर्वं यथाप्रवृत्तिकरणेन यथा क्षपिता तथा तदवशिष्टमपि कर्मग्रन्थि यथाप्रवृत्तिकरणेनैव भिनत्तु, ततो मोक्षमप्येवमेव प्राप्नोतु किं पुनरपूर्वकरणालम्बनेन ? अत्रोच्यते-महाविद्यासाधनवदेतद् द्रष्टव्यम्। यथा महाविद्याया साधने पूर्वं स्वल्प एव परिश्रमो भवति, तत्सिद्धिप्राप्तिसमये तु सा विद्या तद्विद्याधिष्ठातृदेवताकृत-

समाधान—मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का क्षयोपशम आदि, निसर्ग से अथवा अधिगम से होता है, ऐसी स्थिति में यह दोनों कारण श्रद्धा के ही हैं, अत कोई दोष नहीं है।

शङ्का—जीव ने सम्यक्त्व न होने पर भी जैसे उतनी बडी भारी कर्मस्थितिको ग्रंथिभेद से पहले ही यथाप्रवृत्तिकरण के द्वारा खपा डाली इसी प्रकार शेष स्थिति भी यथाप्रवृत्तिकरण के द्वारा ही खपा ले और मोक्ष भी इसी प्रकार प्राप्त करले फिर अपूर्वकरण का आश्रय लेने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान— महाविद्या की साधना की तरह ही यहाँ समझना चाहिए। जैसे महाविद्या की साधना में पहले थोडा-सा श्रम होता है किन्तु जब उस की सिद्धि का समय नजदीक आता है तो वह विद्याधिष्ठात्री देवताद्वारा किये जानेवाले नाना प्रकार के उपसर्गों द्वारा विघ्नयुक्त हो जाती है और प्राय अत्यन्त कष्टसाध्य बन जाती है,

સમાધાન—મિથ્યાત્વમોહનીય કર્મના ક્ષયોપશમ આદિ, નિસર્ગથી અથવા અધિગમથી થાય છે, એવી સ્થિતિમાં આ બન્ને કારણો શ્રદ્ધાનાજ છે તેથી કોઈ દોષ નથી

શંકા—જીવને સમ્યક્ત્વ ન હોય તો પણ જેવી રીતે એવડી મહાભારી કર્મ સ્થિતિને ગ્રંથિભેદના પહેલાજ યથાપ્રવૃત્તિકરણના દ્વારા ખપાવી નાખે છે તે પ્રમાણે શેષ સ્થિતિ પણ યથાપ્રવૃત્તિકરણદ્વારાજ ખપાવી નાખે અને મોક્ષ પણ આ પ્રમાણે પ્રાપ્ત કરી લીએ તો પછી અપૂર્વકરણનો આશ્રય લેવાની શું આવશ્યક્તા છે ?

સમાધાન—મહાવિદ્યાની સાધના પ્રમાણેજ અહિં સમજી લેવું જોઈએ. જેમ મહાવિદ્યાની સાધનામા પહેલાં થોડો એવો શ્રમ થાય છે, પરન્તુ જ્યારે તેની સિદ્ધિનો સમય નજીક આવે છે ત્યારે તે વિદ્યાની અધિષ્ઠાત્રીદેવતાદ્વારા કરવામા આવતા નાના પ્રકારના ઉપસર્ગો દ્વારા વિઘ્નયુક્ત થઈ જાય છે અને ઘણું કરીને અત્યન્ત કષ્ટસાધ્ય

यथावस्थितवस्तुतत्त्वाऽभिरुच्या श्रद्धयाऽभूतपूर्वो विषयवैरस्यपुरस्कृत प्रमोदः प्रादुर्भवति ।

॥ अनिवृत्तिकरणम्—

ततश्च ग्रन्थिभेदोत्तरकालमेव ततो विशुद्धतमं शुभाध्यवसायविशेषमनिवृत्तिकरणं प्राप्नोति, येन तावन्न निवर्त्तते जीव सम्यक्त्व न लभते यावदित्यनिवृत्तिकरणमुच्यते। अनिवृत्तिकरणबलेन जीव सम्यग्दर्शन लभते। तदेव नैसर्गिकी श्रद्धोच्यते ।

ननु प्रागुक्तं 'मिथ्यात्वमोहनीयकर्मोपशमादिभ्यः श्रद्धा जायते' पुनरुच्यते 'निसर्गादधिगमाद्वा श्रद्धा जायते' तदसगतम् ।

वस्तुस्वरूप के प्रति रूचिरूप श्रद्धा से विषयवैराग्यपूर्वक एक ऐसा आनन्द उत्पन्न होता है, जिस का पहेले कभी अनुभव नहीं हुआ था ।

अनिवृत्तिकरण—

ग्रंथिभेद के अनन्तर काल में अत्यन्त विशुद्ध परिणाम उत्पन्न होता है। वही अनिवृत्तिकरण कहलाता है। यह परिणाम प्राप्त होने पर जीव सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना नहीं लौटता, इसी कारण इसे 'अनिवृत्तिकरण' कहते हैं। अनिवृत्तिकरण के द्वारा जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। उसी को नैसर्गिक श्रद्धा कहते हैं।

शङ्का—पहले कहा था कि—'मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के उपशम आदि से श्रद्धा उत्पन्न होती है' और बाद में कहते हैं कि—'निसर्ग से, अथवा अधिगम से श्रद्धा उत्पन्न होती है'। यह कथन परस्पर असंगत है ?

યથાર્થવસ્તુસ્વરૂપની રૂચિરૂપ શ્રદ્ધાથી વિષયવૈરાગ્યપૂર્વક એક એવો આનંદ ઉત્પન્ન થાય છે કે—જેનો પહેલા કોઈ વખત અનુભવ થયો નથી.

અનિવૃત્તિકરણ—

ગ્રંથિભેદના અનન્તર (તરતના) કાળમા અત્યન્ત વિશુદ્ધ પરિણામ ઉત્પન્ન થાય છે તે 'અનિવર્તિકરણ' કહેવાય છે. આ પરિણામ પ્રાપ્ત થયાં પછી જીવ સમ્યકૃત્વ પ્રાપ્ત કર્યા વિના પાછો નથી ફરતો તેથીજ એને અનિવૃત્તિકરણ કહે છે. અનિવૃત્તિકરણ જીવ દ્વારા સમ્યગ્દર્શન પ્રાપ્ત કરે છે તેનેજ નૈસર્ગિક (સ્વાભાવિક) શ્રદ્ધા કહે છે

શંકા—પહેલાં કહ્યું હતું કે—'મિથ્યાત્વમોહનીય કર્મના ઉપશમ આદિથી શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન થાય છે' અને પછી કહો છો કે—'નિસર્ગ અથવા અધિગમથી શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન થાય છે, એ કથન પરસ્પર અસંગત છે

स्थितपदार्थनिर्णयो जायते सोऽधिगम , तस्मादुपशमादिद्वारेण तत्त्वार्थाभिरुचिर्जायते सा-अधिगमश्रद्धा ।

श्रद्धया शमसवेगादय प्रादुर्भवन्ति, ततश्च राज्यादिविभव पुत्रदारादिक स्वजन सर्वं परिणामदु खप्रद विषवत्परित्यज्य सर्वसुखसारभूत नित्य ध्रुव शाश्वतिक मोक्षसुखं प्राप्तुकाम प्रव्रजितो भवति ।

संयमश्रेणिप्राप्तिकाले या प्रवृद्धपरिणामधारा वर्तते ता सर्वथा रक्षेन्न तु ह्रासयेदिति भाव । श्रद्धाया' परमदुर्लभत्वात्, ज्ञानचारित्रकारणतया मोक्षस्यादि-

---

अथवा वीतराग द्वारा निरूपित आगम के अर्थ का विचार करने से पदार्थों का यथार्थ निर्णय होता है । उस निर्णय को अधिगम कहते हैं । उस अधिगम से मिथ्यात्व मोहनीय का क्षय, उपशम आदि होने पर तत्त्वार्थ की जो रुचि होती है, वह अधिगम-श्रद्धा है ।

श्रद्धा से शम, संवेग आदि उत्पन्न होते हैं, अत एव "राज्य आदि वैभव तथा पुत्र, पत्नी आदि समस्त आत्मीयजन अन्त में दु खदायक हैं" ऐसा जान कर, और विष के समान उन का परित्याग कर के सब सुखों में उत्तम, नित्य, ध्रुव, शाश्वतिक मोक्ष-सुख की इच्छावाला वह सम्यग्दृष्टि पुरुष दीक्षित हो जाता है ।

तात्पर्य यह है कि-संयमप्राप्ति के समय परिणामों की जो बढी हुइ धारा थी उस की सब प्रकार से रक्षा करना चाहिए, उसे घटने नहीं देना चाहिए । श्रद्धा परम दुर्लभ है, और ज्ञान एव चारित्र का कारण होने से मोक्ष का आद्य कारण है, अत एव

वीतरागद्वारा निरूपित आगमना अर्थनो विचार करवाथी पदार्थोनो यथार्थ निश्चय थाय छे ते निश्चयने अधिगम कहे छे ते अधिगमथी मिथ्यात्वमोहनीयनो क्षय-उपशम आदि थया पछी तत्त्वार्थनी जे रुचि थाय छे, ते अधिगमश्रद्धा छे

श्रद्धाथी शम, संवेग आदि उत्पन्न थाय छे एटला माटे "राज्य आदि वैभव तथा पुत्र, पत्नी वगेरे समस्त आत्मीयजन अंतमा दु खदायक छे " ए प्रमाणे जाणीने विषनी समान तेनो त्याग करीने सर्वसुखोमा उत्तम, नित्य, ध्रुव, शाश्वतिक मोक्ष सुखनी इच्छावाळा सम्यग्दृष्टि पुरुष दीक्षित थई जाय छे

तात्पर्य ए छे के-संयमनी प्राप्तिना समये परिणामोनी जे वधती जती धारा हती तेनुं सर्व प्रकारथी रक्षण करवुं जोईए. तेने घटवा देवी जोइए नहि श्रद्धा परम दुर्लभ छे अने ज्ञान, एवी शते चारित्रनुं कारण होवाथी मोक्षनुं मुख्य कारण छे एटला माटे

विविधोपसर्गैः सविघ्ना कष्टतरसाध्या च प्रायशो भवति, तद्वद् ग्रन्थिभेदो मनःक्षोभादिविविधोपसर्गैः, परमवीर्याविष्कारपूर्वककष्टतरसाध्यत्वेन च सविघ्नोऽतिदुष्करश्च, तस्मात् केवल यथाप्रवृत्तिकरणेन ग्रन्थिभेदो न भवितुमर्हति, अत एवापूर्वकरणमावश्यकमिति । इत्थं चापूर्वकरणेन ग्रन्थिभेदं विधायाऽनिवृत्ति-करणेन श्रद्धा लभ्यते ।

॥ अधिगमश्रद्धा—

येन प्रकारेण निसर्गेण श्रद्धा जायते स कथितः, अधुना-अधिगमश्रद्धा व्याख्यायते-अधि=अधिकृत्य तीर्थङ्कराद्युपदेशं निमित्तीकृत्य गमः=ज्ञानं यद्भवति सोऽधिगमः, वीतरागोपदेशश्रवणाद् वीतरागप्रणीतागमार्थपर्यालोचनाद्वा यथात्र-

इसी प्रकार ग्रन्थिभेद भी मन क्षोभ आदि अनेक उपसर्गों के कारण विघ्नयुक्त हो जाता है और ग्रंथिभेद के करने में बड़ी शक्ति की आवश्यकता होती है, अत एव अकेले यथाप्रवृत्तिकरण से ग्रंथिभेद नहीं हो सकता, उस के लिए अपूर्वकरण की आवश्यकता होती है । इस प्रकार अपूर्वकरण-द्वारा ग्रंथिभेद करने पर अनिवृत्तिकरण-द्वारा श्रद्धा प्राप्त की जाती है ।

अधिगमश्रद्धा—

जिस प्रकार निसर्ग से श्रद्धा उत्पन्न होती है वह प्रकार कहा जा चुका । अब अधिगमश्रद्धा की व्याख्या की जाती है-तीर्थङ्कर आदि के उपदेश के निमित्त से होने वाला ज्ञान अधिगम कहलाता है । वीतराग भगवान् का उपदेश सुनने से

બની જાય છે, એ પ્રમાણે ગ્રંથિભેદ પણ મન ક્ષોભ આદિ અનેક ઉપસર્ગોના કારણે વિઘ્નયુક્ત થઈ જાય છે, અને તે ગ્રન્થિભેદના કરવામા ભારે શક્તિની આવશ્યકતા હોય છે, એટલા માટે એકલા યથાપ્રવૃત્તિકરણથી ગ્રંથિભેદ થતો નથી, તેને માટે અપૂર્વકરણની આવશ્યકતા રહે છે, એ પ્રમાણે અપૂર્વકરણ-દ્વારા ગ્રંથિભેદ કરવાથી અનિવૃત્તિકરણ-દ્વારા શ્રદ્ધા પ્રાપ્ત કરવામા આવે છે

અધિગમશ્રદ્ધા—

જે પ્રમાણે નિસર્ગથી શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન થાય છે તે પ્રકાર કહેવામા આવી ગયો છે હવે અધિગમશ્રદ્ધાની વ્યાખ્યા કરવામાં આવે છે-તીર્થંકર આદિના ઉપદેશના નિમિત્તથી થવાવાળું જ્ઞાન તે અધિગમ કહેવાય છે વીતરાગ ભગવાનનો ઉપદેશ સાંભળવા

॥ टीका ॥

वीरा =परीषहोपसर्गकषायादिरूपशत्रुविजयिनो भाववीरा' संयमानुष्ठाने वीर्यवन्तः सर्वोत्कृष्टा इति यावत्,

महती चासौ वीथि महावीथि'=सम्यग्ज्ञानादिलक्षणो महामार्ग', महापुरुषसेवितत्वात्, तां महावीथिम् प्रणताः=प्राप्ता' कठिनतरतप संयमाराधनेन प्राप्तवन्त इत्यर्थ, अयमेव मार्गो मोक्षावाप्तिकरोऽशेषसंयमिसेवितत्वात्। तीर्थङ्करादिमहापुरुषा अपि मार्गमिममनुशीलितवन्त इति विश्वसनीयतया शिष्याणां श्रद्धापूर्वकमप्रवृत्तिर्यथा स्यादिति भाव'।

यथा राजानो विपक्षपक्षदलनाद् वीरत्वेन प्रसिद्धा भवन्ति, एवमेव

टीकार्थ—परीषह, उपसर्ग, कषाय आदिरूप शत्रुओं को जीतनेवाले, संयम के आचरण में पराक्रम करनेवाले सर्वोत्कृष्ट भाववीर यहाँ 'वीर' शब्द से ग्रहण किये गये हैं।

सम्यग्ज्ञान आदि मोक्ष का महामार्ग 'महावीथि' कहलाता है, क्यों कि महापुरुषोंने उस का सेवन किया है। भाववीर इस महामार्ग को प्राप्त हुए हैं। अत्यन्त कठोर तप और संयम का आराधन करना ही इस मार्ग को प्राप्त करना है। यही मार्ग मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला है, क्यों कि समस्त मुनियोंने इसी का सेवन किया है। तीर्थंकर आदि महापुरुषोंने भी इसी मार्ग का आश्रय लिया है, अत एव विश्वसनीय समझ कर शिष्यगण की भी इसी में प्रवृत्ति होनी चाहिए।

'वीर' पद से यह प्रकट किया गया है कि—जैसे राजा लोग अपने शत्रुओं का

ટીકાર્થ—પરીષહ, ઉપસર્ગ કષાય વગેરે શત્રુઓને જીતવાવાળા, સંયમના આચરણમાં પરાક્રમ કરવાવાળા સર્વોત્કૃષ્ટ ભાવવીર અહિં 'વીર' શબ્દ વડે ગ્રહણ કરવામાં આવ્યા છે

સમ્યગ્જ્ઞાન આદિ મોક્ષનો માર્ગ તે "મહાવીથિ" કહેવાય છે, કારણ કે મહાપુરૂષોએ તેનું સેવન કર્યું છે ભાવવીર આ મહામાર્ગને પ્રાપ્ત થયા છે અત્યન્ત કઠોર તપ અને સંયમનું આરાધન કરવું એ જ આ માર્ગને પ્રાપ્ત કરવો તે છે આ માર્ગજ મોક્ષની પ્રાપ્તિ કરાવવાવાળો છે, કારણ કે સમસ્ત મુનિઓએ એ માર્ગનો સેવન કર્યું છે તીર્થંકર આદિ મહાપુરૂષોએ પણ આ માર્ગનો આશ્રય લીધો છે, એટલા માટે આ માર્ગને વિશ્વાસપાત્ર સમજીને શિષ્યગણની પણ આ માર્ગમાં પ્રવૃત્તિ થવી જોઈએ.

'વીર' પદથી એ પ્રગટ કરવામાં આવ્યું છે કે—જેમ રાજા લોક પોતાના શત્રુઓનો

कारणत्वाच्च श्रद्धां न परित्यजेत् । यथा–कथञ्चिदवाप्तस्यापि संयमस्य श्रद्धापूर्वकरक्षणे यावज्जीवं सावधानो भवेदिति सूत्राशयः ॥ सू० २ ॥

शिष्यश्रद्धादृढीकरणाय 'परिशीलितमार्गोऽनुगम्यते' इति लोकरीत्या 'पूर्वमहापुरुषाचरितोऽयं मार्गः' इत्याशयेन कथयति—

यद्वा 'पूर्वमहापुरुषतीर्थङ्कर-गणधरादिभिरप्याचरितोऽयं मार्गः' इति प्रदर्शनाय शिष्यचेतसि श्रद्धातिरेको यथा स्यात्तथा सूत्रकारः स्वयमाह–'पणया' इत्यादि ।

॥ मूलम् ॥

पणया वीरा महावीहिं ॥ सू० ३ ॥

॥ छाया ॥

प्रणता वीरा महावीथिम् ॥ सू० ३ ॥

श्रद्धा का त्याग नहीं करना चाहिए, आशय यह है कि–बडी कठिनाई से प्राप्त होने वाले संयम की श्रद्धापूर्वक रक्षा करने में जीवनभर सावधान रहना चाहिए ॥सू० २॥

'चले मार्ग पर चला जाता है' इस लोकव्यवहार के अनुसार शिष्य की श्रद्धा मजबूत करनेके लिए 'यह मार्ग पूर्वकालीन महापुरुषों द्वारा आचरित है' इस आशयसे कहते हैं—

अथवा–'पूर्वकाल के तिर्थङ्कर गणधर आदिने भी इसी मार्ग का अवलम्बन किया है' यह बतलाते हुए शिष्य के चित्त की श्रद्धा बढाने के लिए कहते हैं—'पणया' इत्यादि ।

मूलार्थ—वीर पुरुष महामार्ग को प्राप्त हुए ॥ सू ३ ॥

શ્રદ્ધાનો ત્યાગ કરવો જોઈએ નહિ; આશય એ છે કે–મહાન કઠિનાઈથી પ્રાપ્ત થવાવાળા સંયમની શ્રદ્ધાપૂર્વક રક્ષા કરવામાં જીવનના છેલ્લા રક્ષણ સુધી સાવધાન રહેવું જોઈએ. (સૂ. ૨)

"ચાલતા માર્ગ પર ચલાવાય છે" આ લોકવ્યવહાર પ્રમાણે શિષ્યની શ્રદ્ધા મજબૂત કરવા માટે–'આ માર્ગ પૂર્વકાલીન મહાપુરૂષોએ આચરણ કરેલ છે' આ આશયથી કહે છે—

અથવા પૂર્વ કાલના તીર્થંકર ગણધર આદિ સૌએ આ માર્ગનું અવલમ્બન (આશ્રય) કર્યું એ બતાવવા માટે શિષ્યના ચિત્તની શ્રદ્ધાને વધારવા માટે કહે છે—'પણયા' ઈત્યાદિ.

મૂલાર્થ—વીર પુરૂષ મહામાર્ગને પ્રાપ્ત થયા–(વીર પુરૂષે મહામાર્ગને પ્રાપ્ત કર્યો) (સૂ. ૩)

॥ टीका ॥

वीरा'=परीषहोपसर्गकषायादिरूपशत्रुविजयिनो भाववीरा' संयमानुष्ठाने वीर्यवन्त' सर्वोत्कृष्टा इति यावत्,

महती चासौ वीथि महावीथिः=सम्यग्ज्ञानादिलक्षणो महामार्गः, महापुरुषसेवितत्वात्, तां महावीथिम् प्रणता'=प्राप्ता कठिनतरतप संयमाराधनेन प्राप्तवन्त इत्यर्थ, अयमेव मार्गो मोक्षावाप्तिकरोऽशेषसंयमिसेवितत्वात्। तीर्थङ्करादिमहापुरुषा अपि मार्गमिममनुशीलितवन्त इति विश्वसनीयतया शिष्याणां श्रद्धापूर्वकमशृत्तिर्यथा स्यादिति भाव'।

यथा राजानो विपक्षपक्षदलनाद् वीरत्वेन प्रसिद्धा भवन्ति, एवमेव

टीकार्थ—परीषह, उपसर्ग, कषाय आदिरूप शत्रुओं को जीतनेवाले, संयम के आचरण में पराक्रम करनेवाले सर्वोत्कृष्ट भाववीर यहाँ 'वीर' शब्द से ग्रहण किये गये हैं।

सम्यग्ज्ञान आदि मोक्ष का महामार्ग 'महावीथि' कहलाता है, क्यों कि महापुरुषोंने उस का सेवन किया है। भाववीर इस महामार्ग को प्राप्त हुए हैं। अत्यन्त कठोर तप और संयम का आराधन करना ही इस मार्ग को प्राप्त करना है। यही मार्ग मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला है, क्यों कि समस्त मुनियोंने इसी का सेवन किया है। तीर्थंकर आदि महापुरुषोंने भी इसी मार्ग का आश्रय लिया है, अत एव विश्वसनीय समझ कर शिष्यगण की भी इसी में प्रवृत्ति होनी चाहिए।

'वीर' पद से यह प्रकट किया गया है कि—जैसे राजा लोग अपने शत्रुओं का

ટીકાર્થ—પરીષહ, ઉપસર્ગ કષાય વગેરે શત્રુઓને જીતવાવાળા, સંયમના આચરણમાં પરાક્રમ કરવાવાળા સર્વોત્કૃષ્ટ ભાવવીર અહિં 'वीर' શબ્દ વડે ગ્રહણ કરવામાં આવ્યા છે

સમ્યગ્જ્ઞાન આદિ મોક્ષનો માર્ગ તે "महावीथि" કહેવાય છે, કારણ કે મહાપુરૂષોએ તેનું સેવન કર્યું છે ભાવવીર આ મહામાર્ગને પ્રાપ્ત થયા છે અત્યન્ત કઠોર તપ અને સંયમનું આરાધન કરવું એ જ આ માર્ગને પ્રાપ્ત કરવો તે છે આ માર્ગજ મોક્ષની પ્રાપ્તિ કરાવવાવાળો છે, કારણ કે સમસ્ત મુનિઓએ એ માર્ગનો સેવન કર્યું છે તીર્થંકર આદિ મહાપુરૂષોએ પણ આ માર્ગનો આશ્રય લીધો છે, એટલા માટે આ માર્ગને વિશ્વાસપાત્ર સમજીને શિષ્યગણની પણ આ માર્ગમાં પ્રવૃત્તિ થવી જોઈએ.

'वीर' પદથી એ પ્રગટ કરવામા આવ્યું છે કે—જેમ રાજા લોક પોતાના શત્રુઓનો

इच्छंति, जीविउ न मरिज्जिउ ' इति वचनात्। तमप्कायलोकं समनुपालयेदिति सम्बन्ध । सयमी सर्वप्राणिगणपरिपालक एव सन् नान्यस्मै भयमुत्पादयति, 'मित्ती मे सव्वभूएसु' इति वचनेन तस्य सर्वैः सह मैत्रीसद्भावात्, अतोऽसौ सयमी न तेभ्यो भयं जनयति, कस्मैचिदपि भय केनापि नोत्पादयति, प्रत्युत सर्वप्राणिगणं परिरक्षतीति भाव' ।

यद्यपि छद्मस्थैः प्राणिभि' सर्वद्रव्यपर्यायज्ञानाभावाद्बुद्धिसंस्काररराहित्येनाप्का यजीवस्याव्यक्तचेतनया च 'आपो जीवाः सन्ती '-त्यपरोक्षत्वेन कदाचिदपि ज्ञातुं न शक्यते, तथापि सकलतीर्थोद्धारधुरीण-तीर्थङ्कर-वचनप्रामाण्यादवश्य

आगम में कहा है-'सभी जीव जीवित रहना चाहते हैं मरना नहीं चाहते।" उस अप्कायलोक का पालन करे अर्थात् रक्षण करे। सयमी पुरुष समस्त प्राणियों का रक्षक होता है। वह किसी भी प्राणी को भय उत्पन्न नहीं करता। " मेरा सब प्राणियों पर मैत्रीभाव है" इस वचन के अनुसार उस की प्राणीमात्र पर मित्रता की भावना होती है। इस कारण संयमी उन्हे भय उत्पन्न नहीं करता, किसी को भी किसी द्वारा भय उत्पन्न नहीं कराता, बल्कि वह सब प्राणियों की रक्षा करता है।

यद्यपि छद्मस्थ जीवों को समस्त द्रव्यों का ज्ञान नहीं होता इस कारण, तथा बुद्धि, सस्कार से रहित होने के कारण अप्काय के जीवों में अव्यक्त चेतना होने से, तथा 'जल जीव है' यह बात प्रत्यक्ष न होने से कभी इन्द्रियों द्वारा जानी नहीं जा सकती, फिर भी सम्पूर्ण तीर्थ का उद्धार करने में समर्थ तीर्थङ्कर के वचनों को प्रमाण

આગમમા પણ કહ્યુ છે કે-"સવ જીવ જીવતા રહેવાની ઇચ્છા કરે છે, મરવાની ઇચ્છા કરતા નથી." તે અપ્કાયલોકનુ પાલન કરે અર્થાત્ રક્ષા કરે સયમી પુરૂષ સમસ્ત પ્રાણીઓના રક્ષક થાય છે તે કોઈ પણ પ્રાણીને ભય ઉત્પન્ન કરતા નથી. 'સર્વ પ્રાણીઓ પર મારો મૈત્રીભાવ છે' આ વચન પ્રમાણે તેની સર્વ પ્રાણીમાત્ર પર મિત્રતાની ભાવના હોય છે, તે કારણથી સયમી તે જીવોને ભય ઉત્પન્ન કરતા નથી, કોઈને પણ કોઈથી ભય ઉત્પન્ન કરાવતા નથી, પરતુ તે સર્વ પ્રાણીઓની રક્ષા કરે છે

જો કે છદ્મસ્થ જીવોને સમસ્ત દ્રવ્યો અને પર્યાયોનુ જ્ઞાન નથી; તે કારણથી તથા બુદ્ધિ, સસ્કારથી રહિત હોવાથી અપ્કાયના જીવોમાં અવ્યક્ત ચેતના હોવાથી, તથા 'જલ જીવ છે' એ વાત પ્રત્યક્ષ નહિ હોવાથી ઇન્દ્રિયોદ્વારા કોઈ વખત જાણવામાં આવતી નથી તો પણ સપૂર્ણ તીર્થનો ઉદ્ધાર કરવામાં સમર્થ તીર્થંકરના વચનોને પ્રમાણ

विश्वासो विधेय'। अवध्यादिप्रत्यक्षज्ञानिनोऽपि पूर्वं भगवदाज्ञायां श्रद्धावन्त सन्त एवाऽप्कायजीवान् विज्ञाय प्रत्यक्षज्ञानिन' संजाता', अत' सयमिभिरवश्यमप्कायादि-जीवरक्षायां सावधानैर्भवितव्यमिति परमार्थ. ॥ सू० ४ ॥

अप्कायलोकं भगवदाज्ञया विज्ञाय सयमिना यत् कर्तव्य, तत् कथयति-'से बेमि' इत्यादि ।

मूलम्—

से बेमि-णेव सय लोग अब्भाइक्खिज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खिज्जा, जे लोय अब्भाइक्खइ से अत्ताण अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ, से लोय अब्भाइक्खइ ॥ सू० ५ ॥

छाया—

स ब्रवीमि नैव स्वयं लोकमभ्याख्यात्, नैवात्मानमभ्याख्यात्, यो लोक मभ्याख्याति, स आत्मानमभ्याख्याति, य आत्मानमभ्याख्याति, स लोकमभ्या-ख्याति ॥ सू० ५ ॥

मानकर अवश्य विश्वास करना चाहिए। अवधिज्ञानी आदि प्रत्यक्षज्ञानी भी पहले भगवान् की आज्ञा पर श्रद्धा रखते हुए अप्काय के जीवों को जान कर प्रत्यक्षज्ञानी हुए, अत सयमी जनों को अप्काय आदि के जीवों की रक्षा में सावधान होना चाहिए ॥ सू. ४ ॥

भगवान् की आज्ञा से अप्कायलोक को जान कर सयमी को जो करना चाहिये वह प्रगट करते हैं—'से बेमि' इत्यादि ।

मूलार्थ—यह मैं कहता हूँ—स्वय अप्कायलोक का अपलाप न करे, आत्मा का अपलाप न करे, जो लोक का अपलाप करता है वह आत्मा का अपलाप करता है, और जो आत्मा का अपलाप करता है वह लोक का अपलाप करता है ॥ सू. ५ ॥

માનીને અવશ્ય વિશ્વાસ કરવો જોઇએ. અવધિ આદિ પ્રત્યક્ષ જ્ઞાની પણ પ્રથમ ભગવાનની આજ્ઞા પર શ્રદ્ધા રાખીને અપ્કાયના જીવોને જાણી કરીને પ્રત્યક્ષજ્ઞાની થયા, એ માટે સયમી પુરૂષોએ અપ્કાય આદિના જીવોની રક્ષામા સાવધાન રહેવું જોઇએ (સૂ. ૪)

ભગવાનની આજ્ઞાથી અપ્કાયલોકને જાણીને સયમીનું જે કર્ત્તવ્ય છે તે પ્રગટ કરે છે—'से बेमि' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—તે હું કહું છુ-પોતે અપ્કાય લોકનો અપલાપ-(હોવા છતાં નથી કહેવું તે) ન કરે. આત્માનો અપલાપ કરે નહિ જે લોકનો અપલાપ કરે છે તે આત્માનો અપલાપ કરે છે અને જે આત્માનો અપલાપ કરે છે તે લોકનો અપલાપ કરે છે (સૂ. ૫)

इच्छंति, जीविउ न मरिज्जिउ ' इति वचनात्। तमप्कायलोकं समनुपालयेदिति सम्बन्धः। संयमी सर्वप्राणिगणपरिपालक एव सन् नान्यस्मै भयमुत्पादयति, 'मित्ती मे सव्वभूएसु' इति वचनेन तस्य सर्वैः सह मैत्रीसद्भावात्, अतोऽसौ संयमी न तेभ्यो भयं जनयति, कस्मैचिदपि भयं केनापि नोत्पादयति, प्रत्युत सर्वप्राणिगणं परिरक्षतीति भावः।

यद्यपि छद्मस्थैः प्राणिभिः सर्वद्रव्यपर्यायज्ञानाभावाद्बुद्धिसंस्कारराहित्येनाप्कायजीवस्याव्यक्तचेतनया च 'आपो जीवाः सन्ती'-त्यपरोक्षत्वेन कदाचिदपि ज्ञातुं न शक्यते, तथापि सकलतीर्थोद्धारधुरीण-तीर्थङ्कर-वचनप्रामाण्यादवश्य

आगम में कहा है-'सभी जीव जीवित रहना चाहते हैं मरना नहीं चाहते।" उस अप्कायलोक का पालन करे अर्थात् रक्षण करे। संयमी पुरुष समस्त प्राणियों का रक्षक होता है। वह किसी भी प्राणी को भय उत्पन्न नहीं करता। " मेरा सब प्राणियों पर मैत्रीभाव है " इस वचन के अनुसार उस की प्राणीमात्र पर मित्रता की भावना होती है। इस कारण संयमी उन्हें भय उत्पन्न नहीं करता, किसी को भी किसी द्वारा भय उत्पन्न नहीं कराता, बल्कि वह सब प्राणियों की रक्षा करता है।

यद्यपि छद्मस्थ जीवों को समस्त द्रव्यों का ज्ञान नहीं होता इस कारण, तथा बुद्धि, संस्कार से रहित होने के कारण अप्काय के जीवों में अव्यक्त चेतना होने से, तथा 'जल जीव है' यह बात प्रत्यक्ष न होने से कभी इन्द्रियों द्वारा जानी नहीं जा सकती, फिर भी सम्पूर्ण तीर्थ का उद्धार करने में समर्थ तीर्थङ्कर के वचनों को प्रमाण

આગમમાં પણ કહ્યું છે કે-"સવ જીવ જીવતા રહેવાની ઇચ્છા કરે છે, મરવાની ઇચ્છા કરતા નથી." તે અપ્કાયલોકનું પાલન કરે અર્થાત્ રક્ષા કરે સંયમી પુરૂષ સમસ્ત પ્રાણીઓના રક્ષક થાય છે તે કોઈ પણ પ્રાણીને ભય ઉત્પન્ન કરતા નથી. 'સર્વ પ્રાણીઓ પર મારો મૈત્રીભાવ છે' આ વચન પ્રમાણે તેની સર્વ પ્રાણીમાત્ર પર મિત્રતાની ભાવના હોય છે, તે કારણથી સંયમી તે જીવોને ભય ઉત્પન્ન કરતા નથી, કોઈને પણ કોઇથી ભય ઉત્પન્ન કરાવતા નથી, પરંતુ તે સર્વ પ્રાણીઓની રક્ષા કરે છે

જો કે છદ્મસ્થ જીવોને સમસ્ત દ્રવ્યો અને પર્યાયોનું જ્ઞાન નથી, તે કારણથી તથા બુદ્ધિ, સંસ્કારથી રહિત હોવાથી અપ્કાયના જીવોમાં અવ્યક્ત ચેતના હોવાથી, તથા 'જલ જીવ છે' એ વાત પ્રત્યક્ષ નહિ હોવાથી ઇન્દ્રિયોદ્વારા કોઈ વખત જાણવામાં આવતી નથી તો પણ સંપૂર્ણ તીર્થનો ઉદ્ધાર કરવામાં સમર્થ તીર્થંકરના વચનોને પ્રમાણ

अनुमानागमाभ्यां जीवलक्षणसम्बन्धाच्चापां जीवत्वनिरूपणात्।

यद्यप्कायलोकस्याभ्याख्यानं कुर्यात्, तदात्मनोऽपि शरीराधिष्ठातुरभ्याख्यानं तेन कर्तव्यं स्यात्, न च तत् सम्भवतीत्यत आह–नैवात्मानमभ्याख्यायादिति। आत्मा हि शरीराधिष्ठाता प्रत्यक्षभूतश्चेतनावानिति नापह्नोतुं शक्यः, तस्मादात्मा नास्तीत्येवमात्मानं नापलपेदित्यर्थः।

यः खलु मन्दधीः लोकम्=अप्कायलोकम् अभ्याख्याति=अपलपति, स प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्निरूपितमात्मानमभ्याख्याति। यश्चात्मानमभ्याख्याति–'आत्मा नास्ती'ति यद्वा–'अहं नास्मी'ति, स महामूढः लोकम्=अप्कायलोकं

समाधान–ऐसा मत कहो। अनुमान और आगमप्रमाण से तथा जीव के लक्षणों के संबंध से जल को जीव निरूपण किया गया है।

यदि अप्काय लोक का अभ्याख्यान किया जाय तो शरीर के अधिष्ठाता आत्मा का भी अभ्याख्यान करना होगा मगर वह संभव नहीं है, यही बात कहते हैं–आत्मा का अभ्याख्यान न करे। आत्मा शरीर का अधिष्ठाता है और प्रत्यक्ष चेतना वाला है, अतः उस का अपलाप नहीं किया जा सकता। अत एव 'आत्मा नहीं है" इस प्रकार आत्मा का अपलाप न करे।

जो मन्दबुद्धि अप्कायलोक का निषेध करता है वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध आत्मा का अपलाप करता है। और जो 'आत्मा नहीं है, अथवा 'मैं नहीं हूँ' इस तरह आत्मा का अपलाप करता है वह महामूढ मनुष्य अपने अज्ञान के बल से

સમાધાન—આ પ્રમાણે કહો નહિ, અનુમાન અને આગમ પ્રમાણથી તથા જીવના લક્ષણોના સંબંધથી જલનું જીવપણુ નિરૂપણ કર્યું છે જો અપ્કાય-લોકનું અભ્યાખ્યાન કરવામાં આવે તો શરીરના અધિષ્ઠાતા આત્માનુ પણ અભ્યાખ્યાન કરવુ પડશે પરન્તુ તે સંભવ નથી એ વાત કહે છે—

આત્માનુ અભ્યાખ્યાન કરશો નહિ આત્મા શરીરનો અધિષ્ઠાતા છે, અને પ્રત્યક્ષ ચેતનાવાળા છે તેથી તેનો અપલાપ કરી શકાશે નહિ. એટલા માટે 'આત્મા નથી' એ પ્રમાણે અપલાપ કરશો નહિ

જે મંદ બુદ્ધિવાળા અપ્કાયલોકનો નિષેધ કરે છે, તે પ્રત્યક્ષ આદિ-પ્રમાણોથી સિદ્ધ-આત્માનો અપલાપ કરે છે, અને જે "આત્મા નથી" અથવા "હું નથી" એ પ્રમાણે આત્માનો અપલાપ કરે છે તે મહામૂઢ મનુષ્ય પોતાના અજ્ઞાનના બળથી

टीका—

सोऽहं=भगवद्वचनेन ज्ञाताप्कायस्वरूप, ब्रवीमि=यथा भगवतः सकाशान्मया श्रुतं तथा कथयामीत्यर्थ । लोकम्=अप्कायलोकं, नैव स्वयम् अभ्याख्यात्='आपो जीवा न सन्ती'-त्येव नापलपेदित्यर्थ । अभ्याख्यान नामासदभियोग', यथा कश्चिदचौरमुद्दिश्य वदति—चोरोऽयमिति। अत्र तु—'घृततैलादिवज्जीवानामुपकरणमात्र जलं, न तु तद् जीवो भवितुमर्हति, जीवोपकरणत्वात्' एतत्कथनमेवासदभियोग', यतो हि तुरगादीनां जीवानामपि जीवोपकरणत्वेन दृष्टत्वादुक्तरीत्या जलस्य जीवत्व नापलपितु शक्यते ।

नन्वजीवानामपां जीवत्वारोपणमेवाभ्याख्यानं कुतो न भवति ? मैवम्,

---

टीकार्थ—भगवान् के वचनों के अनुसार अप्काय का स्वरूप जानने वाला मैं कहता हूँ, अर्थात् मैंने भगवान् के समीप जैसा जाना है वैसा ही कहता हूँ—स्वयं अप्कायरूप लोक का अपलाप न करे अर्थात् ऐसा न कहे कि—'जल जीव नहीं है' ।

असत् आरोप को अभ्याख्यान कहते हैं, जैसे अचौर को चौर कहना । यहाँ " घी तेल आदि के समान जल, जीवों का उपकरणमात्र ही हो सकता है, वह स्वयं जीव नहीं है, क्योंकि जीव का उपकरण है" । इस प्रकार का कथन ही असत्—अभियोग है । क्यों कि घोड़ा वगैरह जीव भी जीवोपकरण के रूप में देखे जाते हैं अत जल के जीवपन का अपलाप नहीं किया जा सकता ।

शंका—अजीव जल में जीवत्व का आरोप करना ही अभ्याख्यान क्यों न समझा जाय ?

ટીકાર્થ—ભગવાનના વચનો પ્રમાણે અપ્કાયનું સ્વરૂપ જાણવાવાળો હું કહું છુ, અર્થાત્ મે ભગવાનની પાસેથી જેવું સાંભળ્યું છે તેવુ જ કહું છુ—પોતે અપકાય રૂપ લોકનો અપલાપ કરે નહિ અર્થાત્ એવુ કહે નહિ કેઃ—' જલ જીવ નથી.' અસત્ આરોપને અભ્યાખ્યાન કહે છે, જેમકે અચોરને ચોર કહેવો. અહિં ' ઘી તેલ આદિ પ્રમાણે જલ એ જીવોનું ઉપકરણમાત્રજ હોઈ શકે છે, તે સ્વય જીવ નથી, કારણ કે–" તે જીવનું ઉપકરણ છે, આ પ્રકારનું કહેવુંજ–અસત (મિથ્યા) અભિયોગ છે, કારણકે ઘોડા વગેરે જીવ પણ જીવોપકરણના રૂપમાં જોવામાં આવે છે તેથી જલનું જીવપણું અપલાપ કરી શકાય નહિ.

શંકા—અજીવ પાણીમાં જીવપણાનો આરોપ કરવો તેજ અભ્યાખ્યાન શા માટે નહિ સમજવુ ?

विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारम्भेण उदयसत्थं समारभमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति ॥ सू० ६ ॥

छाया—

लज्जमाना पृथक् पश्य, अनगाराः स्म इति एके प्रवदमानाः यदिमं विरूपरूपैः शस्त्रैः उदककर्मसमारम्भेण, उदकशस्त्रं समारभमाणा अन्यान् अनेकरूपान् प्राणान् विहिंसन्ति ॥ सू० ६ ॥

टीका—

एके=अन्ये लज्जमानाः=अप्कायस्यारम्भे परमकरुणया द्रवितहृदयतया संकोचमापद्यमाना , पृथक्=विभिन्ना , केचित्तु प्रत्यक्षज्ञानिनोऽवधिमनःपर्ययकेवलिनः, केचित् परोक्षज्ञानिनो भावितात्मानोऽनगारा सन्ति, इति पश्य । इमे सूक्ष्मबादराप्कायारम्भकरणे भीतास्त्रस्ता उद्विग्नास्त्रिकरणत्रियोगैरप्कायारम्भपरित्यागिनो विद्यन्ते तानवलोकयेत्यर्थः ।

अप्काय का आरम्भ करते हैं वे अप्काय के शस्त्रों का आरम करने वाले अनेक प्राणियों के प्राणों का हनन करते हैं ॥ सू ६ ॥

टीकार्थ— तीव्रकरुणा से द्रवित हृदयवाले कोई-कोई (अनगार) अपकाय के आरम में सकोच करते हैं—अप्काय का आरम नहीं करते वे विभिन्न हैं—कोई अवधिज्ञानी कोई मन पर्ययज्ञानी और कोई परोक्षज्ञानी भावितात्मा अनगार हैं, उन्हे देखो । ये सूक्ष्म बादर अप्काय का आरंभ करने में भीत हैं, त्रस्त हैं, उद्विग्न हैं, और तीन करण तीन योग से अप्काय के आरम के त्यागी हैं, उन्हे देखो ।

અપ્કાયનો આરભ કરે છે; તે અપ્કાયના શસ્ત્રોનો આરભ કરવાવાળા અનેક પ્રાણીઓના પ્રાણોનો નાશ કરે છે (સૂ. ૫)

ટીકાર્થ—તીવ્ર કરૂણાથી દ્રવિત હૃદયવાળા કોઈ-કોઈ અણગાર આરભમાં સંકોચ કરે છે—અપ્કાયનો આરભ કરતા નથી તે જૂદા છે કોઈ અવધિજ્ઞાની, કોઈ મનઃપર્યયજ્ઞાની અને કોઈ પરોક્ષજ્ઞાની ભાવિતાત્મા અણગાર છે, તેને જુઓ.-તે સૂક્ષ્મ અને બાદર અપ્કાયનો આરભ કરવામાં ભય પામેલા છે, ત્રસિત છે, ઉદ્વિગ્ન છે, અને ત્રણ કરણ ત્રણ યોગથી અપ્કાયના આરભના ત્યાગી છે તેને જુઓ.

स्वाज्ञानबलादभ्याख्याति। करचरणमुखाद्यवयवसहितशरीराधिष्ठाता सुव्यक्तोपयोगादिलक्षणं स्वात्माऽपि येनाभ्याख्यातस्तस्याव्यक्तोपयोगादिलक्षणस्याप्कायस्याभ्याख्यानं किं नु नाम दुष्करम्? ॥ सू० ५ ॥

अप्कायलोकस्याभ्याख्याने महद्दोषापातो भवतीति पर्यालोच्यानगारा अप्कायं नोपमर्दयन्ति। दण्डिशाक्यादयस्तु नानगारा भवितुमर्हन्ति, तेषामप्कायोपमर्दकत्वादित्याह–'लज्जमाणा' इत्यादि।

मूलम्—

लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मो—त्ति एगे पवयमाणा जमिणं

अप्काय का अपलाप करता है। जिस ने हाथ, पैर, मुख आदि अवयवों से युक्त शरीर के अधिष्ठाता, तथा अत्यन्त स्पष्ट उपयोग आदि लक्षणों वाले आत्मा का ही अपलाप कर दिया तो उस के लिए अस्पष्ट उपयोग आदि लक्षणों वाले अप्काय का अपलाप करना कुछ भी कठिन नहीं है ॥ सू. ५ ॥

अप्काय का अपलाप करने से बहुत से दोष आते हैं, ऐसा विचार कर अनगार अप्काय की विराधना नहीं करते। दण्डी और शाक्य आदि, अनगार नहीं हो सकते, क्यों कि वे अप्काय की विराधना करते हैं। यह बात इस सूत्र में बतलाते हैं–'लज्जमाणा' इत्यादि।

मूलार्थ—अप्काय की हिंसासे संकोच करने वालों को अलग समझो, और 'हम अनगार हैं' ऐसा कहने वालों को अलग समझो। जो नाना प्रकार के शस्त्रों से

અપ્કાયનો અપલાપ કરે છે જેણે હાથ, પગ, મુખ આદિ અવયવોથી યુક્ત, શરીરના અધિષ્ઠાતા, તથા અત્યન્ત સ્પષ્ટ ઉપયોગ આદિ લક્ષણોવાળા આત્માનોજ અપલાપ કરી દીધો, તેને માટે અસ્પષ્ટ ઉપયોગ આદિ લક્ષણોવાળા અપ્કાયનો અપલાપ કરવો તે કાંઈ કઠિન નથી (સૂ. ૫)

અપ્કાયનો અપલાપ કરવાથી ઘણાજ દોષ આવે છે, એવો વિચાર કરીને અણગાર અપ્કાયની વિરાધના કરતા નથી, દંડી અને શાક્ય આદિ, અણગારો થઈ શકતા નથી, કારણ કે તેઓ અપ્કાયની વિરાધના કરે છે તે વાત આગળના સૂત્રમાં બતાવે છે–'લજ્જમાણા' ઈત્યાદિ

મૂલાર્થ—અપ્કાયની હિંસાનો સંકોચ કરવાવાળાને જુદા જાણો અને "અમે અણગાર છીએ" એ પ્રમાણે કહેવાવાળાને પણ જુદા જાણો. જે નાના પ્રકારનાં શસ્ત્રોથી

दाली-चणक-वल्लादिकम्। तदुभयशस्त्र-मृत्तिकादिमिश्र जलम्। भावशस्त्रम्=अपः प्रति मनोवाक्कायानां दुष्प्रणिहितत्वम्। एतैः शस्त्रैः उदककर्मसमारम्भेण=उदयकस्य कर्मसमारम्भः उदककर्मसमारम्भः=उदकमाश्रित्य ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मबन्ध-निबन्धनसावद्यव्यापारस्तेन, इमम्=अप्काय विहिंसन्ति।

अप्कायहिंसायां प्रवृत्ता खलु षड्जीवनिकायरूप लोक सर्वमेव विहिंसन्तीत्याह-'उदकशस्त्र'-मित्यादि, उदकशस्त्रम्=उदकोपमर्दक शस्त्र, शस्यते=हिंस्यते अनेनेति शस्त्र, तत् पूर्वोक्तप्रकारं द्रव्यभावभेदभिन्नं समारभमाण=उदककार्य प्रति व्यापारयन्त, अन्यान्=अप्कायभिन्नान् अनेकरूपान् पृथिवीकायादीन्—स्थावरान्, द्वीन्द्रियादीन् त्रसांश्च विहिंसन्ति।

शस्त्र है। मिट्टी आदि से मिला हुआ जल उभयकायशस्त्र है। जल के विषय में मन, वचन और कायका दूषित प्रयोग करना भावशस्त्र है। इन शस्त्रों से जलकर्म का समारंभ कर के अर्थात् जल के आरभद्वारा ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्मों के बंध कारणभूत सावद्य व्यापार कर के जलकाय की हिंसा करते हैं।

जो जलकाय की हिंसा में प्रवृत्त होते हैं वे षट्कायरूप समस्त लोक की हिंसा करते हैं, यह बतलाते हैं-'उदयसत्थ' इत्यादि।

जिस के द्वारा हिंसा की जाय उसे शस्त्र कहते हैं। शस्त्र दो प्रकार के हैं-द्रव्यशस्त्र और भावशस्त्र। जिस से अप्काय की हिंसा हो वह अप्कायशस्त्र है। अप्काय शस्त्र का अप्काय के विषय में प्रयोग करने वाले अप्काय से भिन्न अनेक पृथ्वीकाय आदि स्थावरों की, तथा द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों की हिंसा करते हैं।

દાલ, ચણા, વાલ આદિ પરકાયશસ્ત્ર છે માટી આદિથી મળેલું જલ ઉભયકાયશસ્ત્ર છે જલના વિષયમાં મન, વચન અને કાયાનો દૂષિત પ્રયોગ કરવો તે ભાવશસ્ત્ર છે એ શસ્ત્રોથી જલકર્મનો સમારંભ કરીને, અર્થાત્ જલના આરંભદ્વારા જ્ઞાનાવરણીય આદિ આઠ પ્રકારના કર્મોના બંધના કારણભૂત સાવદ્ય વ્યાપાર કરીને જલકાયની હિંસા કરે છે

જલકાયની હિંસામા જે પ્રવૃત્ત થાય છે તે ષટ્કાયરૂપ સમસ્ત લોકની હિંસા કરે છે એ બતાવે છે—'उदयसत्थं' ઇત્યાદિ જેના દ્વારા હિંસા કરી શકાય તેને શસ્ત્ર કહે છે શસ્ત્ર બે પ્રકારના છે—(૧) દ્રવ્યશસ્ત્ર અને (૨) ભાવશસ્ત્ર જેનાથી અપ્કાયની હિંસા થાય તે અપ્કાયશસ્ત્ર છે અપ્કાયશસ્ત્રનો અપ્કાયના વિષયમાં પ્રયોગ કરવાવાળા અપ્કાયથી ભિન્ન અનેક પૃથ્વીકાય આદિ સ્થાવરોની દ્વીન્દ્રિય વિગેરે ત્રસ જીવોની હિંસા કરે છે

एके=पुनरन्ये तु वयमनगाराः=साधवः स्मः, इति साभिमानं प्रवदमानाः 'वयमेव अप्कायजीवरक्षणपराः महाव्रतधारिण' इति व्यर्थं प्रलपन्तो द्रव्यलिङ्गिनः सन्ति तान् पृथक्=पृथग्भावेन पश्य।

इमे खल्वनगाराभिमानिनो द्रव्यलिङ्गिनो मनागप्यनगारगुणेषु न प्रवर्तन्ते, नापि गृहस्थकृत्यं किञ्चित् परित्यजन्ति, इति दर्शयति–' यदिमम्' इत्यादि।

यत्=यस्मात् विरूपरूपैः=विभिन्नरूपैर्नानाविधैः, द्रव्यभावरूपैः शस्त्रैः। तत्र द्रव्यशस्त्रं स्वकाय-परकाय-तदुभयरूपम्। स्वकायशस्त्र-तडागाद्युदकस्य कूपाद्युदकम्। कूपाद्युदकस्य तडागाद्युदकं च। परकायशस्त्रं द्राक्षा-शाक-तण्डुल-पिष्ट-

और कोई-कोई लोग 'हम साधु हैं' इस प्रकार अभिमान के साथ कहते हुए-अर्थात् 'हम ही अप्काय के रक्षक और महाव्रतधारी हैं' इस प्रकार वृथा प्रलाप करते हुए द्रव्यलिंगी हैं, उन्हें अलग समझो।

अनगार होने का अभिमान करने वाले ये द्रव्यलिंगी, अनगार के गुणों में तनिक भी प्रवृत्ति नहीं करते, और न गृहस्थ के किसी कार्य का त्याग करते हैं। यही बात आगे बतलाते हैं–'जमिणं,' इत्यादि।

ये नाना प्रकार के शस्त्रों से जलका आरंभ करते हैं। शस्त्र अनेक प्रकार के हैं, उन में से द्रव्यशस्त्र–स्वकाय, परकाय और उभयकायरूप है। तालाब का जल, कूप का जल परस्पर स्वकायशस्त्र है। इसी प्रकार कूप आदि के जल का शस्त्र–तालाब आदिका जल है यह स्वकायशस्त्र है। द्राक्ष, शाक, चावल, आटा, दाल, चना, चाल आदि परकाय

અને કોઈ-કોઈ લોક "અમે સાધુ છીએ" આ પ્રમાણે અભિમાન સાથે કહેતા અર્થાત્ 'અમેજ અપકાયના રક્ષક અને મહાવ્રત ધારણ કરવાવાળા છીએ' આ પ્રમાણે વૃથા પ્રલાપ કરતા થકા દ્રવ્યલિંગી છે તેને જુદા જાણો.

અણગાર હોવાનું અભિમાન કરવાવાળા એ દ્રવ્યલિંગી સાચા અણગારના ગુણોમાં જરાપણ પ્રવૃત્તિ કરતા નથી, અને ગૃહસ્થના કોઈપણ કાર્યોનો ત્યાગ કરતા નથી, તે વાત આગળ બતાવે છે–'जमिणं' ઇત્યાદિ.

તે નાના પ્રકારના શસ્ત્રોથી જલનો આરંભ કરે છે શસ્ત્રો અનેક પ્રકારના છે, તેમાંથી દ્રવ્યશસ્ત્ર–સ્વકાય, પરકાય અને ઉભયકાય–રૂપ છે તલાવનું પાણી, કુવાનું પાણી, પરસ્પર સ્વકાયશસ્ત્ર છે. એ પ્રમાણે કુવા વગેરેના જલનું શસ્ત્ર તલાવ આદિનું જલ છે, તે પણ સ્વકાયશસ્ત્ર છે દ્રાક્ષ, ચાવલ, લોટ,

"सम्यक् स्नात्वोचिते काले, संस्नाप्य च जिनान् क्रमात् ।
पुष्पाहारस्तुतिभिश्च, पूजयेदिति तद्विधिः" ॥ १ ॥ (धर्मसंग्रहः)
"कुसुमक्खयधूवेहिं, दीवयवासेहि सुंदरफलेहिं ।
पूया घयसलिलेहिं, अट्ठविहा तस्स कायव्वा" ॥ १ ॥
(दर्शनशुद्धि॰ सटीका १ तत्त्व)
छाया—"कुसुमाक्षतधूपै-र्दीपकवासैः सुन्दरफलैः ।
पूजा घृतसलिलै,-रष्टविधा तस्य कर्त्तव्या ॥ १ ॥" इति ।
"विहिणा उ कीरमाणा, सव्व चिय फलवई भवे चेट्ठा ।
इहलोइया वि किं पुण, जिणपूया उभयलोगहिया" ॥ १ ॥
(पञ्चाशक ४ विव)
छाया—विधिना तु क्रियमाणा, सर्वा चैव फलवती भवेच्चेष्टा ।
इहलौकिक्यऽपि किं पुन,-र्जिनपूजा-उभयलोकहिता ॥ १ ॥ इति ॥

तथैव पूजाप्रतिष्ठादिषु अप्कायोपमर्दनरूपे शास्त्रनिषिद्धे सावद्यकार्ये प्रवृत्त्याऽपि द्रव्यलिङ्गिनो दण्डिन शाक्यादयश्च स्वात्मानमनगारमेव मन्यन्ते ।

"उचित काल में सम्यक् प्रकार से स्नान कर के और क्रम से जिनप्रतिमा को स्नान करा के पुष्प, आहार और स्तुतिसे पूजा करे । यह पूजा की विधि है"। (धर्मसंग्रह)

"विधिपूर्वक की हुई समस्त इस लोकसंबधी चेष्टाएँ भी सफल होती है तो जिनेन्द्र भगवान् की पूजा का तो कहना ही क्या है, अर्थात् वह दोनों लोकों में हितकारी है"। (पञ्चाशक ४ विव)

इसी प्रकार पूजा प्रतिष्ठा आदि अप्काय की हिंसारूप, शास्त्रनिषिद्ध सावद्य कार्य में प्रवृत्ति करके भी द्रव्यलिंगी दंडी शाक्य आदि अपने आप को अनगार ही मानते हैं ।

"ઉચિત કાલમાં સમ્યક્પ્રકારથી સ્નાન કરીને અને ક્રમથી જિનપ્રતિમાને સ્નાન કરાવી, પુષ્પ, આહાર અને સ્તુતિથી પૂજા કરે આ પ્રમાણે પૂજાની વિધિ છે (ધર્મસંગ્રહ)

"વિધિપૂર્વક કરવામાં આવેલી લોકસંબંધી સમસ્ત ચેષ્ટાઓ (ક્રિયાઓ) પણ સફલ થાય છે, તો જિનેન્દ્ર ભગવાનની પૂજાનું તો કહેવું જ શું ? આ તો બન્ને લોકમાં હિતકારી છે ॥ ૧ ॥" (પચાશક-૪-વિવ)

એ પ્રમાણે પૂજા પ્રતિષ્ઠા આદિ અપ્કાયની હિંસારૂપ શાસ્ત્રનિષિદ્ધ સાવદ્ય કાર્યમાં પ્રવૃત્તિ કરીને પણ દ્રવ્યલિંગી દંડી, શાક્ય આદિ પોત-પોતાને અણગાર જ માને છે

जगति खलु बहवो द्रव्यलिङ्गिनो विद्यन्ते, यथा—'वयं पञ्चमहाव्रतधारिणः सर्वारम्भपरित्यागिनः षट्कायरक्षका अनगाराः स्मः' इति वदन्तो दण्डिशाक्यादयः सन्ति। तत्र केचिद्देहशुद्धये बहूदकस्नायिनो भवन्ति। केचित्स्वनिवासार्थं गृहादि निर्माणकरणे मृत्तिकापाषाणचूर्णादिषु निक्षेपणेनाप्कायमुपमर्दयन्ति। केचित् स्वोदर पूर्त्यर्थं कृष्यादिषु जलसेचनं कुर्वन्ति। केचिच्च देवकुलाद्यर्थं सावद्यमुपदिशन्ति, पार्थिवीं देवगुर्वादिप्रतिमामनेकघटजलैः स्नपयन्ति। ते हि सविधिजिनपूजायां, प्रतिमाप्रतिष्ठापने बहुविधसचित्तजलैः प्रतिमास्नपने च महाभीमभवसमुद्रादात्मनः समुद्धारो भवतीति मन्यन्ते, उपदिशन्ति च—

संसार में बहुतसे द्रव्यलिंगी हैं। जैसे—'हम पंचमहाव्रतधारी, सब आरम्भ के त्यागी, और षट्काय के रक्षक अनगार हैं' ऐसा कहने वाले दण्डी तथा शाक्य आदि हैं। इन में कोई–कोई देह की शुद्धि के लिए बहुत–से जल से स्नान करने वाले हैं। कोई अपने रहने के वास्ते मकान आदि बनाने के लिए मिट्टी कंकर और चूने वगैरह में मिलाकर जलकाय की हिंसा करते हैं। कोई अपना पेट भरने लिए कृषि (खेती) में जल सींचते हैं। कोई देवकुलादिके लिये सावद्य उपदेश करते हैं। कोई देव एवं गुरु की पार्थिव प्रतिमा को बहुत से–घडे पानी से स्नान कराते हैं। वे विधिपूर्वक जिनपूजा में और प्रतिमा की प्रतिष्ठा में बहुत प्रकार के सचित्त जल से प्रतिमा के स्नान में, महा भयंकर भवसागर से आत्मा का उद्धार होना मानते हैं और उपदेश देते हैं—

સંસારમાં બહુ સંખ્યામાં દ્રવ્યલિંગી છે જેમ કે–'અમે પંચમહાવ્રતધારી, સર્વ પ્રકારના આરંભના ત્યાગી અને ષટ્કાયના રક્ષક અણગાર છીએ' આ પ્રમાણે કહેવાવાળા દંડી તથા શાક્ય આદિ છે, તેમાંથી કેટલાક તો દેહની શુદ્ધિ માટે ઘણા જ જલથી સ્નાન કરવાવાળા હોય છે કેટલાક તો પોતાને રહેવા માટે મકાન આદિ બનાવવા માટે માટી કાંકરા અને ચુના વગેરેમા મેળવીને જલકાયની હિંસા કરે છે કોઈ–કોઈ પોતાનું પેટ ભરવા માટે ખેતીમાં જલ સીંચે છે કોઈ દેવકુલ વગેરે માટે સાવદ્યનો ઉપદેશ આપે છે, અને કોઈ દેવ અને ગુરૂની પાર્થિવ પ્રતિમાને ઘણાં જ–ઘડા પાણીથી સ્નાન કરાવે છે તે વિધિપૂર્વક જિનપૂજામાં અને પ્રતિષ્ઠામા 'ઘણાં જ પ્રકારના સચિત્ત જલથી પ્રતિમાને સ્નાન કરાવામાં મહાભયંકર ભવસાગરથી આત્મા નો ઉદ્ધાર થાય છે, એવું માને છે અને ઉપદેશ આપે છે.—

"सम्यक् स्नात्वोचिते काले, सस्नाप्य च जिनान् क्रमात् ।
पुष्पाहारस्तुतिभिश्च, पूजयेदिति तद्विधिः" ॥ १ ॥ (धर्मसंग्रहः)
"कुसुमक्खयधूवेहिं, दीवयवासेहि सुंदरफलेहिं ।
पूया घयसलिलेहिं, अट्ठविहा तस्स कायव्वा" ॥ १ ॥
(दर्शनशुद्धि॰ सटीका १ तत्त्व)
छाया—"कुसुमाक्षतधूपै-र्दीपकवासैः सुन्दरफलैः ।
पूजा घृतसलिलै,-रष्टविधा तस्य कर्त्तव्या ॥ १ ॥" इति ।
"विहिणा उ कीरमाणा, सव्व चिय फलवई भवे चेट्ठा ।
इहलोइया वि किं पुण, जिणपूया उभयलोगहिया" ॥ १ ॥
(पञ्चाशक ४ विव)
छाया—विधिना तु क्रियमाणा, सर्वा चैव फलवती भवेच्चेष्टा ।
इहलौकिकाऽपि किं पुन,-र्जिनपूजा-उभयलोकहिता ॥ १ ॥ इति ॥

तथैव पूजाप्रतिष्ठादिषु अप्कायोपमर्दनरूपे शास्त्रनिषिद्धे सावद्यकार्ये प्रवृत्त्याऽपि द्रव्यलिङ्गिनो दण्डिन शाक्यादयश्च स्वात्मानमनगारमेव मन्यन्ते ।

"उचित काल में सम्यक् प्रकार से स्नान कर के और क्रम से जिनप्रतिमा को स्नान करा के पुष्प, आहार और स्तुतिसे पूजा करे । यह पूजा की विधि है" । (धर्मसंग्रह)

"विधिपूर्वक की हुई समस्त इस लोकसंबंधी चेष्टाएँ भी सफल होती है तो जिनेन्द्र भगवान् की पूजा का तो कहना ही क्या है, अर्थात् वह दोनों लोकों में हितकारी है" । (पञ्चाशक ४ विव)

इसी प्रकार पूजा प्रतिष्ठा आदि अप्काय की हिंसारूप, शास्त्रनिषिद्ध सावद्य कार्य में प्रवृत्ति करके भी द्रव्यलिंगी दंडी शाक्य आदि अपने आप को अनगार ही मानते हैं ।

"ઉચિત કાલમાં સમ્યક્પ્રકારથી સ્નાન કરીને અને ક્રમથી જિનપ્રતિમાને સ્નાન કરાવી, પુષ્પ, આહાર અને સ્તુતિથી પૂજા કરે આ પ્રમાણે પૂજાની વિધિ છે (ધર્મસંગ્રહ)

"વિધિપૂર્વક કરવામાં આવેલી લોકસંબંધી સમસ્ત ચેષ્ટાઓ (ક્રિયાઓ) પણ સફલ થાય છે, તો જિનેન્દ્ર ભગવાનની પૂજાનું તો કહેવું જ શું ? આ તો બન્ને લોકમાં હિતકારી છે ॥ ૧ ॥" (પંચાશક-૪-વિવ)

એ પ્રમાણે પૂજા પ્રતિષ્ઠા આદિ અપ્કાયની હિંસારૂપ શાસ્ત્રનિષિદ્ધ સાવદ્ય કાર્યમાં પ્રવૃત્તિ કરીને પણ દ્રવ્યલિંગી દંડી, શાક્ય આદિ પોત-પોતાને અનગાર જ માને છે

ये उदकशस्त्र मयुञ्जाना। षड्जीवनिकायरूपं लोक सर्वमेव विहिंसन्ति, ते द्रव्यलिङ्गिनो नरकनिगोदादिनानाविधदुःखज्वालमालाकुले दीर्घसंसारे परिभ्रमन्ति, उक्तञ्च–

" सावज्जपूयकारी, सावज्ज उवदिसंति जे अण्णू।
आउक्कायवहाओ, भमंति ते दीहसंसारे ॥ १ ॥ " ॥ सू० ६ ॥

अथ सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामिनं प्राह ' तत्थ ' इत्यादि ।

मूलम्—

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया। इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण–माणण–पूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से

जो लोग जलशस्त्र का प्रयोग करते हुए पट्काय के समस्त जीवों की विराधना करते हैं वे द्रव्यलिंगी नरक आदि के नाना प्रकारके दुःखों की ज्वालाओं के समूह से व्याप्त लम्बे संसार में चारों ओर चक्कर लगाते हैं। कहा भी है—

"जो पुरुष ज्ञानरहित होकर सावद्य का उपदेश देते हैं वे, और सावद्य पूजा करने वाले हैं वे अप्काय की हिंसा से दीर्घ संसार में भ्रमण करते हैं" ॥ सू. ६ ॥

सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं—' तत्थ ' इत्यादि ।

मूलार्थ—भगवान् ने परिज्ञा का प्रतिबोध दिया है। जो इस जीवन के सुख के लिए अपनी वन्दना, मानना, पूजा, जन्म–मरण से छुटकारा, तथा दुःखों का नाश

જે લોક જલશસ્ત્રનો પ્રયોગ કરીને ષટ્કાયના તમામ જીવોની વિરાધના કરે છે તે દ્રવ્યલિંગી, નરક નિગોદ આદિના નાના પ્રકારના દુઃખોની જ્વાલાઓના સમૂહથી વ્યાપ્ત લાંબા સંસારમાં ચારેય તરફ ચક્કર લગાવે છે કહ્યું છે કેઃ-

"જે પુરુષ જ્ઞાનરહિત થઇને સાવદ્યનો ઉપદેશ આપે છે તે, અને સાવદ્ય પૂજા કરવાવાળા દીર્ઘ–લાંબા સંસારમાં ભ્રમણ કરે છે" ॥ ૧ ॥ (સૂ. ૬)

સુધર્મા સ્વામી જમ્બૂ સ્વામીને કહે છે–' તત્થ ' ઇત્યાદિ.

મૂલાર્થ—ભગવાને પરિજ્ઞાનો બોધ આપ્યો છે જે આ જીવનના સુખ માટે પોતાની વંદના, માન્યતા, પૂજા, જન્મ–મરણથી મુક્તિ તથા દુઃખોના નિવારણ માટે, તે

सयमेव उदयसत्थ समारमइ, अण्णेहिं उदयसत्थ समारंभावेइ, अण्णे वा उदयसत्थ समारमते समणुजाणइ, तं से अहियाए तं से अबोहीए ॥ सू० ७ ॥

छाया—

तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता । अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दन-मानन-पूजनाय जातिमरणमोचनाय दुःखप्रतिघातहेतु स स्वयमेवोदकशस्त्र समारभते, अन्यै-रुदकशस्त्र समारम्भयति, अन्यान् वा उदकशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानाति, तत्तस्याहिताय तत्तस्याबोधये ॥ सू० ७ ॥

टीका—

तत्र=अप्कायसमारम्भे भगवता=श्रीमहावीरेण परिज्ञा=सम्यगवबोधः खलु प्रवेदिता=प्रतिबोधिता । कर्मबन्धसमुच्छेदार्थं जीवेन परिज्ञाऽवश्यं शरणीकरणीयेति भगवता प्रतिबोधितमिति भावः । ज्ञ-प्रत्याख्यान-भेदात् परिज्ञाया द्वैविध्य, द्विविधा-यास्तस्या लक्षण च प्रागभिहितम् ।

करने के निमित्त वह स्वय ही उदकशस्त्र का आरंभ करता है, दूसरों से उदकशस्त्र का आरंभ कराता है, और उदकशस्त्र का आरंभ करने वालों की अनुमोदना करता है। वह उस के अहित के लिए है, वह उसकी अबोधि के लिए है ॥ सू. ७ ॥

टीकार्थ—अप्काय के समारंभ के विषय में भगवान् श्री महावीरने सम्यग् बोध का उपदेश दिया है। भगवान्ने कहा है कि—कर्मबंध का नाश करने के लिए जीव को परिज्ञा का आश्रय आवश्य लेना चाहिए। ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यानपरिज्ञा, इस प्रकार परिज्ञा के दो भेद हैं। दोनों के लक्षण पहले ही कह चुके हैं।

પોતેજ જલશસ્ત્રનો આરંભ કરે છે, બીજા પાસે જલશસ્ત્રનો આરંભ કરાવે છે અને જલશસ્ત્રનો આરંભ કરવાવાળાની અનુમોદના કરે છે તે પોતાના અહિત માટે છે તે તેની અબોધિને માટે છે (સૂ ૭)

ટીકાર્થ—અપ્કાયના સમારંભના વિષયમાં ભગવાન શ્રી મહાવીરે સમ્યગ્ બોધનો ઉપદેશ આપ્યો છે ભગવાને કહ્યું છે કે—કર્મબંધનો નાશ કરવા માટે જીવોએ પરિજ્ઞાનો આશ્રય જરૂર લેવો જોઈએ. જ્ઞપરિજ્ઞા અને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા, આ પ્રમાણે પરિજ્ઞાના બે ભેદ છે બન્નેના લક્ષણો પ્રથમજ કહેવામાં આવ્યા છે

उपभोगद्वारम्—

जीवः कस्मै प्रयोजनायाप्कायजीवं प्रति सावद्यव्यापारं करोति ?–इत्याह–'अस्य चेवे'–त्यादि। अस्यैव क्षणभङ्गुरस्य जीवितस्य जीवनस्यार्थे–सुखार्थं स्नान–पान–धावन–सेक–यानपात्रो–डुप–गमनागमनाद्यर्थम्, तथा परिवन्दन–मानन–पूजनार्थ–परिवन्दन=प्रशंसा, तदर्थं, यथा–जलयन्त्रेण शीकरवृष्ट्यादौ, 'फुहारा' इति भाषायाम्। माननं=जनसत्कारः, तदर्थं, यथा–मलापकर्षस्नानवस्त्रमलापकर्षणादौ। पूजनं=वस्त्ररत्नादिपुरस्कारलाभस्तदर्थं, यथा–देवप्रतिमादिस्नपनपूजनादौ। जातिमरणमोचनाय तीर्थस्नानादौ। दुःखप्रतिघातहेतुम्=रोगादिशमनार्थं स्नानपानादौ, स स्वयमेवोदकशस्त्रं समारभते=व्यापारयति। अन्यैर्वा उदकशस्त्रं समारम्भयति=उद्योजयति। अन्यान्

उपभोगद्वार—

जीव किस प्रयोजन से अप्काय के जीवों के प्रति सावद्य व्यापार करता है ? इस का उत्तर कहते हैं–इसी क्षणभङ्गुर जीवन के सुख के लिए, अर्थात् स्नान, पान, धोना, सींचना, जहाज, नौका का गमनागमन, इत्यादि के लिए। प्रशंसाके लिए, जैसे–जल से फौहारा चलाने आदि में, लोगों से सत्कार पाने के लिए, जैसे–स्नान और वस्त्र आदि का मैल दूर करने आदि में, पूजा अर्थात् वस्त्र, रत्न आदि का पुरस्कार पाने के लिए, जैसे देवप्रतिमा आदि के स्नपन और पूजन आदि में, जन्म मरण से मुक्त होने के लिए तीर्थस्नान आदि में। दुःखों का निरोध करने के हेतु, अर्थात् रोग आदि को शान्त करने लिए स्नान–पान आदि में वह स्वयं अप्काय के विराधक द्रव्य और भावशस्त्र का आरंभ करता

ઉપભોગદ્વાર—

જીવ કયા પ્રયોજનથી અપ્કાયના જીવો પ્રતિ સાવદ્ય વ્યાપાર કરે છે ? તેનો ઉત્તર કહે છે કે–આ ક્ષણભંગુર જીવનના સુખ માટે, અર્થાત્ સ્નાન, પાન પીવું, પાણી સીંચવું, વહાણ આગબોટમાં જવું આવવું,ઇત્યાદિ માટે. પ્રશંસાને માટે,જેમકે–નળમાથી ફુવારા ચલાવવા આદિમાં, લોકોથી સત્કાર પામવા માટે જેમકે–સ્નાન કરવામાં અને વસ્ત્ર વગેરેનો મેલ દૂર કરવામાં, પૂજા અર્થાત્ વસ્ત્ર, રત્ન, આદિનો પુરસ્કાર મેળવવા માટે, જેમ દેવપ્રતિમા આદિના સ્નાન અને પૂજન વગેરેમાં, જન્મ–મરણથી મુક્ત થવા માટે, જેમ–તીર્થસ્નાન આદિમાં, દુઃખોનો નિરોધ કરવાના હેતુથી, અર્થાત્–રોગ વગેરેની શાન્તિ માટે સ્નાન–પાન વગેરેમાં તે પોતે અપ્કાયના વિરાધક દ્રવ્ય અને ભાવ શસ્ત્રનો આરંભ કરે છે, બીજા પાસે અપ્કાયશસ્ત્રનો

वा उदकशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानाति=अनुमोदयति । तत्=अप्कायसमारम्भणं तस्य=अप्कायसमारम्भणं कुर्वतः कारयितुरनुमोदयितुश्च अहिताय भवति, तथा तत् तस्य अबोधये=जिनधर्मप्राप्त्यभावाय भवति ॥ सू० ७ ॥

येन तु तीर्थङ्करादीनां समीपेऽप्कायजीवस्वरूपं ज्ञातं स एवं विजानातीत्याह— 'से त संबुज्झमाणे.' इत्यादि ।

मूलम्—

से त संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए सोचा भगवओ अणगाराण वा अंतिए, इहमेगेसिं णायं भवइ—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं गढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारम्भेणं उदयसत्थं समारभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ॥ सू० ८ ॥

है, दूसरों से अप्कायशस्त्रों का समारंभ करवाता है और अप्कायशस्त्र का आरंभ करने वाले दूसरों का अनुमोदन करता है । यह अप्काय का आरंभ, आरंभ करने वाले, कराने वाले और अनुमोदन करने वाले के अहित के लिए होता है और अबोधि-जिनधर्म की अप्राप्ति के लिए होता है ॥सू ७॥

जिसने तीर्थंकर आदि के सन्निकट अप्काय के जीवों का स्वरूप जान लिया है, वह इस प्रकार जानता है—'से तं ' इत्यादि ।

मूलार्थ—भगवान और अनगारों से सुनकर अप्काय का स्वरूप जानता हुआ जीव चारित्र अङ्गीकार करके कोई-कोई इस प्रकार जानता है—यह ग्रंथ है यह मोह है, यह मार (मृत्यु) है, यह नरक है । गृद्ध पुरुष नाना प्रकार के शस्त्रों से जल का आरंभ करके जलशस्त्र का समारंभ करता हुआ अन्य अनेक प्रकार के प्राणियों की हिंसा करता है ॥सू ८॥

સમારંભ કરાવે છે, અને અપ્કાયશસ્ત્રનો આરંભ કરવાવાળાને અનુમોદન આપે છે તે અપ્કાયનો આરંભ કરનારને કરાવનારને અને કરવાવાળાને અનુમોદન આપવાવાળાને એ સૌને માટે અહિત કરનાર છે અને અબોધિ-જિનધર્મની અપ્રાપ્તિ માટે હોય છે (સૂ ૭)

જેણે તીર્થંકર આદિના સમીપમાં અપ્કાયના જીવોનું સ્વરૂપ જાણી લીધું છે તે આ પ્રમાણે જાણે છે—'से त ' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—ભગવાન અથવા અણગારો પાસેથી સાંભળીને અપ્કાયના સ્વરૂપને જાણનારા જીવો ચારિત્ર અંગીકાર કરીને કોઈ-કોઈ આ પ્રમાણે જાણે છે—આ ગ્રંથ છે, આ મોહ છે, આ મૃત્યુ છે, આ નરક છે ગૃદ્ધ પુરુષ નાના પ્રકારનાં (અનેક પ્રકારનાં) શસ્ત્રોથી જલનો આરંભ કરીને, જલશસ્ત્રનો આરંભ કરતા થકા બીજા અનેક પ્રકારના પ્રાણીઓની હિંસા કરે છે (સૂ. ૮)

छाया—

स तत् संबुध्यमान आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा खलु भगवतः अनगाराणां वाऽन्तिके, इहैकेषां ज्ञातं भवति-एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः एष खलु मारः, एष खलु नरकः, इत्यर्थं गृद्धो लोकः यदिमं विरूपरूपैः शस्त्रैरुदककर्मसमारम्भेण, उदकशस्त्रं समारभमाणः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणान् विहिनस्ति ॥ सू० ८ ॥

टीका—

य खलु भगवतः=तीर्थङ्करस्य, अनगाराणाम्=तदीयश्रमणनिर्ग्रन्थानाम्, अन्तिके=समीपे, श्रुत्वा=उपदेशं निशम्य, आदानीयम्=उपादेयं, सर्वसावद्ययोगपरित्यागरूपं चारित्रं, समुत्थाय=अङ्गीकृत्य विहरति, स तत्-अप्कायसमारम्भणं, संबुध्यमानः=अहिताबोधिजनकत्वेन विज्ञाता भवति ॥

स हि-एवं विचारयति इह=मनुष्यलोके, एकेषां=श्रमणनिर्ग्रन्थोपदेशसजातसम्यगवबोधवैराग्याणामात्मार्थिनामेव, ज्ञातं=विदितं भवति। किं ज्ञातं भवतीत्याकाङ्क्षायामाह—'एष खलु ग्रन्थः' इत्यादि।

टीकार्थ—जो पुरुष तीर्थंकर भगवान् या उनके अनुयायी श्रमण निर्ग्रन्थों के समीप उपदेश सुनकर सर्वसावद्य व्यापार का त्यागरूप चारित्र अंगीकार करके विचरता है, वह अप्काय के आरंभ को समझता है—उसे अहितकर और अबोधिजनक जानता है। वह इस प्रकार विचार करता है—इस मनुष्य लोक में श्रमण निर्ग्रन्थों के उपदेश से सम्यग्ज्ञान और वैराग्य प्राप्त करनेवाले किन्हीं२ आत्मार्थियों को ही विदित होता है कि—'यह ग्रंथ है' इत्यादि।

ટીકાર્થ—જે પુરુષ તીર્થંકર ભગવાન તથા તેના અનુયાયી શ્રમણનિર્ગ્રંથોના સમીપ ઉપદેશ સાંભળીને સર્વ સાવદ્યવ્યાપારના ત્યાગરૂપ ચારિત્ર અંગીકાર કરીને વિચરે છે, તે અપ્કાયના આરંભને સમજે છે—તેને અહિતકર અને અબોધિજનક જાણે છે, તે આ પ્રમાણે વિચાર કરે છે કે—આ મનુષ્ય લોકમાં શ્રમણ—નિર્ગ્રંથોના ઉપદેશથી સમ્યગ્જ્ઞાન અને વૈરાગ્ય પ્રાપ્ત કરવાવાળા કોઈ પણ આત્માર્થિઓના જાણવામાં હોય છે કે—'આ ગ્રંથ છે ઈત્યાદિ

एप =उदकशस्त्रसमारम्भ खलु=निश्चयेन, ग्रन्थ =ग्रथ्यते=बध्यतेऽनेनेति ग्रन्थ' अष्टविधकर्मबन्ध । कारणे कार्योपचारादुदकशस्त्रसमारम्भस्य ग्रन्थरूपत्वम्, एगमग्रेऽपि बोध्यम् । तथा एप उदकशस्त्रसमारम्भ' मोह=विपर्यासः विपरीतज्ञानरूपः । तथा एप एव मारः=मरणं निगोदादिमरणरूप. । तथा एप खलु नरकः=नारकजीवानां दशविधयातनास्थानम् । इत्यर्थम्=एतदर्थं कर्मबन्ध-मोह-मरण-नरकरूप घोर दु'ख-फल प्राप्य पुन पुनरेतदर्थमेव लोक'=अज्ञानवशवर्ती जीव गृद्धः=लिप्सुरस्ति । यद्वा-गृद्धः=विषयभोगासक्त , लोक ससारी जीव , इत्यर्थम्=एतदर्थमेव=कर्मबन्ध-मोह-मरण-नरकार्थमेव, प्रवर्तते ।

जिस के द्वारा गूथा जाय-बांधा जाय वह ग्रथ कहलाता है । यह उदकशस्त्र का समारम ग्रथ है, अर्थात् आठ कर्मों का बंध है । यहाँ कारण में कार्य का उपचार करके उदकशस्त्र के समारम को ग्रथ कहा है । वास्तव में वह ग्रथ (कर्मबंध) का कारण है । आगे भी इसी प्रकार समझना चाहिए ।

यह जलशस्त्र का समारम मोह-विपरीत ज्ञान है । तथा यह मार-निगोद आदि के मरणरूप है । यह नरक है अर्थात् नारकी जीवों को होनेवाली दस प्रकार की वेदनाओं का स्थान है । कर्मबंध, मोह, मरण, और नरकरूप घोर दु खरूप फल को प्राप्त कर के भी अज्ञानी लोग फिर इसी के लिए गृद्ध होते हैं । अथवा गृद्ध अर्थात् भोगों में आसक्त, संसारी जीव इसी के लिए, अर्थात् कर्मबंध, मोह, मरण तथा नरक के लिए ही प्रवृत्ति करते हैं ।

જેના દ્વારા ગૂંથી શકાય-બાંધી શકાય તે ગ્રંથ કહેવાય છે એ ઉદક-જલ શસ્ત્રનો સમારંભ ગ્રંથ છે અર્થાત્ આઠ કર્મોનો બંધ છે અહિં કારણમાં કાર્યનો ઉપચાર કરીને ઉદકશસ્ત્રના સમારંભને ગ્રંથ કહ્યો છે વાસ્તવિક રીતે તે ગ્રંથ (કર્મબંધ)નું કારણ છે આગળ પણ આ પ્રમાણે સમજવું જોઇએ.

આ જલશસ્ત્રનો સમારંભ મોહ-વિપરીત જ્ઞાન છે, તથા આ માર-નિગોદ વગેરેના મરણરૂપ છે, આ નરક છે—અર્થાત્ નારકી જીવોને થવાવાળી દસ પ્રકારની વેદનાઓનું સ્થાન છે કર્મબંધ, મોહ મરણ અને નરક રૂપ ઘોરદુઃખરૂપ ફલને પ્રાપ્ત કરીને પણ અજ્ઞાની લોક ફરીને તેના માટે ગૃદ્ધ-આસક્ત થાય છે અથવા ગૃદ્ધ અર્થાત્ ભોગોમાં આસક્ત સંસારી જીવ એ માટે, અર્થાત્ કર્મબંધ, મોહ, મરણ તથા નરક માટેજ પ્રવૃત્તિ કરે છે

यद्यपि विषयभोगासक्तो लोकः शरीरादिपरिपोषणार्थं परिवन्दनमाननपूजनार्थं जातिमरणमोचनार्थं दुःखप्रतिघातार्थं चाप्कायशस्त्रसमारम्भं करोति, तथापि तत्फलं ग्रन्थ-मोह-मरण-नरकरूपमेव लभते, अत उदककर्मसमारंभस्य तदेव फलं भवतीति भावः।

लोकः पुनः पुनः कर्मबन्धाद्यर्थमेव लिप्सुरस्ति, तदर्थमेव च प्रवर्तते, इति यदुक्तं तत्र हेतुमाह—' यदिमम् ' इत्यादि।

यत्=यस्मात्, गृद्धो लोकः, विरूपरूपैः=नानाविधैः शस्त्रैः=स्वकाय-परकायतदुभयरूपैः, उदककर्मसमारम्भेण=अप्कायमुद्दिश्याष्टविधकर्मसमुत्पादक-सावद्यव्यापारेण, इमम्=अप्कायं, विहिनस्ति=प्राणरहितं करोति। तथा-उदक-

---

तात्पर्य यह है कि विषयभोगों में आसक्त जीव, शरीर आदि का पोषण करने के लिए, वन्दन-मान-पूजन के लिए, जन्म-मरण से मुक्त होने के लिए तथा दुःखों का नाश करने के लिए, अपूकाय के शस्त्र का आरंभ करता है मगर उस का फल-ग्रन्थ, मोह, मरण और नरक-रूप ही पाता है। अत एव जलकर्मसमारंभ का वही फल होता है।

लोक बार-बार कर्मबंध आदि के लिए ही इच्छुक होता है, और उसी के लिए प्रवृत्ति करता है, यह बात पहले कही है। यहाँ उस का कारण बतलाते हैं—

क्यों कि गृद्धजन नाना प्रकार के स्वकाय, परकाय और उभयकायरूप शस्त्रों से, उदककर्म के आरंभद्वारा, अपूकायसंबंधी आठकर्म-जनक सावद्यव्यापारद्वारा अपूकाय की हिंसा करता है। तथा जलकाय के विराधक स्वकाय, परकाय और

તાત્પર્ય એ છે કે-વિષયભોગોમાં આસક્ત જીવ શરીર-આદિના પોષણ કરવા માટે વન્દન, માન, પૂજા માટે, જન્મ મરણથી મુક્ત થવા માટે તથા દુઃખોનો નાશ કરવા માટે અપ્કાયના શસ્ત્રનો આરંભ કરે છે, પરન્તુ તેનું ફળ ગ્રંથ, મોહ, મરણ અને નરક રૂપજ પામે છે, એ માટે જલકર્મસમારંભનું ફલ તેજ હોય છે

લોક વારવાર કર્મબંધ વગેરે માટે ઇચ્છા કરતા હોય છે; અને તે માટે પ્રવૃત્તિ કરે છે એ વાત પ્રથમ કહી છે અહિં તેનું કારણ બતાવે છે કેમકે-ગૃદ્ધ માણસ નાના પ્રકારના સ્વકાય, પરકાય અને ઉભયકાય રૂપ શસ્ત્રોથી ઉદકકર્મના આરંભદ્વારા અપ્કાયના સંબંધી આઠ કર્મજનક સાવદ્યવ્યાપારદ્વારા અપ્કાયની હિંસા કરે છે. તથા

शस्त्रम्-अप्कायमर्दक शस्त्र स्वकायपरकायतदुभयरूप, समारममाण =व्यापारयन् अन्यान्=पृथिवीकायादीन्, अनेकरूपान्=त्रसान् स्थावरांश्च, प्राणान्=प्राणिनो विहिनस्ति ।

अप्कायहिंसया षड्जीवनिकायरूप लोक सर्वमेव प्रणिहन्तीति घोरतर दुरित कुर्वन् पुनः पुन ग्रन्थादिनरकान्त प्राप्यापि तदर्थमेव प्रवर्त्तते न पुनर्मोक्षायेति भाव ॥ सू० ८ ॥

पुनरपि सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामिनं प्राह—' से बेमि. ' इत्यादि ।

॥ मूलम् ॥

से वेमि संति पाणा उदयनिस्सिया जीवा अणेगे ॥ सू० ९ ॥

॥ छाया ॥

स ब्रवीमि सन्ति प्राणा उदकनिश्रिता जोवा अनेके ॥ सू० ९ ॥

उभयकाय रूप शस्त्रों का आरम करता हुआ अन्यकाय-स्थावर और त्रस जीवों को भी हिंसा करता है, वह जलकायकी हिंसाद्वारा षड्जीवनिकायरूप समस्त लोक की हिंसा करता है, अत अत्यन्त घोर पाप करता हुआ पुन पुन ग्रंथ से लेकर नरक तक के दुष्फलको पाकरके भी उसी के लिए प्रवृत्ति करता है—मोक्ष के लिए नहीं ।।सू ८।।

सुधर्मा स्वामी फिर जम्बू स्वामी से कहते हैं—'से वेमि' इत्यादि ।

मूलार्थ—मैं कहता हूँ अप्काय के आश्रित प्राणी हैं और अन्य अनेक (द्वीन्द्रिय आदि) जीव भी हैं ।।सू. ९।।

જલકાયના વિરાધક સ્વકાય, પરકાય અને ઉભયકાય રૂપ શસ્ત્રોનો આરભ કરીને અન્યકાય-સ્થાવર અને ત્રસ જીવોની પણ હિંસા કરે છે તે જલકાયની હિંસાદ્વારા ષડ્જીવનિકાયરૂપ સમસ્ત લોકની હિંસા કરે છે તેથી અત્યન્ત ઘોર પાપ કરતા થકા ફરી ફરી ગ્રથ (કર્મબધ)થી લઈને નરક સુધીના માઠા-દુ ખકારક ફળને પામીને પણ તે માટે પ્રવૃત્તિ કરે છે મોક્ષ માટે કરતા નથી (સૂ. ૮)

સુધર્મા સ્વામી ફરીથી જમ્બૂ સ્વામીને કહે છે-' से वेमि ' ઈત્યાદિ

મૂલાર્થ—હું કહુ છુ-અપ્કાયના આશ્રિત પ્રાણી છે, અને અન્ય અનેક (દ્વીન્દ્રિય આદિ) જીવ પણ છે (સૂ. ૯)

टीका—

स'=विज्ञाताप्कायस्वरूपोऽहं ब्रवीमि=यथा साक्षात् भगवत' सकाशान्मया श्रुतं तथा कथयामीत्यर्थः। उदकनिश्रिता' जलरूपं कायमाश्रित्य वर्तमाना अप्कायिका इत्यर्थ' प्राणाः=प्राणिन' सन्ति। तथाऽनेके=द्वीन्द्रियादयः नानाविधाः जीवा नीलश्रृगु-पूतरक-मत्स्यादय उदकनिश्रिताः=उदकावस्थिता सन्ति। देहली दीपन्यायेनोदकनिश्रिता इत्यस्योभयत्रान्वय, अनेनोदकं सचित्तमनेकजीवाधिष्ठितं चेति प्रतिबोधितम्।

टीकार्थ—अप्काय के स्वरूप का ज्ञाता मैं कहता हूँ। जैसा कि भगवान् से मैंने सुना है कि—अप्काय को आश्रित करके रहे हुए अप्कायिक प्राणी हैं, तथा अनेक द्वीन्द्रिय आदि नाना प्रकार के जीव नीलँगु, पूरतक, मत्स्य आदि भी जल में रहे हुए हैं। उदकनिश्रिताः-'जलकाय के आश्रित' यह पद देहली-दीपकन्याय से दोनों ओर जोड़ लेना चाहिए। यहाँ इतना समझ लेना आवश्यक है कि—जलकाय के जीवों का शरीर जल ही है, जब कि जल में रहने वाले त्रस आदि जीवों का शरीर भिन्न होता है, फिरभी वे जल ही में रहते हैं और जल की विराधना करनेसे उन त्रस आदि जीवों की भी विराधना होती है। जहाँ जलकाय है वहाँ सभी काय के जीव होते हैं।

ટીકાર્થ—અપ્કાયના સ્વરૂપને જાણનાર હું કહું છુ જેવી રીતે કે મે ભગવાન પાસેથી સાંભળ્યુ છે કે—અપ્કાયને આશ્રિત-આશ્રય કરીને રહેલા અપ્કાયના જીવો છે તથા અનેક દ્વીન્દ્રિય આદિ નાના પ્રકારના જીવ નીલગુ પૂરતક, મત્સ્ય આદિ પણ જલમાં રહેલા છે 'उदकनिश्रिता' 'જલકાયને આશ્રિત' આ પદ દેહલી-દીપક-ન્યાયથી બન્ને બાજુ જોડી લેવું જોઈએ.

અહિં એટલું સમજી લેવું આવશ્યક છે કે-જલકાયના-જીવોનાં શરીર જલજ છે જ્યારે કે જલમા રહેવાવાળા ત્રસ આદિ જીવોના શરીર ભિન્ન-જુદાં હોય છે તો પણ તે જલમાજ રહે છે, અને જલની વિરાધના કરવાથી તે ત્રસ આદિ જીવોની પણ વિરાધના થાય છે જ્યા જલકાય છે ત્યાં તમામ કાયના જીવ હોય છે

अप्कायस्य लक्षणद्वारम्—

ननूदकं सचित्तमस्तीत्यत्र किं प्रमाणम्? उच्यते—आपः सचित्ताः, शस्त्रानुपहतत्वे सति द्रवत्वात्, हस्तिशरीरोपादानभूतकललवत्। प्रस्रवणादौ दोषवारणाय शस्त्रानुपहतत्वविशेषणोपादानम्। कललशब्दग्रहणेन सप्तदिवसमात्रवर्तिनो ग्रहणम्, ततः परमष्टमदिवसादौ तदेवार्बुदाद्यवस्थामापद्यते।

किञ्च—आपः सजीवाः, अनुपहतद्रवत्वात्, अण्डकमध्यस्थितकललवत्।

किञ्च—आपो जीवशरीराणि, छेद्यत्वात्, भेद्यत्वात्, दृश्यत्वात्, करचरणादिसमुदायवत्।

अप्कायका लक्षणद्वार

शंका—जल सचित्त है, इस विषय में क्या प्रमाण है?

समाधान—जल सचित्त है, क्यों कि शस्त्र के उपघात के विना ही वह द्रव (तरल) है, जैसे–हाथी के शरीर का उपादान कलल। यहाँ मूत्र आदि से व्यभिचार हटाने के लिए 'शस्त्र के उपघात के विना' यह विशेषण लगाया गया है। 'कलल' शब्द के ग्रहण करने से सिर्फ सात दिन का गर्भाशयस्थित शुक्रशोणितमिश्रित द्रवपदार्थ लेना चाहिए। आठवें दिन से उसकी अर्बुद आदि अवस्थाए हो जाती हैं—अर्थात् वह गाढा होने लगता है।

और भी—जल सजीव है, क्यों कि वह अनुपहत द्रव है, जैसे अंडे का रस।

और भी—जल, जीव का शरीर है, क्यों कि उसका छेदन–भेदन किया जाता है और दृश्य है, हाथ पग आदि के समूह की तरह।

અપ્કાયનું લક્ષણદ્વાર—

શંકા—જલ-પાણી સચિત્ત છે એ વિષયમાં શું પ્રમાણ છે?

સમાધાન—જલ સચિત્ત છે કેમકે શસ્ત્રના ઉપઘાત વિનાજ તે તરલ છે જેવી રીતે હાથીના શરીરનું ઉપાદાન "કલલ" અહિં મૂત્ર આદિથી વ્યભિચાર હઠાવવા માટે 'શસ્ત્રના ઉપઘાત વિના' એ વિશેષણ લગાડયું છે "કલલ." શબ્દના ગ્રહણ કર વાથી માત્ર સાત દિવસનો ગર્ભાશયમાં રહેલો શુક્રશોણિત–મિશ્રિત દ્રવપદાર્થ સમજવો જોઈએ. આઠમા દિવસથી તેની અર્બુદ આદિ અવસ્થાઓ થઈ જાય છે અર્થાત્ તે કઠણ થવા લાગે છે

બીજું પણ—જલ સજીવ છે, કેમકે તે અનુપહત દ્રવ છે, જેમકે ઇંડાનો રસ.

બીજું પણ જલ–જીવ–શરીર છે. કેમકે–તેનું છેદન–ભેદન કરી શકાય છે અને દૃશ્ય છે, હાથ–પગ આદિના સમૂહ પ્રમાણે

किञ्चाऽव्यक्तोपयोगादीनि कषायपर्यन्तानि जीवलक्षणानि पृथिवीकायोद्देशके प्रागुक्तानि, तेषां जीवलक्षणानां समन्वयादाप सचित्ता मनुष्यवदिति विज्ञायते।

एवं तेजस्कायादेरेकेन्द्रियजीवस्यैतानि जीवलक्षणानि सन्तीति बोध्यम्।

आगमोऽपि यथा—"आऊ चित्तमतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता" इति (दशवै अ० ४)

प्ररूपणाद्वारम्—

अप्काया जीवा द्विविधाः, सूक्ष्मबादरभेदात्। सूक्ष्मनामकर्मोदयात्

इस के अतिरिक्त—अव्यक्त उपयोग से लेकर कषायपर्यन्त जीव के जो लक्षण पृथ्वीकाय के उद्देशक मे बतलाये हैं, उन सब जीव के लक्षणों की विद्यमानता होने के कारण भी जल सचित्त है, जैसे मनुष्य आदि।

इसी प्रकार तेजस्काय आदि एकेन्द्रिय जीवों में भी जीव के लक्षण हैं, ऐसा समझ लेना चाहिए।

आगम प्रमाण से भी जल सजीव सिद्ध होता है—"अप सचित्त कहा गया है। उसमें अनेक जीव हैं और उन का अस्तित्व, अलग—अलग है।" (दश० अ० ४)

प्ररूपणाद्वार—

अप्काय के जीव दो प्रकार के हैं— सूक्ष्म और बादर। जिनके सूक्ष्मनाम

ते सिवाय अव्यक्त उपयोगथी लईने कषाय सुधी जीवनां जे लक्षण पृथ्वीकायना उद्देशकमा बताव्या छे ते सर्व जीवना लक्षणोनी विद्यमानता होवाना कारणे पण जल सचित्त छे जेवी रीते मनुष्य आदि ओ प्रमाणे तेजस्काय आदि ओकेन्द्रिय जीवोमां पण जीवना लक्षण छे ओ रीते समजी लेवुं जोईओ

आगम प्रमाणथी पण जल सजीव सिद्ध थाय छे—

"अप सचित्त कहेलुं छे; तेमां अनेक जीव छे अने तेनुं अस्तित्व अलग-अलग छे" (दश० अ ४)

प्ररूपणाद्वार—

अप्कायना जीव बे प्रकारनां छे—(१) सूक्ष्म अने (२) बादर जेने सूक्ष्मनाम

सूक्ष्मा', वादरनामकर्मोदयाद् वादरा । तत्र सूक्ष्मा द्विविधा'—पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च। सूक्ष्मा॰ सर्वलोकव्यापिन । वादरा लोकैकदेशे सन्ति। वादरा अप्काया अनेकविधा' —हिमा-वश्याय-मिहिका—करक-हरतनु—शुद्ध—शीतो ष्ण—क्षाराम्ल-लवण—क्षीर—घृतोद-कादय' । ते सर्वे वादरा अप्काया' मक्षेपतो द्विधा—पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च। वादराणां यत्रैको जीवस्तत्रासख्येयैर्वादरजीवैर्नियमतो भाव्यम्। वादराणां स्थान समुद्रहूद नदीप्रभृतय ।

वादराणा सूक्ष्माणां चोभयेपामप्कायानां पर्याप्तापर्याप्तभेदवदन्येऽपि शरीरत्रयादिभेदा सन्ति, ते पृथिवीकायोद्देशे प्रागुक्तास्तत एव वोद्धव्या' ।

कर्मका उदय है वे सूक्ष्म कहलाते हैं, और बादरनामकर्म के उदय वाले बादर कहलाते हैं। इन मेंसे सूक्ष्म जीव पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के हैं। सूक्ष्म सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। बादर लोक के एक देश में हैं, बादरअप्काय के अनेक भेद हैं— हिम, ओस, मिहिका (धूवर) ओले, हरतनु (तृणके अग्र पर रहा हुआ पानी) शुद्ध, शीतउष्ण, क्षार, आम्ल, लवण, क्षीर, घृतोदक आदि। सब बादर अप्काय सक्षेप से पर्याप्त तथा अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के हैं। जहाँ एक बादर जीव होता है वहां नियम से असंख्यात बादर जीव होते हैं। समुद, तालाब, नदी वगैरह बादर जीवों के स्थान हैं।

बादर और सूक्ष्म, दोनों प्रकार के जलकाय के जैसे पर्याप्त और अपर्याप्त भेद किये गये हैं उसी प्रकार शरीरत्रय आदि और भेद भी हैं। वे पृथ्वीकाय के उद्देशक में बतलाये हैं। वहीं से जान लेने चाहिए।

કર્મનો ઉદય છે તે સૂક્ષ્મ કહેવાય છે અને બાદરનામકર્મના ઉદયવાળા બાદર કહેવાય છે તેમાથી સૂક્ષ્મ જીવ પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્તના ભેદથી બે પ્રકારનાં છે સૂક્ષ્મ સર્વ લોકમાં વ્યાપ્ત છે અને બાદર લોકના એક દેશમાં છે બાદર અપ્કાયના અનેક ભેદ છે હિમ, ઝાકળ, હરતનુ (તૃણના અગ્રપર રહેલુ પાણી) શુદ્ધ શીત,ઉષ્ણ ક્ષાર,અમ્લ, લવણ, ક્ષીર, ઘૃતોદક આદિ સર્વ બાદર અપ્કાય સંક્ષેપથી પર્યાપ્ત તથા અપર્યાપ્તના ભેદથી બે પ્રકારના છે જ્યા એક બાદર જીવ હોય છે ત્યા નિયમથી અસખ્યાત બાદર જીવ હોય છે સમુદ્ર, તળાવ, નદી વગેરે બાદર જીવોના સ્થાન છે

બાદર અને સૂક્ષ્મ-બન્ને પ્રકારના જલકાયના જેવી રીતે પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્ત ભેદ કરવામા આવ્યા છે તે પ્રમાણે શરીરત્રય આદિ બીજા ભેદો પણ છે તે પૃથ્વી કાયના ઉદ્દેશકમાં બતાવેલા છે તે ત્યાંથી જાણી લેવા જોઈએ.

पृथिवीकायवद् असख्येयाश्च प्रत्येकमुभये । केवल शरीरसस्थान स्तिबुकबिन्दुक संस्थितमेव ।

परिमाणद्वारम्—

ये बादरपर्याप्ता अप्काया', ते सवर्तितलोकप्रतराऽसख्येयभाग प्रदेशराशिपरिमाणा , ये तु बादरा अपर्याप्ता , तथा सूक्ष्मा' पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च राशयस्ते पृथक्–पृथगसख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिपरिमाणाः सन्ति । अयमत्र विशेष –बादरपर्याप्तेभ्यः पृथिवीकायेभ्यो बादरपर्याप्ता अप्काया असख्येयगुणा', बादरेभ्योऽपर्याप्तेभ्यः पृथिवीकायेभ्यो बादरा अपर्याप्ता अप्काया असख्येय–गुणाः । सूक्ष्मापर्याप्तपृथिवीकायेभ्य सूक्ष्मा अपर्याप्ता अप्काया विशेषाधिका',

---

पृथ्वीकाय के समान प्रत्येक प्रकार के जीव असख्यात हैं। अलबत्ता इन के शरीर का आकार स्तिबुकबिन्दु (बुद–बुद) के समान है ।

परिमाणद्वार–

बादर पर्याप्त अप्काय के जीव सवर्तित लोकप्रतर के असख्येयभाग प्रदेशों के बराबर हैं, बादर अपर्याप्त तथा सूक्ष्म प्रर्याप्त और अपर्याप्त राशियाँ अलग अलग असंख्यात लोकाकाश के प्रदेश के बराबर हैं । यहाँ इतनी विशेषता समझनी चाहिए कि–बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय की अपेक्षा बादर पर्याप्त अपूकाय असंख्यातगुणा हैं, और बादर अपर्याप्त पृथ्वीकाय की उपेक्षा बादर अपर्याप्त अपूकाय के जीव असख्यातगुणा हैं। सूक्ष्म अपर्याप्त पृथ्वीकाय के जीवों से सूक्ष्म अपर्याप्त अप्कायिक जीव विशेष अधिक हैं

પૃથ્વીકાયની પ્રમાણે પ્રત્યેક પ્રકારના જીવ અસખ્યાત છે અલબત્ત તેના શરીરના આકાર સ્તિબુકબિન્દુ–બુદ–બુદના પ્રમાણે છે

પરિમાણદ્વાર—

બાદર પર્યાપ્ત અપ્કાયના જીવ સવર્તિત લોકપ્રતરના અસખ્યેય ભાગ પ્રદેશોના બરાબર છે બાદર અપર્યાપ્ત તથા સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્ત રાશિઓ અલગ–અલગ અસખ્યાત લોકાકાશના પ્રદેશોની બરાબર છે અહિં એટલી વિશેષતા સમજવી જોઈએ કે–બાદર પર્યાપ્ત પૃથ્વીકાયની અપેક્ષા બાદર પર્યાપ્ત અપ્કાય અસખ્યાત ગુણા છે, અને બાદર અપર્યાપ્ત પૃથ્વીકાયની અપેક્ષા બાદર અપર્યાપ્ત અપ્કાયના જીવ અસખ્યાત ગુણા છે સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત પૃથ્વીકાયના જીવોથી સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત અપ્કાયિક જીવ વિશેષ અધિક છે

सूक्ष्म-पर्याप्त-पृथिवीकायेभ्य सूक्ष्मपर्याप्ता अप्काया विशेषाधिकाः ॥ सू० ९ ॥

श्रीसुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामिनमामन्त्र्य कथयति-' इह चे. '-त्यादि ।

मूलम्—

इई च खलु भो ! अणगाराण उदयं जीवा वियाहिया सू० ॥ १० ॥

छाया—

इह च खलु भोः ! अनगाराणामुदकं जीवा व्याख्याताः ॥ सू० १० ॥

टीका—

'भो ' इति परस्परालापविषयकामन्त्रणे, तेन भोः=हेजम्बूः ! इह=जिनशासने खलु=निश्चयेन अनगाराणां=द्रव्यभावगृहरहिताना मुनीना मतिबोधनायेति शेष., उदक जीवा व्याख्याता ' इति, उदक जीवपिण्डभूत-

---

तथा सूक्ष्म पर्याप्त पृथ्वीकाय की अपेक्षा सूक्ष्म पर्याप्त अप्काय के जीव विशेष अधिक हैं ॥ सू ९ ॥

श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी को संबोधन करके कहते हैं—'इई च' इत्यादि ।

मूलार्थ—हे शिष्य ! जिन शासन में अनगारों के लिए यह व्याख्या की गई है कि—जल जीव है ॥ सू १० ॥

टीकार्थ—'भो' शब्द सबोधन के लिए है । इस का तात्पर्य यह हुआ कि—हे जम्बू ! इस जिन शासन में निश्चय से अनगारों अर्थात् द्रव्य और भाव गृह से रहित मुनियों के बोध के लिए 'जल जीव है' यह व्याख्यान किया गया है । जल, जीवों का

તથા સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત પૃથ્વીકાયની અપેક્ષા સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત અપ્કાયના જીવ વિશેષ અધિક છે (સૂ. ૯)

શ્રી સુધર્મા સ્વામી જમ્બૂ સ્વામીને સંબોધન કરીને કહે છે—' इह च ' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—હે શિષ્ય ! જિનશાસનમા અણગારોને માટે આ વ્યાખ્યા કરવામા આવી છે, કે જલ જીવ છે (સૂ. ૧૦)

ટીકાર્થ—'ભો' શબ્દ સંબોધન માટે છે તેનું તાત્પર્ય એ થયું કે—હે જમ્બૂ ! આ જિનશાસનમાં નિશ્ચયથી અણગારોના અર્થાત્ દ્રવ્ય અને ભાવ ગૃહથી રહિત મુનિઓના બોધ માટે 'જલ જીવ છે' આ વ્યાખ્યાન કરવામા આવ્યુ છે જલ, જીવોનો પિંડ છે, એ પ્રમાણે

पृथिवीकायवद् असङ्ख्येयाश्च प्रत्येकमुभये । केवलं शरीरसंस्थानं स्तिबुकबिन्दुकसंस्थितमेव ।

परिमाणद्वारम्—

ये बादरपर्याप्ता अप्कायाः, ते संवर्तितलोकप्रतरासंख्येयभागप्रदेशराशिपरिमाणाः, ये तु बादरा अपर्याप्ताः, तथा सूक्ष्माः पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च राशयस्ते पृथक्-पृथगसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिपरिमाणाः सन्ति । अयमत्र विशेषः—बादरपर्याप्तेभ्यः पृथिवीकायेभ्यो बादरपर्याप्ता अप्काया असंख्येयगुणाः, बादरेभ्योऽपर्याप्तेभ्यः पृथिवीकायेभ्यो बादरा अपर्याप्ता अप्काया असङ्ख्येयगुणाः । सूक्ष्मापर्याप्तपृथिवीकायेभ्यः सूक्ष्मा अपर्याप्ता अप्काया विशेषाधिकाः,

---

पृथ्वीकाय के समान प्रत्येक प्रकार के जीव असङ्ख्यात हैं। अलबत्ता इन के शरीर का आकार स्तिबुकबिन्दु (बुद-बुद) के समान है।

परिमाणद्वार—

बादर पर्याप्त अप्काय के जीव संवर्तित लोकप्रतर के असङ्ख्येयभाग प्रदेशों के बराबर हैं, बादर अपर्याप्त तथा सूक्ष्म पर्याप्त और अपर्याप्त राशियाँ अलग अलग असङ्ख्यात लोकाकाश के प्रदेश के बराबर हैं। यहाँ इतनी विशेषता समझनी चाहिए कि—बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय की अपेक्षा बादर पर्याप्त अप्काय असंख्यातगुणा है, और बादर अपर्याप्त पृथ्वीकाय की उपेक्षा बादर अपर्याप्त अप्काय के जीव असंख्यातगुणा हैं। सूक्ष्म अपर्याप्त पृथ्वीकाय के जीवों से सूक्ष्म अपर्याप्त अप्कायिक जीव विशेष अधिक हैं

પૃથ્વીકાયની પ્રમાણે પ્રત્યેક પ્રકારના જીવ અસંખ્યાત છે અલબત્ત તેના શરીરના આકાર સ્તિબુકબિન્દુ-બુદ-બુદના પ્રમાણે છે

પરિમાણદ્વાર—

બાદર પર્યાપ્ત અપ્કાયના જીવ સંવર્તિત લોકપ્રતરના અસંખ્યેય ભાગ પ્રદેશોના બરાબર છે બાદર અપર્યાપ્ત તથા સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્ત રાશિઓ અલગ-અલગ અસંખ્યાત લોકાકાશના પ્રદેશોની બરાબર છે અહિં એટલી વિશેષતા સમજવી જોઈએ કે—બાદર પર્યાપ્ત પૃથ્વીકાયની અપેક્ષા બાદર પર્યાપ્ત અપ્કાય અસંખ્યાત ગુણા છે, અને બાદર અપર્યાપ્ત પૃથ્વીકાયની અપેક્ષા બાદર અપર્યાપ્ત અપ્કાયના જીવ અસંખ્યાત ગુણા છે સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત પૃથ્વીકાયના જીવોથી સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત અપ્કાયિક જીવ વિશેષ અધિક છે

जलम्। मिश्र सचित्ताचित्तसंमिलितम्। एतद् द्वय चाग्राह्यम्। अचित्तं द्विविधं स्वभावतः, शस्त्रसपर्कतश्च। स्वभावतोऽचित्त जल केवलि-मनःपर्ययाऽवधि-श्रुत-ज्ञानिनस्तज्जानाना अपि न सेवन्ते, अनवस्थादोपमसङ्गात्, व्यवहाराशुद्धेश्च। प्रसिद्ध च यत् कदाचित्स्वभावतोऽचित्तजलपरिपूर्णं ह्रद, स्वभावतोऽचित्तीभूत तिलादिक च दृष्ट्वा व्यवहाराशुद्धत्वात्पिपासाक्षुधापरिपीडितानामपि साधूना पानार्थे भक्षणार्थे च तत्रानुज्ञा न कृता भगवतेति। यत्तु शस्त्रसपर्कादचित्त जल तत् साधूनामुपभोगाय ग्राह्य, तेन सयमनिर्वाहो भवति। किं तच्छस्त्रम्? इत्याह-'सत्थ' इत्यादि।

नदी, कूप, तालाब आदि का जल सचित्त, और अचित्त मिला जल मिश्र कहलाता है। यह दोनों प्रकार का जल साधु के लिये अग्राह्य है। अचित्त जल दो प्रकार का है-स्वभाव से अचित्त और शस्त्र के सयोग से अचित्त। स्वभाव से अचित जल को केवली, मन पर्ययज्ञानी, अवधिज्ञानी, तथा श्रुतज्ञानी, जानते हैं, मगर उस का सेवन नहीं करते। सेवन करने से अनवस्था दोप आता है और व्यवहार अशुद्ध हो जाता है। यह बात प्रसिद्ध है कि-कदाचित् स्वभाव से अचित्त जल से भरा हुआ तालाब, तथा स्वभाव से अचित्त तिल, आदि को देखकर व्यवहार में अशुद्ध होने के कारण प्यास और भूख से पीडित साधुओं को भी पीने-खाने की आज्ञा भगवान्ने नहीं दी है। जो जल, शस्त्र के संयोग से अचित्त हो गया हो वही साधुओं के लिए, ग्राह्य होता है। ऐसा करने से ही संयम का पालन होता है। वह शस्त्र क्या है, यह बतलाने के लिए कहते है-'सत्थं' इत्यादि।

નદી, કુવા,તળાવ આદિનું જલ સચિત્ત છે સચિત્ત અચિત્ત બન્ને પ્રકારનું ભેગું થયેલું જલ મિશ્રકહેવાય છે આ બન્ને પ્રકારના જલ સાધુઓ માટે અગ્રાહ્ય છે અચિત્ત જલ બે પ્રકારનું છે (૧) સ્વભાવથી અચિત્ત અને (૨) શસ્ત્રના સ યોગથી અચિત્ત. સ્વભાવથી અચિત્ત જલને કેવલી, મન પર્યયજ્ઞાની, અવધિજ્ઞાની તથા શ્રુતજ્ઞાની જાણે છે, પરંતુ તેનું સેવન કરતા નથી-સેવન કરવાથી અનવસ્થા દોષ આવે છે, અને વ્યવહાર અશુદ્ધ થઈ જાય છે એ વાત પ્રસિદ્ધ છે કે-કદાચિત્ સ્વભાવથી અચિત્ત જલથી ભરેલું તળાવ તથા સ્વભાવથી અચિત્ત તલ આદિને જોઈને વ્યવહારમાં અશુદ્ધ હોવાના કારણે તરસ અને ભૂખથી પીડિત સાધુઓને પણ પીવા-ખાવાની આજ્ઞા ભગવાને આપી નથી જે જલ શસ્ત્રના સંયોગથી અચિત્ત થઈ ગયું હોય તે જલ સાધુઓ માટે ગ્રાહ્ય હોય છે એ પ્રમાણે કરવાથીજ સયમનું પાલન થાય છે તે શસ્ત્ર શું છે? એ બતાવવા માટે કહે છે-'સત્થ' ઇત્યાદિ.

मस्तीति भगवता केवलालोकेन विज्ञायानगारेभ्यः संयमरक्षणार्थमुदकं जीवत्वेन प्रतिबोधितमित्यर्थः । 'च'-शब्दात् तदाश्रिता अन्ये द्वीन्द्रियादयोऽपि जीवा व्याख्याता इति बोधितम् । यो बिन्दुमात्रोदकविराधकः, स षड्जीवनिकाय-विराधको भवतीति वर्तुलार्थः ॥ सू० १० ॥

शङ्काद्वारम्—

ननु यदि जीवपिण्डभूतमुदकं भगवता प्रोक्तं तर्हि उदकसेविनां मुनीनामवश्यं प्राणातिपातदोषसम्पातः, तेन कथं संयमः संयमिनां सम्पद्यते ? उच्यते—

सचित्ताचित्तमिश्रभेदेन त्रिविधमुदकम् । तत्र सचित्त-नदीकूपतडागादि-

---

पिण्ड है, इस प्रकार भगवान् ने केवलज्ञान से जानकर साधुओं के संयम की रक्षा के लिए जल को जीव बतलाया है । सूत्र में दिये हुए 'च' शब्द से यह प्रकट किया गया है कि जल के आश्रित दूसरे द्वीन्द्रिय आदि जीव भी हैं । संक्षेप में तात्पर्य यह है कि—जो पुरुष एक बिन्दु जल की विराधना करता है वह षट्काय के जीवों का विराधक है ॥ सू. १० ॥

शङ्काद्वार—

शंका—यदि जल जीवों का पिण्ड है, ऐसा भगवान्ने कहा है तो जलका सेवन करने वाले मुनियों को हिंसा का दोष लगता है । ऐसी स्थिति में साधुओं का संयम किस प्रकार कायम रह सकता है ?

समाधान—जल तीन प्रकार का है—(१) सचित्त (२) अचित्त और (३) मिश्र

ભગવાને કેવલજ્ઞાનથી જાણી કરીને સાધુઓના સંયમની રક્ષા માટે જલને જીવ તરીકે બતાવ્યું છે સૂત્રમાં આપેલા 'ચ' શબ્દથી એ પ્રગટ કરવામાં આવ્યું છે કે—જલના આશ્રિત બીજા દ્વીન્દ્રિય આદિ જીવ પણ છે સંક્ષેપમાં તાત્પર્ય એ છે કે—જે પુરૂષ એક ટીપા જલની વિરાધના કરે છે તે ષટ્કાયના જીવોના વિરાધક છે (સૂ. ૧૦)

શંકાદ્વાર—

શંકા—જો જલ જીવોનો પિંડ છે એ પ્રમાણે ભગવાને કહ્યું છે તો જલનું સેવન કરવાવાળા મુનિઓને હિંસાદોષ લાગે છે એવી સ્થિતિમા સાધુઓનો સંયમ કાયમ કેવી રીતે રહી શકે છે ?

સમાધાન—જલ ત્રણ પ્રકારનું છે (૧) સચિત્ત (૨) અચિત્ત અને (૩) મિશ્ર.

मिश्रजल च। उभयकायशस्त्रपरिणतमपि न ग्राह्यम्, तत्र मिश्रशङ्कासद्भावात्। परकायशस्त्रपरिणतमेव जल मुनीना ग्राह्यम्, परकायशस्त्र चाप्कायस्य अग्नि-मृत्तिका-द्राक्षा-शाक-तण्डुल-पिष्ट-दाली-चणकादिकम्। परकायशस्त्रपरिणत=वर्णादीनां पूर्वावस्थावैलक्षण्यापन्नम्। तत्र वर्णतो धूसरत्वादिरूप, गन्धतस्तत्तद्वस्तुसम्बन्धिग धवत्त्वम्, रसतस्तत्तद्वस्तुसम्बन्धितिक्तकटुकषायादिरसवत्त्वम्। स्पर्शत' स्निग्धरूक्षत्वादिरूपम्। तदेवम्भूतमचित्त जलमस्यैवाङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धे पानैषणायामेकविंशतिविध मुनीनां ग्राह्यत्वेन वक्ष्यते भगवता। तथाहि—

जल के लिए गर्म जल अथवा मिट्टी आदि से मिला हुआ जल। उभयकायशस्त्र से परिणत जल भी साधुओं के लिए ग्राह्य नहीं है, क्यों कि उस में मिश्र (सचित्ताचित्त) की शङ्का रहती है। मुनियों के लिए परकायशस्त्रपरिणत जल ही ग्रहण करने योग्य है। अप्काय का परकायशस्त्र—अग्नि, मिट्टी, दाख, शाक, चावल, आटा, दाल, और चना आदि हैं।

पहले की अपेक्षा वर्ण, रस गंध आदि बदल जाना परकायशस्त्र से जल के परिणत (अचित्त) हो जाने की पहचान है। वर्ण से जल का धूसर आदि हो जाना, गंध से उस में मिली हुई वस्तुओं की गंध आने लगना, इसी प्रकार जल में मिली हुई वस्तुओं का तीखा, कडवा, कसैला आदि रस का स्वाद आ जाना, और स्पर्श से जल का रूखा, चिकना आदि हो जाना जल के अचित्त होने के लक्षण हैं।

મળેલું જલ. ઉભયકાય શસ્ત્રથી પરિણત જલ પણ સાધુઓ માટે ગ્રાહ્ય નથી કેમકે-તેમાં મિશ્ર (સચિત્તાચિત્ત)ની શંકા રહે છે મુનિઓ માટે પરકાયશસ્ત્રપરિણત જલજ ગ્રહણ કરવા યોગ્ય છે અપ્કાયનું પરકાયશસ્ત્ર, અગ્નિ, માટી, દ્રાક્ષ, શાક, ચાવલ, લોટ, દાલ અને ચણા આદિ છે

પહેલા કરતા જેનાં વર્ણ, રસ, ગંધ, આદિ બદલાઇ જાય તે પરાકાયશસ્ત્રથી જલ પરિણત (અચિત્ત) થઇ જવાની એ નિશાની અર્થાત્ ઓળખાણ છે

વર્ણથી જલનું ધૂસર આદિ થઇ જવું, ગંધથી તેમા મળેલી વસ્તુઓની ગંધ આવવી, એ પ્રમાણે જલમાં મળેલી વસ્તુઓના તીખા, કડવા, કસેલા આદિ રસનો સ્વાદ આવી જવો, અને સ્પર્શથી જલનું રૂક્ષ ચિકણું આદિ થઇ જવું એ જલ અચિત્ત હોવાના લક્ષણ છે

मूलम्—

सत्थ चेत्थ अणुवीइ पास, पुढो सत्थ पवेइय ॥ सू० ११ ॥

छाया—

शस्त्र चात्र अनुविचिन्त्य पश्य, पृथक् शस्त्र प्रवेदितम् ॥ ११ ॥

टीका—

अस्मिन् प्रस्तुतेऽप्काये शस्त्र—शस्यते=हिंस्यते प्राणी येन तच्छस्त्रम् अनुविचिन्त्य ='इदमप्कायस्य शस्त्रम्' इति विचार्य, पश्य=हे शिष्य! ज्ञानदृष्ट्या विलोक्य। शस्त्रम्=उपमर्दकं प्रस्तुतत्वादप्कायस्य पृथक्=विभिन्नरूपं स्वकायपरकायोभयकाय भेदात् त्रिविधमित्यर्थ प्रवेदितं=प्रतिबोधित भगवतेतिशेषः। तत्र स्वकायशस्त्रं नद्याद्युदकानां कूपाद्युदकम्। कूपाद्युदकाना नद्याद्युदक च। स्वकायशस्त्रपरिणत जलं साधूनामग्राह्य व्यवहाराशुद्धेः। उभयकायशस्त्र कूपादिजलस्योष्णजलं मृत्तिकादि

मूलार्थ—अप्काय के विषय में, हे शिष्य! शस्त्र का विचार करो। अप्काय के शस्त्र पृथक्-पृथक् समझाये गये हैं ॥ सू ११ ॥

टीकार्थ—जिस के द्वारा हिंसा हो वह शस्त्र कहलाता है, हे शिष्य! अप्काय के विषय में 'यह अप्काय का शस्त्र है' इस प्रकार विचार करो अप्काय के शस्त्र स्वकाय, परकाय और उभयकाय के भेद से नाना प्रकार के भगवानन् ने बतलाये हैं। कुंपका जल नदी के जल के लिए स्वकायशस्त्र है, इसी प्रकार नदी आदि का जल कुँए के जल के लिए स्वकायशस्त्र है। स्वकायशस्त्र से परिणत जल साधुओं के लिए ग्राह्य नहीं होता, क्यों कि वह व्यवहार में अशुद्ध है। उभयकायशस्त्र है—कुँए आदि के

મૂલાર્થ—અપ્કાયના વિષયમા હે શિષ્ય! શસ્ત્રનો વિચાર કરો અપ્કાયનાં શસ્ત્ર જુદાં જુદા સમજાવ્યા છે (સૂ. ૧૧)

ટીકાર્થ—જેના દ્વારા હિંસા થઈ શકે તે શસ્ત્ર કહેવાય છે, હે શિષ્ય! અપ્કાયના વિષયમા 'આ અપ્કાયનું શસ્ત્ર છે' એ પ્રમાણે વિચાર કરો અપ્કાયનાં શસ્ત્ર સ્વકાય, પરકાય, અને ઉભયકાયના ભેદથી નાના પ્રકારના ભગવાને બતાવ્યાં છે કુવાનું જલ, નદી આદિનાં જલ માટે સ્વકાયશસ્ત્ર છે એ પ્રમાણે નદી આદિનું જલ કુવાના જલ માટે સ્વકાયશસ્ત્ર છે સ્વકાયશસ્ત્રથી પરિણત જલ સાધુઓ માટે ગ્રાહ્ય રહેતું નથી, કારણ કે તે વ્યવહારમા અશુદ્ધ છે. ઉભયકાયશસ્ત્ર છે કુવા આદિનાં જલ માટે ગરમ જલ, અથવા માટી વગેરેથી

इति भाषायां, तस्य पानकं=धावनजलम्। (१३) द्राक्षापानकम्=द्राक्षाधावनजलम्। (१४) दाडिमपानकम्=दाडिमधावनजलम्। (१५) खर्जूरपानकम्=खर्जूरधावनजलम्। (१६) नालिकेलपानकम्=नालिकेलधावनजलम्। (१७) करीरपानकम्=करीरधावनजलम्। (१८) कोलपानकम्=बदरधावनजलम्। (१९) आमलकपानकम्-आमलकधावनजलम्। (२०) चिञ्चापानकम्=चिञ्चा-अम्लिका'इमली' इति भाषायां, तस्याः पानकं=धावनजलम्। (२१) शुद्धविकृतम्=अग्न्युत्कालितमुष्णं जलं च।

इह शेषद्वाराणि पृथिविकायवद् विज्ञेयानि।

ये तु शाक्यादयः सचित्ताप्कायोपभोगिनः सन्ति तेषु शाक्यादयः स्वोपभोगार्थम् 'आपो जीवा न सन्ति' इति प्रतिपादयन्ति, दण्डिनस्तु जलं सचित्तं मन्यमाना अपि मोहप्रमादवशतः स्वार्थमुत्कालयन्ति, परमुपदिशन्ति, च, यथा त्रिदण्डमुत्कालनीयं जलम्, इत्युपदिश्याप्कायसमारम्भं कारयन्तो न केवलमप्कायं विहिंसन्ति, किन्तु तदाश्रितानन्यानपि द्वीन्द्रियान् विराधयन्ति।

का धोवन (१५) खजूर का धोवन (१६) नारियल का धोवन (१७) कैर का धोवन (१८) बेर का धोवन (१९) आँवले का धोवन (२०) इमली का धोवन (२१) अग्नि से उकाला हुआ गर्म जल।

जो शाक्य आदि सचित्त अप्काय का सेवन करते है, उन में से शाक्य आदि अपने उपभोग के लिए 'जल सचित नहीं है' इस प्रकार की प्ररूपणा करते हैं। दण्डी लोक जल को सचित्त मान कर के भी मोह और प्रमाद के वश हो कर अपने लिए पानी गरम करवाते हैं और दूसरों को उकालने का उपदेश देते हैं कि-जल तीन दण्ड, उकालना चाहिए। अर्थात् तीन उकालेका पानी होना चाहिये इस प्रकार उपदेश देकर अप्काय का समारम्भ करते हुए न केवल अप्काय की हिंसा करते हैं अपि तु जल में रहने वाले द्वीन्द्रिय आदि की भी विराधना करत हैं।

धोवण (१६) नारीयेलनु धोवण (१७) केरनु धोवण (१८) बोरनु धोवण (१९) आमळानुं धोवण. (२०) आमलीनु धोवण. (२१) अग्निथी उकाळेलुं गरम जल.

जे शाक्य आदि सचित्तअप्कायनु सेवन करे छे तेमांथी शाक्य आदि पोताना उपभोग माटे 'जल सचित्त नथी' ओ प्रकारनी प्ररूपणा करे छे दंडी जलने सचित्त मानीने पण मोह अने प्रमाद वश थई पोताना माटे पाणी गरम करावे छे, अने बीजाने पाणी गरम करवानो उपदेश आपे छे के-जल त्रण दंड-उकाळा आपीने उकाळवुं जोईओ. आ प्रमाणे उपदेश आपीने अप्कायनो समारंभ करता थका केवळ अपकायनीज हिंसा करे छे, ओटलुंज नही परन्तु जलमां रहेवावाळा द्वीन्द्रिय आदिनी पण विराधना करे छे

(१) उत्स्वेधम्=पिष्टसंसृष्टपिठरादिप्रक्षालनजलम् । (२) सस्वेधम्=ससेकिम वा=उत्कालिततिलधावनजल, उत्कालितपत्रशाकादिधावनजल वा। (३) तन्दुलोदकम्=तन्दुलधावनजलम् । (४) तिलोदकम्=तिलधावनजलम्। (५) तुषोदकम्=व्रीहिधावनजलम् । (६) यवोदकम्=यवधान्यक्षालनजलम्। (७) आचामकम्=अवश्रामणजल 'ओसामण' इति भाषाप्रसिद्धम्। (८) सौवीरम्= आरनाल, तक्रपात्रधावनजल, तक्रोपरिष्ठान्निस्तारितजल वा 'आँछ' इति भाषायाम्। (९) आम्रफलादिधावनजलम् । (१०) आम्रातकपानकम्=आम्रातकधावनजलम्। आम्रातकमिति 'अम्बाडी' इति भाषाप्रसिद्धम् । (११) कपित्थपानकम्= कपित्थ='कविठ' इति भषायां, तस्य धावनजलम्। (१२) मातुलिङ्गम् 'बिजोरा'

इस प्रकार का अचित्त जल इसी सूत्र के दूसरे श्रुतस्कन्ध में 'पानैषणा' प्रकरण में इक्कीस प्रकार का भगवान् ने साधुओं के लिए ग्राह्य कहा है। वह इस प्रकार –

(१) उत्स्वेद—आटेका मिला हुवा पीठर (कथोटी) आदिका धोवन।

(२) सस्वेद (ससेकिम) उकाले हुए तिलोंका धोवन या उकाले हुए पत्तों के शाक का धोवन।

(३) चावलों का धोवन, (४) तिलों का धोवन, (५) धान्यका धोवन, (६) जौ का धोवन (७) ओसामण, (८) आरनाल, छाछ के वर्तनों का धोवन, अथवा छाछ के उपर का नितारा पानी जिसे 'आंछ' भी कहते हैं।

(९) आम आदि फलों का धोवन (१०) अम्बाडी का धोवन (११) कविठ (कैथ) का धोवन (१२) बिजौरे का धोवन (१३) द्राक्ष का धोवन (१४) दाडिम (अनार)

આવા પ્રકારનું અચિત્ત જલ આ સૂત્રના બીજા શ્રુતસ્કંધના પાનૈષણા-પ્રકરણમાં એકવીશ પ્રકારનું ભગવાને સાધુઓ માટે ગ્રાહ્ય કહ્યુ છે, તે આ પ્રમાણે છે—

(૧) ઉત્સ્વેદ-લોટ ભળેલું, કથરોટ આદિનું ધોવણ.

(૨) સસ્વેદ-ઉકાળેલા તલનું ધોવણ, અથવા ઉકાળેલા પત્તાવાળાં શાકનું ધોવણ.

(૩) ચોખાનું ધોવણ. (૪) તલનું ધોવણ (૫) ધાન્યનું ધોવણ. (૬) જવનું ધોવણ. (૭) ઓસામણ (૮) આરનાલ-છાસના વાસણોનું ધોવણ, અથવા છાસની ઉપર નીતરેલ પાણી. જેને 'આછ' પણ કહે છે

(૯) આંબા-આમ્ર આદિ ફળોનું ધોવણ. (૧૦) અમ્બાડીનું ધોવણ (૧૧) કોઠાનું ધોવણ (૧૨) બિજોરાનું ધોવણ. (૧૩) દ્રાક્ષનું ધોવણ (૧૪) દાડમનું ધોવણ. (૧૫)

टीका—

'अथवा'-शब्दः कथितस्यार्थस्य प्रकारान्तरेण स्पष्टीकरणे वर्त्तते। येऽप्कायारम्भिणस्तेषामदत्तादानदोषापत्तिरपि। यतोऽप्कायजीवैस्तेभ्यो नार्पितानि स्वशरीराण्युपमर्दयितुं, ते च तानि वाङ्मनःकाययोगैः कृतकारितानुमोदितैरुपमर्दयन्ति, ततश्चाप्कायारम्भिणामदत्तादानदोषोऽप्यनिवार्यो भवति, तस्मान्मुमुक्षुभिः सर्वथाऽप्कायारम्भो वर्जनीयः, इति भगवता साक्षात्प्रोक्तम् ॥ सू० १२ ॥

सचित्तजलोपभोगिनो हि पृष्टाः सन्तो यद् वदन्ति तदाह—

यद्वा-अप्कायारम्भं स्वयं परिहर्त्तुमक्षमाः शाक्यादयो यद्वदन्ति तदाह-'कप्पइ णे.' इत्यादि।

टीकार्थ—पहले कही हुई बात का दूसरी तरह से स्पष्टीकरण करने के लिये 'अथवा' शब्द है। जो अप्काय का आरंभ करते हैं उन्हें अदत्तादान का दोष भी लगता है। कारण यह है कि-अप्काय के जीवों ने अपने शरीर उपमर्दन करने के लिए उन्हें सौंपे नहीं हैं, फिर भी वे लोग मन, वचन, काय से और कृत, कारित, अनुमोदना से उनका उपमर्दन करते हैं अतः अप्काय का आरंभ करने वालों को अदत्तादान का दोष अनिवार्य है। अतः मुमुक्षु पुरुषों को अप्काय का आरंभ त्यागना चाहिए। ऐसा भगवान् ने साक्षात् कहा है ॥ सू० १२ ॥

सचित्त जलका उपयोग करनेवाले पूछनेपर जो उत्तर देते हैं सो कहते हैं—अथवा जो लोग अप्काय के आरंभ को त्यागने में असमर्थ हैं उनका कथन बतलाते हैं—'कप्पइ णे' इत्यादि।

ટીકાર્થ—પ્રથમ કહેલી વાતને બીજી રીતથી સ્પષ્ટીકરણ કરવાના અર્થમાં 'અથવા' શબ્દ છે જે અપ્કાયનો આરંભ કરે છે, તેને અદત્તાદાનનો દોષ પણ લાગે છે, કારણ એ છે કે-અપ્કાયના જીવોએ પોતાનું શરીર ઉપમર્દન કરવા માટે તેને સોંપ્યું નથી. તો પણ તે લોકો મન, વચન અને કાયાથી અને કરવું, કરાવવું તથા અનુમોદવું તે વડે કરી ઉપમર્દન કરે છે, તે કારણથી અપ્કાયનો આરંભ કરવાવાળાને અદત્તાદાનનો દોષ પણ અનિવાર્ય (ટાળી ન શકાય તેવો) છે એ માટે મુમુક્ષુ પુરૂષોએ અપ્કાયનો આરંભ ત્યાગી દેવો જોઇએ એ પ્રમાણે ભગવાને સાક્ષાત્ કહ્યું છે (સૂ. ૧૨)

સચિત્ત જલનો ઉપયોગ કરવાવાળાને પૂછતા જે ઉત્તર આપે છે-તે કહે છે, અથવા જે લોક અપ્કાયના આરંભને ત્યજવામાંઅસમર્થ છે તેમનું કહેવું-કથન બતાવે છે-'કપ્પઇ ણે' ઇત્યાદિ

दृश्यन्ते च तीर्थादिषु अधःकर्मादिदोषदूषितभक्तपानादिग्रहणेनाप्कायादिमहासमारम्भं कुर्वाणाः। न च ते स्वात्मानं भवसागरात्तारयितुं समर्था भवन्ति, उक्तञ्च—भगवतो-त्तराध्ययनसूत्रे-(अध्य २०)

" चिरंपि से मुंडरुई भवित्ता, अथिरव्वए तवनियमेहिं भट्ठे।
चिरंपि अप्पाण किलेसइत्ता, न पारए होइ हु संपराए " ॥ सू० ११ ॥

न केवलं ते हिंसादोषभागिनः, अपि त्वन्यदोषभागिनोऽपि सन्ति, तदेव भगवानाह—'अदुवा' इत्यादि।

मूलम्—

अदुवा अदिन्नादाणं ॥ सू० १२ ॥

छाया—

अथवा अदत्तादानम् ॥ सू० १२ ॥

तीर्थ आदि पर आधाकर्म आदि दोषों से दूषित आहारपानी ग्रहणकरके अप्कायका महारंभ करते हुए देखे जाते हैं। वे अपने आत्मा को भवसागर से तारने में समर्थ नहीं हैं। भगवान् ने उत्तराध्ययनसूत्र (अध्ययन २०) में कहा है—

" जो पुरुष अस्थिर व्रत वाला है और तप तथा नियमों से भ्रष्ट है वह चिरकाल तक अपने आत्मा को क्लेश पहुँचाने पर भी संपराय (संसार से) पार नहीं हो सकता " (उत्त अ २०) ॥ सू० ११ ॥

सचित्त जल का आरंभ करने वाले अकेली हिंसा के ही भागी नहीं हैं, किन्तु अन्य दोषों के भागी भी हैं। यही बात भगवान् कहते हैं—'अदुवा' इत्यादि।

मूलार्थ—अथवा अदत्तादान का दोष लगता है ॥ मू० १२ ॥

तीर्थ आदि पर आधाकर्म आदि दोषोथी दूषित आहार—पाणी ग्रहण करीने अप्कायनो महारंभ करता होय एम जोवामां आवे छे ते पोताना आत्माने भवसागरथी तारवामां समर्थ नथी. भगवाने-उत्तराध्ययन सूत्रमां (अध्ययन २०मां) कह्युं छे के—

"जे पुरुष अस्थिर मतवाळा छे अने तप तथा नियमोथी भ्रष्ट छे, ते लांबा समय सुधी पोताना आत्माने क्लेश पहोंचाडवा उपरांत पण संसारथी पार थई शकता नथी." (उत्तरा० अ. २०) (सू. ११)

सचित्त जलनो आरंभ करवावाळा एकली हिंसानाज भागी नथी परन्तु अन्य दोषोना पण भागी छे ते वात भगवान कहे छे-'अदुवा' ईत्यादि

मूलार्थ—अथवा अदत्तादाननो दोष लागे छे (सू. १२)

टीका—

'अथवा'—शब्दः कथितस्यार्थस्य प्रकारान्तरेण स्पष्टीकरणे वर्त्तते। येऽप्कायारम्भिणस्तेषामदत्तादानदोषापत्तिरपि। यतोऽप्कायजीवैस्तेभ्यो नार्पितानि स्वशरीराण्युपमर्दयितु, ते च तानि वाङ्मनःकाययोगैः कृतकारितानुमोदितैरुपमर्दयन्ति, ततश्चाप्कायारम्भिणामदत्तादानदोषोऽप्यनिवार्यो भवति, तस्मा मुमुक्षुभिः सर्वथाऽप्कायारम्भो वर्जनीयः, इति भगवता साक्षात्प्रोक्तम् ॥ सू० १२ ॥

सचित्तजलोपभोगिनो हि पृष्टा सन्तो यद् वदन्ति तदाह—

यद्वा—अप्कायारम्भ स्यय परिहर्तुमक्षमाः शाक्यादयो यद्वदन्ति तदाह—'कप्पइ णे.' इत्यादि।

टीकार्थ—पहले कही हुई बात का दूसरी तरह से स्पष्टीकरण करने के लिये 'अथवा' शब्द है। जो अप्काय का आरंभ करते हैं उन्हें अदत्तादान का दोष भी लगता है। कारण यह है कि—अप्काय के जीवों ने अपने शरीर उपमर्दन करने के लिए उन्हें सौंपे नहीं हैं, फिर भी वे लोग मन, वचन, काय से और कृत, कारित, अनुमोदना से उनका उपमर्दन करते हैं अत अप्काय का आरंभ करने वालों को अदत्तादान का दोष अनिवार्य है। अत मुमुक्षु पुरुषों को अप्काय का आरंभ त्यागना चाहिए। ऐसा भगवान् ने साक्षात् कहा है ॥ सू० १२ ॥

सचित्त जलका उपयोग करनेवाले पूछनेपर जो उत्तर देते हैं सो कहते हैं—अथवा जो लोग अप्काय के आरंभ को त्यागने में असमर्थ हैं उनका कथन बतलाते हैं—'कप्पइ णे' इत्यादि।

ટીકાર્થ—પ્રથમ કહેલી વાતને બીજી રીતથી સ્પષ્ટીકરણ કરવાના અર્થમાં 'અથવા' શબ્દ છે જે અપ્કાયનો આરંભ કરે છે, તેને અદત્તાદાનનો દોષ પણ લાગે છે, કારણ એ છે કે—અપ્કાયના જીવોએ પોતાનું શરીર ઉપમર્દન કરવા માટે તેને સોંપ્યું નથી. તો પણ તે લોકો મન, વચન અને કાયાથી અને કરવું, કરાવવું તથા અનુમોદવું તે વડે કરી ઉપમર્દન કરે છે, તે કારણથી અપ્કાયનો આરંભ કરવાવાળાને અદત્તાદાનનો દોષ પણ અનિવાર્ય (ટાળી ન શકાય તેવો) છે એ માટે મુમુક્ષુ પુરૂષોએ અપ્કાયનો આરંભ ત્યાગી દેવો જોઈએ એ પ્રમાણે ભગવાને સાક્ષાત્ કહ્યું છે (સૂ ૧૨)

સચિત્ત જલનો ઉપયોગ કરવાવાળાને પૂછતા જે ઉત્તર આપે છે—તે કહે છે, અથવા જે લોક અપ્કાયના આરંભને ત્યજવામાઅસમર્થ છે તેમનુ કહેવું—કથન બતાવે છે—'કપ્પઇ ણે' ઇત્યાદિ

मूलम्—

कप्पइ णे कप्पइ णे पाउ अदुवा विभूसाए ॥ सू० १३ ॥

छाया—

कल्पतेऽस्माकं कल्पतेऽस्माकं पातु, अथवा विभूषायै ॥ सू० १३ ॥

टीका—

'कल्पतेऽस्माकं'-मिति । न वयं स्वेच्छयोदकमुपमर्दयाम किन्त्वस्माकमागमे निर्जीवत्वेन प्रतिबोधितत्वादनिषिद्धत्वाच्च पातु कल्पते । 'कल्पतेऽस्माकम्' इत्यस्य द्विरुच्चारणेन पुनःपुनरनेकप्रयोजनवशाद् बहुविध उपभोगोऽस्माकं कल्पते, इति बोध्यते । तथाहि—

भस्मस्नायिनो वदन्ति—अस्माकं पातुमेव कल्पते न तु स्नातुमिति ।

शाक्यादयस्त्वेवं जल्पन्ति—स्नान—पानादि सर्वं कल्पते जलेनेति ।

मूलार्थ—हमें कल्पता है, हमें कल्पता है, (जल) पीने और विभूषा करने—हाथ पैर आदि धोने, नहाने—के लिए ॥ सू. १३ ॥

टीकार्थ—हम स्वेच्छा से जल की विराधना नहीं करते, वरन हमारे आगम में जल को अचित्त बतलाया है और पीने का निषेध नहीं किया है, अतः हमें पीना कल्पता है। 'हमें कल्पता है' यह दो बार कहने से यह सूचित किया गया है कि—प्रयोजन के वश नाना प्रकार का उपभोग करना हमें कल्पता है। जैसे—

भस्म से स्नानकरनेवाले कहते हैं—हमें पीना ही कल्पता है, स्नानकरना नहीं कल्पता।

शाक्य आदि का कहना है कि—हमें पीना और स्नानकरना—सभी कुछ कल्पता है।

મૂલાર્થ—અમને કલ્પે છે, અમને કલ્પે છે, (જલ) પીવાને અને વિભૂષા—હાથ પગ આદિ ધોવા, નહાવા માટે (સૂ ૧૩)

ટીકાર્થ—અમે સ્વેચ્છાથી જલની વિરાધના કરતા નથી પરંતુ અમારા આગમમાં જલને અચિત્ત બતાવ્યું છે; અને પીવાનો નિષેધ કર્યો નથી. તેથી અમારે પીવું કલ્પે છે 'અમારે કલ્પે છે' આ બે વાર કહેવાથી એ સૂચિત કરવામાં આવ્યું છે કેઃ—પ્રયોજનવશ નાના પ્રકારનો ઉપભોગ કરવાનું અમને કલ્પે છે જેમકે—

ભસ્મથી સ્નાનકરવાવાળા કહે છે—અમારે પીવું કલ્પે છે, સ્નાન કરવું કલ્પતું નથી.

શાક્ય આદિનું કહેવું છે કે—અમારે પીવું અને સ્નાન, સર્વ કાંઈ કલ્પે છે

ते पुनरेव वदन्ति–अथवा विभूषायै=शोभार्थं कल्पतेऽस्माकमुदकमिति। विभूषा नाम–करचरणमुखादिप्रक्षालनादिका, वस्त्रादिप्रक्षालनरुपा वा, तदर्थं जलेन व्यवहरतामस्माक नास्ति कोऽपि दोपलेश इति ॥ सू० १३ ॥

पुन' किं कुर्वन्ति ते ? इत्याह–' पुढो सत्थेहिं,' इत्यादि

मूलम्––

पुढो सत्थेहिं विउट्टति ॥ सू० १४ ॥

छाया––

पृथक् शस्त्रैर्व्यावर्त्तयन्ति (विकुट्टति वा) ॥ सू० १४ ॥

॥ टीका ॥

आत्मानमनगार प्रवदमाना शाक्यादय' पृथक्=भिन्नभिन्नस्वरूपैः शस्त्रैः'= स्नानपानधावनोत्सेचनादिभिरप्कायजीवान् व्यावर्त्तयन्ति=प्राणेभ्यो व्यपरोपयन्ति। यद्वा विकुट्टन्ती '–तिच्छाया तेन विकुट्टन्ति=विशेषेण छिन्दन्ति, सर्वथा भावेन विराधयन्तीत्यर्थः ॥ सू० १४ ॥

उनका यह भी कहना है कि–विभूषा–शोभा के लिए भी जल का उपभोग हमें कल्पता है। हाथ, पैर, मुख, आदि धोना और वस्त्र आदि धोना विभूषा है। इस के लिए जलका व्यवहारकरने में हमें जरा भी दोष नहीं लगता ॥ सू० १३ ॥

वे और क्या करते हैं, सो कहते हैं:–'पुढो.' इत्यादि।

मूलार्थ––भिन्न–भिन्न शस्त्रों से जलकाय की हिंसा करते हैं ॥ सू० १४ ॥

टीकार्थ––अपने को अनगार कहते हुए शाक्य वगैरह भिन्न–भिन्न प्रकार के शस्त्रों से स्नान, पान, धोना, सींचना आदि कार्य कर के अप्काय की हिंसा करते हैं। अथवा पूर्णरूप से उस की विराधना करते हैं ॥ सू० १४ ॥

તેમનુ એ પણ કહેવુ છે કે વિભૂષા–શોભા માટે પણ જલનો ઉપયોગ અમારે કલ્પે છે હાથ પગ, મુખ આદિને ધોવા અને વસ્ત્ર આદિ ધોવા તે વિભૂષા કહેવાય છે એ માટે જલનો વ્યવહાર કરવામાં અમને જરાપણ દોષ લાગતો નથી (સૂ. ૧૩)

તે બીજુ શુ કરે છે, તે કહે છે 'પુઢો' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—જુદા જુદા શસ્ત્રોથી જલકાયની હિંસા કરે છે (સૂ ૧૪)

ટીકાર્થ—પોતાને અણગાર કહેનારા શાક્ય વગેરે ભિન્ન–ભિન્ન પ્રકારના શસ્ત્રોથી સ્નાન, પાન, ધોવુ, સીંચવુ આદિ કાય કરીને અપ્કાયની હિંસા કરે છે અથવા પૂર્ણ રૂપથી તેની વિરાધના કરે છે (સૂ. ૧૪)

साम्प्रतमेषां युक्त्यागमयोर्निस्सारत्वं प्रदर्शयन्नाह—' एत्थवि.' इत्यादि।

॥ मूलम् ॥

एत्थ वि तेसिं नो निकरणाए ॥ सू० १५ ॥

॥ छाया ॥

अत्रापि तेषां नो निकरणायै ॥ सू० १५ ॥

॥ टीका ॥

तेषां शाक्यादीनां युक्तयः अत्र=अस्मिन्नप्कायारम्भविषये नो=नैव निकरणायै= निश्चयकरणाय समर्थाः सन्ति। अपिशब्देन तेषामागमोऽपि न निर्णेतुं समर्थो भवति। आगमत्वपि तत्र न सम्भवति, अनाप्तप्रणीतत्वात्, हिंसाविधायकत्वाच्च। यतो हि स एवागमशब्दवाच्यः यः खलु वीतरागप्रणीतः सर्वप्राणिहितकरो भवति ॥ सू० १५ ॥

उन का कथन युक्ति और आगम से सारहीन है, यह बतलाते हुए कहते हैं— 'एत्थवि ' इत्यादि।

मूलार्थ—उन लोगों की युक्तियाँ अप्काय के विषय में निश्चय नहीं कर सकती ॥ सू० १५ ॥

टीकार्थ—उन शाक्य आदि की युक्तियाँ अप्काय के आरम के विषय में, निश्चय करने में समर्थ नहीं हैं। 'वि' अपि शब्द से यह सूचित किया है कि—उनका आगम भी निश्चय करने में समर्थ नहीं है। उनका आगम, आगम भी नहीं है, क्यों कि वह आप्तपुरुषद्वारा प्रणीत नहीं है और हिंसा का विधान करनेवाला है। आगम वही कहला सकता है जो वीतरागद्वारा प्रणीत हो और प्राणीमात्र का हितकारी हो ॥ सू० १५ ॥

તેમનું કથન-કહેવું-યુક્તિ અને આગમથી સારહીન છે એ બતાવીને કહે છે– ' एत्थवि, ' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—તે લોકોની યુક્તિઓ અપ્કાયના વિષયમાં નિશ્ચય કરી શકતી નથી (સૂ. ૧૫)

ટીકાર્થ—તે શાક્ય આદિની યુક્તિઓ અપ્કાયના આરંભના વિષયમાં નિશ્ચય કરવામાં સમર્થ નથી. 'वि' અપિ શબ્દથી એ સૂચિત કર્યું છે કે તેમનું આગમ પણ નિશ્ચય કરવામાં સમર્થ નથી. તેમનું આગમ તે આગમ પણ નથી. કેમકે તે આપ્ત પુરૂષો દ્વારા પ્રણીત નથી. અને હિંસાનું વિધાન કરવાવાળાં છે આગમ તે કહેવાય છે કે જે વીતરાગદ્વારા પ્રણીત હોય અને પ્રાણીમાત્રનું હિતકારી હોય. (સૂ. ૧૫)

तदेवमपां जीवत्व प्रतिबोध्य अस्य उद्देशस्य सकलार्थमुपसंहरन्नाह–' एत्थ सत्थ. ' इत्यादि ।

मूलम्—

एत्थ सत्थ समारभमाणस्य इच्चेते आरमा अपरिण्णाया भवति । एत्थ सत्थ असमारंभमाणस्स इच्चेते आरमा परिण्णाया भवति । त परिण्णाय मेहावी णेव सय उदयसत्थ समारमेज्जा, णेवन्नेहिं उदयसत्थ समारमावेज्जा, उदयसत्थ समारंभतेऽवि अण्णे न समणुजाणेज्जा । जस्सेते उदयसत्थसमारंमा परिण्णाया भवति से हु मुणी परिण्णायकम्मे-त्ति वेमि ॥ सू० १६ ॥

तइओ उद्देसो समत्तो ॥ ३ ॥

छाया—

अत्र शस्त्र समारभमाणस्य इत्येते आरम्मा अपरिज्ञाता भवन्ति । अत्र शस्त्रमसमारभमाणस्य इत्येते आरम्मा परिज्ञाता भवन्ति । तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयमुदकशस्त्र समारभेत, नैवान्यैरुदकशस्त्रं समारम्भयेत्, उदकशस्त्र

इस प्रकार जल को जीव बतलाकर इस उद्देशक के समस्त कथन का उपसंहार करते हैं–'एत्थ सत्थ ' इत्यादि ।

मूलार्थ—अप्काय में शस्त्र का आरम करने वाले को ये आरम ज्ञात नहीं होते । अप्काय में शस्त्र का आरभ न करने वालो को ये आरम ज्ञात होते हैं । उन्हें जानकर बुद्धिमान् पुरुष स्वय जल का आरम न करे, दूसरों से आरम न करावे और आरम करने वाले दूसरे को भला न जाने । जो जलकाय के इस आरम को जानता है वही परिज्ञातकर्मा मुनि है । भगवान् से मैंने जो सुना वह कहता हूँ ॥ सू० १६ ॥

આ પમાણે જલને જીવ બતાવીને આ ઉદ્દેશકનાં સમસ્ત કથનનો ઉપસહાર કરે છે—' एत्थ ' ઈત્યાદિ

મૂલાર્થ—અપ્કાયમા શસ્ત્રના આરભ કરવાવાળાને આરભ જાણવામા આવતા નથી અપ્કાયમાં શસ્ત્રના આરભ નહિ કરવાવાળાને એ આરભ જાણવામાં આવે છે તેને જાણી કરીને બુદ્ધિમાન પુરૂષ સ્વય જલનો આરભ કરે નહિ બીજા પાસે આરભ કરાવે નહિ અને આરભ કરવાવાળા બીજાને ભલો જાણે નહિ. જે જલકાયનો આ પ્રમાણે આરભ જાણે છે તે પરિજ્ઞાતકર્મા મુનિ છે, ભગવાન પાસેથી જે સાંભળ્યું તે કહું છુ (સૂ. ૧૬)

समारभमाणानन्यान् न समनुजानीयात्। यस्यैते उदकशस्त्रसमारम्भा' परिज्ञाता भवन्ति स खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा, इति ब्रवीमि ॥ सू० १६ ॥

। तृतीय उद्देशः समाप्तः ॥ ३ ॥

टीका--

अत्र=अस्मिन्नप्काये शस्त्र=द्रव्यभावरूपं समारभमाणस्य=व्यापारयतः इत्येते आरम्भाः बन्धहेतुत्वेनापरिज्ञाता भवन्ति। अत्र=अस्मिन्नप्काये शस्त्रं=द्रव्य भावरूपम् असमारभमाणस्य=अव्यापारयतः इत्येते आरम्भा' परिज्ञाता भवन्ति। ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाता, तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञया परित्यक्ता भवन्तीत्यर्थः। ज्ञपरिज्ञापूर्विका प्रत्याख्यानपरिज्ञा यथा समुद्भवति दर्शयति–' तत् परिज्ञाये' त्यादि। तत्=उदकारम्भणं परिज्ञाय='बन्धाय भवती'–त्येवमवबुध्य मेधावी= साधुमर्यादायां सावधान, नैव स्वयमुदकशस्त्र समारभेत, नैवान्यैरुदकशस्त्र समारम्भ-

---

टीकार्थ—इस अप्काय के विषय में द्रव्य और भाव रूप शस्त्र का व्यापार करने वाला अपने व्यपारों को कर्मबंध का कारण नहीं जानता। जो अप्काय के विषय में द्रव्य और भाव रूप शस्त्र का उपयोग नहीं करते, उन्हें इस व्यापारों का ज्ञान होता है। अर्थात् वे ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उनका त्याग कर देते हैं। ज्ञपरिज्ञा के बाद प्रत्याख्यानपरिज्ञा किस प्रकार उत्पन्न होती है सो कहते हैं—जल के आरंभ को कर्मबंध का कारण जानकर साधु की मर्यादा में रहने वाले बुद्धिमान् स्वयं जलकाय का आरंभ नहीं करे, दूसरों से आरंभ नहीं करावे और उसका आरंभ करने

ટીકાર્થ—આ અપ્કાયના વિષયમા દ્રવ્ય અને ભાવરૂપ શસ્ત્રનો વ્યાપાર કરવા વાળા પોતાના વ્યાપારોને કર્મબંધનું કારણ જાણતા નથી. જે અપ્કાયના વિષયમાં દ્રવ્ય અને ભાવરૂપ શસ્ત્રનો ઉપયોગ કરતા નથી, તેને એ વ્યાપારોનુ જ્ઞાન હોય છે અર્થાત્ તે જ્ઞપરિજ્ઞાથી જાણીને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞાથી તેનો ત્યાગ કરી દે છે

જ્ઞપરિજ્ઞા પછી પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા કેવા પ્રકારે ઉત્પન્ન થાય છે, તે કહે છે—જલના આરંભને કર્મબંધનું કારણ જાણી કરીને સાધુની મર્યાદામાં રહેવાવાળા બુદ્ધિમાન સ્વયં જલકાયનો આરંભ કરે નહિ, બીજા પાસે કરાવે નહિ, અને જલનો આરંભ કરવાવાળાને

येत्, उदकशस्त्र समारभमाणान् अन्यान् अपि न समनुजानीयात् नानुमोदये-दित्यर्थ'। यस्यैते उदकशस्त्रसमारम्भा॰ परिज्ञाता भवन्ति स एष परिज्ञातकर्मा मुनिर्भवति, इति ब्रवीमि, एतद्व्याख्यान प्राग्वद् बोध्यम् ॥ सू० १६ ॥

इत्याचाराङ्गसूत्रस्याऽऽचारचिन्तामणिटीकाया प्रथमाध्ययने
तृतीयोद्देश॰ समाप्त ॥ १ । ३ ॥

वाले दूसरों का अनुमोदन नहीं करे। जो उदकशस्त्र के आरंभ को जानता है वह परिज्ञातकर्मा मुनि है। 'इति बेमि' का अर्थ पहले की तरह जानना चाहिए ॥ सू० १६॥

इति श्री आचाराङ्ग सूत्र की 'आचारचिन्तामणि' टीका के
हिन्दी अनुवाद में प्रथम अध्ययनका
तीसरा उद्देश्क समाप्त ॥ १-३ ॥

અનુમોદન આપે નહિ. જે ઉદકશસ્ત્રના આરંભને જાણે છે, તે પરિજ્ઞાતકર્મા મુનિ છે 'इति बेमि' નો અર્થ પહેલાના પ્રમાણે જાણવો જોઈએ (સૂ૦ ૧૬)

ઇતિ શ્રી આચારાગ સૂત્રની 'आचारचिन्तामणि' ટીકાના
ગુજરાતી અનુવાદમા પ્રથમ અધ્યયનને।
ત્રીજો ઉદ્દેશક સમાપ્ત ॥ ૧।૩ ॥



अथ चतुर्थोद्देशः ।

अनन्तरतृतीयोद्देशके मुनित्वमाप्तयेऽप्कायस्य स्वरूपं निर्णीतं, तदर्थमेवाप्कायशस्त्रसमारम्भे ज्ञ-प्रत्याख्यान-भेदाद् द्विविधा परिज्ञाऽपि प्रवेदिता। अथैतदर्थमेव च क्रममाप्तमग्निकायं प्रतिबोधयितुकामश्चतुर्थमुद्देशकं प्रारभते। तत्रादौ 'तेजस्काया जीवाः सन्ती'ति निर्धारयितुमाद्यं सूत्रमाह-'से बेमि' इत्यादि।

मूलम्—

से बेमि नेव सयं लोयं अब्भाइक्खेज्जा, नेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा, जे लोयं अब्भाइक्खइ, से अत्ताणं अब्भाइक्खइ। जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ, से लोयं अब्भाइक्खइ ॥ सू० १ ॥

चौथा उद्देशक—

पिछले तीसरे उद्देशक में साधुता की प्राप्ति के लिए अप्काय के स्वरूप का निर्णय किया, और अप्कायशस्त्र का उपयोग करने में ज्ञपरिज्ञा तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञा भी बतलाई। अब उसी साधुता की प्राप्ति के लिए क्रमप्राप्त अग्निकाय का स्वरूप समझाते हुए चौथा उद्देशक आरंभ करते हैं। सर्वप्रथम तेजस्काय के जीवों का अस्तित्व निश्चित करने के लिए सूत्र कहते हैं-'से बेमि' इत्यादि।

मूलार्थ—भगवान् के समीप जैसा सुना है वैसा कहता हूं। स्वयं अग्निकायरूप लोक का अपलाप न करे। न आत्माका अपलाप करे। जो अग्निकाय का अपलाप करता है वह आत्मा का अपलाप करता है, जो आत्मा का अपलाप करता है वह अग्निकाय का अपलाप करता है ॥ सू० १ ॥

ચોથા ઉદ્દેશક—

પાછળના ત્રીજા ઉદ્દેશકમાં સાધુતાની પ્રાપ્તિ માટે અપ્કાયનો નિર્ણય કર્યો અને અપ્કાય શસ્ત્રનો ઉપયોગ કરવામાં જ્ઞપરિજ્ઞા તથા પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા પણ બતાવી હવે તે સાધુતાની પ્રાપ્તિ માટે ક્રમપ્રાપ્ત અગ્નિકાયનું સ્વરૂપ સમજાવતા થકા-ચોથા ઉદ્દેશકનો આરંભ કરે છે સર્વ પ્રથમ તેજસ્કાયના જીવોનું અસ્તિત્વ નિશ્ચય કરવા માટે સૂત્ર કહે છે-'से बेमि' ઇત્યાદિ.

મૂલાર્થ—ભગવાનની સમીપ જેવું સાંભળ્યું છે, તેવું કહું છું સ્વયં અગ્નિકાય રૂપ લોકનો અપલાપ કરે નહિ અને આત્માનો અપલાપ પણ કરે નહિ. જે અગ્નિકાયનો અપલાપ કરે છે, તે આત્માનો અપલાપ કરે છે જે આત્માનો અપલાપ કરે છે તે અગ્નિકાયનો અપલાપ કરે છે (સૂ. ૧)

छाया—

स ब्रवीमि, नैव स्वयं लोकमभ्याख्यायात्, नैवात्मानमभ्याख्यायात्। यो लोकमभ्याख्याति, स आत्मानमभ्याख्याति। य आत्मानमभ्याख्याति, स लोकमभ्याख्याति ॥ सू० १ ॥

टीका—

येन मया नित्यं गुरुकुलनिवासिना भगवतः समीपे षड्जीवनिकायस्वरूपं निरवशेषविशेषपुरस्सरं श्रवणमननादिना परिज्ञाविषयीकृत्य निर्णीतं, सोऽहं ब्रवीमि=श्रुतं यथा भगवन्मुखात्, तथा कथयामीत्यर्थः।

लोकम्=अग्निकायलोकम्, प्रकरणसम्बन्धादिह लोकशब्देनाग्निकायलोकस्य ग्रहणम्। स्वयम्=आत्मना, नैव अभ्याख्यायात्=नैवापह्नुवीत। 'अग्निकायजीवा न सन्ती'त्येवमग्निकायजीवस्यापलापं नैव कुर्यादित्यर्थः। स्वयमित्यनेनाग्निकायजीवापलपनकर्मणा स्वमात्मानं नैव बध्नीयादित्यर्थो बोध्यते।

टीकार्थ—गुरुकुल में निवास करते हुए मैंने भगवान के मुख से षट्काय का समस्त विशेषों से युक्त जो स्वरूप श्रवण मनन आदि से परिज्ञा का विषय कर के निर्णीत किया है, उसे मैं कहता हूँ। अर्थात् जैसा भगवान् के मुखारविन्द से सुना है वैसा ही कहता हूँ।

अग्निकाय का प्रकरण होने के कारण यहाँ 'लोक' का अर्थ अग्निकायरूप लोक समझना चाहिए। इस अग्निकाय का स्वयं अपलाप न करे अर्थात् यह न कहे कि—अग्निकाय के जीव नहीं है। स्वयं शब्द से यह अर्थ प्रकट होता है कि अग्निकाय के अपलापरूप कर्म से अपने आप को बद्ध न करे।

ટીકાર્થ—ગુરુકુલમાં નિવાસ કરીને મેં ભગવાનના મુખથી ષટ્કાયના સમસ્ત વિશેષોથી યુક્ત જે સ્વરૂપને શ્રવણ-મનન આદિથી પરિજ્ઞાનો વિષય કરીને નિર્ણીત કર્યું તે હું કહું છું. અર્થાત્ જે પ્રમાણે ભગવાનના મુખારવિંદથી સાંભળ્યું છે તેવુંજ હું કહું છું.

અગ્નિકાયનું પ્રકરણ હોવાના કારણે અહિં 'લોક' નો અર્થ અગ્નિકાયરૂપ લોક સમજવો જોઈએ. આ અગ્નિકાયનો સ્વયં અપલાપ કરે નહિ. અર્થાત્ એ પ્રમાણે કહે નહિ કે-અગ્નિકાયના જીવ નથી. 'સ્વયં' શબ્દથી એ અર્થ પ્રગટ થાય છે કે અગ્નિકાયના અપલાપરૂપ કર્મથી પોતે પોતાને બદ્ધ કરે નહિ.

अथ चतुर्थोद्देशः ।

अनन्तरतृतीयोद्देशके मुनित्वमाप्तयेऽप्कायस्य स्वरूपं निर्णीतं, तद्वधमेवाप्कायशस्त्रसमारम्भे ज्ञ-प्रत्याख्यान-भेदाद् द्विविधा परिज्ञाऽपि प्रवेदिता। अथैतदर्थमेव च क्रमप्राप्तमग्निकायं प्रतिबोधयितुकामश्चतुर्थमुद्देशकं प्रारभते । तत्रादौ 'तेजस्काया जीवा' सन्ती'ति निर्धारयितुमाद्यं सूत्रमाह-'से बेमि' इत्यादि ।

मूलम्—

से बेमि नेव सयं लोयं अब्भाइक्खेज्जा, नेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा, जे लोयं अब्भाइक्खइ, से अत्ताणं अब्भाइक्खइ। जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ, से लोयं अब्भाइक्खइ ॥ सू० १ ॥

चौथा उद्देशक—

पिछले तीसरे उद्देशक में साधुता की प्राप्ति के लिए अप्काय के स्वरूप का निर्णय किया, और अप्कायशस्त्र का उपयोग करने में ज्ञपरिज्ञा तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञा भी बतलाई। अब उसी साधुता की प्राप्ति के लिए क्रमप्राप्त अग्निकाय का स्वरूप समझाते हुए चौथा उद्देशक आरंभ करते हैं। सर्वप्रथम तेजस्काय के जीवों का अस्तित्व निश्चित करने के लिए सूत्र कहते हैं—'से बेमि' इत्यादि।

मूलार्थ—भगवान् के समीप जैसा सुना है वैसा कहता हूं। स्वयं अग्निकायरूप लोक का अपलाप न करे। न आत्माका अपलाप करे। जो अग्निकाय का अपलाप करता है वह आत्मा का अपलाप करता है, जो आत्मा का अपलाप करता है वह अग्निकाय का अपलाप करता है ॥ सू० १ ॥

ચોથા ઉદ્દેશક—

પાછળના ત્રીજા ઉદ્દેશકમા સાધુતાની પ્રાપ્તિ માટે અપ્કાયનો નિર્ણય કર્યો અને અપ્કાય શસ્ત્રનો ઉપયોગ કરવામાં જ્ઞપરિજ્ઞા તથા પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા પણ બતાવી હવે તે સાધુતાની પ્રાપ્તિ માટે ક્રમપ્રાપ્ત અગ્નિકાયનું સ્વરૂપ સમજાવતા થકા-ચોથા ઉદ્દેશકનો આરંભ કરે છે સર્વ પ્રથમ તેજસ્કાયના જીવોનું અસ્તિત્વ નિશ્ચય કરવા માટે સૂત્ર કહે છે-'સે બેમિ' ઈત્યાદિ.

મૂલાર્થ—ભગવાનની સમીપ જેવું સાંભળ્યુ છે, તેવું કહું છુ સ્વય અગ્નિકાય રૂપ લોકનો અપલાપ કરે નહિ; અને આત્માનો અપલાપ પણ કરે નહિ. જે અગ્નિ કાયનો અપલાપ કરે છે, તે આત્માનો અપલાપ કરે છે જે આત્માનો અપલાપ કરે છે તે અગ્નિકાયનો અપલાપ કરે છે (સૂ. ૧)

लक्षणद्वारम्—

ननु तेजस्कायजीवाः सन्तीत्यत्र किं मानम्? उच्यते-अङ्गारादयो जीवशरीराणि, छेद्यत्वाद्, दृश्यत्वाद्, करचरणादिसमुदायवत्।

अङ्गारादीनां प्रकाशपरिणाम आत्मप्रयोगाविर्भूतः शरीरस्थत्वात्, खद्योतदेहपरिणामवत्। यथा-रजन्यादौ विशिष्टकाले प्राणिविशेषस्य खद्योतस्य देहपरिणामो जीवप्रयोगविशेषाद् भवति, एवमङ्गारादीनामपि प्रकाशपरिणामः।

यद्वा-अङ्गारादीनामूष्मा आत्मसम्प्रयोगपूर्वकः, शरीरस्थत्वात्, ज्वरोष्मवत्।

लक्षणद्वार—

शङ्का—तेजस्काय के जीवों के अस्तित्व में क्या प्रमाण है?

समाधान—अंगार आदि, जीव के शरीर है, क्यों कि वह छेद्य हैं, भेद्य हैं और दृश्य है, जैसे हाथ-पैर आदि का समूह।

अथवा—अंगार आदि की प्रकाशरूप पर्याय, आत्मा के प्रयोग से उत्पन्न हुई है, क्यों कि वह शरीर में स्थित है, जैसे-जुगनू के शरीर की पर्याय, जैसे रात्रि वगैरह खास समय में जुगनू नामका प्राणी का शरीरपरिणाम (चमकना) जीव के प्रयोग से प्रकट होता है, उसी प्रकार अंगार आदि का प्रकाशरूप परिणाम भी आत्मा के व्यापार से ही उत्पन्न होता है।

अथवा—अंगार आदि की गर्मी आत्मा के व्यापार से उत्पन्न होती है, क्यों कि वह शरीर में है, जैसे ज्वर की गर्मी ज्वर की गर्मी जीव से युक्त शरीर में ही उत्पन्न होती है,

લક્ષણદ્વાર—

શંકા—તેજસ્કાયના જીવોના અસ્તિત્વ (હોવાપણું)માં શું પ્રમાણ છે?

સમાધાન—અંગાર આદિ જીવના શરીર છે કેમકે તે છેદ્ય છે, ભેદ્ય છે, અને દૃશ્ય છે જેમકે હાથ, પગ આદિનો સમૂહ

અથવા—અંગાર આદિની પ્રકાશરૂપ પર્યાય આત્માના પ્રયોગથી ઉત્પન્ન થઈ છે, કારણકે તે શરીરમાં સ્થિત છે જેવી રીતે-જુગનૂ (આગિયો નામના પ્રાણી)ના શરીરની પર્યાય. જેમ રાત્રી વગેરે ખાસ સમયમાં જુગનૂ (આગીઓ) નામક પ્રાણીનો શરીર-પરિણામ (ચમકવું) જીવના પ્રયોગથી પ્રગટ થાય છે તે પ્રમાણે અંગાર આદિના પ્રકાશરૂપ પરિણામ પણ આત્માના વ્યાપારથીજ ઉત્પન્ન થાય છે

અથવા—અંગાર આદિની ગરમી આત્માના વ્યાપારથી ઉત્પન્ન થાય છે કારણકે તે શરીરમાં છે જેમકે જ્વર-તાવની ગરમી જ્વર-તાવની ગરમી જીવથી યુક્ત શરીરમાંજ

अयं भावः—कृतकारितानुमोदितभेदेन, मनोवाक्कायभेदेन, तथाऽतीतानागतवर्तमान भेदेन च प्रत्येकक्रियायाः सप्तविंशतिभेदा भवन्ति; एवमस्या अपि तेजस्काय जीवाभ्याख्यानरूपक्रियाया एकस्या एव सप्तविंशतिभेदा भवितुमर्हन्ति। तत्र कस्याञ्चिदपि क्रियायां स्वात्मानं न नियुञ्ज्यादिति। उपपद्यतेऽप्ययमर्थः, अन्यथा हि स्वयंकृतस्यैवाभ्याख्यानस्य प्रतिषेधे कारितानुमोदितरूपाणां तेजस्कायजीवाभ्याख्यानरूपक्रियाणां प्रतिषेधाभावः प्रसज्येत। ततश्च ताद्दशाभ्याख्यानं पापाय न स्यात्। तथाचोत्सूत्रप्ररूपणापत्तिः।

तात्पर्य यह है—प्रत्येक के कृत, कारित, अनुमोदना, मन, वचन काय, और अतीत, अनागत, वर्तमान के भेद से (इनका परस्पर गुणाकार करने से) सत्ताईस भेद होते हैं। इसीप्रकार इस तेजस्काय का अपलापरूप क्रिया के भी सत्ताइस भेद हो सकते हैं। इन भेदों से किसी भी भेद में आत्मा को जोडना न चाहिए। अगर ऐसा अर्थ न लगाया जाता तो यह भी समझ लिया जाता कि—अग्निकाय का स्वयं अपलाप न करे, मगर अपलाप कराने और अनुमोदन करने की क्रियाओं का निषेध नहीं है। ऐसा अर्थ संगत नहीं है, क्यों कि ऐसा अर्थ करने से केवल स्वयंकृत अपलापका ही प्रतिषेध होगा, किन्तु कारित और अनुमोदित अपलापका प्रतिषेध नहीं होगा और इस प्रकार का अपलाप पाप का कारण न होगा। फिर तो सूत्र के विरुद्ध प्ररूपणा का दोष आएगा।

તાત્પર્ય એ છે—પ્રત્યેક ક્રિયાના કરવું-કરાવવું અને અનુમોદના, મન, વચન, કાયા અને ભૂતકાલ, ભવિષ્યકાલ તથા વર્તમાન કાલના ભેદથી (એનો પરસ્પર ગુણાકાર કરવાથી) સત્યાવીસ ભેદ થાય છે એ પ્રમાણે આ તેજસ્કાયના અપલાપરૂપ ક્રિયાના પણ સત્યાવીસ ભેદ થઈ શકે છે એ ભેદોમાંથી કોઈ પણ ભેદમા આત્માને જોડવો જોઈએ નહિ; પરન્તુ એ પ્રમાણે અર્થ કરવામા ન આવે તો એ પણ સમજી લેવામાં આવત કે, અગ્નિકાયનો સ્વયં અપલાપ કરે નહિ પરન્તુ અપલાપ કરાવવાની અને અનુમોદન કરવાની ક્રિયાઓનો નિષેધ નથી આ પ્રકારનો અર્થ સંગત નથી, કેમકે—આનો અર્થ કરવાથી કેવળ સ્વયંકૃત અપલાપનોજ નિષેધ થશે. કિન્તુ કારિત અને અનુમોદિત અપલાપનો નિષેધ થશે નહિ, અને એ પ્રકારનો અપલાપ પાપનું કારણ ન થાય, પછી તો સૂત્રના વિરુદ્ધ પ્રરૂપણાનો દોષ આવશે.

लक्षणद्वारम्—

ननु तेजस्कायजीवा' सन्तीत्यत्र किं मानम्? उच्यते-अङ्गारादयो जीवशरीराणि, छेद्यत्वाद्, दृश्यत्वाद्, करचरणादिसमुदायवत्।

अङ्गारादीनां प्रकाशपरिणाम' आत्मप्रयोगाविर्भूत शरीरस्थत्वात्, खद्योतदेहपरिणामवत्। यथा-रजन्यादौ विशिष्टकाले प्राणिविशेषस्य खद्योतस्य देहपरिणामो जीवप्रयोगविशेषाद् भवति, एवमङ्गारादीनामपि प्रकाशपरिणामः।

यद्वा-अङ्गारादीनामूष्मा आत्मसमयोगपूर्वक, शरीरस्थत्वात्, ज्वरोष्मवत्।

लक्षणद्वार—

शङ्का—तेजस्काय के जीवों के अस्तित्व में क्या प्रमाण है?

समाधान—अंगार आदि, जीव के शरीर हैं, क्यों कि वह छेद्य हैं, भेद्य हैं और दृश्य हैं, जैसे हाथ-पैर आदि का समूह।

अथवा—अंगार आदि की प्रकाशरूप पर्याय, आत्मा के प्रयोग से उत्पन्न हुई है, क्यों कि वह शरीर में स्थित है, जैसे-जुगनू के शरीर की पर्याय, जैसे रात्रि वगैरह खास समय में जुगनू नामका प्राणी का शरीरपरिणाम (चमकना) जीव के प्रयोग से प्रकट होता है, उसी प्रकार अंगार आदि का प्रकाशरूप परिणाम भी आत्मा के व्यापार से ही उत्पन्न होता है।

अथवा—अंगार आदि की गर्मी आत्मा के व्यापार से उत्पन्न होती है, क्यों कि वह शरीर में है, जैसे ज्वर की गर्मी ज्वर की गर्मी जीव से युक्त शरीर में ही उत्पन्न होती है,

લક્ષણદ્વાર—

શંકા—તેજસ્કાયના જીવોના અસ્તિત્વ (હોવાપણુ)મા શું પ્રમાણ છે?

સમાધાન—અંગાર આદિ જીવના શરીર છે કેમકે તે છેદ્ય છે, ભેદ્ય છે, અને દૃશ્ય છે જેમકે હાથ, પગ આદિનો સમૂહ

અથવા—અંગાર આદિની પ્રકાશરૂપ પર્યાય આત્માના પ્રયોગથી ઉત્પન્ન થઈ છે; કારણકે તે શરીરમા સ્થિત છે જેવી રીતે-જુગનૂ (આગિયો નામના પ્રાણી)ના શરીરની પર્યાય. જેમ રાત્રી વગેરે ખાસ સમયમા જુગનૂ (આગીઓ) નામક પ્રાણીનો શરીર-પરિણામ (ચમકવું) જીવના પ્રયોગથી પ્રગટ થાય છે તે પ્રમાણે અંગાર આદિના પ્રકાશરૂપ પરિણામ પણ આત્માના વ્યાપારથીજ ઉત્પન્ન થાય છે

અથવા—અંગાર આદિની ગરમી આત્માના વ્યાપારથી ઉત્પન્ન થાય છે કારણકે તે શરીરમાં છે જેમકે જ્વર-તાવની ગરમી જ્વર-તાવની ગરમી જીવથી યુક્ત શરીરમાંજ

यथा—ज्वरोष्मा जीवाधिष्ठितशरीरमेवाश्रित्य भवति, जीवसंयोग नातिक्रामति। न च मृता ज्वरिणः क्वचिदुपलभ्यन्ते। एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामग्नेः सचित्तता विज्ञेया। न च सूर्यादिभिरनेकान्तो वाच्यः, सर्वेषामात्मसंयोगपूर्वक एवोष्म परिणामो भवति, तस्मादनेकान्तो न समयति।

यद्वा—तेजः सचेतनम्, यथायोग्याहारग्रहणेन वृद्धिविशेषतद्विकारवत्त्वात्, पुरुषवत्। एवमुक्तलक्षणेन तेजस्कायजीवाः सन्तीति विज्ञायते।

यद्वा—अव्यक्तोपयोगादीनि कषायपर्यन्तानि जीवलक्षणानि पृथिव्यप्कायवत् तेजस्कायेऽपि समुपलभ्यन्ते। एवं च जीवलक्षणसद्भावात् तेजस्कायजीवाः सन्तीति निश्चीयते। आगमोऽपि यथा—

जीव के संयोग बिना उत्पन्न नहीं होती। मुर्देमें ज्वर कहीं नहीं देखा जाता। इस प्रकार अग्नि में अन्वय-व्यतिरेकद्वारा सचित्तता समझनी चाहिए। यहाँ सूर्य से हेतु में व्यभिचार नहीं है, क्यों कि सब में आत्मप्रयोगपूर्वक ही गर्मी हो सकती है, अतः व्यभिचार नहीं है।

अथवा—तेज सचेतन है, क्यों कि यथायोग्य आहार ग्रहण करने से उस में वृद्धिरूप विकार देखा जाता है, जैसे पुरुष में। इस प्रकार इस लक्षण से तेजस्काय के जीवों का अस्तित्व विदित होता है। अथवा अप्रकट उपयोग से लेकर कषायपर्यन्त जीव के लक्षण जैसे पृथ्वीकाय और अप्काय में पाये जाते हैं, उसी प्रकार तेजस्काय में भी पाये जाते हैं। इस प्रकार जीव के लक्षण पाये जाने के कारण तेजस्काय के जीवों का अस्तित्व निश्चित होता है। इसमें आगम प्रमाण भी है—

ઉત્પન્ન થાય છે જીવના સંયોગ વિના ઉત્પન્ન થતી નથી મુડદામાં જ્વર-તાવ કોઈ સ્થળે જોવામાં આવતો નથી, આ પ્રમાણે અગ્નિમા અન્વય-વ્યતિરેકદ્વારા સચિત્તતા સમજવી જોઈએ. અહિં સૂર્યથી હેતુમાં વ્યભિચાર નથી. કેમકે સર્વમાં આત્મપૂર્વકજ ગરમી હોઈ શકે છે, એટલા કારણથી વ્યભિચાર નથી.

અથવા—તેજ સચેતન છે. કેમકે યથાયોગ્ય આહાર ગ્રહણ કરવાથી તેનામા વૃદ્ધિરૂપ વિકાર જોવામા આવે છે જેવી રીતે પુરુષમાં આ પ્રકારે જીવના લક્ષણ મળવાથી તેજસ્કાયના જીવોનું અસ્તિત્વ જાણવામા આવે છે

અથવા—અપ્રગટ ઉપયોગથી લઈને કષાયપર્યન્ત જીવના લક્ષણ જોવામાં આવે છે. તે કારણે તેજસ્કાયના જીવોનુ અસ્તિત્વ નિશ્ચય હોય છે આમાં આગમ પ્રમાણ પણ છે—

" तेऊ चित्तमतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएण " इत्यादि। (दशवै० अ० ४)

प्ररूपणाद्वारम्-

अग्निकायजीवा द्विविधाः, सूक्ष्मबादरभेदात्। तत्र सूक्ष्मनामकर्मोदयात् सूक्ष्माः। बादरनामकर्मोदयाद् बादराः। तत्र सूक्ष्मा द्विधा, पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च। सूक्ष्माः सर्वलोकव्यापिनः। बादरास्तु लोकैकदेशे सन्ति।

बादरा अग्निकाया अनेकविधाः-अङ्गाराचिरलातशुद्धाग्न्यादयः। सर्वे बादरा अग्निकाया अपि द्विविधाः पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च। बादराणां यत्रैको जीवस्तत्रा-

---

" तेजस्काय सचित्त कहा गया है। उस में अनेक जीव हैं, उनका अस्तित्व अलग-अलग है, शस्त्रपरिणत अग्नि को छोड कर" इत्यादि। (दशवै० अध्य० ४)

प्ररूपणाद्वार—

अग्निकाय के जीव दो प्रकार के हैं-(१) सूक्ष्म और बादर, जिनके सूक्ष्म नामकर्म का उदय हो वे सूक्ष्म और जिनके बादर नामकर्म का उदय हो वे बादर जीव हैं। इनमें से सूक्ष्म के भी दो भेद हैं-पर्याप्त और अपर्याप्त। सूक्ष्म जीव समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं और बादर लोक के एक देश में हैं।

बादर अग्निकाय अनेक प्रकार के हैं। जैसे-अंगार, ज्वाला, अलात (जलता हुआ काष्ठ), शुद्ध अग्नि आदि। सब बादर अग्निकाय भी दो प्रकार के हैं-पर्याप्त

"તેજસ્કાય સચિત્ત કહેલું છે તેમાં અનેક જીવ છે, તેનુ અસ્તિત્વ અલગ-અલગ છે, શસ્ત્રપરિણત અગ્નિને છોડીને " ઇત્યાદિ (દશવૈ. અ. ૪)

પ્રરૂપણાદ્વાર—

અગ્નિકાયના જીવ બે પ્રકારના છે—(૧) સૂક્ષ્મ અને (૨) બાદર જેને સૂક્ષ્મ નામકર્મનો ઉદય હોય તે સૂક્ષ્મ અને જેને બાદર નામકર્મનો ઉદય હોય તે બાદર જીવ છે તેમાથી સૂક્ષ્મના પણ બે ભેદ છે પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્ત. સૂક્ષ્મ જીવ સમસ્ત લોકાકાશમાં વ્યાપ્ત છે અને બાદર લોકના એક દેશમાં છે

બાદર અગ્નિકાય અનેક પ્રકારના છે જેમકે-અંગાર, જ્વાલા, બળતુ લાકડુ, શુદ્ધ અગ્નિ વગેરે. સર્વ બાદર અગ્નિકાય પણ બે પ્રકારના છે—પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્ત,

सङ्ख्येयैर्नियमतो भाव्यम्। बादराणां स्वस्थानं मनुष्यक्षेत्रमेव, न ततः परमस्ति।

बादरास्तेजस्काया व्याघाताभावे सति मनुष्यक्षेत्रेऽर्धतृतीयद्वीपसमुद्रेषु पञ्चदशक्षेत्रेषु विद्यन्ते। युगलसमयरूपे व्याघाते सति तु पञ्चमहाविदेहेषु वर्तन्ते, नान्यत्र। उपपाताङ्गीकरणेन लोकसङ्ख्येयभागवर्तिनः सन्ति।

समुद्घातेन सर्वलोकवर्तिनः पृथिवीकायादयश्च मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहता बादराग्निषु समुत्पद्यमानास्तद्व्यपदेशभाजः सर्वलोकव्यापिनः सन्ति।

यत्र च बादराः पर्याप्तास्तत्र च बादरा अपर्याप्ताः, यतस्ते तन्निश्रयो

और अपर्याप्त। जहाँ एक बादर जीव होता है वहाँ नियम से असङ्ख्यात जीव होते हैं। बादर जीवों का क्षेत्र मनुष्यलोक ही है, उससे आगे नहीं।

बादर तेजस्काय व्याघात (अन्तर) न हो तो मनुष्य क्षेत्र में अढाई द्वीप समुद्रों में पन्द्रह क्षेत्रों में रहते हैं। युगलियों के समयरूप व्याघात (अन्तर) के होने पर पाँच महाविदेहों में रहते हैं, अन्यत्र नहीं। उपपात की अपेक्षा लोक के सङ्ख्यात भाग में रहते हैं।

समुद्घात की अपेक्षा—समस्तलोकव्यापी पृथ्वीकाय आदि, मारणान्तिक समुद्घात करके बादर अग्नि में उत्पन्न होते हुए उस–उस व्यपदेश (नाम) के पात्र हो कर सर्वलोकव्यापी हैं।

जहाँ बादर पर्याप्त हैं वहीं बादर अपर्याप्त हैं, क्यों कि—अपर्याप्त जीव

જ્યાં એક બાદર જીવ હોય છે ત્યાં નિયમથી અસંખ્યાત જીવ હોય છે બાદર જીવોનું ક્ષેત્ર મનુષ્ય લોકજ છે તેનાથી આગળ નથી

બાદર તેજસ્કાય, અન્તર ન હોય તો મનુષ્ય ક્ષેત્રમાં અઢી દ્વીપ–સમુદ્રોમાં, પંદર ક્ષેત્રોમાં રહે છે યુગલિઆઓના સમયરૂપ અંતર હોવા પર પાંચ મહાવિદેહોમાં રહે છે, અન્યત્ર નહિ. ઉપપાતની અપેક્ષા લોકના સંખ્યાત ભાગમાં રહે છે

સમુદ્ઘાતની અપેક્ષા સમસ્તલોકવ્યાપી પૃથ્વીકાય આદિ મારણાન્તિક સમુદ્ઘાત કરીને બાદર અગ્નિમાં ઉત્પન્ન થઈને તે–તે વ્યપદેશ–(નામ)ને પાત્ર થઈને સર્વ લોકવ્યાપી છે

જ્યાં બાદર પર્યાપ્ત છે ત્યાંજ બાદર અપર્યાપ્ત છે કેમકે—અપર્યાપ્ત જીવ પર્યાપ્તના

त्पद्यन्ते, तस्मात् सूक्ष्मा बादराश्च प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तभेदेन द्विविधा भवन्ति। सर्वे चैते वर्णगन्धरसस्पर्शभेदैः सहस्राग्रशो भिद्यमानाः संख्येययोनिप्रमुखशतसहस्रभेदपरिमाणा भवन्ति। तेषां संवृतोष्णा च योनिः सचित्ताचित्तमिश्रभेदेन त्रिधा। एषां सप्त लक्षाणि योनयो भवन्ति।

सूक्ष्मबादराणामुभयेषामग्निकायानां शरीरसंस्थानं सूचीकलापाकृतिकम्, अन्ये शरीरत्रयादिभेदाः पृथिवीकायवत्। उभयेऽग्निकायाः प्रत्येकमसंख्येयाश्च।

पर्याप्त के आश्रय ही उत्पन्न होते हैं। अत सूक्ष्म और बादर, प्रत्येक के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो भेद हैं और वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श के भेद से हजारों भेदों को प्राप्त होते हुए इनकी संख्येय योनि वगैरह भेदों की सख्या लाखों की हो जाती है।

इनकी योनि संवृत और उष्ण है। वह भी सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार की है। इनकी सात लाख योनियाँ हैं।

सूक्ष्म और बादर—दोनों प्रकार के अग्निकाय जीवों के शरीर का आकार सुइयों के समूह की तरह है। शरीरत्रय आदि अन्य भेद पृथ्वीकाय के समान हैं। दोनों प्रकार के अग्निकाय असंख्यात–असख्यात हैं।

આશ્રયેજ ઉત્પન્ન થાય છે એ કારણથી સૂક્ષ્મ અને બાદર પ્રત્યેકના પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્તના ભેદથી બે ભેદ છે અને વર્ણ, ગંધ, રસ અને સ્પર્શના ભેદથી હજારો ભેદો પામતા થકા એની સંખ્યેય યોનિ વગેરે ભેદોની સંખ્યા લાખો થઈ જાય છે

તેની યોનિ સંવૃત અને ઉષ્ણ છે, તે પણ સચિત્ત, અચિત્ત અને મિશ્રના ભેદથી ત્રણ પ્રકારની છે એની સાત લાખ યોનિઓ છે

સૂક્ષ્મ અને બાદર બન્ને પ્રકારના અગ્નિકાય જીવોના શરીરનો આકાર સોયના સમૂહની પ્રમાણે છે શરીરત્રય (ત્રણ શરીર) આદિ અન્ય ભેદ પૃથ્વીકાયની સમાન છે બન્ને પ્રકારના અગ્નિકાય અસંખ્યાત–અસંખ્યાત છે

परिमाणद्वारम्—

बादरपर्याप्तास्तेजस्कायजीवा' क्षेत्रपल्योपमस्याऽसंख्येयभागमात्रवर्तिप्रदेशराशिपरिमाणा सन्ति। तदपेक्षया बादरा अपर्याप्तास्तेजस्कायजीवा असख्यातगुणा' तदपेक्षया सूक्ष्मा अपर्याप्तास्तेजस्काया असख्यातगुणाः, तदपेक्षया सूक्ष्माः पर्याप्तास्तेजस्काया असख्यातगुणा सन्ति। पृथिवीकायेन सहाग्निकायस्य परिमाणसमालोचनायां त्वेवमवधेयम्—

ये तेजस्काया बादरपर्याप्ताः क्षेत्रपल्योपमासख्येयभागमात्रवर्तिप्रदेशराशिपरिमाणाः सन्ति, ते बादरपर्याप्तेभ्यः पृथिवीकायेभ्योऽसख्यातगुणहीनाः। शेषास्त्रयोऽपि राशयः पृथिवीकायवद् विज्ञेया'। तत्राय विशेष'—

परिमाणद्वार—

बादर पर्याप्त तेजस्काय के जीव क्षेत्रपल्योपम के असख्यातवें भागवर्ती प्रदेशों की राशि के बराबर हैं। बादर अपर्याप्त तेजस्काय जीव उनसे असख्यात गुणा हैं, सूक्ष्म अपर्याप्त इनसे भी असख्यात गुणा हैं, और सूक्ष्म पर्याप्त इन से भी असख्यात गुणा हैं। पृथ्वीकाय के साथ अग्निकाय के परिमाण का विचार किया जाय तो इस प्रकार है—

तेजस्काय के जो बादर पर्याप्त जीव क्षेत्रपल्योपम के असख्यातवें भागवर्ती प्रदेशों के बराबर हैं, वे बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय के जीवों से असख्यातगुणा हीन हैं। शेष तीनों राशियाँ पृथ्वीकाय के समान ही समझ लेनी चाहिए। विशेषता सिर्फ इतनी है—

પરિમાણ દ્વાર—

બાદર પર્યાપ્ત તેજસ્કાયના જીવ ક્ષેત્ર-પલ્યોપમના અસખ્યાતમા ભાગવર્તી પ્રદેશોની રાશિના બરાબર છે બાદર અપર્યાપ્ત-તેજસ્કાય જીવ તેનાથી અસખ્યાત ગુણા છે સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત તેનાથી પણ અસખ્યાત ગુણા છે અને સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત તેનાથી પણ અસખ્યાત ગુણા છે પૃથ્વીકાયની સાથે અગ્નિકાયના પરિમાણનો વિચાર કરવામાં આવે તો આ પ્રકારે છે—

તેજસ્કાયના જે બાદર પર્યાપ્ત જીવ ક્ષેત્રપલ્યોપમના અસખ્યાતમા ભાગવર્તી પ્રદેશોની બરાબર છે; તે બાદર પર્યાપ્ત પૃથ્વીકાયના જીવોથી અસખ્યાત ગુણા હીન છે બાકીની ત્રણેય રાશિઓ પૃથ્વીકાયની સમાનજ સમજી લેવી જોઇએ, વિશેષતા માત્ર એટલી છે કે—

बादरापर्याप्तेभ्य पृथिवीकायेभ्यो बादरा अपर्याप्तास्तेजस्काया असंख्यातगुणहीनाः, सूक्ष्माऽपर्याप्तपृथिवीकायेभ्य सूक्ष्मा अपर्याप्तास्तेजस्काया विशेषहीना। सूक्ष्मपर्याप्तपृथिवीकायेभ्य सूक्ष्मा पर्याप्तास्तेजस्काया विशेषहीना इति।

एवं युक्त्यागमप्रमाणाभ्यामग्नेर्जीवत्वे सिद्धे यदि कश्चिदग्निकाय जीवस्याभ्याख्यान कुर्यात्, तर्हि उपयोगादिलक्षणैरनुमितस्य शरीराधिष्ठातुरात्मतोऽप्यभ्याख्यान तेन कर्तव्य स्यात्, परन्तु तन्न उचित भवतीत्यत आह-"नैवाऽऽत्मानमभ्याख्याया"-दिति। केनचिदात्मना शरीरमिद, परिगृहीत, केनचिच्च शरीरमिद परित्यक्तमिति प्रत्यक्षदर्शनादात्मनः शरीराधिष्ठातृत्व सिध्यति।

बादर अपर्याप्त पृथ्वीकाय के जीवों से बादर अपर्याप्त तेजस्काय के जीव असंख्यातगुणा कम हैं। सूक्ष्म पर्याप्त पृथ्वीकाय के जीवों से सूक्ष्म अपर्याप्त तेजस्काय के जीव विशेष हीन हैं। सूक्ष्म पर्याप्त पृथ्वीकाय के जीवों से सूक्ष्म पर्याप्त तेजस्काय के जीव विशेष हीन हैं।

इस प्रकार युक्ति और आगमप्रमाण से अग्नि की सजीवता सिद्ध हो जाने पर भी यदि कोई अग्निकाय के जीवों का अपलाप करता है तो वह उपयोग आदि लक्षणों से अनुमान किये जाने वाले और शरीर के अधिष्ठाता आत्मा का अपलाप करता है, मगर ऐसा करना उचित नहीं है, अतः सूत्रकार कहते हैं-' आत्मा का अपलाप न करे '। किसी आत्माने यह शरीर ग्रहण किया है और किसी ने शरीर का त्याग किया है, यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है। इस से यह सिद्ध हो जाता है कि शरीर, आत्मद्वारा अधिष्ठित है।

બાદર અપર્યાપ્ત પૃથ્વીકાયના જીવોથી બાદર અપર્યાપ્ત તેજસ્કાયના જીવ અસંખ્યાત ગુણા ઓછા છે સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત પૃથ્વીકાયના જીવોથી સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત તેજસ્કાયના જીવ વિશેષહીન છે સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત પૃથ્વીકાયના જીવોથી સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત તેજસ્કાયના જીવ વિશેષહીન છે-વિશેષ ઓછા છે

આ પ્રમાણે યુક્તિ અને આગમપ્રમાણથી અગ્નિની સજીવતા સિદ્ધ થઈ જવા છતાંય પણ જો કોઈ અગ્નિકાયના જીવોનો અપલાપ કરે છે તો તે ઉપયોગ લક્ષણોથી અનુમાન કરવામા આવેલા અને શરીરના અધિષ્ઠાતા આત્માનો અપલાપ કરે છે પરન્તુ એ પ્રમાણે કરવું તે ઉચિત નથી તેથી સૂત્રકાર કહે છે-' આત્માનો અપલાપ ન કરો.' કોઈ આત્માએ આ શરીર ગ્રહણ કર્યું છે, અને કોઈએ શરીરનો ત્યાગ કર્યો છે, એ વાત પ્રત્યક્ષ જોવામાં આવે છે તેથી એ સિદ્ધ થાય છે કે શરીર આત્માદ્વારા અધિષ્ઠિત છે,

परिमाणद्वारम्—

बादरपर्याप्तास्तेजस्कायजीवा क्षेत्रपल्योपमस्याऽसंख्येयभागमात्रवर्तिप्रदेशराशिपरिमाणा सन्ति। तदपेक्षया बादरा अपर्याप्तास्तेजस्कायजीवा असंख्यातगुणाः तदपेक्षया सूक्ष्मा अपर्याप्तास्तेजस्काया असंख्यातगुणाः, तदपेक्षया सूक्ष्माः पर्याप्तास्तेजस्काया असंख्यातगुणाः सन्ति। पृथिवीकायेन सहाग्निकायस्य परिमाणसमालोचनायां त्वेवमवधेयम्—

ये तेजस्काया बादरपर्याप्ताः क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागमात्रवर्तिप्रदेशराशिपरिमाणाः सन्ति, ते बादरपर्याप्तेभ्यः पृथिवीकायेभ्योऽसंख्यातगुणहीनाः। शेषास्त्रयोऽपि राशयः पृथिवीकायवद् विज्ञेयाः। तत्राय विशेषः—

परिमाणद्वार—

बादर पर्याप्त तेजस्काय के जीव क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भागवर्ती प्रदेशों की राशि के बराबर हैं। बादर अपर्याप्त तेजस्काय जीव उनसे असंख्यात गुणा हैं, सूक्ष्म अपर्याप्त इनसे भी असंख्यात गुणा हैं, और सूक्ष्म पर्याप्त इन से भी असंख्यात गुणा हैं। पृथ्वीकाय के साथ अग्निकाय के परिमाण का विचार किया जाय तो इस प्रकार है—

तेजस्काय के जो बादर पर्याप्त जीव क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भागवर्ती प्रदेशों के बराबर हैं, वे बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय के जीवों से असंख्यातगुणा हीन हैं। शेष तीनों राशियाँ पृथ्वीकाय से समान ही समझ लेनी चाहिए। विशेषता सिर्फ इतनी है—

પરિમાણ દ્વાર—

બાદર પર્યાપ્ત તેજસ્કાયના જીવ ક્ષેત્ર-પલ્યોપમના અસંખ્યાતમા ભાગવર્તી પ્રદેશોની રાશિના બરાબર છે બાદર અપર્યાપ્ત-તેજસ્કાય જીવ તેનાથી અસંખ્યાત ગુણા છે સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત તેનાથી પણ અસંખ્યાત ગુણા છે અને સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત તેનાથી પણ અસંખ્યાત ગુણા છે પૃથ્વીકાયની સાથે અગ્નિકાયના પરિમાણનો વિચાર કરવામાં આવે તો આ પ્રકારે છે—

તેજસ્કાયના જે બાદર પર્યાપ્ત જીવ ક્ષેત્રપલ્યોપમના અસંખ્યાતમા ભાગવર્તી પ્રદેશોની બરાબર છે, તે બાદર પર્યાપ્ત પૃથ્વીકાયના જીવોથી અસંખ્યાત ગુણા હીન છે બાકીની ત્રણેય રાશિઓ પૃથ્વીકાયની સમાનજ સમજી લેવી જોઈએ, વિશેષતા માત્ર એટલી છે કે—

त्यपलपने प्रवर्त्तते, स मूढ लोकम्=अग्निकायलोकम् अभ्याख्याति= 'अग्निकायजीवो नास्ती'-त्यपलपति। अय भाव.-सामान्यरूपेणात्मन सिद्धौ सत्यामेव हि तस्यात्मनो भेदा. पृथिवीकायादयः सिध्यन्ति, नान्यथा। सामान्यात्मनोऽभ्याख्याने प्रवृत्तः साहसिक. पृथिवीकायादेर्विशेषात्मनोऽभ्याख्यानं सुतरां कर्तुमर्हतीति।

अपि चाय भाव.-करचरणाद्यवयवयुक्तशरीराधिष्ठाता सुव्यक्तोपयोगादि-लक्षणः स्वात्माऽपि येनाभ्याख्यात', तस्याव्यक्तोपयोगादिलक्षणाग्निकायाभ्याख्यान किं नु दुष्कर ?-मिति ॥ सू० १ ॥

'अग्निकाय नहीं है' इस प्रकार अग्निकाय का निषेध करता है।

तात्पर्य यह है कि-सामान्यरूप से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होने पर ही उसके पृथ्वीकाय आदि भेद सिद्ध हो सकते हैं अन्यथा नहीं। जो साहसी पुरुष सामान्य आत्मा का ही निषेध करने को तैयार हो गया वह पृथ्वीकाय आदि विशेष आत्माओं का निषेध करे, यह तो स्वाभाविक ही है।

इससे यह भी आशय निकलता है-हाथ-पैर आदि अवयवों से युक्त शरीर के अधिष्ठाता और भलीभाँति प्रकट उपयोग आदि लक्षणों वाले अपने आत्मा का भी जिसने निषेध कर दिया उसके लिए अप्रकट उपयोग आदि लक्षणों वाले अग्निकाय का निषेध करना कौन बड़ी बात है'॥ सू० १ ॥

નથી' આ પ્રમાણે અગ્નિકાયનો નિષેધ કરે છે

તાત્પર્ય એ છે કે-સામાન્યરૂપથી આત્માનું અસ્તિત્વ સિદ્ધ થવાથી જ તેના પૃથ્વીકાય આદિ ભેદ સિદ્ધ થઈ શકે છે, અન્યથા-બીજી રીતે નહિ જે સાહસી પુરુષ સામાન્ય આત્માનો જ નિષેધ કરવા માટે તૈયાર થઈ ગયા તે પૃથ્વીકાય આદિ વિશેષ આત્માઓનો નિષેધ કરે એ તો સ્વાભાવિકજ છે

એમાંથી એ પણ આશય નિકળે છે કે-હાથ-પગ આદિ અવયવોથી યુક્ત શરીરના અધિષ્ઠાતા ને સારી રીતે પ્રગટ ઉપયોગ આદિ લક્ષણોવાળા પોતાના આત્માનો પણ જેણે નિષેધ કરી દીધો તેને અપ્રગટ ઉપયોગ આદિ લક્ષણોવાળા અગ્નિકાયનો નિષેધ કરવો તે શું મોટી વાત છે? (સૂ. ૧)

एवं च युक्त्यागमससिद्ध शरीराधिष्ठाता ज्ञानादिगुणवानयमात्मा कथमपि नापलपितुं शक्य'। तस्मादात्मा नास्तीत्येवमभ्याख्यानमात्मनो न कुर्यादित्यर्थ'।

य' खलु मन्दधी', लोकम्=अग्निकायलोकम्, अभ्याख्याति, आत्मवत्सर्वप्रमाणससिद्धमप्यग्निकायलोक मस्याचष्टे—'अग्निकायजीवो नास्ती'ति, स आत्मानमभ्याख्याति=स मूढः खलु युक्त्यागमप्रमाणसंसिद्धमात्मानमपलपति 'आत्मा नास्ती'ति। सर्वप्रमाणससिद्धाग्निकायलोकाभ्याख्याने प्रवृत्तस्य सुकरमेवात्मनोऽभ्याख्यानम्, अग्निकायवदेवात्मन्यपि प्रमाणसत्तायास्तुल्यत्वादिति भावः।

य आत्मानमभ्याख्याति=यश्चात्मनोऽभ्याख्याने 'आत्मा नास्ती'

इस प्रकार युक्ति और आगम से सिद्ध शरीर के अधिष्ठाता तथा ज्ञान आदि गुणों वाले आत्मा का निषेध नहीं किया जा सकता। अत एव 'अत्मा नहीं है' इस प्रकार आत्मा का निषेध नहीं करना चाहिए।

जो मन्दबुद्धि पुरुष अग्निकायरूप लोक का जो आत्मा की भाँति समस्त प्रमाणों से सिद्ध है—निषेध करता है अर्थात् अग्निकाय के जीवों का निषेध करता है वह युक्ति और आगम से सिद्ध आत्मा का निषेध करता है। सब प्रमाणों से सिद्ध अग्निकाय लोक का अपलाप करने पर आत्मा का अपलाप करना सरल ही है, क्यों कि अग्निकाय और आत्मा के अस्तित्व में प्रमाणों का सद्भाव समान है।

जो मूर्ख 'आत्मा नहीं है' इस प्रकार आत्मा का निषेध करता है वह

આ પ્રમાણે યુક્તિ અને આગમથી સિદ્ધ, શરીરના અધિષ્ઠાતા તથા જ્ઞાન આદિ ગુણોવાળા આત્માનો નિષેધ કરી શકાતો નથી. એટલા માટે 'આત્મા નથી' આ પ્રમાણે આત્માનો નિષેધ કરી શકાતો નથી એટલા માટે 'આત્મા નથી' આ પ્રમાણે આત્માનો નિષેધ કરવો જોઈએ નહિ

જે મન્દબુદ્ધિ પુરુષ અગ્નિકાયરૂપ લોકનો કે જે આત્મા પ્રમાણે સમસ્ત પ્રમાણોથી સિદ્ધ છે તેનો, નિષેધ કરે છે, અર્થાત્ અગ્નિકાયના જીવોનો નિષેધ કરે છે, તે યુક્તિ અને આગમથી સિદ્ધ આત્માનો નિષેધ કરે છે સર્વ પ્રમાણોથી સિદ્ધ અગ્નિકાયલોકના અપલાપ કરવાથી આત્માનો અપલાપ કરવો તે સરલજ છે કેમકે અગ્નિકાય અને આત્માના અસ્તિત્વમા પ્રમાણોનો સદ્ભાવ સમાન છે

જે મૂર્ખ 'આત્મા નથી' આ પ્રમાણે આત્માનો નિષેધ કરે છે, તે 'અગ્નિકાય

ग्निस्तेषां शस्त्रं भवति। तस्य खेदज्ञ =खेदम्=उपमर्दनजन्यदुःखं जानातीति खेदज्ञः, स एव अशस्त्रस्य-अशस्त्र=संयमः, संयमो हि न व्यापादको भयदो वा कस्यापीत्यशस्त्रमुच्यते। तस्य खेदज्ञ =संयमभङ्गभयजनितदुःखानुभवकुशल। एवं संयमानुष्ठानादेव मुनित्वं लभ्यमिति भाव।

ननु-कथमिदं ज्ञायते दीर्घलोकशब्दार्थो वनस्पतिरिति? उच्यते-कायस्थितिकालेन, परिमाणेन, शरीरावगाहनया च वनस्पतिकायस्य अन्यैकेन्द्रियापेक्षया महत्त्वमस्ति। तथाहि-वनस्पतिकायस्य कायस्थितिकालोऽनन्तः, स चानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीरूप, तस्मिन्नसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ता भवन्ति, ते पुद्गलपरावर्त्ता आवलिकाया असंख्येये भागे यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणाः

करने के कारण अग्नि, वनस्पतिकाय का शस्त्र है। संयम से किसी की विराधना नहीं होती, न वह किसी को भयकारी है, अत एव संयम को अशस्त्र कहते हैं। संयम के भंग होने के भय से उत्पन्न होने वाला दुःख संयम का खेद कहलाता है। इस प्रकार संयम के पालन करने से ही मुनिपन होता है।

शङ्का—दीर्घलोक शब्द का अर्थ वनस्पति कैसे समझा जाय?

समाधान—कायस्थिति के समय, परिमाण और शरीर की अवगाहना से वनस्पतिकाय अन्य एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा महान् है। वनस्पतिकाय की कायस्थिति का काल अनन्त है, और वह अनन्त भी अनन्त उत्सर्पिणीरूप-अवसर्पिणीरूप है। उसमें असंख्यात पुद्गलपरावर्तन होते हैं। वे पुद्गलपरावर्तन आवलिका के असंख्यातवें भाग में

કારણથી અગ્નિ વનસ્પતિકાયનું શસ્ત્ર છે સંયમથી કોઈની પણ વિરાધના થતી નથી. તે કોઈને ભયકારી નથી. એ માટે સંયમને અશસ્ત્ર કહે છે સંયમનો ભંગ થવાના ભયથી ઉત્પન્ન થવાવાળું દુઃખ તે સંયમનો ખેદ કહેવાય છે આ પ્રમાણે સંયમનું પાલન કરવાથીજ મુનિપણું હોય છે

શંકા—દીર્ઘલોક શબ્દનો અર્થ વનસ્પતિ કેવી રીતે સમજી શકાય?

સમાધાન—કાયસ્થિતિના સમય, પરિમાણ અને શરીરની અવગાહનાથી વનસ્પતિકાય, અન્ય એકેન્દ્રિય જીવોની અપેક્ષાએ મહાન્ છે વનસ્પતિકાયની કાયસ્થિતિનો કાલ અનન્ત છે અને તે અનન્ત પણ અનન્ત ઉત્સર્પિણી—અવસર્પિણીરૂપ છે તેમાં અસંખ્યાત પુદ્ગલપરાવર્ત્તન થાય છે તે પુદ્ગલપરાવર્ત્તન આવલિકાના અસંખ્યાતમા

अयमग्निकायलोकः स्वात्मवन्नैव अभ्याख्येय इति प्रतिबोधितम्, इदानीमग्निकायजीवोपमर्दनाद् विनिवृत्त एव मुनिर्भवितुमर्हतीत्याह–'जे दीह०' इत्यादि ।

मूलम्—

जे दीहलोगसत्थस्स खेयन्ने, से असत्थस्स खेयन्ने, जे असत्थस्स खेयन्ने से दीहलोगसत्थस्स खेयन्ने ॥ सू० २ ॥

छाया—

यो दीर्घलोकशस्त्रस्य खेदज्ञ, सोऽशस्त्रस्य खेदज्ञ । योऽशस्त्रस्य खेदज्ञ, स दीर्घलोकशस्त्रस्य खेदज्ञः ॥ सू. २ ॥

टीका—

यो भव्य, दीर्घलोकशस्त्रस्य=दीर्घश्चासौ लोकश्च दीर्घलोकः=वनस्पतिः तस्य शस्त्रं दीर्घलोकशस्त्रम्=अग्नि । वनस्पतिकायस्य दाहकरणेन विनाशकतयाऽ-

अग्निकायलोक, आत्मा की तरह निषेध करने योग्य नहीं है, यह बतला दिया। अब बतलाते हैं कि–अग्निकाय के जीवों की हिंसा से निवृत्त होने वाला पुरुष ही मुनि होता है –'जे दीह०' इत्यादि ।

मूलार्थ—जो दीर्घलोक (वनस्पतिकाय) के शस्त्र (अग्निकाय) के दुःख को जानता है वही संयम के खेद को जानता है और जो संयम के खेद को जानता है वह दीर्घलोक के शस्त्र के खेद को जानता है ॥ सू० १ ॥

टीकार्थ—जो भव्य पुरुष दीर्घलोक अर्थात् वनस्पति के शस्त्र–अग्नि के दुःख को जानता है, वही अशस्त्र अर्थात् संयम के खेद को जानता है । वनस्पतिकाय की विराधना

અગ્નિકાયલોક, આત્માની પ્રમાણે નિષેધ કરવા યોગ્ય નથી, તે બતાવી આપ્યું છે હવે બતાવે છે કે–અગ્નિકાયના જીવોની હિંસાથી નિવૃત્ત થવાવાળા પુરુષજ મુનિ હોય છે.–'જે દીહ૦' ઈત્યાદિ

મૂલાર્થ—જે દીર્ઘલોક (વનસ્પતિકાય)ના શસ્ત્ર (અગ્નિકાય)ના દુઃખને જાણે છે, તેજ સંયમના ખેદને જાણે છે, અને જે સંયમના ખેદને જાણે છે તેજ દીર્ઘ લોકના શસ્ત્રના ખેદને જાણે છે (સૂ. ૨)

ટીકાર્થ—જે ભવ્ય પુરુષ દીર્ઘલોક અર્થાત્ વનસ્પતિનું શસ્ત્ર અગ્નિના દુઃખને જાણે છે, તેજ અશસ્ત્ર અર્થાત્ સંયમના ખેદને જાણે છે વનસ્પતિકાયની વિરાધના કરવાના

पल्लवानुसारी वायुरपि तत्र समान्यते, तदेव वनस्पतिशस्त्रीभूय दहनो बहुतर-जीवान्नाशयतीति सूचनाय भगवता दीर्घलोकशस्त्रशब्दः परिगृहीत इति ।

यद्वा—दीर्घलोक'=पृथिवीकायादि', पृथिव्यब्वायुवनस्पतिकायानां मवस्थितिर्यथाक्रम द्वाविंशति,-सप्त-त्रि-दश-वर्षसहस्रपरिमाणा, अग्निकायस्य तु त्रीण्येवाहोरात्राणि । यथा बादराग्निकायाः पर्याप्तका स्वल्पा सन्ति, अन्ये पृथिव्यादयः पर्याप्तका बहवः सन्ति, अतो दीर्घलोकः पृथिव्यादिस्तस्य शस्त्रम्=अग्निकाय । अग्निरुत्पाद्यमान' मज्वाल्यमानो वा पृथिव्यादिजीवसमूहं मणिहन्तीति तस्य शस्त्रत्वम् । उक्तञ्च—

पत्तों (कोपलों) का अनुसारी वायु भी वहाँ समव है । इस प्रकार अग्नि वनस्पति का शस्त्र हो कर बहुतेरे जीवों का विनाश करता है । यह सूचित करने के लिए भगवान् ने 'दीर्घलोकशस्त्र' शब्द का अग्नि के लिए प्रयोग किया है ।

अथवा—'दीर्घलोकका' अर्थ पृथ्वीकाय आदि है । पृथ्वीकाय, अप्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय की भवस्थिति क्रम से बाईस, सात, तीन और दश हजार वर्ष की है, मगर अग्निकाय की तीन रात्रि-दिन ही है । बादर अग्निकाय के पर्याप्त जीव स्वल्प हैं मगर पृथ्वी आदि के पर्याप्त जीव बहुत हैं । अत 'दीर्घलोक' शब्द से पृथ्वीकाय आदि का ग्रहण करना चाहिए और उनका शस्त्र अग्निकाय समझना चाहिए । अग्नि उत्पन्न होते ही और जलते ही पृथ्वी आदि के जीवों के समूह का घात करता है, अत वह पृथ्वी आदि का शस्त्र है । कहा भी है –

અને અત્યંત કોમલ પત્તા (કુંપળો)ના અનુસારી વાયુનો પણ ત્યાં સંભવ છે આ પ્રમાણે અગ્નિ, વનસ્પતિનું શસ્ત્ર બની ઘણાજ જીવોનો વિનાશ કરે છે આ હકીકત સૂચવવા માટે ભગવાને 'દીર્ઘલોકશસ્ત્ર' શબ્દનો અગ્નિ માટે પ્રયોગ કર્યો છે

અથવા—દીર્ઘલોકનો અર્થ પૃથ્વીકાય આદિ છે, પૃથ્વીકાય, અપ્કાય, વાયુકાય, અને વનસ્પતિકાયની ભવસ્થિતિ ક્રમથી બાવીસ, સાત, ત્રણ અને દસ હજાર વર્ષની છે પરન્તુ અગ્નિકાયની ત્રણ રાત્રિ-દિવસજ છે જેમકે—બાદર અગ્નિકાયના પર્યાપ્ત જીવ સ્વલ્પ છે પરન્તુ પૃથ્વી આદિના પર્યાપ્ત જીવ ઘણાજ છે એ માટે 'દીર્ઘલોક' શબ્દથી પૃથ્વીકાય આદિનું ગ્રહણ કરવું જોઈએ, અને તેનું શસ્ત્ર અગ્નિકાય સમજવું જોઈએ અગ્નિ ઉત્પન્ન થતાંજ અને બળવાની ક્રિયા થતાંજ પૃથ્વીઆદિના જીવોના સમૂહનો ઘાત કરે છે તેથી તે પૃથ્વી આદિનું શસ્ત્ર છે કહ્યું પણ છે કે—

सन्ति। एतावान् कालो वनस्पतिकाल इत्युच्यते। परिमाणतस्तु प्रत्युत्पन्नवनस्पतिकायिकानां निर्लेपना नास्ति।

शरीरावगाहनया च सातिरेकं योजनसहस्रम्। अतो वनस्पतिकायस्य दीर्घलोक इति व्यपदेशः। (प्रज्ञापना १८ पदे)

ननु प्रसिद्धमग्निशब्दं विहाय किमर्थमिह दीर्घलोकशस्त्रशब्दोपादानम्? उच्यते—वनस्पतिकायदहनप्रवृत्तोऽग्निकायो बहुतरप्राणिनां विनाशको भवति, वनस्पतिकाये बहुविधाः प्राणिनः कीट पिपीलिका भ्रमरमधुमक्षिकाकपोतादयो निवसन्ति, तरुकोटरेषु पृथिवीकायाश्च, अवश्यायरूपा अप्काया अपि, मृदुतर

जितने समय होते हैं उतने हैं, इतना काल वनस्पतिकाल कहलाता है। परिमाण से प्रत्युत्पन्न वनस्पतिकायिक जीवों की निर्लेपना नहीं है। इनके शरीर की अवगाहना कुछ अधिक एक हजार योजन है। इसी कारण वनस्पतिकाय को दीर्घलोक कहते हैं।

अब प्रश्न हो सकता है कि—प्रसिद्ध 'अग्नि' शब्द को छोड कर 'दीर्घलोकशस्त्र' शब्द का प्रयोग करने की क्या आवश्यकता थी?

इसका उत्तर यह है कि—वनस्पतिकाय को जलाने में प्रवृत्त अग्निकाय और भी बहुत से प्राणियों का विनाश करता है। वनस्पतिकाय के सहारे कीडे, चिउंटी, भौंरे, मधुमक्खी और कबूतर आदि बहुत से प्राणी निवास करते हैं। वृक्षों की खोतरों में पृथ्वीकाय के जीव भी होते हैं। ओसरूप अप्काय भी होता है, और अत्यन्त कोमल

આગમમાં જેટલા સમય થાય છે તેટલા છે એટલો કાળ તે વનસ્પતિકાળ કહેવાય છે પરિમાણથી પ્રત્યુત્પન્ન વનસ્પતિકાયિક જીવોની નિર્લેપના નથી. તેના શરીરની અવગાહના કંઈક અધિક એક હજાર યોજન છે આ કારણથી વનસ્પતિ કાયને 'દીર્ઘલોક' કહે છે.

હવે પ્રશ્ન થઈ શકે છે કે:-પ્રસિદ્ધ અગ્નિ શબ્દને છોડીને 'દીર્ઘલોકશસ્ત્ર' શબ્દનો પ્રયોગ કરવાની શું આવશ્યકતા હતી? તેનો ઉત્તર એ છે કે—વનસ્પતિકાયને બાળવામાં પ્રવૃત્ત (થએલ) અગ્નિકાય બીજા પણ પ્રાણીઓનો વિનાશ કરે છે વનસ્પતિના આશ્રયે કીડા, મંકોડા, ભમરા, મધમાખી અને કબૂતર આદિ ઘણાજ પ્રાણીઓ નિવાસ કરે છે. વૃક્ષોના બખોલમાં પૃથ્વીકાયના જીવ પણ હોય છે. ઝાકળરૂપ અપ્કાય પણ હોય છે

उक्तमर्थं दृढीकर्तुं विपर्ययेण पुनः कथयति-'योऽशस्त्रस्य खेदज्ञः स दीर्घलोकशस्त्रस्य खेदज्ञः' इति, व्याख्या पूर्ववत्। ॥ सू० २ ॥

॥ शस्त्रद्वारम् ॥

ननु येन शस्त्रेण वह्निः खिद्यते, तत् केन दृष्टम्? अपि चाशस्त्रं संयमस्वरूपमिति केन दृष्टम्?, इति जिज्ञासायामाह—'वीरेहिं' इत्यादि।

मूलम्—

वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं, संजएहिं सया जएहिं सया अप्पमत्तेहिं ॥सू०३॥

छाया—

वीरैः एतद् अभिभूय दृष्टम्, संयतैः सदा यतैः सदा अप्रमत्तैः ॥सू०३॥

इसी बात को दृढ करने के उद्देश्य से पुनः अन्यरूप से कहते हैं कि—जो अशस्त्र (संयम) के खेद को जानता है वह दीर्घलोकशस्त्र के खेद को जानता है। इस की व्याख्या पहले के समान ही समझनी चाहिए ॥ सू० २ ॥

शस्त्रद्वार-

शंका होती है कि—जिस शस्त्र से अग्नि को खेद होता है वह किस ने देखा है और संयमरूप अशस्त्र किस ने देखा है? इसके उत्तर में कहते हैं—'वीरेहिं' इत्यादि।

मूलार्थ—परिषह उपसर्ग आदि को जीतनेवाले संयत सदा यतनावान् और सदा अप्रमत्त रहने वाले वीर पुरुषों ने यह देखा है ॥ सू० ३ ॥

આ વાતને દૃઢ કરવાના ઉદ્દેશથી ફરી બીજા રૂપથી કહે છે કે—જે અશસ્ત્ર (સંયમ)ના ખેદને જાણે છે તે દીર્ઘલોકશસ્ત્રના ખેદને જાણે છે તેની વ્યાખ્યા પ્રથમ કહેલી છે તે પ્રમાણે સમજવી જોઈએ (સૂ. ૨)

શસ્ત્રદ્વાર-

શંકા થાય છે કે જે શસ્ત્રથી અગ્નિને ખેદ થાય છે તે કોણે જોયુ છે? અને સંયમરૂપ અશસ્ત્ર કોણે જોયુ છે? તેના ઉત્તરમા કહે છે -'वीरेहिं' ઈત્યાદિ.

મૂલાર્થ—પરીષહ-ઉપસર્ગ આદિને જીતવાવાળા, સંયત-સંયમી સદા યતનાવાન્ અને સદા અપ્રમત્ત રહેવાવાળા વીરપુરુષોએ તે જોયુ છે (સૂ. ૩)

"भूयाणमेसमाघाओ हव्ववाहो न ससओ"। (दशवै० ३ अ०गा०३५)
तस्य खेदज्ञः=खेदयतीति खेदः=अग्नेर्व्यापारः, अग्निव्यापारो हि पृथिव्यादिजीवानां दहनात्मकतया दुःखमुत्पादयतीत्यतः खेद–शब्देन व्यपदिश्यते, तं जानातीति खेदज्ञः। अग्निकायस्य व्यापारः सर्वप्राणिपीडाकर इति विज्ञाता यः खलु भवति, स एव अशस्त्रस्य=सप्तदशविधसंयमस्य खेदज्ञः=संयमसरकजन्य दुःखानुभावकः, अस्तीति शेषः। अग्निकायव्यापारेण पृथिव्यादिजीवानां विनाशस्तेन संयमसरण, ततश्च मुनित्वविभ्रंश इति सर्वस्वनाशकतयाऽग्निव्यापारः साधूनां ज्ञपरिया विज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरणीय इति भावः।

"यह अग्नि भूतों का घातक है, इसमें संदेह नहीं"। (दशवै ३ अ गा ३५)

उस अग्नि के व्यापार को पृथ्वीकाय आदि का खेद कहते हैं, क्यों कि दाहक होने के कारण वह पृथ्वी आदि को दुःख उत्पन्न करता है। उसे जानने वाला 'खेदज्ञ' कहलाता है। 'अग्निकाय का व्यापार सब प्राणियों को पीड़ा पहुँचाता है'—जो ऐसा जानता वही पुरुष अशस्त्र का अर्थात् सत्तरह प्रकार के संयम के खेद का—संयम के भंग से होने वाले खेद का ज्ञाता होता है। तात्पर्य यह है कि—अग्निकाय के व्यापार से पृथ्वीकाय आदि के जीवों का विनाश होता है, और उससे संयमभंग होता है, और संयम के भंग से मुनिपन का भंग होता है। इस प्रकार अग्निव्यापार सर्वस्व का नाशक होने से वह साधुओं के लिए ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्यागने योग्य है।

"આ અગ્નિ ભૂતોના ઘાતક છે, એમાં સંદેહ નથી." (દશ વૈ. અ. ૩ ગા ૩૫)

આ અગ્નિના વ્યાપારને પૃથ્વીકાયનો ખેદ કહે છે કારણ કે દાહક હોવાના કારણે તે પૃથ્વીઆદિને દુઃખ ઉત્પન્ન કરે છે તેને જાણવાવાળા 'ખેદજ્ઞ' કહેવાય છે 'અગ્નિકાયનો વ્યાપાર સર્વ પ્રાણીઓને પીડા પહોંચાડે છે' જે આ પ્રકારે જાણે છે તેજ પુરુષ અશસ્ત્રનો અર્થાત્ સત્તર પ્રકારના સંયમના ખેદનો–સંયમના ભંગથી થવાવાળા ખેદનો જ્ઞાતા–જાણનાર હોય છે તાત્પર્ય એ છે કે–અગ્નિકાયના વ્યાપારથી પૃથ્વીકાય આદિના જીવોનો નાશ થાય છે અને તેથી સંયમ ભંગ થાય છે, અને સંયમના ભંગથી, મુનિપણું ભંગ થાય છે આ પ્રમાણે અગ્નિવ્યાપાર સર્વસ્વનો નાશક હોવાથી સાધુઓ માટે જ્ઞપરિજ્ઞાથી જાણીને પ્રત્યાખ્યાન પરિજ્ઞાથી ત્યાગવા યોગ્ય છે

उक्तमर्थं दृढीकर्तुं विपर्ययेण पुनः कथयति-'योऽशस्त्रस्य खेदज्ञ स दीर्घलोकशस्त्रस्य खेदज्ञः' इति, व्याख्या पूर्ववत्। ॥ सू० २ ॥

॥ शस्त्रद्वारम् ॥

ननु येन शस्त्रेण वह्निः खिद्यते, तत् केन दृष्टम्? अपि चाशस्त्र संयमस्वरूपमिति केन दृष्टम्?, इति जिज्ञासायामाह—'वीरेहिं' इत्यादि।

मूलम्—

वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं, संजएहिं सया जएहिं सया अप्पमत्तेहिं ॥सू०३॥

छाया—

वीरैः एतद् अभिभूय दृष्टम्, संयतैः सदा यतैः सदा अप्रमत्तैः ॥सू०३॥

इसी बात को दृढ करने के उद्देश्य से पुनः अन्यरूप से कहते हैं कि—जो अशस्त्र (संयम) के खेद को जानता है वह दीर्घलोकशस्त्र के खेद को जानता है। इस की व्याख्या पहले के समान ही समझनी चाहिए ॥ सू० २ ॥

शस्त्रद्वार-

शंका होती है कि—जिस शस्त्र से अग्नि को खेद होता है वह किस ने देखा है और संयमरूप अशस्त्र किस ने देखा है? इसके उत्तर में कहते हैं—'वीरेहिं' इत्यादि।

मूलार्थ—परिषह उपसर्ग आदि को जीतनेवाले संयत सदा यतनावान् और सदा अप्रमत्त रहने वाले वीर पुरुषों ने यह देखा है ॥ सू० ३ ॥

આ વાતને દૃઢ કરવાના ઉદ્દેશથી ફરી બીજા રૂપથી કહે છે કે—જે અશસ્ત્ર (સંયમ)ના ખેદને જાણે છે તે દીર્ઘલોકશસ્ત્રના ખેદને જાણે છે તેની વ્યાખ્યા પ્રથમ કહેલી છે તે પ્રમાણે સમજવી જોઈએ (સૂ. ૨)

શસ્ત્રદ્વાર-

શંકા થાય છે કે જે શસ્ત્રથી અગ્નિને ખેદ થાય છે તે કોણે જોયુ છે? અને સંયમરૂપ અશસ્ત્ર કોણે જોયુ છે? તેના ઉત્તરમા કહે છે -'वीरेहिं' ઇત્યાદિ.

મૂલાર્થ—પરીષહ-ઉપસર્ગ આદિને જીતવાવાળા, સંયત-સંયમી સદા યતનાવાન્ અને સદા અપ્રમત્ત રહેવાવાળા વીરપુરુષોએ તે જોયુ છે (સૂ. ૩)

टीका—

वीरैरिति। घनघातिकर्मरूपरिपुगणक्षपणानन्तरं लब्धातुलकेवलालोकलक्ष्म्या विराजन्त इति वीराः। यथा–राजानश्चतुरङ्गसैन्यसमावृत स्वकीयमरिवर्गं निहत्य लब्धराज्यविजयलक्ष्म्या विराजमाना वीरा निगद्यन्ते। यद्वा–वि=विशेषेण ईरयन्ति=रागाद्यन्तरङ्गमहासुभटान् निवारयितुमनन्ततपोवीर्यं व्यापारयन्तीति वीरा। यद्वा–विशेषेण ईरयन्ति=शिवगतिं गमयन्ति भव्यजीवानिति वीराः। यद्वा–विशेषेण ईरयन्ति=ज्ञानाचारादीन् प्रति प्रेरयन्ति भव्यजीवानिति वीरा', तीर्थङ्करा गणधराश्च, तैर्वीरैः, एतत्=अग्निकायस्वरूपं, यद्वा–अग्निशस्त्रम् अशस्त्रं चेति द्वयं दृष्टं=ज्ञानदृष्ट्या विलोकितम्, अर्थतस्तीर्थङ्करैः, गणधरैस्तु भगवद्वचनैरिति विशेषः।

टीकार्थ—घातियाकर्मरूपी शत्रुओं के समूह को नाश करने के अनन्तर अनुपम केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी प्राप्त होती है। उस लक्ष्मी से जो विराजमान हैं उन्हें वीर कहते हैं। जैसे कोई राजा, चतुरंग सेना से युक्त शत्रुओं को हराकर प्राप्त राज्य और विजय की लक्ष्मी से सुशोभित हो कर 'वीर' कहलाते हैं। अथवा राग–द्वेष आदि आन्तरिक महायोद्धाओं को रोकने के लिए अनन्त तपोवीर्य का प्रयोग करने वाले 'वीर' कहलाते हैं। अथवा भव्य जीवों को विशेषरूप से मुक्ति की ओर प्रेरित करने वाले 'वीर' कहलाते हैं। अथवा विशेषरूप से ज्ञानाचार आदि की ओर भव्य जीवों को प्रेरित करने वाले 'वीर' कहलाते हैं। ऐसे वीर तीर्थंकर गणधर आदि हैं। उन वीरों ने अग्नि के स्वरूप को अथवा अग्निशस्त्र और अशस्त्र को ज्ञानदृष्टि से देखा है। अर्थ से तीर्थंकरों ने और उन के वचनों के अनुसार गणधरों ने देखा है।

ટીકાર્થ—ઘાતિ—કર્મરૂપી શત્રુઓના સમૂહનો નાશ કર્યાના અનન્તર અનુપમ કેવલજ્ઞાન રૂપી લક્ષ્મી પ્રાપ્ત થાય છે તે લક્ષ્મીથી જે વિરાજમાન છે તેને વીર કહે છે જેમ કોઈ રાજા, ચતુરંગ સેનાથી યુક્ત (ચાર પ્રકારની સેના સહિત) શત્રુઓને હરાવીને પ્રાપ્ત કરેલું રાજ્ય અને વિજયરૂપ લક્ષ્મીથી સુશોભિત બની 'વીર' કહેવાય છે, અથવા–રાગ–દ્વેષ આદિ આન્તરિક મહાયોદ્ધાઓને રોકવાવાળાને 'વીર' કહે છે અથવા ભવ્ય જીવોને વિશેષરૂપથી મુક્તિની તરફ પ્રેરિત કરવાવાળા 'વીર' કહેવાય છે અથવા વિશેષરૂપથી જ્ઞાનાચાર આદિની તરફ ભવ્ય જીવોને પ્રેરિત કરવાવાળા 'વીર' કહેવાય છે એવા વીર તીર્થંકર અને ગણધર આદિ છે, તે વીરોએ અગ્નિના સ્વરૂપને અથવા અગ્નિશસ્ત્ર અને અશસ્ત્રને જ્ઞાનદષ્ટિથી જોયા છે અર્થથી તીર્થંકરોએ જોયાં છે અને તેમનાં વચનો અનુસાર ગણધરોએ જોયા છે

किं कृत्वा तैरेतद् दृष्ट ?-मित्याकाङ्क्षायामाह—'अभिभूय' इति। परिषहोपसर्गान्, ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-मोहनीय-ऽन्तरायाख्यघातिकर्म-चतुष्टय च विजित्य केवल समाप्येत्यर्थ । कथम्भूतैस्तै ?-रित्याह-सयतै'=सम्=सम्यक्प्रकारेण यता.=परमकरुणया ईर्यासमित्यादियतनावन्तस्तै', सकलषड्जीव-निकायपरित्राणपरायणैरित्यर्थ । यतना द्विविधा-प्रमत्तयतना, अप्रमत्तयतना च। अथ प्रमत्तस्य कीदृशी यतना ? उच्यते-कषायादिनिग्रहिण ईर्याद्युपयोगवत्त्व प्रमत्तयतना कथ्यते ।

अप्रमत्तयतना कषायरहितवचनसाध्या भवति। अत्र अप्रमत्तग्रहणादि-न्द्रियादिप्रमादवर्जन गृह्यते। यतनाग्रहणाद् यावज्जीवयतना गृह्यते। अत एव

उन्हों ने क्या कर के यह देखा है ? इस शका का उत्तर है—परीषह और उपसर्गो को तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामक चार घातिया कर्मों को जीतकर केवल ज्ञान प्राप्त कर के उन्हों न देखा है ।

वे देखने वाले किस प्रकार के थे ? इसका उत्तर यह है-सम्यक् प्रकार से, अत्यन्त करुणापूर्वक ईयासमिति आदि का पालन करनेवाले अर्थात् समस्त षट्काय की रक्षा में तत्पर थे। यतना दो प्रकार की है-प्रमत्त की यतना और अप्रमत्त की यतना। प्रमत्त की यतना कैसी होती है ? इसका उत्तर यह है कि-कषाय आदि का निग्रह करने वाला पुरुष ईर्या आदि में जो उपयोग रखता है, वह प्रमत्तयतना है । अप्रमत्त की यतना कषायरहित वचनों से होती है। यहाँ अप्रमत्त शब्द से इन्द्रिय आदि प्रमादों का त्याग लेना चाहिए। यतना शब्द से यहाँ यावज्जीव यतना का ग्रहण करना चाहिए। अत

તેમણે શું કરીને જોયા છે? આ શંકાનો ઉત્તર એ છે પરીષહ અને ઉપસર્ગોને તથા જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ, મોહનીય અને અન્તરાય નામના ચાર ઘાતિયા કર્મોને જીતીને કેવલજ્ઞાન પ્રાપ્ત કરીને તેમણે જોયા છે

તે જોવાવાળા કેવા પ્રકારના હતા? તેનો ઉત્તર—સમ્યક્પ્રકારે, અત્યન્ત કરુણાપૂર્વક ઈર્યાસમિતિ આદિના પાલન કરવાવાળા, અર્થાત્ સમસ્ત ષટ્કાયની રક્ષામાં તેઓ તત્પર હતા યતના બે પ્રકારની છે-પ્રમત્તની યતના અને અપ્રમત્તની યતના પ્રમત્તની યતના કેવી હોય છે? તેનો ઉત્તર એ છે કે -કષાય આદિના નિગ્રહ કરવાવાળા પુરૂષ ઈર્યા આદિમાં જે ઉપયોગ રાખે છે તે પ્રમત્તની યતના છે અપ્રમત્તની યતના કષાયરહિત વચનોથી થાય છે અહિં અપ્રમત્ત શબ્દથી ઇન્દ્રિય આદિ પ્રમાદોનો ત્યાગ લેવો જોઈએ. યતના શબ્દથી અહિં જીવમાત્રની યતનાનું ગ્રહણ કરવું જોઇએ. એ માટે

सद=सर्वदा यतैः=चरणकरणविषये निरतिचारतया यत्नवद्भिः, तथा-सदा= सर्वकाले अप्रमत्तै=विषयकषायादिवर्जितै । एवम्भूतैर्वीरैरग्निकायस्वरूप तदीयशस्त्रमशस्त्रं च दृष्टमित्यर्थ' ।

ननु किं नामाग्निशस्त्रम् ? उच्यते-अग्न्युपमर्दक शस्त्रम् । तत् किं-स्वरूप ?-मितिचेत्, अत्रवेहि-अग्निशस्त्र तावद् द्विधा-द्रव्य-भावभेदात् । तत्र द्रव्यशस्त्र त्रिविधम् स्वकायपरकायोभयकायभेदात् । स्वकायशस्त्र-अग्निकायस्याग्निकाय एव, यथा-तृणाग्नि , पर्णाग्नेः शस्त्रम् । परकायशस्त्रं-धूलिरापश्च, आर्द्रश्च वनस्पति . त्रसाः प्राणिनश्च । उभयकायशस्त्र तुषकरीषादिमिश्रोऽग्निरन्यस्याग्नेः,

सर्वदा चरणसत्तरी और करणसत्तरी में अतिचाररहित यतना करने वाले तथा सदैव विषय-कषाय आदि प्रमाद से रहित वीर पुरुषोंने अग्निकाय के स्वरूप को तथा उसके शस्त्र और अशस्त्र को देखा है ।

शङ्का—अग्निशस्त्र क्या है ?

समाधान—अग्नि की विराधना करने वाला शस्त्र अग्निशस्त्र कहलाता है। उसका स्वरूप क्या है ? सो इस प्रकार समझो-द्रव्य और भाव के भेद से अग्नि शस्त्र दो प्रकार का है । इनमें से द्रव्यशस्त्र के तीन भेद हैं-स्वकाय-शस्त्र, परकाय-शस्त्र और उभयकाय-शस्त्र । अग्निकाय का स्वकायशस्त्र अग्नि ही है, जैसे तिनके की अग्नि, पत्तों की अग्नि का शस्त्र है । धूलि और पानी आदि अग्निकाय का परकायशस्त्र है । गीली वनस्पति भी परकायशस्त्र है और त्रस प्राणी भी । तुष (छिल्का) और करीष

સર્વદા ચરણ સીત્તેરી અને કરણસીત્તેરીમાં અતિચારરહિત યતના કરવાવાળા તથા હંમેશાં વિષય-કષાય આદિ પ્રમાદથી રહિત વીર પુરુષોએ અગ્નિકાયના સ્વરૂપને તથા તેના શસ્ત્ર અને અશસ્ત્રને જોયા છે

શંકા—અગ્નિ શસ્ત્ર એ શું છે ?

સમાધાન—અગ્નિની વિરાધના કરવાવાળું શસ્ત્ર તે અગ્નિશસ્ત્ર કહેવાય છે તેનું સ્વરૂપ કેવું છે? તે આ પ્રમાણે સમજો-દ્રવ્ય અને ભાવના ભેદથી અગ્નિશસ્ત્ર બે પ્રકારનાં છે, તેમાંથી દ્રવ્યશસ્ત્રના ત્રણ ભેદ છે સ્વકાયશસ્ત્ર પરકાયશસ્ત્ર, અને ઉભયકાયશસ્ત્ર. અગ્નિકાયનું સ્વકાયશસ્ત્ર અગ્નિજ છે જેમ તણખાની અગ્નિ, પાદડાની અગ્નિનું શસ્ત્ર છે ધૂળ અને પાણી આદિ અગ્નિકાયનું પરકાયશસ્ત્ર છે લીલી વનસ્પતિ પણ પરકાયશસ્ત્ર છે અને ત્રસ પ્રાણી પણ પરકાયશસ્ત્ર છે તુષ અને છાણ આદિથી મળેલી અગ્નિ

तप्तोदकादिक च। भावशस्त्र तु-अग्नि प्रति दुष्प्रणिहितमनोवाकायरूपम्। शेषाणि पृथिवीकायवद् बोध्यानि ॥ सू० ३ ॥

यस्तु प्रमादवशादुपभोगार्थमग्निकायजीवानुपमर्दयति, तत्फलमाह—'जे' इत्यादि।

मूलम्—

जे पमत्ते गुणट्ठिए से हु दंडेत्ति पवुच्चइ ॥ ४ ॥

छाया—

य' प्रमत्त गुणार्थिक' (गुणस्थितः) स खलु दण्ड इति प्रोच्यते।

टीका—

यो हि प्रमत्तः=विषयकाषायादिप्रमादवशग सन् गुणार्थिक' भवतीत्यन्वय.। गुणः=अग्निकायकृतोपकार' स एवार्थ'=प्रयोजनं यस्य स गुणार्थी, स एव गुणार्थिक, रन्धन-पचन-प्रकाश-तापनादिप्रयोजनवान् भवति। यद्वा-

---

(छाणे) आदि से मिली अग्नि तथा गर्म जल अग्नि का उभयकायशस्त्र है। अग्नि के प्रति दुष्ट मन वचन और कायका प्रवर्त्तन भावशस्त्र है। शेष द्वार पृथिवीकाय के समान समझने चाहिए ॥ सू० ३ ॥

प्रमाद के वश होकर उपभोग के निमित्त अग्निकाय के जीवों की विराधना करने वाले को होने वाला फल कहते हैं—'जे' इत्यादि।

मूलार्थ—जो प्रमादी पुरुष अग्नि के गुणों का अर्थी-रांधना आदि में स्थित-है, वह उसके लिए दण्ड कहलाता है ॥ सू० ४ ॥

टीकार्थ—विषय कषाय आदि प्रमादों के अधीन होकर पुरुष गुणार्थी होता है। अग्निकाय द्वारा होने वाला उपकार यहा गुण कहा गया है। इस गुण का अर्थी गुणार्थिक कहलाता है। रांधना, पकाना, उजाला करना आदि अग्नि के गुण हैं। जो

તથા ગરમ જલ અગ્નિનું ઉભયકાયશસ્ત્ર છે અગ્નિ પ્રતિનું દુષ્ટ મન, વચન અને કાયાનું પ્રવર્તન તે ભાવશસ્ત્ર છે, બાકીના દ્વાર પૃથ્વીકાયની સમાન બરાબર-સમજવા જોઇએ (સૂ. ૩)

પ્રમાદને વશ થઈ ઉપભોગના નિમિત્તે અગ્નિકાયના જીવોની વિરાધના કરવા વાળાને જે ફળ થાય છે-મળે છે તે ફળ કહે છે 'જે' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—જે પ્રમાદી પુરુષ અગ્નિના અર્થી-રાધવું વિગેરેમા સ્થિત-છે તે એના માટે દંડ કહેવાય છે (સૂ ૪)

ટીકાર્થ—વિષય કષાય આદિ પ્રમાદોને આધીન થઇને પુરુષ ગુણાર્થી થાય છે અગ્નિકાય દ્વારા થવાવાળો ઉપકાર તેને અહિં ગુણ કહેવામા આવ્યો છે આ ગુણનો અર્થી તે ગુણાર્થિક કહેવાય છે રાંધવુ-પકાવવું, અજવાળુ કરવું આદિ અગ્નિના ગુણ છે જે

सद=सर्वदा यतै=चरणकरणविषये निरतिचारतया यतनवद्भिः, तथा-सदा=सर्वकाले अप्रमत्तै=विषयकषायादिवर्जितैः। एवम्भूतैर्वीरैरग्निकायस्वरूप तदीयशस्त्रमशस्त्र च दृष्टमित्यर्थः।

ननु किं नामाग्निशस्त्रम्? उच्यते-अग्न्युपमर्दक शस्त्रम्। तत् किं-स्वरूप?-मितिचेत्, अवधेहि-अग्निशस्त्र तावद् द्विधा-द्रव्य-भावभेदात्। तत्र द्रव्यशस्त्रं त्रिविधम् स्वकायपरकायोभयकायभेदात्। स्वकायशस्त्र-अग्निकायस्याग्निकाय एव, यथा-तृणाग्नि, पर्णाग्नेः शस्त्रम्। परकायशस्त्र-धूलिरापश्च, आर्द्रश्च वनस्पति, त्रसाः प्राणिनश्च। उभयकायशस्त्र तुषकरीषादिमिश्रोऽग्निरन्यस्याग्नेः,

सर्वदा चरणसत्तरी और करणसत्तरी में अतिचाररहित यतना करने वाले तथा सदैव विषय-कषाय आदि प्रमाद से रहित वीर पुरुषोंने अग्निकाय के स्वरूप को तथा उसके शस्त्र और अशस्त्र को देखा है।

शङ्का—अग्निशस्त्र क्या है?

समाधान—अग्नि की विराधना करने वाला शस्त्र अग्निशस्त्र कहलाता है। उसका स्वरूप क्या है? सो इस प्रकार समझो-द्रव्य और भाव के भेद से अग्नि शस्त्र दो प्रकार का है। इनमें से द्रव्यशस्त्र के तीन भेद हैं-स्वकाय-शस्त्र, परकाय-शस्त्र और उभयकाय-शस्त्र। अग्निकाय का स्वकायशस्त्र अग्नि ही है, जैसे तिनके की अग्नि, पत्तों की अग्नि का शस्त्र है। धूलि और पानी आदि अग्निकाय का परकायशस्त्र है। गीली वनस्पति भी परकायशस्त्र है और त्रस पाणी भी। तुष (छिल्का) और करीष

સર્વદા ચરણસીતેરી અને કરણસીતેરીમાં અતિચારરહિત યતના કરવાવાળા તથા હમેશાં વિષય-કષાય આદિ પ્રમાદથી રહિત વીર પુરુષોએ અગ્નિકાયના સ્વરૂપને તથા તેના શસ્ત્ર અને અશસ્ત્રને જોયાં છે

શંકા—અગ્નિ શસ્ત્ર એ શું છે?

સમાધાન—અગ્નિની વિરાધના કરવાવાળું શસ્ત્ર તે અગ્નિશસ્ત્ર કહેવાય છે તેનું સ્વરૂપ કેવું છે? તે આ પ્રમાણે સમજે-દ્રવ્ય અને ભાવના ભેદથી અગ્નિશસ્ત્ર બે પ્રકારનાં છે, તેમાંથી દ્રવ્યશસ્ત્રના ત્રણ ભેદ છે સ્વકાયશસ્ત્ર પરકાયશસ્ત્ર, અને ઉભયકાયશસ્ત્ર. અગ્નિકાયનું સ્વકાયશસ્ત્ર અગ્નિજ છે જેમ તણખાની અગ્નિ, પાદડાંની અગ્નિનું શસ્ત્ર છે ધૂળ અને પાણી આદિ અગ્નિકાયનું પરકાયશસ્ત્ર છે લીલી વનસ્પતિ પણ પરકાયશસ્ત્ર છે અને ત્રસ પ્રાણી પણ પરકાયશસ્ત્ર છે તુષ અને છાણ આદિથી મળેલી અગ્નિ

टीका—

मेधावी=ग्रहणधारणादिगुणवान्, यद्वा—साधुमर्यादारक्षणे सावधान, यद्वा—हेयोपादेयविवेकनिपुण, तम्=अग्निकाय, यद्वा तम्=अग्निशस्त्रसमारम्भं दण्डनामफलप्रदं परिज्ञाय=ज्ञपरिज्ञया बन्धकारणत्वेन, प्रत्याख्यानपरिज्ञया हेयत्वेन पर्यालोच्य, प्रतिजानीते—अहं=मिथ्यात्वादिमलिनान्तःकरणः प्रमादेन=विषयकषायादिप्रमादवशतः यम्=अग्निशस्त्रसमारम्भं पूर्वम्=अज्ञानावस्थायाम्, अकार्षम्=कृतवान्, यत्तदोर्नित्यसाकाङ्क्षत्वात् तम् इदानीम्=सम्प्रति प्रव्रज्यावस्थायाम् नो=नैव करिष्य इति शेषः ॥ सू० ५ ॥

अथ सर्वथाऽग्निशस्त्रसमारम्भपरित्यागिनोऽनगारान्, तथाऽग्निशस्त्र समारम्भे प्रवृत्तान् द्रव्यलिङ्गिनश्च विविच्य प्रतिबोधयितुमाह—'लज्जमाणा'. इत्यादि।

टीकार्थ—ग्रहण और धारणादिक गुणों से युक्त, अथवा साधुओं की मर्यादा की रक्षा करने में सावधान, अथवा हेय और उपादेय के विवेक में निपुण पुरुष अग्निकाय अथवा अग्निकाय के समारंभ को जानकर अर्थात् ज्ञपरिज्ञा से उसे कर्मबंध का कारण समझकर और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से हेय समझकर इस प्रकार प्रतिज्ञा करते हैं—मिथ्यात्व आदि विकारों के वश होकर मैंने अज्ञानदशा में अग्निकाय का समारंभ किया था। वह समारंभ अब दीक्षा-अवस्था में नहीं करूँगा ॥ सू० ५ ॥

अग्निशस्त्र का सर्वथा त्याग करने वाले अनगारों तथा अग्निशस्त्र के समारंभ में प्रवृत्ति करने वाले द्रव्यलिङ्गी पुरुषों को अलग अलग कर के समझाते हैं—'लज्जमाणा' इत्यादि।

ટીકાર્થ—ગ્રહણ અને ધારણાદિક ગુણોથી યુક્ત અથવા સાધુઓની મર્યાદાની રક્ષા કરવામાં સાવધાન, અથવા હેય અને ઉપાદેયના વિવેકમા નિપુણ પુરુષ અગ્નિકાય અથવા અગ્નિકાયના સમારંભને જાણીને અર્થાત્ જ્ઞપરિજ્ઞાથી તેને કર્મબંધનું કારણ સમજીને અને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞાથી હેય-(ત્યાજ્ય) સમજીને આ પ્રમાણે પ્રતિજ્ઞા કરે છે-મે અજ્ઞાન દશામાં મિથ્યાત્વ આદિ વિકારોને વશ થઈને અગ્નિકાયનો સમારંભ કર્યો હતો; તે સમારંભ હવે દીક્ષા-અવસ્થામા નહીં કરૂં (સૂ ૫)

અગ્નિશસ્ત્રનો સર્વથા ત્યાગ કરવાવાળા અણગારો તથા અગ્નિશસ્ત્રના સમારંભમા પ્રવૃત્તિ કરવાવાળા દ્રવ્યલિંગી પુરુષોને અલગ-અલગ કરીને સમજાવે છે-'લજ્જમાણા' ઇત્યાદિ

'गुणस्थितः' इति च्छाया, तेन गुणेषु=अग्निगुणेषु रन्धनपचनादिषु, शब्दादिषु वा स्थितः=आसक्तः, रन्धनाद्यर्थमग्निमुत्पादयति प्रज्वालयति यथाकथञ्चिदुपमर्दयतीत्यर्थः । स मनोवाक्कायस्य दुष्प्रणिधानेनाग्निशस्त्रसमारम्भकरणेन चाग्न्यादीनां प्राणिनां दण्डं प्रति कारणभूतत्वाद् दण्ड इति प्रोच्यते, कारणे कार्योपचारात्, दण्डवत् प्राणिनां हिंसकतया दण्ड इति निन्द्यनाम्ना लोके प्रसिध्यतीति भावः ॥ सू० ४ ॥

एवं विज्ञायाग्निशस्त्रसमारम्भाद् विनिवर्तितव्यमित्याह—'तं' इत्यादि ।

मूलम्—

तं परिण्णाय मेहावी इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं ॥ सू० ५ ॥

छाया—

तं परिज्ञाय मेधावी इदानीं नो यदहं पूर्वमकार्षं प्रमादेन ॥ सू० ५ ॥

पुरुष इन गुणों में अथवा शब्द आदि इन्द्रियविषयों में आसक्त है अर्थात् रांधने आदि के लिए अग्नि उत्पन्न करता है, जलाता है और किसी भी प्रकार उसका हनन करता है। वह पुरुष अपने मन, वचन, काय के दूषित व्यापार के कारण तथा अग्निशस्त्र का समारंभ करने के कारण अग्नि के जीवों के दंडका कारण होने से दण्ड कहलाता है। कारण में कार्य का उपचार करने से दंड के कारणभूत पुरुष को दंड कहते हैं। लोक में उस पुरुष की 'दण्ड' इस निंदनीय नाम से प्रसिद्धि होती है ॥ सू० ४ ॥

अब बतलाते हैं कि पूर्वोक्त कथन जानकर अग्निशस्त्र के समारंभ से बचना चाहिए—'से' इत्यादि ।

मूलार्थ—अग्निकाय अथवा अग्निकाय के समारंभ को जानकर बुद्धिमान् पुरुष निश्चय करे कि—प्रमाद के वश होकर मैंने पहले जो किया सो अब नहीं करूंगा ॥ सू० ५ ॥

પુરુષ આ ગુણોમાં અથવા શબ્દ આદિ ઇન્દ્રિયવિષયોમાં આસક્ત છે અર્થાત્ રાંધવા આદિને માટે અગ્નિ ઉત્પન્ન કરે છે, બાળે છે, અને કોઈ પણ પ્રકારે તેનું હનન કરે છે, તે પુરુષ પોતાના મન, વચન અને કાયાના દૂષિત વ્યાપારના કારણે તથા અગ્નિશસ્ત્રનો સમારંભ કરવાના કારણે અગ્નિના જીવોને દંડનું કારણ હોવાથી દંડ કહેવાય છે કારણમાં કાર્યનો ઉપચાર કરવાથી દંડના કારણભૂત પુરુષને પણ દંડ કહે છે લોકમાં તે પુરુષની 'દંડ' આ નિંદનીય નામથી પ્રસિદ્ધિ થાય છે (સૂ. ૪)

હવે બતાવે છે કે-પૂર્વોક્ત કથન જાણીને અગ્નિશસ્ત્રના સમારંભથી બચવું જોઈએ—'से' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—અગ્નિકાય અથવા અગ્નિકાયના સમારંભને જાણી બુદ્ધિમાન પુરુષ નિશ્ચય કરે કે-પ્રમાદના વશ થઈને મે પહેલાં જે કર્યું છે તે હવે નહીં કરું (સૂ. ૫)

सन्तीति पश्य। इमे सूक्ष्मबादराग्निकायसमारम्भकरणे भीतास्त्रस्ता उद्विग्नास्त्रिकरण-त्रियोगैरग्निकायसमारम्भपरित्यागिनो विद्यन्ते तानवलोकयेत्यर्थः।

एके पुनरन्ये तु 'वयमनगाराः स्म' इति साभिमानं प्रवदमानाः 'वयमेवा-ग्निकायजीवरक्षणपरा महाव्रतधारिणः' इति प्रलपन्तो द्रव्यलिङ्गिनः सन्ति, तान् पृथक्=पृथग्भावेन पश्य।

इमे खल्वनगाराभिमानिनो द्रव्यलिङ्गिनो मनागप्यनगारगुणेषु न प्रवर्तन्ते, नापि गृहस्थकृत्यं किञ्चित् परित्यजन्ति, इति दर्शयति-'यदिमम्' इत्यादि।

यद्-यस्माद् विरूपरूपैः=विभिन्नस्वरूपैः द्रव्यभावभेदभिन्नैः शस्त्रैः=अग्निकायशस्त्रैः, अग्निकर्मसमारम्भेण=अग्नेः कर्मसमारम्भः अग्निकर्मसमारम्भः=

अनगार हैं। ये सब सूक्ष्म और बादर अग्निकाय का समारंभ करने में भीत-डरने वाले हैं, त्रस्त हैं, उद्विग्न हैं और तीन करण तीन योग से अग्निकाय के समारंभ के त्यागी हैं, उन्हें देखो।

इन से विपरीत दूसरे लोग 'हम अनगार हैं, हमीं अग्निकाय की रक्षा में तत्पर हैं, महाव्रती हैं' इस प्रकार अभिमान के साथ प्रलाप करते हुए द्रव्यलिङ्गी हैं, उन्हें अलग समझो।

अनगार होने का अभिमान करने वाले ये लोग साधुओं का तनिक भी कर्तव्य नहीं करते और न गृहस्थकार्य का त्याग करते हैं।

वे लोग तरह-तरह के द्रव्य और भाव रूप अग्निकाय के शस्त्रों से अग्निकर्म का

ભીત-ભયવાન છે, ત્રસ્ત છે, ઉદ્વિગ્ન છે અને ત્રણકરણ, ત્રણયોગથી અગ્નિકાયના સમારભના ત્યાગી છે, તેને જુઓ.

એનાથી વિપરીત (ઉપર કહ્યા તેનાથી ઉલટો વ્યવહાર કરનારા) બીજા લોક 'અમે અણગાર છીએ, અમે અગ્નિકાયની રક્ષામા તત્પર છીએ, મહાવ્રતી છીએ.' એ પ્રમાણે અભિમાનની સાથે પ્રલાપ કરે છે તે દ્રવ્યલિંગી છે, તેને અલગ સમજો

અણગાર હોવાનું અભિમાન કરવાવાળા આ લોક સાધુઓના જરાપણ કર્ત્તવ્યને કરતા નથી અને ગૃહસ્થનાં કાર્યોનો ત્યાગ કરતા નથી

તે લોક તરેહ-તરેહના દ્રવ્ય અને ભાવરૂપ અગ્નિકાયના શસ્ત્રોથી અગ્નિકર્મનો

मूलम्—

लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभेणं, अगणिसत्थं समारंभमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति ॥ सू० ६ ॥

छाया—

लज्जमाना' पृथक् पश्य, अनगाराः स्म इति एके मवदमाना', यदिमं विरूपरूपैः शस्त्रैः अग्निकर्मसमारम्भेण, अग्निशस्त्रं समारभमाणा अन्यान् अनेकरूपान् प्राणिनो विहिंसन्ति ॥ सू० ६ ॥

टीका—

लज्जमानाः=अग्निकायसमारम्भे परमकरुणया द्रवीभूतहृदयतया सङ्कुचितास्मानः, अग्निशस्त्रसमारम्भपरित्यागिन इत्यर्थः, पृथक्=विभिन्नाः, केचित् प्रत्यक्षज्ञानिनोऽवधिमनःपर्ययकेवलिनः, केचित् परोक्षज्ञानिनो भावितात्मानोऽनगारा

मूलार्थ—अग्निकाय के आरम में संकोच करने वालों को अलग समझो। और 'हम अनगार हैं' ऐसा कहने वाले नाना प्रकार के शस्त्रों द्वारा अग्निकर्म का समारंभ करने वाले दूसरे (द्रव्यलिङ्गी) अनेक प्रकार के प्राणियों की हिंसा करते हैं ॥ सू० ६ ॥

टीकार्थ—अत्यन्त दया के कारण अग्निकाय के समारंभ में हार्दिक संकोच करने वाले, इसी कारण अग्निशस्त्र के समारम के त्यागी अलग हैं, उन में कोई अवधि ज्ञानी हैं, कोई मनःपर्ययज्ञानी हैं, कोई केवलज्ञानी हैं। कोई परोक्षज्ञानी भावितात्मा

મૂલાર્થ—અગ્નિકાયના આરંભમાં સંકોચ કરવાવાળાને અલગ સમજો, અને 'અમે અણગાર છીએ' એ પણ કહેવાવાળા નાના પ્રકારના શસ્ત્રો દ્વારા અગ્નિકર્મનો સમારંભ કરવાવાળા બીજા (દ્રવ્યલિંગી) અનેક પ્રકારનાં પ્રાણીઓની હિંસા કરે છે (સૂ. ૬)

ટીકાર્થ—અત્યન્ત દયાના કારણે અગ્નિકાયના સમારંભમાં હાર્દિક સંકોચ કરવાવાળા, આજ કારણથી અગ્નિશસ્ત્રના સમારંભના ત્યાગી અલગ છે—જુદા છે એમાં કોઇ અવધિજ્ઞાની છે, કોઇ મન:પર્યયજ્ઞાની છે, કોઈ કેવલજ્ઞાની છે કોઈ પરોક્ષજ્ઞાની ભાવિતાત્મા અણગાર છે તે સર્વ સૂક્ષ્મ અને બાદર અગ્નિકાયનો સમારંભ કરવામાં

सन्तीति पश्य । इमे सूक्ष्मबादराग्निकायसमारम्भकरणे भीतास्त्रस्ता उद्विग्नास्त्रिकरण-त्रियोगैरग्निकायसमारम्भपरित्यागिनो विद्यन्ते तानवलोकयेत्यर्थः ।

एके पुनरन्ये तु 'वयमनगाराः स्मः' इति साभिमान मवदमानाः 'वयमेवाग्निकायजीवरक्षणपरा महाव्रतधारिण' इति प्रलपन्तो द्रव्यलिङ्गिनः सन्ति, तान् पृथक् =पृथग्भावेन पश्य ।

इमे खल्वनगाराभिमानिनो द्रव्यलिङ्गिनो मनागप्यनगारगुणेषु न प्रवर्तन्ते, नापि गृहस्थकृत्य किञ्चित् परित्यजन्ति, इति दर्शयति-'यदिमम्' इत्यादि ।

यद्-यस्माद् विरूपरूपैः=विभिन्नस्वरूपैः द्रव्यभावभेदभिन्नैः शस्त्रैः= अग्निकायशस्त्रे, अग्निकर्मसमारम्भेण=अग्ने कर्मसमारम्भः अग्निकर्मसमारम्भः=

अनगार हैं । ये सब सूक्ष्म और बादर अग्निकाय का समारंभ करने में भीत-डरने वाले हैं, त्रस्त हैं, उद्विग्न हैं और तीन करण तीन योग से अग्निकाय के समारंभ के त्यागी हैं, उन्हें देखो ।

इन से विपरीत दूसरे लोग 'हम अनगार हैं, हमीं अग्निकाय की रक्षा में तत्पर हैं, महाव्रती हैं' इस प्रकार अभिमान के साथ प्रलाप करते हुए द्रव्यलिङ्गी हैं, उन्हें अलग समझो ।

अनगार होने का अभिमान करने वाले ये लोग साधुओं का तनिक भी कर्तव्य नहीं करते और न गृहस्थकार्य का त्याग करते हैं ।

वे लोग तरह-तरह के द्रव्य और भाव रूप अग्निकाय के शस्त्रों से अग्निकर्म का

ભીત-ભયવાન છે, ત્રસ્ત છે, ઉદ્વિગ્ન છે અને ત્રણકરણ, ત્રણયોગથી અગ્નિકાયના સમારંભના ત્યાગી છે, તેને જુઓ.

એનાથી વિપરીત (ઉપર કહ્યા તેનાથી ઉલટો વ્યવહાર કરનારા) બીજા લોક 'અમે અણગાર છીએ, અમે અગ્નિકાયની રક્ષામા તત્પર છીએ, મહાવ્રતી છીએ.' એ પ્રમાણે અભિમાનની સાથે પ્રલાપ કરે છે તે દ્રવ્યલિંગી છે, તેને અલગ સમજો

અણગાર હોવાનું અભિમાન કરવાવાળા આ લોક સાધુઓના જરાપણ કર્તવ્યને કરતા નથી અને ગૃહસ્થનાં કાર્યોનો ત્યાગ કરતા નથી

તે લોક તરેહ-તરેહના દ્રવ્ય અને ભાવરૂપ અગ્નિકાયના શસ્ત્રોથી અગ્નિકર્મનો

अग्निं निमित्तीकृत्य ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मबन्धनिबन्धनसावद्यव्यापारस्तेन, इमम्=अग्निकायं विहिंसन्ति ।

अग्निकायहिंसायां प्रवृत्ताः खलु षड्जीवनिकायरूपं लोकं सर्वमेव विहिंसन्ती त्याह–' अग्निशस्त्रं '–मित्यादि । अग्निशस्त्रम्=अग्न्युपमर्दकं शस्त्रम् , तत् पूर्वोक्तप्रकारं द्रव्यभावभेदभिन्नं समारभमाणाः=अग्निकायं प्रति व्यापारयन्तः अन्यान् त्रसान् विहिंसन्ति ।

इह बहुविधा द्रव्यलिङ्गिनो विद्यन्ते, यथा–' वयं पञ्चमहाव्रतधारिणः सर्वारम्भपरित्यागिनः षड्जीवनिकायरक्षका अनगाराः स्म 'इति वदन्तो दण्डि शाक्यादयः सन्ति । ते चात्मानमनगारं प्रवदमाना नानगारगुणेषु लेशतोऽपि प्रवर्तन्ते ।

आरंभ कर के अर्थात् अग्नि के निमित्त से ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों का कारणभूत सावद्य व्यापार कर के अग्निकाय की हिंसा करते हैं ।

अग्निकाय की हिंसा में प्रवृत्त पुरुष षट्कायरूप समस्त जीवों की हिंसा करते हैं, यही बतलाते हैं–अग्नि का घात करने वाले–द्रव्यशस्त्र और भावशस्त्र का अग्नि के विषय में प्रयोग करने वाले अग्निकाय के अतिरिक्त अन्य पृथ्वीकाय आदि स्थावरों की तथा द्वीन्द्रिय त्रस जीवों की हिंसा करते हैं ।

संसार में बहुत से द्रव्यलिङ्गी हैं । ' हम पञ्चमहाव्रतधारी, समस्त आरंभ का त्याग करने वाले और षट्काय के रक्षक अनगार हैं । इस प्रकार कहने वाले दण्डी शाक्य आदि हैं । वे अपने को अनगार कहते हुए भी लेशमात्र भी अनगार के गुणों में प्रवृत्ति नहीं करते ।

આરંભ કરીને અર્થાત્ અગ્નિના નિમિત્તથી જ્ઞાનાવરણ આદિ આઠ કર્મોના કારણભૂત સાવદ્ય વ્યાપાર કરીને અગ્નિકાયની હિંસા કરે છે

અગ્નિકાયની હિંસામાં પ્રવૃત્ત પુરુષ ષટ્કાયરૂપ સમસ્ત જીવોની હિંસા કરે છે એજ બતાવે છે–અગ્નિનો ઘાત કરવાવાળા–દ્રવ્યશસ્ત્ર અને ભાવશસ્ત્રનો અગ્નિના વિષયમાં પ્રયોગ કરવાવાળા અગ્નિકાય સાથે બીજા પૃથ્વીકાય આદિ સ્થાવરોની તથા દ્વીન્દ્રિય આદિ ત્રસ જીવોની હિંસા કરે છે

સંસારમાં ઘણાજ દ્રવ્યલિંગી છે ' અમે પંચમહાવ્રતધારી સમસ્ત આરંભનો ત્યાગ કરવાવાળા અને ષટ્કાયના રક્ષક અણગાર છીએ ' આ પ્રકારે કહેવાવાળા દંડી શાક્ય આદિ છે તે પોતાને અણગાર કહેતા થકા પણ લેશમાત્ર અણગારના ગુણોમાં પ્રવૃત્તિ કરતા નથી.

शाक्यादयः पचन-पाचन-प्रतापन-प्रकाशाद्यर्थमग्निकर्मसमारम्भं कुर्वन्ति, कारयन्ति, कुर्वतोऽनुमोदयन्ति च, तेन षट्कायजीवविराधका भवन्ति ।

दण्डिनोऽपि-'वय पञ्चमहाव्रतधारिणो जिनवचनाराधका अनगाराः स्म' इत्यादि प्रवदमाना' साध्वाभासा सावद्यमुपदिशन्त शास्त्रनिषिद्धमप्यग्निकर्मसमारम्भं कारयन्ति ।

दृश्यन्ते हि-शास्त्रव्याख्यानादौ देवकुलादौ प्रतिमाप्रतिश्रयादिप्रतिष्ठादौ च धूपदीपहवनादिभिरग्निकर्मसमारम्भ कारयन्तो दण्डिन एव कथयन्ति च-स्नानादिना पुष्पैर्धूपैश्च पायसापूपलड्डुकादिभिर्विविधैर्नैवेद्यैश्च प्रतिमापूजा

शाक्य आदि पचन, पाचन, तापन तथा प्रकाश आदि क लिए अग्निकर्म का समारम्भ करते हैं, कराते हैं और करते हुए का अनुमोदन करते हैं, अत वे षट्काय के विराधक हैं ।

दण्डी कहते हैं-'हम पचमहाव्रतधारी हैं, जिनवचन क आराधक अनगार हैं'। ये साध्वाभास सावद्य का उपदेश देते हैं और शास्त्रनिषिद्ध अग्निकर्म का समारम्भ करवाते हैं ।

शास्त्र के व्याख्यान आदि में, देवकुल आदि म, प्रतिमा प्रतिश्रय और प्रतिष्ठा आदि में धूप दीप और हवन आदि द्वारा अग्निकर्म का आरम्भ करवाते हुए दण्डी देखे जाते हैं । वे ऐसा कहते हैं-'स्नान कराकर पुष्पों से, धूप से, खीर से, पूआ से, तथा लड्डू आदि से, तथा विविध प्रकार के नैवेद्य से प्रतिमा की पूजा करनी

શાક્ય આદિ પચન, પાચન, તાપન તથા પ્રકાશ આદિ માટે અગ્નિકર્મનો સમારભ કરે છે, કરાવે છે અને કરનારને અનુમોદન આપે છે તેથી તે ષટ્કાયના વિરાધક છે

દંડી કહે છે કે-'અમે પચમહાવ્રતધારી છીએ, જિનવચનના આરાધક અણગાર છીએ' એ સાધ્વાભાસ સાવદ્યનો ઉપદેશ આપે છે અને શાસ્ત્રનિષિદ્ધ અગ્નિકર્મનો સમારભ કરાવે છે

શાસ્ત્રના વ્યાખ્યાન આદિમા, દેવકુલ આદિમા, પ્રતિમા પ્રતિશ્રય તથા પ્રતિષ્ઠા આદિમા ધૂપ, દીપ અને હવન આદિ દ્વારા અગ્નિનો આરભ કરાવતા હોય તેવા દંડી જોવામાં આવે છે તે એમ કહે છે કે-સ્નાન કરાવીને, પુષ્પોથી, ધૂપથી, ખીરથી, માલપૂવા તથા લાડુ આદિથી તથા વિવિધ પ્રકારનાં નૈવેદ્યથી પ્રતિમાની પૂજા કરવી જોઇએ જિન

कर्त्तव्येत्यादि । पुनः-जिनस्य वामपार्श्वे धूपं स्थापनीयं, दक्षिणपार्श्वे घृतपूर्णं प्रज्वालितं प्रदीपं स्थाप्यः, पायसापूपघृतपूरलड्डूकादि नैवेद्यमपि पुरतः स्थापनीय मित्यादि । तच्च विनाग्निकर्मसमारम्भं नोपपद्यते । औषध्यर्थं क्वाथादि, शुण्ठिपाकादि, पातुमुष्णोदकं, भोक्तुं विविधाहारं च कारयन्तीति ॥ सू० ६ ॥

अथ सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामिनं जगाद-'तत्थ' इत्यादि ।

मूलम्—

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया । इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव अगणिसत्थं

चाहिए । जिन भगवान् के बाँई (डावी) ओर धूप रखना चाहिए और दाहिनी (जिमणी) ओर घी से भरा जलता दीप रखना चाहिए । सामने खीर, माल्पूआ, घेवर और लड्डू आदि नैवेद्य रखना चाहिए " । ये सब अग्निकर्म का समारंभ किये विना नहीं हो सकते । वे लोग औषधि के लिए क्वाथ वगैरह, सोंठ का पाक आदि, पीने के लिए गर्म जल और खाने के लिए विविध प्रकार के आहार बनवाते हैं ॥ सू० ६ ॥

सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं-'तत्थखलु' इत्यादि ।

मूलार्थ—इस विषय में भगवान्ने बोध दिया है । इसी जीवन के लिए, वन्दन, मानना और पूजा के लिए, जन्म मरण से मुक्त होने के लिए, तथा दुःखों का निवारण करने के लिए वह स्वयं अग्निशस्त्र का आरंभ करता है, दूसरों से अग्निशस्त्रका

ભગવાનની ડાબી તરફ ધૂપ રાખવો જોઈએ. અને જમણી તરફ ઘીનો ભરેલો બળતો દીપક રાખવો જોઈએ સામે ખીર, માલપૂવા, ઘેવર અને લાડુ આદિ નૈવેદ્ય રાખવું જોઈએ એ સર્વ અગ્નિકર્મના સમારંભ કર્યા વિના થઈ શકતા નથી. તે લોક ઔષધી માટે ક્વાથ વગેરે; સુંઠના પાક આદિ, પીવા માટે ગરમ જલ અને ખાવા માટે વિધ-વિધ પ્રકારના આહાર બનાવરાવે છે (સૂ. ૬)

સુધર્મા સ્વામી જમ્બૂ સ્વામીને કહે છે-'તત્થ ખલુ' ઈત્યાદિ

મૂલાર્થ—આ વિષયમાં ભગવાને બોધ આપ્યો છે આ જીવન માટે વંદન, માનન, અને પૂજાને માટે, જન્મ-મરણથી મુક્ત થવા માટે તથા દુઃખોનું નિવારણ કરવા માટે તે પોતે અગ્નિશસ્ત્રનો આરંભ કરે છે, બીજા પાસે અગ્નિશસ્ત્રનો આરંભ કરાવે છે, અને

समारभइ, अण्णेहिं वा अगणिसत्थं समारभावेइ, अण्णे वा अगणिसत्थं समारभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए, तं से अबोहीए ॥ सू० ७ ॥

छाया—

तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता । अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दनमानन पूजनाय जातिमरणमोचनाय दुःखप्रतिघातहेतुं स स्वयमेव अग्निशस्त्रं समारभते, अन्यैर्वा अग्निशस्त्रं समारम्भयति, अन्यान् वा अग्निशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानाति, तत् तस्याहिताय, तत् तस्याबोधये ॥ सू० ७ ॥

टीका—

तत्र=अग्निकायसमारम्भे भगवता=श्रीमहावीरेण परिज्ञा=सम्यगवबोधः खलु प्रवेदिता=प्रतिबोधिता । कर्मबन्धसमुच्छेदार्थं जीवेन परिज्ञाऽवश्यं शरणीकरणीयेति भगवता प्रतिबोधितमिति भावः ।

उपभोगद्वारम्—

लोकः कस्मै प्रयोजनायाग्निकायमुपमर्दयति ?—त्याह—'अस्य चैव जीवितस्ये'

आरंभ करवाता है और अग्निशस्त्र का आरंभ करने वाले दूसरों का अनुमोदन करता है, सो यह उस के अहित के लिए है, यह अबोधि के लिए है ॥ सू० ७ ॥

टीकार्थ—अग्निकाय के समारंभ में श्री महावीरने सम्यक् उपदेश दिया है । आशय यह है कि—कर्मबंध का नाश करने के लिए जीव को परिज्ञाका आश्रय अवश्य लेना चाहिए, ऐसा उपदेश दिया है ।

उपभोगद्वार—

किस प्रयोजन से लोग अग्निकाय की हिंसा करते हैं यह बतलाते हैं—इसी

અગ્નિશસ્ત્રનો આરંભ કરવાવાળા બીજાને અનુમોદન કરે છે તે એના (પોતાના) અહિત માટે છે, તે અબોધિને માટે છે (સૂ. ૭)

ટીકાર્થ—અગ્નિકાયના સમારંભમાં શ્રી મહાવીરે સમ્યક્ ઉપદેશ આપ્યો છે આશય એ છે કે–કર્મબંધનો નાશ કરવા માટે જીવે પરિજ્ઞાનો આશ્રય અવશ્ય લેવો જોઈએ. એવો ઉપદેશ આપ્યો છે

ઉપભોગ દ્વાર–

કયા પ્રયોજનથી લોક અગ્નિકાયની હિંસા કરે છે એ બતાવે છે—આ ક્ષણભંગુર

त्यादि। अस्यैव क्षणभङ्गुरस्य जीवितस्य=जीवनस्य सुखार्थं प्रकाशकरणार्थम्, ओदनादिरन्धनार्थं, धूमयानादिगतिसिद्ध्यर्थं चेत्यर्थः। तथा-परिवन्दन-मानन-पूजनाय-परिवन्दनं=प्रशंसा तदर्थं, यथा-अग्निमन्त्रेण 'आतिशबाजी' इति भाषाप्रसिद्धे क्षणनश्वरस्फुलिङ्गवृष्ट्यादौ, मानन=जनसत्कार, तदर्थं, यथा-भूपादीन् प्रसादयितु दीपमालादीपवृक्षनिर्माणादौ। पूजन=वस्त्ररत्नादिपुरस्कारलाभस्तदर्थं, यथा-देवप्रतिमाद्यर्थं धूपदीपारात्रिककरणादौ। तथा-जातिमरणमोचनाय=जन्म-मरणबन्धमोचनार्थं, यथा-हवनादौ, दुःखप्रतिघातहेतुम्=वातरोगापनयनार्थं शीतापनोदनार्थं ज्वरविषूचिकादिनिवृत्त्यर्थं च दहनप्रतापनादौ, स=नश्वरजीवन-सुखाद्यर्थी स्वयमेव अग्निशस्त्रम्=अग्न्युपमर्दक द्रव्यभावशस्त्र समारभते=व्यापारयति।

क्षणभङ्गुर जीवन के सुख के लिए, प्रकाश करने के लिए, चावल आदि पकाने के लिए, रेल आदि चलाने के लिए, तथा अपनी प्रशंसा के लिए, जैसे-अग्निमन्त्र से क्षणविनश्वर चिनगारियाँ बरसाने के लिए अर्थात् 'अतिशबाजी' के लिए' जन-सत्कार के लिए जैसे-राजा वगैरह को प्रसन्न करने के उद्देश्य दीपमालिका जलाना या दीपकों के वृक्ष की रचना करना, तथा वस्त्र, रत्न आदि पुरस्कार पाने के लिए, जैसे-देवप्रतिमा आदि के लिए धूप-दीप आदि करना। तथा जन्म मरण से मुक्त होने के लिए, जैसे हवन आदि में दुःखों का प्रतीकार करने के लिए, जैसे-वातरोग हटाने के लिए, ठंड दूर करने के लिए तथा ज्वर एवं विषूचिका दूर करने के लिए डांम देना या तपाना आदि कार्य करने में। इन सब प्रयोजनों के लिए इस जीवन के सुख का अर्थी पुरुष स्वयं द्रव्य

જીવનના સુખ માટે, પ્રકાશ કરવા માટે, ચોખા આદિ રાંધવા માટે, રેલ આદિ ચલાવવા માટે તથા પોતાની પ્રશંસા માટે, જેમકે-અગ્નિમંત્રથી ક્ષણવિનશ્વર ચિનગારીઓ વરસાવવા માટે. અર્થાત્ 'આતશબાજી' માટે, જનસત્કાર માટે, જેમ-રાજા વગેરેને પ્રસન્ન કરવાના ઉદ્દેશથી દીપમાલિકા જલાવવી અથવા દીપકોના વૃક્ષની રચના કરવી, તથા વસ્ત્ર, રત્ન આદિ પુરસ્કાર પ્રાપ્ત કરવા માટે જેમ-દેવપ્રતિમા આદિ માટે ધૂપ-દીપ આદિ કરવું, તથા જન્મ-મરણથી મુક્ત થવા માટે જેમ-હવન આદિમાં, દુઃખોનો પ્રતિકાર કરવા માટે જેમ-વાતરોગ હટાવવા માટે, ઠંડી દૂર કરવા માટે તથા જ્વર-તાવ અને કોલેરા દૂર કરવા માટે ડાંભવું-આદિ કાર્ય કરવામાં, આ સર્વ પ્રયોજનો માટે આ જીવનના સુખના અર્થી પુરુષ પોતે દ્રવ્યભાવ રૂપ અગ્નિશસ્ત્રનો

अन्यैर्वा अग्निशस्त्र समारम्भयति=उद्योजयति । अन्यान् वा अग्निशस्त्र समारभमाणान् समनुजानाति=अनुमोदयति । तत्=अग्निकायसमारम्भणं, तस्य=अग्निकायसमारम्भण कुर्वत', कारयितु, अनुमोदयितुश्च, अहिताय भवति, तथा तत्, तस्य अबोधये= सम्यक्त्वालाभाय, भवति ॥ सू० ७ ॥

येन तु तीर्थङ्करादिसमीपेऽग्निकायजीवस्वरूप परिज्ञातं स एव विभावयतीत्याह –' से त ' इत्यादि ।

मूलम्—

से त संबुज्झमाणे आयाणीय समुट्ठाय सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं वा अंतिए, इहमेगेसिं णाय भवइ–एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थ गढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं

भावरूप अग्निशस्त्र का आरभ करता है, दूसरों से आरम करवाता है और आरभ करने वालों की अनुमोदना करता है । वह अग्निकाय का आरभ, करने, कराने और अनुमोदन करने वाले के अहित और सम्यक्त्व की अप्राप्ति के लिए होता है ॥ सू० ७ ॥

जिस ने तीर्थङ्कर आदि से अग्निकाय का स्वरूप समझ लिया है वह इस प्रकार विचार करता है–'से त ' इत्यादि ।

मूलार्थ—जो पुरुप तीर्थङ्कर भगवान् या उनके अनगारों से उपदेश सुनकर चारित्र अङ्गीकार कर के विचरता है, वह इस प्रकार सोचता है–ससार में किन्हीं–किन्हीं को ही यह ज्ञान होता है कि–यह ग्रथ है, यह मोह है, यह मार है, यह नरक है।

આરભ કરે છે બીજા પાસે આરભ કરાવે છે, અને આરભ કરવાવાળાને અનુમોદન આપે છે–આ અગ્નિકાયનો આરભ કરનાર, કરાવનાર અને કરનારને અનુમોદન આપનારના અહિત અને સમ્યક્ત્વની અપ્રાપ્તિ માટે થાય છે (સૂ. ૭)

જેણે તીર્થંકર આદિ પાસેથી અગ્નિકાયનું સ્વરૂપ સમજી લીધુ છે, તે આ પ્રમાણે વિચાર કરે છે –'સેત' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—જે પુરુષ તીર્થંકર ભગવાન અથવા તો તેમના અણગારો પાસેથી ઉપદેશ સાભળી ચારિત્ર અગીકાર કરીને વિચરે છે–તે આ પ્રમાણે વિચારે છે કે:–સસારમાં કોઈ–કોઈનેજ આ જાણવામાં હોય છે કે–આ ગ્રથ છે, આ મોહ છે, આ માર–મૃત્યુ છે

त्यादि। अस्यैव क्षणभङ्गुरस्य जीवितस्य=जीवनस्य सुखार्थं प्रकाशकरणार्थम्, ओदनादिरन्धनार्थं, धूमयानादिगतिसिद्ध्यर्थं चेत्यर्थः। तथा-परिवन्दन-मानन-पूजनाय-परिवन्दन=प्रशंसा तदर्थं, यथा-अग्नियन्त्रेण 'आतिशबाजी' इति भाषाप्रसिद्धे क्षणनश्वरस्फुलिङ्गवृष्ट्यादौ, मानन=जनसत्कार' तदर्थं, यथा-भूपादीन् प्रसादयितुं दीपमालादीपवृक्षनिर्माणादौ। पूजन=वस्त्ररत्नादिपुरस्कारलाभस्तदर्थं, यथा-देवप्रतिमाद्यर्थं धूपदीपारात्रिककरणादौ। तथा-जातिमरणमोचनाय=जन्म-मरणबन्धमोचनार्थं, यथा-हवनादौ, दुःखप्रतिघातहेतुम्=वातरोगापनयनार्थं शीतापनोदनार्थं ज्वरविषूचिकादिनिवृत्त्यर्थं च दहनप्रतापनादौ, स=नश्वरजीवन-सुखाद्यर्थी स्वयमेव अग्निशस्त्रम्=अग्न्युपमर्दकं द्रव्यभावशस्त्रं समारभते=व्यापारयति।

क्षणभङ्गुर जीवन के सुख के लिए, प्रकाश करने के लिए, चावल आदि पकाने के लिए, रेल आदि चलाने के लिए, तथा अपनी प्रशंसा के लिए, जैसे—अग्नियन्त्र से क्षणविनश्वर चिनगारियाँ बरसाने के लिए अर्थात् 'अतिशबाजी' के लिए' जन—सत्कार के लिए जैसे राजा वगैरह को प्रसन्न करने के उद्देश्य दीपमालिका जलाना या दीपकों के वृक्ष की रचना करना, तथा वस्त्र, रत्न आदि पुरस्कार पाने के लिए, जैसे—देवप्रतिमा आदि के लिए धूप—दीप आदि करना। तथा जन्म मरण से मुक्त होने के लिए, जैसे हवन आदि में दुःखों का प्रतीकार करने के लिए, जैसे—वातरोग हटाने के लिए, ठंढ दूर करने के लिए तथा ज्वर एवं विषूचिका दूर करने के लिए डांभ देना या तपाना आदि कार्य करने में। इन सब प्रयोजनों के लिए इस जीवन के सुख का अर्थी पुरुष स्वयं द्रव्य

જીવનના સુખ માટે, પ્રકાશ કરવા માટે, ચોખા આદિ રાંધવા માટે, રેલ આદિ ચલાવવા માટે તથા પોતાની પ્રશંસા માટે, જેમકે—અગ્નિયંત્રથી ક્ષણવિનશ્વર ચિનગારીઓ વરસાવવા માટે. અર્થાત્ 'આતશબાજી' માટે, જનસત્કાર માટે, જેમ—રાજા વગેરેને પ્રસન્ન કરવાના ઉદ્દેશથી દીપમાલિકા જગાવવી અથવા દીપકોના વૃક્ષની રચના કરવી, તથા વસ્ત્ર, રત્ન આદિ પુરસ્કાર પ્રાપ્ત કરવા માટે જેમ—દેવપ્રતિમા આદિ માટે ધૂપ—દીપ આદિ કરવું, તથા જન્મ—મરણથી મુક્ત થવા માટે જેમ—હવન આદિમાં, દુઃખોનો પ્રતિકાર કરવા માટે જેમ—વાતરોગ હઠાવવા માટે, ઠંડી દૂર કરવા માટે તથા જવર—તાવ અને કોલેરા દૂર કરવા માટે ડામવું—આદિ કાર્ય કરવામાં, આ સર્વ પ્રયોજનો માટે આ જીવનના સુખના અર્થી પુરૂષ પોતે દ્રવ્યભાવ રૂપ અગ્નિશસ્ત્રનો

सजातसम्यग्ज्ञबोधवैराग्याणामात्मार्थिनामेव, ज्ञात=विदित भवति । किं ज्ञात भवती ?
-त्याकाङ्क्षायामाह—'एप खलु ग्रन्थ' ' इत्यादि ।

एपः=अग्निशस्त्रसमारम्भः, खलु=निश्चयेन, ग्रन्थः-ग्रथ्यते=बध्यतेऽनेनेति-ग्रन्थ'=अष्टविधकर्मबन्ध । कारणे कार्योपचारात् कारणभूतोऽग्निशस्त्रसमारम्भ एव कर्मबन्धरूपो ग्रन्थ इत्युच्यते । एवमग्रेऽपि बोध्यम् । तथा-एपः=अग्निशस्त्रसमारम्भः मोह.=विपर्यास.=अज्ञानम् । तथा-एप एव मारः=मरणं-निगोदादिमरणरूप । तथा-एप नरक.=नारकजीवानां दशविधयातनास्थानम् ।

इत्यर्थं=एतदर्थं, कर्मबन्ध-मोह-मरण-नरकरूप घोरदुःखफल प्राप्यापि पुनःपुनरेतदर्थमेव, लोक'=अज्ञानवशवर्ती जीव गृद्ध'=लिप्सुरस्ति । यद्वा-गृद्धः=

जिन्हें सम्यग्ज्ञान और वैराग्य उत्पन्न हो गया है उन आत्मार्थी पुरुषों को ही विदित होता है । क्या विदित होता ' सो कहते हैं-'यह ग्रंथ है' इत्यादि ।

यह अग्निशस्त्र का समारंभ निश्चय ही आठ प्रकार का कर्मबंध है । कारण में कार्य का उपचार करने से अग्निशस्त्र के समारंभ को ही कर्मबंध कहा है, वास्तव में यह समारम्भ कर्मबंध का कारण है । इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए । तथा यह अग्निसमारंभ मोह है-विपर्यास है-अज्ञान है ।

तथा यह समारंभ मृत्युरूप है-निगोद आदि मरणरूप है । और यह नरक है-नरक की दश प्रकार की यातनाओं का स्थान है ।

कर्मबंध, मोह, मरण और नरक रूप घोर दु खमय फल प्राप्त करके भी अज्ञानी

જેને સમ્યગ્જ્ઞાન અને વૈરાગ્ય ઉત્પન્ન થઈ ગયો છે, તે આત્માર્થી પુરૂષોનેજ જાણવામાં હોય છે શું જાણવામા હોય છે? તે કહે છે-' આ ગ્રંથ છે ' આદિ.

આ અગ્નિશસ્ત્રનો આરંભ નિશ્ચય-નક્કીજ આઠ પ્રકારના કર્મબંધ છે કારણમાં કાર્યનો ઉપચાર કરવાથી અગ્નિશસ્ત્રના સમારંભનેજ કર્મબંધ કહ્યો છે વાસ્તવિક રીતે આ સમારંભ કર્મબંધનું કારણ છે આ પ્રમાણે આગળ પણ સમજી લેવું જોઇએ તથા આ સમારંભ મોહ છે-વિપર્યાસ-અજ્ઞાન છે, તથા આ સમારંભ મૃત્યુરૂપ છે-નિગોદ આદિ મરણરૂપ છે અને આ નરક છે-નરકની દસ પ્રકારની યાતનાઓનું સ્થાન છે

કર્મબંધ, મોહ, મરણ અને નરકરૂપ ઘોર દુ ખમય ફલ પ્રાપ્ત કરીને પણ

अगणिकम्मसमारम्भेणं अगणिसत्थं समारम्भमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ॥ सू० ८ ॥

छाया—

स तत् संबुध्यमान आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा खलु भगवतः अनगाराणां वा अन्तिके, इहैकेषां ज्ञातं भवति–एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरकः, इत्यर्थं गृद्धो लोकः, यदिमं विरूपरूपैः शस्त्रैः अग्निकर्मसमारम्भेण अग्निशस्त्रं समारभमाणः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणान् विहिनस्ति ॥ सू० ८ ॥

टीका—

यः खलु भगवतः=तीर्थङ्करस्य, अनगाराणाम्=तदीयश्रमणनिर्ग्रन्थानाम् वा अन्तिके श्रुत्वा=उपदेशं निशम्य आदानीयम्=उपादेयं सर्वसावद्ययोगविरतिरूपं चारित्रं समुत्थाय=अङ्गीकृत्य विहरति स तत्=अग्निकायसमारम्भणं, संबुध्यमानः=अहिताबोधिजनकत्वेन विज्ञाता भवति ।

स हि एवं विभावयति–इह=मनुष्यलोके, एकेषां=श्रमणनिर्ग्रन्थोपदेश

गृद्ध लोक नाना प्रकार के शस्त्रों से अग्निकर्म का आरंभ करके अग्निशस्त्र का व्यापार करता हुआ अन्य भी अनेक प्रकार के प्राणियों की हिंसा करता है ॥ सू० ८ ॥

टीकार्थ—जो पुरुष भगवान् तीर्थङ्कर अथवा उन के अनगारों के निकट उपदेश सुनकर सर्वसावद्ययोग के त्यागरूप चारित्र को स्वीकार कर के विचरता है, वह अग्निकाय के समारंभ को अहितकर और अबोधिकर समझ लेता है ।

वह इस प्रकार सोचता है–इस मनुष्य लोक में, श्रमण निर्ग्रन्थों के उपदेश से

આ નરક છે ગૃદ્ધલોક નાના પ્રકારના શસ્ત્રોથી અગ્નિકર્મનો સમારંભ કરીને અગ્નિશસ્ત્રનો વ્યાપાર કરતા થકા અનેક પ્રકારના પ્રાણીઓની હિંસા કરે છે (સૂ. ૮)

ટીકાર્થ—જે પુરૂષ ભગવાન તીર્થંકર અથવા તેમના અણગારોની સમીપ ઉપદેશ સાંભળીને સર્વસાવદ્યયોગના ત્યાગરૂપ ચારિત્રનો સ્વીકાર કરીને વિચરે છે તે અગ્નિકાયના સમારંભને અહિતકર અને અબોધિકર સમજી લે છે

તે આ પ્રમાણે વિચારે છે કેઃ–આ મનુષ્ય લોકમાં શ્રમણ નિર્ગ્રન્થોના ઉપદેશથી

समारम्भेण=अग्न्युपमर्दनरूपसावद्यव्यापारेण, इमम्=अग्निकाय विहिनस्ति । तथा अग्निशस्त्र समारभमाण'=व्यापारयन् अन्यान्=पृथिवीकायादीन्, अनेकरूपान्=त्रसान् स्थावराश्च, प्राणान्=प्राणिनो, विहिनस्ति=उपमर्दयति ॥ सू० ८ ॥

अग्निशस्त्र समारभमाणा अनेकविधान् जीवान् कथ विहिंसन्ति? तत्प्रतिबोधयितु श्रीसुधर्मा स्वामी प्राह–' से बेमि ' इत्यादि ।

मूलम्—

से बेमि–सति पाणा पुढवीनिस्सिया तणनिस्सिया पत्तनिस्सिया कट्ठनिस्सिया गोमयनिस्सिया कयवरनिस्सिया, सति सपाइमा पाणा आहच्च सपयति, अगणिं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जति, जे तत्य सघायमावज्जति,

---

सावद्य व्यापार कर के अग्निकाय की हिंसा करता है और अग्निकाय का आरभ करता हुआ अन्य पृथ्वीकाय आदि नाना प्रकार के स्थावर एव त्रस प्राणियों का घात करता है ॥ सू० ८ ॥

अग्निशस्त्र का आरभ करने वाले अनेक प्रकार क जीवों की विराधना किस प्रकार करते हैं । यह समझाने के लिए श्रीसुधर्मा स्वामी कहते हैं –' से बेमि ' इत्यादि।

मूलार्थ––यही मैं कहता हूँ—जीव पृथिवी के आश्रित हैं, तृण के आश्रित हैं, पत्ता के आश्रित हैं, काष्ठ के आश्रित हैं गोबर के आश्रित हैं, कचरे के आश्रित हैं, सपातिम जीव अचानक आकर अग्नि में पड जाते हैं, कोई–कोई अग्नि को छूकर सिकुड

વ્યાપાર કરીને અગ્નિકાયની હિંસા કરે છે અને અગ્નિકાયનો આરભ કરવા સાથે અન્ય પૃથ્વીકાય આદિ નાના પ્રકારના ત્રસ જીવો એ પ્રમાણે સ્થાવર પ્રાણીઓનો ઘાત કરે છે (સ. ૮)

અગ્નિશસ્ત્રનો આરભ કરવાવાળા અનેક પ્રકારના જીવોની વિરાધના કયા પ્રકારે (કેવી રીતે) કરે છે? તે સમજાવવા માટે, શ્રી સુધર્મા સ્વામી કહે છે –'से बेमि' ઇત્યાદિ.

મૂલાર્થ—તે હું કહું છુ–જીવ પૃથ્વીના આશ્રિત છે તૃણને આશ્રિત છે પત્તાં–પાંદડાને આશ્રિત છે લાકડાંને આશ્રિત છે છાણને આશ્રિત છે કચરાને આશ્રિત છે સપાતિમજીવ અચાનક આવીને અગ્નિમા પડી જાય છે જે સકોચાઈ જાય છે તે

भोगाभिलापी लोकः=संसारी जीव' इत्यर्थम्=एतदर्थमेव=कर्मबन्धमोहमरणनरकार्थमेव प्रवर्तते इति शेषः ।

अयं भावः—भोगाभिलापी लोकः शरीरादिपरिपोषणार्थं परिवन्दनमाननपूजनार्थं जातिमरणमोचनार्थं दुःखप्रतिघातार्थं चाग्निशस्त्रसमारम्भं करोति, तत्फलं खलु कर्मबन्ध–मोह–मरण–नरकरूपमेव लभते, तस्मादग्निशस्त्रसमारम्भस्य तदेव फलं बोध्यमिति ।

'लोकः पुनः पुनः कर्मबन्धाद्यर्थमेव प्रवर्तते' इति यदुक्तं, तत् कथं ज्ञायते ? इति जिज्ञासायामाह—'यदिमम्' इत्यादि ।

यत्=यस्मात्, विरूपरूपैः=नानाविधैः शस्त्रैः=पूर्वोक्तप्रकारैः अग्निकर्म-

---

जीव बार–बार इसी की इच्छा करते हैं । अथवा भोगों का अभिलाषी संसारी जीव इस कर्मबंध, मोह मरण और नरक के लिए ही प्रवृत्त होते हैं ।

तात्पर्य यह है—भोगों का अभिलाषी लोक शरीर आदि का पोषण करने के लिए, वन्दना, मानना और पूजा के लिए जन्म–मरण से मुक्त होने के लिए और दुःख का प्रतीकार करने के लिए अग्निशस्त्र का समारंभ करता है और फलस्वरूप कर्मबंध, मोह, मरण और नरक रूप फल पाता है । अत एव अग्निशस्त्र के समारंभ का फल यही बंध आदि समझना चाहिए ।

'लोक बार–बार कर्मबंध आदि के लिए ही प्रवृत्ति करता है' यह जो कहा है सो कैसे ज्ञात हुआ ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं—

क्यों कि वह नाना प्रकार के पूर्वोक्तशस्त्रों से अग्नि की विराधना करने वाला

અજ્ઞાની જીવ વારવાર તેનીજ ઇચ્છા કરે છે અથવા–ભોગોના અભિલાષી સંસારી જીવ આ કર્મબંધ, મોહ, મરણ અને નરક માટેજ પ્રવૃત્ત થાય છે

તાત્પર્ય એ છે–ભોગોના અભિલાષી માણસો શરીર આદિનું પોષણ કરવા માટે વંદના, માનના અને પૂજાને માટે, જન્મમરણથી મુક્ત થવા માટે અને દુઃખનો પ્રતિકાર કરવા માટે અગ્નિશસ્ત્રનો સમારંભ કરે છે અને ફલસ્વરૂપ કર્મબંધ, મોહ, મરણ અને નરકરૂપ ફલને પ્રાપ્ત કરે છે એટલા માટે અગ્નિશસ્ત્રના સમારંભનું ફલ તે બંધ આદિ સમજવાં જોઈએ.

લોક વાર–વાર કર્મબંધ વગેરે માટેજ પ્રવૃત્તિ કરે છે એવું જે કહ્યું તે કેવી રીતે જાણવામાં આવ્યું ? આ પ્રમાણે જીજ્ઞાસા થવાથી કહે છે—

કેમકે તે નાના પ્રકારના પૂર્વોક્ત શસ્ત્રોથી અગ્નિની વિરાધના કરવાવાળા થાય

समारम्भेण=अग्न्युपमर्दनरूपसावद्यव्यापारेण, इमम्=अग्निकाय विहिनस्ति । तथा अग्निशस्त्र समारभमाण'=व्यापारयन् अन्यान्=पृथिवीकायादीन्, अनेकरूपान्=त्रसान् स्थावरांश्च, प्राणान्=प्राणिनो, विहिनस्ति=उपमर्दयति ॥ सू० ८ ॥

अग्निशस्त्र समारभमाणा अनेकविधान् जीवान् कथ विहिंसन्ति? तत्प्रति-बोधयितु श्रीसुधर्मा स्वामी प्राह–'से बेमि' इत्यादि ।

मूलम्—

से बेमि–सति पाणा पुढवीनिस्सिया तणनिस्सिया पत्तनिस्सिया कट्ठ-निस्सिया गोमयनिस्सिया कयवरनिस्सिया, सति सपाइमा पाणा आहच्च सपयति, अगणिं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जति, जे तत्थ सघायमावज्जति,

---

सावद्य व्यापार कर के अग्निकाय की हिंसा करता है और अग्निकाय का आरंभ करता हुआ अन्य पृथ्वीकाय आदि नाना प्रकार के स्थावर एव त्रस प्राणियों का घात करता है ॥ सू० ८ ॥

अग्निशस्त्र का आरम करने वाले अनेक प्रकार के जीवों की विराधना किस प्रकार करते हैं । यह समझाने के लिए श्रीसुधर्मा स्वामी कहते हैं –' से बेमि ' इत्यादि।

मूलार्थ—-वही मैं कहता हूँ–जीव पृथिवी के आश्रित हैं, तृण के आश्रित है, पत्ता के आश्रित हैं, काष्ठ के आश्रित हैं गोबर के आश्रित हैं, कचरे के आश्रित हैं, सपातिम जीव अचानक आकर अग्नि में पड जाते हैं, कोई–कोई अग्नि को छूकर सिकुड

વ્યાપાર કરીને અગ્નિકાયની હિંસા કરે છે અને અગ્નિકાયનો આરભ કરવા સાથે અન્ય પૃથ્વીકાય આદિ નાના પ્રકારના ત્રસ જીવો એ પ્રમાણે સ્થાવર પ્રાણીઓનો ઘાત કરે છે (સૂ. ૮)

અગ્નિશસ્ત્રનો આરભ કરવાવાળા અનેક પ્રકારના જીવોની વિરાધના કયા પ્રકારે (કેવી રીતે) કરે છે? તે સમજાવવા માટે, શ્રી સુધર્મા સ્વામી કહે છે –'से बेमि' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—તે હું કહું છુ–જીવ પૃથ્વીના આશ્રિત છે તૃણને આશ્રિત છે પત્તા-પાદડાને આશ્રિત છે લાકડાને આશ્રિત છે છાણને આશ્રિત છે કચરાને આશ્રિત છે સપાતિમજીવ અચાનક આવીને અગ્નિમા પડી જાય છે જે સકોચાઈ જાય છે તે

ते तत्थ परियावज्जति जे तत्थ परियावज्जति ते तत्थ उद्दायति ॥ सू० ९ ॥

छाया—

तद् ब्रवीमि-सन्ति प्राणा पृथिवीनिश्रिता' तृणनिश्रिता पत्रनिश्रिता' काष्ठनिश्रिता गोमयनिश्रिताः कचवरनिश्रिताः, सन्ति सपातिमा प्राणा आहत्य संपतन्ति, अग्निं च खलु स्पृष्टा एके संघातमापद्यन्ते, ये तत्र संघातमापद्यन्ते ते तत्र पर्यापद्यन्ते, ये तत्र पर्यापद्यन्ते ते तत्रापद्रावन्ति ॥ सू० ९ ॥

टीका—

तद्=अग्निकायहिंसया यथा बहुविधाः प्राणिनः प्रणश्यन्ति, तद् ब्रवीमि=कथयामि, पृथिवीनिश्रिताः=पृथिवीरूपं कायमाश्रित्य वर्तमानाः' पृथिवीकायिका इत्यर्थः । 'पृथिवीनिश्रिता' इत्युपलक्षणम्, तेन तदाश्रिताः कृमि-कुन्थु-पिपीलिका-भुजङ्गम-मण्डूक-वृश्चिक-कर्कटकादयो गृह्यन्ते । तथा च पृथिवीकायिकास्तदाश्रितास्त्रसाश्चेत्यर्थः, वृक्षलतादयश्च । तथा-तृणनिश्रिता =वनस्पतिकायिका,

जाते हैं, जो सिकुड़ जाते हैं वे मूर्छित हो जाते हैं और जो मूर्छित हो जाते हैं वे मर भी जाते हैं ।।सू० ९।।

टीकार्थ—अग्निकाय की हिंसा से बहुत प्रकार के जीवों का घात होता है, सो मैं कहता हूँ-पृथिवी के सहारे रहने वाले जीव पृथिवीकायिकों के अतिरिक्त और भी बहुत से हैं । जैसे-कृमि, कुंथुवा, चिउंटी, सांप, मेंढक, बिच्छु, केंकडा, आदि । अतः पृथिवी आश्रित का अर्थ यहां पृथिवीकायिक स्थावर तथा त्रस जीव लेना चाहिए । वृक्ष और बेल आदि भी इसी में सम्मिलित हैं । तथा तृण—आश्रित वनस्पतिकाय के

મૂર્છિત થઈ જાય છે, અને જે મૂર્છિત થાય છે તે મરી પણ જાય છે (સૂ. ૯)

ટીકાર્થ—અગ્નિકાયની હિંસાથી ઘણાજ પ્રકારના જીવોનો ઘાત થાય તે હું કહું છું-પૃથ્વીના આશ્રયે રહેવાવાળા જીવ પૃથ્વીકાયોની સાથે બીજા પણ ઘણા છે જેમ કૃમિ કુંથવા, કીડીઓ, સાપ, દેડકા, વીછી કેંકડા આદિ એ કારણથી પૃથ્વીઆશ્રિતનો અર્થ અહિં પૃથ્વીકાયિક સ્થાવર તથા ત્રસ જીવ લેવા જોઈએ વૃક્ષ અને વેલા-વેલ આદિ પણ તેમાં સમ્મિલિત છે તથા તૃણ-આશ્રિત વનસ્પતિકાયના જીવ અને તૃણના આશ્રયે રહેવા

तृणमाश्रित्यावस्थायिन' मशकरीटठणजलौकादयश्च, तथा-पत्रनिश्रिता =वनस्पतिकायिका' पत्रमाश्रित्य निवासिन पिपीलिकाभेदा' 'घोडन' इति मगधदेशे प्रसिद्धा, कीटपतङ्गनीलङ्गुप्रभृतयश्च, तथा-काष्ठनिश्रिता काष्ठ शरणीकृत्य स्थिता घुणोद्देहिका-तन्ण्डादय, अत्र काष्ठ शुष्कमिन्धनरूप सार्द्र च गृह्यते। तथा-गोमयनिश्रिता =गण्डूपदभूमिस्फोटादय । तथा कचवरनिश्रिता -कचवर' शुष्कतृणपत्ररज समुदायस्प, त निश्रिता'=समाश्रिता कृमिकुन्थुकीटादय प्राणाः=प्राणिन' सन्ति।

तथा-सपातिमा.=उत्प्लुत्योत्प्लुत्य पतनशीला, प्राणा'=प्राणिन दंशमशकमक्षिकापतङ्गपक्षिपवनादय सन्ति। एते सपातिमा आहत्य=अग्निशिखाकृष्टा स्वयमेवोपेत्य, अग्नौ सपतन्ति।

जीव और तृण क सहारे रहने वाले मच्छर कीडे और घास की जलोक (जौक) आदि तृण-निश्रित कहलाते हैं। पत्तों के सहारे रहने वाले मगध देश में प्रसिद्ध घोडन तथा कीट, पतग एव नील्गु (छट) आदि जीव हैं। घुन, उदई और उनके अण्डे आदि काठ के सहारे रहने वाले जीव काष्ठनिश्रित कहलाते हैं। यहाँ 'काष्ठ' शब्द से सूखा ईंधनरूप काठ और गीला काठ, दोनों समझने चाहिए। तथा गोबर के आश्रित गिंडोला और भूमिस्फोटक (भूफोड) आदि जीव हैं। इसी केकार कचरे के सहारे रहने वाले कृमि कुथुवा तथा कीडा वगैरह, ये सब प्राणी हैं।

उड-उड कर गिरने वाले डांस, मच्छर, मक्खी पतग, पक्षी और पवन आदि संपातिम जीव कहलाते हैं। ये सपातिम जीव आग की शिखा से स्वय आकर्षित हो कर आग में गिर जाते हैं।

વાળા મચ્છર કીડા અને ઘાસની જળો આદિ તૃણ આશ્રિત કહેવાય છે પત્તા-પાંદડાના આશ્રયે રહેનારવાળા મગધદેશમા પ્રસિદ્ધ ઘોડન તથા કીટ પતગ અને નીલગુ (લટ) આદિ જીવ છે ઘુણ ઉધેઈ અને તેના ઈંડા આદિ-લાકડાના સહારે રહેવાવાળા જીવ કાષ્ઠનિશ્રિત કહેવાય છે અહિ કાષ્ઠ શબ્દથી સૂકાં લાકડાંરૂપ કાષ્ઠ અને લીલા કાષ્ઠ, આ બન્ને સમજવાં જોઇએ, તથા છાણમાં આશ્રય કરીને રહેલાં ગિંગોળા અને ભૂફોડા આદિ જીવ છે આ પ્રમાણે કચરાના આશ્રયે રહેવાવાળા કૃમિ, કુંથુવા તથા કીડા વગેરે, આ સર્વ પ્રાણી છે

ઉડી-ઉડીને પડવાવાળા ડાંસ, મચ્છર, માખી, પતગ, પક્ષી અને પવન આદિ સપાતિમ જીવ કહેવાય છે એ સપાતિમ જીવ આગની-અગ્નિની શિખાથી પોતે આકર્ષિત થઈને અગ્નિમા પડી જાય છે

अग्निकायसमारम्भे पृथिव्यादिसमाश्रितानां स्थावराणां त्रसानां चोपमर्दनादिकं यथा भवति तद् दर्शयितुमाह—अग्निं चेत्यादि ।

एके—केचित् प्राणिनः, अग्निम्=समुत्पादितं प्रज्वालितं चाग्निकायं स्पृष्टाः स्पर्शकर्तारः, आर्षत्वात् कर्तरि क्तः ।

सघातं=पक्षादिदहनेन गात्रसंकोचनम् आपद्यन्ते, प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । तत्र=अग्नौ पतित्वा ये जीवाः सघातमापद्यन्ते, ते तत्र पर्यापद्यन्ते=तापाभिभूता मूर्छां प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । ये तत्र=अग्नौ पर्यापद्यन्ते, ते तत्र=अग्नौ, अपद्रावन्ति=प्राणान् परित्यजन्ति । अग्निसमारम्भेण केवलमग्निकायविराधना न भवति, अपितु सर्वदिक्संचारिणां त्रसानां पृथिव्यादीनां स्थावराणामपि बहुतराणां हिंसाऽवश्यं भवतीति भावः । अत एवोक्तं भगवता—

अग्निकाय का आरंभ करने से पृथिवी आदि में आश्रित स्थावरों और त्रस जीवों का विराधन किस प्रकार होता है ? सो कहते हैं ।

कोई—कोई प्राणी जलती अग्नि को स्पर्श करके सिकुड जाते हैं—उन के पंख वगैरह जल जाते हैं । अग्नि में पड कर जो जीव सघात को प्राप्त होते हैं वे गर्मी से मूर्छित हो जाते हैं । अग्नि में गिरने वाले अपने प्राण भी खो देते हैं । अग्नि का समारंभ करने से केवल अग्निकाय की ही विराधना नहीं होती वरन् सभी दिशाओं में संचार करने वाले त्रस और बहुत से स्थावर जीवों की भी हिंसा अवश्य होती है । इसी लिए भगवान् ने कहा है—

અગ્નિકાયનો આરંભ કરવાથી પૃથ્વીઆદિમાં આશ્રય કરીને રહેલાં સ્થાવરો અને ત્રસ જીવોની વિરાધના જે પ્રકારે થાય છે, તે કહે છે—

કોઈ–કોઈ પ્રાણી બળતી અગ્નિનો સ્પર્શ કરીને સંકોચાઈ જાય છે તેની પાંખો વગેરે બળી જાય છે અગ્નિમાં પડીને જે જીવ સંઘાતને પ્રાપ્ત થાય છે તે ગરમીથી મૂર્છિત થઈ જાય છે અગ્નિમાં પડવાવાળા જીવ જે મૂર્છિત થઈ જાય છે તે પોતાના પ્રાણ પણ ખોઈ નાખે છે. અગ્નિનો સમારંભ કરવાથી કેવલ અગ્નિકાયની વિરાધના થતી નથી, પરન્તુ સર્વ દિશાઓમાં સંચાર કરવાવાળા ત્રસ અને બહુજ સ્થાવર જીવોની પણ હિંસા અવશ્ય થાય છે એ માટે ભગવાને કહ્યું છે—

"जायतेय न इच्छंति, पावग जलइत्तए ।
तिक्खमन्नयर सत्थ, सव्वओवि दुरासय ॥ १ ॥
पाईण पडिण वावि, उड्ढ अणुदिसामवि ।
अहे दाहिणओ वावि, दहे उत्तरओवि य ॥ २ ॥
भूयाणमेसमाघाओ, हव्ववाहो न ससओ ।
त पईवपयावट्ठा, सजओ किंचि नारभे ॥ ३ ॥"(दशवै० अ० ६)

छाया—जाततेजस नेच्छन्ति, पावक ज्वालयितुम् ।
तीक्ष्णमन्यतरत् शस्त्र, सर्वतोऽपि दुरासदम् ॥ १ ॥
प्राच्या प्रतीच्या वापि, ऊर्ध्वमनुदिक्ष्वपि ।
अधो दक्षिणतो वापि, दहेदुत्तरतोऽपि च ॥ २ ॥
भूतानामेष आघातो, हव्यवाहो न सशय' ।
त प्रदीपप्रतापनार्थं, सयत किञ्चिन्नारभेत ॥ ३ ॥

"साधु अग्नि को जलाने की इच्छा तक नहीं करते, क्यों कि यह एक बड़ा ही तीखा शस्त्र है, जो किसी भी ओर से दुस्सह है—सभी ओर से जलाता है ॥१॥

यह अग्निशस्त्र पूर्व से भी और पश्चिम से भी ऊपर से भी और विदिशाओं की तरफ से भी नीचे से भी और दक्षिण से भी तथा उत्तर से भी जलाता है ॥२॥

अग्नि जीवों का घातक है, इस में कोई सशय नहीं है । साधु दीपक जलाने तथा प्रतापन के लिए उस का जरा भी आरम्भ नहीं करते ॥३॥ (दशवै अध्य ६)

फिर भी कहा है—

"સાધુ અગ્નિને સળગાવવાની ઇચ્છા સુધી કરતા નથી, કારણ તે એક મહાન તીક્ષ્ણ શસ્ત્ર છે તે કોઈપણ બાજુથી દુસ્સહ છે—ચારેય તરફથી બાળે છે" ॥ ૨ ॥

આ અગ્નિશસ્ત્ર પૂર્વથી પણ અને પશ્ચિમથી પણ ઉપરથી અને વિદિશાઓની તરફથી પણ નીચેથી અને દક્ષિણથી પણ અને ઉત્તરથી પણ બાળે છે ॥ ૨ ॥

અગ્નિ જીવોનો ઘાતક છે, તેમા કાંઈ પણ સશય નથી સાધુ દીપક સળગાવવા તથા તાપવાને માટે તેનો જરા પણ આરભ કરતા નથી" ॥ ૩ ॥ (દશવૈ અધ્ય. ૬)

ફરી પણ કહે છે—

"दो पुरिसा सरिसवया अन्नमन्नेहिं सद्धिं अगणिकायं समारंभंति, तत्थ णं एगे पुरिसे अगणिकायं समुज्जालेति, एगे विज्झवेति, तत्थ णं के पुरिसे महाकम्मयराए ? के पुरिसे अप्पकम्मयराए ? गोयमा ! जे उज्जालेति से महाकम्मयराए, जे विज्झवेति से अप्पकम्मयराए" ॥

छाया—द्वौ पुरुषौ सदृशवयस्कौ अन्यान्याभ्यां सार्द्धम् अग्निकायं समारभेते, तत्र खलु एकः पुरुषः अग्निकायं समुज्ज्वालयति, एको विध्यापयति, तत्र खलु कः पुरुषः महाकर्मतरकः ? कः पुरुषः अल्पकर्मतरकः ? । गौतम ! यः (अग्निं) उज्ज्वालयति स महाकर्मतरकः, य (अग्निं) विध्यापयति स अल्पकर्मतरकः (भगवती सूत्र०) ॥ सू० ९ ॥

तदेवमग्निकायहिंसया बहुतरजीवोपमर्दनं भवतीति विदित्वा त्रिकरणत्रियोगैः कृतकारितानुमोदितैश्चाग्निशस्त्रसमारम्भो वर्जनीय इत्याह—'एत्थ सत्थं' इत्यादि ।

"समान उम्र वाले दो पुरुष परस्पर अग्निकाय का आरंभ करते हैं। एक पुरुष अग्निकाय को जलाता है और एक बुझाता है। इन में से कौन-सा पुरुष महाकर्म बाँधता है ? और कौन अल्पकर्म बाँधता है ? । हे गौतम ! जो अग्नि जलाता है वह महा कर्म बाँधता है और जो अग्नि बुझाता है वह अल्प कर्म बाँधता है" (भगवतीसूत्र) ॥ सू० ९॥

इस प्रकार अग्निकाय की हिंसा होती है, यह जानकर तीन करण, तीन योग से, तथा कृत, कारित और अनुमोदना से अग्निशस्त्र का समारंभ त्याग देना चाहिए, यही बात कहते हैं—'एत्थ सत्थं' इत्यादि ।

"સમાન ઉમરવાળા બે પુરૂષ પરસ્પર અગ્નિકાયનો આરંભ કરે છે એક પુરૂષ અગ્નિકાયને સળગાવે છે બાળે છે અને એક બુઝાવે-ઓલવે છે તે બેમાંથી કયો પુરૂષ મહા કર્મ બાંધે છે અને કોણ અલ્પ કર્મ બાંધે છે? હે ગૌતમ ! જે અગ્નિ સળગાવે છે-બાળે છે તે મહા કર્મ બાંધે છે અને જે અગ્નિ બુઝાવે છે તે અલ્પ કર્મ બાંધે છે" (ભગવતી સૂત્ર.) (સૂ. ૯)

આ પ્રમાણે અગ્નિકાયની હિંસાથી ઘણા પ્રકારના જીવોની હિંસા થાય છે એ જાણી કરીને ત્રણ કરણ, ત્રણ યોગથી તથા કરવું, કરાવવું અને અનુમોદનાથી અગ્નિશસ્ત્રનો સમારંભ ત્યાગ દેવો જોઈએ, એજ વાત કહે છે-'एत्थ सत्थं,' ઈત્યાદિ.

मूलम्—

एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति। एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति। तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं अगणिसत्थं समारंभेज्जा, नेवऽण्णेहिं अगणि-सत्थं समारंभावेज्जा अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे न समणु जाणिज्जा जस्सेते अगणिकम्मसमारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णायकम्मे-त्ति बेमि ॥ सू० १० ॥

॥ चउत्थो उद्देसो समत्तो ॥ १-४ ॥

छाया—

अत्र शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरम्भा अपरिज्ञाता भवन्ति। अत्र शस्त्रसमारभमाणस्य इत्येते आरम्भा परिज्ञाता भवन्ति। तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयमग्निशस्त्रं समारभेत नैवान्यैरग्निशस्त्रं समारम्भयेत्, अग्निशस्त्रं समारभमाणान् अन्यान् न समनुजानीयात्। यस्यैते अग्निकर्मसमारम्भा परिज्ञाता भवन्ति, स खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा-इति ब्रवीमि ॥ सू० १० ॥

॥ चतुर्थ उद्देशः समाप्तः ॥ १-४ ॥

टीका—

अत्र=अस्मिन् अग्निकाये, शस्त्रं द्रव्यभावरूपं प्रागुक्तं समारभमाणस्य=

मूलार्थ—अग्निशस्त्र का आरंभ करने वाला इन आरंभो को नहीं जानता। अग्निशस्त्र का आरंभ न करने वाला इन आरंभो को जानता है। इन्हें जानकर बुद्धिमान् पुरुष स्वयं अग्निशस्त्र का आरंभ न करे, दूसरों से अग्निशस्त्र का आरंभ न करावे और अग्निशस्त्र का आरंभ करने वाले की अनुमोदना न करे। जो इन समारंभो का ज्ञाता होता है वही मुनि परिज्ञातकर्मा है, ऐसा मैं (भगवान् के कथनानुसार) कहता हूँ ॥सू० १०॥

टीकार्थ—अग्निकाय में द्रव्य और भावरूप पूर्वोक्त शस्त्र का व्यापार करने

મૂલાર્થ—અગ્નિશસ્ત્રનો આરંભ કરવાવાળા એ આરંભોને જાણતા નથી. અગ્નિ શસ્ત્રનો આરંભ નહિ કરવાવાળા એ આરંભોને જાણે છે તેને જાણીને બુદ્ધિમાન પુરૂષ સ્વયં અગ્નિશસ્ત્રનો આરંભ ન કરે, બીજા પાસે અગ્નિશસ્ત્રનો આરંભ કરાવે નહિ. અને અગ્નિશસ્ત્રનો આરંભ કરવાવાળાને અનુમોદન આપે નહિ જે આ સમારંભોના જ્ઞાતા-જાણકાર હોય છે તે મુનિ પરિજ્ઞાતકર્મા છે એ પ્રમાણે હું (ભગવાનના કથનાનુસાર) કહું છું (સૂ. ૧૦)

ટીકાર્થ—અગ્નિકાયમાં દ્રવ્ય અને ભાવરૂપ પૂર્વોક્ત શસ્ત્રનો વ્યાપાર (ઉપયોગ)

व्यापारयत', इत्येते=पचनपाचनादय आरम्भा=सावद्यव्यापाराः, अपरिज्ञाताः= अष्टविधकर्मबन्धकारणत्वेनाविज्ञाता भवन्ति, अग्निकाये शस्त्र मयुञ्जानस्य परिज्ञाया अभावादिति भावः ।

अत्र=अस्मिन् अप्काये शस्त्रम्=पूर्वोक्तस्वरूपम्, असमारभमाणस्य=अप्रयुञ्जानस्य, इत्येते=पचनपाचनादयः, आरम्भाः=सावद्यव्यापाराः, परिज्ञाताः ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाताः भवन्ति, प्रत्याख्यानपरिज्ञया परित्यक्ता भवन्तीत्यर्थः ।

ज्ञपरिज्ञापूर्विका प्रत्याख्यानपरिज्ञा यथा समुद्भवति तथा दर्शयति–'तत् परिज्ञाय'–त्यादि । तत्=अग्निकायारम्भणं, परिज्ञाय='कर्मबन्धाय भवती' त्येवमवबुध्य, मेधावी=हेयोपादेयविवेककुशलः, साधुमर्यादावधानशील इति यावत्, नैव स्वयमग्निशस्त्रं समारभेत, नैवान्यैरग्निशस्त्रं समारम्भयेत्, अग्निशस्त्र

वाले को अर्थात् पचन–पाचन आदि पापमय कार्य करने वालों को यह ज्ञान नहीं होता कि–यह कार्य आठ प्रकार के कर्मों के बंध का कारण है, क्यों कि अग्निकाय के शस्त्र का प्रयोग करने वाले में परिज्ञा का अभाव होता है ।

अग्निकाय में पूर्वोक्त शस्त्र का व्यापार न करने वाले को सावद्य व्यापारों का ज्ञान होता है । वह ज्ञपरिज्ञा से उन्हें जानता है और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उनका त्याग कर देता है ।

ज्ञपरिज्ञा के बाद प्रत्याख्यानपरिज्ञा किस प्रकार उत्पन्न होती है ? सो कहते हैं–अग्निकाय का आरंभ कर्मबंध का कारण है, यह जानकर हेय–उपादेय के विवेक में प्रवीण साधुमर्यादा का ध्यान रखने वाला स्वयं अग्निशस्त्र का आरंभ नहीं करता, दूसरों से

કરવાવાળાને અર્થાત્–પચન–પાચન આદિ પાપમય કાર્ય–કરવાવાળાને એ જ્ઞાન હોતું નથી કે આ કાર્ય આઠ પ્રકારનાં કર્મોના બંધનું કારણ છે કારણ કે અગ્નિકાયના શસ્ત્રનો પ્રયોગ કરવાવાળાઓમાં પરિજ્ઞાનો અભાવ હોય છે

અગ્નિકાયમાં પૂર્વોક્ત શસ્ત્રનો વ્યાપાર–ઉપયોગ નહિ કરવાવાળાને સાવદ્ય વ્યાપારોનું જ્ઞાન હોય છે તે જ્ઞપરિજ્ઞાથી તેને જાણે છે, અને પ્રત્યાખ્યાન પરિજ્ઞાથી તેનો ત્યાગ કરી આપે છે

જ્ઞપરિજ્ઞાની પછી પ્રત્યાખ્યાન પરિજ્ઞા કયા પ્રકારે ઉત્પન્ન થાય છે ? તે કહે છેઃ–

અગ્નિકાયનો આરંભ કર્મબંધનું કારણ છે એ પ્રમાણે જાણીને હેય–ઉપાદેયના વિવેકમાં પ્રવીણ–કુશળ સાધુમર્યાદાનું ધ્યાન રાખવાવાળા પોતે અગ્નિશસ્ત્રનો આરંભ કરતા નથી; બીજા પાસે આરંભ કરાવતા નથી, અને આરંભ કરવાવાળાને અનુમોદન

समारभमाणान् अन्यान् न समनुजानीयात्=नानुमोदयेत् । शेष सुगमम् । यस्यैते अग्निकर्मसमारम्भा.=कर्मणां समारम्भा. कर्मसमारम्भाः, अग्नै कर्मसमारम्भा' अग्निकर्मसमारम्भाः=अग्निं निमित्तीकृत्य कर्मकारणीभूता. उपमर्दनव्यापारा इत्यर्थः,परिज्ञाताः =सर्वथा ज्ञाता', ज्ञपरिज्ञया बन्धकारणत्वेन विदिता. प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिवर्जिता भवन्ति स एव परिज्ञातकर्मा-परिज्ञातानि=ज्ञपरिज्ञया स्वरूपतो विपाकतस्तदुपादानतश्चावगतानि प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परित्यक्तानि कर्माणि=सावद्यव्यापाराः येन-स परिज्ञातकर्मा=मनोवाक्काये सकलसावद्यकरणकारणानुमतिनिवृत्तो मुनिर्भवतीत्यर्थः । 'इति ब्रवीमि' अस्य व्याख्यानं पूर्ववद् बोध्यम् ।

॥ इत्याचाराङ्गसूत्रस्याऽऽचारचिन्तामणिटीकाया प्रथमाध्ययने
चतुर्थोद्देशक. सपूर्ण ॥ १-४ ॥

आरंभ नहीं कराता और आरंभ करने वालों की अनुमोदना नहीं करता । शेष भाग सुगम है ।

अग्नि के निमित्त से होने वाले तथा कर्मबंध के कारणभूत यह सब पापमय व्यवहार जिस ने कर्मबंध के कारण ज्ञपरिज्ञा से समझ कर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग दिये हैं वही परिज्ञातकर्मा मुनि है । जिसने इन व्यापारों का स्वरूप, फल और कारण ज्ञपरिज्ञा से जान लिया है तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग कर दिया है उसे परिज्ञात कर्मा मुनि कहते हैं । ऐसा मुनि मन, वचन काय से समस्त सावद्य के करने, कराने और अनुमोदन करने का त्यागी होता है । 'इति ब्रवीमि' की व्याख्या पहले के समान समझ लेना चाहिए ॥सू० १०॥

श्रीआचाराङ्गसूत्रकी 'आचारचिन्तामणि' टीकाके हिन्दी अनुवादमें
मथम अध्ययनका चौथा उद्देश सम्पूर्ण ॥ १-४ ॥

આપતા નથી શેષ-બાકીનો ભાગ સુગમ છે

અગ્નિના નિમિત્તથી થવાવાળા તથા કર્મબંધના કારણભૂત આ સર્વ પાપમય વ્યવહારનો જેણે કર્મબંધના કારણે જ્ઞપરિજ્ઞાથી સમજીને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞાથી ત્યાગ કરી આપ્યો છે તેને પરિજ્ઞાતકર્મા મુનિ કહે છે એવા મુનિ-મન, વચન, કાયાથી સમસ્ત સાવદ્યને કરવું, કરાવવું અને અનુમોદન કરવુ તેના ત્યાગી હોય છે 'इति ब्रवीमि'ની વ્યાખ્યા પ્રથમના સમાન સમજી લેવી જોઈએ (સૂ. ૧૦)

શ્રી આચારાગસૂત્રની 'આચારચિંતામણિ' ટીકાના
ગુજરાતી-અનુવાદમા પ્રથમ અધ્યયનનો
ચોથો ઉદ્દેશક સંપૂર્ણ. (૧-૪)

अथ पञ्चमोद्देशकः–

चतुर्थोद्देशेऽग्निकायस्वरूपं मुनित्वप्राप्तये प्रतिबोधितम्। साम्प्रतं तदर्थमेव क्रमप्राप्तवायुकायप्रतिबोधनावसरे वनस्पतिकायजीवस्वरूपं प्रतिबोधयितुकामः पञ्चमोद्देशकमुपक्रमते—'त णो', इत्यादि।

ननु क्रमप्राप्तवायुकायप्रतिबोधनं कथं न प्रक्रम्यते? उच्यते–वायुकायः प्रत्यक्षतया दृष्टिगोचरो न भवति, अतस्तत्र श्रद्धा झटिति नोदेतुं प्रभवति, पृथिव्याद्येकेन्द्रियजीवस्वरूपं प्रतिबुध्य तु सुतरां वायुकायो विज्ञास्यते, अतः स एव क्रमो गुरुभिरुपादेयो भवति, येन जीवादितत्त्वविज्ञानाय शिष्याः

पंचम उद्देशक–

चौथे उद्देश में साधुता प्राप्त करने के लिए अग्निकाय का स्वरूप समझाया है। इसी के लिए क्रम के अनुसार वायुकाय का स्वरूप समझाने के प्रसंग में वनस्पतिकाय का स्वरूप बतलाने के लिए पाँचवाँ उद्देश आरम्भ करते हैं–'त णो' इत्यादि।

प्रश्न—क्रम के अनुसार वायुकाय का स्वरूप क्यों नहीं बतलाया गया है? और वायुकाय को छोड़कर वनस्पतिकाय के विवेचन का उद्देश्य क्या है?

उत्तर—बात यह है कि वायुकाय नेत्रों से प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता–सिर्फ स्पर्शेन्द्रिय से उस की प्रतीति होती है। इस कारण उस के विषय में जल्दी श्रद्धा नहीं होती। हाँ, पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय जीवों का स्वरूप समझ लेने पर वायुकाय सहज ही समझ में आ जायगा। गुरुजन यही क्रम काम में लाते हैं जिस से शिष्य जीवादि

પંચમ ઉદ્દેશક—

ચોથા ઉદ્દેશકમાં સાધુતા પ્રાપ્ત કરવાને માટે અગ્નિકાયનું સ્વરૂપ સમજાવ્યું છે આ માટેજ ક્રમ અનુસાર વાયુકાયનું સ્વરૂપ સમજાવવાના પ્રસંગે વનસ્પતિકાયનું સ્વરૂપ બતાવવાને માટે પાંચમા ઉદ્દેશકનો આરંભ કરે છે–'ત ણો' ઇત્યાદિ

પ્રશ્ન—ક્રમ પ્રમાણે વાયુકાયનું સ્વરૂપ શા માટે બતાવ્યું નથી? અને વાયુકાયને છોડીને વનસ્પતિકાયના વિવેચનમાં ક્યો ઉદ્દેશ્ય છે?

ઉત્તર—વાત એ છે કે–વાયુકાય નેત્રથી પ્રત્યક્ષ જોવામાં આવતો નથી. માત્ર સ્પર્શેન્દ્રિયથી તેની પ્રતીતિ થાય છે આ કારણથી તેના વિષયમાં જલ્દી શ્રદ્ધા થતી નથી. હા, પૃથ્વીકાય આદિ એકેન્દ્રિય જીવોનું સ્વરૂપ સમજી લીધા પછી વાયુકાય સહજે સમજવામાં આવી જશે. ગુરુજન આ ક્રમને કામમાં લાવે છે, જે વડે કરી શિષ્ય જીવાદિ

स्वयमेवोत्सहन्ते, तस्माद् वायुकायस्वरूपमनभिधाय वनस्पतिकायः प्रथम प्रस्तूयते—'त णो,' इत्यादि ।

यद्वा-अनन्तरचतुर्थोद्देशेऽग्निकायो दीर्घलोकशस्त्रशब्देनादौ प्रतिबोधितः। तत्र दीर्घलोकशब्दार्थो वनस्पतिरित्याशय समधिगम्याग्निकायप्रकरणसमाप्त्यनन्तर प्रथम वनस्पतिकायस्वरूपं विज्ञातुकामस्य शिष्यस्य प्रतिबोधनाय पञ्चमं वनस्पतिकायोद्देश कथयति—'तं णो' इत्यादि ।

यथा वनस्पतिकायोपमर्दननिवृत्त्याऽनगारत्वं लभ्यते, त प्रकारं निर्दिशति—'त णो' इत्यादि ।

तत्त्वों के ज्ञान में उत्साहित हों। यही कारण है कि पहले वायुकाय का स्वरूप न कह कर वनस्पतिकाय का वर्णन किया जाता है–'तं णो', इत्यादि ।

अथवा—चौथे उद्देश में अग्निकाय को 'दीर्घलोकशस्त्र' बतलाया है। दीर्घलोकका अर्थ वनस्पतिकाय है, यह आशय जानकर अग्निकाय के प्रकरण के पश्चात् ही शिष्य को वनस्पतिकाय का स्वरूप जानने की इच्छा होना स्वाभाविक है। जिज्ञासा के अनुरूप दिया हुआ उपदेश ही अधिक सफल होता है, अत शिष्य की जिज्ञासा तृप्त करने के लिए पाँचवें उद्देश में वनस्पतिकाय का कथन किया जाता है–'त णो', इत्यादि ।

वनस्पतिकाय की हिंसा से निवृत्त होने पर ही साधुता प्राप्त होती है, वह किस प्रकार प्राप्त होती है ? सो कहते हैं–'त णो' इत्यादि।

તત્ત્વોના જ્ઞાનમાં ઉત્સાહિત થાય આ કારણથી પ્રથમ વાયુકાયના સ્વરૂપને નહિ કહેતાં વનસ્પતિકાયનું વર્ણન કરવામાં આવ્યું છે–'ત ણો' ઈત્યાદિ

અથવા—ચોથા ઉદ્દેશકમાં અગ્નિકાયને 'દીઘલોકશસ્ત્ર' તરીકે બતાવ્યું છે. દીર્ઘલોકનો અર્થ વનસ્પતિકાય છે; એ આશયને સમજીને અગ્નિકાયના પ્રકરણની પછીજ શિષ્યને વનસ્પતિકાયના સ્વરૂપને જાણવાની ઇચ્છા હોય-થવી તે સ્વાભાવિક છે જીજ્ઞાસાને અનુરૂપ આપેલો ઉપદેશજ અધિક સફલ થાય છે, એ કારણથી શિષ્યની જીજ્ઞાસા તૃપ્ત કરવાને માટે પાંચમા ઉદ્દેશમાં વનસ્પતિકાયનું વિવેચન કરવામાં આવે છે–'ત ણો' ઈત્યાદિ

વનસ્પતિકાયની હિંસાથી નિવૃત્ત થયા પછીજ સાધુતા પ્રાપ્ત થાય છે, તે કયા પ્રકારે પ્રાપ્ત થાય છે તે કહે છે–'ત ણો' ઈત્યાદિ

मूलम्—

तं णो करिस्सामि समुट्ठाए मत्ता मइम, अभयं विदित्ता तं जे णो करए, एसोवरए एत्थोवरए, एस अणगारेत्ति पवुच्चइ ॥ सू० १ ॥

छाया—

तं नो करिष्यामि समुत्थाय मत्वा मतिमान्, अभयं विदित्वा तं यो नो कुर्यात्, एष उपरतः अत्रोपरतः, एषः अनगार इति प्रोच्यते ॥ सू० १ ॥

टीका—

मतिमान्=मेधावी श्रमणनिर्ग्रन्थादिदेशनाश्रवणसजातहेयोपादेयविवेकवा नित्यर्थः । मत्वा=वनस्पतिकायस्वरूपं विज्ञाय विभावयति-अहं समुत्थाय आत्मकल्याणार्थमुद्युक्तः सन् प्रव्रज्यां गृहीत्वा, तं=वनस्पतिकायसमारम्भं नो करिष्यामीति ।

मूलार्थ—मेधावी पुरुष विचार करता है-मैं आत्मकल्याण के लिए उद्यत होकर वनस्पतिकाय का आरंभ नहीं करूँगा । जो पुरुष संयम को जानकर आरम नहीं करता है वही आरम से उपरत है-वही जिन शासन में आरम से निवृत्त कहलाता है । वही अनगार कहलाता है ॥ सू० १ ॥

टीकार्थ—श्रमण निर्ग्रन्थ आदि का उपदेश सुनने से जिसे हेय और उपादेय का विवेक उत्पन्न हो गया है वह वनस्पतिकाय का स्वरूप जानकर इस प्रकार विचार करता है—मैं आत्मकल्याण के लिए उद्यत होकर—दीक्षा लेकर वनस्पतिकाय का आरंभ समारंभ नहीं करूँगा ॥

મૂલાર્થ—મેધાવી પુરૂષ વિચાર કરે છે—હું આત્મકલ્યાણ માટે તૈયાર થઈને વનસ્પતિકાયનો આરંભ નહિ કરૂં જે પુરૂષ સંયમને જાણીને આરંભ કરતા નથી તે આરંભથી ઉપરત છે, તેજ જિનશાસનમાં આરંભથી નિવૃત્ત કહેવાય છે, તેજ અણગાર કહેવાય છે ॥ ૧ ॥

ટીકાર્થ—શ્રમણ નિગ્રન્થ આદિનો ઉપદેશ સાંભળવાથી જેને હેય અને ઉપાદેયનો વિવેક ઉત્પન્ન થઈ ગયો છે. તે વનસ્પતિકાયના સ્વરૂપને જાણીને આ પ્રમાણે વિચાર કરે છેઃ—

હું આત્મકલ્યાણને માટે ઉદ્યત—તૈયાર થઈને—દીક્ષા લઈને વનસ્પતિકાયનો આરંભ સમારંભ કરીશ નહિ.

अस्योद्देशस्य वनस्पतिकायविषयकतयाऽत्र तच्छब्देन वनस्पतिकायसमारम्भ परिगृह्यते। अत्र वनस्पतिकायस्वरूपविज्ञानानन्तर तत्समारम्भवर्जनप्रविज्ञामदर्शनेन ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष इति प्रतिबोधितम्। य· अभय-नास्ति भयं यस्मात् कस्य चित् प्राणिन· इत्यभय'=सर्वप्राणिप्राणत्राणलक्षण सयम', त-विदित्वा त=वनस्पतिकाय-समारम्भ नो कुर्यात्। एष उपरतः=वनस्पतिजीवविषये सर्वथा समारम्भाद् विनिवृत्त', अत्र=अस्मिन् जिनशासने उपरत प्रोच्यते, इत्यन्वय। तथा एषः=पूर्वोक्तलक्षण उपरत 'अनगार' इति प्रोच्यते। अनगारगुणाना सपूर्णतया तत्र सत्त्वात्, स एवानगारशब्दवाच्योऽस्तीति भाव।

अथ वनस्पतिकायस्य सम्यग्ज्ञानार्थं प्रागुक्ताष्टविधद्वाराणि निरूपणी-

---

यह उद्देश वनस्पतिकायसंबंधी है अत यहाँ तत्' शब्द से वनस्पतिकाय का समारंभ लिया जाता है। पहले वनस्पतिकाय का ज्ञान होता है फिर उसके आरंभ का त्याग किया जाता है, यह बतलाकर सूचना की गई है कि मोक्ष, ज्ञान और क्रिया-दोनों से होता है।

जिससे किसीभी प्राणी को भय नही ऐसा, प्राणीमात्र की रक्षारूप सयम अभय कहलाता है। उसे जानकर वनस्पतिकाय का समारंभ न करे। इस प्रकार वनस्पतिकाय के आरंभ से विरत पुरुष जिनशासन में 'उपरत' कहलाता है और वही उपरत पुरुष अनगार है, क्यों कि अनगार के गुण पूर्णरूप से उसीमें पाये जाते हैं।

वनस्पतिकाय का स्वरूप सम्यक् प्रकार से जानने के लिए पूर्वोक्त आठ

આ ઉદ્દેશ વનસ્પતિકાયસબધી છે એ કારણથી અહિં 'तत्' શબ્દથી વનસ્પતિકાયનો સમારભ લેવામા આવે છે પહેલા વનસ્પતિકાયનું જ્ઞાન થાય છે પછી તેના આરભનો ત્યાગ કરવામા આવે છે એ બતાવીને સૂચના કરવામા આવી છે કે-જ્ઞાન અને ક્રિયા, આ બન્નેથી મોક્ષ થાય છે

જેનાથી કોઈ પણ પ્રાણીને ભય થાય નહિ. એ પ્રમાણે પ્રાણીમાત્રની રક્ષારૂપ સયમ તે અભય કહેવાય છે તેને જાણીને વનસ્પતિકાયનો સમારભ કરે નહિ આ પ્રમાણે વનસ્પતિના આરભથી વિરત પુરુષ જિનશાસનમા 'ઉપરત' કહેવાય છે અને તેજ ઉપરત પુરુષ અનગાર છે કારણ કે-અણગારના ગુણ પૂર્ણરૂપથી તેમાજ જોવામા આવે છે

વનસ્પતિકાયનું સ્વરૂપ સમ્યક્પ્રકારે જાણવા માટે પૂર્વોકત આઠ દ્વારોનું નિરૂપણ

मूलम्—

तं णो करिस्सामि समुट्ठाए मत्ता मइमं, अभयं विदित्ता तं जे णो करए, एसोवरए एत्थोवरए, एस अणगारेत्ति पवुच्चइ॥ सू० १ ॥

छाया—

तं नो करिष्यामि समुत्थाय मत्वा मतिमान्, अभयं विदित्वा तं यो नो कुर्यात्, एष उपरतः अत्रोपरतः, एषः अनगार इति प्रोच्यते ॥ सू० १ ॥

टीका—

मतिमान्=मेधावी श्रमणनिर्ग्रन्थादिदेशनाश्रवणसजातहेयोपादेयविवेकवा नित्यर्थः । मत्वा=वनस्पतिकायस्वरूपं विज्ञाय विभावयति—अहं समुत्थाय आत्मकल्याणार्थमुद्युक्तः सन् प्रव्रज्यां गृहीत्वा, तं=वनस्पतिकायसमारम्भं नो करिष्यामीति ।

मूलार्थ—मेधावी पुरुष विचार करता है—मैं आत्मकल्याण के लिए उद्यत होकर वनस्पतिकाय का आरंभ नहीं करूँगा । जो पुरुष संयम को जानकर आरंभ नहीं करता है वही आरम से उपरत है—वही जिन शासन में आरम से निवृत्त कहलाता है । वही अनगार कहलाता है ॥ सू० १ ॥

टीकार्थ—श्रमण निर्ग्रन्थ आदि का उपदेश सुनने से जिसे हेय और उपादेय का विवेक उत्पन्न हो गया है वह वनस्पतिकाय का स्वरूप जानकर इस प्रकार विचार करता है—मैं आत्मकल्याण के लिए उद्यत होकर—दीक्षा लेकर वनस्पतिकाय का आरंभ समारंभ नहीं करूँगा ॥

મૂલાર્થ—મેધાવી પુરૂષ વિચાર કરે છે—હું આત્મકલ્યાણ માટે તૈયાર થઈને વનસ્પતિકાયનો આરંભ નહિ કરૂં જે પુરૂષ સંયમને જાણીને આરંભ કરતા નથી તે આરંભથી ઉપરત છે, તેજ જિનશાસનમાં આરંભથી નિવૃત્ત કહેવાય છે, તેજ અણગાર કહેવાય છે ॥ ૧ ॥

ટીકાર્થ—શ્રમણ નિગ્રન્થ આદિનો ઉપદેશ સાંભળવાથી જેને હેય અને ઉપાદેયનો વિવેક ઉત્પન્ન થઈ ગયો છે તે વનસ્પતિકાયના સ્વરૂપને જાણીને આ પ્રમાણે વિચાર કરે છે—

હું આત્મકલ્યાણને માટે ઉદ્યત-તૈયાર થઈને-દીક્ષા લઈને વનસ્પતિકાયનો આરંભ સમારંભ કરીશ નહિ.

तथा-वृक्षा' अव्यक्तोपयोगसुखादिमन्त', अव्यक्तचेतनावत्त्वात्, सुप्तमूर्च्छित-पुरुषवत्। अत्र वनस्पतीनां दृश्यत्वहेतुना जीवशरीरत्व सिद्धयति, ततश्च सचित्तत्वम्। अपरञ्च-वृक्षा॰ सचेतना', सर्वत्वगपहरणे मरणात्, अजवत्। वनस्पतिकायस्य सचेतनत्वमग्रेऽपि साधयिष्यते-'से बेमि-इमपि जाइधम्मय एयपि जाइधम्मय' इत्यत्र।

यद्वा—अव्यक्तोपयोगादीनि कषायपर्यन्तानि जीवलक्षणानि पृथिवी-

उपयोग (चेतना) और सुख आदि से युक्त हैं, क्यों कि उन में अव्यक्त चेतना है, जो अव्यक्त चेतनावाला होता है वह अव्यक्त चेतनावाला और सुख आदि वाला होता है, जैसे सुप्त या मूर्च्छित पुरुष।

इस प्रकार 'दृश्यत्व' हेतु से सिद्ध होता है कि—वनस्पति, जीव का शरीर है और जीव का शरीर होने के कारण सचित्त भी है। इसके अतिरिक्त और भी प्रमाण है। जैसे वृक्ष चेतनावान् है क्यों कि उनकी सारी त्वचा (छाल) हटाने पर उनकी मृत्यु हो जाती है, सारी त्वचा हटाने पर जिस की मृत्यु हो जाती है वह सचेतन ही होता है, जैसे बकरा। वनस्पतिकाय की सचेतनता आगे भी—'से बेमि-इमंपि जाइधम्मय एयपि जाइधम्मयं' इस सूत्र की व्याख्या करते हुए सिद्ध की जायगी।

अथवा—अव्यक्त उपयोग से लेकर कषायपर्यन्त जीव के जो लक्षण पृथ्वी

(ચેતના) અને સુખ આદિથી યુક્ત છે, કેમકે તેમા અવ્યકત ચેતના છે. જે અવ્યકત ચેતનાવાળા હોય છે તે અવ્યકત ચેતનાવાળા અને સુખ આદિવાળા હોય છે જેમ સુતેલા અથવા મૂર્ચ્છિત પુરૂષ. આ પ્રકારે 'દશ્યત્વ' હેતુથી સિદ્ધ થાય છે કે—વનસ્પતિ જીવનું શરીર છે અને જીવનું શરીર હોવાના કારણે સચિત્ત પણ છે એની સાથે બીજુ પણ પ્રમાણ છે જેમકેઃ—વૃક્ષ ચેતનાવાન્ છે કેમકે તેની તમામ ચામડી—છાલ કાઢી નાખવાથી તેનું મૃત્યુ થઈ જાય છે; તમામ છાલ કાઢી નાખવાથી જેનું મૃત્યુ થઈ જાય છે તે ચેતન જ હોય છે જેવી રીતે બકરા વનસ્પતિકાયની ચેતનતા આગળ પણ—'से बेमि-इमपि जाइधम्मय एयपि जाइधम्मयं' આ સૂત્રની વ્યાખ્યા કરતી વખતે સિદ્ધ કરવામાં આવશે.

અથવા—અવ્યકત ઉપયોગથી લઈને કષાય સુધી જીવના જે લક્ષણ પૃથ્વીકાયના

यानि, तत्र लक्षण–प्ररूपणा–शस्त्रो–पभोगद्वाराणि प्रदर्शयामोऽस्मिन्नुद्देशे, शेषाणि तु पृथिवीकायवदवगन्तव्यानि।

लक्षणद्वारम्—

ननु कथमिदं विज्ञायते—वनस्पतिकायः सचित्तोऽस्तीति ? उच्यते—युक्त्यागमाभ्यां वनस्पतिकायस्य सचित्तत्वं निर्णीयते। तथाहि–

वृक्षलतादयो जीवशरीराणि दृश्यत्वात्, करचरणादिसमुदायवत्। तथा वृक्षादयः कदाचित् सचित्ता अपि, जीवशरीरत्वात्, करचरणादिसमुदायवदेव।

द्वारों का निरूपण करना चाहिए। उनमें से लक्षण, प्ररूपणा, परिमाण, शस्त्र और उपभोग द्वार यहाँ बतलाते हैं। शेष द्वार पहले कहे पृथ्वीकाय के समान समझ लेने चाहिए।

लक्षणद्वार–

शङ्का—वनस्पतिकाय सचित्त है, यह कैसे जाना जा सकता है?

समाधान—युक्ति और आगम से वनस्पतिकाय की सचित्तता का निर्णय होता है। वह इस प्रकार–वृक्ष और लता आदि जीव के शरीर हैं, क्यों कि वे दृश्य हैं। जो दृश्य होते हैं वे सब जीव के शरीर होते हैं, जैसे हाथ–पैर आदि। तथा–वृक्ष आदि कभी–कभी सचित्त भी होते हैं, क्यों कि वे जीव के शरीर हैं, जो जीव के शरीर होते हैं वे सचित्त होते हैं, जैसे हाथ–पैर आदि का समूह। तथा–वृक्ष अव्यक्त

કરવું જોઈએ, તેમાંથી લક્ષણ, પ્રરૂપણા, પરિમાણ, શસ્ત્ર અને ઉપભોગ દ્વાર અહિં બતાવે છે. શેષ-બાકીના દ્વાર પ્રથમ પૃથ્વીકાયમાં જે કહ્યાં છે તેના પ્રમાણે સમજી લેવાં જોઈએ.

લક્ષણદ્વાર—

શંકા—વનસ્પતિકાય સચિત્ત છે, એ કેવી રીતે જાણી શકાય છે?

સમાધાન—યુક્તિ અને આગમથી વનસ્પતિકાયની સચિત્તતાનો નિર્ણય થઈ શકે છે તે આ પ્રમાણે છે–વૃક્ષ અને લતા આદિ જીવના શરીર છે, કેમકે તે દૃશ્ય છે. જે દૃશ્ય હોય છે તે સર્વ જીવના શરીર હોય છે જેવી રીતે હાથ–પગ આદિ તથા વૃક્ષ આદિ કોઈ કોઈ વખત સચિત્ત પણ હોય છે, કારણકે તે જીવના શરીર છે જે જીવનાં શરીર હોય છે તે સચિત્ત હોય છે જેમ હાથ–પગ આદિનો સમૂહ. તથા વૃક્ષ અવ્યક્ત ઉપયોગ

पल्लवफलकुसुमादिरूपो वनस्पतिरपि छेदनादिना म्लायति, तस्माद् वनस्पति सचेतन इति सिद्धम् ।

यद्वा—वनस्पतिर्जीवः, चेतनावत्त्वात्, मनुष्यवत्, यथा मनुष्यस्य शब्दादिग्रहणशक्तिरूपा चेतना, तथैव वनस्पतौ समुपलभ्यते । तथाहि-वकुलादयो गीत-सुरागण्डूष-कामिनीचरणताडनादिभिः फलन्ति, शमीलज्जालुप्रभृतिषु च स्वापावबोधसङ्कोचादयो दृश्यन्ते । शापानुग्रहाभ्यामान्तरौ सङ्कोचविकाशौ समस्त वनस्पतीनां भवतः । उक्तञ्च—

जाता है उसी प्रकार पत्ता, फल, फूल, आदि वनस्पति भी छेदन-भेदन आदि से मुरझा जाती है, इससे सिद्ध होता है कि वनस्पति सचेतन है ।

अथवा—वनस्पति जीव है, क्यों कि चेतनावाली है, जैसे मनुष्य । जैसे-मनुष्य आदि में शब्द आदि को ग्रहण करने की शक्तिरूप चेतना है उसी प्रकार वनस्पति में भी शब्द आदि को ग्रहण करने की शक्तिरूप चेतना पाई जाती है । बकुल आदि के वृक्ष गीत, मदिरा का कुल्ला, कामिनी के पैर के ताडन आदि से फलते हैं । शमी तथा लज्जावती आदि में स्वाप, (सोना) अवबोध (जागना) और सङ्कोच (सिकुडना) देखा जाता है । शाप और अनुग्रह से सब वनस्पति में संकोच और विकास होता है । कहा भी है —

આદિથી કરમાઈ જાય છે સુકાઈ જાય છે, આ કારણથી સિદ્ધ થાય છે કે વનસ્પતિ સચેતન છે

અથવા—વનસ્પતિ જીવ છે, કેમકે-ચેતનાવાળી છે, જેમ મનુષ્ય જેવી રીતે મનુષ્ય આદિમાં શબ્દ આદિને ગ્રહણ કરવાની શક્તિરૂપ ચેતના છે તે પ્રમાણે વનસ્પતિમા પણ શબ્દ આદિને ગ્રહણ કરવાની શક્તિરૂપ ચેતના જોવામા આવે છે બકુલ આદિ વૃક્ષ ગીત, મદિરાના ગ ડૂષ (કોગળા), સ્રીના પગથી થયેલ તાડન આદિથી ફળે છે શમી તથા લજ્જાવતી (રીસામણી) આદિમા સુઈ જવું જાગવું અને સ કોચાઈ જવું વગેરે જોવામા આવે છે. શાપ અને અનુગ્રહથી સવ વનસ્પતિમાં સ કોચ અને વિકાસ થાય છે કહ્યું છે કે -

कायोद्देशे प्रागभिहितानि, तेषां जीवलक्षणानां वनस्पतिकायेऽपि सद्भावात् वनस्पतिः सचित्तोऽस्ति, मनुष्यवदिति निर्णीयते ।

अपिच—वनस्पतिः सचेतन, बालाद्यवस्थासदर्शनात्, अनुकूल-प्रतिकूलाहारादिना पुष्टिकार्श्यादिदर्शनात्, छेदनभेदनादिना म्लानताादिदर्शनाच्च मनुष्य-शरीरवत् ।

यथा मनुष्यशरीरमनुकूलेनाहारादिना पुष्यति, तत्प्रतिकूलेन तदभावेन च शुष्यति, एव वनस्पतिरप्यनुकूलजलवातादिभि' पुष्यति; प्रतिकूलजलवाता दिभिश्च शुष्यति । यथा वा छेदनादिना मनुष्यशरीरं हस्तादि म्लायति, तथा

काय के उद्देश में पहले कहे गये हैं वे सब वनस्पतिकाय में भी पाये जाते हैं । इस कारण वनस्पति मनुष्य आदि के समान सचित्त है ।

तथा—वनस्पति सचेतन है, क्यों कि उस में बाल्यावस्था आदि देखी जाती हैं, अनुकूल आहार से पुष्टि और प्रतिकूल आहार से कृशता आदि दिखाई देती है, और छेदन–भेदन आदि करने से मुरझाना वगैरह देखा जाता है, जैसे मनुष्य का शरीर ।

तात्पर्य यह है कि जैसे मनुष्य का शरीर अनुकूल आहार आदि से पुष्ट होता है और प्रतिकूल आहार से या आहार के अभाव से सूख जाता है, उसी प्रकार वनस्पति भी अनुकूल जल–वायु आदि से पुष्ट होती है और प्रतिकूल जल–वायु आदि से सूख जाती है । अथवा जैसे छेदन–भेदन करने से मनुष्य का शरीर हाथ आदि मुरझा

ઉદ્દેશમા પહેલા કહ્યા છે, તે સર્વ વનસ્પતિકાયમાં પણ જોવામા આવે છે આ કારણથી વનસ્પતિ મનુષ્ય આદિના સમાન સચિત્ત છે

તથા—વનસ્પતિ સચેતન છે, કેમકે તેમા બાલ્યાવસ્થા આદિ અવસ્થાઓ જોવામાં આવે છે અનુકૂલ આહારથી પુષ્ટિ અને પ્રતિકૂલ આહારથી કૃશતા–દુબલતા આદિ દેખાય છે, અને છેદન, ભેદન આદિ કરવાથી મુરઝાઈ જવું–કરમાઈ જવું સુસ્ત કે ખિન્ન થવાપણું વગેરે જોવામાં આવે છે જેવી રીતે મનુષ્યનું શરીર

તાત્પર્ય એ છે કે—જેમ મનુષ્યનું શરીર અનુકૂલ આહાર આદિથી પુષ્ટ થાય છે, અને પ્રતિકૂલ આહારથી અથવા તો આહારના અભાવથી સુકાઈ જાય છે તેવી રીતે વનસ્પતિ પણ અનુકૂલ જલ, વાયુ આદિથી પુષ્ટ થાય છે, અને પ્રતિકૂલ જલ વાયુ આદિથી સુકાઈ જાય છે અથવા જેવી રીતે છેદન–ભેદન કરવાથી મનુષ્યશરીરના હાથ–પગ આદિ કરમાઈ જાય છે તે પ્રમાણે પાંદડા, ફલ, ફૂલ, આદિ વનસ્પતિ પણ છેદન–ભેદન

वृक्षलतादय' सकोचमापद्यन्ते, स्तुतिवाक्यैश्च मवर्धन्ते, विकसन्ति चेति वनस्पतीना सचेतनत्वे नास्ति केपाञ्चिद् विवाद ।

ये तु सूक्ष्मा वनस्पतिकायास्ते चक्षुषा नैव दृश्यन्ते, अतस्तेषां सचित्तत्वं भगवद्वचनमात्रावगम्यमिति तत्रापि श्रद्धा करणीयैव ।

प्ररूपणाद्वारम्–

वनस्पतिजीवा द्विविधा –सूक्ष्मबादरभेदात्। सूक्ष्मा सर्वलोके कज्जलकूपिकावद् सभृता. । बादरास्तु लोकैकदेशे सन्ति । सूक्ष्मा पर्याप्तापर्याप्तभेदाद्‌द्विविधा' ।

बादरा द्विविधा –प्रत्येकशरीर–साधारणशरीरभेदात् । एकमेक जीव

सकोच को प्राप्त होते हैं और प्रशंसा करने से बढते, हैं और फूलते हैं अत वनस्पति की सचित्तता में अब किसी को भी विवाद नहीं है ।

सूक्ष्म वनस्पतिकाय के जीव आँख से नहीं दिखाई देते । भगवान् के वचनों से ही जाने जा सकते हैं । इन पर श्रद्धा रखनी चाहिए ।

प्ररूपणाद्वार–

वनस्पतिकाय के जीव दो प्रकार के हैं–सूक्ष्म और बादर । सूक्ष्म जीव समस्त लोकाकाश में काजल की कुप्पी की तरह भरे हुए हैं । बादर जीव लोक के एक–एक भाग में होते हैं । सूक्ष्म जीवों के भी दो भेद हैं–पर्याप्त और अपर्याप्त ।

बादर जीव प्रत्येकशरीर और साधारणशरीर के भेद से दो प्रकार के हैं।

સંકોચને પ્રાપ્ત થાય છે અને પ્રશંસા કરવાથી ફૂલે છે અને ખિલે છે એ કારણથી વનસ્પતિની સચિત્તતામા હવે કોઇને પણ વિવાદ નથી.

સૂક્ષ્મ વનસ્પતિકાયના જીવ નેત્રથી જોઈ શકાતા નથી. તે ભગવાનના વચનોથી જ જાણી શકાય છે તેના પર શ્રદ્ધા રાખવી જોઈએ.

પ્રરૂપણાદ્વાર—

વનસ્પતિકાયના જીવ બે પ્રકારના છે (૧) સૂક્ષ્મ અને બાદર. સૂક્ષ્મ જીવ સમસ્ત લોકાકાશમા કાજલની કુપ્પીની પ્રમાણે ભરેલા છે બાદર જીવ લોકના એક–એક ભાગમા હોય છે

સૂક્ષ્મ જીવોના પણ બે ભેદ છે (૧) પર્યાપ્ત અને (૨) અપર્યાપ્ત બાદર જીવ પ્રત્યેકશરીર અને સાધારણશરીરના ભેદથી બે પ્રકારના છે એક–એક જીવ સમ્બન્ધી

"स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियङ्गुर्विकसति बकुलः शीधुगण्डूषसेकात्,
पादाघातादशोकस्तिलककुरवकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम् ।
मन्दारो नर्मवाक्यात्पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवातात्,
चूती गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात् कर्णिकारः" ॥ १ ॥ इति ॥
आगमोऽपि—

"वणस्सई चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता, अन्नत्थ सत्थपरिणएणं" इति । (दशवै०)

प्रदर्शितं चाधुनिकवैज्ञानिकैः प्रत्यक्षतया स्वकृतप्रयोगविशेषेण वनस्पतीनां सचित्तत्वम्, यथा—क्रोधादिप्रदर्शनपूर्वकं तेषां गालीप्रदानादिभर्त्सनवाक्यतो

"प्रियंगु का पेड़ स्त्रियों के स्पर्श से विकसित होता है, बकुल मदिरा के कुल्ले से खिल उठता है । अशोक वृक्ष स्त्री के पैर का आघात लगने से खिल आता है । तिलक वृक्ष स्त्रियों के देखने से, तथा कुरवक उनके आलिंगन से खिल उठता है । मन्दार वृक्ष विनोदमय वाक्य सुनकर, चम्पक मृदुहँसी से, वल्ली वक्त्र (मुख) वायु से और नमेरु गीत से विकसित होता है । कनेर का पेड़ सामने नाचने से खिल आता है" ॥१॥

वनस्पति की सचेतनता आगम प्रमाण से भी सिद्ध होती है । दशवैकालिक सूत्र में कहा है—शस्त्रपरिणत को छोड़कर शेष सब वनस्पति सचित्त कही गई है, वह अनेक जीववाली है और उन जीवों की सत्ता पृथक् पृथक् है" ।

आधुनिक वैज्ञानिकोंने अपने प्रयोगों द्वारा प्रत्यक्ष दिखला दिया है कि-वनस्पति सचित्त है । क्रोध आदि करने से—गाली देने या भर्त्सना करने से वृक्ष, लता आदि

"પ્રિયંગુનો છોડ સ્ત્રીઓના સ્પર્શથી વિકસિત થાય છે, બકુલ મદિરાના કોગળા કરવાથી ખિલી ઉઠે છે અશોક વૃક્ષ સ્ત્રીના પગનો આઘાત લાગવાથી ખિલી ઉઠે છે. તિલક વૃક્ષ સ્ત્રીઓને જોવાથી તથા કુરવક સ્ત્રીઓના આલિંગનથી ખિલી ઉઠે છે મન્દાર વૃક્ષ વિનોદમય વાક્ય સાંભળીને, ચમ્પક મૃદુ હાસીથી, વલ્લી વક્ત્ર (મુખ) વાયુથી અને નમેરુ ગીતથી વિકસિત થાય છે કનેરનો છોડ તેના સામે નાચવાથી ખિલે છે" ॥૧॥

વનસ્પતિની સચેતનતા આગમપ્રમાણોથી પણ સિદ્ધ થાય છે દશવૈકાલિક સૂત્રમાં કહ્યું છે—"શસ્ત્રથી પરિણત-(છેદાએલી)ને છોડીને બાકીની સવ વનસ્પતિ સચિત્ત કહેલી છે, તે અનેક જીવવાળી છે, અને તે જીવોની સત્તા પૃથક્-પૃથક્ છે"

આધુનિક વૈજ્ઞાનિકોએ પોતાના પ્રયોગો દ્વારા પ્રત્યક્ષ-બતાવી આપ્યું છે કે વનસ્પતિ સચિત્ત છે ક્રોધ આદિ કરવાથી, ગાળ દેવાથી અથવા તિરસ્કાર કરવાથી વૃક્ષ, લતા આદિ

अस्थिक-ति दुक-कपित्था-म्बाडक-मातुलिङ्ग-बिल्वा-मलक-पनस-दाडिमादय ।

एकास्थिकानां बहुबीजकाना च वृक्षाणा मूलैकजीवमाश्रित्य मूलकन्दस्कन्ध त्वक्शाखाप्रवालेषु प्रत्येकमसख्येया जीवा' सन्ति । एको मूलजीवस्तु मूलादिफल पर्यन्तं सर्वावयवं व्याप्य वृक्षेषु तिष्ठति ।

नन्वेकास्थिकानां बहुबीजकाना च वृक्षाणां मूलकन्दस्कन्धत्वक्शाखादयः प्रत्येकमसख्येयजीवा सन्ति, इति यदुक्त तत् कथमुपपद्यते, मूलादिफलपर्यन्ता वृक्षा सर्वेऽप्येकशरीराकारा एवोपलभ्यन्ते, यथा-देवदत्तस्य शरीरमखण्डमेकरूपमुपलभ्यते तद्वत्, तस्मादेकशरीरात्मका एव वृक्षा', कथममी प्रत्येकशरीरा असख्येयजीवा इति ? उच्यते—

(तेंदू) कपित्थ (कविठ), अम्बाडक, मातुलिंग, बिल्व, आमला, पनस और दाडिम आदि ।

एकास्थिक और बहुबीजक वृक्षों में मूलके एक जीव के सहारे मूल, कंद, स्कंध, छाल, शाखा,और प्रवाल में अलग-अलग असंख्यात जीव हैं । एक मूल जीव, मूल से लेकर फल तक वृक्ष के सभी अवयवों में व्याप्त होकर रहता है ।

शका—एक बीजवाले और बहुत बीज वाले वृक्षों के मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा आदि प्रत्येक असख्यात जीव वाले हैं, यह कथन सही कैसे हो सकता है ? मूल से लेकर फलपर्यन्त वृक्ष सभी एक शरीराकार ही उपलब्ध होते हैं, जैसे कि देवदत्त का शरीर अखंड एकरूप ही देखा जाता है । अत वृक्ष एक-एक शरीररूप ही हैं । उन में असंख्यात प्रत्येक किस प्रकार हो सकते हैं ?

અસ્થિક, તિન્દુક, કપિત્થ, અબાડક, માતુલિંગ (બિજોરૂં), બિલ્વ, (બીલી), આમલા, પનસ અને દાડમ આદિ

એકાસ્થિક અને બહુબીજક વૃક્ષોમાં મૂળના એક જીવના આધારે મૂલ, કંદ, સ્કંધ છાલ, શાખા અને પ્રવાલમાં અલગ-અલગ અસખ્યાત જીવ છે એક મૂલ જીવ, મૂલથી લઈને ફલ સુધી વૃક્ષના સવ અવયવોમા વ્યાપ્ત થઈને રહે છે

શકા—એકબીજવાળા અને બહુબીજવાળા વૃક્ષોના મૂળ, કંદ, સ્કન્ધ, ત્વચા-છાલ, શાખા આદિ પ્રત્યેક અસખ્યાત જીવવાળા છે આ કથન સાચુ છે એમ કેવી રીતે કહી શકાય ? અથવા એ કથન સાચુ કેવી રીતે હોઈ શકે ?

મૂલથી લઈને ફલ સુધી વૃક્ષ સર્વ એક શરીરાકારજ ઉપલબ્ધ થાય છે જેમકે દેવદત્તનું શરીર અખડ એકરૂપજ જોવામાં આવે છે એ માટે વૃક્ષ એક એક શરીર રૂપજ છે તેમા અસખ્યાત પ્રત્યેકશરીર કેવી રીતે હોઈ શકે છે ?

प्रति गतं प्रत्येकम्, प्रत्येकं शरीरं येषां ते प्रत्येकशरीराः। प्रत्येकनामकर्मोदयवशा देकैकस्य जीवस्य शरीरमौदारिकं वैक्रियं वा पृथक् पृथग् भवति। एवम्भूता जीवा प्रत्येकशरीरा उच्यन्ते। नारकदेवमनुष्याः, द्वीन्द्रियादयः, पृथिव्यादयः, वृक्षगुच्छादि वनस्पतयश्च प्रत्येकशरीरिणः सन्ति। इमे प्रत्येकाः प्रत्येकजीवा अपि कथ्यन्ते।

प्रत्येकशरीरा द्वादशविधाः–वृक्ष–गुच्छ–गुल्म–लता–वल्ली–पर्वग–तृण–वलय–हरितौ–षधि–जलरुह–कुहणभेदात्।

तत्र वृक्षा द्विविधाः–एकास्थिकाः (एकबीजकाः) बहुबीजकाश्च। तत्रैकास्थिका अनेकविधाः–निम्बाम्रजम्बूकौशम्बादयः। बहुबीजका अप्यनेकविधाः–

एक–एक जीवसबंधी शरीर प्रत्येकशरीर कहलाता है। प्रत्येकनामकर्म के उदय से एक–एक जीव के शरीर औदारिक और वैक्रिय अलग–अलग होता है। ऐसे अलग–अलग शरीर वाले जीव प्रत्येकशरीर कहलाते हैं–नारक, देव, मनुष्य द्वीन्द्रिय आदि, पृथ्वीकाय आदि तथा वृक्ष, गुच्छ आदि वनस्पतिजीव प्रत्येक शरीरी हैं। इन्हें प्रत्येक और प्रत्येकजीव भी कहते हैं।

प्रत्येकशरीरी वनस्पतिकाय बारह प्रकार के हैं–वृक्ष, गुच्छ गुल्म, लता, वल्ली, पर्वग, तृण, वलय, हरित, औषध, जलरुह और कुहण।

इनमें वृक्ष दो प्रकार के हैं–एकास्थिक अर्थात् एक बीज वाले और बहुबीजक अर्थात् बहुत बीजों वाले। एक बीज वाले नीम, आम, जामन और कोशम्ब आदि अनेक प्रकार के हैं। बहुबीजक भी अनेक प्रकार के हैं। जैसे अस्थिक, तिन्दुक,

શરીર પ્રત્યેક શરીર કહેવાય છે પ્રત્યેકનામકર્મના ઉદયથી એક–એક જીવના શરીર ઔદારિક અને વૈક્રિય અલગ–અલગ હોય છે એવા અલગ–અલગ શરીરવાળા જીવ પ્રત્યેકશરીર કહેવાય છે નારક, દેવ મનુષ્ય, દ્વીન્દ્રિય આદિ પૃથ્વીકાય આદિ તથા વૃક્ષ, ગુચ્છ આદિ વનસ્પતિજીવ પ્રત્યેકશરીર છે તેને પ્રત્યેક અને પ્રત્યેકજીવ પણ કહે છે

પ્રત્યેકશરીરી વનસ્પતિકાય બાર પ્રકારના છે–વૃક્ષ, ગુચ્છ, ગુલ્મ, લતા, વલ્લી, પર્વગ, તૃણ, વલય, હરિત, ઔષધ, જલરુહ અને કુહણ

એમા વૃક્ષ બે પ્રકારના છે–એકાસ્થિક અર્થાત્ એક બીજવાળા, અને બહુસ્થિક અર્થાત્ ઘણાંજ બીજવાળા. એક બીજવાળા–લીંબડો, આંબો, જાંબુ અને કૌશમ્બ, આદિ અનેક પ્રકારના છે બહુબીજક એટલે ઘણા બીજવાળા પણ અનેક પ્રકારના છે જેમકે–

अस्थिक-तिन्दुक-कपित्था-म्रातक-मातुलिङ्ग-बिल्वा-मलक-पनस-दाडिमादय.।

एकास्थिकानां बहुबीजकाना च वृक्षाणा मूलैकजीवमाश्रित्य मूलकन्दस्कन्ध त्वक्शाखाप्रवालेषु प्रत्येकमसङ्ख्येया जीवा सन्ति। एको मूलजीवस्तु मूलादिफल पर्यन्तं सर्वावयवं व्याप्य वृक्षेषु तिष्ठति।

नन्वेकास्थिकानां बहुबीजकाना च वृक्षाणां मूलकन्दस्कन्धत्वक्शाखादय' प्रत्येकमसङ्ख्येयजीवा सन्ति, इति यदुक्त तत् कथमुपपद्यते, मूलादिफलपर्यन्ता वृक्षा. सर्वेऽप्येकशरीराकारा एवोपलभ्यन्ते, यथा-देवदत्तस्य शरीरमखण्डमेकरूपमुपलभ्यते तद्वत्, तस्मादेकशरीरात्मका एव वृक्षा', कथममी प्रत्येकशरीरा असङ्ख्येयजीवा इति ? उच्यते—

(तेंदू) कपित्थ (कवीठ), अम्बाडक, मातुलिंग, बिल्व, आमला, पनस और दाडिम आदि।

एकास्थिक और बहुबीजक वृक्षों में मूलके एक जीव के सहारे मूल, कन्द, स्कंध, छाल, शाखा,और प्रवाल में अलग-अलग असंख्यात जीव हैं। एक मूल जीव, मूल से लेकर फल तक वृक्ष के सभी अवयवों में व्याप्त होकर रहता है।

शका—एक बीजवाले और बहुत बीज वाले वृक्षों के मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा आदि प्रत्येक असंख्यात जीव वाले हैं, यह कथन सही कैसे हो सकता है ? मूल से लेकर फलपर्यन्त वृक्ष सभी एक शरीराकार ही उपलब्ध होते हैं, जैसे कि देवदत्त का शरीर अखंड एकरूप ही देखा जाता है। अत वृक्ष एक-एक शरीररूप ही हैं। उन में असंख्यात प्रत्येक किस प्रकार हो सकते हैं ?

અસ્થિક, તિન્દુક, કપિત્થ, અમ્બાડક, માતુલિંગ (બિજોરૂં), બિલ્વ, (બીલી), આમલા, પનસ અને દાડમ આદિ

એકાસ્થિક અને બહુબીજક વૃક્ષોમાં મૂળના એક જીવના આધારે મૂલ, કંદ, સ્કંધ છાલ, શાખા અને પ્રવાલમા અલગ-અલગ અસંખ્યાત જીવ છે એક મૂલ જીવ, મૂલથી લઈને ફલ સુધી વૃક્ષના સર્વ અવયવોમા વ્યાપ્ત થઈને રહે છે

શંકા—એકબીજવાળા અને બહુબીજવાળા વૃક્ષોના મૂળ, કંદ, સ્કન્ધ, ત્વચા-છાલ, શાખા આદિ પ્રત્યેક અસંખ્યાત જીવવાળા છે આ કથન સાચુ છે એમ કેવી રીતે કહી શકાય? અથવા એ કથન સાચુ કેવી રીતે હોઈ શકે?

મૂલથી લઈને ફલ સુધી વૃક્ષ સર્વ એક શરીરાકારજ ઉપલબ્ધ થાય છે જેમકે દેવદત્તનું શરીર અખંડ એકરૂપજ જોવામાં આવે છે એ માટે વૃક્ષ એક એક શરીર રૂપજ છે તેમા અસંખ્યાત પ્રત્યેકશરીર કેવી રીતે હોઈ શકે છે?

प्रति गत प्रत्येकम्, प्रत्येकं शरीरं येषां ते प्रत्येकशरीरा । प्रत्येकनामकर्मोदयवशा देकैकस्य जीवस्य शरीरमौदारिकं वैक्रियं वा पृथक् पृथग् भवति । एवम्भूता जीवा प्रत्येकशरीरा उच्यन्ते । नारकदेवमनुष्या, द्वीन्द्रियादय, पृथिव्यादय, वृक्षगुच्छादि वनस्पतयश्च प्रत्येकशरीरिण सन्ति । इमे प्रत्येका प्रत्येकजीवा अपि कथ्यन्ते ।

प्रत्येकशरीरा द्वादशविधा–वृक्ष–गुच्छ–गुल्म–लता–वल्ली–पर्वग–तृण–वलय–हरितौ–षधि–जलरुह–कुहणभेदात् ।

तत्र वृक्षा द्विविधाः–एकास्थिका (एकबीजका) बहुबीजकाश्च । तत्रैकास्थिका अनेकविधाः–निम्बाम्रजम्बूकौशम्बादय । बहुबीजका अप्यनेकविधा –

एक–एक जीवसबधी शरीर प्रत्येकशरीर कहलाता है । प्रत्येकनामकर्म के उदय से एक–एक जीव के शरीर औदारिक और वैक्रिय अलग–अलग होता है । ऐसे अलग–अलग शरीर वाले जीव प्रत्येकशरीर कहलाते हैं–नारक, देव, मनुष्य द्वीन्द्रिय आदि, पृथ्वीकाय आदि तथा वृक्ष, गुच्छ आदि वनस्पतिजीव प्रत्येक शरीरी हैं । इन्हें प्रत्येक और प्रत्येकजीव भी कहते हैं ।

प्रत्येकशरीरी वनस्पतिकाय बारह प्रकार के हैं–वृक्ष, गुच्छ गुल्म, लता, वल्ली, पर्वग, तृण, वलय, हरित, औषध, जलरुह और कुहण ।

इनमें वृक्ष दो प्रकार के हैं–एकास्थिक अर्थात् एक बीज वाले और बहु बीजक अर्थात् बहुत बीजों वाले । एक बीज वाले नीम, आम, जामन और कौशम्ब आदि अनेक प्रकार के हैं । बहुबीजक भी अनेक प्रकार के हैं । जैसे अस्थिक, तिन्दुक,

---

शरीर प्रत्येक शरीर કહેવાય છે પ્રત્યેકનામકર્મના ઉદયથી એક–એક જીવના શરીર ઔદારિક અને વૈક્રિય અલગ–અલગ હોય છે એવા અલગ–અલગ શરીરવાળા જીવ પ્રત્યેકશરીર કહેવાય છે નારક, દેવ. મનુષ્ય, દ્વીન્દ્રિય આદિ પૃથ્વીકાય આદિ તથા વૃક્ષ, ગુચ્છ આદિ વનસ્પતિજીવ પ્રત્યેકશરીર છે તેને પ્રત્યેક અને પ્રત્યેકજીવ પણ કહે છે

પ્રત્યેકશરીરી વનસ્પતિકાય બાર પ્રકારના છે–વૃક્ષ, ગુચ્છ, ગુલ્મ, લતા, વલ્લી, પર્વગ, તૃણ, વલય, હરિત, ઔષધ, જલરુહ અને કુહણ

એમા વૃક્ષ બે પ્રકારના છે –એકાસ્થિક અર્થાત્ એક બીજવાળા, અને બહુસ્થિક અર્થાત્ ઘણાજ બીજવાળાં. એક બીજવાળા–લીમડો, આંબો, જાબુ અને કૌશમ્બ, આદિ અનેક પ્રકારના છે બહુબીજક એટલે ઘણા બીજવાળા પણ અનેક પ્રકારના છે જેમકે –

अस्थिक-तिन्दुक-कपित्था-म्राडक-मातुलिङ्ग-बिल्वा-मलक-पनस-दाडिमादय.।

एकास्थिकानां बहुबीजकाना च वृक्षाणा मूलैकजीवमाश्रित्य मूलकन्दस्कन्ध त्वक्शाखाप्रवालेषु प्रत्येकमसङ्ख्येया जीवा' सन्ति। एको मूलजीवस्तु मूलादिफल पर्यन्तं सर्वावयव व्याप्य वृक्षेषु तिष्ठति।

नन्वेकास्थिकाना बहुबीजकाना च वृक्षाणां मूलकन्दस्कन्धत्वक्शाखादय प्रत्येकमसङ्ख्येयजीवा सन्ति, इति यदुक्त तत् कथमुपपद्यते, मूलादिफलपर्यन्ता वृक्षा' सर्वेऽप्येकशरीराकारा एवोपलभ्यन्ते, यथा-देवदत्तस्य शरीरमखण्डमेकरूपमुपलभ्यते तद्वत्, तस्मादेकशरीरात्मका एव वृक्षा, कथममी प्रत्येकशरीरा असङ्ख्येयजीवा इति ? उच्यते—

(तेंदू) कपित्थ (कथिठ), अम्बाडक, मातुलिंग, बिल्व, आमला, पनस और दाडिम आदि।

एकास्थिक और बहुबीजक वृक्षों में मूलके एक जीव के सहारे मूल, कद, स्कंध, छाल, शाखा,और प्रवाल में अलग-अलग असंख्यात जीव हैं। एक मूल जीव, मूल से लेकर फल तक वृक्ष के सभी अवयवों में व्याप्त होकर रहता है।

शका—एक बीजवाले और बहुत बीज वाले वृक्षों के मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा आदि प्रत्येक असख्यात जीव वाले हैं, यह कथन सही कैसे हो सकता है ? मूल से लेकर फलपर्यन्त वृक्ष सभी एक शरीराकार ही उपलब्ध होते हैं, जैसे कि देवदत्त का शरीर अखंड एकरूप ही देखा जाता है। अत वृक्ष एक-एक शरीररूप ही हैं। उन में असख्यात प्रत्येक किस प्रकार हो सकते हैं ?

અસ્થિક, તિન્દુક, કપિત્થ, અબાડક, માતુલિગ (બિજોરૂં), બિલ્વ, (બીલી), આમલા, પનસ અને દાડમ આદિ

એકાસ્થિક અને બહુબીજક વૃક્ષોમાં મૂળના એક જીવના આધારે મૂલ, કદ, સ્કધ છાલ, શાખા અને પ્રવાલમા અલગ-અલગ અસખ્યાત જીવ છે એક મૂલ જીવ, મૂલથી લઈને ફલ સુધી વૃક્ષના સવ અવયવોમા વ્યાપ્ત થઈને રહે છે

શકા—એકબીજવાળા અને બહુબીજવાળા વૃક્ષોના મૂળ, કદ, સ્કન્ધ, ત્વચા-છાલ, શાખા આદિ પ્રત્યેક અસખ્યાત જીવવાળા છે આ કથન સાચુ છે એમ કેવી રીતે કહી શકાય ? અથવા એ કથન સાચુ કેવી રીતે હોઈ શકે ?

મૂલથી લઈને ફલ સુધી વૃક્ષ સવ એક શરીરાકારજ ઉપલબ્ધ થાય છે જેમકે દેવદત્તનું શરીર અખડ એકરૂપજ જોવામા આવે છે એ માટે વૃક્ષ એક એક શરીર રૂપજ છે તેમા અસખ્યાત પ્રત્યેકશરીર કેવી રીતે હોઈ શકે છે ?

मूलस्कन्धादिषु तेषामसंख्येयानामपि जीवानां प्रत्येकनामकर्मोदयात् पृथक् पृथगेव एकैकशरीरसद्भावेन प्रत्येकशरीरत्वं सिध्यति।

यद्यपि वृक्षाणां मूलादिषु प्रत्येकमसंख्येया अपि जीवा परस्परं विभिन्नशरीराः, तथापि प्रबलरागद्वेषोपचिततथारूपप्रत्येकनामकर्ममाहात्म्यादेव परस्परं समाश्लिष्टा समिश्रिता भवन्ति। यथा श्लेषणद्रव्येण मिश्रीकृत्य निर्मितायां खसखसगुटिकाया प्रत्येकभागे स्वस्वसत्तया खसखसबीजानि तिष्ठन्ति। यथा वा–गुडमिश्रितैस्तिलैः कृतायां तिलपर्पटिकायां तिला स्वस्वरूपेण वर्तन्ते, तथैव प्रत्येकशरीरा असंख्येयजीवा मूलकन्दादिषु प्रत्येकं तिष्ठन्ति। साधारण-

---

समाधान—मूल और स्कन्ध आदि में उन असंख्यात जीवों के, प्रत्येकनामकर्म के उदय से अलग–अलग एक–एक शरीर हैं, अत वे सब प्रत्येकशरीरी सिद्ध होते हैं।

यद्यपि वृक्षों के मूल आदि में असंख्यात जीव हैं और उन सब के शरीर भिन्न–भिन्न हैं, फिर भी तीव्र राग–द्वेष के कारण उपार्जित प्रत्येकनामकर्म के प्रभाव से ही वे सब आपस में मिले हुए–से रहते हैं। जैसे किसी चिपकनी चीज में मिलाकर बनाई हुई खसखस की गोली के प्रत्येक भाग में खसखस के बीज अपना अलग–अलग अस्तित्व बनाये रखते हैं, अथवा जैसे गुड मिले तिलों की बनाई हुई तिलपपडी में तिलों के दाने अपने अपने स्वरूप में विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार प्रत्येकशरीरी असंख्यात जीव मूल, कन्द आदि में रहते हैं। साधारणवनस्पति से इन में यह भेद है कि–प्रत्येकशरीरी

સમાધાન—મૂલ અને સ્કંધ આદિમાં તે અસંખ્યાત જીવોના પ્રત્યેકનામકર્મના ઉદયથી અલગ–અલગ એક–એક શરીર છે, તો પણ તીવ્ર રાગ–દ્વેષના કારણે ઉપાર્જિત–પ્રાપ્ત કરેલા પ્રત્યેકનામકર્મના પ્રભાવથીજ તે સર્વ આપસમાં–પરસ્પરમાં મળેલા રહે છે, જેમ કોઈ ચિપકની (ચીકણી–ચોંટી જાય તેવી) ચીજમાં મેળવીને બનાવેલી ખસખસની ગોળીના પ્રત્યેક ભાગમાં ખસખસના બીજ પોતાનું અલગ અલગ અસ્તિત્વ બનાવી રાખે છે અથવા જેમ ગોળ મેળવેલી તલની તલપાપડી–તલસાંકળીમાં તલના દાણા પોત–પોતાના સ્વરૂપમાં વિદ્યમાન રહે છે, તે પ્રમાણે પ્રત્યેકશરીરી અસંખ્યાત જીવ મૂલ, કંદ આદિમાં રહે છે સાધારણ વનસ્પતિથી તેનામાં એ ભેદ છે કે–પ્રત્યેકશરીરી

वनस्पतिभ्यस्त्वेतावान् विशेष - प्रत्येकशरीरा' परस्पर समिश्रिता अपि भिन्ना एव तिष्ठन्ति, साधारणशरीरास्त्वन्योन्यानुविद्धा इति ।

पत्रेषु प्रत्येक मूलजीवाद्भिन्न एकैको जीव । उक्त हि प्रज्ञापनायामेकास्थिकबहुबीजवृक्षप्ररूपणावसरे-" पत्ता पत्तेयजीविया " इति ।

तथा-तालसरलनालिकेरवृक्षाणां स्कन्धश्चैकजीवः । तदुक्तम्-

" णाणाविहसठाणा, रुक्खाण एगजीविया पत्ता ।
खधोवि एगजीवो, ताल-सरल-नालिएरीण " ॥

छाया-नानाविध सस्थानानि, वृक्षणाम् एकजीविकानि पत्राणि ।
स्कन्धोऽपि एकजीवः, तालसरल नारिकेलानाम् ॥ (प्रज्ञा०)

जीव आपस में मिले हुए भी भिन्न-भिन्न रहते हैं किन्तु साधारणशरीरवाले जीव आपस में अनुविद्ध-एक रूप होकर रहते हैं । तात्पर्य यह है कि-प्रत्येकशरीरी जीवों का शरीर अलग-अलग होता है किन्तु इन साधारणशरीरी जीवों का शरीर एक ही होता है ।

पत्तों में मूल जीव से भिन्न एक-एक जीव अलग-अलग होते हैं । प्रज्ञापना सूत्र में एकबीज और बहुबीज वृक्षों की प्ररूपणा करते हुए कहा है- 'पत्ता पत्तेयजीविया' अर्थात् पत्ते प्रत्येक जीव वाल हैं ।

तथा ताल, साल, नालिकेर आदि वृक्षों का स्कन्ध एक जीव है । कहा है-

" नाना प्रकार के आकार वाले वृक्षों के पत्ते प्रत्येकजीव हैं और ताल, सरल तथा नारियल के स्कन्ध एकजीव हैं " ।

જીવ પરસ્પર મળેલા છતા પણ ભિન્ન-ભિન્ન રહે છે, પરન્તુ સાધારણ શરીરવાળા જીવ પરસ્પરમાં અનુવિદ્ધ-એકરૂપ થઈને રહે છે તાત્પર્ય એ છે કે-પ્રત્યેકશરીરી જીવોનાં શરીર અલગ-અલગ હોય છે કિન્તુ આ સાધારણશરીરી જીવોનું શરીર એકજ હોય છે

પત્તાં-પાદડામા, મૂલ જીવથી ભિન્ન એક-એક જીવ અલગ-અલગ હોય છે પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રમા એકબીજ અને બહુબીજ વૃક્ષોની પ્રરૂપણા કરતા થકા કહ્યુ છે કે- 'पत्ता पत्तेयजीविया' અર્થાત્ પત્તા પ્રત્યેક જીવવાળા છે

તથા તાલ, સરલ, નાળિએર આદિ વૃક્ષોના સ્કધ એક જીવ છે કહ્યુ છે કે:-

" નાના પ્રકારના આકારવાળા વૃક્ષોના પત્તા-પાદડા પ્રત્યેકજીવ છે અને તાલ, સરલ તથા નારિએલના સ્કધ એકજીવ છે "

मूलस्कन्धादिषु तेषामसङ्ख्येयानामपि जीवानां प्रत्येकनामकर्मोदयात् पृथक् पृथगेव एकैकशरीरसद्भावेन प्रत्येकशरीरत्वं सिध्यति ।

यद्यपि वृक्षाणां मूलादिषु प्रत्येकमसङ्ख्येया अपि जीवाः परस्परं विभिन्नशरीराः, तथापि प्रबलरागद्वेषोपचिततथारूपप्रत्येकनामकर्ममाहात्म्यादेव परस्परं समाश्लिष्टाः समिश्रिता भवन्ति । यथा श्लेषणद्रव्येण मिश्रीकृत्य निर्मितायां खसखसगुटिकायां प्रत्येकभागे स्वस्वसत्तया खसखसबीजानि तिष्ठन्ति । यथा वा-गुडमिश्रितैस्तिलैः कृतायां तिलपर्पटिकायां तिलाः स्वस्वरूपेण वर्तन्ते, तथैव प्रत्येकशरीरा असंख्येयजीवाः मूलकन्दादिषु प्रत्येकं तिष्ठन्ति । साधारण

समाधान—मूल और स्कन्ध आदि में उन असख्यात जीवों के, प्रत्येकनामकर्म के उदय से अलग-अलग एक-एक शरीर हैं, अत वे सब प्रत्येकशरीरी सिद्ध होते हैं ।

यद्यपि वृक्षों के मूल आदि में असख्यात जीव हैं और उन सब के शरीर भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी तीव्र राग-द्वेष के कारण उपार्जित प्रत्येकनामकर्म के प्रभाव से ही वे सब आपस में मिले हुए-से रहते हैं । जैसे किसी चिपकनी चीज में मिलाकर बनाई हुई खसखस की गोली के प्रत्येक भाग में खसखस के बीज अपना अलग-अलग अस्तित्व बनाये रखते हैं, अथवा जैसे गुड मिले तिलों की बनाई हुई तिलपपडी में तिलों के दाने अपने अपने स्वरूप में विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार प्रत्येकशरीरी असंख्यात जीव मूल, कन्द आदि में रहते हैं । साधारणवनस्पति से इन में यह भेद है कि-प्रत्येकशरीरी

સમાધાન—મૂલ અને સ્કંધ આદિમાં તે અસખ્યાત જીવોના પ્રત્યેકનામકર્મના ઉદયથી અલગ-અલગ એક-એક શરીર છે, તો પણ તીવ્ર રાગ-દ્વેષના કારણે ઉપાર્જિત-પ્રાપ્ત કરેલા પ્રત્યેકનામકર્મના પ્રભાવથીજ તે સવ આપસમાં-પરસ્પરમાં મળેલા રહે છે, જેમ કોઈ ચિપકની (ચીકણી-ચોંટી જાય તેવી) ચીજમા મેળવીને બનાવેલી ખસખસની ગોળીના પ્રત્યેક ભાગમાં ખસખસનાં બીજ પોતાનું અલગ અલગ અસ્તિત્વ બનાવી રાખે છે અથવા જેમ ગોળ મેળવેલી તલની તલપાપડી-તલસાંકળીમા તલના દાણા પોત-પોતાના સ્વરૂપમા વિદ્યમાન રહે છે, તે પ્રમાણે પ્રત્યેકશરીરી અસખ્યાત જીવ મૂલ, કદ આદિમાં રહે છે સાધારણ વનસ્પતિથી તેનામા એ ભેદ છે કે-પ્રત્યેકશરીરી

गुच्छा अनेकविधा –आढकी–वृन्ताकी–तुलसी–पिप्पलीप्रभृतय । गुल्मा - ह्रस्वस्कन्धबहुकाण्डपत्रपुष्पफलोपेता, तेऽनेकविधा –सेरिका–नवमालिका–कोरण्टक-बन्धुजीवकादयः । लता अनेकविधा –पद्मलता–नागलताऽशोकलताचम्पकलतादय यस्य वनस्पतेस्तिर्यक् तथाविधा शाखा प्रशाखा वा न प्रसृता, सा लतोच्यते ।

वल्ल्योऽनेकविधा–पुष्पफली–कूष्माण्डी–कालिङ्गी–तुम्बी– त्रपुषी–कोशातकी –पटोलादय । पर्वगा अनेकविधा –इक्षु–वंश–नलवंश–वेतसप्रभृतय । तृणानि–अनेकविधानि–कुशदूर्वादीनि । वलयानि–ताल–तमाल–केतकी–कदली–कन्दल्या-

---

गुच्छ अनेक प्रकार के हैं। जैसे–अरहर वृन्ताकी, तुलसी, पिप्पली आदि। जिनका तना छोटा हो, कांड बहुत हो और जो पत्तों, फूलों और फलों से युक्त हों उन्हें गुल्म कहते हैं। ये भी कइ प्रकार के हैं। यथा–सेरिका, नवमालिका, कोरण्टक, बन्धुजीवक वगैरह। लताएँ भी अनेक प्रकार की हैं, जैसे-पद्मलता, नागलता, अशोकलता, चम्पकलता आदि। जिस वनस्पति की तिरछी अथवा खास तरह की शाखाएँ प्रशाखाएँ नहीं फैलती वह लता कहलाती हैं।

वल्ली के भी अनेक भेद हैं। जैसे–पुष्पफली, कूष्माण्डी, कालिंगी, तुम्बी, त्रपुषी, (ककडी) कोशातकी तथा पटोलादि। पर्वग भी अनेक प्रकार के हैं। जैसे–इक्षु, (सलरी) वंश, (बाँस) नलवंश, वेत आदि। कुश और दूब आदि तृण अनेक प्रकार के होते हैं। ताल, तमाल, केतकी, कदली, कन्दली आदि वलय

ગુચ્છ અનેક પ્રકારના છે જેવા કે–તુવેર, વૃન્તાકી, તુલસી, પિપ્પલી, આદિ જેના થડ નાના હોય, કાંડ બહુજ હોય અને જે પત્તા–ફૂલ અને ફળોથી યુક્ત હોય તેને ગુલ્મ કહે છે તે પણ ઘણા પ્રકારના છે જેમ–સેરિકા, નવમાલિકા, કોરંટક, બન્ધુજીવક વગેરે, લતાઓ પણ અનેક પ્રકારની છે જેવી રીતે કે–પદ્મલતા, નાગલતા, અશોકલતા, ચમ્પકલતા આદિ જે વનસ્પતિની તિરછી અથવા ખાસ તરહની શાખાઓ–પ્રશાખાઓ ફેલાતી નથી તે લતા કહેવાય છે

વલ્લીના પણ અનેક ભેદ છે જેવી રીતે પુષ્પફલી, કૂષ્માંડી, કાલિંગી, તુમ્બી, ત્રપુષી, કોશાતકી તથા પટોલાદિ. પવગ પણ અનેક પ્રકારના છે જેમ–શેરડી, વાંસ, નલવંશ વેત આદિ. કુશ–દાભડો અને દૂબ–ધરો આદિ તૃણ અનેક પ્રકારના હોય છે તાલ, તમાલ, કેતકી, કદલી–કેળ, કન્દલી આદિને વલય કહેવાય છે તદુલીયક, (તાંદલજા)

पुष्पेषु अनेकजीवा -सख्याता असख्याता अनन्ता वा सन्ति। उक्तञ्च-"पुप्फा अणेगजीवा" इति।

"पुप्फा जलया थलया, विंटबद्धा य नालिबद्धा य।
सखिज्जमसखिज्जा, बोधव्वाऽणतजीवा य"॥

छाया-पुष्पाणि जलजानि स्थलजानि, वृन्तबद्धानि च नालिबद्धानि च।
सख्येयानि (सख्येय जीवानि) असख्येयानि (असख्येय जीवानि)
बोद्धव्यानि अनन्त जीवानि च॥ (प्रज्ञा०)

यत्तु "पुष्पाणि चैकजीवानि मन्तव्यानी"-ति शीलाङ्काचार्यैरभिहितं तत् प्रामादिकम्, प्रज्ञापनासूत्रविरोधात्।

फलेषु मूलजीवमाश्रित्य प्रत्येक द्वौ द्वौ जीवौ स्त'। दोण्णि य जीवा फले भणिया" इति प्रज्ञापनावचनात्। वृक्षा प्ररूपिता, अथगुच्छादय प्रोच्यन्ते-

---

फूलो में अनेक-संख्यात असख्यात अथवा अनन्त जीव होते हैं। कहा भी है-"पुप्फा अणेगजीवा" फूल अनेक जीव वाले होते हैं।

"जल में उत्पन्न होने वाले, स्थल में उत्पन्न होने वाले, वृन्तबद्ध या नालिबद्ध फूल सख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त जीव वाले समझने चाहिए"। (प्रज्ञापनासूत्र)

"फूल एक जीव वाले होते हैं" यह शीलाङ्काचार्य का कथन भूलभरा है, क्यों कि यह प्रज्ञापनासूत्र से विरुद्ध है।

फलों में मूल जीव की अपेक्षा प्रत्येक दो-दो जीव हैं। प्रज्ञापना सूत्र में कहा है-"फल में दो जीव कहे गये हैं।"

यहाँ तक वृक्षों का निरूपण किया। अब गुच्छ आदि के विषय में कहते हैं-

---

ફૂલોમા અનેક સખ્યાત અસખ્યાત અથવા અનન્ત-જીવ હોય છે કહ્યું પણ છે-'पुप्फा अणेगजीवा' "ફૂલ અનેક જીવવાળા હોય છે"

"જલમા ઉત્પન્ન થવાવાળા, સ્થળમાં ઉત્પન્ન થવાવાળા વૃન્તબદ્ધ અથવા નાલિબદ્ધ ફૂલ સખ્યાત અસખ્યાત અથવા અનન્ત જીવવાળા છે, એમ સમજવુ જોઈએ" (પ્રજ્ઞાપનાસૂત્ર)

"ફૂલ એક જીવવાળાં હોય છે" આ શીલાંકાચાર્યનું કથન ભૂલભર્યું છે, કેમકે તે પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રથી વિરુદ્ધ છે

ફૂલોમા મૂલ જીવની અપેક્ષા પ્રત્યેક બે-બે જીવ છે પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રમાં કહ્યું છે-"ફલમા બે જીવ કહેલા છે"

અહિં સુધી વૃક્ષોનું નિરૂપણ કર્યું, હવે ગુચ્છ આદિના વિષયમાં કહે છે:-

जातस्तेन तच्छरीरमुत्पादित, सर्वथा स्वायत्तीकृत च, क्थ तत्रान्येषा जीवानामव-काश', नहि देवदत्तशरीरे देवदत्त इवान्येऽपि जीवाः सर्वावयवेषु सहैव परस्परानु प्रवेशपूर्वक प्रादुर्भवन्ति ?

यद्वा-येनैव तच्छरीर निष्पाद्य सत्यवकाशे स्वेतरै' सह परस्परानुप्रवेशेन स्वाधीन कृत, स एव यत्र प्रधान• स्यात्, ततश्च तस्यैव पर्याप्तापर्याप्तव्यवस्था, प्राणापानादियोग्यपुद्गलोपादान वा भवेत्, नतु शेषाणाम् ? अत्रोच्यते—

नाय प्रश्नो युक्तिपथमारोहति, शङ्काकर्तुर्जिनशासनपरिज्ञानाभावात् ।

पहले जो जीव उत्पन्न हुआ उसने यह शरीर उत्पन्न किया और उसे पूरी तरह अपना लिया । फिर उस शरीर में दूसरे जीवों को अवकाश किस प्रकार मिल सकता है ? देवदत्त के शरीर में देवदत्त की तरह अन्य जीव भी सब अवयवों में, एक दूसरे में मिलकर उत्पन्न कैसे हो सकते है ?

अथवा—जिस जीवने वह शरीर उत्पन्न करके, अवकाश होने पर अपने से भिन्न अन्य जीवोंके साथ मिलकर ग्रहण किया है वही जीव उस शरीर में प्रधान होगा । ऐसी स्थिति में उसी की पर्याप्त और अपर्याप्त की व्यवस्था होगी । वही प्राणापान आदि के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करेगा । शेष जीवों के विषय में किस प्रकार यह व्यवस्था हो सकती है ।

समाधान—यह शका उचित नहीं कही जा सकती, क्यों कि शंकाकार को जिनशासन का परिज्ञान नहीं है ।

જે જીવ ઉત્પન્ન થયો તેણે તે શરીર ઉત્પન્ન કર્યું અને તેણે પૂરી રીતે પોતાનું કરી લીધું પછી એ શરીરમાં બીજા જીવોને અવકાશ કેવી રીતે મળી શકે છે? દેવદત્તના શરીરમાં દેવદત્તની પ્રમાણે અન્ય જીવ પણ તમામ અવયવોમા એક બીજાને મળીને ઉત્પન્ન કેવી રીતે થઈ શકે છે?

અથવા જે જીવે આ શરીર ઉત્પન્ન કરીને અવકાશ મળતા પોતાનાથી ભિન્ન અન્ય જીવોની સાથે મળીને ગ્રહણ કર્યું છે તે જીવ એ શરીરમા પ્રધાન થશે એવી અવસ્થામા-સ્થિતિમાં એની પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્તની વ્યવસ્થા થશે તેજ પ્રાણ-અપાન આદિના યોગ્ય પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરશે શેષ-બાકીના જીવોના વિષયમાં એ વ્યવસ્થા કેવી રીતે થઈ શકે છે?

સમાધાન—આ શકા યોગ્ય નથી કેમકે-શકા કરનારને જિન, શાસનનું પરિજ્ઞાન નથી

दीनि। हरितानि–तन्दुलीयक–वस्तुल–मार्जारपादिका–पाल्क्यादीनि। ओषध्यः–शालि–व्रीहि–गोधूम–यव–वर्जरी–मुद्ग–माषादय । जलरुहा –उत्पल–पद्म–कुमुद–नलिन–पुण्डरीक–शतपत्र–सहस्रपत्र–कोकनदा–रविन्द–पनक–पनकचट्ट–शैवालादय'। कुहणा भूमिस्फोटकाऽऽपकाय–सर्पच्छत्रादय ।

उक्ता प्रत्येकशरीरा वनस्पतय । अथ साधारणशरीरा प्ररूप्यन्ते—

साधारणनामकर्मोदयादनन्तानां जीवानां साधारणमेकं शरीरं भवति। तस्मात् साधारणमेकं शरीरं येषां ते साधारणशरीराः।

ननु कथमनन्तजीवानामेकं शरीरं संभवति, तथाहि–य' खलु प्रथमं

कहलाते हैं। तन्दुलीयक, वस्तुल, मार्जारपादिका, पालकी आदि को हरित कहते हैं। शालि व्रीहि (धान) और गेहूँ, जौ, बाजरी, मूग, उडद आदि के पौधे ओषधि कहलाते हैं। उत्पल, पद्म, कुमुद, नलिन, पुण्डरीक शतपत्र, सहस्रपत्र, कोकनद, अरविन्द, पनक, पनकचट, शैवाल आदि को जलरुह कहते हैं। भूमिस्फोटक, आपकाय और सर्पछत्र आदि कुहण कहलाते हैं।

यहाँ तक प्रत्येकशरीर वनस्पति का विवेचन हुआ। साधारणशरीर का प्ररूपण इस प्रकार है—

साधारणनामकर्म के उदय से अनन्त जीवों का एक साधारण होता है। जिनका शरीर साधारण अर्थात् एक हो, वे साधारणशरीर कहलाते हैं।

शङ्का—अनन्त जीवों का शरीर एक कैसे हो सकता हो? क्यों कि पहले

વસ્તુલ (બથુવા) માર્જારપાદિકા, પાલકી (સુવાપાલક) આદિને હરિત કહે છે શાલી, વ્રીહિ (ધાન્ય) ગેહૂ–ઘઉ, જવ, બાજરો, મગ, અડદ આદિ ઓષધિ કહેવાય છે ઉત્પલ, પદ્મ, કુમુદ, નલિન, પુંડરીક, શતપત્ર, સહસ્રપત્ર, કોકનદ, અરવિંદ, પનક, પનકચટ્ટ શેવાલ આદિને જલરુહ કહે છે ભૂમિસ્ફોટક, આપકાય અને સર્પછત્ર આદિ–કુહણ કહેવાય છે

અહિં સુધી પ્રત્યેક વનસ્પતિનું વિવેચન થયું, સાધારણ શરીરનું પ્રરૂપણ આ પ્રકારે છે–

સાધારણનામકર્મના ઉદયથી અનન્ત જીવોનું એક સાધારણશરીર હોય છે જેનું શરીર સાધારણ અર્થાત્ એક હોય તે સાધારણશરીર કહેવાય છે

શંકા—અનન્ત જીવોના શરીર એક કેવી રીતે હોઈ શકે છે? કેમકે પહેલ વહેલો

साहारणमाहारो, साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं, साहारणलक्खणं एयं" ॥ १८ ॥ (प्रज्ञा० ११५)

छाया-साधारणमाहार, साधारणमानप्राणग्रहणं च।
साधारणजीवानां, साधारणलक्षणमेतत् ॥ १८ ॥

एवं च परस्परानुविद्धानन्तजीवसमूहरूपेण एकशरीरावस्थायिनो जीवाः साधारणशरीरा इति सिद्धम्। एते साधारणजीवशब्देन साधारणशब्देनापि च व्यपदिश्यन्ते।

तेऽनेकविधा -सूरणकन्द - वज्रकन्द-शर्कराकन्द - रक्तालु-पिण्डालु - लशुन-पलाण्डु-गृञ्जन-शृङ्गबेरादयः। वनस्पतेर्मूलसंलग्नो भूम्यन्तर्गतो भागविशेषः कन्दः। एतेऽनन्तजीवपिण्डस्वरूपाः सन्ति।

साधारण जीवों का आहार साधारण होता है और साधारण प्राणापान का ग्रहण होता है, इस प्रकार उनका यह साधारण लक्षण कहा गया है" ॥१८॥ (प्रज्ञा० ११५)

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि एक दूसरे में मिले हुए अनन्तजीवसमूहरूप से एक ही शरीर में रहने वाले साधारण जीव हैं। इन जीवों के लिए 'साधारणजीव' तथा 'साधारण' शब्द का भी व्यवहार किया जाता है।

साधारण जीव अनेक प्रकार के होते हैं। जैसे—सूरणकन्द, वज्रकन्द, शक्करकन्द, रतालु, पिंडालु, लहसुन, प्याज, गाजर, अदरख आदि। वनस्पति के मूल के साथ जुड़ा हुआ और जमीन के अन्दर रहने वाला हिस्सा कन्द कहलाता है। ये कन्द अनन्त जीवों के पिंड हैं।

સાધારણ જીવોનો આહાર સાધારણ હોય છે અને સાધારણ પ્રાણાપાનનું ગ્રહણ હોય છે એ પ્રમાણે તેનું આ સાધારણ લક્ષણ કહ્યું છે (૧૮)"

આ પ્રમાણે સિદ્ધ થયું કે એક બીજામા મળેલા અનન્તજીવસમૂહરૂપથી એક જ શરીરમા રહેવા વાળા સાધારણ જીવ છે એ જીવોને માટે 'સાધારણ જીવ' તથા 'સાધારણ' શબ્દનો પણ વ્યવહાર કરી શકાય છે

સાધારણ જીવ અનેક પ્રકારના હોય છે જેમ-સૂરણકંદ, રતાળુ, પિંડાળુ, લસણ, ડુંગળી, ગાજર, આદુ આદિ વનસ્પતિના મૂળની સાથે જોડાએલા અને જમીનની અંદર રહેવાવાળો ભાગ કંદ કહેવાય છે આ કંદ અનન્ત જીવોના પિંડ છે

साधारणनामकर्मप्रभावादनन्ता अपि जीवा एकस्मिन्नेव काले सहैवोत्पत्तिदेशे तिष्ठन्ति, सहैव पर्याप्तिं निर्वर्तयन्ति, सहैव प्राणापानयोग्यपुद्गलानुपाददते, सहैव च तेषामाहारादिपुद्गलग्रहणम्, तस्मान्न काचिदनुपपत्तिरिति। उक्तञ्च भगवता—

" समयं वक्कंताणं, समयं तेसिं शरीरनिव्वित्ती।
समयं आणग्गहणं, समयं उस्सासनीसासा ॥ १६ ॥
एकस्स उ जं गहणं, बहूण साहारणाण तं चेव।
जं बहुयाणं गहणं, समासओ तंपि एगस्स ॥ १७ ॥

छाया—समकं व्युत्क्रान्तानां, समकं तेषां शरीरनिर्वृत्तिः।
समकमानग्रहणं, समकमुच्छ्वासनिःश्वासौ ॥ १६ ॥
एकस्य तु यद् ग्रहणं, बहूनां साधारणानां तदेव।
यद् बहुकानां ग्रहणं, समासतस्तदप्येकस्य ॥ १७ ॥

साधारणनामकर्म प्रभाव से अनन्त जीव एक ही काल में साथ ही उत्पत्ति देश में उत्पन्न होते हैं, साथ ही पर्याप्तियाँ पूर्ण करते हैं, साथ ही प्राणापान के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करते हैं और साथ ही आहार आदि के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करते हैं। अत एव इस कथन में तनिक भी अयुक्ति नहीं है। भगवान् ने कहा है—

"साथ ही वे जीव उत्पत्तिदेश में आते हैं, साथ ही उनका शरीर बनता है, साथ ही प्राण ग्रहण करते हैं, साथ ही उच्छ्वास-निश्वास होते हैं (१६) एक जीव जो ग्रहण करता है वह बहुत जीवों के लिए समान होता है और बहुत जीव जो ग्रहण करते हैं वह एक जीव के लिए भी होता है (१७)

સાધારણ નામકર્મના પ્રભાવથી અનન્ત જીવ એકજ કાલમા સાથેજ ઉત્પત્તિદેશમાં ઉત્પન્ન થયા છે સાથેજ પર્યાપ્તિઓ પૂર્ણ કરે છે સાથેજ પ્રાણ-અપાનના યોગ્ય-પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરે છે, અને સાથેજ આહાર આદિના યોગ્ય પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરે છે એ માટે આ કથનમા જરાપણ અસ્વાભાવિકતા અથવા અયુક્તતા નથી ભગવાને કહ્યુ છે કે —

"તે જીવ એક સાથેજ ઉત્પત્તિદેશમા આવે છે, સાથેજ એનાં શરીરો બને છે, સાથેજ પ્રાણ ગ્રહણ કરે છે સાથેજ શ્વાસોચ્છ્વાસ થાય છે (૧૬) એક જીવ જે ગ્રહણ કરે છે તે બધાય જીવો માટે સમાનપણે થાય છે, અને તમામ જીવો જે ગ્રહણ કરે છે તે એક જીવને માટે પણ થાય છે (૧૭)

आकारत प्रत्येकवनस्पतिरूपेण दृश्यमाना अपि वनस्पतयोऽनन्तजीवाः सन्ति। तेषा लक्षणमुच्यते—

यस्मिन् मूले भग्ने सति समचक्राकारो भङ्गो भवति, तत्र नियमतोऽनन्ता जीवा भवन्ति। तथा यस्मिन् स्कन्दे भग्ने सति समचक्राकारो भङ्गोदृश्यते तत्राप्य नन्ता जीवा । एव शेषेषु स्कन्ध-त्वक्-शाखा-प्रवाल-पत्र-पुष्प-फल-बीजेष्वपि विज्ञेयम् । ईदृशश्च भङ्ग प्रायेणापरिपक्वावस्थाया भवति ।

तथा-यस्य वनस्पतेर्मध्यगतसारभूतकाष्ठापेक्षया बहुलतरा स्थूला त्वग् भवति सा त्वगनन्तजीवस्वरूपा ।

आकार से प्रत्येकवनस्पति के समान दिखाई देने वाली वनस्पतियाँ भी अनन्त जीव वाली होती हैं। उनका लक्षण यह है—

जिसका मूलभाग तोडने पर समान चक्राकार भग होता है, उसमें नियम से अनंत जीव होते हैं। इसी प्रकार जिसका कन्द भाँगने पर समान चक्राकार भग दिखाई दे उसमें भी अनत जीव होते हैं। यही बात स्कध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीजों के विषय में भी समझनी चाहिए। इस प्रकार के भग प्राय सब होते हैं जब वनस्पति कच्ची होती है।

इसके अतिरिक्त जिस वनस्पति के बीच के सारभाग की अपेक्षा छाल बहुत मोटी होती है वह छाल भी अनत जीव वाली होती है।

આકારથી પ્રત્યેક વનસ્પતિના સમાન-સરખી-દેખાવાવાળી વનસ્પતિ પણ અનન્ત જીવવાળી હોય છે તેનુ લક્ષણ એ છે કે-જેના મૂળભાગને તોડવાથી સમાન ચક્રાકાર ભગ થાય છે, તેમા નિયમથી અનન્ત જીવ હોય છે એ પ્રમાણે જેનો કન્દ ભાંગવાથી સમાન ચક્રાકાર ભગ થયો દેખાઈ આવે તેમાં પણ અનન્ત જીવ હોય છે એજ વાત સ્કધ, ત્વચા, શાખા, પ્રવાલ, પત્ર-પાદડાં, પુષ્પ, ફલ અને બીજોના વિષયમાં પણ સમજવી જોઈએ. આ પ્રકારનો ભગ પ્રાય. ક્યારે થાય છે કે જ્યારે વનસ્પતિ કાચી હોય છે ત્યારે થાય છે

એના સિવાય જે વનસ્પતિના વચ્ચમા સારભાગની અપેક્ષા છાલ ઘણી જ મોટી હોય છે, તે છાલ પણ અનતજીવવાળી હોય છે

बादरा वनस्पतय संक्षेपतः षड्विधाः—अग्रबीज—मूलबीज—पर्वबीज—स्कन्ध बीज—बीजरुह—समूर्च्छिमभेदात् । अग्रे बीजं येषां ते—अग्रबीजाः कोरण्टकप्रभृतयः । मूलमेव बीजं येषां ते मूलबीजा' कदल्यादय' । पर्वणि=ग्रन्थौ सन्धिभागे पर्वैव वा बीजं येषां ते पर्वबीजाः इक्षु—वंश—वेत्रप्रभृतयः । स्कन्ध =स्थुड, स एव बीजं येषां ते स्कन्धबीजाः=अरणि—शल्लकी—स्नुहीप्रभृतयः । बीजाद् रोहन्ति=प्रादुर्भवन्तीति बीजरुहाः=शालि—गोधूम—जव—मक्का—वर्जरीप्रभृतय । समूर्च्छन्ति=बीजं विनाऽपि दग्धभूमावपि समुद्भवन्तीति समूर्च्छिमा पृथिवीजलसंयोगमात्रजनितास्तृणविशेषाः ।

बादर वनस्पति संक्षेप में छह प्रकार की हैं—(१) अग्रबीज (२) मूलबीज (३) पर्वबीज (४) स्कन्धबीज (५) बीजरुह और (६) समूर्च्छिम । जिन वनस्पतियोंका बीज आगे रहता है ऐसी कोरण्टक आदि वनस्पतियाँ अग्रबीज कहलाती हैं । पर्व (पोर—संधिभाग) में जिनका बीज हो, या पर्व ही जिनका बीज हो उन्हें पर्वबीज कहते हैं, जैसे—ईख, बाँस, बेंत आदि । स्कंध जिनका बीज हो ऐसी अरणि, शल्लकी, स्नुही (थुहर) वगैरह स्कन्धबीज कहलाती हैं । शाली, गेहूँ, जौ, मक्की, बाजरी वगैरह बीज से उगने वाली वनस्पति को बीजरुह कहते हैं । बीज के बिना भी, जली हुई जमीन आदि में भी पृथ्वी और जल के संयोगमात्र से उत्पन्न होने वाली वनस्पति संमूर्च्छिम कहलाती है ।

બાદર વનસ્પતિ સંક્ષેપમાં છ પ્રકારની છે— (૧) અગ્રબીજ, (૨) મૂળબીજ, (૩) પર્વબીજ, (૪) સ્કન્ધબીજ, (૫) બીજરુહ, (૬) સમૂર્છિમ. જે વનસ્પતિઓનું બીજ આગળ રહે છે એવી કોરંટક આદિ વનસ્પતિઓ અગ્રબીજ કહેવાય છે મૂળ એજ જેનું બીજ હોય એવી કદળી આદિ વનસ્પતિઓ મૂળબીજ છે—(પોર—સંધિભાગ)માં જેનુ બીજ હોય તેને પર્વબીજ કહે છે, જેમકેઃ—શેલડી, વાંસ, નેતર આદિ સ્કંધ જેનુ બીજ હોય તે અરણી શલ્ય, સ્નુહી (થોર) વગેરે સ્કંધબીજ કહેવાય છે શાલી, ઘઉ, જવ, મકાઈ, બાજરી વગેરે બીજથી ઉગવા વાળી વનસ્પતિને બીજરુહ કહે છે બીજ વિના પણ બળી ગએલી જમીન આદિમાં પણ પૃથ્વી અને જલના સંયોગમાત્રથી ઉત્પન્ન થવા વાળી વનસ્પતિ તે સમૂર્છિમ કહેવાય છે

गूढशिराकमिति=गूढा.=अलक्ष्यमाणा शिरा=नाडीजालं तन्तुजालमिति वा यस्य तत् । प्रणष्टसधीति-प्रणष्ट =सर्वथाऽनुपलक्ष्यमाण , सन्धिः=पत्रद्वयसयोगरूपो भागो यस्य तत् । एतादृश पत्र सक्षीरं=सदुग्धम् , नि क्षीरम्=अनुत्पन्नदुग्ध वा तदनन्त-जीव विजानीहीत्यर्थः ।

एवमन्येऽप्यनेकविधा. शैवालादयोऽनन्तजीवा स्वबुद्ध्या गुरुगमेन वा परिभावनीया । विस्तरतस्तु जिज्ञासुभि प्रज्ञापनासूत्र विलोकनीयम् ।

सूक्ष्मनिगोदास्तु भगवद्वचनावगम्या एव, अनन्तशरीरसघाते सत्यप्यतिसूक्ष्म-त्वात्मास्माक चक्षु पथेऽवतरन्ति । " आणागिज्झा एए चक्खुप्फास न ते इति " इति वचनात् । उक्तञ्च प्रज्ञापनायां सदृष्टान्त निगोदजीवस्वरूप, यथा—

इसी प्रकार सेवार आदि अन्यान्य वनस्पतियों को भी अपनी बुद्धि से या गुरुगम से अनतजीववाली समझ लेनी चाहिए । जिन्हें विस्तारपूर्वक जानना हो उन्हें प्रज्ञापनासूत्र देखना चाहिए ।

सूक्ष्म निगोद भगवान् के वचन से ही समझे जा सकते हैं । एक शरीर में अनंत जीवों का पिण्ड होने पर भी वे जीव इतने सूक्ष्म होते हैं कि हम अपने नेत्रों से (आगम) उन्हें नहीं देख सकते । कहा भी है—"ये जीव सर्वज्ञकी आज्ञा से ही ग्रहण किये (जान) जाते हैं । आँखे उन्हें नहीं देख सकतीं" । प्रज्ञापना सूत्र में उदाहरण के साथ निगोद का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

એ પ્રમાણે સેવાળ આદિ જુદી-જુદી વનસ્પતિઓને પણ પોતાની બુદ્ધિથી અથવા ગુરુગમથી અનતજીવવાળી સમજી લેવી જોઈએ, જેને વિસ્તારપૂર્વક જાણવાની ઈચ્છા હોય તેઓએ પ્રજ્ઞાપનાસૂત્ર જોઈ લેવું જોઈએ

સૂક્ષ્મનિગોદ ભગવાનના વચનથી જ સમજી શકાય છે (જાણી શકાય છે) એક શરીરમાં અનત જીવોના પિંડ હોવા છતાં પણ તે જીવ એટલા સૂક્ષ્મ હોય છે કે આપણે આપણા નેત્રથી તેને જોઈ શકતા નથી કહ્યુ પણ છે કે—"તે જીવ સર્વજ્ઞની આજ્ઞા (આગમ)થી જ ગ્રહણ કરવામા આવે છે—જાણવામા આવે છે, નેત્રથી તે જોઈ શકાતા નથી" પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રમા ઉદાહરણની સાથે નિગોદનુ સ્વરૂપ આ પ્રમાણે બતાવ્યુ છે—

तथा-किसलयरूपे पत्राङ्कुरे उद्गम्यमाने नियमतोऽनन्ता जीवा भवन्ति। उक्तञ्च प्रज्ञापनायां प्रथमपदे।

"सव्वोऽवि किसलओ खलु, उग्गममाणो अणतओ भणिओ." इत्यादि।

छाया-सर्वोऽपि किसलयः खलु उद्गच्छन् अनन्तः भणितः इत्यादि।

वनस्पतिर्भिद्यमानः पृथिवीसदृशेन भेदेन भिद्यते, सोऽप्यनन्तजीवस्वरूपः। अन्यच्च—

"गूढसिराग पत्त, सच्छीरं जं च होइ निच्छीरं।
जंपि य पट्ठणसंधिं, अणतजीवं वियाणाहि॥ १ ॥" इति। (प्रज्ञा०)

छाया—गूढशिराकं पत्रं, सक्षीरं यच्च भवति निःक्षीरम्।
यदपि च प्रणष्टसन्धि, अनन्तजीवं विजानीहि ॥ १ ॥ इति।

तथा—कोपल जब उत्पन्न होती है तो उसमें भी अनंत जीव होते हैं। प्रज्ञापना के पहले पदमें कहा है—

"उगते हुए सभी किसलय अनंतकाय कहे गये हैं।"

जिस वनस्पति की ग्रंथि या पोर, तोड़नेपर रज से भरी हो, या जो वनस्पति, टूटने पर पृथ्वी के समान भेदों से टूटे, वह भी अनंतजीववाली होती है।

और भी कहा है —

"जिस के तंतु साफ दिखाई न देते हों, तथा जिसकी संधि बिलकुल दिखाई न देती हो ऐसा पत्ता, अगर दूधवाला हो या उसमें दूध उत्पन्न न हो, उसे भी अनंतजीववाला समझना चाहिए"।

तथा—कुंपळ ज्यारे उत्पन्न थाय छे त्यारे तेमां पण अनंत जीव होय छे. प्रज्ञापनासूत्रना प्रथम पदमां कह्युं छे के -

"उगतां होय ते सर्व किशलय (पल्लव ताजा कुमळा पाननो समूह) अनन्तकाय कह्यां छे"

जे वनस्पतिनी ग्रंथि-गांठ अथवा पोर, तोडवाथी रजथी भरेली, होय अथवा जे वनस्पति, तूटवाथी पृथ्वीना समान भेदोथी तूटे ते पण अनंत जीववाळी होय छे बीजुं पण कह्युं छे के -

"जेनां तंतुओ चोख्खां देखातां न होय तथा जेनी संधि (सांधो) बीलकुल देखाती होय नहि, एवा पांदडां दूधवाळां होय अथवा एमां दूध उत्पन्न होय नहि, तेने पण अनंत-जीव वाळा समजवा जोईए"

गूढशिराकमिति=गूढा=अलक्ष्यमाणा शिरा=नाडीजालं तन्तुजालमिति वा यस्य तत्। प्रणष्टसंधीति–प्रणष्ट=सर्वथाऽनुपलक्ष्यमाण, सन्धिः=पत्रद्वयसंयोगरूपो भागो यस्य तत्। एतादृश पत्र सक्षीरं=सदुग्धम्, निःक्षीरम्=अनुत्पन्नदुग्ध वा तदनन्त-जीव विजानीहीत्यर्थः।

एवमन्येऽप्यनेकविधा शैवालादयोऽनन्तजीवा स्वबुद्ध्या गुरुगमेन वा परिभावनीया। विस्तरतस्तु जिज्ञासुभि प्रज्ञापनासूत्र विलोकनीयम्।

सूक्ष्मनिगोदास्तु भगवद्वचनावगम्या एव, अनन्तशरीरसघाते सत्यप्यतिसूक्ष्म-त्वाभास्मात्‌ चक्षु पथेऽवतरन्ति। "आणागिज्झा एए चक्खुप्फासं न ते इति" इति वचनात्। उक्तञ्च प्रज्ञापनायां सदृष्टान्तं निगोदजीवस्वरूप, यथा—

इसी प्रकार सेवार आदि अन्यान्य वनस्पतियों को भी अपनी बुद्धि से या गुरुगम से अनन्तजीववाली समझ लेनी चाहिए। जिन्हें विस्तारपूर्वक जानना हो उन्हें प्रज्ञापनासूत्र देखना चाहिए।

सूक्ष्म निगोद भगवान् के वचन से ही समझे जा सकते हैं। एक शरीर में अनंत जीवों का पिण्ड होने पर भी वे जीव इतने सूक्ष्म होते हैं कि हम अपने नेत्रों से (आगम) उन्हें नहीं देख सकते। कहा भी है–"ये जीव सर्वज्ञकी आज्ञा से ही ग्रहण किये (जाने) जाते हैं। आँखें उन्हें नहीं देख सकतीं"। प्रज्ञापना सूत्र में उदाहरण के साथ निगोद का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

એ પ્રમાણે સેવાળ આદિ જૂદી-જૂદી વનસ્પતિઓને પણ પોતાની બુદ્ધિથી અથવા ગુરુગમથી અનંતજીવવાળી સમજી લેવી જોઈએ, જેને વિસ્તારપૂર્વક જાણવાની ઈચ્છા હોય તેઓએ પ્રજ્ઞાપનાસૂત્ર જોઈ લેવું જોઈએ.

સૂક્ષ્મનિગોદ ભગવાનના વચનથી જ સમજી શકાય છે (જાણી શકાય છે) એક શરીરમાં અનંત જીવોના પિંડ હોવા છતાં પણ તે જીવ એટલા સૂક્ષ્મ હોય છે કે આપણે આપણા નેત્રથી તેને જોઈ શકતા નથી. કહ્યું પણ છે કે–"તે જીવ સર્વજ્ઞની આજ્ઞા (આગમ)થી જ ગ્રહણ કરવામાં આવે છે–જાણવામાં આવે છે, નેત્રથી તે જોઈ શકાતા નથી" પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રમાં ઉદાહરણની સાથે નિગોદનું સ્વરૂપ આ પ્રમાણે બતાવ્યું છે—

"जह अयगोलो धंतो, जाओ तत्ततवणिज्जसंकासो ।
सव्वो अगणिपरिणओ, निगोअजीवे तहा जाण" ॥ १ ॥ इति ।

छाया—यथाऽयोगोलो ध्मातो, जातस्तप्ततपनीयसंकाशः ।
सर्वोऽग्निपरिणतो, निगोजीवान् तथा जानीहि ॥ १ ॥

यथा–अयोगोलोऽग्निना ध्मातः तप्तसुवर्णसदृशः सर्वांशतोऽग्निपरिणतोऽग्निरूप एव भवति हे शिष्य! तथैव निगोदजीवान् जानीहि । निगोदजीवानां परिमाणस्वरूपमेव विज्ञेयम्—

अथ लोकश्चतुर्दशरज्जुपरिमितोऽस्ति । एको रज्जुरसंख्यातयोजनात्मकः, योजनं संख्याताङ्गुलपरिमितम्, एकमङ्गुलमसंख्याताकाशप्रदेशात्मकं भवति । तस्याङ्गुलस्यैकैकाकाशप्रदेशे निगोदानामसंख्याता गोलकाः, एकैकस्मिन् गोलके निगोदानाम् संख्यातानि शरीराणि, एकैकस्मिंश्च शरीरेऽनन्ता जीवा निवसन्ति । उक्तञ्च—

"जैसे अग्नि में तपाया हुआ लोहे का गोला तपे सोने के समान पूर्णतया अग्निरूप ही हो जाता है, हे शिष्य! उसी प्रकार निगोद के जीव समझो"। निगोद जीवों का परिमाण इस प्रकार समझना चाहिए—

लोकाकाश चौदह राजू का है। एक राजू में असंख्यात योजन होते हैं और संख्यात अंगुल का एक योजन होता है। आकाश के असंख्यात प्रदेश–परिमित एक अंगुल होता है। इस अंगुल के एक–एक आकाश प्रदेश में निगोद जीवों के असंख्यात गोले होते हैं। एक–एक गोलक में असंख्यात शरीर होते हैं और एक–एक शरीर में अनन्त जीवों का निवास है। कहा भी है—

"જેમ અગ્નિમાં તપાવેલો લોહાનો ગોળો તપેલા સોના–પ્રમાણે પૂર્ણપણે અગ્નિરૂપ જ થઈ જાય છે, હે શિષ્ય! એ પ્રમાણે નિગોદના જીવ સમજો" નિગોદના જીવોનુ પરિમાણ–એ પ્રમાણે સમજવું જોઈએ—

લોકાકાશ ચૌદ રાજૂનો છે એક રાજૂમા અસંખ્યાત યોજન થાય છે, અને સંખ્યાત અંગુલનો એક યોજન થાય છે આકાશના અસંખ્યાતપ્રદેશ–પરિમિત એક અંગુલ હોય છે એ અંગુલના એક–એક આકાશપ્રદેશમાં નિગોદ જીવોના અસંખ્ય ગોળા હોય છે એક–એક ગોલકમા અસંખ્યાત શરીર હોય છે અને એક–એક શરીરમાં અનન્ત જીવોનો નિવાસ છે. કહ્યું પણ છે—

" गोला य असंखिज्जा, हुंति निगोया असंखया गोले ।
एक्केक्को य निगोओ अणंतजीवो मुणेयव्वो " ॥ १ ॥

छाया-गोलाश्च असंख्येया, भवन्ति निगोदा असंख्येया गोले ।
एकैकश्च निगोदः, अनन्त जीवो ज्ञातव्य ॥ १ ॥ इति ।

तत्रस्थप्रत्येकजीवस्य तैजसकार्मणे द्वे द्वे शरीरे पृथक् पृथक् स्त । तदेकैक शरीरमनन्तज्ञानावरणीयादियावदनन्तान्तरायकर्मणा वर्गणाभि संयुक्त वर्तते । सा चैकैका वर्गणाऽनन्तसूक्ष्मपरमाणुमयो भवतीति सूक्ष्मत्व निगोदजीवाना सिद्धम् ।

ये च शरीरत्रयाङ्गुलासंख्येयभागशरीरादिभेदा पृथिवीकायोद्देशेऽभिहितास्ते वनस्पतिकायानामपि बोध्या, केवलमनित्थंस्थम्=अनियताकार शरीरसंस्था-

---

"अंगुल के एक आकाशप्रदेश में असंख्यात गोले, एक गोले में असंख्यात निगोद-शरीर और एक-एक निगोदशरीर में अनंत जीव जानने चाहिए" ॥१॥

निगोद में रहने वाले हरेक जीव के अलग-अलग तैजस और कार्मण शरीर होते हैं, और प्रत्येक शरीर अनन्त ज्ञानावरणीय आदि तथा अनन्त अन्तराय कर्मों की वर्गणाओं से संयुक्त है, वह एक वर्गणा अनन्तसूक्ष्मपरमाणुरूप होती है । इस कथन से निगोदिया जीवों की सूक्ष्मता सिद्ध होती है ।

पृथिवीकाय के उद्देश में तीन शरीर तथा अंगुल के असंख्यातवें भाग की अवगाहना आदि का कथन किया है, वह वनस्पतिकाय के लिए भी समझना चाहिए । यहाँ विशेष बात यह है कि वनस्पति जीवों के शरीर का आकार अनियत होता है ।

"અંગુલના એક આકાશપ્રદેશમાં અસંખ્યાત ગોળા, એક ગોળામાં અસંખ્યાત નિગોદ-શરીર અને એક-એક નિગોદ શરીરમાં અનન્તજીવ જાણવા જોઈએ" ॥૧॥

નિગોદમાં રહેવા વાળા દરેક જીવને અલગ-અલગ તૈજસ અને કાર્મણ શરીર હોય છે, અને પ્રત્યેક શરીર અનન્ત જ્ઞાનાવરણીય આદિ તથા અનન્ત અન્તરાય કર્મોની વર્ગણાઓથી સંયુક્ત છે તે એક વર્ગણા અનન્તસૂક્ષ્મપરમાણુરૂપ હોય છે આ વચનથી નિગોદના જીવોની સૂક્ષ્મતા સિદ્ધ થાય છે

પૃથ્વીકાયના ઉદ્દેશમાં ત્રણ શરીર તથા અંગુલના અસંખ્યાતમા ભાગની અવગાહના આદિનું નિરૂપણ કર્યું છે તે વનસ્પતિકાય માટે પણ સમજી લેવું જોઇએ. અહિં વિશેષ વાત એ છે કે-વનસ્પતિના જીવોનો આકાર અનિયત (નિયમવગરનો) હોય છે

नमेषाम्, शेषमन्यत् समानम्। एषा स्थान घनोदधिवातवलयादि। संख्यामङ्गीकृत्या नन्ताः सर्वे वनस्पतय ।

एव वनस्पतीना वृक्षादिभेदैः प्रत्येकसाधारणभेदैः, तथा–वर्णगन्धरसस्पर्शभेदैश्च सहस्रशो भेदा भवन्ति। योन्यादिभेदै पुनर्लक्षशो भेदा जायन्ते।

वनस्पतेर्योनि संवृता भवति। तस्या सचित्ताचित्तमिश्रभेदेन त्रयो भेदा, तथा शीतोष्णमिश्रभेदेन त्रयो भेदा। एव गणनया प्रत्येकवनस्पतियोनीना दशलक्ष सख्यका भेदा भवन्ति। साधारणवनस्पतीनां चतुर्दशलक्षसख्यका भेदा जायन्ते।

शेष सब पूर्ववत् है। इन का स्थान घनोदधिवातवलय आदि हैं। सख्या की अपेक्षा पूर्वोक्त सब प्रकार की वनस्पति–संख्या अनन्त है।

वृक्ष आदि के भेदो की अपेक्षा, प्रत्येक–साधारण की अपेक्षा तथा वर्ण, रस गध और स्पर्श के भेद की अपेक्षा वनस्पति के हजारों भेद होते हैं। योनि आदि के भेदों की अपेक्षा विचार किया जाय तो लाखों भेद हो जाते हैं।

वनस्पति की योनि सवृत है। संवृतयोनि सचित्त, अचित्त, और मिश्र के भेद से तीन प्रकार की होती है। शीत, उष्ण तथा मिश्र के भेद से भी तीन प्रकार की है। इस प्रकार गणना करने से प्रत्येकवनस्पति की दस लाख योनियाँ है। साधारणवनस्पति की योनियाँ चौदह लाख हैं।

બાકી તમામ પૂર્વ પ્રમાણે છે એનુ સ્થાન ઘનોદધિવાતવલય આદિ છે સખ્યાની અપેક્ષા પૂર્વોક્ત સર્વ પ્રકારની વનસ્પતિ–સખ્યા અનન્ત છે

વૃક્ષ આદિના ભેદોની અપેક્ષાએ, પ્રત્યેક–સાધારણ અપેક્ષાએ તથા વર્ણ, રસ, ગધ અને સ્પર્શના ભેદની અપેક્ષાએ વનસ્પતિના હજારો ભેદ થાય છે યોનિ આદિના ભેદોની અપેક્ષાએ વિચાર કરવામાં આવે તો લાખો ભેદ થઈ જાય છે વનસ્પતિની યોનિ સવૃત છે સવૃતયોનિ સચિત્ત, અચિત્ત અને મિશ્રના ભેદથી ત્રણ પ્રકારની હોય છે અને શીત ઉષ્ણ તથા મિશ્રના ભેદથી ત્રણ પ્રકારની છે આ પ્રમાણે ગણના કરવાથી પ્રત્યેકવનસ્પતિની દસ લાખ યોનિઓ છે, અને સાધારણ વનસ્પતિની યોનિઓ ચૌદ લાખ છે

परिमाणद्वारम्—

उक्त प्ररूपणाद्वारम्। परिमाणद्वारमुच्यते—पर्याप्तबादरा' प्रत्येकवनस्पतिजीवाः पिण्डीभूत—चतुष्कोणीकृत—लोकश्रेण्यसंख्येयभागवर्त्याकाशप्रदेशराशिप्रमाणा, बादरपर्याप्ततेजस्कायजीवराशेश्चासंख्यातगुणा सन्ति।

अपर्याप्तबादरा' प्रत्येकवनस्पतिजीवास्तु असंख्यातानां लोकानां यावन्त' प्रदेशास्तावन्तः सन्ति। इमेऽप्यपर्याप्तबादरतेजस्कायजीवराशितश्चाऽसंख्यातगुणा। प्रत्येकवनस्पतय सूक्ष्मा न सन्ति, शास्त्रेऽनुपादानात्।

साधारणवनस्पतिजीवा'—सूक्ष्मबादरपर्याप्तभेदैश्चतुर्विधा अपि पृथक् पृथगनन्तानां लोकानां यावन्त' प्रदेशास्तावन्त इति। अत्राय विशेष'—

परिमाणद्वार—

प्ररूपणाद्वार हुआ। अब परिमाणद्वार कहते हैं—पर्याप्तबादर—प्रत्येकवनस्पति जीव चौकोन की हुई लोकश्रेणी के असंख्यातवें भागवर्त्ती आकाशप्रदेशों की राशि के बराबर हैं, और बादरपर्याप्ततेजस्काय के जीवों से असंख्यातगुणे हैं। असंख्यात लोककाशों के प्रदेशों की बराबर अपर्याप्त बादर प्रत्येकवनस्पतिकाय के जीव हैं, और ये भी अपर्याप्तबादर तेजस्काय के जीवों से असंख्यात गुने हैं। प्रत्येक वनस्पति में सूक्ष्म जीव नहीं होते, क्यो कि शास्त्र में कहीं उनका उल्लेख नहीं है।

साधारण वनस्पति के जीव सूक्ष्म, बादर पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से चार प्रकार के हैं। इन चारों राशियों में से प्रत्येकजीवराशि की संख्या अनन्त लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर है। इसमें इतनी विशेषता समझ लेनी चाहिए—

પરિમાણ દ્વાર—

પ્રરૂપણાદ્વાર થયું હવે પરિમાણદ્વાર કહે છે-પર્યાપ્તબાદરપ્રત્યેકવનસ્પતિ જીવ, ચતુષ્કોણ કરેલી લોકશ્રેણિના અસખ્યાતમા ભાગવર્તી આકાશપ્રદેશોની રાશિ-ઢગલાના બરાબર છે અને બાદરપર્યાપ્તતેજસ્કાયના જીવોથી અસખ્યાતગણા છે, અસખ્યાત લોકાકાશોના પ્રદેશોની બરાબર અપર્યાપ્તબાદર પ્રત્યેકવનસ્પતિકાયના જીવ છે અને તે પણ અપર્યાપ્તબાદર તેજસ્કાયના જીવોથી અસખ્યાતગણા છે પ્રત્યેક વનસ્પતિમા સૂક્ષ્મજીવ નથી, કેમકે-તેનો શાસ્ત્રમા કોઈ સ્થાને ઉલ્લેખ નથી.

સાધારણ વનસ્પતિના જીવ સૂક્ષ્મ, બાદર, પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્તના ભેદથી ચાર પ્રકારના છે આ ચારેય રાશિઓમાંથી પ્રત્યેકજીવરાશિની સખ્યા અનન્ત લોકાકાશના પ્રદેશોની બરાબર છે તેમા એટલી વિશેષતા સમજી લેવી જોઈએ—

साधारणबादरपर्याप्तकेभ्य सूक्ष्मा अपर्याप्ता असंख्यातगुणा । तेभ्योऽपि सूक्ष्मपर्याप्तका असंख्यातगुणा विज्ञेया इति ।

सूक्ष्मानन्तजीवानां परिमाणं कियदिति सदृष्टान्तमुच्यते-यथा-कश्चित् प्रस्थादिमापकवस्तुना धान्यराशिं परिमाप्याऽन्यत्र निक्षिपति, तथा यदि साधारणसूक्ष्मजीवराशिं लोकरूपप्रस्थेन मापयेत् लोका सम्भृता भवेयुः ।

पर्याप्तबादरनिगोदपरिमाणं च यथा—

घनीभूतचतुरस्रीकृतसकललोकप्रतरस्यासंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणाः पर्याप्तकबादरनिगोदाः सन्ति, ते प्रत्येकशरीर-बादरवनस्पति-पर्याप्तकेभ्यो-

साधारणबादरपर्याप्त जीवों की अपेक्षा बादर-अपर्याप्त असंख्यातगुणा हैं। बादरपर्याप्त की अपेक्षा सूक्ष्म-अपर्याप्त असंख्यातगुणा हैं और सूक्ष्म-अपर्याप्त उनसे भी असंख्यातगुणा हैं।

सूक्ष्म अनन्त जीवों का परिमाण कितना है, यह बात दृष्टान्त देकर समझाते हैं-जैसे कोई पुरुष प्रस्थ (सेर) आदि बाँटों से धान्य तोलकर दूसरी जगह रख देता है, उसी प्रकार यदि साधारणसूक्ष्मजीवराशि को लोकरूपी प्रस्थ से नापा जाय तो अनंत लोक भर जाएँ।

पर्याप्त बादर निगोद जीवों का परिमाण इस प्रकार का है—

चौकोर (चतुष्कोण) घन किये हुए सम्पूर्ण लोकप्रतर के असंख्यातवें भागवर्ती प्रदेशों के बराबर पर्याप्तबादरनिगोद जीव हैं। वे प्रत्येकशरीर-बादरवनस्पति

સાધારણપર્યાપ્ત જીવોની અપેક્ષા બાદરઅપર્યાપ્ત અસંખ્યાતગણુા છે બાદર પર્યાપ્તની અપેક્ષા સૂક્ષ્મ-અપર્યાપ્ત અસંખ્યાતગણુા છે અને સૂક્ષ્મ-અપર્યાપ્ત તેનાથી પણ અસંખ્યાતગણુા છે

સૂક્ષ્મ અનન્ત જીવોનું પરિણામ કેટલું છે એ વાત દૃષ્ટાન્ત આપીને સમજાવે છે-જેમ કોઈ પુરુષ પ્રસ્થ (તોળવાનું વજન ૧ શેર) આદિ તોળવાના બાંટ-વજનથી ધાન્ય તોળીને બીજી જગ્યાએ રાખી દે છે તે પ્રમાણે એ સાધારણ સૂક્ષ્મ જીવરાશિને લોકરૂપી પ્રસ્થથી તોળવામાં આવે તો અનન્ત લોક ભરાઈ જાય.

પર્યાપ્તબાદરનિગોદ જીવોનું પરિમાણ આ પ્રકારે છે-ચતુષ્કોણ ઘન કરેલા સમ્પૂર્ણ લોકપ્રતરના અસંખ્યાતમા-ભાગવર્તી પ્રદેશોની બરાબર પર્યાપ્તબાદરનિગોદ જીવ છે

ऽसख्येयगुणा । शेपास्त्रय'-अपर्याप्तवादरनिगोदा', अपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदा', पर्याप्त-सूक्ष्मनिगोदाश्च मत्येकमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशपरिमाणा' क्रमशो बहुतरकाः सन्ति। साधारणजीवाश्चैतेभ्यो निगोदपरिमाणेभ्योऽनन्तगुणा. सन्तीति वोध्यम् ।

यदि लोकाकाशस्यैकैकस्मिन् मदेशे एकैकः मत्येकवनस्पतिजीवः स्थाप्यते, तर्हि असख्याता लोका भ्रियन्ते । यदि तु लोकाकाशस्यैकैकस्मिन् मदेशे एकैको निगोदजीव' स्थाप्यते, तर्हि अनन्ता लोका भ्रियन्ते ।

उक्तञ्च मज्ञापनायाम्-१ पदे ।

"लोगागासपएसे, परित्तजीव ठवेहि एक्केक्क ।
एव ठवेज्जमाणा, हवति लोगा असखिज्जा " ॥ १ ॥

पर्याप्त जीवों से असंख्यातगुणा हैं । शेप तीन अर्थात् अपर्याप्तवादरनिगोद, अपर्याप्तसूक्ष्मनिगोद और पर्याप्त सूक्ष्मनिगोद असंख्यात लोकाकाश प्रदेशों के बराबर हैं, और क्रमश अधिक-अधिक संख्या में हैं । साधारण जीव इन से अनन्तगुणा हैं ।

यदि लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में एक-एक प्रत्येकवनस्पति के जीव स्थापित किये जायँ तो असख्यात लोक भर जाएँ, और यदि लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में एक-एक निगोदिया जीव रक्खे जायँ तो अनन्त लोकाकाश भर जाएँ । प्रज्ञापनासूत्र के प्रथम पदमें कहा है—

"लोकाकाश के एक-एक मदेशमें अगर मत्येकवनस्पति के एक-एक जीव रख दिये जायँ तो असख्यात लोक भर जाए ॥ १ ॥

ते प्रत्येकशरीर-બાદરવનસ્પતિ પર્યાપ્ત જીવોથી અસખ્યાત ગણા છે બાકીના ત્રણ અર્થાત્-અપર્યાપ્તબાદરનિગોદ, અપર્યાપ્તસૂક્ષ્મનિગોદ અને પર્યાપ્તસૂક્ષ્મનિગોદ અસખ્યાત-લોકાકાશ પ્રદેશોના બરાબર છે, અને ક્રમશ અધિક-અધિક સખ્યામાં છે સાધારણ જીવ એનાથી અનન્ત ગણા છે

જો લોકાકાશના એક-એક પ્રદેશોમા એક-એક પ્રત્યેક વનસ્પતિના જીવને સ્થાપિત કરવામાં આવે તો અસખ્યાત લોક ભરાઈ જાય, અને જો લોકાકાશના એક-એક પ્રદેશમા એક-એક નિગોદિયા જીવને રાખવામાં આવે તો અનન્ત લોકાકાશ ભરાઈ જાય.

પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના પ્રથમ પદમાં કહ્યુ છે કે -

"લોકાકાશના એક-એક પ્રદેશમાં જો પ્રત્યેક વનસ્પતિના એક-એક જીવ રાખવામાં આવે તો અસખ્યાત લોક ભરાઈ જાય " ॥ ૧ ॥

लोगागासपएसे निगोयजीवं ठवेहि एक्केक्कं ।
एवं ठवेज्जमाणा, हवंति लोगा अणन्ताओ ॥ १ ॥ " इति ।

छाया—लोकाकाशप्रदेशे, प्रत्येकजीवं स्थापय एकैकम् ।
एवं स्थाप्यमाना भवन्ति लोका असंख्येयाः ॥ १ ॥
लोकाकाशप्रदेशे निगोदजीवं स्थापय एकैकम् ।
एवं स्थाप्यमाना भवन्ति लोका अनन्ता ॥ १ ॥

इति परिमाणद्वारम् ॥ सू० १ ॥

शब्दादिविषयासक्त्या वनस्पतिकायापमर्दनपरा पुनः पुनर्भवसिन्धौ निपतन्तीत्याशयेनाह—' जे गुणे ' इत्यादि ।

मूलम्—

जे गुणे से आवट्टे । जे आवट्टे से गुणे ॥ सू० २ ॥

छाया—

यो गुणः स आवर्तः । य आवर्तः स गुणः ॥ सू० २ ॥

लोकाकाश के एक–एक प्रदेश में एक–एक निगोद जीव रख दिये जायँ तो इस प्रकार रखने से अनन्त लोक हो जाएँ "। इति परिमाणद्वार ॥ सू० २ ॥

इन्द्रियों के शब्द आदि विषयों में आसक्त होकर जो वनस्पतिकाय की हिंसा करते हैं वे बारम्बार भवसागर में डूबते हैं। इस अभिप्राय से शास्त्रकार कहते हैं:— ' जे गुणे ' इत्यादि ।

मूलार्थ—जो गुण है सो आवर्त है । जो आवर्त है सो गुण है ॥सू० २॥

" લોકાકાશના એક–એક પ્રદેશમાં એક–એક નિગોદ જીવ રાખવામાં આવે તો આ પ્રકારે રાખવાથી અનન્ત લોક થઈ જાય " ઇતિ પરિમાણદ્વાર ॥ સૂ૦ ૧ ॥

ઇન્દ્રિયોના શબ્દ આદિ વિષયોમાં આસક્ત થઈને જે વનસ્પતિકાયની હિંસા કરે છે તે વારવાર ભવ–સાગરમાં ડૂબી જાય છે એ અભિપ્રાયથી શાસ્ત્રકાર કહે છે— ' जे गुणे ' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—જે ગુણ છે તે આવર્ત્ત છે જે આવર્ત્ત છે તે ગુણ છે ॥ ૨ ॥

टीका—

यो गुणः=शब्दादिक , स आवर्त –आवर्तन्ते=परिभ्राम्यन्ति जीवा यत्र स –आवर्त –जन्मजराधिव्याधिनानाविधक्लेशसपातस्वरूप' ससार । कारणे कार्योपचारात् ससारकारणीभूतस्य शब्दादिगुणस्य ससारत्वेन व्यपदेश. । गुणसेवनात् ससारं प्राप्नोतीति भाव' । उक्तमर्थं दृढीकर्तुमुक्तवाक्य परावर्तयन्नाह–य आवर्त इति । यश्चावर्तः=ससार., स गुणः=शब्दादि । रागद्वेपवशग ससारी नैव शब्दादिगुणतो विरज्यते, न च मोक्षमार्गं प्राप्नोतीत्यर्थ' ।

यद्वा–'गुणे' 'आवर्ते' इति सप्तम्यन्तम् । य गुणे=शब्दादौ वर्तते,

---

टीकार्थ—शब्द आदि जो गुण अर्थात विषय है वही आवर्त्त है। जिसमें आवर्त्तन अर्थात् भ्रमण किया जाय उसे आवर्त्त कहते हैं। जन्म–जरा, आधि–व्याधि आदि नाना प्रकार के क्लेशों से परिपूर्ण यह ससार ही आवर्त्त है। शब्द आदि विषय ससार के कारण है, स्वय संसार नहीं है, किन्तु यहा कारण म कार्य का उपचार करके शब्दादि विषयों को ही ससार कहा है। आशय यह है कि–इन विषयों का सेवन करने से ससार की प्राप्ति होती है। इसी अभिप्राय को दृढ करने के उद्देश्य से वाक्य को पलट कर शास्त्रकार कहते हैं–'जो आवर्त्त है वही गुण है'। राग–द्वेप आदि के अधीन रहने वाला ससारी जीव शब्द आदि गुणों से विरक्त नहीं होता और न मोक्षमार्ग प्राप्त करता है।

अथवा—मूल म जो 'गुणे' और 'आवट्टे' पद आये हैं। वे सप्तमीविभक्ति में हैं, इसका अर्थ यह हुआ कि–जो पुरुप शब्दादि गुणों म वर्त्तता है वह आवर्त्त

ટીકાર્થ—શબ્દ આદિ જે ગુણ છે, અર્થાત્ વિષય છે તેજ આવર્ત્ત છે જેમા આવર્ત્તન અર્થાત્ ભ્રમણ કરવામા આવે તેને આવર્ત્ત કહે છે જન્મ, જરા, આધિ, વ્યાધિ આદિ નાના પ્રકારના કલેશોથી પરિપૂર્ણ આ સસારજ આવર્ત્ત છે શબ્દ આદિ વિષય સસારના કારણ છે સ્વય સસાર નથી, પરન્તુ અહીં કારણમા કાર્યનો ઉપચાર કરીને શબ્દાદિ વિષયોને જ સસાર કહ્યો છે આશય એ છે કે–વિષયોનું સેવન કરવાથી સસારની પ્રાપ્તિ થાય છે તે અભિપ્રાયને દૃઢ કરવાના ઉદ્દેશ્યથી વાકયને બદલીને શાસ્ત્રકાર કહે છે–'જે આવર્ત્ત છે તે ગુણ છે' રાગદ્વેષ આદિના આધીન રહેવાવાળા સસારી જીવ શબ્દ આદિ ગુણોથી વિરક્ત રહેતા નથી અને મોક્ષમાર્ગને પ્રાપ્ત કરતા નથી.

અથવા—મૂલમા જે 'गुणे' અને 'आवट्टे' પદ આવ્યા છે તે સાતમી વિભક્તિમાં છે એનો અર્થ એ થયો કે–જે પુરુષ શબ્દાદિ ગુણોમાં વર્તે છે તે આવર્ત્ત અર્થાત્–

स आवर्ते=संसारे वर्तते । यश्चावर्ते, स गुणे वर्तते ।

ननु 'यो गुणे वर्तते, स आवर्ते वर्तते' इति यदुक्तं तद् सम्यगव, परन्तु य आवर्ते वर्तते, न त्वसौ नियमेन गुणे वर्तते । यतस्तीर्थङ्करा भावितात्मानो मुनयः प्रतिमाधारिश्रावकाश्चावर्ते वर्तन्ते न तु शब्दादिगुणेषु, तदेतत् कथमुपपद्यते–'यश्चा वर्ते वर्तते स गुणे वर्तते' इति ? ।

अनुकूलशब्दादिषु राग, प्रतिकूलशब्दादिषु द्वेषः समुद्भवतीति रागद्वेषपूर्वकं गुणेषु शब्दादिषु या प्रवृत्तिस्तस्या एवात्राधिकारः । एवं चास्य वाक्यस्य तीर्थङ्करादि विषयकत्वाभावादत्रास्त्युक्तशङ्काप्रसर इति ।

अर्थात् संसार में वर्तता है, और जो संसार में वर्तता है वह शब्द आदि में वर्तता है ।

शङ्का—जो शब्दादि गुणों में वर्तता है वह संसार में वर्तता है, यह कथन तो ठीक है, परन्तु जो संसार में वर्तता है वह नियम से शब्दादि विषयों में नहीं वर्तता ! भगवान् तीर्थंकर, भावितात्मा मुनि और प्रतिमाधारी श्रावक संसार में तो वर्तते हैं मगर शब्द आदि विषयों में नहीं वर्तते । अतः एव यह कथन किस प्रकार बन सकता है कि जो आवर्त में वर्तता है वह शब्द आदि में वर्तता है ?

समाधान—अनुकूल शब्द आदि में राग उत्पन्न होता है और प्रतिकूल शब्द आदि में द्वेष होता है । इस प्रकार रागद्वेषपूर्वक विषयों में प्रवृत्ति करने का ही यहाँ प्रकरण है । तीर्थंकर आदि राग–द्वेषपूर्वक विषयों में प्रवृत्ति नहीं करते, अतः यह वाक्य तीर्थंकर या भावितात्मा मुनि आदि के लिए लागू नहीं होता । इस प्रकार उक्त शंका का यहां स्थान नहीं है ।

સંસારમાં વર્તે છે, અને જે સંસારમાં વર્તે છે તે શબ્દ આદિમાં વર્તે છે

શંકા—જે શબ્દાદિ ગુણોમાં વર્તે છે, તે સંસારમાં વર્તે છે આ કથન તો ઠીક છે, પરન્તુ જે સંસારમાં વર્તે છે તે નિયમથી શબ્દાદિક વિષયોમાં વર્તતા નથી. ભગવાન તીર્થંકર ભાવિતાત્મા મુનિ અને પ્રતિમાધારી શ્રાવક સંસારમાં તો વર્તે છે, પરન્તુ શબ્દાદિ વિષયોમાં વર્તતા નથી એ માટે આ કથન કેવી રીતે બની શકે છે, કે- જે આવર્તમાં વર્તે છે તે શબ્દ આદિમાં વર્તે છે '

સમાધાન—અનુકૂલ શબ્દ આદિમાં રાગ ઉત્પન્ન થાય છે અને પ્રતિકૂલ શબ્દ આદિમાં દ્વેષ થાય છે આ પ્રમાણે રાગ-દ્વેષપૂર્વક વિષયોમાં પ્રવૃત્તિ કરવી તેનું જ અહીં પ્રકરણ છે તીર્થંકર આદિ રાગ-દ્વેષપૂર્વક વિષયોમાં પ્રવૃત્તિ કરતા નથી, માટે આ વાક્ય તીર્થંકર અથવા ભાવિતાત્મા મુનિ આદિના માટે લાગુ થતું નથી. આ પ્રમાણે પૂર્વે જે શંકા કરી છે તે શંકાને અહીં સ્થાન નથી.

गत्यागतिरूप आवर्तोऽपि न तेषां दुःखजनको भवति । सामान्यतः संसारवर्तित्वं सामान्यशब्दादिगुणोपलब्धिश्च सर्वेषां संसारिणां संभवत्येव, तस्माद् गुणोपलब्धिर्न प्रतिषिध्यते । किन्तु यस्तत्र रागद्वेषपरिणामः स एव परिवर्जनीयत्वेन प्रतिबोध्यते, अत एवोक्तं भगवता—

"कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं पेम्मं नाभिनिवेसए" इत्यादि । किञ्च—

"न शक्यं रूपमद्रष्टुं, चक्षुर्गोचरमागतम् ।
रागद्वेषौ तु यौ तत्र, तौ बुधः परिवर्जयेत् ॥"

इदमत्र तत्त्वम्—शब्दादिविषयासक्ताः खलु वनस्पतिजीवान् बहुशो

गति आगतिरूप आवर्त्त भी उनके लिए दुःखजनक नहीं है । सामान्य संसारवर्त्तीपन और विषयों की सामान्य उपलब्धि सभी संसारी जीवों में होती है, अतः विषयों की उपलब्धि का निषेध नहीं किया जा सकता । हाँ विषयों में जो राग-द्वेषरूप परिणाम है वही त्याज्य है । अतः भगवान् ने कहा है—

"कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं पेम्मं नाभिनिवेसए" इत्यादि ।

"कानों को सुख देने वाले शब्दों पर अनुराग नहीं करना चाहिए" । तथा—आँखों के आगे आया हुआ रूप अनदेखा नहीं किया जा सकता, वह तो दीख ही जाता है, मगर उस से कोई हानि नहीं होती । अलबत्ता उस रूप पर राग या द्वेष करने से हानि होती है । अतः विवेकी पुरुष राग और द्वेष का त्याग करे ।

आशय यह है—शब्द आदि विषयों में आसक्त पुरुष वनस्पतिकाय के जीवों की

ગતિ-આગતિરૂપ આવર્ત્ત પણ તેઓને માટે દુઃખરૂપ નથી. સામાન્ય સંસારવર્ત્તીપણું અને વિષયોની સામાન્ય ઉપલબ્ધિ, સર્વ સંસારી જીવોમાં હોય છે એથી વિષયોની ઉપલબ્ધિનો નિષેધ કરી શકાતો નથી હા, વિષયોમાં જે રાગ-દ્વેષરૂપ પરિણામ છે, તેજ ત્યાજ્ય-ત્યજી દેવા યોગ્ય છે એટલે ભગવાને કહ્યું છે—

"कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं पेम्मं नाभिनिवेसए" અર્થાત્ કાનોને સુખ દેવાવાળા શબ્દો પર પ્રીતિ નહિ કરવી જોઈએ. તથા નેત્રોની સામે આવેલા રૂપ, ન દીઠા-અદીઠ કરી શકાતા નથી તે તો દેખવામાં આવેજ છે, પરન્તુ તેમાં કોઈ હાનિ થતી નથી અલબત્ત એ રૂપ પર રાગ અથવા દ્વેષ કરવાથી હાનિ થાય છે એ માટે વિવેકી પુરુષ રાગ અને દ્વેષનો ત્યાગ કરે.

આશય એ છે કે-શબ્દ આદિ વિષયોમાં આસક્ત પુરુષ વનસ્પતિકાયના જીવોની

विहिंसन्ति । तथा हि-अनुकूलशब्दश्रवणार्थी वेणुवीणापटहादिवाद्यानि निर्मातु बहुविधान् वनस्पतीन् विनिहन्ति । प्रियरूपविलोकनार्थी काष्ठमययुवतिप्रतिमा-गृह-तोरण वेदिका-स्तम्भादि रचयितु कतिचन वनस्पतीन् विनिकृन्तति। एव घ्राणसुखार्थी कर्पूर केतकी-पाटल-लवङ्ग-सरसचन्दना-गुरु-केसर जातीफल-जातीपत्रिकादीन् परिग्रहीतु विविधान वनस्पतीन् विहिनस्ति। रसास्वादसुखार्थी मूलकन्दादिगतानसख्याताननन्तान् वा जीवानुपमर्दयति । एव स्पर्शसुखाभिलाषी च कमलदलमृणालकदलीदलवल्कलानुकूलदुकूलतूलादीन् परिग्रहीतु नानाविधवनस्पतीनां प्राणव्यपरोपणं प्रकरोति ।

बहुत हिंसा करते हैं। जैसे-अनुकूल शब्द सुनने का अभिलाषी पुरुष वेणु, वीणा, पटह (ढोल) आदि वाद्य बनाने के लिए नाना प्रकार के वनस्पतिकाय के जीवों की हिंसा करता है। प्रियरूप देखने का इच्छुक युवती की काष्ठमय प्रतिमा, गृह, तोरण, वेदिका, और स्तम्भ बनाने के लिए वनस्पति को काटता है। इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय के सुख का लोलुप कपुर, केतकी, पाटल, (गुलाब) लोंग, सरस चन्दन अगर, केसर, जायफल, जायपत्री आदि के उद्देश्य से विविध प्रकार के वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करता है। रसास्वाद का अनुरागी मूल आदि कन्दों में रहने वाले असंख्यात और अनन्त जीवों की हिंसा करता है। इसी प्रकार स्पर्श-सुख का अभिलाषी कमल के पत्ते, कमल की दण्डी, केले के, पत्ते छाल और अनुकूल वस्त्र तथा रुई प्राप्त करने के लिए नाना प्रकार के वनस्पति जीवों का प्राण लेता है।

ઘણીજ હિંસા કરે છે જેમ-અનુકૂલ શબ્દ સાંભળવાના અભિલાષી પુરુષ વેણુ-વીણા, ઢોલ આદિ વાદ્ય-વાજિંત્ર બનાવવા માટે નાના પ્રકારના વનસ્પતિકાયના જીવોની હિંસા કરે છે પ્રિયરૂપ જોવાના ઇચ્છુક યુવતીની કાષ્ઠમય પ્રતિમા, ગૃહ, તોરણ, વેદિકા અને સ્તંભ બનાવવા માટે વનસ્પતિને કાપે છે એ પ્રમાણે ઘ્રાણેન્દ્રિય (નાસિકા)ના સુખના લોલુપ-લાલચુ કપૂર, કેતકી ગુલાબ, લવીંગ, સરસચંદન, અગર કેસર, જાયફળ, જાવત્રી આદિ મેળવવાના ઉદ્દેશ્યથી વિવિધ પ્રકારના વનસ્પતિકાયિક જીવોની હિંસા કરે છે રસાસ્વાદના અનુરાગી જીવ મૂળ આદિ કન્દોમાં રહેવાવાળા અસંખ્યાત અને અનન્ત જીવોની હિંસા કરે છે એ પ્રમાણે સ્પર્શસુખના અભિલાષી જીવ કમલ પત્તાં, કમલકાકડી, કેળના પત્તાં, છાલ અને અનુકૂલ વસ્ત્ર તથા રૂ પ્રાપ્ત કરવા માટે નાના પ્રકારના વનસ્પતિ જીવોના પ્રાણ લે છે

एव च वनस्पतिनिष्पन्नेषु शब्दादिगुणेषु वर्तमान' ससार माप्नोति, स च ससारी रागद्वेषमलिनात्मकतया पुनः शब्दादिगुणेषु वर्तमानश्चतुर्गतिकससारतो न कदाचिद् बहिर्यातीत्यर्थ' ॥ सू० २ ॥

शब्दादिगुणोपलब्धिमात्र न ससारान्त.पतनस्य कारणं, किन्तु तत्र मूर्च्छैवेत्याह -'उड्ढ' इत्यादि ।

मूलम्—

उड्ढ अह तिरियं पाईण पासमाणे रूवाइ पासइ, सुणमाणे सद्दाइ सुणेइ । उड्ढं अह तिरिय पाईण मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छइ सद्देसु यावि । एस लोए वियाहिए ॥ सू० ३ ॥

छाया—

उर्ध्वम् अध' तिर्यक् प्राचीनं पश्यन् रूपाणि पश्यति, शृण्वन् शब्दान् शृणोति, ऊर्ध्वम् अधः तिर्यक् प्राचीन मूर्च्छन् रूपेषु मूर्च्छति, शब्देषु चापि । एष लोकः व्याख्यातः ॥ सू० ३ ॥

इस प्रकार वनस्पति से तैयार होने वाले इन्द्रिय-विषयों में वर्तमान जीव ससार प्राप्त करता हैं । ससारी जीव राग-द्वेष से मलिन होता है, अत फिर विषयों में प्रवृत्त होता है । इस प्रकार वह कभी ससार से बाहर नहीं निकल पाता ॥सू० २॥

शब्द आदि विषयों को ग्रहण करने मात्र से ससार में पतन नहीं होता परन्तु उन में मूर्च्छा (गृद्धि) होना ही पतन का कारण है, यह कहते हैं-'उड्ढ' इत्यादि ।

मूलार्थ—ऊपर, नीचे, और सामने तिरछी दिशा में दृष्टि डालता हुआ रूपों को देखता है, सुनता हुआ शब्द सुनता है । ऊपर, नीचे और सामने तिरछी दिशा में रूपोंमें मूर्च्छित होता है और शब्दों में भी । यह लोक कहा गया है ॥ सू० ३ ॥

એ પ્રમાણે વનસ્પતિથી તૈયાર થવાવાળા ઇન્દ્રિય વિષયોમાં વર્ત્તમાન જીવ સસારને પ્રાપ્ત કરે છે સસારી રાગદ્વેષથી મલિન થાય છે, તેથી ફરીને વિષયોમાં પ્રવૃત્ત થાય છે આ પ્રમાણે તે કોઈ દિવસ સસારથી બહાર નીકળી શકતા નથી (સૂ.૨)

શબ્દ આદિ વિષયોને ગ્રહણ કરવા માત્રથી સસારમા પતન થતુ નથી પરન્તુ તેમા મૂર્ચ્છા (ગૃદ્ધિ) થવાથીજ પતન થાય છે તે કહે છે—'ઉડ્ઢ 'ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—ઉપર, નીચે અને સામે તિરછી દિશામાં દૃષ્ટિ નાખીને રૂપોને જુવે છે, સાંભળતા થકા શબ્દ સાંભળે છે, ઉપર નીચે અને સામે તિરછી દિશામા રૂપોમાં અને શબ્દોમાં પણ મૂર્છિત થાય છે આ લોક કહેવાય છે ॥ ૩ ॥

विहिंसन्ति। तथा हि–अनुकूलशब्दश्रवणार्थी वेणुवीणापटहादिवाद्यानि निर्मातुं बहुविधान् वनस्पतीन् विनिहन्ति। प्रियरूपविलोकनार्थी काष्ठमययुवतिप्रतिमा–गृह–तोरण वेदिका-स्तम्भादि रचयितुं कश्चिच्च वनस्पतीन् विनिकृन्तति। एवं घ्राणसुखार्थी कर्पूर केतकी-पाटल-लवङ्ग-सरसचन्दना–गुरु–केसर-जातीफल-जातीपत्रिकादीन् परिग्रहीतुं विविधान वनस्पतीन् विहिनस्ति। रसास्वादसुखार्थी मूलकन्दादिगतानसंख्यातानन्तान् वा जीवानुपमर्दयति। एवं स्पर्शसुखाभिलाषी च कमलदलमृणालकदलीदलवल्कलानुकूलदुकूलतूलादीन् परिग्रहीतुं नानाविधवनस्पतीनां प्राणव्यपरोपणं प्रकरोति।

बहुत हिंसा करते हैं। जैसे–अनुकूल शब्द सुनने का अभिलाषी पुरुष वेणु, वीणा, पटह (ढोल) आदि वाद्य बनाने के लिए नाना प्रकार के वनस्पतिकाय के जीवों की हिंसा करता है। प्रियरूप देखने का इच्छुक युवती की काष्ठमय प्रतिमा, गृह, तोरण, वेदिका, और स्तंभ बनाने के लिए वनस्पति को काटता है। इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय के सुखका लोलुप कपूर, केतकी, पाटल, (गुलाब) लौंग, सरस चन्दन अगर, केसर, जायफल, जायपत्री आदि के उद्देश्य से विविध प्रकार के वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करता है। रसास्वाद का अनुरागी मूल आदि कन्दों में रहने वाले असंख्यात और अनन्त जीवों की हिंसा करता है। इसी प्रकार स्पर्श–सुख का अभिलाषी कमल के पत्ते, कमल की दंडी, केले के, पत्ते छाल और अनुकूल वस्त्र तथा रुई प्राप्त करने के लिए नाना प्रकार के वनस्पति जीवों का प्राण लेता है।

बहुज हिंसा करे छे जेम–अनुकूल शब्द सांभळवाना अभिलाषी पुरुष वेणु–वीणा, ढोल आदि वाद्य–वाजित्र बनाववा माटे नाना प्रकारना वनस्पतिकायना जीवोनी हिंसा करे छे प्रियरूप जेवाना इच्छुक युवतीनी काष्ठमय प्रतिमा, गृह, तोरण, वेदिका अने स्तंभ बनाववा माटे वनस्पतिने कापे छे ओ प्रमाणे घ्राणेन्द्रिय (नासिका)ना सुखना लोलुप–लालचु कपूर, केतकी गुलाब लवींग, सरसचंदन, अगर केसर, जायफळ, जावत्री आदि मेळववाना उद्देश्यथी विविध प्रकारना वनस्पतिकायिक जीवोनी हिंसा करे छे रसास्वादना अनुरागी जीव मूळ आदि कन्दोमां रहेवावाळा असंख्यात अने अनन्त जीवोनी हिंसा करे छे ओ प्रमाणे स्पर्शसुखना अभिलाषी जीव कमल पत्तां, कमलडांडली, केळना पत्ता, छाल अने अनुकूल वस्त्र तथा रू प्राप्त करवा माटे नाना प्रकारना वनस्पति जीवोना प्राण ले छे

एव च वनस्पतिनिष्पन्नेपु शब्दादिगुणेपु वर्तमान ससार माप्नोति, स च ससारी रागद्वेपमलिनात्मकतया पुनः शब्दादिगुणेपु वर्तमानश्चतुर्गतिकससारतो न कदाचिद् बहिर्यातीत्यर्थ' ॥ सू० २ ॥

शब्दादिगुणोपलब्धिमात्र न ससारान्त पतनस्य कारण, किन्तु तत्र मूर्च्छेवेत्याह -'उड्ढ' इत्यादि ।

मूलम्—

उड्ढ अह तिरिय पाईण पासमाणे रूवाइ पासइ, सुणमाणे सद्दाइ सुणेइ । उड्ढ अह तिरिय पाईण मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छइ सद्देसु यावि । एस लोए वियाहिए ॥ सू० ३ ॥

छाया—

उर्ध्वम् अध तिर्यक् प्राचीनं पश्यन् रूपाणि पश्यति, शृण्वन् शब्दान् शृणोति, ऊर्ध्वम् अधः तिर्यक् प्राचीनं मूर्च्छन् रूपेपु मूर्च्छति, शब्देपु चापि । एप लोक' व्याख्यातः ॥ सू० ३ ॥

इस प्रकार वनस्पति से तैयार होने वाले इन्द्रिय-विपयों में वर्तमान जीव ससार प्राप्त करता है । ससारी जीव राग-द्वेप से मलिन होता है, अत फिर विपयों में प्रवृत्त होता है । इस प्रकार वह कभी ससार से बाहर नहीं निकल पाता ॥सू० २॥

शब्द आदि विपयों को ग्रहण करने मात्र से ससार म पतन नहीं होता परन्तु उन में मूर्च्छा (गृद्धि) होना ही पतन का कारण है, यह कहते हैं-'उड्ढ' इत्यादि ।

मूलार्थ—ऊपर, नीचे, और सामने तिरछी दिशा में दृष्टि डालता हुआ रूपों को देखता है, सुनता हुआ शब्द सुनता है । ऊपर, नीचे और सामने तिरछी दिशा में रूपोंमें मूर्च्छित होता है और शब्दों में भी । यह लोक कहा गया है ॥ सू० ३ ॥

એ પ્રમાણે વનસ્પતિથી તૈયાર થવાવાળા ઇન્દ્રિય વિષયોમા વર્ત્તમાન જીવ સસારને પ્રાપ્ત કરે છે સસારી રાગદ્વેષથી મલિન થાય છે, તેથી ફરીને વિષયોમાં પ્રવૃત્ત થાય છે આ પ્રમાણે તે કોઈ દિવસ સસારથી બહાર નીકળી શકતા નથી (સૂ.૨)

શબ્દ આદિ વિષયોને ગ્રહણ કરવા માત્રથી સસારમાં પતન થતુ નથી પરન્તુ તેમા મૂર્ચ્છા (ગૃદ્ધિ) થવાથીજ પતન થાય છે તે કહે છે—'ઉડ્ઢ' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—ઉપર, નીચે અને સામે તિરછી દિશામાં દૃષ્ટિ નાખીને રૂપોને જુવે છે, સાંભળતા થકા શબ્દ સાંભળે છે, ઉપર નીચે અને સામે તિરછી દિશામાં રૂપોમાં અને શબ્દોમાં પણ મૂર્છિત થાય છે આ લોક કહેવાય છે ॥ ૩ ॥

टीका—

प्रज्ञापकदिशापेक्षया ऊर्ध्वम्=ऊर्ध्वदिश्यवस्थित पर्वतशिखरप्रासादहर्म्याद्युपरि भागस्थम्, अधः=अधोदिश्यवस्थित भूमिगृहादिकं, तिर्यक्=प्राच्यादिदिक्ष्ववस्थित विदिक्ष्वस्थित च गृहभित्तिप्रासादहर्म्यादिक, प्राचीन-तिर्यक्पदस्य विवरणमेतत्, प्राच्यां दिशि विद्यमान पदार्थजातम्, एतच्चोपलक्षणम्-अन्या अपि तिर्यग्दिशो विज्ञेयाः। यद्वा-प्राचीनमिति-ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्दिगन्वयि, तेनोर्ध्वाधस्तिर्यग्दिक्ष्ववस्थित, प्राचीन=पुरातनम्-आधुनिकशिल्पिदुष्करतयाऽऽश्चर्यकारि पदार्थजात, पश्यन्=चक्षुर्व्यापारयन्, रूपाणि=चक्षुर्ग्राह्यतया परिणतानि रूपवद्द्रव्याणि शालभञ्जिकादीनि स्त्र्यादिरूपाणि वा पश्यति।

टीकार्थ—प्रज्ञापक-(देखने वाले की) दिशा की अपेक्षा ऊर्ध्व दिशा में-पर्वत के शिखर पर तथा प्रासाद या महल आदि के ऊपरी भाग में स्थित, भौंहरा आदि अधोदिशा में स्थित, पूर्व आदि तिरछी दिशाओं में स्थित तथा विदिशाओं में स्थित दीवार, हवेली और महल आदि को देखता है। मूल में आये हुए 'पाईणं' अर्थात् 'प्राचीन' शब्द को तिरछी दिशा का विवरणरूप समझना चाहिए। अथवा 'प्राचीन' पद ऊर्ध्व, अध और तिर्यक् सभी दिशाओं के साथ संबंध रखता है। तात्पर्य यह निकला कि—ऊर्ध्व दिशा में स्थित अधोदिशा में स्थित तथा तिरछी दिशामें स्थित प्राचीन अर्थात् आधुनिक शिल्पकारों के लिए दुष्कर होने से आश्चर्य उत्पन्न करने वाले पुराने पदार्थों की ओर नजर करता हुआ सुन्दर पुतलियों वगैरह को तथा स्त्री आदि के रूप को देखता है।

ટીકાર્થ—પ્રજ્ઞાપક-(જોનારની) દિશાની અપેક્ષા ઉર્ધ્વ દિશામાં-પર્વતના શિખર પર તથા પ્રાસાદ અથવા મહેલ આદિના ઉપર ભાગમાં, સ્થિત, ભોંયરા આદિ અધોદિશામાં સ્થિત, પૂર્વ આદિ તિરછી દિશાઓમાં સ્થિત, તથા વિદિશાઓમાં સ્થિત ભીંત, હવેલી અને મહેલ આદિને દેખે છે મૂલમાં આવેલો 'પાईणं' અર્થાત્ પ્રાચીન શબ્દને તિરછી દિશાના વિવરણરૂપ સમજવો જોઈએ, અથવા પ્રાચીન પદ ઉર્ધ્વ, અધ અને તિર્યક્ સર્વ દિશાઓની સાથે સંબંધ રાખે છે તાત્પર્ય એ નિકળે છે કે—ઉર્ધ્વ દિશામાં સ્થિત, અધોદિશામાં સ્થિત, તથા તિરછી દિશામાં સ્થિત પ્રાચીન અર્થાત્ આધુનિક શિલ્પકારો માટે દુષ્કર હોવાથી આશ્ચર્ય ઉત્પન્ન કરવાવાળા પુરાણા પદાર્થોની તરફ નજર કરતા થકા સુન્દર પુતળીઓ વગેરેને તથા સ્ત્રીઆદિના રૂપને દેખે છે

तथा–एतासु दिक्षु च शृण्वन्=श्रोत्रोपयोगयुक्त' सन् शब्दान् वेणुवीणादिसमुत्थान् गीतनादादिकान् वा शृणोति । श्रोत्रोपयोगाभावे तु न शृणोतीत्यर्थः । उपलक्षणमेतत्–जिघ्रन् गन्धान् जिघ्रति, रसयन् रसान् रसयति, स्पृशन् स्पर्शान् स्पृशति ।

इह दर्शनश्रवणाभ्यां रूपादिगुणोपलब्धिमात्र प्रदर्शितम् । ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्पदोपादानेन च रूपादिगुणानां सर्वदिग्व्यापित्वेन तदुपयोगो दुष्परिहरोऽस्तीति प्रतिबोधितम्। रूपादिगुणोपयोगमात्रेण ससारगर्तावर्तसपातो न भवति, किन्तु रूपादिगुणेषु मूर्च्छयेति बोधयितुमाह–'उड्ढ ' इत्यादि ।

इसी प्रकार पूर्वोक्त दिशाओं में श्रोत्रेन्द्रिय का उपयोग लगा कर वेणु वीणा आदि वाद्यों का, तथा गीत आदि का शब्द सुनता है । श्रोत्र का उपयोग न हो तो नहीं भी सुनता है । यह कथन उपलक्षण है, इस से यह भी समझ लेना चाहिए कि घ्राण, रसना और स्पर्श इन्द्रिय का उपयोग लगाकर सूघता है, चखता है और स्पर्श करता है ।

यहाँ देखने और सुनने से रूप आदि गुणों की उपलब्धिमात्र सूचित की है । ऊर्ध्व, अध तथा तिर्यक् पद देकर यह प्रकट किया है कि-इन्द्रियों के विषय-रूप आदि, सभी दिशाओं में भरे पड़े हैं । ऐसी स्थिति में उनकी ओर ध्यान न जाने देना तो बड़ा ही कठिन कार्य है । मगर रूप आदि गुणों की ओर उपयोग जाने मात्र से ससार के गड्ढे में पतन नहीं होता । पतन तब होता है जब उनमें मूर्च्छा या राग–द्वेष हो, यह बात प्रकट करने के लिए कहा है–'उड्ढ ' इत्यादि ।

એજ પ્રમાણે પૂર્વોક્ત દિશાઓમાં શ્રોત્રેન્દ્રિયનો ઉપયોગ લગાવીને વેણુ–વીણા આદિ વાજીંત્રોના તથા ગીત આદિના શબ્દો સાંભળે છે શ્રોત્રનો ઉપયોગ ન હોત તો સાંભળત નહિ આ કથન ઉપલક્ષણ છે, એથી એમ સમજી લેવું જોઇએ કે, ઘ્રાણ, રસના અને સ્પર્શન ઇન્દ્રિયનો ઉપયોગ લગાવીને સૂંઘે છે, ચાખે છે, અને સ્પર્શ કરે છે

અહીં દેખવા અને સાંભળવાથી રૂપ આદિ ગુણોની ઉપલબ્ધિ માત્ર સૂચિત કરી છે ઉર્ધ્વ, અધ તથા તિર્યક્ પદ આપીને એ સૂચિત કર્યું છે કે–ઇન્દ્રિયોના વિષય રૂપ આદિ, સર્વ દિશાઓમા ભર્યા પડયાં છે એવી સ્થિતિમાં તેની તરફ ધ્યાન નહિ જવા દેવું તે તો ભારે કઠિન કામ છે પરન્તુ રૂપ આદિ ગુણોની તરફ ઉપયોગ જવા માત્રથી સંસારના ખાડામાં પડવાનું થતુ નથી, પતન–પડવાનુ તો ત્યારે થાય છે કે જ્યારે તેમાં મૂર્છા–અથવા રાગ-દ્વેષ થાય આ વાત પ્રગટ કરવા માટે કહ્યું છે –'ઉડ્ઢં ' ઇત્યાદિ

टीका—

प्रज्ञापकदिशापेक्षया ऊर्ध्वम्=ऊर्ध्वदिश्यवस्थितं पर्वतशिखरप्रासादहर्म्याद्युपरिभागस्थम्, अधः=अधोदिश्यवस्थितं भूमिगृहादिकं, तिर्यक्=प्राच्यादिदिक्ष्ववस्थितं विदिक्ष्ववस्थितं च गृहभित्तिप्रासादहर्म्यादिकं, प्राचीन-तिर्यक्पदस्य विवरणमेतत्, प्राच्यां दिशि विद्यमानं पदार्थजातम्, एतच्चोपलक्षणम्-अन्या अपि तिर्यग्दिशो विज्ञेयाः। यद्वा-प्राचीनमिति-ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्दिगन्वयि, तेनोर्ध्वाधस्तिर्यग्दिक्ष्ववस्थितं, प्राचीनं=पुरातनम्-आधुनिकशिल्पिदुष्करतयाऽऽश्चर्यकारि पदार्थजातं, पश्यन्=चक्षुर्व्यापारयन्, रूपाणि=चक्षुर्ग्राह्यतया परिणतानि रूपवद्रव्याणि शालभञ्जिकादीनि स्त्र्यादिरूपाणि वा पश्यति।

टीकार्थ—प्रज्ञापक-(देखने वाले की) दिशा की अपेक्षा ऊर्ध्व दिशा में-पर्वत के शिखर पर तथा प्रासाद या महल आदि के ऊपरी भाग में स्थित, भोंहरा आदि अधोदिशा में स्थित, पूर्व आदि तिरछी दिशाओं में स्थित तथा विदिशाओं में स्थित दीवार, हवेली और महल आदि को देखता है। मूल में आये हुए 'पाईणं' अर्थात् 'प्राचीन' शब्द को तिरछी दिशा का विवरणरूप समझना चाहिए। अथवा 'प्राचीन' पद ऊर्ध्व, अध और तिर्यक् सभी दिशाओं के साथ संबंध रखता है। तात्पर्य यह निकला कि—ऊर्ध्व दिशा में स्थित अधोदिशा में स्थित तथा तिरछी दिशामें स्थित प्राचीन अर्थात् आधुनिक शिल्पकारों के लिए दुष्कर होने से आश्चर्य उत्पन्न करने वाले पुराने पदार्थों की ओर नजर करता हुआ सुन्दर पुतलियों वगैरह को तथा स्त्री आदि के रूप को देखता है।

ટીકાર્થ—પ્રજ્ઞાપક-(જોનારની) દિશાની અપેક્ષા ઉર્ધ્વ દિશામાં-પર્વતના શિખર પર તથા પ્રાસાદ અથવા મહેલ આદિના ઉપર ભાગમાં, સ્થિત, ભોંયરા આદિ અધોદિશામાં સ્થિત, પૂર્વ આદિ તિરછી દિશાઓમાં સ્થિત, તથા વિદિશાઓમાં સ્થિત ભીંત, હવેલી અને મહેલ આદિને દેખે છે મૂલમાં આવેલો 'पाईणं' અર્થાત્ પ્રાચીન શબ્દને તિરછી દિશાના વિવરણરૂપ સમજવો જોઈએ, અથવા પ્રાચીન પદ ઉર્ધ્વ, અધઃ અને તિર્યક્ સર્વ દિશાઓની સાથે સંબંધ રાખે છે તાત્પર્ય એ નિકળે છે કે—ઉર્ધ્વ દિશામાં સ્થિત, અધોદિશામાં સ્થિત, તથા તિરછી દિશામાં સ્થિત પ્રાચીન અર્થાત્ આધુનિક શિલ્પકારો માટે દુષ્કર હોવાથી આશ્ચર્ય ઉત્પન્ન કરવાવાળા પુરાણા પદાર્થોની તરફ નજર કરતા થકા સુન્દર પુતળીઓ વગેરેને તથા સ્ત્રીઆદિના રૂપને દેખે છે

विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइकम्मसमारंभेणं वणस्सइसत्थं समारंभमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति ॥ सू० ५ ॥

छाया—

लज्जमानाः पृथक् पश्य, अनगारा स्म इति एके प्रवदमाना , यदिमं विरूपरूपैः शस्त्रैः वनस्पतिकर्मसमारम्भेण वनस्पतिशस्त्रं समारभमाणा अन्यान् अनेकरूपान् प्राणान् विहिंसन्ति ॥ सू० ५ ॥

टीका—

लज्जमाना'=परमकरुणयार्द्रहृदयतया वनस्पतिकायसमारम्भे पराङ्मुखा , वनस्पतिशस्त्रसमारम्भपरित्यागिनोऽनगारा इत्यर्थः। पृथक्=विभिन्ना =केचित् मत्यक्षज्ञानिनोऽवधिमनःपर्ययकेवलिनः, केचित् परोक्षज्ञानिनो भावितात्मान सन्तीति पश्य ।

यद्वा-पृथक्=द्रव्यलिङ्गिभ्यः पृथग्भावेन सन्तीति पश्य। इमे-सूक्ष्मबादरवनस्पतिकायसमारम्भकरणे भीतास्त्रस्ता उद्विग्नास्त्रिकरणत्रियोगैर्वनस्पतिकायसमारम्भपरित्यागिनो विद्यन्ते इति विलोकयेत्यर्थ ।

वनस्पतिकाय का आरम करने वाले, वनस्पतिशस्त्र का आरम करते हुए अन्य अनेक प्रकार के प्राणियों की हिंसा करते हैं ॥ सू० ५ ॥

टीकार्थ—अत्यन्त करुणा से आर्द्र हृदयवाले मुनि वनस्पतिकाय के आरम से विमुख रहते हैं। ऐसे मुनि कोई अवधिज्ञानी, मन पर्यायज्ञानी, और केवलज्ञानी होते हैं, और कोई-कोई परोक्षज्ञानी (मति-श्रुत ज्ञान के धारक) भावितात्मा होते हैं उन्हें देखो ।

अथवा इन्हें द्रव्यलिंगियों से अलग ही समझना चाहिए। यह अनगार सूक्ष्म और बादर वनस्पति का आरंभ करने में भीत, त्रस्त, उद्विग्न हैं। तीन करण, तीन योग से वनस्पतिकाय के आरम के त्यागी हैं।

કાયનો આરભ કરવાવાળા, વનસ્પતિ શસ્ત્રનો આરભ કરતા થકા અન્ય અનેક પ્રકારના પ્રાણીઓની હિંસા કરે છે ॥ ૫ ॥

ટીકાર્થ—અત્યન્ત કરુણાથી આર્દ્ર હૃદયવાળા મુનિ વનસ્પતિકાયના આરભથી વિરુદ્ધ રહે છે એવા મુનિ કોઈ-કોઈ અવધિજ્ઞાની, મન પર્યયજ્ઞાની અને કેવળજ્ઞાની, હોય છે અને કોઈ-કોઈ પરોક્ષજ્ઞાની (મતિ-શ્રુતજ્ઞાનના ધારક) ભાવિતાત્મા હોય છે તેને જુઓ.

અથવા તેને દ્રવ્યલિંગિઓથી જુદાજ સમજવા જોઈએ. તે અણગાર સૂક્ષ્મ અને બાદર વનસ્પતિકાયનો આરભ કરવામા બીએલા-ભયવાળા, ત્રસ્ત, ઉદ્વિગ્ન છે ત્રણ કરણ ત્રણ યોગથી વનસ્પતિકાયના આરભના ત્યાગી છે

आचारो यस्य स वक्रसमाचार'-असंयमानुष्ठायी, नरकादिगतिजनकत्वादसंयमस्य वक्रतया व्यपदेशः। इत्थम्भूत' स प्रमत्तः=प्रमादवशाद् विषयेषु मूर्च्छित', अगार= गृहम् आवसति। गृहीतसंयमोऽपि प्रमादवशाद् विषयासक्तः सन् पुनर्गृहस्थो भवतीत्यर्थ ॥ सू० ४ ॥

अथ शस्त्रद्वारम्—

अथ सर्वथा वनस्पतिशस्त्रसमारम्भपरित्यागिनोऽनगारान्, तथाऽग्निशस्त्रसमारम्भप्रवृत्तान् द्रव्यलिङ्गिनश्च विविच्य प्रतिबोधयितुमाह-'लज्जमाणा' इत्यादि।

मूलम्—

लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मो-त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं

अर्थात् असंयम का सेवन करने वाला प्रमादी फिर घर-वास में आजाता है। वह संयम धारण करने के पश्चात् भी प्रमाद के वश होकर विषयों में आसक्त होने के कारण फिर गृहस्थ बन जाता है॥ सू० ४ ॥

शस्त्रद्वार-

वनस्पतिशस्त्र के आरंभ का सर्वथा त्याग करने वाले अनगारों का तथा अग्निशस्त्र के आरंभ में प्रवृत्त द्रव्यलिंगियोंका विवेचन करके उपदेश देते हैं— 'लज्जमाणा' इत्यादि।

मूलार्थ—*वनस्पतिकाय के आरंभ में संकोच करने वाले साधुओं को अलग* देखो। तथा 'हम अनगार हैं' इस प्रकार कहने वाले नाना प्रकार के शस्त्रोंसे

સેવન કરવાવાળા પ્રમાદી ફરી ઘરવાસમાં આવી જાય છે તે સંયમ ધારણ કર્યા પછી પણ પ્રમાદને વશ થઈને વિષયોમાં આસક્ત થવાના કારણે ફરી ગૃહસ્થ બની જાય છે (સૂ.૪)

શસ્ત્રદ્વાર—

વનસ્પતિશસ્ત્રના આરંભનો સર્વથા ત્યાગ કરવાવાળા અણુગારોનું તથા અગ્નિ શસ્ત્રના આરંભમાં પ્રવૃત્ત દ્રવ્યલિંગીઓનું વિવેચન કરીને ઉપદેશ આપે છે— 'લજ્જમાણા' ઇત્યાદિ.

મૂલાર્થ—વનસ્પતિકાયના આરંભમાં સંકોચ કરવાવાળા સાધુઓને જુદા જાણો તથા 'અમે અણુગાર છીએ' આ પ્રમાણે કહેવાવાળા, નાના પ્રકારના શસ્ત્રોથી વનસ્પતિ

कुठारादय । भावशस्त्र तु वनस्पति प्रति मनोवाक्कायानां दुष्प्रणिधानम् । वनस्पति कर्मसारम्भेण=कर्मणां समारम्भः कर्मसमारम्भ.=वनस्पति निमित्तीकृत्य ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धजनकसावद्यव्यापारस्तेन, इम वनस्पतिकाय विहिंसन्ति ।

वनस्पतिकायहिंसाया प्रवृत्ताः खलु षड्जीवनिकायरूप लोकं सर्वमेष विहिंसन्तीत्याह-'वनस्पतिशस्त्र'-मित्यादि । वनस्पतिशस्त्र=वनस्पतिजीवोपमर्दक शस्त्रं पूर्वोक्तप्रकारं, समारभमाणाः=वनस्पतिं प्रति प्रयुञ्जानाः, अन्यान्=वनस्पतिकायभिन्नान्, अनेकरूपान्, पृथिवीकायादीन्, द्वीन्द्रियादीन् त्रसांश्च तदाश्रितान् प्राणान्=प्राणिन' हिंसन्ति ।

इह बहुविधा द्रव्यलिङ्गिनो विद्यन्ते। तत्र शाक्यादय' कन्द-मूल-पत्र-

परकायशस्त्र हैं । वसूला, दांती, कुठार आदि उभयकायशस्त्र हैं । वनस्पतिकाय के प्रति मन, वचन और काय का असत् प्रयोग करना भावशस्त्र है । इन शस्त्रोंद्वारा वनस्पतिकायका आरंभ करके ज्ञानावरण आदि आठप्रकार के कर्मों को उत्पन्न करने वाला सावद्य व्यापार करके वनस्पतिकाय की हिंसा करते हैं ।

जो वनस्पतिकाय की हिंसा में प्रवृत्त होता है वह छहों जीवनिकायरूप समस्त लोक की हिंसा करता है, यह बतलाते हैं, 'वनस्पतिशस्त्रम्' इत्यादि ।

वनस्पतिकाय की हिंसाजनक पूर्वोक्त शस्त्रों का आरंभ करनेवाले लोग वनस्पतिकाय के अतिरिक्त पृथ्वीकाय आदि अन्य स्थावरों की तथा वनस्पति-आश्रित द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों की भी हिंसा करते हैं ।

संसार में अनेक प्रकार के द्रव्यलिंगी हैं । उन में से शाक्य आदि कंद, मूल,

મુખ અને અગ્નિ આદિ પરકાયશસ્ત્ર છે વસૂલા દાતી-દાતરડું, કુઠાર-કુહાડો આદિ ઉભયકાયશસ્ત્ર છે વનસ્પતિકાય પ્રતિ મન, વચન અને કાયનો અસત્-પ્રયોગ કરવો તે ભાવશસ્ત્ર છે એ શસ્ત્રોદ્વારા વનસ્પતિકાયનો આરંભ કરીને-જ્ઞાનાવરણીય આદિ આઠ પ્રકારના કર્મોને ઉત્પન્ન કરવાવાળા સાવદ્ય વ્યાપાર કરીને વનસ્પતિકાયની હિંસા કરે છે

જે વનસ્પતિકાયની હિંસામાં પ્રવૃત્ત થાય છે તે છજીવનિકાયરૂપ સમસ્ત લોકની હિંસા કરે છે એ બતાવે છે-' वनस्पतिशस्त्रम् ' ઇત્યાદિ

વનસ્પતિકાયના હિંસાજનક પૂર્વોક્ત શસ્ત્રનો આરંભ કરવાવાળા લોક વનસ્પતિ કાયના અતિરિક્ત પૃથ્વીકાય, આદિ અન્ય સ્થાવરોની તથા વનસ્પતિ આશ્રિત દ્વીન્દ્રિય-બે ઇંદ્રિય આદિ ત્રસ જીવોની પણ હિંસા કરે છે

સંસારમાં અનેક પ્રકારના દ્રવ્યલિંગી છે તેમાથી શાક્ય આદિ કંદ, મૂલ, પત્તા,

एके पुनरन्ये तु 'वयमनगाराः स्म ' इति साभिमानं प्रवदमानाः='वयमेव वनस्पतिजीवरक्षणपराः महाव्रतधारिणः ' इति प्रलपन्तो द्रव्यलिङ्गिनः सन्ति, तान् पृथक् पश्य ।

इमे खल्वनगाराभिमानिनो द्रव्यलिङ्गिनो मनागप्यनगारगुणेषु न प्रवर्तन्ते, नापि गृहस्थकृत्यं किञ्चित् परित्यजन्तीति दर्शयति–' यदिमम् ' इत्यादि ।

यत्=यस्मात् विरूपरूपे=विभिन्नस्वरूपे शस्त्रे=वनस्पतिकायशस्त्रे, शस्त्रं हि वनस्पतिकायस्य द्रव्यभावभेदाद् द्विविधम् । तत्र द्रव्यशस्त्रं=स्वकाय परकायोभयकायभेदात् त्रिविधम् । तत्र स्वकायशस्त्रं दण्डलकुटादयः । परकाय शस्त्रं=कर्तरी–पाषाण–हस्त–पाद–मुख–वह्न्यादयः । उभयकायशस्त्रं=वासी–दात्र–

इनसे विपरीत कोई–कोई ' हम अनगार हैं ' ऐसा अभिमानपूर्वक कहते हैं– 'हम ही वनस्पति जीवों की रक्षा करने में तत्पर और महाव्रतधारी हैं, ' इस प्रकार प्रलाप करते हुए द्रव्यलिंगी साधुओं को अलग समझो ।

अनगार होने का अभिमान करने वाले ये द्रव्यलिंगी अनगार के गुणो में तनिक भी प्रवृत्ति नहीं करते । ये गृहस्थ के किसी भी कामका त्याग नहीं करते हैं, यह बात आगे बतलाते हैं—'यदिमम् ' इत्यादि ।

नाना प्रकार के वनस्पतिकाय के शस्त्रोंद्वारा वनस्पतिकाय का आरंभ करके वनस्पतिकायकी हिंसा करते हैं । वनस्पतिशस्त्र दो प्रकारका है–द्रव्यशस्त्र और भावशस्त्र । द्रव्यशस्त्र के तीन भेद हैं–(१) स्वकायशस्त्र (२) परकायशस्त्र (३) उभयकायशस्त्र । डंडा लकडी वगैरह स्वकायशस्त्र हैं । कैंची, पत्थर, हाथ, पैर, मुख और आग आदि

તેનાથી વિપરીત–વિરૂદ્ધ કોઈ–કોઈ 'અમે અણગાર છીએ' આ પ્રમાણે અભિમાન પૂર્વક કહે છે–'અમેજ વનસ્પતિ જીવોની રક્ષા કરવામાં તત્પર અને મહાવ્રતધારી છીએ' આ પ્રમાણે પ્રલાપ–(બકવાટ) કરનારા દ્રવ્યલિંગી સાધુઓને જુદા સમજો

અણગાર હોવાનું અભિમાન કરનારા એ દ્રવ્યલિંગી સાધુ અણગારના ગુણો માટે જરા પણ પ્રવૃત્તિ કરતા નથી. તે ગૃહસ્થોના કોઈ પણ કામનો ત્યાગ કરતા નથી. એ બતાવે છે ' યદિમમ્ ' ઈત્યાદિ

નાના પ્રકારના વનસ્પતિકાયનાં શસ્ત્રો વડે વનસ્પતિકાયનો આરંભ કરીને વનસ્પતિકાયની હિંસા કરે છે વનસ્પતિશસ્ત્ર બે પ્રકારનાં છે–દ્રવ્યશસ્ત્ર અને ભાવશસ્ત્ર. દ્રવ્યશસ્ત્રનાં ત્રણ ભેદ છે—(૧) સ્વકાયશસ્ત્ર, (૨) પરકાયશસ્ત્ર, અને (૩) ઉભયકાયશસ્ત્ર. ડંડા, લાકડી વગેરે સ્વકાયશસ્ત્ર છે, કેંચી–(કાતર, સાંણુસો) પત્થર, હાથ, પગ,

कुठारादय । भावशस्त्र तु वनस्पति प्रति मनोवाक्कायानां दुष्प्रणिधानम् । वनस्पति कर्मसारम्भेण=कर्मणा समारम्भ' कर्मसमारम्भः=वनस्पति निमित्तीकृत्य ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धजनकसावद्यव्यापारस्तेन, इम वनस्पतिकाय विहिंसन्ति ।

वनस्पतिकायहिंसायां प्रवृत्ता' खलु षड्जीवनिकायस्य लोक सर्वमेव विहिंसन्तीत्याह-'वनस्पतिशस्त्र'-मित्यादि । वनस्पतिशस्त्र=वनस्पतिजीवोपमर्दक शस्त्रं पूर्वोक्तप्रकारं, समारममाणाः=वनस्पति प्रति प्रयुञ्जाना', अन्यान्=वनस्पतिकायभिन्नान्, अनेकरूपान्, पृथिवीकायादीन्, द्वीन्द्रियादीन् त्रसांश्च तदाश्रितान् प्राणान्=प्राणिन' हिंसन्ति ।

इह बहुविधा द्रव्यलिङ्गिनो विद्यन्ते । तत्र शाक्यादय' कन्द-मूल-पत्र-

परकायशस्त्र हैं । वसूला, दाती, कुठार आदि उभयकायशस्त्र हैं । वनस्पतिकाय के प्रति मन, वचन और काय का असत् प्रयोग करना भावशस्त्र है । इन शस्त्रोंद्वारा वनस्पतिकायका आरम करके ज्ञानावरण आदि आठप्रकार के कर्मों को उत्पन्न करने वाला सावद्य व्यापार करके वनस्पतिकाय की हिंसा करते हैं ।

जो वनस्पतिकाय की हिंसा में प्रवृत्त होता है वह छहों जीवनिकायरूप समस्त लोक की हिंसा करता है, यह बतलाते हैं, 'वनस्पतिशस्त्रम्', इत्यादि ।

वनस्पतिकाय की हिंसाजनक पूर्वोक्त शस्त्रों का आरम करनेवाले लोग वनस्पतिकाय के अतिरिक्त पृथ्वीकाय आदि अन्य स्थावरों की तथा वनस्पति-आश्रित द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों की भी हिंसा करते हैं ।

संसार में अनेक प्रकार के द्रव्यलिंगी हैं । उन में से शाक्य आदि कंद, मूल,

સુખ અને અગ્નિ આદિ પરકાયશસ્ત્ર છે વસૂલા દાતી-દાતરડુ, કુઠાર-કુહાડો આદિ ઉભયકાયશસ્ત્ર છે વનસ્પતિકાય પ્રતિ મન, વચન અને કાયનો અસત્-પ્રયોગ કરવો તે ભાવશસ્ત્ર છે એ શસ્ત્રોદ્વારા વનસ્પતિકાયનો આરભ કરીને-જ્ઞાનાવરણીય આદિ આઠ પ્રકારના કર્મોને ઉત્પન્ન કરવાવાળા સાવદ્ય વ્યાપાર કરીને વનસ્પતિકાયની હિંસા કરે છે

જે વનસ્પતિકાયની હિંસામા પ્રવૃત્ત થાય છે તે છજીવનિકાયરૂપ સમસ્ત લોકની હિંસા કરે છે એ બતાવે છે-'वनस्पतिशस्त्रम् ' ઇત્યાદિ

વનસ્પતિકાયના હિંસાજનક પૂર્વોક્ત શસ્ત્રનો આરભ કરવાવાળા લોક વનસ્પતિ કાયના અતિરિક્ત પૃથ્વીકાય, આદિ અન્ય સ્થાવરોની તથા વનસ્પતિ આશ્રિત દ્વીન્દ્રિય-બે ઇંદ્રિય આદિ ત્રસ જીવોની પણ હિંસા કરે છે

સસારમા અનેક પ્રકારના દ્રવ્યલિંગી છે તેમાથી શાક્ય આદિ કદ, મૂલ, પત્તા,

पुष्पफलादिभोजनार्थं वनस्पतिकर्मसमारम्भं कुर्वन्ति, कारयन्ति, कुर्वतोऽनुमोदयन्ति च, तेन षड्जीवनिकायविराधका भवन्ति। दण्डिनोऽपि "वयं पञ्चमहाव्रतधारिणो जिनाज्ञाराधका अनगाराः स्म" इत्यादि प्रवदमानाः साध्वाभासाः सावद्यमुपदिशन्ति, शास्त्रप्रतिषिद्धमपि वनस्पतिकर्मसमारम्भं कारयन्ति।

ते हि व्याख्यानमण्डपादौ चाशोकवृक्षपत्रादिभिर्वन्दनमालादिकं बन्धयन्ति, नानाविधपुष्पपत्रफलैः पञ्चोपचारादिपूजासु प्रवर्तयन्ति। तथाहि—

" काले सुइभूएणं, विसिट्ठपुष्फाइएहिं विहिणा उ।
सारथुइथोत्तगरुई, जिणपूया होइ कायव्वा ॥ १ ॥" (पञ्चाशकवृत्ति.)

छाया—काले शुचीभूतेन, विशिष्टपुष्पादिकैर्विधिना तु।
सारस्तुति स्तोत्रकरुचिना, जिनपूजा भवति कर्तव्या ॥ १ ॥

पत्ता, फूल आदि खाने के लिए वनस्पति का आरंभ करते हैं, कराते हैं और करने वाले की अनुमोदना करते हैं। ऐसा करके वे षड्जीवनिकाय की विराधना के भागी होते हैं। "हम पंचमहाव्रतधारी, जिन भगवान् की आज्ञा के आराधक अनगार हैं" ऐसा कहने वाले दंडी झूठे साधु भी सावद्य का उपदेश देते हैं और शास्त्र में निषिद्ध किये हुए वनस्पतिकाय के आरंभ का उपदेश देते हैं।

वे व्याख्यानमंडप आदि में अशोक वृक्ष के पत्तों से वन्दनवार आदि बँधवाते हैं, नाना प्रकार के फल फूल पत्तों से पंचोपचार आदि पूजाओं में (श्रावकों) को प्रवृत्त करते हैं। जैसे—

"उचित समय पर, विधिपूर्वक विशिष्ट पुष्प आदि के द्वारा सुन्दर स्तोत्र—स्तुतिपूर्वक जिन भगवानकी पूजा करनी चाहिए"।

ફૂલ આદિ ખાવા માટે વનસ્પતિનો આરંભ કરે છે, અને કરાવે છે, અને કરવા વાળાને અનુમોદન આપે છે. એ પ્રમાણે કરીને તે ષડ્જીવનિકાયની વિરાધનાના ભાગીદાર થાય છે 'અમે પંચ મહાવ્રતધારી, જિન ભગવાનની આજ્ઞાના આરાધક અણગાર છીએ.' આ પ્રમાણે કહેવાવાળા દંડી જુઠા સાધુ પણ સાવદ્યનો ઉપદેશ આપે છે, અને શાસ્ત્રમાં નિષેધ કરવામાં આવેલો વનસ્પતિકાયના આરંભનો ઉપદેશ આપે છે

તે વ્યાખ્યાન-મંડપ આદિમાં અશોકવૃક્ષનાં પાંદડાંથી તોરણ આદિ બંધાવે છે નાના પ્રકારના ફલ-ફૂલ અને પાંદડાથી પંચોપચાર આદિ પૂજાઓમાં (શ્રાવકોને) પ્રવૃત્ત કરે છે-જોડે છે જેમ-" ઉચિત સમય-યોગ્ય સમય પર વિધિપૂર્વક વિશિષ્ટ-ઉત્તમ પુષ્પ આદિ દ્વારા સુન્દર સ્તોત્ર, સ્તુતિપૂર્વક જિન ભગવાનની પૂજા કરવી જોઈએ."

अपरञ्च-उमास्वातिवाचककृतप्रकरणे—

'मध्याह्न कुसुमैः पूजा' इति। 'गन्धवासाक्षतैः स्रग्भिः' इति।

'प्रधानैश्च फलैः पूजा' इत्यादि। किञ्च—

" न शुष्कैः पूजयेद्देव, कुसुमैर्न महीगतैः।

न विशीर्णदलैः स्पृष्टै,-र्नाशुभैर्नाविकासिभिः " ॥ १ ॥

'न शुष्कैः पूजयेद्देवं कुसुमैर्न महीगतैः'-इत्यनेन 'आर्द्रैः त्रोटितैश्च कुसुमैर्देवं पूजयेत्'-इत्यर्थोऽवगम्यते। अहो! कीदृशो महासावद्योपदेशस्तेषाम्।

एवं देवमन्दिरादौ कदलीस्तम्भादिरोपणेन, अशोकादिवृक्षपत्रैर्वन्दन-

---

पञ्चाशकवृत्ति उमास्वातिकृत प्रकरण में कहा है—

"मध्याह्न में फूलों से पूजा की जाती है।" "गंध, वास और अक्षत से तथा मालाओं से पूजा होती है।" उत्तम फलों से पूजा की जाती है" इत्यादि। और भी कहा है—

"सूखे, जमीन पर गिरे हुए, टूटी पँखुडीवाले, छुए हुए, खराब और विना खिले फूलों से पूजा नहीं करनी चाहिए"।

'सूखे और जमीन पर गिरे हुए फूलों से पूजा नहीं करनी चाहिये' इसका अभिप्राय यह हुआ कि ताजे और तोड़े हुए फूलों से पूजा करनी चाहिये अरेरे! उनका वह कैसा सावद्य उपदेश है।

इस प्रकार देवमंदिर आदि में कदलीस्तम्भ खडा करके, अशोक वृक्ष के पत्तों से

પંચાશકવૃત્તિ ઉમાસ્વાતિકૃત પ્રકરણમાં કહ્યું છે—

'મધ્યાહ્નમાં ફૂલોવડે પૂજા કરવામાં આવે છે' 'ગંધ, વાસ અને અક્ષતથી તથા માળાઓથી પૂજા થાય છે' 'ઉત્તમ ફળોથી પૂજા કરવામા આવે છે' ઈત્યાદિ. બીજું પણ કહ્યું છે કે—

"સૂકા, જમીન પર ખરી પડેલાં, જેની પાંખડી તુટી ગઇ હોય, સ્પર્શ કરાએલાં, અશુભ અને ખિલ્યા વિનાના ફૂલોથી પૂજા નહિ કરવી જોઈએ"

'સૂકાં અને જમીન પર ખરી પડેલા ફૂલો વડે પૂજા ન કરવી જોઈએ' આનો અભિપ્રાય એ થયો કે લીલાં અને તાજા તોડેલા ફૂલોથી પૂજા કરવી જોઇએ. અરેરે! તેઓનો આ સાવદ્ય ઉપદેશ કેવો છે?

આ પ્રમાણે દેવમંદિર આદિમાં કેળના સ્થંભ ઉભા કરીને અશોકવૃક્ષના પાંદડાથી

मालिकादिबन्धनेन, प्रतिमोपरि सचित्तपत्रपुष्पादिक्षेपणेन सचित्तनालिकेरदाडिमरसालफलादिनैवेद्योपचारेण च वनस्पतिहिंसां कारयन्तस्ते तदाश्रितानेकविधान् त्रसस्थावरान् प्राणिनो घातयन्ति । नहि-वीतरागाणां सावद्या सपर्या समुचिता, 'एस खलु गंथे' इत्यादिवचनेन सर्वारम्भाणामस्मिन्नेवागमे तैः साक्षात् प्रतिषिद्धत्वात्। नहि तत्तत्त्यागिभ्यस्तत्तत्त्यक्तद्रव्यसमर्पणं तुष्टिकरं भवतीति । नहि लोके मद्यमांसत्यागिभ्यो मद्यमांससमर्पणं तत्परितोषाय जायते । अलं बहुना ! हरितकन्दमूलादित्यागिनः श्रावका अपि न हरितकन्दमूलादिसमर्पणेन संतुष्यन्तीति विचारयन्तु मनीषिणः ॥ सू० ५ ॥

अथ सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामिनं जगाद-'तत्थ' इत्यादि ।

वन्दनवार बाँधकर, प्रतिमा पर सचित्त पत्ते, फूल आदि चढाकर, सचित्त नारियल, दाडिम, आम आदि नैवेद्य के उपचार से वनस्पति की हिंसा करते हुए वे वनस्पति-आश्रित अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों का घात करवाते हैं। वीतराग देव की पूजा सावद्य होना उचित नहीं है । एस खलु गंथे ' इत्यादि कथन द्वारा इसी आगम में समस्त आरंभों का वीतराग भगवान्ने साक्षात् निषेध किया है । जो पुरुष जिस वस्तु का त्यागी है, उसकी तुष्टि उस वस्तु को अर्पित करने से नहीं हो सकती । लोक में मद्य-मांस का त्याग करने वालों को मद्य-मांस की भेंट संतोषजनक नहीं होती । अधिक क्या कहें ! हरित कंद मूल के त्यागी श्रावक भी हरित कन्द मूल की भेंट से प्रसन्न नहीं होते हैं । बुद्धिमान् पुरुष स्वयं विचार करलें ॥ सू० ५ ॥

सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं-'तत्थ ' इत्यादि ।

वंदनवार बांधीने, प्रतिमा उपर सचित्त पांदडा, फूल आदि चढावीने, सचित्त नाळियेर, दाडम, आंबा आदि नैवेद्यना उपचारथी वनस्पतिनी हिंसा करीने ते वनस्पति-आश्रित अनेक प्रकारना त्रस-स्थावर जीवोनो घात करावे छे वीतरागदेवनी पूजा सावद्य होय ते योग्य नथी. 'एस खलु गंथ ' ईत्यादि कथन द्वारा आ आगममां तमाम समारंभोनो वीतराग भगवाने साक्षात् निषेध कर्यो छे जे पुरुष जे वस्तुना त्यागी छे, तेनी प्रसन्नता ते वस्तुने अर्पण करवाथी थई शकती नथी. लोकमां मद्य-मांसना त्यागी-त्याग करवावाळाने मद्य-मांसनी भेट संतोष उत्पन्न करती नथी, अधिक शुं कहीए ! लीला कंदमूळना त्यागी श्रावक पण लीला कन्दमूळनी भेटथी प्रसन्न थता नथी तो बुद्धिमान पुरुष पोते विचार करी लीए. ॥ सू० ५ ॥

सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामीने कहे छे-' तत्थ ' ईत्यादि

मूलम्—

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया। इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाइमरणमोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं, से सयमेव वणस्सइसत्थं समारभइ, अण्णेहिं वा वणस्सइसत्थं समारभावेइ, अण्णे वणस्सइसत्थं समारभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए, तं से अबोहीए॥ सू० ६॥

छाया—

तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता। अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दन-मानन-पूजनाय, जातिमरणमोचनाय, दुःखप्रतिघातहेतु, स स्वयमेव वनस्पतिशस्त्रं समारभते, अन्यैर्वा वनस्पतिशस्त्रं समारम्भयति, अन्यान् वा वनस्पतिशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानाति, तत् तस्याहिताय, तत् तस्याबोधये॥ सू० ६॥

टीका—

तत्र=वनस्पतिकायसमारम्भे, भगवता=श्रीमहावीरेण, परिज्ञा=सम्यगवबोध, खलु=निश्चयेन प्रवेदिता=प्रतिबोधिता—कर्मबन्धसमुच्छेदार्थं जीवेन परि

मूलार्थ—वनस्पतिकाय के आरम के सबंध में भगवान् ने सम्यक् बोध दिया है। इस जीवन के वन्दन, मानन और पूजन के लिए, जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए तथा दुःखों का विनाश करने के लिए स्वयं वनस्पतिकायशस्त्र का आरम करता है, दूसरों से आरम करता और आरम करने वाले दूसरों का अनुमोदन करता है। वह आरम उस के अहित के लिए, उसकी अबोधि के लिए होता है॥ सू० ६॥

टीकार्थ—वनस्पतिकाय के आरम के विषय में भगवान् श्री महावीर स्वामीने सम्यक् उपदेश दिया है। अर्थात् भगवान ने बतलाया है कि—कर्मबंध को नष्ट करने के

મૂલાર્થ—વનસ્પતિકાયના આરંભના સમ્બંધમાં ભગવાને સમ્યક્ બોધ આપ્યો છે આ જીવનના વંદન, માનન, અને પૂજન માટે, જન્મ-મરણથી છુટવાને માટે તથા દુઃખોનો વિનાશ કરવા માટે સ્વયં વનસ્પતિકાયશસ્ત્રનો આરંભ કરે છે, બીજા પાસે આરંભ કરાવે છે, અને આરંભ કરવાવાળા બીજાને અનુમોદન આપે છે તે આરંભ તેના અહિત માટે તેમજ તેની અબોધિ માટે હોય છે॥ સૂ૦ ૬॥

ટીકાર્થ—વનસ્પતિકાયના આરંભના વિષયમાં ભગવાન શ્રી મહાવીર સ્વામીએ સમ્યક્ ઉપદેશ આપ્યો છે અર્થાત્ ભગવાને બતાવ્યું છે કે—કર્મબંધને નષ્ટ કરવા માટે

मालिकादिबन्धनेन, प्रतिमोपरि सचित्तपत्रपुष्पादिक्षेपणेन सचित्तनालिकेरदाडिमर सालफलादिनैवेद्योपचारेण च वनस्पतिहिंसां कारयन्तस्ते तदाश्रितानेकविधान् त्रसस्थावरान् प्राणिनो घातयन्ति । नहि-वीतरागाणां सावद्या सपर्या समुचिता, 'एस खलु गंथे' इत्यादिवचनेन सर्वारम्भाणामस्मिन्नेवागमे तैः साक्षात् प्रतिषिद्धत्वात्। नहि तत्तत्त्यागिभ्यस्तत्तत्त्यक्तद्रव्यसमर्पणं तुष्टिकरं भवतीति । नहि लोके मद्यमांस त्यागिभ्यो मद्यमांससमर्पणं तत्परितोषाय जायते । अलं बहुना ! हरितकन्दमूलादि त्यागिनः श्रावका अपि न हरितकन्दमूलादिसमर्पणेन संतुष्यन्तीति विचारयन्तु मनीषिण ॥ सू० ५ ॥

अथ सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामिनं जगाद-'तत्थ' इत्यादि ।

बन्दनवार बाँधकर, प्रतिमा पर सचित्त पत्ते, फूल आदि चढ़ाकर, सचित्त नारियल, दाडिम, आम आदि नैवेद्य के उपचार से वनस्पति की हिंसा करते हुए वे वनस्पति-आश्रित अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों का घात करवाते हैं। वीतराग देव की पूजा सावद्य होना उचित नहीं है। 'एस खलु गंथे' इत्यादि कथन द्वारा इसी आगम में समस्त आरंभों का वीतराग भगवान्ने साक्षात् निषेध किया है। जो पुरुष जिस वस्तु का त्यागी है, उसकी तुष्टि उस वस्तु को अर्पित करने से नहीं हो सकती। लोक में मद्य-मांस का त्याग करने वालों को मद्य-मांस की भेंट संतोषजनक नहीं होती। अधिक क्या कहें! हरित कंद मूल के त्यागी श्रावक भी हरित कन्द मूल की भेंट से प्रसन्न नहीं होते हैं। बुद्धिमान् पुरुष स्वयं विचार करलें ॥ सू० ५ ॥

सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं-'तत्थ' इत्यादि ।

વંદનવાર બાંધીને, પ્રતિમા ઉપર સચિત્ત પાંદડા, ફૂલ આદિ ચઢાવીને, સચિત્ત નાળિએર, દાડમ, આંબા આદિ નૈવેદ્યના ઉપચારથી વનસ્પતિની હિંસા કરીને તે વનસ્પતિ-આશ્રિત અનેક પ્રકારના ત્રસ-સ્થાવર જીવોનો ઘાત કરાવે છે વીતરાગદેવની પૂજા સાવદ્ય હોય તે યોગ્ય નથી. 'एस खलु गंथे' ઈત્યાદિ કથન દ્વારા આ આગમમાં તમામ સમારંભોનો વીતરાગ ભગવાને સાક્ષાત્ નિષેધ કર્યો છે જે પુરુષ જે વસ્તુના ત્યાગી છે, તેની પ્રસન્નતા તે વસ્તુને અર્પણ કરવાથી થઈ શકતી નથી. લોકમાં મદ્ય-માંસના ત્યાગી-ત્યાગ કરવાવાળાને મદ્ય-માંસની ભેટ સંતોષ ઉત્પન્ન કરતી નથી, અધિક શું કહીએ! લીલા કંદમૂળના ત્યાગી શ્રાવક પણ લીલા કન્દમૂળના ભેટથી પ્રસન્ન થતા નથી તો બુદ્ધિમાન પુરુષ પોતે વિચાર કરી લીએ. ॥ સૂ૦ ૫ ॥

સુધર્મા સ્વામી જમ્બૂ સ્વામીને કહે છે-'तत्थ' ઈત્યાદિ

गजाश्वमृगव्याघ्रसिंहादीनां स्वरूपं दधाना वृक्षादयस्तस्योपवनादेर्विशिष्टशोभां जनयन्ति।

माननं=जनसत्कारस्तदर्थं, यथा-स एव पत्रादिकर्तनकलाकुशलो मालाकारः स्वमाननार्थं कर्तरीशस्त्रेण वृक्षलतादीनां पत्रादिकं कृन्तति। पूजनं= वस्त्ररत्नादिलाभस्तदर्थम्, यथा-देवप्रतिमाद्यर्थं पत्रपुष्पफलादीनां त्रोटने। तथा- जातिमरणमोचनाय=जन्ममरणबन्धमोचनार्थं, यथा-मुक्तिकामनं पूजाया पुष्पपत्रादिसमुच्छेदने, तथा-दुःखप्रतिघातहेतु=व्याधिशमनाद्यर्थम्-ओषधि- वृक्षलतादीनां मूलकन्दशाखापत्रपुष्पफलादिभेदने, स जीवनसुखाद्यर्थी स्वयमेव

हाथी, घोडा, हिरन, बाघ, सिंह आदि का आकार बन जाता है और इससे उस बगीचे की सुन्दरता बढती है, ऐसा जानकर करता है।

जनसत्कार के लिए भी वनस्पति की हिंसा की जाती है, जैसे-पत्ता वगैरह काटने में कुशल वही पूर्वोक्त माली कैंची से वृक्षों या लताओं के पत्ता आदि काटता है। तथा पूजन के लिए अर्थात् वस्त्रों और रत्नों के लिए भी वनस्पतिकाय की हिंसा करते हैं। जैसे-देव प्रतिमा आदि के लिए पत्र, फूल, फल तोडने में।

जन्म मरण से छुटकारा पाने के लिए भी उक्त हिंसा की जाती है। जैसे-मुक्ति की इच्छा से पूजा के लिए फूल-फल तोडने में। दुःखों का प्रतीकार करने के लिए भी यह हिंसा की जाती है। जैसे-रोग मिटाने के लिए ओषधि, वृक्ष, लता, मूल, कन्द, शाखा, पत्र, फूल आदि तोडने में हिंसा की जाती है।

વૃક્ષ લતા વગેરેને એવા પ્રકારે કાપે છે કે તેમાં હાથી, ઘોડા, હરણ, વાઘ, સિંહ આદિનો આકાર બની જાય છે, અને તેથી એ બગીચાની સુંદરતા વધે છે એવું સમજીનેજ કરે છે

જન-સત્કાર માટે પણ વનસ્પતિની હિંસા કરવામાં આવે છે, જેમ-પાંદડા વગેરેને કાપવામાં કુશલ આગળ કહેલા તેજ માળી કેંચી (કાતર)થી વૃક્ષો અથવા લતાઓનાં પત્તાં આદિ કાપે છે તથા પૂજન માટે અર્થાત્ વસ્ત્રો અને રત્નોને માટે પણ વનસ્પતિકાયની હિંસા કરે છે, જેમ-દેવપ્રતિમા આદિ માટે પત્ર ફૂલ ફલ તોડવામાં.

જન્મ-મરણથી છુટવા માટે પણ પૂર્વ કહેલી હિંસા કરવામાં આવે છે, જેમકે- મુક્તિની ઇચ્છાથી પૂજા માટે ફૂલ ફૂલ તોડવામાં

દુઃખોના પ્રતિકાર કરવા માટે પણ એ હિંસા કરવામાં આવે છે જેમકે-રોગનિવારણ કરવા માટે ઔષધી, વૃક્ષ, લતા, મૂલ, કન્દ, શાખા, પત્ર, ફૂલ આદિ તોડવામાં હિંસા કરવામાં આવે છે

ज्ञाऽवश्य शरणीकरणीयेति भगवता प्रतिबोधितमिति भावः ।

उपभोगद्वारम्—

लोकः कस्मै प्रयोजनाय वनस्पतिकायमुपर्दयती ? त्याह–' अस्य चेव जीवितस्ये '–त्यादि । अस्यैव नश्वरस्य जीवितस्य=जीवनस्य सुखार्थम्= आहार–वस्त्र–पात्र–माल्य–गन्ध–चूर्ण–तालवृन्ता–र्गला–खट्वा–पल्यङ्क–शिबिका–शकट–हल–मुसल–पीठ–फलक–सिंहासन–दण्ड–लकुट–कपाट–वीणा–शालभञ्जिका–निर्माण–तापन–प्रतापन–प्रकाशने–न्धन–तैलाद्यर्थमित्यर्थः । तथा–परिवन्दन–मानन–पूजनाय, परिवन्दन=प्रशंसा, तदर्थं, यथा–कश्चित् स्वप्रशंसार्थम् उपवनादौ पत्रादिकर्तनकलाकौशलेन वृक्षलतादीनां पत्रादीनि तथा छेदयति यथा तत्कर्तनेन

लिए जीव को परिज्ञा (उपदेश) अवश्य स्वीकार करना चाहिए ।

उपभोगद्वार—

लोग किस प्रयोजन से वनस्पतिकाय की हिंसा करते हैं ? यह बतलाते हैं– इसी नाशशील जीवन के सुख के लिए अर्थात् आहार, वस्त्र, पात्र, माला गंध, चूर्ण, तालवृन्त (पंखा), आगल, खाट, पलंग, पालकी, गाडी, हल, मूसल, पीढा, (बाजोट) फलको (पाट), सिंहासन, डंडा, लकडी, किवाड, वीणा, पुतली आदि बनवाने के लिए, तपाना, विशेष तपाना, प्रकाशन, ईंधन, और तैल आदि के प्रयोजन से वनस्पतिकाय की हिंसा करते हैं । तथा प्रशंसा के लिए भी वनस्पति की हिंसा करते हैं, जैसे–कोई पुरुष अपनी प्रशंसा के लिए बगीचा आदि में पत्ता वगैरह काटने की कला में कुशलता प्रकट करने के अभिप्राय से वृक्ष लता वगैरह को इस प्रकार काटता है जिससे उसमें

જીવને પરિજ્ઞા (ઉપદેશ)નો અવસ્ય સ્વીકાર કરવો જોઈએ

ઉપભોગદ્વાર—

લોક શું પ્રયોજનથી વનસ્પતિકાયની હિંસા કરે છે ? તે બતાવે છે–આ નાશ પામવાવાળા જીવના સુખ માટે, અર્થાત્–આહાર, વસ્ત્ર, પાત્ર, માલા, ગંધ, ચૂર્ણ, પંખા આગળિયો, ખાટ, પલંગ, પાલખી, ગાડી, હલ, મૂસલ, બાજોઠ, પાટ, સિંહાસન, ડંડા, લાકડી, કમાડ, વીણા, પુતલી વગેરે બનાવવા માટે, તપાવવું વિશેષ તપાવવું, પ્રકાશન, ઇન્ધન–(બાળવાના લાકડા) અને તેલ આદિના પ્રયોજનથી વનસ્પતિકાયની હિંસા કરે છે. તથા પ્રશંસા માટે પણ વનસ્પતિકાયની હિંસા કરે છે, જેમકે–કોઈ પુરુષ પોતાની પ્રશંસા માટે બગીચા આદિમાં પાંદડા વગેરે કાપવાની કલામાં કુશળતા બતાવવાના અભિપ્રાયથી

गजाश्वमृगव्याघ्रसिंहादीनां स्वरूपं दधाना वृक्षादयस्तस्योपवनादेर्विशिष्टशोभां जनयन्ति।

माननं=जनसत्कारस्तदर्थं, यथा-स एव पत्रादिकर्तनकलाकुशलो मालाकारः स्वमाननार्थं कर्तरीशस्त्रेण वृक्षलतादीनां पत्रादिकं कृन्तति। पूजनं=वस्त्ररत्नादिलाभस्तदर्थम्, यथा-देवप्रतिमाद्यर्थं पत्रपुष्पफलादीनां त्रोटने। तथा-जातिमरणमोचनाय=जन्ममरणबन्धमोचनार्थं, यथा-मुक्तिकामन पूजायां पुष्पपत्रादिसमुच्छेदने, तथा-दुःखप्रतिघातहेतु=व्याधिशमनाद्यर्थम्-ओषधि-वृक्षलतादीनां मूलकन्दशाखापत्रपुष्पफलादिभेदने, स जीवनसुखाद्यर्थी स्वयमेव

हाथी, घोडा, हिरन, बाघ, सिंह आदि का आकार बन जाता है और इससे उस बगीचे की सुन्दरता बढती है, ऐसा जानकर करता है।

जनसत्कार के लिए भी वनस्पति की हिंसा की जाती है, जैसे-पत्ता वगैरह काटने में कुशल वही पूर्वोक्त माली कैंची से वृक्षों या लताओं के पत्ता आदि काटता है। तथा पूजन के लिए अर्थात् वस्त्रों और रत्नों के लिए भी वनस्पतिकाय की हिंसा करते हैं। जैसे-देव प्रतिमा आदि के लिए पत्र, फूल, फल तोडने में।

जन्म मरण से छुटकारा पाने के लिए भी उक्त हिंसा की जाती है। जैसे-मुक्ति की इच्छा से पूजा के लिए फूल-फल तोडने में। दुःखों का प्रतीकार करने के लिए भी यह हिंसा की जाती है। जैसे-रोग मिटाने के लिए ओषधि, वृक्ष, लता, मूल, कन्द, शाखा, पत्र, फूल आदि तोडने में हिंसा की जाती है।

વૃક્ષ લતા વગેરેને એવા પ્રકારે કાપે છે કે તેમાં હાથી, ઘોડા, હરણ, વાઘ, સિંહ આદિનો આકાર બની જાય છે, અને તેથી એ બગીચાની સુંદરતા વધે છે એવું સમજીનેજ કરે છે

જન-સત્કાર માટે પણ વનસ્પતિની હિંસા કરવામા આવે છે, જેમ-પાદડાં વગેરેને કાપવામાં કુશલ આગળ કહેલો તેજ માળી કૈંચી (કાતર)થી વૃક્ષો અથવા લતાઓના પત્તા આદિ કાપે છે. તથા પૂજન માટે અર્થાત્ વસ્ત્રો અને રત્નોને માટે પણ વનસ્પતિકાયની હિંસા કરે છે, જેમ-દેવપ્રતિમા આદિ માટે પત્ર ફૂલ ફલ તોડવામા.

જન્મ-મરણથી છુટવા માટે પણ પૂર્વ કહેલી હિંસા કરવામાં આવે છે, જેમકે-મુક્તિની ઇચ્છાથી પૂજા માટે ફલ ફૂલ તોડવામાં

દુઃખોનો પ્રતિકાર કરવા માટે પણ એ હિંસા કરવામા આવે છે જેમકે-રોગનિવારણ કરવા માટે ઔષધી, વૃક્ષ, લતા, મૂલ, કન્દ, શાખા, પત્ર, ફૂલ આદિ તોડવામા હિંસા કરવામાં આવે છે

वनस्पतिशस्त्रं=वनस्पतिकायोपमर्दकं द्रव्यभावशस्त्रं समारभते=व्यापारयति । अन्यैर्वा वनस्पतिशस्त्रं समारम्भयति । अन्यान् वा वनस्पतिशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानाति= अनुमोदयति ।

तत्=वनस्पतिकायसमारम्भ, तस्य वनस्पतिसमारम्भं कुर्वतः कारयितुः अनुमोदयितुश्च अहिताय भवति । तथा-तत् तस्य अबोधये=सम्यक्त्वालाभाय भवति । ॥ सू० ६ ॥

येन तु तीर्थङ्करादिसमीपे वनस्पतिकायस्वरूपं परिज्ञातं, स एवं विभावयन् स्यादि—'से तं ' इत्यादि ।

मूलम्—

से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा खलु भगवओ अण-

इस प्रकार जीवन को सुखी बनाने का अभिलाषी यह पुरुष वनस्पतिकाय की हिंसा करनेवाले द्रव्य और भावशस्त्र का स्वयं उपयोग करता है, दूसरों से उपयोग कराता है और वनस्पतिशस्त्र का उपयोग करने वाले दूसरों का अनुमोदन करता है ।

वनस्पतिकाय का यह आरम, आरम करने वाले, कराने वाले और अनुमोदन करने वाले के अहित के लिए होता है और सम्यक्त्व की अप्राप्ति का कारण बनता है ॥ सू० ६ ॥

तीर्थंकर आदि के निकट वनस्पतिकाय का स्वरूप जिसने जान लिया है, वह इस प्रकार विचार करता है—' से तं ' इत्यादि ।

मूलार्थ—यह पुरुष भगवान् या अनगारों से सुनकर समझ—बूझकर संयम

એ પ્રમાણે જીવનને સુખી બનાવવાના અભિલાષી તે પુરુષ વનસ્પતિકાયની હિંસા કરવાવાળા દ્રવ્ય અને ભાવ શસ્ત્રનો સ્વયં ઉપયોગ કરે છે, બીજા પાસે ઉપયોગ કરાવે છે અને વનસ્પતિશસ્ત્રનો ઉપયોગ કરવાવાળા બીજાને અનુમોદન આપે છે

વનસ્પતિકાયનો આ આરંભ, આરંભ કરવાવાળાને, કરાવવાવાળાને અને અનુમોદન કરવાવાળાને અહિત માટે છે અને સમ્યક્ત્વની અપ્રાપ્તિનું કારણ બને છે ॥ સૂ૦૬ ॥

તીર્થંકર આદિના સમીપે વનસ્પતિકાયનું સ્વરૂપ જેણે જાણી લીધું છે. તે આ પ્રમાણે વિચાર કરે છે–' से तं ' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—તે પુરુષ ભગવાન અથવા અણગારો પાસેથી સાંભળી–સમજી–બુઝીને

गाराण वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवइ-एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए । इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइ-कम्मसमारंभेणं वणस्सइसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ॥सू० ७॥

छाया—

स तत् संबुध्यमान आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा खलु भगवतः अनगाराणां वा अन्तिके, इहैकेषां ज्ञातं भवति-एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरकः । इत्यर्थं गृद्धो लोकः, यदिमं विरूपरूपैः शस्त्रैः वनस्पतिकर्मसमारम्भेण वनस्पतिशस्त्रं समारभमाणः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणान् विहिनस्ति ॥ सू० ७ ॥

टीका—यः खलु भगवतः=तीर्थङ्करस्य, अनगाराणां=तदीयश्रमणनिर्ग्रन्थानां वा अन्तिके श्रुत्वा, आदानीयम्=उपादेयसर्वसावद्ययोगविरतिरूपं चारित्रं, समुत्थाय=अङ्गीकृत्य विहरति, स तत्=वनस्पतिकायसमारम्भणं संबुध्यमानः=अहितावोधिजनकत्वेन विज्ञाता सन् एवं विभावयति—'एवं खलु०' इत्यादि ।

ग्रहण करके विचरता है । वह इस प्रकार समझता है—वनस्पतिकाय का आरंभ ग्रंथ है, यह मोह है, यह मार है, यह नरक है । गृद्ध लोग इसके लिए नाना प्रकार के शस्त्रों से वनस्पतिकाय का आरंभ करके, शस्त्र का प्रयोग करते हुए और भी अनेक प्राणियों का घात करते हैं ॥ सू. ७ ॥

टीकार्थ—जो पुरुष तीर्थंकर से या उनके श्रमण निर्ग्रन्थों से सर्वसावद्य त्याग रूप संयम स्वरूप समझकर और उसे अंगीकार करके विचरता है वह वनस्पतिकाय के आरंभ को अहितकर और अबोधिजनक समझकर इस प्रकार विचार करता है — 'एवं खलु०' इत्यादि ।

સંયમ ગ્રહણ કરીને વિચરે છે તે આ પ્રમાણે સમજે છે—વનસ્પતિકાયનો આરંભ ગ્રંથ છે, એ મોહ છે, એ માર છે, એ નરક છે ગૃદ્ધ લોક એ માટે નાના પ્રકારના શસ્ત્રોથી વનસ્પતિકાયનો આરંભ કરીને શસ્ત્રનો પ્રયોગ કરતા થકા બીજા પણ અનેક પ્રાણીઓનો ઘાત કરે છે ॥ સૂ. ૭ ॥

ટીકાર્થ—જે પુરૂષ તીર્થંકરથી અથવા તેમના શ્રમણ નિર્ગ્રન્થો પાસેથી સર્વ સાવદ્ય (કર્મના) ત્યાગરૂપ સંયમના સ્વરૂપને સમજી ને અને તેને અંગીકાર કરીને વિચરે છે, તે વનસ્પતિકાયના આરંભને અહિતકર અને અબોધિજનક સમજી આ પ્રમાણે વિચાર કરે છે—'एवं खलु०' ઇત્યાદિ

वनस्पतिशस्त्रं=वनस्पतिकायोपमर्दकं द्रव्यभावशस्त्रं समारभते=व्यापारयति । अन्यैर्वा वनस्पतिशस्त्रं समारम्भयति । अन्यान् वा वनस्पतिशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानाति=अनुमोदयति ।

तत्=वनस्पतिकायसमारम्भ, तस्य वनस्पतिसमारम्भं कुर्वतः कारयितुः अनुमोदयितुश्च अहिताय भवति । तथा-तत् तस्य अबोधये=सम्यक्त्वालाभाय भवति । ॥ सू० ६ ॥

येन तु तीर्थङ्करादिसमीपे वनस्पतिकायस्वरूपं परिज्ञातं, स एवं विभावयती स्याह—'से तं ' इत्यादि ।

मूलम्—

से त संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा खलु भगवओ अण

इस प्रकार जीवन को सुखी बनाने का अभिलाषी वह पुरुष वनस्पतिकाय की हिंसा करनेवाले द्रव्य और भावशस्त्र का स्वयं उपयोग करता है, दूसरों से उपयोग कराता है और वनस्पतिशस्त्र का उपयोग करने वाले दूसरों का अनुमोदन करता है ।

वनस्पतिकाय का यह आरंभ, आरंभ करने वाले, कराने वाले और अनुमोदन करने वाले के अहित के लिए होता है और सम्यक्त्व की अप्राप्ति का कारण बनता है ॥ सू० ६ ॥

तीर्थंकर आदि के निकट वनस्पतिकाय का स्वरूप जिसने जान लिया है, वह इस प्रकार विचार करता है—'से तं ' इत्यादि ।

मूलार्थ—वह पुरुष भगवान् या अनगारों से सुनकर समझ-बूझकर संयम

એ પ્રમાણે જીવનને સુખી બનાવવાના અભિલાષી તે પુરુષ વનસ્પતિકાયની હિંસા કરવાવાળા દ્રવ્ય અને ભાવ શસ્ત્રનો સ્વય ઉપયોગ કરે છે, બીજા પાસે ઉપયોગ કરાવે છે અને વનસ્પતિશસ્ત્રનો ઉપયોગ કરવાવાળા બીજાને અનુમોદન આપે છે

વનસ્પતિકાયનો આ આરંભ, આરંભ કરવાવાળાને, કરાવવાવાળાને અને અનુમોદન કરવાવાળાને અહિત માટે છે અને સમ્યકૃત્વની અપ્રાપ્તિનું કારણ બને છે ॥ સૂ૦૬ ॥

તીર્થંકર આદિના સમીપે વનસ્પતિકાયનું સ્વરૂપ જેણે જાણી લીધું છે. તે આ પ્રમાણે વિચાર કરે છે—'से त ' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—તે પુરુષ ભગવાન અથવા અણગારો પાસેથી સાંભળી-સમજી-બુઝીને

इत्यर्थम्=एतदर्थं, कर्मबन्ध-मोह-मरण-नरकरूप घोरदुःखफल प्राप्यापि पुन' पुनरेतदर्थमेव लोक'=अज्ञानवशवर्ती जीव , गृद्ध =लिप्सुरस्ति। यद्वा-गृद्धः=भोगाभिलाषी, लोकः=ससारी जीवः, इत्यर्थम्=एतदर्थमेव=ग्रन्थ-मोह-मरणनरकार्थमेव प्रवर्त्तत इति शेष.।

लोकः पुन' पुन कर्मबन्धाद्यर्थमेव प्रवर्त्तत इति यदुक्त, तत् कथं ज्ञायते ? इति जिज्ञासायामाह—' यदिमम्. ' इत्यादि ।

यत्=यस्मात्, विरूपरूपैः=नानाविधै शस्त्रै' पूर्वोक्तप्रकारै , वनस्पतिकर्मसमारम्भेण=वनस्पतिकायोपमर्दनरूपसावद्यव्यापारेण, इम=वनस्पतिकाय विहिनस्ति। तथा वनस्पतिशस्त्र समारभमाण =व्यापारयन् अन्यान्=पृथिवीकायादीन् अनेकरूपान् =त्रसान् स्थावराश्च तदाश्रितान् प्राणान्=प्राणिन विहिनस्ति=उपमर्दयति ॥सू० ७॥

अज्ञानी जीव कर्मबंध, मोह, मरण और नरक रूप इन फलों को प्राप्त करके भी बार-बार इसी में गृद्ध होते हैं। अथवा भोग के अभिलाषी पुरुष इसी ग्रंथ, मोह, मरण और नरक के लिए ही प्रवृत्ति करते हैं।

लोग पुन-पुन कर्मबंध आदि के लिए ही प्रवृत्ति करते हैं' यह जो कथन किया है सो कैसे ज्ञात हुआ ? इस जिज्ञासा के होने पर कहते हैं-'यदिमम् ' इत्यादि।

क्यों कि नाना प्रकार के पूर्वोक्त शस्त्रों द्वारा वनस्पतिकाय की हिंसा करने वाले लोग सावद्य व्यापार से वनस्पतिकाय का घात करते हैं। तथा वनस्पतिकाय का आरंभ करते हुए अन्य पृथ्वीकाय आदि अनेक प्रकार के तदाश्रित त्रस और स्थावर जीवों की घात करते हैं॥ सू० ७॥

અજ્ઞાની જીવ કર્મબંધ, મોહ, મરણ અને નરકરૂપ એ ફળોને પ્રાપ્ત કરીને પણ વાર-વાર એમા ગૃદ્ધ થાય છે અથવા ભોગના અભિલાષી પુરુષ આ ગ્રંથ, મોહ, મરણ અને નરક માટેજ પ્રવૃત્તિ કરે છે

લોક પુન પુન. (ફરી-ફરી) કર્મબંધ વગેરે માટેજ પ્રવૃત્તિ કરે છે; એ કથન જે કર્યું છે, તે કેવી રીતે જાણવામા આવ્યું? એ જીજ્ઞાસા થવાથી કહે છે 'यदिमम्' ઇત્યાદિ

કેમકે નાના પ્રકારના પૂર્વોક્ત શસ્ત્રો દ્વારા વનસ્પતિ કાયની હિંસા કરવાવાળા લોક સાવદ્ય વ્યાપારથી વનસ્પતિકાયનો ઘાત કરે છે, તથા વનસ્પતિકાયનો આરંભ કરતા થકા, અન્ય પૃથ્વીકાય આદિ અનેક પ્રકારના તદાશ્રિત ત્રસ અને સ્થાવર જીવોનો ઘાત કરે છે ॥ સૂ. ૭॥

इह=मनुष्यलोके एकेषां=श्रमणनिर्ग्रन्थोपदेशसजातसम्यग्बोधवैराग्यावामा-त्मार्थिनामेवं ज्ञातं=विदितं भवति। किं ज्ञातं भवतीत्याकाङ्क्षायामाह—'एष खलु०' इत्यादि ।

एषः=वनस्पतिशस्त्रसमारम्भः खलु=निश्चयेन ग्रन्थः=कर्मबन्धः, कारणे कार्यो-पचारात् कारणभूतो वनस्पतिशस्त्रसमारम्भ एव कर्मबन्धरूपो ग्रन्थ इत्युच्यते। एवमग्रेऽपि बोध्यम्। तथा-एष वनस्पतिशस्त्रसमारम्भः मोहः=विपर्यासः-अज्ञानम्। तथा-एष एव मारः=मरणं-निगोदादिमरणरूप । तथा-एष एव नरकः= नारकजीवानां दशविधयातनास्थानम् ।

इस मनुष्य लोक में जिन्हें श्रमण निर्ग्रंथों के उपदेश से सम्यग्ज्ञान और वैराग्य उत्पन्न हो गया है, उन्हीं को यह विदित होता है। क्या विदित होता है? इस शंका का समाधान करने के लिए आगे कहते हैं—' एष खलु ग्रन्थ० ' इत्यादि ।

वनस्पतिकाय का आरंभ निश्चय से ग्रंथ अर्थात् कर्मबंधरूप है। कारण में कार्य का उपचार करके आरंभ को कर्मबंध कहा है। वस्तुतः वह कर्मबंध का कारण है। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए।

वनस्पतिकाय का समारंभ मोह अर्थात् अज्ञान है—अज्ञानजनक है। यह मार है अर्थात् निगोद आदि में मृत्यु का कारण है। यह नरक है अर्थात् नारकी जीवों को दश प्रकार की यातना का कारण है।

આ મનુષ્યલોકમાં જેને નિર્ગ્રન્થોના ઉપદેશથી સમ્યગ્જ્ઞાન, અને વૈરાગ્ય ઉત્પન્ન થઈ ગયો છે તેઓ આ જાણે છે શું જાણે છે? એ શંકાનું સમાધાન કરવા માટે આગળ કહે છે, ' एष खलु ग्रन्थ० '-ઇત્યાદિ.

વનસ્પતિકાયનો આરંભ નિશ્ચય ગ્રંથ છે—અર્થાત્ કર્મબંધરૂપ છે, કારણમાં કાર્યનો ઉપચાર કરીને આરંભને કર્મબંધ કહે છે, વસ્તુતઃ તે કર્મબંધનું કારણ છે એ પ્રમાણે આગળ પણ સમજી લેવું જોઈએ.

વનસ્પતિકાયનો સમારંભ મોહ અર્થાત્ અજ્ઞાન છે—અજ્ઞાનજનક છે, તે માર છે, અર્થાત્ નિગોદ આદિમાં મૃત્યુનું કારણ છે તે નરક છે, અર્થાત્ નારકી જીવોને દશ પ્રકારની યાતનાઓનું કારણ છે

छिण्ण मिलाइ, इमपि आहारगं, एयपि आहारग, इमपि अणिच्चय एयपि अणिच्चय, इमंपि असासय एयंपि असासय, इमपि चओवचइय एयपि चओवचइय, इमंपि विपरिणामधम्मय एयपि विपरिणामधम्मय ॥ सू० ८ ॥

छाया—

स ब्रवीमि—इदमपि जातिधर्मकम् एतदपि जातिधर्मकम्, इदमपि वृद्धिधर्मकम् एतदपि वृद्धिधर्मकम्, इदमपि चित्तवत् एतदपि चित्तवत्, इदमपि छिन्नं म्लायति एतदपि छिन्न म्लायति, इदमपि आहारकम् एतदपि आहारकम्, इदमपि अनित्यकम् एतदपि अनित्यकम्, इदमपि अशाश्वतम् एतदपि अशाश्वतम्, इदमपि चयोपचयिकम् एतदपि चयोपचयिकम्, इदमपि विपरिणामधर्मकम् एतदपि विपरिणामधर्मकम् ॥ सू० ८ ॥

टीका—

येन साक्षाद्भगवन्मुखाद् वनस्पतेः सचेतनत्व श्रुत सोऽहं ब्रवीमि= यथा भगवता कथितं, तथा कथयामीत्यर्थ । प्रतिज्ञातमर्थं प्रदर्शयति-इदमपीत्यादि ।

यह भी आहारक है, यह भी आहारक है । यह भी अनित्य है, यह भी अनित्य है । यह भी अशाश्वत है, यह भी अशाश्वत है । यह भी चय—उपचय वाला है, यह भी चय—उपचय वाला है । यह भी विविध प्रकार से परिणमनशील है और यह भी विविध प्रकार से परिणमनशील है ॥ सू० ८ ॥

टीकार्थ—जिसने साक्षात् भगवान् के मुख से वनस्पतिकाय की सचेतनता सुनी है वही मैं कहता हूँ—जैसा भगवान् ने कहा है वैसा ही मैं कहता हूँ । यही बात कहते हैं—'इदमपि०' इत्यादि ।

પણ આહારક છે આ પણ અનિત્ય છે તે પણ અનિત્ય છે આ પણ અશાશ્વત છે, તે પણ અશાશ્વત છે આ પણ ચય—ઉપચયવાળા છે, તે પણ ચય—ઉપચયવાળા છે આ પણ વિવિધ પ્રકારથી પરિણમનશીલ છે, અને તે પણ વિવિધ પ્રકારથી પરિણમન શીલ છે ॥સૂ.૮॥

ટીકાર્થ—જેણે સાક્ષાત્ ભગવાનના મુખથી વનસ્પતિકાયની સચેતનતા સાંભળી છે તેજ હું કહું છું—જેવું ભગવાને કહ્યું છે, તેવું જ હું કહું છું, એ વાત કહે છે—'इदमपि' ઈત્યાદિ.

वनस्पतिकर्मसमारम्भफलप्रदर्शनपुरस्सरं वनस्पतिसमारम्भेऽनेकत्रसस्थावरजीव-हिंसाऽवश्यम्भाविनीति प्रदर्शितम्, सम्प्रति वनस्पतेः सचेतनत्वशङ्कायां तस्य मनुष्य-शरीरवत् सचेतनत्वमस्तीति प्रदर्शयति—' से बेमि ' इत्यादि ।

यद्वा—यथा मनुष्यशरीरे चैतन्यं सुगमं, तथा वनस्पतिकायेऽपि, तस्मात् वनस्पतेर्मनुष्यशरीरसादृश्यं दर्शयति सूत्रकारः—' से बेमि ' इत्यादि ।

मूलम्—

से बेमि-इमपि जाइधम्मयं एयपि जाइधम्मयं, इमपि वुड्ढिधम्मयं एयंपि वुड्ढिधम्मयं, इमंपि चित्तमंतयं एयपि चित्तमंतयं, इमंपि छिण्णं मिलाइ एयपि

वनस्पतिकाय के आरंभ का फल प्रगट करके यह भी प्रदर्शित कर दिया गया है कि—वनस्पतिकाय का आरंभ करने से अन्य त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा भी अवश्य होती है । अब वनस्पतिकाय के सचेतन होने में शंका होने पर उसकी मनुष्य शरीर के समान सचेतनता सूत्रकार प्रकट करते हैं—'से बेमि.' इत्यादि ।

अथवा—जैसे मनुष्यशरीर में चैतन्य को समझना सुगम है उसी प्रकार वनस्पतिकाय में भी । अत एव वनस्पति मनुष्यशरीर के समान है, यह बात सूत्रकार कहते हैं—'से बेमि ' इत्यादि ।

मूलार्थ—वह मैं कहता हूँ—यह (मनुष्यशरीर) जन्मशील है, वह (वनस्पतिशरीर) भी जन्मशील है । यह वृद्धिशील है, वह भी वृद्धिशील है । यह सचित्त है वह भी सचित्त है । छेदने पर यह मुरझा जाता है, वह भी छेदने पर मुरझा जाता है ।

વનસ્પતિકાયના આરંભનું ફળ પ્રગટ કરીને એ પણ પ્રદર્શિત કરી આપ્યું છે કે-વનસ્પતિકાયનો આરંભ કરવાથી અન્ય ત્રસ અને સ્થાવર જીવોની હિંસા પણ અવશ્ય થાય છે હવે વનસ્પતિકાયની સચેતનતા હોવામાં શંકા હોવાથી તેની સચેતના મનુષ્યશરીરની સચેતનતા સમાન સૂત્રકાર પ્રગટ કરે છે—' से बेमि ' ઈત્યાદિ

અથવા—જેમ મનુષ્ય શરીરમા ચૈતન્યને સમજવામા સુગમતા છે, તે પ્રમાણે વનસ્પતિકાયમાં પણ સુગમતા છે એ માટે વનસ્પતિ મનુષ્યશરીરના સમાન છે એ વાત સૂત્રકાર કહે છે –' से बेमि ' ઈત્યાદિ

મૂલાર્થ—તે હું કહું છુ—આ (મનુષ્ય શરીર) જન્મશીલ છે તે (વનસ્પતિ શરીર) પણ જન્મશીલ છે, આ વૃદ્ધિશીલ છે, તે પણ વૃદ્ધિશીલ છે, આ સચિત્ત છે-છેદવાથી તે સુકાઈ જાય છે, તે પણ છેદવાથી સુકાઈ જાય છે આ પણ આહારક છે, તે

युक्तम्, एतदपि=वनस्पतिशरीर चित्तवत्=चेतनावत्, लज्जालुधात्र्यादीनां सङ्कोच विकास-स्वापा-ववोधदर्शनात्। इदमपि=मनुष्यशरीरं हस्तादि छिन्नं सत् म्लायति=शुष्यति, एतदपि=वनस्पतिशरीरमपि पल्लवफलपुष्पादि छिन्नं सत् म्लायति=शुष्कं भवति। इदमपि आहारकम्=क्षीरौदनाद्याहारकरणशील, तथैव एतदपि=वनस्पतिशरीर भूजलाद्याहारभोजि, न चैतदाहारकत्वमचेतनानां दृष्टम्।

तथा इदमपि=मनुष्यशरीरम् अनित्यकम्= न सर्वदाऽवस्थायि, एतदपि वनस्पतिशरीरम् अनित्यकम् आयुषोऽवधिसत्त्वात्, वनस्पतिशरीरस्य हि उत्कृष्टमायुर्दशवर्षसहस्राणि। तथा-इदमपि=मनुष्यशरीरम् अशाश्वत=प्रतिक्षणमावीचीमर-

क्यों कि लज्जावती धात्री आदि वनस्पतियों में सकोच, विकास, स्वाप (निद्रा) और अववोध (जागना) देखा जाता है। हाथ आदि मनुष्यशरीर छेदने पर मुरझा जाता है उसी प्रकार पत्ता, फूल, फल आदिरूप वनस्पतिशरीर भी छेदने पर मुरझा जाता है। यह मनुष्यशरीर दूध और ओदन आदि का आहार करता है और वनस्पति शरीर भी पृथ्वी, जल आदि का आहार करता है। आहार करने कि क्रिया अचेतन में नहीं देखी जाती।

मनुष्यशरीर अनित्य है—सदा ठहरने वाला नहीं है, इसी प्रकार वनस्पतिशरीर भी अनित्य है, क्यों कि उसकी आयु की सीमा है। वनस्पतिशरीर की उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष की है।

मनुष्य शरीर अशाश्वत है—आवीचिमरण प्रतिक्षण होता रहता है, और वनस्पति

કેમકે લજ્જાવતી-(રીસામણી), ધાત્રી આદિ વનસ્પતિઓમાં સંકોચાવું, વિકાસ, નિદ્રા અને જાગવું જોવામાં આવે છે

હાથ-આદિ મનુષ્યશરીર છેદવાથી સૂકાઈ જાય છે તે પ્રમાણે પાંદડા, ફલ, ફૂલ આદિ રૂપ વનસ્પતિશરીર પણ છેદવાથી સૂકાઇ જાય છે આ મનુષ્યશરીર દૂધ અને ભાત વગેરેનો આહાર કરે છે, તેમ વનસ્પતિશરીર પણ પૃથ્વી, જલ આદિનો આહાર કરે છે, આહાર કરવાની ક્રિયા અચેતનમાં જોવામાં આવતી નથી.

મનુષ્ય શરીર અનિત્ય છે હમેશાં સ્થિર રહેવાવાળુ નથી, એ પ્રમાણે વનસ્પતિ શરીર પણ અનિત્ય છે કેમકે-તેની આયુષ્યની સીમા છે વનસ્પતિશરીરની ઉત્કૃષ્ટ આયુ દસ હજાર વર્ષની છે

મનુષ્યશરીર અશાશ્વત છે-આવીચિમરણ પ્રતિક્ષણ થતુ રહે છે, તેમ

इह पुरुषस्योपदेशयोग्यतया सामर्थ्येन सन्निहितत्वात्तच्छरीरं सन्निकृष्टत्वा-चिनेदम्शब्देन परामृश्यते। इदमपि मनुष्यशरीरं, यद्वा-सामान्यरूपेण त्रसकाये चैतन्यस्य सुज्ञेयत्वात् इदं=त्रसशरीरं, जातिधर्मकं-जातिः-जननं, तद्धर्मकं-जननस्वभावं, एतदपि=वनस्पतिशरीरमपि जातिधर्मकं=मनुष्यशरीरवद् वनस्पति शरीरमपि जननस्वभावकमस्तीत्यर्थः। तथा इदमपि मनुष्यशरीरं वृद्धिधर्मकं= बालकुमाराद्यवस्थामाश्रित्य वर्धनस्वभावम्, एतदपि वनस्पतिशरीरं अङ्कुरकिसलय पत्रस्कन्धशाखाप्रशाखादिना वर्धनशीलम्। इदमपि मनुष्यशरीरं चित्तवत्=चेतना

'इदम्' शब्द का प्रयोग समीपवर्ती वस्तु के लिए किया जाता है। मनुष्य ही उपदेश का पात्र है और उसका शरीर भी अत्यन्त समीप है अतः मनुष्य के शरीर को 'इदम्' शब्दद्वारा निर्दिष्ट किया गया है। अथवा त्रस जीव के शरीर में चैतन्य को समझना सुगम है, इस कारण 'इदम्' का अर्थ मनुष्यशरीर के बजाय त्रस जीव का शरीर समझ लेना चाहिए।

यह मनुष्यशरीर या त्रस जीव का शरीर उत्पन्न होने का स्वभाव वाला है, उसी प्रकार वनस्पति का शरीर भी उत्पन्न होने का स्वभाव वाला है। तथा मनुष्य शरीर वृद्धिशील है-बाल, कुमार आदि अवस्थाओं में बढता जाता है उसी प्रकार वनस्पति-शरीर भी अंकुर, किसलय, पत्र, स्कंध, शाखा और प्रशाखा आदि रूप से बढता जाता है। मनुष्यशरीर चेतनावान् है उसी प्रकार वनस्पति का शरीर भी चेतनावान् है,

---

'इदम्' शब्दनो प्रयोग समीपवर्ती वस्तु माटे करवामां आवे छे मनुष्यज उपदेशने पात्र छे, अने तेनुं शरीर अत्यन्त समीप छे ए कारणथी मनुष्यना शरीरने 'इदम्' शब्दद्वारा निर्दिष्ट कर्युं छे अथवा त्रस जीवना शरीरमां चैतन्यने समजवुं सुगम छे ए कारणथी 'इदम्'नो अर्थ मनुष्य शरीरना बदले त्रस जीवनुं शरीर समजी लेवुं जोईए

आ मनुष्यशरीर अथवा त्रसजीवनुं शरीर उत्पन्न थवाना स्वभाववाळुं छे, ते प्रमाणे वनस्पतिनुं शरीर पण उत्पन्न थवाना स्वभाववाळुं छे तथा मनुष्यशरीर वृद्धिशील छे-बाळकुमार, आदि अवस्थाओमां वधतुं जाय छे, ते प्रमाणे वनस्पतिशरीर पण अंकुर, किसलय-कुमळां, पान, पत्र, स्कंध, शाखा अने प्रशाखा आदिरूपथी वधे जाय छे, मनुष्यशरीर चेतनावान छे, ते प्रमाणे वनस्पतिनुं शरीर पण चेतनावान छे.

युक्तम्, एतदपि=वनस्पतिशरीर चित्तवत्=चेतनावत्, लज्जालुधात्र्यादीनां सकोच विकास-स्वापा-ववोधदर्शनात्। इदमपि=मनुष्यशरीर हस्तादि छिन्न सत् म्लायति= शुष्यति, एतदपि=वनस्पतिशरीरमपि पल्लवफलपुष्पादि छिन्न सत् म्लायति= शुष्क भवति। इदमपि आहारकम्=क्षीरोदनाद्याहारकरणशील, तथैव एतदपि= वनस्पतिशरीर भूजलाद्याहारभोजि, न चैतदाहारकत्वमचेतनानां दृष्टम्।

तथा इदमपि=मनुष्यशरीरम् अनित्यक= न सर्वदाऽवस्थायि, एतदपि वनस्पतिशरीरम् अनित्यकम् आयुषोऽवधिसत्त्वात्, वनस्पतिशरीरस्य हि उत्कृष्ट-मायुर्दशवर्षसहस्राणि। तथा-इदमपि=मनुष्यशरीरम् अशाश्वत=प्रतिक्षणमावीचीमर-

---

क्यों कि लज्जावती धात्री आदि वनस्पतियों में सकोच, विकास, स्वाप (निद्रा) और अवबोध (जागना) देखा जाता है। हाथ आदि मनुष्यशरीर छेदने पर मुरझा जाता है उसी प्रकार पत्ता, फूल, फल आदिरूप वनस्पतिशरीर भी छेदने पर मुरझा जाता है। यह मनुष्यशरीर दूध और ओदन आदि का आहार करता है और वनस्पति शरीर भी पृथ्वी, जल आदि का आहार करता है। आहार करने कि क्रिया अचेतन में नहीं देखी जाती।

मनुष्यशरीर अनित्य है—सदा ठहरने वाला नहीं है, इसी प्रकार वनस्पतिशरीर भी अनित्य है, क्यों कि उसकी आयु की सीमा है। वनस्पतिशरीर की उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष की है।

मनुष्य शरीर अशाश्वत है—आवीचिमरण प्रतिक्षण होता रहता है, और वनस्पति

કેમકે લજ્જાવતી-(રીસામણી), ધાત્રી આદિ વનસ્પતિઓમાં સંકોચવું, વિકાસ, નિદ્રા અને જાગવું જોવામાં આવે છે

હાથ-આદિ મનુષ્યશરીર છેદવાથી સૂકાઈ જાય છે તે પ્રમાણે પાંદડા, ફલ, ફૂલ આદિ રૂપ વનસ્પતિશરીર પણ છેદવાથી સૂકાઇ જાય છે આ મનુષ્યશરીર દૂધ અને ભાત વગેરેનો આહાર કરે છે, તેમ વનસ્પતિશરીર પણ પૃથ્વી, જલ આદિનો આહાર કરે છે, આહાર કરવાની ક્રિયા અચેતનમાં જોવામાં આવતી નથી.

મનુષ્ય શરીર અનિત્ય છે હમેશાં સ્થિર રહેવાવાળું નથી, એ પ્રમાણે વનસ્પતિ શરીર પણ અનિત્ય છે કેમકે-તેની આયુષ્યની સીમા છે વનસ્પતિશરીરની ઉત્કૃષ્ટ આયુ દસ હજાર વર્ષની છે

મનુષ્યશરીર અશાશ્વત છે-આવીચિમરણ પ્રતિક્ષણ થતું રહે છે, તેમ

णेन मरणात्, एतदपि=वनस्पतिशरीरम् अशाश्वत=प्रतिक्षणमरणशीलम् । यथा-इदमपि=मनुष्यशरीरं चयापचयिकम्=इष्टानिष्टाहारादिकं प्राप्य वृद्धिह्रासशीलम्, तथा-एतदपि=वनस्पतिशरीरं चयापचयिकम्=अनुकूल-प्रतिकूलजलवाय्वादिना वृद्धिह्रासस्वभावम् । यथा-इदमपि मनुष्यशरीरं विपरिणामधर्मकं=विविधपरिणामशीलम्, तत्तद्व्याधिवशाद् उदरवृद्धिपाण्डुकृशत्वादिरूप, रसायनस्नेहाद्युपचारवशाद् विशिष्टरूपबलोपचयादिरूप वा विविधपरिणामं प्राप्नोति तथा-एतदपि=वनस्पतिशरीरं विपरिणामधर्मकं=व्याधिवशात् पत्रपुष्पफलादीनां वर्णादिष्वन्यथाभावदर्शनात्, विशिष्टदोहदप्रदानेन कदाचित्तेषामुपचयदर्शनाद् विविधपरिणामशीलम् । यथा जननस्वभावादिधर्माणां समुदायः सचेतने मनुष्यशरीरे

शरीर भी अशाश्वत है-उसका भी प्रतिक्षण मरण होता है । मनुष्यशरीर इष्टानिष्ट आहार आदि को पाकर बढ़ता-घटता रहता है, उसी प्रकार वनस्पति का शरीर भी अनुकूल जल-वायु से बढ़ता और प्रतिकूल जल-वायु से घटता है । जैसे मनुष्यशरीर में नाना प्रकार के परिणमन होते हैं-विविध बीमारियों से उदर का बढ़ना, पाण्डु, कृशता आदि, तथा रसायन और घृत आदि के सेवन से विशिष्टरूप और बल की वृद्धि होती है, उसी प्रकार वनस्पति का शरीर भी विविध प्रकार के परिणमनवाला है-रोग होने पर वनस्पति के पत्ते, फूल, फल आदि और ही तरह के देखे जाते हैं, विशेष प्रकार का दोहद देने से कभी-कभी उन में उपचय भी होता है । इस प्रकार वनस्पति का शरीर भी विविध परिणमन वाला है । जननस्वभाव आदि धर्मों का समूह सचेतन मनुष्य शरीर में या त्रस

વનસ્પતિશરીર પણ અશાશ્વત છે-તેનું પણ પ્રતિક્ષણ મરણ થતું રહે છે મનુષ્ય શરીર ઇષ્ટાનિષ્ટ આહાર આદિથી વધતું ઘટતું રહે છે તે પ્રમાણે વનસ્પતિનું શરીર પણ અનુકૂલ જલ-વાયુથી વધે છે અને પ્રતિકૂળ જલવાયુથી ઘટે છે. જેમ મનુષ્યશરીરમાં નાના પ્રકારનું પરિણમન થાય છે, વિવિધ બિમારીઓથી પેટનું વધવું, પાડુરોગ, કૃશતા (દુબળાપણું) આદિ, તથા રસાયન અને ઘૃતઆદિના સેવનથી વિશિષ્ટરૂપ અને બલવૃદ્ધિ થાય છે, તે પ્રમાણે વનસ્પતિનું શરીર પણ વિવિધ પ્રકારના પરિણમન વાળું છે, રોગ થતાં વનસ્પતિના પાંદડાં, ફૂલ, ફલ આદિ જુદીજ જાતનાં દેખાય છે, વિશિષ્ટ પ્રકારના દોહદ દેવાથી કોઈ-કોઈ વખત તેમાં ઉપચય થાય છે, એ પ્રમાણે વનસ્પતિનું શરીર પણ વિવિધ પરિણમનવાળું છે જનનસ્વભાવ આદિ ધર્મોનો સમૂહ સચેતન મનુષ્યશરીરમાં અથવા ત્રસજીવના શરીરમાં જોવામાં આવે છે, તેજ પ્રમાણે

त्रसशरीरे वा वर्तते, तथा-वनस्पतिशरीरेऽपि, तस्माद् वनस्पतिकायं सचेतन इति निःसंशयं जानीहीति भावः ॥ सू० ८ ॥

एवं वनस्पतिकायस्य सचित्तत्वं विदित्वा मुनित्वमाप्तये त्रिकरणत्रियोगैस्तत्समारम्भो वर्जनीय इत्याशयेनाह—' एत्थ सत्थं ' इत्यादि ।

मूलम्—

एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवति, एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वणस्सइसत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं वणस्सइसत्थं समारभावेज्जा, णेवण्णे

जीव के शरीर में पाया जाता है, उसी प्रकार वनस्पति के शरीर में भी पाया जाता है । अत एव वनस्पतिकाय सचेतन है, यह बात नि संशय समझ लेना चाहिए ॥ सू० ८ ॥

इस प्रकार वनस्पतिकाय की सचित्तता जानकर साधुता प्राप्त करने के लिए तीन करण और तीन योग से वनस्पतिकाय का समारंभ त्यागना चाहिए । इस अभिप्राय से कहते हैं —' ' एत्थ सत्थं. ' इत्यादि ।

मूलार्थ—वनस्पतिकाय में शस्त्र का आरंभ करने वाले को ये आरंभ ज्ञात नहीं होते । वनस्पतिकाय में शस्त्र का आरंभ न करने वाले को ये आरंभ ज्ञात होते हैं । इन्हें जानकर बुद्धिमान् पुरुष न स्वयं वनस्पतिशस्त्र का आरंभ करे, न दूसरों से वनस्पति शस्त्र का आरंभ करावे और न वनस्पतिशस्त्र का आरंभ करने वाले दूसरों का अनुमोदन

વનસ્પતિના શરીરમાં પણ જેવામાં આવે છે એજ માટે વનસ્પતિકાય સચેતન છે, એ વાત સંદેહરહિત સમજી લેવી જોઇએ. ॥ ૮ ॥

એ પ્રમાણે વનસ્પતિકાયની સચિત્તતા જાણીને સાધુતા પ્રાપ્ત કરવા માટે ત્રણ કરણ અને ત્રણ યોગથી વનસ્પતિકાયનો સમારંભ ત્યજવો જોઇએ. એ અભિપ્રાયથી કહે છે —' एत्थ सत्थं ' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—વનસ્પતિકાયમાં શસ્ત્રનો આરંભ કરવાવાળાને આ આરંભ જાણવામાં નથી (અને) વનસ્પતિકાયમાં શસ્ત્રનો આરંભ નહિ કરવાવાળાને આ આરંભ જાણવામાં છે તેને જાણીને બુદ્ધિમાન્ પુરૂષ પોતે વનસ્પતિશસ્ત્રનો આરંભ કરતા નથી બીજાની પાસે વનસ્પતિનો આરંભ કરાવતા નથી અને વનસ્પતિશસ્ત્રનો આરંભ કરવાવાળા બીજાને અનુમોદન કરતા નથી. જે વનસ્પતિશસ્ત્રના સમારંભના જાણકાર

वणस्सइसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा । जस्सेते वणस्सइसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णायकम्मे-त्ति बेमि ॥ सू० ९ ॥

छाया-अत्र शस्त्र समारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः अपरिज्ञाता भवन्ति । अत्र शस्त्रमसमारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाता भवन्ति. तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं वनस्पतिशस्त्रं समारभेत, नैवान्यैर्वनस्पतिशस्त्रं समारम्भयेत्, वनस्पतिशस्त्रं समारभमाणान् अन्यान् न समनुजानीयात् । यस्यैते वनस्पतिशस्त्रसमारम्भाः परिज्ञाता भवन्ति, स खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा, इति ब्रवीमि ॥ सू० ९ ॥

टीका-अत्र=अस्मिन् वनस्पतिकाये, शस्त्र=पूर्वोक्तप्रकारं, समारभमाणस्य= व्यापारयतः, इत्येते=पूर्वोक्ता त्रिकरण-त्रियोगैः आरम्भाः=वनस्पतिकायोपमर्दनरूपाः सावद्यव्यापाराः अपरिज्ञाताः=कर्मबन्धकारणत्वेनानवगता भवन्ति । अत्र=अस्मिन्नेव वनस्पतिकाये शस्त्र=प्रागुक्तप्रकारम् असमारभमाणस्य=अप्रयुञ्जानस्य इत्येते=पूर्वोक्ता आरम्भाः=सावद्यव्यापारा परिज्ञाता भवन्ति=ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाता भवन्ति, प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिवर्जिता भवन्तीत्यर्थः ।

ज्ञपरिज्ञापूर्विका प्रत्याख्यानपरिज्ञा यथा भवति तं प्रकारं दर्शयति

करे । जो वनस्पतिशस्त्र के समारंभ का ज्ञाता है वही मुनि है, वही परिज्ञातकर्मा है । ऐसा मैं कहता हूं ॥ सू० ९ ॥

टीकार्थ—वनस्पतिकाय के विषय में पूर्वोक्त प्रकार से शस्त्र का उपयोग करने वाले को पूर्वोक्त-तीन करण तीन योग से होने वाले वनस्पति की हिंसारूप सावद्य व्यापार-अज्ञात होते हैं, अर्थात् वह नहीं जानता कि-इन व्यापारों से कर्म का बंध होता है । जो वनस्पतिकाय के विषय में पूर्वोक्त शस्त्रों का प्रयोग नहीं करता वह पूर्वोक्त सावद्य व्यापारों का ज्ञाता होता है । वह ज्ञपरिज्ञा से इन्हें जानता है और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग देता है । ज्ञपरिज्ञा के पश्चात् ही प्रत्याख्यानपरिज्ञा किस प्रकार होती है सो दिखलाते हैं—

છે, તેજ મુનિ છે, તેજ પરિજ્ઞાતકર્મા છે એ પ્રમાણે હું કહું છું ॥ સૂ૦ ૯ ॥

ટીકાર્થ—વનસ્પતિકાયના વિષયમાં પૂર્વોક્ત પ્રકારથી શસ્ત્રનો ઉપયોગ કરવાવાળાને પૂર્વોક્ત (આગળ કહેલા) ત્રણ કરણ-ત્રણ યોગથી થવાવાળી વનસ્પતિની હિંસારૂપ સાવદ્ય વ્યાપાર અજ્ઞાત હોય છે, અર્થાત્ તેને જાણવામાં નથી કે આ વ્યાપારોથી કર્મનો બંધ થાય છે

જે વનસ્પતિકાયના વિષયમાં પૂર્વોક્ત સાવદ્ય વ્યાપારોના જ્ઞાતા હોય છે તે જ્ઞપરિજ્ઞાથી તેને જાણે છે અને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞાથી ત્યાગ કરી દે છે

જ્ઞપરિજ્ઞાની પછીજ પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા કેવા પ્રકારે હોય છે તે બતાવે છે—

'तत् परिज्ञाये' त्यादि । तद्=वनस्पतिकायारम्भण, परिज्ञाय=कर्मबन्धस्य कारणं भवतीत्यवगत्य, मेधावी=हेयोपादेयविवेकनिपुणः, नैव स्वय वनस्पतिशस्त्र समारमेत=व्यापारयेत्, अन्यैर्वा नैव वनस्पतिशस्त्र समारम्भयेत्, वनस्पतिशस्त्र समारभमाणान् न समनुजानीयात्=नानुमोदयेत् । शेष सुगमम् ।

यस्यैते वनस्पतिकर्मसमारम्भा'=वनस्पतिं निमित्तीकृत्य कर्मकारणीभूता' सावद्यव्यापाराः परिज्ञाताः=ज्ञपरिज्ञया बन्धकारणत्वेन विदिता , प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहृता भवन्ति, स एव परिज्ञातकर्मा=त्रिकरणत्रियोगै परिवर्जितसकलसावद्यव्यापार , मुनिर्भवति । 'इति ब्रवीमि'=इति=एतत्सर्वम् , ब्रवीमि=भगवतः समीपे यथा श्रुत तथा कथयामीत्यर्थः ॥ सू० ९ ॥

॥ इत्याचाराङ्गसूत्रस्याचारचिन्तामणिटीकायां प्रथमाध्ययने पञ्चमोद्देशकः सपूर्णः ॥

वनस्पतिकाय के आरभ को कर्मबध का कारण जानकर हेय–उपादेय का विवेक रखनेवाला बुद्धिमान् पुरुप स्वय वनस्पतिकाय का आरभ न करे, दूसरों से आरभ न करावे और आरंभ करने वालों का अनुमोदन न करे । शेप सब सुगम है । वनस्पतिकाय के आरभ के निमित्त से होने वाले सावद्य व्यापारों को जिसने ज्ञपरिज्ञा से कर्मबंध का कारण जान लिया है और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग दिया है, वह तीन करण तीन योग से समस्त सावद्यों का त्यागी ही मुनि होता है । सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं–हे जम्बू ! जैसा भगवान् के समीप मैंने सुना है, वैसा ही यह सब मैं कहता हूँ ॥ सू० ९ ॥

॥ श्री आचाराङ्गसूत्रकी 'आचारचिन्तामणि' टीकाके हिन्दी अनुवाद में प्रथम अध्ययनका पाँचवाँ उद्देश समाप्त ॥ १–५ ॥

વનસ્પતિકાયના આરભને કર્મબધનુ કારણ જાણીને હેય–ઉપાદેયનો વિવેક રાખવાવાળા બુદ્ધિમાન્ પુરૂષ પોતે વનસ્પતિકાયનો આરભ કરતા નથી, બીજા પાસે આરભ કરાવતા નથી, અને આરભ કરવાવાળાને અનુમોદન આપતા નથી. શેષ–બાકી સર્વ સુગમ છે

વનસ્પતિકાયના આરભના નિમિત્તથી થવાવાળા સાવદ્ય વ્યાપારોને જેણે જ્ઞપરિજ્ઞાથી કર્મબધનુ કારણ જાણી લીધુ છે અને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞાથી ત્યજી આપ્યા છે તે ત્રણ કરણ ત્રણ યોગથી સમસ્ત સાવદ્યોના ત્યાગીજ મુનિ હોય છે સુધર્માસ્વામી જમ્બૂસ્વામીને કહે છે–હે જમ્બૂ! જેવુ ભગવાનની સમીપ મે સાભળ્યું છે, તેવુજ આ સર્વ હું કહું છુ ॥સૂ૦ ૯॥

શ્રી આચારાગસૂત્રની 'आचारचिन्तामणि' ટીકાના ગુજરાતી અનુવાદમા પ્રથમ અધ્યયનનો પાચમો ઉદ્દેશક સમાપ્ત. ॥૧–૫॥

॥ अथ षष्ठोद्देशः ॥

अनन्तरपञ्चमोद्देशके वनस्पतिकायस्वरूपं निरूपितम् । अधुना क्रमप्राप्त त्रसकायस्वरूपप्रतिबोधनार्थमथ षष्ठ उद्देशकः प्रस्तूयते । इयं हि शैली भगवद्देशनायाः, यद्-वनस्पतिकायानन्तर त्रसकायप्रतिबोधनम्, सर्वस्मिन्नागमे तथैव भगवद्देशनायाः सत्त्वात् । एतत् समीचीनमपि, मनुष्यशरीरदृष्टान्तोपन्यासेन वनस्पतेः सचेतनत्वं साध्यते, तत्र वनस्पतिकायस्वरूपविज्ञानानन्तर मनुष्यस्वरूप जिज्ञासमानस्य शिष्यस्य प्रतिबोधनाय तस्य त्रसकायान्तर्गतत्वेन त्रसकायोद्देशकथनस्यौचित्यात् । त्रसकाय स्वरूपं वक्तुमनाः श्री सुधर्मास्वामी कथयति-'से बेमि ' इत्यादि ।

छठा उद्देश

पिछले पाँचवें उद्देश में वनस्पतिकाय का स्वरूप निरूपण किया गया है अब क्रम से प्राप्त त्रसकाय का स्वरूप बतलाने के लिए छठा उद्देश कहते हैं ।

भगवान् के उपदेश की यही शैली है कि वनस्पतिकाय के अनन्तर त्रसकाय का स्वरूप समझाया जाता है । तब आगमों में भगवान् का उपदेश इसी प्रकार है । यह ठीक भी है, क्यों कि मनुष्य के शरीर का दृष्टान्त देकर वनस्पति की सचित्तता सिद्ध की है तो वनस्पतिकाय के स्वरूप के पश्चात् मनुष्य का स्वरूप जानने की इच्छा रखने वाले शिष्य के प्रतिबोध के लिए त्रसकाय का स्वरूप समझना चाहिए, क्यों कि मनुष्य भी त्रसकाय के अन्तर्गत है । त्रसकाय का स्वरूप कहने की इच्छा रखने वाले श्री सुधर्मा स्वामी अगला सूत्र कहते हैं-'से बेमि ' इत्यादि ।

छठ्ठो उद्देश—

પાછળના પાંચમા ઉદ્દેશમાં વનસ્પતિકાયના સ્વરૂપનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું છે હવે ક્રમથી પ્રાપ્ત ત્રસકાયના સ્વરૂપને બતાવવા માટે છઠ્ઠા ઉદ્દેશને કહે છે

ભગવાનના ઉપદેશની એજ શૈલી છે કે -વનસ્પતિકાયની પછી ત્રસકાયનું સ્વરૂપ સમજાવવામાં આવે છે સવ આગમોમાં ભગવાનનો ઉપદેશ આ પ્રમાણે છે, અને તે ઠીક પણ છે, કેમકે મનુષ્યના શરીરનું દૃષ્ટાન્ત આપીને વનસ્પતિની સચિત્તતા સિદ્ધ કરી છે, તો વનસ્પતિકાયના સ્વરૂપ પછી મનુષ્યસ્વરૂપ જાણવાની ઈચ્છા રાખવાવાળા શિષ્યના પ્રતિબોધ માટે ત્રસકાયનું સ્વરૂપ સમજાવવું જોઈએ, કારણકે મનુષ્ય પણ ત્રસકાયની અન્તર્ગત છે ત્રસકાયના સ્વરૂપને કહેવાની ઇચ્છા રાખવાવાળા શ્રી સુધર્મા સ્વામી આગળનું સૂત્ર કહે છે-'से बेमि ' ઈત્યાદિ

मूलम्—

से बेमि संतिमे तसा पाणा, तंजहा-अंडया, पोयया, जराउया, रसया, संसेयया, संमुच्छिमा, उब्भियया, उववाइया, एस संसारेत्ति पवुच्चइ मंदस्स अवियाणओ ॥ सू० १ ॥

छाया—

स ब्रवीमि, सन्तीमे त्रसाः प्राणाः, तद्यथा-अण्डजाः, पोतजाः, जरायुजाः, रसजा, संस्वेदजाः, सम्मूर्च्छिमाः (संमूर्च्छनजा) उद्भिज्जाः, औपपातिकाः (उपपातजाः)। एष संसार इति प्रोच्यते मन्दस्य अविजानतः ॥ सू० १ ॥

टीका—

येन भगवद्वदनारविन्दनिर्गतसकलार्थाः सम्यगवधारिताः, सोऽहं ब्रवीमि= यथा भगवन्मुखाच्छ्रुतं तथा कथयामीत्यर्थः ।

त्रसाः प्राणा इमे सन्तीत्यन्वयः । त्रसाः -त्रस्यन्ति-त्रसनामकर्मोदयात् तापाऽऽद्युपतप्ताच्छायाऽऽदिकं प्रत्यभिसर्पन्तीति त्रसाः=द्वीन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियपर्यन्ताः ।

मूलार्थ—वह मैं कहता हूँ—ये त्रस प्राणी हैं, जैसे—अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, समूर्छित, उद्भिज्ज और औपपातिक (उपपातज)। मंद एवं अज्ञानी के लिए यह संसार कहा गया है ॥ सू० १ ॥

टीकार्थ—जिसने भगवान् के मुखकमल से निकले हुए समस्त जीवादि स्वरूपों को भली भाँति समझ लिया है ऐसा मैं कहता हूँ, अर्थात् हे जम्बू ! भगवान के मुख से जैसा मैंने सुना है वैसा तुझे कहता हूँ ।

त्रसनामकर्म के उदय से ताप आदि से पीडित होकर छाया वगैरह की ओर जाने वाले द्वीन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक के जीव त्रस कहलाते हैं। इन में द्वीन्द्रिय जीव के स्पर्शन

મૂલાર્થ—તે હું કહું છું—એ ત્રસ પ્રાણી છે જેમ-અંડજ, પોતજ, જરાયુજ, રસજ, સસ્વેદજ, સમૂર્છિમ, ઉદ્ભિજ અને ઔપપાતિક (ઉપપાતજ) મંદ અને અજ્ઞાનીઓ માટે આ સંસાર કહેવામાં આવ્યો છે ॥સૂ૦ ૧॥

ટીકાર્થ—જેણે ભગવાનના મુખકમલથી નીકળેલા સમસ્ત જીવાદિ સ્વરૂપોના અર્થને રૂડી રીતે સમજી લીધા છે, એવો હું કહું છું, અર્થાત્ હે જમ્બૂ! ભગવાનના મુખથી જેવું મે સાંભળ્યું છે તેવુંજ તને કહું છું

ત્રસનામકર્મના ઉદયથી તાપ વગેરેથી પીડા પામીને છાયા વિગેરેની પાસે જવાવાળા દ્વીન્દ્રિય, (બે ઇન્દ્રિય) જીવથી લઇને પાંચ ઇન્દ્રિયવાળા જીવો સુધી સર્વ ત્રસ

॥ अथ षष्ठोदेशः ॥

अनन्तरपञ्चमोद्देशके वनस्पतिकायस्वरूपं निरूपितम् । अधुना क्रमप्राप्त त्रसकायस्वरूपप्रतिबोधनार्थमयं षष्ठ उद्देशकः प्रस्तूयते । इयं हि शैली भगवद्देशनायाः, यद्-वनस्पतिकायानन्तरं त्रसकायप्रतिबोधनम्, सर्वस्मिन्नागमे तथैव भगवद्देशनायाः सत्त्वात् । एतत् समीचीनमपि, मनुष्यशरीरदृष्टान्तोपन्यासेन वनस्पतेः सचेतनत्वं साध्यते, तत्र वनस्पतिकायस्वरूपविज्ञानानन्तरं मनुष्यस्वरूपं जिज्ञासमानस्य शिष्यस्य प्रतिबोधनाय तस्य त्रसकायान्तर्गतत्वेन त्रसकायोद्देशकथनस्यौचित्यात् । त्रसकायस्वरूपं वक्तुमनाः श्री सुधर्मास्वामी कथयति-'से बेमि' इत्यादि ।

छठा उद्देश

पिछले पाँचवें उद्देश में वनस्पतिकाय का स्वरूप निरूपण किया गया है अब क्रम से प्राप्त त्रसकाय का स्वरूप बतलाने के लिए छठा उद्देश कहते हैं ।

भगवान् के उपदेश की यही शैली है कि वनस्पतिकाय के अनन्तर त्रसकाय का स्वरूप समझाया जाता है । सब आगमों में भगवान् का उपदेश इसी प्रकार है । यह ठीक भी है, क्यों कि मनुष्य के शरीर का दृष्टान्त देकर वनस्पति की सचित्तता सिद्ध की है तो वनस्पतिकाय के स्वरूप के पश्चात् मनुष्य का स्वरूप जानने की इच्छा रखने वाले शिष्य के प्रतिबोध के लिए त्रसकाय का स्वरूप समझना चाहिए, क्यों कि मनुष्य भी त्रसकाय के अन्तर्गत है । त्रसकाय का स्वरूप कहने की इच्छा रखने वाले श्री सुधर्मा स्वामी अगला सूत्र कहते हैं -'से बेमि ' इत्यादि ।

છઠ્ઠો ઉદ્દેશ—

પાછળના પાંચમા ઉદ્દેશમાં વનસ્પતિકાયના સ્વરૂપનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું છે હવે ક્રમથી પ્રાપ્ત ત્રસકાયના સ્વરૂપને બતાવવા માટે છઠ્ઠા ઉદ્દેશને કહે છે

ભગવાનના ઉપદેશની એજ શૈલી છે કે -વનસ્પતિકાયની પછી ત્રસકાયનું સ્વરૂપ સમજાવવામાં આવે છે સર્વ આગમોમાં ભગવાનનો ઉપદેશ આ પ્રમાણે છે, અને તે ઠીક પણ છે, કેમકે મનુષ્યના શરીરનું દ્રષ્ટાન્ત આપીને વનસ્પતિની સચિત્તતા સિદ્ધ કરી છે, તો વનસ્પતિકાયના સ્વરૂપ પછી મનુષ્યસ્વરૂપ જાણવાની ઈચ્છા રાખવાવાળા શિષ્યના પ્રતિબોધ માટે ત્રસકાયનું સ્વરૂપ સમજવવું જોઈએ, કારણકે મનુષ્ય પણ ત્રસકાયની અન્તર્ગત છે ત્રસકાયના સ્વરૂપને કહેવાની ઇચ્છા રાખવાવાળા શ્રી સુધર્મા સ્વામી આગળનું સૂત્ર કહે છે-'से बेमि ' ઈત્યાદિ

तद्योगादभिसन्धिपूर्वकदेशान्तरप्राप्तिलक्षणक्रियायुक्तत्वात् द्वीन्द्रियादय एव लब्धि-त्रसा उच्यन्ते। तेजोवायवः किल न त्रसनामकर्मोदयनिर्वृत्ताः, किन्तु स्थावरनाम-कर्मोदयनिर्वृत्तत्वाल्लब्धितः स्थावरा एव; तथाप्यत्र द्वीन्द्रियादयो लब्धित्रसा एव परिगृह्यन्ते, न तु गतित्रसाः, अग्निकायानां प्रागेव चतुर्थोद्देशे प्रतिबोधितत्वात्, वायुकायानामग्रे वक्ष्यमाणत्वाच्च।

यत्तु "लब्ध्या तेजोवायू त्रसौ, लब्धिस्तच्छक्तिमात्रं लब्धित्रसानामि-हाधिकारो नास्ति, तेजसोऽभिहितत्वाद् वायोश्चाभिधास्यमानत्वात्, अतः सामर्थ्यात् गतित्रसा एवाधिक्रियन्ते" इति कैश्चिदुक्तं, तत् प्रामादिकम्,

---

त्रसता प्राप्त होती है। इस लब्धि से इरादापूर्वक गतिक्रिया द्वीन्द्रिय आदि में ही पाई जाती है, अत एव उन्हें लब्धित्रस कहते हैं। तेजस्काय और वायुकाय में त्रसनाम-कर्म का उदय नहीं होता। उन में स्थावरनामकर्म का उदय है, अत लब्धि की अपेक्षा ये दोनों स्थावर ही हैं। फिर भी यहाँ द्वीन्द्रिय आदि लब्धित्रस जीवों का ग्रहण करना चाहिए, गतित्रस जीवों का नहीं, क्यों कि अग्निकायिक जीवों का चौथे उद्देश में पहले ही वर्णन किया जा चुका है और वायुकाय का आगे वर्णन किया जायगा।

किसी ने कहा है—"लब्धि की अपेक्षा तेजस्काय और वायुकाय त्रस हैं। लब्धि सिर्फ शक्ति को ही कहते हैं। यहाँ लब्धित्रस जीवों का प्रकरण नही है, क्यों कि अग्निकाय का कथन किया जा चुका है और वायुकाय का कथन आगे किया जायगा, अत सामर्थ्य से गतित्रस ही यहाँ ग्रहण करने योग्य हैं"। यह कथन प्रमादपूर्ण है,

---

પ્રાપ્ત છે એ લબ્ધિથી ઇચ્છાપૂર્વક ગતિ કરવાની ક્રિયા દ્વીન્દ્રિયાદિમાંજ જોવામાં આવે છે, એટલા માટે તેને લબ્ધિત્રસ કહે છે તેજસ્કાય અને વાયુકાયમાં ત્રસનામકર્મનો ઉદય નથી, તેનામા સ્થાવરનામકર્મનો ઉદય છે તેથી લબ્ધિના અપેક્ષાએ એ બન્ને સ્થાવર જ છે ફરીને પણ અહિં દ્વીન્દ્રિય આદિ લબ્ધિત્રસ જીવોનુ જ ગ્રહણ કરવું જોઈએ, ગતિત્રસ જીવોનું નહિ. કારણકે અગ્નિકાયિક જીવોનુ ચોથા ઉદ્દેશકમા પ્રથમ વર્ણન કરવામા આવી ગયું છે, અને વાયુકાયનુ આગળ ઉપર વર્ણન કરવામા આવશે

કોઇએ કહ્યું કે—"લબ્ધિની અપેક્ષા તેજસ્કાય અને વાયુકાય ત્રસ છે—લબ્ધિ, માત્ર શક્તિનેજ કહે છે અહિં લબ્ધિત્રસ જીવોનુ પ્રકરણ નથી. કારણકે અગ્નિકાયનુ વિવેચન તો કરી દેવામા આવ્યુ છે, અને વાયુકાયનુ વિવેચન આગળ કરવામા આવશે. તેથી સામર્થ્યથી ગતિત્રસનુ જ અહિં ગ્રહણ કરવું યોગ્ય છે' આ કથન પ્રમાદપૂર્ણ છે

तत्र द्वीन्द्रियाणां स्पर्शनरसनरूपे द्वे इन्द्रिये, त्रीन्द्रियाणां स्पर्शनरसनघ्राणरूपाणि त्रीणीन्द्रियाणि, चतुरिन्द्रियाणा स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुरूपाणि चत्वारोन्द्रियाणि, पञ्चेन्द्रियाणा स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्ररूपाणि पञ्चेन्द्रियाणि सन्ति ।

यद्यपि–त्रस्यन्ति=अभिसन्धिपूर्वकमनभिसन्धिपूर्वकं वा ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु चलन्तीति व्युत्पत्त्या द्वीन्द्रियादयस्तथाऽग्निकाया वायुकाया अपि त्रसा उच्यन्ते। त्रसानां हि द्वौ भेदौ मुख्यतः स्तः–गतितो लब्धितश्च। तत्र गतिः=क्रिया चलनं, देशान्तरप्राप्ति, स्वभावतोऽनभिसन्धिपूर्वक–तद्योगादग्निकाया वायुकायाश्च त्रसा भवन्तीति गतित्रसा उच्यन्ते। लब्धिस्तु त्रसनामकर्मोदये सति भवति,

और रसना ये दो इन्द्रियाँ होती हैं। तीनइन्द्रियवालो के स्पर्शन, रसना और घ्राण, ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं। चतुरिन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु, ये चार इन्द्रियाँ होती हैं। पंचेन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसना घ्राण, चक्षु और श्रोत्ररूप पाँच इन्द्रियाँ होती हैं।

जो जीव इरादापूर्वक या विना ही इरादे के, ऊपर नीचे या तिरछे चलते हैं वे त्रस जीव हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार द्वीन्द्रिय आदि तथा अग्निकाय और वायु भी त्रस कहलाते हैं। मुख्यरूप से त्रस जीवों के दो भेद हैं–(१) गतित्रस और (२) लब्धित्रस। गति कहिए अथवा क्रिया, चलना अथवा एक देश से दूसरे देश में पहुँचना कहिए। विना इरादे के यह गतिक्रिया मौजूद होने के कारण अग्निकाय और वायुकाय भी त्रस हैं। उन्हें गतित्रस कहते हैं। त्रसनाकर्म का उदय होने पर लब्धि

કહેવાય છે દ્વીન્દ્રિય જીવોને સ્પર્શન (ચામડી) અને રસના (જીભ) આ બે ઇન્દ્રિયો હોય છે ત્રીન્દ્રિયોને ચામડી, જીભ અને નાસિકા રૂપ ત્રણ ઇન્દ્રિયો હોય છે ચતુરિન્દ્રિય જીવોને ચામડી, જીભ, નાસિકા અને નેત્ર, આ ચાર ઇન્દ્રિયો હોય છે પંચેન્દ્રિય જીવોને ચામડી, જીભ, નાસિકા, નેત્ર અને શ્રોત્ર–કાન રૂપ પાચ ઇન્દ્રિયો હોય છે

જે જીવ ઇચ્છાપૂર્વક અથવા ઇચ્છા વિના ઉપર, નીચે અથવા તિરછા ચાલે છે તે ત્રસ જીવ છે આ વ્યુત્પત્તિ અનુસાર દ્વીન્દ્રિય આદિ તથા અગ્નિકાય અને વાયુકાય પણ ત્રસ કહેવાય છે મુખ્યરૂપથી ત્રસ જીવોના બે ભેદ છે–(૧) ગતિત્રસ (૨) લબ્ધિત્રસ. ગતિ કહો અથવા ક્રિયા કહો તે એકજ છે ચાલવું અથવા એક દેશથી બીજા દેશમાં પહોંચવુ કહો. વિના ઇચ્છાથી આ ગતિ કરવાની ક્રિયા હાજર હોવાથી અગ્નિકાય અને વાયુકાય પણ ત્રસ છે તેને ગતિત્રસ કહે છે. ત્રસનામકર્મનો ઉદય હોવાથી લબ્ધિત્રસતા

इह सर्वेषां त्रसजीवानामष्टविधं जन्म प्रतिबोधितम्, एतदेव सम्मूर्च्छनगर्भोपपातेषु समावेश्य त्रिविधं जन्मेत्यपि शास्त्रेऽभिहितम्। सन्तीत्यनेन त्रसानामप्यस्तित्वं त्रिकालवर्तीति बोध्यते। मन्दस्य=कुशास्त्रवासनायुक्तस्य, अत एव-अविजानतः= हिताहितविवेकरहितस्य, एष'=अण्डजादिसमुदाय' संसार' प्रोच्यते, अष्टविधत्रसकाये कुशास्त्रवासनावत' पुन पुनरुत्पत्तिरूप ससरण भवतीति स एषः ससारो निगद्यत इत्यर्थः।

अथ त्रसकायस्य सम्यग्ज्ञानार्थं लक्षणाद्यष्टद्वाराणि निरूपणीयानि। तत्र लक्षण प्ररूपणा-परिमाण-शस्त्रो-पभोग-वेदना-द्वाराणि यथाक्रमं प्रदर्श्यन्ते, अव-शिष्ट-वध-निवृत्ति-द्वारद्वय पृथिवीकायोद्देशे यथाऽभिहित तथैवावगन्तव्यम्।

यहाँ सभी त्रस जीवों का आठ प्रकार का जन्म बतलाया गया है। इसे सम्मूर्छन, गर्भ और उपपात में समाविष्ट कर देने से तीन प्रकार का जन्म शास्त्र में बतलाया है। 'संति' इस पद द्वारा त्रस जीवों का त्रिकालवर्ती अस्तित्व सूचित किया गया है। मन्द अर्थात् मिथ्याशास्त्रों के संस्कार से प्रभावित, अत एव हित-अहित के विवेक से शून्य पुरुष के लिए अण्डज आदि का समूहरूप ससार कहा गया है। आठ प्रकार के त्रसकाय में मिथ्याशास्त्रों के सस्कार वाले का पुन पुन' जन्म-मरणरूप ससरण होता है। यही ससरण संसार कहलाता है।

त्रसकाय का समीचीन ज्ञान प्राप्त करने के लिए लक्षण आदि आठ द्वारों का निरूपण करना चाहिए। इन में से लक्षण, प्ररूपणा, परिमाण, शस्त्र उपभोग और वेदना द्वार क्रम से बतलाते हैं। वध और निवृत्ति द्वार जैसे पृथ्वीकाय के उद्देश में कहे हैं वैसे ही यहाँ समझ लेने चाहिए।

અહિ સર્વ ત્રસ જીવોનો આઠ પ્રકારનો જન્મ બતાવ્યો છે તેને સમૂર્છન, ગર્ભ અને ઉપપાતમા સમાવેશ કરી દેવાથી ત્રણ પ્રકારનો જન્મ શાસ્ત્રમાં બતાવ્યો છે 'સતિ' આ પદ દ્વારા ત્રસ જીવોનુ ત્રિકાલવર્તી અસ્તિત્વ સૂચિત કરવામા આવ્યુ છે મદ અર્થાત્ મિથ્યાશાસ્ત્રોના સસ્કારથી પ્રભાવિત, એવ હિત અહિતના વિવેકથી શૂન્ય પુરૂષ માટે અડજ આદિના સમૂહરૂપ સસાર કહેવામાં આવ્યો છે આઠ પ્રકારના ત્રસકાયમાં મિથ્યાશાસ્ત્રોના સસ્કારવાળાઓનું પુન પુન જન્મ-મરણ રૂપ સસરણ થાય છે એજ સસરણ તે સસાર કહેવાય છે

ત્રસકાયનું સારૂં જ્ઞાન પ્રાપ્ત કરવા માટે લક્ષણ આદિ આઠ દ્વારોનુ નિરૂપણ કરવું જોઈએ, તેમાંથી લક્ષણ, પ્રરૂપણા, પરિમાણ શસ્ત્ર, ઉપભોગ અને વેદના દ્વાર ક્રમથી બતાવે છે, વધ અને નિવૃત્તિ દ્વાર જેવી રીતે પૃથ્વીકાયના ઉદ્દેશમા કહ્યાં છે તેવી રીતેજ અહિં સમજી લેવા જોઈએ.

लब्धित्रसानां गतित्रसत्वेनाङ्गीकारात्। गतित्रसानां लब्धित्रसत्वाभावात्, द्वीन्द्रियादीनां गतित्रसत्वेन शास्त्रेऽनङ्गीकाराच्च ।

प्राणाः=प्राणिनः, इमे=प्रत्यक्षतोऽवगम्याः, यद्वा-वक्ष्यमाणप्रकारकाः सन्ति । ते यथा-(१) अण्डजाः=अण्डाज्जाताः-पक्षिगृहकोकिलादयः, (२) पोतजाः=पोता एव जायन्त इति पोतजाः-हस्तिवल्गुलीचर्मजलूकादयः, (३) जरायुजाः=जरायुर्गर्भवेष्टनचर्म, तत्र जाता-गोमहिष्यजा, विकमनुष्यादयः, (४) रसजाः=विकृतरसाज्जाताः, (५) संस्वेदजाः=संस्वेदाज्जाताः-मत्कुणयूकादयः, (६) संमूर्छिमाः=संमूर्छनजाः मक्षिकापिपीलिकाशलभादयः, (७) उद्भिज्जाः=उद्भेदनम् उद्भित्, तस्माज्जाताः पतङ्गखञ्जरीटादयः, (८) औपपातिकाः=उपपाते भवाः देवनार-

क्यों कि लब्धित्रसों को गतित्रसरूप में अंगीकार किया गया है। मगर गतित्रस लब्धित्रस नहीं हो सकते। द्वीन्द्रिय आदि में गति का सद्भाव है अतः शास्त्र में ऐसा अंगीकार नहीं किया गया।

त्रस प्राणी इस प्रकार हैं-(१) अण्डज-अंडों से उत्पन्न होने वाले पक्षी, गृहकोकिला आदि। (२) पोतज-पोतरूप पैदा होने वाले हाथी, वल्गुली, चर्मजलूक आदि। (३) जरायुज-गर्भ जिस से लिपटा रहता है वह पतली चमड़ी जरायु कहलाती है, उस से उत्पन्न होने वाले गाय, भैंस, बकरी, मनुष्य आदि जरायुज कहलाते हैं। (४) रसज-विकृत रस में पैदा हो जाने वाले, (५) संस्वेदज-पसीने से पैदा होने वाले खटमल, जूं आदि। (६) सम्मूर्च्छिम-मक्खी, कीड़ी, शलभ आदि। (७) उद्भिज्ज-उद्भेदन से उत्पन्न होने वाले पतंग, खञ्जरीट आदि। (८) औपपातिक-देव और नारकी।

કારણ કે લબ્ધિત્રસોને ગતિત્રસનાં રૂપમા અંગીકાર કરવામાં આવ્યો છે, પરન્તુ ગતિત્રસ લબ્ધિત્રસ થઈ શકતા નથી. દ્વીન્દ્રિય આદિમાં ગતિનો સદ્ભાવ છે, તેથી શાસ્ત્રમાં એ પ્રમાણે અંગીકાર કરવામાં આવ્યો નથી

ત્રસ પ્રાણી આ પ્રમાણે છે-(૧) અંડજ-ઈંડાથી ઉત્પન્ન થવાવાળાં પક્ષી, ગૃહકોકિલા (ગરોળી) આદિ (૨) પોતજ-પોતરૂપ પેદા થવાવાળા હાથી, વલ્ગુલી, ચર્મજલૂક (જળો) આદિ. (૩) જરાયુજ-ગર્ભ જેનાથી વિંટાએલું રહે તે પાતળી ચામડી જરાયુ કહેવાય છે તેમાં ઉત્પન્ન થવાવાળા ગાય, ભેંસ, બકરી, મનુષ્ય આદિ જરાયુજ કહેવાય છે (૪) રસજ-વિકૃતરસમા પેદા થવાવાળા (૫) સંસ્વેદજ-પરસેવાથી પેદા થવાવાળા માકડ, જૂ આદિ (૬) સમૂર્છિમ-માખી, કીડી, તીડ આદિ (૭) ઉદ્ભિજ્જ-ઉદ્ભેદનથી ઉત્પન્ન થવાવાળા પતંગ, ખંજરીટ આદિ. (૮) ઔપપાતિક-દેવ અને નારકી.

इह सर्वेषां त्रसजीवानामष्टविधं जन्म प्रतिबोधितम्एतदेव समूर्च्छनगर्भोपपातेषु समावेश्य त्रिविध जन्मेत्यपि शास्त्रेऽभिहितम्। सन्तीत्यनेन त्रसानामप्यस्तित्वं त्रिकालवर्तीति बोध्यते। मन्दस्य=कुशास्त्रवासनायुक्तस्य, अत एव-अविजानत'= हिताहितविवेकरहितस्य, एषः=अण्डजादिसमुदाय संसार' प्रोच्यते, अष्टविधत्रसकाये कुशास्त्रवासनायत' पुनः पुनरुत्पत्तिरूप ससरण भवतीति स एष' ससारो निगद्यत इत्यर्थः।

अथ त्रसकायस्य सम्यग्ज्ञानार्थं लक्षणाद्यष्टद्वाराणि निरूपणीयानि। तत्र लक्षण प्ररूपणा-परिमाण-शस्त्रो-पभोग-वेदना-द्वाराणि यथाक्रमं प्रदर्श्यन्ते, अवशिष्ट-वध-निवृत्ति-द्वारद्वय पृथिवीकायोद्देशे यथाऽभिहित तथैवावगन्तव्यम्।

यहाँ सभी त्रस जीवों का आठ प्रकार का जन्म बतलाया गया है। इसे समूर्छन, गर्भ और उपपात में समाविष्ट कर देने से तीन प्रकार का जन्म शास्त्र में बतलाया है। 'संति' इस पद द्वारा त्रस जीवों का त्रिकालवर्ती अस्तित्व सूचित किया गया है। मन्द अर्थात् मिथ्याशास्त्रों के संस्कार से प्रभावित, अत एव हित-अहित के विवेक से शून्य पुरुष के लिए अण्डज आदि का समूहरूप ससार कहा गया है। आठ प्रकार के त्रसकाय में मिथ्याशास्त्रों के सस्कार वाले का पुन पुन' जन्म-मरणरूप ससरण होता है। यही ससरण संसार कहलाता है।

त्रसकाय का समीचीन ज्ञान प्राप्त करने के लिए लक्षण आदि आठ द्वारों का निरूपण करना चाहिए। उन में से लक्षण, प्ररूपणा, परिमाण, शस्त्र उपभोग और वेदना द्वार क्रम से बतलाते हैं। वध और निवृत्ति द्वार जैसे पृथ्वीकाय के उद्देश में कहे हैं वैसे ही यहाँ समझ लेने चाहिए।

અહિં સર્વ ત્રસ જીવોના આઠ પ્રકારનો જન્મ બતાવ્યો છે તેને સમૂર્છન, ગર્ભ અને ઉપપાતમાં સમાવેશ કરી દેવાથી ત્રણ પ્રકારનો જન્મ શાસ્ત્રમાં બતાવ્યો છે 'સંતિ' આ પદ દ્વારા ત્રસ જીવોનુ ત્રિકાલવર્તી અસ્તિત્વ સૂચિત કરવામા આવ્યુ છે મંદ અર્થાત્ મિથ્યાશાસ્ત્રોના સંસ્કારથી પ્રભાવિત, એવ હિત અહિતના વિવેકથી શૂન્ય પુરૂષ માટે અંડજ આદિના સમૂહરૂપ સંસાર કહેવામાં આવ્યો છે આઠ પ્રકારના ત્રસકાયમાં મિથ્યાશાસ્ત્રોના સંસ્કારવાળાઓનું પુન પુન જન્મ-મરણ રૂપ સંસરણ થાય છે એજ સંસરણ તે સંસાર કહેવાય છે

ત્રસકાયનું સાચું જ્ઞાન પ્રાપ્ત કરવા માટે લક્ષણ આદિ આઠ દ્વારોનુ નિરૂપણ કરવું જોઈએ, તેમાંથી લક્ષણ, પ્રરૂપણા, પરિમાણ, શસ્ત્ર, ઉપભોગ અને વેદના દ્વાર ક્રમથી બતાવે છે, વધ અને નિવૃત્તિ દ્વાર જેવી રીતે પૃથ્વીકાયના ઉદ્દેશમા કહ્યાં છે તેવી રીતેજ અહિં સમજી લેવા જોઈએ

लक्षणद्वारम्—

सुखदुःखेच्छाद्वेषादिकं चेतनलक्षणं त्रसकाये परिस्पष्टमस्ति। अस्य सचेतनत्वे विवादो नास्ति केषाञ्चित् अस्य व्यक्तोच्छ्वासादिलक्षणप्राणयोगात्। अपरञ्च—

त्रसकायस्य लक्षणं शास्त्रे नवविधं प्रज्ञप्तम् यथा–(१) अभिक्रमणम्, (२) प्रतिक्रमणम्, (३) सङ्कोचनम्, (४) प्रसारणम्, (५) रुतम्, (६) भ्रमणम्, (७) त्रसनम्, (८) पलायनम्, (९) आगतिगतिविज्ञानम्, इति॥

अभिक्रमणं=प्रज्ञापकं प्रत्यभिमुखं क्रमणम्, प्रतिक्रमणं=प्रज्ञापकात् प्रतिकूलं क्रमणम्। सङ्कोचनम्=गात्रसङ्कोचकरणम्, प्रसारणं=गात्रविततकरणम्,

लक्षणद्वार—

सुख, दुःख, इच्छा और द्वेष आदि चेतना के लक्षण त्रसकाय में स्पष्ट मालूम होते हैं। इस की सचेतनता में किसी को भी विवाद नहीं है। प्रकट उच्छ्वास आदि प्राण होने के कारण त्रस जीव प्राणी हैं।

शास्त्र में त्रसकाय का लक्षण नव प्रकार से बतलाया गया है। जैसे—(१) अभिक्रमण (२) प्रतिक्रमण (३) सङ्कोचन (४) प्रसारण (५) रुत (६) भ्रमण (७) त्रसन–त्रास पाना (८) पलायन–भागना और (९) गति–आगति का ज्ञान। प्रज्ञापक की अपेक्षा से सामने आना अभिक्रमण है। प्रज्ञापक की अपेक्षा से प्रतिकूल जाना–पीछे लौटना प्रतिक्रमण है। शरीर को सिकोड़ना सङ्कोचन है। शरीर को फैलाना

લક્ષણદ્વાર—

સુખ, દુઃખ, ઇચ્છા અને દ્વેષ આદિ ચેતનાનું લક્ષણ ત્રસકાયમાં સ્પષ્ટ માલૂમ પડે છે, તેની ચેતનતામાં કોઈને પણ વિવાદ–વાંધો નથી. પ્રગટ ઉચ્છ્વાસ આદિ પ્રાણ હોવાના કારણથી ત્રસ જીવ પ્રાણી છે

શાસ્ત્રમાં ત્રસકાયના લક્ષણો અનેક પ્રકારે બતાવવામાં આવ્યાં છે જેમકે—(૧) અભિક્રમણ, (૨) પ્રતિક્રમણ, (૩) સંકોચન, (૪) પ્રસારણ, (૫) રૂત, (૬) ભ્રમણ, (૭) ત્રસન–ત્રાસ પામવો, (૮) પલાયન–ભાગવું અને (૯) ગતિ–આગતિનું જ્ઞાન. પ્રજ્ઞાપકની અપેક્ષાથી સામે જવું તે અભિક્રમણ છે પ્રજ્ઞાપકની અપેક્ષાથી પ્રતિકૂલ જવું–પાછા ફરવું તે પ્રતિક્રમણ છે શરીરને સંકોડવું તે સંકોચન છે શરીરને ફેલાવવું તે પ્રસારણ છે

रुत=शब्दकरणम्, भ्रान्तम्=इतश्चेतश्च गमनम्, त्रसनम्=दुःखादुद्वेजनम्, पलायितम्=पलायनम्, आगते: कुतश्चित्कचित्, गतेश्च कुतश्चित् कचिदेव च विज्ञानम्। उक्तञ्चैतद्भगवता दशवैकालिकसूत्रे -

"जेसिं केसिंचि पाणाण अभिक्कंत पडिक्कंत संकुचिय पसारिय रुय भंत तसिय पलाइय आगइगइविण्णाया" ॥ १ ॥ इति ।

प्ररूपणाद्वारम्—

त्रसकायाश्चतुर्विधा –द्वीन्द्रिय – त्रीन्द्रिय – चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियभेदात् । इहैव प्रथमोद्देशके लोकवादिप्रकरणे त्रसानां भेदप्रभेदा प्ररूपिता'। विस्तरतो

प्रसारण है। बोलना रुत कहलाता है। इधर-उधर जाना भ्रमण है। दुःख से उद्वेग पाना त्रसन है। भागने को पलायन कहते हैं। एक जगह से दूसरी जगह आने-जाने का विज्ञान आगतिगतिविज्ञान कहलाता है।

भगवान् ने दशवैकालिक सूत्र में कहा है —

"जिन किन्हीं प्राणियों में अभिक्रमण, संकोचन, प्रसारण, रुत, भ्रमण, त्रसन, पलायन और आगतिगतिका विज्ञान (पाया जाता है वे सब त्रस जीव हैं।)"

प्ररूपणाद्वार—

त्रसकाय के चार भेद हैं-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। इसी शास्त्र के पहले उद्देश के अन्दर लोकवादी प्रकरण में त्रस जीवों के भेद-प्रभेद कहे हैं। विस्तार से जानने के इच्छुक वहीं से जान लेवें। इस सूत्र में भगवान् ने

બોલવુ તે રૂત કહેવાય છે અહીં-તહીં જવુ તે ભ્રમણ છે દુ ખથી ઉદ્વેગ પામવુ તે ત્રસન છે ભાગવુ તેને પલાયન કહે છે એક જગ્યાથી બીજી જગ્યાએ આવવા-જવાનુ વિજ્ઞાન તે આગતિગતિવિજ્ઞાન કહેવાય છે

ભગવાને દશવૈકાલિક સૂત્રમાં કહ્યું છે:-

"જે કોઈ પ્રાણીઓમા અભિક્રમણ, પ્રતિક્રમણ, સંકોચન, પ્રસારણ, રુત, ભ્રમણ, ત્રસન, પલાયન અને આગતિ-ગતિનું વિજ્ઞાન (જોવામાં આવે છે તે સર્વ ત્રસ જીવ છે)"

પ્રરૂપણાદ્વાર—

ત્રસ કાયના ચાર ભેદ છે:-દ્વીન્દ્રિય, ત્રીન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય અને પંચેન્દ્રિય. આજ શાસ્ત્રના પ્રથમના ઉદ્દેશમાં લોકવાદીપ્રકરણમા ત્રસજીવોના ભેદ-પ્રભેદ બતાવ્યા છે, વિસ્તારથી

जिज्ञासुभिस्तत एवावगन्तव्याः । अस्मिन् सूत्रेऽपि भगवता-अण्डजपोतजादिभेदाः प्रदर्शितास्तेऽपि तत्रैव समाविष्टाः ॥

परिमाणद्वारम्—

क्षेत्रतः संवर्तितलोकप्रतरासंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणाः त्रसकायपर्याप्तकाः । एते च बादरतेजस्कायपर्याप्तकेभ्योऽसंख्येयगुणाः, त्रसकायपर्याप्तकेभ्यस्त्रसकायिकाऽपर्याप्तकाः असंख्येयगुणाः ।

तथा कालतः प्रत्युत्पन्नत्रसकायिकाः सागरोपमलक्षपृथक्त्वसमयराशिपरिमाणा जघन्यपदे, उत्कृष्टपदेऽपि सागरोपमलक्षपृथक्त्वपरिमाणा एवेति । तथा चागमः—

अण्डज और पोतज आदि जो भेद बतलाये हैं, ये सब भी उन्हीं में अन्तर्गत हो जाते हैं ।

परिमाणद्वार-

त्रसकाय के पर्याप्त जीव क्षेत्र की अपेक्षा संवर्तित लोकप्रतर के असंख्यातवें भागवर्ती प्रदेशों की राशि के बराबर हैं । ये बादर तेजस्काय पर्याप्त जीवों से असंख्यातगुणा हैं । पर्याप्त त्रसकायिक जीवों की अपेक्षा अपर्याप्त त्रस जीव असंख्यातगुणा हैं । काल की अपेक्षा जघन्यपद में प्रत्युत्पन्न त्रस जीव एक लाख से नौ लाख तक के सागरोपम की समय-राशि के बराबर हैं और उत्कृष्ट पद में भी एक लाख से नौ लाख तक के सागरोपम की समयराशि के बराबर ही हैं । आगम में भी कहा है—

જાણવાની ઇચ્છાવાળા ત્યાંથી જાણી લે આ સૂત્રમાં ભગવાને-અંડજ અને પોતજ આદિના જે ભેદ બતાવ્યા છે, તે સર્વનો તેમાં સમાવેશ થઈ જાય છે

પરિમાણદ્વાર—

ત્રસકાયના પર્યાપ્તજીવ ક્ષેત્રની અપેક્ષા સંવર્તિત લોકપ્રતરના અસંખ્યાતમા ભાગવર્તી પ્રદેશોની રાશિના બરાબર છે તે બાદર તેજસ્કાય પર્યાપ્ત જીવોથી અસંખ્યાત ગણા છે પર્યાપ્ત ત્રસકાયિક જીવોની અપેક્ષા અપર્યાપ્ત ત્રસજીવ અસંખ્યાત ગણા છે

કાલની અપેક્ષા જઘન્યપદમાં પ્રત્યુત્પન્ન ત્રસજીવ એકલાખ થી નવલાખ સુધીના સાગરોપમની સમય-રાશિના બરાબર છે અને ઉત્કૃષ્ટ પદમાં પણ એક લાખથી નવલાખ સુધીના સાગરોપમની સમય-રાશિના બરાબર જ છે આગમમાં પણ કહ્યું છેઃ-

" पडुप्पन्ना तसकाइया केवइकालस्स निल्लेवा सिया ? गोयमा ! जहण्णपए सागरोवमसयसहस्सपुहत्तस्स, उक्कोसपएवि सागरोवमसयसहस्सपुहत्तस्स" ॥ इति ।

विरहापेक्षया त्रसानां निष्क्रमणमुपपातश्च जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा भवन्ति, उत्कृष्टतस्तु प्रतरस्यासंख्येयभागप्रदेशपरिमाणाः । त्रसेषु जीवानां नैरन्तर्येणोत्पत्तिर्निष्क्रमो वा जघन्येनैकं समयं द्वौ समयौ त्रीन् वा समयान् भवति । उत्कृष्टतस्त्वावलिकाया असंख्येयभागपरिमितं कालं सततमेवोत्पत्तिर्निष्क्रमो वा भवति । नैरन्तर्येणैकजीवस्यावस्थानं तु जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं त्रसकाये भवति, तदनु स पृथिव्याद्येकेन्द्रियेषु समुत्पद्यते । उत्कृष्टतः सातिरेकं सागरोपमसहस्रद्वयं सततं नैरन्तर्येण त्रसकाये तिष्ठति । तत'

" पत्युत्पन्न त्रसकायिक जीव कितने काल के बराबर हैं ? गौतम ! जघन्य पद में एक लाख से नौ लाख तक के सागरोपम के बराबर और उत्कृष्ट पद में भी इतने ही हैं" ।

विरह की अपेक्षा त्रस जीवों का निष्क्रमण और उपपात जघन्य एक, दो या तीन हैं, और उत्कृष्ट प्रतर के असंख्यातवें भागवर्ती प्रदेशों के बराबर है । त्रसकाय में जीवों की निरन्तर उत्पत्ति या च्यवन जघन्य एक समय, दो समय, तीन समयतक है । उत्कृष्ट आवलिका के असंख्यातवें भाग परिमित काल तक निरन्तर उत्पत्ति और च्यवन होता रहता है । निरन्तर एक जीव की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक त्रसकाय में होती है और उसके बाद वह पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय में उत्पन्न होता है । उत्कृष्ट कुछ अधिक दो हजार सागरोपमतक निरन्तर त्रसकाय में ठहर सकता है । तत्पश्चात्

"પ્રત્યુત્પન્ન ત્રસકાયિક જીવ કેટલા કાલની બરાબર છે? ગૌતમ! જઘન્ય પદમા એક લાખથી નવલાખ સુધીના સાગરોપમની બરાબર અને ઉત્કૃષ્ટ પદમા પણ એટલા જ છે"

વિરહની અપેક્ષા ત્રસ જીવોનું નિષ્ક્રમણ અને ઉપપાત જઘન્ય એક, બે અથવા ત્રણ છે અને ઉત્કૃષ્ટ પ્રતરના અસંખ્યાતમા ભાગવર્તી પ્રદેશોની બરાબર છે ત્રસકાયમાં જીવોની નિરતર ઉત્પત્તિ અથવા નિષ્ક્રમણ (ચ્યવન) જઘન્ય એક સમય, બે સમય અથવા ત્રણ સમય સુધી છે ઉત્કૃષ્ઠ આવલિકાના અસખ્યાતમા ભાગ પરિમિત કાલ સુધી નિરતર ઉત્પત્તિ અને નિષ્ક્રમણ (નિકળવું) થતુ રહે છે નિરતર એક જીવની સ્થિતિ જઘન્ય અન્તમુહૂર્ત સુધી ત્રસકાયમા હોય છે અને તે પછી તે પૃથ્વીકાય આદિ એકેન્દ્રિયમા ઉત્પન્ન થાય છે ઉત્કૃષ્ટ કાંઈક અધિક બે હજાર સાગરોપમ સુધી

जिज्ञासुभिस्तत एवावगन्तव्याः । अस्मिन् सूत्रेऽपि भगवता–अण्डजपोतजादिभेदाः प्रदर्शितास्तेऽपि तत्रैव समाविष्टाः ॥

परिमाणद्वारम्—

क्षेत्रत सवर्तितलोकप्रतरासंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणाः त्रसकायपर्याप्तकाः । एते च बादरतेजस्कायपर्याप्तकेभ्योऽसंख्येयगुणाः, त्रसकायपर्याप्तकेभ्यस्त्रसकायिकाऽपर्याप्तकाः असंख्येयगुणाः ।

तथा कालतः प्रत्युत्पन्नत्रसकायिकाः सागरोपमलक्षपृथक्त्वसमयराशिपरिमाणा जघन्यपदे, उत्कृष्टपदेऽपि सागरोपमलक्षपृथक्त्वपरिमाणा एवेति । तथा चागमः—

अण्डज और पोतज आदि जो भेद बतलाये हैं, ये सब भी उन्हीं में अन्तर्गत हो जाते हैं ।

परिमाणद्वार–

त्रसकाय के पर्याप्त जीव क्षेत्र की अपेक्षा सवर्तित लोकप्रतर के असंख्यातवें भागवर्ती प्रदेशों की राशि के बराबर हैं । ये बादर तेजस्काय पर्याप्त जीवों से असंख्यातगुणा हैं । पर्याप्त त्रसकायिक जीवों की अपेक्षा अपर्याप्त त्रस जीव असंख्यातगुणा हैं । काल की अपेक्षा जघन्यपद में प्रत्युत्पन्न त्रस जीव एक लाख से नौ लाख तक के सागरोपम की समय–राशि के बराबर हैं और उत्कृष्ट पद में भी एक लाख से नौ लाख तक के सागरोपम की समयराशि के बराबर ही हैं । आगम में भी कहा है—

જાણવાની ઇચ્છાવાળા ત્યાંથી જાણી લે આ સૂત્રમાં ભગવાને–અંડજ અને પોતજ આદિના જે ભેદ બતાવ્યા છે, તે સર્વનો તેમાં સમાવેશ થઈ જાય છે

પરિમાણદ્વાર—

ત્રસકાયના પર્યાપ્તજીવ ક્ષેત્રની અપેક્ષા સવર્તિત લોકપ્રતરના અસંખ્યાતમા ભાગવર્તી પ્રદેશોની રાશિના બરાબર છે તે બાદર તેજસ્કાય પર્યાપ્ત જીવોથી અસંખ્યાત ગણા છે પર્યાપ્ત ત્રસકાયિક જીવોની અપેક્ષા અપર્યાપ્ત ત્રસજીવ અસંખ્યાત ગણા છે

કાલની અપેક્ષા જઘન્યપદમાં પ્રત્યુત્પન્ન ત્રસજીવ એકલાખ થી નવલાખ સુધીના સાગરોપમની સમય–રાશિના બરાબર છે અને ઉત્કૃષ્ટ પદમાં પણ એક લાખથી નવલાખ સુધીના સાગરોપમની સમય–રાશિના બરાબર જ છે આગમમાં પણ કહ્યું છેઃ-

"पडुप्पन्ना तसकाइया केवइकालस्स निल्लेवा सिया ? गोयमा ! जहन्नपए सागरोवमसयसहस्सपुहत्तस्स, उक्कोसपए वि सागरोवमसयसहस्सपुहत्तस्स" ॥ इति ।

विरहापेक्षया त्रसानां निष्क्रमणमुपपातश्च जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा भवन्ति, उत्कृष्टतस्तु प्रतरस्यासङ्ख्येयभागप्रदेशपरिमाणाः । त्रसेषु जीवानां नैरन्तर्येणोत्पत्तिर्निष्क्रमो वा जघन्येनैकं समयं द्वौ समयौ त्रीन् वा समयान् भवति । उत्कृष्टतस्त्वावलिकाया असङ्ख्येयभागपरिमितं कालं सततमेवोत्पत्तिर्निष्क्रमो वा भवति। नैरन्तर्येणैकजीवस्यावस्थानं तु जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं त्रसकाये भवति, तदनु स पृथिव्याद्येकेन्द्रियेषु समुत्पद्यते । उत्कृष्टतः सातिरेकं सागरोपमसहस्रद्वयं सततं नैरन्तर्येण त्रसकाये तिष्ठति । ततः

"पत्युत्पन्न त्रसकायिक जीव कितने काल के बराबर हैं ? गौतम ! जघन्य पद में एक लाख से नौ लाख तक के सागरोपम के बराबर और उत्कृष्ट पद में भी इतने ही हैं"।

विरह की अपेक्षा त्रस जीवों का निष्क्रमण और उपपात जघन्य एक, दो या तीन हैं, और उत्कृष्ट प्रतर के असङ्ख्यातवें भागवर्ती प्रदेशों के बराबर है। त्रसकाय में जीवों की निरन्तर उत्पत्ति या च्यवन जघन्य एक समय, दो समय, तीन समयतक है। उत्कृष्ट आवलिका के असंख्यातवें भाग परिमित काल तक निरन्तर उत्पत्ति और च्यवन होता रहता है। निरन्तर एक जीव की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक त्रसकाय में होती है और उसके बाद वह पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय में उत्पन्न होता है। उत्कृष्ट कुछ अधिक दो हजार सागरोपमतक निरन्तर त्रसकाय में ठहर सकता है। तत्पश्चात्

'પ્રત્યુત્પન્ન ત્રસકાયિક જીવ કેટલા કાલની બરાબર છે ? ગૌતમ ! જઘન્ય પદમાં એક લાખથી નવલાખ સુધીના સાગરોપમની બરાબર અને ઉત્કૃષ્ટ પદમા પણ એટલા જ છે"

વિરહની અપેક્ષા ત્રસ જીવોનું નિષ્ક્રમણ અને ઉપપાત જઘન્ય એક, બે અથવા ત્રણ છે અને ઉત્કૃષ્ટ પ્રતરના અસંખ્યાતમા ભાગવર્તી પ્રદેશોની બરાબર છે ત્રસકાયમાં જીવોની નિરંતર ઉત્પત્તિ અથવા નિષ્ક્રમણ (ચ્યવન) જઘન્ય એક સમય, બે સમય અથવા ત્રણ સમય સુધી છે ઉત્કૃષ્ટ આવલિકાના અસંખ્યાતમા ભાગ પરિમિત કાલ સુધી નિરંતર ઉત્પત્તિ અને નિષ્ક્રમણ (નિકળવું) થતુ રહે છે નિરંતર એક જીવની સ્થિતિ જઘન્ય અન્તર્મુહૂર્ત સુધી ત્રસકાયમા હોય છે અને તે પછી તે પૃથ્વીકાય આદિ એકેન્દ્રિયમાં ઉત્પન્ન થાય છે ઉત્કૃષ્ટ કાંઈક અધિક બે હજાર સાગરોપમ સુધી

जिज्ञासुभिस्तत एवावगन्तव्याः । अस्मिन् सूत्रेऽपि भगवता-अण्डजपोतजादिभेदाः प्रदर्शितास्तेऽपि तत्रैव समाविष्टाः ॥

परिमाणद्वारम् —

क्षेत्रतः संवर्तितलोकप्रतरासंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणाः त्रसकायपर्याप्तकाः । एते च बादरतेजस्कायपर्याप्तकेभ्योऽसंख्येयगुणाः, त्रसकायपर्याप्तकेभ्यस्त्रसकायिकाऽपर्याप्तकाः असंख्येयगुणाः ।

तथा कालतः प्रत्युत्पन्नत्रसकायिकाः सागरोपमलक्षपृथक्त्वसमयराशिपरिमाणाः जघन्यपदे, उत्कृष्टपदेऽपि सागरोपमलक्षपृथक्त्वपरिमाणा एवेति । तथा चागमः —

अण्डज और पोतज आदि जो भेद बतलाये हैं, ये सब भी उन्हीं में अन्तर्गत हो जाते हैं।

परिमाणद्वार-

त्रसकाय के पर्याप्त जीव क्षेत्र की अपेक्षा संवर्तित लोकप्रतर के असंख्यातवें भागवर्ती प्रदेशों की राशि के बराबर हैं। ये बादर तेजस्काय पर्याप्त जीवों से असंख्यातगुणा हैं। पर्याप्त त्रसकायिक जीवों की अपेक्षा अपर्याप्त त्रस जीव असंख्यातगुणा हैं। काल की अपेक्षा जघन्यपद में प्रत्युत्पन्न त्रस जीव एक लाख से नौ लाख तक के सागरोपम की समय-राशि के बराबर हैं और उत्कृष्ट पद में भी एक लाख से नौ लाख तक के सागरोपम की समयराशि के बराबर ही हैं। आगम में भी कहा है—

જાણવાની ઇચ્છાવાળા ત્યાંથી જાણી લે આ સૂત્રમાં ભગવાને-અંડજ અને પોતજ આદિના જે ભેદ બતાવ્યા છે, તે સર્વનો તેમાં સમાવેશ થઈ જાય છે

પરિમાણદ્વાર—

ત્રસકાયના પર્યાપ્તજીવ ક્ષેત્રની અપેક્ષા સંવર્તિત લોકપ્રતરના અસંખ્યાતમા ભાગવર્તી પ્રદેશોની રાશિના બરાબર છે તે બાદર તેજસ્કાય પર્યાપ્ત જીવોથી અસંખ્યાત ગણા છે પર્યાપ્ત ત્રસકાયિક જીવોની અપેક્ષા અપર્યાપ્ત ત્રસજીવ અસંખ્યાત ગણા છે

કાલની અપેક્ષા જઘન્યપદમાં પ્રત્યુત્પન્ન ત્રસજીવ એકલાખ થી નવલાખ સુધીના સાગરોપમની સમય-રાશિના બરાબર છે અને ઉત્કૃષ્ટ પદમાં પણ એક લાખથી નવલાખ સુધીના સાગરોપમની સમય-રાશિના બરાબર જ છે આગમમાં પણ કહ્યું છે-

निध्याय=मनसा समालोच्य, प्रतिलेख्य=विलोक्य सम्यग् विज्ञायेत्यर्थ', ब्रवीमि=कथयामि–सर्वेषां प्राणानां=प्राणा' सन्ति येषा ते प्राणा.=प्राणिनस्तेषां, सर्वेषां भूतानाम्=उत्पत्तिशीलानाम्, सर्वेषां जीवानां=कालत्रये जीवनाद् चैतन्यस्वरूपाणामित्यर्थ., सर्वेषां सत्त्वानां=सर्वदाऽस्तित्ववताम्, त्रसजीवानाम्, यद्वा–सर्वेषामित्यस्य पुनः पुनरुपादानेन स्थावरा अपि गृह्यन्ते, तेन त्रसानां स्थावराणां च जीवानामित्यर्थ'। परिनिर्वाण=सुख, प्रत्येकम्=एकैक पृथक् पृथगस्ति ।

शब्दव्युत्पत्त्या विभिन्नार्थबोधकत्वात् प्राणभूतादिशब्दानामुच्चारण न पुनरुक्तिदोष' । 'निज्झाइत्ता' 'पडिलेहित्ता' इति पदद्वयेन जीवानां पुन' पुनरनुसन्धान प्रतिलेखन च सूचितम्, तदेव पुन' पुनर्विधेयतया प्रतिबोधनार्थं

स्वरूप मन से विचार करके तथा सम्यक् प्रकार से जानकर कहता हूँ । सभी प्राणियों का सभी भूतों अर्थात् उत्पत्तिशील जीवों का, सभी जीवों (त्रिकाल में जीवित रहने वालों) का और सभी सत्त्वों (सदा अस्तित्व वाले त्रस जीवों) का, अथवा बार–बार 'सव्वेसिं' पदका प्रयोग करने के कारण यह अर्थ लेना चाहिए कि–सभी त्रस और स्थावर जीवों का सुख पृथक्–पृथक् है ।

शब्दशास्त्र की दृष्टि से भिन्न–भिन्न अर्थ के बोधक प्राण, भूत आदि शब्दों का उच्चारण करने पर भी पुनरुक्ति दोष नहीं है । अथवा प्राण भूत आदि शब्दों को एक ही अर्थ का वाचक मान लिया जाय तो भी पुनरुक्तिदोष नहीं है । 'निज्झाइत्ता' 'पडिलेहित्ता' इन दो पदों द्वारा जीवों का पुन पुन विचार एवं प्रतिलेखन सूचित किया है । उसी को पुनः पुन विधेयरूप से समझाने के लिए

આદિ સમસ્ત જીવોનું સ્વરૂપ મનથી વિચાર કરીને તથા સમ્યક્ પ્રકારે જાણીને કહું છુ–સર્વ પ્રાણીઓનું, સર્વ ભૂતોનું અર્થાત્ ઉત્પત્તિશીલ જીવોનું, સર્વ જીવો (ત્રણ કાલ જીવિત રહેવાવાળા)નું, અને સર્વ સત્વો–(સર્વદા અસ્તિત્વવાળા ત્રસ જીવો)નું, અથવા વારવાર 'સવ્વેસિં' પદનો પ્રયોગ કરવાના કારણે એ અર્થ લેવો જોઇએ કે–સર્વ ત્રસ અને સ્થાવર જીવોનું સુખ પૃથક્–પૃથક્ છે

શબ્દશાસ્ત્રની દૃષ્ટિથી ભિન્ન–ભિન્ન અર્થના બોધક પ્રાણ–ભૂત આદિ શબ્દોનું ઉચ્ચારણ કરવાથી પણ પુનરૂક્તિ દોષ આવતો નથી અથવા પ્રાણભૂત આદિ શબ્દોને એકજ અર્થના વાચક માની લેવામાં આવે તો પણ પુનરૂક્તિદોષ નથી 'निज्झाइत्ता' 'पडिलेहित्ता' આ બે પદો દ્વારા જીવોનો પુન પુન વિચાર અર્થાત્ પ્રતિલેખન સૂચિત કર્યું છે તેને પુન પુનઃ

पृथिव्यादिषूत्पद्यते । ॥ सू० १ ॥

त्रसजीवानां सुखं दुःखं वा यथा भवति तदाह—' निज्झाइत्ता ' इत्यादि ।

मूलम्—

निज्झाइत्ता पडिलेहित्ता पत्तेय परिनिव्वाण सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं असाय अपरिनिव्वाणं महब्भय दुक्ख-त्ति बेमि ॥ सू० २ ॥

छाया—

निध्याय प्रतिलेख्य प्रत्येक परिनिर्वाणं सर्वेषां प्राणानां सर्वेषां भूतानां सर्वेषां जीवानां सर्वेषां सत्त्वानाम् असातम् अपरिनिर्वाणं महाभय दुःखमिति ब्रवीमि ॥ सू० २ ॥

प्रकरणसम्बन्धात् त्रसजीवस्वरूपं पृथिव्यादिसकलजीवस्वरूप वा

पृथ्वीकाय आदि स्थावरों में उत्पन्न होता है ॥ सू० १ ॥

त्रसजीवों को सुख-दुःख जिस प्रकार होता है सो कहते हैं:—' निज्झाइत्ता ' इत्यादि ।

मूलार्थ—विचार करके और अच्छी तरह देखकर कहता हूँ कि—सभी प्राणियों का, सभी भूतों का, सभी जीवों का, और सभी सत्वों का परिनिर्वाण अर्थात् सुख पृथक्-पृथक् है । तथा असातारूप, अपरिनिर्वाणरूप महाभयरूप दुःख भी पृथक्-पृथक् है । ॥ सू० २ ॥

टीकार्थ—त्रस जीवों का प्रकरण होने के कारण ' विचार करने ' का आशय यह है कि त्रसजीवों का स्वरूप, अथवा पृथ्वीकाय आदि समस्त जीवों का

निरंतर त्रसकायमां रही शके छे, ते पछी पृथ्वीकाय आदि स्थावरोमां उत्पन्न थाय छे ॥सू० १॥

त्रस जीवोने सुख-दुःख जे प्रकारे थाय छे, ते कहे छे:-'निज्झाइत्ता ' इत्यादि

मूलार्थ—विचार करीने सारी रीते जोईने कहुं छुं के-सर्व प्राणीओ सर्व भूतो, सर्व जीवो अने सर्व सत्त्वोनुं परिनिर्वाण अर्थात् सुख पृथक्-पृथक्-जुदां-जुदां छे, तथा असातारूप अपरिनिर्वाणरूप महाभयरूप दुःख पण जुदां-जुदां छे ॥सू० २॥

टीकार्थ—त्रसजीवोनुं प्रकरण होवाना कारणे त्रसजीवोनुं स्वरूप अथवा पृथ्वीकाय

छाया—

त्रस्यति प्राणा प्रदिश' दिशासु च । तत्र तत्र पृथक् पश्य, आतुरा' परिताप यन्ति, सन्ति प्राणा' पृथक् श्रिता' ॥ सू० ३ ॥

टीका—

प्राणा.=प्राणिन' प्रकरणसम्बन्धात् त्रसजीवाः प्रदिश'=प्रगता दिक् प्रदिक् विदिगित्यर्थ', ततः प्रदिशः, तथा–दिशासु प्राच्यादिदिक्षु च समागन्तुकेभ्यो दुखेभ्य, त्रस्यन्ति=बिभ्यति । सर्वदिग्विदिक्षु त्रसाः सन्ति, ते च सर्वदिग्विदिग्भ्य समागन्तुकेभ्यो दुःखेभ्यस्त्रस्यन्तीत्यर्थ' ।

कुतस्तेषां दु खसम्भव' ? इति जिज्ञासायामाह 'तत्र-तत्रे' त्यादि । तत्रतत्र= तेषु–तेषु, पृथक्=विभिन्नेषु प्रयोजनेषु, आतुराः=अर्चाचर्ममांसादिगृध्नव त्रसान् परितापयन्ति=परिपीडयन्ति । विविधवेदनोत्पादनेन प्राणव्यपरोपणेन च सर्वथा दुःख जनयन्तीत्यर्थ । कीदृशास्ते त्रसा , यानातुराः परितापयन्ति ? इति जिज्ञासाया-

टीकार्थ—त्रस का प्रकरण होने से 'प्राण' शब्द का अर्थ यहाँ त्रसजीव समझना चाहिए । त्रस प्राणी विदिशाओं में आगन्तुक दु खों से त्रस्त हैं । तात्पर्य यह है कि–सभी विदिशाओं में और सभी दिशाओं में त्रसजीव विद्यमान हैं और सभी विदिशाओं और दिशाओं से आने वाले दु खों से वे पीडित होते हैं ।

उन्हें दु ख क्यों होता है ? इसका उत्तर यह है–विभिन्न प्रयोजनों से आतुर लोग अर्थात अर्चा (शरीर), चर्म, मांस, आदि के लोलुप पुरुष त्रस जीवों को पीडा पहुँचाते हैं । उन्हें भाँति–भाँति की वेदना उत्पन्न करके उनके प्राणों का व्यपरोपण करते हैं और सब प्रकार से दु ख उत्पन्न करते हैं । वे त्रसजीव पृथिवी आदि के

ટીકાર્થ—ત્રસનુ પ્રકરણ હોવાથી 'પ્રાણ' શબ્દનો અર્થ ત્રસજીવ સમજવો. જોઇએ ત્રસ પ્રાણી વિદિશાઓમાં તથા દિશાઓમા આગન્તુક દુ ખોથી ત્રાસ પામે છે તાત્પર્ય એ છે કે–સર્વ વિદિશાઓમાં અને સર્વ દિશાઓમા ત્રસ જીવ વિદ્યમાન છે, અને સર્વ વિદિશાઓ તથા દિશાઓથી આવવાવાળા દુ ખોથી તે પીડા પામે છે

તેને દુ ખ શા માટે થાય છે? તેનો ઉત્તર એ છે કે–જુદા–જુદા પ્રયોજનોથી આતુર લોક અર્થાત્ અર્ચા (શરીર), ચર્મ, માંસ વગેરેના લાલચુ પુરુષ ત્રસ જીવોને પીડા પહોંચાડે છે, તેને જુદી–જુદી જાતની વેદના ઉત્પન્ન કરે છે તે ત્રસ જીવ પૃથ્વી આદિના આશ્રયે ર

मनेकपर्यायशब्दैस्तेषामुपादानात् ।

तथा सर्वेषां दुःख प्रत्येक पृथक् पृथगस्ति । कथम्भूतं दुःखमित्याह—'असात'-मित्यादि । असातम् असातवेदनीयकर्मफलभूतम्, तथा—अपरिनिर्वाणम् सर्वथा शरीरमनःपीडाकरम्, तथा—महाभयम्—दुःखादधिक भयमन्यन्नास्ति, यतः सर्वेऽपि प्राणिनः शारीरान्मानसादपि दुःखादुद्विजन्ते, तस्मान्महाभयस्वरूपमित्यर्थः ॥ सू० २ ॥

एतच्च ब्रवीमीत्याह 'तसंति पाणा' इत्यादि ।

मूलम्—

तसंति पाणा पदिसो दिसासु य । तत्थ पुढो पास आतुरा, परितावेंति, संति पाणा पुढो सिया ॥ सू० ३ ॥

अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया गया है ।

इसी प्रकार सब जीवों का दुःख भी पृथक्—पृथक् है । दुःख किस प्रकार का है ? सो कहते हैं—यह असातावेदनीय कर्म का फल है, शरीर और मन को पूरी तरह पीड़ा उत्पन्न करता है और महाभयंकर है—दुःख से बढ़कर और कोई भय नहीं है, क्यों कि सभी प्राणी शारीरिक और मानसिक दुःख से घबराते हैं, अतः यह महाभयकारी है ॥ सू० २ ॥

और मैं यह कहता हूँ —'तसंति पाणा' इत्यादि ।

मूलार्थ—प्राणी विदिशाओं में और दिशाओं में उद्वेग पाते हैं । अलग-अलग प्रयोजनों के लोलुप लोग उन्हें संताप पहुंचाते हैं । ये त्रस प्राणी पृथ्वी आदि विभिन्न आश्रयों पर आश्रित हैं ॥ सू० ३ ॥

વિષયરૂપથી સમજાવવા માટે અનેક પર્યાયવાચી શબ્દોનો પ્રયોગ કરવામાં આવ્યો છે

આ પ્રમાણે સર્વ જીવોના દુઃખ પણ જુદા-જુદા છે દુઃખ કયા પ્રકારના છે ? તે કહે છે–તે આ અસાતાવેદનીય કર્મનું ફળ છે, શરીર અને મનને પૂરી રીતે પીડા ઉત્પન્ન કરે છે અને મહા ભયકર છે દુઃખથી વધારે કોઈ પણ ભય નથી. કારણકે સર્વ પ્રાણી–શારીરિક અને માનસિક દુઃખથી ગભરાય છે તેથી તે મહાભયકારી છે ॥સૂ૦ ૨॥

અને હું એ પણ કહું છું —'तसंति पाणा' ઈત્યાદિ

મૂલાર્થ—પ્રાણી વિદિશાઓમાં અને દિશાઓમાં ઉદ્વેગ પામે છે અલગ–અલગ પ્રયોજનોથી લોલુપ લોક તેને સંતાપ પહોંચાડે છે તે ત્રસ પ્રાણી પૃથ્વી આદિ વિભિન્ન આશ્રયો પર આશ્રિત છે ॥સૂ૦ ૩॥

छाया—

त्रस्यन्ति प्राणाः प्रदिशः दिशासु च । तत्र तत्र पृथक् पश्य, आतुराः परितापयन्ति, सन्ति प्राणाः पृथक् श्रिताः ॥ सू० ३ ॥

टीका—

प्राणाः=प्राणिनः प्रकरणसम्बन्धात् त्रसजीवाः प्रदिशः=प्रगता दिक् प्रदिक् विदिगित्यर्थः, ततः प्रदिशः, तथा–दिशासु प्राच्यादिदिक्षु च समागन्तुकेभ्यो दुःखेभ्यः, त्रस्यन्ति=बिभ्यति । सर्वदिग्विदिक्षु त्रसाः सन्ति, ते च सर्वदिग्विदिग्भ्यः समागन्तुकेभ्यो दुःखेभ्यस्त्रस्यन्तीत्यर्थः ।

कुतस्तेषां दुःखसम्भवः ? इति जिज्ञासायामाह 'तत्र-तत्रे' त्यादि । तत्रतत्र= तेषु–तेषु, पृथक्=विभिन्नेषु प्रयोजनेषु, आतुराः=अर्चाचर्ममांसादिगृध्नवः त्रसान् परितापयन्ति=परिपीडयन्ति । विविधवेदनोत्पादनेन प्राणव्यपरोपणेन च सर्वथा दुःख जनयन्तीत्यर्थः । कीदृशास्ते त्रसाः, यानातुरा परितापयन्ति ? इति जिज्ञासाया-

टीकार्थ—त्रस का प्रकरण होने से 'प्राण' शब्द का अर्थ यहाँ त्रसजीव समझना चाहिए। त्रस प्राणी विदिशाओं में आगन्तुक दुःखों से त्रस्त हैं। तात्पर्य यह है कि–सभी विदिशाओं में और सभी दिशाओं में त्रसजीव विद्यमान हैं और सभी विदिशाओं और दिशाओं से आने वाले दुःखों से वे पीड़ित होते हैं।

उन्हें दुःख क्यों होता है? इसका उत्तर यह है–विभिन्न प्रयोजनों से आतुर लोग अर्थात् अर्चा (शरीर), चर्म, मांस, आदि के लोलुप पुरुष त्रस जीवों को पीड़ा पहुँचाते हैं। उन्हें भाँति–भाँति की वेदना उत्पन्न करके उनके प्राणों का व्यपरोपण करते हैं और सब प्रकार से दुःख उत्पन्न करते हैं। वे त्रसजीव पृथिवी आदि के

ટીકાર્થ—ત્રસનુ પ્રકરણ હોવાથી 'પ્રાણ' શબ્દનો અર્થ ત્રસજીવ સમજવો જોઈએ ત્રસ પ્રાણી વિદિશાઓમા તથા દિશાઓમા આગન્તુક દુઃખોથી ત્રાસ પામે છે તાત્પર્ય એ છે કે–સર્વ વિદિશાઓમાં અને સર્વ દિશાઓમાં ત્રસ જીવ વિદ્યમાન છે, અને સર્વ વિદિશાઓ તથા દિશાઓથી આવવાવાળા દુઃખોથી તે પીડા પામે છે

તેને દુઃખ શા માટે થાય છે? તેનો ઉત્તર એ છે કે–જુદા–જુદા પ્રયોજનોથી આતુર લોક અર્થાત્ અર્ચા (શરીર), ચર્મ, માસ વગેરેના લાલચુ પુરુષ ત્રસ જીવોને પીડા પહોચાડે છે, તેને જુદી–જુદી જાતની વેદના ઉત્પન્ન કરે છે તે ત્રસ જીવ પૃથ્વી આદિના આશ્રયે

मनेकपर्यायशब्दैस्तेषामुपादानात् ।

तथा सर्वेषां दुःख प्रत्येकं पृथक् पृथगस्ति। कथम्भूतं दुःखमित्याह—'असात'-मित्यादि । असातम् असातवेदनीयकर्मफलभूतम्, तथा—अपरिनिर्वाणम् सर्वथा शरीरमनः पीडाकरम्, तथा—महाभयम्—दुःखादधिक भयमन्यन्नास्ति, यतः सर्वेऽपि प्राणिनः शारीरान्मानसादपि दुःखादुद्विजन्ते, तस्मान्महाभयस्वरूपमित्यर्थः ॥ सू० २ ॥

एतच्च ब्रवीमीत्याह 'तसंति पाणा' इत्यादि ।

मूलम्—

तसंति पाणा पदिसो दिसासु य । तत्थ तत्थ पुढो पास आतुरा परितावंति, संति पाणा पुढो सिया ॥ सू० ३ ॥

अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया गया है ।

इसी प्रकार सब जीवों का दुःख भी पृथक्-पृथक है । दुःख किस प्रकार का है ! सो कहते हैं—यह असातावेदनीय कर्म का फल है, शरीर और मन को पूरी तरह पीडा उत्पन्न करता है और महाभयकर है—दुःख से बढ़कर और कोई भय नहीं है, क्यों कि सभी प्राणी शारीरिक और मानसिक दुःख से घबराते हैं, अत यह महाभयकारी है ॥ सू० २ ॥

और मैं यह कहता हूँ—'तसंति पाणा' इत्यादि ।

मूलार्थ—प्राणी विदिशाओ में और दिशाओ में उद्वेग पाते हैं। अलग-अलग प्रयोजनो के लोलुप लोग उन्हें सताप पहुचाते है । वे त्रस प्राणी पृथ्वी आदि विभिन्न आश्रयो पर आश्रित हैं ॥ सू० ३ ॥

વિષયરૂપથી સમજાવવા માટે અનેક પર્યાયવાચી શબ્દોનો પ્રયોગ કરવામાં આવ્યો છે

આ પ્રમાણે સર્વજીવોના દુઃખ પણ જુદા-જુદા છે દુઃખ કયા પ્રકારના છે ? તે કહે છે—તે આ અસાતાવેદનીય કર્મનું ફળ છે, શરીર અને મનને પૂરી રીતે પીડા ઉત્પન્ન કરે છે. અને મહા ભયકર છે દુઃખથી વધારે કોઈ પણ ભય નથી. કારણકે સબ પ્રાણી-શારીરિક અને માનસિક દુઃખથી ગભરાય છે તેથી તે મહાભયકારી છે ॥સૂ૦ ૨॥

અને હું એ પણ કહું છુ:—'तसंति पाणा' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—પ્રાણી વિદિશાઓમાં અને દિશાઓમાં ઉદ્વેગ પામે છે અલગ-અલગ પ્રયોજનોથી લોલુપ લોક તેને સતાપ પહોચાડે છે તે ત્રસ પ્રાણી પૃથ્વી આદિ વિભિન્ન આશ્રયો પર આશ્રિત છે ॥સૂ૦ ૩॥

मूलम्—

लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा, जमिणं, विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेण, तसकायसत्थं समारंभमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति ॥ सू० ४ ॥

छाया—

लज्जमाना पृथक् पश्य, अनगाराः स्म, इति एके प्रवदमाना, यदिमं विरूपरूपैः शस्त्रैः त्रसकायसमारम्भेण, त्रसकायशस्त्रं समारभमाणा अन्यान् अनेकरूपान् प्राणान् विहिंसन्ति ॥ सू० ४ ॥

टीका—

लज्जमाना'=परमकरुणयाऽऽर्द्रहृदयतया त्रसकायसमारम्भे पराङ्मुखा त्रसकायसमारम्भपरित्यागिनोऽनागारा इत्यर्थः । पृथक्=विभिन्ना, केचित्-मत्यक्षज्ञानिनोऽवधिमनःपर्ययकेवलिनः, केचित्-परोक्षज्ञानिनो भावितात्मानः, सन्तीति पश्य । यद्वा-पृथक्=द्रव्यलिङ्गिभ्यः पृथग्भावेन सन्तीति पश्य । इमे त्रस

मूलार्थ—त्रसकाय के आरंभ में संकोच करने वाले (अनगारों को) अलग समझो। 'हम अनगार हैं' ऐसा कहने वाले कोई-कोई (द्रव्यलिंगी) नाना प्रकार के शस्त्रों का प्रयोग करते हुए और भी अनेक प्रकार के प्राणियों की हिंसा करते हैं उनको अलग देखो ॥ सू० ४ ॥

टीकार्थ—परम करुणा से जिनका हृदय द्रवित है ऐसे अनगार त्रसकाय के आरंभ से सर्वथा विमुख रहते हैं। ये अनगार अलग-अलग हैं। कोई अवधिज्ञानी, कोई मनःपर्ययज्ञानी और कोई केवलज्ञानी हैं। कोई-कोई परोक्षज्ञानी भावितात्मा हैं,

---

મૂલાર્થ—ત્રસકાયના આરંભમાં સંકોચ કરવાવાળા અણુગારોને અલગ-જુદા-સમજો, 'અમે અણુગાર છીએ' એ પ્રમાણે કહેવાવાળા કોઈ-કોઈ દ્રવ્યલિંગી, નાના પ્રકારનાં શસ્ત્રોથી ત્રસકાયનો આરંભ કરીને, ત્રસકાયના શસ્ત્રોનો પ્રયોગ કરતા થકા બીજા પણ અનેક પ્રકારના પ્રાણીઓની હિંસા કરે છે તેને અલગ જુઓ. ॥સૂ૦ ૪॥

ટીકાર્થ—પરમ કરુણાથી જેનું હૃદય દ્રવિત છે એવા અણુગાર ત્રસકાયના આરંભથી સર્વથા વિમુખ રહે છે-દૂર રહે છે તે અણુગાર અલગ-અલગ છે કોઈ અવધિજ્ઞાની, કોઈ મનઃ-પર્યયજ્ઞાની, અને કોઈ કેવલજ્ઞાની છે કોઈ-કોઈ પરોક્ષજ્ઞાની

माह-' सन्ति' इत्यादि। श्रिता'=पृथिव्यादीन् समाश्रित्यावस्थिता', पृथक्=विभिन्नाः द्वीन्द्रियादयः, प्राणा =प्राणिनः सन्ति ।

यद्यपि सर्वदिग्विदिग्भ्य आगामिनो दुःखाद् बिभ्यतस्त्रसजीवा' स्वात्मरक्षार्थं पृथिव्यादीन् समाश्रित्य वर्तन्ते तथापि मांसचर्मादिलुब्धा आतुरास्तान् बन्धनताडनादिना शावकाद्यपहारेण प्राणाद्यपहारेण च परिपीडयन्ति, तत संसारं प्राप्नुवन्ति। तस्मादेतत् परिज्ञाय सकलसावद्यव्यापारपरिहारेण संयमानुष्ठाने प्रवर्तितव्यमिति भावः ॥ सू० ३ ॥

अथ सर्वथा त्रसकायसमारम्भपरित्यागिनोऽनगारान्, तथा त्रसकायसमारम्भप्रवृत्तान् द्रव्यलिङ्गिनश्च विविच्य प्रतिबोधयितुमाह-' लज्जमाणा ' इत्यादि ।

सहारे अलग-अलग रहे हुए हैं ।

यद्यपि सब दिशाओं और विदिशाओं से आनेवाले दुःखों से डरने वाले त्रस जीव अपनी रक्षा के लिए पृथ्वी आदि के सहारे टिके रहते हैं फिर भी मांस और चर्म आदि के लोभी लोग उन्हें बंधन एवं ताडन द्वारा, उनके बच्चोंका अपहरण करके तथा उनके प्राणों का हनन करके उन्हें पीड़ा पहुँचाते हैं और इस कारण वे हिंसक, संसार को प्राप्त होते हैं। आशय यह है कि-यह सब जानकर सम्पूर्ण सावद्य व्यापार का त्याग करके संयम की साधना में प्रवृत्त होना चाहिए ॥ सू० ३ ॥

अब पूर्णरूप से त्रसकाय के आरंभ का त्याग करने वाले अनगारों का तथा त्रसकाय के आरंभ में प्रवृत्ति करने वाले द्रव्यलिंगियों का विवेचन करके समझाते हुए कहते हैं- ' लज्जमाणा ' इत्यादि ।

અલગ-અલગ રહેલા છે

જો કે સર્વ દિશાઓ અને વિદિશાઓથી આવનારા દુઃખોથી ડરવાવાળા ત્રસજીવ પોતાની રક્ષા માટે પૃથ્વી આદિના આશ્રયે ટકી રહે છે ફરી પણ માંસ અને ચામડા આદિના લોભી લોક તેને બંધન એ પ્રમાણે તાડનદ્વારા, તેના બચ્ચાઓનું અપહરણ કરીને (ચોરી જઇને) તથા તેના પ્રાણોનું હનન-નાશ કરીને તેને પીડા પહોંચાડે છે અને આ કારણથી તે હિંસક-સંસારને પ્રાપ્ત થાય છે આશય એ છે કે-એ સર્વ જાણી કરીને સંપૂર્ણ સાવદ્ય વ્યાપારનો ત્યાગ કરીને સંયમની સાધનામાં પ્રવૃત્ત થવું જોઇએ. ॥૩॥

હવે પૂર્ણરૂપથી ત્રસકાયના આરંભનો ત્યાગ કરવાવાળા અણગારોનું તથા ત્રસ કાયના આરંભમાં પ્રવૃત્તિ કરવાવાળા દ્રવ્યલિંગિઓનું વિવેચન કરીને સમજાવતા થકા કહે છે—' लज्जमाणा ' ઇત્યાદિ.

द्विविधम्, तत्र-द्रव्यशस्त्र-स्वकाय-परकायो-भयकायभेदात् त्रिविधम्। तत्रस्वकाय-शस्त्रेत्रसकायस्य त्रसकाय,यथा-मृगादीना व्याघकुक्कुरादय.,मनुष्यादीना मनुष्यादय'। परकायशस्त्रम्-पाषाणजलाग्निल्गुडखड्गतोमरछुरिकादयः। उभयकायशस्त्रम्-लगुडखड्गादिधारिणो मनुष्यादय। भावशस्त्र तु त्रसकाय प्रति मनोवाक्कायानां दुष्प्रणिधानम्। त्रसकायसमारम्भेण, त्रस=त्रसनशील' काय'=शरीर यस्य स त्रसकायस्तस्य समारम्भ=पीडाकर सावद्यव्यापारस्तेन, इम=त्रसकाय विहिंसन्ति।

त्रसकायहिंसायां प्रवृत्ता· खलु षड्जीवनिकायरूप लोक सर्वमेव विहिंसन्तीत्याह-'त्रसकायशस्त्रम्' इत्यादि। त्रसकायशस्त्र=त्रसजीवोपमर्दक शस्त्र पूर्वोक्तप्रकारं, समारम्भमाणा'=त्रसकाय प्रति प्रयुञ्जाना अन्यान्-त्रसकायभिन्नान्

भेद हैं-स्वकाय, परकाय, और उभयकाय। त्रसकाय का त्रसकाय स्वकायशस्त्र है, जैसे मृग आदि के लिए व्याघ, कुत्ता आदि, मनुष्य के लिए मनुष्य आदि। परकायशस्त्र जैसे पत्थर, जल, अग्नि, लकडी, तलवार, तोमर, छेरी आदि। उभयकायशस्त्र जैसे लाठी, तलवार आदि धारण करने वाला मनुष्य आदि। त्रसकाय के प्रति मन, वचन, और कायका अप्रशस्त व्यापार होना भावशस्त्र है। इन नाना प्रकार के शस्त्रों से त्रसकाय का समारंभ करके लोग त्रसकाय को पीडा पहुँचाते हैं।

त्रसकाय की हिंसा में प्रवृत्ति करने वाले छह प्रकार के जीवनिकायरूप सम्पूर्ण लोक की हिंसा करते हैं, यह बात कहते हैं-त्रसकाय में, त्रसकाय की हिंसा करने वाले शस्त्रों का जो प्रयोग करते हैं वे त्रसकाय के अतिरिक्त अनेक प्रकार के पृथ्वीकाय आदि

પરકાય અને ઉભયકાય, ત્રસકાયનું ત્રસકાય તે સ્વકાયશસ્ત્ર છે, જેમ મૃગ આદિને માટે વાઘ-કુતરા આદિ, મનુષ્યને માટે મનુષ્ય આદિ પરકાયશસ્ત્ર, જેમકે પથ્થર, જલ, અગ્નિ, લાકડી, તરવાર, ભાલું, છરી આદિ ઉભયકાયશસ્ત્ર, જેમકે-લાકડી, તલવાર આદિ ધારણ કરવાવાળા મનુષ્ય આદિ ત્રસકાયના પ્રતિ મન, વચન અને કાયાનો અપ્રશસ્ત વ્યાપાર થવો તે ભાવશસ્ત્ર છે તે નાના પ્રકારના શસ્ત્રોથી ત્રસકાયનો સમારંભ કરીને લોક ત્રસકાયને પીડા પહોંચાડે છે

ત્રસકાયની હિંસામા પ્રવૃત્તિ કરવાવાળા છ પ્રકારના છવનિકાયરૂપ સમ્પૂર્ણ લોકની હિંસા કરે છે એ વાત કહે છે-ત્રસકાયમા, ત્રસકાયની હિંસા કરવાવાળા-શસ્ત્રોનો જે પ્રયોગ કરે છે, તે ત્રસકાયથી જૂદા અનેક પ્રકારના પૃથ્વીકાય આદિ પાચ સ્થાવર

कायसमारम्भकरणे भीतास्त्रस्ता उद्विग्नास्त्रिकरणत्रियोगैस्त्रसकायसमारम्भपरित्यागिनो विद्यन्ते, इति विलोकयेत्यर्थः ।

एके पुनरन्ते तु 'वयमनगारा स्मः' इति साभिमानं प्रवदमाना 'वयमेव त्रसकायरक्षणपरा महाव्रतधारिणः' इति प्रलपन्तो द्रव्यलिङ्गिनः सन्ति, तान् पृथक् पश्य ।

इमे खल्वनगाराभिमानिनो द्रव्यलिङ्गिनो मनागप्यनगारगुणेषु न प्रवर्तन्ते, नापि गृहस्थकृत्य किञ्चित् परित्यजन्तीति दर्शयति—'यदिमम्' इत्यादि ।

यत्=यस्मात्; निरूपरूपे=विभिन्नस्वरूपे शस्त्रे, शस्त्रं हि द्रव्यभावभेदाद्

इन्हें देखो । अथवा इन्हें द्रव्यलिंगियों से अलग समझना चाहिए । ये त्रसकाय का आरंभ करते हुए डरते हैं, त्रस्त होते हैं, उद्विग्न होते हैं—तीन करण, तीन योग से त्रसकाय के आरंभ के त्यागी हैं, यह देखो ।

और कोई-कोई 'हम अनगार हैं' इस प्रकार अभिमानपूर्वक कहते हुए तथा 'हम ही त्रसकाय के रक्षक और महाव्रतधारी हैं' इस तरह प्रलाप करते हुए कई द्रव्यलिंगी हैं, उन्हें अनगारों से अलग समझो ।

अनगार होने का अभिमान करने वाले ये द्रव्यलिंगी अनगार के गुणों में तनिक भी प्रवृत्त नहीं होते और न गृहस्थ के किसी काम का त्याग करते हैं । यह बात आगे बतलाते हैं—'यदिमम्' इत्यादि ।

द्रव्य और भाव के भेद से शस्त्र दो प्रकार का है । द्रव्यशस्त्र के तीन

ભાવિતાત્મા છે આને જુઓ. અથવા એને દ્રવ્યલિંગીઓથી અલગ સમજવા જોઈએ જે ત્રસકાયનો આરંભ કરતા ડરે છે, ત્રસ્ત થાય છે, ઉદ્વિગ્ન થાય છે—ત્રણ કરણ, ત્રણ યોગથી ત્રસકાયના આરંભના ત્યાગી છે એ જુઓ

અને કોઈ–કોઈ 'અમે અણગાર છીએ' એ પ્રમાણે અભિમાનપૂર્વક કહેતા થકા તથા 'અમેજ ત્રસકાયના રક્ષક અને મહાવ્રતધારી છીએ' એ પ્રમાણે પ્રલાપ-બકવાદ કરનારા કેટલાક દ્રવ્યલિંગી છે તેને અણગારોથી જુદા સમજો

અણગાર હોવાનું અભિમાન કરવાવાળા એ દ્રવ્યલિંગી અણગારના ગુણોમાં જરાપણ પ્રવૃત્ત નથી અને ગૃહસ્થના કોઈ પણ કામનો તેઓએ ત્યાગ કર્યો નથી. તે વાત આગળ બતાવે છે–'યદિમમ્' ઇત્યાદિ

દ્રવ્ય અને ભાવના ભેદથી શસ્ત્ર બે પ્રકારનાં છે દ્રવ્યશસ્ત્રના ત્રણ ભેદ છે સ્વકાય,

द्विविधम्, तत्र-द्रव्यशस्त्र-स्वकाय-परकायो-भयकायभेदात् त्रिविधम्। तत्रस्वकाय-शस्त्रंत्रसकायस्य त्रसकाय ,यथा-मृगादीना व्याधकुक्कुरादय ,मनुष्यादीना मनुष्यादय'। परकायशस्त्रम्-पाषाणजलाग्निलगुडखड्गतोमरछुरिकादय । उभयकायशस्त्रम्-लगुडखड्गादिधारिणो मनुष्यादय । भावशस्त्र तु त्रसकायं प्रति मनोवाक्कायाना दुष्प्रणिधानम्। त्रसकायसमारम्भेण, त्रस'=त्रसनशील काय =शरीर यस्य स त्रसकायस्तस्य समारम्भ =पीडाकर सावद्यव्यापारस्तेन, इम=त्रसकायं विहिंसन्ति ।

त्रसकायहिंसायां प्रवृत्ता खलु षड्जीवनिकायरूप लोक सर्वमेव विहिंसन्तीत्याह-'त्रसकायशस्त्रम्' इत्यादि । त्रसकायशस्त्र=त्रसजीवोपमर्दकं शस्त्र पूर्वोक्तप्रकारं, समारम्भमाणा'=त्रसकाय प्रति प्रयुञ्जाना अन्यान्=त्रसकायभिन्नान्

भेद हैं-स्वकाय, परकाय, और उभयकाय। त्रसकाय का त्रसकाय स्वकायशस्त्र है, जैसे मृग आदि के लिए व्याध, कुत्ता आदि, मनुष्य के लिए मनुष्य आदि। परकायशस्त्र जैसे पत्थर, जल, अग्नि, लकडी, तलवार, तोमर, छूरी आदि। उभयकायशस्त्र जैसे लाठी, तलवार आदि धारण करने वाला मनुष्य आदि। त्रसकाय के प्रति मन, वचन, और कायका अप्रशस्त व्यापार होना भावशस्त्र है। इन नाना प्रकार के शस्त्रों से त्रसकाय का समारंभ करके लोग त्रसकाय को पीडा पहुँचाते है।

त्रसकाय का हिंसा में प्रवृत्ति करने वाले छह प्रकार के जीवनिकायरूप सम्पूर्ण लोक की हिंसा करते हैं, यह बात कहते हैं-त्रसकाय में, त्रसकाय की हिंसा करने वाले शस्त्रों का जो प्रयोग करते हैं वे त्रसकाय के अतिरिक्त अनेक प्रकार के पृथ्वीकाय आदि

પરકાય અને ઉભયકાય, ત્રસકાયનું ત્રસકાય તે સ્વકાયશસ્ત્ર છે, જેમ મૃગ આદિને માટે વાઘ-કુતરા આદિ, મનુષ્યને માટે મનુષ્ય આદિ પરકાયશસ્ત્ર, જેમકે પથ્થર, જલ, અગ્નિ, લાકડી, તરવાર, ભાલું, છરી આદિ ઉભયકાયશસ્ત્ર, જેમકે-લાકડી, તલવાર આદિ ધારણ કરવાવાળા મનુષ્ય આદિ ત્રસકાયના પ્રતિ મન, વચન અને કાયાનો અપ્રશસ્ત વ્યાપાર થવો તે ભાવશસ્ત્ર છે તે નાના પ્રકારના શસ્ત્રોથી ત્રસકાયનો સમારભ કરીને લોક ત્રસકાયને પીડા પહોંચાડે છે

ત્રસકાયની હિંસામા પ્રવૃત્તિ કરવાવાળા છ પ્રકારના જીવનિકાયરૂપ સમ્પૂર્ણ લોકની હિંસા કરે છે એ વાત કહે છે-ત્રસકાયમા, ત્રસકાયની હિંસા કરવાવાળા-શસ્ત્રોનો જે પ્રયોગ કરે છે, તે ત્રસકાયથી જુદા અનેક પ્રકારના પૃથ્વીકાય આદિ પાચ સ્થાવર

अनेकयरूपान् पृथिवीकायादीन् पञ्चस्थावरान्, प्राणान्=प्राणिनः, विहिंसन्ति।

इह बहुविधा द्रव्यलिङ्गिनो विद्यन्ते। तत्र शाक्यादय कन्दमूलपत्र पुष्पफलादि भोक्तुं तदाश्रितत्रसजीवसमारम्भेण पृथिव्यादिस्थावरसमारम्भेण च त्रसजीवान्, पृथिव्यादीन् स्थावरांश्च घ्नन्ति घातयन्ति हिंसतोऽनुमोदयन्ति च। दण्डिनोऽपि—

"वयं पञ्चमहाव्रतधारिणो जिनाज्ञाराधका अनगाराः स्मः" इत्यादि प्रवदमानाः साध्वाभासाः सावद्यमुपदिशन्ति शास्त्रप्रतिषिद्धमपि षड्जीवनिकाय समारम्भ कारयन्ति। प्रतिमामन्दिरादिनिर्माणार्थं गर्तकरणे, पाषाणादीनां खण्डश करणे, तेषामूर्ध्वतो निपतने च मनुष्यादीन् तथा–बहुतरवृक्षच्छेदने

पाँच स्थावर प्राणियों की भी हिंसा करते हैं।

संसार में बहुत प्रकार के द्रव्यलिङ्गी हैं। उन में से शाक्य आदि कन्द, मूल, पत्र, पुष्प, फल आदि भोगने के लिए उन पर रहे हुए त्रसजीवों का समारंभ करके त्रस और स्थावर जीवों की घात करते हैं, कराते हैं और घात करने वाले की अनुमोदना करते हैं। दण्डी भी—

'हम पचमहाव्रतधारी, जिनाज्ञा के आराधक अनगार हैं' ऐसा कहने वाले झूठे साधु सावद्य का उपदेश देते हैं और शास्त्र में निषिद्ध षड्जीवनिकाय का समारंभ कराते हैं। प्रतिमा, मन्दिर, आदि का निर्माण करने के लिए–खड्डे खोदने में, पत्थरों के टुकड़े करने में, उन्हें ऊपर से पटकने में मनुष्य आदि का घात कराता है। बहुत–से वृक्षों को छेदने में वृक्षाश्रित अण्डजों के पंचेन्द्रिय बच्चों का घात कराते हैं।

પ્રાણીઓની પણ હિંસા કરે છે

સંસારમાં ઘણા પ્રકારના દ્રવ્યલિંગી છે એમાંથી શાક્ય આદિ કન્દ, મૂળ, પત્ર, પુષ્પ, ફલ આદિ ભોગવવા માટે-ઉપયોગ કરવા માટે, તેના પર રહેલા ત્રસ જીવોનો સમારંભ કરીને અને પૃથ્વી આદિ સ્થાવર જીવોનો સમારંભ કરીને ત્રસ અને સ્થાવર જીવોનો ઘાત કરે છે કરાવે છે, અને ઘાત કરવાવાળાને અનુમોદન આપે છે દંડી પણ "અમે પંચમહાવ્રતધારી, જિનાજ્ઞાના આરાધક અણગાર છીએ" એ પ્રમાણે કહેવાવાળા જુઠા સાધુ સાવદ્યનો ઉપદેશ આપે છે અને શાસ્ત્રમાં નિષિદ્ધ ષડ્જીવનિકાયનો સમારંભ કરાવે છે

પ્રતિમા, મંદિર વગેરેનુ નિર્માણ કરવા માટે ખાડા ખોદવા, પત્થરોના ટુકડા કરાવવા, તેને ઉપરથી પછાડવામા મનુષ્ય આદિનો ઘાત કરાવે છે ઘણાંજ વૃક્ષોને કાપવામાં વૃક્ષોના

तदाश्रितान् अण्डजशावकादीन्, पञ्चेन्द्रियान् पिपीलिकापतङ्गादिबहुविधविकलेन्द्रियांश्च, प्रतिमापूजनार्थं पुष्पवाटिकाकरणे पुष्पपत्रफलादित्रोटनेऽपि च षड्जीवनिकायान् घातयन्ति ॥ सू० ४ ॥

अथ सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामिनं कथयति—'तत्थ खलु' इत्यादि।

मूलम्—

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव तसकायसत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा तसकायसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा तसकायसत्थं समारभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए, तं से अबोहीए ॥ सू० ५ ॥

कीडी पतंग आदि बहुत प्रकार के विकलेन्द्रिय जीवों का घात कराते हैं। प्रतिमापूजन के लिए फूलोंका बगीचा बनाने में, फूल, पत्ता और फल आदि तोडने में भी षट्काय के जीवों की घात कराते हैं ॥ सू० ४ ॥

अब सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं—'तत्थ खलु' इत्यादि।

मूलार्थ—त्रसकाय के आरंभ के विषय में भगवान्ने उपदेश दिया है। इसी जीवन के वन्दन, मानन, और पूजन के लिए, तथा जन्म-मरण से छूटने के लिए और दुःख का विनाश करने के लिए वह स्वयं त्रसकाय के शस्त्र का समारंभ करता है, दूसरों द्वारा त्रसकाय का समारंभ कराता है और त्रसकाय का समारंभ करने वाले अन्य लोगों का अनुमोदन करता है। यह उसके अहित के लिए है, उसकी अबोधि के लिए है ॥ सू० ५ ॥

આશ્રયે રહેલા અંડજ જીવોના પંચેન્દ્રિય બચ્ચાઓનો ઘાત કરાવે છે કીડી પતંગ આદિ ઘણાજ પ્રકારના વિકલેન્દ્રિય જીવોનો ઘાત કરાવે છે પ્રતિમાપૂજન માટે ફૂલોના બગીચા બનાવવામાં ફૂલ, પત્તાં (પાંદડા) અને ફળ આદિ તોડવામાં પણ ષટ્કાયના જીવોનો ઘાત કરે છે ॥ ૪ ॥

હવે સુધર્મા સ્વામી જમ્બૂ સ્વામીને કહે છે—'तत्थ खलु' ઈત્યાદિ

મૂલાર્થ—ત્રસકાયના આરંભના વિષયમાં ભગવાને ઉપદેશ આપ્યો છે આ જીવનના વંદન, માન, અને પૂજનને માટે તથા જન્મ-મરણથી છૂટવા માટે અને દુઃખનો નાશ કરવા માટે તે પોતે ત્રસકાયના શસ્ત્રનો સમારંભ કરે છે, બીજા પાસે ત્રસકાયનો આરંભ કરાવે છે અને ત્રસકાયનો સમારંભ કરવાવાળા અન્ય લોકોને અનુમોદન આપે છે, તે એમના અહિત માટે છે, એમની અબોધિ માટે છે ॥સૂ० ૫॥

अनेकयरूपान् पृथिवीकायादीन् पश्चस्थावरान्, प्राणान्=प्राणिन, विहिंसन्ति।

इह बहुविधा द्रव्यलिङ्गिनो विद्यन्ते। तत्र शाक्यादय कन्दमूलपत्र पुष्पफलादि भोक्तु तदाश्रितत्रसजीवसमारम्भेण पृथिव्यादिस्थावरसमारम्भेण च त्रसजीवान्, पृथिव्यादीन् स्थावरांश्च घ्नन्ति घातयन्ति हिंसतोऽनुमोदयन्ति च। दण्डिनोऽपि—

"वय पञ्चमहाव्रतधारिणो जिनाज्ञाराधका अनगारा स्म" इत्यादि प्रवदमाना साध्वाभासा सावद्यमुपदिशन्ति शास्त्रप्रतिषिद्धमपि षड्जीवनिकाय समारम्भ कारयन्ति। प्रतिमामन्दिरादिनिर्माणार्थ गर्तकरणे, पाषाणादीनां खण्डश करणे, तेषामूर्ध्वतो निपतने च मनुष्यादीन् तथा-बहुतरवृक्षच्छेदने

पाँच स्थावर प्राणियों की भी हिंसा करते हैं।

संसार में बहुत प्रकार के द्रव्यलिंगी हैं। उन में से शाक्य आदि कन्द, मूल, पत्र, पुष्प, फल आदि भोगने के लिए उन पर रहे हुए त्रसजीवों का समारंभ करके त्रस और स्थावर जीवों की घात करते हैं, कराते हैं और घात करने वाले की अनुमोदना करते हैं। दण्डी भी—

'हम पंचमहाव्रतधारी, जिनाज्ञा के आराधक अनगार हैं' ऐसा कहने वाले झूठे साधु सावद्य का उपदेश देते हैं और शास्त्र में निषिद्ध षड्जीवनिकाय का समारंभ कराते हैं। प्रतिमा, मन्दिर, आदि का निर्माण करने के लिए—खड्डे खोदने में, पत्थरों के टुकड़े करने में, उन्हें ऊपर से पटकने में मनुष्य आदि का घात कराता हैं। बहुत-से वृक्षों को छेदने में वृक्षाश्रित अण्डजों के पंचेन्द्रिय बच्चों का घात कराते हैं।

પ્રાણીઓની પણ હિંસા કરે છે

સંસારમાં ઘણાં પ્રકારના દ્રવ્યલિંગી છે એમાંથી શાક્ય આદિ કન્દ, મૂળ, પત્ર, પુષ્પ, ફલ આદિ ભોગવવા માટે–ઉપયોગ કરવા માટે, તેના પર રહેલા ત્રસ જીવોનો સમારંભ કરીને અને પૃથ્વી આદિ સ્થાવર જીવોનો સમારંભ કરીને ત્રસ અને સ્થાવર જીવોનો ઘાત કરે છે કરાવે છે, અને ઘાત કરવાવાળાને અનુમોદન આપે છે દંડી પણ "અમે પંચમહાવ્રતધારી, જિનાજ્ઞાના આરાધક અણગાર છીએ" એ પ્રમાણે કહેવાવાળા જુઠા સાધુ સાવદ્યનો ઉપદેશ આપે છે અને શાસ્ત્રમાં નિષિદ્ધ ષડ્જીવનિકાયનો સમારંભ કરાવે છે

પ્રતિમા, મંદિર વગેરેનું નિર્માણ કરવા માટે ખાડા ખોદવા, પત્થરોના ટુકડા કરાવવા, તેને ઉપરથી પછાડવામાં મનુષ્ય આદિનો ઘાત કરાવે છે ઘણાંજ વૃક્ષોને કાપવાથી વૃક્ષોના

तदाश्रितान् अण्डजशावकादीन् , पञ्चेन्द्रियान् पिपीलिकापतङ्गादिबहुविधविकलेन्द्रियांश्च, प्रतिमापूजनार्थं पुष्पवाटिकाकरणे पुष्पपत्रफलादित्रोटनेऽपि च षड्जीवनिकायान् घातयन्ति ॥ सू० ४ ॥

अथ सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामिनं कथयति—' तत्थ खलु ' इत्यादि ।

मूलम्—

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाइमरणमोयणाए दुःखपडिघायहेउं से सयमेव तसकायसत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा तसकायसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा तसकायसत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए, तं से अबोहीए ॥ सू० ५ ॥

कीड़ी पतंग आदि बहुत प्रकार के विकलेन्द्रिय जीवों का घात कराते हैं । प्रतिमापूजन के लिए फूलों का बगीचा बनाने में, फूल, पत्ता और फल आदि तोड़ने में भी षट्काय के जीवों की घात कराते हैं ॥ सू० ४ ॥

अब सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं —'तत्थ खलु' इत्यादि ।

मूलार्थ—त्रसकाय के आरंभ के विषय में भगवान्ने उपदेश दिया है । इसी जीवन के वन्दन, मानन, और पूजन के लिए, तथा जन्म-मरण से छूटने के लिए और दुःख का विनाश करने के लिए वह स्वयं त्रसकाय के शस्त्र का समारंभ करता है, दूसरों द्वारा त्रसकाय का समारंभ कराता है और त्रसकाय का समारंभ करने वाले अन्य लोगों का अनुमोदन करता है । यह उसके अहित के लिए है, उसकी अबोधि के लिए है ॥ सू० ५ ॥

આશ્રયે રહેલા અંડજ જીવોના પંચેન્દ્રિય બચ્ચાઓનો ઘાત કરાવે છે કીડી પતંગ આદિ ઘણાજ પ્રકારના વિકલેન્દ્રિય જીવોનો ઘાત કરાવે છે પ્રતિમાપૂજન માટે ફૂલોના બગીચા બનાવવામાં ફૂલ, પતાં (પાંદડા) અને ફળ આદિ તોડવામાં પણ ષટ્કાયના જીવોનો ઘાત કરે છે ॥ ૪ ॥

હવે સુધર્મા સ્વામી જમ્બૂ સ્વામીને કહે છે –' तत्थ खलु ' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—ત્રસકાયના આરંભના વિષયમાં ભગવાને ઉપદેશ આપ્યો છે આ જીવનના વંદન, માન, અને પૂજનને માટે તથા જન્મ-મરણથી છૂટવા માટે અને દુઃખનો નાશ કરવા માટે તે પોતે ત્રસકાયના શસ્ત્રનો સમારંભ કરે છે, બીજા પાસે ત્રસકાયનો આરંભ કરાવે છે અને ત્રસકાયનો સમારંભ કરવાવાળા અન્ય લોકોને અનુમોદન આપે છે, તે એમના અહિત માટે છે, એમની અબોધિ માટે છે ॥સૂ૦ ૫॥

छाया—

तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता। अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दनमानन-पूजनाय जातिमरणमोचनाय दुःखप्रतिघातहेतु, स स्वयमेव त्रसकायशस्त्रं समारभते, अन्यैर्वा त्रसकायशस्त्रं समारम्भयति, अन्यान् वा त्रसकायशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानाति, तत्तस्याहिताय, तत्तस्याबोधये ॥ सू० ५ ॥

टीका—

तत्र=त्रसकायसमारम्भे भगवता=श्रीमहावीरेण परिज्ञा=ज्ञ-प्रत्याख्यानभेदाद् द्विविधा, खलु निश्चयेन प्रवेदिता=प्रतिबोधिता। कर्मरज परिहरणार्थं जीवेन परिज्ञाऽवश्य शरणीकरणीयेति भगवता प्रतिबोधितमिति भावः।

उपभोगद्वारम्—

लोकः कस्मै प्रयोजनाय त्रसकायमुपमर्दयतीत्याह–'अस्य चैव जीवितस्य' इत्यादि । अस्यैव=अचिरस्थायिनः, जीवितस्य=जीवनस्य सुखार्थम्-मांसचर्मार्थम्, तथा-परिवन्दन-मानन-पूजनाय, परिवन्दनं=प्रशंसा, तदर्थम्, यथा-व्याघ्रादिमृगयादौ, माननं=मनसत्कारस्तदर्थम्, यथा-राज्ञः सकाशात् पदकादि

टीकार्थ—त्रसकाय के समारंभ के संबंध में श्री महावीरने ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यान-परिज्ञा का उपदेश दिया है। अर्थात् भगवान्ने कहा हैं कि–कर्मरज को हटाने के लिए जीव को परिज्ञा अवश्य स्वीकार करनी चाहिए।

उपभोगद्वार–

लोग किस प्रयोजन से त्रसकाय की हिंसा करते हैं? सो कहते हैं–इसी अस्थायी जीवन के सुख के लिए, मांस और चमडी के लिए, तथा प्रशंसा के लिए, जैसे व्याघ्र आदि का शिकार करने में, मानन के लिए, जैसे राजा से पदवी पाने के उद्देश्य से

ટીકાર્થ—ત્રસકાયના સમારંભના સંબંધમાં શ્રી મહાવીરે જ્ઞપરિજ્ઞા અને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞાનો ઉપદેશ આપ્યો છે અર્થાત્ ભગવાને કહ્યું છે કે–કર્મ રજને દૂર કરવા માટે જીવે પરિજ્ઞા અવશ્ય સ્વીકારવી જોઈએ.

ઉપભોગ દ્વાર—

લોક શું પ્રયોજનથી ત્રસકાયની હિંસા કરે છે? તે કહે છે—આ અસ્થિર જીવનના સુખ માટે, માંસ અને ચામડીના માટે, તથા પ્રશંસા માટે. જેમ કે–વાઘ આદિનો શિકાર કરવામાં. માન માટે, જેમ કે–રાજા પાસેથી પદવી મેળવવાના ઉદ્દેશ્યથી જીવતા

लब्धुं सजीवसदृशव्याघ्रादिमृतकलेवरनिर्माणादौ, तथा-पूजन=वस्त्ररत्नादिलाभस्तदर्थम्, यथा-देवीपूजार्थं बलिदानादौ,

तथा-जातिमरणमोचनार्थम् = जन्ममरणबन्धपरिहारार्थं=यथा मोक्षकामनया यागादौ, यथा-वातादिव्याधिप्रतीकाराय तैलादौ, सः-जीवनसुखाद्यर्थी स्वयमेव त्रसकायशस्त्रं समारभते=व्यापारयति, अन्यैर्वा त्रसकायशस्त्रं समारम्भयति=प्रयोजयति, अन्यान् वा त्रसकायशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानाति=अनुमोदयति, तत्=त्रसकायसमारम्भणम्, तस्य=त्रसकाय समारम्भं कुर्वत, कारयितु, अनुमोदयितुश्च, अहिताय भवति। तथा तत्-तस्य अबोधये=सम्यक्त्वालाभाय भवति।

जीवित व्याघ्र आदि के समान व्याघ्र आदि का कलेवर बनाने में, और पूजक के लिए जैसे वस्त्र रत्न आदि का प्राप्ति के लिए, तथा-देवीकी पूजा करने के लिए प्रयोजन से बलिदान आदि करने में हिंसा करते हैं।

तथा-जन्म-मरण-बंध आदि से छुटकारा पाने के लिए, जैसे-मोक्ष की कामना से यज्ञ आदि करने में, वात आदि के रोगों का प्रतीकार करने के लिए तैल आदि तैयार करने में, जीवन के सुख का अर्थी स्वयं ही त्रसकाय के शस्त्र का समारंभ करता है, दूसरों से त्रसकाय के शस्त्र का समारंभ कराता है और त्रसकाय के शस्त्र का समारंभ करने वालों का अनुमोदन करता है। यह त्रसकाय का आरंभ उस आरंभकर्ता के लिए अहितकर और अबोधिजनक होता है।

વાઘના સમાન વાઘ આદિનું કલેવર બનાવવામાં અને પૂજન માટે જેમકે-વસ્ત્ર, રત્ન આદિ પ્રાપ્તિ માટે તથા દેવીની પૂજા કરવાના પ્રયોજનથી બલિદાન આદિ કરવામા હિંસા કરે છે

તથા-જન્મ, મરણ, બંધ આદિથી છુટવા માટે જેમકે-મોક્ષની કામનાથી યજ્ઞ આદિ કરવામાં, વાત આદિ રોગનો પ્રતિકાર કરવા માટે (રોગની દવા કરવા માટે) જીવનના સુખના અર્થી સ્વય-પોતેજ ત્રસકાયના શસ્ત્રનો સમારભ કરે છે બીજા પાસે ત્રસકાયના શસ્ત્રનો સમારભ કરાવે છે અને ત્રસકાયના શસ્ત્રનો સમારભ કરવાવાળાને અનુમોદન આપે છે તે ત્રસકાયનો આરભ એ આરભ કરનારને માટે અહિતકર્તા અને અબોધિ ઉત્પન્ન કરનાર છે

वेदनाद्वारम्-

अत्र प्रसङ्गतस्त्रसकायस्य वेदनोच्यते-वेदना यथासम्भवं द्विविधा-कायिकी, मानसी च। शल्यसूच्यादिवेधाज्जाता, ज्वरातिसारकासादिव्याधिजनिता वा कायिकी, प्रियवियोगादिकृता मानसी ॥ सू० ५ ॥

येन तु तीर्थङ्करादिसमीपे त्रसकायस्वरूपं परिज्ञातं स एवं विभावयतीत्याह— 'से तं' इत्यादि।

मूलम्—

से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अनगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवइ, एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु

वेदनाद्वार-

प्रसंग पाकर त्रसकाय की वेदना का निरूपण किया जाता है—यथासंभव वेदना दो प्रकार की है—कायिक और मानसिक। कांटे, सूई आदि चुभने से अथवा ज्वर, अतिसार, खांसी आदि रोगों से उत्पन्न होने वाली वेदना कायिक कहलाती हैं। प्रिय वस्तु के वियोग आदि कारणों से होने वाली वेदना मानसिक वेदना है ॥ सू० ५ ॥

जिसने तीर्थंकर आदि के समीप त्रसकायका स्वरूप समझ लिया है, वह इस प्रकार विचारता है—'से त' इत्यादि।

मूलार्थ—भगवान् अथवा अनगारों के समीप सुनकर वह त्रसकाय का ज्ञाता त्रसकाय को जानता हुआ संयम धारण करके इस प्रकार जानता है—यह त्रसकाय का आरंभ

વેદનાદ્વાર—

પ્રસંગ હોવાથી ત્રસકાયની વેદનાનું નિરૂપણ કરવામાં આવે છે—સાધારણ રીતે વેદના બે પ્રકારની છે—કાયિક અને માનસિક કાંટા, સોય આદિ વાગવાથી, અથવા જ્વર-તાવ, અતિસાર-ઝાડા, ખાંસી આદિ રોગોથી ઉત્પન્ન થવાવાળી વેદના કાયિક કહેવાય છે પ્રિય વસ્તુના વિયોગ વગેરેના કારણોથી થનારી વેદના માનસિક-વેદના છે ॥સૂ૦૫॥

જેણે તીર્થંકર આદિના સમીપમાં ત્રસકાયનું સ્વરૂપ સમજી લીધું છે, તે આ પ્રમાણે વિચારે છે—'સે ત' ઈત્યાદિ.

મૂલાર્થ—ભગવાન અથવા અણગારોના સમીપ સાંભળીને તે ત્રસકાયના જ્ઞાતા ત્રસકાયને જાણતા થકા સંયમ ધારણ કરીને આ પ્રમાણે જાણે છે-આ ત્રસકાયનો આરંભ

मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं गढिए लोए, जमिण विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेण, तसकायसत्थं समारभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ॥ सू० ६ ॥

छाया—

स तत् संबुध्यमान आदानीय समुत्थाय श्रुत्वा भगवतोऽनगाराणां वा अन्तिके, इहैकेषां ज्ञातं भवति-एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरकः । इत्यर्थं गृद्धो लोकः, यदिमं विरूपरूपैः शस्त्रैः त्रसकायसमारम्भेण त्रसकायशस्त्रं समारभमाणोऽन्यान् अनेकरूपान् प्राणान् विहिनस्ति ॥ सू० ६ ॥

टीका—

य खलु भगवतः तीर्थङ्करस्य, अनगाराणां=तदीयश्रमणनिर्ग्रन्थानां वा अन्तिके श्रुत्वा, आदानीयम्=उपादेयं सर्वसावद्ययोगविरतिरूपं चारित्रं, समुत्थाय=अङ्गीकृत्य, विरहति, स तत्=त्रसकायसमारम्भणं संबुध्यमानः=अहितात्बोधिजनकत्वेन विज्ञाता सन् एवं विभावयति—

ग्रन्थ है, यह मोह है, यह मार है, यह नरक है । लोलुप लोग नाना प्रकार के शस्त्रों द्वारा त्रसकायका आरंभ करके, त्रसकायका आरंभ करते हुए अनेक प्रकारके अन्य प्राणियोंका (भी) विराघात करते हैं ॥ सू० ६ ॥

टीकार्थ—जो पुरुष भगवान् तीर्थंकर के मुख से अथवा उनके अनुयायी निर्ग्रन्थ श्रमणों के मुख से सुनकर सब सावद्य के त्यागरूप चारित्र को अंगीकार करके विचरता है, वह त्रसकाय के समारंभ को अहितकर और अबोधिजनक समझता है । वह इस प्रकार सोचता है—

ग्रन्थ छे, आ मोह छे, आ मार छे, आ नरक छे, लोलुप लोक नाना प्रकारनां शस्त्रोद्वारा त्रसकायनो आरंभ करीने, त्रसकायनो आरंभ करता थका अनेक प्रकारना अन्य प्राणीओनो पण घात करे छे ॥सू० ६॥

टीकार्थ—जे पुरुष भगवान तीर्थंकरना मुखथी अथवा तेमना अनुयायी निर्ग्रन्थ श्रमणोना मुखथी सांभळीने सर्व सावद्य त्यागरूप चारित्रने अंगीकार करीने विचरे छे ते त्रसकायना समारंभने अहितकर अने अबोधिकर—अबोधि उत्पन्न करनार समजे छे ते आ प्रमाणे विचार करे छे—

इह=मनुष्यलोके, एकेषां=श्रमणनिर्ग्रन्थोपदेशसजातसम्यगवबोधवैराग्याणा मात्मार्थिनामेव ज्ञात भवति । किं ज्ञात भवती ?-त्याकाङ्क्षायामाह—' एस खलु ग्रन्थः ' इत्यादि ।

एष=त्रसकायसमारम्भः, खलु=निश्चयेन, ग्रन्थः=कर्मबन्धः, कारणे कार्योपचारात्, एवमग्रेऽपि बोध्यम् । तथा एषः=त्रसकायसमारम्भ मोह= विपर्यास –अज्ञानम् । तथा–एष एव मारः=मरण निगोदादिमरणरूप । तथा–एष एव नरकः=नारकजीवानां दशविधयातनास्थानम् ।

इत्यर्थम्=एतदर्थं=ग्रन्थ–मोह–मरण–नरकरूप घोरदु'खफल प्राप्यापि पुनः पुनरेतदर्थमेव लोकः=अज्ञानवशवर्ती जीवः, गृद्ध =लिप्सुरस्ति । यद्वा–गृद्धः= भोगाभिलाषी, लोकः=संसारी जीव , इत्यर्थम्=एतदर्थमेव=ग्रन्थमोहमरणनरकार्थ मेव प्रवर्तते ।

इस मनुष्य लोक में श्रवण निर्ग्रन्थों के उपदेश से सम्यग् ज्ञान और वैराग्य प्राप्त कर लेने वाले ही यह जान लेते हैं कि–त्रसकाय का समारंभ निश्चय ही कर्मबंध है । यहाँ कारण में कार्यका उपचार करके कर्मबंध के कारण को कर्मबंध कहा है । आगे भी इसी प्रकार समझना चाहिए । यह त्रसकाय का समारम मोह अर्थात् अज्ञान है । वह मार अर्थात् निगोद आदि में मृत्यु का कारण है । यह समारम नरक है अर्थात् दस प्रकार की नारकीय यातना का स्थान है ।

ग्रंथ, मोह, मरण और नरकरूप घोर दु'खमय फल प्राप्त करके भी अज्ञानी लोग बार–बार इसी के इच्छुक होते हैं । अथवा भोगों की अभिलाषा करने वाले ससारी लोग इस ग्रन्थ, मोह, मार और नरक के लिए ही प्रवृत्ति करते हैं ।

આ મનુષ્ય લોકમાં નિર્ગ્રન્થોના ઉપદેશથી સમ્યગ્જ્ઞાન અને વૈરાગ્ય પ્રાપ્ત કરી–લેવાવાળાજ એમ જાણી શકે છે કે–ત્રસકાયનો સમારભ નિશ્ચયજ ગ્રથ–કર્મબધ છે અહિં કારણમાં કાર્યનો ઉપચાર કરીને કર્મબધના કારણને કર્મબધ કહ્યો છે આગળ પણ આ પ્રમાણે સમજવું જોઈએ

આ ત્રસકાયનો સમારભ મોહ અર્થાત્ અજ્ઞાન છે આ માર અર્થાત્ નિગોદ આદિમાં મૃત્યુનું કારણ છે આ સમારભ નરક છે અર્થાત્ દસ પ્રકારની નારકીય યાતનાનું સ્થાન છે

ગ્રથ, મોહ, મરણ અને નરકરૂપ ઘોર દુખમય ફલ પ્રાપ્ત કરીને પણ અજ્ઞાની લોક વારવાર તેની ઇચ્છાવાળા થાય છે અથવા ભોગોની અભિલાષા કરવાવાળા સસારી લોક આ ગ્રથ, મોહ, માર અને નરક માટેજ પ્રવૃત્તિ કરે છે

'लोक पुन पुनर्ग्रन्थाद्यर्थमेव प्रवर्तते' इति यदुक्त, तत् कथ ज्ञायते ? इति जिज्ञासायामाह—' यदिमम्. ' इत्यादि ।

यद्=यस्माद्, विरूपरूपै =नानाविधै. शस्त्रैः=पूर्वोक्तप्रकारै त्रसकायसमारम्भेण= त्रसकायोपमर्दनरूपसावद्यव्यापारेण, इम=त्रसकाय विहिनस्ति । तथा त्रसकाय-शस्त्र समारभमाण =व्यापारयन् अन्यान् पृथ्वीकायादीन् स्थावरान्, प्राणान्= प्राणिन , विहिनस्ति=उपमर्दयति ॥ सू० ६ ॥

यस्मै प्रयोजनाय त्रसकायो हन्यते, तत् प्रयोजन यद्यपि-'इमस्स चेव जीवियस्स ' इत्यादिनाऽभिहितम्, तथापि विशिष्य तत्तत्प्रयोजन पुन प्रदर्शयितुमाह- ' से वेमि ' इत्यादि ।

लोग बारम्बार ग्रथ आदि के लिए ही प्रवृत्ति करते हैं, यह बात कैसे मालूम हुई ? इस का समाधान के लिए कहते हैं—'यदिमम्' इत्यादि ।

क्यों कि वे नाना प्रकार के शस्त्रों द्वारा त्रसकाय का समारंभ करके त्रसकाय की हिंसा करते हैं और त्रसकाय का समारभ करते हुए पृथ्वीकाय आदि अन्य स्थावर प्राणियों का भी विराधना करते हैं ॥ सू० ६ ॥

जिस प्रयोजन से त्रसकाय की हिंसा की जाती है वह योजन 'इस जीवन के सुख के लिए' इत्यादि कथन द्वारा बतलाया जा चुका है, फिर भी विशेष रूप से उस हिंसाका प्रयोजन बतलाने के लिए श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं—'से बेमि ' इत्यादि ।

લોક વારવાર ગ્રથ આદિના માટેજ પ્રવૃત્તિ કરે છે એ વાત કેવી રીતે માલૂમ પડી ? એનુ સમાધાન કરવા માટે કહે છે –' यदिमम् ' ઇત્યાદિ

કેમ કે નાના પ્રકારના શસ્ત્રોદ્વારા ત્રસકાયનો સમારભ કરીને ત્રસકાયની હિંસા કરે છે, અને ત્રસકાયનો સમારભ કરતા થકા પૃથ્વીકાય આદિ અન્યસ્થાવર પ્રાણીઓનો પણ ઘાત કરે છે ॥ સૂ० ૬ ॥

જે પ્રયોજનથી ત્રસકાયની હિંસા કરવામા આવે છે તે પ્રયોજન "આ જીવનના સુખ માટે" ઇત્યાદિ વિવેચનદ્વારા બતાવ્યુ છે (બતાવી ચૂકયા છીએ.) ફરી પણ વિશેષરૂપથી એ હિંસાનુ પ્રયોજન બતાવવા માટે શ્રી સુધર્મા સ્વામી કહે છે– ' से बेमि ' ઇત્યાદિ.

इह=मनुष्यलोके, एकेषां=श्रमणनिर्ग्रन्थोपदेशसजातसम्यगवबोधवैराग्याणा मात्मार्थिनामेव ज्ञात भवति । किं ज्ञातं भवती ?–त्याकाङ्क्षायामाह—' एष खलु ग्रन्थः ' इत्यादि ।

एष=त्रसकायसमारम्भः, खलु=निश्चयेन, ग्रन्थ'=कर्मबन्धः, कारणे कार्योपचारात्, एवमग्रेऽपि बोध्यम् । तथा एषः=त्रसकायसमारम्भः मोह.= विपर्यासः–अज्ञानम् । तथा–एष एव मार.=मरण निगोदादिमरणरूप । तथा–एष एव नरकः=नारकजीवानां दशविधयातनास्थानम् ।

इत्यथम्=एतदर्थं=ग्रन्थ–मोह–मरण–नरकरूपं घोरदु खफलं प्राप्यापि पुन पुनरेतदर्थमेव लोकः=अज्ञानवशवर्ती जीवः, गृद्ध =लिप्सुरस्ति । यद्वा–गृद्धः= भोगाभिलाषी, लोकः=ससारी जीव , इत्यर्थम्=एतदर्थमेव=ग्रन्थमोहमरणनरकार्थ मेव प्रवर्तते ।

इस मनुष्य लोक में श्रमण निर्ग्रंथों के उपदेश से सम्यग् ज्ञान और वैराग्य प्राप्त कर लेने वाले ही यह जान लेते हैं कि–त्रसकाय का समारंभ निश्चय ही कर्मबंध है । यहाँ कारण में कार्यका उपचार करके कर्मबंध के कारण को कर्मबंध कहा है । आगे भी इसी प्रकार समझना चाहिए । यह त्रसकाय का समारंभ मोह अर्थात् अज्ञान है । यह मार अर्थात् निगोद आदि में मृत्यु का कारण है । यह समारंभ नरक है अर्थात् दस प्रकार की नारकीय यातना का स्थान है ।

ग्रंथ, मोह, मरण और नरकरूप घोर दु खमय फल प्राप्त करके भी अज्ञानी लोग बार–बार इसी के इच्छुक होते हैं । अथवा भोगों की अभिलाषा करने वाले ससारी लोग इस ग्रंथ, मोह, मार और नरक के लिए ही प्रवृत्ति करते हैं ।

આ મનુષ્ય લોકમા નિર્ગ્રન્થોના ઉપદેશથી સમ્યગ્જ્ઞાન અને વૈરાગ્ય પ્રાપ્ત કરી–લેવાવાળાજ એમ જાણી શકે છે કે–ત્રસકાયનો સમારભ નિશ્ચયજ ગ્રથ–કર્મબધ છે અહિં કારણમાં કાર્યનો ઉપચાર કરીને કર્મબધના કારણને કર્મબધ કહ્યો છે આગળ પણ આ પ્રમાણે સમજવું જોઈએ

આ ત્રસકાયનો સમારભ મોહ અર્થાત્ અજ્ઞાન છે આ માર અર્થાત્ નિગોદ આદિમા મૃત્યુનું કારણ છે આ સમારભ નરક છે અર્થાત્ દસ પ્રકારની નારકીય યાતનાનું સ્થાન છે

ગ્રથ, મોહ, મરણ અને નરકરૂપ ઘોર દુ ખમય ફલ પ્રાપ્ત કરીને પણ અજ્ઞાની લોક વારવાર તેની ઇચ્છાવાળા થાય છે અથવા ભોગોની અભિલાષા કરવાવાળા સસારી લોક આ ગ્રથ, મોહ, માર અને નરક માટેજ પ્રવૃત્તિ કરે છે

टीका—

यदर्थं त्रसजीवा हन्यन्ते, तद् ब्रवीमि-अप्येके=केचिच्च, अत्रापि-शब्द' वक्ष्यमाणापेक्षया समुच्चयार्थ', अर्चायै-अर्च्यते=पूज्यते-इत्यर्चा=शरीर, तदर्थं घ्नन्ति=हिंसन्ति, यथा सुलक्षण पुरुष व्यापाद्य तच्छरीरेण विद्यामन्त्र, साधयन्ति, यद्वा-स्वर्णपुरुषनिर्माणार्थं द्वात्रिंशल्लक्षण पुरुष प्रतप्ततैले निक्षिप्य निघ्नन्ति। तथा अप्येके=केचन अजिनाय=चर्मार्थं मृगव्याघ्रादीन् घ्नन्ति। तथा अप्येके=केचन मांसाय छागादीन् घ्नन्ति। अप्येके=केचन शोणिताय=त्रिशूलालेखकरणादौ शोणित ग्रहीतु घ्नन्ति। एव हृदयाय=हृदय गृहीत्वा साधका मथ्नन्ति, तदर्थं घ्नन्ति। पित्ताय मयूरादीन, वसायै व्याघ्रादीन्, पिच्छाय मयूरादीन्, पुच्छाय रोझादीन, वालाय चमर्यादीन्, शृङ्गाय मृगादीन्,

---

टीकार्थ—हे जम्बू जिस प्रयोजन से त्रसकाय की हिंसा होती है, वह कहता हूँ। कोई-कोइ अर्चा अर्थात् शरीर के लिए विराधना करते हैं, जैसे किसी पुरुष को अच्छे लक्षण वाला समझकर उसे मार डालते हैं, और उसके शरीर से विद्या तथा मंत्र का साधन करते हैं। अथवा स्वर्णपुरुष के निर्माण के लिए बत्तीस लक्षण वाले पुरुष को तपे हुए तेल में डालकर मारते हैं। कोइ चर्म के लिए मृग और वाघ आदि का घात करते हैं। कोइ मांस के लिए बकरा आदि को मारते हैं। कोई त्रिशूल का चिह्न बनाने आदि के लिए तथा रक्त पीने के उद्देश्य से घात करते हैं। इसी प्रकार हृदय के लिए घात करते हैं—घातक लोग हृदय लेकर मथते हैं। इसी तरह पित्तके लिए मयूरों को चर्बीके लिए वाघ आदि को, पखों के लिए मयूरों को, पूछके लिए रोझ आदि को, वाल के

ટીકાર્થ—જે પ્રયોજનથી ત્રસજીવોની હિંસા થાય છે, તે કહું છું કોઈ-કોઈ અર્ચા અર્થાત્ શરીરના માટે ઘાત કરે છે જેમકે-કોઈ પુરૂષને સારા લક્ષણવાળો સમજીને તેમ મારી નાખે છે, અને તેના શરીરથી વિદ્યા તથા મંત્રની સાધના કરે છે અથવા-સ્વર્ણ પુરૂષના નિર્માણ માટે બત્રીસ લક્ષણવાળા પુરૂષને તપાવેલા તેલમાં નાખીને મારે છે કોઈ ચામડા માટે મૃગ અને વાઘ વગેરેનો ઘાત કરે છે કોઈ માસ માટે બકરા વગેરેને મારે છે કોઈ ત્રિશૂલનુ ચિહ્ન બનાવવા વગેરે માટે લોહી પ્રાપ્ત કરવાના ઉદ્દેશ્યથી ઘાત કરે છે એ પ્રમાણે કોઈ હૃદય માટે ઘાત કરે છે-ઘાતકી લોક હૃદય લઈને મથે છે એ પ્રમાણે પિત્ત માટે મોરને, ચરબી માટે વાઘ આદિને વાળ માટે ચમરી-ગાય આદિને, શીંગ માટે મૃગ આદિને મારે છે વિષાણ-શબ્દ જો કે હાથી

मूलम्—

से बेमि—अप्पेगे अच्चाए हणति, अप्पेगे अजिणाए वहंति, अप्पेगे मंसाए वहंति, अप्पेगे सोणियाए वहति, एवं हिययाए, पित्ताए, वसाए, पिच्छाए, पुच्छाए, वालाए, सिंगाए, विसाणाए, दंताए, दाढाए, णहाए, ण्हारूणीए, अट्ठीए, अट्ठिमिंजाए, अट्ठाए, अणट्ठाए, अप्पेगे 'हिंसिंसु मे' त्ति वा वहंति, अप्पेगे 'हिंसति मे' त्ति वा वहंति, अप्पेगे 'हिंसिस्सति मे' त्ति वा वहंति ॥ सू० ७ ॥

छाया—

तद् ब्रवीमि—अप्येके अर्चायै घ्नन्ति, अप्येके अजिनाय घ्नन्ति, अप्येके मांसाय घ्नन्ति, अप्येके शोणिताय घ्नन्ति एवं हृदयाय, पित्ताय, वसायै, पिच्छाय, पुच्छाय वालाय, शृङ्गाय, विषाणाय, दन्ताय, दंष्ट्रायै, नखाय, स्नायवे, अस्थ्ने, अस्थिमज्जायै, अर्थाय, अनर्थाय, अप्येके 'अवधीपुरस्मा'—निति वा घ्नन्ति, अप्येके 'हिंसन्त्यस्मा' निति वा घ्नन्ति, अप्येके 'हनिष्यन्त्यस्मा'—निति वा घ्नन्ति ॥ सू० ७ ॥

मूलार्थ—मैं वह (प्रयोजन) कहता हूँ—कोई अर्चा शरीर के लिए त्रसकाय की विराधना करते हैं, कोई चर्म—चमड़े के लिए घात करते हैं, कोई मांस के लिए घात करते हैं, कोई रक्त के लिए घात करते हैं, कोई हृदय के लिए, पित के लिए, चर्बी के लिए पंख के लिए, पूँछ के लिए, बाल के लिए, सींग के लिए, विषाण (सुअर का दांत) के लिए, दांत (हाथीदांत) के लिए, दाढों के लिए, नख के लिए, स्नायु के लिए, हड्डी के लिए, मज्जा के लिए, अर्थ के लिए, अनर्थ के लिए—(निरर्थक) कोई 'हमें मारा था' इस भावना से, कोई 'हमें मारता है' इस भावना से, और कोई 'हमें मारेगा' इस भावना से त्रसकाय का घात करते हैं ॥ सू० ७ ॥

મૂલાર્થ—હું કહું છુ —કોઈ અર્ચા (શરીર) માટે ત્રસકાયનો ઘાત કરે છે કોઈ ચામડી માટે ઘાત કરે છે કોઈ માંસ માટે ઘાત કરે છે કોઈ રક્ત-લોહી માટે ઘાત કરે છે કોઈ હૃદય માટે, પિત્ત માટે, ચરબી માટે, પાંખો માટે, પૂછડા માટે, વાળ માટે, શીંગડા માટે, વિષાણુ (સુવરના દાત) માટે, હાથી દાંત માટે, દાઢ માટે, નખ માટે, સ્નાયુ માટે, હાડકાં માટે, મજ્જા માટે, અર્થ માટે અનર્થ-(નિરર્થક) કોઈ 'અમને માર્યા હતા' એ ભાવનાથી, કોઈ 'અમને મારે છે' એ ભાવનાથી, અને કોઈ 'અમને મારશે' આ ભાવનાથી ત્રસકાયનો ઘાત કરે છે ॥ સૂ૦ ૭ ॥

टीका—

यदर्थं त्रसजीवा हन्यन्ते, तद् ब्रवीमि-अप्येके=केचिच्च, अत्रापि-शब्द वक्ष्यमाणापेक्षया समुच्चयार्थ', अर्चायै—अर्च्यते=पूज्यते—इत्यर्चा=शरीर, तदर्थं घ्नन्ति=हिंसन्ति, यथा सुलक्षण पुरुष व्यापाद्य तच्छरीरेण विद्यामन्त्र, साधयन्ति, यद्वा-स्वर्णपुरुषनिर्माणार्थं द्वात्रिंशल्लक्षण पुरुष प्रतप्ततैले निक्षिप्य निघ्नन्ति। तथा अप्येके=केचन अजिनाय=चर्मार्थं मृगव्याघ्रदीन् घ्नन्ति। तथा अप्येके=केचन मांसाय छागादीन् घ्नन्ति। अप्येके=केचन शोणिताय= त्रिशूलालेखकरणादौ शोणित ग्रहीतु घ्नन्ति। एव हृदयाय=हृदय गृहीत्वा साधका मथ्नन्ति, तदर्थं घ्नन्ति। पित्ताय मयूरादीन, वसायै व्याघ्रादीन्, पिच्छाय मयूरादीन्, पुच्छाय रोझादीन, वालाय चमर्यादीन, शृङ्गाय मृगादीन्,

---

टीकार्थ—हे जम्बू जिस प्रयोजन से त्रसकाय की हिंसा होती है, वह कहता हूँ। कोई—कोई अर्चा अर्थात् शरीर के लिए विराधाना करते हैं, जैसे किसी पुरुष को अच्छे लक्षण वाला समझकर उसे मार डालते हैं, और उसके शरीर से विद्या तथा मत्र का साधन करते हैं। अथवा स्वर्णपुरुष के निर्माण के लिए बत्तीस लक्षण वाले पुरुष को तपे हुए तेल में डालकर मारते हैं। कोई चर्म के लिए मृग और वाघ आदि का घात करते हैं। कोई मास के लिए बकरा आदि को मारते हैं। कोइ त्रिशूल का चिन्ह बनाने आदि के लिए तथा रक्त पीने के उद्देश्य से घात करते हैं। इसी प्रकार हृदय के लिए घात करते हैं—घातक लोग हृदय लेकर मथते हैं। इसी तरह पित्तके लिए मयूरों को चर्बीके लिए वाघ आदि को, पखों के लिए मयूरों को, पूछके लिए रोझ आदि को, बाल के

ટીકાર્થ—જે પ્રયોજનથી ત્રસજીવોની હિંસા થાય છે, તે કહું છુ કોઈ-કોઈ અર્ચા અર્થાત્ શરીરના માટે ઘાત કરે છે જેમકે–કોઈ પુરૂષને સારા લક્ષણવાળો સમજીને તેમ મારી નાખે છે, અને તેના શરીરથી વિદ્યા તથા મત્રની સાધના કરે છે અથવા–સ્વર્ણ પુરૂષના નિર્માણ માટે બત્રીસ લક્ષણવાળા પુરૂષને તપાવેલા તેલમાં નાખીને મારે છે કોઈ ચામડા માટે મૃગ અને વાઘ વગેરેનો ઘાત કરે છે કોઈ માસ માટે બકરા વગેરેને મારે છે કોઈ ત્રિશૂલનુ ચિહ્ન બનાવવા વગેરે માટે લોહી પ્રાપ્ત કરવાના ઉદ્દેશ્યથી ઘાત કરે છે એ પ્રમાણે કોઈ હૃદય માટે ઘાત કરે છે—ઘાતકી લોક હૃદય લઈને મથે છે એ પ્રમાણે પિત્ત માટે મોરને, ચરબી માટે વાઘ આદિને વાળ માટે ચમરી–ગાય આદિને, શીંગ માટે મૃગ આદિને મારે છે વિષાણ–શબ્દ જે કે હાથી

विषाणाय, विषाणशब्दो गजदन्ते रूढस्तथापीह शूकरदन्तो ग्राह्य', तदर्थं शूकरम्, दन्ताय हस्त्यादीन, दंष्ट्रायै वराहादीन्, नखाय व्याघ्रादीन, स्नायवे गवादीन, अस्थ्ने शङ्खादीन, अस्थिमज्जायै–अस्थिमज्जा=अस्थिगतरस', तदर्थं, महीषादीन्, घ्नन्ति। इत्थम्–अर्थाय=प्रयोजनवशात् केचिद् घ्नन्ति। तथा– अनर्थाय=विनाऽपि प्रयोजन केचिद् घ्नन्ति। अप्येके=केचिच्च, "इमे व्याघ्रसर्पशूकरादय शत्रवो वा अस्मान अपीडयन्, अस्मदीयान वाऽवधिषु:" इति द्वेषवासनया घ्नन्ति। अप्येके=केचिच्च, "इमे व्याघ्रादयः शत्रवो वा वर्तमानकालेऽस्मान्, अस्मदीयान् वा हिंसन्ति" इति मत्वा घ्नन्ति।

लिए चमरी गाय आदि को, सींग के लिए मृग आदि को मारते हैं। विषाण शब्द यद्यपि हाथीदांत के अर्थ में रूढ है तथापि यहां 'सुअर का दांत' अर्थ लेना चाहिए। सुअर के दांत के लिए सुअर का घात किया जाता है। दांत के लिए हाथी आदि को, दाढों के लिए शूकर वगैरह को, नख के लिए बाघ आदि को, स्नायु के लिए गाय आदि को, हड्डी के लिए शंख आदि को, अस्थिमज्जा अर्थात् हड्डियों में रहने वाले एक प्रकार के रस के लिए भैंसा वगैरह का घात करते हैं। इस प्रकार कोई-कोई प्रयोजन के लिए त्रसजीवों की हिंसा करते हैं और कोई-कोई विना प्रयोजन ही हिंसा करते हैं। कोई-कोई 'इस बाघ, सर्प और शूकरने तथा शत्रुओंने हमें पीडा पहुँचाई है, अथवा हमारे आत्मीयजन का वध किया है' इस प्रकार की द्वेष-वासना से इनका घात करते हैं। कोई लोग यह सोचकर कि-'ये व्याघ्र आदि अथवा शत्रु वर्तमान कालमें हमें या हमारे लोगोंको मारते हैं' उनका घात करते हैं। कोई लोग यह विचार करके कि-'यह

દાંતના અર્થમાં રૂઢ છે તો પણ અહિં 'સૂઅરનાં દાંત' એવો અર્થ લેવો જોઇએ સૂઅરના દાંત માટે સૂઅરનો ઘાત કરવામાં આવે છે દાંત માટે હાથી આદિનો, દાઢોને માટે શૂકર-ભૂંડ વગેરેનો, નખ વગેરે માટે વાઘ આદિનો, સ્નાયુને માટે ગાય આદિનો, હાડકાં વગેરે માટે શંખ આદિનો, અસ્થિમજ્જા અર્થાત્, હાડકાંમાં રહેનારા એક પ્રકાર રસ માટે ભેંસા-પાડા વગેરેનો ઘાત કરે છે, આ પ્રમાણે કોઈ-કોઈ પ્રયોજન માટે ત્રસ જીવોની હિંસા કરે છે અને કોઈ-કોઈ પ્રયોજન વિનાજ હિંસા કરે છે કોઈ-કોઈ 'આ વાઘ સર્પ અને શૂકર-ભૂંડે તથા શત્રુઓએ અમને પીડા પહોંચાડી હતી અથવા અમારા આત્મીય જનનો (તેણે) વધ કર્યો હતો.' આ પ્રકારે દ્વેષ-વાસનાથી તેનો ઘાત કરે છે કોઈ માણસ એવો વિચાર કરીને કે-'આ વાઘ આદિ, અથવા શત્રુ વર્તમાન કાલમાં અમે અથવા

अप्येके=केचिच्च, 'अस्मान् अस्मदीयान् वा इमे व्याघ्रादय शत्रवो वा हनिष्यन्ति" इति हेतोस्त्रसकायान् घ्नन्ति ॥ सू० ७ ॥

एवं त्रसकायसमारम्भ विदित्वा मुनित्वलाभाय तत्समारम्भ' सर्वथा परिहर्तव्या, इत्याशयेनोद्देशकार्थमुपसहरन्नाह—" एत्थ सत्थं " इत्यादि ।

मूलम्—

एत्थ सत्थ समारभमाणस्स इच्चेते आरभा अपरिण्णाया भवति । एत्थ सत्थ असमारभमाणस्स इच्चेते आरभा परिण्णाया भवति, त परिण्णाय मेहावी णेव सय तसकायसत्थ समारभेज्जा, णेवऽण्णेहिं तसकायसत्थ समारभावेज्जा, णेवऽण्णे तसकायसत्थ समारंभंते समणुजाणेज्जा । जस्सेते तसकायसमा-

---

व्याघ्र आदि अथवा यह शत्रु हमें या हमारों को मारेंगे' उन्हें मार डालते हैं । इस प्रकार लोग त्रसकाय की हिंसा करते हैं ॥ सू० ७ ॥

इस प्रकार त्रसकाय के समारभ को जानकर साधुता प्राप्त करने के लिए त्रसकाय का आरभ सर्वथा त्याग देना चाहिए । इस आशय से इस उद्देश का उपसहार करते हुए कहते हैं–'एत्थ सत्थ', इत्यादि ।

मूलार्थ—त्रसकाय में शस्त्र का समारभ करने वाले को यह आरभ अपरिज्ञात होते है । त्रसकाय में शस्त्र का समारभ नही करने वाले को यह आरभ परिज्ञात होते हैं । मेधावी पुरुष उन्हें जानकर स्वय त्रसकाय में शस्त्र का समारभ न करे, दूसरों से त्रसकाय के शस्त्र का समारभ न करावे, और त्रसकाय में शस्त्र का समारभ करने वाले का अनु

અમારાને મારે છે' તેથી તેનો ઘાત કરે છે કોઈ લોક 'આ વાઘ આદિ અથવા આ શત્રુ અને અથવા અમારાને મારશે.' એવું વિચારીને તેને મારી નાંખે છે આ પ્રમાણે લોક ત્રસકાયની હિંસા કરે છે ॥ સૂ૦ ૭ ॥

આ પ્રમાણે ત્રસકાયના સમારભને જાણીને સાધુતા પ્રાપ્ત કરવા માટે ત્રસકાયનો આરભ સર્વથા ત્યાગી દેવો જોઈએ–ત્યજી દેવો જોઇએ. એ આશયથી આ ઉદ્દેશકનો ઉપસહાર કરતા થકા કહે છે–'एत्थ सत्थ' ઇત્યાદિ.

મૂલાર્થ—ત્રસકાયને વિષે શસ્ત્રનો સમારભ કરવાવાળાને આ આરભ અપરિજ્ઞાત હોય છે ત્રસકાયને વિષે શસ્ત્રનો સમારભ નહિ કરવાવાળાને આ આરભ પરિજ્ઞાત છે (જાણવામાં છે) બુદ્ધિમાન પુરૂષ તેને જાણીને પોતે ત્રસકાયમા શસ્ત્રનો સમારભ કરે નહિ બીજા પાસે ત્રસકાયના શસ્ત્રનો સમારભ કરાવે નહિ અને ત્રસકાયમાં શસ્ત્રનો સમારભ

रमा परिण्णाया भवति, से हु मुणी परिण्णाय कम्मे-त्ति बेमि ॥ सू० ८ ॥

छट्ठो उद्देसो समत्तो ॥ ६ ॥

छाया—अत्र शस्त्र समारभमाणस्यइत्येते आरम्भा अपरिज्ञाता भवन्ति । अत्र शस्त्रसमारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाता भवन्ति, त परिज्ञाय मेधावी नैव स्वय त्रसकायशस्त्र समारभेत, नैवान्यैस्त्रसकायशस्त्रं समारम्भयेत्, त्रसकायशस्त्रं समारभमाणान् अन्यान् न समनुजानीयात् । यस्यैते त्रसकायशस्त्रसमारम्भाः परिज्ञाता भवन्ति, स खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा, इति ब्रवीमि ॥ सू० ८ ॥

॥ षष्ठोद्देशः समाप्तः ॥ ६ ॥

टीका—अत्र=अस्मिन् त्रसकाये, शस्त्र=पूर्वोक्तप्रकार, समारभमाणस्य=व्यापारयत, इत्येते=पूर्वोक्ताः त्रिकरणत्रियोगैः आरम्भाः=वनस्पतिकायोपमर्दनरूपाः सावद्यव्यापारा, अपरिज्ञाताः=कर्मबन्धकारणत्वेनानवगता भवन्ति ।

अत्र=अस्मिन्नेवत्रसकाये, शस्त्रं=प्रागुक्तप्रकारम्, असमारभमाणस्य=अप्रयुञ्जानस्य, इत्येते=पूर्वोक्ता, आरम्भाः=सावद्यव्यापारा परिज्ञाता भवन्ति=ज्ञपरिज्ञया बन्धकारणत्वेन विज्ञाता भवन्ति, प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिवर्जिता भवन्तीत्यर्थः ।

मोदन न करे । जो त्रसकाय के समारभो का ज्ञाता है वही मुनि है, परिज्ञातकर्मा है ॥सू० ८॥

टीकार्थ—त्रसकाय के विषय में पूर्वोक्त शस्त्रों का व्यापार करने वाले को 'तीन करण और तीन योग से होने वाले सावद्य व्यापार कर्मबंध के कारण हैं' ऐसा ज्ञान नहीं होता ।

और त्रसकाय में पूर्वोक्त शस्त्रों का व्यापार न करने वाला पूर्वोक्त सावद्य व्यापारों को ज्ञपरिज्ञा से कर्मबंध का कारण समझता है और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उनका त्याग कर देता है ।

કરવાવાળાને અનુમોદન આપે નહિ, જે ત્રસકાયના સમારંભને જાણે છે તેજ મુનિ છે પરિજ્ઞાતકર્મા છે ॥સૂ૦ ૮॥

ટીકાર્થ—ત્રસકાયના વિષયમાં પૂર્વોક્ત (આગળ કહેલાં) શસ્ત્રોનો વ્યાપાર કરવાવાળા 'ત્રણ કરણ અને ત્રણ યોગથી થવાવાળો સાવદ્ય વ્યાપાર કર્મબંધનું કારણ છે ' એ પ્રમાણે જાણતા નથી અને ત્રસકાયમાં પૂર્વોક્ત (આગળ કહેલા) શસ્ત્રોનો વ્યાપાર નહિ કરવાવાળા પૂર્વોક્ત (આગળ કહેલા) સાવદ્ય વ્યાપારોને જ્ઞપરિજ્ઞાથી કર્મબંધનું કારણ સમજે છે, અને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞાથી તેનો ત્યાગ કરી દે છે

ज्ञपरिज्ञापूर्विका प्रत्याख्यानपरिज्ञा यथा भवति त प्रकारं दर्शयति-' तत् परिज्ञाये '-त्यादि । तद्=त्रसकायारम्भणम्, परिज्ञाय=कर्मबन्धस्य कारणं भवतीत्यवबुध्य, मेधावी=हेयोपादेयविवेकनिपुण, नैव स्वयं त्रसकायशस्त्रं समारभेत= व्यापारयेत्, अन्यैर्वा नैव त्रसकायशस्त्र समारम्भयेत्, त्रसकायशस्त्र समारभमाणान् अन्यान् वा न समनुजानीयात्=नानुमोदयेत् ।

यस्यैते त्रसकायसमारम्भाः=त्रसकायोपमर्दकसावद्यव्यापारा, परिज्ञाताः= ज्ञपरिज्ञया बन्धकारणत्वेन विदिता, प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहृता भवन्ति, स एव परिज्ञातकर्मा=त्रिकरणत्रियोगैः परिवर्जितसकलसावद्यव्यापार, मुनिर्भवति । ' इति ब्रवीमि ' इति । अस्य व्याख्यान पूर्ववत् ॥ सू० ८ ॥

॥ इत्याचाराङ्गसूत्रस्याचारचिन्तामणिटीकायां प्रथमाध्ययने षष्ठ उद्देशक सपूर्णः ॥

ज्ञपरिज्ञापूर्वक होने वाली प्रत्याख्यानपरिज्ञा का स्वरूप शास्त्रकार दिखलाते हैं त्रसकाय के आरंभ को कर्मबंध का कारण जानकर बुद्धिमान् अर्थात् हेय-उपादेय का विवेकी पुरुष स्वयं त्रसकाय के शस्त्र का उपयोग न करे, दूसरों से त्रसकाय के शस्त्र का उपयोग न करावे और त्रसकाय के शस्त्र का उपयोग करनेवाले का अनुमोदन न करे ।

जिसने त्रसकाय का घात करने वाले सावद्य व्यापारों को ज्ञपरिज्ञा से बंध का कारण समझ लिया है और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग दिया है वही तीन करण तीन योग से सर्व सावद्य व्यापारों का ज्ञाता पुरुष मुनि होता है । 'त्ति बेमि' पदकी व्याख्या पहले के समान समझनी चाहिए ॥ सू० ८ ॥

श्री आचाराङ्गसूत्रके प्रथम अध्ययन का छठा उद्देश समाप्त १-६ ॥

ज्ञपरिज्ञापूर्वक थवावाळी प्रत्याख्यानपरिज्ञानुं स्वरूप शास्त्रकार बतावे छे- त्रसकायना आरंभने कर्मबंधनुं कारण जाणीने बुद्धिमान अर्थात् हेय-उपादेयनो विवेकी पुरुष पोते त्रसकायना शस्त्रनो उपयोग करे नहि, बीजा पासे त्रसकायना शस्त्रनो उपयोग करावे नहि, अने त्रसकायना शस्त्रनो उपयोग करवावाळाने अनुमोदन आपे नहि.

जेणे त्रसकायनो घात करवावाळा सावद्य व्यापारोने ज्ञपरिज्ञाथी बंधनुं कारण समजी लीधुं छे, अने प्रत्याख्यानपरिज्ञाथी त्यजी दीधुं छे ते त्रण करण, त्रण योगथी सर्वसावद्यव्यापारोना ज्ञाता-अणुकार पुरुष मुनि होय छे ' त्ति बेमि ' पदनी व्याख्या पहेला प्रमाणे समजी लेवी जोईए. ॥सू० ८॥

॥श्री आचारागसूत्रना प्रथम अध्ययननो छठ्ठो उद्देश समाप्त ॥१।६॥

। अथ सप्तमोद्देशकः ।

वायुकायस्य चाक्षुषप्रत्यक्षविषयत्वाभावात् तस्य सचित्तत्वे स्वतः श्रद्धा नोत्पद्यते, किन्तु पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणां, द्वीन्द्रियादेस्त्रसकायस्य च स्वरूपं विदित्वा जातश्रद्धो वायुकायं सुतरां विजानातीत्याशयेन तद्विषयकश्चरमः सप्तमोऽयमुद्देशक आरभ्यते ।

यथा वायुकायोपमर्दननिवृत्त्या मुनित्वं प्राप्यते, तं प्रकारं प्रदर्शयितुमाह— 'पहू एजस्स.' इत्यादि ।

मूलम्—

पहू एजस्स दुगुंछणाए आयकदंसी अहियं-ति नच्चा । जे अज्झत्थं

सातवाँ उद्देश-

वायुकाय के जीव चक्षु के गोचर नहीं होते, अत एव वायु की सचित्तता में स्वतः श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती । किन्तु पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रियों का, तथा द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों का स्वरूप समझ लेने से जिसे श्रद्धा उत्पन्न होगई है वह वायुकाय को स्वयं ही जान लेता है । इस आशय से वायुकायसंबंधी यह अंतिम सातवाँ उद्देश आरंभ किया जाता है ।

वायुकाय की हिंसा त्यागने से ही साधुपन प्राप्त होता है, यह बात आगे प्रदर्शित करते हैं —'पहू एजस्स' इत्यादि ।

मूलार्थ—दुःखदर्शी पुरुष (वायुकाय के आरंभ को) अहितकर जानकर वायुकाय के आरम्भ को त्यागने में समर्थ होता है । जो अध्यात्म को जानता है वह

સાતમો ઉદ્દેશ-

વાયુકાયના જીવ નેત્રથી જોવામા આવતા નથી, એ કારણથી વાયુની સચિત્તતામાં સ્વતઃ શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન થતી નથી. પરન્તુ પૃથ્વીકાય આદિ એકેન્દ્રિયોના તથા દ્વીન્દ્રિય આદિ ત્રસ જીવોના સ્વરૂપને સમજી લેવાથી જેને શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન થઈ ગઈ છે, તે વાયુકાયને પોતેજ જાણી લે છે એ આશયથી વાયુકાયસંબંધી આ અંતિમ-છેલ્લા સાતમા ઉદ્દેશનો આરંભ કરવામાં આવે છે

વાયુકાયની હિંસા ત્યાગવાથી સાધુતા પ્રાપ્ત થાય છે એ વાત આગળ બતાવે છે—'पहू एजस्स' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—દુઃખદર્શી પુરૂષ (વાયુકાયના આરંભને) અહિતકર જાણીને વાયુકાયના આરંભને ત્યજી દેવામા સમર્થ હોય છે, જે અધ્યાત્મને જાણે છે તે બહારને જાણે છે,

(सुहमदुह?)
जाणइ, से बहिया जाणइ, जे बहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ। एयं तुल्लमन्नेसिं। इह सतिगया दविया णावकंखंति जीविउं ॥ सू० १ ॥

छाया—

प्रभु' एजस्य जुगुप्सायाम् आतङ्कदर्शी अहित-मिति ज्ञात्वा। यः अध्यात्मं जानाति, स बहिर्जानाति। यः बहिर्जानाति स अध्यात्म जानाति। एतत् तुल्य-मन्येषाम्। इह शान्तिगता' द्रविकाः नावकाङ्क्षन्ति जीवितुम् ॥ सू० १ ॥

टीका—

यः आतङ्कः=कृच्छ्रजीवनं, दुःखं, तच्च शारीरमानसभेदाद् द्विविधम्, तत्र कण्टकशस्त्रादिजनितं शारीरम्, प्रियवियोगाप्रियसंयोगाभिलषितालाभदारिद्र्यादि कृतं मानसम्। एतद् द्विविधदुःखरूपमातङ्कं पश्यति तच्छीलश्चेत्यातङ्कदर्शी, यद्वा-षड्जीवकायसमारम्भेण वायुकायसमारम्भेण वा यद्दुःखं स आतङ्कः, त

बाह्य को जानता है, जो बाह्य को जानता है वह अध्यात्म को जानता है। यह (सुख-दुःख) दूसरों का भी अपने समान है। उपशम को प्राप्त और राग-द्वेष से रहित संयमी पुरुष, पर की हिंसा करके अपने जीवन की इच्छा नहीं करते ॥ सू० १ ॥

टीकार्थ—कष्टमय जीवन या दुःख को आतंक कहते हैं। शारीरिक और मानसिक भेद से दुःख दो प्रकार का है। कंटक एवं शस्त्र आदि से होने वाला दुःख शारीरिक कहलाता है। प्रियवियोग और अप्रियसंयोग, इष्ट की अप्राप्ति और दरिद्रता आदि से होने वाला दुःख मानसिक कहलाता है, इन दोनों प्रकार के दुःखरूप आतंक को देखने वाला आतंकदर्शी कहलाता है। अथवा षड्जीवनिकाय या वायुकाय के समारम्भ से होने वाला दुःख आतंक कहलाता है, और उसे देखने वाला आतंकदर्शी है। यह

જે બહારને જાણે છે તે અધ્યાત્મને જાણે છે આ (સુખ-દુઃખ) બીજાઓને પણ આપણા સમાન છે

ઉપશમને પ્રાપ્ત અને રાગ-દ્વેષથી રહિત સંયમી પુરૂષ પરની-બીજાની હિંસા કરીને પોતાના જીવનની ઇચ્છા કરતા નથી. ॥ સૂ૦ ૧ ॥

ટીકાર્થ—કષ્ટમય જીવન અથવા દુઃખને આતંક કહે છે શારીરિક અને માનસિક ભેદથી દુઃખ બે પ્રકારના છે કંટક અર્થાત્ શસ્ત્ર આદિથી થવાવાળાં દુઃખ શારીરિક કહેવાય છે પ્રિયવિયોગ અને અપ્રિયસંયોગ, ઇષ્ટની અપ્રાપ્તિ અને દરિદ્રતા આદિથી થનારા દુઃખો તે માનસિક કહેવાય છે આ બન્ને પ્રકારનાં દુઃખરૂપ આતંકને જોવાવાળા આતંકદર્શી કહેવાય છે અથવા ષડ્જીવનિકાય અથવા વાયુકાયના સમારંભથી

पश्यतीत्यातङ्कदर्शी भवति, स हिताहितविवेककुशलत्वाद् अहितम्=अशुभकरं वायुकायसमारम्भगमस्तीति ज्ञात्वा, एजस्य=एजतीत्येजः कम्पनशीलत्वाद् वायुः, तस्य, जुगुप्सायां=निन्दायां, सेवनपरिवर्जने समारम्भनिवृत्तौ, इति यावत्,

प्रभुः=समर्थो भवति। जुगुप्सा, संयमना, अकरणा, वर्जना, व्यावर्तना, निवृत्तिरित्येकार्थाः।

अयमाशयः—वायुकायसमारम्भकरणे शारीरं मानसं च सर्वमेव दुःखं मयि समापद्येत, तस्मादिदमातङ्कजनकत्वादहितमिति विज्ञाता, तत्सेवनलक्षणसमारम्भपरिहरणे समर्थो भवतीति।

यः अध्यात्मम्=आत्मनीति अध्यात्मम् स्वात्मगतं सुखं दुःखं वेत्यर्थः,

---

हित—अहित के विवेक में कुशल होने से वायुकाय के आरम्भ को अहितकर समझकर वायु के आरम्भ का त्याग करने में समर्थ होता है। मूल में आये हुए जुगुप्सा (दुगुंछा) शब्द के कई अर्थ होते हैं। जैसे—संयमन, अकरण (न करना), वर्जन (त्यागना), व्यावर्तन (हटना) और निवृत्ति (त्याग)।

आशय यह है—'वायुकाय का आरम्भ करने से मुझे शारीरिक और मानसिक सभी दुःख प्राप्त होंगे अतः यह आरम्भ आतंकजनक होने के कारण अहितकर है'। ऐसा जानने वाला उसके सेवनरूप आरम्भ के त्याग में समर्थ होता है।

जो अध्यात्म को अर्थात् अपने आत्मा में स्थित सुख—दुःख को जानता है

बनारु दुःख आतंक कहेवाय छे, अने एने जोवावाळा आतंकदर्शी छे. ते हित-अहितना विवेकमां कुशळ होवाना कारणथी वायुकायना आरंभने अहितकर समजीने वायुना आरंभने त्याग करवामां समर्थ होय छे. मूळमां आवेला 'दुगुंछणा–जुगुप्सा' शब्दना केटलाय अर्थ थाय छे जेमके—संयमन, अकरणु–(नहि करवुं) वर्जन, (त्यागवुं) व्यावर्तन, (हटवुं) अने निवृत्ति (त्याग).

आशय ए छे के—'वायुकायनो आरंभ करवाथी मने शारीरिक अने मानसिक सर्व दुःख प्राप्त थशे; ए माटे ए आरंभ आतंकजनक होवाना कारणे अहितकर छे' ए प्रमाणे जाणवावाळा एना सेवनरूप आरंभना त्यागमां समर्थ होय छे.

जे अध्यात्मने अर्थात् पोताना आत्मामां स्थित सुख–दुःखने जाणे छे, ते बाह्य

जानाति स बहिः=परकीयं सुखं दुःखं वा जानाति। ममात्मनि दुःखमसातवेदनीय-कर्मोदयात् समापतितं, सुखमपि सातवेदनीयकर्मोदयात् स्वानुभवसिद्धम्, एवं स्वात्मगतसुखदुःखमत्यक्षेण परकीयसुखदुःखानुमानं कर्तुं शक्नोतीत्यर्थः। उक्तमर्थं दृढीकर्तुं पुनस्तमेव परावर्त्तयन्नाह—'यः बहिर्जानाति' इत्यादि।

यः, बहिः=परात्मगतं सुखं दुःखं वा जानाति, स अध्यात्मं=स्वात्मगतं सुखं दुःखं वा जानाति। परेषां स्वस्य च सुखदुःखयोरनुकूलप्रतिकूलवेदनीयरूपे स्वरूपे साम्यादिति भावः।

यद्वा-परविराधनापरिहारेण तत्फलभूतं स्वात्मनः सुखं, तथा परपीडनेन तत्फलभूतं स्वात्मनो दुःखं भवति, एवं परकीयमेव सुखं दुःखं वा

वह बाह्य अर्थात् दूसरे के सुख-दुःख को जानता है। मेरे आत्मा में असातावेदनीय कर्म के उदय से दुःख आया है और सातावेदनीय कर्म के उदय से सुख स्वानुभव सिद्ध है। इस प्रकार अपने आत्मा का सुख और दुःख जो प्रत्यक्ष से जानता है, वह दूसरों के सुख-दुःख का अनुमान कर सकता है। इसी अभिप्राय को पुष्ट करने के लिए यही बात पलटकर कहते हैं—जो बाह्य को जानता है वह अध्यात्म को जानता है।

अर्थात्—जो पराये सुख-दुःख को जानता है वह अपने आत्मा के सुख दुःख को जानता है। पराये और अपने सुख-दुःख का अनुकूल वेदन और प्रतिकूल वेदन रूप स्वरूप समान है।

अथवा-परको पीड़ा पहुंचाने का त्याग करने से सुखरूप फल प्राप्त होता है और पीड़ा पहुंचाने से दुःख मिलता है। इस प्रकार पराया सुख और दुःख

અર્થાત્ બીજાના સુખ-દુઃખને જાણે છે મારા આત્માને વિષે અસાતાવેદનીય કર્મના ઉદયથી દુઃખ આવ્યું છે, અને સાતાવેદનીય કર્મના ઉદયથી સુખ સ્વાનુભવસિદ્ધ છે આ પ્રમાણે પોતાનાં આત્માના સુખ-દુઃખનું અનુમાન કરી શકે છે એ અભિપ્રાયને પુષ્ટ કરવા માટે એજ વાત પલટાવીને કહે છે—જે બાહ્યને જાણે છે તે અધ્યાત્મને જાણે છે

અર્થાત્—જે પરાયા સુખ-દુઃખને જાણે છે, તે પોતાના આત્માના સુખ-દુઃખને જાણે છે પરાયા-બીજાના અને પોતાના સુખ-દુઃખનું અનુકૂલ વેદન અને પ્રતિકૂલ વેદનરૂપ સ્વરૂપ સમાન છે

અથવા—બીજાને પીડા પહોંચાડવાના ત્યાગ કરવાથી સુખરૂપ ફલ પ્રાપ્ત થાય છે અને પીડા પહોંચાડવાથી દુઃખ મળે છે

पश्यतीत्यावङ्कदर्शी भवति, स हिताहितविवेककुशलत्वाद् अहितम्=अशुभकरं वायु कायसमारम्भगमस्तीति ज्ञात्वा, एजस्य=एजतीत्येजः कम्पनशीलत्वात् वायुः, तस्य, जुगुप्सायां=निन्दायां, सेवनपरिवर्जने समारम्भनिवृत्तौ, इति यावत् ,

प्रभुः=समर्थो भवति । जुगुप्सा, संयमना, अकरणा, वर्जना, व्यावर्तना, निवृत्तिरित्येकार्थाः ।

अयमाशयः—वायुकायसमारम्भकरणे शारीरं मानसं च सर्वमेव दुःखं मयि समापद्येत, तस्मादिदमातङ्कजनकत्वादहितमिति विज्ञाता, तत्सेवनलक्षणसमारम्भ परिहरणे समर्थो भवतीति ।

यः अध्यात्मम्=आत्मनीति अध्यात्मम् स्वात्मगतं सुखं दुःखं वेत्यर्थः,

---

हित–अहित के विवेक में कुशल होने से वायुकाय के आरम्भ को अहितकर समझकर वायु के आरम्भ का त्याग करने में समर्थ होता है । मूल में आये हुए जुगुप्सा (दुगुंछा) शब्द के कई अर्थ होते हैं । जैसे–संयमन, अकरण (न करना), वर्जन (त्यागना), व्यावर्तन (हटना) और निवृत्ति (त्याग) ।

आशय यह है–'वायुकाय का आरम्भ करने से मुझे शारीरिक और मानसिक सभी दुःख प्राप्त होंगे अतः यह आरम्भ आतंकजनक होने के कारण अहितकर है' । ऐसा जानने वाला उसके सेवनरूप आरम्भ के त्याग में समर्थ होता है ।

जो अध्यात्म को अर्थात् अपने आत्मा में स्थित सुख–दुःख को जानता है

थनारु दुःख आतंक कहेवाय छे, अने एने जोवावाळा आतंकदर्शी छे ते हित–अहितना विवेकमा कुशळ होवाना कारणथी वायुकायना आरंभने अहितकर समजीने वायुना आरंभनो त्याग करवामां समर्थ होय छे मूळमा आवेला 'दुगुंछणा–जुगुप्सा' शब्दना केटलाय अर्थ थाय छे जेमके–संयमन, अकरणु–(नहि करवुं) वर्जन, (त्यागवुं) व्यावर्त्तन, (हटवुं) अने निवृत्ति (त्याग)

आशय ए छे के–'वायुकायनो आरंभ करवाथी मने शारीरिक अने मानसिक सर्व दुःख प्राप्त थशे; ए माटे ए आरंभ आतंकजनक होवाना कारणे अहितकर छे.' ए प्रमाणे जाणवावाळा एना सेवनरूप आरंभना त्यागमां समर्थ होय छे

जे अध्यात्मने अर्थात् पोताना आत्मामा स्थित सुख–दुःखने जाणे छे, ते बाह्य

अन्यत्र च—" मर्तव्यमिति यद्दुःखं, पुरुषस्योपजायते ।

शक्यस्तेनानुमानेन, परोऽपि परिरक्षितुम् " ॥१॥ इति ।

स्वपर-सुखदुःखयोस्तुल्यत्ववेदिनो न वायुकायं विराधयन्तीत्याह-'इह शान्तिगता.' इत्यादि । इह=जिनप्रवचने, शान्तिगताः=स्वपरसुखदुःखयोः समत्वविज्ञानाद् औपशमिकभावं प्राप्ताः सम्यक्त्विन इत्यर्थः यद्वा=शान्तिः= सावद्यव्यापारपरिहारः, तामुपगताः द्रविकाः=रागद्वेषरहिताः, यद्वा-द्रवः= संयमः कर्मद्रावणकारित्वात्, स विद्यते येषां ते द्रविकाः= कर्मनिवारणशीलाः संयमिनः जीवितम्=व्यजनादिना वायुकायस्य समारम्भेण प्राणान् परिरक्षितुं नावकाङ्क्षन्ति=नेच्छन्ति ।

दूसरी जगह कहा है—

"तेरा मरना ही अच्छा है, ऐसा वाक्य सुनने मात्र से पुरुष को जो दुःख होता है, इसी से अंदाज लगाकर दूसरों की रक्षा करनी चाहिए " । १ ।

जो पुरुष स्व-पर सुख-दुःख को समान समझते हैं वे वायुकाय की विराधना नहीं करते, यही बात कहते हैं —

जिनशासन में अपने और पराये सुख-दुःख को समान समझकर जो उपशम भावको प्राप्त हुए हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि हैं, अथवा पापमय व्यापारों के त्यागी हैं, तथा राग-द्वेष से रहित हैं, अथवा कर्मों को निवारण करनेवाले संयम से विभूषित हैं, वे पंखा आदि से वायुकाय का समारम्भ करके अपने प्राणों की रक्षा करने की इच्छा नहीं करते ।

બીજી જગ્યાએ પણ કહ્યુ છે કેઃ-

"તારે મરવું જ સારૂ છે" એ પ્રમાણે સાંભળવાથી પુરૂષને જે દુઃખ થાય છે તે અનુમાનથી બીજાની રક્ષા કરવી જોઈએ ॥ ૧ ॥

જે પુરૂષ સ્વ-પરના (પોતાનાં અને પારકાના) સુખ-દુઃખને સમાન સમજે છે, તે વાયુકાયની વિરાધના કરતા નથી તે વાત કહે છે—

જિન શાસનમાં પોતાનાં અને બીજાના સુખ-દુઃખને સમાન સમજીને જે ઉપશમ ભાવને પ્રાપ્ત થયા છે, અર્થાત્ સમ્યગ્દષ્ટિ છે, અથવા પાપમય વ્યાપારોના ત્યાગી છે તથા રાગ-દ્વેષથી રહિત છે, અથવા કર્મોનું નિવારણ કરવાવાળા સંયમથી વિભૂષિત છે તે પંખા આદિથી વાયુકાયનો સમારંભ કરીને પોતાના પ્રાણોની રક્ષા કરવાની ઇચ્છા કરતા નથી.

स्वात्मनः सुखरूपेण दुःखरूपेण वा परिणम्यते। एवं तयोः कार्यकारणभावं यो विजानाति, स एव स्वात्मगतसुखदुःखविज्ञातेति भावः।

परकीयसुखदुःखविज्ञाता स्वात्मनः सुखं दुःखं वा जानातीत्युक्तार्थे हेतुं प्रदर्शयन्नाह– 'एयं तुल्लमन्नेसिं' इति। एतत्=सुखं दुःखं वा, तुल्यं=सदृशमेव, अन्येपाम्=परेषां जीवानां स्वस्य चेत्यर्थः।

" कट्ठेण कंटएण व, पाए विद्धस्स वेयणट्टस्स।
जा होइ अणिव्वाणी, णायव्वा सव्वजीवाणं॥
जह मम ण पियं दुक्खं, जाणिय एमेव जीवाणं "॥

छाया–– काष्ठेन कण्टकेन वा पादे विद्धस्य वेदनार्त्तस्य।
या भवति अनिर्वाणिः–ज्ञातव्या सर्वजीवानाम्॥
यथा मम न प्रियं दुःखं ज्ञात्वा एवमेव सर्वजीवानाम्। " इति।

ही अपने सुख–दुःख के रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार जो उनके कार्यकारण भाव को जानता है वही अपने आत्मा के सुख–दुःख का ज्ञाता होता है।

दूसरों के सुख–दुःख का ज्ञाता ही अपने सुख–दुःख को जानता है, इस कथन में हेतु दिखलाते हुए कहते हैं–'यह सुख और दुःख दूसरों के और अपने समान ही है'। कहा भी है:—

लकड़ी से या कंटक से पैर में विंध जाने की वेदना से पीड़ित पुरुष को जो असंतोष होता है, वही सब जीवों को होता है।

जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं है, उसी प्रकार अन्य अन्य प्राणियों को भी दुःख प्रिय नहीं हैं "।

આ પ્રમાણે બીજાના સુખ અને દુઃખજ પોતાના સુખ–દુઃખના રૂપમાં પરિણત થઈ જાય છે આ પ્રમાણે જે તેના કાર્ય–કારણ ભાવને જાણે છે, તેજ પોતાના આત્માનાં સુખ–દુઃખના જ્ઞાતા હોય છે

બીજાનાં સુખ–દુઃખનાં જ્ઞાતા જ પોતાના સુખ–દુઃખને જાણે છે આ કથનમાં હેતુ બતાવતા થકા કહે છે કે —

"આ સુખ અને દુઃખ બીજાનાં અને આપણાં સમાન છે" કહ્યું છે કે–

"લાકડીથી અથવા કાંટાથી પગમાં વિંધાઈ જવાની વેદનાથી પીડિત પુરુષને જે અતિવેદના થાય છે, તેવીજ સર્વ જીવોને (વેદના) થાય છે"

"જેમ મને દુઃખ પ્રિય નથી, તે પ્રમાણે બીજા પ્રાણીઓને પણ દુઃખ પ્રિય નથી"

लक्षणद्वारम्-

ननु कथमिदं ज्ञायते वायुः सचित्त इति ?, अत्रोच्यते-शृणुत तावदनुमानं प्रमाणम्, वायुश्चेतनावान् अनन्यप्रेरिताऽनियततिर्यग्गमनवत्त्वात्, हरिणगवयादिवदिति । अनियतविशेषणोपादानात् परमाणौ अपरप्रेरिततिर्यग्गतिसत्त्वेऽपि नानैकान्तिकत्वम्, तस्य हि परप्रयोगनिरपेक्षस्य स्वाभाविकी गतिरनुश्रेणिर्भवति तस्मात् सा नियतैव । आगमोऽपि प्रमाणं, यथा-दशवैकालिकसूत्रे-" वाउ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं " । इति,

वायुश्चित्तवानाख्यातोऽनेकजीवः पृथक्सत्त्वः अन्यत्र शस्त्रपरिणतात् । इति च्छाया,

लक्षणद्वार-

शंका—वायु सचित्त है, यह बात किस प्रकार जानी जाय ?

समाधान—पहले अनुमान प्रमाण ही लीजिए —वायु चेतनायुक्त है क्यों कि वह दूसरों की प्रेरणा बिना अनियत रूप से तिरछी गति करती है, जैसे हिरन, रोझ आदि । हेतु में 'अनियत' विशेषण लगा देने से प्रेरणा का अभाव और तिरछी गति होने पर भी परमाणु व्यभिचार नहीं होता । परमाणु दूसरे की प्रेरणा के बिना जो गति करता है वह गति श्रेणी के अनुसार नियत ही होती है—अनियत नहीं । इस विषय में आगम भी प्रमाण है । दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

" वायु सचित्त कही गई है । वह अनेक जीवोंवाली है, और उन जीवों का अस्तित्व पृथक्-पृथक् है । सिर्फ शस्त्रपरिणत वायु सचित्त नहीं है " ।

લક્ષણદ્વાર—

શંકા—વાયુ સચિત્ત છે એ વાત કેવી રીતે જાણી શકાય ?

સમાધાન—પ્રથમ અનુમાનપ્રમાણ લઈએ-વાયુ ચેતનાયુક્ત છે, કેમકે તે બીજાની પ્રેરણા વિના અનિયતરૂપથી તિરછી ગતિ કરે છે, જેમ-હરણ, રોઝ આદિ હેતુમાં 'અનિયત' વિશેષણ લગાવી દેવાથી પરપ્રેરણાનો અભાવ અને તિરછી ગતિ હોવા છતાંય પણ પરમાણુથી વ્યભિચાર થતો નથી, પરમાણુ બીજાની પ્રેરણા વિના જે ગતિ કરે છે, તે ગતિ શ્રેણી-અનુસાર નિયતજ હોય છે, અનિયત નહિ

આ વિષયમાં આગમ પણ પ્રમાણ છે દશવૈકાલિક સૂત્રમાં કહ્યું છે-

"વાયુ સચિત્ત કહેવામાં આવ્યો છે તે અનેક જીવવાળો છે અને તે જીવોનું અસ્તિત્વ પૃથક્-પૃથક્ (જુદ-જુદ) છે, માત્ર શસ્ત્રપરિણત વાયુ સચિત્ત નથી."

जिनप्रवचनोक्तचरणकरणसेविनः स्वप्राणरक्षणार्थमपि परजीवोपमर्दनं नेच्छन्ति, ते हि अचाक्षुषवायुजीवविराधनाविनिवृत्ताः कथमन्यचाक्षुषपृथिव्यादिजीवोपमर्दने प्रवर्तेरन्, न कथमपीति भावः।

अथ वायुकायस्य सम्यग्ज्ञानार्थं लक्षणाद्यष्ट द्वाराणि निरूपणीयानि। तत्र लक्षणप्ररूपणापरिमाणशस्त्रोपभोगद्वाराणि यथाक्रमं निरूप्यन्ते। अवशिष्ट वधवेदनानिवृत्ति द्वाराणि पृथिवीकायोद्देशे यथा कथितानि तथैवावगन्तव्यानि।

जिनागम में कथित चरण-करण का सेवन करने वाले अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए भी दूसरे जीव की हिंसा करने की अभिलाषा नहीं करते। वे चक्षु से न दिखाई देने वाले वायुकाय के जीवों की विराधना से भी निवृत्त होते हैं तो चक्षु गोचर अन्य पृथ्वीकाय आदि के जीवों की विराधना में कैसे प्रवृत्त हो सकते हैं-किसी प्रकार भी नहीं।

वायुकाय का सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिए लक्षण आदि आठ द्वारों का निरूपण करना चाहिए। उनमें से लक्षण, प्ररूपणा, परिमाण, शस्त्र और उपभोग द्वारों का क्रम से निरूपण करते हैं। शेष वध, वेदना और निवृत्ति द्वार जैसे पृथ्वीकाय के उद्देश में कहे हैं वैसे ही यहाँ समझ लेने चाहिए।

જિનાગમમાં કહેલા ચરણ-કરણનું સેવન કરવાવાળા પોતાના પ્રાણોની રક્ષા કરવા માટે પણ બીજા જીવોની હિંસા કરવાની અભિલાષા કરતા નથી તે નેત્રથી નહિ દેખાતા વાયુકાયના જીવોની વિરાધનાથી પણ નિવૃત્ત હોય છે, તો પછી નેત્રથી જોઈ શકાય તેવા બીજા પૃથ્વીકાય આદિના જીવોની વિરાધનામાં કેવી રીતે પ્રવૃત્ત થઈ શકે છે? કોઈ પ્રકારે પણ થઈ શકતા નથી.

વાયુકાયનું સમ્યગ્જ્ઞાન પ્રાપ્ત કરવા માટે લક્ષણ આદિ આઠ દ્વારોનું નિરૂપણ કરવું જોઈએ તેમાંથી લક્ષણ, પ્રરૂપણા, પરિમાણ, શસ્ત્ર અને ઉપભોગ દ્વારોનું ક્રમથી નિરૂપણ કરે છે, શેષ-(બાકી) વધ, વેદના અને નિવૃત્તિ દ્વાર જેવી રીતે પૃથ્વીકાયના ઉદ્દેશમાં કહ્યા છે, તેવીજ રીતે અહિં સમજી લેવું જોઈએ.

सचित्ताः, उद्गारोच्छ्वासादयोऽचित्ता' सचित्ताचित्तयो• समिश्रणेन मिश्रा• ।

परिमाणद्वारम्-

ये बादरपर्याप्तका वायुकायास्ते सवर्तितलोकप्रतरासख्येयभागवर्ति प्रदेशराशिपरिमाणाः, शेषास्त्रयोऽपि राशयः पृथगसख्येयलोकाकाशप्रदेश-परिमाणा भवन्ति, विशेषश्चायमत्रावगन्तव्य –बादराप्कायपर्याप्तकेभ्यो बादरवायु-पर्याप्तका असख्येयगुणाः, बादराप्कायाऽपर्याप्तकेभ्यो बादरवायुकायाऽ-पर्याप्तका असख्येयगुणाः । सूक्ष्माप्कायाऽपर्याप्तकेभ्य सूक्ष्मवायुकायाऽपर्याप्तका विशेषाधिका', सूक्ष्माप्कायपर्याप्तकेभ्यः सूक्ष्मवायुकायपर्याप्तका विशेषाधिका ॥ सू० १ ॥

(३) मिश्र । उत्कालिकावात आदि सचित्त हैं, उद्‌गार और उच्छ्वास आदि अचित्त हैं, और मिली हुई–सचित्त–अचित्त वायु मिश्र है ।

परिमाणद्वार–

बादरपर्याप्तवायुकाय के जीव संवर्तित लोकप्रतर के असख्यातवें भागवर्ती प्रदेशों के बराबर है । शेष तीनों प्रत्येक राशियाँ असख्यात लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर हैं । यहाँ इतनी विशेषता समझनी चाहिए–बादर अप्काय के पर्याप्त जीवों की अपेक्षा वायुकाय के बादर पर्याप्त असख्यात गुणा हैं । अप्काय के अपर्याप्त बादर जीवों से वायुकाय के अपर्याप्त बादर असख्यात गुणा हैं । अप्काय के सूक्ष्म अपर्याप्त जीवों से सूक्ष्म वायुकाय के अपर्याप्त विशेष अधिक हैं । अप्काय के सूक्ष्म पर्याप्त जीवों से सूक्ष्म वायुकाय के पर्याप्त विशेषाधिक हैं ॥ सू० १ ॥

ઉત્કાલિકાવાત આદિ સચિત્ત છે ઉદગાર અને ઉચ્છ્વાસ આદિ અચિત્ત છે અને સચિત્ત તથા અચિત્ત એ બન્ને એક સાથે મળેલા હોય તે વાયુ મિશ્ર છે

પરિમાણદ્વાર—

બાદરપર્યાપ્તવાયુકાયના જીવ સવર્તિત લોક પ્રતરના અસખ્યાતમા ભાગવર્તી પ્રદેશોના બરાબર છે બાકી ત્રણ પ્રત્યેક રાશીઓ અસખ્યાત લોકાકાશના પ્રદેશોની બરાબર છે અહિ એટલી વિશેષતા સમજવી જોઇએ—બાદર અપ્કાયના પર્યાપ્ત જીવોની અપેક્ષા વાયુકાયના બાદર પર્યાપ્ત અસખ્યાત ગણા છે અપ્કાયના અપર્યાપ્ત બાદર જીવોથી વાયુકાયના અપર્યાપ્ત બાદર અસખ્યાત ગણા છે અપ્કાયના સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત જીવોથી સૂક્ષ્મ વાયુકાયના અપર્યાપ્ત વિશેષ અધિક છે અપ્કાયના સૂક્ષ્મપર્યાપ્ત જીવોથી, સૂક્ષ્મ વાયુકાયના પર્યાપ્ત વિશેષાધિક છે ॥ સૂ૦ ૧ ॥

प्ररूपणाद्वारम्-

वायुकाया द्विविधाः-सूक्ष्मा बादराश्चेति । तत्र सूक्ष्माः सकललोकव्यापिनः, बादरास्तु लोकैकदेशे सन्ति । बादराः पञ्चविधा -उत्कलिकावातः, मण्डलिकावातः, गुञ्जावात, घनवातः, शुद्धवातश्चेति । ये तु ते पौरस्त्यादिभेदा लोकवादिप्रकरणे प्रागभिहितास्तेऽप्यत्रैवान्तर्भूताः । यः स्थित्वा स्थित्वा उत्कलिकाभिर्वाति स उत्कलिकावातः, वातोलीरूपो मण्डलिकावात, यो गुञ्जन् वाति स गुञ्जावातः, पृथिव्यादीनामाधारतया व्यवस्थितो हिमपटलकल्पोऽतिघनीभूतो घनवातः, मन्द स्तिमितः शीतकालादिषु शुद्धवात ।

संक्षेपेण वायुकायास्त्रिविधाः-सचित्ता अचित्ता मिश्राश्च । उत्कलिकावातादयः

प्ररूपणाद्वार-

वायुकाय दो प्रकार का है-सूक्ष्म और बादर । सूक्ष्म जीव समस्त लोक में रहते हैं । बादर पाँच प्रकार के हैं-(१) उत्कलिकावात (२) मण्डलिकावात (३) गुञ्जावात (४) घनवात और (५) शुद्धवात । पौरस्त्य आदि जो भेद लोकवादी के प्रकरण में पहले बतलाये हैं वे सब भी इन्हीं भेदों में अन्तर्गत हो जाते हैं । ठहर-ठहर कर उत्कलिकारूप से बहनेवाली वायु उत्कलिकावात है । वातोलीरूप वायु को मण्डलिकावात कहते हैं । गूँज-गूँज कर बहने वाली वायु को गुञ्जावात कहते है । पृथ्वी आदि के आधार पर स्थित हिमपटल के समान अत्यन्त सघन वायु को घनवात कहते हैं । शीतकाल आदि में धीमे-धीमे चलने वाली वायु शुद्धवात है ।

संक्षेप से वायुकाय के तीन भेद हैं-(१) सचित्त (२) अचित्त और

પ્રરૂપણાદ્વાર—

વાયુકાય બે પ્રકારના છે (૧) સૂક્ષ્મ અને (૨) બાદર સૂક્ષ્મ જીવ સમસ્ત લોકમા વ્યાપ્ત છે અને બાદર, લોકના એક-દેશમા રહે છે બાદર પાંચ પ્રકારના છે (૧) ઉત્કલિકાવાત, (૨) મંડલિકાવાત, (૩) ગુંજાવાત, (૪) ઘનવાત અને (૫) શુદ્ધવાત.

પૌરસ્ત્ય આદિ જે ભેદ લોકવાદીના પ્રકરણમા પહેલા બતાવ્યા છે, તે સર્વે આ ભેદોમા અન્તર્ગત થઇ જાય છે જરા-રહી-રહીને ઉત્કલિકારૂપમાં વહેવાવાળો વાયુ તે ઉત્કલિકાવાત છે વાતોલીરૂપ વાયુને મંડલિકાવાત કહે છે ગૂંજી-ગૂંજી ને વહેવાવાળી હવાને ગુંજાવાત કહે છે પૃથ્વીઆદિના આધારપર સ્થિતિ હિમપટલ સમાન અત્યન્ત સઘન વાયુને ઘનવાત કહે છે શીતકાલ આદિમા ધીમે-ધીમે વહેતો વાયુ તે શુદ્ધવાયુ છે

સંક્ષેપથી વાયુકાયના ત્રણ ભેદ છે (૧) સચિત્ત (૨) અચિત્ત અને (૩) મિશ્ર.

टीका—

लज्जमाना'=परमकरुणयाऽऽर्द्रचित्तया वायुकायसमारम्भे पराङ्मुखा, वायुकायसमारम्भपरित्यागिनोऽनागाराः, पृथक्=विभिन्ना, केचन प्रत्यक्षज्ञानिनोऽवधिमन पर्ययकेवलिन, केचित् परोक्षज्ञानिनो भावितात्मान' सन्तीति पश्य। यद्वा-पृथक्=द्रव्यलिङ्गिभ्य पृथग्भावेन सन्तीति पश्य। इमे वायुकायसमारम्भकरणे भीतास्त्रस्ता उद्विग्नास्त्रिकरणत्रियोगैर्वायुकायसमारम्भपरित्यागिनो विद्यन्ते इति विलोक्येत्यर्थः।

एके पुनरन्येतु 'वयमनगाराः स्म' ' इति साभिमानं प्रवदमानाः 'वयमेव वायुकायरक्षणपरा महाव्रतधारिण ' इति प्रलपन्तो द्रव्यलिङ्गिन. सन्ति, तान् पृथक् पश्य।

टीकार्थ—परम करूणा से आर्द्र-चित्त होने के कारण वायुकाय के समारम्भ से विमुख, वायुकाय के समारम्भ का सवथा त्याग करने वाले अनगार भिन्न हैं—कोई अवधि-ज्ञानी कोई मन पययज्ञानी और कोई केवलज्ञानी हैं, और कोई मतिश्रुतज्ञान के धारक भावितात्मा साधु हैं उन्हें देखो। अथवा उन्हें द्रव्यलिंगियों से भिन्न समझो। ये अनगार वायुकाय का समारम्भ करने में भीत हैं, त्रस्त हैं, उद्विग्न हैं तथा तीन करण तीन योग से वायुकाय का समारम्भ करने के त्यागी हैं।

और कोई—कोई 'हम अनगार हैं' इस प्रकार अभिमानपूर्वक कहते हुए, 'हम ही वायुकाय की रक्षा करने वाले पचमहाव्रतधारी हैं' ऐसा प्रलाप करने वाले द्रव्यलिंगी हैं, उन्हें अनगारों से अलग समझो।

ટીકાર્થ—પરમ કરુણાથી આર્દ્ર-ચિત્ત હોવાના કારણે વાયુકાયના સમારંભથી વિમુખ, વાયુકાયના સમારંભનો સર્વથા ત્યાગ કરવાવાળા અણગાર જૂદા છે-કોઈ અવધિજ્ઞાની, કોઈ મન પર્યયજ્ઞાની અને કોઈ કેવલજ્ઞાની છે, અને કોઈ મતિ-શ્રુત જ્ઞાનના ધારક ભાવિતાત્મા સાધુ છે, તેને જુઓ અથવા તેને દ્રવ્યલિંગિઓથી જૂદા જાણો, તે અણગાર વાયુકાયનો સમારંભ કરવામાં ભીત (બીવા વાળા) છે, ત્રસ્ત છે, ઉદ્વિગ્ન છે તથા ત્રણ કરણ ત્રણ યોગથી વાયુકાયનો સમારંભ કરવાના ત્યાગી છે

અને કોઈ-કોઈ 'અમે અણગાર છીએ' આ પ્રમાણે અભિમાનપૂર્વક કહે છે કે 'અમેજ વાયુકાયની રક્ષા કરવાવાળા પંચમહાવ્રતધારી છીએ ' એવો બકવાદ કરનારા દ્રવ્યલિંગી છે તેને અણગારોથી જૂદા જાણો.

अथ सर्वथा वायुकायसमारम्भपरित्यागिनोऽनगारान्, तथा वायुकाय समारम्भप्रवृत्तान् द्रव्यलिङ्गिनश्च विविच्य प्रतिबोधयितुमाह—'लज्जमाणा' इत्यादि।

अथ शस्त्रद्वारम्–

मूलम्—

लज्जमाणा पुढो पास। अणगारा मो–त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेण, वाउसत्थं समारभमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति ॥ सू० २ ॥

छाया—

लज्जमानाः पृथक् पश्य। अनगारा स्म इति एके प्रवदमाना, यदिमं विरूपरूपैः शस्त्रैः वायुकायसमारम्भेण, वायुकायशस्त्रं समारभमाणा अन्यान् अनेकरूपान् प्राणान् विहिंसन्ति ॥ सू० २ ॥

वायुकाय के समारंभ का सर्वथा त्याग करने वाले मुनियों को और वायुकाय के समारम्भ में प्रवृत्ति करने वाले द्रव्यलिंगियों को अलग–अलग बतलाने के लिए कहते हैं—'लज्जमाणा' इत्यादि।

शस्त्रद्वार–

मूलार्थ—वायुकाय का समारम्भ करने में संकोच करने वाले अनगारों को अलग देखो, और कोई–कोई 'हम अनगार हैं' ऐसा कहते हुए नाना प्रकार के शस्त्रों से वायुकाय का समारम्भ करके, वायुकाय का समारम्भ करते हुए अन्य अनेक प्रकार के प्राणियों की हिंसा करते हैं उनको अलग देखो ॥ सू० २ ॥

વાયુકાયના સમારભનો સર્વથા ત્યાગ કરવાવાળા મુનિઓને અને વાયુકાયના સમારભમા પ્રવૃત્તિ કરવાવાળા દ્રવ્યલિગિઓને જુદા–જુદા બતાવવા માટે કહે છે— 'लज्जमाणा' ઇત્યાદિ.

શસ્ત્રદ્વાર—

મૂલાર્થ—વાયુકાયના સમારભમાં સંકોચ કરવાવાળા અણગારોને જુદા જાણો, અને કોઈ–કોઈ 'અમે અણગાર છીએ' એવું કહેનારા અને નાના પ્રકારના શસ્ત્રોથી વાયુકાયનો સમારભ કરીને, વાયુકાયનો સમારભ કરતા થકા બીજા અનેક પ્રકારના પ્રાણિઓની હિંસા કરે છે તેને પણ જુદા–જુદા જાણો. ॥ સૂ० ૨ ॥

टीका—

लज्जमाना =परमकरुणयाऽऽर्द्रचित्तया वायुकायसमारम्भे पराङ्मुखाः, वायुकायसमारम्भपरित्यागिनोऽनागाराः, पृथक्=विभिन्ना, केचन प्रत्यक्षज्ञानिनोऽवधिमन:पर्ययकेवलिन, केचित् परोक्षज्ञानिनो भावितात्मान' सन्तीति पश्य। यद्वा-पृथक्=द्रव्यलिङ्गिभ्य पृथग्भावेन सन्तीति पश्य। इमे वायुकायसमारम्भकरणे भीतास्त्रस्ता उद्विग्नास्त्रिकरणत्रियोगैर्वायुकायसमारम्भपरित्यागिनो विद्यन्ते इति विलोकयेत्यर्थ ।

एके पुनरन्येतु 'वयमनगाराः स्मः' इति साभिमान मवदमाना. 'वयमेव वायुकायरक्षणपराः महाव्रतधारिण.' इति प्रलपन्तो द्रव्यलिङ्गिन. सन्ति, तान् पृथक् पश्य।

टीकार्थ—परम करूणा से आर्द्र-चित्त होने के कारण वायुकाय के समारम्भ से विमुख, वायुकाय के समारम्भ का सर्वथा त्याग करने वाले अनगार भिन्न हैं—कोई अवधिज्ञानी कोई मन:पर्ययज्ञानी और कोई केवलज्ञानी हैं, और कोई मतिश्रुतज्ञान के धारक भावितात्मा साधु हैं उन्हें देखो। अथवा उन्हें द्रव्यलिंगियों से भिन्न समझो। ये अनगार वायुकाय का समारम्भ करने में भीत हैं, त्रस्त हैं, उद्विग्न हैं तथा तीन करण तीन योग से वायुकाय का समारम्भ करने के त्यागी हैं।

और कोई-कोई 'हम अनगार हैं' इस प्रकार अभिमानपूर्वक कहते हुए, 'हम ही वायुकाय की रक्षा करने वाले पंचमहाव्रतधारी हैं' ऐसा प्रलाप करने वाले द्रव्यलिंगी हैं, उन्हें अनगारों से अलग समझो।

ટીકાર્થ—પરમ કરુણાથી આર્દ્ર-ચિત્ત હોવાના કારણે વાયુકાયના સમારંભથી વિમુખ, વાયુકાયના સમારંભનો સર્વથા ત્યાગ કરવાવાળા અણગાર જૂદા છે—કોઈ અવધિજ્ઞાની, કોઈ મન:પર્યયજ્ઞાની અને કોઈ કેવલજ્ઞાની છે, અને કોઈ મતિ-શ્રુત જ્ઞાનના ધારક ભાવિતાત્મા સાધુ છે, તેને જુઓ અથવા તેને દ્રવ્યલિંગિઓથી જૂદા જાણો, તે અણગાર વાયુકાયનો સમારંભ કરવામાં ભીત (બીવા વાળા) છે, ત્રસ્ત છે, ઉદ્વિગ્ન છે તથા ત્રણ કરણ ત્રણ યોગથી વાયુકાયનો સમારંભ કરવાના ત્યાગી છે

અને કોઈ-કોઈ 'અમે અણગાર છીએ' આ પ્રમાણે અભિમાનપૂર્વક કહે છે કે 'અમેજ વાયુકાયની રક્ષા કરવાવાળા પંચમહાવ્રતધારી છીએ' એવો બકવાદ કરનારા દ્રવ્યલિંગી છે તેને અણગારોથી જૂદા જાણો.

इमे खल्वनगाराभिमानिनो द्रव्यलिङ्गिनो मनागप्यनगारगुणेषु न प्रवर्तन्ते, नापि गृहस्थकृत्यं किञ्चित् परित्यजन्तीति दर्शयति—'यदिमम्' इत्यादि।

यत्=यस्मात्, विरूपरूपैः=विभिन्नस्वरूपैः, शस्त्रैः शस्त्रं हि द्रव्यभावभेदात् द्विविधम्, तत्र द्रव्यशस्त्रं-स्वकायपरकायोभयकायभेदात् त्रिविधम्। तत्र स्वकायशस्त्र-शीतवायोरुष्णवायुः, उष्णवायोश्च शीतवायुः पूर्वदिगादिवायोः पश्चिम दिगादिवायुः स्वकायशस्त्रम्। व्यजन-तालवृन्त-शूर्प-चामर-पत्र-वेलकर्णाभिधार णादयः, घर्मार्तो यत् बहिरवतिष्ठते वातागमनमार्गे साऽभिधारणा,

तथा-चन्दनोशीरादीनां गन्धा, अग्निज्वालाप्रतापश्च, तथा मुसलादिना

अनगार होने का अभिमान करने वाले ये द्रव्यलिंगी अनगार के गुणों में तनिक भी प्रवृत्ति नहीं करते और गृहस्थों के किसी कृत्य का त्याग नहीं करते हैं। यह आगे कहते हैं —

द्रव्यशस्त्र और भावशस्त्र के भेद से शस्त्र दो प्रकार का है। द्रव्यशस्त्र के तीन भेद हैं-(१) स्वकाय (२) परकाय और (३) उभयकायशस्त्र। उष्णवायु, शीतवायु का और शीतवायु, उष्णवायु का, तथा पूर्वादिदिशाओंका वायु, पश्चिमादिदिशाओं के वायु का स्वकायशस्त्र है, पंखा, तालवृन्त, सूप, चामर, पत्र, कपड़ा और अभिधारणा आदि, धूप से पीड़ित पुरुष हवा आने के रास्ते में ठहरता है उसको अभिधारणा कहते हैं।

तथा-चन्दन, खसखस आदि की गंध, आगकी ज्वाला ताप आदि परकायशस्त्र है।

અણગાર હોવાનું અભિમાન કરવાવાળાઓ દ્રવ્યલિંગી (સાચા) અણગારના ગુણોમાં જરા પણ પ્રવૃત્તિ કરતા નથી, અને ગૃહસ્થોના કોઈ પણ કાર્યનો ત્યાગ કરતા નથી તે આગળ કહે છે

દ્રવ્યશસ્ત્ર અને ભાવશસ્ત્રના ભેદથી શસ્ત્ર બે પ્રકારના છે, દ્રવ્યશસ્ત્રના ત્રણ ભેદ છે (૧) સ્વકાય, (૨) પરકાય, (૩) ઉભયકાય-શસ્ત્ર, ઉષ્ણવાયુ શીતવાયુનો અને શીતવાયુ ઉષ્ણવાયુનો તથા પૂર્વાદિ દિશાઓના વાયુનો પશ્ચિમ આદિ દિશાઓનો વાયુ સ્વકાયશસ્ત્ર છે વાંસનો બનાવેલો તથા તાડપત્રનો બનાવેલો પંખો, સૂપડા, ચામર, પત્ર, વસ્ત્રખંડ અને અભિધારણા આદિ, તાપથી પીડિત પુરુષ હવા આવવાના રસ્તામાં ઊભી જાય છે, તેને અભિધારણા કહે છે

તથા-ચન્દન, ખસખસ, આદિની ગંધ, અગ્નિ, અગ્નિની જ્વાલા તાપ આદિ લક્ષ

कण्डनं, तुषाद्यपसारणार्थं शूर्पास्फालनं, वस्त्रादिगतरजःप्रभृतिविवारणाय वस्त्रादीनामाच्छोटनमास्फोटनं प्रस्फोटनं च, तथा शीघ्रगमनं वायुकायस्य विराधकं परकायशस्त्रम्। उभयकायशस्त्रम्-अनावृतमुखेन भाषणम्, एतत्सर्वं द्रव्यशस्त्रम्। भावशस्त्रं तु मनोवाक्कायानां दुष्प्रणिधानम्। एवंविधैः शस्त्रैः, वायुकायसमारम्भेण=वायुकायोपमर्दकसावद्यव्यापारेण, इमं वायुकायं विहिंसन्ति।

वायुकायहिंसायां प्रवृत्ताः खलु षड्जीवनिकायरूपं लोकं सर्वमेव विहिंसन्तीत्याह—'वायुकायशस्त्रम्' इत्यादि। वायुकायशस्त्रं=वायुकायोपमर्दकं द्रव्यभावशस्त्रं पूर्वोक्तप्रकारं, समारभमाणाः=वायुकायं प्रति प्रयुञ्जानाः अन्यान्=वायुकायभिन्नान् अनेकरूपान् पृथिवीकायादीन् स्थावरान् द्वीन्द्रियादीन्त्रसांश्च प्राणान्=प्राणिनः, विहिंसन्ति।

मूसल से कूटना, छिलके हटाने के लिए सूप से फटकना, धूल-रेत आदि झाड़ने के लिए वस्त्र आदि को फटकारना-झटकना तथा जल्दी चलना भी वायुकाय का विराधक परकाय शस्त्र है खुले मुख से बोलना उभयकायशस्त्र। मन, वचन, और कायका अप्रशस्त व्यापार भावशस्त्र है। इन नाना प्रकार के शस्त्रों से द्रव्यलिंगी वायुकाय की हिंसा करने वाले सावद्य व्यापार करके वायुकाय की हिंसा करते हैं।

जो वायुकाय की हिंसा में प्रवृत्त होता है वह षट्कायरूप समस्त लोक की हिंसा करता है, यह कहते हैं-वायुकाय की विराधना करने वाले पूर्वोक्त द्रव्य और भावशस्त्रों का वायुकाय के प्रति प्रयोग करने वाले वायुकाय से भिन्न अनेक प्रकार के पृथ्वीकाय आदि स्थावरों की तथा द्वीन्द्रिय आदि त्रसजीवों की भी हिंसा करता हैं।

મૂસળથી કૂટવું, છાલ કાઢવા માટે, સૂપડાથી ઝાટકવું, ધૂળ-રેતી વગેરેને ખંખેરવા માટે વસ્ત્ર વગેરેને ઝાટકવું-પછાડવું, તથા જલદી-જલદી ચાલવું તે પણ વાયુકાયનું વિરાધક પરકાય શસ્ત્ર છે. ઉઘાડા-ખુલ્લા મોઢે બોલવું તે ઉભયકાયશસ્ત્ર છે આ સર્વ વાયુકાયનાં દ્રવ્યશસ્ત્ર છે, મન, વચન અને કાયાનો અપ્રશસ્ત (વખાણવા લાયક નહિ તે) વ્યાપાર તે ભાવશસ્ત્ર છે આ નાના પ્રકારના શસ્ત્રોથી દ્રવ્યલિંગી વાયુકાયની હિંસા કરવાવાળાઓ સાવદ્ય વ્યાપાર કરીને વાયુકાયની હિંસા કરે છે

જે વાયુકાયની હિંસામાં પ્રવૃત્ત થાય છે તે ષટ્કાયરૂપ સમસ્ત લોકની હિંસા કરે છે એ કહે છે-વાયુકાયની વિરાધના કરવાવાળા પૂર્વોક્ત દ્રવ્ય અને ભાવશસ્ત્રનો વાયુકાયના પ્રતિ પ્રયોગ કરવાવાળા વાયુકાયથી ભિન્ન અનેક પ્રકારના પૃથ્વીકાય આદિ સ્થાવરોની, તથા દ્વીન્દ્રિય આદિ ત્રસ જીવોની પણ હિંસા કરે છે.

इमे खल्वनगाराभिमानिनो द्रव्यलिङ्गिनो मनागप्यनगारगुणेषु न प्रवर्तन्ते, नापि गृहस्थकृत्यं किञ्चित् परित्यजन्तीति दर्शयति—'यदिमम्' इत्यादि ।

यद्=यस्मात्, विरूपरूपैः=विभिन्नस्वरूपैः, शस्त्रैः शस्त्रं हि द्रव्यभावभेदाद् द्विविधम्, तत्र द्रव्यशस्त्रं-स्वकायपरकायोभयकायभेदात् त्रिविधम् । तत्र स्वकायशस्त्रं-शीतवायोरुष्णवायुः, उष्णवायोश्च शीतवायुः पूर्वदिगादिवायोः पश्चिमदिगादिवायुः स्वकायशस्त्रम् । व्यजन-तालवृन्त-शूर्प-चामर-पत्र-चेलकर्णाभिधारणादयः, घर्मार्तो यद् बहिरवतिष्ठते वातागमनमार्गे साऽभिधारणा,

तथा-चन्दनोशीरादीनां गन्धाः, अग्निर्ज्वालाप्रतापश्च, तथा मुसलादिना

अनगार होने का अभिमान करने वाले ये द्रव्यलिंगी अनगार के गुणो में तनिक भी प्रवृत्ति नहीं करते और गृहस्थों के किसी कृत्य का त्याग नहीं करते हैं। यह आगे कहते हैं —

द्रव्यशस्त्र और भावशस्त्र के भेद से शस्त्र दो प्रकार का है। द्रव्यशस्त्र के तीन भेद हैं-(१) स्वकाय (२) परकाय और (३) उभयकायशस्त्र। उष्णवायु, शीतवायु का और शीतवायु, उष्णवायु का, तथा पूर्वादिदिशाओंका वायु, पश्चिमादिदिशाओं के वायु का स्वकायशस्त्र है, पंखा, तालवृन्त, सूप, चामर, पत्र, कपड़ा और अभिधारणा आदि, धूप से पीडित पुरुष हवा आने के रास्ते में ठहरता है उसको अभिधारणा कहते हैं।

तथा-चन्दन, खसखस आदि की गंध, आगकी ज्वाला ताप आदि परकायशस्त्र है।

અણગાર હોવાનું અભિમાન કરવાવાળાઓ દ્રવ્યલિંગી (સાધા) અણગારના ગુણોમાં જરા પણ પ્રવૃત્તિ કરતા નથી, અને ગૃહસ્થોના કોઈ પણ કાર્યનો ત્યાગ કરતા નથી તે આગળ કહે છે

દ્રવ્યશસ્ત્ર અને ભાવશસ્ત્રના ભેદથી શસ્ત્ર બે પ્રકારના છે, દ્રવ્યશસ્ત્રના ત્રણ ભેદ છે (૧) સ્વકાય, (૨) પરકાય, (૩) ઉભયકાય-શસ્ત્ર, ઉષ્ણવાયુ શીતવાયુનો અને શીતવાયુ ઉષ્ણવાયુનો તથા પૂર્વાદિ દિશાઓના વાયુનો પશ્ચિમ આદિ દિશાઓનો વાયુ સ્વકાયશસ્ત્ર છે વાંસનો બનાવેલો તથા તાલપત્રનો બનાવેલો પંખો, સૂપડા, ચામર, પત્ર, વસ્ત્રખંડ અને અભિધારણ આદિ, તાપથી પીડિત પુરુષ હવા આવવાના રસ્તામાં ઊભી જાય છે, તેને અભિધારણ કહે છે

તથા-ચન્દન, ખસખસ, આદિની ગંધ, અગ્નિ, અગ્નિની જ્વાલા, તાપ આદિ તથા

छाया—गन्धर्वनृत्यवादित्र-लवणजलारात्रिकादिदीपादयः।
यत्किञ्चित्कृत्य तत्सर्वमप्यवतरत्यग्रपूजायाम् ॥ १ ॥ इति।

किञ्च—सप्तदशभेदिपूजाविधावपि गीतनृत्यवाद्यानि कर्त्तव्यतयोपदिशन्ति।

किञ्चैकविंशतिविधपूजायामपि नृत्यगीतवादित्रैश्चामरवीजनैश्च वायुकायसमारम्भं कारयन्ति।

उक्तञ्च—"स्नाम विलेपनविभूषणपुष्पवास—
धूपप्रदीपफलतन्दुलपत्रपूगैः।
नैवेद्यवारिवसनैश्चमरातपत्र,-
वादित्रगीतनटनस्तुतिकोशवृद्ध्या ॥ १ ॥
इत्येकविंशविविधा जिनराजपूजा" इत्यादि।

"गाना, नाचना, बजाना, लवण-जल, आरती करना, दीपक जलाना आदि जितने कार्य हैं, वे सब अग्रपूजा में किये जाते हैं" ॥१॥

तथा वे द्रव्यलिंगी दण्डी 'सत्तरहप्रकार की पूजा में भी गीत, नृत्य और वाद्य आदि क्रियाएँ करनी चाहिए' ऐसा उपदेश देते हैं।

तथा इक्कीसभेदी पूजा में भी नृत्य, गीत, वादित्र तथा चामर और पंखा आदि के द्वारा वायुकाय का समारंभ कराते हैं। जैसा कहा है—

"स्नान, विलेपन, आभूषण, पुष्प, वास, धूप, दीप, फल, चावल पत्र, सुपारी, नैवेद्य जल, वस्त्र, चामर, छत्र, वादित्र, गीत, नाटय, स्तुति और कोशवृद्धि, इस तरह इक्कीस प्रकार की जिन भगवान् की पूजा होती है" ॥१॥

"ગાવું, નાચવું, બજાવવું, મીઠું, જલ, આરતી કરવી, દીપક-દીવો બાળવો આદિ જેટલા કાર્ય છે, તે સર્વ અગ્રપૂજામા કરવામા આવે છે" ॥ ૧ ॥

તથા તે દ્રવ્યલિંગી-દંડી 'સત્તરપ્રકારની પૂજામાં પણ હમેશાં નૃત્ય અને વાદ્ય વાજીંત્ર આદિ ક્રિયાઓ કરવી જોઇએ.' એવો ઉપદેશ આપે છે

તથા એકવીસભેદી પૂજામા પણ નૃત્ય, ગીત, વાજીંત્ર તથા ચામર અને પંખા આદિ દ્વારા વાયુકાયનો સમારંભ કરાવે છે જેમ કહ્યું પણ છે—

"સ્નાન, વિલેપન, આભૂષણ, પુષ્પ, વાસ, ધૂપ, દીપ, ફલ, ચોખા, પત્ર, સોપારી, નૈવેદ્ય, જલ, વસ્ત્ર, ચામર, છત્ર, વાજીંત્ર, ગીત, નાટક, સ્તુતિ અને કોશવૃદ્ધિ (ધર્માદાના નામે નાણુ-ધન-નીવૃદ્ધિ) આ પ્રમાણે એકવીસ પ્રકારની જિનભગવાનની પૂજા થાય છે" ॥૧॥

इह बहुविधद्रव्यलिङ्गिनो विद्यन्ते, तत्र शाक्यादयो व्यजनादिभिर्वायुकाय-समारम्भं कुर्वन्ति, कारयन्ति, कुर्वतोऽनुमोदयन्ति, तथा च सपातिमादीनां हिंसनेन षड्जीवनिकायविराधका भवन्ति। दण्डिनोपि-"वय पञ्चमहाव्रतधारिणो जिना ज्ञाराधका अनगाराः स्मः" इत्यादि प्रवदमाना' साध्वाभासा' सावद्यमुपदिशन्ति, शास्त्रप्रतिषिद्धमपि वायुकायसमारम्भं कुर्वन्ति, कारयन्ति च। ते हि अनावृतमुखेन वदन्ति गायन्ति च। तथा अग्रपूजादौ विविधवाद्यनृत्यादिकं कारयन्ति, एतत्सर्वं मिथ्यादर्शनशल्याभिधं पापमाचरन्ति।

उक्तञ्च—"गंधव्वनट्टवाइय-लवणजलारत्तिआइदीवाई।
ज किच्च त सव्वं-पि ओअरइ अग्गपूयाए" ॥ १ ॥

संसार में तरह-तरह के द्रव्यलिंगी हैं, उन में से शाक्य आदि पंखा वगैरह से वायुकाय का आरंभ करते हैं, कराते हैं और आरंभ करने वाले की अनुमोदना करते हैं, और सपातिम (उड़कर अचानक आजाने वाले) आदि जीवों की हिंसा करके षट्काय के विराधक बनते हैं। झूठे साधु दण्डी भी 'हम पंचमहाव्रतधारी तथा जिन भगवान् की आज्ञा के आराधक अनगार हैं' इस प्रकार कहते हुए सावद्य का उपदेश देते हैं। शास्त्र में निषिद्ध वायुकाय का समारंभ करते हैं और कराते हैं। वे खुले मुख से बोलते और गाते हैं, तथा अग्रपूजा आदि में विविध प्रकार से वाद्य एवं नृत्य आदि कराते हैं। यह सब मिथ्यादर्शनशल्यनामक पाप है। वे इसका आचरण करते हैं। जैसे कहा है—

સંસારમાં તરેહ-તરેહના દ્રવ્યલિંગી છે, તેમાંથી શાકય આદિ પંખા વગેરેથી વાયુકાયનો આરંભ કરે છે, કરાવે છે, અને આરંભ કરવાવાળાને અનુમોદન આપે છે, અને સંપાતિમ (ઉડીને અચાનક આવવાવાળા) આદિ જીવોની હિંસા કરીને ષટ્કાયના વિરાધક બને છે. દંડી પણ 'અમે પંચમહાવ્રતધારી તથા જિન ભગવાનની આજ્ઞાના આરાધક અણગાર છીએ.' આ પ્રમાણે કહેતા થકા સાવદ્યનો ઉપદેશ આપે છે શાસ્ત્રમાં નિષિદ્ધ બતાવેલા વાયુકાયનો સમારંભ કરે છે અને કરાવે છે તે ખુલ્લા મુખથી-ઉઘાડા મોઢે-બોલે છે અને ગાય છે, તથા અગ્રપૂજા વગેરેમાં વિવિધ પ્રકારથી વાદ્ય અને નૃત્ય આદિ કરાવે છે આ સર્વે મિથ્યાદર્શનશલ્ય નામનું પાપ છે તે એનું આચરણ કરે છે જેમ કહ્યું છે—

वन्दनमाननपूजनाय, जातिमरणमोचनाय, दुःखप्रतिघातहेतु स स्वयमेव वायुशस्त्रं समारभते, अन्यैर्वा वायुशस्त्रं समारम्भयति, अन्यान् वायुशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानाति, तत् तस्याहिताय, तत् तस्याबोधये ॥ सू० ३ ॥

टीका—

तत्र=वायुकायसमारम्भे, भगवता=श्रीमहावीरेण, परिज्ञा-ज्ञ-प्रत्याख्यान-भेदाद् द्विविधा, खलु=निश्चयेन, प्रवेदिता=प्रतिबोधिता। कर्मरज'-परिहरणार्थं भव्य जीवेन परिज्ञाऽवश्यं शरणीकरणीयेति भगवता प्रतिबोधितमिति भावः।

उपभोगद्वार—

लोक कस्मै प्रयोजनाय वायुकायमुपमर्दयतीत्याह-'अस्य चैव जीवितस्य' इत्यादि। अस्यैव=अल्पकालावस्थायिन, जीवितस्य=जीवनस्य सुखार्थम् व्यजन-तालवृन्त-भस्त्र-ध्मात-फूत्कारा-च्छ्वासादिभिश्च, शीतोष्णवायु-

---

टीकार्थ—वायुकाय के समारंभ के विषय में श्री महावीरने ज्ञपरिज्ञा तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञा बतलाइ है। तात्पर्य यह है कि–कर्मरूपी रजको हटाने के लिए भव्य जीव को परिज्ञा अवश्य स्वीकार करना चाहिए, ऐसा उपदेश भगवान्ने दिया है।

उपभोगद्वार-

लोग किस प्रयोजन से वायुकाय की विराधना करते हैं? यह बतलाते हैं-इस अल्पकालीन जीवन के सुख के लिए पंखा, ताडपंखा हिलाना, धौकनी का धौकना, फूक मारना, श्वास लेना आदि क्रियाओं द्वारा, तथा शीत और उष्ण वायुका सेवन द्वारा वायुकाय की हिंसा करते हैं।

ટીકાર્થ—વાયુકાયના સમારંભના વિષયમાં શ્રીમહાવીરે જ્ઞપરિજ્ઞા તથા પ્રત્યાખ્યાન પરિજ્ઞા બતાવી છે તાત્પર્ય એ છે કે –કર્મરૂપી રજને દૂર કરવા માટે ભવ્ય જીવોએ પરિજ્ઞાનો અવશ્ય સ્વીકાર કરી લેવો જોઇએ. આ પ્રમાણે ભગવાને ઉપદેશ આપ્યો છે

ઉપભોગદ્વાર—

લોક કયા પ્રયોજનથી વાયુકાયની વિરાધના કરે છે? એ બતાવે છે આ અલ્પ કાળના જીવનના સુખ માટે પંખા, તાડપંખા હલાવવા, ધમણ ધમવી–ફૂંક મારવી, શ્વાસ લેવો, આદિ ક્રિયાઓદ્વારા તથા શીત અને ઉષ્ણ (ઠંડા અને ગરમ) વાયુના સેવનદ્વારા

अलमधिकेन–एवमपि ते प्रलपन्ति–यदि जिनभक्त्युद्रेकेण साधुरपि नृत्येत्तदा नास्ति दोष इति ॥ सू० २ ॥

अथ सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामिनं प्राह—'तत्थ खलु ' इत्यादि ।

मूलम्—

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया । इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणण पूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव वाउसत्थं समारभइ, अण्णेहिं वा वाउसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वाउसत्थं समारंभंते समणुजाणइ, तं से अहियाए, तं से अबोहीए ॥ सू० ३ ॥

छाया—

तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता । अस्य चैव जीवितस्य परि-

ज्यादा क्या कहें । वे यहाँ तक भी बकते हैं कि–जिनराज की भक्ति में मस्त होकर अगर साधु भी नाचने लगे तो भी कोई दोष नहीं है अर्थात् वह आराधक है ॥ सू० २ ॥

सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं–'तत्थ खलु ' इत्यादि ।

मूलार्थ—भगवान् ने वायुकाय के आरंभ के विषय में उपदेश दिया है । इसी जीवन के परिवन्दन, मानन, और पूजन के लिए, जन्म–मरण से छुटकारा पानेके लिए, दुःख का नाश करने के लिए लोग स्वयं वायुकायशस्त्र का आरंभ करता है, दूसरों से वायुकायशस्त्र का आरंभ कराता है और वायुकायशस्त्र का आरंभ करने वाले दूसरों की अनुमोदना करता है । यह उसके अहित के लिए और उसकी अबोधि के लिए है ॥ सू० ३ ॥

વિશેષ શું કહીએ, તે એટલે સુધી પણ કહે છે કે–જિનરાજની ભક્તિમાં મસ્ત થઈને અગર સાધુ પણ નાચ કરવા લાગે તો પણ કોઈ દોષ નથી અર્થાત્ તે આરાધક છે ॥૨॥

સુધર્માસ્વામી જમ્બૂસ્વામીને કહે છે –'तत्थ खलु ' ઈત્યાદિ.

મૂલાર્થ—ભગવાને વાયુકાયના આરંભના વિષયમાં ઉપદેશ આપ્યો છે આ જીવનના પરિવંદન, માનન અને પૂજા માટે, જન્મ, મરણથી છુટવા માટે, દુઃખનો નાશ કરવા માટે. લોક સ્વયં–પોતે વાયુકાયશસ્ત્રનો આરંભ કરે છે, બીજા પાસે વાયુકાયશસ્ત્રનો આરંભ કરાવે છે અને વાયુકાયશસ્ત્રનો આરંભ કરવાવાળા બીજાને અનુમોદન આપે છે તે એના (પોતાના) અહિત માટે અને તેમની અબોધિને માટે છે ॥ ૩ ॥

जानाति=अनुमोदयति। तद्=वायुकायसमारम्भणं, तस्य=वायुकायसमारम्भणं-कुर्वत कारयितु अनुमोदयितुश्च अहिताय भवति। तथा-तत् तस्य अबोधये=सम्यक्त्वालाभाय भवति ॥ सू० ३ ॥

येन तु तीर्थङ्करादिसमीपे वायुकायस्वरूप परिज्ञात स एव विभावयतीत्याह—'से त' इत्यादि।

मूलम्—

से त संबुज्झमाणे आयाणीय समुट्ठाय सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणां वा अतिए, इहमेगेसिं णाय भवइ-एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए। इच्चत्थ गढिए लोए, जमिण विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेण, वाउसत्थ समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ॥ सू० ४ ॥

करते हैं। वायुकाय का यह आरम करने वाले, कराने वाले और उसकी अनुमोदना करने वाले को अहितकर होता है तथा अबोधिजनक होता है ॥ सू० ३ ॥

तीर्थंकर आदि के निकट जिसने वायुकाय का स्वरूप समझ लिया है, वह इस प्रकार विचार करता है—'से तं.' इत्यादि।

मूलार्थ—भगवान् से या उनके अनगारों से सुनकर-समझकर जिसने संयम धारण किया है वह जानता है कि—यह वायुकाय का समारम ही ग्रथ है, यही मोह है, यही मार है, यही नरक है। इसी में लोग गृद्ध हो रहे है, क्यों कि नाना प्रकार के शस्त्रों से वायुकाय के समारभद्वारा वायुशस्त्र का आरम करते हुए अन्य अनेक प्रकार के प्राणियों की हिंसा करते हैं ॥ सू० ४ ॥

આરંભ, આરંભ કરવાવાળાને, કરાવનારને અને તેની અનુમોદના આપવાવાળાને અહિતકર થાય છે, તથા અબોધિજનક થાય છે ॥ સૂ૦ ૩ ॥

તીર્થંકર આદિના સમીપમાં જેણે વાયુકાયનું સ્વરૂપ સમજી લીધું છે, તે આ પ્રમાણે વિચાર કરે છે—'से त' ઇત્યાદિ.

મૂલાર્થ—ભગવાન પાસેથી અથવા તેમના અણગારો પાસેથી સાંભળી-સમજીને જેણે સંયમ ધારણ કર્યું છે તે જાણે છે કે—આ વાયુકાયનો સમારંભજ ગ્રંથ છે એજ મોહ છે એજ માર છે એજ નરક છે, એમાં લોકો ગૃદ્ધ થઈ રહ્યા છે, કેમકે નાના પ્રકારના શસ્ત્રોથી વાયુકાયના સમારંભદ્વારા વાયુશસ્ત્રનો આરંભ કરતા થકા અન્ય અનેક પ્રકારનાં પ્રાણીઓની હિંસા કરે છે ॥સૂ૦ ૪॥

सेवनेष, तथा परिवन्दन-मानन-पूजनाय, परिवन्दनं=प्रशंसा, तदर्थे-दतिवाद्येषु प्रभृतिवादनादौ, माननं=जनसत्कारस्तदर्थं, व्यजनयन्त्रादिप्रचालनादौ, पूजनं=वस्त्ररत्नादिलाभस्तदर्थं वायुयान-वायुयन्त्रादिनिर्माणादौ, तथा जाति-मरणमोचनार्थं=देवप्रतिमाभिमुखं नृत्यगीतवाद्यप्रयोगे, व्यजनचामरादिवीजने च, तथा दुःखप्रतिघातहेतु=व्याधिप्रतीकारार्थं नवीनवैज्ञानिकोद्भावितवायु-चिकित्सायां, तथा-तालवृन्तादिना वायुकायोदीरणे स=जीवनसुखार्थी, स्वयमेव वायुशस्त्रं=वायुकायोपमर्दकं-शस्त्रं समारभते=व्यापारयति, अन्यैर्वा वायु-कायशस्त्रं समारम्भयति=प्रयोजयति, अन्यान् वायुशस्त्रं समारभमाणान् समनु

तथा परिवन्दन अर्थात् प्रशंसा पाने के लिए, मशकवाद्य और बाँसुरी बजाकर, मानन अर्थात् जनसत्कार के लिए व्यजनयंत्र (बीजली का पखा) गानयंत्र (रेडियो, ग्रामोफ़ोन आदि) बजाकर, पूजन अर्थात् वस्त्रों एवं रत्नों आदि के लाभ के लिए वायुयान (एरोप्लेन) वायुयंत्र आदि के बनाने में, तथा जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए, जैसे-जिनप्रतिमा के आगे नृत्य, गीत और वादित्र का प्रयोग करने में, चामर पखा आदि झुलाने में, तथा दुःख का नाश करने के लिए, जैसे-व्याधि मिटाने के लिए आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा निकाली हुई वायुचिकित्सा में तथा ताडपखा आदि द्वारा वायुकाय की उदीरणा करने में वायुकाय की हिंसा करते हैं। इस प्रकार इस जीवन के सुख के अर्थी स्वयं वायुकाय के घातक शस्त्रों का समारंभ करते हैं, दूसरों से कराते हैं और वायुकाय का समारंभ करने वाले दूसरों का अनुमोदन

તથા પરિવન્દન, અર્થાત્ પ્રશંસા મેળવવા માટે મશકવાદ્ય અને વાંસળી વગેરે બજાવીને, વ્યજનયંત્ર તથા ગાનયંત્ર (વિજળીથી ચાલતા પંખા અને રેડીઓ તથા ગ્રામોફોન) વગેરે બજાવીને, પૂજન અર્થાત્-વસ્ત્રો એવં રત્નો આદિના લાભ માટે વાયુયાન (એરોપ્લેન) અને વાયુયંત્ર આદિ બનાવવામાં. તથા જન્મ-મરણથી છુટવા માટે. જેમકે-દેવપ્રતિમાની પાસે નૃત્ય-ગીત અને વાજીંત્રનો પ્રયોગ કરવામાં, ચામર, પંખા આદિ હલાવવામાં, તથા દુઃખનો નાશ કરવા માટે, જેમકે-વ્યાધિ મટાડવા માટે આજકાલના વૈજ્ઞાનિકદ્વારા શોધ કરાએલી વાયુચિકિત્સામાં, તથા તાડપત્રના પંખાદ્વારા વાયુકાયની ઉદીરણામાં વાયુકાયની હિંસા કરે છે એ પ્રમાણે આ જીવનના સુખના અર્થી પોતે વાયુકાયના ઘાતક શસ્ત્રોનો સમારંભ કરે છે, બીજાની પાસે કરાવે છે. અને વાયુકાયનો સમારંભ કરવાવાળા બીજાને અનુમોદન આપે છે વાયુકાયનો એ

जानाति=अनुमोदयति। तत्=वायुकायसमारम्भणं, तस्य=वायुकायसमारम्भणं-कुर्वत कारयितुः अनुमोदयितुश्च अहिताय भवति। तथा-तत् तस्य अबोधये=सम्यक्त्वालाभाय भवति ॥ सू० ३ ॥

येन तु तीर्थङ्करादिसमीपे वायुकायस्वरूप परिज्ञात स एवं विभावयतीत्याह—'से त ' इत्यादि।

मूलम्—

से त संबुज्झमाणे आयाणीय समुट्ठाय सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं वा अंतिए, इहमेगेसिं णाय भवइ-एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए। इच्चत्थ गढिए लोए, जमिण विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेण, वाउसत्थ समारभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ॥ सू० ४ ॥

करते हैं। वायुकाय का यह आरंभ करने वाले, कराने वाले और उसकी अनुमोदना करने वाले को अहितकर होता है तथा अबोधिजनक होता है ॥ सू० ३ ॥

तीर्थंकर आदि के निकट जिसने वायुकाय का स्वरूप समझ लिया है, वह इस प्रकार विचार करता है -'से तं.' इत्यादि।

मूलार्थ—भगवान् से या उनके अनगारों से सुनकर-समझकर जिसने संयम धारण किया है वह जानता है कि-यह वायुकाय का समारंभ ही ग्रंथ है, यही मोह है, यही मार है, यही नरक है। इसी में लोग गृद्ध हो रहे हैं, क्यों कि नाना प्रकार के शस्त्रों से वायुकाय के समारंभद्वारा वायुशस्त्र का आरंभ करते हुए अन्य अनेक प्रकार के प्राणियों की हिंसा करते हैं ॥ सू० ४ ॥

આરંભ, આરંભ કરવાવાળાને કરાવનારને અને તેની અનુમોદના આપવાવાળાને અહિતકર થાય છે, તથા અબોધિજનક થાય છે ॥ સૂ૦ ૩ ॥

તીર્થંકર આદિના સમીપમાં જેણે વાયુકાયનું સ્વરૂપ સમજી લીધું છે, તે આ પ્રમાણે વિચાર કરે છે -'से त ' ઇત્યાદિ.

મૂલાર્થ—ભગવાન પાસેથી અથવા તેમના અણગારો પાસેથી સાંભળી-સમજીને જેણે સંયમ ધારણ કર્યું છે તે જાણે છે કે -આ વાયુકાયનો સમારંભ જ ગ્રંથ છે એજ મોહ છે એજ માર છે એજ નરક છે, એમા લોકો ગૃદ્ધ થઈ રહ્યા છે, કેમકે નાના પ્રકારના શસ્ત્રોથી વાયુકાયના સમારંભદ્વારા વાયુશસ્ત્રનો આરંભ કરતા થકા અન્ય અનેક પ્રકારનાં પ્રાણીઓની હિંસા કરે છે ॥સૂ૦ ૪॥

सेवनेश्च, तथा परिवन्दन-मानन-पूजनाय, परिवन्दनं=प्रशंसा, तदर्थ-दतिशायवेणु प्रभृतिवादनादौ, माननं=जनसत्कारस्तदर्थं, व्यजनयन्त्रादिप्रचालनादौ, पूजन=वस्त्ररत्नादिलाभस्तदर्थं वायुयान-वायुयन्त्रादिनिर्माणादौ, तथा जाति मरणमोचनार्थं=देवप्रतिमाभिमुखं नृत्यगीतवादित्रप्रयोगे, व्यजनचामरादिवीजने च, तथा दुःखप्रतिघातहेतु=व्याधिप्रतीकारार्थं नवीनवैज्ञानिकोद्भावितवायु-चिकित्सायां, तथा-तालवृन्तादिना वायुकायोद्भावने स=जीवनसुखार्थी, स्वयमेव वायुशस्त्रं=वायुकायोपमर्दक-शस्त्रं समारभते=व्यापारयति, अन्यैर्वा वायु-कायशस्त्रं समारम्भयति=प्रयोजयति, अन्यान् वायुशस्त्रं समारभमाणान् समनु

तथा परिवन्दन अर्थात् प्रशंसा पाने के लिए, मशकवाद्य और बाँसुरी बजाकर, मानन अर्थात् जनसत्कार के लिए व्यजनयंत्र (बीजली का पंखा) गानयंत्र (रेडियो, ग्रामोफोन आदि) बजाकर, पूजन अर्थात् वस्त्रों एवं रत्नो आदि के लाभ के लिए वायुयान (एरोप्लेन) वायुयंत्र आदि के बनाने में, तथा जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए, जैसे-जिनप्रतिमा के आगे नृत्य, गीत और वादित्र का प्रयोग करने में, चामर पखा आदि डुलाने में, तथा दुःख का नाश करने के लिए, जैसे-व्याधि मिटाने के लिए आधुनिक वैज्ञानिको द्वारा निकाली हुई वायुचिकित्सा में तथा ताडपंखा आदि द्वारा वायुकाय की उदीरणा करने में वायुकाय की हिंसा करते हैं। इस प्रकार इस जीवन के सुख के अर्थी स्वयं वायुकाय के घातक शस्त्रों का समारंभ करते हैं, दूसरों से कराते हैं और वायुकाय का समारंभ करने वाले दूसरों का अनुमोदन

તથા પરિવન્દન, અર્થાત્ પ્રશંસા મેળવવા માટે મશકવાદ્ય અને વાંસળી વગેરે બજાવીને, વ્યજનયંત્ર તથા ગાનયંત્ર (વિજળીથી ચાલતા પંખા અને રેડીઓ તથા ગ્રામોફોન) વગેરે બજાવીને, પૂજન અર્થાત્-વસ્ત્રો એવં રત્નો આદિના લાભ માટે વાયુયાન (એરોપ્લેન) અને વાયુયંત્ર આદિ બનાવવામાં. તથા જન્મ-મરણથી છુટવા માટે. જેમકે -દેવપ્રતિમાની પાસે નૃત્ય-ગીત અને વાજીત્રનો પ્રયોગ કરવામાં, ચામર, પંખા આદિ હલાવવામાં, તથા દુઃખનો નાશ કરવા માટે, જેમકે-વ્યાધિ મટાડવા માટે આજકાલના વૈજ્ઞાનિકદ્વારા શોધ કરાએલી વાયુચિકિત્સામાં, તથા તાડપત્રના પંખાદ્વારા વાયુકાયની ઉદીરણામાં વાયુકાયની હિંસા કરે છે એ પ્રમાણે આ જીવનના સુખના અર્થી પોતે વાયુકાયના ઘાતક શસ્ત્રોનો સમારંભ કરે છે, બીજાની પાસે કરાવે છે અને વાયુકાયનો સમારંભ કરવાવાળા બીજાને અનુમોદન આપે છે વાયુકાયનો એ

कार्योपचारात् । एवमग्रेऽपि बोध्यम् । तथा-एष. वायुशस्त्रसमारम्भः, मोहः=विपर्यासः =अज्ञानम् । तथा एष एव मार'=मरण निगोदादिमरणरूपः । तथा एष एव नरकः= नारकजीवानां दशविधयातनास्थानम् ।

इत्यर्थ=एतदर्थं ग्रन्थमोहमरणनरकरूप घोरदुःखफल प्राप्यापि पुनः पुनरेतदर्थमेव, लोक.=अज्ञानवशवर्ती जीव' गृद्ध.=लिप्सुरस्ति । यद्वा गृद्धः=भोगाभिलाषी, लोक =ससारी जीव , इत्यर्थ-एतदर्थमेव=ग्रन्थमोहमरणनरकार्थमेव प्रवर्तत इति शेषः ।

लोक पुन पुन' कर्मबन्धाद्यर्थमेव प्रवर्तत इति यदुक्त, तत् कथ ज्ञायते ? इति जिज्ञासायामाह—' यदिमम् ' इत्यादि ।

यद्=यस्माद् विरूपरूपै'=नानाविधैः शस्त्रै पूर्वोक्तप्रकारैः वायुकर्म-

---

कार्य का उपचार करके कर्मबंध के कारण को मूल में कर्मबंध कहा है । आगे भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए । तथा यह वायुकाय का समारंभ अज्ञानरूप है, यह निगोद आदि में मृत्यु का कारण है, और नरक है अर्थात् नारकीय यातनाओं का स्थान है ।

ग्रंथ, मोह मरण और नरकरूप घोर दु:खमय फल पाकर भी अज्ञानी जीव बार-बार इसी की लालसा करते हैं । अथवा भोगों के अभिलाषी ससारी जीव इस ग्रंथ, मोह, मरण और नरकरूप फल के लिए ही प्रवृत्ति करते है ।

लोग कर्मबंध के लिए ही पुन पुन प्रवृत्ति करते हैं, यह जो कहा है सो किस प्रकार जाना जाय ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं—'यदिमम्.' इत्यादि ।

क्यों कि नाना प्रकार के, वायुकाय की विराधना करने वाले सावद्य व्यापार

કાર્યને ઉપચાર કરીને કર્મબંધનાં કારણને મૂલમા કર્મબંધ કહેલ છે આગળ પણ આ પ્રકારે સમજી લેવું જોઈએ તથા એ વાયુકાયને સમારભ અજ્ઞાનરૂપ છે એ નિગોદ આદિમાં મૃત્યુનું કારણ છે (અર્થાત્ નિગોદમાં લઈ જવાવાળો છે) અને નરક છે અર્થાત્ નારકીય યાતનાઓનું સ્થાન છે

ગ્રંથ, મોહ, મરણ અને નરકરૂપ ઘોર દુઃખમય ફલ પ્રાપ્ત કરીને પણ અજ્ઞાની જીવ વારવાર એની લાલચ કરે છે, અથવા ભોગોના અભિલાષી સસારી જીવ આ ગ્રંથ, મોહ, મરણ અને નરકરૂપ ફલ માટેજ પ્રવૃત્તિ કરે છે

લોક કર્મબંધ માટેજ પુનઃ પુન. પ્રવૃત્તિ કરે છે એ પ્રમાણે જે કહ્યું છે તે કેવી રીતે જાણી શકાય ? એવી જીજ્ઞાસા થતાં કહે છે—' यदिमम् ' ઇત્યાદિ.

કેમકે નાના પ્રકારથી વાયુકાયની વિરાધના કરવાવાળા સાવદ્યવ્યાપારદ્વારા તે

छाया—

स तत् संबुध्यमान आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा खलु भगवतः अनगाराणां वा अन्तिके इहैकेषां ज्ञातं भवति-एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरकः, इत्यर्थं गृद्धो लोकः, यदिमं विरूपरूपैः शस्त्रैः वायुकर्मसमारम्भेण वायुशस्त्रं समारभमाणः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणान् विहिनस्ति ॥ सू० ४ ॥

टीका—

यः खलु भगवतः=तीर्थङ्करस्य, अनगाराणां=तदीयश्रमणनिर्ग्रन्थानां वा अन्तिके श्रुत्वा आदानीयम्=उपादेयं सर्वसावद्ययोगविरतिरूपं चारित्रं समुत्थाय= अङ्गीकृत्य, विहरति, स तत्=वायुकाय समारम्भणं संबुध्यमानः=अहिताबोधिजनकत्वेन विज्ञाता सन्नेवं विभावयति—

इह=मनुष्यलोके, एकेषां=श्रमणनिर्ग्रन्थोपदेशसजातसम्यग्ज्ञानवैराग्याणामात्मार्थिनामेव, ज्ञातं=विदितं भवति। किं ज्ञातं भवतीत्याकाङ्क्षायामाह—' एष खलु ग्रन्थः ' इत्यादि।

एषः वायुशस्त्रसमारम्भः खलु=निश्चयेन ग्रन्थः=कर्मबन्धः, कारणे

टीकार्थ— जिस पुरुषने तीर्थंकर भगवान् या उनके अनुयायी श्रमण निर्ग्रन्थों के मुखारविन्द से सुनकर सर्व सावद्य का त्यागरूप संयम अंगीकार किया है वह वायुकाय के समारंभ को अहितकर और अबोधिजनक समझता हुआ इस प्रकार विचारता है—

इस लोक में श्रमण निर्ग्रन्थों के उपदेश से सम्यग्ज्ञान और वैराग्य प्राप्त करने वाले आत्मार्थी जनों को ही यह विदित होता है कि—

वायुशस्त्र का यह समारंभ निश्चितरूप से कर्मबंध का कारण है। कारण में

टीकार्थ—જે પુરુષે તીર્થંકર ભગવાન અથવા તેમના અનુયાયી શ્રમણ-નિર્ગ્રંથોના મુખારવિન્દથી સાંભળીને સર્વ સાવદ્યના ત્યાગરૂપ સંયમ અંગીકાર કર્યો છે, તે વાયુકાયના સમારંભને અહિતકર અને અબોધિજનક સમજતા થકા આ પ્રમાણે વિચારે છે-

આ લોકમાં શ્રમણ નિર્ગ્રન્થોના ઉપદેશથી સમ્યગ્જ્ઞાન અને વૈરાગ્ય પ્રાપ્ત કરવા વાળા આત્માર્થી જીવોનેજ એ જાણવામાં છે કે -

વાયુશસ્ત્ર આનો સમારંભ નિશ્ચિતરૂપથી કર્મબંધનું કારણ છે. કારણમાં

टीका—

तद् ब्रवीमि=वायुकायहिंसया यथा बहुविधाः प्राणिनः प्रणश्यन्ति, तद् कथयामि–संपातिमाः=उत्पत्योत्पत्यपतनशीलाः, प्राणाः=प्राणिनः सन्ति = वायुकायमाश्रित्य विद्यन्ते । एते संपातिमा आहत्य=व्यजनतालवृन्तवस्त्रादिभिः मोमुद्रावितवायुकायाद्घातं प्राप्य, संपतन्ति=वायुवेगसमाकृष्टाः प्राणापगमायोद्विग्नास्तत्रैव वायुकाये संविशन्ति, सम्लिप्यन्तीत्यर्थः ।

स्पर्शं चेति । स्पर्शोऽस्यास्तीति स्पर्शः=स्पर्शवान्, तं स्पर्शं=वायुकायं, स्पृष्टाः =स्पर्शकर्तारः, आर्षत्वात् कर्तरि क्तः । एके=वायुवेगसमाहताः प्राणिनः, संघातमापद्यन्ते=परस्परसंघर्षेण गात्रसंकोचं प्राप्नुवन्ति ।

ये तत्र=वायुकाये संपतिता संघातमापद्यन्ते, ते तत्र=वायुकाये

टीकार्थ—वायु की हिंसा से अनेक प्रकार के प्राणियो का घात किस प्रकार होता है सो कहता हूँ । संपातिम अर्थात् उड–उडकर पडने वाले अनेक जीव वायुकाय के आश्रित रहते हैं । ये संपातिम जीव पंखा, तालवृन्त–पंखा कि एक जाति, वस्त्र आदि से उदीरणा की हुई वायुकायद्वारा आघात पाकर गिर पडते हैं, अर्थात् वायु के वेग से खिंचकर घबराये हुए वायुकाय के साथ ही जुड–से जाते हैं।

यहाँ स्पर्श का अर्थ हैं स्पर्शवान् अर्थात् वायु । कोई–कोई वायु के वेग से आहत हुए जीव संघात को प्राप्त होते है अर्थात् परस्पर रगड खाकर सिकुड जाते हैं ।

वायुकाय में पडे हुए जो जीव सिकुड जाते हैं वे वायुकाय के आघात से

ટીકાર્થ—વાયુકાયની હિંસાથી અનેક પ્રકારનાં પ્રાણીઓનો ઘાત કેવી રીતે થાય છે તે હું કહું છુઃ–સંપાતિમ–ઉડી–ઉડીને પડવાવાળા અનેક જીવ વાયુકાયના આશ્રયે રહે છે તે સંપાતિમ જીવ, પંખા, તાડપત્ર, વસ્ત્ર આદિથી ઉદીરણા કરાએલા વાયુકાયદ્વારા આઘાત પામીને પડી જાય છે અર્થાત્ વાયુના વેગથી ખેંચાઈને ગભરાએલા વાયુકાયની સાથેજ જોડાઈ જાય છે

અહીં સ્પર્શનો અર્થ છે–સ્પર્શવાન્–અર્થાત્ વાયુ કોઈ–કોઈ વાયુના વેગથી આહત–તાડન કરાએલા જીવ સંઘાત–જથાપણાને પ્રાપ્ત થાય છે અર્થાત્ પરસ્પર ઘસડાઈને સંકોચાઈ જાય છે

વાયુકાયમાં પડેલા જે જીવો સંકોચાઈ જાય છે તે વાયુકાયના આઘાતથી મૂર્છિત

समारम्भेण=वायुकायोपमर्दनरूपसावद्यव्यापारेण, इमं=वायुकायं विहिनस्ति । तथा-वायुशस्त्रं समारभमाणः=व्यापारयन्, अन्यान्=पृथिवीकायादीन्, अनेकरूपान् स्थावरांस्त्रसांश्च, प्राणान्=प्राणिनः विहिनस्ति=उपमर्दयति ॥ सू० ४ ॥

वायुशस्त्रं समारभमाणा अनेकविधान् जीवान् कथं विहिंसन्ति, तत् च प्रतिबोधयितुं श्रीसुधर्मा स्वामी प्राह—' से बेमि ' इत्यादि ।

मूलम्—

से बेमि–संति संपाइमा पाणा आहच्च संपयंति य, फरिसं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति । जे तत्थ संघायमावज्जंति, ते तत्थ परियावज्जंति । जे तत्थ परियावज्जंति ते तत्थ उद्दायंति ॥ सू० ५ ॥

छाया—

तद् ब्रवीमि–संति संपातिमाः प्राणाः, आहत्य संपतन्ति च, स्पर्शं च खलु स्पृष्टा एके संघातमापद्यन्ते । ये तत्र संघातमापद्यन्ते, ते तत्र पर्यापद्यन्ते । ये तत्र पर्यापद्यन्ते ते तत्रापद्रावन्ति ॥ ५ ॥

द्वारा वे वायुकाय का घात करते हैं । तथा वायुकाय के शस्त्रों का प्रयोग करते हुए पृथ्वीकाय आदि अनेक प्रकार के स्थावरों का, तथा त्रस जीवों का उपमर्दन करते हैं ॥सू० ४॥

वायुकाय के शस्त्रों का प्रयोग करने वाले नाना प्रकार के जीवों की हिंसा कैसे करते हैं ? यह बतलाने के लिए श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं –'से बेमि ' इत्यादि ।

मूलार्थ—वह मैं कहता हूँ–एकाएक उड़कर पड़ने वाले जीव हैं जो अचानक आपड़ते हैं, और वायुकाय से स्पृष्ट होकर कोई–कोई संघात को प्राप्त होते हैं । जो संघात को प्राप्त होते हैं उनका शरीर सिकुड़ जाता है, मूर्छित हो जाते हैं, वे मर भी जाते हैं ॥ सू० ५ ॥

વાયુકાયનો ઘાત કરે છે તથા વાયુકાયના શસ્ત્રોનો પ્રયોગ કરતા થકા પૃથ્વીકાય આદિ અનેક પ્રકારના સ્થાવરો તથા ત્રસજીવોનું ઉપમર્દન (નાશ) કરે છે ॥સૂ. ૪॥

વાયુકાયના શસ્ત્રોના પ્રયોગ કરવાવાળા નાના પ્રકારના જીવોની હિંસા કેવી રીતે કરે છે? એ બતાવવા માટે શ્રી સુધર્મા સ્વામી કહે છેઃ–' से बेमि ' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—હું તે કહું છું–એકાએક (ઓચિંતા) ઉડીને પડવાવાળા જીવ છે તે અચાનક આવી પડે છે, અને વાયુકાયથી સ્પૃષ્ટ થઈને કોઈ–કોઈ જથારૂપે થાય છે જે સંઘાત–સમુદાય–જથારૂપમાં પ્રાપ્ત થાય છે, તેનું શરીર સંકોચાઈ જાય છે, મૂર્છિત થઈ જાય છે, અને તે મરી પણ જાય છે ॥ સૂ. ૫ ॥

एत्थं सत्थ असमारममाणस्स इच्चेते आरमा परिण्णाया भवति। त परिण्णाय मेहावी णेव सय वाउसत्थ समारमेज्जा, णेवऽण्णेहिं वाउसत्थ समारंभावेज्जा, णेवऽण्णे वाउसत्थ समारभते समणुजाणेज्जा, जस्सेते वाउसत्थसमारंभा परिण्णाया भवति, से हु मुणी परिण्णायकम्मे-त्ति बेमि ॥ सू० ६ ॥

छाया—

अत्र शस्त्र समारममाणस्य इत्येते आरम्भा अपरिज्ञाता भवन्ति। अत्र शस्त्रमसारममाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाता भवन्ति। त परिज्ञाय मेधावी नैव स्वय वायुशस्त्र समारमेत, नैवान्यैर्वायुशस्त्रं समारम्भयेत्, नैवान्यान् वायुशस्त्र समारममाणान् समनुजानीयात्। यस्यैते वायुशस्त्रसमारम्भा परिज्ञाता भवन्ति, स खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा, इति ब्रवीमि ॥ सू० ६ ॥

टीका—

अत्र=अस्मिन् वायुकाये, शस्त्रं=पूर्वोक्तप्रकारं समारमणास्य=व्यापारयत, इत्येते=पूर्वोक्ताः त्रिकरणत्रियोगैः कृता आरम्भाः=वायुकायोपमर्दनरूपा.

को कर्मबध का कारण नहीं समझता। वायुकाय में शस्त्रों का व्यापार न करने वाला इन व्यापारों को कर्मबध का कारण समझता है। उसे जानकर विवेकी पुरुष स्वय वायु शस्त्र का आरम्भ न करे, दूसरों से वायुशस्त्र का आरम्भ न करावे और वायुशस्त्र का आरम्भ करने वालों का अनुमोदन न करे। जो वायुकाय के शस्त्रों के व्यापार को जानता है वही मुनि है, वही सावद्य व्यापार का त्यागी है। ऐसा मैं कहता हूँ ॥ सू० ६ ॥

टीकार्थ—वायुकाय के विषय में पूर्वोक्त शस्त्रों का उपयोग करने वाला तीन करण तीन योग से किये जाने वाले और वायुकाय के घातक सावद्य व्यापारों को कर्मबंध

કર્મબધનું કારણ સમજતા નથી, વાયુકાયમા શસ્ત્રોનો વ્યાપાર નહિ કરવાવાળા તે વ્યાપારને કર્મબધનું કારણ સમજે છે તેને જાણીને વિવેકી પુરૂષ પોતે વાયુશસ્ત્રનો આરભ કરે નહિ, બીજા પાસે વાયુશસ્ત્રનો આરભ કરાવે નહિ, અને વાયુશસ્ત્રનો આરભ કરવાવાળાને અનુમોદન આપે નહિ. જે વાયુકાયના શસ્ત્રોના વ્યાપારને જાણે છે તેજ મુનિ છે તેજ સાવદ્ય વ્યાપારના ત્યાગી છે આવું-(આ પ્રમાણે) હું કહું છુ ॥ સૂ ૬ ॥

ટીકાર્થ—વાયુકાયના વિષયમાં પૂર્વોક્ત શસ્ત્રોનો ઉપયોગ કરવાવાળા, ત્રણ કરણ ત્રણ યોગથી કરવામા આવતા અને વાયુકાયના ઘાતક સાવદ્ય વ્યાપારોને કર્મબધનું કારણ

संश्लिष्टा पर्यापद्यन्ते=वायुकायाघातेन मूर्छामाप्नुवन्ति-प्रणष्टचेतना भवन्तीत्यर्थः। ये तत्र=पर्यापद्यन्ते, ते तत्र=वायुकाये, अपद्रावन्ति=प्राणैर्वियुज्यन्ते।

वायुशस्त्रसमारम्भेण न केवल वायुजीवविराधना जायते, किन्तु सर्वदिक्सञ्चारिणां सपातिमजीवानामन्येषां च बहुविधानां हिंसाऽपि दुर्निवारा भवतीति भावः॥ सू० ५॥

एवं वायुकायस्य सचित्तत्वं विदित्वा मुनित्वप्राप्तये त्रिकरण-त्रियोगैस्तत्समारम्भो वर्जनीय इत्याशयेनाह—' एत्थ सत्थं ' इत्यादि।

मूलम्—

एत्थ सत्थं समारम्भमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति।

मूर्छित हो जाते हैं—उनकी चेतना नष्ट हो जाती है, और जो मूर्छित हो जाते हैं वे प्राणों से रहित हो जाते हैं अर्थात् मर जाते हैं।

वायुकाय के शस्त्र का आरम्भ करने से अकेले वायुकाय की ही विराधना नहीं होती वरन् सभी दिशाओं में फिरने वाले सपातिम जीवों की तथा अन्य अनेक प्रकार के जीवों की हिंसा होना भी अनिवार्य है॥ सू० ५॥

इस प्रकार वायुकाय की सचित्तता समझकर साधुता प्राप्त करने के लिए तीन करण तीन योग से वायुकाय का समारम्भ त्यागने योग्य है। इस आशय से सूत्रकार कहते हैं— 'एत्थ सत्थं ' इत्यादि।

मूलार्थ—वायुकाय के विषय में शस्त्र का व्यापार करने वाले इन व्यापारों

થઈ જાય છે—તેની ચેતના નાશ પામી જાય છે અને જે મૂર્છિત થઈ જાય છે તે પ્રાણોથી રહિત પણ થઈ જાય છે અર્થાત્ મરણ પામે છે

વાયુકાયના શસ્ત્રનો આરંભ કરવાથી, એકલા વાયુકાયના જીવોનીજ વિરાધના થાય છે એટલુંજ નહિ પરન્તુ સર્વ દિશાઓમાં ફરવાવાળા સંપાતિમ જીવોની તથા અન્ય અનેક પ્રકારના જીવોની ઘાત થવી તે પણ અનિવાર્ય છે ॥સૂ. ૫॥

આ પ્રમાણે વાયુકાયની સચિત્તતા સમજીને સાધુતા પ્રાપ્ત કરવા માટે ત્રણ કરણ ત્રણ યોગથી વાયુકાયનો સમારંભ ત્યાગ કરવા યોગ્ય છે એ આશયથી સૂત્રકાર કહે છે—'એત્થ સત્થં ' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થઃ—વાયુકાયના વિષયમાં શસ્ત્રનો વ્યાપાર કરવાવાળાઓ એ વ્યાપારોને

सावद्यव्यापाराः, परिज्ञाताः=ज्ञ-परिज्ञया बन्धकारणतया विदिताः, प्रत्याख्यान-परिज्ञया च परिवर्जिता भवन्ति, स एव परिज्ञातकर्मा=त्रिकरणत्रियोगैः परिवर्जित-सकलसावद्यव्यापारः, मुनिर्भवति।

ननु त्रिकरणत्रियोगैर्वायुकायविराधनापरिहारेण यस्तु परिज्ञातकर्मा स एव मुनिर्भवतीत्युक्तं तत्कथमुपपद्यते ? यतो हि गच्छता तिष्ठता आसीनेन स्वपता भुञ्जानेन भाषमाणेन वायुकायविराधना दुष्परिहरा कथं तर्हि मुनिश्चरेत् तिष्ठेत् आसीत शयीत भुञ्जीत भाषेत ? इति। अत्रोच्यते-मुनिना सर्वं स्वकर्तव्यं यतनयैव संपादनीयम्, अत एवोक्तं भगवता—

कर्मबंध का कारण जान लिया और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग दिया है वही तीन करण और तीन योग से त्याग करने वाला मुनि होता है।

शंका—'तीन करण और तीन योग से वायुकाय की विराधना का त्याग करने वाले ही मुनि होते है' यह कथन किस प्रकार सही हो सकता है ? चलने, ठहरने, बैठने, सोने, आहार करने और भाषण करने में वायुकाय की विराधना से बच नहीं सकते। ऐसी दशा में मुनि कैसे चले, कैसे ठहरे कैसे बैठे, कैसे सोए, कैसे भोजन करे और कैसे बोले ?

समाधान—मुनि को अपनी सब क्रियाएँ यतनापूर्वक ही करनी चाहिए। भगवान्ने कहा है —

બન્ધનું કારણ છે' એમ જાણી લીધું છે અને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞાથી તેને ત્યજી દીધા છે, તે ત્રણ કરણ અને ત્રણયોગથી ત્યાગ કરવાવાળા મુનિ હોય છે

શંકા—'ત્રણ કરણ અને ત્રણયોગથી વાયુકાયની વિરાધનાનો ત્યાગ કરવાવાળા જ મુનિ હોય છે' આ વચન કેવી રીતે સાચુ હોઈ શકે છે ? ચાલતા, બેસતા, રોકાતાં, સુતા, ભોજન કરતાં અને ભાષણ કરતાં વાયુકાયની વિરાધનાથી બચી શકાતું નથી એવી દશામાં મુનિ કેવી રીતે ચાલે, કેવી રીતે બેસે, કેવી રીતે રોકાય, કેવી રીતે સુવે, કેવી રીતે ભોજન કરે અને કેવી રીતે બોલે ?

સમાધાન—મુનિએ પોતાની સર્વ ક્રિયાઓ યતનાપૂર્વક કરવી જોઈએ, ભગવાને કહ્યું છે—

सावद्यव्यापारा', अपरिज्ञाता.=कर्मबन्धकारणत्वेनानवगताः भवन्ति ।

अत्र=अस्मिन्नेव वायुकाये, शस्त्र=प्रागुक्तप्रकारम्, असमारभमाणस्य=अप्रयुञ्जानस्य, इत्येते=पूर्वोक्ता , आरम्भाः=सावद्यव्यापाराः, परिज्ञाता भवन्ति=ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाता., प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिवर्जिता भवन्तीत्यर्थः ।

ज्ञपरिज्ञापूर्विका प्रत्याख्यानपरिज्ञा यथा भवति, त प्रकार दर्शयति–'तत् परिज्ञाय' इत्यादि । तत्=वायुकायारम्भण, परिज्ञाय=' कर्मबन्धस्य कारणं भवती ' त्यवगत्य, मेधावी=हेयोपादेयविवेकनिपुण स्वय वायुशस्त्र नैव समारभेत=नैव व्यापारयेत्, अन्यैर्वायुशस्त्र नैव समारम्भयेत् , वायुशस्त्र समारभमाणान् अन्यान् नैव समनुजानीयात्=नैवानुमोदयेत् ।

यस्यैते वायुशस्त्रसमारम्भाः=वायुकायमुद्दिश्य शस्त्रैस्तदुपमर्दनरूपा

का कारण नहीं समझता । अर्थात् उसे यह ज्ञान नहीं होता कि–' इन पाप–कृत्यों से मुझे कर्म का बंध होगा '

लेकिन इसी वायुकाय के विषय में शस्त्रों का आरंभ न करने वाला सावद्य व्यापारों को ज्ञपरिज्ञा से जानता है और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग देता है ।

ज्ञपरिज्ञापूर्वक प्रत्याख्यानपरिज्ञा जिस प्रकार होती है सो दिखलाते हैं–वायुकाय के आरंभ को कर्मबंध का कारण जानकर हेयोपादेय का विवेक रखने वाला पुरुष स्वयं वायुशस्त्र का आरंभ न करे, दूसरों से वायुशस्त्र का आरंभ न करावे और वायुशस्त्र का आरंभ करनेवालों का अनुमोदन न करे ।

जिसने वायुकायसंबंधी इन आरंभो का अर्थात् सावद्य व्यापारों को ज्ञपरिज्ञा से

સમજતા નથી. અર્થાત્ તેમને એ જ્ઞાન થતું નથી કે–'આ પાપકૃત્યોથી મને કર્મનો બંધ થશે.' પરંતુ આ વાયુકાયના વિષયમાં શસ્ત્રોનો આરંભ નહિ કરવાવાળા સાવદ્ય વ્યાપારોને જ્ઞપરિજ્ઞાથી જાણે છે, અને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞાથી ત્યજી દે છે જ્ઞપરિજ્ઞાપૂર્વક પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા જે પ્રમાણે હોય છે તે બતાવે છે–વાયુકાયના આરંભને કર્મબંધનું કારણ જાણીને હેય–ઉપાદેયનો વિવેક રાખવાવાળા પુરુષ પોતેજ વાયુશસ્ત્રનો આરંભ કરે નહિ બીજા પાસે વાયુશસ્ત્રનો આરંભ કરાવે નહિ અને વાયુશસ્ત્રનો આરંભ કરવાવાળાને અનુમોદન આપે નહિ

જે વાયુકાયસંબંધી એ આરંભોને અર્થાત્ સાવદ્ય વ્યાપારોને જ્ઞપરિજ્ઞાથી 'કર્મ

सावद्यव्यापारा', परिज्ञाता'=ज्ञ-परिज्ञया बन्धकारणतया विदिता', प्रत्याख्यान-परिज्ञया च परिवर्जिता भवन्ति, स एव परिज्ञातकर्मा=त्रिकरणत्रियोगै' परिवर्जित-सकलसावद्यव्यापार', मुनिर्भवति।

ननु त्रिकरणत्रियोगैर्वायुकायविराधनापरिहारेण यस्तु परिज्ञातकर्मा स एव मुनिर्भवतीत्युक्त तत्कथमुपपद्यते ? यतो हि गच्छता तिष्ठता आसीनेन स्वपता भुञ्जानेन भाषमाणेन वायुकायविराधना दुष्परिहरा कथ तर्हि मुनिश्चरेत् तिष्ठेत् आसीत शयीत भुञ्जीत भाषेत ? इति। अत्रोच्यते-मुनिनां सर्वं स्वकर्तव्य यतनयैव संपादनीयम्, अत एवोक्त भगवता—

कर्मबंध का कारण जान लिया और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग दिया है वही तीन करण और तीन योग से त्याग करने वाला मुनि होता है।

शंका—'तीन करण और तीन योग से वायुकाय की विराधना का त्याग करने वाले ही मुनि होते है' यह कथन किस प्रकार सही हो सकता है ? चलने, ठहरने, बैठने, सोने, आहार करने और भाषण करने में वायुकाय की विराधना से बच नहीं सकते। ऐसी दशा में मुनि कैसे चले, कैसे ठहरे कैसे बैठे, कैसे सोए, कैसे भोजन करे और कैसे बोले ?

समाधान—मुनि को अपनी सब क्रियाएँ यतनापूर्वक ही करनी चाहिए। भगवान्‌ने कहा है —

બન્ધનું કારણ છે' એમ જાણી લીધું છે અને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞાથી તેને ત્યજી દીધા છે, તે ત્રણ કરણ અને ત્રણયોગથી ત્યાગ કરવાવાળા મુનિ હોય છે

શંકા—'ત્રણ કરણ અને ત્રણયોગથી વાયુકાયની વિરાધનાનો ત્યાગ કરવાવાળા જ મુનિ હોય છે' આ વચન કેવી રીતે સાચુ હોઈ શકે છે? ચાલતા, બેસતા, રોકાતાં, સુતા, ભોજન કરતાં અને ભાષણ કરતા વાયુકાયની વિરાધનાથી બચી શકાતું નથી એવી દશામાં મુનિ કેવી રીતે ચાલે, કેવી રીતે બેસે, કેવી રીતે રોકાય, કેવી રીતે સુવે, કેવી રીતે ભોજન કરે અને કેવી રીતે બોલે ?

સમાધાન—મુનિએ પોતાની સર્વ ક્રિયાઓ યતનાપૂર્વક કરવી જોઇએ, ભગવાને કહ્યું છે—

"जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजतो भासंतो, पावकम्मं न बंधई" ॥ १ ॥

ननु गमनागमनादौ यतनायाः सुसपाद्यत्वेऽपि भाषणयतना कथं विधेया? कथमपि भाषणे हि वायुकायविराधना परिहर्त्तुं न शक्यते, कथं मुनिर्यतनया भाषेत? भाषणे वायुकायविराधनया सार्द्धं सूक्ष्मव्यापिसंपातिमजीवानामपि विराधनाऽवश्यम्भाविनी, तेषां वायुवेगसमाकृष्टानामाहत्य संपतनेन, वायुसंस्पर्शेन च संघात पर्यापत्य-पद्रावणान्त भवतीत्यत्रैवोद्देशेऽभिहितत्वात्? इति चेदुच्यते—

मुखवस्त्रिकाबन्धनं भाषणयतना भगवता प्रतिबोधिता, एष वायुकाय-

"यतनापूर्वक चले, यतनापूर्वक खड़ा रहे, यतनापूर्वक बैठे, यतनापूर्वक सोए, यतनापूर्वक भोजन करे और यतनापूर्वक बोले तो (साधु) पापकर्म का बंध नहीं करता है" ॥१॥

शङ्का—जाने-आने में यतना सरलता से हो सकती है मगर बोलने की यतना किस प्रकार करनी चाहिए? बोलने में वायुकाय की विराधना कैसी भी प्रकार नहीं टल सकती तो मुनि किस प्रकार भाषण करे?, भाषण करने में वायुकाय की विराधना के साथ सर्वत्र व्याप्त छोटे-छोटे संपातिम जीवों की विराधना भी अवश्य होती है। इसी उद्देश में बतलाया गया है कि—संपातिम जीव वायु के वेग से खिंचकर आ पड़ते हैं और वायु के स्पर्श से संघात को प्राप्त होते हैं, मूर्छित हो जाते हैं और मर भी जाते हैं।

समाधान—भगवान् ने मुखवस्त्रिका बाँधना भाषणी की यतना बतलाई है।

'યતનાપૂર્વક ચાલે, યતનાપૂર્વક ઉભે, યતનાપૂર્વક બેસાય, યતનાપૂર્વક સુવે, યતનાપૂર્વ ભોજન કરે, અને યતનાપૂર્વક બોલે તો (સાધુ) પાપ કર્મનો બંધ કરતા નથી ॥૧॥

શંકા—જવા આવવામાં યતના સરલતાપૂર્વક થઈ શકે છે, પરંતુ બોલવાની યતના કેવી રીતે કરવી જોઈએ? બોલવામાં વાયુકાયની વિરાધના કોઈ પણ પ્રકારથી ટળી શકતી નથી, તો મુનિ કેવી રીતે ભાષણ કરે? ભાષણ કરવામાં વાયુકાયની વિરાધનાની સાથે સર્વત્ર વ્યાપ્ત નાના-નાના સંપાતિમ જીવોની વિરાધના પણ અવશ્ય થાય છે આ ઉદ્દેશમાં બતાવવામાં આવ્યું છે કે—સંપાતિમ જીવ વાયુના વેગથી ખેંચાઈને આવી પડે છે; અને વાયુના સ્પર્શથી સંઘાત-(સમુદાય)ને પામે છે, મૂર્છિત થઈ જાય છે અને મરણ પણ પામે છે

સમાધાન-ભગવાને મુખવસ્ત્રિકા બાંધવી તે ભાષણની યતના બતાવી [illegible]

समारम्भः ग्रन्थमोहमारनरकरूपस्तस्मादहितोऽयमिति मत्वा वायुकायविराधनया शान्तिमार्गावलम्बिनः संयमिनः प्राणान् धारयितुमपि नावकाङ्क्षन्तीत्यत्रैवोद्देशे समुपदिशता भगवता भाषणयतनारूप मुखवस्त्रिकाबन्धनमिति सूचितम्। उक्तञ्च समुत्थानसूत्रे—

" तओ पच्छा गोयमा ! सलिंगे मुहपत्तिं मुहेण सद्धिं बंधे ॥ १ ॥

मुहपत्तीः णं भंते ! किंपमाणा ? गोयमा ! मुहप्पमाणा मुहपत्ती । मुहपत्ती णं भंते ! कस्स वत्थस्स कहे ? गोयमा ! एगस्सवि सेयवत्थस्स णं अट्ठपुडलाए मुहपत्तिं करेह ॥ २ ॥

कस्सट्ठ मुहपत्तीए णं अट्ठ पुडलाइ ? गोयमा ! अट्ठकम्मदहणट्ठ ॥

मुहपत्ती णं भंते ?, कह बंधे ?, गोयमा ! एगकन्नेण दुकन्नप्पमाणेण दोरेण सद्धिं मुहे बंधेइ । मुहपत्तीएणं भंते ! के अट्ठे ?, गोयमा ? जण्णं मुहअसे सइ वट्टति से तेणट्ठेणं मुहपत्ती । कस्सट्ठमंते ! मुहपत्तिं मुहेणसद्धिं बंधे ?, गोयमा ! सलिंगवाउ-जीवरक्खणट्ठ ॥ ३ ॥

अइ णं भंते ! मुहपत्ती वाउजीवरक्खणट्ठाए तो किं सुहुमवाउकायजीवरक्खण-ट्ठाए वा बायरवाउकायजीवरक्खणट्ठाए वा ? गोयमा! णोति सुहुमवाउकायजीव-रक्खणट्ठाए बायरवाउकायजीवरक्खणट्ठाए। नो-ति अविसेस, एव ते सव्वेवि अरिहंता पवुच्चंति ॥ ४ ॥" इति।

यह वायुकाय का समारंभ ग्रन्थ है, मोह है, मार है, नरक है और इस कारण अहितकारी है, अत एव शांति-मोक्षमार्ग का अवलम्बन करने वाले संयमी वायुकाय की विराधना करके अपने प्राणों की भी इच्छा नहीं करते। इसी उद्देश में भगवान् ने उपदेश देते हुए भाषा यतनारूप मुखवस्त्रिका का बांधना सूचित किया है। समुत्थान सूत्र में कहा भी है —

સમારંભ ગ્રંથ છે, મોહ છે, માર છે, નરક છે, અને તે કારણે અહિતકારી છે એટલા માટે શાંતિ-મોક્ષ માર્ગનું અવલંબન કરવાવાળા સંયમી વાયુકાયની વિરાધના કરીને પોતાના પ્રાણની પણ ઈચ્છા કરતા નથી. આ ઉદ્દેશમાં ભગવાને ઉપદેશ આપતા થકા ભાષા યતનારૂપ મુખવસ્ત્રિકા બાંધવાની સૂચના કરી છે

સમુત્થાનસૂત્રમાં કહ્યું પણ છેઃ-

छाया—

" ततः पश्चात् गौतम ! सलिङ्गो मुखपत्रीं मुखेन सार्द्ध बध्नीयात् । मुखपत्री खलु भदन्त ! किंप्रमाणा ?, गौतम ! मुखप्रमाणा मुखपत्री । मुखपत्री खलु भदन्त ! केन वस्त्रेण कृता ?, गौतम ! एकस्यापि श्वेतवस्त्रस्याष्टपुटका मुखपत्रीं कुर्यात् ॥ २ ॥

कस्मै अर्थाय भदन्त ! मुखपत्री खलु अष्टपुटका ?, गौतम ! अष्टकर्म दहनार्थम् । मुखपत्रीं भदन्त ! कथं बध्नीयात् ?, गौतम ! एककर्णेन द्वितीयकर्ण

" गौतम ! तत्पश्चात् स्वलिंगी साधु मुख के साथ मुखपत्ती बाँधे ॥१॥

प्रश्न—भगवान् ! मुँहपत्ती का क्या प्रमाण है ?

उत्तर—गौतम ! मुँह के बराबर मुँहपत्ती होती है ।

प्रश्न—भगवान् ! मुँहपत्ती किस वस्त्र की होती है ?

उत्तर—गौतम ! एक सफेद वस्त्र की आठ पुटकी मुँहपत्ती होती है ॥२॥

प्रश्न—भगवान् ! मुँहपत्ती आठ पुटकी क्यों होनी चाहिए ?

उत्तर—गौतम ! आठ कर्मों को भस्म करने के लिए ।

प्रश्न—भगवान् ! मुँहपत्ती किस तरह बांधनी चाहिये ?

उत्तर—गौतम ! एक कान से दूसरे कान तक लम्बे डोरे के साथ मुँहपत्ती मुख पर बांधनी चाहिए ।

" ગૌતમ ! તત્પશ્ચાત સ્વલિંગી સાધુ મુખ સાથે મુખપત્તિ બાંધે (૧)

પ્રશ્ન—ભગવાન ! મુહપત્તીનું શું પ્રમાણ છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! મુખની બરાબર મુહપત્તી હોય છે

પ્રશ્ન—ભગવન ! મુહપત્તી કયા વસ્ત્રની બને છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! એક સફેદ વસ્ત્રની આઠ પડની મુહપત્તી હોય છે (૨)

પ્રશ્ન—ભગવન ! મુહપત્તી આઠ પડની શા માટે હોવી જોઇએ ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! આઠ કર્મોને ભસ્મ કરવા માટે

પ્રશ્ન—ભગવન ! મુહપત્તી કેવી રીતે બાંધવી જોઇએ ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! એક કાનથી બીજા કાન સુધી લાંબા દોરાની સાથે મુહપત્તી મુખ પર બાંધવી જોઇએ

प्रमाणदवरकेण सार्द्ध मुखे बध्नीयात् मुखपत्र्या भदन्त ! कोऽर्थः ?, गौतम ! यत्खलु मुखान्ते सदा वर्त्तते तेनार्थेन मुखपत्री । कस्मै अर्थाय भदन्त ! मुखपत्रीं मुखेन सार्द्धं बध्नीयात् ?, गौतम ! स्वलिङ्गवायुजीवरक्षणार्थम् ॥ ३ ॥

यदि खलु भदन्त ! मुखपत्री वायुजीवरक्षणार्थाय तर्त्कि सूक्ष्मवायुकायजीवरक्षणार्थाय वा बादरवायुकायजीवरक्षणार्थाय ? गौतम ! नो इति सूक्ष्मवायुकायजीवरक्षणार्थाय, (किन्तु) बादरवायुकायजीवरक्षणार्थाय, नो इति अविशेषम् , एवं ते सर्वेऽपि अर्हन्त ब्रुवन्ति ॥ ४ ॥ इति ।

सम्प्रति केचिन्मुनिम्मन्या मुखवस्त्रिकाबन्धनं प्रतिषेधयन्ति तेषामाचार्यास्तु

प्रश्न—भगवान् ! मुँहपत्ती का अर्थ क्या है ?

उत्तर—यह सदैव मुँह पर बँधी रहती है इस लिए यह मुँहपत्ती कहलाती है ।

प्रश्न—किस प्रयोजन से मुँहपत्ती मुख पर बाँधनी चाहिए ?

उत्तर—मुँहपत्ती बाँधना साधु का स्वलिंग है इस लिए, तथा वायुकाय के जीवों की रक्षा के लिए मुँहपत्ती बाँधी जाती है ॥३॥

प्रश्न—भगवान् अगर वायुकाय की रक्षा के लिए मुँहपत्ती है तो सूक्ष्म वायुकाय की रक्षा के लिए है या बादर वायुकाय की रक्षा के लिए ?

उत्तर—सूक्ष्म वायुकाय की रक्षा के लिए नहीं किन्तु बादर वायुकाय के जीवों की रक्षा के लिए है । सभी अर्हन्त ऐसा ही कहते हैं " ॥४॥

आजकल अपने को मुनि मानने वाले कोई-कोई मुखवस्त्रिका के बाँधने का

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! મુંહપત્તીનો અર્થ શું છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! તે હંમેશા મુખપર બાંધી રહે છે તેથી તે મુંહપત્તી કહેવાય છે

પ્રશ્ન—શું પ્રયોજનથી મુંહપત્તી મુખપર બાંધવી જોઈએ ?

ઉત્તર—મુંહપત્તી બાંધવી તે સાધુનું સ્વલિંગ છે એ માટે, તથા વાયુકાયના જીવોની રક્ષા માટે મુંહપત્તી બાંધે (૩)

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! અગર વાયુકાયની રક્ષા માટે, મુંહપત્તી છે તો શું સૂક્ષ્મ વાયુકાયની રક્ષા માટે છે અથવા બાદર વાયુકાયની રક્ષા માટે છે ?

ઉત્તર—સૂક્ષ્મ વાયુકાયની રક્ષા માટે નહિ પરન્તુ બાદર વાયુકાયના જીવોની રક્ષા માટે છે સર્વ અર્હન્ત એ પ્રમાણેજ કહે છે. (૪)

આજ કાલ પોતાને મુનિ માનવાવાળા કોઈ—કોઈ મુખવસ્ત્રિકા બાંધવાનો નિષેધ

छाया—

" ततः पश्चात् गौतम ! सलिङ्गो मुखपत्रीं मुखेन सार्द्धं बध्नीयात्। मुखपत्री खलु भदन्त ! किंप्रमाणा ?, गौतम ! मुखप्रमाणा मुखपत्री। मुखपत्री खलु भदन्त ! केन वस्त्रेण कृता ?, गौतम ! एकस्यापि श्वेतवस्त्रस्याष्टपुटकां मुखपत्रीं कुर्यात् ॥ २ ॥

कस्मै अर्थाय भदन्त ! मुखपत्री खलु अष्टपुटका ?, गौतम ! अष्टकर्म दहनार्थम्। मुखपत्रीं भदन्त ! कथं बध्नीयात् ?, गौतम ? एककर्णेन द्वितीयकर्ण

" गौतम ! तत्पश्चात् स्वलिंगी साधु मुख के साथ मुखपत्ती बाँधे ॥१॥
प्रश्न—भगवान् ! मुँहपत्ती का क्या प्रमाण है ?
उत्तर—गौतम ! मुँह के बराबर मुँहपत्ती होती है।
प्रश्न—भगवान् ! मुँहपत्ती किस वस्त्र की होती हैं ?
उत्तर—गौतम ! एक सफेद वस्त्र की आठ पुटकी मुँहपत्ती होती है ॥२॥
प्रश्न—भगवान् ! मुँहपत्ती आठ पुटकी क्यों होनी चाहिए ?
उत्तर—गौतम ! आठ कर्मों को भस्म करने के लिए।
प्रश्न—भगवान् ! मुँहपत्ती किस तरह बाँधनी चाहिये ?
उत्तर—गौतम ! एक कान से दूसरे कान तक लम्बे डोरे के साथ मुँहपत्ती मुख पर बाँधनी चाहिए।

" ગૌતમ ! તત્પશ્ચાત્ સ્વલિંગી સાધુ મુખ સાથે મુખપત્તિ બાંધે (૧)
પ્રશ્ન—ભગવાન્ ! મુહપત્તીનુ શું પ્રમાણ છે ?
ઉત્તર—ગૌતમ ! મુખની બરાબર મુહપત્તી હોય છે
પ્રશ્ન—ભગવન્ ! મુહપત્તી કયા વસ્ત્રની બને છે ?
ઉત્તર—ગૌતમ ! એક સફેદ વસ્ત્રની આઠ પડની મુહપત્તી હોય છે (૨)
પ્રશ્ન—ભગવન્ ! મુહપત્તી આઠ પડની શા માટે હોવી જોઇએ ?
ઉત્તર—ગૌતમ ! આઠ કર્મોને ભસ્મ કરવા માટે
પ્રશ્ન—ભગવન્ ! મુહપત્તી કેવી રીતે બાંધવી જોઇએ ?
ઉત્તર—ગૌતમ ! એક કાનથી બીજા કાન સુધી લાંબા દોરાની સાથે મુહપત્તી મુખ પર બાંધવી જોઇએ

प्रमाणदवरकेण सार्द्धं मुखे बध्नीयात् मुखपत्र्या भदन्त ! कोऽर्थः ?, गौतम ! यत्खलु मुखान्ते सदा वर्तते तेनार्थेन मुखपत्री । कस्मै अर्थाय भदन्त ! मुखपत्रीं मुखेन सार्द्धं बध्नीयात् ?, गौतम ! स्वलिङ्गवायुजीवरक्षणार्थम् ॥ ३ ॥

यदि खलु भदन्त ! मुखपत्री वायुजीवरक्षणार्थाय तर्हि किं सूक्ष्मवायुकायजीवरक्षणार्थाय वा बादरवायुकायजीवरक्षणार्थाय ? गौतम ! नो इति सूक्ष्मवायुकायजीवरक्षणार्थाय, (किन्तु) बादरवायुकायजीवरक्षणार्थाय, नो इति अविशेषम् , एवं ते सर्वेऽपि अर्हन्त ब्रुवन्ति ॥ ४ ॥ इति ।

सम्प्रति केचिन्मुनिम्मन्या मुखवस्त्रिकाबन्धनं प्रतिषेधयन्ति तेषामाचार्यास्तु

प्रश्न–भगवान् ! मुँहपत्ती का अर्थ क्या है ?

उत्तर–वह सदैव मुँह पर बंधी रहती है इस लिए वह मुँहपत्ती कहलाती है ।

प्रश्न–किस प्रयोजन से मुँहपत्ती मुख पर बाँधनी चाहिए ?

उत्तर–मुँहपत्ती बाँधना साधु का स्वलिंग है इस लिए, तथा वायुकाय के जीवों की रक्षा के लिए मुँहपत्ती बाँधी जाती है ॥३॥

प्रश्न–भगवान् अगर वायुकाय की रक्षा के लिए मुँहपत्ती है तो सूक्ष्म वायुकाय की रक्षा के लिए है या बादर वायुकाय की रक्षा के लिए ?

उत्तर–सूक्ष्म वायुकाय की रक्षा के लिए नहीं किन्तु बादर वायुकाय के जीवों की रक्षा के लिए है । सभी अर्हन्त ऐसा ही कहते हैं " ॥४॥

आजकल अपने को मुनि मानने वाले कोई–कोई मुखवस्त्रिका के बाँधने का

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! મુહપત્તીનો અર્થ શું છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! તે હમેશાં મુખપર બાંધી રહે છે તેથી તે મુહપત્તી કહેવાય છે

પ્રશ્ન—શું પ્રયોજનથી મુહપત્તી મુખપર બાંધવી જોઈએ ?

ઉત્તર—મુહપત્તી બાંધવી તે સાધુનું સ્વલિંગ છે એ માટે, તથા વાયુકાયના જીવોની રક્ષા માટે મુહપત્તી બાંધે. (૩)

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! અગર વાયુકાયની રક્ષા માટે, મુહપત્તી છે તો શું સૂક્ષ્મ વાયુકાયની રક્ષા માટે છે અથવા બાદર વાયુકાયની રક્ષા માટે છે ?

ઉત્તર—સૂક્ષ્મ વાયુકાયની રક્ષા માટે નહિ પરન્તુ બાદર વાયુકાયના જીવોની રક્ષા માટે છે સર્વ અર્હન્ત એ પ્રમાણેજ કહે છે (૪)

આજ કાલ પોતાને મુનિ માનવાવાળા કોઈ–કોઈ મુખવસ્ત્રિકા બાંધવાનો નિષેધ

मुखवस्त्रिकाबन्धनं स्वीकुर्वन्त्येव। उक्तञ्च जिनमतिशिष्यपूर्णभद्रगणिकृतातिमुक्तकचरित्रे (श्लोकेषु ८०-८१-८२)—

" अथानन्यमुखस्तिष्ठन् , पुरतो निश्चलासनः ।
प्राञ्जलिर्वदनद्वारे, दधानो मुखवस्त्रिकाम् ॥ ८० ॥

इत्यादि यावत्—

शुश्रावासौ श्रुतस्यार्थं,-मतिमुक्तमुनिर्मुदा " ॥ २ ॥ इति

विक्रमसंवत्सरे द्व्यशीत्यधिकद्वादशशत (१२८२) परिमिते पूर्णभद्रगणिना विरचितोऽयमतिमुक्तकचरित्रनामधेयो ग्रन्थः, यस्यास्मिन् विक्रमसंवत्सरे द्व्यधिकद्वि-सहस्र (२००२) परिमिते विंशत्यधिकसप्तशत (७२०) वर्षाणि व्यतीतानि,इत्थं स्फुटमेतदवगम्यते मुखवस्त्रिकाबन्धनं-सादरं परिगृहीतं तेषामाचार्यैस्तदनुयायिभिश्च।

निषेध करते हैं। परन्तु उनके आचार्य मुखवस्त्रिका बांधना स्वीकार करते हैं। जिनपति के शिष्यपूर्णभद्रगणिविरचित 'अतिमुक्तकचरित्र' (श्लोक ८०-८१-८२) में कहा है—

"पर-पदार्थों में सुख न मानने वाला, निश्चल आसन से सामने हाथ जोडकर मुख पर मुँहपती धारण किये हुए अतिमुक्तक मुनिने श्रुतका अर्थ सुना ॥८०-८२॥

विक्रम संवत १२८२ में पूर्णभद्र गणिने यह अतिमुक्तकचरित्र नामक ग्रंथ लिखा है। इस संवत् २००२ तक उसे ७२० वर्ष हो चुके हैं। इस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनके आचार्योंने और उनके अनुयायियोंने मुखवस्त्रिका का बांधना आदरपूर्वक अंगीकार किया है।

કરે છે પરન્તુ તેમના આચાર્ય મુખવસ્ત્રિકા બાંધવાનું સ્વીકાર કરે છે જિનપતિના શિષ્ય પૂર્ણભદ્રગણિ-વિરચિત 'અતિમુક્તકચરિત્ર'માં શ્લોક ૮૦-૮૧-૮૨માં કહ્યું છે—

પર પદાર્થોમાં સુખ નહિ માનવાવાળા નિશ્ચલ આસનથી સામે હાથ જોડીને મુખપર મુહપત્તી ધારણ કરેલા 'અતિમુક્તક' મુનિએ શ્રુતનો અર્થ સાંભળ્યો. ॥૮૦-૮૨॥

વિક્રમ સંવત ૧૨૮૨માં પૂર્ણભદ્ર ગણિએ આ અતિમુક્તકચરિત્ર નામનો ગ્રંથ લખ્યો છે આ સંવત્ ૨૦૦૨ સુધીમાં તેને ૭૨૦ વર્ષ વ્યતીત થઈ ચૂકયા છે એથી સ્પષ્ટ જાણમાં આવે છે કે-તેમના આચાર્યોએ અને તેમના અનુયાયિઓએ મુખવસ્ત્રિકા બાંધવાનું આદરપૂર્વક અંગીકાર કર્યું છે

अपरञ्च जिनपतिशिष्य क्षेत्र विरचिते सनत्कुमारचरित्रे सनत्कुमारप्रतीय-पूर्वभविक—'विक्रमयशो'—नृपवर्णनेऽभिहितम्—

"मुखेन्दुराजन्मुखवस्त्रिकश्च,
कथासु लेभे विरजा द्विजौघैः।
निषेवित' प्रान्तनिविष्टराज,—
हसीव विभ्राजि सर श्रिय य' ॥ १ ॥"

सनत्कुमार, तृतीयपूर्वजन्मनि विक्रमयशो नाम नृपोऽभवत्। स च परिषदि धर्मकथाश्रवणार्थं यथोपविष्टस्तद्वर्णनं कुर्वन्नाह—

"मुखेन्दुराजमुखवस्त्रिकश्च" इत्यादि। व्याख्या—इन्दुरिव मुख मुखेन्दुः, मुखेन्दौ राजन्ती मुखवस्त्रिका यस्य स मुखेन्दुराजन्मुखवस्त्रिक, मुखोपरिनिबद्धातिशुक्लवस्त्रविनिर्मितदेदीप्यमानमुखवस्त्रिक। विरजा =निर्मलान्त करणः,

---

इसके अतिरिक्त जिनपति के शिष्य क्षेत्रद्वारा रचित सनत्कुमारचरित्र में सनत्कुमार के तीसरे पूर्वभववर्ती विक्रमयश नामक राजा का वर्णन करते हुए कहा है—

सनत्कुमार अपने तृतीय पूर्वभव में विक्रमयश नामक राजा था। वह परिषद् में धर्मकथा सुनने के लिए जिस प्रकार बैठा था उसका वर्णन करते हुए कहते हैं—'मुखेन्दु.' इत्यादि। इसकी व्याख्या इस प्रकार है—

जिसके मुखचन्द्र पर मुखवस्त्रिका सुशोभित थी अर्थात् मुख के ऊपर बँधी हुई, सफेद वस्त्र की बनी हुई मुखवस्त्रिका से जिसका मुख शोभायमान हो रहा था, जिसका अन्त करण निर्मल था और जो द्विजों के समूह से सेवित था ऐसा विक्रमयश—

એ સિવાય જિનપતિનાશિષ્ય ક્ષેત્રદ્વારા રચિત સનત્કુમારચરિત્રમાં સનત્કુમારના ત્રીજા પૂર્વભવવર્તી 'વિક્રમયશ' નામના રાજાનું વર્ણન કરતા થકા કહે છે કે.—

સનત્કુમાર પોતાના ત્રીજા પૂર્વભવમાં 'વિક્રમયશ' નામના રાજા હતા, તે પરિષદ્માં (સભામાં) ધર્મકથા સાંભળવા માટે જે પ્રમાણે બેઠા હતા તેનું વર્ણન કરતા થકા કહે છે કે–'મુખેન્દુ' ઇત્યાદિ. એની વ્યાખ્યા આ પ્રમાણે છે—

જેના મુખચન્દ્ર પર મુખવસ્ત્રિકા સુશોભિત હતી, અર્થાત મુખ ઉપર બાંધેલી સફેદ વસ્ત્રની બનેલી મુખવસ્ત્રિકાથી જેનું મુખ શોભાયમાન થઈ રહ્યું હતું, જેનું અન્તઃકરણ નિર્મલ હતું, અને જે દ્વિજોના સમૂહથી સેવિત હતા, એવા વિક્રમયશ નામના રાજા-

द्विजौघैः=द्विजसमूहैर्निषेवितः, यः=विक्रमयशो नृपः कथासु=धर्मकथापरिषत्सु श्रियं=शोभां लेमे=प्राप्तवान्। किमिव? प्रान्ते निविष्टा राजहंसी यस्य तत् प्रान्तनिविष्टराजहंसि, विभ्राजि=देदीप्यमानं सरः इव।

यथा प्रान्तनिविष्टया राजहंस्या विभ्राजमानं सरः श्रियं लभते तथा मुखोपरिनिबद्धदेदीप्यमानमुखवस्त्रिकया विक्रमयशो नृपः सदसि श्रियं लब्धवानित्यर्थः।

करेण मुखवस्त्रिकाधारणे तु करतलावृतमुखवस्त्रिकाया दीप्तिः समाच्छादिता स्यात्, कथं तर्हि ' राजन्मुखवस्त्रिकः '-इत्यत्र 'राजन्'-पदप्रयोगसमूचितमुखवस्त्रिकागतप्रभाया प्रकाशमानता विरोधिता भवेत्, तर्हि राजहंसीप्रभया ' विभ्राजी '-ति सरोविशेषणेन साम्यमपि न सिद्ध्येत्।

नामक राजा धर्मकथा की परिषद् में शोभा को प्राप्त हुआ। कैसी शोभा को प्राप्त हुआ? जैसे जिसके किनारे राजहंसी बैठी हो वह तालाब सुशोभित होता है।

जिसके किनारे राजहंसी बैठी हो वह तालाब जैसे शोभित होता है उसी प्रकार मुख पर बंधी हुई और देदीप्यमान मुखवस्त्रिका से विक्रमयश राजा व्याख्यानपरिषद् में शोभित हुआ।

अगर हाथ से मुखवस्त्रिका पकडी होती तो मुखवस्त्रिका की दीप्ति हथेली से छिप जाती। ऐसी स्थिति में ' ..राजन्मुखवस्त्रिकः' इस पद में 'राजन्' शब्द के प्रयोग से मुखवस्त्रिका की जो प्रभा सूचित की है वह प्रकाशमान कैसी होती? फिर तो वह छिपी हुई प्रभा रहजाती! और फिर सरोवर के किनारे बैठी हुई राजहंसिनी की उपमा भी ठीक नहीं बैठ सकती।

ધર્મકથાની સભામાં શોભાને પામ્યા છે કેવી શોભાને પામ્યા છે? જેમકે—જેના કિનારે રાજહંસી બેઠાં હોય તે તળાવ સુશોભિત થાય છે

જેના કિનારે રાજહંસી બેઠાં હોય તે તળાવ જેવી રીતે સુશોભિત હોય છે તે પ્રમાણે મુખ પર બાંધેલી અને ઝગમગાટ શોભાયમાન મુખવસ્ત્રિકાથી વિક્રમયશ રાજા વ્યાખ્યાપરિષદ્‌—(સભા)મા શોભતા હતા.

અથવા હાથથી મુખવસ્ત્રિકા પકડી હોતે તો તે મુખવસ્ત્રિકાની દીપ્તિ—પ્રકાશ હથેલીથી ઢંકાઈ જાત એવી સ્થિતિમાં 'राजन्मुखवस्त्रिकः' આ પદમા 'राजन्' શબ્દના પ્રયોગથી મુખવસ્ત્રિકાની જે પ્રભા—(પ્રકાશ) સૂચિત કરી છે, તે પ્રકાશમાન કેવી રીતે થાત? પછી તો તે ઢંકાએલી જેવી પ્રભા રહી જાત અને પછી સરોવરના કિનારે બેઠેલાં રાજહંસીની ઉપમા બરાબર ઘટી શકત નહિ.

अपरञ्च सरसि राजहंसी यथा सर्वथाऽनावृता सती सरःशोभां जनयति तथा मुखवस्त्रिका नृपस्य श्रियं करोतीति तात्पर्यं करतलेन मुखवस्त्रिकाधारणे कथमपि नोपपद्यते ।

तस्मादेतत्सनत्कुमारचरित्रपद्यं विक्रमयशोनृपस्य सदोरकमुखवस्त्रिकाबन्धन मासीदिति सुस्पष्टमावेदयति ।

अहो! महीयान् मोहमहिमा यत्स्वकीयगुरुवराणां सम्प्रदायवाक्यमपिसमुल्लङ्घयन्तो नवीना न कथञ्चित्त्रपन्ते ।

विस्तरतस्तु जिज्ञासुभिर्दशवैकालिकसूत्रस्य मत्कृताचारमणिमञ्जूषाटीकायां प्रथमाध्ययने विलोकनीयम् ।

इसके अतिरिक्त—जैसे राजहंसिनी बिल्कुल उघाडी होकर ही सरोवर की शोभा बढाती है उसी प्रकार मुखवस्त्रिका राजा की शोभा बढाती थी । यह तात्पर्य हाथ से मुख वस्त्रिका धारण करने में किसी भी प्रकार नहीं घट सकता ।

अत सनत्कुमारचरित्र का यह पद्य स्पष्टरूप से प्रकट करता है कि—विक्रम यश राजा के मुख पर डोरासहित मुखवस्त्रिका बंधी थी ।

अहो ! मोह की महिमा महान है, जिस के प्रभाव से आधुनिक लोग अपने गुरुओं के परम्परा वाक्य का उल्लंघन करते हुए भी लज्जित नहीं होते ।

विस्तार से समझने की इच्छा रखने वाले मेरी रची हुई दशवैकालिक सूत्र की 'आचारमणिमंजूषा'—टीका के अन्दर पहले अध्ययन में देख सकते हैं ।

એ સિવાય-જેવી રીતે રાજહંસિની એકદમ ઉઘાડી થઈનેજ સરોવરની શોભા વધારે છે, તેવીજ રીતે મુખવસ્ત્રિકા રાજાની શોભા વધારતી હતી આ તાત્પર્ય હાથથી મુખવસ્ત્રિકા ધારણ કરે તો-અથવા કરવાથી કોઈ પણ પ્રકારે બની શકે નહિ

એ કારણથી સનત્કુમારચરિત્રનું એ પદ સ્પષ્ટરૂપથી બતાવી આપે છે કે-વિક્રમયશ રાજાના મુખપર દોરાસહિત મુખવસ્ત્રિકા બાંધી હતી

અહો ! મોહનો મહિમા મહાન્ છે, જેના પ્રભાવથી આધુનિક લોક પોતાના ગુરુઓના પરમ્પરા વાક્યનું ઉલ્લંઘન કરતા પણ શરમાતા નથી.

વિસ્તારથી સમજવાની ઇચ્છા રાખવાવાળા, મારી રચેલી દશવૈકાલિકસૂત્રની 'આચારમણિમંજૂષા'-ટીકાની અંદર પહેલા અધ્યયનમાં જોઈ શકે છે

इति ब्रवीमि, इति=एतत्सर्वं ब्रवीमि=भगवतः समीपे यथा श्रुतं तथा कथया मीत्यर्थः ॥ सू० ६ ॥

अथ षड्जीवनिकायारम्भकरणेन कर्मबन्धो भवतीत्याह–'एत्थपि' इत्यादि।

मूलम्—

एत्थंपि जाण उवादीयमाणा, जे आयारे ण रमंति, आरंभमाणा विणयं वयंति, छन्दोवणीया अज्झोववण्णा आरंभसत्ता पकरंति संगं ॥ सू० ७ ॥

छाया—

अत्रापि जानीहि उपादीयमानाः, ये आचारे न रमन्ते, आरभमाणा विनयं वदन्ति, छन्दोपनीता अध्युपपन्नाः, आरम्भसक्ताः प्रकुर्वन्ति सङ्गम् ॥ सू० ७ ॥

सुधर्मा स्वामी कहते हैं–यह सब भगवान् के समीप जैसा सुना है वैसा कहता हूँ ॥ सू० ६ ॥

अब यह कहते हैं कि–षड्जीवनिकाय का आरंभ करने से कर्मबंध होता है– 'एत्थंपि.' इत्यादि।

मूलार्थ—वायुकाय के विषय में भी आरंभ करने वाले, कर्मों से बद्ध होते हैं, ऐसा समझो। जो आचार में रमण नहीं करते आरम्भ करते हुए भी अपने को विनय (चारित्र) वाले मानते है, इच्छानुसार चलते है, गृद्ध हैं और आरम्भ में आसक्त हैं वे कर्मों उपार्जन करते हैं ॥ सू० ७ ॥

સુધર્મા સ્વામી કહે છેઃ—આ સર્વ ભગવાનની સમીપમાં જેવું સાંભળ્યું છે તેવુંજ કહું છું ॥ ૬ ॥

હવે એ કહે છે કે-ષડ્જીવનિકાયનો આરંભ કરવાથી કર્મબંધ થાય છે– 'एत्थंपि' ઇત્યાદિ.

મૂલાર્થ—વાયુકાયના વિષયમાં પણ આરંભ કરવાવાળા, કર્મોથી બદ્ધ થાય છે એ પ્રમાણે સમજો. જે આચારમાં રમણ કરતા નથી, આરંભ કરતા થકા પણ પોતાને વિનય (ચારિત્ર) વાળા માને છે, ઇચ્છાનુસાર ચાલે છે, ગૃદ્ધ છે, અને આરંભમાં આસક્ત છે, તે કર્મોનું ઉપાર્જન કરે છે ॥ સૂ૦ ૭ ॥

टीका—

अत्रापि=एतस्मिन् वायुकायेऽपि, अपिशब्दात् अवशिष्टे पृथिव्यादिचतुष्के स्थावरे त्रसकाये च ये भोगलोलुपा' स्वार्थवशगाः आरम्भ कुर्वन्ति, ते उपादीयमानाः =ज्ञानावरणीयादिकर्मभिर्बध्यमाना भवन्तीत्येव जानीहि।

एकजीवारम्भप्रवृत्तः शेषजीवनिकायारम्भजनितकर्मभिर्बद्धो भवतीत्येव विद्धीत्यर्थ'। के पुन' पृथिव्याद्यारम्भकरणेन शेषजीवारम्भजन्यकर्मभिरपि बध्यमाना भवन्तीति जिज्ञासायामाह–'ये आचारे न रमन्ते' इति।

ये आचारे=ज्ञानदर्शनादिपञ्चविधाचारे न रमन्ते=न धृतिं कुर्वन्ति, तान् कर्मभिर्बध्यमानान् जानीहि। के पुनराचारे न रमन्ते ? दण्डिशाक्यादयः।

कथमेतद्विज्ञायते ? इति जिज्ञासायामाह–'आरभमाणा विनय वदन्ति'

टीकार्थ—इस वायुकाय के विषय में भी–(अपि) शब्द से पृथ्वी आदि अन्य स्थावरों में तथा त्रसकाय में जो भोगों के लोलुप और स्वार्थपरायण होकर आरम्भ करते हैं, वे ज्ञानावरण आदि कर्मों से बद्ध होते हैं, ऐसा समझो।

तात्पर्य यह है कि–एक जीव के आरम्भ में प्रवृत्ति करने वाला शेष जीवनिकायोंके आरम्भ से उत्पन्न होने वाले कर्मों से भी बद्ध होता है।

ऐसे कौन हैं जो पृथ्वी आदि एक कायका आरम्भ करके शेष जीवनिकायों के आरम्भ से होने वाले कर्मोंद्वारा बद्ध होते हैं ? इस का समाधान करने के लिए कहते है–

जो ज्ञानाचार दर्शनाचार आदि पाँच आचारों में स्थिर नहीं होते उन्हें कर्मबंध होता है, ऐसा जानो। आचार में कौन स्थिर नहीं होते ? दण्डी तथा शाक्य आदि।

यह कैसे ज्ञात हुआ ? इसके उत्तर में कहते हैं–वे पृथ्वीकाय आदि की विराधना

ટીકાર્થ—આ વાયુકાયના વિષયમાં પણ 'અપિ' શબ્દથી પૃથ્વી આદિ અન્ય સ્થાવરોમા તથા ત્રસકાયમાં જે ભોગોના લાલચુ અને સ્વાર્થપરાયણ થઇને આરભ કરે છે તે જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મોથી બદ્ધ થાય છે એ પ્રમાણે સમજો.

તાત્પર્ય એ છે કે–એક જીવના આરભમાં પ્રવૃત્તિ કરવાવાળા બાકીના જીવ-નિકાયોના આરભથી ઉત્પન્ન થવાવાળા કર્મોથી પણ બદ્ધ થાય છે

એવા કોણ છે કે જે પૃથ્વી આદિ એક કાયનો આરભ કરીને બાકીના જીવ-નિકાયોના આરભથી થનારા કર્મોદ્વારા થાય છે? તેનું સમાધાન કરવા માટે કહે છે–

જે જ્ઞાનાચાર-દર્શનાચાર આદિ પાંચ આચારોમાં સ્થિર નથી થતા તેને કર્મ બન્ધ થાય છે, એ પ્રમાણે જાણો.

આચારમાં કોણ સ્થિર નથી રહેતા ? દડી અને શાક્ય આદિ

એ કેવી રીતે જાણ્યું ? તેના ઉત્તરમાં કહે છે–તે પૃથ્વીકાય આદિની વિરાધના

इति । आरभमाणाः, पृथिव्यादीन् पीडयन्तोऽपि विनय=धर्मेणा विनयात् विनयः संयमस्त, वदन्ति='वयमेव संयमसेवनपरा' इति निश्शङ्कं निगदन्तीत्यर्थ ।

ननु स्वात्मानं संयमिनं मन्यमानास्ते कस्मात्पृथिव्यादिजीवहिंसनपराः ? इति जिज्ञासायां हेतुगर्भविशेषणपदद्वयमाह–'छन्दोपनीता' 'अध्युपपन्नाः' इति । 'छन्दोपनीता'='छन्द'=स्वाभिमाय', तेनोपनीताः स्वतन्त्रा' शास्त्रविरुद्धविचारशीला इत्यर्थः ।

यद्वा छन्दः–अभिमायः=इच्छा, विषयाभिलापस्तेनोपनीता', तथा 'अध्युपपन्नाः,' अधि=अधिकम् अतिशयेन उपपन्ना'=तद्गतचित्ता' विषयसंनिविष्टचित्ताः विषयभोगार्थमातुरा इत्यर्थः । यतश्छन्दोपनीता अध्युपपन्नाश्च तस्माते पृथिव्यादीन् विहिंसन्तीति भाव । एवं पृथिव्यादिहिंसनेन पुन कर्मबन्ध माप्नोतीत्याह—'आरम्भसक्ता' इत्यादि । आरम्भः=सावद्यव्यापारः,

---

करते हुए भी अपने आपको निश्शंक होकर संयमी कहते हैं । वे यह मानते हैं कि हम ही संयम का सेवन करने में तत्पर हैं ।

वे लोग अपने आपको संयमी मानते हुए भी पृथ्वीकाय आदि के जीवों की हिंसा में तत्पर क्यों होते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर दो विशेषण कहते हैं, जिन में हेतु छिपा है– 'छन्दोपनीत' और 'अध्युपपन्न'

छन्द का अर्थ है–अपना अभिप्राय, उससे स्वतंत्र अर्थात् शास्त्र से विरुद्ध विचार करने वाले । अथवा छन्द का अर्थ इच्छा है । कहीं विषयभोगों की अभिलाषा को छन्द कहा है, उस में जो स्वतंत्र हों । तथा अध्युपपन्न अर्थात् विषयों में अत्यन्त आसक्त–विषयभोगों के लिए आतुर । तात्पर्य यह है कि–छन्दोपनीत और अध्युपपन्न होने के कारण वे पृथ्वी आदि की हिंसा करते हैं और कर्मों का बंध करते हैं । आरम्भ

કરવા છતાંય પણ પોતે-પોતાને નિઃશંક થઈને સંયમી કહે છે તે એવું માને છે કે–અમે પણ સંયમનું સેવન કરવામાં તત્પર છીએ

તે લોક પોતે-પોતાને સંયમી માનતા થકા પણ પૃથ્વીકાય આદિના જીવોની હિંસામાં તત્પર શા માટે હોય છે ? એવી જીજ્ઞાસા થતાં બે વિશેષણ કહે છે જેમાં હેતુ છુપાએલો છે 'છન્દોપનીત' અને 'અધ્યુપપન્ન' 'છન્દ'નો અર્થ છે પોતાનો અભિપ્રાય તેનાથી સ્વતંત્ર અર્થાત્ શાસ્ત્રથી વિરૂદ્ધ વિચાર કરવાવાળા અથવા છન્દનો અર્થ ઇચ્છા છે અહિં વિષયભોગોની અભિલાષાને છન્દ કહેલ છે તેમાં જે સ્વતંત્ર હોય. તથા અધ્યુપપન્ન અર્થાત્ વિષયોમાં અત્યન્ત આસક્ત–વિષયભોગો માટે આતુર તાત્પર્ય એ છે કે છન્દોપનીત અને અધ્યુપપન્ન હોવાના કારણે તે પૃથ્વી આદિની હિંસા કરે છે અને કર્મોનો બંધ કરે છે આરંભ અર્થાત્–સાવદ્ય વ્યાપારમાં પ્રવૃત્ત પુરુષ જ્ઞાનાવરણીય

तत्र सक्ताः=प्रवृत्ताः, सङ्ग=सज्यन्ते=श्लिष्यन्ते जीवा अनेनेति सङ्गः=ज्ञानावरणी यादिक कर्म, त सङ्गमकुर्वन्ति=समुत्पादयन्ति ।

एव षड्जीवनिकायारम्भकारिण' खलु कर्मबन्धनपराधीनतां समुपेत्य जन्म जरामरणेष्टवियोगानिष्टसयोगेप्सिताऽसिद्धिविविधव्याधिजनितदु ख सकुछेघोरतर-ससारदावानछे पुन' पुन स्वात्मानमिन्धनीकुर्वन्तीति भाव ॥ सू० ७ ॥

अथ यस्तु पृथिव्यादिषड्जीवनिकायारम्भकरणाद्विनिवृत्त' स एव मुनिर्भवती-त्युद्देशार्थमुपसंहरन्नाह—' से वसुम. ' इत्यादि ।

मूलम्—

से वसुम सव्वसमण्णागयपण्णाणेण अप्पाणेण अकरणिज्ज पाव कम्मं णो अण्णेसि ॥ सू० ८ ॥

छाया—

स वसुमान् सर्वसमन्वागतमज्ञानेन आत्मना अकरणीय पाप कर्म नो अन्वेषयेत् ॥ सू० ८ ॥

अर्थात् सावद्य व्यापार में प्रवृत्त ज्ञानावरणीय आदि कर्मों को उपार्जन करते हैं ।

इस प्रकार षड्जीवनिकाय का आरम्भ करने वाले कर्मबन्धन के अधीन होकर जन्म मरण, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, इष्ट की असिद्धि तथा विविध प्रकार की व्याधियों से उत्पन्न होने वाले दु खों से व्याप्त, घोरतरससाररूपी दावानल में अपने आत्मा को ईंधन बनाते हैं ॥ सू० ७ ॥

जो पृथ्वी आदि षड्जीवनिकाय के आरम्भ से निवृत्त है वही मुनि होता है, इस उद्देश के अर्थ का उपसहार करते हुए शास्त्रकार कहते हैं –'से वसुम ' इत्यादि ।

मूलार्थ—वही वसुमान् है (सम्यक्त्व-चारित्रवान् सम्यग्दृष्टि है) जो यथार्थ पदार्थों को जाननेवाले ज्ञानात्मा से पाप को अकरणीय समझकर नहीं करता है ॥ सू० ८ ॥

આદિ કર્મોનું ઉપાર્જન કરે છે

આ પ્રમાણે ષડ્જીવનિકાયનો આરંભ કરવાવાળા કર્મબન્ધને આધીન થઇને જન્મ, જરા, મરણ, ઇષ્ટવિયોગ, અનિષ્ટસંયોગ, ઇચ્છેલી વસ્તુની અપ્રાપ્તિ, તથા વિવિધ પ્રકારની વ્યાધિઓથી ઉત્પન્ન થનારાં દુઃખોથી વ્યાપ્ત, ઘોરતર સંસારરૂપી દાવાનલમાં પોતાના આત્માને ઇંધન-(બળતણરૂપ) બનાવે છે ॥ સૂ૦ ૭॥

જે પૃથ્વી આદિ ષડ્જીવનિકાયના આરંભથી નિવૃત્ત છે તેજ મુનિ હોય છે, આ ઉદ્દેશના અર્થનો ઉપસંહાર કરીને શાસ્ત્રકાર કહે છે –' से वसुम ' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—તેજ વસુમાન્ છે (સમ્યક્ત્વ-ચારિત્રવાન્ સમ્યગ્દષ્ટિ છે) જે યથાર્થ પદાર્થોને જાણવાવાળા જ્ઞાનાત્માથી પાપને અકરણીય (કરવા યોગ્ય નથી એવું) સમજીને કરતા નથી. ॥સૂ૦ ૮॥

इति । आरममाणाः, पृथिव्यादीन् पीडयन्तोऽपि विनय=कर्मणां विनयाद् विनयः संयमस्त, वदन्ति='वयमेव संयमिसेवनपराः' इति निश्शङ्कं निगदन्तीत्यर्थः ।

ननु स्वात्मानं संयमिनं मन्यमानास्ते कस्मात्पृथिव्यादिजीवविहिंसनपराः ? इति जिज्ञासायां हेतुगर्भविशेषणपदद्वयमाह–'छन्दोपनीता' 'अध्युपपन्नाः' इति । 'छन्दोपनीताः'=छन्दः=स्वाभिप्रायः, तेनोपनीता स्वतन्त्रा' शास्त्रविरुद्धविचारशीला इत्यर्थः ।

यद्वा छन्दः–अभिप्रायः=इच्छा, विषयाभिलाषस्तेनोपनीता', तथा 'अध्युपपन्नाः,' अधि=अधिकम् अतिशयेन उपपन्ना'=तद्गतचित्ता' विषयसन्निविष्टचित्ता विषयभोगार्थमातुरा इत्यर्थ । यतश्छन्दोपनीता अध्युपपन्नाश्च तस्मात्ते पृथिव्यादीन् विहिंसन्तीति भावः । एवं पृथिव्यादिहिंसनेन पुनः कर्मबन्ध माप्नोतीत्याह—'आरम्भसक्ताः' इत्यादि । आरम्भः=सावद्यव्यापारः,

---

करते हुए भी अपने आपको निश्शंक होकर संयमी कहते हैं । वे यह मानते हैं कि हम ही संयम का सेवन करने में तत्पर हैं ।

वे लोग अपने आपको संयमी मानते हुए भी पृथ्वीकाय आदि के जीवों की हिंसा में तत्पर क्यों होते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर दो विशेषण कहते हैं, जिन में हेतु छिपा है– 'छन्दोपनीत' और 'अध्युपपन्न'

छन्द का अर्थ है–अपना अभिप्राय, उससे स्वतंत्र अर्थात् शास्त्र से विरुद्ध विचार करने वाले । अथवा छन्द का अर्थ इच्छा है । कहीं विषयभोगों की अभिलाषा को छन्द कहा है, उस में जो स्वतंत्र हों । तथा अध्युपपन्न अर्थात् विषयों में अत्यन्त आसक्त–विषयभोगों के लिए आतुर । तात्पर्य यह है कि–छन्दोपनीत और अध्युपपन्न होने के कारण वे पृथ्वी आदि की हिंसा करते हैं और कर्मों का बंध करते हैं । आरम्भ

કરવા છતાંય પણ પોતે-પોતાને નિઃશંક થઈને સંયમી કહે છે. તે એવું માને છે કે–અમે પણ સંયમનું સેવન કરવામાં તત્પર છીએ

તે લોક પોતે-પોતાને સંયમી માનતા થકા પણ પૃથ્વીકાય આદિના જીવોની હિંસામાં તત્પર શા માટે હોય છે? એવી જીજ્ઞાસા થતાં બે વિશેષણ કહે છે જેમાં હેતુ છુપાએલો છે 'છન્દોપનીત' અને 'અધ્યુપપન્ન' 'છન્દ'નો અર્થ છે પોતાનો અભિપ્રાય તેનાથી સ્વતંત્ર અર્થાત્ શાસ્ત્રથી વિરૂદ્ધ વિચાર કરવાવાળા અથવા છન્દનો અર્થ ઇચ્છા છે અર્થાત્ વિષયભોગોની અભિલાષાને છન્દ કહેલ છે તેમાં જે સ્વતંત્ર હોય. તથા અધ્યુપપન્ન અર્થાત્ વિષયોમાં અત્યન્ત આસક્ત–વિષયભોગો માટે આતુર તાત્પર્ય એ છે કે છન્દોપનીત અને અધ્યુપપન્ન હોવાના કારણે તે પૃથ્વી આદિની હિંસા કરે છે અને કર્મોનો બંધ કરે છે આરંભ અર્થાત્–સાવદ્ય વ્યાપારમાં પ્રવૃત્ત પુરુષ જ્ઞાનાવરણીય

-कलहाऽभ्याख्यान-पैशुन्य-परपरिवाद-रत्यरति-मायामृषा-मिथ्या-दर्शनशल्याभिधानमष्टादशप्रकारं नान्वेषयेत्=न स्वयं कुर्यात्, न चान्यैः कारयेत्, न चान्यं कुर्वाणमनुमोदयेदित्यर्थः ।

योऽयमात्मा स्वकीयप्रज्ञानेन सर्वद्रव्यपर्यायसमाकलनयोग्यतां धारयति, येन च मोक्षमार्गावलम्बनतः शिवपदमपि शक्यते गन्तुम्, तस्यात्मनः पुनरधःपतनकारित्वात् पापं कर्म सर्वथा परित्याज्यमिति विभाव्य षड्जीवनिकायारम्भकरणात्सर्वथा विनिवर्तितव्यमिति भावः ॥ सू० ८ ॥

षड्जीवनिकायारम्भस्य सर्वथा परिहार एव मुनित्वं प्रापयतीत्याह—'तं परिण्णाय' इत्यादि ।

मूलम्—

तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं छज्जीवनिकायसत्थं समारभेज्जा णेवऽण्णेहिं छज्जीवनिकायसत्थं समारभावेज्जा, णेवऽण्णे छज्जीवनिकायसत्थं

(१०) राग (११) द्वेष (१२) कलह (१३) अभ्याख्यान (१४) पैशुन्य (१५) परपरिवाद (१६) रति-अरति (१७) माया-मृषा और (१८) मिथ्यादर्शनरूप अठारह प्रकार का पाप जो स्वयं नहीं करता है, दूसरों से नहीं कराता है और दूसरे करने वाले का अनुमोदन नहीं करता है वही पुरुष वसुमान् है ।

तात्पर्य यह है कि—जो आत्मा अपने प्रज्ञान से समस्त द्रव्यों और पर्यायों को भली भाँति जानने की योग्यता धारण करता है और जो मोक्ष-मार्ग का आश्रय लेकर मुक्तिपद भी प्राप्त कर सकता है उसको 'आत्मा का अधःपतन करने वाले पापकृत्य सर्वथा त्याज्य हैं' ऐसा विचार करके षड्जीवनिकाय के आरंभ से विरत हो जाना चाहिए ॥सू० ८॥

षट्काय के आरंभ का त्याग ही साधुता प्राप्त कराता है, यह बात आगे कहते हैं—'तं परिण्णाय' इत्यादि ।

(८) માયા, (૯) લોભ, (૧૦) રાગ, (૧૧) દ્વેષ, (૧૨) કલહ, (૧૩) અભ્યાખ્યાન, (૧૪) પૈશુન્ય, (૧૫) પરપરિવાદ, (૧૬) રતિ-અરતિ, (૧૭) માયા-મૃષા અને (૧૮) મિથ્યાદર્શનરૂપ અઢાર પ્રકારનાં જે પાપ તેને પોતે કરતા નથી, બીજા પાસે કરાવતા નથી, અને બીજા કરવાવાળાને અનુમોદન આપતા નથી. તેજ પુરૂષ વસુમાન્ છે

તાત્પર્ય એ છે કે—જે આત્મા પોતાના પ્રજ્ઞાનથી સમસ્ત દ્રવ્યો અને પર્યાયોને રૂડી રીતે જાણવાની યોગ્યતા ધારણ કરે છે, અને જે મોક્ષમાર્ગનો આશ્રય લઈને મુક્તિપદ પણ પ્રાપ્ત કરી શકે છે, તેને, 'આત્માનું અધઃપતન કરનારાં પાપકૃત્ય સર્વથા ત્યાજ્ય છે' એવો વિચાર કરીને પડ્જીવનિકાયના આરંભથી નિવૃત્ત થઈ જવું જોઈએ ॥સૂ૦ ૮॥

ષટ્કાયના આરંભનો ત્યાગજ સાધુતા પ્રાપ્ત કરાવે છે એ વાત આગળ કહે છે—'तं परिण्णाय' ઈત્યાદિ

टीका—

यस्तु षड्जीवनिकायारम्भनिवृत्त्या संयमपालनपरायण, स वसुमान्, द्विविधानि हि वसूनि सन्ति द्रव्यभावभेदात्, तत्र द्रव्यवसूनि-सुवर्णादीनि, भाववसूनि-सम्यक्त्वादीनि, अत्र भाववसुतात्पर्यको वसुशब्दः, तानि वसूनि यस्य यस्मिन् वा सन्ति स वसुमानित्यर्थ, सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेन=सर्वाणि समन्वागतानि प्रज्ञानानि यस्यात्मन स सर्वसमन्वागतप्रज्ञानः=यथावस्थितविषयग्राहिसर्वविषयकज्ञानवान्, तेन।

यद्वा-सर्वेषु द्रव्यपर्यायेषु समन्वागत=सम्यक्प्राप्त तत्तद्विषयमाकलय्य सर्व द्रव्यपर्यायगतं प्रज्ञान यस्य स सर्वसमन्वागतप्रज्ञानः, तेन, आत्मना, अकरणीयम्=अकर्तव्यम्, ऐहिकपारलौकिकसुखविघातकत्वादनाचरणीयम्, इति मत्वा, पाप कर्म=माणातिपात-मृषावादा-दत्तादान-मैथुन-परिग्रह-क्रोध-मान-माया-लोभ-राग-द्वेष

टीकार्थ—जो पुरुष षड्जीवनिकायसंबंधी आरम्भ का त्याग करके संयम के पालन में तत्पर होता है वही वसुमान् है। वसु के दो भेद हैं-(१) द्रव्यवसु और (२) भाववसु। स्वर्ण आदि धन द्रव्यवसु कहलाता है, और तप संयमादिरूप ऋद्धि को भाववसु कहते हैं। यहाँ 'वसु' शब्द से भाववसु ही समझना चाहिए। वसु जिसे प्राप्त हो वह वसुमान् है, अर्थात् सम्यक्त्व आदि से युक्त पुरुष वसुमान् कहलाता है।

जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूप में जानने वाला सर्वग्राही ज्ञान 'सर्वसमन्वागत प्रज्ञान' कहलाता है। अथवा समस्त द्रव्यों और पर्यायों को यथार्थरूप से जानने वाला ज्ञान 'सर्वसमन्वागत प्रज्ञान' कहलाता है। ऐसे ज्ञानरूप आत्मा से पाप को इस लोक तथा परलोकसंबंधी सुखों का घातक होने से अकर्तव्य समझकर (१) प्राणातिपात (२) मृषावाद (३) अदत्तादान (४) मैथुन। (५) परिग्रह (६) क्रोध, (७) मान (८) माया (९) लोभ

ટીકાર્થ—જે પુરૂષ ષડ્જીવનિકાયસંબંધી આરંભનો ત્યાગ કરીને સંયમના પાલનમાં તત્પર થાય છે તેજ વસુમાન્ (સમ્યગ્દષ્ટિ) છે વસુના બે ભેદ છે (૧) દ્રવ્ય વસુ અને (૨) ભાવવસુ, સુવર્ણ આદિ ધન દ્રવ્યવસુ કહેવાય છે અને સમ્યકૃત્વ આદિ રૂપ ઋદ્ધિને ભાવવસુ કહે છે અહિં 'વસુ' શબ્દથી ભાવવસુ જ સમજવું જોઇએ વસુ જેને પ્રાપ્ત હોય તે વસુમાન્ છે અર્થાત્ સમ્યકૃત્વ આદિથી યુક્ત પુરૂષ વસુમાન્ કહેવાય છે

જે વસ્તુ જેવી છે તેને તેવા રૂપમાં જાણવાવાળા સર્વગ્રાહી જ્ઞાન 'સર્વસમન્વાગત પ્રજ્ઞાન, કહેવાય છે અથવા સમસ્ત દ્રવ્યો અને પર્યાયોને યથાર્થ રૂપથી જાણવાવાળું જ્ઞાન 'સર્વસમન્વાગત પ્રજ્ઞાન' કહેવાય છે એવા જ્ઞાનરૂપ આત્માથી પાપને આ લોક તથા પરલોક-સંબંધી સુખોનું ઘાતક હોવાથી અકર્તવ્ય સમજીને (૧) પ્રાણાતિપાત, (૨) મૃષાવાદ, (૩) અદત્તાદાન, (૪) મૈથુન, (૫) પરિગ્રહ, (૬) ક્રોધ, (૭) માન,

-कलहाऽभ्याख्यान-पैशुन्य-परपरिवाद-रत्यरति-मायामृषा-मिथ्या-दर्शनशल्याभिधानमष्टादशप्रकारं नान्वेषयेत्=न स्वयं कुर्यात्, न चान्यैः कारयेत्, न चान्यं कुर्वाणमनुमोदयेदित्यर्थः ।

योऽयमात्मा स्वकीयमज्ञानेन सर्वद्रव्यपर्यायसमाकलनयोग्यतां धारयति, येन च मोक्षमार्गावलम्बनतः शिवपदमपि शक्यते गन्तुम्, तस्यात्मनः पुनरधःपतनकारित्वात् पापं कर्म सर्वथा परित्याज्यमिति विभाव्य षड्जीवनिकायारम्भकरणात्सर्वथा विनिवर्तितव्यमिति भावः ॥ सू० ८ ॥

षड्जीवनिकायारम्भस्य सर्वथा परिहार एव मुनित्वं प्रापयतीत्याह—'तं परिण्णाय' इत्यादि ।

मूलम्—

तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं छज्जीवनिकायसत्थं समारभेज्जा णेवऽण्णेहिं छज्जीवनिकायसत्थं समारभावेज्जा, णेवऽण्णे छज्जीवनिकायसत्थं

(१०) राग (११) द्वेष (१२) कलह (१३) अभ्याख्यान (१४) पैशुन्य (१५) परपरिवाद (१६) रति-अरति (१७) माया-मृषा और (१८) मिथ्यादर्शनरूप अठारह प्रकार का पाप जो स्वयं नहीं करता है, दूसरों से नहीं कराता है और दूसरे करने वाले का अनुमोदन नहीं करता है वही पुरुष वसुमान् है ।

तात्पर्य यह है कि—जो आत्मा अपने प्रज्ञान से समस्त द्रव्यों और पर्यायों को भली भाँति जानने की योग्यता धारण करता है और जो मोक्ष-मार्ग का आश्रय लेकर मुक्तिपद भी प्राप्त कर सकता है उसको 'आत्मा का अधःपतन करने वाले पापकृत्य सर्वथा त्याज्य हैं' ऐसा विचार करके षड्जीवनिकाय के आरंभ से विरत हो जाना चाहिए ॥सू० ८॥

षट्काय के आरंभ का त्याग ही साधुता प्राप्त कराता है, यह बात आगे कहते हैं—'तं परिण्णाय' इत्यादि ।

(८) माया, (९) લોભ, (૧૦) રાગ, (૧૧) દ્વેષ, (૧૨) કલહ, (૧૩) અભ્યાખ્યાન, (૧૪) પૈશુન્ય, (૧૫) પરપરિવાદ, (૧૬) રતિ-અરતિ, (૧૭) માયા-મૃષા અને (૧૮) મિથ્યાદર્શનરૂપ અઢાર પ્રકારના જે પાપ તેને પોતે કરતા નથી, બીજા પાસે કરાવતા નથી, અને બીજા કરવાવાળાને અનુમોદન આપતા નથી. તેજ પુરૂષ વસુમાન્ છે

તાત્પર્ય એ છે કે—જે આત્મા પોતાના પ્રજ્ઞાનથી સમસ્ત દ્રવ્યો અને પર્યાયોને રૂડી રીતે જાણવાની યોગ્યતા ધારણ કરે છે, અને જે મોક્ષમાર્ગનો આશ્રય લઈને મુક્તિપદ પણ પ્રાપ્ત કરી શકે છે, તેને, 'આત્માનું અધઃપતન કરનારાં પાપકૃત્ય સર્વથા ત્યાજ્ય છે' એવો વિચાર કરીને ષડ્જીવનિકાયના આરંભથી નિવૃત્ત થઈ જવું જોઈએ ॥સૂ૦ ૮॥

ષટ્કાયના આરંભનો ત્યાગજ સાધુતા પ્રાપ્ત કરાવે છે એ વાત આગળ કહે છે—'તં પરિણ્ણાય' ઈત્યાદિ

समारंभते समणुजाणेज्जा। जस्सेते छज्जीवनिकायसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णायकम्मे-त्ति बेमि ॥ सू० ९ ॥

॥ सत्तमो उद्देसो समत्तो ॥ १।७ ॥

॥ आयारसुत्ते पढमज्झयण समत्त ॥ १ ॥

छाया—

तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं षड्जीवनिकायशस्त्रं समारभेत, नैवान्यैः षड्जीवनिकायशस्त्रं समारम्भयेत्, नैवान्यान् षड्जीवनिकायशस्त्रं समारममाणान् समनुजानीयात्। यस्यैते षड्जीवनिकायशस्त्रसमारम्भा परिज्ञाता भवन्ति स खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा, इति ब्रवीमि ॥ सू० ९ ॥

॥ सप्तम उद्देश समाप्त ॥१-७॥

॥ आचारसूत्रे प्रथमाध्ययन समाप्तम् ॥

टीका—

तत्=षड्जीवनिकायारम्भणं, परिज्ञाय=ज्ञपरिज्ञया 'कर्मबन्धस्य कारण भवती'ति बुद्ध्वा मेधावी=हेयोपादेयविवेकनिपुण, नैव स्वयं षड्जीवनिकाय शस्त्र समारभेत। अन्यैर्नैव समारम्भयेत्=नैव प्रयोजयेत्। अन्यान् षड्जीवनिकाय शस्त्र समारममाणान् नैव समनुजानीयात्=नैवानुमोदयेत्।

यस्यैते षड्जीवनिकायशस्त्रसमारम्भाः—षड्जीवनिकायानां शस्त्रैः=

मूलार्थ—यह बात जानकर बुद्धिमान् पुरुष षड्जीवनिकायसंबंधी शस्त्र का समारंभ न करे, दूसरों से षड्जीवनिकायसंबंधी शस्त्र का समारंभ न करावे, और षड्जीवनिकायसंबंधी शस्त्र का समारंभ करने वालों का अनुमोदन न करे। षड्जीवनिकाय संबंधी आरंभ को जो बंध का कारण जान लेता है, वही मुनि है और वही परिज्ञातकर्मा है। ऐसा मैं कहता हूँ ॥सू० ८॥

टीकार्थ—षड्जीवनिकाय के आरम्भ को ज्ञपरिज्ञा से कर्मबंध का कारण जानकर हेय-उपादेय का विवेक रखने वाला पुरुष षड्जीवनिकाय के शस्त्र का स्वयं आरम्भ न करे, दूसरों से न करावे और आरम्भ करने वालों की अनुमोदना न करे।

षड्जीवनिकायसंबंधी जो शस्त्र पहले बतलाये जा चुके हैं उनके द्वारा षड्जीवनिकाय को

મૂલાર્થ—એ વાત જાણીને બુદ્ધિમાન પુરૂષ ષડ્જીવનિકાયસંબંધી શસ્ત્રનો સમારંભ કરે નહિ, બીજા પાસે ષડ્જીવનિકાયસંબંધી શસ્ત્રનો સમારંભ કરાવે નહિ, અને ષડ્જીવનિકાયસંબંધી શસ્ત્રનો સમારંભ કરવાવાળાને અનુમોદન આપે નહિ. ષડ્જીવનિકાયસંબંધી આરંભને જે બંધનું કારણ જાણી લે છે તેજ મુનિ છે, અને તેજ પરિજ્ઞાતકર્મા છે એવું હું કહું છું ॥ સૂ૦ ૯ ॥

ટીકાર્થ—ષડ્જીવનિકાયના આરંભને જ્ઞપરિજ્ઞાથી કર્મબંધનું કારણ જાણીને હેય-ઉપાદેયનો વિવેક રાખવાવાળા પુરૂષ ષડ્જીવનિકાયના શસ્ત્રનો પોતે આરંભ કરે નહિ, બીજા પાસે કરાવે નહિ, અને આરંભ કરનારને અનુમોદન આપે નહિ

ષડ્જીવનિકાયસંબંધી જે શસ્ત્ર પ્રથમ બતાવી આપ્યાં છે તેના દ્વારા

स्वस्वशस्त्रे' समारम्भा'=पीडाकरसावद्यव्यापारा परिज्ञाता'=ज्ञपरिज्ञया बन्धकारणत्वेन विदिता', प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहृता भवन्ति स एव परिज्ञातकर्मा=त्रिकरणत्रियोगैः' परिवर्जितसकलसावद्यव्यापार', मुनिर्भवति । इति=एतत् सर्वम्, ब्रवीमि=भगवतः समीपे यथा श्रुतं तथा कथयामि ॥ सू० ९ ॥

॥ इत्याचाराङ्गसूत्रे आचारचिन्तामणिटीकायां शस्त्रपरिज्ञाख्ये प्रथमाध्ययने सप्तमोद्देशः सम्पूर्ण' ॥ १–७ ॥

पीडा पहुंचाने वाले सावद्य व्यापारों को ज्ञपरिज्ञा से कर्मबंध का कारण जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग देता है वही पुरुष तीन करण और तीन योग से सावद्य व्यापारों का त्यागी मुनि होता है । यह सब भगवान् के मुखारविन्द से जैसा मैंने साक्षात् सुना है वैसाही कहता हूं ॥ सू० ९ ॥

॥ इति श्री आचाराङ्गसूत्रकी आचारचिन्तामणिटीका के हिन्दी–अनुवादमें प्रथम अध्ययनका सातवाँ उद्देश सम्पूर्ण ॥ १ ॥

પીડા પહોંચાડવાવાળા સાવદ્ય વ્યાપારોને જે જ્ઞપરિજ્ઞાથી કર્મબંધનું કારણ જાણીને પ્રત્યાખ્યાન પરિજ્ઞાથી ત્યજી દે છે, તે પુરૂષ ત્રણ કરણ અને ત્રણ યોગથી સાવદ્ય વ્યાપારોનો ત્યાગી મુનિ હોય છે આ સર્વે ભગવાનના મુખારવિંદથી જેવું મેં સાક્ષાત્ સાંભળ્યું છે, તેવુંજ કહું છું ॥ સૂ૦ ૯ ॥

ઇતિ શ્રીઆચારાગસૂત્રની 'आचारचिन्तामणि' ટીકાના ગુજરાતી અનુવાદમાં પ્રથમ અધ્યયનનો સાતમો ઉદ્દેશ સમ્પૂર્ણ ॥ ૧–૭ ॥

आद्ये चाध्ययने प्ररूपितमिदं ससारचक्रेऽनिशं,
भ्राम्यन् दिक्षु विदिक्षु गच्छति ततश्चात्मा समागच्छति ।

इत्येव कथित मही-जल-शिखि माण-द्रुमाणां तथा,
जीवत्वं त्रस-कायिकस्यचतदारम्भे परिज्ञाऽपि च ॥ १ ॥

इति श्री-विश्वविख्यात-जगद्वल्लभ-प्रसिद्धवाचक-पञ्चदशभाषाकलित-ललितकलापालापक-प्रविशुद्धगद्यपद्यनैकग्रन्थनिर्मायक-वादिमानमर्दक-श्रीशाहूछत्रपति-कोल्हापुरराजप्रदत्त-'जैनशास्त्राचार्य' पदभूषित-कोल्हापुरराजगुरु-बालब्रह्मचारि-जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर-पूज्यश्री-घासीलालव्रति विरचितायाम् आचाराङ्गसूत्रस्याऽऽचारचिन्ता मणिटीकायां शस्त्रपरिज्ञाख्यं प्रथममध्ययन सपूर्णम् ॥ १ ॥

प्रथम अध्ययन में यह निरूपण किया गया है कि-आत्मा ससार चक्र में पड़कर नाना दिशाओं में और नाना विदिशाओं में निरन्तर भ्रमण करता रहता है । साथ ही पृथ्वी, अप्, तेज, वायु वनस्पति और, त्रस की सचित्तता भी सिद्ध की गई है, और उनका आरम्भ करने में परिज्ञा भी प्रदर्शित की गई है ॥ १ ॥

॥ इति श्री-आचाराङ्गसूत्रकी 'आचारचिन्तामणि' टीका के हिन्दी अनुवाद में 'शस्त्रपरिज्ञा' नामक प्रथम अध्ययन सम्पूर्ण ॥ १ ॥

પ્રથમ અધ્યયનમાં એ નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું છે કે—આત્મા સંસારચક્રમાં પડીને અનેક દિશાઓમાં અને અનેક વિદિશાઓમાં નિરન્તર ભ્રમણ કરતો રહે છે સાથેજ પૃથ્વી, અપ, તેજ, વાયુ, વનસ્પતિ અને ત્રસની સચિત્તતા પણ સિદ્ધ કરી છે અને તેનો આરંભ કરવામાં પરિજ્ઞા-વિવેક પણ પ્રદર્શિત કરેલ છે. ॥ ૧ ॥

॥ ઇતિ શ્રી આચારાંગસૂત્રની 'आचारचिन्तामणि' ટીકાના ગુજરાતી અનુવાદમાં 'शस्त्रपरिज्ञा' નામનું પ્રથમ અધ્યયન સમ્પૂર્ણ ॥ ૧ ॥

દાતાઓની નામાવલી

આદ્ય મુરબ્બીશ્રી, મુરબ્બીશ્રી, સહાયક મેમ્બરો
તથા
મેમ્બરોની યાદી

ગામવાર કક્કાવારી લીસ્ટ

તા ૧૮-૧૦-૪૪ થી તા. ૨૮-૨-૫૮ સુધીમા
દાખલ થએલ મેમ્બરો

(૨૫૦ થી ઓછી રકમો આ યાદીમા સામેલ કરી નથી.)

શ્રી અખિલ ભારત શ્વે સ્થા જૈન શાસ્ત્રોદ્ધાર સમિતિ
ગરેડીઆ કુવા રોડ - ગ્રીન લોજ પાસે
રાજકોટ

આદ્યમુરબ્બીશ્રીઓ-૪

(ઓછામા ઓછી રૂા. ૫૦૦૦ ની રકમ આપનાર)

નબર	નામ	ગામ	રૂપિયા
૧	શેઠ શાન્તીલાલ મગળદાસભાઈ જાણીતા મીલમાલીક	અમદાવાદ	૧૦૦૦૦
૨	શેઠ હરખચદ કાલીદાસભાઈ વારીયા હા શેઠ લાલચદભાઈ, જેચદભાઈ નગીનભાઈ, વૃજલાલભાઈ, તથા વલ્લભદાસભાઈ	ભાવનગર	૬૦૦૦
૩	કોઠારી જેચદભાઈ અજરામર હા હરસોવીદભાઈ જેચદભાઈ	રાજકોટ	૫૨૫૧
૪	શેઠ ધારશીભાઈ જીવનભાઈ	સોલાપુર	૫૦૦૧

મુરબ્બીશ્રીઓ-૨૨

(ઓછામાં ઓછી રૂા. ૧૦૦૦ ની રકમ આપનાર)

૧	વકીલ જીવરાજભાઈ વર્ધમાન કોઠારી હા કહાનદાસભાઈ તથા વેણીલાલભાઈ	જેતપુર	૩૬૦૫
૨	દોશી પ્રભુદાસ મૂળજીભાઈ	રાજકોટ	૩૬૦૪
૩	મ્હેતા ગુલાબચદ પાનાચદ	,,	૩૨૮૯ાા—ા
૪	સ્વ. પિતાશ્રી છગનલાલ શામળદાસના સ્મરણાર્થે હ ભાવસાર ભોગીલાલ છગનલાલ	અમદાવાદ	૩૨૫૧
૫	મ્હેતા માણેકલાલ અમુલખરાય	ઘાટકોપર	૩૨૫૦
૬	સઘવી પીતામ્બરદાસ ગુલાબચદ	જામનગર	૩૧૦૧
૭	શેઠ શામજીભાઈ વેલજીભાઈ વીરાણી	રાજકોટ	૨૫૦૦
૮	નામદાર ઠાકોર સાહેબ લખધીરસિહજી બહાદુર	મોરબી	૨૦૦૦
૯	શેઠ લ્હેરચદ કુવરજી હા શેઠ ન્યાલચદ લ્હેરચદ	સિદ્ધપુર	૨૦૦૦
૧૦	શાહ છગનલાલ હેમચદ વસા હા. મોહનલાલભાઈ તથા મોતીલાલભાઈ	મુબઇ	૨૦૦૦
૧૧	શ્રી સ્થાનકવાસી જૈન સઘ	મોરબી	૧૯૬૩
૧૨	મ્હેતા સોમચદ તુલસીદાસ તથા તેમનાં ધર્મપત્નિ અ. સૌ. મણીગૌરી મગનલાલ	રતલામ	૧૫૦૦
૧૩	મ્હેતા પોપટલાલ માવજીભાઇ	જામજોધપુર	૧૩૦૧
૧૪	દોશી કપુરચદ અમરશી હા. દલપતરામભાઇ	,,	૧૦૦૨
૧૫	ભાયાણી જગજીવનદાસ રતનશી	ભાવનગર	૧૦૦૨

૧૬	શેઠ આત્મારામ માણેકલાલ	અમદાવાદ	૧૦૦૧
૧૭	શેઠ માણેકલાલ ભાણજીભાઇ	પોરબંદર	૧૦૦૧
૧૮	શ્રીમાન ચંદ્રસિંહજી મ્હેતા (રેલ્વે મેનેજર સાહેબ)	કલકત્તા	૧૦૦૧
૧૯	મ્હેતા સોમચંદ નેણસીભાઇ (કરાચીવાલા)	મોરબી	૧૦૦૧
૨૦	શાહ હરીલાલ અનોપચંદભાઈ	ખંભાત	૧૦૦૧
૨૧	કોઠારી છબીલદાસ હરખચંદભાઈ	મુંબઈ	૧૦૦૦
૨૨	કોઠારી રંગીલદાસ હરખચંદભાઈ	સિહોર	૧૦૦૦

સહાયક મેમ્બરો-૩૬

(ઓછામાં ઓછી રૂ. ૫૦૦ ની રકમ આપનાર)

૧	શાહ રંગજીભાઇ મોહનલાલ	અમદાવાદ	૭૫૧
૨	મોદી કેશવલાલ હરીચંદ્ર	સાબરમતી	૭૫૦
૩	શ્રી સ્થાનકવાસી જૈન સંઘ હા. શેઠ ગુલાબભાઇ વેલસીભાઇ	વઢવાણ શહેર	૭૫૦
૪	શેઠ નરોત્તમદાસ ઓઘડભાઇ	જોરાવરનગર	૭૦૦
૫	શેઠ રતનશી હીરજીભાઇ હા. ગોરધનદાસભાઇ	જામજોધપુર	૫૫૫
૬	બાટવીઆ ગીરધર પ્રમાણંદ હા. અમીચંદભાઇ	ખાખીજાળીઆ	૫૨૭
૭	મોરબીવાળા સંઘવી દેવચંદ નેણશીભાઇ તથા તેમના ધર્મપત્નિ અ. સૌ. મણીબાઇ તરફથી હા. મુળચંદ દેવચંદ (કરાંચીવાળા)	મલાડ	૫૧૧
૮	વોરા મણીલાલ પોપટલાલ	અમદાવાદ	૫૦૨
૯	ગોસળીયા હરીલાલ લાલચંદ તથા અ. સૌ. ચંપાબેન ગોસળીયા	અમદાવાદ	૫૦૨
૧૦	શેઠ પ્રેમચંદ માણેકચંદ તથા અ. સૌ. સમસ્તબેન (રાજસીતાપુરવાળા)	અમદાવાદ	૫૦૨
૧૧	શેઠ ઇશ્વરલાલ પુરૂષોતમદાસ	અમદાવાદ	૫૦૧
૧૨	શેઠ ચંદુલાલ છગનલાલ	અમદાવાદ	૫૦૧
૧૩	શાહ શાન્તીલાલ માણેકલાલ	અમદાવાદ	૫૦૧
૧૪	શેઠ શીવલાલ ડમરભાઇ (કરાચીવાળા)	લીંબડી	૫૦૧
૧૫	કામદાર તારાચંદ પોપટલાલ ધોરાજીવાળા	રાજકોટ	૫૦૦
૧૬	મ્હેતા મોહનલાલ કપુરચંદ	રાજકોટ	૫૦૦
૧૭	શેઠ ગોવીંદજી પોપટભાઇ	રાજકોટ	૫૦૦
૧૮	શેઠ રામજીભાઇ શામજી વીરાણી	રાજકોટ	૫૦૧

૧૯ સ્વ. પિતાશ્રી નહાલજીના સ્મરણાર્થે
હા વેણીચંદ શાન્તીલાલ (જાળુઆવાળા) મેઘનગર ૫૦૧
૨૦ શ્રી સ્થાનકવાસી જૈન સંઘ હા શેઠ ઠાકરશી કરસનજી થાનગઢ ૫૦૦
૨૧ શેઠ તારાચંદજી પુખરાજજી ઔરંગાબાદ ૫૦૦
૨૨ શ્રી સ્થાનકવાસી જૈન સંઘ ઔરંગાબાદ ૫૦૦
૧૫૦ શેઠ શેષમલજી છવરાજજી
૧૨૫ „ અનરાજજી લાલચંદજી
૧૨૫ ધુડચંદજી રૂપચંદજી
૧૦૦ હજારીમલજી ચાંદમલજી
૫૦૦
૨૩ મ્હેતા મૂળચંદ રાઘવજી હા મગનલાલભાઈ તથા દુર્લભજીભાઈ પ્રાંક્ષા ૫૦૦
૨૪ શેઠ હરખચંદ પુરૂષોત્તમ હા. ઇન્દુકુમારભાઈ ચોરવાડ ૫૦૧
૨૫ શેઠ કેસરીમલજી વસતીમલજી ગુગલીયા રાણાવાસ ૫૦૧
૨૬ સ્થા જૈનસંઘ હા. બાટવીયા અમીચંદ ગીરધરભાઈ આખીબાળીઆ ૫૦૧
૨૭ શેઠ ખીમજીભાઈ બાવાભાઈ
હા. ફુલચંદભાઈ, નાગરદાસભાઈ તથા જમનાદાસભાઈ મુંબઈ ૫૦૧
૨૮ શેઠ મણીલાલ મોહનલાલ ઠગલી હા મુંબજીભાઈ મણીલાલ મુંબઈ ૫૦૧
૨૯ સ્વ. કાંતીલાલભાઈના સ્મરણાર્થે હા શેઠ બાલચંદ સાકરચંદ મુંબઈ ૫૦૧
૩૦ કામદાર રતીલાલ દુર્લભજી (જેતપુરવાળા) મુંબઈ ૫૦૧
૩૧ શાહ જયવીલાલ અમૃતલાલ શીવ ૫૦૧
૩૨ વોરા મણીલાલ લક્ષ્મીચંદ શીવ ૫૦૧
૩૩ શેઠ ગુલાબચંદ ભુદરભાઈ આરશેઠ ૫૦૧
૩૪ મહાન ત્યાગી બેન હીરજકુંવર ચુનીલાલ મ્હેતા બાણવડ ૫૦૧
૩૫ શ્રી સ્થાનકવાસી જૈનસંઘ પ્રાંક્ષા ૫૦૧
૩૬ શ્રી મગનલાલ છગનલાલ શેઠ રાજકોટ ૫૦૧

*

૩૧૬ મેમ્બરોનું ગામવાર લીસ્ટ

અમદાવાદ તથા પરાંઓ

૧ શેઠ ગીરધરલાલ કરમચંદ ૨૫૧
૨ શેઠ છોટાલાલ વખતચંદ હસ્તે ફકીરચંદભાઈ ૨૫૧
૩ શાહ કાન્તીલાલ ત્રીભોવનદાસ ૨૫૧
૪ શાહ ચોથાલાલ પીતામ્બરદાસ ૨૫૧
૫ શાહ પોપટલાલ મોહનલાલ

૬	શેઠ પ્રેમચંદ સાકરચંદ	૨૫૦
૭	શાહ રતીલાલ વાડીલાલ	૨૫૧
૮	શેઠ લાલભાઈ મંગળદાસ	૨૫૧
૯	સ્વ અમૃતલાલ વર્ધમાનના સ્મરણાર્થે હસ્તે કાનજીભાઈ અમૃતલાલ દેશાઈ	૨૫૧
૧૦	ભાવસાર ભોગીલાલ જમનાદાસ (પાટણવાળા)	૨૫૧
૧૧	શાહ નટવરલાલ ચંદુલાલ	૨૫૧
૧૨	શાહ નરસિંહદાસ ત્રીભોવનદાસ	૨૫૧
૧૩	શ્રી શાહપુર દરીયાપુરી આઠકોટી સ્થા જૈન ઉપાશ્રય હા. વહીવટકર્તા શેઠ ઇશ્વરલાલ પુરૂષોતમદાસ	૨૫૧
૧૪	શ્રી છીપાપોળ દરીયાપુરી આઠકોટી સ્થા જૈનસંઘ હા ચંદુલાલ અમૃતલાલ	૨૫૧
૧૫	શાહ ચીનુભાઈ બાલાભાઈ C/o શાહ બાલાભાઈ મહાસુખરામ	૨૫૧
૧૬	શાહ ભાઈલાલ ઉજમશી	૨૫૧
૧૭	શ્રી સુખલાલ ડી શેઠ હા ડૉ કુ સરસ્વતીબેન શેઠ	૨૫૧
૧૮	શ્રીસૌરાષ્ટ્ર સ્થા જૈનસંઘ હા શાહ કાન્તીલાલ જીવણલાલ	૨૫૧
૧૯	મોદી નાથાલાલ મહાદેવદાસ	૨૫૧
૨૦	શાહ મોહનલાલ ત્રીકમદાસ	૨૫૧
૨૧	શ્રી છકોટી સ્થા જૈનસંઘ હા શાહ પોચાલાલ પીતામ્બરદાસ	૨૫૧
૨૨	શેઠ પોપટલાલ હેમરાજના સ્મરણાર્થે હા. શેઠ બાબુલાલ પોપટલાલ	૨૫૧
૨૩	દેશાઈ અમૃતલાલ વર્ધમાન બાપોદરાવાળા હા ભાઈલાલ અમૃતલાલ દેશાઈ	૨૫૧
૨૪	શાહ નવનીતલાલ અમુલખરાય	૨૫૧
૨૫	શાહ મણીલાલ આશારામ	૨૫૧
૨૬	શાહ ચીનુભાઈ સાકરચંદ	૨૫૧
૨૭	શાહ વરજીવનદાસ ઉમેદચંદ	૨૫૧
૨૮	શાહ રજનીકાન્ત કસ્તુરચંદ	૨૫૧
૨૯	સંઘવી જીવણલાલ છગનલાલ (સ્થા. જૈન)	૨૫૧
૩૦	શાહ શાંતિલાલ મોહનલાલ ધાગધ્રાવાળા	૨૫૧
૩૧	અ. સૌ. બેન રતનબાઈ નાદેચા હા. શાહ ફુલાજી અંપાલાલજી	૨૫૧
૩૨	શાહ હરિલાલ જેઠાલાલ ભાડલાવાળા	૨૫૧
૩૩	શ્રી સરસપુર દરીયાપુરી આઠકોટી સ્થા જૈન ઉપાશ્રય હા ભાવસાર ભોગીલાલ છગનલાલ	૨૫૧
૩૪	શેઠ પુખરાજજી સમતીરામજી સાદડીવાળા	૨૫૧
૩૫	શેઠ લાલચંદ મીશ્રીલાલ	૨૫૧

૧૯ સ્વ પિતાશ્રી નદાછના સ્મરણાર્થે
હા વેણીચંદ શાન્તીલાલ (જાણુઆવાળા) મેઘનગર ૫૦૧
૨૦ શ્રી સ્થાનકવાસી જૈન સંઘ હા શેઠ ઠાકરશી કરસનજી થાનગઢ ૫૦૦
૨૧ શેઠ તારાચંદજી પુખરાજજી ઔરંગાબાદ ૫૦૦
૨૨ શ્રી સ્થાનકવાસી જૈન સંઘ ઔરંગાબાદ ૫૦૦
૧૫૦ શેઠ શેષમજી છવરાજજી
૧૨૫ „ મનરાજજી લાલચંદજી
૧૨૫ ધુકડચંદજી રૂપચંદજી
૧૦૦ હજારીમલજી ચાંદમલજી
૫૦૦
૨૩ મ્હેતા મૂળચંદ રાઘવજી હા મગનલાલભાઇ તથા દુર્લભજીભાઇ પ્રાંફા ૫૦૦
૨૪ શેઠ હરખચંદ પુરૂષોત્તમ હા. ઇન્દુકુમારભાઇ ચોરવાડ ૫૦૧
૨૫ શેઠ કેસરીમલજી વસતીમલજી શુગલીયા રાણાવાસ ૫૦૧
૨૬ સ્થા જૈનસંઘ હા ખાટવીયા અમીચંદ ગીરધરભાઇ આખીજાળીઆ ૫૦૧
૨૭ શેઠ ખીમજીભાઈ ખાવાભાઇ
હા કુલચંદભાઇ, નાગરદાસભાઈ તથા જમનાદાસભાઈ મુંબઇ ૫૦૧
૨૮ શેઠ મણીલાલ મોહનલાલ ઠગલી હા મુળજીભાઇ મણીલાલ મુંબઇ ૫૦૧
૨૯ સ્વ. કાંતીલાલભાઇના સ્મરણાર્થે હા શેઠ બાલચંદ સાકરચંદ મુંબઇ ૫૦૧
૩૦ કામદાર રતીલાલ દુર્લભજી (જેતપુરવાળા) મુંબઇ ૫૦૧
૩૧ શાહ જયંતીલાલ અમૃતલાલ શીવ ૫૦૧
૩૨ વોરા મણીલાલ લક્ષ્મીચંદ શીવ ૫૦૧
૩૩ શેઠ ગુલાબચંદ ભુદરભાઈ આરેરોઠ ૫૦૧
૩૪ મહાન ત્યાગી બેન ધીરજકુંવર ચુનીલાલ મ્હેતા ભાણવડ ૫૦૧
૩૫ શ્રી સ્થાનકવાસી જૈનસંઘ પ્રાંફા ૫૦૧
૩૬ શ્રી મગનલાલ છગનલાલ શેઠ રાજકોટ ૫૦૧

*

૩૧૬ મેમ્બરોનું ગામવાર લીસ્ટ

અમદાવાદ તથા પરાંઓ

૧ શેઠ ગીરધરલાલ કરમચંદ ૨૫૧
૨ શેઠ છોટાલાલ વખતચંદ હસ્તે ફકીરચંદભાઈ ૨૫૧
૩ શાહ કાન્તીલાલ ત્રીભોવનદાસ ૨૫૧
૪ શાહ પોચાલાલ પીતામ્બરદાસ ૨૫૧
૫ શાહ પોપટલાલ મોહનલાલ

पद्धत्यनुगत-सन्दर्भ-समन्वय

भौम देवताओंनें परीक्षा के द्वारा (तं खनन्त इवान्वीयुः) ओषधिमूलों में म्लान विष्णु को प्राप्त कर लिया। प्राकृतिक आधिदैविक विष्णु व्यापक है। अतः जबतक इसे परिच्छिन्न न कर लिया जाय, तबतक यह विष्णु परिच्छिन्न वैभवका का उपकारक नहीं बन सकता। इसी सीमाभाव के लिए प्राप्त -विष्णु का 'सुक्ष्मा चासि ०' इत्यादि मन्त्रों से (मन्त्रब्राह्मण मागृह्य से) परिग्रह किया जाता है। इसी परिग्रहकर्म्म से वेदि का स्वरूप सम्पन्न होता है अतएव इस कर्म्म को 'वेदिपरिग्रहकर्म्म' भी कहा जाता है। भूप्रदेश के जिस भाग में वेदि बनाई जाने वाली है उस प्रदेश के दक्षिण भाग में 'सुक्ष्मा चासि शिवा चासि' यह मन्त्र बोलते हुए स्फ्य से पूर्व पश्चिम अध्यस्तु एक रेखा कर देता है। यही दक्षिण परिग्रह है। दक्षिण में याम्य अग्नि की सत्ता रहती है। यमो वै अवसानस्येष्टे' -'अवायमोऽवसानं पृथिव्याः' इत्यादि के अनुसार यमदेवता अवसान(मृत्यु) के अधिष्ठाता है। दक्षिणभाग से इसी मृत्युभाव का निराकरण करने के लिए- 'हे दक्षिण भूभाग आप शोभन प्रदेश हैं, मृत्युञ्जय शिव की शक्ति से युक्त, अतएव शिव हैं' यह भावना की जाती है। यज्ञ का निम्न दक्षिण प्रदेश यमभीति से रक्षित बने दक्षिण परिग्रह का यही तात्पर्य है

अनन्तर- "स्योना चासि सुषदा चासि' इस मन्त्र से पश्चिम परिग्रह किया जाता है। यह परिग्रह गार्हपत्याग्नि से सम्बन्ध रखता है। गार्हपत्य भूपिण्ड की प्रतिकृति है। गार्हपत्य गृह (घर) है। घर वही उत्तम होता है जहाँ का धरातल सम हो जहाँ रहने से पूर्ण सुख मिले। इसी गृहसम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए आप सुखरूपा हैं, और आप अच्छी बैठक वाली हैं यह भावना की जाती है।

अनन्तर— 'ऊर्जस्वती चासि पयस्वती च' यह मन्त्रभाग बोलते हुए उत्तर परिग्रह किया जाता है। उत्तर भाग सोममय किंवा अग्निगर्भित सोममय है। ओषधियों में जो जीवनीय भाग (ऊर्क्) एवं 'दुग्ध' देखा जाता है वह इसी पाशुकाग्नि की महिमा है। हमारा यज्ञ जीवनीय भाग एवं रस भाग से युक्त रहे दूसरे शब्दों में उत्तराग्नि-प्रदेश यजमान के लिये ऊर्क् एवं पयोयुक्त बने इसी भावना के लिये हे उत्तर भूप्रदेश ! किंवा पाशुकाग्ने ! आप ऊर्क् युक्त हैं आप पयोयुक्त हैं' यह भावना की जाती है।

अन्न-वस्त्र की चिन्ता से आपादमस्तक आकुल-व्याकुल बना रहने वाला विशुद्ध भूतवादी-जड़वादी, अतएव- वर्त्तमानवादी आज का भारतीय मनुज-राष्ट्रीय-मानव कहता है—"हमारा वर्षों की पुरानी सड़ी-गली-वेद-स्मृति-पुराणादि की जीर्ण-शीर्ण बातों का आज के नवीन युग में कोई उपयोग नहीं । अपने इसी काल्पनिक-उपयोगितावाद के व्यामोहन से व्यामुग्ध इस आज के भारतीय मानवने अपनी मूलनिधि से सर्वात्मना निरपेक्ष बन केवल भूतवादी प्रतीच्यजगत् की आधिदैविक प्राणशून्य उन जड़भूतपद्धतियों का ही प्रतिष्ठापन कर लिया है इस सांस्कृतिक-भारतवर्ष में जिस की मूलप्रतिष्ठा का एकमात्र आधार आधिदैविक-प्राणजगत् ही माना गया था। प्रकृत यज्ञभूमि का प्रकरण है। एवं तत्सम्बन्ध में ही ब्राह्मण का प्रस्तुत-सन्दर्भ प्रक्रान्त है। अतएव इसी दृष्टि से प्रकृत में ही शब्दों में हम उस 'यज्ञिय-भूप्रदेश' की ओर आर्ष-मानव का ध्यान आकर्षित करेंगे जिस- यज्ञिय-भूप्रदेश

को ही श्रुति ने—सुक्ष्मा–शिवा–स्योना–सुपत्ना–ऊर्जस्वती–पयस्वती–इत्यादि माङ्गलिक एवं रहस्यपूर्ण विशेषणों से समन्वित माना है। इत्थंभूता सर्वगुणान्विता भूमि को ही श्रुति ने—'इमामेवैतत्-पृथिवीं-सविश्व रसवती, उपजीवनीयामकुर्वन इत्यादि रूप से सस्यश्यामला—जीवनीयरसप्रदात्री —उपयुक्ता कहा है।

'अधिक अन्न उपजाओ' यही आज हमारे राष्ट्रीय–मानस का सर्वप्रमुख उदात्त उद्घोष है, जिस की सफलता के लिए विशुद्ध प्रतीच्या–पद्धति के आधार पर ही नव–नव–आयोजन आविर्भूत–तिरोभूत होते जारहे हैं धारावाहिक–रूप से। तदपि राष्ट्र की 'अन्नचिन्ता' समन्वित नहीं हो पा रही है। क्यों?। इस क्यों? का एकमात्र प्रमुख उत्तर है–भूमि की जीवनीया उर्वर शक्ति से सम्बन्ध रखने वाले यज्ञिय–आधिदैविक–वैष्णव -प्राण की उपेक्षा, अनुपलब्धि एवं तत्स्थाने च यज्ञविरोधी जीवनीयतत्त्व के विनाशक–अभूत–अदृष्टपूर्व–रासायनिक खादों (खादों) का अन्धानुकरण भीमकाय लौहयन्त्रों (ट्रेक्टरों) से निम्ममतारूपया भूगर्भस्थ वैष्णव–प्राण का आत्यन्तिक–उत्पीडन'।

मानते हैं और सर्वात्मना यह भी अनुभव कर रहे हैं कि देवप्राणविरोधी चेतनशक्तिप्रतिष्ठा-शून्य आज के प्रवृद्धतम भूतविज्ञान के अनुग्रह से कृत्रशरीरी तथाविध उत्तेजक रासायनिक–खाद एवं भीमकाय लौहयन्त्र अवश्य ही तात्कालिकरूपेण भूमि के जीवनीय–प्राण को तात्कालिक-रूपेण बहिर्भूत करते हुए कुछ समय के लिए तद्भूप्रदेशों में प्रभूतमात्रा में अन्नराशि अभिव्यक्त करने की क्षमता रखते हैं। और परिणाम–स्वरूप सहज–भारतीय–पद्धति की अपेक्षा इस अभिनवा भौतिकी विज्ञानपद्धति से तात्कालिक–रूपेण अन्नसम्पत्ति समृद्धा भी प्रतीत होने लगती है। एवं सम्भवतः सनातनी–स्थितिमात्रापन्ना–भूत–भविष्यत्परिणामानुबन्धिनी भी भारतीय नैष्ठिकी प्रज्ञा भी प्रत्यक्षप्रमाणमूला तथाविधा भावुकता से आकर्षित होकर ही अपनी सहज–सौम्या पद्धतियों की उपेक्षा कर चतुष्पथ–सभ्या तथाविधा भूतविज्ञानपद्धतियों के ही अन्धानुकरण में प्रवृत्त होती जारही है। और अवश्य ही—'अधर्म्मेणैधते तावत्, ततो भद्राणि पश्यति' इस प्रकृतिसिद्ध सिद्धान्तानुसार इत्थंभूत निरतिशय भूतोत्पीडन से अन्नसम्पत्युत्पादन में पूर्वापेक्षया इसे समृद्धि भी उपलब्ध होसकती है। यह सबकुछ मानते हुए भी अनुभव करते हुए भी इस सम्बन्ध में कदापि 'श्रेयःपन्था' की घोषणा नहीं की जासकती। क्यों कि—

तथाविध उत्तेजक खादों से पार्थिव–भूतमात्रात्मक–'पूषा' तत्त्व अवश्य ही तात्कालिक–रूपसे पुष्ट होसकता है। किन्तु सौर–आग्नेयाग्निमूलक–'मधु' रसमय वैष्णव–यज्ञिय–प्राण (जो प्रवर्ग्यरूप से भूगर्भ की अमुक सीमा में ही गर्भित रहता है यह तो असन्दिग्धरूप से ही तथाविध–कृत्रिम–उत्तेजक खादों से हतवीर्य्य ही बन जाता है। एवं असीमभारान्वित लौहयन्त्रों (ट्रेक्टरों) से भी उस का सहज–सौम्य-उर्वरमूल का विकास सर्वात्मना अभिभूत ही होजाता है। परिणाम-स्वरूप, किंवा घोरघोरतम दुष्परिणाम-स्वरूप तथाविध उत्तेजक खादों के समन्वय से एवं प्रचण्ड–भारान्वित लौहयन्त्रों से आत्यन्तिकरूपेण समुत्पीडित भूभाग के समन्वय से उत्पन्न अन्न में न तो सहज माधुर्य्य ही अभिव्यक्त हो पाता एवं न इस की यह तात्त्विकी प्ररोहण–उत्पादन–शक्ति ही चिरस्थायिनी रह पाती। अपितु यह तो–'शरीरात्-शरीरम्' न्यायानुगता वैसी अनात्म्य जीवनीयप्राणरसशून्या ही अन्नराशि बनी रह जाती है जिसे कथमपि भारतीय दृष्टि

पद्धत्यनुगत-सन्दर्भ-समन्वय

भौम देवताओंने परीदा के द्वारा (तं सनन्त इष्टान्वीपुः) ओषधिमूलों में स्थान विष्णु का प्राप्त कर लिया। प्राकृतिक आधिदैविक विष्णु व्यापक है। अतः जबतक इसे परिच्छिन्न न कर लिया जाय तबतक यह विष्णु परिच्छिन्न वैधयज्ञ का उपकारक नहीं बन सकता। इसी सीमाभाव के लिए प्राप्त -विष्णु का 'सुक्ष्मा चासि ०' इत्यादि मन्त्रों से (मन्त्रबलरूप वाग्बल से) परिग्रह किया जाता है। इसी परिग्रहकर्म से वेदि का स्वरूप सम्पन्न होता है अतएव इस कर्म को 'वेदिपरिग्रहकर्म्म' भी कहा जाता है। भूप्रदेश के जिस भाग में वेदि बनाई जाने वाली है, उस प्रदेश के दक्षिण भाग में 'सुक्ष्मा चासि शिवा चासि' यह मन्त्र बोलते हुए स्फ्य से पूर्व पश्चिम आयम्यु एक रेखा कर देता है। यही दक्षिण परिग्रह है। दक्षिण में याम्य अग्नि की सत्ता रहती है। यमो वै अवसानस्येष्टे' -दक्षिणमाऽवसानं पृथिव्याः इत्यादि के अनुसार यमदेवता अवसान(मृत्यु) का अधिष्ठाता है। दक्षिणभाग से इसी मृत्युभाव का निराकरण करने के लिए- 'हे दक्षिण भूभाग आप शोभन प्रदेश हैं, मृत्युञ्जय शिव की शक्ति से युक्त अतएव शिव हैं' यह भावना की जाती है। यज्ञ का निमित्त दक्षिण प्रदेश यमभीति से रक्षित बने, दक्षिण परिग्रह का यही तात्पर्य्य है

अनन्तर- "स्योना चासि सुषदा चासि' इस मन्त्र से पश्चिम परिग्रह किया जाता है। यह परिग्रह गार्हपत्याग्नि से सम्बन्ध रखता है। गार्हपत्य भूपिण्ड की प्रतिकृति है। गार्हपत्य घर (घर) है। घर वही उत्तम होता है जहाँ का धरातल सम हो, जहाँ रहने से पूर्ण सुख मिले। इसी गृहसम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए 'आप सुखरूपा हैं, आप आप अच्छी बैठक वाली हैं' यह भावना की जाती है।

अनन्तर— 'ऊर्जस्वती चासि पयस्वती च' यह मन्त्रभाग बोलते हुए उत्तर परिग्रह किया जाता है। उत्तर भाग सोममय, किंवा अग्निगर्भित सोममय है। ओषधियों में जो जीवनीय भाग (ऊर्क्) एवं 'दुग्ध' देखा जाता है, यह इसी पाशुकाग्नि की महिमा है। हमारा यह जीवनीय भाग एवं रस भाग से युक्त रहे दूसरे शब्दों में उत्तराग्नि-प्रदेश यजमान के लिये ऊर्क् एवं पयोयुक्त बने इसी भावना के लिये 'हे उत्तर भूप्रदेश ! किंवा पाशुकाग्ने! आप ऊर्क् युक्त हैं, आप पयोयुक्त हैं' यह भावना की जाती है।

अन्न-वस्त्र की चिन्ता से आपादमस्तक आकुल-व्याकुल बना रहने वाला विशुद्ध भूतवादी-जड़वादी अतएव- वर्त्तमानवादी आज का भारतीय भावुक-पश्चिमी-मानव कहता है—"हजारों वर्षों की पुरानी सड़ी-गली-वेद-स्मृति-पुराणादि की जीर्ण-शीर्ण बातों का आज के नवीन युग में कोई उपयोग नहीं। अपने इसी काल्पनिक-उपयोगितावाद के व्यामोहन से व्यामुग्ध इस आज के भारतीय मानवने अपनी मूलनिधि से सर्वात्मना निरपेक्ष बन केवल भूतवादी प्रतीच्यजगत् की आधिदैविक-प्राणशून्य उन जड़भूतपद्धतियों का ही प्रतिष्ठापन कर दिया है इस संस्कृतिक-भारतवर्ष में जिस की मूलप्रतिष्ठा का एकमात्र आधार आधिदैविक-प्राणजगत् ही माना गया था। प्रकृत यज्ञभूमि का प्रकरण है। एवं तत्सम्बन्ध में ही ब्राह्मण का प्रस्तुत-सन्दर्भ प्रक्रान्त है। अतएव इसी दृष्टि से प्रकृत में ही शब्दों में हम उस यज्ञिय-भूप्रदेश की ओर आप-मानव का ध्यान आकर्षित करेंगे, जिस- यज्ञिय-भूप्रदेश

धरित्री, और धारिणी भी है जिन इन सभी शब्दों का मौलिक अर्थ यद्यपि सर्वथा विभिन्न ही है। तथापि अमुक समानधर्मानुबन्ध से इन शब्दों को अमुक सीमा पर्य्यन्त पर्य्याय भी माना जासकता है। भूपिण्ड में प्रतिष्ठात्मक-स्थितिधर्म्मात्मक एक बेधा 'प्राण' है, जिसके द्वारा भूपिण्ड अभूद्वा इयं प्रतिष्ठा-सर्वेषाम्, तस्माद्-भूमिरभवत् (शत ६।१।१।१०) के अनुसार 'भूमि' नाम से भी प्रसिद्ध होरहा है। प्रतिष्ठात्मिका इस धृति (धारणशक्ति) से ही यह धरा-धरित्री-धरणी-आदि नामों से व्यवहृत हुई है। सृष्टिप्रक्रिया के अनुसार भूपिण्ड का मौलिक उपादानद्रव्य 'पानी' ही माना गया है, जैसाकि-'अद्भ्यः पृथिवी' इत्यादि से स्पष्ट है। अप्तत्व अपने सहज स्नेह धर्म्म के कारण प्रतिष्ठाशून्य है। अतएव पानी के स्तर पर गुरुत्वधर्म्मावच्छिन्न कोई भी भूतपदार्थ प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। अपितु तत्स्थल यह अन्तर्गर्भ में ही निमज्जित होजाता (डूब जाता) है। ऐसे प्रतिष्ठाशून्य, धृतिगुणशून्य अप् से ही आप-फेनादि क्रम से भूपिण्ड का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। प्रश्न उपस्थित है कि प्रतिष्ठात्मक-धृतिगुण से शून्य आपोद्रव्य ही जिस भूपिण्ड का मौलिक-उपादानद्रव्य है, ऐसे भूपिण्ड में धृतिगुणक-प्रतिष्ठाभाव कैसे, और कहां से आगया ?। इस प्रश्न का एक सुप्रसिद्ध यज्ञिय प्रक्रिया के माध्यम से ही परोक्ष समाधान करते हुए ऋषि ने कहा है कि- 'आहुतिद्रव्यरूप आज्य (घृत) यद्यपि तरल है अतएव प्रतिष्ठाशून्य है अतएव घनतानुबन्धी धृतिगुण से विरहित है। तथापि क्योंकि इस तरल प्रतिष्ठाशून्य भी आज्य में क्योंकि हिरण्यशकल (सोने का टुकड़ा) डाल कर ही उसकी आहुति दी जाती है अतएव अनस्थिमत् भी इस आज्य से अस्थिमती-प्रतिष्ठायता-प्रजा उत्पन्न होजाती है।

यज्ञिय आहुतिद्रव्य से ही यजमान का नवीन सशरीर-दैवात्मा उत्पन्न किया जाता है। यह आहुतिद्रव्य अमुक यज्ञविशेष में है-'आज्य (घृत-घी)। इसीके सम्बन्ध में तत्र समवेत किसी वैज्ञानिक ने प्रश्न किया कि -'अनस्थिमद्धूयते कथमस्थिमत्-प्रजायते। अर्थात् बिना हड्डी वाले (घनताप्राणशून्य-तरल) इस आज्यद्रव्य की तो आहुति दी जाती है, और संकल्पित है अस्थिमती प्रजा। यह कैसे उत्पन्न हुई, जबकि उपादानभूत आज्यद्रव्य अस्थिभाव से शून्य है ?। इसी प्रश्न का उत्तर है-हिरण्यशकलं निधाय जुहोति तस्मात् इत्यादि। तात्पर्य्य स्पष्ट है। आज्य अवश्य तरल अतएव अनस्थिमत्, अर्थात् प्रतिष्ठात्मक-धृतिगुणक अस्थिभाव से शून्य है। किन्तु इसमें हिरण्यशकल जो है। वह तो स्थितिमत् है। क्या तात्पर्य्य ? इस नवीन क्या ? का उत्तर है-'प्रजोत्पत्तिविज्ञान', जिसके स्पष्टीकरण का अभी अवसर नहीं है। यज्ञानुबन्ध से प्रश्न वस्तुतः सृष्टिप्रक्रिया से ही अनुप्राणित है। पिता के शुक्र तथा माता के शोणित इन दोनों के चिन्मय पुम्भ्रूण-स्त्रीभ्रूणों के दाम्पत्यमूलक मिथुनभाव से ही प्रजोत्पत्ति होती है। उपादानभूत शुक्र और शोणित दोनों ही क्रमशः भागव आङ्गिरस-आपोद्रव्यात्मक प्रतिष्ठाशून्य अनस्थिमत् तरल ही पदार्थ हैं। इन अनस्थिमद् भावों से अस्थिमती (हड्डी वाली) प्रजा कैसे उत्पन्न होगई ?, यही पूर्व प्रश्न का समन्वय है। 'हिरण्यशकल' का अर्थ है-'सत्य-यज्ञ-प्रतिष्ठात्मक-आत्मासामगर्भित-सौर हिरण्य-प्राण। यह साक्षाद्रूप से अपने अशांशनरूप सत्यरूप से शुक्रशोणित में प्रतिष्ठित नहीं होता। अपितु धर्म्मयागात्मक-छिद्रमशीपभाग से अनुप्राणित सुप्रसिद्ध पितृ सनत्प्रक्रिया में सम्बन्ध रखने वाला सौरक्रतुयज्ञ-मण्डल से 'ऋतु रूपेण पृथक् (पृथक्) होजाने वाला प्रवर्ग्य' नामक

से–'आत्मान्न' तो नहीं ही माना जासकता। माधुर्य्यरसविहीन जीवनीयरस से प्रतिमूर्च्छित, केवल प्रक्ष्मो–त्मक ऐसा अन्न मात्रा में एवं तात्कालिक रूपेण आकार–प्रकार–प्रदर्शनादि में–'बहु' प्रमाणित होता हुआ भी तथ्यदृष्टया किंवा तत्त्वदृष्ट्या तो सर्वथा–'यातयाम' ही बन जाता है।

भूमिनिखनन उसी सीमापर्य्यन्त मान्य होना चाहिए, जिस सीमा पर मधुरमय–जीवनीयतत्त्वात्मक–सौर प्रवर्ग्य–यज्ञिय–वैष्णव–प्राण प्रतिष्ठित है। यदि प्रचयकामना से इस सीमा का अतिक्रमण होजाता है तो भूगमय्य–भूतप्रधान – यथाविध–'पूषा' भाग तो अवश्य ही तात्कालिकरूपेण अभिव्यक्त हो पड़ता है फलस्वरूप कुछ समय के लिए 'भूतभार' की दृष्टि से उस प्रदेश में अन्न प्रभूतमात्रा में उत्पन्न भी होजाता है। किन्तु इस आघातसम्पर्क से 'स्यान्न_स्त' नामोपलक्षित जीवनीय–रसात्मक–मधुरमय–सौर यज्ञिय प्राण तो उत्क्रान्त ही होजाता है। और निष्कर्षतः ऐसा केवल पार्थिव अन्न–'अयज्ञिय' ही बना रह जाता है। भारतीय-प्रजा केवल 'भूताम्न' का भी समर्थन नहीं कर सकती। यदि करती है तो वह भारतीय नहीं। 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तु' के अनुसार भारतीय-प्रजा का अन्न–'यज्ञोच्छिष्टम्' ही माना गया है। *जिस मौलिक अन्न में सौर–दिव्य–वैष्णव–प्राण का भी सम्बन्ध रहता है वही अन्न 'यज्ञोच्छिष्टान्न' कहलाता* है वही आर्यप्रजा के लिए भक्ष्य है। ऐसे भी कितने ही अन्न हैं जिनमें भगवत्स्य–यज्ञिय–वैष्णव–सौर–प्राण अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से (अमुक विजातीय प्राणविरोध से) प्रविष्ट नहीं होने पाता। वैसे अन्न ही 'अयज्ञियान्न' कहलाए हैं। अतएव यज्ञिय-प्रजा के यज्ञकर्मों में वे अन्न निषिद्ध मान लिए गए हैं। 'अयज्ञिया वै माषा' के अनुसार 'माष (उड़द) इसी भाँति का अन्न है। मसूर' भी इसी भाँति से अनुप्राणित है। अतएव यज्ञोच्छिष्टानुगामिनी आस्तिक-प्रजा मसूर' को भी अपने व्यवहार में त्याज्य ही मानती आरही है। तदित्थं-इस यज्ञिय–सौर–प्राणानुरोध से ही भारतीय-प्रजा की अन्नव्यवस्था व्यवस्थित हुई है। लशुन–पलाण्डु–गृञ्जनादि अपने असुरप्राण-प्राधान्य से अयज्ञिय बनते हुए सर्वात्मना त्याज्य ही मान लिए गए हैं द्विजाति के लिए जबकि स्वयं आयुर्वेदशास्त्र ने इनके मौलिक गुणों का समर्थन किया है। अतएव केवल शरीरोपयोगी, किन्तु दिव्यप्राणविरोधी तत्सदृश अन्यान्य सभी अयज्ञिय पदार्थ त्याज्य ही बन गए हैं धर्मशास्त्र में।

यज्ञमात्रानुबन्धी–मधुरमय उक्थरसमय सोमरसमय इसी जीवनीय–सौर–वैष्णव–पार्थिव-तत्त्व का महत्व न जाणसन्दर्भ से स्पष्टीकरण हुआ है जिसका यजुर्मन्त्र के द्वारा ही स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। कौनसा और कैसा भूप्रदेश यथाविध जीवनीय–यज्ञिय रस से समन्वित रहता है? प्रस्तुत सन्दर्भ इसी प्रश्न का तात्त्विक समाधान कर रहा है जिसके लिए यजुःसंहिता के प्रथमाध्याय के सप्तम मन्त्र का निम्नलिखित अंश ही–धारणीकरणीय है—

'सुषमा चासि, शिवा चासि, स्योना चासि, सुषदा चासि, ऊर्जस्वती चासि, पयस्वती च''।

प्रत्येक शब्द अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण तथ्यों से अनुप्राणित है जिसका अत्र स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है। केवल दो शब्दों में ही इस दिशा का दिग्दर्शन प्रस्तुत है। 'ज्या नामसे प्रसिद्धा* माता पृथिवी का नाम धरा

*–'ज्या से सम्बन्ध रखने वाली सुप्रसिद्ध गणितप्रक्रिया ही–'ज्यामिति' नाम से प्रसिद्ध है। सम्भवतः ही निरुक्तक्रमानुबन्ध से 'ज्यामिति' का ही रूपान्तर—'ज्यामेट्री' होगा। एवं इसी 'ज्यामिति' शब्द से–'जमीन' शब्द भी व्यक्त हुआ होगा।

ष्ठित होरही थी। अपने तथाविध प्रतिष्ठात्मक–सौर–यज्ञिय तेज से सम्–समन्वित रहने के कारण ही माता–पृथिवी प्रतिष्ठासे–शून्य–क्षत–विक्षत–भग्न त्रुटित उच्च अवच–विषम आदि भावों से असस्पृष्ट प्रमाणित होती हुई सर्वात्मना समवस्थितात्मिका 'उर्वरा' (प्रजननशक्तिमती) बनी रहती थी। अपने प्रतिष्ठात्मक इसी सम धरातलानुबन्ध से यह 'सुपदा' बनी रहती थी। और यों इत्थंभूत दिव्य–भावों से सञ्चालिता माता धरित्री सौर–दिव्य–मधु–रसात्मक, जीवनीयरसात्मक 'ओजः'–स्वरूप सम्पादक–'उर्क्' रस से 'ऊर्जस्वती' तथा सोमात्मक पयोगुण से पयस्वती बनती हुई सर्वात्मना हमारे लिए उपजीव्या प्रमाणित होरही थी। इत्थंभूता सौर यज्ञिय–दिव्यप्राणगर्भिता, अतएव मृदमा–शिवा–स्योना–सुपदा–ऊर्जस्वती–पयस्वती यज्ञिया–भूमि ही हमारी 'यज्ञिया–वेदि' बनी हुई थी, जिस के आधार पर ही हम 'यावती वै वेदिस्तावती पृथिवी' जैसे महान उदात्त उद्घोष करने में सक्षम बने हुए थे। जो क्षमता आज के मत–व्यामोहन में आसक्त होकर तदनुबन्धी दिव्यप्राण विरोधी, यज्ञियप्राण प्रतिबन्धक–मत–भौतिक–विज्ञानमार्गों के द्वारा हमनें सर्वथा ही विलुप्त करली है। और यों अपने मौलिक शान्ति स्वस्ति–मूलक—समृद्धि वृद्धि–तुष्टि–पुष्टि प्रद प्रकारों की उपेक्षा कर सर्वथा वैसे अयज्ञिय–प्रकारों का ही आज हमनें अन्धानुकरण उपक्रान्त कर लिया है अपनी मूलविज्ञान निधि से अपरिचित रहने के कारण जिस उपक्रान्ति से कृष्णमृगानुबन्धी इस यज्ञिय–भारतराष्ट्र का तो कदापि अभ्युदय सम्भव नहीं है। माता धरित्री के अभ्युदय सम्बन्धक इन्हीं कतिपय तथ्यों के माध्यम से इस के उपजीवनीय–रस भाग की ओर भगवान याज्ञवल्क्य के द्वारा आर्ष–भारतीय प्रजा का ध्यान आकर्षित हुआ है जैसा कि प्रक्रान्त कण्डिका के उपसंहारात्मक—'इमामेवैत–पृथिवीं सर्वेण रसवतीं उपजीवनीयामकुर्वत' इस वाक्य से स्पष्टतम है। ॥११॥

प्रकारान्तर से यों समझिये कि, दक्षिणाग्नि परिपाक करने वाला है। परिपाक से मिट्टी का 'स्लथ' भाव नष्ट होजाता है मिट्टी दृढ़ बन जाती है। इसी परिपाक से वह मसृणा (चिकनी) भी बन जाती है। यही इसका मृदमाभाव (शोभनमृत्तिभाव) एवं शिवभाव है। गार्हपत्याग्नि प्रतिष्ठारूप है, यही प्रजननिता है यही स्वरूपसम्पत्ति है। उत्तरोत्तर उर्वरा बने रहना ही इसका सुपदा, एवं स्योनाभाव है। मृत्तिका को रसयुक्त एवं बलयुक्त बनाने के लिए तीसरा परिग्रह किया जाता है। ये तीनों परिग्रह 'भूमिपरिग्रह' हैं। पहिले के 'गायत्र्या त्वा छन्दसा परिगृह्णामि' इत्यादि तीनों परिग्रह प्राणपरिग्रह हैं। प्राणरूप विष्णु का छन्दों से परिग्रहीत किया जाता है एवं भूतमय विष्णु का स्फिग से परिग्रहण किया जाता है। इसप्रकार सम्मय ६ परिग्रह होजाते हैं। व्यापक विष्णुरूप यज्ञपुरुष की समष्टि ही संवत्सर है एवं यही यज्ञसम्पत् है। उक्त ६ओं परिग्रहों से यजमान का यह वैध यज्ञ प्राकृतिक यज्ञपुरुषरूप सम्वत्सरयज्ञसम्पत् से युक्त होजाता है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, पूर्व के तीन परिग्रह लोकों का परिग्रह हैं एवं उत्तर के तीन परिग्रह लोक परिग्रह हैं। लोक भूतप्रधान हैं एवं लाकी प्राणप्रधान हैं। इसक्रम से दोनों का यज्ञ के साथ सम्बन्ध होजाता है। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पूर्व के तीन परिग्रहों में ६ व्याहुतियां हैं एवं उत्तर के परिग्रहों में ६ व्याहुतियां हैं। इस प्रकार १२ व्याहुतियां होजाती हैं। यज्ञसम्पत्–रहस्यवेत्ताओं को विदित होना चाहिए कि द्वादश व्याहुतियों से भी द्वादशमासात्मिका सम्वत्सरमूर्तिमयी यज्ञविष्णुसम्पत् परिगृहीत होजाती है। पूर्व एवं उत्तर परिग्रहों से सम्बन्ध रखने वाली वे १२ व्याहुतियां आगे के परिग्रहण से स्पष्ट होजाती हैं।

सौर-सावित्र-वैष्णव-यज्ञिय-तेज' ही शुक्र-शोणितरूप आम्य (तरलद्रव्य) में प्रतिष्ठित होता है एवं इसी सौरप्रवर्ग्य (शकल-खण्ड) रूप-हिरण्यतेज से प्रजा के 'अस्थि' भाग का स्वरूप निर्माण होता है। शारीरिक मांस-मेद-मज्जा-असृक् आदि भूतधातु जहाँ शुक्रशोणितात्मक बनते हुए आपोमय हैं, अतएव अप्रतिष्ठित हैं वहाँ अस्थि भाग सौरप्रवर्ग्यहिरण्यतेजोमय है यही तात्पर्य्य-निष्कर्ष है।

ठीक यही स्थिति भूपिण्ड की समझिए। शृतधर्मा-प्रतिष्ठाशून्य पानी में शृतधर्मा अतएव प्रतिष्ठाशून्य ही वायु का प्रवेश हुआ। वायु के प्रवेश से तदवच्छिन्न पानी बुद्बुद् (बुलबुला) रूप में परिणत होगया। एवं प्रतिष्ठालक्षण धृतिगुण के अभाव से तत्क्षण ही बुद्बुद् फूट गया। यह प्रक्रिया निरन्तर अन्तरिक्ष पर प्रक्रान्त रहती है वायुसंघात-परम्पराओं के अनुग्रह से। यही मूलप्रक्रिया भूपिण्ड की जन्मदात्री बनी है जिसके विस्तार का यहाँ अवसर नहीं है। यदि इन दोनों भूत-भावों का ही चंक्रमण प्रमुख बना रहता तो कदापि भूपिण्ड पिण्ड रूप में परिणत न होता। किन्तु पानी और वायु दोनों के मध्य में सावत्सरिक-सौर-प्रवर्ग्य-हिरण्यशकलात्मक-तेज प्रविष्ट होजाता है। इसी तेजःसंयोग से बुद्बुदावच्छिन्न अप्-वायु प्रतिमुञ्चित होजाते हैं जिस इस प्राथमिक अवस्था का नाम ही है—'फेन' [झाग]। तदित्थं-अप्-वायु के सघर्ष से तथा तेजःसंयोग से यही फेन उत्तरोत्तर-घनता का अनुगामी बनता हुआ—मृत् सिकता-शर्करा-अश्मा-अय-हिरण्य-इन प्रतिष्ठा भावों में परिणत होजाता है। और यों इन—अबादि-हिरण्यान्त आठ प्रतिष्ठा-भावों के महात्मक-पारायणिक-सम्मिश्रण से प्रतिष्ठात्मक-भूपिण्ड' का स्वरूप सम्पन्न होजाता है। यों-आपोमय भी भूपिण्ड सौर हिरण्यरूप यज्ञिय तेज को स्वगर्भ-में प्रतिष्ठित कर धृतिलक्षण प्रतिष्ठागुण से समन्वित होता हुआ 'भूमि' रूप में परिणत होजाता है। इसी धृतिगुण से आज यह भूपिण्ड क्योंकि स्वपृष्ठ पर प्रजावर्ग-भार वहन करने की 'क्षमता' से सर्वात्मना समन्वित समर्थ बना हुआ है अतएव—[सौर यज्ञिय-वैष्णव-विष्णु-तेज को गर्भ में धारण करने से ही] सब कुछ सहसकने में समर्थ बनता हुआ—भूपिण्ड—'क्षमा' [सर्वं-क्षमते] नाम से प्रसिद्ध होरहा है। क्षमतारूप धृतिगुण ही इसे 'सुक्ष्मा' बनाए हुए है। और यह गुण स्वयं इसका न होकर प्रकृत सौर-वैष्णव-यज्ञिय-तेज का ही है। दुर्भाग्यवश यदि मानवीय प्रज्ञापराध से भूपिण्ड का यह यज्ञिय—वैष्णव—सौर—तेज-अभिभूत होजाता है अथवा जो उत्क्रान्त कर दिया जाता है सौर-विष्णु-भाव-विरोधी-लौहयन्त्रादि से तो निश्चयेन भूपिण्ड का- 'क्षमा' भाव अभिभूत ही होजाता है। फलतः ऐसे 'क्षमा' शून्य अतएव च केवल मृत्पिण्डात्मक-भूभाग से उत्पन्न मृण्मात्रप्रधान अयज्ञिय अन्न का भोक्ता मानव भी धृतिगुण से प्रतिष्ठाभ्रष्ट से शून्य-शून्य ही बना रह जाता है। अतएव यह आवश्यक है कि, सर्वतोभावेन हम भूपिण्ड को 'सुक्ष्मा' ही बनाए रहें। कदापि यन्त्रप्रहारों से इसके गर्भस्थ वैष्णव प्रतिष्ठाप्राण का उत्क्रमण न करें। इसी तथ्य के आधार पर कृषिप्रधानात्मक भारतराष्ट्र के 'आर्य कृषक' के द्वारा अष्टम्यसु जैसे 'हल' का ही आविर्भाव हुआ जिससे ओषधि—मूल-सम्पन्न ही भूमिखनन—सम्भावित था शान्ति—स्वस्ति-रूप से।

और यों अपने विष्णुतेजोमय—प्रतिष्ठाप्राणात्मक— क्षमा भाव से सुक्ष्मा बनी रहने वाली माता पृथिवी ही हमारे लिए शान्ति स्वस्ति—पूर्वक—यज्ञियान्न प्रदान करती हुई शिवा बनी रहती थी। सुक्ष्मा अतएव च शिवा यही ही माता धरित्री शान्ति—स्वस्ति-मय—परिणाम उत्पन्न करती हुई अपनी पार्थिवी-प्रजा का भरणपोषण करती हुई "न के लिए सर्वात्मना 'सुपत्ना प्रमाणित होती हुई– स्योना' (सुखप्रदात्री) प्रमा-

सिद्ध होरही थी। अपने तथाविध प्रतिष्ठात्मक–सौर–यज्ञिय तेज से सदा–समन्वित रहने के कारण ही माता–पृथिवी प्रतिष्ठासे–शून्य–क्षत–विक्षत–भग्न–त्रुटित उच्च अवचन्नियम आदि भावों से असस्पष्ट प्रमाणित होती हुई सर्वात्मना समवरातनादिका 'उर्वरा (प्रजननशक्तिमती) बनी रहती थी। अपने प्रतिष्ठात्मक इसी सम धयमानानुबन्ध से यह 'सुपदा' बनी रहती थी। और यों इत्थंभूत स्निग्ध–मार्गों से सञ्चालिता माता धरित्री सौर-दिव्य–मधु–रसात्मक जीवनीयरसात्मक 'ओज'–स्वरूप सम्पादक–'उर्क्' रस से 'ऊर्जस्वती' तथा सोमा त्मक पयोगुण से पयस्वती बनती हुई सर्वात्मना हमारे लिए उपजीव्या प्रमाणित होरही थी। इत्थंभूता सौर यज्ञिय-दिव्यप्राणगर्भिता अतएव सुद्मा–शिवा–स्योना–सुपदा–ऊर्जस्वती–पयस्वती यज्ञिया–भूमि ही हमारी 'यज्ञिया–वेदि' बनी हुई थी, जिस के आधार पर ही हम 'यावती वै वेदिस्तावती पृथिवी' जैसे महान् उदात्त उद्घोष करने में सक्षम बने हुए थे, जो हमता आज के भूत–व्यामोहन में आसक्त होकर, तद नुबन्धी दिव्यप्राण विरोधी, यज्ञियप्राण प्रतिबन्धक–भूत–भौतिक–विजृम्भणों के द्वारा हमनें सर्वथा ही विलुप्त करली है। और यों अपने मौलिक शान्ति स्वस्ति-मूलक—ऋद्धि-वृद्धि-तृप्ति-पुष्टि प्रद प्रकारों की उपेक्षा कर सर्वथा वैसे अयज्ञिय–प्रकारों का ही आज हमनें अन्धानुकरण उपक्रान्त कर लिया है अपनी मूलविज्ञान निधि से अपरिचित रहने के कारण जिस उपक्रान्ति से कृष्णमृगानुबन्धी इस यज्ञिय–भारतराष्ट्र का तो क्वापि अभ्युदय सम्भव नहीं है। माता धरित्री के अभ्युदय ससाधक इन्हीं कतिपय तथ्यों के माध्यम से इस के उपजीवनीय–रस भाग की ओर भगवान् याज्ञवल्क्य के द्वारा आर्य–भारतीय प्रजा का ध्यान आकर्षित हुआ है जैसा कि प्रकान्ता कण्डिका के उपसंहारात्मक— इमामेवैत–पृथिवीं सर्वांम् रसवतीं, उपजीवनीयामकुर्वत इस वाक्य से स्पष्टतम है। ॥११॥

प्रकारान्तर से यों समझिये कि दक्षिणाग्नि परिपाक करने वाला है। परिपाक से मिट्टी का 'श्लय' भाव नष्ट होजाता है मिट्टी दृढ बन जाती है। इसी परिपाक से यह मसृणा (चिकनी) भी बन जाती है। यही इसका सुद्माभाव (शोभनममिमाव), एवं शिवभाव है। गार्हपत्याग्नि प्रतिष्ठारूप है यही प्रजननिता है, यही स्वरूपसम्पत्ति है। उत्तरोत्तर उर्वरा बन रहना ही इसका सुपदा एवं स्योनाभाव है। मृत्तिका को रसयुक्त एवं बलयुक्त बनाने के लिए तीसरा परिग्रह किया जाता है। ये तीनों परिग्रह 'भूमिपरिग्रह' हैं। पहिले के गायत्र्या त्वा छन्दसा परि गृह्णामि इत्यादि तीनों परिग्रह प्राणपरिग्रह हैं। प्राणरूप विष्णु को छन्दों से परिगृहीत किया जाता है एवं भूतमय विष्णु का अभिस से परिग्रहण किया जाता है। इसप्रकार सम्मय ६ परिग्रह होजाते हैं। व्यापक विष्णुरूप पञ्चऋतु की समष्टि ही संवत्सर है एवं यही यज्ञसम्पत है। उक्त ६ ओं परिग्रहों से यजमान का यह वेद्य यज्ञ प्राकृतिक पञ्चऋतुरूप सम्वत्सरयज्ञसम्पत् से युक्त होजाता है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि पूर्व के तीन परिग्रह लोकी परिग्रह हैं एवं उत्तर के तीन परिग्रह लोक परिग्रह हैं। लोक भूतप्रधान हैं एवं लोकी प्राणप्रधान हैं। इसक्रम से दोनों का यज्ञ के साथ सम्बन्ध होजाता है। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पूर्व के तीन परिग्रहों में ६ व्याहृतियां है, एवं उत्तर के परिग्रहों में ६ व्याहृतियां हैं। इस प्रकार १२ व्याहृतियां होजाती हैं। यज्ञसम्पत्–रहस्यवेत्ताओं को विदित होना चाहिए कि, द्वादश व्याहृतियों से भी द्वादशमासात्मक सम्वत्सरमूर्तिमयी यज्ञविष्णुसम्पत् परिगृहीत होजाती है। पूर्व एवं उत्तर परिग्रहों से सम्बन्ध रखने वाली वे १२ व्याहृतियां आगे के परिलेख से स्पष्ट होजाती हैं।

सौर-सावित्र-वैष्णव यज्ञिय-तेज' ही शुक्र-शोणितरूप आम्भ (तरलद्रव्य) में प्रतिष्ठित होता है एवं इसी सौरप्रवर्ग्य (शकल-खण्ड) रूप-हिरण्यतत्व से प्रजा के 'अस्थि' भाग का स्वरूप-निर्माण होता है। शारीरिक मांस-मेद-मज्जा असृक् आदि भूतधातु जहाँ शुक्रशोणितात्मक बनते हुए आपोमय हैं अतएव अप्रतिष्ठित हैं वहाँ अस्थि' भाग सौरप्रवर्ग्यहिरण्यतेजोमय है यही तात्पर्य-निष्कर्ष है।

ठीक यही स्थिति भूपिण्ड की समझिए। भूतधर्मा-प्रतिष्ठाशून्य पानी में भूतधर्मा अतएव प्रतिष्ठाशून्य ही वायु का प्रवेश हुआ। वायु के प्रवेश से स्दवच्छिन्न पानी बुद्बुद् (बुलबुला) रूप में परिणत होगया। एवं प्रतिष्ठालक्षण धृतिगुण के अभाव से तत्क्षण ही बुद्बुद् फूट गया। यह प्रक्रिया निरन्तर अन-स्तर पर प्रक्रान्त रहती है वायुसंघात-परम्पराओं के अनुग्रह से। यही मूलप्रक्रिया भूपिण्ड की जन्मदात्री बनी है जिसके विस्तार का यहाँ अवसर नहीं है। यदि इन दोनों भूत-भावों का ही चंक्रमण प्रमुख बना रहता तो कदापि भूपिण्ड पिण्ड रूप में परिणत न होता। किन्तु पानी और वायु दोनों के मध्य में साम्वत्सरिक-सौर-प्रवर्ग्य-हिरण्मयशकलात्मक-तेज प्रविष्ट होजाता है। इसी तेजःसंयोग से बुद्बुदावच्छिन्न अप्-वायु प्रतिमूर्च्छित होजाते हैं जिस इस प्राथमिक अवस्था का नाम ही है—'फेन [झाग]। तदित्थमप्-वायु के संघर्ष से तथा तेजःसंयोग से यही फेन उत्तरोत्तर-घनता का अनुगामी बनता हुआ— मृत्-सिकता-शर्करा-अश्मा-अयः-हिरण्य-घन प्रतिष्ठा-भावों में परिणत होजाता है। और यों इन—अबादि-हिरण्यान्त अष्ट-प्रतिष्ठा-भावों के अष्टात्मक-रासायनिक-सम्मिश्रण से प्रतिष्ठात्मक- भूपिण्ड का स्वरूप सम्पन्न होजाता है। यों-आपोमय भी भूपिण्ड सौर हिरण्मयरूप यज्ञिय तेज को स्वगर्भ-में प्रतिष्ठित कर धृतिलक्षण प्रतिष्ठागुण से समन्वित होता हुआ 'भूमि रूप में परिणत होजाता है। इसी धृतिगुण से आज यह भूपिण्ड क्योंकि स्वपृष्ठ पर प्रतिष्ठित-भार वहन करने की 'क्षमता' से सर्वात्मना समन्वित समर्थ बना हुआ है अतएव-[सौर यज्ञिय-वैष्णव-हिरण्य-तेज को गर्भ में धारण करने से ही] सब कुछ सहसकने में समर्थ बनता हुआ—भूपिण्ड-'सुक्ष्मा' [सर्व-क्षमता] नाम से प्रसिद्ध होरहा है। क्षमतारूप धृतिगुण ही इसे 'सुक्ष्मा' बनाए हुए है। और यह गुण स्वयं इसका न होकर प्राप्त सौर-वैष्णव-यज्ञिय-तेज का ही है। दुर्भाग्यवश यदि मानवीय-प्रज्ञापराध से भूपिण्ड का यह यज्ञिय—वैष्णव—सौर—तेज-अभिभूत होजाता है अथवा जो उत्क्रान्त कर दिया जाता है सौर-हिरण्य-भाव-विरोधी-लौहयन्त्रादि से तो निश्चयेन भूपिण्ड का- 'क्षमा' भाव अभिभूत ही होजाता है। 'क्षमा' एवं 'क्ष्मा' शब्द अतएव च केवल मृत्पिण्डात्मक-भूभाग से सम्बद्ध सत्वमात्रप्रधान अक्षत्रिय अक का भौमप्राण मानव भी धृतिगुण से, प्रतिष्ठालक्षण से शून्य-शून्य ही बना रह जाता है। अतएव यह आवश्यक है कि सर्वतोभावेन हम भूपिण्ड को 'सुक्ष्मा' ही बनाए रहें। कदापि यन्त्रवदाघातों से इसके गर्भस्थ वैष्णव-यज्ञिय-प्रतिष्ठाप्राण को उत्क्रान्त न करें। इसी तथ्य के आधार पर भूमिप्रधान मारतराष्ट्र के 'आर्ष कृषक' के द्वारा काष्ठमय जैसे 'हल' का ही आविर्भाव हुआ जिससे ओषधि—मूल-पर्य्यन्त ही भूमिखनन—सम्भावित था शान्ति-स्वस्ति-रूप से।

और यों अपने हिरण्यतेजोमय—प्रतिष्ठाप्राणात्मक—'क्ष्मा भाव से 'सुक्ष्मा बनी रहने वाली माता पृथिवी ही हमारे लिए शान्ति स्वस्ति—पूर्वक—यज्ञियायु प्रसूत करती हुई शिवा बनी रहती थी। 'सुक्ष्मा' अतएव च शिवा एवं ही माता पृथिवी शान्ति—स्वस्ति-प्रद—यज्ञियप्राण-सम्पन्न करती हुई अपनी पार्थिवी—प्रजा का भरणपोषण करती हुई—हम के लिए सर्वात्मना 'सुषदा' प्रमाणित होती हुई— स्योना' (सुखप्रदात्री) प्रमा-

न्वित होरही थी । अपने तथाविध प्रतिष्ठात्मक-सौर-यज्ञिय तेज से सदा-समन्वित रहने के कारण ही माता-पृथिवी प्रतिष्ठासे-शून्य-क्षत-विक्षत-भग्न त्रुटित-उच्च अवच-विषम आदि भावों से असंस्पृष्ट प्रमाणित होती हुई सर्वात्मना सन्ततानिसर्गसिद्धा उर्वरा' (प्रजननशक्तिमती) बनी रहती थी । अपने प्रतिष्ठात्मक इसी धर्म परामर्शानुबन्ध से यह 'सुपदा' बनी रहती थी । और यों इत्थंभूत दिव्य-भावों से सञ्चालिता माता धरित्री सौर-स्निग्ध-मधु-रसात्मक जीवनीयरसात्मक ओजः-स्वरूप सम्पादक-'ऊर्क्' रस से 'ऊर्जस्वती तथा सोमात्मक पयोगुण से पयस्वती बनती हुई सर्वात्मना हमारे लिए उपजीव्या प्रमाणित होरही थी । इत्थंभूता सौर यज्ञिय दिव्यप्राणगर्भिता अतएव सुदमा-शिवा-स्योना-सुपदा-उर्जस्वती-पयस्वती यज्ञिया-भूमि ही हमारी 'यज्ञिया-वेदि' बनी हुई थी जिस के आधार पर ही हम 'यावती वै वेदिस्तावती पृथिवी' जैसे महान् उदात्त उद्घोष करने में सक्षम बने हुए थे जो क्रमशः आज के भूत-व्यामोहन में आसक्त होकर तद नुबन्धी दिव्यप्राण विरोधी, यज्ञियप्राण प्रतिबन्धक-भूत-भौतिक-विभ्रमणों के द्वारा हमनें सर्वथा ही विलुप्त करली है । और यों अपने मौलिक शान्ति स्वस्ति-मूलक-ऋद्धि वृद्धि-तुष्टि-पुष्टि प्रद प्रकारों की उपेक्षा कर सर्वथा वैसे अयज्ञिय-प्रकारों का ही आज हमनें अन्धानुकरण उपक्रान्त कर लिया है अपनी मूलविज्ञान निधि से अपरिचित रहने के कारण जिस उपक्रान्ति से कृष्णमृगानुबन्धी इस यज्ञिय-भारतराष्ट्र का तो कदापि अभ्युदय सम्भव नहीं है । माता धरित्री के अभ्युदय सबाधक इन्हीं कतिपय तथ्यों के माध्यम से इस के उपजीवनीय-रस भाग की ओर भगवान् याज्ञवल्क्य के द्वारा आर्य-भारतीय प्रजा का ध्यान आकर्षित हुआ है जैसा कि प्रक्रान्ता कण्डिका के उपसंहारात्मक— इमामेवैतत्-पृथिवीं महिषि रसवती उपजीवनीयामकुर्वत इस वाक्य से स्पष्टतम है । ॥११॥

प्रकारान्तर से यों समझिये कि दक्षिणाग्नि परिपाक करने वाला है । परिपाक से मिट्टी का 'श्लथ' भाव नष्ट होजाता है मिट्टी दृढ बन जाती है । इसी परिपाक से वह मसृणा (चिकनी) भी बन जाती है । यही इसका सुदमाभाव (शोभनदमिभाव) एवं 'शिवभाव' है । गार्हपत्याग्नि प्रतिष्ठारूप है यही प्रजननविद्या है यही स्वरूपसम्पत्ति है । उत्तरोत्तर उर्वरा बन रहना ही इसका सुपदा एवं स्योनाभाव है । मृत्तिका को रसयुक्त, एवं बलयुक्त बनाने के लिए तीसरा परिग्रह किया जाता है । ये तीनों परिग्रह 'भूमिपरिग्रह' हैं । पहिले के गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि' इत्यादि तीनों परिग्रह प्राणपरिग्रह हैं । प्राणरूप विष्णु को छन्दों से परिगृहीत किया जाता है एवं भूतमय विष्णु का भपिण्ड से परिग्रहण किया जाता है । इसप्रकार सम्भय ६ परिग्रह होजाते हैं । व्यापक विष्णुरूप षड्ऋतु की समष्टि ही संवत्सर है एवं यही यज्ञसम्पत् है । उक्त ६ भी परिग्रहों से यजमान का यह वैध यज्ञ प्राकृतिक षड्ऋतुरूप सम्वत्सरयज्ञसम्पत् से युक्त होजाता है । दूसरे शब्दों में यों समझिए कि पूर्व के तीन परिग्रह लोका' परिग्रह हैं एवं उत्तर के तीन परिग्रह लोक परिग्रह हैं । लोक भूतप्रधान हैं एवं लोकी प्राणप्रधान हैं । इसक्रम से दोनों का यज्ञ के साथ सम्बन्ध होजाता है । साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पूर्व के तीन परिग्रहों में ६ व्याहृतियां हैं एवं उत्तर के परिग्रहों में ६ व्याहृतियां हैं । इस प्रकार १२ व्याहृतियाँ होजाती हैं । यज्ञसम्पत्-रहस्यवेत्ताओं को विदित होना चाहिए कि द्वादश व्याहृतियों से भी द्वादशमासात्मिका सम्वत्सरमूर्तिमयी यज्ञविष्णुसम्पत् परिगृहीत होजाती है । पूर्व एवं उत्तर परिग्रहों से सम्बन्ध रखने वाली वे १२ व्याहृतियाँ आगे के परिलेख से स्पष्ट होजाती हैं ।

मघवा नामक इन्द्रप्राण ही इन यच्चयावत् वर्णरूपों के अधिष्ठाता, एवं प्रवर्त्तक हैं। इसी वर्णरूप का नाम है-'रूपसौन्दर्य्य' +।

दूसरा है-'अभिरूपसौन्दर्य्य'। आकाररूप का ही नाम 'अभिरूपता' है, जिस इस अभिरूपात्मक आकाररूप का प्रवर्त्तक 'त्वष्टा प्राण' माना गया है जैसाकि-'त्वष्टा रूपाणि पिंशतु त्वष्टा वै रेत सिक्तं विकिरोति' इत्यादि से स्पष्ट है। आकाररूप ही वर्णरूप की प्रतिष्ठा माना गया है। वयोनाधात्मक छन्द का नाम है- आकार, एवं वयोरूप छन्दित वस्तु का नाम है—'आकारित-पदार्थ'। पदार्थ और पदार्थ का आकार दोनों क्रमशः इन्द्र, और त्वष्टा से अनुप्राणित हैं। दोनों में आकार 'आधार' है, आश्रित वस्तु आधेय है। छन्दोरूप त्वाष्ट्र आधारात्मक सौन्दर्य्य ही छन्दित-ऐन्द्र आधेय-सौन्दर्य्य की प्रतिष्ठा बना करता है। अतएव दोनों में प्रमुख-स्थान त्वाष्ट्र-आकार-सौन्दर्य्यरूप 'अभिरूपसौन्दर्य्य' का ही माना गया है। कदापि श्वेत-कृष्ण-पीत हरित-(काला-गोरा-आदि) वर्ण सौन्दर्य्य के मापदण्ड नहीं बना करते। अपितु प्रमुखरूपेण आकारविशेष ही सौन्दर्य्य का प्रमुख मापदण्ड बना करता है। विशिष्टाकार से समन्वित प्रत्येक वर्ण [रँग] जहाँ सुन्दर बन जाता है वहाँ निकृष्टाकारों से विशिष्ट भी वर्ण निकृष्ट बनता हुआ सौन्दर्य्य की सीमा से बहिष्कृत हो जाता है। अतएव वर्णरूपात्मक-ऐन्द्र रूपसौन्दर्य्य तथा आकाररूपात्मक-त्वाष्ट्र-अभिरूप सौन्दर्य्य दोनों में 'अभिरूप-सौन्दर्य्य' ही प्रमुख मान लिया गया है जैसाकि 'आभिरूप्याच्च बिम्बानाम्' इत्यादि औपासनिक-वचन से स्पष्ट है *।

प्रतिमा का अथवा तो चित्र का वर्णात्मक रूपसौन्दर्य्य इनके आकारात्मक अभिरूप सौन्दर्य्य पर ही प्रतिष्ठित माना गया है। वर्णतः कृष्ण-पाषाणमयी भी प्रतिमा आकारसौन्दर्य्य से जहाँ स्वस्वरूप से अभिव्यक्त होजाती है वहाँ वर्णतः विशिष्ट भी प्रतिमा आकारविकृति से अपने वैशिष्ट्य से वञ्चित होजाती है। यही स्थिति चित्रात्मक शिल्प की है। अतएव भगवान् याज्ञवल्क्य ने यहाँ वेदिरूपा नारी के सौन्दर्य्य के सम्बन्ध में त्वाष्ट्रप्राणात्मक आकाररूपात्मक अभिरूपसौन्दर्य्य को ही प्रमुख माना है। यज्ञपुरुष की योषारूपा (पत्नी स्थानीया) यह वेदि 'परस्ताद्वरीयसी मध्ये संह्वारिता, तथा पुरस्तादुर्वी'-आकार-भावों से समन्वित रहती है। एवमाकारसौन्दर्य्ययुक्ता अभिरूपसुन्दरी नारी की ही लोक में प्रशंसा होती है— 'एवमेव हि योषां प्रशंसन्ति'। 'परस्ताद्वरीयसी' का अर्थ है—'पृथुश्रोणि'। 'मध्ये संह्वारिता' का अर्थ है—'मध्ये समाह्वा' एवं 'पुरस्तादुर्वी' का अर्थ है— 'विमृष्टान्तरांसा'। श्रोणिदेश विपुलाकार-समन्वित मध्य-कटि-प्रदेश ह्रस्वप्रमाणमर्य्यादया सूक्ष्म (कृशोदरी) एवं अग्रभाग औरपरसया थोड़े नत, किन्तु विस्तृत। यही योषा का अन्यतम अभिरूप-सौन्दर्य्य है जिसे प्रजनन का मूलाधार माना गया है ॥ १४ १५, १६ ॥

+—विशिष्टतम रूपसौन्दर्य्य से सम्पन्ना नारी के लिए राजस्थान में-'रूप का ढगा' (रूपराशि रूपस्तूप रूप का ढेर) यह शब्द प्रसिद्ध है।

* अर्च्चकस्य तपोयोगात्, अर्च्चनस्यातिशायिनात्।
आभिरूप्याच्च बिम्बानां देव सान्निध्यमृच्छति ॥

तथाभूता अभिरूपसौम्यगुणान्विता यज्ञिया वेदि प्राक् अथवा तो उदक् दोनों में से किसी एक दिशा की ओर ही प्रवणा होनी चाहिए। कारण स्पष्ट है। मानवधर्म का उत्तरदिशा से प्रधान सम्बन्ध है एवं देवसर्ग का पूर्वदिशा से सम्बन्ध है। मानवसृष्टि रतोमयी-भूतसृष्टि है एवं देवसृष्टि प्राणसृष्टि है। प्राणपति प्राणात्मक इन्द्र पूर्वदिशा के दिक्पाल हैं एवं भूतपति चन्द्रमा (सोम) उत्तरदिशा के दिक्पाल हैं। चन्द्रमसावुरसो अमय आपूरसम् इत्यादि वाग्मिक सिद्धान्तानुसार चान्द्र सोम ही भृगु-स्वरूप धर्मक बनता हुआ शुक्रात्मक-रतो-रूप में परिणत होता है। एवं रसशुक्राहुति ही मानवसृष्टि का प्रमुख बीज माना गया है। तत्प्रधानता क्योंकि सौम्या उत्तरदिक् में ही है। अतएव उत्तरादिक् (उत्तर दिशा) सौम्य-शुक्र प्रधान मानव की प्रातिस्विक भृगु मानली गई है जबकि-प्राणेन्द्र के प्राधान्य से पूर्वादिक् देवताओं की दिशा मानी गई है। प्रथम तो वेदि इस ओर ही प्रवणा (झुकी हुई) होनी चाहिए। यदि इस ओर सुविधा न हो तो स्वस्तिग्रूपा उत्तरदिशा की ओर भी वेदि प्रवणा रक्खी जासकती है। किन्तु भूल कर भी इसे दक्षिणप्रवणा तो कदापि नहीं बनाना चाहिए। जो सौम्यप्राण उत्तर में मानव के जीवन की मूलप्रतिष्ठा है वही दक्षिणानुगत बनता हुआ पितृप्राणात्मक बन कर मानव की मृत्यु का कारण बन जाया करता है। अतएव दक्षिणदिशा को याम्यादिक् (यमराज की दिशा) माना गया है। इयमेवोऽवमा सानं पृथिव्या'- यमा वै-अवसानस्पष्ट' इत्यादि मन्त्र-ब्राह्मण-श्रुतियों के अनुसार दक्षिणस्थ याम्य-पितर तो अवसान के ही अधिपति माने गए हैं। अतएव मानव को स्वप्राण का आभिमुख्य कदापि दक्षिण दिशा की ओर नहीं करना चाहिए। इसी आधार पर-'नोदीचानशिरा शयीत' (उत्तर दिशा की ओर मस्तक करके कभी शयन नहीं करना चाहिए) यह आदेश हुआ है। क्योंकि ऐसा करने से प्राणगति दक्षिणाभिमुख ही बन जाया करती है जो कि आयुःप्राण पर व्याघात करने वाली मानी गई है। अतएव भारतीय-'वास्तुशास्त्र (भवननिर्म्माणादि शिल्पशास्त्र) में दक्षिण की ओर द्वार रखना आत्यन्तिक रूपेण निषिद्ध माना गया है। निगमनिष्ठ स्वर्गीय श्रीजयसिंहजी नृपतिवर के सत्त्वावधान में विनिर्मित जयपुर नगर का समस्त वास्तुशिल्प इसी नियम से अनुप्राणित था जो आज के युगधर्म के द्वारा यत्र-तत्र परिवर्तित होगया है।

प्राक् प्रवणा अथवा तो उदक् प्रवणा वेदि के तत्पाक् याम्य-दक्षिणप्रान्त को मिट्टी डाल कर थोड़ा उन्नत कर लेना चाहिए। इस से दो तथ्य सिद्ध होजाते हैं। उन्नतभाग से वेदि का दक्षिणप्रवणता दोष सर्वात्मना दूर जाता है। दूसरे-वेदि 'पशुसम्पत्ति' से भी समन्वित होजाती है। परिशिष्टात्मक-प्रवर्ग्य भाग का ही नाम रसय-मिट्टी का ही नाम-'पुरीष' है जो अनात्म्य है। आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व से वञ्चिता पशुसृष्टि अनात्म्या है अवर्ग्या है, पुरीषरूपा है अर्थात् प्रवर्ग्यात्मिका है। पृथग्भूता मिट्टी प्रवर्ग्य-स्थानीया बनती हुई निधानेन सम्बन्धात्-'पशु' है। अतएव इस पुरीष-निधान से वेदि अवश्य ही पशुसम्पत्ति से भी समन्विता होजाती है। क्या दक्षिणस्थ याम्य-रुद्र इस पशुसम्पत्ति को नष्ट नहीं कर देगा, जिस कि पुरीष-निधानन वेदि के दक्षिण भाग में प्रतिष्ठित किया गया है ?। नहीं। इसलिए कि याम्यरुद्र तो स्वयं 'पशुपति' है। अतएव वे तो रक्षक ही हैं इन दक्षिणस्थ-पशुओं के।

उक्त कथन का तात्पर्य यही है कि, आधिदैविक यज्ञ तथा आध्यात्मिक यज्ञ का जैसा स्वरूप है इस आधिभौतिक वेदि का स्वरूप भी उसी अनुपात से नियत होना चाहिए। वेदि की स्वरूप-सम्पत्ति से सम्बन्ध

मघवा नामक इन्द्रप्राण ही इन यच्चयावत् वर्णरूपों के अधिष्ठाता एवं प्रवर्त्तक हैं । इसी वर्णरूप का नाम है–'रूपसौन्दर्य्य', + ।

दूसरा है– अभिरूपसौन्दर्य्य । आकाररूप का ही नाम 'अभिरूपता' है, जिस इस अभिरूपात्मक आकाररूप का प्रवर्त्तक 'त्वष्टा प्राण' माना गया है जैसाकि– त्वष्टा रूपाणि पिंशतु त्वष्टा वै रेतः सिक्तं विकिरोति इत्यादि से स्पष्ट है । आकाररूप ही वर्णरूप की प्रतिष्ठा माना गया है । वयोनाधात्मक छन्द का नाम है— आकार एवं वयोरूप छन्दित वस्तु का नाम है— आकारित-पदार्थ' । पदार्थ और पदार्थ का आकार दोनों क्रमशः इन्द्र, और त्वष्टा से अनुप्राणित है । दोनों में आकार 'आधार' है, आकारित वस्तु आधेय है । छन्दोरूप त्वाष्ट्र आधारात्मक सौन्दर्य्य की छन्दित-ऐन्द्र आधेय-सौन्दर्य्य की प्रतिष्ठा बना करता है । अतएव दोनों में प्रमुख-स्थान त्वाष्ट्र-आकार-सौन्दर्य्यरूप-'अभिरूपसौन्दर्य्य' का ही माना गया है । क्यापि श्वेत-कृष्ण-पीत हरित-(काला-गोरा-आदि) वर्ण सौन्दर्य्य के मापदण्ड नहीं बना करते । अपितु अनु सरूपेण आकारविशेष ही सौन्दर्य्य का प्रमुख मापदण्ड बना करता है । विशिष्टाकार से समन्वित प्रत्येक वर्ण [रँग] जहाँ सुन्दर बन जाता है, वहाँ निकृष्टाकारों से विशिष्ट भी वर्ण निकृष्ट बनता हुआ सौन्दर्य्य की सीमा से बहिर्भूत हो जाता है । अतएव वर्णरूपात्मक-ऐन्द्र रूपसौन्दर्य्य तथा आकाररूपात्मक-त्वाष्ट्र-अभिरूप-सौन्दर्य्य दोनों में 'अभिरूप सौन्दर्य्य' ही प्रमुख मान लिया गया है, जैसाकि 'आभिरूप्याच्च बिम्बानाम्' इत्यादि औपासनिक-वचन से स्पष्ट है * ।

प्रतिमा का अथवा तो चित्र का वर्णात्मक रूपसौन्दर्य्य इनके आकारात्मक अभिरूप सौन्दर्य्य पर ही प्रतिष्ठित माना गया है । वर्णतः कृष्ण–पाषाणमयी भी प्रतिमा आकारसौन्दर्य्य से जहाँ स्वस्वरूप से अभिव्यक्त होसकती है वहाँ वर्णतः विशिष्टा भी प्रतिमा आकारविकृति से अपने वैशिष्ट्य से वञ्चित होजाती है । यही स्थिति चित्रात्मक शिल्प की है । अतएव भगवान् याज्ञवल्क्य ने यहाँ वेदिरूपा नारी के सौन्दर्य्य के सम्बन्ध में त्वाष्ट्रप्राणात्मक आकाररूपात्मक अभिरूपसौन्दर्य्य को ही प्रमुख माना है । यज्ञपुरुष की योषारूपा (पत्नी स्थानीया) यह वेदि पश्चाद्वरीयसी मध्ये संह्वारिता, तथा पुरस्तादुर्वी आकार–भावों से समन्वित रहती है । एवमाकारसौन्दर्य्ययुक्ता अभिरूपसुन्दरी नारी की ही लोक में प्रशंसा होती है— 'एवमेव हि योषां प्रशंसन्ति' । 'पश्चाद्वरीयसी' का अर्थ है—पृथुश्रोणि' । मध्ये संह्वारिता का अर्थ है—'मध्ये संक्षिप्ता' एवं 'पुरस्तादुर्वी' का अर्थ है— 'विस्तृतान्तरांसा' । भावितम विपुलाकार– समन्वित मध्य–कटि–प्रदेश इतस्ततःसमर्प्यतया सूक्ष्म (कृशोदरी) एवं अग्रभाग अपेक्षया थोड़े नत किन्तु विस्तृत । यही योषा का अन्यतम अभिरूप–सौन्दर्य्य है जिसे 'प्रजनन' का मूलाधार माना गया है ॥ १४, १५, १६ ॥

+—विशिष्टतम रूपसौन्दर्य्य से सम्पन्ना नारी के लिए राजस्थान में–'रूप का ढगला (रूपराशि रूपस्तूप रूप का ढेर) यह शब्द प्रसिद्ध है ।

* अर्च्चकस्य तपोयोगात्, अर्च्चनस्यातिशायिनात् ।
आभिरूप्याच्च बिम्बानां देव सान्निध्यमृच्छति ॥

में एक पद्य किसी कविश्रेष्ठ के मुख से हमारे श्रोत्रविवरों में बलात् प्रविष्ट होगया था। सम्भवतः सभी रसज्ञतानुरागी निम्न लिखित उस पद्य से सुपरिचित होंगे कि—

अङ्कं केऽपि शशङ्किरे जलनिधेः, पङ्कं परे मेनिरे।
सारङ्गं कतिचिच्च सञ्जगदिरे भूच्छायमैच्छन् परे॥
इन्दौ यद्दलितेन्द्रनीलशकल श्यामं दरीदृश्यते।
तत् सान्द्रं निशिपीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमाचक्ष्महे॥

"कितने ही कल्पना–रसिकों का कहना है कि, चन्द्रमा में जो कृष्णभाव है वह एक कलङ्क का सूचक है। चन्द्रमाने जारबुद्धि से बृहस्पति की स्त्री तारा (गुरुपत्नी) पर बलात्कार किया था। यही कलङ्क (कालिमा कालिख) आजतक चन्द्रमा में दिखाई दे रहा है। कितने ही मानते हैं कि चन्द्रमा समुद्रमन्थन के अवसर पर समुद्र से निकला है। समुद्र से निकलते हुए समुद्र का पङ्क (कीचड़) भी चन्द्रमा में लगा रह गया। यही चन्द्रमा में दिखलाई दे रहा है। कितने ही कहते हैं कि चन्द्रमा के क्रोड में एक मृगशावक (हरिण का बच्चा) बैठा है। हरिण चन्द्रमा का वाहन है। उसका पुत्र भी उसी के साथ है। अल्पवयस्क होने से प्रीतिवश चन्द्रमा ने उसे अपने अङ्क (गोद) में प्रतिष्ठित कर रक्खा है। चन्द्रमा में दिखलाई देने वाला कृष्णभाव (कालिमा) यही क्रोडस्थ मृगशावक है। इसीलिए चन्द्रमा 'मृगलाञ्छन' नाम से प्रसिद्ध है। कितने ही विद्वान् कहते हैं कि, चन्द्रमा पर भूपिण्ड की छाया पड़ती है। चन्द्रमा में दृष्ट कृष्ण-वर्ण भूमि की छायामात्र है। परन्तु हमारी दृष्टि से (पद्यरचना करने वाले कवि के मत से) चन्द्रमा में जो श्यामता दिखलाई दे रही है, वह रात्रि का ही अन्धकार है। रात्रि का जो घना अन्धकार था उसे ही मानो चन्द्रमा ने पी लिया है। रात्रि का सम्पूर्ण अन्धकार चन्द्रमा के उदर में चला गया है। अतएव चान्द्री रात्रियों में (शुक्लपक्ष में विशेषतः पूर्णिमा में) अन्धकार नहीं रहता। यही पीतान्धकार चन्द्रकुक्षि में दिखलाई देरहा है।

उपर्युक्त सभी पक्ष केवल कल्पना ही कल्पना हैं। यद्यपि इस कल्पना में भी—'भूच्छायमैच्छन् परे' यह वाक्य अवश्य ही आंशिकरूप से सत्य है। परन्तु इतर मिथ्यावादों के सहचरित होने से उसकी भी वास्तविकता तिरोहित ही होरही है। प्रकृत मन्त्र उसी सत्यांश का विश्लेषण कर रहा है जैसाकि निम्नलिखित चन्द्रोत्पत्तिप्रकरण से स्पष्ट होजायगा।

जिसप्रकार 'बहिर्ग्रह' नाम से प्रसिद्ध शनि बृहस्पति, मङ्गल एवं 'अन्तर्ग्रह' नाम से प्रसिद्ध शुक्र-बुध-पृथिवी सूर्य्य के उपग्रह माने जाते हैं, एवमेव चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह माना गया है। दूसरे शब्दों में–चन्द्रमा पृथिवी का पुत्र माना जासकता है। यद्यपि चन्द्रमा को 'अत्रिपुत्र' माना गया है। परन्तु उस अत्रिप्राण का भूपिण्ड से ही सम्बन्ध है। अत्रिप्राण ही भूपिण्ड का स्वरूप-समर्पक बनता है। भूपिण्ड भूतमय है। भूत की प्रतिष्ठा प्राण है। बिना प्राण के भूत एक क्षण भी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। यही भूतप्रतिष्ठारूप वाङ्मय किंवा वाग्रूप प्राण 'अत्रि' नाम से प्रसिद्ध है। चतुर्विध अग्न्याग्नियों का निरूपण करते हुए हमने पूर्व में पृथिवी में गार्हपत्य नाम के अग्न्याग्नि की सत्ता बतलाई है। इस अग्न्या-

रखने वाले इसी तथ्य का यहाँ समन्वय हुआ है जिसके अनन्तर 'प्रतिमार्ज्जनकर्म्म' ही उपस्थित हो रहा है ॥१७॥

प्रतिमार्ज्जनकर्म्मोपपत्ति—

उत्तर-परिग्रहानन्तर स्फ्य से उत्पाटित मिट्टी को समन्त्रक बाहिर फैंकना ही 'प्रतिमार्ज्जनकर्म्म' है। जिस मन्त्र से यह कर्म्म किया जाता है वह निम्न लिखित है—

"पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नुदादाय पृथिवीं जीवदानुम्।
यामैरयंश्चन्द्रमसि स्वधाभिस्तामु धीरासो अनुदिश्य यजन्ते" ॥

—यजु॰ सं॰ १।२८ मं॰

'हे विरप्शिन्! विसृप (क्रूरस्य) पुरा (देवा) जीवदानु यां पृथिवीमुदादाय स्वधाभिश्चन्द्रमसि-ऐरयन् तामु अनुदिश्य-धीरास-यजन्ते'। हे विष्णो! विविध योद्धाओं की इधर उधर दौड़ भाग (सर्पण-मलाप्य) के कारण विसृप नाम से प्रसिद्ध क्रूरकर्म्मा अतएव 'क्रूर' नाम से प्रसिद्ध संग्राम से पहिले देवताओंने जीवनीय जिस पृथिवी को (पृथिवी के जिस जीवनीय भाग को) (धरोहर के रूप में) चन्द्रमा में प्रतिष्ठित किया था उसी (जीवदानु भाग) को लक्ष्य में रख कर धीर याज्ञिक यजन करते हैं' —

यह है मन्त्र का अक्षरार्थ। इस मन्त्र की सङ्गति लगाती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है कि-"किसी समय युद्ध की आशङ्का से देवताओं नें युद्ध से पहिले ही परस्पर की मन्त्रणा से यह निश्चय किया कि इस भूपिण्ड पर जो अपना याज्ञिक अमृतमय देवयजन भाग है उसे कुछ दिनों के लिए चन्द्रमा में रखदें। यदि जीत गए, तो पुनः इसे ले लेंगे। नहीं तो जीवनीय रस के आधार पर पुनः असुरों को परास्त कर देंगे। फलतः देवताओंनें उस जीवनीय भाग को धरोहर के रूप में चन्द्रमा में प्रतिष्ठित कर दिया। प्रकृत यज्ञ में चन्द्रमा में सुरक्षित उसी देवयजन भाग की (भावना द्वारा) प्राप्ति के लिए उक्त मन्त्र से प्रतिमार्ज्जन किया जाता है। उस देवयजन की भावना रखते हुए प्रतिमार्ज्जन से विशुद्ध भूप्रदेश में उसी यज्ञिय भाव का (देवयजन भाग का) समावेश होजाता है। ("तदु ह वाऽस्यैतस्मिन् देवयजनऽ इष्टं भवति य एवमेतद्वेद")।

संहिताभाग के कितने ही मन्त्र विशुद्ध आधिदैविक-विज्ञान का ही निरूपण करते हैं। केवल विज्ञान का निरूपण करने वाले मन्त्र भाषादृष्टि से भी जटिल होते हैं एवं भावदृष्टि से भी रहस्यमय होते हैं। प्रकृत मन्त्र ऐसा ही है। इस में एक अपूर्व आधिदैविक-विज्ञान का निरूपण किया गया है। कल्पनाप्रिय कवियों की उड़ान-तरङ्गों की आधारभूमि 'चन्द्रकलङ्क' का क्या स्वरूप है? दूसरे शब्दों में चन्द्रबिम्ब में दिखलाई देने वाला 'कृष्णचिह्न' क्या है? उक्त मन्त्र इसी प्रश्न का तात्त्विक समाधान कर रहा है। वैदिक-विज्ञान का तिरस्कार करते हुए लक्ष्मी के लाडले पाश्चात्यों का अनुधावन करने वाले उनकी प्रशंसा में ही अपने जीवन को धन्य मानने वाले वैदिक-विज्ञान के परम शत्रु भारतीय उन कवियों से ही पहिले पूँछ देखिए। देखें वे इस कलङ्क के सम्बन्ध में क्या उत्तर देते हैं? बहुत दिनों की घटना है। इस सम्बन्ध

में एक पद्य किसी कविश्रेष्ठ के मुख से हमारे श्रोत्रविषयों में बलात् प्रविष्ट होगया था। सम्भवत: सभी संस्कृतानुरागी निम्न लिखित उस पद्य से सुपरिचित होंगे कि—

अङ्कं केऽपि शशङ्किरे जलनिधेः, पङ्कं परे मेनिरे।
सारङ्गं कतिचिच्च सञ्जगदिरे भूच्छायमैच्छन् परे॥
इन्दौ यद्दलितेन्द्रनीलशकलश्यामं दरीदृश्यते।
तत् सान्द्रं निशिपीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमाचक्ष्महे॥

"कितने ही कल्पना-रसिकों का कहना है कि, चन्द्रमा में जो कृष्णभाव है यह एक कलङ्क का सूचक है। चन्द्रमाने जारबुद्धि से बृहस्पति की स्त्री तारा (गुरुपत्नी) पर बलात्कार किया था। वही कलङ्क (कालिमा कालिख) आजतक चन्द्रमा में दिखाई दे रहा है। कितने ही मानते हैं कि, चन्द्रमा समुद्रमन्थन के अवसर पर समुद्र से निकला है। समुद्र से निकलते हुए समुद्र का पङ्क (कीचड़) भी चन्द्रमा में लगा रह गया। वही चन्द्रमा में दिखलाई दे रहा है। कितने ही कहते हैं कि, चन्द्रमा के क्रोड में एक मृगशावक (हरिण का बच्चा) बैठा है। हरिण चन्द्रमा का वाहन है। उसका पुत्र भी उसी के साथ है। अल्पवयस्क होने से प्रीतिवश चन्द्रमा ने उसे अपने अङ्क (गोद) में प्रतिष्ठित कर रक्खा है। चन्द्रमा में दिखलाई देने वाला कृष्णभाव (कालिमा) वही क्रोडस्थ मृगशावक है। इसीलिए चन्द्रमा 'मृगलाञ्छन' नाम से प्रसिद्ध है। कितने ही विद्वान् कहते हैं कि, चन्द्रमा पर भूपिण्ड की छाया पड़ती है। चन्द्रमा में दृष्ट कृष्ण-वर्ण भूमि की छायामात्र है। परन्तु हमारी दृष्टि से (पद्यरचना करने वाले कवि के मत से) चन्द्रमा में जो श्यामता दिखलाई दे रही है वह रात्रि का ही अन्धकार है। रात्रि का जो घना अन्धकार था उसे ही मानो चन्द्रमा ने पी लिया है। रात्रि का सम्पूर्ण अन्धकार चन्द्रमा के उदर में चला गया है। अतएव चान्द्री रात्रियों में (शुक्लपक्ष में, विशेष पूर्णिमा में) अन्धकार नहीं रहता। वही पीता अन्धकार चन्द्रकुक्षि में दिखलाई देरहा है।

उपर्युक्त सभी पद्य केवल कल्पना ही कल्पना हैं। यद्यपि इस कल्पना में भी—'भूच्छायमैच्छन् परे' यह वाक्य अवश्य ही आंशिकरूप से सत्य है। परन्तु इतर मिथ्यार्थों के संदर्शपतित होने से उसकी भी मालिकता विरोहित ही होरही है। प्रकृत मन्त्र उसी सत्यांश का विश्लेषण कर रहा है जैसाकि निम्नलिखित चन्द्रोत्पत्तिप्रकरण से स्पष्ट होजायगा।

जिसप्रकार 'बहिर्मह' नाम से प्रसिद्ध शनि बृहस्पति, मङ्गल एवं 'अन्तर्मह' नाम से प्रसिद्ध शुक्र-बुध-पृथिवी सूर्य्य के उपग्रह माने जाते हैं एवमेव चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह माना गया है। दूसरे शब्दों में—चन्द्रमा पृथिवी का पुत्र माना जासकता है। यद्यपि चन्द्रमा को 'अत्रिपुत्र' माना गया है। परन्तु उस अत्रिप्राण का भूपिण्ड से ही सम्बन्ध है। अत्रिप्राण ही भूपिण्ड का स्वरूप-समर्पक बनता है। भूपिण्ड भूतमय है। भूत की प्रतिष्ठा प्राण है। बिना प्राण के भूत एक क्षण भी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। वही भूतप्रतिष्ठारूप वाङ्मय किंवा वाग्रूप प्राण 'अत्रि' नाम से प्रसिद्ध है। चतुर्विध अन्नादाग्नियों का निरूपण करते हुए हमने पूर्व में पृथिवी में 'गार्हपत्य' नाम के 'अन्नादाग्नि' की सत्ता बतलाई है। इस अन्ना-

वाग्नि की चित्य-चितेनिधेय भेद से दो अवस्थाएँ होती हैं। चित्याग्नि भूतप्रधान है, इसी से भूपिण्ड बनता है। एवं चितेनिधेय अग्नि प्राणप्रधान है। यही "पार्थिव" आदमूर्त्ति अत्रिप्राण है। यही भूपिण्ड की प्रतिष्ठा है। इसी प्राण का निरूपण करते हुए श्रुति कहते हैं—

"वागेवात्रि । वाचा (पार्थिवाषाढाग्निना) अन्नमद्यते । अत्तिर्ह वै नामैतयदत्रिरिति" (श० १४।५।२।५।)।

भूपिण्ड वाग्रूप अत्रिप्राणमय है। अतएव इसे भी वाग्रूप ही कहा जाता है जैसाकि निम्न लिखित श्रौत-वचनों से स्पष्ट होजाता है—

१—"तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्" (शत० १०।५।१।१।)।
२—इयं (पृथिवी) वै वाक्" (ऐ० ५।३३। शत० ४।६।६।१६।)।
३—"वागिति पृथिवी" (जै० उ० ४।२२।११)।
४—"वागेवायं लोकः" (श० १४।४।३।१)।
५—"सा या सा वागग्निस्सः" (जै० उ० १।२८।३)
६—"सा या सा वागासीत्, सोऽग्नि-(अषाढ)-रभवत्" (जै० उ० २।२।१)

यह वाग्रूप (अषाढाग्निरूप) पार्थिव अत्रिप्राण वस्तुतः आपोमय परमेष्ठी का ही मनोता है। भृगु अङ्गिरा अत्रि इन तीनों का उद्गमस्थान आपोमय परमेष्ठी ही है। इनमें भृगु, एवं अङ्गिरा प्राण आगे जाकर घन-तरल विरल अवस्था भेद से क्रमशः आपः-वायु-सोम अग्नि यम आदित्य इन तीन तीन स्वरूपों में परिणत होजाते हैं। तीसरा अत्रिप्राण भृगु—अङ्गिरा—प्राणवत् तीन अवस्थाओं में परिणत न होकर सदा एकरूप ही रहता है। अतएव 'न त्रि' इस निर्वचन के अनुसार भी इसे अत्रि कहा जाता है। 'अत्ति (अत्त)— न त्रि —अत्रि शब्द' के दो निर्वचन हैं। यही प्राण भूतसृष्टि का आलम्बन है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ (तेज एवं आकाश को छोड़ कर) धामच्छद (जगह रोकने वाला) है। साथ ही प्रत्येक धामच्छद पदार्थ पारदर्शकता का प्रतिबन्धक है। इस पारदर्शकता का अवरोधक यही अत्रिप्राण है। यह प्राण सूर्य का (ज्योति का) प्रतिबन्धक है। जिस धामच्छद पदार्थ में अत्रिप्राण की प्रधानता रहती है उसकी पारदर्शकता नष्ट होजाती है। सौररश्मियाँ उस से पारावारीण नहीं होसकती। तमोमयी पाप्मा भूतसृष्टि का अधिष्ठाता यही अत्रिप्राण है। ऋतुकाल में स्त्री के रज में तमोमयी सृष्टि का मूलभूत यही अत्रिप्राण रहता है। अतएव ऋतुमती को आत्रेयी कहा जाता है। स्निग्ध सौरप्राणमय देवताओं की अपेक्षा यह प्राण मलीमस है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है- 'पाप्मानाऽत्रिणा'' (प० ब्रा० ३।१।)—रक्षांसि वै-पाप्मात्रिणः (ऐ० २।२।)। इसी पापभाव के कारण धर्मशास्त्र में ऋतुमती स्त्री के स्पर्श का निषेध हुआ है।

पृथिवी का मूल उपादान पानी ही है। इसीके साथ अषाढाग्निमय धामच्छद पारदर्शकता का प्रतिबन्धक आपोमय पारमेष्ठ्य अत्रिप्राण भी संयुक्त रहता है। अत्रिप्राण के परिपाक से चित्याग्निमय भूपिण्ड की स्वरूप

निष्पत्ति होती है है। भूपिण्ड पानी और अग्नि (अत्रि) का समष्टिस्वरूप है। इसी अग्नि के सम्बन्ध से इसके लिए 'यथाग्निगर्भा पृथिवी' यह कहा जाता है। भूपिण्ड क्या है चित्याग्निमूर्त्ति अन्नादाग्नि-रूप अत्रिप्राणमूर्त्ति है। यह भूपिण्ड क्रान्तिवृत्त पर परिक्रमा लगा रहा है। बृहती केन्द्र-स्थित सूर्य के चारों ओर दीर्घवृत्त (अण्डाकारवृत्त) रूप 'क्रान्तिवृत्त' पर घूमता हुआ भूपिण्ड सम्वत्सरगति का अधिष्ठाता बनता है एवं स्वाक्षपरिभ्रमण से दैनंदिनगति का प्रवर्त्तक बनता हुआ अहोरात्र का स्वरूप सम्पादक बनता है। स्वाक्ष, एवं साम्वत्सरिक परिभ्रमण करते हुए पार्थिव अग्नि में दसों दिशाओं में व्याप्त दिक्सोम की निरन्तर आहुति होती रहती है। यही पार्थिव अग्नीषोमात्मक यज्ञ है।

पार्थिव अग्नि विकासधर्म्मा है, एवं यह भूपिण्ड के खण्ड खण्ड करना चाहता है। परन्तु संकोच-धर्म्मा सोम अग्नि में आहुत होकर उसके इस विकास का दमन करता रहता है। आगत सोम घनादि तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। भूपिण्डावच्छिन्न सोम घनावस्थापन्न है इसी को 'ध्रुवसोम' कहा जाता है। पृथिवी के पञ्चदशस्तोमरूप अन्तरिक्ष में व्याप्त पार्थिव सोम तरलावस्थापन्न है, इसी को 'धर्त्रसोम' कहा जाता है। एवं पृथिवी के २१ एकविंशस्तोमरूप द्युलोक में पार्थिव सोम विरलावस्थापन्न प्राणावस्थापन्न) है, इसी को धरुणसोम' कहा जाता है। तात्पर्य्य यही है कि, दिक्सोम पार्थिव वागग्नि में आहुत होता है। सोमाहुति से प्रदीप्त अत्रिप्राणमय पार्थिव वागग्नि अङ्गिरा नाम धारण करता हुआ ऊपर की ओर (द्युलोक की ओर) जाता है। इस वागग्नि की घनादि तीन अवस्थाएँ होजाती हैं। भूपिण्डावच्छिन्न सोममय पार्थिव अग्नि 'घन' है। पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न वायु नाम से प्रसिद्ध दिव्याग्नि 'तरल' है। एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न आदित्य नाम से प्रसिद्ध दिव्याग्नि 'विरल' है। अग्नि की इन तीन अवस्थाओं के कारण तद्गर्भित सोम की भी उक्त तीन अवस्थाएँ होजाती हैं। अन्तरिक्ष में पार्थिव वागग्निरूप अत्रिप्राण व्याप्त रहता है। इसी के गर्भ में तरलसोम प्रतिष्ठित रहता है। भूपिण्ड घूम रहा है। अन्तरिक्षस्थ सोम यहीं (अन्तरिक्षप्रदेश में) उस अत्रिरूप वागग्नि से प्रयुक्त होकर एक स्थान में घनीभूत होता रहता है। यही पृथिवी की तीन साम्वत्सरिक-परिक्रमाओं से एकीभूत पार्थिव तरल सोम चन्द्रबिम्ब रूप में परिणत होजाता है। यह पृथिवी के मस्तक सोमरस से उत्पन्न हुआ है इसीलिए तो इसे पृथिवी का उपग्रह माना जाता है, एवं अत्रिनेत्र के प्रस्रवण से उत्पन्न होने के कारण यह 'अत्रिपुत्र' भी माना जाता है। चन्द्रमा के इसी औत्पत्तिक-रहस्य को लक्ष्य में रखकर पुराण कहता है—

पिता सोमस्य वै विप्रा जज्ञेऽत्रिर्भगवानृषि ।
काष्ठकुड्यशिलाभूत ऊर्ध्वबाहुर्महाद्युतिः ॥१॥
सुदुश्चरं नाम तपो येन तप्तं महत् पुरा ।
त्रीणि वर्षसहस्राणि दिव्यानी हि न श्रुतम् ॥२॥
तस्योर्ध्वरेतसस्तत्र स्थितस्यानिमिषस्य ह ।
सोमत्वं तनुरापेदे महाबुद्धिः स वै द्विजः ॥३॥
ऊर्ध्वमाचक्रमे तस्य सोमत्वं भावितात्मन ।
नेत्राभ्यामस्रवत् सोमो दशधा द्योतयन् दिशः ॥४॥
—प्रजापत्योपोद्घात-हरिवंशे च

दाग्नि की चित्य चितनिधय मे स ग्न प्रवस्थाएँ होती हैं। चित्याग्नि भूतप्रधान है, इसी से भूपिण्ड बनता है। एवं चितनिधेय अग्नि प्राणप्रधान है। यही शत० १० ५ में स्मृत अत्रिप्राण है। यही भूपिण्ड की प्रतिष्ठा है। इसी प्राण का निरूपण करते हुए श्रु ति कहते हैं—

"वागत्रि । वाचा (पार्थिवान्नादाग्निना) ह्यन्नमद्यते । अत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति"
(शत० १४।५।२।२।) ।

भूपिण्ड वाग्रूप अत्रिप्राणमय है। अतएव इसे भी वाग्रूप ही कहा जाता है जैसाकि निम्न लिखित श्रुति-वचनों से स्पष्ट होजाता है—

१—"तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्" (शत० १०।४।१।१।)।
२—इयं (पृथिवी) वै वाक्" (ए० ५।३३। शत० ४।६।६।१६ ।
३—"वागिति पृथिवी" (जै० उ० ४।२२।११)।
४—"वागेवायं लोक" (श० १४।४।३।१)।
५—"सा या सा वागग्निस्स" (जै० उ० १।२८।३)
६—"सा या सा वागासीत्, सोऽग्नि-(अन्नाद)-रभवत्" (जै० उ० २।२।१)

यह वाग्रूप (अन्नादाग्निरूप) पार्थिव अत्रिप्राण वस्तुत: आपोमय परमेष्ठी का ही मनोता है। भृगु अङ्गिरा अत्रि इन तीनों का प्रभवस्थान आपोमय परमेष्ठी ही है। इनमें भृगु, एवं अङ्गिरा प्राण आगे जाकर घन-तरल-विरल अवस्था भेद से क्रमश: आप-वायु-सोम अग्नि-यम-आदित्य इन तीन तीन स्वरूपों में परिणत होजाते हैं। तीसरा अत्रिप्राण भृगु-अङ्गिरा-प्राणवत् तीन अवस्थाओं में परिणत न होकर सदा एकरूप ही रहता है। अतएव 'न त्रि' इस निर्वचन के अनुसार भी इसे 'अत्रि' कहा जाता है। 'अत्ति (अन्न)'- न त्रि -अत्रि शब्द के दो निर्वचन हैं। यही प्राण भूतसृष्टि का आलम्बन है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ (तेज एवं आकाश को छोड़ कर) छायाच्छन्द (अपद रोकने वाला) है। साथ ही प्रायः प्रत्येक छायाच्छन्द पदार्थ पारदर्शकता का प्रतिबन्धक है। इस पारदर्शकता का अवरोधक यही अत्रिप्राण है। यह प्राण सूर्य का (ज्योति का) प्रतिबन्धक है। जिस छायाच्छन्द पदार्थ में अत्रिप्राण की प्रधानता रहती है उसकी पारदर्शकता नष्ट हो जाती है। सौररश्मियाँ उस से पारावरीण नहीं होसकतीं। तमोमयी पाप्मा भूतसृष्टि का अधिष्ठाता यही अत्रिप्राण है। ऋतुकाल में स्त्री के रज में तमोमयी सृष्टि का मूलमन यही अत्रिप्राण रहता है। अतएव ऋतुमती को आत्रेयी कहा जाता है। स्निग्ध सौरज्योतिर्मय देवताओं की अपेक्षा यह प्राण मलीमस है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है-"पाप्मानोऽत्रिणः" (प ब्रा ३।१।)—"रक्षांसि वै-पाप्मात्रिणः (प २।२।)। इसी पाप्मभाव के कारण धर्मशास्त्र में ऋतुमती स्त्री के स्पर्श का निषेध हुआ है।

पृथिवी का मूल उपादान पानी ही है। इसीके साथ अन्नादाग्निमय छायाच्छन्द पारदर्शकता का प्रतिबन्धक आपोमय पारमेष्ठ्य अत्रिप्राण भी संयुक्त रहता है। अत्रिप्राण के परिपाक से चित्याग्निमय भूपिण्ड का स्वरूप

दायविभागाख्यान के आधिभौतिक चरित्र में यह विस्तार से बतलाया जाचुका है कि इसी भूपिण्ड पर किसी समय मनुष्यविध देवता, एवं असुरों की सत्ता थी । इनमें असुरदल तो आज तक विद्यमान है, परन्तु देवसत्ता सर्वात्मना अभिभूत होचुकी है । उस पुरायुग में देवता एवं असुरों में आए दिन युद्ध होता रहता था । देवताओं का प्रधान बल यज्ञ था । यज्ञबल से ही देवता समय समय पर असुरों को परास्त करते रहते थे । इस यज्ञ का प्रधान साधन सोमवल्ली ही थी । यही सोमवल्ली देवताओं का प्रधान 'देवयजन था । असुर निरन्तर इस देवयजन को नष्ट करने का प्रयास करते रहते थे । इस आए दिन की चिन्ता से छुटकारा पाने के लिए देवताओंने अपने इस देवयजन की रक्षा के लिए—अत्रिमहर्षि के पुत्र चन्द्रमा को नियत किया । चन्द्रमा ब्राह्मण थे, एवं भारतवर्ष के निवासी थे । सोमब्रह्माने चन्द्रमा को अपना मानस पुत्र बनाया । स्वयं रथ में स्थापित कर चन्द्रमा को पृथिवी की प्रदक्षिणा कराई गई । अन्त में राज्याभिषेक कर इन्हें उत्तरदिशा का तो दिक्पाल बनाया एवं ओषधियों का लोकपाल बनाया । इसी लोकपाल एवं दिक्पाल चन्द्रमा की रक्षा में तीन लाख प्राधेय-मौनेय गन्धर्वों के साथ सोमवल्ली सौंपी गई । जहां जहां सोमवल्ली का उद्‌गम होता था वहां वहां चन्द्रमा ने अपनी देखरेख में गन्धर्वों को रक्षा के लिए नियत किया । आगे जाकर गुरुपत्नी के अपहरण से हतबुद्धि चन्द्रमा ने देवताओं की देवयजनरूप सोमवल्ली की रक्षा में उदासीनता दिखलाई । असुरों को अच्छा अवसर मिल गया । फलतः असुरों के द्वारा सोमवल्ली का आमूलचूड ध्वस कर दिया गया । तभी से देवबल नास्तिभाव में परिणत होगया । प्रकृत ब्राह्मणश्रुति आधिदैविक-चरित्र के साथ साथ उक्त ऐतिहासिक घटना का भी स्मरण करा रही है ।

इति-प्रतिमार्जनकर्म्मोपपत्ति

१८, १९

ब्राह्मणोक्त वेदिनिर्म्माण-सम्बन्धी प्राय सभी विषयों की वैज्ञानिक उपपत्ति बतला दी गई । अब 'बर्हिरास्तरण' प्रकरण शेष रह जाता है । पूर्व के अनुवाद-प्रकरण में यह बतला दिया गया है कि, जबतक वेदि पर कुशास्तरण नहीं कर लिया जाय तबतक भूलकर भी वेदि का स्पर्श नहीं करना चाहिए । तात्पर्य्य यही है कि मन्त्र के द्वारा खननादि व्यापार से वेदिप्रदेश क्रूर हिंसक विद्युत् से युक्त होजाता है । उधर बर्हि में सौर-वेन-प्राणमयी विद्युत् रहती है । विद्युद्विज्ञानवेत्ताओं को यह भलीभांति विदित है कि मशीनरी का सञ्चालन करने वाले विद्युद्यन्त्र के साथ एक तांबे का तार स्वतन्त्ररूप से मीटर (विद्युच्छक्तिप्रमाणयन्त्र) पर्य्यन्त बद्ध किया जाता है । यदि सञ्चालक की असावधानी से अथवा अधिक चापन (दबाव) से परिमाण से अधिक विद्युच्छक्ति का समावेश होजाता है तो वह ताम्रतन्तु (तार) उसका निगरण (पान) कर जाता है । तत्काल 'फ्यूज उड़' जाता है । सञ्चालक वर्ग निरापद सुरक्षित रह जाता है । यदि वह तार न हो तो वह उद्रिक्त विद्युत् इतस्ततः व्याप्त होकर संघात का कारण बन जाती है । ठीक यही परिस्थिति यहाँ समझिए ।

वेदिस्थान से निकलने वाली विद्युत् संहार करने वाली है । इसका दमन करने के लिए ही वेदि पर कुशास्तरण किया जाता है । बर्हि में विद्युत् है जैसाकि पूर्व के बर्हि-उत्पत्ति-प्रकरण में विस्तार से बतलाया

'अग्निः सर्वा देवता' के अनुसार अग्नि सार्वदैवत्य है। इन देवताओं के यजन (सन्तर्पण) का एकमात्र साधन सोमाहुति ही है। अतएव इस सोम को अवश्य ही 'देवयजन' (देवताओं का यजनरूप यजन का साधन) कह सकते हैं। भूपिण्डस्थ अग्नि में आहुत होने वाला पार्थिव सोम ही देवयजन है। यही देवयजनभूमि है। यहा देवयजन सोम पूर्वप्रदर्शित क्रमानुसार चन्द्ररूप में परिणत हुआ है। पार्थिव देवयजन सोम पितृप्राणमय है। क्योंकि म्रियमाण का अधिष्ठाता एकमात्र सोम ही है। अतएव पितरों के लिए 'पितरः सोम्यास' (मनु सं) यह कहा जाता है। जिसप्रकार देवताओं का अन्न स्वाहा कहलाता है एवमेव पितरों का अन्न अन्तर्याम-सम्बन्ध की प्रधानता से 'स्वस्मिन् धत्ते अथवा स्व (आत्मानं) धत्ते' इस निर्वचन के अनुसार स्वधा नाम से व्यवहृत होता है। स्वधा सोमद्रव्य है एवं यह पितरप्राणमय है। इसी स्वधारूप पितृप्राण की प्रेरणा से पार्थिव सोमरूप देवयजन भाग चन्द्ररूप में परिणत होता है इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर—"स्वधाभि-चन्द्रमसि ऐरयन्" यह कहा गया है। आरम्भ में पृथिवी के प्राकृत देवयजन (सोम) से चन्द्रमा बन गया है। चन्द्रमा के साथ सौर रश्मियों का सम्बन्ध हुआ चन्द्रमा प्रकाशित होगया। परन्तु चन्द्रमा के मध्य में पार्थिव सोम घनरूप से प्रतिष्ठित था। दूसरे शब्दों में—चान्द्रगर्भित सोम पार्थिव कृष्णभाग से युक्त था। इस पार्थिव भाग की प्रधानता से यहाँ का सोम 'ध्रीध्र' न बन सका। अतएव यहाँ सौररश्मियों की प्रतिष्ठा न होसकी। यही पार्थिवदेवयजनभाग हमें आज भी काला दिखलाई दे रहा है।

सृष्टि के आरम्भ में देवयजन के द्वारा चन्द्रमा बना था। आज पृथिवी से निकलने वाला वह देवयजनभाग उसी रूप से चन्द्रमा का स्वरूप-सम्पादन (पोषण-पुष्टि) कर रहा है। चान्द्रसोम ओषधि-निर्माण में खर्च होता रहता है। निकल्ता का यह नियतिचक्र अवश्य ही आश्चर्य में डालने वाला है। 'सोम देवयजन है' यह सिद्ध होचुका। विशुद्ध पार्थिवाग्नि एवं चन्द्रमा, इन दो स्थानों में इस की उपलब्धि होसकती है। विशुद्ध पार्थिवाग्नि में वह पावन देवयजन सोम प्रतिष्ठित है एवं सर्वथा विशुद्ध-रूप चन्द्रमा में प्रतिष्ठित है। वह वैधयज्ञ में प्राप्त नहीं होसकता। उसकी केवल भावना ही की जाती है। दूसरा है पार्थिवदेवयजन। ओषधि-तृण-खननव्यापार से उखाड़ी हुई मिट्टी इन में किसी में भी विशुद्ध अग्नि नहीं है। प्रतिमार्जन का तात्पर्य यही है कि भूस्तरपर रहने वाला आगन्तुक बिना रूप अग्निरूप अयज्ञिय भाग हट जाय एवं विशुद्ध पार्थिवाग्निरूप देवयजन भाग प्राप्त होजाय। इसी पार्थिव देवयजन-सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए प्रतिमार्जनकर्म्म किया जाता है। पार्थिव देवयजन के साथ ही चन्द्र-देवयजन सम्पत्ति भी हमें (भावनामय मन्त्रबल से) प्राप्त होजाय इस के लिए 'क्रूरस्य विलुपः' इत्यादि मन्त्र बोलते हुए प्रतिमार्जनकर्म्म किया जाता है। जिसप्रकार उपासनाकाण्ड में केवल भावना के बल पर चिदूरस्थ उपास्य देव अन्तरात्मा में प्रतिष्ठित होजाता है एवमेव यहाँ भी भावना के बल से अवश्य ही उस वेदि में वह चान्द्रदेवयजनसम्पत्ति प्रतिष्ठित होजाती है। यह तो हुआ इस प्रक-रण का आधिदैविक अर्थ अब दो चार पंक्तियों में आधिभौतिक (ऐतिहासिक) रहस्य भी अवगत कर लीजिए।

घनिष्ठ । यदि आप बुरा न मानें तो यह कह लेने दीजिए कि, आज आर्य्यसमाज सत्यसिद्धान्तों से बहुत दूर चला गया है । बात बहुत छोटी है, परन्तु है बड़ी मार्मिक । साथ ही हम यह भी समझते हैं कि, जहाँ ऋषिप्रणीत-पद्धतियों का आदर नहीं, वहाँ हमारे इस कथन का कोई मूल्य भी न होगा । फिर भी कह देना हम अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझते हैं ।

आर्य्यजगत् में 'नमस्ते' बोलने की प्रथा है । साथ ही सनातनधर्मी-जगत् में व्यवहृत होने वाले 'जयरामजी की' 'जयगोपालजी की' 'जैजैश्रीगोकुलेश' 'प्रणाम' 'नमस्कार' 'जयमाताजी की' इत्यादि वाक्यों की अवज्ञा की जाती है । आज हम समस्त आर्य्यजगत् को यह चेतावनी दे रहे हैं कि परस्पर 'नमस्ते-महाशय ! नमस्ते महाशय !' का उद्घोष करता हुआ यह प्रत्यवाय का ही भागी बन रहा है। 'नमस्ते' शब्द वैदिक है वैदिक ऋषियों के द्वारा प्रयुक्त है, नमस्ते रुद्र मन्यवे' इत्यादि रूप से देवस्तुति-सम्बन्ध में (संहिताभाग में भी) 'नमस्ते' पद पद पर प्रयुक्त है । यह सब कुछ ठीक ठीक होने पर भी लौकिक-व्यवहारकाल में परस्पर 'नमस्ते 'नमस्ते' बोलना स्वयं वेद के ब्राह्मणभाग के द्वारा ही सर्वथा निषिद्ध है ।

स्वाहा स्वधा, वौषट् श्रौषट् स्वगा आदि शब्द अन्न के वाचक हैं । परन्तु विषयभेद से सब का व्यवहार व्यवस्थित है । देवताओं को अन्नाहुति 'स्वाहा' शब्द से पितरों को 'स्वधा' शब्द से इन्द्र को 'वौषट्' शब्द से देने का विधान है । इस शब्दभेदव्यवहार में व्यतिक्रम नहीं किया जासकता । लोक में भी रसोई जीमिए, भोजन कीजिए रोटी खाओ रोटी खालें, ये सब वाक्य समानार्थक हैं । परन्तु सभी के लिए उक्त सभी वाक्य प्रयुक्त नहीं होते । अपितु तत्तद्वाक्य तत्तद्व्यक्तिविशेषों के लिए ही नियत हैं । ठीक यही स्थिति 'नमस्ते' शब्द की है । यज्ञ करने वाला यजमान दीक्षित होता है । सब से पहिले उसे दीक्षणीयेष्टि करनी पड़ती है । यहीं से इसके लिए-' स वै सत्यमेव वदेत्' यह नियम अनुगत होता है । जबतक यजमान यज्ञकर्म्म में दीक्षित रहता है, तबतक वह शूद्रादि से भी भाषण नहीं कर सकता । ब्रह्मचर्य्य-व्रत-सत्यभाषण-अधःशयन-पयोभोजन आदि विशेष नियमों के पालन से ही इस के अन्तरात्मा में यज्ञाग्नि का अतिशय का अन्तर्य्याम-सम्बन्ध होता है । दीक्षित के यहीं कतिपय नियमों का दिग्दर्शन कराती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है—

"तम सर्व-इवाभिप्रपद्येत-ब्राह्मणो वैव राजन्यो वा । ते हि यज्ञियाः । स वै न सर्वेणेव संवदेत । देवान्वाऽएप उपावर्त्तते यो दीक्षते । स देवतानामेको भवति । न वै देवाः सर्वेणेव संवदन्ते । ब्राह्मणेन वैव, राजन्येन वा, वैश्येन वा । ते हि यज्ञिया । तस्माद्यद्येन शूद्रेण संवादो विन्देत्-एतेषां (ऋत्विजां) एकं ब्रूयात्-'इममिति विचक्ष्व, इममिति विचक्ष्वेति । एप उ तत्र दीक्षितस्योपचारः" ।

--शत० ३ का० १।१।६-१० कं० इति ।

मातुका है। यह दर्भविद् विद्युत् का पान कर जाती है। अतः दर्भास्तरणानन्तर वेदि के स्पर्श से कोई हानि नहीं होती। यद्यपि भौतिक विद्युत् की भांति स्पर्शकाल में यहाँ शरीर में किसी प्रत्यक्ष आघात का अनुभव नहीं होता। क्योंकि इस प्राणात्मिका यज्ञविद्युत् का प्राण से ही सम्बन्ध है। प्राणविद्या के विद्वानों का कहना है कि स्पर्शकर्त्ता का प्राण मूर्च्छित होजाता है एवं सम्पूर्ण यज्ञकर्म्म नष्ट होजाता है। प्रत्यक्षानुभव न सही यदि हमें यज्ञ के परोक्ष फल पर विश्वास है, फलतः इसी विश्वास के आधार पर यदि हम यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त होते हैं तो हमें बाध्य होकर श्रुतिप्रोक्त पद्धतिक्रम का ही आश्रय लेना ही पड़ेगा। प्राणपरीक्षक ऋषियों के आदेश पर चलना ही हमारा मुख्य कर्त्तव्य होगा।

'ऐसा करने से क्या होगया, क्या हो जायगा ऐसा ही क्यों न करलें' इसप्रकार का बुद्धिवाद पुराने युग में भी प्रचलित था। परन्तु उस समय यज्ञविद्या के रहस्यवेत्ता विद्यमान थे। समय समय पर फैलने वाली यज्ञविद्या भ्रान्तियों का उन रहस्यवेत्ताओं की ओर से निराकरण होता रहता था। परन्तु आज का युग बड़ा विचित्र है। दुर्भाग्य से देश में रहस्यवेत्ताओं का नितान्त अभाव है। फलतः आज बनों के द्वारा यज्ञपद्धतियों की उपेक्षा कर मनमाने पथ का आश्रय लिया जारहा है। रहस्यपूर्णा यज्ञविद्या आज बालक्रीड़ा-मात्र का साधन बन रही है। आर्षश्रुतियों के चिरन्तन सिद्धान्तों की अवहेलना कर अपने काल्पनिक जगत् को ही प्रधानता दी जारही है। यज्ञविद्या का आचार्य्य भारतवर्ष आज क्यों इस हीनदशा को प्राप्त होरहा है? इस प्रश्न का यही समाधान है। आर्षपद्धतियों का अनुसरण करने का गर्व रखने वाला सनातनधर्म्मी–जगत् केवल आडम्बरमात्र है। यज्ञ की मौलिकता से वह भी सर्वात्मना पीछे हट गया है। नहीं, तो वे ही वेदमन्त्र वही सामग्री फिर यजमान का अभ्युदय क्यों नहीं? । 'कर्म्मकाण्डी' महोदय आज जैसे दुर्दशाग्रस्त हैं वैसे दूसरे नहीं। कुछ परिगणित मन्त्र (सो भी नितान्त अशुद्ध) कण्ठ करलेने मात्र से 'कर्मठ' की उपाधि मिल जाती है। जो यज्ञकर्म्म एक वैज्ञानिक कर्म्म है जिसके सञ्चालन के लिए पर्याप्त योग्यता अपेक्षित है वह आज अर्द्ध शिक्षित किंवा अशिक्षित वेदपाठियों का क्रीडाकौतुकमात्र ही बन रहा है। फल इसका यह होरहा है कि, यज्ञ न करने वाले जहाँ सुखी देखे जाते हैं वहाँ यज्ञकर्त्ता हीनदशा में मिलते हैं। यदि धर्म्म का यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः यही लक्षण है तो फिर सतत धर्म्मानुष्ठान के गीत गाते हुए भी सनातनधर्म्मी क्यों दिन प्रतिदिन अवनति के गर्त की ओर अग्रेसर होते जारहे हैं?। क्या आपने कभी इस प्रश्न का समाधान सोचा?।

यह तो हुई अपने घर की बात। अब चलिए आर्य्यसामाजिक–जगत् की ओर। यह समाज वेद का परम भक्त है। साथ ही इसे यज्ञविद्या में भी पूर्ण विश्वास है। सीमा यहीं समाप्त नहीं होजाती। वैदिक यज्ञों (हवनों) के द्वारा यह अपने विश्वास को कार्य्यरूप में भी परिणत कर रहा है। परन्तु फल की दृष्टि से इनका भी सम्पूर्ण कर्म्मकलाप निरर्थक ही है। अवैध (पद्धतिविरुद्ध) कल्पित ताम्रकुण्डों में कल्पित पद्धतियों के द्वारा घृत-केसर-कपूर आदि डाल देना ही इनकी यज्ञविद्या की परिसमाप्ति है। 'महाशय कहाँ गए थे?। अभी समाजमन्दिर में सम्मिलितहवन करने गया था'। हम आक्षेप नहीं करते। अपितु इन अकाण्ड–ताण्डवों को देखकर हमारा अन्तरात्मा क्षुब्ध है। हम इसी अभिनिवेश में पड़कर अपने आप अपने सर्वनाश का बीज वपन कर रहे हैं। यदि कुछ कहा जाता है तो सद्विचार के स्थान में शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया जाता है। मध्यस्थ बनाए जाते हैं–यहाँ के कोई मजिस्ट्रेट पुलिस आफिसर अथवा तो और कोई

धनिक। यदि आप बुरा न मानें तो यह कह लेने दीजिए कि आज आर्य्यसमाज सत्यसिद्धान्तों से बहुत दूर चला गया है। बात बहुत छोटी है, परन्तु है बड़ी मार्मिक। साथ ही हम यह भी समझते हैं कि जहां ऋषिप्रणीत-पद्धतियों का आदर नहीं, वहां हमारे इस कथन का कोई मूल्य भी न होगा। फिर भी कह देना हम अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझते हैं।

आर्य्यजगत् में 'नमस्ते' बोलने की प्रथा है। साथ ही सनातनधर्म्मी-जगत् में व्यवहृत होने वाले 'जयरामजी की' जयगोपालजी की 'जैजैश्रीगोकुलेश' 'प्रणाम' 'नमस्कार' 'जयमालाजी की' इत्यादि वाक्यों की अवज्ञा की जाती है। आज हम समस्त आर्य्यजगत् को यह चेतावनी दे रहे हैं कि, परस्पर 'नमस्ते-महाशय! नमस्ते महाशय!' का उद्‌घोष करता हुआ यह प्रत्यवाय का ही भागी बन रहा है। 'नमस्ते' शब्द वैदिक है वैदिक ऋषियों के द्वारा प्रयुक्त है 'नमस्ते रुद्र मन्यवे' इत्यादि रूप से देवस्तुति-सम्बन्ध में (संहिताभाग में भी) 'नमस्ते' पद पद पर प्रयुक्त है। यह सब कुछ ठीक ठीक होने पर भी सामाजिक-व्यवहारकाल में परस्पर 'नमस्ते' 'नमस्ते' बोलना स्वयं वेद के ब्राह्मणभाग के द्वारा ही सर्वथा निषिद्ध है।

स्वाहा स्वधा, वौषट् श्रौषट् स्वगा आदि शब्द यज्ञ के विधायक हैं। परन्तु विषयभेद से सब का व्यवहार व्यवस्थित है। देवताओं को अन्नाहुति 'स्वाहा' शब्द से पितरों को स्वधा' शब्द से, इन्द्र को 'वषट्' शब्द से देने का विधान है। इस शब्दभेदव्यवहार में व्यतिक्रम नहीं किया जासकता। लोक में भी रसोई जीमिए, भोजन कीजिए रोटी खाओ रोटी खालो, ये सब वाक्य समानार्थक हैं। परन्तु सभी के लिए उक्त सभी वाक्य प्रयुक्त नहीं होते। अपितु तत्तद्वाक्य तत्तद्व्यक्तिविशेषों के लिए ही नियत हैं। ठीक यही स्थिति 'नमस्ते' शब्द की है। यज्ञ करने वाला यजमान दीक्षित होता है। सब से पहिले उसे दीक्षणीयेष्टि करनी पड़ती है। यहीं से इसके लिए- 'स वै सत्यमेव वदेत्' यह नियम अनुगत होता है। जबतक यजमान यज्ञकर्म्म में दीक्षित रहता है तबतक वह शूद्रादि से भी भाषण नहीं कर सकता। ब्रह्मचर्य्य-व्रत-सत्यभाषण-अधःशयन-पयोभोजन आदि विशेष नियमों के पालन से ही इस के अन्तरात्मा में यज्ञ-अग्नि अतिशय का अन्तर्याम-सम्बन्ध होता है। दीक्षित के इन्हीं कतिपय नियमों का दिग्दर्शन कराती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है—

"तन्न सर्व-इवाभिप्रपद्येत-ब्राह्मणो वैव राजन्यो वा। त हि यज्ञिया। स वै न सर्वेणेव संवदेत। देवान्वाऽएष उपावर्तते यो दीक्षते। स देवतानामेको भवति। न वै देवाः सर्वेणेव संवदन्ते। ब्राह्मणेन वैव, राजन्येन वा, वैश्येन वा। ते हि यज्ञियाः। तस्माद्यद्येन शूद्रेण संवादो विन्देत्-एतेषां (ऋत्विजां) एकं ब्रूयात्-'इममिति विचक्ष्व, इममिति विचक्ष्वेति। एष उ तत्र दीक्षितस्योपचार"।

--शत० ३ का० १।१।६-१० कं इति।

यज्ञसंस्था एक देवसंस्था है प्रकृतिसंस्था है। इसमें लौकिक व्यवहारों का समावेश करना सर्वथा निषिद्ध है। यज्ञमण्डल में ऋत्विजों और यजमानों में जो परस्पर अभिनन्दन व्यवहार है, वही 'नमस्ते' शब्द से होता है। इसप्रकार 'नमस्ते' शब्द यज्ञसंस्था के लिए ही नियत है। क्योंकि 'नम' यज्ञ का वाचक है। 'नमस्ते' का अर्थ है, 'हम आपके यज्ञ (यज्ञसाधक) हैं'। ऐसी अवस्था में यज्ञातिरिक्त सामान्य लौकिक व्यवहारों में 'नमस्ते' बोलना मिथ्यादोष का ही भागी बनना है। सामान्य व्यवहार यज्ञ नहीं है। यज्ञ के अभाव में 'नमस्ते' (यज्ञस्ते) बोलना मिथ्याव्यवहार है। अतः यज्ञमण्डल के अतिरिक्त कभी परस्पर के व्यवहार में नमस्ते व्यवहार नहीं करना चाहिये। यही आदेश देती हुए श्रुति कहती है—

"चतुर्दशैतानि यजूंषि भवन्ति। त्रयोदश मासाः संवत्सरः, प्रजापतिश्चतुर्दशः। प्रजापतिरग्निः। यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा—तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति, नमो नम इति। यज्ञो वै नमः। यज्ञेनैवैनमेतन्नमस्कारेण नमस्यति। तस्मादु ह नायज्ञियं ब्रूयात्—नमस्ते इति। यथा हैनं ब्रूयाद्यज्ञस्ते इति, तादृक् तत्"।

—श० ब्रा० १-का०।१।१।१६ कं० इति।

आज क्या हो रहा है। स्त्री-शूद्र बाल-युवा-वृद्ध सभी अहर्निश 'नमस्ते' बोलने में ही अपना गौरव समझ रहे हैं। क्या आर्यजगत् का यह व्यवहार वैदिक है ?। निवेदनीय केवल यही है कि, यज्ञप्रधान वैदिक विज्ञान के विलुप्तप्राय होजाने से, साथ ही भौतिक विज्ञानप्रधान पाश्चात्यविज्ञान के सहवास-दुष्फल से हम आप-आदेशों की उपेक्षा कर कल्पित यज्ञ के द्वारा शास्त्रविरुद्ध सम्बोधनों के द्वारा अपना अनिष्ट ही कर रहे हैं। देवता को न बुलाना अच्छा है। किन्तु बुलाकर यथोक्त क्रम से उसका सत्कार न करना बुरा है। यही कारण है कि यज्ञादि धर्म्मानुष्ठान न करने वाली जनता भौतिक-सम्पत्ति की अपेक्षा आज के युग में समृद्ध प्रतीतमात्र हो रही है। परन्तु ठीक इसके विपरीत यज्ञादि धर्म्मानुष्ठानों का आडम्बर करने वाली नाममात्र की भारतीय-धार्मिक-जनता सबप्रकार से त्रस्त होरही है। फलतः उसके मुखसे इन उद्‌गारों का निकलना स्वाभाविक ही बन जाता है कि—"जो यज्ञादि नहीं करते वे सुखी हैं। एवं करने वाले हम दुःखी हैं, ऐसी अवस्था में हम यज्ञादि क्यों करें ?।

प्रसङ्गवेग से बढ़ती हुई इसी अश्रद्धा को लक्ष्य में रखते हुए आज उसी आङ्गिरस बृहस्पति के दिव्यात्मा का यह आदेश अभिव्यक्त करने के लिए हम अपनी श्रद्धालु धार्मिक जनता के सम्मुख उपस्थित हुए हैं कि, वह भूल कर भी यज्ञकर्म्मानुष्ठान पर अश्रद्धा न करे। हम उसे विश्वास दिलाते हैं कि यदि उसने आर्षपद्धतियों का यथावत् अनुसरण करते हुए यज्ञानुष्ठान किया तो उसका यह अनुष्ठान अवश्य अवश्य अभ्युदय का ही कारण बनेगा एवं इस वैध (यथाविधि-सम्पादित) अनुष्ठान के बलपर वह समस्त राष्ट्रों में अपने लिए उत्तम स्थान प्राप्त करने में समर्थ होगी और अवश्य समर्थ होगी। प्रकृत बृहस्पति का आख्यान हमारे इसी कथन को पुष्ट कर रहा है। इसी तत्त्व का स्पष्टीकरण कर रहा है ॥ २०, २१ २२ २३ २४ २५, २६ ॥

इति--वेदिसम्पादनम्

प्रथमकाण्डान्तर्गत द्वितीयाध्याय का पञ्चम,
एव द्वितीय प्रपाठ का तृतीय
ब्राह्मण उपरत

शतपथब्राह्मण का द्वितीय अध्याय समाप्त

२

(इति--वेदिब्राह्मणाध्यायो द्वितीय.)

यज्ञसंस्था एक देवसंस्था है, प्रकृतिसंस्था है। इसमें लौकिक व्यवहारों का समावेश करना सर्वथा निषिद्ध है। यज्ञमण्डल में ऋत्विजों और यजमानों में जो परस्पर अभिनन्दन व्यवहार है, वही 'नमस्ते' शब्द से होता है। इसप्रकार 'नमस्ते' शब्द यज्ञसंस्था के लिए ही नियत है। क्योंकि 'नमः' यज्ञ का वाचक है। 'नमस्ते' का अर्थ है 'हम आपके यज्ञ (यज्ञसाधक) हैं'। ऐसी अवस्था में यज्ञातिरिक्त सामान्य लौकिक व्यवहारों में 'नमस्ते' बोलना मिथ्यादोष का ही भागी बनना है। सामान्य व्यवहार यज्ञ नहीं है। यज्ञ के अभाव में 'नमस्ते' (यज्ञस्ते) बोलना मिथ्याव्यवहार है। अतः यज्ञमण्डल के अतिरिक्त कभी परस्पर के व्यवहार में नमस्ते व्यवहार नहीं करना चाहिये। यही आदेश देती हुए श्रुति कहती है—

"चतुर्दशैतानि यजूंषि भवन्ति। त्रयोदश मासाः संवत्सरः, प्रजापतिश्चतुर्दशः। प्रजापतिर्यज्ञः। यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा—तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति, नमो नम इति। यज्ञो वै नमः। यज्ञेनैवैनमेतन्नमस्कारेण नमस्यति। तस्मादु ह नायज्ञियं ब्रूयात्—नमस्ते इति। यथा हैनं ब्रूयाद्यज्ञस्ते इति, तादृक् तत्"।

—श० ब्रा० १–कां०।२।१।१६ कं० इति।

आज क्या हो रहा है। स्त्री-शूद्र-बाल-युवा-वृद्ध सभी अहर्निश 'नमस्ते' बोलने में ही अपना गौरव समझ रहे हैं। क्या आर्य्यजगत् का यह व्यवहार वैदिक है?। निवेदनीय केवल यही है कि प्राणप्रधान वैदिक विज्ञान के विलुप्तप्राय होजाने से, साथ ही भौतिक विज्ञानप्रधान पाश्चात्यविज्ञान के सहवास-दूषण से हम आर्ष-आदेशों की उपेक्षा कर कल्पित यज्ञ के द्वारा, शास्त्रविरुद्ध सम्बोधनों के द्वारा अपना अनिष्ट ही कर रहे हैं। देवता को न बुलाना अच्छा है। किन्तु बुलाकर यथोक्त क्रम से उसका सत्कार न करना बुरा है। यही कारण है कि यज्ञादि धर्म्मानुष्ठान न करने वाली जनता भौतिक-सम्पत्ति की अपेक्षा आज के युग में समृद्ध प्रतीतमात्र हो रही है। परन्तु ठीक इसके विपरीत यज्ञादि धर्म्मानुष्ठानों का आडम्बर करने वाली नाममात्र की भारतीय-धार्मिक-जनता सबप्रकार से त्रस्त होरही है। फलतः उसके मुखसे इन उद्‌गारों का निकलना स्वाभाविक ही बन जाता है कि— 'जो यज्ञादि नहीं करते वे सुखी हैं। एवं करने वाले हम दुःखी हैं, ऐसी अवस्था में हम यज्ञादि क्यों करें?।

प्रबलवेग से बढ़ती हुई इसी अश्रद्धा को लक्ष्य में रखते हुए आज उसी आङ्गिरस बृहस्पति के निष्पातमा का वह आदेश अभिव्यक्त करने के लिए हम अपनी श्रद्धालु धार्मिक जनता के सम्मुख उपस्थित हुए हैं कि, वह भूल कर भी यज्ञकर्म्मानुष्ठान पर अश्रद्धा न करे। हम उसे विश्वास दिलाते हैं कि यदि उसने आर्षपद्धतियों का यथावत् अनुसरण करते हुए यज्ञानुष्ठान किया तो उसका यह अनुष्ठान अवश्य अवश्य अभ्युदय का ही कारण बनेगा एवं इस वैध (यथाविधि-सम्पादित) अनुष्ठान के बलपर वह समस्त राष्ट्रों में अपने लिए उच्चतम स्थान प्राप्त करने में समर्थ होगी, और अवश्य समर्थ होगी। प्रकृत बृहस्पति का आख्यान हमारे इसी कथन को पुष्ट कर रहा है। इसी लक्ष्य का स्पष्टीकरण कर रहा है ॥ २०, २१, २२ २३ २४ २५, २६ ॥

श्री

अथ--शतपथब्राह्मणे तृतीयोऽध्याय
(सम्कारब्राह्मणाध्यायस्तृतीय)
३

अथ–प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये प्रथम ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च चतुर्थं ब्राह्मणम्

१५—द्रव्यसंस्कारा

(मूल) स वै स्रुच सम्मार्ष्टि । तद्यत् स्रुच सम्मार्ष्टि–यथा वै देवानां चरण, तद्वा अनु मनुष्याणाम् । तस्माद् यदा मनुष्याणां परिवेषसमुपक्लृप्त भवति ॥ १ ॥

अथ पात्राणि निर्णेनिजति । तैर्निर्णिज्य परिवेविषति । एवं वा एष देवानां यज्ञो भवति–यच्छ्रतानि हवींषि, क्लृप्ता वेदि:, तेषामेतान्येव पात्राणि–यत्स्रुच ॥ २ ॥

स यत्सम्मार्ष्टि–निर्णेनिक्त्येवैना एतद्–निर्णिक्ताभिः प्रचराणीति । तद्वै द्वयेनैव देवेभ्यो निर्णेनिजन्ति, एकेन मनुष्येभ्य । अद्भिश्च ब्रह्मणा च देवेभ्य । आपो हि कुशा:, ब्रह्म यजु । एकेनैव मनुष्येभ्य –अद्भिरेव । एवम्वेतन्नाना भवति ॥ ३ ॥

अथ स्रुवमादत्ते । त प्रतपति—"प्रत्युष्टꣳ रक्ष प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातय "–[१ अ० २९ मं०] इति वा ॥ ४ ॥

देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद् बिभयाञ्चक्रु , तदयज्ञमुखादेवैतनाष्ट्रा रक्षांस्यतोऽपहन्ति ॥ ५ ॥

स वा अभिवासः सन्नह्यति । ओषधयो वै वास, वरुण्या रज्जु । तदोषधीरेवैतदन्तर्दधाति । तथो हैनामेषा वरुण्या रज्जुर्न हिनस्ति । तस्मादभिवास सन्नह्यति ॥ १४ ॥

स सन्नह्यति अदित्यै रास्नासि (१ अ० ३० म०) इति । इयं वै पृथिवी—अदिति, सेय देवानां पत्नी । एषा वा एतस्य पत्नी भवति । तदस्या एतद्रास्नामेव करोति, न रज्जुम् । हिरो वै रास्ना, तामेवास्या एतत्करोति ॥ १५ ॥

स वै न ग्रन्थिं कुर्यात् । वरुण्यो वै ग्रन्थि । वरुणो ह पत्नीं गृह्णीयात्-यद् ग्रन्थिं कुर्यात् । तस्मान्न ग्रन्थिं करोति ॥ १६ ॥

उद्धूर्वमेवोद्गूहति—विष्णोर्वेष्योऽसि [१ अ० ३० मं०] इति । सा वै न पश्चात् प्राची देवानां यज्ञमन्वासीत । इयं वै पृथिवी—अदिति, सेय देवानां पत्नी । सा पश्चात् प्राची देवानां यज्ञमन्वास्ते, तद् यामभ्यारोहत् । सा पत्नी क्षिप्रेऽमुं लोकमियात् । तथो ह पत्नी ज्योग् जीवति । तदस्या एवैतमिह्नुते । तथो हैनामियं न हिनस्ति । तस्माद् दक्षिणत इवैवन्वासीत ॥ १७ ॥

अथाज्यमवेक्षत । योषा वै पत्नी, रेत आज्यम् । मिथुनमेवैतत् प्रजनन क्रियते । तस्मादाज्यमवेक्षते ॥ १८ ॥

सावेक्षते—अदब्धेन त्वा चक्षुषावपश्यामि (१ अ० ३० म०) इति । अनार्तेन त्वा चक्षुषावपश्यामीत्येवैतदाह । अग्नेर्जिह्वासि [१ अ०३०म०] इति । यदा वा एतदग्नौ जुह्वति, अथाग्नेर्जिह्वा इवोत्तिष्ठन्ति । तस्मादाह—अग्नेर्जिह्वासि—इति । सुहूर्देवेभ्य [१ अ० ३० म०) इति । साधु देवेभ्य इत्येवैतदाह । धाम्ने धाम्ने मे भव यजुषे यजुषे [१ अ० ३० म०] इति । सर्वस्मै मे यज्ञायैधीत्येवैतदाह ॥ १९ ॥

अथाज्यमादाय प्राङ् दाद्रवति । तदाहवनीयऽधिश्रयति, यस्याहवनीय हवींषि श्रपयन्ति—सर्वं म यज्ञ आहवनीये भूताऽसदिति । अथ यदग्रमाग्रे ऽधिश्रयति, पत्न्या अवकाशयिष्यन् भवति । न हि तदवकल्पते—यत्सामि प्रत्यग् हरत्-पत्नीमवकाशयिष्यामीति । अथ यत्पत्नीं नावकाशयत्—अन्तरियाद् यज्ञात्पत्नीम् । तथो ह यज्ञात्पत्नी नान्तरति । तस्माद् गार्हपत्य एवाधिश्रित्य प्रागुदाहरति—अवकाशय पत्नीम् । यस्यो पत्नी न भवति, अग्र एव तस्याहवनीयेऽधिश्रयति । तत्र आद्रो, तदन्तर्वयामादयति ॥ २० ॥

स वा इत्यग्रैरन्तरतः सम्मार्ष्टि-"अनिशितोऽसि सपत्नक्षित्"-[१ अ० २६ मं०] इति । यथानुपरतो यजमानस्य सपत्नान् क्षिणुयात्, एवमेतदाह । "वाजिनन्त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि"-[अ० १ मं० २६] इति । यज्ञियन्त्वा यज्ञाय सम्मार्ज्मीत्येवैतदाह । एतेनैव सर्वो स्रुचः सम्मार्ष्टि । वाजिनीन्त्वेति स्रुचम् । तूष्णीं प्राशित्रहरणम् ॥ ६ ॥

स वा इत्यग्रैरन्तरतः सम्मार्ष्टि, इति मूलैर्बाह्यतः । इतीव वा अयं प्राण, इतीमोदान । प्राणोदानावेवैतद्दधाति । तस्मादितीवेमानि लोमानि, इतीवेमानि ॥ ७ ॥

स वै सम्मृज्य-सम्मृज्य, प्रतप्य-प्रतप्य प्रयच्छति । यथावमर्शं निर्णिज्यानवमर्शमुत्तम परिक्षालयेत्-एवं तत् । तस्मात् प्रतप्य-प्रतप्य प्रयच्छति ॥ ८ ॥

स वै स्रुवमेवाग्रे सम्मार्ष्टि, अथेतराः स्रुचः । योषा वै स्रुग्, वृषा स्रुवः-तस्मात् यद्यपि बह्व्य इव स्त्रियः सार्द्धं यन्ति, य एव तास्वपि कुमारक इव पुमान् भवति-स एव तत्र प्रथम एति, अनूच्य इतराः । तस्मात् स्रुवमेवाग्रे सम्मार्ष्टि, अथेतरा स्रुचः । ॥ ९ ॥

स वै तथैव सम्मृज्यात्-यथाग्निं नाभिव्युक्षेत् । यथा यस्मा अशनमाहरिष्यन्त्स्यात्, त पात्रनिर्णेजनेनाभिव्युक्षेत् एवं तत् । तस्मात् तथैव सम्मृज्यात्-यथाग्निं नाभिव्युक्षेत् प्राक्वैवोत्क्रम्य । ॥ १० ॥

तत् के-स्रुक्सम्मार्जनान्यग्नावभ्यादधति । वेदस्याभूवन्-स्रुचः । यैभिः समम्मार्जिषु । इद मे किञ्चित् यज्ञस्य । नेद्विदं बहिर्धा यज्ञाद् भवदिति । तदु तथा न कुर्यात् । यथा यस्मा अशनमाहरेत्-स पात्रनिर्णेजनं पाययेत्-एवं तत् । तस्माद् परास्येदेवैतानि ॥ ११ ॥

अथ पत्नीं सन्नह्यति । अघनार्द्धो वा एष यज्ञस्य-यत्पत्नी । प्राङ् मे यज्ञस्तायमानो यादिति । पुनक्येवैनामेतत्-युक्ता मे यज्ञमन्वासाता इति ॥ १२ ॥

योक्त्रेण सन्नह्यति । योक्त्रेण हि योग्यं युञ्जन्ति । अस्ति वै पत्न्या अमेध्य-यदवाचीन नाभे । अथैतदाज्यमवेक्षिष्यमाणा भवति । तदेवास्या एतद्योक्त्रेणान्तर्दधाति, अथ मेध्यनैवोपरार्द्धेनाज्यमवेक्षते । तस्मात् पत्नीं सन्नह्यति ॥ १३ ॥

स यत्। अभिवासः सन्नह्यति। ओषधयो वै वास, वरुण्या रज्जु। तदोषधीरेवैतदन्त र्दधाति। तथो हैनामेषा वरुण्या रज्जुर्न हिनस्ति। तस्मादभिवास सन्नह्यति॥ १४॥

सं सन्नह्यति अदित्यै रास्नासि (१ अ० ३० मं०) इति। इयं वै पृथिवी–अदिति, सेयं देवानां पत्नी। एषा वा एतस्य पत्नी भवति। तदस्या एतद्रास्नामेव करोति, न रज्जुम्। हिरो वै रास्ना, तामेवास्या एतत्करोति॥ १५॥

स वै न ग्रन्थिं कुर्यात्। वरुण्यो वै ग्रन्थि। वरुणो ह पत्नीं गृह्णीयात् यद् ग्रन्थिं कुर्यात्। तस्मान्न ग्रन्थिं करोति॥ १६॥

ऊर्ध्वमेवोद्गूहति–विष्णोर्वेष्प्यासि [१ अ० ३० मं०] इति। सा वै न पश्चात् प्राची देवानां यज्ञमन्वासीत। इयं वै पृथिवी–अदितिः, सेयं देवानां पत्नी। सा पश्चात् प्राची देवानां यज्ञमन्वास्ते, तद् मामभ्यारोहेत्। सा पत्नी क्षिप्रेऽमुं लोकमियात्। तथो ह पत्नी ज्योग जीवति। तदस्या एवैतन्निह्नुते। तथो हैनामियं न हिनस्ति। तस्मादु दक्षिणत इवैवन्वासीत॥ १७॥

अथाज्यमवेक्षते। योषा वै पत्नी, रेत आज्यम्। मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते। तस्मादाज्यमवेक्षते॥ १८॥

सावेक्षते–अदब्धेन त्वा चक्षुषावपश्यामि (१ अ० ३० मं०) इति। अनार्तेन त्वा चक्षुषावपश्यामीत्येवैतदाह। अग्नेर्जिह्वासि [१ अ० ३० मं०) इति। यदा वा एतदग्नौ जुह्वति, अथाग्नेर्जिह्वा इवोत्तिष्ठन्ति। तस्मादाह–अग्नेर्जिह्वासि–इति। सुभूर्देवेभ्य [१ अ० ३० मं०) इति। साधु देवेभ्य इत्येवैतदाह। धाम्ने धाम्ने मे भव यजुषे यजुषे [१ अ० ३० मं०] इति। सर्वस्मै मे यज्ञाङ्गायास्येवैतदाह॥ १९॥

अथाज्यमादाय प्राङ्‌ दाद्रवति। तदाहवनीयेऽधिश्रयति, यस्याहवनीये हवींषि श्रपयन्ति–सर्वो मे यज्ञ आहवनीये शृतोऽसदिति। अथ यदमुत्राग्रेऽधिश्रयति, पत्नीं अवकाशयिष्यन् भवति। न हि तदवकल्पते–यत्सामि प्रत्यग् हरेत्–पत्नीमवकाशयिष्यामीति। अथ यत्पत्नीं नावकाशयेत्–अन्तरियाद्ध यज्ञात्पत्नीम्। तथो ह यज्ञात्पत्नीं नान्तरेति। तस्मादु सार्द्धमेव विलाप्य प्रागुदाहरति–अवकाशय पत्नीम्। यस्यो पत्नी न भवति, अग्र एव तस्याहवनीयेऽधिश्रयति। तत्त आहृत्य, तदन्वर्वयासादयति॥ २०॥

स वा इत्यग्रै रन्तरतः सम्मार्ष्टि-"अनिशितोऽसि सपत्नक्षित्"-[१ अ० २६ मं०] इति। यथानुपरतो यजमानस्य सपत्नान् क्षिणुयात्, एवमेतदाह। "वाजिनन्त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि"-[अ० १ म० २६] इति। यज्ञियन्त्वा यज्ञाय सम्मार्ज्मीत्येवैतदाह। एतेनैव सर्वो स्रुचः सम्मार्ष्टि। वाजिनीन्त्वेति स्रुचम्। तूष्णीं प्राशित्र-हरणम् ॥ ६ ॥

स वा इत्यग्रैरन्तरत सम्मार्ष्टि, इति मूलैर्बाह्यतः। इतीव वा अय प्राण, इतीवोदानः। प्राणोदानावेवैतद्दधाति। तस्मादितीवेमानि लोमानि, इतीवेमानि ॥ ७ ॥

स वै सम्मृज्य-सम्मृज्य, प्रतप्य-प्रतप्य प्रयच्छति। यथावमर्शं निणिज्यानवमर्शमुत्तम परिक्षालयेत्-एवं तत्। तस्मात् प्रतप्य-प्रतप्य प्रयच्छति ॥ ८ ॥

स वै स्रुवमेवाग्रे सम्मार्ष्टि, अथेतराः स्रुचः। योषा वै स्रुग्, वृषा स्रुवः-तस्मात यद्यपि बह्व्य इव स्त्रिय सार्धं यन्ति, य एव तास्वपि कुमारक इव पुमान् भवति-स एव तत्र प्रथम एति, अन्वञ्च इतराः। तस्मात् स्रुवमेवाग्रे सम्मार्ष्टि, अथेतरा स्रुच। ॥ ९ ॥

स वै तथैव सम्मृज्यात्-यथाग्निं नाभिव्युक्षेत्। यथा यस्मा अशनमाहरिष्यन्त्स्यात् त पात्रनिर्णेजनेनाभिव्युक्षेत् एवं तत्। तस्मात् तथैव सम्मृज्यात्-यथाग्निं नाभिव्युक्षेत्। प्राक्षिवैवोत्क्रम्य। ॥ १० ॥

तद्धैके-स्रुक्सम्मार्जनान्यग्नावभ्यादधति। वेदस्याभूवन्-स्रुचः। एभिः सममार्क्षु। इदं वै किञ्चिद् यज्ञस्य। नेद्विदं बहिर्धा यज्ञात् भवदिति। तदु तथा न कुर्यात्। यथा यस्मा अशनमाहरेत्-तं पात्रनिर्णेजनं पाययेत्-एवं तत्। तस्मात् परास्येदेवैतानि ॥ ११ ॥

अथ पत्नीं सन्नह्यति। जघनार्द्धो वा एष यज्ञस्य-यत्पत्नी। प्राङ् मे यज्ञस्तायमानो यादिति। युनक्त्येवैनामेतत्-युक्ता मे यज्ञमन्वासाता इति ॥ १२ ॥

योक्त्रेण सन्नह्यति। योक्त्रेण हि योग्यं युञ्जन्ति। अस्ति वै पत्न्या अमेध्य-यदवाचीन नाभे। अथैतदाज्यमवेक्षिष्यमाणा भवति। तदेवास्या एतद्योक्त्रेणान्तर्दधाति, अथ मेध्येनैवोत्तरार्द्धेनाज्यमवेक्षते। तस्मात् पत्नीं सन्नह्यति ॥ १३ ॥

मूलानुवादप्रकरण—

वेदिसम्पादनकर्म्म समाप्त होचुका है। हवनीयद्रव्य (आहुतिद्रव्य) सम्पन्न होगया है। यज्ञ में जो पात्र अपेक्षित हैं, 'आग्नीध्र' नाम के ऋत्विक् उन सब को अध्वर्यु के प्रैषानुसार (आज्ञानुसार) यथास्थान रख दिया है। इतन काम्य समाप्त होजाने के अनन्तर क्या होता है ?, 'संस्कारब्राह्मण' का अङ्गभूत प्रकृत ब्राह्मण इसी जिज्ञासा का समाधान कर रहा है। इस ब्राह्मण की ११ कण्डिका पर्य्यन्त एक कर्म्मसन्तान है। इस एकादशकण्डिकात्मक ब्राह्मणभाग में स्रुव-स्रुक्-प्राशित्रहरण आदि के प्रतपनपूर्वक कुशाग्र से सम्मार्जन करने के अनन्तर आग्नीध्र नाम के ऋत्विक् को (यथास्थान रखने के लिए) पुनरावर्त्तित करने का (लौटाने) का विधान है। यही क्रमशः सोपपत्तिक अनुवाद में स्पष्ट किया जाता है।

(प्रणीतापात्र के पश्चिम में उत्तराग्र 'स्फ्य' रखने के अनन्तर) यह (अध्वर्यु) स्रुचों का 'सम्मार्जन' करता है। सो जिस (प्रयोजन) के लिए कि स्रुक्सम्मार्जन करता है, (उस की उपपत्ति बतलाते हैं)। जैसा देवताओं का चरण (आचरण–व्यवहार) है, उसी (आचरण) के अनुसार मनुष्यों का (आचरण) है। इसलिए जब मनुष्यों का परिवेषण (परोसने का भोज्य-द्रव्य) सम्पन्न होजाता है ॥१॥

अनन्तर (ही) (सेवकगण) पात्रों को (भोज्यपात्रों को) पानी से धोकर स्वच्छ–निर्म्मल कर लेते हैं। स्वच्छ करके उन पात्रों से 'परिवयणा' करते हैं। (जो स्थिति मनुष्यों में भोजन-प्रक्रिया में देखी जाती है, दूसरे शब्दों में–मनुष्यों के भोजनयज्ञ के सम्बन्ध में जो काम्य होते हैं), ठीक ऐसा ही यह (यजमानकृत) देवताओं का यज्ञ है। (अन्न के स्थान पर) 'परिपक्व हवि' है (भोजनस्थान की प्रतिकृति में) 'वेदि' सम्पन्न होचुकी है। (एवं) ये इन देवताओं के (भोज्य) पात्र हैं जो कि 'स्रुक्' हैं ॥२॥

सो जो कि (अध्वर्यु इन स्रुक् पात्रों का) सम्मार्जन करता है, वह इन पात्रों का निर्णेजन (प्रक्षालन) ही करता है। "हम निर्णिक्त (धुले हुए साफ सुथरे) पात्रों से ही [परिवेषणादि कार्य्य] करें" यही [सम्मार्ज्जन का] मुख्य प्रयोजन है। [देवता, एवं मनुष्यों के पात्रनिर्णेजन में अन्तर केवल यही है कि] देवताओं के लिए दो [प्रकारों से] निर्णेजन करते हैं, एवं मनुष्यों के लिए केवल एक ही प्रकार से [निर्णेजन होता है]। पानियों से [एवं] ब्रह्म [मन्त्र] से देवताओं के लिए [निर्णेजन करते हैं] [निर्णेजन कर्म्म में उपयुक्त] हुआ 'आपः' [पानी की प्रतिकृति] हैं एवं यजुर्मन्त्र 'ब्रह्म' है। मनुष्यों के लिए केवल पानियों से ही निर्णेजन होता है। इस [प्रणाली] भेद से मानुष एवं दैवकर्म्म का पार्थक्य होजाता है। [दोनों कर्म्म पृथक् होजाते हैं] ॥३॥

[गार्हपत्य के पश्चिमभाग में बैठकर अध्वर्यु सर्वप्रथम अपने दक्षिण हस्त में संस्कार के लिए] स्रुव लेता है। उसे (स्रुव को) "प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः निष्टप्तं रक्षः निष्टप्ता अरातयः" यह मन्त्र बोलता हुआ [गार्हपत्याग्नि में] तपाता है ॥४॥

तदाहु —नान्तर्वेद्यासादयेत्–अतो वै देवानां पत्नीः संयाजयन्ति, अवसभा अन्दवानां पत्नी करोति पर पु सा-उ-हास्य पत्नी भवतीति । तदु होवाच याज्ञवल्क्यः यथादिष्ट पत्न्या अस्तु । कस्तदाद्रियेत–यत्परःपु सा वा पत्नी स्यात् । यत्रा वा यज्ञो वेदिः, यत्र आज्यम् , यत्रायज्ञ निर्मिमा इति । तस्मादन्तर्वेद्येवासादयेत् ॥२१॥

प्रोक्षणीषु पवित्रे भवत । ते तत आदत्ते, ताभ्यामाज्यमुत्पुनाति । एको वा उत्पवनस्य बन्धु मेध्यमेवैतत्करोति ॥ २२ ॥

स उत्पुनाति–सवितुस्त्वा प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभि (१ अ० ३१ म०) इति । सोऽसावेव बन्धु ॥ २३ ॥

अथाज्यलिप्ताभ्यां पवित्राभ्यां प्रोक्षणीरुत्पुनाति–सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः (१ अ० ३१ म०) इति । सोऽसावेव बन्धु ॥ २४ ॥

तयदाज्यलिप्ताभ्यां पवित्राभ्यां प्रोक्षणीरुत्पुनाति, तदप्सु पयो दधाति । तदिदमप्सु पयो हितम् । इदं हि यदा वर्षति, अथौषधयो जायन्ते, ओषधीर्जग्ध्वाप पीत्वा तत एष रस सम्भवति । तस्मादु रसरयो चैव सर्वत्वाय ॥ २५ ॥

अथाज्यमवेक्षते । तद्धैके यजमानमवख्यापयन्ति । तदु होवाच याज्ञवल्क्य—कथं तु न स्वयमध्वर्यवो भवन्ति, कथ स्वयं नान्वाहुः यत्र भूयस्य इवाशिषः क्रियन्ते । कथ न्वेषामत्रैव श्रद्धा भवतीति । यां वै कां च यज्ञे ऋत्विज आशिषमाशासते–यजमानस्यैव सा । तस्मादध्वर्युरेवावेक्षेत ॥ २६ ॥

सोऽवेक्षते । सत्य, वै चक्षु । सत्य हि वै चक्षुस्तस्मात्–यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयाताम्–'अहमदर्शम्'–'अहमश्रौषम्' इति, य एव ब्रूयात् 'अहमदर्शम्' इति तस्मा एव श्रद्ध्याम । तत्सत्येनैवैतत्समर्द्धयति ॥ २७ ॥

सोऽवेक्षते–तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि [१ अ० ३१ मं०] इति । स एष सत्य एव मन्त्र ।—तेजो ह्येतद्, शुक्र ह्येतद्, अमृत ह्येतद्, तत्सत्येनैवैतत्समर्द्धयति ॥ २८ ॥

इति प्रमकाण्डे तृतीयाध्याये प्रथम ब्राह्मणम्

द्वितीयप्रपाठके च चतुर्थं ब्राह्मणम्

मूलानुवादप्रकरण—

वेदिसम्पादनकर्म्म समाप्त होचुका है। हवनीयद्रव्य (आहुतिद्रव्य) सम्पन्न होगया है। यज्ञ में जो पात्र अपेक्षित हैं, आग्नीध्र' नाम के ऋत्विक् ने उन सब को अध्वर्यु के प्रैषानुसार (आज्ञानुसार) यथास्थान रख दिया है। इनन कार्य्य समाप्त होजाने के अनन्तर क्या होता है ?, 'संस्कारब्राह्मण' का अङ्गभूत प्रकृत ब्राह्मण इसी जिज्ञासा का समाधान कर रहा है। इस ब्राह्मण की ११ कण्डिका पर्य्यन्त एक कर्म्मसन्तान है। इस एकादशकण्डिकात्मक ब्राह्मणभाग में स्रुव-स्रुक्-प्राशित्रहरण आदि के प्रतपनपूर्वक कुशाग्र से सम्मार्ज्जन करने के अनन्तर आग्नीध्र नाम के ऋत्विक् को (यथास्थान रखने के लिए) पुनरावर्त्तित करने का (लौटाने) का विधान है। यही क्रमशः सोपपत्तिक अनुवाद में स्पष्ट किया जाता है।

(प्रणीतापात्र के पश्चिम में उत्तराग्र 'स्फ्य' रखने के अनन्तर) यह (अध्वर्यु) स्रुचों का 'सम्मार्जन' करता है। सो जिस (प्रयोजन) के लिए कि स्रुक्सम्मार्ज्जन करता है, (उस की उपपत्ति बतलाते हैं)। जैसा देवताओं का चरण (आचरण—व्यवहार) है, उसी (आचरण) के अनुसार मनुष्यों का (आचरण) है। इसलिए जब मनुष्यों का परिवेषण (परोसने का भोग्य-द्रव्य) सम्पन्न होजाता है ॥१॥

अनन्तर (ही) (सेवकवर्ग) पात्रों को (भोग्यपात्रों को) पानी से धोकर स्वच्छ-निर्म्मल कर लेते हैं। स्वच्छ करके उन पात्रों से 'परिवेषण' करते हैं। (जो स्थिति मनुष्यों में भोजन-प्रक्रिया में देखी जाती है, दूसरे शब्दों में—मनुष्यों के भोजनयज्ञ के सम्बन्ध में जो कार्य्य होते हैं), ठीक ऐसा ही यह (यजमानकृत) देवताओं का यज्ञ है। (अन्न के स्थान पर) 'परिपक्व हवि' है (भोजनस्थान की प्रतिकृति में) 'वेदि' सम्पन्न होचुकी है। (एवं) ये इन देवताओं के (भोग्य) पात्र हैं जो कि 'स्रुक्' हैं ॥२॥

सो जो कि (अध्वर्यु इन स्रुक् पात्रों का) सम्मार्ज्जन करता है, यह इन पात्रों का निर्णेजन (प्रक्षालन) ही करता है। "हम निर्णिक्त (धुले हुए साफ सुथरे) पात्रों से ही [परिवेषणादि कार्म्म] करें" यही [सम्मार्ज्जन का] मुख्य प्रयोजन है। [देवता, एवं मनुष्यों के पात्रनिर्णेजन में अन्तर केवल यही है कि] देवताओं के लिए दो [प्रकारों से] निर्णेजन करते हैं, एवं मनुष्यों के लिए केवल एक ही प्रकार से [निर्णेजन होता है]। पानियों से [एवं] ब्रह्म [मन्त्र] से देवताओं के लिए [निर्णेजन करते हैं] [निर्णेजन कर्म्म में उपयुक्त] कुशा 'आपः' [पानी की प्रतिकृति] हैं एवं यजुर्मन्त्र 'ब्रह्म' है। मनुष्यों के लिए केवल पानियों से ही निर्णेजन होता है। इस [प्रणाली] भेद से मानुष एवं देवकर्म्म का पार्थक्य होजाता है। [दोनों कर्म्म पृथक् होजाते हैं] ॥३॥

[गार्हपत्य के पश्चिमभाग में बैठकर अध्वर्यु सर्वप्रथम अपने दक्षिण हस्त में संस्कार के लिए] स्रुव लेता है। उसे (स्रुव को) 'प्रत्युष्ट रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः निष्टप्तं रक्षः निष्टप्ता अरातयः' यह मन्त्र बोलता हुआ [गार्हपत्याग्नि में] तपाता है ॥४॥

गयी रज्जु पत्नी को पीड़ा नहीं पहुँचाती। इसी प्रयोजन के लिए वस्त्रों से ऊपर योक्त्र का संनहन करते हैं ॥१४॥

ब्राह्मण (विधान) बतला दिया गया अब पद्धति बतलाते हैं। यह अध्वर्यु 'अदित्यै रास्नासि' यह मन्त्र बोलता हुआ सनहनकर्म्म करता (योक्त्र बाँधता) है। यह पृथिवी ही अदिति है। यह (अदितिरूपा पृथिवी) देवताओं की पत्नी है सो इस (सनहनकर्म्म) से यजमानपत्नीरूपा इस अदिति (देवपत्नीभूता अदिति पृथिवी) को ही रास्नायुक्त बनाते हैं। (ध्यान रहे) रज्जु का बन्धन नहीं करते हैं। यह रास्ना मेखलारूप है। संनहन के द्वारा इसे (अदिति को) मेखला से ही युक्त करते हैं ॥१५॥

ऋत्विक् को चाहिए कि, वह योक्त्र के गाँठ न लगाय। क्योंकि ग्रन्थि (गाँठ) वरुणदेव तामयी है। (ऐसी अवस्था में) यदि ग्रन्थि लगायी जायगी तो वरुणदेवता इस पत्नी को अपने पाश से बाँध लेंगे। (ऐसा न हो) इसलिए ग्रन्थि-बन्धन नहीं करते हैं ॥१६॥

(ग्रन्थि नहीं लगाई जायगी तो योक्त्र रुकेगा कैसे?, इस विप्रतिपत्ति को दूर करने का उपाय बतलाती हुई श्रुति कहती है कि) यह अध्वर्यु योक्त्र के मूलाग्रों को परस्पर मिलाकर [दोनों मूलों को परस्पर बटकर] ऊपर की ओर यों ही सन्निविष्ट कर देता है। इस कर्म्मकाल में 'विष्णोर्व्वेष्योऽसि' यह मन्त्र बोलता है। यह यजमानपत्नी गार्हपत्य के पश्चिम भाग में पूर्व की ओर मुख करके देवताओं के यज्ञ की ओर झुक कर न बैठे। यह पृथिवी अदिति है। यह देवताओं की पत्नी है। यह पश्चिमदिशा में देवताओं के यज्ञ को लक्ष्य बनाकर प्रतिष्ठित होरही है। ऐसी अवस्था में पश्चिमा दिक् में प्राङ्मुखा बैठती हुई यजमानपत्नी पृथिवी की गति के साथ युक्त होजायगी। परिणाम इसका यह होगा कि वहां बैठने से शीघ्र ही [एक वर्ष के भीतर] यजमानपत्नी मर जायगी। ऐसा न करने से [पश्चिम की ओर प्राङ्मुखा होकर न बैठने से] यजमानपत्नी पूर्ण आयु प्राप्त करने में समर्थ होजाती है। सो इस पत्नी को पश्चिम में प्राङ्मुखा बना कर न बैठाते हुए इसे पृथिवी की गति से बचाते हुए इसकी आयु ही सुरक्षित करते हैं। ऐसा करने से यजमानपत्नी पूरी आयु धारण करने में समर्थ होजाती है। इसलिए पत्नी को गार्हपत्य के दक्षिणभाग में [नैऋतकोण में] ही बैठना चाहिए ॥१७॥

अनन्तर यह पत्नी आज्यदर्शन करती है। अर्थात् घृत में अपना मुख देखती है। यह पत्नी योषा है आज्य रेत है। आज्यदर्शन से रेत का ग्रहण करती हुई पत्नीरूपिणी योषा मिथुनरूपेण प्रजनन-[प्रजोत्पत्ति] भाव को ही सम्पन्न करती है। इसी प्रजननभाव की प्राप्ति के लिए यह पत्नी आज्यदर्शन करती है ॥१८॥

ब्राह्मण बतला दिया गया अब पद्धति बतलाते हैं। यह पत्नी 'अदब्धेन त्वा चक्षुषा पश्यामि अग्नेर्जिह्वासि सुभूर्देवेभ्यः, धाम्ने धाम्ने मे भव यजुषे यजुषे' यह मन्त्र बोलती हुई आज्य देखती है। 'मैं छिद्र एवं पीड़ारहित पवित्र चक्षु से आज्य देखती हूँ' मन्त्र से पत्नी का यही कहना

है। 'अग्नेर्जिह्वासि' यह मन्त्रशेष बोलती है। जिस समय आज्य की अग्नि में आहुति डालते हैं, उस समय अग्नि की [ज्वालारूप] जिह्वासी निकलती है। इसी अभिप्राय से 'अग्नेर्जिह्वासि' यह कहा गया है। 'सजूर्देवेभ्य' इत्यादि मन्त्रभाग का तात्पर्य्य बतलाते हुए कहते हैं-देवताओं के लिए यह [प्रजननरूप] आज्यदर्शन शुभ हो। 'सजू०' इत्यादि से यही कहा गया है। "धाम्ने धाम्ने" इत्यादि से "हे आज्य ! आप मेरे सम्पूर्ण यज्ञकर्म के लिए तत्पर रहें" यही कहा है ॥१६॥

आज्यदर्शनानन्तर अध्वर्य्यु आज्य को लेकर पूर्व की ओर (आहवनीय की ओर) चलता है। आगे चलकर आहवनीयाग्नि पर (तपाने के लिए) उसे रख देता है जिस के कि हवियों को आहवनीयाग्नि में परिपक्व करते हैं। मेरा सम्पूर्ण यज्ञ (यज्ञिय हविर्द्रव्य) आहवनीय में ही परिपक्व हो इसीलिए हविर्द्रव्यरूप आज्य को भी आहवनीयाग्नि में ही परिपक्व करते हैं। (यहाँ एक पूर्वपक्ष होता है। वह यह है कि जिस समय अन्य हविर्द्रव्यों का आहवनीय में परिपाक किया जाता है क्यों नहीं उसी समय आज्य का भी परिपाक कर लिया जाता ? । इस पूर्वपक्ष का समाधान करने के अभिप्राय से श्रुति कहती है कि (पत्नी को यज्ञकर्म में युक्त होने का अवसर (अवकाश) हम आगे देंगे इस विचार से यदि अध्वर्य्यु उसी समय [पत्नीसंनहनकर्म से बहुत पहले ही [जब कि अन्य हविर्द्रव्यों का परिपाक किया जाता है] आज्य-परिपाक भी करलेता है तो "पत्नी का आगे यज्ञ में प्रविष्ट होने का अवसर दूँगा" यह विचार कर बीच में ही [पत्नी के यज्ञ में प्रविष्ट होने से पहले ही] अधिश्रयणार्थ आज्य हरण करना ठीक नहीं होता। यदि पत्नी को यज्ञ में प्रविष्ट होने का अवसर देने से पहिले ही उक्त विचार से अध्वर्य्यु आज्य हरण कर लेगा तो वह एक प्रकार से पत्नी को यज्ञसीमा से बहिर्भूत ही कर देगा। ऐसा न हो इसलिए पत्नी के आज्यदर्शनरूप यज्ञसंयोग के अनन्तर ही आज्याधिश्रयण कर्म्म करते हैं] ऐसा करने से यह अध्वर्य्यु पत्नी को यज्ञसीमा से बाहिर नहीं निकालता। [इसी मार्द्रभाव का स्पष्टीकरण करती हुई सर्वान्त में श्रुति कहती है।] इसलिए [पत्नी यज्ञसीमा में अन्तःप्रविष्ट होजाय इसलिए] पत्नीसंनहनकर्म्म के साथ ही आज्य को पहले गार्हपत्याग्नि में तपा कर पत्नी को आज्यदर्शन के द्वारा यज्ञ में प्रविष्ट कर अनन्तर अधिश्रयणार्थ आज्य को पूर्व की ओर [आहवनीय की ओर] ले जाते हैं। जिस यजमान के पत्नी नहीं होती उस यजमान के यज्ञ में उसी समय [जब कि अन्य हविर्द्रव्यों का आहवनीय में अधिश्रयण किया जाता है] आज्य का भी आहवनीय में अधिश्रयण कर लेते हैं। अधिश्रयणानन्तर वहाँ से आज्य उठा कर उसे वेदि की सीमा में रख देते हैं ॥ २० ॥

कितने ही आचार्य्यों का मत है कि इस अधिश्रित आज्य को अन्तर्वेदि में नहीं रखना चाहिए। (कारण इसका यह बतलाया जाता है कि) इसी अधिश्रित (परिपक्व) आज्य से देव पत्नियों का यजन करते हैं (वेदिस्थान पर सम्पूर्ण देवता आए हुए हैं)। ऐसी अवस्था में उस प्रदेश में देवपत्नीयागसाधक आज्य को देवमण्डलीयुक्त वेदिस्थान में रखता हुआ अध्वर्य्यु देव पत्नियों को जनसमूह में ही उपस्थित करता है। (यजमानपत्नी भी देवपत्नियों से युक्त रहती है।

मयी रज्जु पत्नी को पीड़ा नहीं पहुँचाती। इसी प्रयोजन के लिए वस्त्रों से ऊपर योक्त्र का संनहन करते हैं ॥१४॥

ब्राह्मण (विधान) उक्ता दिया गया अब पद्धति बतलाते हैं। वह अध्वर्यु "अदित्यै रास्नासि" यह मन्त्र बोलता हुआ संनहनकर्म्म करता (योक्त्र बाँधता) है। यह पृथिवी ही अदिति है। वह (अदितिरूपा पृथिवी) देवताओं की पत्नी है सो इस (सनहनकर्म्म) से यजमानपत्नीरूपा इस अदिति (देवपत्नीभूता अदिति पृथिवी) को ही रास्नायुक्त बनाते हैं। (ध्यान रहे) रज्जु का बन्धन नहीं करते हैं। यह रास्ना मेखलारूप है। संनहन के द्वारा इसे (अदिति को) मेखला से ही युक्त करते हैं ॥१५॥

ऋत्विक् को चाहिए कि, वह योक्त्र के गाँठ न लगावे। क्योंकि ग्रन्थि (गाँठ) वरुणदेव सामग्री है। (ऐसा अवस्था में) यदि ग्रन्थि लगादी जायगी तो वरुणदेवता इस पत्नी को अपने पाश से बाँध लेंगे। (ऐसा न हो) इसलिए ग्रन्थि-बन्धन नहीं करते हैं ॥१६॥

(ग्रन्थि नहीं लगाई जायगी तो योक्त्र रुकेगा कैसे?, इस विप्रतिपत्ति को दूर करने का उपाय बतलाती हुई श्रुति कहती है कि) वह अध्वर्यु योक्त्र के मूलाग्रों को परस्पर मिलाकर [दोनों मूलों को परस्पर बटकर] ऊपर की ओर यों ही लम्बित कर देता है। इस कर्मकाल में 'विष्णोर्व्वेष्योऽसि' यह मन्त्र बोलता है। वह यजमानपत्नी गार्हपत्य के पश्चिम भाग में पूर्व की ओर मुख करके देवताओं के यज्ञ की ओर मुख कर न बैठे। वह पृथिवी अदिति है। वह देवताओं की पत्नी है। यह पश्चिमदिशा में देवताओं के यज्ञ को लक्ष्य बनाकर प्रतिष्ठित होरही है। ऐसी अवस्था में पश्चिमा दिक् में प्राङ्मुखा बैठती हुई यजमानपत्नी पृथिवी की गति के साथ युक्त होजायगी। परिणाम इसका यह होगा कि यहाँ बैठने से शीघ्र ही [एक वर्ष के भीतर] यजमानपत्नी मर जायगी। ऐसा न करने से [पश्चिम की ओर प्राङ्मुखा होकर न बैठने से] यजमानपत्नी पूर्ण आयु प्राप्त करने में समर्थ होजाती है। सो इस पत्नी को पश्चिम में प्राङ्मुखा बना कर न बैठाते हुए इसे पृथिवी की गति से बचाते हुए इसकी आयु ही सुरक्षित करते हैं। ऐसा करने से यजमानपत्नी पूरी आयु धारण करने में समर्थ होजाती है। इसलिए पत्नी को गार्हपत्य के दक्षिणभाग में [नैऋतकोण में] ही बैठना चाहिए ॥१७॥

अनन्तर वह पत्नी आज्यदर्शन करती है। अर्थात् घृत में अपना मुख देखती है। यह पत्नी योषा है आज्य रेत है। आज्यदर्शन से रेत का ग्रहण करती हुई पत्नीरूपिणी योषा मिथुनलक्षण प्रजनन-[प्रजोत्पत्ति] भाव को ही सम्पन्न करती है। इसी प्रजननभाव की प्राप्ति के लिए यह पत्नी आज्यदर्शन करती है ॥१८॥

ब्राह्मण बतला दिया गया, अब पद्धति बतलाते हैं। वह पत्नी 'अदब्धेन त्वा चक्षुषा पश्यामि अग्नेर्जिह्वासि सजूर्देवेभ्यः, धाम्ने धाम्ने मे भव यजुषे यजुषे' यह मन्त्र बोलती हुई आज्य देखती है। 'मैं निर्दोष पोषणरहित पवित्र चक्षु से आज्य देखती हूँ' मन्त्र से पत्नी का यही कहना

फिर ऋत्विजों की आवश्यकता ही क्या है ? । [यदि अन्य आध्वर्यव, हौत्र, औद्गात्रादि यज्ञरूप समस्त कर्म ऋत्विक् कर लेते हैं, तो फिर] प्राचीनों का इस आज्यदर्शनकर्म में ही यह धारणा कैसे बन गई कि यह कर्म तो यजमान को ही करना चाहिए ? । ऋत्विक् लोग अपने अपने कर्म में जो भी फल प्राप्त करते हैं यह यजमान को ही तो मिलता है । [ऐसी अवस्था में अध्वर्युकर्तृक आज्यदर्शन का फल यजमान को कैसे नहीं मिलेगा ? । अतः—अध्वर्यु को ही आज्यदर्शन करना चाहिए ॥२६॥

यह अध्वर्यु आज्यदर्शन करता है । चक्षुरिन्द्रिय सत्यरूप इसीलिए है कि जब दो मनुष्य परस्पर झगड़ा करते हुए हमारे सम्मुख आते हैं और उनमें से एक कहता है कि—'मैंने ऐसा आँखों से देखा है' । दूसरा कहता है कि 'मैंने ऐसा अपने कानों से सुना है', तो दोनों में से जो व्यक्ति 'मैंने ऐसा अपनी आँखों से देखा है' यह कहता है, हम उसी के कथन पर श्रद्धा करते हैं । (अतः चक्षु अवश्य ही सत्य है) । इस सत्यचक्षु से आज्यदर्शन करता हुआ अध्वर्यु सत्यतत्त्व से ही आज्य को समृद्ध करता है ॥२७॥

(आज्यावेक्षण की उत्पत्ति बतलाई गई, अब पद्धति बतलाते हैं)—यह अध्वर्यु—"तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि' यह मन्त्र बोलता हुआ आज्य पर अपनी दृष्टि डालता है । [आज्य के यथार्थ स्वरूप का निरूपण करता हुआ प्रकृत] मन्त्र अवश्य ही सत्यस्वरूप है । यह आज्य तेज स्वरूप है यह आज्य शुक्रस्वरूप है यह आज्य अमृतस्वरूप है । इसी सत्य से यह अध्वर्यु आज्य को समृद्ध करता है ॥२८॥

इति—अनुवादप्रकरणम्

प्रथमकाण्डानुगत तृतीय अध्याय का प्रथम ब्राह्मण एवं द्वितीय प्रपाठक का चतुर्थ ब्राह्मण उपरत

सूत्रप्रदर्शित पद्धतिप्रकरण—

स्रुव–स्रुक् (जुहू–उपभृत् ध्रुवा), प्राशित्रहरण, पुरोडाशपात्री,
इडापात्री का प्रतपन, एवं संमार्जन कर वेदि पर
रखने के लिए आग्नीध्र को समर्पण

'वेदि निर्माणानन्तर इध्म-बर्हि-स्रुग् आदि का यथास्थान अभियोग कर लिया जाता है । तदनन्तर 'स्रुवं प्रतप्य पूर्वस्मिन्नवान्तरदेशे प्राक् संमार्ष्टि अनिशाम इति विपर्यस्य बर्हिर्मूलैः प्राङ्

ऐसी अवस्था में देवपत्नियों के साथ साथ यजमानपत्नी का भी देवसभामण्डपरूप वेदिस्थान में प्रवेश अनिवार्य्य होगा। ऐसा होने से) यजमानपत्नी परःपुंसा (अन्यपुरुषों के समूह में उपस्थित) होजाती है। [एक कुलीन स्त्री के लिए परपुरुषों के सम्मुख उपस्थित होना लज्जास्पद है। ऐसा नहीं होना चाहिए। अत वेदिस्थान पर देवपत्नी-यागसाधनभूत आज्य नहीं रखना चाहिए]।

प्राचीनों के इस मत का खण्डन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि अज्य-अधिश्रयण उस का वेदिस्थान में स्थापन, आदि पत्नी-सम्बन्धी सम्पूर्ण कर्म्म शास्त्र में इसीप्रकार विहित हैं। अतः यह कार्य्य वैसे ही हो इसी में यज्ञसिद्धि है। "ऐसा होने से पत्नी पुरुषसमूह में आजायगी, एव यह अनुचित होगा" इस निरर्थक युक्ति का शास्त्रादेश के सम्मुख कोई महत्त्व नहीं है। कौन बुद्धिमान् इस विषय को अच्छा एवं युक्तिसंगत कहेगा। वेदि और आज्य दोनों ही यज्ञसाधन होने से यज्ञरूप हैं। इस यज्ञ से यज्ञ का स्वरूप सम्पन्न करें यही आदरणीय एवं यथाविद [शास्त्रसिद्ध] पथ है। अतः वेदिस्थान में ही आज्य रखना चाहिए ॥२१॥

प्रोक्षणीपात्र में कुशा रक्खी हुई हैं। यहाँ से कुशा लेकर उनसे आज्य का प्रोक्षण करते हैं। प्रोक्षण का एकमात्र तात्पर्य्य है, वस्तु को मेध्य [यज्ञगमनीय] करना। इस प्रोक्षणकर्म्म से आज्य को मेध्य [देवसङ्गमनीय] ही करते हैं ॥२२॥

उत्पवनकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाती हुई श्रुति कहती है—यह का अध्वर्यु—'सवितु स्त्वा प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः' यह मन्त्र बोलता हुआ आज्य का प्रोक्षण करता है ॥२३॥

आज्यप्रोक्षणानन्तर— "सवितुष्वः प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु [प्रोक्षणकर्म्म से] घृत से संश्लिष्ट बनी हुई पवित्रों से [दर्भ से] प्रोक्षणीपानी का प्रोक्षण करता है। इस प्रोक्षण का तात्पर्य्य यही है जो कि पूर्व के प्राक्षणकर्म्म में सोपपत्तिक बतलाया जाचुका है ॥२४॥

सो जो कि अध्वर्यु आज्यलिप्त पवित्र से प्रोक्षणी का प्रोक्षण करता है इस कर्म्म से पानी मे पय [दुग्ध] का कार्य्यभूत अनतरस पयोरूप आज्य ही प्रतिष्ठित करता है। [प्रकृति में] यह पय पानी में ही प्रतिष्ठित है। जैसे कि-जब पानी बरसता है, तो ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं ओषधियाँ खा कर पानी पीकर अनन्तर यह रस [पय-आज्य] उत्पन्न होता है। इस रस की पूर्णता के लिए ही प्रकृत प्रोक्षणकर्म्म करते हैं ॥२५॥

प्रोक्षणी-प्रोक्षणानन्तर अध्वर्यु आज्यदर्शन करता है। कितने ही आचार्य्य यजमान का ही घृतदर्शन करवाते हैं। [अर्थात् इनके मत से आज्यदर्शन यजमान का ही कर्म्म है] इस पक्ष का निराकरण करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यजमान स्वयं ही अध्वर्यु बनते हुए आध्वर्य्यवकर्म्म क्यों नहीं करते ? । यजमान ही 'होता' बन कर क्यों नहीं अनुवाक्यादिरूप हौत्रकर्म करते ? ।

फिर ऋत्विजों की आवश्यकता ही क्या है ? । [यदि अन्य आघ्यय्य r, होत्र, औद्गात्रादि यज्ञस्य रूप समपक कर्म ऋत्विक् कर लेते हैं, तो फिर] प्राचीनों का इस आज्यदर्शनकर्म में ही यह धारणा कैसे बन गई कि यह कर्म तो यजमान को ही करना चाहिए ? । ऋत्विक् लोग अपने अपने कर्म से जो भी फल प्राप्त करते हैं वह यजमान को ही तो मिलता है । [ऐसी अवस्था म अध्वर्युकर्तृक आज्यदर्शन का फल यजमान को कैसे नहीं मिलेगा ? । अत —अध्वर्यु को ही आज्यदर्शन करना चाहिए ॥२६॥

यह अध्वर्यु आज्यदर्शन करता है । चक्षुरिन्द्रिय सत्यरूप इसीलिए है कि, जब दो मनुष्य परस्पर झगड़ा करते हुए हमारे सम्मुख आते हैं, और उनमें से एक कहता है कि—मैंने ऐसा आँखों से देखा है । दूसरा कहता है कि मैंने ऐसा अपने कानों से सुना है, तो दोनों में से जो व्यक्ति मैंने ऐसा अपनी आँखों से देखा है यह कहता है हम उसी के कथन पर श्रद्धा करते हैं । (अतः चक्षु अवश्य ही सत्य है) । इस सत्यचक्षु से आज्यदर्शन करता हुआ अध्वर्यु सत्यतत्त्व से ही आज्य को समृद्ध करता है ॥२७॥

(आज्यावेक्षण की उपपत्ति बतलादी गई, अब पद्धति बतलाते हैं)—वह अध्वर्यु—"तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि यह मन्त्र बोलता हुआ आज्य पर अपनी दृष्टि डालता है । [आज्य के यथार्थ स्वरूप का निरूपण करता हुआ प्रकृत] मन्त्र अवश्य ही सत्यस्वरूप है । यह आज्य तेजःस्वरूप है यह आज्य शुक्रस्वरूप है यह आज्य अमृतस्वरूप है । इसी सत्य से यह अध्वर्यु आज्य को समृद्ध करता है ॥२८॥

इति—अनुवादप्रकरणम्

प्रथमकाण्डानुगत तृतीय अध्याय का प्रथम ब्राह्मण एव द्वितीय प्रपाठक का चतुर्थ ब्राह्मण उपरत

सूत्रप्रदर्शित पद्धतिप्रकरण—

स्रुव–स्रुक् (जुहू–उपभृत् ध्रुवा), प्राशित्रहरण, पुरोडाशपात्री, इडापात्री का प्रतपन, एव समार्जन कर वेदि पर रखने के लिए आग्नीध्र को समर्पण

'यदि निर्माणानन्तर इध्म बर्हि–आज्य आदि का यथास्थान सन्निवेश कर दिया जाता है । तदनन्तर 'स्रुव प्रतप्य पृथग्द्वयामरम्तरतः प्राङ् संमार्ष्टि अनिशात' इति यिपर्यस्य बर्हिर्मूलैः प्राङ्न्

कम्य' (का श्रौ सू २।६।१९) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार गार्हपत्यकुण्ड के पश्चिम भाग में बैठकर अध्वर्यु पहिले गार्हपत्याग्नि में 'प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः । निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः (यज्ञकर्म का अवरोध करने वाले राक्षस तपा दिए गए हैं, यज्ञसम्पत्ति का आगमन रोकने वाले अराति तपा दिए गए हैं एवं विशेषरूप से तपा दिए गए हैं) यह मन्त्र बोलता हुआ शूर्प, एवं अग्नीहोत्रहवणी की भाँति स्रुव को तपाता है । स्रुव के तपाने के अनन्तर उसी स्थान में बैठा बैठा ही अध्वर्यु थोड़ा सा पूर्व की ओर झुकता हुआ अपने बाएँ हाथ में तो प्रतप्त स्रुव ले लेता है एवं दक्षिण हाथ में कुशाग्र लेकर- 'अनिशितोऽसि सपत्नक्षित्, वाजिनं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि" (हे स्रुव ! तुम (शत्रु के लिए महा निशित तीक्ष्ण होते हुए भी हमारे यजमान के लिए सर्वथा अनिशित (शान्त) हो । सपत्नों (शत्रुओं) का नाश करने वाले हो, यज्ञमूर्तिरूप तुम्हारा (स्रुव का) यज्ञस्वरूपसिद्धि के लिए ही मैं (अध्वर्यु) सम्यक् प्रकार से शोधन करता हूँ) यह मन्त्र बोलता हुआ दक्षिणहस्त-गृहीत उन कुशाओं से स्रुव के मूल से आरम्भ कर मुख पर्य्यन्त स्रुव का सम्मार्जन करता है । मूल से मुख पर्य्यन्त कुशा से स्रुव को स्वच्छ करदेना ही 'सम्मार्ज्जनकर्म्म' है । इसप्रकार एकबार तो वेदाग्रों से सम्मार्जन होता है । अनन्तर अध्वर्यु पुन कुछ पूर्व की ओर झुकता हुआ वही उक्त (अनिशितोऽसीत्यादि) मन्त्र बोलता हुआ स्रुव के पृष्ठभाग में मुखभाग से आरम्भ कर मूलभाग पर्य्यन्त कुशामूल से स्रुव का सम्मार्जन करता है । अध्वर्यु का पूर्व की ओर उत्क्रमण केवल उभयविध सम्मार्जनकर्म्म में ही होता है प्रतपन कर्म्म में उत्क्रमण नहीं होता । कारण— 'तस्माद् तथैव संमृज्याद्यथाऽग्निं नाभिव्युक्षेत् प्राक्तिर्वोमृक्म्य" इत्यादि रूप से श्रुति ने सम्मार्जनकर्म्म के साथ ही उत्क्रमण का सम्बन्ध माना है । स्रुवप्रतपन, और सम्मार्जन के अनन्तर जुहू-उपभृत्-ध्रुवा इन स्रुवों का 'अनिशिते' ति स्रुचः (का श्रौ० सू० २।६।४१) इत्यादि सूत्रानुसार 'प्रत्युष्टं रक्षः इत्यादि से पहिले गार्हपत्य में प्रतपन, अनन्तर 'अनिशितोऽसि इत्यादि पूर्वोक्त मन्त्र से सम्मार्जन करता है ।

स्रुव-स्रुचों के सम्मार्ज्जनानन्तर- प्रतप्य प्रतप्य प्रयच्छति' (का श्रौ० सू २।६।४ के अनुसार "प्रत्युष्टं रक्षः० इत्यादि उक्त मन्त्र बोल कर स्रुवादि को पुनः गार्हपत्याग्नि में तपा तपा कर (वेदि पर रखने के लिए) पुनः प्रतप्त स्रुवादि को आग्नीध्र के हाथ में सौंपता जाता है । स्रुव-स्रुच् (जुहू-उपभृत्-ध्रुवा) इन चार के अतिरिक्त प्राशित्रहरण शृतावदान पुरोडाशपात्री इडापात्री इनका प्रतपन एवं सम्मार्जन (बिना मन्त्र बोले तूष्णीं ही) किया जाता है जैसाकि-"तूष्णीं प्राशित्रहरणं शृतावदान पात्रीं च ' (का श्रौ सू २।६।४) इत्यादि सूत्र से स्पष्ट है । इसप्रकार 'पहिले प्रतपन पुन' कुशाग्र-कुशामूल-भेद से नीचे से ऊपर पर्य्यन्त एवं ऊपर से नीचे पर्य्यन्त सम्मार्ज्जन पुन' प्रतपन सर्वान्त में आग्नीध्र को समर्पण -(वेदिस्थान में रखने के लिए) इस कर्म्मकलाप की समष्टि का नाम ही 'पात्रसम्मार्ज्जन कर्म्म है ।

जिन वेदाग्र एवं वेदमूलों से उक्त सम्मार्ज्जनकर्म्म किया जाता है उन्हें- 'सम्मार्जनान्यपास्यति" (का श्रौ सू २।६।४२) के अनुसार उत्कर में फेंक देते हैं । यद्यपि- आहवनीये प्रासनमेके' (का श्रौ सू २।६।४४) के अनुसार किन्हीं आचार्यों के मतानुसार सम्मार्जन-साधनभूत वेद को आहवनीयाग्नि में प्रक्षिप्त करना उपलब्ध होता है । परन्तु श्रुति की विप्रतिपत्ति गार्हपत्याग्नि में वर्ग डालने के

सम्बन्ध में बतलाई है, वही दोष ग्राहवनीयाग्नि में डालने से प्राप्त होता है। अतएव मुनि ने 'तदु तथा न कुर्य्यात्' इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में ग्रग्नि में डालने का निषेध ही किया है। ऐसी ग्रवस्था में प्रत्येक दशा में इन दमतृणों को उत्कर में ही डालना चाहिए।

इति-द्रव्यसम्मार्ज्जनम्
(ब्रा० की १ क० से ११ क० पर्य्यन्त)

त्रिवृत् मुञ्जमय योक्त्र से यजमानपत्नी का सन्नहन–

ग्रग्निसम्मार्ज्जनानन्तर–"पत्नीं सन्नह्यति प्रत्यगुदक्षिणत उपविष्टां गार्हपत्यस्य मुञ्जयोक्त्रेण त्रिवृता परिहरस्त्यदित्यै रास्नासीति' (का० श्रौ० सू० २।७।१) इस सूत्र–सिद्धान्तानुसार गार्हपत्याग्निकुण्ड के दक्षिणभागरूप नैर्ऋतकोण में पूर्वाभिमुख मन कर बैठी हुई यजमानपत्नी को ग्रध्वर्य्यु त्रिगुणित मुञ्ज (मूँज नाम से लोकभाषा में प्रसिद्ध) से बने हुए योक्त्र (रज्जु) से (पत्नी के वस्त्रों के ऊपर) नाभि से नीचे के कटि भाग में "ग्रदित्यै रास्नासि" (हे योक्त्ररूप रज्जु ! तुम ग्रदिति पृथिवी–रूपा यजमानपत्नी के लिए रास्ना–मेखला–रूप हो) यह मन्त्र बोलता हुग्रा बाँधता है। योक्त्रबन्धनकाल में–"दक्षिणपाशमुत्तर प्रतिमुच्योध्वमुद्गूहति विष्णोर्वेष्प्य इति (का० श्रौ० सू० २।४।१२) के अनुसार योक्त्र के दक्षिणप्रपाश को उत्तराग्र पाश में ऊपर से पिरोकर नीचे खींच कर पाश को द्विगुणित करके, उत्तरपाश में प्रोत होकर ऊपर की ओर निकले हुए दक्षिण पाशाग्रभाग को–"विष्णोर्वेष्प्योऽसि' (हे दक्षिणपाशाग्र ! ग्राप यज्ञ का वेष्टन करने वाले हो) यह मन्त्र बोलता हुग्रा योक्त्र के मध्य में न्यवित कर देता है। 'न ग्रन्थिं करोति' (का० श्रौ० सू० २।७।३।) के ग्रादेशानुसार योक्त्र में गाँठ नहीं लगाई जाती।

इति-पत्नीसन्नहनकर्म्म
(ब्रा० की १२ क० से १७ क० पर्य्यन्त)

घृत ठँडा करने के पश्चात् ग्रध्वर्य्यु के द्वारा बैठी हुई यजमानपत्नी का समन्त्रक ग्राज्य-दर्शन

पत्नीसन्नहनकर्म्म के ग्रनन्तर— 'ऊर्जे त्वा त्याज्यमुद्वास्य पत्नीमवेक्षय 'त्यदब्धनेति' (का० श्रौ० सू० २।७।४) इसके ग्रनुसार ग्रध्वर्य्यु —"ऊर्जे त्वा (हे ग्राज्य ! बलप्रद रस की प्राप्ति के लिए तुम्हें उद्वासित करता हूँ) यह मन्त्र बोलता हुग्रा पहिले से ही गार्हपत्याग्नि पर पात्र में रक्खे हुए द्रुत घृत को ग्रग्नि से उतार कर नीचे करता है। ग्रनन्तर "पत्न्याज्यमवेक्षस्व' (हे पत्नी ! ग्राज्य के दर्शन करो ग्रथवा इसमें ग्रपना मुख देखो) यह प्रेष करता हुग्रा पत्नी से "ग्रदब्धेन त्वा चक्षुषा पश्यामि।

अग्नेर्जिह्वासि, सुहूर्देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने मे भव, यजुषे यजुषे' (हे आज्य ! मैं निदुष्ट नेत्रों से तुम्हारा दर्शन कर रही हूँ । हे आज्य ! तुम अग्नि की जिह्वा हो, अतएव [जिह्वारूप होने से ही] तुम देवताओं के अच्छे बुलाने वाले हो । ऐसे आप प्रत्येक कर्म कर्म के लिए, मन्त्र मन्त्र के लिए समर्थ बनें) यह मन्त्र बुलवाता हुआ पत्नी से आज्यदर्शन करवाता है । यदि पत्नी किसी आवश्यक प्रतिबन्ध के कारण यज्ञ में उपस्थित न हो, तो ऐसी अवस्था में अध्वर्यु को ही आज्यदर्शन कर लेना चाहिए, यह सूत्रकार का मत है । ब्राह्मणश्रुति के अनुसार तो पत्नी के अभाव में आज्य बिना देखे ही यथास्थान रख दिया जाता है । आज्या वेक्षणानन्तर—'वेद्यां करत्यपरं प्रोक्षणीभ्यः [का० श्रौ० सू० २।७।५] के अनुसार अध्वर्यु प्रोक्षणीपात्र से पश्चिम भाग में वेदि पर आज्य रख देता है । यदि इस यजमान के यज्ञ में आहवनीयाग्नि में ही हविद्रव्यों का परिपाक होता है, तो इस आहवनीयाधिश्रयण-पक्ष में—'आहवनीये वा कृत्वा तच्छ्रपिणः [का० श्रौ० सू० २।७।६] के अनुसार पत्न्यवेक्षणानन्तर पहिले आज्य को आहवनीय पर रक्खा जाता है पुनः उद्वासित कर पूर्वकथनानुसार प्रोक्षणीपात्र के पश्चिम में वेदि पर रक्खा जाता है ।

इति—आज्यावेक्षणकर्म्म
(ब्रा० की १८ कं० से २१ कं० पर्य्यन्त)

आज्य और प्रोक्षणी का उत्पवन, एवं अध्वर्य्युकृत आज्यदर्शन

आज्य रखने के अनन्तर वह अध्वर्य्यु— सवितुस्त्व त्वाज्यमुत्पुनाति प्रोक्षणीश्च पूर्ववत् [का० श्रौ० सू० २।७।७] इसके अनुसार प्रोक्षणी पानी में रक्खे हुए पवित्र [दर्भ] से सवितुर्व०" इत्यादि पूर्वोपात्त मन्त्र बोलता हुआ पहिले आज्य का प्रोक्षण करता है अनन्तर आज्य—सम्बन्ध से आज्ययुक्त बने हुए इन्हीं पवित्रों से वही मन्त्र बोलता हुआ प्रोक्षणीपानी का प्रोक्षण करता है । इसप्रकार आज्य एवं प्रोक्षणी—उत्पवनानन्तर—'आज्यमवेक्षते 'तेजोसी' ति यजमानो वा' [का० श्रौ० सू० २।७।८] के अनुसार वह अध्वर्य्यु अथवा यजमान [दोनों में से कोई भी] 'तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि" [हे आज्य ! आप तेजोमय हैं शुक्ररूप है, अमृतस्वरूप है] यह मन्त्र बोलता हुआ आज्यदर्शन करता है । सूत्रकार ने पक्षान्तर का आदर करते हुए 'यजमानो वा' भी कह दिया है । वस्तुतः शतपथब्राह्मण के मतानुसार यह आज्यावेक्षणकर्म्म अध्वर्य्यु को ही करना चाहिए ।

इति—आज्यावेक्षणम्
(ब्रा० की २२ कं० से २८ कं० पर्य्यन्त)

ब्राह्मणोक्त—कर्म्मसंग्रह—

१—द्रव्यसंस्कार
२—पत्नीसन्नहन

३—पत्नीकृत आज्यावेक्षण
४—आज्य-स्थापन
५—आज्य, एवं प्रोक्षणी का पवित्रों से उत्पवन
६—अध्वर्युकृत आज्यावेक्षण

इति-पद्धतिप्रकरणम्

उपपत्तिप्रकरणम्—

१ -द्रव्यसंस्कारोपपत्ति

(आज्य)-स्रुव-जुहू-उपभृत ध्रुवा-पुरोडाशपात्री-इडापात्री-आदि यज्ञियपात्र प्राणदेवताओं के आहुति-साधक बनते हुए इनके [देवताओं के] भोजन करने के पात्र हैं। लोकव्यवहार में जिन पात्रों में मनुष्य भोजन करते हैं, भोजनपरिवेषण [परोसने] से पहिले पात्रों को पानी * से धोकर स्वच्छ कर लिया जाता है, अनन्तर इन पात्रों में भोजन परोसा जाता है। भोजनपरिवेषण से पहिले पात्रशुद्धि सर्वथा अपेक्षित है, यही कहना है। इसी शुद्धिभाव के लिए प्रकृतयज्ञ में देवताओं के भोजनसाधन—पात्रों का संस्कार करना आवश्यक होजाता है। देवता सौर मण्डल की वस्तु हैं। इधर साधारण पानी पार्थिव है। इस लौकिक पेय पानी से देवपात्रों का सम्मार्जन करना ठीक नहीं। जिसप्रकार लौकिक मनुष्य, और प्राणदेवताओं के स्वरूप में भेद है, जैसे इनके भोजनपात्रों के स्वरूप में विभिन्नता है, तथैव सम्मार्जनीय-पानी में भी भेद होना आवश्यक है। इसी पृथक्करण के लिए पानी के स्थान में यहाँ 'कुशा' का ग्रहण किया जाता है। सौररश्मिमण्डल में प्रविष्ट पारमेष्ठ्य 'अम्भ' नाम का पवित्र पानी ही 'घन' कहलाता है। इसी ज्योतिर्मय 'घनपानी' से कुशा का निर्माण होता है जैसा कि पूर्व के दर्भोत्पत्तिप्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है। दर्भ साक्षात् दिव्य पानी है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने— 'आपो वै कुशाः' यह कहा है। साथ ही यहाँ मनुष्योपयोगी पात्रों का सम्मार्जन सुष्णी किया जाता है, वहाँ प्रकृत यज्ञिय पात्रों का सम्मार्जन "अग्नि शिवोऽस्मि' इत्यादि मन्त्र से किया जाता है। इसप्रकार कुशारूप दिव्यपानी एवं दिव्यमन्त्र-बल इन दोनों से सम्मार्जन होने से दिव्यकर्म का मनुष्यकर्म से सर्वथा पृथक्करण होजाता है ॥१२॥

---

* मरुभूमि में विशेषतः राजपूताने में पानी की कमी के कारण मृत्तिका-रक्षा-[राख] आदि से ही पात्र पवित्र मान लिए जाते हैं। इस पद्धति की इतनी प्रधानता होगई है कि यदि माञ्जन [माँजन] के अनन्तर पात्र धोलिए जाते हैं तो वे सर्वथा अपवित्र मान लिए जाते हैं। उक्त श्रुति के आधार पर हम कह सकते हैं कि यदि पानी पर्याप्त मात्रा में मिले तो माञ्जन के अनन्तर पात्रों को अवश्य ही धोडालना चाहिए। बिना पानी से धोए पात्रशुद्धि नहीं होती। यदि पानी ही न मिले तो प्रचलित-पद्धति का अनुसरण करना चाहिए, जैसाकि पूर्व टिप्पणी में भी स्पष्ट किया जाचुका है।

सम्मार्जन से पहिले पात्रों को तपाया जाता है। अन्तरिक्ष में रहने वाले वारुण वायु में आसुरप्राण व्याप्त रहता है। यह वारुण असुर ऐन्द्रयज्ञ का विरोधी है। जहाँ दिव्यप्राण का संचार होता है वहीं स्वभाव के सम्बन्ध से यह इस दिव्यकर्म (दिव्यकर्म में युक्त पात्रादि वस्तुओं) में आक्रमण करने लगता है। इधर अग्नि, और मन्त्रबल दोनों ही आसुरप्राण के विघातक हैं। पात्रों में वायु के द्वारा आगत प्राण रूप, अतएव चर्मचक्षु से अदृश्य इन असुरों का अपोपक्रम में ही नाश करने के लिए मन्त्रबल-युक्त प्रतपनकर्म्म किया जाता है। अग्निपरिताप से अवश्य ही अदृष्ट दोष * एवं सूक्ष्म कीटाणु नष्ट होजाते हैं यह प्रत्यक्ष सिद्ध है ॥४–५॥

आरम्भ में बतलाया जाचुका है कि, यह सम्मार्जन अलौकिक है। यज्ञ में ऐसा कोई भी कर्म्म नहीं, जो निरर्थक हो, एवं जिस का प्राकृतिक-स्थिति के साथ सम्बन्ध न हो। यज्ञ से जैसा अलौकिक नवीन दैवात्मा उत्पन्न किया जाता है जैसा कि पूर्वप्रकरणों में अनेक बार कहा जाचुका है। इस दिव्यात्मा का स्वरूप-निर्माण जिन जिन तत्त्वों से होता है यज्ञकर्त्ता ऋत्विजों को उन उन तत्त्वों की प्रत्येक कर्म्म में भावना करनी पड़ती है। प्रकृत सम्मार्जनकर्म्म भी उस भावना से रिक्त नहीं है। एक बार सम्मार्जन स्रुव के मूल से ऊपर तक होता है, दुबारा पृष्ठभाग में ऊपर से नीचे की ओर होता है। इसी ऊर्ध्व-अधोभाव का श्रुति से निर्देश करते हुए- 'इति-अग्रैरन्तरतः' 'इति-अग्रैरन्तरतः' यह अभिनय किया गया है। 'आगमन' प्राणव्यापार है एवं 'गमन' उदान (अपान) व्यापार है। शतपथ में 'उदान' शब्द से सर्वत्र 'अपान' ही अभिप्रेत है। प्राण आगतिधर्म्मा है। सम्मार्जन में आगति-गतिभावों का समावेश करता हुआ अध्वर्यु भावना के द्वारा स्रुव में प्राणापान (प्राणापान) का ही आधान करता है। इसी स्रुव से देवयजन होने वाला है आहुति से दिव्यात्मा का जन्म होने वाला है। ऐसी परिस्थिति में स्रुव-सम्बन्धी प्राणोदान आहुति में प्रविष्ट होता हुआ दिव्यात्मा के प्राणोदानोत्पत्ति का ही कारण बन जाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर 'प्राणोदानावेवैतद्दधाति' यह कहा गया है। ध्यान रहे-स्रुवस्थित प्राणोदान से ही दिव्यात्मा के शरीर के रोमों का निर्माण होने वाला है। रोमावली में प्राणोदानवत् (एक इधर झुका हुआ एक उधर झुका हुआ यह) परिस्थिति रहती है। दूसरे शब्दों में-रोम का स्वरूप ठीक प्राणोदानव्यापार की प्रतिकृति (नकल) है। प्राकृतिक यज्ञ से उत्पन्न रोम प्राणोदानयुक्त हैं। इधर स्रुवप्रदत्त आहुति द्रव्य ही दिव्यात्मा के रोमयुक्त शरीर का उपादान बनने वाला है। अतः पुरुषो वै यज्ञः इस सिद्धान्त के अनुसार यहाँ सम्मार्जनकर्म्म की विशेषप्रक्रिया में प्राणोदान का समावेश करना परम आवश्यक है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर 'तस्मादितीवमानि लोमानि इतीवमानि' यह कहा गया है।

जिसप्रकार प्राणोदानरूपा (प्राणापानमयी) सौररश्मियाँ देवप्राण के लिए उपादेय, एवं शान्त रहती हुई तमोमय आसुरप्राण के विनाश का कारण बनी रहती हैं, तथैव प्राणोदानयुक्त स्रुव यहाँ यज्ञकर्त्ता यजमान

---

*–यदि किसी पात्र में रजस्वला स्त्री प्रमादवश भोजन कर लेती है तो वह पात्र अशुद्ध होजाता है। इसीप्रकार पङ्क-मल मूत्रादि निकृष्ट पदार्थों के सम्बन्ध से भी आसुरभाव से युक्त बनते हुए पात्र अपवित्र होजाते हैं। ऐसे अपवित्र पात्रों को आज भी राजपूताने के लोग अग्नि में तपा कर तदनन्तर ही वहाँ व्यवहार में लाते हैं। इनके इस व्यवहार का मूल उक्त श्रौत प्रतपनकर्म्म' ही है।

के लिए अनिशित (शान्त–उपकारक–यज्ञस्वरूपसाधक) है, वहाँ यजमान के शत्रुओं के लिए वही विनाश का कारण है। स्रुव की इसी स्वाभाविकी शक्ति का निरूपण करते हुए– 'अनिशितोऽसि सपत्नक्षित्' यह कहा गया है।

राजा–याज–श्रुषि–ग्रह–भेद से आहुतिद्रव्यरूप सोम की चार जातियाँ होतीं हैं। प्रकृत यज्ञ (इष्टि) में जो हविद्रव्य है वह याजात्मक (अन्नसोमात्मक) है। अन्नरसरूप यही 'याज' यज्ञसाधक बनता हुआ यज्ञरूप है। यज्ञरूप इस याज की यज्ञता स्रुव पर ही अवलम्बित है। अतः हम इस स्रुव को अवश्य ही 'याज (यज्ञस्वरूपसमर्पक) कहसकते हैं। यह 'याजरूप स्रुव 'याजरूप (अन्नरूप) यज्ञ' का दो प्रकार से समिन्धन (प्रज्वलन) करता है। अग्नि में आहुत करना पहिला समिन्धन है एवं स्वगत प्राणोदान को मृन्मय पात्र (पुरोडाश) में समाविष्ट करना दूसरा समिन्धन है। स्रुव के इसी स्वरूपधर्म्म को लक्ष्य में रख कर 'वाजिनं त्वा वाजेध्यायै संमार्ज्मि' यह कहा गया है। प्राशित्रहरणपात्री एवं इडापात्री का प्रायः देवताओं से विशेष सम्बन्ध नहीं है। अतः इनका सम्मार्जन तूष्णीं (अमन्त्रक) ही होता है ॥६,७॥

पहिले अध्वर्य्यु स्रुव–स्रुचादि पात्रों को तपाता है, एवं पुनः सम्मार्जन करता है। सम्मार्जनानन्तर आग्नीध्र पुनः एक बार गार्हपत्याग्नि में पात्रों को तपाता है। आग्नीध्रकृत प्रतपन में वैज्ञानिक उपपत्ति कुछ भी नहीं है। केवल लौकिक व्यवहार की समताद्दष्टि से ही यह पुनः प्रतपनकर्म्म किया जाता है। हम देखते हैं कि, लोक में कांस्य–पित्तलादि (काँसी–पीतल आदि) के पात्रों का पहिले अवमर्शन (खूब रगड़ कर धोया जाता) किया जाता है। इस क्रिया से यद्यपि पात्र सर्वथा स्वच्छ होजाते हैं, तो सर्वान्त में बिना अवमर्शन के (बिना घर्षण के) केवल पानी में डुबोकर पात्र पृथक् पृथक् रखदिए जाते हैं– यथामवर्शं निर्णिज्य–मनःप्रसादहेतुम परिक्षालयेत्। ठीक यही स्थिति यहाँ है। दर्भ से सम्मार्जन करना–अवमर्श (घर्षण) पूर्वक पात्रों का निर्णेजन करना है। एवं पुनः अग्नि में तपाना अनवमर्शपूर्वक पानी से प्रक्षालन करने के स्थान में है ॥८॥

स्रुव–जुहू–उपभृत–ध्रुवा आदि पात्रों में से पहिले स्रुव का सम्मार्जन होता है, अनन्तर स्रुचों का सम्मार्जन किया जाता है। 'स्रुव' शब्द पुंस्त्वभावापन्न होता हुआ वृषा' है, एवं 'स्रुक्' शब्द स्त्रीत्व से युक्त होता हुआ 'योषा' है। पुरुष के शुक्र में रहने वाला रेतःसेक का अधिष्ठाता 'पुम्भ्रूण' वृषा' कहलाता है एवं स्त्री के शोणित में रहने वाला रेतोग्राहक स्त्रीभ्रूण' योषा नाम से प्रसिद्ध है। वृषा आग्नेय है एवं योषा सौम्य है। दोनों में वृषा का ही प्राथम्य है। वैश्वयज्ञ में ही देखिए।

वृषात्मा अग्नि स्वस्थान में पहिले से प्रतिष्ठित रहता है। अनन्तर इसमें योषारूप सोम (आहुतिद्रव्य) की आहुति होती है। अग्निरूप वृषा प्रथमज है। भूतयोनिमय विश्व में स्वायम्भुव–ब्रह्माग्नि के रूप में सर्वप्रथम 'अग्नि' का ही विकास होता है 'सर्वस्याग्रमसृज्यत' इस निर्वचन से ही इसे 'अग्नि' कहा जाता है। यह अग्रि ही देवताओं की परोक्षभाषा में 'अग्नि' नाम से प्रसिद्ध है–(देखिए शत० ब्रा० ६।१।१।११)।

अपिच अग्नि अन्नाद है भोक्ता है। सोम अन्न है भोग्य है। दोनों में 'भोक्ता' प्रधान है 'भोग्य' गौण है। साथ ही यह भी सिद्ध विषय है कि, एक भोक्ता के लिए अनेक भोग्य पदार्थ रहते हैं। इसी

भोक्ता अग्नि से पुरुष का स्वरूप सम्पन्न होता है, एवं भोग्य सोम से स्त्री की स्वरूप निष्पत्ति होती है। अग्निप्रधान पुरुष अग्रेसर है एवं सोमप्रधाना स्त्री पश्चादनुगामिनी है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, जब किसी उत्सवादि में १–२ स्त्रियां सम्मिलित होकर जाती हैं, उनके साथ में यदि कोई बालक (५–७ वर्ष का लड़का) होता है, तो वह स्त्रियों के झुण्ड के आगे आगे चलता है। यदि यह क्रीड़ावश पीछे भी रहजाता है तो स्त्रियां बलात् उसे अपने आगे कर लेती हैं। कारण यही प्राकृतिक नियम है। प्रकृति चाहती है कि, अग्निमय पुरुष अग्रगामी रहें, एवं सौम्य स्त्रियां इनके अनुगत ही बनी रहें।

यही परिस्थिति यहाँ समझिए। स्रुव एक पुरुष है, अनेक स्रुक् स्त्रियाँ हैं। उक्त प्राकृतिक नियम के अनुसार इध्मा–योषा के नित्यसिद्ध पूर्वापर्य्य को लक्ष्य में रख कर वृषास्थानीय स्रुव का सम्मार्जन पहिले एवं योषास्थानीय स्रुक् का सम्मार्जन पीछे ही करना प्राकृतिक नियमक्रम की स्मृति का कारण बनता है। इसी वृषा–योषा मक यज्ञरहस्य को लक्ष्य में रख कर—'स वै स्रुवमेवाग्रे सम्मार्ष्टि अथेतरा स्रुचः' इत्यादि कहा गया है ॥ ८ ॥

गार्हपत्य के पश्चिम भाग में बैठ कर अध्वर्यु उक्त पात्रसम्मार्ज्जन कर्म्म करता है। सम्मार्ज्जन करते समय अध्वर्यु को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि, कहीं सम्मार्ज्जन–साधकभूत कुश–तृण गार्हपत्याग्नि में न गिर जायें। कारण इसका यह ही है कि, यह दर्भतृण पात्रीनिर्णेजन (पात्रों के स्वच्छ करने का पानी) है। उधर गार्हपत्याग्नि में पार्थिव प्राणाग्निदेवता विराजमान हैं। उक्त तृणादि का इस देवमूर्त्ति अग्नि में गिर जाना वैसा होगा, जैसे भोजनार्थ आगत किसी अतिथि का भोजनपात्रों के शुद्ध करने के उपयोग में आए हुए मलिन–अशुद्ध पानी से सिञ्चन करना। अतः–बड़ी सावधानी से प्राक्मुख रह कर अग्नि से कुछ हट–कर ही सम्मार्ज्जनकर्म्म करना चाहिए ॥ १ ॥

तैत्तिरीय–सम्प्रदाय का मत है कि—'यज्ञ में उपयुक्त होने वाली वेदराशि [कुशमुष्टि] यज्ञरूप है। कुश को 'वेद' नाम से व्यवहृत करने का कारण यही है कि, पूर्वकथनानुसार यह दर्भ सौर जलपानी से उत्पन्न हुए हैं। इधर महोक्थ–महाव्रत–एवं पुरुष की समष्टिरूप–यज्ञप्रपञ्च के सूक्ष्म 'सैषा त्रय्येव विद्या तपति' [शत० १०।५।२।२] के अनुसार गायत्रीमात्रिक वेदमय है। वेदमय सौर पानी से [वेदाग्निगर्भ सौर पानी से] दर्भ उत्पन्न हुए हैं अतः इन्हें अवश्य ही 'वेद' नाम से व्यवहृत किया जासकता है। इधर सम्मार्जनकर्म्म में उपयुक्त होने वाले दर्भतृण वेद–[कुशमुष्टि]–रूप यज्ञ के अवयव होने से यज्ञरूप ही हैं। उत्कर में वह वस्तु फैंकी जाती है, जिसका यज्ञ से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ऐसी अवस्था में 'यज्ञरूप किंवा यज्ञांशरूप इन दर्भतृणों को उत्कर में डालना इस यज्ञियद्रव्य को यज्ञसीमा से बाहिर डालना होगा और ऐसा करना यज्ञमर्य्यादा से विरुद्ध होगा। अतः [यज्ञांशरूप दर्भतृणों को] यज्ञसीमा में रखने के लिए इन्हें आहवनीय–अग्नि में ही डालदेना चाहिए। गार्हपत्याग्नि में इनका प्रक्षेप नहीं किया गया इसलिए तो 'यथा यस्माऽअशनमाहरिष्यन्त्स्यात् तं पात्रनिर्णेजनेनाभिषिञ्चेत्' यह पूर्वोक्त दोष नहीं रहा एवं आहवनीय में इनका प्रासन [प्रक्षेप] होगया इसलिए यह यज्ञाङ्गभूत यज्ञिय द्रव्य यज्ञसीमा से बहिर्भूत नहीं हुआ।

सूत्रकारने "आहवनीये प्रासनमेके" इत्यादि रूप से इसी पक्ष का उल्लेख किया है। जैसे पृथिवी–स्थानीय गार्हपत्याग्नि में पार्थिव प्राणाग्निदेवता प्रतिष्ठित रहते हैं, तथैव द्यु स्थानीय आहवनीयाग्नि में सौर–प्राणाग्निदेवता प्रतिष्ठित रहते हैं। एवं ये ही प्रधान अतिथि हैं। गार्हपत्य देवता घरके हैं, एवं सौर देवता प्राघुणिक (पाहुने) हैं। इन्हीं के यजन से तो दिव्यात्मा का स्वरूप सम्पन्न करना है। अत: जो दोष गार्हपत्य में प्रक्षेप का था उस से भी कहीं अधिक दोष आहवनीय में प्रासन का है। आहवनीयस्थ आगत अतिथिरूप सौर देवता हविद्रव्य की प्रतीक्षा में बैठे हैं। आप सम्मार्ज्जन–साधनभूत दर्भतृणों की आहुति देते हुए उन्हें पात्री का प्रक्षालित जल पिला रहे हैं। क्या ऐसा करना उचित होगा ?, कभी नहीं। रही यज्ञांशभूत दर्भ–तृणों की यज्ञसीमा से बाहिर निकलने की बात। सो इस के लिए स्वतन्त्र समाधान करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जो वस्तु देवताओं के उपयोग में आती है वही यज्ञिय मानी जाती है। नहीं तो प्राप्त हविद्रव्य के 'तुषों' को क्यों उत्कर में डाला जाता है ?। हवि सम्पादन के लिए शकट से धान लिया जाता है। उलूखल में मुसलके द्वारा उनके तुषों को पृथक् किया जाता है। तुषो को उत्कर में ही डाला जाता है। क्योंकि इन का आहुति से सम्बन्ध नही है अतएव इन्हें 'यज्ञिय' नही माना जासकता। यही परिस्थिति इन दर्भतृणों की है। पात्र स्वच्छ करने के पश्चात् इन का यज्ञ में कोई उपयोग नहीं रहजाता। अत: इन्हें यज्ञिय–पदार्थ नहीं माना जासकता। ऐसी अवस्था में इन्हें यज्ञसीमा से बाहिर उत्कर में ही फैंक देना चाहिये ॥ ११ ॥

इति—द्रव्यसंस्कारोपपत्ति,

२—पत्नीसन्नहनोपपत्ति.—

पत्नीसन्नहनकर्म्म का तात्पर्य्य है—पत्नी का यज्ञ के साथ योग करना। यजमानपत्नी पत्नी है 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इस पाणिनीय-सिद्धान्त के अनुसार यज्ञ के सम्बन्ध से ही पत्नी शब्द निष्पन्न हुआ है। यह पत्नी शब्द ही इस तथ्य का सूचक है कि, इस का यज्ञ में अवश्य ही सम्बन्ध कराया जाय। बिना पत्नी के यजमान का यज्ञ सर्वथा अपूर्ण (अधूरा) रहता है। कारण स्पष्ट है। प्राकृतिक नित्य आधिदैविक-यज्ञ का निरीक्षण कीजिए। यज्ञ के द्वारा सृष्टिरूप-प्रजा को उत्पन्न करने की इच्छा रखने वाले प्रजापति को अपना शरीर पति–पत्नि रूप से दो भागों में विभक्त करना पड़ता है। इन दोनों के मिथुनभाव से ही विराट्प्रजा की उत्पत्ति होती है जैसा कि निम्न लिखित स्मार्त वचन से स्पष्ट है—

> द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
> अर्द्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः।।
>
> —मनु १ अ० ३२

स्वयम्भू प्रजापति वेदमूर्त्ति हैं। वेदतत्व ऋक्–साम–यजुः भेद से तीन भागों में विभक्त है। इन तीनों में यजुः वास्तव में यज्जू (यत्–जू) है। यद्भाग वाक् है वही अग्नि है। इसी को यज्ञिय–परिभाषानुसार 'सायंयाजुपमग्नि' कहा जाता है। विज्ञानदृष्ट्या यही वागग्नि "सत्याग्नि" नाम से प्रसिद्ध है। जूभाग प्राण है, यही वायु है। यह वाक्–प्राण–[अग्नि–वायु]–मूर्त्ति यजु किंवा यजुर्वेदमूर्त्ति स्वयम्भू

सौम्य अग्नि से पुरुष का आत्मा सम्पन्न होता है, एवं सौम्य सोम से स्त्री की स्वरूप-निष्पत्ति होती है। अग्निप्रधान पुरुष अग्रेसर है, एवं सोमप्रधाना स्त्री पश्चादनुयायिनी है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, जब किसी उत्सवादि में १०-२० स्त्रियां सम्मिलित होकर जाती हैं, उनके साथ में यदि कोई बालक (५-७ वर्ष का लड़का) होता है, तो वह स्त्रियों के झुण्ड के आगे आगे चलता है। यदि वह लज्जावश पीछे भी रहजाता है तो स्त्रियां बलात् उसे अपने आगे कर लेती हैं। कारण यही प्राकृतिक नियम है। प्रकृति चाहती है कि, अग्निमय पुरुष अग्रगामी रहे, एवं सौम्य स्त्रियां इनके अनुगत ही बनी रहें।

यही परिस्थिति यहां समझिए। स्रुव एक पुरुष है, अनेक स्रुक् स्त्रियाँ हैं। उक्त प्राकृतिक नियम के अनुसार वृषा-योषा के नित्यसिद्ध पूर्वापर्य्य को लक्ष्य में रख कर वृषास्थानीय स्रुव का सम्मार्जन पहिले एवं योषास्थानीय स्रुक् का सम्मार्जन पीछे ही करना प्राकृतिक नित्यपक्ष की समृद्धि का कारण बनता है। इसी वृषा-योषात्मक यज्ञरहस्य को लक्ष्य में रख कर—' स वै स्रुवमेवाग्रे सम्मार्ष्टि अथेतराः स्रुचः' इत्यादि कहा गया है ॥ ६ ॥

गार्हपत्य के पश्चिम भाग में बैठ कर अध्वर्य्यु उक्त पात्रसम्मार्जनकर्म्म करता है। सम्मार्जन करते समय अध्वर्य्यु को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि, कहीं सम्मार्जन-साधनभूत कुश-तृण गार्हपत्याग्नि में न गिर जायें। कारण इसका यह ही है कि, यह दर्भतृण पात्रीनिर्णेजन (पात्रों के स्वच्छ करने का पानी) है। उधर गार्हपत्याग्नि में पार्थिव प्राणाग्निदेवता विराजमान हैं। उक्त तृणादि का इस देवमूर्त्ति अग्नि में गिर जाना वैसा होगा जैसे भोजनार्थ आगत किसी अतिथि का भोजनपात्रों के शुद्ध करने के उपयोग में आए हुए मलिन-अशुद्ध पानी से सिञ्चन करना। अतः-बड़ी सावधानी से प्राङ्मुख रह कर अग्नि से कुछ हट-कर ही सम्मार्जनकर्म्म करना चाहिए ॥ १० ॥

तैत्तिरीय-सम्प्रदाय का मत है कि—'यज्ञ में उपयुक्त होने वाली पदराशि [कुशमुष्टि] यज्ञरूप है। कुश को 'वेद' नाम से व्यवहृत करने का कारण यही है कि, पूर्वकथनानुसार यह दर्भ और वेनपानी से उत्पन्न हुए हैं। इधर महोक्थ-महाव्रत-एवं पुरुष की समष्टिरूप यज्ञप्रवर्त्तक सूर्य्य 'सैषा त्रय्येव विद्या तपति' [शत० १०।५।२।२] के अनुसार गायत्रीमात्रिक वेदमय है। वेदमय और पानी से [वेदापश्चिम और माप से] दर्भ उत्पन्न हुए हैं अतः इन्हें अवश्य ही 'वेद' नाम से व्यवहृत किया जासकता है। इधर सम्मार्जनकर्म्म में उपयुक्त होने वाले दर्भतृण वेद-[कुशमुष्टि]-रूप यज्ञ के अवयव होने से यज्ञरूप ही हैं। उत्कर में वह वस्तु फैंकी जाती है, जिसका यज्ञ से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ऐसी अवस्था में यज्ञरूप किंवा यज्ञांशरूप इन दर्भतृणों को उत्कर में डालना इस यज्ञियद्रव्य को यज्ञसीमा से बाहिर डालना होगा और ऐसा करना यज्ञमर्य्यादा से विरुद्ध होगा। अतः [यज्ञांशरूप दर्भतृणों को] यज्ञसीमा में रखने के लिए इन्हें आहवनीय-अग्नि में ही डालदेना चाहिए। गार्हपत्याग्नि में इनका प्रक्षेप नहीं किया गया इसलिए तो 'यथा यस्माऽअशनमाहरिष्यन्स्यात् तं पात्रनिर्णेजनेनाभिषिञ्चेत्' यह पूर्वोक्त दोष नहीं रहा एवं आहवनीय में इसका प्रास्तन [प्रक्षेप] होगया इसलिए यह यज्ञाङ्गभूत यज्ञिय द्रव्य यज्ञसीमा से बहिर्भूत नहीं हुआ।

सूत्रकारने ' आहवनीये प्रासनमेके ' इत्यादि रूप से इसी पक्ष का उल्लेख किया है। जैसे पृथिवी-स्थानीय गार्हपत्याग्नि में पार्थिव प्राणाग्निदेवता प्रतिष्ठित रहते हैं तथैव द्युस्थानीय आहवनीयाग्नि में सौर-प्राणाग्निदेवता प्रतिष्ठित रहते हैं। एवं ये ही प्रधान अतिथि हैं। गार्हपत्य देवता घरके हैं एवं सौर देवता प्राघुणिक (पाहुने) हैं। इन्हीं के यजन से तो दिव्यात्मा का स्वरूप सम्पन्न करना है। अतः जो दोष गार्हपत्य में प्रक्षेप का था, उस से भी कहीं अधिक दोष आहवनीय में प्रासन का है। आहवनीयस्थ आगत अतिथिरूप सौर देवता हविर्द्रव्य की प्रतीक्षा में बैठे हैं। आप सम्मार्जन-साधनभूत दर्भतृणों की आहुति देते हुए उन्हें पात्री का प्रक्षालित जल पिला रहे हैं। क्या ऐसा करना उचित होगा ?, कभी नहीं। रही यज्ञांशभूत दर्भ-तृणों की यज्ञसीमा से बाहिर निकलने की बात। सो इस के लिए स्वतन्त्र समाधान करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जो वस्तु देवताओं के उपयोग में आती है वही यज्ञिय मानी जाती है। नहीं, तो प्राप्य हविर्द्रव्य के 'तुषों' को क्यों उत्कर में डाला जाता है ? । हविःसम्पादन के लिए शकट से धान लिया जाता है। उलूखल में मुसलके द्वारा उनके तुषों को पृथक् किया जाता है। तुषों को उत्कर में हीं डाला जाता है। क्योंकि इन का आहुति से सम्बन्ध नहीं है, अतएव इन्हें 'यज्ञिय' नहीं माना जासकता। यही परिस्थिति इन दर्भतृणों की है। पात्र स्वच्छ करने के पश्चात् इन का यज्ञ में कोई उपयोग नहीं रहजाता। अतः इन्हें यज्ञिय-पदार्थ नहीं माना जासकता। ऐसी अवस्था में इन्हें यज्ञसीमा से बाहिर उत्कर में ही फेंक देना चाहिये ॥ ११ ॥

इति—द्रव्यसंस्कारोपपत्ति,

—•—

२—पत्नीसन्नहनोपपत्ति —

पत्नीसन्नहनकर्म्म का तात्पर्य्य है—पत्नी का यज्ञ के साथ योग करना। यजमानपत्नी पत्नी है 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इस पाणिनीय-सिद्धान्त के अनुसार यज्ञ के सम्बन्ध से ही पत्नी शब्द निष्पन्न हुआ है। यह 'पत्नी' शब्द ही इस तथ्य का सूचक है कि, इस का यज्ञ में अवश्य ही सम्बन्ध कराया जाय। बिना पत्नी के यजमान का यज्ञ सर्वथा अपूर्ण (अधूरा) रहता है। कारण स्पष्ट है। प्राकृतिक नित्य आधिदैविक-यज्ञ का निरीक्षण कीजिए। यज्ञ के द्वारा सृष्टिरूप-प्रजा को उत्पन्न करने की इच्छा रखने वाले प्रजापति को अपना शरीर पति-पत्नि रूप से दो भागों में विभक्त करना पड़ता है। इन दोनों के मिथुनभाव से ही विराट्प्रजा की उत्पत्ति होती है जैसा कि निम्न लिखित स्मार्त वचन से स्पष्ट है—

> द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।
> अर्द्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥
>
> —मनु १ अ ३२

स्वयम्भू प्रजापति वेदमूर्त्ति हैं। वेदतत्त्व ऋक्-साम-यजुः भेद से तीन भागों में विभक्त है। इन तीनों में यजु वास्तव में यज्जू (यत्-जू) है। यद्भाग वायु है यही अग्नि है। इसी को यज्ञिय-परिभाषा-नुसार 'साधयाजुषअग्नि' कहा जाता है। विज्ञानदृष्ट्या यही वागग्नि ' सत्याग्नि ' नाम से प्रसिद्ध है। जूभाग प्राण है, यही वायु है। यह वाक्-प्राण-[अग्नि-वायु]-मूर्त्ति यजु किंवा यजुर्वेदमूर्त्ति स्वयम्भू

हुआ क्या ?, एवं हो क्या रहा है ? । धार्म्मिक-प्रजा ने परिवर्त्तनशील देश-काल-पात्र द्रव्यादि से सम्बन्ध रखने वाले तत्तत्सामयिक (अतएव तत्तत्समय के लिए ही उपादेय) आचार-व्यवहारों का ग्रन्थि-बन्धन करते हुए उसे भी सामयिक बना डाला । अतीत सम्यता, क्रिया आचार-व्यवहार देशकालादि के परिवर्त्तन से स्मृतिगम में विलीन होते गए, आगे आगे नवीन विकास जन्म लेते गए । उधर शाश्वतधर्म्म पर सहसात्कार से उन सामयिक आचारादि का लेप चढ़ता रहा । परिणाम इसका यह हुआ कि-धर्म्मतत्त्व सर्वथा अन्तर्हित होगया एवं प्रधानता रह गई केवल रूढ़िवाद की । शाश्वतधर्म्म 'अनित्य मतवाद मात्र' बनता हुआ परमार्थसाधन के स्थान में विशुद्ध स्वार्थ का ही पोषक बना रह गया ।

भला मानवीय मन कबतक धर्म्म के इस तारतम्य की सहन करता रहता ? । परिणाम वही हुआ जो होना चाहिए था । कुछ एक नेताओंनें जनता को सावधान किया कि, जिसे तुमनें 'धर्म्म' समझ रक्खा है वह व्याजधर्म्म है धर्म्म की ओट में रूढ़िवाद पनप रहा है । इसी धर्म्म के धोके ने तुम्हारी स्वतन्त्रता का अपहरण किया है । परिणाम जो कुछ हुआ देश के सामने है । धर्म्मसुधार आरम्भ हुआ प्रबलवेग से । परन्तु धर्म्म-रहस्यभूत मौलिक साहित्य के विरह से इस सुधार ने बाह्य आवरण के साथ साथ गर्भीभूत मौलिकतत्त्व पर भी प्रहार करना आरम्भ कर दिया । और मानना पड़ेगा कि सुधारकवर्ग की यह एक महा भूल हुई । गले सड़े माँस के कर्त्तन (आप्रेशन) के साथ साथ विशुद्ध संरक्षक अङ्ग को भी काट लिया गया । इसप्रकार इन्होंनें शेषभूता मौलिकता को भी नामशेष में ही परिणत कर दिया ।।

प्रकरण अप्रासङ्गिक होता हुआ भी प्रासङ्गिक है । प्रश्न है- 'स्त्रीस्वातन्त्र्य" का । स्वतन्त्रता का अनन्यप्रेमी सुधारक-समाज उन आदेशों को सहन करने के लिए सन्नद्ध नहीं है जो कि आदेश स्त्रीस्वातन्त्र्य पर प्रत्यक्षरूप से आक्रमण कर रहे हैं । यही कारण है कि उन की दृष्टि में- 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' यह आदेश पुरुषसमाज की स्वार्थवृत्ति का ही द्योतक बन रहा है । ऋत-सत्य का विवेचन करते हुए यद्यपि पूर्व में हमनें इस द्योतकता की निरर्थकता सिद्ध करने का प्रयास किया है । तथापि केवल इसी साधन से हम पूर्णरूप से उनका परितोष नहीं कर सकते । अवश्य ही इस साधन की सिद्धि के लिए हमें थोड़ा और प्रयास करना पड़ेगा ।

चाहिए हम समझलें हैं- 'स्वतन्त्र' शब्द का अक्षरार्थ है 'स्व-तन्त्र' (अपना तन्त्र) । यह 'स्व' क्या है ? और इस 'स्व' का 'तन्त्र' क्या है ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है । पहिले कोशकार की दृष्टि से ही दोनों शब्दों के अर्थों का विचार कीजिए । 'स्वो ज्ञातावात्मनि" (अमर० ३।३।२११) के अनुसार बन्धुजन और आत्मा, इन दोनों को 'स्व' कहा जाता है । ज्ञाता आत्मा ही ज्ञातिबन्धु * है । अतः फलितार्थ में 'आत्मा' ही 'स्व' शब्द का वाच्यार्थ बन जाता है । शब्दार्थक 'स्वन' धातु से ('स्वन शब्दे-भ्वा० प० से) 'स्व' शब्द निष्पन्न हुआ है । "स्वनति-इति स्वन्यते वा" ही 'स्व' शब्द का

* 'यावद्वित्तं तावदात्मा" इस सिद्धान्त के अनुसार वित्तपर्यन्त आत्मसत्ता का प्रसार माना गया है । बन्धुवर्ग, किंवा ज्ञातिवर्ग अन्तर्वित्त में अन्तर्भूत हैं । अतएव इन्हें भी 'स्व" कहना अन्वर्थ बन जाता है ।

निर्वचन है। आत्मा शब्दप्रवर्त्तक है दूसरे शब्दों में आत्मा से शब्द निकलता है अतएव "स्वनति" (शब्द करोति शब्दमुत्पादयति वा) से अवश्य ही आत्मा को "स्व" कहा जासकता है। इसी निर्वचन से यह भी सिद्ध होगया कि जिसका आत्मा शब्दोत्पत्ति में असमर्थ है वह आत्मा "स्व" मर्य्यादा से, किंवा "स्व-धर्म्म" से वञ्चित होता हुआ 'स्व' न होकर 'पर' ही बन जाता है।

'आत्मा' शब्द उत्पन्न करता है, किंवा आत्मा से शब्द निकलता है, इसका क्या तात्पर्य्य ?। क्या कोई आत्मा ऐसा भी है जो शब्द उत्पन्न करने में असमर्थ रहता हो ?। हम तो देखते हैं कि—"आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्" इत्यादि पाणिनीय-शिक्षा-सिद्धान्त के अनुसार शब्दोच्चारण की विवक्षा करने वाला आत्मा बुद्धि से युक्त होकर अभिलषित अर्थकामना का मन के साथ योग करता है। आत्मकामना से घममय बना हुआ मन सर्वशरीर में व्याप्त वैश्वानर अग्नि (कायाग्नि) में क्षोभ उत्पन्न करता है। इस इच्छा के आघात से क्षुब्ध बने हुए अग्नि का क्षोभ प्राणवायु पर आघात करता है। धक्का खाकर वायु उर-कण्ठ-शिर' तीनों में किसी स्थान से टकरा कर कण्ठ-तात्वादि स्थानों में आकर वर्णरूप धारण कर लेता है। इसप्रकार आत्मकामना ही बुद्धि के द्वारा मनोद्वार से शरीराग्निक्षोभव्यापारमूलक प्राणवायु को सञ्चारभाव में परिणत कर वर्णरूप में परिणत करती है। "वायुः खात् शब्दस्तत्" यह प्रातिशाख्य-सिद्धान्त भी उक्त सिद्धान्त का ही समर्थन कर रहा है।

जब कि शब्दोत्पत्ति किंवा वर्णोत्पत्ति का यह स्वाभाविक नियम है दूसरे शब्दों में कोई भी शब्द जब बिना आत्मकामना के विनिर्गत नहीं होसकता तो मानना पड़ेगा कि 'स्वनति-स्वन्यते' के अनुसार सभी प्राणियों का आत्मा 'स्व' है। फिर इस सम्बन्ध में यह कहना है कि "जिसका आत्मा शब्दोत्पत्ति में असमर्थ है वह 'स्व' न कहला कर 'पर' ही कहलाएगा" क्या महत्त्व रखता है ?। 'न सराज्ञ मियस्ति' - 'सर्वं शब्देन भासते' इत्यादि श्रौत स्मार्त्त सिद्धान्तों के अनुसार जब सब का प्रत्यय (ज्ञान) शब्दात्मक ही है शब्दप्रेरणा ही जब सब का प्रातिस्विक धर्म्म है, तो इस नित्य शब्दविनिर्गम का अनुयायी आत्मा कभी 'पर' बन जाय यह सम्भव ही नहीं।

यदि केवल 'स्व-पर'-भावों का ही विचार किया जाता है तो अवश्य ही इस सम्बन्ध में उक्त विप्रतिपत्ति का समाधान सम्भव होजाता है। परन्तु जब "तन्त्र" शब्द को साथ लेकर विचार किया जायगा तो स्वतः एव विप्रतिपत्ति का निराकरण होजायगा। केवल "स्व" (आत्मा) को तो तबतक 'स्व' (आत्मा)' कहा भी नहीं जासकता जबतक कि वह किसी तन्त्र का अनुगामी नहीं बन जाता। तन्त्र को अपना आयतन बना कर ही आत्मा शब्दोत्पत्ति में समर्थ होकर स्व कहलाता है। यदि वह तन्त्र आत्मानुगामी है तो उस समय उस अपने तन्त्र का अध्यक्ष बनता हुआ आत्मा 'स्वतन्त्र' कहलाएगा। यदि वह तन्त्र आत्मस्वरूप को विकृत करने वाला है तो उस दशा में वह तन्त्र परतन्त्र' कहलाएगा, एवं तदनुगत आत्मा भी 'परतन्त्र' ही माना जायगा।

स्वतन्त्र-परतन्त्र दोनों ही शब्द आत्मवाचक नहीं हैं अपितु ये शब्द तो तन्त्रों के द्योतक हैं। आत्मा को तो न स्वतन्त्र कहा जासकता न परतन्त्र। 'सर्वरूप' के लिए कभी निश्चितरूप की प्रगल्भता

हुआ क्या ?, एवं हो क्या रहा है ? । धार्म्मिक–प्रथा ने परिवर्त्तनशील देश–काल–पात्र द्रव्यादि से सम्बन्ध रखने वाले तत्सामयिक (अतएव तत्समय के लिए ही उपादेय) आचार–व्यवहारों का अनुबन्धन करते हुए उसे भी सामयिक बना डाला । अतीत सभ्यता किंवा आचार–व्यवहार देशकालादि के परिवर्त्तन से स्मृतिगर्भ में विलीन होते रहे, आगे आगे नवीन विकास जन्म लेते गए । उधर शाश्वतधर्म्म पर बलात्कार से उन सामयिक आचारादि का लेप चढ़ता रहा । परिणाम इसका यह हुआ कि–धर्मतत्त्व सर्वथा अन्तर्हित होगया एवं प्रधानता रह गई केवल रूढिवाद की । शाश्वतधर्म्म 'अनित्य सदवाद मात्र' बनता हुआ परमार्थसाधन के स्थान में विशुद्ध स्वार्थ का ही पोषक बना रह गया ।

भला मानवीय मन कबतक धर्म्म के इस तापत्रयतूरत्य को सहन करता रहता ? । परिणाम वही हुआ जो होना चाहिए था । कुछ एक नेताओंनें जनता को सावधान किया कि, जिसे तुमनें 'धर्म्म' समझ रक्खा है वह व्याजधर्म्म है, धर्म्म की ओट में रूढिवाद पनप रहा है । इसी धर्म्म के बोझ ने तुम्हारी स्वतन्त्रता का अपहरण किया है । परिणाम जो कुछ हुआ देश के सामने है । धर्म्मसुधार आरम्भ हुआ प्रबलवेग से । परन्तु धर्म्म–रहस्यभूत मौलिक साहित्य के विरह से इस सुधार ने मात्र आवरण के साथ साथ गर्भीभूत मौलिकतत्त्व पर भी प्रहार करना आरम्भ कर दिया । और मानना पड़ेगा कि सुधारकवर्ग की यह एक महा भूल हुई । गले सड़े माँस के कर्त्तन (आप्रेशन) के साथ साथ विशुद्ध संरक्षक अङ्ग को भी काट दिया गया । इसप्रकार इन्होंनें शेषभूता मौलिकता को भी नामशेष में ही परिणत कर दिया । ।

प्रकरण अप्रासङ्गिक होता हुआ भी प्रासङ्गिक है । प्रश्न है–"स्त्रीस्वातन्त्र्य का । स्वतन्त्रता का अनन्यप्रेमी सुधारक–समाज उन आदेशों को सहन करने के लिए समर्थ नहीं है जो कि आदेश स्त्रीस्वातन्त्र्य पर प्रत्यक्षरूप से आक्रमण कर रहे हैं । यही कारण है कि उन की दृष्टि में– 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' यह आदेश पुरुषसमाज की स्वार्थवृत्ति का ही पोषक बन रहा है । अस्तु–सत्य का विवेचन करते हुए यद्यपि पूर्व में हमनें इस धारणा की निरर्थकता सिद्ध करने का प्रयास किया है । तथापि केवल इसी साधन से हम पूर्णरूप से उनका परितोष नहीं कर सकते । अवश्य ही इस साधन की सिद्धि के लिए हमें थोड़ा और प्रयास करना पड़ेगा ।

जहाँतक हम समझते हैं– 'स्वतन्त्र" शब्द का अक्षरार्थ है 'स्व-तन्त्र' (अपना तन्त्र) । वह 'स्व क्या है ? और इस 'स्व' का 'तन्त्र' क्या है ! यह भी एक विचारणीय प्रश्न है । पहिले कोशकार की दृष्टि से ही दोनों शब्दों के अर्थों का विचार कीजिए । "स्वो ज्ञातावात्मनि" (अमर० ३।१।२११) के अनुसार बन्धुजन और आत्मा इन दोनों को 'स्व' कहा जाता है । ज्ञाता आत्मा ही ज्ञातिबन्धु * है । अतः फलितार्थ में 'आत्मा' ही 'स्व' शब्द का वाच्यार्थ बन जाता है । शब्दार्थक 'स्वन' धातु से ('स्वन' शब्दे–भ्वा० प० से) 'स्व' शब्द निष्पन्न हुआ है । "स्वनति–इति स्वन्यते वा' ही 'स्व' शब्द का

---

* "यावद्वित्तं तावदात्मा" इस सिद्धान्त के अनुसार वित्तपर्यन्त आत्मसत्ता का प्रसार माना गया है । बन्धुवर्ग किंवा ज्ञातिवर्ग आत्मवित्त में अन्तर्भूत हैं । अतएव इन्हें भी स्व कहना अन्वर्थ बन जाता है ।

की प्रतिच्छाया के युक्त होकर अपना तन्त्र' माव (अक्षरधर्म्म) खो बैठा है। तन्त्ररूप अक्षर परवरूप क्षर के नश्वरधर्म्मों से युक्त होता हुआ अपनी प्रातिस्विक अक्षरसम्पति से वञ्चित होगया है। क्षररूप पर के नश्वरधर्म्मों के सम्बन्ध से पहिले तो अक्षररूप तन्त्र इस आत्मा का तन्त्र था। परन्तु आत्मा की विषयासक्ति से आज अक्षर इसका तन्त्र नहीं रहा, अपितु अक्षरतन्त्र का आसन 'क्षरपर' ने छीन लिया। और यों आज 'पर' ही इसका 'तन्त्र' बन गया।

'पर' की आसक्ति [पराप्तिम्भ भूतासक्ति] ने यहीं विश्राम नहीं किया। अपितु जैसे परासक्तिने अक्षरतन्त्र को 'पर' बना डाला, वैसे ही तद्वत् उस स्व को भी पररूप में [क्षररूप में] परिणत कर दिया। परिणाम यह हुआ कि, जो 'पर' अपने 'क्षरभाव' से जिस 'स्व' का तन्त्र नहीं बन सकता था वह तो उस स्व का का तन्त्र बन गया और स्वय 'स्व'-अपने स्व-भाव से आवृत होकर 'पर' बन गया। परने अक्षर से तन्त्रासन छीन कर अपने आपको तो तन्त्र बना लिया और अपना नश्वर परभाव आत्मा को देखकर [उसे स्व से वञ्चित कर] उसे 'पर' बना डाला। 'स्व' को पर' बनाया-एक काम, एवं तन्त्र को 'पर' बनाते हुए तन्त्रता स्वय छीन ली दूसरा काम। 'स्व बन गया 'पर' एवं'पर' बन गया 'तन्त्र'। तन्त्र 'पर' बनता हुआ इस तन्त्राभयाभरित क्षर में विलीन होगया अथवा पर बने हुए आत्मा में विलीन होगया।

इसप्रकार तन्त्रानुगत रहता हुआ (अक्षरानुगत रहता हुआ) जो 'स्वः' किसी दिन ' स्वतन्त्र' था आज वही इस वैकारिक-काल्पनिक तन्त्र की कृपा से 'पर' बन कर बनावटी तन्त्र का अनुगामी बन कर 'परतन्त्र' शब्दमाक् बन गया। तन्त्रानुगतः-(तन्त्रप्रतिरूपक्षरानुगत) य-पर-(परधर्म्मानुगत स्व'-आत्मा') (क्षररूप तन्त्र का अनुयायी अतएव पररूप में परिणत पर आत्मा) इस निर्वचन के अनुसार इसे "परतन्त्र' कहा गया। पूर्ववत् तन्त्रानुगत-पर'-परतन्त्र इव आत्मवाचक 'परतन्त्र' शब्द का निर्वचन होगा।

स्वतन्त्र-परतन्त्र-शब्दों के 'स्व (स्वरूप में प्रतिष्ठित आत्मा) एव 'पर'-(पर रूप परिणत मे परतन्त्र आत्मा) नामक अवयवों को यदि आत्मवाचक माना जायगा तो स्वतन्त्र-परतन्त्र शब्दों के क्रमशः' उक्त-तन्त्रानुगत-स्वः-तन्त्रानुगत'-पर') ही निर्वचन होंगे। यहां आत्मा ही स्व-दशा में रहता हुआ अपना बन्धु कहलाएगा एवं आत्मा ही पराक्रान्त होकर अपना रिपु' कहलाएगा जैसा कि 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः' इत्यादि गीतासिद्धान्त से स्पष्ट है। सचमुच अनुकूल-तन्त्रानुगत वही आत्मा हमारा मित्र बना रहता है, एवं प्रतिकूल-तन्त्रानुगत वही आत्मा हमारे लिए पर (शत्रु) बन जाता है।

एक दूसरी दृष्टि से भी आत्मवाचक इन दोनों शब्दों का निर्वचन किया जासकता है। आत्मा को विकसित करने वाला भाव आत्मबन्धु कहलाएगा एवं आवृत करने वाला भाव आत्मरिपु कहलाएगा। आत्मबन्धु को हम स्व का स्व' (आत्मा का स्वजन किंवा मित्र) कहेंगे एवं आत्मरिपु को स्व का 'पर' (आत्मा का परजन किंवा रिपु) कहेंगे। 'पर क्षर' को अपने गर्भ में रखने वाला तन्त्राक्षर आत्मोत्थान का कारण बनता हुआ आत्मा का 'स्व' कहलाएगा। एवं तन्त्राक्षर को अपने गर्भ में रखने वाला 'पर क्षर' आत्मपतन का कारण बनता हुआ आत्मा का 'पर'' कहलाएगा। इसी दृष्टि से 'अक्षर-

उक्त तालिका से यह तो स्पष्ट है कि किसी भी रूप से यदि 'स्व' का 'तन्त्र' से, किंवा 'तन्त्र' का 'स्व' से सम्बन्ध है, तब तो ''स्वतन्त्र'' शब्द का आविर्भाव है। और यदि 'स्व' का 'तन्त्र' के द्वारा 'पर' से किंवा 'पर' का-'तन्त्र' के द्वारा 'स्व' से सम्बन्ध है, तो 'परतन्त्र' शब्द का आविर्भाव है।

इसी के साथ यह भी स्पष्ट होजाता है कि, यदि 'स्व' का साक्षात् रूप से 'तन्त्र' के साथ सम्बन्ध है तो इस दशा में 'स्वतन्त्र' शब्द भी 'आत्मा' का ही वाचक माना जायगा। एवं यदि इसी 'स्व' का साक्षात् रूप से 'तन्त्र' से सम्बन्ध न होकर 'पर' के द्वारा 'तन्त्र' से सम्बन्ध है, तो इस दशा में 'परतन्त्र' शब्द भी आत्मा का ही वाचक माना जायगा। ऐसी दशा में 'स्वतन्त्र-परतन्त्र' का अर्थ होगा—''आत्मा स्वतन्त्रः''- 'आत्मा परतन्त्रः'।

यदि 'तन्त्र' का साक्षाद्रूप से 'स्व' से सम्बन्ध है तो इस दशा में 'स्वतन्त्र' शब्द भी 'तन्त्र' का ही वाचक माना जायगा। यदि इसी तन्त्र का साक्षाद्रूप से 'स्व' के साथ सम्बन्ध न होकर 'पर' के द्वारा 'स्व' से सम्बन्ध है, तो इस दशा में 'परतन्त्र' शब्द भी 'तन्त्र' का ही वाचक माना जायगा। एवं उस दशा में- 'स्वतन्त्र-परतन्त्र' का अर्थ होगा—''तन्त्र स्वतन्त्र''-तन्त्र परतन्त्र''।

यदि 'पर' का 'तन्त्र' के द्वारा 'स्व' के साथ अनुकूल [अनुयोगी] सम्बन्ध है तो इस दशा में 'स्वतन्त्र' शब्द भी 'पर' का ही वाचक माना जायगा। यदि 'पर' का 'तन्त्र' के द्वारा स्व के साथ प्रतिकूल [प्रतियोगी] सम्बन्ध है तो इस दशा में परतन्त्र शब्द भी पर का ही वाचक माना जायगा।

तात्पर्य यह निकला कि, तन्त्रानुगामी वही आत्मा 'स्वतन्त्र' है एवं परानुगामी वही आत्मा 'परतन्त्र' है। स्वानुगामी वही 'तन्त्र' 'स्वतन्त्र' है एवं परानुगामी वही 'तन्त्र' 'परतन्त्र' है। स्वानुगामी [अनुकूलभाव से] वही तन्त्र स्वतन्त्र है एवं स्वानुगामी [प्रतिकूलभाव से] वही तन्त्र 'परतन्त्र' है। आत्मा भी 'स्वतन्त्र' 'परतन्त्र' कहला सकता है एवं तन्त्र को भी 'स्वतन्त्र'-'परतन्त्र' कहा जासकता है एवं 'पर' भी 'स्वतन्त्र-'परतन्त्र' शब्दों से व्यवहृत होसकता है। इसप्रकार 'स्व' लक्षण 'पुरुष', तन्त्र-लक्षण 'प्रकृति' एवं 'पर' लक्षणा विकृति तीनों संस्थाओं के साथ सम्बन्धभेद से स्वतन्त्र-परतन्त्र दोनों का ही समन्वय किया जासकता है।

तीनों विवर्तों में से पहिले आत्मस्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य का ही विचार प्रस्तुत है। यदि यह 'स्व' (आत्मा) 'स्व-तन्त्र' का (अपने तन्त्ररूप अक्षर किंवा 'प्रकृति' का) अनुगामी बनता हुआ 'तन्त्र' के द्वारा (प्रकृति' के द्वारा) 'पर' भाव में (क्षर, किंवा 'विकृतिभाव' में) अनासक्तरूप से प्रविष्ट है तो इस दशा में (तन्त्रानुगत बन कर परभाव से मुक्त रहने की दशा में) इस तन्त्रानुगामी 'स्व' को 'तन्त्रानुगतः—यः—स्व-(आत्मा)'' (तन्त्र का अनुगामी जो स्व'—आत्मा) इस निर्वचन के अनुसार 'स्वतन्त्र' कहा जायगा। 'तन्त्रानुगत' स्व स्वतन्त्र ही इस आत्मवाचक 'स्वतन्त्र' शब्द का निर्वचन होगा।

मान लीजिए—'स्व' (आत्मा) तन्त्रानुगामी (अक्षरानुगामी) नहीं है। उसने 'पर' (क्षर) के साथ योग तो 'तन्त्र' के (अक्षर के) द्वारा ही किया है। परन्तु 'पर' की आसक्ति के कारण उसका 'तन्त्र' (अक्षर) 'पर'

की प्रतिच्छाया के युक्त होकर अपना 'तन्त्र' भाव (अक्षरधर्म्म) खोबैठा है। तन्त्ररूप अक्षर पररूप क्षर के नश्वरधर्म्मों से युक्त होता हुआ अपनी प्रातिस्विक अक्षरसम्पत्ति से वञ्चित होगया है। क्षररूप पर के नश्वरधर्म्मों के सम्बन्ध से पहिले तो अक्षररूप तन्त्र इस आत्मा का तन्त्र था। परन्तु आत्मा की विषयासक्ति से आज अक्षर इसका तन्त्र नहीं रहा अपितु अक्षरतन्त्र का आसन 'क्षरपर' ने छीन लिया। और यों आज 'पर' ही इसका 'तन्त्र' बन गया।

'पर' की आसक्ति [चराचरात्मिका भूतासक्ति] ने यहीं विश्राम नहीं किया। अपितु जैसे परासक्तिने अक्षरतन्त्र को 'पर' बना डाला वैसे ही क्रुद्ध उस 'स्व' को भी पररूप में [क्षररूप में] परिणत कर दिया। परिणाम यह हुआ कि, जो 'पर' अपने 'क्षरभाव' से जिस 'स्व' का तन्त्र नहीं बन सकता था वह तो उस स्व का का तन्त्र बन गया और स्वयं 'स्व'-अपने 'स्व'-भाव से आवृत होकर 'पर' बन गया। परने अक्षर से तन्त्रासन छीन कर अपने आपको तो तन्त्र बना लिया और अपना नश्वर परभाव आत्मा को देकर [उसे स्व से वञ्चित कर] उसे 'पर' बना डाला। 'स्व' को पर' बनाया-एक भ्रम, एवं तन्त्र को 'पर' बनाते हुए तन्त्रता स्वयं छीन ली दूसरा भ्रम। 'स्व' बन गया 'पर' एवं'पर' बन गया 'तन्त्र'। तन्त्र 'पर' बनता हुआ इस तन्त्राक्षराश्रित क्षर में विलीन होगया अथवा पर बने हुए आत्मा में विलीन होगया।

इसप्रकार तन्त्रानुगत रहता हुआ (अक्षरानुगत रहता हुआ) जो 'स्व' किसी दिन 'स्वतन्त्र' था आज वही इस वैकारिक-काल्पनिक तन्त्र की कृपा से 'पर' बन कर बनावटी तन्त्र का अनुगामी बन कर "परतन्त्र" शब्दभाक् बन गया। तन्त्रानुगतः-(तन्त्रप्रतिरूपक्षरानुगत) य -पर -(परधर्म्मानुगत 'स्व'-आत्मा') (क्षररूप तन्त्र का अनुयायी अतएव पररूप में परिणत पर आत्मा) इस निर्वचन के अनुसार इसे "परतन्त्र" कहा गया। पूर्ववत् तन्त्रानुगतः-पर'-परतन्त्र' इस आत्मवाचक 'परतन्त्र' शब्द का निर्वचन होगा।

स्वतन्त्र-परतन्त्र-शब्दों के स्व (स्वरूप में प्रतिष्ठित आत्मा') एवं 'पर'-(पर रूप परिणत में परतन्त्र आत्मा) नामक अवयवों को यदि आत्मवाचक माना जायगा तो स्वतन्त्र-परतन्त्र शब्दों के क्रमश: उक्त-तन्त्रानुगत'-स्व:-तन्त्रानुगत'-पर') ही निर्वचन होंगे। यहां आत्मा ही स्व-दशा में रहता हुआ अपना 'बन्धु' कहलाएगा एवं आत्मा ही पराधीन होकर अपना रिपु' कहलाएगा जैसा कि 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन:' इत्यादि गीतासिद्धान्त से स्पष्ट है। सचमुच अनुकूल-तन्त्रानुगत यही आत्मा हमारा मित्र बना रहता है, एवं प्रतिकूल-तन्त्रानुगत यही आत्मा हमारे लिए पर (शत्रु) बन जाता है।

एक दूसरी दृष्टि से भी आत्मवाचक इन दोनों शब्दों का निर्वचन किया जासकता है। आत्मा का विकसित करने वाला भाव आत्मबन्धु कहलाएगा एवं आवृत करने वाला भाव आत्मरिपु कहलाएगा। आत्मबन्धु को हम 'स्व का स्व' (आत्मा का स्वजन किंवा मित्र) कहेंगे एवं आत्मरिपु को स्व का 'पर' (आत्मा का परजन किंवा रिपु) कहेंगे। 'पर क्षर' को अपने गर्भ में रखने वाला 'तन्त्राक्षर आत्मोदय का कारण बनता हुआ आत्मा का 'स्व' कहलाएगा। एवं तन्त्राक्षर को अपने गर्भ में रखने वाला 'पर क्षर' आत्मपतन का कारण बनता हुआ आत्मा का 'पर' कहलाएगा। इसी दृष्टि से 'अक्षर-

आधिदैविक विश्व में स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य–चन्द्र–पृथिवी-रूप से पुरुष (आत्मा)-प्रकृति (प्राण)–विकृति (पशु) समष्ट्यात्मक प्रजापति-विवर्त्त का दिग्दर्शन कराया गया । अब आध्यात्मिक विश्व की इन तीनों संस्थाओं का विचार कीजिए । आत्मधर्म्मों के सूक्ष्मभावों की ओर जाने की आवश्यकता नहीं है । केवल उन चार स्थूल भावों का ही विचार पर्य्याप्त होगा जिन्हें कि प्रायः सर्वसाधारण जानते हैं । आत्मा बुद्धि, मन शरीर चारों जाने पहिचाने हुए पदार्थ हैं । आत्मा को थोड़ी देर के लिए स्वयम्भू के अंशरूप अव्यक्त, एवं परमेष्ठी के अंशरूप महान् से उपलक्षित 'पुरुष' समझ लीजिए । सूर्य्यांशरूप बुद्धि को प्रकृति चन्द्रांशरूप मन, एवं पृथिव्यंशरूप शरीर, दोनों की समष्टि को विकृति मान लीजिए । पुरुष अव्यय हुआ प्रकृति अक्षर हुई एवं विकृति क्षर हुई । अक्षरात्मिका बुद्धि के उस ओर अव्ययात्मक अमृत आत्मा है इस ओर क्षरात्मक मर्त्य मन एवं शरीर है । निम्नलिखित परिलेख से दोनों संस्थाओं का समतुलन स्पष्ट होजाता है ।

	अधिदैवतम्	अध्यात्मम्		
१	१–स्वयम्भू	अव्यक्त	—आत्मा (पुरुषः—अव्यय—स्वः	—प्रजापतिः
	२–परमेष्ठी	महान्		
२	१–सूर्य्य	बुद्धि	—प्राणा (प्रकृति अक्षरः—अन्तः)	
३	१–चन्द्रमा	मन	—पशवः (विकृति क्षरः—परः)	
	२–पृथिवी	शरीरम्		

आधिदैविक यज्ञ से ही आध्यात्मिक यज्ञ का आविर्भाव हुआ है । आधिदैविक यज्ञ में यजमान कौन ?, यजमानपत्नी कौन ? पहिले यही देखिए । आत्मा सूर्य्यरूपप्रकृति चन्द्रपृथिवीरूपा विकृति, इन तीनों में आत्मा तो यज्ञवेदि किंवा यज्ञपरायण है जैसा कि "पञ्चदशस्तम्बर्न श्रेष्ठम्' – 'अधियज्ञोऽहमेवात्र" इत्यादि श्रौत–स्मार्त वचनों से स्पष्ट है । सूर्य्य इस यज्ञ का यजमान है पृथिवीयुक्त चन्द्रमा यजमान की पत्नी है । दोनों का मिथुनभाव ही यज्ञ है और यही यज्ञ प्रजोत्पत्ति का कारण है ।

सूर्य्य अग्निमय है, एवं चन्द्रमा सोममय है । सौर अग्नि का प्रवर्ग्यभाग व्रात अग्नि है एवं चान्द्र सोम का प्रवर्ग्यभाग ऋतम् । सोम का अपना स्थान उत्तरादिक् है एवं ऋताग्नि का अपना स्थान दक्षिणादिक् है । उ पश्चिम की ओर एवं दक्षिणस्थ ऋताग्नि निरन्तर उत्तर

की ओर आया करता है। ऋतागिन में ऋतसोम की आहुति होने से ही वसन्तादि षड्ऋतुएँ उत्पन्न होती हैं। षड्ऋतुसमष्टि से ही सम्वत्सरयज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है। एवं यही अग्नीषोमात्मक, षड्ऋतुमूर्ति सम्वत्सरयज्ञ पार्थिव-प्रजोत्पत्ति का कारण बनता है।

यद्यपि पार्थिव-प्रजा में सम्वत्सरमूर्ति यज्ञप्रजापति के अग्नि-सोम, नामक दोनों भावों का समन्वय है। परन्तु वृषासृष्टि (पुरुषसृष्टि) में सूर्योपलक्षित सम्वत्सरयज्ञ का अग्नितत्त्व प्रधान रहता है एवं योषासृष्टि (स्त्रीसृष्टि) में चन्द्रोपलक्षित सम्वत्सरयज्ञ का सोमतत्त्व प्रधान रहता है। पुरुषसृष्टि वृषा है, एवं स्त्रीसृष्टि योषा है। पुरुषनिर्म्माण में अग्नि, एवं स्त्रीनिर्म्माण में सोम प्रधान है। अग्नि—सोम के इन तारतम्यों का पूर्व—प्रकरणों में यत्र तत्र विश्लेषण किया जाचुका है। अतः यहाँ पुनरुक्ति अनपेक्षित है।

यहाँ केवल यही जान लेना अलं होगा कि -अग्नि अन्नाद् है भोक्ता है। एवं सोम अन्न है भोग्य है। कैसा भोग्य ? पशुरूप भोग्य नहीं अपितु मित्ररूप भोग्य। यदि अग्नि सोम का भोक्ता है, तो सोम अग्नि की आत्मप्रतिष्ठा है। सोमसम्बन्ध के विना न अग्नि जीवित रह सकता न अग्नि को आधार बनाए विना सोम अपने स्वरूप को सत्यभाव म परिणत कर सकता। दोनों के इसी सख्यभाव को लक्ष्य में रखकर एक स्थान पर श्रुति ने कहा है—

> अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
> अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥
> —ऋक्सं० ५।४४।१५)।

अग्नि बलवान् अवश्य है। परन्तु इस की बलवत्ता सोम के सहयोग पर ही निभर है। हृदयभाव से बल का विकास होता है। दूसरे शब्दों में बल की विकासभूमि हृदय ही है। हृदयस्थ उक्थबल सत्य है, इस सत्य उक्थ से निकलने वाली सत्यरश्मियाँ ही बल है। एक ही सत्य की सत्य–बल ये दो अवस्था हैं। सत्य के आधार पर प्रयोग बल का ही होता है। सत्य स्वयं काम नहीं करता आलम्बनमात्र बना रहता है। सत्यरश्मिरूप बल ही बहिर्जगत् की ओर विकसित होता है। इसी आधार पर– यदेव सत्यादोजीय'– बलं वाव विज्ञानाद् भूयः इत्यादि निगम प्रतिष्ठित हैं।

अग्नि बलवान् है। क्योंकि पुरुष में सत्य अग्नितत्त्व की प्रधानता है अतएव इसे हम बलवान' कहेंगे। उधर सोम अबल किंवा निर्बल है। अबला स्त्री है। सोम ऋततत्त्व है हृदयशून्य है। हृदयशून्य होने से ही तो इसे 'ऋत' कहा जाता है। जब हृदय नहीं तो सत्यभाव नहीं। सत्य नहीं तो वहिर्विकासरूप बल नहीं। क्योंकि स्त्री में इस ऋत सोमतत्त्व की ही प्रधानता है अतएव इसे 'अबला' कहा जायगा।

पुरुष बलवान एवं स्त्री अबला। पुरुष सत्यभावोपेत एवं स्त्री अनृतभावोपेता (अथात् ऋतसोमभावोपेता)। पुरुष आग्नेय एवं स्त्री सौम्या। पुरुष भोक्ता, एवं स्त्री भोग्य। पुरुष प्रतिष्ठा एवं स्त्री तदाधारेण प्रतिष्ठिता। पुरुष आलम्बन एवं स्त्री आलम्बिता। पुरुष स्वच्छन्दरक्षक एवं स्त्री परच्छन्दानुवर्त्तिनी (पुरुषच्छन्दानुवर्त्तिनी)। अग्निरूप अग्नि से युक्त पुरुष अग्रसर एवं सोम– युक्ता स्त्री तत्पश्चादनुगामिनी। यह तो हुई ऐसी दृष्टियाँ जिन से पुरुष की प्रधानता सिद्ध हो रही है एवं स्त्री की गौणता।

आधिदैविक विश्व में स्वयम्भू, परमेष्ठी सूर्य–चन्द्र–पृथिवी-रूप से पुरुष (आत्मा)-प्रकृति (प्राण)–विकृति (पशु) समष्ट्यात्मक प्रजापति-विवर्त्त का दिग्दर्शन कराया गया। अब आध्यात्मिक विश्व की इन तीनों संस्थाओं का विचार कीजिए। शास्त्रधर्म्मों के सूक्ष्मभावों की ओर जाने की आवश्यकता नहीं है। केवल उन चार स्थूल भावों का ही विचार पर्य्याप्त होगा जिन्हें कि प्राय सर्वसाधारण जानते हैं। आत्मा बुद्धि, मन शरीर चारों जाने पहिचाने हुए पदार्थ हैं। आत्मा को थोड़ी देर के लिए स्वयम्भू के अंशरूप अव्यक्त, एवं परमेष्ठी के अंशरूप महान् से उपलक्षित पुरुष समझ लीजिए। सूर्य्यांशरूप बुद्धि को प्रकृति चन्द्रांशरूप मन, एवं पृथिव्यंशरूप शरीर दोनों की समष्टि को विकृति कह लीजिए। पुरुष अव्यय हुआ प्रकृति अक्षर हुई एवं विकृति क्षर हुई। अक्षरात्मिका बुद्धि के उस ओर अव्ययात्मक अमृत आत्मा है इस ओर क्षरात्मक मर्त्य मन एवं शरीर है। निम्नलिखित परिलेख से दोनों संस्थाओं का समतुलन स्पष्ट होजाता है।

१	१–स्वयम्भू २–परमेष्ठी	अव्यक्त महान्	—आत्मा (पुरुषः—अव्यय—स्वः	
२	१–सूर्य्य	बुद्धि	—प्राण (प्रकृतिः अक्षरः—अन्तः)	—प्रजापतिः
३	१–चन्द्रमा २–पृथिवी	मन शरीरम्	—पशवः (विकृतिः-क्षरः—एट)	
	आधिदैवतम्	अध्यात्मम्		

आधिदैविक यज्ञ से ही आध्यात्मिक यज्ञ का आविर्भाव हुआ है। आधिदैविक यज्ञ में यजमान कौन है, यजमानपत्नी कौन है, पहिले यही देखिए। आत्मा सूर्य्यरूपप्रकृति चन्द्रपृथिवीरूपा विकृति इन तीनों में आत्मा तो यज्ञमर्यादा किंवा यज्ञपरात्पर है जैसा कि "एतदालम्बनं श्रेष्ठम्" – 'अधियज्ञोऽहमेवात्र' इत्यादि श्रौत–स्मार्त्त वचनों से स्पष्ट है। सूर्य्य इस यज्ञ का यजमान है पृथिवीयुक्त चन्द्रमा यजमान की पत्नी है। दोनों का मिथुनभाव ही यज्ञ है और यही यज्ञ प्रजोत्पत्ति का कारण है।

सूर्य्य अग्निमय है, एवं चन्द्रमा सोममय है। सौर अग्नि का प्रवर्ग्यभाग शुक्र अग्नि है, एवं चान्द्र सोम का प्रवर्ग्यभाग ऋतसोम है। ऋतसोम का अपना स्थान उत्तरादिक् है एवं ऋताग्नि का अपना स्थान दक्षिणादिक् है। उत्तरस्थ ऋतसोम निरन्तर दक्षिण की ओर एवं दक्षिणस्थ ऋताग्नि निरन्तर उत्तर

की ओर आया करता है। ऋताग्नि में ऋतसोम की आहुति होने से ही वसन्तादि षड्ऋतुएँ उत्पन्न होती हैं। षड्ऋतुसमष्टि से ही सम्वत्सरयज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है। एवं यही अग्नीषोमात्मक षड्ऋतुमूर्ति सम्वत्सरयज्ञ पार्थिव प्रजोत्पत्ति का कारण बनता है।

यद्यपि पार्थिव-प्रजा में सम्वत्सरमूर्ति यज्ञप्रजापति के अग्नि सोम, नामक दोनों भावों का समन्वय है। परन्तु वृषासृष्टि (पुरुषसृष्टि) में सूर्य्योपलक्षित सम्वत्सरयज्ञ का अग्नितत्त्व प्रधान रहता है एवं योषासृष्टि (स्त्रीसृष्टि) में चन्द्रोपलक्षित सम्वत्सरयज्ञ का सोमतत्त्व प्रधान रहता है। पुरुषसृष्टि वृषा है, एवं स्त्रीसृष्टि योषा है। पुरुषनिर्म्माण में अग्नि एवं स्त्रीनिर्म्माण में सोम प्रधान है। अग्नि-सोम के इन तारतम्यों का पूर्व-प्रकरणों में यत्र तत्र विश्लेषण किया जा चुका है। अतः यहाँ पुनरुक्ति अनपेक्षित है।

यहाँ केवल यही जान लेना अलं होगा कि, अग्नि अन्नाद है, भोक्ता है। एवं सोम अन्न है भोग्य है। कैसा भोग्य? पशुरूप भोग्य नहीं अपितु मित्ररूप भोग्य। यदि अग्नि सोम का भोक्ता है, तो सोम अग्नि का आत्मप्रतिष्ठा है। सोमसम्बन्ध के बिना न अग्नि जीवित रह सकता, न अग्नि को आधार बनाए बिना सोम अपने स्वरूप को सत्यभाव में परिणत कर सकता। दोनों के इसी सख्यभाव को लक्ष्य में रखकर एक स्थान पर श्रुति ने कहा है—

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥

—(ऋक्सं० ५।४४।१५)।

अग्नि बलवान् अवश्य है। परन्तु इस की बलवत्ता सोम के सहयोग पर ही निर्भर है। हृदयभाव से बल का विकास होता है। दूसरे शब्दों में बल की विकासभूमि हृदय ही है। हृदयस्थ उक्थरूप सत्य है इस उक्थ से निकलने वाली सत्यरश्मियाँ ही बल है। एक ही सत्य की सत्य-बल, ये दो अवस्था हैं। सत्य के आधार पर प्रयोग बल का ही होता है। सत्य स्वयं काम नहीं करता आलम्बनमात्र बना रहता है। सत्यरश्मिरूप बल ही बहिर्जगत् की ओर विकसित होता है। इसी आधार पर-"बलं सत्यादोजीयः"-"बलं वाव विज्ञानाद् भूयः" इत्यादि निगम प्रतिष्ठित हैं।

अग्नि बलवान् है। क्योंकि पुरुष में सत्य अग्नितत्त्व की प्रधानता है अतएव इसे हम 'बलवान्' कहेंगे। उधर सोम अबल किंवा निर्बल है। कारण स्पष्ट है। सोम ऋततत्त्व है हृदयशून्य है। हृदयशून्य होने से ही तो इसे 'ऋत' कहा जाता है। जब हृदय नहीं तो सत्यभाव नहीं। सत्य नहीं तो रश्मिरूप बल नहीं। क्योंकि स्त्री में इस ऋत सोमतत्त्व की ही प्रधानता है अतएव इसे 'अबला' कहा जायगा।

पुरुष बलवान एवं स्त्री अबला। पुरुष सत्यभावोपपन्न एवं स्त्री अनृतभावापन्ना (अर्थात् ऋतसोमभावापन्ना)। पुरुष आग्नेय एवं स्त्री सौम्या। पुरुष भोक्ता एवं स्त्री भोग्य। पुरुष प्रतिष्ठा एवं स्त्री तदाधारेण प्रतिष्ठिता। पुरुष आलम्बन एवं स्त्री आलम्बिता। पुरुष स्वच्छन्दरक्षक एवं स्त्री परच्छन्दानुवर्त्तिनी (पुरुषच्छन्दानुवर्त्तिनी)। अग्निरूप अग्नि से युक्त पुरुष अग्रेसर एवं सोम-युक्ता स्त्री तत्पश्चादनुगामिनी। यह तो हुई ऐसी दृष्टियाँ जिन से पुरुष की प्रधानता सिद्ध हो रही है एवं स्त्री की गौणता।

आधिदैविक विश्व में स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य–चन्द्र–पृथिवी-रूप से पुरुष (आत्मा)-प्रकृति (प्राण)–विकृति (पशु) समष्ट्यात्मक प्रजापति-वितत्त का दिग्दर्शन कराया गया। अब आध्यात्मिक विश्व की इन तीनों संस्थाओं का विचार कीजिए। आत्मधर्म्मों के सूक्ष्मभावों की ओर जाने की आवश्यकता नहीं है। केवल उन चार स्थूल भावों का ही विचार पर्य्याप्त होगा जिन्हें कि प्रायः सर्वसाधारण जानते हैं। आत्मा बुद्धि, मन शरीर चारों जाने पहिचाने हुए पदार्थ हैं। आत्मा को थोड़ी देर के लिए स्वयम्भू के अंशरूप अव्यक्त, एवं परमेष्ठी के अंशरूप महान् से उपलक्षित 'पुरुष' समझ लीजिए। सूर्य्यांशरूप बुद्धि को प्रकृति चन्द्रांशरूप मन एवं पृथिव्यंशरूप शरीर, दोनों की समष्टि को विकृति मान लीजिए। पुरुष अव्यय हुआ प्रकृति अक्षर हुई, एवं विकृति क्षर हुई। अक्षरात्मिका बुद्धि के उस ओर अव्ययात्मक अमृत आत्मा है इस ओर क्षरात्मक मर्त्य मन एवं शरीर है। निम्नलिखित परिलेख से दोनों संस्थाओं का समतुलन स्पष्ट होजाता है।

१ १–स्वयम्भू २–परमेष्ठी	अव्यक्त महान्	—आत्मा (पुरुषः—अव्ययः—स्वः)	—प्रजापतिः
२ १–सूर्य्य	बुद्धि	—प्राणा (प्रकृतिः अक्षरः—ऊर्ज्जः)	
३ १–चन्द्रमा २–पृथिवी	मन शरीरम्	—पशवः (विकृतिः—क्षरः—पश)	
अधिदैवतम्	अध्यात्मम्		

आधिदैविक यज्ञ से ही आध्यात्मिक यज्ञ का आविर्भाव हुआ है। आधिदैविक यज्ञ में यजमान कौन है, यजमानपत्नी कौन है, पहिले यही देखिए। आत्मा सूर्य्यरूपप्रकृति, चन्द्रपृथिवीरूपा विकृति इन तीनों में आत्मा ही यज्ञवेदि किंवा यज्ञधरातल है जैसा कि "एतदालम्बनं श्रेष्ठम्" – "अधियज्ञोऽहमेवात्र" इत्यादि श्रौत–स्मार्त वचनों से स्पष्ट है। सूर्य्य इस यज्ञ का यजमान है पृथिवीयुक्त चन्द्रमा यजमान की पत्नी है। दोनों का मिथुनभाव ही यज्ञ है और यही यज्ञ प्रजोत्पत्ति का कारण है।

सूर्य्य अग्निमय है, एवं चन्द्रमा सोममय है। सौर अग्नि का प्रवर्ग्यभाग ऋत अग्नि है एवं चान्द्र सोम का प्रवर्ग्यभाग ऋतसोम है। ऋतसोम का अपना स्थान उत्तरादिक् है एवं ऋताग्नि का अपना स्थान दक्षिणादिक् है। उत्तरस्थ ऋतसोम निरन्तर दक्षिण की ओर, एवं दक्षिणस्थ ऋताग्नि निरन्तर उत्तर

उक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि, पुरुष का पाञ्चभौतिक शरीरपिण्ड तो आग्नेय है, एवं शरीरपिण्ड की प्रतिष्ठारूप शुक्र सौम्य है। अग्नि क्योंकि वृषा होने से पुरुष है एवं सोम योषा होने से स्त्री है इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि स्त्री ही पुरुष की प्रतिष्ठा है। साथ ही यह भी कह लीजिए कि, जिन्हें हम पुरुष कहते हैं वे आग्नेय शरीर की अपेक्षा पुरुष होते हुए भी वस्तुतः अन्त प्रतिष्ठारूप शुक्रसोम की दृष्टि से आभ्यन्तर-दृष्टि से स्त्रियां ही हैं। * स्त्रियः सतीस्तौं उ मे पुंस आहु (ऋक्सं० १।१६४।१६।) यह श्रुति इसी दृष्टि का स्पष्टीकरण कर रही है। श्रुति का तात्पर्य यही है कि संसार में जितने भी पुरुष हैं वे अग्निप्रधान भूतशरीर की अपेक्षा से भले ही पुरुष कहलाते हों। परन्तु शुक्रप्रधाना आत्मदृष्टि से तो उन्हें स्त्री ही कहना चाहिए। आत्मा-शरीर, दोनों में आत्मा प्रधान माना जाता है। एवं जिस संस्था में जो प्रधान होता है 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' न्याय से वह संस्था उसी के नाम से व्यवहृत होती है। जब कि प्रधानभूता आत्मदृष्ट्या पुरुषसंस्था सौम्या है तो इसे पुरुष न कह कर 'स्त्री' ही कहा जायगा। परन्तु आश्चर्य्य है कि, आज मनुष्य इन स्त्रियों को पुरुष कह रहे हैं। पुरुष वास्तव में स्त्री है स्त्री होते हुए भी इन्हें पुरुष कहा जाता है इस रहस्य को आँख वाला ही जान सकता है अन्धा नहीं— 'यस्त्याविजानन्नविचेतदन्धः' ।

लीजिए, अब आज से आप भी अपने आप को स्त्री समझना आरम्भ कर दीजिए, और स्त्रियों को 'पुरुष' जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। सचमुच भाष्य का उक्त सिद्धान्त पुरुषजाति को क्षुब्ध कर रहा होगा। अवश्य ही इस क्षोभशान्ति के लिए किसी अन्य उपाय का आश्रय लेना पड़ेगा। निराश होने की कोई बात नहीं है। एक पुरुष के नाते इस सम्बन्ध में भाष्य से अधिक हमें चिन्ता है। वो उपाय ऐसे हैं जिन से पुरुषसंस्था का अग्नितत्त्व प्रधान माना जासकता है एवं सोमतत्त्व गौण माना जासकता है।

पुरुषों का शरीर आग्नेय है यह माना। परन्तु इस की प्रतिष्ठा है-पानी। 'अद्भ्यः पृथिवी' इस तैत्तिरीय-सिद्धान्त के अनुसार पृथिवी-स्थानीय शरीरपिण्ड का उपादान अप्तत्त्व ही है। 'अप्सु भूमिरियं श्रिता' वचन भी यही सिद्ध कर रहा है। इसी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि आग्नेय शरीर की प्रतिष्ठा अप्तत्त्वरूप सोम है। इस दृष्टि का तात्पर्य्य यही है कि, शरीरपिण्ड में प्राण-भूत ये दो विभाग हैं। दृश्य भाग तो भूत है एवं भूतप्रतिष्ठारूप अदृश्य तत्त्व प्राण है। इस आग्नेय भूतभाग की प्रतिष्ठा आप्य-(सौम्य) प्राण ही है।

जिस अग्नि शरीर से यह प्रतिष्ठा लक्षण आप्यप्राण निष्क्रान्त होजाता है शरीर नष्ट होजाता है। प्राणात्मक इसी आप्य सोम को पवित्र 'ब्रह्मणस्पति' 'अम्भः' आदि नामों से व्यवहृत किया गया है। शुभ गङ्गा, सुवर्ण मृगचर्म्म आदि की पवित्रता इसी 'अम्भः' पर अवलम्बित है। अम्भ से ही गाङ्ग य [गङ्गाजल] में अशुचिभावनिवर्त्तिका पावनशक्ति व्यक्त हुई है। इसी 'अम्भ' के अनुग्रह से दर्भ (कुशा) के संसर्ग से

---

* आत्मभावना रश्मिभावना शुक्रभावना भेद से इस मन्त्र के तीन अर्थ होते हैं। इन तीनों की विशद व्याख्या इसी भाष्य में देखनी चाहिए। (इ० उ० वि० द्वि० खं० ७८ से १०८ पर्यन्त)।

तृप्ति के अवरोध से स्वयं अन्न (सोम) बन जाता है। दूसरी दृष्टि से देखिए। कोई मनुष्य भूखा है। यदि अन्नागमन बन्द होजायगा, तो जो शारीराग्नि अबतक अन्नाद था वही अन्न बन जायगा। प्राणाग्नि उत्क्रान्त होजायगा। शिव 'शवाग्नि' बन जायगा और यह अन्न उस श्मशानाग्नि [क्रव्यादाग्नि] की तृप्ति का कारण बनेगा। तत्त्वतः अग्नि की अन्तिम अवस्था [सोम न मिलने पर] सोम ही होजाती है यह निश्चित है। बलघन सोम को गर्भ में लेता हुआ बलशून्य भी अग्नि बलवान् बनता है भोक्ता बनता है, वही बलघन सोम के अवरोध से स्वयं बलघन बनता हुआ दूसरे बलवानों का अन्न बन जाता है। भोक्ता भोग्य बन जाता है, शाक्त शाक्ति बन जाता है।

उपर्युक्त रुद्राग्नि-विवेचन का निष्कर्ष यही निकला कि, अग्नि की बलवत्ता सोमसम्बन्ध पर ही निर्भर है। सोम बलतत्त्व है बलघन है। इसे लेकर ही अग्निमूर्ति रुद्र साम्बसदाशिव बने हुए हैं। क्योंकि पुरुष में अग्नितत्त्व का प्राधान्य है अतएव पुरुषमात्र को हम 'शिव' कह सकते हैं। उधर स्त्री में शक्तिघन सोमतत्त्व प्रधान है अतएव स्त्रीमात्र को हम 'शक्ति' कह सकते हैं। शिव-शक्ति के इन व्यापक भावों को लक्ष्य में रखकर ही हमने रुद्र-शिव भावों को अत्र प्रासङ्गिक माना है।

बाह्यदृष्टि को छोड़कर पहिले अन्तर्दृष्टि से ही शिवशक्ति का समन्वय कीजिए। पुरुष शिव क्यों है? इसका उत्तर है— 'सोम'। पुरुष आग्नेय अवश्य है परन्तु इसकी प्रतिष्ठा सोम ही है। अन्नरस की चरम अवस्थारूप 'शुक्र' [रेत वीर्य्य-धातु] साक्षात् सोम है। और सर्वसिद्धान्तानुसार यह सौम्यशुक्र ही पुरुष का अन्तरात्मा है। पुरुष का भौतिक दृश्य शरीर आग्नेय है एवं अन्तर्जगद्रूप शुक्र सौम्य है। शुक्रक्षय ही पुरुषनाश का कारण है एवं शुक्ररक्षा ही स्थिति का कारण है। इसी आधार पर श्रुति का—"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत' यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। इस बलघन सौम्य शुक्र से ही पुरुष बलवान् बना रहता है।

हाँ, एक रहस्य और। शुक्र सोम है सोम बलघन बनता हुआ पूर्वपरिभाषानुसार स्वयं बलप्रयोग में असमर्थ है। अतएव इस बलघन को अबल किंवा निर्बल कहा जाता है। पुरुषजाति का यह दुर्भाग्य है कि, यही अबलसोम (शुक्र) पूर्वकथनानुसार पुरुष का अन्तरात्मा है। यही कारण है कि पुरुष का बाह्यजगत् (आग्नेय-शरीर) जहाँ आक्रमण का अनुयायी रहता है वहाँ इसका अन्तर्जगत् उतना ही शिथिल रहता है। शरीर बलवान् (आग्नेय) आत्मा निर्बल (सौम्य) यही तात्पर्य्य है। शुक्र स्वयं निर्बल इसी का रूपान्तर मन इसी से संकल्प का उदय। फलतः पुरुष यदि विशेष साधनों के द्वारा शक्ति की उपासना नहीं करता है तो अधिकांश में इसके संकल्प मिथ्या ही होजाते हैं।

जब रहस्यभेद ही होने लगा तो एक रहस्य शेष क्यों छोड़ा जाय। सम्भव है पुरुष पुरुष के सामुख्य में अपने संकल्प में सफल होसके। परन्तु सौम्यात्मा पुरुष को इस आग्नेयी शक्ति (स्त्री) के सामुख्य में तो और भी अधिक दुर्बलता का ही अनुभव करना पड़ता है। स्त्री सौम्या है संकल्प भी शुक्रसम्बन्धी मन से सम्बन्ध रखता हुआ सौम्य है। नीम और गिलोय चढ़ी' चरितार्थ होजाता है। बात है सर्वथा स्पष्ट सर्वानुभूत फिर विशेष विस्फोटन क्यों किया जाय?।

उक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि, पुरुष का पाञ्चभौतिक शरीरपिण्ड तो आग्नेय है, एवं शरीरपिण्ड की प्रतिष्ठारूप शुक्र सौम्य है। अग्नि क्योंकि वृषा होने से पुरुष है एवं सोम योषा होने से स्त्री है इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि स्त्री ही पुरुष की प्रतिष्ठा है। साथ ही यह भी कह लीजिए कि जिन्हें हम पुरुष कहते हैं वे आग्नेय शरीर की अपेक्षा पुरुष होते हुए भी वस्तुतः अन्तःप्रतिष्ठारूप शुक्रसोम की दृष्टि से आभ्यन्तर-दृष्टि से स्त्रियां ही हैं। * 'स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः (ऋक्स० १।१६४।१६) यह श्रुति इसी दृष्टि का स्पष्टीकरण कर रही है। श्रुति का तात्पर्य यही है कि संसार में जितने भी पुरुष हैं, वे अग्निप्रधान भूतशरीर की अपेक्षा से भले ही पुरुष कहलाते हों। परन्तु शुक्रप्रधाना आत्मदृष्टि से तो उन्हें स्त्री ही कहना चाहिए। आत्मा-शरीर दोनों में आत्मा प्रधान माना जाता है। एवं जिस संस्था में जो प्रधान होता है 'प्रधानन्याय' से वह संस्था उसी के नाम से व्यवहृत होती है। जब कि प्रधानभूता आत्मदृष्टया पुरुषसंस्था सौम्या है तो इसे पुरुष न कह कर 'स्त्री' ही कहा जायगा। परन्तु आश्चर्य्य है कि अज्ञ मनुष्य इन स्त्रियों को पुरुष कह रहे हैं। पुरुष वास्तव में स्त्री हैं स्त्री होते हुए इन्हें पुरुष कहा जाता है' इस रहस्य को आँख वाला ही जान सकता है अन्धा नहीं— 'पश्यदक्षण्वान्नविचेतदन्धः'।

लीजिए, अब आज से आप भी अपने आपको स्त्री समझना आरम्भ कर दीजिए, और स्त्रियों का 'पुरुष' जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। सचमुच श्रुति का उक्त सिद्धान्त पुरुषजाति को क्षुब्ध कर रहा होगा। अवश्य ही इस क्षोभशान्ति के लिए किसी अन्य उपाय का आश्रय लेना पड़ेगा। निराश होने की कोई बात नहीं है। एक पुरुष के नाते इस सम्बन्ध में आप से अधिक हमें चिन्ता है। दो उपाय ऐसे हैं जिन से पुरुषसंस्था का अग्नितत्त्व प्रधान माना जासकता है एवं सोमतत्त्व गौण माना जासकता है।

पुरुषों का शरीर आग्नेय है, यह माना। परन्तु इस की प्रतिष्ठा है-पानी। 'अद्भ्यः पृथिवी' इस तैत्तिरीय-सिद्धान्त के अनुसार पृथिवी-स्थानीय शरीरपिण्ड का उपादान अप्तत्त्व ही है। 'अतः भूमिरियं भिन्ना' वचन भी यही सिद्ध कर रहा है। इसी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि आग्नेय शरीर की प्रतिष्ठा अप् तत्त्वरूप सोम है। इस दृष्टि का तात्पर्य यही है कि, शरीरपिण्ड में प्राण-भूत ये दो विभाग हैं। दृश्य भाग तो भूत है एवं भूतप्रतिष्ठारूप अदृश्य तत्त्व प्राण है। इस आग्नेय भूतभाग की प्रतिष्ठा आप्य-(सौम्य) प्राण ही है।

जिस दिन शरीर से यह प्रतिष्ठा लक्षण आप्यप्राण निष्क्रान्त होजाता है शरीर नष्ट होजाता है। प्राणात्मक इसी आप्य सोम को पवित्र 'ब्रह्मणस्पति' 'अम्भः' आदि नामों से व्यवहृत किया गया है। दर्भ गङ्गा सुवर्ण मृगचर्म्म आदि की पवित्रता इसी 'अम्भ' पर अवलम्बित है। अम्भ' से ही गाङ्गेय [गङ्गाजल] में अशुचिभावनिवर्त्तिका पावनशक्ति व्यक्त हुई है। इसी अम्भ' के अनुग्रह से दर्भ (कुशा) के संसर्ग से

* आत्मभावना रश्मिभावना शुक्रभावना भेद से इस मन्त्र के तीन अर्थ होते हैं। इन तीनों की विशद व्याख्या इशभाष्य में देखनी चाहिए। (ई० उ० वि० हि० सं० ७८ से १०८ पर्यन्त)।

पुरुष में शरीर, और शुक्र, दो विभाग हुए। दोनों क्रमशः आग्नेय एवं सौम्य हैं। आगे जाकर पुनः प्रत्येक में आग्नेय-सौम्य ये दो दो विभाग हुए। इस दृष्टि से पुरुष का उपक्रम भी अग्नितत्त्व रहा एवं उपसंहार भी अग्नि ही रहा। शरीर शारीरप्राण शुक्र शुक्रगतप्राण चारों क्रमशः आग्नेय सौम्य सौम्य आग्नेय रहे। इधर अग्नि उधर अग्नि मध्य में दोनों सोम। अग्नि पुरुष दोनों ओर पुरुष। बतलाइए, पुरुषसंस्था में अग्नितत्त्व की प्रधानता सिद्ध हुई अथवा सोमतत्त्व की? इस दृष्टि से हम पुरुष को अवश्य ही अग्निप्रधान मानते हुए 'पुरुष' ही कहेंगे, और स्त्री [सोम] को इस के तन्त्र में प्रतिष्ठित मानते हुए 'परतन्त्र' ही कहेंगे।

१-पुरुषसंस्था—

(१)-१-शरीरम्——अग्नि (पुरुष)—स एवादिः

(२)-आप्यप्राण——सोम (स्त्री)

(३)-१-शुक्रम्——सोम (स्त्री)

(४)-२-आग्नेयप्राणः अग्नि (पुरुषः)—स एवान्तः

} —अग्निप्रधानः-पुरुषः-'पुरुष'



शुक्रदृष्टि से स्त्रीसंज्ञा का भाजन बनने वाला पुरुष उक्त प्रथम उपाय से 'पुरुष' बन जाता है। दूसरा उपाय है सम्वत्सरमण्डल। सम्वत्सरमण्डल से ही तो पुरुष का निर्माण हुआ है। इसलिए ही 'पुरुष' को 'यज्ञ' कहा जाता है जिस यज्ञरहस्य का कि पाठक अगले ब्राह्मण में विशद निरूपण देखेंगे। इस अर्द्धखगोलात्मक जिस अर्द्ध सम्वत्सर से पुरुष का शरीर बनता है उस अर्द्ध सम्वत्सर के उत्तर भाग में सोम का एवं दक्षिण भाग में अग्नि का साम्राज्य बतलाया है। सम्वत्सर का मध्यसूत्र 'विषुवत्' है। इस आगे विषुवत् से जो मेरुदण्ड [रीढ़ की हड्डी] का निर्माण हुआ है। विषुवत् से उत्तर के सौम्य सम्वत्सर से शरीर के उत्तर पार्श्व [बायें भाग] का एवं दक्षिण के आग्नेय सम्वत्सर से दक्षिण पार्श्व [दाहिने भाग] का निर्माण हुआ है।

नव मानयुग का [कल्पित] अहिंसावादी द्विजातिवर्ग घृणा अवश्य करेगा। परन्तु विज्ञानपथानुगामी की दृष्टि में ऐसी घृणा का कोई महत्त्व नहीं है। एक मनुष्यशव [मुर्दे] को अपने सामने रख लीजिए, और शिखान्तस्थान से आरम्भ कर मूलप्रन्थि पर्य्यन्त ठीक बीच में से उस के दो खण्ड कर डालिए। दोनों दक्षिणोत्तर खण्डों के पर्वों का विश्लेषण कीजिए, एवं उन विश्लेषित पर्वों को पृथक् पृथक् रखते जाइए। विश्लेषण प्रक्रिया के अनन्तर दोनों के आकार, एवं भार की परस्पर तुलना कीजिए। आपको विदित होगा कि दक्षिणखण्ड के सभी पर्व प्रायः उत्तरखण्ड के पर्वों से आकार में भी बड़े होंगे एवं भार में भी अधिक होंगे।

उत्तर भाग के उत्तर फुफ्फुस, प्लीहा [तिल्ली] वृक्क क्लोम, हस्त, पाद, आदि पर्वों की अपेक्षा दक्षिण भाग के दक्षिण फुफ्फुस, यकृत [जिगर], वृक्क, क्लोम हस्त पाद आदि पर्वों के आप आकार, तथा भार दोनों में प्रवृद्ध देखेंगे। ये प्रवृद्ध क्यों हैं ?, इन शरीरावयवों का ऐसा स्वरूप क्यों हुआ ?, इन सब प्रश्नों का सोपपत्तिक समाधान बड़े विस्तार से आगे के "यज्ञो वै पुरुष" इत्यादि ब्राह्मण में किया जायगा। प्रकृत में केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, शरीर का दक्षिणभाग उत्तरभाग की अपेक्षा आकार–भार से उभयथा समृद्ध रहता है। कारण इसका यही है कि, दक्षिणभाग आग्नेय होने से बलवान् बनता हुआ प्रधान है, एवं वामभाग सौम्य होने से निर्बल बनता हुआ गौण है।

स्थूलपर्वों के अतिरिक्त सूक्ष्म–शक्तिदृष्टि से विचार करने पर भी उत्तर की अपेक्षा दक्षिण भाग को ही आप अधिक शक्तिशाली पाएँगे। जो कर्म्मनिपुणता दक्षिण हाथ से सम्भव है वह वाम से नहीं। उपनिषत् का इन्द्ररूप 'चाक्षुषपुरुष' भी दक्षिणचक्षु में ही रहता है। अतएव इसे 'दक्षिणाक्षिपुरुष' भी कहा जाता है–"योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः (श० ब्रा० ५।५।४)।

अपनी दैनिक शरीर–चेष्टाओं के अनुभव से भी दक्षिणभाग की प्रधानता का प्रत्यक्ष कीजिए। गमन व्यापार में सब से पहिले दहिना पैर ही आगे बढ़ता है। आगे की गति में भी दहिने पैर की ही अग्रगामिता रहती है, चलकर अनुभव कर लीजिए। सीधे बैठकर, अथवा खड़े होकर आप यह अनुभव करेंगे कि, शिरोभाग प्राय वाम पार्श्व की ओर ही अवनत (झुका) रहता है। दहिनी ओर मस्तक झुकाने में आप क्लेश का अनुभव करेंगे। क्योंकि दक्षिण भाग भारी है अतः उस ओर प्रवणता रखने में कष्ट होता है। बल–प्रयोग के जितने भी कर्म्म हैं सब में दक्षिण हाथ ही प्रधान रहता है। इन्हीं सब कारणों को देखते हुए मानना पड़ेगा कि पुरुष का दक्षिणभागस्थ अग्निभाग ही शरीरसंस्था में बलवान् एवं प्रधान है।

उत्तरभाग सौम्य है सोमप्रधान है। साथ ही यह दक्षिणभाग की अपेक्षा निर्बल, एवं गौण है। दक्षिणभाग जहाँ प्रत्यक्षरूप से विकसित रहता है वहाँ वामभाग दक्षिणभाग में अन्वित रहता है। जब आप वक्षस्थल से सटाते हुए दोनों बाहु मिलाकर उन पर दृष्टि डालेंगे तो आपको विदित होगा कि, दहिना बाहु वाम बाहु का आलम्बन बना हुआ है। साथ ही दहिने बाहु का हस्तरूप अग्रभाग बाहिर निकल कर प्रत्यक्ष बन रहा है एवं वामबाहु का हस्तरूप अग्रभाग दहिने बाहु के मूल में (कक्षप्रदेश में) छुप रहा है। सीधे खड़े होने पर दहिने पैर के आधार पर बायाँ पैर आवश्यक समय पर्य्यन्त अधर रह सकता है बाएँ के आधार पर दक्षिण नहीं। कृष्णमायमूर्त्ति में दहिने पैर को ही आप आश्रयरूप से प्रतिष्ठित देखेंगे। वामनेत्र में ही चाक्षुषपुरुष की पत्नी प्रतिष्ठित रहती है जोकि 'इन्द्रपत्नी' नाम से प्रसिद्ध है– 'य उ एष वामनीः स उ एव भामिनी' के अनुसार इस वामा इन्द्र–पत्नी को ही भामिनी भी कहा जाता है। इन्हीं सब कारणों को देखते हुए कहना पड़ेगा कि, वामभागस्थ सोमभाग इस शरीरसंस्था में गौण है।

इसी सम्बन्ध में एक बात और। अग्नि विकासधर्म्मा एवं सोम सङ्कोचधर्म्मा बतलाया गया है। पुरुष का दक्षिणभाग अग्निप्रधान होने से ही विकासवृत्ति का अनुयायी है एवं वामभाग सोमप्रधानता से ही संकोचवृत्ति का अनुगामी देखा गया है। सीधे पैरों आगे बढ़ने में पहिले पूर्वकथनानुसार दक्षिण पैर आगे चलेगा। यदि आप उलटे पैरों लौटेंगे तो इसी सङ्कोचभाव के कारण पहिले बायाँ पैर पीछे हटेगा। फैंकने का काम दहिने हाथ से एवं किसी वस्तु को लेकर चलते समय वह वस्तु रहगी वाम हाथ में।

पुरुष में शरीर, और शुक्र, दो विभाग हुए। दोनों क्रमशः आग्नेय एवं सौम्य हैं। आगे जाकर पुन प्रत्येक में आग्नेय–सौम्य ये दो दो विभाग हुए। इस दृष्टि से पुरुष का उपक्रम भी अग्नितत्त्व रहा एवं उपसंहार भी अग्नि ही रहा। शरीर शारीरप्राण, शुक्र शुक्रगतप्राण चारों क्रमशः आग्नेय सौम्य सौम्य आग्नेय रहे। इधर अग्नि उधर अग्नि मध्य में दोनों सोम। अग्नि पुरुष दोनों ओर पुरुष। फलतः पुरुषसंस्था में अग्नितत्त्व की प्रधानता सिद्ध हुई अथवा सोमतत्त्व की?। इस दृष्टि से हम पुरुष को अवश्य ही अग्निप्रधान मानते हुए 'पुरुष' ही कहेंगे, और स्त्री [सोम] को इस के तन्त्र में प्रतिष्ठित मानते हुए 'परतन्त्र' ही कहेंगे।

१–पुरुषसंस्था—

{ (१)–१–शरीरम्——अग्नि (पुरुष)—स एवादि:
{ (२)–आप्यप्राण——सोम (स्त्री)
} —अग्निप्रधान –पुरुषः–'पुरुष'
{ (३)–१–शुक्रम्——सोम (स्त्री)
{ (४)–२–आग्नेयप्राणः अग्नि (पुरुषः)—स एवान्तः

शुक्रदृष्टि से स्त्रीसंज्ञा का भाजन बनने वाला पुरुष उक्त प्रथम उपाय से 'पुरुष' बन जाता है। दूसरा उपाय है सम्वत्सरमण्डल। सम्वत्सरमण्डल से ही तो पुरुष का निर्माण हुआ है। इसलिए तो 'पुरुष' को 'यज्ञ' कहा जाता है जिस यज्ञरहस्य का कि पाठक अगले ब्राह्मण में विशद निरूपण देखेंगे। दश अह त्रयोदशात्मक जिस अह सम्वत्सर से पुरुष का शरीर बनता है उस अह सम्वत्सर के उत्तर भाग में सोम का एवं दक्षिण भाग में अग्नि का साम्राज्य बतलाया है। सम्वत्सर का मध्यवृत्त विषुवत् है। इस आपे विषुवत् से तो मेरुदण्ड [रीढ़ की हड्डी] का निर्माण हुआ है। विषुवत् से उत्तर के सौम्य सम्वत्सर से शरीर के उत्तर पार्श्व [बायें भाग] का एवं दक्षिण के आग्नेय सम्वत्सर से दक्षिण पार्श्व [दहिने भाग] का निर्माण हुआ है।

वर्त्तमानयुग का [कल्पित] अहिंसावादी शिक्षितवर्ग घृणा अवश्य करेगा। परन्तु विज्ञानपथानुगामी की दृष्टि में ऐसी घृणा का कोई महत्त्व नहीं है। एक मनुष्यशव [मुर्दे] को. अपने सामने रख लीजिए, और शिखान्तस्थान से आरम्भ कर मूलग्रन्थि पर्य्यन्त ठीक बीच में से उस के दो खण्ड कर डालिए। दोनों दृष्टिगोचर खण्डों के पर्वों का विश्लेषण कीजिए, एवं उन विश्लेषित पर्वों को पृथक् पृथक् रखते जाइए। विश्लेषण प्रक्रिया के अनन्तर दोनों के आकार, एवं भार की परस्पर तुलना कीजिए। आपको विदित होगा कि दक्षिणखण्ड के सभी पर्व प्रायः उत्तरखण्ड के पर्वों से आकार में भी बड़े होंगे एवं भार में भी अधिक होंगे।

शोणित का भूतभाग अवश्य ही आग्नेय है। परन्तु शोणित के गर्भ में रहने वाला प्राण सौम्य है। इसी सौम्यप्राण को "योषा" कहा जाता है। पुरुष के सौम्य शुक्र के गर्भ में रहने वाले आग्नेय वृषाप्राण का जब स्त्री के आग्नेय शोणित के गर्भमें रहने वाले सौम्य योषाप्राण के साथ मिथुनसम्बन्ध होता है तभी प्रजोत्पत्ति होती है। इसीसे यह भी स्पष्ट होजाता है कि, पुरुष का दूषित शुक्र सन्तान का प्रतिबन्धक है एवं स्त्री का दूषित शोणित सन्तान का प्रतिबन्धक है। दोनों की (शुक्र शोणित की) शुद्धि से ही तद्गत वृषा योषा प्राण शुद्ध रहेंगे एवं इन विशुद्ध रजो-वीर्य्यों के मिथुन से ही प्रजातन्तु सुरक्षित रहेगा।

सौम्य शुक्र में रहने वाला आग्नेय प्राण ही 'पुम्भ्रूण' है। एवं आग्नेय शोणित में रहने वाला सौम्य प्राण ही "स्त्रीभ्रूण" है। पुम्भ्रूण का पोषक शुक्र है। फलतः शुक्र जितना अधिक प्रवृद्ध होगा, पुम्भ्रूण उतना ही अधिक बलिष्ठ होगा। स्त्रीभ्रूण का पोषक शोणित है। फलतः शोणित जितना प्रवृद्ध होगा, स्त्रीभ्रूण उतना ही अधिक बलिष्ठ होगा। पुम्भ्रूण पुरुष है आग्नेय है। इसकी समृद्धि एकमात्र शुक्रसमृद्धि पर ही अवलम्बित है। शुक्र सौम्य होने से स्त्री है। इस सौम्या स्त्री की समृद्धि अभ्युत्थान, अभ्युदय ही पुरुष की समृद्धि अभ्युत्थान अभ्युदय का अन्यतम कारण है। उधर स्त्रीभ्रूण स्त्री है, सौम्य है। इसकी समृद्धि एकमात्र शोणित की समृद्धि पर ही अवलम्बित है। शोणित आग्नेय होने से पुरुष है। स्त्री की समृद्धि, अभ्युत्थान अभ्युदय पुरुष की समृद्धि अभ्युत्थान अभ्युदय पर ही अवलम्बित है। यही दाम्पत्यभाव का मौलिक रहस्य है। यही अर्द्धनारीश्वर का समृद्ध वैभव है, और यही वैभव विश्वशान्ति की मूल प्रतिष्ठा है।

जिस समय पुम्भ्रूण-स्त्रीभ्रूणों का मिथुनभाव होता है, उस समय दोनों में संघर्ष चलता है। जो प्रबल होता है, वह दूसरे का निगरण कर उसे अपने रूप में परिणत कर लेता है। मान लीजिए पुम्भ्रूण निर्बल है एवं स्त्रीभ्रूण सबल। स्त्रीभ्रूण [जो कि सौम्य होने से स्त्रीसृष्टि का प्रवर्त्तक है] पुम्भ्रूण को आत्मसात् कर लेता है। फलतः इसे स्त्रीभ्रूणप्रधान मिथुनभाव से कन्यासन्तति होती है। यदि पुम्भ्रूण सबल है तो ठीक इसके विपरीत उक्त प्रक्रिया से पुत्रसन्तति होती है। शुक्रप्रवृद्धि में पुम्भ्रूण की वृद्धि है, एवं शोणितप्रवृद्धि में स्त्रीभ्रूण की वृद्धि है। शुक्रसमृद्धि पुम्भ्रूण की समृद्धि का कारण बनेगी इत्यादि उत्तर होगी। यदि दोनों सम हैं तो दोनों के ही चिह्न शेष रहते हैं। यही नपुंसकसृष्टि है। यदि दोनों में से एक का भी भ्रूण मूर्च्छित है तो दाम्पत्यभाव व्यर्थ ही सिद्ध होता है—

१—आधिक्ये रेतसः पुंसः, कन्यास्यादार्त्तवाधिके।
न पुंसकं तयोः साम्ये, यथेच्छा पारमेश्वरी ॥ (भावप्रकाश)।

२—पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे, स्त्रीभवत्यधिके स्त्रियाः।
समेऽपुमान्, पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्य्ययः ॥ (मनु ३।४९)।

उक्त स्त्रीस्वरूप से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि, स्त्रीभरया के शरीर आत्मा ये दोनों विभाग क्रमशः सौम्य एवं आग्नेय हैं। आगे जाकर पुनः प्रत्येक के सौम्य आग्नेय ये दो विभाग हुए। इस दृष्टि से स्त्री का उपक्रम भी सोमतत्त्व रहा, उपसंहार भी सोम ही रहा। शरीर शारीरप्राण-शोणित शोणित

अतएव रोगग्रस्त 'स्त्रीस्वातन्त्र्यवाद' का जन्म हुआ हो और जिस के परितोष के लिए ही हमें इस प्रकृतिसिद्ध तथ्य—समन्वय का आश्रय लेना पड़ा हो।

उक्त 'स्त्रीभाव' विवेचन से स्पष्ट हुआ कि, स्त्री का पाञ्चभौतिक शरीरपिण्ड तो सौम्य है एवं शरीर-पिण्ड की प्रतिष्ठारूप शोणित आग्नेय है। सोम योषा होने से स्त्री है एवं अग्नि वृषा होने से पुरुष है। क्योंकि सोमरूप स्त्री शरीर की प्रतिष्ठा अग्निरूप शोणित है अतएव हम कह सकते हैं कि पुरुष (अग्नि-शोणित) ही स्त्री की प्रतिष्ठा है। इसी आधार पर यह भी कह लीजिए कि, जिन्हें हम 'स्त्री' कहते हैं वे सौम्य शरीर की दृष्टि से भले ही स्त्रियां हों परन्तु अन्त प्रतिष्ठारूप शोणिताग्नि की अपेक्षा से आत्मदृष्टि से तो उन्हें 'पुरुष' ही कहा जायगा।

एक पक्षपात की बात। पुरुष आत्मदृष्टया स्त्री है। परन्तु जनसाधारण इन स्त्रियों को पुरुष ही कहते हैं। इसप्रकार "स्त्रियः सतीस्तौं उ मे पुंस आहु" इत्यादि रूप से श्रुतिने पुरुषों को स्पष्ट शब्दों में स्त्री कहकर पुरुषजाति का तो अपमान कर डाला। न्यायप्राप्त बात तो यह थी कि जैसे वेदमहर्षि ने पुरुषजाति का— 'अरे! इन्हें पुरुष कौन कहता है ये तो स्त्रियाँ हैं' इसप्रकार अपमान कर डाला वैसे ही 'पुरुषा सन्तस्ते उ मे स्त्रिय आहु' (इन पुरुषों को स्त्री कहा जाता है) स्त्री के सम्बन्ध में भी यह कहते। परन्तु नहीं कहा। कहते भी क्यों जब कि वे पुरुष के निर्बल आत्मा, एवं स्त्री के सबल आत्मा से परिचित थे। पुरुष अपमान सहन कर सकता है, किन्तु स्त्री नहीं।

जब कि प्रधानभूता आत्मदृष्टि से स्त्रीसंस्था आग्नेयी है, तो इसे 'स्त्री' न कह कर 'पुरुष' ही कहा जायगा। हाँ तो आज से स्त्रीमात्र अपने आपको पुरुष समझना आरम्भ कर दे। अपना माना किसे बुरा लगता है। यदि पुरुषजाति स्त्री की उपाधि के क्षुब्ध होसकती है और इसी क्षोभ की शान्ति के लिए यदि यह (पूर्वप्रदर्शित दो) उपाय निष्फल होती है तो स्त्रीजाति भी पुरुषोपाधि से क्यों शान्त होने लगी!। अवश्य ही उन की स्वरूप-रक्षा के लिए भी कोई न कोई उपाय निकालना ही पड़ेगा।

स्त्रियों का शरीर सौम्य एवं आत्मरूप शोणित आग्नेय यह तो ठीक है। और इसी दृष्टि से स्त्रियाँ पुरुष कहला भी सकतीं हैं। परन्तु निरूपिता पुरुषसंस्था की परिभाषा के अनुसार स्त्री के सौम्यशरीर, एवं आग्नेय शोणित दोनों के भूत-मात्रा मेंसे दो दो विभाग हैं। सौम्य इस्थशरीर मूलभाग है इसका आधार प्राण आग्नेय है। प्रत्यक्षप्रमाण यही है कि पुरुषशरीर अग्नि की कृपा से कर्कश होता हुआ भी हीनवीर्य रहता है। जरासी मोड़ तोड़ से अस्थिग्रन्थियां (जोड़) खुल जाती हैं। कारण यही है कि, इसका शरीर यद्यपि आग्नेय होने से सबल है परन्तु इसका मूलप्राण आप्य (सौम्य) है। सोम निर्बल है। अतएव यह प्रबल आघात से पुरुषशरीर को नहीं बचा सकता।

इधर स्त्री का शरीर सामानुग्रह से कोमल होता हुआ भी वीर्ययुक्त है। असाधारण व्याघातों को छोड़कर स्त्रीशरीर साधारण व्याघातों की उपेक्षा ही कर देता है। कारण इसका शरीर यद्यपि सौम्य होने से निर्बल है किन्तु इसका मूलप्राण आग्नेय है। अग्नि बलवान् है। यह आघात से स्त्रीशरीर को बचा लेता है। इस शरीरप्रतिष्ठा की दृष्टि से स्त्री अपने आभ्यन्तररूप से 'आग्नेयी' बनती हुई पुरुष ही कह-लायगी।

है। अनादिमात्र के कारण दोनों ही प्रतिद्वन्द्वी हैं। इन प्रतिद्वन्द्वियों के पूर्वपरिभाषानुसार यद्यपि चार युग्म मानने चाहिए, परन्तु पुरुषशरीर का आधारभूत आप्य प्राण पुरुषशरीर में एवं स्त्री का आधारभूत आग्नेय प्राण स्त्रीशरीर में ही अन्तर्भूत मान लिया जाता है अतः चार के स्थान में तीन ही युग्म रह जाते हैं जैसाकि परिलेख से स्पष्ट होजाता है—

पुरुष विवर्त	स्त्री विवर्त
१—आग्नेयशरीरम् (अग्नि -पुरुष)	१—सौम्यं शरीरम् (सोम स्त्री)-१-द्वन्द्व
२—आप्यप्राण (सोम स्त्री)	२ -आग्नेयप्राण (अग्नि -पुरुषः)-२-द्वन्द्व
१—सौम्यं शुक्रम् (सोम -स्त्री)	१—आग्नेय शोणितम् (अग्नि-पुरुषः)-३ द्वन्द्व
२—आग्नेयप्राण. (अग्नि -पुरुष)	२—सौम्यप्राणः (सोम -स्त्री) ४-द्वन्द्व

१— १-आग्नेय पुरुषशरीरम् (पुरुष) / २ सौम्य स्त्रीशरीरम् (स्त्री) } प्रतिद्वन्द्विनौ (प्रथमद्वन्द्व)।

२— १-आप्यप्राण (पुरुषशरीरप्रतिष्ठा)-स्त्री / २-आग्नेयप्राण (स्त्रीशरीरप्रतिष्ठा) पुरुष } प्रतिद्वन्द्विनौ (द्वितीयद्वन्द्व)।

३— १-सौम्यं शुक्रं (पुरुषप्रतिष्ठा)-स्त्री / २-आग्नेयं शोणितं (स्त्रीप्रतिष्ठा)-पुरुष } प्रतिद्वन्द्विनौ (तृतीयद्वन्द्व)।

४— १-आग्नेयप्राणः (वृषा)-पुरुष / २ -सौम्यप्राण (योषा)-स्त्री } प्रतिद्वन्द्विनौ (चतुर्थद्वन्द्व)।

★ ★ ★

जैसाकि अनुपद में ही बतलाया गया है स्व–स्व संस्थानुगत स्वातन्त्र्य पारतन्त्र्य के सम्बन्ध में "कौन स्वतन्त्र कौन परतन्त्र है" ? यह प्रश्न ही नहीं उठाया जासकता। इस प्रश्न का आरम्भ तब होता है जब कि हम स्त्री-पुरुष के दाम्पत्यभाव का विचार करने के लिए प्रस्तुत होते हैं। स्त्री-पुरुष परतन्त्र रहें अथवा स्वतन्त्र, मित्र रहें अथवा और कुछ, यह तदस्थ सम्बन्ध दाम्पत्यभाव से सम्बन्ध नहीं रखता।

साथ ही यह भी निर्विवाद है कि बिना दाम्पत्यभाव के न स्त्रीसृष्टि का उदय सम्भव है न पुरुषसृष्टि का। जबकि दाम्पत्यभाव ही स्त्रीपुरुषसृष्टि का मूलकारण है तो हमें मानना पड़ेगा कि, स्त्री–पुरुष की स्वतन्त्रता परतन्त्रता का वही निर्णय (विज्ञानसिद्ध अतएव) मान्य निर्णय कहा जायगा जो कि दाम्पत्यभाव का अनुगामी रहेगा। दूसरे शब्दों में यों कह लीजिए कि, दाम्पत्यभावकाल में स्त्री–पुरुष दोनों में जो जिस तन्त्र का अनुगामी होगा दाम्पत्यभाव के फलस्वरूप उन प्रजात्मक स्त्री-पुरुषों का भी वही तन्त्र माना जायगा फिर वह तन्त्र स्व हो अथवा पर।

कर्म्म का स्वतन्त्र कर्त्ता वही माना जायगा जो कि कर्म्म प्रक्रिया में स्वतन्त्र * रहेगा। उक्त कर्त्ता का कर्म्म सफल हो अथवा निष्फल यह दूसरी बात है। प्रजोत्पत्ति एक फल है। इस फल का साधक कर्म्म पति पत्नी का दाम्पत्यभाव (मिथुनभाव) है। दाम्पत्यकर्म्म ही प्रजोत्पत्ति का मूलकारण है। यद्यपि यह ठीक है कि, इस कर्म्म में दोनों का ही सहयोग अपेक्षित है। इसीलिए 'दम्पती' शब्द से पति-पत्नी दोनों का ग्रहण होता भी है। तथापि इस कर्म्म का स्वतन्त्र कर्त्ता पति ही माना जायगा। दाम्पत्यकर्म्म की प्राथमिक प्रेरणा पुरुष की ओर से ही होती है ×। "पुरुष एव स्त्रियमनुधावति न स्त्रीपुरुषमनु" यह सार्वजनीन प्रत्यय है।

रेतोवर्षण से ही शुक्रगत आग्नेय प्राण वृषा कहलाया है। कामजनित कम्पनात्मक क्षोभ ही रेत को स्वस्थान से च्युत करता है, अतएव इस रेतोवर्षक वृषा को 'वृषाकपि'+ भी कहा गया है। इस प्रथमप्रेरणा के कारण हम वृषाप्रधान पुरुष को ही इस दाम्पत्यकर्म्म का स्वतन्त्र कर्त्ता कहेंगे। जब वृषा स्वतन्त्र है, तो योषा का पारतन्त्र्य स्वतः सिद्ध है। फलतः इस दाम्पत्य से उत्पन्न पुत्रसन्तान वृषाप्रधान बनती हुई स्वतन्त्र मानी जायगी एवं कन्यासन्तान परतन्त्र कही जायगी। एक दृष्टि।

दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। दो प्रतिद्वन्द्वियों में जो अपने आक्रमण में प्रधान रहेगा वही प्रधान माना जायगा उसे ही 'स्वतन्त्र' कहा जायगा एवं विजय उसी का माना जायगा। पुरुष आग्नेय है, एवं स्त्री सौम्या

---

* 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' (पा. सू.) 'क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्त्ता स्यात् (दीक्षितः)।

× [१] "पश्चाद्वै परीत्य वृषा (पुरुष) योषामधिद्रवति [अनुधावति] तस्यां रतः सिञ्चति" [शत० २।४।४।२३]।

[२] "तस्माद् स्त्री पुंसोपमन्त्रिता निपलाशमिवैव वदति" [शत०३।२।१।२०]।

[३] "तस्माद् स्त्री पुंसोपमन्त्रिता आरकादिवैवाग्रे ऽप्रमयति" [शत०३।२।१।१६]।

+ 'तद्यत् कम्पयमानो रेतो वर्षति, तस्माद् वृषाकपिः" [गो०ब्रा०उ०६।१२]।

इतना ही है कि- स्त्री स्वतन्त्र रहने योग्य नहीं है । अर्थात् स्त्री को अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग स्वयं न कर किसी अन्य के आश्रय में ही इसका उपयोग करना चाहिए। यदि किसी गृहस्थ में स्त्री अपने स्वातन्त्र्य का उपयोग करने लगेगी, तो वह संस्था उच्छिन्न होजायगी। यक्षवेशधारी धर्मराज के- कौनसा घर नष्ट हो जाता है ? यह प्रश्न करने पर धर्मावतार युधिष्ठिर ने भी- स्त्री पुरुषत्व तद्धि गेह विनष्टम् * (महाभारत) 'जहाँ स्त्री पुरुष बन जाती है वह घर नष्ट है' यह उत्तर देते हुए उक्त सिद्धान्त का ही समर्थन किया है।

सम्पूर्ण सम्वत्सर मण्डल की दृष्टि से जब तत्प्रतिरूप दम्पती का विचार किया जाता है, तब भी पुरुष की स्वतन्त्रता एवं स्त्री की परतन्त्रता ही सिद्ध होती है। सम्वत्सरीय खगोल के सौर दृश्य खगोल से [भावे खगोल से] पुरुषसृष्टि का एवं चान्द्र अदृश्य खगोल से [भावे खगोल से] स्त्रीसृष्टि का विकास हुआ है और इस दृष्टि से दोनों अपनी अपनी सत्ता की अपेक्षा से स्वतन्त्र भी माने जासकते हैं। परन्तु दोनों की समष्टिरूप सम्वत्सर स्वयं अग्निमूर्त्ति है। यद्यपि अग्निमूर्त्ति सम्वत्सर के गर्भ में आग्नेयरूप पुरुष, एवं सोमरूपिणी स्त्री दोनों तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। अतएव सम्वत्सर को अग्नि के साथ साथ सोममय भी कहा जासकता है जैसा कि- 'सम्वत्सरो वै सोमो राजा' [कौ० ७।१०]- सम्वत्सरो वै सोम पितृमान [शै ब्रा० १।६।८।२।) इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है। तथापि सम्वत्सर का मौलिक रूप अग्नि ही माना जायगा। इस मौलिक अग्नि को अग्नि न कह कर यजुःपुरुष ही कहा गया है। [देखिए शत० १०।५।२।१]। यही तत्त्व या एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत के अनुसार 'वाक्' नाम से प्रसिद्ध है। आरम्भ में अग्निमूर्त्ति वाक् प्रजापति एकाकी ही थे। ये ही आगे जाकर सृष्टिकामना से आग्नेयरूप पुरुष एवं सोमरूप स्त्री इन दो रूपों में परिणत हुए हैं-"अर्द्धेन पुरुषोऽभवत अर्द्धेन नारी [मनु]। स्वयं श्रुति ने भी- 'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात वागेव साऽसृज्यत [शत० ६।१।१।७।] कहते हुए वागग्नि को ही आप्य-सोम का उत्पादक माना है। इन्हीं सब प्रमाणों के आधार पर हम वाङ्मय किंवा वाक्प्रधान सम्वत्सरप्रजापति को अग्निप्रधान ही कह सकते हैं। यही आत्मा है। इसी की सर्वत्र व्याप्ति है। सम्वत्सर की अग्निप्रधानता निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट प्रमाणित होजाती है-

---

* अनायका विनश्यन्ति, नश्यन्ति बहुनायका ।
स्त्रीनायका विनश्यन्ति, नश्यन्ति बालनायका ॥
—प्रसिद्धा सूक्ति.

'जिन संस्थाओं में कोई सञ्चालक नहीं होता अथवा अनेक सञ्चालक होजाते हैं अथवा स्त्री सञ्चालिका बन जाती है अथवा बच्चे सञ्चालक बन जाते हैं वे संस्थाएँ कालान्तर में नष्ट ही होजाती हैं । महाभारतीय वचन के उक्त तथ्य के आधार पर ही राजस्थानी भाषा (जयपुर की भाषा) में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि 'जीं घर में लुगायाँ पागड़ो बँधा लेछ उँ घर को भदिन ही आजाय छ' अर्थात्-जिस गृहसंस्था में लोक-सामाजिकी-व्यवस्थाओं में स्त्री का अनुशासन प्रमुख बन जाता है यह गृहस्थसंस्था लोक-सामाजिकी-मर्य्यादाओं की दृष्टि से भी एवं गृहस्थव्यवस्था की दृष्टि से भी कालान्तर में विनष्ट ही होजाती है' (स्त्रीपुरुषत्व तद्धि गेहं विनष्टम्)।

१—१—आप्यप्राणगर्भितमाग्नेयं शरीरम् (सोमाग्निमयं पुरुषशरीरम् पुरुषः
२—आग्नेयप्राणगर्भितं सौम्यं शरीरम् (अग्नीषोममयं स्त्रीशरीरम् स्त्री } प्रतिद्वन्द्विनौ (१ द्वन्द्व)



२—१—सौम्यं शुक्रम् — स्त्री
२—आग्नेयं शोणितम् पुरुषः } प्रतिद्वन्द्विनौ (द्वितीययुग्म)।



३—१—आग्नेयो वृषा—पुरुषः
२—सौम्या योषा—स्त्री } प्रतिद्वन्द्विनौ तृतीययुग्म)।



पूर्वतालिका में प्रदर्शित तीनों प्रतिद्वन्द्वियों में से कौनसा द्वन्द्व सर्वप्रथम आगे बढ़ता है ? आगे बढ़ने वाले उस द्वन्द्व में किस की ओर से पहिले आक्रमण होता है ? एवं अन्त में किस के आक्रमण की प्रधानता रहती है ? पहिले यही देखिए। दाम्पत्यभावोपक्रम का मूलाधार दम्पती के स्थूलशरीर हैं। पुरुषशरीर आग्नेय है स्त्रीशरीर सौम्य है। अग्नि सोम पर आक्रमण कर रहा है इसका तात्पर्य हुआ पुरुषभाव स्त्री भाव पर आक्रमण कर रहा है। इस आक्रमण में पुरुषभाव की ही प्रधानता है। इस प्रथमाक्रमण के अनन्तर पुरुष के शुक्र का स्त्री के शोणित में सेक होता है। सौम्यशुक्र आग्नेय—शोणित पर आक्रमण कर रहा है। अर्थात् स्त्रीतत्त्व पुरुषतत्त्व पर आक्रमण कर रहा है। इस आक्रमण में स्त्रीभाव की प्रधानता है। शुक्रशोणि-तरूप इस दूसरे द्वन्द्वभाव के अनन्तर सौम्य शुक्र में रहने वाले आग्नेयप्राणमूर्त्ति 'वृषा' का आग्नेय शोणित में रहने वाली सौम्यप्राणमयी 'योषा पर आक्रमण होता है। पुरुषभाव का स्त्रीभाव पर आक्रमण होता है। यही तीसरा किंवा अन्तिम आक्रमण है। इसमें पुरुषभाव की प्रधानता है एवं यही अन्तिमाक्रमण त्रियुग्मात्मक दाम्पत्यकर्म्म को प्रजोत्पत्ति-फलरूप से समन्वित करता है।

तीनों में से आदि में पुरुषाक्रमण की प्रधानता अन्त में पुरुषाक्रमण की प्रधानता केवल मध्य में (दोनों ओर के पुरुषभावों से परतन्त्र बने हुए) स्त्री का आक्रमण। इसीलिए हम पुरुष को स्वतन्त्र, कर्त्ता, अतएव प्रधान कहते हैं एवं स्त्री को परतन्त्र कर्त्तानुगामिनी अतएव गौण कहते हैं।

जैसाकि पूर्व में कहा गया है पुरुषवत् स्त्री भी अपनी सोमसत्ता से स्वतन्त्र है। परन्तु स्त्री का यह स्वातन्त्र्य तभी सुरक्षित रह सकेगा, जबकि वह किसी 'पर तन्त्र' को अपना रक्षक बना लेगी। धर्म्ममहर्षि स्त्री की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं करते। अपितु चाहते वे केवल यही हैं कि उनकी स्वतन्त्रसत्ता सोमप्रधान होने से स्रुत बनती हुई अस्थिर है प्रतिष्ठाशून्य है। अतः उन्हें अपने इस अप्रतिष्ठित स्वातन्त्र्य का उपभोग किसी प्रतिष्ठित तत्त्व को आधार बना कर ही करना चाहिए। 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' वाक्य इसी भाव को स्पष्ट कर रहा है। धर्म्माचार्य्योंने — स्त्री परतन्त्र है' यह कभी नहीं कहा है। कहते भी कैसे जबकि पुरुषों की भांति स्वतन्त्रता स्त्रियों का भी जन्मसिद्ध अधिकार है। उक्त आदेशवचन का तात्पर्य केवल

इतना ही है कि- स्त्री स्वतन्त्र रहने योग्य नहीं है । अर्थात् स्त्री को अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग स्वयं न कर किसी अन्य के आश्रय में ही इसका उपयोग करना चाहिए । यदि किसी गृहस्थ में स्त्री अपने स्वातन्त्र्य का उपयोग करने लगेगी, तो वह संस्था उच्छिन्न होजायगी । यक्षरूपधारी धर्मराज के- कौनसा घर नष्ट हो जाता है ? यह प्रश्न करने पर धर्मावतार युधिष्ठिर ने भी-'स्त्री पुमांश्च यत्र गेहं विनश्यति * (महाभारत) 'जहाँ स्त्री पुरुष बन जाती है वह घर नष्ट है' यह उत्तर देते हुए उक्त सिद्धान्त का ही समर्थन किया है ।

सम्पूर्ण सम्वत्सर-मण्डल की दृष्टि से जब तत्प्रतिरूप दम्पती का विचार किया जाता है, तब भी पुरुष की स्वतन्त्रता, एवं स्त्री की परतन्त्रता ही सिद्ध होती है । सम्वत्सरीय खगोल के सौर दृश्य खगोल से [आर्ष खगोल से] पुरुषसृष्टि का एवं चान्द्र अदृश्य खगोल से [आर्ष खगोल से] स्त्रीसृष्टि का विकास हुआ है और इस दृष्टि से दोनों अपनी अपनी संस्था की अपेक्षा से स्वतन्त्र भी माने जासकते हैं । परन्तु दोनों की समष्टिरूप सम्वत्सर स्वयं अग्निमूर्ति है । यद्यपि अग्निमूर्ति सम्वत्सर के गर्भ में आग्नेयरूप पुरुष एवं सोमरूपिणी स्त्री दोनों तत्त्व प्रतिष्ठित हैं । अतएव सम्वत्सर को अग्नि के साथ साथ सोममय भी कहा जासकता है जैसा कि- सम्वत्सरो वै सोमो राजा' [कौ० ७।१०]-'सम्वत्सरो वै सोमः पितृमान [तै० ब्रा० १।६।८।२।) इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है । तथापि सम्वत्सर का मौलिक रूप अग्नि ही माना जायगा । इस मौलिक अग्नि को अग्नि न कह कर 'यजुःपुरुष' ही कहा गया है । [देखिए शत० १०।५।२।१] । यही 'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत् के अनुसार वाक् नाम से प्रसिद्ध है । आरम्भ में अग्निमूर्ति वाक् प्रजापति एकाकी ही थे । ये ही आगे जाकर स्वप्रकामना से आग्नेयरूप पुरुष, एवं सोमरूप स्त्री इन दो रूपों में परिणत हुए हैं-"अर्द्धेन पुरुषोऽभवत् अर्द्धेन नारी [मनु] । स्वयं श्रुति ने भी- 'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात् वागेव साऽसृज्यत [शत० ६।१।१।६।] कहते हुए वागग्नि को ही आप्य-सोम का उत्पादक माना है इन्हीं सब प्रमाणों के आधार पर हम वाङ्मय किंवा वाक्प्रधान सम्वत्सरप्रजापति को अग्निप्रधान ही कह सकते हैं । यही आत्मा है । इसी की सर्वत्र व्याप्ति है । सम्वत्सर की अग्निप्रधानता निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट प्रमाणित होजाती है-

---

* अनायका विनश्यन्ति नश्यन्ति बहुनायकाः ।
स्त्रीनायका विनश्यन्ति, नश्यन्ति बालनायकाः ॥

—प्रसिद्धा सूक्ति

'जिस संस्थाओं में कोई सञ्चालक नहीं होता अथवा अनेक सञ्चालक होजाते हैं अथवा स्त्री सञ्चालिका बन जाती है अथवा बच्चे सञ्चालक बन जाते हैं वे संस्थाएँ कालान्तर में नष्ट ही होजाती हैं । महाभारतीय वचन के उक्त तथ्य के आधार पर ही राजस्थानी भाषा (जयपुर की भाषा) में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि 'जी घर में लुगायाँ पागड़ो बँधा लद्द ऊँ घर को भदिन ही आजाय छ' अर्थात्-जिस गृहसंस्था में लोक-सामाजिकी-व्यवस्थाओं में स्त्री का अनुशासन प्रमुख बन जाता है वह गृहस्थसंस्था लोक सामाजिकी-मर्यादाओं की दृष्टि से भी एवं गृहस्थव्यवस्था की दृष्टि से भी कालान्तर में विनष्ट ही होजाती है' (स्त्रीपुमांश्च यत्र गेहं विनश्यति) ।

१—"सर्वं वै सम्वत्सरः" (शत० १।६।१।१९।)।
२—"सम्वत्सर एवाग्निः" (शत० १०।४।५।२।)।
३—"सम्वत्सरो वै पिता वैश्वानरः प्रजापतिः" (शत १।५।१।१६।)।
४—"वाक्सम्वत्सर" (ताण्ड्य० १०।१२।७।)।
५—"अग्निः सम्वत्सर" (ताण्ड्य० १७।१३।१७।)।



सम्वत्सर वागग्निमूर्ति है इस का अपना प्रधान भाग ही आग्नेय पुरुष है एवं गौणभाग ही सौम्या स्त्री है। इस दृष्टि से भी पुरुष ही स्वतन्त्र माना जायगा। अग्नि अन्नाद है, एवं सोम अन्न है इस दृष्टि से भी पुरुष का प्राधान्य, एवं स्वातन्त्र्य सिद्ध होता है। अग्नि सत्य है सोम ऋत अतएव पुरुष प्रधान है। इस दृष्टि से भी पुरुष ही प्रधान है। दक्षिणपार्श्वस्थ अग्नि बलवान् है उत्तरपार्श्वस्थ सोम निर्बल है। इस पुरुष दृष्टि से भी पुरुष का वीर्य्यशालित्व एवं स्त्री का अवीर्य्यत्व ही सिद्ध होरहा है।

इन्हीं सब प्रकृतिसिद्ध कारणों के आधार पर स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में परतन्त्रता, स्वतन्त्रता-भावों का समावेश हुआ है। स्त्री को दायविभाग की अधिकारिणी क्यों नहीं माना गया ? स्त्री को सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्म्मिक व्यवहारों में पुरुष की भाँति पूर्ण स्वातन्त्र्य क्यों नहीं मिला ? उन की बाल-युवा-वृद्धा अवस्थाओं में क्यों पिता-पति-पुत्रों की अर्गला लगाई गई ?, इन सब प्रश्नों का एकमात्र समाधान अग्नि सोम की उक्त मौलिक व्याख्या ही है। स्मृतिशास्त्र को सामयिक, अतएव परिवर्त्तनशील मानने वाले सुधारवादी बन्धु समझते होंगे कि, स्त्रियों के सम्बन्ध में ऐसे विधान केवल स्मृतिकारों की ही कल्पना है। अपरिवर्त्तनीय वेदशास्त्र का इन से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु हम उन्हें यह विश्वास दिलाते हैं कि, ये सम्पूर्ण विधान श्रुतिसम्मत अतएव सर्वथा वैज्ञानिक, अतएव च प्रामाणिक ही हैं। विस्तारभय से प्रकृत में वे सब श्रौत प्रमाण उद्धृत नहीं किए जासकते। उदाहरणरूप से कुछ एक निदर्शन ही सन्तोष के लिए पर्य्याप्त मान लिए जायँगे।

पुरुपसृष्टि आग्नेयी	सम्वत्सर	स्त्रीसृष्टि-सौम्या

पुरुप.— १–"पुरुपोऽग्नि" —शा० १०।४।१।६। २–"एतावान् पुरुप, यदात्मा प्रजा-जाया" —शा० ३।४।३। ३–"यद्वै पुरुषवान् कर्म्म चिकीर्पति, शक्नोति वै तत् कर्त्तुम्" —शा० १।२।५।४। ४–"पुरुप शतवीर्य्य" —तै० ब्रा ३।८।१५। ५–"द्विप्रतिष्ठ पुरुपः" —गो० पू० ४।२४।	**स्त्री—** १ "उत्तरत आयतना स्त्री" —शा० ८।४।४।११। २–"अनृत स्त्री" —शत० १४।१।१।३१। ३–'कर्म्म वा इन्द्रिय वीर्य्यं, तदेतदुत्तम–स्त्रीपु" —शा० १२।७।२।११ ४–"अवीर्य्या वै स्त्री" —शा० २।५।२।३६। ५–"पतयो ह्येव स्त्रियै प्रतिष्ठा" —शा० ६।२।१४।
वृषा— १–"इन्द्रो वै वृषा" —शत० १४।१।२३। २–"वृषा हिङ्कार" —गो० पू० ३।२३। ३–"वृषा रेत सिञ्चति" —शत० २।४।४।१३। ४–दधिमतो वै वृषा योपामुपशेते" —शत ६।३।१।३०। ५–"समग्निरिध्यते वृषा" —शा० १।४।१।२६।	**योषा–** १–"योपा वै सिनीवाली" —शा० ६।५।१।१। २–"पुरन्धिर्योपा" —तै० ३।८।१३।२। ३–"योपा रसो धत्ते" —शा ७।१।१।४४। ४–"योपा वै पत्नी" —शा० १।३।१।१०। ५ "न वै योपा कञ्चन हिनस्ति" —शा० ६।३।१।३६।

अग्नि.—

१–यो वै रुद्रः सोऽग्नि ”
—श० ५।२।४।१३।

२–‘वीर्य्यं वा अग्निः” ”
—तै० १।७।२।२।

३–“पुरुषो वा अग्नि ”

४ “वृषाग्नि ”
—शत० २।१।१।४।

५–“अग्निर्वै रेतोधा”
—तै० १।७।२।३।

सोम —

१–“श्रीर्वै सोमः”
—श० ४।१।३।६।

२–“पशवो हि सोम ”
—शत० १२।७।२।२।

३–मन्नं-सत् सोम ”
—ऐ० ५।२५।

४–“योषा वा आप ”
—सोमा-श० २।१।१।४।

५–“तिरो अह्न्या हि सोमा
—कौ० १८।५।

अन्नाद.–

१–अन्नादोऽग्निः”
—शत० २।१।४।२८।

२–अग्निर्वै देवानामन्नादः”
—तै० ३।१।४।१।

३–‘अग्निरन्नादोऽन्नपति ”
—तै २।५।७।३।

४–“अग्निमन्नाद वेद, अन्नादो हैव भवति”
—श० २।२।४।१।

५ “अन्नाद्य-तदग्निः”
—ऐ० ५।२५।

अन्नम्–

१–अन्न पशवः”
—ऐ० ५।१६।

२–“अन्नमु श्री”
—श० ८।६।२।१।

३–“श्रिया स्त्रियं (समदधात्)
—गो० पू० १।३४।

४–“अन्न मे सोमः’
—शत० ३।६।१।८।

५ ‘परममन्नाद्य-यत् सोम’
—कौ० १३।७।

दक्षिणादिक्—	उत्तरादिक्—
१ "दक्षिणामारोह-ग्रीष्म ऋतुः" —श० ५।४।१।२४।	१—उत्तरा ह वै सोमो राजा" —ऐ० १।८।
२—"दक्षिणैत्र सर्गम्" —गो० पू० ५।१५।	२—"एषा वै वरुणस्य दिक्" —तै० ३।८।२०।४।
३—"अग्निना दक्षिणाम्" —ऐ० १।७।	३—"यदुत्तरतो यासि सोमो राजाभूतो यासि" —जै० उ० ३।२१।२।
४—दक्षिणादिक्-इन्द्रो देवता" —तै० ३।११।५।१।	४—"एषा उ वै शान्ता दिक्" —तै० २।१।३।५।
५ "दक्षिणा दिशि रुद्रा देवा" —ऐ० ८।१४।	५—"एषा हि दिक् स्विष्टकृतः" —श० २।३।१।२३।

उक्त कुछ एक वचनों को अवधानपूर्वक देखने से विज्ञ पाठक अनुभव करेंगे कि स्त्री, और पुरुष, के स्वरूप-निर्म्माण में एक बहुत बड़ा अनन्तर है। और यही अन्तर दोनों के प्राकृतिक-स्वरूपों को एकधारा में प्रवाहित नहीं होने देता। अग्निप्रधान पुरुष जहां अपने स्वाभाविक विकास के कारण संकोचभाव से दूर रहता है, वहां सोमप्रधाना स्त्री का संकोच स्वाभाविक धर्म्म बन जाता है। संकोच को मूल में रखने वाले लज्जा, शील आदि सद्गुण ही स्त्री के स्वरूप-रक्षक बनते हैं। अपने इन्हीं स्वाभाविक गुणों के बल से स्त्री पुरुष की सामयिक उद्दण्डता का शमन किया करती है। समीकरणमूला शान्ति का मूल है—दो विरोधी शक्तियों का एकत्र समन्वय। यदि पुरुष की भाँति स्त्री भी आग्नेयी बन जायगी, तो विस्फोटन होजायगा। यदि पुरुष सौम्य एवं स्त्री आग्नेयी बन जायगी, तो संस्था उच्छिन्न होजायगी। अग्नि—सोम (उग्रता—शान्ति) का समन्वय ही दाम्पत्यजीवन की शान्ति, तुष्टि पुष्टि का अन्यतम कारण है। स्त्री तभी अपने सौम्यरूप में प्रतिष्ठित रह सकती है जबकि उसकी रक्षा का भार पुरुष के कन्धों पर रहता है। 'पर' (पुरुषतन्त्र) तन्त्र को अपना रक्षक बना कर ही स्त्री अपने स्वरूपभूत सौम्यतन्त्र को सुरक्षित रख सकती है।

जिस स्वतन्त्रता परतन्त्रता के सम्बन्ध में इतना विस्तार किया गया उसके सम्बन्ध में अभी यह विदित न होसका कि सत्यतः स्त्री का स्वातन्त्र्य क्या है, और उसकी परतन्त्रता क्या है ?। उस परतन्त्रता का क्या स्वरूप है जो स्त्री का स्वरूप दूषित कर देती है ?, शास्त्रकार किन अंशों में स्त्री को परतन्त्र देखना चाहते हैं ?।

स्त्री को सर्वथा अशिक्षित रक्खा जाय, पुरुष अपने किसी धार्म्मिक सामाजिक राजनैतिक सम्बन्ध में स्त्री का परामर्श न ले। स्त्री को घर से बाहिर न निकलने दे। स्त्री सदा अपने

अग्निः— १—यो वै रुद्रः सोऽग्निः" —श ५।२।४।१३। २—"वीर्य्यं वा अग्निः" " —तै० १।७।२।२। ३—"पुरुषो वा अग्निः" ४ "वृषाग्निः" —शत० २।१।१।४। ५—"अग्निर्वै रेतोधा" —तै० १।७।२।३।	**सोम —** १—"श्रीर्वै सोमः" —श० ४।१।३।६। २—"पशवो हि सोम" —शत० १२।७।२।२। ३—महा-वत् सोमः" —ऐ० ५।२५। ४—"योषा वा आपः" —सोमः-श० २।१।१।४। ५—"तिरो अह्न्या हि सोमा' —कौ० १८।५।
अन्नाद.— १—अन्नादोऽग्नि" —शत० २।१।४।२८। २—अग्निर्वै देवानामन्नादः" —तै० ३।१।४।१। ३—' अग्निरन्नादोऽन्नपति " —तै २।४।७।३। ४—"अग्निमन्नाद वेद, अन्नादो हैव भवति' —श० २।२।५।१। ५ "अन्नादा-वदग्निः" —ऐ० ५।२५।	**अन्नम्—** १—अन्न पशव" —ऐ० ५।१६। २—"अन्नम् श्री" —श० ८।६।२।१। ३—"श्रिया विराट् (समवधात्) —गो० पू० १।३४। ४—"अन्न वै सोमः' —शत० ३।६।१।८। ५—"परममन्नाय -यद् सोम —कौ० १३।७।

हमारा समाज, हमारा राष्ट्र क्षीण-क्षीण ही हुआ है। अवश्य ही सुधारप्रेमी सुधारकों का, एवं तत्पथप्रदर्शक सुधारक नेताओं का यह आवश्यकतम कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे इन सब के विरुद्ध आवाज उठावें। कौन बुद्धिमान इन भीषण प्रथाओं का अनुमोदन करेगा ?। अवश्य ही हमारा स्त्रीसमाज सुशिक्षित होना ही चाहिए। उन के साथ होने वाले बर्बर व्यवहारों का नियन्त्रण करना ही चाहिए। बालविवाहादि का समाव सङ्गठन के द्वारा अवरोध होना ही चाहिए। और हम समझते हैं इसी पवित्र उद्देश्य को लेकर कुछ समय से समाज के कुछ एक प्रज्ञाशील व्यक्तियों नें इस सम्बन्ध में आन्दोलन उठाया भी है। इन के इस आन्दोलन का हृदय से अभिनन्दन करते हुए इस सम्बन्ध में उन के सम्मुख बड़े ही प्रणतभाव से गीताचार्य्य भगवान् वासुदेव कृष्ण की दो सूक्तियाँ उद्धृत करदेना भी हम अपना आवश्यक कर्त्तव्य मानरहे हैं—

१—न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्-सर्वकर्म्माणि विद्वान् युक्त समाचरेत् ॥
२—तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्य-व्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥

वर्त्तमानयुग का भारतीय समाज अधिकांश में अशिक्षित है, यह तो सुधारवादी को भी मान्य है। साथ ही उसे यह भी मानना ही पड़ेगा कि, उसे सुधार इसी अशिक्षित समाज का करना है। अब यदि हमारे ये सुधारकबन्धु समाज में बुद्धिभेद उत्पन्न कर देते हैं तो व सुधार के स्थान में 'बिगाड़' के ही कारण बन जाते हैं। रहना इसी समाज में व्यवहार इसी समाज में सुधार इसी समाज का। फलतः सुधारक महानुभावों का यह आवश्यक कर्त्तव्य होजाता है कि, जिस सुधार को लेकर हम आगे बढ़े हैं देश-काल-पात्र की परिस्थिति के अनुकूल ही यह सुधार पनप सकेगा, अन्यथा नहीं। यदि सुधार लोकसमाज का भावनात्मिक विरोधी है बुद्धिभेद का अधिष्ठान है तो हमें अपने सुधार को विषकुम्भं पयोमुखम्' ही बनाना पड़ेगा। शताब्दियों का कुसंस्कार एक क्षण से हटाने का प्रयास करना बुद्धिमानी नहीं अपितु महामूर्खता ही सिद्ध होगी। एक आवेदन।

बालविवाह बुरा परन्तु इसके पहिले आपको यह अन्वेषण कर लेना पड़ेगा कि, बाल-युवा की परिभाषा क्या है ?। शीत-ग्रीष्म-प्रधान देशों के लिए इस सम्बन्ध में भिन्न ही परिभाषा विज्ञानसम्मता है ?। यदि आप स्वयं दिव्यदृष्टि रखते हैं तबतो कुछ कहना ही नहीं है। यदि आप की दृष्टि विशुद्ध लौकिक है, तो उस दशा में इन सब विषयों का निर्णय एकमात्र 'शब्द प्रमाण' के आधार पर ही करना पड़ेगा—" तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते"। दूसरा आवेदन। यदि आपका सुधारवाद इन दोनों आवेदनों की उपेक्षा करके आगे बढ़ रहा है, तो हमें कहना पड़ेगा कि न यह सुधार हमारा है, न हमारे समाज का है न राष्ट्र का। अपितु जैसे धर्म्म की ओट में धार्म्मिकनेता स्वार्थसाधन कर रहे हैं वैसे ही सुधारकनेता सुधार की ओट में हमारी मूलसंस्कृति को कुचलने का ही भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं। तुलना कीजिए दोनों, और सुधारों की।

१–स्त्री का अशिक्षित रहना सर्वथा अनुचित, किन्तु कालेजों में पश्चिमी-सहशिक्षा इस अशिक्षा से भी कहीं भयङ्कर।

मुख को अवगुण्ठन (घूँघट) से ढँक रक्खे । पति श्वसुर देवर आदि की आज्ञाओं का पालन करने में कभी पीछे न हटे । यदि स्त्री इन अनुशासनों में कभी भूल कर दे तो पुरुष बर्बरता पूर्वक उसे मारे, पीटे जैसा चाहे दण्ड दे' यदि स्त्रीपारतन्त्र्य का यही अर्थ है अथवा शास्त्रीय पारतन्त्र्य का यही अर्थ समझा जाता है तो हमें कहना पड़ेगा कि, ऐसी परतन्त्रता का शास्त्र में तो कहीं गन्ध भी नहीं है ।

साथ ही—' स्त्री अपने कौटुम्बिक-धर्म्म की सन्तानपालन की गृहकर्म्मों की सर्वथा उपेक्षा कर स्कूल कालेजों में पुरुषसमाज के साथ पश्चिमीशिक्षा की अनुगामिनी बनी रहे । सामाजिक राजनैतिक कार्य्यों में संलग्न रहे । पुरुष (पति) के अनुशासन का कोई मूल्य न समझे'। वेशाचार-कुलाचार-धर्म्माचार की सर्वथा उपेक्षा करती रहे, वेश-भूषा आदि में सर्वथा पश्चिमीवेशों का अनुगमन करे । लज्जा-शीलादि का एकान्ततः परित्याग कर निर्लज्ज बनकर पुरुष-समाज में अट्टहास करती रहे । किसी के नियन्त्रण की अणुमात्र भी अपेक्षा न करे । यदि स्वतन्त्रता का यही अर्थ समझा जाता है तो, हमें कहना पड़ेगा कि, ऐसी स्वतन्त्रता का भी गन्ध शास्त्र में तो नहीं है ।

उक्त परतन्त्रता एवं स्वतन्त्रता दोनों की व्यवहारशैली में यद्यपि भेद है परन्तु परिणामदृष्टि से दोनों समान हैं । उक्त परतन्त्रता में जहाँ पुरुषों के द्वारा स्त्री 'पशुभाव' में परिणत होरही है वहाँ उक्त स्वतन्त्रता में स्त्री स्वयं अपनी इच्छा से 'पशु' बन रही है । पशुभाव की दृष्टि से दोनों समान हैं । अपनी इच्छा से जो काम किया जाता है माननीय मन उस पर किसी अन्य का नियन्त्रण सहन नहीं कर सकता । परन्तु जो काम दूसरों की इच्छा से विवश होकर किया जाता है उस में परेच्छा का ही नियन्त्रण सम्भव है । यही परिस्थिति यहाँ समझिए । परतन्त्रतामूलक पशुभाव में स्त्री पर पुरुषेच्छा का नियन्त्रण है । यही अनैच्छिक पशुभाव है । अतएव इसका अवरोध होसकता है । परन्तु स्वतन्त्रतामूलक पशुभाव में स्त्री का अपना ही इच्छा-स्वातन्त्र्य है । यह पशुभाव ऐच्छिक है । अतएव इस का सुधार असम्भव नहीं, तो कठिनतम अवश्य है ।

संस्कृति पर चढ़े हुए दूषित आवरण को हटाकर संस्कृति को यथा होना सहज है । परन्तु जिसने आवरण के साथ साथ अपनी मूलसंस्कृति खोकर उसके स्थान में परसंस्कृति प्रतिष्ठित करली वहाँ आप किस का सुधार करेंगे ? । पतित का उद्धार सम्भव है । किन्तु पड़ कर जो चकनाचूर होगया वहाँ किस का सुधार, कैसा सुधार, और कहाँ का सुधार ? । अपने को सुधारा जासकता है परन्तु जो अपना न रहकर सर्वप्रकार से पराया बन गया उसका सुधार असम्भव है । जबतक हम 'हम' बने रहते हैं तभीतक हमारा सुधार सम्भव है । जब हम हम ही न रहेंगे तो सुधार किस का होगा ? । यहीं कुछ एक तुलनाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि, प्रकृत परतन्त्रता स्वतन्त्रताओं में परतन्त्रता चिकित्स्य है, परन्तु स्वतन्त्रता (वस्तुतः महापरतन्त्रता) तो अचिकित्स्य [लाइलाज] ही है ।

यही सब था उन कुप्रथाओं की समझिए जिन्हें आसिभोज ओसरभोज बालविवाह, कन्या विक्रय वरविक्रय अन्त्यजों के साथ होनेवाला दुर्व्यवहार आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है । इन में कोई सन्देह नहीं कि ये सभी कदाचार विशुद्ध कदाचार हैं । यह भी निर्विवाद है कि, इन सब से हम

समस्त भारतीय शास्त्र पर दृष्टि डाल जाइए। कहीं भी आपको स्त्री के सम्बन्ध में 'परतन्त्र' शब्द नहीं मिलेगा (१) 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' (२) 'अस्वतन्त्रा स्त्रियः कार्य्या' इत्यादि रूप से केवल यही आदेश मिलेगा कि, "उनका स्वतन्त्रता का उपयोग स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिए"। अपनी इस स्वतन्त्रता को वे तभी सुरक्षित रख सकती हैं, जब कि किसी रक्षक को वे अपनी प्रतिष्ठा बना लेती हैं। और अवश्य ही यह 'रक्षात्मक-भाव' स्त्री के सहजसिद्ध सौम्य स्वभाव के कारण सर्वमान्य ही माना जायगा।

साथ ही जहाँ जहाँ स्त्रीपारतन्त्र्य का उल्लेख हुआ है वहाँ वहाँ पुरुष का 'रक्षक' ही घोषित किया गया है न कि 'शासक'। उदाहरण के लिए 'पिता रक्षति कौमारे, भर्त्ता रक्षति यौवने रक्षन्ति स्थाविरे पुत्राः – स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः' –'जायां रक्षन् हि रक्षति' –"रक्षेयुस्ताः –यतन्ते रक्षितु भार्य्याम्' इत्यादि कुछ एक वचन ही पर्य्याप्त होंगे।

'पुरुष होने के नाते मनु ने स्त्रियों के लिये ऐसे पक्षपातपूर्ण आदेश द डाले हैं' इसप्रकार का अनर्गल प्रलाप करने वाले उन सुधारक-बन्धुओं को हम विश्वास दिलाते हैं कि, मनु भी आपके ही समान सुधारक, किन्तु वास्तविक सुधारक थे। स्त्रीजाति के पतन का दोष आप आज जिसप्रकार पुरुषजाति के मत्थे मँढते हैं आप के सहयोगी मनु ने भी पुरुष को ही अपराधी ठहराया है। मनुने स्पष्ट शब्दों में ऐतिहासिक घटनाओं का निर्देश करते हुए यह सिद्ध किया कि, जिस समाज में स्त्रीजाति का पतन देखो, विश्वास करो! यह पुरुषजाति का ही अपराध है। जिसप्रकार नदी का मधुर जल क्षारसमुद्र के संसर्ग से क्षार बन जाता है एवमेव स्त्री के गुण गुणहीन पुरुष के संसर्ग से दूषित हो जाते हैं। ठीक इस के विपरीत पुरुष के सद्गुणों से दुर्गुणा स्त्री भी सुधर जाती है। अतएव स्त्रीसमाज का अभ्युत्थान चाहने वाले पुरुषसमाज को पहिले अपना ही अभ्युत्थान करना चाहिए। बतलाइए, निम्नलिखित मनुवचन किसे अपराधी ठहरा रहे हैं! एवं किस के साथ पक्षपात कर रहे हैं?

१–यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि।
तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा॥
२–अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा।
शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम्॥

---

(१)- पिता 'रक्षति' कौमारे, भर्त्ता 'रक्षति' यौवने।
रक्षन्ति' स्थाविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥
—मनु ९।३।

(२)—अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्य्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे॥
—मनुः ९।२।

रमक नियन्त्रण है। बहिर के शत्रुओं से हमें बचाने के लिए यदि रक्षक सैनिक विशेष स्थलों के लिए हमारा नियन्त्रण रखता है तो इसे हम अपनी रक्षा ही कहेंगे न कि परतन्त्रता। यही रक्षा हमारे स्वरूप-स्वातन्त्र्य की प्रतिष्ठा बनेगी। तात्पर्य-स्त्री की रक्षा का भार पिता-पति आदि जिन व्यक्तियों पर डाला गया है वे शासन-बुद्धि से रक्षा नहीं करते अपितु 'सेवक' बनकर ही रक्षोत्तरदायित्व निभाते हैं। पद पद पर पूजाभाव पूर्ण सत्कार पुनः मधुर नियन्त्रण।

एक चमत्कार और देखिए। मनु स्त्री के प्राकृतिक स्वरूप से परिचित थे। वे जानते थे कि, सौम्य अन्तर्जगत रखने वाले पुरुष को तो फिर भी अनुशासन में रक्खा जासकता है। परन्तु वह सौम्या स्त्री, जिसका अन्तर्जगत् आग्नेय बनता हुआ उग्र है उस पर अनुशासन की कथा तो दूर रही मधुरशासन भी वैसा नहीं चल सकता जिस में बलात्कार की भावना का समावेश सम्भव बन सके। बलप्रयोग से इन्हें कभी नियन्त्रण में नहीं रक्खा जासकता। पूजनभावयुक्त रक्षाभाव सम्पत्तिसंग्रहनियुक्ति, द्रव्य-शरीरशुद्धि धर्म्मकार्य्यानिगमन, आदि आदि दिव्य भावों को मध्यस्थ बनाकर ही इस मातृशक्ति के अन्तर्जगत् को सुरक्षित रक्खा जासकता है। देखिए ! इस सम्बन्ध में राजर्षि मनु क्या कह रहे हैं-

१—न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम्।
एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥
२—अर्थस्य संग्रहे चैनां, व्यये चैव नियोजयेत्।
शौचे, धर्म्मेऽन्नपक्त्यां च, पारिणाह्यस्य वेक्षणे ॥
३—अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः।
आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥
—मनुः ९।१० ११ १२।

अर्थात्-'कदापि बलप्रयोग से स्त्री के स्वरूप की रक्षा सम्भव नहीं है। अपितु धनसंग्रह गृहस्थव्यय शौचाचार कुलाचार धर्म्माचार पर्वोत्सवमङ्गलपरायणता, भोजनव्यवस्था, गृहस्थपरिग्रह संरक्षण, आदि आदि कर्त्तव्यनिष्ठाओं के माध्यम से ही नारी की स्वरूप-रक्षा सम्भव है। पुरुष का यह स्मरण रखना चाहिए कि, 'नारी घर की चारदीवारी में बलपूर्वक नियन्त्रित कर देने से कदापि सुरक्षित नहीं रह सकती। अपितु इसकी रक्षा तो इस की स्वयं की-कर्त्तव्यानुगता-आत्मनिष्ठ व्रतप्रवृत्ति से ही सम्भव है'।

येषां चेतसि मोह-मत्सर, मद भ्रान्ति समुज्जृम्भते ।
तेऽप्येते दयया दयाघनविभो ! सन्तारणीयास्त्वया ॥



उक्त दाम्पत्यरहस्यविज्ञान से अब यह सिद्ध होचुका है कि आर्य्यावर्त्त के कारुणिक ऋषियोंनें स्त्री-जाति के लिए जिन नियमों का विधान किया है, वे सब इसके अभ्युत्थान के ही कारण हैं। स्त्री की ऋतमयी अतएव सत्यशून्या सौम्या वृत्ति को लक्ष्य में रखकर एक स्थान पर तो भगवान् मनुने यहांतक कह डाला है कि—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

—मनु २।२१।५।

'माता-बहिन-दोहित्री आदि के साथ भी पुरुष को निर्ज्जन घर में नहीं बैठना चाहिए'-क्या मनु का उक्त विधान उपहासास्पद है ? । मुकुलितनयन बन कर विचार कीजिए । पर्दे के विरोध की ओट में आर्य्यनारी को उद्दामवासनावासित पश्चिम के प्राङ्गण में ताण्डवनृत्य के लिए खड़ा करना क्या स्त्रीजाति की उन्नति का मार्ग है ? । खूब सोचिए ! ज्यों ज्यों आप विवेकबुद्धि से इस दुरूह प्रश्न का मनन करते जायेंगे, त्यों त्यों आपकी विवेकशालिनी बुद्धि चिरन्तन ऋषियों के पुरातन सिद्धान्तों की ओर निश्चयेन आकर्षित होती जायगी ।

हां, तो प्रकृत में हमें उक्त सन्दर्भ से बतलाना यही था कि, स्त्री सौम्या है, ऋतभावापन्ना है । इस ऋतभाव को प्रतिष्ठित करने के लिए ही रज्जात्मक-मर्य्यादासूत्ररूप योक्त्र से पत्नी का सन्नहन किया जाता है । योक्त्रबन्धन के इसी प्रथम कारण का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

"योक्त्रेण हि योग्यं युञ्जन्ति" * ।

---

*—'योक्त्रेण हि योग्यं युञ्जन्ति' वचन भारतवर्ष की विज्ञानसम्मता प्राचीन स्त्री कीपुरातन वेशभूषा की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा हैं । अवश्य ही उस युग में भारतीय-आर्य्यनारी का अधोवस्त्र वैसा ही रहा होगा जिस में सूत्र-मयी, किंवा रेशम की रज्जु (डोरी) प्रोत रहती होगी जिसे कि आज की राजस्थानीया-प्रान्तीया-भाषा में- नाड़ा कहा जाता हैं । 'नाड़ा निश्चयेन वैदिक-युग के 'योक्त्र-बन्धन' का ही प्रतिरूप है । परमसांस्कृतिक महद्भाग्यशाली राजस्थान में तो आज भी यहां की पट्टदेवियों की सुसंस्कृतिकी वेशभूषा में योक्त्ररूप-नाड़ाबन्धन रुप से सुसम्न्वित सुप्रसिद्ध 'घाघरा नामक अधोवस्त्र ही उपलब्ध होरहा है जिस की ग्रन्थि भी उसी पद्धति से समन्विता है । एतदतिरिक्त 'रासना' नामक आभूषण की प्रतिरूपता का भी अत्र समावेश हुआ है । राजस्थान की नारी का सुप्रसिद्ध काञ्ची नामक (कणगती) आभूषण भी वैदिक-युग की-'रास्ना' ही है ।

* इन्द्राग्नीरूप पुरुष पुरुषसृष्टि का एवं वरुणसोमरूप स्त्रीसृष्टि का आलम्बन बतलाया गया है। इन्द्राग्निप्रधान पूर्वदिश पुरुषसृष्टि की प्रधानता के द्योतक हैं एवं वरुण–सोमप्रधान पश्चिमीदेश स्त्रीप्राधान्य के सूचक हैं। इस प्राकृतिक भेद के अनुसार अवश्य ही दोनों के आदर्शों को भिन्न भिन्न ही माना जायगा। और यही भेद यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त होगा कि हमारी प्राणप्रधाना दाम्पत्यव्यवस्था कभी उनके भूतप्रधान दाम्पत्यजीवन से समतुलित नहीं होसकती।

जाने दिजिए प्राकृतिक कारण को। जिन पश्चिमी देशोंने शक्तितत्त्व को अरक्षित कर दिया है, उन के लिए आज वही शक्तितत्त्व सर्वसंहार का ही उपक्रम बन चुका है, इस नग्नसत्य को कौन स्वीकार नहीं करेगा ?। आर्य्यनारी की स्वरूप-प्रतिष्ठा तो इसी में है कि वह अपने आपको स्वतन्त्र न समझ कर अपनी स्वतन्त्रता का आधा भाग पुरुष को ही समझे। उधर आर्य्यपुरुष का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग इनके सहयोग से ही करे। दोनों की सद्भावना ही हमा' देश का अभ्युदय कर सकती है।

सुधारवादी महोदय आवेश में पड़कर यह भूल जाते हैं कि, हम रूढियों का जो सुधार करना चाहते हैं वह सुधार वास्तविक सुधार नहीं है, अपितु यह तो पश्चिमी देशों का विशुद्ध अनुकरणमात्र है। और इस अनुकरण की तुलना में यह निःसङ्कोच कहा जासकता है कि, जो अनुकरण जो सुधार, जो स्वतन्त्रता हमारा मूल नाश करने के लिए ही मुँह बाएँ खड़ी है हालिक, एवं अशास्त्रीय पर्दे की प्रथा के विरुद्ध सुनाई पड़ने वाली जिन भीष्मप्रतिज्ञाओं की ओट में आर्य्यनारी को आज जो निर्लज्जता का पाठ पढ़ाया जारहा है दूषित जाति-भोजों के सुधार के नाम पर पश्चिमानुकरणप्रधान जिन प्रीतिभोजों (पार्टियों) का समर्थन किया जारहा है इन सब अकाण्ड ताण्डवों की तुलना में तो हमारी परतन्त्रता हमारी दूषित प्रथाएँ ही कहीं अच्छी हैं। इस लिए कि उन सुधारों से हमारे मूल पर प्रत्यक्षरूप से ही आक्रमण होरहा है।

अस्तु, जिस युग में धर्म्म एक ठेकेदारी की वस्तु बन कर अधर्म्म-प्रचार ही कर रहा हो वहाँ 'नश्यन्ति बहुनायका' आभाणक ही सर्वात्मना चरितार्थ होरहा हो वहाँ के सुधारकबन्धु यदि सुधार के नाम पर बिगाड़ का प्रचार करें, तो इसमें उनका कोई भी दोष नहीं माना जासकता। देशकाल की परिस्थिति का विचार भी आवश्यक है जिस शासन से हम शासित हैं उसकी सभ्यता का भाग हम पर न पड़े यह भी असम्भव है। इन सब तथ्यों को लक्ष्य में रखते हुए पारस्परिक वैमनस्य का परित्याग कर देश के विद्वानों एवं सुधारनेताओं के सम्मिलित परामर्श से कोई ऐसा मध्यमपथ निकलना ही चाहिए, जिससे सामयिक परिस्थिति का भी आदर किया जासके, एवं साथ ही *पश्चिमन्य मूर्ते के इस भयानक स्वप्न के मध्य में पड़ी हुई अपनी मौलिकता की भी येन केन रूप से* रक्षा की जासके। अभी तो यही कहना पड़ेगा कि धर्म्मानुयायी धर्म्मनेता एवं समाज तदनुयायी समाजनेता धर्म्म सुधार प्रचार के नाते अधर्म्म–बिगाड़ ही कर रहे हैं। इन पंक्तियों के असमर्थ लेखक के प्रज्ञाकोश में अपनी क्षोभ-शान्ति के लिए इस के अतिरिक्त और क्या बच रहा है कि वह दयानिधि से प्रार्थना करे कि भगवन् !

---

* इस विषय का विशद विवेचन "गीताभाष्यभूमिका के प्रथमखण्ड में देखना चाहिए।

येषां चेतसि मोह-मत्सर, मद भ्रान्ति समुज्जृम्भते ।
तेऽप्यते दयया दयाघनविभो ! सन्तारणीयास्त्वया ॥

उक्त दाम्पत्यरहस्यविज्ञान से अब यह सिद्ध होचुका है कि, आर्य्यावर्त के कारुणिक ऋषियोंने स्त्री-जाति के लिए जिन नियमों का विधान किया है, वे सब इसके अभ्युत्थान के ही कारण हैं। स्त्री की ऋतमयी असत्प्रत्र सत्यश् या सौम्या वृत्ति को लक्ष्य में रखकर एक स्थान पर जो भगवान् मनुने यहांतक कह डाला है कि—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥
—मनु २।२१।५

'माता-बहिन-बेटी आदि के साथ भी पुरुष को निर्जन घर में नहीं बैठना चाहिए'-क्या मनु का उक्त विधान उपहासास्पद है ? । मुकुलितनयन बन कर विचार कीजिए । पक्ष के विरोध की ओट में आर्य्यनारी को उद्दामकामनावासित पश्चिम के प्राङ्गण में ताण्डवनृत्य के लिए खड़ा करना क्या स्त्रीजाति की उन्नति का मार्ग है ? । खूब सोचिए । ज्यों ज्यों आप विवेकबुद्धि से इस दुरूह प्रश्न का मनन करते जायेंगे, त्यों त्यों आपकी विवेकशालिनी बुद्धि चिरन्तन ऋषियों के पुरातन सिद्धान्तों की ओर निश्चयेन आकर्षित होती जायगी ।

हाँ, तो प्रकृत में हमें उक्त सन्दर्भ से बतलाना यही था कि, स्त्री सौम्या है, ऋतभावापन्ना है । इस ऋतभाव को प्रतिष्ठित करने के लिए ही रक्षात्मक-मर्य्यादासूत्ररूप योक्त्र से पत्नी का सन्नहन किया जाता है । योक्त्रबन्धन के इसी प्रथम कारण का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

"योक्त्रेण हि योग्य युञ्जन्ति" * ।

*—'योक्त्रेण हि योग्य युञ्जन्ति' वचन भारतवर्ष की विज्ञानसम्मता प्राचीन स्त्री कीपुरातन वेशभूषा की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है । अवश्य ही उस युग में भारतीय-आर्य्यनारी का अधोवस्त्र वैसा ही रहा होगा जिस में सूत्र-मयी किंवा रेशम की रज्जु (डोरी) प्रोत रहती होगी जिसे कि आज की राजस्थानीया-प्रान्तीया-भाषा में- नाड़ा कहा जाता है । 'नाड़ा' निश्चयेन वैदिक युग के 'योक्त्र-बन्धन' का ही प्रतिरूप है । परमसांस्कृतिक महद्भाग्यशाली राजस्थान में तो आज भी यहाँ की गृहदेवियों की पुरासांस्कृतिकी वेशभूषा में योक्त्ररूप-नाड़ाबन्धन रूप से सुसम्न्वित सुप्रसिद्ध 'घाघरा' नामक अधोवस्त्र ही उपलब्ध होरहा है जिस की ग्रन्थि भी उसी पद्धति से समन्वित है । एतद्‌तिरिक्त 'रास्ना' नामक आभूषण की प्रतिरूपता का भी अत्र समावेश हुआ है । राजस्थान की नारी का सुप्रसिद्ध 'कांची' नामक (करधनी) आभूषण भी वैदिक-युग की-'रास्ना' ही है ।

* इन्द्राग्नीरूप पुरुष पुरुषसृष्टि का एवं वरुणसोमरूप स्त्रीसृष्टि का आलम्बन बतलाया गया है। इन्द्राग्निप्रधान पूर्वदेश पुरुषसृष्टि की प्रधानता के द्योतक हैं एवं वरुण–सोमप्रधान पश्चिमीदेश स्त्रीप्राधान्य के सूचक हैं। इस प्राकृतिक भेद के अनुसार अवश्य ही दोनों के आदर्शों को भिन्न भिन्न ही माना जायगा। और यही भेद यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त होगा कि हमारी प्राणप्रधाना दाम्पत्यव्यवस्था कभी उनके भूतप्रधान दाम्पत्यजीवन से समतुलित नहीं होसकती।

जाने दिजिए प्राकृतिक कारण को। जिन पश्चिमी देशोंने शक्तितत्त्व को अरक्षित कर लिया है, उन के लिए आज वही शक्तितत्त्व सर्वसंहार का ही उपक्रम बन चुका है इस नग्नसत्य को कौन स्वीकार नहीं करेगा?। आर्य्यनारी की स्वरूप-प्रतिष्ठा तो इसी में है कि, वह अपने आपको स्वतन्त्र न समझ कर अपनी स्वतन्त्रता का आधा भाग पुरुष को ही समझे। उधर आर्य्यपुरुष का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग इनके सहयोग से ही करे। दोनों की सद्भावना ही हमा देश का अभ्युदय कर सकती है।

सुधारवादी महोदय आवेश में पड़कर यह भूल जाते हैं कि, हम रूढिवादीयों का जो सुधार करना चाहते हैं वह सुधार वास्तविक सुधार नहीं है अपितु यह तो पश्चिमी देशों का विशुद्ध अनुकरणमात्र है। और इस अनु करण की तुलना में यह निःसंकोच कहा जासकता है कि, जो अनुकरण जो सुधार, जो स्वतन्त्रता हमारा मूल नाश करने के लिए ही मुँह बाएँ खड़ी है हानिकर, एवं अशास्त्रीय पर्दे की प्रथा के विरुद्ध दुहाई पढ़ने वाली जिन नीम्मसलिशाओं की ओट में आर्य्यनारी को आज जो निर्लज्जता का पाठ पढ़ाया जारहा है दूषित जाति–भोजों के सुधार के नाम पर पश्चिमानुकरणप्रधान जिन प्रीतिभोजों (पार्टियों) का समर्थन किया जारहा है, इन सब असमञ्जस शासनों की तुलना में तो हमारी परतन्त्रता हमारी दूषित प्रथाएँ ही कहीं अच्छी हैं। इस लिए कि, उन सुधारों से हमारे मूल पर प्रत्यक्षरूप से ही आक्रमण होरहा है।

अस्तु जिस युग में धर्म्म एक ठेकेदारी की वस्तु बन कर अधर्म्म-प्रचार ही कर रहा हो जहाँ 'नश्यन्ति बहुनायकाः' आभाणक ही सर्वात्मना चरितार्थ होरहा हो वहाँ के सुधारकबन्धु यदि सुधार के नाम पर बिगाड़ का प्रचार करें, तो इसमें उनका कोई भी दोष नहीं माना जासकता। देशकाल की परिस्थिति का विचार भी आवश्यक है जिस शासन से हम शासित हैं उसकी सभ्यता का भाव हम पर न पड़े यह भी असम्भव है। इन सब तथ्यों को लक्ष्य में रखते हुए पारस्परिक वैमनस्य का परित्याग कर देश के विद्वानों एवं सुधारनेताओं के सम्मिलित परामर्श से कोई ऐसा मध्यमपथ निकलना ही चाहिए, जिससे सामयिक परिस्थिति का भी आदर किया जासके एवं साथ ही पश्चिम-पूर्व के इस भयानक संघर्ष के मध्य में पड़ी हुई अपनी मौलिकता की भी येन केन रूप से रक्षा की जासके। अभी तो यही कहना पड़ेगा कि धर्म्मानुयायी धर्म्मनेता, एवं समाज तदनुयायी समाजनेता धर्म्म सुधार प्रचार के नाते अधर्म्म–बिगाड़ ही कर रहे हैं। इन पंक्तियों के असमर्थ लेखक के प्रशान्तदेश में अपनी क्षोभ-शान्ति के लिए इस के अतिरिक्त और क्या बच रहा है कि, वह दयानिधि से प्रार्थना करे कि भगवन्!

---

* इस विषय का विशद विवेचन "गीताभाष्यभूमिका के प्रथमखण्ड में देखना चाहिए।

है। इन प्राणों का संयोग दृष्टिसूत्र से भी होसकता है। पुराण में ऐसे अनेक आख्यान उपलब्ध होते हैं कि, 'अमुक ऋषि ने अमुक स्त्री की ओर कामवासना से देखा एवं दृष्टिसूत्र के सम्बन्धमात्र से गर्भाधान होगया'। यदि आत्मा निर्विकार है भाव प्रबल हैं, तो ऐसा होना कोई असम्भव नहीं है। रूत्य आत्मा का रूत्य सङ्कल्प कभी व्यर्थ नहीं जाता। यह आज्यरूपा रेत-आहुति प्रजोत्पत्ति का कारण बनने वाली है। इसमें यजमानपत्नी का योषाप्राण भी संयुक्त होना चाहिए। बिना इसके यजमान का यज्ञ अधूरा रहता है। योषाप्राणात्मक इसी मिथुनभाव की प्राप्ति के लिए पत्नी को रेतोरूप आज्य के दर्शन कराए जाते हैं ॥१८॥

यदि चक्षु में किसी भी प्रकार का भावदोष एवं किट्टमलादि का आवरणदोष रहता है तो योषाप्राण का आज्य में प्रवेश नहीं होसकता। मेरे चक्षु सर्वथा निर्दुष्ट हैं—मैं निर्दुष्ट चक्षुओं से ही आज्य देखती हूँ 'अदब्धेन त्वा चक्षुषा पश्यामि' यह मन्त्र भाग इसी भावना को दृढ़मूल बनाता है। अग्निज्वाला ही अग्नि की जिह्वा है। साथ ही यह भी सिद्ध विषय है कि जबतक अग्नि प्रदीप्त नहीं होता तबतक प्राणदेवता प्रदीप्त नहीं होते। जबतक प्राणदेवता प्रदीप्त नहीं होवे, तबतक आहुति सार्थक नहीं बनती। आहुति का सफल होना प्राणदेवताओं के आगमन पर हीनिर्भर है। प्राणदेवताओं का आगमन प्रदीप्त(समिद्ध)अग्नि पर ही निर्भर है। अग्नि की प्रदीप्ति आज्याहुति पर हीनिर्भर है। अग्नि को प्रदीप्त कर अग्नि में प्राणदेवताओं को प्रतिष्ठित करना आज्य का ही काम है। अत हम अवश्य ही आज्य को अग्नि का शोभन आह्वान करने वाला जिह्वा-स्थानीय मानसकते हैं। आहुतिद्रव्य से दिव्यात्मा का शरीरनिर्माण होगा—मन्त्रप्रयोग सफल होंगे। ये सब कर्म्म आज्याहुति पर ही निर्भर हैं। आज्य के इसी स्वरूपधर्म्म की भावना करते हुए- 'अग्नेर्जिह्वासि०' इत्यादि मन्त्र बोलते हुए ही आज्यदर्शन किया जाता है ॥१९॥

इति—पत्नीकृताज्यावेक्षणोपपत्ति

---

४ ५ ६-परिशिष्ट कर्म्मानुगता (आज्यस्थापन, आज्यप्रोक्षणी का उत्पवन,-एवं अध्वर्युकृत आज्यदर्शन) उपपत्ति—

पहिले के कर्मों में यह बतलाया जाचुका है कि यज्ञिय द्रव्य के परिपाक के सम्बन्ध में दो मत हैं। गार्हपत्याग्नि में हविर्द्रव्य का परिपाक करना पहिला पक्ष है। एवं आहवनीय में परिपाक करना दूसरा पक्ष है। दोनों ही पक्ष शास्त्रविसिद्ध हैं। इन पक्षों में यह नियम अवश्य है कि, गार्हपत्यपक्ष में गार्हपत्याग्नि में ही, एवं आहवनीयपक्ष में आहवनीयाग्नि में ही हवि का परिपाक होता है। यदि प्रकृत यज्ञकर्त्ता यजमान आहवनीय में हविर्द्रव्य का परिपाक करता है तो इस पक्ष में दोष आता है। आज्य भी एकप्रकार से हविर्द्रव्य है। इसका भी आहवनीयपक्ष में न्यायतः आहवनीयाग्नि में ही परिपाक होना चाहिए। ऐसी अवस्था में यदि पुरोडाशाभिघारणकाल में ही आज्य का भी आहवनीयाग्नि में अभिश्रयण होजाता है तो पत्नी इसका अव-ईक्षण नहीं कर सकती। कारण पत्नी का स्थान गार्हपत्य है। आज्यदर्शन का विधान इसी स्थान पर है। यहां से आज्यदर्शनार्थ आहवनीय के समीप जाना प्रतिष्ठा से च्युत होते हुए यज्ञस्वरूप विकृत करना है। 'पत्नी

है । दक्षिणपाश में यही दक्षिणास्थ अग्निमूर्ति यज्ञविष्णु प्रतिष्ठित है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर- "हे दक्षिणपाश ! आप विष्णुरूप यज्ञ के वेष्टन हो, यज्ञ के स्वरूप-सम्पादक हो' इस मन्त्र के द्वारा यही भावना रखते हुए उसका (दाक्षिणपाशाम का) ऊर्ध्व की ओर ही उद्गूहन किया जाता है ।

अब केवल यह प्रश्न बच जाता है कि, जैसे यज्ञकर्म में युक्त यजमान-अध्वर्यु-होता-उद्गाता-ब्रह्मा आदि ऋत्विजों के लिए बैठने के स्थान नियत हैं तथैव इस पत्नी के बैठने का कौनसा नियत स्थान है ? इसी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान करती हुई श्रुति कहती है-

न्यायप्राप्त बात तो यह है कि, यजमानपत्नी को गार्हपत्याग्निकुण्ड के ठीक पश्चिम में पूर्वमुख करके ही बैठना चाहिए था । अर्थात् पत्नीशाला का निर्माण गार्हपत्य से पश्चिम में ही होना चाहिए था । कारण स्पष्ट है । प्रकृति में सूर्यरूप आहवनीय पूर्व में है । पृथिवीरूप गार्हपत्य इससे पश्चिम में है । पश्चिमस्थ भूपिण्ड (अदितिरूपलक्षित भूपिण्ड) देवताओं की पत्नी है । पश्चिम में प्रतिष्ठित होती हुई पृथिवी (भूपिण्ड) सूर्य की ओर (पूर्व की ओर) चलती हुई घूम रही है । पश्चिम से पूर्व की ओर जाती हुई, सम्वत्सर का स्वरूप-सम्पादन करती हुई अदिति पृथिवी ही तीर प्राणदेवताओं के सम्वत्सर-यज्ञ का स्वरूप-सम्पादन कर रही है । यजमानपत्नी इसी अदिति पृथिवी के स्थान में है । इधर इस वैधयज्ञ में वेदि के पूर्वभाग में अवस्थित चतुरस्र (चौकोर) आहवनीयकुण्ड द्युलोक की प्रतिकृति है, एवं वेदि से पश्चिमदिक् में अवस्थित वृत्त गार्हपत्यकुण्ड अदिति पृथिवी का स्वरूप है । यही स्वरूप यजमानपत्नी का है । अतः इसे स्वस्थानभूत (अदितिस्थानभूत) गार्हपत्य के ठीक पश्चिम में ही बैठना चाहिए । परन्तु ऐसा न कर गार्हपत्य से दक्षिण नैर्ऋत्यकोण में ही पत्नीशाला बनाई जाती है । कारण इसका यही है, कि यदि पृथिवी-स्थानीय गार्हपत्य के समीप पश्चिम में पत्नी को बैठाया जायगा तो यह पत्नी परिभ्रमण करती हुई पृथिवी के साथ युक्त होजायगी । पार्थिवगति में आरूढ होजायगी एवं जैसे पृथिवी सम्वत्सर के भीतर भीतर (परिभ्रमण से) द्युलोक में पहुँच जाती है तथैव इस की गतिभावना से आकर्षिता यजमानपत्नी भी द्युलोक में चली जायगी। पत्नी को इसी द्युलोकगमन से बचाने के लिए प्रकृतिसिद्ध स्थान से हटाकर गार्हपत्य से दक्षिण नैर्ऋत्यकोण में ही प्रतिष्ठित किया जाता है ॥१७॥

इति-पत्नीसनहनोपपत्ति



३—पत्नीकृताज्यावेक्षणोपपत्ति —

पत्नी यापाप्राणमयी है । इधर आज्य रसरूप होने से वृषाप्राणमय है । आज्य (घृत) दुग्ध का कार्य्य है । दुग्ध ओषधि का विकार है । ओषधि पानी से उत्पन्न हुई है । पानी सोम का विकार है । सोमद्रव्य साक्षात् रेत है । यही साम परम्परया आज्यरूप में परिणत हुआ है । ऐसी अवस्था में आज्य का अवश्य ही 'रेत' कहा जासकता है । भाष्यारम्भ में यह बतलाया जाचुका है कि, प्रजोत्पत्ति में स्त्री पुरुष का मिथुनभाव कारण नहीं है अपितु योषा-वृषा-प्राण का मिथुनभाव ही प्रजोत्पादक

है। इन प्राणों का संयोग हविसूत्र से भी होसकता है। पुराण में ऐसे अनेक आख्यान उपलब्ध होते हैं कि, 'अमुक ऋषि ने अमुक स्त्री की ओर कामवासना से देखा एवं हविसूत्र के सम्बन्धमात्र से गर्भाधान होगया'। यदि आत्मा निर्विकार है भाव प्रबल हैं, तो ऐसा होना कोई असम्भव नहीं है। सत्य आत्मा का सत्य सङ्कल्प कभी व्यर्थ नहीं जाता। यह आज्यरूपा रेत–आहुति प्रजोत्पत्ति का कारण बनने वाली है। इसमें यजमानपत्नी का योषाप्राण भी संयुक्त होना चाहिए। बिना इसके यजमान का यज्ञ अधूरा रहता है। योषाप्राणात्मक इसी मिथुनभाव की प्राप्ति के लिए पत्नी को रेतोरूप आज्य के दर्शन कराए जाते हैं ॥१८॥

यदि चक्षु में किसी भी प्रकार का भावदोष एवं कीचमलादि का आवरणदोष रहता है तो योषाप्राण का आज्य में प्रवेश नहीं होसकता। मेरे चक्षु सर्वथा निर्दुष्ट हैं –मैं निर्दुष्ट चक्षुओं से ही आज्य देखती हूँ 'अदुब्धेन त्वा चक्षुषा पश्यामि' यह मन्त्र भाग इसी भावना का स्पष्ट बनाता है। अग्निज्वाला ही अग्नि की जिह्वा है। साथ ही यह भी सिद्ध विषय है कि, जबतक अग्नि प्रदीप्त नहीं होता तबतक प्राणदेवता प्रदीप्त नहीं होते। जबतक प्राणदेवता प्रदीप्त नहीं होते, तबतक आहुति सार्थक नहीं बनती। आहुति का सफल होना प्राणदेवताओं के आगमन पर हीनिर्भर है। प्राणदेवताओं का आगमन प्रदीप्त(समिद्ध)अग्नि पर ही निर्भर है। अग्नि की प्रदीप्ति आज्याहुति पर हीनिर्भर है। अग्नि को प्रदीप्त कर अग्नि में प्राणदेवताओं को प्रतिष्ठित करना आज्य का ही काम है। अतः हम अवश्य ही आज्य को अग्नि का शोभन आह्वान करने वाला जिह्वा-स्थानीय मानसकते हैं। आहुतिद्रव्य से दिव्यात्मा का शरीरनिर्माण होगा –मन्त्रप्रयोग सफल होंगे। ये सब कर्म्म आज्याहुति पर ही निर्भर हैं। आज्य के इसी स्वरूपधर्म की भावना करते हुए- 'अग्नेर्जिह्वासि०' इत्यादि मन्त्र बोलते हुए ही आज्यदर्शन किया जाता है ॥१९॥

इति—पत्नीकृताज्यावेक्षणोपपत्ति

४ ५ ६-परिशिष्ट कर्म्मानुगता (आज्यस्थापन,-आज्यप्रोक्षणी का उत्पवन,-एवं अध्वर्युकृत आज्यदर्शन) उपपत्ति—

पहिले के कर्म्मों में यह बतलाया जाचुका है कि यज्ञिय द्रव्य के परिपाक के सम्बन्ध में दो मत हैं। गार्हपत्याग्नि में हविर्द्रव्य का परिपाक करना पहिला पक्ष है। एवं आहवनीय में परिपाक करना दूसरा पक्ष है। दोनों ही पक्ष अभिलषित हैं। इन पक्षों में यह नियम अवश्य है कि गार्हपत्यपक्ष में गार्हपत्याग्नि में ही, एवं आहवनीयपक्ष में आहवनीयाग्नि में ही हवि का परिपाक होता है। यदि प्रकृत यज्ञकर्त्ता यजमान आहवनीय में हविर्द्रव्य का परिपाक करता है तो इस पक्ष में दोष आता है। आज्य भी एकप्रकार से हविर्द्रव्य है। इसका भी आहवनीयपक्ष में न्यायतः आहवनीयाग्नि में ही परिपाक होना चाहिए। ऐसी अवस्था में यदि पुरोडाशाभिश्रयणकाल में ही आज्य का भी आहवनीयाग्नि में अभिश्रमण होजाता है तो पत्नी इसका अवेक्षण नहीं कर सकती। कारण पत्नी का स्थान गार्हपत्य है। आज्यदर्शन का विधान इसी स्थान पर है। यहां से आज्यदर्शनार्थ आहवनीय के समीप जाना प्रतिष्ठा से च्युत होते हुए यज्ञस्वरूप विकृत करना है। 'पत्नी

को आज्यदर्शन कराना आवश्यक है इस विचार से आहवनीयाभिमर्षण के बीच में ही आध्वर्यु आज्य को गार्हपत्य के समीप लाकर पत्नी को अवेक्षण करादें यह भी पद्धति के प्रतिकूल है। एवं पद्धतिविरुद्ध कर्म यज्ञस्वरूप का घातक है। इस विप्रतिपत्ति को हटाने का मार्ग पत्नी को आज्य न दिखलाने पर पर्य्यवसित मान लिया जाय यह भी सम्भव नहीं है। यदि पत्नी ने आज्यावेक्षण न किया, तो उसका यज्ञ से पृथक्करण होजायगा। इसप्रकार आहवनीयाभिमर्षणपक्ष में न आध्वर्यु पत्नी के समीप आसकता, न पत्नी आहवनीय के समीप आसकती, न पत्नी को आज्यदर्शन से वञ्चित किया जासकता। यदि गार्हपत्याभिमर्षण-पक्ष है तब तो किसी प्रकार का दोष नहीं आसकता। कारण-इस पक्ष में आज्याभिमर्षण भी गार्हपत्य में ही होता है। ऐसी अवस्था में गार्हपत्य के समीप ही नैऋ त कोण में बैठी हुई यजमानपत्नी के आज्यदर्शन में किसी भी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं होती। परन्तु आहवनीयपक्ष में उक्त विप्रतिपत्ति को दूर करने का क्या उपाय? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए श्रुतिने यह उपाय बतलाया है कि, आहवनीयाभिमर्षणपक्ष में-पुरोडाशाभिमर्षणकाल में आज्याभिमर्षण नहीं करना चाहिए, अपितु जब पत्नी के आज्यावेक्षण का समय आवे, उस समय पहिले अगत्या आज्य का गार्हपत्याग्नि में अधिश्रयण कर लेना चाहिए। जब पत्नी गार्हपत्यस्थान में ही आज्यावेक्षण करले तो आहवनीयाभिमर्षणपक्ष की प्राप्तमर्य्यादा को सुरक्षित रखने के लिए पुनः (आज्यावेक्षणानन्तर) आहवनीयाग्नि में आज्याभिमर्षण कर लेना चाहिए। अधिश्रयणानन्तर आज्य को वेदप्राणयुक्त वेदिमण्डल पर रख देना चाहिए। २ ।२१।२२।२३।२४।

'आपोमया सर्वरसा सर्वमापोमयं जगत्' (महाभारत) इस सिद्धान्त के अनुसार यह दृश्यभूतभौतिक-पञ्चपर्वा विश्व * अपने मूल में-'अप् तत्त्व' को ही प्रतिष्ठित रख रहा है। अर्थात् पाञ्चभौतिक विश्व का मौलिक उपादानद्रव्य अप्तत्त्व ही माना गया है जैसाकि निम्नलिखित मनुवचन से स्पष्ट प्रमाणित है—

> सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
> अप एव समर्ज्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ (मनु १।८।

ऋक्-यजु-साम-नामक मौलिक-ऋषिप्राणात्मक अपौरुषेय-तत्त्वात्मक-वेद से तत्स्वरूप अव्यक्त-प्रजापति अपने ऋक्सामानुगत यजुः के-'अ' रूप वाग्भाग से सर्वप्रथम 'अप्'-रूप में ही परिणत होते हैं जो कि यह अप्तत्त्व सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त-व्याप्त करने के कारण- आपः' नाम से, एवं आवरणरूप से सम्पूर्ण विश्व का वरण करने से- वा ('वारि') नाम से प्रसिद्ध हुआ है +। 'तत आवर्ड समवर्त्तत' के अनुसार इस अप्तत्त्व के परिवेष्टन से ही अव्यक्त-ब्रह्म 'आवड' रूप में परिणत हुआ है। इसीलिए उस अव्यक्तब्रह्म

* स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा पृथिवी ही क्रमशः आकाश-वायु-तेज-जल-भूत् नामक 'पञ्चमहाभूत' हैं एवं इन पांच पर्वों से ही 'पञ्चपर्वा-विश्व' का स्वरूप-निर्माण हुआ है जिसका उपादान द्रव्य 'अप् तत्त्व' ही माना गया है।

+ —सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेव सा ऽसृज्यत। सेदं सर्वमाप्नोत्-यदिदं किञ्च। तस्मात् आपः। सर्वमवृणोत्-तस्माद् वाः (वारि)। (शत० ६।१।१।८)

का यह पञ्चपर्वात्मक आपोमय विश्व 'ब्रह्माण्ड' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। प्रकृत ब्राह्मण की २१ वीं कण्डिका के– तदिदमप्सु पयो हितम्' इस रहस्यपूर्ण–निगम के द्वारा अपतत्त्व का ही–'नीर–क्षीर–विवेक' हुआ है।

तदनुगत 'नीर–क्षीर–विवेक' नामक लौकिक–न्याय लोक में सुप्रसिद्ध है, जिस इस लोकप्रसिद्ध न्याय का मूल आधार 'तदप्सु पयो हितम्' (सो यह घृत पानी में प्रतिष्ठित है) यही वचन बन रहा है। 'नीर' आप (पानी) है एवं–'क्षीर' 'आज्य' (घृत) है। इस पाञ्चभौतिक–विश्व के मूलोत्पादनभूत विश्व की सीमा में, विश्व के गर्भ में नीर भी है और क्षीर भी है। अर्थात् आपः भी है, और आज्य भी है। पानी और दूध (आज्य का मौलिकरूप), दोनों के सम्मिश्रण का नाम ही 'विश्व' है।

अपनी आस्थामयी सौम्या पावन–श्रद्धा को 'पुराणशास्त्र' के स्वाध्याय एवं श्रवण से धन्य–कृत–कृत्य करते रहने वाले मानवश्रेष्ठों के लिए यह सुविदित ही है कि पुराण–कथानुसार त्रैलोक्य के पालनकर्त्ता भगवान् विष्णु अनन्त–शेषनाग की सुचिक्कणा–कोमलशय्या पर 'क्षीरसमुद्र' में ही शयन कर रहे हैं। मानवीया प्रजा के अपराध से जब जब भी धर्मस्कम्भ (स्तम्भ) विकम्पित होजाता है तो तब तब ही देवताओं की करुणापूर्णा प्रार्थना पर करुणावरुणालय शेषशायी भगवान् विष्णु क्षीरसमुद्र का परित्याग कर अंशरूपेण अवतीर्ण हुआ करते हैं। कौनसा है यह 'क्षीरसमुद्र' जिसमें विष्णु शयन कर रहे हैं? इस महान सम्प्रश्न का समाधान व्यवसायात्मिका जिस नैष्ठिकी ज्ञानविज्ञानात्मिका बुद्धि के द्वारा होता है, वही तत्त्वनिष्ठा बुद्धि–'नीरक्षीरविवेकशालिनीबुद्धि' कहलाई है एवं दो शब्दों में विवेकशालिनी उसी सत्त्व बुद्धि से सम्बन्ध रखने वाले—'नीर–क्षीर–विवेक' की ओर हम अपने जिज्ञासु पाठकों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

स्वायम्भुव–अव्यक्त–त्रयीमूर्त्ति–प्रजापति के वाग्भाग से उत्पन्न, सर्वत्र व्याप्त, ब्रह्माण्डस्वरूप-सम्पादक 'आप तत्त्व' का ही नाम है—'परमेष्ठी' इसी का नाम है भृग्वङ्गिरोमूर्त्ति पारमेष्ठ्य विष्णु जिसका भार्गव तत्त्व ही 'लक्ष्मी' नाम से प्रसिद्ध हुआ है एवं आङ्गिरसतत्त्व ही–'सरस्वती' नाम से प्रसिद्ध हुआ है जोकि सरस्वती ही– श्री कहलाई है। सरस्वतीरूपा आङ्गिरसी श्री', एवं आम्भृणीरूपा भार्गवी लक्ष्मीः ये ही दोनों आपोमय पारमेष्ठ्य विष्णु की पत्नियाँ हैं, जिनके सम्बन्ध में— श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ (यजुःसंहिता) यह प्रसिद्ध है। सैषा प्राकृत–स्थितिः। स्थितस्यैव गतिश्चिन्तनीया नीरक्षीरविवेक बुद्ध्या।

पारमेष्ठ्य विष्णु का भृगुतत्त्व ही अपनी घनावस्था से– आप है तरलावस्था से 'वायु' है, एवं विरलावस्था से–'सोमः' है। आपो–वायु –सोमः–इत्येते भृगवः' (श्रुतिः) के अनुसार इन तीनों तत्त्वों की समष्टि का नाम ही– भृगु है जिनसे क्रमशः असुर–गन्धर्व पितर –नामक तीन पारमेष्ठ्य–प्राणात्मक सर्ग अभिव्यक्त हुए हैं। असुर आपोमय हैं गन्धर्व वायव्य हैं एवं पितरः सोम्यास हैं गन्धर्वप्राणात्मक

को आज्यदर्शन कराना आवश्यक है, इस विचार से आहवनीयाधिश्रयण के बीच में ही अध्वर्यु आज्य को गार्हपत्य के समीप लाकर पत्नी को अवेक्षण कराएँ, यह भी पद्धति के प्रतिकूल है। एवं पद्धतिविरुद्ध कर्म यज्ञस्वरूप का बाधक है। इस विप्रतिपत्ति को हटाने का मार्ग पत्नी को आज्य न दिखलाने पर पर्य्यवसित मान लिया जाय, यह भी सम्भव नहीं है। यदि पत्नी ने आज्यावेक्षण न किया, तो उसका यज्ञ से पृथक्करण होजाएगा। इसप्रकार आहवनीयाधिश्रयणपक्ष में न अध्वर्यु पत्नी के समीप आसकता, न पत्नी आहवनीय के समीप आसकती, न पत्नी को आज्यदर्शन से वञ्चित किया जासकता। यदि गार्हपत्याधिश्रयण पक्ष है, तब तो किसी प्रकार का दोष नहीं आसकता। कारण-इस पक्ष में आज्याधिश्रयण भी गार्हपत्य में ही होता है। ऐसी अवस्था में गार्हपत्य के समीप ही नैर्ऋत कोण में बैठी हुई यजमानपत्नी के आज्यदर्शन में किसी भी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं होती। परन्तु आहवनीयपक्ष में उक्त विप्रतिपत्ति को दूर करने का क्या उपाय? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए श्रुति ने यह उपाय बतलाया है कि, आहवनीयाधिश्रयणपक्ष में-पुरोडाशाधिश्रयणकाल में आज्याधिश्रयण नहीं करना चाहिए, अपितु जब पत्नी के आज्यावेक्षण का समय आवे, उस समय पहिले अगत्या आज्य का गार्हपत्याग्नि में अधिश्रयण कर लेना चाहिए। जब पत्नी गार्हपत्यस्थान में ही आज्यावेक्षण करले, तो आहवनीयाधिश्रयणपक्ष की प्राप्तमर्य्यादा को सुरक्षित रखने के लिए पुनः (आज्यावेक्षणानन्तर) आहवनीयाग्नि में आज्याधिश्रयण कर लेना चाहिए। अधिश्रयणानन्तर आज्य को देवप्राणयुक्त वेदिमध्यभाग पर रख देना चाहिए। २०।२१।२२।२३।२४।

'आपोमया सवरमा सर्वमापोमयं जगत्' (महाभारत) इस सिद्धान्त के अनुसार यह दृश्य-भूतभौतिक-पञ्चपर्वा विश्व * अपने मूल में-'अप् तत्त्व' पर ही प्रतिष्ठित रह रहा है। अर्थात् पाञ्चभौतिक-विश्व का मौलिक उपादानद्रव्य अप्तत्त्व ही माना गया है, जैसाकि निम्नलिखित मनुवचन से स्पष्ट प्रमाणित है—

> सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधा प्रजाः।
> अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ (मनुः १।८।

ऋक्-यजु-साम-नामक मौलिक-ऋषिप्राणात्मक अपौरुषेय-सत्यात्मक-वेद से युक्त अव्यक्त-प्रजापति अपने ऋक्सामानुगत यजुः के-'ज्' रूप वाग्भाग से सर्वप्रथम 'अप्'-रूप में ही परिणत होते हैं, जो कि यह अप्तत्त्व सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त-आप्त करने के कारण-आपः नाम से एवं आवरणरूप से सम्पूर्ण विश्व का वरण करने से-वा (वारि) नाम से प्रसिद्ध हुआ है +। 'तद् आण्डं समवर्त्तत' के अनुसार इस अप्तत्त्व के परिवेष्टन से ही अव्यक्त-ब्रह्म 'अण्ड' रूप में परिणत हुआ है। इसीलिए उस अव्यक्तब्रह्म

---

* स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा पृथिवी ही क्रमशः आकाश-वायु-तेज-जल-पृथ नामक 'पञ्चमहाभूत' हैं, एवं इन पांच पर्वों से ही 'पञ्चपर्वा-विश्व' का स्वरूप-निर्माण हुआ है, जिसका उपादान द्रव्य 'अप् तत्त्व' ही माना गया है।

+ — सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेव सा ऽसृज्यत। सर्वं सर्वमाप्नोत्-यदिदं किञ्च। तस्मात् आपः'। सर्वमवृणोत्-तस्माद् वाः (वारि)। (शत० ६।१।१।९)

का यह पञ्चपर्वात्मक अग्नीषोममय विश्व 'ब्रह्माण्ड' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। प्रकृत ब्राह्मण की २५ वीं कण्डिका के-' तदिदमप्सु पयो हितम्' इस रहस्यपूर्ण-निगम के द्वारा अप्तत्त्व का ही-'नीर-क्षीर-विवेक' हुआ है।

ईशानुगत 'नीर-क्षीर-विवेक' नामक लौकिक-न्याय लोक में सुप्रसिद्ध है, जिस इस लोकप्रसिद्ध न्याय का मूल आधार 'तदप्सु पयो हितम्' (सो यह घृत पानी में प्रतिष्ठित है) यही वचन बन रहा है। 'नीर' आप (पानी) है एवं-'क्षीर' 'आज्य (घृत) है। इस पाञ्चभौतिक-विश्व के मूलोत्पादनभूत विश्व की सीमा में, विश्व के गर्भ में नीर भी है, और क्षीर भी है। अर्थात् आप भी है, और आज्य भी है। पानी और दूध (आज्य का मौलिकरूप), दोनों के सम्मिश्रण का नाम ही 'विश्व' है।

अपनी आस्थामयी सौम्या पावन-श्रद्धा को 'पुराणशास्त्र' के स्वाध्याय एवं श्रवण से धन्य-कृत-कृत्य करते रहने वाले मानवश्रेष्ठों के लिए यह सुविदित ही है कि पुराण-कथानुसार त्रैलोक्य के पालनकर्त्ता भगवान् विष्णु अनन्त-शयनाग की सुचिक्कणा-कोमलशय्या पर 'क्षीरसमुद्र' में ही शयन कर रहे हैं। मानवीया प्रज्ञा के अपराध से जब जब भी धर्मस्कम्भ (स्तम्भ) विकम्पित होजाता है तो तब तब ही देवताओं की करुणापूर्णा प्रार्थना पर करुणावरुणालय शेषशायी भगवान् विष्णु क्षीरसमुद्र का परित्याग कर अवताररूपेण अवतीर्ण हुआ करते हैं। कौनसा है वह 'क्षीरसमुद्र' जिसमें विष्णु शयन कर रहे हैं? इस महान् सम्प्रश्न का समाधान व्यवसायात्मिका जिस नैष्ठिकी ज्ञानविज्ञानात्मिका बुद्धि के द्वारा होता है, वही तत्त्वनिष्ठा बुद्धि-'नीरक्षीरविवेकशालिनीबुद्धि' कहलाई है एवं दो शब्दों में विवेकशालिनी उसी तत्त्व बुद्धि से सम्बन्ध रखने वाले—'नीर-क्षीर-विवेक' की ओर हम अपने श्रद्धानिष्ठ पाठकों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

स्वायम्भुव-ब्रह्म-त्रयीमूर्त्ति-प्रजापति के वाग्भाग से उत्पन्न सर्वत्र व्याप्त, अग्रसस्वरूप-सम्पादक 'अप्'तत्त्व का ही नाम है—'परमेष्ठी' इसी का नाम है अग्नीषोमूर्त्ति पारमेष्ठ्य विष्णु, जिसका भार्गव-तत्त्व ही 'लक्ष्मी' नाम से प्रसिद्ध हुआ है एवं आङ्गिरसतत्त्व ही-'सरस्वती' नाम से प्रसिद्ध हुआ है जोकि सरस्वती ही- श्री कहलाई है। सरस्वतीरूपा आङ्गिरसी श्री', एवं आम्भृणीरूपा भार्गवी लक्ष्मीः ये ही दोनों अग्नीषोमय पारमेष्ठ्य विष्णु की पत्नियाँ हैं, जिनके सम्बन्ध में— श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ (यजुःसंहिता) यह प्रसिद्ध है। सैषा प्राकृत-स्थिति। स्थितस्यैव गतिश्चिन्तनीया नीरक्षीरविवेक दृष्ट्या।

पारमेष्ठ्य विष्णु का भृगुतत्त्व ही अपनी घनावस्था से-'आपः' है तरलावस्था से 'वायु' है, एवं विरलावस्था से-'सोमः' है। 'आपो-वायु-सोमः-इत्येते भृगवः' (श्रुतिः) के अनुसार इन तीनों तत्त्वों की समष्टि का नाम ही- भृगु है जिनसे क्रमशः असुर-गन्धर्व पितर-नामक तीन पारमेष्ठ्य-प्राणात्मक सर्ग अभिव्यक्त हुए हैं। असुर आपोमय है गन्धर्व वायव्य हैं एवं पितरः सोम्यास'। हैं गन्धर्वप्राणात्मक

वायव्यतत्त्व ही–वह 'अनन्त शेष नाग' + (सर्पणशील–'मघवराह' नामक पारमेष्ठ्य महान् वायु) है, जिस पर पारमेष्ठ्य विष्णु भगवान् शयन कर रहे हैं। पारमेष्ठ्य भार्गव आप ही–'नीर' (पानी) है भागव सोम ही– क्षीर (दूध) है एवं दोनों का विभाजक है मध्यस्थ भार्गव–शेषनागात्मक–सर्पप्राणात्मक वायु। यों पारमेष्ठ्य 'सरस्वान्' नामक महान् समुद्र में–नीर–क्षीर–वायु–इन तीन तत्त्वों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इस तत्त्वत्रयी को आधार बनाकर ही हमें–'नीरक्षीरात्मक विश्व का समन्वय देखना है।

क्षीरभाव 'दुग्ध है और सौम्य है अर्थात् सोममय है जो कि वह सौम्य क्षीर उस आपोमय समुद्र में घुलमिल रहा है। मध्यस्थ–वायु ही इस का नीर से पार्थक्य करता रहता है, एवं इसी पार्थक्य से इस सोममय क्षीर में चिदात्मा [विष्णु] अभिव्यक्त होते हैं। चिदात्मा की गर्भभूमि को– महद्ब्रह्म' माना गया है जो कि पारमेष्ठ्य–पितृप्राणमय–सौम्य–तत्त्व ही है एवं जिसके सत्त्व–रज–तम नामक तीन तो सुप्रसिद्ध गुण माने गए हैं एवं सूर्य्यानुगत महद्प्रकृतिविभाग चन्द्रमानुगत प्रकृतिविभाग एवं भूपिण्डानुगत–आकृतिविभाग ये तीन प्रकृतिभाव माने गए हैं। षड्भावापन्न यह पारमेष्ठ्य–महद्ब्रह्म ही विश्व की मूलप्रकृति–जननी–माता है जिसमें चिदात्मा विष्णु गर्भधारण करते हैं *। इसी भार्गव–महद्ब्रह्म में चिदात्मा क्योंकि गर्भधारण करते हैं इनके क्योंकि आप्य–वायव्य–सौम्य–नामक तीन महिमा–विवर्त हैं अतएव महद्ब्रह्ममूलक प्राणीसर्ग 'आप्यजीव (जल के प्राणी)–वायव्यजीव । वायु के मानव–पशु–पक्षी–कीट–कृमि–प्राणी) एवं–सौम्यजीव (अग्निघ ऊष्मयोनिसर्ग) नामक तीन प्रकार के ही माने गए हैं जिसका पूर्वस्कन्दों में यत्र तत्र संक्षेप, एवं विस्तार से स्पष्टीकरण होगया है।

चिदात्मा विष्णु जिसमें गर्भ धारण करेंगे वहीं क्षीर की अभिव्यक्ति होगी एवं यही मूलसूत्र 'नीरक्षीरविवेक' का मूलाधार माना जायगा। बात थोड़ी समझने जैसी है। विश्वप्रजा को हम वृषासर्ग योषासर्ग भेद से दो मार्गों में विभक्त मानेंगे जिनके मूल–पारमेष्ठ्य–अङ्गिरा, और भृगु ही बने हुए हैं। भृगु का संक्षिप्त नाम हम सोम रख लेते हैं एवं अङ्गिरा का संक्षिप्त नाम– 'अग्नि' मान लेते हैं। अग्निसृष्टि ही वृषासृष्टि है एव इसी का नाम है–'पुरुषसृष्टि'। सोमसृष्टि ही 'योषासृष्टि' है एवं

+ पांच भूतों में से मृत्–जल–तेज के निःशेष होजाने पर वायु ही शेष बच रहता है जो प्राणवायु आकाशवत् नित्य ही माना गया है। यही भृगु के सम्बन्ध से 'महान्' कहलाया है–['यथाकाशगतो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्'–गीता]। इस शेषता से ही यह सर्पणशील–मघवद्वेग से भोभूयमान आसुर–वारुण अपूतत्व से विपाक बना हुआ–पारमेष्ठ्य वायु 'अनन्तशेषनाग' (सर्प) कहलाया है जो सोमसम्बन्ध से मसृण–कोमल भी है।

* –मम योनिर्म्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥ १ ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ २ ॥
—गीता

इसी का नाम है– स्त्रीसृष्टि । नर [पुरुष], और मादीन [स्त्री] ये ही प्रमुख दो विश्वसर्ग हैं । आग्नेय पुरुषसर्ग, तथा सौम्य स्त्रीसर्ग दोनों ही सर्ग शरीरानुबन्धेन आपोमय ही हैं, जैसा कि— इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इत्यादि छान्दोग्यवचन से स्पष्ट है । वृषात्मक पुरुषों का शरीर भी आपोमय ही है एवं योषात्मिका स्त्रियों का शरीर भी आपोमय ही है । किन्तु इन दोनों आपोमय शरीरों की मूलप्रकृति पृथक् पृथक् है । आग्नेय वृषा–पुरुष की प्रकृति की मूलप्रतिष्ठा जहाँ 'अग्नि' ही है वहाँ सौम्या योषा स्त्री की प्रकृति की मूलप्रतिष्ठा–'सोम' ही है । अतएव अग्निप्रकृतिप्रधाना–वृषात्मिका–पुरुष की सृष्टि में शरीरानुबन्धेन अप्तत्त्व के विद्यमान रहने पर भी– सौम्य क्षीर [सोमात्मक दूध] की अभिव्यक्ति नहीं होने पाती । इधर सोमप्रकृतिप्रधाना योषात्मिका स्त्री की सृष्टि में इस के मूलप्रकृति रूप सोमभाव के अनुबन्ध से इस के आपोमय शरीर में क्षीर [दूध] अभिव्यक्त होसकता है । और यों पुरुष और स्त्री इन दोनों आपोमय शरीरों में से एक स्थान पर [स्त्री के शरीर में] तो क्षीर अभिव्यक्त होजाता है, एवं एक स्थान पर [पुरुष के शरीर में] क्षीर अभिव्यक्त नहीं होता ।

जहाँ क्षीर अभिव्यक्त होगा वहीं चिदात्मा गर्भ धारण करेंगे, वहीं उसी क्षेत्र में प्रजननधर्म अभि–व्यक्त होसकेगा । अतएव सौम्या क्षीरिणी मातृजाति ही महद्ब्रह्म की अभिव्यक्ति के द्वारा औपपातिक चिदंश [जीवात्मा] को स्वगर्भ में धारण कर इसे भौतिक स्वरूप भी प्रदान करने में समर्थ बनती है एवं अपने आपोमय शरीर में अपनी मूलभूता सौम्या प्रकृति से अनुप्राणित 'क्षीर' से इस प्रजा का पोषण–धारण करने में भी समर्थ बन जाती है । और यों विश्वम्भर प्रजापति ने सृष्टिप्रक्रिया में— सौम्या–योषा के आपोभाग में ही– पय [क्षीर–दूध–] हित–प्रतिष्ठित–किया है— तदप्सु पयो हितम् । पिता के समतुलन में माता का स्थान क्यों सर्वोच्च माना गया ? प्रश्न का भी यही मौलिक रहस्य है । जहाँ–जहाँ–सौम्य–योषा–प्राण अभिव्यक्त होगा वहीं वहीं–उसी उसी आपः में अवश्य ही क्षीर अभिव्यक्त रहेगा । जहाँ जहाँ क्षीर अभिव्यक्त होगा वहीं वहीं चिदात्मा अभिव्यक्त होगा । यों इस नीर–क्षीर–विवेक के माध्यम से ही मानव बोध के 'जीवत्त्व' से परिचित होसकेगा, इसी परिचय से इसे स्वरूपबोध होगा एवं यही स्वरूप

'हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्' इस कविसूक्ति के अनुसार ऐसा माना जाता है कि 'यदि हंस नामक पक्षी के सम्मुख पानी और दूध मिलाकर रख दिया जाता है तो–हंस दूध दूध तो पीजाता है, और जल छोड़ देता है । इसी आधार पर नीरक्षीर न्याय चल पड़ा है । सम्भव है ऐसा भी हो । किन्तु हम तो इस मान्यता के प्रति कोई आस्था नहीं रख रहे । ऐसा केवल कवि की कल्पना का ही साम्राज्य माना जायगा । वस्तुतः या 'सुवीर्य च हंसमाहुः' इस श्रुति के अनुसार पारमेष्ठ्य–गन्धर्वप्राणात्मक वायु का नाम ही–'हंस' है । हंसात्मक यह पारमेष्ठ्य वायु ही अपनी मध्यस्थता से आपः रूप नीर का तथा सोमरूप क्षीर का विभाजक बना हुआ है । और निश्चयेन इसी मौलिक सत्यसिद्ध कारण के आधार पर नीरक्षीरन्याय' प्रक्रान्त हुआ है । यही पारमेष्ठ्य हंस नामक वायव्यप्राण क्षीर के सहयोग से 'भोक्तासुपर्ण' बन कर मातृ गर्भ में जन्म लेता है । अतएव जीवात्मा का एक नाम हंस भी होगया है जैसाकि 'शरीर रह गया और हंसा उड़ गया' इस 'लौकिक–किम्वदन्ती' से भी स्पष्ट है । नीररूप आपोमय ब्रह्माण्ड में कर्मानुसार जन्म लेने वाला यह हंसरूप भोक्ता सुपर्ण (जीवात्मा) महद्ब्रह्मात्मक सौम्य क्षीर के तत्त्वबोधात्मक विभाजन से ही स्वस्वरूपबोध में समर्थ बना करता है । और यही रहस्य–'नीर क्षीर विवेक' है ।

वायव्यतत्त्व ही–वह अनन्त शेष नाग + (सर्पमयीला- यमयराड् ' नामक पारमेष्ठ्य महान् वायु) है, जिस पर पारमेष्ठ्य विष्णु भगवान् शयन कर रहे हैं। पारमेष्ठ्य भार्गव आपः ही–'नीर' (पानी) है भार्गव सोम ही– क्षीर (दूध) है, एवं दोनों का विभाजक है मध्यस्थ भार्गव–शेषनागात्मक–न्विर्मप्राणात्मक वायु। यों पारमेष्ठ्य 'सरस्वान नामक महान् समुद्र में–नीर–क्षीर–आयु–इन तीन तत्त्वों की सत्ता सिद्ध हो-जाती है। इस तत्त्वत्रयी को आधार बनाकर ही हमें–'नीरक्षीरात्मक विश्व का समन्वय देखना है।

क्षीरभाव 'दुग्ध है और सौम्य है अर्थात् सोममय है जो कि यह सौम्य क्षीर उस आपोमय समुद्र में घुलमिल रहा है। मध्यस्थ–वायु ही इस का नीर से पार्थक्य करता रहता है एवं इसी पार्थक्य से इस सोममय क्षीर में चिदात्मा [विष्णु] अभिव्यक्त होते हैं। चिदात्मा की गर्भभूमि को– महद्ब्रह्म माना गया है जो कि पारमेष्ठ्य–पितृप्राणमय–सौम्य–तत्त्व ही है एवं जिसके सत्त्व–रज–स्तम नामक तीन तो सुप्रसिद्ध गुण माने गए हैं एवं सूर्यानुगत महदाकृतिविभाव, चन्द्रमानुगत प्रकृतिभाव एवं भूपिण्डानुगत–आकृतिभाव ये तीन प्रकृतिभाव माने गए हैं। षड्भावापन्न यह पारमेष्ठ्य–महद्ब्रह्म ही विश्व की मूलप्रकृति–जननी–माता है जिसमें चिदात्मा विष्णु गर्भधारण करते हैं *। इसी भार्गव–महद्ब्रह्म में चिदात्मा क्योंकि गर्भधारण करते हैं इनके क्योंकि आप्य–वायव्य–सौम्य–नामक तीन महिमा–विवर्त हैं अतएव महद्ब्रह्ममूलक प्राणीसर्ग 'आप्यजाल (जल के प्राणी)–वायव्यजीव (वायु के मानव–पशु–पक्षी–कीट–कृमि–प्राणी) एवं–सौम्यजीव (अष्टविध देवयोनिसर्ग) नामक तीन प्रकार के ही माने गए हैं जिसका पूर्वसन्दर्भों में यत्र तत्र संक्षेप एवं विस्तार से स्पष्टीकरण होगया है।

चिदात्मा विष्णु जिसमें गर्भ धारण करेंगे उसी क्षीर की अभिव्यक्ति होगी एवं यही मूलसूत्र 'नीरक्षीरविवेक' का मूलाधार माना जायगा। बात थोड़ी समझने जैसी है। विश्वप्रजा को हम वृषासर्ग योषासर्ग भेद से दो भागों में विभक्त मानेंगे जिनके मूल–पारमेष्ठ्य–अङ्गिरा और भृगु ही बने हुए हैं। भृगु का संक्षिप्त नाम हम सोम' रख लेते हैं एवं अङ्गिरा का संक्षिप्त नाम– अग्नि' मान लेते हैं। अग्निसृष्टि ही वृषासृष्टि है एवं इसी का नाम है–'पुरुषसृष्टि'। सोमसृष्टि ही योषासृष्टि' है एवं

+ पांच भूतों में से भूत्–जल–तेज के निःशेष होजाने पर वायु ही शेष बच रहता है, जो प्रायवायु आकाशवत् नित्य ही माना गया है। यही भृगु के सम्बन्ध से 'महान्' कहलाया है–['यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्'–गीता]। इस शेषता से ही यह सर्पणशील–प्रचण्डवेग से घोघूयमान असुर–बाक्य अपूतत्त्व से विषाक्त बना हुआ–पारमेष्ठ्य वायु 'अनन्तशेषनाग (सर्प) कहलाया है, जो सोमसम्बन्ध से मसृण–कोमल भी है।

* –मम योनिर्म्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥ १ ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ २ ॥
—गीता

बस यहीं पर इसकी सत्यमावना-मर्य्यादा समाप्त होजाती है। यही रहस्य श्रुति-स्मृति के साथ सम्बन्ध रखता है। वेद को श्रुति क्यों कहा जाता है? इस प्रश्न के समाधान में वैज्ञानिक पाश्चात्य विद्वानोंने यह कहा है कि, "वेदकाल में लेखनकला का अभाव था। उस समय सुन सुन कर ही वेदमन्त्र कण्ठ किए जाते थे। इस श्रवण-सम्बन्ध से ही वेद 'श्रुति' नाम से प्रसिद्ध हुआ"। हमारे विचार से पश्चात्य विद्वानोंने 'श्रुति' शब्द के उक्त अर्थ के सम्बन्ध में यही ही भूल की है। 'द्रष्टुर्वाक्यं श्रुतिः श्रोतुर्वाक्यं स्मृतिः' श्रुति स्मृति का यही अर्थ है। जिसने विषय के दर्शन किए हैं उस की सुनाई हुई बात हमारे लिए श्रुति है, एवं श्रुति के आधार पर मनन करके जिसने श्रुति के उपबृंहितमात्र को हमारे सम्मुख रक्खा है, उसका वाक्य ही 'स्मृति' है। द्रष्टा सत्यचक्षु से देख रहा है। अतएव उसके वाक्य की प्रामाणिकता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। अतएव द्रष्टा ऋषियों के वाक्यसमष्टिरूप श्रुतिशास्त्र को स्वतःप्रमाण माना गया है। स्मृति श्रुत्यनुगामिनी है। अत इसे परतः प्रमाण माना गया है। प्रकृत में हमें केवल यही कहना है कि चक्षुरिन्द्रिय अवश्य ही सत्यभावापेक्ष है। इसी आधार पर 'आँखों देखी परशुराम कभी न झूठी होय' यह किंवदन्ती प्रचलित है। यह चक्षुःसत्य सत्याग्नि है। अग्नि वृषा है। यजमानपत्नी ने अवेक्षण से आज्य में योषाप्राण का समावेश किया था, यजमान का प्रतिनिधिरूप अध्वर्य्यु आज्य में सत्याग्निरूप वृषाप्राण का समावेश करता है। एवं इन सब के द्वारा योषावृषात्मक यज्ञ को समृद्ध बनाता है ॥२७॥

आज्य तेजोरूप है। अग्निवृद्धि करना आज्य का पहिला स्वभाव है। शुक्रवृद्धि करना दूसरा स्वभाव है एवं अमृतपोषण करना तीसरा धर्म है। मन-प्राण-वाक्-तीनों में वाक् शुक्रतत्त्व है। प्राण तेज है। मन अमृत है। घृत से वाङ्मय शुक्र की वृद्धि होती है। प्राणमय (अन्नमय) शरीराग्नि प्रबुद्ध होता है। एवं मनोमय अमृतभाग का पोषण होता है। इसप्रकार यह आज्य तेजः शुक्र-अमृत रूप प्राण-वाक्-मन का पोषण करता हुआ भूतात्मा की समृद्धि का कारण बनता है। घृत से बढ़ कर आत्मसमृद्धि के लिए और दूसरा कोई उत्कृष्ट साधन नहीं है। आज्य का वास्तव में यही गुण है। 'तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि' इस सत्यभावना से भावित होकर आज्यप्राशन करने वाला अध्वर्य्यु अवश्य ही आज्य का सर्वविभूति से युक्त करता हुआ अपने आत्मा को सत्ययुक्त ही बनाता है ॥२८॥

इति-अनुवादप्रकरणम्
प्रथमकाण्डानुगत तृतीय अध्याय का प्रथम ब्राह्मण
एव द्वितीय प्रपाठक का चतुर्थ ब्राह्मण उपरत

बोध इसके अभ्युदय-निःश्रेयस् का कारण बनेगा जिस इस प्रकृतिसिद्ध कारणता के आधार पर ही लोक में 'नीरक्षीरन्याय' प्रकान्त होरहा है। सौम्य-क्षीरात्मक-पारमेष्ठ्य-जगन्माता-हैमवती उमा-भगवती के अनुग्रह से ही अभिमानी देवताओंने स्वरूप-बोध प्राप्त किया था, जिसका केनोपनिषत् में विस्तार से विश्लेषण हुआ है।

उक्त प्रासङ्गिक नीर-क्षीर-विवेक के माध्यम से प्रकृत में यही बतलाना है कि — अप्तत्त्व में ही प्रकृति ने सौम्यात्मक [योषात्मक] के अनुबन्ध से यह पय [दुग्ध] प्रतिष्ठित किया है जिसका उत्तर परिणाम 'आज्य' [घृत] ही माना गया है। दुग्ध का अमृतभूत आज्य योषारूपा स्त्री का प्रकृतिसिद्ध प्रतिष्ठावत्त्व ही माना गया है। यही क्षीरानुगत आज्य प्रजननधर्मानुगता प्रजा का मूलाधार है। आज यज्ञ के द्वारा देवात्मा का प्रजनन ही अपेक्षित है वह योषा पर ही अवलम्बित है। अतएव योषाप्राणात्मिका यजमानपत्नी को प्रकृतिसिद्ध–'वनितमप्सु पयो हितम्' इस धारणता के के अनुबन्ध से ही 'आज्यदर्शन' (घृतदर्शन) कराया जाता है।

'पवित्र' से पहिले आज्य का प्रोक्षण किया जाता है अनन्तर आज्यसंसर्ग से आज्ययुक्त बने हुए पवित्र से प्रोक्षणी पानी का उत्पवन होता है। इस प्रोक्षणी–प्रोक्षण का तात्पर्य्य है–पानी में पय का आधान। पानी में एक प्रकार का जीवनीय रस होता है। इसी जीवनीय रस को लक्ष्य में रखकर जीवनं भुवनं वनम् इत्यादि रूप से पानी को 'जीवन' कहा जाता है। इसी जीवनीय रस को—''यो वः शिवतमो रसः'' (यजुः) इत्यादि रूप से 'शिवतमरस' नाम से व्यवहृत किया जाता है। दिव्यात्मा इस जीवनीय शिवतम रस से युक्त बनें इसी अभिप्राय से यह उत्पवनकर्म्म किया जाता है ॥२४॥

ऋत्विक् दक्षिणाक्रीत हैं। ऋत्विक् यज्ञकर्म्म में अपने मनः–प्राण–वाक् मय आत्मा का जितना भाग व्यय करते हैं उतना भाग दक्षिणा के द्वारा पूर्ण कर दिया जाता है। यदि दक्षिणादान नहीं होता है तो यजमान के यज्ञात्मा (दिव्यात्मा) में ऋत्विजों का भी आत्मा समाविष्ट रह जाता है। यही यज्ञ का व्यवभाव (अपूर्णत्व) है। इस व्यवभाव को दक्षिणा से दूर किया जाता है। दक्षिणाग्रहण से ऋत्विग्गण यज्ञ में जितने कर्म्म करते हैं देवताओं से जो आशीः मांगते हैं–उन सबका सम्बन्ध यजमान के साथ ही होता है। अतः यजमानं को ही आज्यदर्शन करना चाहिए। 'यजमान आज्यदर्शन करे' प्राचीनों का यह आग्रह विज्ञानदृष्टि से सर्वथा नहिष्कृत अतएव उपचरणीय ही है ॥२५॥

सूर्य से चक्षुरिन्द्रिय का निर्म्माण होता है। सूर्य्य सत्यमूर्त्ति है। पुराणने पारमेष्ठ्य मधुगर्भित ज्योतिर्मय विष्णुर्त्ति (महा वामन) इसी सौरविष्णु का (यज्ञ को) सत्यनारायण नाम से व्यवहृत किया है। अग्नीमय अग्निमूर्त्ति अतएव सत्यसूर्य्य से निष्पन्न होने वाले चक्षु में सत्य की प्रतिष्ठा रहती है। मनुष्य के समीप चक्षु ही एक ऐसा साधन है जिसके आधार पर वह सत्यासत्य के निर्णय पर पहुँच सकता है। जब यजमान यज्ञ में दीक्षा लेता है तो–उससे–'स वै सत्यमेव वदेत्' यह आदेश दिया जाता है। इस आदेश के अव्यवहितोत्तरकाल में ही श्रुतिने पूर्वपक्ष उठाया है कि, मनुष्य होकर सत्य बोले, यह सर्वथा असम्भव है। क्योंकि मनुष्य अनृतसंहित है। जब यह सत्य बोल ही नहीं सकता तो फिर उसके लिए–तुम सत्य बोलो इस आदेश का क्या महत्त्व रह जाता है ? । आगे जाकर इस पूर्वपक्ष का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि यज्ञप्रजापति की ओर से पुरुष में चक्षुरूप का निर्म्माण हुआ है। *यह जैसा देखे वैसा बोले'*

बस यहीं पर इसकी सत्यभाषण-मर्य्यादा समाप्त होजाती है। यही रहस्य श्रुति–स्मृति के साथ सम्बन्ध रखता है। वेद को श्रुति क्यों कहा जाता है ?, इस प्रश्न के समाधान में वैज्ञानिक पाश्चात्य विद्वानोंने यह कहा है कि, "वेदकाल में लेखनकला का अभाव था। उस समय सुन सुन कर ही वेदमन्त्र कण्ठ किए जाते थे। इस श्रवण-सम्बन्ध से ही वेद श्रुति नाम से प्रसिद्ध हुआ'। हमारे विचार से पश्चात्य विद्वानोंने श्रुति' शब्द के उक्त अर्थ के समन्वय में बड़ी ही भूल की है। 'दृष्टवाक्य श्रुति' श्रोतृवाक्य स्मृति' श्रुति स्मृति का यही मर्म है। जिसने विषय के दर्शन किए हैं उस की सुनाई हुई बात हमारे लिए श्रुति है, एवं श्रुति के आधार पर मनन करके जिसने श्रुति के उपर विचार को हमारे सम्मुख रक्खा है उसका वाक्य ही 'स्मृति' है। द्रष्टा सत्यवस्तु से देख रहा है। अतएव उसके वाक्य की प्रामाणिकता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। अतएव द्रष्टा ऋषियों के वाक्यसंग्रहरूप श्रुतिशास्त्र को स्वतःप्रमाण माना गया है। स्मृति श्रुत्यनुगामिनी है। अत इसे परत प्रमाण माना गया है। प्रकृत में हमें केवल यही कहना है कि चक्षुरिन्द्रिय अव श्य ही सत्यभावोपेत है। इसी आधार पर 'आँखों देखी परशुराम कभी न झुँठी होय' यह किंवदन्ती प्रचलित है। यह चक्षु-सत्य सत्याग्नि है। अग्नि घृत है। यजमानपत्नी ने अवेक्षण से आज्य में योषाप्राण का समावेश किया था यजमान का प्रतिनिधिरूप अध्वर्यु आज्य में सत्याग्निरूप वृषाप्राण का समावेश करता है। एवं इन सब के द्वारा योषावृषात्मक यज्ञ को समृद्ध बनाता है ॥२७॥

आज्य तेजोरूप है। अग्निवृद्धि करना आज्य का पहिला स्वभाव है। शुक्रवृद्धि करना दूसरा स्वभाव है एवं अमृतपोषण करना तीसरा धर्म्म है। मन –प्राण–वाक्–तीनों में वाक् शुक्रतत्त्व है। प्राण सत्य है। मन अमृत है। घृत से वाङ्मय शुक्र की वृद्धि होती है। प्राणमय (अन्नमय) शरीराग्नि प्रवृद्ध होता है। एवं मनोमय अमृतभाग का पोषण होता है। इसप्रकार यह आज्य तेजः-शुक्र–अमृत रूप प्राण–वाक्–मन का पोषण करता हुआ भूतात्मा की समृद्धि का कारण बनता है। घृत से बढ़ कर आत्म समृद्धि के लिए और दूसरा कोई उत्कृष्ट साधन नहीं है। आज्य का वास्तव में यही गुण है। तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि इस सत्यभावना से भावित होकर आज्यदर्शन करने वाला अध्वर्यु अवश्य ही आज्य को सत्यविभूति से युक्त करता हुआ तद्द्वारा विश्वात्मा को सत्ययुक्त ही बनाता है ॥२८॥

इति–अनुवादप्रकरणम्
प्रथमकाण्डानुगत तृतीय अध्याय का प्रथम ब्राह्मण एव द्वितीय प्रपाठक का चतुर्थ ब्राह्मण उपरत

श्री

अथ-प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मणम्
"आज्यब्राह्मणम्"

१६—आज्यग्रहणकर्म्म

१—यज्ञप्रतिरूपरहस्यप्रकरणम्

(मूल)—पुरुषो वै यज्ञ । पुरुषस्तेन यज्ञः—यदेन पुरुषस्तनुते । एष वै ताय मानो यावानेव पुरुषस्तावान् विधीयते, तस्मात्पुरुषो यज्ञ ॥ १ ॥

तस्येयमेव जुहूः, इयमुपभृत्, आत्मैव ध्रुवा । तद्वा आत्मन एवेमानि सर्वाण्यङ्गानि प्रभवन्ति । तस्माद् ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञ प्रभवति ॥ २ ॥

प्राण एव स्रुवः । सोऽयं प्राण सर्वाण्यङ्गान्यनुसञ्चरति । तस्माद् स्रुव सर्वा अनु स्रुचः सञ्चरति ॥ ३ ॥

तस्यासावेव द्यौर्जुहू, अथेदमन्तरिक्षमुपभृत्, इयमेव ध्रुवा । तद्वा अस्या एवम सर्वे लोकाः प्रभवन्ति । तस्माद् ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञ प्रभवति ॥ ४ ॥

अयमेव स्रुवो योऽयं पवते । सोऽयमिमान् सर्वान् लोकाननुपवते । तस्माद् स्रुव सर्वा अनु स्रुच सञ्चरति ॥ ५ ॥

२—आज्यगृहणसंख्यानियमनप्रकरणम्—

स एष यज्ञस्तायमानो देवेभ्यस्तायते । ऋतुभ्य, छन्दोभ्य । यद्धवि, तद्देवानाम् । यत्सोमो राजा, यत्पुरोडाशः, तत्तदादित्य गृह्णाति अमुष्मै त्वा जुष्ट गृह्णामीति । एवमु हैतषाम् ॥ ६ ॥

अथ यान्याज्यानि गृह्यन्ते—ऋतुभ्यश्चैव तानि, छन्दोभ्यश्च गृह्यन्ते । तत्तदना-दिश्य—आज्यस्यैव रूपेण गृहणाति । स वै चतुर्जुह्वां गृहणाति, अष्टौ कृत्व उप-भृति ॥ ७ ॥

स यच्चतुर्ह्रा गृह्णाति-ऋतुभ्यस्तद् गृह्णाति, प्रयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति । ऋतवो हि प्रयाजा । तद्यदनादिश्य-आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति-अजामितायै । जामि ह कुर्याद्-यद्वसन्ताय त्वा ग्रीष्माय वेति गृह्णीयात् । तस्मादनादिश्य- आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति ॥ ८ ॥

अथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति-छन्दोभ्यस्तद् गृह्णाति, अनुयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति । छन्दांसि ह्यनुयाजा । तद्यदनादिश्य-आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति-अजामितायै । जामि ह कुर्याद्-यद् गायत्र्यै त्वा त्रिष्टुभे त्वेति गृह्णीयात् । तस्मादनादिश्य आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति ॥ ९ ॥

अथ यच्चतुर्ध्रुवायां गृह्णाति-सर्वस्मै तद् यज्ञाय गृह्णाति । तेनादनादिश्य-आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति । कस्मा उ ह्यादिशेत् यतः सर्वाभ्य एव देवताभ्योऽवद्यति । तस्मादनादिश्य आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति ॥ १० ॥

३—आज्यगृहणोपपत्तिप्रकरणम् —

यजमान एव जुहूमनु, योऽस्मा अरातीयति-स उपभृतमनु । अत्तैव जुहूमनु, आद्य उपभृतमनु । अत्तैव जुहूः, आद्य उपभृत् । स वै चतुर्ह्रा गृह्णाति, अष्टौ कृत्व उपभृति ॥ ११ ॥

स यच्चतुर्ह्रा गृह्णाति-अत्तारमेवैतत्परिमिततरं कनीयांसं करोति । अथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति-आद्यमेवैतदपरिमिततरं भूयांसं करोति । तद्धि समृद्धम्-यत्राता कनीयान् आद्यो भूयान् ॥ १२ ॥

स वै चतुर्ह्रा गृह्णन् भूय आज्यं गृह्णाति, अष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णन्-कनीय आज्यं गृह्णाति ॥ १३ ॥

स यच्चतुर्ह्रा गृह्णन् भूय आज्यं गृह्णाति-अत्तारमेवैतत् परिमिततरं कनीयांसं कुर्वन्नस्मिन् वीर्यं बलं दधाति । अथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णन् कनीय आज्यं गृह्णाति-आद्यमेवैतदपरिमिततरं भूयांसं कुर्वन् समवीर्यमबलीयांसं करोति । तस्मादुत राजाऽपारो विशो ग्रामसाय, अप्यकथेरमत्रैव जिनाति । त्वयथा त्वस्यामपर्ते, तथा सपत्नेनो ह वीर्यैवा-यज्जुह्वां भूय आज्यं गृह्णाति । स यज्जुह्वां गृह्णाति-जुह्वेव वज्जुहोति, यदुपभृति गृह्णाति-जुह्वेव वज्जुहोति ॥ १४ ॥

तदाहु -कस्मा उ तद्ध्रुवमुपभृति गृह्णीयात्-यदुपभृता न जुहोतीति । स यद्धोपभृता जुहुयात्-पृथग्घैवेमाः प्रजाः स्युः-नैवात्ता स्यात्, नाद्य स्यात् । अथ यज्जुह्वै व समानीय जुहोति-तस्मादिमा विशः क्षत्रियाय बलिं हरन्ति । अथ यदुपभृति गृह्णाति-तस्माद् क्षत्रियस्यैव वशे सति वैश्यं पशव उपतिष्ठन्ते । अथ यज्जुह्वै व समानीय जुहोति-तस्माद्यदैव क्षत्रियः कामयते-अथाह वैश्यम्-'अपि यन्मे परो निहितम्, तदाहरेति, त जिनाति । त्यद्यथा त्वत्कामयते, तथा सचते-एतनो ह त्वदीर्ग्या ॥ १५ ॥

तानि वा एतानि छन्दोम्य आज्यानि गृह्यन्ते । स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति-गायत्र्यै तद् गृह्णाति । अथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति-त्रिष्टुब्जगतीभ्यां तद् गृह्णाति । अथ यच्चतुर्ध्रुवायां गृह्णाति-अनुष्टुभे तद् गृह्णाति । वाग् वा अनुष्टुप् । वाचो वा इदं सर्वं प्रभवति । तस्माद् ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति । इयं वा अनुष्टुप्, अस्यै वा इदं सर्वं प्रभवति । तस्माद् ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति ॥ १६ ॥

४ — आज्यगृहणपद्धतिप्रकरणम्—

स गृह्णाति धाम नामासि प्रियं देवानाम् [१ अ० ३० मं०] इति । एतद्वै देवानां प्रियतमं धाम-यदाज्यम् । तस्मादाह-धाम नामासि प्रियं देवानामिति । अनाधृष्टं देवयजनमसि-[अ० १ म० ३१] इति । वज्रो ह्याज्यम् । तस्मादाह-अनाधृष्टं देवयजनमसीति ॥ १७ ॥

स एतेन यजुषा सकृज्जुह्वां गृह्णाति, त्रिस्तूष्णीम् । एतनैव यजुषा सकृदुपभृति गृह्णाति, सप्तकृत्वस्तूष्णीम् । एतेनैव यजुषा सकृद् ध्रुवायां गृह्णाति, त्रिस्तूष्णीम् । तदाहु -त्रिस्त्रिरेव यजुषा गृह्णीयात्-त्रिवृद्धि यज्ञ इति । तदु नु सकृत्सकृदेव । अत्रो ह्येव त्रिगृहीतं सम्पद्यते ॥ १८ ॥

इति-शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये प्रथमकाण्डे
तृतीयाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मणम्
'आज्यब्राह्मण -नामक
उपरतम्

मूलानुवाद—

१—यज्ञप्रतिरूपरहस्यप्रकरण—

यह यज्ञ (मनुष्ययजमान के द्वारा किया जाने वाला वैध यज्ञ) निश्चयरूप से पुरुष (मनुष्य की ही प्रतिकृति) है । (यह) यज्ञ इसलिए पुरुष (पुरुषस्वरूप–सदृश) है कि, जो कि पुरुष (यज्ञकर्ता यजमान दक्षिणाक्रीत अध्वर्यु होता उद्गाता ब्रह्मा आदि ऋत्विग् गण जो कि पुरुष हैं) इस यज्ञ को वितत करता है (वेदि, कुण्ड, मन्त्र, हवि आदि साधनों से विस्तार–भाव में परिणत करता है) । क्योंकि पुरुष के द्वारा ही यज्ञस्वरूप सम्पन्न होता है इसलिए यज्ञ को–पुरुषकर्तृत्वेन–अवश्य ही 'पुरुष' कहा जासकता है । (एक दूसरे कारण से भी यज्ञ को पुरुष कहा जासकता है जो कि कारण पहिले कारण की अपेक्षा प्रमुख है । कण्डिका का उत्तर वाक्य उसी का स्पष्टीकरण कर रहा है) । यह (वैध यज्ञ)–(ऋत्विजादि पुरुषों के द्वारा) वितायमान होता हुआ (गार्हपत्य अपथाग्नि आहवनीय वेदि, आदि रूप से फैलता हुआ) निश्चयरूप से जितना ही (जितनी लम्बाई के परिमाण से) पुरुष वितत रहता है उतना ही (उतने ही परिमाण से सम्पन्न किया जाता है । (पुरुषपरिणाम–सदृश विस्तारभाव की समता से ही यज्ञ को 'पुरुष' कहना अन्वर्थ बन जाता है) ॥१॥

(यज्ञ की प्रतिज्ञात पुरुषाकारता सिद्ध करती हुई श्रुति कहती है कि)—जुहू इस यज्ञ की यही (दक्षिणभुजा–दाहिना हाथ) है उपभृत् (इस यज्ञ की) यह (वाम–भुजा–बायाँ हाथ) है ध्रुवा (इस यज्ञ का) आत्मा (मध्य अङ्ग–धड़) ही है । (इसप्रकार जुहू उपभृत्, ध्रुवा रूप से दक्षिण वाम हस्त एवं मध्याङ्ग–सम्पत्ति–लक्षणा पुरुषाकृति–सम्पत्ति से युक्त रहने वाले यज्ञ को अवश्य ही पुरुष (पुरुष की प्रतिकृति–पुरुषसदृश) कहा जासकता है, यही तात्पर्य है ।

('ध्रुवा' नामक यज्ञपात्र आत्मा (मध्याङ्ग) की प्रतिकृति कैसे है ? इस जिज्ञासा का समाधान करती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है कि)—यह प्रत्यक्ष है कि, (इसी) आत्मा (मध्याङ्गरूप धड़) से ही ये (हस्त, पाद मस्तकादि) सब अङ्ग (शरीरावयव) उत्पन्न होते हैं (निकलते हैं, रसप्राप्ति के द्वारा पुष्ट होते रहते हैं) । इस वैधयज्ञ में आज्यपरिपूर्ण ध्रुवापात्र आत्मस्थानीय है, एवं आत्मा से ही अङ्गरूप हस्त–पादादि इतर सम्पूर्ण अङ्ग उत्पन्न होते हैं रसग्रहण करते हैं, अतएव (यहाँ भी जुहू उपभृत् आदि के द्वारा ध्रुवा से ही घृत ले ले कर) ध्रुवा से ही सम्पूर्ण साङ्गोपाङ्ग वैधयज्ञ–उत्पन्न–सम्पन्न होता है (यज्ञ की इतिकर्तव्यता पूरी की जाती है । अतः यज्ञस्वरूपसाधकभूत ध्रुवा को इस यज्ञपुरुष का अवश्य ही 'आत्मा' माना जासकता है, यही तात्पर्य है) ॥२॥

(पुरुष के शरीर में 'हस्त–पाद–आत्मा' ये तीन स्थूल विभाग उपलब्ध होते हैं । शिरोभाग से आरम्भ कर मूलग्रन्थि पर्यन्त प्रदेश 'आत्मा' (धड़) माना जायगा । दक्षिणहस्त दक्षिण पाद

का एक स्वतन्त्र विभाग, एवं वामहस्त वामपाद का एक स्वतन्त्र विभाग माना जायगा। इसप्रकार पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर को आत्मा (धड़), दक्षिणहस्त (तदुपलक्षित दक्षिणपाद), वामहस्त (तदुपलक्षित वामपाद) इस क्रम से पुरुष को तीन भागों में विभक्त किया जायगा। त्रिविभागात्मक इस शरीर में (शरीर के सम्पूर्ण अवयवों में) अवारपारीण सञ्चार करने वाला चैतन्यप्राण एक चौथा स्वतन्त्र तत्त्व माना जायगा, जिसकी सत्ता से जड़-भूत क्रियाशील बनते हुए जीवनीयरस से युक्त रहते हैं। पुरुषसंस्था की इन चार अवान्तर संस्थाओं में से आत्मा (धड़) दक्षिणहस्त (पाद) वामहस्त (पाद) इन तीन भौतिक अवयवों की प्रतिरूपता तो क्रमशः ध्रुवा जुहू उपभृत, इन तीन यज्ञपात्रों के द्वारा सिद्ध करदी गई। अब शेष चौथा चैतन्यप्राण रह जाता है। इसकी प्रतिरूपता बतलाती हुई श्रुति कहती है,—

(इस वैधयज्ञ में उपयुक्त होने वाला) 'स्रुव' नामक यज्ञपात्र प्राण ही है। स्रुवपात्र प्राणस्थानीय क्यों माना गया ? प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—

(हम देखते हैं कि पुरुषशरीर में केश-लोम एवं नखाग्रभागों को छोड़कर) यह चैतन्य प्राण (वैश्वानराग्नि) शरीर के सम्पूर्ण अङ्गों (को लक्ष्य बनाकर इन अङ्गों) में विचरता रहता है। (हम देखते हैं कि इस यज्ञसंस्था में 'स्रुव नामक यज्ञपात्र जुहू-उपभृत्-ध्रुवा आदि इतर सभी स्रुक्-पात्रों के साथ सम्बन्ध रखता है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि आत्मा-बाहुहस्त (एवं पाद-स्थानीय ध्रुव-जुहू-उपभृत् आदि स्रुचों में सञ्चरण करने वाला स्रुव अवश्य ही प्राणस्थानीय है) इसीलिए (प्राणस्थानीय होने से ही) तो यह स्रुव-पात्र सब स्रुचों (को लक्ष्य बनाकर सब) में विचरता है ॥३॥

यह वैधयज्ञ पुरुष की प्रतिकृति किस आधार पर माना गया ? इस प्रश्न का समाधान श्रुति ने पुरुषात्मक आध्यात्मिकयज्ञ के द्वारा किया। पुरुषयज्ञ (आध्यात्मिकयज्ञ) का जैसा स्वरूप है उस में जैसा अवयवसंस्थान है पुरुषकृत आधिभौतिक, स्वर्गादि-अभीष्ट फलसाधक इस वैधयज्ञ का स्वरूप तथा संस्थान भी वैसा ही है। अत 'समतुलनन्याय से इस वैधयज्ञ को भी 'पुरुष' कहना न्यायसङ्गत बन जाता है। अब इस सम्बन्ध में दो प्रासङ्गिक प्रश्न और उपस्थित होते हैं। पहिला प्रश्न यह है कि जिस पुरुष के आकार के आधार पर वैधयज्ञ का तथाभूत वितान किया जाता है उस पुरुष (आध्यात्मिकयज्ञ) का स्वरूप ही एवंविध (यज्ञात्मक) कैसे और क्या बना ?। जिस आधिदैविक जगत् (प्रकृति) से पुरुषयज्ञ (आध्यात्मिकयज्ञ) उत्पन्न हुआ है, उस लोक-वेद में 'यज्ञ' शब्द से व्यवहृत किया गया है। उसे (आधिदैविकजगत् को) यज्ञ किस आधार पर कहा गया ? क्या वहाँ भी जुहू उपभृत आदि यज्ञस्वरूपससाधक परिग्रह विद्यमान हैं ?। यही इस सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न है। इन प्रश्नों के समाधान से श्रुति का उद्देश्य केवल यही बतलाना है कि, आधिभौतिकयज्ञ (मनुष्यकृत वैधयज्ञ) की प्रतिष्ठा आध्यात्मिकयज्ञ (पुरुषाकारात्मकयज्ञ) है, एवं इस आध्यात्मिक यज्ञ की प्रतिष्ठा गायत्रीप्रधिव्यात्मक सम्वत्सरलक्षण आधिदैविक यज्ञ है। मनुष्यकृत-यज्ञ का स्वरूप एवंविध क्यों ? इस प्रश्न की उपनिषत् (उपपत्ति-मौलिकरहस्य) आध्यात्मिकयज्ञ है। आध्यात्मिक-यज्ञ (पुरुष) का एवंविध

स्वरूप क्यों ? इस प्रश्न को उपनिषत् आधिदैविक प्राकृतिक निरूपयज्ञ है, जिस का कि—'यद्दे वेषा अकुर्वस्तत करवाणि' 'देवाननुविधा वै मनुष्या सह यज्ञा' प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा' इत्यादि श्रौत-स्मार्त प्रमाणों से समर्थन हुआ है। जब श्रुति ने आधिभौतिक, आध्यात्मिक यज्ञों का स्वरूप बतला दिया तो प्रकरणवश श्रुति के लिए यह भी आवश्यक होगया कि, वह प्रसङ्गोपात्त तीसरे आधिदैविकयज्ञ का स्वरूप भी बतलावे साथ साथ उनकी भी इनके साथ प्रतिरूपता सिद्ध करे। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ४–५ कण्डिकाएँ पाठकों के सम्मुख उपस्थित होरही हैं—

उस (आधिदैविकयज्ञ) की यह (बड़ी दूर दिखलाई देने वाला सौरमण्डलोपलक्षित) द्यौ ही जुहू (दक्षिणहस्तपादका प्रतिरूप) है एवं यह अन्तरिक्ष (द्यावापृथिवी के मध्य का प्रदेश) उपभृत् (वामहस्त का प्रतिरूप) है। यह पृथिवी ही ध्रुवा (आत्मा का प्रतिरूप) है। (पुरुषयज्ञ की प्रतिरूपता सिद्ध करते हुए ध्रुवा की आत्मप्रतिरूपता का समर्थन किया गया था। अतः उसकी भी पुष्टि होनी चाहिए। आत्मा वही माना जायगा जिस से हस्त पादादि सब अङ्ग उत्पन्न होते होंगे। पृथिवी को ध्रुवालक्षण आत्मा तभी कहा जासकेगा जब कि यह अन्तरिक्ष, द्युलोकरूप उपभृत तथा जुहू, इन दो अङ्गों की उपपत्ति का कारण बन सकेगा। इसी प्रतिरूपता का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है)–

यह यथार्थ है (तद्य) कि इसी * पृथिवी से सब लोक (पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौः आपः आदि लोक) उत्पन्न हुए हैं। (क्योंकि पृथिवी से सब लोक उत्पन्न होते हैं, एतएव पृथिवी अवश्य ही आत्मरूप ध्रुवा है। क्योंकि ध्रुवा से ही यज्ञस्वरूप की निष्पत्ति होती है)। अतएव (आधिदैविक सप्तद्वीप में) पृथिवीरूप ध्रुवा से ही सम्पूर्ण यज्ञ (आधिदैविक-सम्वत्सरयज्ञ) उत्पन्न हुआ है ॥ ४ ॥

(स्थूलाङ्गभूत जुहू उपभृत तथा ध्रुवा की प्रतिरूपता के सम्बन्ध में क्रमशः द्यौ अन्तरिक्ष पृथिवी (भूपिण्ड) इन तीन लोकों के द्वारा आधिदैविक यज्ञ की प्रतिरूपता सिद्ध की गई। अब वह सर्वसञ्चारी चैतन्य-प्राण शेष रहा जो कि आधिभौतिक यज्ञ में स्रुवपात्र के रूप से एवं आध्यात्मिक यज्ञ में आलोमभ्य:, आनखाग्रेभ्यः व्याप्त वैश्वानराग्निप्राण के रूप से प्रतिष्ठित है। इसी चैतन्य-प्राण की आधिदैविकयज्ञ में प्रतिरूपता बतलाती हुई श्रुति कहती है)—

(इस आधिदैविकयज्ञ का) यही स्रुव (चैतन्यप्राण) है, जाकि यह (त्रैलोक्य में) प्रवाहित है (बह रहा है)। (पुरुषयज्ञ की प्रतिरूपता में प्राण और स्रुव की प्रतिरूपता बतलाई गई थी।

---

* पाठक स्मरण करें कि, प्रथम तो पृथिवी से अन्तरिक्षादि लोकों की उत्पत्ति मानना ही असङ्गत है। यदि अभ्युपगमवाद से थोड़ी देर के लिए ऐसा मान भी लिया जाय तब भी पृथिवि से पृथिवी की उत्पत्ति मानना तो सर्वथा असङ्गत प्रतीत नहीं होता ! । इस विषय का तात्त्विक समाधान आगे आने वाले उप पत्ति—प्रकरण में किया जायगा।

भव' यहाँ भी उस प्रतिरूपता का स्पष्टीकरण होना चाहिए। आधिदैविकयज्ञ-संस्था में प्राण वही माना जायगा जो कि जुहू, उपभृत् ध्रुवोपलक्षित पृथिवी अन्तरिक्ष, द्युलोकों को लक्ष्य बनाकर जिन में-सञ्चरण करता होगा। इसी प्रतिरूपता का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है)—

यह वायु (केश-लोम-स्थानीय-वनस्पति-ओषधि-धातुवर्ग आदि पिण्डों के आभ्यन्तर भाग को छोड़कर, एवं नखावस्थानीय भूपिण्ड के आभ्यन्तर प्रदेश को छोड़कर, शेष बचे हुए) इन सब लोकों में (त्रिवृत्स्थानीय पृथिवीलोक, पञ्चदशस्थानीय अन्तरिक्षलोक एवं एकविंशस्थानीय द्युलोक में, जो कि तीनों लोक आधिदैविकी यज्ञसंस्था के अङ्गस्थानीय हैं इन्हें लक्ष्य बना कर इन सब में यह (वायु) बह रहा है (सञ्चरण कर रहा है)। (क्यों कि वायु सब लोकों में सञ्चरण कर रहा है उधर यज्ञप्रक्रिया में स्रुचों में सञ्चार करने वाला हो स्रुव माना गया है, इसी अभिप्राय को व्यक्त करती हुई श्रुति कहती है)—अतएव निश्चयरूप से यह स्रुव (त्रैलोक्यसञ्चारी वायव्यप्राण) इतर स्रुचा को (जुहू उपभृत् ध्रुवा-स्थानीय द्यु-अन्तरिक्ष-पृथिवी को लक्ष्य बना कर) इन में सञ्चरण कर रहा है ॥४॥

(१)—*इति–यज्ञप्रतिरूपरहस्यप्रकरणम्

—*—

---

* प्रकृत ब्राह्मण में प्रधानरूप से 'आज्यग्रहण' की इतिकर्तव्यता (पद्धति) का ही निरूपण हुआ है। यज्ञमण्डल में एक नियत स्थान पर आज्य से परिपूर्ण एक नियत पात्र रक्खा रहता है। एक ही स्थान पर सदा स्थिररूप से प्रतिष्ठित रहने वाला वही आज्यपात्र 'ध्रुवा' कहलाता है। ध्रुवापात्र एक ही स्थान पर स्थिर क्यों रहता है? इस प्रासङ्गिक प्रश्न-समाधि के लिए ही श्रुति को पद्धति-प्रदर्शन से पहले यज्ञ का मौलिकस्वरूप बतलाना आवश्यक प्रतीत हुआ। आरम्भ की ४ कण्डिकाओं में श्रुति ने प्रतिरूपविधि से आधिभूत अध्यात्म अधिदैवत, इन तीन यज्ञ-संस्थाओं का स्वरूप बतलाया। इसी आधार पर पञ्चकण्डिकात्मक प्रकरण को एक स्वतन्त्र प्रकरण मानते हुए हमने इसे 'यज्ञप्रतिरूपरहस्यप्रकरण' नाम दे देना उचित मान लिया है।

आधिभौतिक वैधयज्ञ को मध्यस्थ बनाकर यज्ञकर्ता यजमान अपने आध्यात्मिक यज्ञ का आधिदैविक यज्ञ के साथ सम्बन्ध करता है एवं यही यज्ञ का मूल्य उद्देश्य है। इस उद्देश्य की सफलता के लिए छन्द तथा भृग्वङ्गिरोवेष्टित सम्वत्सरमण्डलस्थ प्राणदेवताओं का ही यजन होता है जैसा कि पाठक उपपत्ति प्रकरण में विस्तार से देखेंगे। यज्ञ के उद्देश्य भाव्दयता है एवं इनकी आधिदैविक यज्ञ से तुलना करते हुए आधिदैविक यज्ञ की प्रतिरूपता का परिज्ञान आवश्यकरूप से अपेक्षित है। अतएव पद्धति से पहले प्रतिरूपरहस्य का दिग्दर्शन कराना पड़ा और इस दिग्दर्शन का मूलकारण बना ध्रुवापात्र'। ब्राह्मण ने ध्रुवा से आज्यग्रहण का विधान किया है। ध्रुवा से ही आज्यग्रहण क्यों किया जाय? इस स्वाभाविक, तथा प्रासङ्गिक प्रश्न के समाधान के लिए ही प्रथम 'यज्ञप्रतिरूप-रहस्य बतलाना आवश्यक समझा गया है। क्योंकि आधिभौतिक यज्ञ का आध्यात्मिकयज्ञ के साथ जैसे अविच्छिन्न सम्बन्ध है एवमेव आध्यात्मिकयज्ञ का आधिदैविक यज्ञ से साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस समान-सम्बन्धदृष्टि से भी प्रसङ्गवश श्रुति को अधिभूत, अध्यात्म की प्रतिरूपता के साथ साथ अध्यात्म, एवं अधिदैवत की प्रतीरूपता भी बतलानी पड़ी।

स्वरूप क्यों ?, इस प्रश्न को उपनिषत् आधिदैविक प्राकृतिक नित्ययज्ञ है, जिस का कि—'यद्दै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि' 'देवाननुविधा वै मनुष्याः' सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' इत्यादि श्रौत-स्मार्त प्रमाणों से समर्थन हुआ है। जब श्रुति ने आधिभौतिक, आध्यात्मिक यज्ञों का स्वरूप बतला दिया तो प्रकरणवश श्रुति के लिए यह भी आवश्यक होगया कि, यह प्रसङ्गोपात्त तीसरे आधिदैविकयज्ञ का स्वरूप भी बतलाय साथ साथ उनकी भी इनके साथ प्रतिरूपता सिद्ध करे। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ४–५ कण्डिकाएँ पाठकों के सम्मुख उपस्थित होरही हैं—

उस (आधिदैविकयज्ञ) की यह (बड़ी दूर दिखलाई देने वाला सौरमण्डलोपलक्षित) द्यौ ही जुहू (दक्षिणहस्तपादका प्रतिरूप) है एवं यह अन्तरिक्ष (द्यावापृथिवी के मध्य का प्रदेश) उपभृत् (वामहस्त का प्रतिरूप) है। यह पृथिवी ही ध्रुवा (आत्मा का प्रतिरूप) है। (पुरुषयज्ञ की प्रतिरूपता सिद्ध करते हुए ध्रुवा की आत्मप्रतिरूपता का समन्वय किया गया था। अतः उसकी भी पुष्टि होनी चाहिए। आत्मा वही माना जायगा, जिस से हस्त पादादि सब अङ्ग उत्पन्न होते होंगे। पृथिवी को ध्रुवालक्षण आत्मा तभी कहा जासकेगा जब कि यह अन्तरिक्ष द्युलोकरूप उपभृत, तथा जुहू इन दो अङ्गों की उपपत्ति का कारण बन सकेगा। इसी प्रतिरूपता का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है)–

यह यथार्थ है (तद्वा) कि, इसी * पृथिवी से सब लोक (पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौ आपः आदि लोक) उत्पन्न हुए हैं। (क्योंकि पृथिवी से सब लोक उत्पन्न होते हैं, एवमेव पृथिवी अवश्य ही आत्मरूप ध्रुवा है। क्योंकि ध्रुवा से ही यज्ञस्वरूप की निष्पत्ति हुआ है)। अतएव (आधिदैविक मण्डल में) पृथिवीरूप ध्रुवा से ही सम्पूर्ण यज्ञ (आधिदैविक-सम्वत्सरयज्ञ) उत्पन्न हुआ है ॥ ४ ॥

(स्थूलाङ्गभूत जुहू उपभृत तथा ध्रुवा की प्रतिरूपता के सम्बन्ध में क्रमशः द्यौ, अन्तरिक्ष पृथिवी (भूपिण्ड) इन तीन लोकों के द्वारा आधिदैविक यज्ञ की प्रतिरूपता सिद्ध की गई। अब यह मध्यमङ्गभूत चेत य प्राण शेष रहा, जो कि आधिभौतिक यज्ञ में 'स्रुवपात्र' के रूप से एवं आध्यात्मिक यज्ञ में आत्रोमभ्य आनखाग्रेभ्यः व्याप्त वैश्वानराग्निप्राण के रूप से प्रतिष्ठित है। इसी चैतन्य-प्राण की आधिदैविकयज्ञ में प्रतिरूपता बतलाती हुई श्रुति कहती है)—

(इस आधिदैविकयज्ञ का) यही स्रुव (चैतन्यप्राण) है, जोकि यह (त्रैलोक्य में) प्रवाहित है (बह रहा है)। (पुरुषयज्ञ की प्रतिरूपता में प्राण और स्रुव की प्रतिरूपता बतलाई गई थी।

---

* पाठक सन्देह करेंगे कि, प्रथम तो पृथिवी से अन्तरिक्षादि लोकों की उत्पत्ति मानना ही असङ्गत है। यदि अभ्युपगमवाद से थोड़ी देर के लिए ऐसा मान भी लिया जाय, तब भी पृथिवी से पृथिवी की उत्पत्ति मानना तो सर्वथा असङ्गत प्रतीत नहीं होता ! । इस विषय का सारगर्भित समाधान आगे आने वाले उप पत्ति–प्रकरण में किया जायगा।

(प्रत्येक यज्ञ में "अन्न–पशुवपा–सामरस' तीनों में से किसी एक तो हविर्द्रव्य का प्रधानता रहती ही है, दूसरा आहुतिद्रव्य आज्य रहता है। इसप्रकार हवि, एवं आज्य भेद से प्रत्येक यज्ञ में दो आहुतिद्रव्य रहते हैं। इन में से हविर्द्रव्य का सम्बन्ध तो प्रधान देवता के साथ बतला दिया गया। अब 'आज्य नामक आहुतिद्रव्य की व्यवस्था करते हैं)—

[हविर्द्रव्य के अतिरिक्त] जो [दूसरे] आज्यों का ग्रहण किया जाता है उन आज्यों का ग्रहण [प्रयाजदेवतारूप] ऋतुओं के लिए, तथा [अनुयाजदेवतारूप छन्दों के लिए, 'च' कारात् स्विष्टकृत्–याग' के लिए] किया जाता है। [क्योंकि ऋतु छन्द स्विष्टकृत्-देवता प्रधान-देवताओं की अपेक्षा गौण हैं, साथ ही ये संख्या में भी परिगणित हैं, इन्हीं सब कारणों से अध्वर्यु उस [आज्य] का [प्रयाजानुयाजादि गौण देवताओं का]–नाम न लेकर आज्यरूप से ही [समष्टिरूप से ही] ग्रहण करता है। [तात्पर्य यही हुआ कि प्रधान देवता के लिए जहाँ हविग्रहण नामनिर्देशपूर्वक होता है वहाँ प्रयाजानुयाजादि सम्बन्धी आज्य का ग्रहण बिना नामनिर्देश के ही करना चाहिए। ग्रहण-सम्बन्ध में व्यतिक्रम बतला कर अब ग्रहण–सम्बन्ध में विशेषता बतलाते हैं]—

वह (अध्वर्यु नियत स्थान पर स्थित आज्यपरिपूर्ण ध्रुवा में स्रुव के द्वारा घृत ले लेकर) चार बार तो जुहू में घृत–ग्रहण करता है एवं (उसी स्रुव से) आठ बार करके उपभृत में ग्रहण करता है ॥७॥

सो जो कि अध्वर्यु चार बार करके (स्रुव से) जुहू में (बिना नाम निर्देश के) आज्य-ग्रहण करता है (उसका कारण बतलाते हैं)। ऋतुओं के लिए (चतुर्वार) आज्यग्रहण करता है। (ऋतुरूप प्रयाजदेवताओं के उद्देश्य से चतुर्गृहीत यह) आज्य प्रयाजदेवताओं के लिए ही ग्रहण करता है। (क्योंकि) ऋतुऐं ही प्रयाज (देवता) हैं। उस आज्य का (ऋतुरूप प्रयाज देवताओं के नाम निर्देश के बिना ही) * अजामिता के लिए आज्यरूप से ही ग्रहण करता है। (यह अध्वर्यु + 'जामि' करेगा जो कि यदि 'वसन्ताय ग्रीष्माय त्वा' इत्यादि रूप से (नाम-निर्देशपूर्वक) आज्यग्रहण करेगा। इसलिए (जामि दोष न हो इसलिए) प्रयाज–देवताओं का नामनिर्देश न कर आज्य के ही रूप से [प्रयाजदेवताओं के लिए चतुर्वार जुहू में आज्य] ग्रहण करता है ॥८॥

सो जो कि अध्वर्यु आठ बार करके [स्रुव से] उपभृत में [बिना नाम निर्देश के] आज्य–ग्रहण करता है [इसका कारण बतलाते हैं]। छन्दों के लिए [आठ बार करके] आज्य ग्रहण करता है। [छन्दोरूप अनुयाज–देवताओं के उद्देश्य से अष्टकृत्व गृहीत यह] आज्य अनुयाज–देवताओं के लिए ही ग्रहण करता है। [क्योंकि] छन्द ही अनुयाज हैं। उस आज्य का [उन छन्दोरूप अनुयाज–देवताओं के नाम निर्देश के बिना ही] अजामिता के लिए आज्यरूप से ही ग्रहण करता है।

---

* सभ्यता की रक्षा के लिए।

+ जामि–असभ्यता

२—आज्यगृहणसस्यानियमनप्रकरण—

(जैसाकि टिप्पणी में स्पष्ट कर दिया गया है, आरम्भ की ५ कण्डिकाओं में निरूपणीया पद्धति का प्रथम कोई निरूपण न होकर ब्राह्मणग्रन्थों की स्वाभाविकशैली से सम्बन्ध रखने वाला "यज्ञप्रतिरूपरहस्य' ही प्रतिपादित हुआ है। अब ६ ठी कण्डिका से ही पद्धति-प्रदर्शन का उपक्रम किया जाता है)—

(यज्ञरहस्यवेत्ता अध्वर्यु, होता, उद्गाता, ब्रह्मा आदि विद्वान् ऋत्विजों के द्वारा प्रकृत्यनुसार) वितायमान यह यज्ञ (आधिभौतिकयज्ञ) देवताओं ऋतुओं, तथा छन्दों के लिए ही वितत किया जाता है। (आहुतिद्रव्यों में से) जो हविर्द्रव्य है वह (प्रधान) देवताओं के लिए नियत है, जोकि आहुतिद्रव्य सोमराजा एवं पुरोडाश है। (तात्पर्य्य यही है कि सोमवल्ली का रस तथा पुरोडाशलक्षण आहुतिद्रव्य, ये दोनों हविर्द्रव्य *प्रधान (आवाप) देवताओं के लिए नियत हैं। इन्हें नाम ग्रहण पूर्वक ही आहुति दी जाती है इसी अभिप्राय से आगे जाकर श्रुति कहती है)—

क्यों कि ×पशुपुरोडाश, अग्निपुरोडाशोपलक्षित 'वपापुरोडाश, एवं सोमरस ये तीन आहुति-द्रव्य देवताओं के लिए नियत हैं एवं देवता (प्राणदेवता मूलरूप से ३३, ३ १ होते हुए भी अपने महिमारूप से) संख्या में भी अनन्त हैं साथ ही तत्तद्यज्ञविशेषों में तत्तद् विशेष देवता ही प्रधान रहते हैं इसलिए भी) वह (हविर्द्रव्य) उन उन देवताओं का ('अग्नये त्वा जुष्टं गृह्णामि'—'अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं गृह्णामि'—उपयामगृहीतोऽसि वायव इन्द्रवायुभ्यां त्वा जुष्टं गृह्णामि इत्यादि रूप से नाम निर्देशपूर्वक ही) 'अमुष्मै त्वा जुष्टं गृह्णामि' (अमुक देवता के लिए रुचिपूर्वक सेवन योग्य तुम्हारा हविद्रव्य का-ग्रहण करता हूँ) इत्यादिरूप से नामनिर्देश करके ही (आहुति द्रव्य का) ग्रहण करते हैं। (इस नामनिर्देशपूर्वक हविर्ग्रहण का कारण यही है कि) देवताओं के सम्बन्ध में (परम्परागत यज्ञपद्धतिग्रन्थों में) यही प्रकार (हविर्ग्रहणसाधक मन्त्र पृथक् नाम निर्देशपूर्वक ही पढे हुए हैं, यही आप्त-सम्मत प्रकार) है ॥६॥

---

* यज्ञ में जिन देवताओं को आहुति दी जाती है वे देवता आवाप प्रयाज अनुयाज भेद से तीन श्रेणियों में विभक्त हैं। प्रधान प्राणदेवता 'आवापदेवता' कहलाती हैं प्राणात्मिका मुख्य देवताओं की प्रतिष्ठारूपा वसन्तादि ऋतुएँ प्रयाजदेवता कहलाती हैं। एवं प्रवर्ग्यानुरूप गायत्र्यादि छन्द 'अनुयाजदेवता' कहलाती हैं। सामरस पुरोडाशलक्षण हविर्द्रव्य आज्य, ये तीन आहुति-द्रव्य हैं। तीनों में सोमरस तथा पुरोडाश तो केवल आवापदेवताओं के लिए नियत है एवं ऋतु-छन्दोरूप प्रयाज अनुयाज-देवताओं का आज्याहुति दी जाती है।

× इष्टि-पशु-सोम-भेद से यज्ञसंस्था तीन भागों में विभक्त मानी गई है। इन तीनों में से इष्टि में 'अग्निपुरोडाश' की आहुति होती है। 'पशुबन्ध' में प्रधानरूप से 'पशुवपा' की आहुति होती है। एवं महायाग पदस्थानीय सोमयाग में प्रधानरूप से—चालीस मण्डल में विभक्त ग्रहपात्रों में स्थित 'सोमरस' की आहुति होती है।

(प्रत्येक यज्ञ में "अन्न–पशुवपा–सोमरस" तीनों में से किसी एक तो हविर्द्रव्य की प्रधानता रहती ही है, दूसरा आहुतिद्रव्य आज्य रहता है। इसप्रकार हवि एवं आज्य भेद से प्रत्येक यज्ञ में दो आहुतिद्रव्य रहते हैं। इन में से हविर्द्रव्य का सम्बन्ध तो प्रधान देवता के साथ बतला दिया गया। अब आज्य नामक आहुतिद्रव्य की व्यवस्था करते हैं)—

[हविर्द्रव्य के अतिरिक्त] जो [दूसरे] आज्यों का ग्रहण किया जाता है उन आज्यों का ग्रहण [प्रयाजदेवतारूप] ऋतुओं के लिए, तथा [अनुयाजदेवतारूप छन्दों के लिए, च कारात् स्विष्टकृत्–याग' के लिए] किया जाता है। [क्योंकि ऋतु छन्द स्विष्टकृत्–इनका प्रधान देवताओं की अपेक्षा गौण हैं, साथ ही ये संख्या में भी परिगणित हैं, इन्हीं सब कारणों से अध्वर्यु उस [आज्य] का [प्रयाजानुयाजादि गौण देवताओं का]—नाम न लेकर आज्यरूप से ही [समष्टिरूप से ही] ग्रहण करता है। [तात्पर्य यही हुआ कि प्रधान देवता के लिए जहाँ हविग्रहण नामनिर्देशपूर्वक होता है वहाँ प्रयाजानुयाजादि सम्बन्धी आज्य का ग्रहण बिना नामनिर्देश के ही करना चाहिए। ग्रहण-सम्बन्ध में व्यतिक्रम बतला कर अब ग्रहण–सम्बन्ध में विशेषता बतलाते हैं]—

वह (अध्वर्यु नियत स्थान पर स्थित आज्यपरिपूर्ण भ्रुवा में स्रुव के द्वारा घृत ले लेकर) चार बार तो जुहू में घृत–ग्रहण करता है एवं (उसी स्रुव से) आठ बार करके उपभृत् में ग्रहण करता है ॥५॥

सो जो कि अध्वर्यु चार बार करके (स्रुव से) जुहू में (विना नाम निर्देश के) आज्य ग्रहण करता है (उसका कारण बतलाते हैं)। ऋतुओं के लिए (चतुर्वार) आज्यग्रहण करता है। (ऋतुरूप प्रयाजदेवताओं के उद्देश्य से चतुर्गृहीत यह) आज्य प्रयाजदेवताओं के लिए ही ग्रहण करता है। (क्योंकि) ऋतुएँ ही प्रयाज (देवता) हैं। उस आज्य का (ऋतुरूप प्रयाज देवताओं के नाम निर्देश के विना ही) * अजामिता के लिए आज्यरूप से ही ग्रहण करता है। (वह अध्वर्यु + 'जामि' करेगा जो कि यदि 'वसन्ताय ग्रीष्माय त्वा' इत्यादि रूप से (नाम–निर्देशपूर्वक) आज्यग्रहण करेगा। इसलिए (जामि दोष न हो इसलिए) प्रयाज–देवताओं का नामनिर्देश न कर आज्य के ही रूप से [प्रयाजदेवताओं के लिए चतुर्वार जुहू में आज्य] ग्रहण करता है ॥६॥

सो जो कि अध्वर्यु आठ बार करके [स्रुव से] उपभृत् में [विना नाम निर्देश के] आज्य–ग्रहण करता है [इसका कारण बतलाते हैं]। छन्दों के लिए [आठ बार करके] आज्य ग्रहण करता है। [छन्दोरूप अनुयाज–देवताओं के उद्देश्य से अष्टकृत्व गृहीत यह] आज्य अनुयाज–देवताओं के लिए ही ग्रहण करता है। [क्योंकि] छन्द ही अनुयाज हैं। उस आज्य का [उन छन्दोरूप अनुयाज–देवताओं के नाम निर्देश के विना ही] अजामिता के लिए आज्यरूप से ही ग्रहण करता है।

---

* सभ्यता की रक्षा के लिए।

+ जामि–असभ्यता

३—आज्यग्रहणोपपत्तिप्रकरणम्—

(पूर्व प्रकरण में यह स्पष्ट किया जाचुका है कि जुहू में स्रुव के द्वारा क्रमशः से चार बार एवं उपभृत् में आठ बार आज्यग्रहण किया जाता है। 'चतुर्जुह्वां' 'अष्टौ कृत्व उपभृति' इन चार-सङ्ख्याओं की क्या उपनियत् ?, यद्-कण्डिकात्मक प्रकृत प्रकरण इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है)—

(यज्ञकर्म्म में दीक्षित, यज्ञफलभोक्ता) यजमान ही जुहू को लक्ष्य बनाता है एवं जो (यजमान का शत्रु) इस यजमान के प्रति (सम्पत्ति-आगमन का द्वार अवरुद्ध करता हुआ इसके साथ) शत्रुता करता है व (शत्रु) उपभृत् को लक्ष्य बनाता है (अर्थात् जुहू में प्रतिष्ठित आज्य यजमान का प्रतिरूप है एवं उपभृत् में प्रतिष्ठित आज्य यजमान के शत्रु का प्रतिरूप है)। अत्ता (भोक्ता) ही जुहू को लक्ष्य बनाता है एवं आद्य (भोग्य) उपभृत् को लक्ष्य बनाता है। (अर्थात् जुहू-स्थित आज्य भोक्ता का प्रतिरूप है एवं उपभृत् में स्थित आज्य भोग्य का प्रतिरूप है)। (दक्षिण बाहु का प्रतिरूप) जुहू अत्ता है एवं (वामबाहु का प्रतिरूप) उपभृत आद्य है।

(उक्त यजमान-यजमानशत्रु अत्ता-आद्य इन द्वन्द्वों से श्रुति का अभिप्राय यही है कि, जुहू को यजमान तथा, भोक्ता समझ कर एवं उपभृत् को यजमानशत्रु, तथा भोग्य समझ कर ही आज्यग्रहण-सम्बन्धिनी सङ्ख्याओं के नियतभाव की उपपत्ति पर दृष्टि डालनी चाहिए। क्योंकि यह द्वन्द्व-भाव ही संख्योपपत्ति की मूल प्रतिष्ठा है। यह है-मौलिक परिस्थिति। इस अपने लक्ष्य में रखता हुआ) यह (अध्वर्यु) नियमितरूप से (ये) चार बार जुहू में आज्यग्रहण करता है एवं आठ बार करके उपभृत् में (आज्यग्रहण करता है) ॥११॥

सो जो कि (अध्वर्यु) जुहू में चार बार ग्रहण करता है, (इस की उपपत्ति बतलाते हैं)। (जुहू में चार बार करके आज्यग्रहण करता हुआ अध्वर्यु इस ग्रहणकर्म्म से) अत्ता (यजमान) को ही अतिशय सीमित और संख्या में अल्प (छोटा) करता है। (जुहू में आज्य-ग्रहण करने के अनन्तर जो कि अध्वर्यु उपभृत् में आठ बार करके आज्यग्रहण करता है, (उसका कारण बतलाते हैं)। (उपभृत् में आठ बार करके आज्यग्रहण करता हुआ अध्वर्यु इस ग्रहणकर्म्म से) आद्य (यजमानशत्रु) को ही अतिशय विस्तृत और संख्या में बड़ा करता है। जहाँ भोक्ता कम होंगे एवं भाग्यसामग्री प्रचुरमात्रा में होगी अवश्य ही यह (गृहस्थपरिवार यज्ञकर्म्म आदि) समृद्ध हैं (समृद्ध माने जायेंगे)। (तात्पर्य यही हुआ कि पूर्वकथनानुसार जुहू का आज्य भोक्ता है एवं उपभृत् का आज्य भोग्य है। जहाँ, जिस संस्था में भोक्ता की अपेक्षा भोग्य-सामग्री अधिक होती है, वहाँ समृद्धि मानी जाती है। इसी समृद्धि का यज्ञकर्म्म में समावेश करने के लिए भोक्ता-स्थानीय जुहू का आज्यभाग संख्या में कनीयान् किया जाता है एवं भोग्य उपभृत् का आज्यभाग संख्या में भूयान् बनाया जाता है। ॥१२॥

(ब्राह्मणग्रन्थों की यह एक नियत शैली है कि वह व कर्म्मों का जासक (विज्ञान मीमांसात्मक उपपत्ति) बतलाने का उपक्रम करते हैं तो आरम्भ में समाधानात्मकतर्गर्भित प्रश्नात्मक वाक्य का प्रयोग कर।

है जैसा कि—'तद्यद्य-उपस्पृशति' (श० १।१।१)—'अथातोऽशनानशनस्यैव' (श० १।१।७)—'अथ यद् द्वन्द्वम् (श० १।१।२।२) इत्यादि प्रश्नायक वाक्यों से स्पष्ट है। इन वाक्यार्थों की सङ्गति—'सो जो कि पानी का उपस्पर्श करते हैं—(उस की उपपत्ति बतलाते हैं)—'अब यहाँ से अशन-अनशन की ही—(मीमांसा की जाती है-अब जिस लिए कि द्वन्द्वभाव है (यह कारण बतलाते हैं) इस रूप से की जायगी। प्रकृत में भी इस स्वाभाविक शैली के अनुसार ही-अथ यत् चतुर्जुह्वा गृह्णाति' समाधानोपक्रमगर्भित (उपपत्ति-जिज्ञासारूप) यह प्रश्नार्थक वाक्य प्रयुक्त हुआ है। अतः इस का अर्थ—अब जिसलिए कि जुहू में चार चार ग्रहण करते हैं (उस का कारण बतलाते हैं) यह करना पड़ेगा। अनन्तर अनुवाद-सङ्गति के लिए उक्त वाक्यार्थ के आगे 'जुहू में चार चार ग्रहण करता हुआ अध्वर्यु' इस वाक्य का सम्बन्ध ऊपर से और जोड़ना पड़ेगा। प्रकृत में इस शैली से यही बतलाना है कि कहीं कहीं व्याख्याताओंने— सो जो कि जुहू से चार चार आज्य ग्रहण करता है अधः का ही इस ग्रहण से परिभिन्नतर करता है यह अर्थ किया है। परन्तु ऐसा अर्थ ब्राह्मणशैली से सर्वथा विरुद्ध अतएव उपेक्षणीय ही माना जायगा। प्रत्येक दशा में उपक्रम वाक्य स्वतन्त्र माना जायगा एवं आगे के उत्तर-प्रकरण की सङ्गति के लिये पूर्ववाक्यार्थ से आगे तदुच्यते-'तत्कारणमीमांसा क्रियते' इत्यादि नवीन वाक्यों का समावेश करना पड़ेगा।]

यह (अध्वर्यु) जुहू में चार चार आज्यग्रहण करता हुआ (आठ बार वाले उपभृत् की अपेक्षा) मात्रा में अधिक आज्यग्रहण करता है (एवं) उपभृत् में आठ बार करके आज्यग्रहण करता हुआ (चार चार वाले जुहू की अपेक्षा) थोड़ा आज्यग्रहण करता है। (तात्पर्य यही हुआ कि यद्यपि जुहू में स्रुवा से आज्य लिया जाता है चार ही बार तथापि जुहू का आज्यमात्रा उपभृत् की आज्यमात्रा से अधिक होती है जब कि जुहू में उपभृत् की अपेक्षा चार बार कम डाला जाता है। एवमेव उपभृत् में यद्यपि आज्य लिया जाता है-आठ बार तथापि उपभृत् की आज्यमात्रा जुहू की आज्यमात्रा से भी कम रहती है, जब कि उपभृत् में जुहू की अपेक्षा चार बार अधिक डाला जाता है ॥१३॥

सो जो कि (अध्वर्यु) जुहू में चार बार ही आज्यग्रहण करता हुआ भी (उपभृत् की अपेक्षा) अधिक आज्यग्रहण करता है, (उस का कारण बतलाते हैं)। (जुहू में चार बार में ही उपभृत् की अपेक्षा अधिक आज्यग्रहण करता हुआ अध्वर्यु) इस भूयोग्रहणकर्म से क्षत्र को (चार संख्या से) अतिशय सीमित (एवं) अल्प करता हुआ (भूयोग्रहण से) इस (क्षत्र) में (विश् की अपेक्षा) वीर्य्य (और) बल का आधान करता है। तात्पर्य यह निकला कि, चार संख्या की दृष्टि से जहाँ क्षत्र संख्या की अपेक्षा कम है, वहाँ आज्य की अधिकता से वीर्य्य तथा बल में विश् की अपेक्षा-अधिक है)।

सो जो कि [अध्वर्यु] उपभृत में आठ बार आज्यग्रहण करता हुआ [जुहू की अपेक्षा] थोड़ा आज्य ग्रहण करता है [उस का कारण बतलाते हैं]। उपभृत् में आठ बार में जुहू की अपेक्षा थोड़ा आज्यग्रहण करता हुआ अध्वर्यु। इस अल्पग्रहण-कर्म से विश् को [आठ संख्या से] अतिशय विस्तृत [एवं] बहु करता हुआ [अल्पग्रहण से] इसे [क्षत्र का] वीर्य्य तथा बल में [क्षत्र-

३—आज्यग्रहणोपपत्तिप्रकरणम्—

(पूर्व प्रकरण में यह स्पष्ट किया जाचुका है कि जुहू में स्रुव के द्वारा क्रमशः से चार बार एवं उपभृत् में आठ बार आज्यग्रहण किया जाता है। 'चतुर्जुह्वां गृह्णाति अष्टौ कृत्व उपभृति' इन चार-संख्याओं की क्या उपनिषत् ?, षट्—कण्डिकात्मक प्रकृत प्रकरण इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है)—

(यज्ञकर्म्म में दीक्षित यज्ञफलभोक्ता) यजमान ही जुहू को लक्ष्य बनाता है, एवं जो (यजमान का शत्रु) इस यजमान के प्रति (सम्पत्ति-आगमन का द्वार अवरुद्ध करता हुआ इसके साथ) शत्रुता करता है वह (शत्रु) उपभृत् को लक्ष्य बनाता है (अर्थात् जुहू में प्रतिष्ठित आज्य यजमान का प्रतिरूप है एवं उपभृत् में प्रतिष्ठित आज्य यजमान के शत्रु का प्रतिरूप है)। अत्ता (भोक्ता) ही जुहू को लक्ष्य बनाता है, एवं आद्य (भोग्य) उपभृत् को लक्ष्य बनाता है। (अर्थात् जुहू-स्थित आज्य भोक्ता का प्रतिरूप है, एवं उपभृत् में स्थित आज्य भाग्य का प्रतिरूप है)। (दक्षिण बाहु का प्रतिरूप) जुहू अत्ता है एवं (वामबाहु का प्रतिरूप) उपभृत् आद्य है।

(उक्त यजमान—यजमानशत्रु अत्ता—आद्य इन द्वन्द्वों से श्रुति का अभिप्राय यही है कि जुहू को यजमान तथा, भोक्ता समझ कर एवं उपभृत् को यजमानशत्रु तथा भोग्य समझ कर ही आज्यग्रहण—सम्बन्धिनी संख्याओं के निम्नभाव की उपपत्ति पर दृष्टि डालनी चाहिए। क्योंकि यह द्वन्द्व-भाव ही सर्वोपपत्ति की मूल प्रतिष्ठा है। यह है—मौलिक परिस्थिति। इस कथन लक्ष्य में रखता हुआ) वह (अध्वर्य्यु) नियमितरूप से (ये) चार बार जुहू में आज्यग्रहण करता है, एवं आठ बार करके उपभृत् में (आज्यग्रहण करता है)॥११॥

सो जो कि (अध्वर्य्यु) जुहू में चार बार ग्रहण करता है, (इस की उपपत्ति बतलाते हैं)। (जुहू में चार बार करके आज्यग्रहण करता हुआ अध्वर्य्यु इस ग्रहणकर्म्म से) अत्ता (यजमान) का ही अतिशय सीमित और संख्या में अल्प (छोटा) करता है। (जुहू में आज्य-ग्रहण करने के अनन्तर जो कि अध्वर्य्यु उपभृत् में आठ बार करके आज्यग्रहण करता है, (उसका कारण बतलाते हैं)। (उपभृत् में आठ बार करके आज्यग्रहण करता हुआ अध्वर्य्यु इस ग्रहणकर्म्म से) आद्य (यजमानशत्रु) को ही अतिशय विस्तृत और संख्या में बड़ा करता है। जहाँ भोक्ता कम होंगे एवं भोग्यसामग्री प्रचुरमात्रा में होगी अवश्य ही वह (गृहस्थपरिवार यज्ञकर्म्म आदि) समृद्ध है (समृद्ध मान जायँगे)। (तात्पर्य्य यही हुआ कि, पूर्वकथनानुसार जुहू का आज्य भोक्ता है, एवं उपभृत् का आज्य भोग्य है। जहाँ जिस संस्था में भोक्ता की अपेक्षा भोग्य सामग्री अधिक होती है, वहाँ समृद्धि मानी जाती है। इसी समृद्धि का यज्ञकर्म्म में समावेश करने के लिए भोक्तृ-स्थानीय जुहू का आज्यभाग संख्या में कनीयान् किया जाता है एवं भोग्य उपभृत् का आज्यभाग संख्या में भूयान् बनाया जाता है।॥१२॥

[ब्राह्मणग्रन्थों की यह एक नियत शैली है कि जब वे कर्मों का ब्राह्मण (विधान, मीमांसा, स्तुति) बतलाने का उपक्रम करते हैं तो आरम्भ में समाधानैकपक्षनिर्भित प्रश्नात्मक वाक्यों का प्रयोग करते

(यज्ञपद्धति का यह एक स्वाभाविक नियम रक्खा जाता है कि, जिस पात्र किंवा पात्री में आहुति द्रव्य लिया जाता है उसी पात्र किंवा पात्री से आहुति दी जाती है। परन्तु श्रुति ने ग्रहण बतलाया है उपभृत् में एवं आहुति का विधान किया है जुहू से। इस वैषम्य का क्या कारण ?, इसी वैषम्य का प्रश्न रूप से उपादान कर, अन्त में समाधान करती हुई श्रुति कहती है]–

[उपभृत् में गृहीत आज्य की उपभृत् से आहुति न देकर जुहू से ही आहुति देनी चाहिए, इस पूर्व सिद्धान्त के सम्बन्ध में | कितने एक विद्वान् कहते हैं कि [* तदाहु] यदि [उपभृत् में गृहीत आज्य की] उपभृत् से आहुति नहीं देते तो फिर क्यों [किस प्रयोजन के लिए] उपभृत् में [आज्य] ग्रहण किया जाय ? । [प्रश्नकर्ता विद्वानों का अभिप्राय यही है कि, आहुति देने के लिए ही तो आज्यग्रहण का विधान हुआ है। जब उपभृत् से आहुति ही नहीं दीजाती, तो इसमें आज्य-ग्रहण की और क्या आवश्यकता रह जाती है ?] ।

[श्रुति उत्तर देती है कि]-यदि वह [अध्वर्यु]-[उपभृत् में गृहीत आज्य की] उपभृत् से आहुति देगा तो ये सम्पूर्ण प्रजाएँ [अपना स्वाभाविक संघठन तोड़ कर] स्वतन्त्र बन जायँगी। न अत्ता रहेगा न आद्य [सुरक्षित] रहेगा। [उत्तर का तात्पर्य्य यही है कि, उपभृत् में गृहीत आज्य एवं उपभृत् दोनों आद्यस्थानीय बनते हुए प्रजा-स्थानीय हैं। जुहू में गृहीत आज्य तथा जुहू दोनों अत्ता-स्थानीय बनते हुए 'सत्ताधीश-स्थानीय हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि प्रजा-स्थानीय उपभृत् से ही प्रजा-स्थानीय आज्य की आहुति दी जायगी तो उपभृदाज्यस्थानीया प्रजा स्वतन्त्र बन जायगी जो कि निरङ्कुश अमर्य्यादित स्वातन्त्र्य तत्वत पारतन्त्र्य बनता हुआ सम्राट् तथा प्रजा दोनों के नाश का ही कारण माना गया है। परन्तु जब उपभृद्गृहीत आज्य की सत्ताधीश-स्थानीय जुहू [के आश्रय] से आहुति दी जाती है, तो उपभृदाज्यरूप प्रजावर्ग जुहूरूप सत्ताधीश की रक्षा में आकर विप्लव से बच जाता है। इसी 'राष्ट्रीय-एकीकरण' के लिए उपभृत्-गृहीत आज्य की भी जुहू से ही आहुति देना उचित है। इसी अभिप्राय को अपनी स्वाभाविक-शैली से व्यक्त करती हुई श्रुति कहती है]—

(उपभृत् में आज्यग्रहण करने लिए) अनन्तर जिसलिए कि (उपभृत्-गृहीत आज्य को) जुहू में ही लेकर आहुति देते हैं (इसका कारण बताते हैं)। (औपभृत आज्य को जुहू में

[तस्मादरणमुच्यते-इति वाक्यशेष] इस वाक्य से स्पष्ट सिद्ध होरहा है। ब्राह्मणग्रन्थों की इन परिभाषाओं के न जानने से मक्षिकास्थाने मक्षिकापातः न्याय से व्याकरण के बलपर केवल शब्दार्थ के अनुगमन से वास्तविक अर्थ-समन्वय में बड़ी भ्रान्ति होजाती है। अब पाठकों से इस सम्बन्ध में सादर निवेदन किया जायगा कि, यथासमय श्रम करते हुए वे इन परिभाषाओं का भलीभाँति स्पष्टीकरण करलें।

* जहाँ कहीं श्रुति को किसी अन्य के द्वारा प्रश्नात्मक, आक्षेपयुक्त पूर्वपक्ष करना होता है वहाँ सर्वत्र आरम्भ में तदाहुः का सन्निवेश रहता है। दूसरे शब्दों में 'तदाहु' वाक्य का अर्थ प्रश्नात्मक ही समझना चाहिए। यह भी ब्राह्मणग्रन्थों की एक स्वाभाविक ही शैली है।

की अपेक्षा] शून्य ही बनाता है। [तात्पर्य्य यही है कि आठ संख्या से जहाँ आद्य संख्या, तथा आयतन में बड़ा है वहाँ मौलिक वीर्य्यरूप आज्य की अल्पता से अत्ता की अपेक्षा यही वीर्य्य, तथा बल से शून्य है, निर्वीर्य्य है निर्बल है]। निष्कर्ष यही निकला कि अत्ता सदा आन्य पर अपना प्रभुत्व प्रतिष्ठित रक्खे आद्य सदा इसके सामने नतमस्तक रहे इसी रूपसमृद्धि के लिए अत्ता-स्थानीय जुहू में अधिकमात्रा से तथा आद्यस्थानीय उपभृत में अल्पमात्रा से आज्य-ग्रहण करना प्राकृतिक है।

[एकाकी रहता हुआ भी अत्ता अधिक वीर्य्य, बल के सम्बन्ध से हीनवीर्य्य हीनबल अनेकों आद्यों पर कैसे अपना प्रभुत्व प्रतिष्ठित रखता है? इस सम्बन्ध में प्राकृतिक-नित्य-प्रपञ्चानुगत 'राजा-प्रजा' का उदाहरण उद्धृत करती हुई श्रुति कहती है]—

इसीलिए तो [तस्मादुत—आद्य की अपेक्षा अत्ता के विशेष बलवीर्य्यवान् होने से ही तो राष्ट्राधिपति एक] सत्ताधीश अपार [असंख्य—अगणित—अनगिनती] प्रजा को प्राप्त होकर भी स्वयं एक घर से (एकाकी ही उस असंख्य-प्रजा को) अपने वश में कर लेता है। (यही नहीं अपितु राष्ट्र की आवश्यकता के लिए यह राष्ट्रपति सत्ताधीश जब जब जैसी जैसी जिस जिस वस्तु की कामना करता है तब तब वैसी वैसी उस उस अभिलषित वस्तु को भी (उस आद्यस्थानीय प्रजा से बल-वीर्य्य के प्रभाव से) प्राप्त करता रहता है। उसी वीर्य्य से (सत्ताधीश यह सब कुछ राज्य-प्रजावैभव प्राप्त करने में समर्थ होता है) जो कि यह अपनी जुहू (रूप दक्षिण बाहु) में अधिक आज्य (वीर्य्य) ग्रहण करता है। (अपने बाहुबल तथा आत्मवीर्य्य से सत्ताधीश एकाकी रहता हुआ भी असंख्यात प्रजायुक्त राष्ट्र पर अपना प्रभुत्व बनाए रखता है, यही तात्पर्य्य है)।

यह अध्वर्यु जिस आज्य को जुहू में लेता है उस आज्य की (तो) आहुति जुहू से देता (ही) है (परन्तु) जिस आज्य का उपभृत् से ग्रहण करता है [उसकी भी आहुति उपभृत से न देकर] जुहू से ही आहुति देता है। [तात्पर्य्य यही हुआ कि आज्यग्रहणकर्म्म पृथक् पृथक् जुहू उपभृत् में होता है, परन्तु आहुति दोनों के आज्य की जुहू से ही दी जाती है]॥७॥१४॥

---

*—१ वी कण्डिका के आगे ब्राह्मणग्रन्थ की जिस प्रतिपादन-शैली का स्पष्टीकरण किया गया है पाठक देखेंगे कि १३-वी १४ वी, कण्डिकाओं के प्रारम्भिक वाक्यों से उक्त शैली का मर्य्यादित समर्थन होरहा है। उत्तरोत्तरकर्मगर्भित प्रश्नार्थक वाक्यों का आरम्भ 'स यत्'— 'अथ यत्'— 'अथातः' इत्यादि रूप से आरम्भ होता है। एवं उत्तरवाक्यों से सम्बद्ध पूर्ववाक्यों का उपक्रम 'अ अ — तद्धि' तस्मात् इत्यादि रूप से होता है। जैसाकि १३ वी कण्डिका के आगे के प्रकरण से सम्बद्ध 'स यं चतुर्जुह्वां गृह्णन् भूयः आज्यं गृह्णाति' इस सामान्य उत्तरवाक्य से एवं १४ वी कण्डिका के उत्तर प्रकरण से ... अतएव अन्यवाक्यवाचक उत्तरोत्तरकर्मगर्भित प्रश्नार्थक— 'स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णन् भूय आज्यं गृह्णाति'

(यज्ञपद्धति का यह एक स्वाभाविक नियम देखा जाता है कि जिस पात्र, किंवा पात्री में आहुति द्रव्य लिया जाता है उसी पात्र किंवा पात्री से आहुति दी जाती है। परन्तु श्रुति ने ग्रहण बतलाया है उपभृत् में एवं आहुति का विधान किया है जुहू से। इस वैषम्य का क्या कारण ?, इसी वैषम्य का प्रश्न रूप से उपादान कर, अन्त में समाधान करती हुई श्रुति कहती है]-

[उपभृत् में गृहीत आज्य की उपभृत् से आहुति न देकर जुहू से ही आहुति देनी चाहिए, इस पूर्व सिद्धान्त के सम्बन्ध में] किसने एक विद्वान् कहते हैं कि [* तदाहुः] यदि [उपभृत् में गृहीत आज्य की] उपभृत् से आहुति नहीं देते तो फिर क्यों [किस प्रयोजन के लिए] उपभृत् में [आज्य] ग्रहण किया जाय ? । [प्रश्नकर्त्ता विद्वानों का अभिप्राय यही है कि, आहुति देने के लिए ही तो आज्य-ग्रहण का विधान हुआ है। जब उपभृत् से आहुति ही नहीं दीजाती तो इसमें आज्य-ग्रहण की ओर क्या आवश्यकता रह जाती है ?] ।

[श्रुति उत्तर देती है कि]-यदि वह [अध्वर्यु]-[उपभृत् में गृहीत आज्य की] उपभृत् से आहुति देगा तो ये सम्पूर्ण प्रजाएँ [अपना स्वाभाविक संघटन नाश कर] स्वतन्त्र बन जायँगी। न अत्ता रहेगा न आद्य [सुरक्षित] रहेगा। [उत्तर का तात्पर्य यही है कि, उपभृत् में गृहीत आज्य एवं उपभृत् दोनों आद्यस्थानीय बनते हुए प्रजा-स्थानीय हैं। जुहू में गृहीत आज्य तथा जुहू, दोनों अत्ता स्थानीय बनते हुए 'सत्ताधीश-स्थानीय' हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि प्रजा-स्थानीय उपभृत् से ही प्रजा-स्थानीय आज्य की आहुति दी जायगी तो उपभृदाज्यस्थानीया प्रजा स्वतन्त्र बन जायगी जो कि निरंकुश अमर्य्यादित स्वातन्त्र्य तत्त्वतः पारतन्त्र्य बनता हुआ सत्ताधीश, तथा प्रजा दोनों के नाश का ही कारण माना गया है। परन्तु जब उपभृद्गृहीत आज्य का सत्ताधीश-स्थानीय जुहू [के आश्रय] से आहुति दी जाती है तो उपभृदाज्यरूप प्रजावर्ग अनुरूप सत्ताधीश की रक्षा में आकर विप्लव से बच जाता है। इसी 'राष्ट्रीय-एकीकरण' के लिए उपभृत्-गृहीत आज्य की भी जुहू से ही आहुति देना उचित है। इसी अभिप्राय को अपनी स्वाभाविक-शैली से व्यक्त करती हुई श्रुति कहती है]—

(उपभृत् में आज्यग्रहण करने लिए) अनन्तर जिसलिए कि (उपभृत्-गृहीत आज्य का) जुहू में ही लेकर आहुति देते हैं (इसका कारण बताते हैं)। (औपभृत आज्य को जुहू में

[एतद्धरणसुच्यते-इति यान्त्यप्रापः] इस वाक्य से स्पष्ट सिद्ध होरहा है। ब्राह्मणग्रन्थों की इन परिभाषाओं को न जानने से 'मक्षिकास्थाने मक्षिकापातः' न्याय से व्याकरण के बलपर केवल शब्दार्थ के अनुगमन से वास्तविक अर्थ-समन्वय में बड़ी भ्रान्ति होजाती है। अतः पाठकों से इस सम्बन्ध में साग्रह निवेदन किया जायगा कि, अर्थसमन्वय करते हुए वे इन परिभाषाओं का भलीभाँति स्पष्टीकरण करलें।

*-जहाँ कहीं श्रुति को किसी अंश के द्वारा प्रश्नात्मक, आक्षेपयुक्त पूर्वपक्ष करना होता है, वहाँ सर्वत्र आरम्भ में 'तदाहुः' का सन्निवेश रहता है। दूसरे शब्दों में 'तदाहु' वाक्य का सर्वत्र प्रश्नात्मक ही समझना चाहिए। यह भी ब्राह्मणग्रन्थों की एक स्वाभाविक ही शैली है।

लेकर) आहुति देने से ही ये प्रजाएँ क्षत्रिय-राजा के लिए बलि (कर) प्रदान करती हैं। (अर्थात् इसीलिए प्रजा राज्य की अनुगामिनी बनी रहती है)।

(अब इस सम्बन्ध में एक प्रश्न और किया जासकता है। वह यही कि, यदि ऐसा है, तो फिर उपभृत् में आज्यग्रहण की ही क्या आवश्यकता रह जाती है ? क्यों नहीं पहिले चार चार जुहू में लेकर भत्ताभ्राऽर की प्राप्ति के लिए आहुति दे दीजाय अनन्तर आद्य को अत्ता के आधीन बनाने के लिए जुहू में ही आठ बार लेकर [आद्यभाग की रक्षा के लिए] जुहू से ही आहुति दे दी जाय ?। पहिले उपभृत् में लेना पुन: उपभृत् से जुहू में लेकर आहुति देना इस प्रसिद्ध प्राणायाम की अपेक्षा तो पहिले से ही जुहू में ही लेकर क्यों न इतिकर्त्तव्यता पूरी करली जाय ?। इसी विप्रतिपत्ति का प्रश्नोत्थानपूर्वक निराकरण करती हुई श्रुति कहती है)—

[जुहू में चार बार ग्रहण करने के] अनन्तर जिसलिए कि उपभृत् में [ही आठ बार आज्य] ग्रहण करते हैं [इसका कारण बतलाते हैं]। [आद्यलक्षणा प्रजा से सम्बन्ध रखने वाला उपभृत्-सम्बन्धी आज्यग्रहण जुहू में न होकर उपभृत् में ही होता है] इसलिए ही क्षत्रिय [राजा] के वश में [रक्षा में] रहते हुए ही वैश्य [प्रजा] के प्रति पशु [सम्पत्तिवर्ग] उपस्थित होते हैं। [उत्तर का तात्पर्य यही कि जिसप्रकार राष्ट्रीय प्रजा की रक्षा के लिए भोक्ता की सत्ता अपेक्षित है, उसीप्रकार भोग्य की सत्ता भी आवश्यक है। राजा यदि प्रजा का सर्वस्व अपने स्वार्थ में ही स्वाहा कर जाय उसे स्वतन्त्र रहकर (किन्तु अपनी रक्षा में) सुसमृद्धि का अवसर न दे, तो प्रजा कभी पशुसम्पत्ति (धन कृषि पशु आदि (बहिर्वित्त) से युक्त न बने। और इस दशा में राजा का राजापना ही सुरक्षित न रहे। अतः प्रजाविकास के लिए, प्रजासमृद्धि के लिए प्रजा को व्यवस्था से स्वतन्त्र—रखना भी आवश्यक है। उपभृत जुहू पर रक्खी रहती है। जुहू आधार है, आश्रय है, उपभृत आश्रय है, आश्रित है। यही राजा का प्रजा पर रक्षात्मक अनुग्रह है। इस रक्षा में प्रतिष्ठित वैश्यरूप प्रजावर्ग स्वतन्त्ररूप से पशुसमृद्धि करने में समर्थ बने, इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए जुहू पर रक्खे हुए उपभृत् में ही आज्यग्रहण किया जाता है)।

(इसप्रकार पहिले उपभृत् में आज्यग्रहण कर अनन्तर औपभृत-आज्य को जुहू में लेकर ही आहुति क्यों दी जाती है ? इस प्रश्न का एक समाधान तो कण्डिका के आरम्भ में ही— 'तस्मादिमा विशः क्षत्रियाय बलिं हरन्ति' इत्यादिरूप से दिया जाचुका है। इस उत्तर का तात्पर्य यही है कि, प्रजा राजा को बलि (कर) प्रदान करती रहे राजा इस बलिशक्ति से और भी अधिक बलवान बनता हुआ प्रजासमृद्धि में पूर्ण समर्थ बने। अब इसी प्रश्न का एक दूसरा समाधान करने के लिए श्रुति पुनः प्रश्न उठाकर समाधान करती है)—

(जुहू पर रक्खे हुए उपभृत में आठ बार आज्यग्रहण करने के) अनन्तर जिसलिए कि (औपभृत-आज्य को) जुहू में लेकर जुहू से ही आहुति देते हैं (इस की दूसरी उपपत्ति बतलाते हैं)। क्यों कि औपभृताज्य की उपभृत से आहुति न होकर जुहू से आहुति होती है, अतएव

जिस समय भी क्षत्रियराजा (राष्ट्रहित के लिए जिस सम्पत्ति की) कामना करता है कामना के अव्यवहितोत्तरकाल में ही वह वैश्य (प्रजा] को लक्ष्य बना कर आज्ञा देता है कि, वैश्य ! तुम्हारा जो अत्यन्त सुरक्षित (सुगुप्त) पर (परकीय धन) है उसे (राष्ट्रहित के लिए) शीघ्र ले आओ। (आज्ञानन्तर वैश्य के द्वारा प्राप्त धन को) वह राजा अपने अधिकार में कर लेता है। इसीप्रकार राजा को (राष्ट्रसञ्चालन-कर्म्म में) नव जैसी जिन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती रहती है उन्हीं सम्पन्न वैश्यों के द्वारा वैसी वे वस्तुएँ प्राप्त होतीं रहतीं हैं (और इस स्वाभाविक सम्पत्-प्राप्ति का एकमात्र कारण है) वीर्य्यप्रभाव। (तात्पर्य्य उत्तर का यही है कि यदि उपभृत् से ही आहुति दी जायगी तो इसका यह अर्थ होगा कि राजा ने प्रजा को सञ्चित-धन व्यय के लिए स्वतन्त्रता प्रदान करदी। प्रजाधन ही राजा के राष्ट्र का मुख्य बल है । यदि प्रजाधन पर राष्ट्रपति का नियन्त्रण न होगा तो राजा के राष्ट्र की अर्थशक्ति नष्ट होजायगी । और उस परिस्थिति में राजा प्रजा से कामनानुसार राष्ट्रसञ्चालन के लिए सम्पत्ति-संग्रह न कर सकेगा। ठीक इस के विपरीत जब कि औपभृताज्य की जुहू के द्वारा ही आहुति होती है, तो इस का यह अर्थ होता है कि प्रजा के द्वारा सञ्चित धन राजा की रक्षा में जायगा। इसीलिए अब राजा जब भी चाहेगा तभी प्रजा के उस गुप्त (सुरक्षित) धन के द्वारा राष्ट्रकामनाएँ पूरी करता रहेगा । इस दूसरे प्रयोजन की सिद्धि के लिए भी औपभृताज्य को जुहू में लेकर जुहू से ही आहुति दी जाती है ॥१५॥

(जुहू, और उपभृत् में क्रमशः ४-८ बार करके जो आज्यग्रहण होता है इस के सम्बन्ध में जो कुछ उपपत्ति बतलानी थी बतला दी गई। अब तीसरी ध्रुवा नामकी स्रुक् शेष रह गई, जिससे कि स्रुव के द्वारा जुहू उपभृत् में आज्यग्रहण होता है। इस क्रमदृष्टि से यद्यपि अब ध्रुवा-सम्बन्धी आज्यग्रहण की उपपत्ति ही अपेक्षित थी। तथापि ध्रुवा-पात्र अङ्गभूत इतर दोनों स्रुचों (जुहू उपभृत्) की प्रतिष्ठा बनता हुआ सबयज्ञप्रतिष्ठा है । अत ध्रुवा के इस सर्वभाव को दृढमूल बनाने के उद्देश्य से प्रसङ्गात् पहिले इतर दोनों स्रुचों का भी सिंहावलोकन कर लिया जाता है।

यद्यपि छन्दोरूप अनुयाज तथा ऋतुरूप प्रयाज दोनों के लिए क्रमशः उपभृत्-तथा जुहू में आज्यग्रहण होता है तथापि ध्रुवा-सम्बन्ध में बतलाई जाने वाली उपपत्ति का श्रुति ने प्रधानरूप से छन्द सम्पत्ति के साथ ही सम्बन्ध माना है जैसा कि निम्न लिखित मूलानुवाद में में स्पष्ट होरहा है)।

(आज्यस्थाली से चार बार करके ध्रुवा में ध्रुवा से स्रुव के द्वारा चार बार कर के जुहू में एवं ध्रुवा से स्रुव के द्वारा द्वारा आठ बार करके उपभृत् में गृहीत होने वाले) वे ये आज्य छन्दों के लिए ही गृहीत होते हैं--(छन्दों के लिए ही आज्यों का ग्रहण होता है)। सो जो कि जुहू में चार बार करके (आज्य) ग्रहण करता है वह गायत्रीछन्द के लिए ही ग्रहण करता है। जो कि उपभृत् में आठ बार कर के (आज्य) ग्रहण करता है वह त्रिष्टुप् तथा जगती-छन्दों के ही लिए

लेकर) आहुति देने से ही ये प्रजाएँ क्षत्रिय-राजा के लिए बलि (कर) प्रदान करती हैं। (अर्थात् इसीलिए प्रजा राष्ट्र को अनुगामिनी बनी रहती है)।

(अब इस सम्बन्ध में एक प्रश्न और किया जासकता है। वह यही कि, यदि ऐसा है, तो फिर उपभृत् में आज्यग्रहण की ही क्या आवश्यकता रह जाती है?। क्यों नहीं पहिले चार बार जुहू में लेकर अन्ताराग्र की प्राप्ति के लिए आहुति दे दीजाय अनन्तर आद्य को अत्ता के आधीन बनाने के लिए जुहू में ही आठ बार लेकर [आद्यभाग की रक्षा के लिए] जुहू से ही आहुति दे दी जाय ?। पहिले उपभृत् में लेना पुनः उपभृत् से जुहू में लेकर आहुति देना इस द्रविड़-प्राणायाम की अपेक्षा तो पहिले से ही जुहू में ही लेकर क्यों न इतिकर्त्तव्यता पूरी करली जाय ?। इसी विप्रतिपत्ति का प्रश्नोत्थानपूर्वक निराकरण करती हुई श्रुति कहती है)—

[जुहू में चार बार ग्रहण करने के] अनन्तर जिसलिए कि उपभृत् में [ही आठ बार आज्य] ग्रहण करते हैं, [इसका कारण बतलाते हैं]। [आद्यलक्षणा प्रजा से सम्बन्ध रखने वाला उपभृत्-सम्बन्धी आज्यग्रहण जुहू में न होकर उपभृत् में ही होता है] इसलिए ही क्षत्रिय [राजा] के वश में [रक्षा में] रहते हुए ही वैश्य [प्रजा] के प्रति पशु [सम्पत्तिवर्ग] उपस्थित होते हैं। [उत्तर का तात्पर्य्य यही कि, जिसप्रकार राष्ट्रीय प्रजा की रक्षा के लिए भोक्ता की सत्ता अपेक्षित है, उसीप्रकार भोग्य की सत्ता भी आवश्यक है। राजा यदि प्रजा का सर्वस्व अपने स्वार्थ में ही स्वाहा कर जाय उसे स्वतन्त्र रहकर (किन्तु अपनी रक्षा में) सुसमृद्धि का अवसर न दे, तो प्रजा कभी पशुसम्पत्ति (धन रूपि पशु आदि (बहिर्वित्त) से युक्त न बने। और इस दशा में राजा का राजापना ही 'सुरक्षित न रहे'। अतः प्रजाविकास के लिए प्रजासमृद्धि के लिए प्रजा को व्यवसाय से स्वतन्त्र—रखना भी आवश्यक है। उपभृत जुहू पर रक्खी रहती है। जुहू आधार है, आश्रय है, उपभृत आधेय है, आश्रित है। यही राजा का प्रजा पर रक्षात्मक अनुग्रह है। इस रक्षा में प्रतिष्ठित वैश्यरूप प्रजावर्ग स्वतन्त्ररूप से पशुसमृद्धि करने में समर्थ बने, इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए जुहू पर रक्खे हुए उपभृत् में ही आज्यग्रहण किया जाता है)।

(इसप्रकार पहिले उपभृत् में आज्यग्रहण कर अनन्तर औपभृत-आज्य को जुहू में लेकर ही आहुति क्यों दी जाती है ? इस प्रश्न का एक समाधान तो कण्डिका के आरम्भ में ही— 'तस्मादिमा विशः क्षत्रियाय बलिं हरन्ति' इत्यादि रूप से दिया जाचुका है। इस उत्तर का तात्पर्य्य यही है कि प्रजा राजा को बलि (कर) प्रदान करती रहे राजा इस बलिप्राप्ति से और भी अधिक बलवान् बनता हुआ प्रजासमृद्धि में पूर्ण समर्थ बने। अब इसी प्रश्न का एक दूसरा समाधान करने के लिए श्रुति पुनः प्रश्न उठाकर समाधान करती है)—

(जुहू पर रक्खे हुए उपभृत में आठ बार आज्यग्रहण करने के) अनन्तर जिसलिए कि (औपभृत-आज्य को) जुहू में लेकर जुहू से ही आहुति देते हैं (इस की दूसरी उपपत्ति बतलाते हैं)। क्योंकि आज्यभृत् की उपभृत से आहुति न होकर जुहू से आहुति होती है, अतएव

जिस समय भी क्षत्रियराजा (राष्ट्रहित के लिए जिस सम्पत्ति की) कामना करता है, कामना के अव्यवहितोत्तरकाल में ही वह वैश्य (प्रजा] को लक्ष्य बना कर आज्ञा देता है कि, वैश्य ! तुम्हारा जो अत्यन्त सुरक्षित (सुगुप्त) पर (परकीय धन) है, उसे (राष्ट्रहित के लिए) शीघ्र ले आओ। (आज्ञानन्तर वैश्य के द्वारा प्राप्त धन को) यह राजा अपने अधिकार में कर लेता है। इसीप्रकार राजा को (राष्ट्रसञ्चालन–कर्म्म में) जब जैसी जिन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती रहती है, इन्हीं सम्पन्न वैश्यों के द्वारा वैसी व वस्तुएँ प्राप्त होती रहती हैं (और इस स्वाभाविक सम्पत्–प्राप्ति का एकमात्र कारण है) धौम्यप्रभाव। (तात्पर्य्य उत्तर का यही है कि, यदि उपभृत् से ही आहुति दी जायगी तो इसका यह अर्थ होगा कि राजा ने प्रजा को सञ्चित–धन व्यय के लिए स्वतन्त्रता प्रदान करदी। प्रजाधन ही राजा के राष्ट्र का मुख्य बल है। यदि प्रजाधन पर राष्ट्रपति का नियन्त्रण न होगा तो राजा के राष्ट्र की अर्थशक्ति नष्ट होजायगी। और उस परिस्थिति में राजा प्रजा से कामनानुसार राष्ट्रसंचालन के लिए सम्पत्ति–संग्रह न कर सकेगा। ठीक इस के विपरीत जब कि औपभृताज्य को जुहू के द्वारा ही आहुति होती है, तो इस का यह अर्थ होता है कि प्रजा के द्वारा सञ्चित धन राजा को रक्षा में जायगा। इसीलिए अब राजा जब भी चाहेगा तभी प्रजा के उस गुप्त (सुरक्षित) धन के द्वारा राष्ट्रकामनाएँ पूरी करता रहेगा। इस दूसरे प्रयोजन की सिद्धि के लिए भी औपभृताज्य को जुहू में लेकर जुहू से ही आहुति दी जाती है ॥१४॥

(जुहू, और उपभृत में क्रमशः ४–८ बार करके जो आज्यग्रहण होता है इस के सम्बन्ध में जो कुछ उपपत्ति बतलानी थी बतला दी गई। अब तीसरा ध्रुवा नामकी स्रुक् शेष रह गई जिससे कि स्रुव के द्वारा जुहू उपभृत् में आज्यग्रहण होता है। इस क्रमदृष्टि से यद्यपि अब ध्रुवा–सम्बन्धी आज्यग्रहण की उपपत्ति ही अपेक्षित थी। तथापि ध्रुवा–पात्र अङ्गभूत इतर दोनों स्रुचों (जुहू उपभृत्) की प्रतिष्ठा बनता हुआ सर्वयज्ञप्रतिष्ठा है। अतः ध्रुवा के इस सद्भाव को स्वमूल बनाने के उद्देश्य से प्रसङ्गात् पहिले इतर दोनों स्रुचों का भी सिंहावलोकन कर लिया जाता है।

यद्यपि छन्दोरूप अनुयाज तथा ऋतुरूप प्रयाज दोनों के लिए क्रमशः उपभृत्–तथा जुहू में आज्यग्रहण होता है तथापि ध्रुवा–सम्बन्ध में बतलाई जाने वाली उपपत्ति का श्रुति ने प्रधानरूप से छन्दःसम्पत्ति के साथ ही सम्बन्ध माना है जैसा कि निम्न लिखित मूलानुवाद में स्पष्ट होरहा है)।

(आज्यस्थाली से चार बार करके ध्रुवा में ध्रुवा से स्रुव के द्वारा चार बार कर के जुहू में एवं ध्रुवा से स्रुव के द्वारा द्वारा आठ बार करके उपभृत् में गृहीत होने वाले) घ ये आज्य छन्दो के लिए ही गृहीत होते हैं—(छन्दों के लिए ही आज्यों का ग्रहण होता है)। सो जो कि जुहू में चार बार करके (आज्य) ग्रहण करता है वह गायत्रीछन्द के लिए ही ग्रहण करता है। जो कि उपभृत् में आठ बार कर के (आज्य) ग्रहण करता है वह त्रिष्टुप् तथा जगती–छन्दों के ही लिए

लेकर) आहुति देने से ही ये प्रजाएँ क्षत्रिय-राजा के लिए बलि (कर) प्रदान करती हैं। (अर्थात् इसीलिए प्रजा राज्य की अनुगामिनी बनी रहती है)।

(अब इस सम्बन्ध में एक प्रश्न और किया जासकता है। वह यही कि, यदि ऐसा है, तो फिर उपभृत् में आज्यग्रहण की ही क्या आवश्यकता रह जाती है ?। क्यों नहीं पहिले चार बार जुहू में लेकर अन्नाग्नि की प्राप्ति के लिए आहुति दे दीजाय अनन्तर आद्य को अत्ता के आधीन बनाने के लिए जुहू में हीं आठ बार लेकर [आद्यभाव की रक्षा के लिए] जुहू से ही आहुति दे दी जाय ?। पहिले उपभृत् में लेना पुनः उपभृत् से जुहू में लेकर आहुति देना इस द्विविध प्राणायाम की अपेक्षा तो पहिले से ही जुहू में हीं लेकर क्यों न इतिकर्त्तव्यता पूरी करली जाय ?। इसी विप्रतिपत्ति का प्रश्नोत्थानपूर्वक निराकरण करती हुई श्रुति कहती है)—

[जुहू में चार बार ग्रहण करने के] अनन्तर जिसलिए कि उपभृत् में [ही आठ बार आज्य] ग्रहण करते हैं [इसका कारण बतलाते हैं]। [आद्यलक्षणा प्रजा से सम्बन्ध रखने वाला उपभृत्-सम्बन्धी आज्यग्रहण जुहू में न होकर उपभृत् में हीं होता है] इसलिए ही क्षत्रिय [राजा] के वश में [रक्षा में] रहते हुए ही वैश्य [प्रजा] के प्रति पशु [सम्पत्तिवर्ग] उपस्थित होते हैं। [उत्तर का तात्पर्य्य यही कि, जिसप्रकार राष्ट्रीय प्रजा की रक्षा के लिए भोक्ता की सत्ता अपेक्षित है, उसीप्रकार भोग्य की सत्ता भी आवश्यक है। राजा यदि प्रजा का सर्वस्व अपने स्वार्थ में हीं स्वाहा कर जाय उसे स्वतन्त्र रहकर (किन्तु अपनी रक्षा में) सुसमृद्धि का अवसर न दे, तो प्रजा कभी पशुसम्पत्ति (धन कृषि पशु आदि (बहिर्वित्त) से युक्त न बने। और उस दशा में राजा का राजापना ही सुरक्षित न रहे। अतः प्रजाविकास के लिए, प्रजासमृद्धि के लिए प्रजा को एकांश से स्वतन्त्र—रखना भी आवश्यक है। उपभृत जुहू पर रक्खी रहती है। जुहू आधार है, आश्रय है, उपभृत् आधेय है, आश्रित है। यही राजा का प्रजा पर रक्षात्मक अनुग्रह है। इस रक्षा में सुरक्षित वैश्यरूप प्रजावर्ग स्वतन्त्ररूप से पशुसमृद्धि करने में समर्थ बने, इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए जुहू पर रक्खे हुए उपभृत् में ही आज्यग्रहण किया जाता है)।

(इसप्रकार पहिले उपभृत् में आज्यग्रहण कर अनन्तर औपभृत-आज्य को जुहू में लेकर ही आहुति क्यों दी जाती है ? इस प्रश्न का एक समाधान तो कण्डिका के आरम्भ में ही—'तस्मादिमा विशः क्षत्रियाय बलिं हरन्ति' इत्यादिरूप से दिया जाचुका है। इस उत्तर का तात्पर्य्य यही है कि, प्रजा राजा का बलि (कर) प्रदान करती रहे राजा इस बलिप्राप्ति से और भी अधिक बलवान् बनता हुआ प्रजासमृद्धि में पूर्ण समर्थ बने। अब इसी प्रश्न का एक दूसरा समाधान करने के लिए श्रुति पुनः प्रश्न उठाकर समाधान करती है)—

(जुहू पर रक्खे हुए उपभृत् में आठ बार आज्यग्रहण करने के) अनन्तर जिसलिए कि (औपभृत-आज्य को) जुहू में लेकर जुहू से ही आहुति देते हैं (इस की दूसरी उपपत्ति बतलाते हैं)। क्यों कि औपभृताज्य की उपभृत् से आहुति न होकर जुहू से आहुति होनी है, अतएव

जिस समय भी क्षत्रियराजा (राष्ट्रहित के लिए जिस सम्पत्ति की) कामना करता है, कामना के अव्यवहितोत्तरकाल में ही वह वैश्य (प्रजा) को लक्ष्य बना कर आज्ञा देता है कि, वैश्य तुम्हारा जो अत्यन्त सुरक्षित (सुगुप्त) पर (परकीय धन) है उसे (राष्ट्रहित के लिए) शीघ्र ले आओ। (आज्ञानन्तर वैश्य के द्वारा प्राप्त धन को) वह राजा अपने अधिकार में कर लेता है। इसीप्रकार राजा को (राष्ट्रसञ्चालन-कर्म में) जब जैसी जिन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती रहती है, वहीं सम्पन्न वैश्या के द्वारा वैसी व वस्तुएँ प्राप्त होतीं रहतीं हैं (और इस स्वाभाविक सम्पत्-प्राप्ति का एकमात्र कारण है) वीर्य्यप्रभाव। (तात्पर्य्य उत्तर का यही है कि, यदि उपभृत् से ही आहुति दी जायगी, तो इसका यह अर्थ होगा कि राजा ने प्रजा को सञ्चित-धन व्यय के लिए स्वतन्त्रता प्रदान करदी। प्रजाधन ही राजा के राष्ट्र का मुख्य बल है। यदि प्रजाधन पर राष्ट्रपति का नियन्त्रण न होगा तो राजा के राष्ट्र की अर्थशक्ति नष्ट होजायगी। और उस परिस्थिति म राजा प्रजा से कामनानुसार राष्ट्रसंचालन के लिए सम्पत्ति-संग्रह न कर सकेगा। ठीक इस के विपरीत जब कि औपभृताज्य को जुहू के द्वारा ही आहुति होती है, तो इस का यह अर्थ होता है कि प्रजा के द्वारा सञ्चित धन राजा की रक्षा में आयगा। इसीलिए अब राजा जब भी चाहेगा तभी प्रजा के उस गुप्त (सुरक्षित) धन के द्वारा राष्ट्रकामनाएँ पूरी करता रहेगा। इस दूसरे प्रयोजन की सिद्धि के लिए भी औपभृताज्य को जुहू में लेकर जुहू से ही आहुति दी जाती है ॥१४॥

(जुहू और उपभृत में क्रमशः ४-८ बार करके जो आज्यग्रहण होता है इस के सम्बन्ध में जो कुछ उपपत्ति बतलानी थी बतला दी गई। अब तीसरा ध्रुवा नामकी स्रुक् शेष रह गई जिससे कि स्रुव के द्वारा जुहू उपभृत् में आज्यग्रहण होता है। इस क्रमदृष्टि से यद्यपि अब ध्रुवा-सम्बन्धी आज्यग्रहण की उपपत्ति ही अपेक्षित थी। तथापि ध्रुवा-पात्र अङ्गभूत इतर दोनों स्रुचों (जुहू-उपभृत्) की प्रतिष्ठा बनता हुआ सर्वयज्ञप्रतिष्ठा है। अत ध्रुवा के इस सत्रभाव को दृढमूल बनाने के उद्देश्य से प्रसङ्गात् पहिले इतर दोनों स्रुचों का भी सिंहावलोकन कर लिया जाता है।

यद्यपि छन्दोरूप अनुयाज तथा ऋतुरूप प्रयाज दोनों के लिए क्रमशः उपभृत्-तथा जुहू में आज्यग्रहण होता है तथापि ध्रुवा-सम्बन्ध में बतलाई जाने वाली उपपत्ति का श्रुति ने प्रधानरूप से छन्दःसम्पत्ति के साथ ही सम्बन्ध माना है जैसा कि निम्न लिखित मूलानुवाद में म स्पष्ट होरहा है)।

(आज्यस्थाली से चार बार करके ध्रुवा में ध्रुवा से स्रुव के द्वारा चार बार कर के जुहू में एवं ध्रुवा से स्रुव के द्वारा आठ बार करके उपभृत में गृहीत होने वाले) व ये आज्य छन्दों के लिए ही गृहीत होते हैं—(छन्दों के लिए ही आज्यों का ग्रहण होता है)। सो जो कि जुहू में चार बार करके (आज्य) ग्रहण करता है वह गायत्रीछन्द के लिए ही ग्रहण करता है। जो कि उपभृत् में आठ बार कर के (आज्य) ग्रहण करता है वह त्रिष्टुप् तथा जगती-छन्दों के ही लिए

ग्रहण करता है। जो कि (आज्यस्थाली से ध्रुवा में चार बार कर के आज्य) ग्रहण करता है वह अनुष्टुप्छन्द के लिए ही ग्रहण करता है। अनुष्टुप् ही वाक् है। वाक् से ही यह (सब मौलिक प्रपञ्च) उत्पन्न हुआ है। इसीलिए (वाक्प्रतिरूप) ध्रुवा से ही सम्पूर्ण यज्ञ होता है॥ अनुष्टुप् (वाक्) ही यह (पृथिवी) है। इसी (पृथिवी) से यह सब (त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप मूलप्रपञ्च) उत्पन्न होता है। इसीलिए (पृथिवी के प्रतिरूप) ध्रुवा से ही यह सम्पूर्ण यज्ञ उत्पन्न हुआ है ॥१६॥

❀—इति—आज्यगृहणोपपत्तिप्रकरणम्

४—पद्धतिप्रकरणम्

किन में, किन से किनके लिए, कितनी बार आज्यग्रहण होता है ? पूर्व-प्रतिपादित तीन प्रकरणों में इन्हीं प्रश्नों का समाधान हुआ है। अब कैसे आज्य ग्रहण करना चाहिए ? पद्धतिरूप यह प्रश्न बच रहता है। आगे की क्रमप्राप्त १७—१८ कण्डिकायें से इस 'आज्यग्रहण—पद्धति का ही निरूपण करता हुआ क्रमशः १८) कण्डिकात्मक, प्रकरणचतुष्टयात्मक, 'आज्यग्रहण ब्राह्मण' नामक, १ काण्डानुगत—३ अध्याय का दूसरा (२) तथा द्वितीय प्रपाठक का पञ्चम ब्राह्मण (२।५) समाप्त होता है।

वह अध्वर्यु—'धाम नामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि' (यजुः सं० २ अ०-३१ मं०) यह मन्त्र बोलता हुआ आज्यग्रहण करता है। (अर्थसुविधा के लिए मन्त्र को दो भागों में विभक्त कर पहिले प्रथम विभाग का अर्थ करती हुई श्रुति कहती है)—यह देवताओं का अत्यन्त प्रिय स्थान (रमणसाधन) है जो कि आज्य है। इसीलिए 'धाम नामासि प्रियं देवानाम्' यह कहा गया है। (मन्त्र के द्वितीय भाग का अर्थ करती हैं) आज्य वास्तव में वज्र है, देव-यजन है—(देवताओं की यज्ञ के द्वारा परस्पर सङ्गति कराने वाला है)। इसी अभिप्राय से 'अना-धृष्टं देवयजनमसि' यह कहा गया है ॥१७॥

वह अध्वर्यु इस (उक्त) यजु से (मन्त्र से मन्त्र बोलता हुआ) जुहू में एकबार आज्य-ग्रहण करता है तीन बार चुप चाप (ग्रहण करता है) (तात्पर्य यही है कि जुहू में चार बार आज्यग्रहण करने का विधान है। इन में आरम्भ में एकबार तो मन्त्र बोलते हुए ग्रहण करना

---

* जैसा कि मूलानुवादप्रकरण के आरम्भ में ही बतला दिया गया है, ११ से १६ पर्य्यन्त की ६ कण्डिकाओं में आज्यग्रहण की उपपत्ति ही प्रधानरूप से बतलाई गई है। अतएव हमने इन—६ कण्डिकाओं के इस प्रकरण को एक स्वतन्त्र प्रकरण मानते हुए 'आज्यग्रहणोपपत्तिप्रकरण' नाम से व्यवहृत करना उचित मान लिया है।

चाहिए एवं तीन बार बिना मन्त्र बोले चुपचाप ग्रहण करना चाहिए)। उपभृत् में एकबार (तो) इसी यजु में (मन्त्र बोलता हुआ) आज्यग्रहण करता है, एवं सात बार चुपचाप (बिना मन्त्र प्रयोग के) आज्यग्रहण करता है। ध्रुवा में (आज्यस्थाली में से) एक बार तो इसी यजु से (मन्त्र बोलता हुआ) आज्यग्रहण करता है, एवं तीन बार चुपचाप (बिना मन्त्रप्रयोग के) आज्य ग्रहण करता है।

इस सम्बन्ध में कुछ विद्वान् कहते हैं कि, (ध्रुवा जुहू उपभृत् इन तीनों में आज्यग्रहण करते हुए प्रत्येक में) तीन तीन बार यजु से (मन्त्रपूर्वक) आज्यग्रहण करना चाहिए। क्योंकि यज्ञ त्रिवृत् (नवाक्षरा-विराट्सम्पत्ति से युक्त) है। (आक्षेपगर्भित प्रश्न-कर्त्ता का अभिप्राय यही है कि जब यज्ञ त्रिवृत् है, और त्रिवृत् सम्पत्ति बिना तीन तीन बार यजु -प्रयोग-मन्त्रप्रयोग-के सम्भव नहीं तो ऐसी दशा में जुहू-उपभृत्-ध्रुवा, तीनों की ४-८-४ इन ग्रहण-संख्याओं में से क्रमशः ३—३—३ रूप से तो मन्त्रप्रयोगपूर्वक आज्यग्रहण करना चाहिए एवं १-५-१ इस संख्याओं के अनुरूप तूष्णीं आज्यग्रहण करना चाहिए, तभी त्रिवृत्-सम्पत्ति प्राप्त होसकती है)—

(उक्त पूर्वपक्ष का तटस्थ-रूप से खण्डन-करती हुई, सकृत्-पक्ष को ही सिद्धान्तपक्ष बतलाती हुई श्रुति कहती है)—इस आज्यग्रहणकर्म्म में एक एक बार ही मन्त्रपूर्वक आज्यग्रहण करना चाहिए। इस (सकृत्-सकृत् परिग्रहणकर्म्म) में भी आज्य का (समाहाररूप) तीन बार ग्रहण होजाता है। (इसप्रकार सकृत् पक्ष में ही त्रिवृत-सम्पत्ति प्राप्त होजाती है ॥१८॥

४—इति—आज्यगृहणपद्धतिप्रकरणम्



प्रथमकाण्डानुगत-तृतीय अध्याय का दूसरा ब्राह्मण समाप्त (१।३।२।)
प्रथमकाण्डानुगत-द्वितीय प्रपाठक का पाँचवाँ ब्राह्मण समाप्त (१।२।५।)

मूलानुवाद—समाप्त



सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह

जुहू में स्रुव से चार वार आज्यग्रहण

आज्यावेक्षणकर्म्म के अनन्तर 'आज्यग्रहणकर्म्म' होता है । आज्यस्थाली में रक्खे हुए आज्य को स्रुवा के द्वारा जुहू-उपभृत् में डालना ही आज्यग्रहणकर्म्म है । इसी कर्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"स्रुवेणाज्यग्रहणं चतुर्जुह्वां-"धामनामेति" सकृन्मन्त्र " इति ।

—का० श्रौ सू० २।७।१६ ।

उक्त सूत्रादेशानुसार अध्वर्यु—"ओं धाम नामासि प्रिय देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि (हे आज्य ! आप देवताओं के लिए प्रिय 'धाम' नाम वाले हो आप किसी भी आसुरभाव से धर्षण करने योग्य नहीं होने वाले देवताओं के देवयजन (देवयजनभूमिस्थानीय) हो' -यजुः १।३१) यह मन्त्र बोलता हुआ आज्यस्थाली से स्रुवा को पूर्ण भर कर चार बार जुहू में आज्य डालता है । इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, उक्त मन्त्र का प्रयोग प्रथमवार आज्यग्रहण में ही होता है । शेष तीन बार बिना मन्त्रोच्चारण के तूष्णीं ही आज्यग्रहण होता है। तात्पर्य्य यही हुआ कि अध्वर्यु स्रुवा को चार बार पूर्णरूप से आज्यस्थाली में से भरेगा। इस में एक वार तो उक्त मन्त्र बोलता हुआ जुहू में डालेगा शेष तीन वार चुपचाप जुहू में डालेगा ।

उपभृत् से स्रुव से आठ वार आज्यग्रहण

जुहू में स्रुव से पूर्णरूप से चार वार आज्यग्रहण करने के अनन्तर उसी मन्त्र से आठ वार कर के अपरिपूर्णरूप से आज्यस्थाली में से स्रुवा के द्वारा आठ बार उपभृत् में आज्य ग्रहण किया जाता है । इसी अभिप्राय से सूत्रकार कहते हैं—

"अष्टावुपभृत्यन्नीयोऽनुयाजश्चेत्" (का० श्रौ० सू० २।७।१ ।) ।

यदि दर्शपूर्णमास में अनुयाज का सम्बन्ध है तो आठ वार कर के उपभृत् में अपूर्ण आठ स्रुवों से आज्यग्रहण किया जाता है । प्रकृत इष्टि में कर्मरूप अनुयाजकर्म्म वैकल्पिक है इस बात को स्पष्ट करने के लिए "चेत्" कहा गया है । यदि अनुयाजकर्म्म है तब तो आठ बार उपभृत् में आज्यग्रहण होगा अन्यथा केवल जुहू में ही चार बार आज्यग्रहण होगा।

"चतुर्जुह्वां गृहीत्वा उपभृति गृह्णाति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्-गृह्णाति" (मै० ब्रा० ३।१।४) इस कृष्णब्राह्मणानुसार उपभृत् में जो आठ बार आज्यग्रहण होता है उस में चार बार गृहीत आज्य का तो प्रमुख प्रयाजदेवताओं से सम्बन्ध है चतुर्थ्वार चार गृहीत आज्य का कर्मरूप अनुयाज-देवताओं से सम्बन्ध है । अनुयाजों का सूत्रकार ने वैकल्पिक बतलाया है । इस सम्बन्ध में एक

सशय उपस्थित होता है। यदि प्रकृत इष्टि में अनुयाज-कर्म का अभाव है अथवा तो पृषदा-ज्यादि द्रव्यान्तर से अनुयाजकर्म का प्रतिकर्तव्यता पूरी कर ली जाती है, तो ऐसी परिस्थिति में उपभृत में आठ बार आज्यग्रहण करना अथवा चार बार? । इस सम्बन्ध म अपना निर्णय बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

चतुरन्यत्र, प्रतिविभागात्" (का० श्रौ० सू० २।७।११)

यदि प्रकृत इष्टिकर्म में अनुयाजका अभाव है, अथवा तो पृषदाज्यादि अन्य द्रव्य से अनुयाज कर्म सम्पन्न करना अभीष्ट है तो उस दशा में प्रतिविभाग-मर्य्यादा से उपभृत् में चार बार ही ग्रहण करना चाहिए। उपभृत्-स्थ प्रतिष्ठित अतएव औपभृत् नाम से प्रसिद्ध आज्य ४-४ क्रम से क्रमशः प्रयाज, अनुयाज दोनों के लिए विहित है। जब कि औपभृत् आज्य उभयार्थ है, और अनुयाजकर्म अपेक्षित नहीं है, तो ऐसी स्थिति में केवल प्रयाजकर्म की सिद्धि के लिए चार बार ही आज्यग्रहण करना नियमप्राप्त बनता है। इसी सिद्धान्त के सम्बन्ध में दृष्टान्तरूप से एक दूसरा हेतु बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"पश्वातिथ्यादर्शनाच्च" (का० श्रौ० सू० २।६।१२)

पशुबन्ध में तथा आतिथ्येष्टि में होने वाले अनुयाजकर्म की सिद्धि के लिए उपभृत में चार बार ही आज्य-ग्रहण देखा जाता है। यदि अनुयाजकर्म वैकल्पिक होता है तो प्रयाज के लिए चार बार ही आज्यग्रहण करना चाहिए, यही प्रतिविभाग-व्यवस्था न्यायतः प्राप्त है। पशुबन्ध के सम्बन्ध में 'जुह्वां चोपभृति च चतुर्गृहीतं गृह्णाति' (आप० श्रौ० ७।१।६) इत्यादि रूप से स्पष्ट ही प्रतिविभाग-मर्य्यादा का समर्थन हुआ है। एवमेव आतिथ्येष्टि के सम्बन्ध में भी 'सर्वा-ण्येव चतुर्गृहीतान्याज्यानि गृह्णाति न ह्यत्रानुयाजा भवन्ति' (शत० ब्रा० १।३।२ ६) इत्यादि रूप से इसी पक्ष का समर्थन हुआ है।

अब इस सम्बन्ध में ब्राह्मणश्रुति के आधार पर एक नया पूर्वपक्ष उठाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"न, कृत्स्नोपदेशात्" (का० श्रौ सू० २।७।१३)

उपभृत में आठ बार गृहीत आज्य में से चतुर्गृहीत आज्य तो प्रयाज के लिए है एवं चतुर्गृहीत आज्य अनुयाज के लिए है' पूर्व में जो यह सिद्धान्त बतलाया गया है यह (श्रुति-विरोध से) ठीक नहीं है (न)। क्योंकि— 'अथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति अनुयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति' (शत० ब्रा १।३।२।६) इस श्रुति में उपभृत में आठ बार कर के गृहीत सम्पूर्ण आज्य का केवल अनुयाजकर्म के लिए ही विधान हुआ है। ऐसी स्थिति में प्रतिविभाग-मर्य्यादा का समर्थन नहीं किया जा सकता। 'चतुरन्यत्र प्रतिविभागात्' से यह बतलाया गया था कि उपभृत में आठ बार गृहीत आज्य में से आधे का प्रयाज में, एवं आधे का अनुयाज में उपयोग है। इस का तात्पर्य यही है कि उपभृत् में आठ बार ग्रहण तो अनुयाज के लिए ही होता है। परन्तु

सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह

जुहू में स्रुव से चार वार आज्यग्रहण

आज्यावेक्षणकर्म्म के अनन्तर 'आज्यग्रहणकर्म्म' होता है । आज्यस्थाली में रक्खे हुए आज्य को स्रुवा के द्वारा जुहू-उपभृत् में डालना ही आज्यग्रहणकर्म्म है । इसी कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"स्रुवेणाज्यग्रहणं चतुर्जुह्वां-"धामनामेति" सकृन्मन्त्र" इति ।

—का० श्रौ सू० २।७।१६।

उक्त सूत्रवशानुसार अध्वर्यु—"ओं धाम नामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि" (हे आज्य ! आप देवताओं के लिए प्रिय 'धाम' नाम वाले हो आप किसी भी आसुरभाव से धर्षण करने योग्य नहीं होने वाले देवताओं के देवयजन (देवयजनभूमिस्थानीय) हो' -यजु० १।३१) यह मन्त्र बोलता हुआ आज्यस्थाली से स्रुवा को पूर्ण भर कर चार वार जुहू में आज्य डालता है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, उक्त मन्त्र का प्रयोग प्रथमवार आज्य-ग्रहण में ही होता है। शेष तीन वार बिना मन्त्रोच्चारण के तूष्णीं ही आज्यग्रहण होता है। तात्पर्य्य यही हुआ कि अध्वर्यु स्रुवा को चार वार पूर्णरूप से आज्यस्थाली में से भरेगा। इस में एक वार तो उक्त मन्त्र बोलता हुआ जुहू में डालेगा शेष तीन वार चुपचाप जुहू में डालेगा ।

उपभृत् में स्रुव से आठ वार आज्यग्रहण

जुहू में स्रुव से पूर्णरूप से चार वार आज्यग्रहण करने के अनन्तर उसी मन्त्र से आठ वार कर के अपरिपूर्णरूप से आज्यस्थाली में से स्रुवा के द्वारा आठ वार उपभृत् में आज्य ग्रहण किया जाता है। इसी अभिप्राय से सूत्रकार कहते हैं—

"अष्टावुपभृत्यल्पीयोऽनुयाजश्चेत्" (का० श्रौ० सू० २।७।१।) ।

यदि दर्शपूर्णमास में अनुयाज का सम्बन्ध है तो आठ वार करके उपभृत् में अपूर्ण आठ स्रुवों से आज्यग्रहण किया जाता है । प्रकृत इष्टि में अन्तरूप अनुयाजकर्म्म वैकल्पिक है इस बात को स्पष्ट करने के लिए 'चेत्' कहा गया है। यदि अनुयाजकर्म्म है तब तो आठ वार उपभृत् में आज्यग्रहण होगा अन्यथा केवल जुहू में ही चार वार आज्यग्रहण होगा।

"यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्—गृह्णाति" (तै० ब्रा० ३।३।५) इस कृष्णब्राह्मणानुसार उपभृत में जो आठ वार आज्यग्रहण होता है उस में चार वार गृहीत आज्य का तो अनुरूप प्रयाजदेवताओं से सम्बन्ध है एवं चार वार गृहीत आज्य का सम्बन्ध अनुयाज-देवताओं से सम्बन्ध है। अनुयाजों का पृथक्सूत्र वैकल्पिक बतलाया है। इस सम्बन्ध में एक

वैज्ञानिक-विवेचना—

(भाष्य)-यज्ञेतिकर्त्तव्यता की उपनिषत् क्या ? इस प्रश्न के समाधान के लिए ही पहिला 'यज्ञ प्रतिरूपरहस्य' नामक प्रकरण आरम्भ होता है। इस उपपत्ति-प्रकरण में प्रथम आध्यात्मिकयज्ञ का स्पष्टीकरण हुआ है अनन्तर आधिदैविकयज्ञ का विश्लेषण हुआ है। उपपत्ति-प्रकरणारम्भ से पहिले हम आज एक बहुत बड़ी विप्रतिपत्ति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। हमारा वेदशास्त्र विज्ञान का भण्डार है' इस सूक्ति के उच्चारण करते ही वर्त्तमान-जगत् प्रश्न-परम्परा हमारे सम्मुख उपस्थित कर देता है। 'यदि वेद में विज्ञान है, तो क्या उस वैदिक-विज्ञान के आधार पर भारतीय भी वर्त्तमान जगत् के से विविध भौतिक आविष्कार कर सकते हैं ?' । इस प्रश्न का महत्त्व उस समय और भी बढ़ जाता है, जब कि वेदाचारों की व्याख्या करते समय पदे पदे 'विज्ञान' शब्द का पुनरावर्त्तन होने लगता है। भारतवर्ष के सर्वोत्कृष्ट वैवस्वयुगकाल में विमानादि भौतिक आविष्कार उक्त प्रश्न का भलीभाँति समाधान कर सकते थे इस में तो कोई सन्देह नहीं। एवं ऋग्वेदीय कतिपय सूक्त आज भी वाचिकरूप से अपना अतीत महत्भाव सुरक्षित रखने में पूर्ण समर्थ हैं। साथ ही यह भी ध्रुव सत्य है कि यदि भारतीय विद्वानों को पूर्ण स्वातन्त्र्य मिले तो वे आज भी विलुप्तप्राय वैदिक-विज्ञान-परम्परा के पुनरुद्धार के द्वारा भौतिक आविष्कारों से अपना अतीत वर्त्तमानकोटि में लासकते हैं।

इसप्रकार भौतिक-विज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित विमानादि भौतिक आविष्कारों के सम्बन्ध में अपने त्रिकालज्ञ, विदितवेदितव्य कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ महामहर्षियों के यशःसौरभ को अणुमात्र भी कम न करते हुए इस सम्बन्ध में हमें अपना यह मन्तव्य स्पष्ट कर ही देना चाहिए कि, भारतीय महर्षियों के वैज्ञानिक-जगत् की परिभाषा अपना कोई विशेष ही महत्त्व रखती है। साथ ही यह भी निर्विवाद है कि, ऋषियों की उस तात्त्विक वैज्ञानिक-परिभाषा की तुलना में भौतिक-आविष्कारों से सम्बन्ध रखने वाली वैज्ञानिक-परिभाषा कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती यदि हम सम्बन्ध में यह भी कह दिया जाय तब भी कोई अतिशयोक्ति न होगी कि ऋषियों का वैदिक-विज्ञान प्रधानतः जिन तीन श्रेणियों में विभक्त है उनके अतिरिक्त किसी चौथे (भौतिक आविष्कारानुगत) विज्ञान पर उनकी दृष्टि सदा से नहीं के समान ही रही है। यही कारण है कि जिस देवयुग में विमानादि भौतिक आविष्कार विद्यमान थे उस युग में भी वे आविष्कार मर्त्यलोक-व्यवहार में नहीं आसके थे। भौतिक आविष्कार माननीय बुद्धि में जड़ता का समावेश करते हुए उसमें जहाँ प्रतिहिंसालक्षण आसुर-भाव का समावेश कर देते हैं वहाँ साथ साथ ही इनके अविराम व्यवहार से मानवसमाज की प्राकृतिक-शक्तियाँ स्वतःसिद्ध पौरुष भी ह्रासानुगत ही बनता रहता है। आत्मस्वातन्त्र्य के अन्यतम शत्रु ये ही भौतिक आविष्कार हैं। ऋषि इन का इस भीषणता से परिचित थे अतएव इस ओर सदा से उन्होंने उपेक्षाबुद्धि का ही प्रधानता दी। फलतः इन भौतिक आविष्कारों के आधार पर न तो वैदिक-विज्ञान का महत्त्व कम हो किया जासकता न इस सम्बन्ध में वैदिक-विज्ञान के सामने आक्षेपात्मक कोई प्रश्न ही उपस्थित करने की धृष्टता की जासकती।

जैसे प्रयाज के लिए जुहू में गृहीत आज्य का वचन-प्रमाण से उत्तराधार से विनियोग होजाता है, एवमेव यहाँ भी प्रयाज में उपयोग होजाता है । दूसरा हेतु 'पश्चाद्दर्शनात्' यह था । इस सम्बन्ध में—

"पश्चातध्योर्णवनात्" (का० श्रौ० सू० २।७।१४)

यह समाधान ही पर्य्याप्त होगा । 'अनुयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति' (शत० ब्रा० १।३।२।६) इस श्रुतिवाक्य से सम्पूर्ण औपभृत् आज्य जब कि अनुयाज के लिए है, तब जहाँ पशुबन्ध में प्रयाजादि द्रव्यान्तर से अनुयाजेतिकर्त्तव्यता पूरी की जाती है एवं आतिथ्यादि में अनुयाज का ही अभाव है, तो उस दशा में यहाँ उपभृत् में अग्रहण प्राप्त होने पर वचन से चतुर्गृहीत आज्य का ही विधान समझना चाहिए । पहिले से प्राप्त का ही दर्शन सम्भव है । पश्चादि में क्योंकि पहले से प्राप्त नहीं है अतः यहाँ वचन ही मानना उचित है । प्रतिपक्षी का तात्पर्य्य यही है कि, जिस पश्चादि दर्शन के आधार पर सिद्धान्ती प्रविभाग की मर्य्यादा स्थापित करता हुआ औपभृत् आज्यग्रहण के सम्बन्ध में चतुर्गृहीत आज्यपक्ष स्थापित करना चाहता है । पश्चादि का इस सम्बन्ध में उपोद्बलक नहीं माना जासकता । अपितु 'यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति अनुयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति' इस श्रुति से औपभृत आज्य उभयार्थ न हो कर अनुयाजार्थ ही मानना न्यायसङ्गत है ।

प्रतिपक्षी की इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए भाष्यकार अपना यह सिद्धान्त स्थापित करते हैं कि 'यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तद् गृह्णाति' (तै० ब्रा० ३।३।८) इस शाखान्तर-वचन के आधार पर औपभृत् आज्य का विधान उभयार्थ ही मानना चाहिए । अनुयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति (श० ब्रा० १।३।२।६) यह वाजसनेय वचन तो प्राप्त अर्थ का अनुवादमात्र है, न कि विधान । ऐसी स्थिति में सिद्धान्त यही निकलता है कि अनुयाजाभाव में किंवा अन्य द्रव्यानुयाज-युक्त कर्म में उपभृत् में चतुर्गृहीत आज्य को ही सिद्धान्त पक्ष समझना चाहिए । जुहू तथा उपभृत् के सम्बन्ध में आज्यग्रहण की व्यवस्था कर अब क्रमप्राप्त ध्रुवानुगत आज्य-व्यवस्था करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"ध्रुवायां च जुहूवत्" (का० श्रौ० सू० २।७।१५) ।

ध्रुवा में एवं चकारात् उपभृत् में जुहू की भांति एक बार मन्त्रप्रयोगपूर्वक आज्यग्रहण होता है एवं तीन बार तूष्णीं बिना मन्त्र प्रयोग के आज्य-ग्रहण होता है । इसप्रकार अनुयाजपक्ष में तो जुहू-उपभृत ध्रुवा में तीनों में क्रमशः ४-८-४ बार आज्य ग्रहण होता है, एवं अनुयाजाभावपक्ष में तीनों में क्रमशः ४-४-४ बार आज्यग्रहण होता है । दोनों ही पक्षों में एक एक बार मन्त्र-प्रयोगपूर्वक आज्यग्रहण होता है एवं शेष तीन बार तूष्णीं आज्यग्रहण होता है, एवं आज्य-ग्रहण से सम्बन्ध रखने वाले सूत्रानुगतपद्धति-क्रम का यही संक्षिप्त स्पष्टीकरण है ।

इति—सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह

प्रकरण–विशेषों में विस्तार से प्रतिपादन हुआ – है। सर्वहुतयज्ञ के उक्त तीनों पर्वों का क्रमशः विश्व के 'स्वयम्भू सूर्य्य पृथिवी' इन तीन पर्वों के साथ क्रमिक सम्बन्ध माना गया है।

सहस्रवल्शात्मक–महामायावच्छिन्न–अश्वत्थवृक्ष के योगमायावच्छिन्न, पञ्चपुण्डीरा–प्राजापत्यवल्शात्मक, अतएव पञ्चपर्वात्मक विश्व के सुप्रसिद्ध पाँचों पर्वों का 'स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी'' रूप से प्रथमखण्ड में अनेक वार उपबृंहण किया जाचुका है। इन पाँचों विश्वपर्वों का आगे जाकर 'स्वयम्भू सूर्य्य–पृथिवी' इन तीन पर्वों में ही विश्राम मान लिया जाता है। इस विश्रान्ति का कारण यही है कि, यज्ञस्वरूप–सम्पादक देवताओं का परस्पर यजन होरहा है। पाँचों के क्रमशः 'ब्रह्मा विष्णु, इन्द्र साम अग्नि' ये पाच देवता हैं। इन में ब्रह्मा स्वतन्त्र रहते हैं। ये ही—ब्रह्म वै सर्वस्य प्रथमजम्–ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा' (श० ब्रा० ६।१।) के अनुसार सर्वप्रतिष्ठा हैं प्रथमज हैं। विष्णु इन्द्र दोनों का एक युग्म है जैसा कि 'विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्य सखा (श्रुति) इत्यादि

——तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋच सामानि जज्ञिरे।
छन्दासि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥
तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादत।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावय॥
तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रत।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥

—यजु सं० ३१।७,८,९,

"ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत। तदैक्षत, न वै तपस्यानन्त्यमस्ति, हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनि, इति। तत् सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं, स्वाराज्यं, आधिपत्यं पर्य्यैत्। तथैवैतद्यजमानः सर्वमेधं सर्वान् मेधान् हुत्वा सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्य्येति। स वाऽएष सर्वमेधो दशरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति। दशाक्षरा विराट् विराडु कृत्स्नमन्नं, कृत्स्नस्यैवान्नाद्यस्यावरुद्ध्यै। तस्मिन्नग्निं पराध्यं चिनोति। परमो वाऽएष यज्ञक्रतूनां-यत् सर्वमेधः। परमेणैवैनं परमतां गमयति''।

——शत० ब्रा० १३ का० ७ अ० १ ब्रा० १ कं०।

ऋषियों का वैदिक-विज्ञान प्रधानतः आधिदैविक, आध्यात्मिक आधिभौतिक, इन तीन श्रेणियों में विभक्त है। आधिभौतिक विज्ञान ही 'यज्ञविज्ञान' है इसी के आधार पर हमारा गृहस्थाश्रमानुबन्धी 'कर्मकाण्ड' प्रतिष्ठित है। आधिदैविक विज्ञान ही 'ईश्वरविज्ञान' है इसी के आधार पर वानप्रस्थाश्रमानुबन्धी 'उपासनाकाण्ड' प्रतिष्ठित है। एवं आध्यात्मिक विज्ञान ही 'जीवविज्ञान' है तथा इसी के आधार पर संन्यासाश्रमानुबन्धी 'ज्ञानकाण्ड' प्रतिष्ठित है। कर्म उपासना ज्ञान ये तीन ही मानवसमाज के परमपुरुषार्थ हैं। इन तीनों का क्रमशः मनुष्य की युवा प्रौढ़, वृद्धावस्थाओं से सम्बन्ध है। अपनी इन तीन अवस्थाओं में आश्रमविभाग की मर्य्यादानुसार क्रमशः तीनों पुरुषार्थों का अनुगमन करने वाले मनुष्य का इहलोक, परलोक, लोकसंग्रह, आदि सभी कुछ गतार्थ होजाता है।

यदि और भी सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाता है, तो हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि उक्त तीनों विज्ञानों का अन्ततोगत्वा 'यज्ञविज्ञान' पर ही पर्य्यवसान है। ईश्वर के साथ सालोक्य-सामीप्य-सायुज्य-सारूप्य-रूप से अपने आत्मा को मिला लेना ही आधिदैविक-विज्ञानानुगत उपासनाकाण्ड का चरम फल है। आत्मप्रपत्तिलक्षणा यह उपासना आत्मा का ईश्वर के साथ यजन कराती हुई यजनलक्षणा यज्ञमर्य्यादा से ही युक्त है। एवमेव अपने विशुद्ध अपहतपाप्मा, जीवात्मा को उस निरुपाधिक, विशुद्ध व्यापक आत्मतत्त्व में समवलस्वरूप से आहुत कर देना ही आध्यात्मिक-विज्ञानानुगत ज्ञानकाण्ड का चरम फल है। आत्मसमन्वय-लक्षण यह ज्ञान भी आत्मा का आत्मा के साथ यजन कराता हुआ यजनलक्षणा यज्ञमर्य्यादा से बाहिर नहीं माना जा-सकता। इसप्रकार यज्ञविज्ञान के गर्भ में इतर दोनों विज्ञानों का भी अन्तर्भाव होरहा है। इसी आधार प० * 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'-'यज्ञेन वाचः पदवीयमान०' इत्यादि मन्त्रवर्णन अन्वर्थ बन रहे हैं।

इन तीनों विज्ञानों का समष्टयात्मक एक ही नाम है—'विश्वविज्ञान'। क्योंकि सम्पूर्ण विश्व अध्यात्म अधिदैवत अधिभूत भेद से तीन ही भागों में विभक्त है। त्रिपर्वात्मक, विश्वविज्ञानात्मक इसी समष्टियज्ञ के लिए 'सर्वहुत'-'सर्वमेध' इत्यादि नाम प्रयुक्त हैं, जिस का यत्र तत्र

*—यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥
—यजुः सं० ३१।१६

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते॥
—ऋक् सं० १०।७१।३

१—स्वयम्भू —अध्यात्मम् (अध्यात्मयज्ञप्रतिष्ठा——ज्ञानकाण्डम्)
२—सूर्य्य ——अधिदैवतम् (अधिदैवतयज्ञप्रतिष्ठा——उपासनाकाण्डम्) }—सवहुतः
३—पृथिवी ——अधिभूतम् (अधिभूतयज्ञप्रतिष्ठा ——कर्म्मकाण्डम्)

प्राकृतिक यज्ञविज्ञान ही विश्वविज्ञान है, एवं इसी के आधार पर पुरुषार्थसम्पादिका वैध-यज्ञत्रयी का (ज्ञान-उपास्ति-कर्म्मत्रयी का) महर्षियों के द्वारा आविर्भाव हुआ है। इस मौलिक स्थिति के आधार पर कहा जासकता है कि हमारा वैदिकविज्ञान उस नित्य यज्ञविज्ञान से ही सम्बन्ध रखता है जिसके परिज्ञान से, एवं तदनुकूल वैधयज्ञानुष्ठान से आत्मनिःश्रेयस के साथ साथ लोकाभ्युदय सर्वात्मना पुष्पित पल्लवित हो जाता है। प्रकृतिसिद्ध नियमों का अनुगमन करते हुए हम शान्ति तथा लोकसंग्रहपूर्वक जीवनयात्रा का निर्वाह करते हुए परम सद्गति प्राप्त करें, एकमात्र इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए हमारा विज्ञानशास्त्र प्रवृत्त हुआ हुआ है जिस का मूलस्तम्भ यज्ञविज्ञान ही माना जासकता है। यज्ञकर्म्म ही हमारे विज्ञान का परमफल है। ऐसी दशा में यज्ञकर्म्मातिरिक्त भौतिक—आविष्कारों को लेकर हमारे विज्ञानशास्त्र पर किसी प्रकार का प्रतिप्रश्न नहीं किया जासकता। जब कि केवल यज्ञकर्म्म ही हमारी प्राकृतिक-शक्तियों को सुरक्षित रखता हुआ हमारी सब आवश्यकताएँ पूरी कर सकता है तो फिर हमें हमारे विज्ञानशास्त्र से उन हिंसक अशान्तिवर्द्धक, सहजशक्ति विनाशक भौतिक आविष्कारों के सम्बन्ध में प्रश्न करने का कोई अवसर ही नहीं बच रहता। निवेदन करने का अभिप्राय यही है कि विज्ञान शब्द से भौतिक आविष्कार प्रकृत विज्ञानकाण्ड में सर्वथा अनभिप्रेत हैं। विज्ञान शब्द की मर्य्यादा यज्ञविज्ञान-पर्य्यन्त ही सीमित समझनी चाहिए जिस के कि गर्भ में आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक-विज्ञान प्रतिष्ठित हैं *।

उक्त दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें प्रकृत 'आरम्भब्राह्मण' का समन्वय करना है। यज्ञकर्म की सिद्धि के लिए 'आरम्भग्रहण' किया जाता है। इसी सम्बन्ध में प्रसङ्गात् यह भी स्पष्ट करलेना चाहिए कि, उक्त यज्ञत्रयी में से प्रकृत में प्रधान-लक्ष्य पृथिव्यनुगत आधिभौतिक यज्ञ ही है। उपासना से सम्बन्ध रखने वाला सूर्य्यानुगत आधिदैविक यज्ञ आरण्यकग्रन्थों से सम्बन्ध रखता है, एवं ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला स्वायम्भुव आध्यात्मिक यज्ञ उपनिषद् ग्रन्थों से सम्बन्ध रखता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों म प्रधानरूप से कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले पृथिव्यनुगत आधिभौतिक यज्ञ का ही विश्लेषण हुआ है।

पृथिव्यनुगत आधिभौतिक यज्ञ में भूपिण्ड पार्थिव शरीर भूमहिमा भेद से तीनों पर्वों का उपभोग होरहा है। स्वयं भूपिण्ड तथा ओषधि वनस्पति काष्ठादि अचेतन वर्ग पृथिव्यनुगत आधिभौतिक यज्ञ से ही सम्बन्ध रखते हैं। वैश्वानर-तैजस प्राज्ञात्मक ससंज्ञ पार्थिवशरीर (अस्मदादि चेतनवर्ग) पृथिव्यनुगत

---

* शतपथ-प्रथमखण्ड के प्रारम्भिक 'पारिभाषिक सूचनायें' नामक स्वतन्त्र स्तम्भ में भारतीय दृष्टिकोणानुगत विज्ञान' शब्द का विस्तार से निरूपण किया जाचुका है।

मन्त्रव्याख्यान से स्पष्ट सिद्ध है। एवं इन्द्र–सोम (चन्द्र) अग्नि, इन तीनों का एक स्वतन्त्र विभाग है। इसप्रकार १-२-३ इस क्रम से पाँचों का तीन हीं संस्थाओं के निर्म्माण में उपयोग होरहा है। प्रथमसंस्था के अधिपति ब्रह्मा हैं, इनका स्वयम्भू से सम्बन्ध है। द्वितीय संस्था के अधिपति इन्द्रगर्भित विष्णु हैं इनका सूर्य्य से सम्बन्ध है। एवं तृतीय संस्था के अधिपति इन्द्र-सोम गर्भित अग्नि हैं तथा इनका सम्बन्ध पृथिवी से है। ब्रह्मा ब्रह्मा हैं इन्द्रगर्भित विष्णु विष्णु हैं, एवं इन्द्र–सोम-गर्भित अग्नि महेश हैं। इसी 'विश्वविज्ञान' के आधार पर आख्यानशास्त्र' (पुराण) में वैदिक-पञ्चदेवतावाद के स्थान में त्रिदेवतावाद को ही प्रधानता दी है।

पुरुषविज्ञान के अनुसार भी इसी त्रिपर्व का समर्थन होरहा है। अव्ययपुरुषानुगत 'आनन्द', अक्षरपुरुषानुगत 'ब्रह्मा' एवं क्षरपुरुषानुगत प्राण तीनों के सम्बन्ध से आनन्द–ब्रह्मा–प्राणमय बनने वाला स्वयम्भू ही 'आध्यात्मिकयज्ञ' की प्रतिष्ठा है। अव्ययानुगत विज्ञानगर्भित 'मन' अक्षरानुगत विष्णु गर्भित 'इन्द्र' एवं क्षरानुगता अन्नगर्भिता 'वाक्' इन तीनों के सम्बन्ध से मन इन्द्र-वाङ्मय बनने वाला सूर्य्य ही आधिदैविकयज्ञ की प्रतिष्ठा है। अव्ययानुगता प्राणगर्भिता 'वाक्' अक्षरानुगत इन्द्रसोमगर्भित अग्नि' एवं क्षरानुगत अन्नगर्भित अन्नाद', इन तीनों के सम्बन्ध से 'वाक्–अग्नि–अन्नादमय बनने वाली पृथिवी ही आधिभौतिकयज्ञ की प्रतिष्ठा है। पृथिव्यनुगत कर्म्मकाण्डात्मक आधिभौतिकयज्ञ स्वर्गसुख की प्रतिष्ठा है। सूर्य्यानुगत उपासनाकाण्डात्मक आधिदैविकयज्ञ अपरामुक्ति की प्रतिष्ठा है। एवं स्वयम्भू-अनुगत ज्ञानकाण्डात्मक, आध्यात्मिकयज्ञ परामुक्ति की प्रतिष्ठा है। इसप्रकार 'त्रि संस्था' में दृष्टा के अनुसार त्रिपर्ववाद का समर्थन करने वाला हमारा सर्वहुतयज्ञ त्रिपर्वा बन कर सर्वप्रतिष्ठा बनता हुआ। 'इष्ट-काममधुक्' नाम को सर्वथैव अन्वर्थ कर रहा है।

१—आनन्दः	ब्रह्मा	प्राणः	स्वयम्भूः	स्वयम्भू	सर्वहुतयज्ञ
२—विज्ञानम्	विष्णु	आपः	परमेष्ठी	सूर्य्य	
३—मनः	इन्द्र	वाक्	सूर्य्यः		
४—प्राणः	सोमः	अन्नम्	चन्द्रमाः	पृथिवी	
५—वाक्	अग्नि	अन्नादः	पृथिवी		

विकसित होजाते हैं। यहां भूमहिमालक्षण यज्ञ आधिदैविक यज्ञ है, एवं यही पार्थिव शरीरलक्षण आध्यात्मिक यज्ञ की प्रतिष्ठा है। जैसी स्थिति, जो अवयवसंस्थान पार्थिव आधिदैविक यज्ञ का है, वैसी ही स्थिति, यही अवयवसंस्थान पार्थिव शरीरात्मक आध्यात्मिक यज्ञ का है। एवं जिस नियम से आध्यात्मिक यज्ञ (पुरुषसंस्था) का निर्माण हुआ है उसी नियम से ऋषियों के द्वारा आधिभौतिक लक्षण वैधयज्ञ का वितान हुआ है। ईश्वरीयसंस्था में जहां अध्यात्म अधिदैवत की प्रतिष्ठा थी वहां जीवसंस्था में अधिदैवत अध्यात्म की ही प्रतिष्ठा है।

१—एकविंशस्तोमावच्छिन्नो भूमहिमा—	अधिदैवतयज्ञः	(पार्थिवः)	सैषा आधिभौतिक-यज्ञत्रयी
२—पार्थिवशरीराणि—	अध्यात्मयज्ञ	(पार्थिव)	
३—पुरुषप्रयत्नसाध्या वैधयज्ञा—	अधिभूतयज्ञः	(पार्थिव)	

उक्त स्थिति को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें प्रकृत ब्राह्मण के 'प्रतिरूपरहस्य' का समन्वय करना है। 'पुरुषो वै यज्ञः' इत्यादि श्रुति यज्ञोद्देश्येन पुरुष का विधान करती हुई यही कहना रही है कि, हमारा यह पुरुष-(मानव)-प्रयत्नसाध्य यज्ञ पुरुष (मानव) की प्रतिकृति ही है। पुरुष इस वैधयज्ञ का वितान कर रहा है इसीलिए यज्ञ को पुरुष माना जासकता है। 'पुरुष' शब्द स्वयं यज्ञस्वरूप का सूचक है। शोणित आग्नेय तत्व है शुक्र सोम तत्त्व है दोनों के मथन का ही नाम यज्ञ है, एवं यही यज्ञप्रक्रिया पुरुषोत्पत्ति का प्रधान कारण है। अतएव पुरुष को अवश्य ही यज्ञ कहा जासकता है। यज्ञात्मक पुरुष का जो व्यापार होगा, वह भी यज्ञ ही माना जायगा, एवं इस यज्ञव्यापार से जिस कर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होगा वह कर्म्म भी पिता-पुत्रवत् यज्ञ ही कहा जायगा। यज्ञ उस अतिशय का नाम है जो प्रक्रियाविशेषों से उत्पन्न होकर यज्ञकर्त्ता के भूतात्मा की स्वर्गादि प्राप्ति का कारण बनता है। अतएव इस अतिशय (संस्कार) को 'दैवात्मा' कहा जाता है। वह दैवात्मा ही वस्तुतः यज्ञ है। इस का उपादान यजमान का कर्म्म बनता है। जब कि उपादान-स्थानीय यजमानपिता पुरुष है, तो तत् पुत्र-स्थानीय अतिशयलक्षण दैवात्मरूप यज्ञ को भी पुरुष ही कहा जायगा।

इस के अतिरिक्त हम यह भी देखते हैं कि, पुरुषयज्ञ (मानवशरीर) का जिस कौशल से वितान हुआ है उसी कौशल से इस वैधयज्ञ का वितान हुआ है। वैधयज्ञ से पहिले पुरुषयज्ञ का ही विचार कीजिए। पाञ्चभौतिक शरीरपिण्ड 'यज्ञसंस्थान' है। भूतात्मा यज्ञकर्त्ता 'यजमान' है। आलोमभ्य:, आनखाग्रेभ्य व्याप्त वैश्वानराग्नि 'होता' है। श्वासप्रश्वासात्मक वायु 'अध्वर्यु' है। हृदयस्थ प्रज्ञान मन 'ब्रह्मा' है। कण्ठस्थित तेजोनाडी में प्रतिष्ठित उदानप्राण 'उद्गाता' है। मूलाधारमण्डल 'गार्हपत्यकुण्ड' है तत्रस्थ अपानाग्नि 'गार्हपत्याग्नि' है। जठराग्निमण्डल 'दक्षिणाग्निकुण्ड' है। तत्रस्थ जाठराग्नि दक्षिणाग्नि है। शिरोमण्डल 'आहवनीयकुण्ड' है। तत्रस्थ प्राणाग्नि आहवनीयाग्नि है। केश-लोम बर्हि है। अस्थिसमूह 'समिध' है द्रव द्रव्य प्रणीता तथा 'प्रोक्षणी' है। अन्न आहुतिद्रव्य है। दक्षिणभुजा-दक्षिणपाद 'जुहूः' है। वामभुजा-वामपाद 'उपभृत' है। मध्याङ्ग 'ध्रुवा' है। सर्वाङ्गशरीरसंचारी चैतन्यप्राण 'स्रुव' है। कण्ठ से आरम्भ कर मूलाधार पर्य्यन्त सम्पूर्ण प्रदेश वेदि है। इसप्रकार हमारी पुरुषसंस्था यज्ञस्वरूप का सर्वात्मना प्रतिरूप ही बन

आध्यात्मिक यज्ञ से सम्बन्ध रखते हैं । एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्ना महापृथिवी (भूमहिमा) से सम्बन्ध रखने वाले पार्थिव दिव्यदेवता पृथिव्यनुगत आधिदैविक यज्ञ से सम्बन्ध रखते हैं । इसप्रकार केवल पार्थिवसंस्था से सम्बन्ध रखने वाले, कर्म्मप्रधान आधिभौतिक यज्ञ में ही भूपिवर्ग पा थव चेतनवर्ग दिव्य देववर्ग भेद से तीनों यज्ञों का उपभोग सिद्ध होरहा है ।

तथ्य यद्यपि अप्रासङ्गिक है । तथापि इसका स्पष्टीकरण करके ही 'ब्राह्मणविज्ञान' का समन्वय करना चाहिए । विश्व के तीनों पर्वों के स्पष्टीकरण के लिए वेद के अपौरुषेय ब्राह्मणभाग के 'विधि आरण्यक, उपनिषत्' भेद से तीन काण्ड हमारे सम्मुख उपस्थित हुए हैं । ये तीनों काण्ड कर्त्तव्यमार्ग का ही प्रदर्शन कर रहे हैं । शेष ब्रह्म (मन्त्र) भाग ज्ञातव्यमात्र से सम्बन्ध रखता है । इसप्रकार ज्ञातव्य कर्त्तव्य-भेद से वेदशास्त्र 'ब्रह्म-ब्राह्मण' रूप से दो मार्गों में विभक्त होरहा है । विश्वविज्ञान का क्या स्वरूप है ? इस प्रश्न का समाधान ब्रह्मवेद (संहितावेद) कर रहा है । एवं विश्वविज्ञान के आधार पर हमें क्या करना चाहिए ? कैसे करना चाहिए ? इस प्रश्न का समाधान ब्राह्मणवेद (विधि आरण्यक उपनिषद् वेद) कर रहा है । इसप्रकार मन्त्रब्राह्मणात्मक समास वेदशास्त्र त्रित्व के ज्ञातव्य कर्त्तव्य की पूर्ति करता हुआ सर्वशास्त्र ही बन रहा है । प्रस्तुत भाष्य कर्त्तव्य-वेदभाग के कर्म्मकाण्ड से ही सम्बन्ध रखता है जिसका कि पृथिव्यनुगत आधिभौतिक यज्ञपर्व से ही सम्बन्ध है। विध्यात्मक ब्राह्मणग्रन्थों में 'इति नु अध्यात्मम्' इति नु अधिदैवतम्' इत्यादि रूप से जिन अध्यात्मादि विवर्तों का स्पष्टीकरण होरहा है उनका एकमात्र पृथिव्यनुगत आधिभौतिक यज्ञपर्व से ही सम्बन्ध समझना चाहिए ।

निष्कर्ष यही निकला कि वेदशास्त्र विज्ञानप्रधान है । विज्ञान से प्रधानतः 'विश्वविज्ञान' ही अभिप्रेत है। इस विश्वविज्ञान के अध्यात्म अधिदैवत अधिभूत नामक तीन पर्व हैं । तीनों पर्वों का क्रमशः स्वयम्भूसूर्य्य-पृथिवी से सम्बन्ध है । ये ही तीनों विज्ञान क्रमशः ज्ञानकाण्ड उपासनाकाण्ड कर्म्मकाण्ड की प्रतिष्ठाभूमि हैं । इस विज्ञानत्रयी के ज्ञातव्य कर्त्तव्य भेद से दो विवर्त हैं । ज्ञातव्यत्रयी का स्पष्टीकरण संहितात्मक ब्रह्मवेद में हुआ है, एवं कर्त्तव्यत्रयी का निरूपण ब्राह्मणात्मक वेद में हुआ है । नक्षत्रविज्ञान ग्रहविज्ञान ओषधि-वनस्पतिविज्ञान शस्त्रविज्ञान आदि आदि अवान्तर अनन्त-खण्डात्मक समस्त विज्ञानों का इन्हीं तीनों विज्ञानों में अन्तर्भाव है ।

१—अध्यात्मविज्ञानम्—स्वायम्भुवम्—विधिः (कर्त्तव्यात्मकं कर्म्म)

२—अधिदैवतविज्ञानम्—सौरम्—आरण्यकः (कर्त्तव्यात्मिका उपासना)

३—अधिभूतविज्ञानम्—पार्थिवम्—उपनिषत् (कर्त्तव्यात्मकं ज्ञानम्)

इन तीनों में विशेषता यही है कि, स्वायम्भुव अध्यात्मयज्ञ का ईश्वरीयसंस्था सम्बन्ध है, एवं इन के आधार पर सौर आधिदैविक विज्ञान प्रतिष्ठित है । साथ ही यही आधिभौतिक-विज्ञान की भी प्रतिष्ठा बना हुआ है । दूसरे शब्दों में ईश्वरात्मा का अध्यात्म स्वायम्भुव यज्ञ है अधिदैवत सौर यज्ञ है एवं अधिभूत पार्थिव यज्ञ है । इन तीनों में से हमारे वैधयज्ञ का एकमात्र ईश्वरीय, पार्थिव आधिभौतिक यज्ञ से ही सम्बन्ध है । ईश्वरीय आधिभौतिक यज्ञ के पूर्वकथनानुसार भूमहिमा, पार्थिव शरीर एवं मनुष्यकृत वैधयज्ञ के भेद से तीन

विवच होजाते हैं। यहाँ भूमहिमालक्षण यज्ञ आधिदैविक यज्ञ है, एवं यही पार्थिव शरीरलक्षण आध्यात्मिक यज्ञ की प्रतिष्ठा है। जैसी स्थिति, जो अवयवस्थान पार्थिव आधिदैविक यज्ञ का है, वैसी ही स्थिति, यही अवयव-संगान पार्थिव शरीरात्मक आध्यात्मिक यज्ञ का है। एवं जिस नियम से आध्यात्मिक यज्ञ (पुरुषसंस्था) का निर्माण हुआ है उसी नियम से ऋषियों के द्वारा आधिभौतिक लक्षण वैधयज्ञ का वितान हुआ है। ईश्वरीयसंस्था में यहाँ अध्यात्म अधिदैवत की प्रतिष्ठा थी यहाँ जीवसंस्था में अधिदैवत अध्यात्म की की प्रतिष्ठा है।

१—एकत्रिंशत्सोमावच्छिन्नो भूमहिमा—अधिदैवतयज्ञः (पार्थिवः)	सैषा आधिभौतिक-यज्ञत्रयी
२—पार्थिवशरीराग्नि——————अध्यात्मयज्ञ (पार्थिव)	
३—पुरुषप्रयत्नसाध्या वैधयज्ञा———अधिभूतयज्ञः (पार्थिव)	

उक्त स्थिति को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें प्रकृत ब्राह्मण के 'प्रतिरूपरहस्य' का समन्वय करना है। 'पुरुषो वै यज्ञः' इत्यादि श्रुति यज्ञोद्देश्येन पुरुष का विधान करती हुई यही बतला रही है कि, हमारा यह पुरुष-(मानव)-प्रयत्नसाध्य यज्ञ पुरुष (मानव) की प्रतिकृति ही है। पुरुष इस वैधयज्ञ का वितान कर रहा है इसीलिए यज्ञ को पुरुष माना जासकता है। 'पुरुष' शब्द स्वयं यज्ञस्वरूप का सूचक है। योषित् आग्नेय तत्त्व है शुक्र सोम तत्त्व है दोनों के मथन का ही नाम यज्ञ है, एवं यही यज्ञप्रक्रिया पुरुषोत्पत्ति का प्रधान कारण है। अतएव पुरुष को अवश्य ही यज्ञ कहा जासकता है। यज्ञात्मक पुरुष का जो व्यापार होगा वह भी यज्ञ ही माना जायगा, एवं इस यज्ञव्यापार से जिस कर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होगा वह कर्म्म भी पिता-पुत्रवत् यज्ञ ही कहा जायगा। यज्ञ उस अतिशय का नाम है जो प्रक्रियाविशेषों से उत्पन्न होकर यज्ञकर्त्ता के भूतात्मा की स्वर्गादि प्राप्ति का कारण बनता है। अतएव इस अतिशय (संस्कार) को 'दैवात्मा' कहा जाता है। यह दैवात्मा ही वस्तुतः यज्ञ है। इस का उपादान यजमान का कर्म्म बनता है। जब कि उपादान-स्थानीय यजमानपिता पुरुष है, तो तत् पुत्र-स्थानीय, अतिशयलक्षण दैवात्मरूप यज्ञ को भी पुरुष ही कहा जायगा।

इस के अतिरिक्त हम यह भी देखते हैं कि, पुरुषयज्ञ (मानवशरीर) का जिस कौशल से वितान हुआ है उसी कौशल से इस वैधयज्ञ का वितान हुआ है। वैधयज्ञ से पहिले पुरुषयज्ञ का ही विचार कीजिए। पाञ्चभौतिक शरीरपिण्ड 'यज्ञसंस्थान' है। भूतात्मा 'यज्ञकर्त्ता यजमान' है। आलोमभ्य आनखाग्रेभ्य' व्याप्त वैश्वानराग्नि 'होता' है। श्वासप्रश्वासात्मक वायु 'अध्वर्यु' है। हृदयस्थ प्रज्ञान मन 'ब्रह्मा' है। कण्ठस्थित तेजानाड़ी में प्रतिष्ठित उदानप्राण 'उद्गाता' है। मूलाधारमण्डल 'गार्हपत्यकुण्ड' है तत्रस्थ अपानाग्नि 'गार्हपत्याग्नि' है। जठराग्निमण्डल 'दक्षिणाग्निकुण्ड' है। तत्रस्थ जाठराग्नि 'दक्षिणाग्नि' है। शिरोमण्डल 'आहवनीयकुण्ड' है। तत्रस्थ प्राणाग्नि 'आहवनीयाग्नि' है। केश-लोम 'बर्हि' है। अस्थिसमूह 'समिध' है अन्न द्रव्य प्रणीता तथा प्रोक्षणी' है। अन्न 'आहुतिद्रव्य' है। दक्षिणभुजा-दक्षिणपाद 'जुहू' है। वामभुजा-वामपाद 'उपभृत' है। मध्याङ्ग 'ध्रुवा' है। सर्वाङ्गशरीरसंचारी श्वतन्यप्राण 'स्रुव' है। कण्ठ से आरम्भ कर मूलाधार पर्य्यन्त सम्पूर्ण मध्यदेश 'वेदि' है। इसप्रकार हमारी पुरुषसंस्था यज्ञस्वरूप का यथातमना प्रतिरूप ही बन

रही है। ऐसे यज्ञात्मक इस पुरुषाकार के आधार पर ही, तदनुरूप ही क्योंकि इस वैधयज्ञ का वितान होता है अतएव इस वैधयज्ञ को हम अवश्य ही पुरुष का प्रतिरूप कह सकते हैं।

पुरुषयज्ञ में दक्षिणभुजा से अन्नाहुति दी जाती है वामभुजा सहयोगिनी बनी रहता है चैतन्यप्राण अन्नरस को सर्वाङ्गशरीर में पहुँचाता रहता है, मध्याङ्ग से इतर सम्पूर्ण शरीरावयव रसग्रहण के द्वारा पुष्ट होते रहते हैं। ठीक यही काम इस वैधयज्ञ में जुह्वादि से लिया जाता है। अतएव आहुतिधारक जुहू को हम इस वैधयज्ञ की दक्षिणभुजा कह सकते हैं। उपभृत् जुहू की सहयोगिनी है अतएव इसे वामभुजा माना जासकता है। ध्रुवा से ही (आघारित आज्य से ही) सम्पूर्ण यज्ञ सम्पन्न होता है अतएव इसे आत्मा (मध्याङ्ग) माना जासकता है। स्रुवा का सम्पूर्ण स्रुचों में सञ्चार होता है। अतएव इसे प्राण कहा जासकता है। इसप्रकार दक्षिणभुजा वामभुजा, मध्याङ्ग सञ्चारीप्राण इन चारों के अनुरूप अपना स्थान रखने वाले जुहू उपभृत्, ध्रुवा स्रुव चारों यज्ञपात्र यज्ञ की पुरुषप्रतिरूपता को सर्वात्मना अन्वर्थ बना रहे हैं। निष्कर्ष जैसा वितानक्रम आध्यात्मिक यज्ञ का है, ठीक यही क्रम इस आधिभौतिक यज्ञ का है। यहाँ ऐसा क्यों किया गया?, किस आधार पर किया गया? इत्यादि प्रश्नों की उपनिषत् यही आध्यात्मिक यज्ञ (पुरुष-स्वरूप) है। वैधयज्ञ यज्ञ है उधर प्राकृतिक पुरुषयज्ञ भी यज्ञ है। 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' यह आदेश है। अतएव यहाँ वैसा ही करना न्यायसङ्गत है। जब यह वैसा ही है, तो इसे यह (पुरुष) कहने में कोई भी आपत्ति नहीं की जासकती।

पुरुष- यजमान)-प्रयत्नसाध्य होने से तथा पुरुषयज्ञानुरूप वितायमान होने से यह वैध-आधिभौतिक यज्ञ भी पुरुष ही माना जासकता है' उक्त प्रतिरूपता का यही निष्कर्ष है। अब इस सम्बन्ध में यह प्रश्न बच रहता है कि, पुरुषयज्ञ का स्वरूप ही एवंविध कैसे हुआ?। दूसरे शब्दों में इस प्रश्न का यों भी विश्लेषण किया जासकता है कि 'आधिभौतिक-यज्ञ की उपनिषत् (प्रतिष्ठा-मूलभित्ति) तो अध्यात्मयज्ञ है परन्तु आध्यात्मिक यज्ञ की उपनिषत् क्या है?। इस प्रश्न का उत्तर यही पूर्वप्रतिपादित पार्थिव आधिदैविक-यज्ञ है। आधिदैविक पार्थिव त्रिलोक ही इस आध्यात्मिक पुरुषयज्ञ की प्रतिष्ठा है। भूपिण्ड से आरम्भकर २१ वें स्तोम-पर्य्यन्त व्याप्त महामहिम पार्थिवमण्डल ही 'यज्ञसंस्था' है। पार्थिव सर्वप्रजापति (पार्थिव अग्नि) ही यज्ञकर्त्ता 'यजमान' है। त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्रदेश में व्याप्त वैश्वानर अग्नि ही 'होता' है। पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्रदेशोपलक्षित अन्तरिक्ष में व्याप्त वायु ही 'अध्वर्यु' है। चान्द्रसोमात्मक पार्थिव मन ही 'ब्रह्मा' है। एकविंशस्तोमावच्छिन्न पार्थिवप्रदेशोपलक्षित द्युलोक में व्याप्त आदित्य ही 'उद्गाता' है। भूपिण्ड ही 'पुराण-गार्हपत्यकुण्ड' है तत्रस्थ चित्याग्नि ही 'पुराणगार्हपत्याग्नि' है। त्रिवृत्स्तोमान्त पार्थिवमहिमा-प्रदेश ही 'नूतनगार्हपत्यकुण्ड' है तत्रस्थ पार्थिव घनाग्नि ही 'नूतनगार्हपत्याग्नि' है। पञ्चदशस्तोमान्त पार्थिवमहिमा-प्रदेश ही 'धिष्ण्याग्निकुण्ड' है तत्रस्थ अन्तरिक्ष नाक्षत्रिकाग्नि ही 'धिष्ण्याग्नि' है। एकविंशस्तोमान्त पार्थिवमहिमाप्रदेश ही 'आहवनीयकुण्ड' है तत्रस्थ सौर दिव्याग्नि ही 'आहवनीयाग्नि' है। लोकालोकसीमान्तावरुद्ध 'मन' नामक आप ही 'परिधि' है। अन्तरिक्ष में व्याप्त चान्द्रमासोम ही 'समिध' है। अन्तरिक्षस्थ मरीचि नामक 'आप' ही 'प्रणीता' तथा 'प्रोक्षणी' हैं, ओषधि सोम तथा चान्द्रसोम ही 'आहुतिद्रव्य' है। भूपिण्ड ही हविर्वेदि है। भूमहिमा ही 'महावेदि' है। एकविंशस्तोमावच्छिन्न द्युलोक ही दक्षिणहस्तस्थानीय 'जुहू' है। जुहू (द्यौ) का आधारभूत पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न अन्तरिक्षलोक ही वामहस्तस्थानीय 'उपभृत्' है। स्वयं भूपिण्ड ही मध्याङ्गस्थानीय 'ध्रुवा' है। त्रैलोक्य-

सचारी चैतन्य-प्राणस्थानीय वायव्यप्राण ही सूत्र' है। इसप्रकार पार्थिवमहिमालक्षण इस प्राधिदैविक यज्ञ में भी यज्ञ विकृत स्वता-संसाधक सामग्री-परिग्रह यथानुरूप, यथास्थान व्यवस्थित है। इस का क्योंकि ऐसा स्वरूप है अतएव इस से उत्पन्न आध्यात्मिक-यज्ञ का भी वैसा ही स्वरूप है। एवं जैसा स्वरूप आध्यात्मिक-यज्ञ का है तद्नुरूप ही इस वैध-आधिभौतिक-यज्ञ का वितान किया जाता है।

मूलानुवाद में मे यह सन्देह किया गया था कि प्रथम तो पृथिवी की त्रैलोक्य से उत्पत्ति मानना ही असङ्गत है। उस पर भी पृथिवी से पृथिवी की उत्पत्ति मानना तो कथमपि सङ्गत नहीं बन सकता। इस सन्देह की निवृत्ति के लिए दो शब्दों में 'पार्थिवत्रस्त्रा' का स्वरूप जान लेना भी आवश्य होगा। श्रुतिने जिस पृथिवी को मध्याङ्गस्थानीय मृत्स्ना' बतलाया है वह चित्याग्निप्रधान भूपिण्ड है, जिस पर अस्मदादि पार्थिवी प्रजा सपरिग्रह प्रतिष्ठित है। एवं श्रुतिने मृगस्थानीय जिस इस भूपिण्ड से— 'अस्या एवेमे सर्वे लोकाः प्रभवन्ति' इत्यादिरूप से जिस त्रैलोक्य की प्रवृत्ति बतलाई है वह चित्रेनिधेयाग्निप्रधान भूमहिमा है।

असृविध त्रिलोकियों में से पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाली त्रिलोकी 'स्तोम्यत्रिलोकी' नाम से प्रसिद्ध है। इस की उत्पत्ति यथार्थ में मृत्स्थानीय भूपिण्ड से ही हुई है। "यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार भूपिण्ड अग्निगर्भित है। यह भौमाग्नि ही भूमि का अधिष्ठाता 'प्रजापति' है। इस प्राजापत्य भौम अग्नि की अमृत (चितिनिधेय), मर्त्य (चित्य) भेद से दो अव-स्थाएं सहज-सिद्ध मानी गई हैं जैसा कि — "अर्द्ध ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्" (शत० १ ।२।२) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। भूपिण्ड मर्त्याग्निप्रधान है तन्मय है। इस पिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहने वाला अमृताग्नि ही रसाग्नि है यही प्राणाग्नि है यही दृवाग्नि नाम से भी व्यव-हृत हुआ है। सृष्टिकामुक इस रसाग्निलक्षण प्रजापति की कामना स्वयं इस के रसाग्नि-भाग का ऊर्ध्व (केन्द्र से चारों ओर) प्रसार करती है। भूपिण्डकेन्द्र से चारों ओर वितत होने वाले इस रसाग्नि की घन-तरल-विरल-भेद से तीन अवस्थाएँ होजाती हैं। जहांतक घनरस व्याप्त होता है तदवच्छिन्न प्रदेश ही पृथिवी (महिमापृथिवी का पृथिवीलोक) है। एवं तत्र प्रतिष्ठित घनाग्निरस ही अग्नि है। जहांतक तरल रस व्याप्त होता है तदवच्छिन्न प्रदेश ही अन्तरिक्ष' (महिमापृथिवी का अन्तरिक्षलोक) है। एवं तत्र प्रतिष्ठित तरलाग्नि ही 'हंस नामक वायु है। जहांतक विरलरस व्याप्त होता है, तदवच्छिन्न प्रदेश ही द्यौ (महिमापृथिवी का द्युलोक) है। एवं तत्र प्रतिष्ठित विरलाग्नि ही आदित्य' है। इसप्रकार रसाग्नि के ऊर्ध्व वितान से यही केन्द्रस्थ अग्नि 'अग्नि वायु आदित्य' अपने इन प्रथम-द्वितीय-द्वितीय-तृतीय-रूपों से त्रैलोक्य का निर्माण करता हुआ अधिष्ठाता रूप से त्रैलोक्य में व्याप्त होरहा है *।

---

* "आपो वाऽअर्क । तद्यदपां शर आसीत्, तत् समहन्यत । सा पृथिव्य-भवत् । तस्यामश्राम्यत् । तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो निरवर्त्तताग्निः । स त्रेधा-त्मानं व्यकुरुत-आदित्यं तृतीयं, वायुं तृतीयम् । स एष प्राणः (प्राणाग्निः) त्रेधा वि-हितः" इति ।

—शत० ब्रा० १०।६।५।१२,।

रही है। ऐसे यज्ञात्मक इस पुरुषाकार के आधार पर ही, तदनुरूप ही क्योंकि इस वैधयज्ञ का वितान होता है अतएव इस वैधयज्ञ को हम अवश्य ही पुरुष का प्रतिरूप कह सकते हैं।

पुरुषयज्ञ में दक्षिणभुजा से प्रधानाहुति दी जाती है वामभुजा सहयोगिनी बनी रहता है चैतन्यप्राण अन्नरस को सर्वाङ्गशरीर में पहुँचाता रहता है मध्याङ्ग से इतर सम्पूर्ण शरीरावयव रसग्रहण के द्वारा मुह हात रहते हैं। ठीक यही क्रम इस वैधयज्ञ में स्रुगादि से लिया जाता है। अतएव आहुतिसाधक जुहू को हम इस वैधयज्ञ की दक्षिणभुजा कह सकते है। उपभृत् जुहू की सहयोगिनी है अतएव इसे वामभुजा माना जासकता है। ध्रुवा से ही (प्रवासित्य आज्य से ही) सम्पूर्ण यज्ञ सम्पन्न होता है अतएव इसे आत्मा (मध्याङ्ग) माना जासकता है। स्रुवा का सम्पूर्ण स्रुचों में सञ्चार होता है। अतएव इसे प्राण कहा जासकता है। इसप्रकार दक्षिणभुजा वामभुजा, मध्याङ्ग सञ्चारीप्राण इन चारों के अनुरूप अपना स्थान रखने वाले जुहू उपभृत्, ध्रुवा स्रुव चारों यज्ञपात्र यज्ञ की पुरुषप्रतिरूपता को-सर्वात्मना चरितार्थ बना रहे हैं। निष्कर्ष जैसा वितानक्रम आध्यात्मिक यज्ञ का है, ठीक वही क्रम इस आधिभौतिक यज्ञ का है। यहां ऐसा क्यों किया गया? किस आधार पर किया गया? इत्यादि प्रश्नों की उपनिषत् यही आध्यात्मिक यज्ञ (पुरुष-स्वरूप) है। वैधयज्ञ यज्ञ है उधर प्राकृतिक पुरुषयज्ञ भी यज्ञ है। 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' यह आदेश है। अतएव यहां वैसा ही करना न्यायसङ्गत है। जब यह वैसा ही है तो इसे यह (पुरुष) कहने में कोई भी आपत्ति नहीं की जासकती।

"पुरुष- यजमान)-प्रयत्नसाध्य होने से तथा पुरुषयज्ञानुरूप वितायमान होने से यह वैध-आधिभौतिक यज्ञ भी पुरुष ही माना जासकता है" उक्त प्रतिस्पर्धा का यही निष्कर्ष है। अब इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि पुरुषयज्ञ का स्वरूप ही एकविध कैसे हुआ? दूसरे शब्दों में इस प्रश्न का यों भी विश्लेषण किया जासकता है कि आधिभौतिक-यज्ञ की उपनिषत् (प्रतिष्ठा-मूलभित्ति) तो अध्यात्मयज्ञ है परन्तु आध्यात्मिक यज्ञ की उपनिषत् क्या है? इस प्रश्न का उत्तर वही पूर्वप्रतिपादित पार्थिव आधिदैविक-यज्ञ है। आधिदैविक पार्थिव त्रिलोकयज्ञ ही इस आध्यात्मिक पुरुषयज्ञ की प्रतिष्ठा है। भूपिण्ड से आरम्भकर २१ वें स्तोम-पर्य्यन्त व्याप्त महामहिम पार्थिवमण्डल ही 'यज्ञसंस्था' है। पार्थिव सर्वप्रजापति (पार्थिव अग्नि) ही यज्ञकर्त्ता 'यजमान' है। त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्रदेश में व्याप्त वैश्वानर अग्नि ही 'होता' है। पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्रदेशोपलक्षित अन्तरिक्ष में व्याप्त वायु ही 'अध्वर्यु' है। चान्द्रसोमात्मक पार्थिव मन ही 'ब्रह्मा' है। एकविंशस्तोमावच्छिन्न पार्थिवप्रदेशोपलक्षित द्युलोक में व्याप्त आदित्य ही 'उद्गाता' है। भूपिण्ड ही 'पुराण-गार्हपत्यकुण्ड' है तत्रस्थ चित्याग्नि ही 'पुराणगार्हपत्याग्नि' है। त्रिवृत्स्तोमान्त पार्थिवमहिमा-प्रदेश ही 'नूतनगार्हपत्यकुण्ड' है तत्रस्थित पार्थिव घनाग्नि ही 'नूतनगार्हपत्याग्नि' है। पञ्चदशस्तोमान्त पार्थिवमहिमा-प्रदेश ही 'धिष्ण्याग्निकुण्ड' है तत्रस्थ वायव्य नाक्षत्रिकाग्नि ही 'धिष्ण्याग्नि' है। एकविंशस्तोमान्त पार्थिवमहिमाप्रदेश ही 'आहवनीयकुण्ड' है तत्रस्थ सौर दिव्याग्नि ही 'आहवनीयाग्नि' है। लोकालोकसीमान्तानुगत 'वेन' नामक आप ही 'बर्हि' हैं। अन्तरिक्ष में व्याप्त अप्सोम ही 'समिध' हैं। पारमेष्ठ्य 'मरीचि' नामक 'आप' ही प्रणीता' तथा भास्वती हैं, अपधि सोम तथा चान्द्रसोम ही 'आहुतिद्रव्य' है। भूपिण्ड ही हविर्वेदि है। भूमहिमा ही महावेदि' है। एकविंशस्तोमावच्छिन्न द्युलोक ही दक्षिणहस्तस्थानीय 'जुहू' है। जुहू (द्यौ) का आधारभूत पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न अन्तरिक्षलोक ही वामहस्तस्थानीय 'उपभृत्' है। स्वयं भूपिण्ड ही मध्याङ्गस्थानीय 'ध्रुवा' है। त्रैलोक्य

बाह्य आकार ही आकार है जिसे कि विज्ञानभाषा में वयोनाध कहा जाता है। यह वयोनाध ही+ 'छन्द' है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड का कोई न कोई बाह्य आकार अवश्य रहता है पर्याँ इस बाह्य आकार में आकारित वस्तुतत्त्व सीमित रहता हुआ सुरक्षित बना रहता है। छन्दोलक्षण वयोनाध [आकार] से सुरक्षित वस्तुतत्त्व [मर्त्यपिण्ड] ही वय' है। जिसप्रकार उदरसीमा से सीमित अन्न 'वय है एवमेव छन्दःसीमारूप उदर में प्रतिष्ठित रहने से ही इस वस्तुतत्त्व को वय [अन्न] मान लिया गया है। वय सदा वयोनाध से युक्त रहता है। वय–वयोनाध के समन्वितरूप का ही नाम 'वयुनम् है। सर्वमिद वयुनम् इस सिद्धान्त के अनुसार यच्चयावत् भौतिक पदार्थ सब [वस्तुतत्त्व] वयोनाध [बाह्याकार] से युक्त रहते हुए '*वयुन' हैं। वयुन ही आध्यात्मिक-संस्था का 'शरीर' नामक पहिला पर्व है।

शरीर के वयोभाग का (मूर्त्तभाग का) निर्म्माण शुक्र शोणित से हुआ है। ऋतुस्नाता स्त्री में प्रजननकर्म्मसाधक अग्निप्राण प्रतिष्ठित रहता है। इस ऋतुप्राण के सम्बन्ध से ही रजस्वला को 'ऋतुमती' कहा जाता है। अग्नि–सोम की सत्य, ऋत, भेद से दो दो अवस्थाएँ मानी गई हैं। सायतन अग्नि सत्य है सायतन सोम सत्य है। एवं निरायतन वाय्वात्मक अग्नि–सोम ऋत हैं। इन ऋताग्नि–सोमों के पारस्परिक उद्ग्राम–निग्राम–सम्बन्ध से ही ऋतु' का जन्म होता है। इस ऋतु का आग्नेयभाग स्त्री के शोणित में प्रतिष्ठित रहता है एवं सौम्यभाग पुरुष के शुक्र में प्रधानरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इस ऋतुप्राण–समन्वय का ही नाम शुक्र–शोणित का 'दाम्पत्य भाव है। यही दाम्पत्यकर्म्म गर्भाधान का बीज है। इसप्रकार वस्तुतत्त्व–लक्षण वय (शरीर) का निर्म्माण शुक्रशोणित से होता हुआ परम्परया ऋतु से ही होरहा — है। शेष रहता है वयोनाध (बाह्याकार)। इस का निर्म्माण ऋतुसहयोगी गायत्र्यादि छन्दों से होता है। गायत्र्यादि छन्द त्वष्टाप्राण के सहयोग से तत्तच्छरीरावयवों में तत्तदाकारविशेष प्रदान करते जाते हैं तदनुरूप ही ऋतु के द्वारा पुरावयवों का निर्म्माण होता जाता है, कालान्तर में इस ऋतु, छन्द के समन्वय से आत्मप्रतिष्ठालक्षण 'शरीरपुर' का स्वरूप सम्पन्न होजाता है। ऋतु छन्दोमय शुक्र-शोणित के दाम्पत्यभाव में कर्म्मभोक्ता औपपातिक जीवात्मा प्रतिष्ठित होजाता है।

इसप्रकार आत्मा शरीर इन दो पर्वों के आत्मा वस्तुतत्त्व (वय) बाह्याकार (वयोनाध) भेद से तीन पर्व होजाते हैं। तीनों में आत्मा प्रधान देवता है इसे ही यज्ञपरिभाषा में 'आज्यपदेवता' कहा गया है। वस्तुतत्त्व (वय) ऋतुदेवता है बाह्याकार छन्दोदेवता है। पुर का उपक्रम ऋतु से होता है उपसंहार छन्द पर होता है। वस्तुतत्त्व उपक्रमस्थानीय है इसका ऋतु से सम्बन्ध है। इसी उपक्रमलक्षण प्राथम्य के कारण वस्तुतत्त्वात्मक ऋतु को याज्ञिक–परिभाषा में प्रयाजदेवता कहा गया है। वस्तु का बाह्याकार ही वस्तु की अवसानभूमि है। इस का छन्द से सम्बन्ध है। इसी उपसंहारलक्षण अन्तभाव के कारण बाह्या–कारात्मक छन्द को 'अनुयाजदेवता' कहा गया है। इसप्रकार ऋतुरूप प्रयाजदेवता तथा छन्दोरूप 'अनुयाज

+–छन्दांसि वै वयोनाधा" (शत० ८।२।२।८)।

*–छन्दोभिर्हीदं सर्वं वयुनं नद्धम्" (शत० ८।२।२।८)।

—–ऋतव' समिधा प्रजाश्च प्रजनयन्ति, ओषधीश्च पचन्ति' (शत० मा १।१।४।७)।

इसप्रकार मुखा-स्थानीय मृत्पिण्ड ही अपने हृदयस्थ रसाग्नि के ऊर्ध्व वितान के द्वारा प्राणगर्भात्मक स्तोमों के आधार पर क्रमशः त्रिवृत् (९) पञ्चदश (१५) एकविंश (२१) रूप से तीन संस्थाओं के रूप में पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौः का जन्मदाता बन कर— 'अस्याऽग्रमे सर्वे लोका प्रभवन्ति' इस सिद्धान्त का समर्थन कर रहा है और एक सन्देह का निराकरण बन रहा है। इस सम्पूर्ण 'उपपत्तिग्रन्थ' का फलितार्थ यही निकला कि, पार्थिव आधिभौतिक-पशु से सम्बन्ध रखने वाले महिमात्मक आधिदैविक यज्ञ, पार्थिवशरीरात्मक आध्यात्मिक यज्ञ, एवं पुरुषप्रयत्नसाध्य आधिभौतिक (वैध) यज्ञ, तीनों में पूर्व पूर्व यज्ञ उत्तर उत्तर यज्ञ की उपनिषत् है। (१ २ ३ ४ ५,)।

पुरुषप्रयत्नसाध्य इस वैधयज्ञ में उपयुक्त होने वाले* स्रुव-स्रुक् पात्र हस्त-पाद-मध्यादि स्थानीय बनते हुए यह प्रमाणित कर रहे हैं कि, यह वैधयज्ञ पुरुषविध आध्यात्मिक यज्ञ का ही प्रतिरूप है। 'आज्य-पृष्ठ' विज्ञान के अनुसार प्रत्येक भौतिक पदार्थ में पृष्ठ एवं आज्य भेद से दो पर्व रहते हैं। मूर्त्त मर्त्यपिण्ड 'पृष्ठ' कहलाता है, एवं जिस जीवनीय प्राणशक्ति से परस्पर—(चरकूट)—रूप भौतिक परमाणु एकसूत्र में बद्ध रहते हुए नियत समय पर्यन्त स्वस्वरूप-प्रतिष्ठा सुरक्षित रखने में समर्थ होते हैं, वह प्राणशक्ति ही 'आज्य' नाम से व्यवहृत हुई है। जबतक पृष्ठ (पिण्ड) में आज्य (प्राणशक्ति) प्रतिष्ठित रहता है तभीतक पृष्ठ की स्वरूपसत्ता है। पाञ्चभौतिक हस्तपादादि शरीरावयव पिण्डस्थानीय बनते हुए पृष्ठ हैं। इनमें प्रतिष्ठित आग्नेयप्राण (वैश्वानराग्निप्राण) ही इन की प्राणशक्ति है। इधर वत्स से (पशुतत्त्व से) प्रतिमूर्च्छित अग्नितत्त्व का ही नाम आज्य (घृत) है। इसी आधार पर 'तेजो वै आज्यम्' (शां॰ ब्रा॰ १३।१०।१८) "अग्नेर्वा एतद्रूपं यदाज्यम्" (तै॰ ब्रा॰ ३।८।१४।२)— 'प्राणो वा आज्यम्' [तै॰ ब्रा॰ ३।८।१५।२] इत्यादि निगम प्रतिष्ठित हैं। लोकव्यवहार में भी सुप्रसिद्ध है कि 'घृत ही हाथ पैरों में जीवनीय शक्ति प्रदान करता है'। यज्ञकर्म्म से 'पुरुषविध विश्वात्मा' उत्पन्न किया जाता है। क्योंकि इस व्यवस्था से संगृहीत जुहू आदि स्रुक् स्रुव तो पृष्ठ स्थानीय हैं एवं इन में गृहीत आज्य प्राणशक्तिस्थानीय है। इसप्रकार इस आज्यग्रहण-कर्म्म से भी पुरुषप्रयत्नसाध्य इस वैधयज्ञ की पुरुषसमप्रतिरूपता भलीभांति सिद्ध होरही है।

आज्यग्रहण क्या वैधात्मा के स्वरूप-निर्म्माण में उपयुक्त होता है? यह प्रश्न है। इस के समाधान के लिए ही अगला प्रकरण उपक्रान्त हुआ है। पहिले आध्यात्मिकसंस्था का विचार कीजिए। आध्यात्मिकसंस्था में प्रधानतः 'आत्मा शरीर' ये दो पर्व हैं। एवं शरीर 'पुर' है आत्मा इस शरीरपुर में सुरक्षित रहने वाला 'पुरि शेते' निर्वचन से 'पुरुष' है। इस शरीरपुर के 'आकार' एवं 'वस्तुतत्त्व' भेद से दो पर्व हैं। आकाररूप

* खादिर स्रुवः पर्णमयी जुहूः आश्वत्थी उपभृत्, वैकङ्कती ध्रुवा, एतद्वै स्रुचां रूपम् [तै॰ सं॰ ३।५।७] इस वचन के अनुसार स्रुव खदिर [खैर] की लकड़ी का जुहू पर्णमयी पलाश [छीला] की ध्रुवा विकङ्कत का एवं उपभृत् अश्वत्थ [पीपल] की लकड़ी का बनाया जाता है।

बाह्य आकार ही आकार है, जिसे कि विज्ञानभाषा में 'वयोनाध' कहा जाता है। यह वयोनाध ही+ 'छन्द' है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड का कोई न कोई बाह्य आकार अवश्य रहता है एवं इस बाह्य आकार से आधारित वस्तुतत्त्व सीमित रहता हुआ सुरक्षित बना रहता है। छन्दोलक्षण वयोनाध [आकार] से सुरक्षित वस्तुतत्त्व [मतपिण्ड] ही वय' है। जिसप्रकार उदरसीमा से सीमित अन्न वय है, एवमेव छन्दसीमारूप उदर में प्रतिष्ठित रहने से ही इस वस्तुतत्त्व को वय [अन्न] मान लिया गया है। वय सदा वयोनाध से युक्त रहता है। वय-वयोनाध के समन्वितरूप का ही नाम 'वयुनम्' है। सर्वमिदं वयुनम् इस सिद्धान्त के अनुसार यच्चयावत् भौतिक पदार्थ वय [वस्तुतत्त्व], वयोनाध [बाह्याकार] से युक्त रहते हुए '*वयुन' हैं। वयुन ही आध्यात्मिक-संस्था का 'शरीर' नामक पहिला पर्व है।

शरीर के वयोभाग का (भूतभाग का) निर्माण शुक्र शोणित से हुआ है। ऋतुस्नाता स्त्री में प्रजननकर्मसाधक अग्निप्राण प्रतिष्ठित रहता है। इस ऋतुप्राण के सम्बन्ध से ही रजस्वला को 'ऋतुमती' कहा जाता है। अग्नि-सोम की सत्य ऋत भेद से दो दो अवस्थाएँ मानी गई हैं। सायतन अग्नि सत्य है सायतन सोम सत्य है। एवं निरायतन वाय्वात्मक अग्नि-सोम ऋत हैं। इन ऋताग्नि-सोमों के पारस्परिक उद्भाव-निभाव-सम्बन्ध से ही 'ऋतु' का जन्म होता है। इस ऋतु का आग्नेयभाग स्त्री के शोणित में प्रतिष्ठित रहता है, एवं सौम्यभाग पुरुष के शुक्र में प्रधानरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इस ऋतुप्राण-समन्वय का ही नाम शुक्र-शोणित का 'दाम्पत्य भाव' है। यही दाम्पत्यकर्म गर्भाधान का बीज है। इसप्रकार वस्तुतत्त्व-लक्षण वय (शरीर) का निर्माण शुक्रशोणित से होता हुआ परम्परया ऋतु से ही होरहा — है। शेष रहता है वयोनाध (बाह्याकार)। इस का निर्माण ऋतुसहयोगी गायत्र्यादि छन्दों से होता है। गायत्र्यादि छन्द त्वष्टाप्राण के सहयोग से तत्तच्छरीरावयवों में तत्तदाकारविशेष प्रदान करते जाते हैं तदनुरूप ही ऋतु के द्वारा पुरावयवों का निर्माण होता जाता है, कालान्तर में इस ऋतु, छन्द के समन्वय से आत्मप्रतिष्ठालक्षण 'शरीरपुर' का स्वरूप सम्पन्न होजाता है। ऋतु छन्दोमय शुक्र-शोणित के दाम्पत्यभाव से कर्मभोक्ता औपपातिक जीवात्मा प्रतिष्ठित होजाता है।

इसप्रकार आत्मा शरीर इन दो पर्वों के आत्मा वस्तुतत्त्व (वय) बाह्याकार (वयोनाध) भेद से तीन पर्व होजाते हैं। तीनों में आत्मा प्रधान देवता है इसे ही यज्ञपरिभाषा में आत्मदेवता कहा गया है। वस्तुतत्त्व (वय) ऋतुदेवता है बाह्याकार छन्दोदेवता है। पुर का उपक्रम ऋतु से होता है उपसंहार छन्द पर होता है। वस्तुतत्त्व उपक्रमस्थानीय है इसका ऋतु से सम्बन्ध है। इसी उपक्रमलक्षण प्राथम्य के कारण वस्तुतत्त्वात्मक ऋतु को याज्ञिक-परिभाषा में 'प्रयाजदेवता' कहा गया है। वस्तु का बाह्याकार ही वस्तु की अवसानभूमि है। इस का छन्द से सम्बन्ध है। इसी उपसंहारलक्षण अन्तभाव के कारण बाह्या-कारात्मक छन्द को 'अनुयाजदेवता' कहा गया है। इसप्रकार ऋतुरूप प्रयाजदेवता तथा छन्दोरूप 'अनुयाज

+-छन्दांसि वै वयोनाधा" (शत० ८।२।२।८)।

*-छन्दोभिर्हीदं सर्वं वयुनं नद्धम्" (शत० ८।२।२।८)।

—-ऋतवः समिद्धा प्रजाश्च प्रजनयन्ति, ओषधीश्च पचन्ति' (शत० ब्रा० १।३।४।७)।

देवता', दोनों के समन्वय से ही 'शरीर' नामक आध्यात्मिक पुर का निर्माण होता है। दूसरा आत्मदेवता-स्थानीय आत्मा अपने स्वरूप-निर्माण के लिए अन्य द्रव्य की अपेक्षा रखता है। पृष्ठ ही शरीर है प्राण का इसी से सम्बन्ध है। इधर पृष्ठस्वरूप-निर्मापक ऋतु, एवं छन्दोदेवता हैं। फलतः सिद्ध होजाता है कि, यह आत्मप्रदानकर्म्म ऋतु, तथा छन्दोदेवताओं की तृप्ति के लिए ही विहित है। जैसा अध्यात्म में है वैसा ही तो यहाँ होना चाहिए, होता है।

अध्यात्मवत् अग्निभूम्र से उत्पन्न होने वाली दैवात्मसंस्था में भी 'आत्मा-पुर' भेद से दोनों पव अपेक्षित हैं। मुख्यदेवता दैवात्मभाव के आत्मस्वरूप का निर्माण करेंगे एवं ऋतु-छन्दो-लक्षण गौणदेवता आत्मपुर का निर्माण करेंगे। अतएव वितायमान यज्ञ का यही तात्पर्य्य मानना पड़ेगा कि, अनेक हविष्य-आत्माओं से वितायमान यह यज्ञ देवता, ऋतु, छन्द इन तीन देवताओं की सम्यक्-प्राप्ति से ही सम्बन्ध रखता है। मुख्यदेवता का एक स्वतन्त्र विभाग है इस के लिए नियत आहुतिद्रव्य भी स्वतन्त्र है, एवं यह 'हवि' नाम से प्रसिद्ध है जोकि हविर्यज्ञ इष्टि पशु सोम यज्ञ भेद से क्रमपुरोडाश पशु-वपापुरोडाश, पत्नीसोमरस, भेद से भेदा विभक्त है। ऋतु-छन्दोरूप दोनों प्रयाजानुयाजदेवताओं का (जिन से कि पुर का निर्माण होगा) एक स्वतन्त्र विभाग है, इनके लिए आहुतिद्रव्य भी स्वतन्त्र है एवं यही 'आज्य' नाम से प्रसिद्ध है।

आत्मा-शरीर यद्यपि दोनों की समष्टि 'देवदत्त' है। अर्थात् 'देवदत्त' नाम यद्यपि समष्टि से ही सम्बन्ध रखता है। तथापि मानना पड़ेगा कि यह नाम मुख्यतः आत्मभाग से ही सम्बन्ध रखता है, न कि शरीर से। यही कारण कि, जब भूतात्मा प्राणक्षमय पर देह का परित्याग कर देता है, तो उस समय 'देवदत्त' आज नहीं रहा' यह लोकव्यवहार होता है। अवशेष शव-शरीर का कोई नाम नहीं रहता। दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। एक राजा अपने परिकर (सेवकवर्ग) के साथ कहीं आतिथ्य स्वीकार करने जाता है। यहाँ राजा का ही नाम मुख्य रहता है राजा के नामग्रहण का ही व्यवहार लोकसिद्ध है। सेवकवर्ग का राजा के नाम में ही अन्तर्भाव है। ठीक यही स्थिति यहाँ समझिए। आत्मस्वरूप-सम्पादक मुख्य देवताओं के लिए तो नामग्रहणपूर्वक हविग्रहण होना चाहिए, एवं परिकरस्थानीय ऋतु-छन्दो-देवताओं के लिए बिना नामग्रहण के ही आज्यार्पण करना है यही लोकव्यवहार है (एवमु हैतेषाम्)।

'जामि' दोष एक महादोष माना गया है। यथानुरूप व्यवहार न करना ही 'जामि' दोष है। यह सभ्यता का आग्रह है कि जो जिस स्थान के योग्य हो, जिस सम्मान का पात्र हो उसे वही स्थान-सम्मान दिया जाय। समदर्शन एवं विषमवर्त्तन ही इस सभ्यता का अन्यतम रक्षक है। आत्मदृष्टि से प्राणीमात्र समान है परन्तु व्यवहारक्षेत्र में सब विभिन्न मर्य्यादा के पात्र हैं। कारण यही है कि, समदर्शन का अन्तरङ्ग चिदात्मा से सम्बन्ध है जोकि आपामर-ब्रह्मण कीटादि पर्य्यन्त सब में एकरूप से प्रतिष्ठित है। एवं विषमवर्त्तन का क्षेत्र प्रतिशरीर में भिन्न प्रातिस्विक सम्पत भूतात्मा है। दोनों के क्षेत्र सर्वथा विभिन्न हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि, व्यवहारक्षेत्र में जामिदोष (मर्य्यादा-उल्लंघन-लक्षण व्यवहारहार अपमस्यता) से बचने के लिए जो जिसके योग्य हो उसे उसी सम्मान का अधिकारी समझा जाय। यही जुहू उपभृत् ध्रुवा में जो क्रमशः ४-८-४ बार करके आज्यग्रहण किया जाता है, वह ऋतु, तथा छन्दो के लिए ही नियत है। मुख्य

आत्मदेवता की तुलना में ये देवता अपना अवर-स्थान रखते हैं। मुख्य देवताओं की भांति इन परिकर-स्थानीय देवताओं के लिए भी यदि नामग्रहणपूर्वक आज्यग्रहण किया जायगा तो-'ओ समर्थ्यानामग्रहलक्षण चामिदोष' होगा। अत इनके लिए बिना नामग्रहण के ही आज्यग्रहण करना चाहिए। 'अन्तरिक्षमाज्यानां वै पशवः' (तै० ब्रा० ३।२।१।३) के अनुसार पशुप्राण का अन्तरिक्ष से सम्बन्ध है, उधर 'अतवसश्छन्दांसि पशवः' के अनुसार देवबाहनलक्षण ऋतु-छन्द भी पशुस्थानीय ही हैं। 'छतमन्तरिक्षस्य (शत० ७।५।१।६) के अनुसार आज्यग्रहण का अन्तरिक्षलोक से सम्बन्ध है। अतएव आन्तरिक्ष्य ऋतु-छन्दों के लिए आज्यद्रव्य का ग्रहण ही अन्वर्थ बनता है।

जुहू में जो चार बार आज्यग्रहण होता है, उसका प्रयाजलक्षण ऋतुदेवता से सम्बन्ध है एवं उपभृत् में जो आठ बार करके आज्यग्रहण किया जाता है, उस का अनुयाज-लक्षण छन्दोदेवता से सम्बन्ध है। दोनों मुख्य-देवतापेक्षया अवरभूमि में प्रतिष्ठित होते हुए नामग्रहण की मर्य्यादा से बहिर्भूत हैं। अब शेष रहता है ध्रुवा। ध्रुवा में जो चार बार आज्यग्रहण किया जाता है उसका उपयोग सम्पूर्ण यज्ञ की सिद्धि से सम्बन्ध रखता है। आज्यसम्बन्धिनी सम्पूर्ण इतिकर्त्तव्यता ध्रुवा-स्थित आज्य से ही पूरी की जाती है। जब यहाँ सब का अन्तर्भाव है तो यहाँ भी नामग्रहण को अवसर नहीं मिलसकता। जो वस्तु सबके लिए है, उसमें विशेष व्यक्ति का नामग्रहण असङ्गत है। इसप्रकार आत्मा के पुनर्निर्माण करने वाले ऋतु-छन्दों के लिए गृहीत आज्य में नामग्रहण का अभाव ही अभाभिमाव का रक्षक बन रहा है। (६ ७ ८,९ १०)।

आज्यग्रहण-प्रक्रिया में कुछ विशेषता रक्खी गई है। और वह विशेषता यही है कि, जुहू में ग्रहण होता है चार बार ही परन्तु आज्यमात्रा औपभृत् आज्य की अपेक्षा अधिक होती है। इधर उपभृत् में सङ्ख्या की दृष्टि से जुहू की अपेक्षा ग्रहण तो होता है द्विगुणित (आठबार) परन्तु आज्यमात्रा जुहू के आज्य की अपेक्षा अल्प होती है। इस विशेषता का क्या कारण ? प्रकृत प्रकरण इसी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान कर रहा है।

वैदिक-विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली सुप्रसिद्ध 'निदानविद्या' ही इस उपपत्ति का मूलाधार है जिस विद्या का गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत 'भक्तियोगपरीक्षा' नामक भूमिका पञ्चमखण्ड के 'प्रतिमाननिर्माण-रहस्य' नामक प्रकरण में विस्तार से निरूपण हुआ है। कुछ एक सादृश्यों के आधार पर अन्य में अन्य वस्तु का आरोप करना ही 'निदान' कहलाता है। जहाँ लोकव्यवहार में व्यवहारकर्म के सञ्चालन के लिए पदे पदे निदान का आश्रय लिया गया है वहाँ शास्त्रीय व्यवहार में भी विशेषतः वेदशास्त्र के ब्राह्मणभाग में भी यज्ञकर्मसिद्धि के लिए अनेक स्थलों में इसका आश्रय लिया गया है। पहिले एक लौकिक उदाहरण ही लीजिए। "डाक्टर ज्वालाप्रसाद गोयिल मोतीलाल शर्म्मा का दहिना हाथ है" यह लौकिक निदान का उदाहरण है। वस्तुगत्या ज्वालाप्रसाद कभी मोतीलाल का दहिना हाथ नहीं है परन्तु आरोप किया जाता है। इस निदानारोप का मूल यही है कि दहिना हाथ ही कर्मसिद्धि का मूलद्वार है। क्योंकि ज्वालाप्रसाद मोती-लाल के कर्म का अन्यतम सहायक है, बस इसी कर्मसादृश्य के आधार पर उसे निदानविधि से दहिना हाथ मान लिया गया है। अब एक शास्त्रीय उदाहरण भी लीजिए। लोकव्यवहारसञ्चारिणी जगन्माता लक्ष्मी की प्रतिमा के हाथ में 'कमल' का पुष्प है। यह कमल भूपिण्ड का सूचक है। भूपिण्ड का प्रारम्भिक उपादान 'आपो वै पुष्करपर्णम्' (शत ४।४।२।२) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पुष्करपत्र है। घसत्वालीकृत

देवता, दोनों के समन्वय से ही 'शरीर' नामक आध्यात्मिक पुर का निर्माण होता है। दूसरा आत्मादेवता-स्थानीय आत्मा अपने स्वरूप-निर्माण के लिए अन्य द्रव्य की अपेक्षा रखता है। पृष्ठ ही शरीर है अन्न का इसी से सम्बन्ध है। इधर पृष्ठस्वरूप-निर्मापक ऋतु, एवं छन्दोदेवता हैं। फलतः सिद्ध होजाता है कि यह आरम्भाहुतकर्म ऋतु, तथा छन्दोदेवताओं की तृप्ति के लिए ही विहित है। जैसा अध्यात्म में है, वैसा ही तो यहाँ होना चाहिए होता है।

अध्यात्मवत् अधिभूतयज्ञ से उत्पन्न होने वाली दैवात्मसंस्था में भी 'आत्मा-पुर' भेद से दोनो पर्व अपेक्षित हैं। मुख्यदेवता दैवात्मसंस्था के आत्मस्वरूप का निर्माण करेंगे एवं ऋतु-छन्दो-लक्षण गौणदेवता आत्मपुर का निर्माण करेंगे। अतएव वितायमान यज्ञ का यही तात्पर्य्य मानना पड़ेगा कि, अनेक इतिकर्त्तव्यताओं से वितायमान यह यज्ञ देवता ऋतु, छन्द इन तीन देवताओं की सम्यक्-प्राप्ति से ही सम्बन्ध रखता है। मुख्यदेवता का एक स्वतन्त्र विभाग है इस के लिए नियत आहुतिद्रव्य भी स्वतन्त्र हैं, एवं यह 'हवि' नाम से प्रसिद्ध है जोकि हविर्द्रव्य 'इष्टि पशु सोम' यज्ञ भेद से अन्नपुरोडाश, पशुवपापुरोडाश वल्लीसोमरस, भेद से त्रेधा विभक्त है। ऋतु-छन्दोरूप दोनों प्रयाजानुयाजदेवताओं का (जिन से कि पुर का निर्माण होगा) एक स्वतन्त्र विभाग है, इनके लिए आहुतिद्रव्य भी स्वतन्त्र है एवं यही 'आज्य' नाम से प्रसिद्ध है।

आत्मा-शरीर यद्यपि दोनों की समष्टि 'देवदत्त' है। अर्थात् 'देवदत्त' नाम यद्यपि समष्टि से ही सम्बन्ध रखता है। तथापि मानना पड़ेगा कि, यह नाम मुख्यतः आत्मभाग से ही सम्बन्ध रखता है न कि शरीर से। यही कारण कि जब भूतात्मा प्राप्तसमय पर देह का परित्याग कर देता है, तो उस समय 'देवदत्त' आज नहीं रहा' यह लोकव्यवहार होता है। अवशेष शव-शरीर का कोई नाम नहीं रहता। दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। एक राजा अपने परिकर (सेवकवर्ग) के साथ कहीं आतिथ्य स्वीकार करने जाता है। यहाँ राजा का ही नाम मुख्य रहता है राजा के नामग्रहण का ही व्यवहार लोकसिद्ध है। सेवकवर्ग का राजा के नाम में ही अन्तर्भाव है। ठीक यही स्थिति यहाँ समझिए। आत्मस्वरूप-सम्पादक मुख्य देवताओं के लिए तो नामग्रहणपूर्वक हविग्रहण होना चाहिए, एवं परिकरस्थानीय ऋतु-छन्दो-देवताओं के लिए बिना नामग्रहण के ही आज्यग्रहण करना है, यही लोकव्यवहार है (यथासु हैतेषाम्)।

'जामि' दोष एक महादोष माना गया है। यथानुरूप व्यवहार न करना ही 'जामि' दोष है। आज सभ्यता का आग्रह है कि, जो जिस स्थान के योग्य हो, जिस सम्मान का पात्र हो उसे वही स्थान-सम्मान दिया जाय। समदर्शन एवं विषमवर्त्तन ही इस सभ्यता का अन्यतम रक्षक है। आत्मदृष्टि से प्राणीमात्र समान है परन्तु व्यवहारक्षेत्र में सब विभिन्न मर्य्यादा के पात्र हैं। कारण यही है कि समदर्शन का अखण्ड चिदात्मा से सम्बन्ध है जोकि आपामर-त्रिभुवन कीटादि पर्य्यन्त सब में एकरूप से प्रतिष्ठित है। एवं विषमवर्त्तन का क्षेत्र प्रतिशरीर में भिन्न प्राधानिक कर्मात्म भूतात्मा है। दोनों के क्षेत्र सर्वथा विभिन्न हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि व्यवहारक्षेत्र में जामिदोष (मर्य्यादा-उल्लंघन-लक्षण व्यवहारदोष अतभ्यता) से बचने के लिए जो जिसके योग्य हो उसे उसी सम्मान का अधिकारी समझा जाय। यहाँ जुहू उपभृत्, ध्रुवा में जो क्रमशः ४-८-४ बार करके आज्यग्रहण किया जाता है वह ऋतु, तथा छन्दो के लिए ही नियत है। मुख्य

शारीरिक बल बल है आत्मबल वीर्य है। भूतबल बल है, प्राणबल वीर्य है। साम्य-प्रजा पर सुशासन सुरक्षित रखने के लिए दोनों शक्तियाँ अपेक्षित हैं। हम देखते हैं कि, एक राज्य में राजा एक होता है प्रजा असंख्य होती है। परन्तु राजा अपने कोशबल से, तथा आत्मवीर्य से एक घर का स्वामी रहता हुआ भी अनेकों घरों पर अपना प्रभुत्त्व प्रतिष्ठित रखता है। अपनी इच्छानुसार यथासमय इन से अपने उद्देश्य-साधन प्रस्तुत किया करता है। इसी बलवीर्य-प्राप्ति के लिए यहाँ भी कनीयांस, मर्य्यादा रक्खी गई है।

जुहू में गृहीत आज्य की तो जुहू से आहुति होती ही है परन्तु उपभृत् में गृहीत आज्य की भी जुहू से ही आहुति होती है। इसका कारण है-'अन्न-अन्नाद की स्वरूप रक्षा'। उपभृत् प्रजा-स्थानीय है। प्रजा का बल ही राजा का बल है। यदि प्रजा को स्वसंपत्ति-व्यय में स्वतन्त्र कर दिया जायगा तो प्रजा इस मर्य्यादा से अपना स्वरूप ही खो बैठेगी एवं प्रजासहयोग से वञ्चित राजा भी राज्यश्री से हाथ ही धो बैठेगा। राष्ट्र-समृद्धि के लिए दोनों की ही स्वरूपरक्षा अपेक्षित है। धर्मदण्ड जहाँ राजा को सुरक्षित मर्य्यादित रखता है, वहाँ धर्मानुगत राजदण्ड प्रजा को मर्य्यादित बनाए रखता है। इस पारस्परिक सहयोग से दोनों का स्वरूप सुरक्षित रहता है।

यदि प्रजावित्त पर अपना अधिकार स्थापित करना ही राजा का एकमात्र लक्ष्य है, तब तो प्रजारक्षा-नीय उपभृत् में आज्यग्रहण की ही आवश्यकता न थी। परन्तु उस दशा में भी वही परिणाम होता जो अन-र्य्यादा में बतलाया गया है। प्रजा जबतक स्वतन्त्ररूप से सम्पत्ति-संग्रह में प्रवृत्त नहीं होती तबतक प्रजासमृद्धि असम्भव है। राष्ट्र का वित्तबल पशुबल आदि प्रजास्वातन्त्र्य पर ही निर्भर है। क्या एकाकी राजा ये सब कार्य्य कर सकता है? असम्भव। अनुचित नियन्त्रण प्रजासमृद्धि के नाश के ही कारण माने गए हैं। होना यह चाहिए कि, प्रजा को सम्पत्ति-संग्रह के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाय साथ ही व्ययसम्बन्ध में नियन्त्रण लगाया जाय। क्षत्र और विट् के इस पारस्परिक सह-योग से ही प्रकृतिसिद्धा वह वर्णाश्रमव्यवस्था सुरक्षित रह सकती है जो राष्ट्रसमृद्धि का अन्यतम सूत्र माना गया है।

एक स्थान पर प्रतिष्ठित ध्रुवा 'ब्रह्मबल' है, जुहू 'क्षत्रबल' है, उपभृत् 'विड्बल' है एवं पशुसम्पत्ति 'शूद्रभाग' है। प्रत्येक राष्ट्र को राष्ट्राभ्युदय के लिए ज्ञानस्थानीय ब्रह्मबल क्रियास्थानीय क्षत्रबल अर्थ स्थानीय विड्बल एवं अर्थसर्वस्थानीय शूद्रबल, ये चारों बल अपेक्षित हैं। यह तभी सम्भव है, जब कि चारों में परस्पर सहयोग बना रहे। सहयोग तभी सम्भव है, जबकि चारों मर्य्यादासूत्र से सञ्चालित रहें। इसी समृद्धिरक्षा के लिए उपभृत् से गृहीत आज्य की भी जुहू से ही आहुति दी जाती है।

इसप्रकार राष्ट्रकर्मसमृद्धिपूर्वक स्वसमृद्धि के लिए यह आज्यग्रहणकर्म्म क्रमशः गायत्री त्रिष्टुप् जगती अनुष्टुप् छन्दों से सम्बन्ध रखता है। 'सुपर्णकाद्रवाख्यानविज्ञान' के अनुसार मूलतः सभी छन्द चतुरक्षर ही माने गए हैं। सोमापहरण करने के लिए सर्वप्रथम चतुरक्षर जगतीछन्द का तृतीय द्युलोक में गमन होता है। वहाँ तीन चरण खोकर एक चरण से जगती भूतल पर लौट आती है। अनन्तर चतुरक्षरा त्रिष्टुप् सोमापहरण के लिए उत्प्लवन करती है। यह अपना एक चरण खोकर तीन

(घनमावयुक्त) अप्–तत्त्व ही पुष्करपर्ण है । यही उत्तरोत्तर तेजःस्नेह के क्रमिक मथन से आपः-फेनार्दि आठ स्थावृतियों में परिणित होता हुआ कालान्तर में भूपिण्डरूप में परिणित होजाता है । कमलपुष्प भी उसी अपतत्त्व से सम्बन्ध रखता है । इसी सादृश्य के आधार पर कमल में भूपिण्ड का आरोप करते हुए इसे भूपिण्ड का निदान मान लिया गया है । "स्रष्टा प्रजापति पद्मासन पर विराजमान रहते हुए पद्मभू नाम से प्रसिद्ध हैं" इस व्यवहार का भी इसी भूनिदान से सम्बन्ध है ।

इस निदानविद्या को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें जुहू उपभृत् के आज्य का विचार करना है । जुहू को दहिना हाथ, तथा उपभृत् को वाम हाथ बतलाया है । शकुनशास्त्र के अनुसार पुरुष का दक्षिणभाग शुभ है वामभाग अशुभ है । दक्षिणाङ्गस्फुरण शुभसूचना का प्रवर्त्तक है एवं वामाङ्गस्फुरण अशुभसूचना का सूचक है । कारण यही है कि, पुरुष अग्निवीर्यप्रधान है । पुरुष के दक्षिणाङ्ग में इसी अग्निवीर्य्य का प्राधान्य रहता है एवं वामाङ्ग में निर्वीर्य्य सोम का प्राधान्य रहता है, क्योंकि सोम स्त्रीवीर्य्य माना गया है । वामभाग स्त्रीवीर्य्यप्रधान है इसका स्फुरण पुरुषतत्त्व का विरोधी है अतएव इसे अशुभ माना गया है । विधि का वाम (टेढा–प्रतिकूल) होजाना वामभाग से ही सम्बन्धित है । इसी सादृश्य के आधार पर हम कह सकते हैं कि, दक्षिणहस्त–स्थानीय जुहू पुरुषवीर्य्य का प्रतिनिधि बनता हुआ यजमानस्थानीय है । एवं वामहस्तस्थानीय उपभृत् स्त्रीवीर्य्य का प्रतिनिधि बनता हुआ अशुभसूचक बनता हुआ यजमानशत्रुस्थानीय है । इस वीर्य्यसूचना के अतिरिक्त आदान–निरोध–मर्य्यादा से भी यह आरोप समन्वित होरहा है । दक्षिणहस्त कर्म्म के द्वारा जहाँ सम्पत्ति के आगमन का कारण बना हुआ है वहाँ वामहस्त अकर्म्म का प्रतिनिधि बनता हुआ निरोध का कारण बन रहा है । शत्रु का जो काम (सम्पत्ति–निरोध) है वही स्थान वामहस्त का है । इसलिए भी दक्षिणहस्त स्थानीय जुहू को यजमान तथा वामहस्त स्थानीय उपभृत् को यजमानशत्रु कहा जासकता है ।

दक्षिणहस्त अग्निवीर्य्यप्रधान एवं वामहस्त सोमवीर्य्यप्रधान बतलाया गया है । अग्नि अन्नाद (भोक्ता) है सोम अन्न (भोग्य) है । इस दृष्टि से दक्षिणहस्थनीय अग्निप्रधान जुहू को 'अन्नाद' माना जासकता है एवं वामहस्त स्थानीय सोमप्रधान उपभृत् को 'अन्न' कहा जासकता है । इसप्रकार निदानविधि से जुहू, उपभृत् को क्रमशः यजमान–यजमानशत्रु तथा अन्नाद–अन्न मानते हुए चतुर्वार–अष्टवार, एवं भूयांस-कनीयांस का समन्वय कीजिए ।

समृद्धि का लक्षण यही है कि भोक्ता संख्या में कम हों एवं भोग्य सामग्री संख्या में अधिक हो । इसी समृद्धिभाव की प्राप्ति के लिए भोक्ता–स्थानीय जुहू में चार बार ही आज्यग्रहण किया जाता है एवं भोग्य–स्थानीय उपभृत् में आठ बार आज्य ग्रहण किया जाता है ।

यदि भोक्ता की अपेक्षा भोग्यपदार्थवर्ग अधिक बलवीर्य्य युक्त है तो वह संख्यानुगता समृद्धि निरर्थक है । वास्तविक समृद्धि तो उसे ही कहा जायगा जिसमें भोक्ता संख्या में तो कम हों परन्तु बल–वीर्य्य में भोग्य की अपेक्षा भूयान् हों । भोक्ता में इसी बल–वीर्य्य–समृद्धि के लिए भोक्ता–स्थानीय जुहू में जहाँ चार बार ग्रहण करते हुए मात्राधिक्य की जाती है वहाँ भोग्य को निर्बल निर्वीर्य्य बनाने के लिए भोग्य–स्थानीय उपभृत् में आठ बार ग्रहण करते हुए भी मात्राह्रास किया जाता है ।

शारीरिक बल बल है, आत्मबल वीर्य है। भूतबल बल है, प्राणबल वीर्य है। भाग्य प्रजा पर सुशासन सुरक्षित रखने के लिए दोनों शक्तियाँ अपेक्षित हैं। हम देखते हैं कि एक राज्य में राजा एक होता है प्रजा असंख्य होती है। परन्तु राजा अपने कोशबल से, तथा आत्मवीर्य से एक घर का स्वामी रहता हुआ भी अनेकों घरों पर अपना प्रभुत्व प्रतिष्ठित रखता है। अपनी इच्छानुसार यथासमय इन से अपने उद्देश्य-साधन प्रमुख किया करता है। इसी बलवीर्य-प्राप्ति के लिए यहाँ भी कनीवास, मध्यास्था रक्खी गई है।

जुहू में गृहीत आज्य की तो जुहू से आहुति होती ही है परन्तु उपभृत् में गृहीत आज्य की भी जुहू से ही आहुति होती है। इसका कारण है-'आत्म-अभाव की स्वरूप रक्षा'। उपभृत् प्रजा-स्थानीय है। प्रजा का बल ही राजा का बल है। यदि प्रजा को स्वसंपत्ति-व्यय में स्वतन्त्र कर दिया जायगा तो प्रजा इस सम्पत्ति से अपना स्वरूप ही खो बैठेगी एवं प्रजासहयोग से वञ्चित राजा भी राज्यश्री से हाथ ही धो बैठेगा। राष्ट्र-समृद्धि के लिए दोनों की ही स्वरूपरक्षा अपेक्षित है। धर्मदण्ड जहाँ राजा को सुरक्षित मर्यादित रखता है, वहाँ धर्मानुगत राजदण्ड प्रजा को मर्यादित बनाए रखता है। इस पारस्परिक सहयोग से दोनों का स्वरूप सुरक्षित रहता है।

यदि प्रजावित्त पर अपना अधिकार स्थापित करना ही राजा का एकमात्र लक्ष्य है, तब तो प्रजाधा-नीय उपभृत् में आज्यग्रहण की ही आवश्यकता न थी। परन्तु उस दशा में भी यही परिणाम होता जो अम-र्यादा में बतलाया गया है। प्रजा जबतक स्वतन्त्ररूप से सम्पत्ति-संग्रह में प्रवृत्त नहीं होती तबतक प्रजासमृद्धि असम्भव है। राष्ट्र का वित्तबल पशुबल आदि प्रजास्वातन्त्र्य पर ही निर्भर है। क्या एकाकी राजा यह सब कार्य्य कर सकता है? असम्भव। अनुचित नियन्त्रण प्रजासमृद्धि के नाश के ही कारण माने गए हैं। होना यह चाहिए कि प्रजा को सम्पत्ति-संग्रह के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाय साथ ही व्ययसम्बन्ध में नियन्त्रण लगाया जाय। क्षत्र, और विट् के इस पारस्परिक सह-योग से ही प्रकृतिसिद्ध यह वर्णाश्रमव्यवस्था सुरक्षित रह सकती है, जो राष्ट्रसमृद्धि का प्रधानतम मन्त्र माना गया है।

एक स्थान पर प्रतिष्ठित ध्रुवा 'ब्रह्मबल' है जुहू क्षत्रबल' है, उपभृत् 'विड्बल है एवं पशुसम्पत्ति 'शूद्रभाग है। प्रत्येक राष्ट्र को राष्ट्राभ्युदय के लिए ज्ञानस्थानीय ब्रह्मबल क्रियास्थानीय क्षत्रबल अर्थ स्थानीय विड्बल एवं श्रमस्थानीय शूद्रबल, ये चारों बल अपेक्षित हैं। यह तभी सम्भव है, जब कि चारों में परस्पर सद्भाव बना रहे। सहयोग तभी सम्भव है, जबकि चारों मर्य्यादासूत्र से संश्लिष्ट रहें। इसी समृद्धिरक्षा के लिए उपभृत् से गृहीत आज्य की भी जुहू से ही आहुति दी जाती है।

इसप्रकार राष्ट्रक्रमसमृद्धिप्रापक स्वसमृद्धि के लिए यह आज्यग्रहणक्रम क्रमशः गायत्री त्रिष्टुप् जगती अनुष्टुप्, छन्दों से सम्बन्ध रखता है। 'सुपर्णकाद्रवयाख्यानविज्ञान' के अनुसार मूलतः सभी छन्द चतुरक्षर ही माने गए हैं। सोमापहरण करने के लिए सर्वप्रथम चतुरक्षर जगतीछन्द का तृतीय द्युलोक में गमन होता है। वहाँ तीन चरण खोकर एक चरण से जगती भूतल पर लौट आती है। अनन्तर चतुरक्षर त्रिष्टुप् सोमापहरण के लिए उत्प्लवन करती है। यह अपना एक चरण खोकर तीन

(घनमात्रयुक्त) अप्–तत्त्व ही पुष्करपर्ण है। यही उत्तरोत्तर तेजःस्नेह के क्रमिक मथन से आपः–फेनादि आठ व्याहृतियों में परिणत होता हुआ कालान्तर में भूपिण्डरूप में परिणत होजाता है। कमलपुष्प भी उसी अप्तत्त्व से सम्बन्ध रखता है। इसी सादृश्य के आधार पर कमल में भूपिण्ड का आरोप करते हुए इसे भूपिण्ड का निदान मान लिया गया है। "स्रष्टा प्रजापति पद्मासन पर विराजमान रहते हुए पद्मभूः नाम से प्रसिद्ध हैं इस व्यवहार का भी इसी भूनिदान से सम्बन्ध है।

इस निदानविद्या को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें जुहू उपभृत् के आज्य का विचार करना है। जुहू को दहिना हाथ, तथा उपभृत् को वाम हाथ बतलाया है। शकुनशास्त्र के अनुसार पुरुष का दक्षिणभाग शुभ है, वामभाग अशुभ है। दक्षिणाङ्गस्फुरण शुभसूचना का प्रवर्त्तक है एवं वामाङ्गस्फुरण अशुभसूचना का सूचक है। कारण यही है कि, पुरुष अग्निवीर्य्यप्रधान है। पुरुष के दक्षिणाङ्ग में इसी अग्निवीर्य्य का प्राधान्य रहता है एवं वामाङ्ग में निर्वीर्य्य सोम का प्राधान्य रहता है, क्योंकि सोम स्त्रीवीर्य्य माना गया है। वामभाग स्त्रीवीर्य्यप्रधान है इसका स्फुरण पुरुषतत्त्व का विरोधी है, अतएव इसे अशुभ माना गया है। विधि का वाम (टेढ़ा–प्रतिकूल) होजाना वामभाग से ही सम्लक्षित है। इसी सादृश्य के आधार पर हम कह सकते हैं कि, दक्षिणहस्त–स्थानीय जुहू पुरुषवीर्य्य का प्रतिनिधि बनता हुआ यजमानस्थानीय है। एवं वामहस्तस्थानीय उपभृत् स्त्रीवीर्य्य का प्रतिनिधि बनता हुआ अशुभसूचक बनता हुआ यजमानशत्रुस्थानीय है। इस वीर्य्यसूचना के अतिरिक्त आदान–निरोध–मर्य्यादा से भी यह आरोप समन्वित होरहा है। दक्षिणहस्त कर्म्म के द्वारा जहाँ सम्पत्ति के आगमन का कारण बना हुआ है वहाँ वामहस्त अकर्म्म का प्रतिनिधि बनता हुआ निरोध का कारण बन रहा है। शत्रु का जो काम (सम्पत्ति–निरोध) है वही स्थान वामहस्त का है। इसलिए भी दक्षिणहस्त स्थानीय जुहू को यजमान तथा वामहस्त स्थानीय उपभृत् को यजमानशत्रु कहा जासकता है।

दक्षिणहस्त अग्निवीर्य्यप्रधान एवं वामहस्त सोमवीर्य्यप्रधान बतलाया गया है। अग्नि अन्नाद (भोक्ता) है सोम अन्न (भोग्य) है। इस दृष्टि से दक्षिणहस्तस्थनीय अग्निप्रधान जुहू को 'अन्नाद' माना जासकता है एवं वामहस्त स्थानीय सोमप्रधान उपभृत् को 'अन्न' कहा जासकता है। इसप्रकार निदानविधि से जुहू, उपभृत् को क्रमशः यजमान–यजमानशत्रु तथा अन्नाद्–अन्न मानते हुए चतुर्वार–अष्टवार, एवं भूयांसं-कनीयांसं का समन्वय कीजिए।

समृद्धि का लक्षण यही है कि, भोक्ता संख्या में कम हों, एवं भोग्य सामग्री संख्या में अधिक हो। इसी समृद्धिभाव की प्राप्ति के लिए भोक्ता–स्थानीय जुहू में चार बार ही आज्यग्रहण किया जाता है एवं भोग्य–स्थानीय उपभृत् में आठ बार आज्य ग्रहण किया जाता है।

यदि भोक्ता की अपेक्षा भोग्यप्रजावर्ग अधिक बलवीर्य्य युक्त है तो यह संख्यानुगत्य समृद्धि निरर्थक है। वास्तविक समृद्धि तो उसे ही कहा जायगा जिसमें भोक्ता संख्या में तो कम हों परन्तु बल–वीर्य्य में भोग्य की अपेक्षा भूयान् हों। भोक्ता में इसी बल–वीर्य्य–समृद्धि के लिए भोक्ता–स्थानीय जुहू में जहाँ चार बार ग्रहण करते हुए मात्रावृद्धि की जाती है वहाँ भोग्य को निर्बल निर्वीर्य्य बनाने के लिए भोग्य–स्थानीय उपभृत् में आठ बार ग्रहण करते हुए भी मात्राह्रास किया जाता है।

प्रथमकाण्डानुगत-तृतीय-अध्याय का द्वितीय ब्राह्मण
एवं द्वितीय प्रपाठक का पञ्चम ब्राह्मण
'आज्यब्राह्मण'
नामक
उपरत



चरणों से वापस लौट आती है। सर्वान्त में सामिधेनीवश से युक्त चतुरक्षरा गायत्री सुवर्ण–रूप धारण कर के भगाद्य मारती है। फलतः सोमापहरण के साथ साथ तत्रस्थ जगती के तीनों चरण, एवं त्रिष्टुप् का एक चरण लेती हुई गायत्री अपने आपके चारों चरणों से सुरक्षित लौट आती है। आरम्भ में चतुरक्षरा रहने वाली यह गायत्री जगती तथा त्रिष्टुप् के चरणों से अष्टाक्षरा बन जाती है। त्र्यक्षरा त्रिष्टुप् इस अष्टाक्षरा गायत्री में आत्मसमर्पण कर एकादशाक्षरा बन जाती है, एवं एकाक्षरा जगती त्रिष्टुप् युक्त गायत्री में आत्मसमर्पण कर द्वादशाक्षरा बन जाती है। इसप्रकार यद्यपि आज गायत्र्यादि छन्द ८–११–१२ इत्यादि अक्षरों से युक्त प्रतीत होरहे हैं परन्तु इनका मौलिक स्वरूप चतुरक्षर ही माना गया है क्योंकि- सर्वाणि ह वा छन्दांसि चतुरक्षराणि इत्यादि निगम से प्रमाणित है।

जुहू–स्थित चतुर्वारगृहीत आज्य चतुरक्षर गायत्री छन्द से सम्बन्ध रखता है उपभृत् स्थित अष्टवार गृहीत आज्य क्रमशः चतुरक्षर त्रिष्टुप्छन्द एवं चतुरक्षर जगतीछन्द से सम्बन्ध रखता है। एवं ध्रुवास्थित चतुर्गृहीत आज्य अनुष्टुप्छन्द से सम्बन्ध रखता है। भूपिण्ड त्रिवृत्पृथिवी पञ्चदश अन्तरिक्ष, एकविंश द्युलोक चारों के क्रमशः प्रजापति अग्नि, मरुत्वानिन्द्रगर्भित वायु, आदित्य, ये चार अधिष्ठाता देवता हैं। एवं चारों के क्रमशः अनुष्टुप् गायत्री त्रिष्टुप् जगती ये चार छन्द हैं। चारों का मूल वही भौम वाङ्मय अनुष्टुप्छन्द है। अनुष्टुप् भूपिण्ड का छन्द है भूपिण्ड शुक्लवाक् वाङ्मय है। इसी वाग्वितान से वषट्काररूपा उस साहस्री का जन्म होता है जिसके आधार पर भूमहिमात्मक सम्पूर्ण यज्ञ प्रतिष्ठित है। अतएव तत्स्थानीय ध्रुवा से ही सम्पूर्ण यज्ञकर्म सम्पन्न होता है। (११,१२,१३,१४ १५,१६,)।

आज्यग्रहणपद्धति के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य नहीं है। जिस चित्यपृष्ठ (भूपिण्ड) में आज्य (प्राणशक्ति) परिपूर्णमात्रा से प्रतिष्ठित रहता है, उस चित्यपृष्ठ में प्राणदेवता उसीप्रकार अभय बन कर अपने आध्यात्मिक यज्ञ की इतिकर्त्तव्यता निरापद सम्पन्न करते हैं, जैसे कि वज्र की रक्षा से रक्षित मनुष्य अपने कर्म में निरापद बना रहता है। अतएव आज्य को वज्र कहा जासकता है। यही आलेख में देवयजन भूमि है। बाह्य-सामग्री-सम्भार उस समय पर्यन्त निरर्थक है, जबतक कि आज्य (प्राणशक्तिलक्षण कर्मरक्षक वज्र) का ग्रहण नहीं कर लिया जाता। अध्यात्म का आज्य, एवं अधिभूतयज्ञ का आज्यद्रव्य, दोनों ही यज्ञ स्वरूप की सिद्धि के मुख्य द्वार बने हुए हैं।

त्रि सत्या वै देवाः के अनुसार यह यज्ञ त्रि-मर्य्यादा से युक्त है। कितने एक याज्ञिकों का कहना था कि, इस यज्ञसम्पत्ति-संग्रह के लिए 'जुहू उपभृत् ध्रुवा' तीनों में तीन तीन बार मन्त्रप्रयोग होना चाहिए। परन्तु परमवैज्ञानिक भगवान् याज्ञवल्क्य ऐसा करना इसलिए अनुचित समझते हैं कि तीनों यज्ञकर्म एक ही यज्ञसिद्धि से सम्बन्ध रखते हैं। यदि तीन स्थान पर विराट् सम्पत्ति का संग्रह किया जायगा तो यज्ञस्वरूपता नष्ट होजायगी। इसलिए (यज्ञस्वरूपता सुरक्षित रखने के लिए) एक-एक बार ही मन्त्रप्रयोग होना चाहिए। ऐसा करने से यज्ञस्वरूपता भी सुरक्षित रहेगी, एवं तीनों स्थानों की समष्टि के समन्वय से विराट्–सम्पत्ति भी प्राप्त होजायगी (१७,१८,)।

श्रीः

अथ–शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्ये–द्विब्राह्मणात्मक

इध्म-परिधि-ब्राह्मणम्



अथ–प्रथमकाण्डे–तृतीयाध्याये तृतीय ब्राह्मणम्

द्वितीयप्रपाठके च षष्ठ ब्राह्मणम्

इध्म–परिधि–ब्राह्मणानुगतस्य–"इध्मब्राह्मण" नामक प्रथम ब्राह्मणम्)

१



श्री

अथ प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च षष्ठं ब्राह्मणम्

द्विब्राह्मणानुगत-"इध्मब्राह्मणम्"-प्रथमम्

१

१७—इध्मानुगत-कर्म्मसंग्रह —

१ इध्म-वेदि-बर्हिषां प्रोक्षणं, तथा प्रोक्षणीशेषेण बर्हिर्मूलोपसेचनम्

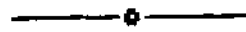
(मूल) प्रोक्षणीरध्वर्यु रादत्ते। स इध्ममेवाग्रे प्रोक्षति—"कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" (२ अ० १ म०) इति। तं मेध्यमेवैतदग्नये करोति ॥ १ ॥

अथ वेदिं प्रोक्षति—"वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टां प्रोक्षामि" [२ अ० १ म०] इति। तन्मेध्यामेवैतद् बर्हिषे करोति ॥ २ ॥

अथास्मै बर्हिः प्रयच्छति। तत्पुरस्ताद्ग्रन्थ्यामादयति। तत् प्रोक्षति—"बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" [२ अ० १ म०] इति। तन्मेध्यमेवैतत् स्रुग्भ्यः करोति ॥ ३ ॥

अथ या प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते, ता अग्निरोषधीनां मूलान्युपनिनयति—"अदित्यै व्युन्दनमसि [२ अ० २ म०] इति। इयं वै पृथिवी अदितिः तदस्या एवैतदोषधीनां मूलान्युपनत्ति। ता इमा आर्द्रमूला ओषधयः। तस्माद्यद्यपि शुष्काण्यग्राणि भवन्ति—आर्द्राण्येव मूलानि भवन्ति ॥ ४ ॥

४—आहवनीयाग्नेरिध्मकाष्ठेन प्रवलीकरणम्



अथाग्निं कल्पयति । शिरो वै यज्ञस्याहवनीयः । पूर्वोऽर्द्धो वै शिरः-पूर्वार्द्धमवैतद्यज्ञस्य कल्पयति । उपर्युपरि प्रस्तरं धारयन् कल्पयति । अयं वै स्तुपः प्रस्तरः । एतमेवास्मिन्नेतत् प्रतिदधाति । तस्मादुपर्युपरि प्रस्तरं धारयन् कल्पयति ॥ १२ ॥

५— आहवनीयस्य पश्चिमे, दक्षिणे, उत्तरे च क्रमेण परिधिनिधानम्



अथ परिधीन् परिदधाति । तद् यत्परिधीन् परिदधाति—यत्र वै देवा अग्रेऽग्निं होत्राय प्रावृणत तद्धोवाच 'न वा अहमिदमुत्सहे, यद्वो होता स्याम्, यद्वो हव्यं वहेयम् । त्रीन् पूर्वान् प्रावृढ्वम् । ते प्र धन्विषुः, तान् मेऽकल्पयत । अथ वा अहमेतदुत्साक्ष्ये—यद्वो होता स्याम्, यद्वो हव्यं वहेयमिति । तथेति । तानस्मा एतानवाकल्पयन्—त एते परिधयः ॥ १३ ॥

स होवाच-वज्रो वै तान् वषट्कारः प्रावृणक् । वज्राद्वै वषट्कारादुद्बिभेमि, यन्मा वज्रो वषट्कारो न प्रवृञ्ज्यात् । एतैरेव मा परिधत्त, तथा मा वज्रो वषट्कारो न प्रवर्क्ष्यतीति । तथेति । तमेतैः पर्यदधुः । तस्य वज्रो वषट्कारः प्रावृणक् । तस्मै वैतदग्नये नयति-यदेतैः परिदधाति ॥ १४ ॥

त उ हैत ऊचुः-इदमु चेदस्मान् यज्ञे युङ्ग्ध्य, अस्त्वेवास्माकमपि यज्ञे भाग इति ॥ १५ ॥

तथेति देवा अत्र वन्—"यद्बहिष्परिधि स्कन्त्स्यति-तद्युष्मासु हुतम् । अथ यद्व उपर्युपरि होष्यन्ति-तद्वाऽशिष्यति । अथ यदमी होष्यन्ति तद्वोऽशिष्यतीति । स यदमी जुहोति तदनानशति, अथ यत्तेनानुपर्युपरि जुहोति-तन्नानशति, अथ यद्बहिष्परिधि स्कन्दति-तन्तेषु हुतम् । तस्माद् ह नाग इव स्कन्नं स्यात् । इमां वैव पृथिवीं प्राविशन् । यद्वा इदं किञ्च स्कन्दति-अस्यामेव तन्मन प्रतितिष्ठति ॥ १६ ॥

२—पवित्रे प्रणीतासु निधाय वर्हिष पुरस्तात् प्रस्तरगृहणम्—

अथ विस्रंस्य ग्रन्थिं पुरस्तात् प्रस्तरं गृह्णाति—'विष्णोःस्तुपोऽसि—(म० २-न०) इति । यज्ञो वै विष्णुः, तस्येयमेव शिखा स्तुपः । एतामेवास्मिन्नेतद्दधाति । पुरस्ताद् गृह्णाति । पुरस्ताद्ध्ययं स्तुप, तस्मात् पुरस्ताद् गृह्णाति ॥ ५ ॥

अथ सन्नहनं विस्रंसयति । प्रक्लृप्त हैवास्य स्त्री विजायत इति । तस्मात् सन्नहनं विस्रंसयति । तदविक्षायां श्रोण्यौ निदधाति । नीविर्हैवास्यैषा । दक्षिणत इव हीयं नीविः । तस्मादविक्षायां श्रोण्यौ निदधाति । तत्पुनरभिच्छादयति । अभिच्छन्नेव हीयं नीविः । तस्मात्पुनरभिच्छादयति ॥ ६ ॥

३—वेद्यां बर्हिषा त्रिवृत्-स्तरणम्

अथ बर्हिः स्तृणाति । अथ यै स्तुपः प्रस्तरः । अथ यान्यवाञ्चि लोमानि, तान्येवास्य, यदितरं बर्हिः, तान्येवास्मिन्नेतद्दधाति । तस्माद् बर्हिः स्तृणाति ॥ ७ ॥

योषा वै वेदिः । तामेवदेवा अपर्यासत, ये चेमे ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचाना । तेष्वेवैनामेतत् पर्यासीनेष्वनग्नां करोति अनग्नताया एव । तस्माद्बर्हिः स्तृणाति ॥ ८ ॥

यावती वै वेदिः, तावती पृथिवी, ओषधयो बर्हिः । तदस्यामेवतत् पृथिव्यामोषधीर्दधाति । ता इमा अस्यां पृथिव्यामोषधयः प्रतिष्ठिताः । तस्माद्बर्हिःस्तृणाति ॥ ९ ॥

तद् बहुलं स्तृणीयादित्याहुः । यत्र वा अस्यै बहुलतमा ओषधय, तदस्या उपजीवनीयतमम् । तस्माद् बहुलं स्तृणीयादिति । तद् वदाहत्यर्थसाधि । त्रिवृत् स्तृणाति, त्रिवृद्धि यज्ञः । अथो अपि प्रबर्हं स्तृणीयात् । स्तृणन्ति बर्हिरानुषगिति ह विज्ञाभ्यनूक्तम् । अधरमूलं स्तृणाति । अधरमूला इव हीमा अस्यां पृथिव्यामोषधय प्रतिष्ठिताः । तस्मादधरमूलं स्तृणाति ॥ १० ॥

स स्तृणाति—'ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां देवेभ्य [२ म० २ म०] इति । साध्वीं देवेभ्य इ यदेवदाह-यदाहोर्णम्रदसं स्वासस्थां देवेभ्य इति स्वासदां मेवास्य इत्यैवैतदाह ॥ ११ ॥

४—आहवनीयाग्नेरिध्मकाष्ठेन प्रवलीकरणम्

अथाग्निं कल्पयति। शिरो वै यज्ञस्याहवनीयः। पूर्वोऽर्द्धो वै शिर-पूर्वार्द्धमेवैत-द्यज्ञस्य कल्पयति। उपर्युपरि प्रस्तरं धारयन् कल्पयति। अथ वै स्तुपः प्रस्तरः। एतमेवा स्मिन्नेतद् प्रतिदधाति। तस्मादुपर्युपरि प्रस्तरं धारयन् कल्पयति ॥ १२ ॥

५— आहवनीयस्य पश्चिमे, दक्षिणे, उत्तरे च क्रमेण परिधिनिधानम्

अथ परित्रीन् परिदधाति। तद् यत्परित्रीन् परिदधाति-यत्र वै देवा अग्रेऽग्निं होत्राय प्रावृणत तद्धोवाच 'न वा अहमिदमुत्सहे, यद्वो होता स्याम्, यद्वो हव्यं वहेयम्। त्रीन् पूर्वान् प्रावृढवम्। ते प्र धन्विषुः, तान्मे ऽवकल्पयत। अथ वा अहमेतदुत्साचये-यद्वो होता स्याम्, यद्वो हव्य वहेयमिति। तथेति। तानस्मा एतानवाकल्पयन्-त एते परिधय ॥ १३ ॥

स होवाच-वज्रो वै तान् वषट्कारः प्रावृणक्। वज्राद्वै वषट्कारादुबिभेमि, यन्मा वज्रो वषट्कारो न प्रवृञ्ज्यात्। एतैरेव मा परिधत्त, तथा मा वज्रो वषट्कारो न प्रव-र्च्यतीति। तथेति। तमेते पर्यदधुः। तम वज्रो वषट्कार प्राऽवृणक्। तस्मै वैतदभये नधाति-यदेते परिदधाति ॥ १४ ॥

त उ हैत ऊचुः-इदमु चेदस्मान् यज्ञे युङ्क्थ, अस्त्वेवास्माकमपि यज्ञे भाग इति ॥ १५ ॥

तथेति देवा अब्रुवन्-"यद्बहिष्परिधि स्कन्त्स्यति-तद्युष्मासु हुतम्। अथ यद्व उप र्युपरि होष्यन्ति-तद्धाऽविष्यति। अथ यदमी होष्यन्ति तद्वोऽविष्यतीति। स यदमी जुहोति वदनानवति, अथ यन्नानुपर्युपरि जुहोति-तन्नानवति, अथ यद्बहिष्परिधि स्कन्दति-तदेतेषु हुतम्। तस्माद् ह नाग इव स्कन्नं स्यात्। इमां येते पृथिवीं प्राविशन्। यत्र इदं किञ्च स्कन्दति-मत्यामेव तन्मध्ये प्रतितिष्ठति ॥ १६ ॥

२—पवित्रे प्रणीतासु निधाय बर्हिष पुरस्तात् प्रस्तरगृहणम्—

अथ विस्रस्य ग्रन्थिं पुरस्तात् प्रस्तरं गृह्णाति—'विष्णोस्तुपोऽसि'—(२ अ० २—३०) इति । यज्ञो वै विष्णु, तस्येयमेव शिखा स्तुपः। एतामेवास्मिन्नेतद्दधाति । पुरस्ताद् गृह्णाति । पुरस्ताद्धयर्य स्तुप, तस्मात् पुरस्ताद् गृह्णाति ॥ ५ ॥

अथ सन्नहन विस्रंसयति । प्रक्लृप्त हैवास्य स्त्री विजायत इति । तस्मात् सन्नहनं विस्रंसयति । तद्दक्षिणायां श्रोण्यौ निदधाति । नीविर्हैवास्यैषा । दक्षिणत इव हीयं नीविः । तस्माद्दक्षिणायां श्रोण्यौ निदधाति । तत्पुनरभिच्छादयति । अभिच्छन्नेव हीयं नीविः । तस्मात्पुनरभिच्छादयति ॥ ६ ॥

३—वेद्या बर्हिषा त्रिवृत्—स्तरणम्

अथ बर्हि स्तृणाति । अथ वै स्तुपः प्रस्तर । अथ यान्यवाञ्चि लोमानि, तान्यवास्य, यदितर बर्हि, तान्येवास्मिन्नेतद्दधाति । तस्माद् बर्हि स्तृणाति ॥ ७ ॥

योषा वै वेदिः । तामेतद्देवाश्च पर्यासत, ये चेमे ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचाना । तेष्वेवैनामेतत् पर्यासीनेष्वनग्नां करोति अनग्नतायां एव । तस्माद्बर्हि स्तृणाति ॥ ८ ॥

यावती वै वेदिः, तावती पृथिवी, ओषधयो बर्हि । तदस्यामेवैतत् पृथिव्यामोषधीर्दधाति । ता इमा अस्यां पृथिव्यामोषधयः प्रतिष्ठिताः । तस्माद्बर्हिस्तृणाति ॥ ९ ॥

तद्वै बहुलं स्तृणीयादित्याहुः । यत्र वा अस्यै बहुलतमा ओषधय, तदस्या उपजीवनीयतमम् । तस्माद् बहुलं स्तृणीयादिति । तद्वै तदाहत्यैर्गर्वाधि । त्रिवृत् स्तृणाति, त्रिवृद्धि यज्ञ । अथो अपि प्रबर्ह स्तृणीयात् । स्तृणन्ति यदिरालुपगिति स पिस्राम्य नूक्तम् । अग्रमूलं स्तृणाति । अग्रमूला इव हीमा अस्यां पृथिव्यामोषधय प्रतिष्ठिता । तस्मादग्रमूलं स्तृणाति ॥ १० ॥

स स्तृणाति—ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां देवेभ्य' [२ अ० २ म०] इति । साध्वीं देवेभ्य इ यवैतदाह—यदाहोर्णम्रदस त्वेति । स्वासस्थां देवेभ्य इति स्वासदां देवेभ्य इत्येवैतदाह ॥ ११ ॥

अथ-प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणं तृतीय प्रपाठके च प्रथम ब्राह्मणम्

द्विब्राह्मणानुगतश्च—परिधिब्राह्मण—नामक द्वितीय ब्राह्मणम्

त वा आर्द्रा स्यु । एतद्ध्येषां जीवम्, एतेन सतजम, एतेन वीर्यवन्तः। तस्मादार्द्रा स्यु ॥ १ ॥

स मध्यममेवाग्रे परिधिं परिदधाति–'गन्धर्वस्त्वा विश्वावसु परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित' [२ अ० २ म०] इति ॥ २ ॥

अथ दक्षिणं परिदधाति–"इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित" [२ अ० ३ म०] इति ॥ ३ ॥

अथोत्तर परिदधाति–"मित्रावरुणौ त्वोत्तरत परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित ' [२ अ० ३ म] इति । अग्नया हि । तस्मादाह–अग्निरिड ईडित इति ॥ ४ ॥

६—आहवनीये समिधाधानम्

अथ समिधमभ्यादधाति । स मध्यममेवाग्रे परिधिमुपस्पृशति, तेनैतानग्रे समिन्ध। अथाग्रावभ्यादधाति तनो अग्निं प्रत्यक्ष समिन्धे ॥ ५ ॥

सोऽभ्यादधाति–"वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि । अग्ने बृहन्तमध्वरे" (२ अ० ४ म०) इत्येतया गायत्र्या । गायत्रीमेवैतत् समिन्धे । सा गायत्री समिद्धान्यानि छन्दांसि समिन्धे । छन्दांसि समिद्धानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति ॥ ६ ॥

अथ यां द्वितीयां समिधमभ्यादधाति–वसन्तमेव तया समिन्धे । स वसन्तः समिद्धोऽन्यानृतून् समिन्धे । ऋतवः समिद्धा प्रजाश्च प्रजनयन्ति, ओषधीश्च पचन्ति । सोऽभ्यादधाति-'समिदसि' (२ अ० ५ म०) इति । समिद्धि वसन्त ॥ ७ ॥

स स्रुक्समममिमृशति-"भुवपतये स्वाहा भुवनपतये स्वाहा भूतानापतये स्वाहा [२ अ० २ म०] इति । एतानि वै तेपाममीनां नामानि-यद् भुवपति, भुवन पति, भूतानां पति, तद् यथा वषट्कृत हुतम्-एवमस्यैतेवांम्रपु भवति ॥ १७ ॥

तद्धैके-इध्मस्यैवैतान् परिधीन् परिदधति । तदु तथा न कुर्यात् । अनवक्लृप्ता ह तस्यैते भवन्ति-यानिध्मस्य परिदधाति । अभ्याधानाय ह्येवेध्म क्रियत । तस्यो हैवैतेऽनवक्लृप्ता भवन्ति-यस्यैतानन्यानाहरन्ति-परिधय इति । तस्मादन्यानेवाहरेयु ॥ १८ ॥

ते वै पालाशाः स्यु । ब्रह्म वै पलाश, ब्रह्माग्नि, अग्नयो हि । तस्मात्पालाशा स्यु ॥ १९ ॥

यदि पालाशान् न विन्देत्-अथो अपि वैकङ्कता स्यु । यदि वैकङ्कतान् न विन्दत् अथो अपि कार्ष्मर्यमया स्यु । यदि कार्ष्मर्यमयान् न विन्देत् अथो अपि बैल्वा स्यु । अथो खादिरा, अथो औदुम्बरा । एते हि वृक्षा यज्ञिया । तस्मादेतेषां भवन्ति ॥ २० ॥

प्रथमकाण्डान्तर्गत-तृतीय-अध्याये तृतीय ब्राह्मणम्
एवं द्वितीय प्रपाठके च षष्ठ ब्राह्मणम्
उपरतम्

अत्र-द्विब्राह्मणानुगत-प्रथम-इध्मब्राह्मण समाप्तम्

१

समाप्तश्चाय—द्वितीय प्रपाठक

२

श्री

अथ–प्रथमकाण्डे तृतीया ध्याये चतुर्थं ब्राह्मणं
तृतीय प्रपाठके च प्रथम ब्राह्मणम्
द्विब्राह्मणानुगतश्च—परिधिब्राह्मण—नामक द्वितीय ब्राह्मणम्

त वा आर्द्रा स्यु । एतद्ध्येषां जीवम्, एतेन सतेजस, एतेन वीर्यवन्तः। तस्मादार्द्रा स्यु ॥ १ ॥

स मध्यममेवाग्रे परिधिं परिदधाति–"गन्धर्वस्त्वा विश्वावसु परिदधातु विश्व स्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित' [२ अ० २ म०] इति ॥ २॥

अथ दक्षिण परिदधाति–"इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित" [२ अ० ३ म०] इति ॥ ३ ॥

अथोत्तर परिदधाति–"मित्रावरुणौ त्वोत्तरत परिधत्ता ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित ' [२ अ० ३ म] इति । अग्नयो हि । तस्मादाह–अग्निरिड ईडित इति ॥ ४ ॥

६—आहवनीये समिधाधानम्

अथ समिधमभ्यादधाति । स मध्यममेवाग्रे परिधिमुपस्पृशति तेनैतानग्रे समिन्धे। अथाग्रावभ्यादधाति ततो अग्निं प्रत्यक्ष समिन्धे ॥ ५ ॥

सोऽभ्यादधाति–"वीतिहोत्र त्वा कवे द्युमन्त समिधीमहि । अग्ने बृहन्तमध्वरे" (२ अ० ४ म०) इत्येतया गायत्र्या । गायत्रीमेवैतत् समिन्धे । सा गायत्री समिद्धान्यानि छन्दांसि समिन्धे । छन्दासि समिद्धानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति ॥ ६ ॥

अथ यां द्वितीयां समिधमभ्यादधाति–वसन्तमेव तया समिन्धे । स वसन्त समिद्धोऽन्यानृतून् समिन्धे । ऋतव समिद्धा प्रजाश्च प्रजनयन्ति, ओषधीश्च पचन्ति । सोऽभ्यादधाति–'समिदसि' (२ अ० ५ म०) इति । समिद्धि वसन्त ॥ ७ ॥

तृतीयाध्याय में तृतीय ब्राह्मण एवं द्वितीयप्रपाठक में षष्ठ ब्राह्मण "इध्मब्राह्मण"

मूलानुवाद—

१—इध्म, वेदि तथा बर्हि का प्रोक्षणीशेष से बर्हिमूलोपसिञ्चन—

अध्वर्यु (नामक ऋत्विक् क्रमशः इध्म वेदि—बर्हि के प्रोक्षण के लिए) प्रोक्षणी (प्रोक्षण कर्म—के लिए निरुक्त अतएव प्रोक्षणी नाम से प्रसिद्ध जलों) का ग्रहण करता है। (इसे इन प्रोक्षणी-जलों से इध्म—वेदि—बर्हि, तीनों का प्रोक्षण करना है। इन में से) यह अध्वर्यु सब से पहिले 'कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि' (यजु सं० २।१ हे अग्ने ! आप कृष्णमृग—हैं, आहवनीय नामक खर में प्रतिष्ठित रहने के कारण आप आखरेष्ठ हैं। ऐसे आप का यथानुरूप-अभिलषित प्रोक्षण करता हूँ) यह मन्त्र बोलता हुआ इध्म (महाग्नि-प्रज्वलन के लिए लाए हुए लकड़ी के बँधे हुए भारों) का प्रोक्षण करता है। इस प्रोक्षणकर्म से इन इध्म-सम्भारों को अध्वर्यु अग्निदेवता के लिए सङ्गमनीय ही करता है ॥१॥

इध्मप्रोक्षणानन्तर- 'वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि' (यजु सं० २।१-आप समग्रयज्ञसमृद्धि प्राप्ति के कारण 'वेदि' नाम से प्रसिद्ध हैं। बर्हिस्तरण के लिए आपका मैं अभिलषित प्रोक्षण करता हूँ) यह बोलता हुआ वेदि का प्रोक्षण करता है। इस प्रोक्षणकर्म से यह अध्वर्यु इस वेदि को बर्हिस्तरणकर्म के लिए ही सङ्गमनीय करता है ॥२॥

वेदिप्रोक्षणानन्तर (बर्हि के प्रोक्षण के लिए) आग्नीध्र नामक ऋत्विक् अध्वर्यु के हाथ में बर्हि (कुशामुष्टि) सौंपता है। (आग्नीध्र से समर्पित बर्हि को हाथ में लेकर) अध्वर्यु उस बर्हि को वेदि पर उत्तराग्र इसप्रकार से रखता है, जिस से कि बर्हि की गाँठ पूर्व की ओर रहे। (इसप्रकार वेदि पर पुरस्तात्-ग्रन्थिरूप से बर्हि प्रतिष्ठित कर) यह अध्वर्यु—'बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि' (यजु सं० २।१-आप वेदिस्तरणकर्म में समर्थ बनते हुए 'बर्हि' नाम से प्रसिद्ध हैं ऐसे आप का मैं स्रुचों के लिए अभिलषित प्रोक्षण करता हूँ) यह मन्त्र बोलता हुआ वेदि पर प्रतिष्ठित बर्हि का प्रोक्षण करता है। इस प्रोक्षणकर्म से यह अध्वर्यु स्रुचों के लिए ही इस बर्हि को सङ्गमनीय करता है • ॥३॥

• इध्म (काष्ठसम्भार) का उपयोग आहवनीयाग्नि में होता है, वेदि का उपयोग बर्हिस्तरणकर्म में होता है एवं बर्हि का उपयोग स्रुक्स्थापनकर्म में होता है। दूसरे शब्दों में—इध्म आहवनीय अग्नि में डाले जाते हैं, बर्हि वेदि पर बिछाए जाते हैं एवं स्रुक्पात्र बर्हि पर रक्खे जाते हैं। इध्म का महाग्नि से, वेदि का बर्हि से एवं बर्हि का स्रुक्पात्रों से सङ्गमनीय-यथानुरूप सम्बन्ध होजाय, एकमात्र इसी प्रयोजन के लिए इध्म वेदि बर्हि का क्रमिक प्रोक्षण होता है। यज्ञमण्डल में यद्यपि तीनों ही पवित्र पदार्थ हैं, परन्तु अभी इन में मेध्यधर्म का अभाव है। पानी में मेध्यगुण भी है। इसी मेध्यभाव की निष्पत्ति के लिए प्रकृत प्रोक्षण-कर्म विहित है। मेध्यता एवं पवित्रता भिन्न भिन्न वस्तुतत्त्व हैं। प्रोक्षणी जलों से इध्म को 'शुद्ध' (पवित्र) बना मानना नितान्त असङ्गत है, जैसा कि भाष्यकारों ने 'नदि शुद्धा करोति' अर्थ कर दिया है। इस विषय का विशद विवेचन शतपथ-प्रथमखण्ड में विचार से किया जायगा है।

तीनों प्रोक्षण-कर्म्मों के अनन्तर (प्रोक्षणपात्र में) जो प्रोक्षणी-जल बच जाते हैं उन से 'अदित्यै व्युन्दनमसि' (यजु स० २।२-हे प्रोक्षण जल ! आप पृथिवी के सिञ्चक हैं) यह मन्त्र बोलता हुआ ओषधियों (बर्हि) के मूलों का सिञ्चन करता है। बचे पानी को ओषधियों की जड़ों में डाल देता है। निश्चयेन पृथिवी अदिति है। इस सिञ्चनकर्म्म से अध्वर्यु इस पृथिवी के आर्द्रविमूलों को ही आर्द्र करता है। (इसी सिञ्चनकर्म से) ये ओषधियाँ मूलभाग से आर्द्र (उपलब्ध होती) हैं। इसी सिञ्चनकर्म्म का यह प्रभाव है कि, यद्यपि ओषधियों के अग्रभाग शुष्क रहते हैं, परन्तु मूलभाग आर्द्र ही रहते हैं ॥४॥

२-प्रणीता में पवित्र स्थापित कर बर्हि के पूर्वभाग से प्रस्तर का ग्रहण—

प्रोक्षणकर्म्मानन्तर यह अध्वर्यु (अपने हाथ से प्रणीतापात्र में दो कुशा रखकर) वेदि पर पुरस्तात् गाठ लगे हुए रक्खे बर्हि (कुशामुष्टि) की गाँठ खोल कर- विष्णोः स्तुपोऽसि (यजु सं० २।२ हे प्रस्तर ! आप विष्णु-यज्ञ-के स्तुपस्थानीय-केशसङ्घातरूप शिखा-स्थानीय हैं।) यह मन्त्र बोलता हुआ उस बर्हि में से पूर्व की ओर से (कुशासमूह-लक्षण) प्रस्तर का ग्रहण करता है। विष्णु निश्चयेन यज्ञ है, इस यज्ञपुरुष की शिखा यह स्तुप (कुशासङ्घात लक्षण प्रस्तर) ही है। (प्रस्तर-ग्रहण करता हुआ अध्वर्यु) इस यज्ञपुरुष में इस शिखा को ही प्रतिष्ठित करता है। यह स्तुप (शिखा-आध्यात्मिक यज्ञरूप पुरुष के) पूर्वभाग (शिरोभाग) में ही है अतएव (तत्प्रतिरूप इस वैध आधिभौतिक यज्ञपुरुष के शिखा-स्थानीय स्तुप का भी) पुरस्तात् ही ग्रहण करता है ॥५॥

(बतलाया गया है कि वेदि पर रक्खे हुए बर्हि-संघात की रज्जु की गाँठ खोल कर अध्वर्यु उस में से प्रस्तर का ग्रहण करता है। इस ग्रहणकर्म्म के अनन्तर प्रस्तर तो ब्रह्मा को सौंप देता है, एवं जो) सन्नहन (बर्हि के चारों ओर लिपटी हुई बन्धन-रज्जु) है उसे (बर्हि से सर्वथा) पृथक् कर देता है। (सन्नहन को पृथक् क्यों किया जाता है ? इस की उपपत्ति बतलाते हैं)- यह निश्चित है कि बन्धन के खुल जाने पर ही इस यजमान की स्त्री गर्भसम्भाव में सम्पूर्णावयव सन्तान उत्पन्न करती है। (तात्पर्य्य यही है कि नीवीबन्धन खोल देने से ही गर्भिणी सुखपूर्वक प्रसवकर्म्म करने में समर्थ होती है। इधर वेदि योषास्थिका बनती हुई निदानेन स्त्री है एवं यह बर्हि-रज्जु इस का नीवीबन्धन है। यही वेदात्मारूप सन्तान उत्पन्न करने वाली है। उत्पत्ति-कर्म्म में बन्धन का विस्रंसन आवश्यक है) इसीलिए सन्नहन खोलता है। उस सन्नहनरज्जु को वेदि के दक्षिण श्रोणिभाग पर रख देता है। कारण यही है कि यह रज्जु (निदानेन) इस यजमानपत्नी का नीवीबन्धन ही है। एवं लोकव्यवहार में नीवीबन्धन स्त्रियों के दक्षिण-श्रोणिभाग पर ही रहता है। अतएव (तत्प्रतिरूपा वेदि के) दक्षिण श्रोणिभाग में ही नीवी-बन्धन स्थानीया रज्जु प्रतिष्ठित करता है। दक्षिणश्रोणिभाग पर रक्खी हुई नीवी को बर्हि से आच्छादित कर देता है। कारण इस का यही है कि, लोकव्यवहार में स्त्रियों का नीवीबन्धन वस्त्र से ही आच्छादित रहता है। अतएव (तत्प्रतिरूपा वेदि की) इस नीवीबन्धन-स्थानीया रज्जु को आच्छादित कर देता है ॥६॥

—o—

३–वेदि पर बर्हिस्तरणों से त्रिवत्–रूप से आच्छादन—

(प्रस्तरग्रहण–कर्म्म के सम्बन्ध में यह बतलाया गया है कि निदानविधि से प्रस्तर शिखा–स्थानीय है। जब कि इस वैधयज्ञ में पुरुष की प्रतिरूपता के अनुरूप प्रस्तररूप शिखा का ग्रहण आवश्यक माना गया है तो शिखातिरिक्त शिखा से नीचे के केश–लोमों का भी उसी निदानविधि से संग्रह होना चाहिए। इसी उपपत्ति को लक्ष्य में रखती हुई श्रुति कहती है)—सम्मार्जन–विध सन–कर्म्म के अनन्तर यह अध्वर्यु (वेदि पर पनमाग से त्रिवृत्–मर्यादा से) कुशा बिछाता है (वेदि पर प्रतिष्ठित) यह प्रस्तर (कुशामुष्टि) निश्चयेन (निदानविधि से) स्तुप (केशसंघातलक्षणा शिखा) है। (स्तुप के अतिरिक्त जो सम्पूर्ण वेदि पर कुशा बिछाई जाती है) यह यह इतर बर्हि (प्रस्तर से भिन्न बिछाई जाने वाली कुशा) (निदानविधि से) शिखा के अधः प्रदेशों में (सर्वाङ्गशरीर में) प्रतिष्ठित लोम (केश–लोम का प्रतिरूप) है। (वेदि पर कुशा बिछाता हुआ अध्वर्यु प्रतिरूप मर्य्यादा से) उन अधः स्थित केश–लोमों को ही यह पुरुष पर लगाता है। इसीलिए कुशा बिछाता है ॥७॥

(कुशास्तरण की पूर्व उपपत्ति यज्ञपुरुष के केश–लोमों से सम्बन्ध रखती है। अब स्वयं वेदि की दृष्टि से दूसरी उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है)—यह वेदि (प्रतिरूप–मर्य्यादा से) योषा (स्त्री) है। इस स्त्री (रूपा वेदि) के ऊपर (हविर्ग्रहण के लिए आए हुए प्राणात्मक) देवता प्रतिष्ठित रहते हैं, एवं जो ये प्रयोगरहस्यज्ञ तथा अनुष्ठान करने वाले विद्वान् ब्राह्मण वेदि के समीप प्रतिष्ठित रहते हैं। (लोकमर्य्यादा में एक स्त्री नग्न शरीर से पुरुषमण्डली में नहीं बैठ सकती अपितु अपना सर्वाङ्गशरीर वस्त्र से वष्टित कर लज्जाभाव से ही आसीन रहती है। इधर वेदि भी योषा–स्थानीया है इसे भी यहाँ उक्त अलौकिक–प्राणदेवताओं, एवं लौकिक ऋत्विजों के समीप रहना पड़ता है। इस अनग्नता के लिए अवश्य ही इस पर कुशा बिछानी चाहिए। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है)—इन बैठे हुए देवताओं तथा ऋत्विजों की मण्डली में (प्रतिष्ठित वेदि पर कुशा बिछाता हुआ) अध्वर्यु इस वेदि को अनग्न ही बनाता है। अनग्नता के लिए ही (कुशास्तरण आवश्यक है) इसलिए (भी) कुशा बिछाता है ॥८॥

(अब वेदि को प्रतिरूप–मर्य्यादा से पृथिवी मानते हुए इसी दृष्टि से कुशास्तरण की तीसरी उपपत्ति बतलाई जाती है)—

जितनी बड़ी वेदि है उतनी ही बड़ी पृथिवी है। (अर्थात् यह वेदि प्राकृतिक–यज्ञप्रत–इासिका–पृथिवी का प्रतिरूप है) ओषधियाँ (प्रतिरूपविधि से यहाँ) बर्हि हैं। (जब त्रि–वेदि–रूपा पृथिवी का यहाँ सम्बन्ध है तो ओषधियों का भी प्रतिरूप इस पर अवश्य ही प्रतिष्ठित करना चाहिए। वही कार्य्य बर्हिस्तरण से पूर्ण होजाता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है)–(बर्हि–स्तरण करता हुआ) अध्वर्यु इस पृथिवी पर (पृथिवी–स्थानीया वेदि पर) ओषधियों का प्रति–ष्ठित करता है। ये ओषधियाँ इस पृथिवी में प्रतिष्ठित हैं। तात्पर्य्य इस वाक्य का यही है कि,

पृथिवी का अपना पूर्ण स्वरूप यही कहलाता है, जिस पर ओषधियाँ रहती हैं। ओषधियुक्त पृथिवी ही समृद्धा मानी गई है। इधर वेदि का निर्माण शुद्ध मिट्टी से हुआ है। ओषधियों को उखाड़ कर केवल मृद्भाग से ही वेदि बनाई गई है। ओषधियों की प्रतिष्ठा का उखड़ जाना पृथिवी का निर्वीर्य्य (ऊसर) बन जाना है। इस निर्वीर्य्यता को दूर करने के लिए ही ओषधि-प्रतिष्ठा प्रतिष्ठित करने के लिए ही यहाँ कुशास्तरण आवश्यक है)। इसीलिए अध्वर्यु कुशास्तरण करता है ॥४॥

(कुशास्तरण अतिशय घन होना चाहिए जिससे वेदिप्रदेश अणुमात्र भी न दीख सके— इसी विशेषता को उपन्यस्त करती हुई श्रुति कहती है)-यज्ञरहस्यवेत्ता विद्वानों का आस्तरण के सम्बन्ध में यह कहना है कि यह अध्वर्यु घनरूप से ही बर्हि बिछावे। अभिप्राय उन अभिज्ञों का (इस कथन का) यही है कि पृथिवी के जिस भाग में ओषधियाँ प्रचुर मात्रा में होतीं हैं पृथिवी का वह भाग ही अतिशय जीवनप्रद माना गया है। इस बर्हि का आहर्त्ता जो यजमान है वही इस बहुलस्तरणानुबन्धी जीवनप्रदभाग का भोक्ता बनता है जैसाकि— 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि, तल्लक्षणत्वात्' इत्यादि जैमिनिसूत्र से प्रमाणित है। (यदि यजमान यहाँ अपने यज्ञ में भूमि-स्थानीया वेदि का आयवेदि-स्थानीय बर्हि से बहुल-आच्छादन कर देगा तो इसके भागधेय का भूप्रदेश प्रचुर ओषधियों से युक्त बनता हुआ इसके लिए उपजीवनीयतम भोग्यतम-बन जायगा यही तात्पर्य्य है)।

बर्हिस्तरण त्रिवृद्रूप से करता है (तीन दर्भमुष्टिया से तीन बार बिछाता है)। कारण यही है कि (त्रिसत्यप्राणदेवताओं के सम्बन्ध से) यज्ञ त्रिवृत् है। (इस त्रिवृत्-लक्षणा यज्ञसम्पत्ति की प्राप्ति के लिए तीन बार कुशास्तरण होना उचित है। (त्रिवृत्स्तरण का अभिप्राय यही है कि) तीन दर्भमुष्टियों से इसप्रकार स्तरण करना चाहिए, जिससे तीनों दर्भमुष्टिया के तीनों स्तर एक स्तर-रूप से प्रतीत हों। पहिले एक दर्भमुष्टि लेकर उसे वेदि के पूर्व भाग में दक्षिण अंस से आरम्भ कर उत्तरांस पर्य्यन्त इसप्रकार वेदि पर बिछाना चाहिए जिससे कि कुशाओं का अग्रभाग तो पूर्व की ओर रहे तथा मूलभाग पश्चिम की ओर रहे। अनन्तर दूसरी दर्भमुष्टि लेकर (पहिले की दर्भमुष्टि से संलग्न) वेदिमध्य भाग में प्रथममुष्टि से पश्चिम प्रदेश में इसप्रकार बिछावे जिससे कि पूर्वमुष्टि के पश्चिमस्थ मूलभाग इस द्वितीयमुष्टि के पूर्वस्थित अग्रभागों के नीचे दब जायँ। इसीप्रकार तीसरी कुशमुष्टि लेकर (दूसरी दर्भमुष्टि से संलग्न) वेदि के पश्चिमान्त भाग में इसप्रकार बिछावे जिससे कि मध्यमुष्टि के पश्चिमस्थ मूलभाग इस तृतीयमुष्टि के पूर्वस्थित अग्रभागों से आच्छादित होजायँ। इसप्रकार वेदि के पूर्व भाग से स्तरण आरम्भ होगा। एवं तीनों स्तरणों में कुशा के अग्रभाग पूर्व की ओर रहेंगे तथा मूलभाग पश्चिम की ओर रहेगा। साथ ही प्रथममुष्टि के मूलभाग मध्यमुष्टि के अग्रभागों से आच्छादित रहेंगे एवं मध्यमुष्टि के मूलभाग तृतीयमुष्टि के अग्रभागों से आच्छादित रहेंगे। इसी को त्रिवृत्स्तरण कहा जायगा। इस स्तरणक्रम का आरम्भ पूर्व से होगा एवं अवसान पश्चिम में होगा। इसी को परस्तादप-वर्गपक्ष माना जायगा।

३-वेदि पर बर्हिस्तरणों से त्रिवृत्-रूप से आच्छादन—

(प्रस्तरग्रहण-कर्म्म के सम्बन्ध में यह बतलाया गया है कि निधानविधि से प्रस्तर शिखा-स्थानीय है। जब कि इस वैधयज्ञ में पुरुष की प्रतिरूपता के अनुरूप प्रस्तररूप शिखा का ग्रहण आवश्यक माना गया है तो शिखातिरिक्त शिखा से नीचे के केश-लोमों का भी उसी निधानविधि से संग्रह होना चाहिए। इसी उपपत्ति को लक्ष्य में रखती हुई श्रुति कहती है)— समहन-जिस सन-कर्म के अनन्तर यह अध्वर्यु (वेदि पर घनभाव से त्रिवृत्-मर्य्यादा से) कुशा बिछाता है (वेदि पर प्रतिष्ठित) यह प्रस्तर (कुशमुष्टि) निश्चयेन (निधानविधि से) स्तुप (केशसंघातलक्षणा शिखा) है। (स्तुप के अतिरिक्त जो सम्पूर्ण वेदि पर कुशा बिछाई जाती है) वह यह इतर बर्हि (प्रस्तर से भिन्न बिछाई जाने वाली कुशा) (निधानविधि से) शिखा के अन्य प्रदेशों में (सर्वाङ्गशरीर में) प्रतिष्ठित लोम (केश-लोम का प्रतिरूप) है। (वेदि पर कुशा बिछाता हुआ अध्वर्यु प्रतिरूप मर्य्यादा से) उन अन्यत्र स्थित केश-लोमों को ही यज्ञ पुरुष पर लगाता है। इसीलिए कुशा बिछाता है ॥७॥

(कुशास्तरण की पूर्व उपपत्ति यज्ञपुरुष के केश-लोमों से सम्बन्ध रखती है। अब स्वयं वेदि की दृष्टि से दूसरी उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है)—यह वेदि (प्रतिरूप-मर्य्यादा से) योषा (स्त्री) है। इस स्त्री (रूपा वेदि) के ऊपर (हविर्ग्रहण के लिए आए हुए प्राणात्मक) देवता प्रतिष्ठित रहते हैं, एवं जो ये प्रयोगरहस्यज्ञ, तथा अनुष्ठान करने वाले विद्वान् ब्राह्मण वेदि के समीप प्रतिष्ठित रहते हैं। (लोकमर्य्यादा में एक स्त्री नग्न शरीर से पुरुषमण्डली में नहीं बैठ सकती अपितु अपना सर्वाङ्गशरीर वस्त्र से वेष्टित कर लज्जाभाव से ही आसीन रहती है। इधर वेदि भी योषा-स्थानीया है इसे भी यहाँ उक्त अलौकिक-प्राणदेवताओं एवं लौकिक ऋत्विजों के समीप रहना पड़ता है। इस अनग्नता के लिए अवश्य ही इस पर कुशा बिछानी चाहिए। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है)—इन बैठे हुए देवताओं तथा ऋत्विजों की मण्डली में (प्रतिष्ठित वेदि पर कुशा बिछाता हुआ) अध्वर्यु इस वेदि को अनग्न ही बनाता है। अनग्नता के लिए ही (कुशास्तरण आवश्यक है) इसलिए (भी) कुशा बिछाता है ॥८॥

(अब वेदि को प्रतिरूप-मर्य्यादा से पृथिवी मानते हुए इसी दृष्टि से कुशास्तरण की तीसरी उपपत्ति बतलाई जाती है)—

जितनी बड़ी वेदि है, उतनी ही बड़ी पृथिवी है। (अर्थात् यह वेदि प्राकृतिक-यज्ञप्रतिष्ठात्मिका-पृथिवी का प्रतिरूप है) ओषधियाँ (प्रतिरूपविधि से यहाँ) बर्हि है। (जब कि-वेदि-रूपा पृथिवी का यहाँ सम्बन्ध है तो ओषधियों का भी प्रतिरूप इस पर अवश्य ही प्रतिष्ठित करना चाहिए। यही कार्य्य बर्हिस्तरण से पूरा होजाता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है)-(बर्हि-स्तरण करता हुआ) अध्वर्यु इस पृथिवी पर (पृथिवी स्थानीया वेदि पर) ओषधियाँ ही प्रतिष्ठित करता है। ये ओषधियाँ इस पृथिवी में प्रतिष्ठित हैं। तात्पर्य्य इस वाक्य का यही है कि

नीय) है। सर्वाङ्गशरीर में शिरोभाग पूर्व (में) है। इस कर्म्म से अध्वर्य्यु पूर्वभाग (आहवनीयाग्निरूप शिरोभाग) को ही प्रबल बनाता है। (शिरोभाग से उपलक्षित मुखाग्नि ही आहुति का ग्राहक है। इसे ही इस कर्म्म से प्रदीप्त किया जाता है यही निष्कर्ष है)। आहवनीयाग्नि के ऊपर ऊपर प्रस्तर हाथ में रखता हुआ ही अग्नि को क्लृप्त (प्रबल) बनाता है। यह प्रस्तरस्तुप कशासङ्गलक्षणा शिखा ही) है। उसी को उस कर्म्म से इस प्रबली-करण में समाविष्ट करता है। (शिखा भी(शिखास्थित ऊर्ध्वाग्नि भी) इस कर्म्म से प्रबल बन जाय) इसलिए प्रस्तर को ऊपर ऊपर धारण करता हुआ अग्नि को प्रबल बनाता है। * ॥ १२ ॥

— ० —

५—आहवनीयकुण्ड के पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-प्रान्त भागों में परिधियों का स्थापन—

अग्निप्रबलीकरणानन्तर वह अध्वर्य्यु (आहवनीयकुण्ड के पश्चिम उत्तर तथा दक्षिण के प्रान्त भागों में क्रमश: तीन) 'परिधियाँ' स्थापित करता है। सो जिसलिए कि, परिधियाँ स्थापित करता है–(उस की उपपत्ति बतलाई जाती है)। (जिस समय) देवताओं ने (प्राणविध पार्थिव आग्नेय-देवताओं ने) जिस (अपने प्राकृतिक भूपिण्ड-सम्बन्धी यज्ञ) में इस अग्नि का हौत्रकर्म्म के लिए वरण किया–(वरण करने की इच्छा अग्नि से प्रकट की) उस समय अग्नि (प्रत्युत्तर में यह) बोला कि मैं इस कर्म्म के लिए अपना उत्साह नहीं दिखला सकता जो कि (मैं) आप का होता बनूँ, एवं जो कि आप के लिए (पृथिवी से द्युलोक पर्य्यन्त लेजाने के लिए) हविर्द्रव्य का (भार) वहन करूँ। (अग्नि ने हौत्रकर्म्म में क्यों अनुत्साह प्रकट किया ? इस का कारण बतलाती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है कि)–(अग्नि ने अनुत्साह का कारण बतलाते हुए देवताओं से यही कहा कि)–हे देवताओ ! आपने मेरे ही तीन पूर्वपुरुषों (मत्सजातीय तीन अग्नियों) को (हौत्रकर्म्म के लिए) वरण किया था (वरण करना चाहा था) और इसी विभीषिका से वे तीनों अग्नि पलायित होगए थे (अपना स्वरूप खो बैठे थे +)।

(प्रवरणकर्म्म की विभीषिका से पलायित तथा स्वरूपतः विकृत उन) तीनों अग्नियों को यदि आप (पुनः) वापस (इस यज्ञ में मेरी सहायता के रूप में अधिकृत बना कर) लौटा सकते हैं,

---

* इसी सिद्धान्त के आधार पर लोक में भोजन-व्यवहार के समय कहा जाता है कि 'अमुक भूदेव पानी पर हाथ फेरते गए, और भोजन करते गए'। अवश्य ही भोजनवेला में शिखा पर हाथ फेरते रहने से शिरोऽग्नि प्रदीप्त होता रहता है एवं अन्नद्रव्य का आकर्षण स्थिर बना रहता है।

+ ये ही पलायित अग्नि व्यष्टिरूप से 'एकत द्वित त्रित' नामों से तथा समष्टिरूप से 'आप्त्या' नाम से प्रसिद्ध हैं जिन का विशद वैज्ञानिक विवेचन पूर्व के 'आप्त्याब्राह्मण' में–'चतुर्द्धा विहिता ह वा अग्रेऽग्निरास०' (शत० १।२।१।१) इत्यादि रूप से किया जा चुका है। अग्नि के मौलिक स्वरूप ज्ञान की दृष्टि से 'आप्त्या-विज्ञान' अपना एक विशेष ही स्थान रखता है।

(दूसरा है-'प्रागग्रग' पक्ष। पहिले प्रथम दर्भमुष्टि को वेदि के पश्चिम भाग में पूर्व की ओर अग्रभाग रखते हुए, तथा पश्चिम की ओर मूलभाग रखते हुए बिछाया जाता है। अनन्तर दूसरी दर्भमुष्टि बिछाते हुए प्रथममुष्टि के अग्रभागों को ऊपर उठा कर इनके नीचे दूसरी मुष्टि के मूलभाग दबा दिए जाते हैं। तृतीय मुष्टि पूर्व में बिछाई जाती है। इसके मूलभाग भी मध्यमुष्टि के अग्रभागों के नीचे दबा दिए जाते हैं। इसप्रकार यह आस्तरण पश्चिम से आरम्भ होकर पूर्व में समाप्त होता है। इस पक्ष में कुशाओं का परस्पर ओतप्रोतभावसा होजाता है। जिसप्रकार लोकव्यवहार में तृणादि के छप्पर बनाते हुए तृण-पूलकों को परस्पर बांध कर फैलाया जाता है, वैसे ही यह आस्तरणक्रम है। स्वयं ऋषि ने (वेदमन्त्र ने) भी इसी पक्ष का समर्थन किया है। इसी द्वितीय पक्ष को उद्धृत करती हुई श्रुति कहती है)

अथवा 'प्रवह' मर्य्यादा से (एक मुष्टि के अग्रभागों के नीचे दूसरी के मूल दबाते हुए) आस्तरण करना चाहिए। (क्योंकि)- 'स्तृणीत बर्हिरानुषक्' (ऋक् सं १ म० सू ।५ मं०) 'परस्पर सम्बद्ध बर्हि अध्वर्यु लोग बिछाते हैं' यह मन्त्र इसी पक्ष को बतला रहा है। (दोनों पक्षों में मूलभाग अधः प्रदेश से युक्त रहें इसीप्रकार से फैलाया है। (अर्थात बर्हि के मूलभाग अग्रभागों के नीचे दबना उभयपक्ष में मान्य है)। इस पृथिवी पर ओषधियाँ अधरमूलरूप से ही प्रतिष्ठित हैं। इसलिए (ओषधि-स्थानीय) बर्हि को (पृथिवी-स्थानीय वेदि पर) अधरमूलरूप से ही फैलाता है ॥१०॥

(७ ८ ९, १० इन चार कण्डिकाओं से बर्हि-स्तरण की उपपत्ति बतलाई गई। अब आगे की ११ वीं कण्डिका से आवृत (पद्धति) बतलाते हैं) यह अध्वर्यु 'ऊर्णाम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्यः (यजु० स० २।२-ऊर्णासूत्र जैसे बने हुए कोमल कम्बल के समान स्पर्शवाला आसन के लिए हे बर्हिदेवता! आप पर बर्हि बिछाता हूं। आप देवताओं के लिए सुखपूर्वक बैठने के स्थान हों) यह मन्त्र बोलता हुआ बर्हिस्तरण करता है। 'देवताओं के लिए आप आसन बनाई जाती हैं' यही कहा गया है जोकि ऊर्णाम्रदसं त्वा' यह कहा गया है। स्वासस्थं देवेभ्यः इस मन्त्रभाग से भी देवताओं के लिए सुखात्मिका प्रतिष्ठाभूमि बनाई जारही हैं यही कहा गया है ॥ ११ ॥

---

४ आहवनीयाग्नि का इध्म-काष्ठ से प्रज्वलीकरण—

बर्हिरास्तरणानन्तर यह अध्वर्यु आहवनीयाग्नि का + कल्पन (हविरासादन-समय) करता है (अग्नि को काष्ठ से चिताता है)। यह आहवनीयाग्नि इस (पुरुषात्मरूप) यज्ञ का मस्तक (स्था-

---

\+ इस सम्बन्ध में दो विकल्प हैं। कितनों ही के मतानुसार तो आहवनीयाग्नि कुण्ड में प्रतिष्ठित अङ्गारों की भस्म अलग कर अग्नि को प्रबल बना देना मात्र है एवं कितने एक याज्ञिक यहां काष्ठ डाल कर अग्नि प्रज्वलित करते हैं। दोनों में अनापत्ति है। अग्निका प्रज्वलन ही कल्पन में अभिप्रेत है। वस्तुतस्तु भगवान् याज्ञवल्क्य के मत में इस कर्म की इविराद्धव्यवस्था समाप्त होती है। अतः यहां काष्ठादि से भस्मापहरण ही अभिप्रेत समझना चाहिए।

नीय) है। सर्वाङ्गशरीर में शिरोभाग पूर्व (में) है। इस कर्म्म से अध्वर्यु पूर्वभाग (आहवनीयाग्निरूप शिरोभाग) को ही प्रबल बनाता है। (शिरोभाग से उपलक्षित मुखाग्नि ही आहुति का ग्राहक है। इसे ही इस कर्म्म से प्रदीप्त किया जाता है, यही निष्कर्ष है)। आहवनीयाग्नि के ऊपर ऊपर प्रस्तर हाथ में रखता हुआ ही अग्नि को सम्पन्न (प्रबल) बनाता है। यह प्रस्तरस्तुप केशसहृतलक्षणा शिखा ही) है। इसी को इस कर्म्म से इस प्रबली-करण में समाविष्ट करता है। (शिखा भी(शिखास्थित ऊर्ध्वाग्नि भी) इस कर्म्म से प्रबल बन जाय) इसलिए प्रस्तर को ऊपर ऊपर धारण करता हुआ अग्नि को प्रबल बनाता है। * ॥ १२ ॥

— • —

५—आहवनीयकुण्ड के पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-प्रान्त भागों में परिधियों का स्थापन—

अग्निप्रबलीकरणानन्तर यह अध्वर्यु (आहवनीयकुण्ड के पश्चिम उत्तर तथा दक्षिण के प्रान्त भागों में क्रमशः तीन) 'परिधियाँ स्थापित करता है। सो जिसलिए कि परिधियाँ स्थापित करता है-(उस की उपपत्ति बतलाई जाती है)। (जिस समय) देवताओं ने (प्राणविध पार्थिव आग्नेय-देवताओं ने) जिस (अपने प्राकृतिक भूपिण्ड सम्बन्धी यज्ञ) में इस अग्नि का होत्रकर्म्म के लिए वरण किया-(वरण करने की इच्छा अग्नि से प्रकट की) उस समय अग्नि (प्रत्युत्तर में यह) बोले कि मैं इस कर्म्म के लिए अपना उत्साह नहीं दिखला सकता जो कि (मैं) आप का होता बनूँ एवं जो कि आप के लिए (पृथिवी से द्युलोक पर्य्यन्त लेजाने के लिए) हविर्द्रव्य का (भार) वहन करूँ। (अग्नि ने होत्रकर्म्म में क्यों अनुत्साह प्रकट किया? इस का कारण बत लाती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है कि)-(अग्नि ने अनुत्साह का कारण बतलाते हुए देवताओं से यही कहा कि)-हे देवताओ! आपने मेरे ही तीन पूर्वपुरुषों (मत्सजातीय तीन अग्नियों) को (होत्रकर्म्म के लिए) वरण किया था (वरण करना चाहा था) और इसी विभीषिका से वे तीनों अग्नि पलायित होगए थे (अपना स्वरूप खो बैठे थे +)।

(प्रवरणकर्म्म की विभीषिका से पलायित तथा स्वरूपतः विध्वस्त उन) तीनों अग्नियों को यदि आप (पुनः) वापस (इस यज्ञ में मेरी सहायता के रूप में अधिष्ठित बना कर) लौटा सकते हैं,

---

* इसी सिद्धान्त के आधार पर लोक में भोजन-व्यवहार के समय कहा जाता है कि 'अमुक भूदेव चोटी पर हाथ फेरते गए, और भोजन करते गए'। अवश्य ही भोजनवेला में शिखा पर हाथ फेरते रहने से शिरोऽग्नि प्रदीप्त होता रहता है एवं अन्नद्रव्य का आकर्षण स्थिर बना रहता है।

+ ये ही पलायित अग्नि व्यष्टिरूप से 'एकता द्विता त्रिता' नामों से तथा समष्टिरूप से 'आप्त्या' नाम से प्रसिद्ध हैं जिन का विशद वैज्ञानिक विवेचन पूर्व के 'आप्त्याब्राह्मण' में- चतुर्धा विहिता ह वा अग्रेऽग्निरास० (शत० १।२।१।१) इत्यादि रूप से किया जाचुका है। अग्नि के मौलिक स्वरूप ज्ञान की दृष्टि से 'आप्त्या-विज्ञान' अपना एक विशेष ही स्थान रखता है।

तो मैं (फिर भी यथाकथञ्चित् आप के) इस होत्रकर्म्म के लिए उत्साह दिखला सकता हूँ जोकि (मैं) आप का होता बन जाऊँ तथा आप के द्रव्य का वहन करने लगजाऊँ । (अग्नि की इस सन्धा (शर्त) को स्वीकार करते हुए देवताओं नें कह दिया कि) ऐसा ही होगा। (तत्काल देव ताओं ने) उन (पलायित अग्नियों) को इस अग्नि के लिए (यज्ञ में पुनः अधिकृत बनाकर) लौटा लिया। वे ही ये तीन परिधियाँ हैं । (अर्थात् पलायित तीनों अग्नियों के द्वारा यज्ञाग्नि को समृद्ध बनाने के लिए ही निदानविधि से परिधियाँ स्थापित की जाती हैं) ॥१३॥

(तीनों पूर्वपुरुषों के यज्ञ में लौट आनेपर होत्रकर्म्म में नियुक्त) अग्नि यह बोले कि, वषट्कारस्वरूप वज्र ने ही उन तीनों को पलायित किया था। मैं (स्वयं भी) इस वषट्कार (रूप) वज्र से डर रहा हूँ कि कहीं यह वषट्कार-वज्र मुझे भी (उन तीनों की भाँति इस यज्ञ से) पृथक् न करदे। (मेरी दृष्टि में इस वज्र के भय में बचने का यही सरल उपाय है कि आप लोग) इन तीनों (पुनः लौटे हुए अग्नियों) से ही (तीनों ओर से) घेर दीजिए। (इन के आवरक बन जाने पर) वषट्कारवज्र मुझे (यज्ञ से) पृथक न लौटा सकेगा। देवताओं ने कहा—ऐसा ही होगा (तत्काल) देवताओंनें इन तीनों से इसे सीमित कर दिया। परिणामस्वरूप वषट्कारवज्र (इस सीमित सुरक्षित) अग्नि को (यज्ञ से) पृथक् न लौटा सका। (यहाँ इस वैधयज्ञ में जो अध्वर्यु, होत्रकर्म्म में नियुक्त आहवनीयाग्नि के तीनों ओर पलायित अग्नियों के प्रतिरूप में तीन परिधियाँ स्थापित करता है) इस कर्म्म से यह इस अग्नि के लिए (रक्षार्थ) वर्म्म (कवच) ही बाँधता है जोकि इन तीनों से परिधान करता है। (होत्रकर्म्म में नियुक्त आहवनीयाग्नि की स्वरूप-रक्षा के लिए ही परिधियाँ स्थापित की जाती हैं, यही तात्पर्य्य है ॥१४॥

(होत्रकर्म्म में नियुक्त अग्नि के कहने से पलायित उनतीनों अग्नियों को आवरक बनाने के लिए देवता जब यज्ञमण्डल में ले आए तो) वे तीनों कहने लगे कि, यदि आप हमें इस यज्ञ कर्म्म में नियुक्त करना चाहते हैं, तो इस यज्ञ में (प्रयाजादि अन्य गौण देवताओं की भाँति हमारा भाग (भागधेय भी नियत) होना चाहिए ॥१५॥

देवताओं नें कहा) ऐसा ही होगा। (प्रतिज्ञानुसार तीनों के लिए भागधेय की व्यवस्था करते हुए) देवता कहने लगे कि (आहवनीय में आहुति देते समय) जो आहुतिद्रव्य परिधियों के बाहिर जा गिरेगा वह तुम में हुत होगा अर्थात् परिधि से बाहिर स्कन्न द्रव्य तुम्हारा प्रातिस्विक-असाधारण भागधेय समझा जायगा) इसके अतिरिक्त जो आहुतिद्रव्य ऋत्विग्गण तुम्हार (परिधियों के) ऊपर ऊपर डाल देंगे वह तुम्हारी (स्वरूपरक्षा) रक्षा का कारण बनेगा। साथ ही ऋत्विक्-गण जो द्रव्य (साक्षात्) अग्नि में हुत करेंगे वह [भी]–[देवताओं के साथ साथ] तुम्हारी रक्षा करेगा।

(परिधि-स्थानीय पलायित अग्नियों के भागधेय के सम्बन्ध में आरम्भ में उक्त व्यवस्था हुई थी। एवं 'यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि' यह आदर्श है। इसलिए आज भी यज्ञों में इन अग्नियों के लिए यही व्यवस्था चली आरही है। इसी व्यवस्था का उद्भूत करती हुई श्रुति कहती

है कि)। (सो जो कि) यह अध्वर्यु आहवनाग्नि में आहुति देता है यह (द्रव्य) इन परिधि-स्थानीय अग्नियों की रक्षा करता है। जो द्रव्य इन परिधियों के ऊपर ऊपर डालता है यह (भी) इन की रक्षा करता है जो द्रव्य परिधियों से बहि प्रदेश में जागिरता है, वह [इन का प्रातिस्विक भाग बनता हुआ] इनमें हुत होता है।

स्कन्न-च्युत-आहुतिद्रव्य पलायित अग्नियों के लिए प्रातिस्विक आहुति है, इस सम्बन्ध में एक यह विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है कि, यज्ञविज्ञानानुसार जो यज्ञिय द्रव्य उपयोगक्षेत्र से बाहिर होजाता है, वह यज्ञकर्त्ता यजमान के शत्रु का भाग बनता हुआ यजमान के लिए अनिष्ट का ही कारण बनता है। इधर अग्नितृप्ति के लिए थोड़ा बहुत आहुतिद्रव्य बहिःप्रदेश में अवश्य गिरेगा जाएगा। इस स्कन्न-दोष का क्या उत्तर ?। इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है कि]—[क्योंकि देवताओंने स्कन्न-द्रव्य को अग्नियों का भागधेय नियत कर दिया है अतः स्कन्नदोष नहीं माना जासकता]—इसीलिए यदि आहुतिद्रव्य बाहिर गिर जाय तो इसमें कोई अपराध [भाग] नहीं [माना जायगा। [पलायित तीनों] अग्नि इसी पृथिवी में प्रविष्ट हुए हैं। [फलतः स्कन्न द्रव्य पृथिवी-प्रदेश पर गिरता हुआ इनकी तृप्ति का कारण बनेगा न कि यह द्रव्य शत्रु का भागधेय बनेगा]। जो कुछ यज्ञिय द्रव्य गिरता है वह सब कुछ इसी पृथिवी में ही [तो] प्रतिष्ठित होता है। [अतः स्कन्नदोष का प्रकृत में कोई अवसर नहीं है]॥ १६ ॥

वह अध्वर्यु -'भूपतये स्वाहा भुवनपतये स्वाहा, भूतानां पतये स्वाहा' यजु मं०२ ‹] 'भूपति के लिए स्वाहा, भुवनपति के लिए स्वाहा भूतपति के लिए स्वाहा है] यह मन्त्र बोलता हुआ [उस] स्कन्न [हविर्ग्रहण करते समय परिधि के बहि प्रदेश में गिर हुए आहुति द्रव्य] का स्पर्श करता है। 'भूपति आदि ही उन [पलायित 'अग्निभ्रातरः' नाम से प्रसिद्ध] तीनों अग्नियों के नाम हैं। सो जैसे प्रधान देवताओं के लिए वषट्कार से युक्त हविर्द्रव्य हुत होता है इसीप्रकार [उक्त मन्त्रप्रयोगपूर्वक स्कन्नद्रव्य के स्पर्श से] इन अग्नियों में हुत बन जाता है। [तात्पर्य यही है कि—स्वाहाकार व वषट्कार व देवा उपजीवन्ति' इस श्रुति के अनुसार 'स्वाहा' 'वौषट्' पूर्विका आहुति का सम्बन्ध देवताओं के साथ माना गया है। तीनों अग्नियों के लिए स्वाहा प्रयोग पूर्वक स्कन्न द्रव्य का स्पर्श करना इन्हें देवताओं की भाँति ही आहुति देते हुए देवकोटि में स्थापित करता है। ॥ १७ ॥

[परिधियाँ किस लकड़ी का बनाई जायें ? इस प्रश्न की मीमांसा की जाती है] कितने एक याज्ञिक [अग्निसमिन्धन के लिए यज्ञसंस्था में गृहीत] इध्म की [लकड़ियों से ही] इन परिधियों का परिधान करते हैं। [अर्थात् जो इध्मसंभार आहवनीयाग्नि के समिन्धन के लिए लाया है, उनके मतानुसार इसी में से परिधियों के लिए लकड़ी ले लेनी चाहिए]।

[इस पक्ष का खण्डन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि] सो ऐसा कभी न करे। [अर्थात् इध्मसंभारकाष्ठ से परिधियाँ न बनाई जायें] उस यजमान के लिए ये परिधियाँ (परि

धानलक्षण कर्म्म के लिए] असमर्थ होती हैं, जिन्हें इध्मकाष्ठ की बनाया जाता है। केवल अभ्याधान [अग्निसमिन्धनार्थ, आहवनीय में स्थापनार्थ] ही इध्म का ग्रहण किया जाता है। [जब इध्मकाष्ठ केवल अग्निसमिन्धनोद्देश्य से ही यज्ञसंस्था में सगृहीत है, तो इससे दूसरा काम नहीं लिया जासकता। यदि इध्मकाष्ठ की परिधियाँ बनाई जायँगी, तो इन से कभी परिधान-लक्षण कर्म्म सिद्ध न होगा]। उसी यजमान के लिए ये परिधियाँ स्वपरिधानकर्म्म में समर्थ होतीं हैं जिस यजमान के लिए ऋत्त्विक्गण अन्य काष्ठ की 'ये परिधियाँ हैं' इस रूप से [स्वतन्त्ररूप से] ग्रहण करते हैं। इसलिए [परिधियों के लिए] दूसरी ही परिधियाँ लेनी चाहिए।

ये परिधियाँ + 'पलाश' की लकड़ियों की होनी चाहिएँ। पलाश निश्चयेन ब्रह्म [ब्रह्मवीर्य्यप्रधान] है। [इधर] अग्नि [भी] ब्रह्म ब्रह्मवीर्य्यप्रधान] है। ये परिधियाँ [प्रति-रूपमर्य्यादा से] अग्नियाँ ही हैं। इस सजातीय सम्बन्ध से ये पलाश की ही होनी चाहिएँ॥१६॥

यदि पलाश की न मिलें तो विकङ्कत काष्ठ की होनी चाहिएँ। यदि वैकङ्कत सम्भव न हो तो 'कार्ष्मर्य्यमयी' होनी चाहिएँ। यदि कार्ष्मर्य्य न मिलें, तो 'बिल्वकाष्ठ' की होनी चाहिएँ। [ये भी न मिलें तो] 'खदिरकाष्ठ' की [होनी चाहिए]। [यदि खादिर भी उपलब्ध न हो तो] 'उदुम्बरकाष्ठ' की परिधियाँ [होनी चाहिएँ]। ये [परिगणित] वृक्ष यज्ञिय हैं। इसलिए इन वृक्षों [में से किसी एक] की ही परिधियाँ होती हैं * ॥२०॥

तृतीय-अध्याय में तृतीय, ब्राह्मण एवं द्वितीय-प्रपाठक में ६ठा ब्राह्मण समाप्त

द्विब्राह्मणानुगत—इध्मब्राह्मण यहाँ उपरत

द्वितीय-प्रपाठक-समाप्त

?

+ इन यज्ञिय वृक्षों का विशेष विवरण विवेचना में किया जायगा।

* यद्यपि ब्राह्मणक्रम की मर्य्यादा के अनुसार यहीं ब्राह्मण समाप्त हो जाता है। तथापि प्रकरणसामान्य की दृष्टि से हमने इस से अगले ब्राह्मण का भी इसी ब्राह्मण के साथ समावेश कर लिया है। प्रकृत ब्राह्मण की ११ वीं कण्डिका से जिस परिधि परिधान प्रकरण का आरम्भ हुआ है वह तृतीय प्रपाठकके प्रथम ब्राह्मण की ८ वीं कण्डिका पर समाप्त हुआ है। इस के आगे जो कर्म्म हैं वे भी परिधि-स्थानीय बनते हुए हुए इसी से सम्बद्ध हैं। अतः दोनों ब्राह्मणों की एक साथ ही व्याख्या करना उचित मान लिया गया है।

तृतीय—अध्याय में चतुर्थ ब्राह्मण एव तृतीय प्रपाठक में प्रथम ब्राह्मण उपक्रान्त द्विब्राह्मणानुगत—'परिधिब्राह्मण'

वे परिधियाँ आर्द्र [गीले काष्ठ की] होनी चाहिएँ। आर्द्र भाव ही इन [काष्ठों का] जीवन [जीवनलिङ्ग—जीवितरूप] है। इसी आर्द्र भाव से ये काष्ठ [स्वावयवों से] कान्तियुक्त बने रहते हैं। इसी आर्द्र भाव से ये काष्ठ [शुष्ककाष्ठ की अपेक्षा] वीर्य्य [विशेष प्राणशक्ति से युक्त] बने रहते हैं। इसलिए परिधियाँ आर्द्र होनी चाहिएँ ॥१॥

[परिधिग्रहण के सम्बन्ध में उपपत्ति, आत्मि स्वरूप, पक्षान्तर आदि जो कुछ विशेष बतलाना था बतला दिया गया। अब पद्धति बतलाते हैं]—यह अध्वर्यु सब से पहिले—"गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरसि अग्निरिड ईडितः" [यजुः सं० २।३—विश्वरक्षा के लिए विश्वावसु नाम का गन्धर्व आप को स्थापित करे। आप यजमान की परिधि हैं अग्नि हैं अग्नाग्नय स्तुत्य हैं ब्राह्मणादि के द्वारा ईडित-स्तुत हैं] यह मन्त्र बोलता हुआ मध्य का * परिधि को प्रतिष्ठित करता है। [आहवनीय का पश्चिम भाग ही इस परिधि से युक्त होता है] ॥२॥

पश्चिम परिधि-स्थापनानन्तर—"इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित" [यजुः सं० २।३—विश्वरक्षा के लिए आप इन्द्र की दाहिना बाहु हैं] यह मन्त्र बोलता हुआ आहवनीय की दक्षिण लेखा पर दूसरी परिधि स्थापित करता है ॥३॥

दक्षिण-परिधि-स्थापनानन्तर—'मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्म्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः' [यजुः सं० २।३—हे उत्तरपरिधे! विश्व की रक्षा के लिए अपने स्थिरधर्म्म से मित्रावरुण—दम्पतिभावों ने आपको उत्तरदिशा में प्रतिष्ठित किया है] यह मन्त्र बोलता हुआ आहवनीय की उत्तर लेखा पर तीसरी परिधि स्थापित करता है ॥४॥

---

* यजमान के स्कन्ध प्रदेश से आरम्भ कर बाहुपर्य्यन्त इनका लम्बाई में परिमाण होता है। आकार में मोटी होती हैं एवं स्वरूपतः गीली होती हैं।

६–आहवनीयाग्नि में समिध-स्थापन—

[पूर्वब्राह्मण की–"अथाग्निं कल्पयति" इत्यादि १२ वीं कण्डिका में यह स्पष्ट किया गया है कि आहवनीयाग्नि को हविर्वहन में समर्थ बनाने के लिए यज्ञसंस्था में गृहीत इध्म-सम्भार में से काष्ठ लेकर उससे आहवनीयाङ्गारों का भस्म पृथक् कर इसे प्रबल बना दिया जाता है। इस-प्रकार इध्मभार से गृहीत जिस समिध (एकनामक काष्ठ) से परिधिस्थापन से पूर्व 'अग्निप्रबलीकरणकर्म्म' किया जाता है, उसी समिध का अब-परिधिस्थापनानन्तर–आहवनीय में प्रक्षेप करना ही–समिधाधानकर्म्म कहलाया है। प्रकृत प्रकरण इसी विषय का स्पष्टीकरण कर रहा है]।

[इस समिध का पूर्वाघार से सम्बन्ध है, अतएव इसे– 'पूर्वाघारसमिधाऽभ्याधानकर्म्म' भी कहा जासकता है। आहवनीयकुण्ड की वायव्य दिशा से आरम्भ कर आग्नेय दिशा पर्य्यन्त अविच्छिन्न धारा से जो होम होता है वही 'पूर्वाघार' कहलाया है। यह पूर्वाघारकर्म्म जिस आग्नेयीदिक्–समाप्ति पर समाप्त होता है, वहीं इस समिध का आधान होता है। इस परिस्थिति को सामने रखते हुए ही प्रकृत प्रकरण का समन्वय करना चाहिए]।

परिधिस्थापनानन्तर यह अध्वर्य्यु [आहवनीयाग्नि के पूर्वाघार-समाप्ति-प्रदेश में समिध डालता है। [आहवनीयाग्नि में समिध डालने से पहिले] यह अध्वर्य्यु पश्चिमभागस्थित मध्य की परिधि का [हस्तगृहीत समिध से] स्पर्श करता है। इस स्पर्शकर्म्म से अध्वर्य्यु 'अग्निस्थानीय परिधिरूप अग्नियों का ही पहिले समिन्धन करता है। अनन्तर उस समिध को आहवनीय अग्नि में डालता है। इस उत्तरकर्म्म से यह अध्वर्य्यु अग्नि को साक्षात् रूप से समिद्ध करता है ॥५॥

(अब पद्धति बतलाते हैं)–यह अध्वर्य्यु (परिधिस्पर्शकर्म्मानन्तर) "वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि अग्ने बृहन्तमध्वरे (यजुः सं० २।४–यज्ञसमृद्धिप्रवर्त्तक, तथा सर्वज्ञ तेजोराशियुक्त तथा महान् यस इ अग्ने ! इस यज्ञकर्म्म में मैं आपका–इस समिधाधान से प्रदीप्त कर रहा हूं) इस गायत्रीमन्त्र से आहवनीयाग्नि में समिध डालता है। इस समिन्धनकर्म्म से अध्वर्य्यु गायत्री-छन्द को ही प्रदीप्त कर रहा है। यह गायत्री (इस कर्म्म से) प्रदीप्त बन कर दूसरे (सहयोगी त्रिष्टुप् जगती अनुष्टुप्) छन्दों को प्रदीप्त करता है। (परम्परया) प्रदीप्त छन्द देवताओं के लिए यज्ञ (आहुतिद्रव्य) का (द्युलोक में) वहन करते हैं ॥६॥

प्रथमसमिधाधानानन्तर जिस दूसरी समिध को अध्वर्य्यु (आहवनीयाग्नि में) डालता है उससे वसन्त-ऋतु का ही प्रदीप्त करता है। (समिन्धनकर्म्म से) यह वसन्त प्रदीप्त होकर अन्य ग्रीष्मादि ऋतुओं को प्रदीप्त करता है। (परम्परया) प्रदीप्त ऋतुएँ प्रजा उत्पन्न करती हैं और ओषधियों का परिपाक करती हैं। (द्वितीय समिधाधान की यही उपपत्ति है। अब पद्धति बतलाते हैं)–यह अध्वर्य्यु 'समिदसि' (यजुः सं० २।५ हे वसन्त ! आप-अग्नि का प्रज्वलित करने का कारण-समित् हैं) यह मन्त्र बोलता हुआ समिधाधान करता है। (वसन्त से क्योंकि अग्नि का समिन्धन आरम्भ होता है) अतः निश्चयेन वसन्त समित् है ॥७॥

इसप्रकार आघारसमिदभ्याधान करके अध्वर्य्यु (आहवनीय की ओर देखता हुआ— 'सूर्य्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्यै (यजु॰ सं॰ २।५ हे आहवनीयाग्ने ! सूर्य्यदेवता पूर्वदिशा की ओर से (हानि वाली) किसी भी (आसुर) हिंसा कर्म्म से आप की रक्षा करें) इस मन्त्र का जप (स्वरसंधानपूर्वक उच्चारण) करता है। आहवनीयाग्नि की रक्षा के लिए ही (क्रमशः इसके पश्चिम-दक्षिण-उत्तर प्रान्तों में) परिधियाँ प्रतिष्ठित रहती हैं। (इन तीन परिधियों से तीनों दिशाएँ तो इस अग्नि के लिए सुरक्षित होजाती हैं। पूर्वदिशा शेष रहती है)। पूर्व की ओर से (समृद्धिनाशक) नाष्ट्रलोग तथा समृद्धि के अवरोधक राक्षसलोग इस अग्नि को हानि न पहुँचा सकें इसलिये (इस मन्त्रजपकर्म्म से) पूर्व की ओर से ही सूर्य्य को (इस अग्नि का) रक्षक बनाता है। सूर्य्य निश्चयेन नाष्ट्र, तथा राक्षसों का नाशक है ॥८॥

(अनुयाजकर्म्म से पहिले अग्नि-समिन्धन के लिए एक समिध आहवनीय में और डाली जाती है। क्योंकि समिधाधानप्रकरण चल रहा है अत समान-प्रसङ्ग से उस अभ्याधान का भी यहीं विधान बतलाती हुई श्रुति उसकी उपपत्ति बतला देती है)—

जिस तीसरी समिध का अध्वर्य्यु अनुयाजकर्म्म में आधान करता है, इस तीसरी समिध से (यज्ञकर्म्मैतिकर्त्तव्यतामज्ञापक) ऋत्विग् ब्राह्मण को ही प्रदीप्त करता है। यह ब्राह्मण इस कर्म्म से प्रदीप्त होकर देवताओं के लिए यज्ञ का वहन करता है (समर्थ बनता है) ॥९॥

७-उत्तराग्र दो पवित्रों का वेदि पर स्थापन—

इसप्रकार परिधिपरिधान-समिधाधानादि आहवनीयानुगत कर्म्म करने के अनन्तर वह अध्वर्य्यु (आहवनीय की ओर से) कुशास्तरणयुक्त वेदि की ओर लौट आता है। (यहाँ आकर बर्हि में से) दो पवित्र [दर्भतृण] लेकर यहाँ [वेदि के ऊपर बिछे हुए परिचम भागस्थ कुशासमूह पर उत्तर की ओर अग्रभाग करते हुए]- 'सवितुर्बाहूस्थ' ' (यजु सं॰ २।५-ह ● तृण ! आप सविता के बाहू हैं) यह मन्त्र बोलता हुआ तिर्य्यगूरूप से रखता है। [यहाँ रखने का प्रयोजन बतलाती हुई श्रुति कहती है)-(वेदि पर रक्खा हुआ कुशामुष्टिलक्षण) प्रस्तर स्रुप (शिखास्थानीय) है एवं अन्य बर्हि केश-लोम-स्थानीय हैं। अब केवल दोनों भ्रुवों(-भौंहों)-का प्रतिरूप बच रहता है। इस विधृती-स्थापनकर्म्म से अध्वर्य्यु इसके दोनों भ्रुव ही तिर्य्यगूरूप से प्रतिष्ठित करता है। (अर्थात् ये दोनों दर्भतृण भ्रुवा के ही प्रतिरूप हैं। क्योंकि ये तिर्य्यगूरूप से प्रतिष्ठित किए जाते हैं) अतएव ये दोनों भ्रुव (आध्यात्मिका पुरुषसंस्था में) तिर्य्यक् ही हैं। क्योंकि ये तृण भ्रुव के प्रतिरूप हैं इधर आध्यात्मिक यज्ञ में भ्रुव तिर्य्यगूरूप से ही प्रतिष्ठित रहते हैं इसलिये भी यहाँ इस वैधयज्ञ में तिर्य्यग् रूप से ही प्रतिष्ठित किया जाता है। इसके अतिरिक्त

● ये दर्भतृण 'विधृती' नाम से प्रसिद्ध हैं।

तिर्य्यग्रूप से प्रतिष्ठित करने का एक दूसरा यह भी कारण है कि) यदि पर प्रतिष्ठित प्रस्तर (निदानेन) क्षत्र (शास्ता राजा) है, एवं विछी हुई प्रस्तर बर्हि (निदानेन) विट् (शासित-प्रजा) है। इस प्रस्तररूप क्षत्र तथा बर्हि-रूप विट् दोनों की प्रतिष्ठा के लिए ही (दोनों की सुरूपरक्षा के लिए, पारस्परिक सम्बन्ध के लिये ही तिर्य्यक् स्थापन उचित है)। इसलिय इन्हें तिर्य्यग्रूप से ही प्रतिष्ठित करता है। इस (विधरणकर्म्म के सम्बन्ध) मे ही इन तृणों को (यज्ञविज्ञान-परिभाषा में) 'विधृती' नाम से व्यवहृत किया गया है ॥१०॥

८—विधृती के ऊपर प्रस्तर को फैलाना—

(वेदिस्थित बर्हिस्तरण के ऊपर पश्चिम भाग में प्रतिष्ठित किये गए इन दोनों 'विधृती' नामक दर्भतृणों पर) यह अध्वर्यु— 'ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्यः (यजुः सं० २।५—देवताओं के लिए सुखपूर्वक बैठने योग्य ऊर्णासूत्र से निर्मित कम्बलवत् मृदुस्पर्श एवं आपका-प्रस्तर का-विस्तार करता हूँ) यह मन्त्र बोलता हुआ (उस दर्भमुष्टिरूप) प्रस्तर को फैलाता है। 'आप देवताओं के लिये साधु-मृदुस्पर्श-हैं' यही कहा गया है जाकि 'ऊर्णम्रदस-त्वा' यह कहा गया है। 'स्वासस्थं देवेभ्यः' इस मन्त्रभाग से 'आप देवताओं के लिये अच्छी बैठक हैं' यही कहा गया है ॥११॥

९—दोनों हाथों से प्रस्तर का स्पर्श करना—,

मन्त्रपूर्वक प्रस्तर-स्तरणानन्तर वह अध्वर्यु— 'आ त्वा वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्तु (यजुः सं०२।५ सवनत्रयाधिष्ठाता वसु-रुद्र-आदित्य-देवता आपका प्रस्तर की-दृढप्रतिष्ठा के लिए सब ओर फैलायें) यह मन्त्र बोलता हुआ स्तीर्ण प्रस्तर पर अपने दोनों हाथ रखता है ॥ १२ ॥

१०—प्रस्तर का बाएँ हाथ से स्पर्श किए हुए स्रुचों का दाहिने हाथ से ग्रहण, तथा प्रस्तर पर स्थापन—

यह अध्वर्यु प्रस्तर के साथ अपने वामहस्त का सम्बन्ध बनाए हुए ही रखता है (हुआ) ॥१२॥ दाहिने हाथ से जुहू का ग्रहण करता है। नाष्ट्रा राक्षसगण (दोनों के मध्य में) पहिले (ब्राह्मणशरीर के नाष्ट्रा-राक्षस नाशक दिव्यप्राण के सम्बन्ध होने से पहिले) प्रविष्ट न होजाय, (इस उद्देश्य से ही प्रस्तर के साथ हस्त-सम्बन्ध बनाए रखते हुए ही जुहू ग्रहण करता है)। ब्राह्मण निश्चयेन राक्षसों का नाशक है। इसीलिए (करस्पर्श के द्वारा अविच्छिन्नरूप से दिव्य-शक्ति का प्रवाह सुरक्षित रखने के लिए) सव्य हाथ से स्पर्श बनाए रखता है ॥१३॥

अनन्तर ही— 'घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना (यजुः सं० २।६। हे जुहू ! आप (स्वरूप से तो) घृत से परिपूर्ण हैं, (एवं नाम से जुहू (आहुति देने वाली) हैं' यह मन्त्र बोलता हुआ दक्षिण

हाथ से आग्नीध्र के द्वारा समर्पित) जुहू का ग्रहण करता है। निश्चयेन जुहू (घृत प्राप्ति के कारण) 'घृताची' है, साथ ही यह नाम से निश्चयेन 'जुहू' (आहुति देने वाली) है। (ग्रहणानन्तर वह अध्वर्यु) – 'सेद प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद' –[यजु स० ।६। एसी आप अपने प्रिय धामरूप आज्य के साथ इस प्रस्तर पर विराजिए, यह मन्त्र बोलता हुआ इस जुहू को वेदि-स्थित प्रस्तर पर रख देता है। इसके अनन्तर वह अध्वर्यु 'घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना [यजु स० २।६।-हे उपभृत् आप घृताची हैं नाम से जुहू के उप समीप रह कर आज्य लेने से उपभृत हैं) यह मन्त्र बोलता हुआ उपभृत का ग्रहण करता है। यह सचमुच 'घृताची' है, एवं सचमुच नाम से 'उपभृत' है। अनन्तर "सेद प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद' (यजु: स० २। ६) यह मन्त्र बोलता हुआ इसे प्रस्तर पर रख देता है। उपभृद्ग्रहण-स्थापनानन्तर वह अध्वर्यु – घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना" (यजु स० २।६-हे ध्रुवा ! आप घृताची हैं, एवं आत्मरूप से एक स्थान पर प्रतिष्ठित रहने के कारण लोक में यथार्थतः 'ध्रुवा' नाम से प्रसिद्ध हैं) यह मन्त्र बोलता हुआ ध्रुवा का ग्रहण करता है। अनन्तर-"सेद प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद (यजु सं० २।६) यह बोलता हुआ इसे प्रस्तर पर रखता है। (इसप्रकार वाम हाथ से प्रस्तर से मन्त्र व बनाए रखता हुआ अध्वर्यु क्रमश: आग्नीध्र से अपने दाहिन हाथ में जुहू उपभृत-ध्रुवा लेता जाता है और वेदि के पश्चिम भाग में बिछे हुए प्रस्तरासन पर इन्हें रखता जाता है)। इन तीनों से अतिरिक्त जो पुरोडाशादि हविद्रव्य हैं उन्हें भी सेद प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद' यही मन्त्र बोलता हुआ प्रस्तर पर रखता है-(यदन्यद्धवि०) ॥१३॥

[स्रुचों के सादनकर्म में विशेषता बतलाती हुई श्रुति कहती है]-वह अध्वर्यु प्रस्तर के ऊपर तो जुहू रखता है एवं अन्य [उपभृत्-ध्रुवा] स्रुचों को प्रस्तर से नीचे वेदि पर रखता है। कारण यही है कि [निगदन] जुहू क्षत्र है एवं अन्य स्रुक् विट् हैं। [जुहूरूप] क्षत्र को ऊपर तथा उपभृत् ध्रुवारूप विट को नीचे रखता हुआ] अध्वर्यु क्षत्र को ही विट् से श्रेष्ठ-ऊँचा श्रेष्ठ बनाता है। अतएव ऊँचे आसन पर विराजमान क्षत्रिय राजा की नीचे से सब सब प्रजा उपासना किया करती है। इसी प्राकृतिक नियमानुसार जुहू का प्रस्तर के ऊपर रखना है एवं अन्य स्रुचों को नीचे [रखता है] ॥१४॥

११–स्पर्शकर्म—

[अनन्तर वह अध्वर्यु – 'ध्रुवा असदन्नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञं, पाहि यज्ञपतिम्' [यजु सं० २।६ –यज्ञ की योनिरूप कर्मसमाप्ति पर्यन्त निरन्तर रूप से प्रतिष्ठित रहने वाले जो हविद्रव्यादि यहाँ प्रतिष्ठित हुए हैं, हे विष्णो ! आप उनकी रक्षा करें एवं यज्ञपति यजमान की रक्षा करें] यह मन्त्र बोलता हुआ आज्यस्थालीस्थ आज्य का जुह्वादिस्थित का एवं पुरोडाश आदि का उपयोगक्रम से स्पर्श करता है। इसी कर्म का मन्त्र-ब्राह्मणरूप से प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती है]—

यह अध्वर्यु "ध्रुवा असदम्" यह मन्त्र बोलता हुआ आज्यादिका स्पर्श करता है। ये द्रव्य कर्म्मसमाप्ति पर्य्यन्त निश्चलरूप से ही प्रतिष्ठित हैं। (मन्त्र का अगला भाग है)- 'ऋतस्य योनौ' यह। यज्ञ ही ऋत की योनि है। यज्ञ पर ही ये जुह्वादि प्रतिष्ठित हैं। (मन्त्र का अगला भाग है)- 'विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिम्' यह। इस से (यज्ञरक्षा के साथ ही) यजमानरक्षा के लिए प्रार्थना की गई है।

अनन्तर- 'पाहि मां यज्ञन्यम' (यजु सं० २।६। यज्ञकर्म्म को अग्रगामी बनाने वाले मुझ-ऋत्विक् की भी रक्षा करें) यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु स्वयं अपने शरीर का स्पर्श करता है। इस कर्म्म से यह अपने आप का भी यज्ञ से बाहिर नहीं करता है। विष्णु को ही यज्ञ कहते हैं। यज्ञ की रक्षा में ही रक्षार्थ (इस स्पर्शकर्म्म से) सब को प्रतिष्ठित करता है। इसी अभिप्राय से- हे विष्णो ! आप रक्षा करें। यह कहा गया है ॥१५॥

प्रथमकाण्डानुगत-तीसरे अध्याय का चौथा ब्राह्मण
एव तीसरे प्रपाठक का पहिला ब्राह्मण उपरत
"परिधि-ब्राह्मण" समाप्त
द्विब्राह्मणात्मक-इध्म-परिधि ब्राह्मण-उपरत

इति-मूलानुवाद·

सूत्रप्रदर्शित-पद्धतिसंग्रह —

१-इध्म-वेदि-बर्हिषां प्रोक्षणम्

आज्यग्रहण के अनन्तर वरिमध्य से आज्यस्थाली लेकर उसे किसी सुरक्षित स्थान में रख दिया जाता है। अनन्तर अग्निसमिन्धन के लिए यज्ञसंस्था में गृहीत रज्जु से बँधे हुए इध्मभार (काष्ठभार) की ग्रन्थि खोलता है। ग्रन्थि खोलने के अनन्तर प्रोक्षणकर्म्म के लिए ब्रह्मा से- 'ब्रह्मन्! इध्मं प्रोक्षिष्यामि' इन शब्दों में आज्ञा माँगता है। ब्रह्मा— ओं प्रोक्ष यज्ञं देवता वर्धय त्वं नाकस्य पृष्ठ यजमानाऽस्तु। सप्त ऋषीणां सुकृतां यत्र लोकस्तत्रेमं यज्ञं यजमानं च धेहि' (का० औ० २।३।८) यह चुपचाप मनमें बोलता हुआ-"ओं प्रोक्ष" इन शब्दों में प्रोक्षणकर्म्म की आज्ञा देता है। इसी अध्वर्युकृत प्रोक्षणकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

'इध्मं प्रोक्षति त्रिस्त्रिः, वेदिं च, बर्हिश्च प्रतिगृह्य वेद्यां कृत्वा पुरस्ताद्ग्रन्थि— 'कृष्णोऽसि' इति प्रतिमन्त्रम्" (का० औ० सु० २।७।१६)।

स्वस्थान पर प्रतिष्ठित इध्म की ग्रन्थि खोलकर— 'ओं कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि' यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु इध्म का (प्रणीता-पात्रस्थ प्रणीताजल से कुशा के द्वारा) प्रोक्षण करता है। इध्मप्रोक्षणानन्तर-"ओं वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" यह मन्त्र बोलता हुआ वेदि का प्रोक्षण करता है। वेदि-प्रोक्षणानन्तर आग्नीध्र नामक ऋत्विक् से सौंपे गए बर्हि नामक कुशों को लेकर इन्हें वेदि के ऊपर (बर्हिग्रन्थि को पूर्व की ओर रखता हुआ) रखकर प्रोक्षणकर्म के लिए आज्ञा से- 'ब्रह्मन्! बर्हिः प्रोक्षिष्यामि' इन शब्दों में आज्ञा माँगता है। ब्रह्मा- 'ओं प्रोक्ष यज्ञं देवता वधय स्व' इत्यादि मन्त्रपाठानन्तर 'ओं प्रोक्ष' इन शब्दों में आज्ञा देता है। इस मन्त्र से अनुज्ञात अध्वर्यु "ओं बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" यह बोलता हुआ वेदिस्थ बर्हि का प्रोक्षण करता है। अग्नि के अभाव में अयस्मृयेष्टि में तथा परिमितकर्म में इध्म का प्रोक्षण नहीं होता। एवं गृहमेधीयकर्म में (का० श्रौसू० ५।६।६।२५) क्योंकि बर्हिस्तरण नहीं होता, अतः वहाँ वेदि का प्रोक्षण नहीं होता। प्रोक्षणकर्म के सम्बन्ध में यह प्रासङ्गिकी विशेषता समझनी चाहिए।

—•—

२-प्रोक्षणी शेषेण बर्हिमूलोपसेचनम

प्रोक्षणकर्म के अनन्तर वह अध्वर्यु प्रोक्षणीपात्र में बाकी बचे हुए जल को "ओं अदित्यै व्युन्दनमसि" यह मन्त्र बोलता हुआ कुशा के मूल भाग में डाल देता है। यही बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"शेषं मूलेषूपसिञ्चति-"अदित्यै व्युन्दन" मिति" (का० श्रौ० सू० २।७।१७)



३-पवित्रे प्रणीतासु निधाय बर्हिषः पुरस्तात् प्रस्तरग्रहणम्

मूलोपसिञ्चनकर्म के अनन्तर अपने हाथ से प्रणीता-पात्रस्थ जलों में दो दर्भतृण रखता है। अनन्तर वेदि पर स्थित बर्हि की गाँठ पृथक् करता है। अनन्तर बर्हि के पूर्वभाग से कुशामुष्टि का ग्रहण करता है जो कि कुशामुष्टि 'प्रस्तर' नाम से व्यवहृत हुए है। बर्हिपूलक से प्रस्तर नामक कुशामुष्टि के ग्रहण के लिए ही क्योंकि 'ओं विष्णोः स्तुपोऽसि' यह मन्त्र विहित है, अतएव जहाँ पितृयज्ञ में प्रस्तर का बर्हि से पृथक्-करण नहीं होता वहाँ- प्रस्तर उपसंग्रह (का० श्रौ० ५।१२।२७) इस सिद्धान्त के अनुसार पहिले से बद्ध प्रस्तर का ही ग्रहण होजाता है। फलतः पितृयज्ञ में प्रस्तरग्रहणकाल में मन्त्र-प्रयोग नहीं होता। प्रस्तरग्रहण की इसी इतिकर्तव्यता का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"पवित्रे निधाय प्रणीतासु, बर्हिर्विस्रस्य, पुरस्तात्-प्रस्तरग्रहणं-"विष्णो" रिति" (का० श्रौ० सू० २।७।१८)।

—•—

४-वेद्यां बर्हिषा त्रिवृत्-स्तरणम्

प्रस्तरग्रहण के अनन्तर यह अध्वर्यु स्वहस्त में गृहीत प्रस्तर ब्रह्मा को सौंप देता है। वेदिस्थित बर्हिपूलक की सन्नहनरज्जु को वदि की दाहिनी श्रोणि पर उसे रखकर अन्य बर्हि-तृणों से ढाँक देता है। अनन्तर- ऊर्णाम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्यः" यह मन्त्र बोलता हुआ वेदि पर तीन बार करके प्रागग्र कुश बिछाता है। यही त्रिवृत्-स्तरणकर्म कहलाता है जैसा कि सूत्रकार कहते हैं—

"ब्रह्मणे प्रदाय, सन्नहनं विस्रस्य, दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ निदाय, अन्यैरनवधाय वेदिं स्तृणाति—"ऊर्णाम्रदस" मिति त्रिवृत्", का० श्रौ० सू० २।७।१६)।

अथवा त्रिवृत्-स्तरण न कर जितने तृणों से वदि इसप्रकार ढँक जाय जिससे वेदि का मृण्मय प्रदेश न दिखाई पड़े ऐसे अनरूप से स्तरणकर्म करना चाहिये। इसी पक्षान्तर का उद्धरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं —

"उपपत्त्या वा बहुलम्" का० श्रौ० सू० २।७।२०

स्तरण के सम्बन्ध में यह विशेषता है कि बर्हि के मूलभाग अधः रहने चाहिएँ। कहा गया है कि, तीन कुशमुष्टियाँ बिछाई जाती हैं। पहिले जो मुष्टि बिछाई जाती है उसके मूलभागों को दूसरी मुष्टि के अग्रभागों से, तथा दूसरी के मूलभागों को तीसरी मुष्टि के अग्रभागों से आच्छादित करदेना चाहिए। इसप्रकार अधरमूलपद्धति से स्तरणकर्म करना चाहिए। इस विशेषता के अतिरिक्त 'पश्चादपवर्ग' रूप से दूसरी विशेषता और होती है। वदि के पूर्वभाग से तो स्तरणकर्म का आरम्भ होना चाहिए, एवं पश्चिम भाग में अवसान करना चाहिए। यही पश्चादपवर्गास्तरणात्मक एक पक्ष है। अथवा प्रागपवर्ग-रूप से भी आच्छादन किया जासकता है। इस पक्ष में पूर्व-पूर्व स्तृत बर्हि के अग्रभागों से पश्चात् स्तीर्यमाण बर्हि के मूलभागों का आच्छादन करना चाहिए। स्तरणकर्मानुगत इन्हीं तीनों विशेषभावों का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"अधरमूलम्" "पश्चादपवर्गम्" 'प्रवृत्तं वा" (का० श्रौ० सू०२।७।२१,२२,२३)

५-आहवनीयकल्पनात् पूर्वं हविषामुद्वासनम्

हवि-परिपाक के सम्बन्ध में दो पक्ष माने गए हैं। गार्हपत्याग्नि में हविःपरिपाक करना- एक पक्ष है। एवं आहवनीयाग्नि में परिपाक करना-एक पक्ष है। जो आहवनीय-परिपाक का अनुगामी है उस यजमान के यज्ञ में इस स्तरणकर्म के अनन्तर 'हविरुद्वासन' कर्म होना चाहिए। स्तरणकर्म के अनन्तर ही इध्मादि से अग्नि को प्रबल बनाया जाना चाहिए। यदि इस कर्म के

पीछे उद्वासनकर्म्म किया जायगा तो हविर्द्रव्य के जलने का भय रहेगा। अत अग्नि-प्रपक्षुभि (ज्वलन) से पूर्व ही उद्वासन कर लेना उचित है। जो गार्हपत्यपक्ष का अनुगामी है, यह उद्वासन कब करे ? इसका निर्णय आगे (का० २।८।१८) होने वाला है। आहवनीयभापी यजमान के यज्ञ में इसी उद्वासनकर्म्म का सम्बन्ध बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"अत्रोद्वासनमाहवनीयभापिण" (का० औ० सू० २।७।२४)

६–समित्-प्रक्षेपस्याहवनीयस्य समर्थीकरणम्

हविरुद्वासन-कर्म्म के अनन्तर यह अध्वर्यु इध्मभार में से एक समिध लेकर तथा प्रस्तर से प्रस्तर लेकर आहवनीयाग्निकुण्ड के ऊपर समीप से प्रस्तर अपने हाथ म रखता हुआ उस समिध के आघात से आहवनीयकुण्ड में प्रतिष्ठित काष्ठादि का भस्म अलग कर अग्नि को प्रयत्न बनाता है। इध्म से होने वाला यह समर्थनकर्म्म क्योंकि अग्नि से ही सम्बन्ध रखता है, न कि अप् से तथा परिश्रित से। अतएव अप् में और परिश्रिता में यह कर्म्म नहीं होता है। इसी समर्थन-कर्म्म का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"इध्मान् समिधमादायाहवनीयं कल्पयति,
उपर्युपरि प्रस्तर धारयन्" (का० औ० सू० २।७।२५।)।

७–अनुयाजार्थमुल्मुकयोराहवनीयान्निष्काशनम्

अग्निसमर्थीकरण के अनन्तर प्रज्वलित अग्नि में स दो उल्मुक लिए जाते हैं। अन्यो-देवता से सम्बन्ध रखने वाला अनुयाजकर्म्म वैकल्पिक माना गया है। यदि अनुयाजकर्म्म संगृहीत है तो उसी दशा में अनुयाज के लिए दो उल्मुक आहवनीय से पृथक् निकाल लिए जाते हैं। जब अनुयाजकर्म्म का समय आता है तब पुन उन (अन्यत्र स्थापित) उल्मुकों को आह-वनीय म डालकर अनुयाजकर्म्म किया जाता है। क्योंकि आतिथ्येष्टि में (का० औ० ८।१।१ के अनुसार) तथा गृहमेधीयादि में (का० औ० ५।६।६।२४ के अनुसार) अनुयाजकर्म्म का अभाव है अतएव वहाँ उल्मुक-निष्काशन भी नहीं होता।

इति–कात्यायनश्रौतसूत्रे–द्वितीयाध्याये सप्तमी कण्डिका समाप्ता

२।७

४-वेद्यां बर्हिषा त्रिवृत्-स्तरणम्

प्रस्तरग्रहण के अनन्तर यह अध्वर्यु स्वहस्त में गृहीत प्रस्तर ब्रह्मा को सौंप देता है। वेदिस्थित बर्हिपूलक की बन्धनरज्जु को वेदि की दाहिनी श्रोणि पर उसे रखकर अन्य बर्हि-दर्भों से ढांक देता है। अनन्तर- "ॐ ऊर्णाम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्यः" यह मन्त्र बोलता हुआ वेदि पर तीन बार करके प्रागग्र कुश बिछाता है। यही त्रिवृत्-स्तरणकर्म्म कहलाता है जैसा कि सूत्रकार कहते हैं—

"प्रस्तरं ब्रह्मणे प्रदाय, समहनं विस्रस्य, दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ निधाय, अन्तर्वेद्यक्काय वेदिं स्तृणाति—"ऊर्णाम्रदस" मिति त्रिवृत्" का० श्रौ० सू० २।७।१६)।

अथवा त्रिवृत्-स्तरण न कर जितने दर्भों से वेदि इसप्रकार ढंक जाय, जिससे वेदि का भूभाग प्रत्यक्ष न दिखाई पड़े ऐसे घनरूप से स्तरणकर्म्म करना चाहिये। इसी पक्षान्तर को उद्धृत करते हुए सूत्रकार कहते हैं —

"उपपत्या वा बहुलम्" का० श्रौ० सू० २।७।२०

स्तरण के सम्बन्ध में यह विशेषता है कि बर्हि के मूलभाग अधः रहने चाहिऐं। कहा गया है कि, तीन कुशमुष्टियें बिछाई जाती हैं। पहिले जो मुष्टि बिछाई जाती है उसके मूलभागों को दूसरी मुष्टि के अग्रभागों से तथा दूसरी के मूलभागों को तीसरी मुष्टि के अग्रभागों से आच्छादित करदेना चाहिए। इसप्रकार अधरमूलपद्धति से स्तरणकर्म्म करना चाहिए। इस विशेषताके अतिरिक्त 'पश्चादपवर्ग' रूप से दूसरी विशेषता और होती है। वेदि के पूर्वभाग से तो स्तरणकर्म्म का आरम्भ होना चाहिए, एवं पश्चिम भाग में अवसान करना चाहिए। यही पश्चादपवर्गस्तरणात्मक एक पक्ष है। अथवा प्रागपवर्ग-रूप से भी आच्छादन किया जासकता है। इस पक्ष में पूर्व-पूर्व स्तृत बर्हि के अग्रभागों से पश्चात् स्तीर्य्यमाण बर्हि के मूलभागों का आच्छादन करना चाहिए। स्तरणकर्म्मानुगत इन्हीं तीनों विशेषभावों का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"अधरमूलम्" "पश्चादपवर्गम्" 'प्रागु वा" (का० श्रौ० सू०२।७।२१,२२,२३)

५-आहवनीयकल्पनात् पूर्वं हविषामुद्वासनम्

हवि-परिपाक के सम्बन्ध में दो पक्ष माने गए हैं। गार्हपत्याग्नि में हविष्परिपाक करना-एक पक्ष है। एवं आहवनीयाग्नि में परिपाक करना-एक पक्ष है। जो आहवनीय-परिपाक का अनुगामी है उस यजमान के पक्ष में इस स्तरणकर्म्म के अनन्तर 'हविरुद्वासन' कर्म्म होना चाहिए। स्तरणकर्म्म के अनन्तर ही इध्मादि से अग्नि को प्रबल बनाया जाने वाला है। यदि इस कर्म्म के

११—उदगग्रयोर्विधृत्योर्वेद्या निधानम्

मन्त्रस्मरण-कर्म्म के अनन्तर यह अध्वर्यु पुन: वेदि की ओर लौट आता है। यहाँ आकार वेदि पर बिछे हुए बर्हि के ऊपर दो पवित्र (दर्भतृण) उत्तराग्र तिर्य्यग्रूप से—"ओं-सवितुर्बाहुरय" यह मन्त्र बोलता हुआ रखता है। ये दर्भतृण ही "विधृति" नाम से प्रसिद्ध हैं। निम्न लिखित सूत्र से इसी कर्म्म का स्पष्टीकरण होरहा है—

"आस्तृत्य वेदिं तिरश्ची निदधाति—"सवितु" रिति"
(का० श्रौ० सू० २।८।५)।

इन दर्भतृणों के सम्बन्ध में एक जिज्ञासा शेष रह जाती है। वह यही कि, जिन दो तृणों का निधान हुआ है, व इस वेदि पर बिछे बर्हि में से ही लिए जायें, अथवा अन्य दर्भतृण लिए जाँय?। इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"अन्ये वाऽयुक्तत्वात्" (का० श्रौ० सू० २।८।६)।

इस निधानकर्म्म के लिए दूसरे ही तृण लेने चाहिएँ। क्योंकि वेदि-सम्बन्धी-बर्हितृणों में से इन दोनों का ग्रहण विहित नहीं है। वदि-तृणों का केवल स्तरणकर्म्म में ही विनियोग विहित है। अतः अन्य तृण ही रखने चाहिएँ। अन्यत्र भी पवित्र-पशुपाकरण-प्रहोपस्पर्श अग्निमन्थनादि में जहाँ तृण-निधान विहित है सर्वत्र अन्य तृण ही लेने चाहिएँ। यही प्रासङ्गिक व्यवस्था बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"अन्यत्रापि तृणार्थे" (का० श्रौ० सू० २।८।७)।

क्योंकि तृणनिधान-प्रसङ्ग से अन्य स्थलों की चर्चा चल पड़ी। अतएव इस प्रसङ्गदृष्टि से आज्य के सम्बन्ध में भी विनियोग-मर्य्यादा का स्पष्टीकरण कर दिया जाता है। आज्य में एक 'यूपाञ्जन' कर्म्म होता है। यज्ञिय यूप के चारों ओर घृत का सम्बन्ध कराना ही यूपाञ्जनकर्म्म है। प्रश्न होता है कि, जिस आज्यस्थाली में प्रयाजानुयाजादि के लिए आज्य लिया जाता है इस यूपाञ्जन-कर्म्म के लिए भी इसी में से लिया जाता है, अथवा इसकेलिए अन्य आज्य का ग्रहण होता है। सूत्रकार उत्तर देते हैं—

"यूपाञ्जने च सर्पि" (का० श्रौ० सू० २।८।८)।

यूपाञ्जन-साधक घृत अन्य (लौकिक) ही लेना चाहिए। आज्यस्थाली का आज्य इस कर्म्म में विनियुक्त नहीं है।

ज्योतिष्टोमयज्ञ में पुरोडाश का इन्द्र-वायु के लिए, पयस्या का मित्रा-वरुण के लिए, तथा धान का अश्विनीकुमारों के लिए प्रक्षेप होता है। इसप्रकार प्रक्षेप कर्म्म के लिए अपेक्षित

८—आहवनीयस्य पश्चिमे, दक्षिणे, उत्तरे, क्रमेण परिधिपरिधानम्

उल्मुकनिष्कासन-कर्म के अनन्तर यह अध्वर्यु क्रमशः 'ओं गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः' 'आ-इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो –' ओं-मित्रावरुणौ त्वा० इन मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ (ब्राह्मणग्रन्थों में परिगणित पलाशादि किसी) एक यज्ञिय वृक्ष से निर्मित परिमाण में बाहुमात्र स्वरूप में गीली जातिः पालाश–वैकङ्कत-काश्मर्य-बैल्व में से पूर्व पूर्व की न मिलने मिलने पर उत्तर को अथवा खादिर–औदुम्बर की तीन परिधियाँ आहवनीयकुण्ड के मध्यम (पश्चिम) दक्षिण उत्तर प्रान्तभागों में क्रमशः प्रतिष्ठित करता है। इसी क्रमिक परिधानकर्म का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"परिधीन् परिदधाति–आर्द्रान् पकलाशीयान् बाहुमात्रान्, पाशाशवैकङ्कत-काश्मर्य्य-बैल्वान्, पूर्वालाभे उत्तरान्, खादिरोदुम्बरान्वा, मध्यम–दक्षिणोत्तरान्–'गन्धर्व०' इति प्रतिमन्त्रम्" (का० श्रौ० सू० २।१।१)।

९—आहवनीयाग्नौ समिधाधानम्

परिधि-परिधानकर्म के अनन्तर यह अध्वर्यु अग्निकल्पाय पहिले से गृहीत समिधा का पहिले रक्खी हुई मध्यम परिधि के साथ स्पर्श कराके खड़ा होकर— वीतिहोत्रम्० यह मन्त्र बोलता हुआ उस समिधा को आहवनीयाग्नि में डालता है। दूसरी समिधा का परिधि से बिना स्पर्श कराए ही 'समिदसि' यह मन्त्र बोलता हुआ आहवनीय में डालता है। इन्हीं दोनों प्रक्षेप-कर्मों का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

'प्रथम परिधिं समिधोपस्पृश्य 'वीतिहोत्र'' मित्यादधाति''।
अनुपस्पृश्य द्वितीयां ''सामदसी' ति' (का० श्रौ० सू० ३।१।२,३)।

---

१० आहवनीयेक्षणपूर्वक मन्त्रस्मरणम्

समिधाधान-कर्म के अनन्तर यह अध्वर्यु आहवनीय अग्नि की ओर देखता हुआ ओं सूर्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्यै इस मन्त्र का संहितापठित स्वरसंधानपूर्वक उच्चारण करता है। इसी कर्म का दिग्दर्शन कराते हुए सूत्रकार कहते हैं—

'सूर्यस्त्व' ति जपति, आहवनीयमीक्षमाणस्तद्वचनात्' ।
(का० श्रौ० सू० २।८।४)।

स कर—"यस्ते प्राण पशुपु प्रविष्टा देवानां विष्टामनु या वितस्ते । आत्मन्वान् साम घृतवान् हि भूत्वाऽग्निंगच्छ स्वयजमानायें विन्द' यह मन्त्र बोलता हुआ पुरोडाशपात्री में प्रतिष्ठित पुरोडाश को आज्य से चुपड़ता है ।

जहाँ अग्निदेवता का सम्बन्ध है वहाँ 'अग्निं गच्छ स्वयंजमानाय० इत्यादि रूप से मन्त्र पाठ होगा । एवं जहाँ अन्य देवताओं का सम्बन्ध है, वहाँ 'अग्नीषोमौ गच्छ स्वं' – इन्द्राग्नी स्वयजमानाय० इत्यादि रूप से ऊह किया जायगा ।

पुरोडाशाञ्जन के अनन्तर जिस क्रम से कपाल रक्खे गए थे उसी क्रम से उन उन कपालों को यह अध्वर्यु — 'यानि घर्म्मे कपालान्युप चिन्वन्ति वेधस. । पूष्णस्तान्यपि व्रत इन्द्रवायू विमुञ्चताम् यह मन्त्र बोलता हुआ घृत से थोड़ा थोड़ा चुपड़ता है । किन्हीं याज्ञिकों के मत में कपालाञ्जनकर्म्म तूष्णीं (बिना मन्त्र-प्रयोग के) होता है। दोनों वैकल्पिक पक्ष अभिमत हैं ।

जितने कपाल इस कर्म्म में गृहीत हैं उनका निधानक्रम से संख्यापूर्वक-प्रथममुद्वासयामि द्वितीयं०, तृतीय० इत्यादिरूप से ही उद्वासन करना चाहिए । इन्हीं कर्म्मों की इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"पुरोडाशौ-अभिघार्य, उद्वास्यऽउपस्तीर्णे निधायोऽनक्ति "यस्ते प्राण पशुपु प्रविष्टो देवाना विष्टामनु यो वितस्थ । आत्मन्वान् साम घृतवान् हि भूत्वाग्नि गच्छ स्वर्यजमानाय विन्दे" ति ' (का० श्रौ० सू० २।८।१४) ।

"यथा देवतमन्यत्" (का० श्रौ० सू० २।८।१)।

"प्रत्यनक्ति कपालानि "यानि घर्म्मे कपालान्युप चिन्वन्ति वेधस । पूष्णस्तान्यपि व्रत इन्द्रवायू विमुञ्चता" मिति" (का श्रौ० सू० २।८।१६) ।

"तूष्णीं वा" (का० श्रौ० सू० २।८।१७)

"सख्ययोद्वासयति" (का० श्रौ० सू० २।८।१८)

१५-सर्वालम्भनम

उक्त कर्म्मानन्तर यह अध्वर्यु –' मां-प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद' यह मन्त्र बोलता है । आज्य-पुरोडाशादि हविद्रव्यों का वदिस्थित ध्रुवापात्र के उत्तर प्रदेश में वदि पर रखकर- 'मां ध्रुवा असदन्नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि, पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिम् इस मन्त्र की आवृत्ति-पूर्वक आज्यस्थाली स्थित आज्य का जुहू उपभृत-ध्रुवा स्थित आज्य का पुरोडाशपात्री में स्थित पुरोडाशद्वयी का उपयोगक्रम से स्पर्श करता है । अनन्तर— 'मां-पाहि मां यज्ञन्यम्' यह

पुरोडाशादि प्राकृत लिए जायँ ? अथवा लौकिक ? इस सम्बन्ध में ऐच्छिक व्यवस्था बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं —

"पुरोडाश-पयस्या-धानासु चेच्छन्" (का० श्रौ० सू० ७।८।६)।

—•—

१२–विधृत्योरुपरि प्रस्तरस्तरणं, पाणिद्वयेन तदभिमर्शनञ्च

वेदि के ऊपर विधृति-स्थापन-कर्म्म के अनन्तर यह अध्वर्यु उन तिर्यग्रूप से उदगग्र प्रतिष्ठित दर्भ-तृणों के ऊपर— 'ओं ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्य' यह मन्त्र बोलता हुआ प्रस्तर (एतन्नामक दर्भमुष्टि) बिछाता है। प्रस्तर बिछान के अनन्तर यह अध्वर्यु — 'ओं आत्वा वसवो रुद्रा आदित्या सदन्तु' यह मन्त्र पढ़ता हुआ अपने दोनों हाथों से वेदि पर फैलाए गए उस प्रस्तर को दबाता है। इन्हीं स्तरण अभिमर्शन-कर्म्मों का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कह रहे हैं—

"तयोः प्रस्तर स्तृणा–"त्यूर्णाम्रदस" मिति (का श्रौ० सू० २।८।१०)।

"अभिनिदधा–"त्या त्वा वसव" इति (का० श्रौ० सू० २।८।११)।

—•—

१३ प्रस्तरस्पर्शद्वारा दक्षिणेन स्रुचां ग्रहणं, प्रस्तरे स्थापनञ्च।

प्रस्तरस्तरण–स्पर्श–कर्म्मानन्तर, यह अध्वर्यु अपने दोनों हाथों में से वाम हाथ तो प्रस्तर पर रक्खे रहता है, एवं दहिने हाथ में अग्नीध्र नामक ऋत्विक् से क्रमशः सौंपे गए जुहू–उपभृत–ध्रुवा नामक स्रुक्पात्रों को– 'घृताची०' इत्यादि संहितोक्त तीनों मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ प्रस्तर पर पूर्वाग्र स्थापित करता है। इस स्थापनकर्म्म में विशेषता यह है कि, जुहू का तो प्रस्तर के ऊपर रक्खा जाता है एवं उपभृत, तथा ध्रुवा को प्रस्तर से नीचे बर्हि पर रक्खा जाता है। ग्रहण स्थापन-वैशिष्ट्य की इसी इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"सव्याशून्य जुहू प्रतिगृह्य निदधाति "घृताची" इति।

—का श्रौ० सू० २।८।१२।

"एवमितरे उत्तराभ्यां प्रतिमन्त्रं बर्हिष्युपभृतं, ध्रुवां चावकृष्ट ऽनुपूर्वम्"

—का श्रौ० सू० २।८।१३।

—•—

१४–पुरोडाशस्य घृतनाञ्जनं कपालानाञ्च घृतेनैपदञ्जनम

स्रुक्स्थापन-कर्म्म के अनन्तर यह अध्वर्यु वेदिस्थान से गार्हपत्य के समीप आता है। यहाँ आकर पुरोडाशद्रव्य पर घृत डालकर उसे ढँका कर पहिले से सम्पन्न पुरोडाशपात्री में उसे

स कर—"यस्ते प्राण पशुषु प्रविष्टा देवानां विष्टामनु यो वितस्थे। आत्मन्वान् साम घृतवान् हि भूत्वाऽग्निर्गच्छ स्वर्यजमानाय विन्द" यह मन्त्र बोलता हुआ पुरोडाशपात्री में प्रतिष्ठित पुरोडाश को आज्य से चुपड़ता है।

जहाँ अग्निदेवता का सम्बन्ध है वहाँ 'अग्निं गच्छ स्वर्यजमानाय०' इत्यादि रूप से मन्त्र होगा। एवं जहाँ अन्य देवताओं का सम्बन्ध है, वहाँ "अग्नीषोमौ गच्छ स्व' – 'इन्द्राग्नी गच्छ स्वयजमानाय०' इत्यादि रूप से ऊह किया जायगा।

पुरोडाशाञ्जन के अनन्तर जिस क्रम से कपाल रक्खे गए थे उसी क्रम से उन उन कपालों को यह अध्वर्यु — 'यानि घर्मे कपालान्युप चिन्वन्ति वेधस. । पूष्णस्तान्यपि व्रत इन्द्रवायू विमुञ्चताम्' यह मन्त्र बोलता हुआ घृत से थोड़ा थोड़ा चुपड़ता है। किन्हीं याज्ञिकों के मत में कपालाञ्जनकर्म्म तूष्णीं (बिना मन्त्र-प्रयोग के) होता है। दोनों वैकल्पिक पक्ष अभिलषित हैं।

जितने कपाल इस कर्म्म में गृहीत हैं उनका निधानक्रम से संख्यापूर्वक-प्रथममुद्वासयामि द्वितीयं०, तृतीयं०, इत्यादिरूप से ही उद्वासन करना चाहिए। इसी कर्म्म की इतिकर्तव्यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"पुरोडाशौ-अभिघार्य, उद्वास्यऽउपस्तीर्णे निधायोऽनक्ति "यस्ते प्राण पशुषु प्रविष्टो देवानां विष्टामनु यो वितस्थे। आत्मन्वान् साम घृतवान् हि भूत्वाग्नि गच्छ स्वर्यजमानाय विन्द" ति' (का० श्रौ० सू० २।८।१४)।

"यथा देवतमन्यत्" (का० श्रौ० सू० २।८।१)।

"प्रत्यनक्ति कपालानि "यानि घर्म्मे कपालान्युप चिन्वन्ति वेधस । पूष्णस्तान्यपि व्रत इन्द्रवायू विमुञ्चता" मिति" (का० श्रौ० सू० २।८।१६)।

"तूष्णीं वा" (का० श्रौ० सू० २।८।१७)

"सव्यपोद्वासयति" (का० श्रौ० सू० २।८।१८)

१५–सर्वालम्भनम

उक्त कर्म्मानन्तर यह अध्वर्यु –' ओं–प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद' यह मन्त्र बोलता है। आज्य-पुरोडाशादि हविद्रव्यों को यथास्थित ध्रुवापात्र के उत्तर प्रदेश में वेदि पर रखकर–'ओं ध्रुवा असदन्नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि, पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिम्' इस मन्त्र की आवृत्ति-पूर्वक आज्यस्थाली-स्थित आज्य का जुहू उपभृत-ध्रुवा-स्थित आज्य का पुरोडाशपात्री में स्थित पुरोडाशद्वयी का उपयोगक्रम से स्पर्श करता है। अनन्तर— 'ओं-पाहि मां यज्ञन्यम्' यह

मन्त्र बोलता हुआ यह अध्वर्यु अपने हृदय का स्पर्श करता है। यही 'हृदयालम्भनकर्म' बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"प्रियेणा धाम्ने" ति द्वौपि वेद्यां कृत्वा "ध्रुवा असद" मिति-सर्वाण्युपास्पृशते (का० श्रौ० सू० २।८।१९)।

'पाहि मा' मित्यात्मानम्' (का० श्रौ० सू० २।८।२०)।

व्रतोपायनकर्म्म के सम्बन्ध में दो विकल्प पक्ष माने गए हैं। द्वितीयपक्ष का अवसर कब है? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"अत्र वा व्रतोपायनमत्र वा व्रतोपायनम्" (का० श्रौ० सू० २।८।२१)।

इति-कात्यायनश्रौतसूत्रे द्वितीयोऽध्याय

इति-सूत्रप्रदर्शितपद्धतिसंग्रह

वैज्ञानिकविवेचना—

अथ-प्रोक्षणकर्म्मोपपत्ति –

(भाष्य)– 'पवित्रं वा आप'–'मेध्या वा आप' (शत० ब्रा० १।१।१) इन ब्राह्मण-श्रुतियों के अनुसार पानी में मेध्य और पवित्र नामक दो धर्म्म प्रतिष्ठित रहते हैं जिन की विशद वैज्ञानिक-व्याख्या उसी ब्राह्मण में की जा चुकी है। इस यज्ञकर्म्म में उपयुक्त बर्हि, वेदि तथा इध्म, तीनों यज्ञसंस्था में गृहीत होने से पवित्र तो बन चुके हैं। परन्तु अभी इन में उस मेध्य गुण का अभाव है जिस के सम्बन्ध से ही ये यज्ञ के साथ अन्तर्य्यामसम्बन्ध करने में समर्थ होसकते हैं। उस संगमनीय गुण का (स्नेहगुण का) इनमें आधान करने के लिए ही इनका प्रोक्षण किया जाता है एवं यही प्रोक्षणकर्म्म की यही एकमात्र उपपत्ति है जिसका 'सम्मेध्यमेवैतत्कृत्स्नं करोति' इन शब्दों में अभिनय हुआ है।

यज्ञाग्नि (आहवनीयाग्नि) के समिन्धन के लिए जो काष्ठभार यज्ञसंस्था में संगृहीत होता है उस 'इन्धे ह वा अध्वर्युरग्निम्' इस निर्वचन से 'इध्म' कहा जाता है। यह इध्मकाष्ठ कृष्णाग्नि का प्रतिरूप है। मृगाग्नि ही कृष्णाग्नि कहलाता है अतएव काष्ठसमुच्च इस अग्नि को 'मृग' भी कहा जाता है। सौराग्निमण्डल प्राकृतिक नित्य यज्ञमण्डल का आहवनीयाग्निमण्डल है। इस में प्रतिष्ठित और सावित्राग्नि

(प्राणाग्नि) अग्नीषोमात्मक साम्वत्सरयज्ञ का स्वरूप-समर्पक बनता हुआ यज्ञात्मक है। इस सौर यज्ञाग्नि के अर्वाग्दन प्रवर्ग्य भेद से दो विभाग होजाते हैं। जो सौर अग्नि मुख्यरूपया श्री स्वरूपरक्षा के लिए सूर्य-मण्डल में ही अन्तर्याम-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है उसे-अर्वाग्दन अग्नि कहा जाता है, एवं यह सूर्य का अपना प्रातिस्विक अग्निभाग है। जो सौर अग्नि प्रजापति की कामना से सौरसंस्था से पृथक् होकर भूगर्भ में प्रविष्ट होता हुआ पृथिवी की ओषधि-वनस्पतियों में (इन के स्वरूप-निर्माण के लिए) प्रविष्ट रहता है, वह 'प्रवर्ग्याग्नि' कहलाता है। इसी सौर-प्रवर्ग्य-यज्ञाग्नि से ही पार्थिवसंस्था की स्वरूप निष्पत्ति हुई है। यही पार्थिव अग्नि का प्रवर्ग्यांश 'गायत्र' नाम से व्यवहृत होने लगता है।

स्व-सौरसंस्था में प्रतिष्ठित यही 'सावित्राग्नि' पारमेष्ठ्य द्वारा 'ब्रह्मणस्पति' नामक सोमाहुति से शुक्ल (ज्योतिर्मय) बना रहता है, जिसे कि हम इस का वामरूप कह सकते हैं। यही शुक्ल तथा प्रत्यग्रह सौर यज्ञाग्नि प्रवर्ग्य-सम्बन्ध से जब पार्थिवसंस्था में प्रविष्ट होजाता है, तो इसका शुक्लरूप उत्क्रान्त होजाता है। पारमेष्ठ्य सोम के सम्बन्ध के उत्क्रान्त होजाने से अपना शुक्लरूप छोड़ता हुआ यह कृष्णरूप में (अप्रत्यक्षरूप में) परिणत होजाता है। यही इसका सुप्तरूप है। पार्थिव पदार्थों में विशेषतः काष्ठादि में अग्नि का यही सुप्त स्वरूप प्रतिष्ठित है। जब मन्थाग्नि के-सम्बन्ध से इस जगाया जाता है तो यह जग पड़ता है काष्ठ प्रज्वलित होजाता है। तत्काल यह अपने शुक्लरूप में आता हुआ स्व स्थानभूत द्युलोकोपलक्षित सौर-देवमण्डल में चला जाता है। पार्थिव अग्नि की इसी सुप्त-जाग्रत-अवस्थाद्वयी का स्पष्टीकरण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है-

"शेषे वनेषु मात्रो सं त्वा मर्तास इन्धते।
अतन्द्रो हव्या वहसि हविष्कृत आदिद्देवेषु राजसि" ॥

ऋक् सं० ८।६०।१५।

सौर यज्ञाग्निकृत् क्योंकि यह अग्नि प्रत्यक्ष नहीं है अपितु मृग्यमाण (खोजने योग्य) है अतएव इस कृष्णमृग कहना अन्वर्थ बनता है। 'यज्ञभूमि' नाम से प्रसिद्ध 'भारतवर्ष' में स्वच्छन्दरूप से विचरण करने वाले *'कृष्णमृग' (काला हरिण) में भी इस कृष्णमृगाग्नि की ही प्रधानता है। अतएव यज्ञकर्म्म में यज्ञाग्नि की समृद्धि के लिए कृष्णमृगचर्म्म पर ही हविष्पेषणादि कर्म होता है जैसाकि पूर्व के-"अथ कृष्णाजिनमादत्ते (शत० १।१।४।१) इत्यादि रूप से 'कृष्णाजिनब्राह्मण' में विस्तार से बतलाया जाचुका है। सौर यज्ञाग्नि ही प्रवर्ग्य' के सम्बन्ध से + पार्थिव पदार्थों में प्रविष्ट होता हुआ 'कृष्णमृग' नाम से व्यवहृत होने लगता है इसी रहस्य का निम्नलिखित ब्राह्मण-श्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है—

"यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम। स कृष्णो भूत्वा चचार।
तस्य देवा अनुविद्य त्वचमेवावच्छायाजह्रुः" (शत० १।१।४।१)।
"मृगधर्म्मा वै यज्ञ" (पलायनशील) (शां० ब्रा० ६।१०)

---

* तस्य (यज्ञस्य) एष स्वालोकः यत्-कृष्णाजिनम्' (शत ६।४।२।६)।

+ इयं वै पृथिवी कृष्णाजिनम्' (शत ६।४।१।६)। 'यज्ञो वै कृष्णाजिनम् (शत ६।८।१।८)।

मन्त्र बोलता हुआ यह अध्वर्यु अपने हृदय का स्पर्श करता है। यही 'स्वात्मस्पर्शनकर्म' बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“प्रियेण धाम्ने” ति द्वितीयमपि नेधां कृत्वा “ध्रुवा असद” मिति-सर्वाण्यालभते (का० श्रौ० सू० २।८।१९)।

'पाहि मा' मित्यात्मानम्' (का० श्रौ० सू० २।८।२०)।

व्रतोपायनकर्म्म के सम्बन्ध में दो विकल्प पक्ष माने गए हैं। द्वितीयपक्ष का अवसर कब है? इसका स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“अत्र वा व्रतोपायनमत्र वा व्रतोपायनम्” (का० श्रौ० सू० २।८।२१)।

इति-कात्यायनश्रौतसूत्रे द्वितीयोऽध्याय

इति–सूत्रप्रदर्शितपद्धतिसंग्रह

वैज्ञानिकविवेचना —

अथ–प्रोक्षणकर्म्मोपपत्ति.–

(भाष्य)– 'पवित्रं वा आपः'–'मेध्या वा आपः' (शत० ब्रा० १।१।१) इन ब्राह्मण-श्रुतियों के अनुसार पानी में मेध्य और पवित्र नामक दो धर्म प्रतिष्ठित रहते हैं, जिन की विशद वैज्ञानिक-व्याख्या उसी ब्राह्मण में की जा चुकी है। इस यज्ञकर्म्म में उपयुक्त बर्हि, वेदि तथा इध्म, तीनों यज्ञसंस्था में गृहीत होने से पवित्र तो बन चुके हैं। परन्तु अभी इन में उस मेध्य गुण का अभाव है, जिस के सम्बन्ध से ही ये यज्ञ के साथ अन्तर्य्यामसम्बन्ध करने में समर्थ हो सकते हैं। उस संगमनीय गुण का (लोचगुण का) इनमें आधान करने के लिए ही इनका प्रोक्षण किया जाता है, एवं प्रकृत प्रोक्षणकर्म्म की यही एकमात्र उपपत्ति है जिसका "तन्मेध्यमेवैतद्यज्ञियं करोति" इन शब्दों में अभिनय हुआ है।

यज्ञाग्नि (आहवनीयाग्नि) के समिन्धन के लिए जो काष्ठभार यज्ञसंस्था में संगृहीत होता है उसे 'इन्धे ह वा अध्वर्युरग्निम्' इस निर्वचन से 'इध्म' कहा जाता है। यह इध्मकाष्ठ कृष्णाग्नि का प्रतिरूप है। मृगाग्नि ही कृष्णाग्नि कहलाया है अतएव काष्ठप्रयुक्त इस अग्नि को 'मृग' भी कहा जाता है। सौराग्निमण्डल प्राकृतिक नित्य यज्ञमण्डल का आहवनीयाग्निमण्डल है। इस में प्रतिष्ठित सौर सावित्राग्नि

प्राणात्मक दर्भ के इस विध्यातिशय का वेदिके साथ तभी सम्बन्ध होसकता है, जब कि इध्मकाष्ठवत् पृथिवी की प्रतिकृतिरूपा वेदि के पार्थिव अग्नि को भूतसंसर्गजनित अमेध्यधर्म्म से पृथक् कर लिया जाय। इस प्रयोजनके लिए (बर्हिस्थित दिव्य प्राणके साथ वेदिस्थित कृष्णाग्नि के सम्बन्ध के लिए) ही इध्मप्रोक्षणानन्तर वेदिका प्रोक्षण किया जाता है। प्रोक्षणमन्त्र है 'वदिरसि, बर्हिषे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि यह। यह वदि है' इस वाक्य से श्रुति का तात्पर्य यही है कि, यही यज्ञप्राप्ति का साधन है। इसी में तो प्रवर्ग्य-यज्ञाग्नि प्रतिष्ठित है। इसें मेध्य बनाना ही प्रोक्षणकर्म्मोद्देश्य है ॥२॥

वेदिप्रोक्षणानन्तर बर्हि का प्रोक्षण किया जाता है। बर्हि में भी भूत-प्राण भेद से दो विभाग हैं। फलतः इध्म-वेदिवत्-इसका दिव्य प्राण्य अग्नि भी भूतसंसर्गजनित अमेध्यधर्म्म से युक्त है। पवित्र-मेध्य सुक्पात्र इस पर तभी रक्खे जासकते हैं, जब कि इसका अमेध्यधर्म्म हटा दिया जाय। तदर्थ ही- बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि' मन्त्र से बर्हि का प्रोक्षण भी आवश्यक बन जाता है। यह दर्भ उस वेन पानी का प्रतिरूप है जिस वेन पानी के वेष्टन से सम्पूर्ण पार्थिव त्रैलोक्य चारों ओर से वेष्टित होरहा है। पृथिवीरूपा वेदि का बृंहणकर्म (वेष्टनकर्म्म) वेनरूप दर्भ पर ही अवलम्बित है। इसी बृंहणधर्म्म के कारण वेनप्रतिरूप-स्थानीय दर्भ को अवश्य ही-'बर्हि' कहा जासकता है।

यज्ञ में गृहीत भौतिक पदार्थों में भूत-प्राण भेद से दो दो वस्तुएँ हैं। दोनों में भूतभाग अग्राह्य है, प्राणभाग ग्राह्य है। भूत अमेध्य है तत्संसर्ग से प्राण भी अमेध्य बना रहता है। इस अमेध्यभावनिवृत्ति के लिए ही प्रोक्षणकर्म्म किया जाता है और यही एकमात्र सब प्रोक्षणकर्म्मों की उपपत्ति है। प्रोक्षणकर्म्म होता है-दर्भतृणों के द्वारा-प्रोक्षणीपात्र में रक्खे हुए मन्त्रभूत मेध्य पानियों से। दर्भतृण पूर्वकथनानुसार स्वयं पवित्र हैं। अतएव इन से प्रोक्षण करना अन्वर्थ बनता है ॥३॥

पर्जन्यदेवता वृष्टि के अधिष्ठाता है। पर्जन्य के द्वारा आकाश से मरुत्-गर्भ से भूतल की ओर आता हुआ पानी थोड़ी देरतक तो भूतल पर दिखाई देता है। परन्तु कुछ ही समय में वह विलीन होजाता है। इसका विलयन भूतलस्थित ओषधि-वनस्पति के मूलों में ही होता है। इसीलिए तो ओषधि-वनस्पतियाँ वहाँ अपने मूलभागों से शुष्क-हरा प्रतीत होती है, यहाँ इनके मूलभाग गीले रहते हैं। यह मूलाग्र ता ही इनके जीवन का कारण है। यही कारण है कि एक वृक्ष की जड़ों का उखाड़ कर यदि अन्यत्र लगाने की कामना होती है तो उस वृक्ष की जड़ों को उत्पाटक लोग (राई-बागवान) मिट्टी सहित उस भाँति उखाड़ते हैं जिससे उनका मूलाग्र भाग शुष्क न होजाय। इसप्रकार प्राकृतिक यज्ञ में सिञ्चक पर्जन्यदेवता के द्वारा सींचा हुआ पानी ओषधियों के मूलों में ही प्रतिष्ठित रहता है। यह यज्ञयज्ञ उसी का प्रतिरूप है। "यद्वै देवा अकुर्व स्तत्करवाणि" इस निगम से यहाँ भी प्रोक्षणीपात्र में बचा जल को बर्हि के मूलों में ही डालना न्यायप्राप्त है। यह विश्वास करने योग्य बात है कि यज्ञकर्म्म में जो जो अतिशय उत्पन्न होते हैं उन सबका फलभोक्ता यजमान ही बनता है जैसा कि तद्वै तद्यद्हृत्त यथाधि इत्यादि रूप से अनुपद में ही

— "तं-यज्ञ-यथामन्वविन्दन्। यत्-यज्ञं-अन्वविन्दन्, तन्-यद्वेदिस्त्वम्"।
—शतपथब्राह्मण १।८।

यही मुख्याग्नि प्रतिरूपमर्य्यादा से यहाँ तो आहवनीयस्तर में प्रतिष्ठित है एवं उस प्राकृतिक यज्ञ में आहवनीयस्तर-स्थानीय सौर मण्डल में प्रतिष्ठित है। अतएव 'आहवनीये स्तरं तिष्ठति' इस निर्वचन से इसे आस्तरेष्ठ नाम से भी व्यवहृत किया जासकता है। इसके अतिरिक्त काष्ठदृष्टि से भी इस नाम का समन्वय किया जासकता है। 'आ-समन्तात् स्तरे-कठिने धृते-काष्ठे-तिष्ठति' इस निर्वचन से भी (महीधरसम्मत) इध्मकाष्ठस्थ कृष्णाग्नि को 'आस्तरेष्ठा' कहना अन्वर्थ बनता है। इध्म में भूत-इध्म भेद से दो भाग प्रतिष्ठित हैं। भूतभाग काष्ठरूप से प्रत्यक्ष दृष्ट है, साथ ही इसका दिव्याग्निप्रसङ्ग से कोई सम्बन्ध भी नहीं है। सम्बन्ध अपेक्षित है उस दिव्याग्नि (प्राणाग्नि) का जो इसमें कृष्णरूप से (अप्रत्यक्षरूप से) प्रतिष्ठित रहता हुआ 'आस्तरेष्ठ' बन रहा है। यही स्तरणीय है। भूतभाग प्राण-सम्बन्ध का निरोधक माना गया है। इसके सम्बन्ध से देवप्राण में अमेध्य (असंगमनीय) धर्म्म का समावेश होजाता है। काष्ठ स्थित कृष्णाग्नि के भूतसंसर्गजनित इसी अमेध्यभाव को हटाने के लिए 'कृष्णोऽस्या-स्तरेष्ठ' यह मन्त्र बोलते हुए इध्म का मोक्षण किया जाता है। जबतक यह प्रोक्षणकर्म्म नहीं कर लिया जाता तबतक इस इध्मस्थित कृष्णाग्नि का उस दिव्याग्नि-प्रतिरूप आहवनीयाग्नि के साथ अन्तर्य्याम-सम्बन्ध नहीं होसकता। एवं जबतक पार्थिव अग्नि का दिव्याग्नि के साथ सम्बन्ध नहीं होजाता तबतक 'यज्ञेन-पार्थिवयज्ञेन-यज्ञमयमन्त-दिव्याग्निमयजन्त' परिभाषा से सम्बन्ध रखने वाला पार्थिव (आधिभौतिक) दिव्य (आधिदैविक) यजमानाग्नि (आध्यात्मिकाग्नि) के समन्वय पर अपनी स्वरूप-सम्पत्ति निर्भर रखने वाला यज्ञातिशयलक्षण देवात्मा उत्पन्न नहीं होसकता। इसके लिए प्रथम पार्थिव-इध्मकाष्ठस्थ कृष्णाग्नि का दिव्य आहवनीयाग्नि के साथ सम्बन्ध कराना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब कि इध्मकाष्ठाग्नि को मेध्य बना लिया जाय। जब इसे मोक्षण के द्वारा भूतानुगत अमेध्यधर्म्म से पृथक् कर दिया जाता है तो आहवनीयस्थित देवताओं के लिए यह जुष्ट (सम्बन्धयोग्य) बन जाता है। इसी मेध्य इध्म का 'अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" इस मन्त्रोत्तरभाग से स्पष्टीकरण होरहा है॥ १॥

वेदि पर बर्हि का आस्तरण होता है। बर्हि (दर्भ) 'वेन' नामक उस पानी से उत्पन्न हुआ है जो सौरमण्डल की अन्तिम सीमा में ज्योतिर्म्मयरूप से प्रतिष्ठित है*। पारमेष्ठ्य पानी का जो भाग सौर-रश्मियों में प्रविष्ट होकर अपने स्वाभाविक आसुरभाव को छोड़ता हुआ, ज्योतिर्म्मय बनता हुआ पवित्र बन जाता है, उसी वेन नामक पवित्र अप्तत्त्व से दर्भ की उत्पत्ति हुई है, जैसाकि पूर्व के 'पवित्रे करोति' (शत० १।१।३।१) इत्यादि 'पवित्रब्राह्मण' में 'दर्भोत्पत्तिविज्ञान' बतलाते हुए विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है×। दिव्य

*-अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने।
इममपां सङ्गमे सूर्य्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति॥
—यजुःसंहिता ७।१६।

×-"सर्वत इव ह्यय समुद्र। तस्माद्ध वै ता आपो बीभत्सांचक्रिरे। ता उपर्य्युपर्य्येति प्रबभूविरे। त इमे दर्भाः। ता हैता अनापूयिता आपः"।
—शत० ब्रा० १।१।३।५।

प्राणात्मक दर्भ के इस दिव्यातिशय का वेदिके साथ तमी सम्बन्ध होसकता है, जब कि इध्मप्रोक्षणवत् पृथिवी की प्रतिष्ठास्वरूपा वेदि के पार्थिव अग्नि को भूतसंसर्गजनित अमेध्यधर्म्म से पृथक् कर लिया जाय। इस प्रयोजनके लिए (बर्हिस्थित दिव्य प्राणके साथ वेदिस्थित कृष्णाग्नि के सम्बन्ध के लिए) ही इध्मप्रोक्षणानन्तर वेदिका प्रोक्षण किया जाता है। प्रोक्षणमन्त्र है 'वेदिरसि, बर्हिषे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि' यह। 'यह वेदि है' इस वाक्य से श्रुति का तात्पर्य्य यही है कि यही यज्ञप्राप्ति का साधन है-। इसी में तो प्रवर्ग्य-यज्ञाग्नि प्रतिष्ठत है। इसे मेध्य बनाना ही प्रोक्षणकर्म्मोद्देश्य है ॥२॥

वेदिप्रोक्षणानन्तर बर्हि का प्रोक्षण किया जाता है। बर्हि में भी भूत-प्राण भेद से दो विभाग हैं। फलत इध्म-वेदिवत्--इसका दिव्य प्राण्य अग्नि भी भूतसंसर्गजनित अमेध्यधर्म्म से युक्त है। पवित्र-मेध्य स्रुक्पात्र इस पर तमी रक्खे जासकते हैं जब कि इसका अमेध्यधर्म्म हटा दिया जाय। तदर्थ ही- बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि' मन्त्र से बर्हि का प्रोक्षण भी आवश्यक बन जाता है। यह दर्भ उस वेन पानी का प्रतिरूप है जिस वेन पानी के वेष्टन से सम्पूर्ण पार्थिव त्रैलोक्य चारों ओर से वेष्टित होरहा है। पृथिवीरूपा वेदि का वृहणकर्म्म (वेष्टनकर्म्म) वेनरूप दर्भ पर ही अवलम्बित है। इसी वृहणधर्म्म के कारण वेनप्रति-रूप-स्थानीय दर्भ को अवश्य ही-'बर्हि' कहा जासकता है।

यज्ञ में प्रतीत भौतिक पदार्थों में 'भूत-प्राण भेद' से दो दो वस्तुएँ हैं। दोनों में भूतभाग अमाह्य है प्राणभाग ग्राह्य है। भूत अमेध्य है तत्संसर्ग से प्राण भी अमेध्य बना रहता है। इस अमेध्यभावनिवृत्ति के लिए ही प्रोक्षणकर्म्म किया जाता है, और यही एकमात्र सब प्रोक्षणकर्म्मों की उत्पत्ति है। प्रोक्षणकर्म्म होता है-दर्भतृणों के द्वारा-प्रोक्षणीपात्र में रक्खे हुए मन्त्रभूत मेध्य पानियों से। दर्भतृण पूर्वकथनानुसार स्वय पवित्र हैं। अतएव इन से प्रोक्षण करना अन्वर्थ बनता है ॥३॥

पर्जन्यदेवता वृष्टि के अधिष्ठाता हैं। पर्जन्य के द्वारा आकाश से मरुत्-गर्भ से भूतल की ओर आता हुआ पानी थोड़ी देरतक तो भूतल पर दिखाई देता है। परन्तु कुछ ही समय में वह विलीन होजाता है। इसका विलयन भूतलस्थित ओषधि-वनस्पति के मूलों में ही होता है। इसीलिए तो ओषधि-वनस्पतियां जहां अपने तूलभागों से शुष्क-रूक्ष प्रतीत होती हैं वहां इनके मूलभाग गीले रहते हैं। यह मूलाद्रता ही इनके जीवन का कारण है। यही कारण है कि एक वृक्ष की जड़ों को उखाड़ कर यदि अन्यत्र लगाने की कामना होती है तो उस वृक्ष की जड़ों को उत्पाटक लोग (राइ-बागवान) मिट्टी सहित उस भांति उखाड़ते हैं जिससे उनका मूलाद्र भाग शुष्क न होजाय। इसप्रकार प्राकृतिक यज्ञ में सिञ्चक पर्जन्यदेवता के द्वारा सींचा हुआ पानी ओषधियों के मूलों में ही प्रतिष्ठित रहता है। यह वैधयज्ञ उसी का प्रतिरूप है। 'यद्देवा अकुर्वं स्तत्करवाणि' इस निगम से यहां भी प्रोक्षणीपात्र में बचे जल को बर्हि के मूलों में ही डालना न्यायप्राप्त है। यह विश्वास करने योग्य बात है कि यज्ञकर्म्म में जो जो अतिशय उत्पन्न होते हैं उन सबका फलभोक्ता यजमान ही बनता है जैसा कि 'तद्वै तदाहुत्त्स यथाधि इत्यादि रूप से अनुपद में ही

— "त-यज्ञ-यथामन्वविन्दन् । यत्-त्रेधा-अन्वविन्दन् , तत्-त्रदर्वेदित्त्वम् " ।
—एतरेयब्राह्मण ३।६।

यही भूम्याग्नि प्रतिरूपमर्य्यादा से यहाँ तो आहवनीयस्तर में प्रतिष्ठित है एवं उस प्राकृतिक रूप में वह सनीसम्बर-स्थानीय सौर मण्डल में प्रतिष्ठित है। अतएव 'आहवनीये स्तरे तिष्ठति' इस निर्वचन से इसे आस्तरेष्ठा नाम से भी व्यवहृत किया जासकता है। इसके अतिरिक्त काष्ठदृष्टि से भी इस नाम का समन्वय किया जासकता है। 'आ-समन्तात् स्तरे-कठिने पृष्ठे-काष्ठे-तिष्ठति' इस निर्वचन से भी (महीधरभाष्य) इध्मकाष्ठस्थ कृष्णाग्नि को आस्तरेष्ठा कहना अन्वय बनता है। इध्म में भूत-देव भेद से दो भाग प्रतिष्ठित हैं। भूतभाग काष्ठरूप से प्रत्यक्ष दृष्ट है, साथ ही इसका दिव्याग्निप्रयुक्त यज्ञ से कोई सम्बन्ध भी नहीं है। सम्बन्ध अपेक्षित है उस दिव्याग्नि (प्राणाग्नि) का जो इसमें कृष्णरूप से (अप्रत्यक्षरूप से) प्रतिष्ठित रहता हुआ 'आस्तरेष्ठा' बन रहा है। यही सङ्गमनीय है। भूतभाग प्राण सम्बन्ध का निरोधक माना गया है। इसके सम्बन्ध से देवभाग में अमेध्य (असंगमनीय) धर्म का समावेश होजाता है। काष्ठ स्थित कृष्णाग्नि के भूतसंसर्गजनित इसी अमेध्यभाव को हटाने के लिए 'कृष्णोऽस्याखरेष्ठ' यह मन्त्र बोलते हुए इध्म का प्रोक्षण किया जाता है। जबतक यह प्रोक्षणकर्म्म नहीं कर लिया जाता तबतक इस इध्मस्थित कृष्णाग्नि का उस दिव्याग्नि प्रतिरूप आहवनीयाग्नि के साथ अन्तर्य्याम-सम्बन्ध नहीं होसकता। एवं जबतक पार्थिव अग्नि का दिव्याग्नि के साथ सम्बन्ध नहीं होजाता तबतक 'आन्तपार्थिवृयज्ञ' न-यज्ञमयजन्त-दिव्याग्निमयजन्त परिभाषा से सम्बन्ध रखने वाला पार्थिव (आधिभौतिक), दिव्य (आधिदैविक) यजमानाग्नि (आध्यात्मिकाग्नि) के समन्वय पर अपनी स्वरूप-सम्पत्ति निर्भर रखने वाला महाविशिष्टयज्ञरूप देवात्मा उत्पन्न नहीं होसकता। इसके लिए प्रथम पार्थिव-इध्मकाष्ठस्थ कृष्णाग्नि का दिव्य आहवनीयाग्नि के साथ सम्बन्ध कराना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब कि इध्मकाष्ठाग्नि को मेध्य बना लिया जाय। जब इसे प्रोक्षण के द्वारा भूतानुगत अमेध्यधर्म्म से पृथक् कर दिया जाता है तो आहवनीयस्थित देवताओं के लिए यह जुष्ट (सम्बन्धयोग्य) बन जाता है। इसी मेध्य फल का 'अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि'' इस मन्त्रोत्तरभाग से स्पष्टीकरण होरहा है ॥ १ ॥

वेदि पर बर्हि का आस्तरण होता है। बर्हि (दर्भ) 'वेन' नामक उस पानी से उत्पन्न हुआ है जो सौरमण्डल की अन्तिम सीमा में ज्योतिर्मयरूप से प्रतिष्ठित है*। पारमेष्ठ्य पानी का जो भाग सौर-रश्मियों में प्रविष्ट होकर अपने स्वाभाविक आसुरभाव को छोड़ता हुआ ज्योतिर्मय बनता हुआ यज्ञिय बन जाता है, उसी वेन नामक यज्ञिय अप्तत्त्व से दर्भों की उत्पत्ति हुई है, जैसाकि पूर्व के 'पवित्रे करोति' (शत० १।१।३।१) इत्यादि 'पवित्रब्राह्मण' में दर्भोत्पत्तिविज्ञान' बतलाते हुए विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है×। दिव्य

*-अय वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने ।
इममपां सङ्गमे सूर्य्यस्य शिशुम्‌ विप्रा मतिभीरिहन्ति ॥
—यजुःसंहिता ७।१६।

×-"मर्वेत इव वयं समुद्र" । तस्मादु है का आपो बीभत्साञ्चक्रिर । ता उपर्यु पर्य्येति पप्र्विर । त इमे दर्भा । ता हैता अनापूयिता आप'' ।
—शत० ३।०१।१।१।१।१।

आयु(७) रक्षा का कारण है। 'बृहतीप्राण' नाम से प्रसिद्ध इस वैश्वामित्र, आयु प्राण का आगमन इसी प्राणसञ्चालन-क्रिया पर निर्भर है। जिस क्षण आध्यात्मिक प्राण, तथा उस सूर्य्य केन्द्रस्थ आधिदैविक प्राण इन दोनों के मध्य में अवसानधर्म्मा याम्यप्राण का आगमन होजाता है, तत्काल आयुःसूत्र विच्छिन्न होजाता है प्राण के रसात्मक दिव्यप्राण का जीवनस्रोत मिलना बन्द होजाता है, फलतः निधन होजाता है। इस निधन का अव-रोधक प्राणगमनागमनलक्षण यही दैनन्दिनयज्ञ है, जिसे मन्त्रपरिभाषा में 'अहरहर्यज्ञ' (८) कहा गया है।

बतलाया गया है कि 'बृहती' नामक, आयु स्वरूपसमर्पक वह दिव्य सौरप्राण शिखान्तस्थानस्थित भाग से निकलकर महापथ के द्वारा स्वप्रभव सूर्य्य से सम्बन्ध करता है। यही शिखान्तस्थान 'ब्रह्मरन्ध्र' नाम से प्रसिद्ध है। विज्ञानभाषा में इसे ही * 'विदृति' (द्वारा) नान्दनद्वा (द्वार) इत्यादि नामों से व्यवहृत किया गया है। मस्तकस्थ केशों का ऊर्ध्व प्रदेश में भ्रमररूप से एक स्थान पर अवसान होता है। जहाँ यह अवसानबिन्दु है यही एक सूक्ष्म द्वार होता है। यही द्वार इस वैश्वामित्र आयुःप्राण के सञ्चार का मार्ग है।

उक्त दिव्य प्राण सौर-दिव्यप्राण का प्रवर्ग्यांश है। अतएव सूर्य्यविरोधी तमोमय आसुरप्राण का इस दिव्य सौरप्राण के साथ स्वाभाविक विरोध है। लौहधातु में

७—"तमिन्द्र उवाच-ऋषे! प्रियं वै मे धामोपागाः। वरं ते ददामि-इति। स होवाच त्वामेव जानीयाम्, इति। तमिन्द्र उवाच- प्राणो वा अहमस्मि-ऋषे!, प्राणस्त्वं, प्राणः सर्वाणि भूतानि, प्राणो ह्येष य एष तपति। स एतेन रूपेण सर्वा दिशो विष्टोऽस्मि। तस्य मेऽन्नं मित्रं दक्षिणम्। 'तद्वैश्वामित्रेण तपन्नेवास्मि' इति होवाच। तदा इदं बृहती-सहस्रं सम्पन्नम्। तस्य वा एतस्य बृहती सहस्रस्य-सम्पन्नस्य षट्त्रिंशतमक्षराणां सहस्राणि (३६०००) भवन्ति। तावन्ति शतसम्वत्सराणां-सहस्राणि भवन्ति। परस्तात् प्रज्ञामयो दवतामयो ब्रह्ममयोऽमृतमयः सम्भूय देवता अप्येति। तद्योऽहं-सोऽसौ, योऽसौ-सोऽहम्"।

—ऐ० आ० २।२।४

८—"अहरहर्वाऽएष यज्ञस्तायते, अहरहः सन्तिष्ठते, अहरहरनेन स्वर्गस्य लोकस्य गत्यै युङ्क्ते, अहरहरनेनेन स्वर्गं लोकं गच्छति"।

—शत० ६।४ प्र० १ ब्रा० १५ कं०।

* "स एतमेव सीमानं विदार्य्य, एतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वाः। तदेतन्नान्दनम्" [ऐ० आ० २।४।३]।

से स्वरूप और दिव्येन्द्रप्राण स्वस्वरूप से सुरक्षित है। यदि शिखात्मक सोम का (सोमाहुति का) सम्बन्ध न रहे, तो तत्काल सौररस्था उच्छिन्न होजाय।

इसी उक्त-स्वरूपलक्षण आधिदैविक यज्ञपुरुष के अनुरूप आध्यात्मिक यज्ञपुरुष का स्वरूप—निर्माण हुआ है। सम्वत्सरयज्ञ के दक्षिण पार्श्व से इस के मेरुदण्ड से आरम्भ कर हृदय-रेखापर्य्यन्त दक्षिण पार्श्व का वामपार्श्व से मेरुमध्यदश से आरम्भ कर हृदयरेखापर्य्यन्त वाम पार्श्व का तथा मध्यावस्थानीय विषुवप्राण से मेरुदण्ड का निर्म्माण हुआ है। स्तोमविज्ञानानुसार त्रिवृत्-सम्वत्सरभाग से पाद भाग का पञ्चदशभाग से मध्याङ्ग का एवं एकविंशभाग से शिरोभाग का निर्म्माण हुआ है। इसी में सौर-इन्द्रप्राण प्रतिष्ठित है जो शिखान्तस्थान से निकल कर शिरोबिन्दु से आरम्भ कर सूर्य्यकेन्द्र पर्य्यन्त वितत (४) सहापथ के मार्गसे सूर्य्य-केन्द्रपर्य्यन्त एक निमेषमात्र में तीन बार आता जाता है (५)। यही प्राणगमनागमन शतायु का प्रवर्तक माना गया है। सूर्य्यारेपित मनःप्राणवाङ्मय (६) १६०० संख्यात्मक 'आयु' नामक मनीषा का आगमन ही

४-अणु पन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव।
तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः॥
तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहु पिङ्गलं हरितं लोहितं च।
एष पन्था ब्रह्मणा ह्यनुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत्-तैजसश्च॥
—बृ० आ० ४।४।४।८।९

५ आविः सन्निहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्।
एजत् प्राणत् निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्वरिष्ठं प्रजानाम्॥
—मुण्डकोपनिषत् ।२।१।

तस्यैष आदेशो यदेतत्-विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीति, न्यमीमिषदा ३-इत्यधिदैवतम् (केनोपनिषत् २९)।
त्रिर्यन्निमेष परिदिद्विवे।

६-"तदात्मानमन्वैच्छत्, तत्तपोऽतप्यत, तत् प्राम्रुच्छत् तत् षट्त्रिंशतं सहस्रा-ण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान् मनोमयान्, प्राणमयान्, वाङ्मयान्०"।
—शत० १०।५ प० १ ब्रा०

आयु(७) रक्षा का कारण है। 'बृहतीप्राण' नाम से प्रसिद्ध इस वैश्वामित्र,आयु प्राण का आगमन इसी प्राणसञ्चलन-क्रिया पर निर्भर है। जिस क्षण आध्यात्मिक प्राण, तथा उस सूर्य्य केन्द्रस्थ आधिदैविक प्राण इन दोनों के मध्य में अवसानधर्म्मा याम्यप्राण का आगमन होजाता है तत्काल आयु सूत्र विच्छिन्न होजाता है, प्राण को उत्पादक दिव्यप्राण का जीवनस्रोत मिलना बन्द होजाता है, फलतः निधन होजाता है। इस निधन का अवरोधक प्राणगमनागमनलक्षण यही दैनन्दिनयज्ञ है जिसे यज्ञपरिभाषा में 'अहरहर्यज्ञ' (८) कहा गया है।

बतलाया गया है कि 'बृहती' नामक, आयु स्वरूपसमर्पक वह दिव्य सौरप्राण शिखान्तस्थानस्थित भाग से निकलकर महापथ के द्वारा स्वप्रभव सूर्य्य से सम्बन्ध करता है। यही शिखान्तस्थान 'ब्रह्मरन्ध्र' नाम से प्रसिद्ध है। विज्ञानभाषा में इसे ही ॰ विदृति' (द्वारा) 'नान्दनद्वा (द्वार) इत्यादि नामों से व्यवहृत किया गया है। मस्तकस्थ केशों का ऊर्ध्व प्रदेश में भ्रमररूप से एक स्थान पर अवसान होता है। वहाँ यह अवसानबिन्दु है, वहीं एक सुसूक्ष्म द्वार होता है। यही द्वार उस वैश्वामित्र आयुःप्राण के सञ्चार का मार्ग है।

उक्त दिव्य प्राण सौर-दिव्यप्राण का प्रवर्ग्यांश है। अतएव सूर्य्यविरोधी तमोमय आसुरप्राण का इस दिव्य सौरप्राण के साथ स्वाभाविक विरोध है। लोहधातु में

७—"तमिन्द्र उवाच-ऋषे! प्रियं वै मे धामोपागाः। वरं ते ददामि-इति। स हावाच त्वामेव जानीयां, इति। तमिन्द्र उवाच- प्राणो वा अहमस्मि-ऋषे!, प्राणस्त्वं, प्राणः सर्वाणि भूतानि, प्राणो ह्येष य एष तपति। स एतेन रूपेण सर्वा दिशो विष्टोऽस्मि। तस्य मेऽन्नं मित्रं दक्षिणम्। "तद्वैश्वामित्रेण तपन्नेवास्मि' इति हावाच। तदा इदं बृहती-सहस्रं सम्पन्नम्। तस्य वा एतस्य बृहती सहस्रस्य-सम्पन्नस्य षट्त्रिंशतमक्षराणां सहस्राणि (३६०००) भवन्ति। तावन्ति शतसम्वत्सराह्णां-सहस्राणि भवन्ति। परस्तात् प्रज्ञामयो देवतामयो ब्रह्ममयोऽमृतमय सम्भूय दवता अप्येति। तद्योऽहं -सोऽसौ, योऽसौ-सोऽहम्"।

—ऐ० आ० २।१।४

८—"अहरहर्वाऽएष यज्ञस्तायते, अहरहः सन्तिष्ठते, अहरहरनेन स्वर्गस्य लोकस्य गत्यै युङ्क्ते, अहरहनेनेन स्वर्गं लोकं गच्छति"।

—शत० ६।४ प्र ? ब्रा १४ कं०।

॰ "स एतमेव सीमानं विदार्य्य, एतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वाः। तदेतन्नान्दनम्" [ऐ० आ० २।४।३]।

आसुरप्राण की प्रधानता रहती है। इधर क्षौरकर्म्म में लोह-क्षुरिका का उपयोग होता है। इस में रहने वाले आसुरप्राण के स्पर्श से उस दिव्यप्राण को बचाने के लिए ही परम वैज्ञानिक महर्षियोंनें केशान्त स्थान पर शिखाधारण आवश्यक माना है, क्योंकि शिखाधारण आर्यधर्म्म के अनुगामी भारतीयों की महत्ता, तथा विज्ञानानुगामिता ही प्रकट कर रहा है।

यह तो शिखाधारण का एक आधिदैविक प्रयोजन बतलाया गया। दूसरा प्रयोजन है-प्रतिरूपमर्य्यादा से वैधमर्य्यादा का अनुगमन। प्राकृतिक महापुरुष जब यूपरूप शिखा से युक्त है तो यज्ञभाग का अनुगमन करने वाली, तथा महापुरुष से वंशानुवंश उत्पन्न होने वाली आत्मप्रजा को भी अपनी अध्यात्मसंस्था (शरीर) का वैसा ही भव्य आकार रखना चाहिए। 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' का भी यही रहस्य है। आधिदैविक महापुरुष के और और पर्व तो आध्यात्मिक महापुरुष में स्पष्ट हैं। परन्तु यूपस्थानीया शिखा अस्पष्ट है। अत भूपाङ्कित केशान्तभाग में इस का भी प्रतिरूप-मर्य्यादा से अवश्य ही समावेश होना चाहिए।

शिखा-धारण से जहाँ आर्यधर्मानुबन्धिनी वंशमर्य्यादा की रक्षा होती है वहाँ दिव्यप्राण-रक्षापूर्वक विज्ञान भी सुरक्षित, तथा पुष्पित-पल्लवित होता है। 'विज्ञान' शब्द श्रुति की परिभाषा में आत्मानुगत उस नित्यविज्ञान का ही सूचक है जिसके परिज्ञान एवं अनुष्ठान से इहत्र-अमुत्र अभ्युदय-निःश्रेयस् सम्पत्ति प्राप्त होती है। अतएव जो जातियाँ शिखा नहीं रखतीं, अथवा तो जो भारतीय सन्तानें इस 'स्वस्त्ययनकर्म' का महत्त्व न समझती हुई कल्पित, विषमीभावमय नग्न सौन्दर्य्य का मोहकर शिखाधारण को व्यर्थ का आडम्बर समझती हैं उनका विज्ञान (बुद्धि) भले ही भौतिक, नाशाविनाशात्मक आसुरभावात्मक विज्ञान में निपुणता प्राप्त करले। परन्तु "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" की परिभाषा से तो वे सर्वथा वञ्चित हो रह जाती हैं। जिन्हें यह भावना स्वीकृत है, वे भले ही शिखा को 'शल्य' (लज्जा) का कारण समझें। परन्तु जो वास्तव में 'शर्म्म' (सुख) का मर्म्म समझने वाले हैं वे भारतीय तो अपनी शिखा-रक्षा को आस्तिकता, धर्म्म, विज्ञानवृद्धि आदि का ही उपोद्बलक मानेंगे।

वेदशास्त्र पर अनन्य निष्ठा रखने वालों के लिए तो उस दशा में उपपत्ति-जिज्ञासा का कोई भी महत्त्व नहीं रह जाता जबकि—'तस्येयमेव शिखा स्तुपः' इत्यादि-रूप से स्वयं श्रुति भगवती शिखाधारण को आवश्यक कर्म्म मानने का आदेश दे रही है। प्रस्तुत प्रासङ्गिक चर्चा को हम इसलिए विशेष महत्त्व दे रहे हैं कि आज नवशिक्षिता की परिष्कृतबुद्धि के क्षेत्र में शिखा-सूत्रादि चिह्नों को लेकर बड़ा कोलाहल मचा हुआ है। विशेषतः शिखा के निष्कासन का तो बहुसंख्या में ही अनुगमन होरहा है। हम समझते हैं ऐसी दुष्प्रवृत्ति आर्यसंस्कृति के अधःपतन की ही सूचना देने वाली है। इसलिए हम उन सौभाग्य पुरुषों से निवेदन करेंगे कि वे अपने इस सौभाग्य तथा गौरवपूर्ण चिह्न की रक्षा करने में ही अपना लाभ तथा गौरव समझने का अनुग्रह करेंगे।

आधिदैविक-यज्ञपुरुष से आध्यात्मिक-यज्ञ की स्वरूपनिष्पत्ति हुए है, एवं आध्यात्मिक-यज्ञ से इस आधिभौतिक-यज्ञपुरुष (पुरुषप्रयत्नसाध्य वैधयज्ञ) का वितान होरहा है। जब दोनों यज्ञपुरुष शिखा से युक्त हैं, तो प्रतिपद् उन्हीं की अनुरूपता से सम्बन्ध रखने वाले इस वैध यज्ञमें भी शिखा-स्थापन होना ही चाहिए। इस यज्ञ से जो यज्ञातिशयरूप दैवपुरुष (दैवात्मा) उत्पन्न होने वाला है, वह शिखा से शून्य रहता हुआ निष्प्राण के निकास से वञ्चित न रह जाय, अतएव यहाँ प्रस्तरग्रहण किया जाता है। प्रस्तर दर्भमुष्टि है। दर्भ वेनलक्षण सौम्य आपोमय तत्त्व है। सोम ही शिखा है, जैसाकि पूर्व में बतलाया जाचुका है। इसी सा-म्यय से दर्भमुष्टिरूप प्रस्तर को अवश्य ही शिखा का निदान माना जासकता है। विष्णो स्तुपोऽसि यह प्रस्तर-ग्रहण का मन्त्र है। विष्णु यज्ञपुरुष है। इसके पूर्वभाग में (शिरोभाग) में ही प्रकृतिसिद्ध में स्तुप (शिखा) प्रतिष्ठित है। अत प्रस्तर का ग्रहण भी पुरस्तात् ही होता है ॥४॥

इति प्रस्तरग्रहणोपपत्ति

अथ–सन्नहनविस्रंसन स्थापनोपपत्ति —

जो बर्हि वेदि पर बिछाने के लिए संगृहीत हैं, वे सन्नहन नामक रज्जु से बँधी रहती हैं। गाँठ खोल कर पहिले तो इस बर्हि-संघात से प्रस्तर (स्तुप) ले लिया जाता है। अनन्तर इस सन्नहन (बन्धनरज्जु) को बर्हि सघात से पृथक् कर लिया जाता है। यह स्मरण रखने की बात है कि, जिस वेदि पर बर्हि का आस्तरण होने वाला है, वह पुरा-स्थानीय देवात्मा की (यज्ञपुरुष की) योषा (पत्नी) है। इसी के सम्बन्धभाव से देवात्मलक्षण अपत्य उत्पन्न होने वाला है। प्रजननक्रिया में नीवीबन्धन प्रतिबन्धक है। इधर सन्नहनरज्जु इस योषा (वेदि) की नीवीस्थानीया है। क्योंकि अब प्रजननकर्म्म होने वाला है, अत इस बन्धन को पृथक् करना ही प्रकृत्या सुसङ्गत है।

बन्धन को पृथक् कर इसे वेदि के दक्षिण श्रोणिप्रदेश पर रक्खा जाता है। क्योंकि यह बन्धन प्रतिरूपमर्य्यादा से नीवी है। उधर नीवीबन्धन लोकव्यवहार में दक्षिण श्रोणि पर ही रहता है साथ ही यह वेष्टन वस्त्र से ढँका भी रहता है। कन्यासन्तान की अपेक्षा पुत्रसन्तान का (पितृऋण मोचन की दृष्टि से) विशेष महत्त्व माना गया है। दक्षिण भाग अग्निप्रधान बनता हुआ पुरुषप्रधान है, वामभाग सोमप्रधान बनता हुआ स्त्रीप्रधान है। अतएव महर्षि चरकादि ने गर्भाधान-संस्कारकाल में पति के दक्षिण पार्श्व से ही शय्यारूढ होना आवश्यक माना है। इधर इस यज्ञ से भी देवात्मलक्षण पुरुषविध सन्तान का ही प्रजनन अपेक्षित है। अतः अग्निप्रधान दक्षिणा श्रोणि पर ही सन्नहन रखना उचित है। नीवीबन्धन शिष्टमर्य्यादा के अनुसार ढँका रहता है। अत यहाँ भी उसी मर्य्यादा का अनुगमन किया जाता है ॥५॥

अथ—बर्हिस्तरणोपपत्ति—

कहा गया है कि, इस यज्ञकर्म्म में गृहीत प्रस्तर शिखा-स्थानीय है। अब शरीरावयवों का प्रतिरूप मर्य्यादा से संग्रह होगया शिखाभाग प्रस्तर से गतार्थ बन गया। अब वे स्पर्श-लोम बच रहते हैं जो शिखा

के अधोभाग में प्रतिष्ठित रहते हैं। इसी केश-लोमसम्पत्ति के संग्रह के लिए यहाँ प्रतिरूप-मर्य्यादा से बर्हि बिछाई जाती है यही 'बर्हिस्तरण' की एक उपपत्ति है ॥७॥

वेदि को योषा-[स्त्री]-स्थानीय बतलाया गया है। शिष्टाचार का यह आग्रह है कि कुलीन स्त्री यदि किसी आवश्यक धर्म्मकार्य्य से महापुरुष मण्डली में बैठे तो अपने सर्वाङ्गशरीर को ढाँक कर बैठे विनय, तथा लज्जा-भाव से ही युक्त रहे। यहाँ वेदिरूपा स्त्री प्राकृतिक प्राणदेवताओं, तथा तत्सम्बन्धी ऋत्विजों की मण्डली में प्रतिष्ठित है। अतः आवश्यक है कि, इसे नग्न [निर्लज्ज] न रहने दिया जाय। इसलिए भी वेदि पर बर्हि बिछाना आवश्यक है। बर्हिस्तरण की यही दूसरी उपपत्ति है ॥८॥

वेदि जैसे निदानेन योषा (स्त्री) है वैसे निदानेन यह पृथिवी भी योषा ही है। पृथिवी के उर्वर, ऊसर भेद से दो विभाग रहते हैं। निर्ऋति नामक वह्निदेवता (अलक्ष्मी धूमावती अवरोहिणी ज्येष्ठा) के निग्रह से सस्यादि-उत्पादन के अयोग्य, शठ-विचित भूप्रदेश ऊसर है। एवं 'रोहिणी' नामक सौम्यदेवता (लक्ष्मी, कमला) के अनुग्रह से सस्यादि-बहुल सम भूप्रदेश उर्वर है बहुल-ओषधियुक्त भूप्रदेश ही सौम्यतम माना गया है। जो पृथिवी का प्रदेश यहाँ वेदिरूप से गृहीत है वह इस यज्ञकर्त्ता यजमान के लिए बहुल ओषधि-वनस्पतियों से युक्त बनता हुआ उपजीवनीयतम बने इसी लक्ष्य से इस पर ओषधि-वनस्पति के प्रतिरूप बर्हि बिछाए जाते हैं। यज्ञकर्म्म में यजमान के निमित्त निदानविधि से ऋत्विक् लोग जिस सम्पत्ति का संग्रह करते हैं अवश्यमेव यावद्वित्त तावदात्मा इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वह यजमान की प्रातिस्विक सम्पत्ति बन जाती है। यही बर्हिस्तरण की तीसरी उपपत्ति है ॥९॥

पृथिवी के जिस भाग में जितनी अधिक ओषधियाँ प्रतिष्ठित रहती हैं वह भाग उतना ही अधिक उपजाऊ कहलाता है। वही उपजीवनीयतम (सौम्यतम) प्रदेश माना गया है। इस सम्पत्ति के लिए बर्हि उस मात्रा से बिछाई जाती है, जिससे वेदि का प्रदेश अप्रत्यक्ष होजाय। ओषधिमूल भूगर्भ में ही प्रविष्ट रहते हैं। इसी प्राकृतिक स्थिति के समतुलन के लिए बर्हि के अग्रभागों से द्वितीय-तृतीय स्तम्भों के मूलभागों को दबा दिया जाता है त्रित्व देवताओं के त्रिवृद्भाव की स्वरूप-निष्पत्ति के लिए ही स्तरणकर्म्म विहित है। उसी त्रित्वानुगता यज्ञसम्पत्ति के लिए तीन बार स्तरण होता है ॥१०॥

'ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां देवेभ्यः' यह स्तरण-कर्म्मसाधक मन्त्र है। मन्त्र का भाव यही है कि यद्यपि दर्भतृण का आस्तरण होता है तथापि भावना ऐसी रखनी चाहिए कि, मानो हम वेदि पर बैठने वाले प्राणदेवताओं के लिए कोमलस्पर्श से युक्त आसन ही बिछा रहे हैं। 'अन्य को अन्य भावना से देखना यही तो निदान है। एवं भावनात्मक निदान ही तो हमारे कर्मों की श्रेष्ठता का मूलाधार है ॥११॥

इति-बर्हिस्तरणोपपत्ति

अथ-अग्निकल्पोपपत्ति —

कहा गया है कि सम्वत्सरात्मक यज्ञपुरुष का एकविंशस्तोमात्मक जो प्रदेश शिरोभाग है। यहाँ आहवनीयकुण्ड निदानेन इस वैधयज्ञ का शिरोभाग है। शिरोभागस्थ मुखभाग में आहुति-भक्षक अन्नादाग्नि

प्रतिष्ठित रहता है। तत्स्थान में यहाँ आहवनीयकुण्ड में प्रतिष्ठित आहवनीयाग्नि है। यदि अग्नि प्रबल रहता है तो आहुत अन्न की आकर्षण, दहन पचनादि क्रिया ठीक ठीक होती है। अग्निमान्द्य में ये क्रियाएँ निर्बल रहती हैं। परिणामतः पुष्टि तुष्टि, तृप्ति बल वीर्यादि का अभाव रहता है। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक है कि, शिरोभागोपलक्षित मुखस्थित आहुतिग्राहक आहवनीयाग्नि का आहुतिद्रव्य के आकर्षणार्थ के लिए इध्मद्रव्य से भस्मादि हटा कर प्रबल बना लिया जाय। यज्ञपुरुष का पूर्णस्वरूप शिखा पर्य्यन्त माना गया है। इधर कुशमुष्टिलक्षण प्रस्तर इस वैधयज्ञपुरुष की शिखा है। अतः प्रस्तररूप शिखा का आहवनीय के ऊपर सम्बन्ध बनाते हुए पूर्णरूपेण यह प्रबलीकरण किया जाता है ॥१२॥

इति—अग्निकल्पोपपत्ति

अथ—परिधिपरिधानोपपत्ति —

जिन तीन परिधियों का आहवनीयकुण्ड के पश्चिम—दक्षिण-उत्तरप्रान्त भागों में क्रमशः स्थापन होता है उन का विशद वैज्ञानिक विवेचन पूर्व के 'आप्त्याविज्ञान' में (शतपथभाष्य—प्रथमखण्ड में) किया जाचुका है। अग्निरहस्यवेत्ता विद्वानोंने अनेकधा विभक्त अग्नि के चार रूपों का प्रत्यक्ष किया। एवं इसी आधार पर 'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास' यह अनुगम—वचन प्रतिष्ठित हुआ। उन सब अग्निविवर्तों का उक्त आप्त्याब्राह्मण में दिग्दर्शन कराया जाचुका है। प्रकृत प्रकरण के समन्वय के लिए यह आवश्यक होगा कि पाठक एक बार वह प्रकरण अपने लक्ष्य में ले आवें। यहाँ प्रकरण—सङ्गति के लिए दो शब्दों में उस का सिंहावलोकनमात्र कर लिया जाता है।

'पुरुषाग्नि प्राकृताग्नि विराडग्नि सम्वत्सराग्नि' इन चार अग्नियों में से चौथा सम्वत्सराग्नि ही इस कथानक का मूलाधार है। इस सम्वत्सराग्नि को ही 'भूतानांपति' कहा गया है*। इस 'भूताना-पति' सम्वत्सराग्नि की ही आगे जाकर चार अवस्थाएँ होजाती हैं जिन के लिए—'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रेऽग्निरास' यह कहा गया है। सम्वत्सरचक्र सौर पार्थिव भेद से दो भागों में विभक्त है। पार्थिव सम्वत्सरचक्र गायत्राग्निप्रधान है, एवं सौर सम्वत्सरचक्र सावित्राग्निप्रधान है। प्रकृत में केवल पार्थिवाग्निसम्बन्धी पार्थिवसम्वत्सरचक्र के साथ ही अग्नि की अवस्थाचतुष्टयी का सम्बन्ध समझना चाहिए।

भूपिण्ड के गर्भ में प्रतिष्ठित प्राणाग्नि 'अशनाग्नि' नाम से प्रसिद्ध है। इसी अशनाग्नि को 'रुद्र' कहा जाता है। इसी रुद्राग्नि की अहर्गणवितान से आगे जाकर चार अवस्थाएँ होजाती हैं। इन चार पार्थिव सम्वत्सराग्नियों में एक तो पार्थिव यज्ञ के होता बनते हैं शेष तीन अग्नि आप्त्या रूप में परिणत होकर

---

* "अस्यां प्रतिष्ठायां भूतानि च भूतानां पतिः सम्वत्सरायादीक्षन्त। भूतानां पतिर्गृहपतिरासीद् उषा पत्नी। तद्यानि तानि भूतानि—ऋतवस्ते। अथ यः स भूतानां पतिः, सम्वत्सरः सः" (शत० ६।१ ब्रा० ३।८ मा ६.७ कं०)।

इस अग्नि की परिधियाँ बने रहते है। पार्थिव प्रजापति-अग्नि की गृहपति सम्वत्सर भेद से दो अवस्थाएँ होजाती है। गृहपति अग्नि भूपिण्ड में प्रभावरूप से प्रतिष्ठित रहता है एवं सम्वत्सराग्नि पार्थिव सम्वत्सर में प्रतिष्ठित रहता है। भूपिण्डस्थ पार्थिव अग्नि की उक्थ-अर्क भेद से दो अवस्थाएँ रहती हैं। भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित 'अनिरुक्तप्रजापति' नाम से प्रसिद्ध हुए अग्नि सप्रभव बनता हुआ 'उक्थ' नाम से प्रसिद्ध है। यही इस मत्र का प्रजापति (यजमान) है। पार्थिव उषा इस की पत्नी है। इन्ही दोनों के दाम्पत्यभाव से पार्थिव-प्रजा की उत्पत्ति हुई है। उक्थ से अर्क-(रश्मियाँ) निकला करते हैं। भूकेन्द्रस्थ उक्थाग्नि की प्राणात्मिका रश्मियाँ उक्थ से निकल कर बड़ी दूर पर्य्यन्त व्याप्त रहती हैं। जहाँतक यह अर्कात्मक प्राणाग्नि व्याप्त रहता है वहाँतक पार्थिवमण्डल की सीमा मानी जाती है क्योंकि सीमा सामपरिभाषा में 'रथन्तरसाम' नाम से प्रसिद्ध है।

केन्द्रस्थ उक्थ नामक इस गृहपति प्रजापति-अग्नि से अर्करूप में परिणत होने वाले इस प्राणाग्नि की आगे चलकर पार्थिव अग्नि सम्वत्सराग्नि भेद से दो अवस्थाएँ होजाती हैं। भूपिण्डावच्छिन्न यही प्राणाग्नि (अर्काग्नि) पार्थिव अग्नि है, एवं इसे ही 'भूपति' कहा जाता है। भूमहिमावच्छिन्न यही अर्काग्नि सम्वत्सराग्नि है एवं-उसे ही पूर्व कथनानुसार 'भूतानांपति' कहा जाता है। भूमहिमा का वषट्-कारमण्डल से सम्बन्ध है एवं अग्नि के सम्बन्ध से इस वषट्कार के ३३ अहर्गणों में से २१ अहर्गण स्पष्टीत हैं। भूपिण्ड से आरम्भकर २१ वें अहर्गणपर्य्यन्त जो भूमहिमा-प्रदेश है वही सम्वत्सरचक्र है। इस पार्थिव सम्वत्सरचक्र में ही यह पार्थिव प्राणाग्निविध सम्वत्सराग्नि प्रतिष्ठित है।

'भूतानांपति' नामक सम्पूर्ण सम्वत्सरचक्र में एकरूप से प्रतिष्ठित अतएव 'सम्वत्सरप्रजापति नाम से प्रसिद्ध इस महिमाग्नि के आगे चलकर क्रमशः पार्थिव—त्रिवृत् (९), पञ्चदश (१५) एकविंश (२१) स्तोम भेद से तीन भेद होजाते हैं। एकविंशस्तोमावच्छिन्न द्युप्रदेश में प्रतिष्ठित वही भूतानांपतिः 'भूतानांपति' नाम से प्रसिद्ध हैं। यही देवविज्ञानानुसार 'आदित्य' कहलाता है। पञ्चदश—स्तोमावच्छिन्न अन्तरिक्ष प्रदेश में प्रतिष्ठित वही भूतानांपतिः 'भुवनपति' नाम से प्रसिद्ध है। यही देवपरिभाषा में—'वायु' कहलाता है। एवं त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पृथिवी—प्रदेश में प्रतिष्ठित वही भूतानांपतिः 'भुवपतिः नाम से प्रसिद्ध है। यही देवपरिभाषा में 'अग्नि' कहलाता है। इसप्रकार स्तोमभेद से पार्थिव सम्वत्सरचक्र में तीन स्थानों में विभक्त होता हुआ एक ही सम्वत्सराग्नि तीन रूप धारण कर लेता है। निष्कर्ष यही निकला कि भूपिण्डकेन्द्रस्थ गृहपति अग्नि के उक्थरूप के आधार पर 'भूपिण्ड त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंशस्तोम' इन चार प्रदेशों में विभक्त अर्काग्नि के 'भूपति भुवपति भुवनपति भूतानांपति' ये चार रूप होजाते हैं। इन्हीं चारों को लक्ष्य में रखकर 'यमुर्द्धा विहितो द्यु या अयमऽग्निरास' यह कहा गया है।

भौमाग्नि——[१ भूपतिः—भूपिण्डावच्छिन्नः अर्काग्नि—अग्नि]

सम्वत्सराग्नि——{ २-भुवपतिः—पृथिव्यवच्छिन्न — „ —अग्निः
३-भुवनपतिः—अन्तरिक्षावच्छिन्न — —वायु
४-भूतानांपतिः—द्युलोकावच्छिन्नः— —आदित्य }

(पार्श्व में खड़ी पंक्तियाँ: अग्निप्राणाः भूतदन्नाम | पिता—प्रजापतिः ५ | प्रदत्तिः—उक्थ)

प्रश्न यह है कि, प्रकृतिव उक्त चारों अग्नियों में से पार्थिव गृहपति यजमान के पार्थिव हविर्यज्ञ— में होता कौन सा अग्नि बनता है ? । आप्त्याविज्ञान में एकमात्र इसी प्रश्न का समाधान हुआ है । पार्थिव साम्वत्सरिक में व्याप्त त्रिविधा सम्वत्सराग्नित्रयी इसकर्म में असमर्थ है । क्योंकि इसका भूपिण्ड से अन्तर्याम-सम्बन्ध सुरक्षित नहीं रहने पाता । कारण इस का यही है कि—'समुद्रमभित' पिन्वमानम्' इस मन्त्रवर्णन के अनुसार भूपिण्ड चारों ओर से अर्णवसमुद्र से वेष्टित है । इस अप्तत्त्व के सम्बन्ध से तत्रस्थ सम्वत्सराग्नित्रयी का भौमपञ्चदश में अन्तर्याम-सम्बन्ध नहीं होने पाता । आरम्भ में एकरूप से प्रतिष्ठित तीनों सम्वत्सरिक प्राणाग्नि इस अप्समुद्र के गर्भ में चले जाते हैं । अतएव इन का भूपिण्ड से अन्तर्याम-सम्बन्ध नहीं रहता । सम्बन्ध रहता है—उस भौम प्राणाग्नि का ही जिसे गायत्र-अग्नि भी कहा जाता है । यही अपने पक्षि च प्रेति चा'शाह' बना के तृतीय द्यु से सोमापहरण में भी समर्थ होता है, एवं पार्थिव देवताओं के यज्ञ के 'होत्र-कर्म्म' का भी सञ्चालन करता है ।

साम्वत्सरिक—अग्नित्रयी ने क्यों नहीं इस कर्म्म को अपनाया ?, इस का उत्तर है—वषट्कार । भूपिण्ड की अपनी एक वाक्मयी सीमा है । यही वाक्सीमा वषट्कार नाम से प्रसिद्ध है । इस भौम-वषट्कारसीमा में वही अग्नि अन्तर्याम-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रह सकता है जो भूमि की प्रातिस्विक वस्तु बना रहता है । सम्वत्सराग्नि का इस वषट्कार सीमा से सम्बन्ध अवश्य रहता है परन्तु यह उस में प्रतिष्ठित नहीं होसकता । इसी प्राकृतिक स्थिति का आख्यानरूप से निरूपण करते हुए श्रुति ने कहा है कि, तीन अग्नि पलायित होकर (भाग कर) पानी (अर्णवसमुद्र) में जा छुपे एवं एक अग्नि (गायत्र) ने 'होत्र-कर्म्म' करना स्वीकार किया ।

होत्रकर्म्म में नियुक्त गायत्राग्नि इस सम्वत्सराग्नि के सहयोग से सर्वथा वञ्चित रहता है, तथा सम्वत्सराग्नित्रयीयों को पार्थिवयज्ञ का कोई फल भी नहीं मिलता यह बात नहीं है । जब गायत्राग्नि द्युलोकस्थ देवताओं के समीप हवि लेकर पहुँचते हैं—+— तो अर्णव समुद्र में व्याप्त आप्य आसुरप्राण के आक्रमण से यही सम्वत्सराग्नित्रयी इस की रक्षा करती है । पश्चिम-दक्षिण-उत्तर-प्रान्तस्थ साम्वत्सरिक—अग्नित्रयी सीमारूप से इन तीनों ओर से गायत्राग्नि की रक्षा करती है यही इस अग्नित्रयी का पार्थिवयज्ञ में उपभोग है । साथ ही जो हविर्द्रव्यांश प्रथमरूप से सम्वत्सराग्नित्रयी के गर्भ में रह जाता है यह इन के लिए आहुतिद्रव्य बन जाता है । सीमारूप से होता अग्नि की स्वरूपरक्षा तथा प्रतिफल में उच्छिष्टद्रव्य का ग्रहण करना ही इन का यज्ञसंस्था में उपयुक्त होना है ।

इस सम्बन्ध में एक यह विशेषता ध्यान में रखनी चाहिए कि, इस पलायित आप्त्याग्नि की शुद्ध-मलिन भेद से दो अवस्था होजाती है जैसाकि आप्त्या-विज्ञान में विस्तार से बतलाया जाचुका है । सम्वत्सराग्नित्रयी का अर्णवसमुद्र से सम्बन्ध बतलाया गया है । इस अर्णवसमुद्र के आप्यभाग में सम्वत्सराग्नित्रयी का जो प्रवर्ग्यभाग प्रविष्ट रहता है वही मलिन आप्त्या है एवं ब्रह्मौदनात्मक सम्वत्सराग्नित्रयी ही शुद्ध आप्त्या है । ये ही अग्निरक्षक बनते हुए सीमा है । मलिन आप्त्यायुक्त अपनस्व ही भूपिण्ड का

+—"अतन्द्रो हव्य वहसि हविष्कृतादिह वेषु राजसि" । (यजु संहितायाम्)

इस अग्नि की परिधियाँ बने रहते हैं। पार्थिव प्रजापति–अग्नि की गृहपति सम्वत्सर भेद से दो अवस्थाएँ होजाती हैं। गृहपति अग्नि भूपिण्ड में अन्नादरूप से प्रतिष्ठित रहता है एवं सम्वत्सराग्नि पार्थिव सम्वत्सर में प्रतिष्ठित रहता है। भूपिण्डस्थ पार्थिव अग्नि की उक्थ–अर्क भेद से दो अवस्थाएँ रहती हैं। भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित 'अनिरुक्तप्रजापति' नाम से प्रसिद्ध हुए अग्नि सवप्रभव बनता हुआ 'उक्थ' नाम से प्रसिद्ध है। यही इस यज्ञ का प्रजापति (यजमान) है। पार्थिव उषा इस की पत्नी है। इन्हीं दोनों के दाम्पत्यभाव से पार्थिव–प्रजा की उत्पत्ति हुई है। उक्थ से अर्क–(रश्मियाँ) निकला करते हैं। भूकेन्द्रस्थ उक्थाग्नि की प्राणात्मिका रश्मियाँ उक्थ से निकल कर बड़ी दूर पर्य्यन्त व्याप्त रहती हैं। जहाँतक यह अर्कात्मक प्राणाग्नि व्याप्त रहता है वहाँतक पार्थिवमण्डल की सीमा मानी जाती है जोकि सीमा सामपरिभाषा में 'रथन्तरसाम' नाम से प्रसिद्ध है।

केन्द्रस्थ उक्थ नामक हुए गृहपति प्रजापति–अग्नि से अर्करूप में परिणत होने वाले इस प्राणाग्नि की आगे जाकर पार्थिव अग्नि सम्वत्सराग्नि भेद से दो अवस्थाएँ होजाती हैं। भूपिण्डावच्छिन्न यही प्राणाग्नि (अर्काग्नि) पार्थिव अग्नि है, एवं इसे ही 'भूपति' कहा जाता है। भूमहिमावच्छिन्न यही अर्काग्नि सम्वत्सराग्नि है एवं–उसे ही पूर्व कथनानुसार 'भूतानांपति' कहा जाता है। भूमहिमा का वषट्–कारमण्डल से सम्बन्ध है एवं अग्नि के सम्बन्ध से इस वषट्कार के २१ अहर्गणों में से २१ अहगण संगृहीत हैं। भूपिण्ड से आरम्भकर २१ वें अहर्गणपर्य्यन्त जो भूमहिमा–प्रदेश है वही सम्वत्सरचक्र है। इस पार्थिव सम्वत्सरचक्र में ही वह पार्थिव प्राणाग्निनामक सम्वत्सराग्नि प्रतिष्ठित है।

'भूतानांपति' नामक सम्पूर्ण सम्वत्सरचक्र में एकरूप से प्रतिष्ठित अतएव 'सम्वत्सरप्रजापति' नाम से प्रसिद्ध इस महिमाग्नि के आगे जाकर क्रमशः पार्थिव—त्रिवृत् (९) पञ्चदश (१५) एकविंश (२१) स्तोम भेद से तीन भेद होजाते हैं। एकविंशस्तोमावच्छिन्न द्युप्रदेश में प्रतिष्ठित वही भूतानांपतिः 'भूतानांपति' नाम से प्रसिद्ध है। यही देवविज्ञानानुसार 'आदित्य' कहलाया है। पञ्चदश—स्तोमावच्छिन्न अन्तरिक्ष प्रदेश में प्रतिष्ठित वही भूतानांपतिः 'भुवनपति' नाम से प्रसिद्ध है। यही देवपरिभाषा में—'वायु' कहलाया है। एवं त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पृथिवी—प्रदेश में प्रतिष्ठित वही भूतानांपतिः 'भुवपतिः' नाम से प्रसिद्ध है। यही देवपरिभाषा में 'अग्नि' कहलाया है। इसप्रकार स्तोमभेद से पार्थिव सम्वत्सरचक्र में तीन स्थानों में विभक्त होता हुआ एक ही सम्वत्सराग्नि तीन रूप धारण कर लेता है। निष्कर्ष यही निकला कि भूपिण्डकेन्द्रस्थ गृहपति अग्नि के उक्थरूप के आधार पर 'भूपिण्ड त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंशस्तोम' इन चार प्रदेशों में विभक्त अर्काग्नि के 'भूपति भुवपति भुवनपति भूतानांपति' ये चार रूप होजाते हैं। इन्हीं चारों को लक्ष्य में रखकर 'चतुर्धा विहितो ह वा अग्रेऽग्निरास' यह कहा गया है।

भौमाग्नि ——[१ भूपतिः—भूपिण्डावच्छिन्नः अर्कविध—अग्नि]

सम्वत्सराग्नि—{ २–भुवपति—पृथिव्यवच्छिन्न— —अग्निः; ३–भुवनपतिः—अन्तरिक्षावच्छिन्न— —वायु; ४–भूतानांपति—द्युलोकावच्छिन्नः— —आदित्य } महिमाग्नयः (सौरसत्याः) | सिद्ध–प्रजापतिः ४ | पशुदृष्टि—उक्थ

रक्तैं पीतैं सितैर्नीलै पुष्पैरण चतुर्विध ॥
सर्वे समगुणा उक्ता सितस्तु ज्ञानवर्द्धने ॥३॥
पुष्प विपाकमधुर ग्राहिशीतलमूषणम् ॥
कषायतिक्तकटुकं वातल चोष्णमिष्यते ॥४॥
एतत् पुष्प कफ पित्त कुष्ठं दाह तृषामपि ॥
वातरक्त रक्तदाप मूत्रकृच्छ्र च नाशयेत् ॥५॥
फलं विपाककटुकं लघूष्ण रूक्षमिष्यते ॥
शूलकुष्ठप्रमेहाश क्रमिगुल्मोदर हरत् ॥६॥
पामकण्डूविदद्रु त्वग्दोषघ्न पक्वबीजकम् ॥
फलबीज कटुस्निग्धोष्ण क्रमिघ्नं कफापहम् ॥७॥
तन्मूलस्वरसो हन्ति नेत्रच्छायान्ध्यपुष्पकम् ॥
नूतन पल्लवश्चास्य क्रमिं वात च नाशयेत् ॥८॥
ग्राही तस्य तु निर्यासो हरत् स्वदातिनिगमम् ॥
मुखरोगांश्च कासांश्च ग्रहणीं च विनाशयत् ॥६॥ इत्यादि ॥

संस्कृत	राष्ट्रभाषा	बंगला	महाराष्ट्री	गुजराती	कर्णाटकी	तेलगी	तामिली	उत्कल
पलाश	पलाश ढाकटसू केसू धरा छांकरिया	पलास	पलस	खाखिरो	मुत्तलु	मातुका चट्ट	परशन्	पराशु

२-विकङ्कत —

विकङ्कत वैकङ्कत राक्षस मधुपर्णी गोपघोण्टा, पिण्डार किंकरी पूतिकिंकिणी हिमक इत्यादि शब्द समानार्थक हैं। गुणदृष्टि से यही इन नामों से प्रसिद्ध है—यज्ञिय यज्ञवृक्ष ब्रह्मपादप मग्रारु, म् मन्त्र म सुधावृक्ष सुधावृक्ष पृथुबीज बहुफल मृदुफल मन्थिल दन्तकाष्ठ, पातरोहिण व्याघ्रपात् पूतिकर कण्टकी कण्टभारी कण्टपात्र कण्टपत्र स्वादुकण्टक इत्यादि। निम्नलिखित श्मर-श्लोक विकङ्कत के इन्हीं गुणों का दिग्दर्शन करा रहे हैं—

उत्पादक है। इस परम्परा से प्रवर्ग्यभूत आप्त्याग्नित्रयी भूपिण्ड में प्रतिष्ठित रहती है। जो हविर्द्रव्य भूपिण्ड पर प्रवर्ग्य—सम्बन्ध से रह जाता है वह इस मलिन–प्रवर्ग्य–आप्त्याग्नि की तृप्ति का कारण बनता है। एवं द्युलोक में होता–अग्नि के द्वारा ले जाया जाता हुआ जो हविर्द्रव्य प्रवर्ग्यरूप से सम्वत्सरमण्डल में रह जाता है, वह तत्रस्थ सीमारूप शुद्ध आप्त्याग्नित्रयी की तृप्ति का कारण बनता है।

यह वैध हविर्यज्ञ उक्त प्राकृतिक–पार्थिव–हविर्यज्ञ का ही प्रतिरूप है। अत जैसे वहाँ सीमारूप से पलायित अग्नित्रयी का सम्बन्ध होरहा है, तथैव यहाँ भी प्रतिरूपविधि से उनका संग्रह होता है। वहाँ की भाँति यहाँ भी प्रवर्ग्य द्रव्य का सम्बन्ध होना ही चाहिए। वहाँ की भाँति भूगर्भस्थ मलिन आप्त्याग्नित्रयी की तृप्ति का यहाँ भी समावेश होना ही चाहिए। इसी उद्देश्य से 'देवाननुविधा वै मनुष्या — 'यद्दे देवा अकुर्वस्तत् करवाणि' इस आदेश के अनुगमन के लिए प्राकृतिक अग्निसम्पत्ति के संग्रह के लिए पलायित अग्नित्रयी के प्रतिरूप में तीन परिधियों का परिधान किया जाता है। इनकी तृप्ति के लिए इन पर प्रवर्ग्यरूप से आज्यादि डाला जाता है। जो आहुतिद्रव्य भूपृष्ठ पर गिर जाता है वह मलिन आप्त्याग्नि की तृप्ति का कारण बनता है। परिधिपरिधानकर्म्म की यही संक्षिप्त उपपत्ति है॥ १३ १४ १५, १६ १७ १८॥

ये परिधियाँ किस काष्ठ की बनाई जावें? इसका उत्तर 'यज्ञिय–वृक्ष' है। साम्वत्सरिक आप्त्याग्नित्रयी सम्वत्सरयज्ञसीमा के गर्भ में प्रतिष्ठित है। अतः इन का प्रतिरूप काष्ठ वही बन सकता है जिन में यज्ञातिशय विकसित हो। पलाश विकङ्कत काश्मर्य्य बिल्व, खदिर, उदुम्बर इन वृक्षों में यज्ञातिशय प्रकृत्या ही विकसित रहता है अतएव ये यज्ञिय वृक्ष माने गए हैं। इन में से प्रधान पद तो 'पलाश' वृक्ष का ही है। क्योंकि पलाशवृक्ष में ब्रह्मवीर्य्यसम्पादक अग्नितत्त्व प्रधानरूप से प्रतिष्ठित रहता है। एवं अग्निसम्पत्तिसंग्रह के लिए ही इन परिधियों का ग्रहण होता है। पलाश के समय पर न मिलने से ही विकङ्कतादि अन्य काष्ठों का ग्रहण करना चाहिए। पाठकों की सुविधा के लिए इन यज्ञिय वृक्षों के नामान्तर अत्र उद्धृत कर दिए जाते हैं॥ १९ २० ॥

१–पलाश —

पलाश किंशुक करक, सुपर्णी वातपोत ये सभी शब्द प्रायः समानार्थक माने गए हैं। गुणदृष्टि से इसी पलाश के ये नाम प्रसिद्ध हैं—याज्ञिक ब्रह्मवृक्ष ब्रह्मपादप ब्रह्मोपनेता पूतद्रु समिद्वर काष्ठद्रु पर्ण, त्रिपर्ण त्रिपत्रक रक्तपुष्प रक्तपुष्प बीजस्नेह, कृमिघ्न क्षारश्रेष्ठ, इत्यादि। निम्न–लिखित संग्रहश्लोक पलाश के इन्हीं गुणों का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

कषायतिक्तकटुकः स्निग्धोष्णो दीपनः सरः॥
भग्नसन्धानकृद् वृष्य पलाशो गुणवो मत ॥१॥
त्रिदोषघ्न् कृमिघ्नोऽयं पलाशो पत्रपादप ॥
ग्रहण्यर्शो गुल्मगुदरगप्लीहामय हित ॥२॥

रक्तै पीतै सितैर्नीलै पुष्पैरप चतुर्विध ॥
सर्वे समगुणा उक्ता सितस्तु ज्ञानवर्द्धन ॥३॥
पुष्प विपाकमधुर ग्राहिशीतलमूपथम् ॥
कषायतिक्तकटुकं वातल चोष्णमिष्यते ॥४॥
एतत् पुष्पं कफ पित्त कुष्ठं दाह तृषामपि ॥
वातरक्त रक्तदापं मूत्रकृच्छ्र च नाशयेत् ॥५॥
फल विपाककटुकं लघूष्ण रूक्षमिष्यते ॥
शूलकुष्ठप्रमेहार्श क्रमिगुल्मोदर हरत् ॥६॥
पामकण्डूविदग्र त्वग्दोषघ्नं पृथबीजकम् ॥
फलबीज कटुस्निग्धाष्ण क्रमिघ्न कफापहम् ॥७॥
तन्मूलस्वरसो हन्ति नेत्रच्छायान्ध्यपुष्पकम् ॥
नूतन पल्लवश्चास्य क्रमिं वात च नाशयेत् ॥८॥
ग्राही तस्य तु निर्य्यासो हरत् स्वेदार्तिनिर्गमम् ॥
मुखरोगांश्च कासांश्च ग्रहणा च विनाशयत् ॥९॥ इत्यादि ॥

संस्कृत	राष्ट्रभाषा	बंगला	महाराष्ट्री	गुजराती	कर्णाटकी	तैलङ्गी	तामिली	उत्कल
पलाश	पलाश ढाकटसू केसु धरा काकरिया	पलास	पलस	खाखिरो	मुत्तुलु	मातुका चट्टु	परशान	पराशु

२-विकङ्कतः—

विकङ्कत वैकङ्कत राघण मधुपर्णी गोपघोण्टा पिण्डार किङ्करी पूतकिङ्किणी हिमक इत्यादि शब्द समानार्थक हैं। गुणदृष्टि से यही इन नामों म प्रसिद्ध है—यज्ञिय यज्ञवृक्ष ब्रह्मपादप म गृध्ररु स्रुवद्रुम स्रुवावृक्ष सुधावृक्ष पृथुबीज बहुफल, मृदुफल, मन्थिल दन्तकाष्ठ, पात्ररोहिण व्याघ्रपात् धूविकर कण्टकी कण्टकारी कण्टपात्र कण्टपत्र स्वादुकण्टक इत्यादि। निम्नलिखित ममद-श्लोक विकङ्कत के इन्ही गुणों का दिग्दर्शन करा रहे हैं—

कषायोऽम्लश्च मधुरः पाकेऽतिमधुरो लघुः ॥
विकङ्कतोऽय नात्युष्णशीतो दीपनपाचन ॥१॥
कफ पित्त रक्तदोषान् नेत्रपुष्प च कामलाम् ॥
शोषं शोक तथा दाहं मूत्रामर्शश्च हन्ति सः ॥
विकङ्कतफल पक्व मधुरं सर्वदोषहृत् ॥२॥

स०	ग	मै	म	गु	क	तै	उ
शमी —	छोंकर छिकुर सफेद कीकर	शाई धुई बाम्ला	मारशमी लघुशमी	शिवडो नानीशिवडी	वती कावभि	शमीचेट्ट	शुमी

३–काश्मर्य —

काश्मर्य्य काश्मीरी गम्भारी श्रीपर्णी भद्रपर्णी स्निग्धपर्णी मधुपर्णी कुमुदा मोदिनी, गृष्टि भद्रा सुभद्रा सर्वतोभद्रा गोपभद्रा मधुभद्रा महाभद्रा, सदाभद्रा रोहिणी पीवरोहिणी हीरा इत्यादि शब्द समानार्थक हैं। इन में 'काश्मर्य्य शब्द का विशुद्ध 'छन्दोऽभ्यस्ता' नामक वैदिकी भाषा से ही सम्बन्ध है। गुणदृष्टि से यही इन नामों से व्यक्त हुआ है—क्षीरिणी विदारिणी, मधुरसा मधुमन्ती सुकला पीतफला कटुफला कृष्णफला कृष्णवृन्ता कृष्णप भरवेता बलाहा स्थूलत्वचा दृढत्वचा इत्यादि। निम्न लिखित संग्रह–श्लोकों से काश्मर्य्य के इन्हीं गुणों का समर्थन होता है—

गम्भारी मधुरा तिक्ता कषाया कटुका गुरुः ॥
दीपनी पाचनी मध्योष्णवीर्य्या मदनी तथा ॥१॥
तृषा हन्ति ज्वरं दाह शोष शोकं तृषां विषम् ॥
आमशूल प्रमेहार्शास्त्रिदोषं च भ्रमं कृमिम् ॥
पीतफलं मधुर तिक्त गुरुस्निग्ध च तत्फलम् ॥
मूढ्यां ग्राहि मध्य च वृष्यं रसायनम् ॥३॥
हन्ति मूत्रविबन्धश्च वास पित्तं तृषां क्षयम् ॥
दाहं च रक्तदोषं च सतिक्तमधुरं फलम् ॥४॥

फलमम्लकषाय तु गुरुस्निग्ध विशुद्धिकृत् ॥
मूत्रद बुद्धिदं हन्ति वातपित्त चय तृपाम् ॥५॥
रक्तस्रुत रक्तपित्त रक्तदोष च हन्ति तत् ॥
आमवात मूत्रकृच्छ्र दाह च प्रदर हरत् ॥६॥
कषायतिक्तमधुरा फलमज्जाऽसृजोरुजम् ॥
ग्राहिणी वातला वन्या वृष्या पित्त कफं हरेत् ॥७॥
कषायतिक्तमधुर पुष्प तस्यास्तु शीतलम् ॥
विपाकमधुरं ग्राहि वातल रक्तदोषहृत् ॥८॥
गम्भारीमूलमत्युष्णं मानुषेषु हित न तत् ॥९॥

सं	बं	हिं	म	गु	क	ते
गम्भारी	कुम्भर खम्मारी	गांमारी गांभार	शीवण गभारो	शवन्य	शीवनी	साक्षागुमु टी चट

४-बिल्वः—

बिल्य श्रीफल, शाण्डूप मालूर शाण्डिल्य शल्य सोमहरीतकि गोहरीतकि कपीतन शलादु महाकपित्थ नीलमक्षिक, ककट सुनीलक, इत्यादि शब्द समानार्थक हैं। गुणदृष्टि स यही इन नामो से व्यवहृत हुआ है—शिवद्रु शिवद्रुम माङ्गल्य अतिमङ्गल्य समीरसार, पूतिवात पीतफल महाफल लक्ष्मीफल सदाफल, गन्धफल सत्यफल सत्यधर्म हृद्यगन्ध गन्धपत्र शैलपत्र त्रिशाखापत्र त्रिशिख त्रिदल पत्रश्रेष्ठ कण्टकाढ्य सितानन, अधरोरुह, इत्यादि । निम्न लिखित श्लोक बिल्व के इन्ही गुणों का समर्थन कर रहे हैं—

कफानिलहर तीक्ष्ण स्निग्ध सग्राहि दीपनम् ॥
कटुतिक्तकषायोष्ण बाल बिल्वमुदाहृतम् ॥१॥
तदेव विद्यात् सपक्वं मधुरानुरसं गुरु ॥
विदाहि विष्टम्भकर दोषकृत् पूतिमारुतम् ॥२॥

कषायोऽम्लरस्च मधुरः पाकेऽतिमधुरो लघु ॥
विकङ्कतोऽयं नात्युष्णशीतो दीपनपाचन ॥१॥
कफ पित्तं रक्तदोषान् नेत्रपुष्य च कामलाम् ॥
शोषं शोक भ्रम दाहं मूत्रामर्शश्च हन्ति सः ॥
विकङ्कतफलं पक्वं मधुरं सर्वदोषहृत् ॥२॥

स०	श	हिं	म	गु	क	ते	उ
शमी —	खाँकर खिङ्कर सफेद कीकर	शाई धुर बाक्ला	घोरशमी लघुशमी	खिजड़ो नानीखिजड़ी	कती काबमि	शमीचेट्ट	शुमी

३—काश्मर्य —

काश्मर्य काश्मीरी गम्भारी श्रीपर्णी भद्रपर्णी स्निग्धपर्णी, मधुपर्णी कुमुदा, मोदिनी, गृष्टि भद्रा सुभद्रा सर्वतोभद्रा गोपभद्रा मधुभद्रा महाभद्रा सदाभद्रा रोहिणी पीतरोहिणी हीरा इत्यादि शब्द समानार्थक हैं। इन में 'काश्मर्य' शब्द का विशुद्ध छन्दोम्यस्ता' नामक वैदिकी भाषा से ही सम्बन्ध है। गुणदृष्टि से यही इन नामों से व्यवहृत हुआ है—क्षीरिणी विदारिणी मधुरसा, मधुमन्ती, सुफला पीतफला कटुफला कृष्णफला कृष्णवृन्ता कृष्णप भरवेता, मात्रहा स्थूलत्वचा श्वेतत्वचा इत्यादि। निम्न लिखित संग्रह-श्लोकों से काश्मर्य के यही गुणों का समर्थन होरहा है—

गम्भारी मधुरा तिक्ता कषाया कटुका गुरुः ॥
दीपनी पाचनी मेध्योष्णवीर्या भेदनी तथा ॥१॥
तृषा हन्ति ज्वरं दाह शोषं शोकं तृषां विषम् ॥
आमशूल प्रमेहार्शस्त्रिदोषं च भ्रमं कृमिम् ॥
शीतलं मधुरं तिक्तं गुरुस्निग्ध च तत्फलम् ॥
गृहणां ग्राहि मध्यं च वृष्यं रसायनम् ॥३॥
हन्ति मूत्रविबन्धञ्च वातं पित्तं तृषां क्षयम् ॥
दाहं च रक्तदोषं च सतिक्तमधुर फलम् ॥४॥

६–उदुम्बर —

उदुम्बर, उदम्बर, प्रतिम्रित, सुषभु जन्तुफल, इत्यादि शब्द समानार्थक माने गए हैं। गुणदृष्टि से यही इन नामों से व्यवहृत हुआ है—यज्ञिय, यज्ञयोग्य यज्ञाङ्ग, यज्ञसार, यज्ञफल पवित्रक, ब्रह्मवृक्ष, सौम्य, फलस्कन्ध, श्वेतवल्कल शीतवल्कल शीतफल, जनफल, सदाफल जन्तुफल, अपुष्पफल पुष्पशून्य, पुष्पहीन, पाणिमुख, क्षीरवृक्ष हेमदुग्ध, हेमदुग्धी, कृमिकण्टक इत्यादि। निम्न लिखित श्लोक उदुम्बर के गुण ही व्यक्त कर रहे हैं—

कषायमधुर शीतो रूक्षो वर्ण उदुम्बर ॥
व्रणापहोऽस्थिसंधानगर्भसन्धानकद्गुरु ॥१॥
कफपित्तमतीसार योनियोग च हन्ति सः ॥
कषायशीतलं वल्क गर्म्यं दुग्ध व्रणापहम् ॥२॥
आम फलं कषायाम्लं मांसवृद्धिकर जडम् ॥
शोषलं रक्तसंस्कारि दीपनं रुचमिष्यते ॥३॥
अतिशीतं फल पक्व कषायमधुर जडम ॥
कृमिकृत् कफकृद् रुच्य हन्ति पित्त प्रमेहकम् ॥४॥
रक्तरोग क्षुधां मूर्च्छां दाह शोष श्रमं तृषाम् ॥
कोमलं तत्वृषां रक्तदोष पित्त कफं हरेत् ॥५॥
किञ्चित् कोमलं स्वादु कषायं शीतल फलम् ॥
हन्ति प्रहारजं क्लेशं वान्ति पित्तमसृक्स्रुतिम् ॥६॥

सं	प	हिं	म	गु	क	ते
उदुम्बरः	गूलर	यज्ञडुमुर	उम्बर	उम्बरो	अत्ति	याडुचेट्ट

प्रथमकाण्डान्तर्गत–तृतीय अध्याय का तृतीय ब्राह्मण एव–द्वितीय ब्राह्मण का षष्ठब्राह्मण उपरत

अत्र–इध्मब्राह्मण समाप्त

द्वितीय प्रपाठक समाप्त
२

सं	ग	बं	म	गु	क०	तै०	ता
बिल्व	बेल	बेल	बेलकृष	बिलोबिलु	बेलबु	मारेडीपन्डु बिल्व	विल्पा मरम

५—खदिरः—

खदिर क्षयपत्री प्रमल मलक्टी गायत्री, इत्यादि शब्द समानार्थक हैं। गुणादि से यही इन नामों से प्रसिद्ध हैं—याज्ञिक यज्ञाङ्ग मेध्य यूपद्रुम दन्तधावन पथिद्रुम रक्तसार, विक्सार बहुसार, क्षितिक्षम बालपत्र बालपुत्र बालतनय बक्रकण्टक कण्टकी, मधुशल्य सुशल्य जिह्मशल्य जिह्माशल्य कुष्ठारि कुष्ठघ्नम् इत्यादि। निम्न लिखित श्लोक खदिर-गुणों का ही यशोगान कर रहे हैं—

शीतोष्णः खदिरो दन्त्यः कषायकटुतिक्तकः ॥
अरिमेदो विटखदिरे कद्वरः खदिरे सिते ॥१॥
कद्वरो हन्ति कण्डूर्तिं कुष्ठं भूतग्रहं ज्वरम् ॥
मुखरोगं पाण्डुरोगं रक्तदोषं कृमिं वृणम् ॥२॥
श्वित्रं शोथं चामपित्तं प्रमेहं च विषं तथा ॥
मेढ्ररोगं वातकफं नाशयेत् खदिरः सितः ॥३॥
सारो ग्रपयो रक्तदोषं मुखरोगं कफं हरेत ॥
निर्य्यासो मधुरो बल्यः खादिरः शुक्रवर्द्धनः ॥४॥

सं	ग	म	गु	क	तै
खदिरः	खैर कत्था पपड़िया खयर	खएरगाछ	खयर पोहराखयर	कोगिन मैर विन्नीबनपि	पण्ड्रमट्ट मान् वेद्पचण्ड

उहीं रचको की भावना के लिए-'मित्रावरुणौ त्वोत्तरत इत्यादि मन्त्र बोलते हुए उत्तर की ओर तीसरी परिधि का स्थापन होता है ॥४॥

अथ-समिधाभ्याधानोपपत्ति

अग्निकन्यार्थ पूर्व में गृहीत समिध आहवनीय में डालना ही समिधाभ्याधानकर्म्म है। समिधा-भ्याधान छन्द तथा ऋतुदेवता के समिन्धन से सम्बन्ध रखता है। अर्थात्-यह समिन्धन छन्द तथा ऋतुओं का ही किया जाता है। बात यह है कि, आहवनीय अग्नि में आहुतिद्रव्य का इसी अग्नि से द्युलोकस्थ देवताओं में गमन होने वाला है। अग्नि आहुति ले जाने वाले हैं। इधर अग्नि की प्रतिष्ठा छन्द, एवं ऋतुएँ हैं। यदि छन्द-ऋतु समिद्ध हैं तो हव्यवाट अग्नि भी समिद्ध है। एवं समिद्ध अग्नि ही हव्यवहनकर्म्म में समर्थ है। अतः आहुतिकर्म्म से पहिले छन्द-ऋतु का भी समिन्धन आवश्यक होजाता है। समिन्धन होता है-अग्नि के उद्देश्य से परन्तु लक्ष्य हैं-ऋतु और छन्द। अग्नितत्त्व सम्वत्सराग्नित्रयी पार्थिव गायत्राग्नि, भेद से चार भागों में विभक्त बतलाया गया है। तीनों परिधि निम्नानेन सम्वत्सराग्नित्रयी के प्रतिरूप हैं एवं आहवनीयाग्नि गायत्राग्नि का प्रतिरूप है। दोनों के समिन्धन के लिए पहिले समिध का परिधि से स्पर्श कराया जाता है इस से तो परिधिलक्षणा अग्नित्रयी परोक्षरूप से समिद्ध होजाती है अनन्तर समिध आहवनीय में डाली जाती है इस से इस का प्रत्यक्षरूप से समिन्धन होजाता है ॥५॥

'वीतिहोत्र त्वा०' इत्यादि गायत्रीमन्त्र से ही प्रथम समिध डाली जाती है। इस प्रथम समिध से छन्दों का समिन्धन करता है। उधर छन्द गायत्री-प्रमुख हैं। गायत्रीछन्द ही सब छन्दों का मूल माना गया है। इस एक के समिन्धन से इतर सब छन्दों का समिन्धन होजाता है। अतः सर्वछन्द-समिन्धनोद्देश्य से गायत्री मन्त्र के द्वारा गायत्रीछन्द का समिन्धन किया जाता है। समिद्धगायत्री इतर ६ ओं छन्दों का समिन्धन कर देती है। एवं ये समिद्ध छन्द देवताओं के लिए हव्यवहन करने में समर्थ होजाते हैं।

तात्पर्य्य इस समिन्धन का एकमात्र है-पार्थिव अग्नि में दिव्य तेजोयुक्त अग्नि का समावेश। जबतक पार्थिव अग्नि में दिव्य तेज का आधान नहीं होजाता तबतक यह अग्नि न तो हविर्वहनकर्म्म में ही पूर्ण समर्थ बनता एवं न ऐसे विशुद्ध पार्थिव-अग्निगृहीत हवि का दिव्यप्राणाग्निप्रधान प्राणदेवताओं के साथ ही सम्बन्ध होता, जैसाकि आगे के 'सामिधेनी-ब्राह्मणों में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। प्राकृतिक यज्ञ से सौर सावित्राग्नि के द्वारा पार्थिव अग्नि का समिन्धन गायत्रीछन्द से ही होती है। खगोलीय उत्तरस्थ कर्कवृत्त से आरम्भ कर दक्षिणस्थ मकरवृत्तान्त क्रमशः जगती त्रिष्टुप् पङ्क्ति बृहती, अनुष्टुप् उष्णिक्, गायत्री ये सात देवछन्द प्रतिष्ठित हैं। जगती उत्तर भाग की अन्तिम सीमा पर है एवं गायत्री दक्षिण भाग की अन्तिम सीमा पर है। उत्तरादिक् सूर्य्यानुगता मानी गई है। अतएव तत्प्रतिरूप उदग्गाता की उदीची ही दिक् मानी जाती है जैसाकि-'उदीच्यमुदगातुः (शत० १२।५।४।२४) से स्पष्ट है। प्रकाशात्मिका उत्तर-प्रदेशोपलक्षिता उत्तरदिशा में प्रतिष्ठित सौर तेज दक्षिणस्थ गायत्रीछन्द से सम्बन्ध करता हुआ सम्पूर्ण छन्दों को समिद्ध कर देता है।

अपिच गायत्री अग्नि का छन्द है। इधर 'अग्निः सर्वा देवता' के अनुसार सम्पूर्ण देवता अग्नि की ही अवस्थाविशेष हैं। फलतः अग्नि के गायत्रीछन्द का सर्वछन्दोमयत्व भलीभांति सिद्ध होजाता है। गायत्री

प्रथमकाण्डान्तर्गत–तृतीय–अध्याय का चतुर्थ ब्राह्मण एवं–तृतीय प्रपाठक का प्रथम ब्राह्मण उपक्रान्त परिधिब्राह्मण अत्र उपक्रान्त तृतीय—प्रपाठक—उपक्रान्त

३

उक्त क्षत्रिय वृक्षों में से समयप्राप्त किसी एक यज्ञिय वृक्ष की जो परिधियाँ ली जाती हैं वे गीली होनी हैं। आर्द्र भाव ही इन का जीवनीय रस है यही इनकी प्रातिस्विक सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति–संग्रह की दृष्टि से यहाँ आर्द्रभाव अभिप्रेत है यहाँ आप्त्याग्नि के अप्गर्भित–स्वरूप की दृष्टि से भी आर्द्र भाव अपेक्षित है। तीनों परिधियाँ उस आप्त्याग्नित्रयी की ही प्रतिरूप हैं जो आपोमय अर्णवसमुद्र में प्रविष्ट है। अत एव–तादात्म्येन परिधियाँ आर्द्र ही ली जाती हैं। जिसप्रकार आक्रमण–कर्त्ता के आक्रमण को वीर पुरुष अपने हाथों की परिधि से रोक देता है एवमेव ये परिधियाँ आक्रमणरक्षक ही बनी हुई हैं। अतएव लम्बाई में ये बाहुपरिमाण ही बनाई जाती है ॥१॥

'गन्धर्वस्त्वा०' इत्यादि मन्त्र से पश्चिम भाग में परिधि रक्खी जाती है। प्राकृतिक–यज्ञ में तृतीय द्युस्थानीय सोम की (पारमेष्ठ्य आप्य आसुराक्रमण से) रक्षा विश्वावसुप्रमुख पञ्चात्मक गन्धर्वप्राण से ही होती है। यहाँ भी परिधि के द्वारा वही रक्षाकर्म्म अभिप्रेत है। अतएव इस परिधिस्थापनलक्षण रक्षाकर्म्म में उसी प्राकृतिक रक्षक की भावना की जाती है। 'अम्स्तजगद् विज्ञान' के अनुसार सम्पूर्ण विश्व जिसमें कि यह जीवनयात्रा का संचालन कर रहा है अपना विश्व है। इस की शान्ति स्वस्ति में ही यज्ञकर्त्ता यजमान की शान्ति–स्वस्ति है। इस रक्षाकर्म्म से इसी के लिए इसी के भोग्य विश्व को सुरक्षित रखने की भावना व्यक्त करने के अभिप्राय से–'विश्वस्यारिष्ट्यै' इत्यादि कहा गया है ॥२॥

दक्षिणदिशा की ओर से प्राकृतिक हविर्यज्ञ पर जो आसुर आक्रमण होते रहते हैं वे अग्निलक्षण इन्द्रप्राण से रोके जाते हैं *। एवं भीमदेवव्यवस्था के अनुसार दक्षिणदिशा की ओर से होने वाले मनुष्यविघ्न इन्द्र के द्वारा रोके जाते थे +। अतएव यहाँ भी दक्षिण परिधिस्थापन से इन्द्र के बाहु की भावना से उसी इन्द्ररक्षक की प्राप्ति की जाती है। इन्द्रस्य बाहुरसि० इत्यादि मन्त्र का यही तात्पर्यार्थ है ॥३॥

उत्तरदिक् की ओर से होने वाले आक्रमण उत्तरस्थ मित्रावरुण देवताओं से रोके जाते हैं जैसा कि– 'उदीची दिक् मित्रावरुणौ देवता' (तै० ब्रा० ३।११।५।२।) इत्यादि कृष्ण श्रुति से प्रमाणित है।

---

* "दक्षिणा दिक्, इन्द्रो देवता" (शं० ब्रा ३।११।५।१)

+ "अतो हीन्द्रस्तिष्ठन् दक्षिणतो नाष्ट्रा रक्षांस्यपाहन्" (श० १।४।५।३।)।

प्रथमकाण्डान्तर्गत–तृतीय–अध्याय का चतुर्थ ब्राह्मण
एवं–तृतीय प्रपाठक का प्रथम ब्राह्मण उपक्रान्त
परिधिब्राह्मण अत्र उपक्रान्त
तृतीय—प्रपाठक—उपक्रान्त
३

उक्त पालाश वृक्षों में से समयप्राप्त किसी एक पलाश वृक्ष की जो परिधियाँ ली जाती हैं वे गीली होनी हैं। आर्द्र भाव ही इन का जीवनीय रस है यही इनकी प्रातिस्विक सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति–रक्षा की दृष्टि से यहाँ आर्द्रभाव अभिप्रेत है वहाँ आप्याग्नि के अन्तर्गर्भित–स्वरूप की दृष्टि से भी आर्द्र भाव अपेक्षित है। तीनों परिधियाँ उस आप्याग्नित्रयी की ही प्रतिरूप हैं जो आपोमय अर्णवसमुद्र में प्रविष्ट है। अत एव तत्–साहश्येन परिधियाँ आर्द्र ही ली जाती हैं। जिसप्रकार आक्रमण–कर्त्ता के आक्रमण को वीर पुरुष अपने हाथों की परिधि से रोक देता है एवमेव ये परिधियाँ आक्रमणरक्षक ही बनी हुई हैं। अतएव सम्भार में ये बाहुपरिमाण ही बनाई जाती हैं ॥१॥

'गन्धर्वस्त्वा०' इत्यादि मन्त्र से पश्चिम भाग में परिधि रक्खी जाती है। प्राकृतिक–यज्ञ में तृतीय द्युस्थानीय साम की (पारमेष्ठ्य आप्य मधुराकाम्य से) रक्षा विश्वावसुप्रमुख पञ्चभामक गन्धर्वप्राण से ही होरही है। यहाँ भी परिधि के द्वारा यही रक्षाकर्म्म अभिप्रेत है। अतएव इस परिधिस्थापनलक्षण रक्षाकर्म्म में उसी प्राकृतिक रक्षक की भावना की जाती है। 'अन्तर्जगद् विज्ञान' के अनुसार सम्पूर्ण विश्व जिसमें कि यह जीवनयात्रा का सञ्चालन कर रहा है अपना विश्व है। इस की शान्ति स्वस्ति में ही यज्ञकर्त्ता यजमान की शान्ति–स्वस्ति है। इस रक्षाकर्म्म से इसी के लिए इसी के सौम्य विश्व को सुरक्षित रहने की भावना व्यक्त करने के अभिप्राय से–'विश्वस्यारिष्ट्यै' इत्यादि कहा गया है ॥२॥

दक्षिणदिशा की ओर से प्राकृतिक हविर्यज्ञ पर जो आसुर आक्रमण होते रहते हैं, वे अग्निस्तुत् इन्द्रप्राण से रोके जाते हैं *। एवं भौमदेवव्यवस्था के अनुसार दक्षिणदिशा की ओर से होने वाले मनुष्यविघ्न इन्द्र के द्वारा रोके जाते थे +। अतएव यहाँ भी दक्षिण परिधिस्थापन से इन्द्र के बाहु की भावना से उसी इन्द्ररक्षक की प्राप्ति की जाती है। 'इन्द्रस्य बाहुरसि०' इत्यादि मन्त्र का यही तात्पर्यार्थ है ॥३॥

उत्तरदिक् की ओर से होने वाले आक्रमण सतत मित्रावरुण देवताओं से रोके जाते हैं जैसा कि–"उदीची दिक् मित्रावरुणौ देवता' (शै० ब्रा० ३।११।५।२) इत्यादि इत्थ श्रुति से प्रमाणित है।

---

* "दक्षिणा दिक्, इन्द्रो देवता" (शै० ब्रा ३।११।५।१)
+ "अतो हीन्द्रस्तिष्ठन् दक्षिणतो नाष्ट्रा रक्षांस्यपाहन्" (श० १।४।५।३।)।

उन्हीं रक्षकों की भावना के लिए–'मित्रावरुणौ त्वोत्तरत इत्यादि मन्त्र बोलते हुए उत्तर की ओर तीसरी परिधि का स्थापन होता है ॥८॥

अथ–समिधाभ्याधानोपपत्ति

अग्निकुण्डाय पू में गृहीत समिध आहवनीय में डालना ही समिधाभ्याधानकर्म्म है। समिधा-न्याधान छन्द तथा ऋतुदेवता के समिन्धन से सम्बन्ध रखता है। अर्थात्-यह समिन्धन छन्द तथा ऋतुओं का ही किया जाता है। बात यह है कि आहवनीय अग्नि में आहुतद्रव्य का इसी अग्नि से द्युलोकस्थ देवताओं में गमन होने वाला है। आग्नेय आहुति से जाने वाले हैं। इधर अग्नि की प्रतिष्ठा छन्द, एवं ऋतुएँ हैं। यदि छन्द–ऋतु समिद्ध हैं तो तत्पश्चात् अग्नि भी समिद्ध है। एवं समिद्ध अग्नि ही हव्यवहनकर्म्म में समर्थ है। अतः आहुतिकर्म्म से पहिले छन्द–ऋतु का भी समिन्धन आवश्यक होजाता है। समिन्धन होता है–अग्नि के उद्देश्य से परन्तु लक्ष्य है–ऋतु और छन्द। अग्नितत्त्व सम्वत्सराग्नित्रयी पार्थिव गायत्राग्नि, भेद से चार भागों में विभक्त बतलाया गया है। तीनों परिधि निःसन्देह सम्वत्सराग्नित्रयी के प्रतिरूप हैं एवं आहवनीयाग्नि गायत्राग्नि का प्रतिरूप है। दोनों के समिन्धन के लिए पहिले समिध का परिधि से स्पर्श कराया जाता है इस न तो परिधिलक्षणा अग्नित्रयी परोक्षरूप से समिद्ध होजाती है अनन्तर समिध आहवनीय में डाली जाती है इस से इस का प्रत्यक्षरूप से समिन्धन होजाता है ॥९॥

'वीतिहोत्रं त्वा' इत्यादि गायत्रीमन्त्र से ही प्रथम समिध डाली जाती है। इस प्रथम समिध से छन्दों का समिन्धन करता है। उधर छन्द गायत्री-प्रमुख हैं। गायत्रीछन्द ही सब छन्दों का मूल माना गया है। इस एक के समिन्धन से इतर सब छन्दों का समिन्धन होजाता है। अतः सर्वच्छन्दसमिन्धनोद्देश्य से गायत्री मन्त्र के द्वारा गायत्रीछन्द का समिन्धन किया जाता है। समिद्धगायत्री इतर ६ भी छन्दों का समिन्धन कर देती है। एवं ये समिद्ध छन्द देवताओं के लिए हव्यवहन करने में समर्थ होजाते हैं।

तात्पर्य्य इस समिन्धन का एकमात्र है–पार्थिव अग्नि में दिव्य तेजोयुक्त अग्नि का समावेश। जबतक पार्थिव अग्नि में दिव्य तेज का आधान नहीं होजाता तबतक यह अग्नि न तो हविर्वहनकर्म्म में ही पूर्ण समर्थ बनता एवं न ऐसे विशुद्ध पार्थिव–अग्निगृहीत हवि का दिव्यप्राणाग्निप्रधान प्राणदेवताओं के साथ ही सम्बन्ध होता जैसाकि आगे के 'सामिधेनी–ब्राह्मण' में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। प्राकृतिक यज्ञ से सार सावित्राग्नि के द्वारा पार्थिव अग्नि का समिन्धन गायत्रीछन्द से ही होती है। खगोलीय उत्तरस्थ कक्षा से आरम्भ कर दक्षिणास्थ मकरान्त क्रमशः जगती त्रिष्टुप् पङ्क्ति, बृहती अनुष्टुप् उष्णिक, गायत्री ये सात छन्द प्रतिष्ठित हैं। जगती उत्तर भाग की अन्तिम सीमा पर है एवं गायत्री दक्षिण भाग की अन्तिम सीमा पर है। उत्तरादिक् सूर्य्यानुगता मानी गई है। अतएव तत्प्रतिरूप उदग्गाता की उदीची ही दिक् मानी जाती है जैसाकि– उदीच्युद्गातु (शत १।३।४।८ ६)में स्पष्ट है। द्वन्द्वात्मिका उत्तर–प्रदेशावलम्बिता उत्तरदिशा में प्रतिष्ठित सार तत्र दक्षिणस्थ गायत्रीछन्द से सम्बन्ध करता हुआ सम्पूर्ण छन्दों को समिद्ध कर देता है।

समिध गायत्री अग्नि का छन्द है। इधर अग्नि सर्वा देवता के अनुसार सम्पूर्ण देवता अग्नि की ही अवस्थाविशेष है। फलतः अग्नि के गायत्रीछन्द का सर्वछन्दोमयत्त्व भलीभांति सिद्ध होजाता है। गायत्री

के समिन्धन से तच्छन्दस्क पार्थिव अग्नि दिव्यभाव के समावेश से विश्वदेवताओं के लिए हवि-वहन में समर्थ होजाता है। गायत्रीछन्द ही पार्थिवाग्नि को दिव्याग्नि के द्वारा समिद्ध करने वाला माध्यम है। अतएव यह छन्द-समिन्धनकर्म्म आवश्यक होजाता है। 'वीतिहोत्रं त्वा' इत्यादि मन्त्रपूर्वक ही यह समिन्धनकर्म्म होता है। गायत्री के द्वारा होने वाले इस- समिन्धनकर्म्म' से ही अग्निदेवता होत्रकर्म्म में सफल होते हैं। इस दिव्यदेव के समावेश से 'द्यु मिमान्' बन जाते हैं एवं पृथिवीस्थान (भूस्थान) से हविभक्षण करते हुए ये अग्निदेव द्युलोक की ओर गमन करते हुए इस द्यु महिमा में वितत-व्याप्त होकर 'बृहत्' बन जाते हैं। इसप्रकार मन्त्र ने—समिन्धनकर्म्म-जनित सभी अतिशयों का स्पष्टीकरण कर दिया है ॥६॥

दूसरी समिध से वसन्त का समिन्धन किया जाता है। होत्रकर्म्म में दीक्षित पार्थिव अग्नि जिस हवि का द्यु देवताओं के साथ सम्बन्ध कराने वाले हैं वही हविर्द्रव्य दैवात्मा को उत्पन्न करने वाला है। परन्तु जबतक ऋतुप्राण का अग्नि में समावेश नहीं होजाता तबतक प्रजनन असम्भव है। 'सम्वत्सराद् ऋतव रेतो आभृतम्' इस कौषीतकि-वचन के अनुसार ऋतुएँ ही प्रजननकर्म्म की अधिष्ठात्री है। आध्यात्मिक-पक्ष में भी ऋतुमती-स्त्री ही गर्भाधान-योग्या मानी गई है। फलतः हव्यवहन के लिए जहाँ छन्दःसमिन्धन आवश्यक है वहाँ प्रजनन के लिए ऋतु-समिन्धन भी आवश्यक बन जाता है। इस द्वितीय-समिधाभ्याधान से वसन्त-ऋतु का ही समिन्धन होता है। गायत्री-छन्दोमय वसन्तऋतु इतर ग्रीष्मादि पाँचों ऋतुओं का मूलाधार है। फलतः वसन्तके समिन्धन से इतर ऋतुओं का भी समिन्धन होजाता है। समिद्ध ऋतुओं से अग्नि में ऋतुधर्म्म का का समावेश होजाता है। एतद्धर्म्मावच्छिन्न अग्नि दैवात्मप्रजनन में समर्थ होजाता है। इसी समिन्धनोपपत्ति को लक्ष्य में रखकर—"ऋतवः समिद्धा मजाश्च प्रजनयन्ति" इत्यादि कहा गया है एवं समिधाभ्याधानकर्म्म की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥७॥

अथ—मन्त्रजपोपपत्ति

परिधिस्थापन के द्वारा तीनों ओर से तो नाष्ट्रा-राक्षसों का आक्रमण रोक दिया गया। अब पूर्व दिशा बच रही है। पूर्व दिशा में भगवान् सूर्य का साम्राज्य है। सौरतेज से बढ़कर नाष्ट्रा-राक्षसों का नाशक और कोई दूसरा नहीं है। आहवनीय के पूर्व भाग में इस रक्षक-दिव्य-प्राण के स्थापन की भावना से इस ओर मुख करके- 'सूर्य्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्यै०' इत्यादि मन्त्र का जप किया जाता है ॥ ८, ६ ॥

अथ विधृती-स्थापनोपपति

'विधृती' शब्द विधृति का द्विवचनान्त रूप है जिसका अर्थ है—'दो विधृतियों की समष्टि। आधिदैविक—विश्व में एवं तद्रूप 'विश्वयज्ञ' में इन दो विधृतियों का क्या स्वरूप है? इस प्रश्न के समाधान पर ही इस वैधयज्ञ की कृत्रिममयी दो विधृतियों की उपपत्ति अवलम्बित होसकती है। धारण करने वाली 'शक्ति ही विधृति' है। अतएव जिस शक्ति ने इस विश्व का धारण कर रक्खा है उसी विशेष-शक्ति को हम—'विधृति' कहेंगे।

'अग्नीषोमात्मकं जगत्' के अनुसार प्राणाग्नि' एवं तत्र-तदाधारेण प्रतिष्ठित 'भूताग्नि' तथा 'प्राणसोम', और तदाधारेण प्रतिष्ठित 'भूत-सोम', ये दो ही तत्त्व पाञ्चभौतिक विश्व के प्रमुख उपादान-कारण माने गए हैं। शुष्कगुणक अग्नि, तथा आर्द्र गुणक सोम – इन दोनों का अन्तर्य्यामात्मक-यजन ही विश्वयज्ञ का स्वरूप-निर्म्माता बना हुआ है। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं-मृत्तिकेत्येव-सत्यम्' इत्यादि छान्दोग्य-सिद्धान्तानुसार उपादानकारण ही (जिसे कि वैदिक-परिभाषा में—'आरम्भण' कहा गया* है) स्वकार्य्य की आधारात्मिका धतिलक्षणा 'विधृति' [प्रतिष्ठाभूमि] माना गया है। कार्य्य का उपादानकारण ही कार्य्य के लिए प्रभव, प्रतिष्ठा तथा परायण है। प्रभव-प्रतिष्ठा-परायणात्मक उपादानकारणात्मक अग्नि-सोम-युग्म इसी दृष्टि से 'विधृति' मान लिया गया है अग्नीषोमात्मक कार्य्यरूप विश्व का। अग्नि और सोम के समन्वय-सम्बन्ध से प्रतिष्ठाभिधा यह 'विधृति' क्योंकि द्विपर्वात्मिका है। अतएव एकवचनान्त 'विधृति' शब्द-द्विवचनान्त- 'विधृती' शब्द में परिणत होगया है।

क्या तात्पर्य्य ?। इस तात्पर्य्य के स्पष्टीकरण के लिए हमें उस 'सम्वत्सरचक्र' को ही लक्ष्य बना लेना पड़ेगा जिसमें अग्नि और सोम के ऋतात्मक तथा सत्यात्मक, दोनों स्वरूप अभिव्याप्त हैं। वायव्य-परावत में आसमन्तात् अभिव्याप्त वायव्य-अग्नि, तथा वायव्य-सोम ही 'अहृदयमशरीरं ऋतम्' इस लक्षण के अनुसार 'ऋताग्निसोमयुग्म' है जिस ऋताग्नि-ऋतसोम के वृषा-योषात्मक-दाम्पत्य से ही 'ऋतु' भाव अभिव्यक्त हुआ है एवं जिस ऋतुभाव के अभिप्लवानुगत-परिप्लव-स्तोमों से ही षडृतु किंवा पञ्चऋतु-समष्टि रूप-'सम्वत्सर' की अभिव्यक्ति हुई है। अग्निप्रधान सूर्य्य, एवं सोमप्रधान-चन्द्रमा, ही 'सहृदयं सशरीरं-सत्यम्' इस लक्षण के अनुसार 'सत्याग्निसोमयुग्म' है जिस सत्याग्नि [सूर्य्य] एवं सत्यसोम [चन्द्रमा]। के वृषा-योषात्मक-प्राण-रयि-लक्षण दाम्पत्य से ही यथापूर्व सृष्टिधाराएँ प्रक्रान्त हैं ।X

तदित्थं वायव्य-ऋताग्निसोमत्रयी एवं सूर्य्य-चन्द्रात्मिका सत्याग्निसोम-त्रयी से ही 'सम्वत्सर चक्र' का स्वरूप सम्पन्न हुआ है, जिसके कालात्मक तथा यज्ञात्मक दो विवर्त्त माने गए हैं। अग्नि-सोम-मय यही सम्वत्सर 'यज्ञात्मक सम्वत्सर' है। एवं इन दोनों का योगकालात्मक 'समयवत्त्व' ही—'कालात्मक-सम्वत्सर' है। 'कालो यज्ञं समैरयत्' [अथर्वसं कालसूक्त—१६ अध्याय] के

— –द्वय वा इदं न तृतीयं-अस्ति–शुष्कं चैव, आर्द्रं च। यच्छुष्कं—तदाग्नेयम्। यदार्द्रं—तत्—सौम्यम्।

* –किं स्विदासीदधिष्ठानं—आरम्भणं कतमित्–स्वित् कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्म्मा विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षा ॥
—ऋक्सं १०।८१।२

X—सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥
—ऋक्सं० १।१६।३।

अनुसार कालात्मक सम्वत्सर ही वसोरूप यज्ञात्मक सम्वत्सर का छन्दोरूप–वयोनाधात्मक—'आयतन' है। फलरूप इसी 'संभाव (आकाशायतन) में अन्नरूप सम्वत्सर सुप्रतिष्ठित है। अग्निरूप–सूर्य्य अहःकाल शुक्लपक्ष–षण्मासा उत्तरायण इन अर्चिर्म्मार्गात्मक ज्योतिर्भावों के साक्षी हैं तो चन्द्रमा रात्रिकाल–कृष्णपक्ष–षण्मासा–दक्षिणायन इन धूममार्गात्मक तमोभावों के साक्षी हैं। काल–यज्ञात्मक–सम्वत्सर–चक्ररूप अध्यात्म के सुप्रसिद्ध–दो अरडकपाल ही वैदिक–परिभाषा में सूर्य्यानुगत–ऐन्द्र–मित्रकपाल तथा चन्द्रमानुगत–वारुण–वरुणकपाल नाम से प्रसिद्ध हैं। अर्द्ध–ज्योतिश्चक्रात्मक अर्द्धखगोल ही सौर–ऐन्द्र–मित्रकपाल है जिसे—'पूर्वकपाल' कहा जाता है। एवं अर्द्धखगोल ही–अर्द्ध वारुण वरुणकपाल है जिसे 'पश्चिमकपाल' कहा जाता है।

कपालद्वयात्मक–अरडकपालद्वयात्मक–अग्नीषोमात्मक–सूर्य–चन्द्रमासमन्वित–यज्ञात्मक विश्वमण्डल। सम्वत्सरप्रजापति के आत्मात्मक तथा यज्ञात्मक स्वरूपेतिवृत्त का संक्षिप्ततम स्वरूप–दिग्दर्शन है। इस सम्वत्सरमण्डल का अरडकपाल–सौर–चान्द्र–रश्मियों के तिरश्चीन–भाव से ही अनुप्राणित है जैसाकि–तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत् इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है।* वृत्त का स्वरूप वृत्त की प्रतिबिन्दु की वक्रता–कुटिलता से ही सम्पन्न होता है। इस बिन्दु बिन्दु–प्रतिबिन्दु वक्रता से ही यज्ञात्मक–सम्वत्सरकाल–'कुटिलकाल' कहलाया है जिस की यह प्रतिबिन्दु कुटिलता किंवा वक्रता सौर–चान्द्र–भेदभिन्न–अग्नि–सोमानुबन्धी दो अरडकपालों के अनुबन्ध से स्थूलरूपेण दो भागों में विभक्त हो रही है। अतः–कुटिल–अरडकपाल का साक्षी अग्न्यात्मक सूर्य्य है तो अतः–कुटिल–अरडकपाल का साक्षी सोमात्मक चन्द्रमा है।

ये ही आधिदैविक विश्व–प्रजापति के दो सुप्रसिद्ध चक्षु हैं—'चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ'। सूर्य्यात्मक अतः अरडकपाल ही उस प्रजापति का दक्षिण–चक्षुरनुगत–दक्षिण–कुटिल–भ्रू है एवं चन्द्रात्मक अतः–अरडकपाल ही उसका वाम–चक्षुरनुगत–वाम–कुटिल भ्रू है। सौर–चान्द्र–भावानुबन्धी–अग्नीषोमात्मक–अरडकपालद्वय–समष्टिरूप–सर्व्वथैव–वक्रित कुटिल–दोनों भ्रूव ही अग्नीषोमात्मक विश्व के दो भ्रू हैं जिन के प्रतिरूप ही मानवीय आध्यात्मिक–यज्ञ (शरीर) के दोनों भ्रूव–अभिव्यक्त हुए हैं। दक्षिणभ्रू सौर है तो वामभ्रू चान्द्र है। इनके स्वरूप–निर्म्माण में पावनतम सौर अग्नि तथा पावनतम–'पवित्र नामक ब्राह्मणस्पत्य–सोम ही प्रधान–रहते हैं। अतएव वमन–मरणादि आशौच–प्रसङ्गों में भ्रुवों का निराकरण नहीं किया जाता। अत्र इस प्रसङ्ग से यही निवेदनीय है कि तिरश्चीन भ्रूव ही मानव की स्वरूप–प्रतिष्ठा के आधार हैं। इन के शिथिल होते ही (आंखें बन्द होते ही) सबकुछ समाप्त है जैसे ही अमे कि सौर–चान्द्र–अरडक ।ही के प्रलयकाल में पारमेष्ठ्य–समुद्र में विलीन होते ही पार्थिव विश्व परिसमाप्त हो जायगा।

---

* — तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अव स्तात्प्रयतिः पुरस्तात्॥
—ऋक्सं० १०।१२९।५।

अग्निमय सूर्य्य तथा सोममय चन्द्रमा, दोनों क्रमश द्यौ, तथा पृथिवी के भी संग्राहक-बने हुए हैं। द्यावापृथिवीरूप-सौर-चान्द्र-अग्नि-सोमात्मक-कालचक्र ही कालचक्र के अग्रडकटाहात्मक दोनों अर्द्धों अग्नीषोमात्मक विश्व की मूलप्रतिष्ठा हैं। अतएव अवश्य ही इन्हें विधृती कहा जाना है जिस इस—'विधृता तत्त्व का दिगन्तरालस्वरूप-मीमांसा'-नामक स्वतन्त्र निबन्ध में-'विधृतीश्च पुण्या' * इत्यादि मन्त्रव्याख्यान में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। अर्द्धात्मिका इसी 'विधृती' की प्रतिरूप-सम्पत्ति-प्राप्ति के लिए-यहाँ-कुशात्मिका-'विधृती' स्थापित की जाती है इत्यलमतिविस्तरेण-विधृतितत्त्वस्वरूप-परिचयेन।

विधृती उन दो दर्भतृणों की याज्ञिक सज्ञा है जिन्हें वेदि पर स्थापित किया जाता है। यह वैतयज्ञ पुरुषविध बतलाया गया है। प्रस्तररूप शिखा का स्थापन होगया आहवनीयादिरूप से शिरोभागादि इतर शरीरावयवों का स्थापन होगया। अब भौंहें शेष हैं। इनका स्थापन और अपेक्षित है। इसी उद्देश्य से 'विधृती-स्थापन होता है। पुरुषयज्ञसंस्था में भौंहें वक्र रहती है अत' निदानेन तद्रूप विधृती भी तिर्य्यक् ही रक्खी जाती हैं। यही तिर्य्यगाधान की एक उपपत्ति है। उसी निदानमर्य्यादा के अनुसार प्रस्तर चत्र का प्रतिरूप है, जो इतर नहिं त्रि का प्रतिरूप है। स्वरूपरक्षा के लिए दोनों का नियन्त्रण अपेक्षित है। नियन्त्रण करना मर्य्यादासूत्र का काम है। मर्य्यादासूत्र स्वभावत वक्र है, टेढा है उस में सरलता नहीं है। यह चमा करना नहीं जानता। निदानेन विधृता मर्य्यादासूत्र का ही प्रतिबिम्ब है। अतएव इसे तिर्य्यक् रूप से ही स्थापित किया जाता है। इसी चत्र-विट विवरणकर्म्म में इसे विधृती कहना अन्वर्थ बनता है। विधृती-स्थापन कर्म्म के अनन्तर जो प्रस्तर बिछाया जाता है उस की उपपत्ति स्पष्ट है ॥१ ११॥

अथ—स्रुक्स्थापनकर्म्मोपपत्ति

विधृती के ऊपर प्रस्तर-स्थापन के अनन्तर वह अध्वर्यु प्रस्तर के साथ अपने वामहस्त का सम्बन्ध बनाए हुए आग्नीध्र नामक ऋत्विक के हाथ से क्रमश जुहू उपभृत् ध्रुवा नाम के स्रुक्पात्रों को 'घृताच्यसि०' इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ ले लेकर सेदं प्रियेण धाम्ना०' इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ इन्हें वेदि पर रखता जाता है। यही स्रुक्ग्रहण-स्थापन कर्म्म है। अनन्तर 'ध्रुवा असदन' इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ

---

* कालेयमङ्गिरादेवोऽथर्वा चाधितिष्ठत
इमं च लोकं परमं च लोकं, पुण्यांश्च लोकान्
"विधृतीश्च पुण्या"
सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः ॥
—अथर्वसंहिता १९।५४।५।

अनुसार कालात्मक सम्वत्सर ही यशोरूप यज्ञात्मक सम्वत्सर का छन्दोरूप—वयोनाधात्मक—'आयतन' है। फलरूप इसी 'स्वर्लोक (नाकरूपायतन) में यज्ञरूप सम्वत्सर सुप्रतिष्ठित है। अग्निरूप—सूर्य्य अहः शुक्लपक्ष—षण्मासा उत्तरायण इन अर्चिर्म्मार्गात्मक ज्योतिर्भावों के साक्षी हैं तो चन्द्रमा रात्रिकृष्ण—कृष्णपक्ष—षण्मासा—दक्षिणायन इन धूममार्गात्मक तमोभावों के साक्षी हैं। काल—यज्ञात्मक—सम्वत्सर—चक्ररूप ब्रह्माण्ड के सुप्रसिद्ध—दो अयनकपाल ही वैदिक—परिभाषा में सूर्य्यानुगत—ऐन्द्र—मित्रकपाल, तथा चन्द्रमानुगत—वारुण—वरुणकपाल नाम से प्रसिद्ध हैं। अर्द्ध—ज्योतिष्पथात्मक अर्द्धखगोल ही सौर—ऐन्द्र—मित्रकपाल है जिसे—'पूर्वकपाल' कहा जाता है। एवं अर्द्धखगोल ही—अर्द्ध वारुण—वरुणकपाल है, जिसे 'पश्चिमकपाल' कहा जाता है।

कालद्वयात्मक—अयनकपालद्वयात्मक—अग्नीषोमात्मक—सूर्य्य—चन्द्रमासमन्वित—यज्ञात्मक विश्वमण्डल ही सम्वत्सरप्रजापति के कालात्मक तथा यज्ञात्मक स्वरूपेतिवृत्त का संक्षिप्ततम स्वरूप—दिग्दर्शन है। इस सम्वत्सरमण्डल का मध्यस्थ—सौर—चन्द्र—रश्मियों के तिरश्चीन—भाव से ही अनुप्राणित है जैसाकि—तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामध स्विदासीदुपरि स्विदासीत् इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है।* चतुर्भाव का स्वरूप इस की प्रतिबिन्दु की वक्रता—न्यूनता से ही सम्पन्न होता है। इस बिन्दु बिन्दु—प्रतिबिन्दु वक्रता—से ही यज्ञात्मक—सम्वत्सरचक्र—'कुटिलकाल' कहलाता है जिस की यह प्रकृतिसिद्धा कुटिलता किंवा वक्रता सौर—चान्द्र—भेदभिन्न—अग्नि—सोमा नुबन्धी दो अयनकपालों के अनुबन्ध से स्थूलरूपेण दो भागों में विभक्त होरही है। अर्द्ध—कुटिल—अयनकपाल का साक्षी अग्न्यात्मक सूर्य्य है तो अर्द्ध—कुटिल—अयनकपाल का साक्षी सोमात्मक चन्द्रमा है।

ये ही आधिदैविक विश्व—प्रजापति के दो सुप्रसिद्ध चक्षु हैं—'चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ'। सूर्य्यात्मक अर्द्ध अयनकपाल ही उस प्रजापति का दक्षिण—चक्षुरनुगत—दक्षिण—कुटिल—भ्रू है एवं चन्द्रात्मक अर्द्ध—अयनकपाल ही उसका वाम—चक्षुरनुगत—वाम—कुटिल भ्रू है। सौर—चान्द्र—भावानुबन्धी—अग्नीषोमात्मक—अयनकपालद्वय—समष्टिरूप—सर्व्वथैव—वक्रित कुटिल—दोनों भ्रूव ही अग्नीषोमात्मक विश्व के दो 'भ्रू' हैं जिन के प्रतिरूप ही मानवीय आध्यात्मिक—यज्ञ (शरीर) के दोनों भ्रूव—अभिव्यक्त हुए हैं। दक्षिणभ्रुव सौर है तो वामभ्रुव चान्द्र है। इनके स्वरूप—निर्म्माण में पावनतम सौर अग्नि तथा पावनतम—'पवित्र नामक ब्राह्मणस्पत्य—सोम ही प्रधान—रहते हैं। अतएव जनन—मरणादि आशौच—प्रसङ्गों में भ्रुवों का निराकरण नहीं किया जाता। अब इस प्रसङ्ग से यही निवेदनीय है कि तिरश्चीन भ्रुव ही मानव की स्वरूप—प्रतिष्ठा के आधार हैं। इन के शिथिल होते ही (आँखें बन्द होते ही) सम्पूर्ण समाप्त है वैसे ही जैसे कि सौर—चान्द्र—अयनकपालों के प्रलयकाल में पारमेष्ठ्य—समुद्रमें विलीन होते ही पार्थिव विश्व परिसमाप्त होजायगा।

— तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामध स्विदासीदासी३दुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥
—ऋक्सं० १०।१२९।५।

श्री

अथ—शतपथब्राह्मण—हिन्दी—विज्ञानभाष्ये

सामिधेन्यनुवचनब्राह्मणम्

ब्राह्मणचतुष्टयात्मकम्

स्थापन-क्रमानुसार इन सब का स्पर्श करता है। इस प्रहरण-स्थापन-स्पर्श-कर्म्म की कोई विशेष उपपत्ति नहीं है। मन्त्रशब्दार्थ के सम्बन्ध में जो कुछ विशेष वक्तव्य था वह मूलानुवाद से ही गतार्थ है ॥ १२, १३ १४, १५, १६॥

प्रथमकाण्डान्तर्गत–तृतीय–अध्याय का चतुर्थ ब्राह्मण
एव तृतीय प्रपाठक का प्रथम ब्राह्मण उपरत
परिधिब्राह्मण-अत्र समाप्त
द्विब्राह्मणात्मक-"इध्म परिधि–ब्राह्मण" समाप्त



श्री

अथ-शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये--सामिधेनी-ब्राह्मणम्
ब्राह्मणचतुष्टयात्मकम्

अथ-प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये पञ्चम ब्राह्मणम्
तृतीयप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मणम्
(सामिधेनी-ब्राह्मणानुगतञ्च-प्रथम ब्राह्मणम्)

१

१८—सामिधेन्यनुवचनकर्म्म

(मूल) इन्धे ह वा एतदध्वर्यु रिध्मेनाग्निम्-तस्मादिध्मो नाम। समिन्धे सामिधेनीभिर्होता-तस्मात् सामिधेन्यो नाम ॥ १ ॥

स आह-"अग्नये समिध्यमानायानुब्रू हि" इति। अग्नये ह्येतत् समिध्यमानायान्वाह ॥ २ ॥

तदु हैक आहु-अग्नये समिध्यमानाय होतरनुब्रूहीति। तदु तथा न ब्रूयात्। अहोता वा एष पुरा भवति। यदैनेन प्रवृणीते-अथ होता। तस्माद्ब्रूयात् अग्नये समिध्यमानायानुब्रूही-त्येव ॥ ३ ॥

आग्नेयीरन्वाह। स्वयैवैनमेतद् देवतया समिन्धे। गायत्रीरन्वाह। गायत्रं वा-अग्नेश्छन्द। स्वेनैवैनमेतच्छन्दसा समिन्धे। वीर्यं गायत्री, ब्रह्म गायत्री, वीर्य्यसैवैनमेतत्समिन्धे ॥ ४ ॥

एकादशान्वाह। एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप्। ब्रह्म गायत्री, क्षत्रं त्रिष्टुप्। एताभ्यामेवैनमेतदुभाभ्यां वीर्याभ्यां समिन्धे-तस्मादेकादशान्वाह ॥ ५ ॥

स यावदस्य वश स्यात्-एवमेवानुविवचेत् । तस्यैतस्य परिचक्षा, उत साम्यवान्याद्, अनवानन्ननुविवचँस्तत्कर्म विमृषेत । सा परिचक्षा ॥ १४ ॥

स यद्येतन्नोदाशसेत-अप्येकैकामेवानावानन्ननुब्र यात् । तदेकैकयैवेमाँल्लोकान् सन्तनोति । एकैकयेमाँल्लोकान् स्पृणुते । अथ यत्प्राणं दधाति-गायत्री वै प्राण, स यद् कृत्स्नां गायत्रीमन्वाह-तत् कृत्स्न प्राणं दधाति । तस्मादेकैकामेवानवानन्न-नुब्र यात् ॥ १५ ॥

ता वै सन्तता अव्यवच्छिन्ना अन्वाह । संवत्सरस्यैवैतदहोरात्राणि सन्तनोति । तानीमानि सम्वत्सरस्याहोरात्राणि सन्ततान्यव्यवच्छिन्नानि परिप्लवन्त । द्विषत उ चैवैतद् भ्रातृव्याय नोपस्थान करोति । उपस्थान ह कुर्याद्-यदसन्तता अनुब्र यात् । तस्माद् सन्तता अव्यवच्छिन्ना अन्वाह ॥ १६ ॥

इति-प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये पञ्चम ब्राह्मणम्
तृतीयप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मणम्
[सामिधेनी-ब्राह्मणानुगतञ्च-प्रथम ब्राह्मणम्]

१

———

तृतीयोऽध्यायश्चात्र समाप्त,

३



स वै त्रि प्रथमामन्वाह, त्रिरुत्तमाम् । त्रिवृत्प्रायणा हि यज्ञा., त्रिवृदुदयनाः तस्मात्–त्रि प्रथमामन्वाह, त्रिरुत्तमाम् ॥ ६ ॥

ताः पञ्चदश सामिधेन्य सम्पद्यन्ते । पञ्चदशो वै वज्र , वीर्यं वज्र , वीर्यमेवैतत्सामिधेनीरभिसंपादयति । तस्मादेतास्वनूच्यमानासु य द्विष्यात् तमङ्गुष्ठाभ्यामवबाधेत- ''इदमहममुमवबाधे'' इति । तदेनमेतेन वज्रेणावबाधते ॥ ७ ॥

पञ्चदश वा अर्धमासस्य रात्रयः । अर्द्धमासशो वै संवत्सरो भवमेति, तद्रात्रीराप्नोति ॥ ८ ॥

पञ्चदशानाम् वै गायत्रीणां त्रीणि च शतानि षष्टिश्चाक्षराणि । त्रीणि च वै शतानि षष्टिश्च सवत्सरस्याहानि । तदहान्याप्नोति, तद्धेव सवत्सरमाप्नोति ॥ ६ ॥

सप्तदश सामिधेनीरिष्टया अनुब्रूयात् । उपांशु तस्यै देवतायै यजति यस्या इष्टिं निर्वपति । द्वादश वै मासा सवत्सरस्य, पञ्चर्तवः । एष एव प्रजापति सप्तदश । सर्वं वै प्रजापति । तत्सर्वेणैव त काममनपराध राध्नोति यस्मै कामायेष्टिं निर्वपति । उपांशु देवतां यजति । अनिरुक्त वा उपांशु । सर्व वा अनिरुक्तम् । तत्सर्वेणैव त काममनपराध राध्नोति–यस्मै कामायेष्टिं निर्वपति । एष इष्टेरुपचार ॥ १० ॥

एकविंशतिं सामिधेनीरपि दर्शपूर्णमासयोरनुब्रूयादित्याहु । द्वदश वै मासा सवत्सरस्य, पञ्चर्तव, त्रयो लोकाः–तद्विंशतिः । एष एवैकविंशो य एष तपति । सैषा गतिः, एषा प्रतिष्ठा । तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति । तस्मादेकविंशतिमनुब्रूयात् ॥ ११ ॥

ता हैता गतश्रेरेवानुब्रूयात् । य इच्छेत श्रेयान् स्यामि पापीयानिति । यादृशाय हैव स तऽन्वाहः–तादृक् वा हैव भवति, पापीयान्वा–यस्यैनं विदुष एता अन्वाहुः । सो एषा मीमांसैव, नत्वर्णेवा अनूच्यन्त ॥ १२ ॥

त्रिरेव प्रथमां त्रिरुत्तमामनवानन्नुब्रूयात् । त्रयो वा इमे लोका., तदिमानेवैतल्लोकान् सन्तनोति, इमान् लोकान् स्पृणुते । त्रय इमे पुरुष प्राणाः । एतमेवास्मिन्नेतत्सततमव्यवच्छिन्न दधाति । एतदनुवचनम् ॥ १३ ॥

यद्वेति च प्रेति चान्वाह प्रेति वै प्राण एत्युदान , प्राणोदानावेवैतद्दधाति। तस्माद्वा एति च प्रेति चान्वाह ॥ ५ ॥

यद्वेति च प्रेति चान्वाह । प्रेति वै रेत सिच्यते, एति प्रजायते । प्रेति पशवो वितिष्ठन्ते, एति समावर्तन्ते । सर्व वा इदमेति च प्रेति च । तस्माद्वा एति च प्रेति चान्वाह ॥ ६ ॥

सोऽन्वाह–'प्र वो वाजा अभिद्यव' इति । तत्प्रेति भवति । 'अग्न आयाहि वीतय' इति । तद्वेति भवति ॥ ७ ॥

तदु हैक आहु –उभयं वा एतत् प्रेति सपयत इति। तदु तदाविविज्ञान्यमिव । 'प्र वो वाजा अभिद्यव' इति-तत्प्रेति । 'अग्न आयाहि वीतय' इति तद्वेति ॥ ८ ॥

सोऽन्वाह–'प्र वो वाजा अभिद्यव' इति-तत्प्रेति भवति । वाजा इति । अन्नं वै वाजा , अन्नमेवैतदभ्यनूक्तम् । हविष्मन्त इति । पशवो वै हविष्मन्त , पशूनेवैत-दभ्यनूक्तम् ॥ ९ ॥

घृताच्या इति । विदेघो ह माथवोऽग्निं वैश्वानर मुखे बभार । तस्य गोतमो राहूगण ऋषि पुरोहित आस । तस्मै ह स्मामन्त्र्यमाणो न प्रतिशृणोति-नेन्मेऽग्निर्वै-श्वानरो मुखान्निष्पद्याता इति ॥ १० ॥

तमृग्भिर्ह्वयितु दध्रे–'वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्त समिधीमहि । अग्ने बृहन्त-मध्वरे–विदेघ' इति ॥ ११ ॥

स न प्रतिशुश्राव । 'उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते । तव ज्योतींष्यर्चयो–विदेघा३ इति ॥ १२ ॥

स ह नैव प्रतिशुश्राव । 'तन्त्वा घृतस्नवीमहे इत्येवाभिव्याहरत्–अथास्य घृत कीर्त्तावेवाग्निर्वैश्वानरो मुखादुज्जज्वाल । तं न शशाक धारयितुम् । सोऽस्य मुखान्नि-ष्पदे । स इमां पृथिवीं प्रापाद ॥ १३ ॥

तर्हि विदेघो माथव आस सरस्वत्याम् । स तत एव प्राङ् दहन्नभीयायेमां पृथि-वीम् । तं गोतमश्च राहूगणो विदेघश्च माथव पश्चाद्दहन्तमन्वीयतु । स इमा सर्वा

श्री

अथ–शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्ये
चतुर्थोऽध्याय
४

अथ–प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये प्रथम ब्राह्मणम्
तृतीयप्रपाठके च तृतीय ब्राह्मणम्
[सामिधेनी–ब्राह्मणानुगतश्च द्वितीय ब्राह्मणम्]
१

हिङ्कृत्यान्वाह । नासामा यज्ञोऽस्तीति वा आहु । न वा अहिङ्कृत्य साम गीयते । स यद्धिङ्करोति, तद्धिङ्कारस्य रूपं क्रियते । प्रणवनैव साम्नो रूपमुपगच्छति ओ ३ म् ओ ३ म् इति । एतेनो हास्यैव सर्वं एव ससामा यज्ञो भवति ॥ १ ॥

यद्वेव हिङ्करोति । प्राणो वै हिङ्कार । प्राणो हि वै हिङ्कार, तस्माद्–अपिगृह्य नासिके न हिङ्कर्तुं शक्नोति । वाचा वा ऋचमन्वाह । वाक् च वै प्राणश्च मिथुनम् । तदेतत्पुरस्तान्मिथुन प्रजननं क्रियते सामिधेनीनाम् । तस्माद्वै हिङ्कृत्यान्वाह ॥ २ ॥

स वा उपांशु हिङ्करोति । अथ यदुच्चैर्हिङ्कुर्यात्, अन्यतरदेव कुर्यात्, वाचमेव । तस्मादुपांशु हिङ्करोति ॥ ३ ॥

स वा एति च प्रेति चान्वाह । गायत्रीमचैतदवाची च पराची च पुनक्ति । पराच्यह देवेभ्यो यज्ञं वहति अवाची मनुष्यानवति । तस्माद्वा एति च प्रेति चान्वाह ॥ ४ ॥

'गृणानो हव्यदातये' इति । यजमानो वै हव्यदाति । गृणानो यजमानायेत्य् एवैतदाह । 'नि होता सत्सि बर्हिषि' इति । अग्निर्वै होता, अयं लोको बर्हिः । अस्मिन्नेवैतल्लोकेऽग्निं दधाति । सोऽयमस्मिंल्लोकेऽग्निर्हितः । सैषममेव लोकमभ्यनूक्ता, इममेवैतया लोकं जयति-यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥ २४ ॥

'तं त्वा समिद्भिरङ्गिरः' इति । समिद्भिर्ह्येतमङ्गिरस ऐन्धत । अङ्गिर इति । अङ्गिरा उ ह्यग्निः । 'घृतेन वर्द्धयामसीति' । तत्सामिधनं पदम् । समर्धेन तेनेन्धे, वार्यमेवास्मिन्दधाति ॥ २५ ॥

'बृहच्छोचा यविष्ठ्य' इति । बृहद्धि ह्येष शोचति समिद्धः । यविष्ठ्येति-यविष्ठो ह्यग्निः । तस्मादाह-यविष्ठ्येति । सैषा एतमेव लोकमभ्यनूक्ता-अन्तरिक्षलोकमेव । तस्मादाग्नेयी सत्यनिरुक्ता । अनिरुक्तो ह्येष लोकः । एतमेवैतया लोकं जयति-यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥२६॥

"स नः पृथु श्रवाय्यम्" इति । अदो वै पृथु-यस्मिन् देवाः । एतत् श्रवाय्यम्-यस्मिन् देवाः । 'अच्छा देव विवाससि' इति । अच्छ देव विवासमि-एतस्मै गमय-इत्येवैतदाह ॥ २७ ॥

'बृहदग्ने सुवीर्यम्' इति । अदो वै बृहद्-यस्मिन् देवाः, एतत् सुवीर्यम्-यस्मिन् देवाः । सैषा एतमेव लोकमभ्यनूक्ता-दिवमेव । एतमेवैतया लोकं जयति-यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥ २८ ॥

सोऽन्वाह 'ईडेन्यो नमस्यः'-इति । ईडन्यो ह्येष, नमस्यो ह्येष । 'तिरस्तमांसि दर्शतः' इति । तिर इव ह्येष तमांसि समिद्धो ददृशे । 'समग्निरिध्यते वृषा' इति । स हीध्यते वृषा । 'वृषा अग्निः समिध्यते'—इति स हीध्यते ॥ २९ ॥

अश्वो न देववाहनः'—इति अश्वो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति । यद्वै नेति अथेति—ओमिति तत् । तस्मादाह-'अश्वो न देववाहनः' इति ॥ ३० ॥

त हविष्मन्त ईडते' —इति । हविष्मन्तो ह्येनं मनुष्या ईडते । तस्मादाह--'तं हविष्मन्त ईडते' इति ॥ ३१ ॥

नदीरभिददाह । सदानीरेत्युत्तराद् गिरेर्निर्धावति, तां हैव नातिददाह । तां ह स्म तां पुरा ब्राह्मणा न तरन्ति, अनतिदग्धाऽग्निना वैश्वानरेणेति ॥ १४ ॥

तत एतर्हि प्राचीन बहवो ब्राह्मणा । तद्धाक्षेत्रतरमिवास, स्राविततरमिवास्वदित-मग्निना वैश्वानरेणेति ॥ १५ ॥

तदु हैतर्हि क्षेत्रतरमिव । ब्राह्मणा उ हि नूनमेनद्यज्ञैरसिष्वदन् । सापि, जघन्ये नैदाघ समिवैव कोपयति तावत्, शीताऽनतिदग्धा ह्यग्निना वैश्वानरेण ॥ १६ ॥

स होवाच विदेघो माथव –क्वाहं भवानीति । अत एव ते प्राचीनं भुवनमिति होवाच । सैषाप्येतर्हि कोसलविदेहानां मर्यादा । त हि माथवाः ॥ १७ ॥

अथ हो वाच । गोतमो राहूगणः –कथम् न आमन्त्र्यमाणो न प्रत्यश्रौषीरिति । स होवाचअग्निर्मे वैश्वानरो मुखेऽभूत्, स नेन्मे मुखान्निष्पद्याते, तस्मात्ते न प्रत्य-श्रौषमिति ॥ १८ ॥

तदु कथमभूदिति । यत्रैव त्वं 'घृतस्नवीमहे' इत्यभिव्याहार्षीः, तदेव मे घृतकी-र्तावग्निर्वैश्वानरो मुखादुदज्वालीत्, तन्नाशकं धारयितुम, स मे मुखान्निरपा-दीति ॥ १९ ॥

स यत्सामिधेनीषु घृतवत्–सामिधेन्यमेव, तत् । समेवैनं तेनेन्ध, वीर्यमेवास्मिन् दधाति ॥ २० ॥

तदु घृतच्येति । 'देवान्–जिगाती सुम्नयु'–इति । यजमानो वै सुम्नयुः, स हि देवाञ् जिगीषति, स हि देवान् जिघांसति । तस्मादाह–देवान्, जिगाति सुम्नयुरिति । सैषाग्नेयी, सत्यनिरुक्ता । सर्वं वा अनिरुक्तम्, सर्वेणैवैतत्प्रतिपद्यते ॥ २१ ॥

अग्न आयाहि वीतये'–इति । उद्देति भवति । वीतय इति–समन्तिकमिव ह वा इमऽग्रे लोका आसुः, इत्युन्मृश्या हैव द्यौरास ॥ २२ ॥

ते देवा अकामयन्त–कथन्नु न इमे लोका वितरां स्युः, कथन्नु इदं वरीय इव स्यादिति । तानेतेन त्रिभिरक्षरैर्व्यनयन्–वीतय इति । त इमे वितरां लोकाः, तथा देवेभ्यो वरीयोऽभवत् । वरीयो ह वा अस्मै भवति–यस्यैवं विदुष एतामन्वा-हुर्वीतय इति ॥ २३ ॥

'गृणानो हव्यदातये' इति । यजमानो वै हव्यदाति । गृणानो यजमानायेत्ये वैतदाह । 'नि होता सत्सि बर्हिषि' इति। अग्निर्वै होता, अय लोको बर्हि । अस्मिन्नेवैतल्लोकेऽग्नि दधाति । सोऽयमस्मिन्लोकेऽग्निर्हित । सैषेममेव लोकमभ्यनूक्ता, इममेवैतया लोकं जयति–यस्यैवं विदुष एतामन्वाहु ॥ २४ ॥

'तत्वा समिद्भिरङ्गिर' इति । समिद्भिर्ह्येतमङ्गिरस ऐन्धत । अङ्गिर इति । अङ्गिरा उ ह्यग्नि । 'घृतेन वर्द्धयामसीति' । तत्सामिधेन पदम् । समेवैन तेनेन्धे, वार्यमेवास्मिन्दधाति ॥ २५ ॥

'बृहच्छोचा यविष्ठ्य' इति । बृहद्धि ह्येष शोचति समिद्ध । यविष्ठ्येति–यविष्ठो ह्यग्नि । तस्मादाह–यविष्ठ्येति । सपा एतमन्त लोकमभ्यनूक्ता–अन्तरिक्षलोकमेव । तस्मादाग्नेयी सत्यनिरुक्ता । अनिरुक्तो ह्येष लोक । एतमेवैतया लोकं जयति–यस्यैव विदुष एतामन्वाहु ॥२६॥

"स न पृथु श्रवाय्यम्" इति । असौ वै पृथु–यस्मिन् देवा । एतत् श्रवाय्यम्–यस्मिन् देवा । 'अच्छा देव विवाससि' इति । अच्छ देव विवासमि–एतमा गमय–इत्येवैतदाह ॥ २७ ॥

'बृहदग्ने सुवीर्यम्' इति । असौ वै बृहद्–यस्मिन् देवा, एतत् सुवीर्यम्–यस्मिन् देवा । सैषा एतमेव लोकमभ्यनूक्ता–दिवमेव । एतमेवैतया लोकं जयति–यस्यैव विदुष एतामन्वाहु ॥ २८ ॥

सोऽन्वाह 'ईडेन्या नमस्य'-इति । ईडन्यो ह्येष, नमस्यो ह्येष । 'तिरस्तमांसि दर्शत' इति । तिर इव ह्येष तमासि समिद्धो ददृशे । 'समग्निरिध्यते वृषा' इति । स दीप्यते वृषा । 'वृषा अग्नि समिध्यते'—इति स दीप्यते ॥ २९ ॥

अश्वो न देववाहन'—इति अश्वो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति । यद्वै नेति अपि—ओमिति तद् । तस्मादाह–'अश्वो न देववाहन' इति ॥ ३० ॥

'त हविष्मन्त ईडते' —इति । हविष्मन्तो ह्येत मनुष्या ईडते । तस्मादाह–'त हविष्मन्त ईडत' इति ॥ ३१ ॥

नदीरतिददाह। सदानीरेत्युत्तराद् गिरेर्निर्घावति, तां हैव नातिददाह। तां ह स्म तां पुरा ब्राह्मणा न तरन्ति, अनतिदग्धाऽग्निना वैश्वानरेणेति ॥ १४ ॥

तत् एतर्हि प्राचीन बहवो ब्राह्मणा । तद्धाक्षेत्रतरमिवास, स्राविततरमिवास्वदित-मग्निना वैश्वानरेणेति ॥ १५ ॥

तदु हैतर्हि क्षेत्रतरमिव । ब्राह्मणा उ हि नूनमेनद्यज्ञैरसिष्वदन् । सापि, जघन्ये नैदाघ समिवैव कोपयति तावत्, शीताऽनतिदग्धा ह्यग्निना वैश्वानरेण ॥ १६ ॥

स होवाच विदेघो माथव -क्वाहं भवानीति। अत एव ते प्राचीन भुवनमिति होवाच । सैषाप्येतर्हि कोसलविदेहानां मर्यादा । ते हि माथवाः ॥ १७ ॥

अथ हो-वाच । गोतमो राहूगणः-कथम् न आमन्त्र्यमाणो न प्रत्यश्रौषीरिति । स होवाचअग्निर्मे वैश्वानरो मुखेऽभूत्, स नेन्मे मुखान्निष्पद्याते, तस्मात्ते न प्रत्य-श्रौषमिति ॥ १८ ॥

तदु कथमभूदिति । यत्रैव त्वं 'घृतस्नवीमहे' इत्यभिव्याहार्षीः, तदेव मे घृतकी-र्त्तावग्निर्वैश्वानरो मुखादुदज्वालीत् तन्नाशकं धारयितुम्, स मे मुखान्निरपा-दीति ॥ १९ ॥

स यत्सामिधेनीषु-घृतवत्-सामिधेनमेव, तत् । समेवैनं तेनेन्धे, वीर्यमेवास्मिन् दधाति ॥ २० ॥

तदु घृताच्येति । 'देवान्, जिगाती सुम्नयु'-इति । यजमानो वै सुम्नयुः, स हि देवान् जिगीषति, स हि देवान् जिघांसति। तस्मादाह-देवान् जिगाति सुम्नयुरिति । सापाग्नेयी सत्यनिरुक्ता । सर्वं वा अनिरुक्तम्, सर्वेणैवैतत्प्रतिपद्यते ॥ २१ ॥

'अग्न आयाहि वीतये'-इति । तद्वेति भवति । वीतय इति-समन्विकमिव ह वा इमऽअग्रे लोका आसुः, इत्युन्मृश्या हैव द्यौरास ॥ २२ ॥

ते देवा अकामयन्त-कथन्नु न इमे लोका विततरां स्युः, कथन्नु इदं वरीय इव स्यादिति । तानतरव त्रिभिरक्षरैर्व्यनयन्-वीतय इति । त इमे वितरां लोकाः, ततो देवेभ्यो वरीयोऽभवत् । वरीयो ह वा अस्मै भवति-यस्यैवं विदुष एतामन्वा-हुर्वीतय इति ॥ २३ ॥

'गृणाना हव्यदातये' इति । यजमानो वै हव्यदाति । गृणानो यजमानायेत्येतदाह । 'नि होता सत्सि बर्हिषि' इति। अग्निर्वै होता, अयं लोको बर्हिः । अस्मिन्नेवैतल्लोकेऽग्निं दधाति । सोऽयमस्मिंल्लोकेऽग्निर्हितः । सैषममेव लोकमभ्यनूक्ता, इममेवैतया लोकं जयति-यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥ २४ ॥

'तत्त्वा समिद्भिरङ्गिरः' इति । समिद्भिर्ह्येतमङ्गिरस ऐन्धत । अङ्गिर इति । अङ्गिरा उ ह्यग्निः । 'घृतेन वर्द्धयामसीति' । तत्सामिधेनं पदम् । समेवैनं तेनेन्धे, वीर्यमेवास्मिन्दधाति ॥ २५ ॥

'बृहच्छोचा यविष्ठ्य' इति । बृहद्ध्येष शोचति समिद्धः । यविष्ठ्येति-यविष्ठो ह्यग्निः । तस्मादाह-यविष्ठ्येति । सैषा एतमेव लोकमभ्यनूक्ता-अन्तरिक्षलोकमेव । तस्मादाग्नेयी सत्यनिरुक्ता । अनिरुक्तो ह्येष लोकः । एतमेवैतया लोकं जयति-यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥२६॥

"स नः पृथु श्रवाय्यम्" इति । अदो वै पृथु-यस्मिन् देवाः । एतत् श्रवाय्यम्-यस्मिन् देवाः । 'अच्छा देव विवाससि' इति । अच्छ देव विवाससि-एतस्मै गमय-इत्येवैतदाह ॥ २७ ॥

'बृहदग्ने सुवीर्यम्' इति । अदो वै बृहद्-यस्मिन् देवाः, एतत् सुवीर्यम्-यस्मिन् देवाः । सैषा एतमेव लोकमभ्यनूक्ता-दिवमेव । एतमेवैतया लोकं जयति-यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥ २८ ॥

सोऽन्वाह 'ईडेन्यो नमस्यः' इति । ईडेन्यो ह्येष, नमस्यो ह्येष । 'तिरस्तमांसि दर्शत' इति । तिर इव ह्येष तमांसि समिद्धो ददृशे । 'समग्निरिध्यते वृषा' इति । सं हीध्यते वृषा । 'वृषा अग्निः समिध्यते'—इति स हीध्यते ॥ २९ ॥

'अश्वो न देववाहन'—इति अश्वो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति । यद्वै नेति अपि—ओमिति तत् । तस्मादाह-'अश्वो न देववाहन' इति ॥ ३० ॥

'तं हविष्मन्त ईडते'—इति । हविष्मन्तो ह्येतं मनुष्या ईडते । तस्मादाह-'तं हविष्मन्त ईडते' इति ॥ ३१ ॥

नदीरतिददाह। सदानीरेत्युत्तरात् गिरेर्निर्धावति, तां हैव नातिददाह। तां ह स्म तां पुरा ब्राह्मणा न तरन्ति, अनतिदग्धाऽग्निना वैश्वानरेणेति ॥ १४ ॥

तत् एतर्हि प्राचीन बहवो ब्राह्मणा। तदाक्षेत्रतरमिवास, स्रावितरमिवास्वदित-मग्निना वैश्वानरेणेति ॥ १५ ॥

तदु हैतर्हि क्षेत्रतरमिव। ब्राह्मणा उ हि नूनमेनद्यज्ञैरसिष्वदन्। सापि, जघन्ये नैदाघे समिवैव कोपयति तावत्, शीताऽनतिदग्धा ह्यग्निना वैश्वानरेण ॥ १६ ॥

स होवाच विदेघो माथव –क्वाहं भवानीति। अत एव, ते प्राचीनं भुवनमिति होवाच। सैषाप्येतर्हि कोसलविदेहानां मर्यादा। ते हि माथवाः ॥ १७ ॥

अथ हो वाच। गोतमो राहूगण –कथम् न आमन्त्र्यमाणो न प्रत्यश्रौषीरिति। स होवाच अग्निर्मे वैश्वानरो मुखेऽभूत्, स नेन्मे मुखान्निष्पद्याते, तस्मात्ते न प्रत्य-श्रौषमिति ॥ १८ ॥

तदु कथमभूदिति। यत्रैव त्वं 'घृतस्नवीमहे' इत्यभिव्याहार्षीः, तदेव मे घृतकी-र्त्तावग्निर्वैश्वानरो मुखादुदज्वालीत् तन्नाशकं धारयितुम, स मे मुखान्निरपा-दीति ॥ १९ ॥

स यत्सामिधेनीषु घृतवत्–सामिधेन्यमेव–तत्। समेवैनं तेनेन्ध, वीर्यमेवास्मिन् दधाति ॥ २० ॥

तदु घृताच्येति। 'देवान्–, जिगाती सुम्नयु'–इति। यजमानो वै सुम्नयुः, स हि देवान् जिगीषति, स हि देवान् जिघांसति। तस्मादाह–देवान्, जिगाति सुम्नयुरिति। साग्नेयी सत्यनिरुक्ता। सर्वं वा अनिरुक्तम्, सर्वेणैवैतत्प्रतिपद्यते ॥ २१ ॥

'अग्न आयाहि वीतये'–इति। वद्धे ति भवति। वीतय इति–समन्विकमिव ह वा इमऽग्रे लोका, आसु–, इत्युन्मृश्या हैव पाराग ॥ २२ ॥

ते देवा अकामयन्त–कथन्नु न इमे लोका वितरां स्युः, कथन्नु इदं वरीय इव स्यादिति। तानेतरव त्रिभिरक्षरैर्व्यनयन्–वीतय इति। त इमे वितरं लोकाः, वरो देवेभ्यो वरीयोऽभवत्। वरीयो ह वा अस्मै भवति–यस्यैवं विद्रा एतामन्वा-ह्वीतय इति ॥ २३ ॥

'गृणानो हव्यदातये' इति । यजमानो वै हव्यदाति । गृणानो यजमानायेत्य वैतदाह । 'नि होता सत्सि बर्हिषि' इति। अग्निर्वै होता, अय लोको बर्हि । अस्मि-न्नेवैतल्लोकेऽग्नि दधाति । सोऽयमस्मिँल्लोकेऽग्निर्हित । सेयममेव लोकमभ्यनूक्ता, इममेवैतया लोकं जयति-यस्यैवं विदुष एतामन्वाहु ॥ २४ ॥

'तत्वा समिद्भिरङ्गिर' इति । समिद्भिर्ह्येतमङ्गिरस ऐ धत । अङ्गिर इति । अङ्गिरा उ ह्यग्नि । 'घृतेन वर्द्धयामसीति' । तत्सामिधेन पदम् । समेनैन तेनेन्धे, घार्यमेवास्मिन्दधाति ॥ २५ ॥

'बृहच्छोचा यविष्ठ्य' इति । बृहदु ह्येष शोचति समिद्ध । यविष्ठ्येति-यविष्ठो ह्यग्नि । तस्मादाह-यविष्ठ्येति । सषा एतमत्र लोकमभ्यनूक्ता-अन्तरिक्षलोकमेव । तस्मादाऽनयो सत्यनिरुक्ता । अनिरुक्तो ह्येष लोक । एतमेवैतया लोकं जयति-यस्यैव विदुष एतामन्वाहु ॥२६॥

"स न पृथु श्रवाय्यम्" इति । असौ वै पृथु-यस्मिन देवा । एतत् श्रवाय्यम्-यस्मिन् देवा । 'अच्छा देव विवासमि' इति । अच्छ दव विवासमि-एतमा गमय-इत्यवैतदाह ॥ २७ ॥

'बृहदग्ने सुवीर्यम्' इति । असौ वै बृहद्-यस्मिन् देवा, एतत् सुवीर्यम्-यस्मिन् देवा । सैषा एतमत्र लोकमभ्यनूक्ता-दिवमेव । एतमवैतया लोकं जयति-यस्यैव विदुष एतामन्वाहु ॥ २८ ॥

सोऽन्वाह 'ईळेन्या नमस्य' इति । ईडन्यो ह्येष, नमस्यो ह्येष । 'तिरस्तमासि दर्शत ' इति । तिर इव ह्येष तमासि समिद्धो ददृशे । 'समग्निरिध्यते वृषा' इति । स दीप्यत वृषा । 'वृषा अग्नि समिध्यते'—इति स दीप्यत ॥ २९ ॥

'अश्वो न देववाहन '—इति अश्वो ह वा एष भूत्वा देवभ्यो यज्ञं वहति । यद् नति अर्चि—आमिति तद् । तस्मादाह-'अश्वो न देववाहन' इति ॥ ३० ॥

'त हविष्मन्त ईडत' —इति । हविष्मन्तो ह्येत मनुष्या ईडते । तस्मादाह-'त हविष्मन्त इडत' इति ॥ ३१ ॥

नदीरभिददाह। सदानीरेत्युत्तराद् गिरेर्निर्धावति, ता ब्राह्मणा न तरन्ति, अनतिदग्धाऽग्निना वैश्वानरेणेति ॥

तत् एतर्हि प्राचीन बहवो ब्राह्मणा । तदाक्षेत्रतर मग्निना वैश्वानरेणेति ॥ १५ ॥

तदु हैतर्हि क्षेत्रतरमिव । ब्राह्मणा उ हि नूलमेनद्यज्ञैरा समिणैव कोपयति तावत्, शीताऽनतिदग्धा ह्यग्निना वैश्वान

स होवाच विदेघो माथव —क्वाहं भवानीति । अत एव होवाच । सैषाप्यतर्हि कोसलविदेहानां मर्यादा । ते हि माथवाः ।

अथ होवाच । गोतमो राहूगण —कथम् न आमन्त्र्यमाण स होवाचअग्निर्मे वैश्वानरो मुखेऽभूत्, स नेमे मुखान्निष्पद्याते, ओपमिति ॥ १८ ॥

तदु कथमभूदिति । यत्रैव त्वं 'घृतस्नवीमहे' इत्यभिव्याहार्षीः, सोऽग्निर्वैश्वानरो मुखादुदज्वालीत्, तन्नाशकं धारयितुम, स म दीति ॥ १९ ॥

स यत्सामिधेनीषु घृतवत्—सामिधेनमेव तद् । समेवैन । तेनेन्ध, दधाति ॥ २० ॥

तदु घृताच्येति । 'देवाञ्-जिगाती सुम्नयु'-इति । यजमानो वै सुम्न देवाञ् जिगीषति, स हि देवान् जिघांसति । तस्मादाह-दक्षान् जिगाति सुम्नयुः सैषाग्नेयी, सत्यनिरुक्ता । सर्वं वा अनिरुक्तम् । सर्वेणैतत्प्रतिपद्यते ॥ २१ ॥

'अग्न आयाहि वीतये'-इति । तद्वेति भवति । वीतय इति-समन्तिकमिव इमऽ्अो लोका आसु-, इत्यनुमृश्या हैव यौरास ॥ २२ ॥

ते देवा अकामयन्त-कथन्नु न इमे लोका वितरां स्युः, कथन्नु इदं वरीय इव स्यादिति । तानतरव त्रिभिरक्षरैव्यनयन्-वीतय इति । त इमे वितरां लोकाः, ततो देवेभ्यो वरीयोऽभवत् । वरीयो ह वा अस्मै भवति-यस्मैवं विद्वा एतामन्वा-हुवीतय इति ॥ २३ ॥

'गृणाना हव्यदातये' इति । यजमानो वै हव्यदाति । गृणानो यजमानायेत्येवैतदाह । 'नि होता सत्सि बर्हिषि' इति । अग्निर्वै होता, अयं लोको बर्हिः । अस्मिन्नेवैतल्लोकेऽग्निं दधाति । सोऽयमस्मिँल्लोकेऽग्निर्हितः । सैषममेव लोकमभ्यनूक्ता, इममवैतया लोकं जयति-यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥ २४ ॥

'तत्वा समिद्भिरङ्गिर' इति । समिद्भिर्ह्येतमङ्गिरस ऐन्धत । अङ्गिर इति । अङ्गिरा उ ह्यग्निः । 'घृतेन वर्द्धयामसीति' । तत्सामिधेन पदम् । समर्धेन तेनेन्धे, वार्यमेवास्मिन्दधाति ॥ २५ ॥

'बृहच्छोचा यविष्ठ्य' इति । बृहद्ध्येष शोचति समिद्धः । यविष्ठ्येति-यविष्ठो ह्यग्निः । तस्मादाह-यविष्ठ्येति । सैषा एतमन्त लोकमभ्यनूक्ता-अन्तरिक्षलोकमेव । तस्मादाग्नेयी सत्यनिरुक्ता । अनिरुक्तो ह्येष लोकः । एतमवैतया लोकं जयति-यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥२६॥

"स नः पृथु श्रवाय्यम्" इति । असौ वै पृथु-यस्मिन् देवाः । एतत् श्रवाय्यम्-यस्मिन् देवाः । 'अच्छा देव विवाससि' इति । अच्छ देव विवाससि-एतमा गमय-इत्येवैतदाह ॥ २७ ॥

'बृहदग्ने सुवीर्यम्' इति । असौ वै बृहत्-यस्मिन् देवाः, एतत् सुवीर्यम्-यस्मिन् देवाः । सैषा एतमेव लोकमभ्यनूक्ता-दिवमेव । एतमवैतया लोकं जयति-यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥ २८ ॥

सोऽन्वाह 'ईडेन्या नमस्यः' इति । ईडन्यो ह्येष, नमस्यो ह्येष । 'तिरस्तमांसि दर्शत' इति । तिर इव ह्येष तमांसि समिद्धो ददृशे । 'समग्निरिध्यते वृषा' इति । स हीध्यते वृषा । 'वृषा अग्निः समिध्यते'—इति स हीध्यते ॥ २९ ॥

'अश्वो न देववाहन'—इति अश्वो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति । यद्वै नेति अचि—ओमिति तत् । तस्मादाह-'अश्वो न देववाहन' इति ॥ ३० ॥

'तं हविष्मन्त ईडत'—इति । हविष्मन्तो ह्येतं मनुष्या ईडते । तस्मादाह-'तं हविष्मन्त ईडत' इति ॥ ३१ ॥

'वृषण्वं त्वा वयं वृषन् वृष(पा)णः समिधीमहि' इति । स ह्येनमिन्धते ।
'अग्ने दीद्यतं बृहद्' इति । दीदयेव ह्येष बृहत् समिद्धः ॥ ३२ ॥

त वा एतं वृषण्वन्तं त्रिषमन्वाह—आग्नेय्यो वा एता सर्वाः सामिधेन्यो भवन्ति । इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता, इन्द्रो वृषा । एतेन उ ह अस्यैता सेन्द्रा सामिधेन्यो भवन्ति । तस्माद् वृषण्वन्तं त्रिषमन्वाह ॥ ३३ ॥

सोऽन्वाह—'अग्निं दूतं वृणीमहे' इति । देवाश्च वा असुराश्च-उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे । तान् स्पर्द्धमानान् गायत्र्यन्तरा तस्थौ । या वै सा गायत्र्यासीद्-इयं वै सा पृथिवी । इयं हैव तदन्तरा तस्थौ । त उभय एव विदाञ्चक्रुः—'यतरान् वै न इयमुपावर्त्स्यति, ते भविष्यन्ति, परेतरे भविष्यन्ति' इति । तामुभय एवोपमन्त्रयाञ्चक्रिरे । अग्निरेव देवानां दूत आस, सहरक्षा इत्यसुररक्षसमसुराणाम् । साग्निमेवानुप्रेयाय । तस्मादन्वाह 'अग्निं दूतं वृणीमहे' इति । स हि देवानां दूत आसीत् । 'होतारं विश्ववेदसम्' इति ॥ ३४ ॥

तदु हैकेऽन्वाहु—'होता यो विश्ववेदस' इति । नेद्—अरमित्यात्मानं ब्रवाणीति । तदु तथा न ब्रूयात् । मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति, व्यृद्धं वै तद् यज्ञस्य-यन्मानुषम्, नेद् व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति । तस्माद्यथैवर्चाऽनूक्तमेवमेवानुब्रूयाद्—'होतारं विश्ववेदसम्' इत्येव । 'अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्' इति । एष हि यज्ञस्य सुक्रतु—यदग्निः । तस्मादाह अस्य यज्ञस्य सुक्रतुमिति । स य देवानुपावर्तत, ततो देवा अभवन्, पराऽसुरा । भवति ह वा आत्मना, परा अस्य सपत्ना भवन्ति-यस्यैवं विदुष एतामन्वाहु ॥ ३५ ॥

तां वा अष्टमीमनुब्रूयात् । गायत्री वा एषा निदानेन । अष्टाक्षरा वै गायत्री । तस्माद् अष्टमीमनुब्रूयात् ॥ ३६ ॥

तद्धैके पुरस्ताद् धाय्ये दधति—अन्नं धाय्य, मुखत इदमन्नाद्य दध्म' इति वदन्तः । तदु तथा न कुर्यात् । अनवक्लृप्ता ह तस्यैषा भवति—य पुरस्ताद्धाय्ये दधाति । दशमी वा हि तर्हि एकादशी वा संपद्यते । तस्यो ह एवैषा अवक्लृप्ता भवति—यस्यैतामष्टमी मन्वाहु । तस्मादुपरिष्टादत्र धाय्ये दध्यात् ॥ ३७ ॥

'समिध्यमाना अध्वर' इति । अध्वरो वै यज्ञः । समिध्यमाना यज्ञ इत्येवैतदाह । 'अग्निः पावक ईड्य' इति । पावको ह्येष, ईड्यो ह्येष । 'शोचिष्केशस्तमीमहे' इति ।

शोचन्तीव हि एतस्य केशा समिद्धस्य । 'समिद्धो अग्न आहुत' इति । अत्र प्राचीन सर्वमिध्ममभ्यादध्याद् -यदन्यत्समिधः । अपवृक्त इव ह्येतद् होता । यद्वा अन्यत्समिध इध्मस्यातिरिच्यते—अतिरिक्त तद् । यद्वै यज्ञस्यातिरिक्त -द्विषन्त ह्यस्य तत् भ्रातृव्यमभ्य तिरिच्यते । तस्माद् अत्र प्राचीनं सर्वमिध्ममभ्यादध्याद्—यदन्यत्समिधः ॥ ३८ ॥

'देवान् यक्षि स्वध्वर' इति । अध्वरो वै यज्ञः । देवान् यक्षि सुयज्ञिय इत्येवैतदाह । 'त्वं हि हव्यवाडसि' इति । एष हि हव्यवाड् यदग्निः । तस्मादाह-त्वं हि हव्यवाडसीति । 'आजुहोता दुवस्यत । अग्निं प्रयत्यध्वरे । वृणीध्वं हव्यवाहनम्' इति । सम्प्रेष्य त्येवैतया आजुहुत च, यजत च, यस्मै कामाय समैन्धिढ्वं तत्कुरुतेत्येवैतदाह । 'अग्निं प्रयत्यध्वर' इति । अध्वरो वै यज्ञ । अग्निं प्रयति यज्ञ इत्येवैतदाह । 'वृणीध्व हव्यवाहनमिति' । एष हि हव्यवाहनो—यदग्निः । तस्मादाह वृणीध्वं हव्यवाहनमिति ॥ ३९ ॥

त वा एतं अध्वरवन्त त्रिचमन्वाह । देवान् ह वै यज्ञेन यजमानान् सपत्ना असुरा दुधूर्षाञ्चक्रु । ते दुधूर्षन्त एव न शेकुर्धूर्वितुम्, ते पराबभूवु । तस्माद्यज्ञो ऽध्वरो नाम । दुधूर्षन् ह वा एन सपत्न परामवति-यस्यैव विदुषोऽध्वरवन्त त्रिचमन्वाहुः । यावद्वैव सौम्येनाध्वरेणेष्ट्वा जयति, तावज्जयति ॥ ४० ॥

इति-प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये प्रथम ब्राह्मण
तृतीयप्रपाठके च तृतीय ब्राह्मण
(सामिधेनी-ब्राह्मणानुगतञ्च द्वितीय ब्राह्मण)
उपरतम्
२

श्री

अथ–प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम्
तृतीयप्रपाठके च चतुर्थं ब्राह्मणम्
(सामिधेनी–ब्राह्मणानुगतश्च–तृतीय ब्राह्मणम्)
३

अथ–निगदानुवचनम् —

एतद्ध वै देवा अग्निं गरिष्ठे युञ्जन्–यद्धोतृत्वे–'इदं नो हव्यं वह' इति । तमेतद् गरिष्ठे युक्त्वोपामदन् 'वीर्यवान् वै त्वमसि, अलं वै त्वमेतस्मा असि' इति–वीर्यं समादधत । यथेदमप्येतर्हि ज्ञातीनां यं गरिष्ठे युञ्जन्ति, तमुपमदन्ति–वीर्यवान्वै त्वमसि अलं वै त्वमेतस्मा असीति वीर्यं समादधत । स यदत ऊर्ध्वमन्वाह–उपमादयत्येवैनमेतद्, वीर्यमेवास्मिन् दधाति ॥ १ ॥

'अग्ने महाँ२॥ असि ब्राह्मण भारत'–इति । ब्रह्म ह्यग्निः । तस्मादाह–ब्राह्मणेति । भारतेति । एष हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्मात् भरतोऽग्निरित्याहुः । एष उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्ति तस्माद्वेवाह–भारतेति ॥ २ ॥

अथ–आर्षेयानुवचनम् —

अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद् देवेभ्यश्च निवेदयति–'अयं महावीर्यो–यो यज्ञं प्रापदिति' । तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ॥ ३ ॥

परस्तादर्वाक् प्रवृणीते । परस्ताद्ध्यर्वाच्यः प्रजाः प्रजायन्ते, ज्यायसस्पत उ चैवैतन्निह्नुते, इदं हि–पितैवाग्रे, अथ पुत्रः, अथ पौत्रः, तस्मात्परस्तादर्वाक् प्रवृणीते ॥ ४ ॥

अथ–निवित्पाठ —

स आर्षेयमुक्त्वाह–'देवेद्धो मन्विद्ध' (तै० ब्रा० ३ ५ ३ १) इति । देवा ह्येतमग्र ऐन्धत । तस्मादाह–देवेद्ध इति । मनुर्ह्येतमग्र ऐन्ध । तस्मादाह–मन्विद्ध इति ॥ ५ ॥

'ऋषिष्टुत' (३ ५ ३ २) इति ऋषयो ह्येतमग्रे स्तुवन् । तस्मादाह-ऋषिष्टुत इति ॥ ६ ॥

'विप्रानुमदित' (३ ५ ३ ३) इति । एते वै विप्रा -यदृषय । एते ह्येतमन्वमदन् । तस्मादाह विप्रानुमदित इति ॥ ७ ॥

'कविशस्त' (३ ५ ३ ४) इति । एते व कवयो यदृषयः । एत ह्येतमशासन् । तस्मादाह-कविशस्त इति ॥ ८ ॥

ब्रह्मसंशित (३ ५ ३ ५) इति । ब्रह्मसंशितो ह्येष । 'घृताहवन' (३ ५ ३ ६) इति । घृताहवनो ह्येष ॥ ९ ॥

'प्रणीर्यज्ञाना रथीरध्वराणाम्' (३ ५ ३ ७) इति । एतेन वै सर्वान् यज्ञान् प्रणयन्ति, ये च पाकयज्ञा , ये चेतर । तस्मादाह-प्रणीर्यज्ञानामिति ॥ १० ॥

रथीरध्वराणामिति । रथा ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति । तस्मादाह-रथीरध्वराणामिति ॥ ११ ॥

'अतूर्तो होता तूर्णिर्हव्यवाड्' (३ ५ ३ ८) इति । न ह्येतं रक्षांसि तरन्ति । तस्मादाह-अतूर्तो होतेति । तूर्णिर्हव्यवाडिति । सर्वं ह्येष पाप्मानं तरति । तस्मादाह-तूर्णिर्हव्यवाडिति ॥ १२ ॥

'आस्पात्रं जुहूर्देवानाम्' (सं० ब्रा० ३ ५ ३ ९) इति । देवपात्रं वा एष यदग्नि । तस्मादग्ना सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति । देवपात्रं ह्येष । प्राप्नोति ह वै तस्य पात्रम्-यस्य पात्रं प्रेप्सति, य एवमेतद्वेद ॥ १३ ॥

'चमसो देवपान' (३ ५ ५ १०) इति । चमसेन ह वा एतेन भूतेन देवा भक्षयन्ति । तस्मादाह-चमसो देवपान इति ॥ १४ ॥

'अरा २॥ इवाग्ने नेमिर्देवास्त्वं परिभूरसि (३ ५ ३ ११) इति । यथारा नेमि सर्वत परिभूः एव त्वं देवान् सर्वत परिभूरसि-इत्येतदाह ॥ १५ ॥

श्री

अथ–प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम्
तृतीयप्रपाठके च चतुर्थं ब्राह्मणम्
(सामिधेनी–ब्राह्मणानुगतश्च–तृतीय ब्राह्मणम्)
३

अथ–निगदानुवचनम् —

एतद्ध वै देवा अग्निं गरिष्ठे युञ्जन्–यद्वोढस्ये–'इदं नो हव्य वह' इति । तमेतद् गरिष्ठे युक्त्वोपामदन् 'वीर्यवान् वै त्वमसि, अलं वै त्वमेतस्मा असि' इति–वीर्ये समादधत । यथेदमप्येतर्हि ज्ञातीनां य गरिष्ठ युञ्जन्ति, तमुपमदन्ति–वीर्यवान्वै त्वमसि अलं वै त्वमेतस्मा असीति वीर्ये समादधत । स यदत ऊर्ध्वमन्वाह–उपस्तौत्येवैनमवद्, वीर्यमेवास्मिन् दधाति ॥ १ ॥

'अग्ने महाँ२॥ असि ब्राह्मण भारत'–इति । ब्रह्म ह्यग्नि । तस्मादाह ब्राह्मणेति । भारतेति । एष हि देवेभ्यो हव्यं भरति, तस्माद् भरतोऽग्निरित्याहु । एष उ वा इमाः प्रजा प्राणो भूत्वा बिभर्ति तस्माद्वेवाह–भारतेति ॥ २ ॥

अथ–आर्षेयानुवचनम् —

अथार्षेयं प्रवृणीत । ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयति–'अयं महावीर्यो–यो यज्ञ प्रापदित' । तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ॥ ३ ॥

परस्तादर्वाक् प्रवृणीते । परस्ताद्ध्यर्वाच्य प्रजा प्रजायन्ते, ज्यायसस्पत उ चैवैत निह्नुत, इदं हि–पितैवाग्रे, अथ पुत्र, अथ पौत्रः; तस्मात्परस्तादर्वाक् प्रवृणीत ॥ ४ ॥

अथ–निवित्पाठ —

स आर्षेयमुक्त्वाह– देवेद्धो मन्विद्ध' (तै ब्रा ३ ५ ३ १) इति । देवा ह्येतमग्र ऐन्ध । त ह्याहाह–देवेद्ध इति । मनुर्ह्येतमग्र ऐन्ध । तस्मादाह–मन्विद्ध इति ॥ ५ ॥

'ऋषिष्टुतः' (३ ५ ३ २) इति ऋषयो ह्येतमग्रे स्तुवन् । तस्मादाह-ऋषिष्टुत इति ॥ ६ ॥

'विप्रानुमदित (३ ५ ३ ३) इति । एते वै विप्रा -यदृषय । एत ह्येतम न्वमदन् । तस्मादाह विप्रानुमदित इति ॥ ७ ॥

'कविशस्त ' (३ ५ ३ ४) इति । एते व कवयो यदृषयः ' एत ह्येतमशसन् । तस्मादाह-कविशस्त इति ॥ ८ ॥

ब्रह्मसंशित (३ ५ ३ ५) इति । ब्रह्मसंशितो ह्येष । 'घृताहवनः' (३ ५ ३ ६) इति । घृताहवनो ह्येष ॥ ९ ॥

'प्रणीर्यज्ञानां रथीरध्वराणाम्' (३ ५ ३ ७) इति । एतेन वै सर्वान् यज्ञान् प्रणयन्ति, ये च पाकयज्ञा , ये चेतर । तस्मादाह-प्रणीर्यज्ञानामिति ॥ १० ॥

रथीरध्वराणामिति । रथो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञ वहति । तस्मादाह-रथीरध्वराणामिति ॥ ११ ॥

'अतूर्तो होता तूर्णिर्हव्यवाड्' (३ ५ ३ ८) इति । न ह्येत रक्षांसि तरन्ति । तस्मादाह-अतूर्तो होतेति । तूर्णिर्हव्यवाडिति । सर्व ह्येष पाप्मान तरति । तस्मादाह-तूर्णिर्हव्यवाडिति ॥ १२ ॥

'आस्पात्र जुहूर्देवानाम्' (सं० मा० ३ ५ ३ ९) इति । देवपात्रं वा एष यदग्नि । तस्मादग्नो सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति । देवपात्र ह्येष । प्राप्नोति ह वै तस्य पात्रम्-यस्य पात्र प्रेप्सति, य एवमेतद्वेद ॥ १३ ॥

'चमसो देवपान ' (३ ५ ५ १०) इति । चमसेन ह वा एतन भूतन देवा भक्षयन्ति । तस्मादाह-चमसो देवपान इति ॥ १४ ॥

'अरां २॥ इवाग्ने नेमिर्देवांस्त्वं परिभूरसि' (३ ५ ३ ११) इति । यथारा नेमि सर्वत परिभू एव त्वं देवान् सर्वत परिभूरसि-इत्येवैतदाह ॥ १५ ॥

श्री

अथ–प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम्
तृतीयप्रपाठके च चतुर्थं ब्राह्मणम्
(सामिधेनी–ब्राह्मणानुगतश्च–तृतीय ब्राह्मणम्)

३

अथ–निगदानुवचनम् —

एतद्व वै देवा अग्निं गरिष्ठे युञ्जन्–यत्रोऽमुत्वे–'इदं नो हव्य वह' इति । तमेतद् गरिष्ठे युक्त्वोपामदन् वीर्यवान् वै त्वमसि, अलं वै त्वमेतस्मा असि' इति–अर्थे समादधत । यथेदमप्येतर्हि ज्ञातीनां यं गरिष्ठे युञ्जन्ति, तमुपमदन्ति–वीर्यवान्वै त्वमसि अलं वै त्वमेतस्मा असीति वीर्ये समादधत । स यदत ऊर्ध्वमन्वाह–उपस्तौत्येवैनमतद्, वीर्यमेवास्मिन् दधाति ॥ १ ॥

'अग्ने महाँ२॥ असि ब्राह्मण भारत'–इति । ब्रह्म ह्यग्नि । तस्मादाह–ब्राह्मणेति । भारतेति । एष हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद् भरतोऽग्निरित्याहु । एष उ वा इमाः प्रजा प्राणो भूत्वा बिभर्ति तस्माद्वेवाह–भारतेति ॥ २ ॥

अथ–आर्षेयानुवचनम् —

अथार्षेयं प्रवृणीत । ऋषिभ्यश्चैवैनमतद्देवेभ्यश्च निवेदयति–'अयं महावीर्यो–यो यज्ञं प्रापदिति' । तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ॥ ३ ॥

परस्तादर्वाक् प्रवृणीते । परस्ताद्ध्यर्वाच्य प्रजा प्रजायन्ते, ज्यायसस्पत उ चैवैतत् निह्नुत, इद हि–पितैवाग्रे, अथ पुत्र, अथ पौत्र, तस्मात्परस्तादर्वाक् प्रवृणीत ॥ ४ ॥

अथ–निवित्पाठ —

स आर्षयमुक्त्वाह–'देवद्धा मन्विद्ध' (तै ब्रा ३ ५ ३ १) इति । देवा ह्येतमग्र ऐन्ध । तस्मादाह–देवेद्ध इति । मनुष्य तमग्र ऐन्ध । तस्मादाह–मन्विद्ध इति ॥ ५ ॥

श्री

अथ-प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये तृतीय ब्राह्मणम्
तृतीयप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मणम्
[सामिधेनी-ब्राह्मणानुगतश्च चतुर्थ ब्राह्मणम्]
४

अथ-शान्तिकर्म—

यो ह वा अग्नि सामिधेनीभि समिद्ध, अतितरां ह वै स इतरस्मादग्नेस्तपति, अनवधृष्यो हि भवति, अनवमृश्यः ॥ १ ॥

स यथा हैवाग्नि सामिधेनीभिः समिद्धस्तपति, एव हैव ब्राह्मण सामिधेनीविद्वा नवुन्न्वंस्तपति । अनवधृष्यो हि भवति, अनवमृश्यः ॥ २ ॥

सोऽन्वाह-'प्रव' इति । प्राणो वै प्रवान, प्राणमेवैतया समिन्धे । 'अग्न आयाहि वीतये' इति । अपानो वा एतवान, अपानमेवैतया समिन्धे । 'बृहच्छोचा यविष्ठय'-इति । उदानो वै बृहच्छोचा, उदानमेवैतया समिन्धे ॥ ३॥

'स नः पृथु श्रवाय्यम' इति । श्रोत्र वै पृथु श्रवाय्यम्, श्रोत्रेण हीदमुरु पृथु शृणोति, श्रोत्रमेवैतया समिन्धे ॥ ४ ॥

'ईडेन्यो नमस्य' इति । वाग् वा ईडेन्या, वाग्नीद सर्वमीट्टे । वाचेद सर्वमीडितम् । वाचमेवैतया समिन्धे ॥ ५ ॥

'अश्वा न देववाहनः' इति । मनो वै देववाहनम् । मनो हीद मनस्विन भूयिष्ठ वनीवाह्यते । मन एवैतया समिन्धे ॥ ६ ॥

'अग्ने दीद्यत बृहत्' इति । चक्षुर्वै दीदयेव । चक्षुरवैतया समिन्धे ॥ ७ ॥

अथ-देवतावाहनम्—

'आवह देवान्यजमानाय' (तै० ब्रा० ३ ५ ३ इति । तद्स्मै यज्ञाय देवानावोढवा आह ॥१॥ 'अग्निमग्न आवह' (३।५।३) इति । तदाग्नेयायाज्य-मागामाग्निमावोढवा आह ॥२॥ 'सोममावह' (३ ५ ३) इति । तत्सौम्यायाज्य-भागाय सोममावोढवा आह । 'अग्निमावह' (३ ५ ३) इति । तद्य एष उभयत्राच्युत आग्नेयः पुरोडाशो भवति, ॥३॥ तस्मा अग्निमावोढवा आह ॥४॥ ॥ १६ ॥

अथ यथादेवतम् ॥५॥ 'देवाँ२॥ आज्यपाँ आवह' (३ ५ ३) इति । तत्प्रयाजा-नुयाजानावोढवा आह । प्रयाजानुयाजा वै देवा आज्यपा ॥६॥ अग्निंहोत्रायावह (३ ५ ३) इति । तदग्निं होत्रायावोढवा आह ॥७॥ स्वं महिमानमावह (३ ५ ३) इति । तत्स्वं महिमानमावोढवा आह । वाग् वा अस्य स्वो महिमा । तद्वाचमावोढवा आह ॥८॥ 'आ च वह जातवेदः सुयजा च यज' (३ ५ ३) इति । तद्या एवैतद् देवा आवोढवा आह, ता एवैतदाह । आ चैना वहानुष्ठ्या च यजेति, यदाह-सुयजा च यजेति ॥६॥ १७ ॥

स वै तिष्ठन्नन्वाह । अन्वाह स एतद्, असौ वनुवाक्या, तदसावेवैतद् भूत्वाऽन्वाह । तस्मात्तिष्ठन्नन्वाह ॥ १८ ॥

आसीनो याज्यां यजति । इयं हि याज्या, तस्मान्न कश्चन तिष्ठन् याज्यां यजति । इयं हि याज्या, तदियमेवैतद् भूत्वा यजति । तस्मादासीनो याज्यां यजति ॥ १६ ॥

इति–प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये द्वितीय ब्राह्मण
तृतीयप्रपाठके च चतुर्थ ब्राह्मण
(सामिधेनी ब्राह्मणानुगतश्च तृतीय ब्राह्मण)
उपरतम्

३

यद्यष्टम्यामनुव्याहरत्, त प्रति ब्र यात्–'मध्य वा एतत्प्राणमात्मनोऽनावाधा, मध्येन प्राणेनात्मन आर्त्तिमारिष्यस्युष्माय मरिष्यसि' इति। तथा हैव स्यात् ॥१८॥

यदि नवम्यामनुव्याहरत्, त प्रति ब्र यात्–'शिश्न वा एतदात्मनोऽनावाधा', शिश्नेनात्मन आर्त्तिमारिष्यसि क्लीबो भविष्यसि इति । तथा हैव स्यात् ॥ १९ ॥

यदि दशम्यामनुव्याहरेत, त प्रति ब्र यात्– अवाञ्च वा एतत्प्राणमात्मनाऽनावाधा, अपाधा प्राणेनात्मन आर्त्तिमारिष्यस्यपिनद्धो मरिष्यसि इति। तथा हैव स्यात ॥ २० ॥

यद्येकादश्यामनुव्याहरत्, त प्रति ब्र यात्–'सर्व वा एतदात्मानमनावाधा', सर्वेणात्मनार्त्तिमारिष्यसि क्षिप्रेऽमु लोकमेष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ २१ ॥

स यथा हैवाग्नि सामिधनीभि समिद्धमापद्यार्त्ति न्येति, एव हैव ब्राह्मण सामिधनीर्विद्वांसमनुब्रु वन्तमनुव्याहृत्यार्त्ति न्येति ॥ २२ ॥

इति–प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये तृतीय ब्राह्मण
तृतीयप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मण
[सामिधेनी–ब्राह्मणानुगतश्च–चतुर्थं ब्राह्मण]
उपरतम्

४

इति–ब्राह्मणचतुष्टयात्मक–सामिधेनीब्राह्मण
उपरतम्

'अग्निं वृत वृणीमहे' इति । य एवायं मध्यमः प्राणः, एतमेवैतया समिन्धे । सा हैषा तस्या प्राणानाम्, अतो ह्यन्य ऊर्ध्वाः प्राणाः, अतोऽन्येऽवाञ्चः । अन्तस्था ह भवति । अन्तस्थामेनं मन्यन्ते य एवमेतामन्तस्थां प्राणानां वेद ॥ ८ ॥

'शोचिष्केशस्तमीमहे' इति । शिश्नं वै शोचिष्कशम् । शिश्न हीदं शिश्निनं भूयिष्ठं शोचयति । शिश्नमेवैतया समिन्धे ॥ ९ ॥

'समिद्धो अग्न आहुत'–इति । य एवायमवाङ् प्राणः, एतमेवैतया समिन्धे । 'आजुह्वोता सुयक्ष्यन'–इति । सर्वमात्मानं समिन्धे–आ नखेभ्योऽथो लोमभ्य ॥ १० ॥

स यद्येन प्रथमाया सामिधेन्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात् 'प्राणं वा एतदात्मनोऽनावाधाः, प्राणेनात्मन आर्त्तिमारिष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ ११ ॥

यदि द्वितीयस्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्–'अपानं वा एतदात्मनोऽनावाधाः, अपानेनात्मन आर्त्तिमारिष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ १२ ॥

यदि तृतीयस्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्–'उदानं वा एतदात्मनोऽनावाधाः, उदानेनात्मन आर्त्तिमारिष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ १३ ॥

यदि चतुर्थ्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्–'श्रोत्रं वा एतदात्मनोऽनावाधाः, श्रोत्रेणात्मन आर्त्तिमारिष्यसि बधिरो भविष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ १४ ॥

यदि पञ्चम्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात् 'वाचं वा एतदात्मनोऽनावाधाः, वाचात्मन आर्त्तिमारिष्यसि मूको भविष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ १५ ॥

यदि षष्ठ्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्–'मनो वा एतदात्मनोऽनावाधाः, मनसात्मन आर्त्तिमारिष्यसि मनोमुषिगृहीतो मामुद्भरिष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ १६ ॥

यदि सप्तम्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्–'चक्षुर्वा एतदात्मनोऽनावाधाश्चक्षुषात्मन आर्त्तिमारिष्यस्यन्धो भविष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ १७ ॥

रहता है। जब (आगे जाकर) इसका वरण होता है, तभी यह 'होता' नाम का अधिकारी बनता है। इसलिए (बिना होतृपद का सन्निवेश किए)—"अग्नये समिध्यमानायानुब्रू हि" इसी रूप से प्रैष करना चाहिए ॥ ३ ॥

(अध्वर्य्यु के प्रैष के अनुसार अनुवचनकर्म्म में नियुक्त) यह ऋत्विक् आग्नेयी (अग्निदेवता-सम्बन्धिनी) सामिधेनी-ऋचाओं का अनुवचन करता है (अर्थात् इसे आग्नेयी-ऋचाओं का ही अनुवचन करना चाहिए। ऐसा करता हुआ यह ऋत्विक्) इस अग्नि को अपने देवता के स्वरूप से युक्त सामिधेनी ऋचा से ही समिद्ध करता है। (अर्थात् आग्नेयी सामिधेनी-ऋचा से अनुवचन करना सजातीयभाव से ही अग्नि को समिद्ध बनाना है)। (यह ऋत्विक्) गायत्री (गायत्रीछन्दोयुक्त सामिधेनी-ऋचा) का अनुवचन करता है। गायत्री अग्नि का छन्द है। (इसका अनुवचन करता हुआ) अग्नि के अपने ही छन्द से इसे समिद्ध बनाता है। गायत्री वीर्य्यात्मिका है, गायत्री ब्रह्म (ब्राह्मणवर्ण) है, ऐसी अवस्था में गायत्री से अनुवचन करता हुआ ऋत्विक् ब्रह्मवीर्य्य से ही इस अग्नि का समिन्धन करता है। तात्पर्य्य यही हुआ कि, छन्द, वीर्य्य, वर्ण, सम्पत्तियों के आधान के लिए गायत्रीछन्दस्का ऋचाओं से ही अनुवचन करना चाहिए ॥ ४ ॥

(जिन सामिधेनी-ऋचाओं से यह 'सामिधेनी अनुवचनकर्म्म' होता के द्वारा होने वाला है, उनके सम्बन्ध में 'अग्नि' देवता तथा 'गायत्रीछंद' की व्यवस्था बतलाई गई। अब सङ्ख्या की व्यवस्था करती हुई श्रुति कहती है)—यह ऋत्विक् (आगे जाकर 'होतृप्रवरसकर्म्म' से 'होता' कहलाने वाला ऋत्विक्) ग्यारह सामिधेनी ऋचाओं का अनुवचन करता है। त्रिष्टुप् (छन्द) ग्यारह अक्षर को है। गायत्री ब्रह्म (ब्राह्मणवर्णात्मिका) है, त्रिष्टुप् क्षत्र (क्षत्रिय-वर्णात्मिका) है। (ब्रह्मात्मिका गायत्री-स्वरूप वाली तथा क्षत्रात्मिका त्रिष्टुप् सङ्ख्या वाली सामिधेनी ऋचाओं का अनुवचन करता हुआ) यह होता इन दोनों ब्रह्म-क्षत्र-वीर्य्यों से युक्त करने के लिए गायत्रीछन्दस्क एवं एकादश संख्याक ऋचाओं का अनुवचन करता है। इसलिए ग्यारह सामिधेनी ऋचाओं का अनुवचन करता है ॥ ५ ॥

(संख्या-व्यवस्था के अनन्तर उच्चारण के सम्बन्ध में विशेषता बतलाती हुई श्रुति कहती है)—यह ऋत्विक् पहिली ऋचा का तीन बार अनुवचन करता है एवं अन्तिम (ग्यारहवीं) ऋचा का तीन बार अनुवचन करता है। कारण इसका यही है कि 'त्रि सत्या हि देवा' (तै०—१।७।३।८) इत्यादि श्रौत सिद्धान्त के अनुसार प्राकृतिक त्रिसत्य प्राणदेवताओं से सम्बन्ध रखने वाले सम्पूर्ण प्राकृतिक आधिदैविक-नित्य यज्ञ त्रिवृद् रूप से ही आरम्भ होने वाले हैं तथा त्रिवृद् रूप से ही समाप्त होने वाले हैं। इस प्राकृतिक त्रिवृत-सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए ही होता तीन बार पहिली ऋचा का, तथा तीन बार अन्तिम ऋचा का अनुवचन करता है ॥ ६ ॥

श्री

ब्राह्मणचतुष्टयात्मक-सामिधेनी-ब्राह्मण

शतपथब्राह्मण प्रथमकाण्डानुगत तीसरे अध्याय में पाँचवाँ ब्राह्मण, एव तीसरे प्रपाठक में दूसरा ब्राह्मण

सामिधेनी—ब्राह्मणानुगत—प्रथम—ब्राह्मण

१

मूलानुवाद

अथ–समिधेन्यनुवचनम्

यह अध्वर्यु (पन्द्रह समित्–काष्ठ के समूहरूप) इध्म से (इस आहवनीय) अग्नि को ही प्रज्वलित करता है। इसीलिए (इन्धन–साधन होने से प्रज्वलन-कर्म्मसाधक) इन काष्ठों को ['इन्धे-तस्मादिध्मः' –इस निर्वचन से) 'इध्म' कहा जाता है। होता (एतन्नामक ऋत्विक्–'प्र वो वाजा०' इत्यादि) सामिधेनी-ऋचाओं से (आहवनीय अग्नि को) समिद्ध करता है (अतएव 'समिन्धे-तस्मात् सामिधेन्यः' इस निर्वचन से इन ऋचाओं को) 'सामिधेनी' नाम से व्यवहृत किया जाता है ॥ १ ॥

यह अध्वर्यु (सामिधेनी–ऋचाओं के अनुवचन के लिए होता नामक ऋत्विक् के प्रति प्रैष अनुज्ञा–करता हुआ) कहता है—"अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि" (हे होतः ! इध्माधार से प्रज्वलित हुए अग्नि के लिए, इसे समिद्ध बनाने के लिए जो सामिधेनी-ऋचाएँ हैं, उनका यथाक्रम अनुवचन करो)। (उक्त प्रैषमन्त्र से यह अध्वर्यु) अग्नि के लिए ही इसे समिद्ध बनाने के लिए कहता है ॥ २ ॥

(उक्त प्रैष के सम्बन्ध में) कितनें एक याज्ञिकोंने यह कहा है कि—"अग्नये समिध्यमानाय होतरनुब्रूहि" (इत्यादिरूप से होतृपद का उच्चारण करते हुए) इस रूप से प्रैष करना चाहिए। (अध्वर्यु को चाहिये कि यह) ऐसा कभी न करे (प्रैष मन्त्र में 'होतरनुब्रूहि' इत्यादि रूप से होतृपद का अभिधान न करे)। कारण यही है कि, (होतृवरणकर्म्म से) पहिले (इस सामिधेनी–अनुवचन के समय अनुवचन करने वाला) यह ऋत्विक् अहोता ही

(क्योंकि-सामिधेनी-संख्या का प्रकरण चल रहा है अत प्रसङ्गोपात्त काम्येष्टि से सम्बन्ध रखने वाली सामिधेनी ऋचाओं की संख्या के सम्बन्ध में भी श्रुति व्यवस्था कर रही है। श्रुति जिस 'इष्टि' के सम्बन्ध में संख्या की व्यवस्था करने वाली है उसे दर्शपूर्णमास की विकृतिभूता 'काम्येष्टि' समझना चाहिए, जैसा कि 'तं काममनपरान्य राध्नोति' इत्यादि से स्पष्ट है। दर्श पूर्णमास में जहाँ पन्द्रह सामिधेनीमन्त्र होते हैं वहाँ इस विकृतिभूता काम्येष्टि में तथा पशुयज्ञ में सत्रह सामिधेनीमन्त्र होते हैं जैसा कि–"पञ्चदश सामिधेन्यो दर्शपूर्णमासयो, सप्तदशेष्टि-पशुबन्धानाम्" (आपस्तम्ब श्रौ सू) इत्यादि सूत्रसिद्धान्त से प्रमाणित है। काम्येष्टि के सम्बन्ध में यह विशेषता और समझ लेनी चाहिए कि जहाँ दर्शपूर्णमास में आग्नेयदेवता का उच्चैः यजन होता है, वहाँ काम्येष्टि के आग्नेयदेवता का उपांशु यजन होता है। इसी प्रासङ्गिक काम्येष्टि सम्बन्धी उपचार-संख्या-व्यवस्था का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है)—

यह ऋत्विक् इष्टि के सम्बन्ध में (दर्शपूर्णमास की विकृतिभूता काम्येष्टि के लिए) सत्रह सामिधेनी ऋचाओं का अनुवचन (उच्चारण) करे। जिस देवता के लिए (अध्वर्यु) इष्टि (काम्येष्टि) का निर्वाप करता है उस [इष्टि] देवता के लिए वह उपांशु [तूष्णीं] यजन करता है। [इस प्रकार उपांशु यजन होने वाले इस काम्येष्टियज्ञ में सत्रह सामिधेनियों का अनुवचन करता हुआ ऋत्विक् सत्रह संख्या से कामसम्पत्ति-अभिलषित फल प्राप्त करने में इसलिए समर्थ हो जाता है कि] एक सम्वत्सर के चैत्रादि बारह मास होते हैं, एवं वसन्तादि पाँच ऋतुएँ + होती हैं। [इन सत्रह पर्वों से] यहाँ [सम्वत्सरयज्ञात्मक प्रजापति सम्पन्न बन रहा] है। प्रजापति ही सब [सर्वात्मक-अतएव सर्वकामपूरक] है। [इसप्रकार काम्येष्टि में सत्रह सामिधेनियों का अनुवचन करता हुआ ऋत्विक् सप्तदशसंख्या-समतुलिता सम्वत्सरात्मिका] प्रजापतिरूपा-सम्पत्ति का संग्रह करता हुआ सम्पूर्ण [अभिलषित] हो उस काम अभिलषित को निरापद समृद्ध करने में [प्राप्त करने में] समर्थ हो जाता है जिस [संकल्पित] काम की प्राप्ति के लिए कि यह इष्टि का निर्वाप करता है।

[काम्येष्टि में आग्नेयदेवता का उपांशु यजन क्यों होता है ? इस प्रश्न की उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है कि]-यह ऋत्विक् उपांशुरूप से देवता का यजन करता है-[इसका कारण यही है कि] अनिरुक्त [शब्द के द्वारा अप्रकट होने वाला] ही उपांशु है। [उधर, सर्वभाव भी [समष्टि की अपेक्षा से] अनिरुक्त ही है। एसी परिस्थिति में अनिरुक्त-भावात्मक उपांशुभाव से यजन करता हुआ अध्वर्यु] अनिरुक्तात्मक सर्वभावेन उस कामसमृद्धि को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है जिस काम के लिए कि यह इष्टि का निर्वाप करता है। यही [सप्तदशसामिधेनियों का अनुवचन तथा प्रजापतिदेवता का उपांशुयजन ही इस काम्येष्टि का उपचार इतिकर्तव्यतात्मक विशेषधर्म] है ॥ १ ॥

+ हेमन्तशिशिरयोः समासेन

(गायत्रीछन्द के सम्बन्ध से अग्नि में ब्रह्मवीर्य्य का आधान होता है पञ्चदश संख्या से त्रिष्टुबनुगत क्षत्रवीर्य्य का आधान होता है, एवं त्रि प्रथमा त्रिरुत्तमा संख्या से त्रिवृद्यज्ञ की त्रिवृत्सम्पत्ति का आधान होता है। इन उपक्रम-उपसंहार की संख्याओं से पन्द्रह सामिधनी-ऋचाएँ होजातीं हैं। इस पञ्चदश-संख्या का क्या फल? इसी प्रश्न का सख्यानुवदन-पूर्वक समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि) ये सामिधेनी ऋचाएँ (त्रिःप्रथमा त्रिरुत्तमारूप से अनुवचन करने से) पन्द्रह होजाती हैं। वज्र (असुरनाशक प्राणशक्त्यात्मक शस्त्र) पञ्चदश-सम्पत्ति से युक्त है। *वज्र साधन वीर्य्य (अन्तःशक्ति) है। (पन्द्रह संख्या के द्वारा यह ऋत्विक्) इस अग्नि में इसी* पञ्चदश वीर्य्य का सम्पादन करता है। (पन्द्रह संख्या के प्रभाव से प्रत्येक सामिधेनी-ऋचा वज्रवत् बन जाती है)। अतएव इन सामिधनी-ऋचाओं का अनुवचन करते हुए जिस किसी के साथ (यजमान) द्वेष करे (जो यजमान से शत्रुता रखता हो) उसका "इदमहममुं मयियाशत्रु-ममुष्य वा मवबाधे" यह बोलता हुआ अपने हाथ के दोनों अँगूठों का जोर से मसल डाले। सचमुच इस अभिचारकर्म से यह यजमान शत्रु को पीड़ा पहुँचाने में समर्थ होजाता है। (तात्पर्य्य यही हुआ कि-सामिधनी का उच्चारण करना वज्र ही फैंकना है। जिससमय ऋत्विक् इनका अनुवचन करता हो उस समय शत्रु का नाम लेकर 'मैं उसे नष्ट करता हूँ' यह भावना करता हुआ यजमान यदि दोनो अंगुष्ठ मीड़ डालता है तो अवश्यमेव शत्रु का अनिष्ट होजाता है। यह अभिचार शक्ति पञ्चदश-संख्या से ही इन सामिधेनी ऋचाओं में प्रविष्ट होती है) ॥ ७ ॥

(पन्द्रहसंख्या से वज्रात्मिका अभिचारसाधिका शक्ति से सामिधनी ऋचाओं को युक्त करना यह पञ्चदश संख्या की एक उपपत्ति है। दूसरी उपपत्ति यह है कि)-अर्द्धमास का (एक पक्ष की) पन्द्रह रात्रियाँ होती हैं। (पञ्चदश-रात्रि-सम्पत्तिरूप) इस अर्द्धमास से (अर्द्धमास के आवर्त्तन से) ही सम्वत्सर अपना स्वरूप सम्पन्न करता है। (अर्थात् अर्द्धमास के २४ आवर्त्तन से ही सम्वत्सर बन जाता है। फलतः अर्द्धमास की पन्द्रह रात्रियाँ सम्पूर्ण सम्वत्सर रात्रियों की सम्पत्ति का कारण बन जाती हैं)। इन पन्द्रह संख्याओं से (अर्द्धमास की पन्द्रह रात्रिसम्पत्ति के द्वारा आयत्तन सम्बन्ध से) यह ऋत्विक् उन सम्वत्सर-रात्रियों की सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है। (इस रात्रि-सम्पत्ति के लिए भी पञ्चदश-सामिधनियों का अनुवचन होता है, यही इस पञ्चदश संख्या की दूसरी उपपत्ति है) ॥ ८ ॥

(प्रत्येक सामिधनी ऋचा गायत्री है पञ्चदशसंख्या के सम्बन्ध से पन्द्रह गायत्री होजाती हैं। प्रत्येक गायत्रीछन्द में २४ अक्षर होते हैं। फलतः) पन्द्रह गायत्रीछन्दों के (१५×२४ के अनुपात से) तीन सौ साठ (३६०) अक्षर होजाते हैं। तीन सौ साठ (३६०) ही एक सम्वत्सर के दिन होते हैं। (पञ्चदश गायत्री ऋचाओं का अनुवचन करता हुआ ऋत्विक् इन ३६० अहों का (अहःसम्पत्ति का) प्राप्त कर लेता है। इसी के द्वारा (अहः सम्पत्ति द्वारा अहःसमुदायात्मक) सम्वत्सर (सम्वत्सरयज्ञसम्पत्ति) प्राप्त करलेता है ॥ ९ ॥

(पर्याप्त-सामिधेनी-संख्या का प्रकरण चल रहा है अत प्रसङ्गोपात्त काम्येष्टि से सम्बन्ध रखने वाली सामिधेनी ऋचाओं की संख्या के सम्बन्ध में भी श्रुति व्यवस्था कर रही है। श्रुति जिस 'इष्टि' के सम्बन्ध में संख्या की व्यवस्था करने वाली है उसे दर्शपूर्णमास की विकृतिभूता 'काम्येष्टि' समझना चाहिए जैसा कि 'त काममनपराध राघ्नोति' इत्यादि से स्पष्ट है। दर्शपूर्णमास में जहाँ पन्द्रह सामिधेनीमन्त्र होते हैं वहाँ तद् विकृतिभूता काम्येष्टि में तथा पशुबन्ध में सत्रह सामिधेनीमन्त्र होते हैं जैसा कि—"पञ्चदश सामिधेन्यो दर्शपूर्णमासयो, सप्तदशेष्टि पशुबन्धानाम्" (आपस्तम्ब श्रौ० सू०) इत्यादि सूत्रसिद्धान्त से प्रमाणित है। काम्येष्टि के सम्बन्ध में यह विशेषता और समझ लेनी चाहिए कि जहाँ दर्शपूर्णमास में आवापदेवता का उच्चै यजन होता है वहाँ काम्येष्टि के आवापदेवता का उपांशु यजन होता है। इस प्रासङ्गिक काम्येष्टि सम्बन्धी उपचार-संख्या-व्यवस्था का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है)—

यह ऋत्विक् इष्टि के सम्बन्ध में (दर्शपूर्णमास की विकृतिभूता काम्येष्टि के लिए) सत्रह सामिधेनी ऋचाओं का अनुवचन (उच्चारण) करे। जिस देवता के लिए (अध्वर्यु) इष्टि (काम्येष्टि) का निर्वाप करता है उस [इष्टि] देवता के लिए यह उपांशु [तूष्णीं] यजन करता है। [इस प्रकार उपांशु यजन होने वाले इस काम्येष्टिकर्म्म में सत्रह सामिधेनियों का अनुवचन करता हुआ ऋत्विक् सत्रह संख्या से कामसम्पत्ति-अभिलषित फल प्राप्त करने में इसलिए समर्थ होजाता है कि] एक सम्वत्सर के चैत्रादि बारह [तो] महीने होते हैं एवं वसन्तादि पाँच ऋतुएँ + होती हैं। [इन सत्रह पर्वों से] यही [सम्वत्सरप्रजात्मक] प्रजापति सप्तदश [बन रहा] है। प्रजापति ही सब [सर्वात्मक-अतएव सर्वकामपूरक] है। [इसप्रकार काम्येष्टि में सत्रह सामिधेनियों का अनुवचन करता हुआ ऋत्विक् समसंख्या-समलक्षिता सर्वात्मिका] प्राजापत्य-सम्पत्ति का संग्रह करता हुआ सम्पूर्ण [अभिलषित] ही उस काम [अभिलषित] का निरापद समृद्ध करने में [प्राप्त करने में] समर्थ होजाता है, जिस [संकल्पित] काम कि प्राप्ति के लिए कि यह इष्टि का निर्वाप करता है।

[काम्येष्टि में आवापदेवता का उपांशु यजन क्यों होता है? इस प्रश्न की उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है कि]-यह ऋत्विक उपांशुरूप से देवता का यजन करता है-[इसका कारण यही है कि] अनिरुक्त [शब्द के द्वारा अप्रकट होने योग्य] ही उपांशु है। [उधर] सर्वभाव भी [समष्टि की अपेक्षा से] अनिरुक्त ही है। [ऐसी परिस्थिति में अनिरुक्त-भावात्मक उपांशुभाव से यजन करता हुआ अध्वर्यु] अनिरुक्तात्मक सर्वभावेन उस कामसमृद्धि को प्राप्त करने में समर्थ होजाता है, जिस काम के लिए कि यह इष्टि का निर्वाप करता है। यही [सप्तदशसामिधेनियों का अनुवचन तथा प्रधानदेवता का उपांशुयजन ही] इस काम्येष्टि का उपचार इतिकर्तव्यतात्मक विशेषधर्म्म] है ॥ १० ॥

+ हेमन्तशिशिरयो समासेन

(गायत्रीछन्द के सम्बन्ध से अग्नि में ब्रह्मवीर्य का आधान होता है, पञ्चदश संख्या से त्रिष्टुबनुगत क्षत्रवीर्य का आधान होता है एवं त्रिःप्रथमा त्रिरुत्तमा संख्या से त्रिवृद्यज्ञ की त्रिवृत्सम्पत्ति का आधान होता है। इन उपक्रम उपसंहार की संख्याओं से पन्द्रह सामिधेनी ऋचाएँ होजाती हैं। इस पञ्चदश-संख्या का क्या फल ?, इसी प्रश्न का संख्यानुगमन-पूर्वक समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि) ये सामिधेनी ऋचाएँ (त्रिःप्रथमा त्रिरुत्तमारूप से अनुवचन करने से) पन्द्रह होजाती हैं। वज्र (असुरनाशक प्राणशक्त्यात्मक शस्त्र) पञ्चदश-सम्पत्ति से युक्त है। वज्र साक्षात् वीर्य्य (बल शक्ति) है। (पन्द्रह संख्या के द्वारा यह ऋत्विक्) इस अग्नि में इसी पञ्चदश वीर्य्य का सम्पादन करता है। (पन्द्रह संख्या के प्रभाव से प्रत्येक सामिधेनी-ऋचा वज्ररूप बन जाती है)। अतएव इन सामिधेनी-ऋचाओं का अनुवचन करते हुए जिस किसी के साथ (यजमान) द्वेष करे (जो यजमान से शत्रुता रखता हो) उसका "इदमहममुं भ्रातृव्यमवबाधे" यह बोलता हुआ अपने हाथ के दोनों अँगूठों को जोर से मसल डाले। सचमुच इस अभिचारकर्म्म से यह यजमान शत्रु को पीड़ा पहुँचाने में समर्थ होजाता है। (तात्पर्य्य यही हुआ कि-सामिधेनी का उच्चारण करना वज्र ही फेंकना है। जिससमय ऋत्विक् इनका अनुवचन करता हो उस समय शत्रु का नाम लेकर 'मैं उसे नष्ट करता हूँ' यह भावना करता हुआ यजमान यदि दोनो अंगुष्ठ मीड़ डालता है तो अवश्यमेव शत्रु का अनिष्ट होजाता है। यह अभिचार शक्ति पञ्चदश-संख्या से ही इन सामिधेनी ऋचाओं में प्रविष्ट होती है) ॥ ७ ॥

(पन्द्रहसंख्या से वज्रात्मिका अभिचारसाधिका शक्ति से सामिधेनी ऋचाओं को युक्त करना यह पञ्चदश संख्या की एक उपपत्ति है। दूसरी उपपत्ति यह है कि)-अर्द्धमास की (एक पक्ष की) पन्द्रह रात्रियाँ होती हैं। (पञ्चदश-रात्रि-समष्टिरूप) ऐसे अर्द्धमास से (अर्द्धमास के आवर्त्तन से) ही सम्वत्सर अपना स्वरूप सम्पन्न करता है। (अर्थात् अर्द्धमास के २४ आवर्त्तन से ही सम्वत्सर बन जाता है। फलतः अर्द्धमास की पन्द्रह रात्रियाँ सम्पूर्ण सम्वत्सर रात्रियों की सम्पत्ति का कारण बन जाती हैं)। इन पन्द्रह संख्याओं से (अर्द्धमास की पन्द्रह रात्रिसम्पत्ति के द्वारा आवर्त्तन सम्बन्ध से) यह ऋत्विक् उन सम्वत्सर-रात्रियों की सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है। (इस रात्रि-सम्पत्ति के लिए भी पञ्चदश-सामिधेनियों का अनुवचन होता है, यही इस पञ्चदश संख्या की दूसरी उपपत्ति है) ॥ ८ ॥

(अपिच सामिधेनी ऋचा गायत्री है पञ्चदशसंख्या के सम्बन्ध से पन्द्रह गायत्री होजाती हैं। प्रत्येक गायत्रीमन्त्र में २४ अक्षर होते हैं। फलतः) पन्द्रह गायत्रीमन्त्रों के (२४-२४ के अनुपात से) तीन और सौ तथा साठ (३६०) अक्षर होजाते हैं। तीन चार सौ, एवं साठ (६०) ही एक सम्वत्सर के दिन होते हैं। (पञ्चदश गायत्री-ऋचाओं का अनुवचन करता हुआ ऋत्विक् इन ३६० अहों को (अहःसम्पत्ति को) प्राप्त कर लेता है। इसी के द्वारा (अहः समुदाय-द्वारा अहःसमुदायात्मक) सम्वत्सर (सम्वत्सरयज्ञसम्पत्ति) प्राप्त करलेता है ॥ ९ ॥

(क्योंकि-सामिधेनी-सङ्ख्या का प्रकरण चल रहा है अतः प्रसङ्गोपात्त काम्येष्टि से सम्बन्ध रखने वाली सामिधेनी ऋचाओं की संख्या के सम्बन्ध में भी श्रुति व्यवस्था कर रही है। श्रुति जिस 'इष्टि' के सम्बन्ध में सङ्ख्या की व्यवस्था करने वाली है उसे दर्शपूर्णमास की विकृतिभूता 'काम्येष्टि' समझना चाहिए जैसा कि 'तं काममनपराध राघ्नोति' इत्यादि से स्पष्ट है। दर्शपूर्णमास में जहाँ पन्द्रह सामिधेनीमन्त्र होते हैं वहाँ तद् विकृतिभूता काम्येष्टि में तथा पशुयज्ञ में सत्रह सामिधेनीमन्त्र होते हैं जैसा कि—"पञ्चदश सामिधेन्यो दर्शपूर्णमासयोः, सप्तदशेष्टि-पशुबन्धनाम्" (आपस्तम्ब श्रौ० सू०) इत्यादि सूत्रसिद्धान्त से प्रमाणित है। काम्येष्टि के सम्बन्ध में यह विशेषता और समझ लेनी चाहिए कि जहाँ दर्शपूर्णमास में आज्यभागदेवता का उच्चैः यजन होता है वहाँ काम्येष्टि के आज्यभागदेवता का उपांशु यजन होता है। इसी प्रासङ्गिक काम्येष्टि सम्बन्धी उपचार-संख्या-व्यवस्था का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है)—

वह ऋत्विक् इष्टि के सम्बन्ध में (दर्शपूर्णमास की विकृतिभूता काम्येष्टि के लिए) सत्रह सामिधेनी ऋचाओं का अनुवचन (उच्चारण) करे। जिस देवता के लिए (अध्वर्यु) इष्टि (काम्येष्टि) का निर्वाप करता है उस [इष्टि] देवता के लिए वह उपांशु [तूष्णीं] यजन करता है। [इस प्रकार उपांशु यजन होने वाले इस काम्येष्टिकर्म्म में सत्रह सामिधेनियों का अनुवचन करता हुआ ऋत्विक् सत्रह संख्या से कामसम्पत्ति-अभिलषित फल प्राप्त करने में इसलिए समर्थ होजाता है कि] एक सम्वत्सर के चैत्रादि बारह [तो] महीने होते हैं एवं वसन्तादि पाँच ऋतुएँ + होती हैं। [इन सत्रह पर्वों से] वही [सम्वत्सरयज्ञात्मक] प्रजापति सप्तदश [बन रहा] है। प्रजापति ही सब [सर्वात्मक-अतएव सर्वकामपूरक] है। [इसप्रकार काम्येष्टि में सत्रह सामिधेनियों का अनुवचन करता हुआ ऋत्विक् समसङ्ख्या-समतुलिता सर्वात्मिका]-प्राजापत्या सम्पत्ति का संग्रह करता हुआ सम्पूर्ण [अभिलषित] ही उस काम [अभिलषित] को निरापद समृद्ध करने में [प्राप्त करने में] समर्थ होजाता है जिस [संकल्पित] काम कि प्राप्ति के लिए कि यह इष्टि का निर्वाप करता है।

[काम्येष्टि में आज्यभागदेवता का उपांशु यजन क्यों होता है? इस प्रश्न की उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है कि]-वह ऋत्विक् उपांशुरूप से देवता का यजन करता है—[इसका कारण यही है कि] अनिरुक्त [शब्द के द्वारा अप्रकट होने वाला] ही उपांशु है। [उधर] सर्वभाव भी [समष्टि की अपेक्षा से] अनिरुक्त ही है। [ऐसी परिस्थिति में अनिरुक्त-भावात्मक उपांशुभाव से यजन करता हुआ अध्वर्यु] अनिरुक्तात्मक सर्वभावेन उस काममसमृद्धि को प्राप्त करने में समर्थ होजाता है जिस काम के लिए कि यह इष्टि का निर्वाप करता है। यही [सप्तदशसामिधेनियों का अनुवचन तथा प्रधानदेवता का उपांशुयजन ही] इस काम्येष्टिका उपचार [इतिकर्त्तव्यतात्मक विशेषधर्म्म] है ॥ १० ॥

+ हेमन्तशिशिरयोः समासेन

[दर्शपूर्णमासेष्टि में पूर्व में 'ता पञ्चदश सामिधेन्यः सम्पद्यन्ते' इत्यादि रूप से पन्द्रह सामिधेनियों का विधान बतलाया गया है। अब इसी सम्बन्ध में पक्षान्तर उद्धृत करती हुई श्रुति कहती है]-कितने एक याज्ञिक कहते हैं कि अथवा दर्शपूर्णमासेष्टि में २१ सामिधेनी-ऋचाओं का अनुवचन करना चाहिए। [२१ सामिधेनियों के अनुवचन की उपपत्ति वे याज्ञिक यह बतलाते हैं कि]-एक सम्वत्सर के बारह [तो] महीनें होते हैं, पाँच ऋतुएँ होती हैं [त्रिवृत्-पञ्चदश एकविंश-स्तोम भेदभिन्न] पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौ ये तीन [सौम्य-पार्थिव] लोक होते हैं। इन सब के संकलन से सम्वत्सर के २० पर्व हो जाते हैं। यही २१ वाँ है जोकि यह [खगोलस्थ पृथ्वी-इन्द्र-रिष्पद्वृत्त-के मध्य में स्थिररूप से] तप रहा है। यही [एकविंशसूर्य्य यज्ञफलात्मिका] स्वर्गात्मिका गति है यही (सर्वयज्ञ) प्रतिष्ठा है। (जो यजमान अपनी दर्शपूर्णमासेष्टि में २१ सामिधेनियों का अनुवचन करवाता है) वह २१ के द्वारा तत्समतुलित विंशतिपर्वात्मक सम्वत्सर यज्ञ का संग्रह करता हुआ इक्कीसवीं सामिधेनी के द्वारा तत्समतुलिता सूर्य्यात्मिका) इसी गति को इसी प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। इस गति-प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिए २१ सामिधेनियों का ही अनुवचन करना चाहिए ॥११॥

(उक्त पक्ष का खण्डन करती हुई श्रुति कहती है कि)-इन २१ सामिधेनियोंका (उस) भाग्य-हीन यजमान के लिए ही उच्चारण करना चाहिए, जो यजमान यह चाहता है कि, न तो मेरा अभ्युदय हो न पतन हो। (यजमान अपनी जैसी स्थिति में रहता हुआ यज्ञ करेगा वैसी ही स्थिति में प्रतिष्ठित) यजमान के लिए ही वैसी ही सामिधेनियों का अनुवचन करते हैं, एवं वह यजमान वैसा ही (उसी पूर्वस्थिति म) रहता है। अथवा वो उस से भी निम्नश्रेणि में चला जाता है जिस यजमान के लिए कि ऋत्विक् (२१ सामिधनी का उपर्युक्त गति-प्रतिष्ठात्मिका उपपत्ति बतलाते हुए) इन २१ सामिधेनियों का अनुवचन करते हैं। और वास्तव में (यज्ञपद्धतियों के आधार पर बात तो यह है कि) २१ सामिधेनियों के अनुवचन का पक्ष केवल पक्ष ही पक्ष है निष्प्रयोजन-मीमांसा ही है वस्तुत २१ का (ऋत्विक्लोग) कदापि अनुवचन नहीं करते।

तात्पर्य्य श्रुति (याज्ञवल्क्य) का यही है कि यज्ञकर्म्म किसी अतिशय की प्राप्ति के लिए ही किया जाता है। श्री (सम्पत्ति) की प्राप्ति के लिए, अभ्युदय के लिए, एवं पूर्व की सामान्य परिस्थिति से उच्च स्थिति में पहुँचने के लिए ही यज्ञ किया जाता है। यह फल तभी सम्भव है जब कि, पद्धति-प्रदर्शित पञ्चदश-सामिधेनियों का ही अनुवचन किया जाय। केवल संख्या के आधार पर सम्पत्ति का समतुलन करते हुए २१ सामिधेनी करना अनुचित है। जो यजमान यह चाहे कि मैं श्रीशून्य बना रहूँ यज्ञ से मेरा कोई विशेष लाभ न हो अथवा जो यह चाहे कि न तो मेरा कोई लाभ ही हो न हानि ही हो वह अवश्य ही २१ का अनुवचन करवा सकता है। अवश्य ही ऐसे अनुवचन से यजमान जैसे का तैसा ही बना रहेगा। और बहुत सम्भव है इस सामान्य स्थिति से भी गिर जायगा। इसलिए २१ का पक्षान्तर केवल मीमांसा ही समझनी चाहिए।

श्रुति के अक्षर स्वारस्य से १२ की कण्डिका का उक्त अर्थ ही समीचीन प्रतीत होता है। कारण यही है कि-'सा उ एषा मीमांसैव न त्वेवैता अनुब्रूयन्' बारहवीं कण्डिका के इस उप

महारवाक्य से यही सिद्धान्त निकलता है कि २१ का पक्ष याज्ञिकों के केवल काल्पनिक विचार ही विचार हैं। न कभी ऐसा हुआ न होना चाहिए। अवकाश के समय याज्ञिकों में सामिधेनी-संख्या की उपपत्ति के सम्बन्ध में कभी चर्चा चली होगी। वहाँ किसी ने यह कह दिया होगा कि, "२१ सामिधेनी क्यों न की जाय ?। इस से २१ संख्या की गति प्रतिष्ठा प्राप्त होजायगी। तत्काल ही किसी वैज्ञानिक याज्ञिक ने उपेक्षापूर्वक इस पक्ष का उपहास करते हुए कह दिया होगा कि - 'हाँ ठीक है, जिस यजमान को श्री की अपेक्षा न हो प्रथम तो उस के यज्ञ में अथवा जो यजमान यह चाहे कि, न मेरा अभ्युदय हो, न पतन हो, मैं जैसे का तैसा ही बना रहूँ उस यजमान के लिए अवश्य ही २१ का अनुवचन कर सकते हैं। परन्तु यह भी ध्यान रहे कि यजमान का अभ्युदय तो नहीं ही होगा परन्तु बहुत सम्भव है उस का अनिष्ट भी होजाय' । इसी सामयिक चर्चा में उपस्थित होने वाले काल्पनिक २१ विंश पक्ष का स्मृति न उसी आक्षेपात्मक-उपहासास्पद शब्दों में इतिवृत्त बतलाते हुए सिद्धान्त में १५ सामिधेनी-पक्ष का ही समर्थन किया है। 'ता हैता गतश्रेरेव अनुब्रु यात्-य इच्छेत्-न श्रेयान् स्यात्, न पापीयान्' इति। इस से उपेक्षापूर्वक २१ का अपकारात्मक फल बतलाते हुए इस पक्ष का उपहास किया। सर्वान्त में—'सा उ एषा मीमांसा एव, न त्वेवैता अनुच्यन्ते' इस वाक्य से इस २१ पक्ष का निरसन कर दिया गया। इसी आधार पर हमने १२ वीं कण्डिका को पूर्वपक्ष-खण्डन परक-माना है। परन्तु व्याख्याताओं ने १२ वीं कण्डिका को 'अविकारभेद' सम्पत्ति परक लगाते हुए इस का यह अर्थ किया है कि—

'जिस यजमान की सम्पत्ति नष्ट होगई हो वैसे यजमान के यज्ञ में ही २१ सामिधेनियों का अनुवचन करना चाहिए। जो यजमान अच्छी स्थिति में है उस के यज्ञ में २१ के अनुवचन की कोई आवश्यकता नहीं है। यह अर्थ 'ता हैता गतश्रेरेवानुब्रु यात्' इस वाक्य का किया है। एवं इसके आगे के 'य इच्छेन्न श्रेयान्स्यात्,न पापीयान्,यादृशाय है व स तऽन्वाहुस्तादृक्ङ्हेव भवति' वाक्य को 'पापीयान् वा' से पृथक् कर उस का यह अर्थ किया है कि— 'जो यजमान श्रेष्ठ्य नैकृष्ट्य दोनों नहीं चाहता है उस के लिए यथोपलब्ध प्रकार से (१५ अथवा १७) सामिधेनी का अनुवचन करते हैं। आगे जाकर 'पापीयान्वा' के 'वा' उपलक्षण विधि से श्रेयान् का ग्रहण करते हुए यह अर्थ किया गया है कि २१ सामिधेनी-पक्ष में यजमान अच्छी कामना रखता है, तो श्रेयान् होता है अन्यथा पापीयान होता है' । पाठक देखेंगे कि इस व्याख्या में किस-प्रकार शब्द-मर्यादा की प्रकरणसङ्गति की उपेक्षा हुई है ? । अस्तु, जो कुछ हो प्रकृत में कण्डिका का निष्कर्ष यही निकलता है कि, २१ का पक्ष केवल मीमांसा ही है। ऐसा अनुवचन होता नहीं और यहां सिद्धान्त यह सिद्ध कर रहा है कि, २१ का पक्ष पक्षान्तर नहीं है, अपितु उपहासाभाषा के द्वारा खण्डनात्मक ही बन रहा है।

कितने एक व्याख्याता अन्य प्रकार से भी उक्त कण्डिका का समन्वय कर रहे हैं। और-पूर्वोक्त द्वितीय व्याख्या की अपेक्षा प्रस्तुत व्याख्या फिर भी यथा कथंचित् ठीक मानी जासकती है। व्याख्या का

स्वरूप यही है कि- 'अधिकारी के भेद से सामिधनियों की संख्या की व्यवस्था है। वह जो २१ का अनुवचन है, वह जिस यजमान की सम्पत्ति नष्ट होगई है, उसी यजमान के लिए नियत है। क्यों कि प्रतिष्ठारूप २१ से यजमान की उजड़ी हुई प्रतिष्ठा पुन प्रतिष्ठित होजाती है-'ता हैता गतश्रेरेवानुब्रूयात्'

जो यजमान न अपना अभ्युदय चाहता है न पतन उस यजमान के लिए उसे उसकी सामान्य स्थिति पर रहने के लिए ऋत्विक् लोग पूर्वोक्त पञ्चदश किंवा सप्तदश का ही अनुवचन करते हैं-'य इच्छेन्न श्रेयान्त्स्यान्न पापीयान् यादृशाय हैव स तेऽन्वाहु' तादृङ्ङ हैव भवति'।

दोनों पक्षों में से दूसरे २१ वें पक्ष में दोष बतलाती हुई श्रुति कहती है कि, २१ के पक्ष में 'श्रेयान्' के स्थान म 'पतन' होसकता है। अर्थात् फलप्राप्ति संदिग्ध है—'पापीयान्वा'। ऐसी स्थिति में २१ के पक्ष का केवल मीमांसा [विचार] ही समझना चाहिए, इसका अनुवचन नहीं करना चाहिए- सा उ एषा मीमांसैव, न त्वेवैता अनुच्यन्ते' ॥१२॥

[संख्या के सम्बन्ध में व्यवस्था कर अब उच्चारण-क्रिया में विशेषता बतलाती हुई श्रुति कहती है] उस ऋत्विक [भावी होता] को पहिली सामिधेनी-ऋचा का तथा अन्त की सामिधेनी-ऋचा का तीन तीन बार अनवानन् [अनुच्छ्वास] रूप से ही अनुवचन करना चाहिए। [कहा गया है कि, १५ में से १-११ वीं ऋचा को तीन तीन बार बोला जाता है। इन के उच्चारण में एकसन्तानभाव ही रहना चाहिए। अर्थात् एक ही श्वास में-बिना मध्य में विश्राम किए-आरम्भ की ऋचा का त्रि-बार एवमेव अन्त की ऋचा का त्रि-बार उच्चारण करना चाहिए। इस एकश्वासात्मक सन्तानभाव का कारण यही है कि] प्राकृतिक नित्य आधिदैविक यज्ञ में [पृथिवी अन्तरिक्ष-द्यौः नामक] तीन लोक हैं। [तीन लोक महिमापृथिवीरूप एक ही लोक के तीन सन्तत पर्व हैं]। [यहाँ तीनों ऋचाओं का सन्तत उच्चारण करता हुआ ऋत्विक्] इन्हीं तीनों लोकों को [यज्ञफलभोक्ता यजमान के लिए प्रातिस्विकरूप से] एकरूप से [अविच्छिन्नरूप से] फैलाता है किंवा तीनों का परस्पर ग्रन्थिबन्धन करता है एवं तीनों को मीलित तथा [परस्पर के बन्धन से] बलयुक्त बनाता है। अपिच [आध्यात्मिक यज्ञमूर्त्ति] पुरुष में प्राण-व्यान-अपान भेद से तीन प्राण। अव्यवच्छिन्नरूप से] प्रतिष्ठित हैं। [इस अनवानन्-क्रिया से वह होता] इन्हीं तीनों को परस्पर सम्बद्ध [सन्तत] तथा विच्छेदरहित [अव्यवच्छिन्न] करता है। यही अनुवचन का [वैज्ञानिक] प्रकार है, अर्थात् अनवानन्-रूप से ही अनुवचन करना चाहिए ॥१३॥

(प्रथम तथा अन्त की तीन तीन ऋचाएँ यथास्वर-सुस्पष्ट-मर्यादा से एक साथ एक श्वास से बोल देना साधारण काम नहीं है। मान लीजिए, होता में स्वरसन्धान का उतना बल नहीं है। ऐसी दशा में अनुवचन की क्या व्यवस्था होगी ? इसी विप्रतिपत्ति के सम्बन्ध में व्यवस्था करती हुई श्रुति कहती है कि)—(उत्तम पक्ष तो यही है कि) इस होता का उत्साह यदा

चले शक्तिभर इसीप्रकार (पूर्वोक्त अनवानानरूप से एक ही श्वास में) अनुवचन करने का प्रयास करे—(स यावदेव वश स्यात् एयमेवानुविवचेत)। (यदि ऐसा सम्भव न होसके, तो उस रि ति में शक्ति के अभाव में एक ऋचा के मध्य में विश्राम न लेकर पूरी ऋचा समाप्त होजाने पर ही विश्राम कर सकता है। परन्तु) इस (मध्य-विश्रामात्मक) पक्ष की निन्दा ही मानी जाती है। (निन्दा का मूल यही है कि)-अनवानन् (एकश्वास में) बोलने की इच्छा से ऋक् मन्त्र का उच्चारण करता हुआ होता जब कि मध्य में श्वास का परित्याग कर देता है तो उस दशा में (त्रैलोक्य-सधानात्मक) यह अनवानन-अनुवचनकर्म्म (मध्य के विराम से व्यव-च्छिन्न होता हुआ) निबल ही होजाता है। यही इस पक्ष में 'परिचक्षा (निर्बलता) है। तात्पर्य्य इस परिचक्षाभावप्रदर्शन का यही है कि जब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होजाय कि, अब विश्राम लिए बिना आगे उच्चारण असम्भव है, तभी मध्य-विराम अपेक्षित है)॥

अथवा उक्त कण्डिका का इस रूप से भी समन्वय किया जासकता है कि-अनुवचन करने वाले होता को चाहिए कि उसके श्वास में (जितनी देर ठहरने का) बल है उतनी देर तक ही बोले। श्वास पर बल प्रयोग न करे। यदि-शक्त्यभाव में यदि होता तीन ऋचाएँ एक साथ न बोलकर मध्य में विश्राम ले लेता है तो कोई दोष नहीं है-"स यावदस्य वश स्यात्, एवमेवानुविवचेत" ।

उक्त पक्ष को अदोषभाक् मानने वालों का प्रतिवाद करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि नहीं ऐसी बात नहीं है। अवश्य ही इस पक्ष की (ऋङ्मध्य-विश्राम की) परिचक्षा (निन्दा) ही है। यदि होता एक श्वास में (अनवानन) बोलने का सकल्प कर (अनुविवचन्)मध्य में (सामि) ही विश्राम कर लेगा [अपान्यात], तो त्रैलोक्य-सन्धानात्मक होने वाला लोकसन्तानान्यवच्छेदसाधक] यह कर्म्म शिथिल होजायगा-"उत सामि अवान्यात् अनवान्ननुविवचन्, तत् कर्म्म विवहेत्"। यही इस विश्रामपक्ष में दोष है। (अत कभी ऋङ्मध्य में अवसान नहीं होना चाहिए]। उक्त दोनों अर्थों में आगे के प्रकरण की सङ्गति की दृष्टि से दूसरा अर्थ ही अन्वर्थ समझना चाहिए ॥१४॥

[प्रश्न उपस्थित होता है कि जब विश्राम लेना दोष है एवं कोई होता अपनी शक्ति से एक श्वास में तीनों का अव्यवच्छिन्न उच्चारण कर नहीं कर सकता, तो ऐसी परिस्थिति में क्या किया जाय?। इसी प्रश्न के सम्बन्ध में पक्षान्तर बतलाती हुई श्रुति कहती है कि]-यह होता यदि ऐसा करना (अनवानन रूप से एक श्वास में) अपनी शक्ति के बाहिर समझता है (तो उस दशा में ऋङ्मन्त्र के मध्य में विश्राम न कर (एक एक ऋचा का अनवानन् (एक श्वास में) अनुवचन करे। (अर्थात् ऋङ्मध्य में विश्राम करना दोष है ऋक् के अवसान में दोष नहीं है)। (यदि ऋक् के अन्त में विश्राम किया जायगा तो पूर्वोक्त आधिदैविकी लोकसम्पत्ति तथा आध्यात्मिकी प्राणसम्पत्ति कैसे प्राप्त होगी? प्रश्न का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है)-इस एक एक ऋचा से ही यह (क्रमपरम्परया) तीनों लोकों को सन्तत तथा इन्हें बलवान् बनाने में समर्थ हो जाता है। (तीनों लोक सन्तत होते हुए पृथक् पृथक्, हैं। ऐसी स्थिति में तीनों के पृथक् पृथक्

किन्तु निरन्तर अनुवचन से लोकसम्पत्ति प्राप्त होजाती है, यही तात्पर्य्य है। अब जोकि प्राणा-धान करता है-(उसका समन्वय इसप्रकार होजाता है कि प्राण अपान-व्यान तीनों आध्यात्मिक प्राण आलोमभ्य आनखाग्रेभ्य व्याप्त एक ही गायत्रीप्राण के तीन पर्व हैं। फलतः प्राणत्र-यात्मिका) गायत्री ही प्राण है। सो जो कि होता एक बार में ऋक्मन्त्ररूप अशेष गायत्री का अनुवचन करता है इससे (प्राणत्रयगर्भित) अशेष प्राण का भी आधान करने में समर्थ होजाता है। इसलिए (जब कि एक एक के अनवानन् अनुवचन से लोक-प्राण-सम्पत्तियाँ प्राप्त होजाती हैं, तो) एक एक का अनवानन् रूप से अनुवचन कर (लेना) चाहिए ॥१५॥

(प्रथम प्रथम की तीन सामिधेनियों के सम्बन्ध में उच्चारण की व्यवस्था बतलाई गई। अब समष्टिरूप से १५ हों के उच्चारण-सम्बन्ध में विशेष नियम बतलाती हुई श्रुति कहती है कि) वह होता इन १५ सामिधेनी-ऋचाओं का अव्यवच्छिन्नरूप से (नैरन्तर्य्यविधि से) अनुवचन करता है। (तात्पर्य्य यही है कि, मन्त्रों का उच्चारण क्रमशः परम्परया बिना अन्य क्रम के समा-वेश के निरन्तर-मर्य्यादा से ही होना चाहिए। कारण इसका यही है कि ये १५ ऋक्मन्त्र पूर्वकथ-नानुसार सम्वत्सर के अहोरात्र-स्थानीय हैं। सन्तत अव्यवच्छिन्न उच्चारण करता हुआ होता) सम्वत्सर के अहोरात्र-पर्वो को ही सन्तत तथा अव्यवच्छिन्न करता है। ये वे सम्वत्सर के अहोरात्रपर्व परस्पर मिलकर-सन्तानपरम्परारूप से ही चक्रवत् परिवर्त्तित होते रहते हैं। प्रकृति में अहोरात्रपर्व सन्तत अव्यवच्छिन्नरूप से ही परिप्लवमान हैं। अतः तत्स्थानीया सामिधेनी का भी उसी मर्य्यादा से अनुवचन होना चाहिए। (अब इस सन्तत-अविच्छिन्नभाव का दूसरा कारण बतलाती हुई श्रुति कहती है कि सन्तत अविच्छिन्नरूप से अनुवचन करता हुआ होता) द्वेष रखने वाले (कृत्रिमशत्रु) के लिए, तथा भ्रातृव्य के लिए (सहजशत्रु के लिए) इस (अपने भोग्य-स्थानीय सम्वत्सरचक्र में) 'उपस्थान' (प्रवेशद्वारा) नहीं करता है। वह होता (यजमान के इस भोग्य सम्वत्सरचक्र में उभयविध शत्रुओं के लिए) प्रवेशद्वार ही बनाता है, जो कि असन्ततरूप से सामिधेनियों का अनुवचन करता है। अतः सन्तत-अव्यवच्छिन्नरूप से ही अनुवचन करता है (करना चाहिए) ॥१६॥

तीसरे अध्याय में पाँचवाँ, तथा तीसरे प्रपाठक में दूसरा ब्राह्मण समाप्त

सामिधेनीब्राह्मणानुगत प्रथमब्राह्मण अत्र-उपरत

(तीसरा अध्याय समाप्त)

३

शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्यान्तर्गत
चौथा अध्याय आरम्भ
४



चौथे अध्याय में पहिला, तथा तीसरे प्रपाठक में तीसरा ब्राह्मण
सामिधेनी–ब्राह्मणानुगत-दूसरा ब्राह्मण

गायत्री–छन्दस्क १५ सामिधेनीमन्त्र, १५ संख्या प्रथमोत्तम के तीन तीन मन्त्रों का अनवानम् उच्चारण १५ हों का सन्ततरूप से अनुवचन इन से क्रमशः ब्रह्म, वज्र–सम्वत्सर के अहोरात्रपर्व, प्रवेशद्वाररहित चक्राधिपत्य, इन चार सम्पत्तियों की प्राप्ति बतलाई गई। अब यहाँ सामिधेनियों के सम्बन्ध में उच्चारणानुगत विशेषधर्म्म का विधान करता हुआ निम्न लिखित प्रकरण उपक्रान्त होता है—

वह होता (सामिधेनी-ऋक् का उच्चारण करने से पहले) 'हिंकार' करके ('हिं' शब्द का उच्चारण करके) अनुवचन (ऋक् का उच्चारण) करता है। वैज्ञानिक लोगोंने कहा है कि, (कोई भी) यज्ञ असामा (साम रहित) नहीं है। (साथ ही) हिंकार किए विना साम नहीं गाया जासकता। सो जोकि होता 'हिंक्' करता है इस से हिंकार का रूप सम्पन्न करता है, एवं 'ओ३म्–ओ३म्' इस प्रणव से ही साम के रूप (रूपसम्पत्ति) को प्राप्त करता है। इस (प्रणवपूर्वक हिंकारानुगत अनुवचन) से सम्पूर्ण यज्ञ समासा (सामसम्पत्ति से युक्त) होजाता है। प्रत्येक मन्त्र प्रणवपूर्वक बोला जाता है प्रणव से पहले यहाँ 'हिं' और लगाया जाता है। इस हिंकारात्मक–प्रणवोच्चारण से सामसम्पत्ति गतार्थ बन जाती है। हमारा यज्ञ ससाम बनजाय यही हिंकार की एक उपपत्ति है यही तात्पर्य्य है) ॥१॥

जिस (दूसरे) प्रयोजन के लिए कि हिङ्कार करता है– वह बतलाते हैं)–नासिकास्थित श्वासप्रश्वासाधिष्ठाता मुख्य) प्राण निश्चयेन 'हिङ्कार' है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, (कोई भी व्यक्ति) नासाच्छिद्रों को अवरुद्ध कर हिंकार नहीं करसकता। (जहाँ हिंकार नासाप्राणात्मक होने से प्राण है वहाँ) ऋङ्मन्त्र वागरूप उच्चारणापेक्षया वागात्मक है। इसप्रकार हिंकार 'प्राण' बना हुआ है, एवं ऋक् 'वाक्' बनी हुई है। इसी वाक् प्राण के मिथुनभाव को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है कि–वाक् से ऋक् का अनुवचन करता है एवं वाक्–प्राण दोनों का (योषा–वृषात्मक)

किन्तु निरन्तर अनुवचन से लोकसम्पत्ति प्राप्त होजाती है यही तात्पर्य्य है। अब जोकि प्राणा-पान करता है-(उसका समन्वय इसप्रकार होजाता है कि, प्राण अपान-व्यान तीनों आध्यात्मिक प्राण आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्य, व्याप्त एक ही गायत्रीप्राण के तीन पर्व हैं। फलतः प्राणत्र-यात्मिका) गायत्री ही प्राण है। सो जो कि होता एक बार में ऋक्सन्त्ररूप अशेष गायत्री का अनुवचन करता है इससे (प्राणत्रयगर्भित) अशेष प्राण का भी आधान करने में समर्थ होजाता है। इसलिए (जब कि एक एक के अनवानन् अनुवचन से लोक-प्राण-सम्पत्तियाँ प्राप्त होजाती हैं, तो) एक एक का अनवानन् रूप से अनुवचन कर (लेना) चाहिए ॥१५॥

(प्रथम प्रथम की तीन सामिधेनियों के सम्बन्ध में उच्चारण की व्यवस्था बतलाई गई। अब समष्टिरूप से १५ ऋचाओं के उच्चारण-सम्बन्ध में विशेष नियम बतलाती हुई श्रुति कहती है कि) यह होता इन १५ सामिधेनी-ऋचाओं का अव्यवच्छिन्नरूप से (नैरन्तर्य्यविधि से) अनुवचन करता है। (तात्पर्य्य यही है कि मन्त्रों का उच्चारण क्रमशः परम्परया विना अन्य कर्म के समा-वेश के निरन्तर-मर्य्यादा से ही होना चाहिए। कारण इसका यही है कि ये १५ ऋक्मन्त्र पूर्वकथ नानुसार सम्वत्सर के अहोरात्र-स्थानीय हैं। सन्तत अव्यवच्छिन्न उच्चारण करता हुआ होता) सम्वत्सर के अहोरात्र-पर्वो को ही सन्तत तथा अव्यवच्छिन्न करता है। ये ये सम्वत्सर के अहोरात्रपर्व परस्पर मिलकर-सन्तानपरम्परारूप से ही चक्रवत् परिवर्त्तित होते रहते हैं। प्रकृति में अहोरात्रपर्व सन्तत अव्यवच्छिन्नरूप से ही परिप्लवमान हैं। अतः तत्स्थानीया सामिधेनी का भी उसी मर्य्यादा से अनुवचन होना चाहिए। (अब इस सन्तत अविच्छिन्नभाव का दूसरा कारण बतलाती हुई श्रुति कहती है कि सन्तत अविच्छिन्नरूप से अनुवचन करता हुआ होता) द्वेष रखने वाले (कृत्रिमशत्रु) के लिए, तथा भ्रातृव्य के लिए (सहजशत्रु के लिए) इस (अपने भोग्य-स्थानीय सम्वत्सरचक्र में) 'उपस्थान' (प्रवेशद्वारा) नहीं करता है। वह होता (यजमान के इस भोग्य सम्वत्सरचक्र में उभयविध शत्रुओं के लिए) प्रवेशद्वार ही बनाता है, जो कि असन्ततरूप से सामिधेनियों का अनुवचन करता है। अतः सन्तत-अव्यवच्छिन्नरूप से ही अनुवचन करता है (करना चाहिए) ॥१६॥

तीसरे अध्याय में पाँचवाँ, तथा तीसरे प्रपाठक में दूसरा ब्राह्मण समाप्त

सामिधेनीब्राह्मणानुगत प्रथमब्राह्मण अत्र-उपरत

(तीसरा अध्याय समाप्त)

३

शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्यान्तर्गत
चौथा अध्याय आरम्भ
४

चौथे अध्याय में पहिला, तथा तीसरे प्रपाठक में तीसरा ब्राह्मण
सामिधेनी–ब्राह्मणानुगत-दूसरा ब्राह्मण

गायत्री–छन्दस्क १४ सामिधेनीमन्त्र १५ संख्या प्रथमोत्तम के तीन तीन मन्त्रों का मनसानन उच्चारण १५ हों का सन्ततरूप से अनुवचन, इन से क्रमशः ब्रह्म, वज्र–सम्वत्सर के अहोरात्रपर्व, प्रवेशद्वाररहित चक्राधिपत्य, इन चार सम्पत्तियों की प्राप्ति बतलाई गई। अब इन्हीं सामिधेनियों के सम्बन्ध में उच्चारणानुगत विशेषधर्म्म का विधान करता हुआ निम्न लिखित प्रकरण उपक्रान्त होता है—

वह होता (सामिधेनी-ऋक् का उच्चारण करने से पहले) 'हिंकार' करके ('हिं' शब्द का उच्चारण करके) अनुवचन (ऋक् का उच्चारण) करता है। वैज्ञानिक लोगोंनें कहा है कि, (कोई भी) यज्ञ असामा (साम रहित) नहीं है। (साथ ही) हिंकार किए बिना साम नहीं गाया जासकता। सो जोकि होता 'हिङ्' करता है इस से हिंकार का रूप सम्पन्न करता है एवं 'ओ३म्-ओ३म्' इस प्रणव से ही साम के रूप (रूपसम्पत्ति) को प्राप्त करता है। इस (प्रणवपूर्वक हिंकारानुगत अनुवचन) से सम्पूर्ण यज्ञ समासा (सामसम्पत्ति से युक्त) होजाता है। प्रत्येक मन्त्र प्रणवपूर्वक बोला जाता है प्रणव से पहले यहाँ 'हिं' और लगाया जाता है। इस हिंकारात्मक–प्रणवोच्चारण से सामसम्पत्ति गतार्थ बन जाती है। हमारा यज्ञ ससाम बनजाय, यही हिंकार की एक उपपत्ति है यही तात्पर्य्य है) ॥१॥

जिस (दूसरे) प्रयोजन के लिए कि हिंकार करता है– वह बतलाते हैं)–नासिकास्थित श्वास प्रश्वासाधिष्ठाता मुख्य) प्राण निश्चयेन हिंकार है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि (कोई भी व्यक्ति) नासाच्छिद्रों को अवरुद्ध कर हिंकार नहीं करसकता। (जहाँ हिंकार नासाप्राणात्मक होने से प्राण है वहाँ) ऋक्मन्त्र वाग्रूप उच्चारणापेक्षया वागात्मक है। इसप्रकार हिंकार 'प्राण' बना हुआ है, एवं ऋक् 'वाक्' बनी हुई है। इसी वाक्-प्राण के मिथुनभाव को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है कि–वाक् से ऋक् का अनुवचन करता है एवं वाक्–प्राण दोनों का (योषा–वृषात्मक)

किन्तु निरन्तर अनुवचन से लोकसम्पत्ति प्राप्त होजाती है यही तात्पर्य्य है। अब जोकि प्राणाधान करता है-(उसका समन्वय इसप्रकार होजाता है कि, प्राण अपान-व्यान तीनों आध्यात्मिक प्राण आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्य व्याप्त एक ही गायत्रीप्राण के तीन पर्व हैं। फलतः प्राणत्रयात्मिका) गायत्री ही प्राण है। सो जो कि होता एक बार में त्र्यृक्सन्त्ररूप अशेष गायत्री का अनुवचन करता है इससे (प्राणत्रयगर्भित) अशेष प्राण का भी आधान करने में समर्थ होजाता है। इसलिए (जब कि एक एक के अनवानम् अनुवचन से लोक-प्राण-सम्पत्तियाँ प्राप्त होजाती हैं तो) एक एक का अनवानम् रूप से अनुवचन कर (लेना) चाहिए ॥१४॥

(प्रथम प्रथम की तीन सामिधेनियों के सम्बन्ध में उच्चारण की व्यवस्था बतलाई गई। अब समष्टिरूप से १५ ऋचाओं के उच्चारण-सम्बन्ध में विशेष नियम बतलाती हुई श्रुति कहती है कि) वह होता इन १५ सामिधेनी-ऋचाओं का अव्यवच्छिन्नरूप से (नैरन्तर्य्यविधि से) अनुवचन करता है। (तात्पर्य्य यही है कि, मन्त्रों का उच्चारण क्रमशः परम्परया बिना अन्य कर्म के समावेश के निरन्तर-मर्यादा से ही होना चाहिए। कारण इसका यही है कि ये १५ ऋक्मन्त्र पूर्वकथनानुसार सम्वत्सर के अहोरात्र-स्थानीय हैं। सन्तत अव्यवच्छिन्न उच्चारण करता हुआ होता) सम्वत्सर के अहोरात्र-पर्वों को ही सन्तत तथा अव्यवच्छिन्न करता है। ये ये सम्वत्सर के अहोरात्रपर्व परस्पर मिलकर-सन्तानपरम्परारूप से ही चक्रवत् परिवर्त्तित होते रहते हैं। प्रकृति में अहोरात्रपर्व सन्तत अव्यवच्छिन्नरूप से ही परिप्लवमान हैं। अतः तत्स्थानीया सामिधेनी का भी उसी मर्यादा से अनुवचन होना चाहिए। (अब इस सन्तत-अविच्छिन्नभाव का दूसरा कारण बतलाती हुई श्रुति कहती है कि, सन्तत अविच्छिन्नरूप से अनुवचन करता हुआ होता) द्वेष रखने वाले (कृत्रिमशत्रु) के लिए, तथा भ्रातृव्य के लिए (सहजशत्रु के लिए) इस (अपने भोग्यस्थानीय सम्वत्सरचक्र में) 'उपस्थान' (प्रवेशद्वारा) नहीं करता है। वह होता (यजमान के इस भोग्य सम्वत्सरचक्र में उभयविध शत्रुओं के लिए) प्रवेशद्वार ही बनाता है जो कि असन्ततरूप से सामिधेनियों का अनुवचन करता है। अतः सन्तत-अव्यवच्छिन्नरूप से ही अनुवचन करता है (करना चाहिए) ॥१६॥

तीसरे अध्याय में पाँचवाँ, तथा तीसरे प्रपाठक में दूसरा ब्राह्मण समाप्त

सामिधेनीब्राह्मणानुगत प्रथमब्राह्मण अत्र-उपरत

(तीसरा अध्याय समाप्त)

३

[आदान-विसर्गभाव] की व्याप्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है]-सभी पदार्थ-समष्टि, व्यष्टिरूप से उभयथा आ-[आदान] प्र-[विसर्ग] भावों से ही युक्त हैं। [इस सर्वसामान्य-सम्पत्ति-आदानविसर्गात्मिका कर्मसम्पत्ति-के लिए ही] एति-प्रेति पूर्वक अनुवचन करता है ॥६॥

[अनुवचन के सम्बन्ध में जो कुछ विशेषताएँ बतलानी थीं, बतलादी गई। दूसरे शब्दों में अनुवचनानुगत उपपत्ति-प्रकरण समाप्त हुआ। अब पद्धति-प्रकरण आरम्भ होता है। पद्धति-प्रकरण आरम्भ करें, इस से पहिले सामिधेनी-मन्त्रपाठ के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें [मन्त्रानुगत] लक्ष्य में ले आनीं चाहिएँ —

प्रकृत ब्राह्मण की सातवीं कण्डिका से आरम्भ कर ४० वी कण्डिकापर्य्यन्त [ब्राह्मणसमाप्तिपर्य्यन्त] जिन सामिधेनी-मन्त्रों की व्याख्या हुई है, व सामिधेनीमन्त्र तैत्तिरीयब्राह्मण में निम्नलिखित रूप से पठित है—

१-प्र वो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या ।
दवाञ्जिगाति सुम्नयुः ॥
—ऋक्सं० ३।२७।१ ।

२-अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥
—ऋक्सं० ६।१६।१० ।

३-त त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि ।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य ॥
—ऋक्सं० ६।१६।११ ।

४-स नः पृथु श्रवाय्यमच्छा देव विवाससि ।
बृहदग्ने सुवीर्य्यम् ॥
—ऋक्सं० ६।१६।१२ ।

५-ईळेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः ।
समग्निरिध्यते वृषा
—ऋक्सं० ३।२७।१३ ।

६-वृषो अग्निः समिध्यते अश्वो न देववाहनः ।
तं हविष्मन्त ईळते ॥
—ऋक्सं० ३।२७।१४ ।

मिथुन (दाम्पत्यभाव) है। (इसप्रकार हिंकारपूर्वक-प्राणपूर्वक-वाक् का-(वाक् का) प्रयोग करता हुआ) होता (इस हिंकार-वाक्रूप प्राण-वाक् के मिथुन से) सामिधेनियों के पहले ही मिथुन प्रजनन करता है। इस (प्रजनन-सम्पत्ति के) लिए भी हिंकार करके अनुवचन करता है ॥२॥

वह होता उपांशुरूप से मन्द्ररूप से, किन्तु गम्भीरध्वनि से) हिंकार करता है। यदि होता (मन्त्रवत्) उच्चस्वर से हिंकार करेगा तो इस हिंकार को भी दूसरी वाक् ही बना डालेगा (फलतः मिथुनसम्पत्ति प्राप्त न होगी), इसलिए उपांशु हिंकार करता है ॥३॥

वह होता 'आ' तथा 'प्र' से युक्त सामिधेनी-ऋक् का अनुवचन करता है। [इस 'आ' से उपलक्षित 'एति', तथा 'प्र' से उपलक्षित 'प्रेति' के समावेश से सामिधनी-ऋग्रूपा] गायत्री को ही यह होता [एति से] अर्वाची [भूलोकानुगामिनी] बनाता है एवं [प्रेति से] पराची [द्युलोकानु गामिनी] बनाता है। पराची गायत्री तो देवताओं के लिए यज्ञ [आहुतिद्रव्य] का वहन करती है, एवं अर्वाची गायत्री मनुष्यों का पालन करती है। [इस उभयविध-फलप्राप्ति के लिए ही] 'एति-प्रेति' रूप से सामिधेनी का अनुवचन करता है ॥४॥

[एति-प्रेति की एक उपपत्ति बतलाई गई। अब दूसरी उपपत्ति बतलाते हैं]-जिस प्रयोजन के लिए कि एति-प्रेति-पूर्वक अनुवचन करता है-[उसका दूसरा कारण बतलाते हैं]-पराग्गति सूचक] 'प्र' [प्रतिरूप मर्य्यादा से] प्राण है, एवं [अर्वाग् गतिसूचक] 'आ' उदान है। ['प्र' 'आ' का सम्बन्ध करता हुआ] होता [यज्ञातिशयलक्षण भावी यज्ञपुरुष में] 'प्राणोदान' ही स्थापित करता है। इसलिए भी 'एति-प्रेति' पूर्वक अनुवचन करता है ॥५॥

जिसलिए कि 'आ-प्र'-पूर्वक अनुवचन करता है-[इसकी तीसरी उपपत्ति बतलाते हैं]। [सिच्यमान रेत क्योंकि सिञ्चन करने वाले से पराग्गति रखता है इस सादृश्य से] 'प्र' यह रेत का आधान है, [सिक्तरेत गर्भाशय से हमारे अभिमुख आता हुआ सिञ्चन करने वाले से अर्वाग्गति रखता है, इस सादृश्य से] 'आ' यह उत्पत्ति है [इस रेतःसेक तथा प्रजोत्पत्ति-सम्पत्ति के आधान के लिए भी एति-प्रेति-पूर्वक अनुवचन किया जाता है]। अपिच-[तृणादिभक्षणार्थ पशुओं का जङ्गल में जाना क्योंकि पराग्गति से सम्बन्ध रखता है, इस सादृश्य से] 'प्र' यह पशुगमन-स्थानीय है। एवं [जाकि सायङ्काल पशुओं का लौट आना अर्वाग्गति से सम्बन्ध रखता है, इस सादृश्य से] 'आ' यह पशुओं का लौटना है। [इस पशुसमृद्धि के आधान के लिए भी एति प्रेति-पूर्वक अनुवचन किया जाता है। इसप्रकार एति प्रेति' के सम्बन्ध में चार उपपत्तियाँ बतलाकर अन्त में एति-प्रेतिरूपा गायत्री से उत्पन्न सम्पूर्ण विश्व में-एति-प्रेति-भाव

"अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारत, (असावसौ,) देवेद्धो मन्विद्ध ऋषिष्टुतो विप्रानुमदित कविशस्तो ब्रह्मसंशितो घृताहवन, प्रणीर्यज्ञानां रथीरध्वराणाम्। अतूर्तो होता तूर्णिर्हव्यवाट्। आस्पात्र जुहूर्देवानां चमसो देवपान । अरॉं इवाग्ने नेमिर्देवांस्त्वं परिभूरसि ॥ आवह देवान् यजमानाय, अग्निमग्न आवह, सोममावह, अग्निमावह, प्रजापतिमावह, अग्नीषोमावावह, इन्द्राग्नी आवह, इन्द्रमावह महेन्द्रमावह, देवाँ आज्यपाँ आवह, अग्निं होत्रायावह, स्वं महिमानमावह, आचाग्ने देवान् वह, सुयजा च यज जातवेदः"।

(तै० ब्रा० ३ का० ५ प्र०)

उक्त ११ सामिधेनी-मन्त्रों म से शतपथ में तो सातवें मन्त्र का 'वृषण त्वा वयं वृषन् वृषण-समिधीमहि" इसप्रकार ह्रस्वान्त पाठ है एवं तै० ब्रा में "वृषण" के स्थान में [ऋक् संहितावत्] 'वृषाण' पाठ है। एवमेव आगे की निगदादि मन्त्रसमष्टि के अन्त के- "आचाग्ने देवान् वह, सुयजा च यज जातवेद" इस तैत्तिरीय पाठ के स्थान में शतपथ में "आच वह जातवेद सुयजा च यज" यही पाठ है। इसके अतिरिक्त ११ वें मन्त्र में तै० ब्रा० के 'आजुहोत' के स्थान में [ऋक् संहितावत्] 'आजुहोता' यह पाठ है। इन सब मन्त्रों का विशद वैज्ञानिक विवेचन आगे के विवचना प्रकरण में किया जायगा। प्रकृत मूलानुवाद-प्रकरण में केवल पद्धति ही बतला दी जाती है।]

यह होता [सर्वप्रथम] 'प्र वो वाजा अभिद्यवः' [इत्यादि] इस सामिधेनी ऋचा का अनुवचन करता है। यह अनुवचनकर्म (मन्त्रोपात्त 'प्र' के सम्बन्ध से परागगतिरूप 'प्र' इस भाव का समाहक है। (अनन्तर) 'अग्नऽआयाहि वीतये' (इत्यादि) इस सामिधनी ऋचा का अनुवचन करता है। यह अनुवचनकर्म [मन्त्रोपात्त 'आयाहि' के सम्बन्ध से अर्वाग्गतिरूप] 'आ' इस भाव का संग्राहक है। [दोनों मन्त्रों के प्र-आयाहि पदों से यह यज्ञ यज्ञकर्म्मानुगत, आदान-विसर्गात्मिका स्वाभाविकी सम्पत्ति से युक्त होजाता है, यही तात्पर्य्य है] ॥७॥

क्योंकि 'आयाहि' 'वीतये' यह वाक्य स्वगतस्थ पदवाक्यों की अपेक्षा से परागगति का सूचक बन रहा है, अतएव यह भी 'प्र' भाव का ही समर्थक माना जायगा इस हेतु को लक्ष्य में रखते हुए) कितने एक वैज्ञानिकों का कहना है कि, उक्त दोनों सामिधनीमन्त्र 'प्र' भाव को ही सम्पन्न करने वाले हैं। (इनके उक्त हेतु को अवैज्ञानिक बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि,-उन वैज्ञानिकों का (दोनों को 'प्र' भाव-परक बतलाना) यह कथन विज्ञान-के

७–वृषणं त्वा वयं वृषन्—वृषाणः समिधीमहि ।
अग्ने दीद्यतं बृहत् ॥
–ऋक्सं० ३।२७।१५ ।

८–अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥
–ऋक्सं० १।१२।१ ।

६–समिध्यमानो अध्वरे अग्निः पावक ईड्यः ।
शोचिष्केशस्तमीमहे ॥
–ऋक्सं० ३।२७।४ ।

१० समिद्धो अग्न आहुत देवान् यक्षि स्वध्वर ।
त्वं हि हव्यवाडसि ॥
–ऋक्सं० ५।२८।५ ।

११–आजुहोत–*दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे ।
वृणीध्वं हव्यवाहनम् ॥
–ऋक्सं० ५।२८।६ ।
(–तै ब्रा० ३।५।२ ।)

उक्त ११ सामिधेनी–मन्त्रों से ही अग्निसमिन्धनकर्म्म किया जाता है। प्रस्तुत शतपथ ब्राह्मण यद्यपि प्रचलित शुक्लयजु: संहिता की क्रमिक व्याख्या करता हुआ इसी का ब्राह्मण माना जाता है, परन्तु आश्चर्य्य है कि, उक्त ग्यारह मन्त्रों में से यजुःसंहिता में केवल "त्वं त्वा समिद्भिः" (यजुःसं ३।३) यह एक ही मन्त्र उपलब्ध होता है। शेष १० मन्त्र यजु संहिता में नहीं हैं। इसीप्रकार आगे जाकर जिन मन्त्रों का निगदानुवचन, आर्षेयानुवचन तथा निवित्पाठ–कर्म्मों में उपयोग हुआ है वे निम्न लिखित मन्त्र भी यजुःसंहिता में अनुपलब्ध हैं। प्रत्येक शाखा का एक ब्राह्मण एक आरण्यक तथा एक उपनिषत् होता है। बहुत सम्भव है–प्रथम तो प्रस्तुत शतपथ ब्राह्मण माध्यन्दिनीशाखा का न हो अथवा प्रचलित यजुःसंहिता माध्यन्दिनीशाखा की न हो। अवश्य ही दोनों में से एक पक्ष मीमांस्य है। अन्यथा जो मन्त्र स्वयं ब्राह्मणग्रन्थ में पठित हैं, उन का यजुःसंहिता में उपलब्ध न होना कोई अर्थ नहीं रखता। अनुपलब्ध शेष मन्त्र ये हैं–

—— 'वृषण'' इति ऋक्संहितायाम् ।
*— 'आजुहोता'' इति ऋक्संहितायाम् ।

"अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारत, (असावग्नौ,) दवेद्धो मन्विद्ध ऋषिष्टुतो विप्रानुमदित कविशस्तो ब्रह्मशसितो घृतवाहन, प्रणीर्यज्ञानां रथीरध्वराणाम्। अतूर्तो होता तूर्णिर्हव्यवाट्। आस्पात्र जुहूर्देवाना चमसो देवपान। अराँ इवाग्ने नेमिर्देवास्त्व परिभूरसि॥ आवह देवान् यजमानाय, अग्निमग्न आवह, सोमपावह, अग्निमावह, प्रजापतिमावह, अग्नीषोमावावह, इन्द्राग्नी आवह, इन्द्रमावह महेन्द्रमावह, देवाँ आज्यपां आवह, अग्निं होत्रायावह, स्वं महिमानमावह, आचाग्ने देवान् वह, सुयजा च यज्ञ जातवेद"।

(तै० ब्रा० ३ का० ५ प्र०)

उक्त ११ सामिधेनी-मन्त्रों म मे शतपथ में जो सातवें मन्त्र का 'वृषण त्वा वय वृषन् वृषणः-समिधीमहि" इसप्रकार ह्रस्वान्त पाठ है एवं तै० ब्रा में "वृषण' के स्थान में [ऋक्संहितावत] 'वृषाण' पाठ है। एवमेव आगे की निगदादि मन्त्रसमष्टि के अन्त के-"आचाग्ने देवान् वह, सुयजा च यज जातवेद" इस तैत्तिरीय पाठ के स्थान में शतपथ में "आच वह जातवेदः सुयजा च यज" यही पाठ है। इसके अतिरिक्त ११ वें मन्त्र में तै० ब्रा० के 'आजुह्वोत' के स्थान में [ऋक्संहितावत] 'आजुहोता' यह पाठ है। इन सब मन्त्रों का विशद वैज्ञानिक विवेचन आगे के विवेचना-प्रकरण में किया जायगा। प्रकृत मूलानुवाद-प्रकरण में केवल पद्धति ही बतला दी जाती है।]

वह होता [सर्वप्रथम] "प्र वो वाजा अभिद्यवः' [इत्यादि] इस सामिधेनी ऋचा का अनुवचन करता है। यह अनुवचनकर्म्म (मन्त्रोपात्त 'प्र' के सम्बन्ध से परागगतिरूप 'प्र' इस भाव का समाहक है। (अनन्तर) 'अग्नऽआयाहि वीतये' (इत्यादि) इस सामिधेनी ऋचा का अनुवचन करता है। यह अनुवचनकर्म्म [मन्त्रोपात्त 'आयाहि' के सम्बन्ध से अर्वाग्गतिरूप] 'आ' इस भाव का संग्राहक है। [दोनों मन्त्रों के प्र-आयाहि पदों से यह यज्ञ यज्ञकर्म्मानुगत आदान-विसर्गात्मिका स्वाभाविकी सम्पत्ति से युक्त होजाता है यही तात्पर्य्य है] ॥७॥

क्योंकि 'आयाहि' 'वीतये' यह वाक्य स्वगत्य वयवाओं की अपेक्षा से परागगति का सूचक बन रहा है अतएव यह भी 'प्र' भाव का ही समर्थक माना जायगा इस हेतु को लक्ष्य में रखते हुए) कितने एक वैज्ञानिकों का कहना है कि उक्त दोनों सामिधनीमन्त्र 'प्र' भाव को ही सम्पन्न करने वाले हैं। (इनके उक्त हेतु को अवैज्ञानिक बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि,-उन वैज्ञानिकों का (दोनों को 'प्र' भाव-परक बतलाना) यह कथन विज्ञान-के

७—वृषणं त्वा वयं वृषन्—वृषणः समिधीमहि ।
अग्ने दीद्यतं बृहत् ॥
—ऋक्सं० ३।२७।१५ ।

८—अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥
—ऋक्सं० १।१२।१ ।

९—समिध्यमानो अध्वरे अग्निः पावक ईड्यः ।
शोचिष्केशस्तमीमहे ॥
—ऋक्सं० ३।२७।४ ।

१० समिद्धो अग्न आहुत देवान् यक्षि स्वध्वर ।
त्वं हि हव्यवाडसि ॥
—ऋक्सं० ५।२८।५ ।

११—आजुह्वोत—*दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे ।
वृणीध्वं हव्यवाहनम् ॥
—ऋक्सं० ५।२८।६ ।
(—तै० ब्रा० ३।५।२।१)

उक्त ११ सामिधेनी-मन्त्रों से ही अग्निसमिन्धनकर्म्म किया जाता है। प्रस्तुत शतपथ ब्राह्मण यद्यपि प्रचलित शुक्लयजु संहिता की क्रमिक व्याख्या करता हुआ इसी का ब्राह्मण माना जाता है, परन्तु आश्चर्य्य है कि उक्त ग्यारह मन्त्रों में से यजुःसंहिता में केवल "तं त्वा समिद्भिः" (यजुःसं ३।३) यह एक ही मन्त्र उपलब्ध होता है। शेष १० मन्त्र यजुःसंहिता में नहीं हैं। इसीप्रकार आगे आकर जिन मन्त्रों का निगदानुवचन, आर्षेयानुवचन, तथा निवित्पाठ—कर्म्मों में उपयोग हुआ है वे निम्न लिखित मन्त्र भी यजुःसंहिता में अनुपलब्ध हैं। प्रत्येक शाखा का एक ब्राह्मण एक आरण्यक तथा एक उपनिषत् होता है। बहुत सम्भव है—प्रथम तो प्रस्तुत शतपथ ब्राह्मण माध्यन्दिनीशाखा का न हो अथवा प्रचलित यजुःसंहिता माध्यन्दिनीशाखा की न हो। अवश्य ही दोनों में से एक पक्ष मीमांस्य है। अन्यथा जो मन्त्र स्वयं ब्राह्मणग्रन्थ में पठित हैं, उन का यजुःसंहिता में उपलब्ध न होना कोई अर्थ नहीं रखता। अनुपलब्ध शेष मन्त्र ये हैं—

—— "वृषणं" इति ऋक्संहितायाम् ।
*— "आजुहोता" इति ऋक्संहितायाम् ।

स्थित अग्नि की स्तुति करते हुए] विदेघ को बुलवाने का निश्चय किया। [गोतम कहने लगे कि] "वीतिहोत्र त्वा कव द्युमन्त समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे" (हे कवे! हे अग्ने! यज्ञसमृद्धि-स्वरूप-समर्पक, अभिलषित-फलपूरक, कान्तियुत ऐसे आपका हम यज्ञ में मैं इध्मकाष्ठ से-समिन्धन कर रहा हूँ-यजु सं० २।४।] [ऋक् सं० ५।२६।३।] इस मन्त्र से अग्नि की स्तुति कर अन्त में गोतम ने कहा हे विदेघ!" ॥११॥

विदेघ ने कोई उत्तर नहीं दिया [मानो कुछ सुना ही नहीं। पुन अग्नि को स्तुति के द्वारा प्रबल बनाते हुए गोतम ने यह मन्त्र बोला] "उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते। तव ज्योतींष्यर्चय [ऋक् सं० ८।४४।१७- हे अग्ने! आपकी पवित्र निर्मल-शुक्लवर्ण की चमकती हुई रश्मियाँ आपकी ज्योतियों (तेज पर्वों) को प्रेरित (समृद्ध) कर रहे हैं) [इस प्रकार मन्त्रवाक से अग्नि की स्तुति कर प्लुतस्वर से उच्चस्वर से गोतम ने पुन' विदेघ का आह्वान करते हुए] यह कहा-हे विदेघ ३! ॥१२॥

राजा विदेघ ने फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया। (अन्त में राहूगण गोतम के मुख से "* तन्त्वा घृतस्नवीमहे" केवल यह मन्त्रभाग ही निकला था कि, घृत शब्द के उच्चारण से (विदेघ के मुख में प्रतिष्ठित) वैश्वानर अग्नि प्रबल वेग से प्रज्वलित होपड़ा। (उस प्रज्वलित अग्नि को) अब विदेघ मुख में न रख सके। (उन का संयम टूट गया, फलत) वैश्वानर अग्नि उनके मुख से बाहिर निकला पड़ा और इस पृथिवी पर प्राप्त होगया (गिर पड़ा) ॥ १३ ॥

(जिस समय गोतम के मुख से निकले हुए 'घृत' पद के श्रवण से विदेघ का मुखस्थित वैश्वानर अग्नि प्रज्वलित होकर बाहिर गिर पड़ा था) उस घटना के समय विदेघ माथव सरस्वती (गतश्रामक नदी) के ही समीप थे। (यहाँ प्रज्वलित अग्नि भूमि पर गिरा) यहीं से क्रमशः पूर्व की ओर यह अग्नि इस पृथिवी (के आर्द्र भाग का) जलाता (सुखाता) हुआ आगे बढ़ने लगा। आगे आगे जलभाग को जलाते हुए इस अग्नि के पीछे विदेघ माथव और राहूगण गोतम क्रमशः आगे बढ़ने लगे। (पूर्व की ओर वेग से बढ़ते हुए।) उस वैश्वानर अग्नि ने (मार्ग में पड़ने वाली इतर सब क्षुद्र) नदियों को सुखा डाला। उत्तगिरि से जो 'सदानीरा' नाम की नदी निकलती है केवल इसी को (उस अग्नि ने) नहीं सुखाया। क्योंकि इस नदी का

*-तं त्वा घृतस्नवीमहे चित्रभानो स्वर्दृशम्। देवाँ आ वीतये वह' (ऋक् सं ५।२६।२)। हे द्योतमान! हे विविध रश्मियुक्त अग्ने! स्वर्ग को पहिचानने वाले आप से हम प्रार्थना करते हैं कि, आप हविर्भक्षण के लिए (हमारे यज्ञ में स्वर्गलोक से) देवताओं को बुलाओ।

प्रतिमात्र (विज्ञान के अजीगमात्र) का ही सूचक है। वस्तुतः 'प्र वो वाजा अभिद्यव' का 'प्र' मात्र का ही, तथा 'अग्नऽआयाहि वीतये' यह 'आ' मात्र का ही सूचक है। (याज्ञवल्क्य का अभिप्राय यही है कि यज्ञ यजमान कर रहा है। सामिधेनी का अनुवचन यजमान के लिए होरहा है। इस यजमान की अपेक्षा से तो 'आयाहि' अर्वागगति का ही ग्राहक बन रहा है। ऐसी स्थिति में 'आयाहि' को प्राकृतिक नित्य यज्ञपरक मानना सर्वथा अवैज्ञानिक है।))॥८॥

(१)-(सातवीं कण्डिका में जिन मन्त्रों के अनुवचन का विधान हुआ है उनके पदों की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है)-वह होता- प्र वो वाजा अभिद्यव ' इस मन्त्र का अनु-वचन करता है। (होता का) यह अनुवचनकर्म 'प्र' का सम्पादक बनता है। '१वाजा' इस (वाक्य का तात्पर्य यही है कि) निश्चयेन अन्न का ही नाम 'वाजा' है। इससे अन्न के सम्बन्ध में ही कहा गया है। '२ अभिद्यव' इस (का अर्थ यही है कि) अर्द्धमास (पक्ष) ही का नाम है। इन्हीं के प्रति अनुवचन हुआ है। '३ हविष्मन्त' इस (का अर्थ यही है कि) पशु ही हविष्मन्त हैं। इन्हीं के प्रति अनुवचन हुआ है॥९॥

('४ घृताच्या' इस (का अर्थ है)—

'पुराने समय में (इ) माथव' नाम से प्रसिद्ध विदेघ (विदेह) राजा ने अपने मुख में वैश्वानर अग्नि को धारण कर लिया। इस राजा का रहूगण का पुत्र अतएव 'राहूगण' इस उपनाम से प्रसिद्ध गोतम ऋषि पुरोहित था। उस राजा ने गोतम ऋषि के बुलाने पर इसलिए उत्तर नहीं दिया कि मेरे मुख से वैश्वानर अग्नि (बाहिर) न गिरजाय॥१०॥

(जब सामान्य-लौकिक वाक्य से गोतम ऋषि विदेघ [विदेह] के वाक् मय अग्नि का संयम तोड़ने में समर्थ न होसके, तो उन्होंने अग्नि की स्तुति करते हुए अलौकिक] ऋक् मन्त्रों से [मुख-

---

१—'वाजयति-बलयति' इस निर्वचन से अन्न को वाज कहा गया है।

२—'वस्तो'-द्योभानु वासरम्' इत्यादि रूप से 'द्यु' शब्द दिन वाचक है। 'द्यु म-दिवसान्-अभिगताः' इस निर्वचन से दिनों के अनुगत रहने वाले शुक्ल—कृष्ण पक्षों को अवश्य ही 'अभिद्यव' कहा जासकता है।

३—क्षीर-दधि आज्यादि हवि के उत्पादक होने से ही पशुओं को 'हविष्मन्त' कहा गया है।

४—'घृताच्या' पद का मन्त्र में विशेष महत्त्व है। क्योंकि घृत 'तेजो वै आज्यम्' के अनुसार तेजोलक्षण अग्नि का तत्त्वात्मा है। अतएव यही अग्निसमिन्धन का मुख्य कारण माना गया है। इस पद का एक ऐतिहासिक-आख्यान के द्वारा महत्त्व प्रतिपादित हुआ है।

स्थित अग्नि की स्तुति करते हुए] विदघ को बुलवाने का निश्चय किया। [गोतम कहने लगे कि] "वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे" (हे कवे! हे अग्ने! यज्ञसमृद्धि-स्वरूप-समर्पक अभिलषित-फलपूरक, कान्तियुत ऐसे आपका इस यज्ञ में मैं इध्मकाष्ठ से-समिन्धन कर रहा हूँ-यजु सं० २।४] [ऋक् सं० ५।२६।३] इस मन्त्र से अग्नि की स्तुति कर अन्त में गोतम ने कहा- हे विदघ'' ॥११॥

विदघ ने कोई उत्तर नहीं दिया [मानो कुछ सुना ही नहीं। पुन अग्नि की स्तुति के द्वारा प्रबल बनाते हुए गोतम ने यह मन्त्र बोला] "उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते। तव ज्योतींष्यर्चयः [ऋक् सं० ८।४४।१७ हे अग्ने! आपकी पवित्र निर्मल-शुक्लवर्ण की चमकती हुई रश्मियाँ आपकी ज्योतियों (तेज पर्वों) को प्रेरित (समृद्ध) कर रहे हैं) [इस प्रकार मन्त्रवाक से अग्नि की स्तुति कर प्लुतस्वर से उच्चस्वर से गोतम ने पुनः विदेघ का आह्वान करते हुए] यह कहा-हे विदघ ३! ॥१२॥

राजा विदघ ने फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया। (अन्त में राहूगण गोतम के मुख से "* तन्त्वा घृतस्नवीमहे" केवल यह मन्त्रभाग ही निकला था कि घृत शब्द के उच्चारण से (विदघ के मुख में प्रतिष्ठित) वैश्वानर अग्नि प्रबल वेग से प्रज्वलित होपड़ा। (उस प्रज्वलित अग्नि को) अब विदघ मुख में न रख सके। (उन का संयम टूट गया फलतः) वैश्वानर अग्नि उनके मुख से बाहिर निकला पड़ा और इस पृथिवी पर प्राप्त होगया (गिर पड़ा) ॥ १३ ॥

(जिस समय गोतम के मुख से निकले हुए 'घृत' पद के श्रवण से विदेघ का मुखस्थित वैश्वानर अग्नि प्रज्वलित होकर बाहिर गिर पड़ा था) उस घटना के समय विदघ माथव सरस्वती (प्लक्षाप्रभव नदी) के ही समीप थे। (यहाँ प्रज्वलित अग्नि भूमि पर गिरा) यहीं से क्रमशः पूर्व की ओर यह अग्नि इस पृथिवी (के आर्द्र भाग का) जलाता (सुखाता) हुआ आगे बढ़ने लगा। आगे आगे जलभाग को जलाते हुए इस अग्नि के पीछे विदघ माथव और राहूगण गोतम क्रमशः आगे बढ़ने लगे। (पूर्व की ओर वेग से बढ़ते हुए। उस वैश्वानर अग्नि ने (मार्ग में पड़ने वाली इतर सब क्षुद्र) नदियों को सुखा डाला। उत्तगिरि से जो 'सदानीरा' नाम की नदी निकलती है केवल इसी को (उस अग्नि ने) नहीं सुखाया। क्योंकि इस नदी का

*—तं त्वा घृतस्नवीमहे चित्रभानो स्वर्दृशम्। देवाँ आ वीतये वह' (ऋक् सं ५।२६।२)। हे घृतस्नव! हे विविध रश्मियुक्त अग्ने! स्वर्ग को पहिचानने वाले आप से हम प्रार्थना करते हैं कि, आप हविभक्षण के लिए (हमारे यज्ञ में स्वर्गलोक से) देवताओं को बुलावें।

वैश्वानर अग्नि के द्वारा शोषण नहीं हुआ अतएव यह सदानीरा 'अनतिदग्धा' मानी गई। (इसीलिए) उस युग से ब्राह्मण लोग इस नदी को पार नहीं करते हैं। हेतु यही है कि, यह वैश्वानर अग्नि से अनतिदग्धा है। (इसे पार करना पतित होना समझा गया यही तात्पर्य्य है)॥ १४॥

इस समय उस (सदानीरानदी) के पूर्व तटों में बहुत से ब्राह्मण रहते हैं। यह (भूभाग इस अग्निदहनकर्म्म से) पहिले कृषि के (खेती के) सर्वथा अयोग्य था और यज्ञादि फल-प्रदान के अयोग्य था। क्योंकि इस से पहिले क्षेत्रस्वरूपसमर्पक, तथा यज्ञादिफलयोग्यता-धायक) वैश्वानर अग्नि से यह भूभाग अनास्वादित (अनुपभुक्त-असंस्पृष्ट) ही था॥ १५॥

(परन्तु वैश्वानर अग्नि के अनुग्रह से) आज वही भूप्रदेश एक उर्वर (उपजाऊ) भूप्रदेश बन रहा है। (एक तो स्वयं विदेघ के मुखस्थित वैश्वानर अग्नि से वहाँ का भूभाग विशुद्ध-परिष्कृत-निवास-योग्य होगया, दूसरे) वहाँ के निवासी याज्ञिक ब्राह्मणोंनें यज्ञानुष्ठानों से अग्नि के द्वारा इसे युक्त कर परिष्कृत कर दिया। (अर्थात् यज्ञाग्नियों के द्वारा याज्ञिकोंनें इस स्थान को अग्नि का स्वाद दिखा दिया) यह सदानीरानदी प्रचण्ड ग्रीष्मकाल में भी एकरूप से प्रवाहित रहती है (उसका जल कभी नहीं सूखता, अपितु सदा समानरूप से प्रवाहित रहता है)। साथ ही यह ठँढी (भी) रहती है। कारण यही है कि, यह नदी (पूर्वकथनानुसार जलशोषक, तथा तापप्रवर्त्तक) वैश्वानर अग्नि से अनतिदग्धा है॥ १६॥

(वैश्वानर अग्नि से भूप्रदेश के आर्द्र भाग को उत्तरोत्तर सुखाते हुए दोनों जब सदानीरा के समीप पहुँच गये तो) माथव विदेघ ने राहूगण गोतम से परामर्श किया कि, (बतलाओ) मैं कहाँ रहूँ (कहाँ अपना राज्यतन्त्र स्थापित करूँ)? । गोतमने उत्तर दिया कि, इस सदानीरा से पूर्व पूर्व का जो भूप्रदेश है, (वही आप के योग्य है)। यही कारण है कि, आज भी यही सदानीरानदी कोसलविदेह-राजाओं की सीमा मानी जाती है। ये कोसलविदेह (माथव विदेघ के द्वारा राज्यतन्त्र स्थापित किए जाने से) 'माथव' नाम से ही प्रसिद्ध हैं॥ १७॥

(प्रासङ्गिक चर्चा बतला कर आख्यान का प्रकृत ब्राह्मणप्रकरण से सम्बन्ध बतलाती हुई श्रुति कहती है कि, 'तं त्वा घृतस्नवीमहे' इस मन्त्रभाग के बोलने से जब विदेघ का वाक्संयम टूट गया तो) राहूगण गोतम ने प्रश्न किया कि, आप का अनेक बार आह्वान करने पर भी आपने क्यों नहीं प्रत्युत्तर दिया "। विदेघ ने उत्तर दिया कि उस समय मेरे मुख में वैश्वानर अग्नि प्रतिष्ठित था। (बोलने से) वैश्वानर अग्नि मुख से निकल न जाय इस लिए मैंने (आपके आमन्त्रण का प्रत्युत्तर नहीं दिया)॥ १८॥

विदघ के इस उत्तर पर पुनः गोतम ने प्रश्न किया कि-फिर आप के मुख से वैश्वानर अग्नि कैसे निकल पड़ा ? (जिसके निकलने से आप प्रत्युत्तर देने में समर्थ होसके)। (विदघने उत्तर दिया कि) जिस समय आपने ('तन्त्वा' के अनन्तर) 'घृतस्नवीमहे' इस वाक्य का उच्चारण किया, उसी समय 'घृत' नाम के सम्बन्ध से मुखस्थित वैश्वानर अग्नि मुख में प्रज्वलित होगया। उस प्रज्वलित अग्नि को मैं फिर मुख में धारण करने में समर्थ न होसका। फलतः यह बाहिर आपड़ा ॥१६॥

(जिस प्रयोजन के लिए उक्त आख्यान बतलाया गया है, उस प्रयोजन का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है)—सो जो कि सामिधेनी मन्त्रों में घृत शब्द युक्त पद है, वह अग्नि-समिन्धन का ही कारण समझना चाहिए। इस 'घृताच्या' पदोच्चारण से होता अग्नि का समिन्धन ही करता है, इसमें वीर्य्य का ही आधान करता है। (तात्पर्य्य यही हुआ कि—'प्र वो वाजा०' इत्यादि सामिधेनीमन्त्र का 'घृताच्या' पद अग्निसमिन्धन का ही प्रवर्त्तक है)॥१७॥—

यही 'घृताच्या' पद की उपपत्ति है। (तद् घृताच्येति)॥

प्रथम मन्त्र का शेष भाग है-'देवाञ्जिगाति सुम्नयुः"। यह यजमान ही (स्वर्गादि लक्षण सुख की कामना रखने से-'सुम्न-सुखं इच्छति' इस निर्वचन से) 'सुम्नयु' है। यह सुम्नयु यजमान (यज्ञ के द्वारा) इन देवताओं को वश में करने की इच्छा करता है। यह यजमान ही देवताओं को प्राप्त करना चाहता है। (यजमान उन्हें प्राप्त करने में समर्थ बने) यही व्यक्त करने के लिए 'देवाञ्जिगाति सुम्नयु' यह कहा है॥

यह प्रथमा सामिधेनी ऋचा अग्निदेवतायुक्त बनती हुई अनिरुक्त (नाम विशेष-ग्रहण-विरहित) है। सब ही अनिरुक्त है। (इसप्रकार सर्वात्मक अनिरुक्तभाव से युक्त) अग्निदेवता-मयी इस प्रथमा सामिधेनी ऋचा का अनुवचन करता हुआ होता सर्वसम्पत्ति को मूल में प्रतिष्ठित करता हुआ ही अनुवचनकर्म्म आरम्भ करता है ॥२१॥०॥

इति-प्रथमसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

—१—

०—१—प्रथमा सामिधेनी—

प्र वो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या। देवाञ्जिगाति सुम्नयु (१)।

हे अनुदेवताओ! अन्न, अश्व मास, पशु, स्रुक् आदि सब मिलकर आप यजमान की सुयोगक्षेमपूर्ति के कारण बन रहे हैं। (इस मन्त्र को अग्निपक्ष में भी लगाया जासकता है जैसाकि पाठक विवेचना में देखेंगे)।

(२)-(प्रथम-सामिधेनी-ऋक् मन्त्र के अनुवचनानन्तर क्रमप्राप्त) 'अग्न आयाहि वीतये०' (इत्यादि दूसरी) इसका अनुवचन करता है। यह मन्त्र 'आ' भाव का स्वरूप-समर्पक है। (मन्त्रगत) 'वीतये' पद का तात्पर्य्य यही है कि-) पहिले (त्रैलोक्य सृष्टि से पहिले) पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ तीनों लोक परस्पर एक साथ मिले हुए से एकरूप से ही थे (अर्थात् 'इदमन्तरिक्ष, इय द्यौः' इत्यादि रूप से विभक्त न थे)। (उस समय) द्युलोक हाथ से छूने योग्य जैसा ही था। [समन्वित होने से सभी समीपतम थे यही वक्तव्य है] ।।२२।।

उन देवदृषदाओंने यह कामना की कि, हमारे लोक [किंवा हमारी वसु-रुद्र आदित्यात्मिका गण समष्टि के क्रमिक प्रतिष्ठान के लिए ये लोक] किस उपाय से एक दूसरे से पर्य्याप्त दूर हों एवं कैसे ये विस्तीर्ण बनें। [अर्थात् कैसे तो एक के तीन विभक्त लोक हों एवं कैसे प्रत्येक लोक वृहत् बने] [अपनी इस कामना को सफल बनाने के लिए] देवताओंने 'वी-त-ये' इन तीन अक्षरों से ही पृथक्-पृथक् एवं वरीयान् कर दिया [तभी से] ये तीनों लोक [परस्पर एक-दूसरे से साथ ही क्रम से भी हैं, विदूर भी हैं एवं वरीय भी हैं। इस प्रक्रिया से यह लोक विस्तीर्ण बन गया। उस यजमान के लिए विस्तीर्णा लोकसम्पत्ति प्रतिष्ठित होजाती है (जिस यजमान के यज्ञ में] 'वीतये' का उक्त रहस्य जानने वाला होता 'वीतये' पद से युक्त 'अग्न आयाहि वीतये०' इत्यादि सामिधेनी-ऋक् का अनुवचन करता है। [वीतये पद लोकप्रतिष्ठा का संग्राहक है, यही तात्पर्य्य है] ।।२३।।

'गृणानो हव्यदातये' मन्त्र के इस उत्तर भाग का तात्पर्य्य यही है कि, यजमान ही [देवताओं के निमित्त हविर्दान देने से] 'हव्यदाति' है। 'यजमान के लिए प्रियमाण आप' यही (इस मन्त्र भाग से) कहा गया है। "नि होता सत्सि बर्हिषि" इस अन्तिम मन्त्रभाग का तात्पर्य्य यही है कि, अग्नि ही होता (हव्यवहनकर्त्ता तथा देवताओं का 'आह्वानकर्त्ता') है, यही (पृथिवी) लोक बर्हि (अग्निगर्भित अबूरूप) है। ('नि होता०' इत्यादि के द्वारा यह होता) इसी लोक में अग्नि प्रतिष्ठित करता है। यह यह अग्नि इस लोक में प्रतिष्ठित है। यह ऋक् (ऋग्भाग) इसी [पृथिवी] लोक को लक्ष्य बनाकर उत्थापित हुई है। जिस यजमान का एवंविद् होता इसका अनुवचन करता है, वह यजमान [होता के इस रहस्य-

ज्ञानानुगत अनुवचन से] इसी [पृथिवी] लोक को जीत लेता है। प्रस्तुत मन्त्रभाग पृथिवी-लोक-सम्पत्ति का ही संग्राहक है यही तात्पर्य्य है ॥२४॥—।

इति–द्वितीयसामिधेनी–मन्त्रव्याख्यानम्

--२—

[३] [द्वितीय-सामिधेनी-ऋङ्मन्त्र के अनुवचनानन्तर क्रमप्राप्त "तन्त्वा समिद्‌भिरङ्गिर ०" इत्यादि तिसरी सामिधनी का अनुवचन करता है। इसी के वाक्यों की क्रमश व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है]–'तन्वा समिद्‌भिरङ्गिर' इस मन्त्रभाग का तात्पर्य्य यही है कि, [आधिदैविक यज्ञ में] अङ्गिरा नामक प्राणात्मक ऋषियोंनें [तथा वैधयज्ञ में-अङ्गिरा नामक प्राणीविध ऋषियों नें] समिधाओं से इस अग्नि का समिन्धन किया है। 'अङ्गिरा' का अर्थ यही है कि, अङ्गिरा ही अग्नि है। अर्थात् यहाँ अङ्गिरा पद से अग्नि ही-अभिप्रेत है)। "घृतेन वर्द्धयामसि" इस मन्त्रभाग का तात्पर्य्य यही है कि यह सामिधेनी पद (अग्निसमिन्धक घृतयुक्त पद) है। इस अ' न का समिन्धन ही करता है इस में वीर्य्य का ही आधान करता है। (तात्पर्य्य यही है कि यह मन्त्रभाग अग्नि के समिन्धन का ही अनुग्राहक है) ॥२५॥

'बृहच्छोचा यविष्ठ्य" इस अन्तिम मन्त्रभाग का तात्पर्य्य यही है कि, यह अग्नि प्रज्ज्वलित होता हुआ स्वरूप से बड़ा बन कर तपता है। 'यविष्ठ्य' का तात्पर्य्य यही है कि, (नित्य युवा बनता हुआ) यह अग्नि ही यविष्ठ्य है, इसी लिए 'यविष्ठ्य' यह कहा गया है। ऋक् (ऋग्भाग) इसी अन्तरिक्ष लोक को लक्ष्य-बनाकर उच्चरित हुई है। इसीलिए यह ऋचा आग्नेयी होने के साथ साथ अनिरुक्त है। यह अन्तरिक्षलोक अनिरुक्त ही है। जिस यजमान का एवं-वित् होता इस ऋचा का अनुवचन करता है वह यजमान (होता के इस रहस्यज्ञानानुगत अनु-

---

+—२—द्वितीया सामिधनी—

"अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि [२]

हे अग्ने! देवताओं को हवि प्रदान करने के लिए, स्वयमपि हविर्भक्षण के लिए स्तूयमान आप इस यज्ञ में पधारिए। एवं होता बनकर इस दर्भासन पर विराजिए'।

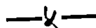
(२)-(प्रथम-सामिधेनी-ऋक् मन्त्र के अनुवचनान्तर क्रमप्राप्त) 'अग्न आयाहि वीतये०' (इत्यादि दूसरी) इसका अनुवचन करता है। यह मन्त्र 'आ' भाव का स्वरूप-संग्राहक है। (मन्त्रगत) 'वीतये' पद का तात्पर्य यही है कि-) पहिले (त्रैलोक्य सृष्टि से पहिले) पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौ, तीनों लोक परस्पर एक साथ मिले हुए से एकरूप से ही थे (अर्थात् 'इदमन्तरिक्षं, इयं द्यौ,' इत्यादि रूप से विभक्त न थ)। (उस समय) द्युलोक हाथ से छूने योग्य जैसा ही था। [समन्तिक होने से सभी समीपतम थे यही वक्तव्य है] ॥२२॥

उन देवदेवताओंने यह कामना की कि हमारे लोक [किंवा हमारी वसु-रुद्र आदित्यात्मिका गण समष्टि के क्रमिक प्रतिष्ठान के लिए ये लोक] किस उपाय से एक दूसर से पर्य्याप्त दूर हों, एवं कैसे ये विस्तीर्ण बनें। [अर्थात् कैसे तो एक के तीन विभक्त लोक हों एवं कैसे प्रत्येक लोक वृहत् बने] [अपनी इस कामना को सफल बनाने के लिए] देवताओंनें 'वी-त-ये' इन तीन अक्षरों से ही पृथक्-पृथक् एवं वरीयान् कर दिया [तभी से] ये तीनों लोक [परस्पर एक-दूसरे से साथ ही क्रम से भी हैं, विदूर भी हैं, एवं वरीय भी हैं। इस प्रक्रिया से यह लोक विस्तीर्ण बन गया। उस यजमान के लिए विस्तीर्णा लोकसम्पत्ति प्रतिष्ठित होजाती है, (जिस यजमान के यज्ञ में] 'वीतये' का उक्त रहस्य जानने वाला होता 'वीतये' पद से युक्त 'अग्न आयाहि वीतये०' इत्यादि सामिधनी-ऋक् का अनुवचन करता है। ['वीतये पद लोकप्रतिष्ठा का संग्राहक है, यही तात्पर्य्य है] ॥२३॥

"गृणानो हव्यदातये" मन्त्र क इस उत्तर भाग का तात्पर्य्य यही है कि, यजमान ही [देवताओं के निमित्त हविर्दान देने से] 'हव्यदाति' है। 'यजमान के लिए प्रियमाण आप' यही (इस मन्त्र भाग से) कहा गया है। "नि होता सत्सि बर्हिषि" इस अन्तिम मन्त्रभाग का तात्पर्य्य यही है कि, अग्नि ही होता (हव्यवहनकर्त्ता, तथा देवताओं का आह्वानकर्ता') है यही (पृथिवी) लोक बर्हि (अग्निगर्भित अथूरूप) है। ('नि होता०' इत्यादि क द्वारा यह होता) इसी लोक में अग्नि प्रतिष्ठित करता है। वह यह अग्नि इस लोक में प्रतिष्ठित है। यह ऋक् (ऋग्भाग) इसी [पृथिवी] लोक का लक्ष्य बनाकर उच्चरित हुई है। जिस यजमान का एवंवित् होता इसका अनुवचन करता है, वह यजमान [होता क इस रहस्य-

(५)—(चतुर्थ—सामिधेनी-ऋङ्मन्त्र के अनुवचनान्तर) यह होता (क्रमप्राप्त)—"ईडेन्यो नमस्य " इत्यादि पाँचवीं सामिधनी का अनुवचन करता है। (इसी के वाक्यों की क्रमश व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है)–यह अग्नि निश्चयेन स्तुति करने योग्य है एवं नमस्कार करने योग्य है। "तिरस्तमांसि दर्शत " इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य्य है कि, यह अग्नि प्रज्वलित होकर अन्धकारपुञ्ज का तिरस्कार करता हुआ ही दिखलाई देता है। "समग्नि रिध्यते वृषा" इस अन्तिम भाग का यही तात्पर्य्य है कि, यह अग्नि निश्चयेन प्रदीप्त रहता है, जो कि वृषा (यज्ञफलवर्षक) है ॥*॥

इति-पञ्चमसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्



(६)—(पञ्चम-सामिधेनी-ऋक् मन्त्र के अनुवचनान्तर यह होता क्रमप्राप्त–"वृषो अग्निः समिध्यते" इत्यादि षष्ठ सामिधनी-ऋक् मन्त्र का अनुवचन करता है। इसी के वाक्या की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है)–"वृषो अग्नि समिध्यते" इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य्य है कि, यह अग्नि निश्चयेन (सामिधेनी से) प्रदीप्त होता है ॥२६॥

"अश्वो न देव वाहन " इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य्य है कि, य अग्नि अश्व बन कर ही (द्युलोकस्थ) देवताओं के लिए (अग्नि में आहुत, यज्ञातिशयोत्पादक अतएव (यज्ञ) (नाम से प्रसिद्ध हविर्द्रव्य) का वहन करता है। (लोकभाषा में जहाँ 'न' कार निषेधार्थक माना गया है, वहाँ) ऋक् में (मन्त्रात्मिका वैदिकी भाषा में पठित) 'न' कार 'ओम्' (स्वीकृति) का वाचक है। इसीलिए 'अश्वो न देववाहनः' यह कहा गया है ॥३०॥

"तं हविष्मन्त ईडते" इस अन्तिम मन्त्रभाग का यही तात्पर्य्य है कि (चरुपुरोडाशादि हविर्द्रव्यों का सम्पादन करने से) हविष्मन्त (नाम से प्रसिद्ध ऋत्विग् यजमानादि ही इस

---

*—पञ्चमी सामिधेनी– 'ईडेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शत । समग्निरिध्यते वृषा' । "हे अग्ने ' आप स्तोतव्य हैं नमस्य हैं प्रदीप्त होकर तमोराशि का तिरस्कार कर दिखलाई देने वाले हैं। आप वीर्य हैं यज्ञफलवर्षक है ।

वचन से) इसी अन्तरिक्ष लोक पर विजय प्राप्त कर लेता है। (प्रस्तुत सामिधेनी-मन्त्र अन्तरिक्षलोक-सम्पत्ति का ही संग्राहक है, यही तात्पर्य है) ॥२६॥*॥

इति-तृतीयसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

—३—

(४)-(तृतीय-सामिधेनी-ऋक् मन्त्र के अनुवचनानन्तर क्रमप्राप्त "स न पृथु श्रवाय्यं०" इत्यादि चौथी सामिधेनी का अनुवचन करता है। इसी की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है)- 'स न पृथु श्रवाय्यम्'' इस मन्त्रभाग का यही अर्थ है कि 'यह द्युलोक' (इतर लोकों की अपेक्षा) विस्तीर्ण है फैला हुआ है जिस द्युलोक में कि देवता प्रतिष्ठित हैं। (देवताओं के तत्र निवास करने से ही) यह द्युलोक इतर लोकों की अपेक्षा 'श्रवाय्य' (श्रवण परम्परा में प्रशस्त लोक-वेद में प्रशंसनीय) है। 'अच्छा देव विवाससि' इस मन्त्रभाग से यही कहा गया है कि, यह द्युलोक हमें प्राप्त हो ॥२७॥

''बृहदग्ने सुवीर्य्यम् ' इस अन्तिम मन्त्रभाग का तात्पर्य्य यही है कि, यह द्युलोक निश्चयेन विस्तीर्ण है जिसमें कि ये (प्राण) देवता प्रतिष्ठित हैं। यह द्युलोक (इन वीर्य्यशाली-महा-क्षत्र विड्-वीर्य्य प्रवर्त्तक देवताओं के निवास करने से) सुवीर्य्य (शोभनवीर्य्य) बन रहा है। यह चौथी ऋचा इसी द्युलोक को लक्ष्य में रखकर उच्चरित हुई है। जिस यजमान का एवंवित् होता इस ऋचा का अनुवचन करता है वह यजमान (होता के इस रहस्यज्ञानानुगत अनुवचन से) इसी द्युलोक पर विजय प्राप्त कर लेता है। (प्रस्तुत सामिधेनी मन्त्र द्युलोकसम्पत्ति का ही संग्राहक है यही तात्पर्य्य है) ॥२८॥ ×॥

इति-चतुर्थसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

—४—

---

*—तृतीया सामिधेनी- 'तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि । बृहच्छोचा यविष्ठ्य' इति। हे अङ्गिरोवंशज अग्ने ! यजमान्सम्बन्धी काष्ठ से तथा संस्कृत घृत से हम आपको प्रवृद्ध कर रहे हैं। हे तरुणतम ! आप बृहद्-रूप से प्रदीप्त होइए।

×—चतुर्थी सामिधेनी- स नः पृथुश्रवाय्यमच्छा देव विवाससि । बृहदग्ने सुवीर्य्यम्' । हे प्रदीप्त अग्ने ! आप विपुल कीर्त्तिसम्पन्न, शोभनवीर्य्ययुक्त धन हमारे लिए प्रदान करें ।

अपूर्ण रहता है। क्योंकि) निश्चयेन इन्द्र ही यज्ञ के देवता (पति) हैं। साथ ही इन्द्र ही वृषा है। (इसप्रकार वृषण्वन्त त्रिच के अनुवचन से) सब आग्नेयी सामिधेनियाँ इन्द्रयुक्त भी बन जाती हैं। इसी प्रयोजन के लिए वृषण्वन्त त्रिच का अनुवचन करता है। (अन्य आग्नेयी त्रिच से अनुवचन न कर वृषन् पद से युक्त त्रिच से अनुवचन करने का यही प्रयोजन है कि अग्नि-समिन्धन के साथ साथ यज्ञ में यज्ञपति इन्द्र का भी सम्बन्ध होजाय, यही तात्पर्य्य है) ॥३३॥

(सप्तम सामिधेनी ऋङ्मन्त्र के अनुवचनानन्तर यह होता "अग्निं दूतं वृणीमहे०" इत्यादि आठवीं सामिधेनी का अनुवचन करता है। इसी मन्त्र की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है कि) "अग्निं दूतं वृणीमहे०" का यह होता अनुवचन करता है इस का तात्पर्य्य यही है कि—

एक बार (प्रजापति की सन्तान होने से) प्राजापत्य (नाम से प्रसिद्ध) देवता, और असुर दोनों परस्पर स्पर्द्धा करने लगे। स्पर्द्धा करते हुए इन दोनों के बीच में (समझौता कराने के लिए) गायत्री आखड़ी हुई। (उस समय) मध्य में खड़ी होने वाली जो गायत्री थी वही यह (पृथिवी ही) थी' दोनों के बीच में खड़ी हुई (थी)। उन दोनोंने परस्पर यह सन्धा (शर्त) निश्चित की कि, अपने दोनों में से जिन की ओर यह पृथिवी लौट आएगी वे जीते हुए माने जायँगे एवं (इसके सम्बन्ध से वञ्चित) दूसरे पराजित समझे जायँगे। (यह सन्धा निश्चित कर) उस पृथिवी को देवता, तथा असुर दोनों ही अपनी अपनी ओर झुकाने का प्रयास करने लगे। दोनों ने उसके समीप अपने अपने दूत भेजे। (इन में) 'अग्नि' ही देवताओं के दूत थे एवं 'सहरक्षा' नामक असुरों के दूत थे। दोनों में से पृथिवी देवदूत अग्नि की ओर ही लौट आई। इसीलिए 'अग्निं दूतं वृणीमहे' यह कहा गया है। वास्तव में (उक्त पुरावृत्त के अनुसार) अग्नि निश्चयेन देवताओं के दूत थे। मन्त्र का दूसरा भाग है— "होतारं विश्ववेदसम्" यह ॥ ३४ ॥

कितने एक याज्ञिक कहते हैं कि ('होतारं विश्ववेदसम्' के स्थान में) होता यो विश्ववेदस' ऐसा मन्त्र बोलना चाहिए। (कारण इस परिवर्त्तन का वे याज्ञिक यह बतलाते हैं कि) इस आत्मा को 'अरम्' न कहें। (तात्पर्य्य यही है कि 'होतारं विश्ववेदस' के 'होतारं' पद में होता-अरं यह व्यवच्छेद भी बन रहा है। यह 'अरं' शब्द निवारणार्थक माना गया है। इस 'अरं मानना' से फल यह निकलेगा कि, होता का इस यज्ञसंस्था से पृथक्करण होजायगा। इस आशङ्का से बचने का यही उपाय है कि 'होतारं' के स्थान में 'होता यो विश्ववेदसः' इस मन्त्ररूप का उद्धार किया जाय) ।

अग्नि की (उन हवियों को देवताओं में पहुंचाने के लिए) स्तुति करते हैं। इसीलिए— 'तं हविष्मन्त ईळते' यह कहा गया है ॥३१॥•॥

इति षष्ठसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

—६—

(७)-(षष्ठ-सामिधेनी-ऋक् मन्त्र के अनुवचनानन्तर वह होता क्रमप्राप्त-"वृषण त्वा वयं वृषन् समिधीमहि०" इत्यादि सातवीं सामिधेनी का अनुवचन करता है। इसी की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है)—'वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि' इस मन्त्र भाग का यही तात्पर्य है कि ऋत्विग्गण अवश्यमेव इस अग्नि को प्रदीप्त करते हैं। 'अग्ने दीद्यतं बृहत्' इस अन्तिम मन्त्र भाग का यही तात्पर्य है कि, (पूर्व सामिधेनियों से) प्रदीप्त यह अग्नि (अब अधिक मात्रा से) बढ़ा, तथा अतिशयरूप से प्रदीप्त बन गया है ॥३२॥+॥

इति सप्तमसामिधेनी—मन्त्रव्याख्यानम्

--७--

'ईळेन्यो नमस्य०'—'वृषो अग्निः समिध्यते०'—'वृषणं त्वा वयं वृषन्०' इन तीन मन्त्रों में 'वृषन्' शब्द का सम्बन्ध है। अतएव तीनों की समष्टिरूप त्रिच को 'वृषण्वत्त्रिच' कहा गया है। इस वृषण्वन्त त्रिचका एक विशेष फल बतलाती हुई श्रुति कहती है)-वह होता (वृषन् शब्द से युक्त तीनमन्त्रों का क्रमिक अनुवचन करता हुआ) वृषण्वन्त त्रिच का ही अनुवचन करता है ये सब सामिधेनियाँ आग्नेयी होती हैं (यज्ञाग्नि के समिन्धन के लिए ही आग्नेयी सामिधेनियों से अनुवचन किया है। परन्तु अग्नि जबतक इन्द्र को साथ नहीं लाता, तबतक इनका समिन्धन

•-षष्ठी-सामिधेनी-

वृषा अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः। तं हविष्मन्त ईळते ।

अश्व की भांति देवताओं के लिए हविर्वहन करने वाला यह कामवर्षक अग्नि प्रदीप्त होता है। हविष्मन्त ऋत्विक् ऐसे अग्नि की स्तुति कर रहे हैं"।

+ सप्तमी सामिधेनी—

'वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि। अग्ने दीद्यतं बृहत् ।

हे कामवर्षक अग्ने! कामवर्षक हम ऋत्विग्गण यज्ञाहुतियों द्वारा प्रदीप्त कर रहे हैं। हम सब बृहद्रूप से प्रदीप्त अग्नि का बृहद्रूप से समिन्धन कर रहे हैं ।

वचना की वृद्धि से ११ के स्थान में १५ अनुवचन होजाते हैं। यही अनुवचन के सम्बन्ध में एक पक्ष है। क्रमप्राप्त सख्या के अनुसार 'अग्निं दूतं वृणीमहे०' इत्यादि मन्त्र आठवाँ पड़ता है। प्रथम-मन्त्र के त्रिरावृत्त उच्चारण से यद्यपि 'अग्निं दूतं वृणीमहे०' मन्त्र १० वीं सख्या पर आकर ठहरता है, थापि क्योंकि उस एक ही मन्त्र का त्रिरावर्त्तन है, अत 'अग्निं दूत०' की अष्टमी सख्या की मौलिकता सुरक्षित रहजाती है, जिसका कि सुरक्षित रहना आवश्यक है।

दूसरा पक्ष सप्तदश-सख्या से सम्बन्ध रखता है। दर्शपूर्णमास में १७ सामिधेनियों का अनुवचन करना चाहिए' इस पक्षान्तर में ? संख्याओं की पूर्त्ति के लिए ११ मौलिक मन्त्रों से अतिरिक्त जिन दो मन्त्रों का इन ग्यारहों में समावेश किया जाता है, उन्हें-"उपरिष्टात्-दधाति" इस निर्वचन से- 'धाय्या" कहा जाता है। इन 'धाय्या' नामक ऋचाओं का आधान (समावेश) ११ में से कहाँ करना ?, यह विचार प्रस्तुत है। सिद्धान्तत 'अग्निं दूतं वृणीमहे०' इस मन्त्र के अनन्तर ही इन का अनुवचन होता है। तभी इस मन्त्र का अष्टमत्व सुरक्षित रह सकता है। इसी सिद्धान्त पक्ष को दृष्टि में रखती हुई, 'धाय्या ऋचाओं' के उत्तर में आधान को लक्ष्य बनाती हुई श्रुति कहती है कि)—

'अग्निं दूतं वृणीमहे०' इत्यादि ऋचा का अष्टमीरूप से (आठवीं मान कर 'पृथुपाजा अमर्त्यो घृतनिर्णिक्०' इत्यादि सातवीं सामिधेनी के अनन्तर ही) अनुवचन करना चाहिए। क्योंकि यह सामिधेनी ऋचा (११ सख्या में से आठवीं संख्या पर पड़ती हुई) निदानविधि से गायत्री है। गायत्री अष्टाक्षरा है, (गायत्र अग्नि का छन्द है यहाँ इस सामिधेनी-कर्म्म से होता को अग्नि का समिन्धन करना है। ऐसी स्थिति में जब निदानमर्य्यादा से यह ऋचा क्रमद्वारा आठवीं बनती हुई गायत्रसम्पत्ति से स्वत युक्त होरही है, तो अवश्य ही इसे) आठवीं बनाकर ही इस का अनुवचना करना चाहिए। तात्पर्य्य यही है कि, गायत्राग्नि-सम्पत्ति-प्राप्त्यर्थ- अग्निं दूत०' इत्यादि सामिधेनी का सातवीं सामिधेनी के अनन्तर ही अनुवचन होना चाहिए॥ ३ ॥

('अग्निं दूत०' की अष्टमसंख्यानुवचनगत गायत्रसम्पत्ति से जो आपत्तिजनक पक्ष है उनका बतलाकर अन्त में उक्त सिद्धान्त का ही समर्थन करती हुई श्रुति कहती है कि)-कितने एक याज्ञिक 'अग्निं दूतं वृणीमहे०' इस आठवीं ऋचा के पहिले (तथा 'पृथुपाजा अमर्त्यो घृतनिर्णिक्०' इस सातवीं ऋचा के आगे *'पृथु पाजाः०'-'तं सबाध०" इन) दोनों धाय्या-ऋचाओं का

*- 'पृथुपाजा अमर्त्यो घृतनिर्णिक् स्वाहुत । अग्निर्यज्ञस्य हव्यवाट्' (ऋक्सं ३।२७।५)। 'तं सबाधो यतस्रुच इत्था धिया यज्ञवन्त । आचक्रुरग्निमूतये'' (ऋक्सं ३।२७।६)।

(इस मानुषकल्पानुगत मन्त्र–ऊह–पक्ष का आमूलचूल खण्डन करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि)–होता को चाहिए कि–वह वैसा (होता यो विश्ववेदस ', ऐसा) कभी न बोले। (अपनी कल्पना से शब्दों की यथेच्छ मनमानी) उपपत्ति लगाते हुए जो याज्ञिक स्वतःसिद्ध मन्त्रों के स्वरूप में परिवर्त्तन करते हुए यज्ञेतिकर्त्तव्यता में यथेच्छ परिवर्त्तन करते रहते हैं) वे यज्ञ में मानुषभाव का ही समावेश करते हैं। यह यज्ञ की 'व्यृद्धि' (समृद्धि का विनाश) है जो कि काल्पनिक मानुषभाव है। हम अपने यज्ञ में देवसमृद्धि के घातक मानुषभाव का समावेश न कर बैठें, इसलिए प्रत्येक दशा में यह आवश्यक है कि जैसा ऋचा से (सिद्धमन्त्र से) कहा गया है, वैसा ही होतार विश्ववेदसम्' इसी रूप से होता को अनुवचन करना चाहिए।

"अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्" इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य्य है कि, यही इस यज्ञ का सुक्रतु (उत्तमरूप से यज्ञकर्म्म का सम्पादन करने वाला) है जो कि अग्नि है। इसीलिए 'अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्' कहा गया है। (मन्त्रव्याख्यान बतला कर पूर्वोक्त आख्यान का उपसंहार करती हुई श्रुति कहती है कि, देवदूत अग्नि के गमन से) वह पृथिवी देवताओं की ओर ही लौट आई। परिणामतः (निश्चित सन्धा के अनुसार) देवता जीत गए एवं असुर पराजित होगए। वह यजमान अपने आत्मा से (शत्रुपक्ष की प्रतिस्पर्द्धा में) विजय–लाभ करता है, एवं उसके शत्रु पराजित होजाते हैं, जिस यजमान का मर्मवित् होता 'अग्निं दूतं०' इत्यादि सामिधेनी का अनुवचन करता है। (शत्रुपराजय, एवं यजमान का विजय भी इस सामिधेनी–अनुवचन का फल है यही तात्पर्य्य है) ॥ ३५ ॥+

इति–अष्टमसामिधेनी–मन्त्रव्याख्यानम्

— ८ —

(मूलतः सामिधेनी मन्त्र ११ बतलाए गए हैं। इनमें से–'प्र वो वाजा अभिद्यव ' इस प्रथम मन्त्र का तथा "आजुहोता दुवस्यत०" इत्यादि ग्यारहवें मन्त्र का तीन तीन बार अनु-

---

+अष्टमी सामिधेनी—

"अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्। अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्' ।

मैं उस देवदूत अग्नि का वरण कर रहा हूँ जो देवताओं का आह्वान करने से 'होता' नाम से, विश्वसम्पत्ति के परिज्ञान से 'विश्ववेदस' नाम से एवं इस यज्ञकर्म्म का श्रेष्ठ सम्पादक होने से 'सुक्रतु' नाम से "प्रसिद्ध" है।

गया है। "अग्नि पावक ईड्य" इस मन्त्र भाग का यही तात्पर्य्य है कि, 'यह अग्नि निश्चयेन (अपने दाहक तेजोधर्म्म से दूषित परमाणुओं का नाशक बनता हुआ) पावक है, एवं (प्राणीमात्र के उपयोग में आता हुआ) यह अग्नि निश्चयेन (प्राणीमात्र से) स्तुत्य है। 'शोचिष्केशस्तमीमहे' इस अन्तिम मन्त्रभाग का यही तात्पर्य है कि, (सामिधेनी से) प्रदीप्त इस अग्नि के केश (स्थानीय रश्मियाँ) प्रज्ज्वलित से रहते हैं ॥×॥

इति–नवमसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

–९–

(१)—(नवम-सामिधेनीमन्त्र के अनुवचनानन्तर यह होता क्रमप्राप्त "समिद्धो अग्न आहुत०" इत्यादि दशम-सामिधेनीमन्त्र का अनुवचन करता है। श्रुति क्रमप्राप्त उसी की व्याख्या करती है)–'समिद्धो अग्न आहुत' इति। (इस अनुवचनकर्म्म से पहिले होने वाले एक विशेषकर्म्म की प्रासङ्गिक इति-कर्तव्यता बतलाती हुई श्रुति कहती है कि)–इस दशमी-सामिधेनी के अनुवचन से पहिले पहिले अग्निसमिन्धनार्थ गृहीत सम्पूर्ण इध्मकाष्ठ अनुयाजार्थ केवल एक समिधा के अतिरिक्त अग्नि में डाल देना चाहिए। (इस अनुवचन से पहिले पहिले ही क्यों सर्वेध्मकाष्ठ का अभ्याधान आवश्यक माना गया? इसका समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि) इस 'समिद्धो अग्न आहुत' रूप अनुवचन कर्म्म से होता अग्निसमिन्धन कर्म्म समाप्त कर लेता है (तभी तो 'समिद्धो अग्न आहुतः' कहना अन्वर्थ बनता है। अर्थात् जिस अग्निसमिन्धनकर्म्म के लिए इध्मकाष्ठ का ग्रहण होता है वह कर्म्म इससे पहिले पहिले समाप्त है। फलतः अब इध्म बचाना निरर्थक बन जाता है)। अनुयाजार्थ एक इध्म के अतिरिक्त यदि इध्म बच रहता है तो वह अतिरिक्त (यज्ञकर्म्म से अतिरिक्त-बचा हुआ-अधिक) कहलाता है। जो यज्ञ का अतिरिक्त (उपयोग से बचा हुआ-उबरा हुआ) भाग है वह यज्ञकर्त्ता यजमान के कृत्रिम तथा सहजशत्रु की समृद्धि का ही कारण बनता है। इसलिए इससे पूर्व पूर्व अनुयाजार्थ एक समिध को छोड़कर शेष सब सम्पूर्ण इध्मकाष्ठ को अग्नि में ही डाल देना चाहिए ॥३८॥

×—नवमीसामिधेनी— समिध्यमानो अध्वर अग्निः पावक ईड्यः। शोचिष्केशस्तमीमहे।

इस मन्त्र में सामिधेनियों से समिद्ध बनता हुआ अग्नि पावक है स्तुत्य है। प्रज्ज्वलित केश (रश्मि) वाले ऐसे अग्नि की हम स्तुति कर रहे हैं।

का स्थापन करते हैं। साथ ही "अन्न का ही नाम 'धाय्या' है" [अर्थात् "धाय्या ऋचाएँ अन्नस्थानीया हैं क्योंकि अन्न का भी मुख में बाहिर से आधान होता है एवं इन दोनों ऋचाओं का भी अन्नवत् बाहिर से इन ११ ऋचाओं में आधान होता है। इसी सादृश्य से दोनों धाय्या-ऋचाओं को अन्नस्थानीय कहा जासकता है। उधर आठवीं ऋचा गायत्रसम्पत्ति से युक्त रहती हुई गायत्रीछन्दस्क गायत्र-अन्नादग्नि-स्थानीया है, अन्नादाग्नि की मुखस्थानीया है। ऐसी स्थिति में इस मुखस्थानीया आठवीं ऋचा से पहिले धाय्या का स्थापन करते हुए हम] मुख भाग से ही [अन्नादाग्नि में] अन्न का आधान करते हैं यह कहते हैं। अर्थात् अष्टमी से पहिले धाय्या-अनुवचन की ये याज्ञिक यह उपपत्ति बतलाते हैं] ।

परन्तु होता को चाहिए कि, वह ऐसा कभी न करे। उस होता के लिए यह गायत्री गायत्र-सम्पत्तिसंग्रह में असमर्थ रह जाती है जो होता इससे पहिले धाय्या-ऋचाओं का स्थापन करता है। उस दशा में 'अग्निं दूतं वृणीमहे०' इत्यादि ऋचा दशमी तथा एकादशी बन जाती है। अर्थात् आठवीं से पहिले दोनों के आधान से आठवीं तो दशमी बन जाती है एवं १० वीं ('समिध्यमानोऽध्वरे०' यह) एकादशी बन जाती है)।

(तात्पर्य्य यही है कि, जिस अष्टम सङ्ख्यानुगता गायत्रसम्पत्ति के सम्बन्ध से ये याज्ञिक इसे अन्नाद मानते हुए अन्नरूप से इससे पहिले धाय्या-ऋचाओं का आधान करना चाहते हैं, उनके मत से तो आठवीं आठवीं न रहकर जब दशमी ही बन जाती है, तो उनकी अन्नादानुगता उपपत्ति भी व्यर्थ होजाती है साथ ही आठवीं को आठवीं रखने से यज्ञ में जो गायत्रसम्पत्ति मिलती है उससे भी ये वञ्चित रह जाते हैं)।

उसी यजमान के लिए यह आठवीं ऋचा अनवक्लृप्ता (गायत्रसम्पत्तिप्रदात्री) बनती है, जिस यजमान के (यज्ञ में) होता इसे अष्टमी बनाकर अनुवचन करता है। इसलिए ('अग्निं दूत० के गायत्र भाव को सुरक्षित रखने के लिए) इससे आगे-'समिध्यमानो अध्वरे०'-"समिद्धो अग्न आहुत० ' इन ९ वीं, १० वीं ऋचाओं के मध्य में ही दोनों धाय्या-ऋचाओं का स्थापन करना चाहिए ॥३७॥

(अष्टम सामिधनी-ऋक्मन्त्र के अनुवचनानन्तर यह होता क्रमप्राप्त-"समिध्यमानो अध्वर०" इत्यादि नवम-सामिधनी-मन्त्र का अनुवचन करता है। इसी की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है)-समिध्यमानो अध्वरे" इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य है कि वह ही निश्चयेन अध्वर है। (प्रकृत मन्त्रभाग के द्वारा) 'हे अग्ने ! आप यज्ञ में प्रदीप्त हैं', यही कहा

("समिध्यमानोऽध्वरे०"—"समिद्धो अग्न आहुत" आजुहोता दुवस्यत०" इन तीन मन्त्रों में 'अध्वर' शब्द का सम्बन्ध है। अतएव तीना मन्त्रों की समष्टिरूप इस त्रिच को 'अध्वरवन्त' त्रिच कहा जाता है। जैसे पूर्व 'वृषण्वन्त' त्रिच का एक विशेषफल बतलाया गया था वैसे ही इस अध्वरवन्त त्रिच का अग्निसमिन्धन के अतिरिक्त एक विशेष फल बतलाती हुई श्रुति कहती है)—वह होता ('अध्वर' शब्द से युक्त तीन मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ) अध्वरवन्त त्रिच का ही अनुवचन करता है। [इसका फल यही है कि]-यज्ञ से यजन करते हुए देवताओं के ऊपर सहजशत्रु असुरोंनें हिंसात्मक आक्रमण किया। [परन्तु इस अध्वरन्त त्रिच क प्रभाव से] हिंसात्मक आक्रमण करते हुए भी असुर इनकी हिंसा करने म समय न होसके। [यही नहीं अध्वरवन्त त्रिच के प्रभाव से] ये उलटे परास्त होगए। (क्योंकि इस यज्ञाग्निरूप यज्ञ ने देवताओं को हिंसा से बचा लिया) अतएव यज्ञका नाम 'अध्वर' होगया। उस यजमान के वे हिंसक शत्रु यजमान पर हिंसात्मक आक्रमण करते हुए स्वयमेव परास्त होजाते हैं जिस यजमान के (यज्ञ में) एवंवित् होता अध्वरवन्त त्रिच का अनुवचन करते हैं। (शत्रु–आक्रमण निरोधपूर्वक शत्रु-पराभव ही इस अध्वरवन्त त्रिचानुवचन का एक विशेष फल है, यही तात्पर्य है)॥

अपि च–[अध्वर शब्द सोमयाग में रूढ है, जैसाकि–"सौम्ये अध्वरे" इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। इस दर्शपूर्णमास में सामिधेन्यनुवचनकर्म्म में जब अध्वरवन्त त्रिच का सम्बन्ध करा दिया जाता है तो] सौम्य अध्वर से यजन कर यजमान जितना–जो फल प्राप्त करता है, वही फल इसे इस अध्वरशब्दयुक्त दर्शपूर्णमास से मिल जाता है। [यही अध्वरवन्त त्रिच का एक दूसरा महत्त्वपूर्णफल है] ॥४०॥

इति सामधेन्यनुवचनम्
चौथे अध्याय में पहिला, तथा तीसरे प्रपाठक में तीसरा ब्राह्मण समाप्त
सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत द्वितीय ब्राह्मण अत्र उपरत

२



"देवान् यक्षिस्वध्वर" इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य है कि, अध्वर यज्ञ का ही नाम है, (प्रकृतमन्त्र भाग से) "हे सुयज्ञिय आप देवताओं का यजन कीजिए" यही कहा गया है। "त्वं हि हव्यवाडसि" इस अन्तिम मन्त्र भाग का यही तात्पर्य्य है कि, 'यही अग्नि (देवताओं के लिए द्युलोक में पृथिवी से हविर्वहन करने के कारण) हव्यवाट् कहलाए हैं। इसीलिए त्वं हि हव्यवाडसि' यह कहा गया है ॥*॥

इति-दशमसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

-१०-

(११) (दशम-सामिधेनी-मन्त्र के अनुवचनानन्तर यह होता क्रमप्राप्त "आजुहोता दुवस्यत०" इत्यादि एकादश सामिधेनीमन्त्र का अनुवचन करता है। इसी की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है -"आजुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे। वृणीध्वं हव्यवाहनम्' इस सामिधेनी ऋचा से अग्नि को (स्वकर्म्मप्रवृत्ति के लिए) प्रेरित ही (नियुक्त ही) करता है। 'आजुहोता दुवस्यत' इस मन्त्रभाग से) हे ऋत्विजो! हवन कीजिए, देवताओं का यजन कीजिए, जिस कर्म्म के लिए, जिस कामना के लिए अग्नि को होता ने समिद्ध किया है, वह कीजिए" यही कहा है। "अग्निं प्रयत्यध्वरे" इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य है कि अध्वर यह यज्ञ का नामान्तर है। (प्रकृत मन्त्र भाग से) "यज्ञकर्म्म के आरम्भ होने पर अग्नि को' यही कहा गया है। "वृणीध्वं हव्यवाहनम्" इस अन्तिम मन्त्रभाग का तात्पर्य यही है कि, यह जो अग्नि है वही हव्यवाहन है। इसलिए 'वृणीध्वं हव्यवाहनम्' यह कहा गया है ॥२४।×॥

इति एकादशसामिधेनी मन्त्रव्याख्यानम्

-११-

---

*—दशमी सामिधेनी—

"समिद्धो अग्न आहुत देवान् यक्षिस्वध्वर। त्वं हि हव्यवाडसि

समिधाओं से युक्त अग्नि समिद्ध होगया है। हे सुयज्ञिय महाग्ने। आप देवताओं का यजन कीजिए। आप निश्चयेन देवताओं के लिए हवि लेजाने वाले हैं"।

× एकादशमी सामिधेनी—

आजुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे। वृणीध्वं हव्यवाहनम्"।

हे ऋत्विजो! जिस कर्म के लिए अग्नि का समिन्धन किया था वह आहुतिहवनकर्म आरम्भ करो। यज्ञ प्रक्रान्त होगया। हव्यवाहन अग्नि का वरण करो।

भरण पोषण करता है इसलिए भी 'भारत' यह कहा है। [आधिदैविक–देवप्रजा का हवि के द्वारा एवं आध्यात्मिक पार्थिव प्रजा का अन्न के द्वारा भरणपोषण करने के कारण अग्नि 'भारत' कहलाया है यही तात्पर्य्य है]। आप महान हैं वर्णों में ब्राह्मणवर्ण बनते हुए सर्वमूर्द्धन्य हैं, एवं त्रैलोक्यप्रजा के पालन में समर्थ बनते हुए भारत हैं आप अवश्य ही इस होत्रकर्म्म को पूरा करेंगे यही इस निगदानुवचन का तात्पर्य्य है) ॥२॥

इति—निगदानुवचनम्

अथ--आर्षेयानुवचनम्

(उपमदात्मक स्तुतिकर्म्म में अनन्तर होतृकर्म्म के आर्षेयकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाती हुई श्रुति कहती है) यह होता उक्त स्तुतिकर्म्म के अनन्तर आर्षेय प्रवरण करता है। (इस कर्म्म से यह) होता (इस यजमान को) ऋषियों तथा देवताओं के लिए ही निवेदित करता है यह यजमान (सचमुच) बड़ा पुरुषार्थी है जो इस यज्ञ (जैसे महत्कर्म्म) को प्राप्त कर सका, इसी भावना के लिए। (अर्थात् यजमान को यशस्वी बनाने के लिए ही यह कर्म्म होता है) इसलिए होता आर्षेय-प्रवरण करता है ॥३॥

पूर्व से इधर की ओर प्रवरण करता है। (कारण यही है कि) पूर्व की ओर से ही अर्वाक्–प्रजायें उत्पन्न होतीं हैं। अपिच इस क्रम से होता पूर्व के ज्येष्ठ पुरुषों के महत्त्व को सुरक्षित रखता है। यह पिता पहिले है, अनन्तर पुत्र है, अनन्तर पौत्र है (यही क्रम है)। इसलिए (भी) पहिले से इस ओर के क्रम से ही प्रवरण करता है ॥४॥

(जब कोई व्यक्ति किसी महत्कार्य्य में प्रवृत्त होता है तो इस से उस के पूर्व वंशजों का कीर्तिविस्तार माना जाता है। इसी यशोविस्तार के लिए यजमान के पितामह, पिता, स्वयं का इसी क्रम से—'अमावमौ' रूप से आर्षेय प्रवरण होता है। इस प्रवरण का ऋषि से सम्बन्ध है। उस ऋषिपरम्परा से ही प्रवरण होता है जैसा कि आगे आने वाले 'उत्तराधारब्राह्मण' में स्पष्ट होने वाला है।)

इति—आर्षेयानुवचनम्

शतपथब्राह्मण प्रथमकाण्डानुगत चौथे अध्याय मे दूसरा ब्राह्मण एव तीसरे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण सामिधेनी-ब्राह्मणनुगत-तृताय ब्राह्मण

३

अथ-निगदानुवचनम्

देवताओंनें [इस सामिधेनी अनुवचन के द्वारा] अग्नि को *गुरुतम कार्य्य में निरुक्त किया जोकि होतृत्त्व में नियुक्त किया [जिस गुरुतमकार्य्य का स्वरूप] हमारा यह हव्य [पृथिवीसे द्युलोक में तत्रास्थ देवताओं के लिए] लेजाओ' यह है। इसप्रकार उस अग्नि को ऐसे गुरुतम कार्य्य में नियुक्त कर देवताओंनें इस [अग्नि की प्रशंसा करना आरम्भ किया] आप वीर्य्यवान हैं। आप (वास्तव में इस हविर्वहनकर्म्म में समर्थ हैं इत्यादिरूप से इसमें वीर्य्याधान करते हुए ही। जैसेकि [लोकव्यवहार में] मनुष्य अपनी जाति में से जिस किसी गुरुतम कार्य्य में नियुक्त करते हैं, उसको बढ़ावा देते हैं कि, आप वीर्य्यवान् हैं अतः अमुक काम करने में समर्थ हैं, इसप्रकार उसमें वीर्य्याधान करते हुए ही। [तात्पर्य्य यही है कि, लोक में गुरुतम कार्य्य में नियुक्त व्यक्ति का उत्साह बढ़ाने के लिए नियोक्ता लोग जैसे उसकी स्तुति किया करते हैं उसे बढ़ावा देते हैं, ठीक वैसा ही यह 'निगदानुवचनकर्म्म' है]। यह ऋत्विक् सामिधनी-अनुवचन के अनन्तर जिन मन्त्रों का उच्चारण करता है, उन से यह इस अग्नि को बढ़ावा ही देता है [और इस बढ़ावेसे अग्नि में वीर्य्य का ही आधान करता है। [यही निगदानुवचनकर्म्म की उपपत्ति है] ॥१॥

[उपपत्ति बतलाकर अब पद्धति बतलाती हुई श्रुति कहती है-]-'अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारत' इति। अग्नि ही ब्रह्म (ब्राह्मणजाति) है इसी अभिप्राय से 'ब्राह्मण' यह कहा गया है। 'भारत' सम्बोधन का यही तात्पर्य्य है कि यही अग्नि [पृथिवीलोक से द्युलोक में सत्रस्थ] देवताओं के लिए हवि का भरण करता है, इसलिए 'यह अग्नि भरत है' यह प्रसिद्ध है। अपि च प्राणरूप [वैश्वानराग्निप्राणरूप] में परिणत होकर यही सम्पूर्ण पार्थिव प्रजा का

* गुरुतम उत्तरदायि स्वरूप कार्य्य (जिम्मेवारी का कार्य्य)

'आस्पात्रं जुहूर्देवानाम्' नामक निवित् का यही तात्पर्य है कि यह अग्नि (सर्वदेवताहुति मुख-स्थानीय बनता हुआ 'देवपात्र' है। इसीलिए अग्नि में सम्पूर्ण देवताओं के लिए आहुति देते हैं। क्योंकि यह वास्तव में देवपात्र है। जो अग्नि की इस पात्रता को जानता है, वह जिस पात्र [भोग्यवस्तु] को प्राप्त करना चाहता है, अभीष्ट पात्र को प्राप्त कर लेता है ॥१३॥

'चमसो देवपान' इस निवित् का यही तात्पर्य है कि चमसरूप में परिणत हुए ही इस अग्नि से देवता आहुतिद्रव्य खाते हैं। इसीलिए 'चमसो देवपान' यह कहा है ॥१४॥

'अराँ २॥ इवाग्ने नेमिर्देवास्त्वं परिभूरसि' इस निवित् का यही तात्पर्य है कि, जिस प्रकार [शकटस्थ] अरों को नेमि चारों ओर से व्याप्त करती है, उसीप्रकार [अग्नि] देवताओं के चारों ओर से व्याप्त (घेर रहने) हैं प्रकृत निवित् से यही कहा है ॥१५॥

इति—निवित्पाठ

—— * ——

अथ--देवतावाहनम्

(उक्तरूप से निवित्पाठ करने के अनन्तर देवतावाहनकर्म्म होता है। उसी की इति कर्त्तव्यता बतलाती हुई श्रुति कहती है)—

'आवह देवान् यमानाय' इस आवाहन मन्त्र से इस यज्ञ के प्रति अग्नि को देवताओं के आह्वान के लिए ही कहा गया है। 'अग्निमग्न आवह' इस मन्त्र से अग्नि को आग्नेय आज्यभाग के प्रति अग्नि को लाने के लिए कहा गया है। 'सोममावह' इस मन्त्र से अग्नि को सौम्य आज्यभाग के प्रति सोम को लाने के लिए कहा गया है। 'अग्निमावह' इस मन्त्र से अग्नि को जो कि दर्श-और-पूर्णमास दोनों यज्ञों में अपरिहार्य्य आग्नेय-पुरोडाश है, उस के प्रति अग्नि को लाने के लिए ही कहा गया है ॥१६॥

(दर्शपूर्णमास-दोनों में जो अग्नि पुरोडाश का-देवता है, उसके आवाहन के) अनन्तर (निर्वापकाल में जिस जिस देवता के लिए जिस क्रम से देवता के लिए हविर्निर्वाप हुआ था उसी क्रम से) उस उस देवता का 'अग्नीषोमावावह' इत्यादि रूप से आवाहन करना चाहिए।

"देवाँ २॥ आज्यपाँ" इस मन्त्र से (आज्यपान करने वाले) प्रयाज-अनुयाज देवताओं के आह्वान के लिए अग्नि से प्रार्थना करता है। प्रयाज (ऋतु) अनुयाज (छन्द) देवता ही

अथ--निवित्पाठ

आर्षेय कह कर वह होता देवेम्यो मन्विद्ध० इत्यादि रूप से निवित्पाठ करता है। सब से पहिले देवताओंने ही इस अग्नि को प्रज्वलित किया था इसीलिए– 'देवेद्ध' यह कहा गया है। (देवताओं के अनन्तर मनुष्यसम्प्रदाय में) सब से पहिले इस अग्नि को मनु ने प्रज्वलित किया था इसीलिए 'मन्विद्धः' यह कहा है ॥५॥

'ऋषिष्टुत' इस निवित् का यही तात्पर्य्य है कि सब से पहिले ऋषियोंने ही इस अग्नि की स्तुति की थी इसीलिए 'ऋषिष्टुत' यह कहा है ॥६॥

'विप्रानुमदित' इस निवित् का यही तात्पर्य्य है कि, वे ही निश्चयेन विप्र कहलाए हैं जो कि ऋषि हैं। इन ऋषियोंने इस अग्नि को प्रसन्न किया था अतएव 'विप्रानुमदित' यह कहा है ॥७॥

कविशस्त' इस निवित् का यही तात्पर्य्य है कि, वे ही निश्चयेन कवि नाम से प्रसिद्ध हैं, जो कि ऋषि हैं। उन्हीं ऋषियों ने इस अग्नि का (सुप्रसिद्ध यजुरनुगता शस्त्रप्रक्रिया से) शंसन किया था, अतएव 'कविशस्तः' यह कहा है ॥८॥

'ब्रह्मसंशित' इस निवित् का यही तात्पर्य्य है कि, यह अग्नि निश्चयेन ब्रह्म से सुतीक्ष्ण किया गया है। 'घृताहवन' इस निवित् का यही तात्पर्य्य है कि, [यह अग्नि स्वस्वरता के लिए] घृत का आह्वान करने वाला [घृतप्रिय] है ॥९॥

'प्रणीर्यज्ञानां रथीरध्वराणाम्' [इस निवित् के 'प्रणीर्यज्ञानाम्' भाग का यही तात्पर्य्य है कि] ऋत्विग् गण इसी अग्नि के द्वारा सम्पूर्ण यज्ञों को पूर्ण करने में समर्थ होते हैं, जो कि पाकयज्ञ हैं, एवं जो अन्य यज्ञ हैं। इसीलिए–'प्रणीर्यज्ञानाम्' यह कहा है ॥१०॥

[उक्त निवित् के] 'रथीरध्वराणाम्' इस निवित् का यही तात्पर्य्य कि, यह अग्नि रथ बन कर देवताओं के लिए यज्ञ [हवि] का वहन करता है। इसीलिए–'रथीरध्वराणाम्' यह कहा है ॥११॥

'अतूर्तो होता तूर्णिर्हव्यवाट्' इस निवित् का यही तात्पर्य्य है कि, इस अग्नि का राक्षस पार नहीं कर सकते। इसीलिए 'अतूर्तो होता' यह कहा गया है। 'तूर्णिर्हव्यवाट्' का यही तात्पर्य्य है कि, यह अग्नि स्वयं सब पाप्माओं का पार करने में समर्थ है। इसलिए तूर्णिर्हव्यवाट् यह कहा है ॥१२॥

शतपथब्राह्मणप्रथमकाण्डनुगत चौथे अध्याय में तृतीय ब्राह्मण एव तीसरे प्रपाठ मे चतुर्थ ब्राह्मण सामिधेनी–ब्राह्मणानुगत चतुर्थ ब्राह्मण

—४—

अथ—शान्तिकर्म्म [अभिचारात्मकम्]

जो अग्नि सामधेनी ऋचाओं से समिद्ध होजाता है, वह इतर सामान्य प्रज्वलित अग्नियों की अपेक्षा अतिशयरूप से प्रज्वलित रहता है। ऐसा समिद्ध अग्नि धर्षण के, तथा स्पर्श के अयोग्य होजाता है। (न इसका कोई कुछ विगाड़ हो सकता न कोई स्पर्श ही कर सकता क्योंकि इसमें मन्त्रविद्युत् का समावेश रहता है, यही तात्पर्य्य है) ॥१॥

सो जिसप्रकार सामिधेनी–मन्त्रों से यह अग्नि समिद्ध होजाता है वैसे ही यह सामिधनी मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ ब्राह्मण (होता) भी (प्रज्ञरूप से) तपने लगता है। (साथ ही मन्त्रपूत समिद्ध अग्नि की भाँति मन्त्रप्रयोक्ता यह ब्राह्मण भी धर्षण तथा स्पर्श के अयोग्य बन जाता है ॥२॥

(जिसप्रकार सामिधनी मन्त्रों से आहवनीय अग्नि के अङ्ग प्रत्यङ्ग समिद्ध होजाते हैं, एवमेव इनके अनुवचन से अनुवचनकर्त्ता होता के अङ्ग प्रत्यङ्ग भी समिद्ध होजाते हैं। किस सामिधना–ऋग्भाग से कौन सा अङ्ग समिद्ध होता है ? इसी प्रश्न का क्रमिक समाधान करता हुआ निम्नलिखित प्रकरण आरम्भ होता है)—

वह होता 'प्र वो वाजा०' इत्यादि प्रथमा सामिधनी–ऋक् का (जिस समय) उच्चारण करता है, (उस समय अपने प्राणसमिन्धन की भावना करता है)। प्राण निश्चयेन ('प्र' शब्द से युक्त होता हुआ साथ ही गतिधर्म्मा बनता हुआ) 'प्रवान्' है। इस प्रथम ऋचा से यह होता अपने 'प्राण' को ही प्रज्वलित करता है।

'अग्न आयाहि वीतये' (इसका अनुवचन करता है)। अपान निश्चयेन 'एतवान्' (आगमनधर्म्मा) है। इस दूसरी ऋचा से होता अपने 'अपान' का ही समिद्ध करता है।

'त त्वा समिद्भि०' इत्यादि तृतीय सामिधनी–ऋचा का) 'बृहच्छोचा यविष्ठ्य (इसके अनुवचन से उदान को ही समिन्धित करता है)। उदान निश्चयेन बृहच्छोचा (तेजा–

याज्या देवता हैं। "अग्नि होत्रायावह" इस मन्त्र से होत्रकर्म्म के लिए अग्नि के आह्वान के लिए अग्नि से प्रार्थना करता है। "स्वं महिमानमावह" इस मन्त्र से अग्नि की अपनी महिमा (साहसीरूप) के आह्वान के लिए ही अग्नि से प्रार्थना करता है। वाक् ही इस अग्नि की अपनी महिमा (वाङ्मयी वषट्काररूपा महिमा) है। इससे इस वाक् के आह्वान के लिए ही प्रार्थना करता है। "आ च वह जातवेदः सुयजा च यज" इस मन्त्र से जिन देवताओं के आह्वान की यह प्रार्थना अभीष्ट है, उन्हीं के आह्वान के लिए प्रार्थना करता है। हे अग्ने! आप उन (यज्ञिय अभीष्ट) देवताओं को इस यज्ञ में लाइए, एवं यथाविधि उन आगत देवताओं का यजन कीजिए यही कहा है, जो कि–'सुयजा च यज' यह कहा है ॥१७॥

वह होता खड़ा होकर देवतावाहनकर्म्म करता है। आवाहनकर्म्म अनुवचनकर्म्म है (देवताह्वानकर्म्म है)। एवं यह (खिरस्थ) द्युलोक निश्चयेन अनुवाक्या है। अर्थात् द्युलोक पृथिवी पर खड़ा हुआ सा है। ऐसी अवस्था में खड़ा खड़ा द्युलोकस्थ देवताओं का आह्वान करता हुआ होता) इस द्युलोकसम्पत्ति-सदृश बनकर ही आह्वान करता है। इसलिए खड़ा खड़ा ही देवतावाहन-मन्त्रों का उच्चारण करता है ॥१८॥

(खड़े खड़े आवाहनकर्म्म करने में दोषोद्घाटन करती हुई श्रुति कहती है)–वह ऋत्विक् (अध्वर्यु) बैठकर याज्या (यजनात्मक ऋचा) का उच्चारण करता है। यही (पृथिवी) याज्या है। (यह बैठी हुई सी है)। इसीलिए कोई भी याज्ञिक खड़ा खड़ा याज्या का उच्चारण नहीं करता। निश्चयेन पृथिवी याज्या है। (बैठकर याज्या का उच्चारण करता हुआ) अध्वर्यु याज्यारूपा पृथिवी के स्वरूप में परिणत होकर ही याज्या का उच्चारण करता है। इसलिए बैठकर याज्या-यजन करता है। (तात्पर्य्य यही हुआ कि, अनुवाक्या द्युलोक है एवं याज्या भूलोक है। आह्वानकर्म्म का द्युलोक से सम्बन्ध है एवं यजनकर्म्म का भूलोक से सम्बन्ध है। द्युलोक तिष्ठत् है, एवं भूलोक आसीन है। अतः इसी रूप से अनुवाक्या एवं याज्याकर्म्म होना चाहिए। विरुद्ध करना प्राकृतिक-यज्ञसम्पत्ति से वञ्चित रहना है) ॥१९॥

इति–देवतावाहनम्

चौथे अध्याय में दूसरा, तथा तीसरे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण समाप्त

सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत-तृतीय ब्राह्मण अत्र उपरत

—३—

न्ति कामपूर्ति के अभाव में अतिशयरूप से सन्तापजनक स्वयमपि सन्तप्त है। शिश्नी (कामी) का शिश्न अतिशयरूप से सन्तप्त करता है। इस ऋगभाग से होता शिश्न को ही समिद्ध करता है ॥ ९ ॥

'समिद्धो अग्न आहुतः' इस ऋचा से, जो कि यह अथवा प्राण है, उसी को समिद्ध करता है। 'आजुहोता दुवस्यत' इस ऋचा से (समष्टिरूप से) सम्पूर्ण शरीर को–नख–लोम भागों को छोड़कर–समिद्ध करता है ॥ १० ॥

(उक्त प्रकार से होता के अवयवों का समिन्धन बतलाया गया। अब उसी समिन्धनक्रम से अभिचारकर्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाई जाती है)—प्रथम सामिधेनी के अनुवचन करते समय यदि होता के प्रति इस का शत्रु द्वेप-भाव प्रकट करे तो उस समय होता को सामिधेनी अनुवचन के साथ ही– तूने अपना प्राण इस समिद्ध प्राणाग्नि में डाला है, तू आत्मा के (शरीर के) प्राणभाग से पीड़ित होगा' यह बोले *। अवश्यमेव वैसा ही होगा। (अर्थात् शत्रु के प्राण छटपटाने लगेंगे) ॥ ११ ॥

द्वितीय सामिधेनी के अनुवचन करते समय यदि०। 'तूने अपने अपान को इस समिद्ध अपानाग्नि में डाला है। तू आत्मा (शरीर) के अपान भाग से दुःखी होगा' ॥ १२ ॥

तृतीय सा०। तू ने उदान को मेरे उदानाग्नि में आहुत किया है। तू शरीर के उदान भाग से दुःखी होगा०' ॥ १३ ॥

चतुर्थ सा०। 'तूने अपने श्रोत्र को मेरे आत्माग्नि में आहुत किया है। तुझे श्रोत्रपीड़ा होगी, तू बहिरा होजायगा०' ॥ १४ ॥

पञ्चमी सा०। 'तूने अपनी वाक् को मेरे आत्माग्नि में आहुत किया है। तुझे वाक्-पीड़ा होगी। तू मूक (गूँगा) होजायगा०' ॥ १५ ॥

षष्ठी सा०। तूने अपने मन को मेरे आत्माग्नि में आहुत किया है। तू खोया हुआ सा, पागल सा फिरता फिरेगा०' ॥ १६ ॥

---

* इन अभिचार मन्त्रों का स्वरूप मूलपाठ से गतार्थ है। प्रयोगकाल में उन्हीं का उच्चारण होना चाहिए। यहाँ केवल अर्थ ही बतलाया गया है।

नाड़ी से सम्बन्ध रखता हुआ अधिक तेजोयुक्त) है। इस ऋग्भाग से होता अपने 'उदान' को ही समिद्ध करता है ॥३॥

"स न पृथुश्रवाय्यम्" (इसके अनुवचन से श्रोत्र का ही समिन्धन करता है)। श्रोत्र निश्चयेन पृथुश्रवाय्य (विस्तीर्ण श्रवण साधन) है। श्रोत्र से ही विशाल अन्तरिक्ष में व्याप्त शब्द सुनता है। इस ऋक् से होता अपने 'श्रोत्र' को ही समिद्ध करता है ॥४॥

"ईळेन्यो नमस्य" (इसके अनुवचन से वाक् का ही समिन्धन करता है)। वाक् निश्चयेन ईळेन्या (स्तुति करने वाली किंवा स्तुति का साधन, किंवा स्तुति करने योग्य) है। वाक् ही इस सम्पूर्ण जगत् की स्तुति (उपादानरचन वितान-विस्तार) करती है, एवं वाक् से ही सम्पूर्ण विश्व ईळित (स्तुत-वितत) है। इस ऋचा से होता अपनी वाक् को ही समिद्ध करता है ॥५॥

'वृषो अग्निः समिध्यते०' इत्यादि ६ ठी ऋचा से) 'अश्वो न देववाहनः' (इस ऋग्भाग से मन का ही समिन्धन करता है) । मन ही 'देववाहन' , देवनिर्मित इन्द्रियों की आधारभूमि, तथा यज्ञिय देवताओं की संकल्प के द्वारा आधारभूमि) है। मन ही मनस्वी पुरुष को (सामान्य पुरुष की अपेक्षा , अतिशयरूप से समृद्ध बनाए रखता है उठाए रखता है, उन्नत रखता है। इस ऋग् भाग से होता 'मन' को ही समिद्ध करता है ॥ ६ ॥

('वृषणं त्वा वय वृषन्० इत्यादि ७ वीं ऋचा के) 'अग्ने दीद्यतं बृहत्' (इस ऋग् भाग से चक्षु का ही समिन्धन करता है)। चक्षु निश्चयेन प्रज्वलित आकार से है, इस ऋग्भाग से होता अपने 'चक्षु' को ही समिद्ध करता है ॥ ७ ॥

'अग्निं दूतं वृणीमहे' इस आर्षेयी ऋचा से जो कि इसका मध्यप्राण (व्यान) है, उसी को समिद्ध करता है। 'अग्निं दूतं वृणीमहे' यह सामिधेनी ऋक् मध्यादि पञ्च मर्णों के मध्य में प्रतिष्ठित व्यानप्राण-स्थानीया है। इस से अन्य (दिव्य) प्राण (इस के) ऊर्ध्व भाग में प्रतिष्ठित हैं, एवं इस से अन्य (पार्थिव) प्राण (इसके) अधो भाग में प्रतिष्ठित हैं। जो इस प्रकार प्राणों के मध्य में से इस मध्यस्था प्राणदेवता का स्वरूप पहिचान लेता है, वह लोक में मध्यस्थ (भेद-मुखिया निर्णायक) बन जाता है ॥ ८ ॥

('समिध्यमानो अध्वर०' इत्यादि नवमी सामिधेनी के) 'शोचिष्केशस्तमीमहे' (इस ऋग्भाग से शिश्नेन्द्रिय का ही समिन्धन करता है) शिश्न निश्चयेन शोचिष्केश (अभिल-

१—'होतृषदनं कृत्वाऽपरेण वेदिं श्रोणिं वोत्तरेण-इध्मात् समिधमादाय 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' इत्याह' (का० श्रौ० ३।१।१।)।
२—'होतरिति चैके' (का० श्रौ० सू० ३।२।१।)।
३—'प्रथमस्थानेन प्राक् स्विष्टकृत' (का० श्रौ० सू० ३।१।३।)।
४—'मध्यमेनेडाया' (का० श्रौ०सू० ३।१।४।)।
—'शेषमुत्तमेन' (का० श्रौ० सू० ३।१।५।)।
६—'सन्तन्वन्निव मेऽनुब्रूहि' इत्याह यजमान ' (का० श्रौ० सू० ३।१।६।)।

उक्त यजमान-प्रैषानन्तर जब होता तीन बार हिङ्कार करके 'प्र वो वाजा०' इत्यादि सामिधेनी-ऋचाओं का उच्चारण करने लगता है उस समय यजमान अपने पाँव के अँगूठा से भूमि को दबाता हुआ (शत्रु के नाम का समावेश कर) निम्नलिखित अभिचार-वचन का उच्चारण करता है—

'इदमहं पञ्चदशेन वाग्वज्रेणामुमववाधे'।

यदि शत्रु के नाम का पता न हो, साथ ही शत्रुता का परिज्ञान अवश्य हो तो उस दशा में—'इदमहं पञ्चदशेन वागवज्रेण द्विषन्तमववाधे' यह बोलना चाहिए । यदि कोई शत्रु (कृत्रिम) ही न हो तो (सहजशत्रु नाश के लिए) इदमहं पञ्चदशेन वाग्वज्रेण भ्रातृव्यमववाधे यह बोलना चाहिए। यदि काम्येष्टि का अभाव है, तो १५ सामिधेनियों का, यदि काम्येष्टि है तो १७ सामिधेनियों का होता के द्वारा अनुवचन होगा। फलतः प्रत्यक के साथ यजमान को इदमहं'० इत्यादि बोलते हुए पादाङ्गुष्ठ से भूमि को दबाना पड़ेगा। तात्पर्य्य यही है कि तत्तत् कर्म्मविशेषों में १५, १७ २१ २४ ३ ६ इत्यादि सामिधेनी-ऋचाओं का विशेष विधान है। दर्शपूर्णमास में १५ तद्विकृति-भूता काम्येष्टि में तथा पश्वादि में १८ प्राजापत्यपशुबन्ध में २१ इष्टकापशुबन्ध में २४ पित्र्येष्टि में ३ उपसद्धोम में ६, सामिधेनियों का विधान है। इन सामिधेनी-संख्याओं के अनुसार ही उक्त अभिचारमन्त्र में-क्रमशः 'इदमहं पञ्चदशेन०, सप्तदशेन०, एकविंशेन०, चतुर्विंशेन० तृतीयेन०, नवमेन० इस रूप से तत्तद्विशेष संख्याओं का समावेश करते हुए, शत्रु का नाम विदित हो तो नाम का समावेश करते हुए, नाम अविदित हो तो 'द्विषन्तं' पद का और यदि कृत्रिम शत्रु न हो तो 'भ्रातृव्यं' पद का सन्निवेश करते हुए सामिधेनी-संख्या-समान उतने ही अभिचार-वाक्यों का प्रयोग करना चाहिए।

उक्त मन्त्र का उपांशु + उच्चारण कर ब्रह्मा निम्नलिखित वाक्य उच्चस्वर से पढ़ता हुआ होता को अनुवचनकर्म्म के लिए अनुज्ञा प्रदान करता है—

'ओ३मनुब्रूहि' ।

इसप्रकार सामिधेन्यनुवचनकर्म्म के लिए ब्रह्मा से अनुज्ञा मिल जाने पर स्वासन पर प्रतिष्ठित होता अङ्गुलिपर्व के अग्रभागों को मिलाकर अञ्जलि को अपने हृदय से स्पृष्ट करता हुआ, अपने दाहिने पैर को वेदि की उत्तरश्रोणि के समीप रखता हुआ अन्तरिक्ष की ओर देखता हुआ निम्नलिखित 'नम क्रन्द' नामक निगद का जप करता है—

ओ३म्–नम -प्रवक्त्रे, नम उपवक्त्रे, नमो ऋषे, नमोऽस्तुत्याग्रे 'क' इदमनुवक्ष्यति, 'स' इदमनुवक्ष्यति, 'क' आर्त्विज्यं करिष्यति 'स' आर्त्विज्यं करिष्यति, ऋचः प्रपद्ये, यजुः प्रपद्ये, साम प्रपद्ये, ब्रह्म प्रपद्ये, नार्चा छन्दसां मातरं प्रपद्ये, भूः प्रपद्ये, भुवः प्रपद्ये, स्वः प्रपद्ये, भूर्भुवः स्वः सर्वं प्रपद्ये' इति ।

उक्त निगदपाठ के अनन्तर यज्ञकर्त्ता यजमान 'स्फ्य' हाथ में लेकर निम्नलिखित वाक्य से (अनुवचनकर्म्म के लिए) होता को प्रेरणा करता है—

'ओं सन्तन्वन्निव मेऽनुब्रूहि' ।

इस सम्बन्ध में सूत्रकार एक विशेष नियम बतलाते हुए कहते हैं कि, 'स्विष्टकृद्यान' नामक कर्म्म के अनुष्ठान से पहिले पहिले इतिकर्त्तव्यता में पठित यज्ञमन्त्र, एवं निगदमन्त्रों का कुछ उच्चस्वर से उच्चारण करना चाहिए, जिसे कि 'सामान्यस्वर' भी कहा जाता है। स्विष्टकृत से आरम्भ कर इडाप्राशनकर्म्म पर्य्यन्त सम्पूर्ण मन्त्रों का मध्यम स्वर से उच्चारण करना चाहिए। एवं इडा–कर्म्म से आरम्भ कर कर्म्म–समाप्ति पर्य्यन्त उच्च स्वर से उच्चारण करना चाहिए।

दूसरी विशेषता है होता के प्रति प्रैष करने के सम्बन्ध में। कितने ही याज्ञिक पूर्व प्रैषवाक्य के स्थान में 'अग्नये समिध्यमानाय होतरनुब्रूहि' यह प्रैष करते हैं। परन्तु वस्तुतः ऐसा होना नहीं चाहिए। क्योंकि-'तदु तथा न ब्रूयात्। अहोता वा एष पुरा भवति (शत० १।३।४।३।)' के अनुसार अभी यह ऋत्विक् होतृत्वेन वृत नहीं हुआ है। इन्हीं सब विशेषताओं के साथ क्रम इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए आगे के सूत्र हमारे सम्मुख आते हैं—

—'जिह्वोष्ठौ चालयन् किञ्चिद्देवतागतमानसः ।
निजश्रवणयोग्यः स्यादुपांशुः स जपः स्मृतः' ।

इस ११ वीं सामिधेनी के अन्त में होने वाले प्रणवोच्चारण के साथ ही अग्नि में आधान कर देना चाहिए। जो एक सामिधेनी शेष रहेगी, उसका अनुयाजकर्म में उपयोग होगा। इसप्रकार पञ्चदश-सामिधेनीपक्ष में १५ इध्म सामिधेनी मन्त्रों के सम्बन्ध से १ अनुयाज सम्बन्ध से दो परिधिकर्म्मानन्तर होनेवाले अभ्याधानकर्म्म के सम्बन्ध से १८ इध्मों का ग्रहण होगा एवं इनका विनियोग उक्त प्रकार से होगा।

पशु-इष्टि का भी यदि दर्शपूर्णमास में संग्रह है, तो सत्रह सामिधेनी मन्त्र होंगे। और उस दशा में १८ के स्थान में २० इध्म-काष्ठ लिए जायेंगे। जिन दो मन्त्रों का उपरिष्टात् संग्रह होता है, वे 'धाय्या' कहलाए हैं। साथ ही-"समिध्यमानवतीं समिध्यवतीं चान्तरस्य पृथुपाजावत्यौ धाय्ये दधाति" (आपस्तम्बश्रौ० सू०) "तृतीयस्यां सामिधेन्यावावपते प्राग्गुत्तमाया पृथुपाजा अमर्त्य इति द्वे धाय्ये इत्युक्त प्रतीयात्" (आश्वलायन श्रौ सू०) "समिध्यमानवतीं समिद्धवतीं चान्तरेण धाय्या स्यु" (तै० स० ५।३।८।५-३।३) इत्यादि के अनुसार इन दोनों धाय्या ऋचाओं का सन्निवेश समिध्यमानपदघटित "समिध्यमानो अध्वर०" इस मन्त्र के तथा समिद्धपदघटित 'समिद्धो अग्न आहुत०" इस मन्त्र के, दोनों के मध्य में विधान होता है। क्योंकि ये दोनों धाय्या ऋचाएँ दोनों के मध्य में सन्निविष्ट रहती हैं अतएव इनकी-"समिध्यमान-समिद्धवती" यह संज्ञा (नाम) मानी गई है।

पूर्वोक्त क्रमानुसार परिधिकर्म्मोत्तरभावी अभ्याधानकर्म्मोपयुक्त २ इध्मकाष्ठों तथा १० मन्त्रों के प्रणव के साथ होने वाले १० इध्मकाष्ठों के अभ्याधान के अनन्तर ८ इध्मकाष्ठ बच रहते हैं। इनमें से १ तो अनुयाज के लिए रखली जाती है, शेष सातों का १ वीं के अन्तिम प्रणवोच्चारण के साथ अभ्याधान होजाता है। यही यही इस सप्तदश सामिधेनीपक्ष में २० इध्म-काष्ठों का विनियोग है।

अब इस सम्बन्ध में एक जिज्ञासा बच रहती है। कहा गया है कि अनुवचनकाल में यजमान दोनों पैरों के अँगूठों से भूमि दबाता हुआ—"इदमहम्" इत्यादि रूप से अभिचार कर्म्म करता है। उधर श्रुति में—"यं द्विष्यात् त अङ्गुष्ठाभ्यामवबाधत-इदमहममुमवबाधे' (शत० १।३।५।७।) इत्यादि रूप से सामान्यतः "अङ्गुष्ठ" पद उद्धृत हुआ है। उससे पैर के अङ्गुष्ठ का ही ग्रहण किस आधार पर किया गया ? इस प्रश्न का समाधान—"पादाभ्या मङ्गुष्ठाभ्यामवबाधेत' (का० श्रौ० ।३।३।५) इस कात्यायनश्रौतवचन के अनुसार प्रकृत

हिङ्कारपूर्वक प्रणव सहित सामिधेनी का उच्चारण होता है। इस प्रणव का सम्बन्ध मन्त्र के दोनों ओर होता है। जब जब होता सप्रणव-सामिधेनी ऋक् का उच्चारण कर अवगम्य में प्रणव का उच्चारण करता है, तब तब ही (प्रतिप्रणव) अध्वर्य्यु अग्नि में इध्म डालता जाता है। दोनों के सामिधेनी-ऋक्प्रणवोच्चारण के साथ साथ अध्वर्य्यु का इध्म डालना इध्मकर्म्म है। जितने सामिधेनी मन्त्र होते हैं उतने ही इध्म होते हैं। दर्श-पूर्णमास में क्योंकि १५ सामिधेनी ऋक्-मन्त्र हैं, फलतः यहाँ १५ ही का आधान होता है।

"समिद्धो अग्न आहुत॰" इस ऋक्मन्त्र के उच्चारण से पहिले पहिले वह अध्वर्य्यु इससे पहिले मन्त्र के अन्तिम प्रणवोच्चारण के साथ साथ सम्पूर्ण इध्मकाष्ठ अग्नि में डाल देता है। यदि अनुयाजकर्म्म अभीष्ट है, तो इन में से एक इध्मकाष्ठ बचा लिया जाता है। तात्पर्य्य यह हुआ कि, (काम्येष्टि के अभाव में) जबकि दर्श-पूर्णमास में पञ्चदश सामिधेनी-अनुवचन विहित हो तो उस दशा में 'प्र वो वाजा॰' इत्यादि ११ तो सामिधेनी मन्त्र हैं। एवं आद्यन्त के मन्त्र तीन तीन बार पढ़े जाते हैं। इस त्रिरावर्तन से ११ के १५ सामिधेनी मन्त्र होजाते हैं।

इस इष्टि में इस इध्मकर्म्म के लिए कुल (अनुयाजपक्ष में) १८ इध्मकाष्ठों का संग्रह होता है। इन अठारह इध्मों में से पूर्वोक्त परिधि-परिधानकर्म्म के अनन्तर एक समिध का "वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि अग्ने बृहन्तमध्वरे" [प्रथमं परिधिं समिधो-परस्पृश्य 'वीतिहोत्र' मित्यादधाति" का॰ श्रौ॰ सू॰ २।८।२) इस मन्त्र से परिधि का स्पर्श करते करते हुए अग्नि में आधान होजाता है। एवं एक समिध का बिना परिधि का स्पर्श किए "समिदसि" ("अनुपस्पृश्य द्वितीयां-'समिदसी' ति" का श्रौ॰सू॰२।८।३) यह मन्त्र बोलते हुए अग्नि में आधान होजाता है। इसप्रकार १८ में से २ का प्रयोग तो परिधिकर्म्म समाप्ति पर होने वाले समिधाधानकर्म्म में ही होजाता है। अब इस समय कुल १६ इध्म बच रहते हैं।

१६ की व्यवस्था यह है कि, "प्र वो वाजा॰" से आरम्भ कर "अग्निं दूतं वृणीमहे॰" इस आठवें सामिधेनी मन्त्र पर्य्यन्त 'प्र वो वाजा॰' की त्रिरावृत्ति से १० मन्त्र होजाते हैं। इन दसों का प्रणवोच्चारण के साथ अध्वर्य्यु के द्वारा आधान होजाता है। आगे तीन मन्त्र शेष हैं अन्तिम मन्त्र की त्रिरावृत्ति से ५ मन्त्र शेष हैं। सामिधेनी ६ शेष हैं। इन छओं के सम्बन्ध में यह व्यवस्था हुई है कि, पञ्चम-सम्भरिणी पाँचों सामिधेनियों का "समिद्ध अग्न आहुत" इस १२ वीं सामिधेनी के उच्चारण से पूर्व एवं "समिध्यमानो अध्वरे॰'

इस ११ वीं सामिधनी के अन्त में होने वाले प्रणवोच्चारण के साथ ही अग्नि में आधान कर देना चाहिए। जो एक सामिधनी शेष रहेगी, उसका अनुयाजकर्म में उपयोग होगा। इसप्रकार पञ्चदश-सामिधनीपक्ष में १५ इध्म सामिधनी मन्त्रों के सम्बन्ध से, १ अनुयाज सम्बन्ध से, दो परिधिकर्मानन्तर होनेवाले अभ्याधानकर्म के सम्बन्ध से, १८ इध्मों का ग्रहण होगा, एवं इनका विनियोग उक्त प्रकार से होगा।

अग्निष्टोम का भी यदि दर्शपूर्णमास में समह है, तो सत्रह सामिधनी मन्त्र होंगे। और उस दशा में १८ के स्थान में २० इध्म-काष्ठ लिए जायँगे। जिन दो मन्त्रों का उपरिष्टात् समह होता है, वे 'धाय्या' कहलाए हैं। साथ ही-"समिध्यमानवर्ती समिध्यवर्ती चान्तरेण पृथुपाजावत्यौ धाय्ये दधाति" (आपस्तम्बश्रौ० सू०) "तृतीयस्यां सामिधेन्यावावपते प्रागुत्तमायाः पृथुपाजा अमर्त्य इति द्वे धाय्ये इत्युक्त प्रतीपाद" (आश्वलायन श्रौ सू०) "समिध्यमानवर्तीं समिद्धवर्तीं चान्तरेण धाय्या स्युः" (तै० सं० ५।३।४।५-५।६) इत्यादि के अनुसार इन दोनों धाय्या ऋचाओं का सन्निवेश समिध्यमानपदघटित "समिध्यमानो अध्वर०" इस मन्त्र के तथा समिद्धपदघटित 'समिद्धो अग्न आहुत०" इस मन्त्र के दोनों के मध्य में निपात होता है। क्योंकि ये दोनों धाय्या ऋचाएँ दोनों के मध्य में सन्निविष्ट रहती हैं अतएव इनका-"समिध्यमान-समिद्धवती" यह संज्ञा (नाम) मानी गई है।

पूर्वोक्त क्रमानुसार परिधिकर्मोत्तरभावी अभ्याधानकर्मोपयुक्त २ इध्मकाष्ठों, तथा १० मन्त्रों के प्रणव के साथ होने वाले १० इध्मकाष्ठों के अभ्याधान के अनन्तर ८ इध्मकाष्ठ बच रहते हैं। इनमें से १ तो अनुयाज के लिए रक्खी जाती है, शेष सातों का १० वीं के अन्तिम प्रणवोच्चारण के साथ अभ्याधान होजाता है। एवं यही इस सप्तदश सामिधनीपक्ष में २० इध्म-काष्ठों का विनियोग है।

अब इस सम्बन्ध में एक जिज्ञासा बच रहती है। कहा गया है कि प्रणवोच्चारणकाल में यजमान दोनों पैरों के अँगूठों से भूमि दबाता हुआ-"इदमहम्" इत्यादि रूप से अभिचार कर्म करता है। उधर श्रुति में-"य द्विष्यात् त अङ्गुष्ठाभ्यामवबाधेत-इदमहममुमवबाध' (शत० १।३।५।७।) इत्यादि रूप से सामान्यतः 'अङ्गुष्ठ' पद उद्धृत हुआ है। इससे पैर के अङ्गुष्ठ का ही ग्रहण किस आधार पर किया गया? इस प्रश्न का समाधान-"पादाभ्या मङ्गुष्ठाभ्यामवबाधेत' (का० श्रौ० २।३।१४) इस कात्यायनसूत्रवचन के अनुसार प्रकृत

हिङ्कारपूर्वक प्रणव सहित सामिधेनी का उच्चारण होता है। इस प्रणव का सम्बन्ध मन्त्र के दोनों ओर होता है। जब जब होता सप्रणव-सामिधेनी ऋक् का उच्चारण कर अन्त में प्रणव का उच्चारण करता है, तब तब ही (प्रतिप्रणव) अध्वर्यु अग्नि में इध्म डालता जाता है। दोनों के सामिधेनी-ऋक्सन्त्रोच्चारण के साथ साथ अध्वर्यु का इध्म डालना इध्मकर्म है। जितने सामिधेनी मन्त्र होते हैं उतने ही इध्म होते हैं। दर्श-पूर्णमास में क्योंकि १५ सामिधेनी ऋक्-मन्त्र हैं, फलतः वहाँ १५ ही का आधान होता है।

"समिद्धो अग्न आहुत ०" इस ऋक् मन्त्र के उच्चारण से पहिले पहिले वह अध्वर्यु इससे पहिले मन्त्र के अन्तिम प्रणवोच्चारण के साथ साथ सम्पूर्ण इध्मकाष्ठ अग्नि में डाल देता है। यदि अनुयाजकर्म अभीष्ट है, तो इन में से एक इध्मकाष्ठ बचा लिया जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि, (कर्म्येष्टि के अभाव में) जबकि दर्श-पूर्णमास में पञ्चदश सामिधेनी-अनुवचन विहित हो तो उस दशा में 'प्र वो वाजा०' इत्यादि ११ तो सामिधेनी मन्त्र हैं। एवं आद्यन्त के मन्त्र तीन तीन बार पढ़े जाते हैं। इस त्रिरावर्तन से ११ के १५ सामिधेनी मन्त्र होजाते हैं।

इस इष्टि में इस इध्मकर्म के लिए कुल (अनुयाजपक्ष में) १८ इध्मकाष्ठों का संग्रह होता है। इन अठारह इध्मों में से पूर्वोक्त परिधि-परिधानकर्म के अनन्तर एक समिध का "वीतिहोत्र त्वा कवे द्युमन्त समिधीमहि अग्ने बृहन्तमध्वरे" [प्रथमं परिधिं समिधोपस्पृश्य 'वीतिहोत्र' मित्यादधाति" का० श्रौ० सू० २।८।२) इस मन्त्र से परिधि का स्पर्श करते करते हुए अग्नि में आधान होजाता है। एवं एक समिध का बिना परिधि का स्पर्श किए "समिदसि" ("अनुपस्पृश्य द्वितीयां-'समिदसी' ति" का०श्रौ०सू०२।८।३) यह मन्त्र बोलते हुए अग्नि में आधान होजाता है। इसप्रकार १८ में से २ का प्रयोग तो परिधिकर्म समाप्ति पर होने वाले समिधाधानकर्म में ही होजाता है। अब इस समय कुल १६ इध्म बच रहती हैं।

१६ की व्यवस्था यह है कि "प्र वो वाजा०" से आरम्भ कर 'अग्निं दूतं वृणीमहे०" इस आठवें सामिधेनी मन्त्र पर्य्यन्त 'प्र वो वाजा०' की त्रिरावृत्ति से १० मन्त्र होजाते हैं। इन दशों का प्रणवोच्चारण के साथ अध्वर्यु के द्वारा आधान होजाता है। बाकी तीन मन्त्र शेष हैं अन्तिम मन्त्र की त्रिरावृत्ति से ५ मन्त्र शेष हैं। सामिधेनी ६ शेष हैं। इन छओं के सम्बन्ध में यह व्यवस्था हुई है कि, पञ्चमन्त्रसम्बन्धिनी पाँचों सामिधेनियों का 'समिद्ध अग्न आहुत' इस १२ वीं सामिधेनी के उच्चारण से पूर्व एवं 'समिध्यमानो अध्वरे०'

तीसरे अध्याय में पाचवाँ, तीसरे प्रपाठकमे
दूसरा ब्राह्मण
सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत प्रथम ब्राह्मण
१

वैज्ञानिक-विवेचना—

(भाष्य)—यज्ञवैदिक कथाओं में 'अग्निसमिन्धन' कर्म्म अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। 'अग्निरु वै यज्ञः' इस निगम के अनुसार अग्नितत्त्व ही यज्ञ कर्म्म की मूलप्रतिष्ठा है। आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक, इन त्रेताग्नियों के समन्वय से जो एक अपूर्व अतिशय उत्पन्न होता है उसे ही दैवात्मा कहा जाता है। यह दैवात्मा खगोलीय पार्थिव सम्वत्सर के त्रिणाचिकेत नामक सप्तदशस्तोम स्थान में प्रतिष्ठित होजाता है। इस दैवात्मा के प्राण का रश्मिरूप से यज्ञकर्त्ता यजमान के साथ हृद्ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध रहता है। उधर यह दैवात्मा दिव्यलोकस्थ स्वर्गीय प्राणदेवताओं के साथ बद्ध रहता है। यावदायु-र्भोगपर्य्यन्त इस भूपृष्ठ पर जीवनयात्रा का निर्वाह करता हुआ यजमान जब अपने भौतिक शरीर का परित्याग करता है तो इसका कर्म्मभोक्ता—वैश्वानर तैजस प्राज्ञ—त्रिधमूर्त्ति भूतात्मा (मानुषात्मा) उस दैवात्मा के आकर्षण से आकर्षित होता हुआ उस सप्तदशस्तोमात्मक स्वर्गलोक में चला जाता है। जबतक यज्ञाति-शयरूप दैवात्मा स्वस्वरूप से सुरक्षित रहता है तबतक मानुषात्मा वहाँ प्रतिष्ठित रहता है। समय पाकर यज्ञातिशयलक्षण पुण्यसंस्कार के क्षीण होजाने से तद्रूप दैवात्मा विलीन होजाता है पुनः उस मानुषात्मा को 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति' के अनुसार उसी जन्म-मरण-प्रवाह में आजाना पड़ता है। और यही यज्ञकर्म्म का एक महत्वपूर्ण फल है।

इस यज्ञफलसिद्धि के लिए तीनों अग्नियों का पहिले परस्पर ग्रन्थिबन्धन अपेक्षित है। आधिभौ-तिक अग्नि पार्थिव अग्नि है आध्यात्मिक अग्नि शारीराग्नि है एवं आधिदैविक अग्नि सौर सावित्राग्नि है। पार्थिव अग्नि और सावित्राग्नि का ही प्रवर्ग्य रूप है। यही सावित्राग्नि प्रवर्ग्य-सम्बन्ध से पिण्डसंस्था से पृथक् होकर अपने दिव्यरूप से वञ्चित होता हुआ भूगर्भ में आकर कृष्ण (अप्रत्यक्ष) रूप में परिणत होजाता है। इसी को विज्ञानभाषा में—'कृष्णामृग' कहा गया है। काष्ठादि में यही गुप्त अग्नि गुप्त है जिसका 'शाप वनेषु मात्रो' मन्त्र से स्पष्टीकरण होरहा है। काष्ठादि में प्रसुप्त यही आधि-भौतिक अग्नि मनुष्य के प्रयास से प्रज्वलित होकर मनुष्यों के लौकिककर्म्म (पाकादिकर्म्म) सम्पादन करता है जैसाकि—'मन्स्था मर्त्तासि इन्धते' इस मन्त्रभाग से स्पष्ट है। प्रज्वलित होने के अनन्तर यह भूताग्नि अपने भूतभाग को छोड़ता हुआ कालान्तर में अपने उसी दिव्यप्राणरूप में परिणत होकर द्युलोक में चला

सामान्यवचन का विशेष (पाद) विधि में सङ्कोच करना न्यायसङ्गत होजाता है। इसी पूर्वोक्त इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कात्यायन कहते हैं —

(७)–"अनुष्ठाभ्यां चाक्वाचते पाघाभ्यां वेदमदमयुमवचाच इति इष्ट्यम्"

(का० श्रौ० सू० ।१।७)।

(८)–"अभावे द्विपन्तं, भ्रातृव्यमिति वा" (का० श्रौ सू० ३।१।८)।

(९)–"यावत् सामिधेनि वेदेदमई तावतिवेन यज्ञे वेति"

(का श्रौ सू ३।१।९)।

(१०)–"प्रतिप्रणवमाधानम्" (का श्रौ० सू० ३।१।१०)।

(११)–" 'समिद्ध इति प्रागत सर्वमिध्मम् कमर्जमनुयाजार्थे त'

(का० श्रौ० सू ३।१।११)।

इति—सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह.



ही सौरलोक "स्वर्लोक" कहलाया है, जैसाकि 'स्वरहर्वेषाः सूर्य्य' (श० १।१।२।२।१) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। व्यञ्जनवाक् पार्थिवी है, यही 'अनुष्टुप्' कहलाई है। स्वरवाक् सौरी (ऐन्द्री) है यही 'बृहती' कहलाई है। जिसप्रकार सूर्य्योपमद्भूता पृथिवी सौरतत्त्व के बिना स्वरूपरक्षा में असमर्थ है एवमेव सौर स्वर को आधार बनाए बिना पार्थिव व्यञ्जनों का भी उच्चारण असम्भव है। *।

वैज्ञानिक महर्षियोंनें व्यञ्जनवाक् में अनुस्यूत सौर-स्वरतत्त्व की परीक्षा आरम्भ की। परीक्षा से यह सिद्धान्त निकला कि, 'इस अनुष्टुप्-लक्षणा पार्थिवी-वाक् (व्यञ्जनवाक्) में आधार बना हुआ जो स्वर है वह दिव्यतत्त्व (इन्द्र) है। यदि इस दिव्यतत्त्व का (स्वर का) इस व्यञ्जनवाक् के साथ नियमपूर्वक सम्बन्ध जोड़ दिया जाय, तो उस नियमित वाक् से भागनुगत नियमित स्वर के आकर्षण से दिव्यलोकस्थ दिव्यप्राणदेवताओं का आकर्षण सम्भव होजाय'। एकमात्र इसी स्वरविज्ञान को मूल बना कर ऋषियोंनें दिव्यप्राणों के तत्तद्विशेष-स्वरूपों की परीक्षा आरम्भ की। उन्होंनें देखा कि दिव्यलोकस्थ अग्नि इन्द्र, वरुण आदित्यादि देवप्राण गायत्री, त्रिष्टुप आदि विशेष छन्दों (वाक्परिमाणात्मक सीमाभावों) से छन्दित (सीमित) रहते हुए उदात्त-अनुदात्त-स्वरितादि तत्तद्विशेष स्वरवीचियों (लहरों) से युक्त हैं। इसी आधार पर उन्होंनें व्यञ्जनवाक् में उसी नियम से छन्द-स्वर-सम्पत्ति का समावेश करते हुए यह सिद्ध कर दिया कि, "यदि अमुक छन्द वाले अमुक स्वर युक्त, अमुक मन्त्र का अमुक कर्म्म में अमुक नियम से प्रयोग किया जायगा तो इन छन्द-स्वरों से समतुलित छन्दः-स्वर-युक्त उन प्राणदेवताओं का यहाँ भी सम्बन्ध होसकेगा। साथ ही इस सम्बन्ध में उन्होंनें यह भी आदेश दिया कि यहाँ मन्त्रवाक् के उच्चारण करते समय यदि मन्त्रप्रयोक्ता छन्द-स्वर-वर्ण आदि में यथाव्यवस्थित नियम के विपरीत अणुमात्र भी स्खलन (असावधानी) कर देगा तो इनकी स्वरूपानुगता-स्वरलहरी-विकृत होजायगी फलतः इन विकृत स्वर-वर्णयुक्त मन्त्रों से उन अविकृत देवताओं का आकर्षण न होसकेगा। साथ ही इष्ट के स्थान में महान् अनिष्ट भी होजायगा ×।

तो अब हमारी उस पूर्वोक्त विप्रतिपत्ति का समाधान होगया। हम ऋषि के द्वारा दृष्ट उन मन्त्रों के यथाविधि उच्चारण से उन प्राकृतिक प्राणदेवताओं का अपनी यज्ञसंस्था में अवश्यमेव सम्बन्ध करा सकते हैं। यही तो वेदमन्त्र का मन्त्रत्व है, यही तो इनका अपौरुषेयत्व है। विज्ञानवाक् का निर्म्माण कौन कर

---

*-'बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम्।
अनुष्टुभमनु चर्चूर्य्यमाणमिन्द्रं निचिक्युः कवयो मनीषा॥''
—ऋ० १०।१२४।९।

×-"दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

जाता है। 'अतन्द्रो हव्यं वहसि हविष्कृदादिद्देवेषु राजसि' इस मन्त्रोपराद्धं से इसी स्थिति का प्रतिपादन हुआ है।

भूताग्नि प्रज्वलित होकर कालान्तर में द्युलोक में इसीप्रकार जाता रहता है। परन्तु इस स्वाभाविक गति से यज्ञकर्म्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। यज्ञकर्म्म में तो वह भूताग्नि ही उपयुक्त माना जायगा जिसमें यहीं, इसी लोक में प्रतिष्ठित रहते हुए दिव्याग्नि का समावेश करा दिया जायगा। भूताग्नि को प्रज्वलित किया जायगा इसमें दिव्यप्राणाग्नि का समावेश कराया जायगा। अनन्तर आहुति के द्वारा यजमान अपने शरीराग्नि का इन दोनों से सम्बन्ध करा देगा। परिणाम इसका यह होगा कि, अब जो भूताग्नि द्युलोक में जायगा उसके गर्भ में दिव्याग्नि रहेगा यजमान का शरीराग्नि रहेगा आहुतिद्रव्यानुराग रहेगा। इन सब के समन्वितरूप का नाम होगा पूर्वोक्त 'दैवात्मा'। यह वहाँ जायगा, इसका यजमान के मानुषात्मा से सम्बन्ध रहेगा, और यही आकर्षण स्वर्गफलप्राप्ति का कारण होगा।

भूताग्नि को प्रज्वलित सभी करते हैं। तद्वत् यहाँ भी अध्वर्यु "इध्म" नामक सामान्य काष्ठप्रक्षेप से इसे प्रज्वलित कर लेता है। इस सामान्य प्रज्वलनकर्म्म को विज्ञानपरिभाषा में 'इन्धन' कहा गया है। आहवनीयाग्नि प्रतिरूपमर्य्यादा से यद्यपि दिव्याग्नि की प्रतिकृति है। परन्तु यह तभी दिव्य कहला सकेगा, जबकि इसमें किसी विशेष वैज्ञानिक प्रक्रिया से द्युलोकस्थ देवतामय दिव्य प्राणाग्नि का सम्बन्ध करा दिया जायगा। जबतक पार्थिव भूतरूप प्रज्वलित अग्नि का इस दिव्य-प्राणरूप अग्नि के साथ एकीभावात्मक सम्बन्ध नहीं होजाता तबतक इन आहवनीय रूप अग्नि का एक चूल्हे की सामान्य अग्नि से अधिक कोई विशेष महत्त्व नहीं है। दिव्याग्निशून्य ऐसे प्रज्वलित अग्नि में प्राणदेवाकर्षण की अयोग्यता है। फलतः इसमें चाहे आप मन भी डाल दीजिए, अपरिमित आहुति-द्रव्य डाल दीजिए, अहर्निश स्वाहा स्वाहा करते रहिए, साथ ही यज्ञविद्या को जगत् की दृष्टि में महत्त्व शून्य सिद्ध करने का कलङ्क उठाते रहिए, कभी ऐसे लौकिक अग्नि से फलसिद्धि नहीं होसकती। फल तब मिलेगा, जब प्राकृतिक प्राणदेवताओं के गर्भ में आहुतिद्रव्य का समावेश होगा। आहुतिद्रव्य का देवताओं के गर्भ में समावेश तब होगा, जब इस प्रज्वलित भूताग्नि में देवप्राणाकर्षक दिव्याग्नि का एकीभाव होगा। और यह एकीभाव तब सम्भव होगा, जबकि श्रुतिप्रसिद्ध सुपरिद्ध— 'सामिधेन्यनुवचन कर्म्म का आश्रय लिया जायगा। १

प्रश्न हमारे सामने यही है कि द्युलोक में प्रतिष्ठित दिव्यप्राणदेवता प्राण्य मात्र हैं। उधर प्राण की— "रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दशून्यत्वे-सति अधामरूपत्वमेव प्राणत्वम्' यह परिभाषा मानी गई है। एकत्सद्रूप दिव्यप्राण चर्म्मदृष्टि के लिए सर्वथा अतीन्द्रिय बनता हुआ अमाप्य है। अब यह बतलाइए कि तो उसका इस अग्नि में सम्बन्ध कैसे कराया जाय?, यही एक महती विप्रतिपत्ति है।

उक्त विप्रतिपत्ति का निराकरण 'स्वरसमन्वय' से होरहा है। पृथिवी और सूर्य्य, दोनों परस्पर एक थे जैसाकि पाठक आगे देखेंगे। पृथिवी सूर्य्य का ही उपग्रह माना गया है। दोनों में परस्पर आधार-आधेयभाव सम्बन्ध है। सूर्य्य की प्रवर्ग्यभागात्मिका पृथिवी और आकर्षण-परिधि को आधार बनाकर इसलोक में प्रतिष्ठित है। गौरूप सूर्य्य न ही परिनरूप गृह (नीड) के आधार पर भूभार वहन कर रहता है। इस और प्राण का ही नाम स्वर है एवं पार्थिव भूत का ही नाम व्यञ्जन है। स्वरप्राण के सम्बन्ध से

सृष्टि में पार्थिव-अग्नि वायु से ही (पङ्खे आदि के झलने से ही प्रज्वलित होता है। वायु ही प्राकृतिक यज्ञ के वाम्यनुगत यजुर्वेदी अध्वर्यु माने गए हैं। अतएव यहाँ भी तत्प्रतिकृतिरूप यजुर्वेदी अध्वर्यु ही इध्मकर्म करता है। पार्थिव मूलाग्नि ही "इत एत उदारुहन्-दिवस्पृष्टान्यारुहन्। प्रभूजयो यथा पथि चामङ्गिरसो ययुः" इस मन्त्रवर्णन के अनुसार द्युलोकस्थ दिव्याग्नि से मेल कर समिद्ध होते हैं। दूसरे शब्दों में पार्थिव अग्नि ही समिन्धनकर्म के सञ्चालक हैं। ये ही प्राकृतिक यज्ञ के अम्यनुगत ऋग्वेदी होता माने गए हैं। अतएव यहाँ भी तत्प्रतिकृतिरूप ऋग्वेदी होता ही समिन्धनकर्म करता है। 'यद्धै देवा अकुर्व स्तत् करयाणि' ही इस उपपत्ति का मूल है। और यही सामिधन्यनुवचनकर्म की संक्षिप्त उपपत्ति है, जिसका कि प्रकृत ब्राह्मण की प्रथम-कण्डिका में स्पष्टीकरण हुआ है ॥ १ ॥

यद्यपि प्रतिकृत्यानुगता-मर्यादीयमय्यादा से होता ही समिन्धनकर्म का अधिकारी है अतः 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' इत्यादि रूप से अध्वर्यु इस कर्म के लिए होता को ही प्रेरित करता है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, सामिधेनी अनुवचन के अनन्तर इस ऋत्विक् का होतृवेन वरण होनेवाला है। उस से पहिले होता के उद्देश्य से इस कर्म में नियुक्त होता हुआ भी यह विधिपूर्वक 'होतृ' संज्ञा में परिणत नहीं हुआ है। अतः 'होतरनुब्रूहि' इसप्रकार नामनिर्देश पूर्वक प्रैष न कर उक्त सामान्यरूप (बिना नाम-निर्देश) से ही प्रैष करना चाहिए ॥ २ ३, ॥

इस कर्म से अग्नि का समिन्धनलक्षण एकीभाव सम्बन्ध ही अपेक्षित है। प्राकृतिक जिस देवता का ऋचा के द्वारा आवर्जन करता है यह आत्मा अग्नि है छन्द उस का गायत्री है साथ ही अग्नित्वेन यह ब्रह्मवीर्य्य का प्रवर्त्तक है। देववर्ग में इन्द्र जहाँ क्षत्रवीर्य्य के प्रवर्त्तक हैं विश्वदेव जहाँ विड्वीर्य्य के प्रवर्त्तक हैं एवं पूषाप्राण जहाँ शूद्रभाव का स्वरूपसमर्पक है वहाँ अग्नि ब्रह्मवीर्य्य के अधिष्ठाता माने गए हैं। एतत्कर्म्मोपेत अग्नि का उसी ऋचा से आवर्जन सम्भव है जिस का स्वरूप (अर्थापेक्षया) अग्निमय होगा। अर्थात् जिस में अग्निस्वरूप का वर्णन होगा छन्द जिस का गायत्री होगा। इसीलिए सामिधेन्यनु-वचनकर्म में उपयुक्त सामिधेनी सभी ऋचाएँ स्वरूपतः (अर्थतः) आग्नेयी होती हैं एवं छन्दोमर्यादा से इन सब का गायत्री छन्द होता है। इस अपने ही छन्द अपने ही स्वरूप से समतुलित सामिधेनी-ऋचा से अग्नि का समिन्धन तो हो ही जाता है इसके अतिरिक्त इस में समतुलित ब्रह्मात्मिका गायत्री से विशेष शक्ति (ब्रह्मबल) का भी आधान होजाता है।

गायत्री को ब्रह्म तथा वीर्य्यरूप बतलाना भी एक विशेष महत्त्व रखता है। पार्थिव इन्द्रमय प्रजा-पति से (प्रजापति के मुखरूप उक्थ-नाभ्यम्बिन्दु से) अर्कात्मक पार्थिव अग्नि का, तथा अग्निसोमलक्षण गायत्रीछन्द का आविर्भाव हुआ है। अग्नि ब्रह्म है इसका छन्द गायत्री है। इस अग्निब्रह्म के सम्बन्ध से

* "प्रजापतिर्वाव ज्येष्ठः। स ह्येतेनाग्रेऽयजत। प्रजापतिरकामयत-प्रजाय यति। स मुखतस्त्रिवृत निरमिमीत। तमग्निर्देवतान्वसृज्यत, गायत्रीछन्द रथन्तर साम, ब्राह्मणो मनुष्याणां, अज पशूनां। तस्माते मुख्याः मुखतो ह्यसृज्यन्त"

—तै० सं० ७।१।१।४।

सकता है ? । यह तो ऋषियों के अन्तःकरण में स्वतः प्रादुर्भूत होने वाला मङ्गलमय विधि का महतो महीयान् मङ्गलविधान है * । इसी मङ्गलमूर्त्ति विधि के स्मरणपूर्वक हमारा यह सामिधेन्यनुवचनकर्म्म आरम्भ होता है ।

यह सिद्ध होचुका है कि आहवनीयाग्नि में दिव्यप्राणाग्नि का सम्बन्ध आवश्यक है । दोनों का एकीभाव ही यज्ञसिद्धि का द्वार है । इस एकीभाव के लिए ही 'समिन्धन (समित्येकीभावे) शब्द प्रयुक्त हुआ है । जिस कर्म्मविशेष से अध्वर्यु के द्वारा इद्ध अग्नि समिद्ध बनाया जाता है वही कर्म्मविशेष 'सामिधेन्यनुवचनकर्म्म' नाम से व्यवहृत हुआ है । होता नाम का ऋत्विक् उन मन्त्रों का उच्चारण करता है जिन का छन्द गायत्री है, स्वरलहरी अग्निदेवतानुगता है । उन मन्त्रों के प्रयोग से मन्त्रोच्चारण समुपबंहित प्राणाग्निदेवता आकर्षित होकर अवश्यमेव इस इद्ध अग्नि में प्रविष्ट होकर इसे समिद्ध (इस के साथ एकीभूत) कर देते हैं । क्योंकि निर्दिष्ट ऋचाओं से इस इद्ध का समिन्धन होता है अतएव इन ऋचाओं को— 'समिन्धे एताभिर्ऋग्भि " इस निर्वचन से 'सामिधेनी' कहा गया है । अध्वर्यु पहिले इध्म से (सामान्य काष्ठ से) अग्नि को इद्ध + करता है । अनन्तर होता सामिधेनी ऋगुच्चारण से दिव्यप्राणाग्नि के स्थापन द्वारा इस अग्नि को समिद्ध करता है । इसी सम्बन्ध में एक बात का और ध्यान रखना चाहिए । प्राणाग्नि का सम्बन्ध अपेक्षित है । प्राणाग्नि का स्थिरसम्बन्ध बिना भूत के नहीं हुआ करता । भूत के आधार पर ही प्राण प्रतिष्ठित होता है भूतद्वार से ही प्राण का आकर्षण होता है ।

यहाँ भी अवश्य ही आगत प्राणाग्नि की स्थिरता के लिए भूतसम्बन्ध अपेक्षित है । इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए जितने सामिधेनी-मन्त्र हैं, उतने ही (१५ अथवा १७) इध्मकाष्ठ लिए जाते हैं । होता मन्त्रोच्चारण कर अन्त में प्रणवोच्चारण करता है इस से प्राणाग्नि अग्नि में प्रतिष्ठित होता है प्रणवाभिव्याहरकाल में ही अध्वर्यु नियत इध्म अग्नि में डालता रहता है । इसप्रकार यावत् सामिधेनी समतुलित इध्मकाष्ठों का प्रतिप्रणव आधान होता है । कैसा अद्भुत कर्म्मकलाप है । उस ओर से मन्त्रशक्ति के द्वारा होता दिव्यप्राणाग्नि को १५ यज्ञसंस्था में लाता जाता है, इस ओर से अध्वर्यु प्रतिप्रणव इध्माधान से भूताग्नि को प्रज्वलित करता जाता है । दोनों का एकीभावात्मक समिन्धन होता जाता है । कर्म्मसमाप्ति में दोनों अग्नि मिलकर एक अपूर्व-समृद्ध यज्ञानुगत रूप धारण कर लेते हैं । ऐसे समिद्ध अग्नि के प्रति कौन अग्न्युपासक भूसुर नतमस्तक होकर नमन न करेगा ? ।

अब इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, 'इन्धनकर्म्म अध्वर्यु ही क्यों करता है ? एवं समिन्धनकर्म्म होता ही क्यों करता है ? । इन प्रश्नों की संक्षिप्त उपपत्ति यही है कि, प्राकृतिक-

---

*—युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षय ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा ॥

+ लौकिक-भीतक-काष्ठ म भूताग्नि का ही इन्धन (प्रज्वलन) होता है । अनन्तर (धन- (प्रज्वलन)-साधक काष्ठ भी लोकव्यवहार में इन्धन नाम से प्रसिद्ध होगया है जिसका प्राकृत ही व्याख्यान में- ईंधन" कहलाने लग पड़ा है ।

सृष्टि में पार्थिव-अग्नि वायु से ही (पङ्खा आदि के झलकने से ही प्रज्वलित होता है। वायु ही प्राकृतिक यज्ञ के याज्ञ्यनुगत यजुर्वेदी अध्वर्यु माने गए हैं। अतएव यहाँ भी तत्प्रतिकृतिरूप यजुर्वेदी अध्वर्यु ही इध्मकर्म्म करता है। पार्थिव मूलाग्नि ही 'इस पल उदारुहन्-दिवस्पृष्ठान्यारुहन्। प्रभूर्जयो यथा पथि द्यामङ्गिरसो ययु' इस मन्त्रवर्णन के अनुसार द्युलोकस्थ दिव्याग्नि से मेल कर समिद्ध होते हैं। दूसरे शब्दों में पार्थिव अग्नि ही समिन्धनकर्म्म के सञ्चालक हैं। ये ही प्राकृतिक यज्ञ के अग्न्यनुगत ऋग्वेदी होता माने गए हैं। अतएव यहाँ भी तत्प्रतिकृतिरूप ऋग्वेदी होता ही समिन्धनकर्म्म करता है। "यद्वै देवा अकुर्व स्तत् करवाणि" ही इस उपपत्ति का मूल है। और यही सामिधेन्यनुवचनकर्म्म की संक्षिप्त उपपत्ति है जिसका कि प्रकृत ब्राह्मण की प्रथम-कण्डिका में स्पष्टीकरण हुआ है ॥ १ ॥

क्योंकि प्रतिरूपानुगता-मन्त्रातीममर्य्यादा से होता ही समिन्धनकर्म्म का अधिकारी है अत: 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' इत्यादि रूप से अध्वर्यु इस कर्म्म के लिए होता को ही प्रेरित करता है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सामिधेनी अनुवचन के अनन्तर इस ऋत्विक् का होतृत्वेन वरण होनेवाला है। इस से पहिले होता के उद्देश्य से इस कर्म्म में नियुक्त होता हुआ भी यह विधिपूर्वक होतृ संज्ञा में परिणत नहीं हुआ है। अत: 'होतरनुब्रूहि' इसप्रकार नामनिर्देश पूर्वक प्रैष न कर उक्त सामान्यरूप (बिना नाम-निर्देश) से ही प्रैष करना चाहिए ॥ २, ३, ॥

इस कर्म्म से अग्नि का समिन्धनलक्षण एकीभाव सम्बन्ध ही अपेक्षित है। प्राकृतिक जिस देवता की ऋचा के द्वारा आकर्षण करता है वह आत्मा अग्नि है छन्द उस का गायत्री है साथ ही अग्नित्वेन वह ब्रह्मवीर्य्य का प्रवर्त्तक है। देववर्ग में इन्द्र जहाँ क्षत्रवीर्य्य के प्रवर्त्तक हैं विश्वेदेव जहाँ विड्वीर्य्य के प्रवर्त्तक हैं एवं पूषाप्राण जहाँ शूद्रभाव का स्वरूपसमर्पक है वहाँ अग्नि ब्रह्मवीर्य्य के अधिष्ठाता माने गए हैं। एतद्धर्म्मोपेत अग्नि का उसी ऋचा से आकर्षण सम्भव है जिस का स्वरूप (अर्थापेक्षया) अग्निमय होगा। अर्थात् जिस में अग्निस्वरूप का वर्णन होगा छन्द जिस का गायत्री होगा। इसीलिए सामिधेन्यनुवचनकर्म्म में उपयुक्त सामिधेनी सभी ऋचाएँ स्वरूपत: (अर्थत:) आग्नेयी होती हैं एवं छन्दोमर्य्यादा से इन सब का गायत्री छन्द होता है। इस अपने ही छन्द अपने ही स्वरूप से समतुलित सामिधेनी-ऋचा से अग्नि का समिन्धन तो हो ही जाता है इसके अतिरिक्त इस में समतुलित ब्रह्मात्मिका गायत्री से विशेष शक्ति (ब्रह्मवर्च्चस) का भी आधान होजाता है।

गायत्री को ब्रह्म तथा वीर्य्यरूप बतलाना भी एक विशेष महत्त्व रखता है। पार्थिव हृदयस्थ* प्रजापति से (प्रजापति के मुखरूप उक्थ-नभ्यबिन्दु से) अक्षरात्मक पार्थिव अग्नि का, तथा अग्निसोमलक्षण गायत्रीछन्द का आविर्भाव हुआ है। अग्नि ब्रह्म है इसका छन्द गायत्री है। इस अग्निब्रह्म के सम्बन्ध से

* "प्रजापतिर्वाव ज्येष्ठ। स ह्येतेनाग्रेऽयजयत। प्रजापतिरकामयत-प्रजायेयेति। स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत। तमग्निर्देवतान्वसृज्यत, गायत्रीछन्दः, रथन्तरं साम, ब्राह्मणो मनुष्याणां, अजः पशूनां। तस्मात्ते मुख्या मुखतो ह्यसृज्यन्त"

—तै सं० ७।१।१।४।

सकता है ?। यह तो ऋषियों के अन्तःकरण में स्वतः प्रादुर्भूत होने वाला मङ्गलमय विधि का महतो-महीयान् मङ्गलविधान है ●। इसी मङ्गलमूर्ति विधि के स्मरणपूर्वक हमारा यह सामिधेन्यनुवचनकर्म्म आरम्भ होता है।

यह सिद्ध होचुका है कि, आहवनीयाग्नि में दिव्यप्राणाग्नि का सम्बन्ध आवश्यक है। दोनों का एकीभाव ही यज्ञसिद्धि का द्वार है। इस एकीभाव के लिए ही 'समिन्धन' (समितेकीभाव) शब्द प्रयुक्त हुआ है। जिस कर्म्मविशेष से अध्वर्यु के द्वारा इद्ध अग्नि समिद्ध बनाया जाता है वही कर्म्मविशेष 'सामिधेन्यनुवचनकर्म्म' नाम से व्यवहृत हुआ है। होता नाम का ऋत्विक् उन मन्त्रों का उच्चारण करता है, जिन का छन्द गायत्री है, स्वरलहरी अग्निदेवतानुगता है। उन मन्त्रों के प्रयोग से अन्तरिक्षस्थ सत्यसंहित प्राणाग्निदेवता आकर्षित होकर अवश्यमेव इस इद्ध अग्नि में प्रविष्ट होकर इसे समिद्ध (इस के साथ एकीभूत) कर देते हैं। क्योंकि निर्दिष्ट ऋचाओं से इस इद्ध का समिन्धन होता है अतएव इन ऋचाओं को— 'समिन्धे एताभिर्ऋग्भिः' इस निर्वचन से 'सामिधेनी' कहा गया है। अध्वर्यु पहिले इध्म से (सामान्य काष्ठ से) अग्नि को इद्ध + करता है। अनन्तर होता सामिधेनी ऋगुच्चारण से दिव्यप्राणाग्नि के स्थापन द्वारा इस अग्नि को समिद्ध करता है। इसी सम्बन्ध में एक बात का और ध्यान रखना चाहिए। प्राणाग्नि का सम्बन्ध अपेक्षित है। प्राणाग्नि का स्थिरसम्बन्ध बिना भूत के नहीं हुआ करता। भूत के आधार पर ही प्राण प्रतिष्ठित होता है भूतद्वार से ही प्राण का आकर्षण होता है।

यहाँ भी अवश्य ही आगत प्राणाग्नि की स्थिरता के लिए भूतसम्बन्ध अपेक्षित है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जितने सामिधेनी-मन्त्र हैं उतने ही (१५ अथवा १७)-इध्मकाष्ठ लिए जाते हैं। होता मन्त्रोच्चारण कर अन्त में प्रणवोच्चारण करता है इस से प्राणाग्नि अग्नि में प्रतिष्ठित होता है प्रणवप्रतिष्ठोत्तरकाल में ही अध्वर्यु नियत इध्म अग्नि में डालता रहता है। इसप्रकार यावत् सामिधेनी समतुलित इध्मकाष्ठों का प्रतिप्रणव आधान होता है। कैसा अद्भुत कर्म्मकलाप है। उस ओर से मन्त्रशक्ति के द्वारा होता दिव्यप्राणाग्नि को इस यज्ञसंस्था में लाता जाता है इस ओर से अध्वर्यु प्रतिप्रणव इध्माधान से भूताग्नि को प्रज्वलित करता जाता है। दोनों का एकीभावात्मक समिन्धन होता जाता है। कर्म्मसमाप्ति में दोनों अग्नि मिलकर एक अपूर्व-अमृत यज्ञानुगत रूप धारण कर लेते हैं। ऐसे समिद्ध अग्नि के प्रति कौन अग्न्युपासक भूसुर नतमस्तक होकर नमन न करेगा ?।

अब इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, इध्माधानकर्म्म का अध्वर्यु ही क्यों करता है ?, एवं समिन्धनकर्म्म होता ही क्यों करता है ?। इन प्रश्नों की संक्षिप्त उपपत्ति यही है कि, प्राकृतिक–

●—युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥

+ लौकिक–भौतिक–काष्ठ से भूताग्नि का ही इन्धन (प्रज्वलन) होता है। आध्यात्मिक इन्धन–(प्रज्वलन)–साधक काष्ठ भी लोकव्यवहार में "इन्धन" नाम से प्रसिद्ध होगया है जिसका प्राकृतरूप ही वर्त्तमान में– ईंधन" कहलाने लग पड़ा है।

इस का उपक्रम—"वदा सत्यं सूत्र सत्यं नियमित सत्य इस त्रिवृद्भाव से ही हुआ है । दूसरा परमेष्ठीपर्व भी भृग्-ऊक्-योग सम्बन्ध से त्रिवृत् ही बन रहा है । सूर्यपर्व भी ज्योतिः गौ-आयु भेद से त्रिपर्वा ही है । चन्द्रमा भी 'रत -श्रद्धा-यशो' रूप से इस सम्पत्ति से वञ्चित नहीं है । पृथिवी भी 'वाक्-गौ-द्या' से नित्य युक्त है । इसप्रकार पाँच पर्वों से पाङ्क्त कहलाने वाले इस विश्वयज्ञ का उपक्रम [स्वयम्भू] पार्श्व [परमेष्ठी] मध्य [सूर्य] अवरपार्श्व [चन्द्रमा] उपसंहार सब कुछ त्रिवृत् ही बना हुआ है ।

शुक्रविज्ञान की दृष्टि से भी वाक्-आपः-अग्नि' यह अमृता शक्रत्रयी विश्वयज्ञ का उपक्रम बन रही है एवं अग्नि -आप-वाक् यह मर्त्या शक्रत्रयी विश्वयज्ञ का उपसंहार बन रही है । यज्ञप्रवर्त्तक यज्ञिय-देवता 'अग्नि-वायु-आदित्य' सम्पत्ति से युक्त रहते हुए त्रिवृत् बन रहे हैं । त्रिसत्यदेवताओं का यज्ञरूप प्रत्येक यज्ञकर्म इसी त्रि-सम्पत्ति से युक्त है जिस का ईशादि विज्ञानभाष्यों में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है ।

वैधयज्ञ में होने वाले 'दीक्षा सुत्या- उपसत्' के त्रिवृद्भाव से भी त्रिवृत् का यज्ञाङ्गत्व सिद्ध होरहा है । 'तीन पर आरम्भ तीन पर समाप्त' यह यज्ञ की आवश्यक सम्पत्ति है । इस सम्पत्ति का भी हमारे इस सामिधेनीकर्म में संग्रह होना चाहिए । इसी सम्पत्तिसंग्रह के लिए ११ मन्त्रों में से प्रथम, तथा अन्त के मन्त्रों का तीन बार अनुवचन होता है । आरम्भ का त्रि -अनुवचन प्रायणीय-यज्ञसम्पत्ति का, तथा अन्त का त्रि-अनुवचन उदयनीय-यज्ञसम्पत्ति का समाहक बन रहा है । त्रि-त्रि -अनुवचन की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥ ६ ॥

यज्ञानुगता त्रिवृत्सम्पत्ति अपेक्षित थी । इस सम्पत्ति के साथ साथ उसी संख्यानुगता प्रतिरूपता से एक सम्पत्ति और मिल जाती है । आद्यन्त के त्रिः-त्रि अनुवचन से ११ के स्थान में १५ सामिधेनी ऋचाएँ होजाती हैं । "इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार" [शत १।३।५।१] इत्यादि पूर्वोक्त वज्रविज्ञान में यह बतलाया गया है—कि, शस्त्रबल से आक्रमण करना चत्र इन्द्र का काम है । इन्द्र की प्रहारशक्ति [विद्युच्छक्ति] ही वज्र है । इस वज्रसम्पत्ति का ग्राहक पञ्चदशसंख्याभाव [१५ संख्या] है । कारण यही है कि जैसे प्रजापति के मुख से त्रिवृत्स्तोम एवं तदनु गायत्रीछन्द तथा अग्नि का प्रादुर्भाव हुआ है, एवमेव प्रजापति के उर, तथा बाहुओं से *पञ्चदशस्तोम एवं तदनु त्रिष्टुप्छन्द तथा इन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ है । अग्निब्रह्म ब्राह्मण है शस्त्र प्रहार करना अभिचार करना इस का धर्म नहीं क्योंकि श्रुति का इसके लिए-"सर्वस्य वा अयं ब्राह्मणो मित्रं न वा अयं कञ्चन हिनस्ति' [शत २।३।२।१६] यही आदेश है । इधर शत्रुनाश तथा यज्ञकर्म पर होने वाले स्वाभाविक असुराक्रमण का निरोध भी अपेक्षित है । यद्यपि एकादशसम्पत्ति से त्रिष्टुप् के द्वारा इन्द्रक्षत्र का संग्रह होजाता है । तथापि प्रजापति के साक्षात् बाहुवीर्य से सम्बन्ध रखने वाले पञ्चदशात्मक आयुध का संग्रह नहीं होता । यह काम इस पन्द्रह संख्या से

*—अथैतानीन्द्रभक्तीन्यन्तरीक्षलोको, माध्यन्दिनं सवनं, ग्रीष्म, त्रिष्टुप्, पञ्चदशस्तोमो बृहत्साम, ये च देवगणा समाम्नाता मध्यमं स्थानं, याश्च स्त्रिय ।"
—या० नि० ७।१०।१

गायत्रीछन्द ब्रह्मवीर्य्यात्मक बना हुआ है। इस के अतिरिक्त इसी गायत्री के द्वारा 'एति-प्रेति' रूप ब्रह्मवीर्य के प्रभाव से तृतीय द्युलोकस्थ सोम का अपहरण होता रहता है। यह गायत्री का अपना प्रातिस्विक वीर्य्य है। मन प्राणवाङ्मय आत्मा के तीनों धातुओं से क्रमशः कारण–सूक्ष्म–स्थूल–शरीरों का आविर्भाव हुआ है। इन तीन पर्वों के सम्बन्ध से तीनों में क्रमशः पराक्रम वीर्य्य, बल नाम के धर्म्म उत्पन्न हो जाते हैं। मनोऽनुगत कारणशरीर पराक्रम का अधिष्ठाता है, एवं मनुष्य इस का उदाहरण है। प्राणानुगत सूक्ष्मशरीर वीर्य्य का अधिष्ठाता है, एवं सिंह इस का उदाहरण है। वागनुगत स्थूल-शरीर बल का अधिष्ठाता है, एवं हाथी इसका उदाहरण है।

तीनों शब्द पृथक् पृथक् तीन अर्थों के वाचक हैं। साथ ही तीनों पूर्व-पूर्व एक दूसरे से गौरवान्वित हैं। यही कारण है कि, अपने शरीरबल से दो चार सिंहों को कुचलने की शक्ति रखता हुआ भी हाथी वीर्य्यशाली सिंह का आक्रमण नहीं सह सकता। इधर सिंह के दर्शनमात्र से कम्पित होजाने वाला मनुष्य पराक्रम के बल पर सिंह को पञ्जर (पिंजरे) में बन्द कर देता है। प्राणाग्नियुता गायत्री प्राणशक्ति से ही द्युलोकस्थ सोमापहरण में समर्थ होती है। प्राणशक्ति वीर्य्यात्मिका है। अतएव यहां "वीर्य्यं गायत्री" यह कहा गया है ॥ ॥

सामिधेनी ऋचाएं आग्नेयी हैं, गायत्रछन्दा हैं। इस से ब्रह्मवीर्य्य का आधान होगया। परन्तु अभी उसमें क्षत्रवीर्य्य के आधान की कमी है, जिस के बिना ब्रह्म का कोई कर्म्म सम्पन्न नहीं होसकता। ब्रह्म अभिगन्तामात्र है, कर्त्ता तो क्षत्र ही है। ब्रह्म-क्षत्र का युग्म ही कर्म्म की समृद्धि का द्वार है (देखिए शत ४।१।२)। आवश्यक है कि, ब्रह्मसम्पत्ति-संग्रह के साथ साथ क्षत्रसम्पत्ति का भी यज्ञ में सम्बन्ध कराया जाय। इस के लिए क्षत्रानुगता छन्दःसम्पत्ति का सम्बन्ध अपेक्षित है। जिसप्रकार अग्नि ब्रह्मवीर्य्यात्मक है, तथैव इन्द्र क्षत्रवीर्य्यात्मक है। एवमेव अग्नि का गायत्रीछन्द जैसे ब्रह्मवीर्य्यात्मक है, वैसे× इन्द्र का त्रिष्टुप्छन्द क्षत्रवीर्य्यात्मक है। इस सम्पत्ति का समन्विकरण से स्वतः संग्रह होजाता है। सामिधेनी ऋचाएं ११ हैं एवं त्रिष्टुप्छन्द भी एकादशाक्षर ही है। एक एक अक्षर एक एक मन्त्र से समतुलित है। ११ से त्रिष्टुप् के द्वारा प्रकृत्या क्षत्रसम्पत्ति प्राप्त होजाती है। परिणामतः हमारा भूताग्नि ब्रह्म, क्षत्र, दोनों वीर्य्यों से समिद्ध बन जाता है। ११ ही सामिधेनी क्यों होती हैं? इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥५॥

जिस यज्ञकर्म्म का यजमान सम्पादन करने वाला है उस यज्ञ की स्वानुरूप सम्पत्ति यही मानी गई है कि, इस में जो भी कर्म्म हों प्राकृतिक यज्ञ के अनुरूप ही हों। इसी को यज्ञपरिभाषा में "रूपसमृद्धि" कहा गया है। प्राकृतिक यज्ञ में मत्र त्रिरूभाव की प्रधानता देखी जाती है। पहिले पञ्चधा उस 'सवहुत' नामक विश्वयज्ञ के स्वरूप पर ही दृष्टि डालिए। महाविश्वयज्ञ की आरम्भभूमि प्राजापत्य स्वयम्भू है।

× "उरसा बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत। तमिन्द्रो देवतान्वसृज्यत, त्रिष्टुप् छन्द बृहत् साम, राजन्यो मनुष्याणां, अवि पशूनां तस्मात्ते वीर्य्यवन्त। वीर्य्या-द्ध्यसृज्यन्त' तै० सं० ७।१।१।४)।

इस का उपक्रम—"वदा सत्य सूत्र सत्यं नियति सत्य इस त्रिवृद्भाव से ही हुआ है। दूसरा परमेष्ठी भी इद्-उरुक्-भाग सम्बन्ध से त्रिवृत् ही बन रहा है। सूर्य्यपर्व भी ज्योति गौ-रायुः भेद से त्रिवृत् ही है। चन्द्रमा भी 'रत -श्रद्धा-यशो' रूप से इस सम्पत्ति से वञ्चित नहीं है। पृथिवी भी 'वाक् गौ-द्यौ' से नित्य युक्त है। इसप्रकार पाँच पर्वों से पाङ्क्त कहलाने वाले इस विश्वयज्ञ का उपक्रम [स्वयम्भू] पारव [परमेष्ठी], मध्य [सूर्य], अवरपार्श्व [चन्द्रमा] उपसंहार सब कुछ त्रिवृत् ही बना हुआ है।

शुक्रविज्ञान की दृष्टि से भी वाक्-आपः-अग्नि' यह अमृता शुक्रत्रयी विश्वयज्ञ का उपक्रम बन रही है एवं 'अग्नि -आप -वाक्' यह मर्त्या शुक्रत्रयी विश्वयज्ञ का उपसंहार बन रही है। यज्ञप्रवर्त्तक पश्चिय-देवता 'अग्नि-वायु-आदित्य' सम्पत्ति से युक्त रहते हुए त्रिवृत् बन रहे हैं। त्रि'सत्यदेवताओं का यजनरूप प्रत्येक यज्ञकर्म इसी त्रि'सम्पत्ति से युक्त है, जिस का ईशादि विज्ञानभाष्यों में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है।

वैधयज्ञ में होने वाले 'दीक्षा सुत्या-उपसत्' के त्रिवृद्भाव से भी त्रिवृत् का यज्ञाङ्गत्व सिद्ध होरहा है। 'तीन पर आरम्भ तीन पर समाप्त' यह यज्ञ की आवश्यक सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति का भी हमारे इस सामिधेनीकर्म में संग्रह होना चाहिए। इसी सम्पत्तिसंग्रह के लिए ११ मन्त्रों में से प्रथम, तथा अन्तके मन्त्रों का तीन बार अनुवचन होता है। आरम्भ का त्रि -अनुवचन प्रायणीय-यज्ञसम्पात्त का, तथा अन्त का त्रि'-अनुवचन उदयनीय-यज्ञसम्पत्ति का संग्राहक बन रहा है। त्रि-त्रि -अनुवचन की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥ ६ ॥

यज्ञानुगता त्रिवृत्सम्पत्ति अपेक्षित थी। इस सम्पत्ति के साथ साथ उसी सख्यानुगता प्रतिरूपता से एक सम्पत्ति और मिल जाती है। आद्यन्त के त्रिः-त्रि अनुवचन से ११ के स्थान में १५ सामिधेनी ऋचाएँ होजाती हैं। 'इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार० [शत १।३।४।१] इत्यादि पूर्वोक्त वज्रविज्ञान में यह बतलाया गया है-कि शस्त्रबल से आक्रमण करना धर्म इन्द्र का काम है। इन्द्र की महाशक्ति [विद्युच्छक्ति] ही वज्र है। इस वज्रसम्पत्ति का ग्राहक पञ्चदशसंख्यामात्र [१५ संख्या] है। कारण यही है कि, जैसे प्रजापति के मुख से त्रिवृत्स्तोम एवं तदनु गायत्रीछन्द तथा अग्नि का प्रादुर्भाव हुआ है एवमेव प्रजापति के उर, तथा बाहुओं से पञ्चदशस्तोम एवं तदनु त्रिष्टुप्छन्द तथा इन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ है। अग्निकर्म ब्राह्मण है शस्त्र प्रहार करना अभिचार करना इस का धर्म नहीं क्योंकि श्रुति का इसके लिए- मैत्रस्य वा अयं ब्राह्मणो मित्रं न वा अयं कञ्चन हिनस्ति' [शत २।३।२।१२] यही आदेश है। इधर शत्रुनाश तथा यज्ञकर्म पर होने वाले स्वाभाविक असुराक्रमण का निरोध भी अपेक्षित है। यद्यपि एकादशसम्पत्ति से त्रिष्टुप् के द्वारा इन्द्रप्राण का संग्रह होजाता है। तथापि प्रजापति के साक्षात् बाहुवीर्य से सम्बन्ध रखने वाले पञ्चदशात्मक आयुध का संग्रह नहीं होता। यह काम इस पन्द्रह संख्या से

*-अथैतानीन्द्रभक्तीन्यन्तरीक्षलोको, माध्यन्दिन सवन, ग्रीष्म, त्रिष्टुप्, पञ्च-दशस्तोमो बृहत्साम, ये च देवगणाः समाम्नाता मध्यम स्थान, याश्च स्त्रिय।"
—या० नि० ७।१०।१

पूरा होजाता है। यज्ञाग्नि चात्रधर्मानुगत श्रायुष-सम्पत्ति से युक्त होजाता है। फल यह होता कि, इन १५ मन्त्ररूप सामिधेनियों के अनुवचन-कर्मरूप वज्रप्रहार करते समय यजमान जिस शत्रु को नष्ट करने की भावना प्रकट करता है, अवश्यमेव वह शत्रु नष्ट होजाता है। यही पञ्चदश संख्या की एक उपपत्ति है ॥ ७ ॥

एक पक्ष की १५ रात्रियाँ होतीं हैं। इसी प्रकार मास के 'परिप्लव' से आगे आकर सम्वत्सरयज्ञ का स्वरूप सम्पन्न होता है। जिसने एक पक्ष की रात्रियों का संग्रह कर लिया उसने इस अवयव के द्वारा पूरे सम्वत्सर की रात्रियों का समग्र करते हुए सम्वत्सरसमष्टि ही प्राप्त करली। यह सम्वत्सरयज्ञसम्पत् की प्राप्ति ही पञ्चदशसंख्या का दूसरा फल है।

अवयव अवयवी के बिना अधूरा है। असम्पूर्ण है। साथ ही दर्शपूर्णमास का प्राकृतिक पक्षाग्नि-सोम से सम्बद्ध है अतएव इसे सम्वत्सर का अवयव माना जायगा। इस की पूर्णता के लिए, समृद्धि के लिए अवयवी का सम्बन्ध अपेक्षित है। वह काम भी इस पञ्चदशसंख्या से गतार्थ होजाता है। यही पञ्चदश-संख्या की तीसरी उपपत्ति है।

'अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास चातुर्मास्य पशुबन्ध ज्योतिष्टोम' ये पाँचों मैध यज्ञ क्रमशः प्राकृतिक-आधिदैविक-नित्य अहोरात्रयज्ञ, पक्षयज्ञ ऋतुयज्ञ, अयनयज्ञ, सम्वत्सरयज्ञ इन पाँच यज्ञों के प्रतिरूप हैं। दर्शपूर्णमास क्योंकि प्राकृतिक पक्षयज्ञ का प्रतिरूप है पक्ष में १५ संख्या का समावेश है। अतएव यहाँ १५ संख्या के समावेश से उस पक्षयज्ञ की अनुरूपता भी प्राप्त होजाती है। यही पञ्चदशसंख्या की चौथी उपपत्ति है ॥ ८ ॥

प्रत्येक गायत्रीछन्द के [त्रिपदागायत्री के] तीन तीन पाद होते हैं प्रत्येक पाद में आठ आठ अक्षर होते हैं फलतः एक गायत्री के २४ अक्षर होजाते हैं। १५ के सम्बन्ध से १५ गायत्रीछन्दस्क सामिधेनी ऋचाओं के प्रत्येक के २४ के अनुपात से कुल ३६० अक्षर होजाते हैं। उधर एक सम्वत्सरयज्ञ में ३६० ही अहः होते हैं। इस पन्द्रह संख्या से सम्पन्न गायत्री के ३६० अक्षरों से सम्वत्सर के ३६० अहोरात्र समतुलित हैं। इस रूप से साक्षात् ही सम्वत्सरयज्ञसम्पत्ति का संग्रह होजाता है। यही पञ्चदश संख्या की पाँचवी उपपत्ति है ॥ ६ ॥

यदि दर्शपूर्णमास में काम्येष्टि अपेक्षित है तो उस समय १५ के स्थान में १७ सामिधेनियाँ होती हैं। 'धाय्या' नामक दो ऋक् मन्त्रों का (अग्नि समिध्यमानो अध्वरे०-समिद्धो अग्न आहुत० इन दोनों मन्त्रों के मध्य में पठित होने से समिध्यमान-समिद्वती नाम से प्रसिद्ध हुए हैं) समावेश और कर लिया जाता है। इस सत्रह संख्या की यही उपपत्ति है कि, इन से सर्वकाम (अभीष्टकाम, जिसके लिए कि 'काम्येष्टि' की जाती है) पूर्ण होजाता है। सर्वकामपूर्ति का मूलाधार सप्तप्रजापति

— अथास्य कर्मरसानुप्रदानं वृत्रवधो, या च का च बलकृति, रिन्द्रकर्मैव तत्'' (या० नि० ७।१०।२)।

है। मृगमस्थ इन्द्र प्रजापति अनिरुक्त है। इस ही 'कः' नाम से व्यवहृत किया गया है। इस केन्द्रस्थ उक्त अनिरुक्त प्रजापति का वाक् महिमालक्षण वषट्कार के आधार पर आगे चलकर पार्थिव-सम्वत्सररूप में सर्वरूप से वितान होता है। वही इस का सर्वरूप है, उस ही सर्वप्रजापति' कहा गया है जो कि 'स' नाम से व्यवहृत हुआ है। सत्यात्मक इस सम्वत्सरप्रजापति के व्यष्टि-समष्टि-रूप से दो विवर्त हैं। व्यष्टिरूप इस के अवयव हैं समष्टिरूप अवयवी है। १२ मास ५ ऋतुएँ इस के अवयव हैं। इन की समष्टि ही सम्वत्सर है। इन १७ अवयवों से यह प्रजापति 'सप्तदश' बना हुआ है। काम्येष्टि से कामपूर्त्ति अपेक्षित है। कामपूरक सप्तदशप्रजापति है इसप्रकार सप्तदश सामिधनी के अनुवचन से उस सप्तदश, कामपूरक प्रजापति का संग्रह होजाता है कामपूर्त्ति होजाती है। यही सप्तदश संख्या की उपपत्ति है।

काम्येष्टि के देवता का उपांशुरूप से यजन होता है। उपांशुभाव अनिरुक्तभाव का ग्राहक है। उधर अनिरुक्तभाव सर्वरूप का समाहक माना गया है। प्रत्येक शब्द की यत्किञ्चित्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में ही शक्ति मानी गई है। इसीलिए प्रत्येक शब्द नियत अर्थ का ही वाचक है। व्यष्टिरूप से ही वस्तुओं का शब्द के द्वारा निर्वचन सम्भव है। परन्तु समष्टि के लिए 'सर्व' शब्द के अतिरिक्त और किसी शब्द का व्यवहार नहीं होता। उपांशु अनिरुक्त है अनिरुक्त सर्वभाव है यही सर्वकाम यहाँ अपेक्षित हैं। इसीलिए (सर्वकामसमृद्धि के लिए ही) यहाँ उपांशु यजन होता है। उपांशुभाव सर्वात्मक अनिरुक्तभाव का ही ग्राहक है यही तात्पर्य्य है। इसके साथ ही श्रुति लोकदृष्टि से यह भी शिक्षा दे रही है कि यदि तुम्हें अपने काम्यकर्म्म की सिद्धि अपेक्षित है तो तत्साधक कर्म्म का उपांशुरूप से (चुपचाप-बिना किसी से कुछ कहे सुने) ही अनुगमन करना चाहिए। लौकिक कर्म्म हो अथवा शास्त्रीय उस का वस्तुप्रयोग करने से कर्म्म निरुक्त बनता हुआ अनिरुक्त आत्मप्रजापति की शक्ति से वञ्चित होजाता है। वागिन्द्रिय का प्रजापति से सम्बन्ध नहीं है जैसा कि— स प्रजापतिमनम गयानुवाच। तस्मायत् किञ्च प्राजापत्यं यज्ञे क्रियते उपांश्वेव तत् क्रियते। अहृन्यथाहि वाक् प्रजापतय आसीत्' (शत १।४।५।१२।) इत्यादि रूप से आगे विस्तार से बतलाया जाने वाला है। यह विश्वास करने योग्य है कि जो व्यक्ति अपने कर्म्म का वागिन्द्रिय से व्याख्यान करने लग जाते हैं वे आत्मसहयोग खोते हुए कर्म्मसमृद्धि से सर्वथा वञ्चित ही होजाते हैं। सचमुच प्रदर्शन ही कर्म्मसिद्धि का अन्यतम शत्रु है ॥१०॥

दर्शपूर्णमास के सम्बन्ध में कितने ही याज्ञिक २१ सामिधेनियों का अनुवचन आवश्यक मानते हैं। इस की उपपत्ति वे यह बतलाते हैं कि १२ मास ५ ऋतुएँ, ३ लोक, इसप्रकार सम्वत्सरयज्ञ के २० पर्व हैं। २१ वाँ स्वयं सूर्य्य है। यही इस सम्वत्सरयज्ञ की अन्तिम गति, तथा प्रतिष्ठा है। यदि यहाँ भी २१ सामिधेनियों का अनुवचन होगा तो २१ संख्या से तो उपलक्षित उक्त मासादि २१ सम्वत्सरपर्वों का संग्रह होजायगा एवं २१ वीं के अनुवचन से सूर्य्यप्रतिष्ठा प्राप्त होजायगी ॥११॥

परमवैज्ञानिक याज्ञवल्क्य उक्त उपपत्ति का उपहास करते हुए कहते हैं कि, जो यजमान सर्वथा भीरुतन्य है प्रतिष्ठित है उसीके लिए २१ का अनुवचन करना चाहिए। अथवा जो ऐसा होगा, वही यह पत्नी भी की कामना से २१ का समर्थन करेगा। भला ऐसा भीरुतन्य यजमान दर्शपूर्णमास का आरम्भ

चतुर्थ अध्याय उपक्रान्त

४

चौथे अध्याय में पहिला, एव तीसरे प्रपाठक में तीसरा ब्राह्मण सामिधेनी–ब्राह्मणानुगत दूसरा ब्राह्मण

—२—

[1]आग्नेयी [2]सामिधेनी [3]गायत्रीछन्द ११ मूलसंख्या [4]आद्यन्त के मन्त्रों की त्रिरावृत्ति, [5]पञ्चदश संख्या [6]ऋग्येष्ठ्यनुगता सप्तदश संख्या, आद्यन्त के दोनों त्रिकों का एकश्वास में उच्चारण, [8]१५ हों सामिधेनी मन्त्रों का सन्तत–अविच्छिन्न उच्चारण इन विशेषधर्मों से क्रमशः [1]अग्निःस्वरूप–प्राप्तिपूर्वक प्रजापतीप्स्याधान, [2]प्रातिस्विक गायत्रीप्स्याधान [3]वज्रवीप्स्याधान, प्रायणीयोदयनीयानुगता पक्षियनिपुनसम्पत्तिसंग्रह, [5]पक्षसम्पत्ति–रात्रिसम्पत्ति रूप सम्पत्ति [6]अनिरुक्तानुगता सप्तसम्पत्तिसंग्रह, [7]लोक–प्राणसम्पत्तिसंग्रह, [8]अहोरात्र की अनन्यभोग्यता इन प्रश्नों का सोपपत्तिक निरूपण ही पूर्वब्राह्मण के परिगणित विषय हैं। अब सामिधेनियों के सम्बन्ध में ही 'सामासिका' एक विशेषता बतलाते हुए इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण किया जाता है।

जिस प्राकृतिक यज्ञ से सम्पूर्ण प्रजा की उत्पत्ति हुई है वह प्राकृतिक यज्ञ सत्य पर ही प्रतिष्ठित है। इसी सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों में एक आख्यान आता है—

'प्रजापति की सन्तान होने से 'प्राजापत्य'' इस उपनाम से प्रसिद्ध देवता और असुर, दोनो पिताप्रजापति के दाय (सम्पत्ति) का विभाग कराने की इच्छा से प्रजापति के समीप प्रणतभाव से (देवता), एवं अधिकार–भावना से (असुर) उपस्थित हुए। प्रजापति के दायादकोश (निजी सञ्चित सम्पत्ति) अपनी 'सत्य और अनृत' नाम की वाङ्मयी सम्पत्ति ही प्रधान थी। प्रजापति ने आधा सत्य, आधा अनृत तो देवताओं में बाँट दिया, एवं आधा सत्य तथा आधा अनृत असुरों में बाँट दिया। देवताओंने चाहा कि अपने भाग का आधा अनृत यदि असुर लेलें तत्स्थान में अपना आधा सत्य अपने को दे दें तो बड़ा अच्छा हो। इसीप्रकार असुरोंने भी यही चाहा कि, अपने को जो आधा सत्य मिला है वह देवता लेलें और बदले में आधा अनृत हमें दे दें तो बड़ा अच्छा हो। आगे जाकर ऐसा ही हुआ। फलतः देवताओं के दायाद में सम्पूर्ण सत्य आगया, एवं असुरों के दायाद में सम्पूर्ण अनृत आगया।

अपने इस कृत्स्न सत्य को प्राप्त कर देवताओंने यह निश्चय किया कि, अपने यज्ञ कर के इस सत्य को त्रैलोक्य में फैलावें। देवताओंने ऐसा ही किया। जिस यज्ञ के आधार पर देवताओंनें वाक्सत्य का वितान किया था वह वाक् सत्य यही त्रयीविद्या है' (श०१।५।१ ब्रा०)।

उक्त आख्यान की वैज्ञानिक-व्याख्या की ओर न जाते हुए प्रकृत में इस से यही बतलाना है कि, सत्य और यज्ञ का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यज्ञ से ही सत्य का वितान होता है एवं सत्य के आधार पर ही यज्ञकर्म्म सम्पादित होता है। यह सत्यतत्त्व श्रुति के शब्दों में ही— 'ऋक्-यजुः-सामात्मिका त्रयीविद्या' ही है। इस से यही निष्कर्ष निकलता है कि त्रयीवेद ही यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा है, जिस वस्त्वात्मिका त्रयीविद्या का शब्दात्मक वेदग्रन्थों में निरूपण हुआ है।

'ऋक्-यजु-साम' तीनों तत्त्वों के आधार पर ही प्रजापति यज्ञ करने में समर्थ हुए हैं। ऋक्-वेद से अग्नितत्त्व का यजुः से वायु का तथा साम से आदित्य का आविर्भाव हुआ है। त्रयीवेदोत्पन्न अग्निवाय्वादि देवताओं का परस्पर सङ्गम ही 'यज्ञ' है *।

प्रत्येक वस्तुपिण्ड एक एक स्वतन्त्र यज्ञसंस्था है। इस प्रत्येक यज्ञसंस्था में 'पद पुनःपदम्' भेद से दो दो पर्व हैं। स्वयं वस्तुपिण्ड पदम् है एवं वस्तुपिण्ड के केन्द्र से प्राणरूप से निकल कर वस्तुपिण्ड के चारों ओर बड़ी दूर पर्य्यन्त अपनी व्याप्ति रखने वाला बहिर्मण्डल उस वस्तुपिण्ड का 'पुनःपदम्' है। इसी पुनःपद को 'महिमामण्डल साहस्रीमण्डल' 'वषट्कारमण्डल'-'विश्वरूप' आदि नामों से व्यवहृत किया गया है।

प्रत्येक वस्तुपिण्ड को वस्तुपिण्ड वस्तुमहिमामण्डल, एवं पिण्ड-मण्डलान्तर्गत वस्तुतत्त्व भेद से तीन भागों में विभक्त देखा जासकता है। पिण्ड भी कोई सत्तासिद्ध वस्तु नहीं है अपितु आकारमात्र है। मण्डल भी कोई सत्तासिद्ध पदार्थ नहीं है अपितु आकारमात्र है। जिस का यह पिण्ड है, जिस का यह मण्डल है पिण्ड, तथा मण्डल से पिण्डाश्रित-मण्डलाश्रित वही तत्त्व सत्तासिद्ध पदार्थ है। पिण्डात्मिका सीमा अन्तःसीमा है एवं मण्डलात्मिका सीमा बहिःसीमा है। इन दोनों सीमाओं से पिण्ड-मण्डल-गत वस्तुतत्त्व सीमित बना हुआ है। पिण्डसीमा ही जिस को हम 'मूर्त्ति कहेंगे 'ऋग्वेद' है। मण्डलसीमा को ही 'सामवेद' कहा जायगा एवं उस तीसरे सीमित-सत्तासिद्ध वस्तुतत्त्व को 'यजुर्वेद' कहा जायगा। इसप्रकार इस त्रयीदृष्टि से प्रत्येक वस्तु में त्रयीवेद की उपलब्धि होरही है। दूसरे शब्दों में-त्रयीविद्या के गर्भ में ही सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों की उपलब्धि होरही है जैसा कि- 'त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि' (शत० १०।४।२।२२) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है।

ऋग्वेद छन्दोवेद है सामवेद वितानवेद है एवं यजुर्वेद रसवेद है, जैसा कि उपनिषद्-विज्ञानभाष्यभूमिकादि में विस्तार से प्रतिपादित है। छन्दो-लक्षण ऋग्वेद मूर्त्ति का निर्म्मापक है। वितानलक्षण सामवेद मूर्त्तिमण्डल-लक्षण बाह्य तेजोमण्डल का स्वरूपसमर्पक है, एवं रसलक्षण

*—'अग्नि-वायु-रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्' (मनु)।

यजुर्वेद मूर्त्तिमण्डलान्तवर्त्ती रसात्मक गतिभाव का प्रवर्त्तक है *। इस तात्त्विक वेदस्वरूप-विवेचन से निष्कर्ष यही निकला कि, वेदत्रयी के आधार पर जिस यज्ञ की स्वरूप-निष्पत्ति बतलाई गई है, उस का प्रधान स्थान परिधिमण्डलात्मक वितानलक्षण सामवेद ही बन रहा है।

पूर्व में साम का आदित्य से सम्बन्ध बतलाया गया है। पाठकों को सम्भवत: यह भी स्मरण होगा कि, हमने पूर्वब्राह्मण के विवेचना-प्रकरण में 'स्वरविज्ञान' का स्पष्टीकरण करते हुए यह बतलाया था कि, स्वर का आदित्य से सम्बन्ध है एवं स्वर्लोकस्थ दिव्यप्राणदेवता भी स्वरात्मक ही हैं। इन स्वरात्मक प्राणदेवताओं का परस्पर यजन ही यज्ञ है। स्वरतत्त्व आदित्यात्मक है आदित्य सामात्मक है। अतः 'स्वर' और 'साम' की एकरूपता सिद्ध होजाती है। पिण्डात्मिका ऋक् यदि पदस्थानीया है, मध्यस्थित यजु यदि गतिधर्म्म से गद्यस्थानीय है, तो मण्डलात्मक साम इसी वितानात्मक स्वरभाव से गेयात्मक है। वितान ही गान है, गान ही साम है साम ही वस्तुवस्तु-महिमा-मण्डल की अवसान भूमि है।

केन्द्र से चारो परिधि-पर्य्यन्त बहुसंख्यात्मक सहस्र मण्डल होते हैं। अतएव सामतत्त्व सहस्रवर्त्मा कहलाया है। इस सहस्रवर्त्मा साम के उस स्वरूप का हमें विचार करना है जिस की सीमा के गर्भ में पार्थिव सम्वत्सरयज्ञ प्रतिष्ठित है। इस सम्वत्सरयज्ञ का वितान भूपृष्ठ से आरम्भ कर २१ एकविंशस्तोम पर्य्यन्त होता है। २१ स्तोमपर्य्यन्त पार्थिव मण्डल ही रथन्तरसाम' कहलाया है। त्रिवृदग्नि पञ्चदशवायु, एकविंश आदित्य, ये मुख्य देवता, अग्निप्रमुख आठ वसुगण, वायुप्रमुख ११ रुद्रगण आदित्यप्रमुख १२ आदित्यगण १ प्रजापति, १ वषट्कार ३३ प्राणदेवता यज्ञियदेवता कहलाए हैं +। इन यज्ञिय देवताओं से ही यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। यह यज्ञमण्डलात्मक महिमामण्डल उभयत:-परिधि—उसी वितानात्मक साम से परिगृहीत है।

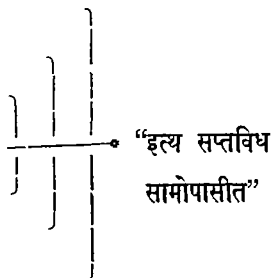
दूसरी दृष्टि से सामव्याप्ति का विचार कीजिए। पार्थिव सामपृष्ठों को इतरपृष्ठ स्थूलपृष्ठ (भूपिण्ड), त्रिवृत्पृष्ठ पञ्चदशपृष्ठ, सप्तदशपृष्ठ एकविंशपृष्ठ पारावतपृष्ठ भेद से सात भागों में विभक्त किया जासकता है। ये सातों पृष्ट सामपरिभाषा में क्रमश: हिंकार प्रस्ताव आदि उद्गीथ प्रतीहार उपद्रव, निधन इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। यदि भिन्न का स्वरपृष्ठ में अन्तर्भाव करलिया जाता है तो त्रयस्त्रिंशपृष्ठ एक स्वतन्त्र पृष्ठ बन जाता है। उस समय इतरपृष्ठ त्रिवृदन्तरिक्ष-दशपृष्ठ, सप्तदशपृष्ठ, एकविंशपृष्ठ, त्रयस्त्रिंशपृष्ठ, पारावतपृष्ठ (चतुश्चत्वारिंशत्पृष्ठ) इस क्रम से सात पृष्ठ

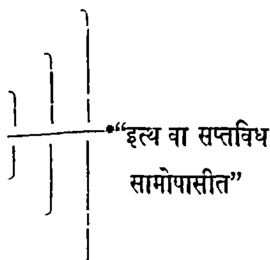
---

* "ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः, सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्, सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्" ॥
—तै० ब्रा० ३।१२।९।१ ॥

+ "इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च।
मनोर्देवा यज्ञियास:" ॥ [८।३०।२।]।

हाजाते हैं। यदि वृत्तपृष्ठ का भूपृष्ठ में अन्तर्भाव मान लिया जाता है, तो त्रिणव के समावेश से सात पृष्ठ हाजाते हैं। इसप्रकार 'लोकेषु सप्तविधं सामोपासीत' इस अनुगमवचन का तीन प्रकार से समन्वय किया जासकता है।





१—इत् त्रिशदन्तर्म् पृष्ठ हिङ्कार—
२—पञ्चदशपृष्ठ—प्रस्ताव
३—सप्तदशपृष्ठ—आदि
४—एकविंशपृष्ठ—उद्गीथ—
५—त्रिणवपृष्ठ—प्रतीहार
६—त्रयस्त्रिंशपृष्ठ— उपद्रव
७—अष्टाचत्वारिंशतपृष्ठ निधन

—— "इत्थं वा सप्तविधं सामोपासीत"

——•——

१—भूपृष्ठ—हिङ्कार—
२—त्रिवृत्पृष्ठ प्रस्ताव
३—पञ्चदशपृष्ठ आदि
४- सप्तदशपृष्ठ उद्गीथ —
५—एकविंशपृष्ठ प्रतीहार
६—त्रिणवपृष्ठ–उपद्रव
७—त्रयस्त्रिंशपृष्ठ–निधन—

—— "इत्थं वा सप्तविध मामोपासीत"

——•——

उक्त साम विवर्तों की विवेचना की ओर न जाते हुए प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना है कि, [illegible] ही प्रकृति-यज्ञ की प्रतिष्ठा है। इस [illegible] की उक्त [illegible] बिन्दु को, [illegible] प्राथमिक उदय होता है श्रुतिने 'हिङ्कार' नाम से व्यवहृत किया है। [illegible] में प्रतिष्ठित उक्त बिन्दु को 'प्रस्ताव' नाम से व्यवहृत किया है। हिङ्कार [illegible] स्थान में 'उद्गीथाङ्गार' रूप में परिणत होता है। [illegible] 'प्रतिहार' [illegible] कहलाता है। इसप्रकार हिङ्कारात्मक [illegible] के द्वारा [illegible] साम [illegible] है।

अब संक्षेप से सङ्गीतदृष्टि से भी हिङ्कारात्मक साम की मीमांसा कर लीजिए। नाद, स्वर, श्रुति शब्दादि भेद से सङ्गीत के अनेक पर्व माने गए हैं। इन में नाद ही सङ्गीत की सर्वमूलभित्ति है। नादब्रह्म के आधार पर ही श्रुति का उत्थान होता है। श्रुति के द्वारा ही स्वर का आविर्भाव होता है एवं स्वर ही आगे जाकर शब्दाभिव्यक्ति का जनक बनता है।

सङ्गीतानुगत–नाद–श्रुति–स्वर–स्वरूप–दिग्दर्शनम्

सामानुगत 'हिंकार' के समन्वय–प्रसङ्ग में नाद–श्रुति–स्वर' भावों से समन्वित उस 'सङ्गीत' की स्वरूप–मीमांसा का भी हमें दो शब्दों में यशोगान कर लेना चाहिए, जिस इत्थभूत 'सङ्गीत' को आत्मबुद्धि से समन्विता साधनमूला निष्ठा से असत्स्पृष्ट ही मानते हुए श्रुतिप्रज्ञा ने आत्मबुद्धिनिष्ठा–प्रधान एतद्देशीय 'ब्राह्मण' के लिए तो सर्वात्मना नियन्त्रित ही कर दिया है जैसाकि–'तस्माद् ब्राह्मणो न नृत्येत न गायेत' इत्यादि श्रौत–सन्दर्भ से स्पष्टतमरूपेण प्रमाणित है। इस प्रमाणन का कारण भी स्पष्टतम है। प्रकृति के तात्त्विक स्वरूप के परीक्षक वैज्ञानिक महर्षियोंने मानवीय मन का एक प्रधान दोष माना है–'आगला', एवं मानवीय शरीर का एक प्रधान दोष माना है 'आलस्य'। एवं गायन–नर्त्तन–वाद्यात्मक सङ्गीत में येन केन रूपेण ये दोनों दोष न्यूनाधिकमात्रा से सन्निविष्ट रहते ही हैं। इन दोनों से–क्रमशः मनोऽनुगत–'आगला' दोष से तो मानवीय आत्मा की चिन्तन–निदिध्यासन–मूला–संचित् शक्ति अभिभूत होजाती है एवं शरीरानुगत 'आलस्य' दोषसे मानवीया बुद्धि का निष्ठानुगत–व्यवसायात्मक–'धृतिगुण' अभिभूत होजाता है। 'आलस्यदोष' को सङ्गीत के 'नृत्यविभाग' में समाविष्ट माना गया है जिस 'नृत्याङ्ग' का प्रधानरूप के शरीर से ही सम्बन्ध है। एवं 'आगलादोष' को सङ्गीत के 'गायनविभाग' में समाविष्ट माना गया है जिस 'गायनाङ्ग' का प्रधानरूप से मन से ही सम्बन्ध माना गया है।

दोनों दोषों के स्वरूप के सम्बन्ध में बात कुछ समझने जैसी है। प्रकृतिसिद्ध पञ्चपर्वा प्राकृत–विश्व के सुप्रसिद्ध 'चन्द्रमा' से तो मानवीय 'मन' का स्वरूप–निर्माण हुआ है एवं भूपिण्ड (पाञ्चभौतिक–भूपिण्ड) से मानवीय 'शरीर' की स्वरूप–निष्पत्ति हुई है। चान्द्र मण्डल सौम्य–गन्धर्व–प्राण की आवासभूमि माना गया है एवं पार्थिव मण्डल 'अद्भ्यः पृथिवी' रूप से आप्यप्राणात्मक–'अप्सराप्राण' की आवासभूमि माना गया है। मनोऽनुगत चान्द्र गन्धर्वप्राण ही गायन का प्रवर्त्तक है एवं शरीरानुगत पार्थिव अप्सराप्राण ही नर्त्तन का प्रवर्त्तक है। हास परिहास आमोद प्रमोद क्रीडा रति, आदि आदि मन–शरीर–निबन्धन यच्चयावत् काममोग चान्द्र–पार्थिव–गन्धर्व तथा अप्सरा प्राणों से ही अनुप्राणित माने गए हैं जैसाकि निम्न लिखित कतिपय श्रुतिवचनों से स्पष्ट प्रमाणित है—

(१)–मनोविभूतय —

१—असौ वै सोमो राजा विचक्षणश्चन्द्रमा (कौ० ब्रा०उप०४।३।१०)।

२—चन्द्रमा गन्धर्वः (यजु स १८।४०)–(शत ९।४।१।९।)।

३—रूपमिति गन्धर्वा–उपासत (शत० १०।५।२।२०।)।

१—बृहत् त्रिणवन्तर्भूपृष्ठ हिङ्कार—
२—पञ्चदशपृष्ठ—प्रस्ताव
३—सप्तदशपृष्ठ—आदि
४—एकविंशपृष्ठ—उद्गीथ—
५—त्रिणवपृष्ठ—प्रतीहार
६—त्रयस्त्रिंशपृष्ठ— उपद्रव
७—अष्टाचत्वारिंशत्पृष्ठ-निधन

"इत्थ वा सप्तविधं सामोपासीत"

१—भूपृष्ठ—हिङ्कार—
२—त्रिवृत्पृष्ठ प्रस्ताव
३—पञ्चदशपृष्ठ आदि
४- सप्तदशपृष्ठ उद्गीथ —
५—एकविंशपृष्ठ प्रतीहार
६—त्रिणवपृष्ठ-उपद्रव
७—त्रयस्त्रिंशपृष्ठ-निधन—

"इत्थ वा सप्तविध सामोपासीत"

उक्त साम त्रिवर्तों की त्रिरचना की ओर [illegible] हुए प्रकृत में हमें केवल यही कहना है कि, आमतत्त्व ही प्रकृतिमण्डल की प्रतिष्ठा है। इस [illegible] की उस उत्क्रान्त हुए बिन्दु को, जहाँ से प्राणात्मक साम का प्राथमिक उदय होता है ऋषियों ने 'हिङ्कार' नाम से व्यवहृत किया है। एवं [illegible] प्रदेश में प्रतिष्ठित उत्तम बिन्दु को 'प्रस्ताव' नाम से व्यवहृत किया है। हिङ्कारात्मक यही [illegible] स्थान में 'उद्गीथाङ्कार' रूप में परिणत हो रहा है। [illegible] 'सर्वाङ्कार' कहलाता है। इसप्रकार हिङ्कारादि [illegible] सम्पूर्ण साम [illegible] है।

प्रतिष्ठित माने गए हैं, जैसाकि— 'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानः' इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। इस स्तरस्थ आग्नेय-पार्थिव-प्राजापत्य का प्राणमहिमात्मक मण्डल ही वह 'नादमण्डल' है जिस के गर्भ में श्रुति, तथा स्वरात्मक-सङ्गीत अभिव्याप्त रहता है जिस इस नाद श्रुति-समन्वयात्मक सङ्गीत में हृत्थ प्राजापत्य अग्नि (कायाग्नि), मन वायव्यप्राण तदनुप्राणित उदात्त-अनुदात्त-स्वरित-नामक स्वर (मन्द्र-मध्य-तार-नाम की स्वरत्रयी) एवं व्यञ्जनात्मिका ध्वनिर्माणोपेता वैखरीवाक् ये मात्र समन्वित रहते हैं, जिनके स्वरूप-समन्वय के लिए सङ्गीतशास्त्र के सुप्रसिद्ध इन पद्यों की ओर ही सङ्गीत-प्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जाता है—

चैतन्य सर्वभूतानां विवृत्त जगदात्मना ॥
'नादब्रह्म' तदानन्दमद्वितीयमुपास्महे ॥१॥
नादोपासनया देवा ब्रह्म विष्णु-महेश्वरा ॥
भवन्त्युपासिता नून यस्मादेते तदात्मका ॥२॥
आत्मा विवक्षमाणोऽय मन प्रेरयते, मनः-॥
देहस्थं वह्निमाहन्ति, स प्रेरयति मारुतम् ॥३॥
ब्रह्मग्रन्थिस्थित सोऽय क्रमादूर्ध्वपथे चरन् ॥
नाभि-हृत्-कण्ठ मूर्धा-स्ये-ष्वाविर्भावयते ध्वनिम् ॥४॥
नादोऽति सूक्ष्म सूक्ष्मश्च, पुष्टो, ऽपुष्टश्च, कृत्रिम ॥
इति पञ्चाभिधां धत्ते पञ्चस्थानस्थित क्रमात् ॥
''न'-कार 'प्राण' नामान,' द'-कार' 'अनल' विदु ॥
जात प्राणाग्निसयोगात्, तेन 'नादो'ऽभिधीयत ॥६॥
व्यवहार त्वसौ त्रेधा हृदि मन्द्रोऽभिधीयते ॥
कण्ठ मध्यो, मूर्ध्नि तारो, द्विगुणश्चोत्तरोत्तरः ॥७॥
—शार्ङ्गदेवविरचित-सङ्गीतरत्नाकरे-स्वराध्याय—

ज्ञानजनित-भावना-संस्कारपुञ्जों से तथा कर्मजनित-वासना-संस्कारपुञ्जों से पुञ्जीभूत एवं सम्पुष्ट कर्मभोक्ता कर्मात्मा देही ('जीव नामक 'आत्मा) अपनी सौरी बुद्धि के साथ समन्वित होकर ही मानव की प्रारब्ध-कर्मजनिता ऐहलौकिकी जीवनयात्रा का अभिगन्ता बना रहता है। इत्थंभूत भोक्तात्मा से समन्विता प्रेरणात्मिका बुद्धि के प्रेरणाबल को अपना आधार बना कर चान्द्र सौम्य प्राणात्मक मानवीय मन इन्द्रियों के माध्यम से भोक्तात्मा के अन्तःस्थलीय शुभ-अशुभ-संस्कारों के अनुपात से ऐन्द्रियक-भौतिक अर्थों-विषयों की कामना करता रहता है जिस इस अर्थकामना (विषयकामना) को हम आत्मा की इच्छा कह सकते हैं

४—योषित्कामा वै गन्धर्वा (शत० ३।२।४।३)।
५—स्त्रीकामा वै गन्धर्वा (ऐ० ब्रा० १।२७)।
६—मनो मे, रेतो मे, पुन सम्भूतिर्मे, तन्मे त्वयि चन्द्रमसि (जै० उ० ब्रा० ३।२७।१४)।
७—गन्धो मे, मोदो मे, प्रमोदो मे, तन्मे युष्मासु गन्धर्वेषु (जै० उ० ब्रा० ३।२५।४)

(२)—शरीरविभूतय —

१—इयं वै पृथिवी भूतस्य प्रथमजा (यजुःसं० ३७।४)-शत०१४।१।२।१०
२—अप्सु पृथिवी (तै० उप २।१)।
३—गन्ध इत्यप्सरसः-उपासते (शत १।४।३।२०)।
४—किन्तु मेऽस्मासु-अप्सरसु इति ?-हासो मे, क्रीडा मे, मिथुनम्मे (जै उ ३।२५।८)।
५—गन्धेनैव च रूपेण गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति (शत ६।४।१।४))।

चान्द्रमनोऽनुगत गन्धर्वप्राण, एवं पार्थिवशरीरानुगत अप्सराप्राण, इन दोनों प्राकृतिक-प्राणों के आधार पर सुप्रसिद्ध-'तुम्बुरु' तथा-गन्धर्वप्राणानुगत- नारद (पारमेष्ठ्य-आपोमय- नारमर्यादक प्राण) नामक ऋषियों ही के समन्वय से ही नृत्य-गीत- वाद्यात्मक-मनःशरीरनिबन्धन 'सङ्गीत' का आविर्भाव हुआ है। तुम्बुरु ऋषिप्राण का आद्यक्षर 'त' कार, नारद ऋषिप्राण का आद्यक्षर-'न' कार एवं 'ऋषि' का आद्यक्षर- कार इन तीनों त-न-र' अक्षरों की समष्टि इसी तथ्य के आधार पर सङ्गीतविशारदों के सङ्गीतोपक्रममें माङ्गलिक-संस्मरण बन रही है जैसाकि-"त-न-न-रीम्' -त-न-न-रीम्' - ('त -तुम्बुरु, 'न नारद, र-ऋषि — अर्थात-तुम्बुरु-नारद-नामक-सङ्गीतस्वरप्रवर्त्तक ऋषियों का संस्मरण करके ही हम सङ्गीत आरम्भ कर रहे हैं)—इत्यादि से प्रसिद्ध है।

गन्धर्वसम्बन्धात्मक मन के साथ प्रधानरूप से 'तुम्बुरुप्राण' का सम्बन्ध है, एवं अप्सरसात्मक शरीर के साथ प्रधानरूप से- नारदप्राण' का सम्बन्ध है। पाञ्चभौतिक-पार्थिव-शरीर के क्षेत्र में नित्य (मर्त्य-भूत)- पितनिचय (अमृत-प्राण)—समन्वयात्मक — अमृत - मृत्युरूप • भावेन प्रवा')

• 'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मना मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्"
—शतपथब्राह्मणे
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !" (गीतायाम्)।

(१)-यत्रैतत्-अस्मिन्-शरीरे संस्पर्शेन-उष्णिमानं विजानाति, तस्यैषा श्रुतिः। यत्रैतत्-कर्णौ-अपिगृह्य निनदमिव नदथुरिव-अग्नेरिव ज्वलत उपश्रृणोति, तदेतत्-दृष्टं च, श्रुतञ्च-इत्युपासीत्।

—छान्दोग्योपनिषत् ३।१३।८।

(२)-अयमग्निर्वैश्वानर -योऽयमन्तः पुरुषे, येनेदमन्नं पच्यते *, यदिदमद्यते। तस्यैष घोषो भवति-यमेतत्-कर्णौ-अपिधाय शृणोति।

—बृहदारण्यकोपनिषत् ५।६।१।

आत्मबुद्धि-समन्विता मानसेच्छा का प्रथमाघात इसी तथाकथित वैश्वानर-अग्नि पर होता है। इस आघात से प्रत्याहित वैश्वानर अग्नि का आघात तत्रैव व्याप्त-वायव्यप्राण पर होता है। आहित वैश्वानर अग्नि से प्रत्याहृत वायव्यप्राण ही आग्नेयप्राण से समन्वित होता हुआ-शरीराभ्यन्तररूप प्रदेश में ऊर्ध्व उत्क्रान्त होता हुआ शब्दोत्पत्ति का कारण बन जाता है, जैसाकि-'वायुः खात्-शब्दस्तत्' इत्यादि प्रातिशाख्य-सिद्धान्त से भी स्पष्ट है। अग्नि ही मरुत् के सहयोग से क्योंकि यों 'अस्थात्मिका-वाग्रूप में परिणत होता रहता है, अतएव सिद्ध है कि, मानव का शारीरिक-वैश्वानराग्नि ही मरुत् के द्वारा अभिव्यक्ति में आकर कण्ठ से बहिर्विनिःसृत होता हुआ शब्दमयी वैखरीवाक् (मत्या वाक्) रूप में परिणत होता रहता है। 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' इत्यादि औपनिषद-सिद्धान्त इसी तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। यही कारण है कि, अधिक शब्दोच्चारण से उच्च स्वर से उच्चारण करने से शरीर विकम्पित होपड़ता है, मुखं च परिशुष्यति। अशक्ति का अनुभव होने लगता है। यों प्रत्यक्ष में ही हमारा अग्नि ही शब्दोत्पत्ति का मूलप्रवर्त्तक प्रमाणित होरहा है।

ब्रह्मग्रन्थि (मूलद्वार) में अपानप्राण प्रतिष्ठित है, ब्रह्महृदय (केन्द्र) में व्यानप्राण प्रतिष्ठित है कण्ठ में उदानप्राण प्रतिष्ठित है एवं मूर्द्धोपलक्षित ब्रह्मरन्ध्र में (जो कि 'नान्दनद्वार' नाम से प्रसिद्ध है) ऐन्द्र-विज्ञानप्राण प्रतिष्ठित है। यों ग्रन्थि-हृदय-कण्ठ-रन्ध्र-भेद से वैश्वानराग्नि के चार प्रतिष्ठान-बिन्दु होजाते हैं जिन के अनन्तर ही यह अग्नि शब्दरूप में परिणत होकर पाँचवें- आस्य (मुख) स्थान को अपना अन्तिम अधिष्ठान बनाता है। वैश्वानराग्नि का पूर्वोक्त नाद ही इन पाँच स्थानों के भेद से पञ्चधा विभक्त होता हुआ ग्रन्थ्यनुगत अतिसूक्ष्मनाद, हृदयानुगत सूक्ष्मनाद, कण्ठानुगत-पुष्टनाद, ब्रह्मरन्ध्रानुगत अपुष्टनाद एवं आस्यानुगत कृत्रिमनाद (भौतिकनाद-जिसे-'गूँज

---

*-अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥
(गीतायाम्)

एवं मन की इच्छा कह सकते हैं। वस्तुगत्या आत्मा (आत्मानुगत संस्कार) बुद्धि (संस्कारप्रेरिका बुद्धि), एवं मन (इन्द्रियमाध्यम से प्राग्भवसंस्कारानुगता बौद्धिकी प्रेरणा को अभिव्यक्त करने वाला क्रियानुगत मनोव्यापार), इन तीनों की समन्वितावस्था को ही हम-'मानव की इच्छा' कह सकते हैं। अथवा यों कह लीजिए कि, आत्मेच्छा पहिले बुद्धि में संक्रान्त होती है बुद्धि के द्वारा यही संस्कारिकी इच्छा मन पर आती है एवं मनोद्वार से इस का अनुधावन इन्द्रियों के प्रति होता है।

अपनी तथोक्ता मानसेच्छा का ही परिणाम 'शब्दोत्पत्ति' माना गया है जिस का निष्कर्ष यही है कि, आत्मबुद्धि से समन्विता अर्थानुगता मानसेच्छा का प्रथम प्रथम उस शारीरिक-अग्नि पर ही आघात होता है जो प्राणाग्नि पाञ्चभौतिक शरीर में आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्यः (केशलोमों को, तथा नख के अग्रभागों को छोड़ कर सर्वाङ्ग शरीर में) परिव्याप्त रहता है एवं जिस का-'वैश्वानराग्नि' रूप से उपनिषदों में स्वरूप-निरूपण हुआ है। 'आ यो द्यां भात्या-पृथिवीम्'-'वैश्वानरो यतते सूर्य्येण' के अनुसार जैसे आधिदैविक वैश्वानराग्नि भूकेन्द्र से आरम्भ कर सूर्य्य पर्य्यन्त अभिव्याप्त है तथैव तद्रूपभूत यह आध्यात्मिक-वैश्वानर-अग्नि भी भूकेन्द्रात्मिका ब्रह्मग्रन्थि से आरम्भ कर सूर्य्यकेन्द्रात्मक ब्रह्मरन्ध्र पर्य्यन्त परिव्याप्त है। पार्थिव-पञ्चभूतों को अपना प्रतिष्ठान (व्याप्तिस्थान) बनाए रखने वाला अतएव अपने व्यापक रूपों से भूपति-भुवस्पति-भुवनपति-नामों से प्रसिद्ध रहने वाला यह वैश्वानराग्नि प्रचण्डवेग से शरीर में धक्-धक् ही कर रहा है जिस के अनुग्रह से ही मानव की भौतिकी स्वरूप-सत्ता सुप्रतिष्ठिता रहा करती है।

हम अपने भौतिक शरीर का जहाँ से भी स्पर्श करते हैं उसे वहीं से उष्ण (तापधर्मा-गरम) उपलब्ध करते हैं। प्रत्यक्षानुभूता यह ऊष्मा (ताप-गर्म्मी) भूतानुगता उसी वैश्वानर अग्नि की साक्षात् दृष्टि (दर्शन-साक्षात्कार) है। एवमेव यदि हम अपने दोनों हाथों की दोनों अनामिका-अङ्गुलियों से दोनों नासाच्छिद्र एवं दोनों अङ्गुष्ठों से दोनों कर्णच्छिद्र अवरुद्ध कर लेते हैं तो हमें अपने ही शरीर में उसी प्रकार का एक धक्-धक्-शब्द सुनाई पड़ता है जैसे कि-प्रज्वलित भूताग्नि का शब्द हम सुना करते हैं। यही नादात्मक शब्द-श्रवण वैश्वानर अग्नि की श्रुति (श्रवणात्मक-साक्षात्कार) है। यही 'अनाहतनाद' (बिना-किसी अन्य-आघात-प्रत्याघातों के स्वस्वरूप से प्रक्रान्त रहने वाली निनाद-ध्वनि) है। शरीरात्मक अध्यात्मवत् इस पार्थिव ब्रह्माण्ड में भी आधिदैविक-वैश्वानराग्नि का यह-'अनाहतनाद' प्रचण्डरूप से घोषूयमान है जो आध्यात्मिकी योगमाया के आवरणानुग्रह से ही हमें सुनाई नहीं पड़ता। यदि यह मायादुर्ग न होता तो उस प्रचण्ड गर्ज्जनात्मक महानाद से निमेषमात्र में ही मानव की जीवनलीला समाप्त होजाती। अमुक विशेष योगप्रक्रिया के द्वारा यहाँ के अर्वाचीन-दार्शनिकों ने अपने आध्यात्मिक-अनाहतनाद को उस महान् आधिदैविक अनाहतनाद के साथ समन्वित करने का तत्त्वात्मक प्रयास किया है जिसका प्रशिथिला आचारनिष्ठा के आचारात्मक प्राङ्गण में सम्प्रति किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं माना जारहा। अनाहतनादात्मक वैश्वानर अग्नि के शब्दात्मभाव इसी-'नाद' भाव को, तथा स्पर्शानुभव को लक्ष्य बनाते हुए श्रुति ने कहा है—

(१)—यत्रैतत्—अस्मिन्—शरीरे सस्पर्शेन—उष्णिमानं विजानाति, तस्यैषा श्रुतिः । यत्रैतत्—कर्णा—अपिगृह्य निनदमिव नदथुरिव—अग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति, तदेतत्—दृष्टं च, श्रुतञ्च—इत्युपासीत् ।

—छान्दोग्योपनिषत् ३।१३।८।

(२)—अयमग्निर्वैश्वानर —योऽयमन्तः पुरुषे, येनेदमन्नं पच्यते *, यदिदमद्यते । तस्यैष घोषो भवति—यमेतत्—कर्णौ—अपिधाय शृणोति ।

—बृहदारण्यकोपनिषत् ५।६।१।

आत्मबुद्धि-समन्विता मानसेच्छा का प्रथमाघात इसी तथाकथित वैश्वानर—अग्नि पर होता है । इस आघात से प्रत्याहित वैश्वानर अग्नि का आघात तत्रैव व्याप्त—वायव्यप्राण पर होता है । आहित वैश्वानर अग्नि से प्रत्याहृत वायव्यप्राण ही आग्नेयप्राण से समन्वित होता हुआ—शरीराकाशरूप प्रदेश में ऊर्ध्व उत्क्रान्त होता हुआ-शब्दोत्पत्ति का कारण बन जाता है जैसाकि-'वायुः खात्—शब्दस्ततः' इत्यादि प्रातिशाख्य—सिद्धान्त से भी स्पष्ट है । अग्नि ही मरुत् के सहयोग से क्योंकि यों अव्याकृत—वाग्रूप में परिणत होता रहता है, अतएव सिद्ध है कि, मानव का शारीरिक—वैश्वानराग्नि ही मरुत् के द्वारा अभिव्यक्ति में आकर कण्ठ से बहिर्विनिःसृत होता हुआ शब्दमयी वैखरीवाक् (मर्त्या वाक्) रूप में परिणत होता रहता है । 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' इत्यादि औपनिषद—सिद्धान्त इसी तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहे हैं । यही कारण है कि अधिक शब्दोच्चारण से उच्च स्वर से उच्चारण करने से शरीर विकम्पित होपड़ता है मुखं च परिशुष्यति । क्लान्ति का अनुभव होने लगता है । यों प्रत्यक्ष में ही हमारा अग्नि ही शब्दोत्पत्ति का मूलभवत्त्व प्रमाणित होरहा है ।

ब्रह्मग्रन्थि (मूलाधार) में अपानप्राण प्रतिष्ठित है, ब्रह्महृदय (केन्द्र) में व्यानप्राण प्रतिष्ठित है कण्ठ में उदानप्राण प्रतिष्ठित है एवं मूर्धोपलक्षित ब्रह्मरन्ध्र में (जो कि 'नान्दनद्वार नाम से प्रसिद्ध है) 'ऐन्द्र—विज्ञानप्राण' प्रतिष्ठित है । यों ग्रन्थि-हृदय-कण्ठ-रन्ध्र-भेद से वैश्वानराग्नि के चार प्रतिष्ठान-बिन्दु होजाते हैं जिन के अनन्तर ही यह अग्नि शब्दरूप में परिणत होकर पाँचवें—'आस्य' (मुख) स्थान को अपना अन्तिम अधिष्ठान बनाता है । वैश्वानराग्नि का पूर्वोक्त नाद ही इन पाँच स्थानों के भेद से पञ्चधा विभक्त होता हुआ ब्रह्मग्रन्थ्यनुगत अतिसूक्ष्मनाद, ब्रह्महृदयानुगत सूक्ष्मनाद, कण्ठ्यनुगत-पुष्टनाद ब्रह्मरन्ध्रानुगत अपुष्टनाद एवं आस्यानुगत कृत्रिमनाद (भौतिकनाद-जिसे— गूँज

*—अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥
(गीतायाम्)

कहा गया है), इन पाँच अवस्थाओं में परिणत होजाता है। पूर्वोक्त श्लोकों में से आरम्भ के पाँच श्लोकों में इसी सम्पूर्ण तथ्य का स्पष्टीकरण हुआ है। (१ से ५ पर्य्यन्त व्याख्यात-)।

छठे श्लोक के द्वारा-'नाद' शब्द का निर्वचनात्मक अर्थसमन्वय हुआ है जिसका तात्पर्य्य स्पष्ट है। यद्यपि शब्दोत्पत्ति में अनल (अग्नि) के साथ अनिल वायु) का भी सहयोग है। यही नहीं अपितु अनिलात्मक वायु ही अनलात्मक शब्द को नादाभिव्यक्ति के, तथा नादानुगति के अनुरूप बनाता है। यदि वायु का सहयोग अग्नि को न मिले तो शब्दोत्पत्ति की कथा तो दूर रही स्वयं अग्नि की स्वरूप-स्थिति भी सम्भव नहीं है। श्वास-प्रश्वासात्मक-वायु का सञ्चार ही शारीरिक-अग्नि का स्वरूप-रक्षक माना गया है। सम्भवतः इसीलिए महर्षि शाकायनि ने 'वायु' को ही 'अग्नि' संज्ञा प्रदान कर दी है- 'वायुरग्निरिति शाकायनिन उपासते' (शत० १।४।५।१।)। यह सब कुछ मान लेने पर भी उक्त शब्द का मौलिक-उपादानत्व तो अग्नि को ही समर्पित किया जायगा जबकि वायु को तो शब्द के प्रति निमित्तकारण ही माना जायगा।

शब्दात्मक कार्य्य का उपादानकारणभूत यह अनल (अग्नि) भूत और प्राण भेद से द्विधा विभक्त रहता है। भूताग्नि ही मर्त्य-चित्याग्नि है जिसका प्रचण्ड ज्वालारूप से हम साक्षात्कार करते रहते हैं एवं जिससे भोजनपाकादि कर्म्म सम्पन्न होता है। इस भूताग्नि की मूलप्रतिष्ठारूप सूक्ष्माग्नि ही-अमृत-चितेनिधेयाग्नि है। भूत बिना प्राण को आधार बनाए अनुपपन्न है तो प्राण भूत को माध्यम बनाए बिना अनभिव्यक्त है। इस अमृताग्नि को ही कहा जाता है-'प्राण' एवं मर्त्याग्नि को ही कहा जाता है-'अनल'। इन दोनों अग्नियों के लिए ही क्रमशः नकार-दकार-सङ्केतित हैं। नकारात्मक, अर्थात्-निषेधात्मक-अर्थात्-प्राणात्मक-अर्थात्-असद्-रूपात्मक-(सूक्ष्मनात्मक)-मौलिक-तत्त्वाग्नि ही अपने 'अव्यक्तभाव' रूप से असद्भावापन्न-'न' से संग्रहीत है। दूसरा भूताग्निरूप अनल प्रत्यक्ष में विशकलन धर्म्मा है। पिण्ड की घनता को विशकलित कर देना रुद्र को द्रुत कर देना ही इस 'रुद्र' मूर्त्ति-भूतानल का स्वरूपधर्म्म है। एक पिण्ड को अनेक खण्डरूप में परिणत कर देना ही इसका सहज-स्वभाव है। अतएव खण्डनात्मक—'दो धातु' (दो-अवखण्डने) से इसके लिए-'द' का सङ्केत होगया है। नकारात्मक प्राणाग्नि, तथा दकारात्मक भूताग्नि दोनों की समन्वितावस्था ही— वैश्वानर है जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। इसीलिए नकार-दकारात्मक-शब्दप्रवर्त्तक-इस वैश्वानराग्नि का साङ्केतिक नाम होगया है-'नाद' जिस इस तथ्य का ही ६ ठे श्लोक से स्पष्टीकरण हुआ है।

आत्म-बुद्धि-सहकृता मानसेच्छा से प्रत्याहत, वायुसंयोग से ब्रह्मग्रन्थि से ऊर्ध्वप्रेरित-ब्रह्मग्रन्थ्यनुगता [१]नाभि [२]हृदय [३]कण्ठ, [४]मूर्द्धा [५]आस्य इन पाँच प्रक्रमों में क्रमशः आता हुआ इसी क्रमानुपात से क्रमशः अतिसूक्ष्म-[२]सूक्ष्म-[३]पुष्ट-[४]अपुष्ट- कृत्रिम इन पांच भावों में परिणत भूत प्राण-समष्टि-रूप-'नादात्मक' इत्थंभूत वैश्वानर अग्नि के बिना तद्रूप 'नाद' के सामान्य-स्थूल-व्यवहार-की अपेक्षा से क्रमशः [१]हृत्प्रक्रम [२]कण्ठप्रक्रम [३]शिरःप्रक्रम, ये तीन प्रमुख प्रक्रम मानलिए गए हैं जिन इन तीनों नादप्रक्रमों में उत्तरोत्तर द्विगुणित तार (उच्च)-स्वर-क्रम व्यवस्थित माना गया है। सप्तम श्लोक में इसी व्यावहारिक तथ्य का स्पष्टीकरण हुआ है।

नाद भ ुति-स्वरात्मक सङ्गीत के मर्म्मज्ञ सर्वश्री महाभाग शार्ङ्गदेव-विरचित-सुप्रसिद्ध 'सङ्गीतरत्नाकर' * नामक ग्रन्थ में उक्त मन्त्रश्लोकी से जिस वैश्वानरात्मक नादब्रह्म का यशोगान हुआ है प्राय वही अर्थ थोड़े शब्दभेद से सुप्रसिद्धा पाणिनीयशिक्षा के निम्न लिखित पद्यों से स्पष्ट हुआ है जिस इस स्व-समतुलन की दृष्टि से ही शिक्षाशास्त्र' के वे वचनमात्र अत्र उद्धृ त कर दिए जाते हैं, जिनका अर्थसमन्वय पूर्वोक्त सन्दर्भ से ही गतार्थ बन रहा है।

१-आत्मा-बुद्धया समेत्यर्थान्-मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति, स प्रेरयति मारुतम् ॥
२-मारुतस्तूरसि चरन्-मन्द्रं जनयते स्वरम् ।
प्रातःसवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम् ॥
३-कण्ठे माध्यन्दिनयुगं मध्यमं त्रैष्टुभानुगम् ।
तारं तार्तीयसवनं शीर्षण्यं जागतानुगम् ॥
४-सोदीर्णो मूर्द्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुत ।
वर्णान् जनयते, तेषां विभाग पञ्चधा स्मृतः ॥
—पाणिनीयशिक्षा

उक्त शिक्षासूत्रों के द्वारा यह भी स्पष्ट होरहा है कि नादात्मक वैश्वानर अग्नि ही त्रिविध स्वरों का अभिव्यञ्जक बनता है—वायु के संयोग से। इसी प्रसङ्ग में शिक्षा ने सवनत्रयात्मक तीन छन्दों की ओर भी सङ्केत किया है जो वैदिक-सृष्टिविज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। भकेन्द्र से निकल कर अपने २१ एकविंशस्य महिमात्मक रथन्तरसाम पर्य्यन्त अभिव्याप्त रहने वाले पार्थिव वैश्वानर-प्राणाग्नि के ही अग्नि-वायु आदित्य नामक तीन महिमाविवर्त्त होजाते हैं जो वे तीनों महिमाभाव ही पृथिवी के महिमामण्डल में ही मुक्त क्रमशः पृथिवी अन्तरिक्ष-द्यौः नामक तीन पार्थिव स्तौम्य लोकों के अधिष्ठाता बने हुए हैं। आधिदैविकी इस पार्थिवी स्तौम्या त्रिलोकी का त्रिवृत्स्तोमात्मक—पृथिवी लोक ही पार्थिवयज्ञ का प्रातःसवन है अष्टाक्षर गायत्री छन्द इसका स्व-छन्द है अग्नि यहाँ के शयसानपात् हैं। इसी प्रातः

---

*—मन-शरीरनिबन्धन प्राकृत इतिहास को ही प्राकृत मानव के मानिक जीवन का सर्वस्व मानते रहने वाले ऐतिहासिकों की युगधर्म्मानुगता मान्यता के अनुपात से नृपतिवर शार्ङ्गदेव महाभाग इसवीय सन् १२ —१३ —के मध्य में उत्पन्न हुए थे। इस मान्यता के अनुसार आज से अनुमानत सातसौ वर्ष पूर्व उपनिबद्ध सङ्गीतरत्नाकर नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में १— स्वराध्याय २—रागाध्याय ३—प्रकीर्णाध्याय, ४—प्रबन्धाध्याय ५—तालाध्याय ६—वाद्याध्याय ७—नृत्याध्याय ये सात अध्याय समाविष्ट हुए हैं। इस महत्त्वपूर्ण सङ्गीतग्रन्थ का एक तो विस्तृत भाष्य हुआ है तत्कालीन सङ्गीत मर्म्मज्ञ विद्वान् के द्वारा। एवं इसके अतिरिक्त-श्रीकुम्भकर्णनरेन्द्र कल्लिनाथ सिंहभूपाल नृपतिवर रीमाधिपति तथा विद्वद्वर श्रीविश्वनाथ आदि क्रमेण ६ टीकाएँ हुई हैं जिनमें से कतिपय टीकाएँ ही आज उपलब्ध हैं।

सवनीय-पार्थिव-गायत्राग्नि से 'मन्द्रस्वर' की अभिव्यक्ति हुई है । पञ्चदशस्तोमात्मक अन्तरिक्षलोक ही पार्थिव-यज्ञ का 'माध्यन्दिनसवन' है एकादशाक्षर त्रिष्टुप् छन्द ही इसका स्व-छन्द है वायु यहां के शक्वोणपाल् है । इसी माध्यन्दिनसवनीय आन्तरिक्ष-त्रैष्टुभ-वायु से 'मध्यस्वर' की अभिव्यक्ति हुई है । एकविंशस्तोमात्मक द्युलोक की पार्थिवयज्ञ का—'सायसवन है, द्वादशाक्षर जगतीछन्द ही इसका अपना छन्द है आदित्य यहाँ के शक्वोणपाल् है । इसी सायंसवनीय-दिव्य-जागत-आदित्य से—'तारस्वर' की अभिव्यक्ति हुई है ।

जैसा संस्थानक्रम आधिदैविक-पार्थिव-विश्व में है ठीक वैसा ही संस्थानक्रम मानव की अध्यात्म-संस्था में समन्वित है । मानव का सर्वाङ्गशरीर ही उस प्राकृतिक-पार्थिवमण्डल का प्रतिरूप है । ब्रह्मग्रन्थि से आरम्भ कर नाभिपर्य्यन्त प्रदेश पृथिवीलोक है इसका पार्थिव—आग्नेयप्राण ही 'अपानप्राण' है जो कि गायत्रछन्दस्क बनता हुआ प्रातःसवनस्थानीय है । नाभि से हृदयपर्य्यन्त अन्तरिक्षलोक है इसका आन्तरिक्ष वायव्यप्राण ही 'व्यानप्राण' है जो कि त्रैष्टुभछन्दस्क बनता हुआ माध्यन्दिनसवनस्थानीय है । हृदय से ब्रह्मरन्ध्र-पर्य्यन्त प्रदेश ही द्युलोक है इसका दिव्य ऐन्द्रप्राण (आदित्यप्राण) ही 'प्राण' है जो कि जागतछन्दस्क बनता हुआ सायंसवनस्थानीय है । इन तीनों स्थानों—लोकों—में व्याप्त वैश्वानर ही नादात्मक यह शारीरिक अग्नि ही इन तीन स्थानों से क्रमशः मन्द्र—मध्य—तार—स्वरों का अभिव्यञ्जक बनता है । यों अधिदैवत तथा अध्यात्म किंवा ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड दोनों में सर्वात्मना यथाक्रमिक संस्थानक्रम समनुगत है जैसाकि निम्न लिखित परिलेखों से स्पष्ट है—

इति नु—अधिदैवतम्—

अग्निः	एकविंशस्तोमावच्छिन्नः—द्युलोकः (२१)—आदित्य—जगती—सायंसवनम्——तारस्वरः
	पञ्चदशस्तोमावच्छिन्नः—अन्तरिक्षलोकः (१५)—वायुः— त्रिष्टुप्—माध्यन्दिनसवनम्—मध्यस्वरः
	त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्नः—पृथिवीलोकः (९)—अग्निः—गायत्री—प्रातःसवनम्——मन्द्रस्वरः

मौलिकः—
भूपिण्डः

इति नु-अध्यात्मम्—

शरीरम्	हृदयतः—ब्रह्मरन्ध्रपर्य्यन्तमनु-द्यु लोक——प्राणाग्निरादित्योवागत—(सायंसवनम्)—तारस्वरः
	नाभेः ——हृदयपर्य्यन्तमनु—अन्तरिक्षलोक -व्यानाग्निर्वायुस्त्रैष्टुभ—(माध्यन्दिनस)-मध्यस्वरः
	ब्रह्मग्रन्थ्य—नाभिपर्य्यन्तमनु पृथिवीलोक.—अपानाग्निरग्निर्गायत्र –(प्रातःसवनम्)-मन्द्रस्वरः

भौतिक-
शरीरम्

एक ही नाद इसप्रकार छन्दोभेदानुगता सवनत्रयी के भेद से हृदय-कण्ठ-शिरो-भेदेन त्रिधा-विभक्त होजाता है, जिस इस तथ्य का ही शार्ङ्गदेव ने पूर्व के सप्तम श्लोक के द्वारा एवं पाणिनीय-शिक्षा ने २-३-४-श्लोकों के द्वारा स्पष्टीकरण किया है। वैश्वानराग्निमूर्त्ति-त्रिब्रह्मात्मक यही 'नाद' आगे चलकर नाडीभेद से अवान्तर २२ (बाईस) मार्गों में विभक्त होजाता है। नाद के ये अवान्तर विभाग श्रुति के द्वारा क्योंकि सुने जाते हैं। अतएव इन अवान्तर अवस्थाओं का नाम-सङ्गीतशास्त्र में-'श्रुति'* होगया है। हृदय से ब्रह्मरन्ध्र पर्य्यन्त ऋजुभाव से व्याप्ता सुप्रसिद्धा नाड़ी 'सुषुम्णा' है। इस सुषुम्णा नाड़ी से संलग्ना तिरश्चीनभावानुगता २२ नाड़ियाँ प्रमुख हैं। इन नाड़ियों के भेद से ही नादानुगता श्रुति के २२ विभाग होजाते हैं। हृदय-कण्ठ-शिरोभेद से इन २२ श्रुतियों का त्रिधा वितान होजाता है। हृदयानुगत मन्द्र-नाद से अनुप्राणिता २२ मन्द्रश्रुतियाँ, कण्ठानुगत मध्यनाद से अनुप्राणिता २२ मध्यश्रुतियाँ एवं

---

*-'श्रु' श्रवणे चास्य धातोः 'क्ति' प्रत्ययसुसङ्गते ।
'श्रुति' शब्दः प्रसाध्योऽय शब्दज्ञैर्भावसाधनै ॥
—मतङ्ग

अन्यदपि—श्रवणेन्द्रियग्राह्यत्वात्-ध्वनिरेव श्रुतिर्भवेत् ।
सा चैका द्विविधा ज्ञया स्वरान्तरविभागत ॥
नियतः श्रुतिसंस्थानो गीयन्ते सप्त गीतिषु ।
तस्मात् स्वरगता ज्ञेयाः श्रुतय श्रुतिवेदिभि ॥

शिरोऽनुगत तारनाद से अनुप्राणित २२ तारश्रुतियाँ इस मेरु से २२ श्रुतियों के भी तीन विभाग बन जाते हैं जैसाकि अग्रिमपृष्ठानुगत 'सङ्गीतसमयसार' नामक ग्रन्थवचन से स्पष्ट है—

ये श्रुतियाँ निम्नलिखित नामों से सङ्गीत–शास्त्र में प्रसिद्ध हैं—

मन्द्रनादानुगता श्रुतयः— द्वाविंशतिः (२२) १	मध्यनादानुगताः श्रुतयः द्वाविंशतिः (२२) २	तारनादानुगताः श्रुतयः द्वाविंशतिः (२२) ३
१–मन्द्रा	१–नादान्ता	१–वैखरी
२–अतिमन्द्रा	२–निष्कला	२–कौमारी
३–घोरा	३–गूढा	३–स्वरावली
४–घोरतरा	४–सकला	४–भोगवीर्या
५–मण्डना	५–मधुरा	५–मनोरमा
६–सौम्या	६–लाली	६–सुस्निग्धा
७–सुमना	७–एकस्वरा	७–दिव्याङ्गा
८–पुष्करा	८–मृदुवाती	८–मुखालिता
९–शाङ्खिनी	९–रसगीती	९–रसगीती
१ –नीला	१०–सुरक्षिता	१०–महार्का
११–उत्पला	११–पूर्णा	११–मेदिनी
१२–अनुनासिका	१२–अलंकारिणी	१२–रामा
१३–घोषावती	१३–मंदिका	१३–सभा
१४–नीलनादा	१४–मैत्रिका	१४–काली
१५–मायावर्णा	१५–निस्थाना	१५–सूक्ष्मा
१६–रञ्जा	१६–सुस्वरा	१६–अतिसूक्ष्मा
१७–वक्रगाम्भीर्या	१७–मार्गवी (सौम्या)	१७–पुष्पा
१८–दीर्घतारा	१८–मायाक्षी	१८–सुपुष्पिका
१९–नादिनी	१९–धार्मिका	१९–विस्वाला
२ –मन्द्रका	२ –सम्पूर्णा	२ –रौद्री
२१–सुपक्षा	२१–मध्यमा	२१–करली
२२–निनदा	२२–सर्वव्यापिनिका	२२–विस्तारान्ता

त्रीणि स्थानानि हृत्–कण्ठ–शिरांसी–ति समासत ॥
एकैकमपि तेषु स्यात्–द्वाविंशति–त्रिधायुतम् ॥ १ ॥
द्वाविंशतिविधो मन्द्रो ध्वनि सञ्जायते हृदि ।
यथोत्तरमसौ तारो वीणायामधरोत्तरम् ॥ २ ॥
स एव द्विगुणो मध्य कण्ठस्थाने यथाक्रमम् ।
स एव मस्तके तार स्यान्मध्याद्द्विगुण क्रमात् ॥ ३ ॥

—सङ्गीतसमयसारे

मस्तक के सन्दर्भ से हमें इस निष्कर्ष* पर पहुँचना पड़ा कि सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त वैश्वानराग्नि से घोघूयमान ध्वन्यात्मक शब्द ही—सङ्गीत में—'नाद' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। सूक्ष्मदृष्टया नाभि–हृदय–कण्ठ–शिर–मुख–भेद से जहाँ इस नाद के क्रमश: अतिसूक्ष्म'–सूक्ष्म–पुष्ट (व्यक्त)'–अपुष्ट' (अव्यक्त)–कृत्रिम—ये पाँच प्रकार हो जाते हैं, वहाँ लोकव्यवहारानुगता स्थूलदृष्टि से इस नाद के—हृदयानुगत–मन्द्रनाद, कण्ठानुगत मध्यनाद, शिरोऽनुगत तारनाद रूपेण तीन प्रकार भी प्रसिद्ध हैं। हृदयानुगता प्रमुखा सुषुम्णा नाड़ी से सलग्ना तिर्यग्वर्तिनी २२ नाड़ियों के भेद से इन तीनों नादों—ध्वनियों की अभिव्यक्तियाँ भी २२–२२ २२–भेद से त्रिधा विभक्त हो जाती हैं और यों ६६ श्रुतियाँ हो जाती हैं जिन का मध्यमान २२ ही माना गया है। नादध्वनि की श्रवणगोचरा अभिव्यक्तियाँ ही 'श्रुति' नाम का प्रमुख कारण है। इसी निष्कर्षात्मक तथ्य को लक्ष्य बना कर कहा गया है कि—

तस्य द्वाविंशतिर्भेदा –श्रवणात् श्रुतयो मता ।
हृद्यूर्ध्वनाडीसलग्ना नाड्यो द्वाविंशतिर्मता ॥ १ ॥
तिरश्च्यस्तासु तावत्य श्रुतयो मारुताहते – ।
उच्चोच्चतरतायुक्ता प्रभवन्त्युत्तरोत्तरम् ॥ २ ॥

---

* मनुष्यमिच्छन् विवक्षमाण आत्मा मन –अन्त करणं प्रेरयति। तदन्त करणं–आत्मबुद्धिप्रेरितं सद् देहस्थितमोदर्य वह्निं आहन्ति, ताडयन्ति। स वह्नि मारुत वायु–प्रेरयति। स पूर्व ब्रह्मग्रन्थिस्थित इदानीं तेन वह्निना प्रेरितः–ऊर्ध्वमार्गेण गच्छन् आघातन–नाभि–हृदय–कण्ठ–मूर्द्ध–मुखेषु–ध्वनिं प्रकटयति–इति निष्कर्ष ।

— ऊर्ध्वनाडी सुषुम्णा । तत्संलग्ना तिरश्च्य –तिर्यक्–स्थिता द्वाविंशतयो नाड्य । तासु मरुत्सम्बन्धात् तावन्त एव–'नादा' समुत्पद्यन्त–उत्तरोत्तर –उच्चोच्चतरता–युक्ता । प्रथमो नाद –हीनतम –मन्द्रतम । ततोऽनन्तर –उच्चतर । ततोऽनन्तर –उच्चतम –इत्येवरूपया नादानुगता श्रुतय प्रवर्तन्त–मौलिक–सङ्गीत सङ्गीत–प्रवरं गायके ।

एव कण्ठे तथा शीर्षे च त्रिद्वाविंशतिर्म्मता ।
व्यक्तये इम्महे तासां वीणादन्डे निदर्शनम् ॥ ३ ॥

अब क्रमप्राप्त उस तीसरे-'स्वरभाव' की ओर सङ्गीत-प्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जाता है जिसे हम मौलिक सङ्गीत का 'प्राण' ही कहेंगे। सङ्गीत में जो एकप्रकार का सहज-"माधुर्य्य" है, वह इसी 'स्वर' की महिमा है। स्वर कैसे और क्यों माधुर्य्य का अभिव्यञ्जक बन जाता है?, प्रश्न का समाधान स्वरहर्येया सुप्य (शतब्राह्मणे) इस श्रौत निगम पर ही अवलम्बित है। सङ्गीतविद्या-वित् विद्वानों को यह विदित ही है कि पृथिवी को दधिलोक माना गया है अन्तरिक्ष को घृतलोक कहा गया है एवं द्युलोक को मधुलोक माना गया है। यही-यी-शाश्वत-ही दधि-घृत-मधु-तत्त्व हैं जिन का क्रमशः पार्थिवाग्नि आन्तरिक्ष्य वायु, दिव्य आदित्य इन तीन प्राणदेवताओं से सम्बन्ध माना गया है। दधिरसात्मक पार्थिव घनाग्नि घृतरसात्मक आन्तरिक्ष्य तरल वायु, एवं मधुरसात्मक दिव्य विरलादित्य इन तीनों पार्थिव-तत्त्वों का हम क्रमशः सङ्गीत के नाद-श्रुति-स्वर-इन तीनों भावों से सम्बन्ध मान सकते हैं। घनात्मिका भूम्प्रतिष्ठा का नाम ही 'नाद' है और यही—'दधि हैवास्य लोकस्य रूपम्' के अनुसार सङ्गीत का अग्निप्रधान-पार्थिवलोकांश है। घन-नाद-पर-प्रतिष्ठित वायव्या-अभिव्यक्तियाँ ही- श्रुति' है और यही—'घृतमन्तरिक्षस्य रूपम्' के अनुसार सङ्गीत का वायुप्रधान आन्तरिक्ष्यांश है। घननादा-नुगता तरलश्रुतियों के द्वारा अभिव्यक्ता-स्तननमात्रात्मिका-परम्परानुप्राणिता वीचियाँ (तरङ्गें-ऊर्मियाँ) ही—'स्वर' है और यही-'मध्वमुष्य रूपम्' के अनुसार सङ्गीत का आदित्यप्रधान दिव्यांश है। और यों तीनों लोकों के [1]आग्नेय-[2]वायव्य-[3]आदित्य-रसात्मक-[1]दधि-[2]घृत-[3]मधु-नामक रसों से ही सङ्गीत के [1]नाद-[2]श्रुति-[3]स्वर- भाव-समन्वित होरहे हैं। इसी सम्बन्ध में पुनरपि हमें कुछ और भी समझ लेना है।

शब्दब्रह्मरहस्यवेत्ता महर्षियोंने परब्रह्म से अभिन्न शब्दब्रह्म के तीन प्रमुख महिमा-विवर्त्त माने हैं जो क्रमशः स्फोट-स्वर-व्यञ्जन-इन नामों से शब्दशास्त्र (व्याकरण) में प्रसिद्ध हैं। परब्रह्म के 'अव्यय' के साथ शब्दब्रह्म का-'स्फोट' समतुलित है। परब्रह्म के- अक्षर' के साथ शब्दब्रह्म का स्वर तथा उस के 'क्षर' के साथ इस का 'व्यञ्जन' समतुलित है। 'पर' तथा 'शब्द'-भेदेन ब्रह्म के दो ही प्रमुख विवर्त्त माने गए हैं, जिस में सत्य-सत्यात्मक इतर अन्यावत् अवान्तर ब्रह्मविवर्त्त अन्यभूत हैं। वस्तुगत्या पर और शब्द ये दो स्वतन्त्र विवर्त्त नहीं हैं। अपितु एक ही षोडशीप्रजापति का पूर्वरूप जहाँ-'परब्रह्म' कहलाता है वहाँ उसी का उत्तररूप 'शब्दब्रह्म' कहलाया है। पूर्वरूपता का अर्थ है-'विश्वातीत-विवर्त्त'। एवं उत्तररूपता का अर्थ है विश्वविवर्त्त। विश्वातीतदशा में वही ब्रह्म 'परब्रह्म' कहलाया है एवं विश्वदशा में वही-'शब्दब्रह्म' कहलाया है।

क्या तात्पर्य्य? । तात्पर्य्य स्पष्ट है। 'विश्व' का ही नाम 'संसृष्टिलक्षणा-सृष्टि' है। यह सृष्टि आकाश-वायु-तेज-जल-भूत्-रूपेण पञ्चमहाभूतात्मिका है। इन पाँचों महाभूतों का मूल सर्वादिभूत वह आकाशभूत ही है जिस का सूक्ष्मम मात्राभाव ही-'शब्दतन्मात्रा' नाम से प्रसिद्ध है। शब्दतन्मात्रा मक-सर्वादिभूत-आकाशभूत से बलप्रन्थि के द्वारा स्पर्शतन्मात्रात्मक वायु की अभिव्यक्ति होती है। वायु से रूपतन्मात्रा-

त्मक बल की एवं बल से गन्धतन्मात्राभिन्न भूत् की अभिव्यक्ति होती है हुई है होती रहती है *। तन्मात्रात्मक शब्दादि गन्धान्त इन्हीं सूक्ष्मतम अतएव-'सत्त्व' नाम से प्रसिद्ध पाँचों गुणभूतों से पञ्ची-करणप्रक्रिया के द्वारा आगे चलकर पञ्चात्मक पाँच अणुभूत अभिव्यक्त होते हैं। इन के पञ्चीकरण से पञ्च-पञ्चात्मक-रेणुभूत अभिव्यक्त होते हैं। इन के पञ्चीकरण से समष्ट्यात्मक- महाभूतात्मक जो पञ्च विश्वपुर अभिव्यक्त होते हैं वे ही क्रमशः आकाशात्मा-स्वयम्भूपुर वाय्वात्मा परमेष्ठीपुर तेजोमयात्मा-सूर्य्यपुर, जलात्मक चन्द्रपुर तथा मृदात्मा भूपुर इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं जिन इन पाँचों विश्वपुरों की किंवा यौगिक-महाभूतों की समन्वितावस्था का नाम ही पञ्चपर्वा विश्व है, जिसका महर्षि श्वेताश्वतरने—पञ्चपर्वामिवामः-विश्वप्रकृतिम्' (श्वे० उपनिषत्) इत्यादि रूप से यशोगान किया है।

पञ्चपर्वात्मक उक्त विश्वस्वरूप-दिग्दर्शन से स्वतः ही हमें इस तथ्य पर पहुँच जाना पड़ा कि, विश्व का मूलकारण विश्वातीत परब्रह्म-आत्मब्रह्म से सर्वप्रथम अभिव्यक्त होने वाली 'आकाशात्मिका-शब्दत-न्मात्रा' ही है। यही प्रथमा शब्दतन्मात्रा उत्तरोत्तरभाविनी-रसानुगता-बलग्रन्थियों के तारतम्य से पञ्चपर्वात्मक विश्व-स्वरूप में परिणत होरही है। और यों आत्मब्रह्म से अभिव्यक्त शब्दब्रह्म' ही विश्व का स्वरूप-परिणामक बना हुआ है। इसी आधार पर-'न ह्यशब्दमिवास्ति (उपनिषत्) यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। अतएव शब्द और अर्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध ही माना है भगवान् जैमिनिने *। इसी आधार पर-'जपात्सिद्धिः' यह उपासनातत्त्व व्यवस्थित हुआ है। इसी आधार पर शब्दब्रह्मात्मक नित्य मन्त्र एवं तद्वाच्य प्राणदेवतात्मक अर्थ, दोनों अभिन्न बने हुए हैं। यही मन्त्र का मन्त्रत्व है यही शब्दब्रह्मात्मक वेदशास्त्र की कूटस्थनित्यतालक्षणा अपौरुषेयता है। इसी दृष्टि से यह कहा गया है कि—'स प्रजापतिः-भूरिति व्याहरत् पृथिव्यभवत्'। अर्थात् आत्मप्रजापति ने अपने मुख से सर्वप्रथम 'भू' इस शब्द का ही उच्चारण किया। यही 'भू' शब्द (पृथिव्यनुगता शब्दतन्मात्रा) भूपिण्डरूप में परिणत होगया। इन्हीं कुछ एक निर्दिष्ट तथ्यों के आधार पर हमें यह मान लेना पड़ता है कि सच्चिदानन्दलक्षणा-विश्वात्मिका-सृष्टि में तो-'शब्दब्रह्म' ही प्रमुख है यही ईश्वर का व्यक्तरूप है जो परब्रह्मात्मक-विवर्त के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। जैसा स्वरूप-संस्थानक्रम उस परब्रह्म का है ठीक वैसा ही किंवा वही संस्थानक्रम विश्वात्मक विश्वरूप-शब्दब्रह्म का है। इस षोडशीपरब्रह्म में यदि परात्पर-अव्यय-अक्षर-क्षर-नामक चार पर्व हैं तो इस शब्दब्रह्म में ही अर्द्धमात्रा-स्फोट-स्वर-व्यञ्जन नामक चार ही प्रमुख विवर्त है। इसी अभेद के आधार पर श्रुति ने कहा है कि—

---

*-तस्माद्वा एतस्मादात्मन (परब्रह्मण) आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी (भूत्)।

—तै० उपनिषत्

"*-औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्"।

— पूर्वमीमांसासूत्र

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म, परं च यत् ।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

—उपनिषत्

'दृष्टिमूला-सृष्टिविद्या' के अनुसार पञ्चपर्वात्मक–विश्व की स्वरूपमीमांसा करते हुए पार्थिवशरीरी–मानव को भूपिण्ड के केन्द्र से ही चलना पड़ेगा। और इस केन्द्र को आधार बना कर ही हमें शब्दब्रह्म के व्यञ्जन–स्वर–स्फोट–अर्द्धमात्रा–नामक–चारों विवर्त्तों का समन्वय देखना होगा। स्वयं भूपिण्ड व्यञ्जनात्मक–शब्दब्रह्म है। सौम्य चन्द्रमा का पार्थिव विवर्त्त में ही अन्तर्भाव है। अतएव चन्द्रमा भी पार्थिव–उपग्रह माना गया है। अतएव च भूपिण्ड के अनन्तर दूसरा स्थान आता है–'सूर्य्य' का। यह सूर्य्य ही स्वरात्मक शब्दब्रह्म है। वसुधर प्रतिष्ठित–'परमेष्ठी' ही महद्ब्रह्म में गर्भीभूत–चिदाभास से अभिन्न–स्फोटात्मक–शब्दब्रह्म है। एवं सर्वान्त का अव्यक्त स्वयम्भू ही अर्द्धमात्रात्मक–शब्दब्रह्म है। यों भूकेन्द्र से आरम्भ कर स्वयम्भू–पर्य्यन्त शब्दब्रह्म के चारों विवर्त्त समन्वित होरहे हैं जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

१ अव्यक्तात्मा -स्वयम्भू ——अर्द्धमात्रात्मकं शब्दब्रह्म	शब्दब्रह्मात्मक-विश्वम्
२ महानात्मा—परमेष्ठी——स्फोटात्मक शब्दब्रह्म	
३ विज्ञानात्मा—सूर्य्यः——स्वरात्मक शब्दब्रह्म	
४-भूतात्मात्मा—सचन्द्रो भूपिण्ड-व्यञ्जनात्मक शब्दब्रह्म	

नादादि के अनुबन्ध से शब्दब्रह्म की स्वरूपदिशा की उपासना की गई। पुन प्रकृतमनुसराम'। निवेदन किया गया है कि श्रुति से अभिव्यक्त–'स्वर' ही सङ्गीत का मौलिक माधुर्य्य है। तत्प्रसङ्ग से ही यह स्वरोपपत्तिप्रसङ्ग उपक्रान्त होपड़ा है। अब हमें–भूपिण्ड चन्द्रोपलक्षित-अन्तरिक्ष एवं आदित्यापलक्षित सूर्य्य इन तीन विश्वपर्वों को आधार बनाकर ही नादादि के स्वरूप का समन्वय करते हुए स्वर के माधुर्य्य को लक्ष्य बनाना है। भूपिण्ड का केन्द्रस्थ प्राणाग्नि–वैश्वानराग्नि ही 'नादब्रह्म' है जैसाकि–पूर्व में अनेकधा स्पष्ट किया जाचुका है। भूकेन्द्रावच्छिन्न इस आग्नेय नादब्रह्म की अन्तरिक्षानुगता वायव्या–अवस्था ही–श्रुति' है। यही आन्तरिक्ष्या श्रुति जब विरलावस्था में आकर सौर मघवान से समाप्लुत होजाती है तो यही–'स्वर' कहलाने लगती है। और यों श्रुति का उत्तरभाव ही 'स्वररूप' में परिणत होजाता है। तदित्थं भूपिण्ड अन्तरिक्ष[१] सूर्य्य[२] इन तीनों के दधि (घन)–घृत[१] (तरल)–मधु[२] (विरल)–इन तीन रसों के क्रमिक समन्वय से ही सङ्गीतात्मक शब्दब्रह्म 'नाद –श्रुति –स्वर' इन तीन विवर्तभावों में परिणत होजाता है। पुनरपि इस सम्बन्ध में प्रकान्ता–स्वराभिव्यक्ति के सम्बन्ध में किञ्चिद्विशेष समन्वय अपेक्षित है।

प्रसिद्ध 'अ–आ–इ–ई–उ–ऊ' स्वरों से भी सभी परिचित हैं एवं सुप्रसिद्ध–'क–ख–ग–घ–आदि व्यञ्जनों से भी सभी सुपरिचित हैं। सृष्टिविद्या के अनुसार अकारादि सम्पूर्ण स्वर सूर्य्य से ही अभिव्यक्त हुए हैं, तो ककारादि सम्पूर्ण व्यञ्जन भूपिण्ड से ही व्यक्त हुए हैं। व्यञ्जन पार्थिव हैं एवं स्वर सौर हैं, यही वक्तव्य–निष्कर्ष है। पार्थिवी–ककाराद्यात्मिका व्यञ्जनवाक् का वैज्ञानिक नाम है–'अनुष्टुप्', एवं सौरी अकाराद्यात्मिका स्वरवाक् का नाम है–'बृहती'। सौरी–ऐन्द्री–बृहतीवाक् के अधिपति 'सौर–इन्द्र' कहलाए हैं, अतएव यह बृहतीवाक्–'इन्द्रपत्नी' नाम से ही वेद में सुप्रसिद्ध हुई है *। एवमेव पार्थिवी–आग्नेयी अनुष्टुप्वाक् के अधिपति–'पार्थिव अग्नि' (नादात्मक–वैश्वानराग्नि) माने गए हैं जिस लक्ष्य बनाकर ही–'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (अग्निर्वैश्वानर एव–अनुष्टुप्–वागात्मक–व्यञ्जनरूपेण परिणत सन्–मुखं प्राविशत्) यह कहा गया है।

अग्निगर्भा भूपिण्डात्मिका पृथिवी एवं इन्द्रगर्भिणी–सूर्य्यात्मिका द्यौ — इन दोनों का परस्पर महोपमहिमाव माना गया है। भूपिण्ड परम्परया सूर्य्य का ही उपग्रह है। सूर्य्यरूप महाग्रह का प्रवर्ग्यरूप–उपग्रहात्मक भूपिण्ड सौर–ऐन्द्र आकर्षण के आधार पर ही साम्वत्सरिक–क्रान्तिवृत्त पर परिभ्रममाण बनता हुआ 'वार्षिकगति' का प्रवर्तक बना हुआ है। सौरी–ऐन्द्री–प्रतिष्ठा को आधार बनाए बिना लघुपग्रहभूत भूपिण्ड क्षणमात्र भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रहसकता। और ठीक यही स्थिति सौरी–बृहती–स्वरवाक्, तथा पार्थिवी–आनुष्टुभी–व्यञ्जनवाक् के सम्बन्ध में विमर्शित है। सौरी बृहती–वाक् से अभिन्न स्वरों को आधार बनाए बिना पार्थिव–अनुष्टुप्–वाक्मय–ककारादि व्यञ्जन भी स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं रहसकते। अर्थात् अकारादि स्वरों को आधार बनाए बिना ककारादि व्यञ्जनों का उच्चारण भी कदापि सम्भव नहीं है। क्योंकि सौरमण्डल को आधार बनाए बिना भूपिण्ड भी तो स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित–अभिव्यक्त–नहीं होसकता।

छन्दोविद्या' के अनुसार गायत्री–उष्णिक्–अनुष्टुप्–बृहती–पङ्क्ति–त्रिष्टुप्–जगती इन सात देवच्छन्दों में से (जोकि सप्त–अहोरात्रवृत्त–पूर्वापरवृत्त–आदि नामों से भी व्यवहृत हुए हैं) मध्यका सर्वतोऽधिक बृहत् (बड़ा) छन्द ही 'बृहतीछन्द' है। प्रत्येक वृत्तलक्षण का मध्यस्थ वृत्तरूप छन्द स्वतः ही पार्श्ववर्त्ती इतर वृत्तों के समतुलन में बड़ा ही तो होगा। इसी बृहद्भाव के कारण गोलपिण्डात्मक (भगोलात्मक महान् वृत्त का मध्यस्थ छन्दोवृत्त–बृहती' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यही बृहती छन्द 'विषुवद्वृत्त'–विषुव आदि नामों से लोकव्यवहार में प्रसिद्ध है जिसेकि प्रतीच्यभाषा में 'इक्वेटर' कहा गया है।

---

* वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी' ॥
—तै०ब्रा० २।८।८।४।

— यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी। (मन्त्रसंहितायाम्)

खगोलीय यथाकथित बृहतीछन्द के केन्द्र में ही क्योंकि भगवान् सूर्य्यनारायण स्थिररूप से सुप्रतिष्ठित हैं * अतएव तत्र प्रतिष्ठित सूर्य्यदेव भी 'बृहत्' नामसे प्रसिद्ध होगए हैं, जैसाकि—बृहद्‌ तस्थौ भुवनेष्वन्त पवमानो हरित आविवेश इत्यादि *मन्त्रवर्णन* से *स्पष्ट* है। इसी बृहद्भावानुबन्ध से तत्र प्रतिष्ठित सूर्य्य—'बृहद्भानु' नाम से भी प्रसिद्ध है।

'सप्त वै देवच्छन्दांसि' के अनुसार गायत्र्यादि—जगत्यन्त अहोरात्रवृत्तात्मक (पूर्वापरवृत्तात्मक) खगोलीय सातों छन्द क्रमशः षडक्षर—सप्ताक्षर—अष्टाक्षर—नवाक्षर—दशाक्षर—एकादशाक्षर—द्वादशाक्षर (६-७-८-९ १०-११ १२ अक्षरात्मक) माने गए हैं, जिन के चतुष्पाद्भाव से क्रमशः २४ २८ ३२ ३६ ४० ४४-४८—ये अक्षर होजाते हैं। इन सातों छन्दों में से पूर्वोक्त मध्य के उस 'बृहतीछन्द' की ओर ही हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं अथछन्द—स्वरप्रकरण में जिसके नव (९) मूलाक्षर हैं तथा षट्त्रिंशत् (३६) तूलाक्षर हैं। नवाक्षर इस बृहतीछन्द के केन्द्र में प्रतिष्ठित सूर्य्य का दिव्य—मधुरतम ऐन्द्रप्राण ही वह 'बार्हत—स्वर तत्त्व' है जिस का अत्र यशोगान किया जारहा है।

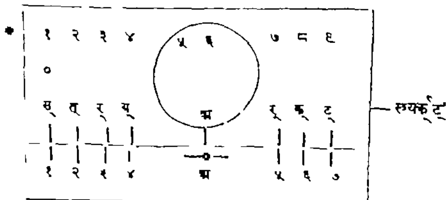
नवाक्षर का अर्थ है—नवबिन्दु—अनुगत प्रस्तार, जिसका तात्पर्य्यार्थ यही है कि—सौर—बार्हत—नवाक्षर—(नवबिन्द्वात्मक स्वर के आधार पर ही पार्थिव आनुष्टुभ व्यञ्जन प्रतिष्ठित रहा करते हैं। बार्हत—स्वर की वनन मर्य्यादा (वितानमर्य्यादा—फैलाव) क्योंकि नव—बिन्द्वात्मक है। अतएव उचित था कि नवबिन्द्वात्मक प्रत्येक स्वर की महिमा में ९ ही व्यञ्जन प्रतिष्ठित होजायें। किन्तु ऐसा होता नहीं। कारण यही है कि—नवबिन्द्वात्मक प्रत्येक स्वर की उक्थ अर्क—भेद से दो अवस्थाएँ रहती हैं। 'मूलस्वरबिम्ब' का नाम ही 'उक्थस्वर' है एवं 'तूलस्वररश्मि' ही 'अर्कस्वर' है। ९ बिन्दुओं में से ५ वां ६ठा इन दो बिन्दुओं को स्वयं उक्थस्वर अपना ब्रह्मौदन (मूलप्रतिष्ठा) बना लेता है। अतएव इस प्रातिस्विकी बिन्दुद्वयात्मिका ब्रह्मौदन की सीमा में (स्व—भोग्या सीमा में) तो अवाच्यभावापन्न (मर्त्यभावापन्न) भोग्य—व्यञ्जनों का प्रवेश निषिद्ध ही बन जाता है। और अब शेष रह जाती हैं—अर्करूपा (रश्मिरूपा) सात-बिन्दुएँ। अवश्य ही इन सात स्वरबिन्दुओं में सात-अवाच्य-व्यञ्जन प्रतिष्ठित होसकते हैं। इस का निष्कर्ष यही हुआ कि, नवबिन्द्वात्मक प्रत्येक बार्हत स्वर में सात सात व्यञ्जनों को स्वप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित करने की क्षमता है। तभी तो सप्त—व्यञ्जनात्मक—सप्त लोक (सातों लोक) उस एकाक्षरमूर्त्ति स्वरात्मा पर प्रतिष्ठित होरहे हैं। शब्दब्रह्ममर्य्यादा में भी अकार—उकारादि प्रत्येक स्वरात्मक अक्षर सात—सात व्यञ्जनों को निर्भर रूपेण उठा सकता है उठा लेता है। अर्थात् एक स्वर के आधार पर एक साथ सात व्यञ्जनों का अवस्थान सम्भव है। अर्थात् एक स्वर के आधार पर सात व्यञ्जनों का उच्चारण सम्भव है, जैसाकि प्रातिशाख्य के

* नैवोदेता—नास्तमेता। मध्ये—एकल—एव स्थाता। सूर्य्यो बृहतीमभ्यूढस्तपति।
—छा० ३।११।

सुप्रसिद्ध — 'स्यक्ट्' इस उदाहरण से स्पष्ट है *। इस शब्द में आप देखेंगे कि, स्वर तो 'अ' नामक केवल एक है—जो दो बिन्दुओं में उत्क्रम से प्रतिष्ठित है, जिसके आरम्भ में १—२—३—४—ये चार अर्थात्मिका बिन्दुएँ हैं, एवं आगे ७—८—९—ये तीन बिन्दुएँ हैं, जिन इन पूर्वापर सात बिन्दुओं में क्रमशः स्—त्—र्—य्—र—क्—ट्—ये सात मर्त्य व्यञ्जन प्रतिष्ठित होरहे हैं। अब यदि एक भी व्यञ्जन आप इस शब्द में और समाविष्ट करना चाहेंगे, तो आपको अन्य स्वर का ही आश्रय लेना पड़ेगा। क्योंकि सात बिन्दुओं के परिपूर्ण बन जाने पर एकस्वर में स्थानाभाव है अन्य आठवें व्यञ्जन को स्वमहिमा में प्रतिष्ठित करने के लिए। सैषा—स्वरस्य—सन्तनानुगता—सहजस्थितिः।

उक्त स्वरस्वरूप—परिचय के माध्यम से अब हमें यह मान लेना पड़ा कि, स्वर और व्यञ्जन इन दोनों में से वितानात्मक—सन्तनन—(फैलाव—पसार) की शक्ति नवबिन्द्वात्मक—केवल स्वर में ही है। व्यञ्जन केवल एक बिन्द्वात्मक है। अतएव व्यञ्जनों में—सम्प्रसारणधर्म्म' (व्याप्तिधर्म्म) का सर्वथा अभाव है। व्यञ्जन तो उच्चारण के साथ ही एक संस्कारहीन—यथाजात—पार्थिवशरीरमात्र—काम भोगपरायण—प्राकृत—मानव की भाँति परिसमाप्त है—'जातस्य ध्रियस्व' इस प्रकृतिसिद्ध आविर्भाव—तिरोभाव-धर्म्मानुबन्ध से। पूर्वक्षण में अव्यक्त, केवल मध्यक्षण में व्यक्त, पुनः उत्तरक्षण में अव्यक्त, इन तीन क्षणों में ही मर्त्य-पार्थिव-व्यञ्जन का सम्पूर्ण इतिवृत्त परिसमाप्त है जो कि इतरूप व्यञ्जन से अभिन्न 'क्षरात्मक भूत का किंवा भूतात्मक क्षर' का माना गया है ×। 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' के अनुसार जो स्वरूप जो धर्म्म भौतिक-मर्त्य-क्षर का है ठीक वही स्वरूप वही धर्म्म तदभिन्न मर्त्य-पार्थिव आनुष्टुभ व्यञ्जन का है।

और 'स्वर'? स्वर तो उस 'अक्षर' से समतुलित किंवा अभिन्न है—, जो अक्षरतत्त्व—न क्षीयते'—निर्वचनानुसार अपने अमृत—मधु—धर्म्म से सर्वथा 'अक्षर' (अक्षयभावापन्न) ही प्रमाणित



× अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत ।।
अव्यक्तनिधानान्येव तत्र का परिदेवना (गीता)।
— स्वरोऽक्षरम्। सहाद्यैर्व्यञ्जनैः पूर्वेश्चावसितैः ।
—प्रातिशाख्य

सगोलीय तथाकथित बृहतीछन्द के केन्द्र में ही क्योंकि भगवान् सूर्य्यनारायण स्थिररूप से सुप्रतिष्ठित हैं ✽ अतएव तत्र प्रतिष्ठित सूर्य्यदेव भी 'बृहत्' नामसे प्रसिद्ध होगए हैं जैसाकि—बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्त पवमानो हरित आविवेश इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। इसी बृहद्भावानुबन्ध से तत्र प्रतिष्ठित सूर्य्य—'बृहद्भानु' नाम से भी प्रसिद्ध है।

'सप्त वै वेषच्छन्दांसि' के अनुसार गायत्र्यादि—जगत्यन्त अहोरात्रवृत्तात्मक (पूर्वापरवृत्तात्मक) सगोलीय सातों छन्द क्रमशः षडक्षर—सप्ताक्षर—अष्टाक्षर—नवाक्षर—दशाक्षर—एकादशाक्षर—द्वादशाक्षर (६-७-८-९ १०-११ १२ अक्षरात्मक) माने गए हैं, जिन के चतुष्पाद्भाव से क्रमशः २४ २८-३२ ३६ ४ ४४-४८-ये अक्षर होजाते हैं। इन सातों छन्दों में से पूर्वोक्त मध्य के उस 'बृहतीछन्द' की ओर ही हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं प्रकान्त—स्वरप्रकरण में जिसके नव (९) मूलाक्षर हैं तथा षट्त्रिंशत् (३६) तूलाक्षर हैं। नवाक्षर इस बृहतीछन्द के केन्द्र में प्रतिष्ठित सूर्य्य का बिम्ब—मधुरसमय ऐन्द्रप्राण ही वह 'बार्हत—स्वर तत्त्व' है जिस का अत्र यशोगान किया जारहा है।

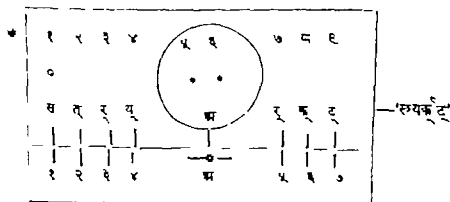
नवाक्षर का अर्थ है—नवबिन्दु—अनुगत प्रस्तार जिस का तात्पर्य्यार्थ यही है कि—सौर—बार्हत—नवाक्षर—(नवबिन्द्वात्मक स्वर के आधार पर ही पार्थिव आनुष्टुभ व्यञ्जन प्रतिष्ठित रहा करते हैं। बार्हत—स्वर की वनन मर्य्यादा (वितानमर्य्यादा—फैलाव) क्योंकि नव—बिन्द्वात्मक है। अतएव उचित था कि, नवबिन्द्वात्मक प्रत्येक स्वर की महिमा में ९ ही व्यञ्जन प्रतिष्ठित होजावें। किन्तु ऐसा होता नहीं। कारण यही है कि—नवबिन्द्वात्मक प्रत्येक स्वर की उक्थ अर्क—भेद से दो अवस्थाएँ रहतीं है। 'मूलस्वरबिम्ब' का नाम ही 'उक्थस्वर' है एवं 'मूलस्वररश्मि' ही 'अर्कस्वर' हैं। ९ बिन्दुओं में से ५ वी ६टी इन दो बिन्दुओं को स्वयं उक्थस्वर अपना अन्नौदन (मूलप्रतिष्ठा) बना लेता है। अतएव इस प्रातिस्विकी बिन्दुद्वयाभिन्न अन्नौदन की सीमा में (स्व—सौम्या सीमा में) तो प्रवर्ग्यभावापन्न (मर्त्यभावापन्न) सौम्य—व्यञ्जनों का प्रवेश निषिद्ध ही बन जाता है। और अब शेष रह जाती हैं—अर्करूपा (रश्मिरूपा) सात बिन्दुएँ। अवश्य ही इन सात स्वरबिन्दुओं में सात-प्रवर्ग्य-व्यञ्जन प्रतिष्ठित होसकते हैं। इस का निष्कर्ष यही हुआ कि, नवबिन्द्वात्मक प्रत्येक बार्हत स्वर में सात सात व्यञ्जनों को स्वप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित करने की क्षमता है। तभी तो सप्त—व्यञ्जनात्मक—सप्त—लोक (सातों लोक) उस एकाक्षरमूर्त्ति स्वरात्मा पर प्रतिष्ठित होरहे हैं। शब्दब्रह्ममर्य्यादा में भी अकार—उकारादि प्रत्येक स्वरात्मक अक्षर सात—सात व्यञ्जनों को निर्भार रूपेण उठा सकता है उठा लेता है। अर्थात् एक स्वर के आधार पर एक साथ सात व्यञ्जनों का अवस्थान सम्भव है। अर्थात् एक स्वर के आधार पर सात व्यञ्जनों का उच्चारण सम्भव है, जैसाकि प्रातिशाख्य के

✽ नैवोदेता—नास्तमेता। मध्ये—एकल—एव स्थाता। सूर्यो बृहतीमध्यूढस्तपति।
—श्रा ५५०

सुप्रसिद्ध — 'स्यक्ट्' इस उदाहरण से स्पष्ट है *। इस शब्द में आप देखेंगे कि, स्वर तो 'अ' नामक केवल एक है—जो दो बिन्दुओं में उक्थरूप से प्रतिष्ठित है, जिसके आरम्भ में १—२—३—४—ये चार अर्कस्निग्ध बिन्दुएँ हैं एवं आगे ७—८—९—ये तीन बिन्दुएँ हैं, जिन इन पूर्वापर सात बिन्दुओं में क्रमश स—त्—र्—य्—र—क्—ट्—ये सात मर्त्य व्यञ्जन प्रतिष्ठित होरहे हैं। अब यदि एक भी व्यञ्जन आप इस शब्द में और समाविष्ट करना चाहेंगे तो आपको अन्य स्वर का ही आश्रय लेना पड़ेगा। क्योंकि सात बिन्दुओं के परिपूर्ण बन जाने पर एकस्वर में स्थानाभाव है अन्य आठवें व्यञ्जन को स्वमहिमा में प्रतिष्ठित करने के लिए। सैषा–स्वरस्य–सन्तनानुगता–सहजस्थितिः।

उक्त स्वरस्वरूप–परिचय के माध्यम से अब हमें यह मान लेना पड़ा कि, स्वर और व्यञ्जन इन दोनों में से वितानात्मक–सन्तनन'–(फैलाव–पसार) की शक्ति नवबिन्द्वात्मक–केवल स्वर में ही है। व्यञ्जन केवल एक बिन्द्वात्मक है। अतएव व्यञ्जनों में–'सम्प्रसारणधर्म्म' (व्याप्तिधर्म्म) का सर्वथा अभाव है। व्यञ्जन तो उच्चारण के साथ ही एक संस्कारहीन–यथाजात–पार्थिवशरीरीमात्र–क्षण मात्रपरायण–प्राकृत–मानव की भाँति परिसमाप्त है—'जायस्व म्रियस्व' इस प्रकृतिसिद्ध आविर्भाव–तिरोभाव–धर्म्मानुबन्ध से। पूर्वक्षण में अव्यक्त, केवल मध्यक्षण में व्यक्त, पुन' तदुत्तरक्षण में अव्यक्त, इन तीन क्षणों में ही मर्त्य-पार्थिव-व्यञ्जन का सम्पूर्ण इतिवृत्त परिसमाप्त है जो कि इतिवृत्त व्यञ्जन से अभिन्न क्षरात्मक भूत का किंवा भूतात्मक क्षर' का माना गया है ×। 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' के अनुसार जो स्वरूप जो धर्म्म-भौतिक मर्त्य क्षर का है ठीक वही स्वरूप वही धर्म्म तदभिन्न मर्त्य-पार्थिव आनुष्टुभ व्यञ्जन का है।

और स्वर ? । स्वर तो उस 'अक्षर' से समतुलित किंवा अभिन्न है — जो अक्षरतत्व– न क्षीयते'–निर्वचनानुसार अपने अमृत–मधु–धर्म्म से सर्वथा 'अक्षर (अक्षयमायापन्न) ही प्रमाणित



× अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत !।
अव्यक्तनिधानान्येव तत्र का परिदेवना (गीता)।
— स्वरोऽक्षरम्। सहार्य व्यञ्जनैः पूर्णस्त्वावसितं।
—प्रातिशाख्य

खगोलीय तथाकथित बृहतीछन्द के केन्द्र में ही क्योंकि भगवान् सूर्य्यनारायण स्थिररूप से सुप्रतिष्ठित हैं ✽ अतएव तत्र प्रतिष्ठित सूर्य्यदेव भी 'बृहत्' नामसे प्रसिद्ध होगए हैं, जैसाकि-बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आविवेश इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। इसी बृहद्भावानुबन्ध से तत्र प्रतिष्ठित सूर्य्य-'बृहद्भानु' नाम से भी प्रसिद्ध है।

'सप्त वै वेषच्छन्दांसि' के अनुसार गायत्र्यादि-जगत्यन्त अहोरात्रवृत्तात्मक (पूर्वापरवृत्तात्मक) खगोलीय सातों छन्द क्रमशः पञ्चाक्षर-सप्ताक्षर-अष्टाक्षर-नवाक्षर-दशाक्षर-एकादशाक्षर-द्वादशाक्षर (६-७-८-९ १०-११ १२-अक्षरात्मक) माने गए हैं, जिन के चतुष्पाद्भाव से क्रमशः २४ २८-३२ ३६-४०-४४-४८-ये अक्षर होजाते हैं। इन सातों छन्दों में से पूर्वोक्त मध्य के उस 'बृहतीछन्द' की ओर ही हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं प्रकान्त-स्वरप्रकरण में जिसके नव (९) मूलाक्षर हैं तथा षट्त्रिंशत् (३६) तूलाक्षर हैं। नवाक्षर इस बृहतीछन्द के केन्द्र में प्रतिष्ठित सूर्य्य का दिव्य-मधुरतमय ऐन्द्रप्राण ही यह 'बाहृत-स्वर तत्त्व' है, जिस का अब यशोगान किया जारहा है।

नवाक्षर का अर्थ है-नवबिन्दु-अनुगत प्रस्तार जिसका तात्पर्य्यार्थ यही है कि-सौर-बार्हत-नवाक्षर-(नवबिन्द्वात्मक स्वर के आधार पर ही पार्थिव-आनुष्टुभ व्यञ्जन प्रतिष्ठित रहा करते हैं। बार्हत-स्वर की तनन-मर्य्यादा (वितानमर्य्यादा-वैताव) क्योंकि नव-बिन्द्वात्मक है। अतएव उचित था कि, नवबिन्द्वात्मक प्रत्येक स्वर की महिमा में ९ ही व्यञ्जन प्रतिष्ठित होजाते। किन्तु ऐसा होता नहीं। कारण यही है कि-नवबिन्द्वात्मक प्रत्येक स्वर की उक्थ अर्क-भेद से दो अवस्थाएँ रहती हैं। 'मूलस्वरबिम्ब' का नाम ही 'उक्थस्वर' है एवं 'तूलस्वररश्मि' ही 'अर्कस्वर' हैं। ९ बिन्दुओं में से ८ वी ९वीं इन दो बिन्दुओं को स्वयं उक्थस्वर अपना अशोदन (मूलप्रतिष्ठा) बना लेता है। अतएव इस प्रातिस्विकी बिन्दुद्वयात्मिका अशोदन की सीमा में (स्व-सोम्या सीमा में) तो प्रवर्ग्यभावापन्न (मत्यभावापन्न) सौम्य-व्यञ्जनों का प्रवेश निषिद्ध ही बन जाता है। और अब शेष रह जाती हैं-अर्करूपा (रश्मिरूपा) सात-बिन्दुएँ। अवश्य ही इन सात स्वरबिन्दुओं में सात-प्रवर्ग्य-व्यञ्जन प्रतिष्ठित होसकते हैं। इस का निष्कर्ष यही हुआ कि, नवबिन्द्वात्मक प्रत्येक बार्हत स्वर में सात सात व्यञ्जनों को स्वप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित करने की क्षमता है। तभी तो सप्त-व्यञ्जनात्मक-सप्त लोक (सातों लोक) उस एकाक्षरमूर्त्ति स्वरात्मा पर प्रतिष्ठित होरहे हैं। शब्दव्याप्तमर्य्यादा में भी अकार-उकारादि प्रत्येक स्वरात्मक अक्षर सात-सात व्यञ्जनों को निर्भर रूपेण उठा सकता है उठा लेता है। अर्थात् एक स्वर के आधार पर एक साथ सात व्यञ्जनों का अवस्थान सम्भव है। अर्थात् एक स्वर के आधार पर सात व्यञ्जनों का उच्चारण सम्भव है जैसाकि प्रातिशाख्य के

✽ नैषोदेता-नास्तमेता। मध्य-एकल-एव स्थाता। सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति।
—छा० ५५०

नाम के आमानाक से सभी ऐश्वर्यशाली सुपरिचित होंगे। भोज्य–भक्ष्य–चोष्य–लेह्य भेद से चार भेदभिन्ना में विभक्त भोज्य पदार्थ पाककर्त्ता के कौशल से तथा परिग्रहात्मक–पदार्थों के वैशिष्ट्य से जहाँ 'सुस्वादु' बन जाते हैं, वहाँ पाककर्त्ता के शैथिल्य से, साथ ही साधन–परिग्रहों के दोष से अस्वादु' भी बन जाया करते हैं। छप्पन भोगों से समन्वित १६ सौ व्यञ्जन यों मानवीय मन के लिए स्वादु–(मनभावन रुचिकर-प्रिय) भी बन जाते हैं, एवं अस्वादु–(अप्रिय) भी बन जाते हैं। प्रियमाणानुगता रुचि से अनुप्राणित यह 'स्वाद' ही सौर 'मधु' रस है, जो प्रत्येक भोज्यादि व्यञ्जन को 'सुस्वादु' (जायकेदार) बना दिया करता है। दधि–घृत–दुग्ध–गोधूम–यव–शर्करा–गुड़–क्षीर–लप्सिका–अपूप–आदि आदि सभी भोज्य सौर मधु भाग के समीकरण से जहाँ सुस्वादु बन जाते हैं, वहाँ पाकादि की असावधानी से मधुरस के अभिभव से वे ही व्यञ्जन अस्वादु भी बन जाया करते हैं। व्यञ्जनों का यह स्वादुरस ही अमृतात्मक स्वर भाग है जिसके अभिभूत होजाने पर, किंवा निकल जाने पर सभी व्यञ्जन– गतरस' बन जाया करते हैं जिन एवंविध नीरस-अस्वादु मधुशून्य–व्यञ्जनों को ही 'यातयाम' कहा गया है —। पेय पानी में अन्तर्य्यामिरूप से प्रतिष्ठित यही मधुरस- 'शिवतमरस' कहलाया है–'यो वः शिवतमो रसः'। यही जीवनीय रस माना गया है। यही आयुःसूत्र सरचक रस माना गया है। क्यों?।

इसलिए कि, सौर–बार्हत–इन्द्रप्राणात्मक–मधु ही 'षट्त्रिंशत्–बृहती' (३६) संख्याओं में परिणत होता हुआ अहोरात्र–परिस्पन्दन से मानव के शतायुर्जीवन का आधार बना हुआ है। सौर–बृहती-छन्द के ३६ अक्षर कहलाए गए हैं। प्रत्येक अक्षर सहस्र भावापन्न है। फलतः सौर रश्मिगत बार्हत–अक्षरात्मक–जीवनप्रद–स्वरात्मक–मधुप्राण ३६ सहस्र संख्या में परिणत होजाता है। ये ही मानव के जीवनीय आयुःसूत्र कहलाए हैं। यही आयुःप्राण विश्वप्रजा का अत्यन्तम मित्र बनता हुआ– विश्वामित्र' नाम से भी प्रसिद्ध है। इसप्रकार दैनंदिनीय अन्नयज्ञ (भोजनकर्म) से अनुप्राणित भौतिक–व्यञ्जनों में पेय पानियों में, श्रवण–दर्शन–गमन–हसन–शयन–आदि आदि यच्चयावत् कर्मकलापों में हम सौर-मधु–रसात्मक–'स्वर' को परिव्याप्त देखते हैं। मधु–प्राणात्मक 'स्वर' की अभिव्यक्ति से समीकरण से समावेश से जहाँ ये भौतिक–विवर्त मधुर–श्रेय–प्रिय–रुचिकर–मनभावन–बने रहते हैं वहाँ मधुरसात्मक सौर–स्वर की अभिभूति से, विषमता से, निगमन से वे ही भौतिक–विषय कटु–अप्रिय–अरुचिकर–मनोविघ्रिष्ट–उद्वेगकर ही बन जाया करते हैं। जब भोग्यजगत् मानवीय मन की सभी दृष्टियों से अस्वादु–नीरस–यातयाम–प्रतीत होने लगता है तो निश्चयेन उस अवस्था में जीवनसत्ता संदिग्धा बन जाया करती है एवं उसी अवस्था के लिए महर्षि ऐतरेय ने–'स यत् करणीयं मन्यस–त कुर्य्यात्' यह उद्बोधन प्रदान किया है।

'रुदन' एक अप्रतीतिकर–ग्लानिकर–उद्वेगकर–भाव माना गया है। किन्तु–मधु अमृत–'सौर–स्वर–साम' के समावेश से रुदन जैसा उद्वेगकर–कटु–कर्म भी मधुर बन जाया करता है। अतएव लोक में प्रसिद्ध है कि–'कलावन्त का तो रोना भी गाना ही है'। सचमुच स्वरसन्धान से समन्वित वो रोना भी

—यातयाम गतरसं पूति–पर्य्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥
—गीता १७।१०।

होरहा है। अपने मधुमय–सौर–इन्द्रप्राणात्मक–रश्मी अक्षरात्मक–धर्म्म से यह स्वर क्षरात्मक व्यञ्जनों का आधार बनता हुआ कुछ समय के लिए इन व्यञ्जनों को भी मधुमयी–रस रूपता अमृतसम्पत्ति-प्रदान कर दिया करता है। अक्षरामिश्र-इस अमृत-स्वर में ही स्तनन की शक्ति है। यह स्तनन ही स्थायी-सस्कार को अभिव्यक्त-प्रक्रान्त रखता है जिसे प्रशस्ति को—'चर्षणा' कहा गया है। जिसप्रकार मधुरसात्मक जिह्वा से समन्वित सुप्रसिद्ध कुक्कुटप्राणी (मुर्गा) × व्यत्यासीकृत (कारशकीचयुक) वाक् के द्वारा उपलब्ध कृमि-कीटादि प्राणियों को उत्कर्षचर्षणा के साथ (फफेड़-फफेड़ कर) अपना भोग्य बनाए रहता है ठीक इसीप्रकार कुक्कुटस्थानीय ● मधुरसात्मक-सौर-बाहस-इन्द्रप्राणात्मक-स्वर अपनी स्तनन-रूपा वाक् से पार्थिव मर्त्य-व्यञ्जनों को प्रचण्ड चर्षणा से ही स्तनत विवृत-करता हुआ इन्हें अपना भोग्य बनाता रहता है। अर्थात् स्वरस्तनन के द्वारा ही मत्यव्यञ्जन भी कुछ दूर पर्य्यन्त-नादध्वनि के अनुगामी बनते रहते हैं और यों एकमात्र मधुरसात्मक स्वर के स्तननानुग्रह से ही व्यञ्जन भी सञ्जीव में कुछ समय के लिए मधुरसात्मक बन जाया करते हैं। इसी प्रकृतिसिद्धा-ऐन्द्री-स्वर चर्षणा के लिए महर्षिने— चर्षणा (व्यमाण) जैसा महत्त्वपूर्ण शब्द अभिव्यक्त किया है अपनी पुराणीप्रज्ञा से, जिस इस तथ्य का ही निम्न लिखित अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

> श्रीमत्स्तनो सयुजं हसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम्।
> अनुष्टुभमनु चर्चूर्यमाणमिन्द्रं निचिक्युः कवयो मनीषा॥
>
> ऋक्सं० १।१२४।५।

विस्तारभिया उक्त रहस्यमन्त्र के तात्त्विक-विस्तार में न जाते हुए अभी प्रसङ्गोपात्त मन्त्र के सम्बन्ध में यही ध्यान लेना अलम् होगा कि,—प्रत्येकमत्र्य-पार्थिव क्षरात्मक भूत पार्थिवी अनुष्टुप् वाक् के सम्बन्ध से अनुष्टुप्-वाङ्मय ही है। अनुष्टुमात्मक पार्थिव-क्षरभूतों का प्रतिष्ठात्मक आधार यह अनुत्य प्राणात्मक सौर-मधु-रसमय-बाहस अक्षरात्मक-इन्द्रप्राण ही है जो चर्चूर्यमाणवृत्ति से इन मर्त्य भी क्षरभूतों को जीवन-सत्ता प्रदान करता रहता है। अर्थात् अक्षरात्मक-अमृतेन्द्र ही क्षरात्मक मर्त्यभूतों की दिग्देशकालानुगता जीवनसत्ता का कारण बना हुआ है। प्रत्येक क्षरभूत में प्रत्येक पार्थिव अनुष्टुप् में आधाररूपेण अमृतेन्द्राक्षर भी विद्यमान है जिसका मनीषिगण अपनी सात्त्विकी पुराणी-प्रज्ञा से अन्वेषण कर इन मर्त्यभूतों से भी अमृतसम्पत्ति प्राप्त करने में समर्थ बन जाते हैं + इत्यलमतिपल्लवितेन-दुर्बोध्यतम-मन्त्रार्थप्रसङ्गेन।

लौकिक–उदाहरण के माध्यम से क्षरात्मक मर्त्यभावापन्न व्यञ्जन के आधार बने हुए अक्षरात्मक अमृतभावापन्न स्वर की मधुरसानुगता मधुरिमा का समन्वय कीजिए। अप्पन भोग–करौस–व्यञ्जन

× कुक्कुटोऽसि मधुजिह्वा (मधुसंहिता) (विस्तार के लिए देखिए शतपथप्रथमखण्ड)।

●—यह अवधेय है कि 'अहल्या-गौतम-संवाद' में इन्द्र का कुक्कुटरूप का भी स्पष्ट हुआ है।

+—इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्य–अस्माल्लोकादमृता भवन्ति॥
—केनोपनिषत् २।

स्वरात्मक-'सम्' भाव प्रतिष्ठित है। सङ्गीत वही सङ्गीत है, जो 'स्वर' से अभिन्न है। एवं स्वर वही स्वर है, जो प्रणव के अक्षर से अभिन्न है *।

सङ्गीतक के सङ्गीत के हृदयानुगत 'नाद' से उत्थित-द्वाविंशति-नाड़ियों से विनिःसृत २२ श्रुतियों के द्वारा ही कण्ठद्वार से स्वत्वा विमक्त होकर विनिर्गत-उसी भाव का नाम 'स्वर' है, जो मधुरस का नर्तन ही कर देता है। सङ्गीताचार्य्य के व्यञ्जनात्मक वर्ण-(बोल) आनन्द के प्रवर्तक नहीं हैं। अपितु इन व्यञ्जनों का मूलाधार बना हुआ-आलाप-प्रलाप-मूर्च्छना-आदि से समन्वित-स्वरसन्धान ही स्वयं सङ्गीतज्ञ के लिए, एवं श्रोता के लिए श्रुतिमधुरत्वेन आनन्द का (मनस्तुष्टि का) कारण बना करता है। यही कारण है कि, उच्चश्रेणि के शास्त्रीय-सङ्गीत में व्यञ्जन न्यूनतम ही रहा करते हैं। अथ से इति पर्य्यन्त स्वर का ही सन्तनन रहता है। अवश्य ही आज के भूतप्रधान-व्यञ्जनप्रधान-बहुजीवन के वशीभूत मन के लिए इत्थंभूत स्वरप्रधान शास्त्रीय-सङ्गीत अवश्य सुखावह नहीं बन रहा। आजतो बहुवाग्प्रवचक-मौखिक-अनुकर्त्ताओं को, तदनुप्राणित-कास्याश्लीकृत-नर्त्तन-गायन को (नहीं- अपितु-उद्दामवासनात्मक-हीनतम-उद्वेग-कर-विकम्पनों को) ही सङ्गीत' की उपाधि दी जारही है जिसका वस्तुगत्या-'सङ्गीत' शब्द के स्पर्श से भी सम्बन्ध नहीं है। प्रकृतमें इस प्रासङ्गिक स्वर-प्रसङ्ग से हमें यही बतलाना है कि, नादानुगता श्रुति के द्वारा अभिव्यक्त-अनुरणनात्मक-स्वत्वा विमक्त-तत्त्व ही 'स्वर' का संक्षिप्ततम स्वरूप-परिचय है। 'स्वतः एव रञ्जयति-श्रोतृचित्तम्' ही इस 'स्वर' शब्द का निर्वचनात्मक (सङ्गीतानुगत) समन्वय है। स्वर के इसी स्वरूप-परिचय को लक्ष्य बनाकर सङ्गीताचार्य्योंने कहा है—

> श्रुतिभ्यस्तु स्वराः-षड्ज-ऋषभ-गान्धार-मध्यमाः ॥
> पञ्चमो-धैवत-श्चाथ निषाद-इति सप्त ते ॥ १ ॥
> (तेषां संज्ञा -स-रि-ग-म-प-ध-नी-त्यपरा मता)
> श्रुत्यन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः ॥
> स्वतो रञ्जयति श्रोतृचित्तं स 'स्वर' उच्यते ॥ २ ॥
> राजृदीप्तावस्य धातोः 'स्व' शब्दपूर्वकस्य च ॥
> 'स्वयं हि राजते' यस्मात्-तस्मात्-'स्वर' इति स्मृतः ॥ ३ ॥

* प्रथम मान 'ओङ्कार',-दूजन मान 'महादेव', त्रान मान 'गोरख', 'वेद' मान 'ब्रह्मा'। (प्र०)
गीत को 'सङ्गीत' मान, सङ्गीत को 'स्वर' मान
स्वर को 'अक्षर' मान, ताल लगन्ता
कहत बैजू बावरे सुनहु गोपाललाल !
दिन मान 'सूरज', रैन मान 'चन्दा'।
—प्रथम मान ओङ्कार—

सम् भावात्मक-समीकरण से-'सङ्गीत' बनता हुआ-शान्तिप्रद-सुखप्रद ही बन जाया करता है इस मधु-स्वर-रसात्मक-रोदन से अपने बालभावापन्न-सौम्य-रस से शिशु का रोदन भी सुखावह बन जाया करता है। लोक में ही क्यों, शास्त्रीय-दृष्टि से भी स्वरानुगत रुदन का भी उपासनाजगत् में महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। 'रुरुदु'-सुस्वरम् + रूपेण प्रसिद्ध गोपीगीत के स्वरात्मक रुदन से कौन उपासक परिचित न होगा ! ।

यों-सम्पूर्ण-त्रैलोक्य के भूत-भौतिक-पदार्थों में कर्म-कलापों में शारीरिक-ऐन्द्रियक-चेष्टाकर्मों में-सर्वत्र-स्वरसामात्मक सौर-मधुरस प्रतिष्ठारूपेण परिव्याप्त है और यही इन सब भौतिक-विषयों की जीवनसत्ता की प्रतिष्ठा है। जबतक 'स्वर' का अनुग्रह है, तभी तक 'व्यञ्जनों' की स्वरूपसत्ता सुरक्षित है। इसप्रकार सभी दृष्टियों से हम व्यापक-स्वरसामात्मक महान्-विश्वसङ्गीत का साक्षात्कार कर सकते हैं करते रहते हैं। और स्वरात्मक-यही सौर-सङ्गीत व्यञ्जनात्मक-विश्व की जीवनसत्ता का प्रमुख आधार बना हुआ है, जिस इस प्रकृतिसिद्ध महाशक्ति के आधार पर ही सङ्गीत प्रवर्त्तक-तुम्बुरु-नारदादि ऋषिप्राणों के द्रष्टा अतएव तुम्बुरु-नारदात्मक-ऋषिप्राणों के नाम से ही लोक में प्रसिद्ध होजाने वाले मानवमहर्षियों की ओर से स्वरसामात्मक-नृत्यगीतवाद्यात्मक-उस सङ्गीत का सञ्चलन हुआ है जिसके नाद-श्रुति-स्वर ये तीन प्रमुख प्रक्रम बने हुए हैं । जिन तीनों के अन्त के 'स्वर' नामक मधुरिमा-प्रवर्त्तक-आनन्दप्रद-आलापात्मक-तत्त्व का ही अबतक विभिन्न दृष्टिकोणों से यशोगान प्रक्रान्त है।

षड्ज-ऋषभ-गान्धार-मध्यम-पञ्चम-धैवत-निषाद (सा-रे-ग-म-प-ध-नी-) नाम से प्रसिद्ध-लोकसङ्गीत के प्राणप्रतिष्ठारूप ये सुप्रसिद्ध 'सात-स्वर' परम्परया सौर-मधु-रसात्मक-अमृत-मधुगात्मक-स्वरसाम से ही क्योंकि अभिव्यक्त हुए हैं अतएव इन्हें भी 'स्वर' कह दिया जाता है। सर्व-सुखानुभूत-ही-'स्वर' का स्वरूप परिचय है। सुखप्रवर्त्तक इस 'स्वर' के सम्बन्ध से ही सौर-इन्द्रमण्डल स्व-'स्वर्ग'-आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है। स्वर्गलोकात्मक (सुखलोकात्मक) सौर स्वरसाम ही लोक-सङ्गीत के सप्तविध-स्वरों का अभिव्यञ्जक है। अतएव षड्जादि सात भी-'स्वर' नाम से ही प्रसिद्ध होगए हैं। अपने नवविन्यासात्मक-वितान-आतान-प्रस्तार-सम्पर्क से-सप्तविध-सप्तस्वरों में ही यह 'आलापधर्म' अभिव्यक्त है जिस आलाप की पारिभाषिक-संज्ञा है-'अनुरञ्जन'। सङ्गीताचार्य्य की सङ्गीतात्मिका-स्वर ध्वनि वातावरण में तरङ्ग-न्यायेन जो एकप्रकार का सुसूक्ष्म शब्दात्मक-कम्पन उत्पन्न कर देती है, जिस कम्पन-समुद्र में श्रोताओं का मन निमज्जित होजाया करता है उसी का नाम-'अनुरञ्जन' है। इसी की लोक अभिधा है 'समा बँध जाना'। मन का साम्य ही यह 'समा' है। साम्यभावात्मक-एकीभावात्मक-इस-'सम्' से ही तो यह गीत (गायन) 'सङ्गीत' कहलाया है। गीत (गायन) वही गीत है जिसके मूल में

—इति गोप्य प्रगायन्त्य प्रलपन्त्यश्च चित्रधा ।
'रुरुदु सुस्वर'' राजन् ! कृष्णदर्शनलालसा ॥
—श्रीमद्भागवत १० पू० । ३२ अ० । १ श्लोक ।

ध्वनिगता गती	मन्द्रनाद	मध्यनादः	तारनाद
	मन्द्रश्रुति	मध्यश्रुति	तारश्रुतिः
	मन्द्रस्वर'	मध्यस्वरः	तारस्वरः
अधिदैवतम्	त्रिवृत्स्तोमः (९)	पञ्चदशस्तोम (१५)	एकविंशस्तोमः
	पृथिवी	अन्तरिक्षम्	द्यौ
	अग्नि'	वायु,	आदित्यः
	गायत्री	त्रिष्टुप्	जगती
	प्रातःसवनम्	माध्यन्दिनसवनम्	सायसवनम्
अधिभूतम्	प्रातःकालः	मध्याह्नकालः	सायंकाल'
अध्यात्मम्	उरःस्थानम्	कण्ठस्थानम्	शिरःस्थानम्

त्रिस्थान-भेद से तीन प्रमुख भागों में विभक्त सप्त स्वर ही सङ्गीतशास्त्र में 'शुद्धस्वर' कहलाए हैं सप्त-शुद्धस्वर ही श्रुतियों के तारतम्य से 'बारह-प्रकार' की अवान्तर-संयोगिकी-अवस्थाओं में परिणत हो जाते हैं। ये ही यौगिक स्वर- विकृतस्वर' कहलाए हैं जिन का भी प्रसङ्गोपात्त तालिकामात्र से नामस्मरण कर लिया जाता है—

नासा-कण्ठ-उर-स्तालु-जिह्वा-दन्तां-स्तथैव च ॥
षड्भिः सञ्जायते यस्मात्-तस्मात्-'षड्ज' इति स्मृतः ॥ ४ ॥
नाभेः समुद्गितो वायुः कण्ठ-शीर्ष-समाहतः ॥
गन्धर्वसुखहेतुः स्यात्-'गान्धार' स्तेन उच्यते ॥ ५ ॥
वायुः समुत्थितो नाभेरुरोहृदयेषु समाहतः ॥
मध्यस्थानोद्भवत्वाच्च 'मध्यम' स्तेन कीर्त्तितः ॥ ६ ॥
वायु-समुत्थितो नाभेरोष्ठ-कण्ठ-शिरो-हृदः ॥
पञ्चस्थानसमुद्भूतः पञ्चम' स्तेन उच्यते ॥ ७ ॥
नाभेः समुत्थितो वायुः कण्ठ-तालु-शिरो-हृतः ॥
निषीदन्ति स्वराः सर्वे 'निषाद' स्तेन कथ्यते ॥ ८ ॥
नराणांतु मुख यद्वद्दर्पणेषु विवर्त्तितम् ॥
प्रतिभान्ति स्वरास्तद्वत् श्रुतिष्वेव विवर्त्तिनः ॥ ९ ॥
श्रुत्य स्वररूपेण परिणाम ब्रजन्ति हि ॥
परिणामे यथा क्षीर दधिरूपेण सर्वथा ॥ १० ॥
षड्जादय स्वराः सप्त व्यज्यन्ते श्रुतिभिः सदा ॥
अन्धकारस्थिता यद्वत् प्रदीपेन घटादय ॥ ११ ॥

जैसाकि नाद-प्रसङ्ग में निवेदन किया गया है-हृदयोपलक्षित-उरःस्थान-कण्ठस्थान-शिरःस्थान नामक तीन भेदों से मन्द्रनाद-मध्यनाद तारनाद-इन त्रिविध नादों से अनुप्राणिता मन्द्रश्रुति-मध्यश्रुति-तारश्रुति-इन तीन श्रुतियों की अभिव्यक्तिरूप सप्तस्वर भी (प्रत्येक स्वर भी) मन्द्रस्वर-मध्यस्वर-तारस्वर-भेदने तीन महिमा भावों में परिणत रहते हैं जिस इस विश्व का मूलाधार-सवनत्रयात्मक-वह सम्वत्सरमण्डल ही माना गया है, जिसका मन्द्रस्वरात्मक-गायत्रीछन्दस्क-अग्निप्रधान-पृथिवीलोक ही प्रातःसवन है। मध्यस्वरात्मक-त्रिष्टुप्छन्दस्क-वायुप्रधान-अन्तरिक्षलोक ही माध्यन्दिनसवन है। एवं तारस्वरात्मक-जगतीछन्दस्क-आदित्यप्रधान-द्युलोक ही सायंसवन है जिस इस त्रैलोक्यमयी-त्रच्छन्दस्या-सवनत्रयी का प्रत्येक अहःकाल में (प्रत्येक दिनमें) भी प्रातः-मध्याह्न-सायं-रूप से क्रमिक-भोग होरहा है जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

त–मन्द्र–मध्य–तारा–ख्य–स्थानभेदात्–त्रिधा मता ।
ते एव विकृतावस्था द्वादशा प्रतिपादिताः ।
तै शुद्धै सप्तमि सार्द्धं भवन्त्येकोनविंशति ॥ (१६) ॥

अन्यदपि किञ्चित्–प्रासङ्गिक–स्वर–सम्बन्धे–एव—

परब्रह्मानुगत–अर्थो के–'आम्भृणीकुल' में जैसे वर्ण–जाति–छन्द–ऋषि–देवता–आदि–व्यवस्थायें व्यवस्थित हैं, ठीक उसीप्रकार शब्दब्रह्मानुगत सरस्वतीकुल' में सम्भूत इन स्वरों में वर्ण–छन्द–ऋषि–देवता–आदि सभी व्यवस्थायें व्यवस्थित हैं, जिन के वैज्ञानिक–स्वरूप–विश्लेषण का अत्र अवसर नहीं है। पाठकों के चिन्तन–मनन–सौकर्य्य–मात्र के लिए–उन अवस्थाओं में से कतिपय अवस्थाओं का यहाँ नामस्मरण–मात्र ही कर लिया जाता है।

षड्ज स्वर (सा) के ऋषि 'वह्नि' हैं ऋषभ (रि) के ब्रह्मा हैं गान्धार (ग) के चन्द्रमा हैं मध्यम (म) के विष्णु हैं। पञ्चम (प) के नारद हैं धैवत और निषाद के (ध–नी–के) तुम्बुरु हैं। सातो स्वरों के क्रमश: वह्नि ब्रह्मा, सरस्वती, शर्व्व, (महादेव) विष्णु, गणपति, सूर्य्य, ये सात—'देवता हैं। स्वरों के क्रमश —अनुष्टुप्–गायत्री–त्रिष्टुप्–बृहती–पङ्क्ति–उष्णिक्–जगती–ये सात छन्द हैं।

षड्ज–गान्धार–मध्यम (सा –ग–म) ये तीन स्वर देवकुल से समुत्पन्न हैं। पञ्चम–स्वर (प) पितृकुल से उत्पन्न है। ऋषभ और धैवत (रि–ध) ये दो स्वर ऋषिकुल से अभिव्यक्त हैं। एवं निषाद (नि) स्वर असुरकुल से उत्पन्न है। षड्ज मध्यम पञ्चम (सा–म–प) ये तीन स्वर वर्णत: 'ब्राह्मण हैं। ऋषभ और धैवत (रि–ध) ये दो स्वर क्षत्रिय' हैं। निषाद और गान्धार, (नि–ग) ये दो स्वर वैश्य हैं। एवं अन्तर काकली * रूप में परिणत ये ही निषाद–गान्धार–'शूद्र हैं।

षड्ज (सा) पद्मवर्ण (रक्तवर्ण) है ऋषभ (रि) पिञ्जरवर्ण (ईषत्–पीतवर्ण) है। गान्धार (ग) स्वर्णवर्ण (अतिपीतवर्ण) है मध्यम (म) कुन्दवर्ण (श्वेतवर्ण) है पञ्चम (प) असितवर्ण श्यामवर्ण) है। धैवत (ध) पीतवर्ण (सामान्य पीतवर्ण) है। एवं निषाद (नि) कर्बुरवर्ण (विचित्रवर्ण) है।

षड्जस्वर (सा) वीर एवं अद्भुत–रसात्मक है ऋषभस्वर रौद्ररसानुगत है धैवत (ध) स्वर वीभत्स तथा भयानक–रसात्मक है। गान्धार और निषाद (ग–नि) ये दोनों स्वर करुणारसानुगत है। मध्यमस्वर (म) हास्यरसात्मक है एव पञ्चमस्वर (प) शृङ्गाररसात्मक है।

*—निषाद षड्जस्य यदि श्रुतिद्वयं संश्रयेत् षड्जस्य द्वितीयश्रुतौ स्थितन्–चतुः–श्रुतिर्भवति–तदा–काकली त्युच्यते। गान्धारस्य मध्यमस्य श्रुतिद्वयं गृह्णन्–चतुः श्रुतिः सन् 'अन्तर इत्युच्यते। तदित्थं–निषाद–गान्धारावेव–अनेन प्रकारेण–'काकल्यन्तरस्वरौ' इत्यवधेयम्।

विकृतस्वर-तालिका

संख्या	नाम	श्रुतिस्थिति	अवस्था
१	च्युतषड्ज	मन्दासंस्थित	द्विश्रुतिक:
२	अच्युत-षड्ज	छन्दोवतीस्थ	द्विश्रुतिक
३	विकृतर्षभ	रतिकासंस्थित:	चतुःश्रुतिक
४	साधारणगान्धारः	वज्रिकासंस्थित	त्रिश्रुतिक
५	अन्तरगान्धार:	प्रसारिणीस्थ	चतुःश्रुतिक
६	च्युत-मध्यमः	प्रीतिसंस्थित	द्विश्रुतिक
७	अच्युत-मध्यम	मार्जनीस्थः	द्विश्रुतिक
८	त्रिश्रुति-पञ्चमः	सन्दीपनीस्थः	त्रिश्रुतिक:
९	कैशिक-पञ्चम	सन्दीपनीस्थ	चतुःश्रुतिक
१०	विकृत-धैवत	रम्यासंस्थित	चतुःश्रुतिक
११	कैशिक-निषाद	तीव्रासंस्थित	त्रिश्रुतिक:
१२	काकली-निषाद	कुमुद्वतीस्था	चतुःश्रुतिक:

स्वराः—	१ ऋषयः	२ देवाः	३ छन्दांसि	४ कुलानि	५ वर्णजात्य	६ वर्णभाषाः	७ रसभावाः	८ अभिव्यक्तिभूमि
प्रथमः–१–षड्जस्वर (सा)	वह्नि	अग्नि	अनुष्टुप्	देवकुलम्	ब्राह्मण	पद्माभ (रक्तवर्ण)	वीर एवं अद्भुतरस	जम्बुद्वीपे
द्वितीय–२–ऋषभस्वर (रे)	ब्रह्मा	विधाता	गायत्री	ऋषिकुलम्	क्षत्रिय	पिञ्जराभ (ईषत्पीतवर्ण)	रौद्ररस	शाकद्वीपे
तृतीय–३–गान्धारस्वर (ग)	चन्द्रमा	सरस्वती	त्रिष्टुप्	देवकुलम्	वैश्य *	स्वर्णाभ (अतिपीतवर्ण)	करुणरस	कुशद्वीपे
चतुर्थ–४–मध्यमस्वर (म)	विष्णु	महादेवः	बृहती	देवकुलम्	ब्राह्मणः	कुन्दाभ (श्वेतवर्ण)	हास्यरस	क्रौञ्चद्वीपे
पञ्चमः–५–पञ्चमस्वर (प)	नारद	नारायण	पाङ्क्ति	पितृकुलम्	ब्राह्मण	असिताभ (कृष्णवर्ण)	शृङ्गाररस	शाल्मलीद्वीपे
षष्ठ–६–धैवतस्वरः (ध)	तुम्बुरु	गणपति	उष्णिक्	ऋषिकुलम्	क्षत्रिय	पीताभ (सामान्यपीतवर्ण)	वीभत्स,एवं भयानकरस	श्वेतद्वीपे
सप्तम–७–निषादस्वर (नी)	तुम्बुरु	सूर्य्य	जगती	असुरकुलम्	वैश्यः *	कर्बुराभः (विचित्रवर्ण)	करुणरस	पुष्करद्वीपे

* - ननु काकल्यन्तरयोरपि स्वरान्तरयोर्द्वयो सद्भावात् –सप्तैव—स्वरा इति कथ नियम्यते ? । 'नवस्वरा' इति वक्तव्यम् ? इति मैवम् । अनाश्रयत्वात्–तयो स्वरान्तरत्वं नास्ति—विकृतनिषादस्यैव काकलीत्व, विकृतगान्धारस्यैव 'अन्तरत्वम्' इति सप्तैव स्वराः । तथाचोक्तमभियुक्तै —

निषाद 'काकली' सञ्ज्ञो द्विश्रुत्युत्कर्षणाद् भवेत् ॥
गन्धार-स्तद्वदेव स्या–'दन्तर' स्वरसञ्ज्ञकः ॥१॥
अनाश्रयत्वाद् भेदेन स्वरता नोच्यते तयो ॥
अतो निषाद–गान्धारावेवावास्तूदाहृतौ ॥२॥

—दत्तिल

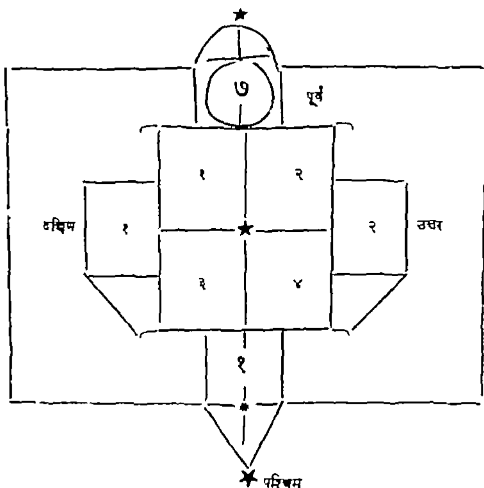
षड्जस्वर (सा) की अभिव्यक्ति जम्बुद्वीप में हुई है। ऋषभस्वर (रि) की शाकद्वीप में गान्धारस्वर (ग) की कुशद्वीप में मध्यमस्वर (म) की क्रौञ्चद्वीप में पञ्चमस्वर (प) की शाल्मलीद्वीप में धैवतस्वर (ध) की श्वेतद्वीप में, एवं निषादस्वर (नि) की अभिव्यक्ति पुष्करद्वीप में हुई है।

अयमत्र सगृह.—

वह्नि-र्वेधाः-शशाङ्कश्च लक्ष्मीकान्तश्च नारदः ॥
ऋषयो दृष्टु' पञ्च षड्जादीस्तुम्बुरुर्धनी ॥ १ ॥
वह्नि-र्ब्रह्म-सरस्वत्य -शर्व-श्री-गणेश्वराः ॥
सहस्रांशु-रिति प्रोक्ताः क्रमात् षड्जादिदेवता ॥२॥
क्रमादनुष्टुप्-गायत्री-त्रिष्टुप्-च बृहती-तत ॥
पंक्ति -रुष्णिक् च-जगती-त्याहुश्छन्दांसि षादिषु ॥३॥
गीर्वाणकुलसम्भूता षड्ज-गान्धार-मध्यमा ॥
पञ्चम पितृवंशोत्थो, रि-धा-ऋषिकुलोद्भवौ ॥४॥
निषादोऽसुरवंशोत्थो ॥
ब्राह्मणाः स-म-पञ्चमा ॥५॥
रि-धौ-तु क्षत्रियौ ज्ञेयौ वैश्यजाती नि-गौ-मतौ ॥
शूद्रावन्तरकाकल्यौ ।
स्वरवर्णास्त्वमे क्रमात् ॥६॥
पद्मामः, पिञ्जर, स्वर्णवर्ण कुन्दप्रमोऽसित ॥
पीतः, कर्बु र इत्ये ।
षां जन्मभूमिमथ ब्रुवे ॥७॥
जम्बु-शाक-कुश-क्रौञ्च शाल्मली-श्वेत-नामसु ॥
द्वीपेषु पुष्करे चैते जाताः षड्जादय क्रमात् ॥८॥
स-री-वीरेऽद्भुते रौद्रे, धो बीभत्से भयानके ॥
कार्यौ ग-नी-तु- करुणे, हास्य-शृङ्गारयो-र्म-पौ ॥९॥

एक प्राण प्रतिष्ठात्मक पुच्छभाग है। प्रत्येक भूतसृष्टि का प्राणात्मक–रेखाचित्र बनाइए, और उसके इन सात भागों का निम्नलिखित रूप से व्यवस्थित कीजिए। और हाँ यह ध्यान रखिए कि, इन सातों प्राणों का ही नाम 'चित्यपुरुष' है, जिस के मन्थन से जो ऊर्ध्वविनिगत–चितेनिधेय विशुद्ध अमृतभाग है जो कि–'सप्तानां पुरुषाणा श्री' कहलाया है, वही आठवाँ (सातों के रसात्मक अमृतभाग से अभिव्यक्त–सप्तमूर्ति–ऊर्ध्वभाग) विभाग है।

"चत्वार आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छं प्रतिष्ठा", इति सप्तपुरुषात्मकश्चित्यप्रजापति —



उक्त परिलेख के मध्य के चार चित्यप्राण दक्षिणोत्तर पार्श्वों के दो चित्यप्राण पश्चिमानुगत एक चित्यप्राण, इन सातों चित्यप्राणों की समष्टि का नाम तो चित्यपुरुष है एवं पूर्वानुगत उस अष्टम का नाम–'चितनिधेय पुरुष' है, जिसे–'अमृत' कहा गया है। यों अमृत–मर्त्य–के समन्वय से सम्पन्न यह सप्तपुरुषात्मक माध्यात्मा–प्रजापति ही वह छन्द है जिसमें इसी अनुपात से चरात्मक भूत प्रतिष्ठित रहते हैं और चरभूतों के यथास्थान प्रतिष्ठित होते ही वह अव्यक्त–प्राणपुरुष–व्यक्तभूतरूप में परिणत होता हुआ– विश्व

व्यञ्जन का आधारभूत स्वरतत्त्व सात महिमाभावों में क्यों और कैसे परिणत होगया ? इस प्रासङ्गिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न के सम्बन्ध में भी प्रसङ्गात् किञ्चिदिव निवेदन करना आवश्यक है। यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, स्वर 'अक्षरतत्त्व' का ही नाम है। जैसे अव्यय का साङ्केतिक नाम 'मन' है, क्षर का साङ्केतिक नाम वाक् है, एवमेव अक्षर का साङ्केतिक नाम 'प्राण' है। मन-प्राण-वाग्-घन अव्यय-अक्षर-क्षरात्मक-परात्पर-समन्वित-षोडशी-पुरुषात्मक 'पुरुष' ही तो 'परब्रह्म' का ह्रस्व-स्वरूप-परिचय है। स्वयंभूत पुरुषात्मा के परात्परान्ययादि चारों महिमाविवर्तों को ही तो पूर्व में क्रमशः अर्द्धमात्रा-स्फोट-स्वर-व्यञ्जन इन नामों से समन्वित माना गया है। सर्वात्मक-सर्वनिरपेक्ष अर्द्धमात्रात्मक-परात्पररूप अवलम्बलक्ष पर प्रतिष्ठित स्फोटात्मक-ज्ञानशक्तिघन आत्मपुरुष ही अर्थसृष्टि का आलम्बनात्मक अधिष्ठानकारण है, स्वरात्मक-क्रियाशक्तिमय-अक्षरपुरुष ही अर्थसृष्टि का निमित्त-कारणात्मक असमवायिकारण है, एवं व्यञ्जनात्मक-अर्थशक्तिमय क्षरपुरुष ही अर्थसृष्टि का उपादान-कारणात्मक समवायिकारण है। इस कारणत्रयीरूप त्रिपुरुषपुरुषात्मा से ही शब्दात्मक पाञ्चभौतिक पञ्चपर्वा विश्व की एवं पञ्चात्मिका विश्वप्रजा की अभिव्यक्ति हुई है। ऐसी स्थिति।

उक्त मूलस्थिति में सन्निकर्ष रूप प्रमुखरूप से उस स्वरात्मक अक्षर को ही प्राप्त है जो क्रियाशक्तियुक्त प्राण से गतिशील बना हुआ है। सञ्चरणधर्म्मा-गतिशील-परिवर्त्तनशील-विश्व का प्रमुख कर्त्ता गति-प्राणात्मक अक्षरतत्त्व किंवा तदभिन्न स्वरतत्त्व किंवा सद्रूप 'प्राण' तत्त्व ही बना हुआ है जैसा कि—'यथा-अक्षराद्विविधाः-सौम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति' इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। स्वराभिन्न-अक्षररूप इस 'प्राण' का ही साङ्केतिक नाम है—'असत्' तत्त्व। स्वरूपता ही स्वधन इस प्राणाक्षर की 'असत्' अभिधा का कारण है। यही मौलिक असत् (सद्रूप) प्राणतत्त्व अपने सहज प्रस्थानरूप गतिकर्म्म से 'रिषति-गच्छति-अरिषन् वा' इत्यादि निर्वचनानुसार 'ऋषि' नाम से प्रसिद्ध है *।

सृष्टि के मूलप्रवर्त्तक 'असत्'-नामक ऋषिप्राण की एकर्षि द्व्यर्षि त्र्यर्षि सप्तर्षि दशर्षि आदि विविध जातियाँ हैं। विरूपास + विविधवेपसः-इन ऋषिप्राणों में भूतभौतिकी सृष्टि का प्रमुख आधार बना 'सप्तर्षि' नामक प्राणविशेष ही बना करता है जिस के इन सात अवयवों के '४-२-१' इस क्रम से तीन संस्थान माने गए हैं। ये ही तीनों संस्थान क्रमशः 'चत्वार आत्मा द्वौ-पक्षौ, पुच्छं प्रतिष्ठा' रूप से उपवर्णित हैं। चार प्राणों की समष्टि ही 'चत्वार आत्मा' है। दो प्राणों की समष्टि दो पक्ष हैं एवं

---

*-असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः किं तदसदासीदिति ?, ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्। तदाहुः-के ते ऋषय इति ? प्राणा वा ऋषयः। ते यत्-अस्मात्-सर्वस्मात्-इद मिच्छन्तः-श्रमेण तपसा-अरिषन्-तस्मात्-ऋषयः।

—शत० ६।१।१।१।

— विरूपास इद् ऋषयस्त इद् गम्भीरवेपसः।
तेऽङ्गिरसः सूनवः, तेऽग्नेः परिजज्ञिरे ॥

—ऋक्सं०

जिसप्रकार त्रिपुरुष-पुरुषात्मक षोडशी—पुरुषात्मा के मन-प्राण वाङ्मय-त्रिवृद्भाव से आत्मसम्बन्धात्मक विश्व को समष्टि और व्यष्टिरूप से त्रिपर्वात्मक माना गया है * एवमेव सप्तप्राणात्मक सप्तप्राणात्मक—सप्तपुरुषात्मक प्रजापति की सर्वोक्ता आत्मा-पञ्च पुच्छ-रूपा सात चितियों के अनुबन्ध से विश्व को समष्ट्या व्यष्ट्या उभयथा सप्तपर्वा भी कहा जासकता है, कहा गया है। उदाहरण के लिए सर्वप्रथम मानवशरीर को ही लक्ष्य बनाइए। मानवशरीर में शिरोगुहा उरोगुहा उदरगुहा, वस्तिगुहा, नामक चार गुहाविवर्त्त हैं, जिन इनमें (प्रत्येक में) सात-सात-प्राणों का समन्वय हो रहा है जैसाकि—'गुहाशया निहिता सप्त सप्त—' इत्यादि वचन से स्पष्ट है। गुहानिहित इन चारों सप्तकों का भी शतपथ प्रथमखण्ड में ही (पृ० सं० ३१९ में) परिलेख के माध्यम से दिग्दर्शन कराया जाचुका है। विश्व में स्वरों का ही सप्तक नहीं है। अपितु अक्षरप्राणात्मक—सप्तस्वरों की सर्वोक्ता सप्तचिति के आधार पर अवस्थित समष्टि—व्यष्टिरूप यच्चयावत् भूत—भौतिक—पदार्थ सप्त—भावापन्न ही हैं जिन अगणित सप्तकों में से कुछ एक सप्तकों का तालिकारूपेण अत्र नाम दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

१—सप्त-प्राण—२ श्रोत्रप्राण, २ चक्षुःप्राण २ नासाप्राण १—मुखप्राण।

२—सप्त अर्चि—१—काली २—कराली ३—मनोजवा ४—सुलोहिता ५—सुधूम्रवर्णा ६—स्फुलिङ्गिनी—७—विश्वरूपा।

३—सप्त-होम—१—पाकयज्ञ, २—अग्निहोत्र, ३—दर्शपूर्णमास ४—चातुर्मास्य ५—सोमयज्ञ, ६—महायज्ञ, ७—अग्नियज्ञ।

४—सप्त-लोक—१—सत्यम्, २ तपः ३—जनत ४—महः ५—स्वः ६—भुवः ७—भूः।

५—सप्त अग्निजिह्वा— १—काली २—कराली, ३—रक्तवर्णिका, ४—धूम्रपुष्पा ५—धूम्रदीपा ६—प्रज्वलनी ७—जयवती।

६—सप्त अग्नि—१—जिह्वा २—हिरण्या ३—कृष्णा ४—रक्तिका ५—अतिरक्तिका ६—गगना ७—बहुरूपा।

७—सप्त अप्सरा—१—उर्वशी २—मेनका ३—रम्भा, ४—सुकेशी ५—तिलोत्तमा, ६—मञ्जुघोषा ७—घृताची।

८—सप्त-आवरण—१—जल २—अग्नि ३—वायु ४—आकाश ५—अहङ्कार ६—महत्तत्त्व ७— प्रकृति।

* शतपथभाष्य-प्रथमखण्ड में इन विषयों का संकलन किया जाचुका है (देखिए। प्रथमखण्ड—पृ० सं० ५११ से ५२ पर्य्यन्त।

— सप्त प्राण प्रभवन्ति तस्मात्, सप्ताचिष समिधः, सप्त होमाः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिता सप्त सप्त॥
—मुण्डकोपनिषत् २।१।८।

नाम धारण कर लेता है। लोकप्रसिद्ध—सञ्चा [साँचा—रेखाचित्र—मॉडल] ही 'छन्दःपुरुष' है। एवं प्रत्येक भूतभौतिकी सृष्टि में यही सप्तप्राणमूर्ति प्रचरात्मक स्वरूप मूलाधार बना हुआ है।

मनुष्य को लीजिए। जिसे-'धड़' कहा जाता है वही 'मध्याङ्ग' है और हृदय से ऊपर कण्ठ पर्य्यन्त तथा नीचे ब्रह्मग्रन्थि—पर्य्यन्त सम्पूर्ण मध्याङ्ग में चार प्राण प्रतिष्ठित हैं। क्योंकि प्राणचतुष्टयात्मक इसी मध्याङ्ग के आधार पर मस्तक—हाथ—पैर आदि इतर सभी शारीरिकपर्व प्रतिष्ठित रहते हैं। एतावता ही इस विभागचतुष्टयी को 'चत्वार आत्मा' कह दिया जाता है। दक्षिण हाथ—दक्षिण पाद दोनों की समष्टि एक-प्राणात्मक दक्षिणपक्ष है वाम हस्त-पाद की समष्टि वामपक्ष है। शिरो भाग से आरम्भ कर ब्रह्मग्रन्थि पर्य्यन्त जन्म—पवित्र—विवत—सुप्रसिद्ध मेरुदण्ड [रीढ़ की हड्डी] के अन्त में प्रतिष्ठित निष्प्राणीय का प्राण ही पुच्छात्मक प्रतिष्ठाप्राण है। यह वही प्राण है जिस की प्रतिस्थिरता में ही शरीरयष्टि ऋजुभाव से प्रतिष्ठित रहती है सीधी तनी रहती है। वार्द्धक्य में जब यह प्रतिष्ठाप्राण मूर्च्छित होजाता है तो मेरुदण्ड अवनत होजाता है, कमर झुक जाती है और उस दशा में कृत्रिम—पुच्छप्रतिष्ठा (लकड़ी—छड़ी) का आश्रय अनिवार्य्य बन जाया करता है। इन सातों प्राणों के प्रमुखप्रधान रसात्मक भाग से ही क्योंकि ऊर्ध्वस्थ भाग का निर्म्माण होता है अतएव उसे—श्रीः कहा गया है। यही परोक्ष निरुक्तानुसार शिर [मस्तक] नाम से प्रसिद्ध है।

यही क्रम पशु के शरीर में है यही पक्षी के शरीर में है। यही क्रम कीट—कृमि—वर्ग में है और यही क्रम उन ओषधि—वनस्पत्यादि में है जिन का एक एक पत्ता भी इन सातों विधियों से समन्वित है। किसी भी वृक्ष—ओषधि के पत्ते को सम्मुख रख लीजिए। आप देखेंगे कि—पत्ते के मध्य में एक तन्तु है—यही मेरुदण्ड है तत्संलग्न भाग ही चत्वार—आत्मा है। दोनों पार्श्व दोनों पक्ष हैं। मूलभाग वह पुच्छप्रतिष्ठा प्राण है जिससे पत्ता तना हुआ रहता है एवं जिसके मूर्च्छित होते ही पत्ता मुर्झा जाता है। पार्थिवसृष्टि का सर्वस्वभूत सम्वत्सरप्रजापति जब इत्थंभूत ही है तो तद्गर्भ में तदंश से ही समुद्भूत चर—अचर—प्रजा इस स्वरूपसंस्थान—क्रम से कैसे वञ्चित रह सकती है ?।

मध्यस्थ विष्वद्वृत्त ही चत्वार आत्मा है षण्मासात्मक उत्तरायण उत्तरपक्ष है षण्मासात्मक दक्षिणायन दक्षिण पक्ष है केन्द्रस्थ प्राजापत्याग्नि ही पुच्छप्रतिष्ठा है। एक पक्षी का जैसा आकार है सम्वत्सरस्थिति का लगभग वैसा ही आकार है। तभी तो सभी का नित्य-प्राण—'हंस' [जीव] कहलाया है। इसीलिए इस नित्यपुरुष का साङ्केतिक नाम होगया है 'सुपर्ण'। सम्वत्सरात्मक महासुपर्ण ही साक्षी सुपर्ण है एवं तदंशभूत प्राणी ही भोक्ता सुपर्ण है।

*—अथ ह वा एष महासुपर्ण एव सम्वत्सर। तस्य यान्पुरस्तात् विषुवत —षण्मासानु पयन्ति, सोऽन्यतरः पक्षः। अथ यान् पद्धपरिष्टात्—सोऽन्यतर। आत्मा विषुवान्।
—शत० १२।२।३।७

२५–सप्त-धान्य—१-गोधूम (गेहूँ), २-यव (जौ), ३ तिल, ४-माष (उड़द) ५-मुद्ग (मूंग) ६-अक्षत (चाँवल) ७-यव्य (बाजरा)।

२६–सप्त राज्याङ्ग—१-सेना, २-दुर्ग ३-मन्त्री ४ कोश ५ दण्ड, ६-मित्र ७-स्वामी।

२७–सप्त-वार—१-रवि, २-सोम, ३-मङ्गल, ४-बुध, ५-बृहस्पति ६-शुक्र, ७-शनैश्चर।

२८–सप्त-सर-(सरोवर)—१-मानसर २-मणिसर, ३-बिन्दुसर (विष्णुसर) ४-पम्पा-सर ५-गरुडसर ६ रामसर, ७-अच्छोदसर।

२९–सप्त-देवच्छन्द–१-गायत्री, २ उष्णिक् ३-अनुष्टुप ४-बृहती, ५-पंक्ति, ६-त्रिष्टुप ७-जगती

३०–सप्त-ज्योतिष्टोम–१-अग्निष्टोम २-अत्यग्निष्टोम ३-उक्थ्यस्तोम ४-षोडशीस्तोम, ५-अतिरात्रस्तोम, ६-वाजपेयस्तोम, ७-अप्तोर्यामस्तोम।

३१–सप्त-ऊर्ध्व प्रजातन्तु-१-पुत्र २ पिता ३ पितामह, ४-प्रपितामह, ५-वृद्ध-प्रपितामह, ६-अतिवृद्धप्रपितामह, ७-वृद्धातिवृद्ध-प्रपितामह (तापिण्डस्य साप्तपौरुषम्)

३२–सप्त-अधः प्रजातन्तु-१-पिता, २-पुत्र, ३-पौत्र ४-प्रपौत्र, ५-वृद्धप्रपौत्र, ६-अतिवृद्धप्रपौत्र, ७-वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र।

३३–सप्त–सङ्गीतस्वर–१-षड्ज, २-ऋषभ, ३ गान्धार, ४-मध्यम, ५-पञ्चम ६ धैवत ७–निषाद।

३४–सप्त–स्वरोच्चारण—१-सा, २ रे। ३-ग ४-म, ५-प, ६-ध, ७-नी।

इति य– चत्वार आत्मा (४) द्वौ पक्षौ (२) पुच्छं प्रतिष्ठा (१) रूपेण सप्तात्मक बने हुए सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति (सप्तपमित स्वरात्मक ऋग्ग्राम) से चरात्मक व्यञ्जन के द्वारा अभिव्यक्त समुद्भूत उत्पन्न इस विश्व में इस सप्तचितिक प्रजापति के अनुबन्ध से सर्वत्र समष्टि व्यष्टि रूप से सप्त-महिमामयों का विस्तार होता है। सप्त-पुरुष सप्त-ऋषि सप्त महाराजपूत सप्त-कपाल सप्त-कर्ता सप्त-चक्र सप्त-होता सप्त-तन्तु, सप्त अदितिपुत्र सप्त-मरुद्गण सप्त ऋतु सप्तप्राणानुगत जिन सप्तों का पूर्व में अस्मरण हुआ है उनके अतिरिक्त अगणित असंख्य-सप्तकों का वन्शास्त्र में यत्र-यत्र यज्ञप्रक्रियाओं के भेद से स्वरूप-निरूपण हुआ है जिनके विस्तार का अभी अवसर नहीं है। उनमें से कतिपय सप्तक-नामों का संस्मरण ही पर्याप्त होगा वन्स्वाध्याय-प्रवृत्ति के अनुबन्ध से। सप्तपुरुष (शत ६।१।१२)। सप्त-ऋषि (शत ८।४।३।६।) सप्तकपाल (शत २।५।१।१२) सप्तकर्ता (तै ब्रा १।७।२।) सप्तशीर्षम् (तै ब्रा २।३।५।६।) सप्तगण(तै (ब्रा १।६।२ ३।) सप्तचक्र तै ब्रा २।८।१।५) सप्तचितिक (शत ६।६।१।१४।) सप्ततन्तु (गो ब्रा १।१।१२।) सप्तदश्य (शत ६।५।३।११।) सप्तनामा (तै ब्रा १।११।६।) सप्तनिधन (त्रै ब्रा २।११।५।) सप्तपदम (ए ब्रा ५।१२।११) सप्तपुत्र (जै उ ब्रा

९-सप्त-ऊर्ध्वलोक—१-ब्रह्मलोक, २ वैकुण्ठ, ३-शिवलोक ४-सुरलोक, ५-सूर्य्यलोक, ६ पितृलोक, ७-सिद्धलोक।

१०-सप्त अधोलोक—१-मायालोक, २-यमलोक ३-गन्धर्वलोक, ४-यक्षलोक, ५-किन्नरलोक ६-नागलोक, ७-दैत्यलोक।

११-सप्त-ऋषि—१-महर्षि २-ब्रह्मर्षि ३-देवर्षि, ४-राजर्षि, ५-परमर्षि ६-काण्डर्षि ७-श्रुतर्षि।

१२-सप्त-कल्प—१-पार्थिवकल्प २-कूर्म्मकल्प, ३-अनन्तकल्प ४-ब्रह्मकल्प ५-रुद्रकल्प ६-श्वेतवाराहकल्प ७-प्रलयकल्प।

१३-सप्त-पितर—१-आज्यपा २-सोमपा, ३-हविर्भुक् ४-अग्निष्वात्ता, ५-सोमसत् ६-बर्हिषद् ७-सुकाली।

१४-सप्त-देवपुरी—१-विष्णुपुरी २-शिवपुरी ३-ब्रह्मपुरी ४-यमपुरी, ५-वरुणपुरी ६-अलकापुरी ७-अमरपुरी।

१५-सप्त-द्वीप—१-जम्बु २-प्लक्ष ३-शाल्मली, ४-कुश, ५-क्रौञ्च ६-शाक, ७-पुष्कर।

१६-सप्तसमुद्र—१-लवणोद २-इक्षुरोद ३-सुरोद ४-घृतोद ५-दधिमण्डोद ६-क्षीरोद ७-स्वादूदक्।

१७-सप्त-वायु—१ आवह २ प्रवह, ३-संवह, ४ अनुवह, ५-विवह, ६-परावह ७-परिवह।

१८-सप्त-पाताल—१ अतल २-वितल, ३-सुतल, ४-तलातल, ५-महातल ६-रसातल ७-पाताल।

१९-सप्तनरक—१-रौरव २-तान, ३-विमोहन ४-कृमीश ५-लालाभक्ष ६-अधःशिरा ७-अवीचि।

२०-सप्त-स्वर्ग—१-अपोदक, २ ऋतधामा ३-अपराजित ४-अप्नस्वहिष्णू ५-अभियौ ६ प्रद्यौ ७-रोचना।

२१-सप्त-पर्वत—१-कुलगिरि २-शाखागिरि ३-पादगिरि, ४-स्तूपगिरि ५-वर्षपर्वत ६ विष्कम्भपर्वत ७-केसरपर्वत।

२२-सप्त-नदी—१ चतुर्गङ्गम् २-सप्तगङ्गम्, ३-नदी ४-महानदी, ५-शाखानदी ६-क्षुद्रनदी ७-कुल्या।

२३-सप्त-देश—१-पुरी २-पत्तन ३-महानगर ४-नगर ५-ग्राम ६-खरवट ७-उपनिवेश।

२४-सप्त-प्रसिद्ध-पर्वत—१ हिमालय २-विन्ध्याचल ३ हेमकूट ४-निषध, ५-मलिमान् ६-पारियात्र ७-गन्धमादन।

२५–सप्त-धान्य—१-गोधूम (गेहूँ), २-यव (जौ), ३ तिल, ४-माष (उड़द), ५-मुद्ग (मूंग), ६-अक्षत (चाँवल), ७-यवा (बाजरा)।

२६–सप्त राज्याङ्ग—१-सेना, २ दुर्ग ३-मन्त्री, ४ कोश, ५ देश, ६-मित्र, ७-स्वामी।

२७–सप्त-वार—१-रवि, २-सोम ३-मङ्गल ४-बुध, ५-बृहस्पति ६ शुक्र, ७-शनैश्चर।

२८–सप्त-सर-(सरोवर)—१-मानसर २-मणिसर ३-बिन्दुसर (विष्णुसर) ४-पम्पासर ५-गरुडसर, ६ रामसर ७-अच्छोदसर।

२९–सप्त-देवच्छन्द–१-गायत्री २ उष्णिक् ३-अनुष्टुप, ४-बृहती, ५-पंक्ति, ६-त्रिष्टुप ७-जगती

३०–सप्त-ज्योतिष्टोम–१-अग्निष्टोम, २-अत्यग्निष्टोम ३-उक्थ्यस्तोम, ४-षोडशीस्तोम, ५-अतिरात्रस्तोम, ६-वाजपेयस्तोम ७-अप्तोर्यामस्तोम।

३१–सप्त-ऊर्ध्व प्रजातन्तु–१-पुत्र २ पिता ३-पितामह, ४-प्रपितामह, ५-वृद्ध-प्रपितामह, ६-अतिवृद्धप्रपितामह, ७-वृद्धातिवृद्ध-प्रपितामह (सापिण्ड्य साप्तपौरुषम्)

३२–सप्त-अध प्रजातन्तु–१-पिता, २-पुत्र ३-पौत्र, ४-प्रपौत्र, ५-वृद्धप्रपौत्र ६-अतिवृद्धप्रपौत्र -वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र।

३३–सप्त–सङ्गीतस्वर–१-षड्ज, २ ऋषभ, ३-गान्धार, ४-मध्यम, ५-पञ्चम ६ धैवत, ७–निषाद।

३४–सप्त–स्वरोच्चारण—१-सा, २-रे। ३-ग, ४-म, ५-प, ६-ध, ७–नी।

चदित्य– चत्वार आत्मा (४), द्वौ पक्षौ (२) पुच्छं प्रतिष्ठा (१) रूपेण सप्तात्मक बने हुए सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति (असुरामिश्र स्वरात्मक ऋषिप्राण) से वरात्मक व्यञ्जन के द्वारा अभिव्यक्त समुद्भूत उत्पन्न इस विश्व में इस सप्तविविक्त प्रजापति के अनुबन्ध से सर्वत्रैव समष्टि व्यष्टि-रूप से सप्त-महिमाभावों का विस्तार होरहा है। सप्त-पुरुष सप्त-ऋषि सप्त अहोरात्रयुक्त सप्त-कपाल सप्त-कर्ण सप्त-चाक्र सप्त-होता सप्त-तन्तु, सप्त अदितिपुत्र सप्त-मरुद्गण सप्त ऋतु प्रसङ्गानुगत जिन सप्तकों का पूर्व में स्मरण हुआ है उनके अतिरिक्त अगणित असंख्य-सप्तकों का यज्ञशास्त्र में यत्र-यत्र यज्ञप्रक्रियाओं के भेद से स्वरूप-निरूपण हुआ है जिनके विस्तार का अत्र अवसर नहीं है। उनमें से कतिपय सप्तक-नामों का संस्मरण ही पर्य्याप्त होगा जैमिन्याध्याय-प्रज्ञप्ति के अनुबन्ध से। सप्तपुरुष (शत ६।१।१।१)। सप्त-ऋषि (शत ८।४।३।६।) सप्तकपाल (शत २।५।१।१२) सप्तकर्ण (तै ब्रा १।७।२।) सप्तकृत्वस् (तै ब्रा २।३।६।३।) सप्तगण(तै (ब्रा १।६।२ ३।) सप्तचाक तै ब्रा २।२।१।५।) सप्तचितिक (शत ६।५।१।२४।) सप्ततन्तु (गो ब्रा १।१।१२।) सप्ततय्य (शत ६।५।३।१२।) सप्तनामा (तै ब्रा ३।१।१।६।) सप्तनिधन (जै० ब्रा। २।१।१।५।) सप्तपदन (ए ब्रा ५।१।२।१२) सप्तपुत्र (जै उ ब्रा

९–सप्त-ऊर्ध्वलोक—१-ब्रह्मलोक, २ वैकुण्ठ ३-शिवलोक, ४-सुरलोक ५-सूर्य्यलोक ६ पितृलोक, ७-सिद्धलोक।

१०–सप्त-अधोलोक—१-मायालोक २-यमलोक, ३-गन्धर्वलोक, ४-यक्षलोक, ५-किन्नरलोक, ६-नागलोक, ७-दैत्यलोक।

११–सप्त-ऋषि—१-महर्षि २-ब्रह्मर्षि ३-देवर्षि, ४-राजर्षि ५-परमर्षि ६-काण्डर्षि ७-श्रुतर्षि।

१२–सप्त-कल्प—१-पार्थिवकल्प २-कूर्म्मकल्प, ३-अनन्तकल्प, ४-ब्रह्मकल्प ५-रुद्रकल्प ६-श्वेतवाराहकल्प ७-प्रलयकल्प।

१३–सप्त-पितर—१-आज्यपा, २-सोमपा ३-हविर्भुक् ४-अग्निष्वात्ता, ५-सोमसत् ६-बर्हिषद् ७-सुकाली।

१४–सप्त-देवपुरी—१-विष्णुपुरी २-शिवपुरी ३-ब्रह्मपुरी ४-यमपुरी ५-वरुणपुरी, ६-अलकापुरी ७-अमरपुरी।

१५–सप्त-द्वीप—१-जम्बु, २-प्लक्ष, ३-शाल्मली, ४-कुश ५-क्रौञ्च ६-शाक, ७-पुष्कर।

१६–सप्तसमुद्र—१-लवणोद २-इक्षुरोद ३-सुरोद, ४-घृतोद ५-दधिमण्डोद, ६-क्षीरोद ७-स्वादूदक्।

१७–सप्त-वायु—१ आवह २ प्रवह, ३-संवह, ४ अनुवह, ५ विवह, ६-परावह, ७-परिवाह।

१८–सप्त-पाताल—१-अतल २-वितल, ३-सुतल ४-तलातल, ५-महातल ६-रसातल ७-पाताल।

१९–सप्तनरक—१-रौरव २-तान, ३-विमोहन ४-कमीश ५-लालाभक्ष ६-अधःशिरा ७-अवीचि।

२०–सप्त-स्वर्ग—१-अपोदक, २-अवधामा ३-अपराजित ४-अप्नस्वद्विप्र ५-अभियो ६ प्रयो ७-रोचना।

२१–सप्त-पर्वत—१-कुलगिरि २-शालगिरि ३-पादगिरि ४-स्तूपगिरि, ५-वर्षपर्वत ६-विष्कम्भपर्वत ७-केसरपर्वत।

२२–सप्त-नदी—१ चतुर्गङ्गम् २-सप्तगङ्गम् ३-नदी ४-महानदी ५-शाखानदी ६-क्षुद्रनदी ७-कुल्या।

२३–सप्त-देश—१-पुरी २-पत्तन ३-महानगर ४-नगर ५-ग्राम ६-खर्वट, ७-उपनिवेश।

२४–सप्त प्रसिद्ध-पर्वत—१ हिमालय, २-विन्ध्याचल ३ हेमकूट ४-निषध ५-मलिमान् ६-पारियात्र ७-गन्धमादन।

२५–सप्त-धान्य—१-गोधूम (गेहूँ), २ यव (जौ), ३-तिल ४-माष (उर्द) ५ मुद्ग (मूंग) ६-अक्षत (चाँवल) ७-अन्न (बाजरा)।

२६–सप्त-राज्याङ्ग—१-सेना, २-दुर्ग, ३-मन्त्री ४ कोश ५ देश ६-मित्र ७-स्वामी।

२७–सप्त-वार—१-रवि, २-सोम ३-मङ्गल ४-बुध, ५-बृहस्पति ६-शुक्र, ७-शनैश्चर।

२८–सप्त-सर-(सरोवर)—१-मानसर, २-मणिसर, ३-बिन्दुसर (विष्णुसर) ४-पम्पा-सर ५-गरुडसर ६ रामसर ७-अच्छोदसर।

२९–सप्त-वेदच्छन्द-१-गायत्री २ उष्णिक् ३-अनुष्टुप ४-बृहती, ५-पंक्ति, ६-त्रिष्टुप ७-जगती।

३०–सप्त-ज्योतिष्टोम-१-अग्निष्टोम २-अत्यग्निष्टोम ३-उक्थ्यस्तोम ४-षोडशीस्तोम ५-अतिरात्रस्तोम, ६-वाजपेयस्तोम ७-अप्तोर्यामस्तोम।

३१–सप्त-ऊर्ध्व प्रजातन्तु-१-पुत्र २ पिता, ३ पितामह, ४-प्रपितामह, ५-वृद्ध प्रपितामह, ६-अतिवृद्धप्रपितामाह, ७-वृद्धातिवृद्ध प्रपितामह (तापिण्डय साप्तपौरुषम्)

३२–सप्त-अध प्रजातन्तु-१-पिता, २-पुत्र ३-पौत्र, ४-प्रपौत्र ५-वृद्धप्रपौत्र, ६-अतिवृद्धप्रपौत्र -वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र।

३३–सप्त–सङ्गीतस्वर–१-षड्ज, २ ऋषभ, ३-गान्धार, ४-मध्यम, ५-पञ्चम ६ धैवत ७–निषाद।

३४–सप्त–स्वरोच्चारण—१-सा, २ रे। ३-ग, ४–म, ५-प, ६-ध, ७–नी।

इति य- 'चत्वार आत्मा (४) द्वौ पक्षौ (२) पुच्छ प्रतिष्ठा (१) रूपेण सप्तात्मक बने हुए सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति (अक्षराभिन्न स्वरात्मक ऋषिप्राण) से वागात्मक व्यञ्जन के द्वारा अभिव्यक्त समुद्भूत उत्पन्न इस विश्व में इस सप्तचितिक प्रजापति के अनुबन्ध से सवत्रैव समष्टि व्यष्टि-रूप से सप्त-महिमाभावों का विस्तार हो रहा है। सप्त-पुरुष सप्त-ऋषि सप्त अहोरात्रयुक्त सप्त-कपाल सप्त-कर्ण सप्त-चक्र सप्त-होता सप्त-तन्तु, सप्त अदितिपुत्र सप्त-मरुद्‌गण सप्त ऋतु सप्तप्राणानुगत जिन सप्तकों का पूर्व में स्मरण हुआ है उनके अतिरिक्त अगणित असख्य-सप्तकों का वेदशास्त्र में यत्र-यत्र यज्ञप्रक्रियाओं के भेद से स्वरूप-निरूपण हुआ है, जिनके विस्तार का अत्र अवसर नहीं है। उनमें से कतिपय सप्तक-नामों का संस्मरण ही पर्याप्त होगा वेदस्वाध्याय-प्रवृत्ति के अनुबन्ध से। सप्तपुरुष (शत ६।१।१।१)। सप्त ऋषि (शत ८।४।१।६।) सप्तकपाल (शत २।५।१।१२) सप्तकर्ण (तै ब्रा १।७।२।) सप्तकृत्वस् (तै ब्रा २।१।६।३।) सप्तगण(तै (ब्रा १।६।२।१।) सप्तचक्र (तै ब्रा २।८।१।५।) सप्तचितिक (शत ६।६।१।२४।) सप्ततन्तु (गो ब्रा १।१।१२।) सप्तदश्य (शत ६।५।३।११।) सप्तनामा (तै ब्रा ३।११।६।) सप्तनिधन (जै० ब्रा २।१।१५।) सप्तपदम् (ए ब्रा ५।१२।११) सप्तपुत्र (वे उ ब्रा

२।२।३।८) सप्तमुख्य (शा० १।६।१), सप्तरश्मि (तै ब्रा २।८।२।७), सप्तरात्र (गो० १।२।१) सप्तर्षि (शत० ६।५।२।१) सप्तपर्णा (गी १।१।७)। सप्त-स्वसा (तै ब्रा २।४,६।१) सप्तहूत (तै० ब्रा २।३।११।२ सप्तहोता। तै ब्रा० २।७।३) सप्ताह (शत०-१३।१।७।२) इत्यादि रूप से सर्वत्रैव सप्त सप्त-मौलिक स्वरप्राणमूर्ति अक्षरप्रजापति की व्याप्ति देखी जासकती है जिस के अनुबन्ध से ही सप्तजीवानुगत—नादात्मक-श्रुत्यनुगत-स्वरों को भी सात ही विवर्त्तभावों में परिणत हो जाना पड़ता है। नाद वैश्वानर अग्नि ही तो है। नाद ही तो श्रुति के द्वारा 'स्वर' रूप से अभिव्यक्त हुआ है। वैश्वानर चित्य अग्नि उसी सप्तमूर्ति पुरुषप्रजापति के छन्दोरूप आयतन से सप्तचितिरूप में परिणित होकर ही प्राणियों की शारीरिक-संस्था का अविनाभूत बना हुआ है जैसाकि—'सप्तचितिकोऽग्निः' इत्यादि से स्पष्ट है। सप्तचितिक नादात्मक इस वैश्वानरप्राणाग्नि के अनुबन्ध से ही तो तत्र प्रतिष्ठित सप्त भी १-रस, २ असृक् ३-मांस ४-मेद ५ अस्थि, ६-मज्जा ७-शुक्र (सप्तधातवः) इन सात ही अवयवों में विभक्त होकर चित है। इस सप्त अग्नि चिति (प्राणाग्निचिति) सप्तभूतचिति (धातुचिति) के अतिरिक्त सप्त-उपधातु, सप्त रस सप्त उपरस सप्त विष सप्त उपविष आदिरूपेण शरीर में अन्यान्य भी अनेकविध सप्तचितियां हैं। और यों मूलस्वरात्मक प्राणात्मक-सप्तपुरुषप्रजापति की सप्तावयवता ही इन अक्षयात् आध्यात्मिक-आधिभौतिक-आधिदैविक-सप्तमहिमाभावों का मूलप्रवर्त्तक बना हुआ है। नादानुगत श्रुत्यात्मक स्वर क्यों और कैसे सप्तभावों में परिणत होगया ? इस प्रासङ्गिक प्रश्न का यही संक्षिप्त समाधान है जिस के आधार निम्नलिखित श्रुतिवचन ही बने हुए हैं—

१—"सप्त ते अग्ने ! समिध । प्राणा वै समिध । प्राणा ह्येतं अग्निं (भूताग्निं) समिन्धते। सप्त जिह्वा इति। यान् अमून सप्त-पुरुषान् एक पुरुषमकुर्वन्, तेषामेतदाह। सप्तऽऋषय इति। सप्त हि तऽऋषय आसन्। सप्त धाम प्रियाणि-इति। छन्दांस्येतदाह। छन्दांसि वा अस्य (अग्नेः) सप्त प्रियाणि धामानि। सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति, इति। सप्त ह्येते होत्रा सप्तधा यजन्ति। सप्त योनिरिति। चितिरेतदाह। सप्त-सप्त इति सप्तचितिकोऽग्निः। सप्तर्त्तव सम्वत्सर। सम्वत्सरोऽग्निः। यावानग्निः, यावत्यस्य मात्रा, तावता-एवैनमेतत्-प्रीणाति" ।

—शतपथब्राह्मण ६।२।३। ४४ ४५

२-'सप्तर्त्त भवति। सप्तचितिकोऽग्नि। सप्तर्त्तव। सप्त दिश। सप्त देवलोकाः। सप्त स्तोमाः। सप्त पृष्ठानि। सप्त छन्दांसि। सप्त ग्राम्या पशव। सप्त-आरण्याः पशवः। सप्त शीर्षन् प्राणा। यत्किञ्च सप्तविधं-अधिदेवतं, अध्यात्मं (अधिभूतंच) तदनेन सर्वमाप्नोति'।

—शत० ६।५।२।८

उक्त सप्तक-विवेचन से स्पष्ट है कि, सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त सप्तावयव—सप्तचितिक- नादमूर्ति वश्वानराग्निप्राण ही श्रुति के द्वारा सप्त-स्वररूप में परिणित होरहा है जिस का सहज निष्कर्ष यही है कि मानव

भ उत्तचित्तिक प्राणाग्नि ही (नाद ही) मरुत्नामक वायुके द्वारा (श्रुति के द्वारा) उर-कण्ठ-शिर-इन तीन स्थानों से प्रत्याहत होता हुआ स्वरासिम्ध ध्वनि के रूप में परिणत होता हुआ परिमण्डल के माध्यम से तत्र व्याप्त सुसूक्ष्म वाक्समुद्र में वीचिरूप से तरङ्गायित बनकर श्रोताओं की कर्णशष्कुलियों में प्रतिष्ठित महानमन पर आघात करता हुआ 'कण्णमधु' बनता रहता है। और यों हृदयोपलक्षित उरःस्थान में उक्थरूप से पुञ्जीभूत नादाग्नि ही श्रुति के द्वारा 'स्वर' रूप में परिणत होता हुआ बाहिर निकला करता है। यथाकि-नाद श्रुति-स्वर इन प्रकमों के माध्यम से प्राणाग्नि ही भूताग्नि से समन्वित होता हुआ उक्त क्रम से बाहिर निकलता है, अतएव अधिक-शब्द विनिगमन से मानव की शरीरसंस्था और प्राणसंस्था, दोनों ही शिथिल होजाती हैं।

नादात्मक श्रुतिसमन्वित-स्वरभावापन्न त्रितेनिषेयाग्नि से समन्वित इस चित्याग्नि की सुप्त, जाग्रत भेद से शास्त्र ने दो अवस्था मानी हैं। रात्रि में सुषुप्तिदशा में (सो जाने पर) चित्याग्नि अन्तर्मुख बन जाता है। यही चित्याग्नि की सुप्तावस्था है। सूर्योदय के साथ ही (आधिदैविक अग्नि की अभिव्यक्तिरूप जागरण के साथ ही) मानव का शारीरिक-अग्नि भी-'अग्निर्जागार' रूप से उद्बुद्ध होपड़ता है। सौर अह-कालपर्य्यन्त (शयन से पूर्व पूर्व) यों अग्नि जागरूक ही बना रहता है। यही इसकी 'जाग्रदवस्था' है।

सौरअहात्मक अहः काल सूर्योदय से सूर्यास्त पर्य्यन्त गायत्री-त्रिष्टुप् जगती-नामक तीन छन्दों के अनुपात से-प्रातः-मध्याह्न-सायं-भेद से तीन सवनों में विभक्त है, जिन प्रातःसवनादि तीनों सवनों का पूर्व में स्पष्टीकरण कराया जाचुका है। प्रातः ६ से सायं ६ पर्य्यन्त ४-४-४-होरा (घन्टा) के अनुपात से (सामान्य-मानानुसार) तीन विभाग कर लीजिए। इन तीनों में सावित्र-पार्थिव-सा वैश्र-गायत्र अग्नियों की समन्विता वस्थारूप अग्नि अपनी अहःकालीना जाग्रदवस्था से क्रमशः मन्द्र-मध्य-तार-नाम की तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। ६ से १० पर्य्यन्त का प्रातःकालीन गायत्र-छन्दस्क जाग्रदग्नि ही—'प्रातःसवनीय 'मन्द्राग्नि' है। ११ से २ पर्य्यन्त का मध्याह्नकालीन-त्रिष्टुप् छन्दस्क जाग्रदग्नि ही माध्यन्दिनसवनीय' 'मध्याग्नि' है। एवं २ से ६ पर्य्यन्त का सायंकालीन जगती-छन्दस्क-जाग्रदग्नि ही— सायंसवनीय' 'ताराग्नि' है। 'सामान्य-उच्च-अत्युच्च' ही मन्द्र-मध्य-तार मात्र हैं। और इसी प्राकृतिक स्थिति के तारतम्यानुपात से मानव का अहःकालीन जाग्रदग्नि भी प्रातः-मध्याह्न-सायं-क्रमेण मन्द्र-मध्य-तार-रूपेण तीन ही अवस्थाओं में परिणत रहता है।

मानवशरीर में प्रकृति के प्रातः मध्याह्न-सायं-नामक तीन सवनों के प्रतिरूपात्मक स्थान क्रमशः उर-कण्ठ-शिर हैं। अतएव शब्दानुगत-स्वरगहस्यवेत्ताओंने स्वरात्मक-शब्दोच्चारण के सम्बन्ध में यही व्यवस्था की है कि, प्रातःसवनीय-गायत्र-प्रातःकाल में मानव को उरःस्थान से मन्द्र-स्वर से ही शब्दोच्चारण करना चाहिए, जैसेकि शार्दूल (सिंहजातिविशेष) उरःस्थान से ही बोला करता है। माध्यन्दिनसवनीय त्रैष्टुभ-मध्याह्नकाल में मानव को कण्ठस्थान से ही बोलना चाहिए जैसेकि चक्रवाकादि कण्ठस्थान से ही बोला करते हैं। एवं सायंसवनीय-जागत-सायंकाल में मानव को शिरःस्थान से ही तारस्वर से बोलना चाहिए, जैसे कि मयूर-हंसादि शिरःस्थान से ही बोला करते हैं। ऐसा क्यों? का उत्तर है- प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'—'यथानलविधा वै मनुष्याः' इत्यादि निगम। प्रकृति में नादस्वरात्मक-प्राकृतिक-ध्वनि का यही क्रम है। वैसा ही यहां होना चाहिए।

रात्रि में सुप्त अग्नि को यदि प्रातःकाल में जागरण के साथ ही बलपूर्वक तारस्वरात्मक-उच्च-संघर्ष का अनुगामी बना दिया जाता है तो इस अप्राकृतिक-साहस से विविध रोग विशेषतः 'उरःक्षत' होजाता है। रक्त निकलने लग सकता है इस अप्राकृतिक संघर्ष से। अतः आरम्भ में मन्द्र-पुन थोड़ा उच्च, पुनः उच्च इस क्रमिक अनुपात से ही शब्दोच्चारण प्रक्रान्त होना चाहिए। त्रिसवनों के अतिरिक्त भी मानव जब भी कुछ बोलना चाहे, उसे इसी स्थानत्रयी के अनुपात से मन्दस्वर से ही शब्दोपक्रम करना चाहिए। तभी अग्नि नादस्थिरता के कारण उत्तरोत्तर-सशक्त-प्रभावपूर्ण श्रुतिमधुर, एवं स्वरमधुर बन सकता है। आरम्भ में ही तारस्वरात्मक-चीत्कार पद्धति से बोलने लग पड़ने वाला आविष्ट मानव न तो अधिक समय पर्यन्त इस शब्दोच्चारणधारा को ही व्यवस्थापूर्वक प्रक्रान्त रख सकता न ऐसे उत्तेजक उच्चारण में श्रुति-स्वर-माधुर्य्य ही अभिव्यक्त होपाता।

न केवल शब्दोच्चारण में ही अपितु कर्म्मप्रवृत्ति में भी इसी नियम का अनुगमन श्रेयःपन्था माना गया है। क्योंकि शब्द और अर्थ, दोनों अभिन्न है। अतएव दोनों समान ही नियमधाराओं से समन्वित रहते हैं। इसी आधार पर—'अल्पारम्भा क्षेमकरा' कहा गया है। आवेशपूर्वक आरम्भ में ही प्रचण्ड वेग से किसी कर्म्म में संलग्न होपड़ने वाले उत्तेजित मानवों के लक्ष्य निष्फल ही प्रमाणित होजाते हैं। 'शनैः कन्था, शनैः पन्थाः शनैः पर्वतलङ्घनम्' प्रसिद्ध ही है। इसी आधार पर तो यह लोकसूत्र व्यवस्थित हुआ है कि— 'एक भावुक कार्य्य का आरम्भ करना जहाँ भलीभाँति जानता है, वहाँ वह भावुक कार्य्य समाप्त करना नहीं जानता। एवं-नैष्ठिक मानव जहाँ आरम्भ करना नहीं जानता वहाँ अन्य का समाप्त करना वह अवश्य ही जानता है।

उपक्रम में नादात्मक स्वर मध्य में श्रुत्यात्मक स्वर एवं अन्त में स्वरात्मक स्वर यही क्रम शब्दोच्चारण में प्रशस्त माना गया है जिन इन तीनों का ही वैदिक नाम है—'हिंकार-प्रस्ताव-उद्गीथ'। उर स्थानानुगत—नादात्मक (गुञ्जायमान) मन्द्रस्वरात्मक शब्द किंवा ध्वनि ही 'हिङ्कार' है। उदाहरण सिंह का ध्वन्यात्मक शब्द है। सिंह और शार्दूल सदा उरःस्थान से ही बोलते हैं अतएव इनका उर, और तत्संलग्न उदर प्रदेश शब्दध्वनिकाल में संकुचित होजाता है, सिकुड़ जाता है। कण्ठस्थानानुगत—श्रुत्यात्मक [बिना गूँज का-सामान्य]—मध्यस्वरात्मक शब्द किंवा ध्वनि ही प्रस्ताव है। उदाहरण चक्रवाक की कण्ठानुगता ध्वनि है। एवं शिरःस्थानानुगत-स्वरात्मक [बिना गूँज का उच्च]—तार स्वरात्मक शब्द किंवा ध्वनि ही-उद्गीथ है जिसे संगीत की लौकिकभाषा में 'टीप' कहा गया है। उदाहरण मयूर की शिरोऽनुगता ध्वनि है जिसकी प्रक्रान्ति में मयूर का शिरोभाग ही ऊर्ध्व बन कर अवनत होता रहता है। त्रिप्रक्रमात्मक नाद-श्रुति-स्वर—भावात्मक-गायत्र-त्रैष्टुभ-जागत-भावानुबन्धी इसी स्वरत्रयी का निरूपण करते हुए शब्द शास्त्र के आचार्य्योंने कहा है—

प्रातः पठेन्नित्यमुरस्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन ॥
मध्यन्दिने कण्ठगतेन चैव चक्राह्वसङ्कूजितसन्निभेन ॥१॥
तारं तु विद्यात् सवनं तृतीयं शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम् ॥
मयूरहंसान्यभृतस्वराणां तुल्येन नादेन शिरःस्थितेन ॥२॥
—पाणिनीयशिक्षा ३६,३७ ।

यह तो हुआ नाद–श्रुति–स्वर–भावों का सङ्गीतानुगत तथा उच्चारणानुगत–स्वरूप-समन्वय का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन । अब दो शब्दों में पञ्चभूतानुगता अर्थसृष्टि [भूतभौतिकी पदार्थसृष्टि] के अनुबन्ध से भी 'स्वर' की आराधना कर लीजिए । सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति 'शब्द'स्पर्श-मात्रा से, एवं तत्प्रसूता 'स्पर्श 'रूप–'रस 'गन्ध-मात्राओं से ही हुई है यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है । इन पाँचों ही तन्मात्राओं का मूलाधारभूत मौलिक शब्दतन्मात्रात्मक वह तत्त्व है क्या ?, इस प्रश्न का उत्तर है— 'तत्त्वात्मक ऋक्–यजु साम-नामक–अपौरुषेय–वेद' * ।

तत्त्वात्मक वेद के 'ऋग्' भाग से तो वस्तु का 'पिण्ड' (मूर्त्ति) बनता है 'यजुर्भाग' से वस्तु का क्रियात्मक 'गतिभाव' अभिव्यक्त होता है एवं 'सामभाग से वस्तु का मण्डल' अभिव्यक्त होता है। प्रत्येक भौतिक–पदार्थ में पिण्ड गति मण्डल ये तीन तीन पर्वविभाग विज्ञानसिद्ध हैं । पिण्ड वह भाग है जो अमुक–स्थान–प्रदेश घेरता है एवं जिसका हम स्पर्श तो कर सकते हैं किन्तु देख नहीं सकते । अतएव इस पिण्ड को 'धामच्छद' (स्थानावरोधक–जगँह रोकने वाला) कहा जाता है, एवं यही–'स्पृश्यपिण्ड' भी कहलाता है । इस पिण्ड में जायते–अस्ति–विपरिणमते–वर्द्धते–क्षीयते–विनश्यति–नाम के सुप्रसिद्ध–षड्भावविकारात्मक परिवर्त्तन प्रक्रान्त रहते हैं ।

परिवर्त्तनात्मक इन विकारभावों का ही नाम 'गति' है । प्रत्येक वस्तुपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित उक्थरूप प्राणाग्नि की अर्करूपा रश्मियाँ केन्द्र से बाहिर वस्तुपृष्ठ के आधार से समतुलित मण्डल बनाती हुई निकलतीं हैं । ये रश्मिमण्डल ही पिण्डात्मक वस्तु के 'मण्डल' हैं । एवं हमें वस्तु का जो प्रत्यक्ष होता है वह वस्तुतः पिण्ड का प्रत्यक्ष न होकर इन मण्डलों में से ही किसी एक मण्डल का ही प्रत्यक्ष होता है । अतएव इसे 'दृश्यमण्डल' कहा गया है, जिस का न तो स्पर्श ही सम्भव है एवं जो मण्डल प्राण की प्रधानता से न धामच्छद ही बनता । पिण्ड ही स्पृश्य बनता है, एवं मण्डल ही दृश्य बनता है । स्पृश्यपिण्ड तथा दृश्यमण्डल इन दोनों के माध्यम से अपारपारीणरूप से परिव्याप्त चरो–चरो परिवर्त्तमान गतिभाव ही पिण्ड गति एवं मण्डल–रूप–त्र्यात्मक–त्रिमूर्ति ही वस्तु का सम्पूर्ण स्वरूप है । और इन तीनों वस्तुभावों के मूलप्रभव के तत्त्व ही क्रमशः–ऋक्–यजु–साम–नामक मौलिक तत्त्व हैं जैसाकि निम्न लिखित मन्त्र से स्पष्टतमरूपेण उद्घोषित है—

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत ।
सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्, सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ॥
—तै० ब्रा० ""।

---

*—शब्दः, स्पर्शश्च, रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूति-गुण-कर्म्मतः ॥
—मनुः १२।९८।

इस तत्त्वात्मक-वेद का स्वरूप-दिग्दर्शन शतपथ-प्रथम खण्ड में कराया जा चुका है ।

रात्रि में सुप्त अग्नि को यदि प्रातःकाल में जागरण के साथ ही बलपूर्वक तारात्मक-उच्च-संघर्ष का अनुगामी बना दिया जाता है, तो इस अप्राकृतिक-साहस से विविध रोग, विशेषतः 'उर:दाह' होजाता है। रक्त निकलने लग सकता है इस अप्राकृतिक संघर्ष से। अतः आरम्भ में मन्द्र-पुनः थोड़ा उच्च, पुनः उच्च, इस क्रमिक अनुपात से ही शब्दोच्चारण प्रक्रान्त होना चाहिए। त्रिसवनों के अतिरिक्त भी मानव जब भी कुछ बोलना चाहे, उसे इसी स्थानत्रयी के अनुपात से मन्द्रस्वर से ही शब्दोपक्रम करना चाहिए। तभी अग्नि नादस्थिरता के कारण उत्तरोत्तर-स्थायी प्रभावपूर्ण श्रुतिमधुर, एवं स्वरमधुर बन सकता है। आरम्भ में ही तारस्वरात्मक-चीत्कार पद्धति से बोलने लग पड़ने वाला आविष्ट-मानव न तो अधिक समय पर्य्यन्त इस शब्दोच्चारणधारा को ही व्यवस्थापूर्वक प्रक्रान्त रख सकता, न ऐसे उत्तेजक उच्चारण में श्रुति-स्वर-माधुर्य्य ही अभिव्यक्त होपाता।

न केवल शब्दोच्चारण में ही, अपितु कर्म्मप्रवृत्ति में भी इसी नियम का अनुगमन श्रेयःपन्था माना गया है। क्योंकि शब्द और अर्थ, दोनों अभिन्न हैं। अतएव दोनों समान ही नियमधाराओं से समन्वित रहते हैं। इसी आधार पर—'अल्पारम्भाः क्षेमकराः' कहा गया है। आवेशपूर्वक आरम्भ में ही प्रचण्ड वेग से किसी कर्म्म में संलग्न होपड़ने वाले उत्तेजित मानवों के लक्ष्य निष्फल ही प्रमाणित होजाते हैं। 'शनैः कन्था शनैः पन्थाः शनैः पर्वतलङ्घनम्' प्रसिद्ध ही है। इसी आधार पर तो यह लोकसूक्त व्यवस्थित हुआ है कि— 'एक भावुक कार्य्य का आरम्भ करना जहाँ भलीभाँति जानता है, वहाँ वह भावुक कार्य्य समाप्त करना नहीं जानता। एवं-नैष्ठिक मानव जहाँ आरम्भ करना नहीं जानता, वहाँ आरब्ध को समाप्त करना वह अवश्य ही जानता है'।

उपक्रम में नादात्मक स्वर, मध्य में श्रुत्यात्मक स्वर, एवं अन्त में स्वरात्मक स्वर, यही क्रम शब्दोच्चारण में प्रशस्त माना गया है, जिन इन तीनों का ही वैदिक नाम है—'हिंकार-प्रस्ताव-उद्गीथ'। उरःस्थानानुगत-नादात्मक (गुञ्जायमान) मन्द्रस्वरात्मक शब्द किंवा ध्वनि ही 'हिंकार' है। उदाहरण सिंह का ध्वन्यात्मक शब्द है। सिंह और शार्दूल सदा उर स्थान से ही बोलते हैं, अतएव इनका उर, और तत्संलग्न उदर प्रदेश शब्दध्वनिकाल में सङ्कुचित होजाता है, सिकुड़ जाता है। कण्ठस्थानानुगत-श्रुत्यात्मक [बिना गूँज का सामान्य]—मध्यस्वरात्मक शब्द किंवा ध्वनि ही 'प्रस्ताव' है। उदाहरण चक्रवाक की कण्ठानुगता ध्वनि है। एवं शिरःस्थानानुगत-स्वरात्मक [बिना गूँज का उच्च]—तार स्वरात्मक शब्द किंवा ध्वनि ही-उद्गीथ है, जिसे संगीत की लोकभाषा में 'टीप' कहा गया है। उदाहरण मयूर की शिरोऽनुगता ध्वनि है, जिसकी प्रक्रान्ति में मयूर का शिरोभाग ही ऊर्ध्व बन कर अवनत होता रहता है। त्रिप्रकारात्मक नाद-श्रुति-स्वर-भावात्मक-गायत्र-त्रैष्टुभ-जागत-भावानुबन्धी इसी स्वरत्रयी का निगमन करते हुए शब्दशास्त्र के आचार्य्योंने कहा है—

प्रातः पठेन्नित्यमुरःस्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन ।
मध्यन्दिने कण्ठगतेन चैव चक्राह्वसङ्कूजितसन्निभेन ॥१॥
तारं तु विद्यात् सवनं तृतीयं शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम् ।
मयूरहंसान्यभृतस्वराणां तुल्येन नादेन शिरःस्थितेन ॥२॥

—पाणिनीयशिक्षा ३६ ३७ ।

श्रीविज्ञमियों के मनोऽनुरञ्जन के लिए स्वरग्रामानुगता तालिका अत्र समुद्धृता है –

श्रुति—स्वर—ग्राम—चक्रम्–

श्रुतिसंख्या	श्रुतिनामानि	श्रुतिजातय	षड्जग्रामस्वरा	मध्यमग्रामस्वरा	गान्धारग्रामस्वरा
१	तीव्रा	दीप्ता	*	*	नी
२	कुमुद्वती	आयता	*	*	*
३	मन्दा	मृदु		*	
४	छन्दोवती	मध्या	*	*	सा
५	दयावती	करुणा	*	*	*
६	रञ्जनी	मध्या	*	*	रे
७	रतिका	मृदु	*	रे	*
८	रौद्री	दीप्ता	*	*	*
९	क्रोधा	आयता	*	ग	*
१	वज्रिका	दीप्ता	*	*	ग
११	प्रसारिणी	आयता	*	*	*
१२	प्रीति	मृदु	*	*	*
१३	मार्जनी	मध्या	*	म	म
१४	क्षिति:	मृदु	*	*	*
१५	रक्ता	मध्या	*	*	*
१६	सन्दीपनी	आयता	*	प	प
१७	आलापिनी	करुणा	*	*	*
१८	मदन्ती	करुणा	*	*	*
१९	रोहिणी	आयता	*	*	ध
२०	रम्या	मध्या	*	ध	*
२१	उग्रा	दीप्ता	*	*	*
२२	क्षोभिनी	मध्या	*	नी	*

केन्द्रावच्छिन्न-ऋङ्मय-सूत्रय-सामच्छन्द-वस्तुपिण्ड' ही 'नाद' तत्त्व है पिण्ड-मण्डलान्तवर्त्ती यजुर्मय-'गतिभाव' ही श्रुतितत्त्व है एवं पिण्डकेन्द्र से प्राणरश्मिमयज्ञरूपेण सहसमाव-समन्वित-साममय-'मण्डल' ही 'स्वरतत्त्व' है। यों नाद ऋक्पिण्ड से श्रुति यजुर्गति से, तथा स्वर साम मयमण्डल से सर्वात्मना समतुलित हैं। अतएव 'साम' का एक साङ्केतिक पारमार्थिक नाम रख लिया गया है–'स्वरसाम'। स्वर और साम, अभिन्न तत्त्व हैं। प्रातिस्विकरूप से वही मण्डल-'स्वर' है एवं पिण्ड तथा गति से समन्वित होता हुआ यही स्वर 'साम' कहलाने लगता है, और यही त्रिमूर्ति स्वरसाम 'गायनात्मक सङ्गीत की प्राणप्रतिष्ठा माना गया है जैसाकि- गीतिषु सामाख्या इस आप्तवचन से प्रमाणित है। बिना स्वर का शब्द केवल ऋक् है अथवा तो यजु है। स्वरसाम के प्रवेश से ही अपने पिण्डात्मक (गद्य-पद्यात्मक) स्वरूप से प्राणरूपेण वितत होता हुआ-मण्डलरूप में परिणत होता हुआ (फैलता हुआ) 'साम रूप गान (गायन-गीति) रूप में परिणत होता है। अतएव सर्वात्मना सभी दृष्टियों से सामात्मक स्वर, किंवा स्वरात्मक साम ही सङ्गीत की प्राणप्रतिष्ठा बन रहा है जिस स्वरसाम के 'त्रयः स्वरसामान' रूप से तीन महिमा-विवर्त माने गए हैं जिनका अत्र स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है।

वसित्य-ग्राम * मूर्च्छना जाति क्रम, तान आरोह, अवरोह, वादी, संवादी नाद श्रुति स्वर आदि आदि अनेक विभूतियों से सुसमन्वित नृत्य-गीत-वाद्य भेद से तीन प्रकारों में विभक्त शास्त्रीय सङ्गीत के नाद-श्रुति-स्वर-नामक प्रतिष्ठात्मक तीनों स्तम्भों का मूलाधार प्रथम-स्थानीय वैश्वानराग्निप्राण मूर्त्ति गुञ्जनभावनिबन्धन जो उपक्रम-स्थानीय तत्त्व है वही वैदिक-सामविज्ञान-की परिभाषा में 'हिङ्कार' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। स्वरात्मक साम ही क्योंकि इदमोत्थित नादात्मक इस हिङ्कार को वितानभाव में परिणत करता है दूसरे शब्दों में सौर-मधु-रस से समाप्लुत नवविन्द्वात्मक-चाईत-स्वरूप साम के मण्डलों के वैतानिक-रूपों के आधार पर ही (स्वरसंधान के आधार पर ही) क्योंकि नादात्मिका 'हिं-हिं-हिं-हुं-हुं-हुं' इत्यादि-अनुकरणात्मिका-स्तननभावात्मिका-सङ्गीतोपक्रमस्थानीया-ध्वनि का आधार बनता है अतएव कहा और माना जायगा कि, स्वरात्मक साम ही हिङ्कार का प्रवर्त्तक है इसी आधार पर श्रुति ने कहा है कि—

"नासामा हिङ्–क्रियते"

सामस्वरमण्डलात्मक सामस्वरमण्डलानुगत 'हिङ्कार' ही नाद है नाद ही श्रुति का प्रवर्त्तक है एवं श्रुति के द्वारा ही स्वरों की अभिव्यक्ति होती है। एकमात्र इसी सम्बन्धानुबन्ध से प्रकृत-ब्राह्मण के-'हिङ्कार' शब्द के पारिभाषिक समन्वय के लिए ही हमें सङ्गीतानुगत-'नाद-श्रुति-स्वर' नामक तीनों प्रकारों का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन कराना पड़ा। क्योंकि नाद-श्रुति-स्वर भावों के स्वरूप-परिचय के बिना श्रुति का- हिङ्कार' शब्द क्वापि समन्वित नहीं होसकता। अतएव श्रुति के 'हिङ्कार शब्द-समन्वयानुबन्ध से हमें इस वित्त का संस्मरण कर लेना पड़ा है।

---

*-ग्राम स्वरसमूहः स्यात्, मूर्च्छनादेः समाश्रय।
तौ द्वौ, धरातले तत्र स्यात् षड्ज ग्राम आदिम।
द्वितीयो मध्यमग्रामस्तयोर्लक्षणमुच्यते ॥
—इत्यादि

इति–सङ्गीतानुगत–नाद–श्रुति–स्वर–स्वरूप–दिग्दर्शनम्

— — ६ — —

प्रकृतमनुसराम । नाद–श्रुति–स्वरूपात्मक–पूर्वोक्त प्रायश्चित्त–प्रकरण का उपक्रम करते हुए हमने निवेदन किया था कि नृत्य–गीत–वाद्यात्मक नाद–श्रुति–स्वर–त्रयी के आधार पर सुप्रतिष्ठित भी नृत्य–गीत–वाद्यात्मक सङ्गीत मानव की अध्यात्मसंस्था में आत्मसंविद्–विरोधी 'आग्लानदोष', एवं बुद्धिनिष्ठा–विरोधी–'आलस्यदोष' उत्पन्न कर दिया करता है। तत्रैव इन दोनों दोषों के सम्बन्ध में समझने जैसी बात की ओर भी सङ्केत हुआ था (देखिए पृष्ठ १२११)। उस 'समझने जैसी कुछ बात' के इसी के समन्वय के लिए ही हमें सङ्गीत के नाद–श्रुति–स्वर–भावों का दिग्दर्शन उपक्रान्त करना पड़ा। अब प्रतिज्ञात 'दोष' स्वरूपों की ओर ही सङ्गीतप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

आग्लान तथा आलस्य नामक सुप्रसिद्ध मानसिक तथा शारीरिक दोषों के स्वरूप समन्वय के लिए हमें 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' इस सुप्रसिद्ध श्रुतिवचन में पठित 'तम', और 'ज्योति' इन दो तत्त्वों की ओर ही नैष्ठिक मानवश्रेष्ठों का ध्यान आकर्षित करना पड़ेगा। सृष्टि के मूलभूत 'आभू', और अभ्व' नामक दो तत्त्वों की प्रथमा मौलिक अभिव्यक्ति का नाम ही क्रमशः 'रस', और 'बल' है। इस रसतत्त्व की प्रथमा अभिव्यक्ति एवं आभूतत्त्व की द्वितीया अभिव्यक्ति का नाम जहां 'जू' है, वहां बलतत्त्व की प्रथमा अभिव्यक्ति एवं अभ्वतत्त्व की द्वितीया अभिव्यक्ति का नाम ही 'यत्' है। इस 'जू' तत्त्व की प्रथमा अभिव्यक्ति रसतत्त्व की द्वितीया अभिव्यक्ति एवं आभूतत्त्व की तृतीया अभिव्यक्ति का नाम जहां 'तेज' है, वहां 'यत्' तत्त्व की प्रथमा अभिव्यक्ति बलतत्त्व की द्वितीया अभिव्यक्ति एवं अभ्वतत्त्व की तृतीया अभिव्यक्ति का नाम ही 'स्नेह' है। इस तेजस्तत्त्व की प्रथमा अभिव्यक्ति जूतत्त्व की द्वितीया अभिव्यक्ति, रसतत्त्व की तृतीया अभिव्यक्ति, तथा आभूतत्त्व की चतुर्थी अभिव्यक्ति का ही नाम जहां लोकप्रसिद्ध 'ज्योति' है, वहां 'स्नेहतत्त्व' की प्रथमा अभिव्यक्ति 'यततत्त्व' की द्वितीया अभिव्यक्ति, बलतत्त्व की तृतीया अभिव्यक्ति, एवं अभ्वतत्त्व की चतुर्थी अभिव्यक्ति का ही नाम लोकप्रसिद्ध 'तम' है।

क्या तात्पर्य ?। इस तात्पर्य्य के समन्वय के लिए हमें आपका ध्यान उस एकमेवाद्वितीय–लक्षण विश्वातीत–परात्परब्रह्म की ओर ही आकर्षित करना चाहेंगे जिसका साङ्केतिक नाम है 'अनजदेकम्'। विकम्पनात्मक–प्रतिसञ्चरविलक्षण भावाभाव–आत्यन्तिकरूप से परमनास्ति भाव का है–'एजत्' एवं अविकम्पनात्मक–सर्वेकरस–आत्यन्तिकरूप से अपरिच्छिन्न शान्तिभाव का नाम है–'अनजत्'। स्थितिभाव ही अनजत् है, एवं गतिभाव ही एजत् है। स्थितिप्रकृतिक–अनजत् तथा गतिप्रकृतिक–एजत् परस्परस्पर्द्धाविरुद्ध इन दोनों भावों की समष्टिरूपा एकरूपता का ही नाम है वह विश्वातीत–परात्परब्रह्म जिसका समष्ट्यात्मक नाम माना गया है 'अत्यन्तपिनद्धम्'। अत्यन्तपिनद्धात्मक स्थितिगतिप्रकृतिक–अनजत–एजत्–मूर्त्ति इसी परात्परब्रह्म का प्रथम मौलिक स्वरूप आभू और अभ्वात्मक है। आभू अनजत् है, अभ्व एजत् है। ईशोपनिषत् ने इसी स्वरूप का इन शब्दों में मार्मिक स्मरण किया है—

जाति–तालिकेयम्—

१ संख्या	२ जातय	३ मूर्च्छना	४ अंशा	५ न्यासा	६ उपन्यासाः	७ षाडवदेशिस्वरा	८ औडवदेशिस्वरा
१	षाड्जी	उत्तरायता	सा रे ग म प ध	सा	ग प	नि	*
२	आर्षभी	शुद्धषड्जा	रे ध नी	रे	रे ध नी	सा	सा प
३	गान्धारी	पौरवी	सा ग म प नी	ग	सा प	रे	रे ध
४	मध्यमा	कलोपनता	सा रि म प ध	म	सा रे ग प ध	ग	ग नी
५	पञ्चमी	कलोपनता	रे प	प	रे प नी	ग	ग नी
६	धैवती	अभिरुद्गता	रे ध	ध	रे म ध	प	सा प
७	नैषादी	अभिरुद्गता	सा ग नी	नी	सा ग नी	प	सा प
८	षड्जकैशिकी	कलोपनता	सा ग प	ग	सा प नी	*	*
९	षड्जोदीच्यवा	अश्वक्रान्ता	सा ध नी	म	सा ग	रे	रे ध
१०	षड्जमध्यमा	मत्सरीकृता	सा रे ग म प ध नी सा	सा म	सा रे ग म प ध नी	नी	* ग नी
११	गान्धारोदीच्यवा	पौरवी	सा म	ग	सा ध	रे	*
१२	रक्तगान्धारी	कलोपनता	सा ग म प नी	ग	म	रे	रे ध
१३	कैशिकी	हारिणाश्वा	सा ग म प ध नी	ग प नी	सा ग म प ध नी	रे	रे ध
१४	मध्यमोदीच्यवा	सौवीरी	प	म	सा ध	*	*
१५	कार्मारवी	शुद्धमध्या	रे प ध नी	प	रे प ध नी	*	*
१६	गान्धारपञ्चमी	हारिणाश्वा	प	ग	रे प	*	*
१७	आन्ध्री	सौवीरी	रे ग प नी	ग	रे ग प नी	*	*
१८	नन्दयन्ती	हारिणाश्वा	प	ग	म प	सा	*

क त्, और यत् के ही परिणाम हैं। यही स्वायम्भुवी यजुरात्मक 'सोऽपोऽसृजत-वाच-एव लोकात्-वागेव साऽसृज्यत' के अनुसार आपोमयरूपलरूप में परिणत होती हुई 'परमेष्ठी' नाम से प्रसिद्ध है, जो कि स्वयम्भू का ही प्रथमावतार माना गया है। इस आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र में तेजोमयी अग्निचिति म पुञ्जीभूत प्रदीप्त प्रचण्ड तेजोमय-सौरसस्थान ही इन्द्रमित्र है एवं स्वयं पारमेष्ठ्य-स्नेहमयी-आप -वृत्रवरुण है। और यों परमेष्ठी के ही गर्भ में अपप्रधान-स्नेहप्रधान-वृत्रवरुण, तथा तेजःप्रधान-इन्द्रमित्र (सूर्य्य) दो स्वतन्त्र संस्थान अभिव्यक्त होजाते हैं।

सावित्राग्निचितिरूप-तेजोमय इन्द्रमित्ररूप सूर्य्य को थोड़ी देर के लिए तटस्थ मानते हुए वृत्रापोमय-स्नेहमय-वरुणरूप परमेष्ठी को ही लक्ष्य बनाइए।

आपोमय-अपप्रधान-स्नेहप्रधान (अतएव अमृतभावापन्न) पारमेष्ठ्य वरुण की वैज्ञानिकों ने अपरिपक्वावस्था, परिपक्वावस्था-भेद से दो अवस्था मानी हैं। अपरिपक्व-वरुण यहाँ विशुद्ध आसुरभाव है वहाँ परिपक्व वरुण अशत आसुरभावात्मक बनता हुआ भी अधिकांश से गन्धर्व, तथा पितृभाव प्रधान ही बन जाता है। अग्न्याग्नि (स्वायम्भुव तेजोलक्षण-प्राणाग्नि) के सम्बन्ध से पारमेष्ठ्य वरुण-आप तत्त्व का जो भाग परिपक्व होजाता है, वही वरुण की उत्तरावस्थारूपा-'परिपक्वावस्था' कहलाई है।

भूतमूला-लोकदृष्टि से उस अलौकिकी-प्राणात्मिका अवस्थाद्वयी का उदाहरण-माध्यम-मार्गेण यों समन्वय किया जासकता है कि,-"चारों ओर से सीमाबद्ध अतएव वायव्यप्राण के सञ्चारधर्म्म से वञ्चित अतएव च पूति-पङ्कादि-मलीमस-भावों से कालुष्यीकृत सीमित जल का नाम ही 'वृत्रात्मक वरुण' है, यही वरुण की अपरिपक्वावस्थात्मिका पूर्वावस्था है जिस इयभूत मलीमस-अवरुद्ध अपरिपक्व-निष्क्रियस्य-वारुणपानी को ही आसुर पानी कहा जाय।। एवं इसे ही विविध रोगों का, विभिन्न दोषों का प्रवर्त्तक माना जायगा। इसके अतिरिक्त प्रचण्ड प्रवाह से समन्वित अतएव वायव्यप्राण से आलोडित-विलोडित, अतएव-मलीमस-भावों से असंस्पृष्ट विशुद्ध निर्म्मल-पानी ही 'दिव्यपानी' है जिसमें आग्नेयप्राण* वायव्यप्राण+ इन्द्रप्राण आदि अनेक दिव्यप्राणों का समावेश रहता है। अतएव एसा गतिधर्म्मा विशुद्ध पानी सर्वथैव स्वास्थ्यकर माना गया है। यही वरुण की परिपक्वावस्थारूपा उत्तरावस्था है। यों लौकिक उदाहरणविधि से उस पारमेष्ठ्य-अलौकिक-प्राणात्मक-वारुणपानी की भी अपरिपक्व, परिपक्व इन दोनों अवस्थाओं का अनुमान लगाया जासकता है।

वरुण की अपरिपक्वा पूर्वावस्था का ही नाम है— 'वरुण' एवं इसी वरुण की अग्नि-वायु-इन्द्र प्राण-समन्विता-'परिपक्वा' उत्तरावस्था का ही नाम है-'भृगु'। परिपाकधर्म्म का ही नाम 'भर्जन' है। एवं परिपाकात्मक इस भर्जन-सम्बन्ध से ही वरुणपिता की पूर्वावस्था से समुद्भूत उत्तरावस्थारूप-पुत्रात्मक परिपक्व भाव का नाम होगया है-'भृगु' जैसाकि निम्न लिखित श्रुतिवचनों से स्पष्टरूपेण प्रमाणित है—

---

*—अपां सघातो, विलयनञ्च तेजः संयोगात् (वैशेषिक दर्शन—कणादसूत्र)।

+—इन्द्रतुरीया मरुत् गृह्णन्त के अनुसार गतिधर्म्मा वायु में एक चतुर्थांश इन्द्रप्राण भी समाविष्ट रहा करता है।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

—ईशोपनिषत्

अनेजदेकम्-ऊर्ध्व-आभूः-अम्भात्मक-इसी तत्त्व का दूसरा विवर्त रसबलात्मक है तीसरा विवर्त 'यत्-जू'-रूपात्मक है चौथा विवर्त 'तेजः स्नेहात्मक' है एवं पाँचवां विवर्त ज्योति स्तमोरूप है । प्रत्येक रूप द्विपर्वा है जिन में प्रथम-प्रथम पर्व सर्वत्र सदात्मक है एवं द्वितीय-द्वितीय पर्व असदात्मक है । और यही ज्योति तथा तम के मौलिक-चिरन्तन-इतिवृत्त का अथ से इतिपर्य्यन्त का महामङ्गलप्रद मानसिक-पावन संस्मरण है ।

विश्वातीतभावा			विश्वभावा			
१	२	३	४	५	६	७
१-अनेजत्—	आभूः—	रस—	जू —	तेज—	ज्योति—	(स्थितिप्रकृतिक-सद्भाव-अमृतम्
२—एजत्—	अम्भम्—	बलम्—	यत्—	स्नेहम्—	तम —	(गतिप्रकृतिक-असद्भाव मृत्युः)

—"अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !"

तेजोलक्षणा ज्योतिर्मूर्ति का ही नाम है-'इन्द्र' एवं स्नेहलक्षणा तमोभाव का ही नाम है 'वरुण' । इन्द्र ही 'मित्र' नाम से प्रसिद्ध है । अतएव ज्योतिःस्वरूप इन्द्र तथा तम'स्वरूप वरुण इन दोनों की समन्वितावस्था का एक साङ्केतिक नाम होगया है-मित्रावरुणौ' जो कि अध्यात्मभाषा में 'ऋतु-दक्षौ' नाम से प्रसिद्ध है जैसाकि क्रतूदक्षौ ह वा अस्य मित्रावरुणौ' (शत ४।१।४।१) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है । उपरि निर्दिष्टा तालिका के विश्वभावों में क्रमप्राप्त चतुर्थ 'जू, और यत' इन दोनों की समष्टि ही 'यजु' नामक वयोरूप वह 'यजु' तत्त्व है, जो ऋक्-साम-नामक वयोनाधात्मक छन्द से छन्दित रहता हुआ त्रयीमय बना हुआ है । ऋक्साम से छन्दित-नद्ध-सीमित-परिवेष्टित-'जूरूप स्थितिभाव एवं 'यद्रूप गतिभाव' इन दोनों की समष्टिरूप त्रयीमयतत्त्व का ही नाम 'स्वयम्भूब्रह्म' है जो 'स्वयमेव उद्भूतो' के अनुसार ही-'स्वयम्भूः कहलाता है । इसी स्वायम्भुव-मनुः के जू भाग से तेज के द्वारा ज्योति के माध्यम से तो इन्द्रमित्र की अभिव्यक्ति हुई है एवं इसी स्वायम्भुव-मनुः के यद्भाग से स्नेह के द्वारा तम के माध्यम से वृत्रवरुण की अभिव्यक्ति हुई है । ज्योतिर्मय इन्द्रमित्र एवं तमोमय वृत्रवरुण दोनों क्रमशः स्वयम्भू

का ही साङ्केतिक नाम है—'सुरा' एवं मायन्य गान्धर्वप्राण से सुरक्षित (अपरिपक्व-विशुद्ध आसुर-वारुण प्राणमय से सुरक्षित) पितृप्राणात्मक भार्गवप्राण का ही नाम है—'सोम'। और यही सुरा तथा सोम नामक उन पारमेष्ठ्य तत्त्वों का संक्षिप्ततम स्वरूप-दिग्दर्शन है जिन इन दोनों तत्त्वों के स्वरूप-समन्वय के लिए ही हमें अनेकवेदवद् मूला-भृग्वङ्गिरामयी-समन्विता-सृष्टिधारा का यत्र स्मरण करना पड़ा है। पारमेष्ठ्य भार्गव-वारुण-सुरा और सोम, नामक तत्त्वों के आधार पर ही हमें उन भाग्ला, तथा मात्स्य, नामक दोनों सुप्रसिद्ध दोषों की स्वरूपमीमांसा करनी है जिन दोनों भयानक दोषों ने ही सर्वथैव-तत्त्वसम्मत भी प्रकृतिसिद्ध भी नाद् भ ति-स्वर जैसे दिव्यतत्त्वों से समन्वित भी नृत्य-गीत-वाद्यात्मक-सङ्गीत को आत्यन्तिकरूपेण कान्त्वालीकृत ही प्रमाणित कर रक्खा है।

इदमत्र अवधेयम्। तम और ज्योति नामक जिन दो तत्त्वों का पूर्व में संस्मरण हुआ था (देखिए पृ० सं० १२५३), तत्रैव यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि, वरुण का नाम ही तम है, एवं इन्द्र का नाम ही ज्योति है। यहीं, इसी दृष्टि बिन्दु पर सुरा, और सोमके सम्बन्ध में भी किञ्चिद्विदेय अवधेय है। तमोमय वरुण से जहाँ सुरा का सम्बन्ध माना जायगा वहाँ ज्योतिर्मय इन्द्र से सोम का सम्बन्ध माना जायगा। अतएव सुरा जहाँ 'वारुणी' कहलाई है वहाँ सोम इन्द्रप्रिय तत्त्व माना गया है। दैनन्दिनीय भोजनकर्म्म से अनुप्राणित अन्न के उदाहरण से ही प्रथम भौतिकी दृष्टि से ही हमें सुरा और सोम, इन दोनों तत्त्वों का स्वरूप-परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए।

यव-गोधूम-चणक-यवनाल-माष मुद्ग-तन्दुल-(जौ-गेहूँ-चना-बाजरा-उड़ मूँग-चाँवल) आदि अन्नों की उत्पत्ति 'पञ्चाग्निविद्या' के अनुसार पानी से ही हुई है। दिव्य—स्वर लोक के दिव्य तेजोमय—सावित्राग्नि में सर्वप्रथम सोमात्मिका श्रद्धा' की आहुति होती है। तेजोमय यह सावित्राग्नि 'अग्नि' है, स्नेहमयी श्रद्धा 'सोम' है। इन दोनों के यजन से ही अग्नौ सोमाहुतियज्ञ के अनुसार यज्ञस्वरूपात्मक सोम नामक अपूर्वभाव अभिव्यक्त होता है इन दोनों आरम्भणों (उपादानों) के परस्परोपमर्दन से। दिव्याग्नि और श्रद्धा के यजनात्मक उपमर्दन का ही परिणाम 'सोम' है और यही प्रथमाहुति से अनुप्राणित अन्नका प्रथम मौलिक स्वरूप है।

दिव्यलोक के अनन्तर दूसरा आन्तरिक्ष्य—वायुलोक है। इस अन्तरिक्ष लोक में 'नमुचि नामक—यज्ञविरोधी-बलावरोधक आसुरप्राण के प्रत्यवरोधक) मरुत्वान् नामक वायव्यइन्द्र से समन्वित 'पर्जन्य' * नामक वायव्याग्नि प्रतिष्ठित है। इस आन्तरिक्ष्य पर्जन्याग्नि में सोम की आहुति होती है। इस दूसरे अग्नि—सोम-यजन से जो अधिम अपूर्वभाव उत्पन्न होता है उसे ही 'वर्षा' (वृष्टिजल) कहा गया है।

वायव्य-अन्तरिक्षलोक के अनन्तर आग्नेय पृथिवीलोक का स्थान आता है। इस पार्थिव गायत्राग्नि में वर्षा रूप सोमाग्न की आहुति होती है। इसी आहुति से गायत्राग्नि एवं वर्षाजल दोनों

* पर्जन्य का ही उत्तररूप पुरवात है जिसे हमारे प्रान्त में 'पुरवाइइया' कहा जाता है। इसके प्रभाव से ही वृष्टि हुआ करती है। इसे ही प्रतीच्यभाषा में सम्भवतः मान्सून कहा गया होगा।

"ता आपः सृष्ट्वाऽन्वैक्षत-प्रजापतिः । तासु छायामपश्यत (तमोभावमपश्यत्)। ता आप -आन्ता सप्ता, सन्तप्ताः-सार्द्धमेव रेतसा द्वैधमभवन् । तासामन्या अन्यतरा अतिलवणा (क्षारधर्म्मान्विता) (अतएव) अपेया अस्वाद्या (मधुरास्वशून्या), ता अशान्ता आपः समुद्रं वृत्वा-अतिष्ठन् (ता इमा एव-आप -अपरिपक्वा -वरुणा-त्मिका)। अथ-इतराः पेया स्वाद्व्यः शान्तास्ताभ्यआम्यभाम्यत् अभ्यतपत्, अमतपत्। ताभ्यः भ्रान्ताभ्यः-तप्ताभ्य -सन्तप्ताभ्यः-यदुरेत आसीत्, तत्-अभृज्यत (परिपक्वमभूत् । यदभृज्यत -तस्मात् 'भृगु' समभवत् । तद् भृगोर्भृगुत्वम्" ।

—गोपथब्राह्मण-पूर्वभाग १ प्र० ।३ ब्रा० ।

(२)—"वरुणस्य वै सुषुवाणस्य भर्गोऽपचक्राम । स त्रेधापतत् । भद्भृगुरभवत्" ।

—शतपथब्राह्मण १८।५।१।

(३) "-तस्य प्रजापते यद्रेतस प्रथममुददीप्यत-तदसावादित्योऽभवत् । अथ-यद्-द्वितीयमासीत्, तद्-भृगुरभवत् । तं वरुणो न्यगृह्णीत । तस्मात्-स भृगुर्वारुणिः" ।

—ऐतरेयब्राह्मण ३।१४।

'आग्नेय-वायव्य-ऐन्द्रप्राण-से समन्वित अतएव परिवृत्त-मजनशील-पारमेष्ठ्य वारुण आप्यतत्त्व का ही नाम-'भृगु' है' उक्त तीनों श्रुतिवचनों का यही निष्कर्ष है। द्वितीया श्रुति में 'वरुणस्य भर्गः-त्रेधा-अपतत्' यह कहा गया है जिस का तात्पर्य्य यही है कि 'भुव-(घन)-वन-(तरल)-अरुणा (विरल) नाम की सुप्रसिद्ध तीन अवस्थाओं के कारण यह भृगुतत्त्व तीन अवस्थाओं में परिणत होजाता है क्योंकि तीनों भार्गवी अवस्थाएँ ही क्रमशः-आप-वायु-सोम-इन नामों से प्रसिद्ध हुई है जैसाकि वायु-राप-चन्द्रमा (सोम) इत्येते भृगवः (गो० ब्रा० पू० २।८,९ ।) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। ये तीनों ही भार्गवतत्त्व वारुण अपतत्त्व के प्रकृतिसिद्ध त्रिवृत्करण से * त्र्यात्मक त्र्यात्मक बने हुए हैं मनःप्राणवाङ्मय आत्मा के त्रिवृद्भाव की भाँति। जिस का तात्पर्य्य यही निकलता है कि घनावस्थापन्न-भार्गव अप्तत्त्व भी आप-वायु-सोमात्मक है। तरलावस्थापन्न भार्गव-वायुतत्त्व भी त्र्यात्मक है। एवं विरलावस्थापन्न भार्गव सोम भी त्र्यात्मक है। इस त्र्यात्मकता के अनुबन्ध से ही तीनों त्रयात्मक माने गए हैं। त्र्यात्मक भार्गव आप्यप्राण का ही नाम 'असुर' है, त्र्यात्मक भार्गव-वायव्यप्राण का ही नाम 'गन्धर्व' है, एवं त्र्यात्मक-भार्गव-सौम्यप्राण का ही नाम 'पितर' है। आसुर मायात्मक वारुण-भार्गव-आप्यप्राण ही अप्सुरसत्वशील स्त्रीभावप्रवर्त्तक-'अप्सराप्राण' की अभिव्यक्ति का कारण बना हुआ है। वारुणभार्गव-वायव्यप्राण का गन्धर्वभावत्व तो प्रातिस्विकरूपेणैव स्पष्ट है । आप्य-अप्सराप्राण

* इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति (छां० उप० ५।९।१)।
"त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्" (वेदान्तसूत्र ३।१।२)।

आग्नेयी योषित् (स्त्री) के आत व में अग्नितत्त्व ही प्रधान माना गया है जैसे कि पुरुष के शुक्र में-'सोम' प्रधान माना गया है । पुरुष का यह सोमात्मक रेतोरूप शुक्र ऋतुस्नाता स्त्री के शोणिताग्नि में आहुत होता है । इसी आहुति से-शुक्रस्थित पुम्भ्रूण तथा शोणितस्थित-स्त्रीभ्रूण के अग्न अन्नादात्मक पारस्परिक संघर्ष से ही प्रजोत्पत्ति हुआ करती है । इसप्रकार 'श्रद्धा वै आपः सम्भमन्ते' 'श्रद्धा वा आपः' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार आपोमयी श्रद्धा, किंवा श्रद्धात्मिका आप ही पृथक्मानुसार आग्नेयी-योषित के शोणित में गर्भीभूत होकर-'प्रजा'-स्वरूप में परिणत होता है । स्वर्लोकानुगत सौरसावित्राग्नि[1], अन्तरिक्षलोकानुगत वायव्य-पर्जन्याग्नि[2], पृथिवीलोकानुगत पार्थिव-गायत्राग्नि[3] अध्यात्मलोकानुगत-पुरुषशरीरस्थ वैश्वानराग्नि[4], एवं स्त्री-शोणितस्थ-आर्त्तवाग्नि[5] इन पाँच अग्नियों में क्रमशः श्रद्धात्मक सोम[1], सोमात्मक सोम[2], वर्षात्मक सोम[3] अन्नात्मक सोम[4] एवं शुक्रात्मक साम[5] इन पाँच सोमद्रव्यों की आहुति से ही पाँचवी आहुती में पुरुष' नाम का प्रजावर्ग अभिव्यक्त हुआ है जिस इस पञ्चात्मिका अभिव्यक्ति का ही-'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति इत्यादि-छान्दोग्योपनिषत् की सुप्रसिद्धा-पञ्चाग्निविद्या' से स्पष्टीकरण हुआ है, जैसाकि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है ।

१—द्युलोकः———— सावित्राग्नि —श्रद्धा—सोम' (प्रथमाहुतिः) ।

२—अन्तरिक्षलोक' ——पर्जन्याग्निः—सोम'—सोम (द्वितीयाहुति) ।

३—भूलोक' ———गायत्राग्न —वृष्टि —सोम' (तृतीयाहुति') ।

४—अध्यात्मलोकः (पुरुष')-वैश्वानराग्नि'-अन्न —सोम' (चतुर्थी आहुति') ।

५—योषिल्लोकः (स्त्री)—आर्त्तवाग्नि —शुक्र —सोम' (पञ्चमी आहुति)* ।

तत्त्वात्मिका-प्रकृतिनिष्ठा- अस्पृश्यता के नामश्रवणमात्र से भी अपने काल्पनिक मानवतावाद का सर्वनाश उद्घोषित करने लग पड़ता है । तत्त्वमूला अस्पृश्यता रही है रहेगी जिस का काल्पनिक मानवतावाद से त्रिकाल में भी उच्छेद सम्भव नहीं है । हाँ जो इस तत्त्वमूला 'अस्पृश्यता के उच्छेद' में प्रवृत्त हैं उन का प्राणानिबन्धन-सत्त्वानुबन्धी-स्वरूप अवश्य ही कालान्तर में उसी प्रकार उच्छिन्न होजाया करता है जैसे कि मांसिकी कीटाणुजनिता-संक्रामिकी अस्पृश्यता की उपेक्षा करने वाला स्वयमेव कालान्तर में रोगाक्रान्त बनता हुआ सम्मानपर्वक कीनाशानिकेतन' का अतिथि बन जाया करता है । इसी सम्बन्ध में यह भी अविस्मरणीय है कि शास्त्र की तत्त्वमूला अस्पृश्यता जब रूढिवाद-ग्रस्त बन कर 'घृणामूला' बन जाती है किंवा धर्म का दम्भ करने वाले धर्मध्वजियों के द्वारा स्वार्थ साधन के लिए बलपूर्वक घृणामूला बनादी जाती है तो उस अवस्था में यही अस्पृश्यता सामाजिक प्रचण्ड-द्वेष का ही कारण बन जाया करती है जिस इसी अर्थभूता अशास्त्रीया-काल्पनिकी-पारस्परिकता-घृणामूला अस्पृश्यता ने ही आज भारतीय समाज को विद्वेष की प्रचण्डाग्नि में ही आहुत कर दिया है ।

*—विशद विस्तार के लिए देखिए ! छान्दोग्योपनिषत् हिन्दी-विज्ञानभाष्य का तत्प्रकरण [५ अध्याय के ४, ५, ६, ७, ८, ९—खण्ड] ।

के यजनात्मक सम्मिश्रण से पार्थिव धरातल पर जो अपूर्वभाव उत्पन्न होता है, वही सुप्रसिद्ध–यवगोधूमादि-अन्न' नाम से प्रसिद्ध है।

आगे चल कर पार्थिव अग्नि के प्रवर्ग्यभूत पुरुष के शारीरिक वैश्वानर अग्नि में अन्नात्मक सोम की आहुति होती है। पुरुषाग्नि में आहुत अन्न सोम का यह अग्नि उसीप्रकार विशकलन कर देता है जैसेकि प्रज्वलित काष्ठाग्नि में हुत–समाहित–काष्ठादि द्रव्य तेजोमय, अतएव विकासधर्म्मा अग्नि से विशकलित होजाया करते हैं। संकुचितभाव को घनता को विदीर्ण करदेना ही अग्नि का प्रमुख कर्म्म है। इसी विशकलन से पुरुषाग्नि (वैश्वानराग्नि) में हुत अन्न विशकलित होजाता है।

अन्न में पूर्व आहुतिक्रम–तारतम्य से–परम्परया सौर- अग्नि अथवा आन्तरिक्ष पर्जन्याग्नि सोम पार्थिव अग्नि सर्पाजित पार्थिव मलीमस भूतभाग आदि आदि रसात्मक एवं मलात्मक अनेक तत्त्व समन्वित रहते हैं। शारीरिक अग्नि का पहिला काम है–अपने में आहुत–गृहीत रस–मलात्मक–इस अन्न के रसभागों तथा मलभागों को विशकलित कर देना। अग्नि के द्वारा विशकलित होने वाले इन्हीं रस-मल-भागों के क्रमिक विशकलन से भुक्त-अन्न की रस-असृक्-मांस-मेद अस्थि-मज्जा-शुक्र ये सात अवस्थाएँ होजाती हैं, जिन में उत्तर उत्तर की अवस्थाएँ पूर्व पूर्व अवस्थाओं की अपेक्षा जहाँ 'मल' हैं वहाँ पूर्वावस्थाएँ उत्तरावस्थाओं की अपेक्षा–'रस' हैं। इन सप्तविध–रस–मलात्मक–शारीरिक धातुओं में इसी अन्न का सातवाँ अन्तिम धातु शुक्रात्मक 'रेत' है। अतएव श्रुति ने पुरुषाग्नि में आहुत अन्नात्मक सोम के परिणाम का नाम 'रेतः (शुक्र) ही मान लिया है।

और आगे चलिए। योषाप्राणाग्निमयी स्त्री के प्रजनन–शक्तिमय आर्त्तव (शोणित–रुधिर) में धामच्छदा सुतसृष्टि का मूलप्रवर्त्तक वह अत्रिप्राण प्रतिष्ठित है जिस के मलात्मक–धामच्छद–प्राणानुगत की अभिव्यक्ति प्रतिमास अमुक दिवसों में होती रहती है। यही स्त्री की 'ऋतुकालावस्था' कहलाई है इसी कालावधि में यह ऋतुमती स्त्री 'आत्रेयीयोषित्' कहलाई है। सर्वथैव अस्पर्शनीयत्व अतएव निरतिशय मलीमस किन्तु अपने धामच्छद मौलिक धर्म्म से प्रजननशक्ति से समन्वित रक्तमिश्रित वह अत्रिप्राण सर्वथैव विम्बप्राण का विरोधी बना रहता है जो मलस्पर्श (शरीरस्पर्श) माध्यममात्र से स्पर्शकर्त्ता के विम्बप्राण को मूर्च्छित करने की क्षमता रखता है। इसी अत्रितत्त्व के आधार पर आत्रेयी-ऋतुमती स्त्री अस्पृश्य-प्राणधारा-त्मक अन्त्यजादिवत्-अमुक अवधि पर्य्यन्त 'अस्पृश्या' ही मान ली गई है*।

---

*–श्वान-रजकादि प्राणी अन्त्यज–अन्त्यावसायी-मानव ऋतुमती स्त्री आदि से सम्बन्ध रखने वाली 'अस्पृश्यता' का एकमात्र आधार धातु मिक ये मलीमस–प्राण ही हैं जिन के आधार पर ही अमुक परिगणित जड़–चेतन पदार्थ शास्त्र में– अस्पृश्य मान लिए गए हैं। तत्त्वमूला इस अस्पृश्यता को भले ही भावात्मना आज का भूतविज्ञानवादी समन्वित न कर सके। किन्तु भूतमूला–कीटाणु–संक्रमणजनिता प्रचण्ड अस्पृश्यता तो उसकी दृष्टि में भी पदे पदे न केवल मान्या ही अपितु आराध्या ही बनी हुई है। कदाचित् ही मौलिक मल से आज के भूतवादी की भृकुटी तन जाती है और 'गन्दगी–गन्दगी' के चीत्कार से वह इस 'अस्पृश्यता' का पक्षपोषण करने लग पड़ता है जबकि आस्थान्वितरूपेण भूतास्पृश्यवादी यही भूतवैज्ञानिक आज भारतीय शास्त्र की प्राणमूला अतएव रूप–रस–गन्ध–स्पर्श शून्या अतएव इन्द्रियातीता सूक्ष्मा

होजाता है फलत: (शारीरिक रक्त-प्रवाह के एकतोऽनुगामी बन जाने से ही) भोजनानन्तर 'तन्द्रा' आने लगती है जो विश्रामात्मिका शय्या की अनुगति से आगे जाकर 'निद्रा' के रूप में परिणत होजाया करती है। इस मूलदृष्टि से हमारा कोई विरोध नहीं है। हम तो उस प्राग्दृष्टि की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं जो स्वयं सुरा और सोम नामक दो मादक भावों से समन्वित होकर अन्न की मूलप्रतिष्ठा बनी हुई है। तन्द्रा किंवा निद्रा, इसी अन्न की मादकता का परिणाम है। अतएव लोकव्यवहार में 'अन्न को मादक' ही माना गया है।

आग्नेयवारुण-सुराभाग अपने सहज-मलभाव से एकप्रकार का जैसा 'विष' है जिससे जीवनीय-शक्ति का ह्रास, किंवा अभिभव ही सम्भावित है। जबकि सौम्य-चन्द्र-सोमभाग अपने सहज शिवतम रसात्मक-रसभाग से एकप्रकार का जैसा 'अमृत' ही है, जिस से जीवनीय-शक्ति का संवर्द्धन किंवा अभिव्यक्ति निश्चित है। अध्यात्मरचना के रचयिता शिल्पी प्रजापतिने मानव के प्रतिरूपात्मक-शरीरशिल्प में कण्ठप्रदेश में एक जैसा यन्त्र लगा दिया है, जिस के द्वारा भुक्तान्न का सुरात्मक विषभाग नियन्त्रित होकर, रस-मल के प्राथमिक विश्लेषणात्मक-विश्लेषण से क्रमागत अमृतभाग (सोमभाग) से पृथक् होकर परावर्त्तित ही होजाता है। यों इस गलयन्त्र के अनुग्रह से मानव का जीवनीय प्राण अन्न के विषभाग से सुराभाग से अधिकांश में अपना परित्राण ही कर लेता है जबकि अनुपातरूप से तो विष का अंश भी गलाधःकरणानुकूलव्यापार का अनुगामी बन ही जाता है, और यही शरीरप्रविष्ट विषात्मक सुराभाग जम्भा (जँभाई-अँगड़ाई)—तन्द्रा-आलस्य-) आदि रूप से अभिव्यक्त होता है। एक व्यक्ति के जँभाई लेने का अर्थ है—विषप्राण का भुक्त होकर पुनः बाहिर निकलना। इस सांक्रमिक विषप्राण-से समीपस्थ अन्य व्यक्तियों का भी विषप्राण सजातीयाकर्षण से जागरूक होपड़ता है जिस जागृति के निरोध के लिए ही जँभाई करने वाले के लिए शास्त्र ने 'अङ्गुलिध्वनि' का आदेश दिया है जिस ध्वनि के तात्त्विक स्वरूप के विश्लेषण का अत्र अवसर नहीं है ✽। मलात्मक-सुरारूप विष रसात्मक सोमरूप अमृत जीवनविघातक-तथा जीवनसंरक्षक, इन दोनों का विभाजक कण्ठमध्यस्थ वही माङ्गलिक यन्त्र- 'प्राशित्रविष' नाम से ही वेद के ब्राह्मणभाग में प्रसिद्ध हुआ है। अन्नान्वित इन्हीं-विष-अमृत-मय सुरा-सोमात्मक तमो-ज्योतिर्मय-गौर गुणान्वित-द्विविधभावों को लक्ष्य बनाकर ही ऋषिने अन्न को 'सुरा' भी कहा है एवं 'सोम' नाम से भी यह अन्न व्यवहृत हुआ है। देखिए!

१—"अनृतं, पाप्मा, तमः, सुरा" (शत० ५।१।२।१०)।

२— 'अभिमायतीव हि सुरां पीत्वा वदति' (शत० १।६।३।४)।

३—"तस्मात् सुरां पीत्वा रौद्रमनाः" (शत० १२।७।३।२०)।

---

१ २ १ १ २ ३

✽ छिक्का—पतन जृम्भासु—जीर्णे—विष्ठा—ङ्गुलिध्वनि।
गुरुणापि प्रकर्त्तव्या, अकुर्वा ब्रह्महा भवेत्॥

—स्मृति

उक्त पञ्चाग्निविद्या–सन्दर्भ से प्रकृत में हमें तीसरे पार्थिव अग्नि और वृष्टिजल नामक द्वन्द्व की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। पार्थिव अग्नि और वृष्टिजल दोनों के रासायनिक-सम्मिश्रण से ही सुप्रसिद्ध 'अन्न' उत्पन्न हुआ है जिस में पार्थिव अग्नि के साथ साथ पृथिवी के मूलभूत–अन्धतमिस्र–धाम भूः-मलीमस-प्रतिभाग का एवं तदनुबन्धी पश्वादि विविध मलभागों का भी समावेश रहता है जिन इन सब मलीमस भागों की आयतनभूमि वह पार्थिव 'अप्' तत्त्व ही है जिसे 'वरुण' के सम्बन्ध में आसुर भाव' भी कहा जा सकता है। एक ओर यदि अन्न में परम्परागत सौर–दिव्य–सावित्राग्निप्राण, इन्द्रप्राण सोम्यप्राण आदि आदि दिव्यभाव समाविष्ट हैं तो दूसरी ओर इसी अन्न में तथाकथित-आसुर-वारुण–मलीमसभाव भी अनिवार्य्यरूपेण समन्वित हैं। और यों यह अन्न दिव्यभावानुबन्ध से रसात्मक, एवं आसुरभावानुबन्ध से मलात्मक उभयात्मक ही प्रमाणित हो रहा है जैसा कि पूर्व में भी स्पष्ट किया जा चुका है।

अन्न में रहने वाले यावन्मात्र आसुर भावों को हम यहाँ वरुणानुगत–'सुराभाव' कहेंगे यहाँ यावन्मात्र दिव्य–भावों को इन्द्रानुगत–'सोमभाव' कहेंगे। इसप्रकार प्रत्येक अन्न में—वरुणानुबन्धी–मलात्मक–आसुर-दोषभाव तथा इन्द्रानुबन्धी–रसात्मक-दिव्य–गुण भाव, दोनों की स्वरूपसत्ता सिद्ध होजायगी। ये ही दोनों प्रतिद्वन्द्वी भाव दैवीसम्पत्ति एवं आसुरीसम्पत्ति नाम से प्रसिद्ध होंगे। दैवीसम्पत्ति को—'गुण' कहा जायगा एवं आसुरीसम्पत्ति को 'दोष' कहा जायगा। अतएव गुणात्मक रसभाव से अनुप्राणित—ऐन्द्र–सोमभाव को अन्न का 'गुण' माना जायगा एवं दोषात्मक–मलभाव से अनुप्राणित—वारुण–सुराभाव को 'दोष' कहा जायगा और इसी प्रकृतिसिद्ध तथ्य के आधार पर– 'गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी' इस सूक्ति का समन्वय सम्भव बन सकेगा। स्वान्ते च वारुण-आसुर मलात्मक–सुराभाव को ही आवरणप्रवृत्ति के कारण तम कहा जायगा एवं ऐन्द्र–दिव्य–रसात्मक–सोमभाव को ही आवरणनिवृत्ति के कारण–'ज्योति' कहा जायगा और पूर्वप्रतिपादित— तमसो मा ज्योतिर्गमय इस औत उद्घोष का यही प्राणविज्ञानसम्मत संक्षिप्त समन्वय होगा जिसे आधार बना कर ही अब हमें प्रक्रान्त आख्या तथा माख्य्य नामक दोनों सुप्रसिद्ध उन मयानक दोषों का संस्मरणमात्र ही कर लेना है जिन उन सुप्रसिद्ध भयानक दोषों नें ही नाद–श्रु ति–स्वरात्मक–अत्यन्त कर्णप्रिय–मनोविनोदात्मक– सङ्गीत जैसे अलौकिक तथ्य को भी करुणास्पदीकृत प्रमाणित कर दिया है। तदेव भ्रूयताम्। श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम्।।

वरुणपुत्र भृगु का आसुर–तमःप्रधान–वारुणभाग ही 'सुरा' है, एवं वारुणि भृगु का दिव्य-ज्योतिःप्रधान ऐन्द्रभाग ही 'सोम' है। वारुण सुराभाग एवं ऐन्द्र सोम भाग दोनों क्रमशः मलात्मक, एवं रसात्मक हैं यह निष्कर्ष उक्त सन्दर्भ से भलीभाँति समन्वित होजाता है। मादक होने से (मारक होने से) सुरा भी मादकता से समन्वित है तो सोम भी मादकता से अनुप्राणित है। एक मलात्मिका मादकता है तो दूसरी रसात्मिका मादकता है। प्रत्येक अन्न में मलात्मक सुराप्राण भी रहता है एवं रसात्मक सोमप्राण भी। अतएव प्रत्येक अन्न शारीरिक–अग्नि में आहुत होकर प्राथमिक–परिणामरूप से मादकता ही अभिव्यक्त करता है जिस के सम्बन्ध में वर्त्तमान–भूतविज्ञान की ऐसी मान्यता सुनी गई है कि, भोजनद्रव्य के आमाशय में पहुँचते ही सम्पूर्ण रक्तप्रवाह आमाशय की ओर ही अनुगत

प्रतिष्ठाओं का प्रवर्त्तक बतलाया है। यहीं इसी दृष्टिबिन्दु पर यह भी समन्वय करलेना चाहिए कि, सङ्गीत का शब्दात्मक-व्यञ्जनात्मक-पार्थिव अनुष्टुप-मत्यभावापन्न-क—च-ट-त-पादि-रूप जितना-भूतभाग है (सङ्गीत के शब्दात्मक बोल हैं), वह भूतभाग तो वैश्वानराग्नि में अन्तर्याम-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित अन्नक मलात्मक-तमोमय मर्त्य-सुराभाग से अनुप्राणित है, एवं अ-त्यनुगत-रूप सौस्वरभाग (मधुमय-निखातभाग) है वह वैश्वानराग्नि में प्रतिष्ठित अन्न के रसात्मक ज्योतिर्मय अमृत-रसात्मक-सोमभाग से अनुप्राणित है। सौम्यप्राण ही स्वररूप से परिणित हुआ है, एवं अन्न का भूतभाग ही स्वरानुगत व्यञ्जनों के रूप में परिणत हुआ है। यों सुरा सङ्गीत के शब्दात्मक व्यञ्जना का तथा सोम सङ्गीत के तानात्मक स्वरों की प्रतिष्ठा बने हुए हैं-क्रमपरम्परया, यही वक्तव्यनिष्कर्ष है। 'सोमरसात्मक-स्वर' तत्त्व के इसी तथ्य को लक्ष्य बना कर श्रुतिने कहा है—

> "स यदाह स्वरोऽसीति,–सोम वा एतदाह। एष ह वै सोम-सूर्य्यो भूत्वा अमुष्मिंल्लोके स्वरति। तत्-यत्-स्वरति, तस्मात् 'स्वर'। तत् स्वरस्व-स्वरत्वम्।
>
> —गोपथब्राह्मण पू० ५।१४।

गोपथश्रुति ने कहा है कि,— भो जो कि जिसे 'स्वर कहा है, वह इस- सोम' को ही कहा है। अर्थात् सोम के अभिप्राय से ही (इस प्रकरण में) 'स्वर' शब्द प्रयुक्त हुआ है। निश्चयेन यह सोम ही सूर्य्यरूप में परिणत होकर स्वरभाग है। क्योंकि सोम ही सूर्य्यरूप में परिणत होकर स्वरभाव से समन्वित होरहा है। अतएव सोम को 'स्वर' कहा गया है'।

क्या तात्पर्य्य ?। तात्पर्य्य स्पष्ट है। बतलाया गया है कि सोम उस परमेष्ठीलोक की ही वस्तु है जिस पारमेष्ठ्य—वारुण—अम्बिरोमय-आपोलोक के गर्भ में विभ्राट् भी सूर्य्य एक बुद्बुद् से अधिक अपनी कोई सत्ता नहीं रखता। पारमेष्ठ्य वह सोम वहाँ दाह्य' है वहाँ सौर सावित्राग्नि दाहक' है। स्वस्वरूपेण सोम भी कृष्ण (नीरूप) है एवं आकृष्णेन रजसा वर्त्तमान' के अनुसार स्वयं सूर्य्य किंवा तद्रूप सावित्राग्नि भी कृष्ण (ज्योतिर्विहीन) ही है। इस दाहक कृष्णाग्नि में उस दाह्य—कृष्ण सोम की निरन्तर आहुति होरही है इसीसे सूर्य्य— 'अग्निहोत्र' रूप में परिणत होरहा है—(सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्)। ग्राह्य सोम दाहक सौर अग्नि में आहुत होकर प्रज्वलित होजाता है और यही सौर प्रकाशात्मक-रश्मिमय यह साममण्डल है जिसे हमने पूर्व में स्वरसाम' कहा है। पिण्ड की मण्डलरूप में परिस्थिति ही पिण्ड की स्वररूपता है। क्योंकि सोम ही प्रकाशमण्डलात्मक स्वररूपता में परिणत हुआ है। अतएव सोम के लिए ही यह कहा जाता है कि- हे सोम ! आपने ही ज्योतिरूप से विश्वान्धकार को नष्ट किया है जैसाकि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट प्रमाणित है—

> त्वमिमा ओषधीः सोम! विश्वास्त्वमपोऽजनयस्त्वं गा।
> त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्ष-त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ॥
>
> —ऋक्सं० १।६१।२२।

४—' यदस्य शमलमासीत्—सा सुरा अभवत्'' (तै० ब्रा० १।३।२।६।) ।

५—''स्फिगीभ्यामेवास्य भामोऽस्रवत् । सा सुराभवत् अन्नस्य रस ''

(शत० १२।६।१।७।) ।

६—''अपां च वाऽएष ओषधीनांच रस , यत्सुरा'' (शत० १२।८।१।४।) ।

७—''अन्न सुरा'' (तै० ब्रा० १।३।३।५।) ।

८—''प्रजापतेर्वा एते-अन्धसी, यत्सोमश्च सुरा च'' (शत० ५।१।२।१०।)

९—''सत्यं वै श्रीर्ज्योति सोम '' (शत० ५।१।२।१०।) ।

१०-' एष वै सोमो राजा, अन्नाद्यम्'' (कौ० ब्रा० ९।६।) ।

११-''एतद्वै देव नां परमं अन्न यत्सोम '' (तै० ब्रा० १।३।३।२।) ।

१२-''एतद्वै परममन्नाद्य , यत्सोमः'' (कौ ब्रा० २।३।७।) ।

१३''अन्न वै सोम'' (शत० ३।९।१।८।) ।

१४-''प्राणः सोमः'' (शत० ७।१।१।२२।) ।

१५-''आप सोमः सुत '' (शत० ७।१।१।२२।) ।

१६- ''सौम्या ओषधय '' (शत० १२।१।१।२।) ।

सुरा और सोम इनदोनों विरुद्ध प्राणों से कृतमूर्ति अन्न की आहुति ही मानव के उस वैश्वानराग्नि को प्रदीप्त-उद्दीप्त-प्रज्वलित रखती है जिस वैश्वानराग्नि को ही हमनें पूर्व में-नाद-श्रुति स्वर-नामक तीन सहोत-

---

— सुरा वै मलमन्नानां, पाप्मा च मलमुच्यते ।
तस्मात् ब्राह्मण-राजन्यौ, वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥

—मनु

आविर्भूत होकर मलिनीकरण संकरीकरण भेद से मादकद्रव्यों का शास्त्र में त्रिधा वर्गीकरण किया है । वे ही तीनों विभाग क्रमशः 'सुरा–सीधु आसव' इन नामों से प्रसिद्ध हैं । 'ब्राह्मणो मदिरां पीत्वा ब्राह्मण्यादेव हीयते' के अनुसार सुरा वर्ग की ही उपदेशिका है । भँग-चरस–गांजा अमल-सुलफा-कोकीन–पोस्त मर्कसर्व-आदि मादकद्रव्य मलिनीकरण हैं एवं बर्रो-तम्बाकू-सिगरेट-बीड़ी-आदि मादकद्रव्य संकरीकरण हैं । तीनों ही मादकवर्गों में न्यूनाधिकरूपेण जीवनीय रस को नष्ट-अभिभूत-करनेवाला विष रहता है । तीनों में सर्वतोऽधिक व्याप्त सुरा की पैष्टी-गौडी–माध्वी ये तीन प्रमुख जातियाँ मानी गई हैं जिनके प्रत्येक के अवान्तर भेदोपभेद-सुराप्रकरणों में उपवर्णित हैं ।

मन शरीर, इन दो पृथक्-संस्थानों में विभक्त होजाते हैं। सोम, और सुरा नामक प्राणों के समन्वय के लिए हमें अध्यात्म के मन और शरीर-नामक दोनों चान्द्र-पार्थिव पर्वों को ही लक्ष्य बना लेना है। मन चान्द्र है 'चन्द्रमा मनसो जातः'-'मनश्चन्द्रे ण लीयते' के अनुसार। पाञ्चभौतिक शरीर का पार्थिवत्व तो सर्वतोभावगम्य है ही।

'एष वै सोमो राजा देवानामन्नं, यच्चन्द्रमा' के अनुसार मन का प्रभव चन्द्रमा सोमात्मक है। 'अद्भ्यः पृथिवी' के अनुसार शरीर का प्रभव भूपिण्ड अपने मौलिक-उपादान से-आप प्रधान बनता हुआ वारुणा-सुराप्राणात्मक है। यों चान्द्रसोममय-मन एवं पार्थिव-सुरामय शरीर, ये दोनों आध्यात्मिक-पर्व ही आध्यात्मिक सोम और सुरातत्त्व हैं जिन्हें आधिदैविक सोम, और सुरा-प्राणों के प्रतीक नहीं अपितु साक्षात् 'प्रतिरूप' ही माना जायगा।

सोमात्मक मन की शास्त्रने दो विभक्त अवस्थाएँ मानी हैं। यदि ऐन्द्रियक विषयों में आसक्त मन इन्द्रियवशवर्ती बनता हुआ फलकामुक ही प्रमाणित होजाता है, तो इस अवस्था, किंवा सुरावस्था में यह सौम्य मन सौरीबुद्धि के सत्त्वगुणात्मक-इन्द्र के अनुग्रह से (ज्योति के अनुग्रह से) वञ्चित होता हुआ स्व-ज्योति स्वरूप से उसीप्रकार अभिभूत होजाता है जैसेकि कृष्णपक्षीय चन्द्रमा सौर इन्द्रज्योति से वञ्चित होता हुआ कृष्णरूप में परिणत होजाता है। * तमोमय-वारुण-सुरात्मक-भौतिक-ऐन्द्रियक विषयों में आसक्त ऐसा ही मन-भूतात्मा के बन्धन का कारण माना गया है।

ठीक इसके विपरीत यदि यही सौम्य मन सौरी बुद्धि के इन्द्रप्राण से समन्वित रहता हुआ (बुद्धियोग निष्ठ बनता हुआ), बुद्धि के तेजोमय असङ्गधर्म्म से अनुप्राणित होकर विषयों का अनुगमन करता हुआ भी असङ्ग बना रहता है तो ऐसा मन उसी प्रकार ज्योतिर्म्मय है जैसे कि शुक्लपक्षीय चन्द्रमा सौरज्योतिरिन्द्र के प्रतिफलन से ज्योतिर्म्मय बना रहता है। ऐसा असङ्ग ज्योतिर्म्मय-बुद्धियोगान्वित-सत्त्वमन हीं भूतात्मा के बन्धनविमोक का प्रवर्त्तक माना गया है+। यों-सौरीबुद्धि से युक्त सत्त्वमन एवं सौरीबुद्धि से वियुक्त

* चन्द्रमा का चन्द्रिकारूप प्रकाश (ज्योत्स्ना) सौर इन्द्र-ज्योतिर्म्मय-रश्मियों का प्रतिफलन-मात्र ही है। बिना सौर-इन्द्रप्रकाश के चन्द्रमा अपने प्रातिस्विकरूप से घोर कृष्ण ही है जैसाकि-'चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः' (शत ब्रा०) इत्यादि से स्पष्ट है। प्रतिफलनात्मक-इसी सौरज्योतिर्भाग को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा कि —

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्।
इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥
—ऋक्सं० १।८४।१५।

+न देहो न च जीवात्मा नेन्द्रियाणि परन्तप।
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयो ॥
—प्राचीनसूक्तिः

ऐसी है यह सुरा और ऐसा है यह सोम जो यों—मलात्मिका दोषपूर्णा मादकता, तथा रसात्मिका गुणपूर्णा मादकता से समन्वित होरहे हैं। सुरा के मलात्मक दोष की तथा सोम के रसात्मक गुण की भूतप्रेष्या—मृत प्राणी एवं जीवित प्राणी के भौतिक-शरीरों से तुलना की जासकती है। कथमिति चेत्? भ्रूयताम्। । जब मानव का भूतात्मा शतायुर्भोग-भोगानन्तर इस भौतिक-शरीर का परित्याग कर देता है तो मानवशरीर- शव रूप में परिणत होजाता है। भूतात्मोत्क्रान्ति के साथ ही शारीरिक-भूतों के मलभागों का निरन्तर विशोधन करते रहने वाला अतएव 'पवमान' नाम से प्रसिद्ध जीवनीय-रसात्मक-पारमेष्ठ्य-अमृत-सोमप्राण भी उत्क्रान्त होजाता है। इस पवमान सोम के उत्क्रान्त होते ही भौतिक शरीर का मलात्मक पार्थिव-आप्य सुराभाग अप्रसन्नरूप से पूर्णमात्रा से अभिव्यक्त होपड़ता है। यही प्रचण्ड गन्ध 'शव-गन्ध' (दुर्गन्ध) नाम से प्रसिद्ध है जो दुर्गन्ध एक जीवित प्राणी के लिए क्षणमात्र के लिए भी सह्य नहीं हुआ करती। एकमात्र क्रव्यादाग्निदेव ही इस शवदोष को विलीन करने की क्षमता रखते हैं। वैश्वानराग्निमूर्त्ति भूतात्मा से जबतक भौतिक शरीर तप्त रहता है तभीतक यह पवित्र सोम शरीर में अन्तर्याम-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है। वैश्वानराग्नि की उत्क्रान्ति के साथ ही यह सोम भी उत्क्रान्त होजाता है। और यों उस अवस्था में तापशून्य, अतएव अतप्त—इस शवशरीर से अग्निसहधर्म्मा पवित्र सोम का भी कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। यह वही पवित्र सोम तत्त्व है जिसका गार्हपत्योष में समावेश हुआ है। अतएव पारमेष्ठ्य—पवित्र सोम और पार्थिव गार्हपत्योष, दोनों अभिन्न मान लिए गए हैं। जबतक यह पावन सोम मानवशरीर में प्रतिष्ठित रहता है तभीतक सुराजनित—मलीमस—भौतिक-दुर्गन्धि-किट्ट-मलादि-दोष मानवशरीर को अभिभूत नहीं कर सकते। सोम के इसी पवित्रधर्म्म का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि ने कहा है—

> पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते ! प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
> अतप्ततनूर्नतदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत ॥
>
> —ऋक्सं० ९।८३।१।

ईश्वरीय—आधिदैविक प्राणात्मक—ब्रह्माण्ड विश्व में सुरात्मक तमोमय-आप्य असुर-वारुणप्राण तथा सोमात्मक-ज्योतिर्मय-सौम्य-दिव्य-ऐन्द्रप्राण इन दोनों प्राणों का कैसा और क्या स्वरूप है?, इनका किस लोकपुर (परमेष्ठीपुर) से सम्बन्ध है? इत्यादि मौलिक-प्रश्नों के समाधान-समन्वय के लिए ही सुरा, और सोम शब्दों का आधिदैविक विश्लेषण इसलिए पाठकों के सम्मुख रक्खा गया। अब इन दोनों के आध्यात्मिक (मानवीय) संस्थान की ओर ही सहधर्म्मिमित्रों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है जिसे धीरे अवधानपूर्वक ही लक्ष्य बनाने का अनुग्रह होना चाहिए।

अध्यात्मसंस्था में आत्मा बुद्धि मन शरीर नामक चार सुप्रसिद्ध पर्व हैं जिन इन चारों पर्वों में से बुद्धि-[1]मन [2]शरीर-इन तीन पर्वों के प्रभव-(उत्पादक)-प्रतिष्ठा (आधार)-परायण-(लयस्थान) प्रकृति-प्रपञ्च के क्रमशः सूर्य्य [3]चन्द्रमा-[3]भूपिण्ड ये तीन पर्व ही बने हुए हैं। सौरी बुद्धि, चान्द्र मन पार्थिव शरीर मानव के इन तीनों तन्त्रों में यदि बुद्धि का सर्वोपरि स्थित दिग्देशकालातीत-आत्मा नाम के तुरीयपद के साथ सम्बन्ध मान लिया जाता है तो उस दशा में मानव के चारों पर्व आत्मा-बुद्धि एवं

टप्–टप्–धम्–धम्–भौं–भौं–आदि अनेक प्रकार की ध्वनियाँ करते रहना] चक्षु से विभिन्न प्रकार की भावभङ्गियाँ अभिव्यक्त करते रहना मन.प्रधान नारीवर्ग की भाँति विविध प्रकार के –ङ्गार–हाव-भाव वेश भूषा–विन्यास–नटक-मटक आदि स्त्रैणभावों का अनुगमन करते रहना, आदि आदि भावुकतापूर्ण सभी व्यासङ्ग धृतिगुणविरोधी–निष्ठाविरोधी- गाम्भीर्य्यविरोधी जिस भयानक मानसदोष से अभिव्यक्त होते रहते हैं उसी मानसदोष का नाम है–'माल्व्य', जिसका अबोध बालकों में, सौम्य नारीवर्ग में एवं अशिक्षित–यथा जात–प्राकृत–मानवों में साक्षात्कार किया जासकता है।

मन सोमात्मक है अतएव इस मानस-माल्व्य-दोष को हम सोमानुबन्धी दोष ही कहेंगे। एवं अत्रैव एक प्रासङ्गिक–विशेष तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करदेना चाहेंगे। पूर्व में सम और ज्योति का स्वरूप–समन्वय करते हुए हमने सोम को ज्योतिस्तत्त्व कहा है एवं सुरा को तमोभाव बतलाया है। एवं तत्रैव ज्योतिर्म्मय सोम को ऐन्द्रतत्त्व प्रमाणित करते हुए इसे प्रजापति की गुण–विभूति, तथा तमोमयी सुरा को वारुणतत्त्व रतलाते हुए इसे प्रजापत को दोषविभूति कहा गया है। इन्हीं सोम– सुरात्मक गुण–दोषों को ज्योतिर्म्मयी दैवीसम्पत्ति तथा तमोमयी आसुरी–सम्पत्ति नामों से व्यवहृत करते हुए– गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी' का उद्घोष किया है [देखिए पृ र्ष १२९ –]। अब प्रकृत में– माल्व्य दोष की स्वरूपमीमांसा करते हुए हम सोमात्मक मनस्तन्त्र को भयानकदोष से समन्वित प्रमाणित करने की चेष्टा कर रहे हैं जबकि पूर्व में इसी सोम को ऐन्द्री–ज्योति–विभूति बतलाते हुए मन के स्वरूप–प्रतिष्ठामक–इसी सोम को हमने महान् गुण ही प्रमाणित किया था। पूर्वापरविरोधात्मक यह कैसा वदतोव्याघात !, इसी प्रासङ्गिकी विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए हमें यहाँ इस प्रसङ्ग का पुन स्मरण करना पड़ रहा है।

जैसा कि स्पष्ट किया जाचुका है रसात्मक निवृत्तिप्रधान मन' तथा बलात्मक प्रवृत्तिप्रधान मन , के भेद से एक ही मनक सात्त्विक मन तमामन[1] भेद से शुक्लचन्द्रमा[1], कृष्णचन्द्रमा[2] की भाँति दो स्वरूप होजाते हैं जो द्विविध मन अन्तर्म्मन बहिर्म्मन[2] नामों से भी प्रसिद्ध हैं एवं जिन इन दोनों मनस्तन्त्रों के लिए ही गीता में क्रमश मन्मना' उन्मना भाव अभिव्यक्त हुए हैं। चन्द्रमा के उपरि धरातल पर प्रतिष्ठिता सौरी बुद्धि ही इन्द्रप्राणात्मिका बनती हुई ज्योतिर्म्मयी है। जब चान्द्रमन का इस ज्योतिर्म्मयी सौरी बुद्धि से अन्तर्य्यामात्मक ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध होजाता है तो यही मन सौर–इन्द्र से समन्वित होता हुआ ज्योतिर्म्मय मन बनता है। एवं जब ज्योतिर्म्मयी–ऐन्द्री–बुद्धि के आभ्यन्तर अनुग्रहात्मक-योग से वञ्चित होता हुआ मन ऐन्द्रियक–विषयों में आसक्त होता हुआ भौतिक–पार्थिव तम प्रधान–आप्य–वारुण–आवरणात्मक–संस्कारों से आवृत होजाता है तो यही मन ऐन्द्र–ज्योतिर्मावानुग्रह से वञ्चित होता हुआ तमोभाव में ही परिणत होजाता है। एवं विषयासक्त तमोमय मन ही तथाकथित माल्व्यदोष की प्रसारभूमि मान लिया गया है। इस स्थिति–विश्लेषण के अनन्तर पूर्व में मनोमय सोम को ज्योतिर्म्मय–गुणभाव बतलाना एवं यहाँ उसी सोमात्मक मन को तमोमय–माल्व्य–दोष–मय बतलाना निर्विरोध ही समन्वित होजाता है इतिनु सर्व सुस्थं प्रकृतिस्थमेव।

बुद्धिनिबन्धना स्थिरतालक्षणा निष्ठा से अनुप्राणित–'धैर्य्य' ही मानव के पुरुषार्थ–कर्म्म–निबन्धन– 'पौरुष' की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। गन्धर्व–अप्सरा–प्राण–निबन्धन–सौम्य–मन से अनुप्राणित नृत्यगीत

धर्मोमन भिद से एक ही मन की दो विभिन्न अवस्थायें होजाती हैं, जिन इन दोनों में से सत्वमन का तो बुद्धि के क्षेत्र में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है। फलतः मनस्त्वेन मन तमोरूपेणैव शेष रह जाता है क्योंकि इन्द्रियों के माध्यम से शरीरासक्त बनता हुआ तम से ही अभिभूत रहता है। ऐसा सौम्य मन ही विषयासक्तिरूप प्रवाहतमोरूप--'आवरण' से सदा ही आवृत रहता है। और सौम्य मन के इसी आवरणदोष का नाम है पूर्वप्रतिपादित--'मालव्य' नामक भयानक दोष।

बुद्धि का सहज गुण माना गया है—'धृति' जिस गुण के कारण ही बुद्धिरूप उक्थ की रश्मिरूपा वृत्तियाँ—'धिय' नाम से प्रसिद्ध हैं जैसाकि—'धियो यो नः प्रचोदयात्' से स्पष्ट है। 'स्थिरता' ही धृति का स्वरूप-परिचय है जिस इस बौद्धिकी निरतिशया स्थिरता के अनुरूप से ही यह बौद्धिक-धृतिधर्म्म- नितरां स्थिति' रूप से— निष्ठा' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। व्यवसायात्मिका-धृतिगुणसमन्विता अतएव निश्चित-निर्णयात्मिका ऐसी 'निष्ठाबुद्धि' से समन्वित विवेकशील सात्त्विक मानव ही 'नैष्ठिक' कहलाया है। 'निष्ठया हि प्रतिष्ठा स्यात्' के अनुसार बौद्धिक निष्ठा ही मानव की प्रतिष्ठा का प्रमुख आधार है। बुद्धिका प्रभव सूर्य्य— 'मध्ये एकस्थ एव स्याता -बृहद्व-तस्थौ—भुवनेष्वन्त -सूर्य्यो बृहतीमभ्यूहस्तपति' इत्यादि के अनुसार सौरसम्वत्सर-मण्डल के मध्यवर्ती बृहतीछन्द' नामक विषुवद्-वृत्त के केन्द्र में सर्वथा स्थिररूप से ही प्रतिष्ठित है जिस इस स्थिर-सूर्य्य के चारों ओर 'क्रान्तिवृत्त' के आधार पर तो भूपिण्ड परिक्रमा लगा रहा है एवं अपने दक्षवृत्त के आधार चन्द्रमा भूपिण्ड के चारों ओर परिभ्रममाण है। सूर्य्य क्योंकि स्थितिभावापन्न है अतएव तत्प्रसूता बुद्धि भी अपने प्रातिस्विक धर्म्म से स्थिरधर्म्म की ही प्रयोक्त्री बनी हुई है। बुद्धि का यह स्थिरधर्म्म ही—निष्ठा कहलाया है।

इधर चान्द्र मन नक्षत्राधिपति चन्द्रमा के प्रतिक्षण-विलक्षण-विचक्षण- परिवर्तित होने से उक्त निष्ठारूप-स्थरधर्म्म से प्रकृत्यैव वञ्चित है। अतएव निष्ठाशून्य अतएव च नितान्त मायुक इस चञ्चल* मन को धृतिशून्य ही कहा गया है। इस चाञ्चल्य का ही नाम है—'माल्व्य', जिसके अनुग्रह से मानव सभी क्षेत्रों में व्यर्थे तृष्ण्या' व्यर्थे रुहा' को ही चरितार्थ करता रहता है।

जिस व्यक्ति का मन दुर्भाग्यवश स्थिरधर्म्म-प्रयोक्त्री'-व्यवसायात्मिका-निष्ठाबुद्धि के नियन्त्रण से पृथक् होजाता है मनोवशवर्ती वह मानव अपने मानस-भावों को उसी प्रकार अस्तव्यस्तरूप से, अनर्गल-रूप से विभिन्न शारीरिक-हस्त-पाद-मुख-नेत्रादि-मुद्राओं से अभिव्यक्त करता रहता है जो भावभङ्गिमायें शिष्टजन-सम्प्रदाय में ग्लानिकर ही मानी गई हैं। बात बात पर प्रचण्ड अट्टाट्टहास [फूत्कारपूर्वक से मुख-विवर को विदीर्ण कर हा-हा-ही-ही-हो-हो-हो—इत्यादिरूप से प्रचण्डहास] करते रहना कराया करते रहना [ताली बजाते रहना चुटकी बजाते रहना] पादाघात [पैर पटक पटक कर धमाधम करते-पट-पट-करते चलना अथवा तो पैर रगड़-रगड़ कर घिसते हुए चलना] मुखवाद्य [सीटी बजाना मुख से थप्-थप्

*—चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथिबलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरपि सुदुष्करम् ॥
—गीता ।

इन्हीं मृत पृथिवी का सनुदार है, जिस इस तथ्य का ही सुप्रसिद्ध 'वराहपुराण' में विस्तार से यशोगान हुआ है।

समुद्र-आप में वायु के प्रवेश से तथा अग्निरूप तेज-संयोग से होने वाली क्रमिक घनता से ही आप-फेन-मृत्-सिकता-शर्करा-अश्मा-अय-हिरण्य-इन आठ पर्वो के तारतम्य से, इन आठों की चिति, संचिति से भूपिण्ड का स्वरूप-निर्माण हुआ है। एवं इस भूत आप्य-वारुण-भूपिण्ड से ही पाञ्चभौतिक-शरीर का निर्माण हुआ है। अतएव मन जहाँ चान्द्र कहलाता है वहाँ शरीर पार्थिव कहलाता है। पूर्वप्रतिपादित सोमतत्त्व का जहाँ प्रधानरूप से सौम्य मन से सम्बन्ध है, वहाँ सुरातत्त्व का इस पार्थिव-आप्य-शरीर से ही प्रधान सम्बन्ध माना जायगा। मन को यदि सोम का प्रतिरूप माना जायगा, तो शरीर को सुरा का ही प्रतिरूप माना जायगा। आधिदैविक जगत में यदि चन्द्रमा सोम एवं पृथिवी सुरा (वारुणी-आप्या) है तो अध्यात्मजगत् में मन सोम है, और शरीर सुरा है। सौम्यमन इन्द्रियों के द्वारा शारीरिक भोगों का भोक्ता बना हुआ एकप्रकार से शरीर का भी भोक्ता बना हुआ है। भोक्ता की परिभाषा पुरुष है, एवं भोग्य की परिभाषा स्त्री है। इसी सामान्य-अनुबन्ध के अनुपात से सौम्य भोक्ता मन को यदि-'पुरुष' कहा जासकता है, तो आप्य-भोग्य--शरीर को स्त्री कहा जासकता है। मन क्योंकि सोम का प्रतिरूप है, अतएव सोम का पुरुष कहा जासकता है। एवमेव शरीर सुरा का प्रतिरूप है अत-एव सुरा को स्त्री कहा जासकता है। इसीलिए तो 'सुरा' शब्द के साथ ही लोक में 'सुन्दरी' (स्त्री) शब्द भी समन्वित होपड़ा है। सुरा का और सुन्दरी (स्त्री) का साक्षात् सम्बन्ध है, इस समन्वय का यही निष्कर्ष है-"पुमान् वै सोम , स्त्री सुरा"(तैत्तिरीय ब्राह्मण-१।३।३।४।)

अहृदय-अशरीर, अतएव स्वप्रतिष्ठा से वञ्चित अतएव च परप्रतिष्ठा-आपन्न और इसीलिए भोग्यकोटि में समाविष्ट तत्त्व का ही पारिभाषिक नाम है— ऋतम् । ठीक इसके विपरीत सहृदय-सशरीरी, अतएव स्वप्रतिष्ठात्मक, अतएव च भोक्तृकोटि में समाविष्ट तत्त्व का ही नाम है-'सत्यम्'। 'सत्यं ऋतेऽपि ऋतं सत्येऽपि' इस अनुगमश्रुति के अनुसार दोनों दोनों में ओतप्रोत है यही ऋतसत्या-त्मक-सृष्टिमूलभूत-प्रकृतिसिद्ध-रहस्य है। मानव का आत्मा और बुद्धि नामक दोनों पर्व उक्त परि-भाषानुसार 'सत्यम्' है एवं अहृदय-अशरीर- ऋतसोम' तथा ऋत आप् तत्त्व से समुद्भूत मन और शरीर, दोनों 'ऋतम्' है। ऋतम् ही अपनी ऋतघनता से 'अनृतम्' है, वैसाकि मद्भूतप्राण 'अमृत्' कहला रहा है। ऋतात्मक सोम यदि पूर्वकथनानुसार सत्य-सौर-चान्द्रिक इन्द्र से समन्वित रहता है तो उस अवस्था में तो इस ऋत भी सोम श्री-रूपस्वरूप में परिणत होजाती है- सत्य वै श्रीर्ज्योतिः' माम (शत ५।१।२।१ ।)। यदि इस ऋत मन का सौर-चान्द्रिक-रूप के साथ योग न होकर शारी-रिक-आप्य-पार्थिव-वारुण-भोगों में ही विनियन है तो उस अवस्था में इस का सहज-सौम्य-ऋतात्मक अनृतभाव ही प्रधान बन जाता है। उस अवस्था में तो शारीरिक-आप्य-सुरातत्त्ववत् ये मानस-ऋतसोम भी अनृतमावापन्न सुरा के रूप में ही परिणत होजाता है— 'अनृत पाप्मा-तम-सुरा' (शत - ५।१।२।१)।

वाय्वात्मक सजीव निश्चयेन मानव के पौरुष-प्रवर्त्तक 'वैर्य्य' को विकम्पित ही कर देता है। इस धृतिविच्युति का ही नाम है— माल्म्यदोष' जो भूतजगत् में-'सुरा [मद्य-शराब] से समनुगत है। तादात्म्य करते रहने वाले पौरुषविहीन यक्षवर्ग (हिजड़े-गतराड़े-भोंड-आदि) सुरामक इसी माल्म्यदोष' से आपाद मस्तक समाच्छुत रहते हैं। अतएव आचारनिष्ठात्मक-कर्त्तव्यपथानुगमन तत्त्वचिन्तन मनन आदि आदि वैर्य्यमात्रनिबन्धन निष्ठापथ स्ववर्ग के लिए दूरत ही प्रशम्य बने रहते हैं, जो कि धृतिमूलक निष्ठापथ ही ब्राह्मण का वर्णानुबन्धी प्रमुख कर्त्तव्य माना गया है। एकमात्र इसी अनुबन्ध से श्रुति ने-'तस्माद्ब्राह्मणो न गायेत न नृत्येत' यह आदेश प्रदान किया है। सुप्रसिद्धा मैत्रायणी श्रुतिने धृतिगुण विरोधी तथाकथित माल्म्यदोष का इन शब्दों में स्पष्टीकरण किया है—

"अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो वैर्य्यमासीत्, अर्द्धं माल्म्यम्। यद्वैर्य्यं, तत्-पुरस्तात् कृतम्। यन्माल्म्यं, तत् पश्चात् पर्य्योहत। यद्वैर्य्यं-सोम सः। ततो ब्राह्मण मसृजत। तस्माद् ब्राह्मणः सर्व एव अयामिधीर। यन्माल्म्यं, सुरा वै सा। ततो राजन्यमसृजत। तस्माज्ज्यायांश्च, कनीयांश्च स्नुषा च श्वसुरश्च सुरां पीत्वा विलालपत आसते। माल्म्यं हि तत्। पाप्मा वै माल्म्यम्। तस्मात् ब्राह्मण सुरां न पिबेत्। पाप्मना-आत्मान नेत् संसृजा-इति"।

—मैत्रायणीश्रुति

यह तो हुआ सोममय-मानसिक- माल्म्यदोष' का स्वरूपेतिवृत्ति-समन्वय। अब क्रमप्राप्त उस-'आम्ला' नामक दूसरे भयानक दोष की स्वरूप मीमांसा भी कर लीजिए, जिसका वैज्ञानिक महर्षियोंने मानव के भौतिक शरीर के साथ प्रधान सम्बन्ध माना है। जिसप्रकार मन का स्वरूप-निर्म्माण-भागीव सोम से हुआ है एवमेव शरीर के निर्म्माण में प्रधान द्रव्य भागव-वारुण-आप्-तत्त्व ही बना हुआ है। मन-सौम्य है तो शरीर आप्य है। क्योंकि मन का प्रभव चन्द्रमा सौम्य है, तो शरीर का प्रभव भूपिण्ड आप्य है। 'समुद्रमभितः पिन्वमानम्' * के अनुसार भूपिण्ड रोदसीत्रैलोक्य के सुप्रसिद्ध चरमावापन्न अतएव वारुण अतएव च अपेय + 'अरणव समुद्र' के ही गर्भ में प्रतिष्ठित है जिस अर्णवसमुद्र में परमाणुरूप से व्याप्त पार्थिवपरमाणुओं का सुप्रसिद्ध-एमूषवराह' नामक 'भूवायु से ही संवरण होता रहता है। इसी संवरण, एवं आप्ति व्याप्तिकर्म्म से पुञ्जीभूत होजाने वाले वे ही पार्थिव परमाणु आगे चलकर 'भूपिण्ड' रूप में परिणत होजाते हैं। यही वराहभगवान् के द्वारा समुद्र में

---

* अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम्।
वर्द्धमानो महाँ आ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व ॥
—यजु सं० ११।२।

— तासामन्या अन्यतरा अतिलवणा-क्षारकम्मान्विता अपेया -सा अर्णान्तरा - आपः-समुद्र भूत्वा- अतिष्ठन्। (गो० ब्रा १।१।)—

तमोमयी–निद्रा–तन्द्रा–आलस्य–दीर्घसूत्रता–भय–क्रोध आदि आसुरभावों की प्रवर्तिका महामोहमयी इस सुपरिमुग्ध-योगमाया से ही तो मानव मोहाविष्ट बने रहते हैं *। 'पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्' से स्पष्ट ही तथाकथित वारुणभावों का मदिरात्व-समन्वित है ।

वारुण-पार्थिव-क्षारभावापन्न-मलीमस-मूर्ति भावान्वित अर्णवसमुद्र में अपनी मूलप्रतिष्ठा प्रतिष्ठित रखने वाले तथोपवर्णित सुराभाव से सम्बन्ध रखने वाले शारीरिक-उन्मादों का ही नाम है —'आग्लानि' नामक वह महादोष, जिस के अभिव्यक्त होजाने पर मानव का शरीर सर्वथा ही स्वस्वरूप-प्रतिष्ठा से विकम्पित होजाता है । हर्षक्षयात्मक 'ग्लै' धातु (ग्लै–म्लै–हर्षक्षये–भ्वादि प० ७।३।७२ सू०) ही 'आङ्' उपसर्ग से समन्वित होकर 'आग्लानि' रूप में परिणत हुआ है ।

लोकव्यवहार में-स्वस्थता और प्रकृतिस्थता, नामक दो शब्द प्रचलित हैं । यद्यपि सर्वसामान्य की दृष्टि में दोनों शब्द अभिन्नार्थक ही बने हुए हैं । किन्तु तत्त्वदृष्ट्या ये दोनों शब्द सर्वथा विभिन्नार्थों के ही समाहक बने हुए हैं । मानव की अध्यात्मसंस्था पुरुष और प्रकृति इन दो विभिन्न तत्त्वों का समन्वय है । आत्मा और धीर-इन्द्रानुगत-बुद्धितत्त्व इन दो पर्वों की समष्टि का नाम तो है 'मानवीय-पुरुष' तथा मन, और शरीर, इन दो पर्वों की समष्टि का नाम है— मानवीय-प्रकृति' । आत्मबुद्धि–समन्वित पुरुषभाव ही मानव का 'स्व' भाव है एवं मन –शरीर समन्वित प्रकृतिभाव ही मानव का 'पर' भाव है । पुरुषरूप–'स्व'–भाव की स्वस्वरूप में स्वरूपानुगति स्थिति ही मानव की 'स्वस्थता' है, एवं प्रकृतिरूप 'पर' भाव की स्वस्वरूप में स्थिति ही मानव की 'प्रकृतिस्थता' है । जो मानव आत्मबुद्धिलक्षण समदर्शनात्मक आत्मसाम्य से समदर्शी बना रहता है, रागद्वेषविमुक्त ऐसा ही मानव 'स्वस्थ' मानव कहलाया है जिस का परिणाम है आत्मप्रसाद एवं बौद्धिकी निष्ठा ।

एवमेव जो मानव मन –शरीरलक्षण–प्रकृतिसिद्ध–विषम–विभक्त–वर्चनात्मक–स्वधर्मात्मक आचारधर्म्म का अनुगामी बना रहता है यथाक्रमपेक्षा प्राकृत-विरक्त-कर्म्मों के अनुयायी ऐसे मानव की प्रकृति ही इसे लोकस्थिति का अनुगामी बनाए रहती है जिस लोकस्थिति का ही नाम है—तुष्टि से समन्विता पुष्टि । आत्मानुगता शान्ति एवं बुद्ध्यनुगता तृप्ति, ये दोनों स्वस्थता के किंवा स्वस्थ पुरुषमानव के लक्षण हैं । एवं मनोऽनुगता तुष्टि एवं शरीरानुगता पुष्टि ये दोनों प्रकृतिस्थता के किंवा पररूप 'प्रकृतिमानव' के लक्षण हैं । पुरुषनिबन्धना–शान्ति–तृप्ति–रूपा स्वस्थता एवं प्राकृतिनिबन्धन तुष्टि–पुष्टि–रूपा–प्रकृतिस्थता, इन दोनों धर्मों से समन्वित पुरुषश्रेष्ठ ही उस प्रसादगुण का अनुगामी बना रहता है जिस प्रसादगुण की अभिव्यक्ति से मानव का आत्मा अद्वैत शान्तिरूप संविद्भाव से बुद्धि निष्ठाधर्म्म से मन श्रद्धा–वात्सल्य–स्नेह–काम–रति–भेद भिन्न पञ्चविध–प्रकृतिसिद्ध प्रेमाकर्षण से एवं शरीर अनुरूपा भुक्ति से समन्वित रहता है । यही इस की मानवीया अध्यात्मसंस्था का प्रसादगुणात्मक वह सहज 'आनन्द' भाव है जिसकी अभिव्यक्ति लोकजीवन में हर्ष–उल्लास–मङ्गलोत्सव–पर्वादि–मङ्गलाचारों के रूप में होती रहती है ।

---

* नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः । (गीता)
योगमाया हरश्चैतत् तया सम्मोह्यते जगत् ॥ (सप्तशती)

ऋतसोमात्मक चन्द्रमा यदि * गन्धर्व है तो ऋत आपोमयी-पृथिवी-अप्सुसरणशील-स्वात-अप्सरा है-'मनो गन्धर्व (शत ९।४।१।१२।)। [1] चन्द्रमा-[2] पृथिवी [1] मन-[2] शरीर [1] सोम-[2] सुरा [1] गन्धर्व- अप्सरा इत्यादि विविध द्वन्द्वभावों से समन्वित इन मानसिक-शारीरिक ऋतप्रधान, अतएव अनृतमावापन्न-भावों के परिणाम हैं-मानसिक-शारीरिक-कामभोग-हास-परिहास आमोद प्रमोद-गन्ध सुगन्ध -मिथुन-क्रीड़ा आदि निष्ठाविरोधी-भाव, जैसा कि निम्नलिखित वचनों से स्पष्टरूपेण प्रमाणित है—

१—गन्धेनैव च रूपेण च-गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति (शत ९।४।१।४)।

२—योषित्कामा वै गन्धर्वाः (शत० ३।२।४।३)।

३—स्त्रीकामा वै गन्धर्वा (ऐ ब्रा० १।२७)।

४—सोमो गन्धाय (ता ब्रा० १।१।९)।

५—गन्धो मे, मोदो मे, प्रमोदो मे, तन्मे युष्मासु (जै उ ३।२५।४)

६—उपद्रवं गन्धर्वाप्सरोभ्यः प्रायच्छत् (जै० ब० ३।१२।१)।

७—गन्धर्वाप्सरसो वै मनुष्यस्य प्रज्ञाया वा प्रज्ञस्ताद्वावेशते । (ता १९।३।२)।

८—गन्ध-इत्यप्सरस उपासते (शत १०।५।२।२)।

९— किंतु तेऽस्मासु अप्सरस्सु-इति ?-हासो मे, क्रीड़ा मे, मिथुनम्मे ।
(जै उ ३।२५।९)।

आपोमय-पाञ्चभौतिक ही सुरातत्त्व है, आपोमयी ही पृथिवी है एवं पूर्वप्रदर्शिता-पञ्चाग्नि-विद्या के अनुसार आपोमय ही शरीर है। अतएव चान्द्रमन को यदि 'सोम' कहा जासकता है तो अवश्य ही पार्थिव शरीर को सुरा माना जासकता है माना गया है आगमशास्त्र में। पाञ्चभौतिक शरीर ही भोगभावात्मक-वह आवरण है जिस के आवरण से आवृत मन बुद्धि आत्मा सभी कुछ मोहाविष्ट बनते हुए स्वस्वरूप से उसीप्रकार अभिभूत होजाते हैं जैसेकि सुरापी मानव अपना सबकुछ विवेक-विस्मृत कर देता है। 'किमर्थं-कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्' मूला निष्ठाभक्ति पलायित होजाती है एवं शेष रहजाता है शारीरिक मदिरात्मक-भौतिक-आमोदन । पार्थिव रस का एक पारिभाषिक नाम है—'इरा'। इस 'इरा' रस के सम्बन्ध से ही-पार्थिव भाग-इरामय कहलाता है-(ऐ ब्रा २।१।१)। अपने स्वरूप-विमोहक-आसुर-धर्म से सचमुच ही तो यह इरारस-'मादकगुण' से समन्वित होरहा है। तभी तो पार्थिव भाग को सुरा-सोमात्मक माना गया है। इस मदभाव के कारण ही इस मादक-पार्थिव-सुरातत्त्व का एक नाम-'मदिरा (मदभावप्रवर्त्तिका-इरा-रसो-यस्या') भी होगया है। आमरणान्तिका

* चन्द्रमा गन्धर्व (शत ९।४।१।९)। आपो अप्सरसः (यजुर्वे० १८।४१— शत ९।४।१।१)। 'सोमो-राजा इत्याह-तस्या-अप्सरसो विश'—इति युवत्यः शोभमाना उपसमेता भवन्ति-ता उपदिशति-अङ्गिरसो वेद' सोऽयमिति । (शत १३।४।३।८)।

ध्वनी-नर्तन-वादन-अमृध्यात्मक-सङ्गीत के प्रति कम से कम भारतीय-मानवसमाज का तो आत्मना सदस्य ही मान लेना पड़ रहा है । हमारी मान्यता का इस दिशा में कोई महत्त्व नहीं है । यह तो उन महामहर्षियों की स्पष्ट मान्यता है जिस की आगरूकता में आज भी नैष्ठिक ब्राह्मण नर्तन गायन-वादनात्मक, अतएव मात्स्य-वास्ना-शापाभिसम्बन्ध-सङ्गीत का अपनी स्वाध्यायनिष्ठा में, भारतीयनिष्ठा में कोई प्रश्रय नहीं दे सकता, नहीं ही देना चाहिए-यदि इस-'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' पर अणुमात्र भी आस्था है, तो ।

मनोऽनुगत-सोमात्मक-श्रुतभाषानुबन्धी-अतएव-अद्भुत-भाषा-भाषानुबन्धी मानसिक-मात्स्य से सर्वथा समन्वित शरीरानुगत-सुरात्मक-श्रुतभाषानुबन्धी-अतएव अद्भुत-भाषा-भाषानुबन्धी-शारीरिक पूर्वोपवर्णित हर्षप्रकर, आत्मप्रसाद के विघातक इसी आम्ला (?) की प्रवृत्तिभिदा स्वरूप-स्थिति का लक्ष्य बना कर गोपथ—श्रुति ने कहा है—

'तस्यात्मभयत्त । तेन प्राज्ज्वलयत् । यदात्मभाषत्त (तदात्मपरित्यक्तमत्र) 'आग्ला'-अभवत् । तत्-आग्ला भूत्वा सा समुद्र (वारुणसमुद्र-अम्बरसमुद्र-पारसमुद्र) प्राविशत् । सा आग्ला-समुद्रमदहत् । तस्मात्-समुद्रो दुर्गिरपि वैश्वानरस्य हि [illegible] । सा-आग्ला-पृथिवीमुर्त् । सा पृथिवी व्यदहत् । सा-आग्ला-देवान् (पार्थिव-देवान्) आगच्छत् । सा देवानहिंसत (तिरस्कृतवती) । न देवा ब्राह्मणमुपाधावन् । "स-ब्राह्मण-नैव-अगायत, न अनृत्यत" । सैषा-आग्ला-ब्राह्मणी नाम । त सा एत (आग्लया-समन्वित) आग्लादन मन्त्र-'आग्लागृध' इत्याचक्षत-परोक्षेण" ।

—गोपथब्राह्मण पू० ० प्र० । २१ ब्रा० ।

[illegible] नैष्ठिक ब्राह्मण नृत्त-गान-निरूपण, [illegible] 'प्रथा' [illegible]

[illegible] मात्स्य [illegible] विस्मृति [illegible] ।

ज्ञान-कर्म-[illegible] मानसिक-[illegible] [illegible] (ज्ञान/कर्म) [illegible] (ब्राह्मण) [illegible]

आप्य-वारुण-सुरात्मक-शरीरनिकम्पन को भयानक-आसुर दोष मानव के पुरुष-प्रकृत्यनुगत-यथाविध स्वस्थता-प्रकृतिस्थता प्रवर्त्तक उस प्रसादगुण को अभिभूत कर देता है प्रसादगुण की जिस इस अभिभूति से मानव की आत्मानुगता प्रशान्ति क्षोभरूप में, बुद्ध्यनुगता निष्ठा संशयरूप में मनोऽनुगत प्राकृतप्रेम भोगासक्तिरूप में एवं शरीरानुगता पुष्टि क्षयरूप में परिणत होजाती है, लोकजीवनानुगत-सम्पूर्ण-हर्ष-उल्लास-सर्वथैव-क्षीण होजाते हैं उसी आसुर-वारुण-भयानक दोष का नाम है— आग्ला जिस की तद्दोषयुक्त मानवों में सर्वात्मना-अभिव्यक्ति देखी जाती है। जिस अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष उदाहरण वह 'सुरापी आग्ला-मानव' ही बना हुआ है, जिसका सुरानुगत आम्लादोष से सर्वप्रथम-समानानुबन्ध से शरीर ही विकम्पित होने लगता है। शरीर विकम्पन के साथ ही मन विकम्पित होजाता है। मन के विकम्पित होते ही तत्प्राणरूपा इन्द्रियाँ विकम्पित होजाती हैं। सभी इन्द्रियाँ इस विकम्पनावस्था में प्रकृतिस्थता से पराङ्मुख होती हुई अनर्गल-भावों की ही अनुगमामिनी बन जाती हैं। शरीर-मन-इन्द्रिय-वर्गों के विकम्पित होते ही मानस प्रज्ञानधरातल पर प्रतिष्ठित रहने वाली बुद्धि खण्ड-खण्डरूप में परिणत होजाती है। बुद्धिनाश से अन्ततोगत्वा आत्मप्रसाद् सर्वथैव अभिभूत होजाता है। और यों इस सुराजनित-शरीरकम्पन आम्लादोष से मानव की लोकजीवनानुगता सभी हर्षपरम्पराएँ क्रम क्रमशः सर्वथैव क्षीण होजाती हैं। इसीलिए तो हर्षक्षयात्मक-'ग्लै' धातु से इस दोष का 'आम्ला' नाम रखना अन्वर्थ बन रहा है। जय की दृष्टि से इस सुरादोष से कुछ भी तो नहीं बचता। आत्मा-बुद्धि-मन'-शरीरात्मक-पुरुष-प्रकृत्यात्मक-स्वस्थता-प्रकृतिस्थतानुबन्धी सभी कुछ तो म्लान-म्लान होजाते हैं। 'आङ्' उपसर्ग इसी 'सर्वविनाश' का सूचक है। और 'आसमन्तात्-म्लान-रूप' आम्ला'-दोष का यही संक्षिप्त स्वरूपेतिवृत्त है।

उक्त सोम-सुरा-सन्दर्भ से अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि मानव का सौम्य मन सोमात्मक मालिम्लुदोष से एवं वारुण-अतएव वारुणीरूप शरीर-सुरात्मक 'आग्लादोष' से समन्वित है। इन दोनों दोषों को हटाने के लिए ही शास्त्रात्मिका-आचारनिष्ठा अभिव्यक्त हुई है महर्षियों के द्वारा जिस आचारात्मिका निष्ठा के कर्म्म -भक्ति -ज्ञान[3]-नामक तीन प्रसिद्ध तन्त्र माने गए हैं जिनका कि वेदशास्त्र के विध्यात्मक-ब्राह्मणभाग, आरण्यकभाग उपनिषद्भाग-इन तीन भागों के द्वारा क्रमशः स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। इस आचारनिष्ठा में मानव का आत्मानुगत बुद्धितन्त्र ही प्रमुख सहयोगी बना रहता है। मन और शरीर उसी सीमापर्य्यन्त इस आचारनिष्ठा के अनुयायी बने रहते हैं बने रह सकते हैं जबतक कि बुद्धि के द्वारा मन-शरीर का नियन्त्रण रहता है। बुद्धि के नियन्त्रण से पृथक् होते ही मन-शरीर-दोनों स्वैराचारपरायण बन जाते हैं। इस स्वैराचारिता से निश्चयेन-मनस्तन्त्र में क्षणान्तर में मालिम्लुदोष अभिव्यक्त होजाता है, एवं शरीर में आम्लादोष अभिव्यक्त होजाता है क्योंकि इनके स्वरूप में प्रकृत्या ही बीजरूप से प्रतिष्ठित हैं। इन दोनों के अभिव्यक्त होते ही पुरुषानुगता निष्ठा अभिभूत होजाती है निष्ठा के अभिभूत होते ही आचारधर्म्म शिथिल होजाता है। शेष रह जाते हैं— अनाचार'।

सद्भाव के प्रति सर्वात्मना आदरभाव रखते हुए भी सद्भाव के मूलप्रतिष्ठारूप नाद-श्रुति-स्वर-जैसे महतोमहीयान-उदात्तभावों के प्रति सर्वात्मना आस्था-श्रद्धा-रखते हुए भी हमें प्रकृतिविरुद्ध के तथाकथित मानस सोम तथा शारीरिक सुरा-भावों से अनुप्राणित-आत्मबुद्धिनिष्ठा के महान् प्रतिद्वन्द्वी मालिम्लु और आग्ला-दोषों के सम्बन्ध से शरीरानुगत मानसभावानुबन्धी-प्रश्न एवं मनोऽनुगत-शरीरभावानु

कभी-नर्तन-वादन-समष्ट्यात्मक-सङ्गीत के प्रति क्रम से क्रम आत्मबुद्धिनिष्ठ-भारतीय-ब्राह्मण को तो आत्मना तटस्थ ही मान लेना पड़ रहा है। हमारी मान्यता का इस दिशा में कोई महत्त्व नहीं है। यह तो उन महामहर्षियों की स्पष्ट सी मान्यता है, जिस की आगरुकता में कोई भी नैष्ठिक ब्राह्मण नर्तन गायन-वादनात्मक, अतएव मानस्य आम्ला-रागामिश्र-प्रपञ्च-सङ्गीत को अपनी स्वाध्यायनिष्ठा में, आचारनिष्ठा में कोई प्रश्रय नहीं दे सकता, नहीं ही देना चाहिए—यदि इस-'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' पर अणुमात्र भी आस्था है, तो।

मनोऽनुगत-सौमात्मक-स्वतमात्रानुबन्धी-अतएव-अनृत-पाप्मा-मात्रानुबन्धी मानसिक-मालस्यभाव से नित्य समन्वित शरीरानुगत-सुरात्मक-स्वतमात्रानुबन्धी-अतएव अनृत-पाप्मा-मात्रानुबन्धी-शारीरिक पूर्वोपवर्णित ह्रासप्रकार, आत्मप्रसाद के विघातक इसी आम्लाभाव की प्रकृतिसिद्धा स्वरूप-स्थिति को लक्ष्य बना कर गोपथ—श्रुति ने कहा है—

'तस्यात्मभ्रशत्त। तेन प्राज्वलयत्। यदात्मभाधच (तदात्मपरित्यक्तमेव) 'आम्ला'-अभवत्। तत्-आम्ला भूत्वा सा समुद्र (वारुणसमुद्र-अर्णवसमुद्र-क्षारसमुद्र) प्राविशत्। सा आम्ला-समुद्रमदहत्। तस्मात्-समुद्रो दुर्गिरपि वैश्वानरस्य हि दग्धः। सा-आम्ला पृथिवीमुदैत्। सा पृथिवीं व्यदहत्। सा-आम्ला-देवान (पार्थिव-देवान्) आगच्छत्। सा देवानहिंसत (तिरस्कृतवती)। ते देवा ब्राह्मणमुपाधावन्। "स-ब्राह्मणो-नैव-व्यगायत, न व्यनृत्यत'। सैषा-आम्ला-काशविशा नाम। त वा एत (आम्लया-समन्वित) आम्लाहत मन्त-'आम्लागृध' इत्याचक्षत-परोक्षेण"।

—गोपथब्राह्मण पू० २ प्र० । २१ ब्रा० ।

आत्मबुद्धिसम्मत सोम्यनिष्ठ-काश का अन्यतम चिन्तक नैष्ठिक ब्राह्मण मन-शरीर-निकन्धन, गन्धवाप्सराप्राण-समाक्रान्त अतएव-भाग-सुरात्मक अतएव च मानस्य एवं 'आम्ला' भाव से काम्यालीकृत-रूपभूत नर्तन-गायन-वादनात्मक-सङ्गीत का यदि अनुगमन करता है, तो निश्चयेन 'तनन-नरी म-स-न-न-री-म-रीम-ताक्-धिना-धिन-धूम धूम-ध-न-न-न-ता-सा-ध-द आदि-आदि-विविध-विविध-विचित्र विचित्र-भावभङ्गिमाओं से आन्दोलित—विलोडित ता ता-हू-हू-ही-ही आ आ-आ आदि-आदि विविध मुद्राओं से प्रादुर्भूत विड-रा विड राका रा रा आदि तन्तुध्वनियों से मुखरित-रसभूत भाव-विभावादि से कृतरूप-सङ्गीत से नैष्ठिक का भी मन शरीर विस्मयमान ही बन जाया करता है, जिस विस्मयमानता से ही कालान्तर में 'स्वरूप-विस्मृति' हो जाया करती है। अतएव आत्मबुद्धिसम्मत निष्ठा के क्षेत्र में तो कदापि नर्तन-गायन-वादनात्मक-सङ्गीत जैसे भावुकतापूर्ण मन शरीर-व्यामोह को प्रश्रय नहीं ही मिल सकता नहीं ही मिलना चाहिए।

ज्ञान-कर्म-भक्ति-नाम की त्रिविध आचारनिष्ठाओं का क्रमशः आत्मा-बुद्धि-मन-इन तीन मानवीय-पर्वों के साथ क्रमिक सम्बन्ध माना गया है। आत्मानुगत चिन्तन-मननात्मक आचार, (अनुशीलन) बुद्ध्यनुगत-आचारात्मक-आचार (कर्मकर्माचरण) इन दो धर्मों में तो मनोव्यामोह का प्रश्रय क्वचित्

आप्य-वारुण-सुरात्मक-शरीरनिबन्धन जो भयानक-आसुर दोष मानव के पुरुष-प्रकृत्यनुगत-उभाविध स्वस्थता-प्रकृतिस्थता-प्रवर्तक सहज प्रसादगुण को अभिभूत कर देता है प्रसादगुण की जिस इस अभिभूति से मानव की आत्मानुगता प्रशान्ति क्षोभरूप में, बुद्ध्यनुगता निष्ठा संशयरूप में, मनोऽनुगत प्राकृत प्रेम भोगासक्तिरूप में एवं शरीरानुगता पुष्टि क्षयरूप में परिणत होजाती है, लोकजीवनानुगत-सम्पूर्ण-हर्ष-उल्लास-सर्वथैव क्षीण होजाते हैं उसी आसुर-वारुण-भयानक दोष का नाम है— आम्ला जिस की तद्‌गुणक मानवों में सर्वात्मना-अभिव्यक्ति देखी जाती है। जिस अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष उदाहरण यह सुरापी आम्ला-मानव ही बना हुआ है, जिसका सुरानुगत आम्लादोष से सर्वप्रथम-समानानुक्रम से शरीर ही विकम्पित होने लगता है। शरीर विकम्पन के साथ ही मन विकम्पित होपड़ता है। मन के विकम्पित होते ही तत्प्राणरूपा इन्द्रियाँ विकम्पित होपड़ती हैं। सभी इन्द्रियाँ इस विकम्पनावस्था में प्रकृतिस्थता से पराङ्‌मुख होती हुई अनर्गल-भावों की ही अनुगामिनी बन जाती हैं। शरीर-मन-इन्द्रिय-वर्गों के विकम्पित होते ही मानस प्रज्ञानधरातल पर प्रतिष्ठित रहने वाली बुद्धि लयक-लयरूप में परिणत होजाती है। बुद्धिनाश से अन्ततोगत्वा आत्मप्रसाद सर्वथैव अभिभूत होजाता है। और यों इस सुराजनित-शरीरनिबन्धन आम्लादोष से मानव की लोकजीवनानुगता सभी हर्षपरम्पराएँ क्रम क्रमशः सर्वथैव क्षीण होजाती हैं। इसीलिए तो हर्षक्षयात्मक-'म्लै' धातु से इस दोष का 'आम्ला' नाम रखना अन्वर्थ बन रहा है। क्षय की दृष्टि से इस सुरादोष से कुछ भी तो नहीं बचता। आत्मा-बुद्धि-मन-शरीरात्मक-पुरुष-प्रकृत्यात्मक-स्वस्थता-प्रकृतिस्थतानुबन्धी सभी कुछ तो म्लान-म्लान होजाते हैं। 'आङ्' उपसर्ग इसी 'सर्वविनाश' का सूचक है। और आसमन्तात्-म्लान-रूप 'आम्ला'-दोष का यही संक्षिप्त स्वरूपेतिहास है।

उक्त सोम-सुरा-सन्दर्भ से अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि मानव का सौम्य मन सोमात्मक मात्स्यदोष से एवं वारुण-अतएव वारुणीरूप शरीर-सुरात्मक- 'आम्लादोष' से समन्वित है। इन दोनों दोषों को हटाने के लिए ही शास्त्रसिद्धा-आचारनिष्ठा अभिव्यक्त हुई है महर्षियों के द्वारा जिस आचारसिद्धा निष्ठा के कर्म्म -भक्ति[१]-ज्ञान[२]-नामक तीन प्रसिद्ध तन्त्र माने गए हैं जिनका कि वेदशास्त्र के विध्यात्मक-ब्राह्मणभाग आरण्यकभाग उपनिषद्भाग-इन तीन भागों के द्वारा क्रमशः स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। इस आचारनिष्ठा में मानव का आत्मानुगत बुद्धितन्त्र ही प्रमुख सहयोगी बना रहता है। मन और शरीर उसी सीमापर्य्यन्त इस आचारनिष्ठा के अनुयायी बने रहते हैं बने रह सकते हैं जबतक कि बुद्धि के द्वारा मन-शरीर का नियन्त्रण रहता है। बुद्धि के नियन्त्रण से पृथक् होते ही मन-शरीर-दोनों स्वैराचारपरायण बन जाते हैं। इस स्वैराचारिता से निरङ्कुश-मनस्तन्त्र में कालान्तर में मात्स्यदोष अभिव्यक्त होजाता है एवं शरीर में आम्लादोष अभिव्यक्त होजाता है जोकि इनके स्वरूप में प्रकृत्या ही बीजरूप से प्रतिष्ठित हैं। इन दोषों के अभिव्यक्त होते ही पुरुषानुगता निष्ठा अभिभूत होजाती है निष्ठा के अभिभूत होते ही आचारधर्म्म शिथिल होजाता है। शेष रह जाते हैं—'अनाचार'।

सङ्गीत के प्रति सर्वात्मना आदरभाव रखते हुए भी सङ्गीत के मूलप्रतिष्ठारूप नाद-श्रुति-स्वर-जैसे महतोमहीयान्-उदात्तभावों के प्रति सर्वात्मना आस्था-श्रद्धा-रखते हुए भी हमें महर्षिविषय के तथाकथित मानस सोम तथा शारीरिक सुरा-भावों से अनुप्राणित-आत्मधर्म्मनिष्ठा के महान् प्रतिरोधी मात्स्य और आम्ला-दोषों के सम्बन्ध से शरीरानुगत मानसभावानुबन्धी-भावन, एवं मनोऽनुगत-शरीरभावानु

नृत्य-नर्त्तन-वादन-समष्ट्यात्मक-सङ्गीत के प्रति कम से कम आत्मबुद्धिनिष्ठ-भारतीय-ब्राह्मण को तो सर्वात्मना तटस्थ ही मान लेना पड़ रहा है । हमारी मान्यता का इस दिशा में कोई महत्त्व नहीं है । यह तो उन महामहर्षियों की स्पष्ट मान्यता है जिस की आगस्त्यकथा में कोई भी नैष्ठिक ब्राह्मण नर्त्तन गायन-वादनात्मक, अतएव-मालस्य आम्ला-दोषाभिव्यञ्जक-सङ्गीत को अपनी स्वाध्यायनिष्ठा में आचारनिष्ठा में कोई प्रश्रय नहीं दे सकता नहीं ही देना चाहिए—यदि इसे-'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' पर अणुमात्र भी आस्था है, तो ।

मनोऽनुगत—सोमात्मक-अमृतभावानुबन्धी-अतएव-अनृत-पाप्मा-भावानुबन्धी मानसिक-मालस्यदोष से नित्य समन्वित शरीरानुगत-सुरात्मक-अमृतभावानुबन्धी-अतएव अनृत-पाप्मा-भावानुबन्धी-शारीरिक पूर्वोपवर्णित हर्षचयकर, आत्मप्रसाद के विघातक इसी आम्लादोष की प्रकृतिसिद्धा स्वरूप-स्थिति को लक्ष्य बना कर गोपथ—श्रुति ने कहा है—

'तस्यात्मभवत् । तेन प्राज्ज्वलयत् । यदात्मभावच (तदात्मपरित्यक्तमेव) 'आम्ला'-अभवत् । तत्-आम्ला भूत्वा सा समुद्र (वारुणसमुद्र-अर्णवसमुद्र-क्षारसमुद्र) प्राविशत् । सा आम्ला-समुद्रमदहत् । तस्मात्-समुद्रो दुर्गिरपि वैश्वानरेण हि दग्ध । सा-आम्ला पृथिवीमुदैत् । सा पृथिवीं व्यदहत् । सा-आम्ला-देवान् (पार्थिव-देवान्) आगच्छत् । सा देवानहिहत (तिरस्कृतवती) । ते देवा ब्राह्मणमुपाधावन् । "स-ब्राह्मण-नैव-अगायत्, न अनृत्यत्' । सैषा-आम्ला-कारुविदा नाम । त वा एत (आम्लया-समन्वित) आम्लाहत सन्त-'आम्लागृध' इत्याचक्षत-परोक्षेण" ।

—गोपथब्राह्मण पू० २ प्र० । २१ ब्रा० ।

आत्मबुद्धिसम्मत सांस्कृतिक-कोश का अन्यतम चिन्तक नैष्ठिक ब्राह्मण मन-शरीर-निबन्धन गन्धर्वाप्सराप्राण-समाक्रान्त अतएव सोम-सुरात्मक, अतएव च मालस्य एवं 'आम्ला दोष से कवलीकृत तत्वभूत नच न-गायन-वाणात्मक-सङ्गीत का यदि अनुगमन करता है तो निश्चयेन 'त-न-न-री-म्-स-न-न री-म्-रीम-ताक्-धिना-धिन्-झूम झूम-झ न-न-न-सा-ता-थ ई आदि-आदि विभिन्न-विभिन्न-विचित्र विचित्र भावभङ्गिमाओं से आलोडित—विलोडित हा-हा-हु-हु-ही-ही भा भा भा-इ-ई-ई आदि विविध मुद्राओं से आपूरित किड़ा किड़ धाड़ा ड़ा ड़ा-आदि ध्वनियों से मुखरित-तत्त्वभूत भाव-विभावादि से कृतरूप-सङ्गीत से नैष्ठिक के भी मन-शरीर पिण्डमान ही बन जाया करते हैं जिस पिण्डमानता से ही कालान्तर में 'स्वरूप-विस्मृति' होजाया करती है । अतएव आत्मबुद्धिसम्मत निष्ठा के क्षेत्र में तो कदापि नर्त्तन-गायन-वादनात्मक सङ्गीत जैसे मालुक्यतापूर्ण मनः-शरीर-व्यासङ्ग को प्रश्रय नहीं ही मिल सकता नहीं ही मिलना चाहिए ।

ज्ञान-कर्म-भक्ति-नाम की त्रिविध आचारनिष्ठाओं का क्रमशः आत्मा-बुद्धि-मन-इन तीन मानवीय-पर्वों के साथ क्रमिक सम्बन्ध माना गया है । आत्मानुगत चिन्तन-मननात्मक आचार, (अनुशीलन) बुद्ध्यनुगत-आचारात्मक-आचार (कर्त्तव्यकर्माचरण) इन दो क्षेत्रों में तो मनोव्यासङ्ग का प्रवेश सर्वथा

आप्य-वारुण-सुरात्मक-शरीरनिकम्पन जो भयानक-आसुर दोष मानव के पुरुष-प्रकृत्यनुगत-स्वाभाविक स्वस्थता-प्रकृतिस्थता-प्रवर्तक स्वच्छ प्रसादगुण को अभिभूत कर देता है, प्रसादगुण की जिस इस अभिभूति से मानव की आत्मानुगता प्रशान्ति क्षोभरूप में, बुद्ध्यनुगता निष्ठा संशयरूप में, मनोऽनुगत प्राकृतप्रेम भोगासक्तिरूप में, एवं शरीरानुगता पुष्टि क्षयरूप में परिणत होजाती है, लोकजीवनानुगत-सम्पूर्ण-हर्ष-उल्लास-सर्वथैव-क्षीण होजाते हैं, उसी आसुर-वारुण-भयानक दोष का नाम है—'आग्ला', जिस की तदोषयुक्त मानवों में सर्वात्मना-अभिव्यक्ति देखी जाती है। जिस अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष उदाहरण वह सुरापी आग्ला-मानव' ही बना हुआ है, जिसका सुरानुगत आग्लादोष से सर्वप्रथम-समानानुबन्ध से शरीर ही विकम्पित होने लगता है। शरीर-विकम्पन के साथ ही मन विकम्पित होपड़ता है। मन के विकम्पित होते ही तन्मात्रारूपा इन्द्रियाँ विकम्पित होपड़ती हैं। सभी इन्द्रियाँ इस विकम्पनावस्था में प्रकृतिस्थता से पराङ्मुख होतीं हुई अनर्गल भावों की ही अनुगामिनी बन जाती हैं। शरीर-मन-इन्द्रिय-वर्गों के विकम्पित होते ही मानस प्रज्ञानधरातल पर प्रतिष्ठित रहने वाली बुद्धि लड़ख-खण्डरूप में परिणत होजाती है। बुद्धिनाश से अन्ततोगत्वा आत्मप्रसाद सर्वथैव अभिभूत होजाता है। और यों इस सुराजनित-शरीरविकम्पन आग्लादोष से मानव की लोकजीवनानुगता सभी हर्षपरम्पराएँ क्रम क्रमशः सर्वथैव क्षीण होजाती हैं। इसीलिए तो हर्षक्षयात्मक-'ग्लै' धातु से इस दोष का 'आग्ला' नाम रखना अन्वर्थ बन रहा है। सब की दृष्टि से इस सुरादोष से कुछ भी तो नहीं बचता। आत्मा-बुद्धि-मन-शरीरात्मक-पुरुष-प्रकृत्यात्मक-स्वस्थता-प्रकृतिस्थतानुबन्धी सभी कुछ तो म्लान-ग्लान होजाते हैं। 'आङ्' उपसर्ग इसी 'सर्वविनाश' का सूचक है। और 'आसमन्तात्-ग्लान-रूप' 'आग्ला-दोष का यही संक्षिप्त स्वरूपेतिवृत्त है।

उक्त सोम-सुरा-सन्दर्भ से अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि मानव का सौम्य मन सोमात्मक मालम्बदोष से एवं वारुण-अतएव वारुणीरूप शरीर-सुरात्मक- 'आग्लादोष' से समन्वित है। इन दोनों दोषों को हटाने के लिए ही शास्त्रात्मिका-आचारनिष्ठा अभिव्यक्त हुई है महर्षियों के द्वारा जिस आचारात्मिका निष्ठा के कर्म[१]-भक्ति[२]-ज्ञान[३]-नामक तीन प्रसिद्ध तन्त्र माने गए हैं जिनका कि वेदशास्त्र के विध्यात्मक-ब्राह्मणभाग, आरण्यकभाग उपनिषद्भाग-इन तीन प्रकरणों के द्वारा क्रमशः स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। इस आचारनिष्ठा में मानव का आत्मानुगत बुद्धितन्त्र ही प्रमुख सहयोगी बना रहता है। मन और शरीर उसी सीमापर्य्यन्त इस आचारनिष्ठा के अनुयायी बने रहते हैं बने रह सकते हैं जबतक कि बुद्धि के द्वारा मन-शरीर का नियन्त्रण रहता है। बुद्धि के नियन्त्रण से पृथक् होते ही मन-शरीर-दोनों स्वैराचारपरायण बन जाते हैं। इस स्वैराचारिता से निश्चयेन-मनस्तन्त्र में कालान्तर में मालम्बदोष अभिव्यक्त होजाता है एवं शरीर में आग्लादोष अभिव्यक्त होजाता है क्योंकि इनके स्वरूप में प्रकृत्या ही बीजरूप से प्रतिष्ठित हैं। इन दोनों के अभिव्यक्त होते ही पुरुषानुगता निष्ठा अभिभूत होजाती है, निष्ठा के अभिभूत होते ही आचारधर्म शिथिल होजाता है। शेष रह जाते हैं—'अनाचार'।

सङ्गीत के प्रति सर्वात्मना आदरभाव रखते हुए भी सङ्गीत के मूलप्रतिष्ठारूप नाद-श्रुति-स्वर-जैसे महतोमहीयान्-उदात्तभावों के प्रति सर्वात्मना आस्था-श्रद्धा-रखते हुए भी हमें प्रकृतिसिद्ध के तथाकथित मानस सोम तथा शारीरिक सुरा-भावों से अनुप्राणित-आत्मबुद्धिनिष्ठा के महान् प्रतिद्वन्द्वी मालम्ब और आग्ला-दोनों के सम्बन्ध से शरीरानुगत मानवभावानुबन्धी-गायन एवं मनोऽनुगत-शरीरभावानु-

क्या-वचन-प्राण-तत्स्थानक-आत्मा के प्रति इस में हम मानवबुद्धिनिष्ठ-नास्तिक-आस्तिक को तो स्वीकार करना ही मान लेना पड़ रहा है। इसलिए नास्तिक का इस दिशा में कोई महत्त्व नहीं है। यह तो उन महानुभावों की स्पष्ट मान्यता है जिन की आस्था में कोई भी नैष्ठिक आस्तिक वचन मनः-प्राणात्मक, अतएव-नास्तिक-आत्मा-तात्त्विकस्वरूप-आत्मा का अपना आध्यात्मनिष्ठा में आचारनिष्ठा में कोई प्रभाव नहीं रह सकता नहीं होना चाहिए—इस इत-'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' से प्रमाणित भी आस्था है तो।

तत्त्वानुगत-मौनात्मक-श्रुतनामानुबन्धी-अव्यक्त-अव्यय-प्राण-नामानुबन्धी नास्तिक-नास्तिकों से भिन्न सर्वात्मा गर्भानुगत-दुर्गात्मक-श्रुतनामानुबन्धी-अन्तरङ्ग अव्यय-प्राण-नामानुबन्धी-शारीरिक दुर्भर्त्सित होकर, आत्मप्रतिष्ठा के विघातक इसी आग्लायन की प्रकृतिनिन्दा स्वरूप-स्थिति को लक्ष्य बना कर गोपथ—श्रुति ने कहा है—

'तस्मात्तमभ्यतपत्। तेन प्राज्वलयत्। यदात्मप्राणेष (तदात्मपरित्यक्तमभवत्) 'आग्ला'-ममभवत्। तद्-आग्ला भूत्वा सा समुद्रं (वारुणसमुद्र-अर्णवसमुद्र-क्षारसमुद्र) प्राविशत्। सा आग्ला-समुद्रमदहत्। तस्मात्-समुद्रो दुर्गिरपि वैश्वानरेण हि दग्धः। सा-आग्ला-पृथिवीमुपैत्। सा पृथिवीं व्यदहत्। सा-आग्ला-देवान् (पार्थिव-देवान्) आगच्छत्। सा देवानदहत (तिरस्कृतवती)। ते देवा ब्राह्मणमुपाधावन्। स-ब्राह्मण'-नैव-अगायत्, न अनृत्यत्'। सैषा-आग्ला-कारुविदा नाम। त सा एष (आग्लया-समन्वित) आग्लादत सन्त-'आग्लागृध' इत्याचक्षते-परोक्षेण"।

—गोपथब्राह्मण पू० २ प्र० । २१ ब्रा० ।

मानवबुद्धिसम्मत नैष्ठिक-कोश का अन्यतम चिन्तक नैष्ठिक आस्तिक मनः-शरीर-निबन्धन स्वभाव-स्थान-अनाक्रान्त, अतएव-मन-बुद्धात्मक, अतएव च नास्तिक एव 'आग्ला' रूप से कार्यालिङ्गित-स्वभाव वचन-गायन-प्राणात्मक-वृत्ति का यदि अनुगमन करता है तो निरवयव 'त-न-न-री मृ-त-न-न तन्-तीन-नाक्-धिना-धिन-धूम धूम-धू-न-न-न-ता-ता-थ-इ-आदि-आदि' कलिम-विलिम-किलिम-चिकिन वचन भावों से आगर्भित—विलोडित, हा-हा-हू-हू ही-ही आ-आ-आ-आदि विविध मुद्राओं से आपूरित, किर हा किर हाहा-हा-हा-आदि कलुषध्वनियों से सुगन्धित-स्वभूत नाद-विनादादि से इतरूप-रञ्जित से नैष्ठिक की भी मनः शरीर विम्रदमान ही बन जाया करते हैं जिस विम्रदमानता से ही कालान्तर में 'स्वरूप-विस्मृति' हो जाया करती है। अतएव मानवबुद्धिसम्मत निष्ठा के क्षेत्र में तो इसादि वचन-गायन-प्राणात्मक-मनोत वैसे नाट्यप्रधान-मन-शरीर-व्यापार को प्रभव नहीं ही मिल सकता नहीं ही मिलना चाहिए।

ज्ञान-कर्म-भक्ति-नाम की त्रिविध आचारनिष्ठाओं का क्रमशः आत्मा-बुद्धि-मन-इन तीन मानवीय-पर्वों के साथ अनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। आत्मानुगत चिन्तन-मननात्मक आचार, (अनुशासन) बुद्ध्यनुगत-आचारात्मक-आचार (कर्तव्यकर्माचरण) इन दो पर्वों में तो मनोव्यापार का प्रवेश अथवा

पर ही निर्भर है। इधर प्राण वृषा है, तथा वाक् योषा है। हिङ्कारपूर्वक मन्त्रोच्चारण करना वाक्-प्राण का दाम्पत्य भाव ही सम्पादन करना है, जो कि दिव्याग्नि का प्रजनयिता है। इसी प्रजननसम्पत्ति के लिए हिङ्कारपूर्वक अनुवचन किया जाता है। यही हिङ्कार की दूसरी उपपत्ति है ॥ २ ॥

क्योंकि हिङ्कारूप वृषाप्राण का अनुरूपा योषा वाक् के साथ दाम्पत्यभाव भी अभीष्ट है इसीलिए तो हिङ्कार का उच्चस्वर से उच्चारण न कर उपांशुरूप से ही उच्चारण किया जाता है। प्राण स्वयं अनिरुक्त है वाक् निरुक्ता है। यदि उच्चस्वर से हिङ्कार का उच्चारण किया जायगा तो निरुक्तभाव में आया हुआ यह भी निरुक्तवाक्-रूप में ही परिणत होजायगा। परिणामत अभीप्सित दाम्पत्यभाव का संग्रह न होसकेगा। उधर उपांशु अनिरुक्तभाव से सम्बन्ध रखता है। अनिरुक्तता प्राण का प्रातिस्विकरूप है। फलतः उपांशुरूप से हिङ्कार करना प्राणरूप को सुरक्षित रखते हुए दाम्पत्यभाव का ही संग्रह करना है। यह भी स्पष्ट ही है कि गानकाल में 'हिं-हूँ' इत्याद्याकारयुक्त हिङ्कार भीतर ही भीतर गुन-गुनाया जाता है। क्योंकि इस का नाद से सम्बन्ध है। और नादब्रह्म स्वयं हृदयस्थ अनिरुक्ततत्त्व है। हिङ्कार का उपांशु उच्चारण क्यों किया जाता है? इस प्रश्न की यही तीसरी उपपत्ति है ॥३॥

मन्त्रों में पठित 'प्र' 'आ' 'सम्' 'अनु' इत्यादि उपसर्ग किसी विशेष प्रयोजन को गर्भ में रखते हैं। जब श्रुति को आगमनभाव का संग्रह करना होता है तो मन्त्र में 'आङ्' उपसर्ग का समावेश कर लिया जाता है। जिस से पृथिवी से प्रयाण (गमन) बतलाना होता है उस में 'प्र' उपसर्ग लगा दिया जाता है। जिस में दोनों लोकों की (पृ० द्यु० की) वस्तुओं का संगम प्रतिपाद्य होता है उस मन्त्र में 'सम्' उपसर्ग रहता है। जहाँ वस्तुपृष्ठ का सम्बन्ध बतलाना अभीष्ट होता है वहाँ 'अनु' उपसर्ग प्रयुक्त होता है। इसप्रकार महामहिम महर्षि उपसर्गों के द्वारा तत्तद्विशेषभावों का संग्रह कर लिया करते हैं। इन उपसर्गों के सम्बन्ध से उन ऋचाओं के भी 'प्रवती आवती-समवती-अनुवती' इत्यादि नाम होजाते हैं।

प्रकृत दर्शपूर्णमास में हमें इस पार्थिव भौतिक आङ्गिरस अग्नि में सामिधेनी-अनुवचन से दिव्य-प्राणात्मक सावित्राग्नि का आधान करना है। साथ ही यह भी सिद्ध विषय है कि आगत दिव्याग्नि को यहीं प्रतिष्ठित नहीं रखना है। अपितु पार्थिवाग्नियुक्त इस दिव्याग्नि में हविर्द्रव्य यजमान के शरीराग्नि का सम्बन्ध करा इसे दैवात्मरूप में परिणत कर पुन: उसी द्युलोक में भेजना है। इसप्रकार यहाँ 'आदान-विसर्ग' नामक दोनों कर्म्म अपेक्षित हैं। इस उभयकर्म्मसिद्धि के लिए यहाँ आरम्भ में उन दो ऋचाओं का अनुवचन होता है जिन में आगमन-सूचक 'आङ्' तथा प्रयाण-सूचक 'प्र' उपसर्ग का समावेश है। आरम्भ में—'प्र' 'आ' उपसर्ग वाली ऋचाओं का अनुवचन क्यों होता है? इस प्रश्न की उक्त उपपत्ति को लक्ष्य में रख कर ही प्रस्तुत प्रकरण का समन्वय करना चाहिए।

सामिधेनी-अनुवचनकर्म्म से सावित्राग्नि इस पार्थिव आङ्गिरस अग्नि में प्रतिष्ठित होजाता है यह कहा जाचुका है। क्या हविर्दान करने के अनन्तर इस सावित्राग्नि का इस सावित्ररूप से ही पुन: द्युलोक में में गमन होता है?, नहीं। जब सावित्राग्नि पुनरावर्तित होगा (वापस लौटेगा) तो उस समय यह सावित्र न रह कर 'गायत्र' बन जायगा। गायत्री का स्वरूप पृथिवी, और द्युरस के संयोग से ही निष्पन्न हुआ है।

सूर्यकेन्द्र से निकल कर चारों ओर व्याप्त होने वाला प्राणात्मक सौरतेज 'सावित्र' कहलाता है। दूसरे शब्दों में-सवितृरूप सूर्य का साक्षात् तेज ही सावित्री' है। यह सौर सावित्र तेज भूगर्भ में प्रवर्ग्य–सम्बन्ध से प्रविष्ट होजाता है। भूपिण्ड गो नाम से प्रसिद्ध है। इस गोगर्भ में प्रतिष्ठित होने से भी यह सौर तेज 'गायत्री' कहलाया है। इस के अतिरिक्त यही प्रवृक्त सौर तेज पार्थिव विवर्त का स्वरूप-सम्पादक है अतः 'अगायत् सम्पादयत्' इस निर्वचन से भी इसे 'गायत्री' कहा जाता है। जो व्यक्ति इस तेज को (गायत्रीछन्दस्क सुप्रसिद्ध गायत्री मन्त्र के द्वारा) अपने अध्यात्म में प्रतिष्ठित कर लेता है उस की कोई क्षति नहीं होती। अतः 'गायन्तमुपासकं त्रायते' इस निर्वचन से भी इसे 'गायत्री' कहना अन्वय बन रहा है, जैसाकि सन्ध्याविज्ञान में विस्तार से प्रतिपादित है।

उक्त गायत्री के दो विवर्त हैं। सौर तेज प्रवृक्त हुआ। प्रवृक्त होकर भूगर्भ में प्रविष्ट हुआ। अन्तर्य्याम सम्बन्ध के प्रभाव से भूलोक की प्रातिस्विक सम्पत्ति बन कर उख्यलोकानुगत बना। यही पार्थिवगायत्री कहलाई है। इसे हम 'भूतगायत्री' भी कहसकते हैं। लौकिक अग्नि इसी भूतगायत्री का प्रत्यक्ष निदर्शन है, एवं यही अध्वर्यु के द्वारा अध्यमकाष्ठ से इद्ध किया जाता है। हमारे प्रकृत सामिधेन्यनुवचनकर्म का इस से कोई सम्बन्ध नहीं है।

सौर–सावित्र तेज द्युलोक से आकर गोरूप भूलोक से टकराया। यहाँ से इस का प्रतिफलन हुआ। इस का भी भू से सम्बन्ध होने के कारण 'गायत्री' नाम अवश्य हुआ परन्तु यह गायत्रतेज भूलोक की प्रातिस्विक वस्तु नहीं है। उस प्रवृक्तभाग का जहाँ भूलोक से अन्तर्य्याम सम्बन्ध है वहाँ इस प्रतिफलित गायत्रतेज का भूलोक से बहिर्य्याम सम्बन्ध है। त्रैलोक्य में जो प्रकाश होरहा है, वह प्रतिफलित सौर तेजोमयी गायत्री का ही प्रभाव है। एवं यही गायत्रतेज के प्रत्यक्ष दर्शन हैं।

इस द्वितीय गायत्रतेज के किंवा गायत्री के आगे जाकर दो विवर्त होजाते हैं। प्रतिफलनप्रक्रिया का द्वैविध्य ही इस विवर्त द्वयी का मूल है। सौर तेज आकर प्रतिफलित हुआ आतप (धूप) का स्वरूप प्रकट होगया। यहाँ से पुनः इस का प्रतिफलन होता है। इस द्वितीय प्रतिफलन से छायामय प्रकाश का आविर्भाव होता है। छाया में जो प्रकाश (आतपशून्य उजला) है वही उस का द्वितीय रूप है। प्रथमरूप 'ज्योतिर्म्मयी गायत्री' कहलाती है एवं द्वितीय रूप छायामयी गायत्री है। ज्योतिर्म्मयी गायत्री में आग्नेय तेजोमय देवप्राण प्रतिष्ठित रहता है एवं छायामयी गायत्री में सौम्य तेजोमय पितरप्राण प्रतिष्ठित है। इस छायामयी गायत्री की स्वरूपसम्पत्ति के लिए ही पितृकर्म्म (श्राद्ध) में दाने औंधे कर दिए जाते हैं।

इसप्रकार एक ही सौर सावित्र तेज के आधार पर पार्थिव भूतगायत्री दिव्यदेवगायत्री दिव्य पितृगायत्री भेद से तीन गायत्रविवर्त होजाते हैं। तीनों में से प्रकृत में मध्यस्था देवगायत्री का ही यहाँ समिन्धन अपेक्षित है। यह दिव्यगायत्री दो प्रकार से एति प्रेति युग्म से युक्त है। सौरमण्डल से सौरतेज आया यही आ (एति) भाव है। प्रतिफलन–प्रक्रिया से पुनः द्युलोक की ओर गया यही 'प्र (प्रेति) भाव है।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। बतलाया गया है कि द्युलोक से आगमनदशा में इसे 'सावित्री' कहा जाता है न कि गायत्री। फिर 'आगमनात्मक'–'आ भाव' का तो सावित्री से सम्बन्ध

सिद्ध हुआ एवं गमनात्मक 'प्र'-प्रभाव का गायत्री से सम्बन्ध सिद्ध हुआ। आता हुआ वही तेज सावित्र है, एवं जाता हुआ वही तेज गायत्री है। सावित्री एति' (आगच्छति) है, गायत्री प्रेति' है, एव यही प्राकृतिक नियम है। फिर केवल गायत्री के साथ ही 'एति, प्रति' दोनों भावों का सम्बन्ध कैसे बतलाया गया ?।

विप्रतिपत्ति यथार्थ है। अवश्य ही स्थिति के अनुसार आता हुआ और तेज सावित्री ही है एवं जाता हुआ और तेज गायत्री ही है। सावित्री सूर्य्यगत सविता से ही सम्बद्ध है एव गायत्री पृथिवी के सम्बन्ध से ही गायत्री कहलाई है। परन्तु दृष्टि की अपेक्षा से साथ ही उपयोगसम्बन्धिता की अपेक्षा से हम उस सावित्री को भी गायत्री कहते हैं। लोकोच हमारे लिए वही 'आता हुआ' माना जायगा जो गायत्री के रूप में परिणत रहेगा। उस का आगमन गायत्रीरूप में परिणति के लिए ही होता है। अत 'तादर्थ्यात्ताच्छब्द्य' न्याय से भी उस गायत्र्यय आगत सावित्र तेज को 'गायत्री' कह दिया जाता है। और एकमात्र इसी दृष्टि से यहाँ दोनों के लिए 'गायत्री' शब्द प्रयुक्त होगया है।

यहाँ से आता हुआ वह सावित्रात्मक गायत्रतेज पार्थिव मानवप्रजा में प्रज्ञाधान करता है एवं जाता हुआ गायत्रतेज पार्थिव द्रव्यगत रसों का आदान करता हुआ द्युलोकस्था देवप्रजा में बलाधान करता है। वहाँ से आना और यहाँ से यज्ञद्रव्य के साथ गमन करना यह इस का एकप्रकार का एति-प्रेतिभाव है। इस एति-प्रेति-भावात्मक गायत्रतेज का मन्त्र के द्वारा यज्ञ में सम्बन्ध किया गया। यहाँ से आते हुए का तदनुरूपा छन्द-देवता-स्वरयुक्ता-मन्त्रवाक् से आकर्षण कर उस का यहाँ योग करा लिया यही 'एति' भाव हुआ। अनन्तर प्रकृत्या द्युलोक की ओर जाने वाली गायत्री से इस यज्ञानुगता-यज्ञभक्तिमृता हविर्युक्ता गायत्री का सम्बन्ध होगया। इस परम्परा से उस के साथ इस का द्युलोक में गमन होगया यही इस का प्र भाव कहलाया। इसी को हम यज्ञानुगत एति प्रेति-भाव कहेंगे।

सम्पूर्ण प्रपञ्च का निष्कर्ष यही हुआ कि, प्राकृतिक गायत्रीतत्त्व एति-प्रेति' भाव से युक्त है। उसी के आधान के लिए यहाँ सामिधेन्यनुवचनकर्म्म होता है। अत तदाधर्षक इन मन्त्रों में भी गायत्री-स्वरूपानुगता एति-प्रेति का सम्बन्ध आवश्यक है। 'प्र (प्रवती)—आ (आवती) ऋचाओं का अनुगमन क्यों किया जाता है ? इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥ ४ ॥

'एति-प्रेति' के अनुवचन से आधिदैविक—गायत्रभाव का समावेश हुआ। इसी के द्वारा आध्यात्मिक 'एति-प्रेति' भाव का भी समह होजाता है। हमारी आध्यात्मिक-संस्था में श्वास-प्रश्वासात्मक उदान प्राण 'एति प्रेति' भावात्मक ही बन रहे हैं। आता हुआ वायव्यप्राण ही 'उदान' है एवं जाता हुआ वायव्य प्राण ही 'प्राण' है। इसी इस यज्ञकर्म्म से हमारे (यजमान के) आध्यात्मिक मनुष्यात्मा के स्वर्गमन के लिए दैवात्मा उत्पन्न करना है। यह दैवात्मा हमारा आध्यात्मिक स्वरूप है। उक्त 'एति-प्रेति' भाव से इस में 'एति-प्रेति' भावात्मक उदान तथा प्राण का आधान होजाता है। इसलिए भी एति-प्रेति' भावयुक्ता मन्त्रद्वयी का उच्चारण किया जाता है। और यही 'एति-प्रेति' भावात्मक अनुवचन की दूसरी उपपत्ति है ॥ ५ ॥

रेत-सेक करने वाले का रेत योषाप्राण (गर्भाशयगत योनिरूप आग्नेय प्राण-आग्नेय) में आहुत होता हुआ रेतःसेक करने वाले की अपेक्षा से 'प्रेति' भाव का अनुग्राहक बन रहा है। एवं-यही सिक्त रेत १ मास के अनन्तर पूर्णावयव बनकर अपत्यरूप में परिणत होकर एषयामरुत् के प्रत्याघात से भूमिष्ठ बनता हुआ 'ऐति' भाव का अनुग्राहक बन रहा है। रेतोद्रव्य सिञ्चक की दृष्टि से 'प्रेति' है एवं रेतोरूप अपत्य सिञ्चक की दृष्टि से एति है। हमें इस यज्ञकर्म में प्रजननकर्म अपेक्षित है। एवं प्राकृतिक प्रजननकर्म 'एति-प्रेति' भावात्मक है। उस का भी यहाँ समन्वय होजाता है। यही 'एति-प्रेति' भावात्मक अनुवचन की तीसरी उपपत्ति है।

जिस यज्ञ से हमें यजमान के आध्यात्मिक शारीराग्नि के आधार पर दैवात्मा उत्पन्न करना है उस में आध्यात्मिक यज्ञपुरुषरूप 'आत्मा-शरीर' दोनों भाग अपेक्षित हैं। आत्मा भोक्ता है, शरीर भोग्य है। यही भोग्य शरीर 'भोगायतन' भी कहलाया है भोग्य भी कहलाया है। आत्मचित्त अन्तर्वित्त, बहिर्वित्त-भेद से दो भागों में विभक्त है। शरीर इसका अन्तर्वित्त है, एवं बाह्य भौतिक परिग्रह बहिर्वित्त है। दोनों ही 'पशु' नामसे व्यवहृत हुए हैं। इस पशुसम्पत्ति के संग्रह के लिए भी 'एति-प्रेति' भाव उपयुक्त होरहा है। पशु प्रात जङ्गल में चरने जाते हैं यही इन का 'प्रेति' [गच्छन्ति] भाव है। सायङ्काल वापस लौट आते हैं यही इन का 'एति' [आगच्छन्ति] भाव है। इसप्रकार पशुसम्पत्ति भी एति-प्रेति भावात्मिका बन रही है। आने-जाने वाले पशु चेतन हैं। जिस प्राकृतिक पशुप्राण से इन पशुओं का स्वरूप-निर्माण हुआ है वही पशुप्राण अन्तर्वित्तलक्षण शरीरात्मक पशुभाव का स्वरूप समर्पक माना गया है। इस सादृश्य से दैवात्मा में पशु-सम्पत्ति का भी आधान होजाता है एवं अन्तर्वित्तलक्षणा शरीरसम्पत्ति का भी संग्रह होजाता है। यही 'एति-प्रेति' भावात्मक अनुवचन की चौथी उपपत्ति है।

अब बहिर्वित्त-लक्षणा बाह्य पशुसम्पत्ति का जिसे कि हम आधिभौतिक-सम्पत्ति कहेंगे संग्रह करना शेष रह जाता है। यह काम भी इसी 'एति प्रेति' भाव से गतार्थ बन रहा है। सम्पूर्ण भूत-भौतिक पदार्थ इसी ऐति-प्रेति भाव से नित्य सम्बद्ध हैं। कुछ एक उदाहरण ही इस दिशा में उपोद्बलक मान लिए जाएँगे। त्रैलोक्य के गर्भ में प्रतिष्ठित यावन्मात्र भूत-भौतिक पदार्थ इसी भावद्वयी से नित्य आक्रान्त हैं, जिसका 'सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह' (ईश उ) इत्यादि रूप से सर्वत्र प्रयत्न किया जासकता है। सामान्य दृष्टि से विचार करने पर हम इस निश्चय पर पहुँचा करते हैं कि, विश्व तथा विश्व गर्भ में प्रतिष्ठित पदार्थ गतिशील हैं संसरणशील हैं। अतएव इस प्रपञ्च को 'संसार' कहा जाता है। इसी स्वाभाविकी गति से पदार्थों में अवस्था-परिवर्तन हुआ करता है। इसी क्षणिक परिवर्तन के आधार पर दर्शनविशेषने 'सर्वाक्षं क्षणिकम्' सिद्धान्त स्थापित करने का साहस कर लिया है।

परन्तु जब हम अन्तर्दृष्टि से विचार करते हैं तो हमें यह मान लेना पड़ता है कि इस गतिभाव के गर्भ में 'आगति' भी प्रतीत होरही है गतिभाव विनाश है, तो आगतिभाव सम्भूति है। दोनों का एक ही बिन्दु में समावेश होरहा है। प्रत्येक पदार्थ पूर्वरूप से नष्ट होता हुआ ही उत्तररूप से सम्भूत है। बिगड़ता हुआ ही बन रहा है। इस-चलाचल-(चल-अचल)-भावद्वयी से ही 'सर्वमिदं चलाचलम्'। इन दोनों में चलभाव (गतिभाव) प्रेति का स्वरूप-समर्पक बन रहा है एवं अचलभाव-स्थिति-भाव एति भाव का अनुग्राहक बन रहा है।

सिद्ध हुआ एवं गमनात्मक 'प्र'-प्रभाव का गायत्री से सम्बन्ध सिद्ध हुआ। आता हुआ यही तेज सावित्र है, एवं जाता हुआ यही तेज गायत्री है। सावित्री एति (आगच्छति) है गायत्री प्रेति है, एवं यही प्राकृतिक नियम है। फिर केवल गायत्री के साथ ही एति प्रेति दोनों भावों का सम्बन्ध कैसे बतलाया गया ?।

विप्रतिपत्ति यथार्थ है। अवश्य ही स्थिति के अनुसार आता हुआ सौर तेज सावित्री ही है एवं जाता हुआ सौर तेज गायत्री ही है। सावित्री सूर्य्यगत सविता से ही सम्बद्ध है एवं गायत्री पृथिवी के सम्बन्ध से ही गायत्री कहलाई है। परन्तु दृष्टि की अपेक्षा से साथ ही उपयोगमर्य्यादा की अपेक्षा से हम उस सावित्री को भी गायत्री कहते हैं। सौरतेज हमारे लिए वही 'आता हुआ' माना जायगा जो गायत्री के रूप में परिणत रहेगा। उस का आगमन गायत्रीरूप में परिणति के लिए ही होता है। अत 'तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यम्' न्याय से भी उस गायत्र्यर्थ आगत सावित्र तेज को 'गायत्री' कह दिया जाता है। और एकमात्र इसी दृष्टि से यहाँ दोनों के लिए 'गायत्री' शब्द प्रयुक्त होगया है।

यहाँ से जाता हुआ वह सावित्रात्मक गायत्रतेज पार्थिव मानवप्रजा में वज्राधान करता है एवं आता हुआ गायत्रतेज पार्थिव द्रव्यगत रसों का आदान करता हुआ द्युलोकस्था देवप्रजा में वज्राधान करता है। यहाँ से आना और यहाँ से यज्ञद्रव्य के साथ गमन करना यह इस का एकप्रकार का एति-प्रेति भाव है। इस एति-प्रेति-भावात्मक गायत्रतेज का मन्त्र के द्वारा यज्ञ में सम्बन्ध किया गया। वहाँ से आते हुए का तदनुरूपा छन्द-देवता-स्वरयुक्त-मन्त्रवाक् से आकर्षण कर उस का यहाँ योग करा दिया यही 'एति' भाव हुआ। अनन्तर प्रकृत्या द्युलोक की ओर जाने वाली गायत्री से इस तदनुगता-यज्ञभक्तिमता हविर्युक्त गायत्री का सम्बन्ध होगया। इस परम्परा से उस के साथ इस का द्युलोक में गमन होगया यही इस का प्र भाव कहलाया। इसी को हम यज्ञानुगत एति-प्रेति-भाव कहेंगे।

सम्पूर्ण प्रपञ्च का निष्कर्ष यही हुआ कि, प्राकृतिक गायत्रीतत्त्व 'एति-प्रेति' भाव से युक्त है। उसी के आधान के लिए यहाँ सामिधेन्यनुवचनकर्म्म होता है। अतः तदार्थक इन मन्त्रों में भी गायत्री-स्वरूपानुगत एति-प्रेति का सम्बन्ध आवश्यक है। प्र (प्रवती)-आ (आवती) ऋचाओं का अनुगमन क्यों किया जाता है ? इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥ ४ ॥

'एति-प्रेति' के अनुवचन से आधिदैविक-गायत्रभाव का समावेश हुआ। इसी के द्वारा आध्यात्मिक 'एति-प्रेति' भाव का भी समह होजाता है। हमारी आध्यात्मिक-संस्था में हमारा प्रश्वासात्मक उच्छ्वास-प्राण 'एति-प्रेति' भावात्मक ही बन रहे हैं। आता हुआ वायव्यप्राण ही 'उदान' है एवं जाता हुआ वायव्य प्राण ही 'प्राण' है। हमें इस यज्ञकर्म्म से हमारे (यजमान के) आध्यात्मिक मानुषात्मा के स्वर्गमन के लिए दैवात्मा उत्पन्न करना है। यह दैवात्मा हमारा आध्यात्मिक स्वरूप है। उक्त 'एति-प्रेति' भाव से इस में 'एति-प्रेति' भावात्मक उदान तथा प्राण का आधान होजाता है। इसलिए भी एति-प्रेति' भावयुक्ता मन्त्रद्वयी का उच्चारण किया जाता है। और यही 'एति-प्रेति' भावात्मक अनुवचन की दूसरी उपपत्ति है ॥ ५ ॥

(१) 'हिं-हिं-हि-ओम्' प्रवो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या ।
देवाञ्जिगाति सुम्नयुः-ओम् ॥ (१, २, ३,) ।

'हिं-हिं-हिं-ओम्' इस सप्रणव हिङ्कार का उच्चारण केवल एकबार प्रथम मन्त्र के साथ ही किया जाता है। आगे के सम्पूर्ण मन्त्र केवल 'ओम्' पूर्वक ही बोले जाते हैं। इस मन्त्र को ऋतुपरक भी लगाया जासकता है एवं अग्निपरक भी लगाया जासकता है। उभयथा अग्नितत्त्व ही अभिप्रेत है। कारण इसका यही है कि, अग्नि की सत्य ऋत-भेद से दो अवस्था मानीं गई हैं। सत्याग्नि स्वस्थान में प्रतिष्ठित रहता हुआ सम्वत्सरयज्ञ का साक्षी है जिसके लिए-'तद्यत् सत् सत्यमसौ स आदित्यः (शत ब्राह्मण) यह कहा जाता है। इस सूर्य्यात्मक सत्य (सहृदय-सशरीरी) अग्नि (जिसे गायत्रीमात्रिक वेदाग्नि भी कहा जाता है) का जो प्रवर्ग्य भाग है, वही केन्द्र-सम्बन्ध से वञ्चित होता हुआ 'ऋत' कहलाया है। इस ऋत (वायव्य) अग्नि में ऋतसोम की आहुति होती है। ऋताग्नि दक्षिण से उत्तर की ओर जाया करता है, एवं ऋतसोम उत्तर से दक्षिण की ओर आता हुआ इसमें आहुत होता रहता है। इस ऋताग्नि, तथा ऋतसोम के अन्तर्य्याम नामक चिति (ग्रन्थिबन्ध) सम्बन्ध से दोनों के पूर्वस्वरूपोपमर्दन से जो एक तीसरा उभयात्मक स्वरूप उत्पन्न होता है उसे ही 'ऋतु' कहा जाता है। इस ऋतुसमष्टि का ही नाम 'सम्वत्सरयज्ञ' है। इस प्रकार वही अग्नि ऋतावस्था में आकर सोम के सम्बन्ध से 'ऋतु' बनता हुआ यज्ञ की प्रतिष्ठा बन रहा है। अतएव ऋतुपक्ष तथा अग्निपक्ष, दोनों का अन्ततोगत्वा अग्निपक्ष में ही पर्य्यवसान सिद्ध होजाता है।

'वाज अभिद्यव, हविष्मन्त, घृताची' ये चारों भाव इस यज्ञाग्नि के स्वरूप-रक्षक हैं। इन्हीं चारों के सम्बन्ध से साम्वत्सरिक यज्ञाग्नि स्वस्वरूप से सुरक्षित रहता है। वाज सामान्यतः [१] अन्न का वाचक माना गया है। वस्तुतः वाज' उस तत्त्व का नाम है जो अन्नरूप से सूर्य्य से भी ऊपर आपोमय परमेष्ठी (जनल्लोक) में प्रतिष्ठित रहता है। पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व 'आप-वायु-सोम' भेद से तीन भागों में विभक्त है। इनमें जो अप् की सोमावस्था है वही वाज है। गायत्री जिस सोम का अपहरण करती है वह भी सोम है चान्द्रमण्डल में भी सोम है। परन्तु यह 'वाज' नामक परमेष्ठ्य सोम अपनी तत्रत्या अवस्था से दोनों से भिन्नधर्म्मा है। इसे ब्रह्मवीर्य्य का संग्राहक माना गया है, जैसाकि-'वीर्य्यं वै वाजा (शत १।३।४।७)। इत्यादि से स्पष्ट है। प्राकृतिक नित्य हविर्यज्ञ में चान्द्र सोम का सम्बन्ध है साम्वत्सरिक ज्योतिष्टोम में सौररश्मियुक्त ज्योतिर्म्मय सोम का सम्बन्ध है। एवं प्राकृतिक वाजपेययज्ञ में इस ब्रह्मवीर्य्य-प्रवर्त्तक अतएव '[२] ब्रह्मणस्पति नाम से प्रसिद्ध पवित्र 'वाज' नामक पारमेष्ठ्य सोम का

१—'अन्न वै वाज' (शां० म० ब्रा० (१३।६।१३))।
२—'पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत'
—ऋक्० सं० ९।८३।१।

आदान-विसर्ग की दृष्टि से भी इस 'एति-प्रेति' की व्याप्ति के दर्शन किए जासकते हैं। प्रत्येक पदार्थ से उसके परपरमाणु विस्रंसनधर्म्मा द्युयमआपत्ति के विस्रंसनात्मक परगणधर्म्म से विस्रस्त होरहे हैं। साथ ही 'भैषज्ययज्ञ' नामक प्राकृतिक कर्म्म के आदान के द्वारा इस निर्गत भाग की क्षतिपूर्ति भी होरही है। प्रतिक्षण प्रत्येक पदार्थ में आदान-विसर्ग दोनों भावों से नित्य आक्रान्त है। विश्व क्रियात्मक है। क्रिया गतितत्त्व है। प्रत्येक गति के गर्भ में 'आगति' है, एवं प्रत्येक आगति के गर्भ में गति है। सूर्य्य की रश्मियों को देखिए। रश्मियाँ चलती हैं परन्तु पीछे हटती हुई। 'अन्तश्चरति' के अनुसार अपानन करते हुए ही रश्मियों का प्राणन होरहा है जैसा कि 'अस्य प्राणदपानती' इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। हमारी भागगति में एक पैर आगे बढ़ता हुआ ही चल रहा है तो दूसरा पीछे हटता हुआ ही आगति का भी प्रवर्त्तक बन रहा है। प्रत्येक गति में आगति अनुस्यूत है। चक्षु-पटल भी इस प्राणन-अपानन से वञ्चित नहीं है। मार्ग में चलते हुए दोनों हाथों की गति पर दृष्टि डालिए। यहाँ भी आप को आगति गति ये दोनों भाव उपलब्ध होंगे। शरीर का रुधिर भी सर्वत्र सञ्चार करता हुआ दोनों का अनुग्राहक बन रहा है। कर्म्ममय विश्व में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिसमें एति-प्रेति' दोनों भावों का सम्बन्ध न हो। यही भौतिक जगत् का प्रातिस्विक धर्म्म है जो कि इसे गायत्रप्राण के अनुग्रह से ही प्राप्त है। इसी आधार पर—'गायत्री वा इदं सर्वम्' (छा० उपनिषत्) यह निगम प्रतिष्ठित हुआ है। यही आधिभौतिक-सम्पत्ति है। एति-प्रेति-पूर्वक अनुवचन से सर्वसाधारण में सामान्यरूप से व्याप्त इस सम्पत्ति का भी संग्रह होजाता है। यही एति प्रेति भावात्मक अनुवचन की पाँचवीं उपपत्ति है ॥५॥

तात्पर्य यही हुआ कि आधिदैविक आध्यात्मिक, आधिभौतिक, तीनों के समन्वय से इस अधियज्ञ (पैत्रयज्ञ-दर्शपूर्णमास) से दैवात्मा उत्पन्न करना है। इस की स्वरूप-सिद्धि के लिए हमें पाँच सम्पत्तियाँ अपेक्षित हैं। आधिदैविक-सम्पत्ति पहिली सम्पत्ति है यजमानाग्निलक्षणा आध्यात्मिक-सम्पत्ति दूसरी सम्पत्ति है बहिर्वित्तलक्षणा बाह्यभौतिक-सम्पत्ति तीसरी सम्पत्ति है अन्तर्वित्तलक्षणा शरीरसम्पत्ति चौथी सम्पत्ति है एवं स्वयं यज्ञकर्म्म पाँचवीं सम्पत्ति है। 'एति प्रेति' पूर्वक अनुवचन से पाँचों का संग्रह होजाता है। इसीलिए श्रुति ने पाँच उपपत्तियाँ बतलाई हैं। यही गायत्रानुगत एति-प्रेति भाव की सर्वव्याप्ति का संक्षिप्त निदर्शन है जिसके उपासक सतत 'एति-प्रेति' भाव से युक्त रहते हुए पूर्ण समृद्ध बने रहते हैं।

सामिधेनी-कर्म्म क्यों किया जाता है ? स्वरघोष विह्वारपूर्वक ही क्यों किया जाता है ? ११ १५, १७ संख्या का क्या रहस्य है ? अनवानन का क्या रहस्य है ? आद्यन्त के त्रि-त्रि -आवर्त्तन से क्या प्रयोजन अभिप्रेत है ?, गायत्रीछन्द का एवं अग्निदेवता का सम्बन्ध क्यों अभीष्ट है ?, 'एति-प्रेति' पूर्वक अनुवचन क्यों किया जाता है ? इत्यादि उन प्रश्नों की जिनका कि बहिरङ्गभाव से सम्बन्ध है-क्रमिक उपपत्ति बतलादी गई। अब यहाँ से आगे (सप्तवी-कण्डिका से) पदार्थनिदर्शनपूर्वक सामिधेनी-मन्त्रों की व्याख्या ही आरम्भ होती है। वही क्रमशः पाठकों के सम्मुख उपस्थित होरही है।

वेदि के पश्चिम भाग में अथवा वेदिश्रोणि के उत्तर भाग में अध्वर्यु के द्वारा बिछाए हुए दर्भासन पर खड़ा होकर 'होता' नाम का ऋत्विक् सर्वप्रथम निम्नलिखित सामिधेनी मन्त्र का तीन बार उच्चारण करता है—

का कारण बन रहा है। क्योंकि वाबरस से अग्नि समिद्ध रहता है अतएव इसे हम अवश्य ही अग्नि का स्वरूप–रक्षक कह सकते हैं।

दूसरा रक्षक है– अभियव' । पदाग्नि का ही नाम अभियव है। अवयवी की रक्षा पुष्टि तुष्टि, तृप्ति अवयवों की रक्षादि पर ही निर्भर है। सम्वत्सराग्नि अवयवी है, पदाग्नि अवयव हैं। इन अवयवों से ही उस अवयवी की स्वरूप-रक्षा होरही है। अत' इन " भियु नामक पर्वाग्नियों को भी हम अग्निस्वरूप-रक्षक मान सकते हैं।

हवि से सोमधिरूप अन्न, भौतिक शरीर दोनों अभिप्रेत हैं। भौतिक शरीर आयतनरूप से अग्नि का रक्षक है एवं अन्न आहुतिरूप से अग्नि की रक्षा कर रहा है। अन्न एवं भूत दोनों ही मय होने से पशु हैं। अतएव श्रुति ने हविष्मन्त का पशु अर्थ किया है।

आन्तरिक्ष्य वायु में आज्य की मात्रा प्रतिष्ठित रहती है जैसा कि 'घृतमन्तरिक्षस्य' (शत० ७।१।२।३) इत्यादि से प्रमाणित है। इसी आज्याहुति से अग्नि अतिशयरूप से समिद्ध रहता है। आज्याहुति देने वाले वायु हैं यही प्राकृतिक यज्ञ के जुहू-स्थानीय 'घृताची' हैं। इसप्रकार मन्त्र में पठित वाजादि चारों शब्द अग्नि–समिन्धन का भाव ही स्पष्ट कर रहे हैं। इन चारों रक्षकों से युक्त उस दिव्याग्नि का यहाँ आधान ही प्रकृत अनुवचनकर्म से अभिप्रेत है। उसके आधान से स्वर्गसुखार्थी (सुम्नयु) यजमान यज्ञ के द्वारा दिव्यदेवताओं की सम्पत्ति प्राप्त करने में समर्थ होजाता है। इसी सामयिक अर्थ को लक्ष्य में रख कर मन्त्र ने कहा है कि—

'हे अग्ने! घृताची के द्वारा वाज, पद, पशु आदि सम्पत्तियाँ (आपको समिद्ध बनाने के लिए) प्रादुर्भूत होतीं हैं। इनके प्रादुर्भाव से (आपके समिद्ध बन जाने पर) यज्ञकर्त्ता यजमान देवभाव को प्राप्त करने में समर्थ होजाता है।'

उक्त ऋचा में क्योंकि 'प्र' उपसर्ग आया है अतएव इसे हम 'प्रवती' ऋचा कहेंगे, एवं इसे गायत्री के 'प्रेति' (गच्छति) भाव का संग्राहक मानेंगे। इस प्रथम मन्त्र के त्रिरावृत्तिपूर्वक अनुवचन करने के अनन्तर होता निम्न लिखित (मौलिकरूप से दूसरी तथा संख्या क्रम से चौथी) सामिधेनी का अनुवचन करता है—

(२) 'ओं अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि-ओम्'' (४) इति।

प्राकृतिक दिव्याग्नि स्वमण्डल से भूलोक की ओर आता है। यहाँ भूलोक ही उसकी प्रतिष्ठा बनता है। इस भूलोक को याज्ञिक परिभाषा में 'बर्हि' कहा जाता है। पितृपरिभाषा में आग्नेय-सौम्य-समशीतोष्ण भेद से तीन प्रकार के 'बर्हिपितर' माने गए हैं। सूर्योपलक्षित द्युलोक आग्नेय बनता हुआ 'उष्ण' है। चन्द्रोपलक्षित अन्तरिक्ष सौम्य होने से 'शीत' है। एवं भूलोक अग्नि-सोम के समसमन्वय से अनुष्णाशीत (न उष्ण न शीत) है। इस अनुष्णाशीत भूलोक का निदान 'बर्हि' (दर्भ) माना गया है। कारण

सम्बन्ध है। अतएव वाजपेय यज्ञ का एकमात्र अधिकारी ब्राह्मण ही माना गया है +। अतएव इसे 'बृहस्पतिसव' भी कहा गया है।

'बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति, इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः' के अनुसार परमेष्ठी नामक पूर्वअहों के अन्त में (परमेष्ठी की सीमा पर) वाजपेययज्ञ के प्रवर्त्तक बृहस्पति प्रतिष्ठित हैं, जो कि सुप्रसिद्ध 'बृहस्पतिमह'-तथा 'लुब्धकनक्षत्र' नामक नाक्षत्रिक बृहस्पति से सर्वथा भिन्न होता हुआ पारमेष्ठ्यमह माना गया है। और इन्द्र सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी नामक उत्तरअहों से पहिला है। उस ओर की अन्तिम सीमा में बृहस्पति है, एवं इस ओर के उपक्रम में इन्द्र है यही तात्पर्य्य है। बृहस्पति ब्रह्मात्मक ब्राह्मण की प्रतिष्ठा है, एवं सौर इन्द्र क्षत्रात्मक क्षत्रिय की प्रतिष्ठा है। बृहस्पतिवत् इन्द्र के साथ भी वाज का सम्बन्ध होरहा है। क्योंकि दोनों सीमापेक्षया समीप हैं। अतएव आगे चलकर श्रुतिने वाजपेय का राजन्य को भी अधिकारी मान लिया है *। इसप्रकार वाजपेय का इन्द्र से भी सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु वस्तुतः वाजपेय ब्रह्मात्मक ही माना जायगा। इसी आधार पर श्रुति का 'ब्रह्म वै वाजपेयः' (तै० ब्रा० १।१।२४) यह निगम प्रतिष्ठित है। इस वाज के सम्बन्ध से ही पारमेष्ठ्य आप्यपशु 'वाजी' कहलाया है। इस 'वाजी-प्राण' का जिस अश्वजातिविशेष में प्राधान्य रहता है, उस अश्वजाति को भी 'वाजी' कहा जाता है।

प्रकृत में उक्त वाज-स्वरूप दिग्दर्शन से यही बतलाना है कि इसी पारमेष्ठ्य वाजरस की दूसरी अवस्था का नाम ज्योतिर्म्मय सोम है जिसकी आहुति से ही सौर कृष्णाग्नि ज्योतिर्म्मय बना हुआ है। तृतीयावस्था चान्द्रसोम है। चौथी अवस्था ओषधियाँ (गोधूमादि अन्न) हैं। चान्द्रसोम ही प्रवर्ग्य सम्बन्ध से ओषधियों का स्वरूप-सम्पादक बनता है। पशुओं में भी परम्परया यही वाजरस प्रतिष्ठित है। ऋतुएं (ऋत्वग्नि) भी इसी वाजरस से परिपुष्ट हैं। वाजरस की इसी व्याप्ति के आधार पर निम्न लिखित निगम प्रतिष्ठित हैं—

१—"वाजो वै पशवः" (ए० ब्रा० ५।८)।

२—"ओषधयः खलु वै वाजः" (तै० ब्रा० १।३।७।१)।

३—"ऋतवो वै वाजिनः" (शत० ब्रा० २।४।४।२२)।

यह वाजरस सर्वथा अग्नि को समिद्ध करने वाला है। पारमेष्ठ्य वाज ब्रह्माग्नि की ज्योतिर्म्मय वाज सम्वत्सराग्नि की चान्द्रवाज ओषध्यग्नि की एवं आपभिवाज शारीराग्नि की सर्दीप्ति

+—'स वा एष ब्राह्मणस्यैव यज्ञः' यदेनेन बृहस्पतिरयजत। ब्रह्म हि बृहस्पतिः। ब्रह्म हि ब्राह्मणः।' (शत० ५।१।१।११)।

*— अथो राजन्यस्य (वाजपेयः)—यदेनेन-इन्द्रोऽयजत। क्षत्रं हीन्द्रः क्षत्रं राजन्यः' (शत० ५।१।१।११)।

यहाँ होता के रूप से इस वर्हि [भूलोक] पर विराजिए, [द्युलोक से भूलोक पर्य्यन्त अग्नि का व्याप्त होना ही इस आधिदैविक-पक्ष में अग्नि का स्तवन-कर्म्म है) ।

"हे दिव्याग्ने ! (होता के सामिधेनी-कर्म्म से बुलाए जाते हुए) आप यज्ञिय-हवि ग्रहण के लिए, तथा इस हवि का देवताओं में पहुँचाने के लिए इस यज्ञसंस्था में पधारिए, एवं इस कुशासन पर होता बन कर विराजिए" ।

उक्त ऋचा में क्योंकि 'आङ्' उपसर्ग आया है अतएव इसे 'आवती ऋचा' कहा जायगा । एवं इसे गायत्री के 'एति (आगच्छति) भाव' का ही संग्राहक माना जायगा । इसप्रकार इन दोनों के अनुवचन से होता 'एति-प्रेति' भाव का ही संग्रह करने में समर्थ होजाता है जैसाकि ब्राह्मण की सातवीं कण्डिका से स्पष्ट है ॥ ७ ॥

यज्ञेतिकर्त्तव्यता से सम्बन्ध रखने वाले कर्म्मों का वैज्ञानिक रहस्य अवश्य होता है । परन्तु उसका समन्वय श्रौत-पद्धतियों निगमानुगमवचन-प्रमाणों के आधार पर ही करना चाहिए । अपनी कल्पना से चाहे जो उपपत्ति मानते हुए पद्धति के विरुद्ध जाना विज्ञानसम्मत नहीं, किन्तु अज्ञानसम्मत है । वर्त्तमान युग में तो ऐसे वेदवैज्ञानिकों की कमी है ही नहीं *। किन्तु पुरायुग में भी किसी किसी को विज्ञान का अजीर्ण होजाता था । पद्धति के अनुसार उक्त दोनों मन्त्र 'प्र—आ' के सम्बन्ध से क्रमशः स्पष्ट ही यद्यपि 'पराङ्—अर्वाङ्' दोनों भावों के संग्राहक बन रहे हैं । परन्तु वैज्ञानिक—बन्धुओंने पद्धति-विरुद्ध अपने व्यक्तित्वविमोहन से यह कल्पना कर डाली कि 'प्रवो वाजा०' और 'अग्न आयाहि' दोनों ऋचाएँ गायत्री के 'प्रेति' भाव का ही संग्रह कर रहीं हैं । उपपत्ति आप इसकी यह बतला रहे हैं कि 'प्र' इत्यादि तो प्रेतिभाव से सम्बद्ध है ही । एवं 'अग्न आ' से आगमन बतलाया है वह यहाँ से (द्युलोक से) इसका आगमन होता है वहाँ के देवताओं की अपेक्षा तो इसका पराग्गति रूप प्रयाण ही सिद्ध होता है । सम्भवतः इन वैज्ञानिकों को यह न सूझा कि, इस समय उस यजमान के यज्ञ में इन मन्त्रों का प्रयोग होरहा है जिसकी अपेक्षा 'अग्न आयाहि०' का अर्थ अर्वाग्गतिलक्षण आगमन ही होसकता है । फलतः उक्त मत का भलीभाँति अवैज्ञानिकत्व सिद्ध हो जाता है ॥ ८ ॥

पूर्व में दोनों मन्त्रों का जो वैज्ञानिक अर्थ हुआ है उसे श्रुति अपने शब्दों में स्पष्ट करती हुई कहती है कि, 'प्रेति' भावात्मिका प्रथमा ऋचा के 'प्र वो वाजा' इस पद का 'वाज' शब्द 'अन्न' का 'अभिप्राय' शब्द 'पशुओं' का एवं 'हविष्मन्त' शब्द 'पशुसम्पत्ति' का अनुमोदक है जैसाकि पूर्व में स्पष्ट कर दिया गया

---

*—व्यक्तित्वविमोहनात्मिका इयमभूता वेदभक्ति का ही यह दुष्परिणाम है कि आज अपनी मान्यताओं के अनुसार युगधर्म्मानुगता सत्तमाना-राजनीति समाजनीति साम्यवाद आदि आदि के अनुबन्ध से वेद के अनेक कल्पित अर्थ किए जारहे हैं जिनका वेद के पारिभाषिक समन्वय से संस्पर्श भी नहीं है ।

इसका यही है कि पारमेष्ठ्य शीत अपतत्त्व का जो भाग सौरमण्डल के अग्नि से मिलकर 'वेन' कहलाता है वही 'अप्–अग्नि' के समन्वय से अनुष्णाशीत है। अग्नि के सम्बन्ध से पानी का शैत्य हट जाता है, एवं अप्सम्बन्ध से अग्नि की उष्णता शान्त होजाती है। ऐसे अनुष्णाशीत वेनतत्त्व से ही 'बर्हि' (दर्भ–ग्राम) की उत्पत्ति हुई है जैसाकि पूर्व में भाष्य के प्रथमखण्डान्तर्गत दर्भोत्पत्ति–विज्ञान–प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है। इसी कारण से बर्हि को तत्समानधर्म्मा भूलोक का प्रतिरूप मान लिया गया है। इसी आधार पर दिव्याग्निगत पितरों को 'अग्निष्वात्ता' आन्तरिक्ष्य सोमगत पितरों को सोमसत् एवं अनुष्णाशीत भूलोकस्थ पितरों को 'बर्हिषत्' कहा गया है। यहाँ इससे यही बतलाना है कि, द्युलोक से आने वाले दिव्याग्नि की प्रतिष्ठाभूमि यह भूलोक ही बनता है, जिसे निदान–विधि से बर्हि कहा गया है।

प्रसङ्गत: यह और ध्यान रखना चाहिए कि, पार्थिव अप्तत्त्व तथा दिव्य अग्नितत्त्व, दोनों के समन्वय से ही पार्थिव–प्रजा की उत्पत्ति हुई है। सौम्य-शुक्रभाव अग्नि–गर्भित अप्तत्त्व है, एवं आग्नेय शोणित सोमगर्भित अग्नितत्त्व है। दोनों का दाम्पत्यभाव ही प्रजास्वरूप का कारण है। इस दृष्टि से प्रजा को भी बर्हि कहा जासकता है। ओषधियों में भी पार्थिव अग्नि पुष्पितरस–रूप से दोनों का समन्वय है अत इन्हें भी बर्हि कहा जासकता है। चतुष्पाद पशुओं में भी पार्थिव अप्रस तथा दिव्य अग्निरस का समन्वय है। अतः इन्हें भी बर्हि कहा जासकता है। इसप्रकार अग्नि–समन्वित अनुष्णाशीत तत्त्व की दृष्टि से 'बर्हि शब्द निदानेन अनेक स्थानों में अभिव्याप्त होरहा है *।

द्युलोक से चलकर इस 'बर्हि' (भूपृष्ठ) पर आने वाला यह अग्नि अपने साथ प्राणदेवताओं को भी लाता है। "अग्निः सर्वा देवता" के अनुसार प्राणाग्नि के गर्भ में ही सम्पूर्ण दिव्यदेवता प्रतिष्ठित है। इस आह्वानलक्षण सहप्रस्थितधर्म्म से भी इस भूलोकस्थ दिव्य अग्नि को 'होता' कहा जासकता है। साथ ही यह पार्थिव रसों का आदान करता हुआ इससे देवतृप्ति का कारण बनता हुआ हवन' साधक बनने से भी यह 'होता' कहा जासकता है। आगत अग्नि का पहिले स्वयं का पार्थिव अन्नरस से सम्बन्ध होता है। अनन्तर इस हवि का *प्राणदेवताओं से सम्बन्ध होता है। यही उस अग्नि का मुख्य कर्म्म है। प्रकृत मन्त्र में* इसी अग्निकर्म्म का वैधपक्ष की दृष्टि से स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि—

हे दिव्याग्ने! आप पार्थिव रसरूप हविर्भक्षण के लिए [तथा प्राणदेवताओं में इस हवि को पहुँचाने के लिए [द्युलोक से भूलोक पर्य्यन्त] व्याप्त होते हुए भूलोक में पधारिए।

---

* १–"अयं वै लोको (भूलोको) बर्हि" (श० १।८ २।१११)।
–"प्रजा वै बर्हि" (तै० ब्रा० १।६।३।१०।)।
–"ओषधयो वै बर्हि" (शत०।१।३।३।६। ।
–"पशवो वै बर्हिः' (ए० ब्रा० ५।२।७।)।
–"शरद् बर्हिः" (शत० १।३।४।१०)।

नाम की एक कन्या थी। इक्ष्वाकु ही अयोध्यापति सूर्य्यवंशी प्रथम भारतीय सम्राट् यहाँ के निवासी बने। ये ही अगली पीढियों के मूलपुरुष मान गए। एवं इला से आगे जाकर चन्द्रवंश का विकास हुआ, जैसाकि "शतपथब्राह्मणहिन्दीविज्ञानभाष्यान्तर्गत-उपोद्घात—गीताभूमिका प्रथमखण्ड' के 'सन्दर्भसङ्गति' नामक प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादित है।

इसी सूर्य्यवंश में उत्पन्न महाराज 'निमि' के साथ ही हमारे प्रकृत इतिवृत्त का सम्बन्ध है। आज जो जनकादि विदेहों का स्वतन्त्र राज्य इतिवृत्तों में सुना जाता है, किसी समय ये अयोध्या—राज्य में ही अन्तर्भूत थे। विदेहों के पूर्वपुरुष अयोध्या—सम्राट् के सामन्त राजाओं (कुटुम्बियों) में से थे। दोनों के कुलपुरोहित महर्षि वसिष्ठ थे। एकबार विदेहों के पूर्वपुरुष महाराज 'निमि' ने यज्ञ करने की इच्छा से कुलपुरोहित वसिष्ठ का आमन्त्रण किया। उस समय वसिष्ठ देवताओं के द्वारा वितत यज्ञ में आर्त्विज्येन वृत होकर स्वर्ग (प्राग्—मेरु—प्रदेशस्थ भौमस्वर्ग) जाने वाले थे। वहाँ के अनुरोध को महत्त्व देते हुए वसिष्ठ स्वर्ग चले गए। महाराज निमि को कुलपुरोहित की यह उपेक्षा असह्य हुई। फलत: इन्होंने मर्य्यादा—विरुद्ध उस समय के प्रसिद्ध याज्ञिक, रहूगण के पुत्र, अतएव 'राहूगण' इस उपनाम से प्रसिद्ध महर्षि गोतम के सहयोग से अपना यज्ञकर्म्म सम्पन्न करा लिया। थोड़े समय पीछे स्वर्ग से परावर्तित होने पर जब वसिष्ठ ने यह सुना कि निमि ने गोतम के पौरोहित्य में यज्ञ—सम्पादन कर लिया है, तो उन्होंने मर्य्यादाभङ्गनिमित्त निमि को यह शाप दे डाला कि "तुम इसी क्षण इस यज्ञाग्नि से नष्ट होजाओ"। राजा भी पहिले से ही क्रुद्ध थे ही वसिष्ठ के इस शाप से और भी उत्तेजित राजा के मुख से भी यह निकल पड़ा कि 'आप का भी नाश हो'। परिणामतः दोनों ही भस्मीभूत होगए।

महर्षि गोतम के सम्मुख ही यह घटना घटित हुई। उस महावर्चा सर्वसमर्थ ऋषि ने दोनों के भस्म का सञ्चय कर अरणि से अग्निमन्थन आरम्भ किया। मन्थन-प्रक्रिया से उत्पन्न यज्ञाग्नि में आहुति देकर दोनों को पुनर्जीवित कर दिया। क्योंकि महाराज निमि का पुनः प्रादुर्भाव 'मन्थन' से हुआ अतएव यहाँ से ये 'मथु' नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्हीं को यत्र तत्र 'मिथि' नाम से भी व्यवहृत किया गया। इन मथु के पुत्र ही आगे जाकर 'विदेह माथव' नाम से प्रसिद्ध हुए।

उक्त घटना की ग्लानि का विदेह माथव के ऊपर यह प्रभाव पड़ा कि उन्होंने भविष्य के लिए अन्यत्र चला जाना ही श्रेयस्कर समझा। इस संकल्प को पूरा करने के लिए उन्होंने अपने आध्यात्मिक वैश्वानर अग्नि का वागिन्द्रिय से संयम करते हुए यह प्रतिज्ञा की कि, जहाँ जिस प्रदेश में हमारा वैश्वानराग्नि वागिन्द्रिय के द्वारा बाहिर निकल जायगा उसी स्थान में हम अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करेंगे। यह सङ्कल्प कर महाराज माथव वैश्वानर का संयम कर राहूगण गोतम को साथ लेकर चल पड़े। आगे आगे माथव चले जारहे थे पीछे पीछे गोतम अनुगमन कर रहे थे। गोतम ने अनेक बार लौकिक भाषा में विदेघ का सम्बोधन किया। उनके इसप्रकार अकस्मात् राज्य छोड़कर आगे बढ़ने के कारण की जिज्ञासा व्यक्त की। परन्तु विदेघ ने अनेक बार प्रश्न करने पर भी उत्तर नहीं दिया। गोतम उनका वाक्-संयम न तोड़ सके। विवश होकर गोतम को उस मन्त्रशक्ति का आश्रय लेना पड़ा जिसका फल अम्यर्थ माना गया है। उन्होंने निश्चय किया कि विदेघ ने किसी विशिष्ट लक्ष्यसिद्धि के लिए ही अपने आध्यात्मिक वैश्वानर अग्नि

है। वाज अभिधस हविष्मन्त घृताची इन चारों की एक दूसरी वैज्ञानिक व्याख्या का भी समन्वय कर लीजिए। यज्ञकर्म्म से देवात्मा उत्पन्न करना है, यह अनेक बार कहा जाचुका है। उत्पन्न प्रजा की समृद्धि जिन भावों से सम्बद्ध है इन चारों शब्दों से उन्हीं समृद्धियों की प्राप्ति हुई है। अन्नसम्पत्ति, पशुसम्पत्ति वीर्य्यसम्पत्ति और भोग्यशक्ति, ये ही वे चार समृद्धियां हैं जिन से प्रजा सुसमृद्ध मानी जाती है। अन्नसम्पत्ति का 'वाज' से, पशुसम्पत्ति का हविष्मन्त' से ग्रहण हुआ है। जिसप्रकार त्रिवृत् (६) संख्या अग्नितत्त्व से समतुलित है वैसे ही पञ्चदशसंख्या इन्द्रतत्त्व से समतुलित है। यही इन्द्रतत्त्व प्राणरूप से भोक्ता बनकर अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित रहता है। अभिधस शब्द 'पक्ष' का वाचक है। पक्ष १५ संख्या का अनुमापक है। यह संख्या भोक्ता इन्द्रप्राण की अनुमापिका है। इसप्रकार परम्परया 'अभिधस' शब्द भोग्यशक्ति का ही संग्राहक बन रहा है। भोक्ता को भोग्य अन्न पशु से सम्बद्ध बनाए रखना वीर्य्य का काम है। 'घृताची' पद उसी अग्निवीर्य्य (अन्नादवीर्य्य) का संग्राहक बन रहा है ॥ ६॥

मन्त्र में 'घृताच्या' पद है। अग्निसमिन्धनकर्म्म में प्रयुक्त होने वाली ऋचा के 'घृताच्या' पद का अन्य सब पदों की अपेक्षा विशेष महत्त्व है। श्रुति ने एक पुरातन मानुष इतिवृत्त के द्वारा * इस पद के इसी महत्त्व का समर्थन किया है। बहुत सम्भव है कि कतिपय पाठक अभिनिवेशवश इस आख्यान को 'मानुषेतिवृत्त' न समझें। परन्तु जिन स्पष्ट शब्दों में श्रुति ने स्थान-नाम-घटना-नदी-पर्वत-राजा-पुरोहित-ग्राम-कृषियोग्य भूमि-ब्राह्मणनिवास-राज्यसीमा आदि भावविशेषों का आख्यान में उल्लेख किया है उन्हें सामने रखते हुए प्रस्तुत इतिवृत्त की 'मानवेतिवृत्तता' में यत्किञ्चित् भी तो सन्देह नहीं रह जाता। जिस अपौरुषेयता की रक्षा के लिए हमारे कतिपय पाठक मानवेतिवृत्त से पराङ्मुख होते हैं उनका वह भय उस समय दूर होजाता है जबकि वे वेदापौरुषेयत्व का वास्तविक तात्पर्य्य समझ लेते हैं जिसका कि उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-ब्रह्मकर्मपरीक्षा में महारम्भ से प्रतिपादन हुआ है। अस्तु प्रकृत में इस भौत आख्यान को विशुद्ध मानवेतिहासपरक मानते हुए ही हमें कथानक का समन्वय करना है।

"सुप्रसिद्ध स्वयम्भू ब्रह्मा के मानसपुत्र अतएव 'स्वायम्भुव' नाम से प्रसिद्ध 'विवस्वान्' नामक आदित्य सूर्य्यवंश के आदिप्रवर्त्तक माने गए हैं। इनके श्राद्धदेव तथा 'यम' नामक दो औरसपुत्र उत्पन्न हुए। यही श्राद्धदेव भारतवर्ष के प्रथम सम्राट् कहलाए, साथ ही वे विवस्वान् के पुत्र होने से 'वैवस्वत मनु' नाम से भी प्रसिद्ध हुए, जैसाकि- 'मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह। तस्य मनुष्या विशः' (प्रजा)। तऽइमऽआसत-अश्रोत्रिया गृहमेधिन उपसमेता भवन्ति (शत ब्रा १३।४।३।३।) इत्यादि वाजिश्रुति से प्रमाणित है।

भारतवर्ष के प्रथम सम्राट श्राद्धदेवमनु अवश्य थे परन्तु इनका यहां स्थायी निवास नहीं हुआ। अपितु ये जीवनपर्य्यन्त अपनी जन्मभूमि उत्तर * कुरुक्षेत्र में ही रहे। इनके इक्ष्वाकु-प्रमुख ९ पुत्र थे एवं इला

---

*–मानवपरिज्ञानुगता ऐतिहासिक घटना के द्वारा

*–यह कुरुक्षेत्र उस 'प्राचीसरस्वती' के समीप था जिसे आज 'मानसरोवर' कहा जाता है जो कि आज भी उत्तरकुरु में प्रवाहित है। भीम–मनुष्यदेवता इसी में 'अवभृथस्नान' (यज्ञान्तस्नान) करते थे। इसी कुरुक्षेत्र की प्रतिकृति पर भारतवर्ष में भी कुरुक्षेत्र व्यवस्थित हुआ था।

मानी गई। यही दोनों वंशों के वैवाहिक-सम्बन्ध का कारण बना। क्षत्रियों का वैवाहिक सम्बन्ध पुरोहितगोत्रों से ही होता है। इस घटना से पहिले दोनों के कुलपुरोहित वशिष्ठ थे। एवं तबतक कोसल-विदेहों का वैवाहिक सम्बन्ध अमर्य्यादित था। परन्तु उक्त यज्ञघटना को लेकर जब गौतम ऋषि विदेहों के पुरोहित बन गए, तो वैवाहिक सम्बन्ध मर्य्यादित बन गया।

वही विदेह-देश आज तिरहुत नाम में परिणित होगया है। उस देश के निवासी यद्यपि आज 'मैथिल' कहलाते हैं। परन्तु वस्तुतः इन्हें 'मथु' राजा के सम्बन्ध से 'माथव' ही कहना चाहिए, जैसा कि—'ते हि माथवा' इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। यदि 'मथु' के स्थान में 'मथि' पाठ है, तो 'मैथिल' शब्द भी सुसङ्गत माना जासकता है।

यह है—आख्यान का संक्षिप्त स्वरूप। प्रकृत सामिधेनी प्रकरण से इसका यही सम्बन्ध है कि, 'घृत' पद से माथव के मुखाग्नि का समिन्धन हुआ था। इस से स्पष्ट है कि 'घृत' पद समिन्धन का अन्यतम कारण है। क्योंकि यहां वही समिन्धन कर्म्म अभिप्रेत है, अतएव 'घृताच्या' कहना अन्वर्थ बनता है। कहा गया है कि, 'घृताच्या' पद वीर्य्यभाव का संग्राहक है। इसी अभिप्राय से कहा गया है— वीर्य्यमेवास्मिन् दधाति' — (२ री कण्डिका) १, ११, १२, १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २ -इन ग्यारह कण्डिकाओं में इतिवृत्तपूर्वक उक्तार्थ का ही स्पष्टीकरण हुआ है॥ (२)॥

प्रथम मन्त्र का शेष भाग है— 'वयाम् जिगाति सुम्नयु' यह। इसकी व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है कि, 'आज यह यजमान (मनुष्य होकर) इस यज्ञाग्नि के समिन्धन के प्रभाव से उन दिव्यलोकस्थ प्राणदेवताओं पर विजय प्राप्त करना चाहता है। भला उस दिव्याग्नि-प्रभाव का क्या कहना, जो एक भूलोक-निवासी मनुष्य को देवसम्पति से युक्त करदे'। श्रुति इस कथन से अग्नि का ही महत्त्व सूचित कर रही है।

प्रकृत मन्त्र से यद्यपि स्वरूपतः अग्नितत्त्व का ही प्रतिपादन हुआ है जैसा कि पूर्वव्याख्या से स्पष्ट है। परन्तु मन्त्र में कहीं 'अग्नि' का नाम नहीं है। अतएव अग्निरूपाभिधा बनती हुई भी यह ऋचा अनिरुक्ता है। सर्वसम्पत्-सिद्धि का अन्यतम द्वार अनिरुक्तभाव ही है। क्योंकि अनिरुक्तभाव अनिरुक्त-सर्वकामपूरक प्रजापति का संग्राहक बना हुआ है। अनिरुक्ता सामिधेनी का अनुवचन क्यों किया जाता है ? इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है॥२१॥

प्रथम-मन्त्र पदों की व्याख्या समाप्त कर अब श्रुति-'अग्न आयाहि०' इत्यादि द्वितीय मन्त्र-पदों की व्याख्या करती है। यह ऋचा 'आङ्' उपसर्ग के सम्बन्ध से गायत्री के अर्वाचीरूप का संग्रह कर रही है, यह तो उक्तप्राय ही है। अब उस 'वीतये' पद के रहस्यार्थ पर दृष्टि डालिए जिसके लिए श्रुति ने एक महत्त्वपूर्ण 'लोकोत्पत्तिविज्ञान' उद्धृत किया है।

सुप्रसिद्ध आपोमय पारमेष्ठ्य मण्डल ही लोकसम्पत्ति का मूलाधिष्ठान माना गया है। चतुर्मुख ब्रह्मा के आपोमुख से ही लोकसृष्टि हुई है जैसा कि—पूर्व में 'अपाम्प्रणयनकर्म्मोपपत्ति' में विस्तार से बतलाया जाचुका है। यद्यपि परमेष्ठी से ऊपर का स्वयम्भू लोक प्राणमय माना गया है तथापि—'प्राणा वा आप'

का संयम किया है। अतएव इनके इस वैश्वानराग्नि को प्रदीप्त किए बिना ये कोई उत्तर नहीं देंगे। अतः मन्त्रवाक् से इस संयम को तोड़ना ही चाहिए। यह निश्चय कर गोतम कहने लगे—

"वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे"।

उक्त मन्त्र से अग्निसमिन्धन कर, इस अभिप्राय से कि अब माथव का संयम अवश्य टूट जायगा गोतम ने उच्चस्वर से सम्बोधन करते हुए कहा–'हे विदेघ ३'। परन्तु कोई परिणाम न निकला। पुनः गोतम ने निम्नलिखित मन्त्र का प्रयोग किया—

"उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते। तव ज्योतींष्यर्चयः"।

गोतम का यह प्रयास भी व्यर्थ गया। अन्त में उनके मुख से तीसरे मन्त्र के 'तन्त्वा घृतस्नवीमहे' इस भाग का निकलना था कि, माथव का संयम टूट गया। चिरकाल से संयत भी वह अग्नि 'घृतस्नु' के सम्बन्ध मात्र से प्रज्ज्वलित होपड़ा। अब गोतम इस अग्निको अपनी आध्यात्मिक-संस्था में न रख सके। फलतः प्रज्ज्वलित अग्नि बाहिर आपड़ा-(माथव बोल पड़े)। जिस समय यह घटना घटित हुई उस समय माथव विदेघ सरस्वती नदी के समीप विद्यमान थे। यहाँ से आरम्भ कर आगे का 'सदानीरा'–पर्य्यन्त का सम्पूर्ण भूप्रदेश विध्वमान या कास्वालीकृत था बल से अचेतनवत् था एकप्रकार से बलापूरित अग्राह्य ही भूम–देश था।

यहाँ वाक्संयम टूट जाना माथव ने एक दैवी-उद्देश समझा और इसीलिए यहीं से अपने उपक्रमित स्वतन्त्र राज्य की आरम्भसीमा मानली। अग्निस्थापन हुआ। यज्ञारम्भ हुआ। ओर ओर ब्राह्मणों से भी स्वतन्त्र यज्ञानुष्ठान करवाए गए। इन यज्ञाग्नियों से उस अग्राह्य भूप्रदेश को ग्राह्य बनाते हुए इस भूप्रदेश को निवास-योग्य बनाते हुए माथव आगे बढ़ते गए। यहाँतक कि, सम्पूर्ण सरस्वतीक्षेत्र को अग्नियज्ञों से पुनाते हुए वे सदानीरा' नाम की नदी के तट पर आ पहुँचे जोकि सदानीरा उत्तरगिरि से निकली है। यही नदी "करतोया सदानीरा बाहुदा इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। इसमें एक हाथ बल छड़ा बना रहता है इसलिए इसे 'करतोया' कहा गया है। इसका पानी घोर गर्म्मों में भी कदुष्ण बना रहता है अतएव इसे 'सदानीरा' कहा गया है। सुप्रसिद्ध स्मृतिकार न्यायमन्त्री लिखित' के ज्येष्ठ भ्राता शङ्ख की आज्ञा के बिना फलग्रहण–जनित अपराध के दण्ड के लिए लिखित का बाहु कटवा दिया गया था। अन्त में इसी नदी में पश्चात्ताप' के द्वारा शङ्ख ने कनिष्ठ भ्राता के बाहु की पुनः प्राप्ति की थी। इसीलिए इसे 'बाहुदा' कहा गया है। यही नदी लोकभाषा में कुरही नाम से पुकारी जाती है। यही विदेहराज्य की पूर्वसीमा का निर्म्माण करने वाली हुई। बहुत सम्भव है यह 'गण्डकी नदी हो, जिसका भागीरथी में सङ्गम होता है।

इस नदी से इस ओर ही क्योंकि यज्ञाग्नि का सम्बन्ध हुआ अतएव उसी समय से यह नियम बन गया कि यह नदी यज्ञाग्निसम्बन्धविरह से अशुद्ध है। अतः जो इसका तरण करेगा वह–प्रायश्चित्ती माना जायगा जैसा कि–'करतोया–विलङ्घनात्' इत्यादि से स्पष्ट है। यही नदी कोसलविदेहों की मध्यसीमा

होजाता है। धूमकेतु ही सूर्य्य का जनक बनता है। क्योंकि स्वयं धूमकेतु गतिशील है अतएव तदुत्पन्न सूर्य्यपिण्ड भी स्वस्थान में प्रतिष्ठित रहता हुआ प्रबल वेग से अद्यावधि परिभ्रममाण रहता हुआ परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है।

कल्पना कर लीजिए, अभी सूर्य्य का प्रादुर्भाव नहीं हुआ सर्वत्र पारमेष्ठ्य समुद्र का ही साम्राज्य है सब ओर पानी हीं पानी है और इस पानी में करोड़ों कोस पर्य्यन्त अपनी व्याप्ति रखते हुए अग्निपुञ्जरूप धूमकेतु ऋतरूप से इतस्ततः चक्कर काट रहे हैं। इनमें से किसी एक धूमकेतु को लक्ष्य बनाकर लोकसृष्टि का समन्वय अपेक्षित है। स्वयं यह धूमकेतु भी ऋताग्निरूप ही है, एवं जिस अप्समुद्र में यह व्याप्त है, वह भी ऋत ही है। इस ऋत समुद्र में प्रतिष्ठित ऋत अग्निपुञ्ज के अलातचक्रवत् घूमने से कालान्तर में अग्निपुञ्ज का सर्वाग्रभाग इस से पृथक् होगया और इस पार्थक्य का कारण बना 'गतिविभेद' एवं गतिविभेद का कारण बना अग्निपुञ्ज का ऋतभाव। यदि यह अग्निपुञ्ज सत्य होता तो इस का सम्पूर्णरूप अवारपारीणरूप से समानगति से ही युक्त रहता। परन्तु ऋतभाव के कारण इसकी प्रतिबिन्दु-गति में वैषम्य बना रहता है एवं यही गतिवैषम्य ग्रहोपग्रहभाव का जनक बनता है।

यद्यपि जिस केन्द्रभाव के आधार पर हमनें गतिसाम्य बतलाया है वहाँ भी एकदृष्टि से घटिकायन्त्रवत् गतिवैषम्य बना हुआ है। तथापि यह गतिवैषम्य केन्द्र का परित्याग नहीं करता। केवल इसी लक्ष्य से इस गति को 'समानगति' मान लिया गया है। सूर्य्यकेन्द्र से सम्पूर्ण सौररश्मियाँ बद्ध हैं। स्वस्थान में परिभ्रममाण सूर्य्य की सभी रश्मियाँ परिभ्रममाणा हैं। साममण्डल उत्तरोत्तर बृहत्प्रदेश से युक्त है। फलतः रश्मियों की प्रतिबिन्दुगति साममण्डलों के उच्चावच स्थानों से विषम बन रही है। फिर भी क्योंकि प्रत्येक रश्मि सूर्य्य-केन्द्र से बद्ध है अतएव रश्मिगति रश्मि के किसी पर्व को सूर्य्य से पृथक् नहीं होने देती। यही अवस्था घटिकायन्त्र की है। घटिकायन्त्र (घड़ी) की उस बड़ी सूची (सुई) पर दृष्टि डालिए जो १ घण्टे के ६ मिनिटों का परिज्ञान करा रही है। घटिका-केन्द्र से बद्ध सूची चारों ओर की घटिका-परिधि से संलग्न रहती हुई चारों ओर घूम रही है। केन्द्र से परिधि पर्य्यन्त का घटिका-प्रदेश उत्तरोत्तर बड़ा है। अत केन्द्र से आरम्भ कर घटिका-परिधि पर्य्यन्त व्याप्त सूची की प्रतिबिन्दु की गति उत्तरोत्तर बृहत्-प्रदेशपरिभ्रमण से सम्बन्ध रखरही है। अन्तिम बिन्दु को सब से बड़ा मण्डल पूरा करना पड़ता है पूर्व पूर्व बिन्दुओं को क्रमशः छोटे मण्डल। यहाँतक कि केन्द्रबिन्दु को कुछ भी समय नहीं लगता क्योंकि वहाँ मण्डल का अभाव है। यदि घटिकायन्त्र में सूची को बद्ध रखने वाला सत्यभाव (केन्द्र) न होता तो परिणाम इस बिन्दुगति-वैषम्य का यह होता कि सूची खण्ड खण्ड रूप में परिणत होकर घटिकायन्त्र से पृथक् ही होजाती। क्योंकि उस समय इन विषमगतियों को समभाव में परिणत करने वाला कोई नियन्तासूत्र नहीं रहता।

ठीक यही अवस्था हमारे इस सत्यभावशून्य (केन्द्ररहित) ऋताग्निपुञ्ज (धूमकेतु) की समझिए। ऋताग्निपुञ्ज प्रबल वेग से घूम रहा है यह बतलाया जा चुका है। इसकी गति के सम्बन्ध में यह ध्यान और रखना चाहिए कि, जहाँ बुधादि अन्य ग्रह सूर्य्य के चारों ओर सममण्डल बना कर घूम रहे हैं वहाँ ये धूमकेतु विषम मण्डल बनाकर ही सूर्य्य के चारों ओर घूम रहे हैं। इनकी सब से बड़ी परिक्रमा ३ सहस्र

(तां ब्रा ६।६।४)—'आपो वै प्राणा'—(शत ३।८।२।४) 'प्राणो आपः' (जै उ ३।१०।६)—'आपोमयः प्राणः' (छां उ ६।५।४) इत्यादि निगमों के अनुसार स्वयम्भू का यह प्राणतत्त्व भी अप्-सम्पत्ति से वञ्चित नहीं है। स्वायम्भुवी आपः प्राणात्मिका हैं, यही वागात्मक प्राण पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व की प्रथमावस्था है जैसाकि—'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्-वागेव साऽसृज्यत' (शत ६।१।१।९) इत्यादि से प्रमाणित है। जिसप्रकार स्वयम्भू का अप्तत्त्व 'प्राण' माना गया है एवमेव परमेष्ठी का 'अम्भ' सूर्य का 'मरीची', चन्द्रमा का श्रद्धा एवं पृथिवी का अप्तत्त्व 'मर' कहलाया है-(ऐ उ १।४)। इस दृष्टि से इस अप्तत्त्व की सर्वव्याप्ति, तथा सर्वरूपता भली–भाँति सिद्ध होजाती है। अप्तत्त्व की इसी सर्वव्याप्ति को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"सर्वाणि ह त्वेव भूतानि, सर्वे देवा एपोऽग्निश्चित। आपो वै सर्वे देवा, सर्वाणि भूतानि। ता हैता आप एवैपोऽग्निश्चित। तस्य नाभ्या एव परिश्रित"

—शत० १० ५।४।१४+

पारमेष्ठ्य आपोमय मण्डल में अन्नरूप भृगु–अङ्गिरा की प्रतिष्ठा मानी गई है। 'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्' इस गोपथश्रुति के अनुसार पारमेष्ठ्य आपः भृगु (स्नेहगुण आपः) से युक्त हैं। किंवा यह अप्तत्त्व ही भृग्वङ्गिरोमय है। भृगुरूप आप के गर्भ में अङ्गिरारूप अग्नि सूत्ररूप से सर्वत्र प्रतिष्ठित माना गया है। पारमेष्ठ्य समुद्र इन असंख्यात्मक अङ्गिरापुञ्जों से आपूर्यमाण है। स्वधया गतिशील इन अग्निपुञ्जों को ही 'धूमकेतु' कहा गया है। ज्योतिः–विज्ञानवेत्ता महर्षियोंने उस अप्समुद्र में अग्निपुञ्जलक्षण ऐसे एक सहस्र धूमकेतु मानें हैं *। ये धूमकेतु अपनी अपनी विशेष अवस्थाओं के सम्बन्ध में किरण पञ्चशिख त्रिशिख अप्रवत्त्व द्विशिख विकच शस्कर कौङ्कुम, तामसकीलक, विश्वरूप अरुण गणक इत्यादि विशेष नामों से व्यवहृत हुए हैं। इन्हीं धूमकेतुओं में से कोई एक केतु हमारी रोदसीत्रिलोकी का जन्मदाता बना है।

पारमेष्ठ्य मण्डल में सूत्ररूप से व्याप्त अग्निज्वाला–पुञ्जात्मक–प्रबलवेग से परिभ्रममाण धूमकेतु–लक्षण अङ्गिरा ही काल पाकर एक स्थान पर सञ्चित होने लगता है। ज्यों ज्यों अग्निकण एक नियत बिन्दु पर सञ्चित होने लगते हैं त्यों त्यों पिण्डात्मक स्वभाव का उदय होने लगता है। इसप्रकार कालान्तर में उस धूमकेतुरूप अग्निपुञ्ज के सञ्चित प्रवर्ग्यरूप से 'सूर्य्य' नामक सत्य–अग्निपिण्ड स्वतन्त्ररूप से प्रकट

\+ "अप्सु त मुञ्च भद्र ते लोका अप्सु प्रतिष्ठिताः।
आपोमयाः सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत्॥
—महाभारत

* शतमेकं विकमके, सहस्रमपरे वदन्ति केतूनाम्।
बहुरूपमेकमेव प्राह मुनिनारदः केतुम्॥
—बृहत्संहिता-केतुचाराध्याय ११।५

सूर्य्य कहा गया है। खगोलीय ज्योतिःपुञ्ज क्योंकि स्वतः प्रकाशित बनता हुआ स्वज्योति है, अतएव इसे 'सूर्य्य' कहना अन्वर्थ बनता है। खगोलकक्षा में इसीप्रकार स्वतः प्रकाशित स्वाती चित्रा लुब्धक अभिजित्, आदि असंख्य नक्षत्र स्वज्योतिर्मय बनते हुए 'सूर्य्य' हैं। तभी तो स्वाती को 'सविता' कहा जाता है —। जो पिण्ड अन्य प्रकाश से प्रकाशित रहते हैं, उन्हें परिभाषानुसार 'चन्द्रमा' कहा जाता है। पार्थिवाप्यमहमत सोमपिण्ड क्योंकि अन्य-ज्योति से (* सूर्य्यज्योति से) प्रकाशित है, अतएव इसे 'चन्द्रमा' कहा गया है। इसे ही 'परज्योति' माना गया है। शनि के आठ उपग्रह, बृहस्पति के चार उपग्रह, एवं मङ्गल के दो उपग्रह भी इसी परज्योतिर्भाव से 'चन्द्रमा' कहलाए हैं।

तीसरी रूपज्योति है। इसे हम परज्योति का ही दूसरा रूप कह सकते हैं। तीव्रवत्त्व की घनता से जहाँ सौर-ज्योति को पार्थिवस्यभाव में परिणत होने का अवसर मिल जाता है, वहाँ प्रकाशरश्मियों का उदय होजाता है। परन्तु मृद्भाव की अधिकता से रश्मिसम्बन्ध होने पर भी जिन से अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करने योग्य रश्मियों का प्रसार नहीं होता, अपितु जो अपने स्वरूपमात्र का परिचायक बनती है, ऐसी परज्योति को ही रूपज्योति कहा जाता है। यही परिभाषानुसार 'पृथिवी' नाम से व्यवहृत हुआ है। अथवा यों कह-लीजिए कि ज्योतर्भाव ही स्वयं 'रूप-प्रकाश' भेद से दो भागों में विभक्त है। जिन पिण्डों के साथ सूर्य्य की इन दोनों ज्योतियों का सम्बन्ध होता है, वे परज्योति कहलाते हैं। एवं जिनके साथ केवल रूप का सम्बन्ध होता है, उन्हें रूपज्योति कहा जाता है।

चौथा विभाग 'अज्योति' का है। वायु, चन्द्रलोकस्थ गन्धर्वप्राण, अष्टविध सौम्यप्राण ये सब अज्योति हैं। पारम्परिकतात्प्रतिबन्धक 'अत्रिप्राण' के अभाव से इनमें रूप-प्रकाशानुगता रश्मियों का प्रतिफलन नहीं होता। अतएव न तो इनका रूपप्रत्यक्ष ही होता, न चन्द्रमा की भाँति इनसे रश्मि-प्रसारजनित प्रकाश ही। शनि आदि ज्योतिर्मय ग्रह सूर्य्य से ही उत्पन्न हैं, परन्तु ये स्वज्योति नहीं हैं, अपितु चन्द्रमावत् परज्योति हैं। इस ज्योतिर्भाव का एकमात्र कारण सूर्य्यसम्बन्ध-विच्युति ही है। सूर्य्य में अन्नरूप से सोम-धारा आहुत होती रहती है। अतएव सूर्य्य स्वज्योतिर्मय बन रहा है। इससे वियुक्त शनि आदि उस सम्बन्ध विच्छेद से ही स्वज्योति-सम्पत्ति से वञ्चित होरहे हैं। जो महत्त्व सूर्य्य की दृष्टि से शनि आदि का है, वही महत्त्व पृथिवी का है। पृथिवी भी एकदृष्टि से परज्योति ही है, और इसका मुख्य कारण मृद्भाग की प्रधानता ही है। ऐसी दशा में केवल ज्योति के अभाव से ही इसे ग्रहसम्पात से पृथक् करते हुए उक्त असङ्गति की आशङ्का नहीं की जासकती।

— 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्' [यजुःसं०] इत्यादि मन्त्र में स्वाती के अभिप्राय से ही 'सवितुः' पद उद्धृत हुआ है।

* "अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्, इत्था चन्द्रमसो गृहे।" [ऋक्सं०] तरणिकिरणसङ्गादेष पानीयपिण्डो दिनकरदिशि चञ्चच्चन्द्रिकाभिः स्फुरति" [ज्या०]

वर्षों तक में पूरी होती मानी गई है। इस परिक्रमा के अनुसार ही सृष्टोत्पत्त्या प्रजा को इसका प्रत्यक्ष हुआ करता है। केन्द्रविरहित धूमकेतु घूमने लगा। इस समय इसमें दो भावों का समवेश हुआ।

उधर तो पारमेष्ठ्य वराहवायु' के व्यापार से केन्द्र का निर्म्माण आरम्भ हुआ इधर परिधि-स्थानीय अग्निपुञ्जखण्ड प्रवर्ग्यभाव से युक्त होने लगे। कालान्तर में गतिवैषम्य से अग्निपुञ्ज का सर्वान्त का भाग इससे पृथक् होकर अपना नियत स्थान बनाकर घूमने लगा। वही अग्निपुञ्ज-खण्ड आगे जाकर 'शनैश्चर' नाम से प्रसिद्ध हुआ। किसी समय अवश्य ही शनैश्चरकक्षा-पर्य्यन्त इस अग्निपुञ्ज की व्याप्ति रही होगी। परन्तु आज तो अग्निपुञ्जविशेष सूर्य्य और शनैश्चर में पर्य्याप्त अन्तर होगया है। शनैश्चर के अनन्तर जो अग्नि-खण्ड पृथक् हुआ वह 'बृहस्पति' कहलाया। तीसरा खण्ड पृथक् हुआ। यह आगे जाकर १०८ अवान्तर खण्डों में परिणत हुआ जिन्हें १०८ 'देवसेनाग्रह' कहा जाता है। अनन्तर चौथा खण्ड पृथक् हुआ वही 'मङ्गल' कहा जाता है। मङ्गल के अनन्तर पृथक् होने वाला खण्ड ही सुप्रसिद्ध 'भूपिण्ड' है। इस भूपिण्ड का सोममय पृथक् भाग ही 'चन्द्रमा' है। आगे का खण्ड शुक्र कहलाया। एवं सर्वान्त का खण्ड 'बुध' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इसप्रकार केन्द्रस्थ अग्निपुञ्ज (जो कि आज सूर्य्य नाम से प्रसिद्ध है) से ही ये सम्पूर्ण ग्रहोपग्रह उसी गतिवैषम्य से उत्पन्न हुए हैं। सूर्य्यात्मक अग्निपुञ्ज के प्रथम प्रवर्ग्य भाग 'सूर्य्यपुत्र' नाम से प्रसिद्ध शनिदेव ही माने गए हैं, जिनकी एक भास्करसिक परिक्रमा ३ वर्षों में समाप्त होती है। सूर्य्य के प्रवर्ग्यांशभूत ये उपग्रह अद्यावधि सूर्य्य के चारों ओर उसी पृथक् स्थान में परिक्रमा लगा रहे हैं। सूर्य्य के चारों ओर सर्वप्रथम बुध अनन्तर शुक्र अनन्तर पृथिवी, पृथिवी के चारों ओर चन्द्रमा अनन्तर मङ्गल, अनन्तर देवसेना नामक १०८ ग्रह, अनन्तर बृहस्पति अनन्तर शनि सर्वान्त में नक्षत्रकक्षा, यही इनका अवस्थानक्रम है। आज भी विधि के इस अलातचक्र की यह परिभ्रमणलीला यथावत् परिक्रान्त है। अवश्य ही कालान्तर में सूर्य्य से और ग्रह उत्पन्न होंगे जिनका संकेत हमें माठर कपिल एवं चन्द्रांशु आदि पारिपार्श्वकों से मिल रहा है। इस क्रमसे एक दिन सम्पूर्ण सूर्य्यमात्रा ग्रहनिर्म्माण में समाप्त होजायगी। स्वर्ग प्रजापति के विध्वस्त होते ही सृष्टप्रक्रिया का अवसान होजायगा। अव्यक्तात्मक शास्त्रागम सङ्कुल शून्य बना देगा। पुनः नवीन धूमकेतु से नवीन सृष्टिक्रम आरम्भ होगा। इसप्रकार 'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः-धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादि रूप से उपगीयमान विधि का यह विचित्र लीलाचक्र इसीप्रकार चक्कर ॥ करता रहेगा जिसके लिए 'इदमित्थमेव' कहने के लिए मानवीय बुद्धि सर्वथा ही असमर्थ है। 'न विश्वमूर्त्तेरवधार्य्यते वपुः (महाकवि कालिदास)

'शनि बृहस्पति देवसेनाग्रह, मङ्गल बुध ये उपग्रह ज्योतिर्म्मय दिखलाई देते हैं। अतः इन्हें सूर्य्योपग्रह मानना सुसङ्गत बन रहा है। परन्तु मनुष्याधिष्ठित भूपिण्ड क्योंकि ज्योतिर्म्मय से वञ्चित है अतएव इसे सूर्य्योपग्रह मानना असङ्गत सा प्रतीत होता है इस असङ्गति का उस समय भलीभाँति निराकरण होजाता है जब हम उक्त ग्रहों के स्वरूप का परिचय प्राप्त करते हुए वैदिक-ज्योतिर्विज्ञान के स्वरूप से अवगत हो जाते हैं।

'स्वर्ज्योतिः, परज्योतिः, रूपज्योतिः अज्योतिः' भेद से ज्योतिर्विवर्त्त चार भागों में विभक्त माना गया है। चारों ओर से स्वतः प्रकाशित ज्योतिर्म्मण्डल ही 'स्वर्ज्योति' कहलाए हैं। इन्हें ही परिभाषानुसार

प्राय श्रुति के सभी पदों का समन्वय होगया। अब वीतये पद अवशिष्ट है। श्रुति ने 'वीतये' इन तीन अक्षरों से लोकविधान करना बतलाते हुए एक दूसरे 'अन्न-अन्नादविज्ञान' का भी स्पष्टीकरण किया है। लोकवितान हुआ, और-देवताओंने तीन अक्षरों से (अक्षरानुगता गतित्रयरूपा गति से) त्रैलोक्य का निर्म्माण किया। परन्तु प्रश्न यह है कि देवताओंने यह महारम्भ प्रयास किया क्यों? किस प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर देवताओंने लोकनिर्म्माण किया?। श्रुति का 'वीतये' पद इसी प्रश्न की उपपत्ति बतला रहा है। वीतये का शब्दार्थ है— खाने के लिए। इतः प्रदाना ह्य से ' देवा उपजीवन्ति') के अनुसार पार्थिव रस ही सौर-देवप्राणों की जीवनयात्रा का कारण माने गए हैं। सौरप्रजापति महनिर्म्माण में जहाँ अपने शरीरपर्वों का विस्रस्त (खर्च) करते रहते हैं वहाँ वे इनके रसों का आदान करते हुए उस विस्रस्त भाग की क्षतिपूर्त्ति भी किया करते हैं। यही पारस्परिक अन्न-अन्नादमाव है जिसका अन्यत्र विस्तार से स्पष्टीकरण हुआ है *। यदि भूलोक न बनता तो यहाँ से द्युलोक में गायत्र-अग्नि के द्वारा पार्थिव रसों का गमन न होता। फलतः द्युलोकस्थ प्राणदेवताओं का विस्रंसन तो होजाता। किन्तु विस्रस्त भाग की क्षतिपूर्त्ति नहीं होती। हम देख रहे हैं कि विस्रंसन के साथ साथ क्षतिपूर्त्ति भी होरही है। इस पारस्परिक आदान-विसर्गात्मक अन्नयज्ञ से ही दोनों का स्वरूप सुरक्षित है। देवताओं की यह अन्नादान प्रक्रिया 'वी-त-यें' इन तीन अक्षरों से उपलक्षित 'पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ' इन तीनों लोकों के रसों से समानरूप से सम्बद्ध है। इसप्रकार 'वीतये यह अक्षर पद जहाँ प्रजापति की गतित्रयी के द्वारा लोकत्रयी-निर्म्माण का रहस्य स्पष्ट कर रहा है वहाँ यही पद लोकत्रय-निर्म्माण की आवश्यकता का भी रहस्योद्घाटन कर रहा है।

अवश्य ही इस रहस्यार्थ को गर्भ में रखने वाले 'अग्न आयाहि वीतये' इस मन्त्रभाग के अनुवचन से यज्ञकर्त्ता यजमान के निवास के लिए लोकसम्पत्ति भी वरीय' होजाती है एवं अन्नसम्पत्ति भी 'विपुल' होजाती है। हम भी इस मन्त्रपद के रहस्यार्थ के उपसंहार से लोकाध्यक्ष तथा अन्नाध्यक्ष उस दिव्याग्नि-देवता से यही प्रार्थना करते हैं कि हमारे इस भारतलोक के तथा भारतीय-भोगसम्पत्ति के भारतीयों को अनन्यस्य भोक्ता बनाने का अनुग्रह करते हुए अपने भारत' नाम को चरितार्थ कर हमें 'अग्ने! महाँ असि ब्राह्मण भारत यह कहने का अवसर प्रदान करें ॥२३॥

मन्त्र का मध्यभाग है 'गृणानो हव्यदातये यह। देवताओंने लोकान्न-सम्पत्तियाँ प्राप्त कर त्रैलोक्योपलक्षित सम्वत्सरमण्डल में अपना स्वतन्त्र साम्राज्य स्थापित कर लिया। क्यों? जानते हैं आप? देवताओंने पहिले आत्म-समर्पण किया सर्वस्व बलिदान किया तब कहीं उन्हें यह वैभव मिला। देवता हमारी भाँति अकर्मण्य नहीं अपितु 'यजमान हैं यज्ञकर्म्म के अनन्य अनुगामी हैं। हम भी इस सम्पत्ति के सभी भोक्ता बन सकते हैं जब यजमान बनें अग्निवितान करें हव्यदाता बनें कर्मठ बनें श्रुतिप्रतिष्ठित सर्वसाधक यज्ञकर्म्म का अनुगमन करें। जो यजमान ऐसे यजमान हैं वे ही उक्त सम्पत्ति के भोक्ता बन सकते हैं। अन्यथा तो सब अन्यथा ही है।

×— अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य, पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।
यो मा ददाति स इ देव मावत्, अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि' ॥

उक्त महोपमहद्भाव में से प्रकृत में हमें पाठकों का ध्यान केवल सूर्य्य तथा पृथिवी (भूपिण्ड) की ओर ही आकर्षित करना है। जबतक अग्निपञ्चात्मक सूर्य्य से पृथिवी का उदय नहीं हुआ था तबतक सूर्य्य एक विशाल प्रजावचक्ररूप में परिणत रहता हुआ उस स्थान पर्य्यन्त व्याप्त था जहाँ कि आज पृथिवी की अन्तिम परिधि है। सूर्य्य-जिसे कि द्युलोक कहा जाता है, उस समय उसी की व्याप्ति थी। उस समय पृथिवी-अन्तरिक्ष (सूर्य्य, तथा पृथिवी के मध्य का प्रदेश)-द्यौ (सूर्य्य) इसप्रकार का त्रैलोक्य विभाग न था। आज जो द्युलोक (तदुपलक्षित सूर्य्य) हमारे भूलोक से ५ कोटि क्रोश विदूरस्थान पर स्थित है जिस द्युलोक को आज छूना तो दूर रहा प्रत्यक्ष भी साक्षात् रूप से (सावित्ररूप से) नहीं किया जासकता, वह द्युलोक भूनिर्म्माण से पहिले (जिस स्थान पर आज भूलोक की अन्तिम परिधि है) इस भूलोकपर्य्यन्त व्याप्त था। उस समय यदि हम होते तो द्युलोक हाथ से छूआ जासकता था। इसी पूर्वस्थिति का श्रुति ने—'उपस्पृश्या हैव द्यु रास' इन शब्दों में अभिनय किया है ॥२७॥

जिस अर्थ का पूर्व में हमने अपने शब्दों में स्पष्टीकरण करते हुए यह बतलाया है कि, काल पाकर सूर्य्य से भूमाग पृथक हुआ फलत त्रैलोक्य का विभाजन हुआ और उस समय अन्य ग्रहों के प्रबन्धभाव से द्युलोक इस भूलोक से विदूर होगया श्रुति अपने शब्दों में उसी भाव का स्पष्टीकरण कर रही है। प्रश्न यह है कि किसने इस अग्निपुञ्ज को पृथक किया ? । इस प्रश्न का उत्तर इसके अतिरिक्त और क्या होसकता है, कि-सूर्य्य-केन्द्रस्थ प्राणमय प्रजापति की कामना से मनःप्राणयुक्त बने हुए सौर प्राणदेवताओंने ही यह लोकविधान किया। तत्वत भी यही उत्तर समीचीन प्रतीत होता है। सौर-अग्निपुञ्ज अपने गतिवैषम्य से ही सो ग्रहों का जनक बना है। यह गतितत्त्व प्राणकला से सम्बन्ध रखता है। प्राजापत्य मन जहाँ ज्ञानप्रधान है प्राजापत्या वाक् जहाँ अर्थप्रधाना है वहाँ मध्यस्थ प्राजापत्य प्राण क्रियाप्रधान माना गया है। क्रिया ही गतिभाग है। इस इच्छा-प्राजापत्यगति का पर्वरूप से नाम-विज्ञान होता है एवं इस गति का आगे जाकर अग्निपुञ्जस्थ आग्नेय-प्राणदेवताओं से योग होता है। इसी देवगति (प्राणगति) से लोक-विभाजन होता है।

इस लोक-विभाजन-प्रक्रिया-में इन्द्र प्रजापति का मौलिक सहयोग बतलाया गया है। वहाँ प्रजापति 'आलम्बन निमित्त उपादान भेद से त्रिसंस्थ माना गया है। अव्ययलक्षणा वही आलम्बन है अक्षरलक्षणा वही निमित्त है एवं क्षरलक्षणा वही उपादान है। अक्षर ही क्योंकि सृष्टि का निमित्त है अतएव कह सकते हैं कि, यहाँ इन्द्र अक्षरप्रजापति ही इस लोकसृष्टि का प्रधान प्रवर्त्तक है। यह इन्द्राक्षर ब्रह्मालक्षणा स्थिति इन्द्रलक्षणा गति तथा विष्णुलक्षणा आगति इन तीन गतियों से युक्त है। सर्वतोदिग्गति स्थिति है अर्वाग्गति आगति है पराग्गति गति है। इसप्रकार अक्षरात्मिका स्थिति आगति-गति-तीनों तत्त्वत गति' ही बन रही हैं। अक्षरमूर्ति प्रजापति अपने इसी अक्षरानुगत-गतित्रयलक्षण गतिभाव से सोमगर्भित अग्न्यक्षर के आधार पर लोकविधान में समर्थ हुए हैं। जिस गतिविच्छेद से भूलोक पृथक हुआ है उस देवगति में (अग्न्यात्मिका प्राणगति में) स्थितिरूपा गति भी है। आगतिरूपा गति भी है एवं प्रागतिरूपा गति भी है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा है कि — 'तानेतैरेव त्रिभिरक्षरैर्व्यनयम्" । देवताओं ने स्वप्रतिष्ठारूप इन्द्र-प्रजापति के ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्राक्षर से सम्बन्ध रखने वाली स्थिति-गति-आगति-रूपा गतियों से ही लोकनिर्म्माण किया।

एवं आप-वायु-सोम-रूप से भृगु भी तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है स्नेहलक्षणा भृगुत्रयी परिधि से हृदय की ओर क्रमशः (सङ्कुचित होती हुई) आती रहती है एवं तेजोलक्षणा अङ्गिरात्रयी हृदय से परिधि की ओर क्रमशः (विकसित होती हुई) जाती रहती है। अङ्गिरात्रयी का अन्तिम विकास परिधि-सीमा पर पहुँचते ही अर्वाङ्मुख बनकर भृगुत्रयीरूप में परिणत होजाता है। एवमेव भृगुत्रयी का अन्तिम सङ्कोच हृदयसीमा पर पहुँचते ही सहावस्थानामावप्रवचक सञ्चय में परिपक्व होकर पराङ्मुख बनता हुआ अङ्गिरात्रयीरूप में परिणत होजाता है। यहीं से इस अङ्गिरात्रयी के अङ्गों का * ऊर्ध्व की ओर रसन होने लगता है, अतएव इसे 'अङ्गिरा' कहा जाता है। अथवा अङ्ग रस के सम्बन्ध से भी इस पार्थिव अग्नि को 'अङ्गिरा' कहना अन्वर्थ बनता है—। अग्नि ही अङ्गों का स्वरूपरक्षक रस है।

इस अङ्गिरोऽग्नि के भूत-प्राण भेद से दो विवर्त हैं। प्रत्यक्षदृष्ट अङ्गारारूप अग्नि भूतलक्षण अङ्गिरोऽग्नि है। एवं इस भूताङ्गिरोऽग्नि में प्रतिष्ठारूप से प्रतिष्ठित अङ्गिराप्राण प्राणलक्षण अङ्गिरोऽग्नि है। प्राण को ही विज्ञानभाषा में 'ऋषि' कहा गया है। जबतक भूत में प्राण प्रतिष्ठित रहता है तभीतक भूत की स्वरूप-रक्षा होती रहती है। साथ ही जबतक इस प्राण के साथ बाह्य अन्नसम्पत्ति का सम्बन्ध बना रहता है तभीतक यह प्राण भूतरक्षा-कर्म्म में सफल रहता है। अङ्गिराप्राण के परीक्षक अतएव तत्समय की मर्य्यादा के अनुसार 'अङ्गिरा' इस यशोनाम से प्रसिद्ध महर्षियोंने अपने वैध यज्ञो में समिधा-धान (काष्ठाधान) से इसी का समिन्धन किया है। इसप्रकार दोनों दृष्टियों से—"समिद्भिरङ्गिर-मङ्गिरस-ऐन्धत' यह वाक्य चरितार्थ होरहा है। 'घृतेन वर्द्धयामसि' का घृतपद 'घृताच्या' की भाँति समिन्धनकर्म्म का अनन्य उपोद्बलक बनता हुआ 'सामिधनी' पद बन रहा है। घृत ही अग्नि का अपना वीर्य्य है। इस पद से समिद्ध अग्नि में इसी वीर्य्य का आधान होरहा है ॥२५॥

त्रैलोक्यात्मक सम्वत्सर में व्याप्त होने से यही 'बृहत्' है सर्वत्र अपने तप से विद्यमान है। साथ ही हमारा यह आहवनीयाग्नि भी सामिधेनियों से समिद्ध होकर महान् बनता हुआ अतिशयरूप से प्रज्वलित होरहा है। अवश्य ही आज यह अग्नि यजमान के शत्रुओं के भी शोक का कारण बन गया है जैसाकि आगे के अभिचार-कर्म्म में स्पष्ट किया गया है। 'यविष्ठ्य' यह इस अग्नि का प्रातिस्विक नाम है। सम्व-त्सराग्नि का पारमेष्ठ्य अमृतसोम से नित्य सम्बन्ध है। इसी अव्ययसोमाहुति के प्रभाव से यह दिव्याग्नि सदा समानरूप से प्रज्वलित रहता हुआ अजर-अमर सदा नित्ययुवा बना रहता है। 'यविष्ठ्य' से अग्नि के इसी स्वरूप का स्पष्टीकरण हुआ है। क्योंकि प्रकृत ऋचा में 'घृतेन' पद है अतएव 'घृतमन्तरिक्षस्य' के अनुसार यह ऋचा अन्तरिक्ष-लोकसम्पत्ति की ही समाहिका बन रही है। इसप्रकार प्रकृत ऋचा निम्न-लिखित रूप से समिद्ध अग्नि की समिद्ध-प्रक्रिया का इतिहास बतलाती हुई इसके स्वरूप का ही स्पष्टीकरण कर रही है—

---

*-'तस्मादङ्गिरसोऽधीयान ऊर्ध्वस्तिष्ठति' (गो० ब्रा० पू० १।६।)।
—(देखिये-सा० छा० भा० ३।२।१०)।

मन्त्र का अन्तिम भाग है नि होता सत्सि बर्हिषि' यह । अग्नि 'होता' है यह 'बर्हि' पर प्रतिष्ठित है एवं बर्हि से निदानेन यहाँ भूलोक ही अभिमेत है जैसा कि पूर्व में समष्टिरूप से मन्त्रार्थ करते हुए सोपपत्तिक बतलाया जा चुका है । इस सामिधेनी का 'बर्हि' पद इस भूलोक का ही अनुगामी है । अतः इसके अनुवचन से यज्ञकर्त्ता यजमान पार्थिव भागधेय का ही अनन्य भोक्ता बन जाता है और यही द्वितीय मन्त्रपदों की संक्षिप्त उपपत्ति है जिसका भाष्य की २२ २३ २४ इन तीन कण्डिकाओं में स्पष्टीकरण हुआ है ॥२४॥

'अग्न आयाहि' के अनन्तर वह होता क्रमप्राप्त तीसरी (आवृत्त्यानुसार पाँचवी) निम्नलिखित सामिधेनी–ऋचा का अनुवचन करता है—

(३)-'ओम्–तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि ।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य–ओम्'इति (५) ।

'प्र वो वाजा अभिद्यव०' इत्यादि प्रथम मन्त्र त्रैलोक्य–व्यापक सम्वत्सराग्नि का समष्टिरूप से संग्राहक है । मन्त्रगत 'वाजा' पद त्रिवृत्स्तोमोपलक्षित भूलोक का मन्त्रोपात्त 'घृताच्या' पद पञ्चदशस्तोमोपलक्षित 'अन्तरिक्ष' का एवं मन्त्रगत 'अभिद्यव' पद एकविंशस्तोमात्मक द्युलोक का संग्राहक बन रहा है । इसप्रकार प्रथम मन्त्र से समष्ट्यात्मक सम्वत्सर अग्नि का ही समिन्धन हुआ है । इस से आगे के— 'अग्न आयाहि वीतये०' 'तं त्वा समिद्भिरङ्गिरा०'–'स नः पृथुश्रवाय्यम्०' इन तीन मन्त्रों से क्रमशः पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौ इन तीनों लोकों में प्रतिष्ठित तीनो अग्निपर्वों का समिन्धन हुआ है । 'अग्न आयाहि' का 'बर्हि' पद पार्थिवाग्निपर्व का 'तं त्वा समिद्भि' का 'घृतेन' पद आन्तरिक्ष्याग्नि का, एवं 'स नः पृथु श्रवाय्यं' का 'पृथु' पद दिव्याग्निपर्व का संग्राहक बन रहा है । इसप्रकार इस मन्त्रचतुष्टयी से समष्टि व्यष्टिरूप से उभयथा अग्निदेव का समिन्धन होजाता है इस स्थिति को लक्ष्य में रखकर ही इस मन्त्रचतुष्टयी के अर्थ का समन्वय करना चाहिए ।

'अग्न आयाहि०' से दिव्यलोकस्थ सावित्राग्निरूप दिव्य अग्नि का इस भूलोकोपलक्षित यज्ञाग्नि में आह्वान किया गया । यहाँ आते ही यह पृथिवी की वस्तु बनता हुआ आङ्गिरा पद का अधिकारी बन गया । 'इम एत उपारुह्न' इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार पार्थिव अग्नि ही अङ्गिरा कहलाया है । इसीलिए श्रुति ने इसे (आगमन के अनन्तर) 'अङ्गिरा' नाम से व्यवहृत किया है । अग्नि की ही भृगु, तथा अङ्गिरारूप से दो अवस्था मानीं गई है । आगमनदशा में वही भृगु कहलाता है, एवं गमनदशा में वही अङ्गिरा कहलाता है । प्रज्वलित अग्नि में जो अग्निज्वाला है यह साक्षात् भृगु है । अग्नि की अवस्थान्तर भार्गव सोम के बनने का ही नाम ज्वाला है । एवं जिस अङ्गिर पिण्ड से यह ज्वाला निकल रही है वह अङ्गिरोऽग्निमय है जैसा कि—'अर्चिषि भृगुः सम्बभूव अङ्गारेभ्यो अङ्गिरा सम्बभूव । अथ यदङ्गारा अवशान्ताः पुनरुद्दीप्यन्त अथ बृहस्पतिरभवत्' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से स्पष्ट है ।

तात्पर्य यही है कि, तेजः–स्नेह–तत्त्वों के सम्मिश्रण का ही नाम वस्तुस्वरूप है । तेज अङ्गिरा है स्नेह भृगु है । अग्नि–यम–आदित्य भेद से 'अङ्गिरा' भी तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है ।

ऋचा 'पृथुमती' है। तीनों की समष्टि त्रैलोक्यसम्पत्ति की समाहिका बनती हुई 'लोकत्रिच' नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृत सामिधेनी-प्रकरण में लोकत्रिच-अध्वरयन्तत्रिच-वृषण्वन्तत्रिच भेद से तीन त्रिच हैं। इनमें पहला लोकत्रिच व्यष्टिरूप से ही त्रैलोक्य में व्याप्त त्र्यग्नि का समिन्धन कर रहा है। मन्त्रार्थ स्पष्ट है ॥२७,२८॥

उक्त लोकत्रिच के अनन्तर वृषण्वन्तत्रिच का अनुवचन आरम्भ होता है। 'स न पृथु श्रवाय्यम्' इत्यादि चौथी ऋचा के अनन्तर यह होता क्रमप्राप्त पाँचवीं (आवृत्त्यानुसार सातवीं) वृषण्वन्तत्रिच की पहिली निम्नलिखित ऋचा का अनुवचन करता है—

(५)-"ओम् ईडेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः ।
समग्निरिध्यते वृषा ओम् ॥ (७)-(१)

'ताप' जहाँ अग्नि का प्रातिस्विक धर्म्म माना गया है, वहाँ प्रकाश इन्द्र का प्रातिस्विक धर्म्म माना गया है। चन्द्रमा में केवल इन्द्र का सम्बन्ध है अतएव चन्द्रिका में प्रकाश है ताप नहीं। उष्ण जल में केवल अग्नि का सम्बन्ध है अतएव इसमें ताप है प्रकाश नहीं। अग्नि-वरुण का एकत्र समन्वय सम्भव है परन्तु वरुण-इन्द्र का एकत्र सहवास असम्भव है। इसप्रकार ताप-प्रकाश का भलीभाँति पार्थक्य सिद्ध होजाता है। हम जिस और दिव्याग्नि का समिन्धन कर रहे हैं उसमें ताप भी है प्रकाश भी है। इसमें ताप अग्नि का धर्म्म है प्रकाश इन्द्र का धर्म्म है। इन्द्र ही 'वृषा' नाम से प्रसिद्ध है। वृषेन्द्र के समन्वय से ही यह यविष्ठ अग्नि 'वृषा' (प्रकाशयुक्त) बन रहा है। इसी वृषेन्द्र के सहयोग से यह अग्नि अन्धकार दूर करने में समर्थ होरहा है। वृषेन्द्र यज्ञ का अधिपति माना गया है। जबतक यज्ञ में इन्द्र सम्पत्ति का समह नहीं होता तबतक यज्ञ अपूर्ण रहता है। उसी वृषेन्द्र के समह के लिए इन्द्रयुक्त होने से वृषा नाम से प्रसिद्ध अग्नि का प्रकृत ऋचा से समिन्धन हुआ है जो कि अग्नि अलौकिकी मन्त्रभाषा से भी स्तुत (विज्ञ होने वाला) है एवं लौकिक भाषा से भी नमस्कार करने योग्य है। शास्त्रीय कर्म्म में भी यह (प्राणरूप से) उपयुक्त है तथा लौकिक मानवकर्म्म में भी यह (भवरूप से) उपयुक्त है।

'ईडेन्यो नमस्यः' के अनुवचनानन्तर यह होता क्रमप्राप्त ६ ठी (आवृत्त्यनुसार आठवीं) वृषण्वन्तत्रिच की दूसरी निम्नलिखित ऋचा का अनुवचन करता है—

(६)—"ओम्-वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः ।
तं हविष्मन्त ईडते ओम् ॥ (८)-(२)

वृषेन्द्र के सम्बन्ध से वृषा बनता हुआ ही यह अग्नि अश्व-रूप में परिणत होकर देवताओं के लिए यज्ञ का वहन करने में समर्थ होता है। सौरलोक से भूलोक की ओर आनेवाला इन्द्रयुक्त दिव्याग्नि ही अश्वरूप में परिणत होकर वापस लौटता हुआ पार्थिव हवि का द्युलोकस्थ देवताओं के लिए-इनके त्रिसत्यभाग की क्षतिपूर्ति के लिए-वहन करता है। सौरज्योति [इन्द्रगर्भित दिव्याग्नि] अपने सावित्ररूप से भूमि [भूपृष्ठ] की ओर आरहा है। जिसप्रकार तरणिकिरण-सङ्ग से पानीय-पिण्डात्मक चन्द्रमा अर्द्ध भाग में ही प्रकाशित रहता है एवमेव यह आगत सौर तेज भी भूपृष्ठ के सूर्य्याभिमुख अर्द्ध भूभाग को ही प्रकाशित

"हे पार्थिव अङ्गिरोऽग्ने ! अङ्गिराप्राण के द्वारा पार्थिवद्रव्यरूप समित से-तथा आन्तरिक्ष्य घृत से आप समिद्ध हैं। इसी समिधन्धनकर्म्म से आप त्रैलोक्य में बृहद्रूप से तपते हुए नित्यतरुण बन रहे हैं"

"हे आहवनीयस्थ समिद्ध अग्ने ! अध्वर्य्यु नामक ऋत्विक् काष्ठ, तथा घृताधान से आपके स्वरूप को प्रबुद्ध कर रहा है। हे नित्यतरुण अग्ने ! आप इस समिन्धन कर्म्म से महान् बनते हुए प्रदीप्त बनिए"।

क्योंकि इस ऋचा से अन्तरिक्ष-लोकसम्पत्ति का संग्रह हुआ है अतएव यह स्वरूपत अग्निमयी बनती हुई भी अनिरुक्ता है। अन्तरिक्षलोक का आकाशत्वेन निर्वचन नहीं किया जासकता। यही अन्तरिक्ष की अनिरुक्तता है। इसप्रकार ऋचा के * घृतेन पद की भांति 'अनिरुक्त' भाव भी अनिरुक्त अन्तरिक्ष का समाहक बन रहा है। एवं यही तृतीय मन्त्रपदों की संक्षिप्त उपपत्ति है ॥२५॥

'स त्वा समिद्धि ०' के अनन्तर होता क्रमप्राप्त चौथी (आवृत्ति के अनुसार ६ ठी) निम्नलिखित सामिधेनी-ऋचा का अनुवचन करता है—

(४)- 'ओम्-स न पृथुश्रवाय्यमच्छा देव विवाससि।
बृहदग्ने सुवीर्य्यम् ओम्" इति (६)

वैदिक-परिभाषानुसार 'इयं अयं-इदं' शब्द पृथिवीलोक के 'एष' शब्द अन्तरिक्षलोक का तथा 'असौ अद' इत्यादि शब्द द्युलोक से सम्बद्ध है। ब्राह्मणश्रुति में पठित 'अदः' शब्द उसी पारिभाषिक द्युलोक' की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। द्युलोक एवं तत्रस्थ दिव्याग्नि दोनों पृथिव्य-न्तरिक्ष की अपेक्षा 'पृथु (विस्तीर्ण) है साथ ही सुत्य प्राणदेवताओं के निवास से श्रवणीय भी है। कौन इस सर्वसुखैकसाधक द्युलोक, तथा दिव्याग्नि की गाथाएँ सुनना नहीं चाहता ?। अग्नि के इस पृथुश्रवा-रूप से कहा यही जाता है कि यह हमारे यज्ञ में समिद्ध होकर यजमान को भी उस श्रवाय्य दिव्यलोक का पात्र बनावे।

द्युलोक जहाँ श्रवाय्य है वहाँ वीर्य्यशाली-वीर्य्यप्रवर्तक देवताओं के निवास से सुवीर्य्य भी बन है। साथ ही अपने लोक (द्युलोक) के बृहत्साम से 'बृहत्' भी। प्रस्तुत ऋचा द्युलोक की ही अनुग्राहि-का बन रही है जिसके संग्राहक 'पृथु 'श्रवाः 'बृहत्' इत्यादि पद बन रहे हैं। अग्न आयाहि० इत्यादि ऋचा वर्हिष्मती है 'तं त्वा समिद्भि ऋचा वृद्धिमती' है, एवं प्रकृत- स न पृथु श्रवाय्यम्

---

*—'घृतेन पद तथा अनिरुक्तभाव के अतिरिक्त बृहद्भासि' तथा बृहत् पद भी इसी अन्त-रिक्षलोक के समाहक बन रहे हैं। कारण यही है कि, यह अन्तरिक्ष पृथिवी की अपेक्षा उत्तरोत्तर महीयान् तथा बृहत् है

'नमस्य' कहलाया है यही इस कर्म्मोपासना की दृष्टि से इसे 'इडन्य' कहा गया है। यही प्रकृत में प्रधानरूप से अभिप्रेत है। 'इलेन्यमन्नो ह्यनेन मनुष्या ईडते' यह मन्त्रभाग अग्निदेव की इस कर्म्मोपासना का ही स्पष्टीकरण कर रहा है और यही प्रकृत मन्त्रभागों की सङ्क्षिप्त उपपत्ति है ॥ ३१ ॥

'वृषो अग्निः समिध्यते०" इत्यादि ६ ठी सामिधेनी के अनुवचनानन्तर वह होता क्रमप्राप्त ७ वीं [आवृत्यनुसार ९ वीं] वृषण्वत्त्रिच की तीसरी निम्नलिखित ऋचा का अनुवचन करता है—

(७)—"ओम् वृषणं त्वा वयं वृषण् समिधीमहि।
अग्ने दीद्यतं बृहत्-ओम्" इति ॥ (९)-(३)

'यज्ञसम्पत्तिप्रवर्त्तक यज्ञाधिपति वृषा इन्द्र से यज्ञसम्पत्तिप्रवर्त्तक बनते हुए ये वृषा (वृषात्मक) अग्निदेव आज (उक्त सामिधेनियों से) पूर्णरूप से समृद्ध हो गए हैं। द्युलोकस्थ इन्द्र के बृहत् साम-सम्बन्ध से बृहत् बन गए हैं' यह भाव प्रकट करता हुआ प्रकृत मन्त्र अग्नि के वृषात्मकरूप का ही स्पष्टीकरण कर रहा है ॥ ३२ ॥

उक्तरूप से तीनों मन्त्रों की समष्टि वृषण्वत्त्रिच बन रही है। इसका एकमात्र फल है—दिव्याग्नि को यज्ञपति वृषा इन्द्र की सम्पत्ति से युक्त करना। ३१ वीं कण्डिका से इसी फल का स्पष्टीकरण हुआ है ॥ ३३ ॥

वृषण्वत्त्रिच के अनुवचनानन्तर वह होता क्रमप्राप्त आठवीं [आवृत्त्यानुसार १० वीं] निम्न लिखित ऋचा का अनुवचन करता है

(८)—"ओम्-अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्-ओम्" ॥ (१०)

मन्त्र का 'अग्निं दूतं वृणीमहे' वाक्य एक महत्त्वपूर्ण विज्ञान का स्पष्टीकरण कर रहा है। पार्थिव दिव्याग्नि होता कैसे कहलाया ?, इस प्रश्न के समाधान के साथ साथ श्रुति ने पृथिवी की दैनन्दिनगति का स्पष्टीकरण करते हुए साम्वत्सरिकगति का भी विश्लेषण किया है। उसी का सङ्क्षिप्त वैज्ञानिकस्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जारहा है।

भौतिक पदार्थों को स्वस्वरूप से सुरक्षित रखने वाली उनके जीवन-साधक आदान-विसर्गात्मक यज्ञ-कर्म का नियतकाल पर्य्यन्त सञ्चालन करने वाली अन्तःशक्ति ही विज्ञानभाषा में 'प्राण' नाम से व्यवहृत हुई है। 'विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः' [ऋक्सं] इस ऋग्व्याख्यान के अनुसार ये शक्तिरूप प्राण अनन्त हैं। प्राणों का आनन्त्य ही भूतपदार्थों के आनन्त्य का कारण है। अथापि अनन्तधर्मा इन अनन्त प्राणों में से प्रकृत में हमें सौर-पार्थिव इन दो प्राणों की ओर ही विशेषरूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। सूर्य्य स्वज्योतिर्घन है अतएव इसका प्राण ज्योतिष्मान् माना गया है। एवं रूपज्योतिर्घना

करता है शेष अर्द्ध भाग अप्रकाशित ही रहता है। इसी दृष्टिकोण से एक ही पृथिवी के दिति अदिति ये दो विवर्त होजाते हैं जैसा कि अध्वरयन्त्र–त्रिचोपपत्ति में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

भूपिण्ड की दृष्टिगोचर परिधियों को काटता हुआ भागव और प्रकाश मध्यगति में परिणत होता हुआ साथ ही मृच्छाया का स्वरूप–समर्पक बनता हुआ आगे निकल जाता है। यदि हम प्रकाश में चलते हैं तो हमारी छाया विरुद्ध भाग में पड़ती है। कारण यही है कि, हमारे शरीर से टकरा कर प्रकाशरश्मियाँ प्रतिफलित होजाती हैं। जैसा भास्वर छाया का होता है, ठीक वैसे ही आकाश में यद्यपि–प्रकाशरश्मियों का भी प्रतिफलन होता है, किन्तु प्रकाशपुञ्ज के द्वारा होने वाले अभिभव से उसका हमें प्रत्यक्ष नहीं होता। ठीक यही परिस्थिति भागव और तेज की समझिए।

सौरप्रकाश भूपृष्ठ पर आया गायत्ररूप में परिणत होकर पार्थिवरसरूप हवि को लेता हुआ मृच्छाया के समतुलन से प्रतिफलित होगया। इस मृच्छाया–समतुलिता प्रतिफलिता प्रकाशाकृति का आन्तरिक तेज से अभिभव होजाने से हमें प्रत्यक्ष नहीं होता। यही प्रतिफलिता प्रकाशाकृति "अश्व" नाम से व्यवहृत हुई है। पार्थिव अग्नि इसी नियत-स्थिर अश्वाग्निपराक्-मार्ग से यज्ञवहन करता है इसी अभिप्राय से— अश्वो-न देववाहनः कहा गया है।

लोक में जहाँ निषेध (निषेध) अर्थ में 'न' कार प्रयुक्त होता है वहाँ मन्त्रमध्य में पठित 'नकार' निषेधार्थक न होकर ओम्' इत्याकारक हार्थक भाव से ही सम्बन्ध रखता है *। तभी तो 'अश्वो न का 'अश्वो ह् वाऽएष भूत्वा०' यह अर्थ हुआ है। तात्पर्य यही है कि 'न कार अभाव का सूचक बनता हुआ अनिरुक्तकोटि में प्रविष्ट है अतएव यह अनिरुक्त प्रजापति का सूचक बन रहा है। प्रजापति (आत्मा) ही तथालक्षणा स्वीकृति के आधार हैं। अतएव मध्यस्थ नकार को तथावाचक मान लिया गया है। प्रजापति स्वयं मध्यस्थ हैं अत मध्यस्थ नकार तथावाचक माना जायगा। यदि ऋगान्त में न कार पठित है तो उसका निषेध ही अर्थ होगा जैसाकि— 'न विजानामि यदि वेदमस्मि०' इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है ॥ २६,२ ॥

"तं हविष्मन्त ईळते" इस मन्त्रान्तभाग का अर्थ स्पष्ट है। अग्नि की दो प्रकार से उपासना होती है। एक वाचिक उपासना है, दूसरी कर्म्मोपासना है। अग्नि को नमस्कारमात्र कर लेना 'नम उक्तिं विधेम' लक्षणा वाचिक उपासना है। भावशुद्धि के अतिरिक्त इस उपासना का अन्य फल नहीं है। यदि अग्नि को आत्मसात् कर यज्ञकर्म्म के द्वारा विशेष अतिशय प्राप्त करना है तो उस समय केवल वाचिक उपासना से काम नहीं चल सकता। अपितु उस समय कर्म्मोपासना ही करनी पड़ेगी अग्निसमिन्धन ही करना होगा इसे तृप्त करने के लिए हविप्रदान ही करना पड़ेगा। इस दृष्टि से यह अग्नि द्युलोकपर्य्यन्त वितत होगा जिस इस वितान को ही स्तुतिकर्म्म कहा जाता है। वाचिकोपासना की अपेक्षा यहाँ अग्नि

---

*—'ओमित्यृचः प्रतिगरः एवं तथेति गाथायाः। ओमिति वै दैवं, तथेति मानुषम्"
—ऐ० ब्रा० ७।१८।

'नमस्य' कहलाया है यहाँ इस कर्म्मोपासना की दृष्टि से इसे 'इडेन्य' कहा गया है। यही प्रकृत में प्रधानरूप से अपेक्षित है। 'हविष्मन्तो होतं मनुष्या ईडते' यह मन्त्रभाग अग्निदेव की इस कर्म्मोपासना का ही स्पष्टीकरण कर रहा है और यही प्रकृत मन्त्रभागों की संक्षिप्त उपपत्ति है ॥ ३१ ॥

"वृषा अग्निं समिध्यते० इत्यादि ६ ठी सामिधेनी के अनुवचनानन्तर वह होता क्रमप्राप्त ७ वीं [आवृत्त्यानुसार ६ वीं] वृषण्वन्तत्रिच की तीसरी निम्नलिखित ऋचा का अनुवचन करता है—

(७)—"ओम् वृषणं त्वा वयं वृषणः समिधीमहि ।
अग्ने दीद्यन्तं बृहत्-ओम्" इति ॥ (६)-(३)

'यज्ञसम्पत्तिवर्षक यज्ञाधिपति वृषा इन्द्र से यज्ञसम्पत्तिवर्षक बनते हुए ये वृषा (वृषात्मक) अग्निदेव आज (उक्त सामिधेनियों से) पूर्णरूप से समृद्ध होगए हैं। द्युलोकस्थ इन्द्र के बृहत् साम-सम्बन्ध से बृहत् बन गए हैं' यह भाव प्रकट करता हुआ प्रकृत मन्त्र अग्नि के वृषात्मकरूप का ही स्पष्टीकरण कर रहा है ॥ ३२ ॥

उक्तरूप से तीनों मन्त्रों की समष्टि वृषण्वन्त-त्रिच बन रही है। इसका एकमात्र फल है—दिव्याग्नि को यज्ञपति वृषा इन्द्र की सम्पत्ति से युक्त करना। ३३ वीं कण्डिका से इसी फल का स्पष्टीकरण हुआ है ॥ ३३ ॥

वृषण्वन्त-त्रिच के अनुवचनानन्तर वह होता क्रमप्राप्त आठवीं [आवृत्त्यानुसार १० वीं] निम्न लिखित ऋचा का अनुवचन करता है

(८)—"ओम्-अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्-ओम्" ॥ (१०)

मन्त्र का 'अग्निं दूतं वृणीमहे' वाक्य एक महत्त्वपूर्ण विज्ञान का स्पष्टीकरण कर रहा है। पार्थिव दिव्याग्नि होता कैसे कहलाया ?, इस प्रश्न के समाधान के साथ साथ ब्राह्मणश्रुति ने पृथिवी की दैनन्दिनगति का स्पष्टीकरण करते हुए साम्वत्सरिकगति का भी विश्लेषण किया है। उसी का संक्षिप्त वैज्ञानिक-स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जारहा है।

भौतिक पदार्थों का स्वस्वरूप से सुरक्षित रखने वाली उनके जीवन-साधक आदान विसर्गात्मक यज्ञ-कर्म्म का नियतकाल पर्य्यन्त सञ्चालन करने वाली अन्तःशक्ति ही विज्ञानभाषा में 'प्राण' नाम से व्यवहृत हुई है। 'विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः' [ऋक्स०] इस ऋग्वर्णन के अनुसार ये शक्तिरूप प्राण अनन्त हैं। प्राणों का आनन्त्य ही भूतपदार्थों के आनन्त्य का कारण है। अथासन्प्रकृतकर्म्मा इन अनन्त प्राणों में से प्रकृत में हमें सौर-पार्थिव इन दो प्राणों की ओर ही विशेषरूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। सूर्य्य स्वज्योतिर्घन है अतएव इसका प्राण ज्योतिष्मान् माना गया है। एवं रूपज्योतिर्घना

करता है शेष अर्द्ध भाग अप्रकाशित ही रहता है। इसी दृष्टिकोण से एक ही पृथिवी के दिति अदिति ये दो विभाग होजाते हैं जैसा कि अध्वरयन्त्र-त्रिलोकोपपत्ति में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

भूपिण्ड की दाक्षिणोत्तर-परिधियों का अध्वा हुआ आगत और प्रकाश वक्रगति में परिणत होता हुआ, साथ ही मन्छाया का स्वरूप-समर्पक बनता हुआ आगे निकल जाता है। यदि हम प्रकाश में चलते हैं तो हमारी छाया विरुद्ध भाग में पड़ती है। कारण यही है कि, हमारे शरीर से टकरा कर प्रकाशरश्मियाँ प्रतिफलित होजाती हैं। जैसा आकार छाया का होता है ठीक वैसे ही आकार में यद्यपि-प्रकाशरश्मियों का भी प्रतिफलन होता है, किन्तु प्रकाशपुञ्ज के द्वारा होने वाले अभिभव से उसका हमें प्रत्यक्ष नहीं होता। ठीक यही परिस्थिति आगत और तेज की समझिए।

सौरप्रकाश भूपृष्ठ पर आया गायत्ररूप में परिणत होकर पार्थिवरसरूप हवि को लेता हुआ मन्छाया के समतुलन से प्रतिफलित होगया। इस मन्छाया-समतुलिता प्रतिफलिता प्रकाशाकृति का साम्वत्सरिक तेज से अभिभव होजाने से हमें प्रत्यक्ष नहीं होता। यही प्रतिफलिता प्रकाशाकृति 'अरत्न' नाम से व्यवहृत हुई है। पार्थिव अग्नि इसी नियत-स्थिर-अरत्नाग्निचयतल-मार्ग से यज्ञवहन करता है इसी अभिप्राय से—'अरत्नो-न देववाहनः' कहा गया है।

लोक में जहाँ जिस (निषेध) अर्थ में 'न' कार प्रयुक्त होता है, वहाँ मन्त्रमध्य में पठित 'नकार' निषेधात्मक न होकर 'ओम्' इत्याकारक इवार्थक भाव से ही सम्बन्ध रखता है *। तभी तो 'अरत्नो न' का अरत्नो इव' ऽ 'प्य भूत्वा० यह अर्थ हुआ है। तात्पर्य्य यही है कि 'न कार अभाव का सूचक बनता हुआ अनिरुक्तकोटि में प्रविष्ट है अतएव यह अनिरुक्त प्रजापति का सूचक बन रहा है। प्रजापति (प्रत्मा) ही उपमालक्षणा स्वीकृति के आधार हैं। अतएव मध्यस्थ नकार को उपमावाचक मान लिया गया है। प्रजापति स्वयं मध्यस्थ हैं अत मध्यस्थ नकार उपमावाचक माना जायगा। यदि ऋगायन्त में न कार पठित है तो उसका निषेध ही अर्थ होगा जैसाकि— 'न विजानामि यदि वेदमस्मि० इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है॥ २९.१ ॥

"तं हुविष्मन्त ईळते' इस मन्त्रान्तभाग का अर्थ स्पष्ट है। अग्नि की दो प्रकार से उपासना होती है। एक वाचिक उपासना है, दूसरी कर्म्मोपासना है। अग्नि को नमस्कारमात्र कर लेना 'नम उक्तिं विधेम' लक्षणा वाचिक उपासना है। भावशुद्धि के अतिरिक्त इस उपासना का अन्य फल नहीं है। यदि अग्नि को आत्मसात् कर यज्ञकर्म्म के द्वारा विशेष अतिशय प्राप्त करना है तो उस समय केवल वाचिक उपासना से काम नहीं चल सकता। अपितु उस समय कर्म्मोपासना ही करनी पड़ेगी अग्निसमिन्धन ही करना होगा इसे तृप्त करने के लिए हविःप्रदान ही करना पड़ेगा। इस दृष्टि से यह अग्नि एतावत्पर्य्यन्त विकल होगा जिस इस विधान को ही स्तुतिकर्म्म कहा जाता है। वाचिकोपासना की अपेक्षा यहाँ अग्नि

---

*—'ओमित्यचः प्रतिगर तथेति गाथायाः। ओमिति वै दैवं, तथेति मानुषम्"
—ऐ० ब्रा० ७।३।६।

'नमस्य' कहलाया है वहां इस कर्मोपासना की दृष्टि से इसे 'ईडन्य' कहा गया है। यही प्रकृत में प्रधानरूप से अपेक्षित है। 'हविष्मन्तो ईडते मनुष्या ईडते' यह मन्त्रभाग अग्निदेव की इस कर्मोपासना का ही स्पष्टीकरण कर रहा है, और यही प्रकृत मन्त्रभागों की संक्षिप्त उपपत्ति है ॥ ११ ॥

"वृषो अग्निः समिध्यते० इत्यादि ६ ठी सामिधेनी के अनुवचनानन्तर वह होता क्रमप्राप्त ७ वीं [आवृत्यानुसार ६ वी] वृषण्वन्त्रिच की तीसरी निम्नलिखित ऋचा का अनुवचन करता है—

(७)—"ओम् वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि।
अग्ने दीद्यतं बृहत्-ओम्" इति ॥ (६)-(३)

"यज्ञसम्पत्तिवर्षक यज्ञाधिपति वृषा इन्द्र से यज्ञसम्पत्तिवर्षक बनते हुए ये वृषा (वृषात्मक) अग्निदेव आज (उक्त सामिधेनियों से) पूर्णरूप से समृद्ध होगए हैं। द्युलोकस्थ इन्द्र के बृहत् साम-सम्बन्ध से बृहत् बन गए हैं" यह भाव प्रकट करता हुआ प्रकृत मन्त्र अग्नि के वृषात्मकरूप का ही स्पष्टीकरण कर रहा है ॥ १२ ॥

उक्तरूप से तीनों मन्त्रों की समष्टि वृषण्वन्त त्रिच बन रही है। इसका एकमात्र फल है—दिव्याग्नि को यज्ञपति वृषा इन्द्र की सम्पत्ति से युक्त करना। १२ वीं कण्डिका से इसी फल का स्पष्टीकरण हुआ है ॥ १३ ॥

वृषण्वन्त त्रिच के अनुवचनानन्तर वह होता क्रमप्राप्त आठवीं [आवृत्यानुसार १० वीं] निम्नलिखित ऋचा का अनुवचन करता है

(८)—"ओम्-अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्-ओम्" ॥ (१०)

मन्त्र का 'अग्निं दूतं वृणीमहे' वाक्य एक महत्त्वपूर्ण विज्ञान का स्पष्टीकरण कर रहा है। पार्थिव दिव्याग्नि होता कैसे कहलाया है, इस प्रश्न के समाधान के साथ साथ याज्ञवल्क्य ने पृथिवी की दैनन्दिनगति का स्पष्टीकरण करते हुए साम्वत्सरिकगति का भी विश्लेषण किया है। उसी का संक्षिप्त वैज्ञानिक-स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जारहा है।

भौतिक पदार्थों को स्वस्वरूप से सुरक्षित रखने वाली उनके जीवन-साधक आदान विसर्गात्मक यज्ञ कर्म का नियतकाल पर्य्यन्त सञ्चालन करने वाली अन्तःशक्ति ही विज्ञानभाषा में 'प्राण' नाम से व्यवहृत हुई है। विरूपास इद्ऋषयस्त इद्गम्भीरवेपस' [ऋक्सं] इस ऋग्वर्णन के अनुसार ये शक्तिरूप प्राण अनन्त हैं। प्राणों का आनन्त्य ही भूतपदार्थों के आनन्त्य का कारण है। यथासम्भव अभी इन अनन्त प्राणों में से प्रकृत में हमें सौर—पार्थिव इन दो प्राणों की ओर ही विशेषरूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। सूर्य स्वज्योतिर्धन है अतएव इसका प्राण ज्योतिष्मान् माना गया है। एवं रूपज्योतिर्धना

करता है शेष अर्द्ध भाग अप्रकाशित ही रहता है। इसी दृष्टिकोण से एक ही पृथिवी के दिवि अदिवि ये दो विवर्त होजाते हैं जैसा कि अध्वरयन्त-त्रिषोपपत्ति में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

भूपिण्ड की दक्षिणोत्तर-परिधियों को काटता हुआ आगत सौर प्रकाश पञ्चाग्नि में परिणत होता हुआ साथ ही मृच्छाया का स्वरूप-समर्पक बनता हुआ आगे निकल जाता है। यदि हम प्रकाश में चलते हैं, तो हमारी छाया विरुद्ध भाग में पड़ती है। कारण यही है कि, हमारे शरीर से टकरा कर प्रकाशरश्मियाँ प्रतिफलित होजाती हैं। जैसा आधार छाया का होता है, ठीक वैसे ही आकार में यद्यपि-प्रकाशरश्मियों का भी प्रतिफलन होता है, किन्तु प्रकाशपुञ्ज के द्वारा होने वाले अभिभव से उसका हमें प्रत्यक्ष नहीं होता। ठीक यही परिस्थिति आगत सौर तेज की समझिए।

सौरप्रकाश भूपृष्ठ पर आया गायत्ररूप में परिणत होकर पार्थिवरसरूप हवि को लेता हुआ मच्छाया के समतुलन से प्रतिफलित होगया। इस मच्छाया-समतुलिता प्रतिफलिता प्रकाशाकृति का आन्तरिक्ष्य तेज से अभिभव होजाने से हमें प्रत्यक्ष नहीं होता। यही प्रतिफलिता प्रकाशाकृति 'अश्व' नाम से प्रसिद्ध हुई है। पार्थिव अग्नि इसी नित्य स्थिर-अश्वाग्निभरावलक्ष-मार्ग से अग्रगमन करता है इसी अभिप्राय से— 'अश्वो न देववाहनः' कहा गया है।

लोक में जहाँ निषेध (निषेध) अर्थ में 'न' कार प्रयुक्त होता है वहाँ मन्त्रभाग में पठित 'नकार निषेधार्थक न होकर 'ओम्' इत्याकारक इवार्थक भाव से ही सम्बन्ध रखता है *। तभी तो 'अश्वो न' का 'अश्वो इ' वाऽएष भूत्वा० यह अर्थ हुआ है। तात्पर्य यही है कि 'न' कार अभाव का सूचक बनता हुआ अनिरुक्तकोटि में प्रविष्ट है अतएव यह अनिरुक्त प्रजापति का सूचक बन रहा है। प्रजापति (ब्रह्मा) ही तथाभावणा स्वीकृति के आधार हैं। अतएव मध्यस्थ नकार को तथावाचक मान लिया गया है। प्रजापति स्वयं मध्यस्थ हैं अतः मध्यस्थ नकार तथावाचक माना जायगा। यदि ऋगाद्यन्त में न कार पठित है तो उसका निषेध ही अर्थ होगा जैसाकि— न विजानामि यदि वेदमस्मि० इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है॥ २१,१ ॥

"ॐ हविष्मन्त ईडते" इस मन्त्रान्तिभाग का अर्थ स्पष्ट है। अग्नि की दो प्रकार से उपासना होती है। एक वाचिक उपासना है, दूसरी कर्म्मोपासना है। अग्नि को नमस्कारमात्र कर लेना 'नमः शक्ति विधेम' अथवा वाचिक उपासना है। भावशुद्धि के अतिरिक्त इस उपासना का अन्य फल नहीं है। यदि अग्नि को आत्मसात् कर यज्ञकर्म्म के द्वारा विशेष अतिशय प्राप्त करना है तो उस समय केवल वाचिक उपासना से काम नहीं चल सकता। अपितु उस समय कर्म्मोपासना ही करनी पड़ेगी अग्निसमिन्धन ही करना होगा इसे तृप्त करने के लिए हविःप्रदान ही करना पड़ेगा। इस हवि से यह अग्नि पुरोडाशपर्यन्त विकसित होगा जिस इस विधान को ही स्तुतिकर्म्म कहा जाता है। वाचिकोपासना की अपेक्षा यहाँ अग्नि

---

*—'ओमित्यृचः प्रतिगरः तथेति गाथायाः। ओमिति वै दैवं, तथेति मानुषम्"
—ऐ० ब्रा० ७।१८।

'नमस्य' कहलाया है वहाँ इस कर्म्मोपासना की दृष्टि से इसे 'ईडन्य' कहा गया है। यही प्रकृत में प्रधानरूप से अपेक्षित है। 'हविष्मन्तो ह्येतं मनुष्या ईडते' यह मन्त्रभाग अग्निदेव की इस कर्म्मोपासना का ही स्पष्टीकरण कर रहा है और यही प्रकृत मन्त्रभागों की संक्षिप्त उपपत्ति है ॥ २१ ॥

'वृषो अग्नि समिध्यते०' इत्यादि ६ ठी सामिधेनी के अनुवचनानन्तर वह होता क्रमप्राप्त ७ वीं [आवृत्त्यानुसार ६ वीं] वृषण्वन्तत्रिच की तीसरी निम्नलिखित ऋचा का अनुवचन करता है—

(७)—"ओम् वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि।
अग्ने दीद्यतं बृहत्-ओम्" इति ॥ (६)-(३)

"यज्ञसम्पत्तिप्रवर्त्तक यज्ञाधिपति वृषा इन्द्र से यज्ञसम्पत्तिप्रवर्त्तक बनते हुए ये वृषा (वृषात्मक) अग्निदेव आज (उक्त सामिधेनियों से) पूर्णरूप से समृद्ध होगए हैं। द्युलोकस्थ इन्द्र के बृहत् साम-सम्बन्ध से बृहत् बन गए हैं" यह भाव प्रकट करता हुआ प्रकृत मन्त्र अग्नि के वृषात्मकरूप का ही स्पष्टीकरण कर रहा है ॥ २२ ॥

उक्तरूप से तीनों मन्त्रों की समष्टि वृषण्वन्त-त्रिच बन रही है। इसका एकमात्र फल है—दिव्याग्नि को यज्ञपति वृषा इन्द्र की सम्पत्ति से युक्त करना। २२ वीं कण्डिका से इसी फल का स्पष्टीकरण हुआ है ॥ २३ ॥

वृषण्वन्त-त्रिच के अनुवचनानन्तर वह होता क्रमप्राप्त आठवीं [आवृत्त्यानुसार १० वीं] निम्न लिखित ऋचा का अनुवचन करता है

(८)—"ओम्-अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्-ओम्" ॥ (१०)

मन्त्र का 'अग्निं दूतं वृणीमहे' वाक्य एक महत्त्वपूर्ण विज्ञान का स्पष्टीकरण कर रहा है। पार्थिव दिव्याग्नि होता कैसे कहलाया ?, इस प्रश्न के समाधान के साथ साथ ब्राह्मणश्रुति ने पृथिवी की दैनन्दिनगति का स्पष्टीकरण करते हुए साम्वत्सरिकगति का भी विश्लेषण किया है। उसी का संक्षिप्त वैज्ञानिक-स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जारहा है।

भौतिक पदार्थों को स्वस्वरूप से सुरक्षित रखने वाली इनके जीवन-साधक आदान विसर्गात्मक यज्ञ कर्म्म का नियमबद्ध पर्य्यन्त सञ्चालन करने वाली अन्तःशक्ति ही विज्ञानभाषा में 'प्राण' नाम से व्यवहृत हुई है। 'विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः [ऋक्सं] इस ऋग्वर्णन के अनुसार ये शक्ति-रूप प्राण अनन्त हैं। प्राणों का आनन्त्य ही भतपदार्थों के आनन्त्य का कारण है। अथामच्छदवर्मा इन अनन्त प्राणों में से प्रकृत में हमें सौर–पार्थिव इन दो प्राणों की ओर ही विशेषरूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। सूर्य्य स्वरूपाविर्भाव है अतएव इसका प्राण ज्योतिष्मान् माना गया है। एवं रूपस्वाविर्भावा

पृथिवी का प्रातिस्विक प्राण कृष्ण माना गया है। ज्योतिर्मय प्रकाशित प्राण ही 'देव' नामक देवता हैं, एवं तमोमय अप्रकाशित पार्थिव प्राण ही 'असुर' है। तम असुर है, एवं ज्योति देवता है।

यह ठीक है कि, आरम्भ में सम्पूर्ण भूपिण्ड इसके प्रातिस्विक तमोमय आसुर प्राण से ही युक्त था। जब पृथिवी बनी ही होगी उस समय अवश्य ही असुरों के मुख से 'अस्माकमेवेदं खलु भुवनम्' ये वाक्य निकले होंगे। परन्तु आज तो देखा नहीं है। आज भूपिण्ड पर असुरों की भाँति दिव्य सौरप्राणात्मक देवताओं का भी साम्राज्य है। देवताओं ने यज्ञ-विष्णु को आगे कर अन्याय से आधा भूप्रदेश अपने अधिकार में कर लिया है जिसका कि पूर्व के वेदनिर्माणब्राह्मण में विशदरूप से विवेचन किया जाचुका है *। यही क्या आज तो साम्वत्सरचक्र की दृष्टि से सम्पूर्ण भूपिण्ड देवताओं के ही अधिकार में आगया है। तभी तो दायविभागप्रतिपादिका श्रुति का— 'तेनेमां सर्वां पृथिवीमविन्दन्' यह कथन अन्वर्थ बन रहा है।

भूपिण्ड के साथ सौरप्राण का भी सम्बन्ध होरहा है साथ ही उसका अपना प्राण भी इस पर बल-प्रयोग कर रहा है। पार्थिवप्राण इसे [भूपिण्ड को] अपनी ओर [सूर्यविरुद्धदिक् में] ले जाना चाहता है, तो सौरप्राण अपने आकर्षण से इसे अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है। दोनों प्राणों का समानाकर्षण है। इस समानाकर्षण से भूपिण्ड आवतक उसी स्थान पर घूम रहा है। इसी स्वाक्षपरिभ्रमण से दैनन्दिनगति का उदय हुआ है। इसी दैनन्दिनगति से अहोरात्र का जन्म हुआ है। घूमते हुए भूपिण्ड का सूर्य-प्रकाश की ओर आजाना अहःकाल का जन्म होना है एवं सूर्यविरुद्धदिक् में आजाना रात्रिकाल का जन्म होना है। अहःकाल में देवता उस आधे भूपिण्ड पर अपना अधिकार कर लेते हैं तो रात्रि में उसी भाग पर असुर अपना अधिकार जमा लेते हैं। इसप्रकार अहोरात्ररूप से देवता-असुर, दोनों में परस्पर प्रतिस्पर्द्धा चलती रहती है। इसप्रकार इस स्वाक्षपरिभ्रमणमूला दैनन्दिनगति की दृष्टि से भूपिण्ड दोनों का भोग्य बना रहा है।

आगे जाकर साम्वत्सरिकगति के प्रभाव से भूपिण्ड असुरों के अधिकार से निकलकर केवल देवताओं की ही प्रातिस्विक सम्पत्ति बन जाता है। 'अश्वो न देववाहनः' इत्यादि मन्त्रोपपत्ति में यह स्पष्ट किया गया है भूपिण्ड में चिति-अचिति नामक दो भाव उत्पन्न होते हैं। भूकेन्द्र से आरम्भ कर सूर्यविरुद्धदिक् की ओर व्याप्त तमोमयशङ्क्वाकार से समनुस्थित भूच्छाया-मण्डल ही चिति है। एवं

---

*' देवाश्च वाऽअसुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ततो देवा अनुव्यामिवासुः। अथ हासुरा मेनिरे, 'अस्माकमेवेदं खलु भुवनमिति'। ते है देवा ऊचुः- विभजामहा इमां पृथिवीं, प्रेत-तदेष्यामो यत्रेमामसुरा विभजन्ते। के वयं तत स्याम, यदस्यै न भजेमहि- इति। ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्येयुः। तेनेमां सर्वां पृथिवी-मविदन्त। तस्माद्वेदिर्नाम। तस्मादाहु -र्यावती वेदिस्तावती पृथिवी" (शत० १।२।-५।१-१२)।

सौरमण्डलानुगत–सौर प्रतिफलित पार्थिव ज्योतिर्भाग ही अदिति है। मृच्छाया भी भूपिण्ड से सम्पन्न है, तो भूप्रकाश भी भूपिण्ड से संलग्न है। भूप्रकाशमयमण्डललक्षणा अदिति में ज्योतिर्मय दिव्य प्राण का साम्राज्य है। एवं मच्छायालक्षणा दिति में तमोमय असुर प्राण प्रतिष्ठित हैं। दोनों ही प्राण सोम–रूपप्रजापति से सम्बन्ध रखते हुए प्राजापत्य हैं। यह स्थिति है और इसी को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने कहा है—

"देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्या पस्पृधिरे"।

"देवता और असुर दोनों इसी पृथिवी पर खड़े होकर स्पर्द्धा करने लगे। दोनों के इस स्पर्द्धालक्षण क्लेश को शान्त करने के लिए दोनों के बीच में गायत्री खड़ी हो गई। यह गायत्री पृथिवी ही है" यह कथन अदिति–दिति का स्वरूप न जानने वालों के लिए कुशङ्का का प्रवर्तक बन रहा है। व्याख्यानों की रहस्यभाषा से अपरिचित वर्त्तमान युग के कतिपय जिज्ञासु सम्भवतः यह कुतर्क उठावेंगे कि–"जब देवता और असुर दोनों इसी पृथिवी पर खड़े थे तो दोनों के बीच में कौनसी पृथिवी खड़ी हुई ?। यदि यही पृथिवी खड़ी हुई तो ये दोनों वर्ग किस पर खड़े हुए ?"। परन्तु जब हमें दिति–अदिति का स्वरूप–ज्ञान हो जाता है तो कुशङ्का का कोई अवसर नहीं रहता। जिस पृथिवी पर देवता–असुर खड़े होकर स्पर्द्धा करते हैं—वह भिन्न है, एवं जो पृथिवी दोनों के मध्य में खड़ी होती है—वह पृथिवी भिन्न है।

भूपिण्ड के चित्य–चितेनिधेय–भेद से दो विवर्त्त होजाते हैं। मर्त्याग्निमय भूपिण्ड चित्या पृथिवी है यही अस्मदादि की प्रतिष्ठाभूमि है। इसे ही 'भूमि' कहा जाता है। इस भूमिलक्षण भूपिण्ड का निर्माण–स्वरूपस्थिति–जिन द्रव्यों से हुई है वे द्रव्य 'आप—फेन–मृत्–सिकता–शर्करा–अश्मा–अय'–हिरण्य' इन आठ भागों में विभक्त हैं (देखिए शत० ६।१।२।१।)। इन आठ द्रव्यों की क्रमिक चिति से ही भूपिण्ड का स्वरूप–निर्माण हुआ है। छन्दोविज्ञान के अनुसार प्रत्येक द्रव्य एक एक अक्षर से समतुलित है। फलतः आठ द्रव्यों के समन्वय से वाक्परिमाणात्मक छन्द के आठ अक्षरों का समूह होजाता है। अष्टाक्षरछन्द का ही नाम गायत्री है। इसी छन्द सम्पत्ति के कारण इस अष्टभावात्मक भूपिण्ड को श्रुति ने गायत्री' कहा है अतएव यावै सा गायत्री–आसीत् इयं वै सा पृथिवी यह कहा गया है। यहाँ 'पृथिवी' शब्द चित्य–पृथिवी–लक्षण 'भूपिण्ड' के अभिप्राय से ही प्रयुक्त हुआ है।

दूसरी चितेनिधेया पृथिवी है। सौम्य आग्नेय प्राण उक्थरूप से भकेन्द्र में प्रतिष्ठित रहता हुआ अर्करूप से भूपिण्ड से निकल कर अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाता है। जहाँतक इस पार्थिव प्राण की व्याप्ति है वहाँतक 'अप्रथयत्' लक्षणा अमृता पृथिवी की सत्ता मानी गई है। अमृतापृथिवी के सौरप्राण के सम्बन्ध से आगे चलकर दिति–अदिति–रूप से दो विवर्त्त होजाते हैं। आगत सौरप्राण भूपिण्ड से टकराकर प्रतिफलित होता हुआ मच्छाया से समतुलित अपना जो ज्योतिर्मय मण्डल बनाता है वह अमृता पृथिवी का भाग सौरप्रकाश से अविच्छिन्नरूप से सम्बन्ध रखता हुआ 'अदिति' भाग है। एवं इस प्रकाशमयमण्डल से समतुलित मच्छाया–मण्डल अमृतापृथिवी का सौरप्रकाश से वञ्चित भाग दिति है। अदिति–

भाग में आदित्य (ज्योतिर्म्मय देवता) प्रतिष्ठित है, एवं दिति भाग में दैत्य (तमोमय असुर) प्रतिष्ठित हैं। इसप्रकार अमृता पृथिवी के दिति अदिति भागों में प्रतिष्ठित असुर, एवं देवताओं के बीच में मर्त्य- गायत्री' नामक भूपिण्ड प्रतिष्ठित है।

भूपिण्ड के उस ओर (सूर्य्य की ओर) भूपिण्ड से संलग्न देवमय ज्योतिर्म्मण्डल है इस ओर (सूर्य्यविरुद्धदिक् की ओर) भूपिण्ड से संलग्न असुरमय तमोमण्डल है एवं दोनों के मध्य में चित्य भूपिण्ड प्रतिष्ठित है। इसी स्वाभाविक स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है—

"देवाश्च वा असुराश्च,–उभये प्राजापत्या पस्पृधिरे। तान् स्पर्द्धमानान् गायत्री-अन्तरा तस्थौ। या वै सा गायत्री–आसीत् इयं वै सा पृथिवी । इयं हैव तदन्तरा तस्थौ"।

उक्त स्थिति को लक्ष्य में रखते हुए ही आगे की श्रुति का समन्वय कीजिये। दोनों की स्पर्द्धा होरही है। दोनों के मध्य में गायत्री (भूपिण्ड) खड़ी है। दोनों यही चाहते हैं कि, यह गायत्री हमारी ओर आजाय। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए गायत्री के समीप दोनों अपने अपने दूत भेजते हैं। देवताओं के दूत 'अग्नि' हैं एवं असुरों के दूत 'सहरक्षा' हैं। अदितिलक्षण ज्योतिर्म्मय मण्डल में प्रतिष्ठित ज्योतिर्म्मय अग्नि 'अग्नि' नामक देवदूत है। 'रक्ष' का ही नाम 'भस्म' है। यह भस्म निदानेन भूच्छाया का प्रतिरूप है। दितिलक्षण तमोमय मण्डल में प्रतिष्ठित तमोमय अग्नि ही 'सहरक्षा' नामक असुरदूत है। लोक में भी प्रज्वलित अग्निज्वाला को हम अग्नि कहेंगे एवं भस्मनिगूढ़ अग्नि को सहरक्षा कहेंगे। दिव्यप्राण की अपेक्षा आसुरप्राण बलवान् होता है। यही कारण है कि, ज्वालाग्नि की अपेक्षा भस्माग्नि अधिक बलवान् होता है।

भूपिण्ड स्वाक्षपरिभ्रमणलक्षणा दैनंदिनगति का अधिष्ठाता बन रहा है। दोनों प्राणों का समानाकर्षण होरहा है। परिणाम इस प्राथमिक स्थिति का यह होरहा है कि भूपिण्ड अभी किसी ओर नहीं जाता। इस का एकतः गमन तभी सम्भव होसकता है जब कि दोनों प्राणगतियों में से एक प्राणगति बलवती बन जाय। समानप्राणसंघर्ष से तो उसी प्रकार स्थिति का उदय होजाता है जैसे कि समानबल वाले दो मल्लों के आकर्षण से आकर्षित रस्सा पूर्व-पश्चिम किसी ओर न जाकर मध्य में ही स्थिर होजाता है। यह बलाधान सुप्रसिद्ध गतिधर्म्मा सौर-इन्द्र के अनुग्रह पर निर्भर है। सौर इन्द्रप्राण उसी अदितिमण्डल के द्वारा आता हुआ तत्रस्थ देवदूत अग्नि में अपनी आकर्षणशक्ति का आधान करता है। इस गति से बलवान् बनता हुआ आग्नेयप्राण आसुर-प्राणगति का आकर्षण शिथिल कर देता है। परिणामतः भूपिण्ड असुरों की ओर (पश्चिम की ओर) न जाकर देवताओं की ओर (पूर्व की ओर) आता हुआ सम्वत्सरगतिरूप में परिणत होजाता है। इन्द्र ही भूपिण्ड की साम्वत्सरिक-गति का मुख्य कारण है। इधर प्राकृतिक दिव्याग्नि इस इन्द्र से नित्ययुक्त रहता है। 'या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैव तत्' के अनुसार बलकृतिलक्षण इन्द्र के सहयोग से ही भूपिण्ड का देवमण्डल की ओर आकर्षण होजाता है। भूपिण्ड स्वाक्षपरिभ्रमण करता हुआ पूर्व की ओर चल पड़ता है। इसी गतिविज्ञान को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने कहा है—

"यत्र इन्द्रमवर्द्धयत्, यद् भूमिं व्यवर्त्तयत्।
चक्राण ओपशं दिवि" ॥ (ऋक्स ८।१४।५)

साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, पश्चिमदिग्नुगता यह आसुरप्राणगति ही भूपिण्ड को सूर्य्य गोलगम में जाने से रोक रही है। यदि पश्चिमाकर्षण न होता तो पूर्वाकर्षण से आकर्षित भूपिण्ड स्वस्थान से च्युत होता हुआ अवश्य ही सूर्य्यगोलकगर्भ में विलीन होजाता। पश्चिमाकर्षण है इसलिए तो भूपिण्ड स्वस्थान (क्रान्तिवृत्त) को नहीं छोड़ता। पूर्वाकर्षण प्रबल है, इसलिए पश्चिम की ओर सीधा नहीं चला जाता। क्या पूर्व की ओर सीधा जाता है ?, नहीं। इसी आसुरप्राणाकर्षण से भूपिण्ड सीधा न जाकर तिर्य्यक् जाता है। क्या भूपिण्ड सर्वथा तिर्य्यक् जाता है ? नहीं। इसी इन्द्रप्राणाकर्षण से तिर्य्यक् जाते हुए भूपिण्ड की परिभ्रमण-बिन्दु-बिन्दु पूर्व की ओर आकर्षित होती रही है जिसका 'सम्वत्सर' शब्द से स्पष्टीकरण होरहा है।

शब्द है वास्तव में सर्वत्सर'। परन्तु परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में यह 'सर्वत्सर' ही सम्वत्सर' नाम से व्यवहृत हुआ है। भूपिण्ड जिस वृत्त (क्रान्तिवृत्त) पर परिक्रमा (साम्वत्सरिकगति) लगा रहा है, उसकी बिन्दु बिन्दु कुटिल है। गोलवृत्त का निर्माण इसी 'त्सर' भाव से होता है। सर्वतः त्सरभाव (कुटिल भाव) ही सवत्सर है ('त्सर छद्मगतौ)। यही सर्वत्सर है। सम्वत्सर नाम के सम्बन्ध से यह व्युत्पत्ति होगी कि भूपिण्ड एकत्र (सम्) बसता हुआ वसन्) कुटिलरूप से पूर्व की ओर जा रहा है।

देवदूत अग्नि के इस इन्द्राकर्षण-सहयोग का फल यह निकला कि सम्पूर्ण भूपिण्ड देवमय‌लोक-लक्षित दिव्य आग्नेय सम्वत्सर का अनुगामी बन गया। यही दिव्य आग्नेय देवताओं का विजय कहलाया एवं तमोमय आसुरप्राणों का पराजय कहलाया। जिधर अग्नि का रुख था उसी ओर भूपिण्ड गत्युन्मुख बना यही निष्कर्ष है। यही इस अग्नि का दौत्यकर्म्म है। इसीलिए यह अग्नि देवताओं का दूत' कहलाया है। जो यजमान देवदूत अग्नि का उक्त गति-रहस्य जानता है साथ ही जिस यजमान का होता अग्नि के इस दूतस्वरूप को जानता है वह अपने यजमान के लिए लोकसम्पत्ति असफल बना देता है। मन्त्र का दूसरा भाग है- 'होतारं विश्ववेदसम्' यह ॥

इसके सम्बन्ध में कास्पनिकोंने एक नई उपपत्ति की कल्पना करते हुए मौलिक उक्त मन्त्र भाग में— 'होता यो विश्ववेदसम्'' इस परिवर्त्तन की कामना प्रकट की है। कल्पना का उपहासास्पदरूप यही है कि- 'होतारं' का 'होता अरम यह भी छेद सम्भव है। अर शब्द अलं अर्थ का भी बोधक है। सम्पत्ति का आगमन होता है अग्नि के द्वारा। उस के सम्बन्ध में-'अलम्' बोलना सम्पत्ति का ही निरोध करना है। इस अलं-भाषात्मक 'अरं' से सम्पत्ति निरोध न होजाय अथवा स्वयं होता अग्नि का अलंभाव (आगमन-निरोध) न होजाय इसके साथ ही अनुवचन करने वाला होता अपने आप को समाप्त न कर बैठे इसलिए 'होतारं' के स्थान में होता यो इत्यादि रूप से परिवर्त्तन कर डालना चाहिए'।

उक्त मानुप-कल्पना का श्रुति ने आमूलचूल खण्डन करते हुए कहा है कि यज्ञमन्त्रों में यज्ञेति-कर्त्तव्यताओं में अपनी मानुष-कल्पना के द्वारा काल्पनिक उपपत्तियाँ मानते हुए परिवर्त्तन कर डालना यज्ञस्वरूप का नाश ही कर लेना है। आज भी तो ऐसे कल्पनारसिकों की कमी नहीं है। भारतवर्ष के गौरवभूत

निस्ययज्ञाचार पर प्रतिष्ठित यज्ञकर्मों को वायुशोधक मानने की कल्पना करते हुए जो 'महाशय' चिरन्तन पद्धतियों से विरुद्ध केसर कपूर-गोला आदि को आहुतिद्रव्य मानने की धृष्टता कर रहे हैं क्या वे यज्ञकर्म के शत्रु नहीं है ? । ऐसे ही कल्पितों का प्रबोधन करवाती हुई श्रुति कहती है कि कर्मठ को चाहिए कि, वह जैसा विहित है वैसा ही करे । अपनी कल्पना से उसमें अणुमात्र भी परिवर्तन न करे । तभी यज्ञ के द्वारा अभीष्टसिद्धि सम्भव है । इसी आवेश के साथ फलोपसंहार करती हुई १४-१५ कण्डिकाएँ उपरत हुई हैं ॥ १४ १५ ॥

मूलानुवाद में स्पष्ट किया गया है कि, 'अग्निं दूतं०' इत्यादि को आठवीं मान कर ही अनुवचन करना चाहिए । ऐसा करने से साक्षात् रूप से अष्टाक्षर गायत्रीछन्द से छन्दित गायत्राग्नि-सम्पत्ति का यज्ञ में समर्पण होजाता है । जो महानुभाव काम्येष्टि से सम्बन्ध रखने वाली दो 'धाय्या' ऋचाओं का समावेश इस से पहिले करते हैं साथ ही काल्पनिक उपपत्ति बतलाते हैं वे गायत्र-सम्पत्ति से विमुख होते हैं । अतः धाय्या-ऋचाओं का समावेश इस आठवें मन्त्र से आगे ही होना चाहिए ॥ १७ ॥

यदि दर्शपूर्णमास के साथ काम्येष्टि भी अपेक्षित है तो उस दशा में १५ के स्थान में १७ सामिधेनियाँ होती हैं । इसके लिए २ मन्त्रों का ऊपर से सम्बन्ध किया जाता है एवं उनके अनुवचन का समय यही माना गया है । (काम्येष्टि-संग्रह पक्ष में) 'अग्निं दूतं' के अनन्तर पहिले 'समिध्यमानो अध्वरे' इस ऋचा का अनुवचन होता है अनन्तर धाय्या नामक दोनों ऋचाओं का अनुवचन होता है । अनन्तर 'समिद्धो अग्न आहुत०' इत्यादि का सबके अन्त में 'आजुह्वोता-दुवस्यत०' का त्रिरावृत्तिपूर्वक अनुवचन होता है जैसाकि मूलानुवाद में स्पष्ट कर दिया है ।

(केवल दर्शपूर्णमासपक्ष में १५ सामिधेनी ही विहित हैं । इस पक्ष में) 'अग्निं दूतं०' के अनन्तर जिन तीन ऋचाओं का क्रमशः अनुवचन होता है उनकी समष्टि 'अध्वरवन्तत्रिच' नाम से प्रसिद्ध है । 'समिध्यमानो अध्वर०' —'समिद्धो अग्न आहुत' 'आजुह्वोता दुवस्यत०' तीनों मन्त्रों की समष्टि ही 'अध्वरवन्तत्रिच' है । तीनों मन्त्रों के सम्बन्ध में कोई विशेष वक्तव्य नहीं है । अध्वरसम्पत्तिप्राप्ति ही अध्वरवत्-त्रिचानुवचन का मुख्य फल है । इसप्रकार उक्तरूप से इन १५ सामिधेनियों का अनुवचन होता है । इस अनुवचन से अध्वर्यु के द्वारा इद्ध अग्नि समिद्ध (दिव्य तेजोयुक्त) बन जाता है । यही समिद्ध अग्नि देवयजन की मूलप्रतिष्ठा है ॥ १८, १९, ४ ॥

चौथे अध्याय में पहिला, तथा तीसरे प्रपाठक में तीसरा ब्राह्मण समाप्त

सामिधेनी—ब्राह्मणानुगत—द्वितीय ब्राह्मण अत्र—उपरत

२

चौथे अध्याय मे दूसरा, तथा तीसरे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण
सामिधेनी–ब्राह्मणानुगत- तृतीय–ब्राह्मण
३

अथ-निगदानुवचनकर्म्मोपपत्ति

मन्त्रशक्ति के द्वारा आहवनीय में प्रतिष्ठित इस दिव्याग्नि का यही मुख्य कर्म्म है कि इसमें जिस देवता के लिए आहुति डाली जाय उसका विशकलन कर अग्निस्वरूप द्युलोक की ओर जाते हुए उस देवता तक पहुँचाते हुए इस अन्न के सम्बन्ध से यजमान के आत्मा के साथ उस दिव्यप्राण का सम्बन्ध करादे। कैसा महत्त्वपूर्ण तथा शक्तिसम्पन्न कर्म्म है। समिद्ध अग्नि आगे थोड़े ही समय में इस गुरुतर कर्म्म में प्रवृत्त होने वाले हैं। इससे पहिले गुण–वीर्य्य–परिचायक निगदपाठ से इस अग्नि को उत्साहवर्धन से युक्त करना ही प्रकृत कर्म्म की मुख्य उपपत्ति है।

लोक में इस वाग्वीर्य्य का हम अद्भुत चमत्कार देखते हैं। कृष्णार्जुन का युद्धप्रसङ्ग इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण है। शल्य के अनुत्साहपूर्ण वाक्यों से महावीर भी कर्ण मन्दोत्साह होते देखे गए हैं। कारण यही है कि, 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' इस सिद्धान्त के अनुसार वागिन्द्रिय अग्निप्रधान है। इसके प्रयोग का फल अवश्य ही शारीराग्नि पर पड़ता है। यदि हमें कोई निरन्तर 'कायर' कहता रहेगा तब भी कालान्तर में हमारा अग्नितत्त्व मन्द होजायगा। साथ ही यदि हम स्वयं भी अपने आपको धिक्कृत करते रहेंगे तब भी हमारी यही दशा होगी। इसी आधार पर–'नात्मानमवमन्येत' आज्ञा विहित है। ठीक इसके विपरीत–यदि हम किसी के प्रति उत्साहवर्द्धक शब्दों का प्रयोग करते रहेंगे साथ ही हम स्वयं भी अपने लिए यदि पौरुषसमर्थक शब्दों का प्रयोग करते रहेंगे तो इस वाक् प्रयोग से तत्सम्बन्धित हमारा शारीराग्नि अवश्य ही वीर्य्यशाली बन जायगा। इसीलिए धर्म्मशास्त्र ने यह आदेश दिया है कि, न तो हमें दूसरों के लिए ही अशुभ वाणी का प्रयोग करना चाहिए न अपने लिए ही अशुभ शब्द बोलने चाहिए।

कभी कभी यह भी देखा गया है कि, मनुष्य को अपनी शक्ति का स्वयं बोध न होने से वह असमर्थ-सा बना रहता है। यदि कोई अन्य व्यक्ति वाग्द्वारा इसे प्रबुद्ध कर देता है तो उसकी सुप्त शक्ति प्रबुद्ध हो-जाती है। भगवान मारुति इसी सम्बन्ध में प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। वाग्द्वारा यशोकीर्तन से वीर्य्य का आधान होता है और अवश्य होता है यही वक्तव्य है। जब लौकिक वाक् में यह शक्ति है तो उस दिव्यवाक् (मन्त्रवाक्) का क्या कहना विशिष्ट स्वरूप–निर्म्मापक तत्त्वों के अनुरूप हो हुआ है। तदनुसार गुरुतम कार्य्य में नियुक्त करने से पहिले अग्नि में उसी स्ववीर्य्याधान के लिए, साथ ही मन्त्र के द्वारा और भी शक्ति-सम्पादन के लिए यह निगदानुवचनकर्म्म होता है ॥ १ ॥

प्राकृतिक प्राणदेवता नित्य वर्णव्यवस्था के अनुसार "ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य शूद्र" भेद से चार भागों में विभक्त है। अग्नि ब्राह्मण हैं इन्द्र क्षत्रिय हैं विश्वेदेव वैश्य हैं, एवं पार्थिव पूषाप्राण शूद्र है। ये ही चारों आधिदैविक देवता क्रमशः ब्रह्म–क्षत्र–विड्वीर्य्यों के एवं शूद्रलक्षण पशुभाव के प्रवर्तक माने गए हैं। पार्थिव प्रजा में जिसमें जिस वर्ण के देवता का प्राधान्य रहता है वह उसी वर्ण की प्रजा कहलाती है। यही भारतीय वर्णव्यवस्था की प्राकृतता नित्यता तथा जन्मानुरूपता है जिसका कि विशद वैज्ञानिक विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका–द्वितीयखण्ड–कर्म्मयोगपरीक्षात्मक 'ख' विभाग के 'वर्ण-व्यवस्थाविज्ञान' प्रकरण में हुआ है।

उक्त चारों वर्णों में ब्रह्मवीर्य्यप्रवर्त्तक ब्राह्मणवर्ण सर्वोत्कृष्ट माना गया है। इसी वर्ण के आधार पर इतर तीनों वर्ण प्रतिष्ठित हैं यही ब्राह्मणवर्णात्मक होता अग्निदेव का महान् उत्कर्ष है। इसी ब्रह्मवीर्य्य के प्रभाव से ब्राह्मण अग्नि होतृकर्म्म में समर्थ हुए हैं। वीर्य्यापेक्षया जहां अग्नि वर्णतः ब्राह्मण हैं वहां कर्म्मा-पेक्षया वे ही अग्नि भारत नाम से प्रसिद्ध हैं। पार्थिव हव्य का वहन कर इसके द्वारा द्युलोकस्थ देवप्रजा का भरण पोषण करना भी इन्हीं का काम है। एवं वैश्वानराग्निप्राणरूप से पार्थिव प्रजा की अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित होकर अपने स्वाभाविक अन्नादधर्म्म से अन्नाकर्षण के द्वारा पार्थिव प्रजा का भरण पोषण करना भी इन्हीं का काम है। इसी भरणकर्म्म से इन्हें 'भारत' कहना अन्वर्थ बन रहा है। जो त्रैलोक्य–प्रजा के भरण–पोषण करने में समर्थ हैं उनके उत्कर्ष का क्या बखान करें। तभी तो ये होतृत्व जैसा गुरुतम कार्य्य करने में समर्थ हैं।

ब्रह्मविध देवव्यवस्था के अनुसार (जिसका–विज्ञानभाष्य–प्रथम–खण्ड में विशद वैज्ञानिक विवेचन किया जा चुका है) किसी समय इसी भूपृष्ठ पर त्रैलोक्य–व्यवस्था थी। पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ तीनों लोक प्रकृतिवत् यहाँ भी व्यवस्थित थे जिसे 'भौमत्रिलोकी' कहा जाता है। दक्षिणसमुद्र से आरम्भ कर हिमालय पर्य्यन्त सम्पूर्ण प्रदेश उस समय का पृथिवीलोक था अलकापीगिरि से आरम्भ कर उत्तर समुद्र पर्य्यन्त सम्पूर्ण प्रदेश द्युलोक था एवं हिमालय से आरम्भ कर अलकापी पर्वतान्त मध्य प्रदेश अन्तरिक्षलोक था। तीनों के क्रमशः अग्नि इन्द्र वायु 'शापसोनपात्' देवता थे। इसीलिए तीनों को अग्निलोक इन्द्रलोक वायुलोक नामों से भी यत्र–तत्र व्यवहृत किया गया है।

पृथिवीलोक ही इस अग्निदेवता के सम्बन्ध से 'भारतवर्ष' कहलाया है। पार्थिव प्रजा से कर ग्रहण कर भौम देवलोक में पहुँचाना भी इन्हीं भौम अग्नि का कार्य्य था साथ ही ग्रामदेव ब्रोङ्कार आदि अन्ना-भावों के द्वारा यहाँ की प्रजा की अन्नव्यवस्था करना भी इन्हीं का कार्य्य था। इन्हीं कर्म्मों से ये 'भारत' इस 'उपाधि–नाम' से विभूषित किए गए। इन्हीं के इस 'भारत' नाम से यह पृथिवीलोक भारतवर्ष' कहलाया। दौष्यन्ति भरतादि के सम्बन्ध से जो इस देश का नाम-करण बतलाया जाता है वह केवल भरत का यशोगानमात्र है। वस्तुतः 'भारतवर्ष' संज्ञा की मूलप्रतिष्ठा भौम 'भारत' नामक अग्निदेव ही हैं। इसप्रकार अधिदैवत अध्यात्म अधिभूत तीनों पर्वों में उक्त निगदमन्त्र का समन्वय होरहा है जो कि निगदमन्त्र उपस्तुतिपरक माना गया है। क्यों निगदा-नुवचन किया जाता है ?, इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥ २ ॥

अथ–आर्षेयानुवचनोपपत्ति

निगदानुवचनानन्तर वह होता 'अमुकस्य पौत्रः०' इत्यादि रूप से आर्षेयमन्त्र का ऊह कर आर्षे-यानुवचन करता है। इस का एकमात्र यही प्रयोजन है कि, इस से इस का महत्त्व ही बतलाया जाता है। ऋषिवंशपरम्परा ही इस महत्त्व-स्थापन का मूल है। इस विषय का वैज्ञानिक विवेचन पूर्वाचार्यब्राह्मण में किया जायगा ॥ ३ ४ ॥

अथ–निवित्पाठ

आर्षेयानुवचनानन्तर वह होता निवित्पाठ करता है। सामिधेनी के द्वारा समिद्ध अग्नि जिन जिन गुण-कर्म्मादि विशिष्ट धर्म्मों से युक्त हैं उनका यशःस्थापन (बखान) करते हुए अग्निदेव का अनुग्रह प्राप्त करना ही प्रकृत 'निवित्पाठ' का मुख्य उद्देश्य है।

प्रकृति में नित्ययज्ञ होरहा है इसी नित्ययज्ञ से सृष्टि का स्वरूप सुरक्षित है। भौम मनुष्यविध देव-ताओंनें ही सर्वप्रथम इस यज्ञरहस्य का स्वरूप पहिचाना। पहिचान कर उन्होंनें ही सर्वप्रथम 'अरणिमन्थन' नामक प्रक्रिया-विशेष से वैध अग्नि उत्पन्न कर उसका समिन्धन किया। इस समिद्ध वैध अग्नि से प्रकृतिवत् यज्ञवितान किया। इसप्रकार इस वैधयज्ञकर्म्म के प्रथमाविष्कार का श्रेय भौम देवताओं को ही मिला। तभी से यह समिद्ध अग्नि-'देवेद्ध' नाम से व्यवहृत हुआ।

भारतवर्ष में सर्वप्रथम यज्ञकर्म्म-वितान का श्रेय मिला प्रजाध्यक्षाधिपति महाराज वैवस्वत मनु को जिनका प्रातिस्विक नाम था श्रद्धादेवमनु जो कि भारतवर्ष की मानव-प्रजा के प्रथम सम्राट् थे। तब से 'देवेद्ध' के साथ साथ समिद्ध अग्नि 'मन्विद्धः' नाम से भी व्यवहृत होने लगे ॥ ५ ॥

ब्राह्मण-सम्प्रदाय ने अपने पूर्वज महर्षियों की परम्परा से अग्निवितानलक्षणा अग्निस्तुति का अनुग-मन किया। इस ब्राह्मणसम्प्रदाय की अपेक्षा से साक्षात्कृतधर्म्मा भारतीय महर्षि ही इस अग्नि (अग्नियज्ञ) के प्रथम स्तोता (वितानकर्त्ता) माने गए। अतएव ये अग्नि आगे जाकर 'ऋषिष्टुत' नाम से प्रसिद्ध हुए ॥ ६ ॥

ऋषिपाणारहस्यवेत्ता ये महर्षि ही विप्र नाम से प्रसिद्ध हैं। भौमदेवताओंनें जिस अग्नि का सर्वप्रथम समिन्धन किया तदनुरूप वैवस्वत मनु ने भारतवर्ष में जिस अग्नि का समिन्धन किया उस अग्नि का वितान करते हुए भारतीय महर्षियोंने हृदय से इनका अनुमोदन किया। उन्होंनें भी इस (अग्निमय यज्ञ को) सर्वा-भीष्ट फलप्रदाता मानते हुए इस यज्ञकर्म्म का अनुगमन किया। अतएव अग्निदेव- विप्रानुमदितः नाम से भी प्रसिद्ध हुए ॥ ७ ॥

साक्षात्कृतधर्म्मा क्रान्तदर्शी महर्षि ही तो कवि हैं। उन्होंने सुप्रसिद्ध शस्त्रकर्म्म के द्वारा इस अग्नि का शंसन किया इसलिए ये अग्निदेव कविशस्तः नाम से भी प्रसिद्ध हुए। जिस यज्ञकर्म्म से जिस दैवा-त्मा का स्वरूप उत्पन्न किया जाता है उस यज्ञकर्म्म में-'शस्त्र स्तोत्र ग्रह' नामक तीन कर्म्म किए जाते हैं।

ऋक् से शस्त्रकर्म्म होता है साम से स्तोत्र होता है, एवं यजु से ग्रह होता है। प्रजास्वरूप-निर्माण में उपादान द्रव्य उसका अवयव-निर्माण एवं स्वरूप-सम्पत्ति, ये तीन कर्म्म अपेक्षित हैं। गर्भाशयगत शोणिताग्नि में शुक्राहुति देना ही ग्रहकर्म्म है। शुक्रात्मक ग्रह ही प्रजा का उपादान है। सिक्त रेत का अवयवविशेषरूप से कान्द्वों रूप में परिणत होना ही शस्त्रकर्म्म है। १० मासानन्तर स्वरूप निर्माण का अवसान होजाना ही स्तोत्रकर्म्म है। ये ही तीनों प्रजननकर्म्म इस यज्ञ में किए जाते हैं जिनका स्वरूप-परिचय भाष्यारम्भ के उपोद्घात-प्रकरण में ही कराया जाचुका है। यजुर्वेदी अध्वर्यु यजु से जो आहुति देता है वही ग्रहकर्म्म है। आहुतिरूप यह ग्रह ही 'उपादान' है। ऋग्वेदी होता ऋक् से शंसन करता हुआ 'शस्त्रकर्म्म' का प्रवर्त्तक बनता है। सिक्त रेत स्थानीय ग्रह की शस्त्रवत् काटछांट करना इस से उसमें अवयव-विशेष स्थापित करना होता का ही काम है। सामवेदी उद्गाता सामगानलक्षण स्तोत्रकर्म्म से इसे दैवामस्वरूपमें वितत करता है। प्रकृत का निविन्पाठ क्योंकि होता कर रहा है एवं शंसनकर्म्म क्योंकि होता का प्रातिस्विक कर्म्म है अतएव यहाँ अग्नि के लिए- कविशस्त कहा गया है ॥ ८ ॥

पार्थिव महिमामण्डल में व्याप्त इस होतृकर्म्माध्यक्ष प्राणाग्नि का उत्तरोत्तर सुतीक्ष्णभाव में परिणत होना भूकेन्द्रस्थ उक्थात्मक ब्रह्माग्नि की ही कृपा का फल है। अग्नितत्त्व विकास-धर्म्मा है। इसी स्वधर्म्म से यह उत्तरोत्तर सुतीक्ष्ण (सुसूक्ष्म) बनता जाता है। यही सुतीक्ष्णभाव इसकी द्युगति का कारण है। यही इसका सशिथावस्था में परिणत रहना है। इस तीक्ष्णभाव का मूलप्रवर्त्तक केन्द्रस्थ प्रजापति-नामक ब्रह्म (उक्थापक अग्नि) ही है। उक्थ से ही तो अर्करूप तीक्ष्णभाव का उदय होता है। इसी धर्म्म की अपेक्षा से ये अग्निदेव 'ब्रह्मसंशितः नाम से भी प्रसिद्ध हैं ॥

'घृतमित्युदकनाम' के अनुसार घृत शब्द आज्य के साथ साथ इस उदक का भी नाम है। भूगर्भ से वाष्परूप में परिणित होकर आन्तरिक्ष्य वायुमण्डल पर प्रतिष्ठित होने वाला अप्तत्त्व इस अग्निगम में ही प्रतिष्ठित रहता है। द्युलोक की ओर जाते हुए अग्निदेव ही इस अप् की प्रतिष्ठा बनते हैं जैसा कि 'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति मरुत सृष्टाम्‌नयन्ति' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त आन्तरिक्ष्य घृत भी इसी के आधार पर प्रतिष्ठित रहता है जैसाकि पूर्व के आग्रयणब्राह्मण के- नीरक्षीरविवेक-प्रकरण में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है। इसप्रकार आधिदैविक-संस्था में उदक तथा घृत का आधार बनता हुआ अग्नि 'घृतवाहन' बन रहा है। इस आधिभौतिक वैधयज्ञ में आहुत आज्य का वाहन तत्प्रतिरूप समिद्ध आहवनीयाग्नि बन रहा है। एवमेव आध्यात्मिक अग्नि भुक्त घृत का वाहन बन रहा है। जिसका शारीराग्नि प्रदीप्त रहता है वही घृत को पचा सकता है। इसप्रकार तीनों संस्थाओं की दृष्टि से अग्निदेव 'घृतवाहन' बन रहे हैं ॥९॥

पाकयज्ञ अतियज्ञ महायज्ञ शिरोयाग आदि आदि जितने भी यज्ञ हैं उन सबका सम्पादन अग्नि के द्वारा ही होता है। 'अग्निरु वै यज्ञः' इस परिभाषा के अनुसार अग्नि ही सर्वयज्ञ-प्रतिष्ठा है। आधिदैविक प्राणदेवताओं के साथ आधिभौतिक अग्नि के माध्यम-द्वारा आध्यात्मिक प्राणदेवताओं का मेल करा देना ही तो यज्ञ है। उधर अग्निपुराण सर्वे देवा प्रीयन्ताम्'-'अग्नि सर्वा देवता' के अनुसार अग्नि सर्वदेवमूर्ति है। फलतः अग्नि के द्वारा सम्पूर्ण यज्ञों का प्रवर्त्तन भलीभाँति सिद्ध हो जाता है। ॥१० ॥

यह अग्नि रसरूप में परिणत होकर ही द्युलोकस्थ देवताओं के लिए यज्ञ का वहन करते हैं। अग्नि के मूर्त-प्राण भेद से दो विवर्त्त बतलाए गए हैं। भूताग्नि (चित्याग्नि) भूपिण्ड में प्रतिष्ठित है यही मर्त्याग्नि है। प्राणाग्नि (चितेनिधेयाग्नि) भूमहिमा में प्रतिष्ठित है, यही अमृताग्नि है। यही अमृताग्नि 'रसाग्नि' है। इस रसाग्नि का ही महिमारूप से ऊर्ध्व वितान होता है। इस वितान की अन्तिम सीमा २२ वां अहर्गण है। यही अन्तिम साम रसाग्नि की अवसानभूमि है। अतएव इस अन्तिम रसाग्नि-साम को 'रथन्तर' साम कहा जाता है। वस्तुतः शब्द है-'रसतमसाम'। परन्तु देवताओं की परोक्षभाषा में 'रसतम' ही 'रथन्तर' नाम से व्यवहृत हुआ है जैसा कि निम्न लिखित ब्राह्मणश्रुति से स्पष्ट है—

'रसतमं ह वै तद्रथन्तरमित्याचक्षते परोक्षम् (शत० ६।१।२।३६)।

हमारे ये अग्निदेव रसावस्था से ही द्युलोक की ओर गमन करते हैं। अतएव इन्हें (यज्ञवहन-दशा में) 'रस' कहा जाता है। रस को ही परोक्ष भाषा में- 'त वा एतं रसं सन्तं रथ इत्याचक्षते' (गो० ब्रा पू०२।२१) के अनुसार 'रथ' कहा गया है। सम्पूर्ण यज्ञों के ये अग्निदेव रथी (रसावस्था से युक्त होकर यज्ञ वहन करने वाले) हैं ॥११॥

आन्तरिक्ष्य-वारुण-वायव्य धरातल में उभयतः अमूल विचरण करने वाले यज्ञविनाशक आसुरप्राण-विशेषों का ही नाम 'राक्षस' है। परन्तु द्युलोक में जाते हुए इस अग्नि का ये आन्तरिक्ष्य आसुरप्राण संतरण नहीं कर सकते। यही इस होता अग्नि का अतूर्त्तभाव है। इस अतूर्त्तकर्म्म का एकमात्र कारण है—समिद्ध प्राणाग्नि का पूर्वोक्त गतिविज्ञानानुसार सम्वत्सरमण्डल में एकाधिपत्य। इनका असुर क्या सन्तरण करेंगे ये स्वयं अपने 'एेति प्रेति' बल से असुरों का तरण कर जाते हैं। ऐसे अग्नि का यज्ञ में जब समिन्धन होगया हो तो फिर यहां भी असुराक्रमण की कहां सम्भावना है ॥१२॥

देवता जिस पात्र में आहुतिद्रव्य का अशन करते हैं, वह 'वषट्कार' तथा अग्नि भेद से दो प्रकार का माना गया है। आधारपात्र वाङ्मय वषट्कार है इसी पर सब देवता प्रतिष्ठित हैं। इस वाङ्मय महिमारूप वषट्कार के २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त प्राणाग्नि की व्याप्ति रहती है। यही प्राणाग्नि यज्ञिय ३३ देवताओं का आहुतिभक्षण पात्ररूप मुखस्थानीय अग्निपात्र है। आधारपात्र जहाँ 'वषट्कार' कहलाया है वहाँ यह अग्निपात्र 'आस्पात्र' (आस्यपात्र मुखरूपपात्र) नाम से व्यवहृत हुआ है। जो ऐसे अग्नि का समिन्धन करता है वह आस्पात्रता प्राप्त करता हुआ अभीप्सित भोग्य का संग्राहक बन जाता है ॥१३॥

पार्थिव रसों का सौररश्मिगत प्राणदेवता उसीप्रकार पान किया करते हैं जैसे कि सोमदेवता इन्द्र की सन्धि (सहभोज) में+चमस से सोमपान किया करते थे। आहुतिरस (जिसका कि प्राणदेवता पान करते हैं) इसी प्राणाग्निगर्भ में प्रतिष्ठित रहता है। अतएव इस अग्नि को देवताओं का पानपात्र कहना अन्वर्थ है ॥१४॥

पूर्व के गतिविज्ञान में बतलाया गया है कि यह प्राणाग्नि सम्पूर्ण सम्वत्सरचक्र का अधिष्ठाता बन रहा है। रथ के पहिए में नेमि आरा, भेद से दो विभाग रहते हैं। नेमि में सब आरे ओतप्रोत रहते हैं। यहाँ भी नेमिस्थानीय अग्नि में सम्वत्सरमण्डलान्तर्वर्त्ती अरस्थानीय सम्पूर्ण देवता ओतप्रोत हैं। प्रकृत निविन्मन्त्र अग्नि की इसी सम्वत्सरव्याप्ति का बखान कर रहा है ॥१५॥

+—मद्यपानपात्र 'चषक' कहलाता है एवं सोमपानपात्र 'चमस' कहलाता है। सम्भवतः 'चमस' शब्द ही निरुक्तक्रमानुसार कालान्तर में चमश —बनता हुआ 'चस्मश' रूप में परिणत होगया है। एवमेव मद्यपानानुगत 'चषक' पात्र के आधार पर ही मद्य के साथ—'चुस्की' शब्द समन्वित होगया है।

अथ–देवतावाहनोपपत्ति

सामिधेनियों से प्राणाग्नि का समिन्धन किया गया निगदानुवचन से वीर्य्याधान किया गया, एवं पूर्वोक्त निवित्पाठ से अग्नि के व्यष्टि–समष्ट्यात्मक गुण कर्म्मों–का बखान करते हुए इसमें यशोवीर्य्य का आधान किया गया। अब ये अग्नि देवयजनकर्म्म लिए सर्वथा उपयुक्त बन गए हैं। अतएव आवश्यक है कि, अब इन अग्निदेव से प्रार्थना की जाय कि, प्रकृत इष्टि में जिन जिन देवताओं का यजन अभीष्ट है उन्हें भी आप इस यज्ञसंस्था में (द्युलोक से) प्रतिष्ठित कीजिए। यही आह्वानकर्म्म की संक्षिप्त उपपत्ति है जिसकी इतिवृत्त व्यता का १६,१७ इन दो कण्डिकाओं में स्पष्टीकरण हुआ है। इस देवता–आवाहन कर्म्म में–स्व–'महिमानमावह' पद की व्याख्या महत्त्वपूर्ण है। श्रुति ने कहा है कि, वाक् ही इस अग्नि की अपनी महिमा है। यह वाक् ही 'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्' के अनुसार अग्नि की मूलप्रतिष्ठा है। वागवितान ही वषट्कारमयवाक्स्वरूप महिमामयवत्त है। यही आध्यात्मिक अग्निमहिमा है। आधिभौतिक भूतपिण्ड वाङ्मय हैं। वाङ्मय भूतपिण्डों के गर्भ में अग्नि प्रतिष्ठित रहता है। यहाँ भूतमयी वाक् भूताग्नि की महिमा बन रही है। आध्यात्मिक अग्नि की महिमा वागिन्द्रिय–लक्षणा वाक् ही बन रही है। वाक्तत्त्व ही शरीराग्नि का परिचायक है। शब्दविन्यास के आधार पर शरीराग्नि का बलाबल अनुमेय है। इसप्रकार तीनों संस्थाओं में वाक् ही अग्नि की महिमा बन रही है।

निवित्–मन्त्र ने अग्नि को 'जातवेद' कहा है। यह विशेषण भी महत्त्वपूर्ण है। परिचय रखने वाला ही 'जातवेद' है। अधिदैवत में अग्नि ही तद्रूप देवताओं के यथार्थ स्वरूप से परिचित हैं। अधिभूत में भूताग्नि ही भूतपिण्ड के स्वरूप–संघठन–लक्षण परिचय से अवगत हैं। एवं अध्यात्म में शरीराग्नि ही 'वाक्–प्राण–चक्षु' रूप से ज्ञातवेदा बन रहा है। चक्षु से हम वस्तु पहिचानते हैं वाङ्मय नाम से वस्तुओं का परिचय प्राप्त करते हैं एवं प्राणमय कर्म्म से वस्तुस्वरूप का परिचय मिलता है। वागिन्द्रिय अग्नि से सम्बद्ध है प्राणेन्द्रिय वायु से सम्बद्ध है एवं चक्षुरिन्द्रिय आदित्य से सम्बद्ध है। अग्नि–वायु–आदित्य, तीनों एक ही अग्नि के तीन विवर्त हैं। फलतः आध्यात्मिक अग्नि का भी जातवेदस्त्व भलीभांति सिद्ध होजाता है ॥१६ १७॥

अनुवचनकर्म्म खड़े खड़े होता है याज्याकर्म्म बैठे बैठे होता है। अध्वर्यु प्रकृर्म्मना से भाज्य करता है एवं होता ऋङ्मन्त्र से अनुवाक्या करता है। आह्वान होता है द्युलोकस्थ देवताओं का। वे हम से दिवूर हैं। अतएव अनुवचनकर्म्म खड़े खड़े ही होना चाहिए। क्योंकि निदानविधि से द्युलोक अनुवाक्य है। यजन होता है–उन प्राणदेवताओं का जो होता के अनुवचन से इस पृथिवी पर प्रतिष्ठित हैं। अत–एव यजनकर्म्म बैठे बैठे ही होना चाहिए। क्योंकि याज्या निदानेन पृथिवी का ही प्रतिरूप है। १८,१९ ॥

चौथे अध्याय में दूसरा, तथा तीसरे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण समाप्त

सामिधेनी–ब्राह्मणानुगत तृतीय ब्राह्मण अत्र उपरत

चौथे अध्याय में तीसरा, तथा तीसरे प्रपाठक में पाँचवाँ ब्राह्मण
सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत-चतुर्थ ब्राह्मण

—४—

—•—

अथ-शान्तिकर्म्मोपपत्ति

वेदरहस्यवित् विद्वान् होता के यथाविधि सामिधेन्यनुवचन से आर्षेय-प्रवरण से निगदानुवचन से निवित्पाठ से तथा आवाहन के द्वारा देवप्राणाधान से आज हमारा यह वैध आहवनीयाग्नि असाधारण लौकिक इन अग्नियों की अपेक्षा अतिशयरूप से समिद्ध अलौकिक अनाक्रमणीय तथा अनभिभूत बन जाता है। न केवल अग्नि ही, अपितु अपने अनुवचनादि कर्म्म से भूताग्नि में प्राणाग्नि का समावेश कर उसे यह स्वरूप देने वाला स्वयं होता भी अपने शरीराग्नि से तत्समानधर्म्मा बनता हुआ अनवधृष्य तथा अनवमृश्य ही बन जाता है। जो सामान्यबुद्धि मन्त्रशक्ति के उक्त प्रभाव को न जानता हुआ इस अग्नि को सामान्य अग्नि, एवं अनुवचनकर्त्ता इस ब्राह्मण को सामान्य मनुष्य समझने की भ्रान्ति करता हुआ इसका तिरस्कार-अपमान-करने की भूल कर बैठेगा वह निश्चयेन अपना उसीप्रकार सर्वनाश कर बैठेगा जैसे अज्ञ मनुष्य विद्युत्-स्पर्श से अपना नाश कर बैठते हैं। अतः ऐसे अग्नि तथा ऐसे यज्ञिय ब्राह्मण सर्वथैव प्रणम्य हैं स्तुत्य हैं ॥१,२॥

अग्निसमिन्धन के लिए होता जिन सामिधेनियों का अनुवचन करता है उन अनुवचनकर्म्म से ही यद्यपि इसके शरीराग्नि में अतिशय उत्पन्न होजाता है। तथापि साक्षात्‌रूप से आवश्य शरीराग्नि-समिन्धन के लिए अनुवचनकाल में तत्तद्विशिष्ट मन्त्र-भागों के द्वारा तत्तद्विशिष्ट आध्यात्मिक पर्वों के समिन्धन के लिए भावना कर लेता है। किस मन्त्र से कौनसा आध्यात्मिक पर्व समिद्ध होता है ?, प्रस्तुत ब्राह्मण इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है।

'प्र वो वाजा अभिद्यव'० इत्यादि प्रथम मन्त्र होता के 'प्राण' का ही समिन्धन करता है। 'अग्न आयाहि वीतये० से 'अपान' का ही समिन्धन होता है। एवं तृतीयमन्त्र के—'बृहच्छोचा यविष्ठ्य' मन्त्रभाग से 'उदान' ही समिद्ध होता है। 'पञ्चप्राण' नाम से प्रसिद्ध प्रश्वासात्मक प्राण की (इन्द्रियप्राण की) प्राण-अपान' भेद से दो अवस्था हैं। निर्गच्छत् अवस्था में वही गमनधर्म्म से 'प्राण' है आगच्छत् अवस्था में वही आगमन धर्म्म से 'अपान' है। प्राण प्रधान (गतिधर्म्मा) है, अपान पश्चात् (आगतिधर्म्मा) है। 'प्र' उपसर्गयुक्ता 'प्र वो० इत्यादि ऋचा से तत्सम निःश्वासावस्थापन्न 'प्राण' का एवं 'आङ्' उपसर्गयुक्ता 'अग्न आयाहि० ऋचा से तत्सम प्रश्वासात्मक 'अपान' का समिन्धन हुआ है। वेणोनाड़ी के द्वारा कण्ठदेश में प्रतिष्ठित आयुःस्वरूपरक्षक प्राण ही 'उदान' है। इस का बृहत्साममण्डलस्थ आयुःप्रदाता सौर विश्वामित्रप्राण से सम्बन्ध है। अतएव इसे 'बृहच्छोचा' कहना अन्वर्थ बन रहा है। 'बृहच्छोचा यविष्ठ्य' से इसीका समिन्धन हुआ है ॥३॥

'स नः पृथुश्रवाय्यम्०' मन्त्रभाग से श्रोत्रेन्द्रिय का समिन्धन हुआ है। त्रैलोक्यव्यापक, अतएव महा पृथु (विस्तीर्ण) वाक्-समुद्र में अन्य शब्दाघात से उत्पन्न वीचि ही कर्णशष्कुली पर प्रतिष्ठित प्रज्ञान मन से समन्वय (आहित-प्रत्याहित) होती हुई शब्दश्रवण का कारण मानी गई है। इस व्यापक वाक्-लहरी के आधार पर शब्दश्रवण करने के कारण ही श्रोत्र पृथुश्रवाय्य है ॥४॥

'ईडेन्यो नमस्य' इस मन्त्रभाग से वागिन्द्रिय का ही समिन्धन हुआ है। सम्पूर्ण भौतिक विश्व वाक् का ही वितान है। मनःप्राणगर्भिता वाक् ही आत्मा है। आकाशात्मिका वाक् ही ब्रह्मग्रन्थि के तारतम्य से पञ्चमहाभूतरूप में परिणत हुई है जैसाकि-'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'- अथो वागेवेद सर्वम्' इत्यादि निगमों से स्पष्ट है। जिसप्रकार अधिदैवत में सत्यात्मिका वाक् से सब वितत हैं एवमेव अध्यात्म में इन्द्रियात्मिका-शब्दात्मिका-वाक् से ही सब तुल्य हैं। वाक् ही सर्वकर्म-वितान की प्रतिष्ठा है जैसाकि निम्नलिखित ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है—

* सा यत्रेयं वागासीत्-सर्वमेव तत्राक्रियत, सर्वं प्राज्ञायत। अथ यत्र मन आसीत्- नैव तत्र किञ्चनाक्रियत, न प्राज्ञायत। नो हि मनसा ध्यायतः कश्चन-भ्रजानाति' (शत० ४।६।७।५।) ॥५॥

'अरत्नो न देववाहनः' इत्यादि मन्त्रभाग से 'प्रज्ञान' नामक सर्वेन्द्रिय मन का ही समिन्धन होता है। आत्मात्मक देवता सोममय मनोधरातल पर ही प्रतिष्ठित रहते हैं। इसीलिए तो उपवास में मनःपरितोषक अन्नाशन निषिद्ध माना गया है। प्राणवाहन के अतिरिक्त मनस्वी मनुष्य का मन इन्हें काम-सफलता के लिए उठाए फिरता है। मनस्वी का संकल्प कभी व्यर्थ नहीं जाता। देवप्राण-प्रतिष्ठारूप होने से ही मन अरत्नस्थानीय देववाहन है ॥६॥

'अग्ने दीदयद्वं बृहत्०' इत्यादि मन्त्रभाग से चक्षुरिन्द्रिय का ही समिन्धन होता है। सर्वाङ्गशरीर में अन्धकारलयवत् चक्षु ही प्रदीप्त हैं साथ ही बृहत्सामात्मक आदित्य से उत्पन्न होने के कारण बृहत्साम-सम्पत्ति से युक्त हैं। चक्षुः साम के गर्भ में अवस्थित वस्तु ही दृष्टि का विषय बनती है। एक विशाल प्रतिमा का स्वरूप तबतक शवसमान ही दिखाई देता है जबतक कि उसमें दो चक्षुकनीनिकाओं का सम्बन्ध नहीं कर दिया जाता। चक्षु के सम्बन्ध कराते ही पाषाणप्रतिमा प्रज्वलित सी होजाती है उभरती जाती है। तभी प्रतिमा की बृहत्ता बृहत्तारूप से प्रतीत होती है ॥७॥

'अग्निं दूतं वृणीमहे०' इत्यादि मन्त्रभाग से 'व्यान' नामक मध्यप्राण का समिन्धन होता है। आन्तरिक्ष्य प्राणेर्गमित उभयरूप से हृन्यस्य सर्वप्रतिष्ठात्मक अक्षरूप से सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त, कीकसा-भारभूत श्वास-प्रश्वासात्मक प्राणोदान के उपांशु-अन्तर्याम नामक व्यापारों का सञ्चालक प्राणविशेष ही

---

*—केवल मानस संकल्पों से इच्छामात्र की कर्मता से तबतक किसी कर्म में सफलता नहीं मिल सकती जबतक कि-वाङ्मय शारिरिक-श्रम तथा वाङ्मय शब्द का आश्रय न लिया जाय। कर्म तथा शब्दाभिनय से ही संकल्प कार्यरूप में परिणत होते देखे गए हैं।

'व्यान' है। इस से ऊपर धीरदिव्यप्राण, तथा नीचे पार्थिव प्राण है इसी के लिए निम्नलिखित उपनिषद्वचन विहित है—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ॥
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥१॥
ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति ॥
मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते ॥२॥

व्यान से ऊर्ध्व स्थित प्राण प्राण–उदान भेद से दो स्वरूपों में विभक्त है, व्यान से नीचे स्थित अपान समान–अपान भेद से दो मार्गों में विभक्त है। इसप्रकार आध्यात्मिक प्राण के पांच विवर्त्त होजाते हैं। इन में व्यानप्राण मध्यस्थ है, अन्तःस्थ है। इस अन्तःस्थ प्राण के समिन्धन से आठवीं ऋचा भी मध्यस्था है। इस समिन्धन से समिन्धनकर्त्ता अपनी मण्डली में मध्यस्थ बन जाता है ॥८॥

'शोचिष्केशस्तमीमहे०' इत्यादि मन्त्रभाग से शिश्नेन्द्रिय का ही समिन्धन करता है। कामाग्निमय–वाप शाक्तिक इतर प्राणों से कहीं प्रबल है। इन का बीज शिश्न ही माना गया है। शिश्नोदर–परायण कामभोगासक्त मनुष्य कामप्रतिबन्ध–दशा में अग्निशयरूप से सन्तप्त रहते हैं। इसी सादृश्य से शिश्न के लिए 'शोचिष्केश' पद प्रयुक्त हुआ है ॥९॥

'समिद्धो अग्न आहुतः' इत्यादि मन्त्रभाग से अवाक्प्राण (गुदप्राण) का ही समिन्धन होता है। एवं—'आजुहोता दुवस्यत' इत्यादि से समष्टिरूप से सर्वाङ्गशरीर का ही समिन्धन होता है ॥१०॥

इसप्रकार उक्त समिन्धन–भावना से होता का सर्वाङ्गशरीर व्यष्टि–समष्टिरूप से समिद्ध अग्निवत् प्रज्वलित होजाता है। यदि होता चाहे, तो अपमान करने वाले पर उक्त भावना के साथ 'प्राणं वा एतदात्मनोऽग्नावाधा०' इत्यादि रूप से कृत्याप्रयोग कर सकता है जिनका ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१ इन ११ कण्डिकाओं में स्पष्टीकरण हुआ है।

उक्त समिन्धनकर्म्म तथा अभिचारकर्म्म से बतलाना प्रकृत में यही है कि, सामिधेनी से समिद्ध अग्नि तथा समिन्धनकर्त्ता होता दोनों समानधर्म्मा हैं, अनवधृष्य हैं, अनवमृश्य हैं। उनका कभी तिरस्कार नहीं करना चाहिए। ऐसे इस महान्–स्तुत्य–नमस्य अग्निदेवता के लिए, एवं अग्निरहस्यवित् एसे ब्राह्मणश्रेष्ठ होता के लिए निरतिशय प्रणतभाव से आस्था–श्रद्धा–पूर्वक ही हमारी अनेक नम उक्तियाँ समर्पित हैं ॥२२॥

चौथे अध्याय में तीसरा, तथा तीसरे प्रपाठक में पाँचवाँ ब्राह्मण समाप्त

समाप्त चेदं ब्राह्मणचतुष्टयात्मकं सामिधेनी–ब्राह्मणम्

—•—

श्रीः

इति—शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये—
ब्राह्मणचतुष्टयात्मक-"*सामिधेनीब्राह्मणम्*"
उपरतम्



श्रीः

अथ-शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये—
द्विब्राह्मणात्मक-"आघारब्राह्मणम्"



श्रीः

अथ–शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये
द्विब्राह्मणात्मकं–"आघारब्राह्मणम्"

अथ चतुर्थाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्
तृतीय–प्रपाठकके च षष्ठ ब्राह्मणम्
(आघारब्राह्मणानुगतञ्च प्रथम ब्राह्मणम्)
१

१६–पूर्वोत्तराघारकर्म्म
आघारयोर्निदानम्

(मूल)—ते वा एतमग्निं समैन्धिषत–'समिद्धे देवेभ्यो जुहवाम'–इति । तस्मिन्नेते–एव प्रथमे आहुती जुहोति–मनसे चैव वाचे च । मनश्च ह वै वाक् च युजौ देवेभ्यो यज्ञं वहतः ॥१॥

स यदुपांशु क्रियते–तन्मनो देवेभ्यो यज्ञं वहति । अथ यद्वाचा निरुक्तं क्रियते–तद् वाग् देवेभ्यो यज्ञं वहति । एतद्वा इदं द्वयं क्रियते; तदिते–एवैतत् सन्तर्पयति । तृप्ते प्रीते देवेभ्यो यज्ञं वहात इति ॥२॥

स्रुवेण तमाघारयति–यं मनस आघारयति । वृषा हि मनः, वृषा हि स्रुवः ॥३॥

स्रुचा तमाघारयति–यं वाच आघारयति । योषा हि वाक्, योषा हि स्रुक् ॥४॥

तूष्णीं तमाघारयति यं मनस आघारयति, न स्वाहेति चन । अनिरुक्तं हि मनः, अनिरुक्तं ह्येतत्–यत् तूष्णीम् ॥५॥

मन्त्रेण तमाघारयति—यं वाच आघारयति । निरुक्ता हि वाक्, निरुक्तो हि मन्त्रः ॥६॥

आसीनस्तमाघारयति—य मनस आघारयति, तिष्ठंस्तम्—यं वाचे । मनश्च ह वै वाक् च, युजौ देवेभ्यो यज्ञं वहतः । यतरो वै युजोर्ह्रसीयान् भवति—उपवाजं वै तस्मै कुर्वन्ति । वाग् वै मनसो ह्रसीयसी । अपरिमिततरमिव हि मन , परिमिततरेव हि वाक् । तद्वाच एवैतदुपवाजं करोति । ते सयुजौ देवेभ्यो यज्ञं वहत । तस्मात् तिष्ठन् वाच आघारयति ॥७॥

देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद् बिभयाञ्चक्रुः । त एतद्दक्षिणत प्रत्युदश्रयन् । उच्छ्रितमिव हि वीर्यम् । तस्माद्दक्षिणतस्तिष्ठन्नाघारयति । स यदुभयत आघारयति—तस्मादिदं मनश्च वाक् च समानमेव सन्नानेव । शिरो ह वै यज्ञस्य तयोरन्यतर आघारयो , मूलमन्यतर ॥८॥

स्रुवेण तमाघारयति—यो मूलं यज्ञस्य । स्रुचा तमाघारयति य शिरो यज्ञस्य ॥९॥

तूष्णीं तमाघारयति—यो मूलं यज्ञस्य । तूष्णीमिव हीद मूलम् , नो ह्यत्र वाग् वदति ॥१०॥

मन्त्रेण तमाघारयति—यः शिरो यज्ञस्य । वागधि मन्त्रः । शीर्ष्णो ह्ययमधि वाग् वदति ॥११॥

आसीनस्तमाघारयति—यो मूलं यज्ञस्य । निषण्णमिव हीदं मूलम् । तिष्ठंस्तमाघारयति—यः शिरो यज्ञस्य । तिष्ठतीव हीदं शिर ॥१२॥

अग्निसम्मार्जनम्

स स्रुवेण पूर्वमाघारमाघार्याह—'अग्निमग्नीत्सम्मृड्ढि' इति । यथा धुरमभ्यूहेदेवं तत्—यत्पूर्वमाघारयति । अभ्युह्य हि धुरं युञ्जन्ति ॥१३॥

अथ सम्मार्ष्टि—युनक्त्येवैनमेतद्, युक्तो देवेभ्यो यज्ञं वहादिति । तस्माद् सम्मार्ष्टि । परिक्रामं सम्मार्ष्टि । परिक्राम हि योग्यं युञ्जन्ति । त्रिस्त्रिः सम्मार्ष्टि । त्रिवृद्धि यज्ञ ॥१४॥

स सम्मार्ष्टि–'अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाजजितꣳसम्मार्ज्मि' (२ अ ७ म) इति। यज्ञं त्वा वक्ष्यन्तं सम्मार्ज्मि, इत्येवैतदाह। अथोपरिष्टात् तूष्णीं त्रिः। तद्यथा युक्त्वा प्राजेत्–प्रेहि वहति, एवमेवैतत्कश्यायोपनिपतति–प्रेहि, देवेभ्यो यज्ञं वहेति। तस्मादुपरिष्टात्तूष्णीं त्रिः। तद्यदेवान्तरेण कर्म क्रियते–तस्मादिद मनश्च वाक् च समानमेव सन्नानेव ॥१५॥

इति चतुर्थाध्याये चतुर्थं ब्राह्मण–समाप्तम्

तृतीय–प्रपाठके च षष्ठ ब्राह्मण–समाप्तम्

आघारब्राह्मणानुगतश्च प्रथम ब्राह्मणमुपरतम्

१

तृतीयप्रपाठकश्चात्र–समाप्तः

३

श्रीः

अथ—चतुर्थाध्याये पञ्चम ब्राह्मणम्
चतुर्थप्रपाठके च प्रथम ब्राह्मणम्
आघारब्राह्मणानुगतश्च द्वितीय ब्राह्मणम्

२

२०—उत्तराघारकर्म्म

(मूल)—स स्रु चोत्तरमाघारयिष्यन् पूर्वेण स्रु चावञ्जलिं निदधाति—'नमो देवेभ्य' स्वधा पितृभ्यः (२ अ० ७ मं०) इति । तद्देवेभ्यश्चैवैतत् पितृभ्यश्चार्त्विज्य करिष्यन् निह्नुते । 'सुयमे मे भूयास्तम्' (२ अ० ७ मं०) इति । स्रु चावादत्ते—सुमरे मे भूयास्तम् । मर्त्तुं वां शक्येयमित्येवैतदाह । 'अस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्यं सम्भ्रियासम्' (२ अ० ८ मं०) इति । अविक्षुब्धमद्य देवेभ्यो यज्ञं तनवा—इत्येनैवतदाह ॥१॥

'अङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषम्' (२ अ० ८ मं०) इति । यज्ञो वै विष्णुः, तस्मा एवैतन्निह्नुते—मा त्वावक्रमिषमिति । 'वसुमतीमग्ने ते छायामुपस्थेषम्' (२ अ० ८ मं०) इति । साध्वीमग्ने ते छायामुपस्थेयमित्येवैतदाह ॥२॥

'विष्णोस्थानमसि' (२ अ० ८ मं०) इति । यज्ञो वै विष्णुः, तस्येव सन्त-दन्तिर्क तिष्ठति, तस्मादाह—विष्णो स्थानमसीति । 'इत इन्द्रो वीर्यमकृणोत्' (२ अ० ८ मं०) इति । अतो हीन्द्रस्तिष्ठन् दक्षिणतो नाष्ट्रा रक्षांस्यपाहन्, तस्मादाह—इत इन्द्रो वीर्यमकृणोदिति । 'ऊर्ध्वोऽध्वर आस्थात्' (२ अ० ८ मं०) इति । अध्वरो वै यज्ञः, ऊर्ध्वो यज्ञ आस्थादित्येवैतदाह ॥३॥

'अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यम्' (२ अ० ६ मं०) इति । उभयं वा एतदग्निर्देवानाम् होता च दूतश्च । तदुभय विद्धि—यद्देवानामसीत्यवैतदाह । 'अवतां त्वां द्यावापृथिवी

अथ त्वा द्यावापृथिवी' (२ अ० ६ म०) इति । नात्र तिरोहितमिवास्ति । 'स्विष्टकृद्-देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषाभूत् स्वाहा' (२ अ० ६ म०) इति । इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता, तस्मादाह-इन्द्र आज्येनेति । वाचे वा एतमाघारमाघारयति । इन्द्रो वागित्यु-वा आहु । तस्मादेवाह-इन्द्र आज्येनेति ॥४॥

अथासंस्पर्शयन्त्स्रुचौ पर्येत्य ध्रुवया समनक्ति । शिरो वै यज्ञस्योत्तर आघारः । आत्मा वै ध्रुवा । तदात्मन्यवैतच्छिर प्रतिदधाति । शिरो वै यज्ञस्योत्तर आघार । श्रीर्वै शिर । श्रीर्हि वै शिरस्तस्मात्-योऽर्द्धस्य श्रेष्ठो भवति असावमुष्यार्द्धस्य शिर इत्याहु ॥५॥

यजमान एव ध्रुवामनु । योऽस्मा अरातीयति स उपभृतमनु । स यद्धोपभृता समञ्ज्याद्-यो यजमानायारातीयति-तस्मिंश्छ्रियं दध्यात्, तद्यजमान एवैतच्छ्रियं दधाति, तस्माद् ध्रुवया समनक्ति ॥६॥

स समनक्ति-'सञ्ज्योतिषा ज्योति' (२ अ० ६ म०) इति । ज्योतिर्वा इतरस्यामाज्य भवति, ज्योतिरितरस्याम् । त एतदुभे ज्योतिषी सञ्ज्यत । तस्मादेव समनक्ति ॥७॥

अथातो मनसश्चैव वाचश्चाहमद्र उदितम् । मनश्च ह वै वाक चाहमद्र ऊदाते ॥८॥

तद्ध मन उवाच-अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि, न वै मया त्व किञ्चनानभिगत वदसि । सा यन्मम त्व कृतानुकरानुवर्त्मासि, अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मीति ॥९॥

अथ ह वागुवाच-अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि, यद्वै त्व वेत्थ-अहं तद्विज्ञपयामि, अह सज्ञपयामीति ॥१०॥

ते प्रजापति प्रति प्रश्नमेयतुः । स प्रजापतिर्मनस एवानूवाच मन एव त्वच्छ्रेय, मनसो वै त्वं कृतानुकरानुवर्त्मासि, श्रेयसो वै पापीयान् कृतानुकरोऽनुवर्त्मा भवतीति ॥११॥

सा ह वाक् परोक्ता विसिष्मिये । तस्यै गर्भ पपात । सा ह वाक् प्रजापतिमुवाच-अहव्यवाडेवाह तुभ्य भूयासम्, यां मा पराबोच इति । तस्माद् यत्किञ्च प्राजापत्य यज्ञे क्रियते उपांशुव तत् क्रियते । अहव्यवाड्धि वाक् प्रजापतय आसीत् ॥१२॥

तद्वै तद्देवा रेतश्चर्मन् वा यस्मिन् वा बभ्रुः। तद्ध स्म पृच्छन्ति-अत्रैव त्वा ३ इति। ततोऽत्रि सम्बभूव। तस्मादप्यात्रेय्या योषितैनस्वी। एतस्यै हि योषायै वाचो देवताया एते सम्भूताः॥१३॥

इति-प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये पञ्चम ब्राह्मण
चतुर्थप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मण
समाप्तम्
आघारब्राह्मणानुगतञ्च द्वितीय ब्राह्मण उपरतम्

२

द्विब्राह्मणात्मकमाघाराब्राह्मणञ्चात्रोपरतम्

शतथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये-प्रथमकाण्डे चतुर्थोऽध्यायश्चात्र समाप्त

४

चौथे अध्याय में चौथा, तथा तथा तीसरे प्रपाठक में ६ ठा ब्राह्मण आधारब्राह्मणानुगत प्रथम ब्राह्मण

१

१—पूर्वोत्तराघारों की उपपत्ति—

(अनुवाद)—उस (प्रसिद्ध) इस (आहवनीय) अग्नि को (अग्निसमिन्धनोपयुक्त पूर्वोक्त कर्म्म से उन्होंने * इस उद्देश्य से कि) 'समिद्ध (सामिधेनी मन्त्रशक्तियुत होने से देवभागयुक्त) अग्नि में देवताओं के लिए हम आहुति देते हैं' समिद्ध कर लिया। (अर्थात् देवाहुति के योग्य बनाने के लिए ही पूर्वोक्त सामिधेन्यनुवचनकर्म्म के द्वारा आहवनीय अग्नि का समिन्धन हुआ है। इस कर्म्म से यह अग्नि देवाहुति-ग्रहण-योग्य बन गया है) । (यजमानादि के द्वारा समिद्ध) इस आहवनीय अग्नि में अध्वर्यु नामक ऋत्विक् मन के लिए और वाक् के लिए यही दो आहुतियों का हवन करता है। मन तथा वाक्, दोनों से संयुक्त होकर (मिथुनभाव में परिणत होकर द्युलोकस्थ प्राणात्मक) देवताओं के लिए (पृथिवीलोक से यज्ञ-यज्ञातिशयोत्पादक आहुतिप्राण) का वहन करते हैं (ले जाते हैं) । (अर्थात् आहवनीय में हुत आहुतिद्रव्य का प्राणरूप से द्युलोक में मनोवाक् के द्वारा ही गमनलक्षण ऊर्ध्व वितान होता है। अतः देवाहुति से पहिले आहुतिप्रापक मनोवाक के लिए दो आहुतियाँ देना आवश्यक है) ॥ १ ॥

अध्वर्यु के द्वारा जो तूष्णीं (आहुतिकर्म्म) किया जाता है, इस उपांशुकर्म्म से मन देवताओं के लिए यज्ञ (आहुति) का वहन करता है। जो कि वाक्-पूर्वक (उच्चारण-पूर्वक) निरुक्त (प्रकट) भाव से (आहुतिकर्म्म) किया जाता है, इस निरुक्तकर्म्म से वाक्तत्त्व देवताओं के लिए यज्ञ का वहन करता है। (अर्थात् मन अनिरुक्त होने से उपांशु है अतएव मन के लिए तूष्णीं आहुति दी जाती है, क्योंकि तूष्णीभाव अनिरुक्तभाव है। वाक् निरुक्त है अतएव वाक् के लिए उच्चारणपूर्वक आहुति दी जाती है क्योंकि उच्चारणभाव निरुक्तभाव है) । इसप्रकार

*—समिन्धनकर्म्म में यज्ञफलभोक्ता यजमान के आत्मा (इन्द्र) का योग होता है अध्वर्यु नामक ऋत्विक् इध्माधान करता है ब्रह्मा नामक ऋत्विक् होता को सामिधेन्यनुवचन की अनुज्ञा प्रदान करता है एवं होता नामक ऋत्विक् सामिधेनी-ऋचाओं के अनुवचन से अग्नि-समिन्धन करता है। इसप्रकार यजमान अध्वर्यु ब्रह्मा होता चारों के व्यापार से अग्निसमिन्धन-कर्म्मेतिकर्त्तव्यता सम्पन्न होती है। इसी अभिप्राय से 'समैन्धिषत' यह बहुवचन प्रयुक्त हुआ है।

तद्वै तद्रेषा रेतश्चर्मन् वा यस्मिन् वा बभ्रु । तद्ध स्म पृच्छन्ति—अत्रैव त्वा ३ दिति । ततोऽग्नि सम्बभूव । तस्मादप्याग्नेय्या यापितैनसी । एतस्यै हि योषायै वाचो देवताया एते सम्भूता ॥१३॥

इति—प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये पञ्चम ब्राह्मण
चतुर्थप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मण
समाप्तम्
आघारब्राह्मणानुगतश्च द्वितीय ब्राह्मण उपरतम्
२



द्विब्राह्मणात्मकमाघाराब्राह्मणश्चात्रोपरतम्



शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये—प्रथमकाण्डे चतुर्थोऽध्यायश्चात्र समाप्त
४



कि वाक्तृप्ति के लिए करता है । (मनोऽनुगत पूर्वाचार बैठ बैठ एवं वागनुगत उत्तराचार खड़े खड़े क्यों होता है ?, इस प्रश्न की उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है)—(पूर्वकथनानुसार) मन, और वाक्, दोनों (अभ्ययुग्मवत) मिलकर देवताओं के लिए [रथरूप] यज्ञ का वहन करते हैं । [रथ में जुड़े हुए दो अश्वों में से] जो अश्व नाटा होता है लोक में रथवाहक सारथि उसके लिए 'उपयह' * करते हैं । (वाक् और मन दोनों इस यज्ञरथ के वहन करने वाले दो अश्व हैं, परन्तु) मनोरूप अश्व की अपेक्षा वागरूप अश्व नाटा है । क्योंकि मन अपरिमित [विशाल] सा है, और वाक् परिमित [संकुचित] सी है । [खड़ा खड़ा वागनुगत उत्तराघार करता हुआ] अध्वर्यु वाक् से ही उपयह का सम्पादन कराता है । [इस उपयह से वाक् मन से समतुलित होजाती है फलतः] दोनों समानरूप से यज्ञरथ में जुड़कर सरलतया यज्ञरथ का वहन करने में समर्थ होजाते हैं । एकमात्र इस [समतुलनभावावाप्ति के] लिए ही वागनुगत उत्तराघार का खड़े खड़े सम्पादन करता है । समान-वहनप्रवृत्ति सम्पत्ति-प्राप्ति के लिए ही वागनुगत आघार तिष्ठन् विहित है, यही निष्कर्ष है ॥ ७ ॥

[आहवनीयकुण्ड के दक्षिणभाग में खड़े होकर वागनुगत उत्तराघारकर्म्म किया जाता है । खड़े होकर साथ ही दक्षिणदिशा में उत्तराघार करने का एक कारणान्तर बतलाती हुई श्रुति कहती है]—देवदेवताओंने यज्ञ का वितान किया । [यज्ञवितान करते हुए] वे देवदेवता [दक्षिण दिक्स्थ] असुर-राक्षसों की आक्रमणाशङ्का से भयत्रस्त होगए । [इस भय से त्राण पाने के लिए देवदेवता लोग आहवनीय के दक्षिण भाग में [सावधान होकर असुरों की प्रतिस्पर्द्धा में] खड़े हो गए । [शत्रुभय सभीतक भयोत्पादक बना रहता है, जबतक हम प्रत्युत्तर देने में असमर्थ रहते हैं । जब हम आततायी के सम्मुख सन्नद्धीभूत होकर प्रत्याक्रमण के लिए खड़े होजाते हैं, तो शत्रु शान्त हो जाता है । अतमेव देवताओं नें स्ववितान-यज्ञमण्डल की दक्षिण दिशा में अग्नि देव को खड़ा कर सौम्य असुराक्रमण से त्राण पाया था । एवं प्राकृतिक प्राणदेवताओं के नित्य-प्राकृतिक यज्ञ में अग्नियुत इन्द्रप्राण के द्वारा आसुरप्राण का निरोध होता रहता है । प्रकृति के अनुसार जैसे देवताओं नें किया तदनुसार ही हम अपने इस वैधयज्ञ में करना चाहिए, जैसाकि-'देवाननुविधा वै मनुष्याः' इत्यादि निगम से स्पष्ट है । दक्षिणदिक्स्थ आसुरप्राणनिरोध के लिए

* यदि रथवहन करने वाले दो घोड़ों में से एक अश्व दूसरे से नाटा होता है तो इस उस नीचकाय अश्व की ऊंचाई से समतुलित करने के लिए इसके स्कन्ध प्रदेश में अपेक्षित परिमाणयुक्त एक काष्ठ-वस्त्रात्मक स्थूलपीठ बांध दिया जाता है । इससे दोनों की ऊँचाई समतुलित होजाती है । यही स्थूलपीठ वैदिकपरिभाषा में 'उपयह' कहलाया है ।

उपांशु, तथा उच्चारणमात्र के द्वारा अध्वर्यु यही दोनों मनोवाक्-भावों की सम्पत्ति सम्पन्न करता है इन दोनों आहुतियों से यह मनोवाग्भावों को ही तृप्त करता है। (प्रयोजन इस तृप्तिकर्म का यही है कि, आहुतिद्वय से) तृप्त मन और वाक् देवताओं के लिए यज्ञ का वहन करें ॥२॥

(ये दोनों आहुतियाँ क्रमशः 'पूर्वाघार, उत्तराघार' नाम से प्रसिद्ध हैं। पूर्वाघाराहुति मनस्तृप्ति से सम्बन्ध रखती है एवं उत्तराघाराहुति वाक्तृप्ति से सम्बन्ध रखती है। स्रुवपात्र पुरुष की प्रतिकृति है, उधर मन भी पुरुष है। अतएव पूर्वाघाराहुति स्रुवपात्र से होती है। स्रुक्पात्र स्त्री की प्रकृति है उधर वाक् भी स्त्री है। अतएव उत्तराघाराहुति स्रुक्पात्र से होती है। वृषा-योषात्मक इसी मिथुनभाव का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है)—'स्रुव' नामक पात्र के द्वारा उस आघाराहुति (पूर्वाघाराहुति) का सम्पादन करता है, जिसे कि मनस्तृप्ति के लिए करता है। क्योंकि मन वृषा (पुरुषप्रकृति) है, उधर स्रुवपात्र भी वृषास्थानीय ही है ॥ ३ ॥

स्रुक्पात्र के द्वारा उस आघाराहुति (उत्तराघाराहुति) का सम्पादन करता है जिसे कि वाक्तृप्ति के लिए करता है। क्योंकि वाक् योषा (स्त्रीप्रतिकृति) है उधर स्रुक्पात्र भी योषा-स्थानीय है ॥ ४ ॥

तूष्णीं उस आघाराहुति (पूर्वाघाराहुति) का सम्पादन करता है जिसे कि मनस्तृप्ति के लिए करता है (साथ ही इस कर्म में) 'स्वाहा' इसका भी उच्चारण नहीं करता है। (तात्पर्य्य कहने का यही है कि मन्त्राहुतिकाल में मन्त्र की समाप्ति पर आहुति देते समय 'स्वाहा' *शब्द का उच्चारण स्वभावसिद्ध-अभ्याससिद्ध है। कहीं ऐसा न हो कि, मनस्तृप्ति के लिए विहित* पूर्वाघार में अभ्यासवश 'स्वाहा' का उच्चारण होजाय। इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के निरोध के लिए ही श्रुति को 'न स्वाहेति चन' इत्यादि रूप से आदेश देना पड़ा है)। मन अनिरुक्त (इद यावच्छिन्न होने से अप्रत्यक्ष-अप्रकट) है। वह भी अनिरुक्त ही भाव है, जो कि तूष्णीं (चुपचाप) है। इसलिए मानसाघार तूष्णीं ही होना चाहिए) ॥ ५ ॥

मन्त्रोच्चारणपूर्वक उस आघाराहुति (उत्तराघाराहुति) का सम्पादन करता है, जिसे कि वाक्तृप्ति के लिए करता है। वाक् निश्चयेन निरुक्त (प्रकटभावापन्ना है। यह भी निरुक्त ही भाव है, जो कि मन्त्र (मन्त्रोच्चारण) है। (इसलिए वागाघार मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही होना चाहिए ॥ ६ ॥

बैठा बैठा उस आघाराहुति (पूर्वाघाराहुति) का सम्पादन करता है, जिसे कि मनस्तृप्ति के लिए करता है। खड़ा खड़ा उस आघाराहुति (उत्तराघाराहुति) का सम्पादन करता है जिस

करता है, जोकि यज्ञ का मस्तक है। (शरीर प्रदेश में) मस्तक खड़ा हुआ-सा ही है। (तात्पर्य्य यही है कि, पूर्वाघार मूलस्थानीय है, एवं इसका मन से सम्बन्ध है। तथा उत्तराघार मस्तक-स्थानीय है, एवं इसका वाक् से सम्बन्ध है। मूलतत्त्व अनिरुक्त आसीनवत् है, अतएव तत्-सम्पादक पूर्वाघार अनिरुक्त-आसीन भाव के द्वारा सम्पन्न किया जाता है। शिरोभाग निरुक्त, तिष्ठद्वत् है, अतएव तत्सम्पादक उत्तराघार समन्त्रक-तिष्ठद्भाव के द्वारा सम्पन्न किया जाता है ॥१२॥

२—अग्निसम्मार्जन—

यह अध्वर्यु (आहवनीय अग्नि में तूष्णीं) पूर्वाघार का सम्पादन करके (आग्नीध्र नामक ऋत्विक् को) प्रैष करता है कि—'हे अग्नीत्! (आग्नीध्र!) (अब तुम आहवनीय) अग्नि का सम्मार्जन करो'। जिसप्रकार (रथवाहक बैल के स्कन्धप्रदेश में) जूआ डालते हैं, उसीप्रकार का यह कर्म्म है जोकि पूर्वाघार का सम्पादन करना है। स्कन्ध प्रदेश में पहिले जूआ डालकर ही पीछे चर्म्मपाश से बाँधते हैं। (तात्पर्य्य यही हुआ कि रथवहन करने वाले वृषभों को पहिले रथ धुर के नीचे लाकर उनके स्कन्ध प्रदेश में धुर (जूआ) डाला जाता है। अनन्तर नियत चर्म्मपाश से उनके ग्रीवास्थानों को बाँध दिया जाता है। यहाँ आहवनीय अग्नि ही यज्ञरथ वहन करने वाला वृषभ है। पूर्वाघार करना इसके स्कन्ध-प्रदेश पर जूआ डालना है, एवं सम्माज्जन करना पाशबन्धन से युक्त करना है। क्योंकि पूर्वाघार धुर स्थापन स्थानीय है, एवं धुरस्थापन सम्माजनरूप पाशबन्धन से पहिले होता है अतएव यहाँ भी पूर्वाघारकर्म्म सम्मार्जनकर्म्म से पहिले किया जाता है अनन्तर अग्निसम्माजन के लिए आग्नीध्र को आदेश दिया जाता है। पूर्वाघार स्कन्ध प्रदेश में धुरस्थापन स्थानीय है, यह बतला कर अब सम्माजन कर्म्म को पाशबन्धन स्थानीय बतलाती हुई श्रुति कहती है) ॥१३॥

यह आग्नीध्र (नामक ऋत्विक् अध्वर्यु के प्रैषानुसार) आहवनीय अग्नि का * सम्माजन करता है। इस सम्माजनकर्म्म से यह आग्नीध्र (वृषभ-स्थानीय धुर युक्त इस आहवनीय) अग्नि को (पाशबन्धन से) ही (यज्ञरथ में) युक्त करता है। (यज्ञरथ में पाशबन्धन से)

*—आहवनीय अग्निकुण्ड के पश्चिम दक्षिण उत्तर, इन तीन प्रान्तभागों में प्रतिष्ठित तीन इध्मकाष्ठ ही परिधियाँ हैं। पहिले परिधि-स्थापनानुसार इन तीनों परिधियों से संलग्न अग्नि का त्रिरावृत सम्मार्जन किया जाता है अनन्तर आहवनीय अग्नि का ऊपर से तीन बार तूष्णीं सम्मार्जन किया जाता है। यही आग्नीध्रकृत संमाजन है जैसाकि सूत्रप्रदर्शित पद्धतिसंग्रह में स्पष्ट किया जाने वाला है।

ही दक्षिण की ओर खड़े होकर वागनुगत उत्तराघारकर्म्म किया जाता है]। वीर्य्य खड़ा हुआ-सा है। [बैठने में शरीरबल मन्द-सा रहता है। खड़े होजाने पर बल उद्बुद्ध हो जाता है]। इसलिए दक्षिण की ओर खड़े होकर ही उत्तराघार का सम्पादन करता है। असुराक्रमणनिरोधक वीर्य्यभाव की प्राप्ति के लिए ही खड़े होकर आघारकर्म्म किया जाता है, यही उपपत्ति-निष्कर्ष है।

(मन के लिए विहित पूर्वाघार आहवनीय से उत्तर बैठ कर सम्पादित होता है, वाक् के लिए उत्तराघार आहवनीय से दक्षिण खड़े होकर सम्पादित होता है। आहुति-प्राप्ति-स्थान-लक्षण आहवनीयाग्नि समान है, आहुतिप्रदानस्थान उत्तर-दक्षिण-भेद से नाना भिन्न-हैं। उधर मन और वाक् दोनों आहुति-प्रापकत्वेन समान हैं एवं स्वस्वरूप से भिन्न भिन्न हैं। इसी साम्यसिद्धि के लिए समानाग्नि में उभयाघाराहुति होती है। प्रदेशत्वेन दोनों नाना हैं अतएव दक्षिणोत्तर प्रदेश में आसीन तथा तिष्ठद् रूप से आहुति दी जाती है। मनोवाक् के इसी समानत्व एवं नानात्व धर्म्म के साथ समतुलन बतलाती हुई श्रुति कहती है)—यह अध्वर्यु जोकि (आहवनीय अग्नि में आहवनीय अग्नि से) दक्षिणोत्तर (तिष्ठन्-आसीन रूप से) आघार करता है इसीलिए यह मन तथा वाक् का युग्म समान रहता हुआ भी नाना—वत् है ॥

(वागनुगत) उत्तराघार तथा (मनोऽनुगत) पूर्वाघार दोनोंमें से एक (वागनुगत उत्तर) आघार (इस देवगर्भलक्षण) यज्ञ (पुरुष) का मस्तक (शिर की प्रतिकृति) है, एवं एक (मनोऽनगत पूर्व) आघार (इस) यज्ञ का मूल (मूलस्थान की प्रतिकृति है) ॥८॥

स्रुवपात्र के द्वारा उस (मनोऽनुगत पूर्व) (आघार का सम्पादन करता है, जोकि यज्ञ का मूल है। स्रुक्पात्र के द्वारा उस (वागनुगत उत्तर) आघार का सम्पादन करता है, जो कि यज्ञ का मस्तक है ॥९॥

तूष्णीं उस (मनोनुऽगत पूर्व) आघार का सम्पादन करता है जोकि यज्ञ का मूल है। मूलतत्त्व (हृदयस्थान) तूष्णीं (अनिरुक्त) वत् है। यहाँ वाग्व्यापार अवरुद्ध है ॥१० ॥

मन्त्रोच्चारण के द्वारा उस (वागनुगत उत्तर) आघार का सम्पादन करता है, जोकि यज्ञ का मस्तक है। मन्त्रोच्चारण व्यापार वाग्व्यापारयुक्त है (वाङ्मय है)। मस्तक (तत्रस्थ मुखानुगता वागिन्द्रिय) के द्वारा ही वागुच्चारण होता है ॥११॥

बैठा बैठा उस (मनोऽनुगत पूर्व) आघार का सम्पादन करता है जो कि यज्ञ का मूल है। मूलतत्त्व बैठा हुआ-सा ही है। खड़ा खड़ा उस (वागनुगत उत्तर) आघार का सम्पादन

उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है)—सो जो कि आग्नीध्र पूर्वोत्तराघार के मध्य में यह सम्मार्जन करता है, इसीलिए मन, तथा वाक् दोनों समान रहते हुए नाना हैं। [दोनों आघार साथ करना दोनों को समान बनाना है एवं दोनों के मध्य में सम्मार्जनकर्म्म करना दोनों समानों को नानावत् बनाना है यही तात्पर्य्य है ॥१८॥

चौथे अध्याय में चौथा, तथा तीसरे प्रपाठक में ६ ठा ब्राह्मण समाप्त
आधारब्राह्मणानुगत प्रथम ब्राह्मण समाप्त
—१—

चौथे अध्याय में पञ्चम तथा चौथे प्रपाठक में प्रथम ब्राह्मण
आधारब्राह्मणानुगत द्वितीय ब्राह्मण
—२—

उत्तराघारेतिकर्त्तव्यता

(पूर्व ब्राह्मण में स्रुवपात्र के द्वारा सम्पन्न होने वाले मनोऽनुगत पूर्वाघार–कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता एवं पूर्वोत्तराघार के मध्य में होने वाले अग्निसम्मार्जनकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाई गई। अब क्रमप्राप्त स्रुकपात्र के द्वारा सम्पन्न होने वाले वागनुगत उत्तराघार–कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाई जाती है)—स्रुकपात्र (जुहू तथा उपभृत्) से उत्तराघार–कर्म्म सम्पादन करने वाला अध्वर्य्यु (उत्तराघारकर्म्म से पहिले) जुहू तथा उपभृत् इन दोनों स्रुकपात्रों के पूर्वभाग में (जिस मुख्य भाग से आहुति दी जाने वाली है उस मुख्य भाग की ओर) ("देवताओं के लिए नमस्कार है, पितरों के लिए स्वधा है" इस अर्थ से युक्त "नमो देवेभ्य, स्वधा पितृभ्य" (२।७) यह मन्त्र बोलता हुआ अञ्जलिस्थापन करता है (दोनों हाथ जोड़ कर प्रणाम करता है)। इस अञ्जलिनिधान–कर्म्म से यह अध्वर्य्यु (देवताओं तथा पितरों के लिए क्रमशः नमः तथा स्वधा करता हुआ) आर्त्विज्यकर्म्म करना चाहता हुआ देवताओं तथा पितरों से अपने आप को छिपाता है। (तात्पर्य्य यही है कि, देव पितृ कर्म्म आर्त्विज्यकर्म्म है। यह एक महान् कर्म्म है दिव्यकर्म्म है। उधर अध्वर्य्यु असत्यसहित एक मनुष्य है सामान्य व्यक्ति है। सामान्य

युक्त होकर यह (आहवनीय) अग्नि देवताओं के लिए यज्ञरथ का वहन करे (सम्मार्जनकर्म की यही उपपत्ति है)। इसीलिए सम्मार्जन करता है। यज्ञ त्रिवृत् (त्रिवृत्स्वरूप) है (इस यज्ञानुगता त्रिवृत्सम्पत्ति प्राप्ति के लिए ही) त्रिस्त्रि सम्मार्जन किया जाता है ॥१०॥

[सम्मार्जन कर्म क्यों किया जाता है ? इस प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान किया गया। अब पद्धतिक्रम बतलाती हुई श्रुति कहती है]–यह आग्नीध्र – "हे अग्ने ! यज्ञसाधनभूत हविर्लक्षण अन्न पर अपना अधिकार रखने से 'वाजजित्' नाम से प्रसिद्ध हविर्लक्षण यज्ञसाधन ऐसे वाजा अन्न को देवताओं के लिए द्युलोक में वहन करने वाले आपको मैं सम्मार्जन करता हूँ" इस अनुरूप अर्थ से युक्त] 'अग्ने वाजजिद्वाज०' [यजुर्वेद २।४] यह मन्त्र बोलता हुआ [तीनों परिधियों का त्रिरावृत्तरूप से) सम्मार्जन करता है। [तात्पर्य यही है कि, तीनों परिधियों का प्रत्येक का उक्त मन्त्रोच्चारण के द्वारा तीन तीन बार सम्मार्जन करता है। फलतः परिधिसम्मार्जन ९ बार होजाता है। यही इसका त्रिवृद्भाव-तीन का त्रिगुणितभाव-है]। (मन्त्र का तात्पर्यार्थ बतलाती हुई श्रुति कहती है—'अग्ने वाजजि-द्वाज०' इत्यादि से] 'यज्ञ वहन करने वाले यज्ञिय आपका सम्मार्जन करता हूँ' यहां कहा गया है। (हविरन्न यज्ञसाधक होने से यज्ञ है, अतएव 'वाजं सरिष्यन्तं' का तात्पर्य 'यज्ञं सरिष्यन्तम्' ही होता है। यह अग्नि इस यज्ञात्मक हवि का वहन करता है, अतएव इसके लिए 'यज्ञिय त्वा सम्मार्ज्मि' यह कहा जासकता है])।

[समन्त्रक त्रिरावृत्तरूप से परिधि-सम्मार्जन करने के अनन्तर यह आग्नीध्र] ऊपर से आहवनीय अग्नि का तूष्णीं (अमन्त्रक) तीन बार सम्मार्जन करता है। उपरिष्टात् आहव-नीय अग्नि का तूष्णीं सम्मार्जन क्यों किया जाता है ? इसकी उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है]—सो जिसप्रकार [रथ में बैलों को] जोत कर (कशाताड़नादि से उन्हें) चल चल ! भार वहन कर ! इसप्रकार गमन के लिए प्रेरित करते हैं एवमेव [उपरिष्टात् सम्मार्जन-रूप] कराघात से इस अग्नि को –चलिए ! चलिए !! देवताओं के लिए यज्ञवहन कीजिए !!! इसप्रकार प्रेरित ही करता है। तात्पर्य यही है कि—पूर्वाघार तो स्कन्ध प्रदेश में जुआ बांधने के स्थान में है, एवं त्रिस्त्रि सम्मार्जन पाशबन्धन स्थानीय है। पाशबन्धन के अनन्तर सारथि वृषभयुग्म को गत्यारूढ बनाने के लिए चलो चलो इत्यादि शब्द प्रयोग के द्वारा कशाघात करता है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उपरिष्टात् आहवनीय अग्नि में त्रि सम्मार्जन होता है।

(अब एक प्रश्न शेष रहजाता है। स्रुवाघारलक्षण पूर्वाघार तथा स्रुगाघारलक्षण उत्तराघार दोनों कर्मों के मध्य में उक्त सम्मार्जनकर्म क्यों किया जाता है ? इसी प्रश्न की

उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है)—सो जो कि आग्नीध्र पूर्वोत्तराघार के मध्य में यह सम्मार्जन करता है, इसीलिए मन, तथा वाक् दोनों समान रहते हुए नाना हैं। [दोनों आघार साथ करना दोनों को समान बनाना है एवं दोनों के मध्य में सम्मार्जनकर्म्म करना दोनों समानों को नानावत् बनाना है यही तात्पर्य्य है ॥१५॥

चौथे अध्याय में चौथा, तथा तीसरे प्रपाठक में ६ ठा ब्राह्मण समाप्त आधारब्राह्मणानुगत प्रथम ब्राह्मण समाप्त

—१—

चौथे अध्याय में पञ्चम तथा चौथे प्रपाठक में प्रथम ब्राह्मण आधारब्राह्मणानुगत द्वितीय ब्राह्मण

—२—

उत्तराघारेतिकर्त्तव्यता

(पूर्व ब्राह्मण में स्रुवपात्र के द्वारा सम्पन्न होने वाले मनोऽनुगत पूर्वाघार-कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता एवं पूर्वोत्तराघार के मध्य में होने वाले अग्निसम्मार्जनकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाई गई। अब क्रमप्राप्त स्रुक्पात्र के द्वारा सम्पन्न होने वाले वागनुगत उत्तराघार-कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाई जाती है)—स्रुक्पात्र (जुहू तथा उपभृत) से उत्तराघार-कर्म्म सम्पादन करने वाला अध्वर्य्यु (उत्तराघारकर्म्म से पहिले) जुहू तथा उपभृत इन दोनों स्रुक्पात्रों के पूर्वभाग में (जिस मुख्य भाग से आहुति दी जाने वाली है उस मुख्य भाग की ओर) ('देवताओं के लिए नमस्कार है, पितरों के लिए स्वधा है' इस अर्थ से युक्त "नमो देवेभ्य, स्वधा पितृभ्य" (२।८) यह मन्त्र बोलता हुआ अञ्जलिस्थापन करता है (दोनों हाथ जोड़ कर प्रणाम करता है)। इस अञ्जलिविधान-कर्म्म से यह अध्वर्य्यु (देवताओं तथा पितरों के लिए क्रमशः नमः तथा स्वधा करता हुआ) आर्त्विज्यकर्म्म करना चाहता हुआ देवताओं तथा पितरों से अपने आप को छिपाता है। (तात्पर्य्य यही है कि देव पशु कर्म्म आर्त्विज्यकर्म्म है। यह एक महान् कर्म्म है दिव्यकर्म्म है। उधर अध्वर्य्यु अस वसहित एक मनुष्य है सामान्य व्यक्ति है। सामान्य

व्यक्ति विष्णुपदमर्ग का यजन करावे यह असङ्गत-सा है। परन्तु करना पड़ता है। अपने इसी असम्भावित अपराध के लिए पहिले से ही क्षमा माँग लेना आवश्यक है। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए उत्तरापाररूप आर्त्विज्य से पहिले ही अध्वर्यु स्रुक्पात्रों के पूर्वभाग में खड़ा होकर प्रणाम कर लेता है)।

(अञ्जलिनिधानानन्तर यह) अध्वर्यु— "सुयमे मे भूयास्तम्" हे जुहू, तथा उपभृत् नामक स्रुक्पात्रो ! आप दोनों मेरे इस यज्ञार्थ गृहीत आज्य के लिए आज्य के-अच्छी प्रकार से धारण करने वाले बनों" २।७) यह मन्त्र बोलता हुआ (दक्षिण हस्त में जुहू उपभृत् नामक दोनों) स्रुक्पात्रों का ग्रहण करता है। "आप दोनों मेरे लिए-आज्य का-उत्तम प्रकार से धारण करने वाले बनिए, साथ ही आप दोनों पात्रों को मैं अपने हाथ में भलीभाँति धारण करने योग्य बनूँ" मन्त्र भाग से यही कहा है।

(आगे का मन्त्र है)—"अस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्य सम्भ्रियासम्" ("आज इस यज्ञानुष्ठान काल में देवताओं के लिए आप दोनों पात्रों में स्थित इस आज्य को मैं उस प्रकार से रख रहा हूँ, जिससे यह भूमि पर न गिरता हुआ अस्कन्न-प्रतिष्ठित-बना रहे" २।८)। 'अक्षुब्ध रूप से आज मैं देवताओं के लिए यज्ञ का वितान करने में समर्थ बनूँ" मन्त्र भाग से यही कहा गया है। (जुहूपभृत्-पात्रों में गृहीत आज्य सर्वथा स्थिर रहना चाहिए। तभी यज्ञवितानसिद्धि है। यदि हस्तकम्पनादिरूपा असावधानी से पात्रस्थित घृत कम्पित होजाएगा तो वह उछट कर भूमि पर गिर पड़ेगा। परिणाम में यज्ञानुष्ठान विच्छिन्न हाजायगी आज्याहुति से उत्पन्न होने वाले देवात्मा का स्वरूप विकृत होजायगा। इस स्कन्नमय से त्राण पाने के लिए ही उक्त मन्त्रशक्ति का आश्रय लिया गया है)॥१॥

(आगे का मन्त्रभाग है)—"मांघ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषम्" (हे यज्ञमूर्ति विष्णो ! मैं अपने पैरों से आपका अतिक्रमण न करूँ" २।८)। यज्ञ निरवयव विष्णु है। (इस मन्त्र भाग से) उसी यज्ञात्मक विष्णु के लिए अपना अपराध शमन करवाता है जो-कि-'मैं आपका अतिक्रमण न करूँ" यह कहता है। (तात्पर्य्य यही है कि, आज्यपूर्ण दोनों स्रुक्पात्रों को लेकर इस अध्वर्यु को यागानुगत उत्तर आधार के लिए आहवनीय कुण्ड से दक्षिण दिशा की ओर जाना पड़ता है। यह दक्षिणागमन आहवनीयरूप यज्ञमूर्ति विष्णु का अतिक्रमण रूप निरादर है। मन्त्रप्रार्थना के द्वारा इस दोष के लिए ही विष्णु से क्षमा प्रार्थना करता है)।

(आगे का मन्त्रभाग है)—"वसुमतीमग्ने ते च्छायामुपस्थपेम्' (हे आहवनीयाग्ने ! आप की छाया से युक्त सम्पत्तियुक्ता भूमि क समीप में प्रतिष्ठित होरहा हूँ" २।८) "हे अग्ने ! आप की श्रेष्ठ (छत्र) छाया में मैं प्रतिष्ठित होने आरहा हूँ" मन्त्रभाग से यही कहा है कि। दक्षिणादिक् याम्यादिक् है प्राणनाशिनी दिक् है। यहाँ आकर ही अध्वर्य्यु को उत्तराधारकर्म्म करना है । दक्षिणदिगनुगत इस याम्यभाव की निवृत्ति के लिए ही मन्त्रशक्ति के द्वारा यह भावना की जाती है—कि मैं याम्यादिक् में नहीं जारहा अपितु अग्नि की छायारूप यज्ञसम्पत्तियुक्ता भूमि का आश्रय ले रहा हूँ) ॥७॥

(आगे का मन्त्र भाग है)—"विष्णो स्थानमसि" (हे दक्षिण भूप्रदेश ! आप यज्ञ-मूर्त्ति विष्णु की आवासभूमि हैं" २।८)। यज्ञ (यज्ञसाधक आहवनीय अग्नि) विष्णुमूर्त्ति है। (दक्षिण प्रदेश में उत्तराधार के लिए खड़ा होता हुआ) अध्वर्य्यु यज्ञात्मक विष्णु के समीप ही खड़ा होता है इसी अभिप्राय से 'आप विष्णु के स्थान हैं' यह कहा गया है। (तात्पर्य्य यही है कि आहवनीय अग्निरूप यज्ञप्रदेश से दक्षिण का प्रदेश वस्तुत असुर-राक्षसों का प्रदेश है। यहीं खड़े होकर अध्वर्य्यु को उत्तराधारकर्म्म करना है। मन्त्रशक्ति के द्वारा इस प्रदेश की आसुरभावना हटाने के लिए साथ ही आहवनीय यज्ञसामीप्य से इस प्रदेश में देवभावना स्थापित करने के लिए ही ऐसा कहना आवश्यक माना गया है)।

(मन्त्र का अगला भाग है)—'इत इन्द्रो वीर्यमकृणोत्' ("आहवनीयाग्नि से दक्षिणस्थ प्रदेश से ही इन्द्र ने दक्षिणस्थ असुर-राक्षसों का निरोधात्मक पुरुषार्थ किया है" २।८)। दक्षिण दिशा में खड़े होकर ही इन्द्र ने दक्षिण की की ओर से आक्रमण करने वाले असुर-राक्षसों का संहार किया था इसी अभिप्राय से 'यहाँ से इन्द्र ने वीर्य्य (पुरुषार्थ) किया' यह कहा गया है। (तात्पर्य्य यही है कि जिस दक्षिण प्रदेश में खड़े होकर अध्वर्य्यु उत्तराधार कर्म्म करने वाला है यह प्रदेश यज्ञमूर्त्ति विष्णु के सम्बन्ध से तो यज्ञियप्रदेश बन ही रहा है, साथ ही यज्ञपति इन्द्रप्राण के सम्बन्ध से साक्षाद्रूप से भी यह यज्ञभूमि बन रहा है। मन्त्रशक्ति के द्वारा उसी ऐन्द्रसम्पत्ति की भावना की गई है।

(मन्त्र का अगला भाग है)—"ऊर्ध्वोऽध्वर आस्थात्" ("दक्षिणस्थ इन्द्र के द्वारा सुरक्षित यह यज्ञ द्युलोकपर्य्यन्त प्रतिष्ठित-वितत-होगया २।८)। 'यज्ञ ऊर्ध्वस्थान में प्रतिष्ठित होगया' मन्त्रभाग से यही कहा गया है। (तात्पर्य यही है कि जिस दक्षिण प्रदेश को भयावह समझा जाता है वह तो यज्ञाग्निलक्षण विष्णु के सम्बन्ध से तथा यज्ञाधिपति इन्द्र के

सम्बन्ध से यज्ञस्वरूपसंसाधक बन रहा है। इन्द्ररक्षा से रक्षित होकर ही देवताओं का प्राकृतिक यज्ञ भूलोक से चलकर द्युलोक में प्रतिष्ठित हुआ है। मन्त्र के द्वारा उसी ऊर्ध्व प्रतिष्ठा की भावना की गई है) ॥३॥

(आगे का मन्त्रभाग है।)— "अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यम्" [हे आहवनीयाग्ने ! आप अपने होत्रकर्म्म से परिचय प्राप्त कीजिए, एवं अपने दूतदूतत्त्व से परिचय प्राप्त कीजिए" २।९) ये अग्नि देवताओं के होता भी हैं, दूत भी हैं दोनों हैं। "जो कि आप देवताओं के होता, तथा दूत, दोनों हैं, अपने इस उत्तरदायित्त्व को अपने ध्यान में लाइए" मन्त्रभाग से यही कहा गया है। (हुत आज्याहुति) को द्युलोकस्थ प्राणदेवताओं में पहुँचाने से ये अग्नि देवताओं के होता हैं। साथ ही दिव्य देवताओं को आहवनीय में प्रतिष्ठित कर उनका पार्थिव देवताओं से सम्बन्ध कराने के कारण ये ही अग्नि देवताओं के दूत भी हैं। प्रकृत आज्याहुति से दोनों सम्पत्तियाँ अभीष्ट हैं। मन्त्र के द्वारा उसी की भावना की गई है)।

(मन्त्र का अगला भाग है)—"अव त्वा द्यावापृथिवी, अव त्वं द्यावापृथिवी" [आज्याहुति लेकर भूलोक से द्युलोक जाते हुए आप की द्यावापृथिवी रक्षा करें, एवं आप स्वयं भी द्यावापृथिवी की रक्षा करें' २।९।] । इस मन्त्र भाग में कुछ भी अस्पष्ट नहीं है, [अर्थात् मन्त्रार्थ स्पष्ट है] ॥

(मन्त्र का अगला भाग है) स्विष्टकृद् देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषाभूत् स्वाहा' ('आज्यरूप हविर्द्रव्य से युक्त इन्द्र देवताओं के लिए स्विष्टकृत्—भलीभाँति इष्टसाधक—बन गए २।९।) । इन्द्र यज्ञ के देवता हैं। इसी अभिप्राय से ' इन्द्र आज्य से (युक्त होकर स्विष्टकृत् बन गए)" यह कहा गया है। इस उत्तराघार का सम्पादन अध्वर्यु वाक् के लिए ही करता है। वैज्ञानिकोंने इन्द्र को वाक् कहा है। इसलिए भी 'इन्द्र आज्य से' यह कहा है। (तात्पर्य्य यही है कि, प्रकृत मन्त्र भाग से स्रुक्पात्र के द्वारा आहवनीय में मैं उत्तराघार डाला जाता है। यह आघार वाक् के लिए है। परन्तु मन्त्र के द्वारा नामनिर्देश इन्द्र का हुआ है। कारण यही है कि इन्द्र यज्ञ के देवता हैं। इस यज्ञाधिपतित्त्वेन भी वाग्र्थविहित आज्याहुति के लिए—'इन्द्र आज्येन' यह कह दिया गया है। साथ ही इन्द्र ही वाक् है, एवं वाक् के लिए ही उत्तराघार है अतएव 'इन्द्र आज्येन' कहना अन्वर्थ बन जाता है) ॥४॥

('अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाजजितं सम्मार्ज्मि' (२।७ यजु) मन्त्र पढ़ता हुआ आग्नीध्र ऋत्विक् अध्वर्यु के द्वारा पूर्वाघाराहुति होने के अनन्तर अग्निसम्मार्जन करता है।

नन्तर आहवनीय से उत्तर प्रतिष्ठित अध्वर्यु जुहू एवं उपभृत् को अपने आगे रखकर इनके मुख्य-
स्थानीय पूर्व भाग का आर 'नमो देवेभ्य, स्वधा पितृभ्य' (२।७।) यह मन्त्र बोलता हुआ
प्रणाम करता है। प्रणामानन्तर-'सुयमे मे भूयास्तं अस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्य सम्भ्रियासम्'
(३।८।) यह मन्त्र बोलता हुआ स्रुक्पात्रों का ग्रहण करता है। ग्रहणानन्तर उत्तराघारकर्म्म के
लिए दक्षिणप्रदेश में आता हुआ—'अङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषम्' यह मन्त्रोच्चारण
कर अतिक्रमण-जनित अपराध का निह्नव करता है। अपराध के निह्नवानन्तर—'वसुमतीमग्ने
ते च्छायामुपस्थेयं, विष्णो स्थानमसि' यह मन्त्र बोलता हुआ आहुति देने के लिए नियत स्थान
पर खड़ा होजाता है।

सर्वान्त में—'इत इन्द्रो वीर्य्यमकृणोदूर्ध्वोऽध्वर आस्थात्। अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यमव-
तां द्यावापृथिवी अव त्वं द्यावापृथिवी। स्विष्टकृद्देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषाभूत् स्वाहा' यह
मन्त्र बोलता हुआ आहवनीयाग्नि में उत्तराघाराहुति हुत कर देता है। इसप्रकार यहाँ आकर
उत्तराघारकर्म्म समाप्त होता है। १ २,३ ४, इन चार कण्डिकाओं में इसी कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता
का प्रतिपादन हुआ है जिस का सुविधा के लिए एकत्र संकलन कर दिया गया है। उत्तराघारा
हुतिकर्म्मानन्तर क्या होता है? आगे का ब्राह्मणप्रकरण इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है)—

(उपभृत् नामक स्रुक्पात्र पर जुहू नामक स्रुक्पात्र रक्खा रहता है। आहुति देते
समय उपभृत् से जुहू को पृथक् कर लिया जाता है। इसी सम्बन्ध में विशेषता बतलाती हुई श्रुति
कहती है) उत्तराघार-होमानन्तर यह अध्वर्यु उपभृत तथा जुहू नामक दोनों स्रुक्पात्रों
का परस्पर स्पर्श न कराता हुआ दोनों को पृथक् पृथक् रखता (हुआ ही आहवनीय अग्नि के
दक्षिण भाग से) वापस (आहवनीय अग्नि के पूर्वभाग में) लौट कर। यहाँ रक्खे हुए ध्रुवपात्र
से उस जुहू को मिलाता है।। (क्यों मिलाता है? इस की उपपत्ति बतलाते हैं)—यागनुगत
यह उत्तराघारहोम (पूर्वकथनानुसार) यज्ञ का मस्तक है एवं ध्रुवापात्र आत्मा है। (जुहू को
ध्रुवा से मिलाता हुआ अध्वर्यु) आत्मा में ही (धड़ में ही) शिरोभाग प्रतिष्ठित करता है।
उत्तराघारहोम इस यज्ञ का शिर है (आत्मा का अमृताग्निलक्षण) श्रीभाग ('सार'-भाग) ही
श्री' है। शिरोभाग निश्चयेन श्री है, अतएव जो (जिस) भाग का श्रेष्ठ होता है, (उसके लिए
लोक में) 'यह अमुक भाग का शिर है' यह कहा जाता है। इसीलिए शिर वास्तव में श्री का
रूप है। जुहू को आत्मा से मिलाना आत्मा को इस शिरोरूप श्रीभाग से ही युक्त करना है, यही
तात्पर्य्य है) ॥५॥

यज्ञकर्त्ता यजमान ध्रुवापात्र को लक्ष्य बना रहा है (यजमान ध्रुवास्थानीय है)। एवं जो
इस यजमान के लिए शत्रुता करता है वह उपभृत् को लक्ष्य बना रहा है (अर्थात् उपभृत्

यजमान के शत्रु का प्रतिकृति है)। (ऐसी स्थिति में) यदि वह अध्वर्यु उपभृत्पात्र से ध्रुवा का सम्बन्ध करा देगा तो जो यजमान के लिए शत्रुता करता है, उस यजमानशत्रु में श्री का स्थापन कर देगा। (ऐसा न कर) अध्वर्यु (जुहू के सम्बन्ध से) यजमान में ही श्री का स्थापन करता है। इसीलिए (जुहू को ही ध्रुवा से मिलाता है ॥६॥

(जुहू को ध्रुवा से मिलाने की उपपत्ति बतला कर अब पद्धति बतलाते हैं)-यह अध्वर्यु 'मज्ज्योपि ज्योति' (ध्रुवास्थित आज्यरूप ज्योति के साथ जुहूस्थित आज्यरूप ज्योति मिल जाय २-६)यह मन्त्र बोलता हुआ जुहू को ध्रुवा से मिलाता है। (ध्रुवा, तथा जुहू दोनों यज्ञ पात्रों में से) एक (ध्रुवा) पात्र में स्थित आज्य (घी) निश्चयेन ज्योति है एवं एक (जुहू) में स्थित आज्य (घी) ज्योति है। (जुहू का ध्रुवा से सम्बन्ध कराने पर) ये दोनों आज्यज्योतियाँ परस्पर मिल जाती हैं। इसीलिए पूर्वोक्तरूप से समञ्जन करता है ॥७॥

(उत्तराघार ऐन्द्र बनता हुआ वागनुगत है, एवं पूर्वाघार मनोऽनुगत बनता हुआ प्राजापत्य है। वागनुगत उत्तराघार समन्त्रक होता है, एवं मनोऽनुगत पूर्वाघार उपांशु होता है। प्राजापत्य पूर्वाघार क्यों होता है? इसकी वैज्ञानिक आख्यानके द्वारा उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है कि) अब यहाँ से मन तथा वाक्, इन दोनों के (अहमहमिका-सम्बन्ध) अहंभद्र (पारस्परिक उत्कर्ष स्थापन) के सम्बन्ध में कहा जाता है। मन और वाक् दोनों अपने अपने उत्कर्ष के सम्बन्ध में विवाद करने लगते हैं ॥८॥

(इस पारस्परिक) विवाद-प्रसङ्ग में मन कहने लगा कि (हे वाक्!) मैं ही तुझ से श्रेष्ठ-उत्कृष्ट-हूँ। (इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि) तू ऐसा कुछ भी नहीं बोलती (बोलसकती) जो मुझसे अधिगत न हुआ हो। (अर्थात् मेरे सङ्कल्पितभाव का तू अनुवादमात्र ही कर सकती है)। जो कि तू (वाक्) मेरी कृतानुकरा (मानसिक सङ्कल्प का अनुवाद मात्र करने वाली) है अतएव मेरे पीछे पीछे चलने वाली (अनुवर्त्मा) है। अत मैं ही तुझसे श्रेष्ठ हूँ ॥९॥

(मन के इस तर्क को सुनकर) वाक् कहने लगी (हे मन!) मैं ही तुमसे श्रेष्ठ हूँ। (इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि) जो कुछ तू (अपनी भावना के साम्राज्य में) जानता है (सङ्कल्प करता है) उसे मैं ही (दूसरों को) जनाती हूँ सम्यग्रूप से बोध कराती हूँ। (इसलिए मैं ही तुम से श्रेष्ठ हूँ) ॥१०॥

(मन और वाक् का यह पारस्परिक विवाद दोनों से जब किसी निर्णय पर न पहुँचा तो) दोनों अपने अपने प्रश्न के निश्चयात्मक निर्णय के लिए प्रजापति के समीप पहुँचे। प्रजापति

न (दोनों की युक्ति, तर्क सुनकर) मन की श्रेष्ठता के पक्ष में ही अपनी सम्मति प्रकट की। (और निर्णय किया कि हे वाक् !) मन ही तेरी अपेक्षा श्रेष्ठ, (अतएव उत्कृष्ट) है। तू मन के द्वारा कृत(सङ्कल्पित मनोभाव) का अनुकरण करने वाली है, मन के पीछे पीछे ही अनुधावन करने वाली है। (लौकिक दृष्टि से भी यह सिद्ध विषय है कि) निम्न श्रेणि का व्यक्ति ही अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति के किए का अनुकरण करता है, एवं उसके निर्दिष्ट पथ पर चलता है ॥११॥

(इसप्रकार प्रजापति के मुख से) पराजित कही जाती हुई यह वाक् विस्मिता बनकर दर्पशून्या (मदगलिता) बन गई उसका अभिमान चूर-चूर होगया। [प्रजापति से निर्णय का प्रतिशोध लेती हुई] यह वाक् प्रजापति से कहने लगी कि [आज से] मैं तुम्हारे लिए हव्यवहन करने वाली न बनूँ [नहीं बनूँगी], जिस मुझको कि आपने [आज मन की प्रतिस्पर्द्धा में] पराजित कहा है। [क्योंकि वाक् ने प्रजापति के लिए अहव्यवाट् बनने का निश्चय कर लिया था] अतएव यज्ञकर्म्म में [प्रजापति-सम्बन्धी] जो भी प्राजापत्य कर्म्म किया जाता है वह उपांशु ही होता है। क्योंकि वाक् प्रजापति के लिए अहव्यवाहना थी। [तात्पर्य्य आख्यान का यही हुआ कि, मनोऽनुगत पूर्वाचार प्राजापत्य कर्म्म है, जहाँ वाक्-व्यापार अवरुद्ध है। अतएव पूर्वाचार उपांशु ही किया जाता है ॥१२।

[प्रजापति के निर्णय से वाक् का गर्भपात होगया रतस्स्खलन होगया। वह स्खलित वाग्रेत कहाँ गया ?, इस सम्बन्ध में एक वैज्ञानिक तत्त्व का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है कि]— देवताओंने [वाक् के] उस रेतोभाग [स्खलित-वाग्रेत] को चर्म्म में [गर्भाशयरूप चर्म्मपात्र में], अथवा जिस किसी भी (अनुरूप) पात्र में रख दिया। (इसप्रकार चर्म्म किंवा अन्य किसी इस अनुरूप पात्र में स्खलित वाग्रेत का प्रतिक्षिप कर) देवता परस्पर पूँछते हैं कि 'चर्म्म तथा अनुरूप अन्य पात्र में रक्खा गया वाग्रेत किस अवस्था में परिणत होगया" ?, (देवताओं के 'अत्रैव स्यात्' इस विचार से ही कालान्तर में) चर्म्म तथा पात्रस्थ उस वाग्रेत से 'अत्रि' उत्पन्न होगया। क्योंकि गर्भाशय में स्थित वाग्रेत से ही अत्रि का प्रादुर्भाव हुआ अतएव मृतगर्भा रजस्वला स्त्री 'आत्रेयी' नाम से व्यवहृत की जाती है। ऐसी (आत्रेयी) स्त्री से (अधम स्पर्शादि-लक्षण) सम्पर्क रखने वाला पुरुष पातकी बन जाता है। स्त्रीरूपात्मिका इस वाग्देवता से ही सम्पूर्ण गर्भों की स्वरूप निष्पत्ति हुई है (होती है) ॥१३॥

चौथे अध्याय में पाँचवाँ, तथा चौथे प्रपाठक में पहिला
ब्राह्मण समाप्त
आघारब्राह्मणानुगत- द्वितीय ब्राह्मण उपरत

—२—

द्विब्राह्मणात्मक–'आघारब्राह्मण' समाप्त

इति–मूलानुवाद
शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्यान्तगत–प्रथम काण्डानुगत
चतुथ–अध्याय–अत्र उपरत

—४—

सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह —

सामिधनी कर्म्मसमाप्ति के अनन्तर 'पूर्वोत्तराघार-कर्म्म' विहित है। "समिद्ध इति प्रागत सामिध्ममेकवर्जमनुयाजाश्येत्" [का० श्रौ० सू० ३।१।११] इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सामिधन्यनुवचन-कर्म्मानन्तर अनुयाजप्रकरण-पक्ष में एक इध्मकाष्ठ बचा कर शेष सम्पूर्ण इध्म-काष्ठ आहवनीयाग्नि में डाल दिए जाते हैं एवं यही सामिधनी-कर्म्म की अन्तिम समाप्ति है। इस सामिधन्यनुवचनकर्म्म के अनन्तर कुशानिर्मित, अग्निप्रदीपक, व्यजनस्थानापन्न वद (कुशा) से आहवनीयाग्नि का तीन बार प्रज्वलन कर आज्यस्थाली से ध्रुवापात्र में घृत लेकर इस स्रुव से तूष्णीं आहवनीयाग्नि के उत्तर प्रदेश में दक्षिणजानु को नमाकर बैठता हुआ आहवनीयाग्नि के उत्तर प्रदेश में पूर्व की ओर झुकती हुई पूर्वाघाराहुति देता है। आहुति देते समय अपने मन ही मन में—"ओ३म् प्रजापतये स्वाहा, इदं प्रजापतये, न मम" यह ध्यान करना आवश्यक है। क्योंकि यह पूर्वाघाराहुति मनोऽनुगता वनती हुई प्राजापत्या है। तूष्णीं पूर्वाघाराहुति के अनन्तर यह अध्वर्यु 'स्रुच', तथा 'इध्मसन्नहन' इन दोनों का आग्नीध्र नामक ऋत्विक् को सौंपता हुआ उसके प्रति—"अग्निमग्नीत् सम्मृड्ढि" यह प्रैष करता है। [हे आग्नीध्र ! क्योंकि व इस अग्नि में ज्योतिर्लक्षण उत्तराघार की समन्त्रक आहुति होने वाली है अतएव आहवनीय अग्नि को भस्मरहित कर प्रज्वलित करो यही तात्पर्य है। अग्नि को प्रज्वलित करना ही अग्निसम्मार्जन कर्म्म है। अन्ततः पूर्वाघार के अनन्तर क्योंकि यही कर्म्म होता है अतः अध्वर्यु इसी के लिए पूर्वाघारमात्र प्रैष करता है। पूर्वाघारकर्म्म की इसी इतिकर्तव्यता का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"अनुवचनान्ते वेदनाहवनीयं त्रिरुपवाज्य, स्रुवेण पूर्वाघारमाघार्य-आह "अग्निमग्नीत् सम्मृड्ढी"ति" (का० श्रौ० सू० ३।१।१२)।

बतलाया गया है कि पूर्वाघारकर्म्मानन्तर स्रुच तथा इध्मसन्नहनतृण, दोनों को आग्नीध्र के हाथ में सौंपता हुआ अध्वर्यु उसे अग्नि सम्मार्जनकर्म्म के लिए प्रेरित करता है। अध्वर्यु के द्वारा प्रेरित आग्नीध्र अध्वर्यु के द्वारा प्रदत्त इध्मसन्नहनतृणसमूह से पूर्व की ओर से घूम कर-'अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाजजितं सम्मार्ज्मि' यह मन्त्र बोलता हुआ दक्षिण-परिधि का सम्मार्जन करता है। एक बार उक्त मन्त्र से तथा दो बार तूष्णीं इसप्रकार दक्षिण परिधि का तीन बार सम्मार्जन करता है। अनन्तर उसी मन्त्र से एक बार पश्चिम परिधि का दो बार तूष्णीं इस प्रकार तीन बार सम्मार्जन करता है। अनन्तर उसी मन्त्र से एक बार उत्तर

परिधि का तथा दो बार तूष्णीं इसप्रकार तीन बार सम्मार्जन करता है। इसप्रकार पश्चिम, दक्षिण उत्तरस्थ तीन परिधियों का एक एक बार मन्त्र से दो-दो बार तूष्णीं, सम्भूय ९ बार सम्मार्जन करता है। इसी इध्मसम्मार्जनकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"इध्मसन्नहनैरनुपरिधि सम्मार्ष्टि—"अग्नेवाजजित्" द्विस्त्रिस्त्रिः परिक्रामम्" (का० श्रौ० सू० ३।१।१३।]

समन्त्रक परिधिसम्मार्जनान्तर उत्तरस्थान में खड़ा होकर वह आग्नीध्र बिना मन्त्र-प्रयोग के आहवनीय अग्नि का तीन बार सम्मार्जन करता है, जैसा कि "तूष्णीमुपरि" (का० श्रौ० सू० ३।१।१४) सूत्र से प्रमाणित है।

इसप्रकार जब आग्नीध्र त्रिस्त्रिवार समन्त्रक परिधित्रयसम्मार्जनकर्म्म तथा त्रिवार तूष्णीं आहवनीयाग्निसम्मार्जन कर लेता है तो अनन्तर वह अध्वर्यु "ओं नमो देवेभ्यः, ओं स्वधा पितृभ्य" यह बोलता हुआ जुहू तथा उपभृत् नामक स्रुक्पात्रों के पूर्वभाग में अञ्जलि-पुट रखता है (प्रणाम करता है)। देवता तथा पितृ-भेद से दो बार अञ्जलिपुटस्थापन होता है। इन में प्रथम देवानुगत अञ्जलिपुट स्थापन पूर्व में होता है, क्योंकि पूर्वादिक् देवताओं की है। एवं दूसरी अञ्जलि दक्षिण में होती है क्योंकि दक्षिणादिक् पितरों की है। "स स्रुचोत्तरमाघारमाघारयिष्यन् पूर्वेण स्रुचावञ्जलिं निदधाति" (शत० १।४।४।१) के अनुसार अञ्जलिस्थापनकर्म्म उत्तराघारकर्म्म से सम्बद्ध है। इस से यही निष्कर्ष निकलता है कि, जिस यज्ञकर्म्म में उत्तराघारकर्म्म अभीष्ट है वहीं अञ्जलिस्थापन कर्म्म होता है। एवं जहाँ उत्तराघारकर्म्म अविविक्षित है, वहाँ अञ्जलिस्थापन भी अविविक्षित है। इसी अञ्जलिनिधानकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए सूत्रकारने कहा है—

"अपरमाहवनीयादञ्जलिं करोति 'नमो देवेभ्य', - 'स्वधा पितृभ्य'-इति दक्षिणत उत्तानम्" [का० श्रौ० सू० ३।१।१५।]

देवताओं के लिए पुटाञ्जलि की जाती है, उस समय अध्वर्यु यज्ञोपवीती रहता है एवं पितरों के लिए सव्यभाव में परिणत होकर पुटाञ्जलि करता है। इस के अनन्तर ही देवकर्म्मात्मक उत्तराघार के लिए जुहूपभृत् का ग्रहण होने वाला है। इस से पूर्वकृत पितृ-सम्बन्धी पुटाञ्जलि के व्यवच्छेद के लिए अध्वर्यु आचमन करता है। पुनः यज्ञोपवीतीभाव में आकर पहिले आचमन करता है। अनन्तर—"सुयमे मे भूयास्तमस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्यं संभ्रियासम्" यह मन्त्र बोलता हुआ अपने दहिने हाथ में आज्यपूर्ण जुहूपभृत् को लेकर—

"भहि प्रणा विष्णो मा त्वाऽवक्रमिषम यह मन्त्र बोलता हुआ आघारदान-प्रदेशरूप आह मनाय के दक्षिण भाग में आजाता है। सभी होमकर्म्मो के लिए अध्वर्यु परवि के पश्चिम भाग से नियत 'सञ्चर' भाग के द्वारा गमन करता है। साथ ही यागप्रदेश में सञ्चरमाग से पहिले वामपाद से गमन आरम्भ करता है, एवं यागानन्तर वापस लौटता हुआ पहिले दक्षिण पाद से आगमन आरम्भ करता है। इसप्रकार आहवनीय के दक्षिण भाग में पहुँच कर यह अध्वर्यु—"वसुमतीमग्ने ते च्छायामुपस्थेयं विष्णो स्थानमसि" यह मन्त्र बोलता हुआ आहुति देने के लिए सावधानी से खड़ा होजाता है। निम्न लिखित मूत्र उत्तराघारसम्बन्धिनी इसी इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

"अप उपस्पृश्य "सुयमे म" इति जुहूपभृतावादायोपरां जुहूं कृत्वा दक्षिणाऽति-क्राम "त्यङ् प्रिया विष्णु" विति" (का ३।१।१६)।

"परिधीनपरेण सञ्चरो होप्यत" (का ३।१।१७)।

"सव्येनेतो, दक्षिणनाग्रुत" (का० ३।१।१८)।

"वसुमती" मिन्द्रस्थाय" (का० ३।१।१९)]।

इति कात्यायनश्रौतसूत्रे तृतीयाध्याये प्रथमा कण्डिका (३।१)

नियत सञ्चरमार्ग स आहवनीयाग्नि के दक्षिण भाग म आकर रुका होकर यह अध्वर्यु-'इत इन्द्रो वीर्यमकृणोदूर्ध्वोऽध्वर आस्थात्। अग्ने वेर्होत्र वेर्दूत्यमवतां त्वां द्यावापृथि-वीऽअव त्वं द्यावापृथिवी स्विष्टकृद् देवेभ्य इन्द्रऽआज्येन हविषाभूत् स्वाहा" यह मन्त्र बोलता हुआ स्वाहा त में जुहूस्थित आज्य की जुहू से आहवनीयाग्नि में आहुति देता है। यही उत्तराघारा-हुति है जिसका निम्न लिखित मूत्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

"इत इन्द्र" इति जुहोत्युत्तराघारम्" [का० श्रौ० मू० ३।२।१।]

उत्तराघार-सम्पादनानन्तर यह अध्वर्यु आहुतिसाधक जुहू को उपभृत से न मिलाता हुआ ही वापस उस स्थान से पश्चिम की ओर लौट आता है। वहाँ आकर नियत स्थान पर रक्खे हुए आज्यपूर्ण ध्रुवापात्र में जुहूस्थित शेष आज्य को सञ्ज्योतिषा ज्योतिर्गच्छताम्" यह मन्त्र बोलता हुआ डाल देता है। यही उत्तराघारकर्म्म की अन्तिम इतिकर्त्तव्यता है जिस का निम्न लिखित सूत्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

'आघार्यासंस्पर्शयन् स्रुचावेत्य जुह्वा ध्रुवां समनक्ति-"सञ्ज्योतिषे" ति" [का श्रौ सू० ३।२।२।]।

इति–सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह

वैज्ञानिविवेचना—

१ – आधारकर्म्मोपपत्ति

(भाष्य) पूर्वब्राह्मण में प्रतिपादित सामिधेन्यनुवचनकर्म्म से आहवनीय इस अग्नि का होता के द्वारा समिन्धन होगया है। इस समिन्धनकर्म्म से यह आहवनीय लौकिक इस अग्नि समिद्ध बनता हुआ अलौकिक दिव्याग्नि बन गया है। आहुतिलक्षण यज्ञकर्म्म से यजमान के आध्यात्मिक देवताओं का आधिदैविक प्राणदेवताओं के साथ प्रन्थि-बन्धन-सम्बन्ध अभीष्ट है। आहुतिद्रव्य में 'यावद्वित्तं तावदात्मा' सिद्धान्त के अनुसार यजमान का मनःप्राणवाङ्मय आत्मा प्रविष्ट है। आहुतिप्रविष्ट यजमानात्मा दिव्य-देवप्राणयुक्त आहवनीय अग्नि के द्वारा दिव्यदेवताओं के साथ अवश्य ही युक्त होजाता है। इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए आहवनीयाग्नि का सामिधेन्यनुवचन से समिन्धन किया जाता है। बिना दिव्य प्राणाग्नि प्रवेश के आहवनीय अग्नि लौकिकाग्निवत् सामान्य अग्नि है। इसमें आहुति देना लौकिक भूताग्नि में ही आहुति देना है। एवं ऐसे आहुतिकर्म्म से दिव्यलोकप्राप्तिलक्षण महाशिषय की प्राप्ति असम्भव है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक होजाता है कि, आहुति-कर्म्म से पहिले इस लौकिक अग्नि को किसी वैज्ञानिक प्रक्रियाविशेष से दिव्यप्राणाग्नि से युक्त कर दिव्याग्नि बना लिया जाय। वही वैज्ञानिक-प्रक्रिया सुप्रसिद्ध 'सामिधेन्यनुवचनकर्म्म' है जिसका पूर्वविवेचना-प्रकरण में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जाचुका है। उस कर्म्म से आहवनीय अग्नि दिव्यदेवप्राणयुक्त बन जाता है। अब इसमें जो आहुति दी जायगी वह अवश्य ही द्युलोकस्थ देवताओं की भोग्या बनेगी। एवं आहुति के द्वारा आहुतिद्रव्य में प्रविष्ट यजमान का आत्मा भी अवश्य ही दिव्यभाव-प्राप्ति का अधिकारी बन जायगा। पूर्वब्राह्मणोक्त सामिधेन्यनुवचन-कर्म्म की इसी उक्त उपपत्ति का सिंहावलोकन-न्यायेन स्मरण कराती हुई श्रुति कहती है—

'तं वा एतमग्निं समैन्धिषत (सामिधेन्यनुवचनकर्म्मणा समैन्धिषत) 'समिद्धे देवेभ्यो जुहवाम इति''

सामिधेन्यनुवचनकर्म्म से अब यह आहवनीय अग्नि दिव्यप्राणयुक्त बनता हुआ देवाहुति ग्रहण-योग्य बन गया है। अब इस में अध्वर्यु नामक ऋत्विक् नियत हविर्देवता [आधारदेवता प्रधानदेवता] के लिए आहुति प्रदान करेगा। परन्तु इस प्रधानाहुतिरूप प्रधानदेवतायाग से पहिले इस समिद्ध अग्नि में पूर्वाधार उत्तराधार नाम की दो मुख्य आहुतियां और दी जाती हैं। इनमें पूर्वाधाराहुति से मन की स्वरूप-निष्पत्ति होती है, एवं उत्तराधाराहुति से वाक् की स्वरूप-निष्पत्ति होती है। मनो-वाक् के स्वरूप-निष्पादन की प्रकृत यज्ञ-कर्म्म में आवश्यकता क्यों हुई ! अगला प्रकरण इसी प्रश्न की वैज्ञानिक उपपत्ति बतलाने के लिए प्रवृत्त होरहा है।

चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री-सम्पत् से युक्त-चतुर्विंशत [२४] स्तोमावच्छिन्न पृथिवीलोक, चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप-सम्पत् से युक्त चतुश्चत्वारिंशत् (४४) स्तोमावच्छिन्न अन्तरिक्ष-लोक, एवं अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगतीसम्पत् से युक्त-अष्टाचत्वारिंशत् (४८) स्तोमावच्छिन्न

द्युलोक, इन तीनों लोकों की समष्टिरूपा, भूकेन्द्र से आरम्भ कर पारावतपृष्ठान्ता, ४८ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्ता शाक्वरसामानुगता त्रैलोक्यरूपा अमृतलक्षण-वाक्शुक्रानुगता, द्युलोकात्मिका, वाङ्मयी महा-पृथिवी ही पार्थिव जगत् का तीसरा विवर्त्त है।

त्रयस्त्रिंशत् (३३] अहर्गणात्मक द्युलोक, द्वाविंश [२२] अहर्गणात्मक अन्तरिक्षलोक, एवं एकादश [११] अर्गणात्मक पृथिवीलोक इन तीनों लोकों की समष्टिरूपा भूकेन्द्र से आरम्भ कर आप्यपृष्ठान्ता ३३ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्ता वैरूपसामानुगता, त्रैलोक्यरूपा अमृत-लक्षण-आप -शुक्रानुगता अन्तरिक्षलोकात्मिका आपोमयी पृथिवी ही पार्थिव-जगत् का दूसरा विवर्त्त है।

एकविंश [२१] अहर्गणात्मक द्युलोक पञ्चदश [१५) अहर्गणात्मक अन्तरिक्षलोक, एवं त्रिवृत् [९] अहर्गणात्मक पृथिवीलोक इन तीनो लोकों की समष्टिरूपा, भूकेन्द्र से आरम्भ कर आग्नेयपृष्ठान्ता, २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्ता रथन्तरसामानुगता त्रैलोक्यरूपा अमृतलक्षण अग्नि-शुक्रानुगता, पृथिवीलोकात्मिका अग्निमयी (अग्निसोममयी) पृथिवी ही पार्थिवजगत् का पहिला विवर्त्त है।

अष्टाचत्वारिंशत्(४८) स्तोमावच्छिन्ना वाङ्मयी पृथिवी 'विश्वम्भरा' कहलाई है त्रयस्त्रिंशत् [३३] स्तोमावच्छिन्ना आपोमयी पृथिवी 'सागराम्बरा कहलाइ है, एवं एकविंश (२१) स्तोमावच्छिन्ना अग्निमयी पृथिवी 'अदिति' कहलाई है। त्रैलोक्यात्मिका अदिति पृथिवी 'पृथिवीलोक' है त्रैलोक्यात्मिका सागराम्बरा पृथिवी 'अन्तरिक्षलोक' है एवं त्रैलोक्यात्मिका विश्वम्भरा पृथिवी 'द्युलोक' है। इस त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूपा नवलोकात्मिका' महिमा पृथिवी का वितान भूपिण्ड के केन्द्र से हुआ है। भूकेन्द्रावच्छिन्न भूपिण्ड 'भू' है एवं त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप महिमामण्डल 'पृथिवी है। इस महिमा-पृथिवी के पृथिवी-लोकस्थानीय एकविंशस्तोमावच्छिन्न अदिति नामक त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-भेद से त्रैलोक्यात्मक पार्थिव विवर्त्त का ही महत्त्वपूर्ण कर्म से सम्बन्ध है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

पार्थिवविवर्त्तपरिलेख —

	(९)—१-नागतस्तोम (४८)-द्यौः (१)		
(३)	(८)—२-त्रैष्टुभस्तोमः (४४)-अन्तरिक्षम् (१)	३ वाङ्मयी पृथिवी [शाक्वरसाम]	विश्वम्भरा पृथिवी-'द्यौः
	(७)—१-गायत्रस्तोम (२४)-पृथिवी		
	(६)—१-त्रयस्त्रिंशत्स्तोमः (३३) द्यौः (२)		
(२)	(५)—२-द्वाविंशस्तोमः (२२) अन्तरिक्षम् (२)	—२आपोमयी पृथिवी [वैरूपसाम]	—सागराम्बरा पृथिवी 'अन्तरिक्षम्
	(४) १—एकादशस्तोमः (११) पृथिवी (२)		
	(३)—१-एकविंशस्तोमः (२१) द्यौः (१)		
(१)	(२)—२-पञ्चदशस्तोमः (१५) अन्तरिक्षम् (१)	—१अग्निमयी पृथिवी [रथन्तरसाम	अदितिः पृथिवी 'पृथिवी
	(१)—१-त्रिवृत्स्तोम (९) पृथिवी (१)		

उक्त तीनों—पार्थिव विवर्त्तों में से रथन्तरसामानुगत, अदितिलक्षण प्रथम पार्थिव विवर्त की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। भूकेन्द्र से आरम्भ कर २१ वें अहर्गण पर्यन्त व्याप्त अग्निशुक्र के आधार पर क्रमशः त्रिवृत् [९] पञ्चदश [१५] एकविंश [२१] ये तीन अयुग्मस्तोम प्रतिष्ठित हैं। इन तीनों अयुग्मस्तोमों में क्रमशः अग्नि वायु, इन्द्र ये तीन प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं। तीनों के विभूतिभाव आगे जाकर ८,११ १२, क्रम से ३१ संख्या में परिणत होजाते हैं २ साम्य प्राणों के सम्बन्ध से अदिति के गर्भ में ३३ प्राणदेवदेवताओं की सत्ता सिद्ध होजाती है। ये ही यज्ञिय देवदेवता कहलाए हैं। आहवनीयाग्निसमिन्धनकर्म से इन्हीं यज्ञिय प्राणदेवताओं का संग्रह हुआ है।

ये ३३ हो यज्ञिय देवता स्वयं प्राणात्मक हैं। मन तथा वाक् ये दोनों तत्त्व इन प्राणात्मक दोनों की मूलप्रतिष्ठा हैं। जिसप्रकार एक पात्र में जल भरा रहता है एवमेव मनोमय वाग्रूप पात्र में प्राणरूप देवता प्रतिष्ठित हैं। मनोवाग्रूपपात्र वयोनाध है, छन्द है। प्राणरूप देवता वय है। वय वय-वयोनाध की समष्टि ही 'वयुनम्' है। यही—मन प्राण-वाङ्मयी देवसम्पत् है जिनका महत्त्व इष्टिकर्म के द्वारा यज्ञकर्त्ता यजमान अपने मन—प्राण—वाङ्मय आत्मा के साथ योग करना चाहता है।

भूकेन्द्र में प्रजापति प्रतिष्ठित है यही हृदय अन्तर्य्यामी अनिरुक्त प्रजापति कहलाया है। यही प्रजापति भूपिण्ड पृथिवी भेद-भिन्न पार्थिवजगत् की मूलप्रतिष्ठा है। इस हृदय प्रजापति की प्राण-वाग्गर्भित मनोमय अनिरुक्त प्रजापति मनो-वाग्गर्भित प्राणमय उद्गीथप्रजापति एवं मन प्राणगर्भित वाङ्मय सत्यप्रजापति इस रूप से तीन अवस्था होजाती हैं। भूकेन्द्र में आत्मप्रजापति की

प्राण तथा वाक् ये दोनों कलाएँ उन्मुग्ध रहती हैं, मन कला उद्बुद्ध रहती है। अतएव 'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु (यजुः सं० ३४।६) इत्यादि रूप से मन को भी हृत्प्रतिष्ठ मान लिया जाता है।

हृत्पृष्ठ से आरम्भ कर १७ वें अहर्गण पर्य्यन्त आग्नेय प्राण का प्राधान्य रहता है। इसमें भी १७ वाँ अहर्गण मुख्य माना गया है। कारण यही है कि ३३ अहर्गणात्मक सागराम्बरा-लक्षण पार्थिव-विवर्त्त के १६-१६ भेद से दो विवर्त्त होजाते हैं। हृत्पृष्ठ से आरम्भ कर १६ पर्य्यन्त अग्नितत्त्व का, तथा १८ से आरम्भ कर ३३ पर्य्यन्त [१८ से २७ पर्य्यन्त भास्वरसोम का तथा २८ से ३३ पर्य्यन्त दिक्सोम का, इसप्रकार द्विविध] सोम का साम्राज्य रहता है। इन अग्नि-सोम-मण्डलों का केन्द्र १७ वाँ अहर्गण पड़ता है। १७ से नीचे-नीचे अग्नि है, १७ से ऊपर-ऊपर सोम है। १७ वें स्थान में दोनों का समन्वय होता है, अतएव सप्तदशस्थान 'आहवनीय' कहलाया है। सोमाहुति के सम्बन्ध से प्रज्वलित अग्नि २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त होजाता है। अतएव भूकेन्द्र से २१ पर्य्यन्त अग्नीषोमात्मक यज्ञ की व्याप्ति मानली गई है। वक्तव्य यही है कि हृत्पृष्ठ से १७ पर्य्यन्त आत्मप्रजापति की प्राणकला का प्राधान्य है, जिस की विकासभूमि स्वयं १७ वाँ अहर्गण है। मन तथा वाक् दोनों यहाँ उन्मुग्ध हैं प्राण उद्बुद्ध है। यही इसका 'प्राणप्रधान उद्गीथप्रजापति'-विवर्त्त है।

हृत्पृष्ठ से आरम्भ कर २१ पर्य्यन्त व्याप्त रथन्तरसामसीमावच्छिन्न मण्डल में 'वागग्नि' का प्राधान्य है। यहाँ मन तथा प्राण दोनों उन्मुग्ध हैं एवं आत्मप्रजापति की वाक्कला उद्बुद्ध है। यही मनःप्राण-वाग्गर्भित वाङ्मय सर्वप्रजापति है। यही यज्ञमण्डल की अन्तिम सीमा है। इसी के गर्भ में अग्नीषोमात्मक यज्ञ तथा यज्ञिय ३३ देवता प्रतिष्ठित हैं। रथन्तसीमा यज्ञ की परिधि है उपसंहारस्थान है उच्चस्थान है। भूकेन्द्र यज्ञ का उपक्रम स्थान है। भूकेन्द्रावच्छिन्न प्राणवाग्गर्भित मनोमय अनिरुक्तप्रजापति तथा रथन्तरलक्षण परिध्यवच्छिन्न मन प्राणगर्भित वाङ्मय 'सर्वप्रजापति' दोनों के मध्य में आग्नेय-सौम्य-प्राणोमयमूर्त्ति मनोवाग्गर्भित यज्ञात्मक 'उद्गीथ-प्रजापति' प्रतिष्ठित है। इसी स्थिति का यों भी अभिनय किया जासकता है कि यज्ञमण्डल का इस ओर का आधार मन है उस ओर का आधार वाक् है, एवं मध्य में प्राणमय यज्ञ किंवा प्राणात्मक यज्ञिय देवता प्रतिष्ठित हैं। प्राकृतिक यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाली पार्थिव द्रव्याहुति मनोवाक् के द्वारा ही प्राणात्मक यज्ञिय देवगण की तृप्ति का कारण बनती है। इसप्रकार नित्य प्राकृतिक यज्ञ में भूकेन्द्र, यज्ञमण्डलकेन्द्र, यज्ञपरिधि भेद से मन प्राण वाक् तीनों हृदया प्राजापत्या-आत्मकलाओं का उपभोग होरहा है जैसा कि परिलेख से गतार्थ है—

३—एकविंशस्तोमावच्छिन्न रथन्तरसाम—[२१] मनःप्राणगर्भितवाङ्मयः 'सर्वप्रजापतिः

२—सप्तदशस्तोमावच्छिन्न मण्डलं-हृदयम्-[१७] मनोवाग्गर्भित प्राणमयः 'उद्गीथप्रजापतिः

१—भूकेन्द्र —[*] प्राणवाग्गर्भितो मनोमयः 'अनिरुक्तप्रजापतिः

—**—

पार्थिवविवर्त्तपरिलेख —

(९)—३-चागतस्तोम' (४८)-द्यौः (३)
(३) (८)—२-त्रैष्टुभस्तोमः (४४)-अन्तरिक्षम् (३) } ३ वाङ्मयी पृथिवी [शाक्वरसाम] } विश्वम्भरा पृथिवी-'द्यौः
(७)—१-गायत्रस्तोमः (२४)-पृथिवी

(६)—३-त्रयस्त्रिंशत्स्तोम' (३३) द्यौः (२)
(२) (५)—२-द्वाविंशस्तोम' (२२) अन्तरिक्षम् (२) } —२ आपोमयी पृथिवी [वैरूपसाम] } —सागराम्बरा पृथिवी 'अन्तरिक्षम्
(४) १—एकादशस्तोमः (११) पृथिवी (२)

(३)—३-एकविंशस्तोम (२१) द्यौः (१)
(१) (२)—२—पञ्चदशस्तोम' (१५) अन्तरिक्षम् (१) } —१ अग्निमयी पृथिवी [रथन्तरसाम } अदितिः पृथिवी 'पृथिवी
(१)—१-त्रिवृत्स्तोमः (९) पृथिवी (१)

उक्त तीनों—पार्थिव विवर्तों में से रथन्तरसामानुगत, अदितिलक्षण प्रथम पार्थिव विवर्त की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। भूकेन्द्र से आरम्भ कर २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त अग्निस्तुक के आधार पर क्रमशः त्रिवृत् [९], पञ्चदश [१५] एकविंश [२१] ये तीन अनुष्टुस्तोम प्रतिष्ठित हैं। इन तीनों अनुष्टुस्तोमों में क्रमशः अग्नि वायु, इन्द्र ये तीन प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं। तीनों के विभूतिभाव आगे जाकर ८,११ १२, क्रम से ११ संख्या में परिणत होजाते हैं २ साम्य प्राणों के संघर्षण से अदिति के गर्भ में ११ प्राणदेवदेवताओं की सत्ता सिद्ध होजाती है। ये ही यज्ञिय देवदेवता कहलाए हैं। आहवनीयाग्निसमिन्धनकर्म्म से इन्हीं यज्ञिय प्राणदेवताओं का संग्रह हुआ है।

ये ११ सों यज्ञिय देवता स्वयं प्राणात्मक हैं। मन तथा वाक् ये दोनों तत्त्व इन प्राणात्मक देवों की मूलप्रतिष्ठा हैं। जिसप्रकार एक पात्र में जल भरा रहता है एवमेव मनोमय वाग्रूप पात्र में प्राणरूप देवता प्रतिष्ठित हैं। मनोमयवाग्रूपपात्र पयोनाथ है, अम्भ है। प्राणरूप देवता जल है। एवं जल—पयोनाथ की समष्टि ही 'अयुनम्' है। यही—मन-प्राण-वाङ्मयी देवसम्पत् है जिसका प्रकृत हविष्कर्म के द्वारा यज्ञकर्त्ता यजमान अपने मन—प्राण—वाङ्मय आत्मा के साथ योग करना चाहता है।

भूकेन्द्र में प्रजापति प्रतिष्ठित है यही हृत्प अन्तर्य्यामी अनिरुक्त प्रजापति कहलाता है। यही प्रजापति भूपिण्ड पृथिवी भेद—भिन्न पार्थिवजगत् की मूलप्रतिष्ठा है। इस हृत्प प्रजापति की प्राण—वाग्गर्भित मनोमय अनिरुक्त प्रजापति मनो—वाग्गर्भित प्राणमय उद्गीथप्रजापति एवं मनः प्राणगर्भित वाङ्मय सप्तप्रजापति इस रूप से तीन अवस्था होजाती हैं। भूकेन्द्र में अप्रमयप्रजापति की

के साथ आध्यात्मिक यज्ञ [यजमानात्मा] के मन–प्राण–वाक्–पर्वों का सम्बन्ध करा देना दूसरा कर्त्तव्य है। पहिले कर्त्तव्य की पूर्ति होता, तथा अध्वर्यु पर निर्भर है, तथा इस दूसरे कर्त्तव्य की पूर्ति 'अध्वर्यु होता, उद्गाता ब्रह्मा' इन चारों ऋत्विजों पर निर्भर है। भूकेन्द्र से २१ पर्य्यन्त वितत वाक्तत्त्व क्रमशः त्रिवृत् स्तोमच्छिन्न [९] अग्निमय पार्थिव ऋग्वेद, पञ्चदशायच्छिन्न [१५] वायुमय यजुर्वेद एकविंशावच्छिन्न [२१] आदित्यमय सामवेद इन तीन अग्निवेदों के सम्बन्ध से पद्यात्मिका वाक् गद्यात्मिका वाक् गेयात्मिका वाक् के भेद से तीन स्वरूपों में परिणत होरहा है। पद्यात्मिका वाक् ऋक् है गद्यात्मिका वाक् यजुः है एवं गेयात्मिका वाक् साम है।

पद्यात्मिका ऋग्वाक् का सम्पादन 'होता' नामक ऋत्विक् करता है, यही इस का 'शस्त्रकर्म्म' नामक 'हौत्रकर्म्म' कहलाया है। गद्यात्मिका यजुर्वाक् का सम्पादन अध्वर्यु नामक ऋत्विक् करता है। यही इस का 'ग्रहकर्म्म' नामक 'आध्वर्य्यव' कर्म्म कहलाया है। 'गेयात्मिका सामवाक्' का सम्पादन उद्गाता नामक ऋत्विक् करता है, यही इस का स्तोत्रकर्म्म' नामक औद्गात्रकर्म्म' कहलाया है। इस-प्रकार शस्त्रकर्म्माधिष्ठाता ऋग्वेदी होता के शस्त्रकर्म्म से ग्रहकर्म्माधिष्ठाता यजुर्वेदी अध्वर्यु के ग्रहकर्म्म से तथा स्तोत्रकर्म्माधिष्ठाता सामवेदी उद्गाता के स्तोत्रकर्म्म से यजमानात्मा के त्रिविध वाक्पर्वों का इस आधिभौतिक यज्ञ के वाक्पर्वों के साथ सम्बन्ध होजाता है। मैत्रिक ब्रह्मा' नामक ऋत्विक् अपने मानसव्यापार से यजमानात्मा के मनःपर्व का सम्पादन करता है। शेष रहता है 'प्राण' पर्व। अध्वर्यु कृत याज्याकर्म्म से [आहुतिकर्म से] इस प्राणपर्व का आधान होजाता है। इसप्रकार अध्वर्यु कृत प्राणव्यापार, होता—अध्वर्यु—उद्गाता—कृत वाग्व्यापार, तथा ब्रह्माकृत मनोव्यापार तीनों व्यापारों से आधिभौतिक यज्ञ के साथ यजमानात्मा के तीनों आत्मपर्वों का सम्बन्ध होजाता है। और यों प्रथम कर्त्तव्य की पूर्ति होजाती है।

१ ब्रह्मा—मनस्तत्त्वसम्पादकः—ब्राह्मकर्म्मणा [मनः] १

२—अध्वर्यु —प्राणतत्त्वसम्पादकः—याज्याकर्म्मणा [प्राण] २

३—उद्गाता—सामवाक्सम्पादकः स्तोत्रकर्म्मणा [वाक्]

४—अध्वर्यु —यजुर्वाक्सम्पादकः—ग्रहकर्म्मणा [वाक्]

५—होता—ऋग्वाक्सम्पादकः —शस्त्रकर्म्मणा [वाक्]

(३, ४, ५) } [वाक्] ३

(१–५) } सर्वेऽपि यजमानात्मकआत्मावयवानां मनःप्राणवाक्पर्वणां—भौतिकयज्ञेन सम्बन्धः।

आधिभौतिक यज्ञाग्नि में मनः प्राण-वाक् सम्पत्ति का समावेश आवश्यक है। पूर्वोक्तव्यापारकर्म्म से पहिले होता नामक ऋत्विक् के द्वारा सामिधेन्यनुवचन–कर्म्म होता है जैसा कि प्रकरणारम्भ में स्पष्ट किया जाचुका है। लौकिक भूताग्नि में मन्त्रप्रयुक्त से युक्त इध्माभ्याधान के द्वारा दिव्य प्राणतत्त्व का आधान करना ही इस सामिधेन्यनुवचनकर्म्म का एकमात्र फल है। इसप्रकार होतृकृतक सामिधेनी–कर्म्म से यह अधिभूत-यज्ञ प्राणसम्पत्ति से युक्त होजाता है। इस प्राणसम्पत्ति का मनोवाक् से सम्बन्ध सूचित करने के लिए ही प्रकृत ब्राह्मणब्राह्मण के आरम्भ में प्रथम प्रथम— 'तं या एतमग्निं समन्धिषत। समिद्धं देवेभ्यो जुहवाम (शत० १।४।४।१।) यह कहा गया है। इस सिद्धान्तवाक्य से श्रुति सङ्केत कर रही है कि आधिभौतिक

१—सर्वप्रजापतिर्वाङ्मय —वाक्
२—उद्गीथप्रजापतिः प्राणमयः—प्राणः
३—अनिरुक्तप्रजापतिर्मनोमयः—मनः

} मनःप्राणवाङ्मया यज्ञिया देवाः

हृदयावच्छिन्न मनः—अनिरुक्तम्
मध्यावच्छिन्नः प्राणः—निरुक्तानिरुक्तः
परिध्यवच्छिन्ना वाक्—निरुक्ता

} पार्थिवयज्ञः प्राकृतिको नित्यः

मन प्राणवाङ्मय, उक्त लक्षण प्राकृतिक, 'नित्य, देवयज्ञ' के आधार पर ही ब्राह्मणग्रन्थोक्त पुरुषप्रयत्नसाध्य 'मानुष वैध यज्ञ' का वितान हुआ है। प्राकृतिक यज्ञ में मन तथा वाक् के आधार पर ही प्राणात्मक यज्ञिय देवताओं में पार्थिव रसाहुति युक्त होती है। अतएव—'यद्वै देवा अकुर्वंस्तत्करवाणि' निगमानुसार इस वैध-मानुषयज्ञ में भी (यज्ञात्मक-आहवनीयाग्नि में भी) मन-प्राण-वाक्, तीनों कलाओं का समन्वय आवश्यकरूप से अपेक्षित होजाता है। बिना तीनों के समन्वय के आहवनीय समिदग्नि प्राजापत्यसम्पत् से सर्वथा वञ्चित है। एवं बिना प्राजापत्यसम्पत् के यज्ञसम्पत्सिद्धि असम्भव है।

मन प्राणवाङ्मय प्राकृतिक यज्ञ की भित्ति पर ही भित्त्व इस यज्ञ में देवयजन से पहिले मनःप्राणवाक् सम्पत्ति अपेक्षित है, यही निष्कर्ष है। इसी सम्बन्ध में एक रहस्य का विश्लेषण और। अधिदैवत का अधिभूत के द्वारा यजमान के आध्यात्मिक यज्ञात्मा का प्राकृतिक उक्त लक्षण आधिदैविक यज्ञात्मा से सम्बन्ध कर देना ही यज्ञनिष्कर्ष है। अधिदैवतयज्ञ पूर्वकथनानुसार स्वस्वरूप से मनःप्राणवाङ्मय है एवमेव अध्यात्मयज्ञ भी स्वस्वरूप से मनःप्राणवाङ्मय है। शेष रह जाता है वितायमान आहवनीयाग्निलक्षण अधिभूतयज्ञ। इसे जबतक मनःप्राणवाङ्मय नहीं बना दिया जाता तबतक इस का माध्यम निष्फल है। अधिभूतयज्ञ उसी अवस्था में मनःप्राणवाङ्मय अध्यात्मयज्ञ [यजमानात्मा] का मनःप्राणवाङ्मय अधिदैवत यज्ञ से सम्बन्ध करा सकता है दूसरे शब्दों में अधिभूतयज्ञलक्षण आहवनीय अग्नि में प्रदत्त आहुति का तभी अधि-दैवत यज्ञात्मक दिव्य देवताओं के साथ सम्बन्ध होसकता है जब कि इस आहवनीयाग्निरूप अधिभूतयज्ञ को भी किसी वैज्ञानिक-प्रक्रिया-विशेष से मनःप्राणवाङ्मय बना दिया जाय। इस के मनःप्राणवाङ्मय बनाने से आहुतिद्रव्य के द्वारा आध्यात्मिक यज्ञ के मनः-प्राणः-वाक् एवं इस अधिभूतयज्ञ में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रविष्ट होजायँगे। आहुति का अधिदैव से सम्बन्ध होना अनिवार्य्य होगा। इसप्रकार अधिभूतयज्ञ के द्वारा परम्परया यजमानात्मा का दिव्यादिव्य से अन्तर्य्याम सम्बन्ध होजायगा।

अब इस सम्बन्ध में दो कर्त्तव्य हमारे सामने उपस्थित होते हैं। आधिभौतिक लक्षण इन आहवनीयाग्नि में मनःप्राणवाक् का सम्बन्ध करा देना एक कर्त्तव्य है। एवं इस मनःप्राणवाङ्मय आधिभौतिक यज्ञ

का स्वरूप सर्वथा व्यक्त है। अतएव वाग्व्यापार का अन्य इन्द्रिय [श्रोत्रेन्द्रिय] से भी प्रत्यक्ष होजाता है एवं अन्य व्यक्ति भी इसका साक्षात्कार कर लेते हैं। इन्द्रियवागतिरिक्त पञ्चभूतरूप से भी वाग्वैखरी प्रत्यक्ष का विषय बनता हुआ व्यक्त बन रहा है।

क्योंकि वाक् निरुक्त है अतएव तत्सम्पत्तिसंग्राहक कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता भी वागुच्चारणपूर्वक ही सम्पादित होती है। इस समानधर्म्म के सम्बन्ध से वाग्रूपेण कृत उत्तराघारकर्म्म से आहवनीयाग्नि में अवश्य मेव वाक्पर्व का आधान होजाता है एवं यह आहित वाक् वाग्रूप से [वषट्काररूप से] ही द्युलोकस्थ प्राण देवताओं के लिए आहुतिद्रव्य–प्रापिका बन जाती है। इसप्रकार उपांशुरूप से पूर्वाघार, तथा वाग्रूप से उत्तराघार करता-हुआ भी अध्वर्य्यु आहवनीयाग्नि में मनोवाक् पर्वों का ही आधान कर रहा है। इन दोनों क्रमिक आघारों से आधिभौतिक यज्ञ के मनोवाक्पर्व तृप्त होजाते हैं [सर्वाङ्गीण बन जाते हैं।] सर्वाङ्गीण बनकर ये दोनों पर्व प्राणात्मक यज्ञाग्नि के आधारपात्र [वधूनी] बनते हुए निश्चयेन द्युलोकस्थ प्राणदेवों के लिए आहुतिप्रापक बन जाते हैं। तात्पर्य्य उपपत्ति का यही है कि देवतृप्ति का साधन आहुतिप्राप्ति है, एवं आहुतिप्राप्ति का साधन मनोवाक्पर्वों की सर्वाङ्गीणलक्षणा तृप्ति है। इस तृप्तिभावप्राप्ति के लिए भी आघारकर्मानुष्ठान आवश्यक है। मनोवाक् पर्व कैसे किस रूप से प्राणदेवों के लिए यज्ञवहन करते हैं? प्रकृत द्वितीय कण्डिका से इसी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान हुआ है॥ २॥

काममय विश्व में पुरुष तथा स्त्री इन दोनों का सहयोग अपेक्षित है। यद्यपि पुरुष भी काममय है, स्त्री भी काममयी ही है तथापि प्रधानता पुरुष की ही मानी गई है। पुरुष 'स्व' तन्त्र में प्रतिष्ठित है एवं स्त्री 'पुरुषतन्त्र' की अनुगामिनी है। पुरुषकाम ही स्त्रीकाम है। दूसरे शब्दों में स्त्री छायानुकरा है अनुगामिनी है। इसी प्राकृतिक नियमानुसार कामनामय मन को हम पुरुष कह सकते हैं एवं कामनामय मन के सङ्कल्पानुसार स्वव्यापार के सञ्चालन में समर्थ होने वाली वाक् को 'स्त्री' कहा जासकता है। पुरुषानुगत प्राण 'वृषा' कहलाया है स्त्र्यनुगत प्राण योषा कहलाया है। अनुधावन करने वाला पुरुषप्राण ही वृषा है एवं जिस के प्रति वृषाप्राण का अनुधावन होता है वही योषा है। इस दृष्टि से भी मन वृषा है एवं वाक् योषा है। वाक् का मन की ओर अनुधावन नहीं है, अपितु सङ्कल्परूप से मन ही वाक् की ओर अनुधावन करता है।

इसप्रकार कामनामयत्वेन वाक्तन्त्रसञ्चालकत्वेन अनुधावक बन हृदयावच्छिन्न मन का वृषाप्राणात्मक पुरुषत्व भलीभाँति सिद्ध होजाता है। एवं कामनानुगतत्वेन परिध्यवच्छिन्ना वाक् का योषाप्राणात्मक स्त्रीत्व सर्वात्मना सिद्ध होजाता है। उधर आहुतिपात्रों में स्रुवपात्र पुल्लिङ्गत्वेन वृषप्राणात्मक काममय मन से समतुलित है जुहू-उपभृत् नामक स्रुक्पात्रद्वयी स्त्रीलिङ्गत्वेन योषाप्राणात्मिका कामानुगता वाक् से समतुलित है। मनोऽनुगत पूर्वाघार मन सम्बन्ध से वृषा है अतएव पूर्वाघाराहुति वृषात्मक स्रुव से ही होती है। वागनुगत उत्तराघार वाक् के सम्बन्ध से योषा है अतएव उत्तराघाराहुति योषात्मिका स्रुक्पात्रद्वयी से ही होती है। पूर्वोत्तराघारकर्म्म का क्रमशः स्रुव एवं स्रुक् से क्यों सम्पादन होता है?, इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है जिसका कि तृतीय–चतुर्थ–कण्डिकाओं से स्पष्टीकरण हुआ है॥ ३ ४॥

पूर्वाघार मनोऽनुगत है उत्तराघार वागनुगत है यह कहा जाचुका है। प्राणवाग्गर्भित मनोमय अनिरुक्त-प्रजापति हृदय है। यहाँ से यद्यपि — 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः (कठोपनिषत् ४।१।) इत्यादि

यज्ञाग्नि में पूर्व के सामिधेनी-कर्म्म से प्राणपर्व का तो आधान होगया। अब पर्वोत्तराघारकर्म्मद्वयी से इस प्राणात्मक आहवनीयाग्निमय में मनो-वाक् पर्वों का आधान बतलाया जाता है। होतृकृत प्राणाधानलक्षण सामिधेन्यनुवचन-कर्म्मानन्तर अध्वर्यु नामक ऋत्विक् स्रुवपात्र से पूर्वाघारकर्म्म का, तथा स्रुक्पात्रद्वयी से उत्तराघार कर्म्म का सम्पादन करता है। पूर्वाघार मन:पर्व का संग्राहक है एवं उत्तराघार वाक् पर्व का संग्राहक है। इसप्रकार समिन्धन-कर्म्म से प्राणयुक्त, पूर्वाघारकर्म्म से मनोयुक्त एवं उत्तराघार से वाग्युक्त, सम्पूर्ण तीनों कर्म्मों से मनः-प्राण-वाङ्मय बनता हुआ आहवनीयाग्निलक्षण आधिभौतिक यज्ञ आध्यात्मिक-यज्ञलक्षण यजमानात्मा के मनः प्राण-वाक्-पर्वों से (आहुति के द्वारा) युक्त होता हुआ आधिभौतिक-यज्ञाग्निपर्वों से सम्बद्ध आधिदैविक यज्ञ के मन-प्राण-वाक्-पर्वों से अन्तर्य्यामात्मक समन्वय-सम्बन्ध प्राप्त कर लेता है।

केन्द्रावच्छिन्न मन:पर्व (प्राणवाग्गर्भित मनोमय अनिरुक्त प्रजापति) हृदयावच्छेदेन पूर्वभावी है एवं रथन्तरसामावच्छिन्न वाक्-पर्व (मन:प्राणगर्भित वाङ्मय निरुक्त प्रजापति) परिध्यवच्छेदेन उत्तरभावी है। *मन:सम्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाला आघार पूर्वभावी है एवं वाक्सम्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाला आघार* उत्तरभावी है। इस पूर्व तथा उत्तरभाव से ही यज्ञाग्नि में पूर्वभावी मन:पर्व का तथा उत्तरभावी वाक्पर्व का आधान होरहा है। मनोऽनुगत आघार पूर्वाघार क्यों कहलाया? वागनुगत आघार उत्तराघार क्यों कहलाया? पूर्वाघार पहिले एवं उत्तराघार पीछे क्यों किया जाता है? *समिन्धनानन्तर पर्वोत्तराघारकर्म्मद्वयी क्यों आवश्यक है?* इसके साथ मनोवाक्-सम्पत्तिद्वय क्यों अपेक्षित है?, इत्यादि आघारकर्म्म-सम्बन्धी प्रश्नों की इसी उक्त उपपत्ति का प्रथम कण्डिकाद्वय में स्पष्टीकरण हुआ है।

१— "अग्निं समैन्धिषत"—प्राणसंग्रह—सामिधेन्यनुवचनकर्म्मणा।

२—"मनसे चैव —मन:संग्रह—पूर्वाघारकर्म्मणा।

३—"वाचे च" —वाक्संग्रहः—उत्तराघारकर्म्मणा।

१



पूर्वाघारकर्म्म उपांशुरूप से किया जाता है एवं उत्तराघारकर्म्म वागुच्चारण [मन्त्रोच्चारण] पूर्वक किया जाता है। इसलिए पूर्वभावी मन उपांशु है। मन का स्वरूप हृदयावच्छेदेन सर्वथा अव्यक्त है। अतएव न तो हृदयावच्छिन्न मन का ही पराङ्मुख इन्द्रियों से साक्षात्कार किया जासकता एवं न मानस-व्यापार [भावना-वासनात्मक मानस संकल्प] का ही अन्य व्यक्ति के द्वारा प्रत्यक्ष किया जासकता। यही मन का उपांशुभाव है। क्योंकि मन उपांशु है अतएव तत्-सम्पत्तिसंग्राहक पूर्वाघारकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता का भी उपांशु ही सम्पादन होना चाहिए। इस समानकर्म्म के सम्बन्ध से उपांशुरूपेण कृत पूर्वाघारकर्म्म से आहवनीयाग्नि में अवश्यमेव मन:पर्व का आधान होजाता है एवं यह आहित मन उपांशुरूप से ही द्युलोकस्थ प्राणदेवों के लिए आहुति-द्रव्यप्रापक बन जाता है। रथन्तरसामाच्छिन्न परिधिरूपा उत्तरभाविनी वाङ्निरुक्ता है। वाक्

'रथन्तरसाम' कहलाया है, जैसा कि— 'रसतम ह वै तद्रथन्तरमित्याचक्षते परोक्षम्' (शत० ९।१।२।३६।) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। भूकेन्द्र से २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त मनोवाग्गर्भित प्राणमय यज्ञ भी इसी रसतम अग्नि के सम्बन्ध से 'रथ (देवरथ)' कहलाया है। प्रवृत्त आतुरिवज्य के द्वारा यजमान इस रसतमात्मक यज्ञरथ में प्रतिष्ठित होकर द्युलोक की ओर गमन करता है। इस रथ के वहन करने वाले (प्राणात्मक यज्ञ का भूकेन्द्र से रथन्तरसाम की परिधिपर्य्यन्त वितान करने वाले) 'मन, वाक्' नाम के दो अश्व माने गए हैं। इन्हीं दोनों के द्वारा यज्ञात्मक अग्निस्वरूप 'रथ' का वहन होता है।

यज्ञरथ में नियुक्त इन दोनों मनो—वाक्) अश्वों में मनोलक्षण अश्व अपरिमित है, एवं वाग्लक्षण अश्व परिमित है। दिग्देशकालानवच्छिन्न काममय मन इसी अपरिमित भाव के सम्बन्ध से 'काममसुद्र' कहलाया है। "मनो वै बृहत्" (ता० ब्रा० ७।६।१७), "मनो वै समुद्र" (७।५।२।५२।) "अनन्तं वै मन" (शत० १४।६।१।११।) इत्यादि श्रुतियाँ मन के इसी असीमभाव का समर्थन कर रहीं हैं। मन-प्रतिष्ठारूप हृदय स्वयं अनन्त है तदनुगत मन भी अनन्त है। इसकी अपेक्षा वाक्तत्त्व दिग्देशकालानवच्छिन्न बनता हुआ परिमिततर है सीमित है। अर्थात्मिका वाक् (भौतिक पदार्थ) भी परिमित है, क-च-ट-त-प आदि सर्वथा शब्दात्मिका वाक् भी सीमित है। इसप्रकार यज्ञरथवाहक दोनों अश्वों में एक (मन) आकार, प्रकार में बड़ा है, तो दूसरा (वाक्) अपेक्षाकृत कनीयान् है।

यदि ऐसे विषमाकार अश्व रथ का वहन करते हैं, तो वहनकर्म्म असमाक्रान्त बना रहता है। आवश्यक है कि, मनोरूप अश्वपरिमाण को समतुलित करने के लिए वाग्रूप अश्वपरिमाण में आकारवृद्धि की जाय। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए ही वागनुगत उत्तराघार खड़े खड़े किया जाता है। जिसप्रकार लोक में नाटे अश्व को दीर्घकाय अश्व से समतुलित करने के लिए नाटे अश्व के स्कन्ध प्रदेश में स्थूल काष्ठपीठ लगा दिया जाता है ठीक उसी लौकिक कर्म्म के अनुरूप यहाँ तिष्ठन्भाव का आश्रय लिया जाता है। खड़े होकर उत्तराघार करना वागश्व को मनोरूप अश्व के समानाकार से ही समतुलित करना है। तिष्ठन्नुत्तराघार की यही दूसरी उपपत्ति है। इन दोनों उपपत्तियों का ही सातवीं कण्डिका से स्पष्टीकरण हुआ है ॥७॥

पूर्वाघार का सम्पादन आहवनीयाग्नि के उत्तर भू प्रदेश में बैठ कर प्रज्वलित समिद्ध आहवनीयाग्नि के उत्तराग्निभाग में होता है एवं उत्तराघार का सम्पादन आहवनीयाग्नि के दक्षिण भूप्रदेश में खड़े होकर प्रज्वलित समिद्ध आहवनीयाग्नि के दक्षिणाग्नि में होता है जैसा कि सूत्रानुगतपदविग्रह में स्पष्ट किया जाचुका है। इन दोनों आघारों के सम्बन्ध में एक अनुक्त उपपत्ति का प्रासङ्गिक समन्वय और कर लेना चाहिए। पूर्वाघार का मन से तथा उत्तराघार का वाक् से सम्बन्ध है। भावनामय मन देवप्राण की प्रतिष्ठा है, एवं वासनात्मिका वाक् पितृप्राण की प्रतिष्ठा है। इसी आधार पर 'पितरो वाक्यमिच्छन्ति भावमिच्छन्ति देवता' यह सूक्ति प्रतिष्ठित है। मनोऽनुगत देवप्राण आग्नेय है, एवं वागनुगत पितृप्राण सौम्य है। रथन्तरसामात्मक यज्ञमण्डल के पूर्वार्द्ध भाग में अग्नितत्त्व का प्राधान्य है, एवं उत्तरार्द्ध में सोमतत्त्व का साम्राज्य है। मण्डलकेन्द्रभूत मध्यस्थ सप्तदश स्थान में दोनों का समन्वय होता है जैसा कि प्रथमकण्डिका-विवेचन में स्पष्ट किया जाचुका है। क्योंकि मनोऽनुगत आग्नेय देवताओं का पूर्वार्द्ध से सम्बन्ध है अतएव मनोऽनुगत आघार पहिले किया जाता है अतएव च यह आघार 'पूर्वाघार' कहलाया है। एवमेव वागनुगत सौम्य पितरों का उत्तरार्द्ध से सम्बन्ध है अतएव वागनुगत आघार पीछे किया जाता है, अत-

श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वाक्तत्व का ऊर्ध्व वितान अवश्य होता है तथापि यह सर्व मनोमय हुए अनिरुक्तभाव से वाक्पथातीत ही है। इसी मनोऽनुरूपता की सिद्धि के लिए मनोऽनुगत पूर्वाघार तूष्णीं ही किया जाता है। उपांशु ही अनिरुक्त है। अनिरुक्तता ही मन का स्वाभाविक धर्म है। 'स्वाहा' शब्द वागुविवर्त का परयन्त अभिनय है जैसाकि आगे के व्याख्यान से स्पष्ट होने वाला है। इधर मनोमय प्रजापति के लिए पराङ्मुखा वाक् अहन्यवाहना है। अतएव मन सम्पत्तिसमाहक पूर्वाघारकर्म्म में वागनुगत स्वाहा का उच्चारण निषिद्ध है। वाक्तत्व का मन-प्राणगर्भित वाङ्मय सर्वलक्षण निरुक्त प्रजापति से सम्बन्ध है। यह तत्त्व स्वस्वरूप से (आकाशरूप से) भी प्रकट है स्वविताना‍त्मक पञ्चमहाभूतात्मक अर्थप्रपञ्च की दृष्टि से भी प्रकट है एवं वागिन्द्रियरूप से भी व्यक्त है। प्रत्यक्षदृष्ट पाञ्चभौतिक पदार्थ वाङ्मय हैं इनके गर्भ में 'हित' नामक क्रियामयवत 'प्राणतत्त्व' प्रतिष्ठित है सर्वांशिम्बन सुसूक्ष्म काममय मन है। क्योंकि वाक्तत्व व्यक्तलक्षण है इधर उत्तराघार वाक्सम्पत्तिसंग्रह के लिए विहित है। अतएव वागनुगत उत्तराघारकर्म्म मन्त्रोच्चारण,—सस्वर व्यक्तभाव से ही सम्पन्न होता है। मनोऽनुगत पूर्वाघार का तूष्णीं रूपेण तथा वागनुगत उत्तराघार का मन्त्र-रूपेण सम्पादन करना भी मनोवाक्पर्वों का ही संग्रह करना है यही उपपत्ति—निष्कर्ष है, जिस का कि पाँचवीं, तथा छठी कण्डिकाओं से स्पष्टीकरण हुआ है ॥ ५, ६ ॥

भूकेन्द्रावच्छिन्न मनोमय अनिरुक्त प्रजापति 'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' (यजु: म ३१।१) सिद्धान्तानुसार प्रादेशमित्र (१ ॥ का गुष्ठमित) मनरूप से हृदय में प्रतिष्ठित है। इस बैठे हुए मनोमय प्रजापति के आधार पर ही इन्द्र-विष्णु की अभ्नुगता प्रतिस्पर्द्धा से वाक्साहस्री का उर्ध्व वितान होता है। उर्ध्वस्थिता यह वाक्साहस्री केन्द्र में प्रतिष्ठित (आधीन) मनोमय प्रजापति की अपेक्षा खड़ी हुई सी है। मनस्तत्त्व हृदय में आसीनवत् है वाक्तत्त्व हृदय से परिधि-पर्य्यन्त तिष्ठन्वत् है। मनोवाक् पर्वों की इस स्वाभाविकी स्थिति को लक्ष्य में रख कर ही मनोऽनुगत पूर्वाघार आसीन बनकर (बैठ कर) किया जाता है एवं वागनुगत उत्तराघार तिष्ठन्रूप से (खड़े होकर) किया जाता है। इसप्रकार आसीन तिष्ठन्रूप से कृत पूर्व-उत्तराघार के द्वारा भी आसीन मनस्तत्त्व एवं तिष्ठन् वाक्तत्त्व का आह्वनीय यज्ञाग्नि में आधान होजाता है। पूर्वाघार आसीन रूप से, तथा उत्तराघार तिष्ठन्रूप से क्यों किया जाता है? इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है।

वागनुगत उत्तराघार तिष्ठन् क्यों किया जाता है?, इस प्रश्न की एक दूसरी भी उपपत्ति है। वाह्निक यज्ञात्मिका वाक्साहस्री व्याप्त रहती है वाह्निक रथन्तरसाम की व्याप्ति मानी गई है जैसा कि प्रकरणान्त में स्पष्ट किया जाचुका है। भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित वाङ्मय अग्नितत्त्व 'रसाग्नि' नाम से प्रसिद्ध है। इस वाङ्मय रसाग्नि का त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश स्तोमरूप से क्रमश: अग्नि-वायु आदित्यस्वरूप से ऊर्ध्व वितान हुआ है जैसा कि निम्न लिखित आथर्वणश्रुति से प्रमाणित है—

तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्त्तताग्नि। स त्रेधात्मानं व्यकुरुत-आदित्यं तृतीयं, वायुं तृतीयम्। स एष प्राणस्त्रेधा विहितः"।

—शत० १०।४।७।२१।

रसात्मक वाङ्मय अग्नि के ऊर्ध्व वितान—सम्बन्ध से ही एकविंशस्तोमावच्छिन्न वाग्निलक्षण पार्थिव साम (अग्निसाम) 'रसतमसाम' कहलाता है। यह रसतमसाम ही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में

'रथन्तरसाम' कहलाया है, जैसा कि— 'रसतम ह वै तद्रथन्तरमित्याचक्षते परोक्षम्' (शत ९।१।२।३१) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। भूकेन्द्र से २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त मनोवाग्गर्भित प्राणमय यज्ञ भी इसी रसतम अग्नि के सम्बन्ध से 'रथ (देवरथ)' कहलाया है। प्रदत्त आहुतिद्रव्य के द्वारा यजमान इस रसतमात्मक यज्ञरथ में प्रतिष्ठित होकर द्युलोक की ओर गमन करता है। इस रथ के वहन करने वाले (प्राणात्मक यज्ञ का भूकेन्द्र से रथन्तरसाम की परिधिपर्य्यन्त वितान करने वाले) मन, वाक्' नाम के दो अश्व माने गए हैं। इन्हीं दोनों के द्वारा यज्ञात्मक अग्निरसरूप 'रथ' का वहन होता है।

यज्ञरथ में नियुक्त इन दोनों (मनो–वाक्) अश्वों में मनो-लक्षण अश्व अपरिमित है, एवं वाग्लक्षण अश्व परिमित है। दिग्देशकालानवच्छिन्न काममय मन इसी अपरिमित भाव के सम्बन्ध से 'कामसमुद्र' कहलाया है। 'मनो वै बृहत्' (ता॰ ब्रा॰ ७।६।१७), "मनो वै समुद्रः" (७।५।२।५२।) 'अनन्तं वै मनः' (शत॰ १४।६।१।११) इत्यादि श्रुतियाँ मन के इसी असीमभाव का समर्थन कर रहीं हैं। मन–प्रतिष्ठारूप हृदय स्वयं अनन्त है तदनुगत मन भी अनन्त है। इसकी अपेक्षा वाक्तत्त्व दिग्देशकालावच्छिन्न बनता हुआ परिमिततर है सीमित है। अर्थात्मिका वाक् (भौतिक पदार्थ) भी परिमित हैं क च ट त प आदि लक्षणा शब्दात्मिका वाक् भी सीमित है। इसप्रकार यज्ञरथवाहक दोनों अश्वों में एक (मन) आकार, प्रकार में बड़ा है तो दूसरा (वाक्) अपेक्षाकृत कनीयान् है।

यदि ऐसे विषमाकार अश्व रथ का वहन करते हैं, तो वहनकर्म्म भयाक्रान्त बना रहता है। आवश्यक है कि मनोरूप अश्वपरिमाण को समतुलित करने के लिए वाग्रूप अश्वपरिमाण में आकारवृद्धि की जाय। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए ही वागनुगत उत्तराघार खड़े खड़े किया जाता है। जिसप्रकार लोक में नाटे अश्व को दीर्घकाय अश्व से समतुलित करने के लिए नाटे अश्व के स्कन्ध प्रदेश में स्थूल काष्ठपीठ लगा दिया जाता है ठीक उसी लौकिक कर्म्म के अनुरूप यहाँ तिष्ठन्भाव का आश्रय लिया जाता है। खड़े होकर उत्तराघार करना वागश्व को मनोरूप अश्व के समानाकार से ही समतुलित करना है। तिष्ठन्नुत्तराघार की यही दूसरी उपपत्ति है। इन दोनों उपपत्तियों का ही सातवीं कण्डिका से स्पष्टीकरण हुआ है॥७॥

पूर्वाघार का सम्पादन आहवनीयाग्नि के उत्तर भू प्रदेश में बैठ कर प्रज्वलित समिद्ध आहवनीयाग्नि के उत्तराग्निभाग में होता है एवं उत्तराघार का सम्पादन आहवनीयाग्नि के दक्षिण भूप्रदेश में खड़े होकर प्रज्वलित समिद्ध आहवनीयाग्नि के दक्षिणाग्नि में होता है जैसा कि 'ऋतानुगतपद्धतिसमह' में स्पष्ट किया जाचुका है। इन दोनों आघारों के सम्बन्ध में एक अनुक्त उपपत्ति का प्रासङ्गिक समन्वय और कर लेना चाहिए। पूर्वाघार का मन से तथा उत्तराघार का वाक् से सम्बन्ध है। भावनामय मन देवप्राण की प्रतिष्ठा है, एवं वामनात्मिका वाक् पितृप्राण की प्रतिष्ठा है। इसी आधार पर "पितरो वाच्यमिच्छन्ति, भावमिच्छन्ति देवताः" यह सूक्ति प्रतिष्ठित है। मनोऽनुगत देवप्राण आग्नेय है एवं वागनुगत पितृप्राण सौम्य है। रथन्तरसामात्मक यज्ञमण्डल के पूर्वार्द्ध भाग में अग्नितत्त्व का प्राधान्य है, एवं उत्तरार्द्ध में सोमतत्त्व का साम्राज्य है। मयवलकेन्द्रभूत मध्यस्थ यसदश स्थान में दोनों का समन्वय होता है जैसा कि प्रथमकण्डिका-विवेचन में स्पष्ट किया जाचुका है। क्योंकि मनोऽनुगत आग्नेय देवताओं का पूर्वार्द्ध से सम्बन्ध है अतएव मनोऽनुगत आघार पहिले किया जाता है अतएव च यह आघार 'पूर्वाघार' कहलाया है। एवमेव वागनुगत सौम्य पितरों का उत्तरार्द्ध से सम्बन्ध है अतएव वागनुगत आघार पीछे किया जाता है अत-

एवञ्च यह आघार 'उत्तराघार' कहलाया है। उत्तरदिक् देवताओं की है अतएव देवानुगत पूर्वाघार आहवनीय के उत्तर भूप्रदेश में बैठ कर आहवनीयाग्नि के उत्तर भाग में सम्पन्न होता है। एवं दक्षिणादिक् पितरों की है, अतएव पित्र्यनुगत उत्तराघार आहवनीय के दक्षिण भूप्रदेश में खड़े होकर आहवनीयाग्नि के दक्षिण भाग में सम्पन्न होता है। दोनों आघारों से अग्नीषोमात्मक पूर्ण यज्ञमण्डल का संग्रह हो जाता है।

उत्तराघार का सम्पादन दक्षिण में खड़े खड़े होता है इस सम्बन्ध में एक उपपत्ति और बतलाई जाती है। भौमस्वर्गान्यवस्था मक देवयुग में जब जब भी भौमदेवता वैध-यज्ञकर्म्म का वितान करते थे तब तब ही दक्षिण अफ्रिका में निवास करने वाले भीम-मनुष्यविध असुर दक्षिणभूप्रदेश * से आकर यज्ञ पर आक्रमण किया करते थे। दक्षिणदिगनुगत इस असुराक्रमण से त्राण पाने के लिए देवताओंनें दक्षिण-सीमा पर खड़ा पहिरा नियुक्त कर दिया था। इन्हीं भौम-देवताओंसे भारतीय द्विजातिवर्गने यज्ञविद्या प्राप्त की। फलत 'देवाननुविधा वै मनुष्या' इस नियम के अनुसार इन्होंनें भी अपने यज्ञ में दक्षिणदिगनुगत कर्म्म को खड़े खड़े ही करना अन्वर्थ माना।

पेतिह्य अरूपातिरिक्त तिष्ठन् रूपेण उत्तराघार करने की वैज्ञानिक उपपत्ति भी है एवं वही प्रधान है। भूपिण्ड का उत्तर प्रदेश ज्योतिर्म्मय स्कम्भ के वितान से देवप्राणप्रधान है। उत्तरानुगत स्कम्भप्रदेशोपलक्षित सम्वत्सरचक्र ही देवताओं की देवयजनभूमि है यज्ञवितान-प्रदेश है। अग्नि वायु, आदित्य, चन्द्रमादि प्राणात्मक दिव्य ऋत्विजों के हौत्रादि कर्म्मों से इस देवयजनभूमि में सम्वत्सरयज्ञ का वितान होता रहता है। भूपिण्ड का दक्षिणप्रदेश तमोमयी शनैश्चरकक्षा के सम्बन्ध से असुरप्राण-प्रधान है। इस दक्षिणदिगनुगत असुरप्राण का उत्तरानुगत प्राणदेवयज्ञभूमि पर सतत आक्रमण होता रहता है। साथ ही दक्षिणस्थ अग्निसहयोगी ज्योतिर्म्मय इन्द्र के सम्बन्ध से यह आक्रमण व्यर्थ भी होता रहता है। सम्वत्सरयज्ञोपलक्षित देवमण्डल इसप्रकार तिष्ठन्रूपेण उपस्थित इन्द्र के द्वारा असुराक्रमण से बचा रहता है।

प्राकृतिक यज्ञ में दक्षिण-दिशा में यज्ञरक्षक इन्द्र खड़े रहते हैं इस स्थिति का उत्तरायणकालसे ही सम्बन्ध है। दक्षिणगोल में उत्तरायण होता है एवं उत्तरगोल में दक्षिणायन होता है। उत्तरायणकालोपक्रम में सूर्य्य दक्षिण-परमक्रान्ति से उत्तर की ओर अपना रुख कर लेता है। सूर्य्य इन्द्रप्राणात्मक है। इसका उत्तर की ओर अपना रुख करना ही खड़ा होना है। यही देवयजनकालोपक्रम है। और इन्द्रप्राण के सम्बन्ध से दक्षिणगोलस्थ असुरप्राण का आक्रमण व्यर्थ चला जाता है फलतः उत्तरायणानुगत दिव्ययज्ञ निर्विघ्न सम्पन्न होजाता है।

वैधयज्ञ प्रकृत में इस दक्षिणस्थ असुरप्राण के समावेश से त्राण पाने के लिए ही यज्ञवेदि प्रथम तो प्राक्प्रवणा बनाई जाती है अथवा तो उदक्प्रवणा बनाई जाती है, जैसा कि पूर्व के 'वेदिब्राह्मण' में विस्तार से बतलाया जाचुका है। क्योंकि प्रकृतिवत् इस मानुष यज्ञाग्नि में भी दक्षिणस्थ असुरप्राणाक्रमण स्वाभाविक है अतएव इस ओर खड़े होकर ही उत्तराघार किया जाता है। खड़ा होना वीर्य्योत्कर्ष का ही द्योतक है।

---

* यहाँ आज 'स्वेज' नहर है पुराणयुग में यहाँ भूप्रदेश था। इसी मार्ग से असुरभित्तिकी में रहने वाले भौम-असुर भीम देवताओं के यज्ञ पर आक्रमण किया करते थे।

'उच्छ्रितमिव हि वीर्य्यम्' श्रुति का यह वाक्य बड़ा महत्त्व रखता है। लोकदृष्टि से भी इस सिद्धान्त का अपूर्व महत्त्व है। आलस्यनिमग्न शयालु मनुष्यों का स्वाभाविक वीर्य्य कालान्तर में मूर्च्छित होजाता है, उत्साह मन्द होजाता है एवं निरालस उत्तिष्ठन् पुरुषार्थी ही वीर्य्यसम्पत्ति से युक्त रहता है। 'सेना' इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। प्रत्येक सैनिक को यह आदेश मिलता है कि, वह अपने रक्षाकर्म्म में तन कर ही खड़ा रहे। तन कर खड़े रहने से मेरुदण्ड का स्वस्तिक की ओर सम्बन्ध होजाता है, हृदयावच्छिन्न ऊर्ध्व-अधः वितत नाड़ियाँ ऋजुभाव में परिणत होती हुई रक्तादि के सञ्चार से वीर्य्यवती बन जाती हैं। इस-प्रकार उच्छ्रितभाव प्रत्येक दशा में वीर्य्याधायक बना रहता है। सैनिक तन कर चलते हैं तन कर रक्षास्थानों में पहिरा देते हैं। सचमुच शरीरयष्टि का यह तनाव उक्त श्रौतसिद्धान्त * के अनुसार वीर्य्य का ही प्रवर्त्तक है, जिसे हमने भुला दिया है। यहाँ वही सैनिकानुगत रक्षाकर्म्म अभीष्ट है। रक्षाकर्म्म वीर्य्यसापेक्ष है, वीर्य्यसञ्चार उच्छ्रितभावानुगति पर ही निर्भर है। अतएव यागनुगत उत्तराघार तिष्ठन्‌रूपेणैव किया जाता है। तिष्ठन्‌रूप से तथा आज्याहुति से अतिशयरूपेण प्रज्वलित आहवनीयाग्नि से उभयथा दक्षिणस्थ असुराक्रमण का भय निवृत्त होजाता है- 'तस्मात्तिष्ठन्नुत्तरमाघारयति'।

आहवनीयाग्नि एक है इसी में दोनों आघाराहुतियाँ हुत होती हैं। इसप्रकार आहवनीयाग्नित्वेन दोनों आघाराहुतियों का प्रदेश समान है। साथ ही काल स्थिति एवं अग्निप्रदेश की अपेक्षा से दोनों आहुतियों का परस्पर पार्थक्य है। पूर्वाघाराहुति पहले दी जाती है उत्तरप्रदेश में बैठ कर दी जाती है, आहवनीयाग्नि के उत्तरभाग में दी जाती है। उत्तराघाराहुति पीछे दी जाती है, दक्षिणप्रदेश में खड़े होकर दी जाती है आहवनीयाग्नि के दक्षिण भाग में दी जाती है। इसप्रकार आहवनीयाग्नित्वेन जहाँ दोनों समान हैं वहाँ दक्षिणोत्तरप्रदेशत्वादिरूपेण दोनों भिन्न भिन्न हैं। इन समान, तथा नाना दोनों भावों के संग्रह के लिए ही ऐसा किया जाता है। कारण यही है कि पूर्वाघारानुगत मनःपर्व का तथा उत्तराघारानुगत वाक्पर्व का दोनों का स्वरूपावस्थान समान रहता हुआ पृथक् पृथक् ही है।

मन तथा वाक् का समानत्व इसी से सिद्ध है कि बलग्रन्थितारतम्य से रसबलसममात्रावच्छिन्न उसी मन में जब बलमात्रा का स्वल्पीयान् उद्रेक होता है तो वही मन प्राण रूप में परिणत होजाता है। बलमात्रा के पूर्णोद्रेक से वही मन वाग्रूप में परिणत होजाता है। इसी आधार पर तो हृदयावच्छिन्न मनोमय अनिरुक्त प्रजापति को पूर्व में प्राण-वाग्गर्भित बतलाया गया है। मानस प्रत्यय में भी परावागनुगता उपांशुवाक् का अवश्यमेव समावेश रहता है जैसा कि 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य: शब्दानुगमादृते' इत्यादि हरि-

* 'उच्छ्रितमिव हि वीर्य्यम्' के अनुसार रक्षादि तथा पुरुषार्थसाधनादि कर्म्मों के अनुगामी को तनकर ही खड़ा रहना चाहिए, तन कर ही चलते-फिरते रहना चाहिए। इस श्रुतिसम्मता जीवनीया-आचार पद्धति को भाडम्बरपूर्णा मिथ्यमाना-भूठी-शिथिलता से जहाँ हमने विस्मृत कर दिया है वहाँ आज की प्रतीच्य-रक्षा-पद्धति में सैनिक सिपाही इसी तनन-पद्धति के अनुगामी बने हुए हैं जो पद्धति प्रतीच्यभाषा में सम्भवतः 'अटेन्शन्' नाम से प्रसिद्ध है।

सिद्धान्त – से प्रमाणित है। प्रत्येक मानस व्यापार (संकल्प) में उपांशुवाक् निहित है। एवमेव प्रत्येक वाग्व्यापार (शब्दप्रयोग) में मानसज्ञान आधार बन रहा है। इसी ज्ञानीय प्रकेन्द्र से वर्णविभागानुगता अर्थनिष्पत्ति होती है। मन से वर्जिता वाग् अनालम्बना है, स्वलितवाक् है निरर्थकवाक् है अवाक्-रूपा वाक् है। विशुद्ध मानस व्यापार में उपांशुवाक् के समन्वय से तथा विशुद्ध वाग्व्यापार में आलम्बनत्वेन मन के समन्वय से दोनों का समानत्व [समानचेत्राश्रयत्व] भलीभांति सिद्ध होजाता है। इसी समानता–संपत्तिसंग्रह के लिए समानचेत्ररूप एक ही आहवनीयाग्नि में मनोऽनुगत पूर्वाघार की तथा वागनुगत उत्तराघार की, दोनों की आहुति जाती है। यदि मनोवाक् समान हैं तो दोनों के लिए दो आघार क्यों किए जाते हैं ?, इस प्रश्न का निराकरण दोनों का स्वरूपभेद [जातिभेद] है। मन हृदयावच्छिन्न अनिरुक्त तत्त्व है तो वाक् परिध्यवच्छिन्न निरुक्त तत्त्व है। एक [मन] अमृता है, देवप्राणानुगत है। एक [वाक्] मर्त्या है पितृप्राणानुगत है। इस जातिभेद से दोनों समानचेत्रानुगामी रहते हुए भी विभिन्न स्थानानुगत हैं पूर्वापरभावानुगत हैं। इसी नाना–सम्पत्तिसंग्रह के लिए विभिन्न स्थानानुगतिरूप उत्तर-दक्षिण प्रदेश में दो आघारवाहुतियें दी जाती हैं– 'तस्मादिदं मनश्च वाक् च समानमेव सन्नानेव'।

आघारद्वय से सम्बन्ध रखने वाली सभी उपपत्तियों का संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया गया। अब पूर्वोक्त सु्व–सु गादि-मूलक उपपत्तियों का एक दूसरे दृष्टिकोण से समन्वय किया जाता है। प्रत्येक वस्तु के 'मूल–तूल' भेद से दो विवर्त होते हैं। अनिरुक्त हृदयभाव ही मूलस्थान है निरुक्त हृदय पिण्ड ही तूलस्थान है। मूल-स्थान मनःप्रधान होने से 'हृदय' है, तूलस्थान वाक्प्रधान होने से 'शिर' नाम से व्यवहृत हुआ है। यहाँ हृदयावच्छिन्न मनोऽनुगत पूर्वाघार हृद मन के सम्बन्ध से हर्म यज्ञाग्निलक्षण पुरुष का मूल है एवं परिध्यवच्छिन्न वागनुगत उत्तराघार परिधि मध्यस्थिता वाक् के सम्बन्ध से यज्ञ का शिर है। पूर्वाघार मूलस्थान की प्रतिकृति है तो उत्तराघार तूलस्थानलक्षण शिर की प्रतिकृति है॥५॥

स्रुवपात्र से पूर्वाघार के द्वारा यज्ञपुरुष के मूल का सम्पादन होता है एवं स्रुक्पात्रहयी से उत्तराघार के द्वारा शिरोभाग का सम्पादन होता है। यज्ञमूलानुगत पूर्वाघार तूष्णीं इसलिए होता है कि, हृदयावच्छिन्न अनिरुक्त मनोलक्षण मूलभाग के साथ परार्द्धमुखा वाक् का सम्बन्ध नहीं है। यज्ञशिरोऽनुगत उत्तराघार मन्त्रो-च्चारणपूर्वक इसलिए होता है कि परिध्यवच्छिन्न निरुक्त वाग्लक्षण शिरोभाग ही वाक्प्रयोग [शब्दप्रयोग] का आधार है। यज्ञमूलानुगत पूर्वाघार बैठे बैठे इसलिए किया जाता है कि, हृद मनोमय मूल भाग स्व अनिरुक्त भाव से बैठा हुआ सा ही है। यज्ञशिरोऽनुगत उत्तराघार खड़े खड़े इसलिए किया जाता है कि वाङ्मय शिरो-भाग स्व निरुक्तभाव से शरीरसंस्था में खड़ा हुआ सा ही है। इसप्रकार तूष्णी, मन्त्रेण आसीन तिष्ठन्, इन व्यापारों से मनोवाक् पर्वों की अनुरूपता ही प्राप्त की जाती है॥६,१ ११ १२॥

— न सोऽस्ति प्रत्ययो यो लोके यः शब्दानुगमादृश्यते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥
—भर्तृहरि–वाक्यपदी–

२—अग्निसम्मार्ज्जनकर्म्मोपपत्ति

आहवनीयाग्नि के उत्तरभूप्रदेश में बैठकर स्रुवपात्र से तूष्णीं आहवनीयाग्नि के उत्तराग्नि-प्रदेश में मनोऽनुगत पूर्वाघार का सम्पादन किया जाता है। इस कर्म के अनन्तर अग्निसम्मार्जन-कर्म होता है जो आग्नीध्र नामक ऋत्विक् से सम्बन्ध रखता है। 'समानमेव समानेव' इस उक्त सिद्धान्त के अनुसार मन सम्पत्ति भी वाग्गर्भिता बनती हुई उभयात्मिका है एवं वाक् सम्पत्ति भी मनोगर्भिता बनती हुई उभयात्मिका है। मनोवाक् का आहवनीयाग्नि में योग करना यज्ञरथ में मनोवाग् रूप अश्वों का ही योग करना है। लोक में रथ को सन्नीभूत करने के लिए पहिले रथ के धुर [जूड़े] को ऊँचा कर उसे अश्व किंवा वृषभयुग्म के कन्धों पर डाला जाता है, अनन्तर चर्म्मबन्धन से उन दोनों अश्वों की ग्रीवा को रथ के धुर से दृढ़ता से बांध दिया जाता है जिस से कि अश्वयुग्म रथधुर से पृथक् न होजाय। इसप्रकार अश्वयोग में स्कन्धप्रदेशों के साथ रथधुर का योग, तथा चर्म्मपाश से ग्रीवाबन्धन, ये दो कर्म्म अपेक्षित हैं। इन्हीं दोनों कर्म्मों की सिद्धि के लिए यहाँ पूर्वाघार, तथा तदनन्तर अग्निसम्मार्जनकर्म्म होता है। मनोऽनुगत पूर्वाघार वाग्गर्भित बनता हुआ पूर्वकथनानुसार मनोवाग्रूप दोनों अश्वों का संग्राहक बन रहा है। पूर्वाघार करना दोनों अश्वों के साथ रथधुर का ही योग करना है ॥ १३ ॥

अनन्तर होने वाला अग्निसम्मार्जनकर्म्म चर्म्मपाश-बन्धन स्थानीय है। सम्मार्जनकर्म्म घूम-घूम कर होता है यह पद्धति में स्पष्ट किया जाचुका है। आहवनीयाग्नि की तीनों-परिधियों से सम्बन्ध रखने वाले परिश्रित से संलग्न अग्नियों का 'ध्मसग्रहन' नामक तृणसमूहों से भस्मादि अपाकरण के द्वारा प्रक्षालन करना ही अग्निसम्मार्जनकर्म्म है। स्कन्धप्रदेश के साथ रथधुर का योग तो एक स्थान से ही होजाता है। परन्तु ग्रीवा-नुगत चर्म्मपाश-बन्धन के लिए सारथी को अश्वों के इतस्ततः घूमना पड़ता है। इस परिक्रमा से ही चर्म्म-पाश का ठीक ठीक योग होता है। क्योंकि यह सम्मार्जनकर्म्म पाशबन्धन-स्थानीय है अतएव इस की इतिकर्त्त-व्यता बन्धनानुगता अनुरूपसम्पत्ति प्राप्ति के लिए परिक्रमणरूप से ही पूरी की जाती है। कहा गया है कि तीन-परिधियों का प्रत्येक का तीन-तीन बार सम्मार्जन होता है। इस त्रिस्त्रिवार विहित-सम्मार्जनकर्म्म में एक-एक बार तो मन्त्रप्रयोग होता है एवं दो-दो बार तूष्णीं परिधिसम्मार्जन होता है। सम्भूय ९ बार परिधि-सम्मार्जन होजाता है। ९ संख्या त्रिवृत्स्तोम की संग्राहिका है। यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा अग्नितत्त्व ही माना गया है जैसा कि- अग्निरु वै यज्ञः [शत० ३।२।२।६।] इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। अग्नि-वायु-आदित्यात्मक यज्ञमण्डल तत्त्वतः अग्न्यात्मक ही है। अग्नि ही पञ्चदशस्तोमप्रदेश में जाकर तरलरूप में आता हुआ 'वायु' कहलाने लगता है एवं अग्नि ही एकविंशस्तोमप्रदेश में भुक्त होकर विरलावस्था में परिणत होता हुआ 'आदित्य' कहलाने लगता है। इसी आधार पर अग्निः सर्वा देवताः [ताण्ड्यम ब्रा ९।४।५।] यह निगम प्रतिष्ठित है। इस अग्नि का अपना प्रदेश भूकेन्द्र से आरम्भ कर ९ में अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त नव अहर्गणात्मक त्रिवृत्स्तोमप्रदेश ही है। इसी अग्निभुक्ति से तथा तत्प्रतिष्ठारूप त्रिवृत्स्तोम के सम्बन्ध से अग्नियज्ञ 'त्रिवृत्' [नवपर्वात्मक] मान लिया गया है। वही अग्नियज्ञसम्पत् इस अग्निसम्मार्ज्जन-कर्म्म से अपेक्षित है। अतएव त्रिवृद्रूप से ही परिधित्रयानुगत अग्निसम्मार्ज्जनकर्म्म होता है ॥ १४ ॥

परिध्यनुगत अग्निसम्मार्ज्जन के अनन्तर स्वयं आहवनीय अग्नि का ऊपर से तीन बार तूष्णीं सम्मार्जन प्रारम्भ किया है। रथधुर का अश्वयुग्म के स्कन्ध प्रदेश के साथ योग कराने के अनन्तर चर्म्मपाश से ग्रीवा-

सिद्धान्त – से प्रमाणित है। प्रत्येक मानस व्यापार (संकल्प) में उपांशुवाक् निहित है। एवमेव प्रत्येक वाग्व्यापार (शब्दप्रयोग) में मानसप्रज्ञान आधार बन रहा है। इसी वानीय प्रज्ञेन्द्र से पर्याप्तिविभागानुगता अर्थनिष्पत्ति होती है। मन से वशिता वाग् अशब्दवाग् है, स्पष्टितवाक् है निरर्थकवाक् है अवाक्-रूपा वाक् है। विशुद्ध मानस व्यापार में उपांशुवाक् के समन्वय से तथा विशुद्ध वाग्व्यापार में आलम्बनत्वेन मन के समन्वय से दोनों का समानत्व [समानचेत्राभयत्व] भलीभांति सिद्ध होजाता है। इसी समानता–संपत्तिसंग्रह के लिए समानक्षेत्ररूप एक ही आहवनीयाग्नि में मनोऽनुगत पूर्वाघार की तथा वागनुगत उत्तराघार की दोनों की आहुति जाती है। यदि मनोवाक् समान हैं तो दोनों के लिए दो आघार क्यों किए जाते हैं? इस प्रश्न का निराकरण दोनों का स्वरूपभेद [जातिभेद] है। मन हृदयावच्छिन्न अनिरुक्त तत्त्व है तो वाक् परिच्छिन्न निरुक्त तत्त्व है। एक [मन] अनन्त है, देवप्राणानुगत है। एक [वाक्] अन्त है पितृप्राणानुगत है। इस जातिभेद से दोनों समानक्षेत्रानुगामी रहते हुए भी विभिन्न स्थानानुगत हैं पूर्वोत्तरभावानुगत हैं। इसी नाना–सम्पत्तिसंग्रह के लिए विभिन्न स्थानानुगतिरूप उत्तर-दक्षिण प्रदेश में दो आघार आहुतियाँ दी जाती हैं–"तस्मादिदं मनश्च वाक् च समानमेव, समानेव"।

आघारद्वय से सम्बन्ध रखने वाली सभी उपपत्तियों का संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया गया। अब पूर्वोक्त स्रुव–स्रुग् आदि-युक्त उपपत्तियों का एक दूसरे दृष्टिकोण से समन्वय किया जाता है। प्रत्येक वस्तु के 'मूल–तूल' भेद से दो विवर्त होते हैं। अनिरुक्त हृदयभाव ही मूलस्थान है निरुक्त हरम् विरड ही तूलस्थान है। मूलस्थान मनःप्रधान होने से 'हृदय' है तूलस्थान वाक्प्रधान होने से 'शिर' नाम से व्यवहृत हुआ है। यहाँ हृदयावच्छिन्न मनोऽनुगत पूर्वाघार रूप मन के सम्बन्ध से एवं यज्ञाग्निलक्षण पुरुष का मूल है एवं परिच्छिन्न वागनुगत उत्तराघार परिधि अनवच्छिन्ना वाक् के सम्बन्ध से यज्ञ का शिर है। पूर्वाघार मूलस्थान की प्रतिकृति है तो उत्तराघार तूलस्थानलक्षण शिर की प्रतिकृति है॥८॥

स्रुवपात्र से पूर्वाघार के द्वारा यज्ञपुरुष के मूल का सम्पादन होता है एवं स्रुक्पात्ररूपी से उत्तराघार के द्वारा शिरोभाग का सम्पादन होता है। यज्ञमूलानुगत पूर्वाघार तूष्णीं इसलिए होता है कि हृदयावच्छिन्न अनिरुक्त मनोलक्षण मूलभाग के साथ पराक्सुता वाक् का सम्बन्ध नहीं है। यज्ञशिरोऽनुगत उत्तराघार मन्त्रोच्चारणपूर्वक इसलिए होता है कि, परिच्छिन्न निरुक्त वाग्लक्षण शिरोभाग ही वाक्प्रयोग [शब्दप्रयोग] का आधार है। यज्ञमूलानुगत पूर्वाघार बैठे बैठे इसलिए किया जाता है कि, हृदय मनोमय मूल भाग का अनिरुक्त भाव से बैठा हुआ सा ही है। यज्ञशिरोऽनुगत उत्तराघार खड़े खड़े इसलिए किया जाता है कि वाङ्मय शिरोभाग का निरुक्तभाव से शरीरसंस्था में खड़ा हुआ सा ही है। इसप्रकार तूष्णीं मन्त्रेण, आसीन तिष्ठन्, इन व्यापारों से मनोवाक् पर्वों की अनुरूपता ही प्राप्त की जाती है॥९,१० ११ १२॥

— न सोऽस्ति प्रत्ययो यो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥
—भर्तृहरि–वाक्यपदी–

चौथे अध्याय में पाँचवाँ एव चौथे प्रपाठक में पहिला ब्राह्मण उपक्रान्त द्विब्राह्मणानुगत–द्वितीय ब्राह्मण

—२—

३—उत्तराधारकर्म्मेतिकर्त्तव्यतोपपत्ति

दक्षिणदिशा से उत्तरदिशा की ओर अपनी गति रखने वाला ऋतग्नि, तथा उत्तरदिशा से दक्षिणदिशा की ओर अपनी गति रखने वाला ऋतसोम दोनों का परस्पर अन्तर्य्याम–सम्बन्ध होता है। ऋताग्नि ऋतसोम के सम्बन्ध से अग्निसोममयी वसन्तादि षड्ऋतुओं का प्रादुर्भाव होता है। षड्ऋतु से ही प्राकृतिक नित्य सम्वत्सरयज्ञ की स्वरूपनिष्पत्ति होती है। सम्वत्सरयज्ञ का स्वरूप–निर्म्माण ऋतुसमन्वय पर ही निर्भर है ऋतुस्वरूपाविर्भाव ऋताग्नि–सोम-समन्वय पर ही निर्भर है। एवं यह समन्वय गतिधर्म्मा वायु पर ही निर्भर है। न स्वयं अग्नि में गति है न सोम में गति है। गतिधर्म्मा है–एकमात्र वायु। इस वायु के व्यापार से ही सूर्य्य से प्राकृत दक्षिणस्थ अग्नि उत्तर की ओर जाता है एवं चन्द्रमा से प्राकृत उत्तरस्थ सोम दक्षिण की ओर आता है। इसप्रकार वायु के व्यापार से ही दोनों ऋतभावों का समन्वय होता है एवं इसी समन्वय से अग्निसोममय ऋतुभाव का जन्म होता है। यही वायु-तत्त्व इस प्राकृत ऋतुयज्ञ (ऋतुऽभिलक्षण सम्वत्सरयज्ञ) का स्वरूप–सम्पादक है जिसका गतिधर्म्मा तत्त्वात्मक यजुर्वेद से ही सम्बन्ध है। यजुर्म्मूर्त्ति वायु ही क्योंकि ऋतुस्वरूप का सम्पादन करते हुए अग्निषोमात्मक सम्वत्सरयज्ञ के (परम्परया) स्वरूपाधाता हैं अतएव इनका यह कर्म्म ऋतुसम्बन्ध से किंवा ऋताग्नि-सोम-सम्बन्ध से 'आर्त्विज्य' कहलाया है। ऋतु का समन्वय कर देना ही आर्त्विज्य कर्म्म है। इसी ऋतात्मक ऋतुसमन्वय से वायु ऋत्विक् कहलाए हैं। आग्नेय सौम्य देवताओं का संगमनलक्षण यजन कराने से ही इस 'वायु' नामक प्राकृतिक अध्वर्य्यु का यह कर्म्म 'याज्या' कहलाया है। इसप्रकार प्राकृतिक ऋताग्निसोममय आग्नेय सौम्य देवताओं का आर्त्विज्यकर्म्म तद्रूप देवमूर्त्ति यजुरात्मक वायुदेवता के द्वारा ही सम्पादित है।

उत्तराधारकर्म्म एकप्रकार का आर्त्विज्यकर्म्म ही है इसी से अग्नीषोमात्मक वैध यज्ञ की स्वरूप-निष्पत्ति होने वाली है। इस देवसम्मिश्रण (अग्नि-सोम-सम्मिश्रण) लक्षण आर्त्विज्यकर्म्म का सम्पादन यजुर्वेदी अध्वर्य्यु करता है। देववर्ग की अपेक्षा मनुष्यवर्ग निम्नश्रेणि में प्रतिष्ठित है। उत्तमश्रेणिस्थ दो महापुरुषों का सम्बन्ध एक निम्नश्रेणि का व्यक्ति नहीं करा सकता। यदि कराता है तो यह उसकी धृष्टता है। आज मनुष्य अध्वर्य्यु को अगत्या इसी धृष्टता का अनुगमन करना पड़ रहा है। उत्तराधार के द्वारा यह आज दोनों देवताओं का आर्त्विज्य करने वाला है। अपने अगतिकगतिक इस धृष्टतादोष से बचने के लिए ही उत्तराधारलक्षण आर्त्विज्यकर्म्म से पहिले ही देवता तथा पितरों को नमः एवं स्वधारूप से यह प्रार्थना कर लेता है कि यद्यपि मैं एक मनुष्य हूँ, निम्नश्रेणि में प्रतिष्ठित हूँ आप देवता हैं द्युलोक में प्रतिष्ठित हैं। ऐसी स्थिति में आपके संगमनरूप यजन की मुझमें योग्यता नहीं है। तथापि

कम्पन किया जाता है। इन दोनों कर्म्मों से जब रथ सज्जीभूत होजाता है तो अनन्तर सारथी स्वस्थान में बैठ कर कशाघात करता हुआ प्रेहि' [चल चल], 'वह' [रथ का वहन कर] इत्यादि प्रेरणात्मक वाक्यों का प्रयोग करता है रथ चल पड़ता है। उपरिष्टात् होने वाला तूष्णीं भावात्मक यह क्रियात्मक आहवनीयाग्नि-सम्मार्जन कशाघातानुगत प्रेरणाकर्म के संग्रह के लिए ही विहित है।

पहिले पूर्वाघार, अनन्तर उत्तराघार, दोनों आघारकर्म्मों के मध्य में अग्निसमार्ज्जनकर्म्म। पूर्वाघारकर्म्म धुरयोगस्थानीय परिधिसम्मार्ज्जनकर्म्म चक्रपार्श्वकम्पनस्थानी एवं आहवनीयाग्निसम्मार्ज्जनकर्म्म कशाघातानुगत प्रेरणाकर्म्म-स्थानीय। अब इस सम्बन्ध में केवल यही प्रश्न बच जाता है कि, दोनों आघारों के मध्य में अग्निसम्मार्ज्जनकर्म्म क्यों किया जाता है ?। इसी प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि, पूर्वाघार मन स्थानीय है एवं उत्तराघार वाक्स्थानीय है। दोनों यद्यपि गर्भीभाव से समान हैं तथापि स्वरूप से दोनों पृथक्-पृथक् हैं। इस पार्थक्य-सम्पत्ति-संग्रह के लिए ही मनोऽनुगत पूर्वाघार, तथा वागनुगत उत्तराघार, दोनों के मध्य में अग्निसम्मार्ज्जनकर्म्म किया जाता है। यही अग्निसम्मार्ज्जन-कर्म्म की संक्षिप्त उपपत्ति है, जिसका ब्राह्मण की १३ १४ १५, इन तीन कण्डिकाओं से स्पष्टीकरण हुआ है ॥ १५ ॥

पूर्वाघारकर्म्मसमाप्त

चौथे अध्याय में चौथा, तथा तीसरे प्रपाठक में ६ ठा ब्राह्मण समाप्त

तीसरा प्रपाठक समाप्त

—३—

छायामय असुरभाव की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए ही आगे चलकर— 'विष्णो स्थानमसि' इस मन्त्रभाग का उच्चारण विहित है। कौन कहता है कि, यह भूप्रदेश आसुर है ? । यह तो यज्ञमूर्त्ति विष्णु का आवास-स्थान है। यहाँ खड़े होना तो यज्ञसान्निध्य में ही खड़ा होना है। यह वही स्थान है, जहाँ पर खड़े हो कर सौर इन्द्र दक्षिणस्थ आसुरप्राण का विनाश किया करते हैं। यह वही सुरक्षित स्थान है जहाँ पर खड़े हुए इन्द्र की रक्षा में देवताओं का सम्वत्सरयज्ञ सम्वत्सर विलाओं में वितत हुआ है। इसप्रकार यज्ञात्मक, अतएव विष्णुरूप आहवनीयाग्निरूपमाला की सीमा के सान्निध्य से एवं दक्षिणस्थ इन्द्रप्राण के समावेश से यह नियत दक्षिण भूप्रदेश सर्वथा निरुपद्रव, यज्ञिय एवं यज्ञस्वरूपसम्पादक ही बन रहा है। 'इत इन्द्रो वीर्य्यमकृणोत्०' इत्यादि मन्त्रभाग दक्षिणभूप्रदेश की इस महत्ता का ही संग्राहक बन रहा है ॥२॥

आहुतिमल उपस्थित होगया है। अतएव आहुतिग्राहक आहवनीयाग्नि में आहुति का उच्च स्थायित्व रखने के अभिप्राय से कहा जाता है कि, हे आहवनीयाग्ने ! आप ही इस यज्ञ के होता हैं, एवं आप ही इस यज्ञ के दूत हैं। हुत आग्नेयद्रव्य का स्वसीमा में प्रतिष्ठित प्राणदेवताओं में आधान करना भी आप ही का श्रम है, आहुतिद्रव्य-ग्रहण के लिए द्युलोकस्थ देवताओं का यहाँ आह्वान करना भी आप ही का श्रम है एवं यहीतारयाहुति-देवताओं के द्वारा यजमाना मा को द्युलोकस्थ देवप्राणाकर्षण से युक्त करना भी आप का ही श्रम है। आहुति देना मात्र मेरा श्रम शेष सम्पूर्ण उत्तरदायित्व आप पर निर्भर, यही निष्कर्ष है। आहुतिग्रहण करने के अनन्तर समिद्ध आहवनीयाग्नि-'अवन्द्रो हृम्यं वहसि हविष्कृत आदिद्देवेषु राजसि [ऋक् सं० ८।६०।१५] इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार प्राणरूप से इस आहुतिद्रव्य को गर्भीभूत बना कर अग्नि ही इस पृथिवीलोक से द्युलोक में ले जाते हैं। द्यावापृथिवीरूप वाङ्मय वषट्कार-सीमा से सुरक्षित हो-कर ही यह आग्नेयप्राण ऊर्ध्वगमन करता है। साथ ही यही अग्नितत्त्व इसी यज्ञ के द्वारा द्यावापृथिवी का भी स्वस्वरक्षक बन रहा है। आत्मा शरीर का रक्षक है तो शरीर आत्मा का रक्षक है। अग्नि आत्मा है, द्यावापृथिवी शरीर है। दोनों परस्पर एक दूसरे के स्वरूपरक्षक बन रहे हैं। प्रश्न-आहुति अग्नि के द्वारा निर्विघ्न पृथिवी से द्युलोक की ओर चली जाय,-'अवता त्वा द्यावा०' इत्यादि मन्त्रभाग का यही निष्कर्ष है।

सर्वान्त में—'स्विष्टकृद्देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषाभूत् स्वाहा' इस मन्त्रशेष का उच्चारण कर स्वाहा के साथ स्रुक् से उत्तराघार-आहुति दे दी जाती है। आहुति दी जाती है—यद्यपि आहवनीयाग्नि में ही, तथापि लक्ष्य है इस आहुति का द्युलोक की अवाप्ति। एकविंशस्तोमावच्छिन्न द्युलोक में इन्द्र का साम्राज्य है। भूकेन्द्र से २१ पर्य्यन्त वितत यज्ञ के अन्त में इन्द्र प्रतिष्ठित हैं, अतएव इन्हें यज्ञपति कहा जाता है। यज्ञपति की तृप्ति ही यज्ञस्वरूप की निष्पत्ति का अन्यतम द्वार है। अतएव वायुदेवेन कृत उत्तराघार का इन्द्र से सम्बन्ध मान लिया गया है। इसके अतिरिक्त यही इन्द्र एक दूसरे दृष्टिकोण से वाक्तत्त्व का भी संग्राहक बन रहा है। वागिन्द्रियलक्षण वाक्तत्त्व (शब्दप्रपञ्च) की मूल-प्रतिष्ठा वायाग्नियुक्त आध्यात्मिक वायु है। "वायु प्राण, शब्दस्तम्' इत्यादि प्रातिशाख्य-सिद्धान्त के अनुसार वायु ही शब्दात्मिका वाक् का प्रवर्त्तक है।

यदि वाक् में केवल वायु का ही समावेश होता तब तो पशुवाग्वत् मानुषीवाक् में केवल अविच्छिन्न ध्वनि ही उपलब्ध होती। मानुषीवाक् में वर्ण-शब्द-पद-वाक्यादि की भी व्यवस्थित विभक्तियाँ हैं। यह

आपके ही अनुग्रह से मैं आर्त्विज्यकर्म्म करने जारहा हूं'। धृष्टता-निह्नवनुगत इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही उत्तरपार से पहिले जुहू-उपभृत् को रख कर इनके पूर्वभाग में अञ्जलिनिधान किया जाता है। आग्नेयप्राण देवता हैं एवं सौम्यप्राण पितर हैं। यज्ञ में इन्हीं दोनों का आगमन अपेक्षित है। इसी अभिप्राय से-'नमो देवेभ्य'-[ऋताग्नये], स्वधा पितृभ्यः [ऋतसोमाय] यह कहा गया है। अञ्जलि-पुटनिधान की इसी उपपत्ति को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा है-"तद्देवेभ्यश्चैवैतत्पितृभ्यश्चार्त्विज्यं करिष्यन् निह्नुते'।

अपरापनिह्नवनन्तर आज्यपूर्ण जुहूपात्र को अपने दक्षिण हाथ में उठाता है साथ ही मन्त्रशक्ति के द्वारा इस आज्य को अस्कन्न बनाने की भावना करता है। तात्पर्य्य इस अस्कन्नभावना का यही है कि, यदि आहवनीय के दक्षिण भाग की ओर आज्य पूर्ण स्रुग्पात्र को उत्तरपार के लिए ले जाते हुए जुहू से आज्यमात्रा भूमि पर गिर जायगी तो यज्ञ की अविच्छिन्न धारा टूट जायगी। स्रुक्-स्थित आज्य देवयज्ञ-वितान के लिए ही नियत है। इस आज्य का कम्पित होजाना यज्ञपुरुष का ही कम्पित होजाना है एवं नीचे गिर जाना यज्ञसन्तान का ही विच्छिन्न होजाना है। साथ ही यह भूमिष्ठ आज्यभाग शत्रुसमृद्धि का भी कारण बन जाता है। क्योंकि 'यद्वै यज्ञस्यातिरिक्तं तद्भ्रातृव्यस्य' इस निगम के अनुसार यज्ञोपयोग से बहिर्भूत यज्ञिय द्रव्य यज्ञकर्त्ता यजमान के शत्रु का ही पोषक माना गया है। इन सब यज्ञस्वरूपविघातक कम्पन विच्युति, आदि दोषों से बचने के लिए अध्वर्यु को बड़ी सावधानी से ही आज्यपूर्ण स्रुक् को दक्षिण की ओर ले जाना चाहिए। जिससे न तो आज्य में कम्पन ही हो, एवं न आज्यमात्रा भूमि पर ही गिरे। दक्षिणभाग असुरप्राणाक्रान्त है। अतएव इस आज्यरक्षा के लिए ही यह विशेष विधान हुआ है ॥ १ ॥

उत्तरपार के लिए नियत सञ्चरमार्ग से अध्वर्यु को यज्ञात्मक आहवनीयाग्नि के दक्षिण भूप्रदेश की ओर आना पड़ता है। आहवनीयाग्नि साक्षात् यज्ञपुरुष है विष्णु है। इसका अतिक्रमण करना भी एकप्रकार की धृष्टता ही है। साथ ही यज्ञ से अपने आपको पृथक् करना भी है। दक्षिणभाग असुरस्थान है यहाँ आना यज्ञसम्बन्ध को छोड़ना है पूर्व से दक्षिण की ओर जाना इसका अतिक्रमण करना है। इन दोनों दोषों से बचने के लिए-"अतिक्रमणं विष्णो मा त्वाऽवक्रमिषम्' मन्त्र बोलता हुआ ही दक्षिण की ओर गमन करता है। मन्त्र का भाव यही है कि, मैं अवज्ञा से यज्ञ का अतिक्रमण नहीं कर रहा अपितु यज्ञस्वरूपनिष्पत्ति के लिए ही मुझे अगत्या दक्षिण की ओर जाना पड़ता है।

उत्तरभाग सौरज्योति के सम्बन्ध से ज्योतिर्म्मय है, एवं दक्षिणभाग असुरप्राण के सम्बन्ध से छायामय है। छायामय आसुर भूप्रदेश यज्ञस्वरूप का विघातक है। आज उत्तरपार के लिए अध्वर्यु को अगत्या इस प्रदेश में आना पड़ रहा है। इस छायामय आसुरभाव की निवृत्ति के लिए ही "वसुमतीमग्ने ते छायामुप स्थेयम्' इस मन्त्रपक्ष का आश्रय लिया जाता है। प्रदेश छायामय अवश्य है परन्तु यही छायामय प्रदेश उत्तरपार के द्वारा अग्नि-सम्बन्धी वसु (सम्पत्) का प्रापक है यज्ञसाधक है। हम आसुरप्रदेशात्मक छायामय भाग में नहीं जारहे अपितु आहवनीयाग्नि लक्षण यज्ञमण्डल की ही छत्रच्छाया में (आश्रय में) जारहे हैं। अत्रागमन से ही यज्ञसिद्धिलक्षणा सम्पत् की प्राप्ति होगी। इस कथन से असुरभाव का निराकरण करता है एवं वसुभाव का स्थापन करता है ॥ २ ॥

प्रुवा से आज्य-समञ्जन कराया जायगा, तो यजमान के धातु में भी घी का स्थापन हो जागया। केवल यजमान ही घी से युक्त रहे, इस उद्देश्य से केवल जुहू से ही (उपभृत् को जुहू से सर्वथा पृथक् रखते हुए ही) समञ्जनकर्म्म किया जाता है ॥ ६ ॥

ध्रुवापात्र आत्मस्थानीय है एवं जुहूस्थित आज्यशेषांश शिर स्थानीय है, इस कथन से समञ्जनकर्म्म की आध्यात्मिक-पशानुगता उपपत्ति का स्पष्टीकरण हुआ। अब समञ्जन-मन्त्रार्थ के द्वारा आधिदैवकपशानुगता उपपत्ति का स्पष्टीकरण किया जाता है। "तस्यासावेव द्यौर्जुहूः, अथेदमन्तरिक्षमुपभृत्, इयमेव ध्रुवा। तद्याऽअस्या एवेमे सर्वे लोकाः प्रभवन्ति। तस्माद् ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति" (शत १।३।४।८) इत्यादि श्रुति के अनुसार आधिदैविक (त्रैलोक्यात्मक) प्राकृतिक यज्ञ की दृष्टि से निदानेन जुहूपात्र द्युलोकस्थानीय है एवं ध्रुवापात्र पृथिवीस्थानीय है। यज्ञ के द्वारा पार्थिव आङ्गिरस प्राणदेवताओं का, तथा द्युलोकस्थ सौर सावित्र प्राणदेवताओं का ही परस्पर सम्बन्ध अपेक्षित है। इस सम्बन्ध का अधिष्ठाता मध्यस्थ वह अन्तरिक्ष ही है, जिस में घृतात्मक तेजोरस व्याप्त रहता है।

'घृतमन्तरिक्षस्य" (शत ७।५।१।३।) के अनुसार अन्तरिक्ष आज्यरस से परिपूर्ण है। इसी आज्यरस से ध्रुवास्थ पृथिवीलोक में प्रतिष्ठित आङ्गिरज्योति-(रूपज्योति)-मय पार्थिवदेवताओं का, तथा जुहूरूप द्युलोक में प्रतिष्ठित सावित्रज्योति-(स्वर्ज्योति)-र्मय दिव्य देवताओं का परस्पर सम्बन्ध होरहा है। जुहूस्थित आज्य का ध्रुवास्थित आज्य से सम्बन्ध कराना द्युलोकस्थ ज्योतिर्मय देवताओं का पार्थिव ज्योतिर्मय देवताओं के साथ सम्बन्ध कराते हुए देवसङ्गमनलक्षण यज्ञस्वरूप का ही सम्पादन करना है। इसी आधिदैविक-उपपत्ति को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है- 'ते ह्येतेउभे ज्योतिषी सङ्गच्छेते। तस्मादेवं समनक्ति' ॥ ७ ॥

पूर्वाघार मन सम्पत्ति का संग्राहक है एवं उत्तराघार वाक्सम्पत्ति का संग्राहक है। मनोऽनुगत पूर्वाघार तूष्णीं (उपांशुरूपेण) किया जाता है एवं वागनुगत उत्तराघार मन्त्रपूर्वक (निरुक्तरूपेण) किया जाता है। तूष्णीं, मन्त्रेण की उपपत्तियाँ पूर्व में बतलाई जाचुकीं हैं। अब मनोऽनुगत पूर्वाघार से सम्बन्ध रखने वाले तूष्णींभाव की एक अन्य उपपत्ति बतलाने के लिए, साथ ही प्रसङ्गोपात्त वाङ्मय अग्निप्राण के स्वरूप-निरूपण के लिए एक वैज्ञानिक आख्यान उपस्थित होरहा है।

"मन, और वाक् दोनों में 'अहंभद्र' को लेकर विवाद चल पड़ा। वाक् कहने लगी-मैं बड़ी हूँ मन कहने लगा-मैं बड़ा हूँ। वागपक्षया अपना श्रेष्ठत्व स्थापित करता हुआ मन कहने लगा कि, मेरे संकल्पित-भावित-अर्थों के अनुरूप ही तुझे चलना पड़ता है। मनोऽपक्षया अपना श्रेष्ठत्व स्थापित करती हुई वाक् कहने लगी कि तेरे संकल्प को मैं ही प्रकटरूप प्रदान करती हूँ। दोनों अपने इस विवाद को लेकर प्रजापति की सेवा में उपस्थित हुए। प्रजापति ने मन का पक्ष ग्रहण करते हुए यही निर्णय किया कि 'तुम दोनों में मन ही श्रेष्ठ है'। प्रजापति के इस निर्णय से वाक् का दपदलन होगया उसका अभिमान विदीर्ण होगया। परिणामतः इस अपमान से खिन्न होने वाली वाक् ने यह कह डाला कि, हे प्रजापते ! आपने मुझे मन से छोटा बतलाया है, अतएव आज से मैं आपके लिए हविर्द्रव्य का वहन नहीं करूँगी।

विभक्तिमात्र ही वाक् का विभक्तिकरणलक्षण व्याकरण है एवं ज्ञानमूर्ति प्राज्ञ इन्द्र ही इस व्याकरण के प्रवर्त्तक हैं। इसप्रकार वायुवत् इन्द्र का भी वाक्तत्व में समावेश सिद्ध होजाता है। अतएव वाक् को 'इन्द्र' माना जासकता है। अधिदैवत में वाक् आकाश है, यही इन्द्र है। इन्द्रात्मक आकाश (वाक्) ही वलमन्थितारतम्य से पञ्चमहाभूतरूप में परिणित हुआ है। इन्द्र ज्योति का अधिष्ठाता है एवं ज्योति ही इन्द्र है। वाक् (शब्द) व्यापार इसी इन्द्र के द्वारा ज्योति (ज्ञान) का उद्बोधक बनता है। पञ्चप्रकृति के अनुसार सौरमण्डल वाङ्मय है यहीं इन्द्र प्रतिष्ठित है। इसप्रकार अनेक दृष्टियों से वाक् तथा इन्द्र का अविनाभाव सिद्ध होरहा है। इसी आधार पर—"इन्द्रो वागित्याहुः" यह निगम प्रतिष्ठित हैं। अतएव वागनुगत उत्तराघारश्रुति-साधक मन्त्र में इन्द्र को उद्देश्य मान लिया गया है॥ ४॥

पूर्वब्राह्मण में यह स्पष्ट किया गया है कि पूर्वाघार इस यज्ञपुरुष का मूलस्थानीय हृदय है, एवं उत्तराघार तूलस्थानीय शिरोभाग है। अब शेष आत्मभाग ('चत्वार आत्मा' से सङ्केतित मध्याङ्ग-शरीर) रह जाता है। जिसप्रकार आत्मभाग-(मध्य)-स्थ [उदरस्थ] रस से सम्पूर्ण आध्यात्मिक मध्य का पोषण होता है एवमेव रसात्मक आज्य से परिपूर्ण ध्रुवापात्र के रस [आज्य] से सम्पूर्ण वैध यज्ञ की इतिकर्त्तव्यता पूरी होती है। इसी समानता से ध्रुवापात्र को इस यज्ञ-पुरुष का 'आत्मा' कहा गया है। बिना शिर के आत्मा [मध्य] अपूर्ण है मर्त्य है। इसकी इस अपूर्णता को दूर करने के लिए ही उत्तराघारानन्तर जुहू में शेष बचे आज्य का [जुहू को उपभृत् से पृथक् रखते हुए] ध्रुवा के साथ योग कराया जाता है। उत्तराघारशेषांश शिरःस्थानीय है ध्रुवा आत्मस्थानीय है। शेषांश का ध्रुवा से योग कराना आत्मा [मध्य] में शिरोभाग स्थापित करते हुए यज्ञ-पुरुष को पूर्णाङ्ग ही बनाना है।

'चत्वार आत्मा द्वौ पक्षौ पुच्छं प्रतिष्ठा' [शत० ६।१।१।६।] इत्यादि श्रौत- सिद्धान्त के अनुसार चार मर्त्य प्राणों से मध्य [मध्याङ्ग] का एक मर्त्यप्राण से दक्षिणहस्तपादरूप दक्षिणपक्ष का एक मर्त्यप्राण से वामहस्तपादरूप वामपक्ष का एवं एक मर्त्यप्राण से मेरुदण्डमूलानुगता प्रतिष्ठाभिधा त्रिकास्थि से सम्बद्ध प्रतिष्ठाभाग का निर्माण होता है। इसप्रकार सप्तपुरुष-पुरुषात्मक चित्याग्नि से शिरो-विरहित शेष सम्पूर्ण शरीर की चिति होती है। इन सातों मर्त्य पुरुषों [प्राणों] का ऊर्ध्व वितूहन होता है। सातों के मन्थन से समुद्भूत दधिमन्थनोत्थ आज्य-स्थानीय सारभाग ही 'श्री' भाग है। यही सप्त अमृतप्राणात्मक श्रीभाग मस्तक का स्वरूप निर्म्मापक बनता है। इसी श्री के सम्बन्ध से मस्तकप्रदेश 'शिरः' कहलाया है। सम्पूर्ण शरीर में इसी श्री के सम्बन्ध से शिरोभाग श्रेष्ठ माना गया है। इसी आधार पर जिस लोकसंस्था में जो श्रेष्ठ [मुखिया] होता है वही उस संस्था का 'शिर' कहलाया है। आत्मरूप मर्त्यभाग [ध्रुवा] में इसी शिरोरूप श्रीभाग' (उत्तराघार-शेषांशरूप आज्यभाग) को प्रतिष्ठित किया जाता है। यही समञ्जन की दूसरी उपपत्ति है॥ ५॥

समञ्जनकर्म्म के सम्बन्ध में एक प्रश्न शेष रह जाता है। जुहू को उपभृत् से पृथक् रखते हुए ही क्यों जुहूस्थित आज्य का ध्रुवा से सम्बन्ध कराया जाय? इस प्रश्न का उत्तर उपभृत् के नैदानिक स्वरूप से सम्बन्ध रखता है। ध्रुवापात्र निदानेन यज्ञकर्त्ता यजमान की प्रतिकृति है एवं उपभृत्पात्र निदानेन यजमान के शत्रु की प्रतिकृति है। इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन पूर्व में किया जाचुका है। उपभृत् यजमान के शत्रु का नैदानिकरूप है। ऐसी अवस्था में यदि जुहू के साथ उपभृत् का सम्बन्ध रखते हुए यजमानस्थानीय

पूर्वाघार मनोऽनुगत है यहाँ वागुष्यापार प्रकृत्या अवरुद्ध है। अतएव मनोऽनुगत पूर्वाघार उपांशु ही किया जाता है। न केवल मनोनुगत पूर्वाघार ही, अपितु यज्ञ में जितने भी प्राजापत्य कर्म विहित हैं सब इसी सिद्धान्त के आधार पर उपांशु ही किए जाते हैं ॥८,६,१०,११,१३॥

हृदयावच्छिन्न मनोमय प्रजापति के लिए वाक् क्यों 'अहव्यवाद्' बनी ?, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। श्रुति ने इसका समाधान यह किया है कि, प्रजापति के निर्णय से वाक् का गर्भपात हो गया। अपमानिता वाक् ने आवेश में आकर यह निर्णय कर डाला कि, मैं प्रजापति के लिए हव्यवहन नहीं करूँगी। वाक् के गर्भ का क्या स्वरूप ?, 'अपमान का क्या स्वरूप ?, इन प्रश्नों के समाधान के लिए सुप्रसिद्ध धामच्छद अत्रिप्राण की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। ऋक्–साम–तत्त्वों से नित्ययुक्त 'यत्' लक्षण तिमान् प्राण से अनुगृहीता 'जू' लक्षणा लक्ष्या–वाक् ही यच्चयावत् वागृषियों की जननी है। इसी वाक् से–'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेव साऽसृज्यत (शत ६।१।१।९) इत्यादि श्रौत सिद्धान्त के अनुसार आपोमय परमेष्ठी का प्रादुर्भाव होता है। इस परमेष्ठी में उष्ण शीत, अनुष्णाशीत–भेद से अङ्गिरा (उष्ण) भृगु (शीत) एवं अत्रि (अनुष्णाशीत), इन तीन 'मनोता' नामक तत्त्वों का प्रादुर्भाव होता है। इनमें उष्ण अङ्गिरा देवसृष्टि का शीत भृगु पितृसृष्टि का एवं अनुष्णाशीत अत्रि भूतसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है। भूतसृष्टि धामच्छदा है, स्थाना–वरोधिनी है (जगह रोकती है)। यह धामच्छदधर्म्म उसी अत्रि का धर्म्म है। यही वाक का गर्भ है। इसी गर्भ से यह वाक् हृदय की ओर न जाकर बहिर्म्मण्डल की ओर अनुगत होती है।

मन–प्राण–वाक् मय आत्मा में मन ज्ञानात्मक बनता हुआ अधामच्छद है प्राण क्रियात्मक बनता हुआ अधामच्छद है। परन्तु वाक् अर्थात्मिका बनती हुई धामच्छदा है। अपने अर्थधर्म्म से वाक् में तमोगुण का प्राधान्य होजाता है। यह तमोभाग ही अत्रिभाग है जो कि वाक् का प्रातिस्विक वीर्य्य माना गया है। इसी अत्रिलक्षण तमोभाग के समावेश से भूतसर्ग प्रयुक्त हुआ है। ऋतुमती स्त्री में वागरेतोलक्षण इसी धामच्छद अत्रिप्राण का समावेश रहता है। अतएव ऋतुमती स्त्री 'आत्रेयी' कहलाई है। अत्रिभाग तमोगुण प्रधान है मलीमस है अतएव रजस्वला स्त्री असच्छूद्रवत् अस्पृश्या मानी गई है। श्रुति कहती है कि जो आत्रेयी स्त्री का स्पर्श करता है वह पापाभिभूत होजाता है। 'अस्मन्' शब्द प्राणीलक्षण चेतन भूतसर्ग के लिए प्रयुक्त हुआ है एवं 'यस्मिन् वा' शब्द प्राणलक्षण अचेतन भूतसर्ग के लिये प्रयुक्त हुआ है। चेतन भूत एवं अचेतन भूत भूतात्मक उभयविध धामच्छद्सर्ग वाग्–गर्भरूप अत्रि से ही समुद्भूत है। प्रकृत में इस अत्रि–मीमांसा से यही निष्कर्ष निकलता है कि धामच्छद अत्रि के सम्बन्ध से वाक्तत्त्व अर्थप्रधान बनता हुआ बहिर्मुख ही बन जाता है। अर्थातीत हृदयभाव की ओर इसका अनुगमन अवरुद्ध होजाता है। इसी अधमभावना से इसका आत्मधर्म्मानुगत स्वाभाविक विकास अवरुद्ध होरहा है। यही

उक्त आख्यान से मन तथा वाक् के स्वाभाविक स्वरूपों का ही विश्लेषण हुआ है। प्राणवाग्गर्भित मनोमय प्रजापति हृदय में प्रतिष्ठित है। यहाँ से– "आत्मा बुद्धया समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया" इत्यादि शिक्षा–सिद्धान्त के अनुसार वायु के सहयोग से वर्णात्मिका (शब्दात्मिका) वैखरीवाक् का उद्गम होता है जैसाकि पूर्व के सामिधेनी–ब्राह्मण में हिङ्कारानुगत–नाद–श्रुति–स्वरूप–विश्लेषणात्मक सन्दर्भ में विस्तार से बतलाया जाचुका है। मानस ज्ञान ही इस वर्णवाक् का आधार बनता है। मानस ज्ञान के अनुरूप ही वर्णस्वरूप की निष्पत्ति होती है। फलतः मन इसका जनक है वाक् इसकी पुत्री है। यही कारण है कि सुषुप्त्यवस्था में जब मन विज्ञानात्मा (बुद्धि) के साथ मिल कर पुरीतति नाड़ी में चला जाता है तो वाग्व्यापार अवरुद्ध होजाता है। मन को आलम्बन बनाए बिना वाग्व्यापार असम्भव है। उधर मन बिना वाक् के (अनुष्टुप्–वाग्लक्षणा वैखरीवाक् के) सहयोग के बिना भी (परावाक् के सहयोग से) स्वव्यापार (संकल्प) सञ्चालन में समर्थ होजाता है।

इन्हीं कतिपय कारणों से निश्चित है कि मन–वाक् इन दोनों में वागपेक्षया मन ही ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ है। 'प्रजापति ने यह निर्णय किया' इस कथन का यही तात्पर्य है कि मन की श्रेष्ठता का कारण उसका हृदयावच्छिन्न प्राजापत्य-धर्म्म ही है। परिधि हृदय, दोनों में हृदय ही परिधि का मूलाधार, एवं प्रथम प्रवर्त्तक है। "तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा * के अनुसार हृदयावच्छिन्न मनोमय अनिरुक्तप्रजापति ही वाङ्मय परिमण्डल का प्रवर्त्तक तथा आधार है। अनुष्टुप् वाक् का हृदय से बाहिर की ओर ही विकास होता है। वाक् की बहिर्गति है। फलतः हृदयावच्छिन्न मनोमय प्रजापति को वाग्व्यापार से कभी ग्रहण नहीं किया जा सकता। कैसा महत्त्वपूर्ण समन्वय है। हमारा जितना भी वाग्व्यापार है वह सब केवल बाह्य प्रपञ्च का ही उपोद्बलक है। कभी शब्दजाल से आत्मतुष्टि सम्भव नहीं है। क्योंकि पराङ्मुख शब्द की अन्तर्मुख हृदय प्रजापति की ओर गति ही नहीं है।

'नेति नेति' ही उसकी वास्तविक उपनिषत् है। लोकदृष्टि से भी जो व्यक्ति अपने कर्म्म का वाग् के द्वारा बखान करते रहते हैं निश्चयेन उनका कर्म्म आत्मसम्पत्ति से सर्वथा ही वञ्चित होजाता है। ऐसा कर्म्म निर्बल है। सबल–सात्त्विक–वही कर्म्म माना जायगा, जो आत्मशक्ति से युक्त रहेगा। एवं आत्मशक्ति से वही कर्म्म युक्त रहेगा जिसमें वाग्व्यापार का अधिकाधिक अभाव रहेगा। वाग्व्यापारसंकोच से मनोबल अधिकाधिक जितना ही प्रबुद्ध बनेगा कर्म्म में उतनी ही अधिक बलवृद्धि होगी। अतएव कर्म्मसिद्धि के लिए,–अपने कर्म्म को सुदृढ़–सफल–सरस बनाने के लिए बिना उसका बखान किए चुपचाप ही कर्म्म का अनुगमन करना चाहिए। यही कर्म्मसिद्धि का अन्यतम द्वार है।

---

* प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते–
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा।
—यजुःसंहिता

इसका अपमानित होना है। अपमानलक्षणा अर्यंगरिमा ही इसे प्राजापत्यानुगति से वञ्चित किए हुए है। 'वाक् का प्रजापति की ओर अनुगमन क्यों नहीं होता' इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥१३॥

(उत्तराघारकर्म्मसमाप्त)

चौथे अध्याय में पाँचवाँ, तथा चौथे प्रपाठक में प्रथम ब्राह्मण समाप्त

द्विब्राह्मणात्मक–'आघारब्राह्मण' समाप्त

चौथा अध्याय समाप्त

४

श्रीः

अथ--शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये

प्रथमकाण्डे

पंचमोऽध्यायः

५



श्रीः

इति—शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये—

प्रथमकाण्डे

चतुर्थोऽध्याय समाप्त

४



'ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्राविताारः' इति। एते वै ब्राह्मणा यज्ञस्य प्रावितारो ये ऽनूचाना । एते ह्येनं तन्वते, एत एनं जनयन्ति। तद् तेभ्यो निह्नुते। तस्मादाह ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितार इति ॥ १२ ॥

५–मानुषहोतृवरणकर्म—

'असौ मानुष'–इति तदिमं मानुषं होतारं प्रवृणीते। अहोता हैष पुरा, अथैतर्हि होता ॥ १३ ॥

६–स्वस्त्ययनजप

स प्रवृतो होता जपति, देवता उपधावति। यथानुपूर्व्या देवेभ्यो हव्यं वहेद्, यथा न ह्वलेद्–एवं देवता उपधावति ॥ १४ ॥

तत्र जपति 'एतत्त्वा देव सवितर्वृणत इति' तत्सवितारं प्रसवायोपधावति। स हि देवानां प्रसविता। 'अग्निं होत्राय' इति। तदग्नये चैवैतद् देवेभ्यश्च निह्नुते। यद् ह्यग्रेऽग्निमाह—तद् अग्नये निह्नुते। अथ यो देवानां होता–तमग्रे आह तद् देवेभ्यो निह्नुते ॥ १५ ॥

'सह पित्रा वैश्वानरेण' इति। संवत्सरो वै पिता वैश्वानरः प्रजापतिः। तत्संवत्सरायैव एतत्प्रजापतये निह्नुते ॥ 'अग्ने पूषन् बृहस्पते प्र च वद, प्र च यज' इति। अनुब्रुवन् वा एतद् यजन् भवति; तदेवाभ्य एवैतद् देवताभ्यो निह्नुते–'यूयमनुब्रूत, यूयं यजत' इति ॥१६॥

'वसूनां रातौ स्याम, रुद्राणाम् उर्व्याम्, स्वादित्या अदितये स्यामानेहस' इति। एते वै त्रया देवाः–यद् वसवो रुद्रा आदित्या। एतेषामभिगुप्तौ स्याम–इत्येवैतदाह ॥१७॥

'जुष्टामद्य देवेभ्यो वाचमुद्यासम्' इति। जुष्टमद्य देवेभ्योऽनूच्यासमित्येवैतदाह। तद्धि समृद्ध–यो जुष्टं देवेभ्योऽनुब्रवत् ॥१८॥

'जुष्टां ब्रह्मभ्यः' इति। जुष्टामद्य ब्राह्मणेभ्योऽनूच्यासमित्येवैतदाह। तद्धि समृद्ध यो जुष्टं ब्राह्मणेभ्योऽनुब्रवत् ॥१९॥

'जुष्टां नराशंसाय' इति। प्रजा वै नरः। तत्सर्वाभ्य प्रजाभ्य आह। तद्धि समृद्धम्। यश्च वद, यश्च न, साध्वन्ववोचत्–साध्वन्ववोचद्–इत्येव विसृज्यन्ते 'यदस्य। होतृषद्य जिह्मं चक्षु परापतत्, अग्निष्टत् पुनराभ्रियाज्जातवेदा विचर्षणि' इति। यथा यानग्रेऽग्नीन होत्राय प्रावृणात–त प्राधन्वन्, एव यमस्य प्रवरणामापि, तम पुनराप्यायय-इ पर्येतस्माद। तथा हास्यैतत्पुनराप्यायत ॥२०॥

२—होतृप्रवरणम्

स आश्राव्य-य एव देवानां होता, समेवाग्रे प्रवृणीते-अग्निमेव । तद् अग्नये चैवैतद् देवेभ्यश्च निह्नुते । यदहाऽग्निं प्रवृणीते-तद् अग्नये निह्नुते, अथ यो देवानां होता, तमग्रे प्रवृणीते, तद् देवेभ्यो निह्नुते ॥ ४ ॥

स आह-'अग्निर्देवो दैव्यो होता इति । अग्निर्हि देवानां होता, तस्मादाह-'अग्निर्देवो दैव्यो होते ति । तद् अग्नये चैवैतद् देवेभ्यश्च निह्नुते । यदहाग्रेऽग्निमाह-तदग्नय निह्नुते । अथ यो देवानां होता-,तमग्रे आह-तद् देवेभ्यो निह्नुते ॥ ५ ॥

'देवान्यक्षद्विद्वांश्चिकित्वान्' इति । एष वै देवाननु विद्वान्-यदग्निः । स एतान-ननु विद्वान्-यदग्निः । स एताननु विद्वान् अनुष्ठ्या यक्षद्-इत्येवैतदाह ॥ ६ ॥

'मनुष्वद् भरतवद् इति । मनुर्ह वा अग्रे यज्ञेनेजे, तदनुकृत्येमाः प्रजा यजन्ते, तस्मादाह-मनुष्वदिति । मनोर्यज्ञ -इत्यु वा आहुः, तस्माद्वेवाह-मनुष्वदिति ॥ ७ ॥

भरतवदिति एष हि देवेभ्यो हव्यं भरति, तस्माद्भरतोऽग्निरित्याहुः । एष उ वा इमा प्रजा प्राणो भूत्वा बिभर्ति, तस्माद्वेवाह-भरतवदिति ॥ ८ ॥

३—आर्षेयप्रवरणम्—

अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवैनम्-एतद् देवेभ्यश्च निवेदयति-'अयं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापद्' इति, तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ॥ ९ ॥

परस्तादर्वाक् प्रवृणीते । परस्ताद्धि अर्वाच्य प्रजाः प्रजायन्त, ज्यायसस्पत्य उ चैवैतन्निह्नुते । इद हि-पितैवाग्रे, अथ पुत्रः, अथ पौत्रः । तस्मात्परस्तादर्वाक् प्रवृणीते ॥ १० ॥

४—अग्नि-ब्राह्मणा-नुग्रह-कर्म—

स आर्षेयमुक्त्वा आह-'ब्रह्मण्वद्' इति । ब्रह्म ह्यग्निः, तस्मादाह-ब्रह्मण्वदिति । 'आ च वक्षद्' इति । तथा एवैतद् देवता आवोढवा आह, ता एवैतदाह-आ च वक्षदिति ॥ ११ ॥

मूलानुवाद—
पाँचवें अध्याय में पहिला, तथा चौथे प्रपाठक में दूसरा ब्राह्मण उपक्रान्त
"प्रवरब्राह्मण"
२१—प्रवरणकर्म्म

१—आश्रावणकर्म्म—

(अनुवाद)–(आहवनीयाग्नि में ब्राह्मणानुगत सूत्रप्रदर्शित पद्धति क्रमानुसार पूर्वाघाराघारद्वय-सम्पादन के अनन्तर)यह (अध्वर्य्यु नामकऋत्विक प्रवरकर्म्म के लिए ('होता' नामक ऋत्विक के वरण के लिए, "ओ श्रावय" इत्यादिरूप से) आश्रावण करता है। सो जो कि यह अध्वर्य्यु होता के वरण के लिए आश्रावण करता है (उस आश्रावणकर्म्म की उपपत्ति यही है कि), यह आश्रावण (यज्ञस्वरूपसम्पादक होने से) यज्ञ ही है। यज्ञ का आश्रय लेकर (ही) मैं होता का वरण करूँ इसी लिए प्रवरकर्म्म के लिए आश्रावण करता है ॥ (१) ॥

यह अध्वर्य्यु इध्मसन्नहनों (यज्ञियकाष्ठसम्भार के बाँधने के तृणसमूहों) को ही लेकर आश्रावण करता है। यह अध्वर्य्यु यदि यज्ञ (यज्ञ का वस्तु) को न लेकर आश्रावण करेगा तो यह निश्चयेन प्रथम तो कम्पित होजायगा अथवा तो (पतनादिलक्षण) अन्य किसी पीड़ा का भागी बनेगा (इसलिए इध्मसन्नहनरूप यज्ञ से सम्बन्ध करके ही आश्रावण करना चाहिए) ॥(२)॥

कितने एक याज्ञिक यदि पर स्थित बर्हि को लेकर अथवा इध्मकाष्ठ की वल्कल को इध्म से पृथक् कर उसे हाथ में लेकर आश्रावण करते हैं और ऐसा करते हुए (वे अपने इस बर्हि, अथवा इध्मवल्कल-ग्रहण की उपपत्ति यह बतलाते हैं कि) यह बर्हि, अथवा इध्मवल्कल यज्ञ का ही कुछ भाग (यज्ञावयव होने से यज्ञरूप ही) है। इस इस यज्ञ को आश्रय बना कर ही आश्रावण करें। (भगवान् याज्ञवल्क्य इस सम्बन्ध में अपना निर्णय प्रकट करते हुए कहते हैं कि)— आश्रावणकर्म्म ऐसे (बर्हि, अथवा इध्मवल्कल लेकर) न करे। ये ही यज्ञ के निश्चयेन कुछ (भाग) हैं, जिन (तृणसमूहों) से काष्ठभार बाँधा जाता है जिन में अग्निसम्मार्जनकर्म्म करते हैं। (ऐसी दशा में इन इध्मसन्नहनों का ग्रहण करने से ही) निश्चयेन यज्ञ को आश्रय बनाकर आश्रावण करता है (आश्रावण करने में समर्थ होजाता है) अतः इध्मसन्नहनों का आश्रय बना-

७–सम्मर्शनकर्म्म—

अथाध्वर्युं चाग्नीध्रं च समृशति । मनो वा अध्वर्युं वाग् होता । तन्मनश्चैवैतद् वाचं च सन्दधाति ॥२१॥

तत्र जपति–'षण् मोर्वीरंहसस्पान्तु—अग्निश्च पृथिवी च आपश्च वाजश्च अहश्च रात्रिश्च' इति । एता मा देवता आर्त्तेर्गोपायन्तु-इत्येवैतदाह । तस्यो हि न ह्वला स्ति-यमेता देवता आर्त्तेर्गोपायेयु ॥२२॥

८–उपावर्त्तनकर्म्म—

अथ होतृषदनमुपावर्त्तते । स होतृषदनादेकं तृणं निरस्यति– निरस्तः परावसु' इति । परावसुर्ह वै नामासुराणां होता, स तमेवैतद् होतृषदनाद् निरस्यति ॥२३॥

अथ होतृषदन उपविशति 'इदमहमर्वावसो सदने सीदामि' इति । अर्वावसुर्ह नाम देवानां होता, तस्यैवैतत् सदने सीदति ॥२४॥

तत्र जपति–'विश्वकर्म्मंस्तनूपा असि । मा मोदोषिष्टम्, मा मा हिंसिष्टम्, एष वां लोकः' इति । उदङ् एजति । अन्तरा वा एतद्–आहवनीयं च गार्हपत्यं चास्ते । तदु ताभ्यां निह्नुते-मा–मोदोषिष्टम्-मा मा हिंसिष्टम्–इति । तथा हैनमेतौ न हिंस्त' ॥२५॥

९–अग्नीक्षणकर्म्म—

अथाग्निमीक्षमाणो जपति– विश्वेदेवाः शास्तन मा यथेह होता वृतो मनवै यन्नि-षद्य । प्र मे मूत भागधेयं यथा वो येन पथा हव्यमा वो वहानि' (ऋ० सं० १० ।५२ १) इति । यथा येभ्य पक्ष स्यात् तान् मूयात्,–'अनु मा शास्त–यथा वः आहरिष्यामि, यथा च परिवेक्ष्यामि' इति । एवमेवैतद् देवेषु प्रशासनमिच्छते–अनु मा शास्त,–यथा वोनुष्ठया वषट् कुर्याम्, अनुष्ठया हव्यं वहेयम् इति । तस्मादेव जपति ॥२६॥

इति–प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये प्रथम ब्राह्मण
चतुर्थप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मण
उपरतम्
प्रवरब्राह्मणात्मकम्

(आगे का मन्त्रभाग है)-"देवान् यद्वद्विद्वांश्चिकित्वान्" (हे अग्ने! अपने होत्रकर्म्म के प्रभाव से-आप दिव्य प्राणदेवताओं को भलीभाँति पहिचानते हैं इसी स्वरूपज्ञान के आधार पर आप देवताओं का यजन करने में समर्थ हुए हैं।) ये निश्चयेन दिव्यप्राण देवताओं के ज्ञाता हैं, जो कि अग्नि हैं। वे अग्नि इन दिव्य-देवताओं को जानते हुए इनका यथाविधि यजन करें, (मन्त्रभाग से) यही कहा गया है ॥६॥

(आगे का मन्त्रभाग है)-"मनुष्वद्भरतवत्" (हे अग्ने! मनु की भाँति तथा भरत की भाँति अपने होत्रकर्म्म से हमारे इस यज्ञ को सुसम्पन्न बनाइए)। मनु ने ही सर्वप्रथम यज्ञ के द्वारा (दिव्यप्राणों का पार्थिवप्राणों के साथ) यजन किया था। उस मानवयज्ञ को आधार बनाकर (अनुकरण कर के) ही ये (वर्त्तमान) प्रजाएँ यज्ञानुष्ठान करतीं हैं। इसी अभिप्राय से 'मनुष्वत्' कहा है। अपिच (यज्ञसम्प्रदाय में यज्ञ के लिए यज्ञवेत्ता) 'यह मनु का यज्ञ है' यह कहा करते हैं। इस अभिप्राय से भी 'मनुष्वत्' यह कहा गया है। (तात्पर्य्य यही हुआ कि, यह यज्ञ मनुकृत यज्ञ की प्रतिकृति है इस अभिप्राय से तथा यह यज्ञ उस प्रसिद्ध मनुयज्ञ की भाँति महत्त्वपूर्ण है, इसी अभिप्राय से 'मनुष्वत्' कहना सुसमन्वित बन जाता है) ॥(७)॥

(उक्त मन्त्रभाग में) 'भरतवत्' यह पठित है। (इसका तात्पर्य्य यही है कि) यह (अग्नि) ही (दिव्यलोकस्थ प्राणात्मक) देवताओं के लिए (भूलोक से) हव्य लेजाते हैं। इसी हव्य-धारण धर्म्म से (अग्नि के सम्बन्ध में वैज्ञानिक लोग) 'यह अग्नि भरत हैं' यह कहा करते हैं। अपिच यही (प्राणविध अग्नि) प्राणरूप में परिणत होकर इन पार्थिव प्रजाओं का भरण-पोषण करता है, इसलिए भी 'भरतवत्' यह कहा गया है। (तात्पर्य्य यही है कि देवताओं के लिए हविर्वहन करने से भी ये अग्नि 'भरत' हैं, एवं मानवप्रजावर्ग का प्राणरूप से भरण-पोषण करने से ' कहना अन्वर्थ बनता है) ॥८॥

३—आर्षेयप्रवरण (यजमानवरण)

[दिव्यहोतृप्रवरणात्मक होतृप्रवरणकर्म्म के] अनन्तर यह अध्वर्यु [ऋषिवंशपरम्परा से सम्बन्ध रखने वाले ऋषिवंशज अतएव] 'आर्षेय' [ऋषिवंशसम्बन्धी उस यजमान] का वरण करता है। [अर्थात् देवहोतृवरणानन्तर ऋषिवंशज मनुष्य यजमान का वरण करता है]। मनुष्य-यजमानप्रवरणरूप आर्षेयप्रवरणकर्म्म से ही यह अध्वर्यु ऋषियों तथा देवताओं के प्रति ही इस [यजमान] को निवेदित करता है कि [वास्तव में] यह [यजमान] बड़ा पुरुषार्थी है, जो कि यज्ञ को [यज्ञसम्पादन के लिए] प्राप्त [प्रवृत्त] हुआ है। इसी प्रयोजन के लिए आर्षेयवरण [यजमान-वरण] करता है ॥[९]॥

कर ही आश्रावण करना चाहिए। (तात्पर्य्य यही है कि, जो प्रयोजन बर्हि, अथवा इध्मसंनहन-ग्रहण का है, वह प्रयोजन जब इध्मसन्नहन से गतार्थ होजाता है साथ ही इध्मसन्नहनग्रहण जब पद्धति से अनुगृहीत है तो ऐसी दशा में इध्मसन्नहनों को आश्रय न बनाकर बर्हि, अथवा इध्मवल्कल को आश्रय बना कर आश्रावण करना व्यर्थ, तथा पद्धतिविरुद्ध है) ॥(३)॥

२—दिव्य होता (प्राणाग्नि) का वरण—

(इसप्रकार इध्मसन्नहनों का ग्रहण कर 'ओ श्रावय' इस रूप से) वह अध्वर्य्यु आश्रावण कर (अनन्तर) जो कि देवताओं (प्राणदेवताओं) का होता है, सबसे पहिले उसी अग्नि का वरण करता है। (सर्वप्रथम 'अग्नि' नामक दिव्य होता का वरण करता हुआ वह अध्वर्य्यु) अपने इस अग्निवरणकर्म्म से अग्नि के लिए, एवं देवताओं के लिए ही (अपने आपका) निह्नव (अपराध के लिए क्षमायाचना) करता है। जो कि सर्वप्रथम अग्नि को अपना लक्ष्य बनाता है (अग्नि का वरण करता है), इससे (वो) अग्नि के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है, एवं जो देवताओं का होता है उसे सर्वप्रथम अपना लक्ष्य बनाता है, इससे देवताओं के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है। (तात्पर्य्य यही है कि जिस दिव्य अग्नि का अध्वर्य्यु सर्वप्रथम वरण करता है, वह स्वस्वरूप से अग्नि है, एवं दिव्य देवताओं का होता बनता हुआ सर्वदेवमूर्त्ति भी है। इसके वरण से अग्नि का प्रातिस्विक अग्निस्वरूप से भी निह्नव होजाता है, एवं होतृरूप से सर्वदेवस्वरूप से भी निह्नव होजाता है। इसप्रकार एक ही अग्नि के वरण से अग्नि, तथा देवता दोनों से निह्नव होजाता है) ॥(४)॥

(उपपत्ति बतलाकर अब पद्धति बतलाते हैं)—वह अध्वर्य्यु—* "अग्निर्देवो दैव्यो होता" (हे अग्ने ! आप देवता—द्युलोकस्थ दिव्य तत्त्व—हैं साथ ही आप दिव्य देवताओं के दिव्य सम्वत्सरयज्ञ के होता हैं) यह मन्त्र बोलता है। अग्निदेवता निश्चयेन 'होता' हैं, इसीलिए 'अग्निर्देवो दैव्यो होता' यह कहा गया है। इस (मन्त्रभाग) से अग्नि के प्रति तथा देवता के प्रति किए गए अपराध का ही शमन करता है। जो कि सर्वप्रथम अग्नि का वरण करता है, इससे तो अग्नि के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है एवं जो देवताओं का होता है, उसके सर्वप्रथम वरण से देवताओं के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है ॥(५)॥

---

* "अग्निर्देवो दैव्यो होता देवान् यक्षद्विद्वांश्चिकित्वान् मनुष्वद्भरतवत्"
—इति निगदमन्त्रः ।

अस्य यज्ञस्य प्राविताव' इस मन्त्र से ऋत्विग्ब्राह्मणों के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है]।

५—मानुष होता का वरण—'

[अनन्तर]—"असौ मानुष' इस मन्त्रपाठ के द्वारा मनुष्य होता का वरण करता है। इस वरणकर्म से पहिले पहिले अबतक] यह [आज होतृत्वेन वृत यह मनुष्य] अहोता ही था आज इस मन्त्रपाठरूप वरण से ही यह होता बना है॥ [१३]॥

६—स्वस्त्ययनजप--

[अध्वर्यु के द्वारा होने वाले 'असौ मानुष' इस मन्त्रपाठात्मक वरणकर्म्म से होतृत्वेन] प्रवृत यह होता [वरणकर्म्मानन्तर स्वस्त्ययनलक्षण मन्त्रों का] जप [उच्चारणलक्षण पारायण] करता है। [इस जपकर्म्म से यह होता] प्राणदेवताओं का ही आश्रय ग्रहण करता है। जिसप्रकार याज्याकर्म्मकाल में वषट्कर्त्तव्यप्राणदेवता को लक्ष्य बना कर यथाविधि उनके लिए वषट्कार करने में समर्थ होसके देवताओं के लिए यथाविधि हव्य-वहन करने में समर्थ होसके कोई काम पद्धति के विरुद्ध न होजाय इसी प्रयोजन के लिए जप के द्वारा यह होता देवता का आश्रय लेता है। [तात्पर्य्य यही है कि अपने हौत्रकर्म्म को निर्विघ्न-स्वस्तिभावपूर्वक पूरा करने के लिए जप के द्वारा देव-बल प्राप्त करना ही स्वस्त्ययनजप की उपपत्ति है]॥ [१४]॥

स्वस्त्ययनजप की उपपत्ति बतला कर अब पद्धति बतलाते हैं]—यह होता यहाँ [उस प्रक्रान्त वरणकर्म्मकाल में निम्न लिखित मन्त्र का] जप करता है—"एतत्त्वा देव सवितर्वृणते" [हे सविता देवते! मुझ मानुष होता के वरणव्याज से अध्वर्युलोग आप ही का वरण कर रहे हैं]। इस मन्त्रजप से होता सविता की ओर ही उनकी अनुज्ञा के लिए अनुधावन करता है—अभिमुख होता है। यही [सविता ही] देवताओं का [देवताओं के यज्ञात्मक कर्म्म का] प्रेरयिता है। [तात्पर्य्य यही है कि अध्वर्यु ने जो मेरा वरण किया है उसका उत्तरदायित्व उस प्राणात्मक सविता देवता पर ही है, जिसके अनुग्रह से मैं अपने हौत्रकर्म्म में सफल बन सकूँगा]। [आगे का मन्त्र भाग है]—"अग्निं होत्राय" [अध्वर्यु लोग हौत्रकर्म्म के लिए अग्नि का ही वरण करते हैं]। इस मन्त्रजप से यह मानुष होता अग्नि के प्रति तथा अग्निमय प्राणदेवों के प्रति किए गए अपराध का ही शमन करता है। जो कि सर्वप्रथम यह अग्नि को हौत्रकर्म्म का लक्ष्य बनाता है, इससे तो अग्नि के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है। एवं साथ ही जो अग्नि देवताओं का होता है उसे प्रथम लक्ष्य बनाता है इससे देवताओं के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है॥ [१५]॥

पर (पूर्वपीढ़ी) से अवर (उत्तरपीढ़ी) की ओर आर्षेय का वरण करता है। (अर्थात् पूर्व-पीढ़ी से आरम्भकर उत्तर पीढ़ी पर्य्यन्त अध्वर्यु यजमान के वंशजों का यशोगान करता है।। (पर से अवर की ओर प्रवरण करने का कारण यही है कि,—पर से अवर की ओर ही मानवक्रम चलता है। (इसप्रकार परपुरुषों से अवरपुरुष पर्य्यन्त नामग्रहण) द्वारा (यह अध्वर्यु) उन वंशजों के प्रति किए गए (यजमान के) अपराध का ही शमन करता है। यह लोकप्रसिद्ध है-कि, (वंशा-म्परा में) पहिले पिता (का स्थान) है अनन्तर पुत्र (का स्थान) है अनन्तर पौत्र (का स्थान) है। इसीलिए (स्वाभाविक प्राकृतिक सन्तानक्रम के आधार पर ही) पर से अवर की ओर वरण करता है ॥* (१) ॥

४—अग्नि, तथा ब्राह्मणों की अनुग्रहप्राप्ति—

(इसप्रकार यजमान—सम्बन्धी वंशजों के नामोल्लेखात्मक) आर्षेय का उच्चारण करने के अन-न्तर यह अध्वर्यु "ब्रह्मण्वत्" (हे अग्ने! आप प्रतिष्ठात्मक ब्रह्म से समनुस्यूत हैं) यह मन्त्रभाग बोलता है। (यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा होने से) यह अग्नि 'ब्रह्म' है। [किंवा इस यज्ञकर्म में प्रतिष्ठात्मक ब्रह्म निश्चयेन अग्नि है।] इसी अभिप्राय से ब्रह्मण्वत्' कहा है। [आगे का मन्त्रभाग है]— "आ च वक्षत्" [ऐसे ब्रह्मलक्षण हे अग्ने! आप यज्ञिय देवताओं का आह्वान करने वाले हैं]। जिन देवताओं को इस अग्नि के द्वारा इस यज्ञ में बुलाने के लिए कहा गया है प्रकृत— 'आ च वक्षत्' इस मन्त्रभाग से उन्हीं की ओर सङ्केत हुआ है ॥ [११] ॥

[आगे का मन्त्रभाग है]—"ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्राविताराः" [ये ब्राह्मण-ऋत्विक् इस यज्ञ के स्वरूप-सम्पादक हैं]। ये ब्राह्मण निश्चयेन यज्ञ के सञ्चालक तथा रक्षक हैं जो-कि त्रयीविद्या का ग्रह, शस्त्र, एवं स्तोत्र रूप से अनुवचन करने वाले हैं, ये ही ऋत्विग् ब्राह्मण इस यज्ञ को [त्रेताग्निरूप से] वितत करते हैं, ये ही अनूचान ब्राह्मण (आहुति के द्वारा) इस यज्ञ (अग्नि-वितानरूप वेदात्मा) को उत्पन्न करते हैं, (ये ब्राह्मणा इत्यादि मन्त्रोच्चारण के द्वारा) उन्हीं अनू-चान ऋत्विग् ब्राह्मणों के प्रति [अज्ञानवशात्] किए गए अपराध का शमन करता है। इसी अभि-प्राय से 'ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्राविताराः' यह कहा गया है ॥ [१२] ॥

[इसप्रकार 'अमुवदमुवत्' रूप से पहले अध्वर्यु आर्षेय वरण करता है, अनन्तर 'ब्रह्म-ण्वदा च वक्षत्' रूप से अग्नि के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है अनन्तर-'ब्राह्मणा

* "अमुवदमुवत्" इति।

अस्य यज्ञस्य प्राविता' इस मन्त्र से ऋत्विग्ब्राह्मणों के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है]।

५—मानुष होता का वरण—

[अनन्तर]—"असौ मानुष" इस मन्त्रपाठ के द्वारा मनुष्य होता का वरण करता है। इस वरणकर्म्म से पहिले पहिले अबतक] यह [आज होतृत्त्वेन् वृत यह मनुष्य] अहोता ही था आज उक्त मन्त्रपाठरूप वरण से ही यह होता बना है ॥ [१३] ॥

६—स्वस्त्ययनजप--

[अध्वर्यु के द्वारा होने वाले 'असौ मानुष' इस मन्त्रपाठात्मक वरणकर्म्म से होतृत्त्वेन प्रवृत्त यह होता [वरणकर्म्मानन्तर स्वस्त्ययनलक्षण मन्त्रों का] जप [उच्चारणलक्षण पारायण] करता है। [इस जपकर्म्म से यह होता] प्राणदेवताओं का ही आश्रय ग्रहण करता है। जिसप्रकार यागकर्म्मकाल में उपटकर्त्तव्यप्राणदेवता को लक्ष्य बना कर यथाविधि उनके लिए वषट्कार करने में समर्थ होसके देवताओं के लिए यथाविधि हव्य-वहन करने में समर्थ होसके, कोई क्रम पद्धति के विरुद्ध न होजाय इसी प्रयोजन के लिए जप के द्वारा यह होता देवता का आश्रय लेता है। [तात्पर्य्य यही है कि अपने हौत्रकर्म्म को निर्विघ्न-स्वविभावपूर्वक पूरा करने के लिए जप के द्वारा देव-बल प्राप्त करना ही स्वस्त्ययनजप की उपपत्ति है] ॥ [१४] ॥

स्वस्त्ययनजप की उपपत्ति बतला कर अब पद्धति बतलाते हैं]-वह होता वहाँ [उस प्रक्रान्त वरणकर्म्मकाल में निम्न लिखित मन्त्र का] जप करता है-"एतत्त्वा देव सवितर्वृण ते" [हे सविता देवते! मुझ मानुष होता के वरणव्याज से अध्वर्यु लोग आप ही का वरण कर रहे हैं]। इस मन्त्रजप से होता सविता की ओर ही उनकी अनुज्ञा के लिए अनुधावन करता है—अभिमुख होता है। वही [सविता ही] देवताओं का [देवताओं के यज्ञात्मक कर्म्म का] प्रेरयिता है। [तात्पर्य्य यही है कि अध्वर्यु ने जो मेरा वरण किया है उसका उत्तरदायित्व उस प्राणात्मक सविता देवता पर ही है जिसके अनुग्रह से मैं अपने हौत्रकर्म्म में सफल बन सकूँगा]। [आगे का मन्त्र भाग है]—"अग्निं होत्राय" [अध्वर्यु लोग हौत्रकर्म्म के लिए अग्नि का ही वरण करते हैं]। इस मन्त्रजप से यह मानुष होता अग्नि के प्रति तथा अग्निमय प्राणदेवों के प्रति किए गए अपराध का ही शमन करता है। जो कि सर्वप्रथम यह अग्नि को हौत्रकर्म्म का लक्ष्य बनाता है, इससे तो अग्नि के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है। एवं साथ ही जो अग्नि देवताओं का होता है उसे प्रथम लक्ष्य बनाता है, इससे देवताओं के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है ॥ [१५] ॥

आगे का मन्त्रभाग है)—' सह पित्रा वैश्वानरेण'[२] (वे ऋत्विक् पिता वैश्वानर से युक्त अग्नि का वरण करते हैं) पिता वैश्वानर निश्चयेन (सवनत्रयात्मक यज्ञमूर्ति) सम्वत्सर है, जो कि (सम्वत्सर) प्रजापति है। अतः ('सह पित्रा वैश्वानरेण' इस मन्त्रजप के द्वारा) यह होता सम्वत्सरप्रजापति के प्रति किए गए अपराध का ही शमन करता है। (आगे का मन्त्रभाग है)— ' अग्ने पूषन् बृहस्पते प्र च वद, प्र च यज" (हे अग्ने ! हे पूषन् ! हे बृहस्पते ! आप ही प्रवचन कीजिए, आप ही यजन कीजिए) । यह होता 'अनुवाक्या' नामक ऋचाओं का उच्चारण करेगा एवं इस अनुवचनकर्म्मपूर्वक 'याज्या' नामक ऋचाओं से देवताओं का यजन करेगा। जिन देवताओं के लिए यह अनुवचन, तथा यजन करने वाला है, उक्त मन्त्रजप के द्वारा) वह होता इन देवताओं के प्रति किए गए अपराध का ही शमन करता है। (मन्त्रद्वारा अपना उत्तरदायित्व हटाता हुआ यही भाव व्यक्त कर रहा है कि) हे देवताओ ! आप ही अनुवचन कीजिए एवं आप-ही याज्या कीजिए। (अर्थात् मैं अनुवचन यजन नहीं कर रहा अपितु देवता ही यह कर्म्म मुझ से करवा रहे हैं) ॥ (१६) ॥

(आगे का मन्त्रभाग है)– 'वसूनां रातौ स्याम, रुद्राणामुर्व्यां स्वादित्या अदितये स्यामनेहसः'[१] (हम इस सत्स्वरूपनत्रुपलक्षण कर्म्मसे वसुदेवताओं की सम्पत्ति में प्रतिष्ठित हों आदित्यदेवता हमारे लिए सुप्रतिष्ठात्मक बनें त्रिदेवात्मकमूर्त्ता अदिति के लिए हम निर्दोष बने रहें) । निश्चयेन (सम्वत्सर-त्रिलोकी में) जो तीन ही (मुख्य अधिष्ठाता) देव हैं, जो कि वसु-रुद्र आदित्य (नाम से प्रसिद्ध) हैं। 'हम (यज्ञद्वारा सम्वत्सर-सम्पत्ति को प्राप्त करते हुए) इन्हीं तीनों की रक्षा में प्रतिष्ठित रहें' मन्त्र से यही कहा गया है ॥(१७)॥

(आगे का मन्त्रभाग है)—"जुष्टामद्य देवेभ्यो वाचमुद्यासम्" (हम इस यज्ञकर्म्म में देवताओं के लिए उनके लिए सेवनीय-अनुकूल-वाक् का प्रयोग करें) आज हम देवताओं के लिए शोभनवाणी बोलने में असमर्थ हों मन्त्र से यही कहा गया है। यही [यज्ञ के लिए] समृद्ध [सम द्धिप्राप्ति का कारण] है, जो कि देवताओं के लिए [होता] शोभन-प्रिय-वाणी का उच्चारण करता है ॥ [१८] ॥

[आगे का मन्त्रभाग है]— 'जुष्टां ब्रह्मभ्यः'' [यज्ञ में उपस्थित ऋत्विजादि ब्राह्मणगण के लिए मैं प्रियवाणी का प्रयोग करूँ]। "मैं ब्राह्मणों के लिए शान्ता अनुद्वेगकरी प्रियभाषा का प्रयोग करूँ मन्त्र से यही कहा गया है। यही समृद्ध है जो कि ब्राह्मणों के लिए प्रियवाणी बोलता है ॥ [१६]॥

[आगे का मन्त्रभाग है]—"जुष्टां नराशंसाय" [यज्ञ में दशाकरूपेण उपस्थित इतर द्वि-जाति प्रजाओं के लिए मैं प्रिय वाणी बोलूँ]। नर निश्चयेन प्रजा है। मन्त्रभाग से सर्वसाधारण सम्पूर्ण प्रजा के लिए [प्रिय भाषण करने के लिए ही] कहा गया है। यही समृद्ध है, [जिस कर्म्म को सुन्दर बनाकर] जो इस कर्म्म को जानता [देखता] है जो नहीं जानता [देखता] है सभी प्रजा साधुकर्म है, यह साधु कर्म है, इस प्रियभाषा का प्रयोग किया करते हैं। [सभी जिस कर्म्म की प्रशंसा करें, वही कर्म्म वास्तव में समृद्ध माना जाता है, यही तात्पर्य्य है]। [सर्वान्त में निम्न लिखित ऋङ्मन्त्र का जप करता है]—

"यदद्य होतृवर्ये जिह्म चक्षु परापतत्।
अग्निष्टत् पुनराभ्रियाज्जातवेदा विचर्षणि॥"

"आज इस होतृवरणकर्म्म में जिस किसी की भी कुटिल दृष्टि पड़ गई है—[जिस कुटिल दृष्टि से होत्रकर्म्म का स्वरूप विकृत हो गया है]—जातवेदा विचर्षणि अग्निदेवता उस का पुन सन्धान कर दें। [मन्त्रतात्पर्य्य का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है] जिसप्रकार जिन [तीन आख्या-नामक] अग्नियों का पहिले वरण किया था, वे [भय से] पलायित होगए थे, इसीप्रकार इस होतृवरणकर्म्म में मेरा जो कुछ [यज्ञसम्पद्भाग कुटिलदृष्टि निक्षेप से] पलायित होगया है हे अग्ने! आप उस की पुन क्षतिपूर्त्ति कर दिजिए, मन्त्र के द्वारा यही कहा गया है। इसप्रकार सत्यभाषणात्मक उक्त मन्त्रप्रयोग के द्वारा अवश्यमेव इस का वह क्षतभाग पुनः आप्यायित होजाता है॥ [२०]॥

७-सम्मर्शन (स्पर्श) कर्म्म-

[उक्त मन्त्र-परम्पराजप के] अनन्तर यह होता अध्वर्य्यु तथा आग्नीध्र का स्पर्श करता है। अध्वर्य्यु [निदानेन] मन है एवं होता [निदानेन] वाक् है। [आग्नीध्र निदानेन प्राणात्मक है]। ऐसी स्थिति में वाग्रूप अध्वर्यु तथा प्राणरूप आग्नीध्र का स्पर्श करता हुआ] मन, तथा वाक् [प्राण-का भी] का परस्पर सन्धान [मेल] करता है॥ [२१]॥

[मनः प्राण-वाक्-सन्धानात्मक स्पर्शकर्म्मानन्तर यह होता पुन अन्वारब्ध] जपकर्म्म का अनुगमन करता है। [जपमन्त्र है] 'पयमोर्वीरहसस्पान्तु अग्निश्च, पृथिवी च, आपश्च, वाज-श्च अहश्च, रात्रिश्च' [अग्नि पृथिवी जल अन्न दिन रात महत्त्वशाली ये ६ ओं देवता मेरी दुरितभाव से रक्षा करें]। ये ६ ओं देवता आपत्तियों से मेरी रक्षा करें मन्त्रभाग से यही कहा गया है। उस व्यक्ति के लिए आपत्ति की अणुमात्र भी आशङ्का नहीं है जिस की ये अग्न्यादि ६ ओं देवता आपत्तियों से रक्षा करते रहते हैं॥[२२]॥

८—उपावर्त्तनकर्म्म—

[एक मन्त्रजपानन्तर उपस्थान से] यह होता होतृषदन [स्वस्थान] की ओर लौट आता है। यहाँ आकर होतृषदन से एक दर्भतृण लेकर—"निरस्त परावसु" (परावसु नामक असुर यहाँ से निकल गया) यह मन्त्र बोलता हुआ [उस तृण को दक्षिण की ओर] फैंक देता है। परावसु नामक [असुरवंशराज व्यक्ति] असुरों का 'होता' था। [तृणनिरसनव्याज से] यह होता इसे ही होतृ-षदन से बाहिर निकालता है ॥[२३]॥

तृणनिरसनानन्तर यह होता होतृषदनस्थान में—"इदमहमर्वावसो सदने सीदामि" [मैं अर्वावसु के स्थान में बैठता हूँ] यह मन्त्र बोलता हुआ बैठता है। अर्वावसु नामक [देववंशराज व्यक्ति] देवताओं का 'होता' था। [आज] होता उसी के स्थान में बैठता है ॥ [२४] ॥

(होतृषदन-स्थान पर बैठ कर यह होता निम्न लिखित) मन्त्र का जप करता है— 'विश्वकर्म्मस्तनूपा असि' (हे विश्वकर्म्मन्!—आप शरीर की रक्षा करने वाले हैं)। अनन्तर 'मा मोद्दोषिष्टं, मा मा हिंसिष्टं एष वां लोकः' (हे गार्हपत्याग्ने!, आहवनीयाग्ने! आप मेरे शरीर को अतिशयरूप से ताप न पहुँचाइए आप मेरी हिंसा न कीजिए, क्योंकि यह आपका लोक है। मैंने जब इसीका आश्रय लिया है, तो भला उस दशा में आप क्यों मुझे त्रास देंगे)— इस मन्त्र का व्याख्या करता हुआ स्वस्थानरूप होतृषसदनस्थान से उत्तर की ओर मुख करता हुआ थोड़ा सा चलता है। इसप्रकार यह होता आहवनीय, तथा गार्हपत्य दोनों के मध्यस्थान में प्रति-ष्ठित है। अतः मन्त्रजप के द्वारा इन दोनों के प्रति किए गए अपराध का ही शमन करता है। इससे ये दोनों इसे पीड़ा नहीं पहुँचाते ॥ (२५) ॥

९—अभिदर्शनकर्म्म—

(ईषदुत्तरतश्चलना) नन्तर यह होता आहवनीयाग्नि की ओर देखता हुआ निम्न-लिखित मन्त्र का जप करता है—

"विश्वेदेवाः शास्तन मा यथेह होता वृतो मनवै यन्निषद्य।
प्र मे ब्रूत भागधेयं यथा वो येन पथा हव्य मा वो वहानि ॥
—ऋक्सं० १०।५२।१।

"हे विश्वेदेवो! आप मुझे आज्ञा दीजिए कि, जिसप्रकार इस यज्ञ में होता बनता हुआ—होतृत्वेन वृत होता हुआ—यहाँ प्रतिष्ठित होकर आपका यजन करूँ। साथ ही मुझ उन देवभागों

का बतलाइए, जिससे मैं यथानियत मार्ग से आपके लिए पहुँचा सकूँ। (लोकदृष्टान्त से मन्त्र-तात्पर्य का समन्वय करती हुई श्रुति कहती है कि,) लोक में जिन अतिथियों के लिए पाचक के द्वारा पाक (अन्न) होता है, सम्पन्न होजाने पर पाचक उन भोजन करने वालों से पूँछता है कि, भोजन सम्पन्न है, आज्ञा दीजिए, आपके लिए ले आऊँ, परोस दूँ। ठीक इसी लोकमर्यादा के अनुसार यह होता (स्वप्रवृत्त द्रव्य के सम्बन्ध में हव्यग्राहक) देवताओं की (इस रूप से) आज्ञा (ही) चाहता है कि—आज्ञा दीजिए, मैं आपके लिए यथाविधि वषट्कार करूँ, विधिपूर्वक हवि का वहन करूं। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए वक्तरूप से मन्त्रजप करता है ॥२६॥

इति—स्वस्त्ययनजप.

पाँचवें अध्याय में पहिला, तथा चौथे प्रपाठक में दूसरा ब्राह्मण समाप्त

"प्रवरणब्राह्मण" अत्र उपरत

मूलानुवाद समाप्त

सूत्रानुगतपद्धतिमर्गृह —

"आहवनीयाग्नि के दक्षिण भूप्रदेश में खड़े होकर आहवनीयाग्निज्वाला में समन्त्रक यागानुगत उत्तरोत्तर करने के अनन्तर (जुहूस्थित आज्य की अभिनिष्क्रम धारारूप से आहुति देने के अनन्तर) वह अध्वर्यु आहवनीय से पश्चिम मार्ग में लौट आता है। वहाँ आकर अनवरत से असंस्पृष्ट जुहू के अवशेषों का घृतपात्रस्थ आज्य से सम्बन्ध करा देता है" यह इतिकर्त्तव्यता पूर्वसूत्र से (३।४।२) प्रतिपादित हुई है। अब क्रमप्राप्त सूत्रानुगत आगे की इतिकर्त्तव्यता बतलाई जाती है। जुहूस्थित आज्यशेष का ध्रुवास्थित आज्य के साथ समञ्जन कराने के अनन्तर, दूसरे शब्दों में पूर्वोत्तराघारद्वय की इतिकर्त्तव्यता समाप्त करने के अनन्तर वह अध्वर्यु उपभृत्, जुहू, नाम के दोनों स्रुक्पात्रों को स्वस्थान में (इनके लिए पहिले से नियत स्थान में) रख देता है। इसप्रकार स्रुक्पात्रद्वयी के यथास्थान रखने के अनन्तर वह अध्वर्यु होता से उत्तरमार्ग के द्वारा निकल कर उत्करकूप के पश्चिम भाग की ओर पूर्वाभिमुख खड़ा होकर इध्मसन्नहनों (इध्म बाँधने के दर्भतृणों) को अपने हाथ में लेता हुआ—"ओ श्रावय" इस निगदमन्त्र का उच्चारण करता है।

आर्षेयसम्बन्धी अवश्य आर्षेय कहलाने वाले यज्ञकर्त्ता यजमान के वंश का कीर्त्तन करने के उद्देश्य से ही ओ श्रावय मन्त्र का उच्चारण होता है। इसका तात्पर्य यही निकलता है कि, हे आग्नीध्र! अब तुम यजमान की दिव्य देवताओं के प्रति सुनवाई करो। अध्वर्यु के मुख से निकलते हुए 'ओ श्रावय' वचन 'आश्रावण' की सफलता सूचित करता हुआ आग्नीध्र नामक ऋत्विक् अध्वर्यु से उत्तर दक्षिणाभिमुख खड़ा हुआ स्फ्य तथा इध्मसन्नहनद्वय हाथ में लेकर बोलता है—"अस्तु श्रौषट्"। अध्वर्युकृत 'ओ श्रावय' कर्म्म 'आश्रावण' कर्म्म है, एवं आग्नीध्रकृत 'अस्तु श्रौषट्' कर्म्म 'प्रत्याश्रावण' कर्म्म है। यह आश्रावण, तथा प्रत्याश्रावण कर्म्म यज्ञसम्बन्ध को अक्षुण्ण रखने के लिए इध्मसन्नहनों को हाथ में लिए ही करना चाहिए। कितने एक याज्ञिक यज्ञसम्बन्ध की प्रक्रान्ति के लिए यदि पर गिरे तृणखण्ड को अथवा इध्म की वल्कल को उखाड़ उसे हाथ में लेकर आश्रावण-प्रत्याश्रावण करते हैं जिस पक्ष का कि, शाख पयीकृ ति ने खण्डन किया है। इसप्रकार प्रवरणकर्म्म में सर्वत्र अध्वर्यु आश्रावण करता है आग्नीध्र प्रत्याश्रावण करता है। कर्कोपाध्याय का इस सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण और है कि इध्मसन्नहनग्रहण केवल होतृवरण-सम्बन्धी आश्रावण प्रत्याश्रावण-कर्म्म में ही होता है। आश्रावण प्रत्याश्रावण की इसी इतिकर्त्तव्यता का निम्न लिखित सूत्रचतुष्टयी से स्पष्टीकरण हुआ है—

(१)— "निधायेध्मसन्नहनान्यादा- यो आवये' त्याह" (का० श्रौ० सू० ३।२।३)।

(२)—'अस्तु श्रौषडित्यग्नीत्" का० ३।२।४)।

(३)—"वेदिबर्हिरिध्मशकलमपिच्छिद्य के" (का० ३।२।५)।

(४)—"एव सर्वत्राऽऽश्रुत-प्रत्याश्रुतेषु" (का० ३।२।६।)।

आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म्मानन्तर यह अध्वर्य्यु इध्मसन्नहनतृणों को अपने हाथ में रखता हुआ ही दिव्याग्निलक्षण होता का अपने इस यज्ञ में "अग्निर्देवो दैव्यो होता देवान् यक्षद्विद्वां श्चिकित्वान्मनुष्वद्भरतवत्" इस निगदमन्त्र का उच्चारण करता हुआ वरण करता है। इस प्रकार सर्वप्रथम दिव्याग्नि का ही वरण किया जाता है, जिस वरणकर्म्म का निम्न लिखित सूत्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

"अथ प्रवृणीते-ऽग्निर्देवो दैव्यो होता देवान्यक्षद्विद्वांश्चिकित्वान् मनुष्वद्भरतवत्" (का० ३।२।७।) इति।

दिव्याग्नि का इसप्रकार होतृत्वेन वरण करने के अनन्तर आर्षेय-यजमान का नामग्रहण पूर्वक वरण करता है। यजमान के सम्बन्ध से ही त्रिसंख्य ये आर्षेय 'यजमानार्षेय' कहलाए हैं। पर से इस ओर 'गोतमवत्—भरवत्—अङ्गिरोवत्' इत्यादि रूप से—'कश्यपवत् अवत्सारवत्—नैध्रुवत्' इत्यादि रूप से,—'भृगुवत्—च्यवनवत, अप्नवानवत् इत्यादि रूप से गौतम, कश्यप, भृगु भरद्वाजादि यजमान-गोत्रानुसार यजमान के तीनों वंशजों का निगदमन्त्रात्मकत्वेन उच्चारण करता है। अथवा यजमानकुल में जितने भी मन्त्रद्रष्टा प्रवराध्याय में उपवर्णित हैं, उन सब का नाम लिया जासकता है। किसी का मन्त्रकृत एक ऋषि है यही एक प्रवर कहलाया है। किसी के दो मन्त्रकृत हैं किसी के तीन हैं किसी के चार, किसी के पाँच हैं। वे क्रमश एकप्रवर, द्विप्रवर, त्रि प्रवर, चतुष्प्रवर, पञ्चप्रवर कहलाए हैं। जिसके जितने प्रवर हैं, उन सब का भी वरण करना पक्षान्तर है यही तात्पर्य्य है। दोनों पक्षों के सम्बन्ध में निष्कर्ष यही है कि आर्षेय प्रवरण में- आर्षेयं वृणीते यह कह कर भगवान आपस्तम्ब ने कहा है—एकं वृणीते, द्वौ वृणीते त्रीन् वृणीते, न चतुरो वृणीते न पञ्चातिवृणीते (आप० श्रौ २।१६।८)। यदि सूत्रगत त्रि-पक्ष को विधिपरक मान लिया जाता है तो तीन का ही वरण न्यायप्राप्त होता है एवं यही कात्यायन का प्रथम पक्ष है। यदि आर्षेयं वृणीते इसे विधि-परक माना जाता है तो सभी मन्त्र-द्रष्टाओं का वरण प्राप्त होजाता है, एवं यही कात्यायन का उत्तरपक्ष है।

अभिषिक्त क्षत्रिय [राजा] अनभिषिक्त क्षत्रिय, तथा वैश्य इन तीनों में वरणकर्मानुगता इति-कर्त्तव्यता कुछ विशेषता रखती है। यदि अभिषिक्त क्षत्रिय यज्ञ कर रहा है तो अध्वर्यु उस क्षत्रिय राजा के कुलपुरोहित के आर्षेयों का भी वरण कर सकता है, अथवा स्वयं राजा के आर्षेयों का भी वरण कर सकता है। यदि अनभिषिक्त सामान्य क्षत्रिय का तथा वैश्य का यज्ञ है तो इस अवस्था में प्रत्येक दशा में इन के कुल-पुरोहितों के आर्षेयों का ही वरण होता है। एक पक्ष यह भी है कि—ब्राह्मण, अभिषिक्त क्षत्रिय राजा अनभिषिक्त सामान्य क्षत्रिय-वैश्य सबका मनुवत् इस निगद मन्त्र के द्वारा भी आर्षेयवरण किया जासकता है। निम्न लिखित सूत्रपञ्चक से इसी आर्षेय-वरणकर्म का स्पष्टीकरण हुआ है—

(१)—'असुवदसुव' इति यजमानार्षेयायाह परस्तादर्वाग्वि त्रीणि' (का० ३।२।८)।

(२)—'यावन्तो वा मन्त्रकृत' (का० ३।२।८)।

(३)—'पुरोहितार्षेयेण वा' (का० ३।२।९)।

(४)—'क्षत्रियवैश्ययोश्च नित्यम्' (का० ३।२।१०)।

(५)—'मनुव' दिति वा सर्वेषाम्' (का० ३।२।१२)।

उक्त प्रकार से आर्षेयोच्चारणानन्तर यह अध्वर्यु 'ब्रह्मण्वदा च वक्षद् ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्राविता' इस निगदरूपमन्त्र का उच्चारण करता है। अनन्तर—'मुकुरक्त—शर्मा होता मानुष' (असौ मानुष') यह बोलता है। यह उच्चारण मानुष होता का ही वरण साधक है। मानुष होता का उच्चस्वर से नाम बोलना एक पक्ष है धीरे से (उपांशुरूप से) नामोच्चारण करना पक्षान्तर है। इसप्रकार मानुष-होतृवरणानन्तर यह होता (मानुष होता) एतत्त्वा देव सवित र्वृणीते० इत्यादि [शतपथब्राह्मणोक्त स्वस्त्ययनजप करने के अनन्तर] अध्वर्यु तथा आग्नीध्र दोनों के स्कन्ध * प्रदेश का स्पर्श करता है। स्पर्शानन्तर अध्वर्यु तथा आग्नीध्र दोनो यथा-स्थान बैठ जाते हैं। इसी इतिकर्त्तव्यता का उल्लेख करतेहुए सूत्रकार कहते हैं—

(१)— ब्रह्मण्वदा च वक्षद् ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्राविताऽसौ मानुष' इति होतृनामग्रहणम् (का० ३।२।१३)।

(२)—'उपांशु वा' (का० ३।२।१४)।

(३)—सम्मृश्य उपविशत' (का० ३।२।१५)।

इति सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह

---

* 'अंसऽध्वर्यु मन्वारभत-पारमस्थेन पाणिना आग्नीध्रमहृदयान
—का० श्रौ० सू० ३।३।२।३।१।

वैज्ञानिक-विवेचना —

१—आश्रावणकर्म्मोपपत्ति —

(भाष्य)–उत्तराघार-कर्म्मानन्तर जुहूस्थित आज्यशेष का ध्रुवास्थित आज्य से समञ्जन कराया जाता है, अनन्तर जुहू-उपभृत् नामक दोनों स्रुक्पात्रों को यथास्थान रख दिया जाता है। इस कर्म्म के अनन्तर वरणकर्म्म आरम्भ होने वाला है। जिन दर्भतृणसमूहों से यज्ञिय इध्म (काष्ठ) बांधे जाते हैं वह तृणसमष्टि 'इध्म-सन्नहन' नाम से व्यवहृत हुई है। इसे अपने हाथ में लेकर ही अध्वर्यु, तथा आग्नीध्र नामक ऋत्विक् आश्रावण-कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता पूरी करते हैं। पहिले अध्वर्यु 'ओ श्रावय' इस निगदमन्त्र का उच्चारण करता है, अनन्तर आग्नीध्र 'अस्तु श्रौषट्' इस निगदमन्त्र का उच्चारण करता है, यही प्रत्याश्रावणानुगत आश्रावणकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता है जैसा कि सूत्रानुगत-पद्धतिप्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है। ब्राह्मण की १, २, ३ इन तीन कण्डिकाओं में उपपत्ति-प्रदर्शनपूर्वक इस आश्रावणकर्म्म का ही प्रतिपादन हुआ है।

वरणकर्म्म से पहिले आश्रावण क्यों किया जाता है ?, इसी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान करती हुई श्रुति कहती है 'यज्ञ आश्रावणा कर्म्म निश्चयेन यज्ञ है'। वरणकर्म्म से तत् ऋत्विजों के द्वारा यज्ञेतिकर्त्तव्यता का ही सम्पादन अभीष्ट है। दूसरे शब्दों में वरणकर्म्म एकप्रकार का यज्ञाधिकार (यज्ञेतिकर्त्तव्यता-निर्वाहाधिकार)—प्रदान है। इस यज्ञाधिकार-प्रदानलक्षण वरणकर्म्म के उपक्रम में प्राकृतिक यज्ञ का सम्बन्ध अपेक्षित है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आश्रावणात्मक यज्ञ का वरणकर्म्म से पहिले अनुगमन किया जाता है। 'ओ श्रावय' इस निगदमन्त्र का तात्पर्य यही है कि जिसका आज हम इस यज्ञ में वरण करना चाहते हैं उसे प्राकृतिक देवता स्वीकार करलें। इसे हम आपके यजनरूप यज्ञकर्म्म के लिए आज होता बना रहे हैं' यही आश्रावण का निष्कर्ष है। आङ्गिरस पार्थिव प्राण-देवताओं का आहुति-द्रव्य के द्वारा सावित्र द्युलोकस्थ प्राण-देवताओं के साथ अन्तर्य्याम-सम्बन्धात्मक यजन करना ही 'यज्ञ' है। आश्रावणकर्म्म से दिव्य प्राणदेवताओं की दृष्टि क्योंकि इस यज्ञकर्म्म की ओर होजाती है एतावता ही देवप्राणाकर्षकरूप आश्रावण को यज्ञ कहा जासकता है। इसप्रकार आश्रावणकर्म्म करना दिव्यप्राणात्मक यज्ञ का ही अनुगमन करना है। जिसकी स्वरूप-निष्पत्ति के लिए वरणकर्म्म अभीष्ट है, आश्रावणकर्म्म से वह लक्षीभूत बन जाता है। अतएव वरण से पहिले आश्रावणकर्म्म आवश्यक बन जाता है॥ १॥

जिन दर्भतृणसमूहों से (दर्भरज्जु से) यज्ञिय इध्म काष्ठ बांधे जाते हैं वे 'इध्मसन्नहन' (लकड़ी बांधने की दर्भरज्जु) नाम से व्यवहृत हुए हैं। वेदि पर जो तृण आदि गिर पड़ते हैं उन्हें इसी दर्भरज्जु से हटाया जाता है। इस दर्भरज्जु को हाथ में लेकर ही अध्वर्यु आश्रावणकर्म्म करता है। यह आश्रावणकर्म्म इध्मसन्नहन हाथ में लेकर क्यों किया जाता है ? इसी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि, यदि यह अध्वर्यु यज्ञात्मक इस इध्मसन्नहन को आलम्बन बनाए बिना आश्रावण करेगा तो इसकी आभ्यात्मसंस्था कम्पित होजायगी अथवा और किसी विपत्ति का इसे सामना करना पड़ेगा।

द्युलोकस्थ प्राण-देवताओं का आकर्षणात्मक आश्रावण-कर्म्म 'यज्ञ' है जैसा कि पूर्व कण्डिका में स्पष्ट किया जाचुका है। 'यज्ञात्मक आश्रावणकर्म्म यज्ञ को आलम्बन बना कर ही करना चाहिए

इस कथन से श्रुति इध्मसन्नहन को भी यज्ञात्मक बतला रही है। तात्पर्य्य इस कथन का यही है कि, यज्ञतत्त्व अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैवत-भेद से तीन भागों में विभक्त है। सौरसम्वत्सरावच्छिन्न सावित्राग्नि-पारमेष्ठ्यसोमात्मक, द्युलोकोपलक्षित यज्ञ 'आधिदैविक यज्ञ' है। पार्थिवसम्वत्सरावच्छिन्न आङ्गिरसाग्नि-चान्द्रसोमात्मक भूलोकोपलक्षित यज्ञ 'आधिभौतिक यज्ञ' है। एवं वैश्वानराग्नि तथा अन्नसोमात्मक-शरीर यज्ञ ही-आध्यात्मिक-यज्ञ है। आश्रावणकर्म्म द्युदेवताव्यापक बनता हुआ आधिदैविकयज्ञ है, आश्रावणकर्त्ता अध्वर्यु आध्यात्मिक यज्ञ है। एवं इध्म-सन्नहन निदानेन आधिभौतिक यज्ञ है। साथ ही विष्णुयज्ञात्मक पारमेष्ठ्य अपतत्त्व के ज्योतिर्म्मय भाग से उत्पन्न होने के कारण इध्म साक्षाद्रूप से भी पार्थिव यज्ञ है। इधर 'अद्भ्यः पृथिवी' सिद्धान्तानुसार अप्तत्त्व से उत्पन्न पार्थिवयज्ञ अन्नात्मक [वेनात्मक] इध्म का सजातीय भी है।

मनुष्य अध्यात्मयज्ञ इस ओर के पार्थिव [आधिभौतिक] एवं उस ओर के दिव्य [आधिदैविक] यज्ञ दोनों से अनुगृहीत रहता है तभी तक इसका स्वरूप प्रतिष्ठित रहता है। दोनों में भी पार्थिवशरीर प्रधाना अध्यात्मसंस्था की प्रधान प्रतिष्ठा आधिभौतिक पार्थिव यज्ञ ही है। इस प्रतिष्ठा के निकल जाने से ही निधनावस्था का आगमन होता है प्रतिष्ठाविच्युति से ही इस पर अन्यान्य विपत्तियाँ आक्रमण करती हैं। जब पार्थिवी यज्ञप्रतिष्ठा उच्छिन्न होजाती है तो केवल द्युलोकाकर्षण का प्राधान्य रह जाता है। द्युलोकाकर्षण का प्राधान्य ही पार्थिवप्रतिष्ठोच्छेद का कारण है। यावदायुर्भोगपर्य्यन्त उभयानुग्रहप्राप्ति के लिए ही द्युलोक-स्थानीय आहवनीय, तथा भूलोकस्थानीय गार्हपत्य दोनों के मध्य में खड़े होकर आप उत्सर्ग [आचमन] कर्म्म किया जाता है जैसा कि — 'अन्तरेणाहवनीयञ्च गार्हपत्यञ्च प्राङ् तिष्ठन्नप उपस्पृशति [शत १।१।१।१] इत्यादि रूप से विस्तार से बतलाया जाचुका है। ठीक यही प्रयोजन यहाँ अपेक्षित है। यदि अध्वर्यु पार्थिव यज्ञ को आलम्बन बनाए बिना द्युलोकानुगत आधिदैविक यज्ञ-संग्राहक आश्रावणकर्म्म करेगा तो विशुद्ध दिव्ययज्ञ के प्राधान्य से इसकी पार्थिवी यज्ञप्रतिष्ठा पर आघात होगा। फलतः प्रतिष्ठाविच्युति होजायगी अथवा तो अन्य किसी विपत्ति का अनुगमन करना पड़ेगा। इस आपत्ति से बचने के लिए आश्रावणकर्म्म करते समय [आधिदैविक यज्ञसम्पत्ति-संग्रह करते समय] पार्थिवी प्रतिष्ठा को आलम्बन बनाना आवश्यक होजाता है। इसी उद्देश्य से इध्मसन्नहन को [पार्थिव यज्ञिय-द्रव्य को] हाथ में में लेकर ही आश्रावणकर्म्म किया जाता है॥ २॥

इयं [पृथिवी] वै वेदिः [शत० ७।३।१।१५] इस श्रुति के अनुसार आधिभौतिक यज्ञ की प्रतिष्ठा [विश्रामस्थान] पृथिवी ही है एवं यही इस यज्ञ की वेदि है। प्रकृत यज्ञ में जो वेदि बनाई गई है वह निदानेन पृथिवी-स्थानीया है और यही इस यज्ञ की प्रतिष्ठा है। वेदि पर बिछे हुए दर्भतृण ओषधि-वनस्पति स्थानीय हैं जिन्हें यज्ञ-समनुष्ठान की दृष्टि से वेदिरूप शरीर के लोम [ओषधि] केश [वनस्पति] भी कहा गया है। अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए, तथा सामिधेनीकर्म्म-सम्पादन के लिए जो इध्मभार (काष्ठभार) लाया जाता है, वह निदानेन अग्नि है। 'यस्य वनस्पु मातरो सनस्या मर्तास इन्धते' (ऋक्सं ८।९ ।१५) इत्यादि मन्त्रश्रुति के अनुसार काष्ठ में अग्नि गुप्त है। यही गुप्ताग्नि अग्नि है जिसे अपरस्पर सम्बन्ध से कृष्ण-मृग कहा जाता है। वेदि और इध्मकाष्ठ दोनों पार्थिव (आधिभौतिक) यज्ञात्मक हैं। आश्रावणकर्म्म में पार्थिवी प्रतिष्ठा ही अभिप्रेत है। अतएव प्रथम तो वेद पर बिछे दर्भतृण

को लेकर ही आश्रावण करना चाहिए, अथवा इध्मखण्ड को लेकर आश्रावणकर्म्म करना चाहिए। वेदतृण उपांशु रूप से एवं इध्मखण्ड से परम्परया पार्थिवी प्रतिष्ठा प्राप्त होजाती है" इस उपपत्ति को आगे करते हुए कितने एक साम्प्रदायिक आश्रावणकर्म्म में वेदिस्थित तृण अथवा इध्मखण्डग्रहण का समर्थन कर रहे हैं।

भगवान् याज्ञवल्क्य की दृष्टि में वेदितृण अथवा इध्मखण्ड दोनों में से किसी को भी लेकर आश्रावणकर्म्म करना विज्ञान-विरुद्ध है। कारण स्पष्ट है। यह ठीक है कि, वेदितृण तथा इध्मखण्ड दोनों ही पार्थिव-प्रतिष्ठात्मक हैं। परन्तु ये दोनों अन्य कर्म्म में विनियुक्त हैं। वेदितृण का लेना एक दृष्टि से पृथिवी की ओषधि वनस्पति को पृथिवी (वेदि) से पृथक् कर उसे ऊसर बनाना है। इस के अतिरिक्त वेदिस्थित तृण 'सुपदा भव' के अनुसार देवताओं का प्रतिष्ठात्मक आसन है। इसे उठाना मानों देवताओं को प्रतिष्ठा से विच्युत करना है। ऐसी दशा में वेदितृण-ग्रहण करना सर्वथा ही अनुचित ठहरता है। इध्मकाष्ठ इन्धन-समिन्धन-कर्म्म के लिए नियत है। इसका खण्ड लेना समिन्धनकर्म्म को अपूर्ण बनाना है। फलतः इध्मखण्ड-ग्रहण भी असंगत बन जाता है। याज्ञवल्क्य उन साम्प्रदायिकों से प्रश्न करते हैं कि, जिन तृणों से इध्मकाष्ठ बाँधा जाता है क्या वे इध्मसन्नहन यज्ञीय नहीं हैं?। क्या इनमें पार्थिव-प्रतिष्ठा नहीं है?। जब कि इन तृणों से यज्ञात्मक इध्म बाँधा जाता है, इन से अग्निसम्मार्जनकर्म्म होता है, आगत मृण्मयाग्निरिक्षणात्मक अन्यान्य भी अनेक परिशिष्ट कर्म्म होते हैं, तो इन की यज्ञरूपता में क्या सन्देह रह जाता है?। अत: जो इध्मसन्नहनतृण ऐसे ऐसे परिशिष्ट कर्म्मों के लिए ही नियत हैं, साथ ही वेदितृण तथा इध्मशकल का ग्रहण अनुचित है, तो प्रत्येक दशा में इध्मसन्नहन-ग्रहणपूर्वक ही आश्रावणकर्म्म करना चाहिए ॥३॥

इत्याश्रावणकर्म्मोपपत्ति

१

२-दिव्याग्निप्रवरणकर्म्मोपपत्ति —

चतुर्थी (४) से आरम्भ कर ८ वीं कण्डिका-पर्य्यन्त पाँच कण्डिकाओं में प्राकृतिक, दिव्य प्राणाग्नि के वरण की मौलिक इतिकर्त्तव्यता का ही स्पष्टीकरण हुआ है। दिव्ययज्ञ में होतृत्वेन वृत प्राणाग्नि के क्या क्या धर्म्म हैं?, प्रतिपाद्य उपपत्ति-प्रकरण में इसी प्रश्न का समाधान हुआ है। जिन इध्मसन्नहनलक्षण दर्भतृण-समूहों से समिध काष्ठ-सम्भार बाँधा जाता है, पूर्वकथनानुसार उन्हें हाथ में लेकर वह अध्वर्य्यु-'ओ श्रावय' इस निगममन्त्र का उच्चारण करता हुआ आश्रावण कर्म्म करता है। अध्वर्य्यु के इस आश्रावण-कर्म्म के अनन्तर आग्नीध्र नामक ऋत्विक् 'अस्तु श्रौषट्' इस निगममन्त्रोच्चारण से 'प्रत्याश्रावण कर्म्म' करता है। अध्वर्य्युकर्त्तृक इस आश्रावण तथा आग्नीध्रकृत के प्रत्याश्रावण-कर्म्म के अनन्तर अध्वर्य्यु उन इध्मसन्नहनतृणों को अपने हाथ में रखता हुआ ही— 'अग्निर्देवो दैव्यो होता देवान् यक्षद्विद्वाँश्चिकित्वान् मनुष्वद्भरतवत्' इस निगममन्त्र का उच्चारण करता हुआ दिव्याग्नि का ही अपने इस सौम्य यज्ञ में होतृत्वेन वरण करता है, जो कि अध्वर्य्युकर्त्तृक कर्म्म होतृप्रवरणकर्म्म कहलाया है।

दैविक मनु है। यही साम्वत्सरिक प्राणाग्नि के सहयोग से आधिदैविक सम्वत्सरयज्ञ के स्वरूप समर्पक बन रहे हैं। हृदयावच्छिन्न प्रज्ञाप्राणमूर्ति आयुस्वरूपाधिष्ठाता इन्द्रप्राणात्मक मनोऽनुगृहीत प्रज्ञात्म ही आध्यात्मिक मनु है। यही शारीर प्राणाग्नि के सहयोग से आध्यात्मिक यज्ञ के स्वरूप-समर्पक हैं। देव धर्म लोक, प्रजा नाम की सृष्टि-चतुष्टयी के व्यवस्थापक आदिप्रजा भगवान स्वयम्भू आधिभौतिक (ऐतिहासिक) मनु हैं [ये]। इन्होंने ही प्राकृतिक यज्ञ-विधि के अनुसार सर्वप्रथम वैधयज्ञ का अनुष्ठान किया है [था]। इसप्रकार आधिदैवत-अध्यात्म अधिभूत तीनों दृष्टियों से त्रिविध मनु ही यज्ञ के प्रवर्त्तक हैं। अतएव याज्ञिक-सम्प्रदाय में यह यज्ञ मनु का है [मनोर्यज्ञोऽस्तु वाऽआहु] यह प्रसिद्ध है।

जिसप्रकार 'मनु' शब्द उभयलिङ्गात्मक [नपुंसकलिङ्ग तथा पुलिङ्गात्मक] है एवमेव उकारान्त 'मनु' शब्द पुलिङ्ग है, एवं सकारान्त 'मनु' शब्द नपुंसकलिङ्ग है। 'मनुष्या' इति रूप सान्त मनु शब्द से सम्बन्ध रखते हैं एवं 'मानवा' इति शब्द उकारान्त सम्बन्धी हैं। प्रकृत में सान्त मनु शब्द का ही ग्रहण हुआ है। फलतः 'मनुष्वत्' का तात्पर्य्य निकलता है-'मनुरिव'। जिसप्रकार मनु ने यजन किया था एवमेव यह प्राणाग्नि भी होता बन कर इस यज्ञ में देवताओं का यजन करे 'मनुष्वत्' मन्त्र भाग का यही एक तात्पर्य्य है। यदि 'मनुष्वत्' का मनुरिव' विग्रह न कर 'मनोरिव' यह विग्रह किया जाता है, तो इसका तात्पर्य्य यह निकलता है कि जैसे मनु के यज्ञ में होता बनकर अग्निने देवताओं का यजन किया था तथैव इस यज्ञ में भी वे अग्नि होता बनकर देवताओं का यजन करें। 'मनुर्ह वाऽअग्रे यज्ञेनेजे०' इससे 'मनुरिव' विग्रहानुसार प्रथमार्थ अपेक्षित है। एवं 'मनोर्यज्ञ ऽइत्यु वा आहुः' इससे 'मनोरिव' विग्रहानुसार द्वितीयार्थ अभिप्रेत है। प्रथमार्थ से आधिभौतिक मनु का स्पष्टीकरण हुआ है। एवं द्वितीयार्थ से आध्यात्मिक मनुर्युक्त आधिदैविक मनु का स्पष्टीकरण हुआ है। हृदयभागावच्छिन्न उक्थभाव मनु है परिम्यवच्छिन्न अर्कभाव (रश्मिभाव) प्राणाग्नि है। उक्थार्क का क्योंकि स्थानभेद से पार्थक्य है अतएव मनु को पृथक् तथा अग्नि को पृथक् तत्त्व मान लिया गया है। एवं इसी दृष्टि से 'मनोरिव' का समन्वय होजाता है। वस्तुतः उक्थार्क अभिन्न हैं। इस दृष्टि से उक्थ मनु और अर्क अग्नि दोनों अभिन्न हैं। इसी आधार पर—'एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये' * (मनु १२।१२१) यह कहा जाता है। हृदयावच्छिन्न उक्थलक्षण मनु से युक्त, तत्स्वरूप अतएव तदभिन्न अतएव तद्रूप प्राणाग्नि ही यज्ञ के स्वरूप-सम्पादक है, मनुष्वत् का यही तात्पर्यार्थ है ॥ ७ ॥

मन्त्र का अन्तिम भाग 'भरतवत्' है। 'इतः प्रदाना देवा (इता उपजीवन्ति) (ऐ० ब्रा० २।१।८) इत्यादि ऐतरेयश्रुति के अनुसार त्रैलोक्यात्मक सम्वत्सरमण्डल में प्रतिष्ठित और दिव्य देवताओं का आ प्रदर्य्य भाग पार्थिव लोक में विसृष्ट [भक्ष] होता रहता है। पार्थिव अग्निरूपमिन नामक प्राणाग्नि के

* एतमके वदन्त्यग्निं, मनुमन्ये प्रजापतिम् ॥
इन्द्रमके परे प्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम् ॥
—मनुः

द्वारा वह विस्रस्त भाग यहाँ से आकर उस विस्रस्त भाग की पूर्त्ति किया करता है। 'भूत यस उदारुहन्, विपस्पृष्टान्यारुहन् धामश्चिर्मो यथुः' इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार भूलोक से निकलकर द्युलोक की ओर जाता हुआ अङ्गिरोऽग्नि ही देवतृप्ति का कारण बनता है। 'अमुत प्रदानाद्धीदं सर्वमुत्तिष्ठति' [ऐ० ब्रा २।१।२।] के अनुसार वहाँ से [द्यु लोक से] देवप्राण का प्रवर्ग्यरूप से निरन्तर आगमन भी होता रहता है, इसीसे प्रजा का स्वरूप-निर्म्माण होता है। एवं पूर्वकथनानुसार अङ्गिरा के द्वारा पार्थिव प्रवर्ग्य भाग जाता भी रहता है। इसी पारस्परिक आग-प्रमाद-लक्षण आदान प्रदान प्रक्रिया का नाम 'यज्ञ' है। इस प्राकृतिक यज्ञ में द्युलोकस्थ देवताओं के लिए पार्थिव हविद्रव्य का लेजाना एकमात्र पार्थिव प्राणाग्नि पर ही अवलम्बित है। इसीलिए उन्हें —'एष हि देवेभ्यो हव्यं भरति' निर्वचन से 'भरत' कहना अन्वर्थ बनता है। भूपिण्ड से सम्बन्ध रखने वाले हवियज्ञ [प्राकृतिकयज्ञ] से पार्थिव प्रजा का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। इस पार्थिव-प्रजा में भौम प्रवर्ग्य अग्नि प्रतिष्ठित रहता है, जिसे 'पिप्पलादोपनिषत्' की परिभाषा में प्राणाग्नि भी कहा जाता है। 'प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे [शरीर] जाग्रति' [प्रश्नोपनिषत् ४।३।] के अनुसार अपान समान, व्यान, उदान, प्राण भेद भिन्न पञ्चधा विभक्त प्राणाग्नि ही इस शरीरसंस्था [अध्यात्मसंस्था] में सदा जागते रहते हैं। इस प्राणाग्नि के द्वारा ही प्रजा का भरण-पोषण होता है। जिस दिन प्राणाग्नि शरीर से उत्क्रान्त हो जाता है, अन्नादानलक्षण अहरहर्यज्ञ [भैषज्ययज्ञ] बन्द हो जाता है तत्क्षण भूतात्मा उत्क्रान्त हो जाता है।

उक्त अध्यात्मसंस्था की दृष्टि से भी 'वैश्वानर' लक्षण इस अग्नि को 'भरत' कहना अन्वर्थ बनता है। जिस युग [देवयुग] में इसी पृथिवी पर भौम-देवव्यवस्था थी, उस युग में जैसे भौमस्वर्ग के शासनसोपान [अधिष्ठाता अधिष्ठाता] देवता इन्द्र थे, अन्तरिक्ष के शासनसोपान् वायु थे, एवमेव स्वयम्भू मनु सम्राट् से शासित इस पृथिवी के शासनसोपान् अग्निदेवता थे। पार्थिव प्रजा से 'कर' ग्रहण कर देवताओं के प्रति उसे पहुँचाना पार्थिव प्रजा की वामदेवादि के सहयोग से भरण-पोषण व्यवस्था करना इन्हीं भौम अग्निदेवता (मनुष्यदेवता) का धर्म्म था। इस आधिभौतिक (ऐतिहासिक) दृष्टि से भी अग्नि को 'भरत' कहना अन्वर्थ बनता है। इसी भरण-पोषण धर्म्म से ये अग्नि भरत, किंवा 'भारत' कहलाए हैं। इन्हीं के सम्बन्ध से यह पवित्र देश 'भारतवर्ष' कहलाया है। जिसप्रकार उक्त तीनों यज्ञ-संस्थाओं का सञ्चालन भरताग्नि से हुआ है, एवमेव हमारे इस वैधयज्ञ की इतिकर्त्तव्यता भी उसी भरताग्नि से सम्पन्न हो इसी भावना को लिए 'भरतवत्' कहा गया है॥ ८॥

इति–दिव्याग्निवरणकर्म्मोपपत्तिः

?

३—आर्षेयप्रवरणकर्म्मोपपत्ति —

अग्निर्देवो दैव्यो होता० इत्यादि मन्त्रपाठ के द्वारा अपने इस वैध यज्ञ में प्राकृतिक दिव्य प्राणाग्नि की भावना करना ही अग्नि का होतृत्वेन वरण करना है, जिस का ४ थी से ८ वीं कण्डिका पर्य्यन्त ५ कण्डिकाओं में स्पष्टीकरण हुआ है। अब क्रमप्राप्त आर्षेयप्रवरणकर्म्म की उपपत्ति का दिग्दर्शन कराया जाता है। यज्ञकर्त्ता यजमान के वंशगौरव का कीर्त्तन ही 'आर्षेयप्रवरणकर्म्म' है। इस प्रवरण से यज्ञाधिकार-योग्यता का ही समर्थन हुआ है। यज्ञकर्म्म लौकिक कर्म्म नहीं है अपितु वैदिक दिव्य-कर्म्म है। लौकिक कर्म्म का अधिकार जहाँ मनुष्यमात्र को है वहाँ वैदिक यज्ञ-तप-दान-कर्म्मत्रयी का अधिकार एकमात्र द्विजाति-प्रजा को ही है, जिसके वीर्य्य में जन्मतः ऋषिप्राण तथा देवप्राण प्रतिष्ठित रहता है। यह वैध वैदिक-यज्ञकर्म्म प्राकृतिक नित्य दिव्य यज्ञ की विधि पर ही वितत होता है जैसा कि अनेकधा स्पष्ट किया जाचुका है। प्राकृतिक यज्ञ ही सम्वत्सरयज्ञ है, जैसा कि इसी ब्राह्मण की १९ वीं कण्डिका में स्पष्ट होने वाला है। सम्वत्सरयज्ञ का 'अदितिमिण्डल' से सम्बन्ध है।

इस अदितिमण्डल के गर्भ में त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न अग्निप्रधाना पृथिवी पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न वायुप्रधान अन्तरिक्ष एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न इन्द्रप्रधान द्युलोक ये तीनों स्तौम्यलोक प्रतिष्ठित हैं जैसा कि— अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः (ऋक् सं १।८९।१०) इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है। अदितिगर्भ में प्रतिष्ठित अग्निप्रमुख पार्थिव ८ वसुदेवता वायुप्रमुख आन्तरिक्ष्य ११ रुद्रदेवता इन्द्रप्रमुख दिव्य १२ आदित्य देवता नासत्य-दस्र नामक २ सान्ध्य देवता सम्भूय ३३ प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं ये ही ३३ देवता अदितिमण्डलावच्छिन्न सम्वत्सरयज्ञ के स्वरूप-सम्पादक हैं। अतएव—'येस्थ त्रयश्च त्रिंशश्च मनोर्देवा यज्ञियास (ऋक् सं ८।३०।२) इत्यादि श्रुति के अनुसार ये ही देवता 'यज्ञिय देवता' कहलाए हैं। इस सम्वत्सरयज्ञ में प्रातःकाल मध्याह्न सायङ्काल, भेद से तीन सवन हैं। वसुदेवतानुगत प्रातःकाल प्रातःसवन है, रुद्रदेवतानुगत मध्याह्न माध्यन्दिनसवन है एवं आदित्यदेवतानुगत सायङ्काल सायंसवन है। रात्रिगत पूषाप्राण इस सवनत्रयात्मक सम्वत्सर यज्ञमयज्ञ की सीमा से बहिर्भूत है।

मानवप्रजा में से जिसके वीर्य्य में जन्मतः प्रातः-सवनीय देवता प्रतिष्ठित रहते हैं, वह वर्णतः ब्राह्मण है। जिसके वीर्य्य में माध्यन्दिनसवनीय देवता प्रतिष्ठित रहते हैं वह वर्णतः क्षत्रिय है। एवं सायंसवनीयदेवयुक्त प्रजा वर्णतः वैश्य है। रात्रिगत पूषाप्राणप्रधान प्रजावर्ग शूद्र है। स्त्रीप्रजा का भी इसी पूषाप्राण से सम्बन्ध है। इसप्रकार प्रकृत्या ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य, यह द्विजातिप्रजा तो यज्ञसीमा के अन्तर्गत है। एवं स्त्री तथा शूद्र दोनों प्रजाभाग यज्ञसीमा से बहिर्भूत है। इसी आधार पर भगवान् व्यास का—'स्त्री-शूद्र द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा' यह वैज्ञानिक सिद्धान्त स्थापित हुआ है। प्राकृतिक, नित्य अपौरुषेय-तत्त्वात्मक वेद की प्रतिकृतिरूप वेदशास्त्र एवं तत्त्वात्मक वेद पर प्रतिष्ठित नित्ययज्ञ की प्रतिकृतिरूप वैदिक यज्ञकर्म्म दोनों का एकमात्र द्विजाति-मनुष्यप्रजा को ही अधिकार क्यों है? इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

यदि कोई व्यक्ति कर्म्मणा वर्णाभिमान रखता हुआ यज्ञ में प्रवृत्त होना चाहता है, वैसी ही उच्छृङ्खलता आजकल देखी सुनी जारही है तो यह उस का व्यामोह है अनधिकारचेष्टा ही नहीं है अपितु अनुत्तम

के स्थान में सधनाश का आमन्त्रण है। यज्ञकर्म में वही दीक्षित होसकता है जो जन्मना द्विजाति है, जिस के पिता पितामह प्रपितामहादि जन्मना द्विजाति हैं जिस के वीर्य्य में उक्त लक्षण वर्णानुगत देवप्राण के साथ साथ गोत्रप्रवर्त्तक ऋषिप्राण का परम्परया समावेश है। ऐसा ऋषिवंशज, अतएव 'आर्षेय' कहलाने योग्य, देवप्राणयुक्त, वर्णगत द्विजाति ही यज्ञ में अधिकृत है। एवं हमारा प्रस्तुत 'आर्षेयप्रवरणकर्म्म' इसी अधिकार-मर्य्यादा का विश्लेषण कर रहा है। यजमान वर्णत: द्विजाति है इस का ऋषिवंश से सम्बन्ध है यज्ञप्रवृत्ति से पहिले यह स्पष्ट होजाना अनिवार्य्य है। बिना ऋषि तथा देवप्राणसम्बन्ध-स्थापन के यजमान यज्ञ में अनधिकृत है। अतएव दिव्य होतृवरणकर्म के अनन्तर, तथा मानुष होतृवरणकर्म्म से पूर्व यजमान के इन दोनों वर्ण धर्मों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। एकमात्र इसी उद्देश्य से 'आर्षेयप्रवरण' कर्म्म विहित है। जो महानुभाव शास्त्ररहस्यानभिज्ञता से कर्म्मणा वर्णों की व्यवस्था करते हुए एकदेनया मनुष्यमात्र को यज्ञ का अधिकारी बनाते हुए उनका अनिष्ट कर रहे हैं हम उनसे पूँछते हैं कि, वे 'आर्षेयकर्म्म' में किन गोत्रऋषियों का उच्चारण करावेंगे? जब कि जन्मना शूद्र ऋषिगोत्र से सर्वथा बहिर्भूत है। उस समय वे— "ऋषिभ्य-श्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयति" इस श्रुति का कैसे समन्वय करेंगे? यह उन्हीं वेदमहर्षों से पूँछना चाहिए।

ऋषि तथा देवप्राण दोनों का वीर्य से सम्बन्ध है न कि कर्म्म से। अन्मत ऋषि, एवं देवप्राण का सम्बन्ध वीर्य्य में ही रहना चाहिए। वही द्विजाति है वही यज्ञाधिकारी है। इस जन्मानुगत वीर्य्यभाव (वर्णभाव) का स्पष्टीकरण करने के लिए ही कहा गया है— 'अयं महावीर्य्यो यो यज्ञं प्रापत्'। इसी वीर्य्य-स्थापनद्वारा यजमान का यज्ञाधिकारत्व स्पष्ट करने के लिए आर्षेयवरण होता है। एवं यही इस कर्म्म की संक्षिप्त उपपत्ति है— 'तस्मादार्षेयं प्रवृणीते' ॥ ९ ॥

उपपत्त्यनन्तर वरण-विशेषता बतलाती हुई श्रुति कहती है कि सृष्टिक्रम के अनुरोध से पितामह, पिता पुत्र इन क्रम से ही ऋषिवंश-परम्परा का उल्लेख होना चाहिए। इस सृष्टिमर्य्यादा के संरक्षण के अतिरिक्त स्वयं यज्ञकर्म्म की दृष्टि से भी 'परस्तात् अर्वाक्' ही वरण होना चाहिए। दैवात्मलक्षणा विम्मप्रजोत्पत्ति ही यज्ञकर्म्म का प्रधान लक्ष्य है। एवं उत्पत्तिक्रमानुगत प्रकृतिसिद्ध सापिण्ड्य * सम्बन्धानुबन्ध से 'पितामह पिता-पुत्र-पौत्र' यही क्रम है। अतः इस प्रजोत्पादक यज्ञकर्म्म में भी आर्षेयवरण करते समय पहिले यजमान के पितामह का अनन्तर पिता का एवं सर्वान्त में पुत्रस्थानीय यजमान का ही नाम-उल्लेख करना आवश्यक तथा क्रमसङ्गत है—'तस्मात् परस्तादर्वाक् प्रवृणीते' ॥ १० ॥

इति—आर्षेयप्रवरणकर्म्मोपपत्ति.

३

———*———

*—पितामहाद्यनुगत इस सापिण्ड्य-सम्बन्ध के सुविशद वैज्ञानिक-विवेचन के लिए देखिए 'श्राद्धचतुष्टयात्मक श्राद्धविज्ञान' ग्रन्थ का– सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत् नामक तृतीय खण्ड।

३—आर्षेयप्रवरणकर्म्मोपपत्ति —

अग्निर्देवो दैव्यो होता० इत्यादि मन्त्रपाठ के द्वारा अपने इस वैध यज्ञ में प्राकृतिक दिव्य प्राणाग्नि की भावना करना ही अग्नि का होतृत्वेन वरण करना है जिस का ४ थी से ८ वी कण्डिका पर्य्यन्त ६ कण्डिकाओं में स्पष्टीकरण हुआ है। अब क्रमप्राप्त आर्षेयप्रवरणकर्म्म की उपपत्ति का दिग्दर्शन कराया जाता है। यज्ञकर्ता यजमान के वराणौरव का कीर्त्तन ही 'आर्षेयप्रवरणकर्म्म' है। इस वरण से यज्ञाधिकार-योग्यता का ही समर्थन हुआ है। यज्ञकर्म्म लौकिक कर्म्म नहीं है अपितु वैदिक दिव्य-कर्म्म है। लौकिक कर्म्म का अधिकार जहाँ मनुष्यमात्र को है वहाँ वैदिक यज्ञ-तप-दान-कर्म्मत्रयी का अधिकार एकमात्र द्विजाति-प्रजा को ही है, जिसके वीर्य्य में जन्मतः ऋषिप्राण तथा देवप्राण प्रतिष्ठित रहता है। यह वैध वैदिक-यज्ञकर्म्म प्राकृतिक नित्य दिव्य यज्ञ की भित्ति पर ही वितत होता है जैसा कि अनेकधा स्पष्ट किया जाचुका है। प्राकृतिक यज्ञ ही सम्वत्सरयज्ञ है, जैसा कि इसी ब्राह्मण की १९ वीं कण्डिका में स्पष्ट होने वाला है। सम्वत्सरयज्ञ का 'अदितिमण्डल' से सम्बन्ध है।

इस अदितिमण्डल के गर्भ में त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न अग्निप्रधाना पृथिवी पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न वायुप्रधान अन्तरिक्ष एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न इन्द्रप्रधान द्युलोक ये तीनों त्रैलोक्य प्रतिष्ठित हैं जैसा कि— अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्र (ऋक् सं० १।८९।१०।) इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है। अदितिगर्भ में प्रतिष्ठित अग्निप्रमुख पार्थिव ८ वसुदेवता, वायुप्रमुख आन्तरिक्ष्य ११ रुद्रदेवता इन्द्रप्रमुख दिव्य १२ आदित्य देवता नासत्य-दस्र नामक २ साम्य देवता सम्भूय ३३ प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं ये ही ३३ देवता अदित्यवच्छिन्न सम्वत्सरयज्ञ के स्वरूप-सम्पादक हैं। अतएव—'येस्थ त्रयश्च त्रिंशच्च मनोर्देवा यज्ञियास (ऋक् सं० ८।१।२।) इत्यादि श्रुति के अनुसार ये ही देवता 'यज्ञिय देवता' कहलाए हैं। इस सम्वत्सरयज्ञ में प्रातःकाल मध्याह्न सायङ्काल भेद से तीन सवन हैं। वसुदेवतानुगत प्रातःकाल प्रातःसवन है रुद्रदेवतानुगत मध्याह्न माध्यन्दिनसवन है एवं आदित्यदेवतानुगत सायङ्काल सायंसवन है। रात्रिगत पूषाप्राण इस सवनत्रयात्मक सम्वत्सर यज्ञमण्डल की सीमा से बहिर्भूत है।

मानवप्रजा में से जिसके वीर्य्य में जन्मतः प्रातः-सवनीय देवता प्रतिष्ठित रहते हैं वह वर्णतः ब्राह्मण है। जिसके वीर्य्य में माध्यन्दिनसवनीय देवता प्रतिष्ठित रहते हैं वह वर्णतः क्षत्रिय है। एवं सायंसवनीयदेवयुक्त प्रजा वर्णतः वैश्य है। रात्रिगत पूषाप्राणप्रधान प्रजावर्ग शूद्र है। स्त्रीप्रजा का भी इसी पूषाप्राण से सम्बन्ध है। इसप्रकार प्रकृत्या ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य, यह द्विजातिप्रजा तो यज्ञसीमा के अन्तर्गत है। एवं स्त्री तथा शूद्र दोनों प्रजावर्ग यज्ञसीमा से बहिर्भूत है। इसी आधार पर भगवान् व्यास का— स्त्री शूद्र द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा यह वैज्ञानिक सिद्धान्त स्थापित हुआ है। प्राकृतिक, नित्य अपौरुषेय-तत्त्वात्मक वेद की प्रतिकृतिरूप वेदशास्त्र एवं तत्त्वात्मक वेद पर प्रतिष्ठित नित्ययज्ञ की प्रतिकृतिरूप वैदिक यज्ञकर्म्म दोनों का एकमात्र द्विजाति-मनुष्यवर्ग को ही अधिकार क्यों है ? इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

यदि कोई व्यक्ति कर्म्मणा वर्णाभिमान रखता हुआ यज्ञ में प्रवृत्त होना चाहता है जैसी कि आजकल प्रायः देखी सुनी जारही है तो यह उस का प्रमाद है यज्ञविप्रतिपत्ति ही नहीं है, अपितु अनुचित

के स्थान में सत्यनाश का आमन्त्रण है। यज्ञकर्म्म में वही दीक्षित होसकता है जो जन्मना द्विजाति है जिस के पिता पितामह प्रपितामहादि जन्मना द्विजाति हैं जिस के वीर्य्य में उक्त लक्षण वर्णानुगत देवप्राण के साथ साथ गोत्रसूत्रप्रवर्त्तक ऋषिप्राण का परम्परया समावेश है। ऐसा ऋषिवंशज अतएव 'आर्षेय' कहलाने योग्य, देवप्राणयुक्त, अतएव द्विजाति ही यज्ञ में अधिकृत है। एवं हमारा प्रस्तुत 'आर्षेयप्रवरणकर्म्म' इसी अधिकार-मर्य्यादा का विश्लेषण कर रहा है। यजमान अर्थात् द्विजाति है, इस का ऋषिवंश से सम्बन्ध है यज्ञप्रवृत्ति से पहिले यह स्पष्ट होजाना अनिवार्य्य है। बिना ऋषि तथा देवप्राणसम्बन्ध-स्थापन के यजमान यज्ञ में अनधिकृत है। अतएव दिव्य होतृवरणकर्म के अनन्तर, तथा मानुष होतृवरणकर्म्म से पूर्व यजमान के इन दोनों वर्ण धर्मों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। एकमात्र इसी उद्देश्य से 'आर्षेयप्रवरण' कर्म्म विहित है। जो महानुभाव शास्त्ररहस्यानभिज्ञता से कर्म्मणा वर्णों की व्यवस्था करते हुए एकहेलया मनुष्यमात्र को यज्ञ का अधिकारी बनाते हुए उनका अनिष्ट कर रहे हैं हम उनसे पूँछते हैं कि वे आर्षेयकर्म्म में किन गोत्रऋषियों का उच्चारण करावेंगे ? जब कि जन्मना शूद्र ऋषिगोत्र से सर्वथा बहिर्भूत है। उस समय वे— 'ऋषिभ्य-श्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयति' इस श्रुति का कैसे समन्वय करेंगे ? यह उन्हीं वेदभक्तों से पूँछना चाहिए।

ऋषि तथा देवप्राण दोनों का वीर्य्य से सम्बन्ध है न कि कर्म्म से। जन्मत ऋषि, एवं देवप्राण का सम्बन्ध वीर्य्य में ही रहना चाहिए। वही द्विजाति है, वही यज्ञाधिकारी है। इस जन्मानुगत वीर्य्यभाव (वर्णभाव) का स्पष्टीकरण करने के लिए ही कहा गया है— 'अयं महावीर्य्यो यो यज्ञं प्रापत्'। इसी वीर्य्य-स्थापनद्वारा यजमान का यज्ञाधिकारत्त्व स्पष्ट करने के लिए आर्षेयवरण होता है। एवं यही इस कर्म्म की संक्षिप्त उपपत्ति है—'तस्मादार्षेयं प्रवृणीते' ॥ ९ ॥

उपपत्यनन्तर वरण-विशेषता बतलाती हुई श्रुति कहती है कि सृष्टिक्रम के अनुरोध से पितामह, पिता पुत्र इन क्रम से ही ऋषिवंश-परम्परा का उल्लेख होना चाहिए। इस सृष्टिमर्य्यादा के संरक्षण के अतिरिक्त स्वयं यज्ञकर्म्म की दृष्टि से भी 'परस्तात् अर्वाक्' ही वरण होना चाहिए। देवात्मलक्षणा दिव्यप्रजोत्पत्ति ही यज्ञकर्म्म का प्रधान लक्ष्य है। एवं उत्पत्तिक्रमानुगत प्रकृतिसिद्ध सापिण्ड्य * सम्बन्धानुबन्ध से पितामह पिता-पुत्र-पौत्र यही क्रम है। अत इस प्रजोत्पादक यज्ञकर्म्म में भी आर्षेयवरण करते समय पहिले यजमान के पितामह का अनन्तर पिता का एवं सर्वान्त में पुत्रस्थानीय यजमान का ही नाम-उल्लेख करना आवश्यक तथा क्रमसङ्गत है—'तस्मात् परस्तादर्वाक् प्रवृणीते' ॥ १० ॥

इति–आर्षेयप्रवरणकर्म्मोपपत्ति.

३



*—पितामहाद्यनुगत इस सापिण्ड्य-सम्बन्ध के सुविशद वैज्ञानिक विवेचन के लिए देखिए खण्डचतुष्ट्यात्मक-श्राद्धविज्ञान ग्रन्थ का– सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत् नामक तृतीय खण्ड।

४—अग्नि-ब्राह्मणानुगृह्यप्राप्तिकर्म्मोपपत्ति —

ऋषिवंशप्रसक्त तथा जन्मना (वर्णतः) द्विजाति यह यजमान यज्ञ का अधिकारी अवश्य है परन्तु इस का यह अधिकार तबतक कार्य्यरूप में परिणत नहीं होसकता जबतक कि इस के इस यज्ञमण्डल में आहवनीयाग्निकुण्ड में दिव्य प्राणदेवताओं का सम्बन्ध नहीं होजाता। यह देवाह्वानकर्म्म एकमात्र ब्रह्मवीर्य्य-प्रधान प्राणाग्नि तथा ब्रह्मवीर्य्यप्रधान ऋत्विग् ब्राह्मणों के अनुग्रह सहयोग पर ही निर्भर है। दिव्याग्निवरण से अग्नि देवता यज्ञमण्डल में पधार अवश्य जाते हैं परन्तु प्रकृति के नियत सूत्र के आधार पर इन का देवाह्वानकर्म्म तो वैज्ञानिक, अनूचान उन ब्राह्मणों के सहयोग पर ही अवलम्बित है जो उस परोक्ष प्राकृतिक सूत्रलक्षण आधार का मन्त्रात्मक स्तोत्र-शस्त्र-ग्रह, आदि कर्म्मों के द्वारा संग्रह करने की शक्ति रखते हैं। 'अग्निर्देवो देव्यो होता॰ इत्यादि पूर्वोक्त निगदमन्त्र से आगत अग्नि का होतृत्वेन वरण कर लिया यज्ञफलभोक्ता यजमान के वंशस्थापन-लक्षण आर्षेयवरण से इसे यज्ञाधिकारी भी सिद्ध कर दिया गया। अब आगत तथा वृत अग्नि के देवाह्वानलक्षण अनुग्रह की तथा यज्ञस्वरूपसमर्पक ब्राह्मणों के अनुग्रह की अपेक्षा है। इसी उभयोद्देश्य की सिद्धि के लिए आर्षेयप्रवरणानन्तर तथा मानुषहोतृवरण से पहिले—ब्रह्मण्वदा च वक्षत् ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्राविता: इस निगदमन्त्र का पाठ किया जाता है जिस का शब्दार्थ मूलानुवाद से ही गतार्थ है ॥११ १२॥

इति—अग्नि ब्राह्मणानुगृह्यप्राप्तिकर्म्मोपपत्ति — ४

५—मानुषहोतृवरणोपपत्ति —

प्राणविध सम्वत्सरयज्ञ में होता अध्वर्य्यु उद्गाता ब्रह्मा यजमान आदि भी 'प्राणविध' ही हैं। इस प्राणविध प्राकृतिक यज्ञ की विधा पर ही वितायमान इस प्राणीविध मानुष-यज्ञ में ऋत्विक् यजमानादि यज्ञस्वरूपसंपादक 'प्राणीविध' ही हैं। द्यावापृथिव्य प्राणात्मक सम्वत्सर—प्रजापति (यजमान) के अनुरूप अपनी पत्नी के यज्ञसंयोग से पृथिवीरूप बना हुआ, एवं स्वस्वरूप से द्युस्थानीय बना हुआ यजमान प्राणीविध यजमान है। प्राणविध अग्नि वायु आदित्य चन्द्रमा इन होता अध्वर्य्यु उद्गाता, ब्रह्मा नामक ऋत्विजों के अनुरूप प्राणीविध अग्न्यनुगृहीत ऋग्वेद का ज्ञाता ब्राह्मण होता है। प्राणीविध वाय्वनुगृहीत यजुर्वेद का अनूचान ब्राह्मण अध्वर्य्यु है। प्राणीविध आदित्यानुगृहीत सामवेद का अनूचान ब्राह्मण उद्गाता है। एवं प्राणीविध चन्द्रमानुगृहीत अथर्ववेद का, तथा त्रयीगर्भिता त्रयीविद्या का परिज्ञाता ब्राह्मण ब्रह्मा है। जो ऋग्वेदी ब्राह्मण यहाँ होत्र-कर्म्म के लिए नियत हुआ है, प्राणाग्नि के वरणानन्तर उसका वरण होना भी आवश्यक है। इस वरणकर्म से पहिले यह ब्राह्मण अहोता है अतएव अभी यह देवाह्वान-कर्म्म में अनधिकृत है। इस अधिकार-प्रदान के लिए ही अधिकारप्रदानरूप नीय वरणकर्म किया जाता है। इसप्रकार मानवोक्त आभाषण दिव्याग्निवरण आर्षेयवरण अग्नि-ब्राह्मणानुग्रह-सम्पादन इन कर्म्मों के क्रमानुष्ठान के अनन्तर यह अध्वर्यु—'असौ मानुष' —इस

निगदमन्त्र का पाठ करता हुआ होत्रकर्म्म के लिए आगत मानुष होता का वरण करता है । यही प्राकृतिक होता (अग्नि) का प्रतिनिधि है ॥ १३ ॥

इति—मानुषहोतृवरणोपपत्तिः—

५

—*—

६—स्वस्त्ययनजपोपपत्तिः—

अध्वर्यु प्रयुक्त 'असौ मानुषः' इस निगदमन्त्र से होत्रकर्म्म के लिए वृत होता आज वास्तव में 'होता' बन गया है । इसी क्षण से इस पर उस सम्पूर्ण उत्तरदायित्व का भार आगया है, जो होत्रकर्म्म से सम्बन्ध रखता है । अपने इसी उत्तरदायित्व को सफल बनाने की कामना से होता स्वस्त्ययनजप करता है, जिस का एकमात्र तात्पर्य्य यही है कि, प्राकृतिक सम्वत्सरयज्ञ के सञ्चालक जिन प्राणदेवताओं के अनुग्रह से मनुष्य अपने शास्त्रीय कर्म्मों में सफलता प्राप्त करने में समर्थ होते हैं, उन प्राणदेवताओं का मन्त्रशक्ति के द्वारा अनुग्रह प्राप्त करना । जिसप्रकार लोकाधिकारारूढ अधिकारी अधिकारप्राप्त होते ही अधिकारसिद्ध कर्म्मों को अपने लक्ष्य में ले आता है ठीक उसीप्रकार वरणकर्म्म से होत्राधिकार प्राप्त करते ही होता उन प्राणदेवताओं की ओर अनुगत होजाता है जिन का कि इसे भविष्य में आह्वान करना है । प्रत्येक कार्य्य में नियुक्त होने से पहिले यह आवश्यक है कि, उस कार्य्य की सम्पूर्ण रूपरेखा का चित्रण अपने अन्तर्जगत् में सञ्चित कर लिया जाय । ऐसा करने से भविष्य में त्रुटि होने की सम्भावना नहीं रहती । जो व्यक्ति बिना अधिकारमर्य्यादा कर्म्ममर्य्यादा का नियमन किए हठात् कर्म्म में प्रवृत्त होजाते हैं अवश्य ही अपने स्वाभाविक अनवधान से वे प्रमाद कर बैठते हैं । जिन देवताओं का आह्वान करना है, जिनके लिए वषट्कार करना है जिन के लिए हविःप्रदान करना है उन सब प्राणदेवताओं के उन सब कर्म्मकलापों को वरणानन्तर ही लक्ष्य में ले आने के लिए स्वस्त्ययनजप कर्म्म विहित है । यही इस कर्म्म की लोकनीति-सम्मता संक्षिप्ता उपपत्ति है जिस का १४ वीं कण्डिका में स्पष्टीकरण हुआ है ॥ १४ ॥

१५ वीं कण्डिका से आरम्भ कर २९ वी कण्डिका पर्य्यन्त (ब्राह्मणसमाप्ति-पर्य्यन्त) स्वस्त्ययन-कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्रों की लौकपत्तिक व्याख्या हुई है । उसी का क्रमशः दिग्दर्शन कराया जाता है । सर्वप्रथम वृत होता-'एतत्त्वा देवसवितर्वृणते' यह मन्त्र बोलता है । इस के द्वारा होता सविता की ही अनुज्ञा प्राप्त करता है । यह ठीक है कि मन्त्रशक्ति के द्वारा प्राकृतिक 'होता-अग्नि' का अनुग्रह प्राप्त करता हुआ यह मनुष्य-होता तत्तत्प्राणदेवताओं के आह्वान में समर्थ होजाता है । परन्तु इस आह्वानकर्म्म की मूलप्रतिष्ठा सविता देवता ही है । सौरमण्डल को अपने गर्भ में रखने वाले आपोमय परमेष्ठी के चारों ओर बृहस्पति ब्रह्मणस्पति वरुण सविता आदि कतिपय उपग्रह उसी प्रकार परिक्रमा लगा रहे हैं जैसे कि पृथिव्यादि उपग्रह सूर्य्यग्रह के चारो ओर । उन पारमेष्ठ्य उपग्रहों में से 'सविता नामक उपग्रह का मुख्य कर्म्म है-प्रेरणाशक्ति प्रदान करना । और-त्रिलोकी में जिन प्राणदेवताओं के जो भी कर्म्म हैं उन सब का प्रेरक यही सविता प्राण है । अतएव इसे देवताओं का प्रसवित्ता (प्रेरयिता) कहा गया है । इस पारमे

४—अग्नि-ब्राह्मणानुगृह्प्राप्तिकर्म्मोपपत्ति —

ऋषिवरणप्रसङ्ग, तथा जन्मना (वर्णधा) द्विजाति यह यजमान यज्ञ का अधिकारी अवश्य है परन्तु इस का यह अधिकार तबतक कार्म्मरूप में परिणत नहीं होसकता जबतक कि इस के इस यज्ञमण्डल में आहव नीयाग्निकुण्ड में दिव्य प्राणदेवताओं का सम्बन्ध नहीं होजाता । यह देवाह्वानकर्म्म एकमात्र आग्नीध्य प्रवत्त क पार्थाग्नि तथा ब्रह्मवर्च्चप्रधान ऋत्विग् ब्राह्मणों के अनुग्रह सहयोग पर ही निर्भर है । दिव्याग्निवरण से अग्नि देवता यज्ञमण्डल में पधार अवश्य जाते हैं परन्तु प्रकृति के निगद सूत्र के आधार पर इन का देवाह्वान-कर्म्म तो वैज्ञानिक अनुष्ठान उन ब्राह्मणों के सहयोग पर ही अवलम्बित है जो उस परोक्ष प्राकृतिक सूत्रलक्षण आधार का मन्त्रात्मक स्तोत्र-शस्त्र-ग्रह, आदि कर्म्मों के द्वारा संग्रह करने की शक्ति रखते हैं । 'अग्निर्देवो दैव्यो होता०' इत्यादि पूर्वोक्त निगदमन्त्र से आगत अग्नि का होतृत्वेन वरण कर लिया यज्ञफलभोक्ता यजमान के वंशस्थापन-लक्षण आर्षेयवरण से इसे यज्ञाधिकारी भी सिद्ध कर दिया गया । अब आगत तथा वृत अग्नि के देवाह्वानलक्षण अनुग्रह की तथा यज्ञस्वरूपसम्पादक ब्राह्मणों के अनुग्रह की अपेक्षा है । इसी उभयोद्देश्य की सिद्धि के लिए आर्षेयप्रवरणानन्तर, तथा मानुषहोतृवरण से पहिले-'ब्रह्मण्वत् आ वह०, ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्राविताऽः' इस निगदमन्त्र का पाठ किया जाता है, जिस का शब्दार्थ मूलानुवाद से ही गतार्थ है ॥११ १२॥

इति—अग्नि ब्राह्मणानुगृह्प्राप्तिकर्म्मोपपत्ति —
४

——•——

५—मानुषहोतृवरणोपपत्ति —

प्राणविध सम्वत्सरयज्ञ में होता आध्वर्य्यु उद्गाता ब्रह्मा यजमान आदि भी 'प्राणविध' ही हैं । इस प्राणविध प्राकृतिक यज्ञ की विधा पर ही वितायमान इस प्राणविध मानुष-यज्ञ में ऋत्विक् यजमा-नादि यज्ञस्वरूपसंग्राहक 'प्राणविध' ही हैं । वायवादित्य प्राणात्मक सम्वत्सर-प्रजापति (यजमान) के अनुरूप अपनी पत्नी के सहयोग से पृथिवीरूप बना हुआ एवं स्वस्वरूप से दुस्थानीय बना हुआ यजमान प्राणविध यजमान है । प्राणविध अग्नि वायु आदित्य चन्द्रमा इन होता आध्वर्य्यु उद्गाता ब्रह्मा नामक ऋत्विजों के अनुरूप प्राणविध अग्न्यनुगृहीत ऋग्वेद का ज्ञाता ब्राह्मण 'होता' है । प्राणविध वाय्वनुगृहीत यजुर्वेद का अनुष्ठान ब्राह्मण आध्वर्य्यु है । प्राणविध आदित्यानुगृहीत सामवेद का अनुष्ठान ब्राह्मण उद्गाता है । एवं प्राणविध चन्द्रमानुगृहीत अथर्ववेद का, तथा एक गर्भित त्रयीविद्या का परिज्ञाता ब्राह्मण ब्रह्मा है । जो ऋग्वेदी ब्राह्मण यहां होत्र-कर्म्म के लिए नियत हुआ है प्रायाग्नि के वरणानन्तर उसका वरण होना भी आवश्यक है । इस वरणकर्म्म से पहिले यह ब्राह्मण 'अहोता' है अतएव अभी यह देवाह्वान-कर्म्म में अनधिकृत है । इस अधिकार-प्रदान के लिए ही अधिकारप्रदानरूपा नीम वरणकर्म्म किया जाता है । इसप्रकार ब्राह्मणोक्त आश्रावण दिव्याग्निवरण आर्षेयवरण अग्नि-ब्राह्मणानुग्रह-सम्पादन इन कर्म्मों के क्रमानुष्ठान के अनन्तर यह अध्वर्यु-कर्त्ता मानुष -इस

भूपिण्ड के अदितिपृष्ठ से संलग्न त्रिवृत्स्तोम प्रातःसवन है यही स्तोमत्रिलोकीरूप सम्वत्सर का पृथिवीलोक है यही पहिला विश्व है, इसी में घनावस्थानपन्न अग्नि (अग्नि) नामक 'नर' (नायक) प्रतिष्ठित है। त्रिवृत पृष्ठ से सलग्न पञ्चदशस्तोम माध्यन्दिनसवन है, यही सम्वत्सर का अन्तरिक्षलोक है यही दूसरा विश्व है इसी में तरलावस्थापन्न अग्नि (वायु) नामक 'नर' प्रतिष्ठित है। पञ्चदशपृष्ठ से सलग्न एकविंशस्तोम सायंसवन है यही सम्वत्सर का द्युलोक है यही तीसरा विश्व है, इसी में विरलावस्थापन्न अग्नि (आदित्य नामक नर प्रतिष्ठित है। सम्वत्सर के त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-स्थानीय-पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौ-नामक तीन विश्वों के अग्नि वायु आदित्य नामक तीनों नरों के पारस्परिक यज्ञ सम्बन्ध से सम्वत्सर त्रिलोकी में व्याप्त 'विराट् हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ' नामक तीन अपूर्व भावों का उदय होता है।

त्रिवृदग्नि में पञ्चदश वायु, एकविंश आदित्य दोनों की आहुति से अग्निप्रधान त्रिमूर्त्ति जिस भाव का जन्म होता है वही विराट् है। पञ्चदश वायु में त्रिवृदग्नि एकविंश आदित्य दोनों की आहुति से उत्पन्न वायुप्रधान त्रिमूर्त्ति तत्त्व ही 'हिरण्यगर्भ' है। एकविंश आदित्य में त्रिवृदग्नि पञ्चदश वायु दोनों की आहुति से उत्पन्न आदित्यप्रधान त्रिमूर्त्तितत्त्व ही 'सर्वज्ञ' है। तीनों के अग्नि-वायु आदित्य-प्राधान्य सूचित करने के लिए जहाँ विराट्-हिरण्य-गर्भ-सर्वज्ञ, ये तीन पृथक् पृथक् नाम हैं वहाँ तीनों का समष्ट्यात्मक एक नाम 'वैश्वानर' है। विश्वेभ्यो नरेभ्यो जातो वैश्वानरः इस निर्वचन से तीनों त्रिमूर्त्तियों का वैश्वानरत्व गतार्थ है। अतएव विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञमूर्त्ति सम्वत्सर को श्रुति ने– सम्वत्सरो वै पिता वैश्वानरः कह दिया है। यज्ञ के द्वारा यह वैश्वानरसम्पत्ति प्राप्तव्य है। केवल अग्नि के अनुग्रह से ऐसा सम्भव नहीं है। अपितु वहाँ अग्नि का वह व्यापक स्वरूप अपेक्षित है जो सम्वत्सररूप से किंवा वैश्वानररूप से त्रैलोक्य में व्याप्त है। इसी भावना के लिए– अग्नि होत्राय सह पिता वैश्वानरेण इस मन्त्र का जप किया जाता है।

पृथिवी	अन्तरिक्षम्	द्यौ
त्रिवृत्	पञ्चदश	एकविंश
(९)	(१५)	(२१)
प्रातःसवनम्	माध्यन्दिनसवनम्	सायंसवनम्
घनाग्निः	तरलाग्निः	विरलाग्निः
(अग्निः)	(वायुः)	(आदित्यः)

प्रथम सविता की प्रेरणा का सर्वप्रथम सूर्य्य में ही आगमन होता है अतएव सूर्य्य को भी यत्र तत्र 'सविता' नाम से व्यवहृत कर लिया गया है। सूर्य्य के द्वारा ही सौरत्रिलोकी में प्रतिष्ठित प्रजा में सविताप्राण के प्रेरणा-बल का आगमन होता है जिस का आधार है- बुद्धितेज।

सविता का बृहस्पति से सम्बन्ध है। क्योंकि-'बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति, इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः' इस निगम के अनुसार सूर्य्य से पूर्व लोकों में सर्वान्त में बृहस्पति प्रतिष्ठित है एवं उत्तरलोकों में सर्वारम्भ में इन्द्र (सौर मघवा) प्रतिष्ठित है। इन्द्र से ऊपर बृहस्पति * है तदुपरि ब्रह्मणस्पति है, एवं इसके ऊपर सविता है। सविताप्राण का (अर्करूप से) आगमन पवित्रधर्म्मा ब्रह्मणस्पति तथा वाक्तत्त्व व्यवच्छेदक बृहस्पति इन दोनों पारमेष्ठ्य उपग्रहों से संश्लिष्ट होकर ही (सौर इन्द्रमण्डल में) होता है। वागधिपति बृहस्पति ही अपने 'वाजपेय' नामक 'सत्र' कर्म्म से बुद्धि में उस ब्रह्मवीर्य्य का आधान करते हैं जो ब्रह्मवीर्य्य सविताप्राणाभिन्न प्रेरणा से आत्मज्ञानविकास का प्रवर्त्तक बनता है। इसी तत्त्वसम्बन्ध से सविता को 'धी' का प्रवर्त्तक मान लिया गया है, जैसा कि-'तत्सवितुर्वरेण्यं, धियो यो नः प्रचोदयात्' इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है।

तात्पर्य्य यही है कि, तत्तत्-प्राणदेवताओं का यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त होना सविताप्राण के प्रेरणा-बल पर ही अवलम्बित है। जबतक यह होता अपने आध्यात्मिक सविताप्राण में आधिदैविक सविताप्राण का बल प्राप्त नहीं कर लेता तबतक अध्यात्मदेवानुगत आधिदैविक प्राणाकर्षणलक्षण इस यज्ञकर्म्म में वह आधिदैविक प्राणदेवताओं का अनुग्रह प्राप्त नहीं कर सकता। इसी सविताप्राणानुग्रह-प्राप्ति के लिए सब से पहिले इसे मन्त्र के द्वारा यही भावना करनी पड़ती है कि,- 'हे सविता देवता! देवाह्वान-लक्षण हौत्रकर्म्म के लिए मेरे व्याज से आध्वर्य्यु वस्तुतः आप का ही वरण कर रहे हैं'।

इसप्रकार सर्वप्रथम सविता का अनुग्रह प्राप्त कर अनन्तर- 'अग्निं होत्राय' इस मन्त्र से अग्नि, या अग्निमय ११ पार्थिव देवताओं का अनुग्रह प्राप्त करता है। हौत्रकर्म्म का उत्तरदायित्व अग्नि पर ही है, यह अनेकधा स्पष्ट किया जाचुका है। साथ ही-'तदग्नये वैश्वानराय वेदयामः' इत्यादि कर्तृकर्मारोप का स्पष्टीकरण भी पूर्व से गतार्थ है-(देखिए ८ प्र. ३ ब्रा. १ क. ४ कण्डिका) ॥ १६ ॥

आधिभौतिक साधनों के द्वारा आध्यात्मिक यज्ञ का जिस आधिदैविक यज्ञ से सम्बन्ध अपेक्षित है वह 'सम्वत्सर' नाम से प्रसिद्ध है। सम्वत्सरयज्ञ ही 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा' इत्यादि के अनुसार चतुर्दश-भूतसर्गात्मिका प्रजा का जनयिता (उत्पादक) है। सम्वत्सर का प्रवर्ग्य रेतोभाग पार्थिव योनि में आहुत होता है। इसी यावापृथिव्यात्मक के दाम्पत्य से प्रजोत्पत्ति हुई है। अतः अवश्य ही सम्वत्सर को 'पिता' कहा जासकता है। पृथिवीस्थ घृत अग्नि तथा उत्तरस्थ घृत सोम दोनों के अग्नय-निग्राम से 'ऋतु' का स्वरूप निष्पन्न होता है। ऋतुसमष्टि ही सम्वत्सर है। प्रत्येक वस्तु स्वानुरूप ऋतुप्राण को लेकर ही प्रादुर्भूत होती है। इस दृष्टि से भी ऋतुसमष्टिरूप सम्वत्सर को 'पिता' कहा जासकता है जो कि सम्वत्सर अपने तीन पर्वों से 'वैश्वानर' बन रहा है।

---

* यह 'बृहस्पति' सुप्रसिद्ध सौर 'उपग्रह भूत बृहस्पति' से सर्वथा भिन्न है।

का रुद्रदेवता से तथा दिव्य आहवनीयाग्नि का आदित्यदेवता से सम्बन्ध है। देवत्रयी से अनुगृहीता अग्नित्रयी का वितान (पृथिवी से द्युलोक पर्य्यन्त फैलाव) ही वितानयज्ञ है। इन तीनों गणदेवताओं के संग्रह से प्राकृतिक वितानयज्ञ की सम्पत्ति का संग्रह होजाता है। प्रकृत मन्त्र से उसी वितानसम्पत्ति का संग्रह किया जाता है। पार्थिव अन्नसम्पत्ति पशुसम्पत्ति तथा द्रव्यसम्पत्ति तीनों की समष्टि 'राति' है। जिसे 'दौलत' कहा जाता है, उसी के लिए वेद में 'राति' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह 'राति' अन्न-पशु-द्रव्य भेद से त्रिधा विभक्त है। एवं तीनों पार्थिव वसुदेवता से सम्बद्ध हैं। अतएव सम्पत्ति को 'वसु' भी कहा जाता है। भूतात्मक पार्थिव अग्नि ही वसु है यही पार्थिवी सम्पत्ति है। इसी अभिप्राय से 'वसूनां रातौ स्याम' कहा गया है। निम्न लिखित मन्त्र इसी वसु-अग्नि' के स्वरूप का स्पष्टीकरण कर रहा है—

अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः।
अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आभर॥

—ऋक् सं० ५।२।१।

रुद्रदेवता अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता हैं। अन्तरिक्ष उरु है, विशाल है, जैसा कि 'उर्वन्तरिक्षमन्वमि' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है। रुद्रदेवताओं की आवासभूमि यह अन्तरिक्ष भी उरु है, एवं— 'असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्राः' इत्यादि यजुर्मन्त्रवर्णनानुसार इस उरु अन्तरिक्ष में रहने वाले अधिदेवता (रुद्र) भी आनन्त्यलक्षण उरु भाव से युक्त हैं। अन्न-पशु-द्रव्यादि पार्थिव सम्पत्तियाँ सङ्कोचधर्मा हैं जबतक इस पार्थिवसम्पत्ति के भोक्ता में आन्तरिक्ष्य उरुभाव (विशालता-उदारात्मता) नहीं आजाती, तबतक पार्थिवसम्पत्ति मोह का ही कारण बनी रहती है। अतएव 'पार्थिव-वसु-राति' के साथ साथ ही आन्तरिक्ष्य रुद्र का उरुभाव' भी आवश्यकरूप से अपेक्षित है। 'रुद्राणामुरुव्याम्' से उसी भूमाभाव की प्राप्ति अभीप्सित है।

रुद्रनिवासात्मक अन्तरिक्ष के इस ओर वसुनिवासात्मक त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्ना पृथिवी है, एवं उस ओर आदित्यनिवासात्मक द्युलोक है। मध्यस्थ अन्तरिक्ष की प्रतिष्ठा पृथिवी तथा द्युलोक ही है। अतएव अन्तरिक्ष को उभयतः [द्यावापृथिवी से] परिच्छिन्न माना गया है, जैसा कि— 'अमूलमुभयतः परिच्छिन्नम्' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है। यज्ञकर्त्ता यजमान अपनी स्वाभाविक [प्रकृतिवत्त] प्रतिभा में यावदायुर्भोगपर्य्यन्त प्रतिष्ठित रहता हुआ यज्ञ के द्वारा अन्तरिक्ष में जाता हुआ स्वर्गोपलक्षिता द्युप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होना चाहता है जो कि द्युप्रतिष्ठा तदधिदेवता-सम्बन्ध से 'आदित्यप्रतिष्ठा' कहलाई है। शेष मन्त्रभाग से इसी आदित्यप्रतिष्ठा का संग्रह हुआ है। राति-प्रवर्त्तक वसु, भूमाप्रवर्त्तक रुद्र एवं प्रतिष्ठाप्रवर्त्तक आदित्य तीनों देवता त्रैलोक्यव्यापिनी अदिति के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं *। आदितये स्यामनेहसः इस मन्त्र भाग से अन्त में उसी देवमाता अदिति का अनुग्रह प्राप्त किया जाता है॥१७॥

---

* अदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिन्दम!।
आदित्या, वसवो रुद्रा, अश्विनौ च परन्तप!॥

—वाल्मीकिरामायण

अग्निः १—वायुः आदित्यः	अग्निप्रधानस्त्रिमूर्त्तिर्विराट्—वैश्वानरः	संवत्सरो वैश्वानरः
वायुः २—अग्नि आदित्यः	वायुप्रधानस्त्रिमूर्त्तिर्हिरण्यगर्भो-वैश्वानरः	
आदित्यः ३—अग्नि वायु	आदित्यप्रधानस्त्रिमूर्त्तिर्हिरण्यगर्भ-वैश्वानरः	

स्वस्त्ययनजप-मन्त्र का अगला भाग—'अग्ने! पूषन्! बृहस्पते! प्र च वद प्र च यज'। अनुवचन और यजनकर्म में पार्थिव अग्नि पार्थिव भूत एवं वाक्, ये तीनों साधन अपेक्षित हैं। पार्थिव भूतभाग यजनकर्म का अनुगामी है वाग्भाग अनुवचनकर्म का अनुगामी है। जिस अग्नि का वरण किया जाता है वह द्यावापृथिवी में व्याप्त वैश्वानरलक्षण प्राणाग्नि था, एवं प्रस्तुत मन्त्र में पठित अग्नि भूपिण्डलक्षणा पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाला भूताग्नि है। इस भूताग्नि का पोषण जिस पार्थिव प्राण से होता है, वह 'पूषा' नाम से प्रसिद्ध है। शुक्रसम्भिप्रवर्त्तक अवम्तक पूषाप्राण रेवती-नक्षत्रात्मक पूषाप्राण आदित्यलक्षण पूषाप्राण तीनों में से प्रकृतमन्त्र के 'पूषा' शब्द से प्रशस्त पार्थिव पूषाप्राण ही अभिप्रेत है। वाक्—गौ—द्यौः ये तीन पृथिवी के 'मनोता' माने गए हैं। इन तीनों में पार्थिवी-वाक् का बृहस्पति से सम्बन्ध है जिस बार्हस्पत्या वाक् से पार्थिव वषट्कार का स्वरूप-निर्माण होता है। पार्थिवी-गौ का अग्नि से सम्बन्ध है जिस से—'गौर्वा अग्निहोत्रम्' के अनुसार पार्थिव अग्निहोत्रयज्ञ सम्पन्न होता है। एवं पार्थिव द्यौ मनोता का पूषा से सम्बन्ध है। इन तीनों पार्थिव तत्त्वों के समन्वय से ही पार्थिव यज्ञ के याज्या तथा अनुवाक्या-कर्म्म सम्पन्न होते हैं। मन्त्र के द्वारा इन्हीं तीनों का संग्रह किया जाता है ॥१६॥

स्वस्त्ययनजपमन्त्र का अगला भाग है—'वसुना रातौ स्याम, रुद्राणामुर्व्यायां स्वादित्या अदितये स्यामनेहसः'। पार्थिवयज्ञ के पाकयज्ञ वितानयज्ञ भेद से दो विवर्त्त हैं। स्मार्त्त गृह्ययज्ञ पाकयज्ञ है। एवं श्रौत त्रेताग्नियज्ञ वितानयज्ञ है। पार्थिव गार्हपत्याग्नि का वसुदेवता से, आन्तरिक्ष धिष्ण्याग्नि

होता हुआ अपने तप से इतर वर्णों को उत्पन्न करता है—[देखिए शत० ब्रा १४ कां । ४ अ । २ ब्रा० । २१ क ।] । ब्रह्म सर्वादित्व है अतएव वह सृष्टिमर्य्यादा से सम्बन्ध रखने वाले प्रजावर्ग से महिमृत है । ब्रह्ममूलक ब्राह्मणवर्ण प्रजा का (धर्मसूत्र से) सञ्चालक है, क्षत्रिय वैश्य-शूद्रवर्ण प्रजावर्ग है । इस सर्वसामान्य प्रजावर्ग के लिए ही वेदमाता में 'नर' शब्द प्रयुक्त हुआ है । ब्राह्मण नर (मनुष्य) नहीं है, अपितु देवता (भूदेव) है । सामान्य प्रजावर्ग से इस का पार्थक्य बतलाने के लिए, साथ ही इसे ब्रह्मात्मक बतलाने के लिए पूर्व (१६] कण्डिका में— जुष्टा नृभ्यः' कहा गया है । अब प्रस्तुत कण्डिका में ब्राह्मणातिरिक्त सम्पूर्ण प्रजावर्ग के लिए जुष्टा वाक् के प्रयोग का विधान हुआ है । प्रत्येक कर्म्म में सभी के शुभसंकल्प अपेक्षित हैं । वही कर्म्म समृद्ध माना गया है, जिस को देखने वाले न देखने वाले सभी एकस्वर से साधुवाद दिया करते हैं । तात्पर्य्य लोकसम्प्रदृष्टि से भी सभी की शुभ कामनाऐं अपेक्षित हैं । इस के लिए सभी के प्रति जुष्टावाक् का प्रयोग होना चाहिए ।

अगला मन्त्रभाग है— 'यद्स्य होतृवर्ये जिह्मं चक्षुः परापतत् अग्निष्टत् पुनराभ्रियाज्जातवेदा विचर्षणिः' । होता यद्यपि यथाशक्ति प्राणदेवताओं का तद्रूप ब्राह्मणों का, एवं प्रजावर्ग का सभी का अनुग्रह भी प्राप्त कर लेता है । मन्त्रप्रयोग भी यथाविधि ही करता है । इसप्रकार अपनी शक्तदशा में यह अपने होत्रकर्म्म में कोई त्रुटि नहीं करता । तथापि संसार में समालोचकों की कमी नहीं है । सर्वश्रेष्ठ निर्दोष कर्म्मों की भी आलोचना करने वाले मिल ही जाते हैं । होसकता है—लौकिक कर्म्मों का इस दृष्टिदोष से कुछ न बिगड़ता हो । परन्तु वैदिक-कर्म्म अवश्य ही इस दृष्टिदोष से भी विकृत होसकते हैं । दृष्टिसूत्र के द्वारा वह कुत्सित-भावना यज्ञवातावरण में यदि प्रवेश कर जाती है तो उसीप्रकार यज्ञस्वरूप विकृत हो जाता है, जैसे कि आगन्तुक तृणादि से स्वच्छ भी घर मलिन होजाता है । होता का यह भी एक कर्त्तव्य होजाता है कि ऐसे दुष्ट समालोचकों की दुष्टदृष्टि से दोष से दोषयुक्त बने हुए यज्ञकर्म्म को निदुष्ट बनाने के लिए अग्नि से प्रार्थना कर ले । हम नहीं जानते कि, किस के दृष्टिदोष से कर्मस्वरूप विकृत हुआ । परन्तु सब कुछ जानने वाले अतएव 'जातवेदा' नाम से प्रसिद्ध अग्नि अवश्य ही उसे जानते हैं । वे अवश्य ही हमारी भावना से प्रेरित होकर उस दृष्टिदोष को दूर कर पुनः यज्ञत्रुटि का सन्धान करने की क्षमता रखते हैं ॥ २० ॥

'जातवेदा विचर्षणिः' यहांतक स्वस्त्ययनजप करने के अनन्तर वह होता अध्वर्य्यु, तथा आग्नीध्र नामक ऋत्विजों का स्पर्श करता है । वस्तुतः अध्वर्य्यु प्राणव्यापार का उद्गाता तथा होता दोनों वाग्व्यापार के एवं ब्रह्मा मनोव्यापार के प्रवर्त्तक माने गए हैं । परन्तु यहाँ स्थितिभाव को लक्ष्य बना कर श्रुति ने अध्वर्य्यु को 'मन' मान लिया है । मन उक्थरूप से हृदय में प्रतिष्ठित रहता है । 'दूरङ्गमञ्ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' इत्यादि मन्त्र के द्वारा मन का जो विदूर गमन बतलाया गया है वस्तुतः वह वाङ्मय संस्कारों का ही गमन समझना चाहिए । कारण स्पष्ट है । मन पर बुद्धि प्रतिष्ठित रहती है । बुद्धिस्थ प्रज्ञात्मक प्राण ही चित् का अनुग्राहक है । जबतक मन है, तभीतक बुद्धि है । जबतक बुद्धि है तभीतक चित् है । जबतक चित् है तभीतक जीवनसत्ता है । फलतः मन के विदूरगमन का संस्कारात्मक परिभ्रमण पर ही विश्राम मानना पड़ता है । जिसप्रकार मन स्वस्थान में स्थित रहता है एवमेव अध्वर्य्यु का व्यापार स्वस्थान (पृथिवी) से ही सम्बन्ध रखता है । उधर होता का अनुवचनकर्म्म द्युलोकानुगत रहता है । इसी सादृश्य से निदानेन अध्वर्य्यु को मन तथा होता को वाक् मान लिया जाता है । बिना मन के

स्वस्त्ययनवपमन्त्र का अगला भाग है—"जुष्टामद्य देवेभ्यो वाचमुद्यासम्"। होमकर्म की सफलता के लिए जिन जिन देवताओं का अनुग्रह अपेक्षित था पूर्वमन्त्रभागों के जप से होता ने वह प्राप्त कर लिया। अब यह स्वयं अपने उस आध्यात्मिक वाङ्मय देवता के अनुग्रह की कामना कर रहा है, जिस की प्राप्ति से सबकुछ सफल है एवं जिस के अभाव में सबकुछ व्यर्थ है। अनुवचनकर्म से सम्बन्ध रखने वाले जिन देवताओं के लिए होता अनुवाक्या करता है, यदि उन मन्त्रों के उच्चारण में अक्षर-पद-वाक्य आदि का उच्चारण-सौष्ठव-माधुर्य्य है तो यथानुरूप उच्चरित मन्त्र अपनी उदात्त-अनुदात्त-स्वरित आदि स्वरमर्य्यादा से तथा गायत्री, त्रिष्टुप् जगती आदि 'छन्दोमर्य्यादा' से तत्तत्स्वर-छन्दोमय प्राकृतिक प्राणदेवताओं से समन्वित होते हुए तत्तद्देवतावाहन में समर्थ होजाते हैं। ऐसी देवाकर्षिणी शोभना-व्यवस्थिता-अनुद्वेगकरी मन्त्रवाक् ही प्राणदेवताओं के लिए आकर्षण की वस्तु बनती हुई 'जुष्टवाक्' कहलाती है। यदि मन्त्रोच्चारण में स्वर-त्वरता है, स्वरदोष है, उच्चारणदोष है, स्खलनदोष है, तो इस की छन्दोधारा विच्छिन्न है। ऐसी विच्छिन्ना मन्त्रवाक् कभी देवाह्वानकर्म में सफल नहीं होसकती। लोक में भी सब कुछ साधन-सामग्रियों के विद्यमान रहने पर भी केवल अपनी उद्वेगभावापन्ना अव्यवस्थिता वाक् से सबकुछ व्यर्थ होजाता है। अतएव इतर सब साधनों की अपेक्षा उस अपने वाक्-साधन का सौष्ठव प्रत्येक दशा में अपेक्षित है जिस के अनुग्रह से सभी साधन प्राप्त होजाते हैं एवं कार्य्य भी अनुकूल बन जाता है। अतएव—'तद्धि समृद्धम्, यो जुष्टं देवेभ्योऽनुब्रवत्' इत्यादि रूप से जुष्ट-वाक् को ही यज्ञ की प्रधान समृद्धि माना गया है ॥१८॥

मन्त्राधीन देवता हैं अतएव मन्त्रवाक् का सौष्ठव सर्वप्रथम अपेक्षित है। मन्त्र ब्राह्मणों के आधीन हैं अतएव ब्राह्मणों का अनुग्रह भी आवश्यकरूप से अपेक्षित है। तत्त्वात्मिका वैज्ञानिकी वाक् का रहस्य जानने वाले मन्त्रवित् ब्राह्मण भूदेव हैं। इन के प्रति भी सदा अनुद्वेगकरी-जुष्टवाक् का ही प्रयोग करना चाहिए। विशेषतः उस वैदिक यज्ञकर्म [यज्ञकर्म से उपलक्षित तप तथा दानकर्म में भी] में तो यह सावधानी रखनी ही चाहिए कि, कहीं किसी भी ब्राह्मण के लिए उद्वेगकरी वाक् का प्रयोग तो नहीं होगया। ब्राह्मण की अप्रसन्नता यज्ञस्वरूप के विघात के लिए पर्य्याप्त है एवं ब्राह्मण की प्रसन्नता यज्ञस्वरूपसमृद्धि के लिए पर्य्याप्त है। उन यज्ञकर्मों की मीमांसा कीजिए, जिन में यजमानलोग ब्राह्मणों का अपमान कर दिया करते हैं। उन दानकर्मों के कुफलों का अन्वेषण कीजिए, जिन में मदान्ध दानदाता अपमान-पुरस्सर दान करते हुए अपना सर्वनाश करा रहे हैं। उन अविवेकियों की उस अधन्यगति का भी अन्वेषण करना न भूलिए, जो केवल धन को ही बुद्धिमत्ता का मानक समझते हुए ब्राह्मणवर्ग का अपमान कर अपने भविष्य को अप्रतर्क्यरूप से ही अभिभूत करते जारहे हैं। हमारा अपना तो ऐसा आत्म-विश्वास है कि, भारतवर्ष की वर्त्तमान दीनदशा के अन्यान्य कारणों में से ब्राह्मणभक्ति की सुषुप्ति तथा ब्राह्मणवर्ग का अपमान भी एक मुख्य कारण है। 'तद्धि समृद्धं यो जुष्टं ब्राह्मणेभ्योऽनुब्रवत्' इत्यादि श्रौतादेश भी इसी कारण का स्पष्टीकरण कर रहा है। 'जुष्टां ब्रह्मभ्यः' यह मन्त्रभाग इसी ब्राह्मणानुग्रह-प्राप्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है ॥१९॥

अगला मन्त्रभाग है—'जुष्टं नाराशंसाय'। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र, इन चारों वर्णों में ब्राह्मणवर्ग इतर तीनों वर्णों का मूलप्रभव है अग्रस्थानीय है। यह एकाकी सृष्टि करने में असमर्थ

इसप्रकार होतृषदनस्थान में बैठने के अनन्तर होता बोलता है—"विश्वकर्म्मंस्तनूपा असि मा मोद्दोषिष्टं मा मा हिंसिष्टमेष वां लोकः ।" इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ होता उत्तर की ओर थोड़ा सा चलता सा है। होतृषदनस्थान गार्हपत्य, तथा आहवनीय, दोनों द्यावापृथिव्य अग्नियों के मध्यम में पड़ता है। दोनों अग्नि दिष्ण्याग्नि हैं, विशेषतः आहवनीय तो समिन्धन से आज समिद्ध बन कर अतिशयरूप से ही, शक्तिमान् बन गया है। अवश्य ही बिना इनकी अनुग्रहप्राप्ति के तन्मध्यस्थ होता का अनिष्ट होसकता है। अतएव होता स्तुति के द्वारा इन का अनुग्रह प्राप्त करता है ॥ २५ ॥

अनन्तर आहवनीयाग्नि की ओर देखता हुआ—'विश्वेदेवा' शास्तन इत्यादि मन्त्र बोलता है, जिस का स्पष्टीकरण मूलानुवाद से ही गतार्थ है ॥ २६ ॥

इति-विवेचनाप्रकरणम्

इति–होतृप्रवरब्राह्मण समाप्तम् ।
इति प्रथमकाण्डे–पञ्चमाध्याये प्रथम ब्राह्मण
चतुर्थप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मण
"प्रवरब्राह्मण" नामकमुपरतम्

वाग्व्यापार प्रतिष्ठाशून्य है। उसी मनःप्रतिष्ठाप्राप्ति के लिए यह होता मनःस्थानीय अध्वर्यु का स्पर्श करता है। मनोवाक् का परस्पर ग्रन्थिबन्धन ही इस स्पर्श का अनन्य फल है ॥ २१ ॥

स्पर्शकर्म्मानन्तर यह होता 'पयसोर्वीरुद्रसस्पातु–अग्निश्च पृथिवी च आपश्च वाजश्च अहश्च, रात्रिश्च' इस मन्त्र का जप करता है। 'अहोरात्रवाद' सिद्धान्त के अनुसार 'अह' से सम्बन्ध रखने वाला सौर आग्नेय तत्त्व, तथा रात्रि से सम्बन्ध रखने वाला चान्द्र सौम्य तत्त्व, ये दो ही सर्वसृष्टि के उपादान हैं। इन दो के तीन विवर्तों का ही यहाँ स्पष्टीकरण हुआ है। अह का अग्नि से सम्बन्ध है, रात्रि का पृथिवी से सम्बन्ध है। अहः का वाज से सम्बन्ध है रात्रि का आप से सम्बन्ध है। अग्नि पृथिवी, जल, तीनों प्रसिद्ध हैं। वाज प्रकृत में 'प्राण' का वाचक है। 'पय व एव विभ्रपाथ' (ऐ० ब्रा २।२।१।) इस श्रुति के अनुसार मृतशरीर को धारण करने वाला ।यथार्थ प्राण ही 'वाज' है। अन्न-दान के द्वारा ही इस की शरीर में प्रतिष्ठा रहती है। अतएव (वाजप्रवृत्तकत्वेन) अन्न को भी 'वाज' कह दिया जाता है। 'यथाग्निगर्भा पृथिवी' सिद्धान्तानुसार जहाँतक पृथिवी है, वहाँतक अग्नि है। पार्थिव प्रजा के लिए सर्वत्र पृथिवी, एवं तदभिन्न अग्नि की व्याप्ति है। पानी का भी कहीं अभाव नहीं है–'सर्वमापोमयं जगत्'। वाजात्मक प्राण भी—'नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन' के अनुसार सर्वव्यापक है। अहोरात्र की सर्वव्याप्ति तो स्पष्ट ही है। इन ६ धर्मों की इसी सर्वव्याप्ति को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने इन्हें 'ऊर्वी' कहा है। जिस के लिए ये ६ ऊर्वी पर्व अनुकूल रहते हैं वह कभी किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं पासकता। होता इसी देवषट्कानुग्रहप्राप्ति की कामना करता है ॥ २२ ॥

स्वस्त्ययनजपकर्म्म–समाप्ति के अनन्तर होता अपने लिए नियत 'होतृषदन' नामक अपने बैठने के स्थान की ओर लौट आता है। यहाँ आकर अपने दर्भासन से एक तृण निकाल कर फैंकता हुआ होता—निरस्तः परावसुः मन्त्र बोलता है। जिस की उपपत्ति श्रुति ने यह बतलाई है कि 'परावसु' नामक असुर असुरों का 'होता' था। तृणनिष्कासन–न्याय से उसी को इस देवयज्ञमण्डल से बाहिर फैंका जाता है। ऐतिहासिक तथ्य की दृष्टि से बहुत सम्भव हो, भौम देवताओं की भाँति असुरों ने भी यज्ञ किया हो एवं उनके किसी यज्ञ में 'परावसु' नामक असुरब्राह्मण होता बना हो। परन्तु तत्त्वव्याख्या यह तमोमयप्राण जोकि अपने स्वाभाविक आसुरभाव से देवयज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले वसु (सम्पत्ति) को यज्ञमण्डल से पराग् करने वाला है 'परावसु' है। इसी के लिए 'सहरक्षा' शब्द प्रयुक्त हुआ है जैसा कि–'सहरक्षा इमसुररक्षसा वृत आस' इत्यादि रूप से पूर्व के 'हिङ्कारब्राह्मण' में विस्तार से बतलाया जाचुका है। दिव्यप्राणाग्नि देवदेवताओं के होता हैं। इसी के लिए 'अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्' इत्यादि कहा गया है। अग्नि र्वं सम्प्य वसु इत्यादि के अनुसार वसु (सम्पत्त) के प्रवर्तक ये अग्नि ही 'अर्वावसु' नामक देवदेवताओं के होता हैं। दोनों ही प्राणात्मक दूत आन्तरिक्ष्य वायु में व्याप्त रहते हैं। अतः यज्ञमण्डल में दोनों का सम्बन्ध अनिवार्य्य है। दोनों में 'परावसु' का सम्बन्ध यज्ञविघातक है। मन्त्रशक्ति के द्वारा तृणनिरास द्वारा उसे तो निकाल बाहिर कर दिया जाता है एवं–'इदमहमर्वावसो सदने सीदामि' यह मन्त्र बोलता हुआ स्वपद में केवल 'अर्वावसु' नामक दिव्याग्नि–होता के सम्बन्ध को दृढमूल बनाता है। २३ २४ कण्डिकाओं में इसी उपपत्ति का स्पष्टीकरण हुआ है ॥ २३ २४ ॥

श्री

अथ--शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये

प्रथमकाण्डे

पञ्चमाध्याये--"स्रुग्ब्राह्मणम्"

(वृष्टिविज्ञानात्मकम्)

श्रीः

इति–शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये—

प्रथमकाण्डे

पञ्चमाध्याये–प्रवरब्राह्मणम्



॥ श्री ॥

अथ-प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये द्वितीय ब्राह्मणे चतुर्थप्रपाठके च तृतीय ब्राह्मणे उपक्रान्तम्

"स्रुगब्राह्मणम्"

२२—स्रुगादापन-आश्रावण-प्रत्याश्रावणञ्च

★

१—स्रुगादापननिगद —

(मूल)-'अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रम्' इति । अग्निरिदं होता वेत्तु इत्येवैतदाह । अग्नेर्होत्रमिति । तस्यो हि होत्रम् । 'वेत्तु प्रवित्रम्' इति । यज्ञो वै पावित्रम् । वेत्तु यज्ञमित्येवैतदाह । 'साधु ते यजमान ! देवता' इति । साधु ते यजमान देवता—यस्य त अग्निर्होता इत्येवैतदाह । 'घृतवतीमध्वर्यो ! स्रुचमास्यस्व' इति । तद्ध्वर्युं प्रसौति । स यदेकामिवाह ॥ १ ॥

यजमान एव जुहूमनु, योऽस्मा अरातीयति—स उपभृतमनु । सयद् द्वे इव ब्रूयात् यजमानाय द्विपन्तं भ्रातृव्य प्रत्युद्यामिनं कुर्यात् । अत्रैव जुहूमनु, भाय उपभृतमनु । स यद् द्वे इव ब्रूयाद्-अत्र भ्राय प्रत्युद्यामिनं कुर्यात् । तस्मादेकामिवैवाह ॥ २ ॥

'देवयुवं विश्ववाराम्' इति । उपस्तौत्येवैनामेतद्, महयत्येव-यदाह, देवयुवं विश्ववारामिति । ईडामहै देवाँ ३ ॥ 'ईडेन्यान्, नमस्याम नमस्यान्, यजाम यज्ञियान्' इति । ईडामहै तान् देवान्—य ईडन्या., नमस्याम तान्—य नमस्या, यजाम यज्ञियान्—इति । मनुष्या वा ईडन्याः, पितरो नमस्या, देवा यज्ञिया ॥ ३ ॥

स होता नापव्याहरेत् आ वषट्कारात् । त वषट्कारग्नाविव योनौ रेतोभूत सिञ्चति । अग्निर्वै योनियज्ञस्य-स तत प्रजायते ॥१४॥

स यद् " सोऽभ्याहरेत्-य यज्ञ उपावर्तते, यथा पूर्णपात्रं परासिञ्चेद्-एव ह स यजमान परासिञ्चेत् । स यत्र हैवमृत्विज सविदाना यज्ञेन चरन्ति-सर्वमेव तत्र कल्पते, न मुह्यति । तस्मादेवमेव यज्ञो भर्तव्य ॥ १५ ॥

ता वा एता पञ्च व्याहृतयो भवन्ति 'ओ श्रावय,' 'अस्तु श्रौषट्', 'यज', 'ये यजामहे,' 'वौषट्' इति । पाङ्क्तो यज्ञ , पाङ्क्तः पशु , पञ्चऽर्त्तव संवत्सरस्य । एषैवा यज्ञस्य मात्रा एषा सम्पत् ॥१६॥

तासा सप्तदशाक्षराणि । सप्तदशो वै प्रजापतिः । प्रजापतिर्यज्ञ । एषैव यज्ञस्य मात्रा, एषा सम्पत् ॥१७॥

'ओ श्रावय' इति वै देवा पुरोवात ससृजिर । 'अस्तु श्रौषट्' इति अभ्राणि समप्लावयन् । 'यज इति विद्युतम् । 'य यजामहे' इति स्तनयित्नुम् । वषट्कारेणैव प्रावर्षन् ॥१८॥

स यदि वृष्टिकामः स्यात् , यदीष्ट्या वा यजेत,-दर्शपूर्णमासयोर्वैव ब्रूयाद् 'वृष्टिकामो वा अस्मि' इति । तत्रो अध्वर्यु ब्रूयात् पुरोवात च विद्युत च मनसा ध्याय' इति । 'अभ्राणि मनसा ध्याय' इति अग्नीधम् । 'स्तनयित्नु च वर्ष च मनसा ध्याय इति होतारम् । 'सर्वाण्येतानि मनसा ध्याय' इति ब्रह्माणम् । वर्षति हैव तत्र-यत्रैवं ऋत्विज सविदाना यज्ञेन चरन्ति ॥१०॥

'ओ श्रावय' इति वै देवा विराजमभ्याजुहुवुः । 'अस्तु श्रौषट्' इति वत्समुपावासृजन् । यज' इति उदनयन् । 'य यजामहे' इति उपासीदन् । वषट्कारेणैव विराजमदुहत । इयं वै विराट्, अस्यै वा एष दोहः । एवं ह वा अस्मै इयं विराट् सर्वान् कामान् दुहे-य एवमेतं विराजो दोहं वेद ॥२०॥

इति-प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये द्वितीय ब्राह्मण
चतुर्थप्रपाठके च तृतीय ब्राह्मण
उपरत-"स्रु गब्राह्मण' नामकम्

या वै प्रजा यज्ञे अनन्वाभक्ता –पराभूता वै ता । एवमवैतद् या इमा प्रजा अप राभूताः–ता यज्ञ आभजति । मनुष्यान् अनु पशव, देवान् अनु वयांस्योषधयो वनस्पतयो यदिदं किञ्च–एवमु तत्सर्वं यज्ञे आभक्तम् ॥ ४ ॥

ता वा एताऽनव व्याहृतयो भवन्ति । नवेमे पुरुष प्राणा एतानेवास्मिन् एतद् दधाति । तस्मान्नव व्याहृतयो भवन्ति ॥ ५ ॥

२–आश्रावण–प्रत्याश्रावण–निगद —

यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम । त देवा अन्वमन्त्रयन्त 'आ न शृणु, उप न आवर्तस्व' इति । सः 'अस्तु तथा' इत्येव देवानुपाववर्त । तेनोपावृत्तेन देवा अयजन्त । तेनेष्ट्वा एतद् अभवन्-यदिद दवाः ॥ ६ ॥

स यदाश्रावयति-यज्ञमेवैतदनुमन्त्रयते 'आ न' शृणु, उप न आवर्तस्व इति । अथ यत्प्रत्याश्रावयति-यज्ञ एवैतदुपावर्तते 'अस्तु तथा' इति । तेनोपावृत्तेन रयसा भूतेन ऋत्विज सम्प्रदायं चरन्ति, यजमानेन पराञ्चम् । यथा पूर्याष्ठेण सम्प्रदायं चरयु एवमनेन ऋत्विजः सम्प्रदायं चरन्ति । तद्यावैषतत् संप्रदायं चरन्ति वाग् हि यज्ञः, वाग् उ हि रेत, तदेतेनैतत् सम्प्रदायं चरन्ति ॥ ७ ॥

सः 'अनुब्रू हि' इत्येवोक्त्वा अध्वर्युर्नापव्याहरेत्, नो एव होतापव्याहरेत् । आश्रा वयति अध्वर्यु तदग्नीधं यज्ञ उपावर्तते ॥ ८ ॥

सोऽग्नीन्नापव्याहरेत्-आ प्रत्याश्रावणात् । प्रत्याश्रावयत्यग्नीत्-तद् पुनरध्वर्युं यज्ञ उपावर्तते ॥ ६ ॥

सोऽध्वर्युर्नापव्याहरत्–आ 'यज' इति वक्तो । यजेत्युवाध्वर्युर्होत्रे यज्ञ सम्प्रयच्छति ॥ १० ॥

स होता नापव्याहरेत–आ वषट्कारात् । तं वषट्कारेणाग्नावेव योनौ रेतोभूत सिञ्चति । अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य-स ततः प्रजायते–इति नु हविर्यज्ञे । अथ साम्यऽध्वर ॥११॥

स नै ग्रहं गृहीत्वाध्वर्युर्नापव्याहरेद् आ उपाकरणाद् । 'उपावर्तध्वम्' इत्यधाध्वर्यु–रुद्गातृभ्यो यज्ञं सम्प्रयच्छति ॥१२॥

त उद्गातारो नापव्याहरयु आ उत्तमाया । एपोत्तमा' इत्यवोद्गातारा होत्रे यज्ञ सम्प्रयच्छन्ति ॥१३॥

रूप न इसके शत्रु की प्रतिकृति है) । (ऐसी स्थिति में) यदि यह होता (अध्वर्यु को) दो (जुहू उपभृत् दोनों) स्रुचों के लिए प्रेरित करेगा तो यजमान के लिए द्वेष करने वाले शत्रु को यजमान की प्रतिस्पर्द्धा में खड़ा कर देगा (अर्थात् द्वेषी शत्रु को बलप्रदान करने वाला सिद्ध होगा अतः एक ही जुहू के लिए प्रेरित करना उचित है) ।

(अब इसी की एक दूसरी उपपत्ति और बतलाते हैं)—अत्ता (भोक्ता) ही जुहू को लक्ष्य बनाता है, एवं आद्य (भोग्य) उपभृत् को लक्ष्य बनाता है । (अर्थात् जुहू निदानेन अत्ता की तथा उपभृत् आद्य की प्रतिकृति है) [ऐसी स्थिति में] यदि यह होता दो स्रुचों के लिए प्रेरित करेगा, तो अत्ता के लिए आद्य को प्रतिस्पर्द्धालु बनावेगा । [अर्थात् भोक्ता भोग्य की तुलना में भोग्य को सबल बनावेगा । ऐसा न हो इसलिए] एक ही रूप से [एक स्रुच के लिए] मन्त्र बोलता है ॥२॥

[अनन्तर] 'देवयुवं विश्ववाराम्' [देवताओं के सहयोग की इच्छा रखने वाली, तथा सम्पूर्ण देवताओं से वरणीय ऐसी जुहू के लिए मैं अध्वर्यु को प्रेरित करता हूँ] यह मन्त्रोच्चारण करता है । यह होता इस जुहू की प्रशंसा ही करता है, बढ़ाता ही देता है, जो कि—"देवयुवं विश्ववाराम्' यह कहता है । [अनन्तर] "ईडामहै देवाँ ३॥ ईडेन्यान्, नमस्याम नमस्यान्, यजाम यज्ञियान्" [स्तुति करने योग्य मनुष्यों का मैं स्तुति करता हूँ, नमस्कार करने योग्य पितरों को मैं नमस्कार करता हूँ एवं यजन में भाग लेने वाले–आहुति ग्रहण करने वाले अतएव यज्ञिय' कहलाने वाले देवताओं का मैं यजन करता हूँ] यह मन्त्रोच्चारण करता है । मनुष्य निश्चयेन स्तुति करने योग्य है पितर नमस्य हैं एवं देवता यज्ञिय हैं ॥३॥

जो प्रजाएँ यज्ञ में भागरहित हैं [जिनका यज्ञ में भाग नहीं है], वे प्रजाएँ निश्चयेन पराजित हुई हैं । इसीप्रकार [ठीक इसके विपरीत] जो प्रजाएँ अपराजित हैं उन्हीं को यज्ञ में समाविष्ट करता है [अर्थात् प्राकृतिक यज्ञ में जिन प्रजाओंने भाग नहीं लिया व परास्त हुई एवं जिन्होंने यज्ञ में भाग लिया वे विजयिनी हुई । प्रकृत यज्ञ में उन विजयिनी प्रजाओं का ही समावेश किया जाता है] । मनुष्य को लक्षित कर पशुप्रजा देवताओं को लक्षित कर पशी ओषधियाँ वनस्पतियाँ तथा [जिन का सृष्टिक्रम में उपयोग है वह] यह सबकुछ यज्ञ में समाविष्ट है ॥ [४] ॥

मूलानुवाद —
पाँचवें अध्याय में दूसरा, एवं चौथे प्रपाठक में तीसरा ब्राह्मण
"स्रुग्ब्राह्मण"

१—स्रु गासादनिगद—

(पूर्व के 'प्रवरब्राह्मण' में अध्वर्यु के द्वारा होने वाले यजमान दिव्य अग्नि एवं मानुष होता के वरणकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाई गई है। अब प्रकृत 'स्रु ग्ब्राह्मण' में 'स्रु गासादन-कर्म्म' का स्पष्टीकरण किया जाता है। कहा गया है कि, अध्वर्यु के द्वारा होतृत्वेन वृत 'होता' नामक ऋत्विक् अपने हौत्रकर्म्म की निर्विघ्न-परिसमाप्ति के लिए स्वस्थान-होतृसदन में प्रतिष्ठित होकर—'एतत् त्वा देव सवितर्वृणते' इत्यादि मन्त्रजप-लक्षण 'स्वस्त्ययनजप' कर्म्म करता है। इस कर्म्म के अनन्तर ही स्रु गासादनकर्म्म विहित है, जिसकी इतिकर्त्तव्यता क्रमप्राप्त आरम्भ करती हुई श्रुति कहती है)—

(स्वस्त्ययनमन्त्रजप के अनन्तर होता नामक ऋत्विक्)—'अग्निर्होता वेत्वग्नेर्होत्रम्' (प्राणाग्निलक्षण दिव्य होता इस अनुष्ठेय अपने हौत्रकर्म्म को जाने) यह मन्त्र बोलता है। 'इस (अनुष्ठेय कर्म्म) को दिव्याग्निरूप यह होता जाने' मन्त्रभाग से यही कहा है। 'अग्नि-र्होत्रम्' इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य्य है कि यह हौत्रकर्म्म निश्चयेन अग्नि का ही है। (अनन्तर) 'वेतु प्रावित्रम्' (यह दिव्याग्निरूप होता यज्ञ को जाने) यह मन्त्रभाग बोलता है प्रावित्र निश्चयेन—('प्रकर्षेण अवति', इस व्युत्पत्ति से) यह यज्ञ है। (इस मन्त्रभाग से) 'होता रक्षक यज्ञ को जाने' यही कहा है। (अनन्तर) 'साधु ते यजमान ! देवता' (हे यजमान ! जिस तुम्हारा होता दिव्य अग्नि है यह तुम्हारा देवता तुम्हारा लिए—कर्म्मसिद्धि के लिए साधु-योग्य है) यह मन्त्रोच्चारण करता है। मन्त्र से यही कहा गया है। (अनन्तर)—'घृतवतीमध्वर्यो ! स्रु चमास्यस्व' (हे अध्वर्यु ! आप घृतपूर्णा स्रु च का ग्रहण कीजिए) यह मन्त्रोच्चारण करता है। (इस मन्त्र के द्वारा होता) अध्वर्यु का (स्रु गासादनकर्म्म के लिए प्रेरित करता है। सो जो कि होता (अध्वर्यु को जुहू उपभृत्, इन दोनों में से) केवल जुहू के लिए प्रेरित करता है (उस की उपपत्ति बतलाते हैं) ॥१॥

यजमान ही जुहू को लक्ष्य बनाता है (एवं) जो इस (यजमान के लिए) शत्रुता करता है, वह (यजमान का शत्रु) उपभृत् का लक्ष्य बनाता है (अर्थात् जुहू निधानन यजमान की तथा

के [दवदेयता] वे बन गए जो कि [आप उन का] यह दवत्वरूप [त्रैलोक्यात्मक सम्वत्सरमण्डल म प्रतिष्ठित] है। [अर्थात् दवदवताओं ने अनुनय विनय के द्वारा वापस लौटे हुए यज्ञकर्म से ही अपना देवत्व सुरक्षित रक्खा यज्ञ ही देवों का दवत्व बना ॥[६]॥

सो जो कि अध्वर्यु [नामक ऋत्विक् 'ओश्रावय' इत्यादि रूप से] आश्रावण कर्म्म करता है, [अपने इस आश्रावणकर्म्म से प्राकृतिक देवदवताओं की भाँति] यज्ञ को ही अनुनय विनय से बुलाता है कि आप हमारा सुनो हमारी ओर लौट आओ। [तात्पर्य्य अध्वर्युकृत आश्रावण-कर्म्म लोकान्तर में गत यागस्वरूप-सम्पादक यज्ञ को स्व पथयज्ञ म वापस बुलाने के लिए ही विहित है]। [अध्वर्यु कृत आश्रावण के अनन्तर आग्नीध्र नामक ऋत्विक्-'अस्तु श्रोषट्' इत्या कारक जो प्रत्याश्रावणकर्म्म करता है-उस प्रत्याश्रावणकर्म्म से यह पलायित यज्ञ वैसा ही हो इस स्वीकृति के साथ लौट आता है। [तात्पर्य्य आग्नीध्रकृत प्रत्याश्रावणकर्म्म यज्ञ के स्वीकृति-पूर्वक वापस लौट आने के स्थान म ही विहित है]। [इसप्रकार अध्वर्युकृत आश्रावण एवं आग्नी-ध्रकृत प्रत्याश्रावण से समीप आए हुए यज्ञ के बल से-यजमान को [इस यज्ञस्वरूपसम्पादनकर्म्म में] परोक्ष रखते हुए ऋत्विक् लोग सम्प्रदाय का अनुगमन करते हैं—[परस्पर एक दूसरे के प्रति योग्य इतिकर्त्तव्यता का विभाजन करते हुए यज्ञतिकर्त्तव्यता पूर्ण करते हैं]। [तात्पर्य्य-आश्रावण प्रत्याश्रावणरूप-वाङ्मय निगदकर्म्म से यज्ञ का स्वरूप सम्पन्न होता है। इस म चारों ऋत्विजों का क्रमश सहयोग रहता है। केवल यजमान इस निगदकर्म्म में भाग नहीं लेता] जिसप्रकार [लोक में किसी बृहत्पात्र को पूर्ण करने के लिए समवेत अनेक] व्यक्ति अपने आगे आगे की व्यक्तियों को जलपूर्ण घट पात्र सौंपते हुए बृहत्पात्र पूर्ण कर देते हैं तथैव इस पारस्परिक प्रदान-कर्म्म से इस यज्ञ के द्वा। य ऋत्विक् सम्प्रदाय का अनुगमन करते हैं। (यहाँ पारस्परिक सम्प्र-दान किसी भौतिक द्रव्य का नहीं होता अपितु केवल वाक्प्रयोग लक्षण निगदमन्त्र-प्रयोग से ही सम्प्रदानानुगमन होता है। इसी अभिप्राय को अभिव्यक्त करता हुआ श्रुति कहती है कि) इस वाक् (वाङ्मय निगदमन्त्रप्रयोग) के द्वारा ही सम्प्रदान-पूर्वक ऋत्विक् लोग अनुष्ठान करते हैं। वाक् ही यज्ञ है और वाक् ही निष्पयन यज्ञका रस है। अतः वाक् के द्वारा ही सम्प्रदानपूर्वक यज्ञानुष्ठान करते हैं ॥ (७) ॥

(आश्रावण प्रत्याश्रावण-कर्म्म के पारिस्परिक सम्प्रदान से सभी ऋत्विजों का व्यवस्थितरूप से शान्त अनुद्विग्न-वृत्ति में रहना आवश्यक है। इस निगदकर्म्म में उन्हें उतना ही कुछ बोलना है जितना का निगदकर्म्म से सम्बन्ध है। प्रस्तुतानुपयोगिनी लौकिकवार्त्ता यहाँ सर्वथा निषिद्ध है। इसी विशेषादेश का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है कि) यह अध्वर्यु (अपने मुख से होता

इसप्रकार [पूर्व-कथनानुसार स्रुगादापनकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले 'स्रुगादापननिगद'] मन्त्र की ६ व्याहृतियाँ [वाक्य] होजाती हैं * । पुरुष [आध्यात्मिकयज्ञ] में भी [भाव शीर्षस्थ हो अयाज्ञप्राण सम्भूय ६] प्राण हैं । [नवव्याहृत्यात्मक इस स्रुगादापनमन्त्र से] यह होता अपने इस वैध आधिभौतिक यज्ञ में इन्हीं ६ प्राणों को स्थापित करता है । इसी [नवप्राणाधानसम्पत्ति के लिए] स्रुगादानमन्त्र की ६ व्याहृतियाँ होती हैं ॥ [४] ॥

स्रुगादापननिगदसमाप्त

—१—

२—आश्रावण-प्रत्याश्रावणनिगद-

'अग्निर्होता वेदश्रग्नर्होत्रम्०' इत्यादि नवव्याहृत्यात्मक होत्रकर्त्तृक 'स्रुगादापन कर्म्म के अनन्तर-अध्वर्यु, होता उद्गाता ब्रह्मा इन चारों ऋत्विजों के सहयोग से आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म्मेतिकर्त्तव्यता सम्पन्न होती है । एक दूसरे ऋत्विक् का एक दूसरे ऋत्विक् के प्रति यज्ञस्वरूप की महिमा का वर्णन-बखान-ही आश्रावण प्रत्याश्रवण-कर्म्म कहलाता है । यह कर्म्म किया क्यों जाता है ? इस प्रश्न के उत्तर में प्रथम एक वैज्ञानिक आख्यान उद्धृत होरहा है, जिस-का तात्त्विक विश्लेषण विवेचना प्रकरण में होगा । मौलिक उपपत्ति से सम्बन्ध रखने वाले उसी वैज्ञानिक आख्यान का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है]—[किसी युग में] यज्ञ देवताओं को छोड़कर चला गया । [लोकान्तर में पलायित उस] यज्ञ को देवताओंने बड़े अनुनय विनय के साथ बुलाना आरम्भ किया कि [हे यज्ञदेव !] तुम हमारी सुनो [मानो] हमारी ओर लौट आओ । [इनदेवताओं की अनुनय विनय युक्त वाणी से प्रभावित होकर लोकान्तर में गया हुआ] वह यज्ञ वैसा ही हो [यह स्वीकृति-वचन] कहता हुआ देवों की ओर लौट आया । समीप लौट हुए उस यज्ञ से देवोंनें अपना यागकर्म्म सम्पन्न किया [यज्ञेतिकर्त्तव्यता पूरी की] । इस यज्ञ से यजन कर

* १—"अग्निर्होता" ।
२—"वेत्त्वग्नर्होत्रम्" ।
३—"वेत्तु प्राविंत्रम्" ।
४—"साधु ते यजमान ! देवता" ।
५—"घृतवतीमध्वर्यो ! स्रुचमास्यस्व" ।
६—"देवयुवं विश्ववाराम्" ।
७—"ईडामहै देवाँ ३॥ ईडेन्यान्" ।
८—"नमस्याम नमस्यान्" ।
९—"यजाम यज्ञियान्" ।

इति–स्रुगादापननिगदव्याहृतयः [९]

(अध्वर्युकृत 'उपावर्त्तध्वम्' निगद से यज्ञसम्पत् से युक्त होजानेवाले) ये उद्गाता लोग जबतक (अपनी स्तोत्रियाओं में से) अन्तिम स्तोत्रिया का उद्‌गान न करलें तबतक अप्रस्तुत कुछ न बोलें। (स्तोत्रिया की समाप्त्यनन्तर उद्गातालोग अन्त में होता को लक्ष्य बनाकर-'एषोत्तमा' यह अन्तिम स्तोत्रिया है—इस निगद का उच्चारण करते हैं। श्रुति कहती है कि) उद्गातालोग) 'एषोत्तमा' इस उच्चारण से ही होता के लिए यज्ञसम्पत् समर्पित कर देते हैं—(फलस्वरूप होता भी यज्ञसम्पत् से युक्त होजाता है) ॥ (१३) ॥

(उद्गातृकर्तृक स्तोत्रियोद्‌गानकर्म्म की अन्तिम स्तोत्रिया से सम्बन्ध रखने वाले 'एषोत्तमा' इस निगद से यज्ञसंपत् से युक्त होजाने वाला) यह होता जबतक यह वौषट् रूप से वषट्कार न करले, तबतक अप्रस्तुत कुछ न बोले। (होतृकर्तृक वषट्कारानन्तर वषट्कार के साथ ही) अध्वर्यु वषट्कार के द्वारा आहवनीयाग्निलक्षण योनि में उस (नियत 'मह' नामक सोमरूप) रेत की आहुति दे देता है। अग्नि निश्चयेन यज्ञ की योनि है। इसी में (रेतोभूता सोमाहुति से) यज्ञ (यज्ञातिशय, जिस के आरूपण से यजमान मानुषात्मक ऐहलौकिक आयुर्भोगानन्तर त्रिणाचि-केतस्वर्ग में प्रतिष्ठित होगा) उत्पन्न होता है। (सोमयाग के सम्बन्ध में वाक्संयमकर्म्म की यही प्रासङ्गिकी मीमांसा है) ॥(१४)॥

(आश्रावण प्रत्याश्रावण-निगदकर्म्म में यदि ऋत्विक् लोग अप्रस्तुतवाक् का उच्चारण करदें तो क्या अनिष्ट हो? इसी प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि) यदि यह ऋत्विक् अप्रस्तुतवाक् का उच्चारण कर देगा तो (यह परम्परया) जिस यज्ञसम्पत् को प्राप्त करता है, (अप्र-स्तुत वागुच्चारण से उस यज्ञसन्तान का विच्छेदक बनता हुआ यह होता) उसीप्रकार यजमान को यज्ञसम्पत् से पृथक् कर देगा जैसे कि (स्वल्पपात्रों से बृहत्पात्र को परिपूर्ण करने वाले व्यक्ति असावधानी से) उस पूर्णपात्र को रिक्त कर देते हैं (रस गिरा देते हैं)। (तात्पर्य्य-लौकिक कर्म्म जैसे अन्यवृत्ति से अपूर्ण रह जाता है एवमेव अप्रस्तुत वागुच्चारण से यज्ञकर्म्म स्वसन्तानधारा खोता हुआ अपूर्ण रह जायगा एवं यही अप्रस्तुत वागुच्चारण से महान् अनिष्ट होगा।)। (ठीक इसके विप-रीत) जिस यजमान के यज्ञ के [आश्रावण-प्रत्याश्रावण-निगदकर्म्म में] ऋत्विक् लोग [अप्रस्तुतवाक् का संयम करते हुए] परस्पर एक दूसरे के प्रति यज्ञसम्पत् समर्पित करते हुए निगदकर्म्म का अनु गमन करते हैं उस कर्म्म में सभी कुछ [यज्ञसम्पत्तियाँ] सम्पन्न होजाती हैं इस सावधानी से कोई भी ऋत्विक् अपने लक्ष्य से च्युत नहीं होता। इसलिए [ऋत्विजों को चाहिए कि] वे इसप्रकार [विहित नियमानुसार] ही [यज्ञेतिकर्त्तव्यता पूरी करते हुए] यज्ञ को पुष्ट [परिपूर्ण] करें ॥ [१५] ॥

नामक ऋत्विक् से प्रति अनुवचन के लिए प्रैप करता हुआ) केवल 'अनुब्रू हि' [अनुवचन करो] इतना भर कह कर अप्रासङ्गिक और कुछ न बोले। नाहीं होता ही और कुछ अप्रासङ्गिक उच्चारण करे। [क्योंकि अध्वर्युकृत प्रैप से अनुवचन-द्वारा होता में भी वाग्रूप यज्ञ का समावेश होजाता है]। [अनन्तर] अध्वर्यु [आग्नीध्र को लक्ष्य बनाकर 'ओश्रावय' इत्यादिरूप से] आश्रावण करता है। इस आश्रावण से यज्ञ आग्नीध्र के समीप लौट आता है [आग्नीध्र यज्ञसम्तान से युक्त हो-जाता है] ॥[८]॥

क्योंकि अध्वर्युकृत आश्रावण से आग्नीध्र में यज्ञसम्पत् का समावेश होगया है, अतएव जबतक आग्नीध्र ['अस्तु श्रौषट् इत्यादिरूप से] प्रत्याश्रावण न करले तबतक यह निष्प्रयोजन कुछ न बोले। [अध्वर्युकृत आश्रावण के अनन्तर ही अन्य निष्प्रयोजन वाक् का संयम करता हुआ] आग्नीध्र ['अस्तु श्रौषट्' रूप से अध्वर्यु के प्रति] प्रत्याश्रावण करता है। [आग्नीध्रकृत] इस प्रत्याश्रावणकर्म्म अध्वर्युकृत आश्रावणकर्म्म का ही समाधान है ॥ [९] ॥

[आग्नीध्रकृत प्रत्याश्रावण से यज्ञसम्पत् से युक्त हुआ] यह अध्वर्यु जबतक [होता के प्रति] 'यज' [यजन करो] इस निगद का प्रैप न करले तबतक अन्य कुछ निष्प्रयोजन न बोले। अपने 'यज' इस प्रैप से ही अध्वर्यु होता के लिए यज्ञसम्पत् समर्पित कर देता है [फलस्वरूप वहाँ आकर होता भी यज्ञ सम्पत् से युक्त होजाता है] ॥[१०]॥

[अध्वर्युकृत 'यज' निगद के द्वारा यज्ञसम्पत् से युक्त होता हुआ] यह 'होता' जबतक 'वौषट्' निगद का उच्चारण न करले तबतक अन्य कुछ अप्रस्तुत न बोले। [होता के मुख से वौषट् सुनने के साथ ही] वषट्कार के द्वारा आहवनीयाग्निलक्षणा योनि में उस [निषक्त सक्रिय] हविर्द्रव्यरूप रेत की आहुति दे देता है। अग्नि निश्चयेन यज्ञ की योनि है। इसी में [रेतोभूत हवि प्रदान से] यज्ञ [देवात्मलक्षण स्वर्गप्रापक यज्ञातिशय] उत्पन्न होता है। हविर्यज्ञ के सम्बन्ध में वाक्संयम की [ऋत्विग्गानुगता] यही [उक्त] व्यवस्था है। अब [प्रसङ्गोपात्त] सोमयाग में [होने वाली वाक्संयमव्यवस्था के सम्बन्ध में भी कह देते हैं] ॥[११]॥

(सोमयाग में) यह अध्वर्यु (सोमरस से परिपूर्ण ग्रहमय) ग्रह (सोमपात्र) का ग्रहण कर जबतक उद्गातालोग स्तोत्रपात्रलक्षण उपाकरणकर्म्म न करलें तबतक अप्रस्तुत कुछ न बोलें। (ग्रहपात्र-ग्रहणानन्तर उद्गाताओं के प्रति अध्वर्यु 'उपावर्त्तध्वम्' (समीप लौट आइए) इस वाक्योच्चारणमात्र से यज्ञसम्पत् उद्गाताओं के लिए समर्पित कर देता है। [फलस्वरूप उद्गातालोग यज्ञसम्पत् से युक्त होजाते हैं]) ॥ [१२] ॥

(अध्वर्युकृत 'उपावर्तध्वम्' निगद से यज्ञसम्पत् से युक्त होजानेवाले) ये उद्गाता लोग जबतक (अपनी स्तोत्रियाओं में से) अन्तिम स्तोत्रिया का उद्गान न करलें, तबतक अप्रस्तुत कुछ न बोलें। (स्तोत्रिया की समाप्त्यनन्तर उद्गातालोग अन्त में होता को लक्ष्य बनाकर–'एषोत्तमा यह अन्तिम स्तोत्रिया है—इस निगद का उच्चारण करते हैं। श्रुति कहती है कि) उद्गातालोग) 'एषोत्तमा' इस उच्चारण से ही होता के लिए यज्ञसम्पत् समर्पित कर देते हैं—(फलस्वरूप होता भी यज्ञसम्पत् से युक्त होजाता है) ॥ (१३) ॥

(उद्गातृकर्तृक स्तोत्रियोद्गानकर्म्म की अन्तिम स्तोत्रिया से सम्बन्ध रखने वाले 'एषोत्तमा' इस निगद से यज्ञसंपत् से युक्त होजाने वाला) यह होता जबतक यह वौषट् रूप से वषट्कार न करले, तबतक अप्रस्तुत कुछ न बोले। (होतृकर्तृक वषट्कारानन्तर वषट्कार के साथ ही) अध्वर्यु वषट्कार के द्वारा आहवनीयाग्निलक्षण योनि में उस (नियत 'ग्रह' नामक सोमरूप) रस की आहुति दे देता है। अग्नि निश्चयेन यज्ञ की योनि है। इसी में (रेतोभूता सोमाहुति से) यज्ञ (यज्ञातिशय, जिस के आकर्षण से यजमान मानुषात्मक ऐहलौकिक आयुर्भोगानन्तर त्रिणाचि-केतस्वर्ग में प्रतिष्ठित होगा) उत्पन्न होता है। (सोमयाग के सम्बन्ध में वाक्संयमकर्म्म की यही प्रासङ्गिकी मीमांसा है) ॥(१४)॥

(आश्रावण प्रत्याश्रावण–निगदकर्म्म में यदि ऋत्विक् लोग अप्रस्तुतवाक् का उच्चारण करें तो क्या अनिष्ट हो? इसी प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि) यदि यह ऋत्विक् अप्रस्तुतवाक् का उच्चारण कर देगा तो (यह परम्परया) जिस यज्ञसम्पत् को प्राप्त करता है (अप्र-स्तुत वागुच्चारण से उस यज्ञसन्तान का विच्छेदक बनता हुआ यह होता) उसीप्रकार यजमान को यज्ञसम्पत् से पृथक् कर देगा जैसे कि (स्वल्पपात्रों से बृहत्पात्र को परिपूर्ण करने वाले व्यक्ति असावधानी से) उस पूर्णपात्र को रिक्त कर देते हैं (रख देते हैं)। (तात्पर्य्य–लौकिक कर्म्म जैसे अन्यवृत्ति से अपूर्ण रह जाता है, एवमेव अप्रस्तुत वागुच्चारण से यज्ञकर्म्म स्वसन्तानधारा खोता हुआ अपूर्ण रह जायगा एवं यही अप्रस्तुत वागुच्चारण मे महान् अनिष्ट होगा)। (ठीक इसके विप-रीत) जिस यजमान के यज्ञ के [आश्रावण–प्रत्याश्रावण–निगदकर्म्म में] ऋत्विक् लोग [अप्रस्तुतवाक् का संयम करते हुए] परस्पर एक दूसरे के प्रति यज्ञसम्पत् समर्पित करते हुए निगदकर्म्म का अनु गमन करते हैं, उस कर्म्म में सभी कुछ [यज्ञसम्पत्तियाँ] सम्पन्न होजाती हैं इस सावधानी से कोई भी ऋत्विक् अपने लक्ष्य से च्युत नहीं होता। इसलिए [ऋत्विजों को चाहिए कि] वे इसप्रकार [विहित नियमानुसार] ही [यज्ञतिकर्त्तव्यता पूरी करते हुए] यज्ञ को पुष्ट [परिपूर्ण] करें ॥ [१५] ॥

[प्रस्तुत निगद कर्म में पाँच व्याहृतियाँ होती हैं। इस पञ्चसंख्या की मौलिक उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है]—[इस आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म में] निश्चयेन ये [निम्न लिखित] पाँच व्याहृतियाँ होती हैं—'ओ श्रावय'—'अस्तु श्रौषट्'—'यज'—'ये यजामहे'—'वौषट्'।

[प्राकृतिक सम्वत्सरयज्ञ, सम्वत्सरयज्ञाधारेण वितायमान प्राकृतिक पार्थिव यज्ञ ये दोनों] यज्ञ पञ्चावयव हैं, [यज्ञ से उत्पन्न] पशु [भी] पञ्चावयव हैं, [प्राकृतिक] सम्वत्सर [यज्ञ] की [भी] पाँच [ही] ऋतुएँ हैं। यही [पञ्चावयवत्व ही] इस यज्ञ की एक सीमित [प्राकृतिक] सम्पत् है। [इसी प्राकृतिक सम्पत्-संग्रह के लिए यहाँ पाँच व्याहृतियाँ विहित हैं] ॥[१६]॥

इन पाँचों व्याहृतियों के अक्षर १७ होते हैं। इस सप्तदश संख्या की उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है कि, उन पाँच व्याहृतियों के (ओ श्रा व-य अ-स्तु-श्रौ-षट्-य-ज-ये-य-जा-म हे वौ-षट्-इस क्रम से) सत्रह अक्षर हैं। प्रजापति निश्चयेन सत्रह [संख्या से समतुलित सप्तदशावयव] है। प्रजापति [ही] यज्ञ है। यह [भी] इस यज्ञ की एक [प्राकृतिक] सीमा है यह [भी इस यज्ञ की] सम्पत् है। [इसप्रकार पञ्चव्याहृतियों के सप्तदश अक्षरों से सप्तदश-लक्षणा प्राजापत्य-सम्पत् भी प्राप्त होजाती है] ॥ [१७] ॥

(इन पाँच प्राकृतिक व्याहृतियों से प्राकृतिक साम्वत्सरिक-प्राणदेवताओं के द्वारा वृष्टिकर्म भी सञ्चालित है। फलतः इस वैध मानुष यज्ञ में भी यदि यजमान वृष्टिकामना रखता है तो उस की एक विशेष-पद्धति के अनुगमन से यह कामना भी पूरी होसकती है। इसी प्राकृतिक विशेष-पद्धति का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है)—(प्राणात्मक) देवदेवताओं ने 'ओश्रावय' इस व्याहृति से (वृष्टिप्रवर्त्तक) 'पुरोवात (पुरवाई हवा—मानसून)' उत्पन्न की। 'अस्तु श्रौषट्' से (आकाश) बादलों से व्याप्त कर दिया। 'यज' इस व्याहृति से बिजली उत्पन्न की। 'ये यजामहे' इस व्याहृति से 'कड़क' उत्पन्न की। एवं-'वौषट्' इस व्याहृति से पानी बरसा दिया। (इसप्रकार पाँच व्याहृतियों के समन्वय से वृष्टिकर्म पूरा कर दिया एवं करते रहते हैं ॥ [१८] ॥

यह यजमान यदि वृष्टि की कामना रखता हो वही यजमान फलान्तरसाधनभूता कारी आदि इष्टि से यजन करने वाला हो तो उसे [वृष्टिप्रकृतिभूता इस] दर्शपूर्णमासेष्टि से ही [ऋत्विजों से] यह कह देना चाहिए कि, मैं वृष्टि की इच्छा रखता हूँ। इस वृष्टिकर्म में उस यजमान को 'अध्वर्यु' से तो यह कहना चाहिए कि, तुम अपने मानस संकल्प से पुरोवात, और विद्युत्, का ध्यान करो। 'आग्नीध्र' नामक ऋत्विक् से यह कहना चाहिए कि, तुम मन

से बद्दलों का ध्यान करो। 'होता' नामक ऋत्विक् से यह कहना चाहिए कि, तुम स्तनयित्नु, और पानी का ध्यान करो। 'ब्रह्मा' नामक [त्रैविद्य] ऋत्विक् से यह कहना चाहिए कि, आप पुरोवातादि सब का मन से ध्यान कीजिए। अवश्य ही [यजमान के] उस यज्ञ में पानी बरसता है, जिस यज्ञ में (उक्त) ऋत्विक् अपने (उक्त संकल्पों के समन्वय से–पञ्चव्याहृतिलक्षण–यज्ञ में) एकमत्य होकर अनुष्ठान करते हैं ॥ [१६] ॥

अपने प्राकृतिक पार्थिव यज्ञ में प्राणदेवता पञ्चव्याहृत्यात्मक इसी प्रत्याश्रावण-कर्म्म से अपनी सम्पूर्ण यज्ञकामनाएँ विराड्गोरूपा इसी पृथिवी से दोहा करते हैं। इसी पक्ष ओर प्रासङ्गिक फल का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है कि) 'ओश्रावय' इस व्याहृति से देव-देवताओंने विराट् (गोरूपधरा पृथिवी) का आह्वान किया। 'अस्तु श्रौषट्' इस व्याहृति से [स्तनपानाय] वत्स को पाश से मुक्त किया। 'यज' इस व्याहृति से वत्स को पृथक् किया। 'ये यजामहे' इस व्याहृति से [दोहनार्थ ऊध-थन] के समीप बैठ गए। एवं-'वौषट्' इस वषट्कारात्मिका व्याहृति से ही उस विराट् का दोहन कर लिया। यह पृथिवी ही निश्चयेन विराट् है। इसी का यह [उक्त लक्षण] दोह है। [जिसप्रकार प्राकृतिक प्राणदेवता इस विराट्-रूपधरा-गोरूपधरा-पृथिवी के दोहन से अपनी सम्पूर्ण कामनाएँ पूरी किया करते हैं] उसीप्रकार यह विराड्गौ इस यजमान के लिए वे सम्पूर्ण कामनाएँ प्रदान कर देती है, जो विराड्गौ के एतल्लक्षण प्राकृतिक दोह का रहस्य जानता है ॥ [२०] ॥

आश्रावण-प्रत्याश्रावण-निगद-समाप्त

—२—

पाँचवें अध्याय में दूसरा, तथा चौथे प्रपाठक में तीसरा "स्रुग्ब्राह्मण" समाप्त

मूलानुवाद-समाप्त

सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह —

१, २ — स्रुगापादन, तथा आश्रावणकर्म्म

प्रयाजकर्म्म की समाप्ति के अनन्तर 'होता' नामक ऋत्विक् अध्वर्य्यु और अग्नीध्र के असदेश में स्पर्श करता है। इस होतृकर्त्तृक सम्मर्शन [स्पर्श] कर्म्मानन्तर अध्वर्य्यु, और आग्नीध्र दोनों यथास्थान बैठ जाते हैं-जैसा कि— सम्मृष्टा उपविशत' (का० श्रौ० सू० ३।२।१४) इत्यादि सूत्र व्याख्यान में स्पष्ट कर दिया गया है। सूत्रानुगत इस पद्धति के अनन्तर क्रमप्राप्त 'स्रुगादापनकर्म्म' की इतिकर्त्तव्यता आरम्भ होती है। अन्यत्र जहाँ तूष्णीं बिना मन्त्रप्रयोग के स्रुगादापनकर्म्म होता है, यहाँ प्रकृत इष्टि में मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही स्रुगादापन विहित है। वरणकर्म्म से पूर्व होता 'अग्निर्होता वेत्वग्नेर्होत्रम्' इत्यादि मन्त्रलक्षण स्रुगादापननिगद का पाठ करता है। इधर होता मन्त्रपाठ आरम्भ करता है, उधर अध्वर्य्यु जुहू-उपभृत् नामक स्रुक् का ग्रहण करता है। यही समन्त्रक स्रुगादापनकर्म्म' है। होतृकर्त्तृक निगदमन्त्र के- अग्निर्होता वेत्वग्नेर्होत्रं वेत्तु प्रावित्रं साधु देवता—योऽग्नि होतारमवृथा घृतवतीमध्वर्य्यो स्रुचमास्यस्व देवयुवं विश्ववारामीडामहै देवाँ ३॥ ईडेन्यान्नमस्याम नमस्यान् यजाम यज्ञियान्' इस स्वरूप के उच्चारण में भी थोड़ी विशेषता है। आरम्भ से 'भद्रमाजनवृता' पर्य्यन्त तो होता उपांशु-मन्दस्वरपूर्वक-उच्चारण करता है। योऽग्निं० से आरम्भ कर यजाम यज्ञियान् पर्य्यन्त उच्चस्वर से उच्चारण करता है। जिस समय होता के मुख से घृतवतीमध्वर्यो ! स्रुचमास्यस्व' उच्चरित होता है, उसी समय [एतन्मन्त्रभागोच्चारणकाल में ही] अध्वर्य्यु स्रुक् का ग्रहण करता है। होतृकर्त्तृक निगदपाठकाल में अध्वर्य्यु के द्वारा स्रुक्—ग्रहण ही 'स्रुगादापनकर्म्म' है यही निष्कर्ष है।

याज्ञिक प्रतिपादन करते हैं कि स्रुगादापनकर्म्म प्रयाजकर्म्म के समीप ही विहित है। अतएव मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही स्रुगादापनकर्म्म करना चाहिए। होता के द्वारा प्रयुक्त निगदमन्त्र का 'घृतवतीम्' भाग के उच्चरित होने पर अध्वर्य्यु जुहू-उपभृत् नामक स्रुचा का ग्रहण कर हविर्यो से पूर्व परिधियों से पश्चिममार्ग से श्रामपात्र से वेदि के दक्षिण पार्श्व में आकर—'प्रकृति' बतला माना गया है आकर ईशानाभिमुख खड़ा होजाता है। यहाँ खड़ा होकर यह—'ओ श्रावय' यह व्याहृति [अग्नीध्र के प्रति] बोलता है। प्रत्युत्तर में आग्नीध्र- अस्तु श्रौषट् इस व्याहृति का प्रयोग करता है। अनन्तर पुनः अध्वर्य्यु होता को लक्ष्य बना कर- समिधो यज इस व्याहृति का उच्चारण करता है। प्रत्युत्तर में होता—य यजामहे इस व्याहृति का उच्चारण करता है। सर्वान्त में अध्वर्य्यु जुहू को मार्जन बनाता हुआ 'श्रौषट्' इस वषट्कारात्मिका व्याहृति का

उच्चारण के साथ माथ जुहूस्थित आज्य में तृतीयांश की आहुति दे देता है। स्रुगादापन, तथा आश्रावण-प्रत्याश्रवण-कर्म की इसी इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(१)—अग्निर्होतेति स्रुगादापन प्रयाजेषु, समिवे। (का० श्रौ० सु० ६।२।१३।)
(२)—घृतवतीमित्युक्ते स्रुचावादाय, अतिक्रम्य, आश्राव्य आह— समिधो यजे' ति। (का० श्रौ० सू० ३/२।१७।)

इति—सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह.

वैज्ञानिक-विवेचना—

१—स्रुगादापनकर्म्मोपपत्ति

(भाष्य) अध्वर्यु कृत वरणकर्म से वृत होता स्वस्त्ययनजप-कर्म्मानन्तर 'अग्निर्होता-वेत्त्वग्नेर्होत्रम्'- इत्यादि ब्राह्मणपठित स्रुगादापननिगद का पाठ करता है। वरणकर्म्म से वृत यह मनुष्यहोता अपने स्वाभाविक औत्पत्तिक-सहजसिद्ध-अनृतभाव से प्रज्ञापराध का सहज पात्र है। असावधानी कर बैठना मनुष्यत्वेन इसका स्वभाव है। यज्ञकर्म्म जैसा प्राकृतिक कर्म है जिसमें हाजानेवाली थोड़ी भी असावधानी यज्ञस्वरूप को विकृत कर देती है फलस्वरूप इष्टजनक भी यह यज्ञ अनिष्टजनक बन सकता है। इस अनिष्टजनकताप्रवर्त्तक मानुषदोष के निराकरण के लिए यह मनुष्यहोता अपने होत्रकर्म का उत्तरदायित्व मन्त्रशक्ति के द्वारा प्राकृतिक प्राणात्मक दिव्याग्निलक्षण दिव्यहोता को समर्पित करता हुआ उसे ही लक्ष्य बनाता हुआ कहता है कि— 'मैं इस यज्ञ का होता नहीं हूँ। होता ना दिव्याग्नि हैं। जो वास्तविक होता हैं वे ही अपने इस होत्रकर्म की इतिकर्त्तव्यता का ध्यान रक्खें। मुझसे जो असावधानी होगी वह उन्हीं की असावधानी मानी जायगी।

लौकिक कर्म्म हों अथवा वैदिक (शास्त्रीय) कर्म्म दोनों के लिए प्रेरणाबल हमें प्राकृतिक प्राण-देवताओं से ही मिलता है। होता है सबकुछ प्राणदेवताओं की प्रेरणा से ही हम करते सब कुछ है—प्राकृतिक बल—प्रेरणा से ही। परन्तु योगमाया के बन्धन से अहन्ताभिमान हमें होता रहता है। हम यह मान बैठते हैं कि हम ही सबकुछ कर रहे हैं जबकि तत्त्वतः—तृणस्य कुब्जीकरणेऽप्यशक्तः सिद्धान्तानुसार उन प्राकृतिक शक्तियों के आगे हमारी स्वतन्त्र-सत्ता का कुछ भी तो मूल्य नहीं है। 'येनापि देवेन हृदि स्थितेन यथानियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' के अनुसार हृदयावच्छिन्न दिव्यप्राणशक्तिघन अन्तर्य्यामी की प्रेरणा से ही हमारा सम्पूर्ण कर्मकलाप सञ्चालित है। जो व्यक्ति अपने कर्मों में हृदयस्थ देवप्राणमूर्त्ति इस अन्तर्य्यामी को साक्षी बनाए रहता है निश्चयेन इस आध्यात्मिक भावनामात्र से उसका कर्म्म मानुषभाव से पृथक रहता हुआ सफल होजाता है। यही भारतीय भक्तिकाण्ड का सुप्रसिद्ध 'आत्मसमर्पण लक्षण 'भक्तियोग' है जिसके अनुगामी भक्त सदा निर्द्वन्द्व ही बने रहते हैं।

सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह —

१, २ — स्रुगापादन, तथा आश्रावणकर्म्म

प्रस्तरकर्म्म की समाप्ति के अनन्तर 'होता' नामक ऋत्विक् अध्वर्यु और आग्नीध्र के असदेश में स्पर्श करता है। इस होतृकर्त्तृक सम्मर्शन [स्पर्श] कर्म्मानन्तर अध्वर्यु और आग्नीध्र दोनों यथास्थान बैठ जाते हैं—जैसा कि—'सम्मृष्टा उपविशत' (का० श्रौ० सू० ३।२।१५) इत्यादि सूत्र व्याख्यान में स्पष्ट कर दिया गया है। सूत्रानुगत इस पद्धति के अनन्तर क्रमप्राप्त 'स्रुगादापनकर्म्म' की इतिकर्त्तव्यता आरम्भ होती है। अन्यत्र जहाँ तूष्णीं बिना मन्त्रप्रयोग के स्रुगादापनकर्म्म होता है, वहाँ प्रकृत इष्टि में मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही स्रुगादापन विहित है। वरणकर्म्म से वृत होता 'अग्निर्होता वेत्वग्नेर्होत्रम्' इत्यादि मन्त्रलक्षण स्रुगादापननिगद का पाठ करता है। इधर होता मन्त्रपाठ आरम्भ करता है उधर अध्वर्यु जुहू—उपभृत् नामक स्रुक् का ग्रहण करता है। यही समग्र 'स्रुगादापनकर्म्म' है। होतृकर्त्तृक निगदमन्त्र है—'अग्निर्होता वेत्वग्नेर्होत्रं वेतु प्रावित्रं साधु देवता—योऽग्नि होतारमवृथा घृतवतीमध्वर्यो स्रुचमास्यस्व देवयुवं विश्ववारामीडामहै देवाँ ३॥ ईडेन्याश्रमस्याम नमस्यान् यजाम यज्ञियान्' इस स्रुक्म के उच्चारण में भी थोड़ी विशेषता है। आरम्भ से यजमानदेवता' पर्य्यन्त तो होता उपांशु-मन्दस्वरपूर्वक उच्चारण करता है। 'योऽग्नि०' से आरम्भ कर 'यजाम यज्ञियान्' पर्य्यन्त उच्चस्वर से उच्चारण करता है। जिस समय होता के मुख से 'घृतवतीमध्वर्यो ! स्रुचमास्यस्व' उच्चरित होता है, उसी समय [एतन्मन्त्रभागोच्चारणकाल में ही] अध्वर्यु स्रुक् का ग्रहण करता है। होतृकर्तृक निगदपाठकाल में अध्वर्यु के द्वारा स्रुक्—ग्रहण ही 'स्रुगादापनकर्म्म' है, यही निष्कर्ष है।

भगवान् कात्यायन कहते हैं कि, स्रुगादापनकर्म्म प्रयाजकर्म्म के समीप ही विहित है। अतएव मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही स्रुगादापनकर्म्म करना चाहिए। होता के द्वारा प्रयुक्त निगदमन्त्र के 'घृतवतीम्' भाग के उच्चरित होने पर अध्वर्यु जुहू—उपभृत् नामक स्रुचों का ग्रहण कर इध्मियों से पूर्व परिधियों से पश्चिममार्ग से वामपाद से वेदि के दक्षिण पार्श्व में जोकि—'प्रउति' गदरा माना गया है जाकर ईशानाभिमुख खड़ा होजाता है। यहाँ खड़ा होकर यह— ओ श्रावय यह व्याहृति [आग्नीध्र के प्रति] बोलता है। प्रत्युत्तर में आग्नीध्र— अस्तु श्रौषट् इस व्याहृति का प्रयोग करता है। अनन्तर पुनः अध्वर्यु होता को लक्ष्य बना कर— समिधो यज इस व्याहृति का उच्चारण करता है। प्रत्युत्तर में होता— ये यजामहे इस व्याहृति का उच्चारण करता है। सर्वान्त में अध्वर्यु जुहू को माहभुज बनाता हुआ श्रौषट् इस वषट्कारमिश्र व्याहृति के

है। ग्रहण होता है दोनों का प्रेरणा मिलती है एक के ग्रहण की। यही–'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा तत सत्य समीहते'* लक्षणा आहार्य्यारोपमूला प्रत्ययसम्बन्धता है जिसका गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत तृतीय खण्ड के द्विभागात्मक 'उपासनोपरखण्ड' के–'उपासनाभेदनिर्वचन' नामक प्रकरण में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। इसी भावना को व्यक्त करती हुई श्रुति कहती है– तस्मादेवमभिवेन्याह' ॥ २ ॥

मन्त्र का अगला भाग है—'देवयुवां विश्ववारम्'। अध्यात्मस्थित प्राणदेवताओं का आधिभौतिक तत्सम पदार्थों के माध्यम से आधिदैविक प्राणदेवताओं के साथ विशिष्टरूप अन्तर्य्याम सम्बन्ध करा देना ही यज्ञ का फलितार्थ है। होतृकृत निगदपाठ से प्राणाग्नि का यज्ञमण्डल में समावेश तो होगया है। परन्तु अभीतक इनका यजमान के आध्यात्मिक प्राणदेवताओं के साथ ग्रन्थि-बन्धन सम्बन्ध नहीं हुआ है। यह काम मध्यस्था आधिभौतिकी आ आहुति पूरा करती है। जुहू नामक स्रुक्पात्री भी आधिभौतिक पदार्थ है एवं आहुति के लिए जुहू में प्रतिष्ठित आज्यमात्रा भी आधिभौतिक ही है। इन दोनों पर यजमान की भूतात्मसत्ता प्रतिष्ठित है जिस विधानुगता आत्मसत्ता के लिए ही 'यावद्वित्तं तावदात्मा' –यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। निष्कर्षतः आज्यपूर्णा जुहू में यजमान के प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं। उधर आहवनीय-कुण्डस्थ समिद्ध अग्नि में द्युलोक से आगत आधिदैविक प्राणाग्नि प्रतिष्ठित हैं। इनमें आज्याहुति होती है। परिणाम यह होता है कि, आज्यानुगत यजमान के प्राणदेवताओं का आज्याहुति के द्वारा आहवनीयस्थ प्राणाग्नि के साथ ग्रन्थिबन्धन होजाता है। इसप्रकार आज्यपूर्णा जुहू यजमान के आध्यात्मिक प्राणों का प्राकृतिक प्राणदेवताओं के साथ योग कराने वाली बन रही है। यही 'देवयुग' रूप पहिला धर्म्म है। 'यच्चमाकत् (३३) प्राणदेवताओं के द्वारा यह जुहू (आज्य के सम्बन्ध से) वरणीया है। सभी प्राणदेव इसकी इच्छा रखते हैं। देवप्रिया देवयुवा जुहू वास्तव में यज्ञकर्त्ताओं के लिए स्तुत्या है, प्रशंसनीया है। मन्त्रभाग के द्वारा जुहू के उक्त दोनों धर्म्मों का ही विश्लेषण हुआ है साथ ही उस की स्तुति एवं प्रशंसा हुई है। स्वतन्त्र चैतन्य का साक्षात्कार करने वाली ऋषिदृष्टि के लिए जुहू की स्तुति-प्रशंसा अवश्यमेव तत्त्वविज्ञान-सम्मत है।

मन्त्र का अगला भाग है– 'ईडामहे देवाँ ईडेन्यान् नमस्याम नमस्यान् यजाम यज्ञियान्'। ज्योतिर्म्मय तत्त्व ही 'देवता' है। यह ज्योतिर्भाग पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौ इन तीन लोकों के भेद से तीन स्थानों में विभक्त होता हुआ विभिन्न तीन नाम रूप–गुण–कर्म्मों में परिणत होरहा है। तीनों में मूलतत्त्व द्युलोकस्थ सौरप्राणमूर्त्ति देवतत्त्व ही है। सौरज्योतिर्भाग (प्रकाश) सर्वप्रथम अन्तरिक्ष-लोकोपलक्षित सौम्य चान्द्रपिण्ड में भुक्त होता है। चान्द्रमसी ज्योति वस्तुगत्या भुक्ता सौरी ज्योति ही है। तृतीय स्थान पृथिवीलोक है। यहाँ आकर भूतभाग के आत्यन्तिक आवरण से सौरज्योति का स्वरूपोतिर्भाग तथा चान्द्रज्योति का परज्योतिर्भाग दोनों अभिभूत होजाते हैं। अतएव पार्थिव ज्योति केवल रूपज्योति' कहलाई है। रूपज्योति में [पार्थिवी ज्योति में] उस पार्थिव प्राणाग्नि का समावेश है जोकि–'वैश्वानर' नाम से

* उपाया शिक्षमाणानां बालानामुपलालना ।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा तत सत्य समीहते ॥
—भर्तृहरिः

प्रकृत में होता–'साधु ते० इत्यादि मन्त्र के द्वारा यजमान की कर्म्मनिष्ठा को ही प्रेरणाबल प्रदान कर रहा है। यजमान का आत्मविश्वास भी तो यज्ञ की सफलता के अन्यान्य कारणों में से एक अन्यतम कारण है। इसी भावना का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है— 'साधु ते यजमान देवता, यस्य तऽग्निर्होता' इत्येवैतदाह ।

मन्त्र का अगला भाग है– घृतवतीमध्वर्यो स्रुचमास्यस्व । यह वाक्य अध्वर्य्यु को लक्ष्य बना कर कहा जाता है। अग्नि के अनुग्रह–प्राप्ति का अर्थ है–अग्निदेवता का यज्ञलीला में प्रविष्ट होजाना । होत्र–कर्म्म को आप लक्ष्य बनायें यज्ञ को लक्ष्य बनायें यजमान ! अब तुम्हारा यह कार्य सफल हुआ समझो जहाँ अग्नि जैसे होता ने अनुग्रह कर दिया इस भावना को व्यक्त करने वाले निगदमन्त्रभाग से अवश्यमेव प्राणाग्नि यज्ञमण्डल में प्रविष्ट होजाते हैं। आगत अग्निदेव की परिचर्य्या उसी व्यवहारमर्य्यादा की भाँति आवश्यक है जैसेकि आगत सम्मान्य अतिथि का अर्घ्यदानादि से सम्मान किया करते हैं। अग्निदेव की परितृप्ति से सम्बन्ध रखने वाली आज्याहुति है। यह आहुतिकर्म्म अध्वर्य्यु से सम्बन्ध रखता है। अतएव अनुग्रह–प्राप्त्यनन्तर होता का यह भी आवश्यक कर्त्तव्य होजाता है कि, वह आगत सम्मान्य अतिथि के स्वागत से सम्बन्ध रखने वाले आज्याहुतिकर्म्म की ओर आहुतिप्रदाता अध्वर्य्यु का ध्यान आकर्षित कर दे। एकमात्र इसी अभिप्राय से 'अध्वर्यो ! आप घृतवती स्रुक् का ग्रहण करें' (क्योंकि आहुतिग्राहक अग्निदेव पधार आए हैं) यह प्रेरणात्मक मन्त्र भाग प्रयुक्त हुआ है जिसका तात्पर्य–'तदध्वर्य्युं प्रसौति' इस ब्राह्मणवचन से स्पष्ट हुआ है।

पद्धतिप्रकरण में यह कहा जाचुका है कि होता के मुख से 'घृतवतीम्' व्याहृति के उच्चरित होते ही अध्वर्य्यु जुहू उपभृत् नामक दोनों स्रुचों को आहुति के लिए हाथ में ले लेता है । ग्रहण होता है जुहू, उपभृत् दोनों का। परन्तु होता के द्वारा ग्रहण की प्रेरणा होती है–केवल एक (जुहू) स्रुक की ही। ऐसा क्यों ?। जब पद्धति में दोनों का ग्रहण विहित है तो मन्त्रभाग में भी 'घृतवत्यौ स्रुचौ' इत्यादि रूप से द्विवचन का ही प्रयोग होना चाहिए था। इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है कि– (१)–निदानविद्या के अनुसार जुहू नामक स्रुक् यजमानस्थानीया है एवं उपभृत् नामक स्रुक् यजमान के शत्रु की प्रतिकृति है। इसके अतिरिक्त जुहू अत्ता की प्रतिकृति है तो उपभृत् आद्य (भोग्य) की। ऐसी स्थिति में यदि होता 'जुहूपभृतावास्यस्व' इत्यादि रूप से द्विवचन का प्रयोग करेगा तो यजमान का शत्रु यजमान के लिए प्रतिस्पर्द्धा करनेवाला बन जायगा। इसके अतिरिक्त भोग्य–सम्पत्ति भी भोक्ता यजमान के लिए प्रतिकूल बन जायगी।

भावनात्मिका यज्ञक्रियाओं का फलाफल एकमात्र भावना पर ही अवलम्बित है। एवं इन भावनाओं के मूलाधार उसीप्रकार आधिभौतिक कृत्रिम द्रव्य हैं जैसे कि उपासनाकाण्ड में उपास्य की प्राप्ति के लिए उपास्य के यत्किंचित् समधर्म्मों से समतुलित आधिभौतिक पदार्थों में आहार्य्यारोपविधा से उपास्य की कल्पना कर ली जाती है। इसी आहार्य्यारोपविधा के आधार पर उपभृत् को शत्रुभावना से एवं भोग्यभावना से युक्त समझा जाता है। जुहू को यजमान की भावना से तथा भोक्ता की भावना से युक्त मानलिया जाता है। उपभृत् को जुहू की तुलना में रखना शत्रु को समान बलशाली ही बनाना है भोग्य को प्रतिकूल ही बनाना है। यह भावना यजमान के लिए अनिष्टकर ही बनती है। अतः एकवचन का ही प्रयोग किया जाता

है। ग्रहण होता है दोनों का प्रेरणा मिलती है एक के ग्रहण की। यही– असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा तत सत्य समीहते'* लक्षणा आहार्य्यारोपमूला प्रत्ययाप्तमनता है जिसका गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत तृतीय खण्ड के 'म विभागात्मक 'उपासनोत्तरखण्ड' के–'उपासनाभेदनिर्वचन' नामक प्रकरण में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। इसी भावना को व्यक्त करती हुई श्रुति कहती है– तस्मादक्रमिवैन्याह' ॥ २ ॥

मन्त्र का अगला भाग है—'देवयुवां विश्ववारम्' । अध्यात्मस्थित प्राणदेवताओं का आधि-भौतिक तत्सम पदार्थों के माध्यम से आधिदैविक प्राणदेवताओं के साथ चितिलक्षण अन्तर्य्यामि सम्बन्ध करा देना ही यज्ञ का फलितार्थ है। होतृकृत निगदपाठ से प्राणाग्नि का यज्ञमण्डल में समावेश तो होगया है। परन्तु अभीतक इनका यजमान के आध्यात्मिक प्राणदेवताओं के साथ ग्रन्थि-बन्धन सम्बन्ध नहीं हुआ है। यह काम मध्यस्था आधिभौतिकी आज्याहुति पूरा करती है। जुहू नामक सुक्पात्री भी आधिभौतिक पदार्थ है, एवं आहुति के लिए जुहू में प्रतिष्ठित आज्यमात्रा भी आधिभौतिक ही है। इन दोनों पर यजमान की भूतात्मसत्ता आक्रान्त है जिस चिदानुगत आत्मसत्ता के लिए ही-'यावद्वित्त तावदात्मा' –यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। निष्कर्षतः आज्यपूर्णा जुहू में यजमान के प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं। उधर आहवनीय–कुण्डस्थ समिद्ध अग्नि में द्युलोक से आगत आधिदैविक प्राणाग्नि प्रतिष्ठित हैं। इनमें आज्या-हुति होती है। परिणाम यह होता है कि, आज्यानुगत यजमान के प्राणदेवताओं का आज्याहुति के द्वारा आहव-नीयस्थ प्राणाग्नि के साथ ग्रन्थिबन्धन होजाता है। इसप्रकार आज्यपूर्णा जुहू यजमान के आध्यात्मिक प्राणों का प्राकृतिक प्राणदेवताओं के साथ योग कराने वाली बन रही है। यही 'देवयुवं' रूप पहिला धर्म्म है। यच्ययाक्त (१३) प्राणदेवताओं के द्वारा यह जुहू (आज्य के सम्बन्ध से) वरणीया है। सभी प्राणदेव इसकी इच्छा रखते हैं। देवप्रिया देवयुवा जुहू वास्तव में यज्ञकर्त्ताओं के लिए स्तुत्या है, प्रशंसनीया है। मन्त्रभाग के द्वारा जुहू के उक्त दोनों धर्म्मों का ही विश्लेषण हुआ है साथ ही उस की स्तुति, एवं प्रशंसा हुई है। सर्वत्र चैतन्य का साक्षात्कार करने वाली ऋषिदृष्टि के लिए जुहू की स्तुति–प्रशंसा अवश्यमेव तत्त्व-विज्ञान–सम्मत है।

मन्त्र का अगला भाग है– 'इडामहे देवाँ ३॥ इडेन्याम् नमस्याम नमस्यान् यज्ञाम यज्ञि-यान्' । ज्योतिर्म्मय तत्त्व ही 'देवता' है। यह ज्योतिर्भाग पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौ इन तीन लोकों के भेद से तीन स्थानों में विभक्त होता हुआ विभिन्न तीन नाम रूप–गुण–कर्म्मों में परिणत होरहा है। तीनों में मूलतत्त्व द्युलोकस्थ सौरप्राणमूर्त्ति देवतत्त्व ही है। सौरज्योतिर्भाग (प्रकाश) सर्वप्रथम अन्तरिक्ष–लोकोपलक्षित सौम्य चान्द्रपिण्ड में युक्त होता है। चान्द्रमसी ज्योति वस्तुगत्या प्रयुक्त सौरी ज्योति ही है। तृतीय स्थान पृथिवी-लोक है। यहाँ आकर भूतभाग के आत्यन्तिक आवरण से सौरज्योति का स्वयोतिर्भाग तथा चान्द्र-ज्योति का परज्योतिर्भाग दोनों अभिभूत होजाते हैं। अतएव पार्थिव ज्योति केवल रूपज्योति' कहलाई है। रूपज्योति में [पार्थिवी ज्योति में] उस पार्थिव प्राणाग्नि का समावेश है जोकि- वैश्वानर' नाम से

* उपाया शिक्षमाणानां बालानामुपलालना ।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा तत सत्य समीहते ॥
—भर्तृहरिः

प्रसिद्ध है जिसे कि यजुः-संहिताने 'विराट्पुरुष' कहा है। एवं जिस से कि 'पुरुष-अश्व-गौ-अवि-अज-इन पाँच यज्ञिय पशुओं का स्वरूप निर्माण हुआ है' जो कि पुरुष (मनुष्य) पशु में अपनी पूर्ण मात्रा से विकसित है। यही वैश्वानराग्नि मूलाभिमत से अभ्यस्त है, मृण्मयाया है। अतएव 'कृष्णोऽस्याखरेष्ठ' इत्यादि रूप से इस पार्थिव अग्नि को 'कृष्णमृग' नाम से व्यवहृत किया जाता है।

उक्त कृष्णमृगाग्नि की सहयोगिनी रूपज्योति, दूसरे शब्दों में पार्थिवप्राणाग्नियुक्त दिव्यप्राणज्योतिर्भाग ही पार्थिवदेवता हैं। आन्तरिक्ष्य चान्द्रसोमावच्छिन्न विशुद्ध ज्योतिर्मय भाग आन्तरिक्ष्य देवता हैं। एवं और मघवलस्य (सम्वत्सरमयवलस्य) सावित्राग्नियुक्त ज्योतिर्भाग दिव्य देवता हैं। दिव्यदेवताओं से यज्ञ-तपो दान-लक्षणा विद्यासमुच्चित् प्रवृत्तिकर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होता है। आन्तरिक्ष्य चान्द्रदेवताओं से इष्ट-आपूर्त्त-दत्त-लक्षण विद्यानिरपेक्ष सत्कर्म्म का स्वरूप निष्पन्न होता है। एवं पार्थिव देवताओं से लौकिक-व्यवहारिक-यथाप्राप्त कर्म्मों की प्रवृत्ति होती है। पार्थिव ज्योतिर्भाग मानवसर्ग की आन्तरिक्ष्य चान्द्रज्योतिर्भाग पितृसर्ग की एवं दिव्य ज्योतिर्भाग देवसर्ग की मूलप्रतिष्ठा है। मनुष्य पितर, देव तीन प्रजा हैं, रूप-पर-स्व-तीन ज्योतियाँ हैं, एवं पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-तीन लोक हैं।

इसप्रकार एक ही दिव्यज्योति त्रि प्रजासर्ग त्रिज्योति सर्ग त्रिलोकसगरूप में परिणत हो रही है। द्युलोकावच्छिन्न देवता यज्ञिय हैं, अन्तरिक्षलोकावच्छिन्न पितर नमस्य हैं एवं पार्थिवलोकावच्छिन्न मनुष्य ईडन्य हैं। द्युलोकस्य देवता न तो केवल स्तुति प्रशंसा से ही अनुग्रह करते न केवल नमस्कार से ही उन्हें (सम्प्रदायिक भक्तिमार्ग की भाँति) तुष्ट किया जासकता। अपितु तत्त्वाधार पर प्रतिष्ठित वैध-यज्ञ-पद्धिा से आहुति के द्वारा ही उन्हें प्रसन्न किया जासकता है। दिव्यप्राणदेवताओं का आध्यात्मिक प्राणदेवताओं से सम्बन्ध होजाने से दिव्यप्राणशक्तियों की प्राप्ति होजाती है। यही उनका अनुग्रह है। यह अनुग्रह केवल स्तुति-नमस्कार से नहीं मिल सकता। अपितु इसके लिए तो यज्ञकर्म्म का ही अनुगमन करना अनिवार्य होगा। अतएव इन दिव्य देवताओं को हम 'यज्ञिय' कह सकते हैं।

वाङ्मय आन्तरिक्ष्य पितर-'पितरो वाक्यमिच्छन्ति' के अनुसार केवल नमस्कार से भी तुष्ट किए जासकते हैं। अतएव इन्हें 'नमस्य' कहा जासकता है। वाग्विकृतिरूप भूतमय मनुष्य केवल नमस्कार से ही प्रसन्न नहीं होते। अपितु इन्हें प्रसन्न करने का अन्यतम साधन है-'स्तुति'। तत्प्रशंसा से कराभ्यापन से लोकैषणा के कीर्त्तन से धीर से धीर मनुष्य के अन्तर्जगत् को भी स्खलित किया जासकता है। अतएव इन्हें 'ईडेन्य' कहा जासकता है। प्रकृत यज्ञकर्म्म में हमें यजनीय यज्ञिय देवताओं के अतिरिक्त पितरों की भी सहानुभूति अपेक्षित है उन ऋत्विक् दर्शक मनुष्यों का सहयोग भी अपेक्षित है जिनके अन्न-पान सहयोग से यज्ञिमदेवताओं का यजनकर्म्म साङ्गोपाङ्ग पूर्ण होगा। इसी त्रिविध प्राकृतिक प्रजावर्ग के अनुग्रह-प्राप्त करने के लिये-'इडामहे ईडन्याम्' इत्यादि मन्त्रप्रयोग विहित है।

१	पृथिवी	अग्निः	रूपज्योति	मनुष्याः	ईडेन्याः	तान्–ईडामहे
२	अन्तरिक्ष	सोम	परज्योति	पितरः	नमस्या	तान्–नमस्याम
३	द्यौ	इन्द्रः	स्वज्योतिः	देवा	यज्ञिया	तान्–यजामः

दूसरी दृष्टि से देवत्रयी का समन्वय कीजिए। उपासनाकाण्ड से सम्बन्ध रखने वाले आधिदैविक सगुण इष्टदेवता [अग्नि विष्णु, इन्द्र आदि अधिष्ठाता देवता], एवं माता पिता आचार्य्य, ये तीन आधिभौतिक सगुण पूज्य मनुष्य देवता, ईडेन्यवर्ग से सम्बन्ध रखते हैं। उपास्यदेवता स्तुतिभावात्मक आत्मसमर्पण से तुष्ट होजाते हैं इसी कारण से इन्हें 'ईडेन्य' कहा जासकता है। माता–पिता–आचार्य्य, इन तीन से भिन्न ज्येष्ठ भ्राता, समाज के शिष्ट पुरुष, सम्मान्य विद्वान् इत्यादि पूज्य वर्ग नमस्कारमात्र से तुष्ट किए जासकते हैं। अतएव इन्हें 'नमस्य' कहा जासकता है। आधिदैविक विवर्त में स्वेष्टदेवता से भिन्न देववर्ग नमस्य माना जासकता है। तीसरा विभाग यज्ञिय देवताओं का है, जो कि अधिभूत–अधिदैवत, उभयत्र समान हैं। गृह छन्द आदि अयोनाधात्मक देवपशु [देववाहन] लक्षण देवताओं का भी यज्ञिय–विभाग में ही अन्तर्भाव है। तीनों श्रेणियों का ही प्रकृत में येन-केन-रूपेण अनुग्रह अपेक्षित है। अत: तीनों का संस्मरण आवश्यक मान लिया गया है॥ ॥

यजनीय देवताओं से सम्बन्ध रखने वाला यज्ञ एक वैसा महत्वपूर्ण साधन है, जिसके अनुगमन से त्रैलोक्य की चर–अचर–सम्पत्ति प्राप्त की जासकती है। त्रैलोक्य में जो कुछ यज्ञिय पदार्थ हैं, उन सब का यज्ञकर्त्ता के साथ भोग्यत्वेन सम्बन्ध होजाता है। जो पदार्थ किंवा जो प्राणी यज्ञ के दिव्यभाग में भाग नहीं लेते अथवा यो प्रकृत्या जिनके स्वरूप–निर्म्माण में दिव्ययज्ञमात्रा का सहयोग नहीं होता वे पदार्थ और वे प्राणी अपने स्वरूप से भी मुकुलित [कुरिशून्य] रह जाते हैं साथ ही यज्ञ में अन्वाभक्त प्रजा के व्यवहारों में भी उनका विशेष उपयोग नहीं होता। मनुष्य यदि यज्ञिय है, तो किंपुरुष अयज्ञिय है। एवमेव अश्व गौ अवि अज चारों यज्ञियपशुओं के अनुकूल क्रमशः गौर, गवय उष्ट्र, शरभ ये चार अयज्ञिय प्रजा हैं। एवमेव यक्षा, वरण चेरपादा यह प्रजात्रयी भी–'प्रजा ह तिस्रो अत्यायमियु' के अनुसार परामृत है यहां उन्वायक्त है। मापादि ओषधियाँ अयज्ञिय हैं। इन अयज्ञिय, अतएव परामृत पदार्थों के अतिरिक्त जितने भी स्थिर–चर यज्ञिय पदार्थ हैं उक्त सर्गत्रयी से उन सब का ग्रहण होजाता है। इसप्रकार ईडेन्य मानवसर्ग से अश्वादि यज्ञिय पशुओं का यज्ञिय देवसर्ग से कपिञ्जलादि पक्षियों का व्रीहि, यवादि ओषधियों का पलाश अश्वत्थादि वनस्पतियों का और और भी जितने यज्ञिय पदार्थ बच रहते हैं उन सब का ग्रहण होजाता है। इसप्रकार–'जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्यः' निगमानुसार यच यावत् यज्ञिय पदार्थों का यज्ञ से ग्रहण होजाता है। फलतः यज्ञ का इहक्रमयुक्त सर्वात्मना चरितार्थ होजाता

है । यही यज्ञ का वह महतोमहीयान् सोत्तम कर्म्मतत्त्व है जिसे लक्ष्य बनाते हुए याज्ञिक लोग इस में प्रवृत्त हुआ करते हैं । जिन्होंनें यज्ञ का अनुगमन किया, उन्हें सब कुछ मिल भी गया साथ ही उन का पराभव भी नहीं हुआ । जिन्होंनें यज्ञ का तिरस्कार किया उनकी सत्ता ही उच्छिन्न होगई ॥ ४ ॥

यज्ञपद्धति में विहित प्रत्येक आधिभौतिक कर्म्म से यजमान के मानुषात्मा में कोई न कोई यज्ञातिशय उत्पन्न किया जाता है । यज्ञकर्म्मसमष्टि से वह यज्ञातिशय सर्वाङ्गीण बनता हुआ यजमान के मानुषात्मा के साथ अन्तर्य्याम-सम्बन्ध करता हुआ उसे आधिदैविक फलानुगामी बनाता है । यही यज्ञातिशय 'दैवात्मा' कहलाता है जिस का स्वरूप-विश्लेषण पूर्वब्राह्मणों में अनेकधा होचुका है । तत्तत् कर्म्मविशेषों से इस यज्ञातिशय-लक्षण दैवात्मा में तत्तत्-शरीर हस्तपादादि अवयव ही स्थापित किए जाते हैं । प्रश्न होता है कि, नवव्याहृत्यात्मक इस स्रुगादापनकर्म्म से [जिन नौ व्याहृतियों का मूलानुवाद में भी उल्लेख किया जाचुका है] दैवात्मा में कौन से शरीरावयव स्थापित किए जाते हैं ? । ये कण्डिका इसी प्रश्न का समाधान कर रही है । हमारी अध्यात्मसंस्था के पाञ्चभौतिक शरीरभाग में ऊर्ध्व, अवाञ्च भेद से सौर-पार्थिव दो जाति के प्राण प्रतिष्ठित हैं । सौर प्राण का केन्द्र ब्रह्मरन्ध्र है, एवं पार्थिव अपान प्राण का केन्द्र ब्रह्मग्रन्थि है । ब्रह्मरन्ध्र में प्रतिष्ठित सौर प्राण उभयावस्थापन्न है । इससे अर्कस्प जो सात अवान्तर प्राण निकलते हैं वे ही 'साकञ्ज' [साथ रहने वाले] 'सप्तशीर्षण्य प्राण' कहलाए हैं । दो श्रोत्रप्राण दो चक्षुप्राण दो नासाप्राण एक मुखप्राण, इसप्रकार सातों में ६ प्राण तो यमजप्राण हैं, जोड़ले हैं, एवं सातवाँ मुखप्राण एकाकी है * ।
इसीप्रकार ब्रह्मग्रन्थि में प्रतिष्ठित पार्थिव अपानप्राण उक्थ है । इस से निकलने वाले अर्कात्मक प्राण दो भागों में विभक्त हैं । ये ही क्रमशः उपस्थप्राण गुदप्राण नामक अवाञ्चप्राण हैं — । सम्मिय दो के अवान्तर नौ प्राण होजाते हैं । स्रुगादापन-निगद में पठित नौ व्याहृतियों से निगदमन्त्रभागानुगता संख्या-सम्पत् के समतुलन से दैवात्मा में सप्तशीर्षण्य सौर प्राण एवं दो अवाञ्च पार्थिवप्राण इन नौ प्राणों का ही आधान होता है । क्यों नौ व्याहृतियाँ होती हैं ?, प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥ ५ ॥

इति–स्रुगादापनकर्म्मोपपत्ति —

---

* साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥
—ऋक् सं० १।१६४।१५,

— सप्तशीर्षण्या (प्राणाः), द्वाववाञ्चौ [ऐ० ब्रा० १।१।५]

२—आश्रावण प्रत्याश्रावण-कर्म्मोपपत्ति

होतृकर्तृक स्रुगादापनकर्म्म के अनन्तर अध्वर्यु, आग्नीध्र, होता, ब्रह्मा आदि ऋत्विजों के सह-योग से आश्रावण प्रत्याश्रावण-कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता सम्पन्न होती है। एक वैज्ञानिकी आख्यायिका के द्वारा इसी कर्म्म की उपपत्ति का (६ ठी कण्डिका से) स्पष्टीकरण हुआ है। वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरत्-हेमन्तशिशिर-(हेमन्तशिशिरयो समासेन) इन पाँच ऋतुओं का स्वरूप अग्नीषोमात्मक माना गया है। अग्नि और सोम के उद्ग्राम-निग्राम (चढाव-उतार) से ही पञ्चऋतु का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। अग्नीषोममयी पाँचों ऋतुओं की समष्टि ही सम्वत्सर है, यही वह यज्ञ है जिसके द्वारा सूर्य्यकेन्द्रस्थ हिरण्यगर्भ-प्रजापति रोदसी-त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित चर-अचर-प्रजा का स्वरूप-निर्म्माण किया करते हैं। इस प्राजापत्या-अग्नीषोममयी यज्ञमात्रा का प्रजासर्ग में प्रतिक्षण विस्रंसन हुआ करता है। प्रजा के स्वरूप-निर्म्माण में साम्वत्सरिक अग्नि-सोम मात्राओं का उपादान-कारणता के सम्बन्ध से व्यय होना अनिवार्य्य है। यही व्ययभाव 'विस्रंसन' कहलाया है। इसी विस्रंसन को लक्ष्य में बनाकर यह कहा जासकता है कि 'सौरमण्डलस्थ दिव्यदेवताओं का अग्नीषोममय यज्ञ सौरमण्डल से अपक्रान्त होगया'। तात्पर्य्य, पार्थिव प्रजासर्ग के निर्म्माण के लिए सौर देवयज्ञ की अपक्रान्ति स्वाभाविक है।

यह यज्ञापक्रान्ति नियतापक्रान्ति, अनियतापक्रान्ति भेद से दो भागों में विभक्त मानी जासकती है। सौरसम्वत्सरमण्डलावच्छिन्न ज्योतिर्भाग ही अग्नीषोमात्मक यज्ञ है। प्रत्यक्षदृष्ट सौर प्रकाश ही इस यज्ञ का बाह्य शरीर है। दाहक अग्नि में शान्त पारमेष्ठ्य सोम आहुत होरहा है। इसी सोमाहुति-प्रक्रिया से इस उभयात्मक यज्ञ का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। इसी यज्ञ से (सोमाहुति से) 'त्व ज्योतिषा वितमो ववर्थ' इत्यादि ऋग्वर्णनानुसार प्रकाश का जन्म हुआ है। प्रकाश में अग्नि सोम दोनों का समन्वय है, अतएव प्रकाश ही सौर-प्रकाश-मण्डल को यज्ञ कहा जासकता है। यह सौर ज्योतिर्भाग सर्वत्र (लोकालोक-पर्य्यन्त) व्याप्त रहता हुआ हमारे भूपिण्ड की ओर भी आरहा है। भूपिण्ड के विष्कम्भ (व्यास) की उभय परिधियों से सम्बन्ध रखने वाला सौर ज्योतिर्भाग ही प्रकृत में 'यज्ञ' शब्द से व्यवहृत हुआ है। भूपिण्ड की परिधि को काटकर यह यज्ञ (प्रकाश) भूपिण्ड से आगे निकल जाता है।

इसी सौर प्रकाश के विच्छेद से 'सैंहिकेय' नामक छायामय-तमोमय 'राहु' का जन्म हुआ है। भूपिण्ड की ओर सौरमण्डल से नियतरूप से आकर अपना नियताकार बनाने वाले यज्ञ की अपक्रान्ति ही नियतापक्रान्ति मानी जायगी। यज्ञ के इस नियतापक्रान्तरूप का ही नाम 'अश्वोदन' है जिससे किसी भी पार्थिव पदार्थ की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इसी नियतापक्रान्त यज्ञ से सम्वत्सर का स्वरूप निष्पन्न हुआ है जिसकी कि छान्दोग्यादि उपनिषदों में 'अश्व' रूप से स्तुति हुई है। सौर प्रकाश आता है भूपिण्ड से टकराकर पुनरावर्त्तित होजाता है [वापस लौट जाता है]। दूसरे शब्दों में—यज्ञ आता है भूपिण्ड से संसृष्ट होकर वापस लौट जाता है। वापस लौटे हुए प्रकाशलक्षण इस यज्ञ का आकार भूच्छाया [राहु] से ही समतुलित है। सूचीमुख राहु के आकार से समतुलित भूपृष्ठ से सूर्य्य पर्य्यन्त व्याप्त [वापस लौटकर व्याप्त होने वाला] सौर प्रकाश ही वह 'अश्व' है जिसका उषा मस्तक माना गया है। इस नियतापक्रान्ति से सम्बद्ध पुनर्गमन से सम्बन्ध रखने वाला यज्ञात्मक अश्व किंवा अश्वात्मक यज्ञ प्रकृत आख्यान में अभिप्रेत नहीं है। अपितु यहाँ अनियतापक्रान्ति से सम्बन्ध रखने वाले यज्ञ का ही ग्रहण हुआ है।

हेतु से वाक् को भी यज्ञ का मौलिक-स्वरूप मान लिया जाता है। यह विशेष ध्यातव्य है कि, प्राण बिना मनो-वाक् के नहीं रहता। उपरान्त वाक् से मन-प्राण-वाक्, तीनों का ग्रहण होजाता है, जैसाकि वाक्-शब्दनिर्वचन से सुप्रमाणित है। 'व च वच् से ही तो 'वाक्' शब्द निष्पन्न हुआ है। वकार' प्राण का एवं 'चकार' मन का वाचक है। वकार चकार (प्राण-मन) की स्वस्वरूपरक्षा के लिए कामना करने वाला तत्वविशेष ही 'अच्' सूचित हुआ है। इसप्रकार वाच् (वाक्) से तीनों का संग्रह होजाता है।

मनोगर्भित-प्राणात्मक यज्ञ अपने केवल मनोमय प्राणरूप से तबतक व्यापार करने में असमर्थ बना रहता है तबतक कि वह भूतमयी वाक् को भी अपनी सहचरी नहीं बना लेता है। भूत ही प्राणव्यापार का आलम्बन बनता है। भूताधारेणैव प्राण स्वबल के प्रयोग में समर्थ होता है। अतएव श्रुति ने मनोगर्भित प्राणात्मक यज्ञ का रेत (बलप्रयोगसाधन) भी वाक् को ही माना है एवं यज्ञस्वरूप भी वाक्मय ही माना है। यज्ञस्वरूपसम्पादिका वाक् में आधिभौतिक मर्त्यभाग आधिदैविक अमृतभाग दोनों का समावेश है। मर्त्यवाक् का आधार अमृतवाक् है। अमृतवाक् का ही वितान होता है। इसी वितान से भूपिण्ड भूलोक से द्युलोकपर्य्यन्त पृथ्वी से रथन्तरसाम पर्य्यन्त वितत होता है।

लौकिकी वाक् अमृतभागगर्भिता मर्त्या वाक् है। लौकिक-व्यवहार सञ्चालन इसी वाक् से होता है। अलौकिकी वाक् मर्त्यभागगर्भिता अमृतावाक् है। वैदिककर्मसञ्चालन इसी वाक् से होता है। मर्त्या वाक् से व्यञ्जनात्मिका अनुष्टुब्वाक् समतुलित है। अमृतवाक् से उदात्त-अनुदात्तादि स्वरात्मिका बृहती-वाक् समतुलित है। अतएव वैदिकी मन्त्रवाक् में तत्वानुगत स्वरों के अनुसार ही उदात्तादि स्वरों का सन्निवेश हुआ है। यह स्वरवाक् ही क्योंकि सामात्मिका बनती हुई यज्ञविधान का कारण बनती है इसलिए भी वाक् को ही यज्ञ कहना अन्वर्थ बनता है। वाक्तत्व के इसी यज्ञस्वरूपप्रतिष्ठात्मक भाव को लक्ष्य बनाकर श्रुति ने कहा है—'वाग्घि यज्ञः वाग्घ रेतः'।

देवाह्वानलक्षणा ओश्रावयेत्यादिस्वरूपा मन्त्रवाक् के द्वारा आज ऋत्विजों को अपकान्त यज्ञतत्व का सम्पादन करना है। प्राकृतिक संवत्सरयज्ञ के सभी अवयव माने गए हैं। 'अग्निर्वै यज्ञः' इस निगम-वचन के अनुसार सोमगर्भित अग्नि ही यज्ञ है जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। भूकेन्द्र से आरम्भकर भूमहिमा के १७ वें अहर्गणपर्य्यन्त यह यज्ञाग्नि व्याप्त है। सत्रहवाँ स्थान ही आहवनीयकुण्ड माना गया है। इसमें प्रतिष्ठित प्राणाग्नि में १७ से ३३ पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले सोम की आहुति होती है। यज्ञाग्नि प्रज्वलित होसकता है। प्रज्वलित होकर यह यज्ञाग्नि २१ वें अहर्गणपर्य्यन्त व्याप्त होजाता है। २१ पर्य्यन्त व्याप्त यज्ञाग्नि के ९, १५, २१-ये तीन विक्रम मान लिये जाते हैं।

त्रिवृत् (९) स्तोमात्मक प्रथम विक्रम पार्थिव है, पञ्चदश (१५) स्तोमात्मक द्वितीय विक्रम आन्तरिक्ष है एवं एकविंश (२१) स्तोमात्मक तृतीय विक्रम दिव्य है। यज्ञ ही विष्णु है। यही त्रिविक्रम विष्णु है। वक्तव्य यही है कि यज्ञाग्नि यद्यपि आहुति के सम्बन्ध से २१ पर्य्यन्त (सूर्य्य पर्य्यन्त क्योंकि—'एकविंशो वा इत आदित्यः' इत्यादि श्रुति के अनुसार सूर्य्यसत्ता भूपिण्ड से २१ वें अहर्गण पर ही मानी गई है) व्याप्त होजाता है तथापि इसका मौलिक स्वरूप १७ वें अहर्गण पर्य्यन्त ही व्याप्त माना गया है।

सप्तदशस्तोमावच्छिन्न यज्ञाग्नि के १७ अङ्गगण ही १७ अवयव हैं। ये १७ हीं वाक्मय अवयव बिना किसी विच्छेद के परस्पर एकरूपवत् सम्बद्ध हैं।

सप्तदशावयवों के अविच्छिन्न सन्तानभाव से सम्बद्ध यज्ञाग्नि का ही यहाँ समह अपेक्षित है। अतएव आवश्यक है कि, इतस्ततः दृष्टिपात न करते हुए अन्य अप्रस्तुत वाक् का प्रयोग न करते हुए केवल मन्त्र वाक्-लक्षण आश्रावण, प्रत्याश्रावण-कर्म्म का ही अवधानपूर्वक एक दूसरे के प्रति यज्ञमात्रा समर्पित करते हुए यज्ञ के १७ अवयवों का अविच्छिन्न रूप से सम्पादन किया जाय। अविच्छिन्न-सन्तान परम्परा से सम्बन्ध रखने वाला सप्तदशावयव दिव्ययज्ञ अविच्छिन्न भावात्मक सम्पादन—परम्परा से उसी—प्रकार परिपूर्ण—समृद्ध—सफल—बन जाता है, जैसे कि अविच्छिन्न सम्प्रदान से पूर्णपात्र जलपरिपूर्ण होजाता है।

भगवान् शङ्कर के लिए सतत् जलधारा प्रपदित है। इस कर्म्म को सतत अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए शिवप्रतिमा के सान्निध्य में पार्श्व अथवा उर्ध्वप्रदेश में एक पाषाणमय जलकोश (हौज) बना दिया जाता है। सम्मिलित १०-५ व्यक्ति श्रद्धाभाव से उसे भर दिया करते हैं। दशों व्यक्ति कूप प्रदेश से जलकोश पर्यन्त नियमितरूप से खड़े होजाते हैं। एवं क्रमशः मृद्घटों को लक्ष्य में रखते हुए तन्मयता से जल भरना आरम्भ कर देते हैं। एक दूसरे को क्रमवार अविच्छिन्नरूप से घट सौंपता जाता है। जलकोश परिपूर्ण होजाता है। पारस्परिक अविच्छिन्न सम्प्रदान का यह एक लौकिक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। अथवा तो-'यथा पूर्णपात्रं परासिञ्चेत्' का यह तात्पर्य्य भी लगाया जासकता है कि, जलपूर्ण पात्र का निरर्थक प्रदेश में जैसे डालना है वैसे ही अप्रस्तुत वाक् से यज्ञ की परिपूर्णता नष्ट करनी है। सिद्ध कार्य्य को बिगाड़ देना, और आश्रावण प्रत्याश्रावण-कर्म्म में अप्रस्तुत वाणी का प्रयोग करना समतुलित है। तद्वत् ही यहाँ भी यज्ञकोश-परिपूरिका सप्तदशमात्राओं का अविच्छिन्नरूप से ही अनुगमन करना चाहिए, यही फलितार्थ है॥ ७॥

८,९,१०,११ इन चार कण्डिकाओं में उसी अविच्छिन्न-वाक्संयमानुगत-पारस्परिक सम्प्रदान-कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण हुआ है। १२,१३,१४ इन तीन कण्डिकाओं में सोमयाग से सम्बन्ध रखने वाले वाक्संयम का प्रासङ्गिक निरूपण हुआ है। १५ वीं कण्डिका में उस दोष का विश्लेषण हुआ है, जो सम्प्रदानधाराविच्छेद से एवं अप्रस्तुत वाक्प्रयोग से हुआ करता है। असावधानी करने से जैसे घट-विनष्टि, पात्रभ्रष्टता, आदि दोषों के कारण जलकोश अपूर्ण रह जाता है एवमेव यदि पारस्परिक सम्प्रदान में ऋत्विक् लोग अन्यमनस्कता अन्य सामयिक वाक् का प्रयोग कर डालेंगे तो यज्ञ-सन्तान विच्छिन्न होजायगी। फलतः यज्ञस्वरूप न केवल साङ्गोपाङ्ग ही न बनेगा अपितु यजमान का महान् अनिष्ट भी होजायगा। अतएव इस अविच्छिन्ना—सम्प्रदानपरम्परा का सावधानी से ही अनुगमन करना चाहिए।

यह अवधानता केवल आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म्म के लिए ही आवश्यक हो, यह बात नहीं है। अपितु पुरुषार्थलक्षण यज्ञकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले और और भी जो कर्त्तव्यकर्म्म हैं उन सबका भी यथाविधि अनन्यमनस्कता से ही अनुगमन करना चाहिए। यज्ञेतिविधि से हमें हमारे लौकिक कर्मों के सम्बन्ध में भी श्रुति यही आदेश दे रही है कि, यदि हमें कोई काम करना है उसे सर्वात्मना सफल बना देना है, तो अनन्यभाव से उसी को लक्ष्य में रखना चाहिए। हम अपने प्रज्ञापराध से मनोराज्य की चञ्चलता के

हेतु से वाक् को भी यज्ञ का मौलिक-स्वरूप मान लिया जाता है। यह विशेष यहाँ है कि, प्राण बिना मनो–वाक् के नहीं रहता। उधर वाक् से मन–प्राण–वाक् तीनों का ग्रहण हो जाता है, जैसा कि वाक्–शब्दनिर्वचन से सुप्रमाणित है। 'उ' 'अ' 'च्' से ही तो 'वाक्' शब्द निष्पन्न हुआ है। उकार' प्राण का एवं 'अकार' मन का वाचक है। उकार अकार (प्राण–मन) की स्वस्वरूपरक्षा के लिए आगमन करने वाला तत्त्वविशेष ही 'अच्' सूचित हुआ है। इसप्रकार वाच् (वाक्) में तीनों का संग्रह हो जाता है।

मनोगर्भित–प्राणात्मक यज्ञ अपने केवल मनोमय भावरूप से तबतक व्यापार करने में असमर्थ बना रहता है तबतक कि वह भूतमयी वाक् को भी अपनी पत्नी नहीं बना लेता है। भूत ही प्राणव्यापार का आलम्बन बनता है। भूताधारेणैव प्राण स्वयज्ञ के प्रयोग में समर्थ होता है। अतएव श्रुति ने मनोगर्भित प्राणात्मक यज्ञ का रेत (यज्ञप्रयोगस्थापन) भी वाक् को ही माना है एवं यज्ञस्वरूप भी वाक्मय ही माना है। यज्ञस्वरूपसम्पादिका वाक् में आधिभौतिक मर्त्यभाग आधिदैविक अमृतभाग दोनों का समावेश है। मर्त्यावाक् का आधार अमृतावाक् है। अमृतवाक् का ही वितान होता है। इसी वितान से भूत्यक भूलोक से द्युलोकपर्यन्त, पृष्ठ से रथन्तरसाम पर्यन्त वितत होता है।

लौकिकी वाक् अमृतवाग्गर्भिता मर्त्या वाक् है। लौकिक–व्यवहार सञ्चालन इसी वाक् से होता है। अलौकिकी वाक् मर्त्यवाग्गर्भिता अमृतावाक् है। वैदिककर्मसञ्चालन इसी वाक् से होता है। मर्त्या वाक् से व्यञ्जनात्मिका अनुष्टुब्वाक् समतुलित है। अमृतवाक् से उदात्त–अनुदात्तादि स्वरात्मिका बृहतीवाक् समतुलित है। अतएव वैदिकी मन्त्रवाक् में तत्त्वानुगत स्वरों के अनुसार ही उदात्तादि स्वरों का सन्निवेश हुआ है। यह स्वरवाक् ही क्योंकि सामात्मिका बनती हुई यज्ञवितान का कारण बनती है इसलिए भी वाक् को ही यज्ञ कहना अन्वर्थ बनता है। वाक्तत्त्व के इसी यज्ञस्वरूपप्रतिष्ठात्मक भाव को लक्ष्य बनाकर श्रुति ने कहा है—'वाक्–हि यज्ञः यद्वा रेतः'।

देवाह्वानलक्षणा ओमावर्त्तेत्यादिस्वरूपा मन्त्रवाक् के द्वारा आज ऋत्विजों को अपमन्त्र यज्ञसम्पत् का सम्पादन करना है। प्राकृतिक संवत्सरयज्ञ के सात अवयव माने गये हैं। 'अग्निरु वै यज्ञः' इस निगम–वचन के अनुसार सोमगर्भित अग्नि ही यज्ञ है जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। भूकेन्द्र से आरम्भकर भूमहिमा के १७ वें अहर्गणपर्यन्त यह यज्ञाग्नि व्याप्त है। उत्तरवर्ती स्थान ही आहवनीयकुण्ड माना गया है। इसमें प्रतिष्ठित प्राणाग्नि में १७ से ३३ पर्यन्त व्याप्त रहने वाले सोम की आहुति होती है। यज्ञाग्नि प्रज्वलित होसकता है। प्रज्वलित होकर यह यज्ञाग्नि २१ वें अहर्गणपर्यन्त व्याप्त होजाता है। २१ पर्यन्त व्याप्त यज्ञाग्नि के ९ १५ २१–ये तीन विक्रम मान लिये जाते हैं।

त्रिवृत् (९) स्तोमात्मक प्रथम विक्रम पार्थिव है, पञ्चदश (१५) स्तोमात्मक द्वितीय विक्रम आन्तरिक्ष है एवं एकविंश (२१) स्तोमात्मक तृतीय विक्रम दिव्य है। यज्ञ ही विष्णु है। यही त्रिविक्रम विष्णु है। वक्तव्य यही है कि यज्ञाग्नि यद्यपि आहुति के सम्बन्ध से २१ पर्यन्त (सूर्य्य पर्यन्त, क्योंकि—'एकविंशो वा इष आदित्य' इत्यादि श्रुति के अनुसार सूर्य्यसत्ता भूपिण्ड से २१ वें अहर्गण पर ही मानी गई है) व्याप्त होजाता है तथापि इसका मौलिक स्वरूप १७ वें अहर्गण पर्यन्त ही व्याप्त माना गया है।

पुरुषमा है । इस पञ्चावयव विश्वयज्ञ (आधिभौतिकयज्ञ) से समुत्पन्न अध्यात्मसंस्था के आत्मा, शरीर इन्द्रियवर्ग, ये तीन विवर्त हैं । आत्मा मूलाधार है, यही 'ब्रह्मसत्य है'। इसके अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, भूतात्मा, ये पाँच ही विवर्त हैं । शरीर भूतसत्य है । इसके पृथिव्यादि पाँचों पर्व प्रसिद्ध ही हैं । इन्द्रियवर्ग देवसत्य है । इसके भी वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र मन, ये पाँच ही विवर्त्त हैं । इस प्रकार अधिदैवतयज्ञ, अधिभूतयज्ञ एवं उभययज्ञ से समन्न अध्यात्मयज्ञ के आत्मा-शरीर-इन्द्रिय तीनों विवर्त्त, सभी प्रकृत्या पाङ्क्त (पञ्चावयव) बने हुए हैं । प्रकृतिवद्विकृति कर्त्तव्या न्याय से इस वैध यज्ञ में भी यही प्राकृतिक-यज्ञपाङ्क्तता अभिमेत है । इस आध्यात्मिक दृष्टि से भी आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म्म में पाँच व्याहृतियों का प्रयोग करना अन्वर्य बन रहा है ।

(२) दूसरी दृष्टि से पाङ्क्तता का समन्वय कीजिए । प्रस्तुत यज्ञ सोमयाग का अङ्ग है । सोमयाग का स्तौम्य-त्रिलोकी से सम्बन्ध है । पार्थिव स्तौम्य-त्रिलोकी के त्रिवृत्, पञ्चदश, एकविंश, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश [९-१५-२१ २७-३३] ये पाँच स्तोम माने गए हैं । पाँचों में क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य भास्वरसोम दिक्सोम ये पाँच देवता प्रतिष्ठित हैं । यहीं से क्रमशः वाक् (अग्नि), प्राण (वायु), चक्षु [आदित्य], मन [भास्वरसोम] श्रोत्र [दिक्सोम] इन पाँच आध्यात्मिक इन्द्रियदेवताओं का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है । पाँचों स्तौम्य-देवताओं में आरम्भ के तीन देवता [अग्नि-वायु-आदित्य] अग्निप्रधान हैं । एक ही अग्नि की घन-तरल-विरल [घन-तरल-विरल] अवस्थाएँ क्रमशः अग्नि वायु आदित्य हैं । अन्त के दो देवताओं की [दिक्सोम, भास्वरसोम की] सोमता स्पष्ट ही है । फलतः पाँचों का अग्नि एवं सोम में पर्य्यवसान सिद्ध होजाता है । अग्निसोम का समन्वितरूप ही यज्ञ है । इसके एवंविध पाँच अवान्तर विवर्त्त हैं । इस पाङ्क्त सोमयाग के अङ्गभूत (अतएव माक्सौमिक' नाम से प्रसिद्ध) प्रकृत के इस 'इष्टियज्ञ' में भी अङ्गी सोमयाग के पाङ्क्तधर्म्म का समन्वय अपेक्षित होजाता है । एवं पञ्चव्याहृति के सम्बन्ध से वह अपेक्षा भी सफल होरही है ।

(३) तीसरे दृष्टिकोण से समन्वय कीजिए । यज्ञ को पूर्व में वाङ्मय बतलाया गया है । वाङ्मय यज्ञ का रेत वाक्तत्त्व ही है । भूकेन्द्र से आरम्भ कर महिमा पर्य्यन्त इस वाग्रेत के अवान्तर ३३ विवर्त्त हो-जाते हैं जो कि-'त्रयस्त्रिंशत्तन्तवो ये वितत्निरे' इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार तन्तुदेवता कहलाए हैं । इन ३३ अहर्गणात्मक तन्तुदेवताओं में ३ अहर्गणात्मक तीन देवता (ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र) हुए हैं । शेष ३० रह जाते हैं । इन के ६-६ के स्तूप से पाँच विभाग होजाते हैं । १३ वें का केन्द्र-अग्नीषोम का विभाजक १७ वाँ अहर्गण है । ये ही ५ विभाग हैं । इसप्रकार एक ही वाक् के गौरूप १००० विवर्तों के पहिले १-३ गौ के सङ्कलन से ३३ सूक्ष्म विभाग होते हैं, अन्त में ५ स्थूल विभाग मान लिए जाते हैं । यह उसी वाक्तत्त्व का पट्करण-लक्षण वषट्कार है ।

वाक् का पट्कार ही वषट्कार है । वषट्कारमयवस्तु ही वाक् का प्रातिस्विक स्वरूप है । इसका १३ वाँ अहर्गण ही अग्नीषोमात्मक पार्थिव यज्ञ की अन्तिम सीमा है । इस 'वौषट्' रूप वषट्कारयज्ञ (वाग्यज्ञ) की अन्तिम सीमा के (१३ के) गर्भ में क्रमशः २७-२१-१७-१५-९-ये पाँच पर्व प्रतिष्ठित हैं । छठा स्वयं ३३ वाँ है । यज्ञसम्पत् का इस ६ ठे वषट्कारपर्व से ही सम्बन्ध है जिस के गर्भ में पाँच पर्व प्रतिष्ठित हैं । यज्ञ के इन पाँचों पर्वों के संग्रह के लिए भी पाँच व्याहृतियों का ग्रहण अन्वर्थ बन रहा है ।

अनुग्रह से संकल्पित कर्म्म के साथ साथ ही अन्यान्य संकल्प भी किया करते हैं। यही वह अवधानदोष है जिसके कारण प्रथमसंकल्पित अनुगमनीय कर्म्म में अपेक्षित वागरेत (बल) नहीं रहने पाता। फलत: अधिकांश में हमें निराश ही होना पड़ता है। जो भाव एकबार लक्ष्य पर चढ़ा लिया पहिले अनन्यमनस्कता के साथ सबभावत् अप्रस्तुत भावों का परित्याग करते हुए—उसी में जुट जाना चाहिए। अन्यमनस्केदमूला साथ ही पारस्परिक—सम्भवानात्मक—सहयोगमूला ऐकमत्यगर्भात्मिका (संविधाना) ऐसी अनन्यमनस्कता ही कर्म्मसिद्धि का अन्यतमद्वार है जिसका—'एवमेव यज्ञो भर्त्तव्य इत्यादि आदेश से भिरलेपण हुआ है ॥ १८ ॥ (८६,१० ११ १२,१३,१४ १)

आमावण—मत्याभावण—कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले निगदमन्त्र की पाँच व्याहृतियाँ हैं। वर्ण स्वर पद वाक्य, भेद से शब्दात्मिका वाक् के चार विवर्त्त मान गए हैं जैसाकि—'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि* इत्यादि ऐतरेयश्रुति से प्रमाणित है। इन्हीं चारों वाग्विवर्तों के लिए वेद में क्रमश स्वर (वर्ण) अक्षर [स्वर] व्याहृति [पद] पुरुष [वाक्य] ये शब्द व्यवहृत हुए हैं। वैय्याकरण—सम्प्रदाय में जिसके लिए 'अखण्डवाक्यस्फोट' वाक्य व्यवहृत हुआ है वही वैदिक अव्यय पुरुष है। प्रत्येक वाक्य में वर्ण स्वर पद तीनों विवर्तों का समावेश रहता है। ऐसा कोई भी उच्चारण नहीं जिसे वाक्य न माना जासकता हो। ऐसा कोई भी वाक्य नहीं, जिसमें वर्ण—स्वर—पद का समन्वय न हो। यदि किसी व्यक्ति के 'क्या देवदत्त यहाँ है ? नहीं है -इस प्रश्नोत्तर में हम केवल 'न' इस एक अक्षर का प्रयोग करते हैं तो यहाँ भी पञ्चाक्षरवाक्य विद्यमान है। 'न' कार में भी वर्ण स्वर पद अन्तर्निगूढ़ हैं अतएव उनकी प्रतीति नहीं होती। प्रतीति हो रही है—उस चौथी वैखरी वाक् की ही जिसका हम प्रयोग किया करते हैं—'तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति'। चारों विवर्तों में 'पद' विवर्त्त ही व्याहृति है। प्रकृत निगदमन्त्र के क्योंकि पाँच पद हैं अतएव इन्हें व्याहृति' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है यही वक्तव्य है।

दिव्य यज्ञ अग्निमय है एवं—'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्' (शत १ ।५।१।१) इत्यादि श्रौत—सिद्धान्तानुसार यह अग्नितत्त्व वाङ्मय है। वाङ्मय अग्निलक्षण यज्ञ के स्वरूप—निर्माण के लिए पञ्चव्याहृत्यात्मक निगदमन्त्र का प्रयोग हुआ है। प्रश्न स्वाभाविक है कि उस प्राकृतिक वाङ्मय यज्ञ के स्वरूप—सम्पादन के लिए पञ्चव्याहृत्यात्मक ही वाङ्मय मन्त्र क्यों विहित हुआ ? । प्रश्न का अनेक दृष्टिकोणों से समन्वय किया जासकता है।

(१) पहिले आध्यात्मिकयज्ञ की दृष्टि से ही समन्वय कीजिए। अध्यात्मसंस्था की उत्पत्ति अधिदैव तद्गर्भित अधिभूत से हुई है। अधिदैवत—सम्बन्ध 'सर्वहुतयज्ञ ही सम्पूर्ण विश्व की मूलप्रतिष्ठा है। विश्वजनक यह यज्ञ प्रमाणः आप वाक्, अन्न अन्नाद भेद से पञ्चपर्वा है। पञ्चपर्वा इस आधिदैविक—यज्ञ से उत्पन्न आधर्मीविक विश्वयज्ञ के स्वयम्भू (अपकाश) परमेष्ठी (वायु) सूर्य [तेज] चन्द्रमा (जल) पृथिवी ये पाँच महापर्व हैं। इसप्रकार जनक सर्वहुत यज्ञवत् तज्जन्य विश्वयज्ञ की भी पञ्च पर्वता

---

*—चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहात्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥
—ऐतरेयारण्यक

पुरुषमा है । इस पञ्चावयव विश्वयज्ञ (आधिभौतिकयज्ञ) से समुत्पन्न अध्यात्मसंस्था के आत्मा शरीर इन्द्रियवर्ग, ये तीन विवर्त हैं । आत्मा मूलाधार है, यही 'ब्रह्मसत्य' है। इसके अव्यक्त महान विज्ञान प्रज्ञान, भूतात्मा ये पाँच ही विवर्त हैं । शरीर भूतसत्य है । इसके पृथिव्यादि पाँचों पर्व प्रसिद्ध ही हैं । इन्द्रियवर्ग देवसत्य है । इसके भी वाक्–प्राण–चक्षु–श्रोत्र मन, ये पाँच ही विवर्त है । इस प्रकार अधिदैवतयज्ञ, अधिभूतयज्ञ, एवं उभययज्ञ से सम्पन्न अध्यात्मयज्ञ के आत्मा–शरीर–इन्द्रिय तीनों विवर्त, सभी प्रकृत्या पाङ्क्त (पञ्चावयव) बने हुए हैं । 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' न्याय से इस वैध यज्ञ में भी यही प्राकृतिक–पञ्चपाङ्क्तता अभिप्रेत है । इस आध्यात्मिक दृष्टि से भी आश्रावण–प्रत्याश्रावण–कर्म्म में पाँच व्याहृतियों का प्रयोग करना अन्वर्थ बन रहा है ।

(२) दूसरी दृष्टि से पाङ्क्तता का समन्वय कीजिए । प्रस्तुत यज्ञ सोमयाग का अङ्ग है । सोमयाग का स्तौम्य-त्रिलोकी से सम्बन्ध है । पार्थिव स्तौम्य–त्रिलोकी के त्रिवृत्, पञ्चदश एकविंश, त्रिणव त्रयस्त्रिंश [९–१५–२१ २७–३३] ये पाँच स्तोम माने गए हैं । पांचों में क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य भास्वरसोम दिक्सोम ये पाँच देवता प्रतिष्ठित हैं। इन्हीं से क्रमशः वाक् (अग्नि), प्राण (वायु) चक्षु [आदित्य] मन [भास्वरसोम] श्रोत्र [दिक्सोम] इन पाँच आध्यात्मिक इन्द्रियदेवताओं का स्वरूप–निर्म्माण हुआ है । पाँचों स्तौम्य-देवताओं में आरम्भ के तीन देवता [अग्नि–वायु-आदित्य] अग्निप्रधान हैं । एक ही अग्नि की घन–तरल–विरल [घन–तरल–विरल] अवस्थाएँ क्रमशः अग्नि वायु, आदित्य हैं । अन्त के दो देवताओं की [दिक्सोम, भास्वरसोम की] सोमता स्पष्ट ही है। फलतः पाँचों का अग्नि एवं सोम में पर्य्यवसान सिद्ध होजाता है । अग्निसोम का समन्वितरूप ही यज्ञ है । इसके एवंविध पाँच अवान्तर विवर्त हैं । इस पाङ्क्त सोमयाग के अङ्गभूत (अतएव 'प्राक्सौमिक' नाम से प्रसिद्ध) प्रकृत के इस 'इष्टियज्ञ' में भी अङ्गी सोमयाग के पाङ्क्तधर्म्म का सम्बन्ध अपेक्षित होजाता है । एवं पञ्चव्याहृति के सम्बन्ध से वह अपेक्षा भी सफल होरही है ।

(३) तीसरे दृष्टिकोण से समन्वय कीजिए । यज्ञ को पूर्व में वाङ्मय बतलाया गया है । वाङ्मय यज्ञ का रेत वाक्तत्त्व ही है । भकेन्द्र से आरम्भ कर महिमा पर्य्यन्त इस वाग्मेत के अवान्तर ३१ विवर्त हो-जाते हैं जो कि 'त्रयस्त्रिंशत्तन्तवो य वितत्निरे' इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार तन्तुदेवता कहलाए हैं । इन ३३ अहर्गणात्मक तन्तुदेवताओं में ३ अहर्गणात्मक तीन देवता (ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र) हुए हैं । शेष ३ रह जाते हैं । इन के ६–६ के रूप से पाँच विभाग होजाते हैं । ३३ वों का केन्द्र–अग्निष्टोम का विभाजक २७ वाँ अहर्गण है । ये ही ६ विभाग हैं । इसप्रकार एक ही वाक् के गौरूप १००० विवर्तों के पहिले ३०–३ गौ के संकलन से ३३ सूक्ष्म विभाग होते हैं अन्त में ६ स्थूल विभाग मान लिए जाते हैं । यह उसी वाक्तत्त्व का पद्कारण–लक्षण वषट्कार है ।

वाक् का षट्कार ही वषट्कार है । वषट्कारमण्डल ही वाक् का प्रातिस्विक स्वरूप है । इसका ३३ वाँ अहर्गण ही अग्निष्टोमात्मक पार्थिव यज्ञ की अन्तिम सीमा है । इस 'वौषट्' रूप वषट्कारयज्ञ (वाग्यज्ञ) की अन्तिम सीमा के (३३ के) गर्भ में क्रमशः २७–२१–१७–१५–९–ये पाँच पर्व प्रतिष्ठित हैं । छठा स्वयं ३३ वाँ है । यज्ञसम्पत् का इस ६ ठे वषट्कारपर्व से ही सम्बन्ध है जिस के गर्भ में पाँच पर्व प्रतिष्ठित हैं । यज्ञ के इन पाँचों पर्वों के संग्रह के लिए भी पाँच व्याहृतियों का ग्रहण अन्वर्थ बन रहा है ।

'ओ श्रावय' से त्रिवृत् (६) का, 'अस्तु श्रौषट्' से पञ्चदश (१५) का, 'यज' से सप्तदश (१७) का 'ये यजामहे' से एकविंश का वौषट् से सप्तविंश (२७) का एवं समष्टिरूप ६ ठे वषट्कार लक्षण त्रयस्त्रिंश (३३) का ग्रहण होजाता है। इसप्रकार अनेक दृष्टियों से यज्ञ की पाङ्क्तता का समर्थन किया जासकता है। पाङ्क्त यज्ञ से उत्पन्न पशुसर्ग भी पुरुष अश्व, गौ अवि अज भेद से पाँच विवर्तों में ही विभक्त है। पाङ्क्तसोमयाग से सम्बन्ध रखने वाले सम्वत्सरयज्ञ का स्वरूप भी वसन्त ग्रीष्म, वर्षा शरत्, हेमन्त, भेद से पञ्चपर्वा ही बना हुआ है। अहोरात्र, पक्ष ऋतु अयन, सम्वत्सर भेद से भी सम्वत्सरयज्ञ की पाङ्क्तता स्पष्ट है। इसी पाङ्क्तता के आधार पर अग्निहोत्र (अहोरात्र) दर्शपूर्णमास (पक्ष) चातुर्मास्य (ऋतु) पशुबन्ध (अयन) महायाग (सम्वत्सर) इसप्रकार वैध मानुष यज्ञ के भी पाँच पर्व प्रतिष्ठित हैं। प्राकृतिक यज्ञ की इसी पाङ्क्त-सम्पत् की प्राप्ति के लिए प्रकृत कर्म्म सम्पादक निगम्मन्त्र में पाँच व्याहृतियों का समावेश हुआ है॥ १६॥

सर्वसाधक यज्ञ ही प्रजापति है। 'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च' इस नियम के अनुसार यज्ञात्मक प्रजापति ही अपने विश्वस्त भाग से सब कुछ बना हुआ है। इस प्रजापति के स्थिति भेद से अनिरुक्त, उद्गीथ सर्व ये तीन विवर्त होजाते हैं। पिण्ड और पिण्डमहिमा प्रत्येक वस्तु में ये दो मुख्य पर्व माने हैं। पिण्ड सूक्ष्म है, एवं पिण्डमहिमा ह्रस्व है। पिण्ड—केन्द्रावच्छिन्न तत्त्व अनिरुक्त प्रजापति है, महिमा—केन्द्रावच्छिन्न तत्त्व उद्गीथ प्रजापति है। एवं महिमामण्डल की रथन्तरसामात्मिका उक्थ नाम्नी अन्तिम परिधि से सम्बन्ध रखने वाला तत्त्व सर्वप्रजापति है। पिण्डाधारेण प्रतिष्ठित महिमामण्डल वही पूर्वपरिचित वषट्कारमण्डल है जिस के ३३ अहर्गण बतलाए गए हैं। यही यह भी स्पष्ट किया गया है कि १०—१० गौ का एक एक अहर्गण होता है। फलतः १ गौ के १ -१९ के नियम से (९०-९ में ही) ३३ अहर्गण पूर्ण होजाते हैं १ गौ शेष रह जाती है। यही अन्तिम चौतीसवाँ सर्वप्राजापत्यस्थान माना गया है। इसी के लिए 'चतुस्त्रिंशः प्रजापतिः' कहा जाता है।

जिस कर्म्म में येन केन रूपेण ३४ संख्या का समावेश होजायगा वह कर्म्म संख्या-समतुलनमात्र से सर्वप्राजापत्य-सम्पत्ति से युक्त होजायगा। जिस कर्म्म में सप्तधा उपांशुयाग का समावेश होगा वहाँ तत्-सम अनिरुक्त हृत (पिण्डकेन्द्रावच्छिन्न) प्रजापति का अनुग्रह प्राप्त होजायगा। एवं जिस कर्म्म में सप्तदश (१७) संख्या का समन्वय होगा वहाँ स्वत एव तत्-समतुलित 'उद्गीथप्रजापति' की अग्नियज्ञसम्पत् का ग्रहण होजायगा।

१३ अहर्गणात्मक महिमामण्डल का केन्द्र १७ वाँ अहर्गण है। यही सत्रहवाँ अहर्गण उस 'नवाहयज्ञ' की उपक्रमभूमि है जिसे पुराणपरिभाषानुसार 'श्वेतद्वीप निवासी सत्यनारायण विष्णु' कहा जाता है। १७ से आरम्भ कर २५ वें अहर्गण पर्यन्त ९ अहर्गणों की व्याप्ति से जो व्याप्तिमर्यादा अपूर्व यज्ञ प्रतिष्ठित है वही 'नवाहयज्ञ' कहलाता है। इस नवाहयज्ञ का केन्द्र २१ वाँ अहर्गण है। यही भगवान् सूर्यनारायण प्रतिष्ठित हैं। इन्हीं के सम्बन्ध से ये यज्ञात्मक विष्णु सत्यनारायण' कहलाए हैं जो पूर्वप्रतिपादित त्रिविक्रम विष्णु से पृथक् तत्त्व हैं। तदेतत् सत्यमसौ स आदित्य के अनुसार सूर्य सत्य की प्रतिमा है। आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने के कारण येही 'नारायण' हैं। प्रतिमास की पूर्णिमा-तिथि में तत्सम उपासक यज्ञप्रक्रिया के द्वारा इसी तत्त्व को आत्मसात् किया करते हैं।

१७-२१-२५, ये तीन अहर्गण क्रमशः अग्निविष्टप्, विष्णुविष्टप्, इन्द्रविष्टप, कहलाए हैं। यही त्रिविष्टप्स्वर्ग है जिसका अन्यत्र विशदीकरण हुआ है। तीनों में से १७ वें का पार्थिव उस यज्ञविष्णु [त्रिविक्रम वामनविष्णु] से सम्बन्ध है जिसकी सम्पत् प्रकृत यज्ञ में अपेक्षित है। इसकी अन्तिम सीमा क्योंकि १७ वाँ अहर्गण है अतएव इसे-'सप्तदशो वै प्रजापतिः' इत्यादि रूप से 'सप्तदश' नाम से व्यवहृत किया जाता है। भूपृष्ठ से आरम्भ कर सत्रहवें अहर्गण पर्यन्त व्याप्त १७ अवयवों से ही इस यज्ञप्रजापति का स्वरूप-निर्माण हुआ है। पाँच व्याहृतियों से यहाँ यह 'उद्गीथ' नामक सप्तदशप्रजापति यज्ञावयव है, यहाँ अहर्गणात्मक १७ अवयवों से यह सप्तदशावयव भी बन रहा है। यज्ञावयव, सप्तदशराशिरूप इसी यज्ञात्मा का व्याहृति के सप्तदश अक्षरों से संग्रह होजाता है। यही यज्ञव्याहृतिसमष्टि के १७ अक्षरों की मौलिक उपपत्ति है जिसका निम्न लिखित स्मार्तवचन भी स्पष्टीकरण कर रहा है—

चतुर्भिश्च———चतुर्भिश्च———द्वाभ्या—पञ्चभिरेव च।

१ २ ३ ४———१ २ ३ ४———१ २—१ २ ३ ४ ५

[ओ श्रा-व-य]——[अ-स्तु-श्रौ-षट्]———[य-ज]-[ये-य-जा-म-हे]

[१-२-३-४]——[५-६-७-८]———[९-१०]-[११ १२ १३-१४ १५]

१———२———३———४

हूयते च पुनर्द्वाभ्या— तस्मै यज्ञात्मने नमः॥

[१६-१७] उद्गीथप्रजापतये

[वौ-षट्]

१६-१७

अत्र १७ कण्डिका—उपरता

अथ—वृष्टिविज्ञानम्—

सप्तदशस्तोमात्मक आहवनीय-प्रदेश ही—जिसे हमने 'अग्निविष्टप्' कहा है—नाचिकेत आग्नेय स्वर्ग कहलाया है। सुप्रसिद्ध स्वर्ग्याग्नि का—जिसका नचिकेता के द्वारा प्रश्न हुआ है एवं यम के द्वारा इष्टकाचिति-रूप से समाधान हुआ है—इसी सप्तदशस्थान से सम्बन्ध है। प्रास्तौमिक पर्वयज्ञ—समष्टिलक्षणा सोमयाग से उत्पन्न स्वर्गप्रापक देवात्मा इसी सप्तदश स्थान में प्रतिष्ठित होता है। दूसरे शब्दों में दर्शपूर्णमासेष्ट्यनुगत सोमयागापर पर्य्यायक ज्योतिष्टोम से प्राप्तव्य स्वर्ग सप्तदशस्तोमावच्छिन्न यही नाचिकेत स्वर्ग है जिसके लिए कहा गया है—"दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत, ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत"। यज्ञावयवा मन्त्राक्षरात्मिका स्वर्ग्याग्निलक्षणा प्राजापत्यसम्पत्ति इस दृष्टिकोण से भी दैविक-सम्पत्ति मानी जासकती है जिस की आधिभौतिक शरीर के निधनानन्तर प्राप्ति होती है।

'ओ श्रावय' से त्रिवृत् (९) का, 'अस्तु श्रौषट्' से पञ्चदश (१५) का 'यज' से सप्तदश (१७) का, 'ये यजामहे' से एकविंश का 'वौषट्' से सप्तविंश (२७) का एवं समष्टिरूप ६ ठे वषट्कार लक्षण त्रयस्त्रिंश (३३) का ग्रहण होजाता है। इसप्रकार अनेक दृष्टियों से यज्ञ की पाङ्क्तता का समर्थन किया जासकता है। पाङ्क्त यज्ञ से उत्पन्न पशुओं भी पुरुष अश्व गौ अवि अज भेद से पाँच विवर्त्तों में ही विभक्त है। पाङ्क्तसोमयाग से सम्बन्ध रखने वाले सम्वत्सरयज्ञ का स्वरूप भी वसन्त ग्रीष्म वर्षा शरत्, हेमन्त, भेद से पञ्चपर्वा ही बना हुआ है। अहोरात्र पक्ष ऋतु अयन सम्वत्सर भेद से भी सम्वत्सरयज्ञ की पाङ्क्तता स्पष्ट है। इसी पाङ्क्तता के आधार पर अग्निहोत्र (अहोरात्र) दर्शपूर्णमास (पक्ष) चातुर्म्मास्य (ऋतु), पशुबन्ध (अयन) महायाग (सम्वत्सर) इसप्रकार वैध मानुष यज्ञ के भी पाँच पर्व प्रतिष्ठित हैं। प्राकृतिक यज्ञ की इसी पाङ्क्त—सम्पत् की प्राप्ति के लिए महत्व कर्म्म सम्पादक निगदमन्त्र में पाँच व्याहृतियों का समावेश हुआ है ॥ १६ ॥

सर्वसाधक यज्ञ ही प्रजापति है। 'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च' इस निगम के अनुसार यज्ञात्मक प्रजापति ही अपने विस्तृत भाग से सब कुछ बना हुआ है। इस प्रजापति के स्थिति भेद से अनिरुक्त उद्गीथ सर्व, ये तीन विवर्त होजाते हैं। पिण्ड और पिण्डमहिमा प्रत्येक वस्तु में ये दो मुख्य पर्व माने हैं। पिण्ड सूक्ष्म है एवं पिण्डमहिमा दृश्य है। पिण्ड—केन्द्रावच्छिन्न तत्त्व अनिरुक्त प्रजापति है महिमा—केन्द्रावच्छिन्न तत्त्व उद्गीथ प्रजापति है। एवं महिमामण्डल की रथन्तरसामात्मिका सप्त नाम्नी अन्तिम परिधि से सम्बन्ध रखने वाला तत्त्व सर्वप्रजापति है। पिण्डाधारेण प्रतिष्ठित महिमा मण्डल वही पूर्वपरिचित षट्त्रिंशदक्षरमण्डल है जिस के ३२ अहर्गण बतलाए गए हैं। वहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि १०—१० गौ का एक एक अहर्गण होता है। फलत १ गौ के १—१० के विभाग से (३०-९ में ही) ३३ अहर्गण पूर्ण होजाते हैं १ गौ शेष रह जाती है। यही अन्तिम चौंतीसवीं सर्वप्रजापत्यस्थान माना गया है। इसी के लिए 'चतुस्त्रिंश प्रजापति' कहा जाता है।

जिस कर्म्म में येन केन रूपेण ३४ संख्या का समावेश होजायगा वह कर्म्म संख्या—समतुलनमात्र से सर्वप्राजापत्य—सम्पत्ति से युक्त होजायगा। जिस कर्म्म में सर्वथा सर्वांशमात्र का समावेश होगा वहाँ तत्—सम अनिरुक्त हृत् (पिण्डकेन्द्रावच्छिन्न) प्रजापति का अनुग्रह प्राप्त होजायगा। एवं जिस कर्म्म में सप्तदश (१७) संख्या का समन्वय होगा, वहाँ स्वत एव तत् समतुलित 'उद्गीथप्रजापति' की अग्नियज्ञसम्पत् का ग्रहण होजायगा।

३३ अहर्गणात्मक महिमामण्डल का केन्द्र १७ वाँ अहर्गण है। यही सत्रहवाँ अहर्गण उस 'नवाहयज्ञ' की उपक्रमभूमि है जिसे पुराणपरिभाषानुसार 'श्वेतद्वीप निवासी सत्यनारायण विष्णु' कहा जाता है। १७ से आरम्भ कर २५ वें अहर्गण पर्यन्त ९ अहर्गणों की व्याप्ति से जो ज्योतिर्म्मय अपूर्व यज्ञ प्रतिष्ठित है वही 'नवाहयज्ञ' कहलाया है। इस नवाहयज्ञ का केन्द्र २१ वाँ अहर्गण है। यहीं भगवान् सूर्य्यनारायण प्रतिष्ठित हैं। इसी के सम्बन्ध से ये यज्ञात्मक विष्णु 'सत्यनारायण' कहलाए हैं जो पूर्वप्रतिपादित त्रिविक्रम विष्णु से पृथक् तत्त्व हैं। 'यथात एव सत्यमसौ स आदित्य' के अनुसार सूर्य्य सत्य की प्रतिमा है। आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने के कारण येही 'नारायण' हैं। प्रतिमास की पूर्णिमा—तिथि में सत्याग्र उपासक व्रतप्रक्रिया के द्वारा इसी तत्त्व को आत्मसात् किया करते हैं।

१७-२१-२४, ये तीन अहर्गण क्रमशः ब्रह्मविष्टप्, विष्णुविष्टप्, इन्द्रविष्टप्, कहलाए हैं। यही त्रिविष्टप्स्वर्ग है जिसका अन्यत्र विशदीकरण हुआ है। तीनों में से १७ वें का पार्थिव उस यज्ञविष्णु [त्रिविक्रम वामनविष्णु] से सम्बन्ध है जिसकी सम्पत् प्रकृत यज्ञ में अपेक्षित है। इसकी अन्तिम सीमा क्योंकि १७ वाँ अहर्गण है अतएव इसे-'सप्तदशो वै प्रजापतिः' इत्यादि रूप से सप्तदश नाम से व्यवहृत किया जाता है। भूपृष्ठ से आरम्भ कर सत्रहवें अहर्गण पर्यन्त व्याप्त १७ अवयवों से ही इस यज्ञप्रजापति का स्वरूप-निर्माण हुआ है। पाँच व्याहृतियों से जहाँ यह 'उद्गीथ' नामक सप्तदशप्रजापति पञ्चावयव है वहाँ अहर्गणात्मक १७ अवयवों से यह सप्तदशावयव भी बन रहा है। पञ्चावयव सप्तदशप्रजापतिरूप इसी यज्ञात्मा का व्याहृति के सप्तदश अक्षरों से सम्बन्ध होजाता है। यही पञ्चव्याहृतिसमष्टि के १७ अक्षरों की मौलिक उपपत्ति है जिसका निम्न लिखित स्मार्तवचन भी स्पष्टीकरण कर रहा है—

चतुर्भिश्च———चतुर्भिश्च———द्वाभ्यां—पञ्चभिरेव च।
१ २ ३ ४———१ २ ३ ४———१ २—१ २ ३ ४ ५
[ओ-श्रा-व-य]——[अ-स्तु-श्रौ-षट्]———[य-ज]-[ये-य-जा-म-हे]
[१-२-३-४]——[५-६-७-८]———[९-१०]-[११ १२ १३-१४ १५]
१————२————३————४

हूयते च पुनर्द्वाभ्यां— तस्मै यज्ञात्मने नमः॥
[१६-१७] उद्गीथप्रजापतये
[वौ-षट्]
१६-१७

अत्र १७ कण्डिका-उपरता

अथ-वृष्टिविज्ञानम्—

सप्तदशस्तोमात्मक आहवनीय-प्रदेश ही-जिसे हमने 'ब्रह्मविष्टप्' कहा है-नाचिकेत आग्नेय स्वर्ग कहलाया है। सुप्रसिद्ध स्वर्ग्याग्नि का-जिसका नचिकेता के द्वारा प्रश्न हुआ है एवं यम के द्वारा इष्टकाचिति-रूप से समाधान हुआ है-इसी सप्तदशस्थान से सम्बन्ध है। प्रातःसौमिक पर्यन्त-समष्टिलक्षण सोमयाग से उत्पन्न स्वर्गप्रापक देवात्मा इसी सप्तदश स्थान में प्रतिष्ठित होता है। दूसरे शब्दों में दर्शपूर्णमासेष्ट्यनुगत सोमयागपर्यन्त ज्योतिष्टोम से प्राप्तव्य स्वर्ग सप्तदशस्तोमावच्छिन्न यही नाचिकेत स्वर्ग है जिसके लिए कहा गया है- 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत', 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'। पञ्चाव्ययात्मा सप्तदशकलात्मिका स्वर्गाग्निलक्षणा प्राजापत्यसम्पत्ति इस दृष्टिकोण से आधिदैविक-सम्पत्ति मानी जासकती है जिस की आधिभौतिक शरीर के विनाशानन्तर प्राप्ति होती है।

मानवीय मन परोक्षफलाकर्षण की अपेक्षा प्रत्यक्ष भौतिक फलाकर्षण की ओर विशेषरूप से आकर्षित रहता है। उस की बाह्यदृष्टि पहिले ऐहलौकिक-फलकामना की ही अपेक्षा रखती है। जब उसे किसी कर्म के प्रति यह विश्वास होजाता है कि मुझे अमुक कर्म से प्रत्यक्ष में भी इसी जीवन में भी कोई भौतिक फल मिल सकता है तो वह उस कर्म में श्रद्धानुविधिपूर्वक प्रवृत्त होजाता है। यही क्यों, आधिभौतिक साधन-साध्यों से सम्पन्न कर्मकाण्ड का तो अधिकारी भी वही माना गया है जिसकी प्राथमिक लक्ष्यभूमि आधिभौतिक ही बनती है। उच्चपीठिका में प्रतिष्ठित जो उच्चाधिकारी केवल परोक्ष-आधिदैविक-लक्ष्य प्राप्ति के लिए कर्म में प्रवृत्त रहते हैं उनका वह कर्म तो उपासना किंवा ज्ञानयोग ही बन जाता है। प्रवृत्तिलक्षण कर्मकाण्ड (यज्ञकाण्ड) का सामान्य अधिकारी तो प्रत्येक दशा में भौतिक ऐहलौकिक फल की अवश्यमेव कामना करेगा। प्रकृत आभावण-प्रत्याभावण-कर्म के उस प्रत्यक्ष भौतिकफल का ही १८,१९ २ इन तीन कण्डिकाओं में स्पष्टीकरण हुआ है। तात्पर्य्य वैदिक यज्ञकर्म केवल पारलौकिक आधिदैविक स्वर्गादि फलों के ही जनक नहीं हैं, अपितु परोक्षफल के साथ साथ इनसे प्रत्यक्ष भौतिक योग-क्षेम-सम्पादक वर्षादिफल भी प्राप्त होजाते हैं।

इन प्रत्यक्ष फलों को हम ज्योतिश्चक्र [खगोल-आकाश] एवं भुवनकोश [भूगोल पृथिवी] भेद से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। हमारी यच्चयावत् भौगोलिक पार्थिव कामनाओं की प्रतिष्ठा ऋतु-अनुकूला वर्षा ही है। 'निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु' इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार समय समय पर पर्जन्य देवता के अनुग्रह [व्यापार] से होने वाली वर्षा ही ओषधि-वनस्पति के उत्पादन के द्वारा पार्थिव योग क्षेम का सञ्चालन कर रही है। हमारी समस्त ऐहलौकिक कामनाओं का एवं पार्थिव भौगोलिक कामनाओं का केन्द्रीकरण अन्न-बल पर ही अवलम्बित है। एवं इस की मूलप्रतिष्ठा खगोलीया वर्षा ही है।

वर्षा प्रकृति का प्रथम प्रत्यक्ष अनुग्रह है एवं पार्थिव ओषधि-वनस्पति जल-पशु-विशादि द्वितीयानुग्रह है। प्रथमानुग्रह [वर्षा] के आधार पर ही द्वितीयानुग्रह प्रतिष्ठित है। १७ १८, इन दो कण्डिकाओं में पहिले खगोलीय प्रथमानुग्रह का एवं २० वीं कण्डिका में द्वितीय भौगोलिक पार्थिव अनुग्रह का ही विश्लेषण करती हुई श्रुति भ्रान्त जनों की उस भ्रान्ति का आमूलचूड़ खण्डन कर रही है जिस भ्रान्ति में पड़ कर वे भ्रान्त मनुष्य यह कहते सुने गए हैं कि "शास्त्रीय कर्मकाण्ड यज्ञकर्म तो मरने के पश्चात् ही फल देते हैं। हमारा पहिला लक्ष्य अन्न-धन है। यह चिन्ता शास्त्रीय कर्मकाण्ड से निवृत्त नहीं होसकती। अवश्य ही भारतीय यज्ञकाण्ड न केवल पारलौकिक परोक्ष फलों का ही प्रवर्तक है अपितु परोक्षातिशय के साथ साथ प्राकृतिक रहस्यपूर्ण वैज्ञानिक-विवेचनापूर्वक आधिभौतिकी समस्त प्रत्यक्ष कामनाएँ भी इसी यज्ञकाण्ड से सम्पन्न की जासकती हैं। यही तो यज्ञ के- धुक्कामधुक् विशेषण का फलितार्थ है जिसे न समझकर आज हम भ्रान्त जन शास्त्रानुगत भारतीय वैदिक कर्मकाण्ड की उपेक्षा से अपना सर्वनाश ही कर रहे हैं।

पुरोवात अभ्र, विद्युत स्तनयित्नु, इन चारों सहयोगियों के एकत्र समन्वय से ही वर्षाकर्म' की प्रवृत्ति मानी गई है। सुप्रसिद्ध 'पुरवाई हवा' ही 'पुरोवात' है। प्रत्यक्ष का धूम-ज्योति-सलिल-

मरुत (साम्य-अग्नि-पानी-मातषायु) की समष्टिरूप 'महल्ल अभ्र' है। प्रत्यक्षदृष्ट चाकचिक्य विद्युत् है, एवं प्रत्यक्ष भृत 'गर्जन तर्जन' ही स्तनयित्नु है। सर्वप्रथम पुरोवात का सञ्चार होता है। पुरोवात के सञ्चार से इतस्ततः भृतभाव [स्वयम्भाव] से बिखरे हुए अभ्रअवयवों का नियतावकाशप्रदेश में एकत्र समन्वय होजाता है। अभ्रघनता से समुत्पन्न वायु-अग्नि-प्रकाश-घर्षण से विद्युत्-उत्पन्न होजाती है साथ ही गर्जन तर्जनशब्दरूप स्तनयित्नु भी। इस सम्पूर्ण सामग्री-सम्भार के समवेत होते ही—'तड़ तड़' प्रतिध्वनि के साथ वर्षा होने लगती है। प्राकृतिक प्राणदेवताओं के प्राकृतिक सम्भ्रमरूप से सम्बन्ध रखने वाले आश्रावण प्रत्याश्रावणकर्म्म की—'ओ श्रावय' रूपा प्रथमा व्याहृति का फल 'पुरोवात' है। 'अस्तु श्रौषट्' व्याहृति से अभ्र का सम्बन्ध है। 'यज' से विद्युत् का 'ये यजामहे' से स्तनयित्नु का एवं तड़ तड़ प्रतिध्वनिपूर्विका वर्षा का वौषट् इस पाँचवी व्याहृति से सम्बन्ध है। इसप्रकार प्राकृतिक प्राणदेवता पञ्चव्याहृत्यात्मक इसी आश्रावण-प्रत्याश्रावणकर्म्म से वर्षा के प्रवर्तक बन रहे हैं जिस वर्षा के तात्त्विक स्वरूप का निम्न लिखित शब्दों में दिग्दर्शन करा देना अप्रासङ्गिक न माना जायगा।

भारतीय वैदिक-विज्ञान के सम्बन्धमें सबसे बड़ी विप्रतिपत्ति यही है कि उसका अनेक रहस्यपूर्ण परिभाषाओं से ही विशेष सम्बन्ध है। बिना उन्हें अवगत किए केवल अक्षरार्थ के आधार पर सच्चे वैज्ञानिकप्रकरण शून्य से निरर्थक से कल्पित से एवं कहानी से ही प्रतीत होने लगते हैं। साथ ही दूसरी जटिलता यह भी है कि परोक्षप्रिय ऋषियों की परोक्षभाषा [वेदभाषा] के अनुग्रह से किसी भी विज्ञान का किसी एक ही प्रकरण में क्रमबद्ध निरूपण नहीं मिलता। जबतक समस्त वाङ्मयाब्धि का मन्थन नहीं कर लिया जाता तबतक किसी भी विज्ञानसिद्धान्त का यथानुरूप समन्वय सम्भव नहीं बन सकता। जिस 'वृष्टिविद्या' के सम्बन्ध में प्रकृत में कुछ निवेदन करना है उसके लिए भी ये ही जटिलताएँ विद्यमान हैं। प्रकृत ब्राह्मण की 'ओ श्रावयेति वृष्टाः पुरोवात समसृजिर' इत्यादिरूपा १८ वीं कण्डिका में वृष्टिविज्ञान का निरूपण तो हुआ है। परन्तु यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि, केवल इन कण्डिकामात्र से अ यावत् भी तो वृष्टिविज्ञान का विश्लेषण नहीं होरहा। न तो पुरोवात अभ्र विद्युत् स्तनयित्नु, वौषट् आदि किसी भी तत्त्व का तो यहाँ विश्लेषण नहीं हुआ। अवश्य ही इन तत्त्वों के स्वरूप-परिज्ञान के लिए एकवार हमें उन सम्पूर्ण वैदिक स्थल-विशेषों की ओर अपना ध्यान आकर्षित कर ही लेना पड़ेगा जिनमें अवान्तरप्रकरणसन्दर्भ की अपेक्षा से तत्तत्-विशेष भावों का स्पष्टीकरण हुआ है। प्रकृतप्रायः वृष्टिविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला प्रस्तुत प्रकरण पाठकों के लिए विशेषरूप से मनुरञ्जन का साधन बनेगा इसी आशा के साथ संक्षेप से तत्सम्बन्ध में कुछ निवेदन कर देने का साहस किंवा दुस्साहस कर लिया जाता है।

वृष्टिविद्या के सम्बन्ध में एक ही तत्त्ववाद का अनेक दृष्टियों से समन्वय हुआ है। उन विभिन्न दृष्टिकोणों में से प्रकृत में छान्दोग्य-उपनिषत् से सम्बन्ध रखने वाले पञ्चाग्निविद्यानुगत दृष्टिकोण का ही विशेष सम्बन्ध मानना पड़ेगा। छान्दोग्य उपनिषत् में यह स्पष्ट किया गया है कि वृष्टि का मूलतत्त्व श्रद्धातत्त्व है। यही श्रद्धातत्त्व आगे जाकर 'सोमरूप' में परिणत होता हुआ 'वृष्टिरूप' में परिणत होता है यही एक औपनिषद-दृष्टिकोण है।

दूसरा दृष्टिकोण यह है कि, विद्यानिरपेक्ष इष्ट-आपूर्त-दत्त नामक मनकर्म्मों के अनुयायी जीवात्मा पितृयानानुसार कृष्णमार्ग के अनुगामी बनते हैं। पहिले वे शरीरच्छायात्मक

के प्रवर्त्तक हैं। यहाँ से वहाँ गया हुआ पानी वहाँ बरसता है–पर्जन्य के द्वारा। एवं वहाँ से यहाँ पानी बरसता है—पार्थिव भग्निरोऽग्नि के द्वारा। पार्थिववृष्टि में पार्थिव ग्रहगण निमित्त बनते हैं एवं दिव्यवृष्टि में सौर ग्रहगण निमित्त बनते हैं। निम्नलिखित मन्त्रश्रुतियाँ इसी दृष्टिकोण का समर्थन कर रही हैं

(१) 'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति, मरुतः सृष्टां नयन्ति।
यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्य्यावर्त्तते, अथ वर्षति'।
—तै० सं० का० । ४ प्र० । १० आ० । १ कं०।

(२) 'समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति, दिवं जिन्वन्त्यग्नय ॥'
—ऋक्सं० १।१६४।५१

एक अन्य दृष्टिकोण का भी समन्वय कीजिए। भगवान् मनु कहते हैं कि द्विजातियों का यज्ञकर्म्म ही वृष्टि का मूल है। आहवनीयाग्नि में यथाविधि जो आहुति दी जाती है वह धूमोरूप आदित्य में पहुँच जाती है। पार्थिव आहुतिभाहक आदित्यदेवता प्रतिदान [बदले] में वृष्टि करते हैं वृष्टि से अन्न–उत्पन्न होता है अन्न से प्रजोत्पत्ति होती है। इसप्रकार यज्ञाहुति ही परम्परया वृष्टिप्रवर्त्तिका बन रही है। देखिए!

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यक्–आदित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टि—र्वृष्टेरन्नं, ततः प्रजा ॥
—मनु ३।७६

एक पाँचवाँ दृष्टिकोण और लीजिए। अक्षर से ब्रह्म [वेद] का विकास होता है ब्रह्म से कर्म्म उत्पन्न होता है कर्म्म से यज्ञ उत्पन्न होता है यज्ञ से पर्जन्य उत्पन्न होता है। पर्जन्य से वृष्टि के द्वारा अन्न उत्पन्न होता है, एवं अन्न से भूतसृष्टि होती है। यहाँ अक्षर को ही वृष्टि का मूलाधार माना जा रहा है। देखिए!

अन्नाद्भवन्ति भूतानि, पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्ज्जन्यो यज्ञः कर्म्मसमुद्भवः ॥
कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥
—गीता ३।१४–१५।

यद्यपि उक्त दृष्टिकोणों की विवेचना-शैली में [साथ ही द्यावा-पृथिवी-रूप से] व उदक सिद्धान्त में भी भेद प्रतीत होरहा है तथापि वस्तुगत्या सभी दृष्टिकोणों का निर्विरोध समन्वय किया जासकता है। जैसा कि, आरम्भ में निवेदन किया गया है प्रथम दृष्टिकोण का प्रस्तुत ब्राह्मणप्रकरण के साथ विशेष सम्बन्ध है।

अतएव उसी को आधार बनाकर यहाँ इष्टिविद्या का दिग्दर्शन कराना समीचीन माना जायगा। छान्दोग्यश्रुति ने जिस पञ्चाग्निविद्या के आधार पर अपूसर्ग के द्वारा पुरुषसर्ग का प्रतिपादन किया है, उस का वैज्ञानिक तत्त्व उसी की भाषा में स्पष्ट है। अरुणपुत्र अतएव 'आरुणेय' इस उपनाम से प्रसिद्ध श्वेतकेतु अपनी तात्त्विक जिज्ञासाओं की पूर्ति के लिए तत्समय की सुप्रसिद्धा कुरुपञ्चालों की विद्वत्परिषद् [परिषत्] में उपस्थित होते हैं। प्रारम्भिक-योग्यता की परीक्षा के लिए पर्षत् के मान्य विद्वान् जैविलि श्वेतकेतु से प्रश्न करते हैं कि, कुमार ! क्या तुम्हें तुम्हारे पिता [अरुण] ने तत्त्वज्ञान के शिक्षण से युक्त कर दिया है ? । कुमार श्वेतकेतु उत्तर में ज्यों ही हाँ भगवन् ! कहते हैं त्योंही जैविलि उन के सम्मुख प्रश्नपरम्परा रख बैठते हैं। जैविलि के द्वारा श्वेतकेतु से होने वाली प्रश्नपरम्परा का पाँचवाँ प्रश्न है— वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति'—जानते हो तो बताओ ! पाँचवी आहुति में अप्तत्त्व कैसे पुरुषस्वरूप में परिणत होजाता है ? । श्वेतकेतु समाधान करने में असमर्थ रह जाते हैं। फलतः स्वयं जैविलि की ओर से ही पाँचों प्रश्नों का तात्त्विक विश्लेषण होता है।

सुप्रसिद्ध वेदान्तसूत्र [व्याससूत्र] के तृतीयाध्याय के आरम्भ से आत्मगति विषयक सिद्धान्तों का कतिपय सूत्रों से प्रतिपादन हुआ है। वहाँ का प्रारम्भिक सूत्र है— तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति, सम्परिष्वक्तः, प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' (व्या० सू० ३।१।१)। जीवात्मा पाञ्चभौतिक मर्त्य अनित्य शरीर से पृथक् अमृत-नित्य तत्त्व है जब पूर्वसन्दर्भ से (प्रतिपादिता अध्यायत्रयी से) यह सिद्ध होजाता है-[तदन्तरप्रतिपत्तौ] तो, यह भी स्वतः एवं सिद्ध होजाता है कि, म य स्थूलशरीर के छूट जाने पर जीवात्मा लोकान्तर में गमन करता है-(रहंति)। क्या विशुद्ध आत्मा का लोकान्तर में गमन होता है ? प्रश्न का 'नेति' रूप से समाधान करते हुए भगवान् बादरायण कहते हैं कि, विशुद्ध आत्मतत्त्व का गमन असम्भव है। अतएव मानना पड़ता है कि जीवात्मा सूक्ष्म भूतों से वेष्टित होकर ही [आतिवाहिक सूक्ष्मशरीर धारण करके ही] लोकान्तर में गमन करता है [सम्परिष्वक्तो भूतसूक्ष्मैः-गच्छति] ।

प्रमाण के लिए जैविलि और श्वेतकेतु में होने वाली प्रश्नोत्तर-परम्परा ही पर्य्याप्त है। वहाँ पुरुष-सर्ग के सम्बन्ध में जो प्रश्नोत्तर हुए हैं उनसे यह प्रमाणित होता है कि, जीवात्मा भूतसूक्ष्मों से सम्परिष्वक्त होकर ही लोकान्तरों में गमन करता है-(प्रश्ननिरूपणाभ्याम्) । *-प्रश्न निरूपण का तात्पर्य्य यही है कि, अवरोह (उत्पत्ति) क्रम में अप्तत्त्व से ही पुरुष की उत्पत्ति हुई है। यदि आरोहक्रम में अप्तत्त्व का पुनर्गमन न माना जायगा तो एक न एक दिन यह निश्शेष ही होजायगी। फलतः निर्म्माणक्रम अवरुद्ध होजायगा। उधर 'स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः -धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादि श्रुतिप्रामाण्यानुसार सृष्टिक्रम शाश्वत माना गया है। इसकी यह शाश्वतता तभी अक्षुण्ण बनी रह सकती है जब कि जीवावरोहणवत् जीवारोहण में भी अप तत्त्व का गमन माना जाय। इसी

---

* तदन्तरेत्यादिकसूत्रमेतद्-मूलं तदर्थं यदि वेत्थ किञ्चित् ।
स प्राह जीव करणाश्रसासे सवेष्टितो गच्छति भूतसूक्ष्मैः ॥
—प्राचीनसूक्तिः

के प्रवर्त्तक हैं। यहाँ से वहाँ गया हुआ पानी वहाँ बरसता है–पर्जन्य के द्वारा। एवं वहाँ से यहाँ पानी बरसता है–पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि के द्वारा। पार्थिववृष्टि में पार्थिव अहर्गण निमित्त बनते हैं एवं दिव्यवृष्टि में सौर अहर्गण निमित्त बनते हैं। निम्नलिखित मन्त्रश्रुतियाँ इसी दृष्टिकोण का समर्थन कर रही हैं

(१) 'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति, मरुतः सृष्टां नयन्ति।
यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्त्तते, अथ वर्षति'।
—तै० सं० कां ।४ प्र०।१० अा०।२ कं०।

(२) 'समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति, दिवं जिन्वन्त्यग्नयः॥'
—ऋक्सं० १।१६४।५१

एक अन्य दृष्टिकोण का भी समन्वय कीजिए। भगवान् मनु कहते हैं कि, द्विजातियों का यज्ञकर्म ही वृष्टि का मूल है। आहवनीयाग्नि में यथाविधि जो आहुति दी जाती है वह धूमरूप आदित्य में पहुँच जाती है। पार्थिव आहुतिग्राहक आदित्यदेवता प्रतिदान [बदले] में वृष्टि करते हैं वृष्टि से अन्न–उत्पन्न होता है अन्न से प्रजोत्पत्ति होती है। इसप्रकार यज्ञाहुति ही परम्परया वृष्टिप्रवर्त्तिका बन रही है। देखिए!

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यक्–आदित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टि—र्वृष्टेरन्न, ततः प्रजाः॥
—मनु ३।७६

एक पाँचवाँ दृष्टिकोण और लीजिए। अक्षर से ब्रह्म [क्षर] का विकास होता है ब्रह्म से कर्म उत्पन्न होता है कर्म से यज्ञ उत्पन्न होता है यज्ञ से पर्जन्य उत्पन्न होता है। पर्जन्य से वृष्टि के द्वारा अन्न उत्पन्न होता है, एवं अन्न से भूतसृष्टि होती है। यहाँ अक्षर को ही सृष्टि का मूलाधार माना जा रहा है। देखिए!

अन्नाद्भवन्ति भूतानि, पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो, यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥
—गीता ३।१४ १५।

यद्यपि उक्त दृष्टिकोणों की विवेचना-शैली में [साथ ही द्यावा–पृथिवी–रूप से] स्वरूपतः सिद्धान्त में भी भेद प्रतीत होरहा है तथापि वस्तुगत्या सभी दृष्टिकोणों का निर्विरोध समन्वय किया जासकता है। जैसा कि, आरम्भ में निवेदन किया गया है प्रथम दृष्टिकोण का प्रस्तुत ब्राह्मणप्रकरण के साथ विशेष सम्बन्ध है।

जो सम्बन्ध है वही चन्द्रमा और नक्षत्रों का सम्बन्ध है। अग्नि वायु आदित्य चन्द्रमा, इन चारों प्रतिष्ठाता देवताओं के क्रमशः वसु-रुद्र आदित्य-नक्षत्र ये चार गणदेवता कहलाए हैं। जिसप्रकार अग्नि अङ्गार से अङ्गारात्मक विस्फुलिङ्ग विनिर्गत हैं, एवमेव आप्य आप्य चन्द्रमा से अङ्गारात्मक आप्य नाक्षत्रिक तेज का विकास हुआ है। अतएव नक्षत्रों को अवश्य ही अङ्गार-चन्द्रमापेक्षया विस्फुलिङ्ग कहा जासकता है।

पार्थिव आन्तरिक्ष्य दिव्य इन तीनों में क्रमशः अग्नि वायु इन्द्र इन तीन अधिष्ठाता देवताओं का प्रभुत्व है। अतएव पार्थिव देवताओं को आग्नेय आन्तरिक्ष्य देवताओं को वायव्य एवं दिव्य देवदेवताओं को ऐन्द्र कहा जासकता है। उक्त दिव्ययज्ञसंस्था में ये ऐन्द्रदेवता ही ऋत्विक् हैं सूर्य्यकेन्द्रस्थ हिरण्यगर्भ-प्रजापति ही इस यज्ञ के यजमान हैं। दिव्य-ऐन्द्रदेवताओं के द्वारा श्रद्धातत्त्व की सावित्राग्नि में आहुति होरही है। इसप्रकार 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः' से यहां ऐन्द्र दिव्य देवता ही गृहीत हैं।

अब शेष रह जाता है केवल 'श्रद्धा' तत्त्व। पूर्वब्राह्मण-भाष्यों में अनेकधा श्रद्धा के तात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण किया जाचुका है। अतएव पिष्टपेषण अनावश्यक है। प्रकरणसङ्गति के लिए यह जान लेनामात्र ही पर्य्याप्त होगा कि पारमेष्ठ्य अपतत्त्वानुगत चान्द्रसोम से सम्बन्ध रखने वाला श्रत् [सत्य] को धारण करने वाला, मनोऽनुगत स्नेहतत्त्व ही 'श्रद्धा' है। 'श्रद्धा रेतो यश' इन तीन चान्द्र-मनोताओं का क्रमशः वाङ्मय शरीर * शुक्र मन इन तीन आध्यात्मिक पर्वों से सम्बन्ध है। तीनों ही प्राकृतिक अनुग्रह हैं। जिन के मन शुक्र, तथा शरीर में चान्द्र-श्रद्धा रेत-यश का प्रकृत्या समावेश रहता है वे ही श्रद्धालु रेतोधा एवं यशस्वी होते हैं।

मनोमयी श्रद्धा पितृप्राण की शुक्रमय रेत मानव-प्राण की एवं वाङ्मय यश वषट्कार के सम्बन्ध से देवप्राण की प्रतिष्ठा बनता है। श्रद्धातत्त्वानुगत पितृकर्म्म इस श्रद्धातत्त्व के सम्बन्ध से ही 'श्राद्ध' कहलाया है। 'श्रद्धा वा आपः' [तै॰ ब्रा॰ ३।२।४।१]-के अनुसार श्रद्धा वास्तव में आपोमय तत्त्वविशेष ही है जिसका उपलब्ध भाष्यों में तत्त्वदृष्ट्या समन्वय नहीं हुआ है। अप्तत्त्व श्रद्धा का प्रथम रूप है एवं सोमतत्त्व श्रद्धा का उत्तररूप है। 'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' [ईशोपनिषत्]- 'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्' [गोपथ-ब्राह्मण] इत्यादि श्रुतियों के अनुसार भृगुलक्षण स्नेहतत्त्व एवं अङ्गिरालक्षण तेज दोनों ही 'आप' हैं। अतएव आपोमयी श्रद्धा के लिए-'तेजो वै श्रद्धा' [शत॰ ११।३।१।१] यह भी कह दिया जाता है।

जबतक आपोमयी श्रद्धा परमेष्ठी में युक्त है तबतक वह श्रद्धा है। आदित्याग्नि में हुत होते ही आदित्याग्नि तथा श्रद्धारस, दोनों के समन्वय से पूर्वरूपोदय द्वारा श्रद्धा 'सोम' रूप में परिणत होजाती है। आपोमयी श्रद्धा में आप्यप्राण की प्रधानता रहती है। परन्तु तद्रूपान्तरभूत सोम आप्यप्राण से सर्वथा

---

* 'यश शरीर भव म दयालु'—कविकुलगुरु।

(१) सर्वप्रथम क्रमप्राप्त 'द्यु विद्या' का ही समन्वय कीजिए। द्युलोक अग्नि है, आदित्य समित् है, रश्मियाँ धूम है, अहःकाल अर्चि है, चन्द्रमा अङ्गार है, नक्षत्र विस्फुलिङ्ग हैं, इन्द्रज्येष्ठ देवदेवता स्वव्यापार से द्युलोकाग्नि में श्रद्धा रूप हविद्रव्य की आहुति देते हैं। आहुत श्रद्धातत्त्व, और आहुतिग्राहक अग्नितत्त्व, दोनों के अन्तर्याम (चिति) सम्बन्धात्मक रासायनिक उस सम्मिश्रण से—जिसमें दोनों के भाग से दोनों के पूर्वस्वरूपोपमर्दन के द्वारा तीसरा अपूर्वभाव उत्पन्न होजाता है—'सोम' नामक तत्त्वान्तर उत्पन्न होता है। श्रद्धातत्त्व का रूपान्तर यही सोम आन्तरिक्ष्य यज्ञ में आहुतिद्रव्य बनने वाला है। सोमोत्पत्ति ही इस द्यु-यज्ञ का प्रधान फल है।

द्युलोक लोक है, तत्र प्रतिष्ठित प्राणाग्नि (सावित्राग्नि) लोकी है। सूर्यपिण्ड भूताग्नि है, जिसके केन्द्र को आलम्बन बनाकर सौर द्युलोक की अन्तिम सीमा में व्याप्त रहने वाला प्राणाग्नि ही देवाग्नि है। लोक—लोकी का अभेद मान कर ही यहाँ—'असौ वाव लोको गौतम। अग्निः' यह कह दिया गया है।

भूताग्नि-पिण्डरूप आदित्य (सूर्यपिण्ड) प्रज्वलित सा दिखाई देता है। इसीसे आग्नेय वाष्पलक्षण 'धूम' का उदय होता है। इसी समिन्धन से सूर्यपिण्ड 'समित्' माना गया है।

जिसप्रकार प्रज्वलित समित् (काष्ठ) से धूम निकला करता है, एवमेव प्रज्वलित सूर्यपिण्डात्मक समित् को गर्म बनाकर इससे चारों ओर रश्मियों का वितान होता है। रश्मियाँ आग्नेय वाष्प की प्रतिकृतियाँ हैं। अतएव इन्हें अवश्य ही 'धूम' कहा जासकता है।

जिसप्रकार धूम से युक्त समित् से निकलने वाली अग्निज्वाला से चतुर्दिक् में (चहुँ ओर) प्रकाश होजाता है, एवमेव रश्मियुक्त सूर्य से निकलने वाली रश्मियों के सहस्रधा-वितान से सम्पूर्ण त्रैलोक्य प्रकाशित होसकता है। प्रकाश ही अर्चि [ज्वाला] है। यहाँ प्रकाशात्मक अहः ही 'अर्चि' है।

जबतक ज्वाला [अर्चि] बनी रहती है, तबतक समित् अङ्गाररूप में परिणत नहीं होता। ज्वाला के शान्त होजाने पर ही अङ्गार की अभिव्यक्ति होती है। तत्स्थानापन्न यह ज्वाला यहाँ अहर्लक्षणा अर्चि [प्रकाश] है। जबतक यह रहती है, तबतक चन्द्रमा प्रकाशित नहीं होता [अभिव्यक्ति नहीं होती अपितु अभिभव रहता है]। अहः के अन्तर्लीन होजाने पर चन्द्रमा उसी प्रकार अभिव्यक्त होजाता है, जैसेकि ज्वालोपशम पर अङ्गार अभिव्यक्त होजाता है। इसी कारण से चन्द्रमा अङ्गार माना जासकता है। चन्द्रमा सोममय है। सोममय चन्द्रमा की उत्पत्ति इसी दिव्य आदित्याग्नि से हुई है। इसलिए भी चन्द्रमा को आदित्ययज्ञ का अवयव माना जासकता है। चन्द्रमा का प्रकाशधर्म्म भी सौरप्रकाश का ही धर्म्मरूप है। प्रतिफलित सौर प्रकाश ही चान्द्रज्योति का जनक बनता है, जैसा कि—'इत्था चन्द्रमसो गृहे'—'तरणिकिरणसङ्गादेष पीयूषपिण्डः'—दिनकर-दिशि-चञ्चच्चन्द्रिकाभिश्चकास्ते' इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। इसलिए भी चन्द्रमा को अवश्यमेव आदित्ययज्ञावयव माना जासकता है।

'चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि' इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार चन्द्रमा अप्प्रतिष्ठ है। नक्षत्र अप्तत्त्व के ही प्रवर्ग्यरूप हैं, अतएव इन्हें—'अप्सु' [पानीयपिण्ड] नाम से व्यवहृत किया जाता है। नाक्षत्रिक आप्यप्राण यहाँ गणात्मक है, यहाँ चान्द्रमस आप्यप्राण अधिष्ठाता है। अवयव एवं अवयवी का

को सम्बन्ध है, वही चन्द्रमा, और नक्षत्रों का सम्बन्ध है। अग्नि वायु, आदित्य चन्द्रमा इन चारों प्रतिष्ठाता देवताओं के क्रमशः वसु-रुद्र-आदित्य-नक्षत्र ये चार गणदेवता कहलाए हैं। जिसप्रकार अङ्गार से अङ्गारात्मक विस्फुलिङ्ग विनिर्गत हैं, एवमेव अङ्गी आप्य चन्द्रमा से अङ्गात्मक आप्य नाक्षत्रिक तेज का विकास हुआ है। अतएव नक्षत्रों को अवश्य ही अङ्गार-चन्द्रमापेक्षया विस्फुलिङ्ग कहा जासकता है।

पार्थिव आन्तरिक्ष्य दिव्य इन तीनों में क्रमशः अग्नि वायु इन्द्र इन तीन प्रतिष्ठाता देवताओं का प्रभुत्व है। अतएव पार्थिव देवताओं को आग्नेय, आन्तरिक्ष्य देवताओं को वायव्य, एवं दिव्य देवतात्रयताओं को ऐन्द्र कहा जासकता है। उक्त दिव्यपशुसंस्था में ये ऐन्द्रदेवता ही ऋत्विक् हैं सूर्य्यकेन्द्रस्थ हिरण्यगर्भ-प्रजापति ही इस यज्ञ के यजमान हैं। दिव्य-ऐन्द्रदेवताओं के द्वारा श्रद्धातत्व की सावित्राग्नि में आहुति होरही है। इसप्रकार तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः से यहाँ ऐन्द्र दिव्य देवता ही गृहीत हैं।

अब शेष रह जाता है केवल श्रद्धा' तत्व। पूर्वब्राह्मण-भाष्यों में अनेकधा श्रद्धा के तात्विक स्वरूप का विश्लेषण किया जाचुका है। अतएव पिष्टपेषण अनावश्यक है। प्रकरणसङ्गति के लिए यह जान लेनामात्र ही पर्य्याप्त होगा कि पारमेष्ठ्य अपतत्वानुगत चान्द्रसोम से सम्बन्ध रखने वाला श्रत् [सत्य] को धारण करने वाला मनोऽनुगत स्नेहतत्त्व ही श्रद्धा है। श्रद्धा रेतो यश इन तीन चान्द्र-मनोताओं का क्रमशः वाङ्मय शरीर *, शुक्र मन इन तीन आध्यात्मिक पर्वों से सम्बन्ध है। तीनों ही प्राकृतिक अनुग्रह हैं। जिन के मन शुक्र तथा शरीर में चान्द्र-श्रद्धा रेत-यश का प्रकृत्या समावेश रहता है वे ही श्रद्धालु रेतोधा एवं यशस्वी होते हैं।

मनोमयी श्रद्धा पितृप्राण की शुक्रमय रेत मानव-प्राण की एवं वाङ्मय यश वषट्कार के सम्बन्ध से देवप्राण की प्रतिष्ठा बनता है। श्रद्धातत्त्वानुगत पितृकर्म्म इस श्रद्धातत्त्व के सम्बन्ध से ही श्राद्ध' कहलाया है। श्रद्धा वा आप' [तै० ब्रा० ३।२।४।१]-के अनुसार श्रद्धा वास्तव में आपोमय तत्वविशेष ही है जिसका उपलब्ध भाष्यों में तत्वदृष्ट्या समन्वय नहीं हुआ है। अप्तत्त्व श्रद्धा का प्रथम रूप है एवं सोमतत्व श्रद्धा का उत्तररूप है। तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' [ईशोपनिषत्]- आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्' [गोपथ-ब्राह्मण] इत्यादि श्रुतियों के अनुसार भृगुलक्षण स्नेहतत्त्व एवं अङ्गिरालक्षण तेज दोनों ही 'आप' हैं। अतएव आपोमयी श्रद्धा के लिए-'तेज एव श्रद्धा [शत० ११।३।१।१] यह भी कह दिया जाता है।

जबतक आपोमयी श्रद्धा परमेष्ठी में मुक्त है तबतक यह श्रद्धा है। आदित्याग्नि में हुत होते ही आदित्याग्नि तथा श्रद्धारस, दोनों के समन्वय से पूर्वरूपोऽद द्वारा श्रद्धा सोम' रूप में परिणत होजाती है। आपोमयी श्रद्धा में आप्यप्राण की प्रधानता रहती है। परन्तु तद्रूपान्तरभूत सोम आप्यप्राण से सर्वथा

---

* 'यश शरीर मम मे दयालुः'—कविकुलगुरु।

अभिप्रेत है। यह विशुद्ध देवान्न बन जाता है। यही द्युलोकोपलक्षित–आधिदैविक यज्ञसंस्था के द्यु–पर्वात्मक प्रथमपर्व का संक्षिप्त निदर्शन है जिसका निम्न लिखित श्रुति से स्पष्टीकरण होरहा है–

द्यौ (१) "असौ वाव लोको गोतम ! अग्निः। तस्य आदित्य एव समित्, रश्मयो धूमः, अहरर्चिः, चन्द्रमा अङ्गाराः, नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति। तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति"। (विश्वयज्ञ)

* * * * *

[२]—द्वितीय आधिदैविक यज्ञपर्व अन्तरिक्ष से सम्बन्ध रखता है। जिसप्रकार पृथिवी का अधिष्ठाता यथाग्निगर्भा पृथिवी के अनुसार 'अग्नि' है, द्युलोकाधिष्ठाता आदित्य [इन्द्र] है, एवमेव अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता वायुदेवता माने गए हैं। इस वायुतत्त्व के अनेक विवर्त्त हैं। उनमें से सोमतत्त्व का अनुयोगी एवं वृत्रतत्त्व का प्रतियोगी आप्यप्राणानुगत वायुविशेष ही प्रकृत की अपूर्वाहुति में अभिप्रेत है। यही आन्तरिक्ष्य वायुविशेष 'पर्जन्य' कहलाया है। यही उस द्युलोकानुगत सोम को अपने गर्भ में रखने के कारण 'अग्नि' [आप्याग्नि] कहलाया है। आप्य अग्नि के सम्बन्ध से ही इसे– पर्जन्यो वा अग्निः' [शत० १४।९।१।१३] इत्यादि रूप से अग्नि कहा गया है। वर्षा से पहिले जो सनसनाता हुआ पूर्ववायु [पुरवाई हवा] प्रवाहित होता है, वही 'पर्जन्य' कहलाया है। इसी अभिप्राय से पर्जन्य का 'क्रन्दतीव हि पर्जन्यः' [शत० ९।७।१।१२] यह लक्षण किया गया है।

भवमूर्त्ति शिवतत्त्व परिभाषा में यही पर्जन्य 'भव' नाम से व्यवहृत हुआ है। पर्जन्य ही वृष्टि के द्वारा सर्वप्रपञ्च का प्रभव बनता है। अतएव 'पर्जन्याद्धीदं सर्वं भवति' के अनुसार अवश्य ही इसे 'भव' कहा जासकता है [देखिए शत० ६।१।३।१५]। आप्य-अग्निलक्षण वायव्य तत्त्वात्मक पर्जन्य के उक्त वस्तुस्वरूपात्मक भौत निरूपण के विद्यमान रहते भी यदि इस का पर्जन्यो नाम शब्दप्रवर्त्तनाभिमानी देवताविशेषः [शाङ्करभाष्य] यह अर्थ किया जाता है तो आश्चर्य इसलिए नहीं होता कि, वेद का तत्त्वविज्ञान गत तीन सहस्राब्दियों से सर्वथा स्मृतिगर्भ में ही विलीन रहा है। आप्यप्राणात्मक वायु [पर्जन्य] वृष्टि का उपकरण भी है, प्राणधर्म्मत्वेन इसे देवता भी कहा जासकता है। परन्तु यह 'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम' वाला अभिमानी देवता तो नहीं है, जैसा कि–शतपथभाष्य प्रथमवर्ष के 'आहुतिविषदेवताविज्ञान' प्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है। अभिमानी देवता का सम्बन्ध एकमात्र उपासनाकाण्ड से ही माना गया है। कर्म्मकाण्डानुगत देवता का तो विशुद्ध तत्त्ववाद से ही सम्बन्ध है।

जिसप्रकार द्युलोकोपलक्षित आदित्याग्नि प्राणाग्नि था, एवमेव यह आन्तरिक्ष्य आप्यप्राणाग्नि [पर्जन्य] भी प्राणाग्नि होने से देवाग्नि ही माना जायगा। क्रन्दनधर्म्मा प्रत्यक्षानुभूत पुरोवात इसी पर्जन्य का भौतिकरूप माना जायगा। यही मूलवायु प्राणात्मक पर्जन्यवायु का उत्तेजक बनता है, अतएव इसे पर्जन्याग्नि की समित् माना जासकता है।

पर्जन्याग्नि भूतवायु आन्तरिक्ष्य अपूर्ण अग्निसम्बन्धेन उत्पन्न बाष्प [धूम] इन के समन्वय से ही 'अभ्र' का स्वरूप सम्पन्न होता है। इन उपकरणों में 'बाष्प' ही प्रधान है। अतएव बाहुल्याय से

अभ्र को 'धूमात्मक' कह देना अन्वर्थ बन जाता है। यह बाष्प सूक्ष्मरूप से अन्तरिक्ष में सर्वत्र व्याप्त है। पर्जन्यानुगत समिध–स्थानीय भौतिक वायु [मान्सून] के व्यापार से ही इतस्ततः सूक्ष्मरूप से बिखरे हुए बाष्प एकत्र पुञ्जीभूत होते हैं। यही बाष्पपुञ्ज 'अभ्र' कहलाया है जिस की उत्तरावस्था मेघ कहलाई है। क्योंकि समित् से धूम का निर्गम होता है इधर समित्स्वरूप भूतवायु ही बाष्पपुञ्ज का जनक [संग्राहक] है। इसलिए भी अभ्र को धूम कहा जासकता है।

आन्तरिक्ष्य ज्योति विद्युत् है। यही पर्जन्याग्नि की अर्चि [प्रकाश] है। अतएव अवश्य ही विद्युत् को आन्तरिक्ष्याग्नि-ज्वालारूप अर्चि कहा जासकता है। वज्र अङ्गार हैं, गर्जन तर्जन विस्फुलिङ्ग हैं, जैसाकि आगे विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

एवंविध पर्जन्याग्नि में आन्तरिक्ष्य वायव्य-देवताओं के द्वारा सोम की आहुति होती है। पर्जन्याग्नि, सोम, दोनों के रासायनिक सम्मिश्रण से ही 'वृष्टि' का प्रादुर्भाव हुआ है। यही आधिदैविक यज्ञ की दूसरी विधा है, जिस का कि निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है।

अन्तरिक्षम् (२) "पर्जन्यो वाव गौतम! अग्निः। तस्य वायुरेव समित्, अभ्रं धूमः, विद्युदर्चिः, अशनिरङ्गाराः, ह्रादनयो विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमं राजानं जुह्वति। तस्या आहुतेर्वर्षं सम्भवति" (आन्तरिक्ष्ययज्ञः)।

* * * *

[३]—पिण्डात्मिका [भूतात्मिका] पृथिवी 'भूमि' कहलाई है एवं महिमात्मिका [प्राणात्मिका] पृथिवी 'पृथिवी' कहलाई है। भूपिण्ड के आधार पर वितत प्राणाग्नि ही प्रकृत में 'पृथिवी' शब्द से गृहीत है। यही प्राणाग्नि पार्थिव भौतिक यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा बनता है। यही भौतिक यज्ञ की योनि है जिस के लिए—'अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य' यह कहा जाता है।

भूपिण्डानुगत प्राणाग्नि भूकेन्द्र से निकल कर १७ वें अहर्गण पर्यन्त व्याप्त रहता है, जैसा कि पूर्व के–'सप्तदशो वै प्रजापतिः' इत्यादि निगमव्याख्यान में स्पष्ट कर दिया गया है। सप्तदश अहर्गणात्मक आग्नेय मण्डल ही वह पार्थिव सम्वत्सर है जिस का सौर सावित्रप्राणाग्निमयमण्डलरूप दिव्य सम्वत्सर के साथ १७ वें अहर्गण में अतिमान होरहा है। भसदशबिन्दु ही उभयसम्वत्सर की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है। यह सम्वत्सरमण्डल वाङ्मय है। वाक्तत्त्व ही भूलपिण्ड का जनक चर तत्त्व है। अतएव प्राणाग्नि जहाँ वागग्नि कहा जा सकता है वहाँ वागग्निरूप सम्वत्सर को भूताग्नि कहा जासकता है। इसी पूर्वसमन्वयन से सम्वत्सर–मण्डल इस पार्थिव प्राणाग्नियज्ञ की समित् माना जासकता है।

परमाकाश पुराणाकाश शरीराकाश दहराकाश [वृभ्राकाश], इत्यादि भेद से आकाश के अनेक विवर्त माने गए हैं। स्वायम्भुव परमव्योमन् ही परमाकाश है। सौरमण्डल [सौरराड्मीनिर्लोक्य] से सम्बन्ध रखने वाला अगाधसमुद्रायच्छिन्न आकाश ही पुराणाकाश है। शरीर एवं दहराकाश आध्यात्मिक आकाश हैं। पुराणाकाशलक्षणा सारी त्रिलोकी में पार्थिवाकाशलक्षण सम्वत्सरमण्डल प्रतिष्ठित

है। सम्वत्सर के अग्न्यात्मक, कालात्मक, वयोनाधात्मक, भेद से तीन विवर्त हैं। अग्न्यात्मक सम्वत्सर तो समित् है। कालात्मक सम्वत्सर मासिविध बनता हुआ व्यवहार की प्रतिष्ठा बन रहा है। वयोनाधात्मक सम्वत्सर ही पार्थिव आकाश है। भाकपरिमाणाविच्छिन्न सम्वत्सरमण्डलसीमा ही वयोनाधात्मक सम्वत्सर है। यही व्योमात्मक सम्वत्सर कहलाया है, जैसा कि—'व्योमा हि सम्वत्सरः [शत० ८।४।१।११] इत्यादि वचन से प्रमाणित है। भूपृष्ठपर प्रतिष्ठित अस्मदादि पार्थिव प्रजावर्ग जिस आकाश का साक्षात्कार किया करते हैं वह यही पार्थिवाकाश है, जिस का वास्तु स्वरूप पार्थिवाग्नि से उत्थित धूम्र से ही निष्पन्न हुआ है। इसी धूम्र के सम्बन्ध से आकाश को प्रकृत भूतयज्ञ का 'धूम' माना जासकता है।

घोर दिव्याग्नि ज्योतिर्मय है। यही 'यत्तो ह देवेभ्यो अपचक्राम। स कृष्णो भूत्वा चचार' इत्यादि सिद्धान्तानुसार अधर्म्य के सम्बन्ध से पार्थिवजगत् में युक्त होता हुआ कृष्णरूप में परिणत होरहा है। अहःकाल में पार्थिवसंस्था यहाँ घोर ज्योतिष्मान् सावित्राग्नि से अनुगृहीत रहता है यहाँ रात्रि में पार्थिव कृष्णाग्नि का स्वाभाविक विकास रहता है। अतएव कृष्णमावास्मिका तमोमयी रात्रि ही इस पार्थिव महाग्नि की अर्चि मानी गई है। अग्नि के अनुरूप ही तो अर्चि होती है। पार्थिव अग्नि यदि कृष्ण है तो तद्विस्फुलिङ्गभिन्न कृष्णा रात्रि भी अवश्य ही कृष्णाग्नि की कृष्णार्चि है।

रात्रिरूपीचि अर्चि जबतक रहती है तबतक दिशाओं का बोध नहीं होता। रात्रि के अवसान पर ही दिशाएँ परिज्ञात होती हैं। अर्चि के अवशान्त होने से ही तो अङ्गार का जन्म होता है। इसी समतुलन से दिशाओं को अङ्गार माना जा सकता है। अङ्गार अवयवी है तो विस्फुलिङ्ग अवयव हैं, अनेक हैं सर्वतो व्याप्त हैं। "सर्वत इव हीमा अवान्तरदिशः" (शत० २।६।१।११) के अनुसार सभी प्रान्त अवान्तर दिशाएँ हैं। इसी समतुलन से अवयवात्मिका अवान्तर दिशाओं को 'विस्फुलिङ्ग' माना जासकता है।

उक्त परिग्रहों से युक्त पार्थिव अग्नि में पार्थिव आग्नेय देवताओं के द्वारा वृष्टि की आहुति होती है। पार्थिव मृण्मय भूताग्नियुक्त प्राणाग्नि तथा आन्तरिक्ष्य वृष्टि (अप्), दोनों के रासायनिक सम्मिश्रण से व्रीहि–यवादि लक्षण 'अन्न' उत्पन्न होता है। यही मध्यस्थ आधिभौतिक पार्थिव यज्ञ की मात्र एक विधा है जिसका यों विश्लेषण हुआ है—

पृथिवी–(३)–"पृथिवी वाव गौतम! अग्निः। तस्याः सम्वत्सर एव समित्, आकाशो धूमः, रात्रिरर्चिः, दिशोऽङ्गारा, अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति। तस्या आहुतेरन्नं सम्भवति"।

(पार्थिवयज्ञ)।

• • • •

(४)—त्रिविध आधिदैविक यज्ञ तथा एकक आधिभौतिक पार्थिव यज्ञ के उक्त स्वरूप-विश्लेषण के अनन्तर आधिदैविक आधिभौतिक यज्ञ से तत्स्वरूप आध्यात्मिक यज्ञ के स्वरूपलक्षण पुरुषयज्ञ-विधान का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है कि, हे गौतम! पुरुष निश्चयेन (इस आध्यात्मिक यज्ञ का) अग्नि है।

यहां 'पुरुष' शब्द से वह आध्यात्मिक पञ्चज वैश्वानर अग्नि ही अभिप्रेत है, जो सम्पूर्ण प्राणीवर्ग की प्रतिष्ठा बना हुआ है। एवं जिसका 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्त-' (गीता १५।१४) इत्यादि रूप से निरूपण हुआ है। पञ्चाग्निविद्योपक्रम में यह स्पष्ट किया गया है कि, यह यज्ञ प्राणयज्ञ प्राणीभक्ष भेद से दो मार्गों में विभक्त है। पार्थिव प्राण अपान है, आन्तरिक्ष्य प्राण व्यान है, दिव्यप्राण प्राण है। दिव्यप्राणलक्षण प्राण, पार्थिव अपानलक्षण प्राण, इन दोनों प्राणा-पानों से मध्यस्थ व्यानलक्षण आन्तरिक्ष्य प्राण का उसीप्रकार ग्रहण होजाता है, जैसे कि 'द्यावापृथिवी' शब्द से द्यु-पृथिवी के मध्यस्थ आन्तरिक्ष का 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' न्याय से ग्रहण हो-जाता है।

पार्थिव अपानाग्नि पार्थिव नर (नायक-अध्यक्ष) है आन्तरिक्ष्य वाय्वग्नि आन्तरिक्ष्य नर है दिव्य प्राणाग्नि दिव्य नर है। पृथिवी अन्तरिक्ष, द्यौः तीनों लोकों के अपानात्मक अग्नि व्यानात्मक वायु, प्राणात्मक आदित्य, तीनों नरों के पारस्परिक अन्तर्य्याम सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला केश-लोम-नखाग्र-भागों को छोड़कर (आ लोमभ्य आ नखाग्रेभ्यः) सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त रहने वाला तत्पञ्चात्मा आध्यात्मिक अग्नि ही 'वैश्वानर' कहलाया है। इस की आध्यात्मिक-पञ्चता को लक्ष्य में रखकर ही श्रुति ने कहा है-'पाङ्क्तो वै पुरुष (वैश्वानरः) पञ्चज' (ऐत० ब्रा० २।२४)।

वैश्वानरलक्षण आध्यात्मिक पञ्चज अग्नि में क्योंकि त्रैलोक्याग्नि का समावेश है अतएव इसके लिये-'वैश्वानरो वै सर्व अग्नय (शत० १।२।१।१५) यह कहा जाता है। शरीर में मस्तक भाग द्युलोक है नाभि-पर्य्यन्त भाग अन्तरिक्ष है, गुद—नाभ्यन्तर भाग पृथ्वी-लोक है, और यही आध्या-त्मिक-त्रैलोक्य है। इन तीन लोकात्मक तीन पुरों की समष्टिरूप शरीरपुर में सीमित रहने से ही—'स एषोऽग्निर्वैश्वानरो-यत् पुरुषः (शत० १०।६।१।११) यह लक्षण किया जाता है। महद्योनि के भेद से प्रत्येक अध्यात्मसंस्था [प्राणिशरीर] का वैश्वानर पृथक्-पृथक् शरीरभावों में विभक्त होता हुआ पृथगात्मा बना हुआ है जैसा कि—'एष वै पृथगात्मा वैश्वानरः [शत० ब्रा० १०।६।१।७] इत्यादि वचन से प्रमाणित है। एवंविध सर्वाग्नि [लोकत्रयाग्नि] लक्षण इस आध्यात्मिक अग्नि के उक्त वैश्वानर'-'पुरुष'-भावों का ही निम्न लिखित वचनों से स्पष्टीकरण होरहा है—

(१)—"स य स वैश्वानर -इमे स लोकाः। इयमेव पृथिवी विश्वं, अग्निर्नरः। अन्तरिक्षमेव विश्वं, वायुर्नर। द्यौरेव विश्वं, आदित्यो नरः। (विश्वेभ्यो नरेभ्यो जातोऽग्निर्वैश्वानर)" (शत० ९।३।१।३)।

(२)—"इमे वै लोका पूः। अयमेव पुरुष, योऽय पवते। सोऽस्यां पुरि शेते, तस्मात् पुरुष" (शत० १३।६।२।१)।

(३)—"प्राण एष स पुरि शेते। स पुरि शेते-इति पुरिशयं सन्तं प्राणं 'पुरुष' इत्याचक्षते (परोक्षम्। परोक्षप्रिया इव हि देवा, प्रत्यक्षद्विष")—गो०ब्रा०पू० १।३९।

है। सम्वत्सर के भग्न्यात्मक कालात्मक, पयोनाधात्मक भेद से तीन विवर्त हैं। अग्न्यात्मक सम्वत्सर तो समित् है। कालात्मक सम्वत्सर भातिसिद्ध बनता हुआ व्यवहार की प्रतिष्ठा बन रहा है। पयोनाधात्मक सम्वत्सर ही पार्थिव आकाश है। वाक्परिमाणात्मिका सम्वत्सरमण्डलसीमा ही पयोनाधात्मक सम्वत्सर है। यही व्योमात्मक सम्वत्सर कहलाया है, जैसा कि—'व्योमा हि सम्वत्सरः [शत० ८।४।१।११] इत्यादि वचन से प्रमाणित है। भूपृष्ठपर प्रतिष्ठित अस्मदादि पार्थिव प्रजावर्ग जिस आकाश का साक्षात्कार किया करते हैं वह यही पार्थिवाकाश है, जिस का वायु स्वरूप पार्थिवाग्नि से उत्थित धूम्र से ही निष्पन्न हुआ है। इसी धूम्र के सम्बन्ध से आकाश को प्रकृत भूतयज्ञ का 'धूम' माना जासकता है।

और दिग्भाग्नि ज्योतिर्मय है। वही 'यज्ञो ह देवेभ्यो अपचक्राम। स कृष्णो भूत्वा चचार' इत्यादि सिद्धान्तानुसार प्रवर्ग्य के सम्बन्ध से पार्थिवजगत् में युक्त होता हुआ कृष्णरूप में परिणत होरहा है। अहःकाल में पार्थिवसत्ता वहाँ और ज्योतिष्मान् सावित्राग्नि से अनुगृहीत रहता है वहाँ रात्रि में पार्थिव कृष्णाग्नि का स्वाभाविक विकास रहता है। अतएव कृष्णमावात्मिका तमोमयी रात्रि ही इस पार्थिव यज्ञाग्नि की 'अर्चि' मानी गई है। अग्नि के अनुरूप ही तो अर्चि होती है। पार्थिव अग्नि यदि कृष्ण है तो छायात्मिका कृष्णा रात्रि भी अवश्य ही कृष्णाग्नि की कृष्णार्चि है।

रात्रिरूपीभि अर्चि जबतक रहती है, तबतक दिशाओं का बोध नहीं होता। रात्रि के अवसान पर ही दिशाएँ परिज्ञात होती हैं। अर्चि के अवशान्त होने से ही तो अङ्गार का जन्म होता है। इसी समतुलन से दिशाओं को अङ्गार माना जा सकता है। अङ्गार अवयवी है, तो विस्फुलिङ्ग अवयव है, अनेक हैं सर्वतो व्याप्त हैं। 'सर्वत इव हीमा अवान्तरदिशः' (शत० २।६।१।११) के अनुसार सभी प्रान्त अवान्तर दिशाएँ हैं। इसी समतुलन से अवयवात्मिका अवान्तर दिशाओं को 'विस्फुलिङ्ग' माना जासकता है।

उक्त परिग्रहों से युक्त पार्थिव अग्नि में पार्थिव आग्नेय देवताओं के द्वारा वृष्टि की आहुति होती है। पार्थिव मृण्मय भूताग्नियुक्त प्राणाग्नि तथा आन्तरिक्ष्य वृष्टि (जल) दोनों के रासायनिक सम्मिश्रण से व्रीहि–यवादि लक्षण 'अन्न' उत्पन्न होता है। यही मध्यस्थ आधिभौतिक पार्थिव यज्ञ की मात्र एक विधा है जिसका यों विश्लेषण हुआ है—

पृथिवी-(३)— पृथिवी वाव गौतम! अग्निः। तस्याः सम्वत्सर एव समित्, आकाशो धूमः, रात्रिरर्चि, दिशोऽङ्गारा, अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्ने तस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति। तस्या आहुतेरन्नं सम्भवति"।

(पार्थिवयज्ञ)।

* * * *

(४)—त्रिविध आधिदैविक यज्ञ तथा एकक आधिभौतिक पार्थिव यज्ञ के उक्त स्वरूप-विश्लेषण के अनन्तर आधिदैविक आधिभौतिक यज्ञ से कृतरूप आध्यात्मिक यज्ञ के मूलाधारभूत पुरुषयज्ञ-विवर्त का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है कि, हे गौतम! पुरुष निश्चयेन (इस आध्यात्मिक यज्ञ का) अग्नि है।

उक्त 'पञ्चाग्निविद्या'-त्मक यज्ञपर्वात्मक यज्ञ का निष्कर्ष यही हुआ कि, द्युलोकोपलक्षित आदित्याग्नि अन्तरिक्षलोकोपलक्षित वायव्य पर्जन्याग्नि, भूलोकोपलक्षित पार्थिव अग्नि, पुरुषात्मक वृषा लक्षण वैश्वानराग्नि [शरीराग्नि], योषाप्राणात्मक रतााग्नि इन पाँच अग्नियों में क्रमशः श्रद्धा सोम वृष्टि, अन्न, रेत इन पाँच हविद्रव्यों की आहुति होती है । वही श्रद्धालक्षण आप: (अप्तत्व) उत्तरोत्तर प्रतिष्ठित अग्निसम्बन्ध से सोम-वृष्टि-अन्न-रेतोरूप में परिणित होता हुआ अन्तिम पाँचवीं रेतो आहुति से पुरुषस्वरूप (गर्भस्वरूप) का आरम्भक [उपादान] बन रहा है । इसीलिए यह निर्वचन कहा जासकता है कि--

"इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप: पुरुषवचसो भवन्ति"

१-१-(१) द्यौः ——आदित्यः (असौलोकः)—श्रद्धा
२-२-(२) अन्तरिक्षम्—वायु (पर्जन्य)——सोम
}—आधिदैविकयज्ञ }—प्राणयज्ञः

३-३-(१) पृथिवी—— अग्नि (पृथिवी) ——वृष्टि]—आधिभौतिकयज्ञ

४-१-(१) वृषा - —वैश्वानर (पुरुष)——अन्नम्
५-२-(२) योषा——माहलिक (योषा)——रेत
}—आध्यात्मिकयज्ञ]—प्राणयज्ञ

}—पञ्चाग्नियज्ञ

पञ्चाग्निविद्यात्मक पञ्चयज्ञ के द्वितीय यज्ञपर्व को [पर्जन्ययज्ञ को] सोमाहुति के द्वारा वृष्टि का प्रवर्त्तक बतलाया गया है, जो कि-- 'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति' इत्यादि पूर्वोक्त तृतीय-दृष्टिकोण से सर्वथा विरुद्ध पड़ता है । पार्थिव अग्नि पार्थिवपानी को बाष्परूप में परिणत कर आन्तरिक्ष्य वायु धरातल में सञ्चित कर देता है अग्नि के द्वारा वायु के गर्भ में सञ्चित वही पार्थिव पानी कालान्तर में बरस पड़ता है । यह कथन अवश्यमेव उक्त पर्जन्ययज्ञमीमांसा का प्रतिद्वन्द्वी प्रतीत होरहा है ।

श्रद्धा सामरूप में सोम पर्जन्याग्नि में आहुत होकर वृष्टिरूप में परिणित होता है । अवश्यमेव यह सिद्धान्त तृतीय-दृष्टिकोण में व्याघात उत्पन्न कर रहा है । कौनसा सिद्धान्त प्रामाणिक माना जाय ? क्योंकि दोनों ही श्रुति-सम्मत सिद्धान्त हैं ? आर्षसम्प्रदाय उत्तर देती है—जहाँ श्रौत-सिद्धान्तों में ही परस्पर विरोध प्रतीत होता हो वहाँ दोनों ही प्रमाण हैं । इसलिए कि यह विरोध केवल स्थूलदृष्टि से ही सम्बन्ध रखता है । तत्त्वदृष्टि के आधार पर जब समन्वय किया जाता है तो विरोध का सर्वथा उन्मूलन होजाता है । केवल निरूपणीया शैली के भेद से विरोध की प्रतीतिमात्र ही होती है । वस्तुतः विरोध है नहीं । सृष्टिक्रमारम्भविज्ञानदृष्टि से जहाँ पर्जन्ययज्ञानुगत वृष्टिसिद्धान्त प्रामाणिक है, वहाँ स्थितिक्रमानुगता विज्ञानदृष्टि से 'अग्निर्वा०' इत्यादि तृतीय दृष्टिकोण सुसमन्वित है ।

पाञ्चभौतिक शरीर चित्याग्निमय है भूताग्निमय है। यही वाङ्मय अग्नि है। यही शरीरपरिच्छिन्न वैश्वानर नामक पुरुषाग्नि की समित् है। इसी शरीरपुरुषरूप वागग्नि [शरीर] से वह समिद्ध रहता है। श्वासप्रश्वासात्मक प्राण ही इस समिद्ध शरीराग्नि से भवसरूप से निकलने वाला धूम है। जिह्वोपलक्षित ध्वन्यात्मक शब्द ही [वैखरीनाद ही] इस की अर्चि है। आदित्यप्राणात्मक चक्षु ही अन्धकार में भास्वरवत् प्रतीयमान [जिस स्थिति का पशुओं की आखों में रात्रि में प्रत्यक्ष किया जासकता है] चक्षु ही अङ्गार है। वागग्निविकारभूत शब्दश्रुति का अधिष्ठाता श्रोत्र ही विस्फुलिङ्ग है। ऐसे इस आध्यात्मिक पुरुषाग्नि में आध्यात्मिक इन्द्रियदेवताओं के द्वारा वर्षाविकारभूत अन्नलक्षण हविर्द्रव्य की आहुति होती है। भुक्तान्न रस-मल के क्रमिक विश्लेषण से क्रमशः रस असृक् मांस मेद अस्थि मज्जा इन धातुओं में परिणत होता हुआ अन्ततोगत्वा रेतोरूप में परिणत होजाता है। यही आध्यात्मिक यज्ञ की प्रथमा विधा है जिस का निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है।

पुरुषः (वृषा)–४—"पुरुषो वाव गौतम ! अग्निः। तस्य वागेव समित्, प्राणो धूम, जिह्वा अर्चि', चक्षुरङ्गाराः, श्रोत्रं विस्फुलिङ्गा'। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति। तस्या आहुते रेत सम्भवति" (वृषायज्ञ')।

* * * *

(५)—आध्यात्मिकयज्ञ का दूसरा पर्व है—योषा—यज्ञ। वृषाप्राण जहाँ पुरुषसर्ग की प्रतिष्ठा है, वहाँ योषाप्राण स्त्रीसर्ग की प्रतिष्ठा बनता है। वृषाप्राण आग्नेय है योषाप्राण सौम्य है। आग्नेय वृषा का रहस्य सौर अर्धाकाश से सम्बन्ध है। एवं सौम्या योषा का सम्बन्ध चान्द्र अर्धाकाश से सम्बन्ध है। योषाप्राणात्मिका स्त्री के शोणित में प्रतिष्ठित अग्नितत्त्व ही योषा—यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा है। गर्भाशयगत शोणित में प्रतिष्ठित मासिक [मासलप्रमाणात्मक] आग्नेयभाग ही इस यज्ञ का आहुतिग्राहक अग्नि है। इस योषाग्नि का उत्तेजक उपस्थ ही समित् है उपस्थ—समित् के संयोग से उत्पन्न योषाग्नि—लोम ही धूम है। अन्तस्थ रक्तवर्ण—कन्दल योनि है यही अर्चि है। इत्यादि लक्षण इस योषाग्नि में पुरुषशरीरस्थ प्राणदेवताओं के द्वारा रेत की आहुति होती है। यही हुत रेत कालान्तर में गर्भरूप में परिणत होजाता है। पञ्चपर्वात्मक यज्ञ के इसी अन्तिम आध्यात्मिक यज्ञपर्व का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

स्त्री–(योषा)–५—"योषा वाव गौतम ! अग्नि'। तस्या उपस्थ एव समित्। यदुपमन्त्रयते, स धूमः। योनिरर्चि। यदन्तः करोति, तेऽङ्गाराः। अभिनन्दा विस्फुलिङ्गा। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति। तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति"। छान्दोग्योपनिषत ५ प्र० ।४,५,६,७,८ खण्डा ।

* * * *

उक्त 'पञ्चाग्निविद्या'-त्मक पञ्चपर्वात्मक यज्ञ का निष्कर्ष यही हुआ कि, द्युलोकोपलक्षित आदित्याग्नि अन्तरिक्षलोकोपलक्षित वायव्य पर्जन्याग्नि, भूलोकोपलक्षित पार्थिव अग्नि, पुरुषात्मक वृषा-लक्षण वैश्वानराग्नि [शरीराग्नि] योषाप्राणात्मक रक्ताग्नि इन पाँच अग्नियों में क्रमशः श्रद्धा सोम वृष्टि, अन्न, रेत, इन पाँच हविर्द्रव्यों की आहुति होती है । यही श्रद्धालक्षण आप: (अप्तत्त्व) उत्तरोत्तर प्रतिष्ठित अग्निसमन्वय में सोम-वृष्टि-अन्न-रेतोरूप में परिणत होता हुआ अन्तिम पाँचवी रेतो आहुति से पुरुषस्वरूप (गर्भस्वरूप) का आरम्भक [उपादान] बन रहा है । इसीलिए यह निरपेक्ष कहा जा सकता है कि--

"इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप: पुरुषवचसो भवन्ति"

१-१-(१) द्यौः ———आदित्य (असौलोक)—श्रद्धा } —आधिदैविकयज्ञ } —प्राणयज्ञः
२-२-(२) अन्तरिक्षम्—वायु (पर्जन्य)——सोम
३-३-(१) पृथिवी—— अग्नि (पृथिवी)- ——वृष्टि]—आधिभौतिकयज्ञ
४-१-(१) वृषा ——वैश्वानर (पुरुष)———अन्नम् } —आध्यात्मिकयज्ञ]—प्राणियज्ञ
५-२-(२) योषा——मातृगर्भ (योषा)———रेत
} पञ्चाग्निविद्या

पञ्चाग्निविद्यात्मक पञ्चयज्ञ के द्वितीय यज्ञपर्व को [पर्जन्ययज्ञ को] सोमाहुति के द्वारा वृष्टि का प्रवर्तक बतलाया गया है जो कि--'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति' इत्यादि पूर्वोक्त तृतीय-दृष्टिकोण से सर्वथा विरुद्ध पड़ता है । पार्थिव अग्नि पार्थिवपानी को वाष्परूप में परिणत कर आन्तरिक्ष्य वायु धरातल में संचित कर देता है अग्नि के द्वारा वायु के गर्भ में संचित यही पार्थिव पानी कालान्तर में बरस पड़ता है । यह कथन अवश्यमेव उक्त पर्जन्ययज्ञमीमांसा का प्रतिद्वन्द्वी प्रतीत हो रहा है ।

श्रद्धा सोमरूप में सोम पर्जन्याग्नि में आहुत होकर वृष्टिरूप में परिणत होता है । अवश्यमेव यह सिद्धान्त तृतीय-दृष्टिकोण में व्याघात उत्पन्न कर रहा है । कौनसा सिद्धान्त प्रामाणिक माना जाय ? जबकि दोनों ही श्रुति-सम्मत सिद्धान्त हैं ? आर्षसम्प्रदाय उत्तर ऐसा है—जहाँ श्रौत-सिद्धान्तों में ही परस्पर विरोध प्रतीत होता हो वहाँ दोनों ही प्रमाण हैं । इसलिए कि यह विरोध केवल स्थूलदृष्टि से ही सम्बन्ध रखता है । तत्त्वदृष्टि के आधार पर जब समन्वय किया जाता है तो विरोध का सर्वथा उन्मूलन हो जाता है । केवल निरूपणीया शैली के भेद से विरोध की प्रतीतिमात्र ही होती है । वस्तुतः विरोध है नहीं । सृष्टिक्रमारम्भविज्ञानदृष्टि से जहाँ पञ्चयज्ञानुगत वृष्टिसिद्धान्त प्रामाणिक है, वहाँ स्थितिक्रमानुगत विज्ञानदृष्टि से अग्निर्वा० इत्यादि तृतीय दृष्टिकोण सुसमन्वित है ।

सोमेकर से सम्बन्ध रखने वाली पञ्चाग्निविद्या में अधिदैवत–अधिभूत–अध्यात्मरूप से जिस पञ्चपर्वात्मक यज्ञ का विश्लेषण हुआ है, उसीका एतरेय आरण्यक में उक्थविद्या के रूप से उपबृंहण हुआ है। वहाँ सोमात्मक पाँचवें पर्व को छोड़ दिया गया है। केवल आरम्भ के प्राणयज्ञात्मक पृथवी–अन्तरिक्ष द्यौ– इन तीन पर्वों का, एवं चौथे पुरुष पर्व का समाहार करते हुए पुरुषयज्ञ[प्राणीयज्ञ] में तीनों प्राणयज्ञों का समन्वय बतलाया गया है–[देखिये–ऐत० आ० २ आ । १ आ । १ ख]। इसी उक्थविद्या का आगे आकर तृतीय खण्ड में 'रेतस' सृष्टिरूप से जो विश्लेषण हुआ है, वह अपना एक स्वतन्त्र ही दृष्टिकोण रख रहा है। यहाँ दूसरे ही क्रम से सृष्टिवाद का विश्लेषण हुआ है। देखिए।

"अथातो रेतसः सृष्टि—प्रजापते रेतो देवा, देवानां रेतो वर्षं वर्षस्य रेत ओषधयः, ओषधीनां रेतोऽन्नं, अन्नस्य रेतो रेत, रेतसो रेत प्रजाः, प्रजानां रेतो हृदयं, हृदयस्य रेतो मन, मनसो रेतो वाक्, वाचो रेत कर्म्म। तदिदं कर्म्म कृतमयं पुरुषो ब्रह्मणो लोकः"—(ऐत० आ०। १ अ०। ३ खं०)।

उक्त सम्पूर्ण दृष्टिकोणों के वैज्ञानिक–समन्वय के आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि,–पार्थिव सत्याग्नि आन्तरिक्ष्य सत्य वायु दिव्य सत्येन्द्र पर्जन्य घन वायु सोम सूर्य्यरश्मियाँ पुरोवात अभ्र विद्युत् स्तनयित्नु आदि आदि उत्पादन-निमित्त-कारणों के समन्वय से ही वृष्टि होती है। निम्न लिखित श्रौत–स्मार्त वचन वृष्टि के उक्त कारणों का ही समर्थन कर रहे हैं—

१—'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति'—अग्नि –सत्यम्—पार्थिवाग्नि
२—'वायुर्वै वृष्ट्या ईशे'————वायु –सत्यम्—वायव्याग्निः
३—'आदित्याज्जायते वृष्टि''———आदित्य –सत्यम्—सावित्राग्निः
४—'पार्जन्यं वर्षासु यजते'————पर्जन्यः–ऋतम्—आप्याग्नि'
५—'सोमाहुतेर्वर्षं सम्भवति'——–सोम –ऋतम्—चन्द्रसोम'
६—'रश्मिभिर्वर्षं समदधात्————रश्मय'–सत्यम्—प्राणाग्निः
७—'पुरोवात ससृजिरे'————पुरोवातः–ऋतम्—वातवायु
८—'अभ्राद् वृष्टि '———अभ्रम्–ऋतसत्यम् अग्निः-वाय्वादित्यपर्जन्यादिसघात
९—'वृष्टिर्गं यान्त्या विद्युदेव'————विद्युत्–ऋतसत्यम्–ज्योतिरग्न'
१०—'स्तनयित्नुर्घोषोऽन्वसज्यत'———स्तनयित्नुः–सत्यम्–शब्दाग्निः

ऋक्संहितान्तर्गत 'अस्य वामीयसूक्त' के तीन मन्त्रों का वृष्टिविद्या के साथ विशेष सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त कृष्णयजुर्वेदसंहिता का 'कारीरिष्टि' प्रकरण भी प्रधानतः वृष्टिविद्या पर प्रकाश डाल रहा है। एवमेव शतपथ–गोपथ–तापड्यादि ब्राह्मणों के छान्दोग्य–बृहदारण्यकादि उपनिषदों के तत्प्रकरण

स्थलों में भी प्रकीर्णकरूप से इस विद्या का स्पष्टीकरण हुआ है। वेदशास्त्रप्रतिपादित सभी विद्याओं के, तत्त्व-विज्ञानों के सम्बन्ध में यही एक ऐसी विप्रतिपत्ति है जिसके कारण उन विद्याओं का हम भलीभाँति तबतक समन्वय नहीं करपाते जबतक कि उन प्रकीर्णक-प्रकरणों का एकत्र समन्वय नहीं कर लिया जाता। यह समन्वय निश्चयेन महासमारम्भ-सापेक्ष है। अनन्यनिष्ठा से सम्पूर्ण वेदशास्त्र को जबतक आत्मसात् नहीं बना लिया जाता, तबतक उन प्रकीर्णक विषयों का संग्रह असम्भव है। एवं जबतक उनका संग्रह नहीं होजाता तबतक तद्विद्याओं का आनुपूर्वी से परिज्ञान असम्भव है।

अवश्य ही उक्त जटिलता के निराकरण के सम्बन्ध में पुरायुग में 'रहस्य निगद, गाथा, कुन्ताप' आदि जैसे स्वतन्त्र ग्रन्थ रहे होंगे, जिनमें उन प्रकीर्णक भावों का, विद्याओं का एकत्र संग्रह रहा होगा। परन्तु दुर्भाग्य से आज तो वे रहस्यात्मक परिभाषाग्रन्थ हमारे दृष्टिपथ से सर्वथा विस्मृत होचुके हैं। यही वेदार्थ की एक ऐसी महती जटिलता है, जिसका निराकरण दो-चार व्यक्तियों के स्वल्पज्ञान से कथमपि सम्भव नहीं। होना यह चाहिए कि बहुसंख्या में योग्य विद्वान् उपलब्ध मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र-ग्रन्थों के तत्तत्-विद्या-प्रतिपादक तत्त्वनिगदों का पृथक् पृथक् रूप से संग्रह करें। उनका एकत्र संग्रह करते हुए उनका समन्वय करें। इत्थंभूत महासमारम्भ प्रयास से अवश्य ही इस दिशा में उक्त जटिलता दूर की जासकती है।

उदाहरण के लिए वृष्टिविद्या को ही लीजिए। अस्यवामीयसूक्त के ५२ मन्त्रों में से केवल ३ मन्त्र ऐसे हैं जिनसे वृष्टिविद्या के कुछ एक सिद्धान्तों का विश्लेषण हुआ है। वे तीनों मन्त्र भी एक साथ पठित नहीं हैं। अपितु तीनों का क्रमशः १६,४७-५१ यह संख्या क्रम है। यही स्थिति अन्य स्थलों की है। यही वह जटिलता है जिसके निग्रह से प्रकृत ब्राह्मण के प्रत्येक प्रकरण में हमें अनावश्यक विस्तारदोष पुनरुक्तिदोष का का विवश होकर अनुगमन करना पड़ रहा है। परिणाम-स्वरूप पाठकों के लिए हमारा यह अव्यवस्थित प्रयास सुविधा के स्थान में जटिलता का ही जनक बनता जारहा है। इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से इससे अधिक क्या निवेदन कर सकते हैं कि, जबतक देश के विद्वान् सम्मिलितरूप से उक्त पद्धति के अनुसार वेदार्थ का समन्वय नहीं कर लेंगे, तबतक एक दो व्यक्तियों की स्वल्प-शक्ति मात्र के आधार पर इस दिशा में सफलता प्राप्त कर लेना तो असम्भव ही होगा।

हमारे ये अव्यवस्थित प्रकरण तो केवल यही पुरुषार्थ करसकते हैं कि, जिनकी दृष्टि में भारतीय शास्त्र केवल शब्दजाल है वे यह अनुमान करने लगें कि वेदशास्त्र एक विज्ञानशास्त्र है, एवं उसमें प्रतिपादित विद्याएँ प्राकृतिक नित्यसिद्धान्तों का ही विश्लेषण कर रही हैं। जिन कतिपय प्रतीच्य विद्वानों की वाग्दृष्टि में भारतीय शास्त्र अधिक से अधिक 'भावनावाद' का समर्थक है तदनुयायी उच्छिष्टभोगी अर्वाचीन प्राच्य विद्वान् अपनी निधि के वास्तविक स्वरूपज्ञान से वञ्चित रहते हुए इसके प्रति न केवल उदासीन ही हैं अपितु इसका उपहास करना भी जिनके जीवन का एक प्रधान पुरुषार्थ बना हुआ है अवश्य ही उनकी भ्रान्ति का ये अव्यवस्थित प्रकरण भी सर्वात्मना नहीं तो अंशतः तो निराकरण कर ही सकेंगे। एकमात्र इसी लक्ष्य से जानबूझ कर ही इस पद्धति का अनुगमन करना हमने यथार्थ समझा है। जिन्हें वस्तुगत्या वेदविद्या का रहस्यज्ञान प्राप्त करना है उनसे तो हम यही निवेदन करेंगे कि वे कृपया कलङ्क मिटाने वाले हमारे इन प्रस्तुत प्रयासों को एक ओर रखते हुए आनुपूर्वी से स्वयं मूलग्रन्थों को ही अपने स्वाध्याय का विषय बनावें। इस प्रासङ्गिक निवेदन के साथ ही वृष्टिविद्या के प्रकीर्णक अर्थों का दिग्दर्शन कराने वाले निम्नलिखित सूक्तमन्त्र पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं—

१—सप्तार्द्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्म्मणि ।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुव परिभवन्ति विश्वत ॥

—ऋक्सं० १।१।६४।३६।

२—कृष्णं नियान हरय सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ।

—ऋक्सं १।१। ८।४७

३—समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभि ।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नय ॥

—ऋक्सं १।१।६४।५१

थोड़ी देर के लिए यह मान लीजिए कि, आकाशस्थ मेघों से भूपिण्ड पर जो पानी बरसता है वह वस्तुत पृथिवी की ही देन है। अग्निगर्भ-भूपिण्ड के केन्द्र से अङ्गिरोऽग्नि (प्राणाग्नि) द्युलोक (आकाश) की ओर निरन्तर जाया करता है यह प्रकरण के प्रारम्भ में स्पष्ट किया जाचुका है। 'अग्निर्वा इतो वृष्टि-मुदीरयति' सिद्धान्त इसी तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहा है। इसप्रकार पार्थिव जलमात्रा (समुद्र नद नदियाँ कूप, वापी तड़ाग ओषधि-वनस्पति पार्थिव प्राणीशरीर आदि आदि में रहने वाली जलमात्रा) ऊपर की ओर जाते हुए अङ्गिरोऽग्नि के सम्बन्ध से बाष्परूप में परिणत होकर ऊपर की ओर जाया करती है। इसप्रकार पार्थिव अग्नि पार्थिव जलमात्रा को द्युलोक की ओर लेजाने में एक निमित्त बना हुआ है।

दूसरा निमित्त है–'वायु । पार्थिव मृण्मय परमाणुओं का गुरुत्वाकर्षण भूपिण्ड के बिल निर्माण ऊष्म प्रदेश पर्यन्त व्याप्त रहता है यद्यपि तो पार्थिव अग्नि ही पार्थिव जलमात्रा को ऊपर खींच लेजाता है। ज्यों ज्यों जलमात्रा ऊपर चढ़ने लगती है त्यों त्यों वह पार्थिव गुरुत्वाकर्षण से मुक्त होती जाती है। पार्थिवा-कर्षण से विमुक्ता यही जलमात्रा वाष्प है। उधर आन्तरिक्ष्य वायु भी एक प्रकार का वाष्प ही है। आगे जाकर जलमात्रा के ऊर्ध्वगमन का प्रेरक यही 'वाष्प–वायु' बनता है। पृथिवी से द्युलोक पर्य्यन्त लक्षाधिक सूर्य्यनाडियाँ वितत हैं। यही 'महापथ' कहलाता है। नाडीरूप इसी महापथ से और पदार्थों का प्रवर्ग्यभाग पृथिवी में एवं पार्थिव पदार्थों का प्रवर्ग्यभाग सूर्य्य में भुक्त होता रहता है। यह नाडीमार्ग उभय प्रजापतियों के विकम्प भाग की पारस्परिक आदान–प्रादान के द्वारा पूर्ति किया करता है। सौरपदार्थ पार्थिवपदार्थ दोनों ही गतिशून्य हैं। इन का गमनागमन होता है नाडीमार्ग से ही परन्तु निमित्त बनता है–वायु'। 'मदागति मातरिश्वा' नामक वायु ही अपने गतिधर्म्म से दोनों का सञ्चारक बनता है। दूसरे शब्दों में–वायु-धरातल पर प्रतिष्ठित होकर ही जलमात्रा नाडीमार्ग से द्युलोक की ओर जाती है।

तीसरा निमित्त है–'सूर्य्यरश्मियाँ । सूर्य्यरश्मियाँ पार्थिव रसों का निरन्तर आदान किया करती हैं। इस आदानधर्म्म से ही सूर्य्यसंस्था में भुक्त इन्द्र–धाता–भग–पूषा–आदि १२ घोर प्राण 'आदित्य' कहलाते।

— इत्यादि निर्वचनों से 'आदित्य' कहलाए हैं । सर्वरसादानरूप ही आदित्य का आदित्यत्त्व * है। आदित्यरश्मियाँ ही नाड़ी हैं । नाड़ी-रूप रश्मियाँ भूपृष्ठ पर संलग्न होती हैं । अपने स्वाभाविक स्त्यधर्म्म के कारण भूतधर्म्मात्मक जलादि की भाँति इतस्तत न जाकर ये रश्मियाँ उसी नियत मार्ग से वापस द्युलोक की ओर लौट जाती हैं । जाता हुआ रस्म्यवच्छिन्न सौरतेज जहाँ 'सावित्री' कहलाया है, वहाँ प्रतिफलित, साथ ही पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि से समन्वत वही सौरतेज 'गायत्री' कहलाया है । प्रतिफलित इस गायत्रतेज में पार्थिव अग्नि आन्तरिक्ष्य, वायु, पार्थिवरसमात्रा तीनों प्रतिष्ठित होजाते हैं । अतएव कहा जासकता है कि, *पार्थिवाग्नियुक्त वायु के संयोग से रश्मिरूप नाड़ीमार्ग के द्वारा पार्थिव रसमात्रा द्युलोक* की ओर जारही है । इसी दृष्टि से रश्मि की अपेक्षया 'आदित्याज्जायते वृष्टिः' कहा जासकता है । पार्थिवा ग्न्यपेक्षया 'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति' कहा जासकता है । एवं आन्तरिक्ष्य वाय्वपेक्षया-'वायुर्वै वृष्ट्या ईशे' यह कहा जासकता है । तीनों ही वचन तत्तदपेक्षया सुसमन्वित हैं । नाड़ी (रश्मि) एवं अग्निप्राणयुक्त वायु से सम्बद्ध इसी वृष्टिविज्ञान का स्पष्टीकरण करते हुए हमारा + मौलिक विज्ञानशास्त्र कहता है — 'नाड्यो वायुसंयोगादारोहणम् (अपाम्) । नोदनापीडनात् संयुक्तसंयोगाच्च' (वैशेषिक दर्शन ५।२।५,६ सू०)।

'नाड्यो वायुसंयोगात्' आरोहित पार्थिव जल से सम्बन्ध रखने वाली वृष्टिविद्या के गमन स्थिति वर्षण ये तीन अधिकरण माने जासकते हैं । यहाँ से पानी जाकर वहाँ पहुँचा यही पहिला गमन-अधिकरण है जिसे 'गर्भाधानकाल' भी कहा जासकता है । वहाँ पहुँच कर पानी नियत समय पर्य्यन्त द्युलोकस्थ वायुभरातल पर ठहर गया यही दूसरा स्थित्यधिकरण है जिसे 'दोहदकाल' भी कहा जा सकता है । नियत समयानन्तर पानी पुनः बरस पड़ता है, यही तीसरा वर्षणाधिकरण है जिसे प्रसव काल भी कहा जासकता है । इसप्रकार गर्भ दोहद प्रसव भेद से यह वृष्टिकर्म्म त्रिपर्वा बन रहा है। पूर्वोक्त ता ऋक मन्त्रत्रयी से वृष्टिकर्म्म के इही तीनों पर्वों का स्पष्टीकरण हुआ है, जिसके तात्त्विक समन्वय के लिए समोल से सम्बन्ध रखने वाली कुछ एक वाक्यपरिभाषाओं का ही स्पष्टीकरण अपेक्षित होगा।

सर्वदा ही पार्थिवाग्नि-रश्मियाँ ऊपर की ओर जाती रहती हैं । वायु भी सदा ही प्रवाहित है। फलस्वरूप पार्थिवरस-मात्राओं का भी सदा ही ऊर्ध्वगमन सिद्ध है । और इसी दृष्टि से यह भी कहा जासकता

—इन्द्रो-धाता भग-पूषा मित्रोऽथ-वरुणो ऽर्य्यमा ।
अंशु र्विवस्वान्-त्वष्टा च सविता-विष्णुरेव च ॥

* "स प्राणमेवाग्नेरादत्त, रूपमेव वायोरादत्त, चित्तमेव पुरुषस्यादत्त, चक्षुरेव पशूनामादत्त, मामेव चन्द्रमस आदत्त । तद्यदादत्त-तस्मादादित्य"।

—शत० ब्रा० ११।८।४।७८,६,१० ११।

+ भारतीय विज्ञान आधिदैवत अध्यात्म अधिभूत भेद से तीन मार्गों में विभक्त माना गया है । वेदान्तदर्शन साङ्ख्यदर्शन वैशेषिकदर्शन तीनों से क्रमशः तीनों विभागों का स्पष्टीकरण हुआ है जैसाकि गीताविज्ञानभाष्यभूमिका द्वितीय खण्ड के 'आत्मपरीक्षा' नामक 'क' भाग में विस्तार से वैज्ञानिक विवेचन हुआ है।

१—सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि ।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परिभवन्ति विश्वतः ॥
—ऋक्सं० १।१६४।३६।

२—कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ।
—ऋक्सं १।१। ४।४७

३—समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभि ।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ॥
—ऋक्सं १।१।६४।५१

थोड़ी देर के लिए यह मान लीजिए कि आकाशस्थ मेघों से भूपिण्ड पर जो पानी बरसता है वह वस्तुतः पृथिवी की ही देन है। अग्निगर्भ—भूपिण्ड के केन्द्र से अङ्गिरोऽग्नि (प्राणाग्नि) द्युलोक (आकाश) की ओर निरन्तर जाया करता है यह प्रकरण के प्रारम्भ में स्पष्ट किया जाचुका है। 'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति' सिद्धान्त इसी तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहा है। इसप्रकार पार्थिव जलमात्रा (समुद्र नद नदियाँ कूप, वापी तड़ाग ओषधि-वनस्पति पार्थिव प्राणीशरीर आदि आदि में रहने वाली जलमात्रा) ऊपर की ओर जाते हुए अङ्गिरोऽग्नि के सम्बन्ध से वाष्परूप में परिणत होकर ऊपर की ओर जाया करती है। इसप्रकार पार्थिव अग्नि पार्थिव जलमात्रा को द्युलोक की ओर लेजाने में एक निमित्त बना हुआ है।

दूसरा निमित्त है—'वायु'। पार्थिव भूतमय परमाणुओं का गुरुत्वाकर्षण या भपिण्ड के भिन्न निर्यमित ऊर्ध्वप्रदेश पर्यन्त व्याप्त रहता है वहांतक तो पार्थिव अग्नि ही पार्थिव जलमात्रा को ऊपर खींच लेजाता है। ज्यों ज्यों जलमात्रा ऊपर चढ़ने लगती है त्यों त्यों वह पार्थिव गुरुत्वाकर्षण से मुक्त होती जाती है। पार्थिवाकर्षण से विमुक्ता यही जलमात्रा 'वाष्प' है। उधर आन्तरिक्ष्य वायु भी एक प्रकार का वाष्प ही है। आगे जाकर जलमात्रा के ऊर्ध्वगमन का प्रेरक यही 'वाष्प—वायु' बनता है। पृथिवी से द्युलोक पर्य्यन्त सप्तविध सूर्य्यनाड़ियाँ वितत हैं। यही 'सहस्रय' कहलाता है। नाड़ीरूप इसी सहस्रय से सौर पदार्थों का प्रवर्ग्यभाग पृथिवी में एवं पार्थिव पदार्थों का प्रवर्ग्यभाग सूर्य्य में भुक्त होता रहता है। यह नाड़ीमार्ग उभय प्रजापतियों के विस्रस्त भाग की पारस्परिक आदान—प्रदान के द्वारा पूर्ति किया करता है। सौरपदार्थ पार्थिवपदार्थ दोनों ही गतिशून्य हैं। इन का गमनागमन होता है नाड़ीमार्ग से ही परन्तु निमित्त बनता है—'वायु'। सप्तगति मातरिश्वा नामक वायु ही अपने गतिधर्म्म से दोनों का संवाहक बनता है। दूसरे शब्दों में—वायु—धरातल पर प्रतिष्ठित होकर ही जलमात्रा नाड़ीमार्ग से द्युलोक की ओर जाती है।

तीसरा निमित्त है—'सूर्य्यरश्मियाँ'। सूर्य्यरश्मियाँ पार्थिव तत्वों का निरन्तर आदान किया करती हैं। इस आदानधर्म्म से ही सूर्य्यसंस्था में भुक्त इन्द्र—धाता—भग—पूषा—आदि १२ सौर प्राण 'आदित्य' कहलाते।

-- इत्यादि निर्वचनों से 'आदित्य' कहलाए हैं । सर्वरसादानत्व ही आदित्य का आदित्यत्व * है । आदित्यरश्मियाँ ही नाड़ी हैं । नाड़ी-रूप रश्मियाँ भूपृष्ठ पर संलग्न होती हैं । अपने स्वाभाविक सत्यधर्म के कारण ऋतधर्मात्मक जलादि की भाँति इतस्ततः न जाकर ये रश्मियाँ उसी नियत मार्ग से वापस द्युलोक की ओर लौट जाती हैं । आता हुआ रश्म्यवच्छिन्न सौरतेज जहाँ 'सावित्री' कहलाया है, वहाँ प्रतिफलित, साथ ही पार्थिव अग्निरोऽग्नि से समवेत वही सौरतेज 'गायत्री' कहलाया है । प्रतिफलित इस गायत्रतेज में पार्थिव अग्नि आन्तरिक्ष्य, वायु, पार्थिवरसमात्रा, तीनों प्रतिष्ठित होजाते हैं । अतएव कहा जासकता है कि, पार्थिवाग्नियुक्त वायु के संयोग से रश्मिरूप नाड़ीमार्ग के द्वारा पार्थिव जलमात्रा द्युलोक की ओर जाती है । इसी दृष्टि से रश्मि की अपेक्षया 'आदित्याज्जायते वृष्टिः' कहा जासकता है । पार्थिवा ग्न्यपेक्षया 'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति' कहा जासकता है । एवं आन्तरिक्ष्य वाय्वपेक्षया-'वायुर्वै वृष्ट्या ईष्टे' यह कहा जासकता है । तीनो ही वचन तत्तदपेक्षया सुसमन्वित हैं । नाड़ी (रश्मि) एवं अग्निप्राणयुक्त वायु से सम्बद्ध इसी वृष्टिविज्ञान का स्पष्टीकरण करते हुए हमारा + मौलिक विज्ञानशास्त्र कहता है —"नाड्यो वायुसंयोगादारोहणम् (अपाम्) । नोदनापीडनात् संयुक्तसंयोगाच्च' (वैशेषिक दर्शन-५।२।५,६ सू) ।

'नाड्यो वायुसंयोगात्' आरोहित पार्थिव जल से सम्बन्ध रखने वाली वृष्टिक्रिया के गमन, स्थिति वर्षण, ये तीन अधिकरण माने जासकते हैं । यहाँ से पानी जाकर वहाँ पहुँचा यही पहिला गमन-अधिकरण है जिसे 'गर्भाधानकाल' भी कहा जासकता है । वहाँ पहुँच कर पानी नियत समय पर्य्यन्त द्युप्रोक्तस्थ वायुधरातल पर ठहर गया, यही दूसरा स्थित्यधिकरण है जिसे 'दोहदकाल' भी कहा जा सकता है । नियत समयानन्तर पानी पुनः बरस पड़ता है यही तीसरा वर्षणाधिकरण है जिसे 'प्रसव काल' भी कहा जासकता है । इसप्रकार गर्भ दोहद प्रसव भेद से यह वृष्टिकर्म त्रिपर्वा बन रहा है । पूर्वोक्त सा ऋक् मन्त्रमयी से वृष्टिकर्म के इन्हीं तीनों पर्वों का स्पष्टीकरण हुआ है जिसके तात्त्विक समन्वय के लिए आगम से सम्बन्ध रखने वाली कुछ एक वाक्परिमाणाओं का ही स्पष्टीकरण अपेक्षित होगा ।

सदा सर्वदा ही पार्थिवाग्नि-रश्मियाँ ऊपर की ओर जाती रहती हैं । वायु भी सदा ही प्रवाहित है । फलस्वरूप पार्थिवरस-मात्राओं का भी सदा ही ऊर्ध्वगमन सिद्ध है । और इसी दृष्टि से यह भी कहा जासकता

—इन्द्रो-धाता भगः-पूषा मित्रोऽथ-वरुणोऽर्य्यमा ।
अंशुर्विवस्वान्-त्वष्टा च सविता-विष्णुरेव च ॥

* 'स प्राणमेवाग्नेरादत्त, रूपमेव वायोरादत्त, वित्तमेव पुरुषस्यादत्त, चक्षुरेव पशूनामादत्त, भामेव चन्द्रमस आदत्त । तद्यदादत्त-तस्मादादित्य'' ।

—शत० ब्रा० ११।८।४।७ ८,६,१० ११।

+ भारतीय विज्ञान अधिदैवत अध्यात्म अधिभूत भेद से तीन मार्गों में विभक्त माना गया है । वेदान्तदर्शन सांख्यदर्शन, वैशेषिकदर्शन तीनों से क्रमशः तीनों विभागों का स्पष्टीकरण हुआ है जैसाकि गीताविज्ञानभाष्यभूमिका द्वितीय खण्ड के 'आत्मपरीक्षा' नामक 'क' भाग में विस्तार से वैज्ञानिक विवेचन हुआ है ।

वेद, लोक देव धर्म्म, इन चार प्राकृतिक सर्गों की प्रवृत्ति क्रमशः प्राणमुख, आपोमुख वाङ्मुख अन्नगर्भित अन्नादमुख इन चार मुखों से मानी गई है। माण्डादि प्रकृतियाँ ब्रह्म के चार मुख हैं। इन्हीं से सृष्टिचतुष्टयी का विकास हुआ है। 'लोका अप्सु प्रतिष्ठिताः – सवमापोमयं जगत्'–इत्यादि के अनुसार अप्तत्व ही लोकसृष्टि का मूलप्रवर्त्तक माना गया है। यही लोकसर्ग का आरम्भक है। अतएव 'जीवनं भुवनं वनम्' रूपसे 'आपः' को 'भुवन (लोक)' नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। अप्तत्त्व भुवन का आरम्भक है, अतएव इसे अवश्य ही 'भुवनस्य रेतः' कहा जासकता है। पार्थिव भुवन की गैतोभूता जलमात्रा आग्न-वायुसंयोगिनी सूर्य्यरश्मियों के द्वारा आरोहित होती है। आरोहिता उध्वगता जलमात्रा सौररश्मियों में ६॥ महीना गर्भीभूता रहती है। गर्भीभूता जलमात्रा उत्तराकाश में प्रतिष्ठित रहती है। आकाश परमेष्ठी है पर मेष्ठी विष्णु है। इस आकाश की अन्तिम सीमा 'व्योमा' कहलाई है, यही 'विष्णुपद' नाम से व्यवहृत हुआ है। अन्तिम सीमा ध्रुवप्रदेश है, यही नाकस्थ विष्णुमण्डल है। उत्तरध्रुवानुगत नाकस्थ विष्णुपद ही आकाश का उच्चतम स्थान माना गया है। इसी विष्णुपद के लिए कहा जाता है—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥
—ऋक्सं १।२२।२ ।

जिसप्रकार चन्द्रमा 'भ्रमवृत्त' के आधार पर भूपिण्ड के चारों ओर घूमता है भूपिण्ड क्रान्तिवृत्त के आधार पर, सूर्य्यपिण्ड के चारों ओर, सूर्य्यपिण्ड 'भ्रमवृत्त' के आधार पर परमेष्ठी के चारों ओर, परमेष्ठी प्राणवृत्त के आधार पर स्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगाता रहता है एवमेव उत्तरध्रुव नाकस्थ विष्णुपद के चारों ओर परिक्रमा लगाया करता है। ध्रुव की यह परिक्रमा २५ [पच्चीसहजार] वर्षों में समाप्त होती है। जिसप्रकार विषुवद्वृत्तीय पृष्ठीकेन्द्र ध्रुव है एवमेव क्रान्तिवृत्तीय पृष्ठीकेन्द्र यही कदम्ब [विष्णुपद] है। ध्रुव विषुवद्वृत्त का केन्द्र है तो कदम्ब क्रान्तिवृत्त का केन्द्र है। विषुवद्वृत्त और क्रान्तिवृत्त में २४ अंश का अन्तर है। यही अन्तर ध्रुव और कदम्बमूर्ति नाकस्थ विष्णु का है। २४ अंश के व्यासार्द्ध से ४८ अंश के परिसर का जो उत्तराकाशानुगत प्रदेश है, वही विष्णुपद है इसके केन्द्र में प्रतिष्ठित पारमेष्ठ्य भाग ही—जो अपने प्राणधर्म्म से सर्वथा अमूर्त है—विष्णु है। इस विष्णु का प्रदेश ही उत्तराकाश प्रदेश है। यहीं उत्क्रान्त जलमात्रा गर्भीभूत रहती है। जैसा कि बतलाया गया है भूपरिभ्रमण के कारण सप्तमास गर्भा रश्मियाँ किंवा तद्रूपा आपः–गर्भाधान स्थिति के ठीक विपर्य्यय से बरसती है। इसी विस्मय-भाव का–'प्रदिशो विचक्षणि' वाक्य से स्पष्टीकरण हुआ है।

—गर्भाधान होता है चन्द्रमा के सहयोग से प्रसव होता है सूर्य्य के सहयोग से जैसा कि–'चन्द्रचारेण गमसि सूर्य्यचारेण वर्षति' रूप से पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि, चन्द्रमा के द्वारा गर्भाधान होता है एक ही दिन में परन्तु सूर्य्यानुगत प्रसव काल १३ दिवसों में विभक्त है। मन्त्रोगत 'मनसा' शब्द चन्द्रचारानुगत गर्भाधान का सूचक है एवं 'धीतिभिः' सूर्य्यचारानुगत प्रसवकर्म्म का सूचक है। कारण स्पष्ट है। चन्द्रसोम मनोमय है, एवं सौर अग्नि धीमय है। मन का चन्द्रमा से एवं बुद्धि का सूर्य्य से सम्बन्ध है। मनसा [चन्द्रमामन] धार्य्यमाण गर्भ

धीतियों [सौररश्मियों] के प्यार से ही तो प्रसूत होता है। श्रुति का विपश्चित शब्द अतिशयरूपेण रहस्यपूर्ण है। विपरीता, किंवा त्रिदिक् चिति ही इस शब्द से सूचित होरही है। विपरीते–विदिग्भागे चयनम्-चित्-येषां ते गर्भा ही विपश्चितः का रहस्यार्थ है।

'वि' पूर्वक 'पश्' ही 'विपश्चित' का मौलिक आधार है। सख्या–सकेत–विज्ञानानुसार 'प' कार १ संख्या का सूचक है, श' कार ८ सख्या का सूचक है। 'पश्' का अर्थ होता है–१४ सख्या। 'अङ्कानां वामतो गतिः' के अनुसार १–५ (१५) की वामस्थिति के क्रमसे ५–१ (५१) निष्पन्न निकलता है। वह यहां अभिप्रेत है नहीं। अभिप्रेत है १५ ही। यही भाव वि से सूचित होरहा है। 'पश्–भार्व–(१५-संख्या) विरुद्ध (१८) कुर्य्यात् ५१ स्थाने १५ विद्यात् यही रहस्यार्थ विपश् से सूचित हुआ है। तात्पर्य्य यही निकलता है कि जिस नक्षत्र में आकाश–प्रदेश में गर्भाधान होता है जलमात्रा की चिति (सञ्चय) होती है उस नक्षत्र के १५ वें नक्षत्र में उस गर्भीभूत जल की वृष्टि होती है। इसप्रकार १५ नक्षत्रभाव से ही जल की चिति होती है। अतएव गर्भीभूता आपोमयी रश्मियों का अवश्य ही विपश्चित कहा जासकता है। यदि मूलनक्षत्र में मनसा (चन्द्रचारेण) गर्भाधान है, तो आर्द्रानक्षत्र में (जो कि मूल से १५ वाँ नक्षत्र है)–धीतिभि (सूर्य्यचारेण) उस गर्भ की प्रसूति होजायगी जैसा कि 'पोष मूलमर सयन्तम्०' इत्यादिरूप से पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। इसप्रकार 'सप्ताद्धगर्भा०' इत्यादि मन्त्र गर्भस्थिति का स्वरूप बतलाता हुआ चन्द्रचारानुगत गर्भाधान सूर्य्यचारानुगत प्रसवक्रम्म, दोनों का भी स्पष्टीकरण कर रहा है। अब क्रमप्राप्त- 'कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा०' इत्यादि मन्त्र की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

मन्त्रार्थ के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य नहीं है। पार्थिव जल किस के द्वारा किस मार्ग से कहाँ जाता है? कहाँ से वह किस के द्वारा बरसता है?, इत्यादि प्रश्नों के पूर्वोक्त समाधानों का ही– कृष्णं नियानम्० इत्यादि मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है। शुक्लमार्ग उत्तरायण कहलाया है, कृष्णमार्ग दक्षिणायन कहलाया है। कृष्णमार्ग का पार्थिव कृष्णवर्ण मृग्याग्नि से सम्बन्ध है, शुक्लमार्ग का सौर शुक्लवर्ण सावित्राग्नि से सम्बन्ध है। 'ऊपर' का अर्थ है 'उत्तर' एवं 'नीचे' का अर्थ है–दक्षिण। दक्षिणा दिशा भूपिण्ड की आवासभूमि है, उत्तरदिशा सूर्य्य की आयामभूमि है। अतएव सौर इन्द्र का उत्तर से सम्बन्ध माना गया है। दक्षिणभाग पृथिवी का अपना स्थान है यह पार्थिव कृष्णाग्नि के सम्बन्ध से कृष्ण है। यही अवः प्रदेश है। यही– कृष्ण–यानम् है। इसके निम्नभाव का ही 'नि' से सङ्केत हुआ है। फलतः कृष्णं नि–यानम्' का अर्थ होता है—दक्षिणस्या–अधोऽवस्थिता पृथिवी। इसी को लक्ष्य बनाकर उत्तरमार्गस्थ किंवा शुक्लपथानुगामिनी सूर्य्य की रश्मियाँ अपने स्वाभाविक हरण लक्षण आदानधर्म्म से यहाँ– हरयः (हरन्ति आहरन्ति) कहलाए हैं यहाँ अग्निलक्षणा सुपर्णचिति के सम्बन्ध से इन्हें सुपर्णा कहा गया है। पूर्व में बतलाया गया है कि, सूर्य्य से आगत साक्षात् सौरतेज सावित्री है पिण्ड से टकरा कर प्रतिफलित होने वाला सौर तेज गायत्री है। यह गायत्रतेज ही सुपर्ण है जिसके गर्भ में— नाद्यो वायुसयोगादारोहणम् सिद्धान्तानुसार पार्थिवी जलमात्रा प्रतिष्ठित रहती है। 'गति च प्रेति चान्माह' ही इस गायत्र सुपर्ण का तात्त्विक इतिवृत्त है जिसका पूर्व के 'सामिधेनी–ब्राह्मण' में विशद वैज्ञानिक विवेचन किया जाचुका है। आगमनावस्था में सूर्य्यरश्मियाँ केवल रश्मियाँ हैं गमनावस्था (गायत्री–

वेद, लोक देव धर्म्म इन चार प्राकृतिक सर्गों की प्रवृत्ति क्रमश प्राणमुख आपोमुख, वाङ्मुख अन्नगर्भित अन्नादमुख इन चार मुखों से मानी गई है। प्राणादि प्रकृतियाँ ब्रह्म के चार मुख है। इन्हीं से सच्चिदानन्दमयी का विकास हुआ है। 'प्राणा अप्सु प्रतिष्ठिताः – सर्वमापोमय जगत्'–इत्यादि के अनुसार अप्तत्त्व ही लोकसृष्टि का मूलप्रवर्त्तक माना गया है। यही लोककर्म्म का आरम्भक है। अतएव 'जीवनं भुवनं वनम्' रूपसे 'आपः' को 'भुवन (लोक)' नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। अप्तत्त्व भुवन का आरम्भक है, अतएव इसे अवश्य ही 'भुवनस्य रेतः' कहा जासकता है। पार्थिव भुवन की रेतोभूता जलमात्रा आग्नेय–वायुसहयोगिनी सूर्य्यरश्मियों के द्वारा आरोहित होती है। आरोहिता उच्चगता जलमात्रा सौररश्मियों में ६॥ महीना गर्मीभूता रहती है। गर्मीभूता जलमात्रा उत्तराकाश में प्रतिष्ठित रहती है। आकाश परमेष्ठी है, परमेष्ठी विष्णु है। इस आकाश की अन्तिम सीमा 'व्योमा' कहलाई है यही 'विष्णुपद' नाम से व्यवहृत हुआ है। अन्तिम सीमा ध्रुवप्रदेश है, यही नाकस्य विष्णुमण्डल है। उत्तरध्रुवानुगत नाकस्थ विष्णुपद ही आकाश का उच्चतम स्थान माना गया है। इसी विष्णुपद के लिए कहा जाता है—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥

—ऋक्सं १।२२।२ ।

जिसप्रकार चन्द्रमा 'कक्षावृत्त' के आधार पर भूपिण्ड के चारों ओर घूमता है भूपिण्ड क्रान्तिवृत्त के आधार पर, सूर्य्यपिण्ड के चारो ओर, सूर्य्यपिण्ड 'अयनवृत्त' के आधार पर परमेष्ठी के चारों ओर, परमेष्ठी नाक्षत्र के आधार पर स्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगाता रहता है एवमेव उत्तरध्रुव नाकस्थ विष्णुपद के चारो ओर परिक्रमा लगाया करता है। ध्रुव की यह परिक्रमा २५ [पच्चीसहजार] वर्षों में समाप्त होती है। जिसप्रकार विषुवद्वृत्तीय पृष्ठीकेन्द्र ध्रुव है एवमेव क्रान्तिवृत्तीय पृष्ठीकेन्द्र यही कदम्ब [विष्णुपद] है। ध्रुव विषुवद्वृत्त का केन्द्र है तो कदम्ब क्रान्तिवृत्त का केन्द्र है। विषुवद्वृत्त और क्रान्तिवृत्त में २४ अंश का अन्तर है। यही अन्तर ध्रुव और कदम्बमूर्ति नाकस्थ विष्णु का है। २४ अंश के व्यासार्द्ध से ४८ अंश के परिसर का जो उत्तराकाशानुगत प्रदेश है वही विष्णुपद है इसके केन्द्र में प्रतिष्ठित पारमेष्ठ्य प्राण ही —जो अपने प्राणधर्म्म से सर्वथा अमूर्त है–विष्णु है। इस विष्णु का प्रदेश ही उत्तराकाश प्रदेश है। यही उत्क्रान्त जलमात्रा गर्मीभूत रहती है। जैसा कि बतलाया गया है भूपरिभ्रमण के कारण वर्षाद् गर्मा रश्मियाँ किंवा तद्रूपा आपः–गर्भाधान स्थिति के ठीक विपर्यय से बरसती हैं। इसी विपर्ययभाव का– प्रविशा विपर्यमणि' वाक्य से स्पष्टीकरण हुआ है।

गर्भाधान होता है चन्द्रमा के सहयोग से प्रसव होता है सूर्य्य के सहयोग से जैसा कि– 'चन्द्रचारेण गर्भति सूर्य्यचारेण वर्षति' रूप से पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि, चन्द्रमा के द्वारा गर्भाधान होता है एक ही दिन में परन्तु सूर्य्यानुगत प्रसव काल १३ दिवसों में विभक्त है। मन्त्रोक्त 'मनसा' शब्द चन्द्रचारानुगत गर्भाधान का सूचक है एवं 'धीतिभिः' सूर्य्यचारानुगत प्रसवकर्म्म का सूचक है। कारण स्पष्ट है। चान्द्रसोम मनःप्राण है, एवं सौर प्राण धीमय है। मन का चन्द्रमा से एवं बुद्धि का सूर्य्य से सम्बन्ध है। मनसा [चान्द्रमामन] धार्यमाण गर्भ

२–विवस्वानष्टभिर्म्मासैरादायापो रसात्मिकाः ।
वर्षत्यम्बु ततश्चान्न-मन्नादमखिलं जगत् * ॥
३–आदत्ते रश्मिभिर्यत्तु क्षितिसंस्थो रसो रवि ।
समुत्सृजति भूतानां पुष्ट्यर्थं सस्यवृद्धये ॥
४ सरित्–समुद्र–स्तथाप प्राग्निसम्भवा ।
चतु प्रकारा भगवानादत्ते सविताशुभि ॥
५–विवस्वानशुभिस्तीक्ष्णैरादाय जगतीजलम ।
सोमं पुष्णाति सोमस्तु वायुनाडीमयैर्दिवम् ॥
६–जलैर्विक्षिप्यते ऽभ्रेषु धूमाग्न्यनिलमूर्त्तिषु ।
अभ्रस्था प्रपतन्त्यापो वायुना समुदीरिता ॥ इत्यादि
—ब्रह्मपुराणे

बुद्धिगम्या भाषा से सम्बन्ध रखने वाले पूर्वप्रतिपादित वृष्टिविज्ञान का तैत्तिरीयसंहिता में भी [कारीरि इष्टिप्रकरण में] दिग्दर्शन कराया गया है जिसका निष्कर्ष यही है कि, अग्नि–सोम–सूर्य्य–मित्र–वरुण अर्य्यमा–पर्जन्यादि प्राकृतिक देवताओं के समन्वय से ही वृष्टिकर्म्म सञ्चालित है। यदि राष्ट्र में अनावृष्टि जनित दुष्काल की सम्भावना हो तो वैज्ञानिक ब्राह्मणों को उस 'कारीरी' इष्टि का ही अनुष्ठान करना चाहिए, जिस में वृष्टयधिष्ठाता उक्त प्राणदेवताओं के आधिभौतिक द्रव्यों के माध्यम से अनुग्रहप्राप्ति का विश्लेषण हुआ है। प्रकरण आवश्यकता से अधिक विस्तृत होता जारहा है। अतएव है स का यह स्थल यहाँ उद्धृतमात्र कर दिया जाता है। अवश्य ही उक्त स प्रकरण वैज्ञानिकों का ध्यान वृष्टिविद्या के महत्त्वपूर्ण विश्लेषण की ओर आकर्षित करेगा।

प्राच्यसूक्तम्-(१)–"मारुतमसि मरुतामोजोऽपां धारां भिन्धि (१)॥ रमयत मरुत श्येनमायिनं मनोजवसं वृषणं सुवृक्ति। येन शर्ध उग्रमवसृष्टमेति तदश्विना परिधत्त स्वस्ति (२)॥ पुरोवातो वर्षन् जिन्वरावृत् स्वाहा (३)॥ वातावद्वर्षन्नुग्ररावृत् स्वाहा (४)॥ स्तनयन् वर्षन् भीमरावृत् स्वाहा (५)॥ अनशन्यवस्फूर्जन् दिद्युद्वर्षन् त्वेषरावृत् स्वाहा (६)॥ अतिरात्रं वर्षन् पूर्तिरावृत् स्वाहा (७)॥ बहु हायमवृषादिति श्रुतरावृत् स्वाहा (८)॥ आतपति वर्षन् विराडावृत् स्वाहा (९) अवस्फूर्जन् दिद्युद्वर्षन् भूतरावृत् स्वाहा

* "सर्वमिदमन्नम्, सर्वमिदमन्नाद। द्वय वा इदं न तृतीय–मस्ति–अन्ना (अन्नाद), चैव–आद्य (अन्न) च"। (श्रुति)।

दशा) में ही ये जल का आहरण करती हैं तभी इनकी 'सुपर्णता' अन्वर्थ बनती है। अतएव गमनावस्थापन्ना, गायत्रतेजोमयी सूर्य्यरश्मियों को ही 'हरयः सुपर्णाः' कहा जायगा । ये रश्मियाँ निम्न-(दक्षिण) भागस्थ कृष्णमान (भूपिण्ड) को लक्ष्य बनाकर (भूपिण्ड से सम्श्लिष्ट होकर] तत्रस्था जलमात्रा को अपने गर्भ में धारण करती हुई द्युलोक की ओर प्रतिफलित होजाती हैं । 'कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति' यह मन्त्रपूर्वार्द्ध पार्थिव जलमात्रा की इस गर्भाधानावस्था का ही विश्लेषण कर रहा है।

आप वायु, सोम तीनों भागवतत्त्व 'ऋत' कहलाए हैं। 'ऋतमेव परमेष्ठी' इस आथर्वण-सिद्धान्त के अनुसार आपोमय परमेष्ठी ही ऋत है इसी को पूर्वमन्त्रप्रकरण में विष्णुपद' कहा गया है। यह पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व घन-तरल-विरल भेद से आपः-वायु-सोमः इन तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। घनावस्थापन्न अप्तत्त्व का आसुर वारुणप्राण से तरलावस्थापन्न वायुतत्त्व का सोमरक्षक गन्धर्वप्राण से एवं विरलावस्थापन्न सोमतत्त्व का सौम्य पितृप्राण से सम्बन्ध माना गया है। यही सोमतत्त्व विष्णुका स्वरूप-समर्पक माना गया है। अतएव इनका यत्र तत्र 'सोमवशी' रूप से उपवर्णन उपलब्ध होता है । सोमसम्बन्ध से उत्तर स्थान विष्णुपद है अप् सम्बन्ध से यही उत्तरस्थान वारुण भी है। ऋत अप्रूपलक्षणा ऋत-सोमात्मकता ही उत्तरस्थान की ऋतसदनता है जिसका निम्नलिखित रूप से विश्लेषण हुआ है —

वरुणस्योत्तम्भनमसि वरुणस्य स्कम्भसर्जनीस्थो वरुणस्य ऋतसदन्यसि ।
वरुणस्य ऋतसदनमसि वरुणस्य ऋतसदनमासीद ॥

—यजुःसं० ४।३६।

दक्षिणस्थ भूपिण्ड से सूर्य्यरश्मियों के द्वारा द्युलोक में गर्भीभूत जलमात्रा कब वापस भूलोक में बरसती है? इसी प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि, ये अप्गर्भमय सुपर्ण [रश्मियाँ] जब ऋतसदन से [उत्तरदिशा से] परावर्त्तित होती हैं [दक्षिणायन का अनुगमन करती हैं) आवित्-अभ्यमहितोत्तरकाल में ही घृत [जल] से पृथिवी क्लिन्नाभीभूत होजाती है, जलमयी बन जाती है। यही गर्भ की प्रसूति है। क्रमप्राप्त-'समानमेतदुदकम्०' इत्यादि तृतीय मन्त्र का विश्लेषण पूर्व में किया ही जाचुका है। इसप्रकार यह ऋक्‌मन्त्रत्रयी वृष्टिविद्या का अधिकांशतः स्पष्टीकरण करने में समर्थ होरही है।

यह तो हुई श्रुतिचर्चा। अब दो शब्दों में पुराणचर्चा का भी समन्वय इसलिए कर लेना चाहिए कि, तथाकथित प्राज्ञों की दृष्टि में 'पुराण' आज एक निरर्थक-शास्त्र बन रहा है। जिन तत्त्वविज्ञानों का वेद शास्त्र में प्रकीर्णकरूप से विश्लेषण हुआ है पुराणने बड़ी ही प्रञ्जलभाषा में एकत्र उनका समन्वय कर दिया है। तभी तो- इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' कथन चरितार्थ होरहा है। अधिक विस्तार में न जाकर वृष्टिविद्या से सम्बन्ध रखने वाले कुछ एक वचनमात्र ही यहाँ उद्धृत कर दिये जाते हैं—

१-अष्टमासधृतं गर्भं भास्करस्य गभस्तिभिः ।
रसं सर्वसमुद्राणां द्यौः प्रसूते रसायनम् ॥

—वाल्मीकिरामायणे

विसृजादितिम् (९) ॥ ये देवा दिविभागा येऽन्तरिक्षभागा ये पृथिवीभागाः, त इमं यज्ञमवन्तु त इदं क्षेत्रमाविशन्तु त इदं क्षेत्रमनुविशन्तु (१०) ॥

–तै० स० २।४।८ ।

उत्तराङ्गमन्त्रव्याख्यानम्-(३)-"देवा वसव्या, देवाः शर्म्मण्या, देवा सपीतय, इत्याबध्नाति । देवताभिरेवान्वह वृष्टिमिच्छति । यदि वर्षेत्तावत्येव होतव्यम् । यदि न वर्षेत श्वोभूते हविर्निर्वपेत् । अहोरात्रे वै मित्रावरुणौ । अहोरात्राभ्यां खलु वै पर्जन्यो वर्षति । नक्तं वा हि दिवा वा वर्षति । मित्रावरुणावेव स्वेन भागधेयेनोपधावति । तावेवास्मै अहोरात्राभ्यां पर्जन्यं वर्षयत । अग्नये धामच्छदे पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्, मारुतं सप्तकपालं, सौर्यमेककपालम् । अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति, मरुतः सृष्टां नयन्ति, यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्य्यावर्त्तते, अथ वर्षति । धामच्छदिव खलु वै भूत्वा वर्षति । एता वै देवता वृष्टया ईशते । ता एव स्वेन भागधेयेनोपधावति । ता एवास्मै पर्जन्यं वर्षयन्ति ।

उतावर्षिष्यन् वर्षत्येव । सृजा वृष्टिं दिवः, अद्भिः समुद्रं पृण, इत्याह । इमाश्चैवामूश्चाप समर्द्धयति । अथो आभिरेवामूरच्छैति । ऊर्ज्जा असि प्रथमजा, बलमसि समुद्रिय, इत्याह । यथा यजुरेवैतत् । उभम्मय पृथिवीं, इति वर्षाह्वां जुहोति । एषा वा ओषधीनां वृष्टिवनि । तयैव वृष्टिमाच्यावयति । ये देवा दिवि भागा-इति कृष्णाजिनमवधूनोति । इम एवास्मै लोकाः प्रीता अभीष्टा भवन्ति" ।

–तै० सं० २।४।१० ।

तैत्तिरीय-संहिता के चार अनुवाकों से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्रभाग से सुप्रसिद्ध 'कारीरीष्टि' की इतिकर्त्तव्यता का ही स्पष्टीकरण हुआ है । कर्म्मेतिकर्त्तव्यता के साथ साथ एक इष्टिप्रकरण में वृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले आधिदैविक विज्ञान का भी अ शतः विश्लेषण हुआ है । 'मारुतमसि०' यहाँ से इसका उपक्रम है । एवं 'अभीष्टा भवन्ति' पर अवसान है । उपक्रमवाक्य यह सूचित कर रहा है कि आन्तरिक्ष्य मरुद्देवता [वायुदेवता] ही वृष्टिकर्म्म के प्रधान निमित्त हैं । यद्यपि अग्नि सूर्य्य विद्युत्, स्तनयित्नु, सोम मेघ आदि सभी निमित्त बनते हैं । परन्तु इन सब प्राणों का समन्वय एकमात्र गतिधर्म्मा वायु के आधार पर ही निर्भर है । अतएव वायु को ही प्रधान निमित्त माना जासकता है । अतएव प्रान्त्यमन्त्रव्याख्यानश्रुति में 'वायुर्वै वृष्ट्या ईशे' इत्यादिरूप से वायु को ही वृष्टि का प्रधान प्रवर्त्तक बतलाया गया है । इसी श्रौत सिद्धान्त के आ... निम्नलिखित वचन प्रतिष्ठित हुए हैं—

(१०) ॥ मान्दा वाशा शुन्ध्यूरजिरा ज्योतिष्मतीस्तमस्वरीरुन्दती सुफेना । मित्रभृत सुराष्ट्रा इह मावत (११) ॥ वृष्णो अश्वस्य सन्दानमसि, वृष्ट्यै त्वोपनयामि (१२)" ॥
—तै० सं० २।४।७।—

प्राच्यक्रमव्याख्यानम्-(१)—"मारुतमसि मरुतामोज इति,-कृष्णं वास कृष्ण तुषं परिधत्ते । एतद्वै वृष्ट्यै रूपम् । सरूप एव भूत्वा पर्जन्य वर्षयति (१) ॥ रमयत मरुत श्येनमायिनम्-इति,-पश्चाद्वातं प्रतिमीवति । पुरोवातमेव जनयति वर्षस्यावरुद्ध्यै (२) ॥ वातनामानि जुहोति । "वायुर्वै वृष्ट्या ईशे" । वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति । स यावास्मै पर्जन्यं वर्षयति (३) ॥ अष्टौ जुहोति । चतस्रो वै दिशः, चतस्रोऽवान्तरदिश । दिग्भ्य एव वृष्टिं सम्प्रच्यावयति (४) ॥ कृष्णाजिने सयौति हविरेवाकः । अन्तर्वेदि सयौति, अवरुद्ध्यै (५) ॥ यतीनामद्यमानानां शीर्षाणि परापतन् । ते खर्जूरा अभवन् । तेषां रस ऊर्ध्वोऽपतत्, तानि करीराण्यभवन् । सौम्यानि वै करीराणि । सौम्या खलु वा आहुतिर्दिवो वृष्टि च्यावयति (६) ॥ यत् करीराणि भवन्ति-सौम्यमेवाहुत्या दिवो वृष्टिमवरुन्धे । मधुषा सयौति । अपो वा एष ओषधीनां रस—यन्मधु । अद्भ्य एवौषधीभ्यो वर्षति । अथो अद्भ्य एवौषधीभ्यो वृष्टिं निनयति । मान्दा वाशा –इति संयौति । नामधेयैरेवैना अच्छैति । अथो यथा ब्रूयात्-असावेहीति, एवमेवैना नामधेयै राच्यावयति (७) ॥ वृष्णो अश्वस्य सन्दानमसि । वृष्ट्यै त्वोपनयामि, इत्याह वृषा वा अश्व, वृषा पर्जन्यः । कृष्ण इव खलु वै भूत्वा वर्षति । रूपेणैवैनं समर्धयति-वर्षस्यावरुद्ध्यै (८) ॥— तै० स० २।४।१०।

उत्तराक्रम्-(२) देवा वसव्या अग्ने सोम सूर्य्य (१) ॥ देवा शर्म्मण्या मित्रावरुणार्यमन् (२) ॥ देवाः -सपीतयोऽपांनपादाशुहेमन् (३) ॥ उद्नो दत्तोदधिं भिन्त, दिवः पर्जन्यादन्तरिक्षात् पृथिव्यास्ततो नो वृष्ट्यावत (४) ॥ दिवा चित्तम कृण्वन्ति पर्जन्येनो दवाहेन, पृथ्वीं यद् व्युन्दन्ति (५) ॥ आ यं नरः सुदानवो ददाशुषे दिवः कोशमचुच्यवु, विपर्जन्या सृजन्ति रोदसी अनु धन्वना यन्ति वृष्टयः (६) ॥ उदीरयथा मरुतः समुद्रतो यूयं वृष्टिं वर्षयथा पुरीषिणः, न वो दस्रा उपदस्यन्ति धेनव, शुभं यातामनु रथा अवृत्सत (७) ॥ सृजा वृष्टिं दिव, आद्भिः समुद्रं पृण, अब्जा असि प्रथमजा, बलमसि समुद्रियम् (८) ॥ उन्नम्भय पृथिवीं, भिन्द्धीदं दिव्यं नभ, उद्नो दिव्यस्य नो देहीशानो

पाल अभक्ष्य भक्षण अगम्यागमन अस्पृश्य-स्पर्शन, देव-द्विज-गुरु-शुश्रूषापरित्याग, सन्ध्या-स्नानिन्दा मलिनाकरण-सकराकरण-जातिभ्रंशकर, आदि पातक-अतिपातक-महापातक निन्द्य असत्कर्मों में प्रवृत्ति, मर्य्यादोल्लंघन कल्पित साम्यवाद की घोषणा, सर्वोपरि दुराग्रह, आदि आदि अपभ्रंशय प्राय बन गए हैं । स्मरण रखिए, जबतक प्रकृति का अनुग्रह प्राप्त नहीं कर लिया जायगा तबतक एक भी चार-स्तम्भ नहीं, सहस्रों आन्दोलनों से भी जिनके मूल में घातक व्यक्ति-प्रतिष्ठा का मोह प्रतिष्ठित है—मानव समाज सुस्थिर नहीं बन सकेगा । इस के लिए तो प्राकृतिक विश्व की सुस्थिरता ही प्रधान साधन होगा । एवं इस साधन के लिए प्राकृतिक नियम-सत्यात्मलक्षण शाश्वत सनातनधर्म्म-पथ ही एकमात्र श्रेयपन्था माना जायगा । भ्रान्त-मानवसमाज के अभ्युदय के लिए उसी प्रशस्त पथ की कामना करते हुए बुद्धिगम्यभाषा से सम्बन्ध रखने वाला सृष्टिविज्ञान-प्रकरण उपरत होता है अब सहजभाषानुगामी प्रकरण का संक्षिप्त निरूपण उपक्रान्त होता है ।

एक वर्ष में यों तो वसन्तादि ६ ऋतुएँ [मौसम] मानीं गई हैं परन्तु 'ग्रीष्म-वर्षा-शीत' इन तीन स्थूल ऋतुओं का तो सर्वसाधारण को भी ज्ञान है ही । इन्हीं तीनों को लक्ष्य बनाकर कहा जाता है—'त्रयो वाऽ ऋतवः संवत्सरस्य [शत० ३।४।४।१७] । सहजभाषा में ये ही तीनों क्रमशः गर्मी, बरसात सर्दी, इन नामों से प्रसिद्ध हैं । इन तीनों मौसमों के प्रत्येक के ४-४ महीनें होजाते हैं । इस प्रकार चतुर्मासात्मिका गर्मी है, उस प्रकार चतुर्मासात्मिका सर्दी है, मध्यमें चतुर्मासात्मिका बरसात है । बरसात दोनों के मध्य में है । और ऐसा एक लौकिकन्याय [व्यवहार] है कि, मध्यस्थ पदार्थ का इधर-उधर रहने वाले दोनों पार्श्ववर्त्ती पदार्थों से ग्रहण होजाता * है । अतएव कहा जासकता है कि, एक वर्ष में क्रमशः गर्मी एवं सर्दी ये दो ही मौसम हैं । बरसात का ग्रहण इन दोनों के ग्रहण से ही चरितार्थ है ।

इसी व्यवहार के आधार पर पूरे वर्ष में ग्रीष्मकाल, शीतकाल ये दो ही मौसम मान लिए जाते हैं । ग्रीष्मकाल उष्णकाल है इसी का अपभ्रंश 'उन्हालू' है । एवं शीतकाल का अपभ्रंश 'स्यालू' है । वर्ष में ये दो ही 'फसलें' [फसल] होती हैं । यदि और भी सूक्ष्म विचार किया जाता है तो हमें इस तथ्य पर पहुँचना पड़ता है कि वस्तुतः गर्मी ही सम्पूर्ण वर्ष की मूलप्रतिष्ठा है । कारण स्पष्ट है । पृथिवी पर रहने वालों के लिए पार्थिवी ऋतुओं को ही प्रधानता दी जायगी । एवं 'अग्निभूः स्थानः'-'यथाग्निगर्भा पृथिवी' इत्यादि वचनों के अनुसार पृथिवी में अग्नितत्त्व की ही प्रधानता है । अतएव मानना पड़ेगा कि, पार्थिव प्रजा से सम्बन्ध रखने वाली ऋतुओं में पार्थिव अग्नि की ही प्रधानता है । अग्नि की ह्रास-वृद्धि से ही पार्थिव २ ३ ४, ६ ७ आदि विभिन्न ऋतुओं की अभिव्यक्ति होती है ।

जिसे हम 'शीत' कहते हैं वही विज्ञानभाषा में 'सोम' तत्त्व है । इस सोमतत्त्व के भास्वरसोम दिक्-सोम भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं । प्रत्यक्षदृष्ट आन्तरिक्ष्य चन्द्रमा ही भास्वरसोम है । यही 'सहस्रं सशरीरं-सत्यम्' परिमाणानुसार चन्द्रानुगत दिग्वावच्छिन्न चान्द्रमाम्बर [ज्योतिर्मय धरातलः] क्षेत्र

---

* तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते । (लौकिकन्याय)

सूर्य्ये दक्षिणगोलस्थे सप्तादर्ष्वैरवृष्टि ति ॥
तथोयं वायुना क्षिप्तं देशे देशे प्रवर्षति ॥१॥
न सूर्य्यो न च नक्षत्र न चन्द्रस्तत्र कारणम् ॥
वायुनैवोद्धृत तोय वायुरेण प्रवर्षति ॥२॥

—श्रीगुरुप्रणीता कादम्बिनी

इष्टि है भौतिक द्रव्यों पर, एवं मनोयोग है—आधिदैविक प्राण—देवताओं के साथ यही सम्पूर्ण मन्त्रभाग का तात्विक निष्कर्ष है। कारीरी इष्टि में काला वस्त्र पहिना जाता है, जिसके चारों कोने गहरे काले होते हैं। यही वस्त्र कृष्णातूप—कृष्ण-वास' कहलाया है। यह कृष्णवस्त्र धामच्छद मेघ कृष्ण जल एवं कृष्णमरुत् इत्यादि का प्रतिनिधि माना गया है। यही इष्टि का स्वरूप है। मेघ इसी रूप में परिपक्व होकर बरसता है। इसीप्रकार कारीर सौम्यप्राण का संग्राहक है। वातहोम अपुविध नार्तिक सर्प-वायु का संग्राहक है। पार्थिव अग्नि धामच्छद है। वसु-सम्बन्धेन वह अमृतापन्न है। आन्त-रिक्ष्य मरुत् सप्तात्मक है, सूर्य्य 'एकक एव स्याता'। इष्टिकर्म में तीनों का सहयोग अपेक्षित है।

अतएव कारीरी इष्टि में धामच्छद अग्नि मरुत्वान् वायु और इन्द्र तीनों के लिए क्रमश: अष्टाकपाल—सप्तकपाल-'एककपाल—पुरोडाश का निर्वाप होता है। तीनों देवताओं का उपयोग स्पष्ट है। पार्थिव अग्नि जलमात्रा ऊपर फैंकता है आन्तरिक्ष्य मरुत्वान् उसे अपने गर्भ में रखता है, एवं सूर्य्य रश्मियों से बरसा देते हैं। अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति० इत्यादि से इसी उपयोग का स्पष्टीकरण हुआ है।

'ये देवा दिवि भागा' (ऐन्द्रा) येऽन्तरिक्षभागा (वायव्या') ये पृथिवीभागा' (आग्नेयाः) के अनुसार तीनों ही इस इष्टियज्ञ [कारीरीष्टि] के स्वरूप-सम्पादक हैं। अवश्य ही तत्तत् प्राणदेवतानुरूप कृष्णवास, करीर, पुरोडाशादि तत्तत् भौतिक द्रव्यों के माध्यमसे तत्तत्प्राणदेवताओं के द्वारा अभीष्टसिद्धि [वर्षा] होजाती है। 'इम एवास्मै लोका प्रीता अभीष्टा भवन्ति' इस उपसंहार-वाक्य से इसी कर्म्मसिद्धि का समर्थन हुआ है।

यज्ञप्रक्रियाओं से क्या सम्भव नहीं है, आवश्यकता है—रहस्यज्ञानपूर्वक उनके अनुगमन की। प्राकृतिक प्राण—देवताओं के प्रकृतिविरुद्ध होजाने से ही अनावृष्टि अतिवृष्टि—जनित दुष्काल जनपद—विद्-ध्वंसिनी करकापात उल्कापात आग्नेय—वारुण-ऐन्द्र—वायव्यादि भूकम्प आदि विघ्न उपस्थित हुआ करते हैं। मानवसमाज प्राकृतिक विश्व का अवयव है। इसके प्रकृतिविरुद्ध—गमन से ही अप्रत्यक्ष प्राकृतिक विश्व के प्राकृतिक विधानों में अव्यवस्था का समावेश स्वतःसिद्ध है। इसप्रकार प्रकृतिविरुद्ध आचरण करते हुए हम स्वयं ही उक्त विघ्नों के प्रवर्त्तक बनते हैं। वर्त्तमान-युग के मान समाज की इसी विकृति से आज पदे पदे हमें इन विघ्नों का आक्रमण सहना पड़ रहा है। अतिप्रविष्ट चिकित्सामार्ग (शल्य) आज के शिक्षित समाज के लिए बड़ी उपहास की वस्तु बन रहा है यहाँ प्रकृति को अधिकाधिक अनुरूप बना

ऋतागिन में उत्तर से दक्षिण की ओर ओर आने वाले ऋतसोम की आहुति होना अनिवार्य्य है। इसी आहुति से ऋतागिन–ऋतसोम के रासायनिक सम्मिश्रणात्मक याग–सम्बन्ध से अन्तर्य्याम सम्बन्ध से ही उस उभयात्मक अपूर्वभाव का जन्म होता है, जिसे ऋतागिनसोम के सम्बन्ध से ही 'ऋतु' कहा जाता है।

इसप्रकार यद्यपि ऋतु में अग्नि–सोम, दोनों का ही समन्वय है। तथापि एक विशेष दृष्टिकोण के अनुरोध से हम इसे अग्निप्रधान हीं कहेंगे। और–प्रवर्ग्याग्नि से युक्त पार्थिव अग्नि की ही ह्रासवृद्धि होती है। ऋतसोम की ह्रास–वृद्धि अस्वाभाविक है। प्रतिसञ्चर (लय) अवस्था में अग्नि अवश्य ऋत (सोम) रूप में परिणत होजायगा परन्तु–'यथाकाशगतो नित्य वायुः सर्वत्रगो महान्' सिद्धान्तानुसार नित्याकाशानुगत नित्यमायम्य ऋतसोम अपने प्राणरूप, से सदा अक्षुण्ण ही बना रहेगा। सोम के इसी नित्यधर्म्म को लक्ष्य में रखते हुए वैज्ञानिकोंने इस की ह्रास–वृद्धि नहीं मानी है। ऋते नास्त्येव किञ्चन–'ऋते भूमिरिय भिता' इत्यादि आथर्वणसिद्धान्तानुसार व्यापक सत्यपिण्डाधारभूत ऋतसोम की प्रतीयमाना ह्रास–वृद्धि वस्तुतः पार्थिव ऋतागिन की ही ह्रास–वृद्धि है। सोम स्वस्वरूप से एकरस ही है। अतएव वसन्तादि षड्ऋतुओं के निर्वचन में–'अग्निकणा वसन्तो भवन्ति, अतिशयेन पदार्थान् गृह्णाति अतिशयेन उरू, अग्निकणा शीर्णा भवन्ति, हीनतां गता भवन्ति पुनः-पुनरतिशयेन शीर्णा भवन्ति' इत्यादिरूप से अग्निकणों का ही उद्ग्राम–निग्राभ (चढाव उतार) बतलाया जाता है। तत्वतः ऋतागिन ही स्वोद्ग्राम से षड्–ऋतुरूप में परिणत होता है। इसी आधार पर श्रुति का सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है कि— अग्नयो वा ऋतवः'–'ऋतवो हैते, यदृताश्चितयः–अग्निचितयः–(शत० ६।२।१।१९)।

प्रकृतमनुसरामः। पार्थिव अग्नि भी सौर अग्निवत् सत्य ऋत भेद से दो भागों में विभक्त है। भूकेन्द्र से बद्ध पार्थिव वह अङ्गिरोऽग्नि जो नियतपथ से सर्वथा ऋजुभाव से अग्नो न देववाहन' इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार परमस्वरूप में परिणत होता हुआ द्युलोक की ओर जाया करता है, सत्याग्नि है। इस सत्याग्नि से पार्थिवविवर्त का कोई उपकार नहीं होता प्रत्युत अपकार ही होता है। जाता हुआ यह सत्याग्नि तो हव्यवाहन है पार्थिव रसमात्राओं को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित कर द्युलोकस्थ सावित्रप्राणाग्निमय सौर देवताओं में आहुति देने वाला है पृथिवी के पानी को द्युलोक में बरसाने वाला है। इसी सत्याग्नि के लिए— अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति इत्यादि कहा गया है। दूसरा है—ऋतलक्षण पार्थिव अग्नि। भूप्रदेश से सर्वत्र उष्मा (गर्मी) निकलती रहती है। कूपादि गर्तों (गड्ढों) में इस ऊष्मा का प्रत्यक्ष किया जासकता है। इसका कोई नियत पथ नहीं है। अपितु अनियमितरूप से (ऋतरूप से) यह सब ओर से निकला करती है। ऋतधर्म्मा उष्मात्मक यह पार्थिव ऋतागिन ही आन्तरिक्ष्य पानी के आकर्षण का कारण बनता है। जबतक यह ऊष्मा चरमसीमा पर नहीं पहुँच जाता तबतक पानी नहीं बरस सकता।

भूपिण्ड से सत्याग्नि के द्वारा द्युलोक में पहुँचने वाली जलमात्रा सूर्य्यरश्म्यवच्छिन्न वायुधरातल पर प्रतिष्ठित रहती है। इस आन्तरिक्ष्य जलमात्रा में आन्तरिक्ष्य ऋत स्निग्धसोम का समावेश होता है। श्रद्धा का रूपान्तर यह सोम ही उस जलमात्रा का पोषण करता है। आन्तरिक्ष्य पर्जन्य वायु पार्थिव ऋताग्नि–लक्षणा ऊष्मा से उत्पन्न धूमात्मक बाष्प और वैद्युतमय प्रवृक्त ज्योतिर्भाव अन्तरिक्षयुक्त पार्थिव जलमात्रा इन सब (वायु, धूम ज्योति सलिल) तत्वों के समन्वय से अन्तरिक्ष में जो अपूर्व भौतिक पदार्थ

अवश्य ही 'सत्यसोम' माना जासकता है। विशाल अन्तरिक्ष में वायुसमुद्र व्याप्त है। इस व्याप्त्युस्थापन वायुसमुद्र में व्याप्त नीरूप प्राणात्मक सोमतत्त्व ही दूसरा 'दिक्सोम' है। अहृदयमशरीरं-ऋतम्' इस परिभाषा के अनुसार केन्द्र-पिण्डभाव से वञ्चित प्राणात्मक इस आन्तरिक्ष्य दिक्सोम को अवश्यमेव 'ऋत सोम' कहा जासकता है। भास्वरसोम [चन्द्रमा] जहाँ अपने सकेन्द्रपिण्ड-भाव से प्रत्यक्षदृष्ट है, वहाँ दिक्सोम अपने अकेन्द्र-अशरीर-भाव से अप्रत्यक्ष है। सम्पूर्ण खगोल में एकरूप से यह 'ऋतसोम' व्याप्त है, जिसका 'ओस के पानी' से भलीभाँति अनुमान लगाया जासकता है।

सूर्य्यसत्तात्मक दिन में एवं सूर्य्याभावाभिमत रात्रि में सदासर्वदा यद्यपि आन्तरिक्ष्य ऋतसोम अवसरूप से भूपिण्ड की ओर प्रत्यावर्त्तित होता रहता है। तथापि पृथिवी में इस की भुक्ति रात्रि में ही होती है। दिन में सौररश्मिगत सोमप्रिय इन्द्रप्राण इसे अपना अन्न बना लेता है। रात्रि में जो ओस का पानी यत्र तत्र सर्वत्र उपलब्ध होता है यह सूर्य्योदय से पूर्व पूर्व ही अपनी सत्ता पृथिवी पर रखता है। उदित सूर्य्य इसे रश्मियों से अपना गर्भ बना लेता है। प्रत्यक्षदृष्ट यह ओस का पानी आन्तरिक्ष्य प्राणात्मक दिक्सोम का ही पार्थिव भौतिक जलाभिभव भौतिकरूप है।

तात्पर्य्य-कहने का यही है कि आन्तरिक्ष्य वायु में ऋतसोममात्रा प्रतिष्ठित रहती है। भूपिण्ड एवं सूर्य्यपिण्ड दोनों से ही अग्निमात्रा प्रवर्ग्यरूप से निकल कर आन्तरिक्ष्य वायुमण्डल में उसी ऋतभाव से परिव्याप्त रहती है। आकाश में यदि चन्द्रमा सत्यसोमपिण्ड है तो पूर्वलक्षणानुसार सूर्य्य सत्याग्निपिण्ड है। सत्याग्निमय सूर्य्यपिण्ड के केन्द्र से 'सहस्रधा-महिमानः सहस्रम्' रूप से चारों ओर, सब ओर विनिःसृत रश्मियों में से प्रतिक्षण अग्निमात्रा प्रवर्ग्यरूप से निकलती रहती है। यही गर्मी तो सूर्य्यास्त होजाने पर भी वायु में प्रवाहित होती हुई हमें उपलब्ध होती है। यह वायव्याग्नि भी पूर्वलक्षणानुसार 'ऋताग्नि' ही कहलाता है।

क्या आन्तरिक्ष्य सत्यसोमात्मक चन्द्रपिण्ड से उसी प्रवर्ग्य के द्वारा सोममात्रा निकलकर वायु में व्याप्त नहीं होती ?, होती है और अवश्य होती है। चन्द्रमा से निकल कर अन्तरिक्ष में व्याप्त होने वाली सोममात्रा ही तो पार्थिव-भुक्ति के द्वारा ओषधियों का पोषण करती है। एवमेव सूर्य्य से निकलकर अन्तरिक्ष में व्याप्त रहने वाली अग्निमात्रा ही तो पार्थिवभुक्ति के द्वारा वनस्पतियों का पोषण करती है। क्या ओषधियों में अग्निमात्रा एवं क्या वनस्पतियों में सोममात्रा नहीं रहती ?, रहती है और अवश्य रहती है। दोनों में दोनों की भुक्ति है। केवल स्थिति में तारतम्य है। अग्निमात्रागर्भिता सोममात्रा जहाँ ओषधियों का निर्म्माण करती है वहाँ सोममात्रागर्भिता अग्निमात्रा से वनस्पतियों का स्वरूप-निर्म्माण होता है। दूसरे शब्दों में-ओषधियों में चान्द्र-सौम्य-प्राण की एवं वनस्पतियों में सौर-आग्नेय-प्राण की प्रधानता है। चन्द्रमा सूर्य्य दोनों क्रमशः सत्यसोम-सत्याग्निपिण्ड हैं।

सत्यसोमपिण्डात्मक चन्द्रमा से विनिर्गत वायव्य ऋतसोम की स्वाभाविकभावानुरूप से उत्तरभाग में प्रधानता रहती है एवं सत्याग्निपिण्डात्मक सूर्य्य से विनिर्गत वायव्य ऋताग्नि की दक्षिणभाग में प्रधानता रहती है। ऋताग्नि दक्षिण से उत्तर की ओर निरन्तर आया करता है, तो ऋतसोम उत्तर से दक्षिण की ओर निरन्तर आया करता है। दक्षिण से उत्तर की ओर आने वाले

अवसर मिल जाता है। ग्रीष्म-ऋतु निदाघात्मक मध्याह्नकालानुग्रह से भी पार्थिवाग्नि अपेक्षाकृत प्रबल रहता है। अतिशयेन उष्णभावापन्ना यह उष्मा (ऊमस) ही तो वर्षा की जननी बनती है, जिसका श्रेय परम्परया पर्जन्य को ही प्राप्त है। 'ओश्रावय' इत्याकारक देवप्राण (आग्नेय प्राण) के सम्बन्धरूप आह्वान से पुरोवात (पर्जन्य) का प्रादुर्भाव होगया। 'अस्तुश्रौषट्' लक्षण देवप्राणसम्बन्ध से पर्जन्य-व्यापार के द्वारा-धूम-जनित अभ्रस्तरों से आकाश छागया। अब आगे चलकर वर्षा से पहिले विद्युत् एवं स्तनयित्नु, ये दो धर्म और उत्पन्न होते हैं।

पुरोवात के द्वारा आकाश में समाप्लावित अभ्रों के पारस्परिक संघर्ष से ही विद्युत् (ज्योति) और स्तनयित्नु (शब्दध्वनि) उत्पन्न होती है। अ किने प्रथम स्थान विद्युत् का रक्खा है एवं द्वितीय स्थान स्तनयित्नु का माना है। इस का एकमात्र कारण दृश्यस्थिति ही है। हमें पहिले-विद्युत् की ही प्रतीति होती है अनन्तर शब्दध्वनि सुनाई पड़ती है। तत्त्वतः स्थिति यह है कि पहिला स्थान स्तनयित्नु (ध्वनि) का है, एवं दूसरा विद्युत् का है। प्रत्यक्ष में देखिए। एक रजक सरोवर के इस ओर पर खड़ा हुआ शिला पर वस्त्र फटकारता है। हम इस क्रिया का सरोवर के उस ओर पर खड़े हुए साक्षात्कार कर रहे हैं। फटकार के साथ ही ध्वनि का आविर्भाव होता है। यह ध्वनि संघर्षसहजन्मा है। परन्तु प्रतीति ध्वनि की होती है संघर्ष [फटकार] के कुछ काल पीछे। वायु के संयोग से संघर्षजनित अग्निव्यापार के द्वारा उत्पन्न शब्द-सरोवर प्रदेश में व्याप्त आप्यवायु-वीचियों [लहरों] के आधार पर प्रतिष्ठित होकर ही श्रोत्रेन्द्रिय पर आता है। यही इसके 'आगमन-विलम्ब' का कारण है। जलकणमिश्रित वायु से अग्निमयी शब्दध्वनि अवरुद्धवीर्या बन जाती है। एवमेव भुशुण्डी [तोप] छूटने पर पहिले चमक दिखलाई पड़ती है अनन्तर शब्द सुना जाता है। विद्युत् में शीघ्रगति है। शब्द वायुस्तराकर्षण से मन्दगति है। अतएव पहिले भी उत्पन्न, किंवा साथ भी उत्पन्न विद्युत् तत्काल प्रतीत होजाती है। ठीक यही स्थिति यहाँ समझिए। दृश्यस्थिति कुछ भी हो, वस्तुस्थिति यही है कि पहिले संघर्ष से शब्द [स्तनयित्नु], एवं अनन्तर ज्योति [विद्युत्] उत्पन्न होती है।

पूर्व में मेघ के तीन स्तर बतलाए गए हैं। यह स्थिति स्थूल मान है। वस्तुतः आकाशस्थ सप्तमरुत्-स्तरों के कारण मेघ के भी सात ही स्तर होते हैं। मध्य-मध्यस्थ वायुस्तरों के-निर्गमन से ही मेघस्तरों का परस्पर संघर्ष होता है इसी संघर्ष से विद्युत् उत्पन्न होती है इसी संघर्ष से-'वायु स्वान शब्दस्वत्' इत्यादि प्रातिशाख्य-सिद्धान्तानुसार स्तनयित्नु (शब्द-गर्जन) उत्पन्न होती है। मेघस्तरों का उच्चावच जैसा आकार होता है तत्संघर्ष से उत्पन्न विद्युत्-स्तनयित्नु की भी तदनुसार ही उच्चावच आकृतियाँ रहती हैं। ऊर्ध्वस्तरसंघर्ष से उत्पन्न विद्युत्-स्तनयित्नु अधोऽवस्थित मेघस्तरावरण से दृष्टि-श्रुति का विषय नहीं बनती। उन का अन्त स्तर-प्रदेशों में ही विलयन होजाता है। अधोऽवस्थित तीन स्तरों के पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न विद्युत्, और स्तनयित्नु का ही प्रत्यक्ष एवं श्रवण हुआ करता है। सर्वोपरिस्थ स्तर मध्यस्थ स्तर पर पड़ता है संघर्ष होपड़ता है। इस मध्यम संघर्ष से उत्पन्न विद्युत्, और स्तनयित्नु की प्रायः एकसाथ ही प्रतीति होती है। साथ ही सर्वाध: स्थित तृतीय मेघस्तरावरण के कारण इस विद्युत् का भूपृष्ठ पर पात भी नहीं होता। यदि संघर्ष आत्यन्तिक होता है तो यह भी गिर पड़ती है। परन्तु सर्वाध: स्थित मेघस्तर के संघर्ष से जो विद्युत् उत्पन्न होती है, वह अवश्यमेव भूगर्भ में आटकती है।

वक्रगक्रिया 'सम्बन नाम से व्यवहृत हुई है। सम्बन से रश्मिमुक्त सप्तवर्णीकरसमष्टिरूप श्वेतवर्ण का विश्लेषण होजाता है, एवं वे–सात पर्व होजाते हैं। और यही सप्तवर्णप्रतीति का मूलकारण है। पर्जन्य–वाष्प–वायुधरातल इसी रश्मि–सम्बन से सप्तवर्णात्मक इन्द्रधनुष का जनक बनता है। रश्मिमुक्त प्राण ही इन्द्र है। इसी सम्बन्ध से यह धनुष इस नाम से व्यवहृत हुआ है। पर्जन्यात्मक इन्द्रधनुष मुग्ध–रश्मिभावात्मक बनता हुआ आत्मविरोधी है। अतएव उदयास्त–अस्तयान्त–आदि सूर्यों की भाँति इन्द्रधनुर्दर्शन का भी निषेध हुआ है। इन्द्रधनुष के पर्जन्यात्मक इसी तात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण करते हुए श्रुति ने कहा है—

माया वां मित्रावरुणा दिवि श्रिता सूर्यो ज्योतिश्चरति चित्रमायुधम् ।
तमभ्रेण वृष्ट्या गूहथो दिवि पर्जन्य द्रप्सा मधुमन्त ईरते ॥
— ऋक्सं० ५।६३।४।

वृष्टि से पहिले जो आप्य वायु प्रवाहित होता है, वही 'पुरोवात' वायु पर्जन्य है। यही भारतभाषा में 'मान्सून' कहलाया है। यही पर्जन्यवायु–'वायुर्वै वृष्ट्या ईशे' के अनुसार वर्षाप्रवर्तक माना गया है। पर्जन्यवायु करता क्या है? इस प्रश्न का उत्तर है–अपत्रयी की प्रवृत्ति। वायुप्रेरणा से विनिर्गत धूम [वाष्प] आन्तरिक्ष्य सलिलमात्रा एवं रश्मिगत तेजोमात्रा–लेकर घनभाव में परिणत होजाता है। ऐसे घन–धूम जबतक त्रिस्तरात्मक नहीं बन जाते तबतक वृष्टि नहीं होसकती। सब से ऊपर का मेघावरण आन्तरिक्ष्य शीतधर्म्मा सोमागमन का निरोधक बनता है। मध्य का स्तर उपरिस्थित स्तर की स्तम्भनी बनता है। सर्वाध स्तर [अभ्र] जिस में जलमात्रा भरी हुई है–पार्थिव उष्मा से युक्त होता हुआ पर्जन्य की प्रेरणा से बरस पड़ता है। पर्जन्य का सञ्चार होता है—यज्ञाग्नि के द्वारा–'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः'। पार्थिव–अग्निजनित धूम ही तो पर्जन्यात्मक मेघ का जनक बनता है। इसीलिए तो पर्जन्य विष्णुरूप से भी उपस्तुत है। (देखिए–महाभारत–१।६५।४४)। यज्ञाग्नि के द्वारा उत्पन्न इसी पर्जन्यविज्ञान को लक्ष्य बना कर श्रुति कहती है—

'तपोजा' इति। अग्नेर्वै धूमो जायते, धूमादभ्रं, अभ्राद्वृष्टिः।
अग्नेर्वा एता जायन्ते। तस्मादाह 'तपोजा' इति'॥
—शत० ब्रा० ५।३।५।१७

उक्त पर्जन्य–विज्ञान को लक्ष्य में रखते हुए ही भाष्य की १८ वीं कण्डिका का समन्वय कीजिए। पर्जन्य के द्वारा उत्पन्न मेघस्तरों से सोम का निरोध होजाता है। फलस्वरूप पार्थिवी ऊष्मा को प्रश्रय होने का

— नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं, नास्तं यान्तं कदाचन।
नोपसृष्टं, न वारिस्थं, न मध्यनभसो गतम्॥

बतलाया गया है कि, अभ्रसमाप्लावन के अनन्तर 'यज — ये 'यजामहे' इत्याकाराश्रिता यजना नुगति एवं यजनप्रवृत्तियों से क्रमश: विद्युत्—स्तनयित्नु उत्पन्न होजाती हैं। अन्त में 'वौषट्' इत्याकारक यजनकर्म्मारम्भ के साथ साथ ही पानी बरसने लगता है। इसप्रकार प्राकृतिक यज्ञ के प्राणविध ऋत्विजों (प्राणदेवताओं) के पञ्चव्याहृत्यात्मक पञ्च कर्मों से वृष्टिकर्म्म समाश्रित है। जिस यजमान को वृष्टि अपेक्षित हो, वह सत्या-सम्पत् से समन्वित 'ओश्रावय' अस्तु श्रौषट्'–'यज –'ये यजामहे'–'वौषट्' इन पांच व्याहृतियों के प्रयोगकाल में ऋत्विजों का क्रमश 'पुरोवात'– अभ्र'–'विद्युत्–'स्तनयित्नु –'वर्षाकर्म्म' इन पांच आधिदैविक वृष्टिकर्म्मावयवों के मानस सङ्कल्प के लिए प्रेरित करें। निश्चयेन इस भावनामात्र से वृष्टि होगी-'वर्षति हैव तत्र—यत्रैवमृत्विजः सविदाना यज्ञेन चरन्ति'। और—'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' वचन चरितार्थ होगा। ब्राह्मण की १८,१९, इन दो कण्डिकाओं में काम्यकर्म्मलक्षणा वृष्टि के द्वारा संक्षिप्त-भाषा में इसी वृष्टिक्रिया का दिग्दर्शन कराया गया है॥ १८, १९॥

इति-वृष्टिविज्ञानम्

आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म्म वह महत्त्वपूर्ण कर्म्म है, जिससे आधिदैविक–आधिभौतिक–आध्यात्मिक, तीनों कामनाओं को परिपूर्ण किया जा सकता है। सम्वत्सरयज्ञसम्पत्ति आधिदैविक फल है। इसके समष्टि व्यष्ट्यात्मक दो विवर्त्त हैं। अहोरात्र–पक्ष–ऋतु–अयन–सम्वत्सर ये पांच एक सम्वत्सर की पांच व्यष्टियां हैं। स्वयं सम्वत्सर और उसकी मूलप्रतिष्ठारूप सत्यप्रजापति दोनों समष्ट्यात्मक सम्वत्सर हैं। पञ्चव्याहृतियों से व्यष्ट्यात्मिका सम्वत्सरसम्पत्ति का, पञ्चव्याहृतियों के सत्रह अक्षरों से समष्ट्यात्मिका सम्वत्सर-सम्पत्ति का संग्रह करते हुए ऋत्विग्गण पञ्चव्याहृत्यात्मक आश्रावण–प्रत्याश्रावण कर्म्म से यजमान के मानुषत्व को आधिदैविक सम्पत्ति से युक्त कर देते हैं जिसका १६, १७ इन दो कण्डिकाओं में विश्लेषण हुआ है। अनुभूत नवव्याहृत्यात्मक सुगृहासनकर्म्म से देवात्मा में नव आध्यात्मिक प्राणाधान के द्वारा आध्यात्मिक-सम्पत्ति का संग्रह कर लिया जाता है जिसका ८ वीं कण्डिका में उल्लेख हुआ है। शेष रह जाता है—आधिभौतिक इष्ट फल।

आधिभौतिक इष्ट फल की प्राप्ति द्यौ (आकाश) और पृथिवी इन दो विवर्तों से होती है। आधिभौतिक पर्जन्यदेवता समय पर वृष्टि करते रहें–(निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु) यही आकाशात्मक आधिभौतिक ऊर्ध्व पर्व का अनुग्रह है। ब्राह्मण की १८, १९, इन दो कण्डिकाओं में इसी अनुग्रह का स्पष्टीकरण हुआ है। प्रस्तुत २ री कण्डिका में पृथिव्यनुगत आधिभौतिक अव पर्व के दोहन का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है कि जिसप्रकार 'ओश्रावय' आदि पांच व्याहृतियों से प्राणदेवता पुरोवातादि के द्वारा वृष्टिकर्म्म का सञ्चालन करते रहते हैं एवमेव इन्हीं व्याहृतियों से (व्याहृत्यात्मक देवाह्वान—प्रदान – आदान लक्षण यज्ञ से) वे विराड्गोरूपधरा पृथिवी का दोहन किया करते हैं।

संघर्ष से उत्पन्न ज्योतिर्मार्ग सघर्ष के तारतम्य से उसी प्रकार कभी कभी वज्र, उल्का, आदि की भी उत्पत्ति होजाया करती है जैसे कि आन्तरिक्ष्य एकोन–पञ्चाशत् (४९) मरुतों के पारस्परिक संघर्ष से 'वज्र उल्का, धिष्ण्या तारा' ये चार प्रकार के ज्योतिःपुञ्ज उत्पन्न होते रहते हैं। वृगर्गविज्ञान के अनुसार जैसे भूगर्भ में पूर्व–पश्चिम–उत्तर–दक्षिण–ईशान–नैर्ऋत–आग्नेय–वायव्यादि दिक्–प्रतिदिक् से चार–मधुर–तिक्तादि जलस्रोत प्रवाहित रहते हैं एवमेव आकाश में दिक्–प्रतिदिक् भेद से तीव्रवेग के साथ वायुस्तर प्रवाहित हैं। कल्पना कीजिए, एक वायुस्तर तीव्र वेग से पूर्व से पश्चिम की ओर जारहा है तो दूसरा उसी वेग से पश्चिम से पूर्व की ओर। यदि दोनों का गमनागमन मार्ग विभिन्न है तो शान्ति है। यदि दोनों के प्रान्तभागों का भी स्पर्श होजायगा तो संघर्ष से ज्योति उत्पन्न होजायगी। यत्किञ्चित्–स्पर्शमात्र से उत्पन्न यही सूक्ष्मज्योति 'तारा' है। यदि संघर्ष में बलाधिक्य है तो ज्योति प्रबल है। यही सामान्य ज्योति 'धिष्ण्या' है। यदि दोनो के प्रान्तभाग एक दूसरे से आक्रान्त [दब] होजाते हैं तो अतिशयरूपेण प्रकाश तत्त्व उत्पन्न होजाती है। साथ ही प्रान्तभागाक्रान्ति के अनुपात से बड़ी दूर पर्य्यन्त वह प्रकाशपुञ्ज जाता हुआ प्रतीत होता है, जिस का आकार पुच्छरूप माना गया है। यही 'उल्का' है। यदि दुर्भाग्य से दोनों वायुस्तरों के मार्ग अभिन्न होजाते हैं तो दोनों का सर्वात्मना संघर्ष होसकता है। इस से भयानक प्रतिध्वनि के साथ जो ज्योतिःपुञ्ज पृथक् होकर अपने आत्यन्तिक वेग से भूपृष्ठ पर आकर ठहरता है वही 'वज्र' कहलाता है। यही अध-प्रदेशस्थ वायुस्तर मार्गविशेष होने से भूपिण्ड की ओर अनुगत होता हुआ कन्दरा भूगर्तादि में प्रविष्ट होकर तदवच्छिन्न भूप्रदेश को कम्पित कर देता है। यही सुप्रसिद्ध आग्नेय वारुण [आप्य], ऐन्द्र [माहे], वायव्य, चतुर्विध भूकम्पों में से चौथा वायव्य भूकम्प कहलाता है। पुरोवात अभ्र विद्युत् स्तनयित्नु, वर्षा इस क्रम से वृष्टिकर्म्म में [जलवर्षक मेघों में] इन पाँचों का रहना अनिवार्य्य है। निस्तर ही इस पञ्चावयवात्मिका मेघ–सत्ता का कारण है। ऐसा मेघ निश्चयेन कृष्णवर्ण होता है। क्यों कि, ऊर्ध्व–स्तरों के आवरण से सौर–प्रकाश आत्यन्तिकरूप से अवरुद्ध होजाता है। इसी आधार पर श्रुति ने कहा है–'धामच्छदग्निः खलु वै भूत्वा वर्षति' (तै० सं० २।४।१० — कृष्णो भवति। एतद्वै वृष्टे रूपम्'– (तै० सं० २।१।८)। पारमेष्ठ्य आप्यप्राण अप्सरामय है, आप्य वायव्य प्राण गन्धर्व है। अतएव वर्षाऋतु कामभाव की प्रतिष्ठा मानी गई है। गन्धर्वप्राण के सम्बन्ध से सङ्गीत की भी मूलप्रतिष्ठा यही है। 'वर्षा हि–सर्वे ऋतवः' के अनुसार यही सम्वत्सर की भी प्रतिष्ठा है। भारतीय लोकसंगीतों * में भी वर्षा का यही स्वरूप उपवर्णित है जिसका कृष्णपर्जन्य, विद्युत्, स्तनयित्नु आदि रूप से अवश्य विश्लेषण हुआ है। यही प्राकृतिक वृष्टिविज्ञान है जिसका प्रकृत आमावस्या–प्रत्याभावस्या कर्म्म के साथ निम्नलिखित रूप से समन्वय किया जारहा है।

---

*–आयो अब वरषा रुत। (ध्रुव०)।
ओ (उ) लट कान्ति नरेस (श)।
अम्भोधर नग प्रमत्त कामी जन सब हरपत।
चमकत दामिनी पताक डंका भयो अशनी रव।
कृष्ण घरवा मधुर मघ गगन भरयो समन्तात (आयो०)।

बतलाया गया है कि अग्निसमाप्लावन के अनन्तर 'यज'— ये 'यजामहे' इत्याकाराग्नरिता यजना तुगति एवं यजनप्रवृत्तियों से क्रमशः विद्युत्—स्तनयित्नु उत्पन्न होजाती हैं। सर्वान्त में 'वौषट्' इत्याकारक यजनकर्मारम्भ के साथ साथ ही पानी बरसने लगता है। इसप्रकार प्राकृतिक यज्ञ के प्राणविध ऋत्विजों (प्राणदेवताओं) के पञ्चव्याहृत्यात्मक पञ्च कर्मों से वृष्टिकर्म सञ्चालित है। जिस यजमान को वृष्टि अपेक्षित हो वह सम्या-सम्पत् से समतुलित 'ओश्रावय' अस्तु श्रौषट्—'यज'—'ये यजामहे'—वौषट् इन पाँच व्याहृतियों के प्रयोगकाल में ऋत्विजों को क्रमशः पुरोवात'—'अभ्र'—'विद्युत्'—'स्तनयित्नु — वर्षाकर्म' इन पाँच आधिदैविक वृष्टिकर्मावयवों के मानस सङ्कल्प के लिए प्रेरित करे। निश्चयेन इस साधनामात्र से वृष्टि होगी—'वर्षति हैव यत्र—यत्रैवमृत्विजः संविदाना यज्ञेन चरन्ति'। और—'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' वचन चरितार्थ होगा। ब्राह्मण की १८,१९, इन दो कण्डिकाओं में काम्यकर्मलक्षणा वृष्टि के द्वारा संक्षिप्त-भाषा में इसी वृष्टिविद्या का दिग्दर्शन कराया गया है॥ १८, १९॥

इति-वृष्टिविज्ञानम्

आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म वह महत्त्वपूर्ण कर्म है जिससे आधिदैविक—आधिभौतिक—आध्यात्मिक, तीनों कामनाओं को परिपूर्ण किया जासकता है। सम्वत्सरयज्ञसम्पत्ति आधिदैविकफल है। इसके समष्टि व्यष्ट्यात्मक दो विवर्त्त हैं। अहोरात्र—पक्ष—ऋतु—अयन—सम्वत्सर ये पाँच एक सम्वत्सर की पाँच व्यष्टियाँ हैं। स्वयं सम्वत्सर और उसकी मूलप्रतिष्ठारूप सत्सवरप्रजापति दोनों समष्ट्यात्मक सम्वत्सर है। पञ्चव्याहृतियों से व्यष्ट्यात्मिका सम्वत्सरसम्पत्ति का पञ्चव्याहृतियों के सत्रह अक्षरों से समष्ट्यात्मिका सम्वत्सर-सम्पत्ति का सग्रह करते हुए ऋत्विग्गण पञ्चव्याहृत्यात्मक आश्रावण—प्रत्याश्रावण कर्म से यजमान के मानुषात्मा को आधिदैविक सम्पत्ति से युक्त कर देते हैं जिसका १६ १७ इन दो कण्डिकाओं में विश्लेषण हुआ है। अङ्गभूत नवव्याहृत्यात्मक 'सृष्ट्रागायनकर्म' से देवात्मा में नव आध्यात्मिक प्राणाधान के द्वारा आध्यात्मिक-सम्पत्ति का सग्रह कर लिया जाता है जिसका ४ थी कण्डिका में उल्लेख हुआ है। शेष रह जाता है—आधिभौतिक इष्ट फल।

आधिभौतिक इष्ट फल की प्राप्ति द्यौ (आकाश) और पृथिवी इन दो विवर्त्तों से होती है। आकाशोपलक्षित पर्जन्यदेवता समय पर वृष्टि करते रहें—(निकामे निकामे न: पर्जन्यो वर्षतु) यही आकाशात्मक आधिभौतिक ऊर्ध्व पर्व का अनुग्रह है। ब्राह्मण की १८, १९, इन दो कण्डिकाओं में इसी अनुग्रह का स्पष्टीकरण हुआ है। प्रस्तुत २ री कण्डिका में पृथिव्यनुगत आधिभौतिक अधः पर्व के इष्टफल का दिग्दर्शन कराती हुई ही श्रुति कहती है कि, जिसप्रकार 'ओश्रावय' आदि पाँच व्याहृतियों से प्राणदेवता पुरोवातादि के द्वारा वृष्टिकर्म का सञ्चालन कर रहे हैं एवमेव इन्हीं व्याहृतियों से (व्याहृत्यात्मक देवाह्वान—प्रदान — आदान लक्षण यज्ञ से) वे विराड्गोरूपधरा पृथिवी का दोहन किया करते हैं।

दोहनकर्म में गौ का सामीप्य बंधे वत्स को (पावसने के लिए) खोलना वत्समुख का स्तन के साथ-सम्बन्ध कराना बच्चे को हटाते हुए दोहनपात्र लेकर दोहने के लिए सन्नद्ध होजाना, एवं दोहना, ये पाँच पर्व हैं । पाँचों व्याहृतियों का क्रमशः इन पाँचों दोहनकर्म-पर्वों से क्रमिक सम्बन्ध है । पार्थिव अग्नि ही विराट् गौ है । इसीसे पार्थिव अग्निहोत्र सम्बन्धित है, जैसा कि द्वितीयकाण्डान्तर्गत 'अग्निहोत्र-ब्राह्मणविज्ञान' में विस्तार से बतलाया जाने वाला है । पार्थिव प्राणाग्नि के ९-१५-२१ भेद से तीन विवर्त हो जाते हैं, जैसा कि पूर्व प्रकरणों में विस्तार से बतलाया जा चुका है । त्रिवृत्-स्तोमानुगत पार्थिव अग्नि गार्हपत्य है, यह एककल है । पञ्चदशस्तोमानुगत आन्तरिक्ष्य (पार्थिव ही) अग्नि धिष्ण्य है । आहवनीय नाक्षत्रिक सर्पमार्ग के सम्बन्ध से यह अष्टकल है । एकविंशस्तोमानुगत दिव्य [पार्थिव ही) अग्नि आहवनीय है यह एककल है । इसप्रकार त्रिलोकात्मिका महापृथिवी के पृथिवी—अन्तरिक्ष—द्यौरूप तीनों स्तोमलोकों के भेद से पार्थिव गौरूप अग्नि के १-८-१ भेद से १० पर्व हो जाते हैं । यही दशकल 'विराड् अग्नि' है ।

दशाक्षर विराट छन्द से समतुलित होने से ही गौरूप, पार्थिव अग्नि 'विराट्' कहलाया है । इसीके सम्बन्ध से क्षित्य [भूत] अग्निमय भूपिण्ड 'विराड् गौ' कहलाया है । विराड् गौ का वत्स है—मातरिश्वा नामक वह भूवायु जो अपने व्याप्ति, एवं संवरणधर्म से 'पशूपवराट्' नाम से प्रसिद्ध होरहा है । इसी वत्स [वायु] के सम्बन्ध से द्युलोकस्थ प्राणदेवता विराड्गौ का दोहन करने में समर्थ हुए हैं । वायु के द्वारा ही पार्थिव रसमात्राओं का दोहन होता है । यही विराड्गौ का दोह है जिसे जानकर तद्भावनापूर्वक आश्रावण प्रत्याश्रावण-कर्म करने वालों के लिए पार्थिव कामनाएँ पूरी होजाती हैं ।।२ ।।

पाँचवें अध्याय में दूसरा, एवं चौथे प्रपाठक में तीसरा ब्राह्मण उपरतम्

श्री

अथ—शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये

प्रथमकाण्डे

त्रिब्राह्मणात्मक-"प्रयाजब्राह्मणम्"



[क्रमानुगता पृष्ठसंख्या १४७५]

श्री

विशेष—सूचना—

हमारी शारीरिक-अस्वस्थता के कारण कम्पोजीटरों की असावधानी से आगे पृष्ठसंख्या के समावेश में भूल होगई है। फलस्वरूप क्रमप्राप्त १४७४ इस पृष्ठ संख्या से आगे १४७५ यह क्रम न रहकर ११७ से उपक्रान्त होकर आगे अवसान पर १७६ संख्या लग गई है। पाठकों को इस क्रमव्यत्यास का संशोधन करते हुए इस प्रक्रान्त पञ्चमाध्यायानुगत तृतीय ब्राह्मण, तथा चतुर्थप्रपाठकानुगत चतुर्थब्राह्मण की ११७ से १७६ की संख्या का "१४७५ से १५४२ पर्य्यन्त" इस क्रम से संशोधन कर लेना चाहिए। केवल संख्या में ही त्रुटि हुई है। विषय आनुपूर्वी से क्रमबद्ध ही है।

विनीत—

सम्पादक



(१)—प्रथमपाठ. (अर्थावबोधानुगत)

अथ प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये तृतीयं, चतुर्थप्रपाठके च चतुर्थं ब्राह्मणम्
अथ त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे प्रथमं ब्राह्मणम्

१—प्रयाजबन्धु

ऋतवो ह वै प्रयाजाः। तस्मात् पञ्च भवन्ति, पञ्च हि ऋतव ॥ (१) ॥ देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्या पस्पृधिरे—एतस्मिन् यज्ञे प्रजापतौ पितरि सम्वत्सरे—'अस्माकमय भविष्यति, अस्माकमय भविष्यति' इति ॥ (२) ॥ ततो देवा अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरु, त एतान् प्रयाजान् ददृशु:, तैरयजन्त। तैर्ऋतून् सम्वत्सरं प्राजयन्, ऋतुभ्यः सम्वत्सरात् सपत्नानन्तरायन्; तस्मात् प्रजयाः। 'प्रजया' ह वै नामैतत्—यत् 'प्रयाजाः' इति। तथो एवैष एतैर्ऋतून् सम्वत्सरं प्रजयति, ऋतुभ्यः सम्वत्सरात् सपत्नानन्तरेति; तस्मात् प्रयाजैर्यजते ॥ (३) ॥

ते वा आज्यहविषोभवन्ति। वज्रो वा आज्यम्। एतेन वै देवा वज्रेणाज्येन ऋतून् सम्वत्सरं प्रजयति, ऋतुभ्यः, सम्वत्सरात् सपत्नान् अन्तरायन्ति। तस्मादाज्य-हविषो भवन्ति ॥ (४) ॥ एतद्वै सम्वत्सरस्य स्वं पय —यत् 'आज्यम्'। तत् स्वेनैवैन-मेतत् पयसा देवाः स्व्यकुर्वत। तथो एवैनमेष एतत् स्वेनैव पयसा स्वीकुरुते। तस्मादाज्य-हविषो भवन्ति ॥ (५) ॥

स यत्रैव तिष्ठन् प्रयाजेभ्य आश्रावयत्, तत एव नापक्रामत्। सङ्ग्रामो वा एष सन्निधीयते—य प्रयाजैर्यजते। यतरो वै संयतयो पराजयेत, अप वै स क्रामति, अभित-रामु वै जयन् क्रामति। तस्मादभितरामभितरामव क्रामेत्, अभितरामभितरामाहुतीर्जुहु-यात् ॥ (६) ॥ तद् तथा न कुर्यात। यत्रैष तिष्ठन् प्रयाजेभ्य आश्रावयेत्—तत एव

नापक्रामेत् । यत्रो एव समिद्धतम मन्येत-तदाहुतीर्जुहुयात् । समिद्धहोमेन ह्येव समिद्धा आहुतयः ॥ (७) ॥

२—उत्तर प्रैष

स आश्राव्य आह—"समिधो यज" इति । तद् वसन्त समिद्धे । स वसन्त समिद्धो अन्यान् ऋतून् समिन्धे । ऋतव समिद्धा प्रजाश्च प्रजनयन्ति, ओषधीश्च पचन्ति । तद्वेव खलु सर्वानृतून् निराह । अथ "यज, यज" इत्येव उत्तरानाह—अजामितायै । जामि ह कुर्यात्–यत् "तनूनपात यज, इडो यज" इति ब्रूयात् । तस्मात्–'यज, यज' इत्येवोत्तरानाह ॥ (८) ॥

३—प्रयाजब्राह्मणम्

स वै 'समिधो' (१) यजति । वसन्तो वै समित् । वसन्तमेव तद्देवा अवृञ्जत, वसन्तात् सपत्नान् अन्तरायन् । वसन्तमु–एवैष एतद् वृङ्क्ते, वसन्तात् सपत्नान् अन्तरेति । तस्मात् समिधो यजति । ॥ (९) ॥ अथ 'तनूनपातं' (२) यजति । ग्रीष्मो वै तनूनपात्–ग्रीष्मो हि आसां प्रजानां तनूस्तपति । ग्रीष्ममेव तद्देवा अवृञ्जत, ग्रीष्मात् सपत्नान् अन्तरेति । तस्मात्तनूनपातं यजति ॥ (१०) ॥ अथ 'इडो (३) यजति । वर्षा वा इडः । इति हि वर्षा इड'–यदिदं क्षुद्रं सरीसृपं ग्रीष्महेमन्ताभ्यां नित्यक्तं भवति–तद् वर्षा ईडितमिवान्नमिच्छमानं चरति, तस्माद् वर्षा इडः । वर्षा एव तद् देवा अवृञ्जत, वर्षाभ्य सपत्नान् अन्तरायन् । वर्षा उ एवैष एतद् वृङ्क्ते, वर्षाभ्य सपत्नान् अन्तरेति । तस्मादिडो यजति ।। (११) ॥ अथ 'बर्हिः' (४) यजति । शरद्वै बर्हिः । इति हि शरद् बर्हि–या इमा ओषधयो ग्रीष्महेमन्ताभ्यां नित्यक्ता भवन्ति, ता वर्षा वर्धन्ते, ता शरदि बर्हिषो रूपं प्रस्तीर्णा शेरे–तस्मात् शरत् बर्हिः । शरदमेव तद्देवा अवृञ्जत, शरदः सपत्नान् अन्तरेति । तस्माद् बर्हिर्यजति ॥ (१२) ॥ अथ 'स्वाहा–स्वाहा' (५) इति यजति । अन्तो वै यज्ञस्य स्वाहाकारः । अन्त ऋतूनां हेमन्त–वसन्ताद्धि पराद्धर्य ।

अन्तेनैव तदन्त देवा अयुञ्जत, अन्तेन अन्तात् सपत्नान् अन्तरायन् । अन्तेनो एवैष एतद् अन्त वृङ्क्ते, अन्तेन अन्तात् सपत्नान् अन्तरेति । तस्मात् स्वाहा स्वाहेति यजति ॥ (१३) ॥ तद्वा एतद् वसन्त एव हमन्तात् पुनरसुः, एतस्माद्धयेषु पुनर्भवति । पुनर्ह वा अस्मिन् लोके भवति, य एवमेतद् वेद ॥ (१४) ॥

स वै 'व्यन्तु, वेतु' इति यजति–अजामितायै । जामि ह कुर्याद्–यद् 'व्यन्तु, व्यन्तु' इति वैव यजेत्, 'वेतु, वेतु' इति वा । 'व्यन्तु'–इति वै योषा, 'वेतु'–इति वृषा; मिथुनमेवैतत् प्रजनन क्रियते । तस्माद्–'व्यन्तु, वेतु' इति यजति ॥ (१५) ॥

अथ चतुर्थे प्रयाजे समानयति बर्हिषि । प्रजा वै बर्हिः, रेत आज्यम् । तत् प्रजास्वेवैतद् रेत सिच्यते । तेन रेतसा सिक्तेन इमा प्रजा पुनरभ्यावर्त प्रजायते । तस्मात् चतुर्थे प्रयाजे समानयति बर्हिषि ॥ (१६) सङ्ग्रामो वा एष सन्निधीयते–य प्रयाजैर्यजते । यतरं वै सयचयोर्मिश्रमागच्छति, स जयति । तदेतद्–उपभृतोऽधि जुहू मिश्रमागच्छति, तेन प्रजयति । तस्मात् चतुर्थे प्रयाजे समानयति बर्हिषि ॥ (१७) ॥ यजमान एव जुहूमनु; योऽस्मा अरातीयति–स उपभृतमनु । यजमानायैवैतद् द्विषन्त भ्रातृव्य बलिं हारयति । अत्तैव जुहूमनु, आद्य उपभृतमनु । अत्त्र एवैतद् आद्य बलिं हारयति । तस्मात् चतुर्थे प्रयाजे समानयति ॥ (१८) ॥ स वा अनवमृशन् समानयति । स यद् अवमृशेत्–यजमान द्विषता भ्रातृव्येन अवमृशेत्; अत्तारमाद्येन अवमृशेत् । तस्मादनवमृशन् समानयति ॥ (१९) ॥ अथ उत्तरा जुहूमध्यूहति । यजमानमेवैतद् द्विषति भ्रातृव्येऽध्यूहति; अत्तारमाद्येऽध्यूहति । तस्मादुत्तरां जुहूमध्यूहति ॥ (२०) ॥

देवा ह वा ऊचु –हन्त विजितमेवानु सर्वं यज्ञं संस्थापयाम, यदि नोऽसुररक्ष–सन्यासजेयु –'संस्थितो एव नो यज्ञः स्यात्' इति ॥ (२१) ॥ त उत्तमे प्रयाजे स्वाहा–कारेणैव सर्वं यज्ञ समस्थापयन् । 'स्वाहाग्निम्' इति तदाग्नेयमाज्यभाग समस्थापयन् । 'स्वाहा सोमम्' इति तत् सौम्यमाज्यभागं समस्थापयन् । 'स्वाहाग्निम्' इति–तद्य एष उभयत्राच्युत आग्नेय पुरोडाशो भवति–त समस्थापयन् ॥ (२२) ॥ अथ यथादेवतम् । 'स्वाहा देवा आज्यपा' इति–तत् प्रयाजानुयाजान् समस्थापयन् । प्रयाजानुयाजा वै देवा आज्यपाः । "जुषाणो अग्निराज्यस्य वेतु" (तै० ब्रा० ३।५।६।२) इति तदग्नि

नापक्रामेत् । यत्रो एव समिद्धतम मन्येत-तदाहुतीर्जुहूयात् । समिद्धहोमेन ह्येव समिद्धा आहुतयः ॥ (७) ॥

२—उत्तर प्रैष

स आश्राव्य आह—"समिधो यज' इति । तद् वसन्त समिद्ध । स वसन्त समिद्धो अन्यान् ऋतून् समिन्धे । ऋतव समिद्धा प्रजाश्च प्रजनयन्ति, ओषधीश्च पचन्ति । तद्वेव खलु सर्वानृतून् निराह । अथ "यज, यज" इत्येव उत्तरानाह—अजामितायै । जामि ह कुर्यात्-यत् "तनूनपात यज, इडो यज" इति ब्रूयात् । तस्मात्-'यज, यज' इत्येवोत्तरानाह ॥ (८) ॥

३—प्रयाजब्राह्मणम्

स वै 'समिधो' (१) यजति । वसन्तो वै समित् । वसन्तमेव तद्देवा अवृञ्जत, वसन्तात् सपत्नान् अन्तरायन् । वसन्तमु-एवैष एतद् वृङ्क्ते, वसन्तात् सपत्नान् अन्तरेति । तस्मात् समिधो यजति । ॥ (९) ॥ अथ 'तनूनपात' (२) यजति । ग्रीष्मो वै तनूनपात्-ग्रीष्मो हि आसां प्रजानां तनूस्तपति । ग्रीष्ममेव तद्देवा अवृञ्जत, ग्रीष्मात् सपत्नान् अन्तरेति । तस्मात्तनूनपात यजति ॥ (१०) ॥ अथ 'इडो (३) यजति । वर्षा वा इडः । इति हि वर्षा इड —यदिद क्षुद्र सरीसृप ग्रीष्महेमन्ताभ्यां नित्यक्त भवति—तद् वर्षा ईडितमिवान्नमिच्छमानं चरति, तस्माद् वर्षा इड । वर्षा एव तद् देवा अवृञ्जत, वर्षाभ्य सपत्नान् अन्तरायन् । वर्षा उ एवैष एतद् वृङ्क्ते, वर्षाभ्य सपत्नान् अन्तरेति । तस्मादिडो यजति ।। (११) ॥ अथ 'बर्हि' (४) यजति । शरद् बर्हिः । इति हि शरद् बर्हि —या इमा ओषधयो ग्रीष्महेमन्ताभ्यां नित्यक्ता भवन्ति, ता वर्षा वर्द्धन्ते; ता शरदि बर्हिषो रूप प्रस्तीर्णा शेरे-तस्मात् शरत् बर्हिः । शरदमेव तद्देवा अवृञ्जत, शरदः सपत्नान् अन्तरेति । तस्माद् बर्हिर्यजति ॥ (१२) ॥ अथ 'स्वाहा—स्वाहा' (५) इति यजति । अन्तो वै यज्ञस्य स्वाहाकारः । अन्त ऋतूनां हेमन्त —वसन्ताद्धि पराद्ध्य ।

ईङ्गितमिव अत्र इच्छमान चरति, तत् ग्रैव एतत् जनयति—तस्मादिडो यजति ॥ (३) ॥ अथ 'बर्हि' (५) यजति । भूमा वै बर्हि । भूमानमेवैत् प्रजनयति । तस्माद् बर्हिर्यजति ॥ (४) ॥ अथ 'स्वाहा, स्वाहा' (५) इति यजति । हेमन्तो वा ऋतूना स्वाहाकार । हेमन्तो होमा प्रजा स्व वशमुपनयते । तस्माद्धेमन् म्लायन्त्योषधय, प्र वनस्पतीना पलाशानि मुच्यते, प्रतितरामिव वयांसि भवन्ति, अधस्तरामिव वयांसि पतन्ति । विप-क्विलोमेव पाप पुरुषो भवति-हेमन्तो हीमा प्रजा स्व वशमुपनयते । स्वी ह वै तमर्द्ध कुरुते भियेऽभ्याधाय-यस्मिन्नर्द्धे भवति-य एवमेतद्वेद ॥ (५) ॥

५—प्रयाजानुमन्त्रणम्

देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्या पस्पृधिरे । ते दण्डैर्धनुर्भिर्न व्यजयन्त । ते ह अविजयमाना ऊचु –'हन्त वाच्येव अस्मन् विजिगीषामहै, स यो नो वाच व्याहृता मिथुनेन न अनुनिक्रामात्–स सर्वं पराजयातै, अथ सर्वमितर जयान्' इति । 'तथा' इति देवा अब्रुवन् । ते देवा इन्द्रमब्रुवन् 'व्याहर' इति ॥ (६) ॥ स इन्द्रोऽब्रवीत्– 'एको मम' इति । अथ 'अस्माकमेका' इति इतरेऽब्रुवन् । तदु तन्मिथुनेन अविन्दन् । मिथुन हि–एकश्च, एका च ॥ (७) ॥ 'द्वौ मम' इति इन्द्रोऽब्रवीत् । अथ 'अस्माक द्वे' इति इतरेऽब्रुवन् । तदु तन्मिथुनमेव अविन्दन् । मिथुन हि–द्वौ च, द्वे च ॥ (८) ॥ 'त्रयो मम' इति इन्द्रोऽब्रवीत् । अथ 'अस्माक तिस्र' इति इतरेऽब्रुवन् । तदु तन्मि-थुनमेवाविन्दन् । मिथुन हि–त्रयश्च, तिस्रश्च ॥ (९) ॥ 'चत्वारो मम' इति इन्द्रोऽब्र-वीत् । अथ 'अस्माक चतस्र' इति इतरेऽब्रुवन् । तदु तन्मिथुनमेवाविन्दन् । मिथुन हि–चत्वारश्च, चतस्रश्च ॥ (१०) ॥ 'पञ्च मम' इतीन्द्रोऽब्रवीत् । तत इतरे मिथुन नाविन्दन् । नो ह्यत ऊर्ध्व मिथुनमस्ति । पञ्च-पञ्च–इति ह्येवैतदुभयं भवति । ततोऽसुरा सर्व पराजयन्त, सर्वस्माद् देवा असुरानजयन्, सर्वस्मात् समत्वानसुरान् निरभजन् ॥ (११) ॥

तस्मात् प्रथमे प्रयाजे इष्टे ब्रूयात्–'एको मम' इति । 'एका तस्य, यमह द्वेष्मि' इति । यद्यु न द्विष्यात्–'योऽस्मान् द्वेष्टि, य च वयं द्विष्म –इति ब्रूयात् ॥(१२)॥ 'द्वौ मम' इति द्वितीये प्रयाजे —'द्वे तस्य—योऽस्मान् द्वेष्टि, य च वय द्विष्म' इति ॥(१३)॥

स्विष्टकृतं समस्थापयन् । अग्निर्हि स्विष्टकृत् । स एषोऽप्येतर्हि तथैव यज्ञः सतिष्ठते-यथैनं देवा समस्थापयन् । तस्मादुत्तमे प्रयाजे स्वाहा स्वाहेति यजति-यावन्ति हवींषि भवन्ति । विजितमेवैतत्-अनु सर्वं यज्ञं संस्थापयति । तस्माद् यदत ऊर्ध्वं विलोम यज्ञे क्रियेत-न तदाद्रियेत; 'संस्थितो मे यज्ञः' इति ह विद्यात् । स ह एष यज्ञो यातयामेवास-यथा वषट्कृतम्, हुतम्, स्वाहाकृतम् ॥ (२३) ॥ ते देवा अकामयन्त-'कथं न्विम यज्ञं पुनराप्याययेम, अयातयामानं कुर्याम, तेन अयातयाम्ना प्रचरेम' इति ॥ (२४) ॥ स यत् जुह्वामाज्यं परिशिष्टमासीत्-तेन यज्ञं समस्थापयन्;-तेनैव यथापूर्वं हवींष्यभ्यघारयन्, पुनरेवैतानि तदाप्याययन्, अयातयामान्यकुर्वन् । अयातयामं ह्याज्यम् । तस्मादुत्तमं प्रयाजं इष्ट्वा यथापूर्वं हवींष्यभिघारयति, पुनरेवैनानि तदाप्याययति, अयातयामानि करोति । अयातयाम ह्याज्यम् । तस्माद् यस्य कस्य च हविषोऽवद्यति-पुनरेव तदभिघारयति, स्विष्टकृत एव तत् पुनराप्याययति, अयातयाम करोति । अथ यदा स्विष्टकृतेऽवद्यति-न तत पुनरभिघारयति । नो हि ततः कञ्चन हविषोऽन्नावद्यास्यं होष्यन् भवति ॥ (२५) ॥

इति पञ्चमाध्याये तृतीये, चतुर्थप्रपाठके च चतुर्थब्राह्मणम्
(१।५।३)—(१।४।४)
इति—त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे प्रथमं ब्राह्मणम्
१
अथ प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये चतुर्थं चतुर्थप्रपाठके च पञ्चमं ब्राह्मणम्
अथ त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे द्वितीयं ब्राह्मणम्

४—प्रयाजावृत (पद्धति)

न व 'समिधो' (१) यजति । प्राणा वै समिधः, प्राणानेवैतत् समिन्धे । प्राणैर्ह्ययं पुरुषः समिद्धः । तस्मादभिमृशेति ब्रूयात्-यदि उष्णः स्यात् । स यदि उष्णः स्यात्-एवं तावत् शंसेत, समिद्धो हि तावद् भवति । यदि शीतः स्यात्-नाशंसेत । तत् प्राणानेव अस्मिन् एतद् दधाति । तस्मात् समिधो यजति ॥ (१) ॥ अथ 'तनूनपातं' (२) यजति । रेतो वै तनूनपात् । रेत एवैतत् सिञ्चति । तस्माद् तनूनपातं यजति ॥ (२) ॥ अथ 'इडो' (३) यजति । प्रजा वा इडः । यदा वै रेतः सिक्तं प्रजायते—अथ तत्

ईङ्गितमिव अत्र इच्छमान चरति; तत् प्रैव एतत् जनयति—तस्मादिडो यजति ॥ (३) ॥ अथ 'बर्हि' (५) यजति । भूमा वै बर्हि । भूमानमेवैत् प्रजनयति । तस्माद् बर्हिर्यजति ॥ (४) ॥ अथ 'स्वाहा, स्वाहा' (५) इति यजति । हेमन्तो वा ऋतूनां स्वाहाकार । हेमन्तो हीमा प्रजा स्व वशमुपनयते । तस्माद्धेमन् म्लापन्त्योषधय , प्र वनस्पतीना पलाशानि मुच्यते, प्रतितरामिव वयांसि भवन्ति, अधस्तरामिव वयांसि पतन्ति । विपस्तिलोमेव पाप पुरुषो भवति—हेमन्तो हीमा प्रजा स्व वशमुपनयते । स्वी ह वै तमद्ध कुरुते श्रियेऽन्नाद्याय—यस्मिन्नर्द्धे भवति—य एवमेतद्वेद ॥ (५) ॥

५—प्रयाजानुमन्त्रणम्

देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्या पस्पृधिरे । ते दण्डैर्धनुर्भिर्न व्यजयन्त । ते ह अविजयमाना ऊचु—'हन्त वाच्येव अस्मन् विजिगीषामहै, स यो नो वाच व्याहृता मिथुनेन न अनुनिक्रामात्—स सर्व पराजयातै, अथ सर्वमितरे जयान्' इति । 'तथा' इति देवा अब्रुवन् । ते देवा इन्द्रमब्रुवन् 'व्याहर' इति ॥ (६) ॥ स इन्द्रोऽब्रवीत्—'एको मम' इति । अथ 'अस्माकमेका' इति इतरेऽब्रुवन् । तदु तन्मिथुनेन अविन्दन् । मिथुन हि—एकश्च, एका च ॥ (७) ॥ 'द्वौ मम' इति इन्द्रोऽब्रवीत् । अथ 'अस्माक द्वे' इति इतरेऽब्रुवन् । तदु तन्मिथुनमेव अविन्दन् । मिथुनं हि—द्वौ च, द्वे च ॥ (८) ॥ 'त्रयो मम' इति इन्द्रोऽब्रवीत् । अथ 'अस्माक तिस्र' इति इतरेऽब्रुवन् । तदु तन्मिथुनमेवाविन्दन् । मिथुन हि—त्रयश्च, तिस्रश्च ॥ (९) ॥ 'चत्वारो मम' इति इन्द्रोऽब्रवीत् । अथ 'अस्माक चतस्र' इति इतरेऽब्रुवन् । तदु तन्मिथुनमेवाविन्दन् । मिथुन हि—चत्वारश्च, चतस्रश्च ॥ (१०) ॥ 'पञ्च मम' इतीन्द्रोऽब्रवीत् । तत इतरे मिथुन नाविन्दन् । नो ह्यत ऊर्ध्व मिथुनमस्ति । पञ्च-पञ्च-इति ह्येवैतदुभय भवति । ततोऽसुरा सर्व पराजयन्त, सर्वस्माद् देवा असुरानजयन् , सर्वस्मात् सपत्नानसुरान् निरभजन् ॥ (११) ॥

तस्मात् प्रथमे प्रयाजे इष्टे ब्रूयात्—'एको मम' इति । 'एका तस्य, यमह द्वेष्मि' इति । यद्यु न द्विष्यात्—'योऽस्मान् द्वेष्टि, य च वयं द्विष्म'—इति ब्रूयात् ॥(१२)॥ 'द्वौ मम' इति द्वितीये प्रयाजे —'द्वे तस्य—योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च वय द्विष्म ' इति ॥(१३)॥

स्विष्टकृत समस्थापयन् । अग्निर्हि स्विष्टकृत् । स एषोऽप्येतर्हि तथैव यज्ञः सतिष्ठते-यथैनं देवा समस्थापयन् । तस्मादुत्तमे प्रयाजे स्वाहा स्वाहेति यजति-यावन्ति हवींषि भवन्ति । विज्ञितमेवैतत्-अनु सर्वं यज्ञ सस्थापयति । तस्मात् यदत ऊर्ध्वं विलोम यज्ञे क्रियेत-न तदाद्रियेत; 'सस्थितो मे यज्ञ" इति ह वियात् । स ह एष यज्ञो यातयामे-वास-यथा वषट्कृतम्, हुतम्, स्वाहाकृतम् ॥ (२३) ॥ ते देवा अकामयन्त-'कथं न्विमं यज्ञ पुनराप्याययेम, अयातयामानं कुर्याम, तेन अयातयाम्ना प्रचरेम' इति ॥ (२४) ॥ स यत् जुह्वामाज्य परिशिष्टमासीत्-तेन् यज्ञं समस्थापयन्;-तेनैव यथापूर्व हवींष्यभ्य-घारयन्, पुनरेवैतानि तदाप्यायन्, अयातयामान्यकुर्वन् । अयातयाम ह्याज्यम् । तस्मादुत्तमं प्रयाजं इष्ट्वा यथापूर्वं हवींष्यभिघारयति, पुनरेवैनानि तदाप्याययति, अया-तयामानि करोति । अयातयाम ह्याज्यम् । तस्मात् यस्य कस्य च हविषोऽवद्यति-पुनरेव तदभिघारयति, स्विष्टकृत एव तत् पुनराप्याययति, अयातयाम करोति । अथ यदा स्विष्टकृतेऽवद्यति-न तत' पुनरभिघारयति । नो हि तत कंचन हविषोऽन्नाधाहुतिं होष्यन् भवति ॥ (२५) ॥

इति पञ्चमाध्याये तृतीयं, चतुर्थप्रपाठके च चतुर्थब्राह्मणम्

(१।५।३)—(१।४।४)

इति—त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे प्रथमं ब्राह्मणम्

१

अथ प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये चतुर्थं चतुर्थप्राठके च पञ्चमं ब्राह्मणम्

अथ त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे द्वितीय ब्राह्मणम्



४—प्रयाजावृत (पद्धति')

स व 'समिधो' (१) यजति । प्राणा वै समिधः, प्राणानेवैतत् समिन्धे । प्राणैर्ह्ययं पुरुष' समिद्धः । तस्मादभिमृशेति अ्यात्-यद्युतप्ती स्यात् । स यद्युष्णः स्यात्-एव तावत् शंसेत, समिद्धो हि तावद् भवति । यदि शीत' स्यात्-नाशसेत । तत् प्राणानेव अस्मिन् एतद् दधाति । तस्मात् समिधो जयति ॥ (१) ॥ अथ 'तनूनपातं' (२) यजति । रेतो वै तनूनपात् । रेत एवैतत् सिञ्चति । तस्मात् तनूनपात् भवति ॥ (२) ॥ अथ 'इडो' (३) यजति । प्रजा वा इडः । यदा वै रेत सिक्त प्रजायते—अथ तत्

इति । स एषोऽग्निर्ऋतुष्वाभक्त –"समिधोऽग्ने"—"तनूनपादग्ने"–"इडोऽग्ने"–"बर्हिरग्ने"–'स्वाहाग्निम्' (तै० ब्रा० ३।५।५।) इति । आभक्तो ह वै तस्यां पुण्यकृत्यायां भवति, यामस्य समानो भ्रातृव्यः करोति, अग्निमते ह वा अस्मा अग्निमन्त ऋतव ओषधी पचन्तीद सर्वम्–य एव मेतमग्निमृतुष्वाभक्त वेद ॥ (८) ॥

तदाहु - 'यद् उत्तमान् प्रयाजा नावाहयन्ति–अथ कस्मादेनान् प्रथमान् यजन्ति' इति । उत्तमान् ह्येनान् यज्ञेऽवाकल्पयन्–प्रथमान् वो यजाम–इत्यब्रुवन् । तस्मादुत्तमानावाहयन्ति, प्रथमान् यजन्ति' ॥ (९) ॥

चतुर्थेन वै प्रयाजेन देवा यज्ञमाप्नुवन्, त पञ्चमेन समस्थापयन् । अथ यदूर्ध्वमसस्थित यज्ञस्य–स्वर्गमेव तेन लोक समाश्नुवत ॥ (१०) ॥ ते स्वर्ग लोक यन्तोऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद् बिभयाञ्चक्रुः । ते ऽग्निं पुरस्तादकुर्वत–रक्षोहण रक्षसामपहन्तारम् । अग्निं मध्यतोऽकुर्वत रक्षोहण रक्षसामपहन्तारम् । अग्निं पश्चादकुर्वत–रक्षोहण रक्षसामपहन्तारम् ॥ (११) ॥ स यद्येनान् पुरस्तादसुररक्षसान्यासिसङ्क्षन्–अग्निरेव तान्यपाहन–रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । यदि पश्चादासिसङ्क्षन्–अग्निरेव तान्यपाहन्–रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । अत एवं सर्वतोऽग्निभिर्गुप्यमानाः स्वर्ग लोक समाश्नुवत ॥ (१२) ॥ तथो एवैष एतच्चतुर्थेन प्रयाजेन यज्ञमाप्नोति, त पञ्चमेन संस्थापयति । अथ यदत ऊर्ध्वमसंस्थित यज्ञस्य–स्वर्गमेव तेन लोक समश्नुते ॥ (१३ ॥ स यदाग्नेयमाज्यभाग यजति–अग्निमेवैतत् पुरस्तात् कुरुते रक्षोहणं रक्षसामपहन्तारम् । अथ यदाग्नेयः पुरोडाशो भवति–अग्निमेवैतन्मध्यत कुरुते–रक्षोहण रक्षसामपहन्तारम् । अथ यदग्निं स्विष्टकृत यजति–अग्निमेवैतत् पश्चात् कुरुते–रक्षोहण रक्षसामपहन्तारम् । ॥ (१४) ॥ स यद्येनं पुरस्तादसुररक्षसान्यासिसङ्क्षन्ति–अग्निरेव तान्यपहन्ति–रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । यदि मध्यत आसिसङ्क्षन्ति अग्निरेव तान्यपहन्ति–रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । यदि पश्चादासिसङ्क्षन्ति–अग्निरेव तान्यपहन्ति–रक्षोहा रक्षसाम पहन्ता । स एवं सर्वतोऽग्निभिर्गुप्यमान स्वर्ग लोक समश्नुते ॥ (१५) ॥

७–अभिचार

स यद्येनं पुरस्ताद् यज्ञस्य अनुव्याहरेत्–त प्रति ब्रूयात्–'मुख्यामार्तिमारिष्यति–अन्धो वा, बधिरो वा भविष्यसि' इति । एता वै मुख्या आर्तयः । तथा हैव स्यात् ॥ (१६) ॥ यदि मध्यतो यज्ञस्य अनुव्याहरेत्–तं प्रति ब्रूयात्–'अप्रजा, अपशुर्भ-

'त्रयो मम' इति तृतीये प्रयाजे—'तिस्रस्तस्य—योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्मः' इति ॥(१४)॥'चत्वारो मम' इति चतुर्थे प्रयाजे-'चतस्रस्तस्य-योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्मः' इति ॥ १५)॥ 'पञ्च मम' इति पञ्चमे प्रयाजे-'न तस्य किञ्चन-योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्मः' इति । स पञ्च पञ्चेत्येव भवन् पराभवति । तथास्य सर्वं संवृङ्क्ते—सर्वस्मात् सपत्नान् निर्भजति—य एवमेतद्वेद ॥(१६)॥

इति पञ्चमाध्याये चतुर्थं, चतुर्थप्रपाठके च पञ्चमं ब्राह्मणम्

—(१।५।४)—(१।५।४)—

(पञ्चमाध्यायश्च समाप्तः)

इति-त्रिम्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे द्वितीयं ब्राह्मणम्

—१—

अथ प्रथमकाण्डे षष्ठाध्याये प्रथमं, चतुर्थप्रपाठके च षष्ठ ब्राह्मणम्

अथ त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे तृतीयं ब्राह्मणम्

(षष्ठाध्यायः प्रारम्भः)

६—प्रयाजानामिष्टौ प्राथम्यम्

ऋतवो ह वै देवेषु यज्ञे भागमीषिरे—आ नो यज्ञे भजत, मा नो यज्ञादन्तर्गत, अस्त्वेव नोऽपि यज्ञे भाग –इति ॥(१)॥ तद्वै देवा न जज्ञुः । त ऋतवो देवेष्वजानत्सु असुरानुपावर्तन्त—अप्रियान् देवानां द्विषतो भ्रातृव्यान् ॥(२)॥ ते हैतामेधतुमेधाञ्चक्रिरे यामेषामेतामनुशृण्वन्ति । कृषन्तो ह स्मैव पूर्वे वपन्तो यन्ति, लुनन्तोऽपरे मृणन्त', शश्वद्धैभ्योऽकृष्टपच्या एवौषधयः पेचिरे ॥ (३) ॥ तद्वै देवानामागं आस । 'कनीय इन्न्वतो द्विषन्, द्विषतेऽरातीयतिः किमु एतावन्मात्रमुपजानीत—यथेदमितोऽन्यथाऽसदिति ॥ (४) ॥ ते होचुः—'ऋतूनेवानुमन्त्रयामहै'—इति । 'केन' इति । 'प्रथमानेवैनान् यज्ञे यजाम' इति ॥ (५) ॥ स हाग्निरुवाच-'अथ यन्मां पुरा प्रथमं यजथ, काहं भवानि' इति । 'न त्वमायतनात् च्यावयाम' इति । ते यदृतूनभिह्वयमाना अग्निमायतनात्-नाच्यावयन्, तस्मादग्निरच्युत । न ह स्वा आयतनाच्च्यवते यस्मिन्नायतने भवति-य एवमेतमग्निमच्युतं वेद ॥ (६) ॥ ते देवा अग्निमब्रुवन्-'परेहि, एनांस्त्व मेवानुमन्त्रयस्व' इति । स हेत्याग्निरुवाच–'ऋतव । अविदं वै वो देवेषु यज्ञे भाग' मिति । 'कथ नोऽविद'' इति । 'प्रथमानेव वो यज्ञे यक्ष्यन्ति' इति ॥ (७) ॥ त ऋतवोऽग्निमब्रुवन्–'आ वयं त्वामस्मासु भजामः–यो नो देवेषु यज्ञे भागमविद'

आवश्यक माना है। तीनों ब्राह्मणों में प्रयाज-कर्म का ही विश्लेषण हुआ है, अतएव तीनों की समष्टि को एक ब्राह्मण मानते हुए हमने इसे—'प्रयाजब्राह्मण' इस एक नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ मान लिया है।

त्रिब्राह्मणात्मक 'प्रयाजब्राह्मण' के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, ब्राह्मणों में क्रमशः ३, २, ४, इतने अवान्तर प्रकरणों का समावेश हुआ है। तीनों ब्राह्मणों की कण्डिका संख्या क्रमशः (१)—२५, (२)—१६, (३)—२१, हैं। सम्भूय त्रिब्राह्मणात्मक इस प्रयाज ब्राह्मण में ९ अवान्तर प्रकरण, तथा ६२ कण्डिका हो जाती हैं। इस प्रासङ्गिक संग्रह को लक्ष्य में रखते हुए ही प्रस्तुत मूलानुवाद का समन्वय करना चाहिये।

१	(१)—१—प्रयाजबन्धु: १ कं, ५ कं । (५ कं)		
	(२)—२—उत्तरप्रैष ६ कं, ८ कं । (३ कं)	—त्रिप्रकरणात्मकं २५ कण्डिकात्मकं प्रथमं प्रयाजब्राह्मणम् १	
	(३) ३—प्रयाजब्राह्मणम् ९ कं, २५ कं । (१७ कं)		
२	(१)—४—प्रयाजाहुत् १ कं, ५ कं । (५ कं)	—द्विप्रकरणात्मकं १६ कण्डिकात्मकं	
	(२)—५—प्रयानुमन्त्रणम् ६ कं, १६ कं । (११ कं)	द्वितीयं प्रयाजब्राह्मणम् २	
३	(१)—६—प्रयाजानामिहो प्राथम्यम् १कं०, १५कं ।(१५कं)		
	(२)—७—अभिचार: १६ कं, १८ कं । (३ कं)	—चतुःप्रकरणात्मकं २१ कण्डिका-	
	(३)—८—प्रशमुक्ति १९ कं । (१ कं)	त्मकं तृतीयं प्रयाजब्राह्मणम् ३	
	(४)—९—परिशिष्टप्रश्नोत्तरविमर्श —२ कं०, २१कं०।(२कं)		

त्रिब्राह्मणात्मकं, ९ अवान्तरप्रकरणात्मकं, ६२ कण्डिकात्मकं-
'प्रयाजब्राह्मणम्''

विष्यसि' इति । प्रजा वै पशवो मध्यम् । तथा हैव स्यात् ॥ (१७) ॥ यद्यन्ततो यजस्व मनुव्याहरेत्—तं प्रति ब्रूयात्—'अप्रतिष्ठितो दरिद्रः विप्रेऽमुं लोकमेष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् । तस्मादु ह नानुव्याहारीव स्यात् । उत ह्येवंवित्परो भवति ॥ (१८) ॥

८—फलश्रुति

सम्वत्सरं ह वै प्रयाजैर्जयन् जयति । स ह न्वेनेन जयति—योऽस्य द्वाराणि वेद । किं हि स तैर्गृहैः कुर्यात्—यानन्तरतो न व्यवविद्यात्—यथा यथास्य ते भवन्ति । तस्य वसन्त एव द्वार, हेमन्तो द्वारम् । स वा एष सम्वत्सर स्वर्ग लोकं प्रपद्यते । सर्वं वै सम्वत्सरः, सर्वं वा अक्षय्यम् । एतेनो हास्याक्षय्यं सुकृतं भवति, अक्षय्यो लोकः ॥ (१९) ॥

९—परिशिष्टप्रश्नोत्तरविमर्श

तदाहुः—'किंदेवत्यान्याज्यानि' इति। 'प्राजापत्यानि' इति ह ब्रूयात । अनिरुक्तो वै प्रजापतिः, अनिरुक्तान्याज्यानि । तानि हैतानि यजमानदेवत्यान्येव । यजमानो ह्येव स्वे यज्ञे प्रजापतिः—एतेन ह्युक्ता ऋत्विजस्तन्वते, त जनयन्ति ॥ (२०) ॥ स आज्यस्य उपस्तीर्य, द्विर्हविषोऽवदाय, अथोपरिष्टात्—आज्यस्य अभिघारयति । सैषा आज्येन मिश्राहुतिर्हूयते । यजमानेन हैवैतन्मिश्रा हूयते । यदि ह वा अपि दूरे सन् यजते, यद्यन्तिके—यथा हैवान्ते सत इष्टं स्यात्, एवं हैवैनं विदुष इष्टं भवति । यथु हापि नद्धिव पापं करोति—नो हैव बहिर्धा यज्ञाद्भवति य एवमेतद्वेद ॥ (२१) ॥

इति पञ्चाध्याये प्रथमं, चतुर्थप्रपाठके च पञ्चमं ब्राह्मणम्
—(१।६।१।)—(१।४।६।)—
(चतुर्थप्रपाठकश्च समाप्तः)
इति—त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजप्रकरणे तृतीयं ब्राह्मणम्

—३—

समाप्तञ्चेदं त्रिब्राह्मणात्मकं प्रयाजब्राह्मणम्
इति—प्रयाजप्रकरणपाठः



–(२)अथयमत्र—मूलानुवादे प्रासङ्गिकसंग्रह—

प्रस्तुत 'प्रयाज' कर्म्म का ब्राह्मणग्रन्थ के तीन ब्राह्मणों में सोपपत्तिक निरूपण हुआ है। अतएव समानप्रकरणानुबन्ध से हमने तीन ब्राह्मणों का एकत्र समन्वित रूप से समावेश करना

क्योंकि इस कर्म्म का 'घृतवतीम्०' इत्यादि चौथी व्याहृति के साथ ही 'ओ श्रावय०' इत्यादि लक्षण व्याहृतिरूप (पञ्चप्रयाज कर्म्म का) उपक्रम हो जाता है, अतएव यहीं श्रुति ने इस पञ्च-व्याहृति से सम्बन्ध रखने वाला उपपत्ति का स्पष्टीकरण कर दिया है। तत्त्वतः श्रा० प्र० कर्म्मोप्रपत्ति से सम्बन्ध रखने वाले स्रु गादापनब्राह्मण में प्रतिपादित यह प्रकरण प्रकृत के प्रयाजब्राह्मण से ही सम्बन्ध रखता है। और इस दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि,-पूर्वब्राह्मण की-'अग्निर्होता वेत्वग्नेर्होत्रम्०'-१-५-२-१' इस प्रथम कण्डिका से आरम्भ कर-'ता वा एता नव व्याहृतयो भवन्ति०' १-५-२-५' इस पाँचवीं कण्डिका पर्य्यन्त पञ्चकण्डिकात्मक ब्राह्मणभाग ही वस्तुतः 'स्रु गादापनब्राह्मण' है। आगे की 'यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम०'-१-५-२-६'' इस ६ ठी कण्डिका से ही प्रयाजब्राह्मण आरम्भ हो जाता है। यहाँ से ६ ठी कण्डिका से आरम्भ कर त्रिब्राह्मणात्मक प्रकृत प्रयाजब्राह्मण के तृतीय ब्राह्मण की 'स आत्मस्योपस्तीर्य '-१-६-१-२१' इस इक्कीसवीं कण्डिका पर्य्यन्त सम्पूर्ण ब्राह्मण भाग 'प्रयाजब्राह्मण' है। प्रयाजकर्म्म जिन 'ओश्रावय' इत्यादि आश्रावण-प्रत्याश्रावणात्मिका व्याहृतियों से सम्पन्न होता है, उन व्याहृतियों से सम्बन्ध रखने वाले पारस्परिक सम्प्रदान की, व्याहृतियों की पञ्च सख्या की, सप्तदश अक्षरों की, काम्य फलों की उपपत्तिमात्र पूर्वब्राह्मण में प्रतिपादित हुई है। अब प्रकृत प्रकरण में 'ओश्रावय आदि से सम्पन्न होने वाले प्रयाजकर्म्म का ही उपपत्ति बतलाई जाती है। अतएव प्रस्तुत प्रकरण-'प्रयाजबन्धु' नाम से व्यवहृत हुआ है । इसी प्रकरणसङ्गति को लक्ष्य में रखते हुए अक्षरार्थ का समन्वय करना चाहिए।

(स्रु गादापन कर्म्मानन्तर-'ओ श्रावय०' इत्यादि व्याहृतियों के द्वारा आश्रावणकर्म्म से पहिले पाँच प्रयाज होते हैं। प्रयाज पाँच क्यों होते हैं ?, इसी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—(ये पाँच) प्रयाज निश्चय से (पाँच) ऋतुएँ हैं (अर्थात् पञ्चप्रयाज पाँच ऋतुओं के प्रतीक हैं) । इसीलिये (यहाँ) पाँच प्रयाज होते हैं (किये जाते हैं) । निश्चयेन ऋतुएँ पाँच हैं । तात्पर्य्य यही हुआ कि प्रयाजकर्म ऋतुकर्म्म है । ऋतुएँ क्योंकि पाँच हैं अतएव तद्रूप प्रयाजों का पाँच होना स्वाभाविक ही है) ॥ ॥ (दूसरा प्रश्न प्रयाज कर्म्म के सम्बन्ध में यह उपस्थित होता है कि प्रकृत इष्टिकर्म्म में ऋतुलक्षण प्रयाजों का यजन किया ही क्यों जाता है ?, इसी प्रश्न का एक वैज्ञानिक आख्यान के द्वारा समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—(एक ही प्रजापति की सन्तान होने से) 'प्राजापत्य' (नाम से प्रसिद्ध) देव (देवदेवता) और असुर (असुरदेवता) दोनों (ही) पिता प्रजापतिरूप यज्ञात्मक संवत्सर को लक्ष्य बना कर (निमित्त बना कर)—'यह हमारा ही होगा, यह हमारा ही होगा' इस प्रकार स्पर्द्धा करने लगे। (तात्पर्य्य, सम्वत्सरप्रजापतिरूप यज्ञसम्पत्त के लिए दोनों में प्रतिस्पर्द्धा चलने लगी, दोनों इस पर अपना स्वत्व प्रतिष्ठित करने के लिए परस्पर झगड़ने लगे) ॥ (२) ॥ (अभिमानी असुरों ने स्पर्द्धा तो अवश्य की प्राजापत्य यज्ञसम्पत्ति के भोग की तो कामना अवश्य की, परन्तु जिस श्रम-श्रम व्यापारलक्षण अर्चन-तप-श्रम से वह कामना सफल हुआ करती है उसका अनुगमन उन्होंने नहीं किया। इधर) देवों ने (अपनी स्वाभाविक कर्म्म-प्रवणता से) अर्चन (लक्षण तपोरूप

(३)—मूलानुवादः—

(१)—पाँचवें अध्याय में तीसरा (३), चौथे प्रपाठक में चौथा (४)-(१।५।३)-(१।४।४)—

(२)—पाँचवें अध्याय में चौथा (४), चौथे प्रपाठक में पाँचवां(५)-(१।५।४)-(१।४।५)—

(३)—छठे अध्याय में पहिला (१), चौथे प्रपाठक में छठा (६)-(१।६।१)-(१।४।६)—

तीन ब्राह्मणों की समष्टिरूप—"प्रयाजब्राह्मण"

(प्रथमकाण्डानुगत क्रम से २२, २३, २४ वें ब्राह्मण)

——— ॐ ———

प्रथमकाण्ड में पाँचवें अध्याय में तीसरा, चौथे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण

(१-५-३)—(१-४-४)

(१—त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्राप्त प्रथम ब्राह्मण)

१—प्रयाजबन्धु (प्रयाजों की मौलिक उपपत्ति)

पूर्व के स्रुगादापनब्राह्मण में स्रुगादापन-निगदमन्त्र के पाठानन्तर जिस आघाराख्य, प्रत्याश्रावणकर्म्म की उपपत्ति बतलाई गई है उसका 'पञ्चप्रयाज' याग से सम्बन्ध है। आघार-कर्म्म से पहिले 'पञ्चप्रयाज' नामक कर्म्मविशेष विहित है जैसाकि, सूत्रानुगत-पद्धतिप्रकरण में स्पष्ट किया जाने वाला है। 'ओ श्रावय' इत्यादि व्याहृतियों के पारस्परिक सम्प्रदानपूर्वक विहित-पञ्चधा विभक्त आज्याहुतिकर्म्म ही 'पञ्चप्रयाज' कर्म्म है। आ० प्र० कर्म्मेतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए पूर्वब्राह्मणान्तर्गत सूत्रानुगत-पद्धतिसंग्रह-परिच्छेद में यह स्पष्ट किया गया था कि, होतृकर्म्मक 'अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रम्' इत्यादि नवव्याहृत्यात्मक स्रुगादापननिगदपाठ के अवसर पर होता के मुख से जिस समय-'घृतवती'-अध्वर्यो स्रुचमास्यस्व' इस चौथी व्याहृति का उच्चारण होता है, उसके 'घृतवतीम्' पदोच्चारण के साथ साथ ही अध्वर्यु स्रुक्-उपभृत् का ग्रहण कर लेता है। स्रुगादापन-कर्म्म समाप्त्यनन्तर अध्वर्यु 'आग्नीध्र' के प्रति 'ओ श्रावय' व्याहृति का, आग्नीध्र अध्वर्यु के प्रति 'अस्तुश्रौषट्' व्याहृति का, अध्वर्यु होता के प्रति 'यज' व्याहृति का, एवं होता अध्वर्यु के प्रति 'ये यजामहे' व्याहृति का उच्चारण करता है। सर्वान्त में होता के मुख से 'वौषट्' इस पाँचवीं व्याहृति का उच्चारण होते ही अध्वर्यु स्रुक्-स्थित आज्यभाग का समिद्ध आहवनीयाग्नि में आहुति दे देता है, यही आ० प्र० कर्म्म है"-(देखिये पृ० सं० १२८ स्रुगादापन ब्राह्मण-) वस्तुतः आ० प्र० कर्म्म का तात्पर्य्य है पञ्चव्याहृतियों का पारस्परिक सम्प्रदानपूर्वक उच्चारण करना। आहुति देना तो प्रयाजकर्म्म है, जो इन्हीं पाँच व्याहृतियों के पञ्चावर्त्तन से पाँच बार होता है, जिसकी सोपपत्तिक इतिकर्त्तव्यता प्रकृत के त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में प्रतिपादित हुई है। पूर्वब्राह्मण में वस्तुतः स्रुगादापनकर्म्म की ही सोपपत्तिक इतिकर्त्तव्यता का निरूपण हुआ है। अतएव यह ब्राह्मणभाष्य इसी नाम से ('स्रुगादापनब्राह्मण' नाम से) ही व्यवहृत किया गया है।

यज्ञपत) यह यजमान (भी) आज्यरूप इसी व्रज से ऋतु, और सम्वत्सर जीत लेता है (लेगा), ऋतु और सम्वत्सर से शत्रुओं को निकाल देता है (देगा)। (क्योंकि आज्य शत्रुविनाशक वज्र है, वही कम्य-शत्रुनाशपूर्वक जयलाभ-ही यहाँ अभीप्सित है।) अतएव (वे प्रयाज) आज्यहवि-वाले होते हैं। (प्रयाजों के लिए क्यों आज्याहुति होती है?, प्रश्न की यही उपपत्ति है) ॥ ४ ॥ (आज्यहवि का एक कारण तो शत्रुपराभव है। अब एक दूसरा कारण और बतलाती हुई श्रुति कहती है)—यह जो आज्य है, यह निश्चयेन सम्वत्सरयज्ञ का अपना रस सार-भाग है (प्रातिस्विक रस-बल-है)। (प्रयाजों के लिए आज्यद्रव्य आज्यतत्त्व की आहुति देते हुए) देव-देवताओंने उस सम्वत्सर प्रजापति को अपने आपके सारभाग से ही युक्त बनाया। तथैव (आज्यहवि करता हुआ) यह यजमान (भी) सम्वत्सर के अपने सारभाग से ही उस अपनाता है। इसलिए (भी ये) प्रयाज आज्यहवि वाले होते हैं। तात्पर्य्य, शत्रुविनाश पहिला फल है, सम्वत्सर को अपने ही सार भाग से युक्त कर उसे समृद्ध करना, तद्द्वारा स्वयज्ञ को समृद्ध करना आज्यहविष्करण का द्वितीय फल है। यही प्रयाजानुगता आज्यहवि का वस्तु-उपपत्ति-है) ॥५॥

(प्रयाजकर्म्म आश्रावणपूर्वक आरम्भ होता है, यह कहा जा चुका है। इस सम्बन्ध में यह नियम है कि जिस यज्ञभूमिप्रदेश पर खड़ा हुआ अध्वर्यु आग्नीध्र के प्रति-प्रयाजकर्म्म के लिए 'ओ श्रावय' इस व्याहृति का उच्चारण करता है, वहाँ से पीछे नहीं हटना चाहिए। ऐसा आदेश क्यों दिया गया?, इसी प्रश्न की उपपत्ति बतलाने के अभिप्राय से आदेश-विश्लेषण पूर्वक श्रुति कहती है)—वह अध्वर्यु जिस (नियत) प्रदेश में ही खड़ा हो कर प्रयाजों के लिए आश्रावण करे, उस प्रदेश से पीछे न हटे। (कारण यही है कि) जो अध्वर्यु प्रयाजों से (ऋतुओं का) यजन करता है वह (यजमान के शत्रुओं के साथ) युद्ध ही ठानता है। दो योद्धाओं में से जो योद्धा पराजित हो जाता है, वह निश्चयेन मैदान छोड़ भागता है। दूसरा जीतने वाला योद्धा आगे बढ़ता जाता है। (प्रयाजकर्म्म संग्रामकर्म्म है, अध्वर्यु योद्धा को जयलाभ करना है। आगे बढ़ना ही जय का सूचक है) अतएव (अध्वर्यु को चाहिए कि) वह आगे आगे ही बढ़े, आगे आगे ही आहुति प्रदान करे। (प्रयाजकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाला अपक्रमणनिषेध, अभि-क्रमण विधान का यही वस्तु है। एवं यही प्रयाजकर्म्म का वस्तु—उपपत्ति—है, जिसका ६ कण्डिकाओं में विश्लेषण हुआ है) ॥ ६ ॥ (परम वैज्ञानिक भगवान् याज्ञवल्क्य की दृष्टि में पीछे न हटना तो ठीक है। परन्तु आहुति के साथ साथ आगे आगे बढ़ना अनुचित है। अतएव-'तस्मादभितरमभितरामेव क्रामन्' पक्ष उनकी दृष्टि में विज्ञानविरुद्ध है। इसी पक्ष का खण्डन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि) वह अध्वर्यु वैसा न करे (आगे आगे बढ़ बढ़ कर आहुति न दे)। 'जिस प्रदेश में खड़ा होकर अध्वर्यु प्रयाजों के लिए आश्रावण करे, वहाँ से पीछे न हटे (इतना अंश तो विज्ञानसम्मत है परन्तु—थोड़ा थोड़ा आगे बढ़ता हुआ आहुति दे यह अंश अवैज्ञानिक है। शत्रुनाश का तो अभिप्रेत है। वह यहाँ उस आहुति पर निर्भर है जो आहुति समिद्ध अग्नि में हुत होकर समिद्ध बनती है। यदि आगे-आगे बढ़ना अनिवार्य मान लिया जायगा, और उन अग्रप्रदेशों में अग्नि समिद्ध न मिलेगा, तो उस असमिद्ध (अप्रज्वलित) अग्नि

प्राणव्यापार, अन्तर्व्यापार एवं) श्रम (अथवा वागव्यापार–बहिर्व्यापार, तपस्तप आत्मबल, एवं शरीरबल) का अनुगमन करते हुए (यज्ञसम्पत् प्राप्ति के उपाय का अन्वेषण करते हुए) विचरने लगे। (कालान्तर में इस श्रमेन, श्रम के फलस्वरूप) उन्होंनें (देवदेवताओं नें) (यज्ञसम्पत-जयसाधनभूत) इन (आगे बतलाए जाने वाले) प्रयाजों को देख लिया (प्राप्त कर लिया)। इन (प्राप्त प्रयाजों) से (देवदेवताओं नें सम्वत्सरयज्ञप्रजापति का) यजन किया (यज्ञ के साथ प्रयाज कर्म्म का सम्बन्ध करा दिया), इन (पाँच प्रयाजों) से (देवदेवताओं नें सम्वत्सरावयवभूत पाँच ऋतुओं को, (एवं पाँच ऋतुओं के द्वारा ही पञ्चर्त्तु समष्टिरूप) सम्वत्सर को जीत लिया। (इस प्रयाजकर्म्मबल से ही) देवदेवताओं नें (सम्वत्सर के अवयवभूत पाँचों) ऋतु पर्वों से, (एवं समष्ट्यात्मक) सम्वत्सर (रूप यज्ञसयबल) से (क्योंकि अपने सहज) शत्रुओं (असुरों) को निकाल बाहिर किया, अतएव (असुरपराजयपूर्वक स्वजयलाभ के कारण ही) ये (पाँच कर्म्म) 'प्रजय' (जयप्राप्ति के साधन) कहलाए। यह 'प्रजयाः' ही नाम (परोक्षप्रियदेवताओं की परोक्षभाषा में यज्ञसम्प्रदाय में) 'प्रयाजा' नाम से प्रसिद्ध हुआ। (तात्पर्य्य आख्यान का यही हुआ कि, देवता और असुर, दोनों सम्वत्सरयज्ञ-सम्पत्ति प्राप्त करना चाहते थे। देवताओं ने देखा कि बिना अवयवसम्पत्ति की प्राप्ति के अवयवी-सम्पत्ति प्राप्त नहीं की जा सकती। फलस्वरूप उन्होंनें पहिले अवयव-स्वरूपा ऋतुसम्पत्ति प्राप्त की। इसी के बल से आगे जाकर सम्पूर्ण सम्वत्सर पर उनका अधिकार होगया। इस प्रकार ऋतुयजन ही देवताओं के जय का कारण बना। अतएव ऋतुकर्म्म अवश्य ही 'प्रजय' कहा जासकता है। प्रजयरूप ऋतुकर्म्म ही परोक्षभाषा में 'प्रयाज' कहलाया)। (वैधयज्ञ में प्रवृत्त यजमान के लिए भी यह आवश्यक है कि, वह भी उसी प्राकृतिक नियमानुसार पहिले अवयवसम्पत्ति ही प्राप्त करे। इसी अभिप्राय से आगे जाकर श्रुति कहती है) उसी प्रकार (जैसे प्राकृतिक प्राणदेवता देवदेवताओं नें किया था) यह यजमान (भी अपने इन) पाँच प्रयाजों से (यज्ञातिशयलक्षण दैवात्मा के लिए) ऋतुओं को, एवं (ऋतुद्वारा ऋतुसमष्टिरूप) सम्वत्सर को अपने अधिकार में करता है, (इस प्राप्ताधिकार बल पर) ऋतुओं, और सम्वत्सर से अपने शत्रुओं को बाहिर निकाल देता है। इसीलिए (ऋतुसम्पत्तिपूर्वक सम्वत्सरसम्पत्ति की प्राप्ति के लिए ही) यह प्रयाजों से (ऋतुओं का) यजन करता है (प्रयाज कर्म्म करता है)। प्रयाज कर्म क्यों किया जाता है ? इस प्रश्न का यही 'वस्तु'-(तात्पर्य्य-उपपत्ति-समाधान) है ॥१॥

(आधार-प्रधान-देवता के लिए जहाँ पुरोडाशाहुति विहित है, वहाँ ऋतुरूप प्रयाज देवताओं के लिए आज्याहुति-घृताहुति-विहित है। प्रयाजों के लिए आज्याहुति क्यों होती है ?, इसी प्रासङ्गिक प्रश्न की उपपत्ति बतलाने के अभिप्राय से श्रुति कहती है)-वे (पाँचों प्रयाज) निरचयेन आज्याहुति वाले होते हैं (पाँचों के लिए घृताहुति का विधान हुआ है। कारण इसका यही है कि) (यह) आज्य निश्चयेन वज्र (शत्रुनाशक अमोघ शस्त्र) है। आज्यरूप इसी वज्र से निश्चयेन देवदेवताओं नें (असुरों का संहार करते हुए) पाँचों ऋतुओं (एवं तद्द्वारा) सम्वत्सर को जीत लिया (था), (इसी जयलाभ के बल पर उन्होंनें) ऋतुओं, और सम्वत्सर से शत्रुओं को निकाल बाहिर किया (था)। उसी प्रकार (प्राकृतिक

तद्रूप इतर ग्रीष्मादि यागात्मक तनूनपात् यागादि में—'तनूनपात यज'—इत्यादि रूप से नामनिर्देश स्वतः प्राप्त है। उसी का एक विशेष हेतु से निराकरण करती हुई श्रुति कहती है)—वह अध्वर्यु (वसन्त के आगे की—ग्रीष्मादि) ऋतुओं को (तनूनपातं यज-इडो-यज-इत्यादि रूप से नाम निर्देश न कर केवल) 'यज-यज'-इस प्रकार नाम निर्देश के बिना ही कहता है। (जब क्रमप्राप्त नामनिर्देश होना न्यायप्राप्त है, तो नामग्रहण पूर्वक उत्तर ऋतुओं के लिए उत्तरप्रैष क्यों नहीं किया जाता ?, प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि) अजामिता के लिए (ही यज रूप से ही) उत्तर ऋतुओं को कहता है (ऋतुओं के लिए उत्तरप्रैष करता है)। जामि (पुनरुक्तदोष) करेगा, यदि वह अध्वर्यु-'तनूनपातं यज'-'इडो यज' यह कहेगा तो। तात्पर्य, जब समिद् नाम निर्देश से ही इतर ऋतुओं का समिन्धन हो जाता है, तो दुबारा ऋतुओं का नाम निर्देश करना पुनरुक्ति होगी, जो वेदभाषा में 'जामि' दोष कहलाया है)इसलिए वह (नाम निर्देश किए—बिना केवल) 'यज-यज' इसी रूप से उत्तर ऋतुओं को कहता है ॥ ८ ॥

इति-उपरप्रैष (२)

—— ० ——

३ -प्रयाजब्राह्मण—

ऋतुयागात्मक पञ्च प्रयाजों से सम्बन्ध रखने वाली उपपत्तियां १ कण्डिका से ८ कण्डिका पर्य्यन्त ८ कण्डिकाओं के द्वारा स्पष्टीकरण कर ९ कण्डिका से २५ वीं कण्डिकापर्य्यन्त ब्राह्मण-समाप्ति पर्य्यन्त-१७ कण्डिकाओं के द्वारा प्रयाजयागेतिकर्त्तव्यता लक्षणा पद्धति का प्रयाजयागानुष्ठान क्रम से निरूपण करती हुई श्रुति कहती है)—

(१) वह (अध्वर्यु नामक ऋत्विक् के- समिधो अग्न आजस्य व्यन्तु वौषट्' इस समिद्देवताक याज्यामन्त्र के बोलने पर उसके-'वौषट' उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के समिद्ध प्रदेश में जुहूस्थित आज्य की आहुति के द्वारा) समिद्याग (वसन्तयजन) करता है। समित् निश्चयेन वसन्त है। (प्राकृतिक समिद्याग से) देवदेवताओं ने वसन्त को ही (असुराधिकार से पृथक् किया (था) एवं वसन्त से (अपने शत्रु असुर) सपत्नों को निकाल बाहिर किया (था)। इसी प्रकार (प्राकृतिक समिद्याग की विधा पर प्रतिष्ठित याज्यामन्त्रशक्तियुक्त इस अपने वैध समिद्याग के बल पर) यह अध्वर्यु (यजमान के लिए) वसन्त को ही (यजमान के शत्रुओं के अधिकार से) पृथक करता है एवं (यजमान के) शत्रुओं को निकाल बाहिर करता है। वैधयज्ञ से उत्पन्न यज्ञातिशय लक्षण यजमान के देवात्मा के स्वर्गात्मक सम्वत्सरयज्ञफल के प्रथम वसन्त पर्व पर यजमान के शत्रु का अधिकार न रह, केवल देवात्मा ही उसका अन्यतम भोक्ता बने) इसीलिए (अध्वर्यु) समिद्याग करता है ॥ ६ ॥

(२) समिद्याग करने के अनन्तर वह (अध्वर्यु होता के-'तनूनपादग्न आजस्य वेतु वौषट्' इस तानूनपाद्देवताक याज्यामन्त्र के बोलने पर उसके 'वौषट्' उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के

में हुत आहुति भी असमिद्ध रहती हुई निरर्थक बन जायगी । अतएव उपराक्रमण का आग्रह निरर्थक, साथ ही अभीष्टफल का विघातक भी होगा । अतएव होना यह चाहिए कि) वह अध्वर्यु (आहवनीयाग्नि के) जिस प्रदेश में अग्नि को समिद्ध देखे, वहीं आहुति दे (चाहे उस समिद्धाग्निप्रदेश के लिए भले ही आगे आक्रमण न करना पड़े । क्योंकि) समिद्धहोम (समिद्धाग्नि में आहुतिद्रव्य डालने से) ही आहुतियाँ समिद्ध मानी गई हैं ॥ ७ ॥

इति—प्रयाजब्रन्धुः (१)

——❀——

२—उपरप्रैष

(सर्वप्रथम अध्वर्यु आग्नीध्र के प्रति–'ओ श्रावय' यह प्रैष (अनुज्ञा) करता है । इस प्रैष से आग्नीध्र अध्वर्यु के प्रति 'अस्तु श्रौषट्, यह कहता है । अनन्तर पुन अध्वर्यु होता के प्रति 'यज'–याज्यामन्त्र का अनुवचन करो; यह प्रैष करता है । जिस जिस प्रयाज का यजन होता है, उस उस प्रयाज के लिए अध्वर्यु को ओ श्रावय ओ श्रावय, इत्यादि रूप से आग्नीध्र के प्रति, एवं—'यज'—'यज' इत्यादि रूप से होता के प्रति प्रैष करना पड़ता है । इस दृष्टि से आग्नीध्र के प्रति होने वाले 'ओ श्रावय' रूप प्रैषों को 'पूर्वप्रैष' कहा जायगा, एवं उत्तरभावी होता के प्रति होने वाले–'यज' रूप प्रैषों को 'उत्तरप्रैष' कहा जायगा । प्रस्तुत सातवीं कण्डिका में 'यज' लक्षण उन उत्तरप्रैषों का ही विश्लेषण हुआ है । श्रुति कहती है)—

वह (अध्वर्यु आग्नीध्र के प्रति 'ओ श्रावय' इस रूप से) आश्रावण कर (आग्नीध्र से–'अस्तु श्रौषट्' इत्याकारक प्रत्युत्तर प्राप्त करने के अनन्तर होता नामक ऋत्विक् के प्रति उत्तरप्रैष करता हुआ) कहता है—'समिधो यज (हे होत ! समिद्वती देवता के यज्ञ के लिए याज्या पाठ करो) । ('समिधो यज' इस) उत्तरप्रैष से अध्वर्यु वसन्त ऋतु को ही समिद्ध प्रज्वलित–करता है (उत्तरप्रैष कर्म से ऋतुएँ प्रदीप्त हो पड़ती हैं, यही तात्पर्य है । अध्वर्यु कृत उत्तरप्रैषात्मक 'समिधो यज' इस समिन्धनकर्म से न केवल वसन्त को ही, अपितु तद्द्वारा सम्पूर्ण–पाँचों–ऋतुओं को समिद्ध कर देता है । क्योंकि वसन्त ही शेष ऋतुओं की मूलजननी है जैसा कि, विवेचना प्रकरण में स्पष्ट किया जाने वाला है । इसी तात्पर्यार्थ का प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती है)–(अध्वर्यु कृत उत्तरप्रैष से) समिद्ध वह वसन्त अन्य (चारों) ऋतुओं को समिद्ध कर देता है । (वसन्तसमिन्धन के द्वारा परम्परया क्रमशः समिद्ध पाँचों ऋतुएँ प्रजा उत्पन्न करती हैं ओषधि (वनस्पतियों को भी) परिपक्व करती हैं । (वसन्तसमिन्धनरूप) जिस कारण से वसन्त स्वयं समिद्ध होता हुआ परम्परया अन्य ऋतुसमिन्धन का भी कारण बन जाता है) एवं वसन्त ही (केवल वसन्त समिन्धन ही) अन्य सब ऋतुओं (के समिन्धन का स्वरूप कर) रहा है । तात्पर्य केवल वसन्त समिन्धन ही शेष ऋतुसमिन्धन के लिए पर्याप्त है) । (जिस प्रकार वसन्तयागात्मक समिद्याग में–'समिधो यज' इत्यादि रूप से ऋतु नाम का उल्लेख होता है,

यजन से यज्ञान्तलक्षणा स्वर्गावाप्ति ही सम्भव है। अपेक्षित यह है कि, यज्ञ-कर्त्ता यजमान यावदायुर्भोगपर्य्यन्त ऐहलौकिक सुख का भोग करता हुआ अनन्तर देवाकर्षण से स्वर्ग प्राप्त करे। अनन्तर पुनः पुण्ययोनि में जन्मधारण करे। क्या स्वाहायाग से ऐसा भी सम्भव है ?। प्रत्यक्ष में तो अपने अन्तभाव से हेमन्तयाग केवल तात्कालिक स्वर्गावाप्ति का समर्थक बना हुआ है। इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है कि, यद्यपि यह ठीक है कि हेमन्त अन्तभावःका प्रवर्त्तक है। तथापि यह भी सिद्ध विषय है कि) हेमन्त से ही वसन्त पुनः प्राण धारण करता है, हेमन्त से ही वसन्त पुनः उत्पन्न होता है। जो याज्ञिक हेमन्त के इस पुनः प्राणाधान के रहस्य को जानता है, वह अवश्यमेव (यावदायुर्भोगपर्य्यन्त जीवित रहता हुआ ऐहलौकिक सुख का भी भोग कर लेता है, एवं स्वर्गफल के भोगानन्तर) इस लोक में भी (पुण्ययोनि में) जन्म लेता है (जैसे कि, हेमन्त के अनन्तर वसन्त जन्म लिया करता है)। (तात्पर्य्य-यही है कि, हेमन्त अवसानात्मक बनता हुआ भी जीवनोपयिक वसन्तोपक्रम का निमित्त है। इस भावना से अन्तभावनात्मक हेमन्तयाग-जनित अनिष्ट भावना की निवृत्ति हो जाती है)॥ १४॥

अथमत्र संग्रह —

१—समिद्याग——समित्	(वसन्तः)	}	—पञ्चप्रयाजा, पञ्चर्त्तव
२—तनूनपाद्याग——तनूनपात्	(ग्रीष्मः)		
३—इड्याग——इट्	(वर्षा)		
४—बर्हिर्याग——बर्हि	(शरत्)		
५—स्वाहायाग——स्वाहा	(हेमन्त)		

("स वै समिधो यजति०" इत्यादि ६ कण्डिका से आरम्भ कर "अथ स्वाहा स्वाहा यजति" इत्यादि १४ वीं कण्डिकापर्य्यन्त ब्राह्मणभाग से पञ्च प्रयाजों की इतिकर्त्तव्यता का विश्लेषण किया गया। आगे के शेष ब्राह्मणभाग से पञ्च प्रयाजों की इतिकर्त्तव्यता का विश्लेषण किया गया। अब आगे के शेष ब्राह्मणभाग में प्रयाजकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली कुछ एक अन्य विशेषताओं का स्पष्टीकरण किया जाता है जिनके सम्बन्ध से प्रयाजयाग परोक्ष-अदृष्ट-फलों का जनक बनता है। होता के द्वारा प्रयुक्त याज्या मन्त्रों के अन्त में-१-२-३-४-५-इन पाँचों मन्त्रों के अन्त में-क्रमशः १-व्यन्तु, २-वेतु, ३-व्यन्तु ४-वेतु, ५-व्यन्तु' इस प्रकार व्यन्तु-वेतु पदों का सन्निवेश रहता है। यह विपर्य्यय क्यों जबकि पञ्चर्त्तुयागात्मक पञ्चप्रयाजयाग ऋतुसमानत्वेन-एवं प्रयाजसमानत्वेन समान है। या तो पाँचों याज्यामन्त्रों में 'वेतु-वेतु' का ही समावेश होना चाहिए, अथवा तो पाँचों में 'व्यन्तु-व्यन्तु' का ही समावेश रहना चाहिए। स्थिति-प्रदर्शनपूर्वक इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है)—यह (अध्वर्यु होता के द्वारा याज्या मन्त्रों के क्रमिक) 'व्यन्तु, वेतु इस (क्रम से उच्चरित होने पर ही) समिद्यागादि करता है (यजन करता है)

समिद्ध प्रदेश में सुहुरिवत आज्याहुति के द्वारा) तनूनपायाग (ग्रीष्मयजन) करता है। तनूनपात निश्चयेन ग्रीष्म है। ग्रीष्म ही इन (पार्थिव) प्रजाओं के शरीरों को तपाता है (अतएव तनूनपात अवश्य ही ग्रीष्म है)। (प्राकृतिक तनूनपायाग से) देवदेवताओं ने ग्रीष्म को ही (असुराधिकार से) पृथक् किया (था), एवं ग्रीष्म से (असुर) सपत्नों को निकाल बाहिर किया था—(शेष ६ कण्डिकावत्) ॥ १० ॥

(३) तनूनपायागानन्तर वह (अध्वर्यु होता के—'इडो अग्न आज्यस्य व्यन्तु, वौषट्' इस इट् देवताक याज्या मन्त्रोच्चारण करने पर उसके 'वौषट्' उच्चारण के साथ समिद्ध आहवनीयाग्नि में आज्याहुति के द्वारा) इड्–याग (वर्षायजन) करता है। इडा निश्चयेन वर्षा है। इडा इसलिए वर्षा है कि, पृथिवी पर रेंगते हुए जो ये छोटे छोटे कृकलास–गोधा छर्टे–आदि जन्तु गर्मी, और सर्दी के आक्रमण से अतिशयरूप से क्षीणकाय हो जाते हैं, वे सब क्षुद्र सरीसृप वर्षा के आते ही जीवन धारण करते हुए से–पुष्ट से होते हुए अन्नाधान की इच्छा करते हुए (बड़े उत्साह के साथ) इतस्ततः विचरने लगते हैं। (इस प्रत्यक्ष–दृष्ट इडत्व भाव से अवश्य ही वर्षा को इट्–अन्नात्मक कहा जा सकता है। (शेष ६ कण्डिकावत्) ॥ ११ ॥

(४)–इड्–यागानन्तर वह (अध्वर्यु होता के–'बर्हिरग्न आजस्य वेतु वौषट्' इस बर्हि देवताक याज्यामन्त्रोच्चारण के अनन्तर उसके 'वौषट्' उच्चारण के साथ समिद्ध आहवनीयाग्नि में आज्याहुति के द्वारा) बर्हिर्याग (शरद्यजन) करता है। बर्हि निश्चयेन शरत् है। बर्हि इसलिए शरत् है कि, जो ये ओषधियाँ गर्मी–सर्दी से मुर्झा जाती हैं, वे ओषधियाँ वर्षा–के आगमन पर (पुनः) प्रबुद्ध हो जाती हैं। (वर्षा में प्रबुद्ध) वे (ही) ओषधियाँ शरदृतु में फैले हुए–बिखरे हुए बर्हिगणों की भाँति शीर्ण हो जाती हैं। इस स्तरण–शीर्ण–भाव के साधर्म्य से शरत् (अवश्यमेव) बर्हि है। (शेष कण्डिकावत्) ॥ १२ ॥

(५)–बर्हिर्यागानन्तर वह (अध्वर्यु होता के–"स्वाहाऽग्निं स्वाहा सोमं स्वाहाग्निं, स्वाहा देवाँ आज्यपाम , स्वाहाग्निं होत्रा जुषाणा, अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्" इस स्वाहा हेमन्त देवताक याज्यामन्त्रोच्चारण के अनन्तर उसके 'वौषट्' उच्चारण के साथ समिद्ध आहवनीयाग्नि में आज्याहुति के द्वारा) स्वाहा–स्वाहायाग–(हेमन्त यजन) करता है। 'स्वाहा' कार यज्ञ का अन्त (अन्तिम पर्व) है। (उधर पाँच) ऋतुओं का हेमन्त ही अन्त (अन्तिम पर्व) है। हेमन्त वसन्त से पराद्धर्य–परले भाग–अन्तिम भाग–पर है। इसीलिए इसे ऋतुओं का अन्त कहा जा सकता है। (अपने प्राकृतिक स्वाहायाग से) देवदेवताओं ने (यज्ञ के) अन्त (अन्तिम पर्व रूप हेमन्त) को (असुराधिकार से) पृथक कर लिया (था), अन्तद्वारा (स्वाहायाग के द्वारा) अन्त से (हेमन्त से) सपत्नों को निकाल बाहिर किया (था)। (वयैव शेषं स्पष्टम्) ॥ १३ ॥

(हेमन्त ऋतुओं का अन्तिम पर्व है, उधर स्वाहा भी यज्ञ का अन्तिम पर्व ही है। इस स्वाहान्त से ऋतु–अन्त हेमन्त–पर अधिकार तो हो जाता है, परन्तु अन्तभावना यजमान के ऐह लौकिक जीवन के लिए प्रशस्त नहीं मानी जा सकती। इस अन्तयाग स्वाहाका–कारण हेमन्त-

"तृतीय प्रयाजयाग के समाप्त्यनन्तर यह अध्वर्यु चौथे 'बर्हि' नामक प्रयाज कर्म्म में (जुहू में उपभृत् से) आज्य ग्रहण करता है। बर्हि निश्चयेन (उत्तरोत्तर वृद्धिधर्म्म से) प्रजा है, आज्य रेत (वीर्य्य) है। (बर्हिर्याग में जुहू में उपभृत् से आज्य लेता हुआ) अध्वर्यु बर्हिरूप प्रजाओं में ही आज्यरूप रेत का सिञ्चन करता है (वीर्य्याधान करता है)। इस सिक्त रेत से (ही) प्रजाएँ पुनः पुनः जन्म लिया करती हैं। इसीलिए चौथे बर्हि नामक प्रयाज में (जुहू में उपभृत से) आज्य लेता है। (तात्पर्य्य वस्तुतः यह है कि, प्रयाजकर्म्म के लिए जुहू से पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं। अवश्य ही पाँच आहुतियों के लिए जुहूस्थित आज्यमात्रा अपर्य्याप्त है। अतएव प्रयाज कर्म्म के मध्य में एक बार उपभृत् से आज्य लेना आवश्यक हो जाता है। कब लेना ?, यह प्रश्न है। वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः ते देवा ऋतवः'-'शरत्-हेमन्त -शिशिरः, त पितरः'-शत० २।१।१।३।१ इत्यादि श्रुति के अनुसार अग्निप्राणप्रधाना, अतएव देवदेवतात्मिका वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा इन तीन ऋतुओं का एक स्वतन्त्र आग्नेय विभाग है। एवं सोमप्राणप्रधाना अतएव पितृदेवतात्मिका-शरत्-हेमन्त-शिशिर,-इन तीन ऋतुओं का एक स्वतन्त्र सौम्य विभाग है। ऐसी स्थिति में वसन्त-ग्रीष्म-वर्षानुगत समित्-तनूनपात-इट्-इन तीन प्रयाजों का तो अविच्छिन्नरूप से बिना उपभृत से दुबारा आज्य लिए ही यजन करना प्रकृतिसम्मत हो जाता है। चौथे प्रयाज से विजातीय बर्हि नाम की सौम्य ऋतु का उपक्रम होता है। अतएव इसी में आज्यग्रहण करना सुसङ्गत बनता है। इसके साथ ही निदान भाव से प्रजाओं में रेतःसेक भी हो जाता है, जो कि दृष्टासम्प्रजनन में अपनी प्रधानता रख रहा है। इसीलिए चतुर्थप्रयाज में ही आज्यसमानयन किया गया है, जैसाकि विवेचना प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है)॥ १६ ॥

(चतुर्थप्रयाज में आज्यग्रहण करना ऋतुस्वरूपानुगत बनता हुआ प्रकृत्यनुगत है, प्रजाओं में रेत का आधान करता है, इन दो अतिशयों के अतिरिक्त इसके यहाँ ग्रहण का एक फल और भी स्वतः सिद्ध है। उसीका विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है)—जो अध्वर्यु इन पाँच प्रयाजों से (ऋतुओं का) यजन करता है, वह (पूर्वाख्यानानुसार सम्वत्सररूपक्षेत्र में प्रविष्ट शत्रुओं को पराजित करने के लिये) संग्राम ही ठान रहा है। दो दलों के संग्रामाभिमुख होने पर जिस एक दल को मित्रसेना का सहयोग प्राप्त हो जाता है, वह जीत जाता है। (ठीक इसी के अनुरूप यह आज्य-ग्रहणकर्म्म है)। इस आज्यग्रहणकर्म्म से जुहू को उपभृद्रूपलक्षण मित्र मिल जाता है। (जुहूस्थित आज्य यह सेनादल है, जिसे असुरपराभव करना है। उपभृत् स्थित आज्य यह मित्रसेना है, जिसके सहयोग मिलने पर असुरपराभव निश्चित है) इसी मित्रसेना-सहयोग प्राप्ति के लिये (भी) चौथे बर्हि नामक प्रयाज में ही आज्यसमानयन करता है ॥१७॥

(प्रयाजकर्म्म वह संग्राम कर्म्म है, जिसके द्वारा यजमान के स्वर्गफलभोक्ता दैवात्मा के भोग्य सम्वत्सर में से असुरों को पराजित करना है। शत्रु को निर्बल बनाना ही शत्रुपराभव का मूल-कारण है। मित्रसेना की सहयोगप्राप्ति स्वस्थानस्थिति आदि अन्यान्य कारणों में से शत्रुपराभव का एक यह भी अन्यतम कारण माना गया है कि, शत्रुसेना में भेदनीति डालते हुये उन्हें अपनी सेना में मिला लेना। उसके बल को अपना भोग्य बना लेने से अवश्य ही वह निर्बल हो जायगा।

अजामिता के लिए ही । सिद्ध को पुनः सिद्ध करना, उक्त को पुन कहना ही जामि दोष है । इस पुनरुक्त दोष की निवृत्ति के लिए व्यन्तु-व्यन्तु अथवा वेतु-वेतु रूप से यजन न कर व्यन्तु-वेतु, इस रूप से यजन किया जाता है, यही तात्पर्य्य है । इसी तात्पर्य्य को स्पष्ट करती हुई श्रुति कहती है कि) यह अध्वर्यु (अपने इस यज्ञ में) जामि (पुनरुक्तदोष का समावेश) करेगा, यदि वह व्यन्तु-व्यन्तु-रूप से यजन करेगा, अथवा तो वेतु-वेतु-रूप से यजन करेगा । (जामि दोपनिवृत्ति के साथ साथ इस व्यन्तु-वेतु विपर्य्यय का एक प्रासङ्गिक फल और भी है । यज्ञ से देवात्मा का प्रजनन अपेक्षित है । प्रजनन कर्म्म योषात्मक-स्त्री-भ्रूण, एवं वृषात्मक-पु भ्रूण, दोनों के दाम्पत्य-भाव पर निर्भर है । व्यन्तु इस बहुवचनान्त पद से, वेतु इस एकवचनान्त पद से प्रजननसाधक-योषावृषात्मक यह मिथुनभाव भी प्राप्त हो जाता है । 'तस्मादेकस्य पुरुषस्य बह्वयो जाया भवन्ति' इत्यादि श्रुति के अनुसार योषात्मिका स्त्री बहुत्वधर्म्म से एवं वृषात्मक पुरुष एकत्व से युक्त है । फलतः व्यन्तु से संख्यानिदान-सम्पत्द्वारा योषा का, तथा वेतु से वृषा का संग्रह हो जाता है । इसी प्रासङ्गिक फल का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है)—'व्यन्तु यह (बहुवचनान्तपद अपने बहुत्वधर्म्म से) निश्चयेन योषा (की प्रतिकृति बनता हुआ योषाप्राप्ति का समाहक) है, 'वेतु' यह (एकवचनान्त पद अपने एकत्वधर्म्म से) निश्चयेन वृषा (की प्रतिकृति बनता हुआ वृषाप्राप्ति का समाहक) है । (व्यन्तु-वेतु रूप से किए जाने वाले प्रयाजयाग से योषा-वृषा के) मिथुनभाव से ही प्रजनन किया जाता है (प्रजननसम्पत्ति प्राप्त की जाती है) । इसलिए (अजामिता के लिए, एवं मिथुनभाव प्राप्ति के लिए, दूसरे शब्दों में पुनरुक्तदोप-निवृत्ति के लिए एवं प्रजनन-सम्पत्ति के संग्रह के लिए यह अध्वर्यु) 'व्यन्तु-वेतु' इस (विपर्य्यय क्रम) से (ही) यजन करता है (करना चाहिए) ॥ १५ ॥

(पञ्चऋतु के भेद से पाँच प्रयाज बतलाए गए हैं । इन में से शरद्यागात्मक बर्हिर्नामक चौथ प्रयाज की इतिकर्त्तव्यता में एक विशेष धर्म्म का अनुगमन किया जाता है । 'यदुपभृति, प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्' तै० ब्रा० ३।३।६ इत्यादि कृष्णयजुःश्रुति के अनुसार जुहू की आधारभूता उपभृत् नाम की स्रुक् में जो आज्य लिया जाता है, उस से ऋतुरूप प्रयाजकर्म्म तथा छन्दोरूप अनुयाजकर्म्म दोनों की इतिकर्त्तव्यता पूरी की जाती है । पूर्व के २ प्रपाठकके ४ ब्राह्मण में भी यह स्पष्ट किया गया है कि, आज्यग्रहण ऋतु और छन्दोरूप प्रयाजानुयाजों के लिए ही होता है-"अथ याम्याज्यानि गृह्णन्ते, ऋतुभ्यस्त्वेव तानि, छन्दोभ्यश्च गृह्णन्ते"— शत० १।२ प्र० ।४ ब्रा० ।७ कं० । वहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि ध्रुवा पात्र में आठ बार करके उपभृत् में चार बार कर के जुहू में आज्यग्रहण होता है । चतुर्वार गृहीत जुहूस्थित आज्य प्रयाजकर्म्म का, एवं अष्टवार गृहीत उपभृतस्थ आज्य अनुयाजकर्म्म का सम्पादक बनता है । जुहूस्थित आज्य से क्रमशः समित्-तनूनपात्-इट् अवया-वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-इन तीन ऋतुदेवताओं का यजन तो बिना उपभृदाज्य से सम्बन्ध कराए केवल जुहूस्थित आज्य से ही कर लिया जाता है । चौथे बर्हिर्लक्षण शरद्याग के समय जुहू का उपभृत से सम्बन्ध कराना आवश्यक माना गया है । तीसरे प्रयाज के समाप्त होने पर जुहू में उपभृदाज्य लेकर ही चौथा प्रयाज होता है । ऐसा क्यों किया जाता है ?, इसी प्रश्न का स्थिति-प्रदर्शनपूर्वक समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—

"तृतीय प्रयाजयाग के समाप्त्यनन्तर वह अध्वर्यु चौथे 'बर्हि' नामक प्रयाज कर्म्म में (जुहू में उपभृत् से) आज्य ग्रहण करता है। बर्हि निश्चयेन (उत्तरोत्तर वृद्धणधर्म्म से) प्रजा है, आज्य रेत (वीर्य्य) है। (बर्हिर्याग में जुहू में उपभृत् से आज्य लेता हुआ) अध्वर्यु बर्हिरूप प्रजाओं में ही आज्यरूप रेत का सिञ्चन करता है (वीर्य्याधान करता है)। इस सिक्त रेत से (ही) प्रजाएँ पुनः पुनः जन्म लिया करती हैं। इसीलिए चौथे बर्हि नामक प्रयाज में (जुहू में उपभृत से) आज्य लेता है। (तात्पर्य्य वस्तुतः यह है कि, प्रयाजकर्म्म के लिए जुहू से पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं। अवश्य ही पाँच आहुतियों के लिए जुहूस्थित आज्यमात्रा अपर्य्याप्त है। अतएव प्रयाज-कर्म्म के मध्य में एक बार उपभृत् से आज्य लेना आवश्यक हो जाता है। कब लेना ?, यह प्रश्न है। वसन्तो ग्रीष्मो, वर्षाः ते देवा ऋतवः'-'शरत्-हेमन्त -शिशिरः, ते पितरः'-शत० २।१।३।१ इत्यादि श्रुति के अनुसार अग्निप्राणप्रधाना, अतएव देवदेवतात्मिका वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा इन तीन ऋतुओं का एक स्वतन्त्र आग्नेय विभाग है। एवं सोमप्राणप्रधाना अतएव पितृदेवतात्मिका-शरत्-हेमन्त-शिशिर,-इन तीन ऋतुओं का एक स्वतन्त्र सौम्य विभाग है। ऐसी स्थिति में वसन्त-ग्रीष्म-वर्षानुगत समित्-तनूनपात्-इट्-इन तीन प्रयाजों का तो अविच्छिन्नरूप से बिना उपभृत से दुबारा आज्य लिए ही यजन करना प्रकृतिसम्मत हो जाता है। चौथे प्रयाज से विजातीय बर्हि नाम की सौम्य ऋतु का उपक्रम होता है। अतएव इसी में आज्यग्रहण करना सुसङ्गत बनता है। इसके साथ ही निदान भाव से प्रजाओं में रेतःसेक भी हो जाता है, जो कि देवरसप्रजनन में अपनी प्रधानता रख रहा है। इसीलिए चतुर्थप्रयाज में ही आज्यसमानयन किया गया है, जैसाकि विवेचना प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है)॥ १६॥

(चतुर्थप्रयाज में आज्यग्रहण करना ऋतुस्वरूपानुगत बनता हुआ प्रकृत्यनुगत है, प्रजाओं में रेत का आधान करता है इन दो अभिप्रायों के अतिरिक्त इसके यहाँ ग्रहण का एक फल और भी स्वतः सिद्ध है। उसीका विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है)—जो अध्वर्यु इन पाँच प्रयाजों से (ऋतुओं का) यजन करता है, वह (पूर्वाख्यानानुसार सम्वत्सरमण्डल में प्रविष्ट शत्रुओं को पराजित करने के लिये) संग्राम ही ठान रहा है। दो दलों के संग्रामाभिमुख होने पर जिस एक दल को मित्रसेना का सहयोग प्राप्त हो जाता है, वह जीत जाता है। (ठीक इसी के अनुरूप यह आज्य-ग्रहणकर्म है)। इस आज्यग्रहणकर्म्म से जुहू को उपभृद्रूपरूप मित्र मिल जाता है। (जुहूस्थित आज्य यह सेनादल है, जिसे असुरपराभव करना है। उपभृत् स्थित आज्य यह मित्रसेना है जिसके सहयोग मिलने पर असुरपराभव निश्चित है) इसी मित्रसेना-सहयोग प्राप्ति के लिये (भी) चौथे 'बर्हि' नामक प्रयाज में ही आज्यसमानयन करता है॥१७॥

(प्रयाजकर्म्म यह संग्राम कर्म्म है जिसके द्वारा यजमान के स्वर्गफलभोक्ता देवात्मा के भोग्य सम्वत्सर में से असुरों को पराजित करना है। शत्रु को निर्बल बनाना ही शत्रुपराभव का मूल-कारण है। मित्रसेना की सहयोगप्राप्ति स्वस्थानस्थिति आदि अन्यान्य कारणों में से शत्रुपराभव का एक यह भी अन्यतम कारण माना गया है कि, शत्रुसेना में भेदनीति डालते हुए उसे अपनी सेना में मिला लेना। उसके दल को अपना भाग्य बना लेने से अवश्य ही वह निर्बल हो जायगा।

अजामिता के लिए ही । सिद्ध-को पुनः सिद्ध करना, उक्त को पुन कहना ही जामि दोष है । इस पुनरुक्त दोष की निवृत्ति के लिए व्यन्तु-व्यन्तु, अथवा वेतु-वेतु रूप से यजन न कर व्यन्तु-वेतु, इस रूप से यजन किया जाता है, यही तात्पर्य्य है । इसी तात्पर्य्य को स्पष्ट करती हुई श्रुति कहती है कि) यह अध्वर्यु (अपने इस यज्ञ में) जामि (पुनरुक्तदोष का समावेश) करेगा, यदि वह व्यन्तु-व्यन्तु-रूप से यजन करेगा, अथवा वो वेतु-वेतु-रूप से यजन करेगा । (जामि दोषनिवृत्ति के साथ साथ इस व्यन्तु वेतु विपर्य्यय का एक प्रासङ्गिक फल और भी है । यज्ञ से देवात्मा का प्रजनन अपेक्षित है । प्रजनन कर्म्म योषात्मक-स्त्री-भ्रूण, एवं वृषात्मक-पु भ्रूण, दोनों के दाम्पत्य-भाव पर निर्भर है । व्यन्तु इस बहुवचनान्त पद से, वेतु इस एकवचनान्त पद से प्रजननसाधक-योषावृषात्मक यह मिथुनभाव भी प्राप्त हो जाता है । 'तस्मादेकस्य पुरुषस्य बह्वया जाया भवन्ति' इत्यादि श्रुति के अनुसार योषात्मिका स्त्री बहुत्वधर्म्म से, एवं वृषात्मक पुरुष एकत्व से युक्त है । फलतः व्यन्तु से सम्प्रतिदान-सम्पत्द्वारा योषा का, तथा वेतु से वृषा का संग्रह हो जाता है । इसी प्रासङ्गिक फल का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहता है)—'व्यन्तु, यह (बहुवचनान्तपद अपने बहुत्वधर्म्म से) निश्चयेन योषा (की प्रतिकृति बनता हुआ योषाप्राण का समाहक) है, 'वेतु' यह (एकवचनान्त पद अपने एकत्वधर्म्म से) निश्चयेन वृषा (की प्रतिकृति बनता हुआ वृषाप्राण का समाहक) है । (व्यन्तु-वेतु रूप से किए जाने वाले प्रयाजयाग से योषा-वृषा के) मिथुनभाव से ही प्रजनन किया जाता है (प्रजननसम्पत्ति प्राप्त की जाती है)। इसलिए (अजामिता के लिए, एवं मिथुनभाव प्राप्ति के लिए, दूसरे शब्दों में पुनरुक्तदोष-निवृत्ति के लिए एवं प्रजनन-सम्पत्ति के संग्रह के लिए यह अध्वर्यु) 'व्यन्तु-वेतु' इस (विपर्य्यय क्रम) से (ही) यजन करता है (करना चाहिए) ॥ १५ ॥

(पञ्चऋतु के भेद से पाँच प्रयाज बतलाए गए हैं । इन में से शरद्यागात्मक बर्हिर्नामक चौथे प्रयाज की इतिकर्त्तव्यता में एक विशेष धर्म्म का अनुगमन किया जाता है । 'ध्रुवपमृति, प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्' तै० ब्रा० ३।३।६ इत्यादि कल्पश्रुति के अनुसार जुहू की आधारभूता उपभृत् नाम की स्रुक् में जो आज्य लिया जाता है, उस से ऋतुरूप प्रयाजकर्म्म, तथा छन्दोरूप अनुयाजकर्म्म दोनों की इतिकर्त्तव्यता पूरी की जाती है । पूर्व के २ प्रपाठकके ४ ब्राह्मण में भी यह स्पष्ट किया गया है कि, आज्यग्रहण ऋतु और छन्दोरूप प्रयाजानुयाजों के लिए ही होता है- 'अथ याज्याज्यानि गृह्णन्ते ऋतुभ्यश्चैव तानि, छन्दोभ्यश्च गृह्णन्ते"—शत० १।२ प्र० ।४ ब्रा० ।७ कं० । वहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि 'ध्रुवा' पात्र में आठ बार करके उपभृत् में चार बार कर के जुहू में आज्यग्रहण होता है । चतुर्वार गृहीत जुहूस्थित आज्य प्रयाजकर्म्म का, एवं अष्टवार गृहीत उपभृतस्थ आज्य अनुयाजकर्म्म का सम्पादक बनता है । जुहूस्थित आज्य से क्रमशः समित्-तनूनपात्-इट्-स्वरूप-वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-इन तीन ऋतुदेवताओं का यजन तो बिना उपभृदाज्य से सम्बन्ध कराए केवल जुहूस्थित आज्य से ही कर लिया जाता है । चौथे बर्हिर्लक्षण शरद्याग के समय जुहू का उपभृत् से सम्बन्ध कराना आवश्यक माना गया है । तीसरे प्रयाज के समाप्त होने पर जुहू में उपभृदाज्य लेकर ही चौथा प्रयाज होता है । ऐसा क्यों किया जाता है ? इसी प्रश्न का स्थिति-प्रदर्शनपूर्वक समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—

के, भोग्य के नीचे रखना होगा, जो महा अनिष्टकर है । ऐसा न हो अपितु यजमान अपने शत्रु से ऊँचा रहे, भोक्ता भोग्य के ऊपर रहे)—'तस्मादुत्तरां जुहूमभ्यूहति' ॥ ८॥

(१५ वीं कण्डिका से आरम्भकर २० वीं कण्डिका पर्य्यन्त ६ कण्डिकात्मक ब्राह्मण भाग में प्रयाजकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली ऋत्तु-हेतु, चतुर्थप्रयाज में आज्यसमानयन, अनवमर्श-पूर्वक समानयन, आज्यग्रहणान्तर जुहू का उत्तर अभ्यूहन आदि विशेषताओं का सोपपत्तिक निरूपण किया गया। अब स्वाहायागात्मक हेमन्तयाग नामक पाँचवें प्रयाज से सम्बन्ध रखने वाली विशेषता का एक ऐतिहासिक आख्यान के द्वारा विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है)—'(भौम स्वर्गनिवासी मनुष्यविध भौमदेवताओं ने प्रयाजों से सम्वत्सरमयकाल-प्रतिकृतिरूपा भौम-त्रिलोकी पर अपना अधिकार कर लिया। देवता जीत गए, असुर पराजित होगए। इस विजय प्राप्ति के अव्यवहितोत्तर काल में ही) उन देवदेवताओंनें परस्पर की मन्त्रणा से निश्चय कर अपना यह मन्तव्य प्रकट किया कि, क्या ही अच्छा हो (हन्त), यदि अपने (प्रयाजयागद्वारा) विजित (अपने अधिकार में आए हुए यज्ञ) को लक्ष्य बनाकर (इस प्रयाजयाग के साथ ही) सम्पूर्ण यज्ञकर्म्म पूरा कर डालें। (ऐसा करने से, यहीं यज्ञ को सर्वात्मना पूर्ण करने से फल यह होगा कि) यदि इसके अनन्तर (यज्ञपूर्णतासिद्धयनन्तर) असुर-राक्षस अपने (यज्ञ) पर आक्रमण करेंगे (विघ्न डालेंगे), तब भी अपना यह यज्ञ पूर्ण ही बना रह जाएगा । इसी निश्चय के अनुसार ॥ २१ ॥—

उन देवदेवताओंनें पाँचवें प्रयाजानुष्ठान में 'स्वाहा', कर से ही सम्पूर्ण यज्ञ पूरा कर लिया। 'स्वाहा अग्निम्' इससे आग्नेय आज्यभाग को पूरा कर लिया। 'स्वाहा अग्निम्' इससे, सो जो कि उभयत्र अच्युत आग्नेय पुरोडाश होता है—(विहित है) उसे पूरा कर लिया ॥२२॥—

(पौर्णमासेष्टि, किंवा दर्शेष्टि, के अनुरूप जो यजनीय देवता विहित हैं, उनका उसी) देवता-क्रमानुसार यजन कर लिया। 'स्वाहा देवा आज्यपाः' इससे प्रयाजानुयाज-देवताओं को पूरा कर लिया। प्रयाजानुयाज देवता ही (प्रसुख्य ही) तो (आज्याहुति के कारण) आज्यपा (घृतपान करने वाले) हैं। 'जुषाणोऽग्निराज्यस्य वेतु' इससे स्विष्टकृत् अग्नि को पूरा कर लिया। अग्नि ही स्विष्टकृत् है— 'अग्निर्हि स्विष्टकृत्'॥ (आख्यान का विशदीकरण वा विवेचना प्रकरण से ही सम्बन्ध रखता है। प्रकरणसङ्गति के लिए प्रकृत में इस सम्बन्ध में यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि, प्राकृतिक नित्य यज्ञ के आधार पर वितायमान वैधयज्ञ का अनुगमन सर्वप्रथम भौमस्वर्ग निवासी भौम-मनुष्यविध-देवताओंनें किया था। उनके यज्ञ कर्म्म पर मनुष्यविध असुर समय समय पर आक्रमण किया करते थे। कभी कभी इन असुराक्रमणों से भौमदेवताओं का यह यज्ञ कर्म्म अधूरा ही रह जाता था। इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए देवताओंनें जिस तात्कालिक प्रणाली का आविष्कार किया उसी का आख्यानद्वारा स्पष्टीकरण हुआ है। प्रयाजयागान्त में उस प्रणाली के अनुगमन से उनका यज्ञ एक प्रकार से इसलिए पूर्ण-हो गया कि कृत्स्न यज्ञ में जिन जिन देवताओं का यजन अपेक्षित है उन सबका स्वाहाकारात्मक पञ्चम प्रयाज कर्म्म में अनुप्रवेश है। अतएव स्वाहान्त पञ्चम प्रयाज पूर्णयज्ञ का प्रतिनिधि बन रहा है। मान लीजिए,

इसी एक और प्रयोजन का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है)—यजमान जुहू को लक्ष्य बना रहा है। यजमान के लिये जो शत्रुता करता है, वह (यजमान के शत्रुदल) उपभृत् को लक्ष्य बना रहा है। (अर्थात् जुहूस्थित आज्य निदानेन यजमान का सैन्यदल है, (उपभृत से जुहू में आज्य लेता हुआ (अध्वर्यु द्वेष करने वाले शत्रु (सेनादल को यजमान के लिये ही बलिरूप से आकर्षित करता है (शत्रुदल का यजमान दल में समावेश कराता हुआ यजमान को सशक्त बना रहा है)। अपिच (एक प्रयोजन यह भी है कि)—जुहू अत्ताभाव का, एवं उपभृत् आद्यभाव को लक्ष्य बना रही है। (उपभृत से जुहू में आज्यग्रहण करता हुआ) अध्वर्यु भोक्ता यजमान के लिये भोग्य सामग्री पहुँचा रहा है। (इसप्रकार प्रकृत्यनुगत ऋतुभाव, प्रजावर्ग में वीर्य्याधान, मित्रसेनाप्राप्ति, शत्रुदल की मित्ररूप में परिणति भोग्यसम्पत्प्राप्ति, इत्यादि अनेक दृष्टियों से चौथे प्रयाज में ही आज्यग्रहण करना अन्वर्थ बनता है)-'तस्माच्चतुर्थे प्रयाजे समानयति' ॥१८॥

(उपभृत्, और तत्रस्थ आज्य निदानेन शत्रुसैन्यदल है यह कहा गया है। साथ ही इस आज्य के समानयन का यह भी फल बतलाया गया है कि, शत्रुसैन्यदल का भेदनीति के द्वारा यह अपना भक्ति बना लेता है। भेदनीति से सम्बन्ध रखने वाला यह प्रकार तभी सफल होता है, जबकि सैन्यदल के सम्पर्क में न जाकर तटस्थ रहते हुये अपने स्थान में रहते हुए, पृथक् रहते हुये ही परोक्षरूप से उसे अपने दल में मिलाया जाय। निकटसम्पर्क में जाना शत्रुदल में फँसना है। और सम्भवतः ऐसा करना कभी कभी पराजय का कारण भी बन जाता है। इसलिये) वह अध्वर्यु। जुहू में उपभृत से आज्यग्रहण करने की कामना रखता हुआ) जुहू को उपभृत से पृथक् रखता हुआ ही आज्यसमानयन करता है। यदि वह अध्वर्यु जुहू को उपभृत् से मिला देगा, (स्पर्श कराता हुआ आज्यग्रहण करेगा) तो (अपने इस अवमर्शन से) वह शत्रु के साथ यजमान को मिला देगा (शत्रुसेना में अपनी सेना का बल डाल देने वाला बनता हुआ इष्टसाधन के स्थान में अनिष्ट करा बैठेगा)। (इसके अतिरिक्त इसी अवमर्शन से) यह अध्वर्यु अत्ता (भोक्ता) को आद्य से मिला देगा (भोक्ता को भोग्य के आधीन कर देगा, जबकि भोग्य का भोक्ता के आधीन रहना समृद्धि का कारण माना गया है। ऐसा न हो) इसलिये अनवमृशन् (जुहू का उपभृत् से स्पर्श न करता हुआ) ही आज्यग्रहण करता है (करना चाहिये) ॥१६॥

(उपभृत् के साथ स्पर्श न कराते हुये जुहू में जब उपभृत् से आज्य ले लिया जाता है, तो जुहू को किस स्थिति में रक्खा जाय ? यह जिज्ञासा इसलिये होती है कि जुहू-उपभृत् दोनों स्रुक्-सामान्यत्वेन सहयोगिनी मानी गई हैं। क्या जुहू को उपभृत् से अधःप्रदेश में अध्वर्यु हाथ में लिये रहे ? । श्रुति कहती है-नहीं। अपितु) आज्यग्रहणानन्तर (अब) वह अध्वर्यु गृहीताज्य उस जुहू को उपभृत् के ऊपर (उपभृत् से न मिलता हुआ) थामे रहता है (उपभृत् से ऊर्ध्व-प्रदेश में ही जुहू को हाथ में लिए रहना चाहिये)। (जुहू को ऊपरा रूप से रखता हुआ) अध्वर्यु असमानशत्रु की समुपस्थिति में यजमान को ऊँचा ही रखता है। अत्ता को आद्य की समुपस्थिति में ऊँचा ही रखता है। तात्पर्य्य, जुहू निदानेन यजमान है, भोक्ता है। उपभृत् यजमानशत्रु है आद्य है। ऐसी स्थिति में जुहू को उपभृत् से नीचे रखना-यजमान को, भोक्ता का यजमानशत्रु

(स्वाहाकृत, एवं वषट्कृत यज्ञ जैसे यातयाम–गतरस–बन जाता है, तद्वत् प्रयाजलक्षण यह इष्टिकर्म्म किंवा इष्टियज्ञान्तर्भुक्त प्रयाजकर्म्म भी वौषट्–स्वाहा–सम्बन्ध से यातयाम बन जाता है। वौषट्कार वाङ्मयतत्त्व के अवसान का सूचक है। एवमेव स्वाहाकार भी 'स्वं वाचमाह' निर्वचनानुसार वाङ्मय यज्ञ के अवसान का ही सूचक बन रहा है, जैसाकि निर्वचना प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। वागरस का वाङ्मय वषट्कार से, वाङ्मय स्वाहाकार से निर्गमन हो जाता है। यहां वाङ्मय यज्ञ का रसशून्य बन जाता है। ऐसा नीरस यज्ञ ह गतरस बनता हुआ यातयाम कहलाया है। वषट्–स्वाहा–से अपक्रान्त–द्युलोक की ओर गत–वाङ्मय–वागग्निमय–यज्ञरस यज्ञपूर्णता–समाप्ति के अनन्तर पुनः यजमानात्मा में प्रविष्ट हो जाय, इस पुनः रसप्रवेश से यातयाम यज्ञ पुनः यजमानात्मा–में प्रविस्ट होजाय, इस पुनः रसप्रवेश से यातयाम यज्ञ पुनः अयातयाम—वाग्रसपरिपूर्ण बन जाय, इन प्रयोजन के लिए एक 'स्विष्टकृद्याग' नाम का कर्म्मविशेष विहित है। वागग्नि ही शेषाहुति से तृप्त होकर यज्ञ को स्विष्ट'–रसयुक्त–बनाते हैं। अतएव इन्हें–'स्विष्टकृत्' कहा जाता है। अतएव तदाहुतिकर्म्म 'स्विष्टकृद्याग' कहलाया है। यज्ञ-प्रयाजकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली वौषट्–स्वाहा व्याहृतियों से आज प्रस्तुत यज्ञ भी यातयाम बन रहा है। स्विष्टकृद्याग होता है—यज्ञान्त में। ऐसी दशा में इस की वर्त्तमान यातयामता के निराकरण का क्या उपाय ?, इसी प्रश्न का वैविध्य कारणानुगत स्थिति–प्रदर्शनपूर्वक समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—

जिस प्रकार वषट्कृत हुए, स्वाहाकृत हुए (वौषट, स्वाहा पूर्वक दी जाने वाली आहुति से युक्त कर्म्म यातायाम बन जाता है, इसी प्रकार वौषट –स्वाहापूर्वक आहुति होने से प्रयाजान्त से संस्थित होने वाला) यह यज्ञ यातयाम ही रह गया (यज्ञ का वाग्रस द्युलोक की ओर चला गया) ॥२३॥

(इस प्रकार प्रयाजान्त में संस्थित–पूर्ण–होने वाले यज्ञ को वौषट्–स्वाहाकार के सम्बन्ध से यातयाम बना देख कर) उन भौम देवताओं नें यह कामना प्रकट की (विचार विमर्श किया) कि, अपन कैसे इस (नीरस) यज्ञ को पुनः आप्यायित (रस से परिपूर्ण) करें ?, (रस समावेश के द्वारा कैसे–किस पद्धति से इसे अयातयाम बनायें ?, एवं अयातयाम बने हुए यज्ञ से कैसे जीवन–यात्रा का निर्वाह करें ? ॥२४॥

अपनी उक्त कामनाओं को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिये, यातयाम यज्ञ को अयातयाम बनाने के लिये उन देवताओं ने यह किया कि) सो प्रयाजाहुति के अनन्तर जो आज्यमात्रा-जुहू में बची रह गई थी, जिस जुहूस्थित आज्य (आज्याहुति) से देवताओं नें (प्रयाजयाग के द्वारा) यज्ञ पूर्ण किया था, उसी (आहुत्यनन्तर बाकी बचे हुये तच्छेष) आज्य से ही यथापूर्व-(आग्नेय प्रयाज विहित आहुतियों की भाँति उत्तरदेवताओं के लिए) आज्य हवियों का आधार करते हुए (यातयाम बने हुए उन वाङ्मय देवों को) पुनः आप्यायित कर दिया अयातयाम बना दिया। आज्य (वागग्नि रसात्मक होने से) अवश्य ही अयातयाम रसपूर्ण होने से स्वयमपि अयातयाम

कोई ऐसा अप्रत्याशित विघ्न उपस्थित होगया, जिससे प्रयाजानन्तर यजमान अन्य यज्ञविकर्त्तव्यता पूरी न कर सका। क्या ऐसी स्थिति में उसका प्रयाजान्त कर्म व्यर्थ चला जायगा ?, पूर्णयज्ञ के द्वारा जो अतिशय इसे मिलने वाला था, क्या उससे यह सर्वथा वञ्चित रह जायगा ? । श्रुति कहती है—नहीं। पञ्चम प्रयाज में जिस इतिकर्त्तव्यता का अनुगमन किया जाता है, उसी से अंशतः इसे वह यज्ञातिशय प्राप्त होजाता है, जिसके लिए इसे प्रयाजानन्तर अन्यान्य शेष कर्म्म और करने पड़ते हैं। आसुर-विघ्नों से संत्रस्त भौमदेवता भी तो इसी प्रणाली से प्रयाजान्त कर्म्म से ही यज्ञेतिकर्त्तव्यता पूर्ण बना लेते थे)—

ठीक उसी प्रकार (प्रयाजान्त में विहित, भौमस्वर्गीय मनुष्यविध देवताओं के द्वारा आविष्कृत उसी प्रणाली—पद्धति—से (अपने प्रयाजान्त में अनुगमन से) आज भी (यजमान का) यह (इष्टिलक्षण वैध) यज्ञ उसी प्रकार (तथैव) पूर्ण हो जाता है, जैसे कि (जिस पद्धति के अनुगमन से) इस यज्ञ को (अपूर्ण भी यज्ञ को) भौमदेवताओं नें पूर्ण कर लिया था। (यही स्वाहाकारान्त अन्तिम पाँचवें-प्रयाज से सम्बन्ध रखने वाली पूर्व प्रतिज्ञाता विशेषता है। स्वाहास्मिका पद्धति से सम्बन्ध रखने वाली इस एक विशेषता के अनुगमन से प्रयाजान्त में ही यजमान का यह अकृत्स्न भी यज्ञ कृत्स्न बन जाता है) इसीलिए (अकृत्स्न भी यज्ञ की मध्य में ही-प्रयाजान्त में ही-कृत्स्नता सम्पादन के लिए) यह अध्वर्यु पाँचवें प्रयाज में 'स्वाहा-स्वाहा' पूर्वक जितनी भी हवि होती हैं, उन सब का यजन करता है। (यज्ञपूर्णताप्रवर्त्तक अन्यान्य सभी संभाव्य देवताओं के लिए आहुति देता हुआ, तद्द्वारा सर्वसंग्रह करता हुआ देवसर्वयाग का यजन करता है। इस (स्वाहा-स्वाहात्मिका सर्वदेवयजनात्मिका पञ्चम प्रयाजाहुति के प्रभाव) से यह अध्वर्यु पञ्च-प्रयाजयाग से) विजित यज्ञसम्पत्ति को सत्य बनाता हुआ सम्पूर्ण यज्ञ पूरा कर लेता है— 'तदु सर्वं यज्ञं संस्थापयति' ॥

(यह नियम है कि, जबतक यज्ञेतिकर्त्तव्यता पूर्ण नहीं हो जाती, तबतक गमनागमन-भाषण-स्पर्श-आदि के सम्बन्ध में विशेष नियमों का अनुगमन करना पड़ता है, जैसा कि— 'अनवमृशन्नसमानयति'—'न वै सर्वेण संवेदेत' इत्यादि आदेशों से स्पष्ट है। यज्ञ के पूर्ण होजाने पर इन नियम-बन्धनों की कोई आवश्यकता नहीं रहती। स्वाहाकारात्मक अन्तिम प्रयाज यागानन्तर यज्ञ पूर्ण होजाता है। अतएव इससे आगे जो भी शेष कर्म्म बच रहते हैं, उन के सम्बन्ध में नियम-बन्धन का विशेष महत्त्व नहीं रह जाता। उस अवस्था में यदि किसी किसी नियम का उल्लंघन हो जायगा तब भी कोई अनिष्ट न होगा, यही तात्पर्य्य है। इसी का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है)—(प्रयाजान्त कर्म्म यज्ञपूर्णताप्रवर्त्तक है, नियमानुगमन तत्पूर्णता-पर्य्यन्त ही अपेक्षित है) इसलिए इससे आगे (प्रयाजकर्म्मानन्तर होने वाले कर्म्मों में) ऋत्विक (किंवा यजमान) यदि (अपने स्वाभाविक अनुभाव से) कुछ विलोम (असावधानी) कर बैठे, तो उसे विशेष महत्त्व नहीं देना चाहिए। उसे तो (प्रयाजानन्तर) यह समझ लेना चाहिए कि, मेरा यह यज्ञ कर्म्म (तो प्रयाजयाग से ही) पूरा हो गया—"इरिष्टो यज्ञः, इति ह विद्यात्"।

प्रकरण में प्रकारान्तर से उस क्रमिक पद्धति का ही निरूपण हुआ है, जिसका पूर्वब्राह्मण के 'प्रयाजब्राह्मण' नामक तृतीय प्रकरण की ८ वीं कण्डिका से १४ वीं कण्डिका पर्य्यन्त ७ कण्डिकाओं में विभिन्न दृष्टिकोण से प्रतिपादन हुआ है। उस पूर्वपद्धतिप्रकरण म बतलाई गई उपपत्ति का प्रधान लक्ष्य आधिदैविक सम्वत्सरमयज्ञ था। एवं प्रकृत प्रकरण में बतलाई जाने वाली उपपत्ति का प्रधानतः आध्यात्मिक प्रपञ्च से सम्बन्ध है। पद्धत्यंश उभयत्र समान है, केवल उपपत्तिप्रदर्शन में विभिन्नता है। इस विभिन्नता को लक्ष्य बनाकर ही निम्न लिखित श्रुति-प्रकरण का समन्वय करना चाहिये—(सैषा प्रकरणसङ्गतिः)।

(१)—यह (अध्वर्यु नामक ऋत्विक् होताके-'समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्' इस समिद्देवताक याज्यामन्त्र के उच्चारण करने पर उसके 'वौषट्' उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के * समिद्ध-प्रज्वलित-भाग में जुहूस्थित आज्याहुति के द्वारा क्रमप्राप्त पहिले (समिधा-समित् नामक प्रथम प्रयाज) का यजन करता है (समिद्याग सम्पादन करता है)। (समिद्याग क्यों किया जाता है ?, प्रश्न की आध्यात्मिक उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है कि, स्रुगाश्रापनकर्म्म से दैवात्मा में जिन ६ आध्यात्मिक प्राणों का आधान हुआ है –, दैवात्मप्रतिष्ठित उन प्राणों के समिन्धन के लिए ही,-आध्यात्मिक-प्राणसमिन्धन के लिए ही-यह समिद्याग विहित है। इसी प्राणसमिन्धन कर्म्म का अपने शब्दों में स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है)— समिधाएँ निश्चयेन प्राण हैं। (इस समिद्यागकर्म्म से-प्रथमप्रयाज से) यह अध्वर्यु (दैवात्मा के आध्यात्मिक नौ) प्राणों को ही प्रज्वलित-जीवनीयरस से युक्त-करता है। (समिद्ध) प्राणों से ही यह पुरुष (शरीरपुराधिष्ठाता आत्मामध्य, आनखाग्रेभ्य सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त शरीराभिमानी चितेनिधेयाग्निमूर्त्ति प्राणात्मा—कर्म्मात्मा) समिद्ध है। (क्योंकि समिद्याग से यजमानात्मा के प्राणों का समिन्धन होता है, अतएव इस समिद्याग से आग्नेय ताप भी एक विशेष प्रक्रिया से हटाया जा सकता है, यही इस समिद्याग का काम्यफल माना गया है। प्राणसमिन्धन की कमी से ही प्राणाग्नि केन्द्र से विच्युत हो जाता है। प्राणाग्नि के केन्द्र से विच्युत होकर शरीराभिमुख बन जाने का ही नाम उपताप है, उपताप की चरमावस्था ही उष्णता-लक्षण सन्ताप-ज्वर-दाह-है। यदि इस समय यजमान उपतापी है यजमान को ज्वर है, तो समिद्याग के द्वारा वह हटाया जा सकता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है)-(क्योंकि पुरुषाग्नि प्राणों से समिद्ध रहता है, इधर समिद्याग प्राणसमिन्धक है) इसलिए यह अध्वर्यु (होता के द्वारा प्रयुक्त समिद्देवताक याज्यामन्त्र के साथ होने वाले अपने समिद्याग कर्म्मानुष्ठान काल मे यजमान से यह प्रैष करे (कहे) कि, हे यजमान ! तुम (समिद्द्वारा अपने प्राण-समिन्धन का ध्यान करते हुए) अपने शरीर को स्पर्श करो यदि यजमान उपतापी हो तब। (अर्थात् उपतापदशा में ही यजमान को

---

* 'समिद्धहोमेन होव समिद्धा (स्मुञ्जा वा) आहुतय'—शत० ७।५।२।७।

– "वा आऽपत्ता नव आहुत्यो (स्रुगाश्रापननिगदमन्त्रस्य) भवन्ति नवेमे पुरुष प्राणा"। एतानेवास्मिन् (यज्ञाभियजनकाले दैवात्मनि) एतत् (स्रुगाश्रापनकर्म्मणा) दधाति"—शत० १।५।२।५।

(अन्य यातयामों में भी रसप्रदान करता हुआ उन्हें भी अयातयाम बनाने वाला) है। (इसप्रकार सौम देवताओं ने परिशिष्ट-अयातयाम-आज्यागार्व से यातयाम यज्ञ को पुनः अयातयाम बना लिया। देवयज्ञपत् यजमान का प्रस्तुत प्रयाजान्त यज्ञ भी वौषट्-स्वाहा-द्वारा हुत होने से आज यातयाम बन गया) इसीलिये (इसे पुनः अयातयाम बनाने के लिए ही) उत्तम (पाँचवां) प्रयाजयाग करके (करने के अनन्तर हुतशेष आज्य से) यथापूर्व हवियों का आघार करता है। इस आघार कर्म से यह देवताओं को पुनः आप्यायित, अयातयाम करता है। आज्य (पूर्व कथनानुसार) अवश्य ही अयातयाम है-'अयातयाम ह्याज्यम्' ॥ (शेष आज्याघार से यातयाम यज्ञ आप्यायित होता हुआ अयातयाम बन जाता है) अतएव (यज्ञपद्धति में यह नियम बन गया है कि) जिस किसी भी देवता के लिये (देवात्मक यज्ञकर्म के लिए) ऋत्विक् हवि का विभाजन करता है (प्रदान करता है), उसके सम्बन्ध से तच्छेष के पुनः स्विष्टकृत (पवमानक अग्नि-विशेष) के लिये अभिघार करता है । (इस अभिघार से) वह उस यज्ञ को पुनः आप्यायित, अयातयाम बनाता है। यदि स्विष्टकृदग्नि के लिए (अयातयामसम्पत् प्राप्त्यर्थ) हवि का विभाजन पहिले से हो कर देता है, (तो उस अवस्था में) पुनरभिघार अनावश्यक है । (तात्पर्य्य इस कथन का यही है कि-कृत्स्न इष्टिकर्म में तो पहिले से ही स्विष्टकृदग्नि के लिए भाग नियत रहता है। अतः उसकी समाप्ति पर पुनरभिघार नहीं होता। अभिघार तो वहाँ आवश्यक है, जहाँ पहिले से स्विष्टकृदग्नि के लिए अवदान विहित नहीं है। प्रकृत स्थल ऐसा ही है। अतः यहाँ अवश्य ही अभिघार अपेक्षित है । जहाँ पहिले से अवदान नियत है, वहाँ आहुतिकर्म समाप्त्यनन्तर) अग्नि में और किसी हवि की आहुति की अपेक्षा नहीं रखता है। (अपेक्षा नहीं रह जाती)- "नो हि तत आद्रन हविषोऽनाहुतिं होष्यन् भवति" ॥२५॥

इति-प्रयाजब्राह्मणम् (३)

पाँचवें अध्याय में तीसरा, चौथे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण समाप्त

(१।५।३)—(१।४।४)

(१—त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में प्रथम ब्राह्मण समाप्त)

—१—

प्रथमकाण्ड में पाँचवें अध्याय में चौथा, चौथे प्रपाठक में पाँचवाँ ब्राह्मण

(१।५।४)—(१।४।५)

(२—त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्राप्त द्वितीय ब्राह्मण)

४—प्रयाजाघाराः (पद्धति)

प्रकृत ब्राह्मण में प्रयाजाघार (पद्धति) और प्रयाजानुसन्त्रय इन दो प्रकरणों का समावेश हुआ है, जिन्हें पूर्वब्राह्मणोक्त तीन प्रकरणों (१-प्रयाजबन्धु, २-ऋतुप्रैष, ३-प्रयाजब्राह्मण, इन तीन प्रकरणों) की दृष्टि से-४-५ वें प्रकरण माना जा सकता है। इनमें चौथे प्रस्तुत प्रयाजाघार

प्रकरण में प्रकारान्तर से उस क्रमिक पद्धति का ही निरूपण हुआ है, जिसका पूर्वब्राह्मण के 'प्रयाजब्राह्मण' नामक तृतीय प्रकरण की ८ वीं कण्डिका से १४ वीं कण्डिका पर्य्यन्त ७ कण्डिकाओं में विभिन्न दृष्टिकोण से प्रतिपादन हुआ है। उस पूर्वपद्धतिप्रकरण म बतलाई गई उपपत्ति का प्रधान लक्ष्य आधिदैविक सम्वत्सरसम्बन्ध था। एवं प्रकृत प्रकरण में बतलाई जाने वाली उपपत्ति का प्रधानतः आध्यात्मिक प्रपञ्च से सम्बन्ध है। पद्धत्यश उभयत्र समान है, केवल उपपत्तिप्रदर्शन में विभिन्नता है। इस विभिन्नता को लक्ष्य बनाकर ही निम्न लिखित श्रुति–प्रकरण का समन्वय करना चाहिये—(सैषा प्रकरणसङ्गति)।

(१)—यह (अध्वर्यु नामक ऋत्विक् होताके–'समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्' इस समिद्देवताक याज्यामन्त्र के उच्चारण करने पर उसके 'वौषट्' उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के ✱ समिद्ध–प्रज्वलित–भाग में जुहूस्थित आज्याहुति के द्वारा क्रमप्राप्त पहिले (समिधा–समित् नामक प्रथम प्रयाज) का यजन करता है (समिद्याग सम्पादन करता है)। (समिद्याग क्यों किया जाता है ?, प्रश्न की आध्यात्मिक उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है कि, सुगादापनकर्म्म से दैवात्मा में जिन ६ आध्यात्मिक प्राणों का आधान हुआ है –, दैवात्मप्रतिष्ठित उन प्राणों के समिन्धन के लिए ही,–आध्यात्मिक–प्राणसमिन्धन के लिए ही–यह समिद्याग विहित है। इसी प्राणसमिन्धन कर्म्म का अपने शब्दों में स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है)—समिधाएँ निश्चयेन प्राण हैं। (इस समिद्यागकर्म्म से–प्रथमप्रयाज से) यह अध्वर्यु (दैवात्मा के आध्यात्मिक नौ) प्राणों को ही प्रज्वलित–जीवनीयरस से युक्त करता है। (समिद्ध) प्राणों से ही यह पुरुष (शारीरपुराधिष्ठाता आखामभ्य', आनखाग्रेभ्य., सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त शारीराभिमानी चितेनिधेयाग्निमूर्त्ति प्राणात्मा–कर्म्मात्मा) समिद्ध है। (क्योंकि समिद्याग से यजमानात्मा के प्राणों का समिन्धन होता है, अतएव इस समिद्याग से आग्नेय ताप भी एक विशेष प्रक्रिया से हटाया जा सकता है, यही इस समिद्याग का काम्यफल माना गया है। प्राणसमिन्धन की कमी से ही प्राणाग्नि केन्द्र से विच्युत हो जाता है। प्राणाग्नि के केन्द्र से विच्युत होकर शारीराभिमुख बन जाने का ही नाम उपताप है, उपताप की चरमावस्था ही उष्णता–अथवा सन्ताप–ज्वर–दाह–है। यदि इस समय यजमान उपतापी है यजमान को ज्वर है, तो समिद्याग के द्वारा वह हटाया जा सकता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है)–(क्योंकि पुरुषाग्नि प्राणों से समिद्ध रहता है इधर समिद्याग प्राणसमिन्धक है) इसलिए यह अध्वर्यु (होता के द्वारा प्रयुक्त समिद्देवताक याज्यामन्त्र के साथ होने वाले अपने समिद्याग कर्म्मानुष्ठान काल में यजमान से यह प्रैष करे (कहे) कि, हे यजमान ! तुम (समिद्द्वारा अपने प्राण–समिन्धन का ध्यान करते हुए) अपने शरीर को स्पर्श करो यदि यजमान उपतापी हो तब। (अर्थात् उपतापदशा में ही यजमान को

✱ 'समिद्धहोमेन वै समिद्धा (स्रुचा वा) आहुतय'—शत० ७।५।२।७।

– "ता वाऽएता नव व्याहृतयो (सुगादापननिगदमन्त्रस्य) भवन्ति नवेमे पुरुषे प्राणाः। एतानेवास्मिन् (यज्ञक्रियायज्ञस्य दैवात्मनि)-एतत् (सुगादापनकर्म्मणा) दधाति"—शत० १।५।२।५।

स्पर्श करना चाहिए)। (साथ ही स्वयं अध्वर्यु भी यही भावना करे, इसी अध्वर्युकृत भावना को स्पष्ट करती हुई श्रुति कहती है)—यदि यह यजमान अस्वस्थ हो, तो अध्वर्यु भी यही आश्वासन ध्यान करे)। (क्योंकि, इस मेरे समयाग से प्राणसमिन्धन द्वारा यजमान का तार शान्त हो)। (अध्वर्यु के इस आश्वासन से, साथ ही अपनी भी भावना से) यह यजमान (अश्वमेध) समिद्ध हो जाता है। प्राण समिद्ध होते हुए केन्द्राभिमुख बनते हुए आत्मशान्ति के कारण बन जाते हैं)। यदि यजमान शीव (तापरहित, स्वस्थ) है, तो (उस दशा में न तो यजमान अपना स्पर्श ही करे, एवं न अध्वर्यु आश्वासन ही करे। (इस प्रत्यक्ष दृष्ट फल से भी हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, समिध अश्वमेध आध्यात्मिक प्राणों को समिद्ध करती हैं) अतएव (कहा जा सकता है कि) अपने इस समियाग से (अध्वर्यु यजमानात्मा में (स्थित) प्राणों का ही समिन्धन करता है। (पूर्व ब्राह्मण में प्रतिपादित आधिदैविक सम्वत्सर के प्रथम वसन्त पर्वसमिन्धन के साथ साथ) आध्यात्मिक प्राणसमिन्धन-फलप्राप्ति के लिए (भी) यह समियाग करता है ॥१॥

(२)—यह (अध्वर्यु समियाग के) अनन्तर (होता के-'तनूनपादग्न आज्यस्य वेतु वौषट्' इस तनूनपाद्देवताक याज्यामन्त्र के उच्चारण करने पर उसके 'वौषट्' उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के समिद्ध प्रदेश में आज्याहुति के द्वारा क्रमप्राप्त दूसरे) तनूनपात् (नामक प्रयाज) का यजन करता है। तनूनपात् निश्चय से रेत (वीर्य्य-शुक्र) है (क्योंकि सप्तम धातुभूत रेत ही शरीर को न गिरने देता हुआ तनूनपात् है)। (इस तनूनपाद्याग से) यह अध्वर्यु (देवात्मा में प्रजननधर्म्म के समावेश के लिए) रेतःसेक ही करता है। (पूर्व ब्राह्मण में प्रतिपादित आधिदैविक सम्वत्सर के द्वितीय ग्रीष्म पर्वसमिन्धन के-साथ साथ) आध्यात्मिक रेतःसेक प्राप्ति के लिए (भी) यह तनूनपाद्याग का अनुष्ठान करता है ॥२॥

(३)—यह (अध्वर्यु तनूनपाद्याग के) अनन्तर (होता के-'इडो अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्' इस इडुदेवताक याज्यामन्त्र के उच्चारण करने के अनन्तर उसके 'वौषट्' उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के समिद्ध प्रदेश में आज्याहुति के द्वारा क्रमप्राप्त तीसरे) इट् (नामक प्रयाज) का यजन करता है। इट् निश्चयेन प्रजा है। जिस समय-(नवमसातान्तर 'प्रसवपवन' नामक प्रसववायु की नोदना से, नवमास पूर्व योषाग्नि में वृषा द्वारा) सिक्त रेत (प्रजारूप से) उत्पन्न होता है (भूमिष्ठ बनता है), उत्पत्ति के अव्यवहितोत्तरक्षण से ही यह (उत्पन्न प्रजा) (अन्नकामना से) इडमयी-(अन्नमयी) सी बन कर अन्न की इच्छा करती हुई विचरने लगती है (उत्पत्त्यनन्तर ही अन्न की ओर प्रवृत्त हो जाती है)—(तनूपाद्याग के द्वारा सिक्त रेत का प्रजारूप से प्रजनन अपेक्षित है, प्रजनन उत्तरभावी, साथ ही इट्-अन्न-अभिमुख है। अतएव अन्नेच्छात्मक इस उत्तरभावी प्रजननकर्म्म के लिए ही तनूपाद्यागानन्तर इट्-याग आवश्यक है। पूर्वब्राह्मण में प्रतिपादित आधिदैविक सम्वत्सर के तृतीय वर्षापर्व समिन्धन के साथ उत्तरभावी आध्यात्मिक इस प्रजनन फल को ही लक्ष्य बना कर श्रुति कहती है कि) इस (इड्याग से) यह

अध्वर्यु (दिव्य प्रजा को) ही उत्पन्न करना है। इसीलिए (प्रजोत्पत्ति के लिए) इड्याग करता है ॥४॥

(४)—यह (अध्वर्यु इड्याग के) अनन्तर (होता के— बर्हिरग्न आज्यस्य वेतु वौषट् इस बर्हिर्देवताक याज्या मन्त्र के उच्चारण करने पर उसके वौषट् उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के समिद्ध प्रदेश में आज्याहुति के द्वारा क्रम प्राप्त चौथे) बर्हि (नामक प्रयाज) का यजन करता है। बर्हि निश्चयेन भूमा (बहुत्वसम्पत्ति से युक्त) है। (बर्हि—यज्ञ—का भूमाभाव इसके संख्या—बहुत्व पर, एवं गुणधर्म्म पर ही अवलम्बित है)। उत्पन्न प्रजा की भूमा प्रजावृद्धि रूप से भी अभीष्ट है एवं प्रत्येक प्रजा के बहुयशोभाव से भी अपेक्षित है। इड्याग से प्रजा उत्पन्न की गई है। अब अपेक्षित उभयविध भूमा—भाव का भी उत्पन्न प्रजा में आधान होना चाहिए। बर्हि भूमाधर्म्म से युक्त है। (पूर्वब्राह्मण में प्रतिपादित आधिदैविक सम्वत्सर के चतुर्थ शरत्–पर्व समिन्धन के साथ साथ) आध्यात्मिक इस भूमाभाव–फल प्राप्ति के लिए (भी) यह अध्वर्यु बर्हि का यजन करता है ॥४॥

(५)—यह (अध्वर्यु बर्हियोग के) अनन्तर (होता के–'स्वाहाग्निम् स्वाहा सोमम्, स्वाहाग्निम् स्वाहा देवाँ आज्यपान्, स्वाहाग्निं होत्रा जुषाणा अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्' इस स्वाहा देवताक याज्यामन्त्र के उच्चारण करने पर उसके 'वौषट्' उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के समृद्ध–प्रदेश में आज्याहुति के द्वारा क्रमप्राप्त पाँचवें) स्वाहा–स्वाहा (नामक प्रयाज) का यजन करता है। (वसन्त–ग्रीष्म–वर्षा–शरत–हेमन्त इन) पाँच ऋतुओं का निश्चयेन हेमन्त स्वाहाकार (अन्तिम पर्व) है। (अपने स्वाभाविक कटुस्पर्श से) हेमन्त ही इस (पार्थिव प्रजावर्ग को अपने वश में कर लेता है। इसीलिए (हेमन्ताक्रमण से स्वविकास–लक्षण स्वातन्त्र्य से ही) हेमन्त ऋतु में ओषधियाँ म्लान (मुकुलित) होजाती हैं वनस्पतियों के पत्ते झड़ जाते हैं, पक्षिगण अतिशयरूपेण क्षीणकाय बन जाते हैं, क्षीणकाय बनते हुए निर्जीव से बनकर आकाश से तथा अपने घोंसलों से ये (पक्षी) पट–पट नीचे गिरने लगते हैं, पुरुष–समुदाय मुण्डित केशपुरुष की भाँति हतश्री बन जाता है–(प्रतीत होने लगता है)। इसप्रकार (इन प्रत्यक्षदृष्ट स्थितियों के आधार पर यह कहा जासकता है कि) हेमन्त सम्पूर्ण पार्थिव प्रजावर्ग को अपने अधिकार में कर लेता है (किए हुए है)। जिसप्रकार एक समर्थ–श्रीमान् योग्य व्यक्ति अपने वर्ग पर अधिकार करता हुआ वर्ग के द्वारा श्री–विलास–सम्पत्ति, एवं अन्नाद–अन्नसम्पत्ति का अन्यतम भोक्ता बन जाता है एवमेव हेमन्तयागकर्त्ता भी अपने समाज का नेता बनता हुआ श्री–और अन्नाद्य का अन्यतम भोक्ता बन जाता है। हेमन्तयाग के इसी फल का अपने शब्दों में अभिनय करती हुई श्रुति कहती है)—यह यजमान जिस वर्ग (समाज) में रहता है उस वर्ग को श्री और अन्नाद्य के लिए स्वीकृत कर लेता है (उस समाज का अपने वश में कर तद्द्वारा अभीष्ट श्री–अन्नाद्य प्राप्त करने में समर्थ होजाता है) जोकि यजमान (साथ ही यजमानवत्त दक्षिणा से परिगृहीत प्रयाजकर्त्ता अध्वर्यु भी)

हेमन्त के (उक्त लक्षण) सर्वाधिपत्य को प्राप्त करता है। (हेमन्तयाग का आध्यात्मिक फल सर्वाधिकारभावप्राप्ति ही है, यही तात्पर्य्य है) ॥५॥

इति-प्रयाजाहुत (पद्धति)-(४)

प्रयाजानुमन्त्रण

प्रस्तुत प्रयाजकर्म्म में एक 'प्रयाजानुमन्त्रण' नामक कर्म्म-विशेष यजमान को करना पड़ता है। पाँच प्रयाजों के लिए होतृकर्म्म के पाँच याज्या मन्त्र हैं, जिनका पूर्व के प्रयाजाहुत प्रकरण में स्पष्टीकरण किया जाचुका है। पाँच याज्यामन्त्र 'प्रयाजमन्त्र' हैं। जिस समय १-२-३-४-५-क्रम से होता पाँच याज्यामन्त्रों का उच्चारण करता है उस समय प्रत्येक याज्यामन्त्र की समाप्ति पर यजमान भी एक एक निगदमन्त्र का उच्चारण करता है। यजमान इस मन्त्रपाठ से प्रयाज का अपने वैयात्मा के साथ सम्बन्ध कराता है। अतएव यजमानकर्म्म के ये मन्त्र 'प्रयाजानुमन्त्रण' कहलाए हैं। उन पाँचों प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों का स्वरूप निम्नलिखित है—

(१)-होता-"समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्"-यजमान-"इदं समिद्भ्यो न मम। एको मम एका तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः। त्विषिमान् भूयासम्" (समिदनुमन्त्रणम्—१)।

(२)-होता-'तनूनपादग्न आज्यस्य वेतु वौषट्'-यजमान' 'इदं तनूनपाते न मम। द्वौ मम द्वे तस्य यं च वयं०। अपचितिमान् भूयासम्' (तनूनपादनुमन्त्रणम्—२)।

(३)-होता-'इडोऽग्न आज्यस्य वेतु वौषट्'-यजमान-'इडमिड्भ्यो न मम। त्रयो मम तिस्रस्तस्य-यं च वयं०। यशस्वी भूयासम्' (इडनुमन्त्रणम्—३)।

(४)-होता-'बर्हिरग्न आज्यस्य वेतु वौषट्-यजमान-'इदं बर्हिषे न मम। चत्वारो मम चतस्रस्तस्य-यं च वयं०। ब्रह्मवर्चसी भूयासम्' (बर्हिरनुमन्त्रणम्—४)।

(५)-होता- स्वाहाग्निं स्वाहा सोमं स्वा० व्यन्तु वौषट्'-यजमान'-'इदमग्नये सोमाय, अग्नये० न मम। पञ्च मम न तस्य किञ्चन-यं च वयं०। भूमावो भूयासम्' (स्वाहानु-मन्त्रणम्—५)।

अबतक के ब्राह्मणभाग में होतृकर्म्म के प्रयाजमन्त्रों का एवं अध्वर्य्युकर्म्म के आहुति-कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली अन्यान्य विशेषताओं का पद्धति-प्रदर्शन-पुरस्सर निरूपण होचुका है। परन्तु अबतक यजमानकर्म्म-'प्रयाजानुमन्त्रण' मन्त्रों की उपपत्ति नहीं बतलाई गई है। अतएव शेष ब्राह्मणभाग में उस प्रयाजानुमन्त्रण की ही पद्धतिप्रदर्शन-पूर्वक उपपत्ति बतलाई जाती है। इस उपपत्ति से सम्बन्ध रखने वाला एक आख्यान सर्वप्रथम उद्धृत करती हुई श्रुति कहती है—

देवदेवता, और असुर, दोनों प्राजापत्य (प्रजापति की सन्तानें) परस्पर स्पर्द्धा (युद्ध) करने लगे । (दोनों ही) दस्त्र, तथा धनुषों से (एक दूसरे पर) विजय प्राप्त न कर सके (भौतिक शस्त्रबल से युद्ध का निश्चित परिणाम न निकल सका)। (अपने आयुधयुक्त युद्धक्रम में से) विजय लाभ न करते हुए दोनों नें यह निश्चय किया कि अरे भाइ (हन्त भला, अच्छा तो) अपन वागरूप ब्रह्म के माध्यम से ही जीतने की इच्छा करें (शास्त्रार्थ के द्वारा युद्ध का निर्णय करें)। (इस मन्त्रात्मिका वाक् के युद्ध में, वाचिक युद्ध में) अपन दोनों में से जो भी-(एक दूसरे द्वारा) प्रयुक्त वाक् का मिथुनभाव से अनुक्रमण द्वारा (युग्म द्वारा) अनुगत न करेगा यह हार जायगा, दूसरा (मिथुनभावानुगत दल) विजेता माना जायगा दोनों ने संधा (शर्त) मान ली (वर्तात)। (प्रस्तुत वाग्युद्ध में इन्द्र को ही योग्य अधिकारी मान कर) देवदेवताओं नें इन्द्र से कहा कि, (हमारी ओर से, देवमण्डली की ओर से) आप ही वाक्-शस्त्र का प्रयोग करें । ॥६॥

(देवप्रेरणानुमत) इन्द्र (ही वाग् युद्ध का प्रारम्भ करते हुए असुरों को लक्ष्य बनाकर) बोले-'एको मम' (हमारा एक है)। 'अस्माकमेका' (हमारी एक है) यह (प्रत्युत्तर में) असुर बोले । इस प्रथम (वाङ्मय) स्पर्द्धा कर्म्म से (प्रतिज्ञात संधा सार) दवदेवता, असुर, दोनों नें मिथुनसम्पत्ति प्राप्त कर ली । यह मिथु ही तो है जो 'एक' और 'एका' है । (योषा-वृषात्मक स्त्री-पुम्भाव का समन्वित रूप ही मिथुनभाव है । पुम्वाचक 'एक' से वृषात्मक पुम्भाव का, एवं स्त्रीवाचक 'एका' से योषात्मक स्त्रीभाव का संग्रह हो रहा है । दोनों के संग्रह से मिथुन-भाव गतार्थ बन रहा है, यही तात्पर्य्य है)॥७॥

(प्रथम मिथुनावाप्त्यनन्तर) 'द्वौ मम' यह इन्द्र बोले, एवं प्रत्युत्तर में 'अस्माक द्वे' यह असुर बोले । इस कर्म से (भी दोनो नें) मिथुन सम्पत्ति प्राप्त कर ली । यह मिथुन ही तो है, जो 'द्वौ' (पुम्वाचक शब्द) एवं 'द्वे' (स्त्रीवाचक शब्द) है ॥८॥

(द्वितीय मिथुनावाप्त्यनन्तर) 'त्रयो मम' यह इन्द्र बोले, एवं प्रत्युत्तर में 'अस्माक तिस्र' यह असुर बोले । इस कर्म्म से (भी दोनों नें) मिथुन सम्पत्ति प्राप्त कर ली । यह मिथुन ही तो है, जो कि 'त्रयः, और तिस्र' है ॥९॥

(तृतीय मिथुनावाप्त्यनन्तर) 'चत्वारो मम' यह इन्द्र बोले, एवं प्रत्युत्तर म 'अस्माक चतस्र' यह असुर बोले । इस कर्म्म से (भी दोनों न) मिथुन सम्पत्ति प्राप्त कर ली । यह मिथुन ही तो है, जो कि-'चत्वारः, और चतस्र' है ॥१०॥

(चतुर्थ मिथुनावाप्त्यनन्तर) 'पञ्च मम' यह इन्द्र बोले । (इन्द्र के इस वाङ्मय 'पञ्च' पद के प्रत्युत्तर के लिए) असुर कोइ साधन प्राप्त न कर सके । (क्योंकि 'चत्वार-चतस्र' से आगे-स्त्री-पुल्लिङ्ग भेदक लिङ्ग का ही अभाव है । अतएव) इससे आगे मिथुन का अभाव है । आगे तो-स्त्री-पुम्भाव दोनों के लिए) 'पञ्च-पञ्च' इस समान शब्द का ही प्रयोग होता है । (इस

हेमन्त के (एक सप्ताह) सर्वाधिपत्य को जान लेता है। (हेमन्तयाग का आध्यात्मिक फल सर्वाधिकारमात्रप्राप्ति ही है, यही तात्पर्य है) ॥५॥

इति-प्रयाजाधृत (पद्धति)-(४)

प्रयाजानुमन्त्रण

प्रस्तुत प्रयाजकर्म में एक 'प्रयाजानुमन्त्रण' नामक कर्म-विशेष यजमान को करना पड़ता है। पाँच प्रयाजों के लिए होतृकर्तृक पाँच याज्या मन्त्र हैं, जिनका पूर्व के प्रयाजाधृत प्रकरण में सम्प्रोकरण किया जाचुका है। पाँच याज्यामन्त्र प्रयाजमन्त्र हैं। जिस समय १-२-३-४-५-क्रम से होता पाँच याज्यामन्त्रों का उच्चारण करता है उस समय प्रत्येक याज्यामन्त्र की समाप्ति पर यजमान भी एक एक निगदमन्त्र का उच्चारण करता है। यजमान इस मन्त्रपाठ से प्रयाज का अपने देवात्मा के साथ सम्बन्ध कराता है। अतएव यजमानकर्तृक ये मन्त्र प्रयाजानुमन्त्रण' कहलाए हैं। उन पाँचों प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों का स्वरूप निम्नलिखित है—

(१)—होता-"समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्" -यजमान-'इदं समिद्भ्यो न मम। एको मम, एका तस्य यमहं द्वेष्मि योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः'। तिथिमान् भूयासम्' (समिदनुमन्त्रणम्—१)।

(२)—होता-'तनूनपादग्न आज्यस्य वेतु वौषट्-यजमान' 'इदं तनूनपाते न मम। द्वौ मम द्वौ तस्य यं च वयं०। अपचितिमान् भूयासम्' (तनूनपादनुमन्त्रणम्—२)।

(३)—होता-'इडोऽग्न आज्यस्य वेतु वौषट् -यजमान-'इदमिड्भ्यो न मम। त्रयो मम त्रिवस्तस्य-यं च वयं०। यशस्वी भूयासम्' (इडनुमन्त्रणम्—३)।

(४)—होता-'बर्हिरग्न आज्यस्य वेतु वौषट्-यजमान-'इदं बर्हिषे न मम। चत्वारो मम चत्वारस्तस्य-यं च वयं०। ब्रह्मवर्चसी भूयासम् (बर्हिरनुमन्त्रणम्—४)।

(५)—होता-'स्वाहाग्निं स्वाहा सोमं स्वा० व्यन्तु वौषट्-यजमान'-'इदमग्नये सोमाय अग्नये० न मम। पञ्च मम न तस्य किञ्चन-यं च वयं०। अमावो भूयासम्' (स्वाहानु-मन्त्रणम्—५)।

अबतक के भाष्यभाग में होतृकर्तृक प्रयाजमन्त्रों का, एवं अध्वर्युकर्तृक आहुति-कर्म से सम्बन्ध रखने वाली अन्यान्य विशेषताओं का पद्धति-प्रदर्शन-पुरस्सर निरूपण होचुका है। परन्तु अबतक यजमानकर्तृक-'प्रयाजानुमन्त्रण' मन्त्रों की उपपत्ति नहीं बतलाई गई है। प्रकृत शेष भाष्यभाग में उस प्रयाजानुमन्त्रण की ही पद्धतिप्रदर्शन-पूर्वक उपपत्ति बतलाई जारही है। इस उपपत्ति से सम्बन्ध रखने वाला एक आख्यान सर्वप्रथम उद्धृत करती हुई श्रुति कहती है—

(छठा अध्याय प्रारम्भ)

प्रथमप्रपाठक में छठ अध्याय में पहिला, चौथे प्रपाठक में छठा ब्राह्मण

(१।६।१)—(१।८।६)

(३—त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्राप्त तृतीय ब्राह्मण)

६—प्रयाजों का इष्टि में प्राथम्य

त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण के पूर्वोपात्त प्रथम ब्राह्मण में (१।५।३) आरम्भ के 'ऋतवो ह वै प्रयाजाः' इत्यादिरूप पञ्च-पञ्चकण्डिकात्मक भाग के द्वारा 'प्रयाजकर्म्म' (प्रयाजकर्म्मोपपत्ति) का प्रतिपादन हुआ है। यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि, यह पञ्च-प्रयाजयाग सम्वत्सर में मुख्य वसन्तादि पाँच ऋतुओं पर यजमानात्मा का अधिकार प्रतिष्ठित करने के लिए ही किया जाता है। वहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि, देवता और असुरों की पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा में देवताओं ने अपने विजय का साधन पाँच प्रयाजों को ही बनाया। इन पाँच प्रयाजों से (पञ्चप्रयाजयाग से) वे पञ्चर्तु की समष्टिरूप सम्वत्सर सम्पत् पर अपना अधिकार करने में समर्थ होगए। इस एक उपपत्ति से यह निष्कर्ष निकलता है कि, प्रयाजकर्म्म वस्तुतः ऋतुकर्म्म है। ऋतुओं का यजन ही प्रयाजयजन है। अब इस सम्बन्ध में यह जिज्ञासा होती है कि, सम्वत्सरयज्ञ में—जिसमें साम्वत्सरिक प्राणविध पृथद्देवताओं के भाग नियत हैं—ऋतुओं का (ऋतुदेवताओं का) क्या भाग है ?। दूसरी जिज्ञासा का अग्नि से सम्बन्ध है। समिद्ध आहवनीयाग्नि में इन ऋतुरूप प्रयाज-देवताओं के लिए आज्याहुति विहित है। यह समिद्ध अग्नि साम्वत्सरिक दिव्याग्नि का प्रतिरूप है। अतएव सिद्ध होजाता है कि, प्राकृतिक पञ्चर्तुओं का भी (अन्य देवदेवताओं की भाँति) अग्निदेव के साथ अवश्य ही कोई न कोई घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह अग्निसम्बन्ध भी प्रकृत में विजिज्ञास्य बन रहा है। इस अग्निसम्बन्ध-जिज्ञासा का यों भी अभिनय किया जा सकता है कि, ऋतुरूप पञ्च प्रयाजों के लिए होता की ओर से जो पाँच याज्यामन्त्र प्रयुक्त होते हैं, उन पाँचों ही मन्त्रों में 'समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु'—'तनूनपादग्न आज्यस्य वेतु०' इत्यादिरूप से 'अग्नि' का समावेश है। जबकि पाँचों मन्त्रों से सम्बन्ध रखने वाली पाँचों प्रयाजाहुतियाँ क्रमशः समित्, तनूनपात्, इट्, बर्हि, स्वाहा, इन पाँच प्रयाज-ऋतु-देवताओं के लिए ही विहित हैं, तो सर्वप्रथम याज्यामन्त्रों में 'अग्नि' पद का समावेश क्यों हुआ ?, क्यों-प्रयाजयागात्मक आज्य में अग्नि को भी भागहर माना गया ?। तीसरी जिज्ञासा का प्रयाज-प्राथम्य से सम्बन्ध है। प्रधानदेवतायाग ही 'इष्टिकर्म्म' है। इस इष्टिकर्म्म में ऋतुओं की तृप्ति के लिए तो प्रयाज कर्म्म विहित है एवं छन्दों की तृप्ति के लिए अनुयाज कर्म्म विहित है। इन दोनों में प्रयाज कर्म्म प्रधानदेवता-यागलक्षण इष्टिकर्म्म से पहिले होता है, अनुयाजकर्म्म इष्टिकर्म्म से पीछे। यह जिज्ञासा भी स्वाभाविक है कि, प्रयाजकर्म्म का इष्टिकर्म्म में प्राथम्य क्यों है ?। इन तीनों जिज्ञासाओं का प्राकृतिक आधिदैविक ऋतुयज्ञ से ही सम्बन्ध है, तद्विज्ञान ही इस जिज्ञासात्रयी का तात्त्विक समाधान है। प्रस्तुत-ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका से आरम्भ कर १५ वीं

यहाँ आकर पूर्व प्रतिज्ञात संधा के अनुसार इन्द्रप्रमुख 'पञ्च' के मिथुन की पूर्ति करने में असमर्थ रहते हुए) असुर अपना सर्वस्व (पहिले के चार मिथुन भाव भी) हार गए। उधर देवदेवताओं ने (मिथुन मर्यादानुगमन से) असुरों का भी सर्वस्व जीत लिया। सम्पूर्ण मिथुनों से (तद्रूप प्रयाजकर्म्मों से) सपत्न असुरों को भागरहित बना दिया ॥११॥

(क्योंकि प्राकृतिक प्राणयज्ञ में देवासुर-स्पर्द्धा में मिथुनभाव के द्वारा देवदेवता असुरों के पराभव में समर्थ हुए हैं। *अतएव इस पञ्चप्रयाज कर्म्म में भी प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों में क्रमशः* 'एक-एक' इत्यादि मिथुन-भावात्मक पदों का समावेश कराता हुआ मिथुनसम्पत्ति-अनुपपत्त्यात्मिका पाइ यह सम्पत्ति-पर अपना अनन्य अधिकार जमा लेता है। यही अनुमन्त्रण-मन्त्रों की, एवं तत पठित-'एकः-एक' आदि मिथुनभावों की मौलिक उपपत्ति है, जिसका वैज्ञानिक विश्लेषण तत्प्रकरणानुगत विवेचना-प्रकरण में किया जायगा। प्राकृतिक मिथुनभाव के आधार पर प्रतिष्ठित इसी प्रयाजानुमन्त्रणकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाती हुई श्रुति कहती है)—

इसलिए (पूर्वोक्त मिथुनभावावाप्ति के लिए) उस यजमान को प्रथम प्रयाज समाप्त होने पर यह (प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्र) बोलना चाहिए कि-'एको ममैस्येका तस्य, यमहं द्वेष्मि' (एक मेरा है, एक उनकी है, जिससे मैं द्वेष करता हूँ)*। यदि यजमान किसी को अपना व्यक्तिगत शत्रु नहीं मानता है, व्यक्तिगत द्वेष नहीं करता है, तो उस अवस्था में ('यमहं द्वेष्मि' न बोल कर)— 'योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्मः' (जो हम से द्वेष रखता है, जिसके प्रति हम सहज वैर रखते हैं) यह बोलना चाहिए (इस १२ वीं कण्डिका के अनुवाद से ही १३, १४, १५, कण्डिकाओं का, एवं सोलहवीं कण्डिका के पूर्वसमुद्धित भाग का अनुवाद गतार्थ बन रहा है ॥ १३, १४, १५, ॥

यह यजमानशत्रु (पाँचवें प्रयाज में यजमान के द्वारा प्रयुक्त—'पञ्च मम—न तस्य-किञ्चन, योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्मः' इस प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्र के द्वारा) केवल पञ्च-पञ्च करता हुआ ही रह जाता है। उसे मिथुनसम्पत्ति उपलब्ध ही नहीं होती)। परिणाम स्वरूप वह यजमान अपने शत्रुवर्ग का सब कुछ छीन लेता है, सर्वसम्पत्ति से सपत्नों को भागरहित (वञ्चित) कर देता है, जो यजमान प्रयाजानुमन्त्रण से सम्बन्ध रखने वाले मिथुन विज्ञान को जानता हुआ तत्प्रयोग करता है ॥१६॥

इति-प्रयाजानुमन्त्रणम् (५)



पाँचवें अध्याय में चौथा, चौथे प्रपाठक में पाँचवा ब्राह्मण समाप्त
२—त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्राप्त द्वितीय ब्राह्मण समाप्त
(पाँचवाँ अध्याय समाप्त)



* जिसके साथ द्वेष हो, उस का- अमुकशत्रु -अमुकशत्रु -सोमशत्रु -सोमदत्तात्मक शत्रु, इत्यादि रूप से उस शत्रु के नाम का समावेश कर देना चाहिए।

(अपने शत्रु की समृद्धि सुन सुन कर विपक्षीदल को अन्तर्वेदना का स्वाभाविक अनुभव हुआ करता है। यदि किसी से बदला लेना हो, तो उसे चाहिए कि, वह उसके शत्रुदल में मिल जाय। और उससे मिल कर उसके उस समृद्धिकर्म्म में अपना सहयोग देकर उस समृद्धि को और भी अधिक समृद्ध बनावे, जिस समृद्धि को सुनने मात्र से विपक्षी दल की वेदना वृद्धिगत हो जाती है। ऋतुओं नें इसी पथ का आश्रय लिया। असुरमण्डल की ओर आगत) ऋतुओं नें (असुरों के लिए) उस समृद्धि को (और भी अधिक) समृद्ध करना आरम्भ किया, जिस (असुरसमृद्धि) को देवता सुना करते हैं (सुन कर व्यथित हुआ करते हैं)। (ऋतुओं के द्वारा असुरों की पूर्वसमृद्धि में क्या विशे षता उत्पन्न हो गई ? प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि)—जिस परायुग में इन असुरों के पूर्वज (ऋतुओं के अनुकूल सहयोग न मिलने से) जिस समय (मोसम में) हल जोत थे (हल जोत कर) बीज बखरते थे (इस प्रकार हल जोत कर बीज डाल कर बड़े परिश्रम से थोड़ा बहुत अन्न उत्पन्न कर येनकेनरूपेण बड़े कष्ट से अपना निर्वाह करते थे, उन्हीं असुरों के) वंशज (अपरे)—इन ऋतुओं के अनुग्रह से आज उसी मोसम में) कुछ तो धान काट रहे हैं, कुछ कटे हुए धानों को बैल आदि से लुंदवा रहे हैं। इस प्रकार (ऋतुओं के अनुग्रह से आज) इन-असुर प्रदेशों में बिना ही हल जोते पुनः पुनः ओषधि याँ पक रही हैं। (तात्पर्य्य ऋतु-अनुग्रह से पहिले जिन इन असुरों के पूर्वजों को जिस मौसम में हल जोत कर बड़े कष्ट से अन्न उत्पन्न करना पड़ता था, आज उनके वंशज असुर ऋतुओं के अनुग्रह से उस मौसम में तो धान का संग्रह कर लेते हैं। साथ ही इन्हें हल जोतने का भी कष्ट नहीं उठाना पड़ता। ऋतु-अनुग्रह से बिना हल जोते ही इनके देश में पर्य्याप्त अन्नसम्पत्ति उत्पन्न होती रहती है। यही यह प्रभूत समृद्धि है, जिसे सुन सुन कर देवता व्यथित हो सकते हैं ॥ ३ ॥

(वृषदेवताओं के समीप भी कर्णाकर्णिद्वारा ये समाचार पहुँचे। यही हुआ, जो होना चाहिए था)। असुरसमृद्धि सुन कर देवदेवताओं को बड़ा पश्चात्ताप (ताप) हुआ। (इन्होंनें प्रज्ञापराध-जनित इस पश्चात्ताप को इन शब्दों में प्रकट किया कि)—हमारे इस (ऋतुओं को उनके न्यायप्राप्त भाग न देने के) कारण (हीं) आज शत्रुदल-(असुरलोग) अपने शत्रुदल (देवदल) के प्रति (स्पर्द्धापूर्वक) शत्रुता करना चाहता है (अर्थात् हम से उपेक्षित ऋतुओं के बल से ही समृद्ध बन कर आज वे असुर यहाँ तक समर्थ हो गए कि व-खुल्लमखुल्ला हम से युद्ध करने के लिए सन्नद्ध हैं। आज असुरों का यह साहस हो गया है कि, वे प्रत्यक्ष में हम से शत्रुता रखते हुए भी नहीं डर रहे। वास्तव में) ऐसा हो जाना बहुत ही कमी है—(कनीय इन्तु-लज्जा की बात है)। ऋतुओं के अनुग्रह से आज असुर बलवान् बन गए हैं। अतएव प्रत्यक्ष में इनसे मुठभेड़ करना तो और भी पश्चात्ताप का कारण होगा। अतएव अब तो) आप सब (मिलकर) वैसा कोई (अप्रत्यक्ष सहज) उपाय निकालिए, जिससे असुर लोग अपनी इस (वर्त्तमान समृद्ध स्थिति से विपरीत (असमृद्ध-निर्बल) अवस्था में (स्वत एव) पहुँच जाँय ॥ ४ ॥

कण्डिका पर्य्यन्त इसी जिज्ञासा-त्रयी का सोपपत्तिक विश्लेषण हुआ है। अतएव पञ्चदशकण्डिकात्मक इस ब्राह्मण भाग का एक स्वतन्त्र प्रकरण माना जासकता है, जिसे हमनें— प्रयाजों का दृष्टि में प्राधान्य' नामकरण अन्वर्थ माना है। १६ वीं कण्डिका से आरम्भ कर १८ वीं कण्डिका पर्य्यन्त तीन कण्डिकाओं में 'अभिचार' कर्म्म का निरूपण हुआ है, यही प्रकृत ब्राह्मण का कण्डिकात्रयात्मक द्वितीय करण है। १६ वा कण्डिका में फलश्रुति का विश्लेषण हुआ है, यही एक कण्डिकात्मक तृतीय प्रकरण माना गया है। १६, २०, इन दो कण्डिकाओं में प्रयाज कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले परिशिष्ट आज्य-देवतादि प्रश्नों का विमर्श हुआ है, यही प्रस्तुत ब्राह्मण का-'परिशिष्ट प्रश्नोत्तरविमर्श' नामक अन्तिम प्रकरण है। सम्भूय २१ कण्डिकात्मक प्रकृत तृतीय प्रयाजब्राह्मण में ४ अवान्तर प्रकरण हुआत हैं, जिन्हें पूर्वब्राह्मण-त्रयी में प्रतिपादित ५ प्रकरणों की क्रमिक संख्या के अनुरोध से क्रमशः ६, ७, ८, ६, ये प्रकरण माना जासकता है। इस प्रकरणसङ्गति को लक्ष्य बना कर ही प्रकृत ब्राह्मणानुवाद का समन्वय करना चाहिए— (सैषा प्रकरणसङ्गतिः)

(प्रयाजयाग ऋतुयाग है, इसका प्राकृतिक सम्वत्सरामिनयज्ञ में एक विशेष-प्रथम-स्थान है, इसी आधिदैविक तत्त्व का एक वैज्ञानिक आख्यान के द्वारा विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है)—(वसन्तादि पाँचों याज्ञिक) ऋतुओं ने (प्राणविध) देवताओं के साथ यज्ञ (सम्वत्सराग्निलक्षण सोमगर्भित ज्योतिष्टोमयज्ञ) में (अपना भी) भाग चाहा (अर्थात् जिस प्रकार देव देवताओं का यज्ञाग्नि में भाग है, एवमेव ऋतुओं नें भी उसके भागीदार बनने की देवदेवताओं से कामना प्रकट का। अपनी इसी कामना को प्रकट करते हुए ऋतुओं नें देवदेवताओं से अनुरोध किया कि) आप लोग इस यज्ञ में हमें भी भागी (हिस्सेदार) बनाइये !, हमें इस यज्ञ (भाग) से वञ्चित न कीजिए !, (हम चाहते हैं कि, आप लोगों की भाँति) इस यज्ञ में हमारा भी भाग रहे ॥ १ ॥

(जिसप्रकार किसी आगन्तुक सम्पत्ति-मोक्ता, सम्पत्तिभाग-कामुक के आ जाने से, उसके विभाग माँगने पर स्वाभाविक वित्तलोभ के आकर्षण से लोक में सम्पत्ति का प्रथमभोक्ता आगन्तुक की उस न्यायप्राप्त माँग की उपेक्षा कर देता है, सुनी अनसुनी कर देता है ठीक इसी लौकिक वित्त-स्थिति के अनुसार ऋतुओं के द्वारा यज्ञभाग माँगने पर) देवताओं नें ऋतुओं की उस (न्यायप्राप्त माँग-कामना को) न पहिचाना—सुन कर भी ऐसी उपेक्षावृत्ति दिखलाई जैसे उन्होंनें कुछ सुना-जाना ही न हो)। देवताओं की उपेक्षावृत्ति का ऋतुओं की न्यायप्राप्त माँग ठुकरा देने का यही परिणाम हुआ, जो आज भी प्रत्यक्ष में देखा सुना जाता है। यदि किसी को अपना न्यायप्राप्त अधिकार माँगने से भी नहीं मिलता जो वस्तुतः बिना माँगे भी मिल जाना चाहिए, तो उस अवस्था में माँगने वाले का आत्मा विद्रोही बन कर उस वित्तमोगी-भोगरोगी के प्रति द्वेषी-शत्रुदल में जा मिलता है। यही ऋतुओं नें किया। इसी प्राकृतिक धर्म्म का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है) प्राणविध देवदेवताओं के इसप्रकार (अपनी माँग के) न जानने पर (उपेक्षा करने पर) वे ऋतुएँ (उत्पन्न स्वाभाविक आत्मविद्रोह के कारण) देवदेवताओं के सहज शत्रु, भ्रातृव्य असुरों की ओर लौट आईं असुरदल में समाविष्ट हो गईं)॥२॥

(देवताओंनें अग्नि का–'न त्वामायतनाच्च्यावयाम' इत्यादिरूप से धार्मिक सन्तोष तो करा दिया, परन्तु इस से समस्या अधिक क्लिष्ट बन गई। 'प्रथमयजन' कर्म्म एकबार ही सम्भव है। ऋतुओं का प्रथमयजन कर लिया जाय, अथवा तो अग्नि का प्रथम यजन कर लिया जाय। अग्नियजन हो चुका है। यदि इन्हें इसी स्थान पर प्रतिष्ठित रखना है, तब तो ऋतुओं का प्रथमयजन असम्भव हो जाता है। यदि ऋतुओं का प्रथमयजन किया जाता है, तो अग्नि के प्रथम भाग के अपहरण के अतिरिक्त अन्य उपाय का अभाव है। फलस्वरूप अग्निदेव के साथ की गई प्रतिज्ञा का निर्वाह असम्भव हो जाता है। इस जटिल अवस्था के निराकरण के लिए देवदेवताओं के ध्यान में एक उपाय आया। उन्होंनें यह निश्चय किया कि, प्रथमयजन का प्रलोभन प्रथम भागहर अग्नि के द्वारा ही ऋतुओं के समीप पहुँचाना चाहिए। परिणाम यह होगा कि, ऋतुदेवता अग्निदेवता को प्रथम यजनरूप प्रिय भाग का खाने वाला समझ कर इनसे अवश्य ही यह कहेंगे कि, जब आप अपना प्रथम यजन उपेक्ष्य मान कर हमें प्रथम भागहर बनाने का त्याग कर रहे हैं, तो हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि, हम अपने इस प्रथम यजन से आपको पृथक् न करें अपितु आपको भी अपने प्रथम यजन कर्म्म में ही समावेश करलें। इस प्रकार ऋतुदेवताओं का भी प्रथम यजन हो जायगा, साथ ही ऋतुयाग में समाविष्ट होने से अग्निदेव का प्रथम यजन भी सुरक्षित रह जायगा। इसी भाव का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—)

(एक मन्त्रणा के द्वारा एक निश्चय कर) देवदेवताओंनें अग्निदेव से कहा कि, (हे अग्निदेव!) जाइए, (और) आप ही उन (असुरप्रविष्ट) ऋतुओं को निमन्त्रित कीजिए। (प्रेरणानुसार अपने स्वाभाविक आह्वानलक्षण होत्र-धर्म्म की अपेक्षा से) अग्निदेव (वहाँ पहुँचे, वहाँ) पहुँच कर (उन ऋतुओं से) अग्नि कहन लगे, कि, हे ऋतुदेवताओ! मैंनें देवताओं के यज्ञ के प्रति आपका भाग जान लिया है (अर्थात् देवताओं के इस निश्चय की मैं आपको सूचना देने आया हूँ कि, वे अपने यज्ञ में आपको प्रथम भागहर बनाने के लिए सन्नद्ध हैं)। (ऋतुदेवताओं का पहिले अपमान हो चुका था। अतएव वे तबतक सन्तुष्ट नहीं होने वाले थे, जब तक कि, उनके सामने पहिले यज्ञभाग से बढ़ कर कोई प्रिय साधन देवताओं की ओर से देने का निश्चय नहीं हो जाय। उन्होंने सोचा कि, यदि वे केवल यज्ञभाग ही देना चाहते हैं तब तो अपन लौटेंगे नहीं। हाँ यदि वे प्रथम भागहर बनाना निश्चित कर चुके हैं तो अपना मान सुरक्षित रह सकता है, फलतः मानपूर्वक ही वहाँ लौटना भी श्रेयस्कर बन सकता है। साथ ही भागविभक्ति के समय व यह भी देख चुके थे कि प्रथमभाग अग्निदेव को मिल चुका है। वे ही अग्निदेव अपना भाग छोड़कर उसे हमें देने आए होंगे, इसकी कोई सम्भावना है नहीं। और बिना प्रथमभाग के अपन लौटेंगे नहीं। इसी आशङ्का के स्पष्टीकरण के लिए अग्निदेव के द्वारा निमन्त्रित ऋतुदेवता अग्निदेव से पूँछने लगे कि, हे अग्निदेव! देवताओं के यज्ञ के प्रति) आपने कैसे (हमारा भाग) जान लिया (अर्थात् देवताओंनें हमें पहिले के समान केवल भागहर बनाना ही निश्चित किया है अथवा वे हमें प्रथम भागहर बनाने के लिए सन्नद्ध हैं?)। ऋतुदेवताओं की इच्छानुसार देवसंकल्प का स्पष्टीकरण करते हुए अग्निदेव कहन

(सभी यह जानते थे कि, ऋतुओं को उनका न्यायप्राप्त भाग न मिलने से वे असुरों में जा मिलीं, परिणामस्वरूप असुर समृद्ध होगए। अब उन्हें अप्रत्यक्ष रूप से निर्बल बनाने का भी यही उपाय हो सकता है कि, जैसे बन तैसे ऋतुओं को वापस लौटा लिया जाय । परामर्श के द्वारा यह निश्चय कर) देवदेवता (अपना मन्तव्य प्रगट करते हुए) कहने लग कि, अपन (इस संकट से बचने के लिए असुरदल में पहुँच जाने वाली) ऋतुओं को ही निमन्त्रित करें (आदर-पूर्वक ऋतुओं को ही वापस बुलाना चाहिए। उपाय निकल आया। परन्तु किस साधन से (किस प्रलोभन से) उन्हें बुलाया जाय ?, यह समस्या आपड़ी। समस्या का कारण यही था कि, ऋतुएँ देवताओं से विरक्त होकर ही गई थीं। उन्हें अपन प्रिय यज्ञ में भाग नहीं मिला था। आज भी वे लौट सकती हैं। परन्तु प्रलोभन ऐसा होना चाहिए, जो पूर्वप्रलोभन से भी विशिष्ट हो। वह यही हो सकता है कि, जिस यज्ञभाग की उन्हें कामना थी, स्वाभाविक प्रलोभन था, उसका प्रथम भागहर ऋतुओं को ही बनाया जाय। अवश्यमेव इस विशिष्ट प्रलोभनाकर्षण से वे वापस लौट आएँगी। इसी तात्पर्यार्थ का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है कि)—अपन इन ऋतुओं का इस यज्ञ में सर्वप्रथम ही यजन करें (अर्थात् पहिला भाग इन्हें ही दिया जाय— आपको प्रथमभाग मिलेगा, यही सन्देश ऋतुओं के पास भेजा जाय। विश्वास है, इस साधन से अवश्य ये हमारी ओर आजाएँगी) ॥४॥

(देवमण्डल में वे अग्निदेव भी समुपस्थित थे, जिन्हें यज्ञ में देवतालोग सब से पहिला भागहर मानते आरहे हैं। ऋतुयाग से भी पहिले अग्नि का ही प्रथम यजन होता आया है। जब अग्नि ने यह निर्णय सुना कि, ऋतुप्रवर्ग प्रयाजों का ये लग प्रथम यजन करने वाले हैं, तो उन्हें अपने प्रथमाधिकार की चिन्ता हुई। इसी चिन्ता को व्यक्त करते हुए) अग्निदेव बोल पड़े कि—(हे देवदेवताओं !) आपने जो कि पहिले (प्रयाजयाग से भी पहिले) मेरा यजन किया है (पहिला भागहर बनाया है) वह मैं (यज्ञ में) कहाँ प्रतिष्ठित रहूँगा (अग्नि को भय यह हुआ कि, मुझे इन्होंने यज्ञ का प्रथमभाग पहिले से दे दिया है। आज ये ऋतुओं को भी प्रथम भाग देना चाहते हैं। कहीं ऐसा न हो कि, मेरा भाग छीन कर ऋतुओं को दे दिया जाय। यदि कहीं ऐसा हो गया, तो मेरी प्रतिष्ठा ही विच्छिन्न हो जायगी। देवताओं ने अग्निदेव की इस चिन्ता को हटाते हुए आश्वासन दिया कि) अग्निदेव ! (आप चिन्ता न करें) हम आपको अपने आयतन (प्रथमभागलक्षण प्रतिष्ठास्थान) से कभी न गिराएँगे। (देवताओं का यह आश्वासन अवश्य ही सुरक्षित रहता है। अग्निदेव का प्रथमभाग अक्षुण्ण ही बना रहता है। इसी स्थिति का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है कि) उन देवदेवताओं ने (प्रथमभाग प्रलोभन-साधन से) ऋतुओं को बुलाते हुए (भी उन्हें प्रथमभाग देते हुए भी) क्योंकि अग्निदेव को अपने उनके आयतन से (प्रथमभाग से) च्युत नहीं किया, अतएव (तब से, इसी अच्युत-भाव से) ये अग्निदेव 'अच्युत' नाम से ही प्रसिद्ध होगए। (जिनके लिए कमकमाच्युत आग्नेय पुरोडाश विहित है)। वह याज्ञिक भी अपने उस आयतन से कभी च्युत नहीं होता है, जिस आयतन में वह प्रतिष्ठित रहता है, जो कि इस अच्युत अग्नि को (अग्नि के इस अच्युत धर्म को) जानता है ॥६॥

(पूर्वप्रकरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि, प्रयाजदेवताओं का यजन पहिले होता है। इस निष्कर्ष के सम्बन्ध में-एक पूर्वपक्ष उपस्थित किया जा सकता है। पूर्व के 'होतृप्रकरण ब्राह्मण' में (१।४।२) वरणात्मक मन्त्रों की व्याख्या करते हुये श्रुति ने देवाह्वानकर्म्म का क्रमिक विश्लेषण किया है। यहाँ आह्वान का जो क्रम बतलाया गया है, उसमें प्रयाजदेवताओं का अन्तिम स्थान पड़ता है, जैसाकि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

"आवह देवान् यजमानायेति, तदस्मै यज्ञाय देवानावोढवाऽआह। अग्निमग्नऽआवहेति, तदाग्नेयाज्यभागायाग्निमावोढवाऽऽह। सोममावहेति, तत् सौम्यायाज्यभागाय सोममावोढवाऽऽह। अग्निमावहेति, तद्यऽएषऽउभयत्राच्युतऽआग्नेयः पुरोडाशो भवति, तस्माऽअग्निमावोढवाऽऽह। अथ यथादेवतम्। देवाँ २॥ ऽआज्यपा २॥ आवहेति, तत् प्रयाजानुयाजानावोढवाऽऽह। प्रयाजानुयाजा वै देवाऽआज्यपाः"—

—शत० १।४।२।१६,१७,।

(एक देवता-आवाहनश्रुति से स्पष्ट है कि, आज्यपा-प्रयाज देवताओं का आवाहन सब के अन्त में विहित है। श्रौत पद्धति में यह भी नियम विहित है कि, जिस देवता का जिस क्रम से आवाहन विहित है, उसी क्रम से उस देवता का यजन विहित है। सर्वत्र देवावाहन क्रम से ही देवयाग विहित है। इसको है, प्रकृत प्रयाज कर्म्म में इस समान पद्धति-नियम-का इसलिए उल्लंघन हुआ है कि, प्रयाजों का आवाहन तो विहित है सब के अन्त में किन्तु यजन हुआ है सब से पहिले। प्रयाजयाग के सम्बन्ध में यह व्यतिक्रम क्यों ?, क्यों नहीं इनका भी यजन नियमानुसार आवाहन क्रम से अन्त में ही किया जाता ?, इसी पूर्वपक्ष का अपने शब्दों में निरूपण करती हुई आगे आकर उत्थित पूर्वपक्ष का समाधान करती हुई श्रुति कहता है)—

प्रयाजयाग के विहित आवाहनक्रम से विपरीत होने वाले प्रथम यजन कर्म्म के सम्बन्ध में (सैद्धान्तिक) कहते हैं-(यह पूर्वपक्ष उठाते हैं, विप्रतिपत्ति उपस्थित करते हैं-'तदाहुः' कि) जब कि प्रयाजों को-(हविर्विभागानुसार विहित नियम के आधार पर) उत्तम रूप से (अन्त में देव-देवता) आहूत करते हैं (आवाहन जब कि इनका सर्वान्त में होता है) तो ऐसी स्थिति में (आवाहन क्रम से विपरीत) किस कारण (क्यों) इनका प्रथम रूप से (देवदेवता) यजन करते हैं (यजन सर्वप्रथम क्यों किया जाता है ?) । (उत्तर स्पष्ट है-अपने प्राकृतिक सम्वत्सर) यज्ञ में (प्राजापत्य) देवदेवताओं ने इन (प्रयाजों) को उत्तमरूप से ही (अन्तिमरूप से ही यद्यपि) स्थापित किया (था), (तथापि उसी समय उन) देवदेवताओं ने (अग्निदेव के द्वारा इनके लिए यह भी निश्चय कर दिया था कि) हम तुम्हारा यजन तुम्हें प्रथम मान कर ही करेंगे। (इस विशेष विधान के आधार पर ही सामान्य विधान की उपेक्षा करते हुये देवदेवताओं ने आवाहन किया इनका यद्यपि अन्त में ही परन्तु यजन किया सर्वप्रथम। प्राकृतिक यज्ञ में प्रयाज-कल्पना अन्तिम

लगे कि, हे ऋतुदेवताओ ! देवश्रेष्ठ अपने) यज्ञ में आपका सर्वप्रथम ही यजन करेंगे (आपको प्रथमभागहर बनाने का ही देवताओं ने निश्चय किया है) ।।७।।

(जब अग्निदेव के द्वारा ऋतुदेवताओं को यह विदित हो गया कि, अपने का देवदेवता उस प्रथमभाग का अधिकारी बनाना चाहते हैं, जो यज्ञ कर्म में केवल उभयतोऽभ्युत्थ प्रधानभूत अग्निदेव के लिए ही विहित है, और वही प्रथमभागहर अग्निदेव यह जानते हुए भी कि-जो प्रथम भाग मेरा प्रातिस्विक धन है, उसे देवसमष्टिलोकोपकार के लिए मुझे ऋतुदेवताओं को बिना किसी संकोच के सौंप देना चाहिए, तो उन ऋतुदेवताओं का हृदय अग्निदेव के इस अपूर्वत्याग के प्रति कृतज्ञता से आप्लावित हो गया । प्रत्युपकार की भावना से इन्होंने भी यह निश्चय कर लिया कि, जिसने अपने लिए अपना स्वत्व छोड़ दिया, उसे कभी अपने पृथक् न करेंगे । फलतः अपने नियम, पूर्वप्राप्त प्रथम भाग से युक्त रहते हुए अग्निदेव प्रसन्न हो जायेंगे, प्रत्युपकार भी हो जायगा, साथ ही जिन देवताओंने संकटापन्न स्थिति जानते हुए भी प्रथमभाग अपने लिए नियत कर दिया, उनकी अग्निदेव के प्रति की गई-'न त्वामाप्तनात्यपयाम' इस प्रतिज्ञा की भी रक्षा हो जायगी । यह निश्चय कर ऋतुओंने अपने प्रथम भाग में अग्निदेव का भी समावेश कर लिया । इसी स्थिति का ऋतुओं के साथ अग्नि का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस स्थिति का उपपादन करती हुई श्रुति कहती है)—

(निमन्त्रण देने वाले, प्रथम भागहर, अग्निदेव के उक्त त्याग से प्रभावित होकर, प्रत्युपकार में अग्निदेव के प्रातिस्विक प्रथम भागाधिकार को सुरक्षित रखने की कामना से) उन ऋतुओंने अग्निदेव से कहा कि, (हे अग्निदेव ! आपके इस उपकार के बदले) हम आपको हमारे में (हमारे प्रथमभाग में) भागहर बनाते हैं, जो कि आपने देवताओं के पक्ष के प्रति हमारे लिए (अपना अधिकार छोड़ते हुए) भाग (प्रथमभाग) जाना (अपने प्रथम भाग का हमारे लिए स्वीकार कर अपनी उदारता का, त्याग का परिचय दिया) । (क्योंकि देवदेवताओं के सम्वत्सरयज्ञ में प्रथमभाग लेने वाले ऋतुदेवताओं की ओर से अग्निदेव भी समर्पित हुए थे अतएव तभी से) ये अग्निदेव (दिव्यप्राणाग्नि) ऋतुओं में समाविष्ट हैं (ऋतुओं से अग्निप्राण का समन्वय प्राकृतिक है, इसी सहज सम्बन्ध को लक्ष्य में रखकर प्रयाजदेवताक आहुति कर्म में प्रत्येक प्रयाजयाग के साथ अग्नि का भी यजन होता है । अतएव च प्रयाजदेवताक याज्या मन्त्रों में)—'समिधोऽग्ने, तनूनपादग्ने, इडोऽग्ने बर्हिरग्ने स्वाहाग्निम्' (इत्यादिरूप से अग्निपद का समावेश हुआ है) । यह (यथाविशयरूप कर्मभोक्ता यजमान, प्रयाजकर्मेतिकर्तव्यतापूरक ऋत्विक्) उस पुरुषकर्म में निश्चयेन भागहर बन जाता है, जिस पुरुषकर्म में यह (पुरुषकर्म सूचक के प्रति, प्रवर्त्तक के प्रति, संयोजक के प्रति) समान करता हुआ (उसे भी संयुक्त करता हुआ) उत पुरुषकर्मानुष्ठान करता है । (प्रयाजकर्मानुगत अग्निसमावेश से) अग्निप्राणयुक्त बने हुए उस (पुरुषकर्मा) के लिए अग्निप्राणयुक्त (ही अतएव सशक्त ही) ऋतुएँ उन सम्पूर्ण ओषधियों का परिपाक करती हैं, जो कि (उक्त विज्ञान परिचय के आधार पर) ऋतुओं में अग्नि को समाविष्ट मानता है ।।८।।

गर्भित अग्नि ही आज्यभागदेवता है । इसी का प्रथम यजन होता है । (२) 'स्वाहाग्निम्–यह द्वितीय विभाग है । उभयतआज्युत आग्नेय पुरोडाशानुगत प्रधान देवता ही इस विभाग से गृहीत है, यही दूसरा प्रधानयाग है । (३) 'स्वाहा देवाँ आज्यपान्' यह तीसरा विभाग है । आज्यपा स्वाहा-सत्तम प्रयाज (हेमन्त) देवता के लिए ही यह तृतीय विभाग नियत है । (४) 'स्वाहाग्निं होत्रा जुषाणः' यह चौथा विभाग है । स्विष्टकृदग्नि का ही इससे यजन होता है । (५) अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्' यह पाँचवाँ विभाग है । पूर्व ऋतु सामान्य सम्वत्सराग्नि का ही इससे यजन होता है । आज्यभागयागानुगत विशेष अग्नि आदि में विहित है, प्रधानभागयागानुगत विशेष अग्नि (उभयतआज्युत अग्नि) मध्य में विहित है स्विष्टकृयागानुगत विशेष अग्नि अन्त में विहित है । इस प्रकार स्वाहात्मक पञ्चम प्रयाजयाग के आदि–मध्य–अवसान में क्रमशः आज्यभागयाग, प्रधानयाग, स्विष्टकृयाग, ये तीन विशेषाग्नियाग पूर्व के चार प्रयाजापेक्षया विशेषरूपेण विहित हैं । इनकी उसी पूर्वोपात्त वैज्ञानिक आख्यान के द्वारा उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है)—

(अपने प्राकृतिक इष्टिकर्म्म में होने वाले पञ्च प्रयाजयाग के) चौथे (शरदृतुरूप बर्हिर्नामक) प्रयाज से देवदेवताओं ने निश्चय से यज्ञ (यज्ञातिशयरूपा यज्ञसम्पत्) प्राप्त कर लिया– (एवं चौथे प्रयाज से प्राप्त) उस (यज्ञ) को पाँचवें (हेमन्त ऋतुरूप स्वाहात्मक) प्रयाज से प्रतिष्ठित–पूर्ण–कर लिया । (इस प्रयाजकर्म्म के) अनन्तर होने वाला आज्यभागादिरूप जो यज्ञ का शेष (इविकर्त्तव्यता) बच रहा, उस (के अनुष्ठान) से देवदेवता स्वर्गलोक को प्राप्त हो गये ॥१०॥

प्रयाजकर्म्मातिरिक्त आज्यभागादि लक्षण शेष यज्ञानुष्ठान के बल से स्वर्गलोक (की ओर) जाते हुए देवदेवतालोग (अन्तरिक्ष में अमूर्त–उभयतः परिच्छिन्न रूप से विचरने वाले आप्य–प्राणात्मक, यज्ञविरोधी) असुर राक्षसों के निरोध (संकल्प) से डर गए (उन्हें भय हुआ कि, ये दुष्ट कहीं हमारे स्वर्गगमन में बाधा न डाला करें । इस भय से त्राण पाने के लिए) उन देव–देवताओं ने असुर राक्षसों को मारने वाले, एवं मार भगाने वाले अग्नि को (ही स्वर्गप्राप्तिसाधक आज्यभागादियज्ञ के) पूर्व में (पहिले) प्रतिष्ठित किया, उसी को मध्य में, उसीको अन्त में प्रतिष्ठित कर दिया । (अर्थात् आन्तरिक्ष्य असुराक्रमण से अपने स्वर्गसाधक यज्ञातिशय को निर्विघ्न स्वर्गप्राप्ति का हेतु बनाने के लिए उन्होंने यज्ञातिशय के आदि–मध्य–अवसान, तीनों स्थानों में आप्यप्राणोच्छेदक आग्नेयप्राण प्रतिष्ठित कर दिया) ॥११॥

(देवदेवताओं के द्वारा त्रिः स्थानों में नियुक्त अग्नि के प्रभाव से इन का स्वर्गगमन निर्विघ्न पूर्ण होगया । क्यों कि) यदि इन देवदेवताओं का उन असुर राक्षसों ने पूर्व की ओर से निरोध करना चाहा विघ्न डालना चाहा तो तत्रस्थ अग्नि ने तत्रस्थ असुरों को मार भगाया । यदि मध्य की ओर से निरोध करना चाहा, तो तत्रस्थ अग्निने तत्रस्थ असुरों को मार भगाया । यदि पीछे की ओर से निरोध करना चाहा, तो तत्रस्थ अग्नि ने तत्रस्थ असुरों को मार भगाया । (इस प्रकार तीन स्थानों में रक्षक रूप से नियुक्त तीनों) अग्नियों से सर्वात्मना सुरक्षित रहते हुए देवदेवताओं ने निर्विघ्न स्वर्गलोक प्राप्त कर लिया ॥१२॥

है, यजन प्रथम है। उसी प्राकृतिक यज्ञविद्या पर प्रस्तुत वैध मानुष यज्ञ का विधान हुआ है। अत यहाँ भी उसी प्राकृतिक नियम का अनुगमन करना आवश्यक हो जाता है) अतएव (प्राकृतिक नियमानुरोधेनैव) ऋत्विक् लोग (अपने इस इष्टिकर्म में भी इन प्रयाजों का उत्तमरूप से तो आवाहन करते हैं, एवं प्रथमरूप से यजन करते हैं ॥६॥

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

(प्रयाजयाग के सम्बन्ध में एक विषय और विजिज्ञास्य रह जाता है। समित्, तनूनपात्, इद्, बर्हि, स्वाहा, ये पाँच व्याहृतियाँ नाम-क्रमश वसन्त ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, इन पाँच ऋतुओं से सम्बन्ध रखती हैं। सम्वत्सरयज्ञ की पचरूपा वसन्तादि पाँचों ऋतुओं का सम्वत्सराग्नि से सम्बन्ध है, जैसाकि प्राग्रयारम्भ की ८ कण्डिकाओं से स्पष्ट कर दिया गया है। इसी आधार पर यह मान लेना अविप्रतिपन्न बन जाता है कि, ऋतुओं का यजन अग्निपूर्वक ही होता है। परन्तु-स्वाहालक्षण पञ्चम प्रयाजयाग के सम्बन्ध में एक नवीन विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है। आरम्भ के चार प्रयाजों में जहाँ ऋतुलक्षण प्रयाजों के साथ 'समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु'-'तनूनपादग्न आजस्य वेतु'-'इडो अग्न आज्यस्य व्यन्तु'-'बर्हिरग्न आजस्य वेतु'-इस रूप से केवल अग्नि का सम्बन्ध विहित है, वैसे पाँचवें हेमन्तऋतुलक्षण स्वाहायाग में केवल अग्नि का ही सम्बन्ध विहित नहीं है। अपितु पूर्वप्रयाजचतुष्टयी की भाँति अग्नि के सम्बन्ध के अतिरिक्त-इस प्रयाजयाग में-आज्यभाग, प्रधान, स्विष्टकृत्, इन तीन अग्निभागों का सम्बन्ध और किया जाता है। दूसरे शब्दों में आज्यभाग ग्राहक अग्नि, प्रधानभाग ग्राहक अग्नि, स्विष्टकृद्भागग्राहक अग्नि, इन तीन अग्नियों का आदि-मध्य अवसान में यजन और किया जाता है। यदि सामान्य सम्वत्सराग्निधारा इस विशेषाग्नित्रयी का भी ऋतुओं के साथ सम्बन्ध है, तब तो ऋतुलक्षण पाँचों ही प्रयाजों में-प्रत्येक में-इन तीनों विशेषाग्निभागों का अनुष्ठान होना चाहिये। यदि ऋतुओं के साथ सम्बन्ध नहीं है, तो किसी भी प्रयाजकर्म्म में इनका यजन नहीं होना चाहिये। स्थिति यह है कि, आरम्भ के चार प्रयाजों में तो केवल सामान्य अग्नि का ही यजन किया जाता है। किन्तु पञ्चम प्रयाज में सामान्य अग्नियजन के अतिरिक्त विशेषाग्नित्रयी का यजन और किया जाता है, जबकि ऋतुसामान्यत्वेन पञ्चम प्रयाज में इनका यजन विप्रतिपन्न बना हुआ है। स्वाहालक्षण हेमन्त प्रयाजयाग से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्र में प्रयाज, तथा सामान्य अग्नि, दोनों के यजन के अतिरिक्त तीन विशेषाग्नियों के यजन का भी समावेश हुआ है। मन्त्रभाग निम्न लिखित है—

"स्वाहाग्निं, स्वाहा सोमं, स्वाहाग्निं, स्वाहा देवाँ आज्यपान्,
स्वाहाग्निं होत्रा जुषाण, अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्"
—शत० १।५।४।२२,२१।

इस स्वाहामन्त्र के पाँच विभाग स्पष्ट हैं। (१) 'स्वाहाग्निं, स्वाहा सोमम्'-यह एक विभाग है। इससे आग्नेय आज्यभाग, तथासौम्य आज्यभाग, इन दो आज्यभागों का सम्बन्ध है। सोम

तत्रस्थ अग्नि तत्रस्थों को मार भगाते हैं। यदि पश्चिमभाग से आक्रमण करते हैं, तो तत्रस्थ अग्नि तत्रस्थों को मार भगाते हैं। इस प्रकार यह (यज्ञातिशयरूप-स्वर्गसाधक) देवात्मा तीनों अग्नियों से सुरक्षित-निरापद्-बनता हुआ स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है (प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है) ॥१४॥

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

इति—प्रयाजानामिष्टौ प्राथम्यन्

———६———

७—अभिचार (कृत्याप्रयोग)

(प्रयाज कर्म्म के द्वारा यज्ञातिशय उत्पन्न भी आज ही हो जायगा, यह सप्तदश स्वर्गस्थान में भी आज ही प्रतिष्ठित हो जायगा। परन्तु यज्ञकर्त्ता यजमान का यह मानुषात्मा-भूतात्मा, जो स्वर्गगत यज्ञातिशयरूप देवात्माकर्षण से आकर्षित है,-अपने ऐहलौकिक प्रारब्धकर्म्मक्षयानन्तर (जिस प्रारब्ध कर्म्म से इसे वर्त्तमान शरीर मिला है) ही (मृत्यु के अनन्तर ही) देवात्माकर्षण के द्वारा स्वर्गफल का भोक्ता बनेगा, स्वर्ग पहुँचेगा। इसीलिए तो स्वर्गफल आमुष्मिक (पारलौकिक) माना गया है, अतएव तो यह 'अदृष्टफल' (परोक्षफल) कहलाया है। त्रिप्रकरणात्मक प्रयाजब्राह्मण से पहिले प्रतिपादित 'स्रु गुब्राह्मण' के आमावस्य-प्रत्यामावस्य कर्म्म-विधान में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, मानवीय मन परोक्षफलापेक्षया ऐहिक प्रत्यक्ष फलों की ओर विशेषरूप से आकर्षित रहता है-(देखिए-पृ० स० १२४ बुद्धिविज्ञान प्रकरण)। अवश्य ही प्रकृत अग्नित्रय-यजन का भी परोक्ष-स्वर्गफलातिरिक्त कोई प्रत्यक्ष भी फल होना चाहिए। उस प्रत्यक्ष फल को तात्कालिक, कालान्तरभावी भेद से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। भोजन किया, और तृप्ति हो गई, यह ऐहलौकिक तात्कालिक फल माना जायगा। भोजन किया, भुक्त द्रव्य क्रमशः रस असृक्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र-ओज-मनोरूप में परिणत हुआ। यही ऐहलौकिक कालान्तरभावी फल माना जायगा। ब्राह्मण की प्रकृत १६, १७, १८. इन तीन कण्डिकाओं में तो तात्कालिक फल का विश्लेषण हुआ है, जिसे कृत्यासम्बन्ध से अभिचारात्मक फल मानते हुए हास्थिक कालान्तर भावी फल से हमने पृथक् कर दिया है, यही 'अभिचार' नामक ७ वाँ प्रकरण है। एवं १९ वीं कण्डिका में कालान्तरभावी, अतएव स्थिर धर्म्मात्मक ऐहलौकिक फल का विश्लेषण हुआ है। अतएव तत्कण्डिकात्मक प्रकरण 'फलश्रुति' नामक ८ वाँ प्रकरण मान लिया है। इन दोनों ऐहलौकिक फलों में से सूचीकटाहन्यायेन पहिले अभिचारात्मक-तात्कालिक-प्रथम ऐहलौकिक फल का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है)—

(जिस समय आग्नेयभागानुगत प्रथम अग्नि का यजन हो रहा हो, और उस समय यदि कोई यजमान का शत्रु यजमान के प्रति निन्दाभाव प्रकट करे, अथवा तो कुछ निन्द्य वचन बोल पड़े, इसके अतिरिक्त यजमान को अपने किसी शत्रु के द्वारा पहिले से कहे गये निन्दावचनों

(प्राकृतिक यज्ञ में पृथिवी से द्युलोक की ओर जाते हुए पार्थिव प्राणदेवताओं के प्रयाजाविराय पर आन्तरिक्ष्य असुरों का आक्रमण होता रहता है। परन्तु त्रिःस्थान स्थित अग्नित्रयी के सम्बन्ध से उन का यह आक्रमण व्यर्थ सिद्ध होजाता है। इसी प्राकृतिक यज्ञविधा के आधार पर भौमदेवताओंनें अपने वैधयज्ञ के पञ्चप्रयाजकर्म्म में-पांचवें प्रयाज में-उसी प्राकृतिक अग्नित्रयी सम्पत्-की प्राप्ति के लिए तीन विशेषाग्निकर्मों का समावेश किया था, तद्द्वारा अपने देवात्मरूप से वे निरापद स्वर्ग पहुँचने में समर्थ हुए थ। उसी भौमदेवानुगता यज्ञविधा के आधारपर इस यजमान का यह वैध इष्टिकर्म्म विहित हुआ है। इसे भी अपने देवात्मारूपणद्वारा स्वर्ग में जाना है। जाते समय आन्तरिक्ष्य असुरराक्षसों का आक्रमण जहाँ अनिवार्य्य है, वहाँ इस आक्रमण को रोकना भी आवश्यक है। उसी आक्रमण-निरोध के लिए, निरापद स्वर्गावाप्ति के लिए भौमदेवानुगत यज्ञवत् अपने इस यज्ञ में भी पाँचवें प्रयाज कर्म्म के-आदि-मध्य-अवसान में विशेषाग्नित्रयी का यजन करता है। इस यजन से रक्षक-अग्नित्रयी का अनुग्रह प्राप्त होजाता है। फलस्वरूप यह भी देववत् निरापदरूप से स्वर्गफलभोग बन जाता है। पाँचवें प्रयाज के आदि-मध्य-अवसान-में अग्नित्रयी का यजन क्यों किया जाता है?, विप्रतिपत्ति का यही समाधान है, जिस का श्रुति के अक्षरों में यों विश्लेषण हुआ है)—

(जिसप्रकार प्राकृतिक नित्य यज्ञ में अग्नित्रयी का सहयोग होरहा है तद्वत् जिसप्रकार भौम मनुष्य देवताओं नें अपने चतुर्थ प्रयाज समाप्त्यनन्तर पाँचवें प्रयाज के आदि-मध्य-अवसान में अग्नित्रयी का यजन किया था तद्द्वारा निरापद रूप से स्वर्ग प्राप्त किया था) ठीक इसी प्रकार (तथोऽएव) यह यजमान भी अपने इस चौथे प्रयाज से (जो स्वर्गसाधक) यज्ञ प्राप्त करता है, उसे पाँचवें प्रयाज से प्रतिष्ठित करता है, इस के अनन्तर जो आज्यभागादिरूप यज्ञ का शेष बच रहता है उस से स्वर्गलोक ही प्राप्त करता है ॥१३॥

सो जो कि (पञ्चम प्रयाज के आदि में-'स्वाहाग्नि'-रूप से यजमान केप्रतिनिधिरूप) अध्वर्यु आग्नेय-आज्यभाग का यजन करता है (इस से अपने स्वर्ग जाते हुए यज्ञाविराय के) पूर्वभाग की ओर से राक्षसों के मारने वाले मार भगाने वाले अग्नि को ही (नियुक्त) करता है। (आग्नेय-आज्यभाग के) अनन्तर (इसी पञ्चम प्रयाज कर्म्म के मध्य में) जो (उभयत्राच्युत प्रधान अग्नि के लिए) जो आग्नेय पुरोडाश (का भागहर) बन जाता है (उस का स्वाहाग्निम् रूप से यजन करता है)। इस कर्म्म से (इस यज्ञाविराय के) मध्यभाग की ओर से ही अग्नि को नियत करता है। (मध्यम अग्नि यजन के) अनन्तर जो कि अध्वर्यु (प्रयाजान्त में— 'स्वाहाग्निं होत्रा जुषाणा' इत्यादि रूप से) स्विष्टकृत्-अग्नि का यजन (स्वष्टकरण) करता है इस कर्म्म से (इस यज्ञाविराय के) पश्चिम भाग की ओर से ही अग्नि को नियुक्त करता है, (जो कि) अग्नि 'रक्षोहा'—(राक्षसों को निर्जीव बनाने वाला मारने वाला) एवं 'रक्षसामपहन्ता' (राक्षसों को मार भगाने वाला, यज्ञमण्डलसीमा से बहिष्कृत करने वाला) है ॥१४॥

(प्रयाजकर्म्म से स्वर्गलोक की ओर जाते हुए) इस यजमान के (स्वर्गसाधक) यज्ञाविराय के पूर्वभाग से यदि असुर राक्षसों को मार भगाते हैं। यदि मध्य भाग से आक्रमण करते हैं,

(अभिचार कर्म-कोई उत्तम कर्म नहीं है। लोकसंग्रहात्मक, सर्व-अभ्युदयकारक, अतएव श्रेष्ठतम यज्ञ जैसे सात्त्विक कर्म्म में अपने व्यक्तिगत द्वेष के बदले की भावना रखना भी यज्ञ-स्वरूप में तमोगुण का आधान करना है। अतएव उत्तम पक्ष तो यही है कि यज्ञकर्त्ता भी ऐसे अभिचार का अनुगमन न करे। रही बात-इष्टफल की। इस सम्बन्ध में यही उत्तर पर्याप्त होगा कि, यज्ञकर्त्ता सामान्य मनुष्य मनुष्य नहीं है अपितु प्रकृति की साक्षात् प्रतिमा है। जिस प्रकार प्रकृति से विरुद्ध जाने वाला अपने ही दोष से दण्डित हो जाता है, तथैव यजमान से शत्रुता रखने वाले भी स्वतः एव प्रकृतिद्वारा ही दण्डित हो जाते हैं। समयातिक्रम अवश्य हो सकता है। परन्तु दण्ड अवश्य मिल जाता है। दण्डव्यवस्था की अनिवार्य्यता तो ऐसी है कि, जो यजमान नहीं है, अपितु केवल इस रहस्य को जानता मर है, यदि उस केवल एवंवित् के प्रति भी कोई शत्रुता रखता है, तो वे भी नष्ट हो जाते हैं। एवंवित् भी उस फल को प्राप्त कर लेता है। फिर यजमान का तो कोई आशङ्का रहनी ही नहीं चाहिए। फलतः उसे यह भार प्रकृति पर ही छोड़ देना चाहिए। यज्ञनिन्दकों के-'तस्माद् ह नानुव्याहारीत स्यात्' इस सामयिक आदेश-चेतावनी-के साथ साथ यज्ञकर्त्ताओं के प्रति भी उन्हें सात्त्विक-भावारूढ बने रहने के लिए, अभिचारकर्म्मप्रवृत्ति से बचते रहने के लिए सङ्केत करती हुई श्रुति कहती है कि)—(यज्ञकर्त्ता ही क्या) इस रहस्य को जानने वाला भी पर (उत्कृष्ट, शत्रुपराभवकर्त्ता) बन जाता है (अत-जबकि केवल जानने वाले के शत्रु भी नष्ट हो जाते हैं, तो यजमान के साथ कौन शत्रुता कर सकता है। यदि कोई करेगा भी, तो प्रकृति स्वयं उसे दण्ड दे देगी)- 'स हैवंवित् परो भवति'।

अथवा उक्त वाक्य का यह भी अर्थ किया जा सकता है कि, जिस प्रकार यज्ञकर्त्ता के शत्रु यज्ञकर्त्ता के अभिचार प्रयोग से नष्ट हो जाते हैं, एवमेव इस अग्निरहस्यात्मक प्रयाजकर्म्म को जानने वाले विद्वानों के भी शत्रु नष्ट हो जाते हैं। दोनों में पूर्वार्थ ही समीचीन प्रतीत होता है ॥१८॥

इति—अभिचार



८—फलश्रुति

(बतलाया गया है कि, तात्कालिक इष्ट फल के अतिरिक्त कालान्तरभावी इष्ट फल भी यज्ञ से सम्भव है। दोनों ऐहिक फलों के सम्बन्ध में यह भी जान लेना चाहिए कि तात्कालिक फल जहाँ यजमानप्रयत्न-सापेक्ष है, वहाँ कालान्तरभावी फल आमुष्मिक स्वर्गफल की भाँति स्वतः एव प्राप्त हो जाता है। अतएव इस फल का तात्कालिक फलापेक्षया विशेष महत्त्व माना जायगा। अतएव च ऐसा ही फल 'फलश्रुति' रूप से संग्राह्य माना जा सकेगा। इसी स्वाभाविक प्राकृतिक स्वतः प्राप्त इष्ट फल का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है)—

का प्रतिशोध लेना हो, तो उसे चाहिए कि यह उस शत्रु को लक्ष्य बना कर उसके नामग्रहण पूर्वक—'मुक्यार्चिमारिष्यसि,—अन्धो वा बधिरो वा भविष्यसि'—हे शत्रु तू मुख्य पीड़ा प्राप्त करेगा, या तो अन्धा हो जायगा या बहिरा हो जायगा, यह वचन बोलदे। इसी प्रकार दूसरे तीसरे अग्नियजन में भी यह अभिचारवाक्य द्वारा अपने शत्रु का अनिष्ट कर सकता है। इन्हीं तीनों अभिचारों का अपने शब्दों में दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है)

(इस प्रयाजकर्म्म में) यदि इस (यजमान) के प्रति यह (यजमानशत्रु, अथवा और कोई-ईर्ष्यालु-निन्दक) यज्ञारम्भ में (आज्यभागानुगत प्रथमाग्नियाग काल में। निन्दावचन का प्रयोग करे, तो (यजमान) उस (निन्दक) के प्रति (यह) बोले कि, तू मुख्य पीड़ा प्राप्त करेगा, अन्धा हो जायगा, अथवा तो बहिरा बन जायगा। वास्तव में (शारीरिक कष्टों में) ये ही (दोनों) मुख्य पीड़ा हैं। (यजमान के उक्त कथन मात्र से) वैसा ही अवश्य हो जायगा, शत्रु अन्धा हो जायगा अथवा बहिरा हो जायगा, यही प्रथम अभिचारात्मक तात्कालिक फल है) ॥१६॥

यदि इसके प्रति यह यज्ञमध्य में (प्रथमप्राज्ययुत द्वितीयाग्नियागकाल में) अनुचित कहे, तो (यजमान) उसके प्रति (यह) बोले कि, तू प्रजाशून्य, पशुशून्य हो जायगा। प्रजायें, और पशु निश्चयरूप से मध्य (रूप) हैं। (यजमान के उक्त कथन से) वैसा ही निश्चयेन हो जायगा (निन्दक की प्रजा, पशुसम्पत्ति नष्ट हो जायगी। यही द्वितीय अभिचारात्मक तात्कालिक फल है) ॥१७॥

यदि इसके प्रति यह यज्ञान्त में (स्विष्टकृत अग्निरूप तृतीयाग्नियाग काल में) अनुचित कहे, तो (यजमान) उसके प्रति (यह) बोले कि, तू प्रतिष्ठा रहित एवं निर्धन बनता हुआ शीघ्र ही उस (यम) लोक को प्राप्त होगा (मर जायगा)। (यजमान के ऐसा कहने से) वह (निन्दक) वैसा ही अवश्य हो जायगा (अपयशपूर्वक दरिद्री बनता हुआ शीघ्र मर जायगा। यही तृतीय अभिचारात्मक तात्कालिक फल माना जायगा। इस प्रकार आज्यभागयाग, प्रधानयाग, स्विष्टकृद्याग तीनों से सम्बन्ध रखने वाले प्रथम-मध्यम-अन्तिम-अग्नियों के यजन से शत्रुविनाशक दृष्ट-प्रत्यक्ष-तात्कालिक-ऐहलौकिक फल भी प्राप्त किया जा सकता है। श्रुति ने तात्कालिक फल तो बतला दिया। परन्तु वह यह नहीं चाहती कि, यज्ञरहस्य को न जानकर ऐसी भूलें करने वाले भद्र जन भी यों अपना नाश करावें। इनके अभ्युदय को लक्ष्य में रखते हुए इनको सावधान करती हुई श्रुति कहती है कि, उन यज्ञरहस्यानभिज्ञों को यह जान लेना चाहिए कि, यज्ञ कोई सामान्य लौकिक कर्म्म नहीं है। अपितु यह प्राकृतिक समिद्ध उस प्राणाग्नि को अपनी प्रतिष्ठा बनाता है, जिसके प्रति साथ ही इस यज्ञाग्नियुक्त यजमान के प्रति ज्ञात-अज्ञात में थोड़ी भी उपेक्षा, निन्दा, उपहास करने से सर्वनाश निश्चित है।) अतएव उन निन्दकों को चाहिए कि, वे भूल कर भी (हास परिहास में भी यज्ञ, तथा यज्ञानुष्ठानकर्ता) यजमान के प्रति अनुव्याहारी (अनुचित बोलने वाले) न बनें—'नानुव्याहारीव स्यात्'।

(प्रयाजकर्म्म में सगृहीत) आज्याहुति के सम्बन्ध में वैज्ञानिक लोग प्रश्न उपस्थित करते हैं—(वदन्ति) कि—ये (प्रयाजार्थ जुहू-उपभृत् में गृहीत) आज्य किंदेवत्य हैं ? (इनका कौनसा देवता है ?)—(प्रश्न हुआ ही क्या, जबकि ऋतुदेवता पहिले से ही स्पष्ट किए जा चुके हैं, यह-प्रासङ्गिक प्रतिप्रश्न-प्रश्न पर प्रश्न और उपस्थित होता है । इस प्रतिप्रश्न का उत्तर यही होता है, जो श्रुति को अभीष्ट है । यह ठीक है कि आज्याहुति होती है ऋतुदेवताओं के लिए ही । अतएव यह समझना भी अनुचित नहीं है कि, आज्य के देवता ऋतुदेवता हैं । परन्तु यह समझना केवल समझना ही है । आज्यग्रहणपद्धति में किसी भी देवता के नाम का उल्लेख नहीं हुआ है । नामोल्लेख सम्भव भी कैसे हो, जबकि प्रयाजकर्म्म का उद्देश्य ऋतुद्वारा सम्वत्सर प्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली सम्वत्सरात्मिका स्वर्गसम्पत् है । यदि ऋतुओं का नाम लिया जाता है, तो समष्ट्यात्मक सम्वत्सर का ग्रहण नहीं होता । यदि सम्वत्सर का नाम ले दिया जाता है, तो ऋतुओं का व्यष्टिरूप से यजन नहीं होता । अपेक्षित यह है कि—आज्यद्वारा ऋतुओं का भी यजन हो जाय, साथ ही इसी कर्म्म से ऋतुसमष्टिरूपा सम्वत्सरसम्पत्ति भी प्राप्त हो जाय । इसका उपाय है—आज्य का ग्रहण हो-उपांशुरूप से, बिना किसी देवता का नाम लिए, एवं आज्याहुति हो ऋतुनामपूर्वक । उपांशुग्रहण से आज्यद्वारा प्राजापत्यसम्पत्ति इसीलिए मिल जायगी कि, सम्वत्सरमण्डलकेन्द्र में प्रतिष्ठित प्रजापति अनिरुक्त है । अनिरुक्तभाव ही उपांशुभाव है । इस उपांशुभावद्वारा तत्समतुलित अनिरुक्त प्राजापत्यसम्पत् प्राप्त हो जाती है यजनकर्म्मानुगत याज्यामन्त्रों में—'समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु०' इत्यादि रूप से ऋतुनामोच्चारणपूर्वक आहुति देने से उद्देश्यभूत ऋतुओं का यजन सफल हो जाता है । इसीलिए आज्यग्रहण उपांशु रूप से ॐ, एवं आज्याहुति नामग्रहपूर्विका ही विहित हुई है । बिना नाम ग्रहण के चुपचाप जुहूपभृत् में आज्यग्रहण करना ही इस प्रश्न का भी समर्थक बन रहा है कि, आज्य का देवता कौन है ? किस देवता के उद्देश्य से आज्यग्रहण हुआ है ?—साथ ही यही नामग्रहणाभावात्मक तूष्णींभाव-अनिरुक्तभाव-इस प्रश्न का उत्तर भी दे रहा है कि, यह आज्य प्रजापतिदेवताक है । इसी स्थिति का संकेतविधा से स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कह रही है)—(ये आज्य) प्राजापत्य हैं, यही कहना चाहिए । अर्थात् आज्य किंदेवत्य हैं ?, प्रश्न का 'प्राजापत्य हैं', यही उत्तर हो सकता है) । क्योंकि प्रजापति निश्चयेन अनिरुक्त है । उधर आज्य भी (तच्छन्दादिरयाज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति रूप से) अनिरुक्त ही हैं—"अनिरुक्तो हि प्रजापतिः, अनिरुक्तान्याज्यानि" ।

(आज्य प्राजापत्य है, एतावता ही ये-इनकी आहुति-यजमान के स्वर्गप्राप्ति के साधक कैसे बन गए ?, यह प्रश्न उपस्थित होता है । इसी का समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—(अपने अनिरुक्तभाव से प्राजापत्य बने हुए) वे ये आज्य यजमानदेवत्य ही हैं । (अर्थात् यज्ञकर्त्ता यजमान भी 'प्रजापति' सम्बन्ध से इन आज्यों का देवता बन जाता है । क्योंकि, जैसे सम्वत्सरयज्ञमण्डल का अधिष्ठाता नभ्यभाव (इत्यलम्-सम्वत्सरमण्डलापेक्षया प्रजापति है । एवमेव) यह यजमान

ॐ—'अथ यान्याज्यानि गृह्णन्ते-ऋतुभ्यश्चैव तानि, छन्दोभ्यश्च गृह्णन्ते, तच्छन्दादिरयाज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति" (शत० २ प्र० । ५ ब्रा० । ७ कण्डिका) ।

(वसन्त-ग्रीष्मवर्षा-समाह्यक समित्-तनूनपात्-आदि पाँच) प्रयाजयागों से (ऋतुमण्डल में प्रविष्ट असुरों को) जीतता हुआ यजमान (परम्परया ऋतुसम्बन्ध से) निश्चयेन (ऋतुसमष्टिरूप) सम्वत्सर को ही जीतता (अधिकार प्रतिष्ठित करता) है। (यह भी निश्चित है कि) वही (विजेता) इस सम्वत्सर का जय करता है (जीतता है), जो सम्वत्सर (रूप दुर्ग) के द्वारों का जानता है। (अर्थात् द्वार परिज्ञान पूर्वक ही दुर्गप्रवेश द्वारा जयलाभ सम्भव है)। वह (अजेष्णु) उन घरों से-दुर्गों-से क्या लाभ उठा सकेगा, (जिसके अन्तर्द्वारों को वह उस रूप से भलीभाँति न जान लेगा, जैसे कि वे इसके उपयोग में आते हैं। (ठीक इसी प्रकार जिन प्रयाजों के द्वारभूत प्रथम-अन्तिम प्रयाजों के तात्त्विकरूप को जो नहीं जानता, वे प्रयाज जिस प्रकार के य इस यजमान के उपकारक होते हैं, उनके तात्त्विक प्रकारों का, प्रधान-द्वारभूत प्रयाजों को नहीं जानता, वह क्या फल प्राप्त कर सकता है-कुछ नहीं। (अतएव सम्वत्सर दुर्ग द्वारका परिज्ञान आवश्यक है)। (सम्वत्सर दुर्ग का) वसन्त ही (प्रवेश द्वार है, हेमन्त ही (निर्गमन) द्वार है। (दोनों के स्वरूपज्ञान पूर्वक प्रयाजयजन करने वाला) यजमान इस द्वारयुक्त सम्वत्सररूप स्वर्गलोक को प्राप्त हो जाता है। सम्वत्सर सर्वस्व है। सर्वभाव ही अक्षय्यभाव है। प्रयाज-यजन कर्त्ता का सुकृत (कर्म्म) अक्षय्य होता है, लोक भी अक्षय्य होता है। (तात्पर्य कहने का यही है कि, सम्वत्सर सम्पत्तिसंसमाह्यक प्रयाजकर्म्म से स्थायी सम्पत् प्राप्त होती है, वह लोकप्रतिष्ठा से युक्त हो जाता है, और यही प्रयाजकर्म्म का कालान्तरभावी प्राकृतिक स्थायी फल है)॥ १६ ॥

इति-फलश्रुति



६-परिशिष्टप्रश्नोत्तरविमर्श

(प्रयाजकर्म्म को यज्ञपूर्णताप्रवर्त्तक, एवं तद्द्वारा यजमानात्मा का स्वर्गप्रापक बतलाया गया है। प्रश्न स्वाभाविक है कि, प्रयाजकर्म्म में ऐसी क्या विशेषता है, जिससे अस्वर्ग्यस्वार्गीय भी प्रयाज जैसा अङ्गकर्म्म पुरुषार्थकर्म्मवत् स्वर्गप्राप्ति का कारण बन जाता है ?। प्रयाजकर्म्म में जो आज्याहुति विहित है प्रत्यक्ष में उस आज्य में भी हम ऐसा कोई अतिशय उपलब्ध नहीं कर रहे, जो स्वर्गप्रापक बन जाय। इसी प्रश्न का यों भी उत्थान किया जा सकता है कि, सर्वत्र सभी कर्म्मों में आहुतिद्रव्य ही स्व स्व देवप्राणानुसार तत्तत् विशेष-फलातिशयों का जनक बनता है। जिस देवप्राण से आहुतिद्रव्य युक्त रहता है, आहवनीयाग्नि में हुत तद्देवप्राणमयी आहुति तद्देवतातिशय यज्ञ में प्रतिष्ठित करने का कारण बनती है। क्या प्रयाजकर्म्म के लिए नियत आज्याहुति का कोई वह विशिष्ट देवता है, जो स्वर्गप्राप्ति का निमित्त बन सकता है ?। प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में दिया जायगा। वास्तव में केवल आज्यदेवता ही प्रयाज जैसे अङ्ग कर्म्म को भी स्वर्गप्रापक बनाने में समर्थ हो रहा है। उस आज्यदेवता का स्वरूप क्या है ? जिसके द्वारा-प्रयाजकर्म्म स्वर्गप्रापक बन रहा है ? यही प्रश्न की अन्य उत्थानिका है जिसका निम्नलिखित रूप से विश्लेषण हुआ है)।

(प्रयाजकर्म्म में सगृहीत) आज्याहुति के सम्बन्ध में वैज्ञानिक लोग प्रश्न उपस्थित करते हैं—(तदाहु) कि—ये (प्रयाजार्थ जुहू-उपभृत् में गृहीत) आज्य किंदेवत्य हैं ? (इनका कौनसा देवता है ?)—(प्रश्न हुआ ही क्यों, जबकि ऋतुदेवता पहिले से ही स्पष्ट किए जा चुके हैं, यह-प्रासङ्गिक प्रतिप्रश्न-प्रश्न पर प्रश्न और उपस्थित होता है । इस प्रतिप्रश्न का उत्तर यही होता है, जो श्रुति को अभाप्त है । यह ठीक है कि आज्याहुति होती है ऋतुदेवताओं के लिए ही । अतएव यह समझना भी अनुचित नहीं है कि, आज्य के देवता ऋतुदेवता हैं । परन्तु यह समझना केवल समझना ही है । आज्यग्रहणपद्धति में किसी भी देवता के नाम का उल्लेख नहीं हुआ है । नामोल्लेख सम्भव भी कैसे हो, जबकि प्रयाजकर्म्म का उद्देश्य ऋतुद्वारा सम्वत्सर प्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली सम्वत्सरात्मिका स्वर्गसम्पत् है । यदि ऋतुओं का नाम लिया जाता है, तो समष्ट्यात्मक सम्वत्सर का ग्रहण नहीं होता । यदि सम्वत्सर का नाम ले लिया जाता है, तो ऋतुओं का व्यष्टिरूप से यजन नहीं होता । अपेक्षित यह है कि—आज्यद्वारा ऋतुओं का भी यजन हो जाय, साथ ही इसी कर्म्म से ऋतुसमष्टिरूपा सम्वत्सरसम्पत्ति भी प्राप्त हो जाय । इसका उपाय है-आज्य का ग्रहण हो-उपांशुरूप से, बिना किसी देवता का नाम लिए, एवं आज्याहुति हो ऋतुनामपूर्वक । उपांशुग्रहण से आज्यद्वारा प्राजापत्यसम्पत्ति इसीलिए मिल जायगी कि, सम्वत्सरमण्डलकेन्द्र में प्रतिष्ठित प्रजापति अनिरुक्त है । अनिरुक्तभाव ही उपांशुभाव है । इस उपांशुभावद्वारा तत्समतुलित अनिरुक्त प्राजापत्यसम्पत् प्राप्त हो जाती है यजनकर्म्मानुगत याज्यामन्त्रों में-'समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु०' इत्यादि रूप से ऋतुनामोच्चारणपूर्वक आहुति देने से उद्देश्यमूल ऋतुओं का यजन सफल हो जाता है । इसीलिए आज्यग्रहण उपांशु रूप से ही, एवं आज्याहुति नामग्रहपूर्विका ही विहित हुई है । बिना नाम ग्रहण के चुपचाप जुहूपभृत् में आज्यग्रहण करना ही इस प्रश्न का भी समर्थक बन रहा है कि, आज्य का देवता कौन है ? किस देवता के उद्देश्य से आज्यग्रहण हुआ है ?—साथ ही यही नामग्रहणाभावात्मक तूष्णींभाव–अनिरुक्तभाव–इस प्रश्न का उत्तर भी दे रहा है कि, यह आज्य प्रजापतिदेवताक है । इसी स्थिति का संकेतविधया से स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कह रही है)—(ये आज्य) प्राजापत्य हैं, यही कहना चाहिए । अर्थात् आज्य किंदेवत्य हैं ?, प्रश्न का 'प्राजापत्य हैं', यही उत्तर हो सकता है) । क्योंकि प्रजापति निश्चयेन अनिरुक्त है । उधर आज्य भी (उपदनादित्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति रूप से) अनिरुक्त ही हैं—"अनिरुक्तो हि प्रजापतिः, अनिरुक्तान्याज्यानि" ।

(आज्य प्राजापत्य हैं, यथावता ही ये-इनकी आहुति–यजमान के स्वर्गप्राप्ति के साधक कैसे बन गए ?, यह प्रश्न उपस्थित होता है । इसी का समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—(अपने अनिरुक्तभाव से प्रजापत्य बने हुए) ये ये आज्य यजमानदेवत्य ही हैं । (अर्थात् यज्ञकर्त्ता यजमान भी 'प्रजापति' सम्बन्ध से इन आज्यों का देवता बन जाता है । क्योंकि, जैसे सम्वत्सरयज्ञमण्डल का अधिष्ठाता नभ्यभाव (हृदयतत्त्व–सम्वत्सरमण्डलापेक्षया प्रजापति है । एवमेव) यह यजमान

*—"अथ यान्याज्यानि यजन्ते-अद्भ्यश्चैव तानि, छन्दोभ्यश्च यजन्ते, उपदनादित्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति" (शत० २ प्र० । ५ ब्रा० । ७ कण्डिका) ।

(वसन्त-ग्रीष्मर्त्तु-समाह्रक समित्-तनूनपात्-आदि पाँच) प्रयाजयागों से (ऋतुमण्डल में प्रविष्ट असुरों को) जीतता हुआ यजमान (परम्परया ऋतुसम्बन्ध से) निरचयेन (ऋतुसमष्टि-रूप) सम्वत्सर को ही जीतता (अधिकार प्रतिष्ठित करता) है। (यह भी निश्चित है कि) वही (विजेता) इस सम्वत्सर का जय करता है (जीतता है), जो सम्वत्सर (रूप दुर्ग) के द्वारों को जानता है। (अर्थात् द्वार परिज्ञान पूर्वक ही दुर्गप्रवेश द्वारा जयलाभ सम्भव है)। वह (जयेच्छु) उन घरों से-दुर्गों-से क्या लाभ उठा सकेगा, (जिसके अन्तर्द्वारों को वह उस रूप से भलीभाँति न जान लेगा, जैसे कि वे इसके उपयोग में आते हैं। (ठीक इसी प्रकार जिन प्रयाजों के द्वारभूत प्रथम-अन्तिम प्रयाजों के तात्त्विकरूप को जो नहीं जानता, वे प्रयाज जिस प्रकार के वे इस यजमान के उपकारक होते हैं, उनके तात्त्विक प्रकारों का, प्रधान-द्वारभूत प्रयाजों को नहीं जानता, वह क्या फल प्राप्त कर सकता है-कुछ नहीं। (अतएव सम्वत्सर दुर्ग द्वारका परिज्ञान आवश्यक है)। (सम्वत्सर दुर्ग का) वसन्त ही (प्रवेश द्वार है, हेमन्त ही (निर्गमन) द्वार है। (दोनों के स्वरूपज्ञान पूर्वक प्रयाजयजन करने वाला) यजमान इस द्वारयुक्त सम्वत्सररूप स्वर्गलोक को प्राप्त हो जाता है। सम्वत्सर सर्वरूप है। सर्वभाव ही अक्षय्यभाव है। प्रयाज-यजन कर्त्ता का सुकृत (कर्म्म) अक्षय्य होता है, लोक भी अक्षय्य होता है। (तात्पर्य कहने का यही है कि, सम्वत्सर सम्पत्तिसमाह्रक प्रयाजकर्म्म से स्थायी सम्पत् प्राप्त होती है, वह लोकप्रविघ्न से मुक्त हो जाता है, और यही प्रयाजकर्म्म का कालान्तरभावी प्राकृतिक स्थायी फल है)॥ १६ ॥

इति-फलश्रुति

—— ८ ——

९-परिशिष्टप्रश्नोत्तरविमर्श

(प्रयाजकर्म्म को पक्षपूर्णताप्रवर्त्तक, एवं तद्द्वारा यजमानात्मा का स्वर्गप्रापक बतलाया गया है। प्रश्न स्वाभाविक है कि, प्रयाजकर्म्म में ऐसी क्या विशेषता है, जिससे फलसर्वस्वात्मक भी प्रयाज जैसा अङ्गकर्म्म पुरुषार्थकर्म्मवत् स्वर्गप्राप्ति का कारण बन जाता है ? । प्रयाजकर्म्म में जो आज्याहुति विहित है प्रत्यक्ष में उस आज्य में भी हम ऐसा कोई अतिशय उपलब्ध नहीं कर रहे, जो स्वर्गप्रापक बन जाय। इसी प्रश्न का यों भी उत्थान किया जा सकता है कि, सर्वत्र सभी कर्म्मों में आहुतिद्रव्य ही स्व स्व देवप्राणानुसार तत्तत् विशेष-पक्षातिशयों का जनक बनता है। जिस देवभाग से आहुतिद्रव्य युक्त रहता है, आहवनीयाग्नि में हुत वह प्राणमयी आहुति वह पक्षातिशय यक्ष में प्रतिष्ठित करने का कारण बनती है। क्या प्रयाजकर्म्म के लिए नियत आज्याहुति का कोई यह विशिष्ट देवता है, जो स्वर्गप्राप्ति का निमित्त बन सकता है ? । प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में दिया जायगा। वास्तव में केवल आज्यदेवता ही प्रयाज जैसे अङ्ग कर्म्म को भी स्वर्गप्रापक बनाने में समर्थ हो रहा है। उस आज्यदेवता का स्वरूप क्या है ? जिसके द्वारा-प्रयाजकर्म्म स्वर्गप्रापक बन रहा है ? यही प्रश्न की अन्य उत्थानिका है जिसका निम्नलिखित रूप से विश्लेषण हुआ है)।

गतार्थ बन रहा है। इसके अतिरिक्त यदि एवंवित् यजमान से स्वाभाविक मानुषभाव के द्वारा कोई असत्कर्म भी हो जाता है, तो भी वह यज्ञसीमा से बाहिर नहीं होता। क्योंकि अपने आत्स्वरूप से उसकी यज्ञसीमानुगति अक्षुण्ण है। इसी भाव का-प्रासङ्गिक फल का-अपने शब्दों में अभिनय करती हुई श्रुति कहती है)—

यदि उस यजमान के दूर चले जाने पर ऋत्विक् यजन करता है, अथवा समीप रहने पर यजन करता है, करे, कोई अन्तर नहीं होता कोई हानि नहीं होती। अपितु जिस प्रकार यजमान के समीप रहने पर (सान्निध्य से-ऋत्विक् के द्वारा यजमान के लिए यज्ञ कर्म) इष्ट-इष्टजनक-सफल-बनता है, एवमेव एवंवित्-(आम्यरहस्यवित्) उस यजमान के विदूर रहने पर भी ऋत्विक् -द्वारा कृत वह यज्ञ इष्ट ही बन जाता है। साथ ही भले ही वह) स्वाभाविक मानुषदोषवश) अनेक त्रुटियाँ करता है (करे), परन्तु निश्चयेन (त्रुटि करता हुआ भी) वह यज्ञसीमा से बाहिर नहीं जाता, जो कि आम्य के इस प्राजापत्यानुगत स्वस्वरूप को जानता है ॥२१॥

इति—परिशिष्टप्रश्नोत्तरविमर्श

——— ६ ———

छठ अध्याय में पहिला, चौथे प्रपाठक में छठा ब्राह्मण

(१।६।१)—(१।४।६)

चतुर्थ प्रपाठक समाप्त

३ त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्राप्त तृतीय ब्राह्मण समाप्त

३

———o———

(मूलानुवाद समाप्त)

त्रिब्राह्मणात्मक 'प्रयाजब्राह्मण' समाप्त,

क्रमप्राप्त—२२-२३-२४ ब्राह्मण समाप्त

ओंतत्सद्ब्रह्मणे नम

——❀——

भी निश्चयेन अपने इस यज्ञ में (स्वयज्ञापेक्षया उसका प्रवर्त्तक बनने से) प्रजापति है । (जिस प्रकार अभ्यन्तर प्रजापति की इच्छाकामना से अग्नि वाय्वादित्यादि ऋत्विक् प्राकृतिक नित्य यज्ञ का वितान करते हैं, एवमेव इस यज्ञ में भी इस यजमान से उक्त (प्रेरित) होकर ही होता-अध्वर्यु आदि ऋत्विक्-(मन्त्र-शस्त्र-स्तोत्रादि स्वकर्मों के द्वारा) यज्ञ वितत करते हैं, (इस वितान से यजमान के) वह (दैवात्मा) को उत्पन्न करते हैं । (इसप्रकार जिन प्रेरणाओं, धर्म्मों से वह अपने यज्ञ में प्रजापति बन रहा है, सब प्रेरणा-धर्म्मों का प्रवर्तक बनता हुआ यजमान भी अपने यज्ञ में अवश्य ही प्रजापति माना जा सकता है । एवं इसीलिए प्राजापत्य आज्यों का यजमानदेवत्य माना जा सकता है) ।।२०।।

(प्रजापत्य आज्य क्यों यजमान के स्वर्गगमन का कारण बन जाता है ?, प्रश्न का परोक्षरूप से यद्यपि पूर्वकथितक्रम से समाधान हो जाता है । तथापि, जैसा चाहिए, वैसा स्पष्टीकरण अभी नहीं हुआ । इसी यत् किञ्चित्-अस्पष्टत्व का स्पष्टीकरण करती हुई पद्धत्यंश-प्रदर्शन पूर्वक समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—यह अध्वर्यु आज्य का *उपस्तरण कर (पुरोडाशस्थापनप्रदेश को आज्य से पहिले आज्य से युक्त कर, अनन्तर निम्न) हवि के दो अवदान कर (आस्तृत आज्य पर हविरवदान रख, अनन्तर पुनः ऊपर से उस द्विरवत्त) हवि पर आज्याभिघार करता है (ऊपर से घृत डालता है) । (इस प्रकार उभयतः आज्यसम्बन्ध से युक्त) यह आहुति आज्य से (सर्वात्मना-नीचे-ऊपर दोनों ओर से) संश्लिष्ट होकर (मिलकर ही) अध्वर्यु के द्वारा (आहवनीयाग्निके समिद्ध-प्रज्वलित-प्रदेश-में) आहुत होती है (यह है आज्याहुति का स्वरूप, जिसमें दोनों ओर से आज्य का सम्बन्ध हो रहा है) ।

अध्वर्यु के द्वारा आज्यमिश्रा आहुति यजमानमिश्रिता बन कर ही (अग्नि में) आहुत होती है । (तात्पर्य्य यही हुआ कि, आज्याहुति प्राजापत्या बनती हुई स्वर्गाधिष्ठाता प्रजापति से युक्त होता है । आज्य यजमानात्मक है, यजमान का प्राण आज्य में समाविष्ट है, साथ ही यजमान अपने यज्ञ की अपेक्षा से प्रजापति भी है । आज्य एक प्रकार से यजमानात्मा है । इस प्रकार आज्य परम्परया यजमानात्मा—द्वारा प्रजापति से युक्त होता हुआ स्वर्गप्राप्ति का अनुगामी बन जाता है । और आज्याहुति के द्वारा कैसे यजमान स्वर्ग पहुँच जाता है ?, किंवा आज्याहुति कैसे स्वर्ग प्रापिका बन जाती है ?, किंवा प्रयाज जैसे कर्त्तव्य—यज्ञ कर्म्म से स्वर्गप्राप्ति कैसे सम्भव है ?, इत्यादि परिशिष्ट प्रश्नों का सम्यग्रूपेण विमर्श हो जाता है) ।

(अब इसी आज्याहुति के सम्बन्ध में एक प्रासङ्गिक फल बतलाकर श्रुति इस प्रयाजप्रकरण को समाप्त कर रही है । आज्य साक्षात् यजमान है । आज्य का हवि के साथ युक्त हो जाना यजमान का हवि के साथ किंवा यज्ञ के साथ युक्त हो जाना है । अतएव इस अपने आज्य स्वरूपानुगत प्राजापत्यस्वरूप को जानने वाले यजमान के लिए यह आवश्यक नहीं होता कि, वह आहुतिकाल में ऋत्विजों के पास रहे ही रहे । क्यों कि, आज्यसान्निध्य से ही यजमानसान्निध्य

*उपस्तरण-शय्या-बिछावट-बिस्तर

आपत्ति नहीं उठाई जा सकती कि, पूर्वपठित स्रु गादापन ब्राह्मण का भी त्रिब्राह्मणात्मक प्रकृत प्रयाजब्राह्मण में ही अन्तर्भाव है। फलतः यह कहना भी सुसङ्गत माना जा सकता है कि, प्रयाजब्राह्मण त्रिब्राह्मणात्मक भी नहीं है, अपितु स्वकर्म्माङ्गभूत स्रु गादापन-समन्वय से यह चतुर्ब्राह्मणात्मक ही है।

उक्त स्थिति को सामने रखते हुए यह भी निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि, कात्यायनश्रौतसूत्र के–अग्निर्होतेति स्रु गादापनम् *—३।२।१९ इत्यादि सूत्र से आरम्भ कर 'सर्वान्वोत्तमेनोपायित्वात्' –३।३।६। इत्यादि सूत्रपर्य्यन्त १८ सूत्रों में प्रयाजकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता का ही विश्लेषण हुआ है। यही कारण है कि, पूर्व के स्रु गादापन ब्राह्मणभाष्य में हमने सूत्रानुगत जिस पद्धति-क्रम का दिग्दर्शन कराया है उसे जान बूझ कर अपूर्ण छोड़ दिया है— (देखिए सू प स पृ० सं १२७—१२८)। यहां जिन दो सूत्रों से इतिकर्त्तव्यता का दिग्दर्शन कराया गया है उनका वस्तुतः प्रयाजकर्म्म से ही सम्बन्ध है। अतएव उचित है कि प्रयाजब्राह्मण के मूलानुवाद के अनन्तर क्रमप्राप्त सूत्रानुगत पद्धतिसंग्रह नामक प्रकृत परिच्छेद में उस उक्त सूत्रद्वयात्मक पद्धतिसंग्रह का संग्रह करते हुए ही यहां सूत्रानुगत इतिकर्त्तव्यता का सामूहिकरूप से विश्लेषण किया जाय। इस सन्दर्भसङ्गति को लक्ष्य बना कर ही पाठक निम्नलिखित प्रयाजाहुत (सूत्रानुगता प्रयाजकर्म्म पद्धति) का समन्वय करेंगे, यही आरम्भिक निवेदन है।

'स वै प्रवरायाश्रावयति० (शत० १।५।१) से आरम्भ कर–'अयाग्निमीडमाणो यपति० (शत १।५।२१) यहाँ तक २१ कण्डिकाओं में (२१ कण्डिकात्मक 'होतृप्रवरब्राह्मण' नामक ब्राह्मण में) 'होतृ-वरण' कर्म्म का सोपपत्तिक-निरूपण हुआ है, जिसका प्रस्तुत शतपथभाष्य के पञ्चम वर्ष के–९१ वें पृष्ठ से आरम्भ कर ११ वें पृष्ठ पर्य्यन्त ५ पृष्ठों में सोपपत्तिक प्रतिपादन हुआ है। सूत्रक्रमानुसार- निधायेध्मसन्नहनान्० –का श्री ३।२।२।–इस सूत्र से आरम्भ कर–'सम्मृष्ट उपविशति ३।२।१५। इस सूत्रपर्य्यन्त ११ सूत्रों में होतृवरणकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता का विश्लेषण हुआ है–(देखिए पृ सं ८१ से ८४ पर्य्यन्त)। *होतृवरणकर्म्मेतिकर्त्तव्यता-विश्लेषक उक्त त्रयोदशसूत्र-सन्दर्भात्मक सूत्रप्रकरण के अन्तिम 'सम्मृष्ट उपविशति' इस सूत्र को प्रकरणसङ्गतिग्राहक मान कर ही हमें प्रयाजकर्म्मेतिकर्त्तव्यता-प्रतिपादक १९ सूत्रसन्दर्भात्मक सूत्रप्रकरण का समन्वय करना है।*

स्रु गादापन-ब्राह्मण नामक दो कर्म्मों को अपना अङ्गकर्म्म बनाने वाले प्रयाजकर्म्म से पहिले अध्वर्यु आदि ऋत्विजों ने विहित पद्धति के अनुसार यथानुसार वरणकर्म्म का अनुगमन कर लिया है। *वरणकर्म्मानन्तर अब होता अपनी प्राणाग्नि–सम्पत् को मनो–वाक् से युक्त करने के लिए मनोरूप अध्वर्यु के,* तथा वाग्रूप आग्नीध्र के अंशप्रदेश का स्पर्श करता है *। स्पर्शकर्म्मानन्तर-× 'पयमोर्मिरङ्गस्त्वान्तु०

*- अथाध्वर्यु चाग्नीध्र च सम्मृशति (होता)। मनो वाऽअध्वर्यु वागाग्नीध्रः। तन्मनश्चैवैतद्वाचं च सन्दधाति' –शत १।५।१।२१।

×—इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, स्पर्शकर्म्मानन्तर होता के द्वारा प्रयुक्त स्वस्त्ययनजप की *इतिकर्त्तव्यता का कात्यायन श्रौतसूत्र में उल्लेख नहीं हुआ है जब कि स्वयं शतपथ में यह विहित है।* पयमोर्मि-रङ्गस्त्वान्तु से आरम्भ कर- येन यथा इम्ममावो वहानि यहां तक की इतिकर्त्तव्यता सूत्र में क्यों उद्धृत नहीं हुई? इस प्रश्न का उत्तर अज्ञात है। अविधिविहित होने से अनुगमन इसका अवश्य ही किया जाता है।

श्रीः

(४)–सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह —

सन्दर्भसङ्गति —

त्रिप्रयाजात्मक प्रयाजब्राह्मण से पहिले 'स्रुग्ब्राह्मण' का स्थान है। उसमें १–स्रुगादापनकर्म्म, २–आश्रावण-प्रत्याश्रावणकर्म्म, इन दो कर्म्मों की इतिकर्त्तव्यता का निरूपण हुआ है। तदनन्तर प्रकृत के त्रिप्रयाजात्मक प्रयाजब्राह्मण में प्रयाजकर्म्म की सोपपत्तिक इतिकर्त्तव्यता का विश्लेषण हुआ है। इस दृष्टि से १–स्रुगादापन, २–आ॰ प्र॰, ३–प्रयाज, इन तीनों को हम पृथक् पृथक् तीन कर्म्म मान सकते हैं। वस्तुस्थिति वास्तव में ऐसी है कि, स्रुगादापन, और आ॰ प्र॰, इन दोनों कर्म्मों का भी प्रयाजकर्म्म में ही अन्तर्भाव मानना चाहिए। क्योंकि 'अग्निर्होता वेत्वग्नेर्होत्रम्' इत्यादि नवव्याहृत्यात्मक निगदमन्त्रपाठात्मक होतृकृत स्रुगादापन कर्म्म के पृष्ठभूमिभावों। स्रुचमादत्स्व इन पाँचवी व्याहृति के 'युक्तवतीम्' इस पदोच्चारण के साथ ही अध्वर्यु जुहू–उपभृत् का ग्रहण कर लेता है। होता के 'युक्तवतीम्' पदोच्चारण के साथ अध्वर्यु का जुहूपभृत्-ग्रहण करना ही वस्तुतः 'स्रुगादापन' कर्म्म है। 'जुहूपभृत्' स्रुक् हैं। इनका समन्त्रक ग्रहण ही 'स्रुगादापन' है।

'स्रुगादापन (जुहूपभृद्ग्रहण) होता है समिद्धाग्नि में आज्याहुति देने के लिए। जिस आज्याहुति कर्म्म को प्रयाजकर्म्म कहा गया है। आज्याहुति के प्रदान में अध्वर्यु, आग्नीध्र होता, इन ऋत्विजों की पारस्परिक मन्त्रप्रयोग से संवित् होती है। यज्ञस्वरूप को अश्वमेधरूप से विदित करने वाला, अध्वर्युनिर्दिष्ट, अप्रस्तुत वागव्यापारविशिष्ट मन्त्रव्याहृति का प्रयोग ही संवित् है। इस संवित्कर्म्म के साधक जो 'आश्रावय'–'अस्तु श्रौषट्', 'यज'–'ये यजामहे'–'वौषट्' ये पाँच निगदमन्त्र, किंवा एक ही निगदमन्त्र की पाँच व्याहृतियाँ हैं। इन पाँचों व्याहृतियों के द्वारा यज्ञकर्म्म में ऐकमत्य (संविदाना) बन कर ही आज्याहुतिरूप प्रयाजकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता पूरी की जाती है। ऐकमत्यभावपरिनिष्ठ संवित् की प्राप्ति का साधक मन्त्र का उच्चारण ही 'आश्रावण-प्रत्याश्रावण' कर्म्म है जिसका तात्पर्यार्थ यही है कि, निकट भविष्य में ही जिस आज्याहुति से प्रयाजकर्म्म होने वाला है उसके लिए द्यु-लोकस्थ प्राणदेवता यहाँ आ जायँ, एवं आज्याहुति का ग्रहण कर प्रयाजकर्म्म को सफल बनावें।

इस प्रकार स्रुगादापनवत् यह आश्रावण–प्रत्याश्रावण कर्म्म भी कोई स्वतन्त्र कर्म्म नहीं है अपितु यह भी प्रयाजकर्म्म का ही परम्परया पूरक बना हुआ है। क्योंकि आ॰ प्र॰ कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले निगदमन्त्र की 'यज' व्याहृति का 'समिधो यज' इस रूप से प्रयाज के लिए एवं 'ये यजामहे–समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु' इस रूप से प्रयाज के लिए, वौषट्' का आज्याहुति के लिए ही विनियोग हुआ है। इससे स्पष्ट है कि आ॰ प्र॰ कर्म्म प्रयाज का ही साधक है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि पूर्वब्राह्मण मे विहित स्रुगादापन आ॰ प्र॰, दोनों कोई स्वतन्त्र कर्म्म नहीं हैं अपितु दोनों प्रयाजकर्म्म के स्वरूपसम्पादक बनते हुए प्रयाजाङ्ग बन कर प्रयाजकर्म्म में ही अन्तर्भूत हैं। अतएव यह स्वीकार करने में भी अब कोई

पहुँच कर ईशानाभिमुख खड़ा होकर आग्नीध्र नामक ऋत्विक् को लक्ष्य बना कर कहता है—'ओ श्रावय'। उत्तर में स्वस्थान में स्थित आग्नीध्र अध्वर्यु को लक्ष्य बनाकर कहता है—'अस्तु श्रौषट्'। अनन्तर तत्रैव ईशानाभिमुख खड़ा हुआ अध्वर्यु—होता को लक्ष्य बनाकर कहता है—'समिधो यज' । 'समिधो यज' रूप से होता के प्रति प्रैष कर इधर अध्वर्यु तो जुहू को उपभृत् पर से पूर्व की ओर—आहवनीयाग्नि की ओर उतार कर आहुति के लिए सन्नद्ध होता है, उधर होता अध्वर्यु से प्रेषित होकर समिद्देवताक निम्न लिखित याज्या मन्त्र का स्वस्थान से उच्चारण करता है—

'ओं—ये ३ यजामहे (१) समिधः, समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु ३ वौं ३ षट्' इति।

होता के उक्त याज्यामन्त्रोच्चारण की अन्तिम 'वौ ३ षट्' इस व्याहृति के साथ यह अध्वर्यु—जुहूस्थित आज्य के तृतीयांश को आहवनीयाग्नि के अतिशय रूप से प्रज्वलित भाग में (समिद्धतमे) जुहू से आहुति दे देता है। यही प्रथम प्रयाजकर्म है। इसी क्रम से शेष चारों प्रयाजों की आहुति होती है। इसप्रकार यथा क्रम पञ्च प्रयाजों का समिद्धतम अग्नि में अनुष्ठान होता है। अन्तर केवल यही है कि, प्रथम प्रयाज में होता के प्रति वसन्तऋतुरूप समिद्देवता का जैसे समिधो यज इत्यादि—रूप से नाम ग्रहण होता है वैसे ग्रीष्म—वर्षा शरद्—हेमन्त ऋतुरूप तनूनपात्, इट्,—बर्हि-स्वाहा—नामक शेष चार प्रयाजों में होने वाले प्रैष में नामोच्चारण कर केवल यज' 'यज' रूप से ही होता के प्रति प्रैष होता है। इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जिस समय होता 'ये यजामहे समिधः ' इत्यादि बोल चुकता है, अव्यवहित क्षण में ही यजमान निम्न लिखित त्यागमन्त्र बोलता है—

"इति समिद्भ्यो न मम। एको मम, एका तस्य-यमहं द्वेष्मि। (यदि न द्विष्यात् तदा तु) योऽस्मान् द्वेष्टि, यञ्च वय द्विष्म (इत्येव ब्रूयात्)। त्विषिमान् भूयासम्" इति।

तात्पर्य्य यह निकला कि उधर होता याज्यामन्त्र बोल चुकता है उसके मुख से 'वौ ३ षट्' निकलता है, इधर यजमान उक्त त्यागमन्त्र बोलना आरम्भ कर देता है। होता के वषट्कार के पश्चात्, यजमान के त्यागमन्त्र के बोलते समय ही अध्वर्यु आहुति देता है। इधर अध्वर्यु होता के वौषट् उच्चारणानन्तर अग्नि में आहुति देता है, उधर होता याज्यामन्त्रोच्चारणाव्यवहितोत्तरकाल में स्वानन्तर्य निम्न लिखित मन्त्रोच्चारण करता हुआ अपने हृदयस्थान का स्पर्श करता है यही क्रम शेष चारों प्रयाजों में समझना चाहिए—

"वषट्कार ! मा म आयु प्रमोषीर्वागोज सहोऽओ भयि—
प्राणापानौ पातम्" (इति होता पठति याज्यानन्तरम्) इति ॥

नामग्रहणानुगत—वसन्तरूप समित्—नामक प्रथम प्रयाजकर्म की इसी इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुतकार कहते हैं—

इत्यादि सप्तप 'स्वस्त्ययनजप कर्म्म करता है (१०८ पृ) । स्वस्त्ययनजपकर्म्मसमाप्त्यनन्तर 'होतृषदन नामक स्वस्थान की ओर लौट कर समन्त्रक तृणनिरसन करता हुआ यथास्थान बैठ जाता है—(१ ९ पृ) । बैठने के अनन्तर देवस्तुति करता है (११ पृ) । इधर होता तो अपनी यह इतिकर्त्तव्यता पूरी करता है उधर होता के द्वारा स्वाश-प्रदेश से सृष्ट अध्वर्यु आग्नीध्र, दोनों स्पर्शानन्तर—अपने अपने स्थानों में बैठ जाते हैं । इसप्रकार अवान्तरकर्म्मसंग्रहात्मक वरणकर्म्म समाप्त किया जाता है, जिस का— सम्भूय उपविशत इस (१।२।१५) इस सूत्र से उपसंहार हुआ है । अनन्तर क्या होता है ? दूसरे शब्दों में वरणकर्म्मानन्तर ऋत्विक् लोग प्रकृत पूर्णमासेष्टिकर्म्म के लिए अवान्तर अस्वर्य कर्म्म का अनुगम करते हैं ?, इसी प्रश्न का समाधान करता हुआ—प्रयाजकर्म्मेतिकर्त्तव्यतात्मक निम्न लिखित सूत्रानुगत पद्धतिसंग्रहप्रकरण पद्धतिप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित होता है ।

वरणकर्म्मानन्तर ऋतुदेवताओं का यजन होता है । यही ऋतुयजन प्रयाजकर्म्म' कहलाता है । प्रयाजकर्म्म में विहित आज्याहुति के ग्रहण के लिए मान्यदेवताओं का अग्नि के द्वारा इस यज्ञ में सम्बन्ध अपेक्षित है । तदर्थ ही होता के द्वारा वरणकर्म्मानन्तर स्रुगादापनकर्म्म, एवं अन्य ऋत्विक् सहयोग से आश्रावण-प्रत्याश्रावणकर्म्म विहित है । इतिकर्त्तव्यता का प्रकार यह है कि,—

होतृषदन' नामक स्वस्थान पर बैठकर आहवनीयाग्नि की ओर दृष्टिपात करता हुआ होता— विश्वेदेवा शास्त न मा यथेह इत्यादि वरणकर्म्मानुगत मन्त्रजप करने के अनन्तर उपांशु-उच्चस्वर की नियत मर्य्यादा से निम्न लिखित स्रुगादापननिगद का पाठ करता है—

"ओम् अग्निर्होता वेत्वग्नेर्होत्रं वेतु पावित्रं साधु ते यजमानदेवता (इत्युच्चैः) योऽग्निं होतारमवृथा (इत्युपांशु), घृतवतीमध्वर्यो स्रुचमास्यस्व देवयुवं विश्ववारामीडामहै देवाँ २ा ईडेन्यान्-नमस्याम नमस्याम् यजाम यज्ञियान्' (इत्युच्चैः) । शत० १।४।३।१-३।-।

जिस समय होता उक्त मन्त्र का पाठ करता है और उस के मुख से—मन्त्र का 'घृतवतीम्' पद निकलता है, उसी समय पदोच्चारण के अव्यवहितोत्तरकाल में ही स्वस्थान में स्थित अध्वर्यु जुहू—उपभृत नामक स्रुचों का ग्रहण करता है । यही इस का समन्त्रक 'स्रुगादापन (स्रुगादान) कर्म्म है । प्रयाजकर्म्म समन्त्रक है स्रुगादापन तदङ्ग है तत्सन्निहित में विहित है, अतएव प्रमाणों में विहित स्रुगादापन 'अग्निर्होता इत्यादि मन्त्रोच्चारण पूर्वक ही होना न्यायप्राप्त है । हां जहां प्रयाजाभाव है वहां तूष्णीं ही स्रुक् का आदान होता है । इसी विशेषता का साथ ही समन्त्रक स्रुगादापन का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार ने कहा है—

(१)—"अग्निर्होतेति स्रुगादापनं प्रयाजेषु, सन्निधेः" । (१।२।१६।) ।

* * * *

इसप्रकार होता के 'घृतवतीम् पदोच्चारण करने के अव्यवहितोत्तरकाल में अध्वर्यु —जुहू—उपभृत्—लेकर हविष्यों से पूर्व एवं अग्निपरिधियों से पश्चिम की ओर नियत सञ्चर' नामक मार्ग से अपने वामपाद को आगे करता हुआ वेदि के दक्षिण पार्श्व में आहवनीय के समीप बने हुए अवति' स्थान में पहुँचता है । यहां

प्रश्न का तात्पर्य्य स्पष्ट है । आदेश यह है कि, चौथे प्रयाज में ही आज्य ग्रहण करना चाहिए । यहाँ ६, अथवा ११ प्रयाजानुयाज हैं, वहाँ आरम्भ के तीन प्रयाज-कर्म्मानन्तर चौथे में ग्रहण कर लिया जयगा, और यहाँतक तो 'चतुर्थे समानयति' आदेश का यथावत् [पञ्चप्रयाजपक्षवत्] पालन होजायगा । परन्तु ६ पक्ष में ५ प्रयाज ११ पक्ष में ७ प्रयाज, शेष रह जाते हैं । चतुर्थ प्रयाज में गृहीत आज्यमात्रा से ही शेष ५, अथवा ७ प्रयाजों की इतिकर्त्तव्यता पूर्ति असम्भव है । तदर्थ पुनः आज्यग्रहण आवश्यक रूप से अपेक्षित है । ऐसी स्थिति में यदि चतुर्थानन्तर अपेक्षावश आगे के प्रयाजों में आज्यग्रहण किया जाता है, तो—'चतुर्थे समानयति' नियम का व्याघात होता है । यदि इस नियम की रक्षा के लिए आगे ग्रहण नहीं किया जाय, तो इतिकर्त्तव्यता पूरी नहीं होती । इसी प्रासङ्गिक विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

प्रयाजवृद्धि–पक्ष में भी चतुर्थ-चतुर्थ की आवृत्ति कर लेनी चाहिए । तात्पर्य सूत्रकार का यही है कि मान लीजिए किसी विकृति–इष्टि में ६ प्रयाज हैं । वहाँ यह व्यवस्था होगी कि, आरम्भ के १ २ ३, प्रयाजों की इतिकर्त्तव्यता तो पूर्वगृहीत जुहूस्थित आज्य से पञ्चप्रयाज–पक्षवत् पूरी कर दी जायगी । ४ थे प्रयाज में भी पञ्चप्रयाजपक्षवत् आज्यग्रहण कर 'चतुर्थे समानयति' का पालन कर लिया जायगा । इन चतुर्थप्रयाजोपक्रम में गृहीत आज्य से ४ ५, ६, इन तीन प्रयाजों की इतिकर्त्तव्यता पूरी हो जायगी । अब ७ ८, ९, इन तीन प्रयाजों के लिए आज्य की अपेक्षा होगी । इसके लिए सातवें प्रयाजोपक्रम में [६ ठे प्रयाज की समाप्ति के अनन्तर] दुबारा आज्य ग्रहण होगा जो कि–'चतुर्थाच्चतुर्थे' भाव से चौथा ही पड़ेगा । चौथे प्रयाज से सातवाँ प्रयाज चौथा पड़ेगा, अतएव सातवें में आज्य समानयन करते से 'चतुर्थे समानयति' नियम का भी पालन हो-जायगा इतिकर्त्तव्यता भी पूरी ही जायगी । यही 'चतुर्थात्-चतुर्थे' नियम एकादश प्रयाज पक्ष में काम देगा । ११ प्रयाज पक्ष में आरम्भके १ २ ३ की इतिकर्त्तव्यता पूर्व गृहीत आज्य से गतार्थ है । ४ थे में पञ्चप्रयाज पक्षवत् आज्य ग्रहण है । इस चौथे से चौथा सातवां से चौथा १० वा है । अतः वहाँ सप्तम और दशम में आज्यग्रहण से चतुर्थे समानयति का पालन होजायगा । इसप्रकार नव प्रयाज पक्ष में 'चतुर्थाच्चतुर्थे' (सप्तमे) रूप से पञ्चप्रयाज–पक्षापेक्षया एक बार अधिक आज्य ग्रहण होगा । एवं एकादश प्रयाज पक्ष में–'चतुर्थाच्चतुर्थे'–(सप्तमे) पुनश्चतुर्थात् (सप्तमात्) चतुर्थे (दशमे) रूप से पञ्चप्रयाजापेक्षया दो बार अधिक आज्य ग्रहण होगा । यही व्यवस्था नवैकादशानुयाजों में मान्य होगी जिस प्रासङ्गिक व्यवस्था का निम्न लिखित तालिका से स्पष्टीकरण होरहा है —

प्रकृति–इष्टिः —

पञ्चप्रयाजाः —
- १–वसन्तयागात्मकः—प्रथमप्रयाजः—गृहीताज्येनाहुतिः
- २–ग्रीष्मयागात्मकः—द्वितीयप्रयाजः— ,,
- ३–प्रावृड्यागात्मकः—तृतीयप्रयाजः—
- ४–शरद्यागात्मकः—चतुर्थप्रयाजः—
- ५–हेमन्तयागात्मकः—पञ्चमप्रयाजः— ,,

(२)-'घृतवतीमित्युक्त स्रुचावादाय, अतिक्रम्य, आश्राव्य, आह- 'समिधो यजे'ति । पञ्चप्रयाजान्त्समिद्भमे (जुहुयात्)" ॥ (१।७।१७)

(३)-"यज्ञ यजेति शेषम्" (१।७।१८)।

अब पञ्च प्रयाजों से सम्बन्ध रखने वाली कुछ एक उन विशेषताओं का सूत्रकार दिग्दर्शन करा रहे हैं, जिनका ब्राह्मण भाग में स्पष्टीकरण हुआ है। जिस पूर्वोक्त स्थान पर खड़ा होकर अध्वर्यु प्रयाजकर्म्म (आहुतिकर्म्म) करता है, उसे उसी स्थान पर खड़े रहना चाहिए। अविचाली भाव से ही प्रयाजाहुति देनी चाहिये। अथवा इसी सम्बन्ध में एक दूसरा पक्ष यह भी है कि, प्रतिप्रयाज याग में आहवनीय के सम्मुख पूर्व पूर्वस्थान से अतिक्रमण कर आगे आगे बढ़ते हुए आहुति देनी चाहिए। इसप्रकार यद्यपि सूत्रकार ने दोनों पक्ष उद्धृत कर दिये हैं। तथापि श्रुति के-'तदु यथा न कुर्यात्। यत्रैव तिष्ठन् प्रथमेभ्य आश्रावयेत्, तत एव नापक्रमेत् (शत० १।५।४।७) इस सिद्धान्त के अनुसार अनाक्रमणात्मक प्रथम पक्ष ही सिद्धान्त पक्ष समझना चाहिए।

वसन्त-ग्रीष्म-वर्षात्मक-समित्, तनूनपात्, बर्हि इन तीन प्रयाजों के लिए तो जुहू में पहिले से ध्रुवा-स्थ चतुर्वार गृहीत आज्य की ही आहुति देनी चाहिए। परन्तु शरद्-रूप चौथे 'बर्हि नामक-प्रयाज का अनुष्ठान करने से पहिले जुहू में उपभृत् से आज्य ग्रहण और करना चाहिए। क्योंकि ध्रुवा से उपभृत् में आठ स्रुवा (आठ बार करके) जो आज्य ग्रहण होता है, उस गृहीत आज्य की मात्रा में से अर्द्ध भाग तो अनुयाजों के लिए विहित माना गया है, एवं अर्द्ध मात्रा का प्रयाजकर्म्म के लिए आदेश हुआ है। अतएव जुहू में उपभृत् से प्रयाजकर्म्मार्थ आधे आज्य का ही ग्रहण करना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि, आज्यग्रहण करते समय कहीं जुहू का उपभृत् से स्पर्श न हो जाय। अनवमृशन् (दोनों का स्पर्श न करते हुए, दोनों को पृथक् रखते हुए) ही चतुर्थ प्रयाज में आज्यग्रहण विहित है जिसकी उपपत्ति मूलानुवाद में बतलाई जा चुकी है।

अब इस आज्यसमानयन-कर्म्म के सम्बन्ध में एक प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित होता है। प्रकृत पूर्णमा-सेष्टि 'प्रकृतियाग' है। एवं इसके आधार पर विहित आग्रायणादि अन्य इष्टियाँ विकृतियाग' है। 'प्रकृतिवद्वि कृतिः कर्त्तव्या' इस मीमांसा-सिद्धान्तानुसार कुछ प्रासिंगिक विशेष इतिकर्त्तव्यताओं को छोड़कर इन विकृति-भूता इष्टियों में प्रकृतिवत् ही अनुगमन किया गया है। उदाहरण के लिए प्रकृतोपात्त प्रयाजकर्म्म को ही लीजिए। जिसप्रकार प्रयाजकर्म्मप्रकृतिभूता प्रकृत की पूर्णमासेष्टि विहित है एवमेव विकृतिभूता अन्य इष्टियों में भी प्रयाजकर्म्म संगृहीत माना गया है। हाँ दोनों प्रयाजों की संख्या में अवश्य ही विभेद है। प्रकृति इष्टि (पूर्णमासेष्टि) में जहाँ पाँच प्रयाज विहित हैं, वहाँ अन्य विकृति-इष्टियों में ११ प्रयाज माने गए हैं। किसी विकृति में ९ प्रयाज हैं तो किसी में ११ प्रयाज है। विकृति इष्टियों से सम्बन्ध रखने वाले इस प्रयाज ताप ही प्रयाजसम्मानुरूप ही अनुयाग संख्याद्दष्टि के आधार पर ही आज्यसमानयन कर्म्म के सम्बन्ध में यह प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित होता है कि जहाँ प्रयाजानुयाजवृद्धि है वहाँ आज्यसमानयन की क्या व्यवस्था होगी ?।

जिस प्रकार 'एवं सर्वत्र' (१।२।२५) सूत्रादेशानुसार स्रुक्-उपभृत् का * अभ्यूहन होममात्र में समानरूप से विहित है, एवमेव स्रुक्-उपभृत् का नाभिदघ्न प्रदेश में धारण भी होममात्र के लिए ही विहित समझना चाहिए। तात्पर्य कहने का यही है कि आहुति के लिए गृहीत उपभृत् युक्त-आज्यपरिपूर्ण स्रुक् को नाभिसमानप्रदेश में ही रखना चाहिए। एवं होममात्र में इसी नियम का अनुगमन करना चाहिए।

जिस समय होता 'ये यजामहे समिधः समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्' इत्यादि याज्या बोल चुकता है, अनन्तर ही होता त्यागमन्त्र का उच्चारण करता है यह पूर्व में कहा जा चुका है। यजमानकृत यही कर्म 'प्रयाजानुमन्त्रण' कर्म कहलाता है। सूत्रकार कहते हैं कि प्रथम प्रयाजानुमन्त्रण में 'एको मम, एका तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि, यञ्च वयं द्विष्मः' इस वाक्य का समावेश करना चाहिए। एवमेव आगे के शेष चार प्रयाजकर्मों से सम्बन्ध रखने वाले तीन प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों में (२ १-४ में) क्रमशः यथासंख्य-'द्वौ मम-तस्य॰, त्रयो मम-त्रिस्तस्य॰, चत्वारो मम-चत्वारस्तस्य' इस क्रम से मिथुन-युग्म-भावों का समावेश करना चाहिए। सर्वान्त के पाँचवें प्रयाजानुमन्त्रण में (युग्मोत्तर के स्थान में-'पञ्च मम-न तस्य किञ्चन योऽस्मान् द्वेष्टि इत्यादिरूप से) न तस्य किञ्चन' इस वाक्य का सन्निवेश करना चाहिए। इसके अतिरिक्त पाँचों प्रयाजों से सम्बन्ध रखने वाले यजमानकर्तृक पाँचों प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों के अन्त में क्रमशः त्विषिमान्, अपचितिमान्, यशस्वी ब्रह्मवर्चसी, अन्नाद (भूयासम्) इन व्याहृतियों का सम्बन्ध और कर देना चाहिए। स्रुक्-उपभृत्-धारणानुगत नियमविशेष का, तथा प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों से सम्बन्ध रखने वाली इसी विशेषता का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(११)—"नाभिदेशे धारणम् (१।१।१)।

(१२)—"प्रयाजानुमन्त्रण—"एको ममैका तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः' इति"।
(१।१।२)।

(१३)—"एवं मिथुनैर्यथासंख्यम्' (१।१।३)।

(१४)— न तस्य किञ्चनेति पञ्चमे" (१।१।४)।

(१५)— '*त्विषिमान्, अपचितिमान्, यशस्वी ब्रह्मवर्चसी अन्नाद*' इति च (१।१।५)।

पञ्च प्रयाजकर्मों की इतिकर्तव्यता जिन याज्यामन्त्रों से सम्पन्न होती है उनके उच्चारण के अनन्तर यजमान अपनी ओर से प्रयाजसंख्यानुसार मन्त्रोच्चारण करता है। यजमानकृत यही कर्म प्रयाजानुमन्त्रण कहलाता है। इस कर्म के सम्बन्ध में पूर्व के ११ वें सूत्र के द्वारा यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि, पाँचों प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों में से आरम्भ के चार मन्त्रों में क्रमशः (१)-एक-एका, -(२)-'द्वौ द्वे, -(३)-'त्रयः-तिस्रः', -(४)-'चत्वारः-चतस्रः' —इन चार मिथुनभावों का समावेश होता है। पाँचवें अनुमन्त्रण में केवल 'पञ्च मम-न तस्य किञ्चन योऽस्मान् द्वेष्टि' इत्यादि का समावेश होता है। तात्पर्य यही है कि चार मन्त्र मिथुनसम्पत्ति से युक्त हैं पाँचवाँ मिथुनभाव से वञ्चित है। जिस प्रकार नवैकादश प्रयाजपक्ष में आज्यसमानयन की विप्रतिपत्ति हुई थी, एवमेव नवैकादश प्रयाजपक्ष में यजमानकर्तृक

*—अभ्यूहन—अभ्यूहने—उपभृत उपरि निधानम्।
अपहरणे—अपहरणं—उत्तारणम्।

विकृति-इष्टि —
(नवप्रयाजात्मिका)

१—पशीतारम्भेनाहुति
२— ,,
३— ,,
(१)—४—चतुर्थे समानयति
(२)—५—पशीतारम्भेनाहुति
(३)—६— ,,
(४)—७—चतुर्थाम्चतुर्थे समानयति
८—पशीतारम्भेनाहुति
९— ,,

विकृति-इष्टि —
(एकादशप्रयाजात्मिका)

१—पशीतारम्भेनाहुति
२— ,,
३— ,,
(१)—४—चतुर्थे समानयति
(२)—५—पशीतारम्भेनाहुति
(३)—६— ,,
(१)-( )—७—चतुर्थाम्चतुर्थे समानयति
(२)——८—पशीतारम्भेनाहुति
(३)——९— ,,
(४)—— १०—चतुर्थाम्चतुर्थे समानयति
११—पशीतारम्भेनाहुति

प्रयाजकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली सभी विशेषताओं का स्पष्टीकरण कर दिया गया। अब इस सम्बन्ध में केवल आहुति विशेषता और शेष रह जाती है। आहुति कैसे देनी चाहिए ?, आहुति देते समय जुहू-उपभृत् का सम्बन्ध कैसा रहना चाहिए ? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि अध्वर्यु को चाहिए कि उपभृत् के ऊपर रक्खी हुई जुहू को उपभृत् को मुखभाग की ओर से सावधानी से उठार उसे जुहू को प्राचीमुख रखता हुआ प्रथमाहुति प्रदान करे। प्रथम आहुति के अनन्तर उसी पद्धति से उपभृत् के ऊपर जुहू रख दे। अनन्तर उसी पूर्वक्रम से उपभृत् से उठार कर द्वितीयाहुतिप्रदान करे। इस प्रकार पाँचों प्रयाजाहुतियों में ही जुहू को उपभृत् र रख रख कर, उठार उठार कर आहुति-कर्म्मेतिकर्त्तव्यता पूरी करे। केवल प्रयाजकर्म्म में ही यह-अभ्यूहन अपवरकर्म आवश्यक हो, यह बात नहीं है। अपितु होममात्र में इसी नियम की व्याप्ति समझनी चाहिए, एवमेव सर्वहोम में आहुति देनी चाहिए। निम्न लिखित सूत्र प्रयाजकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली इन्हीं विशेषताओं का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

(४)— 'प्र वरित्वष्ठन्' (२।२।१९)।
(५)— 'पूर्वं पूर्व वाऽभिक्रामम्' (१।२।२)।
(६)— उपभृता जुह्वामानयति अनवमृशन् चतुर्थम्' (१।२।२१)।
(७)—' एव प्रयाजौ' (१।२।२२)।
(८)—"अनुप्रयाजेषु च' (१।२।२३)।
(९)—"उत्तरां जुहूमभ्युह्य, प्राचीमभ्युह्य जुहोति" (१।२।२४)
(१)— एवं सर्वत्र' (१।२।२५)।

इति—कात्यायनश्रौतसूत्रे तृतीयाध्याये द्वितीया कण्डिका समाप्ता

जिस प्रकार 'एवं सर्वत्र' (१।२।२५) सूत्रादेशानुसार स्रुक्-उपभृत् का * अभ्यूहन होममात्र में समानरूप से विहित है, एवमेव स्रुक्-उपभृत् का नाभिदघ्न प्रदेश में धारण भी होममात्र के लिए ही विहित समझना चाहिए। तात्पर्य्य कहने का यही है कि आहुति के लिए गृहीत उपभृत् युक्त-आज्यपरिपूर्ण स्रुक् को नाभिसमानप्रदेश में ही रखना चाहिए। एवं होममात्र में इसी नियम का अनुगमन करना चाहिए।

जिस समय होता 'ये यजामहे समिधः' समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट् इत्यादि याज्या बोल चुकता है अनन्तर ही होता त्यागमन्त्र का उच्चारण करता है, यह पूर्व में कहा जा चुका है। यजमानकृत्व यही कर्म 'प्रयाजानुमन्त्रण कर्म्म कहलाया है। सूत्रकार कहते हैं कि, प्रथम प्रयाजानुमन्त्रण में 'एको मम, एका तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि, यञ्च वयं द्विष्म इस वाक्य का समावेश करना चाहिए। एवमेव आगे के शेष चार प्रयाजकर्म्मों से सम्बन्ध रखने वाले तीन प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों में (२ ३-४ में) क्रमशः यथासंख्य-- 'द्वौ मम-तस्य, त्रयो मम-तिस्रस्तस्य, चत्वारो मम-चतस्रस्तस्य इस रूप से मिथुन-युग्म-भावों का समावेश करना चाहिए। सर्वान्त के पाँचवें प्रयाजानुमन्त्रण में (पुष्प्योत्तर के स्थान में-'पञ्च मम-न तस्य किञ्चन योऽस्मान् द्वेष्टि इत्यादिरूप से) 'न तस्य किञ्चन' इस वाक्य का सन्निवेश करना चाहिए। इसके अतिरिक्त पाँचों प्रयाजों से सम्बन्ध रखने वाले यजमानकर्तृक पाँचों प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों के अन्त में क्रमशः त्विषिमान्, अपचितिमान्, यशस्वी ब्रह्मवर्चसी, अन्नाद (भूयासम्) इन व्याहृतियों का सम्बन्ध और कर देना चाहिए। स्रुक्उपभृत्-धारणानुगत नियमविशेष का, तथा प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों से सम्बन्ध रखने वाली इसी विशेषता का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(११)—''नाभिदेशे धारणम् (१।३।१)।

(१२)—''प्रयाजानुमन्त्रण—''मेको ममैका तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्म' इति।
(१।३।२)।

(१३)—' एवं मिथुनैर्यथाभ्यासं' सम्यम्' (१।३।३)।

(१४)— न तस्य किञ्चनेति पञ्चमे' (१।३।४)।

(१५)— 'त्विषिमान्, अपचितिमान्, यशस्वी ब्रह्मवर्चसी अन्नाद' इति च (१।३।५)।

पञ्च प्रयाजकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता जिन याज्यामन्त्रों से सम्पन्न होती है उनके उच्चारण के अनन्तर यजमान अपनी ओर से प्रयाजसंख्यानुसार मन्त्रोच्चारण करता है। यजमानकृत्व यही कर्म्म प्रयाजानुमन्त्रण कहलाया है। इस कर्म्म के सम्बन्ध में पूर्व के १२ वें सूत्र के द्वारा यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि पाँचों प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों में से आरम्भ के चार मन्त्रों में क्रमशः १)— एक'-एका, -(२)-'द्वौ द्वे, -(३)-'त्रय'-तिस्र, -(४)-'चत्वारः-चतस्र —इन चार मिथुनभावों का समावेश होता है। पाँचवें अनुमन्त्रण में केवल 'पञ्च मम-न तस्य किञ्चन योऽस्मान् द्वेष्टि इत्यादि का समावेश होता है। तात्पर्य्य यही है कि, चार मन्त्र मिथुनसम्पत्ति से युक्त हैं, पांचवां मिथुनभाव से वञ्चित है। जिस प्रकार नवैकादश प्रयाजपक्ष में आज्यसमानयन की विप्रतिपत्ति हुई थी एवमेव नवैकादश प्रयाजपक्ष में यजमानकर्तृक

*—अभ्यूह—अभ्यूहनं—उपभृत उपरि निधानम्।
अवहरण—अवहरणं—उच्चारणम्।

विकृति-इष्टि —

(नवप्रयाजात्मिका)

१—पृषीताज्येनाहुतिः
२— ,,
३— ,,
(१)—४—चतुर्थे समानयति
(२)—५—पृषीताज्येनाहुतिः
(३)—६— ,,
(४)—७—चतुर्थान्चतुर्थे समानयति
८—पृषीताज्येनाहुतिः
९— ,,

विकृति-इष्टि —

(एकादशप्रयाजात्मिका)

१—पृषीताज्येनाहुतिः
२— ,,
३— ,,
(१)—४—चतुर्थे समानयति
(२)—५—पृषीताज्येनाहुतिः
(३)—६— ,,
(१)-( )—७—चतुर्थान्चतुर्थे समानयति
(२)——८—पृषीताज्येनाहुतिः
(३)——९— ,,
(४)—— १०—चतुर्थान्चतुर्थे समानयति
११—पृषीताज्येनाहुतिः

प्रयाजकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली सभी विशेषताओं का स्पष्टीकरण कर दिया गया। अब इस सम्बन्ध में केवल आहुति विशेषता और शेष रह जाती है। आहुति कैसे देनी चाहिए ?, आहुति देते समय जुहू-उपभृत् का सम्बन्ध कैसा रहना चाहिए ? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि, अध्वर्यु को चाहिए कि, उपभृत् के ऊपर रक्खी हुई जुहू को उपभृत् को मूलभाग की ओर से सावधानी से उठाकर उसे जुहू को प्राचीमुख रहता हुआ प्रथमाहुति प्रदान करे। प्रथम आहुति के अनन्तर उसी पद्धति से उपभृत् के ऊपर जुहू रख दे। अनन्तर उसी पूर्वक्रम से उपभृत् से उठाकर द्वितीयाहुतिप्रदान करे। इस प्रकार पाँचों प्रयाजाहुतियों में ही जुहू को उपभृत् पर रख रख कर, उठा उठा कर आहुति-कर्म्मेतिकर्त्तव्यता पूरी करे। केवल प्रयाजकर्म्म में ही यह-अभ्यूहन अपहरणकर्म्म आवश्यक हो यह बात नहीं है। अपितु होममात्र में इसी नियम की व्याप्ति समझनी चाहिए, एवमेव सर्वहोम में आहुति देनी चाहिए। निम्न लिखित सूत्र प्रयाजकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली इन्हीं विशेषताओं का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

(४)— 'ध्रुवस्थितम्' (३।२।१९)।
(५)— 'पूर्वं पूर्वं वाऽभिक्रमत्' (३।२।२)।
(६)— उपभृतो जुह्वामानयति अनवमृशन् चतुष्पम् (३।२।२१)।
(७)—' एव महवो' (३।२।२२)।
(८)—"अनुप्रयेषु च" (३।२।२३)।
(९)—"उत्तरां जुहूमभृत प्राचीमधदृत्य जुहोति (३।२।२४)
(१)— एवं सर्वत्र' (३।२।२५)।

इति—कात्यायनश्रौतसूत्रे तृतीयाध्याये द्वितीया कण्डिका समाप्ता

नवप्रयाजपक्षे–इत्थम्

१—'एको मम॰'
२—'द्वौ मम '
३—'त्रयो मम '

---

(१) ४—'एको मम '
(२) ५—'द्वौ मम '
(३) ६—त्रयो मम '

---

(४) ७—'चत्वारो मम '

---

(५)—{ ८—'पञ्च मम ' / ९—पञ्च मम ' }

एकादशप्रयाजपक्षे–इत्थम्

१—'एको मम॰'
२—'द्वौ मम॰'
३—'त्रयो मम॰'

---

(१) ४—'एको मम '
(२) ५—'द्वौ मम॰'
(३) ६—'त्रयो मम '

---

(१) (४) ७—'एको मम '
(२)——८—'द्वौ मम॰'
(३)——९—'त्रयो मम॰'
(४)——१०—'चत्वारो मम '
(५)——११—'पञ्च मम॰'

उक्त क्रमानुसार चतुर्थ–पञ्चम–प्राजधर्म्मों का आगन्तुक प्रयाजों से सम्बन्ध मानते हुए अनुमन्त्रणसम्पत्ति की अनुरूपता प्राप्त करना एक पक्ष है । अब इसी सम्पत्ति के सम्बन्ध में एक दूसरा प्रकार बतलाया जाता है । चतुर्थ, पञ्चम प्रयाज नहीं, अपितु प्रथम, चतुर्थ प्रयाज से आगन्तुक प्रयाजों में जो धर्म्म प्राप्त है, उस के द्वारा भी मिथुनसम्पत्ति की अनुरूपता प्राप्त की जासकती है । प्रथम प्रयाज बहुदेवत्य है, अतएव आगन्तुक प्रयाजों में जो बहुदेवत्य प्रयाज होगा, उस के साथ प्रथम प्रयाज के धर्म्म का सम्बन्ध होगा । चतुर्थ प्रयाज एकदेवत्य है, अतएव आगन्तुक प्रयाजों में जो प्रयाज एकदेवत्य होगा, उस के साथ चतुर्थ प्रयाज के धर्म्म का सम्बन्ध होगा ।

अब इसी सम्बन्ध में एक तीसरा पक्ष बतलाया जाता है, जो कि सूत्रकार की दृष्टि में सिद्धान्तपक्ष है । 'चतुर्थे समानयति' इस श्रौत आदेशानुसार आज्यसमानयनकर्म्म में नवैकादशप्रयाजपक्ष में 'चतुर्थाच्चतुर्थे' न्याय का समावेश ठीक बन जाता है । किन्तु प्रयाजानुमन्त्रण–मन्त्रों के सम्बन्ध में ऐसा कोई श्रौत विधान नहीं

प्रयाजानुमन्त्रण–मन्त्रों से सम्बन्ध रखने वाले उक्त मिथुनभावों के सम्बन्ध में भी यही विप्रतिपत्ति उपस्थित हो रही है । जिसप्रकार नवैकादश–प्रयाजानुयाजपक्ष में वृद्धिक्रमानुसार आत्मग्रहण द्वि–त्रिरावृत्त कर लिया जाता है, क्या तदुपक्षानुगत प्रयाजानुमन्त्रण–मन्त्रों में भी उक्त मिथुनभावों का पुनरावर्त्तन होगा ? इसी प्रासङ्गिक विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

आगन्तुक प्रयाजों का चतुर्थ–पञ्चम प्रयाज से जो धर्म्म प्राप्त है उसी धर्म्म के साथ सम्बन्ध समझना चाहिए । क्योंकि आगन्तुक प्रयाजों का चतुर्थ–पञ्चम प्रयाज के धर्म्म से ही विधान हुआ है । सूत्र का तात्पर्यार्थ स्पष्ट है । मान लीजिए, विकृति में ९ प्रयाज हैं । इन ९ प्रयाजों में ४ था प्रयाज 'चतुर्थात् चतुर्थे' न्याय से प्रथम प्रयाज बन रहा है, ७वाँ प्रयाज उसी 'चतुर्थात् चतुर्थे' से चतुर्थ बन रहा है शेष ८–९ प्रयाज 'चतुर्थात्–पञ्चम' न्याय से पञ्चम प्रयाज बन रहे हैं । ऐसी स्थिति में १, २, ३, आरम्भ के इन तीन प्रयाजानुमन्त्रण–मन्त्रों में तो प्रकृतिवत् पञ्चप्रयाजपक्षवत्) एक–एक –'द्वौ-द्वे –'त्रयः–तिस्रः'–इन मिथुनों का समावेश होगा ही । आगे के ४,५,६ इन तीन प्रयाजानुमन्त्रण–मन्त्रों में भी इन्हीं तीनों मिथुनभावों का समावेश होगा । क्योंकि सातवाँ प्रयाज चौथा है तदपेक्षया ४-५-६ ठे प्रयाज १ २ ३, प्रयाज है ७वाँ क्योंकि चौथा प्रयाज है । अतएव तत्प्रयाजानुमन्त्रण मन्त्र में 'चत्वारः–चतस्रः का समावेश होगा । ८,९, इन दो प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्रों में–'पञ्च मम न तस्य किञ्चन० इत्यादि का समावेश होगा यदि एकादशप्रयाजपक्ष है, तो आरम्भ के १ २ ३ प्रयाजों में मध्य के ४ ५,६ प्रयाजों में अन्त के ७ ८,९, प्रयाजों में पञ्चप्रयाजानुगत आरम्भ के १ २ ३, प्रयाजानुमन्त्रणवत् तीनों युग्मों का सम्बन्ध होगा । क्योंकि-४ था प्रयाज १ है तदपेक्षया ५–६ दोनों २ ३ प्रयाज हैं । सप्तम प्रयाज की १ अपेक्षा १ है तदपेक्षया ८,९ दोनों २–३ हैं । १ वाँ प्रयाज सप्तमापेक्षया चौथा है ११ वाँ प्रयाज पाँचवां है । इसप्रकार 'चतुर्थपञ्चमाभ्याम्' न्याय से नवैकादशप्रयाजानुगत प्रयाजानुमन्त्रण–मन्त्रों में भी पञ्चप्रयाजानुमन्त्रणमन्त्रवत् मिथुनसम्पत्ति की अनुरूपता का समावेश हो जाता है । निम्न लिखित तालिका से उक्त सम्बन्ध–क्रम का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है—

पञ्चप्रयाजपक्षे–प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्राः-इत्थम्—

(१)—'एको मम एका तस्य-योऽस्मान् ।

(२)—'द्वौ मम द्वे तस्य-योऽस्मान् ।

(३)—'त्रयो मम तिस्रस्तस्य-योऽस्मान् ।

(४)—'चत्वारो मम चतस्रस्तस्य–योऽस्मान् ।

(५)—'पञ्च मम, न तस्य किञ्चन–योऽस्मान् ।

३—तृतीय प्रयाज—

अध्वर्यु राह—आग्नीध्र प्रति—'ओ श्रावय' इति।

आग्नीध्र आह—अध्वर्यु प्रति—'अस्तु श्रौषट्' इति।

अध्वर्यु राह—होतार प्रति—'यज' इति।

तदनन्तरं होता पठति—'ये यजामहे—इडो अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्'

पाठानन्तरञ्च—होता—'वषट्कार मा म आयुः प्रमोर्षीर्मा गोज सहौजो मयि प्राणापानौ पातम्' इति पठन्नात्मानमालम्योपस्पृशति।

यजमानश्च————'इदमिडभ्यो न मम। अयो मम, विसस्तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि, यञ्च वय द्विष्म—यशस्वी भूयासम्' इति पठति।

अध्वर्युश्च————यजमानोक्तमन्त्रपाठकाले, होतुर्याज्यामन्त्रपठितवौषडन्ते समिद्धाग्नौ जुहोति। सैषा तृतीयप्रयाजेतिकर्तव्यता।

४—चतुर्थ प्रयाज—

अध्वर्युराज्यं समानयति। आज्यसमानयनानन्तरं—

अध्वर्यु राह—आग्नीध्र प्रति—'ओ श्रावय' इति।

पात्' (का श्रौ ३।२।८५ इ —'वसिष्ठशुनकानां नाराशंसः, अन्येषां चैके' (का श्रौ० १६।६ ८२) इत्यादि कात्यायन के सिद्धान्तानुसार—"नराशंसो अग्न आज्यस्य वेत्विति द्वितीयो वसिष्ठशुनकानां—अत्रिभृगुवध्र्यश्व नां—कण्वकक्षुतीनां—राजन्यानां प्रजाकामानाञ्च" (शाङ्खा श्रौ १ ७।२) इत्यादि शाङ्खायन के सिद्धान्तानुसार,—"तान्येतान्येकादशाप्रीसूक्तानि। तेषां वासिष्ठ—मात्रेयं—वाध्र्यश्वं—गार्त्समद—मिति नाराशंसवन्ति, मैधातिथं—दैर्घतमसं—प्रैषिक—मित्युभयवन्ति, अतोऽन्यानि तनूनपात्वन्ति" (या नि ८।१७।) इत्यादि निरुक्तसिद्धान्तानुसार,—'नराशंसो द्वितीयः प्रयाजो वसिष्ठशुनकानां तनूनपादितरेषां गोत्राणाम्' (आपस्तम्ब श्रौ सू २) इत्यादि आपस्तम्ब के सिद्धान्तानुसार, तनूनपात्—प्रयाज के सम्बन्ध में विकल्प पक्ष का अनुगमन आवश्यक होरहा है। भगवान् आश्वलायन ने तो इस सम्बन्ध में और भी विशेषताओं का स्पष्टीकरण किया है (देखिए, आ श्रौ १ २।१)। प्रकृत में वक्तव्य केवल यही है कि, यदि यजमान का उक्त वसिष्ठ—शुनक—अत्रि—आदि गोत्र है तो उस के याज्यामन्त्र में—'नराशंसो अग्न आज्यस्य वेतु वौषट्' इसप्रकार तनूनपात् के स्थान में 'नराशंस' का समावेश होगा। साथ ही प्रयाजानुमन्त्रण—मन्त्र में भी—'इदं तनूनपाते न मम के स्थान में—'इदं नराशंसाय, न मम' का सन्निवेश होगा।

है। अपितु यहाँ तो 'आगन्तूनामन्तेऽभिनिवेशः' (समावेशः)—पू॰ मी॰ ५।२।१६—इस मीमांसा-सिद्धान्तानुसार आगन्तुक ६-७-८-९, १०-११-प्रयाजों का सम्बन्ध अन्तिम (पञ्चम) प्रयाजधर्म से ही नाप्राप्त है। अतएव उचित यही है कि नवप्रयाजपक्ष हो, अथवा तो एकादशप्रयाजपक्ष। उभयत्र आरम्भ के ४ प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्रों में पञ्चप्रयाजपक्षवत् चारों पुष्पों का समावेश कर आगे के शेष मन्त्रों में पञ्च-पञ्च का ही समावेश करना चाहिए। निम्न लिखित सूत्र अनुमन्त्रणसम्बन्धी उक्त तीनों पक्षों का दिग्दर्शन कराते हुए अन्तिम पक्ष को ही सिद्धान्त पक्ष मान रहे हैं—

प्रथमपक्षः (१६)—'आगन्तूनां चतुर्थ-पञ्चमाभ्यां, स्थानात्'। (३।१।६)।

द्वितीयपक्षः (१७)—'प्रथम-चतुर्थाभ्यां वा यथाविक्रमम्'। (३।१।७)

सिद्धान्तपक्षः (१८)—'सर्वाभ्या-उत्तमेन (पञ्चमेन), उपस्थितत्वात्' (३।१।८)।

पञ्चप्रयाजों में से प्रथम प्रयाज की इतिकर्त्तव्यता आरम्भ में बतलाई जा चुकी है। प्रकृत में इन पाँचों प्रयाजों से सम्बन्ध रखने वाले आश्रावण-प्रत्याश्रावणादि व्याहृतिमन्त्रों का होतृकर्त्तृक याज्यामन्त्रों का, तथा-यजमानकर्त्तृक प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्रों का एकत्र संग्रह कर दिया जाता है, जिनका पूर्वप्रतिपादित प्रथमप्रयाजेतिकर्त्तव्यता के साथ समान समन्वय कर लेना चाहिए—

२—द्वितीयः प्रयाजः—

अध्वर्युराह-आग्नीध्रं प्रति—'ओ श्रावय' इति।

आग्नीध्र आह-अध्वर्युं प्रति—'अस्तु श्रौषट्' इति।

अध्वर्यु राह—होतारं प्रति—'यज' इति।

ततश्च होता पठति—ये'यजामहे-तनूनपातम् आज्यस्य वे ३ तु'वौ षट्'।

पाठानन्तरञ्च होता- 'वषट्कार मा म आयु प्रमोषीर्वागोजः सहौजो

मयि प्राणापानौ पातम्' इति पठन्-आत्मानमालभ्य उपस्पृशति॥

यजमानश्च————'इदं तनूनपाते न मम। द्वौ मम, द्वे तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं

द्विष्मः, अपचितिमान् भूयासम्, इति पठति। *

अध्वर्यु श्च————'यजमानेनाऽनन्तपाठश्रवणे, होतुर्याज्यामन्त्रपठितवौषडन्ते समिधाग्नौ जुहोति।

सैषा द्वितीयप्रयाजेतिकर्त्तव्यता *।

---

* शतपथब्राह्मण में द्वितीय प्रयाज के सम्बन्ध में यद्यपि 'अथ तनूनपातं यजति' (शत० १।५।३।१) इत्यादि रूप से केवल 'तनूनपात्' का ही विधान हुआ है। तथापि शाखान्तर से सम्बन्ध रखने वाली पद्धतियों के अनुसार इस सम्बन्ध में विशेषता रखने वाली विशेषता का भी तदनुसार ही अनुगमन करना आवश्यक माना गया है। यजमानादिगणप्रवरयजिकान्वेरयुनकानां कण्वकश्यपसंकृतीनां नाराशंसो द्वितीयः प्रयाजः, तनूनपादन्ये-

आग्नीध्र आह-अध्वर्यु प्रति—'अस्तु श्रौषट्' इति।

अध्वर्यु राह-होतार प्रति—'यज' इति।

ततस्च-होता पठति———'ये यजामहे-बर्हिरग्न आज्यस्य वेतु वौषट्'।

पाठानन्तरञ्च-होता———'वषट्कार मा म आयु प्रमोषीर्वाग्योज सहौजो मयि प्राणापानौ पातम्' इति पठन्नात्मानमालभ्योपसृशति।

यजमानश्च—————'इदं बर्हिषे न मम। चत्वारो मम, चतस्रस्तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि, यञ्च वय द्विष्मः। ब्रह्मवर्चसी भूयासम्' इति पठति।

अध्वर्यु रच————यजमानोक्तमन्त्रपाठकाले, होतुर्याज्यामन्त्रपठितवौषडन्ते समिद्धाग्नौ जुहोति। सैषा चतुर्थप्रयाजेतिकर्तव्यता।

५—पञ्चमप्रयाज

इस प्रयाज के सम्बन्ध में विशेष इतिकर्त्तव्यताओं का अनुगमन करना पड़ता है, जैसा कि मूलानुवाद में स्पष्ट किया जाचुका है। चतुर्थ प्रयाज कर्म्म के अनन्तर आग्नीध्र को लक्ष्य बनाकर अध्वर्यु कहता है—'ओ श्रावय'। प्रत्युत्तर में अध्वर्यु को लक्ष्य बनाता हुआ आग्नीध्र कहता है—'अस्तु श्रौषट्'। अनन्तर अध्वर्यु होता को लक्ष्य बनाता हुआ कहता है—'यज'। होता उत्तर में निम्न लिखित-याज्यामन्त्र का उच्चारण करता है—

''ये यजामहे-स्वाहाग्निं स्वाहा सोमं, स्वाहाग्निं, स्वाहा सोमं, अग्नीषोमौ, स्वाहाग्नीषोमौ, स्वाहा देवा आज्यपा जुषाणा अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्'' इति।

होता के उक्त याज्यामन्त्र पाठोत्तर यजमान निम्न लिखित प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्र का पाठ करता है—

इदमग्नये सोमाय, अग्नये सोमाय, अग्नीषोमाभ्यां, अग्नीषोमाभ्यां, देवेभ्य आज्यपेभ्य, अग्नये स्विष्टकृते न मम। पञ्च मम, न तस्य किञ्चन योऽस्मान् द्वेष्टि, यञ्च वयं द्विष्मः। अन्नादो भूयासम्'' इति।

जिस समय होता के मुख से उक्त याज्यामन्त्र की अन्तिम 'वौषट्' इस आहुति का उच्चारण होता है, और यजमान उक्त प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्रपाठ आरम्भ करता है अध्वर्यु जुहूस्थित आज्य की समिद्ध अग्नि में आज्याहुति दे देता है। यही पाँचवें प्रयाज की इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण है। 'अग्निर्होतेति ह, मायावत प्रयाजेषु, सन्निधे'—१—(१।२।११) इस सूत्र से आरम्भ कर-'सर्वान् योतमेनोपास्त्विदए'' १८ (१।१।८) इस सूत्रपर्य्यन्त १८ सूत्रों से इसी प्रयाजकर्म्मेतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण हुआ है। इस कर्म्म के अनन्तर आघाराभिघारकर्म्म विहित है, जिस का औपपत्तिक निरूपण अगले ब्राह्मण में होने वाला है।

इति—सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रहः

श्री

इति—शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये

प्रथमकाण्डे

द्वितीयः—खण्डः

२

[क्रमानुगता पृष्ठसंख्या १५४२]